श्रीरूपकलादेव्यैनमः

श्रीहनुमतेनमः

॥ श्रीसीताराम ॥

मानस-पीयूष

(श्रीरामचरितमानस का संसार में सबसे बड़ा तिलक)

प्रथम सोपान (बालकांड)

भाग २ (क)

(श्रीभरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद दोहा ४३ से कैलासप्रकरण दोहा ११० (३) तक)

श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजी, पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी, एवं श्रीमानसी वंदनपाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरण दासजी (श्रीकरुणासिंधुजी), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीजी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), बाबा श्रीहरिदासजी, श्री पांडेजी, श्रीरामबख्शजी (मुं० रोशनलालकृत टीका), श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीबैजनाथजी संतउन्मनी श्रीगुरुसहायलालजी आदि पूर्व मानसाचार्यों टीकाकारोंके भाव; मानसराजहंस पं० विजयानंद त्रिपाठीजीकी अप्रकाशित एवं प्रकाशित टिप्पणियाँ, श्रीस्वामी प्रज्ञानानंद सरस्वतीजीकी अप्रकाशित टिप्पणियाँ, आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम० एस-सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्ड सबजज, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीनंगेपरमहंसजी (बाबा श्रीअवधविहारी दासजी) और बाबा जयरामदास दीनजी आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी आदि आधुनिक मानस-विज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओं का सुन्दर संग्रह ।

तृतीय संस्करण

संपादक एवं लेखक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

मानस-पीयूष कार्यालय, ऋणमोचनघाट, श्रीअयोध्याजी

तुलसी संवत् ३३५ वि० सं० २०१४]

॥ श्रीगुरवेनमः ॥

(द्वितीय संस्करण)

कुछ आवश्यक निवेदन

'मानस पीयूष' के द्वितीय भाग को दो-दो-सौ पृष्ठोंकी पत्रिकाके रूप मे प्रेमी पाठकोंकी सेवामे पहुँचे हुए छः मास हो गए। विशिष्ट शब्दों तथा स्मरणीय विषयोंकी अनुक्रमणिका तैयार करनेका अवकाश न मिला था, इससे यह भाग अब तक अपूर्ण बना रह गया।

प्रथम भागकी समाप्तिके पूर्व ही शरीर एकदम अत्यन्त अस्वस्थ हो गया था। जान पड़ता था कि श्रीसरकार इस शरीरसे अब सेवा लेना नहीं चाहते। कोई आशा न रह गई थी कि 'मानस पीयूप' का यह संस्करण जिस रूप और महत्ताके साथ चल रहा है अब प्रकाशित हो सकेगा।

एक ब्रह्मचारी महात्माने इस अवस्थामें मेरी बड़ी सहायता की जिसके लिये मैं उनका अत्यंत आभारी हूँ। वे प्रूफ बहुत परिश्रमसे देख देते थे। परन्तु प्रेस वालोंने इस अवकाशका अनुचित लाभ उठाया। वे अशुद्धियोको बिना पूरी तरह ठीक किये हुए छाप देते थे और छपाई भी अच्छी नहीं की। कई प्रेमियोंने छपाईके संबंध मे मुझे लिखा। मैं वे पत्र बराबर प्रेसवालोंके पास भेज देता था। फिरभी उन्होंने कुछ ध्यान न दिया। बरबस मुझे छपाना जूनमें बन्द करना पड़ा। तब उन्होंने नये टाइप मँगाए और छपाई अब कुछ सन्तोषजनक होने लगी है।

इतनी दोषपूर्ण छपाई होते हुए भी मानस-प्रेमी-जनताने इसे जैसा अपनाया उसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। उनके इस प्रकार अपनानेसे ही मेरा साहस और उत्साह बढ़ रहा है। शरीर यद्यपि अबभी स्वस्थ नहीं है फिर भी श्रीसीतारामकृपासे आठ दस घंटे मानसकी सेवा इससे हो रही है।

'भानुप्रताप प्रसंग' की पाण्डुलिपिही खोगई थी अतः उसे फिरसे जैसा कुछ बन पड़ा लिखना पड़ा। अतः सम्भव है उसके साथ मैं उतना न्याय न कर सका होऊँ जितना अन्यथा कर सकता था।

'मानस-पीयूप' के इस संस्करणमें मुख्यतः साकेतवासी पूज्य पं० श्रीरामकुमारजी काशीजीके परम प्रसिद्ध रामायणीजीके कथाके लिये साफ किये हस्तलिखित खर्रोंके भाव पूरे पूरे दिये गए हैं। ये सब खर्रे मुझे पं० पुरषोत्तमदत्तजी (साकेतवासी, श्रीरामनगरलीलाके व्यास, उपनाम 'रामजी') से 'मानस पीयूप' के लिये मिले थे। बालकांडके असली खर्रे मेरे पास हैं और इसके प्रकाशित होनेके पश्चात् मैंने उसे 'श्रीसाकेत महाविद्यालय (डिग्रीकालेज)' के पुस्तकालय में दे देनेका विचार किया है।

पं० रामकुमारजीका अध्ययन बहुत विद्वत्तापूर्ण (Scholarly) था। उन्होंने उसका अध्ययन मानसके एक विद्वान विद्यार्थीके रूपमें (as a Student of Shri Ram Charita Manas) किया था, इसीसे उनके भाव (विशेषतः) संगत और तर्कपूर्ण (to the point) होते थे।

प्रथम संस्करण लगभग ५०० पृष्ठ छप चुकने पर श्रीलाला भगवान्दीनजी (काशी विश्वविद्यालय) इसके ग्राहक हुए। कुछ महीनोंके पश्चात् वे अपनी टिप्पणियाँ 'मानस-पीयूष' के लिए देने लगे। उसके पश्चात् प्रो० श्रीरामदास गौडजी एम० एस सी०, मुहल्ला पियरी, काशीजी, इसके ग्राहक हुए और श्रीरामावतार-प्रसंगसे वे अपनी साहित्यिक टिप्पणियाँ 'मानस-पीयूष' के लिये देने लगे। काशीमें जब मानस पीयूप श्रीसीतारामप्रेसमें छपने लगा और छपानेके लिये वहाँ कुछ दिन ठहरना पड़ता था तब इन दोनों साहित्यज्ञोंका सत्संग भी होता था। उस समय मैं अपनी पांडुलिपि उन्हें सुना देता था जिसमें उसके बाद जो टिप्पणी वे देना चाहें दें। यह क्रम फिर उत्तरकांड तक चला। अलंकार मंजूषा, कविप्रिया, रामचन्द्रिका, मानस हंस, वीरकविकी टीका, दोहावलीकी टीका, सूरपंचरत्न, भक्तिभवानी, श्रीरामचरणचिह्न माला आदि पुस्तकें मुझे लाला भगवानदीनजीसेही मिली थीं जिनके उद्धरण मैंने मानस पीयूष में दिये हैं। 'दीनजी'के नामसे जो टिप्पणियाँ हैं वह इन्हीं लाला श्रीभगवानदीनजीकी हैं। उन्हींके एक विद्यार्थीने बहुत खोज करके महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी (काशीके प्रसिद्ध ज्योतिषी) द्वारा संपादित 'मानस-पत्रिका' दी जो

अप्राप्य थी। उससे मैंने द्विवेदीजीके भाव दिये हैं। प्रथम संस्करणमें जहाँ-जहाँ मुझे कठिनाइयाँ पड़ीं वहाँ वहाँ मुझे श्रीमान् गौड़जीसे बहुत सहायता मिली।

श्रीजानकीशरण स्नेहलताजीका सत्संग होनेपर जो उनसे भाव सुने थे वे प्रथम संस्करणमें दिये गए। इस संस्करणमेंभी वे दिये गए हैं और जो उनकी पुस्तकोंसे लिये हैं उनमें पुस्तकोंका नाम है। इन्होंने जो भाव लिखे हैं वह 'मानस-पीयूष' प्रथम संस्करणको पढ़कर लिखे हैं।

'मानस पीयूष' (बालकाण्ड दोहा ४३ से ३६१ तक) का दूसरा संस्करण मैंने सन् १९३९-४१ में लिखा था क्योंकि ये दोनों भाग न रह गए थे, परन्तु संसारमें युद्ध छिड़ जाने और कागजपर नियंत्रण हो जानेसे तथा मेरे क्षेत्रसन्यासके कारण वह छप न सका था।

अतः मैंने अपनी सब पाण्डुलिपि वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी रामायणी, मणिपर्वत, श्रीअयोध्याजीको दे दी कि वे उसे आद्योपान्त पढ़ जायँ और जहाँ कोई नई बात सूझे लिख दें। यह काम उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। द्वितीय संस्करणकी पाण्डुलिपिको देखनेके बाद जो टिप्पणियाँ उन्होंने लिखीं वे उनके नामसे दी गई हैं। पं० रामकुमारदासजीको मानसप्रेमी तो जानते ही हैं।

पाश्चात्य शिक्षाके प्रेमियोंके लिये मैंने श्रीराजबहादुर लमगोड़ा एम० ए०, एलएल० बी०, ऐडवोकेट फतेहपुर,के साहित्यिक नोट्स माधुरी आदि पत्रिकाओंसे प्रथम संस्करणमें दिये थे। श्रीअयोध्याजीमें वे सन १९३९ ई० में आकर भगवान् श्रीरामके समाश्रित हुए। उसके बाद मैंने उनको प्रथम संस्करण देकर उसपर उनको नोट्स देनेके लिए बाध्य किया। वे नोट्स इस संस्करणमें उनके नामसे निकले हैं।

कुछ प्रेमियोंके पत्र आये हैं कि लमगोडाजीके नोट्स पढकर वे कृतकृत्य होगए। यह जानकर दासको भी प्रसन्नता हुई कि यह श्रम सफल हो गया। मानस प्रेमियोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि काशीजीके प्रसिद्ध मानसके पण्डित मानसराजहंस पं० श्री विजयानंद त्रिपाठीजी भी अपनी अनुपम टिप्पणी देकर 'मानस-पीयूष' की शोभा और हमारा उत्साह बढा रहे हैं।

भाग १ में पृष्ठ १–३८४ में श्रीरामचन्द्रदास पाटीलने हमारे पांडुलिपिमें के 'टिप्पणी' 'नोट' और ( ) आदि संकेतोंको बहुत जगह अपने मनसे बदल दिये थे जिससे हमारा आशय ही नष्ट होगया।

भाग २ में पं० रामकुमारजीके भाव 'टिप्पणी' शब्दसे सूचित किये गए हैं। नोट और कोष्ठक जिनमें किसीका नाम नहीं है वे प्रायः संपादकीय हैं। सकेताक्षरोंका विवरण प्रायः भाग १ में दिया जा चुका है।

मानस-पीयूष की भाषाके संबन्धमें इतना बता देना आवश्यक है कि दास हिन्दीसे बिलकुल अनभिज्ञ था। यह श्रीगुरुदेवजीकी कृपा और उनका आशीर्वाद है कि हिन्दीके साहित्यका ज्ञान न होते हुए भी उन्होंने इतना बडा तिलक सपन्न करा लिया।

प्राचीन टीकाएँ और टिप्पणी सब प्रायः देहाती (मातृ) भाषामें हैं। उनको समझना भी मेरे लिए बड़ी दुरुह समस्या रही है। फिरभी बारम्बार पढकर जैसा कुछ समझा था वैसा प्रथम संस्करणमें प्रकाशित हुआ। अबकी बार फिरसे पढनेपर पता चला कि कई स्थलोंमें मेरे समझनेमें भूलें हुई हैं। उन भूलोंकाभी इस संस्करणमें सुधार हुआ है। दासने प्रयत्न यह किया है कि जहाँ तक सम्भव हो टीकाओं, टिप्पणियों, लेखोंके शब्द ज्योंके त्यों मा० पी० में रहें; केवल इतना किया है कि वे पाठकोंकी समझमें आजायँ, भावोंमें त्रुटि न आने पावे। इस कारणभी सम्भव है कि मा० पी० की भाषा साहित्य प्रेमियों को अरुचिकर हो।

भक्तमालके यशस्वी टीकाकार श्रीप्रियादासजीने अपनी 'भक्तिरस सुबोधनी' टीकाके सबंधमें लिखा है कि 'जिनके न अश्रुपात पुलकित गात कभू तिन्हहूँ को भावसिंधु बोरि सो- छकाए हैं। जौं लौं रहैं दूर रहैं बिमुखता पूर हियो होय चूर चूर नेकु श्रवण लगाये हैं।' मेरा विश्वास है कि यदि विद्वद्वर्ग 'मानस-पीयूष' का अवलोकन करें तो वह भी प्रभावित हुए बिना न रहेगा।'

जिन लोगोंने मेरी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी रूपमें सहायता की है उनका मैं सदा आभारी रहूँगा।

"बार बार बर मॉगौं एहू। सीय राम पद सहज सनेहू॥"

तु० सं० ३३० शु० ११ सं० २००६ वि० श्रीअंजनीनन्दन शरण

श्रीगुरवे नमः
तीसरे संस्करणके संबंधमें

दो शब्द

श्रीरामचरितमानस एक अनुपम ग्रन्थ है। रत्न तो एकही है पर जो जैसा जौहरी है वह उसका मूल्य अपनी परखके अनुसार बताता है। कोई इसमें राजनीति देखता है, कोई इसे वैद्यकका ग्रन्थ बताता है, कोई इसमें आदर्श गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ संन्यासी देखता है। योगी, तपस्वी, ज्ञानी क्रमशः इसमें योग, तप, ज्ञान पाता है। दार्शनिक इसमें वेदान्तके अत्यन्त गूढ़ और सूक्ष्म सिद्धान्तोंकी व्याख्या थोड़ेही अक्षरोंमें सरलतासे समझाया हुआ पाता है। काशीके पं० शिवलाल पाठक और पं० शिवकुमार शास्त्री आदि संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वानोंने समस्त शास्त्र और वेदान्त आदि पढ़कर भी अन्तमें इसीसे विश्राम पाया। महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ऐसे मुग्ध हुए कि उन्होने प्रत्येक चरण एक ही चरणमें संस्कृत भाषामें चौपाईकी चौपाईमें अनुवाद कर डाला, जिसका कुछ अंश 'मानसपत्रिका' में निकला था। शेष उनका स्वर्गवास हो जानेसे नहीं ही प्रकाशित हुआ। 'विनयपत्रिका' का अनुवाद भी उन्होंने इसी प्रकार किया था।

संस्कृत भाषाके विद्वान जो हिन्दीके इस ग्रन्थके शत्रु रहे हैं, वे भी अब अपनी जीविकाके लिये इसे अपनाने लगे हैं।

संस्कृतज्ञ पंडित तो संस्कृत व्याकरणका आधार लेकर इसमें बड़े गूढ़ और क्लिष्ट भाव निकालते हैं। कोई एक एक शब्दको लेकर ग्रंथभरमें उसे खोजकर उसके प्रयोगका कारण बताता है। कोई उसमें अलंकार पाता है। कोई भिन्न-भिन्न छन्दोंके प्रयोगका यथार्थ कारण ढूँढ़ता और बताता है। कोई आध्यात्मिक भावोंको दिखाता है। कोई उसका व्याकरण बताता है। इत्यादि इत्यादि।

तुलसीके 'मानस' की अद्भुत महिमा है, कौन कह सकता है!!! अस्तु। भिन्न भिन्न दृष्टिकोणोंसे विद्वान महात्माओं, महानुभावोंने इसपर तिलक रचे हैं, 'मानस पीयूष' में आप प्रायः सब प्राचीन टीकाकारोंके भाव तो उनके नामसे पायेंगे ही, साथ ही साथ उसमें रुपयेमें बारह आना अंश अप्रकाशित टिप्पणियाँ हैं जो किसीमें नहीं हैं और यदि हैं तो 'मानस-पीयूष' प्रथम अथवा द्वितीय तृतीय संस्करणोंकी चोरी ही होगी। पुस्तक भण्डार लहरियासराय व पटनाके मालिक रायबहादुर रामलोचनशरणने पं० श्रीकांतशरणजी से एक टीका लिखवाकर प्रकाशित की ही थी जो 'मानस-पीयूष' के प्रथम संस्करणकी चोरी साबित हुई।

हमारे पास किञ्चित भी साधन प्रचारका न होने पर तथा बालकाण्ड (द्वितीय संस्करण) की छपाई रही होने पर भी जनताने इसे कैसा अपनाया यह इसीसे स्पष्ट है कि इतने वृहत दूसरे संस्करणकी पूरी पुस्तक छपकर पूरी होते ही हमें तुरन्त इसका तीसरा संस्करण छपनेको देना पड़ा।

भाग २ के इस संस्करणमें स्वामी श्री प्रज्ञानानन्द सरस्वतीके नोट्स जो उन्होंने इसके द्वितीय संस्करणको पढ़कर लिख भेजे थे तथा मानस राजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीके भाव (प्रायः उनकी विजया टीकासे) दिये गए हैं। शेष सब वही है जो द्वितीय संस्करणमें था। हाँ, यह अवश्य है कि यह पूर्वकी अपेक्षा बहुत सुन्दर छपा है। श्री त्रिपाठीजी तथा स्वामीजीने जो भाव भाग १ के लिये भेजे थे वे शीघ्रताके कारण नहीं छपाये जा सके।

सम्वत् १६६१ की प्रतिमें जहाँ तहाँ अनुस्वार नहीं है यद्यपि अन्यत्र उन शब्दोंमें अनुस्वार है। उसमें तीन या चार स्थानोंको छोड़ अन्यत्र अर्द्धचन्द्र विन्दु (ँ) का प्रयोग नहीं है। प्रायः सर्वत्र अनुस्वार (ं) ही रहता है। अतएव हमने जहाँ केवल अनुस्वार दिया है वह उस प्राचीन पोथीका है। कहाँ उसमें अनुस्वार नहीं है (यद्यपि मेरी समझमें अनुस्वार होना चाहिये), यह बतानेके लिये हमने वहाँ

वहाँ अर्धचन्द्र बिन्दु दिया है। प्राचीन पोथियोंमें ङ, च्छ, ख, की जगह क्रमशः ङ, छ, ष रहता है, पर हमने ङ, च्छ, ख दिया है। एक प्रसंग भरमें प्राचीनतम पोथीमें तालव्वी 'श' का प्रयोग 'शिव' शब्दमें है, हमने ना० प्र०, गीता प्रेस तथा अन्य महानुभावोंका अनुकरण न करके वहाँ 'श' कारका ही प्रयोग किया है। उस पोथीमें जैसा है वैसा ही हमने रखा है। जहाँ-जहाँ उ कारकी मात्रा है, वहीं वहीं हमने उकार दिया, अपनी ओरसे कहीं नहीं दिया है।

प्रथम संस्करणमें सम्भवतः हमने लिखा था कि पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीकी कथा हमने श्रीराम-विवाह-बारात प्रसंगसे सुनी थी। पर 'मानस पीयूष' में उनके भाव प्रारम्भसे मिलते हैं। कापीराइटके मुकदमेके समय मुझे यह स्मरण नहीं था कि वे भाव कहाँसे लिये थे, समझता था कि उनसे उनके स्थानपर जाकर पूछकर लिखे होंगे। परन्तु दूसरे तथा तीसरे संस्करणके समय पूरी पुस्तक पढनी पड़ी तब पुस्तकसे पता चला कि हमने बारातके पूर्व और श्रीरामराज्याभिषेकसे ग्रंथकी समाप्ति तक जो भाव श्री पं० राम वल्लभाशरणजीके नामसे दिये हैं वे 'तुलसी पत्र'से या उनकी टीकासे, जो प० रामकिशोर शुक्लजीने छपाई थी, उद्धृत किये थे। रामायण प्रचारक श्रीरामप्रसादशरण (दीन) जीके भाव भी प्रायः 'तुलसीपत्र' से ही बालकांडमें दिये गये हैं।

'मानस पीयूष' के उद्देश्यकी पूर्तिके लिये इस तिलकमें केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी मतावलम्बियोंके भाव यथाशक्ति उन्हींके शब्दोंमें दिये गये हैं।

मेरी करबद्ध प्रार्थना पाठकोंसे यह है कि वे साम्प्रदायिक पचडोंमें न पडकर ग्रन्थकारके उद्देश्यको समझकर इस ग्रन्थका अध्ययन कर अपनी आत्माको कृतार्थ करें।

देखिए, भारतका प्राचीन वैदिक संस्कृतिमें पला हुआ समुन्नत समाज जब अधोगतिके गर्तमें पड़ा था, राजनीतिक पराधीनताके कारण आध्यात्मिक गौरवको भी खो चला था, तब जिन महात्माओंके अमृत वचनोंसे इसे पुनर्जीवन प्राप्त हुआ है, उनमें पूज्यपाद गोस्वामी श्री १०८ तुलसीदासजी अग्रणीय हैं। उनके समकालीन श्री नाभा स्वामीजी लिखते हैं—

"कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भएउ।"

मनुष्य जीवनकी सफलता इसीमें है कि वह अक्षय सुखकी प्राप्तिका साधन करके आवागमनसे मुक्त होजाय। गोस्वामीजीके "बहुमत मुनि, बहु पथ पुराननि जहाँ तहा झगरो सो। गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लागत राजडगरो सो। विनय १७३।",

"एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहि सुमिरिय गाइय रामहिं। सतत सुनिय राम गुन ग्रामहिं॥
रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥"

"रामभगति जो चह अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा करौ निरन्तर गान॥"

इन वाक्यों पर ध्यान दीजिये।

इस वृद्धा तथा रुग्णावस्थामें श्री हनुमत् गुरु-कृपासे जो कुछ सेवा बन पड़ी वह प्रेमी पाठकों की भेंट की जा रही है। यदि प्रेमियोंने इसे अपना लिया तो सेवा सफल समझूँगा। अन्तमें आप सबोंसे प्रार्थना है कि—

"सब मिलि कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि प्रभुहि भजउँ दिन राती॥
मन की सकल बासना भागै। सीताराम चरण लौ लागै॥"

श्रीसीतारामचरण-कमलानुराग का भिखारी—

अगहन सुदी ५, सम्वत् २०१४

दीन—श्रीअंजनीनन्दन-शरण

भाग २ (क) के प्रकरण

भाग २ (ख) के प्रकरण

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

भाग २ में आये हुए कुछ काम में आनेवाले शब्दों विषयों की अनुक्रमणिका

विषय दोहा चौपाई आदि पृष्ठांक

विषय दोहा चौपाई आदि पृष्ठांक

विषय दोहा चौपाई आदि पृष्ठांक

विषय दोहा चौपाई आदि पृष्ठांक

विषय दोहा चौपाई आदि पृष्ठांक

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

॥ श्रीः ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमतेरामानन्दाचार्याय । श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्यायै श्रीरूपकलादेव्यै । श्रीसन्तगुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः ।

ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्त्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय, शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते ।

ॐ साम्बशिवाय नमः । श्रीगणेशाय नमः । श्रीसरस्वत्यै नमः ।

परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः ।

श्रीरामचरितमानस

प्रथम सोपान (बालकाण्ड)

मानस-पीयूष

स्वबोधिनी व्याख्या सहित

तीसरा संस्करण

अथ श्रीभरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद प्रकरण

दोहा—अब रघुपति पद पंकरुह, हिअँ धरि पाइ प्रसाद ।
कहौं जुगल मुनिबर्य कर, मिलन सुभग संबाद ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—पंकरुह=कमल । प्रसाद=प्रसन्नता, कृपा । वर्य=श्रेष्ठ ।

अर्थ—अब श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंको हृदयमें रखकर और उनकी प्रसन्नता पाकर मैं दोनों मुनिश्रेष्ठों (भरद्वाज और याज्ञवल्क्य) का मिलना और उनका सुन्दर संवाद कहता हूँ ।४३।

टिप्पणी—(पं० रामकुमारजी) १ 'अब' कहकर पूर्वके 'जागबलिक जो कथा सुहाई । भरद्वाज मुनिवरहि सुनाई ॥ कहिहौं सोइ संबाद बखानी । ३०।१-२ ।', इस प्रसंगको यहाँ मिलाते हैं । पुनः, इस शब्दसे श्रीरामचरितमानसके प्रसंगका आरंभ यहाँसे जनाया ।

२ ऊपर दोहे में 'सुमिरि भवानी संकरहि' कहकर तब इस दोहेमें श्रीरामपदकमलको हृदयमें धारण करना लिखनेका भाव यह है कि श्रीशिवजीकी कृपासे श्रीरामपदपंकजकी प्राप्ति है, यथा 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी । सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥ १।१३८ ।' इसी प्रकार पहले 'सिवा सिव पसाऊ' पाना कहा था, यथा 'सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ । १।१५।' और पीछे यहाँ श्रीरघुपतिप्रसाद पाना कहा ।

३ रामायणका मुख्य प्रसंग यहाँ से आरम्भ होता है । 'रघुपति-पद पंकरुह' से प्रारंभकर निज इष्टदेवकी वन्दना की आवश्यकता आदिमें सूचित की । 'पाइ प्रसाद' से इस काव्यमें दैवीशक्तिकी प्रधानता

दिखाई। यह प्रसाद काव्य है। 'जुगल मुनिवर्य' के संवादरूपी कर्मघाटसे प्रारंभ करके यह सूचित किया कि प्रथम अंतःकरणकी शुद्धता होती है तब भगवत्स्वरूपका ज्ञान होता है और तत्पश्चात् उपासना। यह सनातन वेदमर्यादा है। इसीका पालन पूज्य ग्रंथकारनेभी किया है।

नोट—१ रामायणपरिचर्य्यामें (जिसका आधार संवत् १७०४ की पोथी है) इस दोहेके ऊपर निम्न दोहा अधिक है।

भरद्वाज जिमि प्रश्न किय जागवलिक मुनि पाय। प्रथम मुख्य संवाद सोइ कहिहौं हेतु बुझाय॥

२ 'अथ रघुपतिपदपंकरुह०' इस दोहेके साथ उसके पूर्ववाले दोहेके उत्तरार्ध 'सुमिरि भवानी संकरहि कह कवि कथा सुहाइ' को लेकर योंभी अर्थ किया जाता है कि—'भवानीशंकरका स्मरण करके श्रीरामचन्द्रजीके पदकमलोंको हृदयमें धारण करके और दोनोंका प्रसाद पाकर.......' आगेकी कथा कहता हूँ।

भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहिं रामपद अति अनुरागा॥ १॥
तापस सम-दम-दया-निधाना। परमारथ पथ परम सुजाना॥ २॥

अर्थ—श्रीभरद्वाजमुनि प्रयागमें रहते हैं। उनका श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अत्यंत प्रेम है॥१॥ वे तपस्वी हैं, शम, दम और दयाके (तो) खजाना या समुद्रही हैं और परमार्थके मार्गमें बड़ेही सुजान हैं॥२॥

नोट—१ 'भरद्वाज मुनि' इति। शब्दसागरकार लिखते हैं कि—"अंगिरस गोत्रके उतथ्यऋषिकी स्त्री ममताके गर्भमेंसे उतथ्यके भाई बृहस्पतिके वीर्य्यसे उत्पन्न एक वैदिक ऋषि जो गोत्रप्रवर्त्तक और मंत्रकार थे। कहते हैं कि एकबार उतथ्यकी अनुपस्थितिमें उनके भाई बृहस्पतिने उनकी स्त्री ममताके साथ संसर्ग किया था जिससे भरद्वाजका जन्म हुआ। अपना व्यभिचार छिपानेके लिये ममताने भरद्वाजका त्याग करना चाहा, पर बृहस्पतिने उसको ऐसा करनेसे मना किया। दोनोंमें कुछ विवाद हुआ पर अंतमें दोनोंही नवजात बालकको छोड़कर चले गए। उनके चले जानेपर मरुद्गण उनको उठाकर लेगए और उनका पालन पोषण किया। जब भरतने पुत्रकामनासे मरुत्स्तोम यज्ञ किया तब मरुद्गणने प्रसन्न होकर भरद्वाजको उनके सुपुर्द करदिया...।" 'भावप्रकाश' के अनुसार अनेक ऋषियोंके प्रार्थना करनेपर ये स्वर्ग जाकर इन्द्रसे आयुर्वेद सीख आए थे। ये राजा दिवोदासके पुरोहित और सप्तर्षियोंमें से भी एक माने जाते हैं।

पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज कहते हैं कि—"क्षेत्र दूसरेका और बीज दूसरेका, ऐसे दोसे जो उत्पन्न हो उसे 'द्वाज' कहते हैं। ममताने बृहस्पतिसे कहा कि आप इसका भरण-पोषण करें और बृहस्पतिने कहा कि तुम करो—'मूढे भर द्वाजमिमं भरद्वाजं बृहस्पते।' इसीसे भरद्वाज नाम हुआ"। भारत और भागवतमें इनकी कथा विस्तारसे है। ये वाल्मीकिजीके शिष्य हैं। वनवासके समय श्रीसीता राम लक्ष्मणजी आपके आश्रमपर गये थे। श्रीभरतजीकी पहुनई आपने अपने तपोबलसे जिस प्रकारसे की उसका वर्णन वाल्मीकीयमें विस्तृत रूप से है। इस ग्रंथमें भी संक्षिप्त रूपसे उस अद्भुत पहुनईका वर्णन है।

टिप्पणी—१ 'बसहिं' शब्द देकर याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवादका स्थान प्रयाग बताते हैं। 'तिन्हहिं राम पद अति अनुरागा' कहकर जनाया कि रामोपासक हैं। यहाँ 'अति', 'परम' और 'निधान' शब्दोंको देकर औरोंसे इनकी उत्कृष्टता सूचित की है। 'निधाना' शब्द सम, दम और दया तीनोंके साथ है।

२ 'तापस सम दम दया निधाना' इति। तापस अर्थात् तपस्वी हैं, तपसे तनको कसते हैं। सम-दम-दयानिधान हैं अर्थात् भीतर बाहरकी इन्द्रियोंको कसते हैं—यह भी तप है। 'तापस सम दम दया निधाना' का भाव यह है कि अपने तनको तपसे ताप देते हैं और दूसरोंके लिये दयाके निधान हैं। पुनः, इन विशेषणोंसे सूचित किया है कि ये कर्मकांडी हैं।

नोट—२ "तापस सम दम दया...' इति। इन शब्दोंसे हम लोगोंको यह उपदेश लेना चाहिये कि केवल तप अर्थात् शारीरिक कष्ट मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं है, किन्तु उसके साथ शम, दम, अर्थात् मन और

इन्द्रियोका निग्रह भी परमावश्यक है। नहीं तो वह तप तामसिक हो जायगा और लाभके बदले उससे हानिकी संभावना है जैसा कि गीतामें स्वयं भगवान ने कहा है—"मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।... तत्तामसमुदाहृतम् ॥१७।१९॥" "जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ॥१४।१८॥" अर्थात् जो तप मूढ आग्रहसे आत्माको पीड़ा देकर किया जाता है वह तामस है। निकृष्ट गुणोंकी वृत्तियोंमें स्थित तमोगुणी नीचे को जाते हैं।

टिप्पणी—२ 'परमारथपथ' में सुजान कहकर ज्ञानीभी होना दिखाया तथा इनमें कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों की उत्कृष्टता दिखाई। परन्तु श्रीरामपदानुराग मुख्य गुण है, इसीसे उसे सबसे पहिले कहा। 'रामपद अति अनुरागा' उपासना है, 'तापस सम दम दयानिधाना' कर्मकाण्ड है और 'परमारथ .' ज्ञान है।

नोट—३ 'तापस सम दम दयानिधाना' इति। (क) इन्द्रियोंको वशमें करने और दुष्कर्मोंसे बचनेके विचारसे बस्ती छोड़कर शरीरको कठिन उपवास व्रत नियमसे कष्ट दिये जानेकी रीति प्राचीन कालसे चली आती है। इसीको 'तप' कहते हैं। ऐसे लोग प्रायः फूसकी झोपडी या गुफामें या वृक्षोंके नीचे वास करते हैं, कन्दमूल फलपर रहते हैं, गर्मीमें पचाग्नि तापते, वर्षामें मेघडंबर धारण करते और जाडेमें जलशयन करते हैं। कभी कभी अभीष्ट सिद्धिके लिएभी तप करते हैं। श्रीमनु शतरूपाजी, श्रीपार्वतीजी और श्रीभरतजी के तप इसी ग्रंथमें देखिये। गीताके अनुसार तप तीन प्रकारका होता है—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। देवताओं, गुरुजनों और द्विजोंका पूजन, बडोंका आदर सत्कार, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि शारीरिक तपके अन्तर्गत हैं। सत्य और प्रिय बोलना, वेद शास्त्र पढ़ना आदि वाचिक तप हैं। और, मौनावलम्बन, आत्म-निग्रह आदिकी गणना मानसिक तपमें है। (गीता १७।१४ १६)। (ख) सम (शम)=अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियोंको वशमें करना। 'दम=कर्मेन्द्रियोंको वशमें करना, बुरे कर्मोंकी ओर न जाने देना। दया=कारण या स्वार्थरहित कृपा।

(ग) "वेदान्तभूषणजीका कथन है कि समदमनिधान कहनेहीसे 'तापस' का अर्थ सिद्ध हो जाता है, क्योंकि शमदमादि तपके प्रधान अंग हैं, तब तापस क्यों कहा गया? इसका उत्तर यह है कि 'तप सतापे' और 'तप आलोचने' धातु से तापस शब्दकी सिद्धि है। 'तप सतापे'से सिद्ध 'तापस' के अभ्यन्तर शमदमादि आ जाते हैं। परन्तु 'तप आलोचने' से सिद्ध तापसमें ये नहीं आते। शमदमादि तप सात्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका होता है (गीता १७।१७-१८)। यहाँ 'तप आलोचने' से निष्पन्न तापस का अर्थ 'विचारमान' है, तात्पर्य कि भरद्वाज महर्षिवर शमदमादि साधन विचारपूर्वक करते हैं। अर्थात् सात्विकी हैं, राजसी या तामसी नहीं हैं।

४ 'परमारथ पथ परम सुजान' इति। 'अर्थ' शब्दके अनेक अर्थ हैं। (क) परमार्थ=सबसे उत्कृष्ट पदार्थ; सार वस्तु, यथार्थ तत्व। यहाँ परमार्थ पथमें परम सुजान कहकर जनाया कि अर्थपंचकके परम जानकार हैं। "परब्रह्मका स्वरूप, जीवात्माका स्वरूप, परमात्माकी प्राप्तिका उपाय, प्राप्तिके फल और प्राप्तिके विरोधियोंका स्वरूप—यही पाँच अर्थ हैं" जो समस्त वेदों पुराणों और इतिहासोंमें कहे गये हैं। इनका जानना जीवके कल्याणके लिय परमावश्यक बताया गया है, यथा हारीतसंहितायाम् "प्राप्तस्य ब्रह्मणोरूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः प्राप्त्युपाय फलं प्राप्तेस्तथा प्राप्ति विरोधिनः। वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः मुनयश्च महात्मानो वेदवेदांगवेदिन ॥" श्रीरामरहस्यत्रयेऽपि यथा—'एते च पञ्चार्थाः सर्ववेदादिकारणस्य श्रीरामपञ्चस्यार्थाः' (श्रीमद्धरिदासाचार्यवर्य्यैः सम्पादितम्)

(ख) परमार्थपथ=परलोकका मार्ग, यथार्थ परमतत्वकी प्राप्ति या जाननेका मार्ग। परमार्थ क्या है? यह मानस, विनय, दोहावली आदि ग्रंथोंमे गोस्वामीजीने स्वयं जहाँ तहाँ बताया है, यथा—'एहि जग जामिनि जागहि जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी' ॥ २,६३ ॥' अर्थात् संसारके प्रपंचसे विरक्त ही 'परमार्थी' है। 'परमारथ पहिचानि मति, लसति विषय लपटानि। निकसि चितातें अधजरति मानहुँ सती परानि।' अर्थात् परमार्थवेत्ता

विषयमें लिप्त नहीं होता। 'सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम वचन रामपद नेहू।' अर्थात् मन कर्म वचनसे श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम होनाही 'परम परमार्थ' है। 'राम ब्रह्म परमारथरूपा','रामनाम प्रेम परमारथ को सार रे॥ वि० ६८।' अर्थात् श्रीराम और श्रीरामनामही परमार्थ हैं। 'परमार्थ' परम और अर्थ दो शब्दोंसे मिलकर बना है। इस प्रकार परमार्थ=परम अर्थ। 'अर्थ'=वस्तु; पदार्थ। सबसे 'परम' (श्रेष्ठ) जो पदार्थ है वही 'परमार्थ' है। सर्वश्रेष्ठ 'अर्थ' क्या है? जो अजर, अमर, अविनाशी, अनादि, अनन्त, सत्य, इत्यादि विशेषणोंसे युक्त हो वही 'सर्वश्रेष्ठ अर्थ' है। ऐसे तो एक ब्रह्म श्रीरामजी ही हैं। और इसी आशयसे मानस-रविने 'राम ब्रह्म परमारथरूपा' कहा। अब उस 'परमार्थरूपी' श्रीरामजीकी प्राप्तिके लिए जितनेभी साधन कहे गये हैं, उनको 'परमार्थपथ' कहा जायगा। सुजान=चतुर, जानकार, कुशल।

(ग) श्रीलाला भगवानदीनजी कहते हैं कि भरद्वाज मुनिके लिये 'परमारथ पथ परम सुजान' यह विशेषण इसलिए दिया गया है कि ये कर्मकाण्डके आचार्य हैं। कर्मकाण्डमें जो परम सुजान हो वही परमार्थ पथमें निभ सकता है, अन्यथा नहीं। इस बातके प्रमाण-स्वरूप यह घटना है जो आगे अयोध्याकांडमें वन जाते समय भरद्वाजजी से श्रीरामजीने पूछा है कि 'नाथ कहहु हम केहि मग जाहीं।' अर्थात् जब ये परमार्थ पथमें अति चतुर हैं तब हमें ऐसा पथ अवश्य बतायेंगे जिसपर चलकर हम अवतार धारण करनेकी समस्त लीला (कर्म) अबाध्य रूपसे कर सकें।

श्रीमद्भागवत द्वादश स्कंधमें परमार्थ का निरूपण श्रीकृष्णजीने श्रीउद्धवजीसे और श्रीशुकदेवजी ने श्रीपरीक्षितजीसे किया है। उसका सारांश यह है कि जो कुछ वाणीद्वारा कहा जाता है और मनसे चिन्तन किया जाता है यह सब मिथ्या है। जैसे प्रतिबिंब, प्रतिध्वनि, और आभास अवस्तु या असत् होकर भी वस्तुबोधवश सत्यवत् भासनेसे अनर्थका कारण होते हैं उसी प्रकार देहादि उपाधियाँ भी असत होने परभी मृत्युपर्यन्त भय देती रहती हैं। यथा—"वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥१२,२८,४॥ छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः। एवं देहादयो भावा यच्छन्त्या मृत्युतो भयम् ॥५॥" देह जन्मता मरता है। यह किसी समय नहीं था, समय पाकर उत्पन्न होता है और फिर समय पाकर नष्ट भी हो जाता है। जैसे बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीज उत्पन्न होता है, इसी प्रकार तुम इस समय उत्पन्न होकर भी अब पुत्र-पौत्रादिरूपसे पुनः उत्पन्न न होगे, क्योंकि देहसे देह उत्पन्न होता है न कि जीवात्मा। जैसे अग्नि काष्ठमें व्याप्त रहकर भी उससे पृथक् है वैसेही जीव शरीरसे सर्वथा पृथक् है। आत्मा अज और अमर है। जैसे स्वप्नावस्थामें वह अपने शिरका कटना और मृत्यु आदि देखता है, वैसे जाग्रत्में देह आदिके पंचत्वको (मरण आदिको) देखता है जैसे घड़ेके टूट जानेपर घटाकाश महाकाशमें मिल जाता है वैसेही देहके नष्ट होनेपर जीव ब्रह्ममें लीन हो जाता है। आत्माका देहादि उपाधियोंसे जो संबन्ध है वह मायाकृत है। मनही आत्माके लिये देह, गुण और कर्मों की सृष्टि किया करता है। तेल, तैलपात्र, बत्ती और अग्निके सम्बन्धसे दीपकका दीपकत्व है; वैसेही देह आदिके संयोगसे जीवका तत्कृत जन्म होता है, यह संसार उसका देह संबन्ध रहने तक ही रहता है। संसारके नाशसे उसका नाश नहीं होता। वह ज्योतिः स्वरूप, स्वयं प्रकाश, व्यक्ताव्यक्त, सूक्ष्म और स्थूल दोनोंसे परे, आकाशके समान सबका आधार है, निश्चल, अनन्त और उपमारहित है। यह आत्मा स्वयं प्रकाश, अजन्मा, अप्रमेय, महानुभवरूप, सर्वानुभवस्वरूप, एक और अद्वितीय है। यथा—"न तत्रात्मा स्वयं ज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः। आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ॥ १२।५।८ ॥","एष स्वयं ज्योतिरजोऽप्रमेयो, महानुभूतिः सकलानुभूतः। एकोऽद्वितीयो वचसा विरामे....॥११.२८.३५॥"

अतएव विचारवान् पुरुषको चाहिए कि किसीके भले-बुरे स्वभाव अथवा कर्म की न तो प्रशंसा ही करे और न निंदा ही, नहीं तो परमार्थ-साधनसे शीघ्र पतित हो जायगा।—'निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध ॥ ७. ११२ ॥'

माघ मकर-गत-रबि जब होई। तीरथपतिहि आव सब कोई ॥३॥

देव दनुज किंनर नर श्रेनी। सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी ॥ ४ ॥
पूजहिं[1] माधव पद जलजाता। परसि अखयबटु हरषहिं[1] गाता ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—माघ मकर—टिप्पणी १ और ४५ (१-२) में लिखा जायगा। गत=प्राप्त। तीरथपति=तीर्थोंका स्वामी, प्रयागराज। श्रेनी (श्रेणी)=पंक्ति, समूह। जलजात=कमल। माधव=लक्ष्मीपति वेणीमाधव जी। यह प्रयागराजका एक प्रधान तीर्थविशेष है। अखय (अक्षय)=क्षय या नाशरहित, अविनाशी, कल्पान्त स्थायी। 'माधव', 'अक्षयवट'—२(११) देखिए। परसि=स्पर्श करके, छूकर। हरषना=पुलकित होना, रोमांच से प्रफुल्ल होना, यथा—'नाइ चरन सिर मुनि चले, पुनि पुनि हरषत गात'। गात (सं० गात्र)=शरीरके अंग; शरीर।

अर्थः—माघ महीनेमें (और) जब सूर्य मकर राशिपर प्राप्त होते हैं (अर्थात् जब मकर संक्रान्ति होती है तब प्रयागराजमें देवता, दैत्य, किंनर और मनुष्य (आदि) सब कोई झुण्डके झुण्ड आते हैं और सभी आदरपूर्वक त्रिवेणीजीमें स्नान करते हैं। ३-४। वेणीमाधवजीके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं और अक्षयवटका स्पर्शकर उनके शरीर (सब अंग) पुलकित होते हैं। ५।

टिप्पणी—१ 'माघ मकर गत रबि' इति। 'माघ' और 'मकरगत रबि' कहकर दो मास सूचित किये। एक चान्द्रमास, दूसरा सौरमास। इसे आगेकी चौपाइयोंमें स्पष्ट कर दिया गया है। यथा—'एहि प्रकार भरि माघ नहाहीं' यह चान्द्रमास है और 'एक बार भरि मकर नहाए' यह सौर मास है।

२ 'जब होई' का भाव कि मकर राशिपर सूर्य चाहे पौषमें हो चाहे माघमें, दोनों माघ ही कहलाते हैं। मकर राशिसे सूर्य उत्तरायण माने जाते हैं। 'सब कोई' अर्थात् जिनको आगे गिनाते हैं। देव और किंनरसे स्वर्गलोक, दनुजसे पाताललोक और नरसे मर्त्यलोकवासियोंको सूचित किया। नर शब्द अन्तमें देनेका भाव यह है कि ये सब नररूपसे आते हैं। (पुनः, 'सब कोई' से यह भी जनाते हैं कि छोटे-बड़े, ऊँच नीच, पापी और पुण्यात्मा, सभी वर्णों और सभी आश्रमोंवाले, स्त्री और पुरुष इत्यादि सभी प्रकारके लोग आते हैं। सामान्य रीतिसे इन सबोंको जनाकर तब देव, दनुज आदिको साथ ही आगे लिखकर बताया कि केवल मनुष्य ही नहीं आते किन्तु देवादि भी आते हैं।)

३ 'सादर मज्जहिं' इति। आदर सहित मज्जन करनेसे ही तीर्थस्नानका फल यथार्थ मिलता है। [गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि—'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह। १७-२८।' अर्थात् अश्रद्धासे होम, दान, तप जो कुछ भी किया जाय वह 'असत्' कहलाता है अर्थात् उसका करना न करना बराबर है, वह न इस लोकमें काम आयेगा न परलोकमें] इसीसे ग्रन्थमें सर्वत्र 'सादर मज्जन' लिखते हैं। यथा—'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा। १-१।' 'सादर मज्जन पान किये तें। मिटहिं पाप परिताप हिये तें। १। ४२।' इत्यादि। 'सादर मज्जन' यह है कि भद्र होते हैं (अर्थात् क्षौर कराते हैं, सिर मूँछ दाढ़ी मुँड़वाते हैं, यथा—'मुण्डनं चोपवासश्च तीर्थस्थाने विधीयते', 'मुण्डनं तु विरक्तानां कच्छकुक्षिविवर्जितम्।', तीर्थका माहात्म्य सुनते हैं, स्नान करते हैं, त्रिवेणीजीकी पूजा करते हैं और दान देते हैं।

४ 'पूजहि माधव पदजलजाता' इति। पदकमलकी पूजा करते हैं क्योंकि भगवान्‌के पद प्रयाग हैं, यथा—'रामचरन अभिराम कामप्रद तीरथराज बिराजै। संकर हृदय भगति भूतलपर प्रेम अछयबट भ्राजै ॥ स्याम बरन पदपीठ अरुनतल लसति बिसद नखश्रेनी। जनु रबिसुता सारदा सुरसरि मिलि चलि ललित त्रिबेनी ॥ अंकुस कुलिस कमल ध्वज सुंदर भ्रमर तरंग बिलासा। मज्जहिं सुर सज्जन मुनिजन मन मुदित मनोहर बासा ॥ बिनु बिराग जप जाग जोग ब्रत बिनु तीरथ तनु त्यागे। सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभुपद प्रयाग अनुरागे ॥' इति गीतावल्याम् (७। १४)। माधव

[1] सं० १६६१ वाली प्रतिमें 'पूजहि' और 'हरषहि' पाठ है। 'हरषहि' के अनुस्वार पर हरताल है। ऊपर 'मज्जहिं' है उसी तरह यहाँ 'पूजहिं' और 'हरषहिं' उत्तम जान पड़ते हैं।

और अक्षयवटका सम्बन्ध है। वे अक्षयवटके पत्रमें निवास करते हैं। इसीसे दोनोंको एक साथ कहा। अक्षयवटसे भेंटनेकी रीति है। 'परसि' से भेंटनेसे तात्पर्य है।

नोट—१ माघ मकर मासमें माधव भगवानकी पूजाकी विशेषता इस कारण है कि वे मासके स्वामी हैं। विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'द्वादश महीनेके माहात्म्यमें परमेश्वर क्रमशः एक एक नामसे पूज्य समझे गए हैं। अगहनमें केशव, पूसमें नारायण, माघमें माधव, फागुनमें गोविन्द, चैतमें विष्णु, वैशाखमें मधुसूदन, ज्येष्ठमें त्रिविक्रम, आषाढ़में वामन, श्रावणमें श्रीधर, भादोंमें हृषीकेश, कुँवारमें पद्मनाभ, और कार्तिकमें दामोदरका विशेष माहात्म्य समझा गया है।'

२ मानस दीपक एवं रा० प० का मत है कि 'अभिजित भम नक्षत्रपर सूर्य आते हैं इससे मकर अति पावन है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि माघमें माहात्म्य इससे अधिक होता है कि इस अवसर पर दो प्रयाग, एक भूमण्डलका दूसरा भानुमण्डलका एकत्र हो जाते हैं। काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं—'माघमें काहे महातम लाग सब दिन मिलत प्रयाग। महिमंडलको यह प्रयाग नित थामें नहिं कछु दाग। दिव्य प्रयाग भानुमंडल में ताको सुनहु विभाग॥ कछुक उदित रवि सोई गंगा अनुदिन जमुना लाग। सरस्वती प्राची अस गाई संगम ललित सोहाग॥ मकरै में रवि अरुण नाम कै भए मो लाग। दोउ प्रयाग मिलत हैं या में यह सुनते मन पाग। कछुक उदित रवि में नहाइ अस व्यासदेव को याग। यही भाव कोमल दरसावत भाग जनन को जाग॥'

३ यहाँ 'दरस, परस, मज्जन' तीनों दिखाए। 'पूजहिं माधव०' से दर्शन, 'परसि अछयबटु०' से स्पर्श और 'सादर मज्जहिं' से स्नान।

४ 'हरषहिं गात' इति। वीरकविजीका मत है कि 'गात शब्दमें मन या हृदयकी लक्षणा है, क्योंकि हर्षका स्थान हृदय या मन है, गात नहीं'—परन्तु 'हर्ष' का अर्थ 'पुलकित होना' भी है। यह अर्थ ग्रहण करनेसे लक्षणाकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मन भावन॥ ६॥
तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। जाहिं जे मज्जन* तीरथ राजा॥ ७॥
मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परस्पर हरिगुन गाहा॥ ८॥

शब्दार्थ—आश्रम=ऋषियों, मुनियों, साधु संतोंका निवासस्थान। रम्य-सुन्दर, रमणीय। मन-भावन=मनको भाने या अच्छा लगनेवाला। प्रातः-सबेरे प्रभातके समय।☞ रातके अन्तमें सूर्योदयके पूर्वका काल। यह तीन मुहूर्तका माना गया है। जिस समय सूर्योदय होनेको होता है उससे डेढ़ दो घंटे पहले पूर्व दिशामें कुछ प्रकाश दिखाई पड़ने लगता है और उधरके नक्षत्रोंका रंग फीका पड़ना प्रारंभ होता है तभीसे इस कालका प्रारम्भ माना जाता है। (श० सा०)। 'पंच पंच उषः कालः सप्तपञ्चारुणोदयः। अष्टपञ्च भवेत् प्रातः पश्चात्सूर्योदयस्मृतः॥' इस प्रमाणानुसार पचपन दण्ड बीतनेपर (अर्थात् सूर्योदयसे पाँच दण्ड पहले) उषः काल, छप्पन दण्डपर (अर्थात् सूर्योदयके चार दण्ड पूर्व) अरुणोदय, सत्तावनपर प्रातः और उसके पश्चात् सूर्योदय होता है।

अर्थ—श्रीभरद्वाजजीका आश्रम अत्यन्त पवित्र, परम रमणीय और श्रेष्ठ मुनियोंके मनको भानेवाला है। ६। वहाँ (उनके आश्रममें) उन मुनियों, ऋषियोंका समाज होता है जो तीर्थराज प्रयागमें स्नानको जाते हैं। ७। (वे सबके सब) प्रातःकाल उत्साहपूर्वक स्नान करते हैं और आपसमें एक दूसरेसे भगवान्के गुणोंकी कथा कहते हैं। ८।

टिप्पणी—१ (क) 'अति पावन' का भाव कि प्रयागराजकी सभी भूमि तथा समस्त प्रयागवासियों

* मज्जहिं—ना० प्र०; १७०४। मज्जन—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

के आश्रम पावन हैं और भरद्वाजजीका आश्रम 'अति पावन' है। इसका कारण आगे कहते हैं कि 'तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा।' (ख) 'मुनिवर मन भावन' इति। जो स्थान पवित्र और सुन्दर होता है वही मुनियोंके मनको भाता है, यथा—'आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा।', 'सुचि सुदर आश्रम निरखि हरषे राजिवनयन', तथा यहाँ 'भरद्वाज आश्रम अति पावन'। इसीसे यहाँ 'अति पावन' और 'परम रम्य' कहकर तब 'मुनिवर मन भावन' कहा।

प० प० प्र०—भरद्वाजजी श्रीवाल्मीकिजीके शिष्य थे। यह अद्‌भुत रामायणसे सिद्ध है। यद्यपि महर्षि वाल्मीकिजीके आश्रममें 'खग मृग विपुल कोलाहल करहीं। विरहित बैर मुदित मन चरहीं। २। १२४। ८।' ऐसी स्थिति थी जो बात श्रीभरद्वाजजीके आश्रममें नहीं थी, तथापि महर्षि वाल्मीकिजीके आश्रमको 'अति पावन परम रम्य' विशेषण न देकर केवल 'सुचि सुदर आश्रम' कहा गया है, यह बात कुछ खटकती सी है। पर मर्म यह है कि भरद्वाजाश्रम 'मुनिवर-मन-भावन' है, मुनिवरोंकी दृष्टिमें यह अति पावन और परमरम्य है, पर वाल्मीकि आश्रम इतना शुचि (पावन) और इतना सुन्दर (रम्य) है कि वह 'कोटि-काम कमनीय', 'आनदहूके आनददाता', 'जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी' ऐसे श्रीराम रघुनाथजीको भी आनदकर हुआ, उनको वह शुचि और सुदर देख पड़ा और वे देखकर आनन्दित हुए—'सुचि सुदर आश्रम निरखि हरषे राजिवनैन'। 'अनुपम न उपमा आन राम समान राम' को शुचि सुदर लगा और उससे उनको हर्ष कहकर कविने जना दिया कि उसकी शुचिता और रमणीयता अनुपम है, अनिर्वचनीय है, 'अति' और 'परम' आदि शब्दोंसे उसका कहना असभव है।

टिप्पणी—२ (क) 'तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा' इति। 'मुनि रिषय समाजा' कहनेका भाव कि प्रयागराजमें आते तो सभी कोई हैं— देव दनुज किंनर नर श्रेनी', पर समाज सबका नहीं होता। समाज केवल ऋषियों मुनियोंका होता है। (ख) 'जाहिं जे मज्जन' इति। 'तहाँ होइ' से सूचित होता है कि इस आश्रमपर ऋषि मुनि सदैव रहते हैं, उन्हींका समाज होता रहता है। अतएव कहा कि 'जाहिं जे०' अर्थात् जो स्नान करने जाते हैं उन्हीं ऋषियों- मुनियोंकी सभा होती है। (यहाँ 'समाज' के दोनों अर्थ लगते हैं—जुटाव और सभा। ऋषि मुनि यहाँ आकर जुटते हैं और उनकी सभा होती है।)

नोट—१ मुनि और ऋषि पर्यायवाची शब्द हैं। यथा—'विश्वामित्र महामुनि आए। बा० २१४।' और 'रिषय सग रघुबसमनि। बा० २१७।' यहाँ कहते हैं कि 'तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा' परन्तु आगे इनके जानेके समय इनमेंसे एक ही शब्द दिया है जिससेभी स्पष्ट है कि ये दोनों शब्द पर्यायी हैं। यथा—'मकर मज्जि गवनहिं मुनिबृंदा।४५।२।', 'सब मुनीस आश्रमन्हि सिधाए।४५।३।' ☞ इस अर्द्धालीमें दोनों शब्द एकसाथ आए हैं, इस कारण इन दोनोंमें महानुभावोंने कुछ सूक्ष्म भेद कहा है। वह यह कि—(क) मुनि मननशील हैं और ऋषि मत्रद्रष्टा। (रा० प्र०)। (ख) मुनि ध्यान करनेवाले और ऋषि कर्मकाडी हैं। (पा०)। (ग) ईश्वर, धर्म और सत्यासत्यादिका सूक्ष्म विचार करनेवाले मननशील महात्मा मुनि कहे जाते हैं। जैसे कि—अगिरा, पुलस्त्य, भृगु, कर्दम, पचशिख आदि। आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वोंका साक्षात्कार करनेवाले, वेदमत्रोंके प्रकाशक महात्माओं की 'ऋषि' सज्ञा है। ऋषि सात प्रकारके माने गये हैं—(१) महर्षि जैसे व्यास। (२) परमर्षि जैसे भेल। (३) देवर्षि जैसे नारद। (४) ब्रह्मर्षि जैसे वसिष्ठ। (५) श्रुतर्षि जैसे सुश्रुत। (६) राजर्षि जैसे ऋतुपर्ण। (७) काडर्षि जैसे जैमिनि। एक पद ऐसे सात ऋषियोंका माना गया है जो कल्पान्त प्रलयमें वेदोंको रक्षित रखते हैं। (श० सा०)। (घ) कोई कोई कहते हैं कि जो महात्मा पत्नीसयुक्त भजन करते हैं वे मुनि हैं और जो अकेले रहते हैं वे ऋषि हैं। परन्तु इसका अपवाद है।

☞ महाभारत आदि पर्व अध्याय ९१ में ययातिजीने अष्टकजीसे 'मुनि' की व्याख्या इस प्रकार की है कि—'अरण्ये वसतो यस्य ग्रामो भवति पृष्ठतः। ग्रामे वा वसतोऽरण्य स मुनिः स्याज्जनाधिपः ॥९॥' अर्थात् जिसके वनमें रहनेपर नगरके सब भोग पीछे पड जाते हैं और नगरमें बसते हुये वन आँखोंके सामने

खड़ा रहता है, वही सच्चा मुनि है। अर्थात् नगरके भोग विलास त्यागकर जो वनमें रहे। घर रहित अपने गोत्र और शाखाके अभिमानसे रहित कोपीनमात्र धारणकर जीवन-रक्षामात्र अन्न भोजन करता हुआ नगरमें रहनेवाला भी 'मुनि' है, वन उसके सामने माना गया है। (श्लोक १२, १३)।

नोट—२ 'मज्जहिं प्रात०' इति। 'प्रात' पद देनेका भाव यह है कि स्नान तो त्रिकाल होता है। प्रातः, मध्याह्न और सायं। यथा 'पावन पय तिहुँकाल नहाहीं।' (अ०)। और अन्यत्र अनेक स्थानोंमें कथाका समाज प्रायः चौथे पहरमेंही जुटता है, दोपहरके भोजन और विश्रामके उपरान्त स्नानके पश्चात् कथाका नियम पाया जाता है, यथा 'लगे कहन कछु कथा पुरानी॥ बिगत दिवस गुरु आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई।' परन्तु यहाँ यह नियम था कि प्रातःकाल स्नानके पश्चात् ही समाज होता था। माघमें प्रातः स्नानका विशेष माहात्म्य है। यही स्नान मुख्य है। (पंजाबीजी)। एक ही पंक्तिमें 'मज्जहिं प्रात०' और 'कहहिं परस्पर' शब्द देनेसे भी इसी भावकी पुष्टि होती है।

टिप्पणी—३ (क) 'मज्जहि प्रात समेत उछाहा' इति। उत्साहपूर्वक कर्म करनेसे धन धर्मकी वृद्धि होती है और उत्साह भंग होनेसे, मनमें मंद या मलिनता आजानेसे दोनोंकी हानि होती है। यथा-'उत्साहभंगे धन धर्म हानि.'। 'सादर मज्जहिं'''। ४४।४।' में प्रमाण देखिए। अनुत्साह का कारण प्रायः अश्रद्धा ही होता है और अश्रद्धासे किया हुआ कर्म धर्म सब व्यर्थ होता है। [उत्साह यह है कि शीतका भय नहीं करते। (वै०) (ख)—'कहहि परस्पर' का भाव कि कथाकी रीतिके अनुसार समाज नहीं होता कि कोई एक विशेष व्यक्ति कहे और सब सुनें वरंच सभी कहते हैं। तात्पर्य कि अनेक जगहके, देश देशके, ऋषि मुनि एकत्रित हुये हैं, सबकी इच्छा यही होती है कि सबकी वाणी सुननेको मिले। अतएव सब अपनी अपनी मतिके अनुसार श्रीरामजीके गुणोंका कथन करते हैं। ('परस्पर' का भाव दीनजी यह कहते हैं कि जो जिससे सत्संग करनेका इच्छुक होता था उसका उससे समागम होता था।)

४ इस दोहेमें प्रयाग माघ-स्नानकी विधि, कथाका देश और काल कहे गए हैं। विधि यह बताई है कि—प्रातःकाल स्नान करे, फिर माधवजीकी पूजा करके अक्षयवटका स्पर्श करे, तत्पश्चात् भरद्वाज मुनिका दर्शन कर तथा कथा सुने और कहे। (यह प्रथा गोस्वामीजीके समय थी और अबतक चली आती है।) 'भरद्वाज आश्रम अति पावन' में देश और 'प्रात समेत उछाहा' से काल का निर्देश किया गया।

दोहा—ब्रह्म निरूपन धर्म-बिधि बरनहिं तत्व-बिभाग।
कहहिँ भगति भगवंत कै संजुत ज्ञान बिराग॥४४॥

अर्थ—ब्रह्मका निरूपण, धर्मके विधान और तत्वके विभागोंका वर्णन करते हैं और ज्ञान-वैराग्य संयुक्त भगवान्की भक्ति कहते हैं॥४४॥

नोट—१ ब्रह्मका वर्णन नहीं हो सकता, यथा—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥' इसीसे ब्रह्मका निरूपण करना कहा।

टिप्पणी—१ इस दोहेमें प्रथम तीर्थराज प्रयागको कहा, यथा 'भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा' तथा 'तीरथ-पतिहि आव सब कोई'। फिर भगवानके पद-प्रयाग को कहा, यथा—'पूजहिं माधव पद जलजाता' और अब यहाँ तीसरे प्रयाग अर्थात् संतसमाज प्रयागको कहते हैं। तीर्थराज प्रयागमें सरस्वती, यमुना और गंगा हैं और इस संतसमाज प्रयागमें ब्रह्म-निरूपण सरस्वतीजी हैं, यथा—'सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा'। धर्म विधि यमुनाजी हैं, यथा—'बिधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनंदिनि बरनी॥' और भगवानकी भक्ति गंगाजी हैं, यथा—'राम भगति जहँ सुरसरि धारा'।

२ भगवान्के छः ऐश्वर्य हैं—ब्रह्म निरूपण, धर्मविधि, तत्व विभाग, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य। इसीसे 'भगवंत' कहा।

'ब्रह्मनिरूपण, धर्मविधि, तत्वविभाग'

१ (क) ब्रह्मनिरूपणसे उत्तरमीमांसा, धर्मविधिसे पूर्वमीमांसा, तत्वविभागसे सांख्य शास्त्र, 'भगति भगवंत कै' से शाण्डिल्य सूत्र, नारद पंचरात्र, श्रीमद्भागवत और भक्ति भाव संग्रह इत्यादि भक्तिके ग्रंथ और ज्ञानसे वेदान्तशास्त्र अभिप्रेत हैं। इनकी कुछ विशेष व्याख्या आगे लिखी जाती है—

(ख) ब्रह्मेति। उत्तरमीमांसा ब्रह्मविद्या अथवा वेदान्त। जिस तरह पूर्वमीमांसाका विषय 'धर्म' है उसी तरह उत्तरमीमांसाका विषय ब्रह्म है—'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'। ब्रह्म कौन है? उसका क्या स्वरूप है? अथवा वह कैसा अर्थात् किस गुण स्वभावका है? कौन ब्रह्म नहीं है?—इत्यादि सब विचार उसमें किये गये हैं। उसे वेदान्त इसलिये कहते हैं कि वह वेदोंका अन्तिम रहस्य है। वेदान्तका अर्थ है वेदोका अन्त अर्थात् शिरोभाग। इन शिरोभागोंको ही उपनिषत् कहा जाता है। उसमें सब वेदोंका अन्तिम रहस्य अर्थात् ब्रह्मनिरूपण ही विशेष करके प्रतिपादित है। इन उपनिषदोंकी एकवाक्यता और पूर्वापर विरोधका निरास करनेके लिये भगवान् व्यासने ब्रह्मसूत्रोंकी रचना की जिसका आदिम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' है। इन ब्रह्मसूत्रोंमें यह सिद्धान्त कर दिया गया कि समस्त वेदोंका अन्तिम निर्णय वा साध्य ब्रह्मप्राप्ति है। फिर भी ब्रह्मसूत्रोंके दुर्बोध होनेसे उनपर कतिपय आचार्योंने भाष्य किये। आजकल जो भाष्य प्रसिद्ध हैं उनमेंसे प्रथम श्रीशङ्कराचार्यजीका है जिसमें अद्वैत सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया गया है। उनके पश्चात् श्रीरामानुजाचार्य जीका भाष्य है जिसमें उन्हीं सूत्रोंसे विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार श्रीमध्वाचार्यजी, श्रीनिम्बार्काचार्यजी, श्रीवल्लभाचार्यजी आदिनेभी अपने अपने मतानुसार भाष्य किये हैं। सुना जाता है कि श्रीशङ्कराचार्यजीके पूर्व भी ग्यारह बारह भाष्य हो चुके थे। इन सब ग्रन्थोंमें अथवा इनके आधारपर और भी जो ग्रन्थ लिखे जाते हैं उनमें जो विषय निरूपित है वह सब वेदांत शब्दसे कहा जाता है और यही सब ब्रह्मनिरूपणसे लक्षित है। वेदोंके कर्म स्वरूपसे परे उसकी गति है। अतः 'ब्रह्मनिरूपण' से ब्रह्मविचारात्मक वेदान्तदर्शन ही गृहीत है।

(ग) प० प० प्र० का मत है कि 'यहाँ 'ब्रह्म' शब्दसे 'वेद' अभिप्रेत हैं, क्योंकि 'ज्ञान' शब्दमें 'ब्रह्म-परब्रह्मनिरूपण' का अन्तर्भाव होता है। ब्रह्म-निरूपण=वेदप्रवचनादि।'

२ धर्मेति। (क)—मीमांसादर्शनके दो भाग हैं—एक पूर्वमीमांसा, दूसरा उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा विधिनिषेधात्मक कर्मका निरूपण करता है और यही धर्मशास्त्रका विषय है। उसका प्रथम सूत्र है—'अथातो धर्मजिज्ञासा'। धर्म क्या वस्तु है? उसके क्या लक्षण हैं? पात्र आदि भेदसे उसका कैसा-कैसा स्वरूप होता है? यही सब उसके वर्ण्य विषय हैं। अतः धर्मविधिसे धर्मशास्त्र अथवा पूर्वमीमांसा ही अभिप्रेत है। पूर्वमीमांसाके कर्त्ता व्यासजीके शिष्य जैमिनिजी हैं।

(ख) 'धर्म विधि' इति। 'धर्म धरति विश्वं वा ध्रियते जनैः स धर्मः' अर्थात् जो विश्वको धारण करता है अथवा जो लोगोंसे धारण किया जाता है वह धर्म है। पुनः, धर्म=वेदविहित कर्म। यथा अमरकोशे—'धर्मस्तु तद्विधिः। तेन (वेदेन) विधीयते यज्ञादिः धर्म उच्यते।' अर्थात् वेदके द्वारा जिसका विधान किया गया है वह यज्ञादि कर्म 'धर्म' कहा जाता है। 'धर्मविधि'=धर्मस्यविधिः कथनं यस्मिन् (ग्रन्थे) स धर्मविधिः।' अर्थात् 'धर्मविधि' शब्दसे वेद, स्मृति, पुराण, पूर्वमीमांसा आदि, तथा इन सबोंके आधारपर आधुनिक निर्णयसिंधु, धर्मसिन्धु आदि ग्रन्थ और उनमें प्रतिपादित धार्मिक विषय कहे जा सकते हैं, जिसको सक्षेपमें कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्र कह सकते हैं।

कर्मके दो भेद हैं—एक विधि, दूसरा निषेध। 'सत्यं वद' यह विधि है। 'दिवा निद्रां मा कुरु' यह निषेध है। इनके भी नित्य, नैमित्तिक और काम्य ऐसे तीन भेद हैं। जो कर्म नित्य आचरण करनेको कहा गया है, जिसका कोई निमित्त नहीं है वह 'नित्य कर्म' है। जैसे कि संध्योपासना, एकादशीव्रत आदि। ये सब 'नित्य विधि' हैं। झूठ न बोलो, चोरी न करो, आदि 'नित्य निषेध' हैं। जो किसी निमित्तसे विधि

निषेध कहे जाते हैं वे नैमित्तिक हैं। जैसे कि ग्रहणमें स्नान 'नैमित्तिक विधि' है और ग्रहणमें भोजन न करो यह 'नैमित्तिक निषेध' है। जो किसी कामनामें किया जाय वह 'काम्य' है। जैसे कि पुत्रकी इच्छा करनेवाला पुत्रकामेष्टि यज्ञ करे, यह 'काम्य विधि' है। संततिका कल्याण चाहनेवाला सोमवारको मुण्डन न करे (बाल न बनवाये) यह 'काम्य निषेध' है। इनमेंसे नित्य और नैमित्तिक आचरण न करनेसे दोष लगता है और काम्य कर्म तो अपनी इच्छा पर है।

इन सब कर्मोंके 'सामान्य और विशेष' ये दो भेद हैं। जो मनुष्यमात्रके लिये कहे गये हैं वे 'सामान्य' हैं। जो किसी वर्ण या आश्रम आदिके लिये कहे गये हैं वे 'विशेष' हैं।

इस प्रकार इस विषय (धर्म विधि) का यथार्थ ज्ञान तो उपर्युक्त ग्रन्थोंके पढ़नेसे ही हो सकता है, यहाँ दिग्दर्शनमात्र किया गया है।

☞ उपर्युक्त ग्रन्थोंमें कर्मकाण्ड या धार्मिक विषय प्रतिपादनके समय मोक्ष या भगवत्प्राप्तिकी विशेष चर्चा नहीं है, तथापि इनके सुननेसे मनुष्य नरकादिजन्य दुःखके डरसे पापोंसे निवृत्त हो सकता है, तथा सुखके लिये पुण्यमें प्रवृत्त हो सकता है। ये सब कर्मफलकी आशा न रखकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ या अपना कर्तव्य समझकर करे तो इनके द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है जो मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके लिये अत्यन्त आवश्यक है। जब तक चित्तमें अनेक विषयवासनाएँ हैं तबतक उसे अशुद्ध कहते हैं। विषयवासनाओंके नष्ट होनेपर वह शुद्ध कहा जाता है। यथा—'प्रशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्'। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्। १८।६।', 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।३।२०।' अतः महात्मालोग प्रसंगानुसार इस विषयकी भी चर्चा करते हैं।

(ग) वि० टी०—'धर्मविधि' इति। 'राजशिक्षासोपान' नामकी पुस्तकसे—शास्त्रोंके अनुसार धर्मकी अनेक परिभाषायें हैं सो यों कि—(अ) 'वेदप्रणिहितकर्म धर्मस्तन्मङ्गलपरम्। प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः स गुणोऽधर्म उच्यते।' अर्थात् जो परममङ्गलकारी कर्म वेदविहित है वह 'धर्म' और वेदमें जिसका निषेध किया है वह 'अधर्म' कहाता है। (आ) 'प्राप्नुवन्ति यतः स्वर्गमोक्षौ धर्मपरायणाः। मानवा मुनिभिः नूनं स धर्म इति कथ्यते।' अर्थात् जिस कर्मके द्वारा मनुष्य स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त होते हैं पूज्यपाद महर्षियोंने उसे धर्म कहा है। (इ) 'सत्त्ववृद्धिकरो योऽत्र पुरुषार्थोऽस्ति केवलः। धर्मज्ञास्तमेवाहुः धर्मं केचिन्महर्षयः।' अर्थात् जो पुरुषार्थ सत्त्वगुणको बढ़ानेवाला हो कोई कोई महर्षि उसको धर्म कहते हैं। (उ) 'यो बिभर्ति जगत्सर्वं ईश्वरेच्छा ह्यलौकिकी। सैव धर्मो हि सुभगे नेह कश्चन संशयः।' अर्थात् जो अलौकिकी ईश्वरेच्छा इस जगत्को धारण करती है वही धर्म है—इन सब वचनोंका खुलासा यह है कि जिन शारीरिक, वाचिक, और मानसिक कर्मोंके द्वारा सत्त्वगुणकी वृद्धि हो उनको 'धर्म' कहते हैं और जिनके द्वारा तमोगुणकी वृद्धि हो उन्हें 'अधर्म' कहते हैं। यथा—'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥' अर्थात् प्राणिमात्र पर दया करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, शुद्धता और इन्द्रियोंको वशमें रखना—ये संक्षेपसे चारों वर्णोंके धर्म मनुजीने कहे हैं।

(घ) महाभारत कर्णपर्वमें भगवान्ने अर्जुनजीसे कहा है कि—'प्राणियोंके अभ्युदय और कल्याणके लिये ही 'धर्म' की व्याख्या की गई है। जिससे इस उद्देश्यकी सिद्धि हो वही 'धर्म' है। धर्म का नाम धर्म इसलिये पड़ा कि वह सबको धारण करता है, अधोगतिमें जानेसे बचाता है और जीवनकी रक्षा करता है। जिस कर्मसे प्राणियोंके जीवनकी रक्षा हो वही 'धर्म' है। जो कर्म अहिंसासे युक्त हो वह 'धर्म' है। वनपर्वमें धर्म व्याधने धर्मकी व्याख्या इस प्रकारकी है—'धर्म-न्याययुक्त कर्मोंका आरम्भ। धर्म तीन प्रकारके हैं। वेदप्रतिपादित, धर्मशास्त्रवर्णित और सत्पुरुषोंके आचरण। वेद, स्मृति और सदाचार ये तीन धर्मका ज्ञान करानेवाले हैं।' शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहजीका वचन है कि धर्मके अनेक विधान हैं, पर इन सबोंका आधार 'दम' है। महर्षि देवस्थानने युधिष्ठिरजीसे कहा है कि खूब विचार करके बुद्धिमानोंने यही

निश्चय किया है कि किसीसे द्रोह न करना सत्य भाषण करना, दान देना, सबपर दया रखना, इन्द्रियोंका दमन करना, अपनी ही स्त्रीसे पुत्रोत्पन्न करना तथा मृदुता, लज्जा और अचचलता धारण करना यही 'प्रधान धर्म' है और यही स्वायम्भुवमनुने कहा है। इस भगवान्‌ने साध्यगणोंसे कहा है कि अपने उपस्थ, उदर, हाथ और वाणीको पापसे बचाये रखना 'धर्म' है। ☞ एक ही क्रिया देश और कालके भेदसे 'धर्म' या 'अधर्म' हो जाती है। लोक और वेदमें धर्मके दो भेद हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति। निवृत्तिका फल मोक्ष है और प्रवृत्तिका बारम्बार जन्म मरण। विशेष विनयपीयूष पद १० में देखिए। धर्मके आठ अंग कहे गये हैं, यथा—'इज्याध्ययन दानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा। अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।'

३ 'तत्वविभाग' इति। (क) तत्त्वविभागसे प्रकृतिके तत्त्वोंका विचार जिस दर्शनमें किया गया है (अर्थात् सांख्य दर्शन) उसका ग्रहण है। इस दर्शनमें पृथ्वी, जल, पवन, तेज, आकाश, मन, बुद्धि, प्रकृति, प्रधान प्रकृति और उसके लक्षण, उसकी विकृति आदिका विचार किया गया है। गोस्वामीजीने अन्यत्र भी इस दर्शन, इसके विषय और कर्त्ताकी चर्चा की है। यथा—'सांख्य सास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्व बिचार निपुन भगवाना। १। १४२।'

(ख) प्रत्येक मनुष्यका परब्रह्म परमात्माको जानना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनके जाने बिना न तो वह उनकी भक्ति कर सकता है, न उनकी प्राप्ति और न मोक्ष ही पा सकेगा। जिस प्रकार तिलमें तेल अथवा दूधमें घृत व्याप्त है, उसी प्रकार इस चराचर जगत्‌में परमात्मा भी व्याप्त है। अतः चराचर जगत् के मूल तत्वोंका जानना भी परमावश्यक है। इस विषयका विचार सांख्य शास्त्रमें किया गया है। इस शास्त्र के आद्य आचार्य भगवदवतार 'कपिलदेव' महामुनि हैं। उन्होंने 'सांख्य सूत्र' बनाया है जिसपर पण्डितोंने भाष्य आदि भी लिखे हैं तथा इनके आधार पर और ग्रन्थ बनाये हैं जिनमेंसे 'सांख्यकारिका' और उसकी टीका 'सांख्य तत्व कौमुदी' आजकल प्रसिद्ध हैं और प्रामाणिक मानी जाती हैं। इस ग्रन्थ में एक कारिकामें तत्व गिनाये हैं। यथा—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो।' अर्थात् मूल प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—ये पाँच तन्मात्रायें, पंच महाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी), दस इन्द्रियाँ और मन प्रकृतिके चौबीस तत्व हैं। पुरुष (जीवात्मा) को मिलाकर कुल पचीस तत्व हैं। इनमें से 'मूलप्रकृति' तो सबकी प्रकृति ही है, वह किसीकी विकृति नहीं है। आगे वाले सात तो पूर्वकी अपेक्षा विकृति और आगेवालोंकी अपेक्षा प्रकृति हो सकते हैं। अतः उनको प्रकृति और विकृति दोनों कहा जा सकता है। इनके बादवाले सोलह (महाभूतादि) तो विकृति ही हैं। पुरुष न किसीकी प्रकृति है और न विकृति ही। तत्वोंके विभागके विषयमें बहुत मत भेद है। कोई तत्वोंकी संख्या २६ बताते हैं, तो कोई २५ और कोई २४ ही कहते हैं। इसी तरह कोई ७, कोई ९, तो कोई ४, ११, १३, १६, या १७ स्वीकार करते हैं। भा० ११।२२ में भगवानने उद्धवसे इसका कारण बताते हुए अपने वक्तव्यमें सबका समन्वय किया है और सभीके विचारोंको सुसंगत बताया है। पाठक विस्तारपूर्वक इसका ज्ञान उसे पढ़कर प्राप्त कर सकते हैं। गीता १३।५ में भी यह स्थूल शरीर २४ तत्वोंका समूह कहा गया है यथा—'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥" अर्थात् पंचमहाभूत (पृथ्वी,जल,तेज,वायु और आकाश) अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय और मन तथा पंचतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस,गंध) चौबीस तत्व हैं।

यद्यपि सांख्य शास्त्रमें ईश्वरकी चर्चा नहीं किन्तु खंडनही है तथापि वेदान्तका निरूपण तत्वविभाग जाने बिना ठीक नहीं हो सकता। अत. हमारे आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें समय समयपर आवश्यक विषयका प्रतिपादन किया है। इसीसे महात्मा लोगभी उसकी चर्चा करते हैं जैसे कि उपर्युक्त दोहेसे स्पष्ट है।

४ 'भगति' इति। भक्तिसे भगवत्भक्तिका उद्बोधन है। जीवोंके एकमात्र ध्येय, ज्ञेय और उपास्य भगवान् हैं। वे अनन्त कल्याणगुणोंकी राशि हैं। उनके कारुण्य, औदार्य और सौशील्यादि दिव्य गुण भक्तों आर्त्तजनोंकेलिये अत्यंत हितकर और उनके उत्साहके बढ़ानेवाले हैं, उन्हें गंगाके मूलोद्गम भगवच्चरणारविंदो

की ओर खींचनेवाले हैं। इस संसाररूप महासागरके लिये उससे जीवोंका उद्धार करनेकेलिये वे बोहित (जहाज) के सदृश हैं, यथा—'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्। वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्। मं० श्लो०।' भगवत्के अतिरिक्त जितने संबन्ध हैं वे सब मिथ्या, तुच्छ और अनित्य हैं। जीव उसीके अंशभूत हैं, अतः उसीके हैं और उनकी सभी वस्तुएँ उसीकी हैं। उन्हें व्यर्थके अहङ्कार और ममकारसे छूटकर अपनेको सर्वतोभावसे उसीके चरणोंपर अर्पण कर देना चाहिये। यही जीवोंका परमधर्म और एकान्त पुरुषार्थ है।

पद्मपुराण पातालखण्डमें श्री अम्बरीषजीके पूछनेपर कि 'किस मनुष्यको कब, कहाँ, कैसी और किस प्रकार भक्ति करनी चाहिये' श्रीनारदजीने भक्तिका वर्णन इस प्रकार किया है कि—भक्ति मानसी, वाचकी, कायिकी, लौकिकी, वैदिकी तथा आध्यात्मिकी अनेकों प्रकारकी है। ध्यान, धारणा, बुद्धि तथा वेदार्थके चिन्तनद्वारा जो भगवान्को प्रसन्न करनेवाली भक्तिकी जाती है, उसे 'मानसी' भक्ति कहते हैं। दिन रात अविश्रान्तभावसे वेदमन्त्रोंके उच्चारण, जप तथा आरण्यक आदिके पाठद्वारा जो भगवान्की प्रसन्नताका सम्पादन किया जाता है, उसका नाम 'वाचिकी' भक्ति है। व्रत, उपवास, और नियमोंके पालन तथा पाँचों कर्मेन्द्रियोंके संयमद्वारा की-जानेवाली आराधना 'कायिकी' भक्ति है। पाद्य, अर्घ्य आदि उपचार, नृत्य, वाद्य, गीत, जागरण तथा पूजन आदिके द्वारा जो भगवानकी सेवा की जाती है उसे 'लौकिकी' भक्ति कहते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके जप, संहिताओंके अध्ययन आदि तथा हविष्यकी आहुति, यज्ञ योगादिके द्वारा की जानेवाली उपासनाका नाम 'वैदिकी' भक्ति है। 'आध्यात्मिकी' भक्ति योगजन्य है। इसका साधक सदा अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर प्राणायामपूर्वक ध्यान किया करता है। वह ध्यानमें देखता है कि भगवान् का मुखारविन्द अनन्त तेजसे प्रदीप्त हो रहा है, यज्ञोपवीत शरीरपर शोभा पा रहा है। वे पीताम्बर धारण किये हैं। उनके नेत्र जीकी जलनको हर रहे हैं, इत्यादि।

पद्मपुराण उत्तरखण्डमें श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे भक्तिका स्वरूप इस प्रकार बताया है कि—"भक्ति तीन प्रकारकी बताई गई है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सात्त्विकी उत्तम है, राजसी मध्यम है और तामसी कनिष्ठ है। मोक्षफलके इच्छुकोंको श्रीहरिकी उत्तम भक्ति करनी चाहिये। अहंकारको लेकर, या दूसरोंको दिखानेके लिये अथवा ईर्ष्यावश या दूसरोंका संहार करनेकी इच्छासे जो किसी देवताकी भक्ति की जाती है वह 'तामसी' है। विषयोंकी इच्छा रखकर अथवा यश और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये भगवान्की जो पूजा की जाती है वह राजसी है। कर्मबंधनका नाश करनेके लिये भगवानके प्रति आत्मसमर्पणकी बुद्धि करनी सात्त्विकी भक्ति है। जैसी भक्ति की जाती है वैसीही गति प्राप्त होती है।"

५ "ज्ञान" इति। ज्ञानसे मतलब भगवत्स्वरूपके परिज्ञानसे है। आत्म और अनात्म पदार्थोंके विवेकको ज्ञान कहते हैं। भगवान् सत्य हैं और दिव्य सच्चिदानन्दविग्रह हैं। यह संसार अनित्य है और मनोबुद्धिसहित यह शरीर नश्वर है।—यही ज्ञान है।

६ 'बिराग' इति। यह संसार असत्य है। इसके समस्त पदार्थ अनित्य हैं। पुत्र कलत्रादि समस्त सम्बन्ध मिथ्या हैं, ये सभी भगवान्से विमुख करनेवाले हैं। यह यौवन अस्थिर है और यह जीवन चंचल है, अन्तमें एक दिन मरना है। अतः इनमें नहीं फँसना चाहिये और भगवच्चरणोंका चिन्तन करना चाहिये। शब्द स्पर्शादि पंचविषयोंसे मन को हटाकर और इस संसारको मायाजाल एवं दुःखस्वरूप जानकर तथा इस शरीरको बंधन परन्तु साथही साधनस्वरूप मानकर आत्म स्वरूपमें वृत्तिको स्थिर करना परम कर्त्तव्य है।

७ 'भगति....संजुत ज्ञान बिरागा' इति। भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी व्याख्या मानसमें स्थल-स्थलपर आयी है। विनयपत्रिका पद २०५ में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य क्या हैं यह थोड़ेमें इस प्रकार बताया गया है—

"सम संतोष विचार विमल अति सतसंगति ए चारि दृढ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निस्सेष करि परिहरु।२॥
श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु।
नयनन्हि निरखि कृपासमुद्र हरि अग जग रूप भूप सीतावरु॥३॥
इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ व्रत आचरु।"

नारदपंचरात्रमें भी यही कहा है, यथा—"हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।"

☞ अन्तमें 'संजुत ज्ञान बिराग भक्ति' को कहकर सूचित किया है कि संतसमाज प्रयागके सत्संग का निष्कर्ष ज्ञानवैराग्य-संयुक्त भक्ति है। ज्ञान और वैराग्य बिना-भक्तिके शोभित नहीं होते और भक्ति भी दृढ़ तभी होती है जब वह ज्ञान और वैराग्यसे युक्त हो—यह सिद्धान्त दृष्टिगोचर रखकर ही गोस्वामीजीने अन्यत्रभी कहा है कि—'सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।', 'बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।' (अ०), 'श्रुति-संमत हरिभगतिपथ संजुत बिरति बिबेक।' (उ०), तथा 'जुग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा। बा० ४०।' ज्ञान और वैराग्य साथमें होनेसे भक्तिकी शोभा विशेष हो जाती है इसीसे ज्ञानी भक्त 'प्रभुहिं बिसेष पियारा' कहा गया है।

अस्तु। प्रयागमें मुनियोंका मकरके अवसर पर जब समागम होता था तब उनमें ब्रह्ममीमांसा, धर्म-मीमांसा, सृष्टितत्त्व, भगवद्भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी चर्चा होती थी—इस प्रकार सत्संग होता था। इनका वर्णन स्थल-स्थलपर प्रसंगानुसार रामचरित मानसमें भी है और होनाही चाहिये, क्योंकि जब उसमें उस अवसरके मुनियोंका (भरद्वाज याज्ञवल्क्यका) संवाद है तब वे विविध विषय भी आने ही चाहिये, उनका आना स्वाभाविक ही है।

नोट—२ करुणासिंधुजीने ब्रह्मनिरूपण आदिपर विस्तारसे लिखा है। पाठक यदि चाहे तो वहाँ देख लें। धर्म और भक्ति आदिके विषयमें पूर्व भी लिखा जा चुका है।

३ चिदचित् (जीव और प्रकृति) और ब्रह्मका शरीर शरीरी संबन्ध है, यथा श्रुतिः—'यस्यात्मा-शरीरं', 'यस्य पृथिवी शरीरं', 'यस्य सर्वं शरीरं' इत्यादि। शरीर शरीरीमें अभेद माना जाता है। शास्त्रोंका यह निश्चित सिद्धान्त है कि ब्रह्म सर्वेव चिदचिद्विशिष्ट ही रहता है, निर्विशेष चिन्मात्र नहीं। इसीसे ब्रह्मके निरूपणमें ब्रह्मके शरीरभूत जीव और कारण प्रकृतिका निरूपणभी आगया। अतएव इनका पृथक् निरूपण नहीं कहा गया। प्रकृतिके कार्यभूत तत्त्वोंका विभागशः वर्णन होता है, अतः उसका वर्णन कहा गया। (वे० भू०)

प० प० प्र०—ब्रह्म निरूपण, धर्मविधि और तत्त्व विभागके सम्बन्धमें 'बरनहिं' अर्थात् वर्णन करना कहा और भक्तिको 'कहहिं' ऐसा कहा। यह भेद मानसमें ध्यानमें रखने योग्य है। भक्ति रस है, यथा 'राम-भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेस।', 'हरिपद रति रस "'। रसका आस्वादन करनेसे तोष प्राप्तिकी अनुभूति होती है। यथा 'स्वाद तोष सम सुगति सुधा के'। रस कहनेका विषय नहीं है, अतः यहाँ 'कहहिं भगति' से 'कहहिं भगति कथा' ही समझना चाहिए।

एहि प्रकार भरि माघ नहाहीं। पुनि सब निज-निज आश्रम जाहीं॥१॥
प्रति संबत अति होइ अनंदा। मकर मज्जि गवनहिं मुनि बृंदा।२।

अर्थ—इसप्रकार (अर्थात् जैसा ऊपर कह आये हैं कि 'मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परस्पर हरिगुन-गाहा॥') सब पूरे माघभर स्नान करते हैं फिर सब अपने अपने आश्रमोंको लौट जाते हैं॥१॥ हर साल अत्यन्त आनन्द होता है। मकरस्नान करके मुनिवृंद चले जाते हैं॥२॥

१ अति—१६६१, रा० प०, गौड़जी, ना० प्र०। अस-दीनजी।

टिप्पणी—१ 'भरि माघ नहाहीं' इति। 'भरि माघ' नहानेका भाव कि एक दिन भी कम नहीं होने पाता, क्योंकि यदि एक दिन भी कम होजाय तो कल्पवास खंडित हो जाता है इसीसे चान्द्रमास और सौर मास दोनोंके साथ 'भरि' पद दिया गया है। यथा 'भरि माघ नहाहीं' और 'एक बार भरि मकर नहाए'।

२ 'एहि प्रकार' से 'कथामें अंतर न पड़ना' जनाया, यथा 'मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परसपर हरि गुन गाहा॥ एहि प्रकार भरि माघ नहाहीं।' 'भरि माघ' से दिनका अंतर न पड़ना और 'प्रति संबत' से वर्षका भी अंतर न पड़ना जनाया। अर्थात् प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक माघ और मकरमासमें प्रत्येक दिन स्नान और कथा इसी प्रकार होती है।

३ 'प्रति संबत अति होइ अनंदा' इति। 'प्रति संबत' का भाव कि वे मुनि कल्पवासमें संवत्का भी अंतर नहीं पड़ने देते। पुनः भाव कि सत्संगसे अत्यन्त आनन्द मिलता है अतः वे प्रति संवत् आते हैं। इससे सदाकी यही रीति सूचित की। (किसी निश्चित समय तक अनवरत तीर्थसेवनका नाम कल्पवास है।)

४ यहाँ जाना दो बार कहा गया, यथा 'पुनि सब निज निज आश्रम जाहीं' और 'मकर मज्जि गवनहिं मुनि बृंदा।' दो बार लिखनेका कारण यह है कि—(क) कुछ लोग चान्द्रमास भर ही स्नान करते हैं और कुछ माघ (चान्द्र) और सौर (मकर) मास दोनों। जो चान्द्रमास भर नहाते हैं वे उसकी पूर्तिपर चले जाते हैं, दूसरे मासके पूरा होनेकी राह नहीं देखते। इनका जाना 'एहि प्रकार... आश्रम जाहीं' में कहा। मुनिवृंद मकरस्नानके पूरे होनेके पहले नहीं जाते, वे चान्द्र और सौर दोनों मास पूरा करते हैं। इसीसे इनका जाना पीछे कहा। पुनः (ख) ४४ (३-४) में प्रथम कहा था कि 'तीरथपतिहि आव सब कोई॥ सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी।' फिर इनसे पृथक् मुनियों ऋषियोंको कहा गया था, यथा 'तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा।' इनका स्नान भी देव दनुजादिसे पृथक् कहा गया है, यथा—'मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।'—इसी प्रकार यहाँ अब पहले 'आव सब कोई'—वालों का जाना 'पुनि सब निज...' से कहा और फिर मुनिवृंदोंका जाना कहा। (ग) मकरके सूर्यका निश्चय नहीं कि माघहीमें रहे। कभी तो सूर्य पौषहीमें मकर राशिपर आजाते हैं और कभी माघमें, तथा कभी माघभर मकरके सूर्य रहते हैं। जिनका माघस्नानका नियम है वे माघकी समाप्तिपर चले जाते हैं।

नोट—१ मु० रोशनलालने 'माघ' की जगह 'मकर' पाठ लिया है। प्रकाशक (खड्ग विलास प्रेस) लिखते हैं कि कोई हठ करते हैं कि 'मकर' ही शुद्ध पाठ है क्योंकि सब ठौर मकरकाही स्नान लिखा हुआ है। यथा—'एहि प्रकार भरि मकर नहाहा।', 'मकर मज्जि गवनहिं मुनिबृंदा।', 'एक बार भरि मकर नहाए' तथा 'माघ मकरगत रबि जब होई।'—इसका उत्तर ४४ (३) और उपर्युक्त टिप्पणीमें भी है।

पंजाबीजी लिखते हैं कि 'माघ मकरगत रबि जब होई' में 'माघ' कहनेसे ही मकरगत रविका बोध हो जाता था। परन्तु मास दो प्रकार का होता है। अतः दो पद देकर दो मास सूचित किये हैं।

प० रामवल्लभाशरणजी कहते हैं कि— परन्तु ज्योतिषमें प्रत्येक मास चार प्रकारका कहा गया है— चान्द्र, सौर, सावन और नाक्षत्र। शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे लेकर अमावस्या तकका काल मुख्य या अमांत चान्द्रमास कहलाता है। (चान्द्रमास गौणभी होता है जो कृष्णप्रतिपदासे पूर्णिमान्ततक माना जाता है। श० सा०)। एक संक्रान्तिसे दूसरे संक्रान्तितकके मासको 'सौरमास' कहते हैं। जिसमें पूरे तीस दिन हों वह 'सावन' मास है। जितने कालमें चन्द्रमा अश्विनी नक्षत्रसे चलकर सत्ताईस नक्षत्रोंपर एकबार घूमकर फिर अश्विनीपर आता है उसे 'नाक्षत्र' मास कहते हैं। प्रमाण यथा—'दर्शावधिं चान्द्रमुशन्ति मासं सौरं तथा भास्करभानुभोगात्। त्रिंशद्दिनं सावन संज्ञमाहुर्नाक्षत्रमिंदोर्भगणभ्रमाच्च।' आपके मतानुसार उपर्युक्त टि० ४ में जहाँ जहाँ "चान्द्र" शब्द आया है वहाँ वहाँ 'सावन' शब्द होना चाहिये। श० सा० में लिखा है कि 'सावन' मासका व्यवहार व्यापारादि व्यावहारिक कामोंमें होता है, यह किसी दिनसे आरंभ होकर तीसवें दिन समाप्त होता है।

२ माघ चान्द्रमासका ग्यारहवाँ महीना है। मानसभावप्रकाशमें लिखा है कि 'माघ=मा (निषेध)+

अघ=मल पापकर। मघा नक्षत्र पूर्णमासीको होता है अतः माघ नाम पड़ा। कोई कहते हैं कि 'माघ पुष्प (कुन्द) इस मासमें फूलता है अतः इसका नाम माघ पड़ा।' राशि बारह हैं। उनके नाम ये हैं—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुंभ और मीन। मकर दशवीं राशि है। उत्तराषाढ़ नक्षत्रके तीन पाद, पूरा श्रवण नक्षत्र और धनिष्ठाके आरंभके दो पाद हैं। इसे पृष्ठोदय, दक्षिण दिशाका स्वामी, रूक्ष, भूमिचारी, शीतलस्वभाव और पिंगल वर्णका, वैश्य, वातप्रकृति और शिथिल अंगोंवाला मानते हैं। ज्योतिषके अनुसार इस राशिमें जन्म लेनेवाला पुरुष परस्त्रीका अभिलाषी, धन उड़ानेवाला, प्रतापशाली, बात चीतमें बहुत होशियार, बुद्धिमान और वीर होता है। इसका स्वरूप मगर या घड़ियालका सा होता है।

प० प० प्र०—यहाँ 'अनन्दा' और 'वृंदा' से यमककी विषमता द्वारा प्रदर्शित किया है कि मुनि गणके गमनसे आनन्द घट जाता है। 'संत मिलन सम सुख कछु नाहीं' और 'बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं' कहा ही है।

एक बार भरि मकर नहाए। सब मुनीस आश्रमन्ह सिधाए॥ ३॥
जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥ ४॥

अर्थ—एक बार (की बात है कि) सब मुनीश्वर मकरभर स्नान करके अपने अपने आश्रमोंको चले ।३। (तब) भरद्वाजमुनिने परमविवेकी याज्ञवल्क्यमुनिके चरणोंपर माथा रखकर उनको रोक रक्खा ।४।

नोट—१ 'भरि मकर'—४५ (१ २) देखिये। 'भरि मकर नहाए' इति। मकरभर स्नान करके सब मुनीश्वरोंका जाना कहनेसे सूचित हुआ कि श्रीरामचरितमानसकथा फाल्गुनमें हुई। मकरमास फाल्गुनमें समाप्त हुआ।

२ 'जागबलिक मुनि परम बिबेकी' इति। श्रीमद्भागवत १२।६।५५-७४ में इनकी कथा इस प्रकार है—याज्ञवल्क्यजीने ऋग्वेदसंहिता बाष्कलसे, और बाष्कलने पैलसे सुनी। पैलने व्यासजीसे पढ़ी थी। इसी प्रकार यजुर्वेद संहिता व्यासजीने अपने शिष्य वैशम्पायनसे कही। यह संहिता याज्ञवल्क्यजीने वैशम्पायनसे पढ़ी। वैशम्पायनको ब्रह्महत्या लगी तब उनके शिष्य चरकाध्वर्यने हत्या दूर करनेवाले व्रतका आचरण किया। तब याज्ञवल्क्यजीने कहा—'हे भगवन्! इन अल्पवीर्य ब्राह्मणोंके किये हुये व्रतसे ऐसा क्या लाभ है? मैं अकेलाही दुश्चरव्रतका आचरण करूँगा'—'याज्ञवल्क्यश्च तच्छिष्य आहाहो भगवन्कियत्। चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम्। भा० १२.६.६२।' यह सुन वैशम्पायनजी रुष्ट होकर बोले—'मुझे ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले तुम ऐसे शिष्यसे कोई प्रयोजन नहीं है, तू तुरन्तही मुझसे पढ़ी हुई विद्या त्याग दे और यहाँसे चला जा।'—'इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याह्यलं त्वया। विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति ।६३।' तब याज्ञवल्क्यजीने उन यजु. (श्रुतियों) को वमन कर दिया और वहाँसे चल दिये। उन वमनरूपसे पड़े हुए यजुर्वेदके मंत्रों (श्रुतियों) को (जो अत्यन्त सुरम्य थे) देखकर अन्यान्य मुनियोंने लोलुपतावश तीतररूप रखकर ग्रहण कर लिया। (तीतररूपसे निगला, क्योंकि ब्राह्मणरूपसे वमनको कैसे निगलते?)। इससे वह अत्यन्त मनोहर यजु: शाखा तैत्तिरीय शाखा कहलाई। तत्पश्चात् याज्ञवल्क्यजीने, वैशम्पायन भी जिनको न जानते हों ऐसी यजु: श्रुतियोंकी प्राप्तिके लिये सूर्यभगवान्‌की आराधना की। स्तुति श्लोक ६७ से ७२ तक है। अन्तमें अपनी अभिलाषा कही—'अहमयातयामयजु: काम उपसरामीति ।७२।' अर्थात् मैं यजुर्वेद के ऐसे मंत्रोंके पानेकी प्रार्थना करता हूँ जो अन्य ऋषियोंको अविदित अथवा यथावत् न ज्ञात हों। स्तुतिसे प्रसन्न हो भगवान् सूर्यने अश्वरूप धारणकर उनकी कामनाके अनुसार उन्हें वैसीही (अयातयाम) यजुः श्रुतियाँ प्रदान कीं, जिनसे याज्ञवल्क्यजीने पन्द्रह शाखाओंकी रचना की। अश्वरूप सूर्यके वाजस (गर्दनके बाल या वेग) से उत्पन्न होनेसे यजुर्वेदकी यह शाखा वाजसनेयी शाखाके नामसे प्रसिद्ध हुई।

नारायण विट्ठल वैद्य पुरन्दरे पुणतांबेकरजी वैशम्पायनके ब्रह्महत्या आदिके सम्बन्धमें लिखते हैं

कि—एक बार समस्त ऋषियोंने किसी विषयके सम्बन्धमें विचार करनेके लिये सुमेरु पर्वतपर एक सभा करनेका निश्चय किया और यह नियम किया कि जो ऋषि उस सभामें सम्मिलित न होगा उसको सात दिन के लिये ब्रह्महत्या लगेगी। उस दिन वैशम्पायनजीके पिताका श्राद्ध था, इसलिये वे अपनी नित्य क्रियाके लिये अँधेरेहीमें उठकर स्नानको जाने लगे तो एक बालकपर उनका पैर पड़ा और वह मर गया। इस बाल-हत्याके शोकसे वे सभामें न जा सके। इस प्रकार एक तो उन्हें बालहत्या लगी, दूसरे ब्रह्महत्या। उन्हीं दोनों हत्याओंके निवारणार्थ वैशम्पायनजीने अपने सब शिष्योंसे प्रायश्चित्त करनेको कहा और सबोंने करना स्वीकार किया। इसपर याज्ञवल्क्यजीने अन्य शिष्योंका तिरस्कार किया। (आगेकी कथा भागवतसे मिलती है)।—(शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिन वाजसनेयी आह्निक सूत्रावली)।

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३१८ में कथा है कि मोक्षवित जनकके पिता देवरातजीने एकबार यज्ञ किया। अध्वर्यु कर्ममें जो प्रायश्चित्त आदि रहता है उसे वैशम्पायनजी करा रहे थे। उसके करनेमें कुछ त्रुटि हो जानेसे यज्ञमें कुछ न्यूनता मालूम पड़ी। उस समय याज्ञवल्क्यजीने वैशम्पायनजीका तिरस्कार किया। तब जनक तथा वैशम्पायन दोनोंने इनसे प्रार्थना की कि उसकी पूर्ति करा दें। याज्ञवल्क्यजीने अपने वेदोंसे उस त्रुटिकी पूर्ति कराई। यज्ञ समाप्त होनेपर देवरातजीने वैशम्पायनको जब दक्षिणा दी तब याज्ञवल्क्यजीने उनका विरोध किया और कहा कि यह सब दक्षिणा हमको मिलना चाहिये न कि वैशम्पायनको, क्योंकि यज्ञकी पूर्ति तो हमने अपने वेदोंसे कराई है। अन्तमें महर्षि देवलने वह दक्षिणा दोनोंमें आधी-आधी बँटवा दी। याज्ञवल्क्यने उनके कहनेसे उसे स्वीकार कर ली।—(यह कथा वैशम्पायनकी शिष्यता छोड़नेके बादकी जान पड़ती है। भगवान् सूर्यसे सरस्वतीकी कृपासे जो वेदोंकी शाखाएँ उन्होंने पढ़ी थीं उसीसे यज्ञकी पूर्ति उन्होंने कराई थी। इससे स्पष्ट है कि वे वैशम्पायनसे कहीं अधिक विद्वान् थे।)

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि ये ऋषि वसिष्ठजीके कुलमें उत्पन्न याज्ञवल्क्य ऋषिके पुत्र थे और वैशम्पायनके भानजे भी थे। (परन्तु श्रीमद्भागवतमें इनको देवरातका पुत्र कहा है—'देवरातसुतः सोऽपि च्छर्दित्वा यजुषां गणम्। १२. ६. ६४।)

श्रीजानकीशरणजी वैशम्पायनजीकी अप्रसन्नताका कारण यह लिखते हैं कि—'एक बार उन्होंने किसी राजाको पुत्रं तु यज्ञीयाक्षत याज्ञवल्क्यजीके हाथ भेजा और आज्ञा दी कि यह अक्षत राजाके हाथमें देना। इन्होंने जाकर द्वारपालद्वारा राजाको कहला भेजा कि आशीर्वादी अक्षत राजा स्वयं आकर ले जायँ। राजाने ठहरनेको कहा। जब बहुत समय बीत गया और वह नहीं आया तब वे लौट आए। मुनिने इनको फिर भेजा। इस बारभी राजा सायंकालतक बाहर न आया। तब इन्होंने वह अक्षत राजद्वारपर फेंक दिया और लौट आए। गुरुके पूछनेपर आपने कहा कि आप मेरे विद्यागुरु हैं, आपकी आज्ञासे मैं कई बार गया परन्तु अभिमानी राजा न आया तब मैं अक्षतको द्वारपर रखकर और प्रतिहारसे कहकर चला आया। मुनिने फिर जानेको कहा। इन्होंने जानेसे इनकार किया और गुरुके अप्रसन्न होनेपर उनसे पढ़ी हुई विद्या उगल दी।' उपनिषद् ब्राह्मणभागमें भी यह कथा कही जाती है। भागवतमें अप्रसन्नताका कारण भिन्न है जो ऊपर लिखा गया है। श. सा. में लिखा है कि याज्ञवल्क्यजीने जो श्रुतियाँ उगलीं वे कीड़ारूपसे रेंगने लगीं तब वैशम्पायनके अन्य शिष्योंने उन्हें तीतररूपसे चुग लिया और जानकीशरणजी लिखते हैं कि सरषप (सरसों) रूपमें वे श्रुतियाँ उगली गई थीं। उनका मत है कि सूर्य भगवानने उनको सामवेद पढ़ाया। (पर इसका प्रमाण भागवत द्वादशमें नहीं है जिसके आधारपर वे कथा दे रहे हैं)।

भगवान् सूर्यके प्रसादसे ये शुक्लयजुर्वेद वाजसनेयीसंहिताके आचार्य हुए। वि. टीकाकार लिखते हैं कि 'इनका मत यह था कि धर्मानुसार एकान्तवासमें परब्रह्मका ध्यान करना अवश्य है। इसी हेतु ये योग-विद्याके आदिकारण समझे जाते हैं। कात्यायनी और मैत्रेयी इनकी दो स्त्रियाँ थीं। इनमेंसे मैत्रेयीको इन्होंने ब्रह्मविद्या आपसकी बातचीतकी रीति पर पढ़ाई थी।' 'ये शुक्लयजुर्वेद, शतपथब्राह्मण और बृहदारण्यक

उपनिषद्के द्रष्टा समझे जाते हैं।' वाजसनेयीसंहिताके आचार्य होनेसे इनका नाम वाजसनेय भी हुआ। [विशेष ४५ (७-८) 'कहत सो मोहि लागत भय लाजा' में देखो] श० सा० में तीन याज्ञवल्क्योंकी चर्चा है। एक तो वे जो राजाजनकके दरबारमें रहते थे, योगीश्वरयाज्ञवल्क्यके नामसे प्रसिद्ध थे और गार्गी और मैत्रेयी जिनकी पत्नियाँ थीं। दूसरे, इन्हींके एक वंशधर स्मृतिकारका भी यही नाम था। मनुस्मृतिके उपरान्त इन्हींकी स्मृतिका महत्त्व है और उसका दायभाग आज भी कानून माना जाता है।—ये श्रीजनकमहाराजके गुरु हैं, यथा—'जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है' (गी० १। ८५)। इनको रामचरितमानस भुशुण्डीजीसे प्राप्त हुआ, यथा—'तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। १। ३०।' और इन्होंने भरद्वाजजीसे कहा।

नोट—३ 'परम विवेकी' इति। ये कैसे विवेकी थे यह इस कथासे विदित हो जायगा जो आगे दी जाती है। एक बार जनकमहाराजने ब्रह्मनिष्ठ ऋषियोंका समाज एकत्र किया और एक सहस्र सवत्सा गौओंको अलंकृतकर यह प्रतिज्ञा की कि जो ऋषि ब्रह्मनिष्ठ हो वह हमारे प्रश्नोंका उत्तर दे और इन गौओंको ले जाय। सब ऋषि सोचने लगे कि ब्रह्मनिष्ठ तो हम सभी हैं तब दूसरोंका अपमान करके हममें-से कोई एक इन गायोंको कैसे ले जाय। (कोई-कोई कहते हैं कि सब ऋषि असमंजसमें पड़े कि भला इनके प्रश्नोंका उत्तर किससे बन पड़ेगा। पर इस कथनका प्रमाण कोई नहीं मिला।) इतनेमें याज्ञवल्क्यजी आये और उन्होंने यह कहते हुए कि मैं ब्रह्मनिष्ठ हूँ अपने शिष्योंको आज्ञा दी कि इन गौओंको आश्रमपर ले जाओ, मैं इनके प्रश्नोंका उत्तर दूँगा। इसपर अन्य सब ब्रह्मनिष्ठ ऋषि बिगड़ गए। तब इन्होंने सबको परास्त किया। देवरातजीके पुत्र मोक्षवित् जनकके यहाँ यह समाज हुआ। वे याज्ञवल्क्यजीके शिष्य हो गए और वनमें जाकर अभ्यासकर ब्रह्मनिष्ठ हो गए। तभीसे उनका नाम 'विदेह' हुआ। और जितनेभी राजा उस कुलमें हुए वे भी 'विदेह' ही कहलाए। याज्ञवल्क्यजी कुलके गुरु हो गए। यथा—'जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है' (गी १ ८५), 'यह सन जागबलिक कहि राखा। २. २८५।'

४ 'भरद्वाज राखे पद टेकी' इति। (क) 'टेकना' पंजाबी मुहाविरा है। उदासियोंमें अभी 'मत्था टेकूँ' कहा जाता है। इसका अर्थ है 'चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम करना'। 'सामने साष्टाङ्ग पड़ जाना, कहना कि मेरी तो विदा करनेकी इच्छा नहीं है, आप मेरे ऊपर पैर धरकर अर्थात् बलात् भले ही चले जायँ'—यह भी पद टेकनेकी एक रीति है, परन्तु यहाँ यह भाव नहीं है। बुँदेलखण्डमें 'टेकना' और 'धरना' पर्यायी शब्द हैं। टेकी=धरकर। यथा—'जानु टेकि कपि भूमि न गिरा। उठा सँभारि बहुत रिस भरा॥ लं० ८३।' पद टेकी=चरण पकड़कर, पैरों पड़कर, प्रार्थना करके। (ख) 'पद टेकी', पद देकर दरसाया कि भरद्वाजजीने उनको बराबरीके भावसे नहीं रोका किन्तु गुरुभावसे रोका। दीनजी रोक रखनेका कारण यह कहते हैं कि तिरहुत बड़ा विज्ञानी देश है। याज्ञवल्क्यजीको वहाँका समझकर रोक रक्खा।

सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे॥ ५॥
करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदु बानी॥ ६॥

शब्दार्थ—पखारना (प्रा० पक्खाडन। सं० प्रक्षालन)=धोना; यथा 'जौं प्रभु अवसि पार गा चहहू। तौ पद पदुम पखारन कहहू।' (अ०)। चरन सरोज=कमल समान चरण।

अर्थः—आदरपूर्वक उनके चरणकमल धोये और अत्यन्त पवित्र आसनपर बैठाया। ५। मुनिकी पूजा करके और उनका सुंदर यश बखानकर (भरद्वाजजी) अत्यन्त पवित्र मीठी कोमल वाणी बोले। ६।

नोट—१ 'करि पूजा' इति। पूजाके प्रायः तीन भेद हैं। कोई-कोई १८, ३६ और ६४ उपचार मानते हैं। श्रीदुर्गाकल्पद्रुमके शास्त्रार्थपरिच्छेदान्तर्गत 'उपचारविषयक विचार' में पूजाके तीन भेद—पंचोपचार, दशोपचार और षोडशोपचार—माने गये हैं। यथा 'गंधपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यमितिपंचकम्। पंचोपचार-माख्यातं पूजने तत्त्वविद्बुधैः॥ पाद्यमर्घं चाचमनं स्नानं वस्त्रनिवेदनम्॥ गंधादयो नैवेद्यान्ता उपचारा दश-

क्रमात् ॥ आवाहनासन पाद्यमर्घमाचमनीयकम् । स्नानं यज्ञोपवीतं च गंधमाल्यान्यनुक्रमात् ॥ धूपदीपं च नैवेद्यं तांबूल च प्रदक्षिणा । पुष्पांजलिरितिप्रोक्ता उपचारस्तु षोडश ॥' अर्थात् गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसे जो पूजा होती है उसे पंचोपचार, जिसमें इनके अतिरिक्त पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान (श० सा० के मतसे आचमनीय और मधुपर्क) और वस्त्रनिवेदन भी हों उसे दशोपचार और जिसमें इन सबोंके अतिरिक्त आवाहन, आसन, उपवीत, तांबूल, प्रदक्षिणा और पुष्पांजलि (श० सा० के अनुसार आसन, स्वागत, स्नान, वस्त्र, आभरण और वन्दना) भी हो उसे षोडशोपचार कहते हैं। षोडशोपचारका एक श्लोक यह है—'आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम् । मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्रं च भरणानि च ॥ सुगंध सुमनो धूपं दीपं नैवेद्य वन्दनम् ;' और इनके अतिरिक्त जिसमें माल्य और स्तवपाठ हो वह अष्टादशोपचार है।❀ यहाँ 'सादर चरन सरोज पखारे' अर्थात् चरणप्रक्षालनसे पाद्य, 'आसन बैठारे' से आसन और 'मुनि सुजस बखानी' से वन्दना ये तीन उपचार प्रत्यक्ष कहे गए। 'करि पूजा' पद देकर पूजाके शेष उपचार भी सूचित कर दिये गये।

७ कुछ लोगोंका मत है कि षोडशोपचार पूजन किया गया। षोडशोपचारमें अन्तमें वन्दन है वही यहाँ 'सुजस बखानी' से सूचित किया है। परन्तु श० सा० में लिखा है कि षोडशोपचारपूजनमें आसन और स्वागतके पश्चात् और दशोपचारमें सर्वप्रथम पाद्य ही की विधि है। (श. सा. २०७४)।

टिप्पणी—१ 'मुनि सुजसु बखानी' इति। यह कि आपने अमुक अमुक महात्माओंके भ्रम, संशय और अज्ञान दूर किये, अमुक-अमुकको आपके द्वारा भक्ति और ज्ञानकी प्राप्ति हुई, अनेक पापियोंको आपने भगवत्सम्मुख कर उनको पवित्र यश प्रदान किया, आपकी महिमा जगत्मात्रमें विख्यात है, महाराज जनक ऐसे योगी भी आपको गुरु पाकर कृतार्थ हुए हैं, आपहीके प्रसादसे सिद्धिको प्राप्त हुए। योग ज्ञान-विज्ञान और भक्तिके आप समुद्र हैं, सर्वज्ञ हैं। इत्यादि।

२ 'बोले अति पुनीत मृदु बानी' इति। निश्छल सरल वाणी 'पुनीत' कही जाती है, यथा—'प्रश्न उमाके सहज सुहाई। छल बिहीन मुनि सिव मन भाई ॥', 'एकबार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना ॥', 'सुनत गरुड़ कै गिरा बिनीता। सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता ॥ उ० ६४।' इत्यादि। जो प्रश्न या बातें दूसरेकी परीक्षा लेने या अपनी चतुराई, बुद्धि इत्यादि जतलानेके विचारसे की जाती हैं वे पुनीत नहीं हैं। भरद्वाजजीके वचन 'अति पुनीत' हैं अर्थात् उनके पवित्र, सरल और निश्छल हृदयसे निकले हुए हैं। पुनीत वचन कभी कभी सुननेमें कठोर होते हैं अतः कहा कि इनके वचन कोमल हैं।

नोट—३ कुछ लोगोंका मत है कि साधारण धर्मसंबंधी बातें जैसे जप, तप, तीर्थ, व्रत, आदि पुनीत हैं और भगवत्सम्बन्धी वाणी 'अति पुनीत' है। 'पुनीत' और 'मृदु' दो विशेषण देकर भीतर और बाहर दोनोंसे पवित्र दिखाया—हृदयसे पुनीत और बाहर सुननेमें मृदु। (पं०)

❀ पूर्वाचार्योंने पूजाके पाँच प्रकार बतलाए हैं जो उपर्युक्त उपचारोंके अन्तर्गत आ जाते हैं। जिनका विभाग इस प्रकार है—'अभिगमनमुपादानं योगस्स्वाध्यायमेव च । इज्येति पंचमश्चैवमर्चाभेदं निगद्यते ॥' पूज्यके स्थानपर जाकर प्रणाम करना, वहाँका निर्माल्य हटाना, झाड़ू लगाना आदि कर्म 'अभिगमन' है। दल फूल फल चंदन पार्षदादिपूजोपकरणका संग्रह 'उपादान' है। 'आत्मवत्सेवनं कुर्यात्' के अनुसार भावना करना 'योग' कहलाता है। 'अर्थानुसंधानैः पूर्वमंत्रानुसंधानं परम्' के अनुसार मंत्रार्थानुसंधानपूर्वक मंत्रजप, सूक्तस्तोत्रादिका पाठ, गुण-नामादिका कीर्त्तन और वेदान्तादि शास्त्रोंका अध्ययन 'स्वाध्याय' है। ५, १०, १६, १८ एवं ६४ उपचारोंसे शक्ति अनुसार पूजा करना 'इज्या' है। उपर्युक्त सब प्रकारके पूजन मुक्तिदायक हैं। ६४ उपचारोंसे केवल भगवान्का पूजन होता है, अन्यका नहीं। (वेदान्तभूषणजी)।

नाथ एक संसउ* बड़ मोरें। करगत बेदतत्व† सब तोरें॥ ७॥
कहत सो मोहि लागत‡ भय लाजा। जौं न कहौं बड़ होइ अकाजा॥ ८॥

शब्दार्थ—संसउ (संशय)=दो या कई बातोंमेंसे किसी एकका भी मनमें न बैठना।=अनिश्चयात्मक ज्ञान, सन्देह, शंका।=वस्तुका ज्ञान न होना-(पां०)। करगत=हाथोंमें प्राप्त, मुट्ठीमें। ☞ समस्तपदके आदिमें 'गत' शब्द 'गया हुआ', 'रहित' वा 'शून्य' का अर्थ देता है। और अन्तमें 'प्राप्त', 'आया हुआ', 'पहुँचा हुआ' का अर्थ देता है। जैसे—गतप्राण, 'अंजलिगत सुभ सुमन जिमि'। तत्व=सिद्धान्त, वास्तविक सार वस्तु। अकाज=अनर्थ, हानि, कार्यका बिगड़ जाना। यथा 'पर अकाज भट सहसबाहु से', 'होइ अकाजु आजु निसि बीते।' (अ०)।

अर्थ—हे नाथ! मेरे मनमें एक बड़ा भारी सन्देह है और सम्पूर्ण वेदतत्व आपकी मुट्ठीमें है (अर्थात् आप समस्तवेदोंके समस्ततत्वके पूर्णज्ञाता हैं, अतएव आप मेरा सन्देह निवारण करनेको समर्थ हैं)। ७। उसे कहते मुझे भय और लज्जा लगती है और यदि न कहूँ तो बड़ी हानि है। ८।

टिप्पणी—१ 'नाथ एक संसउ बड़ मोरें' इति। 'बड़' का भाव कि यह संशय सामान्य नहीं है क्योंकि यह अपने आप समझने समझानेसे नहीं जाता। यथा 'नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा। उ० ५८।' और न आपको छोड़ किसी दूसरेके समझानेसे जानेका है। सामान्य होता तो एक तो अपने ही समझने समझानेसे चला जाता, नहीं तो अन्य ऋषियोंके समझानेसे तो अवश्य ही निवृत्त हो सकता था। ☞ ऊपर याज्ञवल्क्यजीको 'परम विवेकी' विशेषण दे आए हैं। उसका तात्पर्य यहाँ खोला है कि यह संशय सामान्य विवेकीसे निवृत्त नहीं हो सकता। अन्य ऋषि मुनि वेदज्ञ हैं, अतः विवेकी हैं और आपको तो सम्पूर्ण वेदतत्वका हस्तामलकवत् साक्षात्कार हो रहा है अतः आप 'परम विवेकी' हैं। परमविवेकीसे ही इस संशयकी निवृत्ति हो सकती है।

२ 'करगत वेदतत्व सब तोरें' इति। (क) भरद्वाजजी श्रीरामयश पूछना चाहते हैं, यथा—'चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रश्न मनहु अति मूढ़ा॥ बा० ४७।' और, रामयश वेदोंका सार है; यथा 'बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुतिसिद्धांत निचोरि। बा० १०९।' इसीसे यहाँ कहा कि सब वेदतत्व आपके करगत हैं, मुट्ठीमें हैं। तात्पर्य कि जो संपूर्ण वेदतत्वका ज्ञाता नहीं है, उसे वेदोंमें रामयश सूझता ही नहीं, इसीसे वह रामविषयक शंकाओंका समाधान नहीं कर सकता। कथनका अभिप्राय यह है कि रामयश कहकर मेरा संशय दूर कीजिये। अथवा यों कहिये कि—(ख) भरद्वाजजीने कहा कि वेदतत्व आपके करतलगत है, अतः आप हमारे संशयको दूर करें। इसपर याज्ञवल्क्यजीने श्रीरामचरित कहकर उनका सन्देह दूर किया। इससे यह निष्कर्ष निकला कि श्रीरामचरित ही वेदका तत्व है। अथवा, (ग) भरद्वाजजीके 'करगत वेदतत्व सब तोरें' से पाया गया कि हमें उस 'तत्व' में संदेह है। श्रीरामरूपमें सन्देह होना ही वेदतत्वमें संशय होना है, क्योंकि वसिष्ठजीका वाक्य है कि 'वेदतत्व नृप तव सुत चारी' और याज्ञवल्क्यजी वसिष्ठजीके तुल्यही वेदज्ञ हैं। ['करगत' एवं 'करतलगत' मुहावरा है। अर्थात् जैसे हथेलीपर रक्खी हुई वस्तु मनुष्य निरावरण सर्वांग भलीभाँति देखता है वैसेही आपको समस्तवेदतत्वका साक्षात्कार है, सब तत्व प्रत्यक्ष देख पड़ता है]।

नोट—१ 'कहत सो मोहि लागत भय लाजा' इति। यहाँ भय और लाज दो बातें कहीं। भयके कारण ये हैं कि—(क) कहीं आप यह न समझें कि हमारी परीक्षा ले रहे हैं और ऐसा समझकर कहीं शाप न दे दें। (ख) 'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ' यह मेरा प्रश्न सुनकर कहीं आप अप्रसन्न न होजायँ, यहभी भय होसकता है क्योंकि यही बात कहनेपर श्रीशिवजी पार्वतीजीपर अप्रसन्न होगये। यथा 'राम सो अवध-

* संसैउ—१६६१। संसउ—ना० प्रा०। † तत्वबेद—भा० दा०। ‡ लाग—ना० प्र०, लागति—१७२१, १७६२, छ०। लागत—१६६१। १७०४, को० रा०।

नृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥ जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि०॥बा० १०८॥'(यह पार्वतीजीका प्रश्न था, इसपर शिवजीने कहा है कि) 'एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोहवस कहेहु भवानी॥ तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। पाखंडी हरिपदविमुख जानहिं झूठ न साँच॥११४॥', और, आगे भरद्वाजजीके प्रश्न करनेपर याज्ञवल्क्यजीनेभी यहही डाला है, यथा 'कीन्हिहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा॥४७॥' 'अतिमूढ़ा' शब्दोंमें उपर्युक्त शिवजीकी डाँटफटकारका समावेश होजाता है। श्रीयाज्ञवल्क्यजीकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। (सूर्य्यभगवान्से सब विद्या प्राप्त होनेके बाद) और लोग आपसे बड़े उत्कट प्रश्न किया करते थे। आपने सूर्यभगवान्से शिकायत की तब उन्होंने वर दिया कि जो कोई तुमसे वैसा प्रश्न करेगा अर्थात् जो कोई तुमसे वादविवाद करके तुम्हारे निश्चित किये हुए यथार्थ सिद्धान्तपरभी वितण्डावाद करेगा, उसका सिर फट जायगा। कोई-कोई कहते हैं कि जनकमहाराजके समाजमें पंचशिख मुनिने वितण्डावाद किया जिससे उनका सिर फट गया। स्नेहलताजी लिखते हैं कि परमहंसिनी ब्रह्मवादिनी गार्गीका सिर फट गया। परन्तु हमें इन दोनोंका प्रमाण कहीं मिला नहीं। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३१० में देवरातके पुत्र मोक्षवित् राजाजनकके यहाँ याज्ञवल्क्य ब्रह्मनिष्ठ संवाद हुआ था; यथा 'याज्ञवल्क्यं ऋषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशाः। पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्नविदांवरः॥४॥' बृहदारण्य मधुकाण्ड तृतीयाध्यायमें ब्रह्मवादिनी गार्गी और अन्य ब्रह्मनिष्ठ ऋषियोंके साथ याज्ञवल्क्यजीका संवाद है जिसमें राजामोक्षवित्भी थे। उस ब्रह्मनिष्ठ संवादमें भरद्वाज, गार्गी, शाकल्य और जनकमहाराज ये ही प्रधान थे। याज्ञवल्क्यजीने सबका परास्त किया। उनका यह प्रभाव देख गार्गी उनकी शरण हो उनकी स्तुतिकर घरको चली गई। शाकल्यको परास्त होनेसे दुःख हुआ और उन्होंने याज्ञवल्क्यजीका उपहास किया। तब उनका मस्तक फट गया। तत्पश्चात् राजाजनकने याज्ञवल्क्यजीसे अनुग्रह ब्रह्मोपदेश ले विरक्त हो वनमें जाकर देहातीत ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर विदेह नामको प्राप्त किया। (आह्निक सूत्रावली)। भरद्वाजजी उस ब्रह्मनिष्ठोंकी सभामें स्वयं भी उपस्थित ही थे। और उन्होंने शाकल्यऋषिकी जो दशा हुई थी वह स्वयं आँखोंसे देखी ही थी, अतएव वे (भरद्वाजजी) उसी प्रसंगकी ओर संकेत करतेहुए जनाते हैं कि हमारा प्रश्न सुनकर आप उसे वितण्डावाद या छलवाद समझकर रुष्ट न होजायँ जो हमारीभी वही दशा हो।

२ 'लाजा' इति। लाजके कारण यह हैं कि—(१) जो विशेषण शिवजीने श्रीपार्वतीजीको दिये हैं वही अधम, पाखण्डी, हरिपद विमुख आदि सब अपनेमें लगे जाते हैं। (पं. रा. कु.)। (२) आप सोचेंगे कि वेदतत्ववेत्ता महर्षि वाल्मीकिजीके शिष्य, और स्वयं ग्यारहहजार वर्षों तक सूर्यभगवान्से वेदोंका अध्ययन करनेवाले होकर तथा सहस्रों वर्षोंसे तीर्थराजमें निवास और अनेक तत्ववेत्ता ऋषियोमुनियोंका सत्संग करते हुए इतनी दीर्घायु वितानेपरभी इन्हें वेदतत्वका बोध न हुआ, झूठेही प्रयागराजमें पूज्य बने बैठे हैं। (३) इस बातसे अपनीही नहीं किन्तु अपने गुरुकीभी निंदा होती है कि उन्होंने इनको श्रीरामतत्वभी नहीं बताया। (दीनजी)।

टिप्पणी—३ 'जौं न कहौं बड़ होइ अकाजा' इति। (क) क्या हानि होगी यह आगे दोहेमें वे स्वयं कहते हैं। संशय दूर न होगा संशय दूर हुए बिना विमल विवेक न होगा, जैसेके तैसे अज्ञानी बने रहेंगे जिससे भवसागरमें ही पड़े रहना होगा—यही बड़ी भारी हानि है। (ख) संशयको बड़ा कहा था, यथा—'नाथ एक संसउ बड़ मोरें'; इसीसे 'अकाज' कोभी बड़ा कहा। भरद्वाजजीके 'बड़ अकाज' कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीरामस्वरूपकी प्राप्ति बड़ा 'काज' है, उसमें हानि पहुँचती है।

४ जैसे भय और लाज लगती है वैसेही गोस्वामीजी अपने अक्षरोंसे दिखाते हैं। मुनि लाजकी बात जल्दी नहीं कह सकते, वैसेही गुसाईंजीने जल्दी प्रगट करना न लिखा। 'नाथ एक संसउ बड़ मोरें' कहकर तब विवेककी बात कही, फिर संशय हरनेकी प्रार्थना की; तब संशय प्रगट किया। लाजकी बात न कहनी चाहिए, इसीपर कहते हैं कि 'जौं न कहौं बड़ होइ अकाजा'।

नोट—३ लालाभगवानदीनजी कहते हैं कि "श्रीभरद्वाजजीको संदेह न था। जबतक अपना अज्ञान, दीनता, भय, संशय प्रकट न करो तबतक कोई ऋषि पूरा तत्वका मर्म नहीं बतलाता, इस विचारसे केवल सत्संगके लिये भरद्वाजजीने ऐसा कहा। भक्तिका तत्व इतना सूक्ष्म है कि इन सिद्धान्तों को बराबर पूछते कहते सुनते रहना चाहिए, नहीं तो विस्मरण हो जाता है, यथा—'शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिये'। श्रीभरद्वाज जी यहाँ कोई छल कपट नहीं कर रहे हैं, इसीको आगे कहते हैं कि यदि एकही बार वेदशास्त्र पढ़कर समझ लेनेसे काम चल जाता तो शिवजी आदि संत क्यों उनकी चर्चा करते और क्यों उनके सत्संगके लिये ऋषियो के यहाँ जाया करते ? फिर हमारी क्या ?" भरद्वाजजी अपने आचरणद्वारा हम लोगोंको उपदेश दे रहे हैं कि श्रीरामतत्त्वका परम ज्ञाता होनेपर भी उसका अभिमान न करके सदा सद्गुरुओंसे जिज्ञासा करता ही रहे।

४ 'तोरें' इति। बैजनाथजी लिखते हैं कि "आचार्यके लिये 'तोरें' कहना दूषित है। यहाँ छलरहित अज्ञात होकर प्रश्न किया गया है, इससे दूषण भी भूषण हो गया"। 'तोरे' शब्द एक वचनान्त अवश्य है और पूज्यके लिए न प्रयुक्त करना चाहिये पर ग्रामीण बोलीमें कहीं-कहीं यह प्यार और आदरमेंभी बोलाजाता है। श्रीरामजी आदिके लिएभी ऐसा प्रयोग हुआ है। दूसरे, (वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि स्तुतिमें गुरुजनोंके लियेभी एक वचनका प्रयोग दूषित नहीं है यथा—'बाल्ये सुतानां सुरतेऽङ्गनानां स्तुतौ कवीनां समरे भटानाम्। त्वंकारयुक्तादि गिरः प्रशस्ता०'। भरद्वाजजी यहाँ याज्ञवल्क्यजीकी स्तुति करते हुए अपनी जिज्ञासाभी प्रकट कर रहे हैं अतः स्तुतिपक्षमें होनेसे 'तोरें' दोषावह नहीं है। (☞ कवितामें छन्द, अनुप्रास आदि बहुत विषयोंका अनुसंधान होनेसे एकवचन बहुवचन, ह्रस्व दीर्घ, लिंग आदि विषयोंपर कभी कभी कवि ध्यान नहीं देते, उनके लिये यह बात क्षम्य है; और संस्कृतमें तो एक व्यक्तिके वास्ते बहुवचन तो खोजने परभी शायदही मिले।)

दोहा—संत कहहिँ असि नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न बिमल बिबेक उर गुर सन किएँ दुराव ॥४५॥

अर्थ—हे प्रभो ! सन्त ऐसी नीति कहते हैं और वेद, पुराण और मुनि लोग (भी यही) कहते हैं कि गुरुसे छिपाव (कपट) करनेसे हृदयमें निर्मल ज्ञान नहीं होता।४५।

टिप्पणी—१ 'संत कहहिं...मुनि गाव' इति। 'संत ऐसा नीतिमें कहते हैं और मुनि श्रुति पुराणमें ऐसा गाते हैं' इस कथन का तात्पर्य यह है कि मैं कुछ नहीं जानता, संत और मुनि ऐसा कहते हैं। (हमने 'गाव' को श्रुति, पुराण और मुनि तीनोंकी क्रिया माना है। 'गाव'—प्राचीन धर्म और साहित्यिक ग्रंथ अधिकतर छन्दोबद्ध होते थे। इसीसे गोस्वामीजीने सर्वत्र उनका 'गान' लिखा है। 'गान' का अर्थ तबला आदिके साथ गाना यहाँ नहीं है किन्तु 'आदरपूर्वक वर्णन करना' है। जो छन्दोबद्ध कवितायें हैं उनको पढ़नेका अलग-अलग ढंग होता है, उस ढंगसे यदि कविता पढ़ी जाय तो सुननेमें चित्ताकर्षक होती है। सम्भवतः इसी अभिप्रायसे मानस में 'गाई' आदि शब्दोंका प्रयोग किया गया है। यथा 'नेति-नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान। बा० १२।', 'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई', 'सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबंध बिचित्र बनाई। २३।२।' इत्यादि। सत कहहिं असि०' में 'शब्द प्रमाण अलंकार' है।)

२ 'होइ न बिमल बिबेक उर०' इति। (क) 'गुरु सन किये दुराव' कहनेका भाव कि औरोंसे छिपाव करनेसे हानि नहीं है, औरोंसे लाजकी बात भलेही न कहे, पर गुरुसे उसेभी न छिपाना चाहिये, अवश्य कह देना चाहिये, गुरुसे छिपाव करनेसे बड़ी हानि है। (ख) बिमल बिबेक=शुद्ध निर्मल ज्ञान। श्रीरामजीका स्वरूप भली प्रकार समझ पड़ना ही निर्मल ज्ञान है और यह सद्गुरुकी कृपा अनुकम्पा करुणासे ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। यथा 'सद्गुरु बैद बचन बिस्वासा।...बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई। उ० १२२।', 'तुलसिदास हरिगुरुकरना बिनु बिमल बिबेक न होई। वि० ११५।' इससे स्पष्ट है कि भरद्वाजजीके मतसे 'सोऽहं' और 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि 'विमल ज्ञान' नहीं हैं। 'विमल ज्ञान' का लक्षण

भुशुण्डीजीने स्पष्ट कहा है कि 'तब रह रामभगति उर छाई।'—इस विमल ज्ञानकी प्राप्ति सद्गुरुकृपा-करुणा से ही है तब गुरुसे कपट करनेसे यह कब सम्भव है ? कपट करनेसे वे क्यों करुणा कृपा करने लगे ? ☞गुरु से दुराव करनेवालेको यदि यत्किंचित् विवेक भी हो जाय तो वह कथनमात्रका ही होगा, उससे दुस्तर भवको पार करना असंभव है; यथा 'वाकज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई। निसि गृहमध्य दीपकी बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई ॥...जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु विषय आस मन माहीं। वि० १२३।', 'ब्रह्म ज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात। कौड़ी लागि लोभ बस करहिं विप्र गुर घात। उ० ९९।'—ऐसा मनमुखी ज्ञान मलिन (समल) ज्ञान होगा। (वि०, रा० प्र०)। ज्ञान न होनेसे भवसे छुटकारा न होगा, यथा— 'बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई। वि० १२३।'

(ख) श्रीरामचरितमानसमें उपर्युक्त कथन चरितार्थ भी है। देखिये सतीजीने जगद्गुरु शंकरजीसे दुराव किया; यथा 'सतीं समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥ १.५६. १।" इसीसे उनके हृदयमें विवेक न हुआ। यथा "लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु। ५१।" ;तथा "होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा। १.५१.४।"—(परन्तु दुराव पीछे हुआ। छप्पनवें दोहेमें रघुनाथजीकी परीक्षा लेकर लौट आने पर दुराव किया गया है और उपदेशका न लगना श्रीरामसमीप जानेके पूर्वकी बात है। अतः दुराव करनेसे विवेक न हुआ, यह अनुमान संगत नहीं जान पड़ता।) श्रीपार्वतीतनमें जब उन्होंने अपना मोह श्रीशिवजीसे प्रकट किया तब शंकरजीके वचनोंसे उनका भ्रम मिटा और विमल ज्ञान अर्थात् श्रीरामस्वरूपका बोध हुआ। यथा "जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू ॥ . ', 'मुनि सिव के भ्रमभंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना ॥ भइ रघुपतिपद प्रीति प्रतीती ।....तुम्ह कृपालु सब संसउ हरेऊ। रामसरूप जानि मोहिं परेऊ ॥ बा० ११९-१२०।'—इसीसे सज्जन और महात्मा लोग गुरुसे छिपाव नहीं करते। श्रीरामचन्द्रजीभी अपने आचरण से यही उपदेश दे रहे हैं। यथा 'रामु कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं ॥बा० २३७।'

अस बिचारि प्रगटौं निज मोहू। हरहु नाथ करि जन पर छोहू ॥ १ ॥
राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥ २ ॥

अर्थ—ऐसा सोच-समझकर मैं अपना अज्ञान प्रकट करता हूँ। हे नाथ! दासपर कृपा करके (उस मेरे अज्ञान को) दूर कीजिये। १। श्रीराम-नामका असीम प्रभाव है, संत, पुराण और उपनिषदोंने उसे गाया है। २।

टिप्पणी—१ (क) 'अस बिचारि' इति। 'अस' अर्थात् जैसा ऊपर कह आये कि गुरुसे दुराव करने से विमल विवेक नहीं होता और बिना इसके घोर भवनिधि पार नहीं होता। 'अस बिचारि' कहकर जनाया कि मुझे विमल विवेककी प्राप्तिकी इच्छा है। (ख) 'हरहु' इति। ऊपर दोहेमें 'गुर सन किये दुराव' इन वचनोंसे भरद्वाजजीने प्रकट किया है कि उन्होंने याज्ञवल्क्यजीको गुरु मानकर मोह दूर करनेकी प्रार्थना की है। पहले गुरु कहकर अब यहाँ उसका अर्थ (कार्य) कहते हैं। गु=अंधकार। रु=निवारण, निरोध। गुरु= अंधकार (मोह) का हरनेवाला। अतएव गुरु कहकर 'मोह हरहु' कहा। 'हरहु' शब्दसे जनाया कि मोह अंधकार है और गुरुवचन रविकर है। यथा 'महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर।' (ग) 'करि छोहू' इति। दया करके हरिये। भाव यह कि मुझसे प्रत्युपकार नहीं हो सकता; यथा 'मोते होइ न प्रत्युपकारा' (उ०)। पुनः, 'करि जन पर छोहू' कहकर जनाया कि मैं उसका अधिकारी न भी हूँ तबभी अपना 'जन' (सेवक) जानकर कृपा करके कहिये, अपनी कृपासे मुझे अधिकारी बना लीजिए। यथा 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी। बा० ११०।'

☞ २ 'हरहु नाथ करि जन पर छोहू।' तक प्रश्नकी भूमिका हुई। आगे 'राम नाम कर अमित प्रभावा' से कथाका प्रसंग चला है। श्रीरामचरितप्रसंगका उपक्रम यहाँ 'राम' शब्दसे हुआ है और इस प्रसंगका

उपसंहार भी अन्तमें 'प्रिय लागहु मोहि राम' उ० १३० में 'राम'-शब्द परही किया गया है। 'मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी' इस 'राम' शब्दसे संपुटित होनेसे इसका पाठ अभिमत दाता होगा।

३ 'रामनाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान०' इति। यहाँ श्रीरामनामके प्रभावके गानेवालोंमें संत, पुराण उपनिषत् तीन प्रमाण गिनाए। सन्त शास्त्रके वक्ता हैं, वे वेद, पुराण और शास्त्र तीनोंको कहते हैं। राम-नामका प्रभाव कथन करनेमें संतही प्रथम हैं, इसलिए इनको प्रथम कहा। श्रीअत्रिजी,अगस्त्यजी, नारदजी, पुलहजी, पुलस्त्यजी, वसिष्ठजी और श्रीसनत्कुमारजी इत्यादिने साक्षात्कार करके अपनी अपनी संहिताओंमें श्रीरामनामका प्रभाव लिखा भी है। पद्मपुराण, लिंगपुराण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, शिवपुराण, नन्दीपुराण इत्यादि पुराणोंमें शिवजी, नन्दीजी, ब्रह्माजी और भगवान विष्णु आदिने विस्तारपूर्वक उदाहरणोंसहित श्रीरामनामके प्रभावका वर्णन किया है। श्रीराममंत्र और श्रीरामनामका प्रभाव प्रकट करनेमें श्रीरामतापनीयोपनिषत् प्रधान है। 'श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाश' में बहुत उत्तम संग्रह है, उसे पाठक पढ़ें। नामवन्दना प्रकरणमें बहुत प्रमाण आ चुके हैं। अतः यहाँ नहीं लिखे गए।

नोट—१ 'उपनिषद् गावा' इति। वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि—'वेदयति' इस व्युत्पत्तिसे वेद-शब्दका अर्थ होता है ब्रह्मज्ञानसाधनके संस्कारधर्म और उससे भिन्न जो अधर्म है उसका ज्ञापक'। वेदके मंत्रात्मक और ब्राह्मणात्मक दो भेद हैं, मंत्रभागको संहिता कहते हैं। ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चार संहिताओंके नाम हैं। प्राय इन्हींके व्याख्यास्वरूप ग्रंथोंको ब्राह्मण कहते हैं। प्रत्येक संहिताके साथ एक एक ब्राह्मणका सम्बन्ध है और उन्हीं ब्राह्मणभागोंके 'विधि, अर्थवाद तथा आरण्यक' नामसे तीन विभाग हैं। विधिमें कर्तव्य, कर्म और अर्थवादमें कर्मके फलका प्रतिपादन किया गया है। और 'अरण्ये प्रोच्यमानम्' के अनुसार जिसका कथनोपकथन 'अरण्य' (एकान्त) में हो उसे आरण्यक कहते हैं। वेदविभागात्मक आरण्यकके अंतिम भागकी ब्रह्मविद्या संज्ञा है। उसी ब्रह्मविद्याको उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषत्—(उप नि-सादि—क्विप, उपनिषादयति ब्रह्मणः समीपं प्रापयतीत्युपनिषत्) का अर्थ है जीवको ईश्वरके समीप पहुँचाने वाला। सांसारिक व्यापारमें लगे हुए जीवोंके लिए उपनिषद् भगवत्सन्निधिमें प्राप्त होनेका साधन है। तत्त्वत्रय, योग, संन्यास, वैष्णव, शैव और शाक्त भेदसे उपनिषदोंके छः विभाग हैं। तत्त्वत्रयविभागमें ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्य महोपनिषत् नामसे प्रसिद्ध तथा सर्वोपनिषत्सार गारुणादि अन्यभी उपनिषत् हैं। वैष्णव विभागमें—श्रीरामतापिनी, गोपालतापिनी, नृसिंहतापिनी, महानारायणात्मबोध, रामरहस्योपनिषत् आदि। शैव विभागमें, अथर्वशिरोऽथर्वशिरस्, नीलरुद्र, कालाग्निरुद्र, श्वेताश्वतर, और कैवल्य आदि हैं। उपनिषद् असंख्य हैं। इनमेंसे १०८ तक मानी जाती हैं। उपनिषत्के विभिन्न भागोंमें भिन्न-भिन्न बातें होते हुएभी सबमें एकस्वरसे भगवन्नामका अपरिमित महत्त्व कहा गया है।

२ 'संत पुरान उपनिषद गावा' में यह भावभी है कि ये गाते हैं पर पार नहीं पाते, क्योंकि अमित है। दूसरा अर्थ यहभी है कि 'सन्त, पुराण और उपनिषद्ने ऐसा कहा है कि रामनामका प्रभाव अमित है।'

प० प० प्र०—'संत पुरान उपनिषद गावा' इस चरणमें १६ मात्रायें होनेपर भी छन्दोभंग होता है पर यह दूषण सहेतुक होनेसे भूषणरूप है। इस चरणके पढ़नेमें जिस प्रकार वाणी रुक जाती है, छन्दोभंग होता है, उसी प्रकार रामनामका प्रभाव गानेमें सन्त, पुराण और उपनिषदोंकी वाणीभी रुक जाती है, यह भाव इस छन्दोभंग द्वारा ध्वनित किया है।

संतत जपत संभु अबिनासी। सिव भगवान ज्ञान गुन रासी॥ ३॥
आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परम पद लहहीं॥ ४॥
सोपि राम महिमा मुनिराया। सिव उपदेसु करत करि दाया॥ ५॥

अर्थ—कल्याणस्वरूप, नाशरहित, षडैश्वर्यसम्पन्न, ज्ञान और गुणोंकी राशि श्रीशंकरजी उसे (श्रीरामनामको) निरंतर जपते हैं।३। संसारमें जीवोंकी चार खानें अर्थात् उत्पत्तिस्थान या जातियाँ हैं। काशीमें मरनेसे वे सभी परमपद पाते हैं।४। हे मुनिराज! यह भी श्रीरामनामहीकी महिमा है। श्रीशिवजी (मरतेहुए जीवोंपर) दया करके (उनको श्रीरामनामका) उपदेश करते हैं।५।

टिप्पणी—१ 'संतत जपत संभु अबिनासी।' इति। (क) अबिनाशी, शिव (कल्याणस्वरूप), भगवान्, ज्ञानराशि और गुणराशि शिवजीको ये पाँच विशेषण देकर 'संतत जपत' कहनेका भाव कि ऐसे विशेषणोंसे विशिष्ट परम समर्थ भगवान्भी श्रीरामनामका जप करते हैं और वहभी निरन्तर, तब अन्य जीवों का कहनाही क्या? (ख) ये सब विशेषण ईश्वरके हैं। भगवान् शंकर ईश्वर हैं, यथा 'मृषा बचन नहिं ईस्वर कहहीं।' जब ईश्वर इसे जपते हैं तब तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि जिसको वे जपते हैं वह निस्सन्देह बड़ेही भारी प्रभाववाला होगा। (ग) 'संतत जपत' अर्थात् दिनरात, भूत भविष्य वर्तमान सभी कालोंमें जपते रहते हैं, जपमें कभी अन्तर नहीं पड़ता। यथा 'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंगआराती। बा० १०८।' यही नहीं किन्तु इसीके जपसे शिवजी अविनाशी और कल्याणस्वरूप होगए; यथा 'नामप्रसाद संभु अबिनासी। साज अमंगल मंगलरासी।' १९।३), २६ (१) भी देखिये। पुनः, 'सन्तत जपना' कैसे सम्भव है? इसीसे कहा कि वे अविनाशी हैं। मरनेसे जपमें अंतर पड़ जाता क्योंकि 'तन बिनु बेद भजन नहिं बरना।' पर ये अविनाशी हैं इससे निरन्तर सदा जपते हैं। (घ)☞ यहाँ 'संतत जपत' कहा और अन्तमें 'उपदेश करत करि दाया' कहा। इस तरह दो बातें बताईं। यह कि शिवजी स्वयं रामनाम जपते हैं और दूसरोंको उसका उपदेशभी करते हैं।

☞२ 'भगवान' इति। भग=ऐश्वर्य। छः प्रकारकी विभूतियाँ जिन्हें सम्यगैश्वर्य, सम्यग्वीर्य, सम्यग्यश, सम्यक्श्री, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् वैराग्य कहते हैं। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णाम् भग इतीरणा॥' जिसमें ये छः विभूतियाँ अथवा उत्पत्ति, प्रलय, जीवोंकी गति और अगतिका सामर्थ्य और विद्या एवं अविद्याका ज्ञान हो प्रायः उसे भगवान् कहते हैं; यथा 'उत्पत्ति प्रलयञ्चैव जीवानामगतिंगतिम्। वेदविद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति'। शिवजी इन सब ऐश्वर्योंसे सम्पन्न हैं। अतः भगवान कहा। ☞ स्मरण रहे कि ये छः ऐश्वर्य ब्रह्मसे अतिरिक्त मुक्तकोटिके जीवोंमें भी हो जाते हैं।

३ 'आकर चारि जीव जग अहहीं।' इति। (क) आकर—८ (१) 'आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव' में देखिये। (ख) इससे जनाया कि कोई भी जीव जंतु किसी भी योनि और खानिका क्यों न हो सबको एक समान मुक्ति मिलती है। यथा 'जो गति अगम महामुनि दुरलभ कहत संतश्रुति सकल पुरान। सोइ गति मरनकाल अपने पुर देत सदाशिव सबहिं समान। वि. ३।','जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि माँगत सकुचाहीं। बेद बिदित तेहि पद पुरारिपुर कीट पतंग समाहीं। वि. ४।' तथा 'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी।' (ग) 'जग अहहीं' कहकर जनाया कि काशीवासीकी ही मुक्ति होती है—ऐसा न समझिये। वरंच कोईभी जीव हो, जगत्में कहीं भी रहता हो, यदि वह यहाँ आकर मरे तो वह भी परमपदको प्राप्त होता है। काशीमें मृत्युकी प्राप्तिमात्र मुख्य है।

४ 'सोपि राममहिमा०' इति। सोपि=सः अपि=वह भी। इस कथनका भाव यह है कि मुक्ति देनेमें कुछ काशीकी महिमा नहीं है, रामनामकी महिमा है। रामनामही मुक्तिका हेतु वहाँभी है; यथा 'कासी मुकुति हेतु उपदेसू।' १९ (३) और २६ (१) भी देखिये। पुनश्च हारीतस्मृतौ यथा—'अद्यापि रुद्र' काश्यां वै सर्वेषां त्यक्तजीविनाम्। दिशत्ये तन्महामन्त्र तारक ब्रह्मनामकम्॥'

५ 'शिव उपदेसु करत करि दाया' इति। दयाभावसे उपदेश करनेका तात्पर्य यह है कि शिवजी यह विचार मनमें नहीं लाते कि यह इसका अधिकारी है या नहीं, अपना सेवक है या नहीं, काशीवासी है या नहीं, और न उसके कर्मों या दुष्कर्मोंकी ओर दृष्टि डालते हैं, सबको परमपद दे देते हैं।

नोट—१ 'दाया' इति। दया निस्वार्थ कृपाका नाम है। भगवान् शंकरकी बद्ध जीवोंपर कैसी असीम दया है यह इस बातसे स्पष्ट है कि उन्होंने इन्हींके मोक्षके लिये सहस्रों मन्वन्तरतक राममंत्रानुष्ठानरूपी कठिन तप किया जिससे भगवान् श्रीरामने प्रसन्न होकर इनका मनोरथ पूर्ण किया। श्रीरामतापिनी उत्तरार्द्ध चतुर्थकण्डिका, यथा—'श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः। मन्वन्तरसहस्रैस्तु जपहोमार्चनादिभिः ॥५॥' 'अथ स होवाच श्रीरामः—"... मुमूर्षोर्दक्षिणेकर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्। उपदेक्ष्यसि मन्मंत्रं स मुक्तो भविता शिव ॥१२॥'—यहाँ 'उपदेक्ष्यसि' शब्द है इसीसे भरद्वाजजी भी 'उपदेश करत' कहते हैं। आज तक यह नहीं सुना गया कि शंकरजीको छोड़ किसी औरने परोपकारके निमित्त ऐसा कष्ट उठाया हो। यह केवल शिवजीकी करुणा है, दया है। (वे. भू.)।

टिप्पणी—६ ☞ यहाँ रामनामके प्रभावके तीन प्रमाण दिये गए हैं। इनमेंसे 'प्रथम संतपुरान उपनिषद गावा' है। यह शास्त्र प्रमाण है। दूसरा 'सतत जपत संभु अविनासी' यह ईश्वर प्रमाण है और तीसरा 'आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत०' यह लोक प्रमाण है।

नोट २—☞ यहाँ यह शंका की जाती है कि यहाँ तो कहते हैं कि "कासीं मरत परमपद लहहीं' काशीमें मरणमात्रसे मुक्ति होती है। श्रुतिभी है—'काश्यां मरणान्मुक्तिः।' और उधर श्रुति यहभी कहती है कि 'ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः।' बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती। इन दोनों परस्पर विरोधी वाक्योंका एकीकरण क्योंकर होगा ?" इसका समाधान यह है कि श्रीरामनामके प्रभावसे मरते समय प्राणीमें वह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे मोक्ष प्राप्त होता है—श्रीरामनामका यह प्रभाव 'सोपि राममहिमा' कहकर जना दिया गया है। श्रुति भी कहती है—'ज्ञानमार्गं च नामतः।' (रा. ता. उ. ४)—विशेष ३५ (४) और विनय पीयूष पद ३ (३), ७ 'तुअ पुर कीट पतंग समाहीं' और २२ (८) में देखिये।

नोट—"जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा ॥", 'अवध तजे तन नहिं संसारा' और 'कासी मरत परमपद लहहीं' इत्यादि को पढ़कर भगवद्विमुख कहा करते हैं कि—"चौरासी लक्ष योनियोंमें का कोई भी जीव हो और कैसा ही अधम क्यों न हो उसको बिना परिश्रम मुक्ति प्राप्त हो जाती है तब तो "कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा ॥'—यह विरोधी चौपाई लिखने और कर्मफल भोग की प्रधानता दिखाने का परिश्रम व्यर्थ क्यों किया गया ?"

इस प्रश्नके उत्तर में प्रथम तो हमें यह कहना है कि—श्रीकाशीवास, श्रीअवधवास श्रीसरयूस्नान शास्त्रोंमें विश्वास करके क्षेत्रसन्यास लेकर भगवद्धामों, सप्तपुरियों, वा तीर्थस्थलोंमें शरीर छोड़ने के लिये जाना—ये भी तो कर्मही हैं या कुछ और ? इन स्थानोंमें यह शक्ति, यह सामर्थ्य दे दिया गया है कि वे समस्त अघ-ओघका नाश करदें। जो शास्त्रोंको मानते हैं, उनको यह अधिकार कहाँ है कि वे उनकी एक बात मानें, दूसरी न मानें ? जब हमारे सत्‌शास्त्र यह बताते हैं कि अमुक यज्ञ, जप तप दान आदि शुभ कर्मों का अमुक फल है और उसके अनुसार हम कर्मक्षेत्रमें फल प्राप्ति के लिये प्रविष्ट होते हैं तब इसमें सन्देह ही क्या कि श्रीअवध, काशी, मिथिला, चित्रकूट, व्रज आदि क्षेत्रोंमें मरणको प्राप्त होनेसे जीव मोक्ष को प्राप्त होते आए होते हैं और होंगे ? जो भगवद्धामोंका आश्रय लेते हैं वे निस्सन्देह मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि भगवानके नाम रूप, लीला और धाम चारों सच्चिदानन्द विग्रह हैं।

पुनः दूसरा समाधान यह है कि 'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा।' यह उक्ति कर्मकाण्डियोंके लिये है जिनको अपने कर्तव्यका, अपने पुरुषार्थका, अभिमान है। वे अपने शुभाशुभ कर्मोंका फल अवश्य भोगेंगे। पर 'जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।', जो एकमात्र भगवच्छरण पर निर्भर है, जो श्रीरामजी के नाम रूप लीला अथवा धामका अवलम्बन ले लेता है—वह तो कर्मबन्धनसे छूटही गया, उस पर ब्रह्मा या यमराज का अधिकार ही नहीं रह जाता। वह तो एकमात्र जगन्नियन्ता के ही अधिकार में है। धर्मराजने स्वयं अजामिल आदिके प्रसंगोंमें अपने अनुचरों को यही उपदेश दिया है कि तुम भूल-

कर भी ऐसे लोगोंके पास न जाना, भगवच्छरण होतेही हमारा अधिकार वहाँ से उठ गया। "भगतिवंत अति नीचहु प्रानी। मोहिं परमप्रिय अस मम बानी॥", "अतिप्रिय मोहिं इहाँके बासी। ममधामदापुरी सुखरासी॥" और "जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा।"—ये सत्यव्रत, सत्यसन्ध, सत्यसंकल्प, सत्यप्रतिज्ञ महापुरुष, मर्यादापुरुषोत्तम, लोकको आदर्श मानवजीवनके परमपथके प्रदर्शक, साक्षात् परब्रह्म श्रीदाशरथीराजकुमाररूपमें अवतरित रघुकुलमणि श्रीरामजीके श्रीमुखवचन हैं। ये कालत्रय में कदापि असत्य नहीं हो सकते। फिर, सोचिये तो, कितने ऐसे हैं जो श्रद्धाविश्वासपूर्वक आकर श्रीधाममहाराज की शरण लेते हैं? बत्तीस करोड़ मे दो चार दसबीस प्रतिवर्ष न? सभीके ऐसे भाग्य कहाँ? उनको विश्वास ही न होगा।—'अतिसय हरि कृपा जाहि पर होई। पाँव देइ एहि मारग सोई।' पूर्वके बड़े सुकृतोंसे ऐसी बुद्धि होती है। कितने ही तो जन्मभर धाम निवास करते हैं, अन्तमें वहाँसे निकाल बाहर किये जाते हैं। तीसरे, यह स्मरण रखनेकी बात है कि महान् पापी, अधर्मी, कुकर्मी, अधमोंके ही मोक्षप्राप्तिमें धाम आदिकी विशेष महत्ता है। निष्पाप और सुकृतियोंका मोक्ष तो सर्वत्र हो सकता है—'कबिरा जो काशी मरै तो रामहिं कौन निहोर'। पर बेचारे दीन, सर्वपुरुषार्थहीन, साधनशून्य, पतित हम सरीखे लोगोंके लिये तो एकमात्र दीनदयाल, अशरणशरण, अनाथनाथ, अधमउद्धारण, पतितपावन, आदि विश्वविख्यात् विरदोंका बाना धारण करनेवाले श्रीरघुनाथजीके ही चतुष्टयनिमहत्ता एकमात्र अवलम्ब है। नहीं तो 'कलि केवरा मलमूल मलीना। पापपयोनिधि जनमन मीना।' तब हम दीनजन अपने पुरुषार्थसे कब मनको निर्मल बना सकेंगे? उनका सहारा न हो तो करोड़ों कल्पोंतक हमारा उद्धार हो ही नहीं सकता। —यह उपाय तो प्रभुने हमारे सरीखे अपाहिजोंके लिये ही रच दिया है।—'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।' उन्हीं करुणावरुणालयने करुणा करके यह सुगम उपाय भी बता दिया है। देखिये, असाध्य या कष्टसाध्य रोगोंके लिये ओषध बताई जाती है कि भुवाली जाओ, मसूरी जाओ, इत्यादि। यह क्यों? क्योंकि उस देशमें उस रोगके नाशक तत्त्व विशेष पाए जाते हैं। मुसलमान मक्का, मदीना और अजमेर आदिकी जियारत करते हैं, हाजी और हाफिज की उनमें प्रतिष्ठा है। इसी तरह अन्य मजहबोंमें कुछ स्थान मुतबर्रक माने जाते हैं—कुछ हमारे ही यहाँ नहीं। हमारे महर्षियोंने, योगेश्वरोंने अनुभव किया है कि भगवद्धामोंके तत्त्व बहुत ही विशुद्ध हैं, उनमें शक्ति जीवको ऊपर ले जाने की है। देखिये, सिद्धपीठोंमें अनुष्ठान शीघ्र क्यों सिद्ध होते हैं? उनका वातावरण बहुत शुद्ध है, इसीसे न? तब भगवद्धाममें भगवान्ने श्रद्धालुओंके लिये भवरोगोंके नाशकी शक्ति और जीवको प्रारब्धभोगके अन्तमें प्रभुकी समीपता आदि प्राप्त करनेका सामर्थ्य प्रदान कर दिया है तो आश्चर्य क्या?

राम कवन प्रभु पूछौं तोही। कहिय बुझाइ कृपानिधि मोही॥ ६॥
एक राम अवधेस-कुमारा। तिन्हकर चरित बिदित संसारा॥ ७॥
नारिबिरह दुखु लहेउ अपारा। भएउ* रोषु रन रावनु मारा॥ ८॥

अर्थ—हे प्रभो! मैं आपसे पूछता हूँ कि वे राम कौन हैं। हे दयासागर! मुझे समझाकर कहिये (अर्थात् केवल इङ्गित करनेसे काम न चलेगा)। ६। एक राम तो अवधनरेश (श्रीदशरथमहाराज) के पुत्र हैं। उनका चरित (तो) संसार भरमें प्रसिद्ध है (कि)। ७। उन्होंने स्त्रीके विरह वियोगमें अपार दुःख पाया। उन्हें क्रोध हुआ, (जिससे) उन्होंने युद्धमें रावणको मार डाला। ८।

टिप्पणी—१ 'राम कवन प्रभु पूछौं तोही।' इति। (क) 'राम कवन'—भरद्वाजजी पूछते हैं कि जिनके नामका ऐसा प्रभाव है, ऐसी महिमा है, वे राम कौन हैं? 'कवन' से दो रामका होना सूचित किया। इसीसे एकको ऊपर 'सतत जपत संभु अबिनासी' में कहकर दूसरेको आगे कहते हैं। अर्थात्

* भए—१७२१, १७६२। भएउ—१६६१, १७०४, छ०, कोदोराम।

एक राम तो शिवजीके इष्ट हैं जिनको वे सदा जपते हैं और दूसरे अवधेशकुमार हैं।—(श्रीकरुणासिंधुजी 'रामु कवन' का भाव यह लिखते हैं कि मैं तो एक इन्हीं दशरथनन्दन 'राम' को जानता हूँ कि यही एक, अखण्ड, एकरस, परात्पर ब्रह्म हैं; परन्तु इनके चरित्र ऐसे हैं कि उनसे इनके परात्पर ब्रह्म होनेमें संदेह हो जाता है। परब्रह्ममें दुःख और क्रोध कैसे संभव हो सकते हैं? इसीसे भ्रम हो रहा है कि शिवजीके उपास्य कोई अन्य राम होंगे।)

(ख) प्रभु=जो अनुग्रह या निग्रह करनेमें समर्थ हो, जिसके आश्रयमें जीवोंका निर्वाह होता है। यह शब्द प्रायः श्रेष्ठपुरुषोंके संबोधनमें प्रयुक्त होता है पर यहाँ यह संबोधनमात्र नहीं है, साभिप्राय भी है। यहाँ 'प्रभु' संबोधन देकर जनाते हैं कि आप मेरा संदेह दूर करनेको समर्थ हैं।

(ग) 'पूछौं तोही' इति। बिना पूछे रामतत्त्व न कहना चाहिये इसीसे 'पूछौं' (अर्थात् मैं पूछता हूँ अतः कहिये) कहा। (पुनः भाव कि मैं इसे दूसरेसे नहीं पूछ सकता था, इसलिये आपसे पूछता हूँ। वि.त्रि.)

(घ) 'कृपानिधि' इति। ऐसा प्रश्न करनेपर क्रोधकी संभावना है, कहीं याज्ञवल्क्यजी रुष्ट न हो जायँ जैसे शिवजी पार्वतीजीके इसी प्रश्नपर हुए हैं, अतः 'कृपानिधि' संबोधनद्वारा प्रार्थना सूचित की कि आप क्रोध न करें, मुझपर दया करके मुझे समझाकर कहें। पुनः भाव कि गुरुकी कृपाके बिना रामस्वरूप का बोध नहीं हो सकता। गुरु कृपासिंधु होते हैं, यथा—'बंदउँ गुरुपदकंज कृपासिंधु नररूपहरि।' अतः हे कृपानिधि! आप मुझपर कृपा करें जिससे रामस्वरूप समझ पड़े। पुनः, 'प्रभु' संबोधित करके फिर 'कृपानिधि' संबोधनका भाव कि समर्थ होनेपर भी यदि दया हृदयमें न हुई तो उस प्रभुत्वसे कोई लाभ नहीं होता, यथा—'प्रभु अकृपाल कृपाल अलायक जहँ जहँ चितहिं डोलावौं। इहै समुझि सुनि रहौं मौनही कहि भ्रम कहा गवाँवौं। वि० २३२।' उससे भ्रम कहना भी व्यर्थ है। आप प्रभुभी हैं और कृपाल भी—यह सौलभ्य है। पुनः भाव कि अधिकारी मैं न भी सही तो भी आप कृपासे अधिकारी बना लें।

(ङ) ☞ ऊपर ४५ (६) में कविने जो कहा है कि 'बोले अति पुनीत मृदुबानी।' उसीका निर्वाह 'नाथ, प्रभु, कृपानिधि' शब्दोंमें है। ये सब शब्द 'अतिमृदु' हैं।

२ 'एक राम अवधेसकुमारा।०' इति। (क) भरद्वाजजीने भगवान शिवके इष्ट ब्रह्म 'राम' का रूप नहीं कहा, 'नाम' मात्र कहा, क्योंकि उनके (भरद्वाजजीके) मतसे ब्रह्म अवतार नहीं लेता। सतीजीको दो बातोंमें सन्देह था, एक तो अवतार लेनेमें, दूसरे चरितमें। यथा—'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।५०।' तथा 'जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारिबिरह मति भोरि।१०८।' संदेहका वही स्वरूप भरद्वाजजीके प्रश्नमें दिखाया है अर्थात् इनको भी वही दोनों संदेह हैं—यही आगे याज्ञवल्क्यजी कहेंगे, यथा 'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी।' 'राम नाम कर अमित प्रभावा।' "सोपि राम-महिमा' में ब्रह्मरामकी महिमा नाममहिमाद्वारा कहनेसे ही 'ब्रह्म राम के अवतार लेनेमें संदेह है' यह स्पष्ट जनाया है। दूसरा संदेह इस चौपाईसे स्पष्ट है। अवधेशकुमार हैं तब ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? 'नारि बिरह दुखु लहेउ अपारा' तब ब्रह्म कैसे हो सकते हैं?

—'अवधेसकुमारा, दुख लहेउ, भयउ रोष रन रावनु मारा'—

(क) श्रीभरद्वाजजीका कहना है कि शिवजी तो शायद किसी अन्य निर्गुण ब्रह्म रामकी उपासना करते हैं, उनका नाम जपते हैं और मैं जिनको जानता हूँ वे तो अवधेशके बालक हैं। ये तो ब्रह्म हो नहीं सकते; क्योंकि इनमें दो अवगुण प्रत्यक्ष हैं—एक तो यह कि ब्रह्म अजन्मा है और इनका तो जन्म चक्रवर्ती महाराज दशरथजीके यहाँ हुआ। दूसरे, ब्रह्मको योग वियोग नहीं होता। वह सम है, शुद्ध बोध-विज्ञान-स्वरूप है, उसमें कामक्रोधादि विकार कहाँ? और, ये तो कामी और क्रोधी दोनों हैं जो अज्ञानियोंके लक्षण हैं। 'दुख लहेउ' से राग और 'भयउ रोषु' से द्वेष पाया गया। राग द्वेष, काम क्रोध, दुःख सुख, शत्रु मित्र—ये सब अज्ञानसे होते हैं, जीवके धर्म हैं न कि ईश्वरके; यथा 'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान।',

'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीवधरम अहमिति अभिमाना।'—(पं० रा० कु०)

(ख) पुनः, 'अवधेश कुमार' का भाव यह है कि यदि आप कहें कि ये वही परात्पर ब्रह्म राम हैं तो ये तो त्रेतामें हुए, वैवस्वतमनुकी चौबीसवीं चतुर्युगीमें हुए, हरिवंश तथा मत्स्यपुराणोंमें इसका प्रमाण है, यथा—'चतुर्विंशयुगे चापि विश्वामित्र पुरः सरः। राज्ञो दशरथस्याथ पुत्र पद्मायतेक्षणः। हरिवंश १।४१।१२१।' इनका नाम तो शिवजी पहलेसे जपते चले आते हैं और ये तो हालमें हुए। (लाला भगवानदीनजी)। 'नारि बिरह' से जनाया कि इन्द्रियविषयमें रत थे; इसीसे कामासक्त थे और कामासक्त होनेसे ही विरह न सह सके। काममें हानि पहुँचनेसे क्रोध उत्पन्न होता ही है, यथा—'संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।' (गीता)। अतः 'रोष' हुआ। (वै०)

(ग) 'रन रावनु मारा' इति। अर्थात् सम्मुख बराबर युद्ध हुआ, आप भी मारे और बाँधे गए। मेघनाद एक तुच्छ निशाचरने इनको नागपाशसे बाँधा तब इनका ईश्वर होना कैसे सम्भव है? यथा 'मोहि भएउ अति मोह प्रभुबंधन रन महुँ निरखि। चिदानंदसंदोह राम बिकल कारन कवन। उ० ६८।', 'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम। उ० ५८।' तथा 'भृकुटि-भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहै ऐसि लराई। लं० ६५।' पुनः भाव कि ब्रह्म तो लवनिमेषमें जगत्का प्रलय कर सकता है। जिसकी इच्छामात्रसे, भृकुटिविलासमात्रसे संसारका प्रलय तथा कालकीभी मृत्यु हो जाती है; यथा 'उमा काल मरु जाकीं ईछा। लं० १०१।', 'उतपति पालन प्रलय समीहा। लं० १५।' भला वह ब्रह्म इतना श्रम क्यों उठावेगा? वह तो घर बैठे इच्छामात्रसे रावणको मार डालता।

टिप्पणी—३ 'तिन्ह कर चरित बिदित संसारा।' इति। भाव कि ब्रह्ममें अज्ञान होना न किसीने सुना न देखा और इनका अज्ञान तो संसारभरमें विख्यात है। पुनः भाव कि किसी गरीबके पुत्र होते तो इनका चरित्र चाहे कोई न भी जानता पर ये तो चक्रवर्तीकुमार हुए इससे सभी इनके (काम क्रोध संबंधी) चरित जानते हैं। सम्राट् पुत्र होनेसे संसारभर जानता है।

४—☞प्रथम जो ऊपर कहा था कि 'रामनाम कर अमित प्रभावा।' उसका तात्पर्य यहाँ खोला कि वह (शिवजीके उपास्य) राम ये ही हैं तो इनमें तो कुछभी प्रभाव नहीं दीखता। गरुड़जीनेभी ऐसाही कहा है, यथा—'सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाउ कछु नाहीं। उ० ५८।'

नोट—श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी लिखते हैं कि साहित्यके संसारमें तुलसीदासजीने एक अनोखा काम यही किया है कि महाकाव्यकला और नाटकीयकलाका एकीकरण कर दिया है जो मिल्टन और स्पेन्सर (Milton & Spencer) इत्यादिसे नहीं बन पड़ा बल्कि जो उनको असंभवसा प्रतीत होता था। तुलसीदासजीकी युक्तिही यह है कि श्रीरामचन्द्रजी आदिके मानवीजीवनको नाटकीय रंगमंचपर दर्शावें, पर स्वयं उपस्थित होकर टिप्पणी करते चलें। मानों कवि रंगमंच और द्रष्टाओंके बीचमें इस प्रकार उपस्थित रहता है कि नाटकीय चरित्र उसे देख न पावें परन्तु वह द्रष्टाओंको रहस्य बताता चले। बड़े वाहन आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रहस्योंके प्रकटीकरणके लिये श्रीशिव पार्वती, श्रीभुशुण्डि-गरुड़ और श्रीयाज्ञवल्क्य भरद्वाजके जोड़ ठीक उसी तरह दूरसे दिखाई देते हैं, जैसे आजकल नाटकों या सिनेमा (Cinema) के पर्दोंपर धार्मिक नाटकोंमें प्रकाशके गोलेमें भगवान कृष्ण द्रौपदीचीरहरण इत्यादिके समय दिखाई देते हैं जिससे दृश्यका अधिदैविक रहस्य खुल जाता है इसीसे कविने रामावतारकी कथा लेली है जो (अवतार) मानवीमर्यादाको स्थापित करता है। यहाँके सारे प्रश्नही ऐसे हैं कि जिनके उत्तरमें आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक रहस्योंका एकीकरण हो। बीच बीचमें आधिदैविक सीन (scene) बड़ी सुन्दरतासे लाए गए हैं और 'निसिचरहीन करौं महि'—वाली प्रतिज्ञाके उपरान्त, जो ऋषियोंकी हड्डियोंके ढेरके समीप की गई है, कलाको पूर्ण रूपसे महाकाव्यकी ऊँचाईपर पहुँचादिया है। इस कलापरिवर्त्तनको न विचारकर ग्राउसजी (Mr. Growse) ने लिखा है कि काव्यकला अयोध्याकाण्डके उपरान्त शिथिल होगई है। वास्तवमें यहाँसे कला नाटकीय

होनेके स्थानमें अधिकतर महाकाव्यकी है और तुलनामें (Shakespeare) शैक्सपियर इत्यादिके स्थानमें (Milton) मिल्टन और (Homer) होमर इत्यादिको लेना चाहिए।—विशेष व्याख्या 'चाँद' में प्रकाशित लेखमालामें है।

दोहा—प्रभु सोइ रामु कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्बज्ञ तुम्ह कहहु बिबेकु बिचारि॥ ४६॥

अर्थ—हे प्रभो! ये वही राम हैं या कोई और दूसरे हैं जिनको त्रिपुरासुरके शत्रु श्रीमहादेवजी जपते हैं। आप सत्यके धाम और सब कुछ जाननेवाले हैं (अतः आप) ज्ञानसे विचारकर कहिये। ४६।

टिप्पणी—१ 'जाहि जपत त्रिपुरारि' इति। (क) भारी समर्थ सेवकके द्वारा स्वामीका ईश्वरत्व प्रकट होता है; यथा 'हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमानसे पायक। लं० ६२।' इसीसे यहाँ 'त्रिपुरारि' विशेषण दिया। अर्थात् त्रिपुरासुरको मारनेको जो समर्थ थे ऐसे शिवजी जिनको जपते हैं, वे मनुष्य कैसे हो सकते हैं?

भावार्थान्तर—त्रिपुरारीका भाव कि (ख) शिवजीने त्रिपुर ऐसे बली शत्रुके मारनेमें जिन प्रभुकी सहायता ली क्या वे वही अवधेशकुमार राम हैं या कोई और हैं? इस भाव में इशारा उस कथाकी ओर है जिसमें कहा जाता है कि शिवजी त्रिपुरासुरको न मार सके तब उन्होंने श्रीरामजीका ध्यान किया। श्रीराम जीने वत्सरूपसे अमृत पी लिया तब शिवजीने उसका संहार किया।—विस्तृत कथा ४८ (६) 'मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी।' में दीगई है। (प०)। (ग) जो त्रिपुरके जीतनेवाले हैं और काम क्रोध जिनके वशवर्त्ती हैं वह शंकरजी भला कामी क्रोधीको क्यों भजने लगे? (भावप्रकाश)।

२ 'कि अपर कोउ' इति। भाव कि शिवजीके इष्टके चरित्र अज्ञानताके नहीं हो सकते। (अतः उनके इष्ट मेरी समझमें तो कोई औरही हैं।) ☞ उत्तरकाण्डमें जो कहा है कि 'निरगुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ। ७३।' यह यहाँ चरितार्थ है। भरद्वाज ऐसे मुनियोंकोभी सगुण-चरित्र देखकरही मोह हुआ है।

३—'सत्यधाम सर्वज्ञ तुम्ह' इति। अर्थात् आप जो कुछ कहते हैं सत्यही कहते है, वह सत्यही होता है, सभी उसको प्रमाण मानते हैं। वक्ताको सत्यवादी होना चाहिए, यह गुण आपमें इस विशेषणसे जनादिया। सत्य क्या है यह आप जानते हैं क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं। [पंजाबीजी लिखते हैं कि —'सत्य (धाम) अर्थात् जिसमें सत्यका निर्णय है, उत्तरमीमांसा जिसका मूल 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह सूत्र है उसके आप पूर्णज्ञाता हैं।']

नोट—१ श्रीभरद्वाजजीने 'रामनाम कर अमित प्रभावा।' से लेकर 'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि' तक अपना मोह प्रकट किया है। महानुभावोंका कहना है कि इसमें उन्होंने भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धाम चारोंका प्रश्न किया है क्योंकि ये चारों सच्चिदानंदविग्रह माने गए हैं, यथा—'रामस्य नामरूपञ्च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥' (वसिष्ठसंहिता)। इसी तरह इन चारोंकी चर्चा श्रीपार्वतीजी और श्रीगरुड़जीके प्रश्नोंमें भी पाई जाती है।

	नाम	रूप	लीला	धाम
श्रीभरद्वाज जी	रामनाम कर अमित प्रभावा।' 'सोइ राम०	राम कवन प्रभु पूछौं तोही।' 'एक राम अवधेस कुमारा।	तिन्हकर चरित बिदित संसारा।' 'रावनु मारा।	आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परमपद लहहीं।

श्रीपार्वती जी	प्रभु जे मुनि परमारथ बादी । कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी ॥ तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु० ।	प्रथम सो कारन कहहु बिचारी । निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी ।	बालचरित पुनि कहहु उदारा । ""राज बैठि कीन्ही बहु लीला	'प्रजासहित रघुबंसमनि किमि गवने निजधाम ?'
श्रीगरुड़जी	भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम	ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा । ""सो अवतार सुनेउँ जग माहीं ।	रन निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम ।	'भवबंधन तें छूटहिं' अर्थात् धामको प्राप्त होते हैं ।

२ गरुड़जीको भगवान्की रणक्रीडामें मोह हुआ था । इसलिए इनके प्रश्नमें लीलाहीकी प्रधानता है । ये संदेह प्रथम इनके मनमें थे । इन्हींको इनने नारदजी, ब्रह्माजी, शंकरजी, और भुशुण्डीजीसे प्रकट किये थे । यथा 'कहेसि जो संसय निज मन माहीं ।', 'निज संदेह सुनावत भएऊ ।', 'पुनि आपन संदेह सुनावा ।' और 'मोहिं भएउ अतिमोह प्रभु बंधन रन महुँ निरखि । चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन ॥'

३ नाम, रूप लीला और धाम ये चारों श्रीरामविग्रह हैं, नित्य हैं—यह बात इससेभी निर्विवाद सिद्ध है कि अविनाशी श्रीशिवजी इन चारोंको अपने हृदयमें बसाये हुए हैं; यथा 'संतत जपत संभु अविनासी । सिव भगवान ज्ञानगुनरासी ॥' (नाम), 'अनुज जानकी सहित निरंतर । बसहु राम नृप मम-उर अंतर ॥' (रूप), 'रचि महेस निज मानस राखा ।' (लीला), और, 'द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी ।' (यह धाम है । क्योंकि दशरथ-अजिर और रामनृप धाममेंही हैं) ।

जैसें मिटै मोह* भ्रम भारी । कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी ॥ १ ॥

अर्थ—हे नाथ ! जैसे मेरा भारी मोह और भ्रम दूर हो, वह कथा विस्तार से कहिये ।१।

नोट—१ 'जैसें' शब्द का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारोंने 'जिससे' किया है । पर दासकी समझमें तो इसका अर्थ 'जिस प्रकार' ही सर्वत्र देखनेमें आता है । अतएव मेरी समझमें इस अर्धालीका अर्थ होगा कि—'यह कथा उस प्रकारसे कहिए जिस प्रकारसे मेरा भारी भ्रम और मोह मिटे ।';कथा तो वही है पर कहने कहनेका ढंग है; संभवतः यही आशय भरद्वाजजीका है ।

टिप्पणी—१ "जैसें मिटै मोह भ्रम भारी" इति । ☞'अस बिचारि प्रगटौं निज मोहू । ४६ ।१।' मोहकथनका उपक्रम है और 'जैसें मिटै मोह भ्रम भारी' उपसंहार है । इनके बीचमें भरद्वाजजीने अपना मोह प्रकट किया है ।

२ ☞ श्रीभरद्वाजजीने अपनेमें मोह, भ्रम और संशय तीनों कहे हैं; यथा नाथ एक संसउ बड़ मोरें' ४५ (७) और 'जैसें मिटै मोह भ्रम भारी ।' (यहाँ) । इसी प्रकार श्रीपार्वतीजी, श्रीगरुड़जी और श्रीगोस्वामीजी इन तीनोंने अपने-अपनेमें इन तीनोंका होना बताया है ।—

श्रीपार्वतीजी—"ससिभूषन अस हृदय बिचारी । हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी ।१०८।"

"अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू । जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू ।१०९ ।"

---

* मोर—१६६१, १७०४, कोदवराम । मोह—१७२१, १७६२, छ०, ना० प्र०, भा० दा० । रा० प्र० में लिखा है कि दोनों पाठ मिलते हैं । श्रीपार्वतीजीके—"तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना । कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना । १०८ ।" की जोड़ में 'मोर' भी ठीक है पर हमने पं० राजकुमारजीके भावोंको देखकर मोह' पाठ उत्तम समझ कर रखा है । पं० रामवल्लभाशरणजी और रामायणी श्रीरामबालकदासजी आदि का भी पाठ 'मोह' है ।

"अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें।१०९।"

श्रीगरुड़जी—"जौं नहिं होत मोह अति मोही। मिलतेउँ तात कवनि बिधि तोही। उ० ६९।"

"सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना।, 'मोहि भयउ अति मोह प्रभुबंधन रन महुँ निरखि। उ०६८

"देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदय मम संसय भारी। उ० ६९।"

श्रीतुलसीदासजी—"निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भवसरिता तरनी। बा० ३१।"

(यहाँ श्रीगरुडजी, श्रीपार्वतीजी और श्रीभरद्वाजजी ये तीनो श्रोता हैं और इन तीनोंने अपनी अपनी शंकाएँ अपने-अपने वक्ताओं से कही हैं। वक्ताओंने इनके संशयोंकी निवृत्ति कथा कहकर की है। परन्तु यहाँ गोस्वामीजी वक्ता हैं, श्रोता नहीं और न उन्होंने ग्रंथमें कहीं इसका उल्लेखही किया है कि उन्हें भ्रम हुआ था और वह भ्रम अमुक वक्ताद्वारा कथा श्रवणसे निवृत्त हुआ। तथापि यह कहा जा सकता है कि गोस्वामीजीको अपने गुरुमहाराजसे इस कथाको बारम्बार सुननेसेही संशय मोह-भ्रमरहित ज्ञान हुआ। इससे उनको यह भी विश्वास होगया कि जो भी इस कथाको सुनेगा उसके संदेह, मोह और भ्रम दूर होजायेंगे। इसी आशयसे कथाका माहात्म्य कहते समय उन्होंने प्रारम्भमें "निज संदेह मोह भ्रम हरनी" ऐसा उल्लेख किया है। यहाँका "निज" शब्द बड़े महत्व का है। 'निज' का अर्थ है "अपना", जो गोस्वामीजीमें भी लग सकता है एवं अन्य लोगोंमेंभी जोभी इसे सुने। 'मेरे अपने' तथा "उनके अपने।" इसी भावसे 'मम' शब्द न देकर 'निज' शब्दका प्रयोग किया है। संभवतः यही आशय पं० रामकुमारजीका है।)

२ 'भारी' इति। प्रथम संशयको बड़ा कहचुके हैं, यथा 'नाथ एक संसउ बड मोरें।' इसीसे 'मोह' और 'भ्रम'कोभी भारी कहा। वहाँ 'बड' और यहाँ 'भारी' कहनेसे तीनो एक समान बराबर पाएगए, नहीं तो समझा जाता कि मोह और भ्रम सामान्य हैं। पुनः भाव कि परब्रह्ममें संदेह हुआ है इसीसे उस संशय, मोह और भ्रमको भारी कहा; यथा 'महामोह उपजा उर तोरें। उ० ५९।' यदि अन्यमें संदेह होता तो 'भारी' विशेषण न देते। (श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि माघ मकर स्नानमें एक मास ब्रह्मनिरूपण आदि मेरे आश्रम पर महात्माओं द्वारा हुआ पर मेरा भ्रम नहीं गया, इससे सिद्ध हुआ कि मेरा भ्रम भारी है)।

४ ☞ संदेह, मोह और भ्रमके भेद 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी' बा० ३१ (४) में लिखे जा चुके हैं। पाठक वहीं देख ले।

नोट—२ श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि—"संशय, मोह और भ्रमका अभिप्राय क्रमशः ईश्वर, जीव और माया (=तत्त्वत्रय) के अज्ञानमें है"। उनका मत है कि "अपने (जीव) स्वरूपमें अज्ञान होना" मोह, 'जिससे अपनेको देहही मानना और इन्द्रियाभिमानी होकर दसो इन्द्रियोंके भोक्ता होनेमें दशमुखरूप होना है।.... भ्रमका अर्थ अचित् (माया) तत्वमें अनिश्चय होना अर्थात् ब्रह्मके शरीररूप जगत्में नानात्व सत्ताका भ्रम होना है।" 'किसी वस्तुके ज्ञानमें द्विविधा होना संदेह है।'

हमारी समझमें 'निज संदेह मोह भ्रमहरनी' बा० ३१ में ये अर्थ लागू हो सकें तो हो सकें क्योंकि वहाँ एक साधारण बात कही गई है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंगमें तो 'ब्रह्म राम' वा 'अवधेशकुमार राम' के स्वरूपके सम्बन्धहीमें संशय, मोह और भ्रम कहे गए हैं न कि जीव और मायाके सम्बन्धमें।

३ 'मोह' के स्थानपर 'मोर' पाठ यदि सही मान लें तब तो संसय, मोह और भ्रमकी उलझनही नहीं रह जाती। हमने 'मोह' पाठ क्यों पसंद किया यह पाठकोंको उपर्युक्त टिप्पणी २ से समझमें आगया होगा।

टिप्पणी—५ 'कहहु सो कथा' इति। भाव कि श्रीरामकथा कहकरही संशय, मोह और भ्रम दूर कीजिये, अन्य उपायोंसे नहीं। 'सो कथा'=उन्हीं रामकी वह कथा। अथवा भरद्वाजजी कहते हैं कि 'सो' (वह) कथा कहिये और याज्ञवल्क्यजीने श्रीरामचरित कहा, इससे निश्चय हुआ कि 'सो कथा' से श्रीरामकथा ही अभिप्रेत थी।☞श्रीपार्वतीजीने भी ऐसाही कहा है। यथा "तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना। १०८।" "बिधि नाना" का भाव श्रीभरद्वाजजीके 'जैसे' और 'बिस्तारी' शब्दोंमें आजाता है।

नोट—४ पंजाबीजी लिखते हैं कि पूर्व भरद्वाजजीने उनको 'सत्यधाम' विशेषण देकर पूर्वोत्तर-मीमांसाका ज्ञाता जनाया है; यथा 'सत्यधाम सर्वज्ञ तुम्ह कहहु विवेकु विचारि।' ऐसा समझकर वे यह न कहें कि यज्ञ करो, शमदम आदि करो, इनके करनेसे तुम्हारा मन निर्मल हो जायगा, भ्रम मिट जायगा। अतः कहते हैं कि कथा ही से संदेह मिटाइये।

टिप्पणी—६ "बिस्तारी" इति ? भाव कि संशय, मोह और भ्रम भारी हैं; अतएव विस्तारसे अच्छी तरह बढ़ाकर कहिये जिसमें तीनोंकी निवृत्ति हो जाय। पुनः भाव कि संक्षेपसे कहनेसे समझमें न आवेगा। सूक्ष्म कथा तो बुद्धिमान ज्ञानवान लोगही समझ सकते हैं और मैं तो मूढ़ हूँ, मूढ़को संक्षेपसे समझमें नहीं आता। ☞स्मरण रहे कि भरद्वाजजीने मूढ़ बनकर प्रश्न किया है, यह बात याज्ञवल्क्यजीने स्वयं कही है; यथा "कीन्हिहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा।" ☞ शिवजीने सतीजीसे प्रथम दण्डकारण्यमें रास्ता चलते में श्रीरामकथा संक्षेपसे कही थी, इससे उनकी समझमें न आई थी; इसीसे उन्होंने भ्रमसे सीतावेष धारण किया था।

ग्रंथका प्रयोजन

श्रीरामचरितमानसका आविर्भाव क्यों हुआ ? उसका क्या उद्देश्य है ?—यह बात ग्रंथकार यहाँ मानसकथाके उपक्रममें बता रहे हैं। भरद्वाजजीके प्रश्नोंसेही मानसके तात्पर्य (प्रयोजन) का उपक्रम हुआ है। "नाथ एक संसउ बड़ मोरें। . राम कवन प्रभु पूछौं तोहीं।...प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।....जैसे मिटै मोह भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी॥"—से स्पष्ट है कि मानसकी रचना और मानसकथाके प्राकट्यका अभिप्राय श्रीरामतत्त्वका यथार्थ बोध कराना और श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला, धाम आदि विषयक संशय, मोह और भ्रमकी निवृत्ति करना है। और, इससे तीनों श्रोताओंके मोह, भ्रम और संशय दूर भी हुए।

इन प्रश्नोंके उत्तरमें याज्ञवल्क्यमुनिद्वारा उमा-महेश्वरसंवादकी प्रवृत्ति हुई। वे कहते हैं कि—'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी। ४७ (८)।' आगे चलकर पार्वतीजीका संशय कहते हैं। वे पूछती हैं—'प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।" 'तुम्ह पुनि रामराम दिनराती। सादर जपहु अनंग आराती॥ राम सो अवधनृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई। १०८।' इत्यादि।—इन प्रश्नोंसे भी यही सिद्ध होता है कि श्रीशंकररचित रामचरितमानसका जगत्में प्राकट्य श्रीरामविषयक संशय मोह भ्रमादिके निवारणार्थ हुआ। इसी प्रकार श्रीगरुड़भुशुण्डिसंवादका उद्देश्य भी श्रीरामविषयक संदेहोंकी निवृत्ति ही है। अतएव जिन लोगोंको श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम आदिके विषयमें भ्रम हो, उनसे दासकी विनीत प्रार्थना है कि वे श्रीरामचरितमानसका अध्ययन किसी गुरु द्वारा एवं मानसविज्ञों द्वारा कुछ काल उनके साथ रहकर करें। इससे उनका मोह अवश्य दूर हो जायगा। सच्ची जिज्ञासा चाहिए।

यह तो हुआ संवादोंका हेतु। अब, श्रीमद्गोस्वामीजी द्वारा यह मानसकथा क्यों प्रकट की गयी ?' इसका हेतु सुनिये।

उनके समकालीन श्रीनाभास्वामीजी लिखते हैं कि 'कलि कुटिल जीव निस्तारहित बाल्मीकि तुलसी भएउ।' और, गोस्वामीजीने स्वयंभी इस ग्रन्थके लिखनेका तात्पर्य बताया है, वह उन्हींके वचनोंमें सुनिये— 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति। मं० श्लोक ७।'

उनके—'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता। होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगलभागी। सपनेहु साँचेहु मोहि पर जो हरगौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ। १५।' इन वाक्योंमें ग्रन्थका प्रयोजन भी है और आशीर्वाद भी। और फिर दोहा ३० के आगे 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भवसरिता तरनी।' से लेकर 'रामचरित राकेसकर

सरिस सुखद सब काहु।"" ३२।' तक उन्होंने श्रीरामचरितमानसकथाका माहात्म्यविशेष तथा ग्रन्थका प्रयोजन या उद्देश्य विस्तारसे कहा है।

☞ कथासे मोहादिकी निवृत्ति होकर श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग होना आज दिन भी प्रत्यक्ष देखा जा रहा है।

उपक्रममें तो मानसकथाके प्रकट होनेका तात्पर्य लिखा गया, अब उपसंहारमें देखिये। ग्रंथकारका उपसंहार 'एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप व्रत पूजा। उ० १३०। ५।' से प्रारम्भ होता है। अन्तके उसके शब्दोंका उल्लेख हम यहाँ करते हैं—"" "स्वान्तस्तमः शान्तये। भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥ पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं। मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्॥ श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये। ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।' तथा—'रघुवंसभूषनचरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं। सतपंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै। दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरै।"

अतएव मुख्य तात्पर्य तुलसीदासजी द्वारा प्रादुर्भूत श्रीरामचरितमानसका यही है कि हम सरीखे कुटिल जीवोंका सहजही उद्धार हो जाय।

ध्वनित प्रयोजन

कवि स्वभावतः अपने कालका Historian इतिहासपरिचयदाता भी होता है। उसने जो भरद्वाज-याज्ञवल्क्य, उमा-महेश्वर और गरुड़ भुशुण्डि तीन प्रसंग या कर्म, ज्ञान और उपासना तीन घाट, रचे हैं उनका प्रारम्भ, उनका उपक्रम—'रामु कवन०', 'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।', 'राम सो अवधनृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई।' इत्यादि—स्पष्ट बता रहा है कि उसके समयमें श्रीनानकजी और श्रीकबीरजीका तथा अद्वैतवादियोंका निर्गुण सगुणवाद बहुत जोर पकड़ता जा रहा था। अर्थात् दशरथनन्दन राम और हैं, योगिजन जिनमें रमण करते हैं वे राम और हैं, सगुण राम और हैं और अज, अगुण, अलखगति राम और हैं, इत्यादि। इस भ्रमको मिटानेके लिये, जो निर्गुण हैं वही सगुण हैं, श्रीरामही निर्गुण और सगुण दोनों हैं, इत्यादिका निश्चय करानेके लिये ही इस ग्रन्थका निर्माण हुआ। इसका निर्णय महर्षि याज्ञवल्क्य, भगवान् शंकर और श्रीभुशुण्डिजी द्वारा कराया गया।

जागबलिक बोले मुसुकाई। तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई॥ २॥
रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी॥ ३॥
चाहहु सुनै* राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा॥ ४॥

अर्थ—श्रीयाज्ञवल्क्यजी मुसकराकर बोले—'तुमको श्रीरघुनाथजीकी प्रभुता विदित है।२। तुम मन, कर्म और वचनसे श्रीरामचन्द्रजीके भक्त हो। मैं तुम्हारी चतुरता (होशियारी) समझ गया (कि इस बहाने तुम) श्रीरामजीके गूढ़ गुणों, गुप्त रहस्योंको सुनना चाहते हो। इसीसे ऐसे प्रश्न किये हैं मानों अत्यन्त मूर्ख हो। ३, ४।'

टिप्पणी—१ 'जागबलिक बोले मुसुकाई।०' इति। (क) 'मुसुकाई'। मुसकुरानेका कारण 'चतुराई' है; यथा 'देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई। आ० १२।' यही बात वे आगे कहते भी हैं; यथा 'चतुराई तुम्हारि मैं जानी।' क्या 'चतुराई' जानी, सो आगे कहते हैं कि 'कीन्हिहु प्रस्न मनहु अति मूढ़ा।' अर्थात् अत्यन्त मूढ़ बनकर प्रश्न किया है जिसमें याज्ञवल्क्यजी कुछ कहें, यद्यपि स्वयं उसके ज्ञाता हैं। (ख) ☞ यहाँ ग्रन्थकार जनाते हैं कि मूढ़ बनकर प्रश्न करना चतुरता है और चतुर बनकर प्रश्न करना मूढ़ता है। (ग) 'तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई।' इति। भरद्वाजजीने जो कहा था कि हमको

* सुनै—१६६१। सुनै—औरोंमें।

भारी मोह है, उसपर याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि तुम्हें मोह नहीं है (क्योंकि) तुम रघुपतिप्रभुता जानते हो। प्रभुता जाननेसे मोह नहीं रह जाता; यथा 'नयन नीर मन अति हरषाना। श्रीरघुपति प्रताप उर आना॥ पाछिल मोह समुझि पछिताना। ब्रह्म अनादि मनुज करि माना। उ० ६ ॥', 'रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी।' यह जो आगे कहा है उससे भी मोहका निराकरण किया है। क्योंकि मोहके रहते हुए, मोहके गये बिना, श्रीरामजीमें अनुराग नहीं होता, यथा—'मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग। उ० ६१।' और तुम तो मनकर्म वचनसे रघुनाथजीके भक्त हो तब तुममें मोह कहाँ सम्भव है?

(घ) 'रघुपति प्रभुताई' इति। 'रघुपति' अर्थात् अवधेशकुमार राम जिनके विषयमें तुम संदेह प्रकट कर रहे हो, उनकी प्रभुता तुमको मालूम है कि 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति राम पदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते। रा० ता० उ० ४।' [पुनः, विदित होनेका प्रमाण यह है कि तुम वाल्मीकिजीके शिष्य हो। रामायणमें दाशरथी रामका प्रकरण वर्णित है ही।]

वि० त्रि०—जो रोगी रोग का निदान भी जानता हो तथा उसकी अचूक औषध भी जानता है, उसे वैद्यकी क्या आवश्यकता है? और उसे रोगी भी कैसे कहें? भरद्वाजजीने अपने कथनको स्वयं मोह-मूलक और भ्रान्त बतलाया, और उसके मिटनेका उपाय विस्तारयुक्त रामकथा भी बतला दी। इसपर याज्ञवल्क्यजी हँस पड़े।

टिप्पणी—२ 'रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी।' इति। (क) यहाँ 'रामभगत' और फिर आगे 'रामगुनगूढ़ा' कहकर जनाया कि तुम जानते हो कि रघुपति 'राम' और श्रुतिप्रतिपादित 'राम' एक ही हैं। (ख) ☞ भरद्वाज याज्ञवल्क्यसम्वादमें ऊपरसे बराबर दिखाते आ रहे हैं कि भरद्वाजजी, पार्वतीजी और गरुड़जी तीनोंमें संदेह, मोह और भ्रम तथा प्रश्न एकसे ही हैं। तीनों सवादोंके मिलानसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तीनों वक्ताओंका व्यवहार बर्ताव अपने अपने श्रोताओंके साथ एक सा है। तीनोंने अपने जिज्ञासू श्रोताकी पहले बड़ी 'खातिरी' (प्रशंसा, आदर-सत्कार) की है। इससे सूचित किया है कि विद्वानों शिष्ट-पुरुषोंकी जिज्ञासूकी 'खातिरी' करनेकी रीति है, प्रथम 'खातिरी' करते हैं जिसमें जिज्ञासू घबड़ा न जाय, फिर पीछे और तरहसे उसके प्रश्नोंका अनुचित होना भी कह डाला है। यथा—

श्रीशिवजी—'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगतहित लागी॥ राम कृपा ते पारबति सपनेहु तव मन माहिं। सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं। ११२।'

श्रीभुशुण्डीजी—'सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपा पात्र रघुनायक केरे॥ तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया। ७। ७०।'

तथा यहाँ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी)—'तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई। रामभगत०' इत्यादि।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि—'श्रीरामरूपमें मन लगाये रखते हैं, हाथोंसे श्रीरामपरिचर्या (कैंकर्य) करते हैं और वाणीसे नामस्मरण, यशकीर्त्तन इत्यादि करते हैं। अतः मनकर्मवाणीसे रामभक्त होना कहा।' इसी प्रसंगसे 'मन, कर्म, वचन' से रामभक्त होनाभी सिद्ध होसकताहै। इस तरह कि—'चाहहु सुनै रामगुनगूढ़ा' यह मनकी भक्ति है, रामनाम कर अमित प्रभावा' से सिव उपदेसु करत करि दाया' तक वाणीकी भक्ति है और मूढ़ बनकर 'चतुराई' से प्रश्न किया जिसमें वे कुछ कहें यह कर्म है।

टिप्पणी—३ 'चतुराई तुम्हारि मैं जानी' इति। (क) क्या चतुराई जानी? यह ऊपर टि० १ में लिखा जाचुकाहै। चतुराई कैसे जानी? इस तरह जानली कि कोई मूढ़ इस प्रकार प्रश्न नहीं करसकता, जैसे इन्होंने उठाया है कि प्रथम 'रामनाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥ सिव उपदेसु करत करि दाया' कहकर विषय कहा कि शिवजी महामहिमावाले रामनामके जापक, उपासक और उपदेशक हैं। फिर पूर्व पक्ष 'राम कवन' इस प्रश्नसे उठाया। जिन रामको जानतेहैं उनकी चर्चा कर संदेह किया और उस पर सिद्धान्त जाननेकी जिज्ञासा की।

नोट—२ इस ग्रन्थमे 'चतुर' और 'चतुराई' शब्दोका प्रयोग जहाँ-तहाँ रामभजन, सत्संग और श्रीरामभक्तिके सम्बन्धमेही प्रायः किया गया है। यथा 'रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। माँगेहु भगति मोहिं अति भाई।।उ० ८५।', 'परिहरि सकल भरोस रामहि भजहि ते चतुर नर। आ० ६।' इसीसे यहाँ प्रथम 'रामभगत तुम्ह' कहकर तब 'चतुराई' और तब 'चाहहु सुनै०' कहा। भाव यह कि 'तुम रामभक्त हो इसलिये रामचर्चा-सत्संग करना चाहतेहो। तुमने प्रश्न किया है जिसमे रामचर्चासत्संग हो। यही चतुरता है।' —(दीनजी)।

३ श्रीराजबहादुरलमगोडाजीने बहुत ठीक लिखा है कि यहाँ ('जागबलिक बोले मुसुकाई।""चतुराई तुम्हारि मैं जानी।' के) 'मुसुकाई' मे हास्यकलाका बड़ा सुन्दर प्रयोग है। हम जब अपने मित्रकी 'चतुराई' पकड़ लेतेहैं, जिसके द्वारा वह हमें भ्रममे डालना चाहता है, तो हमे हँसी आजातीहै। तुलसीदासजीकी हास्य-कलामे बहुधा हास्यपात्रके प्रति प्रेम बना रहताहै। ऐसी कलाको कार्लाइल (Carlyle) बहुतही आदरणीय बताते हैं।

४ 'चाहहु सुनै रामगुन गूढा।' इति। (क) लाला भगवानदीनजी कहतेहैं कि गूढ गुण वे हैं जो श्रीरघुनाथजीने अपने श्रीमुखसे वर्णन किये हैं; क्योंकि गुप्त दूसरा जानही नहीं सकता तब कहेगा क्योंकर जबतक उन्हींसे न सुना हो। गूढ गुण, यथा 'कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहि ताहू।। सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।। सुं० ४४।', 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ।। जौ नर होइ चराचरद्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही।।' इत्यादि। (सुं० ४८), 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहि जे मोहिं तजि सकल भरोसा।। करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।। आ० ४३।।" तथा "अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी।। निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही।।' उ० ८६ (१) से 'प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ।८८।' तक, इत्यादि। (ख) पाँडेजीके मतानुसार 'शंकररचित मानस' ही 'गुढ गुण' है। श्रीरामचरितमानसको गुप्त और सुहावा कहाभी है, यथा 'रामचरितसर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा।। उ० ११३।' बैजनाथजीका मत है कि वेद पुराणमे गुप्त होनेसे 'गूढ' कहा। (ग) प्रथम कहाथा कि 'तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई' (अर्थात् तुम श्रीरामजीका प्रभुत्व, जो उनके अवतारवाले लीला-चरितमे गुप्त रूपसे भरा हुआ है और साधारण लोगोको नहीं देख पड़ता, जानते हो, उसके बताने या पूछनेकी आवश्यकता नहीं है) और यहाँ कहते हैं कि 'चाहहु सुनै रामगुन गूढा।'—इस तरह जनाया कि 'रघुपति-प्रभुता' और 'रामगुण गूढ' दोनों बातें एकही हैं। रघुपति प्रभुताई='रामगुनगूढ'। (प० रा० कु०)।

(घ) 'गूढ' का अर्थ है गुप्त, कठिन, जो शीघ्र समझमें न आसके; यथा 'उमा रामगुन गूढ पंडित मुनि पावहि बिरति। पावहि मोह बिमूढ जे हरि बिमुख न धर्मरति। आ० म०।' यहाँ चरितकी गूढता यह है कि उसीसे दो विरोधी फल प्राप्त होते हैं। एकही माधुर्य प्रसंगसे एकको तो संसारसे वैराग्य हो जाता है और दूसरेको मोह प्राप्त होता है। श्रीसतीजी और श्रीगरुडजीको भी मोह होगया तब अस्मदादिका कहना ही क्या?

टिप्पणी—४ 'कीन्हिहु प्रश्न मनहु अतिमूढा।' इति। यहाँ 'मनहु' कहकर जना दिया कि हम जानतेहैं कि 'तुम्हे मोह नहीं है। तुम पंडित हो, मूढ नहीं हो। तुमने मूढ बनकर प्रश्न किया है। मोह मूढको होताहै इसीसे मूढ बनकर तुम अपनेमें, मोहका होना कह रहे हो'। तुम्हें मोह नहीं है और न तुम मूढही हो, इसके कारण टि० १ (ग) मे कह आए हैं।

वि० त्रि०—भगवान्ने गीतामें कहा है, कि 'अवजानन्ति मा मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्'; मुझ मनुष्य शरीर धारण करनेवालेकी मूढ लोग अवज्ञा करते हैं। और भरद्वाजजीने अत्यन्त अवज्ञा करके पूछा है, इसलिये याज्ञवल्क्यजीने 'मनहु अति मूढा' कहा।

नोट—५ याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि 'तुम्हें मोह नहीं है। तुम रामगुण सुनना चाहते हो। इसीसे

मूढ़ बनकर तुमने प्रश्न किया है।' ऐसाही अन्य वक्ताओंनेभी अपने अपने श्रोताओंसे कहा है, जैसा टि० २ (ख) में दिखा आए हैं।—इसका एक आशय तो ऊपर लिखा ही गया कि पहलेहीसे फटकार सुनकर वह घबड़ा न जाय, दूसरा भाव यह कहा जाता है कि तुम जो 'संदेह मोह भ्रम' अपनेमें बतलाते हो वह अविद्या कृत नहीं है, किन्तु विद्याकृत है; इसीसे उसकी गणना मोह आदिमें नहीं है। जो 'मोह' अविद्याकृत होता है वही 'मोह' कहलाता है। विद्याकृत मोह मोह नहीं है, क्योंकि यह तो प्रभुकी प्रेरणासे होता है, इससे भक्तिकी वृद्धि होती है। यथा 'हरिसेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभुप्रेरित व्यापहि तेहि विद्या॥ ताते नास न होइ दास कर। भेदभगति बाढ़इ बिहगबर॥ उ० ७६॥'

☞ तीसरी बात यहाँ जो उपदेश कीगई है वह यह है कि यदि कदाचित् कभी कोई शंका हृदयमें उत्पन्न हो और उसके निवारण करनेवाले कोई विशेष विज्ञ मिलें तो मूढ़ बनकर ही प्रश्न करना चाहिये तभी वक्ता गूढ़ रहस्यका प्रकाश करेंगे, उसे भली प्रकार समझानेका प्रयत्न करेंगे, नहीं तो गोप्य वस्तु हरएककी तुरत नहीं पकड़ा दीजाती। यथा 'गूढ़ौ तत्त्व न साधु दुराहीं। आरत अधिकारी जहँ पावहीं॥ अति आरति पूछौं सुरराया॥ बा० ११०।' प्रश्नके साथ अपनाभी जानना यदि प्रकट किया गया तो उत्तर देनेवालेके मनमें यह अवश्य ख्याल उत्पन्न होगा कि ये हमारी परीक्षा ले रहे हैं। ऐसी हालतमें या तो वह बात टाल देगा, अथवा, यदि कुछ कहेगाभी तो बहुत सूक्ष्म।

६ अलंकार—जहाँ किसी वस्तुके अनुरूप यत्नपूर्वक कोई उपमान कल्पित किया जाता है, वहाँ 'वस्तूत्प्रेक्षा' होती है। जब उत्प्रेक्षाका विषय पहले कहा जाय और तब उसके अनुरूप कल्पना कीजाय तब 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षालंकार' कहा जाता है। (अ० मं०)। यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय, 'रामनाम कर अमित प्रभावा।' से 'जैसे मिटै मोह भ्रम भारी।०' तक तो प्रथम कहा गया और उसपर उत्प्रेक्षा यहाँ हुई 'कीन्हिहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा।' अतः यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

तात सुनहु सादर मनु लाई। कहहुँ* राम कै कथा सुहाई॥ ५॥

अर्थ—हे तात! मैं श्रीरामजीकी सुन्दर कथा कहता हूँ। तुम आदरपूर्वक मन लगाकर सुनो॥५॥

नोट—'तात' सम्बोधन है। यह शब्द यहाँ दुलार, प्यार और अत्यन्त घनिष्ठ प्रेमका द्योतक है। इसका प्रयोग पुत्र, भाई, पिता, गुरुजन, सखा इत्यादि छोटे, बड़े और बराबरवाले सभीके सम्बंधमें हुआ है, यथा 'तात तात बिनु बात हमारी। केवल गुरकुल कृपा सँभारी। अ० २०५।' में पहला 'तात' भाई भरतके लिये और दूसरा पिता दशरथके लिये आया है, 'सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं। राम चराचर नायक अहहीं॥ अ० ७७॥' में पुत्र श्रीरामकेलिये आया, 'माँगहु बर प्रसन्न मैं ताता। बा० १७७।' में ब्रह्माजीने अपने उपासक रावण आदिके लिये प्रयुक्त किया और 'तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ', 'तात धरम मतु तुम्ह सबु सोधा।' अ० ६५ में श्रीरामजीने सुमन्त्रजीकेलिये तथा 'तात कृपा करि कीजिअ सोई। जाते अवध अनाथ न होई। अ० ६५।' में सुमन्त्रने श्रीरामजीकेलिये प्रयुक्त किया है। परन्तु 'तात' शब्द संस्कृतभाषाका है। उसका अर्थ है—'पिता', यथा 'तातस्तु जनकः पिता इत्यमरकोशे।' और गुरुजनोंको पितृतुल्य समझकर उनके वास्तेभी इसका प्रयोग हुआ है। यथा 'छमब तात लखि बाम बिधाता। २.२९३।" (यहाँ भरतजीने जनकमहाराजके लिये इसका प्रयोग किया है), "तासों तात बयरु नहिं कीजै" (३.२५) एवं 'अकसर आयहु तात। ३.२१।' (मारीचने रावणको 'तात' सम्बोधन किया), 'तात चरन गहि माँगउँ। ५.४०।" (विभीषणजीने रावणके लिये 'तात' का प्रयोग किया), इत्यादि। इसका प्रयोग गुरुजनोंके सम्बन्धमें दुलार या प्यारके सम्बन्धसे कहना उचित न होगा। छोटे या बराबरवालोंके सम्बन्धमें जब इसका प्रयोग होता है तब प्रायः

---

* कहहुँ—१६६१। प्रायः अन्यत्र कहीं पोथीमें अर्धचन्द्रबिन्दु देखनेमें नहीं आता। पर यहाँ है। पाठान्तर—'कहउँ'।

दुलारप्यारके सम्बन्धसे ही होता है। इसके उदाहरण ऊपर आगए हैं।

टिप्पणी—१ "तात सुनहु सादर मन लाई।०"। इति। (क) ऊपर जो कहा गया था कि "चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा" उसके सम्बन्धसे यहाँ "तात सुनहु सादर मन लाई" यह कहा। क्योंकि गूढ़ विषयोंके समझनेकी यही रीति है और "कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी" के सम्बन्धसे "कहउँ राम कै कथा सुहाई"—यह कहा।

(ख) "सादर मन लाई" अर्थात् मन, बुद्धि और चित्तको एकाग्र करके सुनो क्योंकि यह गूढ़ रहस्य है। चित्त जरा हटा कि प्रसंग समझमें न आएगा, प्रेमसे मनको एकाग्र करके सुनो जिसमें एकभी शब्द व्यर्थ न जाय।

नोट—☞यहाँ गूढ़ विषय समझनेकी रीति बताई है। इसके लिये दो बातें आवश्यक हैं—एक तो 'सादर सुनना', दूसरे 'मन लगाकर सुनना'। इनमेंसे एककीभी कमी होगी तो विषय समझमें न आवेगा।—(दीनजी)। बैजनाथजीका मत है कि बाह्येन्द्रियोंका व्यापार कथाके अनुकूल करके सुनना 'सादर' सुनना है।

टिप्पणी—२ "कहउँ राम कै कथा सुहाई।" इति। भाव कि तुमने जो कहा कि यह कथा कहो जिससे मोह मिटे, सो यह कथा तो श्रीरामकथाही है; इसीसे मोह मिटेगा। यह कहकर याज्ञवल्क्यजी कथाका माहात्म्य कहने लगे। अथवा, भरद्वाजजीके वचन हैं कि 'जैसें मिटै मोह भ्रम भारी। अर्थात् जिस प्रकार मिटै; अतः यहाँ प्रथम प्रकार दिखाते हैं। वह यह कि प्रथम कथाका माहात्म्य कहा।

३—'सुहाई' का भाव कि ऐसी सुन्दर है कि मन लगाकर सुननेयोग्य है।

महामोहु महिषेसु बिसाला। रामकथा कालिका कराला॥ ६॥

रामकथा ससि-किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना॥ ७॥

अर्थ—महामोहरूपी बड़े भारी महिषासुरकेलिये श्रीरामकथा बड़ी भयंकर कालिकादेवी हैं।६। श्रीरामकथा चन्द्रकिरणोंके समान है जिसे संतरूपी चकोर पिया करते हैं।७।

टिप्पणी—१ 'महामोह महिषेसु बिसाला।०' इति। (क) ☞इसमें और आगेकी अर्धालीमें श्रीरामकथाका माहात्म्य कहतेहैं। भरद्वाजजीके 'जैसें मिटै मोह भ्रम भारी। कहहु सो कथा०।' की जोड़में, उसीके उत्तरमें यहाँ 'महामोह महिषेस बिसाला। रामकथा कालिका कराला।' कहा। सांसारिक पदार्थमें भ्रम होना अर्थात् असत्यमें सत्यका भ्रम, स्वस्वरूपकी विस्मृति, इत्यादि मोह है और ईश्वरके स्वरूपमें भ्रम होना महामोह है। यथा 'महामोह उपजा उर तोरें। उ० ५८।'(बैजनाथजीका मत है कि गुरुशास्त्रोपदेशमें जो आवरण डाले वह मोह है)।

(ख) महामोहको 'विशाल महिषासुर' कहनेका भाव कि महिषासुर सामान्य था। उसे कालिकादेवीने मारडाला; परन्तु 'महामोह' रूपी महिषासुर साधारण नहीं है जो मारलियाजावे। इसने तो भगवती सती (जो दुर्गा और कालिकारूप धारण करती हैं) को ही जीत लिया। यथा 'मपउ मोह सिव कहा न कीन्हा। बा० ६८।' [मोहने उन्हें ऐसा दबाया कि तन त्याग करना पड़ा।—यही मोहका उनको ग्रास करलेना है, लील लेना है। इतनाही नहीं किन्तु देखिये तो कि पुनः जन्म लेने परभी वह (महामोह) इनके दूसरे तनमें भी व्याप्त रहा। यथा 'अजहूँ कछु संसउ मन मोरें।...तव कर अस बिमोह अब नाहीं। बा० १०९।'—यह स्वयं स्वीकार है। तथा "एक बात नहि मोहि सुहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी।११४।" उस महिषासुरने तो एकही स्थूल शरीरमें दुःख दिया और महामोह महिषासुरने दूसरे जन्मतककी खबर ली। जीवोंके संसारचक्रमें रमतेरहनेका कारण महामोहही तो है।] अतः महामोहको विशाल महिषासुरकी उपमा दी।

नोट—१ महिषेसु=महिषासुर। (क) मार्कण्डेयपुराणमें इसकी कथा विस्तारसे है। यह रंभनामक दैत्यका पुत्र था। इसकी आकृति भैंसेकी सी थी। इसने हेमगिरिपर कठिन तप करके ब्रह्माजीसे यह वर पाया था कि स्त्री छोड़ किसी पुरुषसे उसका वध न होसके। वर पाकर इसने इंद्रादि सभी देवताओंको जीत लिया

और सबको सताने लगा था। कालिका देवीने उसका वध किया। इसको अपने बलका बड़ा गर्व था,यह बात सप्तशतीके दूसरे चरितसे स्पष्ट है—'महिषमद भग करि अग तोरे' (वि० १५)

(ख) स्कन्दपुराण नागरखण्डमें लिखा है कि चित्रसम नामका एक दैत्य था। यह बड़ा सुन्दर तथा तेज और वीर्यसे सम्पन्न था। इसे भैंसेकी सवारी रुचिकर थी। एक बार यह भैंसे पर चढ़कर गंगातटपर जलपक्षियोंका शिकार करने लगा। महर्षिदुर्वासा वहीं समाधि लगाए बैठे थे। चित्रसम अपने व्यसनमें भैंसा बढ़ाए चला गया जिससे मुनि कुचल गए। नेत्र खोलकर उन्होंने उस दानवको देख कुपित हो शाप दिया कि तू भैंसा हो जा और आजीवन भैंसा बना रह। यह हिरण्याक्षका पुत्र था। शुक्राचार्यजीके कहनेसे उसने शिवजीकी आराधना की जिससे शिवजीने वरदान दिया कि (दुर्वासा-शाप व्यर्थ नहीं हो सकता पर तुम जिस इच्छासे पूर्वरूप चाहते हो उसका उपाय मैं किये देताहूँ) जितनेभी देव, मानव तथा आसुरभोग हैं वे सब तुम्हें इसी शरीरमें प्राप्त होंगे। उसने यहभी वर माँग लिया कि स्त्री छोड़ वह सबसे अवध्य रहे। वर पाने पर उसने इन्द्रको जीतकर इन्द्र बन बैठा। इसके अत्याचारसे कार्तिकेय आदि देवताओंको बड़ा क्रोध हुआ और उस आवेशमें सबके मुखसे तेज प्रकट हुआ जो मिलकर एक कुमारी कन्याके रूपमें परिणत हो गया। स्कन्द, विष्णु, इन्द्र, शंकर आदिने अपने अपने भयंकर आयुध उसको दिये। सिंह पर सवार हो विंध्याचलपर जाकर ये तपमें संलग्न हुई। इनका परमसौंदर्य सुनकर उसने इनको भार्या बननेको कहा। देवीने फटकारा। महिषासुरकी सेना मारी गई तब वह सींगोंके प्रहारसे देवीपर शिलाखण्ड फेंकने लगा। देवी बड़ी फुर्तीसे उसकी पीठपर चढ़ गई और उसे लातोंसे मार-मारकर लहूलुहान कर दिया। वह आकाशमें उछलने लगा तब देवीकी ज्योतिसे एकसिंहने प्रकट होकर उसके पिछले पैर पकड़ लिये। इन्द्र आदिने प्रकट होकर देवीको तलवार दी कि उसका सिर काट ले। गर्दनके दो टुकड़े होतेही वह ढाल तलवार लिये हुये तेजस्वी पुरुषके रूपमें प्रकट हुआ। देवीने उसकी चोटी पकड़ली और उसका नाश करने के लिये तलवार उठाई। यह देख वह स्तुति करने लगा। देवी तब असमंजसमें पड़ गई। देवताओंने वधकी प्रार्थना की। तब देवीने कहा कि मैं न तो इसे मारूँगी और न छोड़ूँगी, सदा इसकी चोटी पकड़कर इसे अपने हाथमें ही लटकाए रक्खूँगी।

टिप्पणी—१ 'रामकथा कालिका कराला' इति। श्रीरामकथाको करालकालिका कहनेका भाव यह है कि महिषासुरको तो कालिकाने मारा पर विशाल महिषासुर (महामोह) उनसे नहीं मर सका। उसके मारनेकेलिये करालकालिकाका अवतार होना चाहिये। अतएव महामोहरूपी विशाल महिषासुरके नाशके लिये श्रीरामकथारूपी 'करालकालिका' का अवतार हुआ। श्रीरामकथाने महामोहको जीतकर कालिका (सती) की रक्षा की। अर्थात् कथा श्रवण करनेसे सतीजीका प्रबल मोह निवृत्त हुआ, यथा 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥ बा० १२०।'—(बाबा हरीदासजी। शीला)।

नोट—२ पंजाबीजी एक भाव यह लिखते हैं कि 'महिषासुरको मारकर जिनका दुःख कालिकाने दूर किया, उनकी जन्म मरणसे निवृत्ति नहीं हुई। और रामकथा महामोहका तो नाशही करडालती है, साथही साथ मोहग्रस्त प्राणीको जन्ममरणसेभी छुड़ा देती है।

३ यहाँ 'रामकथा' पर 'कालिका' होनेका आरोप कियागया, क्योंकि पहले 'महामोह' पर 'महिषेश' होनेका आरोप करचुकेहैं। अत यहाँ परंपरितरूपक है।

टिप्पणी—३ 'भगवतीको मोह होना असम्भव है। तब उनमें मोह कैसे कहा ?'—इस शंकाका समाधान यह है कि मायिक पदार्थमें उनको संदेह होना असम्भव है, परन्तु ईश्वरकी लीलामें संदेह होजाना असंभव नहीं है। ब्रह्माको मोह हुआ तब उन्होंने वत्सहरण किया, शिवजीको मोह हुआ तो वे मोहिनीके पीछे दौड़े, इन्द्रको मोह हुआ तो उन्होंने महावृष्टि की, नारदको मोह हुआ तो उन्होंने ब्याह करनेकी इच्छा की और सनकादिको मोह हुआ तो उन्होंने जय विजयको शाप दिया। इत्यादि। कौन ऐसा है जिसको ईश्वर

के अत्यन्त माधुर्य चरितोंमें मोह न हुआ हो ? यथा 'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतम-बादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही। उ० ७०।'

—कालिका—

(क) 'देवी भागवतमें देवीकी उत्पत्तिके संबंधमें कथा इस प्रकार है—महिषासुरसे परास्त होकर सब देवता ब्रह्माजी के पास गए। ब्रह्माजी, शिवजी तथा देवताओंके साथ विष्णुके पास गए। विष्णुजीने कहा कि महिषासुरके मारनेका उपाय यह है कि सब देवता अपनी स्त्रियोंसे मिलकर अपना थोड़ा थोड़ा तेज निकालें। उनके तेजसमूहसे एक स्त्री उत्पन्न होगी जो उस असुरका वध करेगी। महिषासुर को वर था कि वह किसी पुरुषके हाथसे न मरेगा। भगवान् विष्णुकी आज्ञानुसार ब्रह्माने अपने मुँहसे रक्त वर्णका, शिवने रौप्य वर्णका, विष्णुने नील वर्णका, इन्द्रने विचित्र वर्णका इसी प्रकार सब देवताओंने अपना अपना तेज निकाला। उससे एक तेजस्वी देवी प्रकट हुई जिसने महिषासुरका संहार किया।' (श० सा०)।

(ख) दूसरी कथा यह है कि 'शुंभ और निशुंभके अत्याचारोंसे पीड़ित इन्द्रादि देवताओंकी प्रार्थनापर एक मातंगी प्रगट हुई जिसके शरीरसे इस देवीका आविर्भाव हुआ। पहले इनका वर्ण काला था, इसीसे इनका नाम कालिका पड़ा। ये उग्र भयोंसे रक्षा करती हैं। इनका ध्यान इस प्रकार है—कृष्णवर्णा, चतुर्भुजा, दाहिने दोनों हाथोंमेंसे ऊपरके हाथमें कटारी और नीचेके हाथमें खप्पर, बड़ी ऊँची एक जटा, गलेमें मुंडमाला और सर्प, लाल नेत्र, काले वस्त्र, कटिमें बाघाम्बर, बायाँ पैर शवकी छातीपर और दाहिना सिंहकी पीठपर, भयंकर अट्टहास करती हुई।'—(श० सा०)।

(ग) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि—'कराला देवीका नाम है। कराला करारा देवीका दक्षिणमें स्थान है, जहाँके करारे ब्रह्माण्ड उन्हींके नाम और उपासनासे हैं।' इसके अनुसार अर्धालीका अर्थ होगा—'रामकथा इस कलिकालमें महामोहरूपी महिषासुरके नाश करनेको करालादेवी रूप है।'

(घ) विनयपत्रिकामें इनको षट्भुजा या अष्टभुजा कहा गया है। यथा—'वर्म चर्म कर कृपान सूल सेल धनुषबान धरनि दलनि दानवदल रन करालिका। पद १. १'

(ङ) पं० श्रीहरिवतजी जोशी काव्यसारस्वस्मृतितीर्थ लिखते हैं कि 'इन्द्रादि देवताओंके अधिकार छिन जानेपर वे सब हिमालयपर जाकर देवीकी स्तुति करने लगे। उस समय भगवती पार्वती आयीं और उनके शरीरसे शिवा प्रकट हुईं। सरस्वती देवी पार्वतीके कोप शरीरसे निकली थीं, इसलिये उनका कौशिकी नाम प्रसिद्ध हुआ। कौशिकीके निकल जानेके बाद पार्वतीका शरीर काला पड गया, इसलिये कालिका कहते हैं।' विशेष 'विनयपीयूष' पद १५, १६, १७ में देखिये।

टिप्पणी—४ 'रामकथा ससिकिरन समाना।०' इति। श्रीरामजीकी कथा चन्द्रकिरण है। श्रीराम-चन्द्रजी चन्द्रमा हैं। संत चकोर हैं। संतको चकोरकी उपमा देनेका भाव कि जैसे चकोर चन्द्रमाको छोड़ और किसीकी तरफ नहीं देखता, इसी तरह संतही इस शान्तिदायक कथाके परम अधिकारी हैं, वे रामकथा छोड़ अन्य कथा नहीं देखते। मिलान कीजिये—'रघुवरकीरति सज्जनहि सीतल खलहि सुताति। ज्यों चकोर चक चक्कवनि तुलसी चाँदिनि राति।' (दोहावली)। पुनः, भाव कि जैसे चकोर किरणको पान करता है वैसे ही संत श्रीरामकथाको श्रवणपुटद्वारा पान करते हैं, यथा 'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर। उ० ५२।'

५ यहाँ रामकथा के लिये दो दृष्टान्त दिये गए—एक तो 'कालिका कराला' का, दूसरा शशिकिरणका। दो दृष्टांत देनेका भाव यह है कि—(क) महामोह आदिके नाशके लिये रामकथा कराल है और सन्तोंको सुख देनेके लिये चन्द्रकिरण समान शीतल है। पुनः, (ख)—जैसे देवीने प्रथम महिषासुरको मारकर देव-ताओंको सुखी किया फिर उनको अपने दर्शनका सुख दिया। इसी प्रकार रामकथा महामोहका नाश करके सन्तोंको सुख देती है, फिर अपने स्वरूपका सुख देती है। पुनः, (ग)—जैसे मोहनाशनार्थ कथाको 'कालिका'

कहा वैसे ही मोहनाशनार्थ ही उसे शशिकिरण कहा, यथा—'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी।' (१। १२०)। श्रीरामकथाको शशिकिरण कहकर मोहको शरदातप जनाया। यथा 'सरदातप निसि ससि अपहरई।' मिलान कीजिये—'रामचरित राकेसकर सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु। बा० ३२।' पुनः, (घ) इससे कथाकी गूढ़ता दरसाई। वह दो रूप धारण किये है—एक तो कराल और दूसरा सुन्दर शान्तिदायक। [यह दुष्टोंके लिये कराल है और सज्जनोंके लिये सौम्य है। (वि० त्रि०)] जिनको महामोह है, उनके उस मोहकी नाशक है और जिनको मोह नहीं है उनको विशेष सुखद है। दो बातें दिखानेके लिये दो दृष्टान्त दिये।—(जब प्रभु स्वयं ही कठोर और कोमल दोनों हैं, सम भी हैं और विषम भी, तब उनकी कथा वैसी क्यों न हो ? हुआ ही चाहे—'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि। ७। १९।', 'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥ २। २१९।')

नोट—४ 'सारांश यह है कि श्रीरामकथा रामभक्तोंके लिये सुखद है और रामभक्तके द्रोहियों (मोह, मद, काम, क्रोधादि) के लिये कालरूप है। राम और रामकथामें अभेद होनेसे 'प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई' के अनुसार श्रीरामजीकी तरह श्रीरामकथामें भी कालिकाके दृष्टान्तसे संहार-शक्ति और शशिकिरणके दृष्टान्तसे पालनशक्तिका होना वर्णन किया।—(वे० भू०)।

५—'रामकथा ससि किरन समाना' में धर्मलुप्तोपमालंकार है। 'संत चकोर करहिं जेहि पाना' में 'सम अभेद रूपक' है। चकोर—दो० ३२ (ख) में देखो। चकोर कहकर जनाया कि सन्त श्रीरामकथाके अनन्य प्रेमी हैं, उसे छोड़ दूसरी कथा नहीं सुनते।

प० प० प्र०—(क) श्रीरामकथाका माहात्म्य कहनेमें प्रथम महामोहका विनाश कहा, क्योंकि 'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।' इस तरह सन्त संगमें सन्तमुखसे श्रीरामकथाश्रवण सूचित किया है। (ख) 'रामकथा ससि किरन' इति। रामकथा सुखदायक है यथा 'रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु।', पर 'रघुपति भगति बिना सुख नाहीं' यह मानसका अकाट्य श्रुतिसिद्धान्त है। शशिकिरणमें अमृत रहता है पर उसका पान केवल चकोर ही कर सकता है। अतः सन्तोंको चकोर कहा। श्रीरामप्रेमभक्ति ही सुधा है—'प्रेम अमिय मंदर बिरहु।' अतः सूचित किया कि रामकथासे रामभक्ति दृढ़ अनुरागका सहज ही लाभ होता है। (ग) 'रामचरित राकेस कर' 'रामकथा ससिकिरन' से रामकथाको चन्द्रकिरण कहा और रामनामको चन्द्रमा कहा है, यथा—'राका रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम। ३। ४२।' इससे ध्वनित किया कि नाम और कथामें चन्द्र चन्द्रिका सम्बन्ध है, नाम कारण है, कथा कार्य। कार्यमें कारणकी पूर्ण व्याप्ति रहती है, अतः कहा गया कि 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा।' '

नोट—६ श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि कलिके महामोहने सब साधनोंको परास्त कर दिया, इससे शंकरजीने गोस्वामीजीको आज्ञा दी कि वेदपुराणादि समस्त 'सद्ग्रन्थोंको शक्ति निकालकर श्रीरामकथा रूपी कालिकाको प्रगट करो। तब उन्होंने सब सद्ग्रन्थोंका सार निचोड़कर श्रीरामकथा निर्माण की।' (परन्तु इसमें पूर्वापरसे विरोध होता है। 'भाषा बद्ध करबि मैं सोई। ३१। २।', 'कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। ३५। १३।', 'यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं ... तद्रघुनाथनामनिरतं ... भाषाबद्धमिदं ...।३०।' देखिये। इसे स्वयं शंकरजीने रचा जो समस्त श्रुतिसिद्धान्तका निचोड़ है।) । यहाँ श्रीरामजी चन्द्र हैं, कथा किरण है, अन्य देवादिकी कथायें तारागणका प्रकाश हैं। तारागणके प्रकाशसे चकोरका हृदय शीतल नहीं हो सकता। (मा० मा०)।

ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥ ८॥

अर्थ—पार्वतीजीने इसी प्रकार सन्देह किये थे, तब महादेवजीने विस्तारपूर्वक कहा था।८।

टिप्पणी—१ 'ऐसेइ' पद देकर भरद्वाज और पार्वतीजी दोनोंके संशयोंको एकहीसा बताया। ऐसेइ=ऐसेही=इसी प्रकारके। ['ऐसेइ' का दूसरा अर्थ है—'इसी प्रकार।' अर्थात् जिस प्रकार तुमने प्रश्न किया *इसी प्रकार उन्होंने भी सन्देह प्रकट किया।*] दोनोंके *सन्देह तथा प्रकारकी समानता नीचे दिये हुए मिलान* से स्पष्ट हो जायगी।

—दोनोंके प्रसंगोंका मिलान—

श्रीभरद्वाजजी		श्रीपार्वतीजी
करि पूजा मुनि सुजस बखानी	१	'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी' से 'जोग ज्ञान वैराग्यनिधि प्रनत कलपतरु नाम। बा० १०७।' तक
बोले अति पुनीत मृदु बानी	२	बिहँसि उमा बोलीं प्रिय बानी
नाथ एक संसउ बड़ मोरें	३	अजहूँ कछु संसउ मन मोरें
करगत बेदतत्व सब तोरें	४	बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि
हरहु नाथ करि जनपर छोहू	५	जानिय सत्य मोहि निज दासी
रामनाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥	६	सेष सारदा बेद पुराना। करहिं सकल रघुपतिगुन गाना॥
सतत जपत संभु अबिनासी। सिव भगवान ज्ञान गुनरासी॥	७	तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनग-आराती॥
राम कवन प्रभु पूछौं तोही	८	अति आरति पूछौं सुरराया।
कहिय बुझाइ कृपानिधि मोही।	९	कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ
एक राम अवधेस कुमारा।... प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।	१०	तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु०। राम सो अवधनृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई।
नारि बिरह दुख लहेउ अपारा	११	नारि बिरह मति भोरि
सत्यधाम सर्वज्ञ तुम्ह	१२	प्रभु समर्थ सर्वज्ञ सिव सकल कलागुनधाम
जैसें मिटै मोह भ्रम भारी	१३	जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू
कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी	१४	कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना।

☞ प्रसंगमिलानके १०,११ मे दोनोंके संशयका एकसा होना प्रकट है। शेषमें प्रश्न करनेका प्रकार एकसा दिखाया गया है।

वि० त्रि०—यह भारतवर्षकी प्राचीन प्रणाली है कि प्रश्नकर्ताके उत्तरमें किसी दूसरे बड़ेके संवाद को दिखलाते हुए उत्तर देते हैं, वैसे ही याज्ञवल्क्यजी उमा-महेश्वर संवाद कहेंगे। साथ ही भरद्वाजजीको उत्साहित करते हैं कि शंकाको सामने लाते हुए लज्जा और भयको चित्तमें स्थान न दो, स्वयं भवानीने ऐसी ही शंका की थी।

नोट—१ भवानी=भवपत्नी=शिवजीकी भार्य्या। कालिकापुराणमें लिखा है कि परब्रह्मके अंशस्वरूप ब्रह्मा, विष्णु और शिव हुए। ब्रह्मा और विष्णुने तो सृष्टि और स्थितिके लिये अपनी शक्तिको ग्रहण किया पर शिवने शक्तिसे संयोग न किया। वे योगमें मग्न हो गए। ब्रह्मा आदि देवता इस बातके पीछे पड़े कि शिवभी किसी स्त्रीका पाणिग्रहण करें पर उनके योग्य कोई स्त्री मिलती न थी। बहुत सोच विचारके पीछे ब्रह्माने उनसे कहा—'विष्णुमायाके अतिरिक्त और कोई स्त्री ऐसी नहीं है जो शिवको लुभा सके, अतः मैं उसकी स्तुति करता हूँ। तुम भी उसकी स्तुति करो कि वह तुम्हारी कन्याके रूपमें तुम्हारे यहाँ जन्म ले

और शिवकी पत्नी हो।' वही विष्णुमाया दक्षकी कन्या 'सती' हुईं जिनने अपने रूप और तपके द्वारा शिवको मोहित और प्रसन्न किया।

पञ्जाबीजी लिखते हैं कि—'यहाँ 'भवानी' पद इसलिये दिया कि 'भव' संसारको कहते हैं और संसारकी जो रक्षा करे सो 'भवानी' हुईं। संसार संशयस्वरूप है, इस सम्बन्धसे भवानीमें भी संशय घटित होता है। 'महादेव' पद इसलिये दिया कि 'देव' प्रकाशको भी कहते हैं। जो प्रकाशरूप है, संशयरूपी तमके हरनेको समर्थ है, वही 'महादेव' है।

☞ भवानी-शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है। भवत्यस्मात् (सत्तार्थक भू धातु) भवः शिवः। भवस्यपत्नी भवानी=सती, पार्वती। भगवान् शंकर भवरूपसे सृष्टिका उत्पादन करते हैं। अकेले नहीं, आदिशक्तिको साथ लेकर, उसकी सहायता पाकर। जब यह शक्ति सृष्टिसृजनमें सहायता पहुँचाती है तब उसका नाम 'भवानी' व्यक्त होता है। यहाँ 'असेइ संसय कीन्ह भवानी' में भाव यह है कि 'भव भव-विभव-पराभव कारिणी' शक्ति जो भवानी उनको श्रीरामचरितमें सन्देह हो गया, तब तुमको सन्देह होगया तो क्या आश्चर्य ?

बैजनाथजी लिखते हैं कि—'असेइ संसय कीन्ह भवानी' में 'भवानी' सती और पार्वती दोनों रूपोंका बोधक है। 'यहाँ मोहनाशहेतु कथाकी परालता दिखाते हैं। सतीरूपमें उन्होंने हृदयसे सदा संशय किया तब उनको महादुःख हुआ—इति भयकरता है। और पार्वतीरूपमें उन्होंने वचनमात्र संशय किया तब महादेवजीने बखानकर कहा जिससे संशयका नाश हुआ और वे सुखी हुईं।'

श्रीभरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद प्रकरण समाप्तः।

उमा-महेश्वर-संवाद-प्रकरण

दोहा—कहौं सो मति अनुहारि अब, उमा संभु-संवाद।
भएउ समय जेहि हेतु जेहि*, सुनु मुनि मिटहि† विषाद ॥४७॥

शब्दार्थ—अनुहारि (सं० अनुहार)=अनुसार, अनुकूल। यथा 'कहि नृप-वचन विनीत तिन्ह, बैठारे नर नारि। उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहारि ॥ बा० २४० ।', 'सुकवि कुकवि निज मति अनुहारी। नृपहि सराहत सब नर नारी। १।२८ ।' ☞ इस विशेषणका लिङ्गभी 'नाई' के समान है। अर्थात् यह शब्द सदा पुलिंग और सदा स्त्रीलिंग दोनोंका विशेषण होता है। संवाद=श्रोता वक्ताकी प्रश्नोत्तरके ढंग पर बातचीत, कथोपकथन। बा० ३६ देखिये। विषाद=खेद, दुःख।

अर्थ—अब अपनी बुद्धिके अनुसार वह उमा शंभु संवाद कहता हूँ। जिस समय और जिस कारण वह संवाद हुआ (वह भी) कहता हूँ। हे मुनि ! उसे सुनो, उससे तुम्हारा विषाद मिट जायगा। ४७।

नोट—१ यहाँसे उमा महेश्वर-संवादका प्रकरण चला। 'कहौं सो' ये वचन याज्ञवल्क्यजीके हैं। 'सो' का सम्बन्ध ऊपर कहे हुए याज्ञवल्क्यजीके 'असेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी।' इन वाक्योंसे है। इस तरह कविने भरद्वाज-याज्ञवल्क्यसंवादको उमामहेश्वरसंवादमें मिला दिया। अब जो कथा शिवजीने कही वही याज्ञवल्क्यका कहना हुआ।

टिप्पणी—१ 'कहौं सो मति अनुहारि अब०' इति। ☞ जैसे याज्ञवल्क्यजी यहाँ उमा महेश्वर-संवाद (पार्वतीजीका संशय और महादेवजीका विस्तारसे रामचरित-कथन और संवादका हेतु) कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, ऐसी ही प्रतिज्ञा ग्रन्थकारने भी प्रारम्भमें की है—'कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी ॥ सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबंध विचित्र बनाई ॥ बा० ३३ ।' कविकी भी

* पाठान्तर—अब—मा० दा०, रा० गु० द्वि०। † मिटिहि—रा० प्र०, भा० दा०।

उस प्रतिज्ञाकी पूर्तिका प्रारम्भ यहाँसे है। कवि वह सब हेतु (श्रीयाज्ञवल्क्यजीके द्वारा) अब गान करता है। 'कहौं सो'' ' यहाँसे लेकर आगे 'हिय हरषे कामारि कृपानिधान।१२०' तक याज्ञवल्क्यजी और गोस्वामी तुलसीदासजी दोनोंके वचन हैं। (याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजीसे जो कह रहे हैं, वही श्रीगोस्वामीजी अपने श्रोताओंसे कह रहे हैं। बीचबीचमें कहीं-कहीं केवल गोस्वामीजीका ही कथन पाया जाता है। यथा 'चरित-सिंधु गिरिजारमन । बरनइ तुलसीदास किमि अति मतिमंद गँवार। १०३।' इत्यादि। 'सो' अर्थात् जिसकी प्रतिज्ञा पूर्व कर चुके हैं। [उमा शम्भु संवाद है, इसीसे यथा बुद्धि कहनेको कहा। (वि० त्रि०)]

२ 'मति अनुहारि' इति। कथा प्रसंगमें बड़ोंकी यह परंपरा है कि वे निजी नहीं कहते, दूसरेसे सुनी कहते हैं, क्योंकि संभव है कि अपने विचार गलत हों। (दीनजी)। यथा 'गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा। उ० ५२।', 'नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ। उ० १२३।' तथा 'संतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहिं सुनाएउँ सोइ। उ० ६२।'

३ 'उमा संभु संवाद' इति। याज्ञवल्क्यजीका उमा शंभु संवाद कहनेमें भाव यह है कि भरद्वाजजीका विश्वास श्रीमहादेवजीके ऊपर है जैसा उनके 'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।' इन वाक्योंसे प्रकट है। इसीसे वे (याज्ञवल्क्यजी) शिवजीकाही कहा हुआ कहकर उनका बोध कराते हैं। जो बात भरद्वाजजीने कही है—'आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परमपद लहहीं॥ सोपि राम-महिमा मुनिराया। सिव उपदेसु करत करि दाया। ४६। ४५।', वही बात शिवजीने अपने मुखसे कही है, यथा 'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी॥ सोइ प्रभु मोर चराचरस्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥ बा० ११९॥', 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। बा० ५१। ८।' उमा शंभु संवाद तथा शिवजीके वाक्य सुनकर भरद्वाजजीको विश्वास एवं अधिक आनंद प्राप्त होगा—और ऐसा हुआ भी, यथा 'भरद्वाज मुनि अति सुख पाया॥ बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीरु रोमावलि ठाढ़ी॥ प्रेम बिबस मुख आव न बानी। बा० १०४।'

☞ जिसका जिसमें विश्वास हो उसीकी बात कहकर जिज्ञासूका संदेह दूर करना वक्ताकी चतुरताका द्योतक है।

४ 'भएउ समय जेहि हेतु जेहि' इति। ☞ यहाँ संवादका समय, संवादका कारण और संवाद तीनोंके कहनेकी प्रतिज्ञा है। 'एक बार त्रेता जुग माहीं।'—यह समय है और सारा प्रसंगका प्रसंग संवाद और संवादका हेतु है। [उमा-महेश्वर अर्थात् 'उमा शंभु' संवादका प्रधान हेतु तो श्रीपार्वतीजीके प्रश्न हैं जिनकी चर्चा 'कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥ १ १०७ (६)।'' से प्रारम्भ होकर ''तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। १११।५।'' तक है। और इन प्रश्नोंका कारण श्रीरामस्वरूपमें मोह है जो श्रीपार्वतीजीको सती तनमें हुआ था और जिसकी चर्चा उन्होंने प्रश्नोंके साथ की भी है। इस तरह सती-मोह प्रसंग अर्थात् ४८ (१) से १११ (५) तक संवादका हेतु है। उसके पश्चात् संवाद कहेंगे।

नोट—इस प्रसंगमें भरद्वाजजीने तीन बार कहनेको कहा, यथा 'कहिय बुझाइ दयानिधि मोही।४६।६।, 'सत्यधाम सर्बज्ञ तुम्ह कहहु बिबेकु बिचारि।४६।', 'कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी। ४७।१।' अतः याज्ञवल्क्यजीने भी तीनही बार उनसे सुननेको कहा, यथा 'तात सुनहु सादर मन लाई।४७।५।', 'सुनु मुनि मिटिहि बिषाद।४७।', 'कहउँ सुनहु अब रघुपति लीला।१०५।१।' और तीनों बार 'कहो' भी कहा है।

(उमा-शंभु-संवाद प्रकरणान्तर्गत)

सती-मोह-प्रसंग

एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं॥ १॥
संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी॥ २॥

अर्थ— एक बार त्रेतायुगमें शिवजी अगस्त्य ऋषिके पास गए।१। साथमें जगदम्बा भवानी सतीजी (भी) थीं। समस्त जगत्‌का ईश्वर अर्थात् सर्वेश्वर जानकर ऋषिने उनका पूजन किया।२।

टिप्पणी—१ "एक बार त्रेताजुग माहीं" इति। त्रेतायुगमें एकबार शिवजी अगस्त्यमुनिके पास गए—इस कथनसे उमा शंभु-संवादका समय बताया कि यह संवाद त्रेतायुगमें हुआ। 'एक बार....गए' कहनेका भाव कि जाया आया तो अनेक बार किये पर यह प्रसंग एकबार किसी उस त्रेतायुगका है जिसमें परब्रह्म रामका अवतार हुआ था।

नोट—१ "त्रेतायुग" इति। किस कल्पके किस त्रेतायुगमें यह संवाद हुआ इसमें बहुत मतभेद है। सभी अपनी-अपनी गाते हैं और अपने मतको पुष्ट करते हैं। प० शुकदेवलालजी "किसी कल्पके किसी त्रेता-युगमें"—ऐसा अर्थ करके झगड़ेसे निकल जाते हैं। वैजनाथजी प्रथम कल्पका त्रेतायुग कहते हैं जिसमें मनुजी दशरथ हुए। कोई चौबीसवाँ कल्प कहते हैं तो कोई सत्ताईसवाँ और कोई अट्ठाईसवाँ। अस्तु। जो भी हो, परन्तु यह निश्चय है कि यह किसी उस कल्पके त्रेतायुगकी बात है, जिसमें परात्परपरब्रह्मका प्रादुर्भाव हुआ कि जो मनुजीके सामने प्रकट हुये थे और जिनके स्वरूपका वर्णन उस प्रसंगमें स्वयं मानसकारने किया है। यथा "अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी॥ जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुरभूपा॥ जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा। बंधु समेत धरे मुनिबेषा॥ जासु चरित अवलोकि भवानी। सती सरीर रहिहु बौरानी॥ अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी॥ बा० १४१।"

त्रेतायुग चार युगोंमेंसे दूसरा युग है। उसका आरंभ कार्तिक शु० ९ वा वै० शुक्ल ३ को होता है। स्कन्दपुराण मा० कु० ३ के अनुसार सत्ययुगका प्रारंभ कार्तिक शु० ९ को, त्रेताका वैशाख शु० ३ को, द्वापर का माघी अमावस्याको और कलियुगका भाद्र कृ० १३ को हुआ। यथा "नवमी कार्तिके शुक्ला कृतादिः परिकीर्तिता। वैशाखस्य तृतीया या शुक्ला त्रेतादिरुच्यते। २९९। माघे पञ्चदशी कृष्णा द्वापरादिः स्मृता बुधैः। त्रयोदशी नभस्ये च कृष्णा सादिः कलेः स्मृता। ३००।" शब्दसागरमें कार्तिक शु० ९ को त्रेताका और वै० शु० ३ को सत्ययुगका प्रारम्भ माना है। उपर्युक्त श्लोकका पाठान्तर भी मिलता है, यथा "वैशाखस्य तृतीया या कृतस्यादिः प्रकीर्तिता। कार्तिकस्यापि नवमी शुक्ला त्रेतादिरुच्यते॥" मुहूर्तचिन्तामणिमें सत्ययुग का प्रारंभ कार्तिक शु० ९को माना गया है। त्रेतायुग बारहलाख छियानबे हजार वर्षका होता है। अतः यहभी निश्चय है कि जिस चतुर्युगीमें ब्रह्मश्रीरामका अवतार हुआ, उसीमें सतीजीको उनके चरितमें मोह हुआ, उसी युगमें उनका सतीतन छूटा और उसी में श्रीपार्वतीजीका अवतार, तप और विवाह हुआ। उसीमें यह संवाद हुआ। बंदनपाठकजी 'एक बार' का अर्थ 'एक+बारह' =१३।—इस प्रकार करके रावणजन्मके बाद तेरहवें त्रेतामें अगस्त्यजीके पास जाना कहते हैं।

टिप्पणी—२ "संभु गए कुंभजरिषि पाहीं।" इति। यहाँ कुंभज नाम देकर ऋषिका बड़प्पन दिखाया कि जैसे सबकी उत्पत्ति है वैसी इनकी नहीं है। इनकी उत्पत्ति घटसे है। तात्पर्य कि ये मुनि बड़े विलक्षण हैं तभी तो महादेवजी उनके पास सत्संग को गए हैं और ये ही नहीं किन्तु सनकादि ऐसे बड़े बड़े ऋषि मुनि भी उनके पास आते हैं। यथा—'तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिवर ज्ञानी॥ उ० ३२।' 'घटसंभव' सेभी उनका बड़प्पन दिखाया गया। "पैदा तो हुये घट-से और काम किये कैसे धुरंधर।"— 'रोक्यो बिंध्य सोख्यो सिंधु घटजहू नामबल०' इति विनय।

नोट—२ अगस्त्यजीके पास सत्संगके लिये जब तब जानेका एक कारण यहभी हो सकता है कि अगस्त्यजीभी काशीवासी थे। देवताओंके कल्याणार्थ विन्ध्याचलको रोकनेके लिये ये दक्षिण चले गए थे। अतः अपने मित्रसे मिलने, उनको अपने सत्संगका लाभ देनेकेलिये जाया करते थे।—यह कथा काशीखण्डमें है। (मा० पत्रिका)। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि सभी देवता इनके यहाँ आया जाया करते थे, उनके बैठनेके लिये आश्रममें स्थान बने हुए थे। यथा 'स तत्र ब्रह्मणः स्थानमग्नेः स्थानं तथैव च। विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य

स्थानं चैव विवस्वतः। सोमस्थानं भवस्थानं स्थानं कौबेरमेव च। धातुर्विधातुः स्थानं ■ वायोः स्थानं तथैव च। स्थानञ्च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः।...”

प० प० प्र०—अत्रि, वाल्मीकि आदि रामभक्तिप्रिय ऋषियोंके पास ■ जाना सहेतुक है, यह 'संभु' पदसे सूचित किया है। शिवजी जानते हैं कि इस समय कुम्भज ऋषिके पास जानेसे ही 'शं' (कल्याण) होगा। श्रीरघुपतिका दर्शन होगा और दर्शनसे कल्याण होता है। दूसरा हेतु कुंभजके पास जानेका यह है कि अगस्त्यजीको 'सत्संगति अति प्यारी' है। श्रीरामचरितमानसमें श्रीरघुनाथजीसे सत्संगकी याचना इन्हीं दो महात्माओं (श्रीअगस्त्यजी और श्रीशिवजी) ने की है। यथा 'अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा।३।१३।११', 'बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग।७।१४।' इसलिये सनकादिक भी अगस्त्यजीके पास जाया करते थे।

टिप्पणी—३ "संग सती जगजननि भवानी" इति। (क) "संग सती" से जनाया कि साथमें नन्दी आदि कोई गण न थे। 'सती' कहकर उनका नाम बताया। भवपत्नीका नाम सती है, यथा—'सती नाम तब रहा तुम्हारा। उ० ५६।' 'जगजननि' और 'भवानी' सतीके विशेषण हैं। सती कैसी हैं? जगज्जननी हैं और भवानी हैं अर्थात् भवकी स्त्री हैं। पुनः, 'सती जगजननि भवानी' तीन नामों वा विशेषणोंके और भाव ये हैं कि-

(ख) 'जगजननि' से उनका ऐश्वर्य कहा। 'सती' और 'भवानी' से माधुर्य कहा। अर्थात् 'सती' नामसे उनका अवतार दक्षके यहाँ कहा और 'भवानी' से उनका ब्याह शंकरजीके साथ होना कहा। 'जगजननी' कह कर तब 'भवानी' कहनेका भाव यह है कि बिना ईश्वरके संबन्धके माया जगत्‌की रचना नहीं कर सकती। सती माया हैं, शंकरजी भगवान् हैं, यथा—'तुम्ह माया भगवान शिव सकल जगत पितु मातु। बा० ८१।'

(ग) इन तीन विशेषणोंको देकर इनकी 'उद्भव, स्थिति और संहारकारिणी' तीनों प्रकारकी शक्तियाँ कहीं। वह इस प्रकार कि सत्त्वगुणको धारण करके जगत्‌का पालन करती हैं यह 'सती' पदसे सूचित किया। 'जगजननी' होकर जगत्‌की उत्पत्ति करती हैं और 'भवानी' होकर संहार करती हैं, यथा—"जग-संभव-पालन-लयकारिनि। निज इच्छा लीलावपु धारिनि। बा० ६८ (४)।" [प० प० प्र० का मत है कि 'भवानी' से संहारकर्त्रीका भाव लेना गलत है। पालक-शक्तिको भवानी कहते हैं—(भव पालने रक्षणे), और संहार शिवशक्तिको शर्वाणि कहते हैं। 'अमर व्याख्या सुधा' देखिए।]

नोट—पं० रामकुमारजीके भाव टिप्पणीमें दिये गए। अन्य मानसविज्ञोंने जो भाव लिखे हैं उनमें से कुछ ये हैं—

(घ) ये तीन विशेषण देकर कविने यहाँ श्रीरामयशकी महिमा दिखाई है। इस तरह कि जब वे रामयशश्रवणके लिए शिवजीके साथ जा रही थीं तब ग्रंथकारने उनके तीन उत्तम नाम दिए-सती, जगजननि और भवानी। लौटते समय इनको श्रीरामचरितमें संदेह हुआ, इसलिये उस समय संदेह होनेके आगमपर 'दच्छकुमारी' नाम दिया है। (मा० म०)।

(ङ) 'सती, पतिव्रताको कहते हैं। इसमें अतिव्याप्ति है। अर्थात् इस शब्दमात्रसे अन्य पतिव्रता स्त्रियोंका भ्रमसे ग्रहण हो सकता है। अतः 'जगज्जननि' कहा। परन्तु रमा, ब्रह्माणी आदि भी जगज्जननी हैं, इसलिये 'भवानी' कहा अर्थात् जो भवकी पत्नी हैं। अब अतिव्याप्ति मिट गई। (रा० प्र०)।

(च) 'सती' नाम देकर दक्षपुत्री होना कहा। दक्षको बड़ा मोह और अभिमान हो गया था। दक्ष-सम्बन्धी नाम देकर जनाया कि इनकोभी मोह होगा। पुनः, माता संकट सहकर बच्चोंका पालन करती है, ये स्वयं संकट सहकर जगत्‌का हित करेंगी—इस विचारसे 'जगजननि' कहा। 'जगजननी' और 'भवानी' से यह भी जनाया कि ये तो जगद्गुरु शंकरजीकी वामा हैं, जगदम्बा हैं, इनको मोह कहाँ? ये तो केवल लीला करेंगी, जिससे संसारका हित हो।

(छ) यहाँ शिवजीको शंभु और अखिलेश्वर कहा, उसी सम्बन्धसे उनकी अनुकूला होनेसे

सतीजीको 'जगजननि' और 'भवानी' कहा। शिवजी रामकथा सुनने चले तब यहभी कथा सुनने चलीं। इससे 'सती' अर्थात् शिवजीकी अनुकूला पतिव्रता नाम दिया। शिवजीको 'अखिलेश्वर' (जगत्के स्वामी) कहा, अतः सतीको जगज्जननी कहा। शंभुकी जोडमें भवानी अर्थात् शिवपत्नी कहा। (जानकीशरणजी)।

टिप्पणी—४ 'पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी' इति। भाव कि अखिलेश्वर जानकर पूजा की; विश्वनाथ, सर्वेश्वर जानकर पूजा की; अतिथि जानकर नहीं। अर्थात् हमारे यहाँ अतिथि होकर आए हैं, इनकी पूजा करनी चाहिए, ऐसा समझकर पूजा नहीं की। [पुनः भाव कि अन्य देवताओंकी पूजा जैसी किया करते थे, उससे अधिक इनकी की। वि० त्रि०]

५. जब शंभुका अगस्त्यजीके यहाँ जाना कहा तब साथमें सतीजीका जाना न कहा था। 'संभु गए कुंभज रिषि पाहीं'—केवल इतनाही कहा था। जब मुनिने पूजा की, तब 'संग सती जगजननि भवानी' कहा। यहाँ 'संग सती०' दीपदेहलीन्यायसे दोनो ओर लगता है। इस तरह साथ जानाभी प्रकट होगया और शक्ति समेत शिवजीका पूजन किया गया यहभी सूचित कर दियागया। [पुनः, 'संग सती जगजननि भवानी' कहकर 'पूजे' कहनेका भाव कि जैसे शिवजीको अखिलेश्वर जानकर पूजा की, वैसेही इनको शिवजीकी आद्याशक्ति जगज्जननी जानकर पूजा।]

रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी॥ ३॥
रिषि पूछी हरिभगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥ ४॥

अर्थ—मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजीने रामकथा विस्तारसे कही (और) महादेवजीने परम सुख मानकर सुनी। ३। ऋषि (श्रीअगस्त्यजी) ने (श्रीशिवजीसे) सुन्दर हरिभक्ति पूछी (और) शिवजीने अधिकारी (उपयुक्त पात्र जिससे गुप्त रहस्य कहे जा सकते हैं) पाकर (उनसे) हरिभक्ति कही।४।

टिप्पणी—१ 'रामकथा मुनिबर्ज बखानी' इति। शिवजीके बिना पूछेही रामकथा क्यों कही? इसका भाव यह है कि पूजाके अन्तमें स्तुति की जाती है जिससे देवता प्रसन्न हों। ऋषिने सर्वेश्वरकी पूजा करके उनको प्रसन्नकरनेके लिये स्तुतिकी जगह रामकथा सुनाई क्योंकि वे जानते हैं कि शिवजीको रामकथा 'अतिप्रिय' है; यथा 'सिव प्रिय मेकलसैल सुता सी। बा० ३१।', 'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।अ० ३२।' ☞ इसीतरह अत्रिके आश्रमपर जानेपर अत्रिजीने शक्तिसहित भगवान् रामका पूजन और स्तुति की। अनुसूयाजीका श्रीजानकीजीमें वात्सल्य भाव था; उस भावके अनुसार उन्होंने श्रीजानकीजीको आशीर्वाद दिया और निकट बैठाया, दिव्य वस्त्र भूषण पहिनाए—यह सब वात्सल्यभावका पूजन करके उन्होने बिना पूछे उनको पातिव्रत्य धर्म कह सुनाया, क्योंकि श्रीजानकीजीको पातिव्रत्य धर्म 'अतिप्रिय' है।

नोट—१ पं० शुकदेवलालजीका भी यही मत है। श्रीकरुणासिंधुजी तथा बैजनाथजीका मत है कि शिवजीकी आज्ञासे अगस्त्यजीने रामकथा कही। बैजनाथजी लिखते हैं कि साकेतविहारी श्रीरामजीके अवतारकी कथा अगस्त्यरामायणमें वर्णित है; वही कही। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि श्रीरामजी मुनिके आश्रममें पधारे थे, संभवतः वही प्रिय समाचार तथा वही सब वृत्तान्त मुनिने सुनाया।

टिप्पणी—२ 'मुनिबर्ज' (मुनिवर्य) इति। अगस्त्यजीको मुनिवर्य कहा। इनका मुनिश्रेष्ठ होना इसीसे सिद्ध है कि अखिलेश्वर शिवजी इनके श्रोता हुये। सनकादिऋषि तक सत्संगके लिये इनके पास ब्रह्मलोकसे आया करते हैं जैसे शिवजी कैलाससे। यथा 'आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥ तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिवर ज्ञानी। उ० ३२।'—उत्तरकाडके इस उद्धरणमें शिवजीनेभी उन्हें 'मुनिवर' कहा है।

३ 'सुनी महेस परम सुख मानी' इति। भाव कि—(क) मुनिने ऐसी सुन्दर कथा कही और ऐसी मधुरता और मनोहरतासे युक्त कही कि महान् ईश जो महेश ने भी सुनकर परम सुखी हुए। पुनः, (ख)

'परम सुख' का भाव कि पूजासे सुख माना था और अब कथा सुनकर परमसुख माना। [श्रीमुखवचन है कि—'मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानै, परानंद, संदोह ॥ उ० ४६।' भगवान्के गुणग्राम और नाम परानंदरूपही हैं। पुनः, श्रीरामगुणग्रामको सुनकर पुलक आदि होना ही चाहिये; इसका चरित्र है। त्रिपाठीजीका मत है कि 'सुनी महेस' से सूचित किया कि सतीजीने सादर नहीं सुना]

नोट—२ मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि—'परमसुख मानी' का भाव यह है कि ध्यानसुखसे भी अधिक सुख रामकथामें मिला इसीसे तो ध्यान छोड़छोड़कर शिवजी और सनकादि कथा सुना करते हैं, यथा 'मगन ध्यानरस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनै लीन्ह ॥ बा० १११।', 'जीवनमुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान। जे हरिकथा न करहिं रति तिन्हके हिय पाषान ॥ उ० ४२।'—(पां०)।

टिप्पणी—४ 'रिषि पूछी हरि भगति सुहाई।' इति। यह ऋषिकी चतुरता है कि जब शिवजी रामकथा सुनकर परम आनंदित हुये तब हरिभक्ति पूछी। इससे पाया गया कि शिवजीके समान हरिभक्ति का ज्ञाता कोई नहीं है और यह कि हरिभक्ति परम दुर्लभ पदार्थ है कि अगस्त्यजी ऐसे महात्माभी उसे नहीं जानते थे।—(इसपर हमारे विचार आगे नोट ३-४ में देखिये)।

नोट—३ इस विषयमें श्रीमुखवचन है कि 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥बा० १३८।' अर्थात् शिवजी रामभक्तिके कोठारी, भंडारी, वा खजाञ्ची हैं।

४ अगस्त्यजीने सत्संगकेलिये भगवद्भक्ति पूछी, क्योंकि बिना पूछे भगवच्चर्चा कैसे होती? और वास्तव में तो भक्त जितनी ही उच्च कोटिको पहुँचता जाता है उसे भक्ति उतनीही औरभी अगम्य जान पड़ती है। वह अपनेको बहुत गिरा हुआ पाता है। श्रीभरतजी ऐसे परम भक्तशिरोमणिके विचार देख लीजिये।

५ वे० भू० रा० कु० दासजी कहते हैं कि—'अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं ॥ संतत दासन्ह देहु बड़ाई।०' (आ० १३) के अनुसार भगवत्तत्व एवं हरिभक्तितत्वके पूर्ण जानकारोंमें श्रीअगस्त्यजीकाभी एक मुख्य स्थान है; इसका ज्वलन्त उदाहरण 'अगस्त्यसंहिता' नामक उनका रचाहुआ विस्तृत प्रबन्धही है। तथा अन्य श्रुति-स्मृति इतिहास पुराणादिसेभी इसकी पुष्टी होतीहै। परन्तु अगस्त्यजीका कुछ ऐसा नम्र स्वभावही रहाहै कि वे जब किसी पहुँचेहुए भगवद्भक्तो का सत्संग पातेथे तब वे उनसे जगत्के कल्याणार्थ भगवद्भक्तिका गूढ़रहस्य अवश्य पूछा करते थे। इसका प्रमाण श्रीरामचरितमानसके अतिरिक्त श्रीहनुमत्संहिता एवं आनन्दरामायण आदि दे रहे हैं।

६ 'हरिभगति' इति। 'भक्तिसारसंग्रह', शाण्डिल्यमुनिकृत 'भक्तिसूत्र', 'श्रीमद्भागवत', आदि भक्तिविषयक ग्रंथ हैं। ईश्वरमें अतिशय अनुराग होना भक्ति है। भागवतमें नौ प्रकारकी भक्तियाँ वर्णन कीगई हैं। 'भगतिनिरूपन बिबिध बिधाना।' ३७ (१३) में देखिए। गुणोंके भेदसे भक्ति सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकारकी होती है। श्रीपजाबीजी हरिभक्तिसे 'पराभक्ति' का ग्रहण करतेहैं। भुशुण्डीजीने हरिभक्तिकी व्याख्या इसतरह की है—'बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइअ सो हरि-भगति देखु खगेसु बिचारि॥ उ० १२०।'

टिप्पणी—५ 'कही संभु अधिकारी पाई' इति। 'अधिकारी पाई' कहनेका भाव कि रामभक्तिके अधिकारीभी दुर्लभ हैं। अगस्त्य ऐसे मुनि इसके अधिकारी हैं। अधिकारीसे गूढ़ तत्त्वभी छिपाये नहीं जाते। अतः शिवजीने हरिभक्ति कही।

[वि० त्रि० जी लिखते हैं कि 'सुहाई' से फलरूपा, सिद्ध हरिभक्ति जनाई। यथा 'सब कर फल हरि भगति सुहाइ'। साधनरूपा भक्तिके तो सभी अधिकारी हैं। यथा 'पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। भक्ति भाव भज कपट तजि मोहि परमप्रिय सोइ'। परन्तु सिद्धा भक्तिके (जिसे अविरल निर्भर आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं) अधिकारी कोई विरलेही होते हैं।]

नोट—७ इससे यहभी जनाया कि अनधिकारीसे इसे न कहना चाहिये। अधिकारी और अनधिकारीके लक्षण उ० ११३ और उ० १२८ में कहेगएहैं। यथा 'तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी॥ ११३। १२। रामभगति जिन्ह कें उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिअ तिन्ह पाहीं॥१३॥', 'यह न कहिअ सठ ही हठ सीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि॥३॥ कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजै सचराचर स्वामिहि॥४॥ द्विजद्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ॥५॥ रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें सतसंगति अति प्यारी॥६॥ गुरपदप्रीति नीति रत जेई। द्विजसेवक अधिकारी तेई॥७। ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई॥१२८ ८॥' लोमश भुशुण्डि प्रसगसे अधिकारीका चिह्न यह सिद्ध होताहै कि—जगत्मात्रको निजप्रभुमय देखता हो, महत् शीलवान् हो और श्रीरामचरणोंमें दृढ विश्वास हो।

अगस्त्यजीको कैसे अधिकारी जाना? उपर्युक्त लक्षणोंसे। अथवा, श्रीरामकथा जिस प्रकारसे उन्होंने कही उसीसे जान लिया। अथवा, इनको सत्संग अति प्रिय है इत्यादिसे।

नोट—बैजनाथजीका मत है कि मुनिने रामकथा कही और शिवजीने हरिभक्ति। इस तरह परस्पर उपकारसे यहाँ अन्योन्यालंकार है।

कहत सुनत रघुपति गुन गाथा। कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा॥ ५॥
मुनि सन बिदा मागि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दच्छकुमारी॥ ६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके गुणोंकी कथा कहते-सुनते कैलासपति शिवजी कुछ दिन वहाँ रहे। ५। (फिर) मुनिसे विदा माँगकर त्रिपुरासुरके शत्रु शिवजी दक्षकुमारी श्रीसतीजीके साथ घरको चले। ६।

टिप्पणी—१ 'कहत सुनत' इति। यहाँ 'सुनत कहत' ऐसा पाठ चाहिये था, क्योंकि भगवान् शम्भुने प्रथम मुनिसे कथा सुनी तब हरिभक्ति कही, परन्तु यहाँ उलटा (कहत सुनत) कहा गया। यह उलटा लिखना भी अभिप्रायगर्भित है। ऐसा करके ग्रन्थकारने दोनोंकी प्रधानता रक्खी। ऊपर 'रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस०' इस अर्धालीमें मुनिका कहना प्रथम है और शिवजीका सुनना पीछे, और यहाँ शिवजीका कहना प्रथम और मुनिका सुनना पीछे कहा। पहलेमें मुनिकी प्रधानता रक्खी और दूसरेमें शिवजीकी। इस तरह दोनोंकी प्रधानता रही।

नोट—'कहना सुनना' मुहावरा है। 'सुनना कहना' मुहावरा नहीं है। गोस्वामीजीने यहाँ मुहावरे के अनुकूल पद दिया है। इस मुहावरेमें आगे पीछेका प्रश्न नहीं उठता। गोस्वामीजीने अन्यत्र भी इसका प्रयोग किया है। यथा 'भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू। २। २२३। १।', 'कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीयरामपद होइ न रत को। २। ३०४। २।', 'कहत सुनत हरिहर सुजस गयउ दिवस भइ साँझ। ७। ३१२।' इत्यादि। वीरकविजीका मत है कि यहाँ 'कहत सुनत' का अर्थ है 'अनुकथन करते'। यथा 'मुनि अनुकथन परस्पर होई। पथिकसमाज सोह सर सोई। बा० ४१।'

टिप्पणी—२ 'रघुपति गुन गाथा' इति। पूर्व कहा था कि 'रामकथा मुनिबर्ज बखानी' और 'रिषि पूछी हरिभगति सुहाई' और यहाँ लिखते हैं कि 'कहत सुनत रघुपति गुनगाथा' ऐसा करके जनाया कि 'कथा' और 'हरिभक्ति' दोनों रघुपतिके गुण हैं।

३ 'कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा' इति। (क) 'कछु दिन' कथनका भाव कि सत्संग कुछ दिन साथ रहनेसे ही बनता है। यथा 'मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाषा॥', 'तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास। सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयउँ कैलास। उ० ५७।' तथा यहाँ 'कहत सुनत रघुपति गुनगाथा। कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा।' आये और चले इसमें सत्संग नहीं होता। (ख) 'गिरिनाथा' का भाव कि कैलासपति हैं, सदा कैलासमें रहते हैं। कैलास बड़ा रमणीक स्थान है, यथा—

'परमरम्य गिरिवर कैलासू। सदा जहाँ सिव-उमा-निवासू। बा० १०५।' ऐसा रमणीय स्थान छोड़कर शिवजी सत्संगके लिये यहाँ कुछ दिन रह गए।—यह सत्संगकी महिमा दिखाई।

नोट—'गिरिनाथ' का दूसरा भाव यह है कि गिरि अचल होता है, वैसेही आप अचल होकर यहाँ रहकर सावधानता-पूर्वक कथा कहते-सुनते रहे। यह सत्संग तथा कथाके इच्छुकोंके लिये उपदेश है।

टिप्पणी—४ 'मुनि सन बिदा मागि त्रिपुरारी' इति। (क) [बिदा=जानेकी आज्ञा; रुखसत। 'बिदा' माँगना शिष्टाचार है। चलते समय आज्ञा माँगनेकी रीति हिंदू, मुसलमान तथा ईसाई आदि सभी सभ्य कौमोंमें है इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि किसीके यहाँ प्रेमवश जाना अपने अधीन है किन्तु लौटना उसके अधीन रहता है जिसके यहाँ जाय। बिदा माँगना प्रीतिका प्रधान अंग है।] बिदा माँगनेसे रखनेवाले (जिसके यहाँ जाओ उस) का (मन और) मान (दोनों) रहते हैं। इसीसे बड़े लोग बिदा माँगकर चलते हैं। यथा 'सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई। आ० ३।', 'जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत बिदा कराई। सुं० ८।' तथा यहाँ 'मुनि सन बिदा मागि०' कहा। (ख) 'त्रिपुरारी' इति। (जैसे ऋषिके यहाँ जानेमें 'संभु गए कुंभजरिषि पाहीं' कहा था, वैसे ही चलते समय बिदा माँगकर चलनेमें भी 'मुनि सन बिदा मागि त्रिपुरारी'—केवल शिवजीका नाम दिया। क्योंकि ये पति हैं। इन्हींकी प्रधानता है। सतीजीको संग कहा; वे गौण हैं। त्रिपाठीजीका मत है कि बिदा माँगनेमें दक्षकुमारी ही कारण मालूम होती हैं, नहीं तो गिरिनाथ तो ऐसे रामकथाके रसिक हैं कि भुशुण्डीजीके यहाँ मराल तन धरकर पूरी कथा सुनी।)

५ 'चले भवन संग दच्छकुमारी' इति। भवनको चले। भवन कहाँ है? यह कवि आगे स्वयं कहते हैं—'बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा। बा० ५८।' अर्थात् कैलास उनका घर है; यथा 'भवन कैलास आसीन कासी' इति बिनये। पूर्व कहा था कि 'संग सती जगजननि भवानी।' सती पतिव्रताको कहते हैं; इससे यहाँ यह न खुला कि सती कौन हैं। उसे यहाँ खोलते हैं कि सती दक्षकी कुमारी हैं।

—६ 'त्रिपुरारी' 'दच्छकुमारी'—

पं० रा० कु०—त्रिपुरारी और दक्षकुमारी कहकर आगेवाली प्रसंगभरकी भविष्य कथा दिखाते हैं। इस तरह कि—(क) त्रिपुर अधर्मी था इसीसे शिवजीने उसे मारा। इसी तरह जो अधर्मी हैं, शिवजी उनको मारते हैं, एवं उनका त्याग करते हैं। सतीजीने यह अधर्म किया कि पतिवचन मृषा माना, ब्रह्मको प्राकृत नर (मनुष्य) माना और श्रीसीताजीका रूप धारण किया, अतएव त्रिपुरारीने सतीको त्याग दिया। दक्षने अधर्म किया कि शिवजीसे विरोध किया, उनको जामाता मानकर उनकी निन्दा की, उनका अपमान किया, यज्ञमें भाग न दिया और सती ऐसी पतिव्रता भगवद्भक्ताका अपमान किया। अतएव उसको वीरभद्रद्वारा मारा और उसका यज्ञ विध्वंस किया। 'दच्छकुमारी' कहकर भविष्य यह जनाया कि—'सतीजी दक्षके यहाँ जायेंगी। शिवजीसे विरोध माननेके कारण दक्ष सतीजीका मान न करेगा। शिवजीका भाग यज्ञमें न देखकर पतिका अपमान मानकर सतीजी दक्षका नाता मिटानेके लिये शरीर त्याग करेंगी। पुनः, (ख) शिवजी त्रिपुरारी हैं। उन्होंने त्रिपुरके मारनेमें बड़ी सावधानतासे काम लिया था। इसी तरह वे लक्ष्यपर सदा सावधान रहते हैं। अतएव आगे श्रीरामरूप देखकर इनको भ्रम न होगा। और, दक्षको ईश्वरमें भ्रम था। उसने शिवजीको न जाना। सतीजी दक्षकुमारी हैं अतः इनको भी परमेश्वर (रामरूप) में भ्रम होगा। —यह दक्षकुमारी कहकर जनाया। ('कारन ते कारज कठिन' इसके अनुसार दक्षसे अधिक मोह सतीको हुआ। दक्षको ईश्वर शिवमें भ्रम हुआ और दक्षकुमारीको शिवजीके इष्ट परमेश्वर राममें महामोह हुआ)।

नोट—प्रसंगके आरम्भमें 'जगजननि' और 'भवानी' आदि नाम दिये थे। अब बिदा होनेपर घरको लौटते समय पति और ऐश्वर्य्य सम्बन्धी नाम छोड़ दिये गए। केवल पितासम्बन्धी नाम दिया गया। क्योंकि अब ये पतिसे विमुख होनेवाली हैं और शिवजी रास्तेहीमें पति-पत्नी भाव त्याग देंगे। यथा—

'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं। शिव संकल्प कीन्ह मन माहीं। बा० ५७।' इस तरह पितासंबंध देकर इनका भावी त्याग सूचित किया।

त्रिपुरासुर

भा० ७। १०। में लिखा है कि एक बार जब देवताओंने असुरोंको जीत लिया तब ये महामायावी शक्तिमान् मयदानवकी शरणमें गये। मयने अपनी अचिन्त्य शक्तिसे तीन पुररूपी विमान लोहे, चाँदी और सोनेके ऐसे बनाये कि जो तीन पुरोंके समान बड़े बड़े और अपरिमित सामग्रियोंसे भरे हुए थे। इन विमानों का आनाजाना नहीं जाना जाता था। यथा 'स निर्माय पुरस्तिस्रो हैमीरौप्यायसीर्विभुः। दुर्लक्ष्यापाय संयोगा दुर्वितर्क्यपरिच्छदाः ॥५४॥' [महाभारतसे पता चलता है कि ये तीनों पुर (जो विमानके आकार के थे) तारकासुरके तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली नामक तीनों पुत्रोंने मयदानवसे अपने लिये बनवाये थे। इनमेंसे एक नगर (विमान) सोनेका स्वर्गमें, दूसरा चाँदीका अन्तरिक्षमें और तीसरा लोहेका मर्त्यलोकमें था। ऋग्वेदके कौषीतकि और ऐतरेय ब्राह्मणोंमें इनका वर्णन है। यथा–'(असुरा) हिरण्यं (पुर) हाद्यो दिविचक्रिरे। रजता अन्तरिक्ष लोके अयस्मयीमस्मिन् अकुर्वन्।' (कौ० ८। ८, ऐ० १। १३) अर्थात् असुरोंने हिरण्मयी पुरीको स्वर्गमें बनाया, रजतमयीको अन्तरिक्षमें और अयस्मयीको इस पृथ्वीलोकमें।] तीनों पुरोंमें एक एक अमृत कुण्ड बनाया गया था। इन विमानोंको लेकर वे असुर तीनों लोकोंमें उड़ा करते थे।

अब देवताओंसे अपना पुराना वैर स्मरणकर मयदानवद्वारा शक्तिमान् होकर तीनों विमानों द्वारा दैत्य उनमें छिपे रहकर तीनों लोकों और लोकपतियोंका नाश करने लगे। जब असुरोंका अत्याचार बहुत बढ़ गया तब सब देवता शंकरजीकी शरण गये और कहा कि 'त्राहि नस्तावकान्देव विनष्टांस्त्रिपुरा लये ॥५६॥' ये त्रिपुरा निवासी असुरगण हम नष्ट किये डालते हैं। हे प्रभो! हम आपके हैं, आप हमारी रक्षा करें। शङ्करजीने पाशुपतास्त्रसे अभिमन्त्रित एक ऐसा बाण तीनों पुरोंपर छोड़ा कि जिससे सहस्रशः बाण और अग्निकी लपटें निकलती जाती थीं। उस बाणसे समस्त विमानवासी निष्प्राण हो गिर गये। महामायावी मयने सबको उठाकर अपने बनाये हुए अमृतकुण्डमें डाल दिया जिससे उस सिद्ध अमृतका स्पर्श होतेही वे सब फिर वज्रसमान पुष्ट हो एक साथ खड़े हो गये। जब-जब शङ्करजी त्रिपुरके असुरोंको बाणसे निष्प्राण करते थे, तब तब मयदानव सबको इसी प्रकार जिला लेता था। शङ्करजी उदास हो गये, तब उन्होंने भगवान्‌का स्मरण किया। उनको भग्न संकल्प और खिन्न चित्त देख भगवान्‌ने यह युक्ति की कि स्वयं गौ बन गये और ब्रह्माको बछड़ा बनाकर बछड़े सहित तीनों पुरोंमें जा सिद्धरसके तीनों कूपोंका सारा जल पी गये। दैत्यगण खड़े देखते रह गये। वे सब ऐसे मोहित हो गये थे कि रोक न सके। तत्पश्चात् भगवान्‌ने युद्धकी सामग्री तैयार की। धर्म से रथ, ज्ञानसे सारथी, वैराग्यसे ध्वजा, ऐश्वर्यसे घोड़े, तपस्यासे धनुष, विद्यासे कवच, क्रियासे बाण और अपनी अन्यान्य शक्तियोंसे अन्यान्य वस्तुओंका निर्माण किया। इन सामग्रियोंसे सुसज्जित हो शङ्करजी रथपर चढ़े और अभिजित मुहूर्तमें उन्होंने एकही बाणसे उन तीनों दुर्भेद्य पुरोंको भस्म कर दिया। (भा० ७।१०।५३-६८)।

दूसरा आख्यान—त्रिपुरोंकी उत्पत्ति और नाशका एक आख्यान महर्षि मार्कण्डेयने किसी समय धृतराष्ट्रसे कहा था जो दुर्योधनने महारथी शल्यसे (कर्णपर्वमें) कहा है। उसमें बताया है कि तारकासुरके तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली ऐसे तीन पुत्र थे, जिन्होंने घोर तप करके ब्रह्माजीसे यह वर माँग लिया था कि 'हम तीन नगरोंमें बैठकर इस सारी पृथ्वीपर आकाशमार्गसे विचरते रहें। इस प्रकार एक हजार वर्ष बीतने पर हम एक जगह मिलें। उस समय जब हमारे तीनों पुर मिलकर एक हो जाँय तो उस समय जो देवता उन्हें एकही बाणसे नष्ट कर सके, वही हमारी मृत्युका कारण हो।' यह वर पाकर उन्होंने मयदानवके पास जाकर उससे तीन नगर अपने तपके प्रभावसे ऐसे बनानेको कहे कि उनमेंसे एक सोनेका, एक चाँदीका और एक लोहे का हो। तीनों नगर इच्छानुसार आ जा सकते थे। सोनेका स्वर्गमें, चाँदीका अन्तरिक्षमें और लोहेका

पृथ्वीमें रहा। इनमेंसे प्रत्येक की लम्बाई चौड़ाई सौ सौ योजनकी थी। इनमें आपसमें सटे हुए बड़े बड़े भवन और सड़कें थीं तथा अनेकों प्रासादों और राजद्वारोंसे इनकी बड़ी शोभा हो रही थी। इन नगरोंके अलग-अलग राजा थे। स्वर्णमय नगर तारकाक्षका था, रजतमय कमलाक्षका और लोहमय विद्युन्मालीका। इन तीनों दैत्योंने अपने अस्त्र शस्त्र बलसे तीनों लोकोंको अपने वशमें कर लिया था। इन दैत्योंके पास जहाँ तहाँसे करोड़ों दानव योद्धा आकर एकत्रित हो गये। इन तीनों पुरोंमें रहनेवाला जो पुरुष जैसी इच्छा करता, उसकी उस कामनाको मयदानव अपनी मायासे उसी समय पूरी कर देता था। यह तारकासुरके पुत्रोंके तपका फल कहा गया।

तारकाक्षका एक पुत्र 'हरि' था। उसने तपसे ब्रह्माजीको प्रसन्न कर यह वर प्राप्त कर लिया कि 'हमारे नगरोंमें एक बावड़ी ऐसी बन जाय कि जिसमें डालनेसे शस्त्रसे घायल हुए योद्धा औरभी अधिक बलवान् हो जायँ।' इस वरके प्रभावसे दैत्यलोग जिस रूप और जिस वेषमें मरते थे उस बावड़ीमें डालनेपर वे उसी रूप और उसी वेषमें जीवित होकर निकल आते थे। इस प्रकार उस बावड़ी को पाकर वे समस्त लोकोंको कष्ट देने लगे। देवताओंके प्रिय उद्यानों और ऋषियोंके पवित्र आश्रमोंको उन्होंने नष्टभ्रष्ट कर डाला इन्द्रादि देवता जब उनका युद्ध न कर सके तब वे ब्रह्माजीकी शरण गये। ब्रह्माजीकी आज्ञासे वे सब शङ्करजी के पास गये और उनको स्तुतिसे प्रसन्न किया। महादेवजीने सबको अभयदान दिया और कहा कि तुम मेरे लिये एक ऐसा रथ और धनुषबाण तलाश करो जिनके द्वारा मैं इन नगरोंको पृथ्वीपर गिरा सकूँ।

देवताओंने विष्णु, चन्द्रमा और अग्निका बाण बनाया तथा बड़े बड़े नगरोंसे भरी हुई पर्वत, वन और द्वीपोंसे व्याप्त वसुन्धराकोही उनका रथ बना दिया। इन्द्र, वरुण, कुबेर और यमादि लोकपालोंको घोड़े बनाये एवं मनको आधारभूमि बना दिया। इस प्रकार जब (विश्वकर्माका रचा हुआ) यह श्रेष्ठ रथ तैयार हुआ तब महादेवजीने उसमें अपने आयुध रक्खे। ब्रह्मदण्ड, कालदण्ड, रुद्रदण्ड और ज्वर ये सब ओर मुख किये हुये उस रथकी रक्षामें नियुक्त हुए। अथर्वा और अंगिरा उसमें चक्र रक्षक बने। सामवेद, ऋग्वेद और समस्त पुराण उस रथके आगे चलनेवाले योद्धा हुए। इतिहास और यजुर्वेद पृष्ठरक्षक बने। दिव्यवाणी और विद्याएँ पार्श्वरक्षक बनीं। स्तोत्र, वषट्कार और ओंकार रथके अग्रभागमें सुशोभित हुए। उन्होंने छहों ऋतुओंसे सुशोभित संवत्सरको अपना धनुष बनाया और अपनी छायाको धनुषकी अखण्ड प्रत्यंचाके स्थानो में रक्खा। ब्रह्माजी उनके सारथी बने। भगवान् शंकर रथ पर सवार हुए और तीनों पुरोंको एकत्र होनेका चिंतन करने लगे। धनुष चढ़ाकर तैयार होतेही तीनों नगर मिलकर एक हो गये। शंकरजीने अपना दिव्य धनुष खींचकर बाण छोड़ा जिससे तीनों पुर नष्ट होकर गिर गये। इस तरह शंकरजीने त्रिपुरका दाह किया और दैत्योंको निर्मूलकर त्रिलोकका हित किया।

वाल्मीकीयसे पता चलता है कि दधीचि महर्षिकी हड्डियोंसे पिनाक बनाया गया था और भूषण टीकाकारका मत है कि भगवान् विष्णु बाण बने थे जिससे त्रिपुरासुरका नाश हुआ। यही धनुष पीछे राजा जनकके यहाँ रख दिया गया था। दधीचिकी हड्डियोंसे दो धनुष बने, शार्ङ्ग और पिनाक। वाल्मीकीय रा० बा० सर्ग ७५ के आधार पर कहा जाता है कि विष्णुभगवान्ने शार्ङ्गसे असुरोंको मारा और शंकरजीने तीनों पुरोंको जलाया। ('विनयपीयूष' से उद्धृत। विनय पद ३)।

स्कन्द पु० आवन्त्य रेवा खण्डमें लिखा है कि राजा बलिका महापराक्रमी पुत्र बाणासुर भी सहस्र-भुज था। उसने एक सहस्र दिव्य वर्षों तक महादेवजीकी उपासना की। उसकी सेवासे संतुष्ट होकर शंकरजीने उससे वर माँगनेको कहा। उसने माँगा कि 'मेरा नगर दिव्य एवं संपूर्ण देवताओंके लिए अजेय हो। आपको छोड़कर दूसरे किसी देवताके लिये यहाँ प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन हो। मेरा यह नगर मेरे स्थिर होनेपर स्थिर रहे और मेरे चलने पर यह साथ साथ चले, सर्वथा मेरे मनके अनुकूल बना रहे।' महादेवजीने उसे यह वर दिया। तदनन्तर भगवान् विष्णुने भी बाणासुरको वैसाही दूसरा पुर दिया। दोनोंने उसे ब्रह्माजीके

पास भेजा। वहाँ जानेपर ब्रह्माजीनेभी उसे वैसाही तीसरा पुर दिया। इन तीनों पुरोंको प्राप्त करके बाणासुर 'त्रिपुर' नामसे विख्यात हुआ। इस तरह वर पाकर वह समस्त देव, दानव, यक्ष, राक्षसादिसे अवध्य और अजेय हो गया। उसके अत्याचारसे सब उद्विग्न हो गए। सबने शंकरजीसे पुकार की। शंकरजी अपने प्रमुख पार्षदों और देवी पार्वती सहित जाकर श्रीशैल नामक सिद्ध पर्वतपर ठहरे। वहीं विराटरूप धारणकर पिनाक नामक धनुषको हाथमें ले उसपर अघोर नामक बाण लगाकर छोड़ा जिससे दग्ध होकर त्रिपुरके तीन खण्ड हो गए। उसे जर्जर करके शिवजीने नर्मदामें गिरा दिया। तीनों पुरोंके दग्ध होजानेपर बाणासुरने शिवजीकी भारी स्तुति की जिससे वे प्रसन्न हो गए। उसने परिवारसहित इसी शरीरसे शिवलोककी प्राप्ति माँगी और पाई।

☞ 'दच्छ, दच्छकुमारी' इति। पद्मपुराणमें लिखा है कि ब्रह्माजीने अपनेसे उत्पन्न अपनेही स्वरूप भूत स्वायम्भुवको प्रजापालनके लिये प्रथम मनु बनाया। इनकी दो कन्यायें हुईं—प्रसूती और आकूति। मनुने प्रसूतिका विवाह दक्षके साथ कर दिया। प्रसूतिके गर्भसे पहले चौबीस कन्याएँ हुईं जिनको धर्मने अपनी पत्नियोंके रूपमें ग्रहण किया। इनसे छोटी ग्यारह कन्याएँ और थीं जो ख्याति[१], सती[२], संभूति[३], स्मृति[४], प्रीति[५], क्षमा[६], सन्नति[७], अनुसूया[८], ऊर्जा[९], स्वाहा[१०], और स्वधा[११] नामसे प्रसिद्ध हुईं। इनको क्रमशः भृगु[१], शिव[२], मरीचि[३], अंगिरा[४], पुलस्त्य[५], पुलह[६], क्रतु[७], अत्रि[८], वसिष्ठ[९], अग्नि[१०] तथा पितरोंने[११] ग्रहण किया। यह भी लिखा है कि भृगु, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि और वसिष्ठ ब्रह्माके, उन्हींके सदृश, मानसपुत्र हैं। ये नौ भी ब्रह्माही कहे जाते हैं। (संक्षिप्त प० पु०)। भा० ४। १। ११ में भी यही बात मैत्रेयजीने विदुरजीसे कही है कि स्वायम्भुवमनुने अपनी तीसरी कन्या प्रसूतिका विवाह ब्रह्माजी के पुत्र दक्षप्रजापतिसे किया था। उसी अध्यायमें यहभी कहा है कि प्रसूतिसे दक्षने अति सुंदरी सोलह कन्याएँ उत्पन्न कीं जिनमेंसे तेरह धर्मको, एक अग्निको, एक समस्त पितृगणको और एक शंकरजी को दी। शंकरपत्नीका नाम 'सती' था जिन्होंने युवावस्थाहीमें क्रोधवश योगके द्वारा अपने शरीरको त्याग दिया था।

गरुड़पुराणमें कथा इस प्रकार है कि 'ब्रह्माने सृष्टिकी कामनासे धर्म, रुद्र, मनु, भृगु तथा सनकादि को मानसपुत्रके रूपमें उत्पन्न किया। फिर दहिने अँगूठेसे दक्षको और बाएँसे दक्षपत्नीको उत्पन्न किया जिससे दक्षको सोलह कन्याएँ उत्पन्न हुई—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, मूर्ति, तितिक्षा, ह्री, स्वाहा, स्वधा और सती।—(ये नाम भा० ४। १ में आये हैं। स्वाहाका अग्निसे, स्वधाका पितृगणसे सम्बन्ध हुआ। प्रथम तेरह का धर्मसे।) रुद्रको सती प्राप्त हुईं। "शिवजीने दक्षयज्ञ विध्वंस किया और शाप दिया कि तुम मनुष्य होकर ध्रुवके वंशमें जन्म लोगे। ध्रुवके वंशज प्रचेतागणने जब घोर तपस्या की तब उन्हें प्रजासृष्टि करनेका वर मिला और उन्होंने कण्डुकन्या मारिषाके गर्भसे दक्षको उत्पन्न किया। दक्षने चतुर्विध मानससृष्टि की, पर जब मानससृष्टिसे प्रजावृद्धि न हुई तब उन्होंने वीरण प्रजापतिकी कन्या 'असिक्नी' को ग्रहण किया और उससे सहस्र पुत्र और बहुतसी कन्याएँ उत्पन्न कीं। इन्हीं कन्याओंसे कश्यप आदिने सृष्टि चलाई।'—(श० सा०)। और पुराणोंमभी इसी तरह कथा कुछ हेर-फेरसे है। कल्पभेदसे सभी कथायें ठीक हैं।

तेहि अवसर भंजन महिभारा। हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा॥ ७॥
पिता बचन तजि राजु उदासी। दंडक बन बिचरत अबिनासी॥ ८॥

अर्थ—उस समय (उन्हीं दिनों) पृथ्वीका भार हरनेकेलिये (दुःखके हरनेवाले भगवान्) हरिने रघुकुलमें अवतार लिया।७। पिताके वचनसे राज्यको छोड़कर उदासी वेषसे वे अविनाशी भगवान दंडकवनमें विचर रहे थे।८।

टिप्पणी—१ 'तेहि अवसर भंजन महिभारा।०' इति। (क) 'तेहि अवसर' अर्थात् उन्हीं दिनों त्रेतायुगमें जैसा पूर्व कह आए। यथा 'एक बार त्रेताजुग माहीं।' (ख) [अथवा, 'तेहि अवसर' का अन्वय 'दंडक बन बिचरत अबिनासी।' के साथ कर लें। चारो चरणोंका अन्वय एक साथ कर लेनेसे शंका नहीं रह जाती।] (ग) 'भंजन महिभारा' और 'हरि' से अवतारका हेतु बताया। पृथ्वीका भार उतारना अवतारका हेतु है, यथा 'जगकारन तारन भव भंजन धरनीभार। की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार। कि० १।' जो दुःखको हरे वही हरि है। राम ही हरि हैं; यथा 'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्य-मीशं हरिं।' (मं० श्लो०)। (घ) 'रघुबंस लीन्ह अवतार' इति। रघुवंशमें अवतार लिया—इस कथनका भाव यह है कि रघुवंश धर्मात्मा कुल है; यथा 'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथु पगु धरै न काऊ। बा० २३१।' और यह अवतार धर्मकी रक्षाके लिये है।

नोट— पुनश्च, इस अवतारमें अनेक नीच योनियोंके प्राणियोंको गति देनी है, सन्तोंकी रक्षा करनी है, शरणमें आए हुओंको अभय प्रदान करना है। और, रघुकुल इन बातोंमें विख्यात है, उदार है, तेजस्वी है, प्रतापी है। अतः इस कुलमें अवतरे, जिसमें यह संदेह न हो कि नहाने अवतार लिया है, सब यही जानें कि मनुष्य हैं।

२ 'रघुबंस' इति। इसे सूर्यवंश, इक्ष्वाकुवंश भी कहते हैं। ब्रह्माजीके प्रपौत्र विवस्वान् (सूर्य) हुये जिनके पुत्र वैवस्वत् मनु हुए। संभवतः इस कुलके पुरखा विवस्वान् हैं इसीसे इसे 'सूर्यवंश' कहते हैं। गोस्वामीजीने भी इन्हें रघुकुलगुरु कहा है; यथा 'उदउ करहु जनि रबि रघुकुलगुर। २। ३७।' मनुके पुत्र इक्ष्वाकु हुए। वाल्मी० १। ७० में इक्ष्वाकु महाराजको ही प्रथम राजा अयोध्याका लिखा है। इसीसे इसे इक्ष्वाकुवंश कहा जाता है। वंशपरंपरायें जो वाल्मीकीय और भागवतमें दी हैं उनमें बहुत अंतर है जिसका कारण कल्पभेद ही जान पड़ता है। वाल्मीकीयमें इक्ष्वाकुसे दशवें मान्धाता, उन्नीसवें दिलीप, बाईसवें रघु महाराज और पैंतीसवें दशरथमहाराज हैं; और, भागवतमें इक्ष्वाकुसे अठारहवें मान्धाता, अड़तीसवें दिलीप, तिरपनवें रघुजी और पचपनवें दशरथजी हैं। वाल्मीकीयमें रघुजी दिलीपजीके प्रपौत्र हैं। दिलीपके भगीरथ भगीरथके ककुत्स्थ जिनके पुत्र रघु हुए। भागवतमें बहुत अन्तर है पर बड़े बड़े राजाओंके नाम दोनोंमें हैं।

पद्मपुराण उत्तरखण्डमें देवलमुनिने वैश्य शरभसे राजा दिलीपका वृत्तान्त यों बताया है कि—'जब सुदक्षिणा रानीसे कोई पुत्र उत्पन्न न हुआ तब राजा शोकयुक्त हो गुरु वसिष्ठके पास गए और अपने आनेका कारण बताया। श्रीवसिष्ठजीने ध्यानद्वारा जानकर कारण बताया कि—'तुम इन्द्रकी सेवामें गए थे। परन्तु रानीके ऋतुकालका अतिक्रम न हो यह सोचकर राजमहलको लौटते समय उतावलीके कारण मार्गमें कल्पवृक्षके नीचे खड़ी हुई कामधेनुको तुमने प्रदक्षिणा करके प्रणाम नहीं किया जिससे उसने शाप दे दिया कि जब-तक तू मेरी प्रसूती संतानकी सेवा न करेगा तबतक तुझे पुत्र न होगा।' और कहा कि हमारी नंदिनी गौ उसकी प्रसूतीकी पुत्री है। तुम दोनों इसकी सेवा करो। वनमें इसकी सेवा तुम करो और आश्रमपर आने-पर रानी करें। दृढ़तापूर्वक नन्दिनीकी आराधना करते हुए राजाको इक्कीस दिन बीत गए। तब नंदिनीको एक सिंहने पकड़ लिया। राजाने ज्योंही बाण चलाना चाहा त्यों ही सिंहकी दृष्टि पड़ते ही वह जड़वत् हो गया। तब राजाने प्रार्थना की कि मैं इसके बदले अपना शरीर समर्पण करता हूँ। यह सुनकर सिंह मौन हो गया और राजा उसके सामने मुँह नीचे किये हुये लेट गए और सिंहके द्वारा दुःसह आघातकी प्रतीक्षा कर रहे थे कि अकस्मात् उनपर आकाशसे फूलोंकी वृष्टि हुई। फिर 'बेटा! उठो।' यह सुनकर वह उठे तो वह नंदिनी पास खड़ी थी, सिंह वहाँ न देख पड़ा। नंदिनीने कहा कि मैंने ही मायासे सिंहका रूप धर कर तुम्हारी परीक्षा ली थी। तुम वर माँगो। वंशधर पुत्रका वर माँगनेपर नंदिनीने कहा कि 'पत्तेके दोनेमें दूध दुहकर इच्छानुसार पी लो, इससे तुम्हें अरूशास्त्रोंके तत्त्वका वेत्ता पुत्र प्राप्त होगा।' पर इन्होंने उत्तर दिया

कि आश्रमपर पहुँचने पर बत्सके पीलेनेपर फिर गुरूजीके पूजन आदि समस्त धार्मिक क्रियाओंके अनुष्ठान से बचे हुए आपके प्रसादस्वरूप दूधका ही पान करूँगा। इस प्रकार पूर्ण मनोरथ होकर राजा रानी दूसरे दिन अयोध्यापुरीको लौटे। कुछ दिनोंके बाद दिलीप महाराजके 'रघु' नामक पुत्र हुआ जिसके नामसे इस पृथ्वीपर सूर्यवंशकी ख्याति हुई अर्थात् रघु ऐसे प्रतापी राजा हुए कि इनके बाद सूर्यवंशका नाम ही रघुवंश हो गया।

कालिदासजीने भी 'रघुवंश' में दिलीप महाराजके पुत्रका नाम 'रघु' बताया है और सुरभि (कामधेनु) के शाप तथा नन्दिनीके प्रसादकी कथा भी दी है जो सर्ग १ श्लोक ७५-७७ इत्यादिमें है। जब दिलीप महाराज निन्नानवे यज्ञ कर चुकनेके बाद फिर यज्ञ करने लगे तब इन्द्र डरा और उसने यज्ञका घोड़ा चुरा लिया। अश्वकी रक्षामें रघुजी नियुक्त थे इन्होंने ऐसे अस्त्र शस्त्र चलाए कि इन्द्रके प्राणोंपर आ बनी तब उसने वज्र चलाया। उससे एक क्षणभर रघुजी मूर्च्छित हो गए फिर तुरन्त ही उठकर युद्ध करने लगे। इन्द्र विस्मित हो गया और इनके पराक्रमसे सन्तुष्ट हो उसने यज्ञपशुको छोड़ अन्य वर माँगनेको कहा। रघुजीने पिताके यज्ञकी पूर्त्तिका वर माँगा। यज्ञ पूरा हो गया। रघु महाराजने विश्वजित् यज्ञ करके सर्वस्व दान कर दिया। उसी समयकी बात है कि वरतन्तु ऋषिने अपने शिष्य कौत्सके हठ करनेपर उससे चौदह विद्याओंकी शिक्षा के बदलेमें चौदह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ माँगी। कौत्स घबड़ाकर महाराज 'रघु' के यहाँ आए तो देखा कि वे सर्वस्व दान करके स्वयं मिट्टीके पात्रसे निर्वाह करते हैं। वे लौटने लगे तो राजाने आगमनका कारण पूछा और बतानेपर कहा कि मैं कलही प्रात कुबेरपर चढ़ाई करके तुम्हें इतना धन दूँगा। कुबेरको रातहीमें खबर मिली। वे डर गए और रात्रिमें ही उन्होंने स्वर्णमुद्राकी वर्षा की। राजाने कौत्सको यह सब दे दिया। इसी प्रकारकी उनके प्रतापकी अनेक कथाएँ हैं। इसीसे तबसे वंशका नाम 'रघुवंश' पड़ गया।

टिप्पणी—२ 'लीन्ह अवतार' इति। 'लीन्ह' शब्दसे सूचित करते हैं कि वे अविनाशी हैं, जन्म कर्म रहित हैं उन्होंने अपनी इच्छासे अवतार लिया, कर्मवश नहीं। यथा—'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि। कि० २६।', 'निज इच्छा निरमित तनु माया गुन गो पार।', 'इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥ बा० १५२।

३ 'पिता बचन तजि राजु उदासी।०' इति। (क) पिताके वचनोंकी रक्षाके लिये राज्य छोड़कर सबसे उदासी होकर दंडकवनमें विचरते हैं, यथा 'तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी। अ० २९।' (ख) 'विचरत' शब्द देकर जनाया कि सुखसे वनवास कर रहे हैं।

नोट—३ राज्यका त्याग और वनवास दोनों कठिन काम हैं; परन्तु आपने ये दोनों काम पिताके वृद्ध वचन होनेसे उनके वचनोंको मानकर सुखपूर्वक किये।—यह बात 'तजि राजु उदासी' और 'दण्डकबन बिचरत' कहकर दर्शाई है। क्योंकि 'विचरण' और 'उदासीनता'—ये दोनो सुखके द्योतक हैं। यही बात ग्रन्थकारने अयोध्याकाण्डमें कही है, यथा 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥ अ० श्लो० १', 'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर। बिसमउ हरषु न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर॥ अ० १६५।' 'उदासी' से राजपाटसे उदासीनता और निर्लोभता एवं हर्षशोकरहित मनभी सूचित होते हैं और उदासी वेषभी।

४—'दंडकबन बिचरत' अर्थात् दंडकवनमें विचरना कहकर यह भी जनाया कि—विशेषकर इसी वनमें फिर रहे हैं जिसमें वहाँकी भूमि, वृक्ष, वन, लता और तृण आदि सभी आपका चरणरज पाकर पवित्र हो जायँ। अगस्त्यजीके 'दंडकबन पुनीत प्रभु करहू। उग्र श्राप मुनिबर कर हरहू।' इन वचनोंको सत्य कर रहे हैं, चरितार्थ कर रहे हैं। (मा० प०)। 'दंडक बन' इति। यह इक्ष्वाकुमहाराजके पुत्र दंडकी राजधानी थी। इसने शुक्रकी पुत्री अरजाके साथ बलात्कार किया जिससे शुक्रजीने इसको शाप दिया। शापसे इसके राज्यके सब जीव जन्तु तृण लता वृक्ष हो गए। सारा राज्य नष्ट होकर भयानक वन हो गया। विशेष 'दंडक बन प्रभु

कीन्ह सुहावन।' दोहा ४ चौपाई ७ देखिये।

टिप्पणी—३'अविनासी' इति। अविनाशी विशेषण देकर खरदूषणवधकी कथा सूचित की कि सब (चौदह हजार अजर, अजय और देवताओं आदिसे भी अवध्य) राक्षस मारे गए और श्रीरघुनाथजी को कोई न मार सका; क्योंकि ये 'अविनाशी' हैं। अथवा, प्रथम 'हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा' से अवतार होना कहा। परन्तु जिसका जन्म होता है उसका नाश (मरण) भी निश्चयही होता है; यथा 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च। गीता २।२७।' अतः प्रथम अवतार कहकर फिर यह भी कहा कि ये 'अविनाशी' हैं, इनका नाश नहीं होता। क्योंकि इनका अवतार निज इच्छासे होता है (जैसा ऊपर 'लीन्ह अवतारा' की व्याख्यामें कह आये हैं), सब जीवोंकी तरह कर्मके वशसे नहीं होता। इनके जन्म, कर्म सभी दिव्य हैं।

नोट—मा० पत्रिकाकार लिखते हैं कि "अविनाशी' से जनाया कि जैसा नाव वैसी कौंछ वा जैसी कौंछ तैसा नाव'—इस लोकोक्तिको पूरा कर दिखा रहे हैं, नहीं तो ये तो परब्रह्म हैं।"

टिप्पणी—४ इस प्रसंगमें यहाँ 'तेहि अवसर भंजन महिभारा। हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा' यह बालकांडकी कथा है, 'पितावचन तजि राज उदासी' यह अयोध्याकाण्डकी कथा है और 'दंडक बन बिचरत अविनासी' यह अरण्यकांड है। यहाँतक चार चरणोंमें इतनी कथा कही गई।—(इससे अनुमान होता है कि) श्रीअगस्त्यजीने श्रीशिवजीसे श्रीरामविरहतककी कथा कही और फिर यह बोले कि वही श्रीरामजी इस समय दंडकवनमें श्रीसीताजीको खोज रहे हैं।—यह सुनकर श्रीशिवजी दर्शनकी इच्छासे मुनिसे विदा मांगकर चले, जैसा आगे लिखते हैं। यथा 'हृदय बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ।' ☞यह सब बात अभिप्रायसे अनुमानित होती है। इस अभिप्राय तथा इस अनुमानका प्रमाण श्री सनकादिजीके प्रसंगमेंभी मिलता है। वहाँ कहा है कि—'जानि समय सनकादिक आए। तेजपुंज गुन सील सुहाए॥....तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिबर ज्ञानी॥ रामकथा मुनिबर बहु बरनी। ज्ञानजोनि पावक जिमि अरनी॥ उ० ३२।' यहाँ अगस्त्यजी सातो कांडोंकी रामकथा कहकर श्रीसनकादिसे बोले कि इस समय श्रीरामचन्द्रजी राज्य कर रहे हैं, श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और पवनकुमार सहित इस अवसरपर उपवनमें एकान्तमें हैं—यह सुनकर सनकादिजी अगस्त्यजीसे विदा होकर श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनार्थ श्रीअवधपुरीमें आए।

नोटः—६ श्री बैजनाथजी लिखते हैं कि—१ यहाँ (अवतार कहा किंतु) विवाहादि लीलायें नहीं कहीं। क्योंकि 'रामायणमें विवाहादि लीलायें केवल इसी अवतारकी हैं। तथा पीछे उत्तरकांडमें जो राजतिलककी कथा है वहभी इसी अवतारकी लीला है। और, जन्महेतु और वनयात्रासे लेकर रावणवधतककी प्रसंग 'अनेक अवतारोंकी संकीर्णतामें इस अवतारकी कथा विचित्र रीतिसे सूक्ष्म कही है।' इसीसे यहाँ इसे प्रकट कहा।

'दंडक बन बिचरत' से भरतागमनसे लेकर शूर्पणखाका रावणके पास जानेतककी कथा सूचित करदी।

—पिता-वचन—

लोग यहाँ शंका किया करते हैं कि 'महाराज दशरथजीने तो अपने मुखसे कहा नहीं तब यहाँ 'पितावचन' कैसे लिखा?'

वाल्मीकीयमें तो स्पष्ट कहा है। रहा इस ग्रंथमें सो अनुमानसे वचन स्पष्ट जान पड़ते हैं— 'मौनं सम्मति लक्षणम्।' सत्यसंध श्रीरामजीके वचनोंसेभी आज्ञा सिद्ध है। यथा 'तात बचन पुनि मातुहित भाइ भरत अस राउ। मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सब मम पुन्य प्रभाउ। अ० १२५।', 'कहेहु सत्य सब सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥ बरष चारिदस बासु,बन मुनिब्रत बेषु अहारु॥ अ० ८८।', 'पिता दीन्ह

मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू। अ० ५३।', 'मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥ सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। अ० ३०६।', 'हम पितु बचन मानि बन आए। कि० २।', 'पिता बचन मैं नगर न आवउँ। लं० १०५।', तथा 'राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥ तासु बचन मेटत मन सोचू। अ० २६४।' इत्यादि।

अब महाराज श्रीदशरथजीके वचन सुनिये—'रामरूप-गुन-सील-सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ॥ राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भएउ न हरषु हरासू। अ० १४९।' वनयात्रा कर देनेपर उन्होंने सुमन्त्रजीसे कहा है कि—'रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गए दिन चारि॥ ८१। जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ ब्रत रघुराई॥ तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिअ प्रभु मिथिलेसकिसोरी॥'—इन वचनोंसे स्पष्ट है कि उन्होंने आज्ञा दी। अगाध भक्ति और प्रेमके कारण आज्ञा देना ग्रंथकारने स्पष्ट नहीं लिखा। भला प्रेममें वियोगके वचन मुखसे कैसे निकल सकते हैं?

पिता वचनबद्ध होचुके थे। वे श्रीरामजीकी शपथ करके कैकेयीजीसे वचन हार चुके थे। यथा 'झूठेहुँ हमहिं दोषु जनि देहू। दुइ कै चारि मागि मकु लेहू॥ रघुकुलरीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचनु न जाई॥' 'तेहि पर रामसपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई। अ० २८।'—तब वे उसके विरुद्ध कैसे कह सकते थे? दशरथजीके सामनेही कैकेयीजीने श्रीरामजीसे कहाभी है कि—'सुत सनेहु इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु। सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु। अ० ४०।' वरका माँगना और राजाका वर देना भी कहा था। कैकेयी अम्बाद्वारा उनकी आज्ञाभी प्रथमही श्रीरामजीको मालूम हो गई थी। वचनबद्ध होजानेसे वनवासकी आज्ञा स्पष्ट होजाती है। फिर यहाँ तो मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की उज्वल कीर्ति जगमगा रही है कि इतनेहीसे (कैकेयी और वह भी सौतेली माँ के कहनेमात्रसे) उन्होंने पिताकी आज्ञा मानली, ऐसे गजबके वे पितृभक्त थे। उन्होंने यह न कहा कि सबके सामने तो उन्होंने हमें युवराज बनानेकी बात कही और इस समयभी हमसे तो उन्होंने कहा नहीं कि राज न देंगे, वनवास देते हैं, तब हम क्यों जायें? आपने इस परतः आज्ञाको आज्ञा मान ली। क्योंकि यदि आप उनके वचनबद्ध होजाने पर और भरतको राज्य देनेको स्पष्ट कह देनेपरभी वनको न जाते तो अगाध भक्ति और प्रेमके कारण पिता का इस वरके ऋणसे स्पष्टही उद्धार न हो सकता और उनके सत्यव्रतमेंभी बट्टा लग जाता। क्योंकि कैकेयीजी तो स्पष्ट शब्दोंमें कहचुकी थीं कि—

'होत प्रात मुनिबेष धरि जौं न राम बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं।३३।'

तथा फिर दूसरे वरके विषयमें कैकेयीसे बहुत कुछ प्रार्थना करनेपरभी जब उसने नहीं माना और अपनी हठ रक्खी तब उन्होंने यही कहा कि 'अब तोहि नीक लाग करु सोई।'—इस तरह उन्होंने कैकेयीको आज्ञा सुना देनेकी भी इजाजत दे दी। यद्यपि आज्ञा सुनानेकी इजाजत होने न होनेका प्रभाव नहीं हो सकता।

☞ यह तो हुआ शंकाके अनुसार उसका समाधान। हमारी समझमें तो यह शंकाही निर्मूल है। 'पिता वचन०' का अर्थ यह क्यों न ले कि—'पिताने जो कैकेयीको वचन दिया था उसके कारण राज्यको त्याग कर।' इसमें कोई शंकाही नहीं रह जाती और वास्तविक अर्थ भी यही है। पुनः अध्यात्मरामायण २.३ में इस प्रसंगपर जो वचन श्रीरामजीने कैकेयीजीसे कहे हैं और जो कैकेयीजीने उनसे कहे हैं; यथा— 'किमिद राज्ञो दुःखस्य कारणम्। त्वमेव कारणं ह्यत्र राज्ञो दुःखोपशान्तये। किञ्चित् कार्यं त्वया राम कर्त्तव्यं नृपतेर्हितम्। ५५। कुरु सत्यप्रतिज्ञस्त्वं राजानं सत्यवादिनम्। सत्यपाशेन सम्बद्धं पितरं त्रातुमर्हसि। ५७। पुत्रशब्देन चैतद्धि नरकात्त्रायते पिता। ५८।' (अर्थात्) श्रीरामजीने कैकेयीजीसे पूछा कि पिताके दुःखका क्या कारण है?' उसने कहा कि दुःखके कारण तुम्हीं हो, उनके दुःखकी शान्तिके लिये तुम्हें कुछ उनका प्रिय कार्य करना होगा। तुम सत्यप्रतिज्ञ हो, उनको सत्यवादी बनाओ। उन्होंने मुझे दो वर दिये हैं जिनकी सफलता तुम्हारे हाथ है।

सत्यपाशमें बँधे हुये अपने पिताकी रक्षा तुम्हें कर्त्तव्य है। 'पुत्र' शब्दका अर्थ ही है 'जो पिताकी नरकसे रक्षा करता है'। इसपर जो श्रीरामजीने कहा है। वह पुत्रोंके लिये सुवर्णाक्षरोंमें लिख लेनेकी बात है। वे कहते हैं—'पित्रर्थे जीवित दास्ये'। अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः। ६०। उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः। उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते। २। ३। ६१।' (अर्थात्) पिताके लिये मैं प्राण दे सकता हूँ।' जो पुत्र पिताकी आज्ञाके बिना ही उनका अभीष्ट कार्य करता है वह उत्तम है। जो पिताके कहनेपर करता है वह मध्यम है और जो कहनेपर भी न करे वह विष्ठाके समान है। राम दो बात कभी नहीं कहता—'रामो द्विर्नाभिभाषते।' मैं आज्ञा अवश्य पूर्ण करूँगा।—इन वचनोंसे शंका करनेवालोंको उपदेश लेना चाहिए कि 'उत्तम' पुत्रका यही लक्षण है जो श्रीरामजीने अपने आचरणसे दिखाया है। उन्होंने केवल वचनबद्ध होनेसे ही पिताकी आज्ञाका आशय समझकर उनकी आज्ञाका पालन किया। मर्यादा पुरुषोत्तम हम लोगोंको आचरण द्वारा उपदेश दे रहे हैं।

दोहा—हृदय बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ।
गुप्त* रूप अवतरेउ प्रभु गएँ† जान सबु कोइ॥
सोरठा—संकर उर अति छोभु सती न जानहिं मरमु सोइ।
तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची॥४८॥

शब्दार्थ—गए—जानेसे। छोभु (क्षोभ)—खलबली, उद्वेग, चित्तकी विभिन्न गति होना। स्थिर न होना।

अर्थ—श्रीशिवजी हृदयमें विचारते हुए चले जाते हैं कि किस प्रकार (प्रभुके) दर्शन हों। प्रभु (परात्पर ब्रह्म श्रीरामजी) ने गुप्तरूपसे अवतार लिया है। (वहाँ, उनके समीप मेरे) जाने से सब लोग उन्हें जान जायँगे। तुलसीदासजी कहते हैं कि शंकरजीके हृदयमें बड़ी ही खलबली (पड़ी) है, दर्शनकी लालसासे नेत्र ललचा रहे हैं, (परन्तु) मनमें डर (भी) है। सतीजी इस मर्म अर्थात् शिवजीके हृदयके रहस्यको, उनकी खलबलीको नहीं जानतीं। ४८।

टिप्पणी—१ 'हृदय बिचारत जात हर' हृदयमें विचारते चले जाते हैं, इस कथनका तात्पर्य यह है कि यह बात प्रकट करने योग्य नहीं है, इसीसे सतीजीसेभी नहीं कहते, मनही मन विचार कररहे हैं। २ 'केहि बिधि दरसनु होइ'से जनाया कि दर्शनकी कोई विधि नहीं बैठती। यही बात आगे कहते हैं,—'गुप्त रूप०'।

☞ नोट—१ भगवान् शंकर परम भागवत हैं। वैष्णवशिरोमणि हैं; यथा 'वैष्णवानां यथा शंभुः'। आप श्रीरामजीके दर्शनोंके लिये अवसरपर कभी नहीं चूकते। किसी न किसी विधिसे अवश्य दर्शनोंको आया-जाया करते हैं, प्रभुके जन्मपर शिशु-रामके दर्शनोंके लिये आगमी बनकर आए। यथा 'अवध आजु आगमी एकु आयो। करतल निरखि कहत सब गुनगन बहुतन परचो पायो॥ १॥ बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो।' (गीतावली बा० १४)।', 'औरो एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी॥ काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानै नहिं कोऊ॥ परमानंद प्रेमसुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥ बा० १९६।' कभी योगी बने, कभी अपने निज रूपसे दर्शन करने आए। विवाह, रावण-वध और राज्याभिषेक आदि सुअवसरोंपर आपका श्रीरामदर्शनार्थ जाना गीतावली और रामचरितमानसमें बराबर पाया जाता है।

इस समय दण्डकारण्यसे ही आपका कैलासकी ओर जाना हो रहा है। और प्रभुभी इस समय दंडकवनहीमें विचर रहे हैं। इतने निकट होनेपर भी अपने इष्टदेवका दर्शन न करें—यह मन मानता नहीं।

* गुपुत—१७२१, १७६२, छ०, कोदवराम। गुप्त—१६६१, १७०४। † गए—छ०, कोदवराम। गये—१७२१, १७६२। गएँ—१६६१, १७०४। ☞ अनुस्वारकी उपयोगिता यहाँ अर्थ लगानेमें देखिए। अनुस्वार न होता तो 'जान गए' ऐसा ही अर्थ प्रायः लगाया जाता।

यदि दर्शन करनेको समीप जायँ और उनको प्रणाम न करें तो प्रभुका अनादर होगा, अपमान होगा। यदि जाकर उनको प्रणाम करते हैं तो सब जान जायँगे कि ये परब्रह्म परमेश्वर हैं, शिवजीके इष्ट हैं, तभी तो शिवजीने इनको प्रणाम किया। इससे स्वामीको संकोच होगा।

इस प्रकार शंकरजी असमंजसमें पड़े हैं। स्वामीको संकोच न होने देना—यह उत्तम सेवकका धर्म है। देखिए, भरतजीके विषयमें कहा है कि 'भरत सरिस को राम सनेही' सो उन्हीं भरतजीके वाक्य हैं कि 'जो सेवकु साहिबहि संकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची। अ० २६८।', 'अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा। अ० २६६।', श्रीशंकरजीकाभी यही सिद्धान्त यहाँ सिद्ध होता है, वे भी स्वामीको संकोचमें डालना सेवक स्वामि धर्मके विरुद्ध मानते हैं।—इसीलिये अनेक युक्तियाँ मनमें सोचते हैं पर कोई युक्ति ठीक नहीं जँचती।

टिप्पणी—२ 'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ।' इति। (क) अर्थात् परब्रह्मने अपना ऐश्वर्य छिपाकर मनुष्यरूपसे अवतार लिया है। वे अपना ऐश्वर्य प्रगट करना नहीं चाहते। (रघुवंशमें इक्ष्वाकु, मान्धाता, रघु और दिलीप आदि एकसे एक बड़े बड़े प्रतापी, तेजस्वी और शरणागतरक्षक तथा धर्मात्मा राजा हुए हैं। ब्रह्मने उसी कुलमें अवतार लिया जिसमें आपके बल, पराक्रम, पुरुषार्थ, तेज और प्रताप आदिको देखकर किसीको आपके ब्रह्म होनेका गुमान भी न हो; सब आपको अवधेशकुमार ही समझें। बाललीला, स्त्री वियोग विरहमें विलापादि नरनाट्य इसीलिये हैं कि कोई भाँप न सके कि ये ब्रह्म हैं।) गुप्तरूपसे क्यों अवतरे ? अपनेको प्रकट क्यों नहीं करते ? यह छिपाव क्यों ?—इसका कारण अगली अर्धालीमें देते हैं—'रावन मरन मनुज कर जाचा।' (ख) 'गएँ जान सबु कोइ' का भाव कि अभी सब कोई नहीं जानता। हमारे जानेसे उनका ऐश्वर्य सब कोई जान लेगा। इस तरह 'गुप्तरूप'''कोइ' का भाव यह हुआ कि हमारा प्रभुके पास जाना उनकी रुचिके प्रतिकूल है और विधिके भी प्रतिकूल है क्योंकि उनका वचन असत्य हो जायगा।

३ 'शंकर उर अति छोभु०' इति। विचार करनेमें 'हर' नाम दिया। जीवोंके क्लेशके हरनेवाले हैं। अपने भक्त रावणका भी उद्धार हो और समस्त प्राणियोंका संकट मिटे, पृथ्वीका भार उतरे—इसीसे विचार करते हैं। 'हर' संहारके देवता हैं। राक्षसोंका संहार भी आपको इष्ट है। अवतार गुप्त रखनेसे लोकमात्र का हित है, रावणादिका और देवताओं, मुनि, विप्र, धरणी आदि सभीका हित चाहते हैं, अतः शंकर नाम भी दिया। स्वयं असमंजसमें पड़करभी परोपकार ही करते हैं।

४ 'सती न जानहि मरमु सोइ' इति। यहाँ दिखाया कि शंकरजीके हृदयकी बात सतीजीभी नहीं जानतीं और आगे बतायेंगे कि सतीजीके हृदयकी बात शंकरजी जान गए। यथा 'जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी। हर अंतरजामी सब जानी ॥५१॥' [सतीजीने मन लगाकर कथा सुनी होती तो कुछ मर्म समझतीं। वि॰ त्रि॰]।

५ 'तुलसी दरसन लोभु मन डरु०' इति। (क) ☞ सुंदर अवसर पाकर कवि चूकता नहीं, अपना सम्बन्ध लगा ही देता है। वैसे ही यहाँ भी दर्शनके लोभमें आप भी शामिल हो गए। अर्थात् हमकोभी दर्शनकी लालसा है, हमारे भी नेत्र लालायित हो रहे हैं। ग्रंथकारकी अपना सम्बन्ध लगानेकी रीति है। उदाहरण यथा—'मन सतोषे सबन्हि के जहँ तहँ देहिं असीस। सकल तनय चिरजीवहु तुलसिदासके ईस ।१६६।', 'तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भक्ति दान वर माँगि लये।' (गीतावली)। इत्यादि।

(ख) 'मन डरु' इति। ऐश्वर्य प्रगट करना प्रभुकी इच्छाके प्रतिकूल होगा। ऐश्वर्य खुलनेका डर है। इससे प्रभुको संकोच होगा; क्योंकि यदि ऐश्वर्य प्रगट हो जानेपर रावणका वध करें तो अपने भक्त ब्रह्मा का वचन असत्य होजायगा, उनकी प्रतिष्ठा जाती रहेगी।

(ग) 'लोचन लालची' इति। दर्शनका लालच तो मन और लोचन दोनोंकोही होता है; यथा 'पितु

दरसन लालचु मन माहीं। बा० ३०७।', 'देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने। बा० २३२।', 'दरस लागि लोचन अकुलानें। २२९।', इत्यादि। पर यहाँ मन ऐश्वर्य खुलनेको डर रहा है, इसीसे यहाँ मनका ललचाना न कहा, केवल नेत्रोंका ललचाना कहा।

नोट—२ श्रीरामजी क्यों अपनेको प्रकट नहीं करना चाहते यह तो उनके अतिरिक्त कोई नहीं जानता। अवतार किन कारणोंसे होता है यहभी प्रायः कोई नहीं जान सकता। यथा 'हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई।१.१२१॥' यदि कहे कि रावणवधके ही लिये अवतार हुआ तो उसका वध तो साठ वर्षकीभी अवस्था उनकी न थी तभी कर डाला था फिर कमसे कम ग्यारह हजार वर्ष तक वे क्यों श्री-अयोध्याका राज्य करते रहे? रावणवध करके चले आना था जैसे कि हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु आदिके लिये अवतार लेकर चले गए थे। रावणवधके पश्चात्भी तो उन्होंने अपने अवतारको अन्ततक गुप्तही रक्खा है। खास खास भक्तोंकोही जनाया है। तब रावणवधके लियेही ऐश्वर्यका गुप्त रखना कैसे कहा जाय? दोहा ४८में यहाँ और आगेभी टिप्पणियों और लेखोंमें जो यह कहा है कि ईश्वरता प्रकट होनेसे विधिका वचन असत्य हो जायगा—यदि इसका यह तात्पर्य है कि तब रावणका वध न हो सकेगा तो हमें इस भावकी यथार्थतामें संदेह होता है। अतः हमें 'विधि वचन' शब्द पर विचार करना होगा। रावणने वर माँगा है कि—'हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे। १. १७७।' और ब्रह्माजीने 'एवमस्तु' कहा। फिर यहभी कहते हैं कि 'रावन मरन मनुज कर जांचा' और लंकाकाण्डमें रावणने अंगदसे कहा है कि—'नर के कर वध आपन बांची। हँसेउँ जानि विधि गिरा असांची॥ ६.२८।'

इन तीनों स्थलोंमें कहींभी ऐसा उल्लेख नहीं है कि भगवान्, देवता, ब्रह्म आदि कोई मनुष्य या वानर रूप न धारण करें; यदि वे मनुष्य या वानर बनकर आयें तो मैं न मरूँ। जहाँतक महात्माओं, विद्वानों के सत्संगसे मालूम हुआ कहीं किसी ग्रंथमें रावणने यह शर्त नहीं लगाई और न ब्रह्माजीने ऐसा वर दिया। तब यदि वह जानभी जाय कि ये ब्रह्म ही हैं तो भी उसके वधमें बाधा कैसे पड़ सकती है? फिर जिन रामायणोंमें ऐसा उल्लेख है कि रावण को निश्चय होगया था कि ये ब्रह्मही हैं (जैसे कि अध्यात्मके कल्पके रावणको हुआ) तो उन कल्पोंमें रावणका वध फिर क्योंकर हुआ? रावण तो यह चाहता ही था कि उनके हाथोंसे वध हो जिसमें फिर संसारमें न पड़ना हो। फिर यहभी देखिए कि अवतार गुप्त कहाँ रहा। विभीषण जी, मन्दोदरीजी, माल्यवान, मारीच, कुंभकरण ये सभी तो जानते थे और सबने रावणसे कहा भी। 'नर या मनुज' का अर्थ यही है कि जो शिशु, कुमार, किशोर, पौगंड आदि अवस्थाओंको प्राप्त हो, दुःख सुखमें उनके अनुकूल व्यवहार करे, जिसके श्वासोच्छ्वास निमेष आदि मनुष्य में देख पड़नेवाले लक्षण देखनेमें आते हों, और प्रभु वैसाही सब नर नाट्य कर ही रहे हैं तब रावणका वध कैसे न होगा? शिवजी कह रहे हैं कि—'प्रभु विधि बचन कीन्ह चह साँचा' ब्रह्माके वचन सत्य करना चाहते हैं। वे यह नहीं कहते कि ऐश्वर्य खुल जानेसे विधिके बचन असत्य हो जायँगे। ब्रह्माके बचन सत्य करनेके लियेही वे मनुष्यका स्वाँग (विलाप आदि) कर रहे हैं—इतनाही मात्र यहाँ अभिप्रेत है। नरनाट्यमात्रसे विधिके बचन सत्य हो जाते हैं क्योंकि ब्रह्ममें तो ये अवस्थायें और विकार होते ही नहीं।

☞ हमारी समझमें 'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु⋯' का संबन्ध इन चौपाइयोंसे नहीं है, इसीसे ग्रंथकारनेभी एक सोरठा बीचमें देकर दोनोंको पृथक् कर दिया है। गुप्त रखनेका कारण एक तो यही है कि तब नर-नाट्य की शोभा न रह जायगी और लीलाका रस भंग हो जायगा। ईश्वरका चरित होनेसे वह मनुष्योंके लिये अनुकरणीय न होगा और आदर्श मनुष्य, आदर्श राजा, आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, इत्यादि होनेसे वह मनुष्योंके लिये अनुकरणीय होगा।

रावन मरनु मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साचा ॥१॥

जौं नहिं जाउं रहै पछितावा। करत बिचारु न बनत बनावा ॥२॥

अर्थ—रावणने अपना मरण (मृत्यु) मनुष्यके हाथसे माँगा है। प्रभु ब्रह्माके वचनको सत्य करना चाहते हैं। १। यदि मैं (दर्शनको) नहीं जाता तो पछतावा (पश्चात्ताप) बना रह जायगा। (शङ्करजी इस प्रकार अनेक) विचार कर रहे हैं पर कुछ 'बनाव' (युक्ति। वा, बनाया) नहीं बनता। २।

टिप्पणी—१ 'रावन मरनु मनुज कर जाचा।०' इति। 'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु' का (अर्थात् अपना ऐश्वर्य छिपाए हुये प्राकृत मनुष्य बने हुए चरित्र क्यों कर रहे हैं, इसका) कारण यहाँ खोलकर कहते हैं। [शिवजी मनही मन सोच रहे हैं कि—'रावणकी तपस्यापर रीझकर ब्रह्माजीने उससे वर माँगनेको कहा तब उसने वर मागा कि—'हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे। बा० १७७।' और ब्रह्मा जीने उसको यह वर दिया, यथा—'एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा। मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा। १७७।' ☞रावण ने तो वर माँगा कि 'बानर' और 'मनुज' इन दो जातियोंको छोड़कर किसी औरसे मेरी मृत्यु न हो, क्योंकि वह जानता था कि नर और वानर तो हमारे नित्यके आहार हैं, ये तुच्छ जंतु हमारा क्या कर सकते हैं। पर यहाँ कहते हैं कि रावणने अपना मरण 'मनुज' के हाथ माँगा है। इसका सामञ्जस्य इस प्रकार होता है कि रावणने दो को छोड़ा, विधाताने 'मनुज' से निश्चय कर दिया। यह दिया कि इन दो को छोड़ अन्यसे मृत्यु न होगी, इनमसेभी 'मनुज' से होगी—यह कह उसके ललाटमें 'मनुज' के हाथ मृत्यु होना लिख दिया। इसका प्रमाण लं० २६ (२) 'नर कें कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची।' में मिलता है तथा यहाँ केवल 'मनुज' शब्द देनेसे 'हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची' से स्पष्ट है कि वह ब्रह्माके वचनको असत्य करना चाहता था। वर पाकर उसने समस्त देवताओं आदिको जीत लिया, यथा 'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र। मंडलीकमनि रावन राज करै निज मंत्र। बा० १८०।' इन्द्रादि देवता तो उसके बंदीखानेमें सड़ने लगे, ब्रह्मा और शिवभी उससे डरते थे। भगवान् विष्णुभी उसका कुछ न बिगाड़ सके, यथा 'की मैनाक कि खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई। आ० २८।', तब भला बेचारे मनुष्य किस गिनतीमें हैं?—यह विचारकर प्रभुने स्वयं 'मनुजरूप' धारण कर रावणवध करनेका निश्चय किया।] 'मनुजरूप' धारणकिया और प्राकृतमनुष्योंकेसे चरित्र कर रहे हैं, क्योंकि रावणको मारना है—(कोई और मनुष्य उसका वध नहीं कर सकता)—जिसमें ब्रह्माके वचन सत्य हो जायँ कि रावण मनुजके हाथ मारा गया।

नोट—१ मु० गुरुसहायलाल तथा प० शिवलालपाठकजी 'मनुज' का अर्थ 'मनुसे उत्पन्न' करते हैं। मयङ्ककार लिखते हैं कि—"रामचन्द्रजी साधारण मनुष्य नहीं हैं। अतएव उनको 'मनुज' कहना पाप है। वे मनुशतरूपाजीके प्रेमसे उत्पन्न हुए, अतएव उनको 'मनुज' कहना योग्य है, परन्तु साधारण भावसे नहीं। रावणने वर मागनेमभी चतुरता है। वह 'मनुज' से मृत्यु माँगता है, क्योंकि प्रभुने मनुको वर दिया है कि हम तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लेंगे।"—'होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत। ५१।'

टिप्पणी—२ 'प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साचा।' इति। 'प्रभु' कहनेका भाव कि समर्थ होकर भी उन्होंने ऐसी हीनता धारण की कि नर बने, और प्राकृत नरचरित विलाप आदि किये। 'कीन्ह चह साचा' का भाव कि प्रभु अपने भक्त ब्रह्माके वचन को सत्य करना चाहते हैं तो हमको वह काम करना उचित नहीं जिसमें उनका वचन असत्य हो जाय। ☞यद्यपि वर देनेमें शिवजीभी शामिल थे, यथा 'मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा।' तथापि वे अपना नाम यहाँ नहीं लेते। 'बिधि बचन' सत्य करना चाहते हैं—इससे स्पष्ट कर दिया कि ब्रह्माने मनुष्यके हाथ मृत्युका निश्चय किया था।

नोट—२ यहाँ 'प्रभु' पद बड़े मार्केका है। इससे जनाते हैं कि आप रावणवधके लिये वैसेही समर्थ थे अवतार लेनेकीभी आवश्यकता न थी। यथा 'जाकें डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई। सु० २२।', 'उमा काल मर जाकी ईछा। सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा। लं० १०१।', 'प्रभु सक त्रिभुवन

मारि नियाई। केवल सबहि दीन्हि बड़ाई। लं० ११३।' तथा 'भृकुटिबिलास सृष्टि लय होई ॥ आ० २८। जब आपके भृकुटिके इशारेमात्रसे 'सृष्टि' लय होतीहै, तब भला रावणका वध कितनी बात थी ? प्रभुने केवल ब्रह्माको बड़ाई (यश) देनी चाही, उनकी बात रखनी चाही; इसलिये 'मनुज' रूप और उसका स्वाँग धारण किया। यहाँ तक कि उन्होंने ब्रह्मादिसेभी अपना ऐश्वर्य छिपाना चाहा।

देखिए, आजकलभी चार छ: रुपये वेतन पानेवाला एक चौकीदारभी यदि कुछ बेजाभी कर्म कर बैठता है तो भी ऊपरके कर्मचारी, राज्याधिकारी उसकी बात रखते हैं। कलेक्टर, मेजिस्ट्रेट, गवर्नर, वाइसराय आदि यदि कभी कोई अन्याय करडालते हैं तो उसपर जनताकी हाय हाय सुनकरभी, राजा उसको अन्यथा नहीं करता। ओडायर और कर्ज़नके कर्म सभी जानतेहैं, जलियानवालाबागका हाल छिपानेसेभी न छिपा, इत्यादि। पर हाय हायसे हुआ क्या ? यह क्यों ? केवल राज्यकी मानमर्यादाकी स्थितिके लिये।

जब प्राकृत राजाओंका यह हाल है तब भला अखिलब्रह्माण्डनायकमें यह (अपने परम अधिकारी कर्मचारियों और भक्तोंके वरदानके वाक्योंकी रक्षा या पूर्ति करनेका) गुण होनेमें आश्चर्यही क्या ? वे तो श्रुतिसेतुपालक हैं ही, सबकी मर्यादा क्यों न रक्खेंगे ? ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि उन्हींके बनाए हुए अधिकारी ही तो हैं, यथा 'हरिहरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई। वि० १३५।' यदि ब्रह्माका वचन सत्य न हो तो कोई तप आदि करेगा क्यों ? तथा उनको मानेगा क्यों ?

टिप्पणी—३ 'जौं नहिं जाउँ रहै पछितावा।' इति। ☞ यहाँ तक शिवजीके विचारकी सीमा दिखाई, उनके हृदयकी खलबली कही। प्रथम कहा था कि 'हृदय बिचारत जात हर केहि बिधि दरसन होइ' यह विचारका उपक्रम है और 'करत बिचार न बनत बनावा' यहाँ उपसंहार है। 'केहि बिधि दरसन होइ' से 'रहै पछितावा' तक सब हृदयके विचार हैं। प्रथम कह आए कि 'गएँ जान सब कोइ' जानेसे सब कोई उनको जान जायगा। और, न जानेसे क्या हानि होगी सो यहाँ कहते हैं कि 'रहै पछितावा'। पछतावा रह जायगा कि 'स्वामीके इतने समीप पहुँचकरभी दर्शन न किये, चले आए। वनमें एकान्तका दर्शन था और वहभी बिना परिश्रमका, अनायास, ऐसाभी सुंदर अवसर हाथसे निकल जाने दिया' (पं०)। पुनः, 'रहै पछितावा' का भाव कि वह पश्चात्ताप किस कामका ? व्यर्थही तो होगा ? यथा 'समय चुकें पुनि का पछितानें। बा० २६१।' अभागेही पीछे पछतातेहैं; यथा 'फिरि पछितैहसि अंत अभागी। अ० ३६।', 'अहह मंद मनु अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका॥ मीजि हाथ सिर धुनि पछिताई। अ० १५४।'—यह पछतानेका एक स्वरूप है।—(यहाँतक मनमें शंका-समाधानका उठना 'वितर्क संचारी भाव' है। ब्रह्माके वचन सत्य करनेके लिये 'ध्वजकुलिश अंकुश कंज युत' चरणोंसे वनके काँटोंमें घूम रहे हैं, ऐसी भक्तानुग्रहकारिणी अवस्थामें यदि भक्तवत्सल प्रभुकी इस अवस्था की झाँकीका दर्शन न किया तो पछतावा रह जायगा। वि० त्रि०)।

४ 'न बनत बनावा' इति। अर्थात् न तो दर्शन करते बने और न दर्शन छोड़तेही बने। बनावा= बनाव, युक्ति, तदबीर।—बनाया, बनाते। बनाए न बनना मुहावरा है अर्थात् कोई एक बात निश्चित नहीं हो पाती कि जायँ या न जायँ। पुनः भाव कि पूर्व कहा था 'केहि बिधि दरसन होइ' अर्थात् दर्शनकी 'विधि' पर विचार करते चले। और यहाँ कहते हैं—'करत बिचार न बनत बनावा॥' अर्थात् विधिका विचार करते तो हैं पर दर्शनकी 'विधि' का बनाव नहीं बनता। कोई युक्ति मनमें नहीं बैठती। ☞ मिलान कीजिये— 'एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी॥ अ० २५३।'

एहि बिधि भए सोचबस ईसा। तेहीं समय जाइ दससीसा॥ ३॥
लीन्ह नीच मारीचहि संगा। भएउ तुरत सो कपट कुरंगा॥ ४॥

अर्थ—इस प्रकार शिवजी सोचके वस हुए। अर्थात् चिंताग्रस्त होगए। उसी समय नीच रावणने

जाकर नीच मारीचको साथ लिया। वह (मारीच) तुरतही मायाका हिरन बनगया। ३। ४।'

टिप्पणी—१ 'एहि विधि भए सोच बस ईसा' इति। (क) 'एहि विधि' अर्थात् जैसा 'हृदय विचारत जात' से यहाँ तक कह आए उस प्रकार। [दूसरा अर्थ एक यों भी होसकताहै कि—"इस 'विधि' के सोचके वश होगए।"] (ख)—'भए सोच बस'—जब राम (अपने इष्टदेव) के दर्शनकी विधि न बैठी, कोई युक्ति मनमें न जँची, यह बडे सोचकी बात है ही। अत सोचवश होना कहा। (ग)—['ईसा' इति। ईश एवं ईश्वर शब्द गोस्वामीजीने प्राय महादेवजीकेलिये प्रयुक्त किया है, यथा—'भएउ ईस मन छोभु बिसेषी। नयन उघारि सकल दिसि देखी॥ १। ८७।', 'मृषा बचन नहि ईस्वर कहई। ७। ४६।' इत्यादि। ईशका अर्थ है 'ईश्वर' 'समर्थ'। यहाँ यह शब्द सामर्थ्य सूचित करता है। 'ईश', 'ईश्वर' और 'ईशान' ये तीनों शिवजीके नाम अमरकोषमें मिलते हैं, यथा—'शम्भुरीश पशुपति शिव शूली महेश्वर। ईश्वर शर्व ईशान। १। १। ३२।' ईश ऐश्वर्य धातु है। 'ईष्टे तच्छील ईशान।' अर्थात् जो समर्थ या ऐश्वर्यवान् होता है वही ईश, ईश्वर और ईशान है। 'सोचबस' के साथ 'ईश'—शब्द बडाही मजेदार है, रोचक है, सुंदर है। भाव यह है कि शिवजी ऐसे समर्थभी इस समय 'सोच' के फंदेमें पड़गए हैं, उससे छुटकारा नहीं पाते, सोचमें निमग्न हैं, जैसे कोई समर्थ किसी शत्रुके वशमें अनायास पडजाय और उससे छूटनेका उपाय न सूझ पडे। 'बस भए' से जनाते हैं कि बहुत देरतक सोचमें मग्न रहे।] सोच=असमंजसपूर्वक विचार। (वै०)।

'तेहीं समय जाइ दससीसा।०' इति। (क) 'तेही समय' कहकर पूर्व प्रसंगसे संबंध मिलाते हैं। इस तरह कि— तेहि अवसर पितावचन तजि राज उदासी। दंडकबन बिचरत अबिनासी। ४८(७-८)।' 'तेही समय०।' अर्थात् जब भगवान् रामचन्द्रजी दण्डकारण्यमें उदासी वेषसे सुखपूर्वक विचरण कर रहे थे उसी समय रावणने सीताजीका हरण किया। 'दंडकबन बिचरत०' तक कहकर वक्ता बीचमें शिवजीके हृदय का विचार और सोच वर्णन करने लगे थे, क्योंकि ग्रथकार तो एकही हैं। अब पुन वहींसे प्रसंग उठातेहैं। ['दससीसा' से उसकी निर्भयता दर्शित की। यथा 'हैं काके है सीस ईसके जो हठि जन की सीम चरै। वि० १३७। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—३ 'लीन्ह नीच मारीचहि संगा।' इति। (क) उसी समय दशशीशने जाकर मारीचको संगमें लिया, इस कथनसे पाया गया कि रावण लंकासे मारीचके स्थानपर अकेला आया। यथा 'चला अकेल जान चढि तहवाँ। बस मारीच सिंधुतट जहवाँ। आ० २३।', 'कवन हेतु मन व्यग्र अति अकसर आएहु तात। आ० २४।' ☞ (ख) 'नीच' विशेषण रावण और मारीच दोनोंमें लगता है। वक्ताओंने यह शब्द रावणके लिये अरण्य और लंकाकांडोंमेंभी प्रयुक्त किया है। यथा 'दसमुख गयउ जहाँ मारीचा। नाइ माथ स्वारथरत नीचा। आ० २४।' तथा 'बानप्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहि नीचा। लं० ३५।' (मदोदरी वाक्य रावणप्रति)। चोरीसे परस्त्रीको हरण करने चला, इसीसे रावणको नीच कहा। परस्त्रीहरण करना नीचता है।

नोट—'नीच' शब्द यहाँ मारीच शब्दसे सटा हुआ रक्खा है। इस लिये 'नीच' विशेषण मारीचसे ही अधिक संबंध रखताहुआ जान पडता है। दोहावलीमेंभी मारीचको गोस्वामीजीने 'नीच' विशेषण दिया है, यथा 'सुकृत न सुकृती परिहरै कपट न कपटी नीच। मरत सिखावन देइ चले गीधराज मारीच॥३४१॥' इससे 'नीच' को यहाँभी मारीचका विशेषण माननेमें कोई आपत्ति नहीं होसकती। परन्तु अरण्यकाण्डमें गोस्वामीजीने उसके हृदयके श्रीरामविषयक अटल प्रेम इत्यादि की भूरि भूरि प्रशंसा एक छन्द, एक दोहा और कुछ चौपाइयोंमें की है, यथा 'अस जिय जानि दसानन संगा' से 'धन्य न मो सम आन॥ २६।' तक। इतनाही नहीं किन्तु अपने इन वचनोंकी पुष्टिमें श्रीरामजीका, उसके अन्त करणका प्रेम पहचानकर, उसको मुनि दुर्लभ-गति देना कहा है, यथा 'अतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना। २७।' अंतमें उसने प्रेमपूर्वक रामजीका स्मरण करते हुये प्राण छोडा है, इससे जान पडता है कि वह पूर्णरीत्या

साधु होगया था और इसी कारणसे यह समुद्रके इसी पार सुंदर आश्रम बनाकर एकान्तमें भजन करता था। यथा 'शरेण मुक्तो रामस्य कथंचित्प्राप्य जीवितम्। इह प्रव्राजितो युक्तस्तापसोऽहं समाहितः।' वाल्मी० ३।३६।१३।' (अर्थात् श्रीरामजीके बाणसे किसी तरह बचकर विरक्त होकर मैं तपमें स्थित रहता हूँ। यह उसने रावणसे कहा है)। रावणका मामा होते हुए भी उसके साथ नहीं रहा। और, इसीसे उसने रावणको सदुपदेशभी किया।—तब उसको 'नीच' क्यों कहा? इसपर कहा जा सकता है कि—'एक तो इसने नीच कार्यमें नीच रावणका साथ दिया और बना है साधु! दूसरे, इसने श्रीरामजीका किंचित् उपकार न माना कि एक बार तो सिद्धाश्रममें उन्होंने, जब यह भाई और सेनासहित उनसे लड़ने आया था इसके भाईको तो बाणसे भस्म कर दिया था पर इसको बिना फलके बाणसे उड़ाकर इसके प्राण बचा दिये थे। यथा 'बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा। १।२१०।' फिर भी यह दूसरी बार पञ्चवटीमें इनको साधारण तपस्वी समझकर और पूर्व वैर स्मरण करके अपने दो साथियों सहित भयंकर महामृग बन कर उनको मार डालनेके विचारसे उनके आश्रमके पास गया। श्रीरामजीने इसके साथियोंको तो मार डाला पर यह किसी सूरतसे अपने प्राण बचाकर भाग आया। यह बात उसने स्वयं रावणसे (वाल्मी० ३।३९। १–१४ में) कही है। अध्यात्म ३, सर्ग ६ में भी कहा है कि जब मैं तीखे सींगोंवाला मृग बनकर पञ्चवटीमें गया था तब उन्होंने एक ऐसा बाण छोड़ा कि मेरा हृदय बिंध गया और मैं आकाशमें चक्कर काटता हुआ समुद्रमें आ गिरा। तबसे राज, रत्न, रमणी, रथ आदि (के प्रथम अक्षर 'र') के कानोंमें पड़ते ही भयभीत हो जाता हूँ; इसलिये तबसे मैं 'राम' का ही सोते-जागते निरन्तर ध्यान करता रहता हूँ। यथा 'मां विलोक्य शरमेकमक्षिपत्। २०। तेन विद्धहृदयोऽहमुद्भ्रमन् राक्षसेन्द्र पतितोऽस्मि सागरे।'''राममेव सततं विभावये भीतभीत इव भोगराशितः॥ राजरत्नरमणीरथादिकं श्रोत्रयोर्यदि गतं भयं भवेत्। २२।'—तब कृतघ्नतासे अधिक नीचता क्या होगी?

'यदि कहो कि वह तो परवश था, परवशतासे उसने ऐसा किया, ऐसा न करता तो रावण उसे मार ही डालता? यथा 'उभय भाँति देखा निज मरना।'''उतरु देत मोहि बधब अभागे। कस न मरौं रघुपति सर लागे॥' तो उसका उत्तर भी ग्रन्थकारने एक ही शब्दमें दे दिया है। वह यह कि 'भयउ तुरत सो कपट कुरंगा।' अर्थात् उसमें नीचता यह थी कि कपटमृग बननेमें किंचित् विलंब न किया, तुरंत ही कपटमृग बन गया और फिर छल भी किया कि एक तो भगवानको छलसे दूर ले गया, दूसरे, बाण लगनेपर श्रीरामजीके स्वरमें लक्ष्मणजीका नाम पुकारा, जिसमें वे वहाँसे चल दें, श्रीजानकीजी अकेली रह जायँ, तो रावण का काम बन जाय। यथा 'प्रगटत दुरत करत छल भूरी। एहि बिधि प्रभुहि गयउ लै दूरी॥'''लछिमन कर प्रथमहि लै नामा॥ पाछें सुमिरेसि मन महुँ रामा॥ आ० २६।' ऐसा न करता तो सीतावियोग न होता। इसने पहले तो कपट रूप धरा फिर मरते समय कपटके वचन भी कहे। अतएव 'नीच' कहा।

यदि कहो कि 'उसे बदला भी तो लेना था?' तो उत्तर यह है कि बदला लेना चाहिए था श्रीरामजीसे। सो तो बना नहीं, उलटे उसने जानकीजीके साथ नीचता की।

उपर्युक्त विचारोंको लेकर यह कहना पड़ता है कि पूर्वे तो वह अवश्य नीच था पर विरक्त होनेके पश्चात् उसने तीन काम नीचताके किये—रावणका साथ दिया, छलकर श्रीरामलक्ष्मणको आश्रमसे दूर ले जानेके लिये मृग बना और लक्ष्मणजीका नाम श्रीरामजीके स्वरमें पुकारा। यह क्यों किया? इसका कारण स्पष्ट है कि वह रावणके राज्यमें रहता है, रावणका मामा है, रावणका जन्मभर नमक खाया है। यदि उसका साथ छोड़कर वह रामजीकी शरण आ गया होता, उसके राज्यमें न रहता तो रावण उसका कुछ कर न सकता था। पर उसने पूर्व ऐसा न किया। उसका यह परिणाम हुआ कि उसे रावणका साथ देना पड़ा। इसी तरह भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदिको दुर्योधनका साथ देना पड़ा था और विदुरजी अन्यायका प्रारंभ देख दुर्योधनको छोड़ चल ही दिये इससे वे बच गए। भीष्मादिने जानते हुए कि दुर्योधन अधर्म कर रहा

है उसका नमक खानेसे उसीका साथ दिया। दूसरे, रावण वध करनेपर तैयार है, यदि वह आज्ञापालन नहीं करता। तब उसने स्वामीका कार्य करते हुए भगवान्के हाथसे मरनेका दृढ निश्चय किया। रावणसे यह कहकर कि राजन्! मैं आपकी आज्ञा पालन करूँगा—'राजन्करोम्याज्ञां तव प्रभो। अध्यात्म ३। ६। ७।', फिर वैसा न करता तो भी स्वामिद्रोही, कृतघ्न, असत्यवादी होनेका कलंक लगता। रावणने जो-जो कहा वही उसने किया। श्रीरामलक्ष्मणको आश्रमसे दूर लेजानेको भी रावणने कहा था—' विचित्रमृगरूपधृक्। रामं सलक्ष्मणं शीघ्रमाश्रमादतिदूरतः॥ आरण्य ॥६।३३४।' लक्ष्मणजीको आश्रमसे दूर लेजानेका यही उपाय था जो उसने किया। रावणसे झूठ बोलकर प्राणोंके लोभसे श्रीरामजीकी शरण जाना उसने स्वीकार न किया, वरञ्च उनके हाथसे मरकर तुरन्त भवपार होना उत्तम समझा, न जाने जीवित रहनेपर फिर घोर तामसी वृत्ति आ जावे तब तो भवमें ही पड़ा रह जाना होगा। 'तुरत' मृग बननेका कारण उसका अभंग प्रेम भी है। आगे टिप्पणी ४ में देखिये। स्वभाव बड़ा बलवान् है। साधु होनेपर भी समयपर यह अपना प्रभाव प्रगट कर देता है।—प्रकृतिवश उसने यह काम किया। इसमें उसका दोष क्षम्य है। या यह कह सकते हैं कि लीलाकार्यके अनुकूल उसकी बुद्धि हो गई, इससे उसने ऐसा किया।

टिप्पणी—४ 'भएउ तुरत सो कपट कुरंगा' इति। (क) 'तुरत'। यदि 'नीच' विशेषण मारीचका मानें तो इसका भाव ऊपर नोटमें आ गया। अर्थात् 'तुरत' मायामृग बन गया किंचित् विलंब न किया, यह नीचताका परिचय है। दूसरा भाव 'तुरत' का यह है कि उसके हृदयमें श्रीरामदर्शनकी तथा उनके हाथसे मरनेकी उत्कंठा और उत्साह है, जैसा कि अरण्यकाण्डमें कहा है; यथा 'तब ताकिसि रघुनायक सरना॥ कस न मरौं रघुपति सर लागे॥ अस जिय जानि दसानन संगा। चला राम पद प्रेम अभंगा॥ मन अति हरष जनाव न तेही। आजु देखिहउँ परम सनेही॥ फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ धन्य न मो सम आन। २६।' ☞ बालकाण्डमें उसे 'नीच' विशेषण दिया और अरण्यकाण्डमें लिखते हैं कि उसके हृदयमें श्रीरामजीके चरणोंमें 'अभंग' अनुराग है। फिर यह भी कहा है कि श्रीरामजीने उसके अन्तःकरणका प्रेम पहचानकर उसे मुनिदुर्लभ गति दी। यथा 'अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनिदुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥ आ० २७।' यह विरोधाभाससा है? इसका समाधान यह है कि मरते समय भी जो उसने नीचता की कि श्रीरामजीका सा स्वर बनाकर लक्ष्मणजीको पुकारा सो यह तो उसने स्वभाववश ही किया। नीच और कपटी अपना स्वभाव नहीं छोड़ देते, संग या पूर्व किसी सुकृतके वश भलाई भलेही करने लगें। यथा 'खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटै न मलिन सुभाउ अभंगू। बा० ७।' तथा 'सुकृत न सुकृती परिहरै कपट न कपटी नीच। मरत सिखावनु देइ चले गीधराज मारीच॥ दो० ४१॥' दोहावलीका यह दोहा स्पष्ट कह रहा है कि मारीच के आचरणसे हमें यह शिक्षा मिल रही है। स्वभावसे मनुष्य लाचार है—'काल करम गुन सुभाउ सब के सीस तपत।' पर प्रभु तो इसकी ओर ध्यान न देकर हृदयका प्रेम देखते हैं। भगवत्‌की प्रेरणासे उसने लीलामें सहायता की।

(ख) 'कपट कुरंगा।' [कपट=बनावटी। अभिप्राय साधनेके लिये असली रूप छिपानेको 'कपट' कहते हैं। कपटमृग=मायामृग। कपटमृगका वर्णन मानसके अरण्यकाण्डमें तथा वाल्मीकीयमें विस्तारसे लिखा है। यथा 'तब मारीच कपट मृग भएउ॥ अति बिचित्र कछु बरनि न जाई। कनकदेह मनिरचित बनाई॥ सीता परम रुचिर मृग देखा॥' आ० २७ (२४) देखिये।] 'कुरंग'=मृग, हिरन, हरिण। 'कुरंग' नाम देनेका भाव कि यद्यपि वह बहुत सुरंग (परम रुचिर) बना है तथापि 'कुरंग' है, क्योंकि कपटका है।

करि छल मूढ़ हरी बैदेही। प्रभु प्रभाउ तस बिदित न तेही॥ ५॥
मृग बधि बंधु सहित हरि* आए। आश्रमु देखि नयन जलु छाए॥ ६॥

---

* प्रभु—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, को० रा०, गौड़जी। हरि—१६६१, १७०४। 'हरि' का भाव

अर्थ—उस मूर्ख (रावण) ने छल करके 'वैदेही' (माया-जानकी) को हर लिया। प्रभुका जैसा प्रभाव है वैसा उसे मालूम नहीं था। ५। भगवान् हिरनको मारकर भाई समेत आश्रमपर आए। आश्रमको (खाली) देख नेत्रोंमें जल भर आया। ६।

टिप्पणी—१ 'करि छलु०' इति। छल करके हरा अर्थात् युद्ध करनेका साहस न कर सका, युद्ध करके हरण करनेकी ताव न लाया; इसलिये छल किया। 'हरी वैदेही' अर्थात् जब दोनों भाई कपट मृगके पीछे चले गए तब अकेलेमें उनको हरा। 'करि छलु' क्या छल किया ? छल यह कि मारीचको कंचनमृग बनाया और जब छलकारी मृगके पीछे दोनों भाई आश्रमसे चलेगए तब स्वयं यती (सन्यासी) बनकर सीताजीके पास आया। यथा 'होहु कपटमृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनौं नृपनारी। आ० २५।', 'सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती कर बेषा॥ आ० २८।'-[सीताजीको लक्ष्मणजीकी खींचीहुई रेखासे बाहर निकाला—यहभी छल है। रेखाके लंघन करनेकाभी साहस न हुआ। यथा 'रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई॥ लं० ३५।' किसी प्रथान्तरमें कथा है कि उसने कहा—'हम बँधी भीख नहीं लेंगे।' अतएव सन्यासी जानकर वे भिक्षा देनेको रेखाके बाहर निकल आईं, तब उसने हरा।]

२ 'मूढ़ हरी वैदेही' इति। 'मूढ़' कहकर उसका कारण बताते हैं—'हरी वैदेही' और 'प्रभु प्रभाउ तस बिदित न तेही।' अर्थात् यह प्रभुके वास्तविक प्रभावको यथार्थ न जानता था, अतः उसे मूढ़ कहा। [दूसरे उसे, मिला क्या ? 'वैदेही' ही तो ! अर्थात् जिसके देह नहीं है उसीको तो हरा। माया-जानकी। जानकीजीका प्रतिबिंब ही तो हाथ लगा। यथा 'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसेइ रूप सील सुपुनीता॥ आ० २४।' भाव यह कि रावणने छल किया तो श्रीरामजीनेभी उसके साथ वही माया (छल) रची।—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' गीताके इस वाक्यको यहाँ प्रभुने चरितार्थ किया। उसने भगवान्‌को 'मायामृग' दिया तो भगवान्‌ने उसको 'मायासीता' दी। जो दे सो पावे। उसने भगवान्‌के साथ छल करना चाहा सो वे तो ठगे नहीं, वह स्वयंही ठगा गया। तिसपरभी वह मूर्ख समझता है कि मैं 'सीता' को हर-लाया। यदि वह सीताजीको हर ले गया होता, तो सतीजीको श्रीसीतासहित रामचन्द्रजीका दर्शन कैसे संभव होसकता ? सतीजीको सीतासहित दर्शन हुआ; यथा 'सती दीख कौतुक मग जाता। आगे राम सहित श्री भ्राता। फिर चितवा पाछें प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर बेषा॥ बा० ५४।'....'सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भईं सभीता॥ बा० ५५।' अतएव मूढ़ कहा।]

३ 'प्रभु प्रभाउ तस बिदित न तेही' इति। 'जस' और 'तस' का संबंध है। 'तस बिदित न' से जनाया कि जैसा प्रभाव है वैसा नहीं जानता। भाव कि मोहवश होनेसे, मूढ़ताके कारण उसे संदेह ही बना रहा। यथा 'सुररंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥ तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥ जौं नररूप भूप सुत कोऊ। हरिहौं नारि जीति रन दोऊ॥ आ० २३।' पुनः, 'तस बिदित न' का भाव कि वैसा नहीं जानता पर कुछ अवश्य जानता है। अभी-अभी मारीचने उसे प्रभुप्रताप कह सुनाया और समझाया है। यथा 'जेहिं ताड़का सुबाहु हति, खंडेउ हरकोदंड। खरदूषन त्रिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड॥ आ० २५।' यह प्रभाव जाना है, इसी से युद्ध न किया। मारीचने कहा था 'जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा॥ आ० २५।' और रावणको प्रभुके मनुष्य होनेका भ्रम है। इसीसे उसने सीताहरण किया।

नोट—१ इसका भाव यह भी हो सकता है कि यदि वह प्रभुका प्रभाव जानता तो निश्छल होकर

टिप्पणी ५ में दे दिया गया है। 'प्रभु' पाठका भाव यह होगा कि मारीचको मारकर उसकी खाल ले आए क्योंकि समर्थ हैं। पुनः भाव कि समर्थ होकरभी असमर्थकी तरह विलाप करने लगे।—इसके पूर्व चरणमें तो 'प्रभु' शब्द आचुका है इससेभी हमने 'हरि' ही पाठको उत्तम समझा। प्राचीनतम और भावयुक्त तो है ही।

शरणागत हो जाता, वैर न करता। यथा 'जौं पै प्रभु प्रभाउ कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना॥ १।२७७।', 'बिस्मय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ॥ २। १२।३।', 'उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥ सु० ३४।३।'

२ निश्छल होनेपर ही प्रभुकी प्राप्ति होती है यह न जाना, अतः 'मूढ़' कहा। (वै०)

३ 'तस' विशेषण पूर्व 'जस' विशेषणका बोधक है। अन्वय होगा—'जस प्रभाउ तस'। यथा 'तसि मति फिरी अहइ जसि भावी। अ० १७।', 'जो जसि करै सो तस फल चाखा।'

४ बाबा जयरामदासजी रामायणी लिखते हैं कि 'रावणके सबधमें जो यह बात फैली हुई है कि उसने श्रीरामजीको ईश्वरावतार जानकरही वैर बढ़ाया और अपने परिवारसहित मुक्त होने की चेष्टामें प्रवृत्त था, यह बात तुलसीकृत रामायणसे सम्मत नहीं है। इस ग्रन्थमें यही प्रमाण मिलता है कि रावणने केवल उस रात्रिमें ऐसा अनुमान किया था कि यदि भगवतने अवतार लिया होगा तो उनके बाणोंसे प्राण त्याग कर मुक्त होजाऊँगा। परन्तु जब परीक्षाद्वारा भगवान् राजपुत्र निश्चित होगये तो उसने अपने उस अनुमान को बदलकर दूसरे अनुमानको, जो भूपसुत होनेका था, पुष्ट और दृढ़ बनालिया और फिर 'नृपनारी' जान करही श्रीसीताजीका हरण किया तथा सदैव उनके सगधम कुमनोरथ सिद्ध करनेकी धुनमें रहकर प्राण गँवाया। उसने उनका 'नर' होनाही निश्चित किया था। इसीसे तो याज्ञवल्क्यजी कहरहे हैं कि 'प्रभु प्रभाउ तस बिदित न तेही।' यदि वह भगवद्विमुख न होता तो वक्ता यह कैसे कहते कि 'ताहि कि सपति सगुन सुभ सपनेहु मन बिश्राम। भूतद्रोहरत मोहबस रामबिमुख रत काम॥' ग्रन्थकार दूसरों के द्वारा उसके 'नर' माननेका खण्डन कराते हैं, बारबार समझानेपरभी उसका अटल विश्वास 'नर' ही रहना लिखते हैं। फिर रावणके अपनी विजयकेलिये अमरयज्ञ करने, यज्ञका विध्वंस होनेपर जीनेकी आशा त्यागकर लड़ाईके लिये चलनेका वर्णनकर तथा उसके लिये 'रघुपतिबिमुख', 'शठ', हठवश' और 'अज्ञ' आदि शब्दोंका प्रयोगकर उसे स्पष्ट भ्रम और मोहमें पड़ा हुआ निर्णय कर दिखाते हैं। '

'सुनत बचन दससीस रिसाना। मन महुँ चरन बदि सुख माना॥ आ० २८।', 'एक बार बिलोकु मम ओरा। सु०।' और कहा राम रन हतौं प्रचारी। लं०।'—इन तीन स्थलोंके सिवा और कहींभी ऐसा प्रसग नहीं है जहाँ अनुमान लगानेवाले लोग अर्थमें खींचतान करनेकी कल्पनाभी कर सकेंगे। यदि रावणके मनके भीतर स्वप्नमें भी कोई दूसरा भाव होता तो ग्रन्थकारको उसे प्रगट करनेमें कदापि सकोच न होता जिस प्रकार बालीकेलिये लिखदियागया है कि 'हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ रामकी ओरा॥' उसी प्रकार रावणकीभी बात कहदीगई होती। यदि रावणको यह निश्चित होजाता कि श्रीरामजी नर नहीं हैं तो सारा ग्रन्थही विरोधमें परिणत हो जाता। क्योंकि सबके पहले ब्रह्मा और शिवका वरदानही नष्ट हो जाता। भगवान्के रूपमें उसको वधही सम्भव नहीं था। नर या वानर होकर ही उसे मारा जा सकता था। दूसरे, ब्रह्माके लेखकी मर्यादाही जाती रहती। क्योंकि उन्होंने 'नर' के हाथ उसकी मृत्यु लिखदी थी—'जरत बिलोक्यों जबहि कपाला। बिधिके लिखे अंक निज भाला॥ नरकें कर आपन बध बाँची।' तीसरे, भगव त्सकल्प नीचा होजाता और जीवका ही सकल्प बढ़ जाता, क्योंकि भगवान् रामजी तो यह चाहते थे कि रावण मुझे ईश्वरके रूपमें न जान पावे। और रावण परीक्षा लेकर जान लेना चाहता था। इस तरह तो यह महिमा ही खण्डित होजाती कि 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई' तथा 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ ' छठें यदि रावणको वास्तवमें आसुरीप्रकृतिवाला मानें तो फिर उसे भगवान्के स्वरूपका बोध होना शास्त्रविरुद्ध होजाता है।—'तुम्हरी कृपा तुम्हहि रघुनदन। जानहिं भगत भगत उर चदन॥ '

दूसरे पक्षवाले यह कहते हैं कि—१ यह कहना कि 'भगवान तो यह चाहते थे कि रावण मुझे ईश्वररूपमें न जान पावे' इसका उल्लेख ग्रन्थमें कहीं नहीं है। दूसरे यह बात सभी कल्पोंमें लागू होनी

चाहिये क्योंकि सबमें वरदान एकही सा है अन्य रामायणोंकी अवहेलना करनी उचित नहीं है। तीसरे प्रारंभमें रावणको भ्रम होना अवश्य है जैसा-'जौं भगवंत लीन्ह अवतारा' से स्पष्ट है। परन्तु यह भ्रम आगे जाता रहा तभी तो उसने 'मन महुँ चरन बंदि सुख माना।'—यहाँ उसने हृदयमें दृढ कर लिया कि ये जगदीश्वर हैं। यह निश्चय उसने त्याग दिया इसका उल्लेख आगे कहीं नहीं है। रहा दुष्टवचन जो उसने कहे और किसीका कहना न माना कि जानकीजीको देदे इसका कारण उसका दृढ संकल्पही था जो उसने गुप्त रक्खा। यथा 'मन क्रम वचन मंत्र दृढ एहा' (३। २३)। यदि ऐसा न करता तो श्रीरामजी उसे मारतेही क्यों? अध्यात्म रामायणमें तो स्पष्ट ही है। जैसे श्रीरामजी अपनेको नर-नाट्यसे छिपाये हैं वैसेही रावणभी अपने दृढ संकल्पको छिपाये हुए है।—यहाँ 'मंत्र' शब्द साभिप्राय है। मंत्र यह है जो मनन करनेसे भवसागरसे रक्षा करता है—मननात्त्राणनान्मन्त्रः। मंत्र गुप्त रक्खा जाता है किसीसे प्रकट नहीं किया जाता—'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिय दुराऊ॥ १। १६८ (४)।', 'आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्र मैथुन भेषजम्। तपो दानाऽपमानौ च नव गोप्यानि यत्नत॥' रावणने 'मन' 'कर्म' और 'वचन' तीनोंसे इसको गुप्त और दृढ रक्खा। जो संशय उसको खरदूषणवध सुनकर हुआ उसको दृढ करने वाले खरदूषणवधसेभी अधिक बड़े बड़े कार्य आगे हुये, जैसे कि वालीवध (कि जो वाली रावणको काँख तले दबाये रहा), समुद्र उल्लंघन, लंकादहन, एकही वानर द्वारा अगणित प्रधान सुभट निशाचरोंका वध, सेतुबंधन, अंगद पदारोपण इत्यादि।। यही नहीं हनुमान्‌जी, मारीच, विभीषणजी, पुलस्त्यजी, माल्यवान, अंगद, शुक सारण और कुम्भकर्णतकसे इसके मनका संशय (कि ये भगवानही हैं) दृढ ही होता गया।—इन विशेष दृढ करनेवाले कारणोंके होतेहुए यह क्योंकर समझा जाय कि यह संशय जाता रहा। मनसे यह संकल्प बाहर जाने न दिया, वचनसे कभी किसीसे न कहा और कर्मसे दृढ रक्खा कि जो कोई उससे कहता कि जानकीजीको दे दो तो उसे दुर्वचन कहता, लात मारता, इत्यादि। क्योंकि दे देनेसे फिर 'जगदीश' 'प्रभु' के सर से कैसे मरता? वह प्रभुके हाथों मरकर मुक्त हो जाना निश्चय कर चुका है। इस संशयकी निवृत्तिका उल्लेख आगे नहीं है और न इस संकल्पके त्यागका। बल्कि उसके पूर्ण दृढ होने का उल्लेख स्पष्ट रूपसे 'मन महुँ चरन बंदि सुख माना। ३. २८।' देख पड रहा है।

अध्यात्ममें तो रावणने मन्दोदरीसे स्पष्ट कह दिया है कि मैं जानता हूँ कि श्रीराम विष्णु हैं और जानकीजी लक्ष्मी हैं, उनके हाथसे मरकर परमपद प्राप्त करूँगा यही विचार करके मैंने सीताहरण किया है, इत्यादि। यथा 'जानामि राघवं विष्णुं लक्ष्मीं जानामि जानकीम्। ज्ञात्वैव जानकी सीता मयानीता वनाद्बलात्॥ *रामेण निधनं प्राप्य यास्यामीति परं पदम्। विमुच्य त्वा तु संसाराद्गमिष्यामि सह प्रिये। अध्यात्म युद्धकांड सर्ग १० श्लोक ५७। ५८।'* और हनु० ना० में विभीषणजीसे उसने कहा है कि मैं जानकीजी और मधुसूदन रामकोभी जानता हूँ, अपने वधकोभी जानता हूँ तथापि मैं दशानन हूँ, मैं जानकीको किस प्रकार दे सकता हूँ। यथा 'जानामि सीतां जनकप्रसूतां जानामि रामं मधुसूदनं च। वधं च जानामि निजं दशास्यस्तथापि सीता न समर्पयामि। हनु. ७। ११।'

इस प्रकार ईश्वरत्वके ज्ञान लेनेसे वधमें बाधा तो दूर रही, उलटे यही सिद्ध होता है कि रावणको पूर्ण विश्वास था कि मनुष्य तो कोई उसे मार ही नहीं सकता जबतक कि भगवान स्वयंही मनुष्यरूपसे न अवतार लें। अध्यात्मके रावणका संकल्प मनकर्मवचनसे दृढ न था। इसीसे उसने अंतमें मंदोदरीसे कह ही दिया और मानसके रावणका संकल्प मंत्र तुल्य था इससे मन-क्रम-वचन तीनोंसे उसे रावणने गुप्त रक्खा और जब उसने गुप्त रक्खा तो कवि उसे कैसे प्रगट करता? विधिका वचन असत्य होनेकी शंकापर दोहा ४९ में देखिये।

टिप्पणी—४ 'मृग वधि बंधु सहित हरि आए।' इति। (क) मृगका वध करके तब भाई सहित आना लिखनेमें अभिप्राय यह है कि मृगवधके समय बंधु लक्ष्मणजी साथ न थे। बीचमें मिले। अतः

आश्रममे साथ साथ आए। (ग) ऊपर कहा था 'भएउ तुरत सो कपट कुरंगा।' यहाँ 'मृग बधि' कहकर कुरंगका अर्थ 'हिरन' है, 'मृग' है—यह स्पष्ट कर दिया।

नोट—☞ इस ग्रंथमे आदिसे अंततक इस बातका पूर्ण निर्वाह देख पड़ताहै कि जहाँ विशेष माधुर्यका वर्णन आताहै, वहाँ साथही साथ कवि सूत्रधरकी तरह ऐश्वर्यभी दिखा दिया करताहै जिसमे पाठक सावधान होजाय, उसको भूलकरभी कभी भगवान् श्रीरामजीमे नर-बुद्धि न आजाय, उसको उनके चरितमें भ्रम न उत्पन्न होजाय। ☞ यहाँ दूसरे चरणमें 'आश्रम देखि नयन जल छाए' कहरहे हैं, इसीसे प्रथमही वक्ता यहाँ 'हरि' और आगे चलकर 'नर इव' आदि शब्दोंका प्रयोग करके पाठकको सावधान कररहेहैं। इन शब्दोंसे ऐश्वर्यका दर्शन कराया है कि ये तो संसारमात्रके हरनेवाले हैं, जीवों के मोह आदि क्लेशोंके हरनेवाले हैं, प्राणियोके जन्म-मरण आदि कष्टोंके निवारणकर्त्ता हैं, इत्यादि इत्यादि। इनको दुःख कहाँ? ये तो केवल नरनाट्य कररहे हैं। यही बात वाल्मीकिजीने श्रीरामजीसे कही है; यथा 'नरतनु धरेउ संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥…जस काछिय तस चाहिय नाचा॥ अ० १२७।'

टिप्पणी—५ (क) 'मृग बधि' के संबंधसेभी 'हरि' पद दिया। मारीचने मायामृगका तन धारण किया था, उस मायातनकोभी मारा और असली मारीचतनकोभी। दोनों शरीर हरण किये; अतः 'हरि' कहा। श्रीजानकीजीने मायामृगको देखकर भगवान् रामसे कहा था कि—'एहि मृग कर अति सुंदर छाला॥ सत्यसंध प्रभु बध करि एही। आनहु चरम कहति बैदेही। आ० २७।' यद्यपि मारीचने प्राण निकलते समय अपना पूर्व राक्षस-देह प्रकट करदिया फिरभी ये तो 'हरि' हैं, सत्यसंध हैं, उन्होंने वैदेहीजीके वचनको पूरा करनेकेलिये उसके मायावी शरीरको उससे अलग कर दिया और उसे भी मारकर साथ लाए। अतः 'हरि' कहा। विशेष आ० २७ (१६) 'प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा' में देखिये।

(ख) 'आश्रम देखि नयन जल छाए।' अर्थात् आश्रममें श्रीजानकीजीको नहीं पाया, अतः प्राकृत-नरवत् विरह और विलापका नाट्य करने लगे। यथा 'आश्रम देखि जानकी हीना। भए बिकल जस प्राकृत दीना॥ आ० ३०।'

नोटः—'नयन जल छाए' अर्थात् स्नेह और विरह-शोकसे नेत्रोंमे आँसू भर आए, जैसा कि प्राकृत मनुष्योंका स्वभाव है। 'हरि' होते हुए ऐसा करतेहैं, मानों सत्यही जानकीहरण होगया, न जाने कौन ले गया, वे कहाँ और कैसी होंगी, अब हमको मिलेंगी या नही, राक्षस खा न गए हों। इत्यादि। पंजाबीजी लिखते हैं कि 'अत्यंत शोक है। सोचते हैं कि पत्नीबिना वानप्रस्थधर्म नहीं निभ सकता और सीताहरणसे दोनों कुलोंमें हमको कलंक लगेगा, अतः नेत्रोंमे जल भर आया।'

वि० त्रि०—'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।' अर्थात् मायावीके साथ जो माया नहीं करता, वह मूढ पराभवको प्राप्त होता है। अतः प्राकृत दीनकी भाँति विकल होना, यह रामजीकी माया है, जिसमें मायाकी जानकीकोही वह असली जानकी समझे रहे।

बिरह बिकल नर इव[1] रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥ ७॥
कबहूँ जोग-बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह[2] दुखु ताकें॥ ८॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी (प्राकृत) मनुष्योंकी तरह विरहसे व्याकुल हैं। दोनों भाई (मायाजानकीको) ढूँढ़तेहुये वनमें फिररहे हैं। ७। जिसको (वास्तवमें) कभीभी संयोगवियोग नहीं✽ उसमें प्रत्यक्ष विरह

१ इव नर—१७२१, १७६२, भा० दा०। नर इव—१६६१, १७०४, छ०, को० रा०।

२ दुसह—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। बिरह—१६६१, १७०४। पूर्वचरणमेंके 'जोग वियोग' शब्दोंके संबंधसे यहाँ 'विरह दुखु' उत्तम है।

✽ भावार्थान्तर—१ 'जिन श्रीसीतारामजीको किसी कालमें संयोग का वियोग नहीं है। अर्थात

(जनित) दुःख देखा गया । ८ ।

टिप्पणी—१ 'बिरह बिकल नर इव रघुराई ।' इति । यहाँ 'रघुराई' एकवचन पद देकर जनाया कि केवल श्रीरघुनाथ (श्रीरामचन्द्र) जी विरहसे व्याकुल हैं । लक्ष्मणजी व्याकुल नहीं हैं । ये तो उनको समझाते हैं, यथा 'लछिमन समुझाए बहु भाँती ।।' (आ० ३०) । लक्ष्मणजी विकल होते तो समझाते कैसे ? [इसीसे एक चरण (पूर्वार्ध) मे 'विरह विकल' के साथ 'रघुराई'—शब्द दिया और दूसरे चरणमे (उत्तरार्धमे) उससे पृथक् 'खोजने' मे 'दोउ भाई' पद दिया]।

२ (क)—['नर इव' मे वही भाव है जो आ० ३० (६) 'भए बिकल जस प्राकृत दीना' का है तथा 'एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी । मनहुँ महाबिरही अतिकामी ॥ पूरनकाम राम सुखरासी । मनुज चरित कर अज अबिनासी ॥' आ० ३० (१६-१७) में जो भाव हैं वह सब 'नर इव' इस पदमे भरेहुए हैं ।

☞ यहाँ विरहमे व्याकुल होना कहकर पुनः अगली अर्धालीमें ऐश्वर्य दर्शाते हैं । पुनः (ख) ब्रह्मादिके प्रार्थना करनेपर ब्रह्मवाणीने कहा था कि 'नारद बचन सत्य सब करिहौं ।' उसको भी यहाँ चरितार्थ करते हैं । नारद-वचन है कि 'नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी ।', अतएव विरहमें विकल होकर उनके वचन सत्य कर रहे हैं । और 'नर इव' कहकर जनाया कि रावणको नररूपसे मारकर विधिका वचन सत्य करेंगे । पुनः भाव कि—(ग) विकलता ईश्वरमें नहीं होती इसीसे विरह विकल होनेमे 'रघुराई' नाम दिया । तात्पर्य यह है कि भगवान् माधुर्यमें व्याकुलता ग्रहण किये हुए हैं, इसीसे माधुर्यका नाम दिया और 'नर इव' कहा । अथवा, (घ)—नारदजीने दो शाप दिए हैं, एक तो 'नृप तन' धरनेका, दूसरा नारि-विरहमें व्याकुल होनेका । यथा 'बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा । सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा ॥''' मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी । नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी । बा० १३७ ।' भगवान् नृपरूप धरकर स्वयंवरमें गये थे; यथा 'धरि नृपतनु तहँ गयउ कृपाला । कुअँरि हरषि मेलेउ जयमाला । बा० १३५ ।' इसीसे 'रघुराई' शब्द देकर 'सोइ तनु धरहु' इस शापको सत्य किया । 'बिरह बिकल नर इव रघुराई' में पूर्णोपमा अलंकार है ।

३ 'खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई' इति । 'खोजत बिपिन' अर्थात् लता, तरु, पक्षी आदिसे पूछते हैं; यथा 'पूँछत चले लता तरु पाती ।'; इससे व्याकुलता दिखाते हैं । [☞ श्रीरामजी व्याकुल हैं, वे लता तरु आदि इन सबोंसे पूछते हैं और लक्ष्मणजी उन्हें समझाते जाते हैं तथा चारो ओर दृष्टि जमाए खोजते भी जाते हैं ।] खोजनेमे दोनों भाईयोंको कहते हैं । 'फिरत' कहकर जनाया कि विश्राम नहीं लेते, बैठते नहीं, चलते ही रहते हैं । इसका अर्थ यह भी है कि 'वनको खोजते फिरते हैं अर्थात् सारे वनमे कोना कोना ढूँढ़ रहे हैं, वनका कोई भाग खोजनेसे छूटा नहीं ।

४ 'कबहूँ जोग बियोग न जाकें ।' इति । श्रीरामजी विरहसे व्याकुल हैं, इसीपर कहते हैं कि 'जिसे कभी भी अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान तीनो कालोंमेसे किसीमें भी संयोग वियोग नहीं उसमे विरहदुःख प्रत्यक्ष देखा गया कि रो रोकर विलाप करते हैं, भोजन-विश्रामादि त्यागकर खोजते फिरते हैं'—यह कैसे संभव है ? तात्पर्य यह है कि सुखदुःख योग वियोगसे उत्पन्न होता है; जहाँ योगवियोगही नहीं है, वहाँ योगवियोगजनित सुखदुःख कैसे होगा ? जहाँ कारण ही नहीं, वहाँ कार्य कैसे संभव है ? भाव कि ये सब रघुपतिके चरित हैं, जैसा वक्ता आगे स्वयं कहते हैं । इसीसे अरण्यकाण्डमे कहा है कि 'चाहिअ चिंता कीन्हि ।' [अद्वितीयको योग वियोग कहाँ ? योग-वियोग तो जीवको होता है, इसीको भ्रमका फंद कहा

इनमे सदा एकरस संयोग रहताहै, वियोग तो है ही नहीं ।'—(रा० प्र०)

२ 'जिनको न संयोग होनेका सुख और न वियोग होनेका दुःख होता है अर्थात् दोनो आनन्द-मूर्ति हैं । दोनोंमे सदा एकरस संयोग है' (वै०) । ३—पं० रा० व० श० जी का मत है कि—'न संयोग है, न वियोग । क्योंकि संयोग होनेपर वियोग है और वियोग होनेपरही संयोग कहा जाता है ।'

गया है। यथा 'जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा।' (वि० त्रि०)]

५ 'देखा प्रगट विरहदुख ताकें' इति। यहाँ 'प्रगट देखा' का भाव है कि इनके विरह दुसह दुःख को संसार जानता है; यथा 'एक राम अवधेसकुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा॥ नारि-विरह दुखु लहेउ अपारा। बा० ४६।'

नोट—१ (क) श्रीशुकदेवलालजी, बैजनाथजी और पंजाबीजी 'देखा प्रगट' का भाव यह कहते हैं कि यह विरहदुःख केवल दिखावमात्र है, देखनेभरका है, आरोपितमात्र है। वास्तवमें दुःख नहीं है। साधारणलोगोंको दुःखसा देख पड़ता है। (ख) जोग (योग)=मेल, मिलाप, संयोग। वियोग=मेल या साथका छूट जाना; जुदाई। प्रगट=प्रत्यक्षमें, जाहिरमें। (ग) यहाँ विरोधाभास अलंकार है। क्योंकि यहाँ विरोधी पदार्थोंका वर्णन किया गया है। ऐसा वर्णन वर्णनीयकी विशेषता या उत्कृष्टता जनानेके लिये होता है। (अ० मं०)।

卐 गोस्वामीजीकी सावधानता 卐

☞ पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी—'भगवान् स्वयं रसस्वरूप हैं, आनंदस्वरूप हैं। भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य विषयको लेकर अथवा भगवान्‌को भूलकर जहाँ रसकी अनुभूति होती है, वहाँ रस है ही नहीं, रसाभासमात्र है। संसारके जितने विषय हैं, 'जितने नायक नायिका हैं' उनको लेकर जिस रसका प्रातीतिक अनुभव होता है, उसे सत्य, नित्य और स्थायी रस नहीं कहा जा सकता। यह 'ब्रह्मास्वादसहोदर' होनेपर भी 'ब्रह्मानंद' नहीं है। परन्तु भगवान् नित्य सत्य हैं, उनकी लीला नित्य सत्य है, इसलिये उन्हें आलंबन बनाकर जिस रसकी अनुभूति होती है, वह रस वास्तवमें रस है, ब्रह्मानंद है और एक अर्थमें तो ब्रह्मानंदसे भी बढ़कर है।"""

भगवान् राम अपने रसस्वरूपका अनुभव करानेके लिये ही अवतीर्ण होते हैं और अनेकों प्रकार की रसमयी लीला करते हैं। उनके अवतार और लीलाका उद्देश्य ही यह है कि लोग प्राकृत रसाभासमें न भूलकर वास्तविक रसका आस्वादन करें। भगवद्विषयक रस अप्राकृत रस है। महात्मा लोग उसी रसका वर्णन करते हैं। वे उस रसका वर्णन करनेके लिये थोड़ी देर कवित्वको अपना लेते हैं। वे जीवन भर और जीवनके परे भी महात्मा हैं। परन्तु कुछ समयके लिये कविभी हैं। उनका जीवन काव्यनिर्माणसे शून्य हो सकता है परन्तु महात्मापनसे शून्य नहीं हो सकता। भगवानकी स्मृति उनका स्वभाव है और कवित्व आगन्तुक। इसीसे जब वे कविता लिखते हैं तब भी उनका स्वभाव काम करता रहता है और वे यही चाहते हैं कि कभी एक क्षणके लिये भी मैं भगवान्‌को न भूलूँ और इस लीलाको पढ़नेवाला भी न भूले। वे बड़ी सावधानीसे इसपर दृष्टि रखते हैं कि कहीं कोई भगवानको केवल मनुष्य न समझ ले। वह भगवान्‌की स्मृतिसे च्युत हो जायगा, उसके हृदयमें भगवान्‌के प्राकृत होनेका संदेह आजायगा और वह सच्चे रससे वंचित रहकर अन्य अस्थायी सांसारिक रसोंमें फँस जायगा। इसके लिये महात्मा लोग भगवान्‌की भगवत्ताका स्थान-स्थानपर स्मरण दिलाया करते हैं। वे कविताके प्रवाहमें बहकर किसीभी दशामें केवल कवि नहीं हो जाते, सर्वदा वे भक्त अथवा महात्मा ही रहते हैं। श्रीगोस्वामीजीके जीवनसर्वस्व श्रीरामचरितमानसमें इस भावपर सर्वत्र दृष्टि रक्खी गई है। वे भगवान् की मनुजरूपके अनुरूप होनेवाली लीलाओंका वर्णन करते हैं और बारबार स्मरण दिलाते रहते हैं कि ये भगवान् हैं, यह बात मत भूलो। केवल गोस्वामीजी ही नहीं, भगवान्‌की लीला वर्णन करनेवाले सभी महात्माओंने इस ओर दृष्टि रक्खी है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णके लीलावर्णनके प्रसंगमें ठीक ऐसी ही बात आई है। केवल भागवतमें ही नहीं सभी आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें स्थान स्थानपर भगवान्‌की भगवत्ताका स्मरण दिलाया गया है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासनेभी इस बातपर बड़ा ध्यान रक्खा है और चेष्टा की है कि कहीं भगवान्‌की विस्मृति न हो जाय। भगवान्‌को केवल मनुष्य मानना, अथवा उन्हें भूल जाना बड़ा भारी प्रमाद है, प्रमाद ही मृत्यु है, मृत्युसे रक्षा करनेके लिये ही

महात्माओंकी वाणी है।

श्रीमद्गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवतकी भाँति भगवान्‌के विद्याध्ययनके प्रसंगमें कहा है—'जाकी सहज श्वास श्रुतिचारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥' रामको सीताके विरहमें विलाप करते हुए देखकर स्मरण कर लेते हैं—'पूरनकाम राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अविनासी॥' और मेघनादके द्वारा नागपाशमें बँध जानेपर उनके मुँहसे स्वभावतः ही निकल पड़ता है—'नर इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना॥'

कहाँ तक उद्धृत किया जाय? श्रीगोस्वामीजीने सर्वत्र इस दृष्टिका निर्वाह किया है। वास्तवमें यही विशुद्ध रस है। भगवान्‌को भूलकर लोग इन क्षणिक रसाभासोंमें न भूल जायँ, नित्य सत्य रस प्राप्त करें। इनकी कविताकी यही मूल प्रवृत्ति है और यही सर्वथा उचितभी है। भगवान् हम सब पर कृपा करें कि हम उनके स्वरूपभूत नित्य सत्य रसका अनुभव प्राप्त करनेके अधिकारी बन सकें।' (कल्याण १३।२)।

श्रीबिन्दुब्रह्मचारीजी (श्रीअयोध्याजी)—श्रीमद्गोस्वामीजीने नैमित्तिक रामचरितको नित्य-रामचरितसे मिला सा दिया है, और माधुर्यको ऐश्वर्यसे वे इस प्रकार एक करते गये हैं कि इसकी पूर्णताकी तनिकभी हानि नहीं हुई है। यह गोस्वामीजीका अपूर्व कौशल है।

नोट—पूर्व अन्यत्रभी इस संबंधमें लिखा जा चुका है। प्रो० श्रीरामदासगौड़जीका मत था कि बारंबार ऐश्वर्यका स्मरण दिलाकर उन्होंने महात्मा श्रीकबीरजी और श्रीगुरु नानकजीके निर्गुणवाद या दाशरथि साकेतविहारीरामसे कोइ भिन्न रामके प्रतिपादनका खंडन श्रीशंकरजी एवं श्रीयाज्ञवल्क्यजी तथा श्रीभुशुण्डीजीके वाक्यों द्वारा किया है। वे पंथ उनके समयमें काफी जोर पकड़ रहे थे जिससे नास्तिकता फैल रही थी और जनता भ्रममें पड़ रही थी। भ्रमको मिटानेकेलिये जहाँ-जहाँ ऐसे नर-नाट्य आते हैं वहीं तुरंत वे पाठकको सावधान करते हैं।

पं० बलदेवजी उपाध्याय एम. ए.—श्रीरामचन्द्रके विषयमें तुलसीदासकी कौन भावना थी, इसे उन्होंने अपने ग्रंथमें अनेक स्थानोंमें स्पष्टरूपसे प्रदर्शित किया है। श्रीरामजी स्वयं भगवान्‌के रूप हैं और श्रीजानकीजी साक्षात् शक्तिरूपा हैं। रामसेही क्यों, रामके रोमरोमसे करोड़ों विष्णु, ब्रह्मा और शिवजीकी उत्पत्ति होती रहती है; उसी प्रकार श्रीसीताजीके शरीरसे करोड़ों उमा, रमा और ब्रह्माणीका आविर्भाव हुआ करता है। दो शरीर होनेपरभी उनमें नैसर्गिक एकता बनी हुई है। सीतारामजीकी परिदृश्यमान अनेकतामेंभी अंतरङ्ग एकता वर्णन तुलसीदासजीने बड़ी मार्मिकताके साथ किया है—'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।' इस प्रकार दो प्रकारके उदाहरणोंको रखते समय गोसाईंजीने इन्हें सर्वसाधारणकेलिए बोधगम्यही नहीं बनाया है, प्रत्युत शक्तिरूपिणी सीता और शक्तिमानस्वरूपी रामके द्विविध उपासकोंको पृथक् रूपसे पर्याप्त मात्रामें संतुष्ट कर दिया है। इस प्रकार युगल सरकारकी मनोरम जोड़ीकी वास्तविक एकताको गोसाईंजीने स्पष्टरूपसे प्रदर्शित किया है।

यही कारण है कि रामचरित्रका वर्णन करते समय तुलसीदासजीने उनके वास्तविकरूपको कहीं नहीं भुलाया है बल्कि पाठकोंको बार बार याद दिलाया है कि केवल नरलीला करनेके विचारसेही सरकार ऐसा चरित कर रहे हैं अन्यथा ये तो साक्षात् परमात्मा ठहरे, उनको किसी प्रकारका क्षोभ नहीं, किसीपर क्रोध नहीं, सुवर्णमृगपर भी किसी प्रकारका लोभ नहीं, इत्यादि। मायामृगके पीछे मनुष्य लीला करनेके लिए जो दौड़े चले जारहे हैं वे वही व्यक्ति हैं जिनके विषयमें श्रुति नेति नेति कहकर पुकार रही है और शिवजी भी जिनको ध्यानमेंभी नहीं पाते—'निगम नेति सिव ध्यान न पावा। मायामृग पाछे सो धावा॥' [इसी प्रकार यहाँ मायामृगका वधकर आश्रमपर आकर उसे खाली पाकर उनके नेत्रोंमें जल भर आया, वे विरहसे व्याकुल हैं' पर भक्तकवि हमें भूलने नहीं देते। 'विरह विकल नर इव रघुराई।०' कहकर बताते हैं कि ये वही हैं कि 'कबहूँ योग वियोग न जाके।' इत्यादि।]

ऐसे प्रसगोंकी बाहुल्यताको देखकर कुछ आलोचक गोस्वामीजीपर तरह तरहका आक्षेप किया करते हैं। उनसे मेरा यही कहना है कि इन लोगोंने तुलसीदासके दृष्टिकोणको भली भाँति परखाही नहीं। यदि वे श्रीरामविषयक उनकी भावनाका ऊहापोह किये रहते तो इस प्रकारकी अनर्गल आलोचना करनेका दुःसाहस नहीं करते। व्यापक दृष्टिसे देखनेपर मानसमें कोईभी प्रसंग आक्षेप करने लायक नहीं है।

गोसाईंजीने उत्तरकाण्डमें ज्ञान और भक्तिके विषयोंमें अपने विचारोंको स्पष्टरूपसे बडी खूबीके साथ दिखलाया है। उस प्रसगके अवलोकन करनेसे भक्तिकी प्रधानता स्पष्टही प्रतीत होती है। (उनके मतानुसार) भक्ति और ज्ञानमें आकाश और जमीनका अंतर है—महान् भेद है। इस कारण गोसाईंजीने अपना सिद्धान्त स्पष्ट शब्दोंमें प्रदर्शित किया है —'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' "यह सिद्धात अपेल।"'

वाल्मीकि रामायणमें कर्मको आधार मानकर लीलायें वर्णित की गई हैं, अध्यात्मरामायणमें ज्ञान को आश्रय देकर और रामचरितमानसमें भक्तिपक्षको लेकर। इस प्रकार तीनों रामायणों द्वारा एक एककी पूर्ति होती है, पुनरुक्ति नहीं। यही कारण है कि देववाणीमें लिखे गये आदिकवि वाल्मीकिके द्वारा निर्मित रामायणके रहते हुए भी विवेकी पण्डितजन भाषामेंभी लिखे गये मानसका अध्ययन प्रेमसे करते हैं और उसमें सानद अवगाहनकर अपनेको कृतकृत्य मानते हैं।—(कल्याण १३—२)

नोट—ऊपर कहाथा कि 'पितावचन तजि राज उदासी' और यहाँ कहते हैं कि 'मृग बधि बधु सहित हरि आए'। 'कहाँ तो उदासी और कहाँ मृगवध, ये दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। जब उदासी वेष का वचन था तब धनुषबाण कैसे धारण किये रहे और मृगादिका वध कैसे करते रहे ?'—यह शंका जब तब रामायणसे अनभिज्ञ लोग किया करते हैं। इस विषयमें दो तीन बातें ध्यानमें रखनेसे शंका समाधान आपसे आप हो जाता है। एकतो यह कि 'कैकेयीजीने क्या वर माँगा।' दूसरे, जो वेष उन्होंने धारण किया वह कैकेयीके सामने या उनकी दृष्टिसे बाहर ? तीसरे, धनुष-बाण धारण करना कैकेयीके मतमें था या नहीं। चौथे श्रीरामजी सत्यसकल्प हैं न ? सत्यव्रत हैं न ?

कैकेयीजीने माँगा था—'तापस वेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥' एवं 'होत प्रात मुनिवेष धरि जो न राम बन जाहिं।' कैकेयीने स्वयं मुनिवेष अपने सामने धारण कराया। यथा 'मुनि पट-भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदुबानी॥ राम तुरत मुनि वेष बनाई। चले जनक जननिहि सिरु नाई॥ सजि बन साजसमाजु सब बनिता बधु समेत। बंदि बिप्र गुर चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत॥' श्रीरामचरितमानसके अनुसार इसके बाद फिर घर जाना नहीं हुआ। अतएव निश्चय है कि मुनिवेषके साथ क्षत्रियधर्मके अनुकूल धनुषबाणभी उन्होने कैकेयीजीके सामनेही धारण किया और कैकेयीजीने उसपर कोई एतराज नहीं किया। एतराज करतीही क्यों ? 'वेष' शब्दमें केवल वस्त्राभूषण शृंगारकाही भाव रहता है। देखिये न परशुरामजीके धनुष, बाण, तरकश, परशु धारण करने परभी उनके वेषको 'शान्त वेष' ही कविने कहा है। जिससे स्पष्ट है कि कैकेयीजीका 'तापसवेष बिसेषि उदासी' एवं 'मुनिवेष' से यह तात्पर्य न था कि वे अपने आयुध साथ न ले। और, वाल्मीकीयमें तो धनुष, बाण, खड्ग आदि सभीका, उसी समय उनके सामने ही लेकर जाना लिखा है। यदि कैकेयीका मत (शकाकरनेवालेके अनुसार) वैसा होता तो श्रीरघुनाथजी श्रीसीताजीसे (वाल्मीकीय वनकाण्डमें) ऐसा न कहते कि हम मुनियोंको रक्षाका वचन दे चुके हैं, हम अवश्य राक्षसोंका वध करेंगे। और यहभी स्मरण रहे कि श्रीरामजी सत्यव्रत हैं। जब उन्होंने कैकेयीजीसे यह कह दिया कि हम पिताके वचन और आपकी आज्ञाका पालन करेंगे, तब वे आज्ञाके प्रतिकूल कोईभी बात कब करते ? कैकेयीजीका जो मतलब (आशय) था वह या तो कैकेयीही समझती थीं या पूर्णरीत्या श्रीरामजीही। हो सकता है कि इस प्रकारकी शङ्काके विचारसेही गोस्वामीजीने आगेका दोहा लिखा हो।

दोहा—अति बिचित्र रघुपति-चरित जानहिं परम सुजान।
जे मतिमंद बिमोह बस हृदय धरहिँ कछु आन॥ ४६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका चरित्र अत्यंत विचित्र है, परम सुजान (ही इसे) जानता है। जो मन्द-बुद्धि और विशेषमोहके वश हैं * वे हृदयमें कुछ और ही धारणा कर लेते हैं। अर्थात् कुछका कुछ समझ बैठते हैं। ४६।

* 'अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान' *

१ पं० रामकुमारजी—'अति विचित्र' और 'परम सुजान' पदोंसे जनाते हैं कि रघुपतिके चरित्र तीन प्रकारके होते हैं—'चित्र', 'विचित्र' और 'अति विचित्र'। और उनके ज्ञाता (जानकार) भी क्रमशः तीन प्रकारके होते हैं—'जान', 'सुजान' और 'परम सुजान'।

चरित्र		चरित्रोंके ज्ञाता
सतोगुणी चरित्र 'चरित्र' हैं	१	कर्मकांडी मुनि इनके ज्ञाता 'जान' हैं
रजोगुणी चरित्र 'विचित्र' हैं	२	ज्ञानी सनकादि इनके ज्ञाता 'सुजान' हैं
तमोगुणी चरित (विलाप आदि) 'अति विचित्र' हैं।	३	उपासक भुशुण्डि, शिव इनके ज्ञाता 'परम सुजान' हैं। इन्हें भ्रम नहीं होता।

प्रमाण, यथा—'वदन्ति मुनयः केचित् जानन्ति सनकादयः। मद्भक्ताः निर्मलात्मानाः सम्यक् जानति नित्यदा॥' इति अध्यात्मे। पुनः यथा 'जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी। जिन्ह रघुबीरचरन रति मानी॥'

२ कोई महानुभाव ऐसा कहते हैं कि अन्तर्यामीका चरित्र 'चित्र' है, विराट्का 'विचित्र' है और श्रीरघुपतिचरित 'अति विचित्र' है। इस प्रकार इनके चरित्रोंको जाननेवाले क्रमसे 'जान', 'सुजान' और 'परम सुजान' हैं।

३ वे० भू० जीका मत है कि भगवान्के अन्य अवतारोंके चरित्र 'विचित्र' हैं। उन्हें वेद-शास्त्रादि तथा अन्यसाधनोंद्वारा भी लोग जान सकते हैं। अतः उनके जाननेवाले 'सुजान' हैं। और साक्षात् ब्रह्म रघुपतिके चरित 'अति विचित्र' हैं। वे उन्हीं चरितनायककी कृपासे, उन्हींके जनानेसे जाने जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। यथा 'सो जानइ जेहि देहु जनाई।' अतएव इनके जाननेवाले 'परम सुजान' कहे जाते हैं।

४ वैजनाथजी लिखते हैं कि 'जहाँ अनेक रंगोंकी संकीर्णता (अर्थात् बहुतसे रंगोंका संमिश्रण या मेल) होती है, उसे विचित्र कहते हैं।' मुं० रोशनलालजीभी 'विचित्र' का भाव 'अनेक रंगोंके सहित' ऐसा लिखते हैं। दोनोंके मतोंमें रंगके विषयमें कहीं-कहीं भेद है। बाकी जान पड़ता है कि पाँड़ेजीकी टीकासे ही वैजनाथजीने यह भाव लिया है।

चरित्र	रस	रंग पाँ० । वै०	चरित्र	रस	रंग पाँ० । वै०
१ तपस्वीवेष	शान्त	श्वेत	५ प्रियावियोग	करुण	पीत । कपोत
२ धनुर्धारीवेष	वीर	लाल । पीत	☞ इसे वियोग शृंगार कहना उपयुक्त होगा।		
३ प्रियासंयुक्त	संयोगशृंगार	श्याम	६ विरह-विकलता	वीभत्स	खाकी । नील
४ मारीचवध	रौद्र	काला । लाल	☞ इसी तरह अनेक रंगमय चरित्र होना विचित्रता है। (वै०)।		

* अर्थान्तर—जो मतिमन्द होते हैं वे विशेष मोह के वश होते हैं—(प० प० प्र०)।

५—'अति विचित्र' इति। वास्तवमें 'विचित्र' का अर्थ है,—असाधारण, विलक्षण। अर्थात् सर्वसाधारणको अगम्य, अज्ञेय। जीवोंका चरित्र सर्वसाधारणको अगम्य है, पर ब्रह्मादि देवताओं तथा योगियोंको यह गम्य है। इसीलिये उसे 'विचित्र' कहा जा सकता है। और ईश्वरका चरित्र सामान्य जीवोंकी कौन कहे, ब्रह्मादि देवता तथा योगियोंको भी अगम्य है। उदाहरणमें गोवत्सहरणप्रसंगमें ब्रह्माजी, नागपाशमें गरुड़जी और मोहिनीस्वरूपमें शिवजीके मोहका दृष्टान्त दिया जा सकता है। अतः यह 'अति विचित्र' है। यथा 'अति विचित्र भगवंत गति को जग जानै जोग।' 'परम सुजान' तो एक परमेश्वर ही है, वही अपने चरित्र को जानता है, दूसरा नहीं। वह ही जिसको जनादे वहभी जान जाता है और उतने विषयके लिये उसको 'परम सुजान' कह सकते हैं, सर्वथा 'परम सुजान' तो परमेश्वर ही है। नोट ३ भी देखिये।

नोट—१ संवत् १६६१ में 'जानहि' पाठ है। एकवचनात्मक क्रियाका भाव यह है कि इसको यथार्थ जाननेवाले विरले कोई एक-दो अर्थात् बहुत थोड़े होते हैं और वे वही होते हैं जिनपर श्रीरघुपतिकृपा हो जाती है।—'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'

टिप्पणी—२ 'जे मतिमंद विमोहबस' इति। यहाँ न जाननेवालोंकीभी तीन कोटियाँ या संज्ञाएँ जनाईं—एक मतिमंद, दूसरे मोहबश और 'तीसरे विमोहवश।' सत्वगुणके चरित समझनेमें मतिमंद हैं, रजोगुणकी लीला समझनेमें मोहवश हैं और तमोगुणी लीलाके समझनेमें 'विमोहवश' हैं।

३ 'हृदय धरहिं कछु आन' इति। अर्थात् श्रीरामजीको नर मानते हैं। 'जे मतिमंद .... आन' ये वचन याज्ञवल्क्यजीके हैं। मतिमंद हृदयमें क्या धारणा रखते हैं, यह याज्ञवल्क्यजी अपने मुँहसे भी नहीं कहना चाहते अथवा न कह सके। इसीसे उन्होंने 'धरहि कछु आन' इतना मात्र कहा। आगे चलकर शिवजीके वचनोंमें इसको कहा है, यथा 'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। पाषंडी हरिपदबिमुख जानहिं झूठ न साच। बा० ११४।'—इस तरह 'धरहिं कछु आन' का भावार्थ यह हुआ कि उनकी यह धारणा रहती है कि 'श्रुतिप्रतिपाद्य, रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' ये राम दाशरथी रामसे भिन्न कोई और हैं।'

नोट—२ करुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'आसुरीबुद्धिवाले यह समझते हैं कि ये परमात्मा होते तो इस तरह वियोगमें व्याकुल होकर क्यों जानकीजीको खोजते फिरते।' यथा 'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी॥ बा० ५१।' वैजनाथजी लिखते हैं कि मतिमंदकी धारणा यह होती है कि 'दशरथनन्दन रघुनाथजी कामासक्त थे, इसीसे बिलख बिलख रो रहे हैं। ये प्रभुमें दुःख मानते हैं, यथा 'निज भ्रम नहि समुझहिं अज्ञानी। प्रभुपर मोह धरहिं जड़ प्रानी।' इत्यादि। विशेष 'कामिन्ह कै दीनता देखाई।' आ० ३६ (२) में देखिये।

३ 'अति विचित्र' और 'परम सुजान' शब्दोंमें ध्वनि यह है कि इन चरित्रोंको देखकर जब जगज्जननी भवानी सतीको ही संशय, मोह और भ्रम हो गया तब इनके 'अति विचित्र' होनेमें संदेह ही क्या ? और तब भला भगवान् शंकर सरीखे परम सुजान परम भागवतोंको छोड़कर इन चरित्रोंको यथार्थतः और कौन जान और समझ सकता है, 'परम सुजान' ही इनके अधिकारी हैं। यथा 'जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि-हरि संभु नचावनिहारे॥ १॥ तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥२॥ सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइजाई॥ ३॥ तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहि भगत भगत उरचंदन॥ ४॥ चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥ ५॥ नर तनु धरेहु संत सुर-काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥ ६॥ राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥७॥ अ० १२७।', 'उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि-बिमुख न धर्म रति॥ आ० मं०॥', 'गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुज बिमोहन सीला॥', 'असि रघुपति लीला उरगारी। दनुजबिमोहनि जनसुखकारी॥ ७। ७३॥' श्रीवाल्मीकिजी, शिवजी और भुशुण्डीजी

के उपर्युक्त वाक्योंसे स्पष्ट है कि 'परम सुजान' से दैवीसंपत्ति वा दैवीबुद्धिवाले पंडित, मुनि आदि, जो श्रीरामजीके भक्तजन हैं, वेही अभिप्रेत हैं। और, 'जे मतिमंद बिमोह बस०' के 'मतिमंद' शब्दसे आसुरी-संपदा या आसुरी बुद्धिवाले, विमूढ जड़ मनुष्य जो हरिपदविमुख हैं जिनकी धर्ममें प्रीति नहीं है—उन्हींसे तात्पर्य है।

'परमसुजान क्या समझते हैं ?'—यहभी इन उपर्युक्त उद्धरणोंमें स्पष्ट कहा हुआ है। वे यह जानते हैं कि आपकी देह चिदानंदमय है, अर्थात् उसमें देह-देही विभाग नहीं है, आपकी देह पंचतत्त्वात्मक नहीं है, वह तो समस्तविकाररहित है। आपने नृपशरीर धारण किया है, अतएव प्राकृत नृपकेसे चरितभी करते हैं।

एकही चरित एकमें मोह उत्पन्न कर देताहै और दूसरेको सुख देताहै,इसमें आश्चर्यही क्या? देखिये 'एकही पवनके वेगके स्पर्शसे जलमें शीतलता और अग्निमें उष्णता होतीहै, वैसेही श्रीरामचरित भगवद्भक्तों में भक्ति, विश्वास,वैराग्य आदि और भगवद्विमुखोंको मोह और अनिश्चयके कारण होतेहैं।'(शुकदेवलालजी)

(श्रीकरुणासिन्धुजी अपनी आनन्दलहरीटीकामें लिखते हैं कि 'परमसुजान' यह समझते हैं कि) 'इन अपनेचरितोंसे प्रभु हमें यह शिक्षा देरहे हैं कि जैसे हम श्रीजानकीजीसे मिलनेकेलिये उत्सुक और व्याकुल हैं, इसीतरह हमारे भक्त हमारे मिलनेकेलिये उत्कंठित और व्याकुल हों।'

श्रीरूपकलाजीका मत है कि यहाँ प्रभुने अपने भक्तोंको उपदेशके ही लिये कामियोंका स्वरूप दिखा दिया है। शिवजीका भी यही मत है, यथा 'गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतरजामी॥ कामिन्ह कै दीनता दिखाई। धीरन्हके मन बिरति दृढ़ाई। आ० ३९।' अर्थात् धीर भक्तोंको उपदेश देते हैं कि देखो विषयासक्तिमें कामासक्तिमें इसी तरह अमित संकट उठाने पड़ते हैं, दोनो प्राण देना पड़ जाता है, अतएव कामसे बचो। यही बात भगवान्ने देवर्षि नारदसे कही है, यथा 'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सबदुख-खानि। ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि। आ० ४४।'

प० प० प्र०—चित्र, विचित्र और अति विचित्र यह क्रम है। चित्र शब्दके तीन अर्थ ये हैं— अद्भुत; आश्चर्यकारक; अनेक परस्पर विरुद्ध लक्षणोंसे युक्त। तीनों अर्थ यहाँ ग्राह्य हैं। रघुपतिचरित 'सुर हित दनुज बिमोहन सीला' है, अतः अति विचित्र है। 'बिस्व सुखद खल कमल तुसारू' होनेसे भी अति विचित्र है। ऐसा विचित्र है कि श्रीसतीजी, गरुड़जी तथा भुशुण्डीजीके समान रामभक्तोंको भी मोह विमोह होता है। श्रीरघुपतिगुरु श्रीवसिष्ठजी भी कहते हैं कि 'देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदय अपारा।' श्रीरघुपति 'बिधि हरि-संभु नचावनिहारे' हैं तब दूसरा कौन है जो रघुपतिचरितका रहस्य संपूर्ण रीतिसे जान सकेगा। अतएव 'जो परम सुजान है वह जानता है' ऐसा अर्थ लेनेसे वसिष्ठजी भी मतिमंद आदि सिद्ध हो जायँगे। 'रामरहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना॥ बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ।' ऐसा आशीर्वाद होनेपर भी भुशुण्डीजीको रामचरित्र देखकर मोह हुआ है तब दूसरोंकी बात ही क्या ? अतः 'ग्यानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ। १। २२४।' यह ध्यानमें रखकर और 'अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानै जोगु।' ऐसा समझकर जो संदेहातीत रहेगा वही परम सुजान कहने योग्य है।

नोट—४ उत्तरार्धमें 'जे' बहुवचन पद देकर जनाया कि ऐसोंकी संख्या अधिक है। 'धरहिं' से जनाया कि उसे जुगोकर रखते हैं, हृदयसे उसे निकाल डालना नहीं चाहते, ऐसा गाड़कर रखते हैं कि उसका निकालना भी कठिन हो जाता है।

५—यहाँ 'प्रथम निदर्शना' अलंकार है। जहाँ दो वाक्योंके अर्थमें विभिन्नता होते हुए समताभाव सूचक ऐसा आरोपण किया जाय कि दोनों एकसे जान पड़ें वहाँ 'निदर्शनालंकार' होता है। यथा 'जो सो जे ते पदन करि असम वाक्य सम कीन्ह। ताकहँ प्रथम निदर्शना बरनैं कवि परबीन॥' (अ० म०)।

६ मिलान कीजिये—'अबिगत गति जानी न परै॥ मन बच अगम अगाध अगोचर केहि बिधि

सुधि सचरै । अति प्रचंड पौरुष सो मातो केहरि भूख मरै ॥ तजि उद्यम आकाश कर बैठ्यो अजगर उदर भरै । कबहुँक तृण बूड़ै पानी मे कबहुँक शिला तरै ॥ बागर से सागर कर राखे चहुँ दिशि नीर भरै । पाहन बीच कमल बिकसाहीं जलमे अग्नि जरै ॥ राजा रंक रंक ते राजा ले सिर छत्र धरै । 'सूर' पतित तर जाय छनकमें जो प्रभु टेक करै ॥' (वि० टी०) ।

संभु समय तेहि रामहि देखा । उपजा हिय अति* हरषु बिसेषा ॥ १ ॥
भरि लोचन छबिसिंधु निहारी । कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी ॥ २ ॥

अर्थ—शिवजीने उसी समय श्रीरामजीको देखा । उनके हृदयमें बहुत ही भारी आनन्द उत्पन्न हुआ । १ । छविसमुद्र श्रीरामचन्द्रजीको नेत्रभर देख कुअवसर (ठीक या उचित अवसर नहीं है यह) जान कर उन्होंने परिचय (जान पहचान) न किया । २ ।

टिप्पणी—१ 'संभु समय तेहि रामहि देखा ।' इति । (क) अब यहाँ देखनेका समय बताते हैं । (ख) 'समय तेहि' अर्थात् जेहि समय 'बिरह बिकल नर इव रघुराई । खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई ।' जिस समय विरहमें व्याकुल प्राकृत नरकी तरह सीताजीको वनमें खोजते फिरते थे—'तेहि समय' उसी समय देखा । (ग) 'संभु रामहि देखा' से जनाया कि शंकरजीने श्रीरामजीको देखा, श्रीरामजीने उनको नहीं देखा । कारण कि शिवजीको दर्शनकी इच्छा थी; यथा 'तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची । ४८ ।', सो प्रभुने उनको दर्शन दे दिया । शिवजी असमंजसमें पड़े थे कि 'केहि बिधि दरसनु होइ' और कोई विधि बैठती न थी, यथा 'करत बिचार न बनत बनावा ।', दर्शनका कोई उपाय मनमें जमता न था सो श्रीराम-कृपासे बिना परिश्रम दर्शन हो गया । श्रीरामजीने शंकरजीको नहीं देखा । माधुर्यमें इसका कारण 'व्याकुलता' है और ऐश्वर्यमें तो शिवजी स्वयं उनसे मिलना नहीं चाहते थे, जिसका कारण पूर्व कह आये कि 'गुप्तरूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ' और आगे भी लिखते हैं कि 'कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी' अतएव सर्वज्ञ, अन्तर्यामी भगवानने उनकी ओर न देखा । यदि वे देखते तो शिवजी अपने इष्टदेव स्वामीको प्रणाम कैसे न करते ? इत्यादि ।

टिप्पणी—२ यहाँ शंका होती है कि 'श्रीरामजी अगस्त्यजीके आश्रमसे दक्षिण पञ्चवटीको गए । सीताहरण पञ्चवटीमें हुआ । शिवजी अगस्त्यजीके आश्रमसे उत्तर कैलाशको चले । तब शिवजीको श्रीराम-जीसे भेंट क्योंकर हुई ?' इसका समाधान यह है कि श्रीरामजी विरहमें व्याकुल हैं, सारे वनमें खोजते फिरते हैं, यथा 'बिरह बिकल नर इव रघुराई । खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई ।' व्याकुलतामें खोजते-खोजते उत्तरकी ओर चले गए । अतः भेंट हो गई ।—यह समाधान माधुर्यके अनुकूल हुआ ऐश्वर्यके अनुकूल समाधान यह है कि जब शिवजी स्वामिदर्शनार्थ शोचवश हुए अर्थात् अति आर्त्त हुए तब भगवान् सर्व-उरवासी, सर्वव्यापक श्रीरामजीने उनके लिये वहीं प्रगट होकर उनको दर्शन दिये, जैसे सतीजीके सदेह-निवारणार्थ *उन्होंने अनेक रूप प्रगट किये, जिसका वर्णन आगे है ।*

(स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि अगस्त्याश्रम नगर जिलेके अकोला तालुकाके अकोलाग्रामसे दो मीलपर है । यह स्थान पञ्चवटीकी दक्षिण दिशामें ही है । श्रीरघुनाथजी दक्षिणदिशाकी ओर खोजते जा रहे थे और श्रीशिवजी अगस्त्याश्रमसे उत्तर दिशाकी ओर जाते थे । वाल्मीकीय रामायणमें अगस्त्याश्रम और पञ्चवटीका जो सम्बन्ध वर्णित है वह इस अगस्त्याश्रम और नासिक पञ्चवटीका आज भी विद्यमान है । अतः उपर्युक्त शंका ही निर्मूल हो जाती है ।)

३ 'उपजा हिय अति हरषु बिसेषा' इति । 'अति हरषु बिसेषा' का भाव कि श्रीरामदर्शन बिना शिवजीका मन छटपटा रहा था, उनके मनमें अत्यत खलबली पड़ी थी; यथा 'संकर उर अति छोभु सती न

* तेहि—१७२१, १७६२ । अति—१६६१, १७०४ ।

न जानहिं मरमु सोइ। तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची॥', अतएव दर्शन होनेपर 'अति विशेष' हर्ष हुआ। पूर्व 'अति छोभ' था, अतः अब 'अति विशेष हर्ष' हुआ।'

नोट—१ हर्षका एक कारण तो इष्टदर्शन है। स्मरण रहे कि किसी पदार्थकी प्राप्तिके लिये जितनी ही अधिक उत्कट तीव्र इच्छा और जितनी ही अधिक व्याकुलता होती है, उतनी ही अधिक प्रसन्नता उसके पानेपर होती है, यथा 'जो अति आतप व्याकुल होई। तरुछाया सुख जानै सोई॥'

☞ शिवजीको श्रीराम-चरितके श्रवण, कथन और स्मरणसे सदाही विशेष आनन्द प्राप्त होता है। ग्रन्थमें विवाह, राज्याभिषेक आदि प्रसंग और कैलाश प्रकरण इसके प्रमाण हैं। और, इस समय तो अकस्मात् साक्षात् दर्शन, वह भी अनायास और एकान्तमें, और 'भरि लोचन'—मीठा और कठौती भर। उसपर भी छबिसिंधु तथा वस्त्राभूषणसे अनावृत शोभाका अधाकर दर्शन और मनुजवेषका पूरा अनुकरण—ये सब 'अति विशेष हर्ष' के कारण हुए।

२ श्रीसुधाकरद्विवेदीजीका मत है कि 'एक कल्पके बाद (अब पुनः) 'खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई' ऐसा नर रूप देखनेमें आया, इससे अत्यन्त हर्ष हुआ।' और पंजाबीजी लिखते हैं कि—'शिवजी प्रभुका वास्तविक स्वरूप जानते हैं। उनके नरनाट्यमें शोकादि रचनाओंकी पूर्णता देखकर कि खूब स्वाँग रचा है, जैसा इस वेषमें करना चाहिये था वैसा ही कर रहे हैं (अर्थात् शोकादि स्वाँगोंमें नरनाट्यकी पूर्णता देख) प्रसन्न हुए। अथवा, अब दुष्ट रावणका वध अवश्य होगा यह समझकर प्रसन्न हुए और सौन्दर्यके आनन्दमें मग्न हुए।'

प० प० प्र० स्वामीका मत है कि भगवान्‌की अपने ऊपर परम कृपा और भक्तवत्सलता देखकर विशेष हर्ष हुआ। भगवान्‌ने मेरे हृदयकी बात जानकर मेरी लालसा पूरी कर दी, इस कृतज्ञताकी भावनासे भी विशेष हर्ष है।

३ श्रीशंकरजी श्रीरामजीको विकल देखकर दुखी न हुए, क्योंकि वे जानते हैं कि प्रभु नरनाट्य कर रहे हैं, कामियोंकी दशा दिखा रहे हैं। (पं० रा० कु०)।

टिप्पणी—४ 'देखा प्रगट बिरह दुख ताकें' में एक बार 'देखा' क्रिया कह आए हैं; अब यहाँ पुनः देखना कहते हैं,—'संभु समय तेहि रामहि देखा'। पहलेमें 'विरह-दुख' का देखना कहा था और यहाँ श्रीरामजीका दर्शन करना कहते हैं। अतः पुनरुक्ति नहीं है। [प्रथम 'देखा' का कर्त्ता वक्ता या कवि है और दूसरेका कर्त्ता 'संभु' हैं अतः पुनरुक्तिकी बात यहाँ नहीं है।]

५ 'भरि लोचन छबिसिंधु निहारी'। इति। (क) 'भरि लोचन' का भाव कि ये लोचन रूपके लिये लालायित थे, यथा 'तुलसी दरसनलोभु मन डरु लोचन लालची'। इसीसे नेत्र भरकर रूपका दर्शन किया। (ख) 'छबिसिंधु' का भाव कि श्रीरामजी समुद्रकी तरह सदा एकरस छबिसे भरे हुए हैं, नित्यशोभाकी नई नई लहरें उठ रही हैं, उनके रूपका पार न मिला, वह (रूप) समुद्रवत् अपार है, नेत्र थक (स्थकित हो) गए, पलक मारना बन्द हो गया। यथा 'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी॥ बा० १४८।' पुनः, भाव कि पात्र बहुत छोटा है और वस्तु बहुत है।

नोट—४ 'छबिसिंधु निहारी' के और भाव ये हैं—(क) नेत्र मानों घट हैं। उनको छबिसिंधु-जलसे भर लिया, तब वह व्याकुलता जो पूर्व थी कम हो गई और लालची नेत्र किंचित् तृप्त होगए (द्वा० प्र०)। (ख) नेत्र भर देखा अर्थात् उसी छबिमें डूब गए। (वै०)। (ग) एकान्त है, अतः नेत्रभरकर देखा। इससमय कौपीन मात्र धारण किये होनेसे सारे तनकी छबि देख पड़ी।'जहाँ जाइ मन तहहिं लोभाई।'

नोट—५ छबि=शोभा, सौंदर्य। वैजनाथजी लिखते हैं कि 'छबि अर्थात् शोभाके नौ अंग हैं। यथा 'द्युति लावण्य स्वरूप सोइ सुंदरता रमणीय। कांति मधुर मृदुता बहुरि सुकुमारता गनीय।' शरद् चन्द्रकीसी झलक 'द्युति' है। मोतीकासा पानी लावण्य है। बिना भूषणके ही भूषित होना 'स्वरूपता' है।

सर्वाङ्ग सुडौर होना 'सुन्दरता' है। देखी होनेपर भी अनदेखीसी देख पड़ना 'रमणीयता' है। सोनेकीसी ज्योति 'कान्ति' है। और जिसको देखकर तृप्ति न हो वह 'माधुरी' है। यहाँ सिंधुमें जो जलकी झलक, जलकी अमलता, तरंगें, अपारता, जलका स्वाद, शीतलता अगाधता और दोनों किनारे हैं वेही क्रमशः द्युति, लावण्य, स्वरूप, सौन्दर्य, रमणीयता, कान्ति; माधुरी, मृदुता और सुकुमारता ये छविके नौ अंग हैं।'

टिप्पणी—६ 'कुसमय जानि न कीन्हि चिन्हारी' इति। 'कुसमय जानि' का भाव पूर्व लिखा जा चुका है। यथा 'रावन मरनु मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साचा।', 'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोई','बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई।' अर्थात् जिस समय दर्शन हुआ वह समय व्याकुलताका है, इसलिये मिलनेके योग्य नहीं है इसलिये ('असमय' न कहा) 'कुसमय' कहा।—[जानेसे सब कोई जान जायेंगे। सतीजीभी साथ हैं अतः जाना ठीक नहीं। (रा० प्र०। वै०)। दुःख या वियोगका समय 'कुसमय' है] जब रावणवध हो गया तब ऐश्वर्य प्रकट होनेका डर न रह गया तथा जब फिर प्रभु श्रीसीतासहित विराजमान हुए, वियोग दूर हुआ तब 'सुअवसर' हुआ। इसीलिये तब कविने लिखा कि 'जानि सुअवसर प्रभु पहिं आएउ संभु सुजान। ६। ११४।'

नोट—६ इसपर यह शंका हो सकती है कि शंकरजी तो 'सेवक स्वामि सखा सियपीके' हैं, सखाके नातेसे तो उन्हें अवश्य ऐसे दुःखके समयमें (माधुर्यमें) जाना चाहिये था, ऐसे ही समयमें तो मित्रकी परीक्षा होती है; यथा 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी। ३। ५। ७।' तब उनका भेंट न करना तो मित्रधर्मके प्रतिकूल होगा ? मित्र दृष्टिसे यदि यह शंका है तो इसके अनुसार 'कुसमय जानि' का भाव यह कहा जा सकता है कि रावण शिवभक्त है। अतः वे सोचते हैं कि हमारे ही भक्तने इनका अपराध किया है, हम इनको जाकर मुँह कैसे दिखावें।

'कुसमय' शब्द ग्रन्थमें और भी आया है। जैसे 'कुसमय समुझि सोक परिहरहू। २। १६५।', 'मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता। २। २५३।' और 'भै अति प्रेम बिकल महतारी। धीरज कीन्ह कुसमय बिचारी।१। १०२।' इत्यादि। उपर्युक्त प्रथम और दूसरे उद्धरणमें 'कुसमय' का अर्थ है—संकट काल। और तीसरेमें उसका अर्थ है—योग्य समय नहीं, अनुचित समय। यही अंतिम अर्थ 'कुसमय जानि ···' के 'कुसमय' का है।

मुं० रोशनलालजी 'कुसमय' का भाव यह लिखते हैं—'श्रीरघुनाथजी शिकारी हैं और खर-दूषण-त्रिशिरा रावणादि मृग शिकार बाणके सन्मुख आपड़े हैं। शिवजी विचारते हैं कि हमारे चिन्हारी करनेसे शिकार भाग न जाय।'—(पर खरदूषणादिका वध तो हो चुका और रावण भाग भी गया)।

टिप्पणी—७ 'न कीन्हि चिन्हारी' इति। (क) पूर्व जो कहा था कि 'मन डरु, लोचन लालची' मन ऐश्वर्य खुलनेको डरता है और नेत्र दर्शनके लालची हैं—इन दोनोंको यहाँ चरितार्थ किया है। लोचन लालची हैं इसीसे 'भरि लोचन' छविको देखा। और मन डरता है इसीसे 'चिन्हारी' न की। (ख) चिन्हारी= जान-पहिचान, मुलाकात।—निकट नमस्कार कुशलप्रश्न वार्ता। (वै०)।

जय सच्चिदानंद जगपावन। अस कहि चलेउ मनोजनसावन॥ ३॥
चले जात सिव सती समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता॥ ४॥

अर्थ—'जय सच्चिदानंद जगपावन!' (अर्थात् हे सच्चिदानंद! हे जगत्को पावन करनेवाले! आपकी जय।)—ऐसा कहकर कामदेवके नाश करनेवाले शिवजी चल पड़े। ३। कृपाके धाम शिवजी सतीसमेत चले जा रहे हैं और बारंबार पुलकायमान हो रहे हैं। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'जयसच्चिदानंद जगपावन' इति। 'हे सच्चिदानंद! हे जगपावन! आपकी जय हो' ऐसा कहकर शिवजीने प्रणाम किया। अथवा, 'जय सच्चिदानंद जगपावन' यह प्रणामही है। यहाँ शिव-

जीका प्रणाम करना नहीं कहते। पर आगे सतीजीके विचारमें प्रणाम करना स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया है। यथा 'तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद।' (ख) 'सच्चिदानंद' इति। आप सच्चिदानंद हैं अर्थात् पूर्णब्रह्म वा परब्रह्म हैं। 'सच्चिदानंद' का अर्थ 'ब्रह्म' है, यह सतीजीके विचारोंमें आगे कहा है। सतीजी विचार कर रही हैं कि 'जिसे शिवजीने 'सच्चिदानंद परधाम' कहकर प्रणाम किया है वह ब्रह्म कैसे होसकता है ?' यथा 'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद ॥५०॥' इस प्रकार 'सच्चिदानंद परधाम' का अर्थ इस दोहेका पूर्वार्द्ध हुआ। (ग) 'जगपावन' का भाव कि आप पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द हैं, आप अवतार लेकर जगत्को पवित्र कर रहे हैं, आपकी लीला जगत्के हितकेलिये है। यथा 'सकल लोक जगपावनि गंगा। बा० ११२।' स्मरण रहे कि श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम चारों पावन हैं और चारोंही जगत्को पावन करनेवाले हैं। यथा—

नाम—सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू।

रूप—मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावनरिपु जनसुखदाई।

चरित—जगपावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं।

धाम—बंदौं अवधपुरी अति पावनि। सरयू सरि कलि कलुष नसावनि ॥

पुनः, 'जगपावन' का भाव कि आप तो वास्तवमें जगत्को पवित्र करनेके लियेही विचर रहे हैं', नहीं तो आप तो/'परधाम' के वासी हैं।'

नोट—१ 'सच्चिदानंद जगपावन' इति। 'पूर्वे बिरह बिकल नर इव रघुराई' अर्थात् श्रीरघुनाथजीका नरसमान व्याकुल होना कहा गया था पर यह न बताया गया था कि वे 'रघुराई' नर नहीं हैं तो कौन हैं ? उसका निराकरण यहाँ 'जय सच्चिदानंद०' से करते हैं। अर्थात् यह बताते हैं कि वे 'रघुराई' सत् चित् आनंद-घन ब्रह्म हैं, नर नहीं हैं।' इस तरह 'सच्चिदानंद' शब्दसे परब्रह्मका अवतार और 'जगपावन' से उनके अवतारका हेतु कहा गया।

पंजाबीजी लिखते हैं कि 'नमः सच्चिदानंद' न कहकर 'जय सच्चिदानंद' कहनेका आशय यह है कि 'प्रभुने यह ठाट रावणवधनिमित्त रचा है। इसलिये शिवजी आशीर्वाद देते हैं कि इस कार्यमें आपकी जय हो। यह आसिष सेवक, स्वामी और सखा सब भावोंमें बनती है।' अनन्त श्रीरूपकलाजी महाराज फरमाते हैं कि 'जय' का अर्थ भगवान्के सम्बन्धमें 'आपकी सदा जय है' ऐसा है। श्रीसूर्यप्रसादमिश्रजी लिखते हैं कि 'जय' शब्दके अनेक अर्थ हैं—(क) शत्रुको पराङ्मुख करना अर्थात् जीतना। इससे अर्थ हुआ कि 'आप शत्रुको जीतें'। (ख)—नमस्कार। (ग) 'जयति अनेन जयः ग्रंथः'। अर्थात् श्रुति स्मृति पुराणादि आपको 'सच्चिदानन्द जगपावन' कहते हैं, मैं क्या चीज हूँ। भविष्यपुराणमें 'जय' का अर्थ यही लिखा है। यथा 'अष्टादशपुराणानि रामस्य चरितं तथा। विष्णुधर्मादिशास्त्राणि शिवधर्माश्च भारत ॥ कार्ष्ण्यंच पंचमो वेदो यन्महाभारतं स्मृतम्। सौराश्च धर्मराजेन्द्र मानवोक्ता महीपते ॥ जयेति नाम एतेषां प्रवदन्ति मनीषिणः।' (मा०प०)। (घ) 'जय' कहकरभी प्रणाम करनेकी एक रीति है। यथा 'कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए। अ० ५२।', 'कहि जय जीव बैठ सिरु नाई। अ० ३८।', 'देखि सचिव जय जीव कहि कीन्हेहु दंड प्रनामु। २।१४८।' तथा च 'नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्।' (भा० १।२।४)। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'सत्=शुद्ध धर्मात्मा। चित्=सबके चैतन्यकर्त्ता।.....'जयः शत्रुपराङ्मुखी करणेन लब्धस्योत्कर्षस्य इत्यमरविवेके अर्थात् शत्रुपराजयसे जो बडाई होतीहै उसे 'जय'कहतेहैं।'

प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'शिवजी 'सेवक स्वामि सखा सिय-पी-के' हैं। अतः अधिकारभेदानुसार यहाँ 'जय' शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं। स्वामि और सखा भावसे यह अर्थ उचितहै कि 'जिस हेतुसे यह लीला होरही है उसकी सफलता शीघ्रतम हो जाय।' सेवक भावसे यह अर्थ है कि 'आप अपनी जगदावनी शक्ति शीघ्रतम प्रकट कीजिए (वेदस्तुतिके 'जय जय जह्यजा' श्लोक की श्रीधरी टीका

देखिए)—और निशाचरवध करके जगत्को शीघ्रातिशीघ्र पावन कीजिए।

मानसमें श्रीशिवजीने श्रीरघुनाथजीको केवल एकबारही प्रत्यक्ष प्रणाम किया है। पार्वती विवाह प्रकरणमें 'प्रगटे रामकृतज्ञ कृपाला। रूपसीलनिधि तेजविसाला। ७६।५।', रावणवधके पश्चात् शिवजीने समीप जाकर हाथ जोडकर स्तुति की है—'मामभिरक्षय रघुकुलनायक। धृतवर चाप रुचिर कर सायक।' ६।११४।' किन्तु इन दोनों प्रसंगोंमें प्रणाम करनेका उल्लेख नहीं है। उत्तरकाण्डमें राज्याभिषेकके समय 'जय राम रमारमन शमन' कहकर स्तुति की और उस समय 'तव नाम जपामि नमामि हरी।' इन शब्दोंसे प्रणाम किया है। यह स्तुति ऐश्वर्य भाव प्रधान है। माधुर्य भावमें 'रघुकुलनायक' को प्रणाम नहीं किया।'

२ 'जगपावन' का भाव कि जगत् राक्षसोंके उपद्रवसे अपावन (भ्रष्ट) होगया था, अतः उसको पवित्र करनेकेलिये आपका अवतार हुआ। यथा 'अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना। बा० १८३।' इत्यादि। (मा० प०)

टिप्पणी—२ 'जय सच्चिदानंद जगपावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन॥' इस अर्धालीका अनुष्ठान करनेसे कामका नाश होता है। अर्थात् मनमें कामकी वासना नहीं होती।

३ 'अस कहि चलेउ मनोज नसावन' इति। (क) पूर्व कह आए हैं कि शिवजी मुनिसे विदा माँगकर चले, यथा 'मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दच्छकुमारी।' और यहाँ पुनः चलना कहते हैं। यहाँ पुनः चलना लिखनेसे पायागया कि श्रीरामदर्शनार्थ शिवजी खड़े होगए थे। जब दर्शन कर चुके तब पुनः 'चले' का भाव कि 'श्रीरामजीका दर्शन दूरसे हुआ है। ऐसा न हो कि प्रभु इधरही चले आवें तो सामना होजानेसे काम बिगड़ जाय। अतः अधिक ठहरे नहीं। 'जय सच्चिदानंद जगपावन' इतनामात्र कह चलते हुए।

(ख) 'मनोजनसावन' इति। ☞ यहाँ काव्यालंकारोंसे अनभिज्ञ लोग यह शङ्का कर बैठते हैं कि 'कामदेवका भस्म करना तो सतीतनत्यागके पश्चात् पायाजाता है। यहाँ प्रथमही यह विशेषण कैसे दिया गया ?' इसका समाधान एक तो यह है कि काव्यकी यह एक रीति है, उसका यह एक अलङ्कार है कि कवि भूत और भविष्यको प्रत्यक्षसा वर्णन करता है। इसे 'भाविक' अलङ्कार कहते हैं। यथा—'भाविक भूत भविष्य जहँ परतछ होहिं बनाय' इति भाषाभूषणे, 'भावित भूत भविष्य साक्षात्कारस्यवर्णनम्।' शिवजी कामका नाश भविष्यमें करेंगे, कविने उस भविष्यको पूर्वही कह दिया। इस प्रकारके उदाहरण ग्रन्थमें ठौर-ठौरपर मिलते हैं। यथा 'भूषन बनमाला नयनबिसाला सोभासिंधु खरारी। बा० १९२।' (यहाँ कौशल्याजी प्रभुके प्रकट होतेही उनको 'खरारी' सम्बोधन करती हैं), 'मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावनरिपु जनसुखदाई। बा० २११।' (श्रीसीताहरणके पश्चात् रावणरिपु होंगे पर अहल्याने उनको पूर्वही रावणरिपु कहदिया) तथा 'भृगुपति केरि गरब गरुआई।२६०।५।' (परशुरामजी अभी आएभी नहीं, धनुर्भंगभी नहीं हुआ और उनका गर्वदलन पहलेही कहदिया गया)। इत्यादि। [दूसरे, प्रत्येक कल्पमें अवतार होते हैं; यथा 'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं। बा० १४०।' जिनमें मुख्य चरित्र प्रायः एकहीसे होते हैं। उन्हींके अनुसंधानसे कवि प्रायः सभी विशेषण दिया करते हैं। तीसरे, शिवजी तो सदासेही कामको जीते हुए हैं जैसा कि पार्वतीजीके वचनोंसे स्पष्ट है, यथा 'तुम्हरे जान कामु अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा॥ हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी। बा० ९०।' आगे जो कामदेवका नाश वर्णन किया गया है वह तो एक लीलामात्र है। चौथे, यह शङ्का गोस्वामीजीके इस कथनसे भी निर्मूल जान पड़ती है कि देवता अनादि हैं, उनके चरित्रोंमें संदेह न करना चाहिए, यथा 'मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि। कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि॥ बा० १००।' जब सुर अनादि हैं तो उनके गुण और नाम भी अनादि हुए ही।]

(ग) 'मनोजनसावन' विशेषण देकर जनाया कि शिवजीकी श्रीरामजीमें निर्दोष भक्ति है। काम

आदि भक्तिके दोष हैं; यथा 'भक्ति प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरा मे कामादि दोष रहितं कुरु मानसं च। मुं० मं०।', 'तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहु मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम। सुं० ४६।' ☞ दर्शन करना, नामोच्चार करना, प्रेमसे पुलकित होना—यह शिवजीकी श्रीरामजीमें भक्ति दिखाई।

नोट—३ 'मनोज' शब्द यद्यपि काम वाचकही प्रसिद्ध है तथापि उसका अर्थ मनमें 'जायमान' यह होनेसे कामक्रोधादि सभी राजस तामस वृत्तियोंका उससे ग्रहण हो सकता है। इस तरह 'मनोजनसावन' कहकर उनको निष्काम भक्त और कामक्रोधादि विकारोंसे रहित जनाया। सेवकके लिये विकाररहित होना आवश्यक है तभी तो श्रीसुमित्रा अम्बाजी उपदेश देती हैं कि 'राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इनके बस होहु॥ सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई। २। ७५।'

४ 'मनोजनसावन' विशेषण देकर वक्ता यहाँ यह दिखाते हैं कि शिवजी कामके नाशक हैं और श्रीरामजी उनके भी इष्ट हैं तब, भला वे कामासक्त कैसे हो सकते हैं, कामीका ढंग केवल बनावटी स्वाँग है। (श्रीरूपकलाजी)। 'मनोजनसावन' भला कामीका भक्त कैसे हो सकता है ? पुनः भाव कि शिवजी ऐसे समर्थ हैं (कि लोकविजयी कामको भी नाश कर डाला) तभी तो ऐसे माधुर्यमें भी श्रीरामजीको ऐश्वर्यमय देख रहे हैं, भला कामी कभी प्रभुके वास्तविक स्वरूपको लख सकता है ? कदापि नहीं।

टिप्पणी—४ 'चले जात सिव सती समेता' इति। 'चले जात' का भाव कि प्रथम दर्शनकी आशासे रुके थे, अब दर्शन हो गया, अतः अब बराबर चले जा रहे हैं। शिवजीका सतीजीमें अत्यन्त प्रेम है, इसीसे वक्ता उनको बराबर सती-समेतही दिखाते आ रहे हैं। यथा 'संग सती जगजननि भवानी।', 'चले भवन सँग दच्छकुमारी' तथा यहाँ सती समेता।'

[प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि पहले कहा कि 'अस कहि चलेउ मनोजनसावन' और अब कहते हैं 'चले जात सिव सती समेता', यह पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है। यह नाट्यका एक सुन्दर नमूना और शिवजीकी प्रेममग्न दशाका प्रदर्शक है। रूपदर्शनानन्द तथा रामप्रेममें वे इतने मग्न हैं कि उनको परिस्थिति-का भान ही नहीं रह गया, सतीजी साथमें हैं यह भी वे भूल गए और अकेले ही चल पड़े। सतीजी त्वरासे पीछे चलने लगीं तब नूपुरादिकी ध्वनिसे होश आ गया और किंचित् काल खड़े रहे, इतनेमें सतीजी समीप आ गईं, तब 'चले जात सिव सती समेता' कहा, यह मनोहर नाट्य है]।

५ 'पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता' इति। (क) पुनि-पुनि पुलकना कहकर जनाया कि श्रीराम-दर्शनसे शिवजीको विशेष हर्ष और सुख उत्पन्न हुआ। सामान्य हर्ष होता तो सामान्य पुलकावली होती। [पुनः भाव कि जैसे-जैसे प्रभुकी छवि और उनके चरित्रोंका स्मरण होता जाता है, वैसेही वैसे आनन्दसे पुलकित होते जाते हैं। (मा० प०)] (ख) 'कृपानिकेता' का भाव कि शिवजी योगीश्वर हैं; चाहें तो योगबलसे एक पलमें कैलास पहुँच जायँ, पर ऐसा न करके सब जीवोंपर कृपा करके सबको दर्शन देते हुए सती-समेत चले जा रहे हैं। (वैजनाथजीका मत है कि अपनेमें प्रेम दर्शाकर स्त्रीकोभी श्रीरामरूपकी प्रेमिन बनाना चाहते हैं, अतः 'कृपानिकेत' कहा। त्रिपाठीजीका मत है कि दक्षकुमारीका मन नहीं लगा इसलिये भवन चले थे, यहाँ भी थोड़ा ही ठहरे, अतः 'कृपानिकेत' कहा)।

सतीं सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी॥ ५॥
संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत* सीसा॥६॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥ ७॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥ ८॥

* नावहिं—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। नावत—१६६१, १७०४।

अर्थ—सतीजीने शंकरजीकी यह (प्रेम) दशा देखी। उनके हृदयमें भारी संदेह उत्पन्न हुआ।५। श्रीशंकरजी जगत्पूज्य और जगदीश्वर हैं। देवता, मनुष्य, मुनि सभी उनको माथा नवाते हैं।६। (सो) उन्होंने (एक) राजकुमारको 'सच्चिदानंद परधाम' कहकर प्रणाम किया।७। (और) उसकी छवि देखकर (उसमें ऐसे प्रेम) मग्न होगए हैं (कि) अब भी प्रेम उनके हृदयमें रोकनेसे भी नहीं रुकता। (अर्थात् हृदयमें नहीं अमाता, बाहर उमड़ता चला ही आता है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सतीं सो दसा संभु कै देखी' इति। शंभुकी दशा देखी कहकर जनाया कि सतीजीने शिवजीके हृदयकी बात न जान पाई थी, दशा देखनेपर जानी। (ख) 'उर उपजा संदेहु बिसेषी' अर्थात् दशा देखनेपर विशेष संदेह हुआ। 'विशेष' संदेहका भाव कि—(१) संदेह तो प्रणाम करनेपर ही हुआ था परन्तु प्रेमकी दशा 'पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता' देखकर 'विशेष' संदेह हुआ। तात्पर्य कि बाह्येन्द्रियोंका व्यवहार देख संदेह हुआ और अब भीतरका व्यवहार देख विशेष संदेह हुआ। 'जय सच्चिदानंद जगपावन' कहनेसे संदेह हुआ और पुलकावलीसे अधिक संदेह हुआ। (रा० प०)।

(२) (पंजाबीजीका मत है कि श्रीरामजीको शोकातुर देखकर सामान्य संशय हुआ और शिवजीकी दशा देखकर विशेष संदेह हुआ। प० रामकुमारजीका मत यह नहीं है। वे कहते हैं कि) 'शिवजीकी दशा देखकर सन्देह हुआ' इस कथनका आशय यह है कि श्रीरामजीका चरित देखकर उनको संदेह न हुआ, क्योंकि सतीका यह निश्चय है कि रघुनाथजी मनुष्य हैं; यथा 'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।५०।' यदि वे श्रीरामजीको ईश्वर जानतीं तो संदेह न होता, यथा 'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम।७।५८।' इति गरुड़ः, 'प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह। कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंदसंदोह।' इति भुशुण्डि०।

(३) [संदेहका वर्णन 'संकर जगतबंद्य जगदीसा' से प्रारंभ हुआ। भाव कि चराचर हमारे पतिकी वन्दना करता है। इनको आजके पूर्व कभी किसीको प्रणाम करते नहीं देखा। अतः संदेह होना उचित ही है। फिर चराचरपति होकर भी इन्होंने एक साधारण राजकुमारको 'सच्चिदानंद परधाम' कहकर प्रणाम किया, अतः विशेष संदेह होना उचित ही है। उसपरभी प्रेम हृदयमें समाता नहीं, यह भी कारण विशेष है।'—(सुधाकर द्विवेदीजी)]

नोट—१ 'बिसेषी' (विशेष) का अर्थ वस्तुतः 'बहुत' या भारी है। यहाँ 'उपजा' क्रियासे इसी समय 'विशेष' संदेहका उत्पन्न होना पाया जाता है। पूर्व उत्पन्न हुआ था, अब बढ़ा ऐसा नहीं। जब परस्पर विरोधी दो बातें देखी जाती हैं तब संदेह उत्पन्न होता है। यदि उन दोनोंमेंसे एक बात विशेष पुष्ट होती है और दूसरी कम तब संदेह सामान्यरूपसे होता है और दोनों पक्ष समान बलवान् होते हैं तब संदेह भी विशेषरूपसे हो जाता है। 'विशेष संदेह' कहनेका तात्पर्य है कि—जो अपने विचारसे अथवा बिना भगवत् कृपाके न छूट सके।

टिप्पणी—२ 'संकर जगतबंद्य जगदीसा।०' इति। (क) शंकर जगद्वंद्य हैं। अर्थात् जगत् इनकी वन्दना करता है और ये जगत्मात्रका कल्याण करते हैं इसीसे इनको 'शंकर' कहते हैं। 'सुर नर मुनि सब' अर्थात् छोटे बड़े, सामान्य विशेष सभी—[सुरसे स्वर्गलोकवासी, नरसे मर्त्यलोकवासी, मुनिसे विरक्त लोकव्यवहाररहित दोनों लोकोंके निवासी और 'सब' में राक्षस, दैत्य, दानव, वानर आदि शेष सब कहे गए। इस तरह त्रैलोक्यवासियोंसे वंदित जनाया। (मा० सं०)। पुनः भाव कि जगत्के वंद्यने किसकी वन्दना की? जगदीशने किसको ईश माना? जिसको सुर नर मुनि शीश नवाते हैं, उसने किसे सिर नवाया? ऐसेको तो शंकरसे भी बड़ा होना चाहिए (वि० त्रि०)] (ख) 'तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा' उन्होंने राजकुमारोंको प्रणाम किया, इस वाक्यसे पाया जाता है कि सतीजीने नृपसुत जानकर उन्हें प्रणाम

नहीं किया था और शिवजीका प्रणाम करना देखकर भी सतीजीने श्रीरामजीको प्रणाम नहीं किया। (ग) 'कहि सच्चिदानंद परधामा' इति। यहाँ दिखाते हैं कि शिवजी अपना मन, वचन और कर्म तीनों श्रीरामजीमें लगाए हुए हैं। मनसे प्रेमकर पुलकित हुए। वचनसे स्तुति की, 'जय सच्चिदानंद०' कहा। और शरीरसे प्रणाम किया। (घ) 'कीन्ह परनामा, कहि सच्चिदानंद' सच्चिदानंद कहकर प्रणाम किया, इस कथन का तात्पर्य यह है कि राजा समस्त दिग्पालोंका तथा भगवान्‌का स्वरूप माना जाता है; यथा 'नराणां च नराधिपः।'—इस भावसे शिवजीने प्रणाम किया हो सो बात नहीं है, उन्होंने साक्षात् सच्चिदानन्द परब्रह्म कहकर प्रणाम किया। 'सच्चिदानंद' ब्रह्म हैं, यथा 'उमा अवधवासी नर नारि कृतारथरूप। ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप। उ० ४७।', वह ब्रह्म रघुनाथजी हैं, उनका परधाम साकेत है। केवल ब्रह्म कहकर परधाम नहीं कहते बनता; क्योंकि ब्रह्मका धाम नहीं होता। ब्रह्म रामरूपसे साकेतमें बसता है। 'परधाम'=जिसका धाम सबसे परे है।

३ 'भए मगन छबि तासु बिलोकी।०' इति। (क) 'मगन भए' अर्थात् छवि समुद्रमें डूब गए। पूर्व छबिको समुद्र कह आए हैं; यथा 'भरि लोचन छबिसिंधु निहारी।' भगवान् रामही छबिके समुद्र हैं, यथा 'छबिसमुद्र हरि रूप बिलोकी।' समुद्रके योगसे यहाँ 'मग्न होना' कहते हैं। यथा 'राम बिरहसागर महँ भरत मगन मन होत।' मग्न हुए=डूब गए। यथा 'सिववियोगसागर नागर मन बूड़न लागेउ सहित चित चैन।','बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो। उ०।' (ख) 'अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी' इति। 'रहति न रोकी' से जनाया कि शिवजी उस प्रीतिको छिपाना चाहते हैं, परन्तु वह इतनी बढ़ी हुई है कि दबानेसे भी नहीं दबती, बारंबार पुलकाङ्ग द्वारा बाहर उमड़ी पड़ती है, प्रकट हो रही है। 'रहति न रोकी' पर शंका होती है कि 'प्रीतिको रोकनेका प्रयोजन ही क्या था?' इसका समाधान यह है कि जब दसवीं दशा होने लगती है तब प्रेमकी उस दशाको रोका जाता है। यथा 'रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज। होत मगन बारिधि बिरह चढ़े बिबेक जहाज। अ० २२०।'—[अथवा, इससे रोकते हों कि सतीजी इस मर्मको न जान पावें। 'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु०' उनको भी न मालूम हो जाय। (मा० सं०)। पुनः भाव कि अपरोक्षमें वन्दना की और उनके परोक्षमें ध्यान कर रहे हैं। प्रेमप्रवाहके रोकनेसे बार-बार सात्विक भाव हो रहा है। (वि० त्रि०)]

नोट—२ सतीजी प्रभुको राजकुमार समझती हैं इसीसे वे उनके लिए एकवचन 'नृपसुतहि' और बहुत ओछा, हलका, निरादरसूचक एकवचन 'तासु' शब्दोंका प्रयोग कर रही हैं।

दोहा—ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥ ५०॥

अर्थ—जो ब्रह्म सर्वव्यापक, निर्मल, अजन्मा, निरवयव, चेष्टा इच्छा और भेद रहित है और जिसे वेदभी नहीं जानते, भला (क्या) वह देह धरकर मनुष्य होगा?। ५०।

टिप्पणी—१ (☞ यहाँ सतीजी सोचती हैं कि यदि कहा जाय कि 'शिवजीने इनको सच्चिदानंद कहा है तो ये अवश्य ही ब्रह्म होंगे', तो ऐसा मान लेनेमें यह आपत्ति आती है कि) ब्रह्म तो 'व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद' है, ऐसे विशेषणोंसे युक्त ब्रह्मका अवतार होना असंभव है। क्योंकि जो ब्रह्म अर्थात् बृहत् है, सारा ब्रह्माण्ड ही जिसका स्वरूप है, वह लघु कैसे होगा? जो व्यापक है, वह एक ही जगह कैसे हो सकता है (अर्थात् वह एकदेशीय नहीं हो सकता)। जो बिरज है, वह गुणयुक्त कैसे हो सकता है? (गुण प्रकृतिका विकार है)। जो अज है वह जन्म कैसे लेगा? जो चेष्टारहित है, वह चेष्टा कैसे करेगा? जो अभेद है वह भेदयुक्त कैसे होगा? और जिसे वेद भी नहीं जानते उसे सब कोई कैसे जान सकते हैं?—'सो कि होइ नर'? क्या वह देह धरकर मनुष्य होगा? अर्थात् नहीं होगा, यह निश्चय

है। [यह 'काकु वक्रोक्ति' अलंकार है। कोई इसे अर्थालंकार मानते हैं और कोई शब्दालंकार।]

नोट—१ तात्पर्य यह कि बृहत्का लघु होना, व्यापकका एकदेशीय होना, इत्यादि बातें जो ऊपर कहीं वे सभी असंभव हैं। और, इनमें तो ये सभी बातें हैं।—ये छोटे हैं, इनका छोटासा शरीर है, ये अयोध्यामें रहते हैं, इनमें विरह विलापादि विकार हैं, (मन मलीन है, ये कामी हैं), इनका जन्म दशरथजी के यहाँ हुआ, इनमें शिशु बाल, कुमार, पौगंड, युवा आदि अवस्थायें और चेष्टाएँ देखी गईं, इनके शत्रु और मित्र हैं—ये शत्रुओंका नाश करते हैं, ये नर हैं और इनको सब जानते हैं कि ये दशरथनन्दन राजकुमार हैं—ये सब लक्षण ब्रह्मके लक्षणोंसे विरुद्ध हैं। अतः ये ब्रह्म नहीं हैं, यह निश्चय है। ☞ यह संदेह श्रीपार्वतीजी अपने प्रश्नोंद्वारा आगे प्रकट करेंगी। यथा 'जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारिविरह मति भोरि। बा० १०८।'

२ बाबा हरिदासजी लिखते हैं—श्रीरामजीमें ब्रह्मके लक्षणोंका निश्चय करनेके लिये सतीजी विचारती हैं कि—'ब्रह्म चराचर जीव साहूकार और चोरमें स्वयं व्यापक हैं। ये ब्रह्म होते तो सीताजीको कौन चोर ले जाता। अतः ये व्यापक नहीं हैं। ब्रह्म निर्मल है और ये मलिन हो रोते हैं, अतः ये विरज नहीं हैं। ब्रह्म अज अर्थात् देहधारी नहीं है और ये देहधारी हैं। ब्रह्म अकल है अर्थात् सुन्दर नहीं है, उसमें मन नहीं लगता और ये तो सुन्दर हैं कि 'जिन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा।' ब्रह्म अनीह है और ये ईहा (व्यापार) युक्त हैं, क्षत्रियोंका व्यापार धनुषबाण धारण किये निशाचरोंको मारते हैं। ब्रह्म अभेद है अर्थात् छिद्ररहित है, सब दिशाओंमें परिपूरित है और ये तो सब दिशाओंमें सीताजीको खोजते हैं। अतएव ये अकल, अनीह आदि नहीं हैं। (शीला०)।

३ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'संदेह हो जानेसे मन चंचल हो जाता है, मनकी चंचलतासे बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट हो जानेसे चाहे अज्ञान दशामें जो अनुचित कर्म न हो, सो सब आगेके दोहेमें तर्क वितर्कसे और संशय बढ़ने पर स्पष्ट है।' (मा० प०)

बिष्नु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥ १॥
खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥ २॥
संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सबु कोई॥ ३॥
अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥ ४॥

अर्थ—भगवान् विष्णु जो देवताओंके हितके लिये नरतनधारी होते हैं वे भी महादेवजीके समान सर्वज्ञ हैं। १। ज्ञानके धाम, लक्ष्मीजीके पति और असुरोंके शत्रु वे (भगवान् विष्णु) भला (क्या) अज्ञानियोंकी तरह स्त्रीको खोजेंगे? (कदापि नहीं)। २। फिर शिवजीकी वाणीभी झूठी नहीं हो सकती। शिवजी सर्वज्ञ हैं (यह) सब कोई जानता है। ३। इस प्रकारका अपार संशय मनमें हुआ। (उनके) हृदयमें प्रबोधका संचार (किसी तरहभी) नहीं हो रहा है। ४।

टिप्पणी—१ ब्रह्म अवतार नहीं लेता यह (ऊपर दोहेमें) निश्चय करके अब कहती हैं कि विष्णु सुरहित अवतार लेते हैं, अनेक रूप धारण करते हैं, यथा 'धरिहहिं बिष्नु मनुजतन तहिआ।' (नारदवाक्य)। उनके प्रति प्रणामादि बन सकते हैं। यदि कहें कि ये विष्णु हैं, इन्होंने देवताओंके हितार्थ नर तन धारण किया है तो यह माना नहीं जा सकता। ये विष्णुभी नहीं हो सकते, क्योंकि विष्णु तो सर्वज्ञ हैं, ज्ञानधाम हैं, श्रीपति हैं और असुरारी हैं। उनमें अज्ञान कहाँ? विष्णु होने में इतनी शंकाएँ उत्पन्न हुईं। क्रमसे इनके भाव ये हैं कि–(क) विष्णु सर्वज्ञ हैं अर्थात् भूत भविष्य वर्तमान तीनों कालका हाल जानते हैं, त्रिकालज्ञ हैं और सब कुछ जानते हैं। अतएव नरशरीरधारी हुए तो भी सर्वज्ञ हैं। तब उनको सीताजीकी खबर कैसे न होगी? पर इनको सीताजीकी खबर नहीं है कि कहाँ हैं तभी तो 'लता तरु पाती' सभी से पूछते फिरते हैं—यह भाव 'सोउ सर्बग्य' का हुआ। अर्थात् विष्णु सर्वज्ञ हैं और ये सर्वज्ञ नहीं हैं, अतः ये विष्णु नहीं हैं।

(ख) यहाँ 'सर्वज्ञ' के साथही 'जथा त्रिपुरारी' कहा है। अर्थात् विष्णु भगवान्भी सर्वज्ञ हैं और त्रिपुरारिभी सर्वज्ञ हैं। 'त्रिपुरारी' की समानता कहकर जनाया कि वे शिव समान समर्थ भी हैं। ☞यहाँ विष्णु और त्रिपुरारि दोनोंका एक समान सर्वज्ञ होना कहकर आगे इन दोनोंका हाल (अर्थात् इनकी सर्वज्ञताको विचारकर तर्क) यथासंख्यालंकारसे कहती हैं। वह यह कि विष्णु सर्वज्ञ हैं अतः वे अज्ञकी तरह स्त्रीको न खोजेंगे और त्रिपुरारि सर्वज्ञ हैं, अतः वे बिना जाने 'सच्चिदानन्द परधाम' न कहते। (ग) 'ज्ञानधाम' हैं अतः वे अज्ञानीकी तरह स्त्रीको न खोजते; अतः ये विष्णु नहीं हैं। भाव कि विष्णु ज्ञानधाम हैं और ये अज्ञानी हैं। (घ) वे श्रीपति हैं। लक्ष्मीजीके पति होकर प्राकृत नारीके विरहमें व्याकुल नहीं होनेके। लक्ष्मीजीसे बढ़कर सुन्दर कौन है जिसके लिये व्याकुल होंगे ? (पुनः भाव कि श्रीजीका इनसे वियोग कभी संभवही नहीं और न श्रीजी इनको छोड़कर कभी दूसरेके पास जा सकती हैं। परस्त्रीको ये ढूढ़ेंगेही क्यों ?) (ङ) वे असुरारी हैं। असुर उनसे सदा भयभीत रहते हैं तब भला असुर उनकी लक्ष्मीको हरण ही कब कर सकते हैं। अतः ये न तो निर्गुण ब्रह्म हैं और न विष्णु (सगुण) हैं। पुनः, (च) 'ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी' इन तीन विशेषणोंको देकर यहभी जनाती हैं कि ये (विष्णु) तीनो गुणोंको धारण करते हैं। ज्ञानधामसे सत्वगुण, श्रीपतिसे रजोगुण और असुरारीसे तमोगुणका धारण करना कहा। अर्थात् तीनो गुण इनके वशमें हैं, तीनों गुणोंकी उत्तम सिद्धि इनमें है।

२ 'संभु गिरा पुनि मृषा न होई।०" इति। (क) सतीजीने विचारकर निश्चय किया कि ये न तो ब्रह्म हैं और न विष्णु। (ख) 'पुनि' शब्दका भाव कि हमने जो बात विचार की है वह मृषा नहीं है। ब्रह्म अवतार नहीं लेता और विष्णु अज्ञ नहीं हैं। (तब कहेंगे कि शिवजीहीकी भूल होगी। उसपर विचार प्रकट करती हैं कि) शिवजीकीभी वाणी मृषा नहीं हो सकती क्योंकि शिवजी सर्वज्ञ हैं—यह बात 'जान सब कोई' अर्थात् प्रसिद्ध है, कुछ मैं ही नहीं ऐसा कहती, सभी कहते हैं। अतएव जब उन्होंने राजकुमारको सच्चिदानन्द परधाम कहा है तो ये अवश्य सच्चिदानन्द परधाम होंगे। सर्वज्ञ होकर वे किसी मनुष्य को सच्चिदानन्द कदापि न कहेंगे। (ग) 'जान सबु कोई' कहकर 'सर्वज्ञता' को पुष्ट किया है। अतः पुनरुक्ति नहीं है।

नोट—१ बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'स्त्रीका वियोग तीन प्रकारसे होता है। एक तो जब पति अज्ञानी वा जड़ हो, पतिमें स्त्रीकी वा स्त्रीमें पतिकी रुचि न हो। दूसरे, पति निर्धन हो। तीसरे, कोई असुर हर ले। सो विष्णुजी तो ज्ञानधाम हैं, श्रीपति हैं और असुरारी हैं। इसलिये यहाँ स्त्रीवियोगका योगही नहीं है।' (शीलावृत्ति)।

टिप्पणी—३ 'अस संसय मन भयउ अपारा।०' इति। (क) यहाँ तक संशयका स्वरूप दिखाया। 'सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेह बिसेषी। ५० (५)' उपक्रम है और 'अस संसय मन भयउ अपारा' उपसंहार है। संशय पहले 'विशेष' था अब अपार होगया, अर्थात् वृद्धि क्रम पर है। (ख) 'अपारा' का भाव कि अनेक प्रकारसे समझनेका प्रयत्न किया, समझा, पर संसयका पार नहीं मिला ('अपारा' कहकर संशयको समुद्र बताया। आगे श्रीशिवजी जहाजरूप होकर इनको पार करेंगे, जैसे गरुड़जीको भुशुण्डी जीने पार लगाया। यथा 'मोहजलधि बोहित तुम्ह भए। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए। उ० १२५।') यहाँ 'संशय' के दो 'पार' (किनारे) हैं। सतीजी दोनों ओर पार नहीं पातीं। वे दो पार ये हैं—विष्णु अज्ञ नहीं हैं कि अज्ञकी तरह स्त्रीको खोजें और शिव सर्वज्ञ हैं उनकी 'गिरा' मृषा नहीं है; वे मनुष्यको सच्चिदानंद न कहेंगे। इन दोनोंमेंसे यदि एकही बात होती तो संशय मिट जाता (पर एक रहने नहीं पाती। वे दोनो ही पक्ष दृढ़तापूर्वक ग्रहण किये हुए हैं। दोनोंको सत्य निश्चय किये बैठी हैं)। (ग) 'होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा' इति। भाव कि प्रबोधका प्रचार करती हैं; बुद्धिको दौड़ाती हैं; मनको समझाती हैं; एक बात निश्चय करनेका प्रयत्न करती हैं, फिरभी हृदयमें ज्ञान नहीं होता। यथा 'नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ज्ञान

हृदय भ्रम छावा। उ० ४६।' [प्रबोध=प्रकर्ष बोध, ज्ञान। प्रचार=प्रादुर्भाव, सचार, पसारा। अपारा=जिसका वारापार नहीं, असीम, बेहद। अर्थात् सदेहपर सदेह बढ़ता ही गया। वैजनाथजी 'प्रचार' का अर्थ 'विस्तार', 'प्रकाश' लिखते हैं। वे लिखते हैं कि श्रीरामरूपमें निश्चय न हुआ कि ये कौन हैं, इत्यादि, संशयोंके कारण उनके हृदय में ऐसा महामोह छागया कि बुद्धिमें आवरण होगया, जिससे शिवचनरूप दीपकसे ज्ञानका प्रकाश न हुआ।' अर्थात् यहाँ संशय अंधकार है, शिवोपदेश दीपक है, ज्ञान प्रकाश है। परन्तु शिवोपदेश तो आगे है। संभवतः 'शिववचन' और 'शिव उपदेश' से उनका तात्पर्य 'जय सच्चिदानद परधामा।०' हो]

जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी। हर अंतरजामी सब जानी॥ ५॥
सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर* काऊ॥ ६॥
जासु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई॥ ७॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥ ८॥

अर्थ—यद्यपि सतीजीने प्रत्यक्ष (कुछ) नहीं कहा (तथापि) अन्तर्यामी शिवजी सब जान गए।५। (और बोले) हे सती! सुनो, तुम्हारा स्त्रीस्वभाव है, मनमें ऐसा सदेह कभीभी न रखना चाहिये। ६। जिनकी कथा अगस्त्य ऋषिने गाई (कही) और जिनकी भक्ति मैंने मुनिको सुनाई। ७। वही मेरे इष्टदेव ये रघुबीरजी हैं। जिनकी सेवा धीर मुनि सदा किया करते हैं। ८।

टिप्पणी—१ (क) 'जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी' इति। भवानीने प्रगट क्यों न कहा? उन्होंने भय बस प्रकट न किया, यह समझकर कि शिवजीसे यह बात कहने योग्य नहीं है। जिनको शिवजीने सच्चिदानद कहकर प्रणाम किया उनको हम ब्रह्मसे तथा विष्णुसे पृथक् (भिन्न) नृपसुत समझती हैं। यह बात कहनेसे शिवजीको अच्छी न लगेगी। यथा 'एक बात नहि मोहि सोहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी॥ तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। ११४।' इत्यादि। [कहनेसे पतिवचनका उल्लघन पाया जाता। जो पातिव्रत्य धर्मके प्रतिकूल है। अतः मुखसे कहना अनुचित जानकर न कहा। (वै०] (ख) 'हर अतरजामी सब जानी' इति। ☞ शिवजी सतीजीके हृदयकी जान गए पर सतीजी उनके हृदयकी न जान पाईं जैसा पूर्व कह आये हैं, यथा 'सकर उर अति छोभु सती न जानइ मरमु सोइ।' इससे जनाया कि भगवान्‌में मायासे अधिक ज्ञान है (वा, यों कहिये कि शक्तिसे शक्तिमान्‌में अधिक ज्ञान है)। शिवजी भगवान् हैं, सतीजी माया हैं, यथा 'तुम्ह माया भगवान् शिव सकल जगत पितु-मातु।'

मानसतत्त्वविवरण—''हर' शब्द भोक्ता कहा जाता है, प्रधानके भोक्तृत्वसे हरता है तो अब इस सुरता परिपक्वतासे जो हमने चरित्र किया है श्रीशंकर भगवान् नहीं जानें तो भला है ताते सोई अन्तर्यामि त्वहरत्वधर्म करि (के द्वारा) ठीकठीक जान जानेका कारण हुआ जैसा अबभी योगीन्द्रोंम पाया जाता है।' पुनः,'हर' शब्दका भाव कि कृपा करके बोले क्योंकि जीवोंके दुःखोंके हरनेवाले हैं। ऐसा सशय करने से भवमें पतन होता है। जो क्लेशोंको हरे वह हर है, यथा 'क्लेश हरतीति हर'।"

प० प० प्र०—१ सतीजी पतिव्रता हैं, भवकी पत्नी हैं। 'शिव सर्वज्ञ जान सब कोई' यह वे निस्सन्देह जानती हैं, अपने हृदयका सशय उनसे छिपा न रहेगा, इत्यादि जाननेपर भी उन्होंने कहा नहीं। यह व्यवहार 'भवानी'—पदके अनुचित सा हुआ। ऐसा होना सतीजीके सहज स्वभावमें असंभव था। इस बातको कवि 'हर अतरजामी सब जानी' कहकर ध्वनित करते हैं। २ 'हर अतरजामी' शब्दोंमें श्लेष है।

* उर—१७२१, १७६२, छ०, भा दा, रा प्र (परन्तु रा प्र में अर्थमें 'मन' है)। मन-को० रा०। उर—१६६१, १७०४।

हर-अन्तर्यामी श्रीरघुनाथजी तथा सतीके अन्तर्यामी हर। पत्नीको पतिके अनुकूल रहना चाहिए, सतीने ऐसा नहीं किया। शिवजीने प्रणाम किया, सतीने तब प्रणाम नहीं किया। यह शिव-अपमान हर-अन्तर्यामी श्रीरघुपति सह न सके। अतः उन्होंने अपनी मायाको प्रेरित करके सतीके हृदयको महा प्रबल सन्देहोंका क्रीड़ास्थान बना दिया। इसीसे संशयहारक हरभी इन संशयोंका हरण करनेमें असमर्थही ठहरेंगे। शिवजी अभी यह नहीं जानते कि इनको हरिमाया लगी है, वे यही समझते हैं कि स्त्री स्वभावसे ऐसा हुआ है।

वि० त्रि०—सब जान गए और समझा कि पूछनेपर कहनेसे सामान्य बात हो जायगी, बिना पूछे कहेंगे तो विश्वास होगा कि जो मनकी बात जान लेता है उसका कहना अन्यथा नहीं हो सकता और संशय जाता रहेगा। 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' यह नियम ऐसे अवसरके लिये नहीं है, ऐसे संशयका इनके हृदयमें क्षणभरके लिये होनाभी इन्हें अपने पदसे गिरा सकताहै। उस महाप्रभुके पर-रूपके देखनेमें देवता भी असमर्थ हैं, जब वे कृपासिंधु लोकमंगलके लिये शरीर धारण करते हैं, तभी उनके पूजनका मार्ग निर्गल होता है। तब उनके अवतीर्ण होनेपर संशय करना तो उस कृपाधारासे अपनेको वंचित करना है जो लोक-मंगलके लिये पृथ्वीपर बह रही है। अतः बिना पूछे भी कहते हैं।

टिप्पणी—३ 'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ' अर्थात् यह अविवेक जो तुम्हारे हृदयमें उत्पन्न हुआ है, यह तुम्हारा स्त्री स्वभाव है, नहीं तो श्रीरामजीमें संदेह करनेका प्रयोजनही क्या था? उनकी कथा और भक्ति तुम अभी अभी सुन चुकीहो तब तो संदेहका प्रयोजनही नहीं रहगया। स्त्रीस्वभाव, यथा 'अहो मोह महिमा बलवाना। नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं॥ अवगुन आठ सदा उर रहहीं। साहस अनृत चपलता माया॥ भय अविवेक असौच अदाया। लं० १६।' [नोट—पं० रामकुमारजीके मतानुसार यहाँ 'अविवेक' स्वभाव अभिप्रेत है। बाबाहरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि—'नारिसुभाउ' का भाव यह है कि 'जहाँ संदेह न होना चाहिये वहाँ संदेह करना स्त्री स्वभाव है, बुद्धि विचारमानोंका नहीं। (रा० प्र०)।' विचारमान संशय उत्पन्न होतेही उसके निरसनका प्रयत्न करते हैं, उसे हृदयमें छिपाये नहीं रखते। (वि० त्रि०) और किसी-किसीका मत है कि यहाँ अविवेक, साहस और चपलता स्वभावसे तात्पर्य है, पर अविवेक मुख्य है। सर्वेश शिवजीसे दुराव करना साहस है।]

४ 'संसय अस न धरिय उर काऊ।' इति। भाव कि ऐसा संशय हृदयमें लानेसे ज्ञान वैराग्यादि गुण नष्ट होजाते हैं; यथा 'अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं। बा० ११६।' ☞ सतीजी ऐसा संशय हृदयमें लाईं इसीसे उनके हृदयमें उनके ज्ञानका प्रचार न हुआ। यथा 'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा।' पुनः भाव कि—[संशयात्माका कल्याण नहीं होता, यथा—'संशयात्मा विनश्यति'। 'न धरिय' अर्थात् इसको हृदयसे निकाल डालो, यह धरनेकी वस्तु नहीं है निकालकर फेंकदेने की है। 'काऊ' अर्थात् भूलकरभी कभी।]

टिप्पणी—५ (क) 'जासु कथा कुंभजरिषि गाई...।' इति। सतीजीके मनमें संशय हुआ, अंतर्यामी शंकरजीने सब जान लिया; अतः संशयका निषेध करने लगे। निषेध करनेमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाण देते हैं। 'जासु कथा कुंभजरिषि गाई' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अर्थात् तुमने कुम्भजऋषिके मुखसे उनकी कथा सुनी और उनकी भक्ति हमारे मुखसे सुनी। अतएव उनके विषयमें संदेह न करना चाहिये। तुम संशय करती हो सो नारिस्वभावसे। प्रत्यक्ष प्रमाण है क्योंकि कानसे सुना है। 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।' यह अनुमान प्रमाण है। अर्थात् हमारे इष्टदेव हैं, धीर मुनि उनकी सेवा करते हैं; इससे तुम्हें अनुमान करलेना चाहिए कि श्रीरामजी नर नहीं हैं। 'कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं' यह शब्द प्रमाण है। प्रमाण चार प्रकारके हैं; उनमेंसे यहाँ तीन प्रमाण दिये गये। चौथा उपमान प्रमाण न दिया, कारण कि विशिष्टाद्वैती तीनही मानते हैं, उपमानको नहीं मानते।

नोट—प्रमाण कितने प्रकारके हैं इसमें आचार्योंमें मतभेद है। चार्वाक 'प्रत्यक्ष' एकही प्रमाण मानते हैं। कणाद और बौद्ध 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' दो मानते हैं। सांख्य (कपिलभगवान्) योग पतञ्जलि) और कोई एक नैयायिक (भूषणीय) 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' और 'शाब्द' ये तीन मानते हैं। नैयायिक (गौतम) 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शाब्द' और 'उपमान' ये चार मानते हैं। प्रभाकर (गुरु) 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', शाब्द', 'उपमान' और अर्थापत्ति' ये पाँच मानते हैं। भाट्ट (कुमारिल भट्ट मीमांसक) और अद्वैत-वेदान्ती उपर्युक्त पाँच और 'अभाव' (अनुपलब्धि) ये छः मानते हैं। परन्तु विशिष्टाद्वैत-वेदान्ती प्रथम तीन ही मानते हैं। पौराणिक उपर्युक्त छः और 'सम्भव' तथा 'ऐतिह्य' ये ये आठ मानते हैं। प्रमाण 'तार्किकरक्षायाम्' यथा— 'प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणाद सुगतौ पुनः। अनुमानञ्च तच्चाथ सांख्याः शब्दञ्च ते अपि ॥ न्यायैकदेशिनोप्येवमुपमानं च केचन ॥ ८ ॥ अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः। अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा ॥ ९ ॥ सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥' तांत्रिक एक 'चैष्टिक' प्रमाण भी मानते हैं। परन्तु प्रथम तीन 'प्रत्यक्ष', अनुमान और शाब्द' प्रधान हैं, इन्हींके अन्तर्गत अन्य सब प्रमाण आजाते हैं। लक्षणोंसे ऐसा जान पड़ता है कि प्रस्तुत प्रसंगमें अनुमान और शाब्द दो प्रमाणोंसे काम लिया गया है। जो प्रत्यक्षका उदाहरण दिया गया है (कानसे सुनने का) यह शाब्दमें आजाता है।

टिप्पणी—६ (क) 'जासु कथा कुंभजरिषि गाई', यथा 'राम कथा मुनिवर्ज बखानी'। 'भगति जासु''', यथा 'रिषि पूछी हरिभगति सुहाई। कही सभु अधिकारी पाई'। (ख) 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा' इति। 'रघुबीरा' से दाशरथी रामको अपना इष्टदेव और 'सेवहिं जाहि सदा मुनिधीरा' से मुनियोंके इष्टदेव जनाया। इष्टही की सेवा सदा की जाती है। मुनिसे मननशील और धीरसे इन्द्रियजित जनाया; यथा 'ते धीर अछत बिकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये' अर्थात् विकारके हेतुओंके रहतेहुएभी जिनके मनमें विकार उत्पन्न न हो, वे धीर हैं। पुनः 'मम इष्टदेव' से सूचित किया कि तुम पतिव्रता हो, चाहिए था कि यही भाव तुम्हाराभी इनमें होता। (यह 'संकर जगत बंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावहिं सीसा।' का उत्तर है। वि० त्रि०)

छंद—मुनि धीर योगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी।
अवतरेउ अपनें भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनीं॥
सोरठा—लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहसि महेसु हरिमायाबलु जानि जिय॥ ५१॥

अर्थ—'मुनि, धीर, योगी और सिद्ध निरंतर निर्मल मनसे जिनका ध्यान करतेहैं। वेद, पुराण और तंत्र 'नेति नेति' कहकर जिनकी कीर्त्ति गाते हैं, वही सर्वव्यापक, अखिल भुवनों (समस्त ब्रह्माण्डों) के स्वामी, मायापति, सर्वेश्वर स्वतंत्र, नित्य, ब्रह्म श्रीराम अपने भक्तोंकेलिये रघुकुलमणिरूपसे अवतरे हैं (प्रकट हुए हैं)।' यद्यपि शिवजीने बहुत बार समझाया तथापि उनका उपदेश सतीजीके हृदयमें न लगा। (प्रविष्ट न हुआ, न बैठा।)। (तब) महादेवजी मनमें भगवान्‌की मायाका बल जानकर हँसकर बोले।

टिप्पणी—१ 'मुनि धीर योगी सिद्ध संतत० इति। (क) 'बिमल मन जेहि ध्यावहीं' कहकर जनाया था कि ये विषयोंको त्यागकर सेवा करते हैं। विषयसे मन मलिन होजाता है; यथा 'काई विषय मुकुर मन लागी', 'हृदय मलिन विषय संग लागे' (विनय), इत्यादि। ☞ (ख) मुनि, धीर, योगी और सिद्ध इन्हीं चारके मन निर्मल होते हैं क्योंकि मुनि सदा मनन करते हैं, धीर मनको वशमें किये रखते हैं, योगी चित्तकी वृत्तिको रोके रहते हैं और सिद्धोंको ज्ञान सिद्ध है—यही सब मनके निर्मल होनेके हेतु हैं।

(ग) [मानसपत्रिकाकार लिखते हैं कि इस कथनसे शिवका आशय यह है कि 'तुमभी मनसे मनन-करो, धैर्यसे विचार करो तो हमारी बात तुम्हारी समझमें आजायगी। जिनका मुनि, धीर आदि निर्मल मनसे ध्यान करते हैं उनमें विकार कैसे सम्भव होसकते हैं ?' वि० त्रि० का मत है कि मुनिसे ज्ञानमार्गी, धीरसे उपासनामार्गी, योगीसे योगमार्गी और सिद्धसे कर्ममार्गी इस तरह चारों मार्गवालोंका ध्यान करना कहा।]

२ 'कहि नेति निगम पुरान आगम०' इति। (क)—'न इति न इति' कहकर गानेमें निरंतर गाना सूचित किया। यथा 'जेहि श्रुति निरंतर ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।', 'वेदे रामायणेचैव हरिः सर्वत्र गीयते।' (ख) ☞ यहाँ तक तन मन और वचनसे सेवा करनेवालोंका उदाहरण दिया। कोई मुनि और धीर शरीरसे सेवा करते हैं, यथा 'सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।' और कोई मनसे सेवते हैं, यथा 'मुनि धीर योगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं।' और कोई वचनसे, यथा 'कहि नेति निगम०'। तात्पर्य कि जिसकी जैसी और जहाँ तक पहुँच है, वह उसी प्रकार सेवा करता है, पर 'निरंतर' सेवा तीनो मे है; यथा 'सेवत जाहि सदा मुनि धीरा', 'संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं' और 'कहि नेति निगम' ''गावहिं', 'नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान। बा० १२।' पुनः [(ग) 'कहि नेति०' का भाव कि मेरी नहीं मानती हो तो न सही, वेदशास्त्रादिका प्रमाण मानो। (मा० प०)। विशेष दोहा १२ में लिखा जा चुका है। (घ) 'मुनिधीर''गावहीं' यह सतीजीके 'भए मगन छवि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी' का उत्तर है। (वि. त्रि.)]

३ 'सोइ रामु व्यापक ब्रह्म' इति। (क) सतीजीका सिद्धान्त है कि व्यापक ब्रह्म अवतार नहीं लेता। उसीपर कहते हैं कि 'सोइ राम व्यापक ब्रह्म', 'भुवननिकायपति मायाधनी' हैं। श्रीरामजी साक्षात् व्यापक ब्रह्म हैं, साक्षात् ब्रह्मके अवतार हैं। ☞ इस कथनसे 'हर अंतरजामी सब जाना' यह वाक्य चरितार्थ हुआ। (ख) 'भुवननिकायपति मायाधनी' अर्थात् समस्त ब्रह्माण्डोंके तथा जो समस्त ब्रह्माण्डोंकी रचयित्री माया है उसकेभी स्वामी हैं। अर्थात् कारण और कार्य दोनोंके स्वामी हैं। 'मायाधनी' कहकर जनाया कि ब्रह्मका अवतार मायाकी प्रेरणासे नहीं होता। ब्रह्म राम तो मायाके प्रेरक हैं, 'निजतंत्र' हैं अर्थात् काल, कर्म, गुण और स्वभावके वश नहीं हैं। काल, कर्म, गुण और स्वभाव आदि के वश तो जीवोंका अवतार (जन्म) होता है; यथा 'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाउ गुन घेरा। उ०।' इनका अवतार कर्मवश नहीं होता, यथा 'करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।' ये स्वतन्त्र हैं, अपनी इच्छासे अवतार लेते हैं, यथा 'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि। कि० २६।' [बैजनाथजी 'व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी' का अर्थ यह करते हैं कि—'मायारचित जितने भुवन हैं उन सबोंमें जो व्यापक ब्रह्म है जिससे सारा चराचर चैतन्य है, और जितने विष्णु, महाविष्णु और नारायणादि सगुणरूप हैं, इन अगुण सगुण दोनों रूपोंके, तथा समस्त भुवनोंके और मायाकेभी पति 'राम' हैं। प्रभु राम सूर्यवत् हैं और व्यापक ब्रह्म उनका तेज है। विष्णु आदि यावत् रूप हैं वे प्रभुके अंशकला हैं। सतीजीकी तर्कणामें अगुण और सगुणका माहात्म्य है इसीपर शिवजी कहते हैं कि जिन रूपोंको तुम महत्व माने बैठी हो उनकेभी पति साकेतबिहारी श्रीरामरूप हैं।'] (ग) 'भुवननिकायपति मायाधनी' कहकर 'अवतरेउ अपने भगतहित' कहनेका भाव कि मायाके बनायेहुए समस्त ब्रह्माण्डोंमें अपने भक्तोंका हित करनेकेलिये अवतार लेते हैं। यथा 'प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा देखौं बालबिनोद अपारा। उ० ८१।', 'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे। सुं०।','सो केवल भगतन्ह हित लागी। बा० १३।५।', 'भगति हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। उ० ७२।' इत्यादि। 'अपनेभगत=निजभक्त, सच्चेभक्त। यथा 'जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं। बा० १५०।', 'तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।७।७४।' इत्यादि। ☞ यहाँ 'अपने' विशेषण देकर जनाया कि प्रभु संतसे इतना अपनपौ रखते

हैं कि उनके निमित्त अवतार लेते हैं। (घ) 'निज तंत्र नित रघुकुलमनी' इति । ['तन्त्र' के दो अर्थ हैं—१ अधीन, वश। २ आनन्द या प्रसन्नता, (कृपा या इच्छा)। निजतंत्र=स्वतंत्र एवं अपनी प्रसन्नता, कृपा या इच्छासे।—शेष भाव ऊपर (ख) में लिखे जा चुके हैं।] नित–नित्य। 'नित्य' का भाव कि इनका आविर्भाव और तिरोभाव, प्रकट होना और अन्तर्धान होजाना दोनों अपनी इच्छाके अनुकूल होता है। 'रघुकुलमनी' अर्थात् ये रघुकुलमणि हैं, रघुकुल में अवतार लिया है। 'निज तंत्र' 'अवतरेउ' और 'रघुकुलमनी' दोनोंके साथ है।

नोट—१ सतीजीने दो सिद्धान्त किये थे। एक यह कि ये ब्रह्म नहीं हैं, इसका उत्तर 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा' से लेकर 'सोइ राम व्यापक ब्रह्म' में दिया कि ये राम ब्रह्म हैं। दूसरे यह कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता। इसका उत्तर 'सोइ रामु व्यापक ब्रह्म अवतरेउ अपनें भगत०' से दिया कि यह अवतार लेता है। अवतारका कारण और देशभी बताया।

२ 'अपने भगत हित' कहकर यह अवतार 'निजभक्त' श्रीमनुशतरूपाजीके हितार्थ लेना जनाया। मनुशतरूपाजी निज (अनन्य) भक्त हैं, यथा 'प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी। बा० १४५।' उनके सामने जो श्रीसीतारामजी प्रकट हुए वे ही ब्रह्म हैं और वेही वरदानानुसार उनके लिए प्रकट हुए हैं। यही बात आगे शिवजीने पार्वतीजीसे यों कही है—'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा। बा० १४१।' ये वही मनुजीको दिए हुए वरके अनुसार अवतरे हैं, यह बात शिवजीके 'जौं प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा। बा० १४१।' इन वचनोंसे स्पष्ट है।

३ स्वामी श्रीरामदेवजी लिखते हैं कि—'इस छन्दमें व्यापक, ब्रह्म इत्यादि पदोंसे निर्गुण, निर्विकार, एक, अद्वितीय, सच्चिदानन्दघन परमात्माकाही संकेत है, जो माया के द्वारा समस्त संसारमें बसा हुआ है। यही अपने भक्तोंके कल्याणके लिये सगुणरूपसे प्रकट होता है। इस कथन से निर्गुण और सगुण ब्रह्मका अभेदान्वय किया गया है, न कि भेदान्वय। (कल्याण १३।११)।

वि० त्रि०—यह छन्द २८ दलका कमल है। हरिगीतिका छन्द है।

टिप्पणी—४ 'लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।' इति। (क) 'लाग न उर उपदेसु' यह बातभी अंतर्यामी भगवान् शंकर जान गए। उपदेश न लगनेका स्वरूप यह है कि जो शिवजीने उपदेश किया कि 'मुनि धीर योगी और सिद्ध निर्मल मनसे जिसका ध्यान करते हैं, वेद पुराण शास्त्र जिसका यश गान करते हैं, जो हमारे इष्ट हैं, जिनका नाम हम जपते हैं, वही राम व्यापक ब्रह्म अपने भक्तोंके हितार्थ अवतरित हुए हैं।' यह बात उनको निश्चय न हुई, उनको न जँची, मनमें न बैठी, इसीसे तो पार्वतीतनमें उन्होंने इसी बातका संदेह कहकर प्रश्न किया है, यथा 'प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥ सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना। तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनग आराती। राम सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुण अलखगति कोई॥ जौं अनीह व्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥ बा० १०८—१०९॥' (ख) शिवजीका उपदेश 'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ।' से लेकर 'अवतरेउ अपने भगतहित०' तक है। (ग) 'जदपि कहेउ सिव बार बहु' इति। बडे लोगोंकी रीति है कि (जीवके कल्याणार्थ वे उसे) समझानेके लिए बार बार कहते हैं, यथा 'तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।' (घ) ['जदपि' (यद्यपि) का भाव यह है कि एक तो शिवजी ऐसे जगद्गुरुका उपदेश और वह भी बार बार। तब भी न समझ पडा, यह आश्चर्य की बात है। यह भाव शिवजीके 'मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं।' आगेके इन वचनोंसे सिद्ध होता है। यहाँ 'विशेषोक्ति अलंकार' है—'विद्यमान कारण बन्यो तऊ न फल जहँ होइ'। (अ० म०)]

५ 'बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानि जिय' इति। (क) 'बोले बिहसि' हँसकर बोलनेका

भाव यह है कि साधारणतया उपदेश न माननेसे लोगोंको क्रोध हो आता है पर शिवजीको इस पर क्रोध न हुआ। वे प्रसन्न हैं। प्रसन्नताका कारण 'हरिमायाबल जानि जिय' है। अर्थात् भगवान्‌की मायाका बल जानकर वे सतीजीका इसमें कुछ दोष नहीं मानते, तब उनपर रुष्ट क्यों हों? प्रभुकी मायाका ही बल है, कर्त्तव्य है, जबरदस्ती है कि उसने हमारे बारंबार समझानेपर भी हमारे उपदेशको उनके हृदयमें प्रविष्ट न होने दिया। उपदेश न लगनेमें उसीकी प्रेरणा है।

नोट—४ 'बिहसि' इति। अथवा, मायाकी प्रबलता देखकर हँसे कि प्रभुकी माया ऐसी प्रबल है कि पतिव्रताशिरोमणि सतीने हमारा भी उपदेश न माना। यथा 'निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला॥ १। १२२।' (नारदजीपर प्रभाव देखकर हँसे थे)। प्रभुकी माया अति प्रबल है। यथा 'सुनु खग प्रबल राम कै माया। जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई॥ उ० ५६॥', 'प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा। बा० ५६।' (☞ उ० ५८ से ६२ तक मायाका प्राबल्य वर्णित है। बैजनाथ जी हँसनेका भाव यह लिखते हैं कि 'हमारे समझाए नहीं समझतीं हो तो इसका फल भोगो।'

५ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'बिहसि'—शब्दमें उपहासभाव और परिहासभाव दोनों ही हैं। उपहासभाव यह है कि हरिमायाके सामने अपनी हार मानते हैं कि हमारा समझाना भी न सफल हुआ। और, परिहास (विनोद) भाव सतीके साथ है, जैसे जब हमारा मित्र नहीं मानता तो हम कहते हैं—अच्छा, जाकर परीक्षा लो, खूब छकोगे। हाँ! शिवजीकी उदारताका भी यह द्योतक है कि क्रोध नहीं किया।

जौं तुम्हरें मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा‡ लेहू॥ १॥
तब लगि बैठ अहौं* बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥ २॥
जैसें जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी॥ ३॥

अर्थ—जो तुम्हारे मनमें अत्यन्त सन्देह है तो जाकर परीक्षा क्यों नहीं ले लेतीं?॥ १॥ जबतक तुम मेरे पास (लौटकर) आवोगी तबतक मैं बड़गदकी छायामें बैठा हूँ। २। जिस प्रकार तुम्हारा भारी मोह और भ्रम दूर हो, विवेकसे सोचसमझकर तुम वही उपाय करना। ३।

टिप्पणी—१ 'जौं तुम्हरें मन अति संदेहू।' इति। (क) पूर्व कह आए हैं कि 'उर उपजा संदेहु बिसेपी।' इसीसे यहाँ कहते हैं—'जौं तुम्हरें मन अति संदेहू'। अर्थात् 'अति संदेह' है, तभी तो हमारे समझानेसे भी नहीं जाता। 'अति संदेह' बिना परीक्षाके नहीं जाता अतः कहते हैं 'तौ…'। (ख) 'तौ किन जाइ परीछा लेहू।' अर्थात् हमारे कहनेसे नहीं जाता तो परीक्षा लेकर उसे दूर कर लेना चाहिये। 'किन लेहू' का भाव कि वे तो अभी विद्यमान हैं, समीप ही हैं, तुरत परीक्षा लेकर संदेह मिटा लेना चाहिए, ऐसा करने में विलंब करना उचित नहीं, शीघ्र जाकर परीक्षा लेलो कि ये ब्रह्म ही हैं या नहीं। किन=क्यों नहीं। यथा 'बेगि करहु किन आँखिन ओटा।' [महेशजीकी ईशान शक्ति भी सतीजीके संशयोंका निरास करनेमें असमर्थ ठहरी; अतः 'अतिसंदेह' कहा। शिवजी समझ गए कि इन सन्देहोंका निरास केवल श्रीरामकृपासे ही होगा। इस 'अति संदेह' को ही आगे 'असका' (अतिशंका) कहेंगे। (प० प० प्र०)]

२ 'तब लगि बैठ अहौं बट छाहीं।०' इति। (क) [वटवृक्षकी छायामें बैठनेको कहा, क्योंकि एक तो वटवृक्ष आपको प्रिय है, यथा 'तेहि गिरिपर बट बिटप बिसाला।…सिव बिश्राम बिटप श्रुति गाया। बा० १०६।' दूसरे, वट आपका स्वरूप कहा गया है, यथा 'प्राकृत वटवृट बसत पुरारी हैं।' तीसरे (बैजनाथजी लिखते हैं कि फाल्गुन कृ० ६ से किंचित् घाम होने लगता है। उनके मतसे) सीताहरण फाल्गुन कृ० ६के पश्चात् हुआ। प० रामकुमारजी लिखते हैं कि चैत-बैशाखके दिन हैं। घाम कुछ तेज होने लगता है। और वटछाया गर्मीमें शीतल और ठंढकालमें गर्म होती है। यथा 'कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री चेष्टिका-

‡ परिच्छा—गौड़जी, ना० प्र०। परिछा—रा० प०। * रहौं—रा० प०, पं०

गृहम्। शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्॥' अत: उसके नीचे ठहरनेको कहा। चौथे, पासमें बटका ही वृक्ष होगा, इससे साधारणत: यह बात कही।] (ख) 'बैठ अहौं जब लगि तुम्ह ऐहहु', इस कथनसे उनको पूरा अवकाश दिया। अर्थात् शीघ्रता न करना, सावधानतासे काम बनाकर, अच्छी तरह परीक्षा लेकर अपना संदेह निवृत्त करके आना, चाहे जितना समय लगे इसकी पर्वा न करना, मैं यहाँ बराबर बैठा रहूँगा जब तक तुम न आ जाओगी।

३ 'जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।०' इति। (क) हरिमायाका बल भारी है। इसीसे मायाकृत विकारोंको भी भारी कहते आ रहे हैं, यथा 'सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी।', 'अस संसय मन भएउ अपारा।' तथा 'जैसे जाइ मोह भ्रम भारी'।—संदेह, संशय, मोह और भ्रम ये सब माया कृत विकार हैं। (ख) पूर्व 'जौं तुम्हरे मन अति संदेहू' और यहाँ 'मोह भ्रम भारी' कहकर सूचित किया कि सामान्य मोह होता तो हमारे इतने ही उपदेशसे मिट जाता, भारी है इससे दूसरे शरीरमें भी साथ लगा रहेगा। पुन: भाव कि भारी है इसीसे यह बातोंसे न जायगा, परीक्षासे ही जायगा। (ग) 'करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी' इति। ☞ शिवजीने विवेकसे विचारकर यत्न करनेको कहा। यदि इस प्रकार प्रथम ही सावधान न कर दिया होता तो सतीजीको कुछ भी दोष न लग पाता। तब वे यह कह सकती थीं कि आपहीने तो मुझे परीक्षा लेनेके लिये भेजा था, अब हमारा त्याग क्यों करते हैं ? मेरा इसमें अपराध क्या ? अपराध केवल इतनेहीसे हुआ कि शिवजीने विवेकपूर्वक विचार करके परीक्षा लेनेको कहा था और इन्होंने मोहाविष्ट होनेसे अविवेकसे परीक्षा ली।

नोट—१ 'करेहु सो जतनु' में ध्वनिसे यह अर्थ भी निकलता है कि संदेहनिवारणार्थ कोई प्रयत्न उठा न रखना, संदेह दूर करके आना। 'बिबेकु बिचारी' में भाव यह भी है कि सहसा अविवेकसे कोई अनुचित काम न कर बैठना कि पछताना पड़े। 'बिबेकु बिचारी' अर्थात् विवेकपूर्वक सोच लेना कि जो उपाय तुम करना चाहती हो वह उचित है या नहीं।

नोट—२ यहाँ लोग यह शंका कर बैठते हैं कि 'शिवजीने जानबूझकर सतीजीको आपत्तिमें डाला यह उचित नहीं जान पड़ता।' बैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रवृत्तिमार्गमें व्यावहारिक देशमें तो ये वचन अनादरणीय हैं, ठीक नहीं हैं। परन्तु निवृत्तिमार्ग अर्थात् पारमार्थिक देशमें यह भी एक उपदेश है। उन्होंने अच्छा ही किया, क्योंकि जीव जैसेभी भगवत्सन्मुख हो सके वैसा ही करना बड़ोंका कर्तव्य है। इसी विचारसे उन्होंने परीक्षा लेनेको भेजा।' (बै०, मा० प०)। ☞ नाभाकृत भक्तमाल और उसकी टीका 'भक्तिरसबोधिनी' में मन्दालसा महारानी और उनके पुत्र राजा अलर्ककी कथा है। माता जब वनको चली गई तब अपने सुयोग्य विरक्त सब पुत्रोंसे कह दिया कि देखो तुम्हारा छोटा भाई भवसागरमें न पड़ जाय, जैसे हो सके उसकोभी संसारसे विरक्त करा देना। भाइयोंके सदुपदेशको जब अलर्कने न माना तब उन्होंने अपने मामा काशीनरेशसे उसपर चढ़ाई करा उसका राज्य छिनवा दिया तब उसको उपदेश लगा और वह भी परम भक्त हो गया।

मनुष्य जब प्रत्यक्ष देख लेता है तब बोध शीघ्र हो जाता है। भुशुण्डीजीने भी प्रत्यक्ष सब देखा तब मोह मिटा और पक्का विश्वास होगया। कहा भी है कि 'जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।' श्रीरघुनाथजीमें विश्वास और प्रेम हो, इसीलिये शिवजीने उन्हें परीक्षा लेने भेजा।

यह भी कहा जा सकता है कि यदि हम यह मानते हैं कि शिवजी भावीको जानते थे तो उसका एक सीधा उत्तर यह है कि इस नाट्यमें एक पात्र (अभिनेता) होनेके कारण उनका उस लीलामें सम्मिलित और सहायक होना उचितही है। यदि मानें कि वे भावी न जानते थे तब अवश्य यह कहना पड़ता है कि अभी संशयकी प्रारंभिक अवस्था थी, कुछ काल समझानेपर जब न समझमें आता तब भलेही दंडका उपाय सोचा जाता। इस समय सतीजीको प्रभुके निकट भेजनेसे कितने उपद्रव हुये। दक्षका अपमान हुआ,

दक्ष और उसके यज्ञकी दुर्दशा हुई, सतीजी भस्म हुईं, इत्यादि। यदि भक्तवत्सल और दयालु प्रभु सहायता न करते तो न जाने फिर कभी इन दोनोंका संयोग होता। जान पड़ता है कि शंकरजीने जो कुछ किया वह भगवत्-इच्छानुकूल किया। परन्तु हम लोगोंको ऐसी अवस्थामें बहुत सावधानीसे काम करना चाहिये।

प० प० प्र०—यहाँ शिवजीपर आक्षेप करना मोहकाही लक्षण है। अनुमान, शास्त्र और आप्त-वाक्य प्रमाणोंसे जिनका समाधान नहीं होता उनको प्रत्यक्ष प्रमाणसे समाधान होना सहज संभव होताहै। सतीजीके संशय प्रत्यक्षप्रमाण जनित थे, अतः हरि कृपासे प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे उनका संहारशक्य है यह जानकर और सतीजीको संदेहजनित दुःखोंसे शीघ्रतम छुड़ानेके सद्धेतुसेही शिवजीने विनोदमेंही कहा कि 'तौ किन जाइ परीछा लेहू'। सतीजीने विनोदकोही प्रमाण मान लिया और अपने तर्कोंकी सत्यता सिद्ध करनेके लिये ही चल पड़ीं। उनका दृढ़ विश्वास है कि ये 'राम' केवल नृपसुत हैं इसीसे विवेकपूर्वक विचार न कर माया सीता बन गईं। इसमें शिवजीका लेशमात्र दोष नहीं।

चलीं सती सिव आयसु पाई। करहिं १ बिचारु करौं का भाई ॥४॥

अर्थ—शिवजीकी अनुमति पाकर सतीजी चलीं। मनमें विचारती हैं कि भाई! मैं क्या करूँ ।४।

टिप्पणी—१ शिवजीकी आज्ञा पातेही सतीजी परीक्षा लेने चल पड़ीं। इससे पाया गया कि उनके हृदयमें परीक्षा लेनेकी इच्छा तो थी ही, आज्ञा पातेही परीक्षा लेनेका उत्साह हुआ; क्योंकि उनके हृदयमें अति संदेह है। [इससे यहभी जनाया कि शिवजीकी आज्ञा न होती तो कदापि न जातीं, क्योंकि वे सती अर्थात् पतिव्रता हैं। (मा० प०)]

२ 'करहिं बिचारु करौं का भाई।' इति। (क) तात्पर्य कि कोईभी विचार मनमें नहीं आता। ☞ जब शिवजीने आज्ञा दी थी कि विवेकसे विचारकर यत्न करना, तब सतीजीको पूछ लेना चाहिये था कि आपही परीक्षाका जो उपाय बतावें वही मैं जाकर करूँ। यह पूछनेका ज्ञान न रहा, उन्होंने न पूछा। हरिमायाके वश हैं। अतः आज्ञा पातेही तुरंत चलदीं। (ख) 'शंकरजीकी आज्ञा है कि विचार करना, इसीसे करहिं बिचार' अर्थात् विचार करती हैं। ☞ यहाँ 'बिचार' पर सतीका प्रसंग छूटा। (ग) 'करौं का भाई' इति। ☞ 'भाई' मनका सम्बोधन है। विचार करनेमें, वार्ता करनेमें मनको भाई संबोधन करना मुहावरा है। यथा 'जग बहु नर सर सरि सम भाई। बा० ८', 'होइहि जात गहरु मोहि भाई। बा० १३२।', 'तरुपल्लव महुँ रहा लुकाई। करइ बिचार करउँ का भाई। सुं० ६।', 'आन दंड कछु करिय गोसाईं। सबही कहा मंत्र भल भाई। सुं० २४।' इत्यादि।

नोट—मानसपत्रिकाकार 'करौं का भाई' का भाव यह लिखतेहैं कि—'का भाई' अर्थात् श्रीरामजी-की मनभाई कौनसी बात करूँ। सीताजीका रूप धरूँ, यह उनके मनको भावेगा। यह बात शिवजी जान गए, अतः अनुमान करने लगे।'—(परन्तु शिवजीको 'का भाई' यदि ऐसा भाव लें तो अधिक संगत होगा, क्योंकि शिवजीने कहा ही था कि 'विवेकसे विचारकर' करना।)

इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना ॥५॥
मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं ॥६।

अर्थ—इधर (वटतले बैठेहुए) शिवजीने मनमें ऐसा अनुमान किया कि दक्षसुताका कल्याण नहीं है। ५। मेरेभी समझानेसे संदेह दूर नहीं हो रहे हैं। विधाता उलटे हैं, (अतः) कुशल नहीं है। ६।

टिप्पणी—१ 'इहाँ संभु अस मन अनुमाना।' इति। (क) ☞ 'इहाँ'—पद देकर जनाया कि कुबुद्धिकी बात करनेवालेके साथ कविकी बुद्धि नहीं है, क्योंकि सतीका कल्याण नहीं है। कविकी बुद्धि शिव-

१ करइ—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। करहिं—१६६१, १७०४।

जीके साथ है, इसीसे 'इहाँ'—पद दिया। अथवा, सतीका शिवजीके समीपसे चलना कहकर अब शिवजीका हाल कहते हैं ? कविकी बुद्धि इस समय शिवसमीपही है, अतः इस जगह 'तहाँ' कैसे कहें ? यदि सतीजीका श्रीराम समीप पहुँचना कहकर शिवजीका हाल लिखते तो 'इहाँ' न कहकर 'उहाँ' कहते। (ख) 'दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना' इति। शिवसम्बंधीका अकल्याण असंभव है और सतीका कल्याण नहीं है। अतः दक्ष संबंध यहाँ दिया। अथवा, शंकरजी सोचते हैं कि दक्ष अज्ञानी है, मुझमें श्रद्धा नहीं रखता, हमको नहीं मानता। उस दक्षका अंश सतीमें आगया है, इसीसे यह हमारा कहा नहीं मानतीं, अतः इनका कल्याण नहीं है। कल्याण=भलाई।

नोट—१ अनुमान करनेमें शंभु नाम दिया। आप कल्याणकर्त्ता तो जीवमात्रके हैं; यथा—'बिनु सभु कृपा नहिं भो बिवेक। विनय।' और स्त्रीके लिये तो पतिही सर्वकल्याणका मूल है, इसीसे सतीके कल्याणपर अबभी उनकी दृष्टि है। उसपरभी शंभु ऐसे पतिके वचनका निरादर किया और कल्याणकर्त्ता शिवको छोड़ परीक्षा लेने गईं, मानों कल्याणको खो बैठीं। 'दच्छसुता'—४८ (६) देखिये।

टिप्पणी—२ 'मोरेहु कहे न ससय जाहीं।०' इति। (क) 'मोरेहु' का भाव कि सती हमको ईश्वर, जगत्‌पूज्य जगदीश जानती हैं, यथा 'संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा।', दूसरे हम इनके पति हैं। पतिव्रता होकरभी हमारे वचनमें प्रीति नहीं है, इसीसे विधाता विपरीत हैं, और विधाताके विपरीत होनेपर फिर भला भलाई कहाँ होसकती है ? (ख) कोई किसीके भलेका उपदेश करे और वह न माने तो जानना चाहिए कि उसपर विधि विपरीत हैं। यथा 'मंदोदरी हृदय कर चिंता। भयउ कतपर बिधि बिपरीता। ५. ३७।' विधाताके विपरीत होनेपर ईश्वरकाभी उपदेश नहीं लगता, जैसे दुर्योधनको व्यास और श्रीकृष्णजीका उपदेश न लगा। इस प्रकार 'मोरेहु कहें' का भाव यह हुआ कि ईश्वर संशय नाश करनेकी अवधि है। मैं ईश्वर हूँ। (मेरे वचन मोहान्धकारको दूर करनेके लिये रविकिरण समान हैं, यथा सुनु गिरिराजकुमारि भ्रमतम रविकर वचन मम।११५।' सूर्यकिरणसे अंधकार मिटता है यह विधि है, वैसेही मेरे वचनसे मोह मिटताहै, यह विधि है), मेरेभी उपदेशसे संशयका नाश न हुआ तब और किसके उपदेश से नाश होगा ? अतः निश्चय है कि विधाता विपरीत है। (एवं यह बात विधि विपरीत है) (ग) संशय अपार है, इसीसे 'जाहीं' बहुवचन क्रिया दी।

श्रीबैजनाथजी—नहि कल्याना', 'भलाई नाहीं' इति। निश्छल जीव जब प्रभुके सम्मुख होता है तो उसका उसी देहसे कल्याण होता है। सतीजी छलसहित जाती हैं, इसलिये प्रभु उस छलमय देहको नाशकर तब दूसरी देहमें इनका कल्याण करेंगे। 'विधि बिपरीत' है अर्थात् कुभाग्य उदय हुआ है। अथवा, छलरूप 'विपरीत विधि' से प्रभुके सम्मुख गई हैं इससे देहमें भलाई नहीं है।

नोट—प० रामकुमारजीने अपने एक पुराने खर्रेमें 'विधि बिपरीत' का भाव यह लिखा है कि —'विधि' अर्थात् शास्त्रोक्त विधान या व्यवस्था तो यही थी कि सतीजी पतिकी आज्ञाका पालन करतीं, पतिके वचनपर विश्वास करतीं, सो न करके वे उसके प्रतिकूल कर रही हैं। अतः भला न होगा। वेदान्तभूषणजीका मत है कि 'उत्तम शिक्षाको मान लेना 'उत्तम (कल्याणकारी) विधि' है और उसपर ध्यान न देना, उसे न मानना 'विपरीति विधि' है। जिसकी आयु क्षीण हो जाती है, उसे हितकारी उपदेश नहीं लगते यथा 'दीपनिर्वाण गधं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्। न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः। सु० र० भा०।' सतीजीकी आयु अब क्षीणवत् होगई है, इसीसे 'मोरेहु कहें न संसय जाहीं' यह 'विपरीत विधि' हुई। पति परित्यक्ता और अपमानिता होकर मरना 'भलाई नाहीं' है, यद्यपि सतीजी अभी सत्तासीहजार वर्ष जीवेंगी किन्तु यहभी तो उनके लिये गतायुवतही है।' और प० प० प्र० का मत है कि 'माया-मोह विनाशार्थ श्रीरामकी शरण लेना अनुकूल विधि है। प्रभुकी परीक्षा लेनेके लिये उनके सम्मुख जाना 'विपरीत विधि है।' इसी प्रकार एक भाव यह भी हो सकता है कि 'विपरीत विधि' से अर्थात् यदि यह वहाँ जाकर कोई विपरीत

घात करें तो भलाई नहीं। यह भाव शिवजीके 'लीन्हि परीच्छा कवन विधि कहहु सत्य सब बात ॥ ५५।' से भी सूचित होती है।—परन्तु मेरी समझमें इन सर्वोंमें खींच-तान ही है।

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥ ७॥

अस कहि लगे जपन हरिनामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा॥ ८॥

अर्थ—होगा तो वही जो श्रीरामजीने रच रक्खा है। तर्क करके शाखा प्रशाखा कौन बढ़ावे ?।७। ऐसा कहकर वे हरिका नाम जपने लगे। (उधर) सतीजी वहाँ गईं जहाँ सुखके धाम प्रभु (श्रीरामजी) थे।८।

टिप्पणी—१ 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।०' इति। (क) इस कथनसे स्पष्ट है कि शिवजीभी यह नहीं जानते कि श्रीरामजीने क्या विचारा है, इसीसे वे संदिग्ध वचन कह रहे हैं। शिवजी सर्वज्ञ हैं, सतीजीके हृदयकी सब बात जानगए पर यह न जान पाए कि प्रभुने सतीजीके लिये क्या रचना रच रक्खी है। यदि वे जानते कि सती सीताजीका रूप धरेंगी तो वे प्रथमही मना कर देते कि ऐसा न करना, नहीं तो हम तुमको त्याग देंगे। श्रीसीताजीका रूप धारण करनेसे शिवजीको बड़ा दुःख हुआ। यथा 'सती कीन्ह सीता कर बेषा। सिव उर भएउ बिषाद बिसेषा।' यदि वे जानते तो भारी विषादकी बात ही क्यों होने देते ? (ख) 'को करि तर्क बढ़ावै साखा।' इति। भाव कि तर्क करके शाखा बढ़ानेमें काल व्यर्थ व्यतीत हो रहा है। यही बात आगे कहते हैं—'अस कहि जपन लगे हरिनामा।' पूर्व कह आए हैं कि 'इहाँ संभु अस मन अनुमाना' और यहाँ कहते हैं कि 'को करि तर्क बढ़ावै साखा।' इससे पाया गया कि 'मनमें अनुमान करना' ही 'तर्क करना' है। तर्कपर तर्क होना यही शाखा बढ़ाना है। ('शाखा'=बुद्धिके विचारोंका विस्तार)।

नोट—१ 'को करि तर्क बढ़ावै साखा।' इति। अर्थात् एक बार सोचेंगे कि ऐसा होगा, फिर उस-पर तर्क करेंगे कि ऐसा है तो इसका फल यह होगा, और ऐसा होगा तो उसपर यह होगा, इत्यादि, ज्यों ज्यों उसपर विचार करेंगे, तर्कपर तर्क बढ़ता ही जायगा, मनकी वृत्ति सोचमें ही डूब जायगी, कुछ लाभ न होगा। ☞ यहाँ भगवद्भक्तोंकी रहनि-रीति दिखाते हैं कि जब उनको कोई असमंजस आ पड़ता है तब वे तर्क वितर्क में न पड़कर प्रभुहीपर उसका भार छोड़ देते हैं और प्रभुकी इच्छाकोही मुख्य मानते हैं। यथा 'संभु दीन्ह उपदेश हित नहिं नारदहि सोहान। भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान॥ बा० १२७। राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहि कोई॥', 'बोले बिहसि महेस तब ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ। १। १२४।', तथा 'राम रजाइ सीस सबही के। अ० २५४।' तर्क वितर्कमें पड़नेसे अपार संशयोंके उत्पन्न होनेसे भगवत् स्मरणमें बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः ऐसा विचारकर वे भजनमें तत्पर हो जाते हैं। यही बात शिवजीने की। तर्कवितर्क छोड़ नाम जपने लगे। ऐसे अवसरमें उच्च स्वरसे रामनाम रटनेसे शान्ति प्राप्त हुआ करती है।

२ शिवजीके 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा', 'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं', 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई', 'हरि इच्छा भावी बलवाना', इन वाक्यों तथा भुशुण्डीजीके 'नट मर्कट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत।' इस वाक्यका आधार लेकर कोई कोई कहते हैं कि तब तो हमें कुछ कर्त्तव्य ही नहीं, चुपचाप बैठ जाना चाहिये। पुरुषार्थ करके पाप-पुण्यके पचड़ेमें पड़नेका प्रयोजन ही क्या ?

इस शंकाका समाधान हमने प्रसंग पाकर अन्यत्र किया है। हम यहाँ बाबा जयरामदासजीकृत समाधान उद्धृत करते हैं जो उन्होंने किसी जिज्ञासुकी लगभग ऐसी ही शंकापर किया है।

शंका—उपर्युक्त वचनोंके आधारपर बैठ रहना भी कैसे ठीक है जबकि लक्ष्मणजी 'नाथ दैव कर कवन भरोसा' तथा 'दैव दैव आलसी पुकारा' कहकर उपर्युक्त वचनोंका खण्डन कर देते हैं ?

समाधान—'शंकरजीका 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।०' यह वचन जीवमात्रके लिये नहीं है,

बल्कि केवल सतीके सम्बधमें है। इसके अतिरिक्त यह वचन उस स्थितिमें उनके मुखसे निकला है जब उन्हें यह अनुभव हो चुका है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने सतीके साथ जो लीला रच रक्खी है उसका कोई खास उद्देश्य है और वह होकर ही रहेगी। इसलिये शङ्करजीके इस वाक्यको जीवमात्रपर घटाना ठीक नहीं। वैसे तो और भी भगवद्भक्त जो निश्चितरूपसे प्रारब्धपर निर्भर रहते हैं, ऐसा कह सकते हैं और उनका कहना अनुचित न होगा। क्योंकि प्रारब्धवश भोग अटल और अवश्यम्भावी होता है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि प्रारब्धपर निर्भर रहकर और कुछ किया ही न जाय। जो भगवद्भक्त प्रारब्धपर निर्भर रहते हैं वे भी कर्त्तव्य कर्म (भजन ध्यानादि परमार्थ साधन) तो करते ही रहते हैं, अतः प्रारब्धपर निर्भर रहनेवालोंको भी अपना कर्त्तव्य कर्म करते रहना चाहिए और प्रारब्धभोगोंको अवश्यम्भावी समझकर अनासक्तभावसे भोगना चाहिये। इस प्रकार विचार करनेसे श्रीशंकरजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके वचनोंमें कोई पारस्परिक विरोध नहीं प्रतीत होता। एकका वचन प्रारब्ध कर्मके संबंधमें है और दूसरेका क्रियमाण कर्मके सम्बधमें। श्रीलक्ष्मणजीने समुद्रपारहोनारूप कर्त्तव्य कर्मके उपस्थित होते ही अपने उपर्युक्त दोनों वचनोंका प्रयोग किया है।

'नट मर्कट इव' और 'उमा दारुजोषित की नाई' ये दोनों चौपाइयाँ अपने अपने प्रसंगमें ईश्वरके उस स्वरूपके प्रमाणमें आई हैं जो अरण्यकाण्डमें श्रीलक्ष्मणजीके प्रश्न करनेपर भगवान् श्रीरामद्वारा कथित हुआ है। यहाँ भगवान्ने अपने श्रीमुखसे ब्रह्मका निरूपण इस प्रकार किया है—'माया ईस न आपु कहँ जान कहिअ सो जीव। बंधमोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव।' अर्थात् ईश्वर, जीव और माया—इन तीनों तत्त्वोंमें ईश्वर इसीलिये सर्वपर हैं कि वे जीवको बन्धमोक्षके दाता तथा मायाकेभी प्रेरक हैं। अस्तु, यहीं पर उल्लिखित 'बंधमोक्षप्रद' की पुष्टि 'नटमर्कट इव सबहि नचावत' से तथा 'मायाप्रेरक' की पुष्टि 'उमा दारु जोषित की नाई। सबहि नचावत रामु गोसाई' द्वारा की गई है।'—[विशेष सुन्दरकाण्ड 'दैव दैव आलसी पुकारा' दोहा ५१ (४) देखिये]

टिप्पणी—३ 'अस कहि जपन लगे हरिनामा' इति। (क) पूर्व कहा था कि 'इहाँ संभु अस मन अनुमाना' और यहाँ लिखते हैं कि 'अस कहि'। मनके अनुमानमें 'कहना' क्योंकर घटित होगा ? इस शंकाका समाधान एक तो यह है कि प्रथम अनुमान किया, फिर उसीको मुखसे कहा भी। दूसरे यह कि 'दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना। मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं।' इतना मनका अनुमान है। और, 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावहि साखा।' यह वचनसे कहा है। (ख) 'जपन लगे हरिनामा' अर्थात् तर्क वितर्क छोडकर भगवन्नाम जपने लगे, क्योंकि हरिभजन ही मायासे बचनेका एकमात्र उपाय है। यथा 'हरिमायाकृत दोषगुन बिनु हरिभजन न जाहिं। भजिय रामु सब काम तजि अस बिचारि मन माहिं॥ उ० १०४।' क्लेशहरणके सम्बन्धसे 'हरि' शब्द दिया। क्लेशं हरतीति हरिः। 'हरि हरि' जपने लगे, ऐसा भी अर्थ हो सकता है, पर तुलसीदासजीके मतानुसार शिवजी सदा 'राम राम' जपते हैं, यथा 'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनग आराती। १। १०८।' अतः, 'रामाख्यमीशं हरिं' के अनुसार 'राम' नाम जपने लगे, यही अर्थ ठीक है। (ग) 'जपन लगे' से सूचित होता है कि माला हाथमें है, नहीं तो कहते कि स्मरण करने लगे, यथा 'राम नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे। बा० ६०।'

नोट—३ इष्टके ध्यानपूर्वक जिह्वासे उच्चारणको जप कहते हैं और केवल मनसे रूप और नामकी स्मृतिको स्मरण कहते हैं। जब मनमें तर्क वितर्क उठते हैं तब जोर-जोरसे नामोच्चारण करनेसे शान्ति प्राप्त होती है—यह साधारण अनुभवकी बात है।

टिप्पणी—४ 'गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा' इति। (क) सतीजी श्रीरामजीको असमर्थ और दुखी समझती हैं, इसीसे वक्ता यहाँ 'प्रभु सुखधाम' कहकर बताते हैं कि जिनको वे शोकधाम समझकर परीक्षा लेने

गई हैं उनमें दुःख कहाँ ? वे तो हर्षशोकशून्य शुद्ध आनंदघन हैं, पूर्णकाम हैं, मनुष्यचरित कर रहे हैं। यथा 'पूरनकाम राम सुखरासी। मनुजचरित कर अज अविनासी। ३ ३०।' (ख) ['प्रभु' और 'सुखधाम' शब्द परीक्षा प्रसगके बीज हैं। इस प्रसगसे श्रीरामजीकी प्रभुता इनके हृदयमें जम जायेगी और प्रभुत्वसेही सुखधाम होनेकाभी ज्ञान होजायगा।]

दोहा—पुनि पुनि हृदय बिचारु करि धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पंथ तेहिं जेहिं आवत नरभूप॥ ५२॥

अर्थ—बारबार हृदयमें विचारकर श्रीसीताजीका रूप धरकर वे उस मार्गमें आगे होकर चलीं जिसमें 'नरभूप' राजा रामचन्द्रजी आ रहे थे। ५२।

टिप्पणी—१ 'पुनि पुनि हृदय बिचारु करि' इति। सतीजीका प्रसग 'करहिं बिचारु' अर्थात् विचारपर छोड़ा था, अब पुन प्रसग वहींसे उठाते हैं कि सतीजी विचारती रहीं पर कोई विचार हृदयमें आता नहीं, अत पुन पुन विचार करना पड़ा। 'बारबार हृदयमें विचारकर सीताका रूप धरा' इस कथन से पाया गया कि उन्होंने खूब अच्छी तरह विचारकर यह निश्चय किया कि इस उपायसे परीक्षा हो जायगी। वे श्रीरामजीको 'ब्रह्म' समझती हैं। वे पूर्वेही निश्चय कर चुकी हैं कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता और विष्णु जो अवतार लेते हैं वे सर्वज्ञ हैं, वे अज्ञकी तरह स्त्रीको न खोजेंगे—इसीसे उन्होंने सीतारूप धारण किया कि यदि ये विष्णु हैं तो जान जायेंगे कि ये सती हैं, इन्होंने सीतारूप धारण किया है और यदि नर हैं तो न जान पायेंगे।

नोट—१ 'पुनि पुनि बिचारु करि' के और भाव—(क) अर्थात् परीक्षाके अनेक उपाय एक एक करके सोचती विचारती गईं तब यही निश्चय किया कि इस समय ये राजकुमार श्रीसीतावियोग विरह से व्याकुल हैं, इसलिये सीतारूप धारणकर इनको मिलजानेसे तुरतही सहजमें परीक्षा हो जायगी। क्योंकि यदि ये राजकुमार हैं तो हमें देखकर हर्षसे फूले न समायेंगे, व यह न जान पायेंगे कि हम सती हैं। (और तब मैं अन्तर्धान हो जाऊँगी। वि त्रि)। (ख)—शकरजीकी आज्ञा है कि 'करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी', अत 'पुनि पुनि बिचार' करना दिखाया। (ग) प० रामकुमारजीके एक पुराने खर्रेमें यह भाव लिखा है कि 'पुन पुन विचार करनेका आशय यह है कि सतीजीको श्रीसीतारूप धारण करनेमें असमंजस हो रहा है, पर परीक्षाका कोई और उपाय न देखा, तब सीतारूप धारण किया।' पर यह भाव पूर्वापरसे सगत नहीं है। इसीसे उन्होंने पुनर्विचारपर फिर इसे नहीं रक्खा।

२ यदि सतीजी जानतीं कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं तो वे कभी सीतारूप न धारण करतीं, पर वे तो *उनको प्राकृत राजकुमारही निश्चय किये हुए हैं, अत उनकी स्त्रीका रूप धरा।*

टिप्पणी—२ 'आगे होइ चलि पथ तेहिं' इससे स्पष्ट है कि शिवजी दूसरे मार्गमें थे। आगे होकर चलनेका भाव कि यदि मैं पीछे रहूँगी तो राजकुमारोंको सदेह होगा कि ये सीता नहीं हैं, हम तो पीछे सब तिल तिल जगह खोज आए, अब ये कहाँसे आगईं। आगे होकर चलनेमें सदेह न होगा, क्योंकि आगे अभी खोजना बाकी है और श्रीरामलक्ष्मणजी अभी आश्रमसे बहुत दूर नहीं हैं, इसीसे दाहिने बाऍंसे भी न चलीं क्योंकि वह सब दिशायेंभी ढूँढ चुके थे, तुरत जान जाते कि कोई मायावी है। (प० रा० कु०, शीलावृत्ति।) अत जिस ओर राहमें श्रीरामजी आरहे हैं उसी मार्गमें आगे होकर इनकी ओर इनके सम्मुख चलने लगीं।

टिप्पणी—३ 'आवत नरभूप' इति। अर्थात् प्राकृत नरकी तरह स्त्रीवियोगविरहसे व्याकुल वनमें खोजते हुये अपने ऐश्वर्यको छिपाये हुए चले आरहे हैं, यथा 'बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई। ४८।'

नोट—३ (क) 'नर इव रघुराई। खोजत०' पर प्रसग छोड़ा था। अब 'नरभूप' कहकर वहींसे प्रसग का सबध मिलाया। बीचमें शिवजी और सतीजीका हाल कहने लगे थे। (ख) श्रीरामजीको ठगनेके-

लिये अपना रूप छिपाना 'युक्ति अलंकार' है। जहाँ कोई कर्म क्रियाद्वारा छिपाया जाताहै, वहाँ यह अलंकार होताहै। यथा 'मर्म छिपावन हेतु वा मर्म जनावन हेतु। करै क्रिया कछु युक्ति तेहि भाषत सुकवि सचेत॥ अ० म०।' (ग) ☞ यहाँ यहभी दिखायाहै कि पतिकी आज्ञाके उल्लंघन करनेका परिणाम यह हुआ कि विचारभी कुविचार होगया।

४ पाठान्तर पर विचार—किसी-किसी पुस्तकमें 'नरभूप' के बदले 'सुरभूप' पाठ मिलता है। बाबा हरीदासजी 'सुरभूप' का भाव यह लिखते हैं कि "सतीजी श्रीरामजीको भुलावेमें डालनेके लिये बिना हेरी हुई मार्गसे चलीं पर ये यह नहीं जानतीं कि ये 'सुरभूप' हैं, अन्तर्यामियोंमेंभी राजा हैं। सुर अन्तर्यामी होते हैं।" 'नरभूप' पाठ प्राचीनतम है और संगतभी है। सतीजी इन्हें प्राकृत समझे हुए हैं, यथा 'तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा', तभीतो परीक्षा लेने गई। नर जानकरही परीक्षा लेने और ठगनेका विचार ठाना है, नहीं तो सीतावेष क्यों बनातीं ?

लछिमन दीख उमाकृत बेषा। चकित भए भ्रम हृदय बिसेषा॥१॥
कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने उमा (सती) का बनावटी वेष देखा। वे चकित होगए, हृदयमें विशेष भ्रम हुआ।१। वे कुछ कह नहीं सकते। (क्योंकि वे) अत्यन्त गंभीर हैं, प्रभुका प्रभाव जानते हैं और मतिधीर हैं।२।

टिप्पणी—१ 'लछिमन दीख उमाकृत बेषा' इति। (क) 'उमाकृत बेषा'—सतीजीने अपनेको छिपाया, वैसेही ग्रन्थकारभी यहाँ उनको अपने अक्षरोंसे छिपा रहे हैं। इसीसे 'सतीकृत बेषा' न कहकर 'उमाकृत बेषा' लिखते हैं। लक्ष्मणजीको भ्रम हुआ, अत यहाँ 'उमा' कहा। श्रीरामजीको भ्रम नहीं है, अतएव कविने वहाँ नाम नहीं छिपाया, 'सती' ही नाम दिया, यथा 'सतीकपट जानेउ सुरस्वामी। सब दरसी सब अंतरजामी।' जहाँ भ्रम है वहाँ शब्दभी भ्रमात्मक है और जहाँ भ्रम नहीं है वहाँ शब्दभी स्पष्ट है। (ख) प्रथम लक्ष्मणजीका देखना कहा,—यह सूची कटाह-न्यायसे। अथवा, लक्ष्मणजी श्रीरामजीकी सेवामें सावधान हैं, वे सर्वत्र दृष्टि रखते हैं, इसीसे उन्होंने प्रथम देखा, पीछे श्रीरामजीने। (ग) 'उमाकृत बेषा' कहकर जनाया कि उमा सीताजीका रूप धरे हुए हैं; इससे उमाका स्वरूप नहीं है और न साक्षात् सीता हैं। इसीसे यहाँ न 'उमा' कहा न 'सीता'; किन्तु 'उमाकृत बेष' कहा। (घ) ☞ 'उमा' नाम यहाँ देकर वक्ता स्पष्ट कर रहे हैं कि देवताओंके सभी अवतारोंमें सभी नाम सिद्ध रहते हैं। दक्ष प्रजापतिकी कन्या होनेपरभी उनके 'सती', 'भवानी' और 'उमा' नाम कहे गये। यथा 'संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी।' तथा यहाँ 'लछिमन दीख उमाकृत बेषा' और हिमाचलराजके यहाँ जन्म लेनेपर भी ये सब नाम थे। यथा 'नाम उमा अंबिका भवानी।' तथा 'धन्य सती पावनि मति तोरी।' ☞ (पुन॰, उमा, अंबिका और भवानी आदि नाम शिवजीके सबंधसे हैं, दक्ष या हिमाचलके यहाँ जन्म लेनेसे नहीं। सती=पतिव्रता।)) (ङ) 'उमा' कहनेका भाव यह है कि उत्कृष्ट मायाका किया हुआ वेष लक्ष्मणजीने देखा, इसीसे उन्हें विशेष भ्रम हुआ। अन्य रूपमें अन्यरूपका भास होना 'भ्रम' है। सीताका रूप धरनेका विचार करना 'तर्क' है, भ्रम नहीं है। [उमाकृत–उ (वह)+मा (सतीजीका या सीताजीका सा) कृत (किया हुआ)।]

☞ २ सतीजीके कपटमें लक्ष्मणजीको भ्रम हुआ, श्रीरामजीको भ्रम न हुआ। इसी तरह रावणकी मायामें लक्ष्मणजीको भ्रम हुआ, श्रीरामजीको नहीं हुआ। यथा 'तब रावन माया बिस्तारी। सो माया रघुबीरहि बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साची॥ देखी कपिन्ह निसाचर अनी। अनुज सहित बहु कोसलधनी॥ लं० ८८।'; तब भगवतीकी मायामें भ्रम होना क्योंकर असंभव है ? इसी तरह भरतजीके विषयमें श्रीरामजीको भ्रम न हुआ, पर लक्ष्मणजीको हुआ। यथा 'कुटिल कुबंधु कुअवसर ताकी।" आए

करै अकंटक राजू। २। २२८।' (लक्ष्मणवाक्य) तथा 'भरतहि होइ न राजमदु बिधिहरिहर पद पाइ। २। २३१।' (श्रीरामवाक्य)।

अथवा, सती महामाया हैं। उनकी मर्यादा रखनेके लिये श्रीरामजीकी प्रेरणासे लक्ष्मणजीको केवल ऊपरसे (दिखावमात्र) भ्रम हुआ, नहीं तो लक्ष्मणजी तो श्रीरामजीके स्वरूप ही हैं। फिर आगे कवि लिखते भी हैं कि 'सुमिरत जाहि मिटै अज्ञाना।' अर्थात् श्रीरामजीके स्मरणसे अज्ञान मिट जाता है; तब लक्ष्मणजी तो श्रीरामजीका स्मरण दिनरात (निरंतर) करते हैं, उनको अज्ञान कैसे होना उचित होगा?—[निरंतर भजन करनेवाले श्रीशिवनारदादिभी मायाके वश होते देखे जाते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं कि 'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही।३.४३।'; इसलिये यही कहना पड़ता है जो शिवजीने कहा है कि 'ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ। १. १२४।' देखिए न! कि लक्ष्मणजीने कहाँ तो निषादराजको परमार्थ ज्ञानका उपदेश दिया और दूसरेही दिन पिताको कटुवचन कहे और फिर कुछही दिन पीछे भरतजीको मारडालनेको तैयार होगए। अतः ऐसे महाभागवतोंके संबंधमें यही मानना पड़ता है कि प्रभु जिससे जो स्वाँग जब कराना चाहते हैं उसीके अनुकूल वह करता है। ऐसी दशामें यदि उन्होंने सतीजीको न पहचाना हो तो कोई विशेष बात नहीं]

नोट—१ 'लछिमन दीख' इति। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामचन्द्रजी दोनोंही साथ-साथ चले जा रहे हैं। दोनोंकी दृष्टि एक साथ सतीजीके कृत्रिम वेषपर पड़ी—यह न कहकर यहाँ लक्ष्मणजीकी ही दृष्टिका उनके वेषपर पड़ना लिखा। यह क्यों? इसका कुछ कारण पं० रा० कु० जीकी उपर्युक्त टिप्पणीमें लिखा गया। लक्ष्मणजी सेवामें बड़े सावधान हैं। इसी तरह जब श्रीभरतजी चित्रकूटमें पहुँचकर प्रभुको प्रणाम करने लगे तबभी इन्हींकी दृष्टि प्रथम भरतजीपर पड़ी। दूसरे, लक्ष्मणजीका प्रथम देखना कहकर यहभी दिखाते हैं कि श्रीरामजी बहुत विह्वल हैं। तीसरे, 'विष्णुपुराणमें लिखा है कि चलतेसमय न ऊपर माथा उठाकर, न दूरकी वस्तु देखता हुआ और न तिरछे देखता हुआ चले। केवल चार हाथ पृथिवी को देखता हुआ चले इत्यादि अनेक दोष लिखे हैं। यथा 'नोर्ध्वं न तिर्यग् दूरं वा निरीक्षन् पर्यटेद्बुधः। युगमात्रं महीपृष्ठं नरो गच्छेद्विलोकयन्॥ ३।१२।३६।' इसलिये श्रीरामजीने नहीं देखा। और लक्ष्मणजी तो सेवक थे। उनका कर्तव्यही यह था कि देखते चलें और उसकी सूचना दें।' अतः उनका प्रथम देखना युक्तियुक्त है। ऐसाभी कह सकते हैं कि दोनो खोजते चले जारहे हैं, यह स्वय कवि कह रहे हैं—'खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई।' इससे यहभी कहा नहीं जासकता कि श्रीरामजी सब दिशाओंमें नहीं देख रहे हैं। हो सकता है कि उन्होंनेभी देखा हो पर देखकरभी देखी अनदेखी बन गए हों। इसीसे लक्ष्मणजीके विषयमें 'कहि न सकत कछु अति गभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मतिधीरा।' ऐसा कविने कहा है। अर्थात् उन्होंने सोचा कि प्रभु तो देखकर कुछ बोलते नहीं इससे जान पड़ता है कि ये श्रीजानकीजी नहीं हैं, इसमेंभी कुछ विशेष मर्म है। प्रभु देखतेहुएभी देखना जनाते नहीं, इसीसे कवि देखना नहीं लिखते।

२ 'दीख उमाकृत वेषा' इति। पं० रा० कु० जीका मत टिप्पणीमें आगया कि लक्ष्मणजीने उमाका मायाका किया हुआ वेष देखा, इसीसे उनको विशेष भ्रम हुआ। पं० शुकदेवलालजीकाभी यही मत है। वे लिखते हैं कि 'लक्ष्मणजीने सतीजीकी बनावट कुछ नहीं जानी, क्योंकि जीव तो ध्यानावस्थामें ही सर्वज्ञ होताहै। स्वतः सर्वज्ञ तो ईश्वरही है।' श्रीनंगे परमहंसजी (बाबा श्रीअवधविहारीदासजी) काभी यही मत है। वे लिखते हैं कि 'उमाकृत' का अर्थ है 'पार्वतीका किया हुआ'। पार्वतीका किया हुआ वेष क्या है? पार्वती सीताजी बन गईं। इन सीताजीको देख लक्ष्मणजी चकित हुए, क्योंकि उनके (लक्ष्मणजीके) हृदयमें विशेषरूपसे भ्रम होगया कि ये निश्चयही सीताजी हैं। 'भ्रम'-शब्दका अर्थ है असत्में सत्का निश्चय होजाना।

जैसे रस्सीमें साँपका निश्चय हो जाना। फिर सतीका कपटवेष श्रीरामजीनेहीने जानना लिखा है; यथा 'सती कपटु जानेउ सुरस्वामी।' इससे ध्वनित होताहै कि लक्ष्मणजीने नहीं जाना। रामजीने क्यों जाना? इसका कारण बताया कि वे सर्वदर्शी और सर्वान्तर्यामी हैं।'

दूसरे पक्षमें मानसमयङ्ककार, करुणासिंधुजी, पंजाबीजी, वीरकविजी, बैजनाथजी, बाबा हरीदासजी और वे० भू० रामकुमारदासजी हैं। इन महानुभावोंका मत है कि 'लक्ष्मणजीकी दृष्टि दशोंदिशाओंमें है। वे सजग रहते हैं। इन्होंने इनको सतीरूपमें शिवजीके साथ देखा, फिर अकेले आते देखा और सीता रूप धारण करतेभी देखा। इसलिये इनको भारी संदेह हुआ कि यह क्या चरित्र इन्होंने किया।' बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीको (सतीजीका सीतारूप धरना) प्रथमही दिखा दिया। जिसमें सतीका कुछभी करतब हमारे साथीपरभी न चल पाए।' श्री प० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'उमा [=महादेवजीकी लक्ष्मी।=जिनको महादेवजीने मना किया था (कि अविवेकसे काम न करना)] शब्दसेही सिद्ध है कि लक्ष्मणजीने यह समझ लिया कि ये सीताजी नहीं हैं, किन्तु सती हैं। लक्ष्मणजी जान गए क्योंकि वे तो 'सेषसहस्त्रसीस-जग-कारन। सो अवतरेउ भूमिभयटारन' हैं। और, वे० भू० जीका मत है कि "लक्ष्मणजी श्रीरामजीके अशावतार क्षीराब्धिशायी श्रीनारायण हैं। ये भी सर्वज्ञ हैं। इनपर दैवीमायाका प्रभाव नहीं पड़ सकता। वे उमाकृत रूपको देखकर न भूले, जानगए कि ये 'उमा' हैं"—इत्यादि।

दूसरे पक्षवाले कहतेहैं कि 'यहाँ प्रभुका 'जननाता' गुण दिखाते हुए प्रभुका प्रभावभी दर्शाया है कि सतीजीने जो माया रची वह माया लक्ष्मणजीकोही न मोह सकी, तब भला प्रभुको क्या धोखा देगी।'

卐 चकित भए भ्रम हृदय बिसेषी 卐

भ्रमका आरोपण कोई तो लक्ष्मणजीमें करते हैं और कोई सतीजीमें। दोनों पक्षोंमें धुरंधर-धुरंधर विद्वान् हैं। सतीजीमें भ्रम आरोपण करनेवाले नारदवचन 'एक बार आवत सिवसंगा। देखेउ रघुकुल कमल पतंगा। भयउ मोहु सिव-कहा न कीन्हा। भ्रमबस बेषु सीय कर लीन्हा॥ बा० ६८।' को प्रमाणमें पेश करते हैं। और जो लक्ष्मणजीको भ्रम होना मानते हैं वे 'लछिमन दीख उमाकृत बेषा' से लेकर 'देखहु नारि सुभाउ प्रभाऊ' तक इसी प्रसंगके शब्दोंको प्रमाणमें देते हैं। और रावणकी माया तथा भरतके संबंधके विचारोंको उदाहरणमें पेश करते हैं।

लक्ष्मणजीको क्या भ्रम हुआ? वे क्यों चकित हुए? इसमें भी दो पक्ष होनेसे दो प्रकारके उत्तरभी हैं।

जो यह मानते हैं कि लक्ष्मणजीने पहचान लिया कि ये सती हैं उनके मतानुसार लक्ष्मणजी इस भ्रममें पड़े हैं कि—

१ शिवजीकी अर्धाङ्गिनी होकर भी इन्होंने यह रूप न जाने किस अभिप्रायसे धारण किया, कुछ समझमें नहीं आता। (प०, वै०)

२ उमाको कृत्रिमरूपमें देख अकेले वनमें घूमने से आश्चर्य है। भ्रम यह है कि किसी कारणसे शिवजीने इन्हें त्याग तो नहीं दिया। या इनपर कोई भारी विपत्ति तो नहीं आपड़ी (वीरकवि)।

३ चकित इससे हैं कि शिवजीकी अर्धाङ्गिनी होकर भी इनका भ्रम और दुर्वासना न गई। इन्होंने शिवजीका कहा न माना। जो मना किया वही

जो यह मानते हैं कि लक्ष्मणजीने यही जाना कि ये सीताजी ही हैं उनके मतानुसार लक्ष्मणजी सोचते हैं कि—

१ यह कोई राक्षसी माया तो नहीं है—(रा० प०)।
२ श्रीजानकीजी यहाँ कहाँसे प्रकट होगईं। (रा० प०)
३ 'इस विशेष भ्रमसे चकित हो गए कि सीता प्राप्ति तो कल्प कल्पमें रावणवधके पीछे होती है। इस कल्पमें, अभी सीताप्राप्तिका, स्वामी जाने, कौन कारण है।' (शुकदेवलाल)
४ 'श्रीसीतारूपधारिणी कोई स्त्री विशेष विछोह दुःख से व्याकुल न होती हुई साधारण रीतिसे अकेली वनमें विचर रही है, यह क्या बात है? उसे तो स्वामी के दर्शनोंकेलिये व्याकुल होना था।'" (वि० टी०)।

इन्होंने किया। लक्ष्मणजी सोचते हैं कि सतीके हृदयमें यह क्या भ्रम छाया है। (मा० प०)

४ विशेष भ्रम हो रहा है कि मेरे समझनेमें तो कुछ चूक नहीं हो रही है। या कोई ऐसी माया हो रही है जो मैं समझ नहीं रहा हूँ। (वि० त्रि०)।

५ लक्ष्मणजी भ्रमके कारण चकित हुए। यथा 'भ्रम तें चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा। उ० ७९।' (पं० रा० कु०। यह भुशुण्डी जीने अपने विषयमें कहा है)।

टिप्पणी—३ 'कहि न सकत कछु अति गंभीरा' इति। 'कहि न सकत' लिखनेका भाव यह है कि यहाँ श्रीरामजीसे कहनेका प्रयोजन था कि सीताजी मिल गईं; पर गंभीरताके कारण न कह सके। सोचे कि 'यह भी कोई राक्षसी माया है। जैसे मारीचने छल किया वैसेही यहाँ भी छल है, नहीं तो जानकीजीको राक्षस भला अकेले क्योंकर छोड़कर चले जाने लगे? जो उमाकृतवेष इन्होंने देखा उसे वे यह कह नहीं सकते कि वह सीता हैं या नहीं। गंभीर हैं, अतः उन्होंने उतावली न की तुरंत कह न दिया। गंभीर=गहरे, हृदय की बात तुरत न कह डालनेवाले। चकित=आश्चर्ययुक्त।

४ 'प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा' इति। कह न सकनेका एक हेतु पहले बताया कि 'अति गंभीर' हैं। यहाँ 'अति गंभीर' होनेका हेतु बताते हैं कि प्रभुके प्रभावको जानते हैं और मतिधीर हैं। प्रभुका प्रभाव जाननेके कारण मतिधीर हैं। अर्थात् उनकी बुद्धि स्थिर है, कभी डगने या चलायमान होनेवाली नहीं। वे खूब समझते हैं कि जो कुछ भी असलियत (वास्तविकता) है वह अभी अभी स्वामीके सामने खुली जाती है, मैं कुछ क्यों कहूँ? ☞ इसी तरह रावणने जब माया रची तब वही लोग धैर्य रख सके जो श्रीरामजीका प्रभाव जानते थे। अन्य सब लोग माया देखकर भाग गए। यथा 'रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी। जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी। जाना प्रताप ते रहे निर्भय कपिन्ह रिपु माने फुरे। लं० ९५।'—[लक्ष्मणजी प्रभाव जानते हैं; यथा 'लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता। भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ संकट परै कि सोई। आ० २८।' वे जानते हैं कि प्रभु सर्वज्ञ और अन्तर्यामी हैं, कुछ चरित करना चाहते हैं, भला उन्हें कौन छल सकता है? प्रभुकी माया परम बलवती है, कोई दैवीमाया उनके सामने कब ठहर सकती है? इत्यादि सब प्रभाव हैं। (करु०, पं०)। पुनः 'सपने होइ भिखारि नृपु रंक नाकपति होइ। अ० ९२।' से 'कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥ भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल। ९३।' तक श्रीरामजीका प्रभाव है जो लक्ष्मणजीने निषादराजसे वर्णन किया है।] लक्ष्मणजीको पूर्ण ज्ञान है कि किसीका कपट यहाँ न चलेगा, अतः 'मतिधीर' कहा। सीताजीके मर्म वचनपर भी इनका मन चलायमान न हुआ। प्रभुकी प्रेरणासेही चलायमान हुआ था; यथा 'हरि प्रेरित लछिमन मन डोला। ३। २८।'

यहाँ तक लक्ष्मणजीके मन, तन और वचन तीनोंका हाल कहा। मनमें भ्रम है, तनसे चकित हैं और वचनसे कुछ कह न सके।

नोट—भावार्थान्तर ये हैं—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि "जो अपराधके प्रति विचारकर वचन बोले वह 'गंभीर' है और जो अपराध देखकरभी कुछ न कहे वह 'अति गंभीर' है। लक्ष्मणजी सतीजीका अपराध देखकरभी कुछ न बोले, इसीसे 'अति गंभीर' विशेषण दिया"। २—न कह सकनेका कारण जो टि० २ में लिखा गया वही मत बैजनाथजीकाभी है। बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि न कह सके क्योंकि 'अति गंभीर हैं, प्रभुका प्रभाव जानते हैं और प्रभुप्रभाव जाननेमें मतिधीर हैं। इसीसे यद्यपि विस्मयका समय है तो भी न कहा।' ३—श्री० भू० जीका मत है कि 'अशांशी विग्रहोंमें तात्त्विक भेद न होनेसे यहाँ कह न सकनेमें लक्ष्मणजीके भी चार विशेषण हैं "अति गंभीर, प्रभु, (चराचरके) प्रभावके ज्ञाता और मतिधीर—जैसे अगली दो अर्धालियोंमें श्रीरामजीके चार विशेषण—'सुरस्वामी; सबदरसी, सब उर अंतर्यामी और सर्वज्ञ'—दिये हैं।"

सती कपटु जानेउ सुरस्वामी। सबदरसी सब अंतरजामी॥ ३॥

सुमिरत जाहि मिटै अज्ञाना। सोइ सरबज्ञ रामु भगवाना ॥ ४ ॥

अर्थ—सर्वदर्शी, सर्वान्तर्यामी, देवताओंके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी सतीजीके कपटको जान गए।३। जिनके स्मरणमात्रसे अज्ञान मिट जाता है, श्रीरामचन्द्रजी वही सर्वज्ञ भगवान् हैं। ४।

नोट—१ 'सुरस्वामी, सबदरसी, सब अंतरजामी' इति। यहाँ उपर्युक्त विशेषण श्रीरघुनाथजीको दिये हैं। जब विरहमें विकल प्राकृत नरकीसी लीला करते देखकर प्रभुको भ्रमसे राजकुमार समझकर सतीजी उनकी परीक्षा लेने चलीं तब 'नरभूप' कहा था, यथा 'आगे होइ चलि पंथ तेहि जेहि आवत नरभूप।' और जब सतीका कपट जानना कहा तब सुरस्वामी इत्यादि कहा। तात्पर्य कि माधुर्यकी जगह माधुर्य कहा और ऐश्वर्यकी जगह ऐश्वर्य कहा। प्रभुके समीप पहुँचते ही उन्होंने सतीका कपट जान लिया। इस स्वतः-सर्वज्ञ गुणके विचारसे यहाँ 'सुरस्वामी' विशेषण दिया, जिसका भाव यह है कि देवता लोग मनकी जान लेते हैं, उनसे कपट नहीं छिपता, तब ये तो देवताओंके भी स्वामी हैं, इन्होंने जान लिया तो आश्चर्य क्या? 'सबदरसी' (सर्वदर्शी) हैं अर्थात् बाहरकी, दूर और निकट रहनेवाली सभी वस्तुओंको जो त्रैलोक्यमात्रमें हैं, सहजही एकरस देखते रहते हैं। 'अन्तर्यामी' हैं अर्थात् सबके हृदयके भीतरकीभी जानते हैं; यथा 'सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ। अ० २५७।' भाव यह है कि कपटको जाना, वेष जो बनाया उसे जाना और सतीके हृदयके भावकोभी जान लिया (प० रा० कु०)।

टिप्पणी—१ 'सती-कपट जानेउ' इति। सतीका कपट जाननेमें इतने विशेषण देनेकी क्या आवश्यकता थी? ये विशेषण इसलिये दिये गये कि एकतो सतीजी देवी हैं, शक्ति हैं, उनका कपट जान लेना साधारण बात नहीं है, पर ये देवमात्रके स्वामी हैं, स्वामीसे सेवकका कपट कब छिप सकता है? यथा 'चलै न चोरी चार की' इति विनये। अतः सुरस्वामी होनेसे जान गए। पुनः,'सती कपट' कहनेका भाव कि सतीजी कोई साधारण देवी नहीं हैं। वे शिवजीकी आद्याशक्ति हैं, 'भव भव विभव पराभव कारिनि' हैं। उनका कपट, मनुष्यकी क्या कही जाय, देवताओंकोभी जानना दुर्लभ है। भगवान् शंकरभी इस कपटको स्वतः न जान पाए, ध्यान करनेपरही जान पाए (यह बात कविने आगे कही है, यथा 'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सतीं जो कीन्ह चरित सब जाना। बा० ५६।' सो उनकेभी कपटको श्रीरामजी स्वतः सब जानते हैं ☞ यही ब्रह्ममें और भगवत्कृपाप्राप्त सिद्ध जीवोंमें भेद है। कपट=चरित। यथा 'सती जो कीन्ह चरित सबु जाना। बा० ५५।'=कपटका आचरण।

टिप्पणी—२ 'सुमिरत जाहि मिटै अज्ञाना।०' इति। (क) सतीजी श्रीरामजीको अज्ञानी समझे हुये हैं, यथा 'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी', 'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञान रामपर आना। बा० ५४।', उसीपर कहते हैं कि जिनके स्मरणमात्रसे दूसरेका अज्ञान मिट जाता है 'उनमें अज्ञान कैसे सम्भव है? वे सतीके कपटको कैसे न जान लेते? अज्ञ समझकर सतीजीने सीतारूप धरा, यदि वे 'अज्ञ' होते तो कपट न जान पाते, पर वे तो 'सर्वज्ञ' हैं। अर्थात् सब वस्तुको जानते हैं, सब कुछ जानते हैं, भूत भविष्य वर्तमान तीनों कालकी बातोंको जानते हैं।'राम' हैं अर्थात् सबमें रमते हैं और 'भगवान्' हैं अर्थात् उनमें ज्ञान, वैराग्य आदि षडैश्वर्य हैं, वे विद्या और अविद्या दोनों मायाओंको जानते हैं। यथा 'वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति।' अर्थात् दोनों मायाओंके स्वामी हैं, महामायापति हैं। तब माया इन्हें कैसे मोह सकती है? तात्पर्य यह है कि ईश्वरमें अज्ञान नहीं है; इसीसे श्रीरामजी अपने स्वरूपसे सतीका कपट जान गए।

नोट—२ (क) 'सती कपट जानेउ।' इस पूर्वार्धमें 'जानेउ' क्रिया दीगई है और इस क्रियाका अभिप्राय तीनों विशेष्यपदोंमें, जो उत्तरार्धमें दियेगए हैं—'सबदरसी, सबअंतरजामी और सर्वज्ञ', पाया जाता है। इसलिये यहाँ 'परिकरांकुर अलकार' हुआ। कपट जाननेकेलिये एकही विशेषण पर्याप्त था तोभी इतने विशेषणोंको, इतने गुणोंको इसमें कारण दिखाया। अतः यहाँ 'द्वितीय समुच्चय अलकार' है। (ख)

पुनः, 'सबदरसी' से जनाया कि वे सब देख रहे हैं कि शिवजी वटतले बैठे हैं और वहींसे ये आई हैं। अन्तर्यामी हैं, अतः जानते हैं कि शंकरजीका उपदेश इनके गले नहीं उतरा, इसलिये परीक्षा लेनेके लिये सीता बनकर आई हैं। (वि० त्रि०)

३ सुधाकरद्विवेदी जी लिखते हैं कि शिवजीने पूर्व जो 'सोइ मम इष्टदेव'......'सोइ राम व्यापक ब्रह्म'......'मायाधनी।' कहा था, उसीकी सचाई यहाँ इन विशेषणों द्वारा दिखाई है।

४ 'सुरस्वामी, सर्वदर्शी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ' में जो भाव कहेगए, भगवती श्रुतिभी ब्रह्मकेलिये वैसाही कहतीहैं; यथा 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।' इति श्वे० श्व० उ० । ३ । १९ ।' अर्थात् वह सम्पूर्ण वेद्यवर्गको जानता है, किन्तु उसे जाननेवाला कोई नहीं है। उसे सबका आदि, पूर्ण एवं महान् कहा गया है।

सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ॥ ५ ॥
निज माया बलु हृदय बखानी। बोले बिहँसि रामु मृदु बानी ॥ ६ ॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजीसे कहते हैं कि) स्त्रीस्वभावका प्रभाव तो देखिये कि सतीजी वहाँभी दुराव (छिपाव, कपट) करना चाहती हैं।५। हृदयमें अपनी मायाके बलकी प्रशंसा करके श्रीरामचन्द्रजी मुस्कुराकर (मीठी) कोमल वाणी बोले।६।

टिप्पणी—१ 'सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ।०' इति। (क) दुराव करना स्त्री स्वभाव है। यथा 'सत्य कहहिं कवि नारि-सुभाऊ। सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ। अ० ४७।', 'बिधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥ सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ। अ० १६२।' सतीजी श्रीरामजीको अज्ञानी, अल्पज्ञ और ऐश्वर्यहीन समझे हैं; इसीसे दुराव कर रही हैं— इसीपर कहते हैं कि 'देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ।' (ख) 'देखहु' कहनेका भाव कि यह बात देखनेही योग्य है, क्योंकि जो बात तीनों कालोंमें संभव नहीं है, वही बात सतीजी स्त्री स्वभाववश कर रही हैं। ☞ स्मरणरहे कि शिवजीने 'नारि स्वभाव' को ही सती मोह प्रसंगमें प्रधान रखा है। यथा 'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ। ५१।' [☞ यही बात अन्य वक्ताभी कह रहे हैं। वेभी शिवजीसे सहमत हैं। इसीसे वे कहते हैं—'देखहु नारि सुभाव०'। ये याज्ञवल्क्यजीके वचन हैं।] (ग) 'तहहुँ' 'वहाँभी' कहनेका भाव कि दुराव वहाँ किया जाना चाहिये, जहाँ लोग न जानते हों। अर्थात् जहाँ अज्ञान हो। पर सतीजी इसके विपरीत उससे दुराव करती हैं जिसके स्मरणमात्रसे दूसरेका अज्ञान दूर होजाता है, जो सर्वज्ञ है, जो भगवान् है।

२—'देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ।' इति। (क) नारि स्वभावकी महिमा देखो। नारि स्वभाव क्या है ? आठ अवगुणोंका होना नारि-स्वभाव है, यथा 'नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं। लं० १६।' विशेष ५१ (६) में देखिए। आठ अवगुणोंमेंसे यहाँ 'अविवेक' अवगुणका ग्रहण है। अर्थात् इन्होंने विवेकसे काम न लिया। 'सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ' अर्थात् जहाँ दुराव न करना चाहिए वहाँभी दुराव किया—यही 'नारि स्वभाव' है। (ख) 'सुभाव प्रभाऊ' इति। अर्थात् स्त्रीस्वभाव ऐसा प्रबल है कि जो न करना चाहिये वहभी करा डालता है। ☞ स्वभावकी प्रबलता देवी, देवताओंपरभी रहती है; यथा 'काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत' इति विनये; 'काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई'। बा० ७।' (ग) "यहाँ 'देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ' किस विचारसे कहा, क्योंकि सतीजी तो श्रीरामजीको सर्वज्ञ नहीं समझती ? यदि सर्वज्ञ समझकर दुराव करतीं तो स्वभावका प्रभाव कहना ठीक होता ?"—इसका उत्तर यह है कि शिवजीने उनको श्रीरामजीका स्वरूप समझा दिया था और यहभी कह दिया कि विवेकसे विचारकर यत्न करना।—इन दोनों उपदेशोंमेंसे सतीजीने एककोभी न माना। सीतारूप

धारण किया, यह अविवेककी बात की। और, अविवेक 'स्त्रीस्वभाव' है।

नोट—१ 'नारि सुभाव प्रभाऊ' कथनका भाव यह है कि स्त्री कितनीही उच्च पदवीको क्यों न प्राप्त हो जावे, पर उसका स्वभाव नहीं छूटता। देखिये, सतीजी एक तो श्रीशिवजीकी पत्नी, दूसरे पतिव्रताशिरोमणि और भगवती, जगज्जननी, तो भी उनमें यह अज्ञान उपस्थित होगया, उनका स्त्रीस्वभाव न छूटा, तब भला साधारण प्राकृत स्त्रियोंके विषयमें क्या कहा जाय? सच है, स्वभाव सब गुणोंको दबाकर सबके ऊपर रहता है। 'अतीत्यहि गुणान सर्वान्स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते।'

वि० टी०—"ब्रह्मवैवर्तपुराण गणेशखण्ड अध्याय ६ में लिखा है—'दुर्निवार्यश्च सर्वेषां स्त्रीस्वभावश्च चापलः। दुस्त्याज्य योगिभिः सिद्धैरस्माभिश्च तपस्विभिः॥' अर्थात् स्त्रियोंका स्वभाव चचल होता है, उससे किसीका बचाव नहीं होता। उसे योगी, सिद्ध तथा हम सरीखे तपस्वीभी कठिनाईसे त्याग सकते हैं।"

नोट—२ स्वभावकी विचित्रता ही यह है कि सर्वगुणसपन्नकी बुद्धिकोभी भ्रम और भ्रममें डाल दे। सत्पुरुषोंमें तथा सती स्त्रियोंमें उनका स्वभाव विशेष साधनोंसे दबा रहता है परन्तु कभी-कभी विशेष कारणोंसे प्रकट हो जाता है। और अन्य पुरुषों और स्त्रियोंमें तो उनका स्वभाव सदा अभिव्यक्त रहता है। अन्य स्त्रियोंसे सती स्त्रियोंमें यही विशेषता है। पुराणोंमें भी इन दोषोंका वर्णन मिलता है, यथा 'अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता। अशौचत्वं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।' इति देवीभागवते। ससारमें कोईभी निर्दोष नहीं हो सकता क्योंकि इसका कारण ही सदोष है। समस्त दोषोंसे निर्मुक्त एक परब्रह्म ही है। (स्वामी रामदेवजी मानसमणि)। 'प्रभाऊ'=प्रभाव अन्तःकरणको किसी ओर प्रवृत्त कर देनेका गुण। सामर्थ्य। महिमा।

टिप्पणी—३ 'निज मायाबलु हृदय बखानी' इति। (क) श्रीरामजीकी मायाका बल श्रीशिवजी समझे, यथा 'बाले बिहसि महेसु हरिमाया बल जानि जिय। ५१।', 'बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा। ५६।' (ख) सतीजी श्रीरामजीको (अपनी मायासे) मोहने आईं, सो वे तो उन्हें मोह न सकीं, उलटे श्रीरामजीकी मायाने उनको ही मोहित कर लिया। ठगने गईं, पर ठगी गईं स्वयं। 'अपनी मायाका बल बखाना' अर्थात् हमारी माया बड़ी बलवती है कि इसने साक्षात् भगवतीको अपने वशीभूत कर लिया, इस तरह उसकी प्रशसा मनमें की। (ग) 'हृदय बखानी' का भाव कि अपना ऐश्वर्य अपने मुखसे कैसे बखान करते? अपने मुखसे अपनी प्रशसा शोभा नहीं देती। अतः हृदयमें बखाना। अथवा, मायाका बल प्रगट बखान करना उचित नहीं है, क्योंकि इसने भक्तको व्याकुल किया है, अतः हृदयमें सराहा। भारी पराक्रमसे पराक्रमीकी प्रशसा होती ही है, यथा 'मूर्छा गइ बहोरि सो जागा। कपिबल बिपुल सराहन लागा। ६। ८३।' वैसे ही अपनी मायाका पराक्रम देखकर कि इतनी प्रभावशालिनी भगवतीकोभी उसने बलात् विमोहके वश कर डाला, प्रभुने उसकी सराहना की। [कथाके अनादरके समयसे ही मायाकी प्रेरणा हुई है। इसीसे शिवजीका उपदेश न लगा। बात यहाँतक बढ़ी कि अब ये सीता बनकर आई हैं। अतः अघटित घटना पटीयसीकी हृदयमें प्रशसा की। सीता बनने पर हँसे। (वि० त्रि०)]
☞ श्रीरामजीने निजमायाबलकी प्रशसा की, इस कथनका भाव यह है कि उन्होंने सतीजीको निर्दोष ठहराया। उनके अन्तःकरणमें यह भाव है कि दुराव करनेमें सतीजीका किंचित् दोष नहीं है। इस चरणसे अन्तःकरणका भाव प्रकटकर आगे बाहरका हाल लिखते हैं कि हँसकर मृदु वाणी बोले।

४ 'बोले बिहसि राम मृदु बानी' इति। हँसकर क्यों बोले? उत्तर—(क) ये हमारी परीक्षा लेनेके लिये सीतारूप धरकर आईं, यह जानकर हँसे। अथवा, (ख) नारिस्वभावका प्रभाव देखकर हँसे, यथा 'सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारिसुभाव प्रभाऊ।' अथवा, (ग) यह तो श्रीरामजीका स्वतःसिद्ध सहज स्वभावही है कि सदा हँसकर बोलते हैं, यथा 'स्मितपूर्वाभिभाषी च' इति वाल्मीकीये। अथवा, (घ) अपनी मायाका बल देखकर हँसे, यथा 'निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला।

बा० १३० '। अथवा, (ङ) (पं० रामकुमारजीके एक पुराने खर्रेमें यह भाव है कि) प्रभुका हास माया है, यथा 'माया हास बाहु दिगपाला। लं०।' प्रभुके सामने मायावी वेष बनाकर आई हैं, अतः ये भी इनसे अपना वास्तविक रूप न कहकर बनावटी ही रूपका परिचय देंगे।

नोट—३ ☞ यह बात स्मरण रखनेकी है कि जब कोई श्रीरामजीसे चतुराई करता है तब वे उसे जानते हुए भी अनजानकी तरह माधुर्यलीलामें रत होने (विहँसने) की मुद्रा प्रदर्शित करते हैं; जैसे उन्होंने सुतीक्ष्णजीके प्रति किया था। यथा 'देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिये संग बिहसे दोउ भाई। आ० १२।' और जैसे अपने अन्तर्यामित्वगुणकी शक्तिसे रावणकी परीक्षा करनेकी युक्ति जानकर वे विहँसे और अपनी प्राणप्रियासे उन्होंने अपनी युक्ति बताई थी जिसमें भाव यह था कि 'देखें किसके युक्तिकी विजय होती है? भला मेरी युक्तिके आगे रावणकी युक्ति क्या चलेगी?'—(कल्याण १० । १०)। पुनः, प्रभुको जब कोई विशेष चरित करना होता है तब उसे हँसकर करते हैं, यथा 'भ्रम तें चकित राम मोहि देखा। बिहसे सो सुनु चरित बिसेषा॥ ७। ७६।'

टिप्पणी—५ 'बोले मृदु बानी' इति। यह भी प्रभुका स्वभाव है। पुनः भाव कि मृदु वाणी बोले; जिसमें सतीजीको भय न उत्पन्न हो कि हम इनकी परीक्षा लेने आई हैं (ये अप्रसन्न न हों)। इसीसे श्रीरामजी प्रसन्नतापूर्वक बोले। विहँसनेसे मुखकी प्रसन्नता रही और मृदुवाणीसे कोमलता रही। [मृदुवाणी बोले क्योंकि शीलसिंधु हैं। (वै०)]

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज* नामू॥ ७॥

कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥ ८॥

अर्थ—(प्रथम तो) प्रभुने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और पितासमेत अपना नाम लिया। ७। फिर कहा कि 'वृषकेतु' (शिवजी) कहाँ हैं? (आप) वनमें अकेली किस कारणसे फिर रही हैं?। ८।

नोट—१ सतीजीने सीतारूप धरकर श्रीरामजीको धोखा देना चाहा, उनकी परीक्षा लेनी चाही। प्रभुने प्रणाम आदि द्वारा ही जना दिया कि हम तुम्हारे कपटको जानते हैं, तुम सीता नहीं हो, तुम शिवपत्नी हो। यहाँ 'पिहित' अलंकार है। जहाँ अपना हाल छिपानेवाले व्यक्तिके प्रति कोई ऐसी क्रिया की जाय जिससे जान पड़े कि उसका यह हाल क्रिया करनेवालेको ज्ञात हो गया, वहाँ यह अलंकार होता है।

टिप्पणी—१ 'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू' इति। (क) हाथ जोड़कर प्रणाम करनेमें भाव यह है कि—(१) सती सीतारूप धारण किये हुए हैं; तब भी श्रीरामजीने (परस्त्री होनेसे) माता भाव माना। इसी तरह जब सीतारूप त्यागकर वे पुनः अपना रूप हो गईं तब भी शिवजीने (अपनी अर्द्धाङ्गिनी होते हुए भी) उनमें माताभाव माना। इस तरह, स्वामी-सेवक दोनोंका समान धर्म है, यह दिखलाया। [अथवा, स्वामीसे सेवकका धर्म अधिक कहा] । अथवा, (२) श्रीरामजी नरतन धारण किये हुए हैं, और सती देवता हैं। अतः देवभावसे प्रणाम किया। यह माधुर्यकी मर्यादा रक्खी, यथा 'राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचन लाहू।' पुनः, (३) [शिवजीके इस विचारको कि 'गुप्तरूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ', पुष्ट करनेके लिये यहाँ हाथ जोड़कर प्रणाम किया। अर्थात् माधुर्यमें अपनेको राजकुमार जनाया और आगेके प्रश्नसे अपनी सर्वज्ञता भी प्रकट कर दी। (मा० प०)]

* हरि—रा० प्र०। पं० रा० कु०। १७२१, १७६२, छ०। 'हरि' पाठ देकर रा० प० नें० 'पिता समेत लीन्ह हरि नामू' का अर्थ यह किया है कि—'हरि (श्रीरामचन्द्रजी) ने पिता समेत सतीजीका नाम लिया। अर्थात् दाक्षायणीजी! आपको नमस्कार है—यह कहा'। नमस्ते दक्षतनये। वीरभद्रचंपूमें ऐसे ही वचन हैं। यथा—'किं वाच्या दनुजा नागा वानरा किन्नरा नरा। वत्स लक्ष्मण पश्यैता माया मायाविमोहिताम्॥ नमस्ते दक्षतनये नमस्ते शम्भुमामिनि। किमर्थं धूर्जटीं देवं त्यक्त्वा भ्रमसि कानने॥' 'निज' पाठ १६६१, १७०४, को० रामका है।

२ 'पितासमेत लीन्ह निज नामू' इति । ☞ (क) पितासमेत अपना नाम लेकर प्रणाम करनेकी विधि है; यथा 'पितु समेत कहि कहि निज नामा । लगे करन सब दंड प्रनामा । १. २६६ ।', 'विश्वामित्र मिले पुनि आई । पदसरोज मेले दोउ भाई ॥ रामलषन दसरथके ढोटा । १. २६६ ।'—विशेष १. १५८ (८)में देखिये । यह प्राकृत व्यवहार करके अपने ऐश्वर्यको छिपाए हैं । (ख) यहाँ ऐश्वर्य है, माधुर्यका काम नहीं है; इसीसे सतीजीको पहचाना । और, किष्किंधाकाडमें जब हनुमान्‌जी विप्ररूप धरकर आएहैं, तब वहाँ माधुर्यका वर्णन है; इसीसे वहाँ अनजानकी तरह पूछना लिखा है, वहाँ हनुमान्‌जीको मानों पहचानते नहीं, इसीसे उनको 'विप्र' कहकर संबोधन कियाहै; यथा 'कहहु विप्र निज कथा बुझाई ॥ ४. २ ।' (ग) पितासमेत अपना नाम लिया अर्थात् कहा कि मैं रघुकुलमणि श्रीदशरथजीमहाराजका पुत्र राम हूँ । इस तरह अपना पूरा परिचय दिया ।

३ 'कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू ।०' इति । (क) 'बहोरि' अर्थात् अपना हाल कहकर (अर्थात् अपने पिताका और अपना नाम लेकर प्रणाम करके) अब उनका हाल पूछते हैं । (ख) 'बृषकेतु' का भाव कि शिवजीके केतु (ध्वजा) पर वृषभका चिन्ह है जो दूरसे दिखाई पड़ता है, सो वे कहीं देख नहीं पड़ते ? कहाँ हैं ? अथवा, वृष=धर्म । 'कहाँ बृषकेतू'–धर्महीं जिनकी ध्वजा है वे शिवजी कहाँ हैं ? (ग) 'बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ।' अर्थात् धर्मको छोड़कर वनमें फिर रहीहो, यह किस लिये ? 'फिरहु' शब्दसे सूचित हुआ कि सतीजी कहीं बैठी या खड़ी नहीं हुई फिरती ही रहीं ।

नोट—२ स्मरण रखनेकी बात है कि वक्ताओंने श्रीरामजीके 'बृषकेतु' शब्दको शिवजीकेलिये आगे इसी प्रकरणमें बहुत प्रयुक्त किया है, मानों श्रीरामजीने आजसे यह नाम शिवजीका रख दिया है । सती त्यागकी सूचना इस प्रसंगमें इस शब्दसे प्रसंगके प्रारंभमेंही दे दी है ।

दोहा—रामबचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु ।
सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोचु ॥ ५३ ॥

अर्थ—श्रीरामजीके मीठे कोमल और गूढ़ वचन सुनकर सतीजीको अत्यन्त संकोच हुआ । वे डरी हुई महादेवजीके पास चलीं । उनके हृदयमें भारी सोच है । ५३ ।

नोट—श्रीरामचन्द्रजीने तीन बातें कहीं ।—१ मैं दाशरथी राम हूँ, आपको नमस्कार करता हूँ । २ बृषकेतु कहाँ हैं ? ३ आप वनमें अकेली कैसी फिर रही हैं ? कोमल तो सभी शब्द हैं, उसपरभी ये वचन हाथ जोड़कर प्रणाम करके बोले गए थे, इससे वे औरभी कोमल होगए । सभी वचन सुननेमें मृदु हैं, पर समझनेमें गूढ़ हैं । अर्थात् इनमें बहुत अभिप्राय गुप्त हैं, बहुत व्यंग्य भरा हुआ है । इन वचनोंके गूढ़ आशय देखने हैं ।—

१ 'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू' (अर्थात् हाथ जोड़ने और प्रणाम करने) के भाव ऊपर ५३ (७) टि० १ में आचुके । 'पिता समेत लीन्ह निज नामू' का गूढ़ भाव श्रीवैजनाथजी यह लिखते हैं कि 'इससे अपने स्वरूपका परिचय दिया । इस तरह कि अगस्त्यजीने जो मनुशतरूपाका वृत्तान्त तुमको सुनाया और मनुशतरूपाका दशरथकौशल्यारूपसे अवतरित होना कहा, हम उन्हीं दशरथजीके यहाँ पुत्ररूपसे अवतरे हैं, वही 'राम'हैं ।' माधुर्यमें भाव यह है कि आप सीतारूपसे मेरे पास आई हैं; यदि मैं आपको पकड़कर हृदयसे लगा लेता तो सतीत्व कहाँ रह जाता ? यदि समझती हो कि पकड़नेके पहलेही अंतर्धान हो जायेंगी तो ऐसी समझ भूल है, क्योंकि कथामें सुन चुकी हो कि कपट मृग मुझे छलने न पाया, उसका मृगचर्म मैं लेही आया; वैसेही मेरे आगेसे तुम अतर्धान नहीं हो सकती थीं । (श्रीजानकीशरणजी) ।

२ 'बृषकेतु'=जिनकी ध्वजापर 'वृष' है । वृष=बैल ।=धर्म । वृषकेतु=धर्मकी ध्वजा । यह शिवजीका एक नाम है । 'कहाँ बृषकेतू' यह कहकर प्रथम तो यह जनाया कि हम तुमको जानते हैं । दूसरे यह कि

शिवजी धर्मध्वज हैं, सदा धर्मपर तत्पर रहते हैं, आपके पातिव्रत्यधर्मकीभी ध्वजा वेही हैं, उनके वचनोंको न मानकर और उनसे अलग होकर आपने तो मानों अपने पातिव्रत्यधर्मकोही तिलांजलि दे दी। आपका वह सतीत्वधर्म अब कहाँ गया? (खर्रा)। तीसरे यह कि 'तुमको उनके वचनपर विश्वास करना चाहिये था, क्योंकि वे 'सत्य' रूप धर्म की ध्वजा हैं, सदा सत्य बोलते हैं। उनकी बात न माननेका कोई कारण न था।' (मा० प०)। चौथे यह कि 'वे वृषकेतु हैं। बैलपर सवार रहनेसे क्या बौरहा (बावला) जानकर उनका अपमान किया है, उनको त्याग दिया है?' (खर्रा)। पाँचवें यह कि आप पातिव्रत्यकी पताका लिये फिरती थीं, वह पताका अब कहाँ गई कि जो अब परस्त्रीका रूप धारण किया है! पराई स्त्री बनी हैं।

३ 'बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू' इति। (क) अर्धाङ्गिनी होकर वनमें पतिसे अलग अकेली फिरना स्वतंत्रता है। यह कहकर स्वच्छन्दचारिणी, स्वेच्छाचारिणी जनाया, जो स्त्रियोंकेलिये अयोग्य है; यथा 'जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारी। कि० । १५।', 'पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ २३॥ अरक्षणाच्च या पाकः श्वकाकवशगो भवेत्। तथैव युवती नारी स्वच्छन्दाद्दुष्टतां व्रजेत्॥ २५॥ प० पु०सृ० ४९।' अर्थात् बचपनमें पिता, जवानीमें पति और बुढ़ापेमें पुत्र नारीकी रक्षा करता है; उसे कभी स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिये""नहीं तो वह व्यभिचारमें प्रवृत्त हो जाती है। जैसे तैयारकी हुई रसोईपर दृष्टि न रखनेसे उसपर कौवे और कुत्ते अधिकार जमा लेते हैं, उसी प्रकार युवती नारी स्वच्छन्द होनेपर व्यभिचारिणी होजाती है। (पार्वतीवचन)। पुनः, भाव कि—(ख) हमारे स्त्री-वियोगका कारण तो हमारी इच्छानुसार है, (यथा 'सुनहु प्रिया व्रतरुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला।३।२४।'), और तुमने तो पतिवचन न मानकर वनमें फिरना स्वीकार किया है, जो कर्म पतिव्रताओं को उचित नहीं। नीतिशास्त्र है कि 'भ्रमन्संपूज्यते राजा भ्रमन्संपूज्यते द्विजः। भ्रमन्संपूज्यते योगी स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति।' (वि०टी०)। (ग) 'वनमें अकेली फिरती हो। हम राजकुमार हैं, परपुरुष हैं। स्त्रीवियोगसे पीड़ित हैं। हमारे सामने दाक्षायणीरूप त्यागकर सीतारूपसे आई हो। किस उपपत्तिहेतु क्रियाचातुरीकर स्वयं दूती बनकर क्रिया-विदग्धारूप धारण किया है? हम परकीयाके ग्राहक नहीं हैं। अतः लौट जाओ।' (वै०)। पुनः, 'अकेली फिरना' कहकर यहभी जनाया कि 'पतिको तुमने स्वयं त्यागा और हमनेभी न ग्रहण किया। अब लौटनेपर शिवजीभी तुम्हें न ग्रहण करेंगे; अब तो आपसे आप तुम्हारे भाग्यमें अकेलाही रहना लिख गया। तुम न इधरकी हुईं, न उधरकी।' (वै०)। (ङ) 'केहि हेतू' का भाव यह है कि परीक्षा लेने आईहो? अर्थात् वृषकेतु पतिकी तुमने अवज्ञा की, उनका कहा नहीं माना, तभी तो परीक्षा लेने आई हो—यह व्यंग्य श्रीराम-जीके वचनोंके अभ्यन्तर भरा है।' अवज्ञा न करना स्त्रीका धर्म है; यथा 'उद्याने मद्यपाने च राजद्वारे पिता-गृहे। आज्ञाभङ्गो न कर्त्तव्यो वरं यातुवराङ्गना।' (पं०रा०कु०)। पुनः, (च) भाव कि मेरे इस वनमें फिरनेका हेतु तो यह है कि श्रीजानकीजीको कोई राक्षस हर लेगया है, हम उन्हें ढूँढ रहे हैं; यथा 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही। कि० २।' पर आप अकेली क्यों फिर रही हैं? अर्थात् आपके अकेले फिरनेका कोई कारण नहीं दीखता। क्या आपको राक्षसोंका भय नहीं है? अथवा, क्या शंकरजीको किसीने चुरा तो नहीं लिया? (वीरकवि)।

टिप्पणी—१ 'सुनि उपजा अति संकोचु' इति। (क) इससे जनाया कि सतीजी गूढ़ व्यंग्यको जो श्रीरामजीके वचनोंमें भरा है समझ गईं। इसीसे 'अति संकोच' हुआ। (ख) 'अति संकोच' का भाव कि संकोच तो तभी हुआ था कि जब प्रभुने पहचान लिया और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। (अर्थात् हमने अपना रूप छिपाया सो ये जान गए, यह जानकर सतीजीको संकोच हुआ था)। पर जब उन्होंने 'कहँ वृष-केतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू' ये वचन कहकर जनाया कि हम तुम्हारे हृदयके कुत्सित भावको भी जानते हैं और वही बात पूँछते हैं, तब 'अति संकोच' हुआ। (कि हमने अच्छी परीक्षा ली, शिवजीके चिताए हुए विवेकसे दूर रहीं)।

२ 'सती सभीत महेस पहिं चलीं' इति। (क) अति सकोचवश होनेपर उत्तर नहीं देते बनता; यथा 'सीय सकुच बस उतरु न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेई। अ० ७९।' अतः सतीका कुछ उत्तर नहीं लिखा। और, उत्तर देतीं भी तो क्या ? इसका कुछ उत्तर है ही नहीं। अतः उत्तर न लिखा गया। [(ख) 'सती' शब्द देकर वक्ताने जना दिया कि अब सतीजी सीतारूप त्यागकर अपना रूप हो गईं। रूप बदला, इसीसे नामभी बदल गया। परन्तु प० रामकुमारजीका मत है कि अद्भुत दर्शनके बाद कपट वेष छूटा। ५५ (६) देखिये।] (ग) 'सभीत' इति। इसका कारण कवि स्वयं आगे लिखते हैं। वह यह कि 'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञानु रामपर आना॥ जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा।' अर्थात् पति-अवज्ञा और उनके कोपसे भयभीत होनेसे शोचयुक्त हुईं। महादेवजीका डर है। (घ) 'महेस पहिं चलीं' अर्थात् शिवजीकी आज्ञापर श्रीरामजीकी परीक्षा लेने चली थीं, अब यहाँसे फिर शिवजीके पास चलीं। दोनों 'चलीं' के बीचमें कहीं बैठना नहीं कहकर जनाया कि बराबर फिरतीही रहीं, यथा 'बिपिन अकेलि फिरहु०।' (ङ) 'हृदय बड़ सोचु'। सोच अपनी करनीका है जैसा कि आगे वक्ता स्वयं स्पष्ट कह रहे हैं, यथा 'हृदय सोच समुझत निज करनी। ५८।१।' पुनः, सोच इस बातका है कि यह बात कैसे शिवजीसे छिपे ? उनको क्या उत्तर दूँ ?

मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञानु राम पर आना॥ १॥
जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥ २॥

शब्दार्थ—कहा=कहना, वचन। आनना=लाना, आरोप करना, धरना। काहा=क्या।

अर्थ—मैंने शंकरजीका कहना न माना। अपना अज्ञान श्रीरामचन्द्रजीपर आरोपित किया। १। अब जाकर क्या उत्तर दूँगी ? (यह सोचकर) हृदयमें अत्यन्त भयंकर जलन पैदा होगई। २।

टिप्पणी—१ (क) 'मैं संकर कर कहा न माना' अर्थात् अपने कल्याणकर्त्ताका कहा न माना। अतः मेरे कल्याणकी अब हानि हुई। [जो शिवजीका अनुमान था वही इनका अनुमान हुआ। यथा 'इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना॥ मोरेहु कहें न संसय जाहीं।' ☞ नोट—यह सतीजीका पश्चात्ताप है। वे अपनी भूल अब स्वयं स्वीकार कररही हैं कि शंकरजीका वचन मानना चाहिये था सो मैंने न माना। मान लिया होता तो यह क्लेश क्यों भोगना पड़ता ? 'संकर कर कहा' अर्थात् 'सुनहि सती तव नारिसुभाऊ। ५१। ६।' से 'अवतरेउ अपने भगत हित०' तक जो शिवजीने कहाथा।] (ख) 'निज अज्ञानु राम पर आना' इति। अर्थात् अज्ञानी तो मैं हूँ, पर अपनेको मैंने सज्ञान समझा और श्रीरामजीका स्वरूप तो जाना नहीं, उलटे उन्हींको समझ लिया कि अज्ञ हैं, स्त्रीको खोजते हैं; यथा 'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी। ५१। २।' [श्रीरामजी अज्ञानी नहीं हैं। वे तो निर्मल दर्पण हैं। जो जैसा है उसको उनमें वैसाही झलकता है। (मा० प०)। मिलान कीजिये—'निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥ बा० ११७।' तथा 'जे मति मलिन बिषय बस कामी। प्रभुपर मोह धरहिं इमि स्वामी॥ बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्या बादी॥ निज अज्ञान रामपर धरहीं॥ उ० ७३।' भाव यह है कि शिवजीने समुझाया सो अद्भुत था, पर मेरीही समझमें न आया।]

२ (क) सतीजीने अपने ऊपर दो अपराध साबित किये। एक यह कि सती कहलाकरभी मैंने पतिका वचन न माना और दूसरा यह कि ब्रह्मको नर माना। यथा 'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पतिबचन मृषा करि माना। ५६। २।' शंकरजीका उपदेश न मानकर, ब्रह्मको मनुष्य जानकर उसकी परीक्षा ली, यह अपराध हुआ। इसी अपराधको छिपानेके लिये आगे झूठ बोलीं कि 'कछु न परीच्छा लीन्हि गोसाईं। ५६। २।' [☞ प्रायः देखा जाता है कि एक अपराधको छिपानेके लिये दूसरा अपराध किया जाता है और दूसरेके लिये तीसरा, इत्यादि। इससे हमको उपदेश मिलता है कि हम प्रथमही अपराधपर

सावधान हो जायँ, उसको स्वीकार कर लें जिसमें और पाप न बढ़े जो हमारे नाशका कारण बने।](ख) पूर्व दोहेमें 'सभीत' और 'हृदय बड सोचु' जो कहा है, उन्हींका हेतु यहाँ यथासंख्यालंकारसे कहा गया। अर्थात् 'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञानु रामपर आना।' इस हेतुसे सभीत हुईं; और 'जाइ उतरु अब देहौं काहा' यह शोचका कारण हुआ। सोच और भय होनेसे 'अति दारुण दाह' उत्पन्न हुआ। [नोट—पंडितजीके एक पुराने खर्रेमें यह लिखा है कि "संकोच ऊपर कह आए कि 'मृदु गूढ़ बचन सुनकर' संकोच हुआ। अब 'मैं संकर कर कहा न माना।०' से सोचकी बात कहते हैं। कहना न माननेका सोच, अपना अज्ञान श्रीरामपर धरनेका सोच और 'अब क्या उत्तर दूँगी' इसका सोच है। अतः 'बड़ सोच' कहा गया।]

३ (क) 'जाइ उतरु अब देहौं काहा।' इति। शिवजीकी बात सत्य निकली। अतः सोचती हैं कि जाकर क्या उत्तर दूँगी। क्या उत्तर दूँगी ? इतनेसेही जनादिया कि शिवजी अवश्य प्रश्न करेंगे और हुआभी ऐसाही। शिवजीने प्रश्न किया कि 'लीन्हि परीछा कवनि बिधि कहहु सत्य सब बात। ५५।', 'क्या उत्तर देंगी' यह सोचकर हृदयमें बड़ा संताप हुआ और कोई उत्तर विचारमें नहीं आया तब उनसे झूठ बोलीं। (ख) 'उर उपजा अति दारुन दाहा' इति। 'अतिदारुण दाह' से तीन प्रकारके दाहकी सूचना मिलती है—दाह, दारुण दाह और अति दारुण दाह। ये तीनों सतीजीमें दिखाते हैं। इस तरह कि 'मैं संकर कर कहा न माना' यह सोचकर 'दाह' हुआ। 'निज अज्ञानु राम पर आना' यह सोचकर 'दारुण दाह' हुआ। और, कुछभी उत्तर नहीं सूझ पड़ता यह समझकर 'अति दारुण दाह' हुआ।

४ रघुपतिमाया अत्यन्त प्रचंड है, इसीसे इस प्रसंगमें रघुपतिमायाकृत विकार भी भारी ही भारी वर्णन किये गए। यथा 'अस संसय मन भयउ अपारा।', 'उपजा अति संकोचु', 'चली हृदय बड़सोच', 'उर उपजा अति दारुन दाहा', 'देखि सती 'अति भईं सभीता', 'चिंता अमित जाइ नहिं बरनी', 'अकथनीय दारुन दुख भारी', इत्यादि।

श्रीसतीजीके 'अति संकोच, बड़सोच और अतिदारुण दाह' के कारणोंका खुलासा—

संकोच	१	'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू ॥' से संकोच हुआ कि हमने छिपाया पर ये जान गए कि मैं सती हूँ, सीता नहीं हूँ।
अति संकोच	२	'वृषकेतु कहाँ हैं ? अकेली वनमें फिरनेका क्या कारण है ?'—इनके गूढ़ आशयको समझकर कि ये हमारे हृदयके कुत्सित भावको समझ गये कि पतिकी अवज्ञा करके परीक्षा लेने आई हैं 'अतिसंकोच' हुआ।
परिणाम	३	उत्तर न बन पड़ा, यह परिणाम हुआ।
सभीत	१	पतिकी अवज्ञा और उनके कोपका भय है।
सोच	२	सोच करनीका है। शिवजीसे बात कैसे छिपे यह भी सोच है।
बड़सोच	३	कहा न माननेका, अपना अज्ञान प्रभुपर आरोपित करनेका, और क्या उत्तर दूँगी, तीन बातोंका शोच होनेसे 'बड़ सोच' कहा।
परिणाम	४	हृदयमें क्रमशः दाह, दारुणदाह और अति दारुणदाह, यह परिणाम हुआ।
दाह	१	पतिकी अवज्ञासे (जो भय है उससे) दाह
दारुणदाह	२	'निज अज्ञान रामपर आना'—इससे जो सोच है उससे दारुणदाह
अतिदारुणदाह	३	'शिवजीके प्रश्न करनेपर क्या उत्तर देंगी' यह न सूझनेसे जो बड़ा सोच है उससे 'अतिदारुणदाह' हुआ
सबका परिणाम	४	पतिसे झूठ बोलीं।

दूसरी तरह संक्षेपसे इस प्रकार कह सकते हैं—

कारण	कार्य	परिणाम
१ श्रीरामजीका प्रणाम करना	संकोच	उत्तर न दे सकना
२ श्रीरामजीके दोनों प्रश्न	अति संकोच (पूर्व संकोचमें वृद्धि)	वापस चलना
३ शिवजीकी बात न मानना	भय (सभीत)	दाह
४ अपना अज्ञान रामपर लाना	सोच	दारुणदाह (पूर्वदाहमें वृद्धि)
५ जाकर क्या उत्तर दूँगी	बड़ सोच (पूर्वके सोचमें वृद्धि)	अति दारुणदाह

☞ यहाँ यह बात नहीं है कि प्रथम कारण (प्रणाम) होनेपर उसका कार्य और परिणाम हुआ तब कुछ समयके बाद दूसरा कारण (प्रश्न) और कार्य आदि हुये, किन्तु क्षणमात्रमें ही ये सब कारण, कार्य और परिणाम होते गए। इसीसे कविने पूर्वके कार्य तथा उनके परिणाम न कहकर केवल अन्तिम अवस्था (अर्थात् अति संकोच, लौट चलना, बड़ सोच और अतिदारुणदाह) का उल्लेख किया। हाँ, केवल 'भीति' स्वतन्त्र वस्तु होनेसे लिखा फिरभी उसके परिणाम (दाह) का उल्लेख कविने नहीं किया। तथापि शाखापत्रभेदन्यायसे यहाँ कारण, कार्य और परिणाम दिखाये गये हैं। [☞ साधारणतया अनुभवसे देखा जाता है कि यह आवश्यक नहीं है कि 'अति संकोच', 'बड़ सोच' या 'अतिदारुणदाह' शब्दोंका प्रयोग तभी हो सकेगा कि जब उससे पूर्व 'संकोच', 'सोच' या 'दाह' और 'दारुणदाह' की प्राप्ति हुई हो। अपने प्रियके वियोगका समाचार सुनते ही मनुष्य अत्यन्त शोकको एकदम प्राप्त हो जाते हैं। 'अति', 'बड़ा', 'भारी', 'दारुण', 'दुसह' इत्यादि प्रायः केवल यह सूचित करनेके लिये प्रयुक्त होते हैं कि यह शोक, भय, दाह आदि सामान्य नहीं हैं। विशेष 'दखि सती अति भई सभीता। १। ५५।' में देखिये]

❀ सती-मोह प्रकरण ❀

इस प्रसंगके सम्बन्धमें कतिपय शैव महानुभावोंने यह लिखा है कि यह प्रसंग किसी रामायण या पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें नहीं है, गोस्वामी तुलसीदासजीने साम्प्रदायिक विद्वेषसे यह प्रसंग कल्पित किया है। हम उन महानुभावोंको क्या कहें? केवल प्रेमी पाठकोंकी जानकारीके लिये यहाँ कुछ लिख देना आवश्यक समझते हैं।

भा० ४।३।११ में तो सतीजीने कहा है कि 'तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते, दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम्॥' अर्थात् मैं स्त्रीस्वभाव होनेके कारण आपके तत्त्वसे अनभिज्ञ हूँ और बहुत दीन हूँ इसलिये अपनी जन्मभूमि देखनेके लिये बहुत उत्सुक हूँ, इससे स्पष्ट अनुमान होता है कि दुःखका कुछ कारण अवश्य है जिससे व पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करके उनसे रुष्ट होकर पिताके घर चली ही तो गईं—जो व्यवहार एक सतीके लिये महान अयोग्य था। पर उस कारणका उल्लेख उसमें नहीं है। अतः उसे अन्यत्र खोजना है।

अध्यात्मरामायण और आनन्दरामायण भी इसमें ईश्वरप्रमाण हैं। अध्यात्ममें पार्वतीजीका यही प्रश्न रामायणका मूल है जो रामचरितमानसका है। यथा—'तथापि हृत्संशयबन्धनं मे विभेत्तुमर्हस्यमलोक्तिभिर्भवान्॥ ११॥ वदन्ति रामं परमेकमाद्यं निरस्तमायागुणसम्प्रवाहम्...॥ १२॥ यदि स्म जानाति कुतो विलापः सीताकृतेऽनेन कृतः परस्य।...॥१४॥ अत्रोत्तरं किं...॥१५॥" (अ० रा० बाल० सर्ग १)। अर्थात् तथापि अपने विशुद्ध वचनोंसे मेरे हृदयकी संशयग्रन्थिका उच्छेदन कीजिये। प्रमादरहित सिद्धगण श्रीरामजीको परम, अद्वितीय, सबके आदिकारण और प्रकृतिके गुणप्रवाहसे परे बतलाते हैं।...यदि वे आत्मतत्त्वको जानते थे तो सीताके

लिये विलाप क्यों किया ?—ये उद्धृत वाक्य सूचना देते हैं कि इनको मोह हुआ था, इसकी निवृत्तिके लिये प्रश्न है। पर यह नहीं बताते कि मोह कब और कहाँ हुआ ? मानसमें इसकी जोड़का दोहा यह है 'जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। । १। १०८।'

आनन्दरामायण सारकाण्डके सप्तम सर्गमें शिवपार्वतीसंवादमें 'सती-मोह' प्रसंगकी चर्चा आई है। सीताहरणकी कथा कहकर जब शंकरजी श्रीरामविरहका वर्णन करने लगे तब पार्वतीजीको सतीतनमें श्रीरामविलाप देखकर प्रश्न करनेकी याद दिलाते हुए उन्होंने क्या कहीं है। यथा 'ययौ पञ्चवटीं व्यग्रस्तत्र सीता ददर्श न। ततो मानुषभावं तु दर्शयन् सकलान् जनान्। १२६।' से श्लोक १५० तक।

एकनाथजी महाराजकी मराठीमें रची हुई भावार्थरामायणमें भी सती-मोहका प्रसंग कुछ परिवर्तित रूपमें है। आकाशमें प्रभुके विरह-विलापकी लीला देवता लोग देख रहे हैं। शिवपार्वतीजीभी देख रहे हैं। सतीजीको भ्रम हो गया। वे शंकरजीसे पूछती हैं—'आप जिनको पूर्ण ब्रह्म मानते हैं, क्या ये वही हैं ?' और शंकरजीके 'हाँ' करनेपर फिर बोलीं कि 'ये तो सीता सीताकी पुकार मचाते हुए व्याकुलतासे वृक्षों और पाषाणोंको भी छातीसे लगा रहे हैं'। शंकरजीका उत्तर पाकर कि 'तथापि ये पूर्णब्रह्म हैं'। इत्यादि, अन्तमें सतीजीने कहा 'यदि मैं रामको छका दूँ तो ?' इसपर शिवजीने कहा 'तो हम समझ लेंगे कि ये ब्रह्म नहीं हैं।' शंकरजीने आखिर यह कहा कि 'वे पूर्ण सावधान हैं, तेरी इच्छा हो तो परीक्षा कर देख।' बस सती सीतारूप धरकर श्रीरामके सामने खड़ी हो गईं, पर उन्होंने उनकी ओरसे मुँह फेर लिया। सती सामने बारबार जाती हैं कि इधर देखिये मैं आ गई, पर वे मुँह फेर लेते हैं। लक्ष्मणजी भी कहते हैं कि माता सीता तो आ गईं, आप क्यों चिल्लाते हैं ? तब श्रीरामजी डाँटते हैं कि भाई होकर मुझसे वैर क्यों करता है ? यहाँ सीता कहाँ हैं ? लक्ष्मणजी चुप हो रहे कि माता स्वयं समझ लेंगी। ब्रह्मा आदि भी भ्रममें पड़ गए कि सीता कैसे आ गईं। सीतारूप सतीने श्रीरामका हाथ पकड़ लिया और समझाया। तब भगवान्ने हँसते हुए कहा—'माता! मैं आपके चरण छूता हूँ, आप मुझे न सताइये। "आप मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों कर रही हैं ? भगवान् शंकरको अकेले छोड़कर मुझे तंग करनेके लिये सीताका रूप धारणकर आप यहाँ क्यों आई हैं ?' यह सुनकर वे चरणोंपर गिरीं। ग्लानि होनेपर वृक्षों आदिसे भेंटनेका रहस्य तथा परमार्थका रहस्य श्रीरामजीने उन्हें बताया। उनको पूर्ण ज्ञान हो गया और वे कैलासको लौट गईं। सीता रूप धारण करनेसे शिवजीने उनमें माताभाव कर लिया। तब दक्षयज्ञके बहाने वहाँ जाकर उन्होंने शरीर त्याग दिया।

एकनाथजीका समय सं० १५८५ से १६५५ तक कहा जाता है। सं० १६२८ से १६३० तक उनका काशीमें रहना पाया जाता है। भावार्थरामायणका समय सं० १६५५ से १६५५ तकके भीतरका कहा जाता है। आनंदरामायण श्रीसमर्थरामदासजीकृत कहा जाता है और समर्थजीका समय मानसके पश्चात् आता है। इससे इन ग्रन्थोंसे गोस्वामीजीने लिया यह सिद्ध नहीं होता।

वीरभद्रचपू पुराना ग्रन्थ है। इसमें भी सतीजीका मोहवश सीतारूप धारण करके श्रीरामजीके समीप जाना इत्यादि पाया जाता है। श्रीरामजी उनको देखकर लक्ष्मणजीसे कहते हैं—'किं वान्या दनुजानागा वानरा किन्नरा नरा।"' (५३। ७ पाद-टि० देखो)। अर्थात्—श्रीरघुनाथजी श्रीलक्ष्मणजीसे कहते हैं कि दैत्यों, नागों, वानरों, किन्नरों और नरोंकी कौन कहे देखो तो कि माया (शिवशक्ति श्रीसतीजी) भी मेरी मायासे विमोहित हो गई हैं।—यह कहकर तब सतीजीसे बोले कि 'शम्भुभामिनी दक्षतनये! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। किस कारणसे महादेवजीको त्यागकर आप वनमें भ्रमण कर रही हैं ?'

अब हम शिवपुराणका ही प्रमाण देते हैं जो शैवग्रन्थ है। उसीमें यह मोह प्रसंग पूरा-पूरा मिलता है। हम कुछ अंश उसका यहाँ उद्धृत करते हैं और उसकी जोड़की चौपाइयाँभी देते हैं—

शिवपुराण रुद्रसंहिता अ० २४	मिलती-जुलती चौपाई
१ एकस्मिन् समये रुद्रः सत्या त्रिभवगो भव । आगत्य दण्डकारण्यं पर्यटन् सागराम्बरम् ॥ २२ ॥	'एक बार त्रेताजुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं॥ संग सती जगजननि भवानी।'
२ तत्र रामं ददर्शासौ लक्ष्मणेनान्वितं हरः। अन्विष्यन्तं प्रियां सीतां रावणेन हृतां छलात् ॥२३॥ पश्यन्तं रुदन्तं हि मुहुर्मुहुः ॥ २४ ॥	'तेहि समय जाइ दससीसा। "करि छल मूढ़ हरी बैदेही।" बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥ 'देखा प्रगट बिरह दुख ताके।'
३ पूर्णकामो वराधीनं प्रणामत्समुदाहरः ॥२७॥ इतीदृशीं सती दृष्ट्वा शिवलीलां विमोहनीम्। सुविस्मिता शिवं प्राह शिवमायाविमोहिता ॥२६॥	'सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी॥ संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥'
४ सत्युवाच। त्वं प्रणम्योऽहि सर्वेषां सेव्यो ध्येयश्च सर्वदा। तयोर्ज्येष्ठं कंजश्यामं दृष्ट्वावैकेन हेतुना। मुदितः सुप्रसन्नात्मा भवाभक्त इवाधुना ॥ ३४ ॥	'तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा।' 'भए मगन छबि तासु बिलोकी।'
५ शिवोवाच। शृणु देवि सती प्रीत्या यथार्थं वच्मिनच्छलम्॥३७॥ ज्येष्ठो रामाभिधो विष्णुः पूर्णांशो निरुपद्रवः। अवतीर्णः क्षितौ साधुरक्षणाय भवायनः ॥ ४० ॥	'मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं। सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय-पति माया धनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥'
६ श्रुत्वापीत्थं वचः शम्भोर्न विशश्वासतन्मनः ॥४१॥	'लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।'
७ शिवोवाच। शृणुमद्वचनं देवि न विश्वसति चेन्मनः। तव रामपरीक्षां हि कुरु तत्रस्वया धिया ॥ ४२ ॥	'जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥'
८ गत्वा तत्रस्थितस्तावत् वटे भव परीक्षिका।	'तबलगि बैठ अहौं बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥'
९ ब्रह्मोवाच। इत्थं विचार्य सीता सा भूत्वा रामसमीपतः। आगमत् तत्परीक्षार्थं सती मोहपरायणा ॥ ४७ ॥	'पुनि पुनि हृदय बिचारु करि धरि सीता कर रूप। आगें होइ चलि पंथ तेहिं'॥'
१० सीतारूपां सतीं दृष्ट्वा जपन्नाम शिवेति च। विहस्य तत् प्रविज्ञाय नत्वाऽवोचद्रघूद्वहः॥ राम उवाच। प्रेमतस्त्वं सति ब्रूहि क्व शम्भुस्ते नमोनमः। एकाहि विपिने कस्मादागता पतिना विना ॥ ४६ ॥	'सती कपट जानेउ सुरस्वामी।' 'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू॥ पिता समेत लीन्ह निज नामू॥ कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥'
११ इति रामवचः श्रुत्वा चकितासीत्सती तदा। स्मृत्वा शिवोक्तं मत्वा चावितथं लज्जिता भृशम्। अचिन्तत् पथि सा देवी संज्वलन्ती पुनः पुनः। विसुतरमहं दास्ये गत्वा शंकरसन्निधौ ॥ ४३ ॥ अ०	'रामबचन मृदुगूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु। सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोचु॥ ५३॥' 'जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥'

जाना राम सती दुखु पावा। निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा॥ ३॥
सती दीख कौतुक मग जाता। आगें रामु सहित श्रीभ्राता॥ ४॥

अर्थ—श्रीरामचंद्र जी जानगए कि सतीजीको दुःख हुआ (अतः) उन्होंने अपना कुछ प्रभाव प्रकटकर दिखाया।३। सतीजीने मार्गमें चलतेहुए यह कौतुक (तमाशा) देखा, (कि) श्रीरामचंद्रजी श्रीसीताजी और भाई सहित आगे (चले जा रहे) हैं। ४।

टिप्पणी—१ 'जाना राम सती दुखु पावा।०' इति। (क) सतीजीके हृदयके सोच और अत्यन्त दारुण संतापके जाननेके संबंधसे 'राम' नाम दिया। सबमें अंतर्यामीरूपसे रमे हुए हैं, हृदयके भावोंके साक्षी हैं, अतः जान गए। (ख) 'सती दुखु पावा' सतीजीने दुःख पाया और श्रीरामजी यह बात जानगए कि

सतीजीने हमारे निमित्त दुःख पाया। बड़े लोग पराया दुःख नहीं देख सकते, यथा 'सतिहि ससोच जानि वृपकेतू। कही कथा सुंदर सुख हेतू ॥५८॥' श्रीरघुनाथजीका करुणामय स्वभाव है, वे पराया दुःख देखकर शीघ्र स्वयं दुखी हो जाते हैं; यथा 'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई। अ०।' अतः उनका दुःख दूर करनेका उपाय कर दिया। 'निज प्रभाव' कुछ दिखाया जिसमें इस समय उनका मन प्रभाव देखनेमें लग जायगा तो दुःख भूल जायगा।

• 'निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा' इति। (क) एक कारण ऊपर लिखा गया। प्रभाव प्रकट करनेका दूसरा कारण यहभी हो सकता है कि सतीजी इनको प्रभावरहित जाने हुए हैं। अतः किंचित् प्रभाव दिखाया कि वे जानलें कि हम ऐसे हैं। बड़े लोग कहकर नहीं दिखाते, करके दिखाते हैं। तीसरे, प्रभाव देख लेनेसे संशय दूर होजाते हैं, यथा 'जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात। जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेमु अमात। बा० २८५।' चौथे यह प्रभाव देख लेनेसे फिर माया नहीं व्यापती और न मायासे उत्पन्न भ्रम, संदेह आदि दुःख व्यापते हैं; यथा 'अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहिं माया निअराई। बा० १३८।', 'माया संभव भ्रम सकल अब न ब्यापिहहिं तोहि। जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि। उ० ८५।' पाँचवें यह कि जबतक इनको यह विश्वास न होजायगा कि हम ब्रह्म हैं इनको पतिवचनपर पूर्ण विश्वास न होगा। अभी ब्रह्म होनेका निश्चय नहीं है, नहीं तो पतिकी तरह ये भी अब प्रणाम करतीं। (ख) 'कछु प्रगटि जनावा' इति। 'कछु' का भाव कि प्रभाव तो अमित है (जैसा भुशुण्डीजीने गरुड़जीसे उत्तरकाण्डमें कहा है—'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा। ९१।')। अनंत अमित प्रभावमेंसे कुछ दिखाया। इससे सूचित हुआ कि जो प्रभाव आगे वर्णित है यह किंचित्मात्र है; संपूर्ण प्रभाव नहीं है, केवल उतना है जितनेसे सतीजीको यह बोध हो जाय कि ये ब्रह्म हैं। संपूर्ण प्रभाव तो न कोई जान सकता है, न देखनेका सामर्थ्य रखता है। (ग) 'प्रगटि जनावा' इति। प्रगट करके दिखानेमें भाव यह है कि पूर्वभी तो कुछ प्रभाव दिखाया था। अर्थात् सर्वज्ञता गुण जो दिखाया था वह गुप्त था, गूढ़ वचनों द्वारा जनाया गया था और अब कुछ प्रगटभी दिखाते हैं (जिसमें परीक्षामें कुछ कसर न रह जाय)।

❀ निज प्रभाउ कछु प्रगटि दिखावा ❀

पूर्व दिखा चुके हैं कि सतीजीको यह संदेह था कि निर्गुण ब्रह्म 'व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद' है, यह नरदेह धारणही नहीं करता, दूसरे यह कि विष्णुभगवान् सगुण ब्रह्म हैं, वे नरदेह धारण करते हैं, सो वे सर्वज्ञ हैं, ज्ञानधाम हैं, श्रीपति हैं, लक्ष्मीजीका उनसे कभी वियोग होताही नहीं और न निशिचर उनको हरही सकते हैं। सीतारूप धरकर रामसमीप आनेपर रामजीने उनको विधिवत् प्रणाम किया और 'कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू'। श्रीरामजीके इन गूढ़ वचनोंसे सतीजीको यह बोध हो गया कि ये सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, अन्तर्यामी हैं। परन्तु इससे यह निश्चय नहीं होता कि ये ब्रह्म हैं जो अज, अकल, बिरज, अभेद और व्यापक है, क्योंकि विष्णुभगवान्भी तो सर्वज्ञ हैं और अनेक योगी और सिद्ध भी इतना हाल जान लेते हैं। श्रीरामजी स्वतः ही उनका कपट जान गए, इससे वे अनुमान कर सकती हैं कि ये ब्रह्म ही हैं विष्णु नहीं, परन्तु निश्चय नहीं करसकीं क्योंकि वे क्या जानें कि ये स्वतः जान गए या कैसे ? पहचानभर लेना उनका संशय निर्मूल करनेको पर्याप्त न था। श्रीरघुनाथजीने जब देखा कि ये बहुत दुखित हैं तब इनपर दया आगई। वे सोचे कि "इनका यह भ्रम मिटाही देना और पतिवचन 'सच्चिदानद परधामा', 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा' इत्यादिमें विश्वास करा देना इसी समय उचित है, नहीं तो इनका त्याग सदैवकेलिये हो जायगा। हमारे सम्मुख आनेपरभी प्रबोध न होगया तो फिर कभीभी न हो सकेगा।" सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि रामजीने जान लिया कि सतीको दुःख हुआ पर अभी ये मुझे सच्चिदानंद ब्रह्म नहीं मानतीं, नहीं तो पति की तरह अब तो मुझे प्रणाम करतीं; अतः इनको अपना प्रभाव प्रगट करके दिखाया। प्रभुका प्रभाव विना उनके जनाए कौन जान सकता है ?—'सो जानइ जेहि

देहु जनाई'। बिना प्रभाव जाने प्रतीति नहीं होती जिसके बिना प्रीति नहीं हो सकती; यथा 'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहीं प्रीती।' यह भी जान लेना चाहिए कि प्रभाव प्रगट देख लेनेपर फिर माया नहीं व्यापती और न मायाजनित भ्रमादि दुःख व्यापते हैं, यथा—'अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहिं माया निअराई', 'मायासंभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि।' अतएव कुछ प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाया।

इस समय किंचित्‌ही प्रभाव प्रगट देखलेनेसे सतीजीके उपर्युक्त संदेह दूर हो जाते हैं। इसीसे पार्वतीतनमें अब यह शंका नहीं करती हैं कि 'यह ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? ब्रह्म मनुष्य कैसे हो सकता है?' ☞ जो प्रभाव प्रभु यहाँ दिखा रहे हैं, उससे सतीजीको यह निस्सन्देह बोध हो जायगा कि 'श्रीरामजी स्वतंत्र हैं और विधि हरि हर परतंत्र हैं। रघुनाथजी 'सच्चिदानंद परधाम' सबके इष्टदेव और सेव्य हैं। श्रीसीताजीका वियोग इनको नहीं हुआ और न हो सकता है, इनमें वियोग और दुःखकी कल्पना निर्मूल थी।'

जो कोरे पंडित या कवि हैं, श्रीरामजीके परत्व और गुण-स्वभावको नहीं जानते जो रामोपासक नहीं हैं, वही यहाँ भ्रममें पड़जाते हैं कि सतीजीको इस दुःखित दशामें प्रभाव दिखाना अनुचित था। भगवान भक्तवत्सल हैं। अम्बरीषजी इत्यादिकी कथाएँ सभी जानते हैं। आपने अपने परमभक्त श्रीशंकरजीके वचनोंकी सत्यता दिखानेकेलिये, सतीको सच्चिदानंदरूपका प्रबोध कराने तथा उनके कल्याणकेलिये अपना लेशमात्र प्रभाव प्रगट कर दिखाया, न कि सतीको भयमें डालनेके लिए। सतीजी तो अपने अपराधोंसेही भयभीत हैं। यदि उन्हें उनका भय और दुःखही बढ़ाना अभिप्रेत होता तो विराटरूपका दर्शन कराते जैसे अर्जुनको। बात तो यह है कि सतीजीको दुःख तो हुआ पर इतनेपर भी उन्हें पश्चात्ताप न हुआ और न दीनता और नम्रता आई, अतः प्रभाव दिखाया।

प० प० प्र०—श्रीरामजीने सतीको मातृभावसे प्रणाम किया है। वे अत्यन्त कोमलचित हैं अतः उन्होंने सतीजीको अपना दिव्य, सौम्य, व्यापक विश्वरूप उपास्य उपासकरूपमें प्रकट किया। यह विश्वरूप दुखी जगज्जननीको भीतिग्रस्त करनेके लिये नहीं दिखाया गया। श्रीकौसल्याजीको जो विश्वरूप दिखाया गया वह इतना रमणीय नहीं था। सतीजीके सभीत होनेका कारण विश्वरूप नहीं था अपितु 'परमात्माको मैंने नृपसुत मान लिया और 'निज अपराध रामपर आना' यह था, जैसे कौसल्याजीके सभीत होनेका कारण 'जगतपिता मैं सुत करि जाना। २०२।७।' यह था।

टिप्पणी—३ 'सतीं दीख कौतुकु मग जाता।' इति। (क) 'कौतुकु' पद देकर जनाया कि उन्होंने श्रीसीता-लक्ष्मणसहित अनेकरूप प्रकट किये और फिर क्षणमात्रमें उनमेंसे एकभी न रह गये। यही कौतुक है। अथवा, कौतुक=लीला। माया दिखलानेमें भी कौतुक शब्दका प्रयोग होता है, यथा '' मायानाथ अति कौतुक कर्‌यो। देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्‌यो। ३। २०।' (ख) 'मगजाता' अर्थात् आगे मार्गमें श्रीरामलक्ष्मणजानकी तीनों देख पड़े। (ग) ☞ पूर्व ४९ (८) में कह आए हैं कि 'कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुख ताकें।'' उसीके सम्बंधसे यहाँ नित्य संयोग दिखाते हैं। इससे सतीजीका वह भ्रम मिटेगा जो 'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी।' से ज्ञात होता है। अर्थात् उनको बोध हो जायगा कि श्रीरामजी सच्चिदानंदब्रह्म हैं, श्रीसीताराम संयोग नित्य है, इनमें त्रिकालमें कभी वियोग नहीं है, अज्ञ इव खोजना विधिके वचन सत्य करनेकेलिये नरनाट्यमात्र था, वस्तुतः सीताहरण हुआही नहीं, केवल मायासीताका हरण हुआ है। अतः सीता-लक्ष्मण समेत दर्शन दिया गया।

४ 'आगे रामु सहित-श्रीभ्राता' इति। ऊपर कह आए कि सतीजी महादेवजीके पास सभीत चलीं। महादेवजी पंचवटीसे उत्तर दिशामें हैं और श्रीरामजी पंचवटीसे दक्षिणकी ओर जा रहे हैं। सतीजी इस समय श्रीरामजीवाला मार्ग छोड़कर उत्तरवाले मार्गपर जारही हैं। दूसरे, इस समय सतीजी श्रीरामजीसे सकुचाकर चली हैं। संकोचवश होनेसे वे पीछे श्रीरामजीकी तरफ नहीं देखती हैं और सोचके वशीभूत

होनेसे वे इधर उधरभी कहीं दृष्टि नहीं डालतीं, सीधे महेशजीके पास चली जारही हैं। इसीसे भगवान् श्रीसीतालक्ष्मण सहित जिस मार्गमें सतीजी चली जा रही हैं उसी मार्गमें उनके सामनेही प्रकट होगये जिसमें वे देखें। अथवा, सतीजी श्रीरामजीको पीछे छोड़ आई हैं इसीसे आगे देख पड़े। [५० (१) टि० २ के अन्तमें प० प० प्र० का मत देखिए]

प० प० प्र०—'सहित श्रीभ्राता' इति। 'श्री' का प्रयोग साभिप्राय है। सतीजीका संशय इस प्रकार है—'विष्नु जो सुर-हित नरतनुधारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥ खोजै सो कि अग्य इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी।' अतः प्रथम 'रामु सहित श्रीभ्राता' रूप दिखाकर ध्वनित किया कि विष्णु-अवतार राम-को भी नराकारमें स्त्रीको खोजना पड़ता है, पर यह केवल माधुर्य लीला है, इत्यादि।

फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर बेषा॥ ५॥
जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना॥ ६॥

अर्थ—(फिर उन्होंने) फिरकर देखा तो प्रभुको भाई और श्रीसीताजीके सहित सुन्दरवेषमें पीछे भी देखा। ५। जहाँ (ही) दृष्टि डालती हैं वहाँ (ही) प्रभु विराजमान हैं और प्रवीण (सेवामें कुशल, चतुर) सिद्ध और मुनीश्वर सेवा कर रहे हैं। ६।

टिप्पणी—१ 'फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा।०' इति। (क) सतीजीने जब अपने आगे तीनों मूर्तियोंको देखा तब उनको संदेह हुआ कि मैंने तो अभी केवल दोनों भाइयोंको पीछे छोड़ा था, ये आगे कहाँसे आगये और सीताजी इतनी जल्दी कहाँसे मिल गईं जो इनके साथ हैं? अतः संदेह मिटानेके लिये चकित होकर उन्होंने फिरकर पीछे देखा। अथवा, मारे संकोचके आगे न देख सकीं इससे फिर गईं। पीछेकी ओर मुख कर लिया तो अब पीछेभी तीनों देख पड़े। (ख) 'सहित बंधु सिय' इति। देखिये, जब सतीजीने आगे देखा तब वहाँ सीताजीको प्रथम कहा और यहाँ पीछे देखनेमें बंधु लक्ष्मणजीको प्रथम कहते हैं। एक जगह सीताजीको प्रथम और दूसरी बार लक्ष्मणजीको प्रथम कहकर जनाया कि श्रीरामजीकी प्रीति दोनोंमें समान है। अथवा, जब आगे देखा था तब सतीके सामने चले आते थे, उस समय श्रीरामजी आगे हैं, उनके पीछे श्रीसीताजी हैं तब लक्ष्मणजी हैं—ऐसा देखा। इसीसे प्रथम 'श्री' कहा तब भ्राता। और जब फिरकर पीछे देखा तो वहाँभी वही क्रम है। तीनों दक्षिणकी ओर जा रहे हैं। सबसे आगे श्रीरामजी हैं, उनके पीछे सीताजी, तब लक्ष्मणजी। इस समय सतीजीकी ओर उनकी पीठ है इसीसे प्रथम लक्ष्मणजी देख पड़े तब सीताजी। अतएव फिरकर देखनेपर 'सहित बंधु सिय' कहा।-[☞ स्मरण रहे कि मार्गमें चलते समय चलनेकी विधि यही है कि बीचमें सीताजी रहती हैं और आगे श्रीराम जी। यथा—"आगें रामु लखनु बने पाछें। तापस बेष बिराजत काछें॥ उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥ अ० १२३।' ☞जो मूर्तियाँ आगे देखीं वे सामनेसे आती हुई दिखाई दीं और जो मूर्तियाँ पीछे देखीं, वे मूर्तियाँ दूसरी ओर चली जाती हुई दिखाई दीं। ☞इस तरह श्रीरामलक्ष्मणसीता तीनोंका नित्य संयोग दिखाया।] (ग) 'सुंदर बेषा' इति। यहाँ सुन्दर वेष तपस्वी उदासी वेष है। यथा 'आगें राम अनुज पुनि पाछें। मुनिबर बेष बने अति काछें। ३। ७।' तथा 'पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना। कि० २।'

नोट—१ वैजनाथजीका मत है कि सतीजीको जो दर्शन दिया गया वह दिव्य भूषणवसन आदि पूर्ण शृङ्गारयुक्त प्रसन्नवदन मूर्तियोंका दिव्यदर्शन था। इसीसे 'सुंदर बेष' पद दिया गया। अर्थात् यह दर्शन तपस्वी वेषका नहीं है। उनका मत है कि यहाँ सनत्कुमारसंहितावाला दिव्यध्यानवाला दर्शन अभि-प्रेत है। यथा—'वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे। मध्ये पुष्पमयासने मणिमये वीरासने संस्थितम्॥ अग्रे वाच-यति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं च सद्भिः परम्। व्याख्यातं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम्॥' वे बंधुसे भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न तीनों भाइयोंका साथ होना कहते हैं। वि० त्रि० का मत है कि पीछे तीनों मूर्ति नृपवेषमें दिखाई

दिये, जिसमें सती यह न समझें कि जिधर मुँह फेरती हूँ उधर ही आ खड़े होते हैं।

टिप्पणी—२ 'जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना।' इति। (क) आगे और पीछे देख चुकीं। अब दहिने बाएँ, ऊपर नीचे, जहाँ दृष्टि जाती है वहाँही सर्वत्र प्रभुको आसन (सिंहासन) पर बैठे देखती हैं। अथवा, जहाँ देखती हैं वहा मारे सकोचके सम्मुख दृष्टि नहीं करतीं, इसीसे तुरंत अन्यत्र देखने लगती हैं। अतः 'जहँ चितवहिं तहँ' कहा। (ख) 'तहँ प्रभु आसीना' इति। आगे और पीछे जिन श्रीरामजीको देखा उनके विषयमें कुछ न कहा कि वे खड़े हैं कि बैठे हैं अथवा चलते हैं। यहाँ सबका हाल एकट्ठा कहा कि जहाँ भी दृष्टि डालती हैं वहाँही प्रभुको बैठे देखती हैं। तात्पर्य कि सतीजी दोनों भाइयोंका खोजते फिरना जानती समझती हैं। इससे प्रभुने बैठे हुए स्वरूपका दर्शन कराया। भाई और सीता सहित बैठे हुए दर्शन देकर जनाया कि न तो सीताहरणही हुआ है और न हम दोनों भाई खोजते फिरते हैं; हम तीनों तो सुखपूर्वक एकत्र बैठे हैं।

नोट—२ परंतु पण्डितजीने जो भाव टि० १ (ख) में दिया है उससे यह विरोध पाता है। उस भाव तथा समाधानके अनुसार तो पूर्व जो दर्शन आगे और पीछे हुए वे चलतेहुए मूर्तियोंकेही निश्चित होते हैं। और गोस्वामीजीके शब्दोंसेभी वह भाव सिद्ध होता है। 'मग जाता' को दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लेलेनेसे तीनों मूर्तियोंका मार्गमें चलते हुए देखना स्पष्ट सिद्ध है। यदि टि० २ (ख) वाले भावकोही ठीक मानें तो उपर्युक्त टि. १ (ख) वाला भाव और समाधान छोड़ देना होगा। पहले तीनों मूर्तियोंको चलते दिखाकर जनाया कि सीताजीको खोजना लीलामात्र है। फिर दिव्य दर्शन देकर, जिसमें प्रभु सिंहासनासीन हैं, सर्वत्र विराजमान् हैं, जनाया कि हम विष्णु नहीं हैं, ब्रह्म हैं, सर्वव्यापी हैं। 'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं' तथा शिववाक्य 'सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म...'को यहाँ चरितार्थ किया। इसमें ऐश्वर्य दिखाया है। भाव यह कि निर्गुणरूपसेही नहीं वरन सगुणरूपसे भी हम व्यापक हैं।

टिप्पणी—३ 'सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना' इति। यह दिखाकर शिवजीके वचनोंको चरितार्थ किया। यथा 'सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥ मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं। बा० ५१।' सिद्ध=सिद्धावस्थाको प्राप्त। मुनि=साधनावस्थाको प्राप्त। (विशेष ४४ (७) देखिये)। दोनों अवस्थावालोंसे सेवित दिखाया। आगे शिव, विधि, विष्णु आदिको शक्तियों सहित दिखाया है। सती विधात्री और इंदिरा त्रिदेवोंकी शक्तियाँ हैं। उनको साथ-साथ कहा है। यथा 'सती विधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप। ५४।' और देवताओंकोभी शक्तियोंके साथ कहा है; यथा 'सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते।' पर यहाँ सिद्ध मुनीश्वरोंकी स्त्रियोंको न कहा। ऐसा करके जनाया कि प्रभुकी सेवामें निवृत्ति मार्गवाले सिद्ध मुनीश्वर भी हैं और प्रवृत्तिमार्गवाले देवता आदि भी हैं। इससे जनाया कि हम सबके सेव्य हैं। ५५ (१-३) टिप्पणी ५ भी देखिए।

प० प० प्र०—१ 'आसीना' से दिखाया कि राम ब्रह्म हैं, उनको आना जाना इत्यादि कुछ नहीं है तथापि वही प्रभु होनेसे 'आसीनो दूरं व्रजति', 'तद् दूरे तदन्तिके' भी है। २ शिव विधि विष्णुके पूर्व सिद्ध मुनीशका उल्लेख करनेका हेतु यह है कि वे अन्तर्बाह्यत्यागी हैं और त्रिदेव अन्तस्त्यागी हैं बहिर्भोगी हैं। सिद्ध मुनीश त्रिदेवसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनका चरित्र सहज अनुकरणीय आदर्शभूत रहता है। देवताओंका चरित बहिर्भोगी रहता है, गूढ़ है, अनुकरणीय नहीं है। इसीसे 'न देवचरितं चरेत्' कहा है। 'प्रबीण' वे हैं जो सब संशयोंको त्यागकर श्रीरघुपति रामका भजन करते हैं। यथा—'मसकहि करहिं बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन। ७। १२२।'

देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ ७॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥ ८॥

दोहा—सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप।
जेहि जेहि बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप ॥५४॥

अर्थ—एकसे एक अमित प्रभाववाले अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु देखे। ७। (जो) प्रभुके चरणोंकी वंदना और सेवा कर रहे हैं। सब देवताओंको भाँति भाँतिके अनेक वेष धारण किये हुए देखा।८। अगणित उपमा रहित सती, ब्रह्माजी और लक्ष्मियोंको देखा। जिस जिस वेषमें ब्रह्मादि देवता थे, उसी उसीके अनुरूप इनकेभी शरीर और वेष थे। ५४।

टिप्पणी—१ 'देखे शिव बिधि बिष्नु अनेका।०' इति। (क) श्रीरामजीके सेवकोंमें शिवजी अग्रगण्य हैं। अतः उनको प्रथम कहा। अथवा, सतीजीको भ्रम है कि श्रीरामजी नर हैं और ये शिवजीकी शक्ति हैं, इसीसे प्रथम शक्ति-सहित शिवजीको ही सेवा करते दिखाया। (ख) ☞ भुशुण्डीजीके मोह-प्रकरणमें प्रथम ब्रह्माजीका नाम लिखा गया है। यथा 'कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उड़गन रबि रजनीसा॥ उ० ८०।' और यहाँ प्रथम शिवजीका। यह भी साभिप्राय है। सतीजीका सिद्धान्त है कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता; यथा 'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद। ५०।' इसपर शिवजीने कहा कि ब्रह्म अवतार लेता है, यथा 'सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन-निकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी। ५१।' सतीजीका सिद्धान्त है कि विष्णु अवतार लेते हैं। यथा 'बिष्नु जो सुरहित नरतनु धारी।', इसीसे श्रीरामजीने अपना प्रभाव दिखाया कि विष्णु हमारे चरणसेवक हैं; यथा 'बंदत चरन करत प्रभु सेवा।' ये हमारे अंशसे उपजते हैं, यथा 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना। १। १४४।' [प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'यहाँ रामभक्तिका प्रसंग है और विशेषतः शिवशक्ति सतीका सम्बन्ध मुख्य है। सतीजी शिवजीको विष्णुसे भी श्रेष्ठ मानती हैं जैसा उनके 'सोउ सर्बज्ञ जथा त्रिपुरारी। खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी।' इन वचनोंमें प्रयुक्त एकवचनसे सिद्ध है। अतः 'शिव' को प्रथम कहकर जनाया कि जिन शिवको तुम सर्वान्तर्यामी तथा सर्वसेव्य मानती हो वे ही रामसेवकोंमें अग्रगण्य हैं]।

टिप्पणी—२ (क) 'अनेका' इति। शिवजीने श्रीरामजीको 'निकाय भुवनपति' कहा। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक ब्रह्मा, एक विष्णु और एक शिव रहते हैं। यहाँ अनेक ब्रह्माविष्णुमहेशोंको सेवामें उपस्थित दिखाकर जनाया कि समस्त भुवनों और ब्रह्माण्डोंके त्रिदेव सेवामें हाजिर हुए हैं। निकाय ब्रह्माण्डोंके पृथक् पृथक् त्रिदेव हैं, इसीसे उनके रूपभी अनेक हैं और उनके प्रभावभी एक दूसरेसे बढ़े चढ़े हुए हैं। [भुशुण्डीजीने 'लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता' देखा था। यहाँ लोक न दिखाकर संक्षेपमें अनेक त्रिदेव दिखाया। (वि० त्रि०)] 'बंदत चरन करत प्रभु सेवा।०' इति। ☞ इस प्रसंगमें श्रीरामजीका प्रभुत्व दिखाया है, इसीसे यहाँ प्रायः 'प्रभु' शब्दकाही प्रयोग किया गया है। यथा 'फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा। ५४। ५।' 'जहँ चितवहि तहँ प्रभु आसीना। ५४। ६।', 'बंदत चरन करत प्रभु सेवा।' तथा 'पूजहि प्रभुहि देव बहु बेषा। ५५। ३।'

३ 'सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप' इति। (क) प्रथम शिव, विधि और विष्णुको कहा था, अब क्रमसे तीनों शक्तियोंका नाम देते हैं। वहाँ शिव, विधि और विष्णु अनेक हैं, इसीसे यहाँ सती, विधात्री और इंदिरा अमित हैं। वहाँ त्रिदेवके विषयमें कहा था कि 'अमित प्रभाउ एक तें एका' वैसेही इनको 'अनूप' कहा। 'अनूप' का भाव कि एककी उपमा दूसरेसे नहीं दी जा सकती थी। (ख) सब सतीओंको शिवसमेत चरणवंदना करते दिखाकर जनाया कि सब शिवशक्तियाँ सब 'सती ओं' रामभक्त हैं, एक तुम ही श्रीरामविमुखा हो।

४ त्रिदेवोंको कहकर वहीं तीनोंकी शक्तियोंकोभी कहना चाहिये था, सो न करके बीचमें देवताओंको

कहने लगे, यथा 'विविध वेष देखे सब देवा।'—यह क्यों ?

समाधान—प्रथम त्रिदेवको कहा। फिर औरभी समस्त देवताओंका कहकर अब क्रमसे सबकी शक्तियाँ एक साथ कह रहे हैं। 'सती बिधात्री इंदिरा०' इस दोहेमें त्रिदेवकी शक्तियाँ कहीं। आगे 'देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥' इस अर्धालीमें सब देवताओंकी शक्तियाँ कहीं।

५ जेहि जेहि बेष अजादि सुर०' इति। (क) भाव कि देवता बहुत वेषके हैं, यथा 'बिबिध वेष देखे बहु देवा।' अत जिस जिस वेषके देवता हैं उसी उसी वेषके अनुकूल वेषकी उनकी शक्तियाँ हैं। (ख) तेहि तेहि तन अनुरूप' इति। 'तन अनुरूप' कहनेका भाव कि वेषके अनुकूल वेष है और तनके अनुकूल तन है। दोनों बातें जनानेके लिये 'तन' और 'वेष' दोनों शब्द दिये। यहाँ 'वेष' का अर्थ है 'शृंगार'। जैसा शृंगार अजादिका है, वैसा ही उनकी शक्तियोंका है। जैसा तन ब्रह्मादिका है वैसा ही तन शक्तियोंका है। तात्पर्य कि अष्टभुजके साथ अष्टभुजा शक्ति है, सहस्रभुजके पास सहस्रभुजा शक्ति है। (वि० त्रि० का मत है कि यहाँ वेष' से अभिप्राय रूप, भूषण और वाहनसे है)। [श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि सप्तशती चण्डीपाठमें भी इसी भावका यह श्लोक है—'यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम्। तद्वदेव हि तच्छक्तिः सुरान्योद्धुमाययौ॥' (अ० ८)।] यदि ऐसा न हो तो सब शक्तियाँ एकतरहकी हो जायँ। एक ही तरहका वेष हो तो भ्रम हो जाय कि किस देवताकी कौन शक्ति है। अतएव सबके भिन्न भिन्न स्वरूप दिखाए। (श० प्र०)। [अथवा, 'तेहि तेहि तनु अनुरूप' का भाव यह है कि जिस ब्रह्माण्डमें जिस प्रकारके देवता और जिस प्रकारकी उनकी शक्तियाँ हैं, उसी-उसी रूप और वेषमें यहाँ प्रभुके समीप हैं। इससे तात्पर्य इतना ही मात्र है कि सतीजीने जिन देवताओं और शक्तियोंको इस ब्रह्माण्डमें देखा है उनको वे प्रभुके समीप देखकर पहचान लें कि ये वही हैं और अपने पतिको भी पहचान लें जिससे उनको विश्वास हो जाय कि हम सबोंके भी स्वामी ये हैं, नहीं तो सब दृश्य दिखाना ही व्यर्थ हो जाता। यह बात जरूरी नहीं है कि पचमुखी, चतुर्मुखी या चतुर्भुजी आदि देवताओंकी शक्तियाँ भी उतने ही मुख या भुजाओंकी हों]। (ग) यहाँ सेवकोंको शक्तिसमेत दिखानेमें भाव यह है कि सतीजी तो श्रीरामजीको शक्तिहीन समझे हुए हैं और श्रीरामजी अपने चरितसे उनको दिखाते हैं कि हम शक्तिमान् हैं और हमारे सब सेवकभी शक्तिमान् हैं। न हमको कभी शक्तिका वियोग होता है, न हमारे सेवकोंको।

नोट—१ दोहेके पूर्वार्द्धमें 'सती बिधात्री इंदिरा' कहा। उसीके अनुकूल उत्तरार्धमें 'शिवादिसुर' कहना चाहिये था, सो न कहकर 'अनादि सुर' कहा गया। इसका एक भाव ध्वनिसे यह निकलता है कि अब तुम शिवपत्नी नहीं रह गईं, तुम्हारा त्याग होगा। श्री प० सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि यहाँ 'सती' का अर्थ 'सच्ची पतिव्रता' करके यह विशेषण 'बिधात्री' और 'इंदिरा' में लगना चाहिये, क्योंकि इस समय सतीजी शिवजीके साथ नहीं हैं। प्र० स्वामीभी द्विवेदीजीसे सहमत हैं कि शिवजीके साथ दक्षकुमारी नहीं हैं। वि० त्रि० श्रीसतीजीका भी होना कहते हैं।

२—सर्वत्र अपनेको श्रीसीतालक्ष्मणसहित दिखाकर प्रभुने अपनेको व्यापक जनाया। 'सेवहिं सिद्ध मुनीस०' से 'भुवननिकायपति' होना पुष्ट किया। 'देखे शिव सब देवा' से 'माया धनी' होना सिद्ध किया और विष्णुकोभी सेवा एवं वंदना करते दिखाकर अपनेको परब्रह्म साबित किया। इस प्रकार सतीजीको पतिके समस्त वचनोंका प्रत्यक्ष प्रमाण देकर पतिके वचनोंमें प्रतीति कराई। (मा० प०)

३ खर्रेमें लिखा है कि 'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका' यह कौतुक सतीजीके पूर्वके 'सकर जगतबंद्य जगदीसा। तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा।' इस भ्रमको दूर करनेके हेतु दिखाया गया।

४ 'आगें रामु सहित श्रीभ्राता' से लेकर इस प्रसगभरमें 'तृतीय विशेष' अलकार है। जहाँ एक ही वस्तु युक्तिसे बहुत ठौर वर्णन की जाय जैसे यहाँ एक 'राम लक्ष्मण सीता अनेक ठौर दिखाए गए, वहाँ यह अलंकार होता है।

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥ १॥
जीव चराचर जो संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा॥ २॥
पूजहिँ प्रभुहि देव बहु बेषा। राम रूप दूसर नहिँ देखा॥ ३॥

अर्थ—(उन्होंने) जहाँ-तहाँ जितने रघुपति देखे, उतने ही उतने समस्त देवता शक्तियोंसहित (प्रभुकी सेवामें वहाँ-वहाँ) देखे। १। संसारमें जितने जड और चेतन जीव हैं, वे सब अनेक प्रकारके देखे। २। (देखा कि) देवता लोग अनेकों वेष धारण किये प्रभुका पूजन कर रहे हैं (पर) श्रीरामजीका दूसरा रूप नहीं देखा। ३।

टिप्पणी—१ 'देखे जहँ तहँ रघुपति जेते।०' इति। पूर्व देवताओंको कहा, शक्तियोंको न कहा था, अब शक्तियोंको भी कहते हैं। पूर्व देवताओंको देखना कहा, अब रघुपतिको देखना कहते हैं। ऊपर कहा है कि 'बिबिध बेष देखे सब देवा', इसीसे यहाँ 'सकल सुर' कहा। 'सकल' अर्थात् तैंतीस कोटि। 'जहाँ जितने रघुपति देखे तहाँ०' का भाव कि इतने रघुपति थे कि तैंतीस कोटि देवता पृथक् पृथक् पूजा कर रहे हैं।

नोट—१ 'जहँ तहँ' के अर्थ दो प्रकारसे हो सकते हैं। एक तो, जहँ तहँ=जहाँ तहाँ, इतस्ततः, इधर-उधर। यथा 'जहँ तहँ गईं सकल तब सीता कर मन सोचु। सु० ११।'। अथवा, जहँ तहँ=सर्वत्र, सब जगह, यथा 'जहँ तहँ सोचहिं नारि नर कृस तन राम बियोग। अ० १' दूसरे, जहँ तहँ=जहाँ ''' वहाँ। पं० रामकुमारजीने दूसरा अर्थ रक्खा है। 'जहाँ-जहाँ ही दृष्टि पड़ी वहाँ-वहाँ सर्वत्र' यह अर्थ उत्तम है। २—'रघुपति' से दशरथात्मज रामजीका बोध कराया और यह भी जनाया कि राजकुमाररूपही सर्वत्र था। ☞ यह शब्द देकर 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा' इस शिववाक्यकी पुष्टि की। किसी किसीका मत है कि 'रघुपति' कहनेसे चराचरस्वामित्वका बोध हो गया। विश्वकोषके 'रघुर्जीवात्मबुद्धिश्च भोक्ता भुक् चेतनस्तथा' के अनुसार संपूर्ण जड एवं चेतनमात्रकी 'रघु' संज्ञा है। इसीसे संसारमात्रके चराचर जीवोंसे सेवित जनाया।'' ३—वैजनाथजीका मत है कि 'प्रभुका परम प्रकाशमयरूप सतीजीकी दृष्टिमें समा गया है अथवा सर्वत्र व्याप्त है; इससे उनको दिशा विदिशा जहाँ देखती हैं तहाँ, रामरूप ही दिखाता है।'—परन्तु 'निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा। ५४। ३।' से इसका विरोध होता है।

टिप्पणी—२ 'जीव चराचर जो संसारा।०' इति। (क) शंका—'सिद्ध, मुनीश, ब्रह्मा, विष्णु, महेश और समस्त देवी देवताओंका सेवा, वन्दन या पूजन करना कहा गया। पर चराचरका देखना कहते हैं, सेवा करना नहीं लिखते; यह क्यों?' समाधान—यहाँ सेवाका प्रकरण चल रहा है। इस प्रकरणके बीचमें चराचर जीवोंको लिखकर जनाया कि ये भी सेवा कर रहे हैं। चर और अचर सभी श्रीरामजीके सेवक हैं; यथा 'सेवहिं सकल चराचर जाही'। अथवा, दूसरा समाधान यह है कि सिद्ध, मुनि और त्रिदेव आदि देवता सेवाके अधिकारी हैं, अतएव इनकी सेवा कही। और, सब चराचर श्रीरामजीकी सेवाका अधिकारी नहीं है, इसीसे चराचर जीवकी सेवा नहीं कही।—['सब चराचर सेवाका अधिकारी नहीं है' इसमें हम सहमत नहीं हैं। अयोध्याकांडमें पृथ्वी, वृक्ष, मेघ, तृण आदि की सेवाका वर्णन है जो जड हैं तब भला चेतन जीव अधिकारी क्यों न होंगे?]—इसपर प्रश्न होता है कि 'तब बीचमें चराचर जीवका उल्लेख क्यों किया गया?' उत्तर यह है कि श्रीशंकरजीने पूर्व जो सतीजीसे कहा है कि 'सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ०। ५१।', उसको यहाँ चरितार्थ किया है। समस्त भुवनोंके छोटे बड़े चराचरजीव उपस्थित दिखाकर 'भुवननिकायपति' होना सिद्ध किया है। (ख) 'जो संसारा' इति। इस समय प्रभु दंडकारण्यमें हैं। दण्डकवनमें भी चर और अचर पशु, पक्षी और वृक्ष आदि हैं। 'जो संसारा' कहकर जनाया कि दण्डकारण्यके ही चराचर जीव देखे यह बात नहीं, सारे संसारके चराचर जीव उसी जगह प्रभुके समीप देखे गए। (ग) 'सकल अनेक प्रकारा' इति। समस्त ब्रह्माण्डोंके छोटे बड़े जीव

यहाँ हैं; इसीसे अनेक प्रकारके हैं। कर्मानुसार जीवोंके अनेक प्रकारके शरीर होते हैं और ब्रह्मांड ब्रह्मांडमें भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं।

नोट—४ वैजनाथजी लिखते हैं कि भुशुण्डिरामायणमें कल्पकल्पमें और और किस्मके नर आदिका वर्णन है। श्रीसुधाकरद्विवेदीजी कहते हैं कि 'यहाँ श्रीरामजीका विराट्‌रूप दिखाते हैं। संसारमें जंगम और स्थावर जितने प्राणी थे वे अपने-अपने कर्मानुसार विविध प्रकारके देख पड़े।' (मा० प०)

टिप्पणी—३ 'पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा।०' इति। (क) पूर्व देवताओंका वेष कहा, यथा 'विविध बेष देखे सब देवा। ५४।' अब उनकी सेवा कहते हैं। (ख) ब्रह्मादि देवताओंका वेष कहा, चराचरका वेष नहीं कहा, क्योंकि इनका वेष नहीं होता। इनकी अनेक किस्में होती हैं, ये अनेक प्रकारके होते हैं, अतः इनके प्रकार कहे;—'देखे सकल अनेक प्रकारा।'

४ 'रामरूप दूसर नहि देखा।' इति। (क) श्रीरामजीका रूप एक ही प्रकारका कहा और आगे उनका वेष भी एक ही प्रकारका बताते हैं; यथा 'सीतासहित न बेष घनेरे।' और समस्त देवताओं और उनकी शक्तियोंके रूप और वेष अनेक प्रकारके कहे; ऐसा करके जनाया कि श्रीसीतारामलक्ष्मणजी कारण हैं और सब कार्य हैं। कारण एक प्रकारका है और कार्य अनेक प्रकारके हैं। (ख) सबके बहुत वेष कहे गए। इससे पाया गया कि श्रीराम लक्ष्मण जानकीजीके भी बहुत वेष होंगे। अतः उस अनुमानका निषेध करते हुए कहते हैं कि श्रीरामजीके बहुत रूप नहीं हैं और न बहुत वेष हैं, केवल एक ही सर्वत्र है। (ग) पुनः, 'राम रूप दूसर नहि देखा' का तात्पर्य यह है कि विशेष देवके पास विशेष रामरूप होगा और सामान्य के पास सामान्य होगा ऐसा नहीं किन्तु, सबके पास श्रीरामजी एकही प्रकारके हैं।

नोट—५ श्रीरामचन्द्रजीकी आकृति और वेष सर्वत्र एक ही रहा। इससे जनाया कि श्रीरामजी स्वतन्त्र हैं और सब परतन्त्र। श्रीरामजी शुभाशुभ कर्मोंसे निर्लिप्त हैं और चराचर जीव कर्मोंके बन्धनमें हैं, जैसा कर्म करते हैं वैसा तन फल भोगनेके लिये पाते हैं। यथा 'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई।'''कर्म सुभासुभ तुम्हहि न बाधा। १। १३७। नारदवाक्य।', 'गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू। करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥'''अगुन अलेप अमान एकरस। २। २१६। सुरगुरु-वचन।', '*न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।* इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते। गीता ४। १४।'—(वै०, मा० प०)। ६ 'दूसर नहिं' अर्थात् कहीं भी भेद न था। श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—चराचर प्राणी तो अपने कर्मोंके वश अनेक प्रकारके देख पड़े। श्रीरामजी अखण्ड अविनाशी सच्चिदानंद, व्यापक, अन्तर्यामी, मायापति, कर्मसे निर्लिप्त और अद्वितीय हैं; इसीसे सर्वत्र रामजीकी आकृति एक ही थी, कहीं रत्तीभर भेद न था। उनके साथ श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीभी एक ही चालके देख पड़े।

७ भुशुण्डीजीने भी गरुड़जीसे ऐसा ही कहा है। यथा 'भिन्नभिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान। अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन। उ० ८१।' ☞इस अद्भुत दर्शनका मिलान प्रेमी पाठक उ० ८०-८२ से करलें।

टिप्पणी—५ यहाँ तक इस सेवा-प्रकरणमें प्रथम सिद्ध और मुनीशकी सेवा कही; यथा 'सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना'; फिर शिव-विष्णु और ब्रह्माजीका चरणवंदन करना कहा, यथा 'बंदत चरन करत प्रभु सेवा'; तत्पश्चात् देवताओंका पूजन करना कहा, यथा 'पूजहिं प्रभुहि देव०'। सिद्ध और मुनीशको प्रथम कहा, क्योंकि श्रीरामसेवामें सदा तत्पर रहना यही इनका दिनरातका काम है। दूसरे, शिवजीने भी सेवामें इन्हींको प्रथम कहा है, यथा 'सेवत जाहि सदा मुनि धीरा। मुनि धीर योगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।' त्रिदेव, देव और चराचरको क्रमसे कहा।

अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥ ४॥
सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता॥ ५॥
हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूदि बैठीं मग माहीं॥ ६॥

अर्थ—श्रीसीतासहित बहुतसे रघुपति देखे (परन्तु उनके) वेष अनेक न थे, अर्थात् एकसा ही वेष सर्वत्र था। ४। वही रघुवर (श्रीरामजी), वही लक्ष्मणजी और वही सीताजी (सर्वत्र) देखकर सतीजी अत्यन्त भयभीत होगईं ५। (उनका) हृदय काँपने लगा, देहकी कुछ भी सुध न रह गई। (वे) आँख बन्द करके राहमें बैठ गईं। ६।

टिप्पणी—१ 'अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित०' इति। (क) सतीजीने अपने आगे रास्ते में जो रूप देखा वह शक्तिसहित था, यथा—'सतीं दीख कौतुक मग जाता। आगें रामु सहित श्री भ्राता। ५४।' अपने पीछे जो रूप देखा वह भी शक्तिसहित था, यथा 'फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर बेषा। ५४।' बीचमें और जितने रूपोंका दर्शन लिखा उनके साथ शक्तिका उल्लेख नहीं किया गया—'जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना॥' इससे यह समझा जाता कि ये रूप शक्तिसहित न थे, इसी लिये अब सबके साथ शक्तिका उल्लेखकर स्पष्ट करते हैं कि श्रीरामजी सर्वत्र शक्ति सहित देख पड़े, बिना शक्तिके कहीं नहीं हैं। यहाँ कहा था कि 'जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना', वैसेही यहाँ कहते हैं कि 'देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित०'। (ख) 'न बेष घनेरे' इति। पूर्व वेषकी सुन्दरता कही थी; यथा 'सहित बंधु सिय सुंदर बेषा।' यह न कहा था कि वेष बहुत नहीं हैं, सो अब कहते हैं। घनेरे वेष नहीं हैं अर्थात् सर्वत्र एकसाही वेष है। पुनः, भाव कि पिताका वचन है कि तपस्वी वेषसे वनवास करें, इसीसे जो प्रभाव दिखाया गया उसमें भी स्वरूप तापसवेष है। यहाँ श्रीरामजीके धर्मकी स्वच्छता है।

नोट—१ यहाँ टीकाकार महात्माओंमें मतभेद है। श्रीकरुणासिंधुजी, बैजनाथजी और सूर्यप्रसाद मिश्रजीका मत एक है। उनका मत है कि सुंदरी तंत्र और श्रीरामतापिनी उपनिषत् आदिमें जो स्वरूप वर्णित है, उसीका सर्वत्र दर्शन कराया गया है। वह इस प्रकार है—(क) (श्रीजानक्युवाच जनकं प्रति)—'अयोध्यान्त:पुरे रम्ये सरयूतीरमाश्रिते। अशोकवनिकामध्ये सुरद्रुमलताश्रये॥ चिन्तामणि महापीठे लसत्काञ्चनभूतले। कल्पवृक्षतले रम्ये रत्नगृहनिषेविते॥ सुवर्णवेदिकामध्ये रत्नसिंहासनं शुभम्। तन्मध्ये च महापद्मं रत्नजालैः सुवेष्टितम्। तन्मध्ये कर्णिका दिव्यं वह्निगृह विभूषितम्। तन्मध्ये चिन्तयेद्देवमिन्द्रनीलमणिप्रभम्॥ पीताम्बरं महोल्लासं तेजःपुञ्जघनावृतम्। द्विभुजं मधुरं स्निग्धं कृपापाङ्गविमोक्षणम्॥ वीरासने समासीनं श्रीरामं परमाद्भुतम्। सेव्यं जानुनि हस्ताब्जं सांख्यमुद्राविराजितम्॥ व्याख्याननिरतं सम्यक् ज्ञानमुद्रोपशोभितम्। मुकुटोज्ज्वल दिव्याङ्ग लसत्कुंडलमंडितम्॥ नासाग्रतं समुक्ताढ्यं लसद्वदनपङ्कजम्। श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तादाम सुकंठकम्॥ रत्नकंकणकेयूरं मुद्रिकाभिरलंकृतम्। यज्ञसूत्राभिलसितं कटिसूत्रानुरंजितम्॥ रत्नमंजीर रम्यांघ्रि ब्रह्मेशविष्णुसेवितम्। कामपूर्णं कामवरं कामास्पद मनोहरम्॥' "दिव्यायुधसुसंपन्नं दिव्याभरणभूषितम्। स्वप्रकाशं चिदानंदं चिन्मयानन्दविग्रहम्॥ "वामपार्श्वे धनुर्दिव्यं दक्षिणे तु शरस्तथा। वामकोण समासीना मा रक्तोत्पलधारिणीम्। दक्षकोणे तथा देवं लक्ष्मणं धृतछत्रकम्। तथा भरतशत्रुघ्नौ तालवृन्तकरावुभौ। रामाग्रे हनुमान्धीरो वाचयन्तः सुपुस्तकम्। तत्त्वं निरूपणं व्याख्याकर्त्तारो रावणानुजः। इति सुन्दरीतंत्रे।' पुनश्च, (ख) श्रीसनत्कुमारसंहितायाम् यथा—'वैदेही सहित सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे। मध्ये पुष्पमयासने मणिमये वीरासने सुस्थितम्। अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं च सद्भिः परम। व्याख्यातं भरतादिभिः परिवृतं राम भजे श्यामलम्॥' पुनश्च, (ग) यथा श्रीरामतापिनीयोपनिषत्—'प्रकृत्या सहितः श्यामः पीतवासः प्रभाकरः। द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः॥ देहीदेहविभागः स्यात्सच्चिदानंदविग्रहः।"

टिप्पणी—२ 'सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि०' इति। (क) आगे पीछे जो रूप देख

उनके साथ लक्ष्मणजीको भी देखना कहा गया था। बीचमें जो और दर्शन कहा उनमें लक्ष्मणजीको साथ देखना नहीं कहा गया। इसीसे अब यहाँ कहते हैं कि 'सोइ रघुबर', 'सोइ लछिमनु सीता', अर्थात् वही रघुवर लक्ष्मण सीता हैं जो पूर्व देखे थे, वही सर्वत्र हैं, तीनोंका वही एकही रूप और वही एक ही वेष सर्वत्र है। तीनोंका तपस्वी वेष है, और रूप जैसा है वैसा ही है। (ख) 'सोइ' शब्द रघुबर और लक्ष्मणजीके साथ है, सीताजीके साथ नहीं है क्योंकि पहले जब विरहमें सीताजीको खोजते फिरते थे तब केवल दोनों भाई थे, सीताजी न थीं। 'सोइ' से पूर्व खोजते समयका रूप कहा, यथा 'खोजत विपिन फिरत दोउ भाई।', इसीसे 'सीता' के साथ 'सोइ' नहीं कहा।

नोट—२ प्रायः अन्य सब महानुभावोंका मत है कि 'सोइ' तीनोंके साथ है। जो आगे, पीछे देखे थे वे ही 'राम लक्ष्मण सीता' सर्वत्र थे। सबका रूप और वेष सर्वत्र वैसा ही था, यह कहकर जनाया कि तीनो नित्य हैं और तीनोंका सदा सयोग है। प० सू० प्र० मिश्र लिखते हैं कि इस दर्शनसे अपनेको स्वतन्त्र और अपने अधीन श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजीको स्वतन्त्र दिखाया।

वि० त्रि०—सतीजीका ध्यान प्रथम रामजीपर गया, सो जगद्व्यापी वैषम्यमें एक ही साम्य दृष्टि गोचर हुआ, रामजी सर्वत्र एक ही देख पड़े। तब सीताजीपर दृष्टि डाली तो वे भी सर्वत्र एकसीही देख पड़ीं अर्थात् मूलप्रकृतिमें भी कहीं भेद नहीं दिखाई पड़ा। इसी तरह लक्ष्मणजी भी सर्वत्र एकसे थे, जाग्रतके विभुमें भी कहीं अन्तर नहीं प्रतिभात हुआ।

नोट—३ यहाँ प्रश्न होता है कि यहाँ 'सोइ लछिमनु' कहकर उनका रूप और वेष सर्वत्र एक ही कहा गया है पर उत्तरकाण्डमें तो भुशुण्डीजीके मोह प्रसगमें भरतादि सभी भाइयोंके विविध रूप कहे गये हैं, यथा 'दसरथ कौसल्या सुनु ताता। विविध रूप भरतादिक भ्राता॥ अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन। ७। ८१।' इन दोनोंका समन्वय कैसे होगा?

सतीजीको सर्वत्र श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी एकही रग, रूप रेखाके दिखाये गये। भरत, शत्रुघ्न और दशरथ कौसल्याजीका दर्शन सतीजीको नहीं कराया गया। और भुशुण्डीजीको जो दर्शन हुआ उसमें सीताजीका दर्शन नहीं है पर भरतादि सभी भ्राताओं और श्रीदशरथ कौसल्याजीका दर्शन कराया गया है। भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें इन सभीका दर्शन भिन्न भिन्न रग रूप रेखाका हुआ।—इसका वास्तविक कारण तो नट नागर भगवानही जानें। हाँ! अनुमानसे प्रसग लगानेके लिये हम यह समाधान कर सकते हैं कि प्रस्तुत प्रसगमें वनवासका समय है। दोनों भाई और सीताजीही वनमें आए हैं। सीताहरण हो चुका है। दोनों भाई उन्हें खोज रहे हैं। विलाप करते और सीताजीको खोजते फिरते देख सतीजीको सशय हुआ कि ये न तो ब्रह्म हो सकते हैं और न सर्वेश विष्णुही। (इसके कारण ५१ (१-७) और दोहा ५० में दिये जाचुके हैं)। प्रभुको यह दिखलाना है कि सीताजी हमारे साथही हैं, हम दोनोंमेंसे कोई उन्हें खोज नहीं रहा है। वियोगही नहीं हुआ तब खोजना और विलाप कैसे सभव है? खोजना आदि लीलामात्र है। लक्ष्मणजी तथा सीताजीका सर्वत्र और नित्य साथ होना तभी सिद्ध होगा जब उनका रग रूप रेखा सर्वत्र एकही हो, भिन्न भिन्न रगरूप होनेसे समाधान न हो सकेगा। प्रस्तुत प्रसगमें इन्हीं तीनका प्रयोजन है, इससे इन्हींका दर्शन सर्वत्र कराया गया।

भुशुण्डिजी बालरूपके उपासक हैं। वे केवल बाललीला देखा करते हैं और यहभी केवल श्रीरामजीकी। इस समय वे श्रीरामजीके साथ खेल रहे हैं और श्रीरामजीभी उनके साथ अनेक प्रकारकी क्रीडा कर रहे हैं—'मोहि सन करहिं विविध विधि क्रीडा।७७।' इस क्रीडामें भरतादि कोई भी सम्मिलित नहीं हैं, यथा 'तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु पिताहू। ७७।' सतीमोह प्रसगमें इस लीलामें लक्ष्मणजी भी सम्मिलित हैं। भुशुण्डीजीको मोह केवल श्रीरामजीके चरित्रमें हुआ और वे रामजीको ब्रह्म जानते हैं। अत इनके प्रसगमें भरतादि भ्राताओं इत्यादिकी एकरूपता या भिन्नता समझानेवाली कोई बात

है ही नहीं। बाललीलाके समय सीताजी कैसे साथ दिखाई जातीं क्योंकि अभी विवाह हुआ ही नहीं। दशरथजीका आँगन है, माता और भ्राता वहाँ उपस्थित हैं; अतः ये सब दिखाये गये। लीला विधानके अनुसार जहाँ जैसा उचित होता है प्रभु वैसाही दर्शन कराते हैं।

प्र० स्वामीका मत है कि 'जिन रामजीको सतीजीने देखा उस कल्पके लक्ष्मण शेषशायी क्षीराब्धि निवासी नारायणके अवतार हैं, उनका रूप सभी ब्रह्माण्डोंमें एकही रहता है। पर भुशुण्डि कल्पमें लक्ष्मणजी शेषावतार हैं। *प्रति ब्रह्माण्डमें शेषजीका रूप भिन्न भिन्न है।*'

'पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा'....'सोइ रघुबर सोइ०' इति।

(१) बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि 'इस प्रकरणमें उपासना दिखा रहे हैं। जो देवता केवल रामरूपके उपासक हैं, उनके पास अकेले श्रीरघुनाथजी दिखाई दिये। जो युगलस्वरूप श्रीसीतारामजीके उपासक हैं, उनके पास श्रीसीतारामजी युगलस्वरूप देख पड़े। और जो तीनोंके उपासक हैं उनके पास श्रीसीतारामलक्ष्मण तीनों स्वरूप देख पड़े। इसीसे यहाँ तीन प्रकारके दर्शन कहे गए।—'रामरूप दूसर नहिं देखा', *'अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीतासहित न बेष घनेरे'* और 'सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता।' मानस-पत्रिकाका भी यही मत है।

(२) पांड़ेजी एवं बैजनाथजीका मत है कि—'वेदोंके आधारपर हमारे आचार्योंने तीन मत प्रतिपादित किये हैं—*अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत। गोस्वामीजीने 'तीनोंको रामायणके अनुकूल रक्खा'।* अर्थात् तीनों मत यहाँ दरसाये हैं। अद्वैत-वेदान्तके अनुसार एक ब्रह्मही नित्य है। 'रामरूप दूसर नहिं देखा' में रामरूप ही कहकर उसमें अद्वैतमतानुसार दर्शन कहा। द्वैतमतमें केवल परमात्मा और माया नित्य माने जाते हैं। उसका दर्शन *'अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥'* इस अर्धालीमें है। और, विशिष्टाद्वैतमतमें ब्रह्म, जीव और माया तीनोंको नित्य माना जाता है। इस मतके अनुकूल दर्शन 'सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता।' में कहा गया है। इस मतके अनुसार ब्रह्म सदैव माया और जीवसे विशिष्ट रहता है, केवल *अशेष चिन्मात्र नहीं; यथा श्रुतिः 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मचैतत्।'*

श्रीपांड़ेजी और बैजनाथजीने इन अर्धालियोंमें जो अद्वैतादि मतोंका भाव कहा है उससे मेरी समझमें सम्भवतः उनका आशय यह है कि—जहाँ दर्शनमें केवल रामजी हैं (अर्थात् साथमें श्रीसीता लक्ष्मण जी नहीं हैं) उस दर्शन से हम *अद्वैतमतका सिद्धान्त ले सकते हैं कि एक ब्रह्मही ब्रह्म है। यथा श्रुतिः 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन'।* जहाँ श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोका दर्शन है उस दर्शनसे हम द्वैतमतका सिद्धान्त ले सकते हैं। और जहाँ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी तीनोंका दर्शन है उस दर्शनसे हम *विशिष्टाद्वैतमतका सिद्धान्त ले सकते हैं।*

☞ इन विचारोंसे यह भी ध्वनित होता है कि भगवान् इन सब सिद्धान्तोंमें सहमत हैं, अतः सब साम्प्रदायिकोंको चाहिये कि अपने अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तोंपर अटल रहें और अन्य सिद्धान्तोंकी निन्दा न करें। कहा भी है—*'श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चैव हि।'* (श्रीमद्भागवते ११।३।२६)

(३) पं० रामकुमारजीका मत ऊपर टि० १ और २ में दिया गया। वे सर्वत्र तीनोंका साथ होना ही निश्चित करतेहैं। तथापि उन्होंने यह भी लिखाहै कि 'सीतासहित रघुपति' यह द्वैत है और 'सोइ रघुबर···' यह विशिष्टाद्वैत है। और, 'जीव चराचर जो संसारा।०' इसपर लिखतेहुए उन्होंने यह भी लिखा है—'जो प्रभाव दिखाया सो कैसे? केवल ब्रह्म है, प्रकृति पुरुष है और मायाजीव सहित है'—ये तीन प्रकारसे प्रभाव दिखाया।

(४) प० प० प्र० का मत है कि 'जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना।५५।६।' से 'रामरूप दूसर नहिं देखा। ५५। ३।' तक केवलाद्वैतमतके अनुसार ही विश्वरूप दिखाया है। केवल ब्रह्ममें माया और जीव आदि द्वैत नहीं है यह ध्वनित किया है। 'अवलोके रघुपति···' में द्वैत और सांख्यमतका संग्रह है और 'सोइ

रघुवर'' में विशिष्टाद्वैतादि मतोंका संग्रह है। माध्यादि सभी मतोंका अन्तर्भाव इसमें होता है।

टिप्पणी—३ 'देखि सती अति भई सभीता' इति। (क) और को देखकर भय न हुआ, श्रीराम-लक्ष्मण-सीताको देखकर भय हुआ, यह क्या बात? ऐसी बात नहीं है कि अकेले रघुनाथजीको देखकर भय न हुआ, सीतासहित देखकर भय न हुआ और तीनोंको देखकर भय हुआ। यदि यहाँ रघुपतिको देखना न कहा होता तब वैसा अर्थ समझा जाता। अथवा, यह भी हो सकता है कि (जितने दर्शन हुए) सबको देख-कर डरना कहा गया। (ख) 'अति सभीत' का भाव कि प्रथम जब अपने मृदु गूढ़ वचनों द्वारा प्रभाव दिखाया था तब सभीत हुई थीं, यथा 'सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोच।५३।' और जब कुछ प्रभाव प्रगट करके दिखाया तब 'अति' सभीत हुईं। (जिनको अपनी माया दिखाने चली थीं उनकी मायाका पार नहीं पा रही हैं। अत्यन्त आश्चर्यमय दृश्यकी बढ़ती हुई विषमताको देखकर अत्यन्त भय उत्पन्न हुआ। वि० त्रि०।) सतीजीने अपराध किये हैं, इसीसे प्रभुका प्रभाव देखकर डरीं, नहीं तो प्रसन्न होतीं। (यहाँ केवल श्रीरामलक्ष्मणसीताजीके दर्शन हुए और चराचरमात्र सेवा करता हुआ देख पड़ा, क्योंकि यहाँ तो केवल सतीजीको यह निश्चय कराना था कि हम ब्रह्म हैं, हम विष्णु नहीं हैं और हमारा नित्य संयोग है। कोई डरावने दृश्य नहीं दिखाए गए जिससे वे डरतीं। अर्जुनजीको तो भयावना दृश्य दिखाया गया था, विराट्का दर्शन कराया गया था, इससे वे डर गए थे)। अति सभीतकी दशा आगे कहते हैं।

नोट—४ 'अति सभीता' इति 'अति सभीत' होनेके अनेक कारण यहाँ उपस्थित होगए हैं। एक तो पतिवचनकी अवज्ञा, दूसरे अनुचित परीक्षा लेकर पतिके इष्टका अपमान, तीसरे परीक्षामें उलटे लज्जित होना पड़ा यह हृदयकी ग्लानि, तथा चौथे श्रीरामजीका सर्वत्र अद्भुत दर्शन देख यह सोचकर कि इस महान् अपराधका फल क्या होगा भयकी सीमा न रहगई, वे अत्यन्त भयभीत होगईं।' (मा० प०, वै०)। अब वे सोचती हैं कि यह क्या हुआ, हाय! अब मैं क्या करूँ? प्रभुकी माया कहीं मुझे पागल न करदे। (मा०प०) ☞ 'सती सभीत महेस पहिं चलीं०' उपक्रम है और 'देखि सती अति भईं सभीता' उपसंहार है।

टिप्पणी—४ 'हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं।०' इति। (क) [यह 'अति सभीत' का स्वरूप है, दशा है। वैद्यकशास्त्रभी यही कहता है। डरसे कलेजा धड़कने लगता है। रुधिरका प्रवाह रुक जाता है जिससे मूर्छा होजाती है। तब आँखें बंद होजानेपर भयंकर रूपका दर्शन जाता रहता है, इससे कुछ देर बाद चित्त स्वस्थ होनेपर होश आ जाता है। (मा० प०)। वही दशा यहाँ सतीजीकी हुई।] (ख) बहुत डरजानेपर लोग स्वाभाविकही आँखें बंद कर लेते हैं, क्योंकि वह दृश्य देखा नहीं जाता। यथा 'मूदेहुँ नयन त्रसित जब भयऊँ। उ० ८०।' (ग) 'नयन मूदि बैठीं०'—नेत्र बंदकर बैठजानेका भाव कि सर्वत्र श्रीसीता रामलक्ष्मणजीही देख पड़ते हैं, सम्मुख देखा नहीं जाता, इसीसे नेत्र बंद करलिये कि यह दृश्य दिखाई न दे। और बैठ इस लिये गईं कि जहाँ दृष्टि पड़ती है, आगे-पीछे, ऊपर नीचे समस्त दिशाविदिशाओंमें सर्वत्र श्रीरामजीही समस्त सेवकों सहित बैठे देख पड़ते हैं, कहीं तिलमात्र चलनेकी जगह नहीं है, तब जायँ कहाँ, चलें तो कैसे चलें? अत: बैठ गईं। 'मग माहीं' मार्गमेंही बैठ गईं, क्योंकि मार्गमेंही तो श्रीसीताराम-लक्ष्मणजी आगे देख पड़े थे, यथा 'सती दीख कौतुक मग जाता। आगे राम सहित श्री भ्राता।' और कहीं किसी ओर निकलनेका रास्ता दीखता न था। (घ) ☞ नेत्र बंद कर लेनेपर प्रभुने यह सोचकर कि आँख बन्द होनेपरभी यदि यह दृश्य इनको दिखायेंगे तो इनको बहुत क्लेश होगा, अतः भीतर न देख पड़े। नेत्र मूँदनेमही सतीने निर्वाह सोचा है और बहुत सभीत हैं, अतः अब न दिखाई दिये। प्रभुने सब दृश्य हटा लिया।

वीरकविजी—इस वर्णनमें सतीजीका आश्चर्य स्थायीभाव है। श्रीरामलक्ष्मणजानकीजी आलंबन विभाव हैं। अनेक ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदिके भिन्न भिन्न रूपोंमें दर्शन उद्दीपन विभाव हैं। हृदयकंप, स्तंभ, नेत्र बंद करना अनुभाव हैं। मोह, जड़ता आदि संचारी भावोंसे पुष्ट होकर 'अद्भुत रस' हुआ।

वैजनाथजी—भयाग्निकी ज्वाला उठी जिससे सर्वाङ्गमें ताप-सी चढ़ गई, हृदय काँप उठा, देह विवरण होगई। मूर्छावश देह-सँभालकी सुध भूलगई। अङ्गमें प्रस्वेद आगया, इति 'व्याधि' दशासे नेत्र बंदकर मार्गमेंही बैठगई। भाव कि मार्ग छोड़कर अलग बैठनेका होश न रह गया। यही 'व्याधिदशा' है। यथा 'अंगवरण विवरण जहाँ अति ऊँचे ऊसास। नयन नीर परिताप बहु व्याधि सुकेशवदास॥'

नोट—५ जैसे अतिशय आनन्दकी बातसे सात्त्विकभाव अश्रु, कंप आदि शरीरमें उत्पन्न होजाते हैं, वैसे ही भय, शोक आदिसे भी दाह, कंप मूर्छा आदि अनुभाव शरीरमें उत्पन्न हो जाते हैं। सुमन्तजीकी भी ऐसीही दशा हुई थी; यथा 'सोच सुमंत्र विकल दुख दीना।'''जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पति देवता करम मन बानी॥ रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥ २।१४४-१४५।' सुमंतजी शोकसे व्याकुल सोच रहे हैं कि मैं अवधमें जाकर सबको क्या उत्तर दूँगा। इत्यादि। उनके हृदयमें दारुण दाह हुआ। अर्जुनजीकी भी महाभारतके महायुद्धके प्रारंभमें ऐसीही दशा हुई थी जिसका वर्णन गीताके प्रथम अध्यायमें है। यथा—'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते। २९। गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते। न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः। गीता १।३०।' सारे शरीरमें दाह उत्पन्न होगई थी। श्रीदशरथजीमहाराजकी भी दशा वनवासका वर माँगे जानेपर ऐसीही हुई थी; यथा 'माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन॥ २।२६॥', 'अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा। २।३२।' इसी तरह सतीजीको जो शोच और भय आदि इस समय हैं वे इसके पूर्व भी थे पर इससे बहुत कम थे, अतः उस समय केवल दाह था और अब यह सब प्रभाव देखने पर वे शोच और भय अत्यन्त बढ़ गए जिससे हृदयमें कंप और बेहोशी आदि अनुभव उत्पन्न हो गए।

नोट—६ "तनु सुधि कछु नाहीं" इति। पं० रामकुमारजीका मत है कि इस कथनसे जाना जाता है कि यहाँसे सीतावेष जो सतीजीने धारण किया था वह छूटगया, जब तनकी सुध न रही। यथा—'अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई। कि० ३।', 'प्रगट बखानत राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ। सुं० ५.२।'—प्रेमसे देहकी खबर न रह गई, निज तन प्रगट होगया।' तथा यहाँ तनकी सुध न रहनेपर सतीकपट छूट गया। परन्तु दासकी समझमें सीतावेष उसी समय सतीजीने त्यागकर अपना रूप प्रकट करलिया जब मृदुगूढ़वचन सुनकर भयभीत होकर वे शिवजीके पास चलीं। इसीसे यहाँ 'सती समीत महेस पहिं चलीं' ऐसा कहा। दूसरे, हनुमान्जी और शुकसारणके प्रसंगमें जैसे उनके कपटका छूटना कविने कहा वैसेही यहाँ भी कहना चाहिये था, पर यहाँ सतीकपट छूटनेका उल्लेख कविने नहीं किया। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उन्होंने पूर्वही स्वयं ही अपना रूप कर लिया। हनुमान्जी आदिने अपनेसे अपना पूर्वरूप नहीं कर लिया था, वह तो प्रेम होनेसे प्रकट होगया था। तीसरे, हनुमान्जी आदि पर प्रभुने यह प्रकट नहीं होने दिया कि 'हम तुमको जान गए' और यहाँ तो प्रभुके सामने आतेही उन्होंने अपने गूढ़ वचनोंसे तथा प्रणामसे सतीजीको बता दिया कि तुम सीता नहीं हो, प्रभुके मुखसे वचन निकलते ही उनका सीतावेष छूट जाना चाहिये, नहीं तो अधिकसे अधिक सतीके चल देने पर तो अवश्य ही। हनुमानजीको कपि तब कहा जब उनका कपितन प्रकट होगया। इसी तरह शुकसारनको वानरोंने राक्षस तब जाना जब उनका कपितन छूटगया। यहाँ उसके विपरीत है।

७ सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि नयन मूँदि' से व्यक्त होता है कि मायाने अपनी प्रबलता सतीजीपर खूब दिखाई।'

बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी॥ ७॥
पुनिपुनि नाइ रामपद सीसा। चलीं तहां जहँ रहे गिरीसा॥ ८॥

अर्थ—नेत्र खोलकर फिर देखा (तो) दक्षकुमारी (सतीजी) को वहाँ कुछ न देख पड़ा। ७।

श्रीरामजीके चरणोंमें बारंबार सिर नवाकर वे वहाँको चलीं जहाँ कैलासपति शंकरजी (बैठे) थे। ८।

टिप्पणी—१ 'बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी।०' इति। [(क) इससे जनाया कि कुछ देर बाद होश आगया, हृदयका कंप दूर हुआ, वे सावधान हुईं। तब आँखें खोलीं। तनकी सुध न रहजाने से हृदय कुछ शान्त हुआ, भय कम हुआ, तब नेत्र खोले। (ख) 'कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी' अर्थात् पूर्ववाला अद्भुत दृश्य न देख पड़ा। जैसे पहले प्रभुको नरनाट्य करते, 'बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई' देखा था, वैसेही पूर्ववत् नरनाट्य करते अब देख रही हैं।] इससे प्रभुने जनाया कि हमारा आविर्भाव और तिरोभाव होता है, हम जन्ममरणसे रहित हैं। पुनः भाव कि—(ग) सतीजी नेत्र बन्द करके बैठ गई थीं। उनका नेत्र बंद करना ही सूचित करता है कि वे इस दृश्यसे उकता गई हैं, घबड़ा गई हैं, सोचती हैं कि कैसेहू यह दृश्य हमारे सामनेसे जाय, अब हम इसे देखना नहीं चाहतीं—यही उनके मनमें है, इसीसे अब दक्षकुमारीने कुछ न देखा। (घ) यहाँ श्रीरामजी न देखपड़े, इसीसे दक्षसंबंधी नाम दिया। दक्षको ईश्वर न देखपड़े, इसीसे उसने शिवजी से विरोध किया।

नोट—१ 'दच्छकुमारी' के और भाव।—(क) इतना प्रभाव देख लेनेपर भी बोध न हुआ; यथा 'मैं बन दीखि रामप्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई॥ तदपि मलिन मन बोधु न आवा। बा० १०९।' अतः दक्षसम्बन्धी नाम देकर जनाया कि परम भागवत शंकरजीके विरोधीकी कन्या हैं, तब कैसे पूर्णबोध हो, यह अब भी झूठ बोलेंगी। (पं०)। (ख) पतिका वचन सत्य न मानकर जब परीक्षा लेने चली थीं तब भी शंकरजीने यही विशेषण दिया है; यथा 'दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना।' अब भी उनसे जाकर झूठ बोलेंगी, जिससे उनका अकल्याण होगा। प्रसंगके अन्तमें यह नाम देकर जनाया कि अब इनका सम्बन्ध पतिसे न रह जायगा, इनका कल्याण नहीं है। जो प्रभाव यहाँतक दिखाया गया और जिसलिये दिखाया गया, उसका खुलासा यहाँ दिया जाता है।—

दर्शन	भाव
१ सर्वत्र श्रीसीतारामलक्ष्मण देख पड़े	हम सर्वत्र हैं, तीनोंका वियोग कभी नहीं है, लक्ष्मणजी हमारे सेवक हैं और सीताजी हमारी शक्ति हैं।
२ अनेक ब्रह्मा, विष्णु, महेशको शक्तियों सहित चरणवंदन करते देखा।	ये सब हमारे चरणसेवक हैं। (हमारे अंश से ये उत्पन्न होते हैं)
३ देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते।	सतीजी शक्तिका बिछोह समझे हुए हैं, अतः सेवकों को शक्तियोंसहित दिखाया; अर्थात् हमारे सेवकोंको शक्तिवियोग कभी नहीं होता तो हमारा कैसे होगा।
४ संसारके समस्त चराचर जीव दिखाए।	हम चराचरमात्रके स्वामी हैं।
५ सब अनेक प्रकारके परंतु रामजी एक ही प्रकार के सर्वत्र देखे।	हम सबके कारण हैं, कारणका एक ही रूप रहता है, कार्यके अनेक रूप हैं। और सब कार्य हैं।
६ आँखें खोलनेपर कुछ न देखा।	हमारा आविर्भाव और तिरोभाव होता है हम जन्ममरणरहित हैं।

७ ब्रह्म केवल है, मायायुक्त है तथा जीव मायायुक्त है, यह जनाया। तीन प्रकारके उपासक हैं। तीनों उपासनाएँ दिखाईं। केवल श्रीरामकी, युगल श्रीसीतारामकी और श्रीसीतारामलक्ष्मणकी।

☞ 'चिद्रूपा जगज्जननी श्रीसीताजी तथा श्रीलक्ष्मणजी सदा श्रीरामजीके साथ ही रहते हैं। यथा 'हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकृतया चिता। श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोसलजात्मजः। २७। दक्षिणे लक्ष्मणे-नाथ सधनुः पाणिना पुनः।' (रा० ता०) अर्थात् चिद्रूपा श्रीजानकीजी स्वर्णवर्णकी, द्विभुजा, सर्वाभरण-

भूषिता और हाथमें कमल धारण किये हुए श्रीरामजीके साथ हैं और दाहिने लक्ष्मणजी धनुष लिये हुए हैं।

टिप्पणी—२ 'पुनि पुनि नाइ राम पद सीसा। चलीं तहाँ जहँ०' इति। (क)—जब परीक्षा लेने चलीं तब इनको नृपसुत समझे थीं; यथा 'आगे होइ चलि पंथ तेहि जेहि आवत नरभूप।' इसीसे तब इनको प्रणाम न किया था। जब प्रभाव देखकर इनको ब्रह्म जाना तब पुनः पुनः प्रणाम करती हैं। यथा 'बार बार नावै पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा। कि० ७। १४।' पुनः, अपना अपराध समझकर उस (अपराध) को क्षमा करानेके विचारसे बारबार प्रणाम करती हैं। [पुनः, बारंबारका प्रणाम भय और पश्चात्तापकी भी दशा सूचित करता है। अर्जुनजी भी विराट्रूपका दर्शनकर भयभीत हो गए थे और अपने सारथीको भगवान् जानकर भय और पश्चात्ताप होनेसे उन्होंने भी बारंबार प्रणाम किया और क्षमाकी प्रार्थना की है। यथा 'ततः सविस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः। प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ गीता ११। १४।...नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य। ३५।...नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते। ३९। तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादयेत्वामहमीशमीड्यम्।'''४४।' बैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रभाव देखनेसे भ्रमका नाश हुआ। जब वे सभीत हुईं तब प्रभुको दया आ गई। जिससे मोहका नाश हुआ और जीवमें शुद्धता आई तब प्रभुको परात्पर जानकर बारम्बार मस्तक नवाती हैं'] (ख) यदि 'रामपद' न कहते तो समझा जाता कि जितने देखे थे सबको प्रणाम करती हैं। अतः 'नाइ रामपद सीसा' कहा।

नोट—२ 'भगवान्को नम्रतापूर्वक प्रणाम करनेसे सदैव कल्याण होता है, परन्तु सतीजीको तो दुःख ही भोगना पड़ा, यह क्यों ?' यह शंका उठाकर पंजाबीजी उसका समाधान यह करते हैं कि 'यह प्रणाम व्यर्थ न होगा। इसका फल यह होगा कि दुःख दूर होकर दुबारा पतिसंयोग प्राप्त होगा।' और, सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि 'सतीका मन शुद्ध न था। 'पुनि-पुनि' पदसे भी यही सिद्ध होता है कि बारबार यत्न किया पर प्रारब्धने न छोड़ा।' (मा० प०)।

टिप्पणी—३ 'चलीं सती जहँ रहे गिरीसा' इति। (क) पूर्व एक बार शिवजीके पास चलना कह आए हैं। यथा 'सती समीत महेस पहि चलीं०'। पर बीचमें बैठ गई थीं, यथा 'नयन मूँदि बैठीं मगु माहीं', अब पुनः चलीं; इसीसे अब फिर 'चलीं सती' कहा। (ख) 'गिरीसा' (गिरिके ईश) कहनेका भाव कि अब वे गिरिका सेवन करेंगे, सतीजीसे सम्बन्ध न रक्खेंगे।

नोट—३ 'पतिके समीप जानेके प्रसंगमें यहाँ प्रारंभमें ही यह नाम देकर जनाया कि ये प्रतिज्ञाके अटल हैं। जो मनमें ठानेंगे उसपर गिरिवत् निश्चल रहेंगे, मूठफरेबसे टलनेवाले नहीं' (सुधाकर द्विवेदीजी)। अथवा, (ख) सतीजी जबतक लौट न आईं तबतक वे यहीं बटतले ही बैठे रहे। अतः गिरीश-पद दिया। जैसे अगस्त्यजीके यहाँ सत्संगके लिए कुछ दिन ठहरजानेपर भी यही नाम दिया था। यथा 'कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा'।

इति सतीमोहान्तर्गत श्रीरामप्रभावसाक्षात्कार (अद्भुतदर्शन) प्रसंग समाप्तः

दोहा—गईं समीप महेस तब हँसि पूछी कुसलात।
लीन्हि परीछा कवन बिधि कहहु सत्य सब बात॥ ५५॥

अर्थ—(सतीजी) पास पहुँचीं तब महादेवजीने हँसकर कुशल पूछा। (और कहा कि) तुमने किस प्रकार परीक्षा ली ? सब बात सचसच कहो। ५५।

टिप्पणी—१ 'गईं समीप महेस तब०' इति। पास या उनके सम्मुख जब पहुँचीं तब कुशलप्रश्न किया यह गंभीरस्वभावका द्योतक है। गम्भीर लोग उतावली नहीं करते। दूरसे कुशल पूछ चलते तो गम्भीरतामें दोष आता। अथवा, प्रथम सब चिंता रामजीपर छोड़ चुके, सब बात उनके अधीन कर चुके हैं;

यथा 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा। ५२।', अत जल्दी न की, जब समीप आई तब पूछा।

२ (क)—'हँसि पूछी कुसलात' इति। सतीजी अति सभीत, सकोच-सोचवश और व्याकुल शिवजीके पास आई हैं, यथा 'मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई।१०६।', दूसरे, शिवजीका अनुमान यह है कि उनकी कुशल नहीं है, 'इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना। ५२।' अत उन्होंने कुशल पूछा। ['कुसलात'=कुशल, खैरियत, कल्याण। यथा 'बिहँसि दसानन पूछी बाता। कहसि न कस आपनि कुसलाता। सु० ५३।', 'दच्छ न कछु पूछी कुसलाता।१।६३।' 'श्व श्रेयस शिव भद्र कल्याण मङ्गल शुभम्। २५। भावुक भविक भव्य कुशल क्षेममस्त्रियाम्। शस्त च'—(अमरकोश काण्ड १ कालवर्ग ४)।—ये सब 'कल्याण' के पर्यायवाची शब्द हैं। २—शिवपुराण रुद्रसंहिताके 'अथ ता दुःखिता दृष्ट्वा पप्रच्छ कुशल हरः। प्रोवाच वचन प्रीत्या तत्परीक्षा कृता कथम्।२।७।४५।'इस श्लोकके आधार पर 'पूछी कुसलाता' का अर्थ होगा कि—'हरिने कुशल पूछा और प्रेमसे पूछा कि क्या परीक्षा ली।' इस प्रकार हँसनेका भाव है कि सतीजीको दुखित देखकर उनसे प्रेमसे पूछने लगे।] (ख) 'हँसि' इति। हँसकर कुशल पूछनेका भाव यह है कि—शिवजीका हृदय बड़ा सरल है। सतीजीने उनका वचन न माना। वे इस बातको मनमें किंचिन्मी न लाए। उनके मनमें वचन न माननेके कारण परिहासका भाव उत्पन्न हुआ सो बात नहीं है। सत्य कहहु 'सब बात' कहनेका भाव यह है कि सतीजी हमारा वचन झूठ मानती रहीं, उन्होंने ईश्वरको नर मान रक्खा था इसलिये अब वह प्रभुका प्रभाव देखकर डरके मारे हमसे सत्य न कहेंगी और ऐसाही हुआ भी, यथा 'सतीं समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ।'—इसीसे उन्होंने सत्य कहनेको कहा। परीक्षाका प्रकार पूछा, क्योंकि ईश्वरकी परीक्षा साधारण बात नहीं है, बड़ी कठिन है।

नोट—पजाबीजी लिखते हैं कि 'यहाँ हँसना निरादरार्थ है क्योंकि शिवजीके मनमें खटका है कि इन्होंने कोई उपद्रव न खड़ा कर लिया हो। इसीसे न पूछते हैं कि कौन विधिसे परीक्षा ली, सत्य सत्य कहो और इसी विचारसे उन्होंने चलते समय उनको सावधान कर दिया था।' बैजनाथजीका मत है कि हँसे यह कि "तुमने जानबूझकर विष खाया है जिससे प्राणहानिका संशय है। अत अपना कुशल तो कहो। जैसी यहाँसे गईथीं वैसीही कुशलसे आई ? तन, मन या वचन किसी अगसे कोई अपराध तो नहीं किया है ? 'सत्य कहो' का भाव कि तुम्हारा नाम सती है तुम तनमनसे पतिव्रता हो, अत असत्य कहकर यह भी अपराध न कर बैठना।" प० सुधाकरद्विवेदीजीका कहना है कि 'दंपतियोंमें हास विनोद हुआ ही करता है। इस लिये हँसकर महादेवजीने कुशल पूछा और हँसीहीमें यह भी पूछा कि किस प्रकार परीक्षा ली। महादेवजी देख चुके हैं श्रीरामजीकी मोहिनी मूर्त्तिसे धोखा खा चुके हैं और जानते हैं कि राम बड़े कौतुकी हैं, नारदके मुँहको बंदरके मुह ऐसा कर दिया था, सो सतीके सग भी कुछ न कुछ खेल कियाही होगा, जिससे सतीजी लज्जित होगई हों। लज्जासे शायद बात छिपावें, इसलिये हँसीसे कहा कि सब बात सचसच कहो।' और सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि—'हँसी निरादरसूचक है। यह लोकप्रसिद्ध बात है कि अच्छी बात समझानेसे जब कोई नहीं मानता और हानि पाता है तब वह हँसा जाता है। दूसरा भाव यह है कि तुमने जानबूझकर विष खाया था, तुम्हे मरजाना चाहिये था सो जीती आई, मरीं नहीं ?'—(मा० प०)

यह भी कारण हो सकता है कि सतीजीकी चेष्टासे वे जान गए कि ये डरी हुई हैं, डरसे व्याकुल हैं, क्योंकि हमारी अवज्ञा करके गई थीं, यदि हमे रुष्ट समझेंगी तो सत्य न बतावेंगी, अत हँसकर जनाया कि हम रुष्ट नहीं हैं जिससे उनको शान्ति हो, डर न रहे और वह सत्य सत्य बता दें।

श्रीलमगोडाजीने जो भाव 'बोले बिहँसि महेस ।५१।' पर लिखाहै कि यहाँ परिहास (विनोद) है कि अच्छा ! जाकर परीक्षा लो। खूब छकोगी, उसके अनुसार यहाँ 'हँसि' में भी यह भाव होगा कि उन्होंने तुम्हें छकाया न ! प्र० स्वामीका मत भी यही है। वे लिखते हैं कि सतीजी सभीत हैं ऐसी दशामें निरादर

या उपहास करना कृपासिंधु शिवजीमें असंभव है (जैसे) 'तौ किन जाइ परीछा लेहू' विनोदसे कहा वैसेही यहाँ हँसी प्रेमजनित है। भाव यह है कि तुम्हारी जीत हुई कि हमारी; सत्यही सो कहना।

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि कोई कैसाही बड़ा क्यों न हो, चूक हो जानेमें हँसीका पात्र हो जाता है।""उत्तर देते न देखकर कहते हैं 'कहहु सत्य सब' चूक छिपानेका प्रयत्न न करो।

सतीं समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भय बस सिव * सन कीन्ह दुराऊ॥ १॥
कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहिं नाईं॥ २॥
जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरें मन प्रतीति अति ‡ सोई॥ ३॥

अर्थ—सतीजीने श्रीरघुनाथजीका प्रभाव समझकर डरके मारे शिवजीसे दुराव (छिपाव) किया।१। (कहा कि) हे स्वामी ! मैंने कुछ भी परीक्षा नहीं ली। (वहाँ जाकर मैंने) आपकीही तरह (उनको) प्रणाम किया। २। जो आपने कहा वह झूठ नहीं हो सकता, मेरे मनमें यह पूर्ण विश्वास है। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'सतीं समुझि रघुबीरप्रभाऊ।०' इति। प्रभाव; यथा—'जाना राम सती दुखु पावा। निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा॥५४।३॥' से 'सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि०॥५५।५॥'तक। यही प्रभाव समझकर शिवजीसे उन्होंने उसे छिपाया। प्रभाव समझकर उसे मनहीमें रक्खा, क्योंकि प्रभाव कहनेसे जाना जाता कि परीक्षा ली है, ब्रह्मको प्राकृत नर माना था। प्रभाव कहनेपर शंकरजी अवश्य पूछेंगे कि क्या परीक्षा ली जो प्रभुने यह प्रभाव दिखाया। परीक्षा लेना कहें तो उससे ईश्वरमें अभाव और पतिके वचनमें अविश्वास सिद्ध होता है। अतएव दुराव किया, जिसमें ये दोनों बातें छिप जायँ। यही बात आगे कहती हैं। (ख) 'भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ' इति। शिवजीका कहा न माना। जो उन्होंने उपदेश किया था वही सत्य ठहरा। प्रथम तो पतिके वचनको न माना इस डरसे दुराव किया, उसपर भी अब उत्तर देना चाहें तो कुछ उत्तर नहीं है; यथा 'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञानु रामपर आना॥ जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥ ५४॥' पूर्व सतीजीने स्त्रीस्वभावश पतिके इष्ट श्रीरामजीसे दुराव किया; यथा 'सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारिसुभाउ प्रभाऊ॥ और अब भयवश पतिसेभी दुराव किया।

नोट—१ (क) भयके वश होनेसे प्रभावको छिपाया, यथा 'अति भय बिकल न तुम्हहिं सुनाई'। भय दोनों ओरसे है। एक तो प्रभाव देखकर भयभीत थीं ही, यथा 'सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भईं सभीता।' जैसे-जैसे उसका स्मरण हो आता है, रोंगटे खड़े होजातेहैं कि हमने ब्रह्मसे कपट किया। दूसरे, शिवजीका डर है कि वे अब क्या कहेंगे ? लज्जाके कारण पतिका भय है। भयसे चित्त भ्रान्त होगया, इसीसे बात छिपाई। (मा० प०)। चित्त भ्रान्त होजानेसे कुछ ठीक उत्तर न सूझा। (ख) 'पति सन कीन्ह दुराऊ' न कहकर 'सिव सन०'कहनेका भाव कि कल्याणकर्त्तासे कपट करनेसे अब कल्याणका कोई उपायभी न रह गया। (मा० प०)।

२ प्रभाव समझकर प्रसन्न होना था कि हमारा संशय दूर होगया सो न होकर भय हुआ, यह क्यों ? बाबा हरीदासजी कहते हैं कि 'प्रभाव यह समझा कि श्रीरामजी त्रिदेवकेभी ईश हैं, पिता हैं। हमने उनकी स्त्रीका रूप धरा यह सुनकर शिवजी रुष्ट होकर हमको त्याग देंगे—इस भयसे झूठ बोलीं।'

टिप्पणी—२ 'कछु न परीछा लीन्हि०' इति। (क) परीक्षा लेनेसे दो बातें सिद्ध होती हैं जो ऊपर कहीं। उनमेंसे पतिके इष्टका अपमान छिपानेके लिये तो श्रीरामजीमें अपनी भक्ति दिखाती हैं कि 'कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहिं नाईं'। और, पतिका अपमान छिपानेके लिये आगे कहती हैं कि 'मोरें मन प्रतीति

* प्रभु—१७२१, १७६२, छ०। सिव—१६६१, १७०४, को० राम,
‡ असि—को० राम। अति—और सबोंमें।

अति सोई'। (ख) यह कहनेपर कि परीक्षा नहीं ली, यह प्रश्न होता है कि 'तब गई' किसलिये ?' क्योंकि पूर्व शिवजीने कहा था कि 'जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू।' और सतीजी पतिका वचन सुनते ही तुरन्त चल दी थीं जिससे स्पष्ट है कि वे परीक्षा लेने जा रही हैं। तब परीक्षा क्यों न ली ? उसपर कहती हैं कि मैंने पूर्व प्रणाम न किया था, भूल गई थी, इससे प्रणाम करनेको गई थी। (ग) 'गोसाईं' का भाव कि आप अन्तर्यामी हैं, सबके मनकी जानते हैं। आप स्वयं जानते हैं कि आपके वचनोंमें मेरे मनमें अत्यन्त प्रतीति है। (घ) 'कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहिं नाईं'। जैसे आपने प्रणाम किया था उसी तरह अर्थात् सच्चिदानंदभावसे, 'जय सच्चिदानंद परधाम' कहकर तथा छिपकर प्रणाम किया, पास नहीं गई। जैसे आप पास न गए, दूरसे प्रणाम किया था वैसे ही मैंने प्रणाम कर लिया।

टिप्पणी—३ "जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई।०" इति। (क) अपने जानेका कारण कहकर अब 'कछु न परीछा लीन्ह' का हेतु कहती हैं कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपका वचन असत्य नहीं हो सकता तब परीक्षा क्यों लेती ? परीक्षा न लेना जो कहा इस झूठ बनानेका हेतु भय है और वे कहती हैं दूसरी बात जो झूठ है। (ख) "जो तुम्ह कहा" अर्थात् श्रीरघुनाथजी ब्रह्म हैं, ब्रह्महीने गुप्तरूपसे (भक्त के वचन सत्य करनेके लिये) अवतार लिया है, वे योगियों तथा आपके इष्ट हैं, इत्यादि, "जासु कथा कुंभज रिषि गाई" से 'निजतंत्र नित रघुकुलमनी'। ५१।' तक जो आपने कहा यह सत्य है। मेरे मनमें उन वचनों पर अत्यन्त विश्वास है। (ग) "मृषा न होई" इति। मृषा नहीं है—ऐसा नहीं कहतीं, किंतु 'न होई' कहती हैं। क्योंकि 'मृषा नहीं है' इस कथनसे परीक्षा लेना खुल जाता। उसका अर्थ यह होता कि परीक्षा ली तब जाना कि ब्रह्म हैं, नहीं तो बिना परीक्षा कैसे जाना कि झूठ नहीं है। अतः 'न होई' कहा। इससे परीक्षा न लेना पाया गया। (घ) "मोरे मन प्रतीति अति सोई" इति। "मनमें प्रतीति है" कहनेका भाव कि मैंने इस बातको आपसे प्रकट नहीं किया।—[विश्वासका स्थान मन है। यथा 'याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरं।' बा० मं०']

तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना॥ ४॥
बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूँठ कहावा॥ ५॥

अर्थ—तब शंकरजीने ध्यान धरकर देखा। सतीजीने जो चरित्र किया वह सब जान लिया। ४। फिर (उन्होंने) श्रीरामजीकी मायाको प्रणाम किया जिसने प्रेरणा करके सतीहीसे झूठ कहला लिया। ५।

टिप्पणी—१ "तब संकर देखेउ धरि ध्याना।" इति। (क) इससे स्पष्ट है कि शिवजीको सतीजी के वचनपर विश्वास न हुआ। वे समझ गये कि ये झूठ कह रही हैं। यों तो सतीजीकी सभी बातें संदेह उत्पन्न करनेवाली हैं फिरभी 'जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरें मन प्रतीति अति सोई॥'—यह वचन विशेष शंकाजनक है। इसीसे इन वचनोंको सुनतेही शंकरजीका ध्यान करना कहा गया। "तब" अर्थात् जब उन्होंने यह कहा कि "मोरें मन०"। विश्वास न होनेका कारण यह था कि पहले तो बहुत समझानेपर और वह भी बारबार समझानेपर भी न माना था और यह कहतेही कि "तौ किन जाइ परीछा लेहू" तुरत परीक्षा लेने चलदी थीं, उस समयभी यह न कहा कि 'परीक्षा क्यों लेगी ? आपके वचन असत्य नहीं हो सकते हैं।' गई तो परीक्षा क्यों न ली ? पहले तो हमारे वचनको झूठ माना था, वचनमें प्रतीति न थी। अब इतनी शीघ्र कैसे सत्य मान लिया ? बिना परीक्षाही हमारे वचनोंमें प्रतीति कैसे हो गई ? दोनों बातें परस्पर असंबद्ध हैं। दूसरे, इनकी चेष्टासे भय और विषाद प्रगट हो रहा था। वह भी संदेह उत्पन्न करने-वाला था। अतः शंकरजीने ध्यान धरकर देखा। (ख) अपने शरीरमेंही समस्त ब्रह्माण्ड है, ध्यान करनेसे सब देख पड़ता है। (ग) शंकरजीने सतीजीका चरित ध्यान धरकर देखा तब जाना। इससे चरितकी अगाधता दिखाई। यथा 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रय

च्छति।' 'स्त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।'

२ 'सतीं जो कीन्ह चरित सब जाना' इति। (क) स्त्रीके कपटकी 'चरित' संज्ञा है, यथा "नारि चरित जलनिधि अवगाहू। २। २७।' इसीसे यहाँ 'कपट' को 'चरित' कहा। पूर्व कहा था कि 'सती कपटु जानेउ सुरस्वामी' वैसेही अब यहाँ कहते हैं कि 'सती जो कीन्ह चरित सबु जाना।' इस तरह 'चरित' और 'कपट' पर्याय हैं।—[कपट और चरित पर्याय नहीं हैं। परन्तु यहाँ पर सम्भवतः पंडितजीका यह आशय हो सकता है कि 'सती कपट' में कपटका अर्थ कपटी आचरण ही है और 'सतीं जो कीन्ह चरित' के चरितका भी वही अर्थ है। यही आशय लेकर उन्होंने पर्याय माना है। पूर्वके 'कपट' और यहाँ के 'चरित' में हमारी समझमें कुछ भेद है। वह यह कि श्रीरामजीका लक्ष्य सतीजीके केवल 'कपट' पर है कि ये हमें छलनेके विचारसे आई हैं, और शिवजीका ध्यान उनके 'चरित' पर है कि इन्होंने सीतारूप धारण किया न कि उनके कपटपर। परीक्षाके लिए कपट तो वे करही सकती थीं; इसीलिये यहाँ 'चरित' शब्द दिया और वहाँ कपट। पूर्व बताया गया है कि अभिप्राय साधनार्थ अपने असलीरूपको छिपाना 'कपट' है। यहाँ असलीरूप छिपाया गया और सीतारूप बनायाही नहीं गया किन्तु उस रूपसे श्रीरामजीके सम्मुख जाकर अपनेको सीता प्रकट किया—यही सब 'चरित' है।] (ख) 'सबु जाना' इति। सतीजी झूठ बोल रही हैं यह तो वचन सुनतेही जान गए थे। उन्होंने क्या चरित किया था, यह सब ध्यान धरने पर जाना। (ग) ☞ यहाँ वक्ता दिखाते हैं कि सतीजीने मन, कर्म और वचन तीनोंसे कपट किया। "जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरें मन प्रतीति अति सोई।"—यह मनका कपट है; क्योंकि मनमें प्रतीति नहीं है और कहती हैं कि मनमें प्रतीति है। "सती कीन्ह सीता कर बेषा", "पुनिपुनि हृदय बिचारु करि धरि सीता कर रूप", यह तन (कर्म) का कपट है। और, झूठ बोलना यह वचन का कपट है। 'मेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा'—'झूठ कहावा' यह वचन है।

नोट—१ 'धरि ध्याना' इति। यहाँ ब्रह्म और (ईश्वर कोटिके) जीवमें भेद दिखाते हैं। ब्रह्म सब बात निरावरण देखता और जानता है, वह स्वतः सर्वज्ञ है। और, भगवत्कृपाप्राप्त पुरुष स्वतः सर्वज्ञ नहीं है, वह प्रायः साधन (ध्यान आदि) द्वारा ही कोई बात जान सकता है। श्रीरामजीने सहजही सतीकपट जान लिया था। उसी कपटके जाननेकेलिये शिवजीको ध्यानावस्थित होना पड़ा। श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि जैसे तारकी क्रिया जाननेवाला जबतक उस क्रियाको न करेगा तबतक दूसरेका समाचार न जानेगा, इसी तरह योगी लोग जबतक ध्यानकी क्रिया नहीं करते तबतक दूसरेके कामको नहीं जान सकते। श्रीशंकरजी योगीश्वर हैं और भगवान् योगेश्वर हैं—यह भेद है।

प० प० प्र०—(क) यह 'ध्यान धरना' योगकी एक प्रक्रिया है। पातंजलयोग विभूतिपादमें संयमसे प्राप्त तीस सिद्धियोंका वर्णन है। इसमें १६वें सूत्रमें कहा है—'परिणामत्रय संयमात् अतीतानागत ज्ञानम्।' धर्म, लक्षण और अवस्था इन तीन परिणामोंमें चित्तका संयम करनेसे अतीत (भूत कालीन) और अनागत (भविष्यकालीन) घटनाओंका प्रत्यक्ष दर्शन हृदयमें होता है। किस स्थानमें क्या हुआ या होनेवाला है, यह जाननेके लिए सूर्यमें संयम करना पड़ता है—'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। २६।' (ख) सती चरित जाननेके लिये योगीश्वर महेशको भी योगकी प्रक्रियाका अवलम्ब लेना पड़ा, तब अन्य जीवोंकी बात ही क्या है। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सतीजीने छिपाना चाहा, इसलिये शिवजीको ध्यान करना पड़ा, नहीं तो विना ध्यान किये ही पूर्व सतीके मनकी बात जानली थी। यथा 'हर अंतरजामी सब जाना।')

टिप्पणी—३ 'बहुरि राम मायहि सिर नावा।०' इति। (क) जब सतीजीको उपदेश न लगा तब शिवजीने उसका कारण हरिमायाबल ही जाना था, यथा 'लाग न उर उपदेस जदपि कहेउ सिव बार बहु। बोले बिहँसि महेसु हरिमायाबलु जानि जिय।' और, जब झूठ बोलीं तब मायाको प्रणाम किया। इस सूक्ष्म-भेदसे सूचित करते हैं कि यह काम उस कामसे कठिन था। ईश्वरका स्वरूप अगाध है, इससे वह न

समझ पड़ा, उपदेश न लगा, यह मायाका कोई विशेष बल नहीं है। पर देवता झूठ नहीं बोलते। उसपरभी भगवती सती पतिव्रताशिरोमणि! उनका झूठ बोलना तो महा अगम था, असंभव था, सो उनसे भी झूठ कहला दिया, यह मायाका विशेष बल है जो यहाँ प्रत्यक्ष देखनेमें आया। (ख) श्रीरघुनाथजीने अपनी मायाको परम प्रबल समझकर उसके बलकी प्रशंसा की, और शिवजीने अपने इष्ट और (उनकी) मायाका बल जानकर उसे प्रणाम किया। सतीजी झूठ बोलनेवाली कदापि नहीं, पर उन्हेंभी उसने प्रेरकर झूठ बुला लिया; यह बल समझकर मस्तक नवाया। (ग) यहाँ तक मायाके बलके संबंधमें तीन बातें कहीं। एक यह कि मायाका बल हृदयमें जाना, यथा 'बोले बिहसि महेस तब हरिमायाबल जानि जिय।' दूसरे, मायाको प्रणाम किया। तीसरे प्रणामसे हृदयमें बखानना भी जना दिया। ऐसेही मायाका बल सभी बखानते हैं। यथा—'निज मायाबल हृदय बखानी'—(श्रीरामजी), 'मुनि बिरंचि रामहि सिर नावा। समुझि प्रताप प्रेम उर छावा॥ मन महुँ करै बिचार बिधाता। मायाबस कबि कोबिद ज्ञाता॥ हरिमाया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥ उ० ६०॥' तथा 'अस कहि चले देवरिषि करत रामगुनगान। हरिमायाबल बरनत पुनि पुनि परम सुजान। उ० ५६।'—रामजीकी माया ऐसी प्रबल है कि शिवजीभी उसकी प्रशंसा करते हैं।—'हरि इच्छा भावी०'। (घ) 'प्रेरि सतिहि' का भाव कि मायाने बलात् (जबरदस्ती) उनसे ऐसा कहलाया नहीं तो भला वे त्रिकालमें भी ऐसा करनेकी न थीं। 'सतिहि' का भाव कि जब ऐसी पतिव्रताशिरोमणि, शिवजीके अर्धाङ्गमें निवास करनेवालीसे झूठ कहला दिया तब अन्यकी तो गिनती ही क्या? 'सती' का अर्थही है 'पतिव्रता'। दबाव डालकर किसी काममें किसीको लगा देनेको 'प्रेरणा' कहते हैं। माया स्वतन्त्र नहीं है—'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।'

हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना॥ ६॥
सतीं कीन्ह सीता कर बेषा। सिव उर भएउ बिषाद बिसेषा॥ ७॥
जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगतिपथु होइ अनीती॥ ८॥

अर्थ—सुजान (परम चतुर एवं ज्ञानवान्) शिवजी हृदयमें विचार रहे हैं कि 'हरिइच्छा भावी' बलवान है। ६। सतीजीने सीताजीका वेष बनाया (इससे) शिवजीके हृदयमें बहुत अधिक दुःख हुआ। ७। यदि अब सतीजीसे प्रेम करूँ तो भक्तिमार्ग मिटजायगा और अन्याय होगा। ८।

नोट—१ 'हरि इच्छा भावी बलवाना।...' इति। भागवतमें कथा है कि युवनाश्वको पुत्रप्राप्तिके लिये ऋषियोंने ऐन्द्रयज्ञ कराया। अनजानमें रात्रिमें प्याससे व्याकुल हो पुत्रोत्पन्न करनेवाला मंत्रपूत जल जो कलशमें रक्खा हुआ था उसे राजाने पी लिया। कलश खाली देख ऋषियोंने जब पूछा कि मंत्रपूत जल क्या हो गया तब यह वृत्तान्त जाननेपर ऋषियोंनेभी ऐसाही कहा था कि—'अहो! दैवबलही प्रधान है। और यह कहते हुये उन्होंने ईश्वरको प्रणाम किया। यथा—"राज्ञा पीतं विदित्वाथ ईश्वरप्रहितेन ते। ईश्वराय नमश्चक्रुरहोदैवबलं बलम्॥ भा० ९। ६। २९।' वैसेही सतीजी गईं तो परीक्षा लेने, पर यह आपत्ति दैवयोग से उनपर आपड़ी, उनका विवेक जाता रहा, उन्होंने सीतारूप धारण कर लिया, इत्यादि। इसीपर शिवजी विचारते हैं कि 'हरि इच्छा भावी' बलवाना है।

टिप्पणी—१ 'हरिइच्छा भावी बलवाना।०' इति। (क) सतीजीके झूठ बोलनेमें तीन कारण हुए—हरिइच्छा, भावी और माया। इसी तरह अयोध्याकांडमें कहा है कि—'पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी। २४४।' अर्थात् इन तीनोंने मिलकर तुमसे ऐसा कराया तुम्हारा कुछ दोष नहीं है। (ख) ☞ ये तीनों प्रबल हैं। यथा—'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई। १२८।' (हरिइच्छा), 'हरेरिच्छा बलीयसी', 'सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ। हानि लाभु जीवन मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ। अ० १७१।', 'भूपति भावी मिटै नहिं जदपि न दूषन तोर। बा० १७४।', ['अवश्यंभावि भावाना प्रतीकारो भवेद्यदि। तदा दुःखैर्नलिप्येरन् नल-राम-युधिष्ठिराः॥', 'यत्र धर्मसुतो राजा गदा-

पाणिवृकोदरः। कृष्णास्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्‌ कृष्णस्ततो विपत्‌॥'—(भा० प०)] इति 'भावी बलवाना'; तथा 'निज माया बल हृदय बखानी' (इति मायाबल)।

२ (क) 'हृदय बिचारत संभु सुजाना' इति। हृदयमें विचारते हैं अर्थात्‌ भावीका बल कुछ कहते नहीं बनता। इससे हृदयमें विचारते हैं। हरिइच्छा, भावी और माया तीनोका बल शिवजीके विचारमें हैं। वे विचारते हैं कि हरिइच्छा है इसीसे भावी बलवान है, हमारा उपदेश कैसे लगे ? जो होनहार है वही हुआ। (हृदयके विचारका) तात्पर्य यह है कि बड़े लोग दूसरोंका दोष प्रकट नहीं करते। यथा—'निज मायाबल हृदय बखानी', 'बोले बिहसि महेस तब हरिमायाबल जानि जिय।', 'मन महँ करै बिचार बिधाता। बा० ६०।' तथा यहाँ 'हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत' कहा। अथवा, भावी अनिर्वचनीय है, इससे हृदयमें विचार करना कहा। ☞ 'हृदय बिचारत संभु सुजाना' देहलीदीपक है। आगेकी चौपाई और दोहेमें भी विचारही है। (ख) भावीका बल जानते हैं इसीसे 'सुजान' विशेषण दिया। भावी का बल विचारनेमें भाव यह है कि उसका बल समझनेसे चित्तको संतोष हो जावे, मनमें विकार न उत्पन्न होने पावे कि सतीने हमारे इष्टका और हमारा अपमान किया। (यही भाव बना रहे कि प्रभुकी इच्छाही ऐसी थी। ऐसा होनेवालाही था। इसमें किसीका वश क्या ? किसीका दोष क्या ? हरिमाया, हरिइच्छा, भावी बड़ी प्रबल हैं, उसके सामने किसीका बस नहीं चलता। नहीं तो भला सतीजी ऐसा करतीं ?)—इसीसे उनको 'सुजान' कहा। सुजान लोग इसी तरह विचार करते हैं। यथा—'अस कहि चले देवरिषि करत रामगुनगान। हरिमाया बल बरनत पुनि पुनि परम सुजान। बा० ५६।' ☞ सुजान लोग किसीका दोष नहीं समझते, वे प्रेरकहीका दोष समझते हैं। यथा 'सुनहु भरत भावी प्रबल०।' 'अस बिचारि केहि देइअ दोसू। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू॥ अ० १७१-१७२।' अतः शिवजीको 'सुजान' कहा।

३ पहले तो यह कहा कि 'बहुरि राममायहि सिरु नावा' अर्थात्‌ राममायाको प्रणाम किया और उसके पश्चात्‌ अब 'हरिइच्छा भावी बलवाना' कहते हैं। ऐसा कहनेमें तात्पर्य यह है कि भगवान्‌ ही जब मायाको प्रेरित करते हैं तभी वह मोह और भ्रम उत्पन्न करती है। मोह-भ्रम होनेपर लोग अनुचित कर बैठते हैं; यथा 'भएउ मोहु सिव कहा न कीन्हा। भ्रम बस बेषु सीय कर लीन्हा। बा० ६८।'

४ 'भावी' इति। भावी दो प्रकारकी है। एक कर्मके वशसे, दूसरी हरिइच्छासे। कर्मकृत भावीको शिवजी मेट सकते हैं, यथा 'भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी'। परन्तु श्रीहरिइच्छाभावी बलवान्‌ है, यह नहीं मिट सकती। यथा 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।'

नोट—२ भावी=होनहार, भवितव्यता। साधारणतः भाग्यवादियोंका विश्वास होता है कि कुछ घटनाएँ या बातें ऐसी होती हैं जिनका होना पहलेसेही किसी अदृश्य शक्तिके द्वारा निश्चित होता है। ऐसी ही बातों को 'भावी' कहते हैं। (श० सा०)। कर्मकृत जो भावी होती है वह कर्मसे, पुरुषार्थसे मिटभी जासकती है जैसे मार्कण्डेयजीकी भावी। इसी 'भावी' को 'दैव' और 'अदृष्ट' भी कहते हैं। और जो हरि-इच्छाकृत भावी है वह अमिट है जैसे भानुप्रतापकी भावी। ❀

❀ यथा—'भावी काहू सों न टरै। कहँ वह राहु कहाँ वह रवि शशि आनि सँयोग परै॥ मुनि बसिष्ठ पंडित अति ज्ञानी रचि पचि लगन धरै। तात-मरन सिय हरन राम बन बपु धरि बिपति भरै॥ रावण जीति कोटि तैंतीसो त्रिभुवन राज्य करै। मृत्यू बाँधि कूप महँ राखै भावीवश सिगरै॥ अर्जुनके हरि हितू सारथी सोऊ बन निकरै। द्रुपदसुताके राजसभा दुश्शासन चीर हरै॥ हरिश्चन्द्र सो को जगदाता सो घर नीच भरै। जो गृह छाँड़ि देश बहु धावै तउ वह संग फिरै॥ भावी के वश तीन लोक हैं सुरनर देह धरै। सूरदासप्रभु रची सु हुई है को करि सोच मरै॥' (वि० टि०)। पुनश्च यथा—'ब्रह्मात्मजेनापि विचार्यदत्तं पदाभिषेकाय परं मुहूर्तम्‌। तेनैव रामो विगतो वनान्ते बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा॥' अर्थात्‌ ब्रह्माके पुत्र वसिष्ठजीने विचारसे श्रीरामचन्द्रजीको युवराज होनेके निमित्त जो मुहूर्त्त दिया था उसी मुहूर्तमें श्रीरामचन्द्रजी वनवासी हुए। इससे प्रकट है कि केवल ईश्वर इच्छा ही बलवती है। (वि० टी०)।

नोट—३ 'हरिइच्छा भावी बलवाना' के दो अर्थ पं० रामकुमारजीने लिखे—'हरिइच्छा और भावी दोनो बलवान हैं' तथा 'हरिइच्छासे भावी बलवान है'। तीसरा अर्थ यह भी होता है कि 'हरिइच्छा रूपी भावी' बलवान है। वीरकविजी लिखते हैं कि 'भावी' उपमेयका गुण हरिइच्छा उपमानमें यहाँ स्थापन किया गया है, अतः यहाँ 'तृतीय निदर्शना अलंकार' है। बैजनाथजी 'हरिइच्छामय भावी' अर्थ करते हैं।

☞ भावी (अर्थात् सुखदुःख देनेवाला भावी कार्य) के दो भेद हैं—प्रबल और दुर्बल। इसका कारण दो प्रकारका है। एक प्रधान, दूसरा गौण। फिर प्रधान एवं गौणके भी दो कारण हैं—एक चेतन दूसरा अचेतन। प्रधानमें 'चेतन' से सर्वेश्वर और विधाता तथा महत् आदि और 'अचेतन' से प्रारब्ध अभिप्रेत है। इन दोनोंको प्रधान कहनेका कारण यह है कि सर्वेश्वर समर्थ होनेपर भी प्रारब्धके बिना कुछ नहीं करता; यथा—'करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।' और प्रारब्ध स्वयं जड़ होनेसे सर्वेश्वरके बिना कुछ कर नहीं सकता। यह भी दो प्रकारका है—प्रबल और दुर्बल। 'प्रबल' वह है जो अवश्य भोगना पड़ता है। दुर्बल वह है जो प्रायश्चित्तसे मिट सकता है। फिर इनके भी दो भेद हैं—पूर्ण और अपूर्ण। पूर्ण वह है जो कर्त्ताके यत्न बिना फल देता है। अपूर्ण वह है जो कर्त्तासे यत्न करवाके फल देता है। अपूर्ण प्रारब्धके तीन भेद हैं—इच्छाप्रारब्ध, अनिच्छाप्रारब्ध, परेच्छाप्रारब्ध। 'इच्छाप्रारब्ध' वह है जो कर्त्ताको अपनी इच्छासे यत्नमें प्रवृत्त करता है, 'अनिच्छाप्रारब्ध' वह है जो इच्छा न होते हुए भी कर्त्ता सहसा कर बैठता है। और 'परेच्छाप्रारब्ध' वह है जो दूसरेकी इच्छासे कर्त्ताको यत्नमें प्रवृत्त करता है।

गौणकारणमें 'चेतन' से मनुष्यादि (सहायक) और 'अचेतन' से 'काल, जड़ पदार्थ और इन सबोंका संयोग आदि अभिप्रेत है। संक्षेपसे यों कह सकते हैं—

प्रधान कारण	गौण कारण	कार्य	फल
१ ईश्वर २ प्रारब्ध	काल, संयोग आदि	भावी=होनिहार	सुख, दुःख

जब कोई असम्भव बात हो जाती है जिसका कारण हमारी समझमें नहीं आता, तब उपर्युक्त प्रधान या गौण कारणोंमेंसे किसी कारणका या कार्यका नाम लेकर समाधान माना जाता है। कभी-कभी तो कार्य और कारण दोनोको साथ ही कहते हैं। यथा यहाँ—'हरि-इच्छा भावी बलवाना।', तथा—'होनिहार का करतार' "। इत्यादि।

४ 'संभु सुजान' इति। पूर्व कह आए हैं कि 'अति विचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान। ४९।'—यहाँ 'सुजान' विशेषण देकर बताते हैं कि ये प्रभुके चरितको जानते हैं तभी तो ये इसे हरिइच्छा ही समझते हैं कि सतीजीको मोह हुआ और वह भी ऐसा कठिन कि उसकी निवृत्तिके समस्त उपाय निष्फल ही नहीं वरंच उलटेही पड़े। शिवजीका यही सिद्धान्त पूर्व भी दिखाया जा चुका है। पूर्वका 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा। ५२। ७।' उपक्रम है और 'हरिइच्छा भावी' उपसंहार है। उपदेशभागमें यह शिक्षा दे रहे हैं कि भक्तको जब कोई असमंजस आ पड़े तो उसे हरिइच्छा मान ले, तर्कवितर्कसे मनमें विकार न उत्पन्न होने दे। ७० (५) भी देखिये।

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'शिवजी सुजान अर्थात् विज्ञानधाम और रामतत्त्वके ज्ञाता हैं। वे इस कर्त्तव्यताको विचारते हैं। जीव अल्पज्ञ है, अतः सतीका दोष नहीं। माया भगवान्‌के अधीन है, अतः उसका दोष नहीं। ईश्वर तो कृपालु है, अतः उसका दोष नहीं। जीव सकाम कर्म करता है, कर्मका फल काल पाकर उदय होता है, फलका भी दोष नहीं; जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही स्वभाव पड़ जाता है। काल-कर्म-स्वभावपर प्रभुकी आज्ञा रहती है। अतएव जो हरिइच्छामयभावी होती है, वह बलवान है।'

टिप्पणी—५ 'सती कीन्ह सीता कर बेषा।०' इति। (क) पूर्व कहा था कि सतीजीने सीताजीका

रूप बनाया था; यथा 'पुनि पुनि हृदय बिचारु करि धरि सीता कर रूप। ५२।' और अब कहते हैं कि सीताका वेष बनाया। इससे पाया गया कि सतीजीने सीताजीका रूप और वेष दोनों बनाए। इसीसे वहाँ रूप कहा और यहाँ वेष। अथवा, रूप और वेषको पर्यायी जनाया। वहाँ रूप कहा था उसीको यहाँ वेष कहा। (ख) 'सिव उर भएउ बिषाद बिसेषा' इति। जिस कारण विषाद हुआ वह आगे कहते हैं—'जौं अब करौं सती सन प्रीती।०' इत्यादि। (ग) 'बिषाद बिसेष' का भाव कि विषाद तो पूर्व ही हुआ था, अब 'विशेष' हुआ श्रीरघुपतिका अपमान किया, अपना (शिवजीका) वचन झूठ माना—इससे सतीजीके धर्मकी हानि हुई, यह समझकर विषाद हुआ। जैसा 'मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं' से स्पष्ट है। और, सीतारूप धारण करनेसे हमारे धर्मको हानि पहुँचती है, हम धर्मसंकटमें पड गए, यह समझकर 'विशेष' विषाद हुआ। अथवा, आकर झूठ बोलीं कि परीक्षा नहीं ली, यह कपट किया। इससे विषाद और सीतारूप धारण करनेसे 'विशेष' विषाद हुआ। अथवा, सतीजीसे प्रीति करनेसे भक्ति और नीतिका नाश है और महान् पाप है तथा प्रेमका त्याग कठिन है जैसा आगे कहते हैं, यह समझकर 'विशेष' विषाद हुआ।

६ 'जौं अब करौं सती सन प्रीती।०' इति। यही बात आगे पुनः कहते हैं, यथा 'परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेमु बड पापु'।—यह सब शिवजीके हृदयके विचार हैं। वे विचार करते हैं; इसीसे ग्रन्थकारने दो बार लिखकर जनाया कि अपनी स्त्रीमें प्रेम करना नीति है, पर सीतारूप धारण करनेसे अब सतीजीसे प्रेम करना अनीति है। प्रेम करनेसे भक्तिपथका नाश है। प्रीति न करनेसे, प्रेम तोड देनेसे ही भक्तिपथ रह सकता है। रहा, प्रेमका त्याग यह कठिन है जैसा आगे कहते हैं और माताभाव अब न मानें तो भक्तिपथ मिटता है।

☞ श्रीशिवजी श्रीरामभक्तिके भी आचार्य हैं, जगद्गुरु हैं। वे सोचते हैं कि धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिए हमारा अवतार है। हमही उसे तोड देंगे तो धर्म ही मिट जायगा, यथा 'मूल धर्मतरोर्विवेकजलधेः ...शंकरं। आ० मं० श्लो० १।', 'जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा। ७। १०७।' (यह शिवजीने भुशुण्डीजीसे कहा है)।

दोहा—परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेम बड़ पापु।
प्रगटि न कहत महेसु कछु हृदय अधिक संतापु॥ ५६॥

अर्थ—परम पवित्र सती (अथवा परम पवित्र प्रेम) छोडी (भी) नहीं जातीं और प्रेम करनेमें भारी पाप है। महादेवजी कुछ भी प्रगट करके नहीं कहते, (उनके) हृदयमें बहुत संताप है।

卐 परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेम बड़ पापु 卐

यह पाठ सं० १६६१ का है। १७०४ की पोथी, ना० प्र० सभा और मानसपत्रिकामें भी यही पाठ है। पं० रा० कु० और द्विवेदीजीका पाठ तथा उनकी परंपराका पाठ 'परम प्रेम तजि जाइ नहिं' है। पं० रामकुमारजीने भी इसी परंपराकी पोथीसे पढा है। कोदोराममें 'प्रेम नहिं जाइ तजि' पाठ है।

१६६१ के पाठका अन्वय करनेमें हम 'प्रेम' शब्दको दोनों ओर ले सकते हैं। इस तरह कि 'परम पुनीत प्रेम न जाइ तजि' और 'किएं प्रेम बड़ पापु।' अर्थात् शिवजी और सतीजीका प्रेम परमपवित्र है, अतः छोडा नहीं जाता, पर प्रेम करनेसे महापाप है। दूसरे, 'परम पुनीत' को सतीजीका विशेषण मानकर अर्थ कर सकते हैं कि 'सतीजी परमपवित्र हैं। अतः उनको छोडते नहीं बनता, पर उनसे प्रेम करना महापाप है।'

'परम पवित्र प्रेम' वह है जो स्वाभाविक ही होता है। सहज स्वाभाविक प्रेम मिटता नहीं। सतीजीका प्रेम सच्चा और स्वाभाविक है जैसा कि उनके 'जो मोरें सिवचरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य

प्रतु एहू । ५६ ।'—इन वचनोंसे जो प्रतिज्ञापूर्वक कहे गए हैं, निर्विवाद सिद्ध है। और, शिवजीका भी उनमें सहजप्रेम है; यथा 'दुखी भएउँ वियोग प्रिय तोरें । ७ । ५६ ।'

'परम पुनीत' को सतीजीमें लगावें तो उसका प्रमाण होगा—'बिनु अघ तजी सती असि नारी ।' —ये याज्ञवल्क्यजीके वचन हैं। पं० सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'अपनी स्वाभाविक शक्ति समझकर उनको 'परम पुनीत' कहा । स्त्रीका त्याग उसी समय हो सकता है जब वह परपुरुषगामिनी हो जाय; सो तो सतीजीने किया नहीं । उनका भाव बुरा न था ।' और सुधाकरद्विवेदीजीका मत है कि "अनेक जन्मोंसे संग होनेके कारण 'परम पुनीत' कहा है ।"—विशेष 'बिनु अघ तजी सती असि नारी' १०४ (७) में देखिये। बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'सतीमें अघ नहीं है। सीतारूप धारण पाप नहीं है। क्योंकि श्रीरामजी तो सबके सच्चे पति हैं। व्रजमें गोपिकायें प्रमाण हैं, परन्तु शिवजीको (स्त्रीभावसे अब सतीजीको ग्रहण करनेमें) दोष लगता है ।' (शीलावृत्ति) । श्रीरामजीमें प्रेम करनेमें पातिव्रत्य भंग नहीं होता । प्रमाण शिवसंहितायाम् यथा—'स च सीतापति श्रीमान् जडजीवविलक्षण । वेदवेदान्त सर्वार्थो योगिना परमागति । एतस्मिन् कीर्तिते ध्याते श्रुते वाप्यर्चितेऽर्थिते । पातिव्रत्यक्षयो नैव स्त्रीनामपि जायते ॥' (मा० प०) ।

श्रीशिवजीभी सतीजीको उन अपराधोंके लिये जो उनसे हुए, दोष नहीं देते। वे इसको 'हरिइच्छा भावी' और 'राममाया' के ही माथे धरते हैं ।*

२ 'परम पुनीत न जाइ तजि' अर्थात् सतीजी परम पुनीत हैं, उनका शिवजीके चरणोंमें परम पवित्र प्रेम है और शिवजीका भी उनमें वैसा ही प्रेम है। अतः वे त्यागयोग्य नहीं हैं। 'किएँ प्रेम बड़ पाप' अर्थात् श्रीसीताजी जगज्जननी हैं, श्रीरामवल्लभा हैं और अपनी इष्टदेवता होनेसे माता हैं। सतीजीने उनका रूप धारण किया और प्रभुके पास इस भावसे गईं कि देखो मैं आगई अब क्यों विलाप करते हो, मैं तो आपका प्रेम देखनेके लिये छिप गई थी। अतः वे भी मातातुल्य हुईं। मातामें स्त्रीभावसे प्रेम करना महा-पाप है।—इस तरह एक ओर परमप्रियका वियोग और दूसरी ओर धर्मसंकट, दोहरी चिन्तामें पड़ गए। [अथवा, 'परमपुनीत न जाइ तजि' यह धर्म है; क्योंकि विवाहमें पाणिग्रहण करते समय प्रतिज्ञाबद्ध होचुके, तब धर्मशास्त्रानुसार पतिव्रता और परमपुनीत होनेसे त्याग करना अनुचित है। और 'किएँ प्रेम बड़ पाप', क्योंकि प्रेम करनेसे भक्तिके सूक्ष्ममार्गको धक्का पहुँचनेकी संभावना है। इस प्रकार दो धर्मसंकटोंमें पड़े हैं कि ऐसा न हो कि प्रेमके कारण कहीं मैं अपने परम धर्मसे डग जाऊँ ।]

टिप्पणी—१ (क) 'प्रगटि न कहत महेसु कछु' इति । (अर्थात् सतीजीसे अपने हृदयके विचारों तथा सतीजीके अपराधको कहते नहीं, हृदयमें ही रक्खे हैं) । 'प्रगट' न कहनेका भाव आगे सतीजीके वचनोंसे स्पष्ट है कि शिवजी 'परम अगाध' हैं और 'कृपासिंधु' हैं। यथा 'कृपासिंधु सिव परम अगाधा । प्रगट न कहेउ मोर अपराधा । ५८ ।' वे समझते हैं कि कहनेसे सतीको बड़ा कष्ट होगा। 'कछु' का भाव कि सतीजीका सब चरित जानगए तब भी कुछ नहीं कहते। (ख) 'हृदय अधिक संतापु' इति। भाव यह कि हृदयका दुःख कह डालनेसे विषाद कम हो जाता है, यथा 'कहेहू ते कछु दुख घटि होई'। पर शिवजी कुछ भी प्रगट नहीं करते, इसीसे भीतर ही भीतर बहुत संताप है। पुनः भाव कि प्रथम तो सतीजीके झूठ बोलने का विषाद हुआ, उससे अधिक दुःख सीतावेषरूप धारण करनेका हुआ और अब उससेभी 'अधिक संताप' भक्तिपथके निर्वाहकी चिन्तासे हो रहा है। पुनः भाव कि सतीजीके हृदयमें भी संताप उत्पन्न हुआ था, यथा—

* 'परम प्रेम' का अर्थ पं० रा० कु० जी 'सहज प्रेम' लिखते हैं। सहज प्रेम मिटता नहीं, यथा—'मोरशिखा बिन मूरिहू पलुहत गरजत मेह ।' (दोहावली) । वीरकविजी कहते हैं कि यहाँ 'परम 'प्रेम' के दो अर्थ हैं। पहला सतीके प्रति और दूसरा भक्तिके प्रति। अर्थात् भक्ति परम प्यारी है, वह छोड़ी नहीं जा सकती और सतीसे प्रेम करनेमें पाप है ।'

'जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा। ५४।' उससे अधिक दाह शिवजीके हृदयमें है।

नोट—यहाँ शिवजीके गम्भीरस्वभावका दर्शन कराया गया। 'हितोपदेश' मे उनकी दशा इस प्रकार दर्शाई गई है।—'मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पावलम्बनम्। न मुञ्चति न चादत्ते तथा मुग्धोऽस्मि संप्रति॥' अर्थात् समुद्रमें डूबता हुआ मनुष्य सर्पका अवलम्बन पाकर न तो उसे छोड़ता है न पकड़ता है, वैसेही मैं इस समय असमंजसमें पड़ा हूँ।

तब संकर प्रभुपद सिरु नावा। सुमिरत रामु हृदय अस आवा॥ १॥

एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। शिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं॥ २॥

अस बिचारि संकरु मतिधीरा। चले भवन सुमिरत रघुबीरा॥ ३॥

अर्थ—(जब बहुत संतप्त हुए और कुछ निश्चय न कर सके कि क्या करना चाहिये) तब शंकरजीने प्रभुके चरणोंमें सिर नवाया। श्रीरामजीका स्मरण करते ही (उनके) हृदयमें ऐसा (विचार) आया। १। सतीको इस तनमें (पति पत्नीभावमें) मुझसे भेंट (अर्थात् बालचाल, स्पर्श, विनोद आदि) नहीं (होने की)। शिवजीने मनमें (यह) संकल्प कर लिया। २। धीरबुद्धि शंकरजी ऐसा विचारकर श्रीरघुबीर (रामचन्द्रजी) को सुमिरते हुए घर (कैलास) को चले। ३।

नोट—१ 'तब संकर प्रभुपद सिरु नावा। सुमिरत रामु' इति। लोकरीति है कि जब एकभी उपाय नहीं सूझता तब रामजी सूझते हैं। सेवक जब सङ्कटमें पड़ता है तब स्वामीहीका स्मरण करता है। यहाँ श्रीरामपदमें सिर नवाना और उनका स्मरण करना इसी अभिप्रायसे है कि "मैं धर्म-सङ्कटमें पड़ा हूँ, कुछ समझमें नहीं आता कि क्या करूँ। ('प्रभुपद सिरु नावा' अर्थात्) आप मेरे प्रभु (स्वामी) हैं, मैं आपका सेवक हूँ, मैं आपके चरणोंको प्रणाम करता हूँ, प्रभुही अपने सेवकोंके सोच संकटको दूर करते हैं। हे राम! मैं आपका स्मरण करता हूँ। आप सबके 'उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।' आप सबके उरप्रेरक हैं, यथा 'उरप्रेरक रघुबंस बिभूषन'। जो इस समय मेरा कर्त्तव्य हो वही प्रेरणा मेरे हृदयमें कीजिए। मुझे बताइए कि मैं क्या करूँ।'—'सुमिरत राम हृदय अस आवा' से स्पष्ट है कि इसीलिये स्मरण किया गया था कि हृदयमें कर्तव्यका विवेक उत्पन्न हो, जिससे दोनो काम बनें। और हुआ भी ऐसाही। शंकरजीके स्मरणका प्रभाव यह हुआ कि मनमें तुरत यह बात स्फुरित हो आई कि 'जीवात्मा तो अविनाशी है, केवल देहहीसे नाता है। सतीजीने इस देहसे सीतारूप धारण किया, इसलिये इस देहसे प्रेम न किया जाय।' ☞ स्मरण रखना चाहिए कि शुद्ध प्रेमभावसे भगवानको प्रणाम और साथही उनका स्मरण करनेसे वे अवश्य सेवकका दुःख हरते हैं। (मा० प०)। यथा 'राम प्रनाम महामहिमाखनि सकल सुमंगलमनि जनी।'

प० प० प्र०—'प्रभुपद सिरु नावा' इति। 'जे पद सरोज मनोज अरि उर-सर सदैव बिराजहीं। जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं।' इन पदसरोजोंकोही मानसिक प्रणाम किया। 'सुमिरत राम' से रामनामका उच्चारण समझना चाहिए क्योंकि 'प्रभुपद' में रामरूपका अन्तर्भाव होता है। यहाँ रामनाम स्मरणसे उपक्रम और 'चले भवन सुमिरत रघुबीरा' से उपसंहार किया है।

प० रामकुमारजी—श्रीरामजीका स्मरण करतेही उन्होंने प्रेरणा की, क्योंकि वे उरप्रेरक हैं। क्या प्रेरणा हुई सो आगे लिखते हैं। स्मरण करते ही प्रभुने सोच दूर किया, हृदयमें विवेक हुआ।

जब सतीजी झूठ बोलीं तब शिवजीने मायाको सिर नवाया कि तू बड़ी प्रबल है और जब सीता रूप धरा तब प्रभुपदमें शीश नवाया कि हमारे धर्मकी रक्षा कीजिये।

माया भी स्त्री और सतीजीभी स्त्री। यद्यपि स्त्री स्त्रीको नहीं मोहित कर सकती है तथापि माया तो नर्तकी है, उसने सतीजीको नचा ही डाला। उसने ब्रह्मादिको नचा डाला। यथा 'मुनि बिरंचि रामहि सिरु नावा। समुझि प्रताप प्रेम उर छावा॥' 'हरिमाया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥'

७ ६० ।' 'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा ॥७ ७२।' कहीं हमको भी न नचावे, यह सोचकर सिर नवाकर प्रभुका स्मरण कर उन्हीं मायापति प्रभुकी शरण गए।

टिप्पणी—२ 'एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं।'० इति। (क) ऊपर कहा 'हृदय अस आवा'। 'कस आवा ?' क्या आया ? क्या प्रेरणा हुई ? सो न लिखकर संकल्प लिख रहे हैं। इससे जनाया कि जो सकल्प मनमें कर रहे हैं वही बात प्रभुकी प्रेरणासे हृदयमें आई थी। अर्थात् सतीतनमें प्रेम न करो, उनके दूसरे शरीरमें प्रेम करना—ऐसा हृदयमें आया। उसीका संकल्प किया, यदि हृदयमें आना पृथक् लिखते और फिर संकल्प करना पृथक् लिखते तो एक अर्धाली व्यर्थमें बढ जाती। अत॰ दोनोंको एकही जगह लिख दिया। हृदयमें जो आया, उसीका सकल्प किया। [☞ ग्रन्थभरमें यह बात बरती गई है कि प्रसग आनेपर घटना खोल दीजाती है, बारबार नहीं दोहराईजाती। जैसे 'रामानुज लघु रेख खँचाई।'] (ख) 'एहि तन' अर्थात् सतीशरीरमें। भाव कि इस शरीरके छूटनेपर जो ये दूसरा शरीर धारण करें उसमें प्रेम करनेसे दोष नहीं। (ग) शकरजीको प्रेम करनेमें सोच हुआ, यथा 'जौ अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगतिपथ०।' क्योंकि प्रेमके त्यागका नियम नहीं है कि इतनेही दिन प्रेम करना चाहिये। परन्तु अब श्रीरामजीकी प्रेरणासे नियम होगया कि सतीके इस तनमें प्रीति न करनी चाहिये, अन्य तनमें प्रीति करना दोष नहीं—इससे शिवजीके मनमें शान्ति और सतोष हुआ। सतीजीने इस शरीरसे अपराध किया, अत॰ यह शरीर त्याज्य है।

प० प० प्र०—सती उमा अर्थात् शिवजीकी माया हैं—'ओः महेशस्य सा मायाशक्ति'। माया और मायाधीश, शक्ति और शक्तिमानका सबंध नित्य है, यह प्रभुनिर्मित है, इसका त्याग हो ही नहीं सकता। केवल शरीरका सबध और उस शरीरसे पति पत्नी भावसे प्रेम करना त्याज्य है। (यह भाव प्राय॰ वही है जो आगेके नोट १ में दिया गया था)।

टिप्पणी—३ 'शिव सकल्प कीन्ह मन माहीं' इति। [यहाँ तालव्य शकार है। क्योंकि यहाँ उनके भारी महत्त्वकी बात कही है। सकल्प वचनसे भी होता है, यथा 'निसिचरहीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह। आ० ९।'] यहाँ सकल्प मनमें किया गया क्योंकि सकल्प सतीके त्यागका है। प्रगट कहते तो उनको बड़ा दु ख होता। शिवजी करुणावरुणालय हैं, कृपालु हैं, इसीसे उन्होंने अपनी तरफसे दु ख न दिया। पुन, मनमें सकल्प करनेका तात्पर्य यह है कि प्रथम जब मनमें सोच था, कोई विचार हृदयमें नहीं आता था कि क्या करें तब भी शिवजीने कुछ न कहा, यथा 'प्रगटि न कहत महेस कछु हृदय अधिक सतापु। ५६।' और जब हृदयमें विचार स्फुरित हुआ तब भी कुछ न बोले, मनमें ही संकल्प किया। इस तरह आपको संतप्त और शान्त दोनो अवस्थाओंमें एकरस दिखाया।

नोट—१ सकल्प-प्रतिज्ञा, प्रण, यथा 'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना।' जैसे हाथमें कुश और जल आदि लेकर मत्र पढ़कर लोग करते हैं जिससे वे उस कार्यके करनेके लिये बद्ध होजाते हैं। सकल्प इससे आवश्यक हुआ कि सतीजी अपनी नित्यकी शक्ति हैं। कदाचित् कभी प्रभुकी आज्ञाका उल्लघन हो जाय। संकल्पसे दोनों बातें बनगई। 'साँप मरै न लाठी टूटै'। परम पुनीत सतीका त्याग कठिन था सो भी रहा, क्योंकि दूसरे शरीरमें फिर सग होगा। सदाका त्याग न हुआ क्योंकि नित्यकी शक्ति थीं और प्रेम करनेसे पाप था सो भी निभा, क्योंकि जिसमें पाप हुआ उसीका सग छूटा। भक्तिपथमें भी अन्याय न हुआ, धर्मकी मर्यादा बनी रह गई। स्थूल शरीरका त्याग हुआ, आत्मस्वरूपका नहीं। (रा० प्र०, मा० प०)।

टिप्पणी—४ 'अस विचारि सकरु मतिधीरा।०' इति। (क) 'अस बिचारि' अर्थात् जो विचार श्रीरामजीकी प्रेरणासे हृदयमें आया उसी विचारका मनमें सकल्प करके। (ख) 'मति धीरा' इति। भाव कि पूर्व मति व्याकुल थी, हृदयमें विचार करते थे, यथा 'हृदय बिचारत संभु सुजाना', पर शान्ति न होती थी क्योंकि तब कोई विचार मनमें न आता था। अब श्रीरामजीकी प्रेरणासे जब विचार आया तब 'धीर'

हुई। जो विचार प्रभुने दिये उसीमें अपनी बुद्धिको स्थिर किया, इसीसे 'मतिधीर' विशेषण दिया। (ग) शिवजीने सतीतनके त्यागका संकल्प किया। इसीसे ग्रन्थकारनेभी सतीका त्याग अपनी चौपाइयोंमें दिखाया है।☞यहाँसे वे शिवजीका अकेले चलना लिख रहे हैं, यथा 'अस विचारि संकरु मति धीरा', 'विश्वनाथ पहुँचे कैलासा।' इसके पूर्व सतीसहित लिख आए हैं; यथा 'संग सती जगजननि भवानी', 'चले भवन सँग दच्छ-कुमारी' तथा 'चले जात सिव सती समेता।' सती संगमें हैं, यह अब नहीं लिखते।—यह त्यागका लक्ष्य है। (घ) विचार प्रभुने दिया, अतः उसका मनमें संकल्प किया और उसी विचारसे मतिको धीर किया। इस तरह मन और बुद्धि दोनोको श्रीरामजीकी आज्ञा में लगाना कहा। इसी तरह 'सुमिरत राम हृदय अस आया' अर्थात् श्रीरामजीके स्मरणसे ही संताप मिटा। विकल थे सो सावधान हुए। अतः, 'चले भवन सुमिरत' अर्थात् उन्हीं आर्त्तहरण भगवान् रामका स्मरण करते घरको चले। (यह कृतज्ञता है।)

नोट—२ 'मतिधीरा' के और भाव। शक्तिका वियोग दुःसह है फिर भी उनके त्यागमें कुछ भी संकोच न किया और न किंचित् क्लेश माना। वियोग स्वीकार किया पर भक्तिपथको बिगड़ने न दिया वरंच दृढ़ रक्खा। अतः 'मतिधीर' कहा। पुनः, 'मतिधीर' इससे कहा कि अच्छी बात उनके हृदयमें बैठ गई।☞ इस आचरणसे शिवजी जीवोंको श्रीरामभक्तिमें दृढ़ करते हैं, शिक्षा देते हैं कि आधे अङ्गको भी अलग कर देना अच्छा है पर भक्तिपथका बिगाड़ना उचित नहीं। (मा० प०)।

टिप्पणी—५ (क) 'चले भवन' से जनाया कि सतीजीके आनेपर और उनसे प्रश्न करनेपर सोचमें पड़ गए थे, चलना भूलही गया था। जब बुद्धि स्थिर हुई तब चले। 'भवन' कैलास है, यथा 'भवन कैलास आसीन कासी'। यह आगे स्पष्ट है, यथा 'विश्वनाथ पहुँचे कैलासा'। (ख) 'सुमिरत' इति। शिवजी जब तक वटतले बैठे रहे तब तक नाम जपते रहे, यथा 'अस कहि जपन लगे हरिनामा।' और जब चले तब स्मरण करते चले। इससे पाया गया कि शिवजीका सब काल भजनमेंही बीतता है, निरन्तर नामस्मरण होता है। यथा 'संतत जपत संभु अबिनासी।' पुनः, सब दशामें नामस्मरण दिखाया। पहले व्याकुल दशामें स्मरण करते रहे अब बुद्धि स्थिर होनेपर भी स्मरण कर रहे हैं। दुःख और सुख दोनोंमें स्मरण होता रहता है। पुनः, [भाव कि इस समयका स्मरण धन्यवादका है कि स्मरणमात्रसे हमारा धर्मसंकट मिटाया। (सुधाकरद्विवेदी)] (ग)–'सुमिरत रघुबीरा' इति 'रघुबीर' शब्दसे जनाया कि राक्षसोंको मारनेके लिये धनुष-बाण धारण किये जिस वेषसे वनमें विचर रहे हैं उस रूपका स्मरण करते चले।

नोट—३ पंजाबीजी लिखते हैं कि रघुवीरके स्मरणका भाव यह है कि शिवजीने दक्षसुताका त्याग किया। त्यागका समाचार पाकर वह कोई उपाधि खड़ी न करे। अथवा, कहीं दक्ष शाप न दे दे जैसे रोहिणी से प्रेम करनेपर उसने चन्द्रमाको शाप दिया था। इन सबोंसे बचावें इसलिये वीररूपका स्मरण किया। पुनः भाव कि प्रतिज्ञा बड़ी कठिन है कि साथ रहते हुए भी पत्नीभाव न रक्खेंगे। कामादि विकार बड़े प्रबल हैं। इनसे धनुर्धारी प्रभुही रक्षा कर सकते हैं। यथा 'तब लगि हृदय बसत खल नाना''''जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा। सुं०४७।'—रघुवीरसे धनुर्धर वीरस्वरूप जनाया। रक्षाके लिये स्मरण किया, इसीसे उनके संतोषके लिये आकाशवाणी हुई।

४ सतीको त्याग करना कठिन है और संकल्प करनाभी कठिन है। इसीसे इन दोनोंकी आगे प्रशंसा करते हैं। यथा 'शिव सम को रघुपतिब्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी।'—यह सतीत्याग-की प्रशंसा है। 'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना। रामभगत समरथ भगवाना।' यह प्रणकी प्रशंसा है।

चलत गगन भै गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई* ॥ ४ ॥
अस पन तुम्ह बिनु करै को आना। रामभगत समरथ भगवाना ॥ ५ ॥

* पाठान्तर—दिढ़ाई—मा० दा०।

अर्थ—चलतेही सुन्दर आकाशवाणी हुई। महेश! आपकी जय हो।' आपने अच्छी तरह भक्तिको दृढ़ किया। ४। आपके सिवा दूसरा कौन ऐसी प्रतिज्ञा कर सकता है? आप रामभक्त हैं, समर्थ हैं और षडैश्वर्यसंपन्न हैं। ५।

टिप्पणी—१ 'चलत गगन भै गिरा सुहाई' इति। (क) चलतेही आकाशवाणी हुई। इससे जनाया कि रामभक्तिको 'ओर निबाहनेसे', दृढ़ रखनेसे, प्रशंसा होता है। शिवजीने परमपुनीत सतीकी अपेक्षा भक्तिको अधिक श्रेष्ठ समझा, भक्तिपथको दृढ़ किया, इसीसे देवता प्रसन्न होकर जयजयकार करके बधाई दे रहे हैं, प्रशंसा कर रहे हैं कि आपने बड़ा भारी काम किया। भारी काम करनेसे प्रशंसा होतीही है। शिवजीने मनमें संकल्प किया। आकाशवाणीने मनकी बात जानकर कही। (ख) 'गिरा सुहाई' इति। यहाँ सुहाई विशेषण दिया। अन्यत्र 'गभीर' विशेषण दिया गया है। गभीरताही वाणीकी शोभा है। इस तरह यहाँ 'सुहाई'-गभीर। यथा 'गगनगिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह। १८६।' पुनः 'सुहाई'-सुन्दर। आकाशवाणी शिवजीके मनकी हुई अतः 'सुहाई' है।

नोट—१ प्र० स्वामीका मत है कि यह आकाशवाणी न तो देवताओंकी है और न ब्रह्मादिकी, क्योंकि जिसका पता साक्षात् जगज्जननी सतीको नहीं लगा जो अत्यन्त समीप थीं उस संकल्पका जानना ब्रह्मादि देवताओंको असंभव है। ब्रह्म (श्रीराम) की वाणीभी यह नहीं हो सकती क्योंकि श्रीरघुनाथजीने अपने भक्तोंकी प्रशंसा जहाँ जहाँ की है वहाँ कहीं भी 'जय' शब्दका प्रयोग नहीं है। अतः निश्चयही यह वाणी 'राममाया' की है जिसे शिवजीने प्रणाम किया और जिसने सतीजीको सीता बननेकी प्रेरणा की तथा उनसे झूठ कहलाया।

इस आकाशवाणीका हेतु क्या है? इसका मुख्य हेतु है सतीजीको राम सम्मुख करना, रामभक्त बनाना, सम्पूर्णतया शिवानुकूल बना देना। राममायाने रामभक्त बनाने आदिका यह अमोघ उपाय रच दिया। यदि गगनगिरा न होती तो परित्यागकी कल्पनाका सतीजीके मनमें आना असंभव था। सतीजी यही समझतीं कि शिवजी समाधिमग्न हैं। उनको अपनी करनीका पश्चात्ताप न होता। आकाशवाणीसे सिद्ध होता है कि सतीजी शिवसंकल्पको अनुमानसे जान लेंगी और प्रदीर्घकालतक जब उनका हृदय पश्चात्तापादि से जलता रहेगा तब वह शुद्ध हो जायगा और वे रघुनाथजीकी शरण लेंगी।

टिप्पणी—२ आकाशवाणी यद्यपि सुहाई है तथापि उसे सुनकर जगदम्बा सतीजीको तो सोचही उत्पन्न होगया, यथा 'सुनि नभगिरा सती उर सोचा' [इसका कारण यह है कि सतीजी के हृदयमें पाप था। उन्होंने अपराध किया था, इसीसे उनको सोच हुआ, नहीं तो यह तो उत्तम बात थी, प्रशंसा के योग्य थी, इसीसे आकाशवाणीने उसकी प्रशंसा की। इसी तरह जब देवता, सिद्ध, साधु और मुनि भरतजीकी भक्तिकी प्रशंसा कर रहे हैं, यथा 'देखि दसा सुर बरसहिं फूला। अ० २१६। सिद्ध साधु मुनिबर अस कहहीं। भरतहि निरखि हरषु हिय लहहीं। २१७।'—ठीक उसी समय उनकी यह दशा देखकर इन्द्रको सोच हो रहा था। यथा 'देखि प्रभाउ सुरेसहि सोचू।'—इसपर कविने जो आलोचना की वह यह है—] 'जगु भल भलेहि पोच कहुँ पोचू'। अर्थात् जो जैसा होता है उसको वैसाही सूझता है। वही बात यहाँ हुई। (ख) 'चलत गगन भै गिरा सुहाई' यहाँसे आकाशवाणीका प्रारंभ है और 'जदपि सती पूछा बहु भाँती' पर समाप्ति है। ('भै गिरा सुहाई' उपक्रम है। 'सुनि नभगिरा' उपसंहार है। आकाशवाणी तीन चरणोंमें है)।

३ 'जय महेस भलि भगति दृढ़ाई' इति। (क) 'जय महेस' का भाव कि भक्तिकी दृढ़तासे ही आप महान् ईश हैं, देव देव हैं, सबसे आपका उत्कर्ष बढ़कर है। [पुनः भाव कि—'क्यों न हो! आप महेशही हैं, देवदेव हैं, ऐसा करना आपके योग्यही था। आपकी जय हो'] (ख) 'भलि भगति दृढ़ाई' इति। जो बात शिवजीके मनमें थी वही आकाशवाणीने कही।—

जौं, अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगति पथ होइ अनीती।' १　　'जय महेस भलि भगति दृढ़ाई।'

अर्थात् प्रेम करनेसे भक्तिपथका नाश होगा। अर्थात् सतीके त्यागसे आपका भक्तिपथ दृढ़ हुआ।
एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। शिव संकल्प कीन्ह मन माहीं।' ७ 'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना।'

संकल्प और पन एक ही बात है।

'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना।' इस आकाशवाणीको जब सतीजीने सुना तब उन्होंने शिवजीसे पूछा कि 'कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला।'

३ 'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना' इति। अर्थात सती ऐसी स्त्रीको त्याग दे, भक्तिपथको न टूटने दे, ऐसा कौन रामभक्त है? यथा—*शिवसम को रघुपतिव्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी।'* (भाव कि यह आपहीका काम है, दूसरा कोई इस व्रतको नहीं धारण कर सकता। यह प्रण आपके ही योग्य है। इसमें यथायोग्यका संग वर्णन करना 'प्रथम सम अलंकार' है)।

४ 'राम भगत समरथ भगवाना' इति। ऐसा व्रत धारण करनेमें आपमें तीन बड़े बल दिखाए। अर्थात् आप रामभक्त हैं इससे सीतारूपमात्र धारण करनेसे सतीमें माता भाव मान लिया और उनको त्याग दिया। प्रणके निर्वाह करनेमें आप 'समर्थ' हैं। आप भगवान् हैं अर्थात्, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञानसे युक्त हैं तब तो आपने ऐसा प्रण किया है, (सामान्य) जीव ऐसा प्रण करके नहीं निबाह सकता।—[प्रतिज्ञा करनेकेलिए कोई भी एक गुण पर्याप्त था तब भी इतने गुण दिखाए। यहाँ दूसरा समुच्चय अलंकार है।]

सुनि नभगिरा सती उर सोचा। पूछा सिवहि समेत सकोचा॥ ६॥
कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्यधाम प्रभु दीनदयाला॥ ७॥
जदपि सती पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुर-आराती॥ ८॥

अर्थ—आकाशवाणी सुनकर सतीजीके मनमें शोच हुआ। (उन्होंने) सकुचाते हुए शिवजीसे पूछा।६। हे कृपाल! कहिए, आपने कौन प्रण किया है? हे प्रभो! आप सत्यधाम हैं, समर्थ हैं और दीन दयाल हैं।७। यद्यपि सतीजीने बहुत तरहसे पूछा तथापि त्रिपुरारि (महादेवजी) ने न बताया।८।

टिप्पणी—१ 'सुनि नभगिरा सती उर सोचा।०' इति। (क) यहाँ आकाशवाणी सुनकर सतीजीके हृदयमें सोच होना लिखा; शिवजीका कुछ हाल न लिखा। इससे ज्ञात होता है कि शिवजी अपनी प्रशंसा सुनकर सकुचा गए, नहीं तो उनका हर्षित होना लिखते जैसे सतीका सोच लिखा। सतीजीने अपराध किया है, इसीसे पूछते हुए संकोच हो रहा है। उन्होंने शिवजीसे कपट किया, उनसे झूठ बोलीं। उसके पीछे आकाशवाणी हुई; इसीसे उनको शोच हो गया। उनको शंका हो गई; चिंता हुई कि कहीं हमारे त्यागका प्रण न किया हो—इसी कारण सकुचते हुए पूछती हैं। (जो अपराध करता है उसे संकोच होताही है। अतः संकोच उचित ही है। (ख) 'पूछा सिवहि' से स्पष्ट है कि वे शिवजीके मनकी न जान सकीं, इसीसे पूछा। (ग) 'समेत संकोचा।' इति। पूछनेमें प्रथमहीसे संकोच हुआ, इसीसे कविने आदिमेंही 'संकोच' शब्द दे दिया। आगे जो कुछ पूछा वह सब 'संकोच समेत' है। संकोच=हिचकिचाहट, पसोपेश। [पुनः 'समेत संकोचा' का भाव कि विवाहके समय पति प्रतिज्ञा करता है कि अर्थ धर्म काममें मैं इसका अतिक्रमण नहीं करूँगा, अतः पूछनेमें कोई संकोचकी बात न थी, परन्तु अपराध होनेसे संकोच हुआ (वि त्रि०)]

२ 'कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला।०' इति। (क) यहाँ सब विशेषण साभिप्राय हैं। 'कृपाला' का भाव कि आप कृपाल हैं; क्या किसीपर कृपा हुई है? कोई कृपाका प्रण किया है? 'सत्यधाम' का भाव कि क्या सत्यके विषयमें कोई प्रतिज्ञा आपने की है? 'प्रभु' का भाव कि आप समर्थ हैं, क्या किसी दुष्टके वधका प्रतिज्ञा की है? 'दीनदयाल' का भाव कि क्या किसी दीनपर दया करने, किसी दीनको पालनेकी

प्रतिज्ञा की है ? कौन प्रतिज्ञा की है ? पुनः भाव कि—आप 'कृपाल' हैं। अपने इस गुणसे मुझपर क्रोध न कीजिये किंतु अपनी ओरसे मुझपर दया कीजिए। आप 'सत्यधाम' हैं, अत मुझसे सत्यही कहिए कि क्या प्रण किया है। सतीजी शिवजीसे झूठ बोलीं, इसीसे समझती हैं कि शिवजीभी झूठ बोलेंगे। इसीसे 'सत्य धाम' कहा। आप प्रभु' हैं, अर्थात् प्रण निबाहनेमे आकाशवाणीने आपको समर्थ कहा है, यथा 'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना। रामभगत समरथ०' पुन भाव कि—[यदि आप कहें कि हम प्रतिज्ञा कर चुके, वह अमिट है। तो उसपर कहती हैं कि आप प्रभु' हैं, होनी अनहोनी करनेको समर्थ हैं। आप 'दीनदयाल' हैं। आपकी कृपा तो जीवमात्रपर है पर दीनोंपर आपकी विशेष दया रहती है। मैं दीन हूँ। आप मुझपर दया करें। (रा० प्र०)]।

प० प० प्र०—'कृपाल' का भाव कि मुझपर कृपा करके 'कीन्ह कवन पन' यह कहिये। 'सत्यधाम' हैं अर्थात् आपने जो प्रण किया है, उसका सत्य करना आपको सहज सुलभ है। मुझसे कह देनेसे उसके निर्वाहमे कोई कठिनता पैदा नहीं होनेकी, अत कृपा करके कहिए।' प्रभु' अर्थात् मेरे स्वामी हैं, आपको छोड़ दूसरेसे पूछना मेरे लिये असभव है, अत आप कहे। 'कृपाला' से उपक्रम करके दयाला' पर उपसहार करके जनाया कि आप सदैव मुझपर दया करते आए हैं, वैसेही अबभी कीजिए।

टिप्पणी—३ 'कीन्ह कवन पन०' से स्पष्ट है कि सतीजीने शकरजीके हृदयकी बात न जान पाई। शकरजीका रुख देखकर आगे यह जान गई हैं कि उन्होंने हमें त्याग दिया। पर यह फिर भी नहीं जाना कि सीतारूप धारण करनेसे त्याग दिया है। शकरजी ध्यानद्वारा उनके हृदयकी सब जान गए।

४ 'जदपि सती पूछा बहु भाँती।०' इति। (क) 'बहु भाँती' इति। आप कृपाल हैं, आप सत्य धाम हैं, प्रभु हैं, दीनदयाल हैं, इत्यादि बिरदावली कहकहकर जो पूछा वही 'बहु भाँति' का पूछना है।⊛ [शिवजी त्रिपुरान्तक हैं, अपने लक्ष्यपर बड़े दृढ हैं, एक सहस्र वर्ष तक त्रिपुरपर लक्ष्य बाँधेही रह गये, उन्होंने नहीं ही कहा। यहाँ बातको खोलना और लक्ष्यसे होना एक बात थी। बातको खोलना अनुनय विनयको अवसर प्रदान करना था, इसलिय नहीं कहा। 'बहुभाँति' यह कि अपनी शपथ दिलाई, अपने प्रेमकी शपथ दिलाई इत्यादि। (वि० त्रि०)] (ख) 'तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती' इति। सकल्प न बतानेमें 'त्रिपुर आराती' विशेषण दिया। भाव यह कि जैसे त्रिपुरके वधमें निष्ठुर होगए थे वैसेही अपना प्रण न कहनेमें निष्ठुर बने रहे, सतीजीके दिये हुए कृपाल, सत्यधाम आदि विशेषण न माने, अपना प्रण नहीं ही कहा।

वस्तुतः 'कृपाल' आदि सब गुण 'न कहने में' घटित हो रहे हैं। शिवजीने प्रण न बताया क्योंकि वे कृपाल हैं, दीनदयाल हैं। वे जानते हैं कि कहनेसे सतीजीको दु ख होगा। कृपालु होनेके कारण वे उनको अपनी ओरसे दुःख न दे सके, बल्कि उनका दु ख दूर करनेमें लगगए। यथा 'सतिहि ससोच जानि वृषकेतु। कही कथा सुदर सुखहेतू।' सत्यधाम हैं और सत्य कहनेसे दु ख होगा और झूठ बोलते नहीं। अत न कहा। 'सत्यधाम' हैं, अत बनाकर कोई बात न कही। 'प्रभु' हैं अर्थात् जगत्के स्वामी हैं, ईश्वर हैं। ईश्वर झूठ नहीं बोलते, यथा 'मुधा बचन नहिं ईश्वर कहई।' [☞ क्यों न कहा ? इसका कारण सतीजी स्वय अपनेसेही कहती हैं, यथा कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा। ५८।' पुन, नीतिशास्त्रका मत है कि अप्रिय बात सत्यभी हो तो भी न कहे। यथा 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' अत न कहा। पुन, बुद्धिमान् पराया दोष नहीं कहते, यथा 'गुन प्रगटहिं औगुनहि दुरावहि।' इत्यादि कारणोंसे न कहा।]

⊛ वै०—'बहुभाँती' अर्थात् 'पत्नीभाव, हासविलासकटाक्षादि करके, कदाचित् कामवश कहा, मान करके, कदाचित् हमारे मिलनेके लोभवश कहा, अथवा, किंचित् प्रौढता करके अर्थात् क्रोधवश होकर कहा, इत्यादि बहुत भाँतिसे पूछा।' हासविलासादि द्वारा पूछनेपर कामपर विजय, मानवती होनेपर क्रोध न किया, और सत्यधाम आदि कहनेपर लुब्ध न हुए। अत 'त्रिपुरआराती' विशेषण दिया।

भावार्थान्तर—(१) "सतीत्यागसे काम और लोभ दोनोंसे शत्रुता की। सतीके अपराधपर क्रोध न किया और न मुखसेही कुछ कहा। इसतरह काम क्रोध और लोभ तीनोंको जीते हुये हैं। यह भाव 'त्रिपुर-आराती' कहकर जनाया।" (पॉ०, वै०) अर्थात् काम, क्रोध और लोभही तीन पुर हैं। सती-त्यागसे काम तथा लोभपर विजय हुई। प्रेम न करना लोभको जीतना है। अपराधपर कुछ न कहा, यह क्रोधपर विजय है। (पॉ०)। पुनः, (२) 'त्रिपुरआराती' में भाव यह है कि 'जब अपनी अर्धांगिनीका ही त्याग कर दिया तब जो अन्य रामविरोधी हैं, उनके साथ शिवजीका वर्ताव कैसा होगा, यह इसीसे अनुमान कर लेना चाहिये।' (रा० प्र०)। पुनः, (३) 'तीनों लोकोंके रहनेवाले जो रामभेददर्शक हैं उनके शत्रु महादेवजी हैं। शत्रुसे मनकी बात न कहनी चाहिए। अतः शिवजीने कुछ न कहा, इस हेतु त्रिपुर आराती कहा।' (सू० प्र० मिश्र)। (४) 'त्रिपुरआरातीसे यह सूचना करदी कि बड़े-बड़े राक्षसो अथवा तीनो पुरोंके संहारकर्त्ता हैं, अतः तारकासुरके मारनेकेलिये कुसमय समझकर अपने प्रणको छिपा रक्खा कि कहीं सुनकर ये अभी प्राण न दे दें तो अनर्थ हो जायगा क्योंकि अभी तारकासुरके जन्ममें विलम्ब है, और इनके दूसरी देहकाभी समय अभी नहीं है।' (मु० द्विवेदी)। (५) यहाँ लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है कि जो कठिन दुर्जय त्रिपुर जैसे दैत्यके वैरी हैं, वे अपराधिनी सतीकी प्रार्थनापर कैसे दयालु हो सकते हैं। (वीरकवि)

दोहा—सतीं हृदय अनुमान किय सबु जानेउ सर्बग्य।
कीन्ह कपटु मैं संभु सन नारि सहज जड़ अग्य॥
सोरठा—जल पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि।
बिलग होइ* रसु जाइ‡ कपटु खटाई परत पुनि†॥५७॥

अर्थ—सतीजीने हृदयमें अनुमान किया कि सर्वज्ञ (शिवजी) सब जानगए। मैंने शंकरजीसे कपट किया। (सत्य है) स्त्री स्वभावसे ही मूर्ख और नासमझ होती है। (वक्ता कहते हैं कि—) प्रीतिकी सुंदर रीति देखिये। जल (दूधमें मिलनेसे) दूधके समान (अर्थात् दूधके भाव) बिकता है। परन्तु फिर कपट रूपी खटाई पड़ते ही (दूध पानी) अलग हो जाता है (अर्थात् फट जाता है) और स्वाद जाता रहता है।५७।

टिप्पणी—१ 'सतीं हृदय अनुमान किय०' इति। (क) अनुमान अवलंबसे होता है जैसे धूमसे अग्निका अनुमान। सतीजीने अभी अभी अपराध किये हैं और इसी समय शंकरजीके प्रण करनेकी आकाशवाणी हुई, उसपर उन्होंने शिवजीसे पूछा पर शिवजीने न बताया। इससे अनुमान हुआ कि शिवजी सर्वज्ञ हैं, वे सब कपट जान गए और प्रतिज्ञा मेरे विरुद्ध मेरे सम्बन्धमें ही कोई हुई है। (ख) 'शंभु' के भाव पूर्व आचुके। (ग) 'नारि सहज जड़ अज्ञ' इति। सतीजीका दृढ़ निश्चय है कि शिवजी सर्वज्ञ हैं; यथा 'सिव सर्बग्य जान सबु कोई', 'सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी' तथा 'सब जानेउ सर्बग्य'। सर्वज्ञ जानते हुए भी कपट किया, हमें यह न सूझा कि हम इनसे कपट करती हैं, ये सब जान लेंगे—यही 'सहज जड़ता' और 'सहज अज्ञान' है। [पुनः, हित करनेवालेसे कपट करना अपने हाथों अपने पैरमें कुल्हाड़ी मारना है। यही जड़ता और अज्ञान है। (मा० प०)]।

नोट—१ ☞ जब किसीपर, अपनी ही करनीसे, क्लेश आ पड़ता है तब उसे अपने किये हुए दुष्कर्मोंका स्मरण हो जाता है। वैसा ही यहाँ हुआ। जब शिवजीने उत्तर न दिया तब सतीजी मनही मन सोचने लगीं। अपनी करनी पर ज्यों ज्यों विचार करती हैं, त्यों-त्यों शोक और चिंता बढ़ती जाती है। अब वे सोचती हैं कि हमारे अज्ञानकी बलिहारी कि हमने अपने कल्याणकर्त्तासे दुराव किया, उस समय

* होत—छ०, भा० दा०, १७६२, १७२१। होइ—१६६१, १७०४, कोदवराम। ‡ जात भा० दा०।
† पुनि—१६६१। ही—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०।

हमारी बुद्धिको क्या हो गया था ? हमने कैसे समझ लिया कि वे हमारे कपटको न जान पायेंगे ? उनकी सर्वज्ञता हम कैसे बिसर गई ?—इसका कोई उत्तर न समझ पड़ा, सिवाय इसके कि 'नारि सहज जड़ अज्ञ' है, जो शिवजीने कहा था कि 'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ' वह बिलकुल ठीक है। स्वभाववश ही मुझे न सूझ पड़ा कि वे तो सब जान जायेंगे।

टिप्पणी—२ 'जल पय सरिस बिकाइ०' इति। भाव कि दूधमें मिलनेसे जल भी दूधके भाव बिकता है और उसमें दूधका रस (रंग और स्वाद) भी आ जाता है (यह दूधका भलपन है), पर खटाई पड़ते ही दूध अलग हो जाता है (दूध फट जाता है) और उस जलमें दूधका स्वाद नहीं रह जाता। इसी तरह कपट करनेसे संग छूट जाता है, प्रीतिरूपी रस नहीं रह जाता। [दूध फट जानेपर फिर दूध नहीं बन सकता, वैसेही फटा हृदय फिर नहीं जुड़ता, फिर प्रेम होही नहीं सकता, बिगड़ा सो बिगड़ा, फिर नहीं सुधर सकता। कहा है कि 'मन मोती और दूध रस इनको यहै स्वभाव। फाटे ते जुड़ते नहीं करिए कोटि उपाव॥' दूध और जलके द्वारा प्रीतिकी रीति देख पड़ती है। इसीसे कहा कि 'देखहु'। तात्पर्य यह है कि इसे देखकर ऐसी प्रीति करे, कपट न करे।

श्रीसुधाकर द्विवेदीजी—कवि दृष्टान्त दिखाते हैं कि देखो दूध ऐसे निर्मल शिवजी (कर्पूरगौर) और जड़ (जल) सती 'किमसुभिर्ग्लपितैर्जड मन्यसे' इस वचनसे श्रीहर्षजीने भी 'डलयो सावर्ण्यात्' से 'जड़' से जल लिया है। दोनोंमें अच्छी तरहसे प्रीति देखो कि दोनों मिलकर एक हो गए थे, दोनों साथ-साथ पूजे जाते थे, दोनोंकी महिमा एक समझी जाती थी, जैसे दूधमें पानी मिलनेसे पानीभी दूधही कहा जाता है। दूधहीके भावसे दूध बिना पानी भी बिकता है। पर जैसे वह खटाई पड़नेसे अलग और बिगड़ जाता है, वैसेही यहाँ कपट करनेसे दूध ऐसे महादेव सती जड़ (जल) से अलग हो गए और बिगड़ भी गए।' [द्विवेदीजी 'भलि' का अन्वय 'देखहु' के साथ करते हैं]

नोट—२ यहाँ दृष्टान्त अलंकार है। दृष्टान्तमें दो वाक्य होते हैं। एक उपमेयवाक्य, दूसरा उपमान वाक्य। दोनोंके धर्म पृथक् पृथक् होते हैं। दोनोंमें बिंब प्रतिबिंब भाव सा जान पड़ता है। अर्थात् सब प्रकारकी समता जान पड़ती है। परन्तु यह समता बिना वाचक शब्दोंके दिखलाई जाती है। (अ० म०)। 'जल पय सरिस बिकाइ०' उपमेय वाक्य है, 'खटाई परत पुनि' उपमान वाक्य है। प्रीतिसे इसकी समता बिना वाचक (जैसे, तैसे) के दिखानेमें बिंबप्रतिबिंबभावसा झलकता है।

३ मित्रतापर भिखारीदासजीका पद मिलानयोग्य है—'दास परस्पर प्रेम लखो गुन छीर को नीर मिले सरसातु है। नीर बिकावत आपने मोल जहाँ जहँ जायके छीर बिकातु है॥ पावक जारन छीर लग्यो तब नीर जरावत आपन गातु है। नीर की पीर निवारिबे कारन छीर घरी ही घरी उफनातु है॥'—इस पद्यमें दूधका और जलका भलपन अलग अलग दिखा दिया गया है।

हृदय सोचु समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहि बरनी॥ १॥
कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥ २॥
संकर रुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी॥ ३॥
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवा इव उर अधिकाई॥ ४॥

शब्दार्थ—प्रगट (प्रकट)=खोलकर। रुख=मुखकी चेष्टा, कयाफा। यह फारसी शब्द है।=चेहरा, मुँह। अकुलाना=व्याकुल व्यग्र और दुःखी होना। यथा 'परम सभीत धरा अकुलानी।'

अर्थ—अपनी करतूतको समझकर सतीजीके हृदयमें सोच और अपार चिंता है जो वर्णन नहीं की जा सकती। १। (वे सोचती हैं) शिवजी दयाके समुद्र और परम गम्भीर हैं (इसीसे उन्होंने) मेरा अपराध प्रगट न कहा। २। शंकरजीके रुखसे यह देखकर कि प्रभुने मुझे त्याग दिया, भवानी सतीजी

हृदयमें अकुला उठीं। ३। अपना पाप जानकर कुछ कहा नहीं जाता। (परन्तु) हृदय आँवेकी तरह अधिक-अधिक तप रहा है। ४।

टिप्पणी—१ 'हृदय सोचु समुझत निज करनी।०' इति। (क) ['हृदय सोच'—सोच ही सोच चला—'सती सभीत महेस पहँ चलीं हृदय बड़ सोच।', फिर 'सुनि नभगिरा सती उर सोचा','फिर हृदय सोच समुझत निज करनी।' (वि० त्रि०)] निज करनी' पूर्व कह आए; यथा 'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञान राम पर आना।' इत्यादि। उसका समझना अब कहा। यथा 'सती हृदय अनुमान किय सब जानेउ सर्बग्य। कीन्ह कपट मैं संभु सन०।' (ख) 'समुझत' का भाव कि अबतक अपनी करनी नहीं समझी थी, अब अपनी करनीकी समझ आई। अभीतक (इसके पूर्व) समझती थीं कि शिवजी हमारा कपट नहीं समझ पाए। अब समझीं तब अपना अपराध समझकर सोच हुआ कि मैंने पतिसे कपट किया यह मुझसे बड़ा भारी पाप हुआ। और, चिन्ता हुई कि इस पापका फल भी हमें आगे मिलेगा। [(ग) 'चिंता अमित०' इति। दंड न प्रगट होनेसे चिंता बढ़ना उचित ही है। मनुष्यका स्वभाव है कि दुःख पड़नेपर अपने बुरे बुरे कर्मोंको सोच-सोचकर अधिक घबड़ाता है। (मा० प०)। हमने बड़ा बुरा किया, न जानें इसका परिणाम क्या होगा, अब अपने कियेका इलाज नहीं, यह चिंता है।] अपराध भारी है अतः चिंता भी भारी है। [चिन्ताका स्वरूप ऐसा कहा है; यथा—'चिंता चिता समाख्याता किंतु चिन्ता गरीयसी। चिता दहति निर्जीवं सजीवो दहतेऽनया॥ प० पु०।' पुनश्च यथा—'चिंता ज्वाल शरीर-वन दावा लगि लगि जाय। प्रगट धुआँ नहिं देखिये उर अंतर धुँधुआय। उर अंतर धुँधुआय जरे ज्यों काँचकी भट्ठी। रक्त मांस जरि जाइ रहै पाँजर की ठट्ठी॥ कह गिरिधर कविराय सुनो हे मेरे मिंता। ते नर कैसे जियें जिन्हें नित व्यापै चिंता॥']

२ कृपासिंधु सिव परम अगाधा।०' इति। (क) अपनी करनी समझकर अब शिवजीके गुणोंका स्मरण करती हैं कि ऐसे कृपालुसे मैंने कपट किया कि जिन्होंने मेरा कपट जानकर भी मुझसे मेरा अपराध न कहा कि कहनेसे इसे दुःख होगा। कृपाका 'सिंधु' कहा, इसी सिंधुके सम्बन्धसे 'परम अगाध' कहा, क्योंकि सिंधु 'अगाध' है। प्रभु 'परम अगाध' हैं, यह कहकर अगाधता कहती हैं। 'प्रगट न कहेउ मोर अपराधा' यही अगाधता है। अपराधका न कहना गम्भीरता है। अत्यन्त कृपालुता दर्शानेकेलिए 'कृपा-सिंधु' कहा। अर्थात् अपराधीको दंड देना चाहिये सो तो दूर रहा, उन्होंने मुखसेभी मेरा अपराध न प्रकट किया-ऐसे दयालु!! (ख)—सतीजी अब शिवजीके गुण और अपने अवगुण समझकर सोच करती हैं। इस तरह कि वे सर्वज्ञ हैं और मैं अज्ञ हूँ। वे कृपासिंधु हैं और मैं सहज ही जड़ हूँ कि मैंने उनसे कपट किया। वे परम अगाध हैं, मेरा कपट न प्रकट किया और मैं पापिनी हूँ, यथा 'निज अघ समुझि०।'

३ 'संकररुख अवलोकि भवानी।०' इति। (क) शंकरजीका प्रेम अब सतीजीपर नहीं है जैसा उन्होंने स्वयं कहा है—'जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगतिपथ होइ अनीती॥' रुख देखनेसे यह बात जान पड़ी, इसीसे व्याकुल हो उठीं। रुख देखकर जान गईं कि अब हमसे प्रीति का व्यवहार नहीं करते, हमें त्याग दिया है। अपने अपराधसे 'सोच' हुआ और त्याग समझकर 'अकुला उठीं'। क्योंकि 'तनु धनु धामु धरनि पुरराजू। पति विहीन सब सोक समाजू। भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू। २। ६५।'

नोट—१ 'रुख अवलोकि' इति। रुख देखना यह है कि अपने वामभागमें नहीं रक्खा, रास्तेमें कोई प्रेमकी बात नहीं की। पं० सू० प्र० मिश्रजीका मत है कि "रुख देखकर बात जान ली। अतः 'भवानी' कहा। पुनः भाव कि जैसे शिवजी गंभीर हैं वैसे ही ये भी गंभीर हैं क्योंकि 'भवानी' हैं। त्याग होनेपर भी इन्होंने यह बात हृदयहीमें गुप्त रक्खी।" और, सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि यहाँ 'भवानी' का अर्थ है कि 'भव (महादेवजी) ने जिसके लिये 'आनी' अर्थात् शपथ किया वह सतीजी।' 'रुख अवलोकि' का भाव यह है कि रुख देखकर समझ गईं कि शास्त्रमें ब्राह्मण और स्त्रीका मारना मना है। महापापमें इन दोनोंके

लिये त्यागना ही दंड लिखा है, इसलिये पतिने मुझे त्याग दिया। त्याग समझकर अकुला उठीं, क्योंकि स्त्रीके लिये इससे बढ़कर दुःख नहीं है। मनुने कहा है कि 'पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्' पतिही एकमात्र शरण है, उसके त्याग देनेसे कहीं शरण नहीं। (मा० प०)।

टिप्पणी—४ 'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई' इति। भाव कि जब सब बात जान गईं तब अपराध क्षमा करानेके लिये कुछ कहतीं, उसपर कहते हैं कि अपना अपराध समझकर कुछ कहा नहीं जाता। तात्पर्य कि जो अपराध क्षमा कराना है वह तो स्वयं इन्होंने शिवजीसे छिपाया है; यथा 'कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं'। जब अपने ऊपर अपराध धरती ही नहीं, तब अपराध कैसे क्षमा कराते बने ? (कहनेसे दुःख घट जाता है, पर कहें तो किससे। जिससे कहें, वह उलटे इन्हींको दोष देगा। इससे दूसरेसे भी कुछ कह नहीं सकतीं। इसीसे हृदय दुःखकी आँचसे धधकता है।)

नोट—२ इस प्रसंगसे उपदेश यह निकलता है कि यदि हमारे अपराधों पर गुरुजन क्रोध न करें, दयावश देखी अनदेखी कर जायँ तो फिर हमारा सुधार ही असंभव हो जायगा, क्योंकि तब हमें कभी यह संदेह भी न होगा कि हमसे अपराध हुआ है और न हमें उस अपराधपर पश्चात्ताप ही होगा जो सुधारका मूल है। जैसे कि यदि शिवजी सतीजीका त्याग न करते तो न उनको पश्चात्ताप ही होता और न वे सुधरतीं।

टिप्पणी—५ 'तपै अवाँ इव उर अधिकाई' इति। अघका फल ताप है, इसीसे 'अघ' कहकर तब 'ताप' कहा। 'अवाँ इव' अर्थात् जैसे कुम्हारकी भट्ठी या नानबाईकी भट्ठीकी आग प्रगट नहीं होती वैसेही सतीजी अपना पाप प्रगट नहीं कहतीं, अघसे हृदय बहुत तप रहा है।

नोट—३ 'अवाँ इव' कहकर सूचित किया कि भीतर ही भीतर संतापसे, चिन्ताग्निसे हृदय दग्ध हो रहा है, कोई ठौर संतापसे खाली नहीं है तथापि बाहर देखनेवालोंमेंसे कोई भी इस मर्मको नहीं जानता। पुनः भाव कि जैसे आँवेकी अग्निकी लपट भीतर ही भीतर घूमती है, नीचे ऊपर या बाहर भी भभककर नहीं निकलनेपाती वैसी ही गति सतीजीके अन्तःकरणकी है।

सतिहि ससोच जानि बृषकेतू। कहीं कथा सुंदर सुख हेतू॥ ५॥
बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा॥ ६॥
तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बट तर करि कमलासन॥ ७॥
संकर सहज सरूप सँभारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥ ८॥

शब्दार्थ—इतिहास=बीती हुई प्रसिद्ध घटनाओं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोंका कालक्रमसे वर्णन। महाभारत इतिहास है। ६५ (४) देखिये। कमलासन=पद्मासन। यह योगका एक आसन है। दोनों जघोंपर पैर चढ़ाकर अर्थात् दहिने जघेपर बायाँ पैर और फिर दहिना पैर उसके ऊपरसे बाएँ जघेपर रक्खे। दोनों एँड़ियाँ मिली हुई हों और दोनों हाथ दोनों घुटनोंपर हों। मेरुदण्डको सीधा करके सीधे बैठते हैं। यथा 'ऊर्वोरुपरि उभयपादतलकरणपूर्वकमवस्थानं पद्मासनम्।', 'उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः। ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ॥ ४५॥ नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया। उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः॥ ४६॥ इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्'—(हठयोग प्रदीपिका प्रकरण १)।—इस पद्मासनमें हाथ खाली रहते हैं, इससे इसमें जप भी कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक पद्मासन और है जो 'बद्धपद्मासन' कहलाता है। इस दूसरे आसनमें और सब परिस्थिति तो पद्मासनकी-सी ही होती है किन्तु इसमें दोनों हाथोंको पीठकी ओर लेजाकर दाहिने हाथसे दाहिने पैरका अँगूठा और बाएँसे बाएँ पैरका अँगूठा पकड़ा जाता है। यथा 'वामोरूपरि दक्षिणश्च चरणं संस्थाप्य वामं तथा, दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्। अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये, देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥ १.४४' शाण्डिल्योपनिषत्‌में बद्धपद्मासनके सम्बन्धमें

यह श्रुति है—'अंगुष्ठेन निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च। ऊर्वोरुपरि शांडिल्य कृत्वा पादतले उभे। पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम्॥ १, ३।"—भावार्थ एक ही है। सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि योगशास्त्रमें आसनके पाँच भेद लिखे हैं। यथा 'पद्मासन स्वस्तिकाख्यं भद्रं वज्रासनं तथा। वीरासनमिति प्रोक्तं क्रमादासन पञ्चकम्॥' और पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि योगमें चौरासी आसन हैं।—'चतुरशीत्यासनानि शिवेनकथितानि च।" (हठयोगप्रदीपिका १।३३)। प्र० स्वामीजी कहते हैं कि कमलासन, स्वस्तिकासन और वज्रासन (सिद्धासन) दीर्घकालतक बैठने और ध्यान जपादिके समयमें उपयुक्त हैं। इनमें किसीको उत्तम, मध्यम या कनिष्ठ नहीं कहा जा सकता। जिसकी प्रकृतिको जो सुखद हो वही उसके लिये उत्तम और श्रेष्ठ है। 'स्थिर सुखम् आसनम्' यह व्याख्या आसनकी योगशास्त्रमें है।

अर्थ—धर्मकी ध्वजा (शिवजी) ने सतीजीको शोचयुक्त (चिंतित) जानकर उन्हें सुख देनेके लिये सुंदर कथाएँ कहीं। ५। रास्तेमें तरह तरहके अनेक इतिहास कहते हुए विश्वनाथ कैलाश पहुँचे।६। वहाँ फिर शिवजी अपनी प्रतिज्ञा समझकर वटतले कमलासन लगाकर बैठ गए। ७। शंकरजीने (अपना) सहज स्वरूप सँभाला। उनकी अखंड अपार समाधि लग गई। ८।

☞ स्मरण रहे कि श्रीरामजीका रक्खा हुआ नाम अब वक्ता लोग भी देने लगे। 'कहेउ बहोरि कहाँ वृषकेतू' के बाद यहाँ ही उस 'वृषकेतु' नामका प्रथम प्रयोग हुआ है।

टिप्पणी—१ 'सतिहि ससोच जानि वृषकेतू।०' इति। (क) यद्यपि सतीजी अपना सोच नहीं कहतीं, यथा 'हृदय सोच समुझत निज करनी', 'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई', तथापि शंकरजी जानगए। यहाँ 'सर्वज्ञ' विशेषणको चरितार्थ किया। (ख) वृषकेतु=जिनकी पताकामें धर्म है। भाव कि आप धर्मकी ध्वजा हैं। आप धर्मको जानते हैं, धर्मका एक पाद दया है। धर्मात्माको उचित है कि दूसरेका सोच मिटावे। इसीसे सोचयुक्त जानकर सुंदर कथाएँ कहने लगे। अतः 'वृषकेतु' कहा।☞

सुधाकर-द्विवेदीजी 'पापीसे बात करनाभी दोष है। पर अपने पापको समझकर सतीका हृदय अयाँ ऐसा दहकने लगा। पाप ग्लानिसे हृदयके भीतरका सब पाप भस्म होगया। भीतरसे सती शुद्ध होगई। इसलिये महादेवजीने सतीसे बात करना आरंभ कर दिया। देहकी शुद्धि तो उसके जलादेनेसेही होगी। इसलिये स्पर्शदोषके भयसे दूर रहे। इसलिये ग्रन्थकारने भी यहाँपर महादेवको 'वृषकेतु' बनाया। राहमें सतीके संतोषकेलिये तरह-तरहके इतिहास कहे।'

टिप्पणी—२ 'कहीं कथा सुंदर सुख हेतू।' इति। (क) 'कहीं कथा'। कथा कहनेसे रास्ता जल्दी निबुक जाता है, चुक जाताहै, यथा—'पथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा। आ० १२।', 'सीय को सनेह सील कथा तथा लक की कहत चले चाय से' (क०) तथा 'चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत कहत नवल इतिहासा। ५।२८।' दूसरे, दुःखकी निवृत्ति होती है। (ख) 'सुंदर' अर्थात् धर्मकथायें। जिनसे दुःख भूल जाय, मन जिनमें लग जाय और बहल जाय। (ग) 'सुख हेतु' का भाव कि ये कथायें उपदेश या संदेह-निवृत्त्यर्थ नहीं कहीं, क्योंकि उपदेश तो पूर्वही दियाथा, सो लगाही नहीं; यथा 'लाग न उर उपदेसु०'; तो अब क्या लगेगा, किन्तु इस विचारसे कहीं कि इस समय ये हमारे गुण और अपने अवगुण समझकर बहुत चिंतित हैं, इनका मन उधरसे हट जाय, दुःख भूल जाय और इनको सुख हो। (घ) 'कही कथा०' से 'कृपासिंधु' विशेषणको चरितार्थ किया। क्योंकि 'सुख हेतु' कथा कहनेसे सिद्ध हुआ कि शिवजी पराया दुःख देख नहीं सकते, इसीसे दुःख दूरकर सुख दिया। [प्रेम विशेषका त्याग किया है, सहानुभूतिका त्याग नहीं है। बोलना बंद नहीं किया है, केवल प्रतिज्ञा नहीं बतलायेंगे। (वि० त्रि०)]

३ 'बरनत पंथ विविध इतिहासा।०' इति। (क) ऊपर कहा कि सुंदर कथायें कहीं। कौन कथाएँ कहीं ? यह वहाँ न कहा था, उसे यहाँ स्पष्ट करते हैं कि 'अनेको इतिहास' कहे। 'बरनत पथ' का भाव कि पथमें कथा कही, इससे पंथ चुकगया, रास्ता कटा। यहभी जनाया कि पंथ समाप्त हुआ तब कथाभी समाप्त

करदी। पथभर कथा कही, फिर नहीं। ['विविध इतिहास' और 'बरनत पथ' में यह भावभी है कि पथ जबतक न चुका बराबर इतिहासकी कथाओंका तॉता लगाए रहे, पथप्रसंगकी धारा न टूटनेदी जिसमें सतीजीको कोई और बात छेड़नेका अवकाशही न मिले।] (ख) 'बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा' इति। इस प्रसंगमें 'गिरिनाथ' या उसका पर्याय शब्द कई बार आया है। यथा 'कहत सुनत रघुपति गुनगाथा। कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा', 'पुनि पुनि नाइ रामपद सीसा। चलीं तहाँ जहँ रहे गिरीसा।' यहाँ 'बिस्वनाथ' कहकर जनाया कि आप केवल गिरिनाथ, कैलाशपति ही नहीं हैं, विश्वके भी नाथ हैं। कैलाश आपका भवन है और विश्व देश है।

४ 'तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन' इति। (क) 'तहँ पुनि' इति। शंकरजीने दण्डकवनमें वटतले सती-त्यागका संकल्प किया। वहाँसे अपना प्रण समझकर कैलासको चले, यथा 'अस बिचारि संकर मतिधीरा। चले भवन'। जब कैलासपर पहुँचे तब वहाँ पुनः अपने प्रणको विचारकर कि हमने सती तनमें दाम्पत्यप्रेमका त्याग किया है, समाधि लगा ली। तात्पर्य कि कथा कहकर पथ बिताया और समाधिस्थ होकर सतीजीकी आयु बिताई, सतीजीमें प्रेम होनेका अवकाशही न आने पाया। इसतरह प्रतिज्ञाका निर्वाह किया। (ख) 'बैठे बटतर करि कमलासन' इति। वटतले बैठनेसे पाया जाता है कि कैलासपर शिवजीके रहनेका स्थान नहीं बना है, वटतले रहते हैं। यथा 'तेहि गिरिपर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला॥ त्रिबिध समीर सुसीतलि छाया। सिव बिश्राम बिटप श्रुति गाया। १०६।' कैलास भवन है, यथा—'जबहिं संभु कैलासहि आए। सुर सब निज निज लोक सिधाए। करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा। १०३।' 'परम रम्य गिरिबर कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू। १०५।' घर नहीं है, यथा—'निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर ब्याली।७६।' [☞परन्तु कवितावलीमें 'घर भाँगकी टाटिन्हको परदा' है ऐसा कहा है और पुराणोंमें भी कैलाशपर शिवजीके महलोंकी बड़ी विस्तृत व्याख्या पाई जाती है। 'अकुल अगेह' आदिमें जो परिहास और गूढ़ भाव है वह तो कुछ और ही प्रकरण है] (ग) वट शिव स्वरूप है, अतः उसके तले बैठे। [सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि 'वटके नीचे शिवजी पूजाके लिये बैठा करते थे। उस समय उनके पास कोई नहीं जाता था।']

टिप्पणी—५. (क) 'करि कमलासन' इति। योगके चौरासी आसन हैं। उनमेंसे कमलासन एक श्रेष्ठ आसन है। कमलासनसे बैठनेसे सूचित हुआ कि समाधिस्थ होना चाहते हैं। [प० प० प्र० ठीक ही कहते हैं कि केवल पद्मासनस्थ होनेसे समाधिस्थ होना सूचित नहीं होता। सन्ध्या पूजा जप आदिमें भी लोग पद्मासनसे बैठते हैं। कैलासपर पहुँचनेपर यह समझकर कि हमने प्रण किया है 'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।' उन्होंने सोचा कि यदि हम जाग्रत अवस्थामें रहेंगे तो कदाचित् सतीजीसे प्रेम हो जाय और प्रेम करनेसे बड़ा पाप होगा।—'परम पुनीत न जाइ तजि किये प्रेम बड़ पाप'। अतएव प्रण निबाहनेकेलिये वे समाधिस्थ होगए। [पुनः भाव कि 'चित्तकी वृत्ति सतीजीकी ओरसे हटी, तब उन्होंने उसे समाधिमें लगा दी। योगेश्वर शंकरजीने सती-वार्तालापके भयसे समाधि लगाई हो यह बात ठीक नहीं है।' (मा प)]

६ 'संकर सहज सरूप सँमारा।०' इति। (क) सहज स्वरूप=ब्रह्मस्वरूप। यथा 'सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिरु नाई' (वि०), 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा। ३।३६।', 'जीवो ब्रह्मैव केवलम्' तथा 'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा। बारि बीचि इव गावहि बेदा। ३।१११।' इसीको आगे स्पष्ट करते हैं—'लागि समाधि अखंड अपारा।' अर्थात् ब्रह्माकार (तदाकार) होना समाधि है। यथा 'मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। असम्प्रज्ञात नामासौ समाधिरभिधीयते॥'

नोट—☞'सहज स्वरूप क्या है', इसमें मतभेद है। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि इससे 'ब्रह्मगुफामें रहनेवाला परमात्मा रूप (अभिप्रेत) है, जिसे सावधानीसे देखतेही मन ब्रह्मगुफामें बैठकर

ब्रह्मानंदके सुखमें मग्न हो जाता है, फिर उसे देहकी खबर नहीं।' श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'व्यास, वाल्मीकि, अगस्त्य, शुक- सनकादि, नारद, हनुमान और शिवजी इत्यादिके एकएक स्वरूप परधाममें श्रीरामचन्द्रजीके निकट नित्य सेवामें रहते हैं और एकएक स्वरूप प्रकृतिमण्डलमें आचार्यरूपसे रहते हैं। जो स्वरूप श्रीरामजीके निकट रहता है वही 'सहज स्वरूप' है। पुनः, 'सहज स्वरूप सँभारा' अर्थात् अपना यह स्वरूप जो देहादिसे भिन्न है, उसे सँभारकर परस्वरूपमें लगे।' वैष्णवमतानुसार श्रीशङ्करजी महाशंभुरूपसे साकेतलोकमें श्रीसीतारामजीकी सेवामें नित्य रहते हैं। उस स्वरूपके सँभारनेसे इस देहमें वृत्तिके अभाव होनेसे अखण्ड अपार समाधि लग गई। (इसीका विस्तार अरण्यकाड द्वितीय संस्करणके परिशिष्टमें श्रीचक्रजीके लेखमें है)।

वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि जीवका 'सहज स्वरूप' सच्चिदानंद है। वह मायाके कारण भूला रहता है। जिन्हें भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है, वे जब चाहें अपने असली स्वरूपको सँभारकर भगवद्ध्यानमें तल्लीन हो जा सकते हैं। क्योंकि पूर्ण भगवत्कृपाप्राप्त जीवको फिर माया नहीं व्याप सकती। यथा 'अब न तुम्हहिं माया नियराई' (नारदप्रति भगवद्वाक्य), 'मायासंभव भ्रम सब अब न व्यापिहहिं तोहि' (भुशुण्डिप्रति श्रीरामवाक्य)।

बैजनाथजीका मत है कि 'आत्मतत्त्व जो कारणप्रकृतिवश हो जीव हुआ और कार्य प्रकृतिवश मनादि इन्द्रिय विषय सुखमें पड़कर बद्ध हुआ इत्यादि समस्त व्यवहारको त्यागकर उस आत्मतत्त्वको सँभार-कर स्वस्वरूपकी वृत्तिको श्रीरामरूपमें लय कर लिया।' अर्थात् स्वरूप आत्मतत्त्वही 'सहज स्वरूप' है।

दूसरा मत यह है कि ब्रह्मही रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण गुणत्रयके ग्रहण करनेसे ब्रह्मा, शिव और विष्णुरूप होकर जगत्‌की उत्पत्ति, संहार और पालन करता है। शंकरजीने वही अपना शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्मात्मक स्वरूप सँभारा। इसीसे अखंड अपार समाधि लग गई।

कुमारसम्भव सर्ग ३ के श्लोक ५०,५१ भी इसी सबंधमें ये हैं—'मनो नवद्वार निषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्। यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥ ५०। स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम्। नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्। ५१।' अर्थात् मनकी वृत्तिको शरीरके नवद्वारोंसे रोककर समाधियुक्त करके हृदयकमलमें स्थित कर महात्मालोग जिस परमात्माको अक्षर (अविनाशी) जानते हैं उसको अपनी आत्मामें अवलोकन करनेवाले, मनसे भी दुर्धर्ष त्रिनेत्र शिवजीको दूरसे देखता हुआ कामदेव ऐसा सहम गया कि अपने हाथोंसे धनुष बाणका गिर जानाभी न जान पाया।

जीवके जो स्वरूप संसारमें दिखाई देते हैं, वे कर्मकृत हैं। सत्त्वगुणी कर्मोंसे देवयोनि, और रज-सत्त्वगुणी कर्मोंके संमिश्रणसे मनुष्य राजा इत्यादिकी योनि मिलती है। इत्यादि। जब समस्त शुभाशुभ कर्मोंका विध्वंस होजाय तब वह 'सहज स्वरूप', जो वचनसे अगोचर 'शुद्ध चेतन अमल अविनाशी सहज सुखराशि' इत्यादि है, प्राप्त हो। जिसे प्राप्त हो वही जान सकता है पर वह भी कह नहीं सकता। भगवत् साक्षात्कार होनेपरही इस स्वरूपकी प्राप्ति होती है। यथा 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा। ३।३६।'

जीवकी पाँच कोटियाँ हैं। बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त, केवल और नित्य पार्षद। मुक्त जीवमें भी दो भेद हैं—एक 'नित्य मुक्त', दूसरे 'बद्ध मुक्त।'

जीवका स्वरूप विज्ञानमय है। इसीको 'धर्मि' कहते हैं और उसमें रहनेवाले ज्ञान को 'धर्मभूत-ज्ञान' कहते हैं। यथा श्रुतिः—'जानात्येवाऽयं पुरुषः।', 'विज्ञातारमरेकेन विजानीयात्।', 'एषोऽन्तरात्मा विज्ञानमयः। विज्ञानं यज्ञं तनुते।', 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्री क्षेत्रं तथा कृत्स्नं।'

गोस्वामीजीने 'सहज स्वरूप' शब्द अन्यत्रभी प्रयुक्त किया है। और विनयमें तथा मानसमेभी जीवका स्वरूप थोड़े ही शब्दोंम समझाया है। अत इस शब्दका तात्पर्य जाननेकेलिये हम उन प्रसगोंको यहाँ उद्धृत करते हैं।—

१ 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा। ३।३६।'

२ 'ईश्वर अस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी। सो मायाबस भयउ गोसाई। बँध्यो कीर मरकट की नाई। जड चेतनहि ग्रंथि परि गई। तब ते जीव भयउ ससारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥ ७। १७।'

३ 'जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो॥ मायाबस स्वरूप बिसरायो। आनद सिंधु मध्य तब बासा। निज सहज अनुभव रूप तव खलु भूलि जनु आयो तहाँ। निर्मल निरजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्‍यो। निष्काज राज बिहाइ नृप इव स्वपन कारागृह पर्‍यो॥ १,२॥ अनुराग जो निज रूप तैं जग तैं बिलच्छन देखिये। संतोष सम सीतल सदा दम देहवत न लेखिये। निर्मम निरामय एकरस तेहि हरष सोक न व्यापई। त्रैलोक्यपावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई। ११। श्रीरघुनाथ चरन लय लागे॥ देह जनित बिकार सब त्यागे। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागे।' (विनय पद १३६)।

उद्धरण—१ से यह सिद्ध होता है कि श्रीरामजीके दर्शनसे भगवत्साक्षात्कारसे 'निज सहज स्वरूप' की प्राप्ति होती है।

उद्धरण २ से यह बताया है कि जीव ईश्वरका अश है, चेतन, अमल सहज-सुखकी राशि और अविनाशी है। जड मायाके वश होकर वह ससारी होगया अर्थात् अपनेको देह मानने लग गया।

उद्धरण ३ से सूचित किया कि जीव मायावश 'निज सहज अनुभव रूप' भूल गया। जीवका वह रूप है—निर्मल, निरजन, निर्विकार, निर्मम, निरामय, एकरस, हर्ष-शोक रहित, सन्तोष सम-शीतल सदा, दम, देहाभिमानरहित इत्यादि। श्रीरामजीके चरणोंमे लयलीन हो, देहजनित विकारोंके त्याग हो जानेपर 'निज स्वरूप' म अनुराग होता है।

इस प्रकार 'सहज स्वरूप सँभारना' यह हुआ कि मैं देह नहीं हूँ, मैं चेतन, निर्मल, सहज-सुख राशि हू, अविनाशी हूँ निर्मम निरामय एकरस हूँ, जितनेभी सबध स्त्री, पुत्र, शत्रु, मित्र आदि हैं वे देह के सबध हैं मेरे नहीं, ये सब सबध मायिक हैं, माया जड है और मैं चेतन हूँ, मैं ईश्वर का अश हूँ, प्रभु शेषी, अंशी, भोक्ता, स्वामी इत्यादि हैं और मैं उनका शेष, अश, भोग्य, सेवक इत्यादि हूँ, प्रभुके चरणोंमें लय होना उनके ध्यानमें मग्न रहना ही मेरा कर्तव्य है।

प्रस्तुत प्रसगमें 'सहज स्वरूप' सँभारनेसे समाधिका लगना कहा है। फिर आगे चलकर दोहा ८२ (४) में 'मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥' कहकर दोहा ८३ (३) में ब्रह्माजी कहते हैं कि 'सिव समाधि बैठे सबु त्यागी'। फिर दोहा ८६ मे कहते हैं—'चली न अचल समाधि सिव कोपेउ हृदयनिकेत।' और अतम कहा कि 'छूटि समाधि सभु तब जागे।'—समाधिके इन दोनों प्रसगोंका मिलान करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनको स्थिर करके श्रीरघुनाथजीका ध्यान करना ही 'सहज स्वरूप' सँभारना है। ध्यान करतेही तदाकार वृत्ति हो गई, यह 'समाधि' लग जाना है।

गोस्वामीजीने भगवान् शकरको ईश्वर और ब्रह्म कहते हुए भी श्रीरामोपासक कहा है। और उपनिषदोंमें भी इनको ब्रह्म कहते हुए भी इनकी उत्पत्ति श्रीमन्नारायणसे बताई है और इनको श्रीरामजीका उपासक कहा है। यथा 'रुद्रस्तारकब्रह्म व्याचष्टे' (रा० ता० उ० १), 'श्रीरामस्य मनुं काश्या जजाप वृषभ ध्वज। मन्वन्तर सहस्रैस्तु जपहोमार्चनादिभि। १। तत प्रसन्नो भगवाञ्छ्रीराम प्राह शङ्करम्। वृणीष्व यदभीष्टं तद्दास्यामि परमेश्वर। २। ...ऽस्मिन्योऽर्चयेद् भक्त्या मन्त्रेणानेन मा शिव।। ६।' (रा० ता०

३०), इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें शिव, शंकर, रुद्र, वृषभध्वज, और परमेश्वर आदि शब्दोंसे कहे जाने वाले काशीपति विश्वनाथका श्रीराममंत्रजापक, श्रीरामाराधक और श्रीराममंत्रोपदेशक होना स्पष्ट पाया जाता है।

गोस्वामीजीने भी श्रुतियोंके मतानुसार शिवजीको ईश, ईश्वर, रुद्र, ब्रह्म कहते हुए भी उनको राममंत्रका जापक, उपदेशक और रामाराधकही सर्वत्र कहा है। यथा 'महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू। १। १६।', 'प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूप-सील निधि तेज बिसाला।'''' अंतरधान भये अस भाषी। संकर सोइ मूरति उर राखी। १। ७६।७७।'

अतएव गोस्वामीजीके मतसे 'सहज सरूप सँभारा' का तात्पर्य यही निश्चय होता है जो हम ऊपर लिख आये कि श्रीरामरूपके ध्यानमें संलग्न हो समाधिस्थ होगये। इसीसे जागनेपर वे 'राम राम' स्मरण करते हुये पाये गए।

अद्वैतमतके सिद्धान्तसे 'सहज सरूप' से 'ब्रह्म स्वरूप' का अर्थ लिया जायगा। इसके लिये प्रमाण मे श्रीमद्भागवतके निम्न उद्धरण दिये जा सकते हैं। यथा 'अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।'''', सृजन् रक्षन्हरन्विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्। ४।७। ५०-५१।', 'जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनि बीजयोः। शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद् ब्रह्म निरन्तरम्॥ ४२। त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्तयोः सरूपयोः। विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा। ४३। (४।६)।'—जिस प्रकार मकड़ी आपही जालेको रच-कर उसमें क्रीड़ा करती है और अन्तमें उस जालेको अपनेही में लीन कर लेती है वैसेही आपभी अपनेही स्वरूपसे संसारकी सृष्टि, पालन और संहार करते हैं।

ऊपर कुमारसंभवसे उद्धृत श्लोकोंमें जो 'आत्मानं आत्मनि अवलोकयन्तम्' कहा गया है वह विशिष्टाद्वैत और अद्वैत दोनों पक्षोंमें लिया जा सकता है। 'अपनी आत्मामें परमात्माको अवलोकन करने-वाले' इसीको गोस्वामीजीके 'करन लगे रघुनायक ध्याना' कह सकते हैं।

टिप्पणी—७ 'लागि समाधि अखंड अपारा' इति। 'अखंड' का भाव कि यह समाधि बीचमें खंडित नहीं होगी। जितने दिनोके लिए है, उतने दिन पूरे होने पर छूटेगी। सिद्ध संकल्पयोगी समाधि लगाते समय समाधिकालका जो संकल्प करते हैं वह संकल्पबलसे उस कालकी समाप्ति पर छूटती है। यह अखंड है; इसमें भाव यह है कि आगेवाली (दूसरी) समाधि अखंड नहीं है, उसे काम खंडित करेगा। सत्तासी हजार वर्षकी होनेसे अपार कहा। अपार=भारी। [मा० प० में 'सहस सतासी' का अर्थ 'एक हजार सतासी' किया है।]

नोट—२ (क) 'समाधि' इति। वेदान्त शास्त्रमे चित्तकी एकाग्रताके परिणामको 'समाधि' कहा है। 'चित्तस्यैकाग्रता परिणामः समाधिः'। इसके दो भेद हैं। एक सविकल्पक, दूसरा निर्वि-कल्पक। इनकी अवस्थाओंका स्वरूप इस प्रकार लिखा है—'दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वज-मेकमव्ययम्। अलेपगं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तम्॥ १॥', 'दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मको न मेऽस्तिबंधो न च मे विमोक्षः। २।', 'लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः। सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत्।'—(मा० प०)। अर्थात् सविकल्पसमाधिमें साधककी यह भावना होती है कि जो ध्यानगत स्वरूप आकाशवत् सर्वव्यापक, सर्वपर एकरूप मालूम होनेवाला, अजन्मा, एक, निर्विकार, मायारहित, सर्वत्रप्राप्त और अद्वितीय है, उसी प्रकार मैं भी निरंतर, विमुक्त, शुद्ध और विकाररहित हूँ, मेरा न कभी बंधन हुआ न मोक्ष। (१, २)। निर्विकल्पमें चित्तविक्षेपका शमन होजाता है और जब मनो-मलको जानकर उसे शमन करके साधक समाधिको प्राप्त होता है, तब वह अपने संकल्पके भीतर चलायमान नहीं हो सकता। (ख) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'जो योगी योगक्रियामें कच्चे रहते हैं, उनकी समाधि सकरार किएहुए वर्षोंके भीतरही कई बार टूट जाती है; पर महादेवजी तो पूरे योगी हैं; इससे

हजारों वर्षकी समाधि लगगई।' श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि प्रकृति पुरुषके परस्पर अभ्यासके विच्छेदसे ही सहज स्वरूपमें समाधि होती है, यथा 'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'। यहाँ प्रकृति (सती) से पुरुष (शिव) के प्रेमका विच्छेद ही समाधि का कारण हुआ।'

दोहा—सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहिं।
मरमु न कोऊ जान कछु जुग सम दिवस सिराहिं॥ ५८

अर्थ—तब सतीजी कैलासपर रहनेलगीं। (उनके) मनमें बहुत सोच है। कोई कुछभी (इस) मर्मको नहीं जानता। (उनके एक एक) दिन युगके समान बीत रहे हैं। ५८।

टिप्पणी—१ (क) 'सती बसहिं कैलास' इति। भाव कि शिवजी समाधिमें बसे और सतीजी कैलासमें बसती हैं। शंकरजी वटतले हैं और ये कैलाशवर वहाँसे दूर निवासस्थानमें अकेली रहती हैं। अर्थात् दोनोंमें वियोग है। वियोग होनेसे अधिक सोच है। (ख) 'अधिक सोच' अर्थात् सोच तो पूर्वसे ही था; यथा 'हृदय सोच समुझत निज करनी'। अब अधिक होगया। ['अधिक सोचु' का स्वरूप उत्तरार्द्धमें कहते हैं कि 'जुग सम दिवस सिराहिं'। 'बसहिं कैलास' कहकर 'अधिक सोचु' कहनेका भाव यह भी है कि कैलास बड़ाही रमणीय और सब सुखोंसे परिपूर्ण है; यथा 'परम रम्य गिरिबर कैलासू।' इत्यादि; ऐसे सुखके स्थानमें रहनेपरभी उनको सुख न हुआ। कारण कि कैलाशमें जो सुख है उसके मूल तो शिवजी ही हैं। यथा 'बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं सिव सुखकंद। १०५।' सो उन्हीं सुखमूलने इनको त्याग दिया है, तब सुख कहाँ ? पुनः भाव कि पतिवियोगके समान संसारमें दुःख नहीं है। पतिके बिना सुरपुरभी नरकके समान दुःखद होता है। यथा 'पिय वियोग सम दुख जग नाहीं॥' "तुम्ह बिनु रघुकुलकुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥ अ० ६४।" पतिविहीन सबु सोकसमाजू॥' 'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं।' इत्यादि।] पुनः भाव कि दाम्पत्यभाव त्यागने पर भी उनके शोकके निवारणकरनेवाले एकमात्र शिवजीही थे; यथा 'सतिहि ससोच जानि बृषकेतू। कहीं कथा सुंदर सुख हेतू।', सो वे शंकरजीभी समाधिस्थ होगए। अतः अधिक सोच है कि अब दिन कैसे बीतेगा ? यही बात आगे कहते हैं।

२ (क) 'मरमु न कोऊ जान कछु' इति। कोई मर्म नहीं जानता क्योंकि वे किसीसे कहती नहीं। [यह भी सोच बढ़नेका एक कारण है। भेद किसी मित्रसे कहनेसे दुःख कुछ कम होजाता है, पर यहाँ कहे तो किससे ? (ख) 'जुगसम दिवस सिराहिं'—दुःखके दिन इसी तरह बीतते हैं, काटे नहीं कटते]

नित नव सोचु सती उर भारा। कब जैहौं दुखसागर पारा॥ १॥
मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति बचनु मृषा करि जाना॥ २॥
सो फलु मोहिं बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा॥ ३॥
अब बिधि अस बूझिअ नहि तोही। संकर बिमुख जिआवसि मोही॥ ४॥

अर्थ—श्रीसतीजीके हृदयमें सोचका भार (बोझ) नित्य नया बढ़ता जाता था (वा, सोच नित्य नया और भारी होरहा था)। (वे सोचती हैं) मैं इस दुःखसागरके पार कब जाऊँगी। १। मैंने जो रघुनाथजीका अपमान किया (और उसपर) फिर पतिके वचनोंको भी झूठा समझा। २। उसका फल मुझे विधाताने दिया। जो कुछ उचित था वही (उसने) किया। ३। हे विधाता ! अब तुझे ऐसा उचित नहीं कि शंकरजीसे विमुख मुझे जिला रहा है। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'नित नव सोचु०'। नित नया सोच प्राप्त होता है, नित्य नया बढ़ता है। दुःखको सागर कहा; इसीसे उसके 'पार' जाना कहा। यहाँ 'सोच' जल है। जैसे सागरमें नित्य नवीन जल प्रवेश करता है, वैसे ही सतीजीके दुःखसागरमें नित्य नया 'सोच' प्राप्त होता है। यथा 'सती समीत महेस

पहि चलीं हृदय बड़ सोच'। यहाँ उत्तर क्या देंगी यह सोच हुआ। फिर 'सुनि नभ गिरा सती उर सोचू' यह त्यागका 'सोच' हुआ। इसके बाद 'हृदय सोच समुझत निज करनी' यहाँ अपनी करनीका सोच उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् 'सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहिं' यह वियोगका 'सोच' हुआ और अब 'नित नव सोच सती उर भारा' यह नया सोच दुःखसागरके पार जानेका हुआ। (ख) 'कब जैहौं दुखसागर पारा' इति। समुद्रके पार कोई जा नहीं सकता, इसीसे पार होनेका सोच है। (कि कैसे पार होऊँगी, यह तो अपार है; इसके पार होना असंभव है, मेरी शक्तिसे बाहर है) नित्य नया सोच होता है (अर्थात् कभी कम नहीं होता, दिन दूना रात चौगुना बढ़ता ही जाता है) इसीसे दुःखसागर बढ़ता जाता है, एक एक दिन युगसमान बीतता है—यही समझकर कहती हैं कि 'पार कब जाऊँगी।'

नोट—१ दुःख पड़नेपर एकान्तमें रहनेसे नाना प्रकारके विचार उठनेसे नित्यप्रति शोक बढ़ता ही है; क्योंकि मनुष्य उसीको दिन रात सोचा करता है। नित्य अपनी सब करनी, अपना अपराध, प्रभुका अपमान, पतिअपमान, पति परित्याग, पतिस्वभाव इत्यादि विचार कर कर अधिक शोचयुक्त होती जाती हैं। कोई उपाय समझ नहीं पड़ता, इसीसे दुःख अपार समुद्र देख पड़ रहा है। पति-परित्यागसे बढ़कर दुःख नहीं, इसीसे उसे सागर कहा। नित नव होनेमें प्रमाण,—'असौ चिन्ताज्वरस्तीव्रः प्रत्यहं नवतां व्रजेत्'। (मा० प०)। भारा=भार, बोझा=भारी।

टिप्पणी—२ 'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना०' इति। (क) श्रीरघुपति अपमान यह है कि शिवजीको प्रणाम करते देखकर भी उन्हींकी तरह प्रणाम न किया, उलटे उनको मनुष्य माना। 'पतिवचन' अर्थात् जो उन्होंने कहा था 'सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगतहित० । ५१।' (ख) प्रथम रघुपतिका अपमान किया, पीछे पतिवचनको झूठा माना। उसी क्रमसे यहाँ ग्रन्थकारने लिखा भी। 'रघुपति-अपमान' प्रथम ही प्रारम्भ हुआ जब उन्होंने उनमें नर-बुद्धि की। पतिने वचन पीछे कहे। 'पुनि' शब्दभी यही सूचित करता है। 'जो' का सम्बन्ध आगे 'सो फलु मोहि बिधाता दीन्हा।' से है। 'जो' 'सो' का सम्बन्ध है।—'यत्तदोर्नित्य सम्बन्धः।'

नोट—२ बैजनाथजीका मत है कि—'पतिका वचन कि ये सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं झूठ मानकर ब्रह्मको मनुष्य करके जाना और उसका परीक्षाहेतु अपमान किया। इस तरह पतिवचनका मृषा मानना प्रथम हुआ तब रघुपति अपमान' यह सिद्धान्तकर वे यह शंका उठाकर कि 'तब रघुपति अपमानको यहाँ प्रथम क्यों लिखा', उसका समाधान यह करते हैं कि 'फलकी प्राप्ति प्रथम इहै भयो।' (संभवतः 'इहै' अशुद्ध छपा है। 'इहैं' होगा)। अर्थात् यहाँ, फलकी प्राप्तिके कारणोंमें 'रघुपति अपमान' को प्रथम कहा गया क्योंकि न वे सीतारूप धारण करतीं, न व्यभिचारिणी बनाई जातीं और न उनका त्याग होता। मुख्य कारण यही था। इसलिये इसको प्रथम कहा। दोनो बातें इससे कहीं कि यदि पतिवचन मान लेतीं, तो 'रघुपति अपमान' का अवसर ही न आता। इस प्रकार पतिवचनमें अविश्वास कारण है और 'रघुपति अपमान' कार्य है। कारणसे कार्य बली है। इससे कार्यको पहले कहा। पतिवचन झूठ माना—इसका फल त्याग है सो पीछे हुआ।

यदि श्रीबैजनाथजीका मत ठीक मानें कि श्रीरघुपतिजीकी सीतारूप धरकर परीक्षा लेना ही 'रघुपति अपमान' है तो इसको प्रथम कहनेका यहभी एक कारण हो सकता है कि श्रीरघुनाथजी शिवजीके स्वामी हैं (जैसा कि शिवजीके प्रणाम, पुलक आदि भाव अनुभाव और उनके वचनोंसे सतीजी समझ गई हैं), अतः उनका अपमान ही अपने त्यागका प्रधान कारण मानती हैं, इसीसे प्रधान कारणको उन्होंने प्रथम कहा।

टिप्पणी—३ सतीजी दोही अपराध करना कहती हैं—एक रघुपति अपमान, दूसरा पतिवचनको झूठ मानना। सीतारूप धारण करनेको अपराध नहीं कहतीं। कारण कि सीतारूप तो परीक्षार्थ धारण किया था, किसी दुष्टभावसे नहीं। शिवजीने भक्तिपंथकी रक्षाके लिये इसे अपराध माना। (शंकरजी

श्रीरामभक्तिके आचार्य हैं। अगस्त्यजीने आपसे भक्ति पूछी तब अधिकारी जानकर आपने उनसे कही। अतः भक्तिका आदर्श दिखानेके लिये सीतावेष धारण करनेमात्रसे सतीजीको अपराधी मान लिया।)—यह श्रीशंकरजीके भावकी बड़ाई है। नहीं तो औरोंके मतसे इसमें सतीजीका कोई अपराध नहीं है। यथा—'बिनु 'अघ' तजी सती असि नारी।'"

४ (क) 'सो फलु मोहि बिधाता दीन्हा' इति। पापका फल दुःख है, यथा 'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग।' विधाता ही कर्मका फल देता है, यथा 'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता।अ० २८२।' और उचित ही फल देता है; यथा 'कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता। सब कहँ सुनिअ उचित फल दाता। बा० २२२।'—इसीसे विधाताका फल देना कहा। [प्र० स्वामीका मत है कि 'विधाता श्रीरघुनाथजी हैं, वे ही कर्मफलदाता हैं, यथा 'करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना। कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्मफलदाता। ७।४१।४।' आगे चलकर सतीजी उन्हींसे प्रार्थना करती हैं। 'अस बिबेक जब देइ बिधाता। १।७।१।' में भी रघुनाथ जी ही बुद्धिदाता हैं] क्या फल दिया? यह पूर्व ही कह चुकी हैं—'कब जैहौं दुखसागर पारा।' अर्थात् मुझे दुःखसागरमें डुबा दिया। यह फल दिया। भारी पाप किया इसीसे दुःखसागर मिला। (ख) 'जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा' अर्थात् विधाताका इसमें कोई दोष नहीं है, विधाताने उचित ही किया। ऐसे पापीको ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिए।

५ 'अब बिधि अस बूझिअ नहिं तोही।०' इति। (क) 'अस बूझिअ नहिं' का भाव कि अबतक जो किया वह उचित ही किया, पर अब अनुचित कर रहे हो। मेरे इस पापका फल 'शरीरत्याग' होना चाहिये सो दण्ड न देकर मुझे जीवित रख रहे हो, यह अनुचित है। 'शंकर बिमुख जिआवसि मोही' यह अनुचित है। तात्पर्य कि शंकरविमुखको जिलाना न चाहिए। जिसमें मेरा मरण हो यह करना तुमको उचित है। 'अब' का भाव कि पापका फल तो मैं पा चुकी कि पतिसे विमुख हुई, इससे अधिक बढ़कर दुःख कौन है? अर्थात् कोई नहीं। यथा 'बनदुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥ प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना। अ० ६६।', 'सब दुख दुसह सहावहु मोही। लोचन ओट रामु जनि होही। अ० ७५।' अब फल भोग लेनेपर भी तुम्हें ऐसा न चाहिये कि शंकर विमुख होनेपर भी मुझे जीवित रखकर दुःख भोग करा रहे हो। अथवा, पापका फल देहत्याग (मृत्यु) चाहिए सो क्यों नहीं देते?

नोट—१ 'उचित रहा सोइ कीन्हा' कहा, क्योंकि 'जो जस करइ सो तस फल चाखा। २।२१९।', 'करइ जो करम पाव फल सोई। २।७७।', यह नीति है। यथायोग्यका संग होनेसे यहाँ 'सम' अलंकार है। 'बिधि बूझिअ नहिं तोही' का भाव कि आपका नाम तो 'विधि' है परन्तु आप करते हैं अविधि, यह उचित नहीं। तुम्हारी यह विधिता हमारे समझमें नहीं आती। बूझिअ=चाहिये। किसी किसीने ठीक अर्थ और 'बूझिअ' का प्रयोग न जाननेसे 'बूझना या समझना चाहिये' अर्थ किया है जो गलत है।

> कहि न जाइ कछु हृदय गलानी। मन महुँ रामहि सुमिरि सयानी॥ ५॥
> जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरतिहरन बेद जसु गावा॥ ६॥
> तौ मैं बिनय करौं कर जोरी। छूटौ बेगि देह यह मोरी॥ ७॥

अर्थ—हृदयकी ग्लानि कुछ कही नहीं जाती। बुद्धिमती (चतुर) सतीजी मनमें श्रीरामजीको सुमिरने लगीं। ५। हे प्रभो! यदि आप दीनदयाल कहलाते हैं, आप (दीनोंका) दुःख हरनेवाले हैं—यदि वेद (आपका यह) यश गाते हैं। ६। तो मैं हाथ जोड़कर (आपसे) विनती करतीहूँ कि मेरी यह देह शीघ्र छूट जाय। ७।

टिप्पणी—१ 'कहि न जाइ कछु हृदय गलानी' इति। (क) ☞ सतीजीके हृदयमें जीनेकी ग्लानि है, इसीसे वे बारंबार अपने मरनेकी बात कहती हैं। यथा 'संकरविमुख जिआवसि-मोही', 'छूटौ बेगि देह यह मोरी', 'होइ मरनु जेहि बिनहि श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ। ५६।' इसीसे मरणके लिये भगवान्से प्रार्थना करती हैं, साथही साथ अपने पातिव्रत्यका भी बल लगा रही हैं। और, अपने अपराधकी भी ग्लानि है, इसीसे बारंबार अपना अपराध विचारकर ग्लानि करती हैं, कुछ कहती नहीं। यथा 'हृदय सोचु समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहिं बरनी।', 'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवाँ इव उर अधिकाई', 'पतिपरित्याग हृदय दुखु भारी। कहै न निज अपराध बिचारी। ६१।' (ख) 'मन महुँ रामहि सुमिर सयानी' इति। 'सुमिर' पाठ प्राचीनतम पोथी सं० १६६१ का है और शुद्ध भी है। सुमिरि अपूर्ण क्रिया अशुद्ध होगी। 'सुमिर' कहकर आगे कहते हैं कि किस तरह सुमिररही हैं। 'सुमिरि' एक दूसरी पूर्ण क्रिया चाहता है पर आगे कोई ऐसी क्रिया नहीं है। (ग) श्रीरामजीका स्मरण करनाही सयानपन है; यथा 'परिहरि सकल भरोस रामहिं भजहिं ते चतुर नर। आ० ६।' ☞ यहाँतक अज्ञानता होती चली आई। जब श्रीरामजीका स्मरण किया तब सतीजीको वक्ता 'सयानी' कहते हैं। सतीजी शोचसागरमें पड़ी हुई हैं। श्रीरामजीके स्मरणसे शोचसमुद्र रह ही नहीं जाता; इसीसे सतीजीने उनका स्मरण किया। अतः अब शोक छूटेगा।

नोट—१ सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'अब सतीजी ठीक राहपर आगईं कि पतिके पतिकी शरणसे दोनों प्रसन्न होजायँगे। इसलिये ग्रंथकारने 'या लोकद्वयसाधनी हितकरी सा चातुरी चातुरी' इस प्रमाणसे सतीको 'सयानी' कहा।' सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि सतीजीने यही सोचा कि जिनका मैंने अपमान किया जबतक उनकी शरण न जाऊँगी तबतक क्लेशसे न छूटूँगी। ऐसी बुद्धि होजानेपर ग्रंथकारने उनको 'सयानी' कहा। और, पंजाबीजी लिखते हैं कि सयाने लोग रोगका निदान समझते हैं, वैसेही इन्होंने जान लिया कि 'रघुपति अपमान' का फल यह दुःख हुआ, उन्हींकी शरण जानेसे सुख होगा, तब उन्होंने 'स्मरण' रूपी दवा की।

☞ मनुष्य जब सब ओरसे हार मानकर उपायशून्य होकर केवल भगवच्छरणकी ओर ताकने लगता है और मन, कर्म, वचनसे भगवान्की शरण हो जाता है तब उसका कल्याण अवश्य होता है, उसके क्लेशोंका अन्तकाल आजाता है। सत्यसंध दृढ़व्रत श्रीरामजीका श्रीमुखवचन है कि 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।','कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहि ताहू।सुं.४४।'

☞ जबतक मनुष्यको अपने पुरुषार्थका अभिमान बना रहता है, जबतक उसको अपने किये हुए कुकर्मोंकी ग्लानि नहीं होती, तबतक भगवान्की शरणागति दूर है। सत् शास्त्रोंका यही सिद्धान्त है कि यदि अपने मनमें अपने दुष्कर्मों, अपने पापोंकी ग्लानि आजावे तो भगवान् अवश्य क्षमा और सहायता करते हैं। वही यहाँ हुआ। सतीजी अपने अपराधोंका बारंबार स्मरण करती हैं और अपना अपराध स्वीकार कर रही हैं। पतिपरित्यागरूपी दंडको भी उचित मानती हैं। अत्यन्त ग्लानिकी यह सीमा है कि मनुष्य अपना मरण चाहने लगता है। उसके मन और वचनमें यही धुन लगी रहती है कि कब और कैसे यह शरीर छूटे और बहुधा लोग तो इसी कारणसे आत्महत्या कर लेते हैं। ठीक उसी समय उसके शुभ संस्कारोंसे उसे प्रभुकी शरण होनेकी बुद्धि उत्पन्न होगई तो उसके सब काम बन जाते हैं। वही यहाँ हुआ।—यहाँ सतीजीने 'आर्त्तप्रपन्न' के रूपमें भगवच्छरण स्वीकार किया। इसीसे 'दीनदयाल' 'आरतिहरन' गुणोंको स्मरण करती हैं। इसीसे आर्तिहरणका शीघ्र उपाय होगया।

टिप्पणी—२ 'जौं प्रभु दीनदयालु कहावा।' इति। यथा 'जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवहु सो श्रीभगवाना। १८६।' अर्थात् अपना दीनदयाल बाना यहाँ दिखाइए, अपने 'दीनोंपर दया करनेवाले' बिरदको स्मरणकर मेरे भारी संकटको हरण कीजिये; यथा 'दीनदयाल बिरिद संभारी। हरहु नाथ मम

संकट भारी। सुं० २७।' अपने दीनदयाल बानेकी रक्षा कीजिये। आप दीनोंपर दया करके उनका दुःख हरते हैं ऐसा वेद कहते हैं। मैं दीन हूँ, दुःखी हूँ। मेरा दुःख हरिये, नहीं तो विरद झूठा हो जायगा।—ब्रह्मा शिवजीसे विमुख कराके अब जीवित रख रहा है; मरण नहीं देता। इसीसे ब्रह्मासे प्रार्थना नहीं करतीं। श्रीरामजी दीनदयाल और आर्तिहरण हैं, इसलिए उनकी शरण गईं, उनसे प्रार्थना करती हैं।

नोट—'प्रभु' का भाव कि आप 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं' समर्थ हैं। 'दीनदयाल' और 'आरति-हरन' गुण कहकर जनाया कि पतिपरित्यक्ता होनेसे मैं दीन भी हूँ और दुखी भी हूँ। मुझपर दया करना और मेरा दुःख निवारण करना आपको उचित है।

टिप्पणी—३ 'तौ मैं विनय करौं कर जोरी। छूटौ बेगि देह०' इति। (क) तात्पर्य कि यदि लोकमें जो आपका दीनदयाल विरद प्रसिद्ध है वह सच्चा है और यदि वेदवाणी सत्य हो कि आप आर्ति हरण हैं और मैं सत्य ही दीन और आर्त्त हूँ तो मेरी देह शीघ्र छूट जाय—इस कथनसे पाया गया कि सतीजी जानती हैं कि बिना देह छूटे दुःख न मिटेगा, इसीसे 'आर्त्ति' छूटनेकी प्रार्थना न करके देह छूटनेकी प्रार्थना करती हैं। (ख) 'कर जोरी' इति। हाथ जोड़ना परम दीनता और देवताओंको शीघ्र प्रसन्न करनेकी परमा मुद्रा है; यथा 'मकहु न देखि दीन कर जोरे।' 'तौ' का भाव कि यदि आप दीनदयाल आदि न होते तो मैं आपसे विनय न करती। आप ऐसे हैं, अतः मैं विनय करती हूँ। (ग) छूटौ=छूटे। 'बेगि' कहकर जनाया कि पतिपरित्यागका दुःख भारी है, अब सहा नहीं जाता। यथा 'तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई। सु० १२।' [दूसरे 'बेगि' इससे कि पतिकी इच्छा और प्रतिज्ञा दोनों पूरी होजायँ। तीसरे यह कि जिसमें शीघ्र पुनः संयोग हो।] (घ) 'छूटौ देह यह' इति। 'यह देह छूटै' कहनेका भाव यह है कि शिवजीका इसी देहके त्यागका संकल्प है—'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।' यह बात उन्हीं भगवान्की प्रेरणासे सतीजीको भी मालूम हो गई कि जिनने महादेवजीको सतीतनत्यागकी प्रेरणा की थी। इसीसे वे 'छूटौ देह यह' कहकर इसी देहके छूटनेकी प्रार्थना करती हैं। (ङ) यह तन त्याग क्यों कराया गया। इसका कारण यह है कि दक्ष शिवविरोधी है और उसके वीर्यसे यह तन उत्पन्न हुआ है। इस तनको छुड़ाकर अधर्मीसे धर्मात्माका नाता छुड़ाया है। यथा 'पिता मंदमति निंदत तेही। दच्छ सुक्र संभव यह देही॥ तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू। ६४।'—इस विचारसे शिवजीको सतीतनत्यागकी प्रेरणा कीगई।

[आर्ति और दीनताके छूटनेके दो ही उपाय हैं—या तो शिवजी अपनी प्रतिज्ञा छोड़ें या सती जीकी देह छूटे। तीसरा उपाय है ही नहीं। सतीजी कहती हैं कि शिवजीकी प्रतिज्ञा न छूटे, मेरी देह छूट जाय। दीनता और आर्तिका कारण शिवचरणस्नेह है, अतः कहती हैं 'जौं मोरें''''' (वि० त्रि०)]

जौं मोरें सिवचरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रत एहू॥ ८॥

दोहा—तौ सबदरसी सुनिय प्रभु करौ सो बेगि उपाइ।
होइ मरनु जेहि बिनहिं श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ। ५९।

अर्थ—यदि शिवजीके चरणोंमें मेरा स्नेह है (और) मन क्रम वचनसे सत्यही मेरा यही व्रत हो (या, मेरा यह व्रत सत्य हो)। ८। तो हे सर्वदर्शी प्रभु! (मेरी प्रार्थना) सुनिये। शीघ्र वह उपाय कीजिये जिससे मेरा मरण बिना परिश्रमके ही होजाय और बिना परिश्रमही (मेरा) असह्य दुःख दूर हो जाय॥ ५९॥

टिप्पणी—१ 'जौं मोरें सिव चरन सनेहू।०' इति। (क) यहाँतक दो बातें कहीं। एक तो यह कि 'जौं प्रभु दीनदयालु कहावा।''''तौ मैं विनय करौं०।' और दूसरी यह कि 'जौं मोरें सिवचरन सनेहू।''''' तौ सबदरसी०।' दोनोंमें 'जौं' 'तौ' का सम्बन्ध है। दो बातें लिखनेका भाव यह है कि—सतीजी रामभक्त हैं; यथा 'मन महुँ रामहिं सुमिर सयानी।' और पतिव्रताभी हैं। इसीसे उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की और

साथही शिवचरणमें स्नेहभी रक्खा। पुनः भाव कि श्रीरामजीको शरणागत प्रिय है, इसलिये प्रथम उनके 'दीनदयाल' 'आरतिहरन' गुणोंका स्मरण किया, उनकी शरण गई। और भगवानको पतिव्रताभी बहुत प्रिय है, यथा 'जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय। आ० ५।'—इसलिये अपना पातिव्रत्य स्मरण किया। दोनोंका जोर लगाया। (ख) एहू=यही। यथा 'तौ जानकिहि मिलिहि बरु एहू। नाहिन आलि इहाँ संदेहू।२२२।' 'व्रत एहू' कहनेका भाव यह कि अन्य व्रत नहीं है, एक मात्र यही एक व्रत है। यथा 'एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पतिपद प्रेमा। आ० ५।' (ग) मन–कर्म–वचनसे सत्य हो अर्थात् मनसे चरणोंमें स्नेह करती हूँ, मन और तनको सेवामें लगाये रखती हूँ और वचनसे कहती हूँ।

२ 'तौ सबदरसी सुनिय प्रभु०' इति। (क) 'सबदरसी' (सर्वदर्शी) अर्थात् आप सब कुछ देखने वाले हैं। अतः आप मेरे शिवचरणस्नेहकोभी देखते और जानते हैं, (आपसे कुछ छिपा नहीं है। आपसे मैं झूठ कैसे बोल सकती हूँ ?)। (ख) 'सुनिय' कथनका भाव कि पहले विनय की है (अर्थात् कहा है कि मैं हाथ जोड़कर विनय करती हूँ) इसीसे अब कहती हैं (कि जो मैं कहती हूँ उसे सुनिये)। 'प्रभु' का भाव कि आप उपाय करनेमें समर्थ हैं। (ग) 'करौ सो बेगि उपाइ' इति। विपति दुःसह है, सही नहीं जाती; इसीसे 'देह छूटने' और 'उपाय करने' में, दोनों जगह 'बेगि' पद दिया।–'छूटौ बेगि' और 'बेगि उपाय करौ'।

३ 'होइ मरनु जेहि बिनहिं श्रम दुसह०' इति। (क) भाव कि बिना मरे दुःसह दुःख नहीं जाने का। सतीजीने दो वर माँगे। एक तो मरण, दूसरा मरणका उपाय। भगवान्‌की प्रार्थनासे मरण माँगा और शिवचरणस्नेहसे उपाय माँगा। (ख) 'बिनहि श्रम, देहलीदीपक है।

नोट—१ 'तौ सबदरसी'"बेगि उपाय, होइ मरन०' इति। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'शीघ्र सुगम उपाय कीजिये जिसमें बिना परिश्रम मरण हो' इसमें भाव यह है कि पतिपरित्यागसे मरण न सूचित हो, किसी तरह का अपयश न हो, धर्ममर्यादा और सुयशसहित मरण हो, इसीलिये मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ, नहीं तो जल, अग्नि, विष आदि अनेक उपाय सबको सुलभ हैं ही, पर वे उपाय मैं नहीं चाहती। क्योंकि उनमें आत्मघातका दोष लगेगा।

२ सतीजी पहले सर्वदर्शी न जानती थीं, परीक्षा करनेपर जो अनुभव हुआ उससे यह विशेषण दिया है और अब उनको 'प्रभु' समझती हैं।

एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुखु भारी॥ १॥
बीतें संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी॥ २॥

अर्थ—प्रजापति (दक्ष) की कन्या इस प्रकार दुःखित थी। भारी कठिन दुःख वर्णन नहीं किया जासकता। १। सत्तासीहजार संवत् (वर्ष) बीत जाने पर अविनाशी शिवजीने समाधि छोड़ी। २।

टिप्पणी—१ 'एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी' इति। (क) यहाँ दुःखवर्णनकी इति लगाते हैं क्योंकि यहाँ दुःखकीभी इति है। श्रीरामजीका स्मरण करने, उनकी शरण जानेसे दुःखका भी अंत आगया। (ख) 'एहि बिधि' अर्थात् जैसा 'सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहिं। ५८।' से यहाँ तक कह आये। (ग) 'दुखित प्रजेसकुमारी' इति। दुखित होनेमें प्रजेशकुमारी नाम देनेका भाव यह है कि–(१) इतने भारी प्रजापतिकी कन्या होकरभी दुखी है, यह क्यों ? पतिपरित्यक्ता होनेसे। तात्पर्य कि स्त्रीकेलिये तो पतिका सुखही प्रधान है। वह न हुआ तो और चाहे समस्त सुखभी हुए तो उसके लिये तुच्छ हैं। यथा 'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं। अ०॥', 'जमजातना सरिस संसारू।' (२) [जब प्रजेशकी कन्याहीकी यह गति पति और इष्टके अपमानसे हुई तब प्राकृत स्त्रियाँ यदि ऐसा करें तो उनकी न जाने क्या गति हो। (रा० प्र०)।] अथवा, (३) 'प्रजेश' पद देकर जनाया कि इस समय

(अर्थात् शिवजीकी समाधि खुलनेके कुछ दिन पूर्व) दक्ष प्रजापति हुए जैसा आगे कहते हैं—'दक्ष प्रजेस भए तेहि काला।' इसीसे अबतक प्रजेश न कहकर दक्षही कहते आये, यथा 'दच्छसुता कहुँ नहि कल्याना'। अथवा, (४) [प्रजापति शंकरविमुख हैं। अतः 'प्रजेसकुमारी' में अभिप्राय यह है कि शंकरविमुखकी कन्याका दुःखी होना उचित ही है। (वीर)।]

२ 'अकथनीय०' इति। सतीजीकी चिंता, ग्लानि और दुःख इतने बड़े हुए हैं कि वक्ता लोग वर्णन नहीं कर सकते यह बात इस प्रसंगमें दिखाते हैं, यथा 'हृदय सोचु समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहि बरनी।', 'कहि न जाइ कछु हृदय गलानी', 'एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुख भारी' अतः 'अकथनीय' कहा। वक्ता तो कहही नहीं सकते पर सतीजीभी नहीं कह सकतीं, यथा 'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई', 'कहि न जाइ कछु हृदय गलानी' इत्यादि।

३ 'बीतें संबत सहस सतासी।०' इति। बीतें=बीतने पर। (क) सत्तासीहजार वर्ष बीतनेपर शंकरजीने समाधि छोड़ी। भाव यह कि सतीजीकी आयुके इतने वर्ष बाकी थे वह शिवजीने समाधिमें बिता दिये। जिसमें सतीतनसे प्रेम न हो। 'तजी' से जनाया कि शिवजीने समाधि स्वयं छोड़ी, नहीं तो 'छूटि समाधि' लिखते जैसा कि दूसरी समाधिके संबंधमें लिखा है जो काम के उत्पातसे छूटी थी। यथा 'छूटि समाधि संभु तब जागे'। (ख) 'संभु अबिनासी' कहकर शंभुको अविनाशी और सतीको नाशवान जनाया। सतीका विनाशकाल जानकर अविनाशी शंभुने समाधि छोड़ी। अथवा, भारी समाधि लगानेके सम्बंधसे 'अविनाशी' कहा। अथवा, इससे जनाया कि समाधिमेंभी वे रामनाम जपते रहे क्योंकि शिवजी रामनामके प्रसादसेही अविनाशी हैं। यथा 'नाम प्रसाद संभु अबिनासी।' इसीसे समाधि छूटतेही रामनाम जपने लगे। (ग) सतीजीने श्रीरामजीसे प्रार्थना की कि मरनेका उपाय शीघ्र कीजिये सो उपाय तुरन्त होने लगा कि समाधि छूटी, इत्यादि।

नोट—१ 'सहस सतासी' इति। श्रीसुधाकर द्विवेदीजी इसके आठ अर्थ लिखते हैं।—(क) सहस सतासी-सह (साथ) + स (शत) + सतासी=१८७। (ख) सहस (एकहजार) + सत्तासी= १०८७। (ग) ८७००० । (घ) सहस-सता-सी=सौ हजार ऐसे। (ङ) सहससत + असी=एकहजार वर्षके नरकके समान बीते। इत्यादि। वे लिखते हैं कि कल्पभेदसे अनेक अर्थ इस तरह होते हैं। सू० प्र० मिश्रजीका मत है कि 'एक हजार सत्तासी वर्षकी समाधि लगी थी। जैसे एकादश रुद्र हैं, वैसेही ग्यारहसौ वर्षकी समाधि लगाई थी पर सतीजी जो रामजीकी शरण गईं, इससे १३ वर्ष पहले ही समाधि खुलगई। ११०० वर्ष और एकादशरुद्र ये दोनों बातें मिलती हैं।' बाबा हरिदासजीने १०८७ अर्थ किया है।

इतने अर्थोंमेंसे १०८७ और ८७ हजार ये दो तो शब्दोंको बिना तोड़ेमरोड़े निकलते हैं। रहा यह कि इनमेंसे भी कौन ठीक है यह तो कोई प्रमाण आयुका मिलनेसे ही निश्चित किया जा सकता है। अखण्ड अपार और आगेके 'अविनाशी' पदोंसे तो सत्तासीहजार वर्ष यह अर्थ विशेष संगत जान पड़ता है। और, सतीजीका दुःख देखकर १०८७ की ओरभी चित्त चला जाता है। अस्तु जो हो। जो पाठकोंको रुचे।

२ वैजनाथजी लिखते हैं कि—'यहाँ अविनाशीसे ईश्वरत्व जनाया। अर्थात् शंकरजी त्रिकालज्ञ हैं, सतीके मरण का समय जानकर समाधि छोड़ी। अथवा रामराज्याभिषेक आदि अनेक अवसरोंपर प्रकट देखे गए (उसके समाधानके लिये अविनाशी विशेषण दिया)। ईश्वरमें यह बात होनी आश्चर्य नहीं।' प० रा० कु० का मत टि० ३ में है।

☞ इस शंकाके विषयमें कि 'समाधिस्थ थे तो रावणके मरनेपर लंकामें और राज्याभिषेकके समय अयोध्यामें कैसे पहुँचे? शिवजीके दण्डकारण्यसे कैलास लौट आनेके एक वर्षके भीतर रावणवध और रामराज्याभिषेक हो जाता है?'—सौभरि महर्षिकी कथा स्मरण रखने योग्य है। श्रीमद्भागवत ९।६ में कथा है कि 'एकबार सौभरि ऋषि श्रीयमुनाजलमें गोता लगाये हुए कठिन तपस्या कर रहे थे। वहाँ जलके

भीतर एक मत्स्यराजको मैथुनधर्ममें प्रवृत्त देख गृहस्थाश्रममें बड़ा सुख समझ उनको विवाहकी इच्छा हुई। वे तुरंतही राजा मान्धाताके पास गए और एक कन्या माँगी। राजाने कहा कि मेरी पचास कन्याओंमेंसे जो भी आपको स्वयंवरमें पसन्द करे आप उसे ले सकते हैं। तब मुनिने विचारा कि राजाने यह विचारकर कि यह बुड्ढा है, इसके बाल पक गए हैं, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गई हैं, सिर काँपने लगा है, अतः यह स्त्रियोंको प्रिय नहीं हो सकता मुझसे यह बात कही, इस प्रकारके बहाने सूखा जवाब दे दिया।""। ऐसा विचारकर समर्थ सौभरि ऋषिने अपने तपोबलसे सुरसुंदरियोंकोभी लुभानेवाला परम सुंदर मनोहर रूप बना लिया और अन्तःपुरमें प्रवेश किया। राजाकी सभी कन्याओंने उन्हींको अपना वर वरण कर लिया।' फिर महर्षिने अपने तपोबलसे उनके पृथक् पृथक् निवासके लिये पचास परम मनोहर महल बनाये जो सर्व भोगविलासकी सामग्रियोंसे परिपूर्ण थे और पचासही रूप धारणकर प्रत्येक महलमें एक एक रूपसे प्रत्येक कन्याके पास निरन्तर रहा करते थे। एक बार राजा अपनी कन्याओंको देखने आये। जिसके पास जाते और समाचार पूछते वह यही उत्तर देती थी कि ऋषि नित्य हमारेही साथ रहते हैं, हमको बड़ा सुख है, परन्तु शोच यह है कि हमारी बहिनें बहुत दुःखी होंगी। इत्यादि।

पुनः, इसी ग्रन्थमें प्रमाण मिलता है कि हिमाचलराजने सब सर सरिता नदी शैलादिकको विवाहमें निमंत्रण दिया था और वे सब सुन्दर तन धारण करके विवाहमें सम्मिलित हुए, और दूसरे रूपसे जगत्का कामभी बराबर होता रहा।

जब ऋषियों और नदी नदादिकके अभिमानी देवताओंका यह पराक्रम है कि वे कई रूप धरकर संसारमें काम करते रहते हैं तो भगवान् शिवजी तो बड़े ऐश्वर्यवान् हैं, ईश्वर कोटिमें हैं, उनमें क्या आश्चर्य है कि एक रूपसे समाधिमें रहे और दूसरे रूपसे लोकमें विचरते रहे, एकही रूप रहे तो जगत्का कल्याण कैसे हो सके? भक्तोंकी रक्षा, तप करनेवालोंको वर देना, संहार-प्रलय सबही बन्द हो जावें। इधर समाधिमें रहे उधर रासलीला, राज्याभिषेक इत्यादि सब चरित्रभी देखते रहे, यथा 'सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना॥ हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत रामचरित रन रंगा॥ लं० ८८॥' देखिए, देवता लोग एकही समय में अनेक स्थानोंमें पूजा लेते हैं, यहभी एक प्रकारकी नहीं।

वे० भू० जी का मत है कि 'यद्यपि महर्षि सौभरि और प्रचेतागणने एकही कालमें अनेक शरीर धारण किये तथापि उन शरीरोंसे एकही कालमें भिन्नभिन्न क्रियायें नहीं कर सकते थे। क्योंकि जीवात्मा अणु होनेसे एक ही प्रधान शरीर में रहता है, उस प्रधान शरीरसे जो क्रियायें होती हैं वही सब क्रियायें अन्य सब शरीरोंसे स्वाभाविक होती हैं, विभिन्न क्रियायें नहीं। और, यहाँ तो शंकरजी एक तरफ समाधिस्थ हैं, दूसरी तरफ उससे भिन्न क्रिया श्रीरामस्तुति आदि करते लीला और अयोध्यामें पाये जाते हैं। अतः ये दृष्टान्त संघटित नहीं हो सकते हैं।' ☞ परन्तु वे भी इतना मानते हैं कि ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) के देवाधिकरणके अनुसार उपर्युक्त दृष्टान्तदेनेवालोंका समर्थन हो सकता है कि शंकरजी एक रूपसे समाधिस्थ थे और एक रूपसे भगवल्लीलामें सम्मिलित थे। इससे तो ऊपर किये हुए समाधानकी पुष्टिही हुई न कि खण्डन। जीव अव्यापक अर्थात् अणु होते हुए भी ज्ञानव्यापक होनेके कारण बहुतसे शरीरों का संचालन कर सकता है जैसा कि एकही शरीरमें केवल किसी एकही (अर्थात् हृदय) स्थानमें स्थित रहकर भी यह शरीरके समस्त अवयवोंका संचालन करता है। यथा 'अव्याप्तिरेऽपि पुंसोऽभिमत बहु वपुः प्रेरणे योगयुक्ते ज्ञानव्याप्त्योपपन्नं वपुषु च वपुषोऽप्येषु निर्वाह एव॥' (तत्त्वमुक्ताकलाप २. १६)।

वे० भू० जी समाधान इस प्रकार करते हैं कि 'तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन' के 'पुनि' शब्दसे यह ध्वनित होता है कि संपूर्ण रामावतारकालिक लीला देखनेके बाद शंकरजीने समाधि ली। कैलाशपर पहुँचनेके बाद सतीजी कैलाशपर रहीं और वे बराबर अकेले विचरते रहे और भगवल्लीलाका आनंद लेते रहे।'—पाठक स्वयं विचार लें।

नोट—३ कुछ महानुभावोंने यह कहकर कि समाधि हरिइच्छासे इतनेही समयमें छूटगई नहीं तो वह तो 'अखण्ड अपार' थी, यथा 'लागि समाधि अखंड अपारा', फिर यह शंका की है कि 'श्रीशिवजी तो प्रभुके ध्यानमें मग्न थे, यह तो कोई बुरा कर्म न था, फिर अपने भक्तके ध्यानमें विघ्न करना तो उचित न था' और समाधान यह किया है कि 'शिवजी समाधिमें स्थित निजानंद लूट रहे थे। समाधिसे केवल उन्हींको सुख था, दूसरेको नहीं। सतीजी जबतक विधि आदिका आश्रय लेती रहीं तबतक प्रभु चुप रहे। जब उन्होंने आर्त्त होकर श्रीरामजीकी शरण ली तब आर्त्तका दुःख छुड़ानेके लिये समाधि छुड़ाई।'

रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे ॥ ३ ॥
जाइ संभुपद बंदनु कीन्हा। सनमुख संकर आसन दीन्हा ॥ ४ ॥

अर्थ—शिवजी श्रीरामनामका स्मरण करने लगे। (तब) सतीजीने जाना कि जगत्के स्वामी (श्रीशिवजी) जाग पड़े हैं। ३। उन्होंने जाकर शम्भुजीके चरणोंकी वंदना की। शंकरजीने (उन्हें बैठनेके लिये) सामने आसन दिया। ४।

टिप्पणी—१ 'राम नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ०' इति। इससे पाया गया कि सतीजी शिवजीके समीप नहीं रहती थीं। इसीसे ग्रन्थकारने प्रथमही लिख दिया था कि 'सती बसहिं कैलास तब'। यदि शिवजीके समीप रहतीं तो शिवसमीप बसना लिखते। आगेभी कहते हैं कि 'जाइ संभुपद बंदन कीन्हा'। 'जाइ' से भी इसकी पुष्टि होती है। समीप होतीं तो 'जाइ' क्यों कहते। पर साथ ही वे इतनी दूर भी न थीं कि कुछ जान न पड़ता। [सती दिनरात शंकरजीमें ही मनोयोग दिये रहती थीं। अतएव विश्वनाथके जागनेका पता पहिले उन्हींको लगा। (वि० त्रि०)]

२ 'जानेउ सती जगतपति जागे' इति। जगत्पतिका भाव कि—(क) ईश्वरके जागनेसे जगत्की रक्षा होती है। यथा 'उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द त्यज निद्रां जगत्पते। त्वयि सुप्ते जगन्नाथ जगत् सुप्तं भवेदिदम्।', 'उत्थिते चेष्टिते सर्वं उत्तिष्ठोत्तिष्ठ माधव।' इस भावसे ईश्वरके जागनेपर 'जगत्पति' विशेषण दिया। यथा 'गुर तें पहिलेहिं जगतपति जागे राम सुजान। बा० २२६।' संत 'प्रकृति' (प्राकृत) निद्रासे जागते हैं, अथवा समाधिसे जागते हैं, तब श्रीरामनामका स्मरण करते हैं। यथा 'मन महुँ तरक करै कपि लागा। तेही समय बिभीषनु जागा ॥ राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा ॥ सुं० ६।'; तथा यहाँ कहा कि 'रामनाम सिव०'। [जगत्पति अर्थात् संसारमात्रके रक्षक हैं। मैं जगत्में हूँ, अतः मेरी भी रक्षा करेंगे। (प०) । (घ) अपना पतिभाव हटाकर समष्टिरूपसे शिव जाना। (मा० प०)]

नोट—१ यहाँ सतीजी अपना सम्बन्ध नहीं देतीं क्योंकि वे जान गई हैं कि आपने पत्नी भावका त्याग किया है। पतिकी प्रसन्नता जिसमें रहे वही करती हैं। एक बार चूक चुकी हैं। (प०)।

२ 'जागे' इति। समाधिदशामें समस्त बाह्येन्द्रियाँ भीतर स्वरूपमें लीन रहती हैं, शरीर जड़वत् रहता है जैसे कि निद्रामें। इसीसे समाधि छूटनेपर 'जागना' कहा।

टिप्पणी—३ 'जाइ संभुपद बंदनु कीन्हा।०' इति। (क) श्रीशिवजीके चरणकमलोंमें प्रेम करना सतीजीका व्रत है। यथा 'जौं मोरें सिवचरनसनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रत एहू', अतः शिवजीके जागतेही उन्होंने पदवंदन किया। (ख) 'शंभुपद' का भाव कि इन्हीं कल्याणकारी चरणोंसे मेरा कल्याण है। (ग) 'सनमुख संकर आसन दीन्हा' इति। सम्मुख आसन माताको दिया जाता है। अपने सामने बैठनेके लिये आसन देकर सतीतनमें स्त्रीभावका त्याग और मातृभावका ग्रहण जनाया। सत्तासी हजार वर्ष बीतनेपर भी उन्होंने सतीजीमें पत्नीभाव नहीं रक्खा—यह शंकरजीकी सावधानता है, दृढ़ता है। जब दूसरे तनमें पत्नी-भाव ग्रहण करेंगे तब भामिनि मानकर वामभागमें आसन देंगे। यथा 'जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बाम भाग आसन हर दीन्हा ॥ १०७।' ☞पदवंदन करनेही तुरत शिवजीने सम्मुख आसन दिया कि कहीं

ऐसा न हो कि वामभागमें आकर बैठ जायँ। इससे शिवजीकी अपने व्रतमें सावधानता दर्शित कराई। सतीजीने पदवंदन करके अपना पातिव्रत्य दिखाया। दोनों ही अपने अपने पातिव्रत्यमें दृढ़ हैं।

नोट—३ बैजनाथजीका मत है कि 'जीव ईश्वरका नित्य संबंध है ऐसा विचारकर पदवंदन किया। ईश्वरके सम्मुखही जीवको अधिकार है, यही भाव सतीमें जानकर शंकरजीने सम्मुखही आसन दिया। पुनः, सीतावेषका भाव मानकर आप सम्मुख बैठे हैं।' श्रीजानकीशरणजीका मत है कि सीता-भाव ग्रहण करते तो उनके आगमनपर उठकर प्रणाम करते और आदर करते तथा फिर कदापि उनके साथ विवाह न करते। यहाँ तो केवल स्त्रीभाव छोड़नेके कारण वाम भागमें नहीं बैठाया।

नोट—'गईं सभीत महेस तब०' दोहा ५५ से लेकर यहाँतक अधिकतर शिवपुराणके रुद्रसंहिताके अ० २७ आदि से मिलता है।

चौपाई	समानार्थी श्लोक अ० २७
सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोच। ५२।	१ अथ ता दु:खिता दृष्ट्वा
गईं समीप महेस तब हँसि पूछी कुसलात।	२ पप्रच्छ कुशल हरेः। प्रोवाच वचन प्रीत्या
लीन्हि परीछा कवन बिधि कहहु० ॥ ५५	तत्परीक्षा कृत्ता कथम्। ४५।
कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं।	३ श्रुत्वा शिववचो 'नाहं किमपि'-
कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहिं नाईं॥	प्रणतानना।
तब संकर देखेउ धरि ध्याना	४ अथ ध्यात्वा महेशस्तु
सती जो कीन्ह चरित सबु जाना	बुबोध चरितं हृदा ॥ ४७
हृदय बिचारत संभु सुजाना। सती कीन्ह सीता	५ कुर्याञ्चेदत्रजायां हि स्नेहं पूर्वं यथा महान्।
कर बेषा।""जौं अब करौं सती सन प्रीती।	नश्येन्मम पणः शुद्धो लोकलीलानुसारिणः ॥ ५०
मिटै भगतिपथु होइ अनीती॥	
एहिं तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं	६ इत्थं विचार्य बहुधा हृदातामत्यजत्सतीम्।
शिव संकल्प कीन्ह मन माहीं॥	पणं न नाशयामास वेदधर्मप्रपालकः ॥ ५१
चलत गगन भै गिरा सुहाई।	७ चलन्तं पथि स व्योम वागुवाच महेश्वरम्।
जय महेस भलि भगति दृढ़ाई। अस पन"""	धन्यस्त्वं परमेशान त्वत्समोऽमतथा पणः। ५८
प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी	८ ततोऽतीव शुशोचाशु बुद्ध्वा सा त्यागमात्मनः
बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा	९ सत्यामाप सर्वेनासे कथयत विविधाः कथाः।
बैठे बटतर करि कमलासन॥ संकर सहज	१० वटे स्थित्वा निजं रूप दधौ योगी
सरूपु सँभारा। लागि समाधि०।	समाधिभृत्।
बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि	११ महान् कालो व्यतीयाय तयोरित्थं महामुने।
संभु अबिनासी।	ध्यानं तत्याजगिरिशास्ततस्स परमोऽतिकृत्।
जानेउ सती जगतपति जागे॥	१२ तज्ज्ञात्वा जगदंबा हि सती तत्राजगामसा।
जाइ संभुपद बंदनु कीन्हा। सन्मुख संकर आसनु दीन्हा॥	१३ आसनं दत्तवान् शंभुः स्वसम्मुखमुदारधीः॥

लगे कहन हरिकथा रसाला। दच्छ प्रजेस भये तेहि काला॥ ५॥
देखा बिधि बिचारि सब लायक। दच्छहि कीन्ह प्रजापतिनायक॥ ६॥
बड़ अधिकार दच्छ जब पावा। अति अभिमानु हृदय तब आवा॥ ७॥
नहिं कोउ*अस जनमा जगमाहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥ ८॥

* अस कोउ—पाठान्तर।

शब्दार्थ—रसाला=रसभरी, रसीली। प्रभुता=अधिकार, स्वामीपना।

अर्थ—भगवानकी रसीली कथा कहने लगे। उसी समय दक्ष प्रजापति हुए।५। ब्रह्माजीने विचार कर उन्हें सब (प्रकार) योग्य देखा। (अतः) दक्षको उन्होंने प्रजापतियोंका नायक (अधिपति, सरदार) बना दिया।६। जब दक्षने (यह) बड़ा पद पाया तब उनके हृदयमें भारी अभिमान आ गया।७। (वक्ता अपनी ओरसे सिद्धान्त कहते हैं) संसारमें ऐसा कोई नहीं पैदा हुआ जिसको प्रभुता पाकर अभिमान नहीं हो।८।

टिप्पणी—१ 'लगे कहन हरि कथा रसाला।' इति। ☞ ग्रंथकार शिवजीकी रहनी दिखाते हैं कि ध्यान करने बैठे तब नामका स्मरण करते पाए गए, ध्यान छूटनेपर भी श्रीरामनामही का स्मरण कर रहे हैं और जब श्रोता मिला, तब कथा कहने लगे। इस तरह उनका सब समय श्रीरामजीके भजनमें ही जाता है, व्यर्थ एक क्षणभी नहीं व्यतीत होता। जहाँ और जबसे उन्होंने सतीजीके त्यागका संकल्प किया तहाँ और तबसे उन्होंने सतीतनमें प्रेम होनेका सावकाशही नहीं आने दिया। प्रथम तो विविध इतिहासकी कथाएँ कहकर रास्ता काटी, फिर सत्तासीहजार वर्षकी समाधि लेकर सतीजीकी आयुका समय बिताया। जब समाधि छोड़ी तब रामनामका स्मरण करने लगे और जब सतीजी समीप आईं तब पुनः हरिकथा कहने लगे। (हरि कथा कही जिससे सतीजीका दुःख दूर हो।)

नोट—१ प० सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'कथा कहने लगे जिसमें ऐसा न हो कि कहीं त्यागने का कारण पूछने लगें।'—(पर यह भाव श्रीसतीजीके स्वभावसे जैसा प्रसंगभरमें दिखाया गया है, संगत नहीं जानपड़ता)। पुराणोंमें लिखा है कि जबतक कथाका प्रसंग समाप्त न हो तबतक कोई दूसरी बात न कहनी चाहिए। यथा 'कथायां कीर्त्यमानायां विघ्नं कुर्वन्ति ये नराः। भवन्ति ग्रामसूकराः'॥ सनत्कुमार सं०।' और पं० सुधाकरद्विवेदीजीका मत है कि 'समयसे पहले ही जाग उठे, इसलिए ठीक समय आनेकेलिए बीचका समय सुखसे बीतजाय, इसलिये रसभरी हरिकथा कहने लगे।'

नोट—२ 'दच्छ प्रजेस भये तेहि काला' इति। प्रजेश=प्रजापति-प्रजाकी उत्पत्ति करने वाला। 'वेदों और उपनिषदोंसे लेकर पुराणोंतकमें प्रजापतिके सम्बंधमें अनेक प्रकारकी कथाएँ हैं। पुराणोंमें ब्रह्माके पुत्र अनेक प्रजापतियोंका उल्लेख है। कहीं ये दस कहे गए हैं और कहीं इक्कीस। मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु और नारद—ये दस हैं। नारद और प्रचेताको छोड़कर इक्कीसमें भी इनकी गिनती है। अन्य तेरह ये हैं—ब्रह्मा, सूर्य, मनु, दक्ष, धर्मराज, यमराज, परमेष्ठी, विवस्वान्, सोम, कर्दम, क्रोध, अर्वाक् और क्रीत।' (श० सा०)

टिप्पणी—२ 'देखा बिधि बिचारि सब लायक०' इति। (क) अधिकार तभी सौंपा जाता है जब मनुष्य उसके योग्य होता है। यथा 'कहइ भुआलु सुनिय मुनि नायक। भए राम सब बिधि सब लायक॥ अ० ३। 'नाथ रामु करिअहिं जुबराजू।' (ख) दक्षको पहले प्रजेश कहा और अब वे प्रजापतिनायक किए गए। इससे पायागया कि ब्रह्माजीने दक्षको दो अधिकार सौंपे। पहले प्रजापति बनाया फिर उसमें उन्हें सब प्रकार योग्य पाकर अब उनको प्रजापतियोंका नायक बना दिया। समाधि छूटनेके पूर्व प्रजापति हुए और छूटनेके बाद प्रजापतिनायक बनाए गए। प्रजापति बहुत हैं, उनकेभी पति हुए अर्थात् पहले राजा थे, अब राजाओंके राजा किये गए। ब्रह्माके बाद फिर यही पद है। यह कथा भागवतमें है।

नोट—३ प० पु० सृष्टिखण्डमें लिखा है कि ब्रह्माजीने पहले मनके संकल्पसेही चराचर प्राणियोंकी सृष्टि की, किन्तु इस प्रकार उनकी सारी प्रजा पुत्र पौत्र आदिके क्रमसे अधिक न बढ़ सकी, तब उन्होंने अपनेही सदृश नौ मानसपुत्र उत्पन्न किये जो नौ ब्रह्मा माने गये। वे ये हैं—भृगु, पुलह, क्रतु, अंगिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि, पुलस्त्य और वसिष्ठ। अपने से उत्पन्न अपनेही स्वरूपभूत स्वायम्भुवको प्रजापालनके लिये प्रथम मनु बनाया। मनुने अपनी कन्या प्रसूति का विवाह दक्षके साथ कर दिया। प्रसूति के गर्भसे (भा० ४।१ के अनुसार अति सुन्दरी १६ और प० पु० के अनुसार) चौबीस कन्याएँ उत्पन्न करके उन्होंने

बड़ी प्रथम तेरह कन्याएँ धर्मको ब्याह दीं, शेष ग्यारहमेंसे एक अग्निदेवको, एक शिवजीको और एक पितृगणको ब्याह दीं, और अन्य-आठ आठ-उपर्युक्त मानसपुत्रोंको दी गईं। प्रसूतिजीकी कन्याओं द्वारा विशाल सृष्टि (वंशपरंपरा) सारी त्रिलोकीमें फैलगई। प्रजाकी वृद्धिका कार्य जैसा दक्षद्वारा हुआ ऐसा किसीसे न हुआ था। उनका तेज सूर्यके समान था। प्रजापतियोंके यज्ञमें जब वे गए तब उनके तेजसे वह विशाल सभामंडप जगमगा उठा। ब्रह्माजी और महादेवजीके अतिरिक्त तेजःपुंज अग्निपर्यन्त सभी सभासद उनके तेजसे प्रभावित होकर अपने अपने आसनोंसे उठकर खड़े होगए।"'इसके बहुत पश्चात् औरभी प्रजापतियोंका नायक बना दिया। (भा० ४।१,२)॥

टिप्पणी—३ 'बड़ अधिकार दच्छ जब पावा।०' इति। 'बड़ अधिकार' का भाव कि पहले प्रजापति हुए, यह अधिकार पाया और अब प्रजापतिनायक किये गए, यह 'बडा' अधिकार मिला। 'अति अभिमान' का भाव कि प्रजापतिका अधिकार मिलने पर अभिमान हुआ (तभी तो शिवजीकी निंदा करने लगे) और अब नायक होगए, यह बडा अधिकार मिला, अतः अब 'अति' अभिमान होगया। अधिकार होजानेपर अभिमान होजाता है; यथा 'जग बौराइ राजपद पाए।'

४ (क) 'नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं।०' इति। 'ऐसा' अर्थात् अभिमानरहित पुरुष जगत्में दुर्लभ है। कुछ एक मद हीके जीतनेसे तात्पर्य नहीं है। ऐसेही अन्य सब विकारोंका जीतनेवाला संसारमें कोई नहीं है—यह बात इसी ग्रंथमें जहाँ तहाँ दिखाई गई है। यथा 'नारद भव विरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमवादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥ तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥ ज्ञानी तापस सूर कवि कोविद गुन आगार। केहि कै लोभ बिडंबना कीन्ह न एहि संसार। श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि। मृगलोचनिके नयनसर को अस लागि न जाहि॥ उ० ७० ॥ इत्यादि।' (ख) (प्रसंगानुकूल अर्थ यही है जो ऊपर दिया गया। दूसरा अर्थ यहभी करते हैं कि) 'जिसको प्रभुता पानेपर मद न हुआ ऐसे (किसी पुरुष) ने संसारमें जन्म नहीं लिया। अर्थात् मदका जीतनेवाला पुनर्जन्म नहीं लेता, वह भवपार होजाता है, क्योंकि जगत्की उत्पत्ति अहंकारहीसे है, विना अहंकार संसारमें जन्म कैसे संभव है ? [यह अर्थ पंजाबीजीकी टीकासे लिया जान पडता है। इसके अतिरिक्त पंजाबीजीने एक अर्थ और भी दिया है कि—'केवल प्रभुही ऐसे हैं जिन्हें प्रभुता पानेपरभी अभिमान नहीं है सो उनका जन्म नहीं होता, वे तो प्रगट हुआ करते हैं।' —यह भी प्रसंगसे दूरका अर्थ है। भावार्थ वा ध्वनित अर्थ इसे भलेही मान लें।]

नोट—४ वस्तुतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है। यथा 'साधारण कहिये बचन कछु अवलोकि सुभाय। ताको पुनि दृढ कीजिये प्रगट विशेष बनाय॥' (अ० मं०)। अर्थात् पहले कोई बात साधारण कहकर फिर उसीको विशेष सिद्धान्तसे समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास' है। यहाँ पहले एक बात साधारण कही कि दक्षको अधिकार प्राप्तिसे अभिमान हुआ। फिर उसीको विशेष सिद्धान्तसे दृढ़ किया कि जगत्मात्रमें कोई ऐसा नहीं है जिसे पदवी पाने पर अभिमान न हुआ हो। प्रमाण यथाहितोपदेशे—'दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः संतापयन्ति कमपथ्य भुजं न रोगाः। कं श्रीर्नदर्पयति क न निहन्ति मृत्युः कं स्वीकृता न विषयाः परितापयंति।' तथा 'अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः।' अर्थात् ऐसा कौन है जिसका मंत्री दुर्मंत्री हो और उसको नीतिका दोष न लगे ? ऐसा कौन है जिसे अपथ्य भोजनसे रोगने न सताया हो ? ऐश्वर्य किसको दर्पयुक्त नहीं बनाता ? मृत्यु किसे नहीं मारती ? विषयोंका स्वीकार करनेपर किसको कष्ट नहीं होता ? जैसे नेत्रोंमें धूल पडनेसे मार्ग न सूझनेसे कंटकादिपर पैर पड़जाता है वैसेही रजोगुणके दोषोंसे युक्त पुरुष विद्यावान होनेपरभी कुमार्गमें प्रवृत्त हो जाता है।

५ प्रथम कहा कि 'अति अभिमान हृदय तब आवा' और यहाँ कहते हैं कि 'प्रभुता पाइ जाहि मद

नाहीं।' इस तरह जनाया कि मद और अभिमान पर्याय हैं।

६ यहाँ दक्षके मद अभिमानके कथनका प्रयोजन क्या है? आगे दक्षयज्ञका वर्णन है। उसमें शिवजीको निमंत्रण नहीं दिया गया और न यज्ञमें भाग ही दिया गया है। उसका कारण सूक्ष्म रीतिसे इतने से ही जना दिया है। उसको बड़ाभारी अभिमान हो गया जिससे उसने महादेवजीको ही अपमानित करनेकी ठानी। यह अनुचित कर्म किया। प्रथम कारण 'मद' कहकर आगे उसका 'कार्य' कहते हैं।

७ दक्षके अभिमानका प्रमाण भा० ४।३।२-४ में है। यथा 'यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना। प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्मयोऽभवत्॥ इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च। बृहस्पति सवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम्॥ तस्मिन्ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षि पितृदेवताः। आसन्कृत स्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च स भर्तृकाः॥'। अर्थात् जिस समय ब्रह्माजीने दक्षको समस्त प्रजापतियोंका अधिपति बना दिया तभीसे उसका गर्व औरभी बढ़ गया। उसने (भगवान् शंकर आदि) ब्रह्मनिष्ठोंको यज्ञभाग न देकर उनका तिरस्कार करते हुए पहले तो वाजपेय यज्ञ किया फिर बृहस्पतिसव नामका महायज्ञ आरम्भ किया जिसमें सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता आदि अपनी अपनी पत्नियोंके साथ पधारे और सबका यथायोग्य खूब स्वागत-सत्कार किया गया।

दोहा—दच्छ लिए मुनि बोलि सब करन लगे बड़ जाग।
नेवते सादर सकल सुर जे पावत मख भाग॥ ६०॥

अर्थ—दक्षने सब मुनियोंको बुलवा लिया और बड़ा यज्ञ करने लगे। जो देवता यज्ञमें भाग पाते हैं उन सबोंको आदरपूर्वक निमन्त्रित किया। ६।

टिप्पणी—१ 'दच्छ लिए मुनि बोलि सब०' इति। (क) जैसा क्रमसे हुआ वैसा ही दोहेमें कहते हैं। प्रथम मुनि बुलाए गए। उन्होंने आकर यज्ञ प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् देवता निमन्त्रणमें आए। 'बोलि लिए' से जनाया कि मुनियोंको निमन्त्रण नहीं गया, उनको दक्षने बहुत निम्नकोटिका समझा, इसीसे बुलवा भेजा। (ख) ['बड़ जाग' इति। भा० ४। ३ में लिखा है कि प्रजापतिनायक होनेपर प्रथम वाजपेय यज्ञ किया फिर बृहस्पतिसव नामक महायज्ञ किया जिसमें सतीजीने आकर अपना शरीर त्याग दिया था। 'महायज्ञ' ही बड़ा यज्ञ है। प० पु० सृष्टिखंडमें लिखा है कि 'इस यज्ञमें एक विशाल वेदी बनाई गई थी जहाँ सब लोग एकत्रित थे। चारों ओरसे दस योजन भूमि यज्ञके समारोहसे पूर्ण थी। दक्षने यह यज्ञ गङ्गाद्वारमें किया था। गङ्गाजीके पश्चिमी तटपर सतीजीने जहाँ अपनी देहका त्याग किया था, वह स्थान आजभी 'सौनिक तीर्थ' के नामसे प्रसिद्ध है।' यह यज्ञ हरिद्वार कनखलमें हुआ। स्कंद पु० माहेश्वरखंड-केदारखंडमें स्पष्ट लिखा है कि रुद्रका अपमान करनेके लिये ही दक्षने यह यज्ञ किया था।] (ग) 'करन लगे बड़ जाग' कहकर 'नेवते' कहनेका भाव कि जब मुनि यज्ञकी तैयारी करनेलगे तब निमन्त्रण देवताओंको गया। यज्ञ बहुत बड़ा था, इसीसे 'सब' मुनि बुलाये गए।

२ 'नेवते सादर' इति। सब देवताओंको आदरपूर्वक निमन्त्रण भेजनेमें भाव यह है कि शिवजीका अनादर (अपमान) करना है, इसलिए सबको न्योता दिया, सबको सपरिवार बुलाया, सबको सवारी, पूजा, भेंट आदि भेजी; जैसा आदर सत्कार करनेकी रीति है वह सब किया। और शिवजीको निमन्त्रण भी न भेजा। सबका विशेष आदर किया जिसमें सब हमारे पक्षमें रहें, शिवजीका पक्ष कोई न ले। [पुनः सादर न्योतनेका भाव कि जिसमें कहीं ऐसा न हो कि शिवजीके निमन्त्रित न होनेसे वे निमन्त्रण अस्वीकार कर दें, तो यज्ञ ही कैसे होगा। (वि० त्रि०)]

३ 'सकल सुर जे पावत मख भाग' इति। जो देवता यज्ञमें भाग पाते हैं उन सबोंको न्योता दिया, क्योंकि अपने यज्ञमें शिवजीको भाग देना नहीं चाहते। दक्षके हृदयका भाव जैसा है वैसा ही दोहेके शब्दोंमें झलक रहा है—जो जो यज्ञमें भाग पाते थे उन सबोंको निमंत्रित किया जिसमें सबको विदित हो जाय कि

शिवजीको यज्ञमें भाग नहीं मिला, जातिमें उनका अपमान हो। यहाँ 'सकल सुर' कहकर आगे कुछका नाम भी देते हैं—'किन्नर००' [शंकरजी भी यज्ञका भाग पाते थे; पर उनको न्योता नहीं दिया और दक्षके बुद्धिहीन याजकोंने भी आपको यज्ञभागसे वंचित रक्खा। यथा 'न यत्र भागं तव भागिनो ददुः, कुयाज्विनो येन मखो निनीयते॥ भा० ४। ६। ५०।' (यह ब्रह्माजीने स्वयं शिवजीसे दक्षयज्ञके उद्धारकी प्रार्थना करते हुए कहा है जिसमें यहभी कहा कि आपकी कृपासे यज्ञ सम्पूर्ण होता है)]

नोट—पं० सू० प्र० मिश्रजी दोहार्थके प्रमाणमें काशीखंडका यह श्लोक देते हैं—'प्राप्य स्वभवनं देवानांजुहाव सवासवान। अहं यियक्षुर्यूयं मे यज्ञसाहाय्यकारिणः॥ भवन्तु यज्ञसंभारानानयन्तु त्वरान्विताः।'

किंनर नाग सिद्ध गंधर्बा। बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा॥ १॥
बिष्नु बिरंचि महेसु बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई॥ २॥
सती बिलोके ब्योम बिमाना। जात चले सुंदर बिधि नाना॥ ३॥
सुरसुंदरीं करहिं कल गाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनिध्याना॥ ४॥

अर्थ—किन्नर, नाग, सिद्ध और गंधर्व (आदि) सभी देवता अपनी अपनी स्त्रियों सहित (यज्ञके निमंत्रणमें) चले। १। विष्णु भगवान, ब्रह्माजी और महादेवजीको छोड़कर सभी देवता (अपने-अपने) विमान सजा-सजाकर चले। २। सतीजीने देखा कि अनेक प्रकारके सुंदर विमान आकाशमें चले जा रहे हैं देवबधूटियाँ सुंदर (मधुर स्वरसे) गान कर रही हैं, जिसे कानोंसे सुनते ही मुनियोंका ध्यान छूट जाता है।४।

नोट—१ 'किंनर नाग सिद्ध गंधर्बा' इति। 'किन्नर'—कादम्बरीमें इनके दो भेद लिखे हैं। किसीका मुख मनुष्यकासा और शरीर अश्वकासा होता है और किसीका शरीर मनुष्यकासा और मुख अश्वकासा होता है। कोशमें 'किन्नरा नरविग्रहा अश्वमुखा देवयोनयः।' ऐसा अर्थ किया है। अर्थात् उनका शरीर मनुष्यका और मुख घोड़ेका होता है। ये भी देवसर्गमेंसे एक प्रकारके हैं। यह देवजाति नाचने गानेमें बड़ी प्रवीण और उत्तम स्वरवाली होती है। इनमें परस्पर विवाहकी शैली विचित्रही है। अर्थात् पुरुषका शरीर मनुष्यवत् होगा तो उसकी स्त्रीका शरीर अश्ववत् होगा और स्त्रीका शरीर मनुष्यवत् होगा तो उसके पतिका अश्ववत् होगा।

'नाग'—कद्रूके एक सहस्र पुत्र जो सहस्रमस्तकवाले नाग थे वे 'नाग' कहलाये। इनमेंसे अनन्त, वासुकी, शेष, कर्कोटक, शङ्ख, कम्बल, महानील, तक्षक, पद्म, महापद्म, महाशङ्ख आदि छब्बीस नाम प्रधान हैं। (प० पु० सृष्टिखण्ड)। विष्णुपुराण अंश १ अ० २१ में भी कहा है—'तेषां प्रधान भूतास्ते शेष वासुकि तक्षकाः। १। शङ्ख श्वेतो महापद्मः कम्बलाश्वतरौ तथा। एलापत्रस्तथा नागः कर्कोटक धनञ्जयौ। २।' 'नागा वासुकि प्रभृतयो नराकाराः।' इति। इस प्रमाणके अनुसार नागोंका शरीर नराकार है। अष्टकुली नाग देवताओंकी पूजा होती है। नागपञ्चमी तिथि इन्हींके पूजनकी तिथि है। वे अष्टकुली नाग ये हैं—'अनन्तो १ वासुकिः २ पद्मो ३ महापद्मश्च ४ तक्षकः ५। कुलीरः कर्कटश्चैव चाष्टौ नागाः प्रकीर्तिताः।' (यह श्लोक मा० प० से लिया है।)। नाभाजीने इनके नाम 'इलापत्र, अनन्त, पद्म, शंकु, अंशुकम्बल, वासुकी, कर्कोटक और तक्षक' दिये हैं। (भक्तमाल छप्पय २७)। इनकी चर्चा श्रीरामतापिनीयोपनिषद्में भी है। ये सब हरि के द्वारपाल कहे जाते हैं।

'सिद्ध' इति। 'सिद्ध' देवकोटिमेंकी एक जाति है। श्रीब्रह्माजीने दस प्रकारकी सृष्टि रची। उनमेंसे एक देवसर्ग है। देवसर्ग आठ प्रकारका है—(१) देवता, (२) पितर, (३) असुर, (४) गन्धर्व-अप्सरा, (५) यक्ष-राक्षस, (६) सिद्ध, चारण विद्याधर, (७) भूत-प्रेत पिशाच और (८) किन्नरादि। यथा—'देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः। गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः॥ भा० ३। १०। २७॥ भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याधराः किन्नरादयः। दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः। २८।' मानसके इस प्रसंगसे

भी 'सिद्ध' का देवजाति होना सिद्ध है । इस तरह कि ऊपर कहा है कि दक्षने समस्त देवताओंको निमन्त्रित किया, यथा 'नेवते सादर सकल सुर', और यहां नाग और गन्धर्वके बीचमें 'सिद्ध' को भी कहा । अतएव 'सिद्ध' भी एक देवजाति ही हुई ।

'गंधर्व' इति । देवसर्गमेंसे यह चौथे प्रकारके देवता हैं । ये पिंगलवर्णके होते हैं । स्वर्गमें रहते हैं । ये अच्छे गवैये होते हैं । विष्णुपुराणमें इनके विषयमें कहा है कि—'पूर्वकल्पे कृतात्पुण्यात् कल्पादावेव चेद्भवत् । गन्धर्वत्व तादृशोऽत्र देवगन्धर्व उच्यते ॥' (अर्थात्) पूर्वकल्पमें किये हुए पुण्योंके प्रभावसे कल्पकी आदिसृष्टिमें जो गंधर्व होते हैं वे देवगंधर्व कहे जाते हैं । वेदोंमें गंधर्व दो प्रकारके माने गये हैं—एक द्यु स्थानके, दूसरे अन्तरिक्ष स्थानके । उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थोंमेंभी गन्धर्वोंके दो भेद मिलते हैं, देव गन्धर्व और मर्त्य या मनुष्य गन्धर्व । गन्धर्वका अर्थ है—'गा' या 'गो' का धारण करनेवाला । और 'गो' वा 'गा' से पृथिवी, वाणी, किरण इत्यादिका ग्रहण होता है । गन्धर्व सोमके रक्षक, रोगोंके चिकित्सक, स्वर्गीय ज्ञानके प्रकाशक, नक्षत्रचक्रके प्रवर्त्तक, इत्यादि माने गये हैं । वरुण इनके स्वामी हैं । अग्निपुराणमें गन्धर्वोंके ग्यारह गण माने गए हैं । गन्धर्वोंमें हाहा, हूहू, चित्ररथ, हंस, विश्वावसु, गोमायु, तुम्बुरु और नंदि प्रधान माने गए हैं ।

अमरकोश स्वर्गवर्ग १ श्लोक ११ में भी देवोंकी जातियोंका वर्णन है । यथा—'विद्याधराऽप्सरो यक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः । पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥११॥' इसपर श्रीमन्नालाल अभिमन्युकी टिप्पणी इस प्रकार है—'विद्याधरा जीमूतवाहनादयः । अप्सरसो देवाङ्गनाः । यक्षाः कुबेरादयः । रक्षांसि मायाविनो लंकानिवासिनः । गंधर्वाः तुम्बुरुप्रभृतयो देवगायनाः । किन्नराः अश्वादिमुखा नराकृतयः । पिशाचा पिशिताशा भूतविशेषाः । गुह्यका मणिभद्रादयः । (निधिं रक्षन्ति ये रक्षा ते स्युर्गुह्यकसंज्ञकाः) । सिद्धा विश्वावसुप्रभृतयः । भूता बालकप्रह्लादयो रुद्रानुचरा वा ॥'

टिप्पणी—१ (क) 'वधुन्ह समेत चले सुर सर्वा' इति । सब देवताओंको आदर समेत न्योता है, इसीसे सब वधुओं (अपनी स्त्रियों) सहित चले । 'नेवते सादर' का भाव यहाँ खोल दिया कि स्त्रियों सहित न्योता । ये सब गान करती जाती हैं, यथा 'सुरसुंदरी करहिं कल गाना ।' यहाँ देवताओं और देवाङ्गनाओं का चलना कहकर आगे इन दोनोंकी पृथक् पृथक् क्रियायें (कर्म) लिखते हैं कि सब सुर विमान सजा सजाकर चले और उनकी स्त्रियाँ गान करती चलीं, यथा 'चले सकल सुर जान बनाई' तथा 'सुरसुंदरी करहिं कल गाना ।' क्रिया लिखकर फिर दोनोंकी क्रियाओंकी सुंदरता दिखाई, वह यह कि देवताओंने जो यान बनाए वे नाना विधिके हैं और सुंदर हैं, यथा 'सती बिलोके ब्योम बिमाना । जात चले सुंदर बिधि नाना ।' और सुरसुंदरी जो गान करती हैं वह इतना सुन्दर है कि मुनियोंके ध्यान छूट जाते हैं । (ख) यहाँ इन्द्र, कुबेर और वरुण आदि प्रसिद्ध देवताओंका नाम नहीं लेते, साधारण देवताओं (किन्नर आदि) के ही नाम दिये हैं । इससे जान पड़ता है कि त्रिदेवके न जानेसे इन्द्र कुबेर आदि प्रधान देवताभी नहीं गए । आगे जो देवता गए उन सबोंका मारा जाना लिखते हैं । यथा 'सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा ।'

२ (क) 'बिष्नु बिरंचि महेसु बिहाई ।०' इति । महेशके त्यागसे प्रथम विष्णु और विरंचिका त्याग हुआ, इसीसे यहाँ विष्णु और विरंचिका प्रथम त्याग लिखा गया । देवता तीनोंको त्यागकर चले, इसीसे सबने दंड पाया । दक्ष तो शिवविमुख था । इससे उसने शिवजीको त्यागा, पर देवताओंको उचित न था कि त्रिदेवको छोड़कर वहाँ जायँ । देवता आदरसत्कारपूर्वक निमन्त्रण पाकर बड़े उत्साहसे लोभवश चले । उन्होंने किंचित् विचार न किया कि जब यज्ञमें त्रिदेव नहीं जा रहे हैं तब यज्ञमें कुशल कैसे होगा । 'चले सकल' से उन्हीं देवताओंका ग्रहण है जो त्रिदेवको न माननेवाले थे । वेही शृङ्गार कर करके और विमान सजा सजाकर अर्थात् बड़े उत्साहसे चले, इसीसे सब मारे गए । शंभु विमुखको जो दंड मिलता है वह उनको मिला ।

नोट—१ बैजनाथजीका मत है कि 'बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा' के 'सुर सर्बा' से इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य और चन्द्रादि सभी देवता सूचित कर दिये गए हैं।' और वे 'बिष्नु बिरंचि महेसु बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई।' का अन्वय इस प्रकार करते हैं कि 'महेसु बिहाई बिष्नु बिरंचि आदि सकल सुर०' अर्थात् विष्णुभगवान् तथा श्रीब्रह्माजी अपनी अपनी शक्तियों सहित तथा समस्त देवता यज्ञमें गए, केवल महेशको छोड़कर।' और पं० सुधाकरद्विवेदीका मत है कि 'ब्रह्मा और विष्णु भगवान्‌को भी निमन्त्रण नहीं दिया गया। अर्थात् जिसने उसे प्रजापतिनायक बनाया उन्हें भी न बुलाया और न उनके पिताको—यह अति अभिमानका लक्षण है।' प० रामकुमारजीका मत टि० १, २ में है कि 'सुर सर्बा' और 'सकल सुर' से किन्नर नाग आदिकी कोटिके और उनसे छोटे जातिके देवता अभिप्रेत हैं। यदि इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि होते तो इनको प्रधानमें गिनाकर तब 'सुर सर्बा' कहकर उससे समस्त और देवता कहते।

दोहा ६० में 'नेवते सादर सकल सुर०' कहा, फिर 'बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा' और 'चले सकल सुर जान बनाई' कहा गया। दोहा ६० से स्पष्ट है कि (शिवजीको छोड़) यज्ञभाग पानेवाले सभी देवताओं को निमंत्रण गया। पर भगवान विष्णु और श्रीब्रह्माजी, यह जानकर कि शंकरजीको न तो निमन्त्रण ही गया है और न उनको यज्ञमें भाग दिया गया है, यज्ञमें न गए। वे भावी उत्पातको प्रथमसे ही जानते थे, उन्होंने शिवापमानको अपना अपमान माना; इसीसे दक्षयज्ञमें वे भी न गए। यथा 'उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः। नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः॥ भा० ४। ६। ३।' पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें जो कथा पुलस्त्यजीने कही है, वह किसी अन्य कल्पकी जान पड़ती है, क्योंकि उसमें 'ब्रह्माजी अपने पुत्रों-सहित आकर यज्ञके सभासद हुए तथा भगवान् विष्णु भी यज्ञकी रक्षाके लिये वहाँ पधारे'—ऐसा उल्लेख आया है। मानस और भागवतकी कथाओंसे इस कथामें विरोध है।

'सुर सर्बा' 'सकल सुर' इति। पद्मपुराणके अनुसार सकल सुर ये हैं—'शचीसहित देवराज इन्द्र; धूमोर्णासहित परम धर्मिष्ठ यमराज, गौरीसहित वरुणदेव; अपनी पत्नीसहित कुबेरजी, देवताओंके मुखस्वरूप अग्निदेव, उनचासों गणोंसमेत पवनदेव, संज्ञासहित सूर्यदेव, रोहिणी आदि सहित चन्द्रमा, आठो वसु दोनों अश्विनीकुमार, देवता, नाग, यक्ष, गरुड़ इत्यादि देवगण यज्ञमें आये थे। इनके वृक्ष, वनस्पति, गंधर्व, अप्सराएँ, विद्याधर, भूतोंके समुदाय वेताल, राक्षस, पिशाच तथा और भी प्राणधारी जीव वहाँ उपस्थित थे। कश्यप, पुलस्त्य, अत्रि, पुलह, क्रतु, प्राचेतस, अंगिरा, शिष्योंसहित वसिष्ठजी, तथा भूमण्डलके समस्त पुण्यात्मा राजा लोग और सतीजीकी सब बहिनें, बहनोई तथा भानजे भी थे।'

श्रीमद्भागवतमें इस तरह नाम तो नहीं गिनाये गए हैं परन्तु यह लिखा है कि सम्पूर्ण ब्रह्मर्षि, देवर्षि पितृगण और देवता आदि दक्षसे सत्कृत हो पधारे थे तथा उनकी स्त्रियाँ भी साथ आई थीं; यथा 'तस्मिन्ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः। आसन्कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः॥ भा० ४।३।४।' इससे यह कहा जा सकता है कि पद्मपुराणमें जो गिनती 'सकल सुर' की कीगई है, वह सब आए हों और पीछे उपद्रव देख चले गए हों। जो निन्दामें शामिल थे उन्हें दंड मिला। पं० रामकुमारजीने जो लिखा वह भी ठीक ही है। पर यह निश्चय है कि पद्मपुराणकी कथा अन्य कल्पकी है। उसमें यज्ञके होता महर्षि वसिष्ठजी थे, अंगिरा अध्वर्यु थे, बृहस्पति उद्गाता और नारदजी ब्रह्मा थे। और, श्रीमद्भागवतके दक्षयज्ञमें भृगुजीही प्रधान थे। पद्म पु० में सतीके पूछनेपर कि 'शंकरजीको क्यों नहीं न्योता' दक्षने सतीजीको गोदमें बिठाकर समझाया कि 'वे निर्लज्ज हैं, नंगधड़ङ्ग रहते हैं, यज्ञमंडपमें आने योग्य नहीं; यज्ञके बाद हम उनको बुलायेंगे और सबसे बढ़चढ़कर उनकी पूजा करेंगे। इत्यादि।'' जब शिवजीके गणोंने सब देवताओंको परास्तकर भगा दिया और यज्ञविध्वंस कर दिया तब दक्ष शंकरजीकी शरण गया और स्तुति की। शंकरजीने प्रसन्न होकर कहा—'मैंने तुम्हें यज्ञका पूरा-पूरा फल देदिया। तुम अपनी संपूर्ण कामनाओंकी सिद्धिकेलिए यज्ञका उत्तमफल प्राप्त करोगे।'

☞ प० पु० की कथा मानस से नहीं मिलती। मानसकी कथा भा० ४ सर्ग ३ से ६ से मिलती

जुलती है।

टिप्पणी—३ 'सतीं बिलोके व्योम बिमाना। जात चल०' इति। (क) पहले लिखा कि 'चले सकल सुर जान बनाई', इसीसे यहाँ 'सुंदर बिधि नाना' कहा। अर्थात् नाना प्रकारके रंगबिरंगके हैं और बड़े सुन्दर हैं।—(भा० ४। ३ में कहा है कि ये विमान राजहंसोंके समान श्वेत और सुन्दर हैं।) (ख) यहाँ तक 'चल' क्रिया तीन बार लिखी—'बधुन्ह समेत चल', 'चले सकल सुर जान बनाई' और 'जात चले सुंदर बिधि नाना'। 'बधुन्ह समेत चल' यह घरसे चले तबका हाल है। 'जात चले' यह बीच रास्तेका हाल है। और, 'चले सकल सुर' विष्णु आदिको त्यागकर चले, तबका हाल है। (ग) सतीजीने आकाशमें विमान देखे,—इसका कारण आगे लिखते हैं कि 'सुरसुंदरी करहिं कल गाना।' (घ) शिवजी हरिकथा कह रहे हैं, उनका चित्त उसमें लगा हुआ है, इसीसे न तो उन्होंने विमान देखे और न उनका ध्यान ही छूटा। सतीका चित्त व्यग्र था। आन्तरिक भारी दुःख होनेसे उनका चित्त पूर्णरीत्या कथामें नहीं लग रहा है, देवाङ्गनाओंके कल गानने उनका चित्त उधरसे हटा दिया। इसीसे कथा छोड़कर उधर चला गया। (ङ) [रा० प्र० का मत है कि 'व्योम शून्य है, ये कथाको छोड़कर शून्यकी ओर देखती हैं, अतः इनको दुःख होगा।']

४ 'सुरसुंदरी करहिं कल गाना।०' इति। (क) 'सुन्दरी' कहकर जनाया कि स्वरूप सुन्दर हैं और सब शृङ्गार कियेहुए हैं।—(सब मृगनयनी हैं, चमकीले कुण्डल और हार पहिने सधवनके साथ हैं। भा० ४। ३। ६ में ये भाव 'सुन्दरी' शब्दमें भरे हैं)। देवता स्वरूपसे सुन्दर होते ही हैं, यहाँ उनकी स्त्रियोंकी भी शोभा कही। किन्नर और गन्धर्व स्वरूपके सुन्दर होते हैं और बड़े गवैया हैं, इसीसे उनकी स्त्रियाँ भी गवैया हैं और सुन्दरी हैं। (ख) इस प्रसंगमें गोस्वामीजीने देवताओंको 'सुर' कहा है। यथा—'नेवते सादर सकल सुर जे पावत मख भाग', 'बधुन्ह समेत चले सुर सर्बी', 'चले सकल सुर जान बनाई', 'सुर सुंदरी करहिं कल गाना' और 'सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा'। 'सुर' पद प्रसंगमें सर्वत्र देकर जनाया कि ये 'सुरा' ग्रहण किये हुए हैं। इसीसे ऐसे मदमाते हैं कि इन्होंने किंचित् विचार नहीं किया और त्रिदेवको छोड़कर यज्ञमें गए। (ग) 'सुनत श्रवन छूटहिं मुनिध्याना' इति। सम्प्रज्ञातसमाधिवालोंका ध्यान छूटता है। असम्प्रज्ञातसमाधिवालोंका ध्यान नहीं छूटता। यथा—'मनसा वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतयास्थिति। असम्प्रज्ञात नामासौ समाधिरभिधीयते।' अर्थात् वृत्तिरहित मनकी ब्रह्माकारस्थितिको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। [जिसका दुःखमें मन उद्विग्न न हो और जिसे सुखकी इच्छा न हो, जिसका राग, भय और क्रोध दूर हो गया हो, ऐसे स्थितप्रज्ञको 'मुनि' कहते हैं। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।' (वि० त्रि०)]

नोट—रा० प्र० कारका मत है कि 'कल गान' यही कहा गया है, जिससे ध्यान छूटे, यथा 'कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं, काम कोकिल लाजहीं। बा० ३०२।' किसी किसी महानुभावका मत है कि यहाँ यह ध्वनि भी है कि इनके द्वारा मुनियोंको विघ्न हुआ, इससे इनका भी भला न होगा। २ उत्तराखण्ड और कैलासपर अनेक मुनियोंके आश्रम हैं, यथा 'सिद्ध तपोधन जोगिजन सुर किंनर मुनिबृंद। बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं सिव सुखकंद। बा० १०५।' विमान उधरसेही होकर गंगाद्वारको जारहे हैं। इससे मुनिध्यानका छूटना कहा।

पूछेउ तब सिव कहेउ बखानी। पिता जग्य सुनि कछु हरषानी॥ ५॥
जौं महेसु मोहि आयसु देहीं। कछु दिन जाइ रहौं मिस एही॥ ६॥
पति परित्याग हृदय दुखु भारी। कहै न निज अपराध बिचारी॥ ७॥

अर्थ—सतीजीने पूछा तब शिवजीने बखानकर कहा। पिताका यज्ञोत्सव सुनकर वे कुछ प्रसन्न हुईं। ५। (वे मनमें सोचने लगीं कि) यदि महादेवजी मुझे आज्ञा दें तो इसी बहाने कुछ दिन जाकर

यहाँ रहूँ। ६। पति (द्वारा) परित्याग (कर दिये जाने) का भारी दुःख हृदयमें है (परन्तु) अपनाही अपराध विचारकर कहती नहीं हैं। ७।

टिप्पणी—१ 'पूछेउ तब सिव कहेउ बखानी।०' इति। (क) 'पूछा तब कहा' इस कथनसे पाया गया कि यदि ये न पूछतीं तो इसकी चर्चा वे कदापि न करते; क्योंकि ये सब देवता त्रिदेवका अपमान करके चले हैं। (पंजाबीजी लिखते हैं कि कितनेही समाजोंमें स्त्रियाँ नहीं जातीं और यहाँ सभी जारही हैं; इसीसे सतीजीको विशेष उत्कंठा हुई और उन्होंने पूछा)। (ख) 'पिता जग्य सुनि कछु हरषानी' इति। 'कछु हरषानी' का भाव कि हृदयमें पतिपरित्यागका भारी दुःख है, पतिका सुखही स्त्रीकेलिये पूर्ण सुख है, पिताका सुख उसके लिये कुछही सुख है; यथा 'मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥ अमित दानि भर्ता बैदेही। अ० ५।' अतएव पिताका यज्ञ सुनकर 'कुछ' ही हर्ष होना कहा। [पुनः भाव कि यह समझकर कि पिताके घर जानेसे कुछ तो जी बहल जायगा। यहाँ रहनेपर पतिका परित्याग सहा नहीं जाता। वहाँ पतिके परोक्षमें माता, पिता, सखी सहेलियोंके बीचमें रहनेसे यह दुःख कुछ तो भूल ही जायगा।' (पं०, मा० प०)]

२ 'जौं महेसु मोहि आयसु देहीं।' इति। (क) यह सतीजीके हृदयका विचार है कि यदि आज्ञा हो तो कुछ दिन उत्सवके बहाने यहाँ रहकर कुछ दिन बिताऊँ। भारी दुःखके दिन एक जगह रहकर काटे नहीं कटते। यथा 'सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहिं। मरमु न कोऊ जान कछु जुग सम दिवस सिराहिं। ५८।'; इसीसे जानेकी इच्छा हुई। (ख) 'जौं' संदिग्ध वचन है। 'जौं' कथनका भाव यह है कि आज्ञामें संदेह है। वे आज्ञा न देंगे, क्योंकि उनसे और दक्षसे आपसमें बिगाड़ है। पिताने उन्हें निमंत्रण नहीं भेजा है। (ग) 'आयसु देहीं' का भाव कि शिवजी स्वयं तो जायँगेही नहीं क्योंकि निमंत्रित नहीं हैं। (हमको इस विचारसे आज्ञा दे सकते हैं कि पिताके घर संतान बिना बुलाए जाय तो हर्ज नहीं। ☞ शंकरजी कथा कह रहे हैं और इनका मन अन्यत्र है, कथाका सादर श्रवण नहीं हुआ)

३ 'कछु दिन जाइ रहौं मिस एही' इति। (क) 'कछु दिन' का भाव कि यज्ञसमाप्तितक (अथवा, जबतक और भी बहिनें रहेंगी तबतक) क्योंकि कन्या पिताके घर सब दिन नहीं रहती। (ख) 'जाइ' का भाव कि यहाँसे कोई न लेने आया है, न आयेगा। अपनी ओरसे जाना चाहती हैं। (ग) 'मिस एही' से जनाया कि पिताके घर जानेकी आज्ञा अबतक कभी न माँगी थी, क्योंकि कोई उत्सव आदिका मौका और बहाना न था, अब उत्सव एक बहाना है जिससे पिताके घर जा सकें। स्त्रीके रहनेके दो ही स्थान हैं—या तो पिताका घर या पतिका घर। और कोई नहीं है। और, पतिने परित्याग कर दियाहै, अतः कुछ दिन पिताके यहाँ बिताना चाहती हैं। (भाव यह है कि दुःख काटनेके बहाने तो जाही नहीं सकती थीं, दूसरेको इसका मर्म नहीं मालूम है, उत्सवके बहाने जाना होसकता है और वहाँ जानेसे कुछ जी बहल जायगा।)

४ 'पति परित्याग हृदय दुखु भारी।०' इति। (क) 'दुखु भारी' है। अर्थात् हृदयको जलाता रहता है। ['अकथनीय दारुण' न कहकर केवल 'भारी' कहा; क्योंकि समाधि खुल गई और वे इस समय शंकर भगवान् के साथ हैं। (वि० त्रि०)] (ख) 'कहै न निज अपराध बिचारी' का भाव कि अपराध तो स्वयं कियाहै तब कहें किस मुखसे। यथा 'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवाँ इव उर अधिकाई। बा० ५८।' पुनः भाव कि हृदयका दुःख कह देनेसे कुछ घट जाता है, यथा 'कहेहू ते कछु दुख घटि होई। सुं० ।' पर अपना अपराध विचारकर किसीसे कहती नहीं। यदि कह भी दें तो पतिपरित्यक्ता होनेसे सभी निरादर करेंगे, फिर कोई न पूछेगा। अतः कहती नहीं। (ग) यहाँ 'बिचारी' के दोनों अर्थ लगते हैं—'विचारकर' और 'वह विचारी अर्थात् गरीबिनी, बेचारी।' इसे अपूर्ण क्रिया और विशेषण दोनों मान सकते हैं।

नोट—पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि मालिकके प्रसन्न रहनेसे उससे कुछ कहा जा सकता है, पर महा अपराधसे पति रूस गया है तब कैसे कहें!'

बोलीं सती मनोहर बानी। भय संकोच प्रेम रस सानी॥ ८॥
दोहा—पिता-भवन उत्सव परम जौं प्रभु आयसु होइ।
तौ मैं जाउँ कृपायतन सादर देखन सोइ॥ ६१॥

अर्थ—सतीजी भय, सकोच और प्रेमरसमें सनी हुई मनलुभानेवाली सुंदरवाणी बोलीं। ८। हे प्रभो! पिताके घर बहुत बड़ा उत्सव है। यदि आपकी आज्ञा हो तो, हे कृपानिधान! मैं आदर सहित उसे देखने जाऊँ। ६१।

टिप्पणी—१ 'बोलीं मनोहर बानी।०' इति। 'बोलीं', अतः कथा रुक गई। अपराधके कारण कुछ बोलती न थीं; पर रहा न गया, पिताके यहाँ जानेको बहुत उत्सुक थीं, अतः बोलीं। मनोहर और प्रेम-रससानी वाणी बोलीं जिसमें वे प्रसन्न हो जायँ और आज्ञा दे दें। भय, संकोच और प्रेम तीनों आगे दोहेमें कहते हैं। ['रस सानी' अर्थात् यह वाणी भय रस, संकोच रस और प्रेम रस तीनोंमें इस तरह सनी है, युक्त है, भरी हुई है, कि जैसे कोई चीज किसी रसमें सानकर एक कर लीजिये तो उसके रेशे रेशेमें वह रस बिध वा समा जाता है, वैसेही इस वाणीमें तीनों रस भरे हुए हैं। यहाँ सहोक्ति अलंकार है]

२ 'पिता भवन उत्सव परम०' इति। पिताके भवनमें उत्सव देखनेका प्रेम है; यथा 'पिता जग्य सुनि कछु हरपानी'। उत्सव परम=महोत्सव। वह अपनी चाह प्रगट करती हैं। निज अपराधका संकोच है, यथा 'कहै न निज अपराध बिचारी'। और, शिवजी आज्ञा दें, न दें—यह भय है। यथा 'जौं महेस मोहि आयसु देहीं'। ये तीनों बातें प्रथम कहकर अब तीनोंको दोहेमें एकत्र करते हैं। (ख) 'पिताभवन' कहनेका भाव कि पिताके घर बिना बुलाये जाना चाहिये। यही बात आगे शिवजीने कही है; यथा 'जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा। जाइय बिनु बोले न सदेहा।' 'उत्सव परम' कहनेका भाव कि बड़ाभारी महायज्ञ हो रहा है, साधारण यज्ञ होता तो न भी जातीं। भारी महायज्ञ है अतः अवश्य देखना चाहिये। इसीसे 'सादर' देखनेको कहा। [भा० ४।३ में सतीजीने जो यह कहा है कि 'मैं अपनी जन्मभूमि देखनेके लिये बहुत उत्सुक हो रही हूँ। देखिये, इन विमानोंपर कितनी ही स्त्रियाँ तो ऐसी हैं जिनका दक्षसे कोई सम्बन्ध भी नहीं है, फिर भी वे अपने अपने पतियोंके साथ सजधजकर झुण्डकीझुण्ड वहाँ जा रही हैं। ऐसी अवस्था में अपने पिताके यहाँ उत्सवका समाचार पाकर उसकी बेटी उसमें सम्मिलित होनेके लिये क्यों न छटपटा-येगी ? हाँ, आप यह अवश्य कह सकते हैं कि हम लोगोंको बुलावा नहीं आया है। किन्तु पति, गुरु और माता-पिता आदि सुहृदोंके यहाँ तो बिना बुलाए ही जा सकते हैं।'—ये सब भाव और तर्क 'पिताभवन' 'उत्सव परम' में सूचित किये गए हैं तभी तो इन सब बातोंका उत्तर शिवजीके वचनोंमें है।]

३ (क) 'जौं प्रभु आयसु होइ' इति। 'आज्ञा देंगे'—इसका सतीके मनमें संदेह हुआ था, अब उसी मनके संदेहको वचनोंसे प्रगट करती हैं अतः 'जौं०' कहा। ['जौं प्रभु आयसु होइ' में दूसरा भाव यह भी है कि पिताके घर दोही कारणसे जाना होता है—एक या तो पिता बुलावे, दूसरे यदि पतिकी आज्ञा हो तो कन्या स्वयं जा सकती है। सो पिताने तो बुलाया नहीं और मेरी इच्छा जानेकी होती है। अतः आयसु माँगती हैं।] (ख) 'तौ मैं जाउँ कृपायतन' इति। अर्थात् यदि मुझपर आप कृपा करें। आज्ञा देवें तो। श्रीमद्भागवतमें जो कहा है कि 'आप मुझपर इतनी कृपा अवश्य करें। आप बड़े करुणामय हैं। आपको मेरी यह इच्छा पूर्ण करनी ही उचित है। आपकी कृपालुताका मैं कहाँतक वर्णन करूँ ? अहो, परम ज्ञानी होकर भी आपने मुझे अपने आधे अंगमें स्थान दिया है। अब मेरी इस याचनाको स्वीकार करके मुझे अनुगृहीत कीजिये। ४। ३। १३, १४।' ये सब भाव इसमें भरे हैं। (ग) 'सादर देखन सोइ' इति। श्रेष्ठ यज्ञको आदरपूर्वक देखना विधि है। अतः 'सादर देखना' कहा। ['सादर' को दीपदेहली मानकर दूसरा भाव यह भी कह सकते हैं कि 'जैसी आपकी प्रतिष्ठा है उस आदरके साथ जाऊँ। अर्थात् सवारी नौकर-

चाकर सेवक और रक्षक आदिके साथ जानेकी आज्ञा दें तो जाऊँ। ऐसा नहीं कि आप नाराज तो हैं ही, कह दें कि अकेली चली जा।' (मा० प०)।]

नोट—वाणी तो सभी मनोहर है, विनीत है और प्रेमभरे शब्दोंमें है। 'पिता भवन उत्सव परम' में प्रेम प्रधान है, भय और संकोच गौण हैं पर हैं तीनों ही। महोत्सवमें जानेकी इच्छा और वह भी पिताके घर—प्रेम सूचित करता है। कहीं शिवजी यह न कहें कि वही पिता तो है जिसने तुम्हारी बहिनों-बहनोइयोंको तो बुलाया और तुमको पूछातक नहीं, उसीके यहाँ जाना चाहती हो।—यह संकोच और भय है। 'प्रभु', 'कृपायतन', 'आयसु होइ' और 'सादर' इन सब शब्दोंमें प्रेम झलक रहा है। 'आयसु' में भी भयका ग्रहण हो सकता है। ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रेम, भय और संकोच तीनों शिवजीके ही संबंधसे हैं।

कहेहु नीक मोरेंहु मन भावा। यह अनुचित नहिं नेवत पठावा॥ १॥
दच्छ सकल निज सुता बोलाई। हमरें बयर तुम्हौं बिसराई॥ २॥
ब्रह्मसभाँ हम सन दुखु माना। तेहि तें अजहुँ करहिं अपमाना॥ ३॥

अर्थ—(श्रीशिवजी बोले) तुमने अच्छी बात कही। यह मेरे मनकोभी भाई (अच्छी लगी)। (परन्तु) यह अनुचित है (क्योंकि दक्षने) नेवता नहीं भेजा। १। दक्षने अपनी सब कन्याओंको बुलाया (किन्तु) हमारे वैरसे तुमभी भुला दी गईं। २। दक्षने ब्रह्माजीकी सभामें हमसे दुःख मान लिया, इसीसे अबभी (हमारा) अपमान करते हैं। ३।

टिप्पणी—१ 'कहेहु नीक मोरेंहु मन भावा।०' इति। (क) सतीजीकी वाणी वास्तवमें मनोहर है, मनको भानेवाली है; इसीसे शिवजीने कहा कि 'मोरेंहु मन भावा'। मनको भानेका कारण यह है कि बात अच्छी है, यज्ञ भगवान्‌का अंग है, उसका दर्शन करना पुण्य है, धर्म है। उसे अवश्य देखना उचित है। सतीजीने 'जाउँ सादर देखन सोइ' अर्थात् यज्ञ देखनेकी बात कही; इसीसे शिवजीने उसे 'नीक' कहा। (ख) 'मोरेंहु मन भावा' का भाव कि हमभी तुम्हें भेज देते इसमें संदेह नहीं। (ग) 'यह अनुचित नहिं नेवत पठावा' अर्थात् बिना नेवताके वहाँ जाना अनुचित है। तात्पर्य कि तुम्हारी वाणीमें एक यही अनौचित्य है जो भेजने नहीं देता। यज्ञमें भाग पानेवाले देवताके नाते मुझको भी न्योता भेजना चाहिये था।

नोट—१ नीक है, मनको भाया भी, तब उचित या अनुचित कहनेकी आवश्यकता क्या रह गई? इसपर पंजाबीजी लिखते हैं कि 'शिवजी ईश्वर हैं इसलिये क्रोध होनेपरभी वे कुछभी अनुचित नहीं करना चाहते। उन्होंने सतीजीके हितकी बात कही। यही कारण है कि उनकी बातको भली कहकर अर्थात् उसका समर्थन करके फिर अनुचित (अंश) कहा।' ☞ जिसकी बातका खंडन करना हो, सामान्यतः प्रथम उसका समर्थन करके तब युक्तिपूर्वक उसका खंडन करना चाहिये। यदि सीधे-सीधे खंडन कर दिया जाय तो जिसकी बातका खंडन किया जाता है उसमें दुराग्रहपनेकी संभावना हो सकती है। देखिये गुरु श्रीवसिष्ठजीने भरतजीसे राज्य ग्रहण करनेको कहा और माता कौसल्याजी तथा मंत्रियोंने उनकी आज्ञाका अनुमोदन किया तब भरतजीने क्या किया? उन्होंने प्रथम सबकी बातोंको उचित कहा; यथा 'मोहि उपदेसु दीन्ह गुरु नीका।'... मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥' फिर कहा कि 'तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई। जेहि आचरत मोर भल होई॥ जद्यपि यह समुझत हौं नीके। तदपि होत परितोष न जी के॥ अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावन देहू। २। १७७।' इसके पश्चात् उन्होंने सबकी बातोंका अनौचित्य दिखाया और यहाँतक कह डाला कि 'परम हानि सब कहँ बड़ लाहू। अदिनु मोर नहि दूषन काहू॥ संसय सील प्रेम बस अहहू। सबुइ उचित सब जो कछु कहहू॥ २। १८१।' इत्यादि। इसी प्रकार जब लक्ष्मणजी सेना सहित भरतजीको मारनेके लिये तैयार हुए और आकाशवाणी सुनकर संकुचित हुए तब श्रीरामजीने प्रथम उनके वचनोंका समर्थन किया; यथा 'कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन

राजमदु भाई ॥' फिर उनमें अनौचित्य दिखाया, इस तरह कि 'जो अँचवत नृप मातहिं तेई। नाहिंन साधु सभा जेहिं सेई ॥ सुनहु लखन भल भरत सरीसा। विधि प्रपच महँ सुना न दीसा ॥' इत्यादि। (२। २३१)। इसी तरह अँग्रेजी नाटक जूलियस सीजर Julius Cæsor में ऐनटनी Antony ने ब्रूटसकी बातोंका कैसा उत्तम रीतिसे खडन किया है।—इसी तरह शिवजीने पहले समर्थनकर अब उसका खडन प्रारभ किया।

टिप्पणी—२ 'दच्छ सकल निज सुता बोलाई।०' इति। (क) अर्थात् यदि दक्ष अपनी अन्य सब लडकियोंको न बुलाता तो तुम्हें भी न्योता न देनेसे 'बिसराना' अर्थात् भुलाना न कहा जा सकता था, क्योंकि जब किसीको न बुलाया तब तुमकोभी न बुलाया तो इसमें उचित अनुचितका प्रश्नही नहीं उठता। (ख) 'सकल निज सुता' इति। [दक्षकी कितनी कितनी कन्याएँ हैं इसमें पुराणोंमें मतभेद है। कोई १६, कोई २४, कोई ६० इत्यादि कहते हैं। इसीसे गोस्वामीजीने 'सकल' शब्द दिया। भा० ४। १ में इनकी कन्याओं और उनके पतियोंके नाम इस प्रकार हैं—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति—ये तेरह धर्मकी पत्नियाँ हुईं। स्वाहा अग्निदेवको, स्वधा पितरों (अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमप और आज्यप) को और सतीजी शकरजीको ब्याही गईं। प० पु० में २४ कन्याओंके नाम हैं जिनमेंसे 'ख्याति' का विवाह भृगुजीसे और अनुसूयाजीका अत्रिजीसे लिखा है।—विशेष ४८ (६) 'दक्ष, दक्षकुमारी' में देखिये।] (ग) 'हमरें बयर तुम्हौ बिसराई' इति। हमारे वैरसे तुमकोभी बिसरा दिया अर्थात् हमसे वैर मानते हैं और हमारे नाते तुमसेभी वैर मानते हैं—यह आगे स्पष्ट ही है। यथा 'दक्ष न कछु पूछी कुसलाता। सतिहि बिलोकि जरे सब गाता। ६३।' 'बिसराई' कहनेका भाव कि तुम 'बिसरि गई' ऐसा नहीं है, यदि बिसर जातीं, भूलसे रह जातीं तो उन्हें दोष न लगता पर उन्होंने तो जानबूझकर हमें बिसराया और हमसे वैर है यह समझकर हमारे कारण तुम्हें भी बिसरा दिया, नहीं तो तुम्हींको बुला लेते।

नोट—२ केवल तुमको न बुलाया और अपनी सभी लडकियोंको बुलाया, इस कथनसे दक्षका अपनेसे विरोध जनाकर आगे विरोधका कारण कहते हैं। पुन, 'हमरे बयर तुम्हौं बिसराई' का भाव कि इनको उचित तो यह था कि तुम उनकी बडी प्यारी लडकी थीं, तुम्हारे सम्बन्ध और प्रेमके नाते हमसे वैर बिसरा देते—यह उनकी दक्षता (चतुराई) होती, उनका नाम इस कर्त्तव्यसे सार्थक होजाता, 'यथा नाम तथा गुण' यह लोकोक्ति सिद्ध होती। अथवा, केवल तुमको बुला लेते तोभी हर्ज न था, पर उन्होंने यह न करके उलटे तुमको भी भुला दिया।

३ श्रीपजाबीजी और प० सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'यहाँ दक्षका जैसा नाम वैसा ही गुण दिखाया गया है। दक्ष नाम यहाँ साभिप्राय है। दक्ष=चतुर=सयाना=चालाक। उसने खूब चतुरता दिखलाई। तुम्हें न बुलाया यही चतुरता है। जिसमें तुम्हारा और हमारा प्रगट अपमान हो।' पुन, 'हमरें बयर' का भाव कि हम उनसे वैर नहीं मानते (इसीसे हमने कभी तुमसे इसकी चर्चा भी न की थी, यदि तुम वहाँ जानेकी बात न कहतीं तो मैं उसका नामभी न लेता) पर वह वैर मानता है। भा० ४। ७। २ से भी यही बात सिद्ध होती है। शकरजीने ब्रह्मादिसे कहा है कि दक्ष ऐसे नासमझोंके अपराधकी न तो मैं चर्चा करता हू और न याद ही। यथा 'नाघ प्रजेश बालाना वर्णये नानुचिन्तये। देवमायाभिभूताना दण्डस्तत्र धृतो मया ॥'

टिप्पणी—३ 'ब्रह्मसभा हम सन दुख माना।०' इति। (क) वैर कहकर अब उसका कारण कहते हैं। 'ब्रह्मसभा' कहकर जनाया कि ब्रह्मादि देवता इस बातको जानते हैं। 'हम सन दुख माना' का भाव कि और किसीसे दु ख नहीं माना। पुन. (ख) 'माना' का भाव कि उन्होंने दु ख अपनेसे मान लिया, हमने दु ख देनेकी कोई बात नहीं की। हमने जानबूझकर दक्षकी अवज्ञा नहीं की थी, उसने मूर्खतासे ऐसा मान लिया था।—यह भाव भा० ४ २ ३ से स्पष्ट है। दुख मानना=अप्रसन्न होना।

नोट—४ 'दु.ख माननेकी कथा' इति। श्रीमद्भागवत स्कध ४ अ० २ में यह कथा श्लोक ४ से ३३

तक है। वहाँ श्रीविदुरजीके प्रश्नपर श्रीमैत्रेयजीने वैरका कारण इस तरह वर्णन किया है।—

एक बार पूर्व अति प्राचीन कालमें विश्वस्रष्टाओंने एक यज्ञ किया, जिसमें समस्त परमर्षि, देवता, मुनि और अग्नि आदि अपने अपने अनुयायियोंके सहित आ उपस्थित हुये। सूर्यके समान तेजस्वी दक्ष उस समय वहाँ आये। दक्षको देख उनके तेजसे प्रभावित और धर्पितचित्त होकर, श्रीशिवजी और श्री-ब्रह्माजीको छोड़ अन्य सभी देवता, ऋषिगण आदि सदस्यगणोंने अपने आसनोंसे उठकर उनका सम्मान किया। दक्ष ब्रह्माजीको प्रणामकर उनकी आज्ञा पा उनके दिये हुये आसनपर बैठ गये। दक्षने यह देखकर कि शिवजी आसनपर बैठेही रहे उठकर उन्होंने सम्मान नहीं किया और उनके इस व्यवहारसे अपना अपमान समझकर क्रूरदृष्टिसे उनकी ओर देखा और उस महासभामेंही उनको बहुत दुर्वचन कहे। (श्लोक ९ से १६ तक में दुर्वचन हैं। जिसे देखना हो वहाँ स्वयं देख ले)। और पछताने लगा कि मैंने केवल ब्रह्माजीके कहनेसेही ऐसे पुरुषको अपनी सुन्दर साध्वी भोली भाली कन्या देदी। 'तस्मा उन्माद-नाथाय नष्टशौचाय दुहृदे। दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना।१७' शिवजी कुछभी न बोले। दुर्वचन कहकर दक्षने श्रीशिवजीको शापभी दिया कि 'देवयज्ञोंमें इन्द्र उपेन्द्र आदि देवगणोंके साथ यह यज्ञका भाग न पावें।' यथा 'अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः। सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः।१९।' शाप देकर अत्यन्त क्रुद्ध हो वह सभासे निकलकर अपने घर चलता हुआ।

यह जानकर कि दक्षने शाप दिया है नन्दीश्वरको बड़ाही क्रोध हुआ और उन्होंने दक्ष और उन ब्राह्मणोंको, जिन्होंने दक्षके कुवाक्योंका अनुमोदन किया था, घोर प्रतिशाप दिया कि 'यह दक्ष देहाभिमानी है, देहहीको आत्मा समझता है, अविद्याको विद्या जानता है, विषयसुखवासनाओंमें आसक्त हो कर्मकाण्डमें रत रहता है। अतएव यह जड़ पशु है, पशुओंके समान यह स्त्री-लम्पट हो और इसका मुख शीघ्रही बकरेका हो। यह सदा तत्त्वज्ञानसे विमुख रहे। यह और इसके अनुयायी बारबार आवागमनरूप संसारचक्रमें पड़े रहें, कर्ममार्गमेंही भ्रमते रहें। ये ब्राह्मणगण भक्ष्याभक्ष्यके विचारसे रहित हो केवल पेट पालनेके लिये विद्या, तप और व्रतादिका आश्रय लें और धन, शरीर और इन्द्रियोंमेंही सुख मान भिक्षुक होकर पृथ्वीपर विचरा करें।—'सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः। वित्ते देहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह॥ २७।' इसपर भृगुजीसे न रहा गया। उन्होंने बदलेमें अत्यन्त दुस्तर ब्रह्मशाप दिया कि 'शिवभक्त और उनके अनुयायी सत्‌शास्त्रोंके विरुद्ध आचरण करनेवाले और पाखण्डी हों, शौचहीन, बुद्धिहीन हों, जटा, भस्म और अस्थियोंके धारण करनेवाले हो…।' भृगुके शाप देनेपर श्रीशिवजी अपने पार्षदों सहित वहाँसे चल दिये। दक्ष द्वेषभाव मनमें तबसे बराबर रक्खे रहा।

टिप्पणी—४ 'तेहि ते अजहुँ करहिं अपमाना।' इति। (क) 'अजहुँ' का भाव कि 'प्रथम भरी ब्रह्मसभामें हमारा अपमान किया था और उस बातको बरसों बीत गए तथापि अबभी अपमान करनेपर तुले हुए हैं, अबभी करते हैं। यह यज्ञभी हमारे अपमानके लिये ही प्रारंभ किया गया है। यज्ञमें हमारा भाग देनेसे सबको रोकना चाहते हैं। हमारा भाग न देनेका आरंभ अपने इस यज्ञसे कर रहे हैं।' [पुनः भाव कि बड़े लोग छोटी बातोंपर कुछ ध्यान नहीं देते। ध्यानभी हो जाता है, तो थोड़ीही देर उसका आवेश रहता है। पर यह अबतक अपमान करता जाता है। इसका कारण पूर्व कह आए कि 'अति अभिमान' होगया है; उसी मदके नशेमें अबतक मतवाला बना हुआ अपमान करता है। (मा० प०)]

नोट—पं० सुधाकर द्विवेजीका मत है कि—'हम सन'=हम लोगोंसे। अर्थात् ब्रह्माविष्णु-महेशसे। इसीसे तीनोंको न्योता न गया।

जौं बिनु बोलें जाहु भवानी। रहै न सीलु सनेहु न कानी॥ ४॥
जदपि मित्र प्रभु पितु गुर गेहा। जाइअ बिनु बोलेहु न सँदेहा॥ ५॥

जदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गए कल्यान न होई ॥ ६ ॥

अर्थ—हे भवानी ! यदि तुम बिना बुलाए जाओगी तो न शील स्नेहही रहजायगा और न मान मर्यादाही। ४। यद्यपि इसमें सदेह नहीं कि मित्र, स्वामी, पिता और गुरुके घर बिना बुलाएभी जाना चाहिये। ५। तो भी जहाँ कोई विरोध (वैर) मानता हो वहाँ जानेसे कल्याण नहीं होता।६।

टिप्पणी—१ 'जौं बिनु बोलें जाहु भवानी।०' इति। जो शकरजीने कहा वही हुआभी। किसीने न तो स्नेह किया न शील रक्खा और न कानि मानी। यथा 'पिता भवन जब गईं भवानी। दच्छ त्रास काहु न सनमानी॥ दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहि बिलोकि जरे सब गाता॥ ६६।' 'कानि न मानी' अर्थात् किसीने इसकी पर्वा न की कि ये भगवान् शङ्कर महामहिमकी पत्नी हैं, भवानी हैं, इनका आदर करना कर्त्तव्य है। (ख) 'भवानी' सम्बोधन अर्थात् पतिसबधी नाम देनेमें भाव यह है कि भव पत्नीका जैसा शील, स्नेह और मर्यादा प्रतिष्ठा है वैसी न रहेगी। हमको न बुलाकर हमारा अपमान किया और कर रहे हैं तो वहाँ जानेपर तुम्हारा अपमान होगा।

नोट—१ (क) पजाबीजी लिखते हैं कि 'भवानी कहकर शिवजी सूचित करते हैं कि हमने केवल सतीतनका त्याग किया है, परम प्रेम जो हमारा तुममें है, कुछ उसका त्याग हमने नहीं किया। हमारी इस प्रतिज्ञाका तात्पर्य यह नहीं है कि तुम्हारा अपमान हो तो हमें बुरा न लगेगा।' और, प० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'दुखी होकर शिवजीने 'भवानी' सम्बोधन किया। अर्थात् बिना न्योते जानेसे तुम 'भव' (मुझ शिवको या ससारमात्र) को 'आनि' (ग्लानि) देनेवाली होगी।' तथा प० सू० प्र० मिश्रजीका मत है कि 'भवानी' से यह सूचित किया कि तुम हमारी स्त्री होकर ऐसा अपमान न सह सकोगी।'

☞ भा० ४।३ के 'तत्ते निरीक्ष्यो न पितापि देहकृद्दक्षो मम द्विट् तदनुव्रताश्च ये। २४।' और 'अथापि मान न पितु प्रपत्स्यसे मदाश्रयात्क परितप्यसे यत ॥ २०।' के अनुसार 'भवानी' सबोधनका भाव यह है कि यद्यपि तुम दक्षकी परम प्रिय पुत्री हो पर मेरी आश्रिता हो भवपत्नी हो, इसलिये तुम्हारा अपमान होगा और यद्यपि तुम्हारा शरीर दक्षसे उत्पन्न हुआ है तो भी 'भवपत्नी' के नातेसे तुम्हें मेरा शत्रु होनेके कारण उसको तथा उसके अनुयायियोंके देखनेका विचार कदापि न करना चाहिये। (ख) स्कदपु० माहेश्वर के० *मे इस मिलता हुआ श्लोक यह है—'अनाहूताश्च ये सुभ्रु गच्छन्ति परमन्दिरम्। तेऽपमान प्राप्नुवन्ति मरणादधिक तत. । २।५६।'*

नोट—२ 'सीलु सनेहु न कानी' इति। यह दोनों ओर लगता है। तुम्हारा शील आदि उनके साथ न रह जायगा, न उनका तुम्हारे साथ। हमारे वैरसे तुमसेभी सब वैर मानेंगे और तुम्हारा अपमान करेंगे तब तुम्हें उनपर क्रोध आजायगा—यह शील स्वभाव गया। तुम्हारे बाप और बहिनोंको तुम्हारा वहाँ पहुँचना अच्छा न लगेगा। वे तुम पर हँसेंगी, तुम्हारा परिहास करेंगी, कटाक्ष करेंगी, यह देख तुम्हारा स्नेह चला जायगा। *अपनेको भवपत्नी जानकर तुम यह अपमान न सह सकोगी।* यह तुमको जो दु ख है जिसे तुम अपना अपमान समझती हो उससे कहीं अधिक दु ख तुमको वहाँ प्राप्त होगा। तुम्हारा जो मान अभी है वह न रह जायगा। इसी तरह दूसरोंका शील आदि तुम्हारे साथ न रहेगा। शील न रहा, यथा 'दच्छ त्रास काहु न सनमानी', 'भगनी मिलीं बहुत मुसुकाता।' स्नेह न रहा, यथा 'दच्छ न कछु पूछी कुसलाता।०' और मर्यादा भी न रक्खी, यथा 'कतहुँ न दीख सभुकर भागा', 'प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ', 'सब ते कठिन जाति अपमाना।' यहाँ शीलसे 'आदर सत्कार, मुलाहजा मुरव्वत' और 'कानि' से जाति पाँतिमें मान-मर्यादा अभिप्रेत है।

३ इस कथनमें सहोक्ति और सभावना अलकारो का सदेह सङ्कर है।

टिप्पणी—२ 'जदपि मित्र प्रभु पितु गुर गेहा।०' इति। अर्थात् इतने स्थानोंमें बिना बुलाए जानेमें

अपमान होनेका, शील-स्नेह कानि जानेका तथा अकल्याणका सन्देह नहीं है। वहाँ जानेमें यह संदेह कदापि न करे कि बिना बुलाए कैसे जायँ। तात्पर्य कि इनके घरको अपना-सा ही समझें। वहाँ बिना बुलाए जानेमें अपनी 'अमानता' ही भूषण है।

३ 'तदपि बिरोध मान जहँ कोई।०' इति। (क) प्रथम बिना बुलाए किसी के यहाँ जानेका परिणाम बताया कि शील आदि नहीं रहते। अब बताते हैं कि जहाँ कोई भी विरोध मानता हो वहाँ जानेसे कल्याण नहीं होता। और दक्ष विरोध मानते हैं, इसलिए वहाँ जानेसे कल्याण न होगा। अर्थात् यहाँ दोनों बातें हैं—न निमंत्रण है और न प्रेम है, किन्तु वैर है, अतः तुम्हारा मरण होगा। (ख) 'कोई' का भाव कि जब मित्रादि के यहाँ जानेसे कल्याण नहीं तब और किसी दूसरेके यहाँ जानेसे कल्याण कब संभव है ? [दासकी समझमें भाव यह है कि कहींभी, जहाँ कोई विरोध मानता हो, जानेसे कल्याण नहीं होता। फिर माता पिता, भाई-बंधु, मित्र आदि स्नेही ही यदि विरोध मानने लगे हों तब तो उनके समान कोई दूसरा शत्रु हो ही नहीं सकता। यहाँ तो कल्याणकी बातही क्या, प्राणही बचना असंभव है। पुनः, 'कोई' का भाव कि मित्र आदि न भी वैर मानते हों पर उनके यहाँभी यदि कोई अपनेसे वैर मानता हो तो भी कल्याण नहीं होता और यहाँ तो स्वयं तुम्हारा पिताही वैर रखता है तब कल्याण कैसे सम्भव हो सकता है ?]

नोट—४ पं० सुधाकरद्विवेदी लिखते हैं कि "इनके यहाँ बड़े होनेके कारण बिना बुलायेही जाना चाहिये। क्योंकि और लोग खाली देहके साथी होते हैं और ये लोग तन, मन धन सबके साथी हैं'। मनके साथी होनेसे इनके यहाँ जानेमें कुछभी संशय नहीं। 'तदपि बिरोध०' से सूचित किया कि दक्ष पिता हैं, तुम उनके घर जासकती हो, पर तुमसे मुझसे सम्बंध है और वे मुझसे बुरा मानते हैं। इसलिए ऐसे समयमें तुम्हारा जाना मेराही जाना है; अतएव मैं मना करता हूँ।" यहाँ तिरस्कार अलंकार है।

५ 'जौं बिनु बोलें जाहु भवानी।…' इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट है कि सतीजीके वचनोंमें ये सब तर्क मौजूद हैं। जैसा ऊपर दोहेकी व्याख्यामें दिखाया गया है। भा० ४। ३। ८-१४ में सतीजीके वचन स्पष्ट हैं। यथा 'कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं निशाम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते। अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम्॥ १३।' अर्थ पूर्व दोहे ६१ की टि० २ में दिया जा चुका है।

वहाँ शिवजीने उत्तरमें यह कहाथा कि तुम्हारा कहना उचित है पर जब स्वजन अभिमानजनित क्रोधके कारण दोषभरी दृष्टिसे देखते हों तो वहाँ जानेपर वह क्रूरदृष्टिसेही देखता है। उसके कुटिल कुवाक्य-रूपी बाणोंसे मर्मस्थान विद्ध हो जानेसे दिनरात संताप और व्यथा होती रहती है। ऐसे लोगोंके यहाँ, यह समझकर कि ये हमारे बांधव हैं, कभी न जाना चाहिए। वह हमसे द्वेष रखता है, अतः तुम्हारा मान न करेगा। यथा—'त्वयोदितं शोभनमेव शोभने अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु। ते यद्यनुत्पादित दोष दृष्टयो बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना॥ १६।"' नैतादृशाना स्वजन व्यपेक्षया गृहान्प्रतीयादनवस्थितात्मनाम्। येऽभ्यागतान्वक्रधियाभिचक्षते आरोपित भ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः॥ १८। "स्वाना यथा वक्रधिया दुरुक्तिभिर्दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः॥ १६।' ☞ 'कल्याण न होगा' यह बात श्लोक २५ में स्पष्ट कही है, यथा—'यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति। संभावितस्य स्वजनात्पराभवो यदा स सद्यो मरणाय कल्पते॥' अर्थात् यदि मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी तो कल्याण न होगा। क्योंकि प्रतिष्ठित मनुष्य-का स्वजनों द्वारा अपमान शीघ्र ही मरणका कारण हो जाता है।

भाँति अनेक संभु समुझावा। भावी बस न ग्यानु उर आवा॥ ७॥
कह प्रभु जाहु जो बिनहिं बोलाएँ। नहिं भलि बात हमारें* भाएँ॥ ८॥

* हमारेहि—१७२१, १७६२, छ०, कोदवराम। हमारें—१६६१, १७०४।

दोहा—कहि ‡ देखा हरि जतन बहु रहैं न दच्छकुमारि ।
दिए मुख्य गन संग तब बिदा कीन्ह त्रिपुरारि ॥ ६२ ॥

अर्थ—शिवजीने अनेक प्रकारसे समझाया (पर) होनहारवश उनके हृदयमें बोध न हुआ । ७ । प्रभु (शिवजी) ने कहा कि यदि तुम बिना बुलाए जाती हो तो हमारी समझमें यह बात अच्छी नहीं है । ८ । (जब) शिवजीने बहुत प्रकारसे कहकर देख लिया कि दक्षकी कुमारी किसी प्रकार न रहेगी तब त्रिपुरारि महादेवजीने मुख्यगण साथ देकर उनको विदा कर दिया । ६२ ।

टिप्पणी—१ *'भाँति अनेक संभु समुझावा'* इति । 'कहेहु नीक मोरेहु मन भावा' से 'नहिं भलि बात हमारें भाएँ' तक जो समझाया यही बहुत भाँति समझाना है । सतीजीने जो कहा कि 'पिता भवन उत्सव परम जौं प्रभु आयसु होइ' उसके उत्तर में कहा कि 'कहेहु नीक मोरेंहु मन भाया । यह अनुचित नहिं नेवत पठाया ।' यह कहकर उसका अनौचित्य दिखाया कि 'जौं बिनु बोलें जाहु भवानी । रहै न सील सनेहु न कानी ।' यदि कहो कि भूलगए तो उसपर कहा कि भूल नहीं गए, जान बूझकर 'बिसरा' दिया । फिर बिसरानेकी पुष्टि की कि 'दच्छ सकल निज सुता बोलाईं । हमरें बयर तुम्हौं बिसराईं ।' आपसे वैर क्यों मानते हैं ? इसका उत्तर दिया, वैरका कारण बताया कि 'ब्रह्मसभा हम सन दुखु माना' । यह तो बहुत दिन की बात होगई, *अब उसका खयाल थोड़ेही होगा ? उसपर कहते हैं कि यह बात नहीं है वह तो 'तेहि तें* अजहुँ करहिं अपमाना ।' पिताके घर जानेमें अपमान न समझना चाहिये, बिना बोलाए जाना उचित है; उसपर कहा कि यह ठीक है 'तदपि बिरोध मान जहँ कोई । तहाँ गए कल्यान न होई ।' इत्यादि अनेक भाँति समझाना है । अन्य ग्रंथोंमें भी जो और कहा गया हो वहभी 'अनेक' में लेसकते हैं ।

२ 'भावी बस न ग्यान उर आवा' इति । इस कथनसे सूचित होता है कि सतीजी यही समझती हैं कि हमारे पिता इनसे वैर नहीं मानते और न इनका अपमान करते हैं, ये जाने देना नहीं चाहते, इसीसे ऐसा कहते हैं । यज्ञमें जाकर शिवजीका भाग वहाँ न देखनेपर जो कहा गया है कि 'तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ । *प्रभु अपमानु समुझि उर दहेऊ ।' उससे यह आशय स्पष्ट झलकता है कि सतीजीने शिवजीकी बात* झूठ समझी थी ।

☞ महात्मा लोग हितकेलिये अनेक प्रकारसे समझाया करते हैं । इसी तरह श्रीहनुमानजी, विभीषणजी आदिने रावणको समझाया । यथा 'जदपि कही कपि अति हित बानी । भगति बिबेक बिरति नय सानी ॥०', 'बुध पुरान श्रुति संमत बानी । कही बिभीषन नीति बखानी ॥' जिसके हितकी कही जाय यदि वह उपदेश न माने तो इसमें महात्माका दोष ही क्या ?

'भावी बस' कहनेका भाव कि सतीजी पहले शिवजीसे झूठ बोलीं, यथा 'मेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा ।५६।', *यहभी भावीवश था, यथा 'हरि इच्छा भावी बलवाना । हृदय बिचारत संभु सुजाना ॥५६।६॥'* और अब शिवजीको झूठा समझीं । सतीजीका झूठ बोलना और शिवजीको मिथ्यावादी समझना, दोनोही असम्भव हैं । यही सूचित करनेकेलिये दोनों जगह 'भावीवश' कहा ।

३ 'कह प्रभु जाहु जो बिनहि बोलाए०' इति । तात्पर्य कि तुम अपने मनसे जो चाहो सो करो, हम आज्ञा नहीं दे सकते । अनेक भाँति समझानेपरभी जब सतीजी न बोलीं और न यह कहा कि 'बहुत अच्छा मैं न जाऊँगी' तब शिवजीने यह बात कही कि बिना बुलाए जाना हमारे विचारसे अच्छा नहीं है । शिवजीने भावीकी प्रबलता समझकर यह न कहा कि तुम न जाओ, हम नहीं भेजते किंतु यही कहा कि जाना हमारे विचारमें अच्छा नहीं है । *'बिना बुलाए जाना अनुचित है'* इसीसे शिवजी बारंबार यह बात कहते हैं । यथा 'यह अनुचित नहिं नेवत पठावा', 'हमरें बयर तुम्हौं बिसराईं', 'जौं बिनु बोले जाहु

‡ करि—पाठान्तर ।

भवानी। रहै न सीलु सनेहु न कानी', 'तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गए कल्यान न होई' तथा यहाँ 'जाहु जौ बिनहि बोलाए। नहि भलि बात हमारें भाए।'

☞ प्रथम उनका मन रखनेकेलिये, मनुहारकेलिये कहा कि 'कहेहु नीक मोरेहुँ मन भावा।' और अब साफ़ जवाब देते हैं कि बिना बुलाए जाना अच्छा नहीं है।

नोट—१ यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि 'शिवजी भावीकी प्रबलता समझते थे, भविष्य जानते थे तब उसमें रुकावट क्यों डालते हैं ?' इसका समाधान यह किया जाता है कि यहाँ शिवजी लोकमान-मर्यादाके अनुकूल शिक्षा दे रहे हैं। सतीका अपमान होना अपनाही अपमान है। रही, भावी। सो तो अमिट है। सतीजी मानेंगी ही क्यों ? वे इससे उपदेश देरहे हैं कि कर्तव्य करना अपना धर्म है, उससे न चूकना चाहिये और फल तो हरि इच्छानुसारही होगा। देखिए, वसिष्ठजी जानते थे कि अभी तो राज्य होना नहीं है फिरभी उन्होंने राजासे यह बात नहीं कही, बल्कि राजाके 'नाथ रामु करिअहि जुवराजू। कहिअ कृपा करि करिअ समाजू।' इत्यादि बातोंके उत्तरमें यही कहा कि 'बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु। सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुवराजु॥ २ ४।' उन्होंने राजाको कर्त्तव्य करनेको कहा और श्रीरामजीको संयम करनेको कहा। श्रीरामजीको इस प्रकार दो दिन उपवास होगया। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि शिवजी भावीकी प्रबलता समझते हैं, इसीसे यह नहीं कहते कि 'न जाओ' क्योंकि ऐसा कहने पर यदि जायँ तो पतिकी आज्ञाका स्पष्ट उल्लंघन होगा।

टिप्पणी—४ 'कहि देखा हर जतन बहु०' इति। (क) यहाँ शिवजीका कोमल स्वभाव दिखा रहे हैं कि आज्ञा भंग करनेपरभी उन्होंने न तो कठोर वचन कहे, न भय दिखाया, किन्तु सतीकेही मनकी बात रक्खी। (ख) 'कहि देखा हर जतन बहु' अर्थात् बहुत युक्तियों द्वारा, बहुत प्रकारसे कहकर जहाँतक सम-मानेकी सीमा है वहाँ तक समझाया। 'रहै न दच्छकुमारि' का भाव कि इस समय उसकी दक्षमें प्रीति है, पतिको त्यागकर वहाँ जानेपर तुली है। [पुनः भाव कि दक्ष हठी था वैसेही इस समय इनका हठ है तो आश्चर्यही क्या ? आखिर उसीकी तो लड़की हैं। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि "दक्षकुमारीका भाव यह है कि 'दक्षको बुरी रीतिसे मारनेवाली है', उसको मारनेकेलिये जाना है।" (मा० प०)]

नोट—२ 'रहै न' से यहभी जनाया कि यदि बलपूर्वक रोकते हैं तो यह प्राण देदेंगी और जाने देते हैं तो वहाँ इसके देहत्यागकी संभावना है। इससे बलपूर्वक रोकना उचित न समझा। यथा 'एतावदुक्त्वा विरराम शङ्करः पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन्। सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवान्निष्क्रामती निर्विशती द्विधास सा। भा० ४ ४. १।'

☞ भा० ४।४ में लिखा है कि सतीजी शिवजीकी आज्ञा भंगकर उनको अकेले छोड़कर पिता के यहाँ अकेलीही चल दीं, उनको प्रणाम तक न किया था और न उनकी परिक्रमाही की। इसीसे वहाँ जाकर उनका फिर लौटना न हुआ। यथा 'न ननाम महादेवं न च चक्रे प्रदक्षिणम्। अतएव हि सा देवी न गता पुनरागता।' सतीजीके चलदेनेपर मणिमान आदि गणोंको भूषणवस्त्र आदि सहित शिवजीने भेजा। यहाँपर सतीजीकी उच्छृङ्खलता स्वच्छन्दता भागवतकारने दिखाई है जो एक पतिव्रता स्त्रीमें न होना चाहिए। परन्तु पूज्य भक्त कवि तुलसीदासने सतीशिरोमणिसे अमर्यादित कर्म नहीं करवाये। उन्होंने सतीका आज्ञा माँगना लिखा है और आज्ञा देनेकाही आग्रह किया है। 'जौं प्रभु आयसु होइ तौ मैं जाउँ' साफ कह रहे हैं कि यदि आज्ञा होगी कि 'न जाओ' तो मैं न जाऊँगी, जब शंकरजीने देखा कि ये अवश्य जाना चाहती हैं और बिना आज्ञा जाएँगी भी नहीं, यदि हम हठ करेंगे तो इनके प्राणही न चलेजायँ, तब उन्होंने सेवकों को साथकर उनको भेज दिया। पूज्य कविने स्त्रीका आदर्श रखनेके लिये ही लिखा कि 'कहि देखा''दिये मुख्य गन''बिदा कीन्ह त्रिपुरारि'। इसीतरह झूठ बोलनेमें तथा यहाँ भावीको आगे लाकर उसपर लाञ्छन धर दिया है। स्कंद पु० में सतीजीने कहा है कि दुरात्मा पिताने आपको आमन्त्रित नहीं किया; उसके मनमें

आपके प्रति सद्भाव है या दुर्भाव यह सब जाननेके लिये मैं वहाँ जाना चाहती हूँ; अतः आप आज्ञा दें। ऐसा सुनकर शिवजीने आज्ञा दी और उनके साथ साथ साठहजार रुद्रगण कर दिए (माहेश्वर के० खं० २)। यह कथा मानसके अनुकूल है।

टिप्पणी—५ 'दिये मुख्य गन संग तब०' इति। जो अपना परम विश्वासी और सेवामें कदापि न चूकनेवाला होता है वही स्त्रीके साथ भेजा जाता है, इसीसे यहाँ 'मुख्य गणों' को साथ करना कहा। गण साथ इससे किए कि सतीजीने कहा था कि आज्ञा हो तो सादर देखने जाऊँ, अर्थात् मुझे आदरपूर्वक भेजिए। अतः आदरार्थ मुख्य गण साथ कर दिये। पिताके घर जानेपर सतीका अनादर होगा, इस विचारसे आज्ञा न दी।

नोट—३ मुख्य गण साथ करनेके और भाव ये हैं कि—(क) लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये ऐसा किया जिसमें यह न प्रकट हो कि पतिसे रूठकर आई हैं, उनकी मर्जीके विरुद्ध आई हैं, अथवा पति भी इनका आदर नहीं करता। इत्यादि। (ख) दक्षसे वैर है, अतः शस्त्रास्त्रमें जो निपुण हैं उन्हींको साथ भेजा। भा० ४। ४। ४ में लिखा है कि सतीजीको जाते देख भगवान शंकरके मणिमान् और मद आदि सहस्रों अनुचरगण नन्दीश्वरको आगे कर अन्य पार्षदों और यक्षोंके सहित बड़ी शीघ्रता और निर्भयतासे उनके साथ हो लिये। यथा 'तामन्वगच्छन्द्रुतविक्रमा सतीमेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः। सपार्षदयक्षा मणिमन्मदादयः पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथा ॥ ४ ॥'—मानसकविका सँभाल देखिये कि वे शंकरजीका सादर बिदा करना लिखते हैं, न कि पीछेसे अनुचरोंका जाना।

४ आदरपूर्वक भेजना 'दिये मुख्य गन' और 'बिदा कीन्ह' से स्पष्ट है। नन्दीश्वरपर सवार कराके और श्वेत छत्र, चँवर, माला और दर्पण, गेंद आदि क्रीडाकी सामग्रियाँ तथा दुंदुभी, शंख आदि गाने बजानेका सामान साथ कर दिया। यथा 'तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुजश्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः। गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभिर्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः ॥ भा० ४। ४। ५।'

नोट—५ 'बिदा कीन्ह त्रिपुरारि' इति। भाव कि—(क) जैसे त्रिपुरके वधमें रूखे हो गए थे वैसे ही रूखे होकर इनको बिदा किया। (पं० रा० कु०)। (ख) ये त्रिपुरके शत्रु हैं, इनको दक्षसे क्या भय हो सकता है। काशीखण्डमें लिखा है कि जब सतीजी पिताके घर चलीं उस समयकी साअत ऐसी थी—शनिवार, ज्येष्ठानक्षत्र, नवमीतिथि, व्यतिपात योग, धनिष्ठा नक्षत्रके आधे भाग बीतनेपर उत्पन्न होनेसे सतीका पाँचवाँ तारा था। यथा—'अद्य प्राचीं यियासं त्वां वारयेत् पङ्गुवासर। नक्षत्रं च तथा ज्येष्ठा तिथिश्च नवमी प्रिये॥ अद्य सप्तदशो योगो वियोगोऽद्यतन शुभे। धनिष्ठार्धसमुत्पन्ने तव तारा च पञ्चमी ॥' (सू० प्र० मिश्र)। (ग) 'तारकासुरके वधका समय पहुँच गया है। इसलिये 'तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती' इस चरणका ध्यानकर ग्रन्थकारने यहाँभी महादेवजीको 'त्रिपुरारि' कहा। दोहा ५७ की चौपाइयोंमें इसकी व्याख्या देखो।' (सु० द्विवेदी)। 'त्रिपुर ऐसे भीषण दानवके संहारकर्त्ता सतीका नाश जानते हुए भी मनमें क्षोभ न लाए, तुरत बिदा कर दिया। यहाँ परिकराङ्कुर अलङ्कार है।' (वीर)। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि त्रिपुरारिका बिदा करना कहकर जनाया कि लौटेंगी नहीं।

पिता भवन जब गईं भवानी। दच्छ त्रास काहु न सनमानी ॥ १ ॥
सादर भलेहिं मिली एक माता। भगिनीं मिलीं बहुत मुसुकाता ॥ २ ॥
दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहि बिलोकि जरे सब गाता ॥ ३ ॥

अर्थ—जब भवानी (सती) पिताके घर पहुँचीं तब दक्षके डरसे किसीने उनका सम्मान न किया।१। केवल एक माता तो भलेही आदरसे मिली। बहिनें बहुत मुस्कुराती हुई मिलीं।२। दक्षने कुछ कुशल (तक) न पूछी। सतीजीको देखकर उसके सारे अंग जल उठे (सर्वाङ्गमें आगसी लग गई। उसे बड़ी कुढ़न हुई।३।)

टिप्पणी—१ 'पिता भवन जब गईं भवानी ।०' इति । (क) 'भवानी' का भाव कि ये भव (शंकर-जी) की पत्नी हैं इसीसे इनको न्योता न गया था, ये बिना बुलाए गईं तो भवके ही सम्बन्धसे दक्ष आदि किसीने इनका सम्मान न किया । (ख) 'दच्छ त्रास काहु न सनमानी' अर्थात् और लोग इनका सम्मान करते (क्योंकि ये भवानी हैं) पर दक्षके डरसे न किया। यथा 'तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियद्विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः । भा० ४ । ४ । ७ ।' इस कथनसे जनाया कि दक्ष शिवजीसे विरोध मानता है—यह सबको मालूम है । इनका सम्मान करके दक्षका कोप-भाजन कौन बने ?

नोट—१ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'पिता भवन जब गईं' से जनाया कि सतीजी पहले यज्ञशालामें नहीं गईं, सीधी बापके घर गईं । भव (शिवजी) को फिर सतीने ग्लानि दी, इसलिये 'भवानी' कहा । 'दक्ष त्रास' से जनाया कि दक्षके लोगोंने निमन्त्रणके समय महादेव और सतीको निमंत्रण देनेके लिये बहुत विनय की थी पर दक्षने सभीको डाँट दिया कि खबरदार उनका नाम न लेना ।"

टिप्पणी—२ 'सादर भलेहि मिली एक माता ।०' इति । (क) 'एक माता' का भाव कि कोई दूसरा आदरसे न मिला । [माता एक तो मनुशतरूपाजीकी कन्या, दूसरे दक्षकी पत्नी, इसीसे उसको भय न हुआ । दूसरे माताको तो कन्या अति प्यारी होती ही है। अतः वह सादर मिली । भा० ४ । ४ । ७ में लिखा है कि माता बड़ी प्रसन्न हुई । सतीजीको उसने स्नेहपूर्वक गले लगा लिया । उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर आए, कंठ गद्‌गद होगया । कुशलप्रश्न किया और आसन, अलंकार आदि उपहारमें दिये यह सब बात 'सादर' शब्दसे वक्ताने जना दी । यथा 'ऋते स्वसॄर्वै जननीं च सादराः प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा ॥ ७ ॥ सोदर्य-संप्रश्नसमर्थवार्तया मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम् । दत्तां सपर्यां वरमासनं च सा नादत्त पित्राऽप्रतिनन्दिता सती ॥ भा० ४ । ४ । ८ ।' पर पितासे अपमानित होनेके कारण इस आदरपर सतीजीने ध्यान न दिया। (ख) 'भलेहि' इति । 'भलेही' बोली है । कोई-कोई इसका अर्थ 'अच्छी तरहसे' यह करते हैं । पर वास्तव में यह मुहावरा है । इस शब्दको देकर सूचित करते हैं कि और किसीने निरादर भले ही न किया हो पर आदर नहीं किया । लोकरीति है कि स्त्रियाँ आगे जाकर लाती हैं, चादर उतारती हैं, भेंटती हैं । यह सब आदर है । 'भलेही' कहकर जनाया कि बहिनें आकर मिलीं तो जरूर पर आदरसे नहीं ।] (ग) 'भगिनीं मिलीं बहुत मुसुकाता' इति । 'मिलीं' बहुवचन है, क्योंकि दक्षकी बहुत कन्यायें थीं । ४८ (६), ६२ (२) देखिये । 'बहुत' देहलीदीपक है । बहुत भगिनीं, बहुत मिलीं, (पर) 'बहुत मुसुकाता मिलीं' । बहिनें मिलीं, इस कथनसे जनाया कि उनकोभी दक्षका त्रास नहीं है । इससे ये भी आकर मिलीं । और कोई दक्षके त्राससे पास भी न गया । 'बहुत मुसुकाता' का भाव कि ये सब निमंत्रित थीं और सतीजी निमन्त्रित न थीं । मुसुकाना भी निरादर ही सा है ।

नोट—२ 'मुसुकाता' के और भाव—(क) इसमें व्यंग्य यह है कि वह घमण्ड कहाँ गया कि ब्रह्म-सभामें पिताजीको देखकर खड़े न हुए थे और अब यज्ञमें नेग-जोग लेनेको पत्नीको भेजा है ! वे समझती हैं कि शिवजीने भेजा है । (रा० प्र०, मा० प०) । (ख) 'श्रीमद्भागवतमें भगिनीकृत अपमानका उल्लेख नहीं है पर काशीखण्डमें यह लिखा है कि बहिनोंने अभिमान किया । इससे सतीजीने उनसे बातभी न की, पिताके पास गईं । (मा० प०)

टिप्पणी—३ 'दच्छ न कछु पूछी कुसलाता ।०' इति । (क) भाव कि जिन्हें मिलना चाहिये, वे तो आकर मिलीं । दक्षको कुशल प्रश्न करना चाहिये था सो उसने कुछ न पूछा । (ख) 'जरे सब गाता' अर्थात् नखसे शिखापर्यन्त रिस व्याप गई । यथा 'हँसत देखि नखसिख रिस व्यापी ।' जलना क्रोधका धर्म है । सब गात जलने लगे अर्थात् सतीको देखकर उनके मनमें बड़ा क्रोध हुआ । (ग) शिवजीने जो कहा था कि 'हमरे बयर तुम्हौं बिसराई', वह वैर भाव यहाँ देख पड़ा कि दक्षने इन्हें शत्रुभावसे देखा । जो शिवजीने कहा था कि तुम्हारा शील, स्नेह और कानि न रहेगी सो न रहगए । दक्षके मन, तन और वचन

तीनोंकी दशा यहाँ दिखाई कि सतीको देखकर मनमें क्रोध हुआ, तनसे जल उठा और वचनसे कुशल भी न पूछी।

नोट—३ 'सतिहि बिलोकि जरे०' का भाव कि अपनी कन्याको देखकर पिता प्रसन्न हुआ करते हैं, यह मानवप्रकृति है। सतीजीभी यही समझती थीं कि पिता हमें देखते ही प्रसन्न होंगे और सब वैर भूल जायँगे, पर दक्षको तो इन्हें देखते ही उनके पति द्वारा किया हुआ अपमान भड़क उठा। और वह अपनी कन्या सतीहीको देखकर जल उठा। इसीसे यहाँसे 'सती' नाम दे चले। उसीके सम्बन्धसे यज्ञ देखने गईं, नहीं तो यहाँ क्यों आतीं?

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी 'जरे सब गाता' को सतीजीमें लगाते हैं। वे लिखते हैं कि—'पिताके न पूछनेपर सतीजीको दुःख हुआ कि माँ-बापके लिये तो सब सन्तान समान हैं, इसलिये माताने मेरा यथोचित सम्मान किया पर बापने बाततक न पूछी। लोगोंने सम्मान न किया, बहिनें चुटकी लेते मिलीं और बापने पूछा भी नहीं—ये मानों क्रमसे तीन अग्नि दवाग्नि, बड़वाग्नि और जठराग्नि लगीं जिससे सतीकी सब देह भीतर बाहर जलने लगी।' स्कंद पु० में तो दक्षने यह कह डाला है कि तुम यहाँ आई ही क्यों? ठहरो चाहे चली जाओ। यह भावभी 'जरे सब गाता' में आ जाते हैं।

विनायकी टीकाकारने यहाँ एक फकीरकी आजमायी हुई (अनुभूत) कुछ नसीहतें (उपदेश) दी हैं। वे ये हैं—'लग्गी पिताकी। दया माताकी। होतीकी बहिन। अनहोतीका यार। आँखकी त्रिया। गाँठका दाम—जब तब आवे काम। अनूठा शहर। सोवे सो खोवे, जागे सो पावे।'

सतीं जाइ देखेउ तब जागा। कतहुँ न दीख संभु कर भागा॥ ४॥
तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ। प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ॥ ५॥
पाछिल दुखु न* हृदय अस ब्यापा। जस यह भएउ महा परितापा॥ ६॥

अर्थ—तब सतीजीने जाकर यज्ञ देखा। (तो वहाँ) कहीं शिवजीका भाग न देखा। ४। तब शंकरजीने जो बात कही थी वह चित्तमें चढ़ी (उनके हृदयमें चेत हुआ, बात जम गई)। स्वामीका अपमान समझकर उनका हृदय जलने लगा। ५। पिछला दुःख उनके हृदयमें वैसा न लगा जैसा यह महाघोर दुःख हुआ। ६।

टिप्पणी—१ 'सतीं जाइ देखेउ तब जागा।०' इति। 'तब' अर्थात् जब दक्षकी यह दशा देखी तब सतीजी वहाँसे चल दीं कि यज्ञ देखें, हमारे पतिका वहाँ भाग है या नहीं। 'कतहुँ न दीख' से जनाया कि सारे यज्ञशालामें खोजती फिरीं पर कहीं न देखा। ('कतहुँ' से भाव यह भी है कि यद्यपि ब्रह्माजी और विष्णुभगवान् भी न गए थे तथापि उनके भाग वहाँ रक्खे थे पर शंकरजीका भाग कहीं न था।)

२ 'तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ।०' इति। (क) 'तब' का भाव कि जब शिवजीने कहा था कि 'ब्रह्म सभा हमसन दुखु माना। तेहि तें अजहुँ करहिं अपमाना।' तब न माना था अब जब आँखों देख लिया कि शिवजीका भाग नहीं है तब माना—यह सतीजीका स्वभाव दिखाया। 'तब चित चढ़ेउ०' अर्थात् तब ज्ञान हुआ, होश आया कि वे झूठ नहीं कहते थे, सत्य कहते थे, हमने झूठ मान लिया था। 'जो संकर कहेऊ' अर्थात् यह कि हमसे वैर है, इसीसे अब भी हमारा अपमान करते हैं। (ख) भाग=अंश, हिस्सा। चित्त पर चढ़ना=ध्यानमें आना, मनमें बसना, समझमें आना। (ग) 'प्रभु अपमान समुझि०' अर्थात् अपने अपमानसे हृदयमें संताप न हुआ था। (जब दक्षने सतीजीका अपमान किया तब वक्ताओंने उनका क्रोध होना नहीं कहा)। पर स्वामीका अपमान समझकर संतप्त हो गईं। शिवजीके सब वचन सत्य निकले।—

* अस हृदय न—१७२१, १७६२, छ०, को० राम। न हृदय अस—१६६१, १७०४।

शिववचन		यहाँ सिद्ध हुआ
दच्छ सकल निज सुता बोलाईं	१	भगिनी मिलीं बहुत मुसुकाता
हमरे बयर तुम्हौ बिसराईं	२	दच्छ न कछु पूछी कुसलाता
ब्रह्मसभा हम सन दुखु माना । तेहि० ।	३	कतहुँ न दीख संभु कर भागा
जौं बिनु बोले जाहु भवानी ।	४	दच्छ त्रास काहु न सनमानी ।
रहै न सीलु सनेह न कानी ॥		दच्छ न कछु पूछी कुसलाता ।
तदपि बिरोध मान जहँ कोई ।०	५	अस कहि जोग अगिनि तनु जारा

नोट—१ 'पाछिल दुखु न हृदय अस ब्यापा ।०' इति। पति परित्याग दुःख भी भारी दुःख है। उसे भी दारुण दुःख कहा है; यथा 'एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुख भारी।' परन्तु पतिपरित्यक्ता होनेकी बात कोई जानता न था और यहाँ यज्ञमें तो सुर, मुनि किन्नर, गन्धर्व, नाग, इत्यादि सभी निमन्त्रित होकर आए हैं। त्रिदेवको यज्ञोंमें बराबर भाग मिला करता था पर इस यज्ञमें शिवजीका अपमान किया गया, उनको भाग नहीं दिया गया, यज्ञभाग पानेवाले देवजातिसे शिवजीका बहिष्कार हो गया। यह बात सभी जान गए। इससे अब अधिक परिताप हुआ। क्यों न हो? 'संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥' सत्य ही है। भागवत और गीताका भी यही मत है। यथा 'अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्। सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ निंदन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ गीता २।' अर्थात् हे अर्जुन! लोग तुम्हारी अक्षय दुष्कीर्ति गाते रहेंगे। मान्य पुरुषोंके लिए अपयश तो मृत्युसे भी बढ़कर है। जिन लोगोंमें तुम्हारा मान है, उन्हींकी दृष्टिमें तुम लघु हो जायंगे। शत्रु तुम्हारे सामर्थ्यकी निंदा करेंगे। सोचो न कि इससे बढ़कर क्या दुःख हो सकता है। पुनश्च यथा 'सभावितस्य स्वजनात्पराभवो यदा स सद्यो मरणाय कल्पते। भा० ४। ३। २५।' गोस्वामीजीने भी यही बात विनय पद २४ में दर्शाई है कि पंक्तिसे अलग किया जाना बड़ा अपमान है और शोचकी बात है। यथा 'खग गनिका गज ब्याध पाँति जहँ तहँ हौंहू बैठारो। अब येहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो फारो।' काशी खण्डमेंभी कहा है कि जातिमें अपमान होनेसे जीवन धिक्कृत हो जाता है। यथा—'धिग् जीवितं शास्त्रकलोज्झितस्य धिग् जीवितं चोद्यमवर्जितस्य। धिग् जीवितं ज्ञातिपराजितस्य धिग् जीवितं व्यर्थमनोरथस्य।' इसीसे और सब दुःख और अपमान सहलिए गए पर यह अपमान न सहा गया। पतिपरित्याग अकथनीय दारुण दुःख था, पर उससे शरीर न छूटा था और 'प्रभु अपमान' के दुःखसे शरीर छूट गया, इससे यह सिद्ध है कि यह दुःख उससे अधिक है। पतिपरित्यागका दुःख अपना निजका दुःख है और पति अपमान जनित दुःख पतिके सम्बन्धका दुःख है। पतिव्रताको अपने दुःखकी अपेक्षा दूसरेके द्वारा किए हुए पतिका अपमान अवश्य ही कहीं अधिक असह्य होना ही चाहिए। इसीसे इसे 'महापरिताप' कहा। अन्यकी 'अधिक संताप' संज्ञा थी।

'प्रभु-अपमान' का भाव कि साधारण पुरुषका अपमान हो तो वह सह लेता है पर जो समर्थ है, ऐश्वर्यवान् है, जिसकी धाक बँधी हुई है उसका अपमान हो तो मरनेके तुल्य है। 'समुझि' का भाव कि ऊपर जो उपर्युक्त विचार सतीजीके हृदयमें उठे इसीसे 'अकथनीय दारुण दुःख' से भी उसकी मात्रा बढ़ गई।

२ श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'सतीजीके चार अग्नि लगीं। 'दच्छत्रास काहु न सनमानी' —यह लोगोंका सम्मान न करना पहली अग्नि है। बहिनोंका व्यंग्यसे मुसकुराना, चुटकी लेते मिलना दूसरी अग्नि है। बापने बाततक न पूछी, यह तीसरी अग्नि है। ये क्रमसे दवाग्नि, बड़वाग्नि और जठराग्नि लगीं। इनके लगनेसे सब देह भीतर बाहर जलने लगी। और अब चौथी अग्नि महादेवापमानसे संसारका संहार करनेवाली प्रलयाग्नि हृदयमें लगी। अब कैसे शान्त हो। इसीसे ग्रन्थकारने 'महा परितापा' कहा। एकके नाराज होनेसे दूसरा शरण देता है पर जातिमात्रके अपमानसे मनुष्यको कहाँ शरण? जातिके अपमानसे

घरका पड़ा मुर्दा सड़ा करता है, अतएव डोमड़ेके हाथसे मरनेपर भी दुर्गति होती है। इसलिये ग्रंथकारने उसे सबसे कठिन कहा। यह सब समझकर इन चारों अग्नियोंको और भभकानेके लिये ईंधनके ऐसा सतीका महाक्रोध भड़क उठा।'

३ पिताकृत अपमान उपमेयरूप है और पतिपरित्याग उपमानरूप है। उपमानसे उपमेयको अधिक दुःखदाई कहना 'व्यतिरेक अलंकार' है। व्यापना-लगना, असर करना, प्रभाव डालना।

जद्यपि जग दारुन दुख नाना। सब तें कठिन जाति अवमाना ॥७॥
समुझि सो सतिहि भएउ अति क्रोधा। बहु बिधि जननी कीन्ह प्रबोधा ॥८॥

दोहा—शिव अपमानु न जाइ सहि हृदय न होइ प्रबोध।
सकल सभहि हठि हटकि तब बोलीं बचन सक्रोध ॥ ६३ ॥

अर्थ—यद्यपि संसारमें भयंकर दुःख अनेक प्रकारके हैं (तो भी) जाति अपमान सबसे अधिक कठिन (दुःख) है। ७। यही समझकर सतीजीको अत्यन्त क्रोध हुआ। माताने बहुत तरहसे उनको समझाया बुझाया। ८। परन्तु शिवजीका अपमान सहा नहीं जाता और न मनको संतोषही होता है तब वे सारी सभाको हठपूर्वक रोककर क्रोधयुक्त वचन बोलीं। ६३।

टिप्पणी—१ 'जद्यपि जग दारुन दुख नाना।०' इति। जाति अपमान सबसे अधिक कठिन है। यह सतीजीके द्वारा प्रगट दिखाया। क्योंकि सतीजीने दारुण दुःख तो सह लिया, यथा 'एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुख भारी। ६०।' पुनः 'जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा।' यह दुःख भी सह लिया। ब्रह्मसभामें अपमान हुआ वह भी सह लिया। पर यह जाति अपमान है अतः न सहा गया।

२ 'समुझि सो सतिहि भएउ अति क्रोधा।' इति। (क) क्रोध दो बातोंपर हुआ। प्रथम तो अपना भाग न पाया, यह समझकर 'क्रोध' हुआ और अब जातिमें अपमान हुआ यह समझकर 'अति क्रोध' हुआ। दो बातें समझकर क्रोध हुआ—एक तो पतिअपमान, दूसरे जाति अपमान। इसीसे दो बार 'समुझि' क्रिया दीगई 'प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ' तथा 'समुझि सो सतिहि भएउ अति क्रोधा।' [नोट—अथवा, शिवजीने जो कहा था कि दक्ष हमारा अपमान करता है उसे यहाँ यज्ञमें भाग न देखनेपर सत्य जान कर हृदयमें आग लग गई। फिर विचारने लगीं कि यज्ञमें भाग न पाना तो जातिमें अपमान है, अतः 'अति क्रोध' हुआ। तात्पर्य कि यहाँ शिव-अपमानही जाति अपमान है। ये दो बातें नहीं हैं, एकही हैं। इसीसे अगले दोहेमें 'शिव अपमान न जाइ सहि' यही कहा, दूसरेको नहीं। वास्तवमें यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। पहिले एक साधारण बात कहकर कि 'पाछिल दुखु न हृदय अस ब्यापा।०' फिर उसका विशेष सिद्धान्तसे समर्थन किया गया है कि 'जद्यपि जग दारुन दुख नाना।०'। दो बार 'समुझि' इससे लिखा कि 'प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ' यह कहकर फिर वक्ता उस परितापका कारण और स्वरूप कहने लगेथे, अब फिर वहीं से प्रसंग मिलाते हैं कि 'समुझि सो०'। भा० ४।४।६ में 'अतिक्रोध' का उल्लेख इस प्रकार है कि ऐसा क्रोध था मानों अपने रोषसे समस्त लोकोंको भस्म करदेंगी। यथा 'अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ। अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा ॥ ६ ।']

३ 'बहु बिधि जननी कीन्ह प्रबोधा' इति। इससे पाया गया कि सतीसे भेंट होनेके बाद तथा दक्षके बात न करनेपर जब सतीजी यज्ञमें गईं तो माता प्रसूतिजी स्नेहवश वहाँतक इनके पीछेपीछे साथही गईं। सतीजीके मुखकी चेष्टासे जान लिया कि इनको भारी दुःख हुआ है, इसीसे समझाने लगीं। 'अति

* अवमाना—१६६१। अपमाना—पाठान्तर।

क्रोध' है इसीसे 'बहु बिधि' समझाना पडा और 'प्रकर्ष करके' समझाया पर प्रबोध न हुआ, इसका कारण आगे कहते हैं कि 'शिव अपमान न जाइ सहि'। अत्यन्त क्रोध है, इसीसे ज्ञान न हुआ।

नोट—१ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'बोध' के साथ 'प्र' उपसर्ग लगानेसे यह बात पाई जाती है कि माँने गोदमें लेकर बहुत लाडप्यारसे तरह तरहकी बातें कहकर समझाया। २—'कीन्ह प्रबोधा'। समझाया कि तुम्हारे पिता तो बौरा गए हैं, उनकी मति मारी गई, उनकी बातका बुरा न मानो, मैं तुम्हारी बिदाई नेग जोगसहित तुम्हारी सब बहिनोंसेभी बढचढकर करूँगी, इत्यादि।

टिप्पणी—४ 'शिव अपमान न जाइ सहि०' इति। शिवजीके अपमानसे क्रोध हुआ; यथा 'प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ'। शिव अपमान सहा नहीं जाता, इसीसे क्रोध शान्त नहीं होता। क्रोध शान्त न होनेसे प्रबोध नहीं होता। तब सभाको हठ करके रोकने लगीं। 'हठि हटकि' कहकर जनाया कि रोकनेसे नहीं मानते थे, इस लिये हठ करके वेदपाठ, होम, आदि सब यज्ञकर्म बंद कराया और उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। सभा अर्थात् जिनके निरीक्षणमें यज्ञ हो रहा था तथा उसमें भाग लेने जो देवता आये थे और शिव निन्दा की थी।

नोट—२ (क) यहाँ 'शिव' में तालव्य शकार दिया है। ऐश्वर्य बोध करानेकेलिये ऐसा किया है। उसमें भाव यह है कि "जिनका 'शिव' यह दो अक्षरोंका नाम प्रसंग वश एक बार भी मुखसे निकल जानेपर मनुष्यके समस्त पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है और जिनकी आज्ञाका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता, उन्हीं पवित्रकीर्ति, मंगलमय, संसारके कल्याणकर्त्ता, विश्वबंधु भगवान शिवका दक्षने अपमान किया', अतः सहनेयोग्य नहीं अवश्य इसको दंड देना उचित है। यथा—'यद्द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत्। पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥१४॥ यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभिर्निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः। लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिनस्तस्मै भवान्द्रुह्यति विश्वबन्धवे। १५। किंवा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने। तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत्पिशाचैर्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम् ॥१६॥ भा० ४।४।' (ख)—हटकना-रोकना, चुप करना। यथा 'तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा ।२७४।', 'डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटक हटकि मनजात। १।३७।' अवमान-अपमान। हेठी करना।

३ 'बोलीं बचन सक्रोध' इति। 'क्रोधके आठ सँघाती (साथी) हैं—'निंदा, साहस, बुरा चेतना, ईर्ष्या, दूषण ढूँढना, हानि पहुँचाना, कटुवचन और कठोरता। यथा—'पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः'।—(वि० टी०)।

> सुनहु सभासद सकल मुनिंदा। कही सुनी जिन्ह संकर निंदा ॥ १ ॥
> सो फलु तुरत लहब सब काहूँ। भली भाँति पछिताब पिताहू ॥ २ ॥
> संत संभु श्रीपति अपबादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा ॥ ३ ॥
> काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—मुनिंदा (मुनींदु, मुनींद्र)=मुनीश्वर, मुनिश्रेष्ठ। लहब=पावेगा, मिलेगा। पछिताब=पछतावेगा। अपबाद=झूठा दोष लगानेका भाव, निंदा, अपमान। मरजादा (मर्याद)=धर्म, संस्था, नियम, शास्त्राज्ञा। पराना=भाग जाना।

अर्थ—हे सभामें उपस्थित सब लोगो! हे समस्त मुनीश्वरो! सुनो। जिन जिन लोगोंने शंकरजी की निंदा की या सुनी है। १। उन सबोंको उसका फल तुरत मिलेगा। पिताभी भली भाँति पछतावेगा। २। जहाँ (कहीं) सन्त, शम्भु या श्रीपति (लक्ष्मीजी एवं जानकीजीके पति) की निंदा सुननेमें आवे, वहाँ ऐसी मर्यादा है (कि)। ३। यदि (अपना) बस चले तो उसकी जीभ काट ले, नहीं तो कान मूँदकर भाग जाय। ४।

नोट—१ पं० सुधाकरद्विवेदी एवं सू० प्र० मिश्रजी 'सभासद' को 'मुनिंदा' का विशेषण मानते हैं और यह अर्थ करते हैं—'हे सभ्य सब मुनिवरो। सुनिये।' वे लिखते हैं कि 'मुनिंदाका भाव यह है कि अभी तो सज्जन समाज में बैठे हो। आप लोग ऐसे पदपर होकर अनुचित काम कराते हैं। आपही लोग धर्माधर्म-का विवेक करते हैं। इसीलिये सतीजीने मुनीन्द्र सभ्योंको सुनाया।' मनुस्मृतिमें भी कहा है कि—'वेदोऽखिलो धर्म मूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ २। ६।' अर्थात् अखिल वेद तथा वेदज्ञोंकी स्मृति और शील तथा साधुओंका आचार और आत्माका सन्तोष—यही धर्मका मूल है। पुनश्च यथा 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्यच प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ २। १२।' अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार और आत्माको प्रिय ये चार धर्मके लक्षण हैं। वि० त्रि० जी लिखते हैं कि सभामें जानेपर यथार्थ कहना चाहिए। चुप रह जानेवाला या अन्याय करनेवाला समान पापी होता है। यथा 'सभाया न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्। विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी।'

टिप्पणी—१ 'सुनहु सभासद सकल मुनिंदा।०' इति। (क) सब सभाने हठ करके रोका है; यथा 'सकल सभहि हठि हटकि तब०।' अतः अब उन्हीं सबोंसे बोलीं। 'सुनहु' अर्थात् हमारे वचन ध्यान देकर सुनो। 'सकल' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है—'सकल सभासद' और 'सकल मुनींद्र'। (ख) 'कही सुनी जिन्ह' इति। इससे पायागया कि प्रथम किसीने कहा तब औरोंने सुना। पिताने पहले निंदा की, तब औरोंने सुना। पिताका नाम यहाँ नहीं लिया, क्योंकि उनको आगे कहेंगी। पुनः, 'जिन्ह' बहुवचन पद देकर जनाया कि पिताके अतिरिक्त सभासद और मुनीन्द्रोंमेंभी बहुतोंने (जैसे कि भृगुजी, आदि) निंदा की थी। इसीसे सभासदोंके साथभी कहना लिखा गया। (ग) 'शंकर निंदा' अर्थात् जो सबके कल्याणकर्त्ता हैं उन्हींकी निंदा की। (तब कल्याण कब हो सकता है?)।

२ 'सो फलु तुरत लहब सब काहू।०' इति। (क) 'सो फलु' अर्थात् जो फल शिवनिंदकको तथा शिवनिंदाके श्रोताको मिलता है, जो फल शिवनिंदाके कथन और श्रवणका है वह। 'तुरत लहब सब काहू' सब कोई तुरत पावेगा—यह वचन शापरूप है। इसीसे फल तुरत मिला, नहीं तो चाहे जन्मान्तरमें मिलता। निंदाका फल तुरत नहीं मिलता। यथा 'हर गुर-निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तनु सोई॥' 'होहिं उलूक संत निंदारत। मोह निसा प्रिय ज्ञान भानु गत। उ० १२१।' इसीसे आप कहती हैं कि इस धोखेमें न भूले रहना। इस निंदाका फल तुमको तुरत इसी तनमें मिलेगा, आगे जो होगा सो होगा।—[☞ कहा भी है कि 'त्रिभिर्वर्षैः त्रिभिर्मासैः त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः। अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते॥' (कहींका प्रसिद्ध श्लोक है)। अर्थात् अत्यंत उत्कट पुण्यों एवं पापोंका फल तीन वर्षों, तीन मासों, तीन पक्षों अथवा तीन दिनोंके अंतमें भोगना पड़ता है।—प्रस्तुत प्रसंगमें पहले ब्रह्मसभामें घोर पापका प्रारंभ हुआ, दक्षने मूर्खतावश शिवजीको बहुत बुरे बुरे वचन कहे और शाप दिया। फिर इस महायज्ञमें भाग न देकर उनका अपमान किया गया। फिर भी फल न मिला। इस तरह उत्कटता बढ़तीही गई जो सतीके मरण और रुद्र-गणोंके मारे जानेपर पूर्ण होगई इसीसे सब पापोंका फल तुरत सबको मिल गया।]

(ख) 'भली भाँति पछिताब पिताहू' इति। सभासदों और मुनीन्द्रोंको कहकर अब पिताको उनसे पृथक् कहती हैं। 'भली भाँति' पछतायेगा—यह कहकर जनाया कि सभासदों और मुनीन्द्रोंसे अधिक उनकी दुर्दशा होगी।—[पिता मरेगा नहीं, पर ऐसी दशा उसकी होजायगी कि वह जन्मभर पछतायगा। मरणसेभी अधिक दुःख उसको होगा। (मु० द्वि०)। उसका सिर बकरेका होजायगा। भा० ४। ५ के अनुसार वीरभद्रने दक्षका सिर तनसे अलगकर यज्ञपशुकी तरह उसको बलिकर यज्ञकुंडमें जला दिया। शिवजीके प्रसन्न होनेपर उन्होंने आज्ञा दी कि बकरेका सिर लगा दिया जावे। यथा 'प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः। ४। ७। ३।' पुनर्जीवित होनेपर उसने बहुत पश्चात्ताप किया है] 'पछताब' अर्थात् हमसे न बना, हमने बड़ा बुरा किया, हमने आपका स्वरूप न जाना। इत्यादि।

३ 'संत संभु श्रीपति अपबादा ।०' इति । (क) यहाँ संत, शंभु और श्रीपति तीन नाम कहे, क्योंकि ये तीनों एक हैं, शरीरमात्रसे पृथक् पृथक् देख पड़ते हैं । हर और हरि उपास्य हैं । संत उनके उपासक हैं । हरि हरसे उनके दास अधिक हैं, इसीसे संतको प्रथम कहा । यथा 'मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा । उ० १२० ।', 'मोतें संत अधिक करि लेखा । आ० ३६ ।' श्रीशिवजी श्रीपति के उपासक हैं; इससे शंभुको पहले कहा, तब श्रीपतिको । संत और शिव दोनों उपासक हैं, इससे दोनोंको साथ रक्खा । (ख) 'सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा' इति । भाव कि जहाँपर सुने वहीं ऐसा करे, विलंब न करे, यदि ऐसा न करे तो समझना चाहिए कि मर्यादाका नाश हुआ । क्या मर्यादा है ? यह आगे बताती हैं कि 'काटिअ·····'

४ 'काटिअ तासु जीभ जो बसाई ।०' इति । 'बसाई=बस चले, अपना काबू हो । 'जो' संदिग्धपद यहाँ रक्खा, क्योंकि जीभ काट लेना कठिन है । (अपनेसे अधिक समर्थ हुआ तो कठिन होगा । अथवा, सामर्थ्य होते हुएभी सामयिक कानूनके डरसेभी ऐसा करना कठिन हो सकता है) । प्रथम मर्यादा, धर्म वा नियम यह बताया कि जीभ काट ले । यदि 'न बसाई' बस न चले तो क्या करे ? यह दूसरे चरणमें बताती हैं । (ख) 'श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई' इति । यह दूसरा उपाय है जिससे मर्यादा भंग न हो और सुननेका पापभी न लगे । कान बंद करके भाग चले । अर्थात् कान बंद करनेसे सुन न पड़ेगा । सुननेसे बड़ा पाप होता है; यथा—'हरिहर निंदा सुनै जो काना । होइ पाप गोघात समाना । ६ ।३१ ।'

नोट—२ प० पु० स्वर्गखण्डमें व्यावहारिक शिष्टाचारके वर्णन प्रसंगमें देव, गुरु, वेद आदिकी निंदा-के फलके विषयमें व्यासजी कहते हैं कि शास्त्रोंमें उस निंदकके उद्धारका कोई उपाय नहीं देखा जाता । वह मनुष्य सौ करोड़ कल्पोंसे अधिक कालतक रौरव नरकमें पकाया जाता है । जहाँ उनकी निंदा होती हो, वहाँ क्या करे ? वहाँ चुप रहे, कुछभी उत्तर न दे । कान बन्द करके वहाँसे चला जाय । निंदा करनेवालेकी ओर दृष्टिपात न करे ।' यथा 'निन्दयेद्वा गुरुं देवं वेदं वा सोपबृंहणम् । कल्पकोटिशतं साग्रं रौरवे पच्यते नरः ॥ ३७ ॥ तूष्णीमासीत निन्दाया न ब्रूयात् किञ्चिदुत्तरम् । कर्णौ पिधाय गन्तव्यं न चैनमवलोकयेत् ॥ अ० ५५ । ३८ ।'

☞ जीभ काटनेकी मर्यादा इसलिए रक्खी गई कि जिस अंगसे अपराध किया गया वह अंग नष्ट करदियागया । सभासदोंसे इस बातके कहनेका क्या प्रयोजन है ? उनसे कहनेका भाव यह है कि तुमने निंदा सुनी । जिससे सुनी उसकी न तो जीभ ही काटी और न वहाँसे कानमें अँगुली देकर तुम भागही गए । बैठे सुनते रहे । अतएव तुमको तुरत फल मिलेगा । यदि कहो कि 'तुमनेभी तो निंदा सुनी पर तुमने भी न तो जीभ काटी न कान बंद कर लिया ?' तो इसका उत्तर आगे देती हैं—'तजिहौं तुरत देह० ।'

नोट—३ पाठान्तरपर विचार । 'काटिअ' पाठ सं० १६६१, १७०४, १७६२ आदि प्राचीनतम पोथियोंमें है । 'काढ़िअ' इसका पाठान्तर है जो किसी किसीमें मिलता है । 'काढ़िय' पाठको कोई कोई इसलिये उत्तम मानते हैं कि एक तो 'काटनेमें कुछ न कुछ तो रहही जायगी और हथियार खोजनेमें विलंब होगा; और दूसरे, निंदकका फल 'दादुरजन्म' कहा गया है । दादुरके जीभ नहीं होती तदनुसार निंदककी दशा प्रथमही जीभ निकाल लेनेसे हो जायगी । तीसरे यह कि राख लगाकर जीभ उखाड़ लेना आसान है ।

'काटिअ' को उत्तम इस विचारसे हम मानते हैं कि 'यह पाठ सं० १६६१ वाली पोथीमें है जो प्रचीनतम है । दूसरे, इसी पाठका ही नहीं किंतु इस अर्धालीका प्रतिरूप हमें भा० ४ । ४ । १७ में मिलता है । यथा 'कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे धर्मावितर्य सृणिभिर्नृभिरस्यमाने । छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः ॥' (सतीवाक्य सभासद एवं दक्ष प्रति) । अर्थात् मेरा तो ऐसा विचार है कि यदि निरंकुश लोग धर्ममर्यादाकी रक्षा करनेवाले अपने पूजनीय स्वामीकी निंदा करें तो, यदि अपनेमें उसे दंड देनेकी शक्ति न हो तो कानोंमें अँगुली डालकर वहाँसे चलाजाय । और यदि शक्ति हो तो

'छिन्द्यात्प्रसह्य' बलपूर्वक पकडकर उस बकवाद करनेवाली अमंगलरूप जीभको काट डाले। इसके बाद यदि आवश्यक हो तो अपने प्राणभी देदे—यही धर्म है।—इसके अनुसारभी 'काटिअ' पाठ शुद्ध है। यह भगवान् व्यासका वाक्य है। सर्वप्रथम टीकाकार श्रीकरुणासिन्धुजीकाभी यही पाठ है और वैजनाथजी, बाबा हरीदासजी आदिने भी 'काटिय' पाठ दिया है।

करुणासिंधुजी तथा वैजनाथजीने 'काटिय' का दूसरा भाव यहभी लिखा है कि 'शास्त्रोक्त प्रमाणोंसे उसका खण्डन करे।' ये भाव अंगद-रावणसंवादके आश्रयपर कहा गया है। क्योंकि वहाँपर रावणने कई बार अंगदसे श्रीरामजीकी निंदा की पर उन्होंने रावणकी न तो जीभही काटी और न कान बंदकर भागेही। परन्तु मुँह तोड़ उत्तर दिया। यथा 'जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा॥ "पुनि सकोप बोलेउ जुबराजा॥ गाल बजावत तोहि न लाजा॥ मरु गर काटि निलज कुलघाती रे त्रियचोर कुमारगगामी। सन्यपात जल्पसि दुर्बादा।' 'राम मनुज बोलत असि बानी। गिरहि न तव रसना अभिमानी। गिरिहहि रसना संसय नाहीं। । लं० ३२-३३'—(पर यहाँपर एक कारण यहभी है कि वे दूत हैं, जीभ निकाल लेनेसे प्रभुका अपमान समझते हैं। वे स्वयं कहते हैं कि 'मैं तव दसन तोरिबे लायक। आयसु मोहि न दीन्ह रघुनायक।' इत्यादि।)

किसी किसीने 'जो बसाई' का अर्थ 'जो दुर्गन्धवाली है' यहभी किया है। परन्तु आगेके 'न त चलिअ पराई' (अर्थात् न (बसाइ) तो 'पराइ चलिये') के संबंधसे यह अर्थ संगत नहीं। उपर्युक्त श्लोकभी 'शक्ति हो तो' इसी अर्थका पोषक है।

जगदातमा महेसु पुरारी। जगत जनक सब के हितकारी॥ ५॥
पिता मंदमति निंदत तेही। दच्छ शुक्र-संभव यह देही॥ ६॥

अर्थ—श्रीमहादेवजी जगत्की आत्मा, महान् ईश, त्रिपुरासुरके शत्रु, जगत्के पिता और सबके हितकारी हैं। ५। मंदबुद्धिवाला पिता उनकी निंदा करता है और (मेरा) यह शरीर दक्षके वीर्यसे उत्पन्न हुआ है। ६।

नोट—१ 'जगदातमा महेसु पुरारी।०' इति। भाव कि पिताको यह नहीं सूझता कि ये जगत्की आत्मा हैं। अर्थात् संसारके आधारभूत हैं, इनसे वैर करना मानो जगत्मात्रसे तथा अपनी आत्मासे वैर करना है। (रा० प्र०, वै०)। 'महेश' महान् ईश हैं, अर्थात् सबोंसे पूज्य हैं, ब्रह्मादिभी इनकी पूजा करते हैं। 'जगदात्मा महेसु' में भा० ४। ४। ११, १६ के, 'न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायिनः प्रियस्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः। तस्मिन्समस्तात्मनि मुक्तवैरके ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत्॥ ११॥ किंवा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने। तन्माल्यभस्म नृकपाल्यवसत्पिशाचैर्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम्॥' [अर्थात् भगवान् शंकरसे बड़ा तो संसारमें कोई नहीं है। वे तो समस्त देहधारियोंकी प्रिय आत्मा हैं। उनका न कोई प्रिय है, न अप्रिय। अतएव उनका किसीभी प्राणीसे वैर नहीं है। आपके सिवा ऐसा कौन है जो उनसे वैर करेगा?। ११। (आप कहते हैं कि) उनका नाममात्र शिव है पर उनका वेष 'अशिवरूप' है क्योंकि वे *नरमुण्डमाला, भस्म और हड्डियाँ* धारण किये, जटा बिखेरे, भूतपिशाचोंके साथ श्मशानमें विचरा करते हैं। जान पड़ता है कि आपके सिवा यह उनकी अशिवता ब्रह्मादि देवता नहीं जानते। वे तो उनके चरणोंपरसे गिरे हुए निर्माल्यको अपने सिरपर धारण करते हैं], इन श्लोकोंके ये भाव भरे हुए हैं। पुनः, 'जगदात्मा' का भाव कि यह संपूर्ण जगत् तंतुओंमें वस्त्रके समान उनमें ओतप्रोत है, वे संपूर्ण देहधारियोंकी आत्मा हैं। यथा 'धारयिष्यति ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम्। यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु॥ भा० ९. ९. ७।' (यह भगीरथमहाराजने गंगाजीसे कहा है)। पुनः भाव कि इन्द्रादि देवताओंकी निंदा करना पाप है। तब ये तो 'महान् ईश' हैं, इनकी निंदाका पाप कैसा होगा, यह

तुम नहीं जानते ? इन्द्रादिके कोपसे बचना कठिन है तब इनका कोप कैसा होगा, यह तुम नहीं जानते ? पुन, भाव कि ये जगदात्मा हैं। इनके वैरसे सारा जगत् वैरी होजायगा, इनकी निंदा करनेसे तुम 'भूतद्रोही' होनाओगे। तब कैसे बच सकतेहो ? यथा 'चौदह भुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्ठै नहि सोई॥ ५। ३८॥' पुन: भाव कि ["इस शब्दसे 'हरिहरयोर्भेदो नास्ति' सूचित किया है।" (सू० प्र० मिश्र)]। 'महेश' का भाव कि जिन देवताओं और मुनियोंके भरोसे तुम भूले फिरते हो, उनकी शक्ति महादेवपर न चलेगी। यथा कुमारसंभवे—'स हि देव परंज्योतिस्तमःपारे व्यवस्थितम्।' अर्थात् श्रीमहादेवजी तमोगुणसे परे परज्योति स्वरूप हैं।

२ (क) 'पुरारी' अर्थात् इन्होंनेसे सबकी रक्षाकेलिये त्रिपुरासुरको मारा। भाव यह कि यदि किसी को अपने बलका गर्व हो, तो भला त्रिपुरारिके सामने किसका गर्व रह सकता है ? [त्रिपुरासुरके आगे आपका गर्व कहाँ चला गया था कि छिपे छिपे फिरते थे और महेशकी शरण गए थे ? क्या यह सब भूल गए ? ऐसे कृतघ्न होरहे हैं। (प० प० प्र०)] 'जगतजनक' जगत्पिता हैं, तुमभी जगत्के एक प्राणी हो। अतः तुम्हारेभी पिताके तुल्य हैं। तब भला पुत्रको अपने पितासमान गुरुजनोंकी निंदा करनी उचित है ? 'जगत जनक' का भाव कि सृष्टि मात्र इनको पितासमान मानती है। पुन:, कल्पभेदसे ये जगत्के उत्पन्न करनेवालेभी कहे गए हैं, इससे 'जनक' कहा। (प०)। पुन, भाव कि जगत्के पालनकर्त्ता हैं। पिता वा पालनकरनेवालेसे वैर करनेसे पालन-पोषण कैसे होगा ? (ख) 'सबके हितकारी' हैं। भाव कि अपने हितकरसे द्वेष करना कब उचित है ? तब तो उनसे वैर करनेवाला अपने हितसे हाथही धो बैठे। 'हितकारी' से भक्ति भुक्ति मुक्ति ऐश्वर्य सभी कुछ देनेवाले, उदारचित्त और दयालु जनाया। ☞ इन विशेषणोंसे शिवजीकी शक्ति, महत्व, अजेयत्व, प्रताप, आदर्श, दयालुता इत्यादि दिखाकर सूचित किया कि भला ऐसे महान् पुरुष निंदायोग्य हो सकते हैं ? कदापि नहीं। पुन (ग) 'जगत जनक' से सबको उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मा और 'हितकारी' से जगत्पालक विष्णुभी इन्हींको सिद्ध किया। इस प्रकार त्रिमूर्तिरूप शिवजीकी निंदा सूचित की। इसीसे 'मदमति' कहा। (सू० प्र०, द्विवेदीजी)। भा ४. ४ १५ 'लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिनस्तस्मै भवान्द्रुह्यति विश्वबन्धवे ॥' (अर्थात् जो सकाम पुरुषोंकी सपूर्ण कामनायें पूर्ण कर देते हैं उन विश्वबंधु भगवान् शिवसे तू द्रोह करता है) के यह भाव 'हितकारी' शब्दमें हैं।

३ 'पिता मदमति निंदत तेही' इति। (क) 'तेही' अर्थात् जिसका ससारपर उपकार है, जिनकी ऐसी महिमा है जैसा ऊपरकी अर्धालीमें कह आई—उनकी। तात्पर्य कि जिनकी पूजा, स्तुति आदि करनी चाहिये उनकी (निंदा करता है)। शिवजीका उपकार और महिमा न जाननेसे 'मदमति' कहा। भा० ४। ४। १४ के 'पवित्रकीर्ति तमलङ्घ्यशासनं भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतर' (अर्थात् ऐसे पवित्रकीर्ति जिनकी आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता उन शिव मंगलमूर्तिसे आप द्वेष करते हैं, अवश्य ही आप अमंगल रूप हैं)—इस श्लोकके भाव इस चरणमें हैं। 'निंदत' क्रियासे जान पड़ता है कि पूर्व ब्रह्मसभामें ही नहीं निंदा की थी किंतु अब भी इस यज्ञ महासभामें भी निंदा करता है। क्या निंदा करता है ? यह कुछ ऊपर नोट १ (क) में स्वयं सतीजीके वाक्यमें आ गया है—यही भा० ४।२।९-१६ का भी साराश है। जो देखना चाहे वहाँ देख ले। यहाँ तो सतीजी सभासदोंसे कह रही हैं तब उनसे यह कहनेकी क्या जरूरत है ? उनसे कहनेका अभिप्राय यह है कि तुम ऐसे महामहिम सर्वहितरत की बैठे बैठे निंदा सुनते हो और कुछ कहते नहीं, न निंदककी जीभ काटते हो, अतः तुमको निंदा सुननेका फल मिलेगा। इसका सबंध आगे अपनेसेभी है।

(ख) 'दच्छ सुक्र संभव यह देही' इति। ['आत्मनो जायते असौ आत्मज वा आत्मजा' के अनुसार दक्षका अंश सतीजीकी देहमें है। इसीसे दक्ष शुक्रसंभव कहा। नहीं तो वस्तुतः सतीजी तो विष्णु माया या उनके एक तेजका अवतार हैं। ७९ (८) 'पच कहे शिव सती बिबाही' मे देखिये।] देही—देह। यथा 'चोंचन्ह मारि बिदारेसि देही। आ० २९।', 'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।

उ० ४४।' तथा 'तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू' जो आगे स्वयं सतीजीने स्पष्ट कर दिया है। 'देही' को 'देह' कहा। [उपर्युक्त कारणोसे यहाँ वीर्य अर्थ लेना अनुचित है। 'शुक्रं तेजो रेतसि च' इत्यमरे। जिस तेजको प्राशन करनेसे सतीजीका प्रथम अवतार हुआ उससे ही सती-देह बनी है, पर दक्षके शरीरमें प्रविष्ट होनेसे दक्षका भी सम्बन्ध है। प० प० प्र०]

तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चंद्रमौलि वृषकेतू॥ ७॥
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा॥ ८॥

अर्थ—उसी कारण (मैं) ललाटपर द्विजचन्द्र धारण करनेवाले वृषकेतु (जिनकी पताकामें धर्म विराजमान है, धर्मध्वज, धर्मात्मा) को हृदयमें धारणकर इस देहको तुरन्त ही त्याग दूँगी। ७। ऐसा कहकर उन्होंने योगाग्निसे शरीरको भस्म कर दिया। सारी यज्ञशालामें हाहाकार मच गया। ८।

टिप्पणी—१ 'तजिहौं तुरत देह०', इति। 'तुरत' का भाव कि भगवत् विमुखसे सम्बन्ध पलभर भी नहीं रखना चाहिये अतः मैं भी अब क्षणभरभी पिता-पुत्रिका सम्बन्ध न रक्खूंगी।—[देखिये, 'दच्छ-शुक्र संभव यह देही॥ तजिहौं तुरत' के पूर्व वे दक्षको पिताही कह रही थीं। यथा 'पिताभवन उत्सव परम जौं प्रभु आयसु होइ।' (६१), 'पिता मंदमति निंदत तेही।' पिताका नाम लेनेका निषेध है। पर अब पिता न कहकर 'दच्छ' कहा। और उसे 'मंदमति' कहा। इस तरह जनाया कि मैंने उससे अब सम्बन्ध तोड़ दिया। 'तेहि हेतू' अर्थात् दक्ष शुक्रसंभव होनेके कारण।]

नोट—१ भा० ४। ४ में इसी भावके सतीजीके निम्न वाक्य हैं—

'अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिणः।
जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते॥ १८॥
नैतेन देहेन हरे कृतागसो देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना।
व्रीडा ममाभूत्कुजनप्रसङ्गतस्तज्जन्म धिग्यो महतामवद्यकृत्॥ २२॥
गोत्रं त्वदीयं भगवान्वृषध्वजो दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः।
व्यपेतनर्मस्मितमाशु तदाहं व्युत्स्रक्ष्य एतत्कुणपं त्वदङ्गजम्॥ २३॥

(अर्थात्) आप भगवान् नीलकण्ठकी निंदा करनेवाले हैं। अतः आपसे उत्पन्न हुए इस शरीरको अब मैं नहीं रख सकती। यदि अज्ञानवश भूलसे कोई अशुद्ध असाद्य वस्तु खा ली जाय तो उसे वमन करके निकाल देनेहीसे शुद्धि होती है। (अन्य उपाय नहीं है। इसी प्रकार आपके यहाँ उत्पन्न होनेकी निंदा इस शरीरके त्याग देनेहीसे दूर होगी, अन्यथा नहीं)। १८। हरका अपराध करनेवाले आपसे उत्पन्न यह निंदित देह बस बहुत हो चुकी, इसे रखकर क्या करना है, अब मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं। आप ऐसे दुर्जनसे संबंध होनेसे मुझे लज्जा आती है। जो महापुरुषोंका अपराध करता है उससे होनेवाले जन्मको धिक्कार है। २२। जिस समय 'वृषध्वज' शंकरजी आपके साथ मेरा संबंध दिखलाते हुए मुझे हँसीमें 'दाक्षा-यणी' कहकर पुकारते हैं, उस समय उनकी हँसीको भूलकर मुझे बड़ी लज्जा और खेद होता है। इसलिये आपके अंगसे उत्पन्न इस शवतुल्य शरीरको तुरत त्याग दूँगी। २३।

२ 'उर धरि चंद्रमौलि वृषकेतू' इति। 'चन्द्रमौलि' का भाव कि—(क) सतीजी योगाग्निसे तनको जलाना चाहती हैं। चन्द्रमौलिको उरमें धारण करती हैं जिसमें अग्निका ताप न व्यापे। (प० रा० कु०)। (ख) चन्द्रमामें अमृत है, वह ताप दूरकर शीतल करता है। अतएव आप हमें पुनः जीवित और शीतल करेंगे। (पा०)। (ग) इससे शिवजीको क्षीणदीनसंग्रही सूचित करते हुए जनाया कि मुझ दीन दासीको अवश्य ग्रहण करेंगे; मेरा पालनकर मुझको महत्व देंगे। (रा० प्र०)। (घ) 'चन्द्रमौलि धर्मध्वज' को हृदयमें रखनेसे सतीजीने अपने पति जगदात्माको ध्यानमें मनकी महागुफामें चढ़ा लिया और योगाग्निमें

मलिन देहको भस्म कर दिया, इसलिये महादेवमें लीन हो गईं। अन्त समय मनुष्य जिसको स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, उसी रूपका वह हो जाता है।' (सु० द्विवेदीजी)। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः। ८। ६।' और भी कहा है—'अन्ते मतिः सा गतिः।' (ङ) 'शिवजीकी प्राप्तिके लिये चन्द्रमौलि वृषकेतुको उरमें रक्खा—'जहाँ जाकी आसा तहाँ ताकी बासा'। अमियमय चन्द्र सिरमें है। इससे मुझे सजीव कर लेंगे।' (वै०)। (च) दूसरे जन्ममें अमरकथा सुनाकर सदाके लिये अमर कर लेंगे। (वि० टी०)।

'वृषकेतु' को उरमें धरनेके भाव कि—(क) धर्म आपकी पताकामें है। आप धर्मरूप हैं, धर्मात्मा हैं। [अधर्मीसे उत्पन्न देह त्यागकर धर्मात्माका संबंध ग्रहण करूँगी, उनका संबंध नहीं त्याग करती, यह जनाया।] (पं० रा० कु०)। (ख) वृष (बैल) का सब निरादर करते हैं। अतएव वह दीन है। शिवजी दीनजनपालक हैं इसी गुणको जनानेके लिये उन्होंने वृषको पताकापर धारण किया है। अतएव मुझ दीनको भी ग्रहण करेंगे, आश्रय होंगे। (ग) धर्मकी ध्वजा हैं। मेरा अपराध क्षमा कर मेरे पातिव्रत्यकी रक्षा करेंगे। (पां०)। (घ) दूसरे जन्ममें धर्मपूर्वक विवाहकर मुझे धर्मपत्नी मानकर ग्रहण करेंगे। (वै०)। ☞ स्मरण रहे कि रघुनाथजीके दिये हुए 'वृषकेतु' नामका यहाँ पुनः प्रयोग हुआ।

टिप्पणी—२ 'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा' इति। (क) सतीजीने जो यह कहा कि 'तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू' तो गोस्वामीजीने भी तुरत देहका तजना चौपाईमें दिखाया। 'एकही चौपाईमें व्यवधान न किया।' (ख) 'अस कहि' का भाव कि यदि सतीजी ऐसा न कहतीं तो लोग सतीजीको दोष देते कि दक्षने निमंत्रण नहीं दिया था, इसीसे वे यज्ञनाशहेतु यहाँ आकर मरगईं। परन्तु सतीजीके ऐसा कह देनेसे लोक और वेद दोनोंमें उनकी सफाई हुई (वे निर्दोष साबित हुईं)। अब लोग जानेंगे कि शिवविमुखसे संबंध मिटानेके हेतु उन्होंने तनका त्याग किया, निमंत्रण न होनेके कारण नहीं।—यह लोकमें सफाई (निष्कलंकता) हुई। और, वेदाज्ञा है कि विमुखसे संबंध न रक्खे, सो देह-त्यागसे इस वेदाज्ञाका भी पालन होगया। यह वेदकी सफाई है।

शंका—सत्तासीहजार वर्ष क्लेशसहित जीवन बिताते हुए प्रार्थना करती रहीं कि देह छूट जाय, तब योगाग्निसे देह क्यों त्याग की ?

समाधान—शिवजीने सतीजीको त्याग दिया था। यदि वे पतिपरित्यागके कारण शरीर छोड़तीं तो पातिव्रत्यमें दोष आता कि पतिके ऊपर प्राण देदिये। उन्होंने जो पतिका अपमान समझकर तन त्याग किया, उससे पातिव्रत्यधर्मकी स्वच्छता बनी रहगई। योगाग्निसे जलना—यह उत्तम रीति है; यथा 'अस कहि *जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा बैकुंठ सिधारा॥ आ० ६।', 'तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ* जहँ नहि फिरे। आ० ३६।'

नोट—३ योगाग्निमें शरीर किस प्रकार जलाया ?—यह श्रीमैत्रेयजीने भा० ४।४ में इस प्रकार कहा है—'इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन् क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक्। स्पृष्ट्वा जलं पीत दुकूलसंवृता निमील्य दृग्योगपथं समाविशत्॥ २४। कृत्वा समानावनिलौ जितासना सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः। शनैर्हृदि-स्थाप्य धियोरसि स्थितं कण्ठाद्भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत्॥ २५। जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम्॥ २६।' देवी सतीजी उत्तरकी ओर मुख करके बैठ गईं और पीताम्बर धारणकर आचमन लेकर नेत्र बंदकर आसन लगाकर उन्होंने 'प्राण' और 'अपान' वायुको नाभिचक्रमें स्थितकर उन्हें 'समान' किया। फिर उदानवायुको नाभिचक्रसे ऊपर उठाकर धीरे धीरे बुद्धिके साथ हृदयमें, तीनों मिलेहुए वायुओंको, स्थिर करके तब वहाँसे उन्हें कंठमार्गसे भृकुटियोंके बीचमें लेगईं। इस प्रकार सारे शरीरकी वायुको रोककर महामनस्विनी सतीजीने दक्षपर कुपित होकर अपने संपूर्ण अंगोंमें वायु और अग्निकी धारणा की। २६।' सब ओरसे चित्त हटाकर शिवपदके ध्यानमें लग गईं। शिवही शिव ध्यानमें रहगए।

बस तुरतही योगाग्निसे शरीर जल उठा।

४ यहांपर लोग यह शंका करते हैं कि—'योगाग्निसे शरीर जलनेपर पुनर्जन्म नहीं होता, यथा—'तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे। आ० ३६।' और सतीजी तो तुरतही हिमाचलके घर जाकर अवतरित हुई, यह कैसे ?'—इसका समाधान तो स्वयं ग्रन्थकारनेही अगले दोहेकी पाँचवीं और छठी अर्धालीमें कर दिया है कि 'सतीं मरत हरि सन बरु माँगा। जनम जनम सिवपद अनुरागा॥ तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई। जनमी पारबती तनु पाई॥' अर्थात् सतीजीने मरते समय यह वर माँगा कि पुनर्जन्म होकर शिवपदमें मेरा प्रेम हो। इसीसे उनका पुनर्जन्म हुआ। इसी ग्रन्थमें शरभंग मुनि और श्रीशबरीजीका भी योगाग्निद्वारा शरीर छोड़ना पाया जाता है। इनमें से श्रीशबरीजी तो हरिपदमें लीन होगई, क्योंकि उन्होंने कोई ऐसा भक्तिवरदान नहीं माँगाथा। परन्तु शरभंगजीने भक्तिवरदान माँगाथा इसलिये वे हरिपदलीन न हुए। यथा 'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा॥ ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ॥ आ० ६।' श्रीशरभंगजी और सतीजीकी व्यवस्था प्रायः एकसी है। यही उनके पुनर्जन्मका कारण हुआ। दूसरा समाधान यह है कि सतीजी भगवती हैं, ईश्वरकोटिमें हैं, 'जगसंभव पालन लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥ बा० ६८॥' हैं॥ वे तो जब इच्छा करें लीलातन धारण कर सकती हैं। उनकेलिये योगाग्नि आदि बाधक नहीं होसकते। स्मरण रहे कि शरभंगजी और सतीजीकी एक व्यवस्था होनेसे दोनों जगह 'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा' यही एक चरण रक्खा गया।

५ 'भयउ सकल मख हाहाकारा' इति। अर्थात् सब लोग सोचमें पड़गए कि अब यज्ञका नाश होगया। (प० रा० कु०)। सम्पूर्ण यज्ञशालामें हाहाकार मचगया इससे सिद्ध हुआ कि दक्ष भी उनको हाहाकार करनेसे न रोक सका। भा० ४।४।२८-३१ में विदुरजीसे मैत्रेयजीने 'इस हाहाकार' का वर्णन यों किया है—'पृथ्वी और आकाशमें जितने यज्ञके देखनेवाले थे, वे सबके सब इस अद्भुत सतीचरित्रको देख कर हाहाकार करने लगे (जिसका कोलाहल आकाश और पृथ्वीमें छागया) कि 'हा हा! बड़े, खेदकी बात है। श्रीशिवजीकी प्रिया सतीजीने कुपित होकर प्राणही त्याग दिया। अहो! सारे चराचरके जीव इसी प्रजापतिकी प्रजा हैं, सतान हैं, तो भी इसकी महामूढ़ता और दुष्टता तो देखो! इसने अपनी कन्याका निरादर किया जो सभीकी माननीया और पूज्या हैं, आदरपात्री और उदारचित्ता हैं। इसके किये हुये अपमानके कारण ही उन्होंने शरीर त्याग दिया। दक्ष ब्रह्मद्रोही है। इसका हृदय बड़ा कठोर है। लोकमें इसकी बड़ी अपकीर्त्ति होगी। इसीके अपराधसे इसकी कन्या इसीके सामने देह त्याग करनेपर उद्यत हुई तो भी इसने उन्हें न रोका।' यथा 'तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महद्धाहेतिवादः सुमहानजायत। हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी जहावसून्केन सती प्रकोपिता॥ २८। अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजा। जहावसून्यद्विमतात्मजा सती मनस्विनी मानमभीक्ष्णमर्हति॥ २९॥ सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मध्रुक्च लोकेऽपकीर्त्तिं महतीमवाप्स्यति। यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधतः॥ ३०॥ वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वाऽसुत्यागमद्भुतम्।' (स्क० ४ अ० ४)।'

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि सतीजीने देहत्यागका निश्चय कह दिया तथापि दक्ष या भृगु आदि मुनिवर एवं इन्द्रादि देवोंमेंसे किसीने भी उनको समझानेका किंचित् भी प्रयत्न न किया। इससे सिद्ध होता है कि उनको विश्वास न था कि सतीजीमें स्वेच्छासे देह त्याग करनेकी शक्ति है (भृगु आदि ऋषि और इन्द्रादिके न समझानेका कारण यह भी हो सकता है कि ये सब दक्षके पक्षमें थे। ब्रह्मसभामें दक्षके आनेपर इन्द्रादि देवता तेजहत होगए थे, सबने उठकर अभिवादन किया था। दक्ष सबका नायक है। दक्षने ही जब सतीका अपमान किया तब उसके सामने सतीजीको समझानेका साहस ये कब कर सकते थे। पुनः, समझाने या कुछ कहनेका अवकाशही सतीजीने न दिया, उन्होंने यह कहतेही शरीरको योगाग्निसे भस्म करके

देहका संबंध अलग कर दिया।

दोहा—सती मरनु सुनि संभुगन लगे करन मख खीस।
जग्य बिधंस बिलोकि भृगु रच्छा कीन्हि मुनीस॥ ६४॥

अर्थ—सतीजीका मरण सुनकर शिवगण यज्ञको नष्ट-भ्रष्ट करनेलगे। यज्ञका नाश देखकर मुनीश्वर भृगुने यज्ञकी रक्षा की। ६४।

टिप्पणी—१ 'मरनु सुनि' से पाया गया कि हरगण पहलेही बाहर रोक दिये गए थे, यज्ञशालामें नहीं जाने पाए थे। अब खबर पाकर वे घुस पड़े। यदि वे साथही भीतर गए होते तो 'सती मरनु लखि' ऐसा लिखते। सती मरणपर हाहाकार हुआ था। वही सुनकर ये यज्ञशालामें गए। [यज्ञशालाके भीतरका हाहाकार बाहर सुनाई दिया हो या न दिया हो पर आकाशचारी देवगणोंके हाहाकारका जो कोलाहल हुआ उससे यह बाहर भीतर सर्वत्र सुनाई दिया, उसीसे हरगण जान पाए।] (ख) 'करन लगे मख खीस'। भाव कि इस यज्ञसे हमारी स्वामिनीका नाश हुआ है तो हम इस यज्ञका नाश करेंगे। इस भावसे वे अस्त्र-शस्त्र लिये यज्ञशालामें घुसकर उसका नाश करने लगे। (ग) 'भृगु रच्छा कीन्हि मुनीस' इति। यज्ञ करानेवाले समस्त मुनियोंमें भृगुजी श्रेष्ठ और समर्थ हैं, इसीसे इन्होंने मंत्र द्वारा यज्ञकी रक्षा की।

नोट—१ 'भृगु रच्छा कीन्हि' इति। इससे ज्ञात होता है कि भृगुजी इस यज्ञके आचार्य थे, अध्वर्यु थे। अपनेको आचार्य जानकर अथवा ब्रह्मसभामें जो शापाशापी हुई थी उस कारण शिवजीसे वैर मानकर उन्होंने यज्ञकी रक्षा की। किस तरह रक्षा की? भा० ४। ४ में लिखा है कि विघ्नोंके नष्ट करनेवाले मन्त्र पढ़कर उन्होंने दक्षिणाग्निमें आहुतियाँ डालीं। उसके प्रभावसे सहस्रशः ऋभु नामक वीर, तेजस्वी तपस्वी यज्ञरक्षक देवगण तुरन्त प्रकट हो गए जिन्होंने अपने तपके प्रभावसे बहुतसा सोमरस प्राप्त किया था। 'तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान्भृगुः। यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह। ३२। अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा। ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः। ३३।' इन्होंने जलती हुई लकड़ियोंसे आक्रमणकर गुह्यकों सहित समस्त प्रमथगणोंको भगा दिया।

२ 'भृगुजी' इति। ये भार्गववंशके पुरखा हैं। सप्तर्षिमेंसे एक ये भी माने जाते हैं। ब्रह्माजीके नौ मानस-पुत्रोंमेंसे यहभी एक हैं। भागवतमें लिखा है कि स्वायंभुवमन्वन्तरमें मनुजीकी देवहूति नामक कन्यासे, जो कर्दमजीको व्याही थीं, जो नौ कन्यायें कला, अनुसूया, श्रद्धा, हविर्भू, गति, क्रिया, ऊर्जा (अरुन्धती) चिति या शान्ति और ख्याति हुईं वे क्रमशः मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, क्रतु, वसिष्ठ, अथर्वण और भृगु इन नौ ब्रह्मर्षियोंसे व्याही गईं (भा० ३। २४। २२-२५, तथा भा० ४।१)। प० पु० सृष्टिखण्डमें भृगु, वसिष्ठ, अत्रि आदि आठ मानसपुत्र दक्षके जामाता हैं। इनकी स्त्रियाँ प्रसूतिजीकी कन्यायें लिखी हैं—यह किसी अन्य कल्पकी कथा जान पड़ती है। भृगुजीने त्रिदेवकी परीक्षा लेनेके विचारसे विष्णुभगवान्‌की छाती पर लात मारी थी। (भगवान्‌के वक्षस्थलपर लक्ष्मीजीका निवास है। यहाँ लात मारनेका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणोंको विरक्त रहना चाहिये, उनको लक्ष्मीसे कुछ लगाव न रखना चाहिए। लोभको दबाए रखना उचित है)। श० सा० में लिखा है कि 'कोई इनको शिवजीका और कोई मनुजीका पुत्र कहते हैं। महाभारतमें लिखा है कि रुद्रने बड़ा यज्ञ किया था, उस समय ब्रह्माजीके वीर्यद्वारा अग्निशिखामेंसे इनकी उत्पत्ति हुई।' दैत्यगुरु शुक्राचार्य भृगुजीके पौत्र थे। परशुरामजी इन्हींके वंशमें हुए। मार्कण्डेयजी इनके प्रपौत्र थे। (भा० ४। १। ४४-४५)। इनकी कन्या श्रीविष्णुजीकी पत्नी हैं। येही फिर समुद्रसे प्रगट हुई थीं।

३ सुधाकरद्विवेदीजीका मत है कि 'भृगु (शुक्र) भूत, प्रेत और राक्षसोंके आचार्य हैं, इसलिये उनके कहनेसे सब शंभुगण हार गए। इसलिए यज्ञकी सामग्री सुरक्षित रही।'—परन्तु यह भाव भागवत और प० पु० के विरुद्ध है।

समाचार सब संकर पाए। बीरभद्रु करि कोप पठाए ॥ १ ॥
जग्य बिधंस जाइ तिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह बिधिवत फलु दीन्हा ॥ २ ॥

अर्थ—महादेवजीने सब समाचार पाए। (उन्होंने) कुपित होकर वीरभद्रको भेजा। १। उन्होंने जाकर यज्ञ विध्वंस (नाश) कर डाला। समस्त देवताओंको विधिपूर्वक यथोचित फल (दंड) दिया। २।

नोट—१ 'समाचार सब संकर पाए' इति। मा० ४।५।८ 'भवो भवान्या निधनं प्रजापतेरसत्कृताया अवगम्य नारदात्। स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुर्भिर्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे॥' के अनुसार नारदजीने जाकर शंकरजीसे सतीजीका दक्षसे अपमानित होनेके कारण शरीर छोड़ देने और ऋभुओं द्वारा उनके पार्षदोंकी सेनाके मारभगाए जानेका समाचार कहा।

सुधाकर द्विवेदीजी और बैजनाथजी आदि कुछ लोगोंका मत है कि जो हरगण सतीजीके साथ आये थे, वेही मारभगाये जानेपर शंकरजीके पास दौड़े गये और खबर दी। किसीका मत है कि आकाशवाणी हुई। बहुमत होनेसे ग्रन्थकारने किसीका नाम नहीं दिया।

'सब समाचार' अर्थात् 'दच्छत्रास काहु न सनमानी। ६३ (१)' से लेकर 'रच्छा कीन्हि मुनीस। ६४।' तकका सब हाल।

२ 'बीरभद्र करि कोप पठाए' इति। (क) काशीखंड अ० ८९ में लिखा है कि नारदजीने आकर सतीतनत्यागकी कथा कही तब शंकरजीने सुनकर यही कहा कि संसारकी यही व्यवस्था है। बुद्धिमानोंको इसमें मोह न करना चाहिए। इन बातोंको सुनकर नारदजीने कहा कि 'आपका कथन तो ठीक ही है, पर यह संसार ऐसा विलक्षण है कि सब यही समझेंगे कि महादेवजीमें कुछ पुरुषार्थ नहीं है। ऐसे देवकी पूजा हम क्या करें ?' यह सुनकर उनको क्रोध आया और उसी क्रोधसे महाकाल अर्थात् वीरभद्र हुए। यथा 'शरीरिणां स्थितिरियमुत्पत्तिप्रलयात्मिका। दिव्यान्यपि शरीराणि कालायात्स्येवमेव हि॥ ५॥ दृश्य विनश्वरं सर्वं विशेषाद्यदनीश्वरम्। ततोऽत्र चित्रं किं ब्रह्मन् क्व कालः कालयेत्र वै॥ ६॥ अभाविनो हि भावस्य भावे क्वापि न सम्भवेत्। भाविनोऽपि हि नाभावस्ततो मुह्यन्ति नो बुधाः। ७। अहो वराक संसार क्व भविष्यत्यनीश्वरः। आरभ्याद्यदिनं न त्वामर्चयिष्यन्ति केऽपि यत्। ११। रुद्रस्तातीव रुद्रोऽभद्रु कोपाग्निदीपितः। ततस्तत्कोपजाऽहं राविरासी महाद्युतिः॥ प्रयत्न प्रतिमाकारः कालमृत्युप्रकंपनः॥' इत्यादि। (मा० प०)। महेश्वर केदारखंड ३ में भी नारदसे समाचार पाना कहा है। शिवजीने क्रोधसे जटा उखाड़कर पर्वतपर पटकी जिससे वीरभद्र आदि उत्पन्न हो गए।

(ख) 'वीरभद्र करि कोप पठाए' से सूचित हुआ कि कोपसे वीरभद्रकी उत्पत्ति हुई। 'वीरभद्र' अर्थात् जिसका कल्याण कभी पराजित न हो सके। 'पठाए' अर्थात् आज्ञा दी कि जाकर दक्षका बृहस्पति सवनामक महायज्ञ विध्वंस करो और सबको दण्ड दो। (प० रा० कु०)। 'करि' शब्दसे व्यंजित होता है कि वीरभद्रको उसी समय उत्पन्नकर उसको अपने गणोंका नायक बनाकर भेजा। 'करि कोप पठाए' का भाव यह है कि भृगु आदि किसीके कहनेको न माने, जो बोले उसे मारे।' (मा० प०)।

३ 'वीरभद्र करि कोप पठाए' इति। श्रीमद्भागवतमें यह प्रसंग यों वर्णन किया गया है कि 'शिवजी ने क्रुद्ध हो दाँतोंसे अपने ओठोंको चबाकर तत्क्षण शिरसे जटा उखाड़ी जो बिजली सरीखी चमकने लगी। फिर सहसा उठकर गंभीर नादसे अट्टहास करके उस जटाको पृथ्वीपर पटक दिया। जिससे वीरभद्र प्रकट हुए। इनका शरीर बड़ाही विशाल था, सहस्र भुजायें और सूर्यके समान तेजवाले तीन नेत्र थे, दाँत कराल, शिरके केश अग्निज्वाला सदृश थे। श्यामवर्ण, मुण्डमाला पहने हुए और मुनाओंमें अस्त्र-शस्त्र लिए हुए थे। ये वीरभद्र हाथ जोड़े हुये शिवजीके समीप आ खड़े हुए और बोले कि 'भगवन्! क्या करनेकी मुझे आज्ञा होती है ?' शिवजी बोले 'हे रुद्र! हे भट! तुम हमारे अंश हो, हमारे गणोंमें अग्रगण्य हो, जाकर दक्ष और उसके यज्ञको नष्ट करो।' कुपित शंकरजीकी आज्ञा पा अपनेको कृतार्थ मान शिवजीको प्रणाम

और उनकी परिक्रमा करके वे त्रिशूल उठाये हुए दक्षकी यज्ञशालाकी ओर दौड़ चले, साथमें अन्य शिवगण भी चले। नभ धूलिसे छागया, यज्ञशालामें उपस्थित लोग सोचते हैं कि इस समय प्रलयके लक्षण हो रहे हैं। भूमि, आकाश और अन्तरिक्षमें महाघोर उत्पात होने लगे जिन्हें देख दक्षका हृदयभी काँप उठा।

महाभारतमें वीरभद्रकी उत्पत्ति और साथके गणोंकी कथा कुछ भिन्न है। शान्तिपर्वमें वैशम्पायनजीने जनमेजयसे कहा है कि शंकरजीने अपने मुखसे वीरभद्र नामक भयंकर भूतको प्रकट किया। उसका शौर्य, बल और रूप शंकरकेही समान था। क्रोधका तो वह मूर्तिमान स्वरूप ही था। उसके बल, वीर्य और पराक्रमकी सीमाही न थी। यज्ञविध्वंसकी आज्ञा पानेपर उसने अपने शरीरके रोम-रोमसे 'रौम्य' नामक गण उत्पन्न किए, जो रुद्रके समान भयंकर, शक्तिशाली और पराक्रमी थे। वे महाकाय वीरगण सैकड़ों और हजारोंकी कई टोलियाँ बनाकर बड़ी फुर्तीके साथ यज्ञविध्वंस करनेके लिये टूट पड़े।"भवानीके क्रोधसे उत्पन्न हुई महाकालीनेभी सेवकोंसहित उसका साथ दिया था।

ग्रन्थोंमें भिन्न-भिन्न कथा होनेसे ही ग्रन्थकारने इतना ही लिखा कि 'वीरभद्र करि कोप पठाये ॥ जग्य विधंस जाइ तिन्ह कीन्हा।" अन्य रुद्रपार्षदोंका साथ जाना अथवा न जाना न कहा और न यही कहा कि किस प्रकार यज्ञ विध्वंस किया गया। इस प्रकार सभी पुराणोंकी संगत कथाओंका समावेश इसमें हो सकता है।

नोट—४ 'जग्य बिधंस जाइ तिन्ह कीन्हा।"' इति। भा० ४। ५। श्लोक १३, १४, १५ में यज्ञविध्वंस की और श्लोक १६ से २६ तक 'सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा' की कथा है। संक्षेपसे यह कथा इस प्रकार है—प्रथम तो रुद्रगणोंने जाकर यज्ञशालाको चारों ओरसे घेर लिया जिसमें कोई भाग न सके। फिर उनमेंसे कितनोंहीने प्राग्वंश (यज्ञशालाके पूर्व और पश्चिमके खम्भोंपर पूर्वपश्चिम और आड़ा रक्खा हुआ काष्ठ) को तोड़ डाला, कितनोंने पत्नीशाला नष्ट कर दी, किन्हींने यज्ञशालाके सामनेका मंडप और उसके आगेके हविर्धानोंको, किन्हींने यजमानगृहको और भोजनागारको विध्वस्त कर दिया। किन्हींने यज्ञके पात्र फोड़ डाले, किन्हींने अग्नि बुझा दी, किन्हींने यज्ञकुण्डोंमें मूत्र कर दिया और किन्हींने वेदीकी सीमाके सूत्रोंको तोड़ डाला। १३-१५। कितनोंहीने मुनियोंको कष्ट देना आरम्भ किया, कोई स्त्रियोंको धमकाने लगे, और किन्हींने अपने निकटही भागते हुए देवताओंको पकड़ लिया। मणिमान रुद्रगणने महर्षि भृगुको बाँध लिया और वीरभद्रने हाथमें स्रुवा लेकर भृगु ऋषिकी दाढ़ी मूँछ उखाड़ली, क्योंकि उन्होंने ब्रह्मसभामें तथा इस महायज्ञमें अपनी मूँछोंको मटकाते हुये और दाढ़ीको हिलाते हुए दक्ष-यजमानके वचनोंका अनुमोदन करते हुए श्रीशिवजीकी हँसी की थी। यज्ञमें पहुँचते ही वीरभद्रने दक्ष-प्रजापतिनायकको कैद कर लिया, चण्डीशने पूषाको और नन्दीश्वरने भगदेवको पकड़ लिया। उस समय संपूर्ण ऋत्विज्, सदस्य और देवतागण भगवान् शंकरके पार्षदोंकी यह भयंकर लीला देख उनके कंकड़पत्थर फेंकनेसे अति पीड़ित हो जैसे-तैसे वहाँसे भाग गए। तदनन्तर वीरभद्रने भगदेवको क्रोधपूर्वक पृथ्वीपर गिराकर उनकी आँखें निकाल लीं; क्योंकि उन्होंने ब्रह्मसभामें भगवान् शंकरको बुराभला कहते और शाप देते हुए दक्षको आँखोंके इशारेसे उत्साहित किया था। यथा 'भगस्य नेत्रे भगवान्पातितस्य रुषा भुवि। उज्जहार सदः स्थोऽक्ष्णा यः शपन्तमसूसुचत्। २०।' फिर उन्होंने पूषाके दाँत उखाड़ डाले क्योंकि जब दक्ष शंकरजीकी निंदा कर रहा था और शाप देरहा था उस समय वह बत्तीसी निकाले हँस रहा था—'शप्यमाने गरिमणि योऽहसद्दर्शयन्दतः। २१।' इसी प्रकार जिस अंगसे जो निन्दामें सम्मिलित हुआ था उसको उसी अंगसे हीन कर दिया गया। तत्पश्चात् वीरभद्र दक्षको गिराकर उसकी छातीपर चढ़ बैठे और उसका गला काटने लगे, पर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे भी उसकी त्वचा (खाल) तक न कट सकी तब यज्ञमें पशुओंको गला घोटकर मारनेका यन्त्र आदि उपाय ही देख उसी युक्तिसे उसके शिरको मरोड़कर धड़से अलगकर यज्ञकी दक्षिणाग्निमें डाल दिया, मानों

इससे होमकुण्डकी पूर्णाहुति की। अन्तमें यज्ञशालाको जलाकर वे कैलाशको लौट गए। २२२६।

यज्ञमें जो ऋत्विज, सदस्य और देवगण आए थे वे रुद्रपार्षदोंके त्रिशूल, पट्टिश, खड्ग, गदा, परिघ और मुद्गर आदि आयुधोंसे सर्वांगमें छिन्न भिन्न हो भाग गए थे। भा० ४। ६। १।

टिप्पणी—१ (क) 'जाइ तिन्ह कीन्हा' से जनाया कि जो हरगण सतीजीके साथ गए थे, वे यज्ञ विध्वंस न कर पाए थे, इसीसे इन्होंने जाकर प्रथम यही काम किया। भृगुजीने हरगणसे यज्ञकी रक्षा की थी, वे भी वीरभद्रसे यज्ञकी रक्षा न कर सके। (ख) 'सकल सुरन्ह' से जनाया कि जो यज्ञशालामें निमंत्रण में जाकर बैठे थे। सबको दंड दिया क्योंकि एक तो इन्होंने शिवनिंदा की, दूसरे शिवजीके गणोंको मारा, तीसरे ये त्रिदेवको छोड़कर (उनका अपमानकर) यज्ञमें गए और चौथे सतीजीका शाप ही यह था कि 'सो फल तुरत लहब सब काहूँ।' (ग) 'विधिवत्त' कहकर सूचित किया कि जिसने जैसा किया, उसको वैसा फल दिया। तात्पर्य कि जो हँसा था उसके दाँत तोड़े, जिसने हाथ उठाया उसका हाथ तोड़ा, जिसने नेत्रका इशारा किया कि गणोंको मारो उसके नेत्र निकाल लिये। इत्यादि। जैसा नोट ३ में दिखाया गया है। 'विधिवत फल दिया' कहकर जनाया कि देवताओंके किये कुछ न हुआ।

भै जग-बिदित दच्छगति सोई। जसि कछु संभु बिमुख कै होई॥ ३॥
यह इतिहास सकल जग जानी। तातें मैं संछेप बखानी॥ ४॥

शब्दार्थ—इतिहास—'धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्। पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥' अर्थात् जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उपदेशोंसे समन्वित और प्राचीन (सत्य) घटनाओंसे युक्त हो, उसे 'इतिहास' कहते हैं।

अर्थ—दक्षकी जगत्प्रसिद्ध वही दुर्दशा हुई जैसी कुछ शंकरद्रोहीकी होती है। ३। यह इतिहास सारा संसार जानता है, इसीसे मैंने थोड़ेहीमें कहा। ४।

टिप्पणी—१ 'भै जगबिदित दच्छगति सोई।०' इति। अर्थात् शंभुविमुखकी बड़ी दुर्दशा होती है। जैसी शम्भुविमुख दक्षकी हुई ऐसीही शम्भुविमुखकी होती है। 'जग बिदित' का भाव कि संसारभरमें उसकी अपकीर्त्ति हुई। ['जगबिदित' का भाव यह भी है कि शंकरविमुखकी दशा क्या होती है यह जगत् जानता है। दक्षकी क्या दुर्गति हुई—यह ६५ (१२) नोट—३ और ६४ (२) की टि० २ (ख) में आ चुकी है। शम्भुकी शरण जानेपर तो यह दशा हुई कि बकरेका शिर हुआ और भृगुजीकी बकरेकीसी दाढ़ी हुई। शरण न जाता तो न जाने कितने कल्पोंतक रौरवनरक भोग करता। 'जग बिदित' इससे भी कह सकते हैं कि बकरेका सिर लगानेपर दक्षने जीवित होकर बकरेका सा ही शब्द किया था जिससे शिवजी प्रसन्न हो गये थे। इस शब्दसे भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं यह समझकर आज भी लोग शंकरजीकी पूजाके अन्तमें बकरेका सा शब्द करते हैं।]

२ 'यह इतिहास सकल जग जानी।०' इति। (क) यह उक्ति याज्ञवल्क्यजीकी है कि और आचार्योंने इसे विस्तारसे कहा है, कथा प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध कथाओंको (ग्रन्थकार) संक्षेपसे कहते हैं। यथा 'जगु जान षन्मुख जन्मु कर्मु प्रतापु पुरुषारथु महा। तेहि हेतु मैं वृषकेतुसुत कर चरित संछेपहि कहा। १०३।' [संक्षेपसे बखान करनेका दूसरा भाव यह भी है कि तुलसीदासजी रामचरित वर्णन करनेको उद्यत हैं, वे शिवद्रोहीकी कथा नहीं कहना चाहते। आगे कहाभी है कि 'संकर प्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास। लं० २।' वे चाहते हैं कि शीघ्र सतीजीका जन्म हो और उमामहेश्वरसंवादसे श्रीरामचरितामृतधाराका प्रवाह बहे। इसलिये इस चौपाईसे दक्षकथा समाप्त कर दी। श्रीशिवपुराण, श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण आदिमें कथा प्रसिद्ध होनेसे जगत्‌का जानना कहा।]—(मा० पी०)। पुनः, 'संछेप बखानी' से जनाया कि पुराणोंमें विस्तारसे है।

☞ स्मरण रहे कि रामायण, महाभारत आदि हमारे यहांके इतिहास ग्रन्थ हैं। आधुनिक इतिहासोंसे इन इतिहासोंमें बड़ी विलक्षणता यह है कि इनसे भगवान्के चरणोंमें प्रेम होता है। यथा 'कहौं परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भवपासा॥ उपजै प्रीति रामपद कंजा॥' हमारे इतिहास महाज्ञानी, भगवद्भक्त, स्वाभाविकही सदाचारपरायण, सत्यवादी ऋषियोंके लिखे होनेके कारण पढ़नेवालोंको भवपाशसे मुक्तकर उन्हें भगवान्का परम प्रेम प्रदान करते हैं। आधुनिक इतिहासोंमें तो केवल घटनाओं (वहभी सत्य हों या न हों, क्योंकि असलियत प्रायः छिपाई जाती है) और तारीख और सनोंकाही उल्लेख मिलता है और प्रायः वे किसी न किसी सम्पर्कयुक्त व्यक्तिके लिखे होनेसे सर्वथा सत्यभी नहीं होते। (कल्याण १३।३)।

सतीमोह तथा देहोत्सर्ग प्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीपार्वती-जन्म-तप (अर्थात् उमाचरित)-प्रकरण

सतीं मरत हरिसन बरु मागा। जनम-जनम सिव पद अनुरागा॥ ५॥

तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई। जनमीं पारबती तनु पाई॥ ६॥

अर्थ—सतीजीने मरते समय श्रीरामचन्द्रजीसे वर मॉगा कि जन्मजन्म (प्रत्येक जन्म वा जन्मान्तरमें) मेरा अनुराग श्रीशिवजीके चरणोंमें हो।५। इसी कारण उन्होंने हिमाचलके घर जाकर पार्वती शरीर पाकर जन्म लिया। ६।

टिप्पणी—१ 'सतीं मरत हरि सन बरु मागा।०' इति। (क) ☞ जहाँ तनका त्याग लिखा गया वहाँ वर मॉंगना नहीं लिखागया। यहाँपर लिखनेसे पाया गया कि यह वर माँगा गया था। ग्रन्थकारने इस रीतिको बहुत स्थलोंपर वर्ता है। जो बात कहीं फिर लिखना जरूरी है उसे दोनों जगह न लिखकर दूसरी जगह लिख देते हैं। यथा 'रामानुज लघु रेख खँचाई। सो नहि नाँघेहु असि मनुसाई। ६. ३५।' अरण्यकांडमें रेख खींचना नहीं लिखा, लंकाकांडमें लिखा जिससे जाना गया कि रेख खँचाई थी। इसी तरह पार्वतीजन्मके हेतुमें यह बात पुनः कहनी थी; इसलिये मरते समय न कहकर केवल यहाँ कहदी। (ख) मरते समय वर मांगनेमें भाव यह है कि उस समय जो वासना होती हैं, वह दूसरे जन्ममें सिद्ध होती है, यथा 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः। गीता ८, ६।' (ग) 'जनम जनम सिवपद अनुरागा।' इति। मरते समय शिवपदानुराग मॉगनेमें भाव यह है कि योगाग्निसे शरीर जलादेनेसे जीव हरिपदलीन होजाता है और भेदभक्तिसे जीव हरिमें लीन नहीं होता। इसीसे शिवपदानुराग माँगा। पदानुराग भक्ति है और सतीजी शिवभक्त हैं ही। (घ) 'जनम जनम'का भाव कि *भक्त मोक्षकी इच्छा नहीं करते। भक्तिके निमित्त अनेक जन्म चाहते हैं। यथा 'जेहि जोनि जनमउँ कर्म बस* तहं रामपद अनुरागऊँ। कि० १०।', 'जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥ सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निवाहू। अ० २४।', 'नाथ एक वर मागउँ रामकृपा करि देहु। जनम जनम प्रभुपदकमल कबहुँ घटइ जनि नेहु। ७। ४९।'। (ङ) 'हरि' से वर मॉंगनेका भाव यह है कि शिवजीकी भक्ति हरिके देनेसे मिलती है। [परन्तु मानसमें इसका प्रमाण हमारी समझमें नहीं है। शिवजीकी कृपासे हरिभक्तिकी प्राप्तिके प्रमाण तो बहुतसे हैं। सतीजीने दारुण दुःसहदुःखसे छुटकारेके लिये भगवान्सेही पूर्व प्रार्थना की थी। यथा 'जौं प्रभु दीन-दयालु कहावा। आरतिहरन वेद जसु गावा॥ तौ मैं विनय करौं कर जोरी। छूटौ बेगि देह यह मोरी। ···तौ सबदरसी सुनिय प्रभु करौ सो बेगि उपाइ। होइ मरनु जेहि बिनहि श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ।५९।' आर्तिहरण प्रभुने वह प्रार्थना सुनी और तुरंत सबका उपाय रच दिया कि शिवजीकी समाधि छूटी, दक्षयज्ञ का आरम्भ हुआ। और वहाँ बिना श्रमदेहका त्याग हुआ। आर्तिहरणसे वर मॉगनेके संबंधसे 'हरि' शब्दका प्रयोग हुआ]

म० प० प्र०—'हरिसे वर मॉगनेमें हेतु यह भी है कि पहली बार भी शिवजी विवाह नहीं करना

चाहते थे किन्तु ब्रह्मा और विष्णु आदिके अनुरोधसे ही उन्होंने विवाह किया जिसकी ऐसी दशा हुई अतः अब वे विवाह कदापि न करेंगे, यह सतीजी ठीक ठीक जानती हैं, पर यह आशा है कि राम सेवक होनेके कारण शिवजी अपने उपास्य श्रीरामजीकी इच्छाका भंग कदापि नहीं करेंगे। इसीसे 'रामाख्यमीशं हरिं' से प्रार्थना करके वर माँगती हैं। २ 'शिवपद अनुरागसे' यह भी जनाया कि ऐसा अनुराग हो कि अब कभी पतिके वचनोंमें अविश्वास करानेवाली मति न उत्पन्न हो। उस कुमति तथा रामविरोधी वृत्तिका आप हरण करें क्योंकि आप हरि हैं।

नोट—१ 'सतीं मरत हरिसन बरु मागा'—इस प्रसंगमें 'हिन्दी नवरत्न' में मिश्रबंधुओंने लिखा है कि 'यहाँपर हरिसे वर माँगवानाभी बेजा है।' परन्तु इसमें क्या बेजा है, यह कुछ नहीं बताया। दोषोद्भावना करते हुए समालोचकको बताना चाहिये कि यदि कहीं किसी दोषकी सम्भावना है तो क्यों है, कैसे है? ऐसा करनेसे उसपर विचार करनेका मौका मिलता है। बिना सबूतके इलजाम लगाना कैसा है उसे कोई साधारणभी कानूनदाँ समझ सकता है। लेकिन दुःखकी बात है कि एक वादी और समालोचकके कर्त्तव्य को समझते हुएभी आप लोगोंने उसकी पर्वा न की।

अच्छा अब उस प्रसंगपर टुक विचार कीजिये। सतीजीके पिता दक्षने भगवान् शिवका (उनका भाग न देकर) अपमान करनेके अभिप्रायसे द्वेषबुद्धिपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान किया। उन्हीं दिनों पतिसे परित्यक्ता होकर भगवती सती अत्यंत दुःखसे काल यापन कर रही थीं। पिताके यज्ञका समाचार सुनकर कुछ मन बहलानेके लिये वे अपने मायके गईं। जब वहाँ यज्ञमें 'जगदातमा महेश पुरारी। जगतजनक सबके हितकारी' का भाग नहीं देखा तब वे अत्यन्त संतप्त और विक्षुब्ध हुईं। पिताके यज्ञका उद्देश्य वे समझ गईं। और उनके इस सद कृत्यपर उन्हें उनसे अत्यंत घृणा एवं अमर्ष उत्पन्न हुआ। उसी समय उसी आवेश में (जब कि प्रस्तुत मानसिक भाव अत्यंत उत्कर्षको प्राप्त हो रहा था) सतीजीने योगाग्निमें दक्षशुक्रसभूत अपनी देह जलादी।

आगे चलकर गोस्वामीजी कहते हैं—'सतीं मरत हरि सन बरु माँगा।' श्रीसतीजी भगवान् शंकरकी वल्लभा थीं। उनका प्राणपतिके चरणोंमें अत्यन्त अनुराग था। फिर यह नितान्त स्वाभाविक है कि एक पतिप्राणा पतिव्रताशिरोमणि अपने अन्तसमय जन्मान्तरमेंभी अपने उसी प्राणेश्वर पतिको पानेके लिए ईश्वरसे प्रार्थना करे। यही भगवती सतीने किया। कदाचित् आपका यह तर्क हो कि उन्हें भगवान् शिवहीसे (जब कि वे उन्हें 'जगदात्मा' जानती-मानती हैं) यह वर माँगना था। परन्तु आपको यहभी समझना चाहिए कि निरतिशय प्रीतिमें माहात्म्यज्ञानका विस्मरण होजाता है। और, विशेषकर ऐसे अवसर पर जब कि परमोत्कृष्ट भावावेश हो रहा हो। मनोभावके उस प्रबल प्रवाहमें बुद्धि बह जाती है, ज्ञान डूब जाता है और आत्म विस्मरण एवम् सज्ञातक लीन हो जाती है। अत्यंत दुःख या सुखमें ऐसा होता है। अनेक घटनाएँ ऐसी उपस्थित की जा सकती हैं। यह माधुर्य चरित है। मनो विज्ञानके अनुसार यह सिद्धान्त है—'भावोत्कर्षात् ज्ञानाभाव'। *यदि 'हरि' शब्द आपको खटकता हो तो सामान्यतः* ईश्वर और परमात्माका पद वाचक है और निर्दिष्ट स्थलपर इसी भावमें वह व्यवहृत हुआ है। उसके प्रयोगमें अनौचित्य क्या? उसकी गन्धभी नहीं। (ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी, साकेतवासी)।

वीरकविजी लिखते हैं कि 'शिवजी रामभक्त हैं। सतीजीने यह सोचा कि पतिके उपास्यदेवके साथ मैंने अपराध किया है। बिना उनके क्षमा किये शिवजी न प्रसन्न होंगे। इसीसे उन्होंने भगवान्से वर माँगा और अन्तमें भगवान्हीने शिवजीसे प्रार्थनाकर पार्वतीजीके साथ विवाह करनेको उन्हें राजी किया। इसमें बेजा कौनसी बात है? इसको मिश्रबन्धुही जानें, क्योंकि वे धुरंधर समालोचक हैं।'

☞ जिसका अपराध किया जाय उसीकी क्षमासे अपराध क्षमा हो सकता है। अपराध किया श्रीरामजीका, तब शिवजी उसे क्षमा कैसे कर सकते हैं? देखिये, दुर्वासाजीको भगवान्ने क्षमा न किया,

अंबरीपजीके पासही क्षमाकेलिये भेजा। दूसरे, श्रीरामजी शिवजीके स्वामी हैं, वे दोनों अपराधोंको क्षमा कर सकते हैं। अतः उनसे प्रार्थना करना उचित ही था।

टिप्पणी—२ 'तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई। जनमीं०' इति। 'तेहि' शब्द पूर्वकथित बालका बोधक है। अर्थात् भक्ति वर माँगा इस कारण जन्म हुआ। बिना तनके भक्ति नहीं होती। यथा 'तजउँ न तन निज इच्छा मरना। तन बिनु वेद भजन नहिं बरना। उ० ९६।' इसलिए तन धारण किया कि जिससे शिवजीकी भक्ति करे। 'तेहि कारन' से केवल पुनर्जन्मके संदेहकी निवृत्ति की गई। 'हिमाचलके यहाँ क्यों जन्म हुआ?'—इसका कारण यहाँ नहीं लिखा। शिवपुराणमें लिखा है कि हिमाचलने इनके लिए तप किया था कि ये हमारी पुत्रि हों इसीसे इनके यहाँ आकर जन्म लिया। 'जनमीं जाइ' अर्थात् अपनी इच्छासे वहाँ जाकर अवतरीं, कर्मवश नहीं। यथा 'जगसंभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला-वपु धारिनि। ६८।'

नोट—२ हिमाचलके यहाँ क्यो जन्म लिया, इसके अनेक भाव महानुभावोंने लिखे हैं—

(क) 'मानस-अभिप्राय-दीपककार' लिखते हैं कि 'इन शब्दोंसे ज्ञात होता है कि सतीजीने यह भी वर माँग लिया था कि हिमाचलपर्वतपर मेरा जन्म हो। यदि यह कहा जाय कि शिवपदमें अनुराग होना माँगा, अतः हिमालयमें जन्म हुआ तो यह कहना अलग्न होगा, क्योंकि हिमालयमें ही जन्म लेनेसे तो शिवपदमें प्रीति होगी नहीं। हरिके आशीर्वादवश जहाँभी जन्म हो वहाँही शिवपदमें प्रीति अवश्य होगी। अतः यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त दोनों चौपाइयोंमें यह ध्वनि सम्मिलित है कि शिवपदानुराग तो वरप्रसादवश अवश्य होगा, परन्तु हिमाचलमें जन्म लेनेसे वहाँ शिवपदप्रेमोत्पादक बहुत पदार्थ हैं।' अतएव प्रेम शीघ्र होना सभव है।'

(ख) "सतीजी चार अग्निमें जली हैं। एक तो विरहानलमें; यथा 'तपै अवाँ इव उर अधिकाई। दूसरे, यज्ञानलमें अर्थात यज्ञमें भाग न देखकर अपमान समझकर, यथा 'प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ।' तीसरे, क्रोधानलमें, यथा 'बोलीं वचन सक्रोध'। चौथे, योगानलमें,—६३ (४-६) भी देखिए। इससे इनको अधिक शीतलताकी आवश्यकता है। शीतलता प्राप्त करनेके लिये यहाँ प्रगट हुईं।" (मा. प.)

(ग) 'पति वियोग और पति-अपमानरूपी अग्निसे हृदय जलता था, यहाँ जन्म लेकर हृदयका दाह बुझाया। वा, पहले महाभिमानी दक्षके यहाँ जन्म लेनेसे मुझसेभी पतिका अपमान हुआ यह विचारकर अब ऐसेसे पैदा हुईं जिसका मन सदा शीतल रहे, कभी गर्म न हो।' (सु० द्विवेदी)।

(घ) "हिमालय शिवजीका अत्यन्त प्रेमी था इससे, अथवा, पर्वतकी तरह शिवचरणमें अपनी बुद्धि स्थिर करनेके लिए पर्वतराजके यहाँ जन्मीं।" (सू० प्र० मिश्र)।

(च) 'यहाँ बालपनेसे स्वाभाविकही तप होता रहेगा। अथवा, यह विचारकर कि हिमऋतु बड़ी विषम है इसमें वृक्ष पल्लव नहीं लेते, पक्षी अंडा नहीं देते, सर्प बिच्छू आदि विषम जीव लुके रहते हैं—हिमालयके घर तपहेतु जन्म लिया।' (शीलावृत्ति)।

☞ दासकी क्षुद्र बुद्धिमें तो यह आता है कि विरह आदि तापें ऊपरकी ठंढसे नहीं मिट सकतीं। मुख्य कारण यह जान पडता है कि भगवतीने 'हरि' से शिवपदानुराग माँगा। अतः 'हरि' ने यह स्थान सब भाँति इनके अगले जन्म चरित्रके योग्य समझकर यहाँ जन्म दिया। यह तपोभूमि है। कैलासका इससे संबंध है।—'हरि इच्छा भावी बलवाना।' अथवा, यह भी हो सकता है कि भगवतीने अपनी इच्छासे यहाँ जन्म लिया। यथा 'निज इच्छा लीलावपुधारिनि। ..अब जनमि तुम्हरें भवन निज पति लागि दारुन तप किया। ६८।' कोई आवश्यकता 'जन्मस्थान' के लिये वर माँगनेकी प्रतीत नहीं होती। और यों तो जहाँ भी जन्म होता वहाँ ही के विषयमें शंका उठ सकती थी। पं० रामकुमारजीका भाव ठीक है जो टि० २ में है।

श्रीजानकीशरणजीका मत है कि विरहादिक तापोंके ऊपरके ठंढसे मिटनेमें संदेह नहीं करना चाहिये। 'अग्निसे जलनेपर वैद्यकशास्त्रानुकूल हिमालयसे कटकर जो ओला मेघ द्वारा वर्षाके साथ गिरता

है यह तापनाशक श्रेष्ठ औषधि है' (मा० मा०)

नोट—३ 'हिमगिरि' से जड पर्वत न समझना चाहिए वरंच हिमालय पर्वतके राजा या अधिष्ठातृ देवता समझना चाहिए। जैसे इङ्गलैण्ड और जर्मनीकी लड़ाईसे वहाँके राजाओंकी लड़ाईका अर्थ होता है। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि और पवन तत्वोंका एक अचर रूप होता है जो सबको दृष्टिगोचर होता है और एक एक चर या देवशरीर होता है जिससे उन तत्वोंका नियमानुसार सञ्चालन होता है। उदाहरणार्थ समुद्र जलतत्व है, यह उसका एक स्थूल रूप है। वह समुद्र विप्ररूपसे भगवान रामजीके सामने भेंट लेकर आया, यथा 'कनक थार भरि मनिगन नाना। विप्ररूप आयउ तजि माना। ५। ५८।' और वरुण जलतत्वके अधिकारी देवता हैं। पृथ्वीका स्थूलरूप सब देखते हैं वह गो तनधारी होकर ब्रह्माजीके पास गई थी। अग्नि और पवनका स्थूल रूप नित्य अनुभवमें आता है। अग्निदेवरूपसे दशरथजीके पुत्रेष्टी यज्ञमें हवि लेकर आए तथा लंकामें सीताजीको लाकर श्रीरामजीको सौंपा यथा 'प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे। ' यह हवि बाँटि देहु नृप जाई। तब अदृश्य भए पावक'''। १। १८९।', 'धरि रूप पावक पानि गहि श्री । ६। १०८।' इसी तरह पवनके अधिष्ठातादेवता वायुलोकमें रहते हैं जिसकी चर्चा हनुमान्‌जीके बालकेलि प्रसंगमें आई है।—इसी प्रकार पर्वतोंके अधिकारी देवता हिमाचल हो सकते हैं।

मानसतत्वविवरणकार लिखते हैं कि 'हिमालय अधिष्ठानरूप देवताके घर जाकर अर्थात् जय दुर्गारूप होकर शिवजीका सतीजन्यवियोग दूरकर हिमाचलके यहाँ प्रगट हुईं। लिङ्गपुराणानुसार हिमालय का जन्म शिवजीके दाहिने बगलसे पाया जाता है। इसलिये यह कोई तेजस्वी पुरुष है। स्थूलदर्शी पुरुषोंको पर्वतमात्र देख पडता रहा जैसा सिद्धिके परत्वमें कहा है। यथार्थमें वह एक राजा था। देवीभागवतमें इसका भगवतीको ज्ञान बतलाना और हिमालयपरत्वका वर्णन है। पुनः हिमगिरिनामक देवता समझ लें। अतः उसके गृहमें जन्म कहा। ये सब उपर्युक्त अर्थ इसी मथसे प्रमाणित होते हैं, यथा 'जब तें उमा सैल गृह जाई", 'तुम सहित गिरि ते गिरउँ' इत्यादि। अथवा, यह देवविवाहका देशकाल है। इससे सूक्ष्मसृष्टिमें सारे कार्यका होना सिद्ध है। अतः हिमालयनामका राजा उसी सृष्टिका रहा, पर्वत उसका गृह था जैसे जल में वरुण।' (सतउन्मुनी टीका)।

४ रुद्रप्रयागसे पैंतालीस मील उत्तर एक 'गौरीकुंड' है। वहाँपर श्रीगौरीदेवीका मंदिर और दो कुण्ड हैं—एक शीतल और दूसरा अत्यन्त तप्त खारे और पीतवर्ण जलका। इस स्थानको पार्वती जन्म भूमि कहा जाता है। हिमाचलराज यहाँ अपनी पत्नी मैनाजी सहित महल बनाकर रहते थे। गौरीकुण्डसे पाँच मीलपर त्रियुगीनारायणनामक स्थान शिवपार्वतीविवाहमण्डप कहा जाता है। सभवतः गौरीकुण्डसे वहाँतक बसती रही हो। (वे० भू०)। दोहा ८२ (१ २) भी देखिये। (वि० त्रि० का मत है कि 'चैत्र शुक्ला नवमीको त्रेतायुगके आदिमें अर्धरात्रिके समय भगवतीका जन्म हुआ। मानसप्रकरणके हिमऋतुका आरम्भ सूचित करते हैं।—'हिम हिमसैलसुता सिव ब्याहू।')

टिप्पणी—३ 'जनमीं पारबती तनु पाई' इति। (क) पार्वती तन पाकर जन्म लेनेका तात्पर्य यह है कि पर्वतराजके यहाँ उत्पन्न हुईं, इससे पार्वती कहलाईं। पर्वतसे नदियाँ प्रकट होती हैं; यथा 'पापपहार प्रगट भइ सोई। अ०।', अतः 'पार्वतीतनु' कहकर जनाया कि नदीरूपसे प्रगट हुई हों, सो न समझो; वे शरीरधारी होकर प्रकट हुईं। (ख) [बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'तनुपाई' का भाव यह है कि 'नरदेह धारण की। दुःख सहनेके लिये तथा शिवभक्ति और तप करनेके लिये नरदेह धरी, नहीं तो पर्वतकी कन्या का तो पर्वतरूप ही उचित था।' (शीलावृत्त)]

जब तें उमा सैल गृह जाईं। सकल सिद्धि संपति तहँ छाईं॥ ७॥
जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे। उचित बास हिमभूधर दीन्हे॥ ८॥

अर्थ—जबसे उमाजी हिमाचलके घर पैदा हुईं तबसे वहाँ सारी सिद्धियाँ और संपत्ति छागईं ।७। मुनियोंने जहाँ तहाँ सुंदर आश्रम बना लिए। हिमाचलने (सबको) उचित स्थान (आश्रमके लिये) दिये। ८।

नोट—'जब तें उमा सैलगृह जाईं ।०' इति। (क) ☞ घरमें भाग्यशालीके आतेही पिताके ऐश्वर्यका उदय होता है, जैसे श्रीजानकीजीके आविर्भावसे श्रीजनकमहराजका। यथा 'तब तें दिनदिन उदय जनक को जब तें जानकि जाई। गी० बा० ।' पार्वतीजीके जन्मसंसर्गसे पर्वतराजका संपत्तिवान् होनेका वर्णन 'प्रथम उल्लास अलंकार' है। देखिये, श्रीसीतारामजीके संसर्गमें चित्रकूट, दंडकवन, प्रवर्षण गिरि और सुवेल पर्वत आदिकी कैसी व्यवस्था हो गई? सत्पुरुषोंके संसर्गसे जड भी सुखदाई हो जाते हैं। यथा 'जबतें आइ रहे रघुनायकु। तबतें भयउ बन मंगलदायक॥ फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना।....करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥... महिमा कहिअ कवनि बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू॥ अ० १३७ (५) से १३९ (४) तक।—यह चित्रकूटका वर्णन है। इसीतरह 'मंगलरूप भयउ बन तब तें। कीन्ह निवास रमापति जब तें।' (प्रवर्षणगिरि ३.१३) और 'सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी। (लं०), इत्यादि। (ख) 'जाना'=जन्म लेना, जन्म देना। 'छाना'=भरपूर होना, छावनी डाल देना, स्थिर होना। (ग) 'उमा' अर्थात् उ (शिवकी) मा (लक्ष्मी) शिवजीकी लक्ष्मी हैं जो सिद्धियों की जननी हैं। माताने यहाँ जन्म लिया, अतः उनके साथ सिद्धियाँ और संपत्तिभी यहाँ आकर बसगईं। (मा० प०)। (घ) 'सकल सिद्धि'=अष्ट सिद्धियाँ। 'संपत्ति'=नव निधियाँ। 'सकल सिद्धि संपति तहँ छाईं' का भाव कि पहले कुछ ही थीं अब सब पार्वतीजीकी सेवाके लिये आकर बस गईं। अथवा, पूर्व सब थीं पर स्थिररूपसे नहीं और अब स्थिररूपसे बस गईं। (पं० रा० कु०)।

टिप्पणी—१ 'जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे ।०' इति। (क) इससे जनाया कि पर्वत अत्यन्त रमणीक हो गया। (क्योंकि मुनियोंके आश्रम रमणीय स्थानोंमें प्रायः होते हैं)। 'सुआश्रम कीन्हे' का भाव कि अन्यत्र जहाँ रहते थे, वे स्थान ऐसे रमणीय न थे। वहाँ आश्रम थे और यहाँ 'सु' (सुंदर) आश्रम बने। 'कीन्हे' शब्दसे जनाया कि यहाँ अब बहुत दिनों तक निवास करनेका विचार किया है। इसे सिद्धपीठ जानकर यहाँ निवास करेंगे। 'जहँ तहँ' का भाव कि मुनियोंके आश्रम पृथक् पृथक् तथा भिन्न भिन्न होते हैं। (ख) 'उचित बास हिमभूधर दीन्हे' इति। 'बास' देनेका भाव कि हिम (बर्फ) के कारण वहाँ निवास नहीं हो सकता था, इसलिये हिमालय स्फटिकमणिके समान हो गया, पृथ्वी सम हो गई। 'उचित' अर्थात् यथा-योग्य। इससे जनाया कि सबके आश्रमोंकी जगह एकसी न थी। जो जिस योग्य था उसको वैसा स्थान आश्रमकेलिये मिला।

दोहा—सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव नाना जाति।
प्रगटीं सुंदर सैल पर मनि आकर बहु भाँति॥ ६५॥

अर्थ—उस सुंदर पर्वतपर अनेक जातिके सब नये-नये वृक्ष सदा फूल फल संपन्न रहने लगे और बहुत प्रकारकी मणियोंकी सुंदर खानें प्रगट होगईं। ६५।

टिप्पणी—१ 'सदा सुमन फल सहित' इति। फल फूल दोनों साथसाथ एकही समय होना प्रायः देखा नहीं जाता। उसपरभी सभी वृक्षोंका सदा हरेभरे फूलते-फलते रहना यह तो असंभव ही है। सब वृक्ष सदा नहीं फूलते-फलते, कोई फूलता है या फलताही है, इस रीतिसे वनमें सदा फल-फूल बना रहता है, किन्तु यहाँ सब कालोंमें सब वृक्षोंमें नवीन पल्लव, फूल और फल होते हैं, यह सर्वत्रसे विलक्षणता है। यह पार्वती-जन्मकी महिमा है। 'नव' के दो अर्थ हैं—१ नवीन। २ नम्रहोना, झुकना। इस तरह पूर्वार्धका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि 'सदा फूलफलसे लदेहोनेसे सब वृक्ष झुके हुए हैं। यथा 'फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि निअराइ। आ० ४०।' इससे जनाया कि वहाँ सदा वसन्त बना रहता है।

२ 'प्रगटीं सुंदर सैल पर०' इति। प्राय खान खोदनेसे मणि प्रगट होती है, किंतु यहाँ बिना खोदे स्वयं प्रगट होगई हैं। यथा 'बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा। श्रवहिं सकल सरितामृतधारा॥' पर्वतके ऊपर वृक्ष फूल फल रहे हैं, वृक्षके नीचे मणि बिखरे पड़े हैं।—यह पहाड़के बाहरका हाल कहा। और 'प्रगटीं सुंदर सैल पर मनि-आकर०', यह पर्वतके भीतरका हाल कहा। 'प्रगटीं' कहनेका भाव कि खानें गुप्त होतीहैं मर्मीही जानते हैं किन्तु यहाँ जो गुप्त थीं वेभी प्रगट होगईं।

नोट—प्रथम कहा कि उमाके जन्मसे सब सिद्धियाँ और निधियाँ आ बसीं। अब उन सिद्धियोंका ऐश्वर्य, फल-फूल, नवपल्लवयुक्त नये-नये वृक्ष, मणिकी खानें इत्यादिका प्रकट होना कहा। (मा० प०)। सिद्धियोंका छा जाना कहकर सिद्धिप्राप्तिके इच्छुकों (मुनियों) का आ बसना कहा और आगे इनके सत्कार के लिये फूलफलादिका सदैव रहना कहते हैं (वि० त्रि०)

सरिता सब पुनीत जलु बहहीं। खगमृग मधुप सुखी सब रहहीं॥ १॥
सहज बयरु सब जीवन्ह* त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा॥ २॥

अर्थ—सब नदियाँ पवित्र (मधुर अमृतसमान) जल बहती हैं। पक्षी, पशु और भौंरे सभी सुखी रहते हैं। १। सब जीवोंने अपना स्वाभाविक वैर छोड़ दिया। सब पर्वतपर प्रेम करते हैं। २।

नोट—१ 'सरिता सब'—अर्थात् भागीरथी, मंदाकिनी, अलकनन्दा, यमुना, शोणगंगा, स्वर्णगंगा, विष्णुगंगा, रामगंगा, व्यासगंगा, नन्दगंगा, गरुडगंगा, चीरगंगा, पातालगंगा और तुङ्गभद्रा इत्यादि। सू० प्र० मिश्रजीका मत है कि यहाँ गंगाको छोड़कर अन्य सब नदियोंका ग्रहण है, क्योंकि गंगाजी तो हरिहर विधि रूपा शुभवर्णा स्वयं हैं। इस तरह भाव यह हुआ कि पहले तो गंगा आदि दो एक नदियाँ ही पवित्र जल बहती थीं, अब सभी नदियोंमें पुनीत जल बहता है।

टिप्पणी—१ (क) पर्वतसे नदीकी उत्पत्ति है। अतः प्रथम पर्वतका वर्णन करके पीछे नदीका वर्णन करते हैं। 'पुनीत' से यहाँ 'मधुर, मीठा' अर्थ लेना होगा, यथा 'पुनीत मधुर मिष्ट'। ['पुनीत' से पावन करनेवाला, पापनाशक एवं अमृतसमानभी अर्थ ले सकते हैं। यथा—'श्रवहिं सकल सरितामृतधारा।'] (ख) वृक्ष, फूल और फल कह आए। अब उनके आश्रित 'खग मृग मधुप' को कहते हैं। सुमन, फल, वृक्ष और जल ये सब खगमृगादिके सुखके हेतु हैं। सुमनसे मधुप सुखी, फलसे पक्षी सुखी, 'नाना नव द्रुम' अर्थात् बनसे मृग सुखी। और भी सुखका हेतु आगे लिखते हैं कि 'सहज बयरु सब जीवन्ह त्यागा'।—इस प्रकार संपूर्ण सुख वर्णन किया।

२ 'सहज बयरु सब जीवन्ह त्यागा।०' इति। भाव कि स्वाभाविक वैरका त्याग करना कठिन है, जब उसीको त्याग दिया तब साधारण वैरका त्याग करना कौन बात है?—यह सब उमाजीकी महिमा है।—'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः' इति योगसूत्रे। उमाजीके प्रभावसे काल, कर्म, गुण, और स्वभाव बाधा नहीं करते।—यह बात यहाँ दिखाई है। 'सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव'—यहाँ कालकी बाधा नहीं है, सब वृक्ष सब काल फूलते फलते, हरितपल्लवयुक्त रहते हैं। 'खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं'—यहाँ कर्मकी बाधा नहीं होती। 'सरिता सब पुनीत जल बहहीं' यहाँ गुणकी बाधा नहीं, क्योंकि नदीमें अपुनीत जलभी बहता है इसीसे कहा है कि 'समरथ कहुँ नहि दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं।' 'सहज बयरु सब जीवन त्यागा'—यहाँ स्वभावकी बाधा न हुई। और 'गिरि पर सकल करहिं अनुरागा' वैर छोड़कर सब परस्पर अनुराग करते हैं। जैसे कि रामराज्यमें—'खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई। उ० २३।' [इस प्रकार यहाँ प्रकृतिमें परिवर्तन दिखाया। खग मृग एक दूसरेसे भयभीत रहते हैं, यथा 'सहवासी काचो गिलैं, पुरजन पाक प्रवीन। कालछेप केहि बिधि करैं तुलसी खगमृग

* जीवन्ह—१६६१, १७२१, १७६२। जीवह—१७०४। जीवन—छ०।

मीन।' मधुप मधु छीने जानेके भयसे दुर्गम स्थानोंमें छत्ते लगाते हैं पर वहाँभी बंदरोंकी बाधा रहती है। 'सब जीवन्ह'में काक-उलूक, अश्व महिष, बाज-सिंह आदि भी आ गए। 'गिरिपर' से जनाया कि पर्वतपर परस्परका वैर नहीं रह गया, पर पर्वतके नीचे आनेपर फिर वही सहज वैर हो जाता था। (वि० त्रि०)]

नोट—२ सृष्टि दो प्रकारकी होती है, स्थावर और जंगम। यहाँ ग्रन्थकार दिखाते हैं कि स्थावरात्मक और जंगमात्मक दोनों प्रकारकी सृष्टियाँ पार्वतीजीके संयोगसे सुखी हैं। यथा कुमारसम्भवे—'*शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव*'। वृक्ष और सरिता आदि स्थावर हैं। खग, मृग आदि जङ्गम हैं। (मा० प०)

३ 'सहज बयरु०' इति। नीतिवादियोंका सिद्धान्त है कि सहज वैर जीवनपर्यन्त कथमपि नहीं जाता। यथा 'प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम्'। ऐसे वैरको छोड़ दिया तो क्या उदासीन हो गए? नहीं। वे शत्रुके साथभी प्रेम करने लगे। इसका हेतु यह है कि सिद्धियोंकी माता पार्वतीजीकी बाललीला देखकर सब मोहित हो गए। हाथी-सिंह, घोड़े भैंसे, गाय बाघ, सर्प-नकुल, इत्यादि सब पार्वतीकी लीला (देखने में बाधा न हो, इसलिये आपसमें मेल करके) देखदेख आनन्दित होने लगे। (मा० प०)। पर ऐसा मान लेने पर यह कहना आवश्यक हुआ कि वाल्मीकि आश्रममें किसकी बाल-लीलासे मोहित हुए। (प०प० प्र०)।

सोह सैल गिरिजा गृह आएँ। जिमि जनु रामभगति के पाएँ॥ ३॥
नित नूतन मंगल गृह तासू। ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू॥ ४॥

अर्थ—घरमें पार्वतीजीके आनेसे पर्वत (ऐसा) शोभायमान हो रहा है जैसा रामभक्तिके पानेसे भक्त सुशोभित होता है।३। उसके घरमें नित्य नए मंगलोत्सव होते हैं, ब्रह्मादि (देवता) जिसका यश गाते हैं।४।

टिप्पणी—१ 'सोह सैल गिरिजा गृह आएं।०' इति। शैलकी शोभा 'सकल सिद्धि संपति तहँ छाई' से लेकर 'गिरिपर सकल करहिं अनुरागा' तक कह आए। सब सिद्धियो और नवनिधियोंका आ बसना शैलकी शोभा है। मुनियोंके सुन्दर आश्रमोंसे शैलकी शोभा है। सब वृक्षोंके नवीन पल्लव, फूल और फलोंसे संपन्न होनेसे शैलकी शोभा है। मणियोंकी खानोंके प्रगट होनेसे शैलकी शोभा है। इसी तरह नदियोंके बहने और अनेक पक्षियोंके विहारसे शैलकी शोभा है, इत्यादि।—यह शोभा गिरिजाके आगमनसे प्राप्त हुई। इस शोभाका मिलान श्रीरामभक्तकी शोभासे करते हैं। 'जिमि जनु रामभगति के पाए' कहनेसे स्पष्ट है कि शैलराज और जन (भक्त, संत), गिरिजा और रामभक्ति उपमेय उपमान हैं।

प० प० प्र०—'सोह सैल · पाए' इस पुरइनका कमल किष्किंधाकांडमें फूला है। यथा 'जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहि आश्रमी चारि। ४। १६।', 'कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी। ४। १६। १०।' इस प्रकार भाव यह हुआ कि शैलराजका गृहस्थाश्रम धन्य हुआ, कृतार्थ हुआ। गृहस्थाश्रमके श्रमोंकी पूर्ण सफलता हुई। उनके गृहस्थाश्रमोंके श्रमोंकी परिसमाप्ति हुई और पूरा विश्राम मिल गया। यहाँ गिरिजा रामभक्तिके समान हैं और हिमाचलराज उनके पिता आश्रमी रामभक्तके समान हैं।

*** शैलराज और रामभक्त (संत) का मिलान ***

(क) शैल संत हैं। दोनों परोपकारी हैं, यह समानता है। यथा 'संत विटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी। उ० १२५।', तथा 'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया। उ० १२१।'

(ख) जैसे गिरिराज संतके स्वरूप हैं, वैसेही गिरिजाजी श्रीरामभक्तिरूपा हैं। शैलराजके घर उमा आईं। संतके हृदयरूपी घरमें रामभक्ति आती है।

(ग) शैलके यहाँ ऋद्धि सिद्धि संपति छाईं। रामभक्तके यहाँ ऋद्धि सिद्धि बिना बुलाए आजाती हैं। यथा-'कृपिन देइ पाइय परी बिनु साधन सिधि होइ।' तथा 'छांछ को ललात जे ते रामनामके प्रसाद खात

खुनसात सोंधे दूधकी मलाई हैं। क० ७०।' सब सिद्धियाँ संतके वशमें रहती हैं।

(घ) शैलराजका देश पर्वत। संतका देश उसका हृदय है, यथा 'संकर हृदय भगति भूतल पर प्रेम अखयवट राजै। गी० उ०।'

(ङ) शैलके यहाँ मुनियोंके आश्रम, वैसेही संतके यहाँ मुनियोंका समाज सदा रहता है। अयोध्याजीके प्रसिद्ध महात्मा बाबा रघुनाथदासजी, बाबा वैष्णवदासजी, पटनाके बाबा भीष्मदासजी आदि इसके जीते जागते उदाहरण हैं।

(च) जैसे शैलके यहाँ 'सदा सुमन फल सहित द्रुम' वैसे ही संतके यहाँभी।

(छ) शैलपर 'मनि आकर बहु भाँति', वैसेही संतके हृदयमें नाना गुण।

(ज) शैलके यहाँ नदी मधुर जल बहती है। संतके आश्रममें सदा स्वच्छ मधुर जल रहता है।

(झ) दोनोंके यहाँ पक्षी सुखी रहते हैं। यथा 'मुनिगन निकट बिहँग मृग जाहीं।'

(ञ) दोनोंके यहाँ बैर त्यागकर सब जीव बसते हैं।

(ट) दोनोंपर सबका अनुराग है।

(ठ) गिरिजाके आगमनसे शैलकी शोभा रामभक्तिके पानेसे भक्तकी शोभा। रामभक्तिके पीछे सब पदार्थ लगे रहते हैं।

(ड) दोनोंके यहाँ नित नूतन मंगल।

(ढ) दोनोंका यश ब्रह्मादि गाते हैं।

नोट—१ सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं—'शबरीकी कथा अरण्यकांडमें प्रसिद्ध है। भक्ति होनेके बाद भक्तकी क्या दशा होती है यह भक्तिरसायनमें इस प्रकार वर्णित है यथा—'यदुत्तमनाम चरणैपरण योग भक्त्या चेतो मलानि विधमद्गुणकर्मजानि। तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद्यथामलदृशो सवितृप्रकाशः। १। यथाऽग्निना हेममलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते स्वरूपम्। आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्।२। यथा—यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथा श्रवणाभिधानैः। तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्।३। विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते। मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रलीयते। ४।' अर्थात् जिनकी भक्तिसे चित्तके मल नष्ट हो जाते हैं और तब हृदयमें आत्मतत्त्वका अनुभव उसी प्रकार हो जाता है जैसे कि नेत्रोंके निर्मल होनेसे सूर्यप्रकाशका अनुभव होता है। १। जैसे अग्निसे स्वर्ण शुद्ध हो जाता है वैसेही मेरे भक्तियोगसे मनुष्यका आत्मा कर्ममलको भस्म करके अपने स्वरूपको प्राप्त होकर तब मेरा भजन करता है। २। मेरी पुण्यकथा श्रवण और नामस्मरणसे आत्मा जैसे जैसे शुद्ध होता जाता है वैसेही वैसे वह सूक्ष्म वस्तुका अनुभव करता जाता है, जैसे कि अंजन लगानेसे आँख सूक्ष्मदर्शक होती जाती है। ३। जैसे विषयोंका ध्यान करनेवालेका चित्त विषयोंमें संलग्न हो जाता है। वैसेही मेरा स्मरण करनेवालेका चित्त मुझमें संलग्न हो जाता है।

२ सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'रामभक्ति पानेसे जनकी शोभा बढ़ती है। प्रह्लाद राक्षसकुलके थे। रामभक्तिसे ऐसी शोभा बढ़ी कि लोग प्रातःकालमें उनके नामका स्मरण करने लगे। ('प्रह्लाद नारद पराशर०')। दासीपुत्र नारद रामभक्तिके कारण देवर्षि हो गए। निषाद भक्तिहीके कारण रामसखा हुआ। इत्यादि।—ऐसे अनेक उदाहरण हैं। पार्वतीजीके ही प्रश्न और महादेवजीके उत्तरसे आगे रामभक्ति कथा उत्पन्न होगी। इसलिए पार्वती रामभक्तिमय हैं। उनके आनेसे हिमालयभी पूर्ण रामभक्ति पागए। इसलिये जगत्मान्य हुए।' ३—यहाँ उदाहरण अलंकार है।

४ श्रीरामभक्ति बहुत दुर्लभ पदार्थ है। जगदम्बा श्रीपार्वतीने शिवजीसे श्रीरामभक्तिकी दुर्लभता वर्णन करते हुए प्रश्न किया है कि ऐसी भक्ति कागको क्यों कर मिली। यथा 'नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धरम ब्रतधारी॥ धरमसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई॥ कोटि बिरक्त मध्य

श्रुति कहई। सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई॥ ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥ तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी॥ धरमसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥ सब तें सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥ सो हरि भगति काग किमि पाई।" (उ० । ५४) । प्रभुकी भक्ति क्या है, उसके क्या लक्षण हैं, यह स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने अपने मुखारविंदसे पुरजनोंको बताया है। यथा 'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥ सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥ मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा बिस्वासा॥ बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई॥ बयरु न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥ अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिज्ञानी॥ प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृनसम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥ भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥ मम गुनग्राम नाम रत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद-संदोह॥ उ०। ४६।' और इसके प्राप्तिके उपायभी बताए हैं कि द्विज सेवा करे, इसका फल संतदर्शन होगा और सन्तोंके सत्संगसे भक्ति प्राप्त होगी। पुनः, शबरी-भजनसेभी प्राप्ति बताई है। भक्तिकी प्राप्ति होनेपर क्या होता है यह उत्तरकाण्डमें भुशुण्डिजीने बता दिया है। 'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥ प्रबल अविद्यातम मिटि जाई।···खलकामादि निकट नहि जाहीं।···गरल सुधा सम अरि हित होई।· ब्यापहिं मानसरोग न भारी। जिन्हके बस सब जीव दुखारी॥ रामभगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहु ताकें। ७। १२०।'

इस भक्तिसे प्रभु भक्तके वश हो जाते हैं। श्रीनाभास्वामी-कृत भक्तमालमें सन्तोंके चरित पाठक स्वयं पढ़ देख लें। अपनी भक्तिके साधन परम कृपालु भक्तवत्सल प्रभुने लक्ष्मणजी तथा श्रीशबरीजीसे भी कहे हैं। देखिये अरण्यकाड दोहा १५, १६ 'मैं अरु मोर ··' से 'सदा विश्राम। १६।' तक और दोहा ३५-३६ 'प्रथम भगति ··' से 'हिय हरष न दीना' तक। ऐसी भक्ति पाकर भक्त कैसा सुशोभित होगा, यह तो परमभक्त ही अनुभव कर सकते हैं। ऊपर किंचित् टि० १ और नोटमें लिखा गया है। भक्तिहीन पुरुष कैसा अशोभित है, यह 'भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥ आ० ३५।' में बताया गया है। जैसे बिना पानीका मेघ।

टिप्पणी—२ 'नित नूतन मंगल गृह तासू।०' इति। (क) उपर्युक्त शोभा सारे हिमालय पर्वत पर हो रही है और पर्वतके अभिमानी देवता अथवा राजाके घर नित्य नवीन मंगल होते हैं। अर्थात् पार्वतीजीके जन्मके कारण नित्य बधाई, सोहर, (छठी, बरहीं आदि) उत्सव होते रहते हैं। (ख) 'ब्रह्मादिक गावहिं जस जासू' इति। क्या यश गाते हैं ? यह कि हिमराज धन्य हैं कि जिनके घरमें जगत् मात्रका मंगलकल्याण तथा देवताओं और मुनियोंका निस्तार करनेवाली, जगज्जननी पार्वतीजीका जन्म हुआ। लोकमात्रका हित हिमाचल द्वारा हुआ, यह यश हुआ। [हिमाचलको ये वात्सल्यका सुख दे रही हैं। वे दिनरात उनके बालचरितामृतको पान किया करते हैं। अतः वे धन्य हैं। (मा० प०), इत्यादि] यश हुआ और आगे होगा। यथा—'एहि ते जसु पैहहिं पितु माता'। (नये मंगलके लिये लोग मङ्गलागौरीका पूजन करते हैं तब जहाँ वे स्वयं अवतीर्ण हुई हैं वहाँ नित्य नया मंगल क्यों न हो। वि० त्रि०)।

नोट—५ 'जासू' और 'तासू' का सम्बन्ध रहता है। 'जासू' का अर्थ प्रायः 'जिसका' होता है। साधारणतया अर्थ यह होता है कि 'जिस (हिमाचल) का यश ब्रह्मादि गाते हैं उस (हिमाचल) के घर नित्य नवीन मंगल होते हैं।' कई टीकाकारोंने 'जासू' का अर्थ 'उसका' किया है। कुछ अड़चन देखकर सू० प्र० मिश्रजीने 'जासू' से 'पार्वतीजीका' अर्थ किया है। अर्थात् 'जिन पार्वतीजीका यश ब्रह्मा आदि गाते हैं उनके जन्मसे हिमालयके घर नित्य नये उत्सव होते हैं।'—पर इसमें शब्द बहुत अपनी ओरसे बढ़ाने पड़ते हैं और जासू-तासूका सम्बन्ध नहीं रहता। संभवतः अभिप्राय कविका यह है कि जन्मके समयसे ही ब्रह्मादि

हिमाचलका यश गाने लगे, उत्सवमंगल तो जन्मके बादमें हुए। उत्सव होनेपरभी गाते हैं।

नारद समाचार सब पाए। कौतुकहीं ⊛ गिरिगेह सिधाए ॥ ५ ॥
सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि बर‡ आसनु दीन्हा ॥ ६ ॥

अर्थ—नारदजीने सब समाचार पाए और 'कौतुकही' हिमाचलके घर पधारे। ५। शैलराजने उनका बडा आदरसत्कार किया। चरण धोकर उनको (बैठनेके लिये) आसन दिया। ६।

टिप्पणी—१ 'नारद समाचार सब पाए।०' इति। (क) 'समाचार पाए' से पाया जाता है कि नारदजी ब्रह्मलोकमें न थे, किसी अन्य लोकमें गये हुए थे। इसीसे उन्हें समाचार बहुत दिनों बाद मिला। जब कन्या सयानी हो गई तब समाचार मिला। नहीं तो ब्रह्मलोकमें होते तो ब्रह्मादिके यशोगानसे उनको तुरत मालूम हो जाता। (ख) 'समाचार सब' अर्थात् पार्वतीजन्म, जन्मसंबंधी उत्सवों एव उनके बड़े और तपयोग्य होने आदिका समाचार। (ग) 'कौतुकहीं गिरिगेह सिधाए' इति। श्रीनारदजी भगवान्‌की इच्छाके रूप हैं। वे सदा भगवानकी इच्छाके अनुकूल काम करते हैं। भगवान्‌की इच्छा है कि पार्वतीजी शिव-प्राप्तिके लिये तप करें। इसीसे वे वैसाही उपदेश करनेकेलिये हिमाचलके घर आए। ☞ हिमाचलने अपने यहाँ मुनियोंको निवास दिया और फलफूल मणि आदिसे उनको सुखी करते हैं। भगवतीका उनके यहाँ अवतार हुआ है। अतएव परम भाग्यवान् और परोपकारी जानकर नारदजी उनके यहाँ गए। परोपकारी, सन्तसेवी भाग्यवानोंकेही यहाँ सन्तोंका आगमन होता है, प्रायः ईश्वरप्राप्ति करानेके लियेही सन्तोंका आगमन होता है। नारदजीभी ईश्वरप्राप्ति करानेकेलिये आए। 'कौतुकहीं' का भाव यह कि उनको यहाँ तक आनेमें कुछभी परिश्रम नहीं हुआ।

नोट—१ 'नारदजीने किससे समाचार पाया ?' इसका उल्लेख यहाँ नहीं है। मानस-पत्रिकाका मत है कि "इसका उत्तर 'ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू' में आगया। ये यश गाया करते हैं, उसीसे मालूम होगया।" प० पु० सृष्टिखण्ड श्रीपार्वतीजन्म प्रसगमें पुलस्त्यजीके कथनानुसार नारदजी इन्द्रके भेजेहुए यहाँ आए हैं। वे कहते हैं—'पार्वतीका जन्म होनेपर इन्द्रने नारदका स्मरण किया। उनके आनेपर उनकी पूजा कर चुकनेपर जब उन्होंने कुशल प्रश्न किया तब इन्द्रने कहा—'मुने! त्रिभुवनमें हमारे कुशलका अंकुर जम चुका है। अब उसमें फल लगनेका साधन उपस्थित करनेके लिये मैंने आपका स्मरण किया है। ये सारी बातें आप जानते ही हैं फिरभी आपने प्रश्न किया है, इसलिए मैं बता रहा हूँ। विशेषतः अपने सुहृदोंके निकट अपना प्रयोजन बताकर प्रत्येक पुरुष बडी शान्तिका अनुभव करता है। अतः जिस प्रकारभी पार्वती देवीका पिनाकधारी भगवान् शकरके साथ संयोग हो, उसके लिए हमारे पक्षके सब लोगोंको शीघ्र उद्योग करना चाहिए।' इन्द्रसे उनका सारा कार्य समझ लेनेके बाद नारदजी हिमाचलराजके यहाँ गए।'

२ 'कौतुकहीं गिरि-गेह सिधाए' इति। सुधाकरद्विवेदीजीका मत है कि 'विलक्षण पार्वतीबाल लीलाका समाचार पाकर सब काम छोड़ वहाँ पहुँचगए। कौतुक=अपूर्व विषयदर्शनोपभोगोत्साह।

३ 'कौतुकहीं'=लीलापूर्वक, जैसे कोई खेल करे।=विनोदार्थ। नारदजीके सम्बन्धमें यह शब्द ग्रन्थकारने अन्यत्रभी प्रयुक्त किया है। यथा 'मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ। बा० १३०।' उनके लिए यह एक खेल या विनोदही है। जी बहलानेके लिए सोचे कि चलो हमभी देख आवें और किसी प्रयोजनसे नहीं। 'सिधाए'=चल दिए। 'कौतुकहीं' के साथ यह शब्द बडे मार्केका है। कौतुकप्रिय हैं, अतः चल दिए। बैजनाथजी 'कौतुकहीं' का अर्थ 'स्वाभाविकहीं' करते हैं। पं० रामकुमारजीने जो अर्थ किया है वहभी ग्रन्थसे प्रमाणित है। 'कौतुकहीं'—सहजही विना श्रम; यथा 'सिंधु तीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर। सुं० १।'

⊛ 'कौतुक हिमगिरिगेह' पाठांतर। ‡ तब—१७२१, १७६२, छ०। बर—१६६१, १७०४, कोदवराम।

☞ 'पार्वतीमंगल' ग्रन्थमें जन्मादिका वर्णन यों है—'मंगलखानि भवानि प्रगट जब तें भइ तब ते रिधिसिधि संपति गिरिगृह नित नइ ॥ ४ ॥ नित नव सकल कल्यान मंगल मोदमय मुनि मानहीं। ब्रह्मादि सुर-नरनाग अति अनुराग भाग बखानहीं। पितु मातु प्रिय परिवारु हरषहिं निरखि पालहिं लालहीं ॥ सित पाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंद्रभूषनभालहीं ॥ ५ ॥ कुअँरि सयानि बिलोकि मातु पितु सोचहिं। गिरिजा जोगु जुरिहि बरु अनुदिन लोचहिं। एक समय हिमवान भवन नारद गए। गिरिवरु मैना मुदित मुनिहि पूजत भए ॥ ६ ॥' इससे अनुमान होता है कि विवाह योग्य होनेपर मातापिताकी चिंता मिटानेके लिए नारदजी भगवत् प्रेरणासे आए। जैसे श्रीरामजीके विवाहकी चिंता दशरथमहाराजको जब हुई तब विश्वामित्रजी भगवत् प्रेरणासे अयोध्या आए थे।

हरिइच्छाहीसे इन्द्रको नारदके स्मरणकी बातभी सूझी। और विनोदार्थ भी आए हों तो यह भी हरि इच्छासे हो सकता है। केवल भेद इतना होगा कि विनोदार्थ आए तो उनके लिये भेजना है—यह उनको ज्ञात नहीं है। बिना जाने हरिइच्छासे वैसा उपदेशका प्रसंग आगया।

'नारद'।—इनके पूर्व जन्मकी कथा 'बालमीक नारद घटजोनी' ३ (३) में दी गई है। ये ब्रह्माजीके मानसपुत्रोंमेंसे हैं। सृष्टिरचनाके लिए ब्रह्माने मानस-पुत्र उत्पन्न किये थे। इन्होंने प्रजासृष्टिका रचना स्वीकार न किया और अन्य मानसपुत्रोंको भी बहकाया जिससे वे भी विरक्त हो गए। शब्दसागरमें लिखा है कि इस प्रकार सृष्टि रचनामें बाधा करनेके कारण ब्रह्माजीने इनको शाप दिया कि तुम कभी स्थिर होकर एक स्थान पर न रह सकोगे, सदा विचरते ही रहोगे। परन्तु भागवत ६. ५. में दक्षका इनको ऐसा शाप देना कहा है। यथा 'तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम् ॥ ४३ ॥' अर्थात् इसलिये हे मूढ ! लोकोंमें विचरते हुए तेरे ठहरनेका कोई निश्चित स्थान न होगा। बा० ७९ (१२) में देखिये। इसी कारण ये त्रयलोक्यमें विचरते ही रहते हैं। ये देवर्षि हैं: इससे कहीं कोई परदा नहीं करता और न कहीं इनको रोक टोक हो।—'त्रिकालज्ञ सर्बज्ञ तुम्ह गति सर्बत्र तुम्हारि। बा० ६६।', 'नारद को न परदा न नारद सों पारिपो। क०बा० १६।' सदैव हाथमें वीणा लिए हुए भगवद्यशका गान उसे बजा बजाकर करते हैं। भगवान्‌के द्वादश प्रधान भक्तों में आपभी हैं (देखिए भक्तमाल छप्पय ७)। इनके जीमें यही रहती है कि औरोंकोभी हरिभक्त बनावें, संसारसे विरक्त करा दें। आपका स्वभाव सन्तोंकासा दयामय है। आप एक लोकका समाचार दूसरे लोक को दिया करते हैं। स्वभाव आपका कलहप्रिय कहा गया है। जहाँ-तहाँ देवता-दैत्योंमें लड़ाई झगड़ेकी जड़ आपही देखे गए हैं। आप भगवान्‌के मन कहे जाते हैं। सेवा, पूजा, कीर्त्तन, प्रसाद, भक्ति प्रचारक इत्यादि सभी निष्ठाओंमें प्रधान हैं।

टिप्पणी—२ 'सैलराज बड़ आदर कीन्हा।०' इति। (क) 'शैलराज' ने आदर किया, इस कथनका भाव यह है कि राजा लोग महात्माओंका जैसा आदर करते हैं वैसा आदर-सत्कार किया। पुनः भाव कि महात्माओंका आदर करनेसे मनुष्योंको बड़ाई प्राप्त होती है। यहाँ नारदजीका आदर करनेसे इनको 'शैल राज' कहा गया। (ख) 'बड आदर'—आगेसे चलकर मिलना, दंडवत् प्रणाम करना, अगवानी करके लाना, सामने सेवामें खड़े रहना, चरण प्रक्षालन करना, आसन देना, पूजन करना, इत्यादि बड़ा आदर है। यथा 'मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयउ लै बिप्र समाजा। करि दंडवत मुनिहि सनमानी। निज आसन्ह बैठारेन्हि आनी ॥ चरन पखारि कीन्हि अतिपूजा। मोसम आजु धन्य नहिं दूजा ॥ बिबिध भाँति भोजन करवावा। बा० २०७।' (ग) पूर्वार्धमें 'बड़ आदर कीन्हा' कहकर उत्तरार्धमें यहभी बताया कि क्या आदर किया। स्वागत करके चरणप्रक्षालन करना, आसन देना यही आदर है। प्रायः परातमें चरण धोने की रीति शिष्ट लोगोंमें देखी-सुनी जाती है, जिसमें जल बाहर न गिरे। पैर परातमें रखकर आदरपूर्वक धोए जाते हैं, फिर अँगौछेसे पोछे जाते हैं। तत्पश्चात् सुन्दर आसनपर विठाया जाता है। यथा 'सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुदर आसन बैठारे। आ० ३४।' (श्रीसबरीजी), 'सादर चरनसरोज पखारे। अति

पुनीत आसन बैठारे। बा० ४५।' (श्रीभरद्वाजजी), तथा यहाँ 'सैलराज०'।

नारि सहित मुनिपद सिरु नावा। चरनसलिल सबु* भवन सिंचावा॥ ७॥
निज सौभाग्य बहुत गिरि† बरना। सुता बोलि मेली मुनि चरना॥ ८॥

अर्थ—(फिर उन्होंने) स्त्रीसहित मुनिके चरणोंमें सिर नवाया (अर्थात् प्रणाम किया) चरणोदकसे सारे घरको सिंचवाया (अर्थात् चरणधोवन सारे घरमें छिड़कवाया)। ७। हिमाचलने अपने सौभाग्य (सुंदर भाग्य) की बहुत बड़ाई की और बेटीको बुलाकर एवं सुता कहकर मुनिके चरणोंपर डाल दिया।८।

टिप्पणी—१ 'नारि सहित मुनिपद सिरु नावा।०' इति। (क) इससे शैलराजकी अत्यन्त भक्ति सूचित की। यथा 'गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले राम कमल कर जोरी। अ० ६१।' (ख) 'चरन सलिल सबु भवनु सिंचावा'—☞ चरणोदकसे घर सिंचवाया, क्योंकि महात्माओंके चरणकमलमें अनेक तीर्थोंका निवास रहता है। चरणोदक सर्वतीर्थोंके समान है। उसके सिंचनसे घर पवित्र होता है, यशकी वृद्धि होती है, दारिद्र्य और अनेक अरिष्ट दूर होते हैं। पदतीर्थ सेवनसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। यहाँ गृहस्थोंका धर्म दिखाया है कि उनको अपने कल्याणार्थ ऐसा करना चाहिए।

२ 'निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना' इति। [अर्थात् कहा कि—'महान् भाग्योदयः' आपके आगमनसे, आपके दर्शनसे हमारा भाग्य उदय हुआ। आज हमारे कोई बड़े पुण्यसमूहोंका, पूर्वसुकृतोंका उदय हुआ कि आपके दर्शन घर बैठे हुए; क्योंकि 'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। उ० ४५।' भगवानकी आज हमारे ऊपर बड़ी असीम कृपा हुई कि आपने स्वयं आकर दर्शन दिये; यथा 'जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा। सुं० ७।', 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।' आज हमारा घर और हम पवित्र और कृतार्थ हो गए, हमारे भाग्यकी बड़ाई कौन कह सकता है। इत्यादि, सौभाग्यका वर्णन है। यथा 'सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगलमूल अमंगल दमनू॥ प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यहु गेहू। अ० ६।'—महात्माके दर्शनसे भाग्यकी बड़ाई है (बड़ा सौभाग्य समझा जाता है), यथा 'नाथ कुसल पदपंकज देखें। भयउँ भागभाजन जन लेखें। अ० ८८।' (निषाद), 'अहो भाग्य मम अमित अति राम कृपा-सुख पुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेव्य जुगल पद-कंज। सुं० ४७।' (विभीषण)।—[किसीने कहा है 'धन्य घाके भाग जाके साधु आए पाहुने।' चाणक्य नीतिमें लिखा है कि—'न विप्रपादोदककर्दमानि न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि। स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि॥' (अर्थात्) जिन घरोंमें विप्रचरणोदकसे कीचड़ न हुआ हो, वेदशास्त्रध्वनि न हुई हो और जो घर स्वाहा-स्वधासे रहित हों, वे घर श्मशानतुल्य हैं। (वि० टी०)]

३ 'सुता बोलि मेली मुनि चरना' इति। (क) (मेलना=डाल देना, यथा—'सिय जयमाल राम उर मेली। बा० २६४।', 'मेली कंठ सुमन कै माला। कि० ८।' यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है और इसका प्रयोग प्रान्तिक है)। मेली=प्रणाम कराया। यथा 'पद सरोज मेले दोउ भाई। बा० २६९।' 'मेली' शब्द देकर पार्वतीजीकी मुग्धावस्था दिखाई है अर्थात् यह सूचित किया है कि वे अभी बहुत छोटी हैं। आगे चौपाईसे मालूम होता है कि वे सखीकी गोदमें थीं, यथा 'जानि कुअवसर प्रीति दुराई। सखी उछंग बैठी पुनि जाई। ६८।' छोटी होनेके कारण पिताने प्रणाम कराया, जैसे महाराज दशरथने चारों पुत्रोंको विश्वामित्रजीके चरणोंमें प्रणाम कराया था। यथा 'पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी। बा० २०७।' और विश्वामित्रने परशुरामके चरणोंमें प्रणाम कराया था, यथा 'बिस्वामित्र मिले पुनि आई। पदसरोज मेले दोउ भाई। २६९।' (ख) चरणोंमें प्रणाम, चरणोंका प्रक्षालन, चरणप्राप्तिसे अपने सौभाग्यकी प्रशंसा करनी, सुताको प्रणाम कराना—इत्यादिसे सूचित किया कि हिमांचल विप्रचरणकमलोंमें अत्यन्त

* त०—१७२१। विधि—१७२१, १७६२, छ०, १७०४। गिरि—१६६१, कोदवराम।

प्रेम रखते हैं; यथा 'विप्र चरन पंकज अति प्रेमा।'

प० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—'सर्वस्याभ्यागतो गुरुः'※ (अर्थात् अभ्यागत सबका गुरु है), इस मनुवाक्यसे और नारदको सबसे प्रधान देवर्षि समझकर, सज्जनके लिये मनुजीने जैसा कर्त्तव्य बताया है, शैलराजने उसी प्रकार गुरुके समान उनका आदर-सत्कार किया। मनुजीने लिखा है कि 'तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥' तृणानि (कुशासन) अथवा भूमि (आसन), जल और उत्तम वाणी इन चार बातोंका अभाव सज्जनोंके यहाँ नहीं होता।—इस नियम से पहले दूरसे देखकर खड़े होकर, आगे जाकर, दंडवतकर साथ-साथ ले जाना यह 'बड़ आदर कीन्हा' से हुआ। 'पद पखारि' से अर्घ्य किया। 'बर आसन दीन्हा' से 'तृणानि' और 'भूमि', 'नारि सहित मुनिपद सिरु नावा। चरन सलिल सबु भवन सिंचावा॥' से विशेष सत्कारके साथ उनके चरणोदकसे घर सिंचवाना इससे 'उदक' और 'निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना।०' में 'सूनृत वाणी'—ये चारों मनुकी आज्ञायें पालन की गईं।'

दोहा—त्रिकालग्य सर्बग्य तुम्ह गति सर्बत्र तुम्हारि।
कहहु सुताके दोष गुन मुनिवर हृदय बिचारि॥ ६६॥

अर्थ—(हिमाचलराज बोले) हे मुनिश्रेष्ठ! आप त्रिकालज्ञ और सर्वज्ञ हैं, सर्वत्र आपकी पहुँच है। (अतएव कृपा करके) हृदयमें विचारकर (इस) लडकीके दोष और गुण कहिये।

टिप्पणी—१ 'त्रिकालग्य', 'सर्बग्य', 'गति सर्बत्र तुम्हारि'—ये तीनों विशेषण सहेतुक हैं। (क) आप त्रिकालज्ञ हैं अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंके ज्ञाता हैं। अतः इसका भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कहिये। मुनिने आगे तीनों कालकी बातें कही भी हैं—'सुता तुम्हारि सकल गुन खानी। सुंदर सहज सुसील सयानी॥ नाम उमा अंबिका भवानी। सब लच्छन संपन्न कुमारी।'—यह वर्तमान है। 'होइहि संतत पिअहि पिआरी' से 'जोगी जटिल अकाम मन०। ६७।' तक भविष्य है। भूतकालका हाल इस समय नहीं कहा। क्योंकि उसमें ऐश्वर्य है। उसके कहनेसे ऐश्वर्य प्रकट हो जायगा, जिससे फिर माता पिताको वात्सल्यका सुख न मिल सकेगा। ऐश्वर्य प्रगट करनेका समय विवाहके अवसरपर आवेगा तब कहेंगे; यथा '*पूरब कथा प्रसंगु सुनाया।*'*'जनमीं प्रथम दच्छगृह जाई।*' से '*हर बिरह जाइ बहोरि पितुके जग्य जोगानल* जरीं॥ ६८॥' तक।—यह भूत है। (ख) 'सर्बग्य'। अर्थात् आप सर्वशास्त्रोंके ज्ञाता हैं। (अतः ज्योतिष, सामुद्रिकशास्त्र द्वारा हाथ देखकर इसके गुण दोष कहिये)। इसीसे आगे हस्तरेखाएँ देखकर सामुद्रिक *कहेंगे। यथा 'अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख। ६७।'* [*योगी लोग प्रज्ञालोकके प्रभाव* से वस्तुविशेषका भूत भविष्य जान लेते हैं; इस भाँति त्रिकालज्ञ होते हुए भी सर्वज्ञ नहीं होते। नारदजी त्रिकालज्ञ भी हैं और सर्वज्ञ भी। (वि० त्रि०)] (ग) 'गति सर्बत्र तुम्हारि' से जनाया कि आप समस्त लोकोंके भी ज्ञाता हैं। (आप सर्वत्र विचरते हैं। अतः बताइए कि इसके योग्य वर कहाँ है।, यह भी आगे देवर्षिजी बतायेंगे। यथा '*जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं। ७०।*' [और पार्वतीमंगलसे स्पष्ट है कि माता पिता वरके लिये चिन्तित थे और उन्होंने नारदसे स्पष्ट पूछा है। यथा 'कुअँरि सयानि बिलोकि मातु पितु सोचहिं। गिरिजाजोग जुरिहि बरु अनुदिन लोचहिं॥ ६॥'*'तुम्ह त्रिभुवन तिहुँ काल बिचार बिसारद। पारबती अनुरूप कहिय बरु नारद॥ ८॥'] (घ) त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ और सर्वत्र गति होनेसे 'मुनिबर' कहा।

※ पूरा श्लोक यह है—'गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः। पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥' अर्थात् अग्नि ब्राह्मणोंका, ब्राह्मण सब वर्णोंका और पति स्त्रियोंका गुरु है। अभ्यागत सबका गुरु है।

श्रीसुधाकर द्विवेदीजी—'मुनि सिद्ध भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका वृत्तान्त जानते हैं, सबके जाननेवाले और सब जगह जानेवाले होते हैं। इसलिये सब विशेषण उचित दिये गए हैं। तीन जन्मका फल कहनेके लिये 'त्रिकालज्ञ', कैसा वर मिलेगा इसके लिये 'सर्वज्ञ' और वह वर कहाँ मिलेगा इसके लिये 'गति सर्वत्र' कहा। वाक्छलसे हिमालयके मुखसे सरस्वतीने यह भी कह दिया कि तुम 'सर्वज्ञ' (शर्वज्ञ) याने शर्व (महादेव) को जाननेवाले हो। 'मुनिवर' में 'मुनि' को अलगकर सम्बोधन बनाओ तो,—'हे मुनि! वर हृदय विचारि' हृदयमें वरको विचारकर याने किसके साथ इसका व्याह होगा यह हृदयमें विचारकर तब कन्याका गुणदोष कहो। हाथको संस्कृतमें 'दोप' कहते हैं। इसलिये 'कहहु सुताके दोष गुन' अर्थात् कन्याके हाथों को गुनकर याने देखकर तब हृदयमें विचारकर 'वर' (इसका पति) कहो। इससे यहभी जनाया कि जन्मपत्र नहीं है।'

नोट—१ यह तुलसी काव्यकी महिमा है कि चाहे जैसा भारी विद्वान् हो वह भी इसके शब्दोंमें गूढ भाव निकाल निकालकर इसमें आनन्द प्राप्त करता है।

२—'कहहु सुताके दोष गुन' में दोष को प्रथम कहा है और नारदमोहप्रकरणमें विश्वमोहिनीके विषयमें 'कहहु नाथ गुन दोष सब एहिके हृदय विचारि। १३०।' ऐसा कहा है अर्थात् गुणको प्रथम कहा है। इसमें क्या भेद और भाव है यह दोहा १३० में लिखा जायगा। पाठक वहाँ देख लें।

वि० त्रि० जी लिखते हैं कि केवल गुण और केवल दोषकी जगत्में स्थिति भी नहीं है। इसलिये दोष गुण दोनों पूछते हैं। दोष लक्षित नहीं होता है, अतः जिज्ञासामें प्रधानता दोषको है, इसलिये दोषको ही पहिले कहा।

कह मुनि बिहसि गूढ़ मृदु बानी। सुता तुम्हारि सकल गुन खानी॥ १॥
सुंदर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अंबिका भवानी॥ २॥

अर्थ—मुनिने हँसकर गूढ और कोमल वचन कहे। तुम्हारी बेटी समस्त गुणोंकी खान है। १। स्वाभाविकही सुन्दरी, सुशील और सयानी है। उमा अंबिका और भवानी (इसके) नाम हैं। २।

नोट—१ 'कह मुनि बिहसि' इति। हँसनेके कारण महानुभावोंने ये लिखे हैं—(क) हिमाचल भवानीका अपनी कन्या जानकर दोष और गुण पूछते हैं। यह नहीं जानते कि यह जगदम्बा है, इनमें दोष कहाँ? (रा० प्र०)। (ख) जैसे किसीके पास रत्न हो जो उसकी कदर या प्रभाव न जानता हो, यदि वह जौहरीके पास उसे ले जाय तो जौहरी देखकर प्रसन्न होता है (क्योंकि वह उसका गुण जानता है) और जी-में यह विचारकर हँसता है कि यह बेचारा इसके गुण क्या जाने, ठीक उसी प्रकार की यहाँ नारदजीकी हँसी है। (प०)। अथवा, (ग) यह सोचकर हँसे कि गुण सुनकर हर्ष होगा, पर जब वरका स्वरूप सुनेंगे तब दुखित होंगे। (प०)। (घ) आज यह विलक्षण लीला है कि जगज्जननीके हाथको मैं देख रहा हूँ और वह चुप-चाप बालिका बनी दिखला रही हैं—ऐसा विचारकर हँसे। (सु० द्वि०)। (ङ) ये 'भव भव विभव-पराभव-कारिनि। बिस्वबिमोहिनि स्वबसबिहारिनि।' हैं, सो आज मैं उनकी हस्तरेखा देखकर शुभ और अशुभ फल कहने बैठा हूँ। (मा० प०)। (च) नारदजी कौतुकप्रिय हैं ही। यह सोचकर हँसे कि अभी तो ये प्रसन्न होंगे, आगे फिर हमें इनकी रानी गाली देगी, यह तमाशा देखनेको मिलेगा। (छ) यह जगत्का नियम है कि जब किसीकी गई हुई वस्तुको वह पुनः देखता है, तब उसे देखकर वह प्रसन्न होता है। नारदजीने सतीको यज्ञमें शरीर त्याग करते समय देखा था, अब उनको पार्वतीरूपमें देखकर हँसे। (सू० प्र० मिश्र)। (ज) समग्र लक्षण देखते ही पूर्वापर समग्र हाल जान गए, अतः हँसे। (वै०)। (झ) दंपतिके वात्सल्यपर हँसे। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—१ 'कह मुनि बिहसि गूढ मृदु बानी।०' इति। (क) 'मुनि' अर्थात् मननशील हैं,

मनन करके तब कहा। ऐश्वर्य प्रकट करनेका अवसर यह नहीं है, इसीसे 'गूढ़' अर्थात् गुप्त करके कहते हैं। वचनोंमें ऐश्वर्य गुप्त है, यही वाणीकी गूढ़ता है। हिमाचलको इन वचनोंके गूढ़ भावोंका कुछभी ज्ञान न हुआ। अतएव 'गूढ़' विशेषण खूब ही घटित हुआ। [(ख) सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'कैसे कहूँ ? एक तो देवर्षि, दूसरे जगज्जननी सामने खड़ी। झूठ कैसे कहूँ और जो प्रत्यक्षमें सब भेद खोलदूँ तो जग-त्पिता महादेव और जगज्जननी उमा दोनोंकी इच्छामें उलटा करनेका अपराधी ठहरूँगा। इसलिये गूढ़ वाणी बोले, जिसमें शैलराज और उसकी स्त्री तथा सखियाँ ठीक ठीक अर्थ न समझें। ज्योतिषी लोग प्रसन्न करनेके लिये सुलक्षणही पहले कहते हैं; इसलिए मुनिने 'सकल गुन खानी' प्रत्यक्षमें कहा। इसमें गूढ़ार्थ यह है कि सत्व, रज और तम तीनों गुणोंकी 'खानि' अर्थात् प्रकृतिरूपा आद्याशक्ति हैं।] (ग) 'सकल गुन'से चौदहो गुणोंकाभी होना कह दिया। वे ये हैं—देशकालका ज्ञान, दृढ़ता, कष्टसहिष्णुता, सर्वविज्ञानता, दक्षता उत्साह, मंत्रगुप्ति, एकवाक्यता, शूरता, भक्ति ज्ञान, कृतज्ञता, शरणागतवत्सलता, अमर्षित्व और अचापल।

२ (क) 'सुंदर सहज सुसील सयानी।०' इति। 'सकल गुन खानी' यह गूढ़ वाणी कहकर अब कुछ प्रगट गुण कहते हैं। सहज सुन्दरी है, अर्थात् विना शृङ्गारके ही सुन्दर है। 'सहज' का अन्वय सबके साथ है। सहज सुशील है अर्थात् जन्मस्वभावसेही सुशील है, कुछ पढ़ने-लिखने या दूसरोंको देखकर नहीं। और न पंडितोंकी सेवासे यह सुशीलता प्राप्त हुई है, यथा—'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई। ७। ९०।' 'सहज सयानी' है, अर्थात् विना पढ़ेलिखेही इसकी बुद्धि सयानोंकीसी है। तीन विशेषणोंसे तीन बातें कहीं—शरीरसे सुन्दर है, स्वभावसे सुशील है और बुद्धिसे सयानी है। (ख) 'नाम उमा अंबिका भवानी' इति। इससे पाया गया कि नामकरण देवर्षि- नारदद्वारा हुआ। हिमाचलने बेटीका कोई नाम नहीं लिया; 'कहहु सुताके दोष गुन' इतनाही कहकर सुता के दोष गुण पूछे थे। [वाक्यमें गूढ़ता यह है कि स्वयं नाम बतलाने लगे। इतनी बड़ी कन्या का नाम माता पितासे पूछना चाहिए, न कि माता-पिता को उसका नाम बतलाना चाहिए। (वि० त्रि०)]

नोट—२ तीन नाम देकर भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके नाम बताए। यहाँ त्रिकालज्ञता चरितार्थ की। 'अंबिका' अर्थात् जगज्जननी हैं–यह भूतमें, 'उमा' वर्तमानकालमें नाम है और 'भवानी' नाम भविष्यमें होगा। (वै०, सु० प्र० मिश्र)।

सब लच्छन संपन्न कुमारी। होइहि संतत पिअहि पिआरी॥ ३॥

सदा अचल एहि कर अहिवाता। एहि तें जसु पैहहिं पितु माता॥ ४॥

अर्थ—कन्या सब सुलक्षणोंसे युक्त है। (यह अपने) पतिको सदा प्यारी होगी। ३। इसका सुहाग सदा अचल रहेगा। माता पिता इससे यश पावेंगे। ४

टिप्पणी—१ 'सब लच्छन संपन्न कुमारी।०' इति। दो चरणोंमें गुण कहकर अब लक्षण कहते हैं। सब लक्षण यही हैं जो आगे कहते हैं। 'होइहि संतत पिअहि पिआरी' निरंतर प्रिय होगी–इसका कारण पूर्व कह आये कि सर्वगुणखानि है और सर्वलक्षणसंपन्न है। अतः पतिव्रता होगी। पतिव्रता होनेसे पतिको सदा प्रिय होगी। [जो लक्षण पतिव्रतामें होने चाहियें, वे सब इसमें हैं। सामुद्रिकमें बत्तीस लक्षण कहे गये हैं, उन सबोंसे युक्त जनाया। 'कुमारी' शब्दसे जनाया कि 'कुमारावस्थामें चचलता आदि दुर्गुण होते हैं, उन सबोंसे रहित सब लक्षणसपन्न रहेगी।' 'होइहि सतत०' से विवाह होनेपर पतिप्रिय और अनुकूल जनाया।' (मा० प०)]

२ 'सदा अचल एहि कर अहिवाता।०' इति। (क) इससे जनाया कि ये ईश्वरकी शक्ति हैं। न ईश्वरका कभी नाश, न इस सुताका नाश। स्त्रीकेलिये मुख्य लक्षण यही है कि उसका सौभाग्य सदा बना रहे और वह सदा पतिको प्रिय रहे। (ख) 'एहि तें जसु पैहहिं पितु माता'—यह पूर्वसे चरितार्थ होता आरहा है; यथा 'नित नूतन मंगल गृह तासू। ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू।'—यह तो भूत और वर्त्तमानका

यश हुआ और आगे भविष्यमभी यश होगा। [लोग कहेंगे कि शैलराज और मयनानी धन्य हैं कि जगज्जननी भवानीके माता पिता हुए, यथा 'जिन्हहिं बिरंचि बड भयउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता।' इनके द्वारा जगत्का उपकार होगा। षण्मुख कार्तिकेयजी इनके पुत्र हुए, जिन्होंने तारकासुरका वध किया। पितासे संतानका नाम होता है पर यहाँ संतानसे पिता माताका नाम होगा—यह माता पिताका सौभाग्य है, यथा 'तुम्हतें पुन्यपुंज बड काके। राजन राम सरिस सुत जाकें।'—यही यश है। 'एहि तें' में यह भी ध्वनि है कि तुम्हारे पुत्र मैनाकसे तुम्हें यश नहीं मिला]

नोट—'जसु पैहहि पितु माता' इति। यथा—'कहहु सुकृत केहि भाँति सराहिय तिन्ह कर। लीन्ह जाइ जगजननि जनमु जिन्हके घर॥ ४॥ मुनि कह चौदह भुवन फिरउँ जग जहँ जहँ। गिरिबर सुनिय सरहना राउरि तहँ तहँ। भूरि भाग तुम्ह सरिस कतहुँ कोउ नाहिंन। कछु न अगम सब सुगम भयो बिधि दाहिन॥ ६॥ दाहिन भए बिधि सुगम सब सुनि तजहु चित चिंता नई। बरु प्रथम बिरचि बिरंचि बिरच्यो मंगला मंगलमई। बिधि लोक चरचा चलति राउरि चतुर चतुरानन कही। हिमवानु कन्या जोग बरु बाउर बिबुधबंदित सही॥ १०॥'—(पार्वतीमंगल)।

होइहि पूज्य सकल जग माहीं। एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं॥ ५॥
एहि कर नामु सुमिरि संसारा। त्रिय चढिहहिं पतिब्रत असि धारा॥ ६॥
सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी। सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी॥ ७॥

अर्थ—(यह) सारे जगत्में पूज्य होगी। इसकी (पूजा) सेवा करनेसे कुछभी (पदार्थ) दुर्लभ न होगा। ५। संसारमें (स्त्रियाँ इसका नाम सुमिरकर पातिव्रत्यरूपी तलवारकी धारपर चढ जायँगी। ६। हे शैलराज ! तुम्हारी बेटी सुलच्छना है। जो दो चार अवगुण हैं, वह भी अब सुन लो। ७।

टिप्पणी—१ 'होइहि पूज्य सकल जग माहीं।०' इति। (क) दोनों कुलोंकी कहकर अब जगत्में पूज्य होना कहते हैं। 'सकल जगमें' अर्थात् तीनों लोकोंमें। (ख) 'एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं' इति। पूज्य कहकर अब उनकी पूजाका फल कहते हैं कि सभी मनोरथ सिद्ध होंगे, लोक परलोक दोनों बन जायँगे। 'कुछ दुर्लभ नहीं' अर्थात् दुर्लभ भी सुलभ हो जायगा। यथा 'सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायनी पुरारि पिआरी॥ देबि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे॥ बा० २३६।'

२ 'एहि कर नाम सुमिरि संसारा।०' इति। सेवा पूजाका फल कहकर अब नामका फल कहते हैं। नाम पूर्व कह आए—उमा, अंबिका, भवानी। पातिव्रत्य खड्गधाराके समान कठिन है उसपर स्त्रियाँ इसके नामका स्मरण करके सुखसे चढेंगी। अर्थात् यह ऐसी पतिव्रता होगी कि इसका नाम स्मरण करनेसे संसार भरकी स्त्रियाँ पतिव्रता होजायँगी। तात्पर्य कि यह पतिव्रताशिरोमणि होगी। यथा 'पतिदेवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख। २३५।' पूर्व 'होइहि संतत पिअहि पिआरी' से इसपर पतिका प्रेम और 'एहि कर नाम सुमिरि०' से इसका प्रेम पतिपर कहा। इस तरह पति-पत्नीकी अन्योन्य प्रीति कही।—[खड्गकी पैनी धारपर पैर धरतेही पैर कट जायगा, यथा 'परस खड्ग होइ नहिं सारा। ७।११९।' पातिव्रत्य खड्गकी पैनी धारके तुल्य है। ऐसे कठिन धर्मपर भी स्त्रियाँ इसके नामका स्मरण करते हुए आरूढ होसकगीं, अर्थात् नामके प्रभावसे पातिव्रत्य सर्वथा निवह जायगा। 'चढिहहिं' अर्थात् जहाँ कोई दूसरा पैर नहीं रख सकता, वहाँ इसके नामके बलसे स्त्रियाँ चढकर खडी रहेंगी। अर्थात् पातिव्रत्य सुगम होजायगा।]

३ 'सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी।०' इति। (क) 'सुंदर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अंबिका भवानी।' कहकर 'सब लच्छन संपन्न कुमारी' कहा। और 'होइहि संतत पिअहि पिआरी।' से 'त्रिय चढिहहिं०' तक कहकर 'सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी' कहा। इससे पाया गया कि 'सुंदर सहज सुसील०' 'लक्षण' हैं और पति प्रिय होना, सौभाग्यका अचल रहना, तथा पतिव्रता होना 'सुलक्षण' हैं। (ख) 'सब लच्छन संपन्न कुमारी' से 'सैल सुलच्छन सुता०' तक लक्षण कहे। अर्थात् 'सब लच्छन०' उपक्रम है। और

'सैल सुलच्छन०' उपसंहार है। (ग) 'सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी' इति। 'दुइ चारी' का भाव कि यह गुणोंकी तो खानि है, अवगुण दो चार ही हैं अर्थात् बहुत कम हैं। (घ) नारदजी पार्वतीजीके लक्षणोंसे प्रसन्न होकर ऐसे मुग्ध होगए कि बारंबार प्रशंसा कर रहे हैं—१ सुता तुम्हारि सकल गुनखानी, २ सब लच्छन संपन्न०, ३ सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी। (ङ) हिमाचलने प्रथम उमाके दोष पूछे; यथा 'कहहु सुताके दोष गुन०'। नारदजीने प्रथम गुण कहे, सबके पीछे दोष कहे। इसमें भाव यह है कि दोष यदि प्रथम कहते तो माता-पिता विकल होजाते, गुण सुननेका उन्हें होश भी न रहता; इस विचारसे प्रथम गुण कहे। (अच्छी बात पहले कही ही जाती है।)

नोट—१ 'सकल गुन खानी' और 'सुलच्छन' कहकर फिर दोष बताना यह भी गूढ़ता है। निर्दोष तो ईश्वर छोड़ दूसरा होताही नहीं। इसलिए यदि दोष न कहते तो इनका ऐश्वर्य प्रकट हो जाता। यह विचारकर 'अवगुन' शब्द कहा, यद्यपि वे अवगुण हैं नहीं।

२ आगे जो अवगुण कहते हैं, वे तो सुताके दोष नहीं हैं, वरंच वरके दोष हैं; जैसा कि नारदजी आगे स्वयं कहते हैं, यथा 'जे जे वरके दोष बखाने। ६६।३।'—इस कारण टीकाकारोंने 'सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी।' 'सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी' के भिन्न भिन्न भाव कहे हैं—

(क) 'पति पत्नीमें अभेद मानकर, उनको एक जानकर पतिके अवगुण पार्वतीजीमें आरोपण करके कहे। वह निन्दा वस्तुतः प्रशंसा है।' (रा० प्र०)।

(ख) 'सुता तुम्हारी' का भाव यह है कि जबतक यह कुँआरी है, तुम्हारी सुता कहलाती है अर्थात् एकतनचारी है तब तक तो इसमें सब सुलक्षणही सुलक्षण हैं, एक भी कुलक्षण (दोष) नहीं है। हाँ! जब इसका विवाह हो जायगा तब पतिसम्बन्धसे ये अवगुण होंगे। पतिमें जो अवगुण हैं सो सुनो।' (वै०)

(ग) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'नारदजी शिवजीमें भला दोष कैसे कह सकते हैं? इन्होंने दोष नहीं कहे वरंच गूढ़ वचन कहे, जो दंपतिको दोष जान पड़ेंगे और हैं तो गुणही।', वे अवगुणका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'अव (धातुका अर्थ रक्षा है, उसके स्वामी रक्षक) के गुण दो चार कहे। 'दो चार कहे' अर्थात् गुण कहकर मैं पार नहीं पासकता, इससे दो चार कहता हूँ।'

वि० त्रि०—यही मुनिका कौतुक है। उमाको तपके लिये भेजना चाहते हैं जिसमें उनका परम कल्याण हो। दोष न दिखावें तो माता-पिता तपके लिये आज्ञा देंगे नहीं। अतः पति विषयक ऐसे विशेषण देंगे जो महादेवजीमें जाकर गुण होजाते हैं, सामान्य जीवके लिये तो महा अवगुण हैं।

नोट—३ यहाँ तक ग्यारह लक्षण गिनायेगए—सुंदर १, सुशील २, सयानी ३, उमा ४, अंबिका ५, भवानी ६, 'संतत प्रिअहि पिआरी ७', अचल अहिवात ८, 'एहि तें जसु पैहहिं पितु माता ९', 'होइहि पूज्य १०' और 'एहि कर नाम सुमिरि० ११',। ग्यारह ही लक्षण बतानेमें गूढ़ता यह है कि रुद्र ग्यारह हैं; ये रुद्राणी हैं। प्र० स्वामी 'उमा, अंबिका, भवानी' की जगह 'सकल गुन खानी, एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं, शैल सुलक्षण' को लेकर ११ पूरे करते हैं और 'शैल सुलक्षण' को एक गुण मानकर उसका अर्थ 'शैलके शुभ लक्षणोंसे सपन्न' ऐसा करते हैं। प्रथम चार गुण कुमारी-अवस्थाके और शेष विवाहितावस्थाके हैं, अतः लच्छन और सुलच्छनमें पुनरुक्ति नहीं है।

४ दुइ चारी=दो चार, कुछ। यह अल्पसंख्यासूचक मुहावरा है। दो चार कहनेका भाव यह है कि जिसमें घबडा न जायँ। 'दो प्रथम कहकर तब चार कहा जिसमें घबड़ा न जायँ'—यह भाव यहाँ नहीं है, यहाँ दो चारसे छः का मतलब है। वनवासके समाचारमें जो 'चार दस' का भाव है, वह यहाँ लागू नहीं है। दो चार मुहावरा है।

५ नारदजीसे मैनाजीके सखीद्वारा सुताके सौभाग्यसूचक चिह्नोंके पूछनेका प्रसंग प० पु० में भी है वहाँ भी नारदजीने मुस्कुराकर पतिकाही वर्णन किया है और प्रकटरूपसे उनके शब्दोंका अर्थ दोषपरकही

हिमवान्ने समझा। जैसे वहाँ पतिका वर्णन बेटीका ही सौभाग्य (गुण या दोष) वर्णन माना गया, वैसेही यहाँ पतिके गुण या दोष कन्याकेही सौभाग्यके गुण या दोष समझे जानेसे शंकाकी जगह नहीं रहती।

६ नारदजीके वचनोंके गूढ़ और प्रकट अर्थ निम्न चार्टसे स्पष्ट होजायँगे।

नारदवचन	प्रकट अर्थ	गुप्त ऐश्वर्य्यसूचक भाव
१ सकल गुनखानी	स्त्रियोंमें जो गुण चाहिये वे सब हैं	गुण तीन हैं-सत्व, रजस्, तमस्। तीनोंकी खानि हैं। अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया हैं, मूलप्रकृति हैं। रजोगुणसे उत्पत्ति, सत्वसे पालन और तमस्से संहार करती हैं। यथा 'जगसंभव पालन लयकारिनि', 'भवभवविभव पराभव कारिनि।'
२ नाम उमा अंबिका भवानी	उमा, अंबिका, भवानी नाम हैं	उमा अर्थात् प्रणव (ॐ) स्वरूपा हैं। अ, उ, म् प्रणवके तीनों अक्षर इस नाममें हैं। अंबिका वैदिक नाम है। यह मूलप्रकृतिकी भी संज्ञा है। इसमें भाव यह भी है कि ये षण्मुख और गणेशजीकी माता होंगी और जगत्कीभी माता हैं। यथा 'छमुख हेरंब अंबासि जगदंबिके शंभुजायासि जय जय भवानी।' भवानी अर्थात् भवपत्नी, आद्याशक्ति हैं। अंबिका, भवानी, और उमा क्रमशः भूत, भविष्य, वर्तमानके नाम जनाए।
३ सतत पिअहि पिआरी	निरन्तर पतिकी प्यारी होगी	'सतत' और 'सदा अचल अहिवात' से सूचित किया कि अनादिकालसे शिवजीकी अर्द्धाङ्गिनी हैं, दोनोंका नित्यसंबंध है, पति अविनाशी और यह भी अविनाशिनी। यथा 'अजा अनादि शक्ति अविनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि। ९८।'
४ 'एहि तें जसु पैहहिं०' 'होइहि पूज्य०' 'तिय चढ़िहहिं'	बड़ी प्रतिष्ठा होगी। पूज्य होगी। पतिव्रता होगी	वरदायक अविनाशी शिवजीकी पत्नी होनेसे जगत्पूज्य होगी। अर्धाङ्गमें निवास होगा। पतिव्रताशिरोमणि होगी इसीसे पतिव्रताएँ इसका व्रत और पूजन करेंगी। रामचरितमानसको प्रकटकर लोकका हित करेगी। षण्मुख को जन्म देकर देवताओंका दुःखहरण करेगी। इन सबसे मातापिताका नाम होगा।

पूर्व और भी भाव टिप्पणियोंमें आ चुके हैं।

नोट—७ सुधाकर द्विवेदीजी गुप्त आशय इस प्रकार लिखते हैं—(क) 'सुंदर सहज सुसील सयानी'—यहाँ सकारादि विशेषणसे प्रत्यक्षमें शरीर और स्वभावको कहा और छिपी बात यह है कि यह स-मय याने शिवमय है— नामैकदेशे नाम ग्रहणम्' इस प्रमाणसे यह कहा। चारोंके आद्याक्षर लेनेसे 'सुस सुस=सुश सुश। याने श (शंकरजी) स (सुश=अच्छी तरह) हैं। इस द्विरुक्तिसे पार्वतीके मनको उसके प्राणपति शंकरका सुसमाचार सुनाकर प्रसन्न भी कर दिया।' (ख) 'कृत्तिकाके तृतीय चरणोंमें होनेसे राशिनाम 'उमा' यह प्रत्यक्षमें कहा। और, 'उ' (महादेवकी) मा (लक्ष्मी) यह है—यह गूढ बात कही। 'अंबिका' अर्थात् जैसी अंबा (माता) है वैसीही यह भी है, यह प्रत्यक्ष कहा। और गूढ इसमें यह है कि जगज्जननी हैं। 'भवानी' का प्रत्यक्ष भाव यह है कि तुम्हारे भाग्यसे यह 'भव' (संसार) में 'आनी' (लाई गई) है और भव (शिव) की स्त्री हैं—यह छिपी बात कही।' (ग) ''कुमारी'=कु (कुत्सित लोगों को) मारी (मारनेवाली)। यह गुप्तार्थ है। कुमारी=कन्या। यह प्रत्यक्षमें कहा। 'सब लच्छन' का 'व' 'वयो सावर्ण्यात्' से शव-लक्षण हुआ। अर्थात् मुर्दके लक्षणसे संपन्न है। याने मुर्देके साथ विहार करने वाली महिषासुरमर्दिनी कालिका है। यह गूढ़ बात कही। 'सतत पिय'=सदा पिय=सदाशिव। सदाशिवको

प्यारी होगी—यह गुप्तरूपसे कहा। 'सदा अचल एहि कर अहिवाता' में गुप्त भाव यह है कि—स+दा= दानके सहित। अचल (अन विष्णुना चलः अचलः) याने विष्णु (राम) के प्रेमसे चंचल रहेगा।" [वंदन पाठकजी 'सदा अचल एहि कर अहिवाता' का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'हे अचल (हिमवान्)! इनका अहिवाता (=अहिवार्ता। अहीना सर्पाणा वार्ता अस्मिन् इति अहिवार्तः शिवः) याने महादेव अर्थात् पति सदा (=दानके सहित) अर्थात् महा उदार होगा।'—यह गुप्तरूपसे कहा।'] (घ) 'होइहि पूज्य सकल जग माहीं' का गुप्तार्थ यह है कि—'सकल (=कलाके साथ।) अर्थात् पतिके साथ अर्धांङ्गिनी होकर जगमें पूजनीय होगी।' 'एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं'—के गुप्तार्थमें 'कछु=कछुआ=कच्छपावतार। और पहला 'नानुस्वार विसर्गौ वृत्तभङ्गाय' इस प्रमाणसे 'नाहीं' का अर्धचन्द्र छोड़ देनेसे 'ना-अही' ऐसा पदच्छेद करनेसे 'दुर्लभ नाऽही'=दुर्लभ पुरुष जो अही अर्थात् सॉपवाले हैं वह महादेवजीभी इसे (तुम्हारी बेटीको) सेवते हैं। अर्थात् यही आद्याशक्ति है। 'एहि कर नाम सुमिरि' अर्थात् 'मैं सती होती हूँ' यह कहकर पतिके साथ सती होगी। (ङ) 'दुइ चारी' (अर्थात् ब्रह्मा और विष्णु इन दोनोंके चलानेवाले जो शिव पति हैं उनमें) जो अवगुण हैं उन्हें सुनिये।

अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना॥ ८॥

दोहा—जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥ ६७॥

अर्थ—गुणहीन, मानहीन, माता पिता विहीन, उदासीन, सर्वसंशयरहित (ला परवा, बेफिकरा), योगी, जटाधारी, कामरहित मनवाला, नंगा और अमंगलवेषवाला—ऐसा पति इसको अवश्य मिलेगा। इसके हाथमें ऐसी रेखा पड़ी है।

नोट—१ शिवपुराणमेंके—'एका विलक्षणा रेखा तत्फलं शृणु तत्त्वतः। १०। योगी नग्नोऽगुणोऽकामी मातृतातविवर्जितः। अमानोऽशिववेषश्च पतिरस्याः किलेदृशः॥ ११।' (२।३।८)—इस श्लोकके 'योगी, नग्न, अगुण, अकामी, मातृतातविवर्जितः, अमानी, अशिववेष, पतिरस्याः, 'करे गिरे। एका विलक्षणा रेखा' शब्द मानसके 'योगी, नगन, अगुन, अकाम मन, मातुपितुहीना, अमान, अमंगलवेष, अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख' ये हैं। मानसमें 'उदासीन सब संसय छीना' और 'जटिल' ये दो विशेषण अधिक हैं।

☞ पूरा प्रसंग शिवपुराणरुद्रसंहिताके पार्वतीखण्डमें है। और विशेषकर अक्षरशः मिलता है।

टिप्पणी—१ प्रत्यक्षरूपमें जो गुण पार्वतीजीमें कहे, उनके विपरीत पतिमें अवगुण दिखाते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि सुताके योग्य वर न मिलेगा।

सुता	पति	सुता	पति
१ गुणखानि	अगुण	४ सहजसुशील	उदासीन
२ जगत् पूज्य	अमान	५ सहज सुंदर	जोगी जटिल अमंगलवेष
३ मातापिताको यश देनेवाली	मातुपितुहीना	६ सहज सयानी	अकाममन, संशयहीण
		☞ संशयहीण होना गुण है पर विरक्तके लिये न कि गृहस्थके लिये। गृहस्थके लिये यह दोष है। इसीसे इसे दोषमें गिनाया।	

२—'जोगी जटिल०' इति। नारदजीने दो चार अवगुण कहनेकी प्रतिज्ञा की पर वस्तुतः कहा एक ही। वह यह कि इसे योग्य वर न मिलेगा। यह क्यों? इस शंकाका समाधान यह है कि—वरके दोषसे कन्याभी दूषित हुई। जैसे कि—

(क) वर मातुपितुहीन हुआ तो कन्या सासु श्वसुरहीना हुई।

(ख) पतिके अमंगलवेषसे स्त्रीकी भी सुंदरता गई। यथा 'गिरा मुखर तन अरध भवानी।'
(ग) योगीके साथ विवाह होनेसे यह भी योगिनी कहलायेगी, रानी नहीं।
(घ) नंगेके साथ ब्याह जानेसे यह भी दरिद्रा हुई।
ये चार दोष हुए।

नोट—२ पं० रामकुमारजीका 'दो चार' और 'मुताके दोष' वाली शंकाका समाधान उपर्युक्त टिप्पणी २ में आगया। सुधाकरजीने 'दुइ चारी' का अर्थ 'महादेव' किया है—यह पूर्व दिखाया गया है। और वन्दन पाठकजी 'दुइचारी' का अर्थ 'दो चौक आठ' करते हैं और अगुन, अमान, मातुपितु हीना, उदासीन, सब संसयछीना, जटिल जोगी, अकाम मन और नगन अमंगलवेष—ये आठ अवगुण गिनाते हैं। इस दीनकी समझमें तो यदि मातु पितु, जोगी जटिल और नगन अमंगलवेषको दो दो जोड़ें, जैसा वस्तुतः जोड़ना चाहिए, तो ग्यारह लक्षण (दोष) शिवजीमें और अर्धाङ्गिनी तथा पतिपत्नीकी एकरूपतामें पार्वतीजीमें होते हैं। घरके दोष ग्यारह गिनाकर इनको रुद्र सूचित किया गया है—ऐसा कह सकते हैं। ☞ नारदजीके इन शब्दों (दोषों) के कुछ प्रकट और हार्दिक गुप्त भाव यहाँ तालिका या चार्टमें दिये जाते हैं और कुछ आगे नोटमें दिये जायँगे।

	प्रकट दोषपरक अर्थ	कुछ हार्दिक ऐश्वर्यपरक भाव
१ अगुन	एकभी गुण नहीं है	निर्गुण, सत्त्व रज-तम तीनों गुणोंसे परे गुणातीत है।
२ अमान मिलान कीजिये	अप्रतिष्ठित, तुच्छ, स्वात्माभिमान रहित 'अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनवास। ल० ३१।'(भी देखिये)।	(१) निरभिमान, अभिमानजित्, सरल स्वभाव, भोले भाले। (२) इयत्ताशून्य। अपरिमित, अतुल, अनंत महिमावाले। (३) 'एनविष्णुना मान. सम्मानो यस्य' जिसम विष्णुके मन गुण हैं और जो उनसे भी सम्मानित होता है। (मा० प०)। (४) विराट (सू० प्र० मिश्र)। (५) ऐश्वर्यशाली होनेका किंचित् गर्व नहीं (पद्मपुराण)।
३ मातु पितु हीना	इसके सास श्वशुर नहीं हैं। पतिके माँ बापका पता नहीं।	अजन्मा हैं, स्वयं प्रकट हुआ, अथवा हमारी सृष्टिके नहीं हैं, सृष्टिसे बहिर्भूत। वह जगत्‌का पिता है, उसके माता पिता कौन और कहाँ? वे ज्ञात नहीं, किन्तु जनक हैं। अयोनिज हैं।
४ उदासीन	त्यागी, रूखे स्वभाव का, घरद्वार रहित संसारसे अलग।	(१) जीवमात्रपर समदृष्टि रखनेवाला, शत्रु मित्र रहित, निर्लेप। (२) (मा० प०)—'उत्+आसीन = सबसे ऊपर बैठनेवाला।' (३) मायारहित।
५ सब संशय छीना	घरबार और खाने पीनेकी चिंता नहीं। अर्थात् बटी मूखों मरगी। किसीका डर नहीं। बेफिकरा।	(१) जीवोंके भ्रम, संशय, आदिके छुड़ानेवाले हैं और अपने तो संशय मोह भ्रमरहित हैं ही। (२ 'बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय०' यह गुण जनाया। (३) 'निर्मल, स्वतंत्र'—(मा० प०)। (४) व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों चिन्ताओंसे रहित, प्रभुपर निर्भर। (५) 'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई' का भावभी हो सकता है। (६) निश्चल ज्ञान और बुद्धिवाला।
६ जोगी	जोगड़ा, पाखंडी, भीख माँगनेवाला।	नित्य परमात्मामें आत्मवृत्ति लगाए हुए हैं। योगीश्वर हैं। सब सिद्धियाँ इनके वशमें हैं।
७ जटिल	बड़ी-बड़ी जटाओं वाला। भयानक	अनादिकालीन हैं। जिनकी जटाओंमें गंगाजी बिलागईं ऐसी जटाओंवाले चिरकालीन तपस्वी हैं। मुंडन आदि संस्कार

		कौन करता ? वे तो सबके आदि हैं।
जटिल जोगी	जटाधारी जोगड़ा	अवधूत योगीश्वर अर्थात् सिद्ध हैं।
८ अकाम मन	नपुंसक है। सुताको पतिका सुख न होगा।	कामजित् हैं। पूर्णकाम हैं, यथा 'का देउँ पूरनकाम संकर'। बा० १०१।' निष्काम।
९ नगन	नंगधडङ्ग, नंगा, निर्लज्ज; एकाकी (अकेला), यथा—'सहज एकाकिन्हके गृह०'	(१) दिशाही जिनका वस्त्र है। दिगंबर। माया आवरणरूपी वस्त्ररहित। (२) 'ऐसा महत् आकार है कि दसो दिशाएँ इसके वस्त्र हैं'—यह सामर्थ्य दिखाया। (पं०)। (३) एक न गण = जिसके गण अर्थात् साथी न हो। = एकाकी = अद्वितीय।' (मा० प०)।*
१० अमंगल वेप	'ब्याल कपाल विभूषन छारा।' इत्यादि अशुभ वेप है। अर्थात् सुलक्षणहीन हैं।	अ=अतिशय, यथा—'बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे' में अघात= अतिशयघात। अ + मंगल=अतिशय मंगलकारी। (२)—'एन विष्णुना मंगलवेपो यस्य स अमंगलवेपः' अर्थात् विष्णुके प्रभावसे सदा मंगलरूप। (मा० प०)। पुनः, अमंगल=न विद्यते मंगलं यस्मात्=जिससे बढ़कर मंगल नहीं है।

नोट—३ प० पु० सृष्टिखण्ड पार्वती जन्म प्रसङ्गमें नारदजीने जो लक्षण पतिके कहे हैं उनका तात्पर्यभी फिर उन्हींने, हिमवान्को समझाया है। उन लक्षणोंमेंसे कुछके भाव 'मातु पितुहीना' और 'सब संशयछीना' में आजाते हैं। अतः वे यहाँ लिखेजाते हैं।—माता पिता नहीं हैं। तात्पर्य कि वास्तवमें उनका जन्म नहीं। भूत, भविष्य और वर्तमान जगत्की उत्पत्तिके कारण वे ही हैं। यह ब्रह्मांड उन्हींके संकल्पसे उत्पन्न हुआ। वे जात नहीं, जनक हैं; पुत्र नहीं, पिता हैं। 'सब संसयछीना' का भाव यह है कि वे सबको शरण देनेवाले एव शासक, सनातन, कल्याणकारी और परमेश्वर हैं। ब्रह्माजीसे लेकर स्थावरपर्यन्त यह जो संसार है वह जन्म, मृत्यु, आदिके दुःखसे पीडित होकर निरन्तर परिवर्तित होता रहता है किन्तु महादेवजी अचल और स्थिर हैं। वे जगत्के स्वामी और आधिव्याधिरहित हैं। सर्वज्ञ हैं।

४ जो वरके दोप वरमे गिनाये, उनका तात्पर्य यह हुआ कि पुत्री तो सुलच्छना है, पर वर 'लच्छनहीन' है। लच्छनहीनका अभिप्राय यह है कि शरीरके अवयवोंमें जो चिह्न या रेखाएँ होती हैं वे सीमित आयु, धन और सौभाग्यको व्यक्त करनेवाली होती हैं, परन्तु जो अनन्त और अप्रमेय है उसके अमितसौभाग्यको सूचित करनेवाला कोई चिह्न या लक्षण शरीरमें नहीं होता। जीवके शरीरमें जो सीमित लच्छन होते हैं वे इनमे नहीं हैं। अर्थात् ये ईश्वर हैं।

५ पार्वतीमंगलमें शशिशेखर शिवजी वटुवेप धारणकर पार्वतीजीकी प्रेमपरीक्षा लेने गये हैं तब उन्होंनेभी इन्हींसे मिलतेजुलते हुये पतिके लक्षण कहे हैं। यथा—'कहहु काह सुनि रीझिहु वर अकुलीनहिं। अगुन अमान अजाति मातु पितु-हीनहिं॥ भीख मागि भव खाहिं चिता नित सोवहिं। नाचहिं नगन पिसाच पिसाचिनि जोवहिं॥ ३१॥ भाँग धतूर अहार छार लपटावहिं। जोगी जटिल सरोष भोग नहिं भावहिं। सुमुखि सुलोचनि हर मुखपंच तिलोचन।

---

* सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि—"नग्न शब्दके कई अर्थ शास्त्रोंमें लिखे हैं। १—'नग्नः कापाय-वस्त्रः स्यान्नग्नः कौपिनिकावृत्तः।' (शब्दार्थचिन्तामणि)। २—'द्विकच्छः कच्छशेपश्च मुक्तकच्छस्तथैव च। एकवासा अव्यस्तश्च नग्नः पञ्चविधः स्मृतः। येपां कुले न वेदोऽस्ति न शास्त्रं नैव च व्रतम्।' (मार्कण्डेय पुराण)। ३—'ते नग्नाः कीर्तिताः सद्भिस्तेपामन्नविगर्हितम्। ऋग् यजुः सामसंज्ञेयं त्रयीवर्णावृत्ति द्विज।' (विष्णुपुराण)। ४—एतां मुह्यन्ति यो मोहात् स नग्नः पातकी स्मृतः।" (मा० प०)। इन प्रमाणोंके अनुसार 'नग्न' के ये भाव होते हैं।

बामदेव फुर नाम काममदमोचन। ३२। एकउ हरहिं न बर गुन कोटिक दूषनु। नरकपाल गजखाल ब्याल बिषभूषनु। कहँ राउर गुनसील सरूप सहावन। कहाँ अमंगल बेषु बिसेषु भयावन॥ ३३।' इस उदाहरणमें उदासीन और संशयहीन दोको छोड़ और सब शब्द आगए हैं। 'उदासीन' का भाव "भोग न भावहिं" एवं "भीख माँगि भव खाहिं" में और 'संसयहीन' का भाव 'चिता नित सोवहिं' और 'भाँग धतूर अहार' में आ जाते हैं। "नरकपाल गज खाल ब्याल" "छार लपटावहिं" 'जोगी जटिल'—यह सब 'अमंगल बेष' है।

'सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी' कहकर फिर सुताके सौभाग्य दोष कहनेमें पतिके ग्यारह दोष गिनाकर पार्वतीमंगल ३३ का भाव यहाँ भी सूचित किया है कि तुम्हारी कन्या तो सुलक्षणा है अर्थात् उसका सुहावन रूप, गुण और शील है परन्तु वर लक्षणहीन है, उसमें न रूप है, न गुण है और न शील है, वह अमंगलवेष और भयावन है। सारांश यह कि वह बावला है, यथा 'हिमवान कन्या जोगु बरु बाउर बिबुधबंदित सही। १०। मोरेहु मन अस आव मिलिहि बरु बाउर। ११।' (नारद वचन)। 'कहा मोर मन धरि न बरिय बर बौरेहि। २४।' (बटु वचन। पार्वती मंगल)। 'जोगी जटिल वेष' ये बावलोंके लक्षण हैं। दक्षने भी ऐसाही कहा है, यथा—'प्रेतावासेषु घोरेषु प्रेतैर्भूतगणैर्वृतः। अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन्‌रुदन्॥ भा० ४।२। १४॥ चिताभस्मकृतस्नानः प्रेतस्रङ्‌न्रस्थिभूषणः। शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः। पतिः प्रमथभूतानां तमोमात्रात्मकात्मनाम्॥१५।' अर्थात् यह प्रेतोंके निवासस्थान भयंकर श्मशानादिमें भूतप्रेतोंसे घिरा हुआ उन्मत्तके समान नंगा और बाल बिखेरे कभी हँसता और कभी रोता हुआ घूमा करता है, शरीरमें चिताकी भस्म लगाए रहता है, गलेमें प्रेतोंके मुण्डोंकी माला और अंगप्रत्यंगमें हड्डियोंके आभूषण पहने रहता है। इसका नाम शिव है पर है 'अशिव'। यह स्वयं भी मतवाला है और मतवाले पुरुष ही इसे प्रिय हैं। यह निर्लज्ज है, तामसी प्राणियोंका नायक है।—ये सब भाव दोषपक्षमें यहाँ 'जोगी वेष' में हैं।

६ 'एहि कहँ मिलिहि' अर्थात् वर स्वयं आकर मिलेगा। ऐसा कहकर पार्वतीजीकी प्रधानता सूचित की। (पा०)। 'परी हस्त असि रेख' का भाव कि एकही रेखा ऐसी विलक्षण पड़ गई है।

सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहि उमा हरषानी॥ १॥
नारदहूँ यह भेदु न जाना। दसा एक समुझब बिलगाना॥ २॥
सकल सखीं गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना॥ ३॥

अर्थ—नारद मुनिकी वाणी सुनकर और उसे जीमें सत्य जानकर पति और पत्नी (हिमवान् और मैना) को दुःख हुआ और उमाजी प्रसन्न हुईं। १। नारदजीनेभी इस मर्मको न जाना, (क्योंकि) दशा एक (सी) है पर समझ भिन्न भिन्न है। २। सारी सखियों, पार्वतीजी, हिमवान् और मैना (सभी) के शरीर पुलकित थे और नेत्रोंमें आँसू भरे थे। ३॥

टिप्पणी—१ 'सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी।०' इति। (क) मुनिने तो गुण और दोष दोनों कहे। दुःख जो हुआ वह अवगुण सुनकर। गुण सुनकर दुःख नहीं हुआ। अतः यहाँ 'गिरा' से 'सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी' वाला अंश 'अगुन अमान०' से 'अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि०' तक अभिप्रेत है।☞ जहाँ जितना प्रयोजन है उतनाही अंश लिया जाना चाहिए। ग्रन्थमें और भी ऐसेही प्रयोग आए हैं। यथा 'सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपाल। लषनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर साल॥ अ० १३।'—यहाँ कुबरीको राम 'कुशल' पूछनेसेही उरमें शाल हुआ न कि भरतजीके कुशलप्रश्नसे। पुनश्च 'हृदय सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई। बा० २३७।'—यहाँ श्रीसीताजीका लावण्य श्रीरामजीही हृदयमें सराह रहे हैं, लक्ष्मणजी नहीं। (ख) 'सत्य जिय जानी'—दुःख अथवा हर्षका कारण यही है। सबको पूर्ण विश्वास है कि मुनिकी वाणी असत्य नहीं हो सकती। यथा 'सुनि मुनि गिरा सत्य

जिय जानी', 'होइ न मृषा देवरिषि भाषा' (उमाजीका विश्वास), 'झूठि न होइ देवरिषि बानी। सोचहिं दंपति०' (दंपति विश्वास)।

नोट—१ दम्पतिको दुःख होनेका कारण यह है कि कन्याके मातापिताको सदा यही अभिलाषा रहती है कि पतिका घर हराभरा हो, कुल अच्छा हो, वर सुंदर हो, श्रुतज्ञ और शास्त्रज्ञ हो, इत्यादि। और माताकी विशेष अभिलाषा यह रहती है कि पति धनवान् हो, खाने-पीने पहिननेका पूर्ण सुख हो। यथा 'कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥ इति मनुः।' अर्थात् कन्या सुन्दर पति चाहती है, माता धनवान् और पिता श्रुतज्ञ दामाद चाहता है। बंधुवर्ग अच्छा कुल और बराती मिष्टान्न (मिठाई) भोजन चाहते हैं। नारदजीने पतिको नग्न, संशयक्षीण, मातु-पितुहीन, अकाममन, उदासीन और अमंगलवेष आदि कहा, तो वे सोचमें पड़गए कि उसके पास स्वयं वस्त्र नहीं तो लड़कीको क्या पहनाएगा नपुंसक है, प्रेम तो यह जानताही नहीं तब कन्या उसके यहाँ कैसे सुखी रहेगी ? ऐसा बुरा पति हमारी कन्याके भाग्यमें है यह सोचकर वे शोक दुःखसे ऐसे विह्वल हुए कि रोंगटे खड़े होगये और नेत्रोंमें अश्रु भर आए। पार्वतीजीको हर्ष हुआ क्योंकि उन्होंने देखा कि जो लक्षण मुनिने कहे वे सब शिवजीमें हैं और उन्हें यह भी विश्वास है कि नारदजीका वचन अवश्य सत्य होगा। अतः शिवजीकी प्राप्तिका निश्चय होनेसे वे हर्षित हुईं। हर्षके मारे प्रेमाश्रु निकल आए और शरीर पुलकायमान होगया। ☞ 'सती मरत हरि सन बर माँगा। जनमजनम सिवपद अनुरागा।'—इस वरकी सिद्धि नारद-वचनसे जान पड़ी। अतः हर्ष हुआ।

☞ देखिए, वचन एकही है पर उनके अर्थ भिन्न भिन्न समझनेसे भिन्न-भिन्न भाव (दुःख, हर्ष) उत्पन्न हुए। 'उपर्युक्त व्याख्यासे यह भी स्पष्ट है कि नारदजीके गूढ़ वचनोंका आशय पार्वतीजी समझ गईं और कोई न समझ पाया। मिलान कीजिये—'मोरेहु मन अस आव मिलिहि बरु बाउर। लखि नारद नारदी उमहि सुखु भा उर। सुनि सहमे परि पाँय कहत भए दंपति।' (पार्वतीमंगल)।

टिप्पणी—२ 'नारदहूँ यह भेद न जाना।०' इति। ('नारदहूँ' से जनाया कि यहाँ जितने लोग, राजा, रानी और सखियाँ थे उनमेंसे किसीने न जाना और नारदजी जो सर्वज्ञ हैं उन्होंने भी न जान पाया। (ख) 'यह भेद' अर्थात् दंपति और सखियोंकी यह दशा और उमाकी उसी दशामें जो भेद है वह न जाना। दशा एक है, पर कारण भिन्न-भिन्न हैं,—यह भेद न जाना। उमाकी यह दशा हर्षसे है, वही दशा दंपत्ति आदिकी दुःखसे हुई। (ग) 'दसा एक समुझब बिलगाना'—यह भेद न समझ पानेका कारण बताया कि दशा सबकी एक है—'पुलक सरीर भरे जल नैना' पर समझका भेद है। नारदजीने भेद क्यों न जान पाया ? दूसरा कारण यह है कि उमाजी अपनी प्रीतिको छिपाती हैं। जिस बातको भगवती छिपाना चाहे उसे कोई नहीं जान सकता। यथा 'जानि कुअवसरु प्रीति दुराई। सखी उछंग बैठी पुनि जाई॥' पार्वतीजी ईश्वर कोटिमें हैं।

नोट—२ नारदजीने भेद न जाना, तो समझा क्या ? वे यही समझे कि माता-पिताको दुखित देखकर उमाभी दुःखित होगईं। इसीसे इनकी भी यह दशा हुई। दूसरेका दुःख देखकर स्नेहीको दुःख होताही है। यथा 'सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमबस हृदय बिषादू॥ तनु पुलकित लोचन जल बहई। अ० ६०।' निषादराजको श्रीरामजीको पृथ्वीपर सोते देख दुःख हुआ था।

३ सन्त उन्मुनीटीकाकार 'समुझब बिलगाना' का अर्थ यह लिखते हैं—'उसका समझ लेना विलगही रीति है। भाव यह कि ईश्वरकी गति ईश्वरकी कृपाके अधीन है। अभ्यासाधीन नहीं। इसीसे नारदजीने न जान पाया।' यहाँ 'मीलित' अलंकार है क्योंकि योगिराज देवर्षिको भी पता न चला। पूर्व ५६ (७) 'तब संकर देखेउ धरि ध्याना' में बता चुके हैं कि जीव स्वतः सर्वज्ञ नहीं है, वह ईश्वरकी कृपासे ध्यानद्वाराही सब बात जान सकता है।

४ भावार्थान्तर—(१) 'यह भेद न जाना अर्थात् यह न जाना कि उमा सतीका अवतार हैं और शिवजीके साथ इसका विवाह होगा। जब गिरिजाके लक्षण भवानीकी एक दशा मिल गई। पुनः गिरिजापति शंकरकी एकदशा मिलि आई, इत्यादि। तब एक दशा समझनेसे भेद निलगा गया अर्थात् नारदजीने जान लिया कि ये सती-अवतार हैं, शंकरजी इनके पति होंगे।'—(वै०)। (२) 'महादेवजी पुरुष हैं। उनकी आद्याशक्ति उमा हैं जो प्रकृति हैं। पुरुष-प्रकृतिके भेदको नारदजीने न जाना क्योंकि दोनोंकी दशा एक है अर्थात् दोनोंमें अभेद है। समझनेमें प्रकृति पुरुष ये दो नाम होनेसे अलग मालूम होते हैं।' (सु०द्विवेदीजी)। (३) 'नारदजीने भी न जाना कि ऐसे वर शंकरजी हैं। यह चौपाई पार्वतीजीकी उक्ति मालूम होती है। वे सोचती हैं कि यदि नारदजीको मालूम होता तो शंकर नाम सुनाकर क्या वे मेरे माता पिताके क्लेशको न हटा देते?'—(सू० प्र० मिश्र)।—परन्तु इन भावोंसे और 'कह मुनि बिहँसि गूढ़ मृदु बानी' तथा 'नारद समाचार सब पाए' से विरोध पड़ता है।

नोट—५ ☞ शिवपुराणमें 'इत्याकर्ण्य वचस्ते हि सत्यं मत्वा च दंपती। मेना हिमाचलश्चापि दुःखितौ तौ बभूवतु। ८। १२। जगदम्बिका जहर्षाति मुने हृदि। १३।'—केवल इतना ६८ (१) से मिलता है। 'नारदहूँ यह भेद न जाना। . नैना।' इसमें नहीं है। यह अंश वक्ताकी टिप्पणी या आलोचना है।

टिप्पणी—३ 'सकल सखीं गिरिजा गिरि मैना।०' इति। [(क) 'सखीं=सखियाँ। अनुस्वार देकर बहुवचन सूचित किया गया है।] (ख)—दुःख और सुख दोनोंमें यह दशा होती है। यथा—'कहि प्रनामु कछु कहन लिय सिय भइ सिथिल सनेह। थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह। अ० १५२।'—यहाँ दुःखसे पुलक हुआ। वियोगमें स्नेहकी वृद्धि होना 'दुःख' कहलाता है। संयोगमें स्नेहकी वृद्धि होना 'सुख' कहाता है। यथा 'एक सखी सिय संग बिहाई। तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेम बिबस सीता पहिं आई॥ तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नयन। कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बयन। बा० २२८।'—यह दशा संयोग संबंधके हर्षकी है। इसमेंभी 'पुलक गात' और 'जल नयन' हैं। (ग) 'पुलक सरीर भरे जल नैना'—यह दशा कहलाती है, यथा 'तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जल नयन।' इसीसे पूर्व अर्धालीमें इसे दशा कहा—'दसा एक०।' हर्ष और शोकके अश्रु आदिकी पहचान बा० २२८ में देखिये।

नोट—६ नारदजीके आगमनपर केवल शैलराजका आदर-सत्कार आदि करना कहा गया। पूर्व 'नारि सहित मुनिपद सिरु नावा' (६६) और 'दुख दंपतिहि उमा हरषानी' (६८) कहा। अब यहाँ शैलराजकी रानीका नाम बताया कि 'मैना' है और यह भी बताया कि सखियाँभी यहाँ आई हैं। जब 'सुता बोलि मेली मुनि चरना' तब ये सखियाँ ही पार्वतीजीको लेकर आई थीं और तबसे यहीं हैं। मेनाजी कौन हैं? किसकी पुत्री हैं? शब्दसागरमें तीन मेनाओंका उल्लेख है—हिमवान्‌की स्त्री मेनका, वृषणश्वकी मानसी कन्या मेना। (ऋग्वेद), और पितरोंकी मानसी कन्या मेनका। ब्रह्माण्डपुराण और कुमारसम्भवमें इन्हें पितरोंकी मानसी कन्या कहा है। यथा—'स मानसी मेरुसख पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञ। मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे। कुमारसम्भव १। १८।', 'तेषां तु मानसी कन्या मेना नाम महागिरेः। पत्नी हिमवतो यस्याः पुत्रो मैनाक उच्यते॥ ब्रह्माण्ड पुराण।'—अर्थात् पितरोंकी उस मानसी कन्या मेनाको मुनियोंकी माननीया और अपने अनुरूप जानकर गिरिराज हिमवान्‌ने वंशवृद्धिके लिये ब्याह लिया। मैनाक मेनाका पुत्र है और पार्वतीजी पुत्री हैं। इस संबंधसेभी स्पष्ट है कि हिमवान् पर्वतोंके अधिष्ठाता देवता ही हैं।

होइ न मृषा देवरिषि भाषा। उमा सो बचनु हृदय धरि राखा॥४॥
उपजेउ सिवपद-कमल सनेहू। मिलन कठिन मन* भा संदेहू॥५॥

* भा मन—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। मन भा—१६६१, १७०४।

जानि कुअवसरु प्रीति दुराई। सखी‡ उछंग बैठी पुनि जाई ॥६॥

अर्थ—देवर्षि नारदका कहा हुआ असत्य नहीं हो सकता। उमाजीने उस वचनको हृदयमें धर रक्खा। ४। शिवजीके चरणकमलोंमें स्नेह उत्पन्न हुआ। (पर) मिलना (प्राप्ति) कठिन है (यह जान कर) मनमें संदेह हुआ। ५। कुअवसर जानकर (ठीक मौका न समझकर) प्रीतिको छिपाकर सखीकी गोदमें फिर जा बैठीं। ६।

टिप्पणी—१ 'होइ न मृषा देवरिषि भाषा।०' इति। (क) भाव कि देवताओंका वचन असत्य नहीं होता, उसपर भी ये देवर्षि हैं तब इनका वचन कैसे असत्य हो सकता है? 'ऋषिः सत्यवचाः' जो सत्य बोले वह ऋषि कहलाता है। ये देव और ऋषि दोनों हैं। (ख) 'उमा सो वचनु हृदय धरि राखा' में भाव यह है कि और सब लोग चाहते हैं कि नारदजीका वचन किसी उपायसे मिट जाय अर्थात् उमाको ऐसा वर न मिले; यथा—'उर धरि धीर कहै गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिय उपाऊ।' किन्तु उमाजीने उनका वचन हृदयमें धर लिया, अर्थात् ये वचन झूठ नहीं होनेके, शिवजीही मेरे पति होंगे, यह विश्वास किया, क्योंकि उनने नारदजीको गुरु मान लिया; यथा 'गुरुके वचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही।८०।' —(ये उमाजीके वचन हैं)। भाषा=कहा हुआ, वचन।

२ 'उपजेउ शिव पद कमल सनेहू।०' इति। (क) नारदजीके वचन हृदयमें धारण करनेसे शिव-पदकमलमें अनुराग हुआ क्योंकि नारदजीने स्पष्ट कहा है कि 'अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि'। इसमें तात्पर्य यह है कि गुरु और सन्तकी वाणीको दृढ़ पकड़नेसे भगवान्‌में प्रेम होता है। यथा 'सुमिरि सीय नारद वचन उपजी प्रीति पुनीत। बा० २२९।' पुनः भाव कि—['सतीं मरत हरि सन बर माँगा। जनम-जनम सिव पद अनुरागा। ६५।', इसीसे इस जन्ममें 'उपजेउ शिवपद कमल सनेहू।'; इसीसे 'उपजना' कहा। (ख) 'मिलन कठिन मन भा संदेहू'—शिवजीका संकल्प दृढ़ है, इससे सन्देह हुआ। पर यह संदेह शिथिल है; स्नेहसे प्रेमास्पदकी प्राप्ति अवश्य होती है, यथा 'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू। बा० २५९।']

नोट—१ भावार्थान्तर—(क) 'यह प्रेम पूर्वाभिलाप है।'—(वै०)। (ख) 'पार्वतीजीके हृदयमें पतिवियोगकी आग जल रही है। नारदजीकी रसभरी बातको उस हृदयाग्निमें धरते ही उससे स्नेह टपकने लगा।' (सु० द्विवेदीजी)। (ग) 'वरका मिलना माता पिताके अधीन है। सो ये तो लक्षण सुनते ही दुःखित हो गए हैं। जो ये न चाहेंगे तो मैं क्या कर सकूँगी?—(सू० प्र० मिश्र, वै०)। इस दीनकी समझ में तो कठिनता वही है जो नारदजीने आगे कही है कि—'दुराराध्य पै अहहिं महेसू।' इसीसे संदेह हुआ।

टिप्पणी—३ 'जानि कुअवसरु प्रीति दुराई ॥०' इति। (क) 'कुअवसर' यह कि सभी दुखी हैं, रो रहे हैं, उनके सामने हमारा हर्ष प्रकट हो जानेसे उन्हें संदेह होगा। (माता पिता दुःखित हों और बालक आनन्दमें हो तो अवश्य आश्चर्य होगा, क्योंकि बालस्वभाव ऐसा होता है कि माता पिताको रोते देख बच्चे भी रो उठते हैं)। शिवजीकी प्राप्ति अभी नारदजीनेभी गुप्त रक्खी है; क्योंकि यहाँ खोलना योग्य नहीं है। (अतः इन्होंने भी प्रेम गुप्त रखनेके लिये यह बालचरित किया कि बालस्वभावसे जाकर सखीकी गोदमें बैठ गईं।) 'पुनि जाई' से जनाया कि पहले भी गोदमें बैठी थीं, मुनिको प्रणाम करानेके लिये उतार दी गई थीं। 'सुता बोलि मेली मुनिचरना' से 'परी हस्त असि रेख' तक सखीकी गोदसे पृथक् नारदजी वा माताके पास रहीं।

नोट—२ 'कुअवसर' इति। माता-पिता सखियाँ और त्रिकालज्ञ एवं सर्वज्ञ ऋषि सब समीप हैं।

---

‡ १६६१ की प्रतिमें 'सखि' के 'ि' पर कुछ हरताल जान पड़ता है और 'ी' पतली लकीर फीकी स्याहीसे बनाई गई है। उछंग के अनुस्वार ˙ को ˘ मानकर पढ़ना होगा। पाठान्तर—'सखी उछग बैठि'।

उनपर हमारा पतिप्रेम प्रगट न हो जाय। अबोध बाल्यावस्थामें ही पतिका नाम सुनकर उसमें प्रेम होना प्रकृतिके प्रतिकूल है। अतः 'कुअवसर' कहा। पुनः भाव कि 'अभी माता पिता और मुनिका संवाद सुनना समझना उचित है। इसके उपरान्त जो कर्त्तव्य होगा करूँगी।' (पं०)। पुनः भाव कि मातापिता कहीं यह न समझें कि मुझे दुःख हुआ जिससे वे और व्याकुल हों। अतः 'कुअवसर' कहा।' (पं०)।—विशेष 'कुसमय जानि...। १। ५०। २।' देखिये।

नोट—३ शिवपुराणमें मानसके 'होइ न मृषा शिवपदकमल सनेहू' का तुल्यार्थी श्लोक यह है—'न मृषा नारदवचस्त्विति सचिन्त्य सा शिवा। स्नेहं शिवपदद्वन्द्वे चकारातिं हृदा तदा। ८। १४।'; 'जानि कुअवसर' ये शब्द मानसकारके हैं।

> झूठि न होइ देवरिषि बानी। सोचहिं दंपति सखीं सयानी॥ ७॥
> उर धरि धीर कहै गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिअ उपाऊ॥ ८॥
> दोहा—कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
> देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥६८॥

अर्थ—'देवर्षिकी वाणी झूठी नहीं होनेकी' (यह जानकर) स्त्री पुरुष (हिमवान् और मैना) और सयानी सखियाँ सोच (चिंता कर) रही हैं। ७। हृदयमें धैर्य धारणकर गिरिराज बोले—हे नाथ! कहिए। क्या उपाय किया जाय? ८। मुनीश्वर नारदजी बोले—हे हिमवान्! सुनो विधाताने जो ललाट (मस्तक) पर लिख दिया है, उसे देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग और मुनि कोई भी मेटनेवाला नहीं है (अर्थात् कोई भी मिटा नहीं सकता)। ६८।

टिप्पणी—१ (क) 'सोचहिं दंपति सखीं सयानी' इति। मुनिकी वाणी सुनकर प्रथम दुःख हुआ, यथा 'सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहि०'। और अब 'वाणी झूठी नहीं हो सकती' यह समझकर सोचमें पड़े हैं। 'देवरिषि' के भाव ६८ (४) में आगए।—('सत्य' जानकर दुःख और 'झूठी न होगी, टल नहीं सकती' यह समझकर सोच है। सयानी का सोचना कहकर जनाया कि यहाँ मुग्धा, मध्याभी थीं।) (ख) 'उर धरि धीर कहै गिरिराऊ' इति। धैर्य धारण करनेके संबंधसे 'गिरिराऊ' कहा। [(ग) 'नीति भी यही कहती है कि 'विपदि धैर्यम्'। हिमवान्के धैर्य करनेसे यह बात सिद्ध हो गई कि स्त्री स्वभाव और पुत्रीका क्लेश इन दोनों बातोंसे मैनाजी घबड़ा गईं, उन्हें कुछ नहीं सूझता। पर, पुरुष होनेसे हिमालयने उद्योगका अवलंबन किया।' (सू० प्र० मिश्र)। पुनः, 'हिमवान् प्रथम कह चुके हैं कि 'गति सर्वत्र तुम्हारि'। इसलिए उन्होंने विचार किया कि इन्हींसे पूछना चाहिये कि उस पुरुषको बतावें जिसमें ये सब दोष हों, पर उन दोषोंके ऊपर ऐसे गुणभी हों जिनसे वे दोष डूब गए हों।—'निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' के ऐसा दोष कुछ भी न जान पड़े।' (मु० द्विवेदी)। 'का करिय उपाऊ' अर्थात् जिस उपायसे ऐसा वर न मिले अथवा यह दोष निवारण हो सो बताइये, यथा 'नाथ कहिय सोइ जतन मिटै जेहि दूषनु। १२।' (पार्वती मंगल) एवं 'किमुपायं मुने कुर्याम् (शि० पु० २। ३। ८। १५)।]

२ (क) 'जो विधि लिखा लिलार' इति। पूर्व कहा था कि 'परी हस्त असि रेख' और यहाँ कहा कि 'जो विधि लिखा लिलार'। इससे पाया गया कि दोनोंका अभिप्राय एक ही है। विधाता जो बात हाथमें लिखते हैं वही ललाटपर लिखते हैं। (ख) 'देव-दनुज-नाग' से स्वर्ग और पातालवासी तथा 'नर मुनि' से मर्त्यलोकवासी, इस तरह त्रैलोक्यवासियोंमेंसे कोई मिटानेवाला नहीं है, यह जनाया। (ग) शि० पु० २. ३. ८ में 'करेखा ब्रह्मलिपिर्न मृषा भवति ध्रुवम्' है।

नोट—१ 'गहना कर्मणो गतिः', 'यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं' और 'कर्म कमण्डल कर गहे' इत्यादि समझकर नारदने 'प्रारब्धकर्मणो भोगादेव क्षयः'—इस सिद्धान्तसे हिमवान्को सन्तोष दिया।

देवदानवादिको गिनाकर ग्रन्थकारने यह भी सूचित किया कि इन लोगोंकी सामर्थ्यसे तो बाहर है, पर त्रिदेव जो चाहे वह कर सकते हैं। ब्रह्माजीके पुत्र वसिष्ठके लिये ग्रन्थकारने ही लिखा है कि 'सो गुसाइँ बिधि गति जेहि छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी। अ० २५५।' ब्रह्माके पुत्रमें यह शक्ति है तब ब्रह्मा, हरि और हरमें क्यों न वह सामर्थ्य हो? पुनः, 'बिधि लिखा लिलार' इससे भी यह बात सिद्ध होती है कि और की तो सामर्थ्य नहीं है पर जिस ब्रह्माका लिखा है वह या उससे बड़े हरि-हरकी सामर्थ्य है कि कर्मकी रेखपर मेख ठोक सकें।'—(सु० द्विवेदी)।

२ विधाता ललाटपर कर्मानुसार भावी लिख देते हैं। *यथा—'तुम्ह सन मिटिहिं कि बिधिके अंका'* (पार्वती वाक्य), *'बिधिके अंक लिखे निज भाला'* (रावण वाक्य) तथा *'जिह के भाल लिखी लिपि मेरी'* (विनय)। 'कोउ न मेटनिहार', *यथा—'तृणं वज्रायतेऽत्र वज्रं चैव तृणायते। बलवान् बलहीनः स्याद्दैवस्य गतिरीदृशी।'* (सू० प्र० मिश्र)। अर्थात् तृण वज्रतुल्य हो जाता है और वज्र तृणवत् हो जाता है; बलहीनभी बलवान् हो जाता है; ऐसी ही दैवकी गति है। ललाटका लेख और हाथकी रेखा एक ही बात है।

३ ऐसे ही वचन वशिष्ठजीके हैं।—*'सुनहु भरत भावी प्रबल०। अ० १७१।'* लोग इसपर शंका करते हैं कि—'जब भावी अमिट है तब शुभ मुहूर्त्त आदिका क्या महत्त्व और मङ्गलकार्योंको शुभ मुहूर्त्तमें करनेसे क्या लाभ?' इसका समाधान कुछ *'हरि इच्छा भावी बलवाना'* में किया गया है कि भावी मिट सकती है, वसिष्ठजी भी भावी मिटा सकते हैं तब ब्रह्मा, हरि और हरकी बात ही क्या? शिवजीके सम्बन्धमें भी कहा है—'भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।' फिरभी न वशिष्ठजी वनवास रोक सके और न शंकरजी सतीजीका यज्ञमें जाकर जलना। यह क्यों? यह इसलिये कि इन भावियोंमें हरि-इच्छाभी सम्मिलित थी जिससे वे भावियाँ बहुत प्रबल थीं, वे इनकी एवं किसीके मानकी न थीं। इसीसे इन दोनों स्थलोपर 'प्रबल' और 'बलवान्' विशेषणभी साथ ही लगा दिया गया है। 'ऐसे अपवाद-स्वरूप प्रसंगोंका उदाहरण देकर वेद शास्त्रकी विधियों अर्थात् शुभ मुहूर्त्त आदिके सम्बन्धमें कोई संशय न उत्पन्न होने देना चाहिये, और न यही समझना चाहिये कि ऐसे उदाहरण सामान्य, शास्त्रीय विधियोंके निषेधक हैं। सब अपने-अपने स्थानपर समयानुसार फलप्रद हैं। नारदजीने यहाँ भावीके विषयमें यह कहा तो, पर आगे उपायभी बताते हैं; इसपर ध्यान देना चाहिये।

श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि यहाँ प्रारब्ध और पुरुषार्थके बलाबलका बड़ा ही सुन्दर विचार किया गया है। जैसा प्रारब्ध है वैसा होकर रहेगा, इसमें संदेहको स्थान नहीं है, फिर भी पुरुषार्थको एकबारगी कोई स्थान न हो यह बात भी नहीं है। प्रारब्धको हस्तरेखा ज्योतिष आदि शास्त्रोंसे निश्चित करके ऐसा उपाय (पुरुषार्थ) करे जो प्रारब्धके अनुकूल हो, प्रारब्ध उसका साथ दे सके। पुरुषार्थ ऐसा होना चाहिए कि प्रारब्धकी घटना ज्योंकी त्यों घटने दे, पर सुखदुःखके तारतम्यमें भेद पड़ जाय। प्रारब्धके प्रतिकूल पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। अतः एक उपाय नारदजी बतलाते हैं, पर उसका सिद्ध होना प्रारब्धके साथ देनेपर निर्भर है। वर तो उमाको वैसा ही मिलेगा, यह प्रारब्ध अमिट है पर वैसा वर मिलनेसे उमाके दुःखका पारावार नहीं, अब पुरुषार्थ यह करना है कि ऐसा वर खोजा जाय जिसमें ये सब बातें हों पर उमाको दुःख न होकर सुखकारी हो।

४ 'देव दनुज'—दोहा ७ 'देवदनुज नर नाग'।' में देखिये। नागोंके विषयमें नाभास्वामीने भक्तमाल छप्पय २७ में इनका परिचय यों दिया है—'उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति। इलापत्र मुख अनन्त अनन्त कीरति विसतारत। पद्म शंकु पन प्रगट ध्यान उर ते नहिं टारत॥ अंशुकम्बल वासुकी अजित आज्ञा अनुवरती। करकोटक तक्षक सुभट सेवा सिर धरती। आगमोक्त शिवसंहिता 'अगर' एकरस भजन रति। उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति॥'—विशेष 'किन्नर नाग सिद्ध गंधर्वा।' ६१ (१) में देखिये।

तदपि एक मैं कहौं उपाई। होइ करै जौ दैउ सहाई ॥ १ ॥
जस बरु मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहि उमहि तस संसय नाहीं ॥ २ ॥
जे जे बर के दोष बखानें। ते सब शिव पहिं मैं अनुमानें ॥ ३ ॥
जौं बिबाहु संकर सन होई। दोषौ गुन सम कह सबु कोई ॥ ४ ॥

अर्थ—तो भी मैं एक उपाय बताता हूँ। यदि दैव सहायता करे तो वह (सिद्ध) होजायगा ※।१। जैसा वर मैंने तुमसे वर्णन किया, वैसा उमाको अवश्य मिलेगा इसमें संदेह नहीं।२। वरके जो-जो दोष बखाने (कहे) गए वे सब शिवजीमें हैं, (यह) मैंने अनुमान कर लिया है (अर्थात् मेरे विचारमें वे सब शिवजीमें हैं)।३। यदि शंकरजीसे विवाह होगा तो दोषको भी सब लोग गुणोंके समान ही कहेंगे।

नोट—१ 'तदपि एक मैं कहौं उपाई०' इति। (क) शैलराजने उपाय पूछा, यथा 'कहहु नाथ का करिअ उपाई।' अत नारदजी उपाय कहते हैं। यहाँ शिक्षा देते हैं कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों ही मनुष्य को कर्तव्य हैं। प्रारब्ध जानकर भी पुरुषार्थसे न चूकना चाहिये। कर्म और करतूत दोना चाहिए। (पं० रा० कु०)। ☞स्मरण रहे कि हस्तरेखाएँ भी ब्रह्मलिपिही हैं। इनसे भाग्यका निर्णय होता है। पर मनुष्यके पाप, पुण्य, संग, कुसंग, भगवतनिंदा, भगवत-भजन आदिसे हस्तरेखाएँ बदलती, मिटती, नई उत्पन्न होती रहती हैं। शरीरपर तिल आदि जो लक्षण होतेहैं उनका भी यही हाल है। ज्योतिष शास्त्रका भी यही मत है। और नित्य अनुभवमें भी आता है। अतएव मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह मंगल कल्याणके लिये पुरुषार्थ करनेसे कभी न चूके। (ख) 'होइ करै जौ दैउ सहाई।' इति। 'दैवं दिष्टं भागधेयम्' अमरकोशके इस वचनसे 'दैउ' (दैव) का अर्थ 'भाग्य' होगा। इस कथनमें भाव यह है कि यद्यपि विधिका लिखा मिट नहीं सकता, तथापि एक उपायसे कार्य सिद्ध होसकता है, भावी मिट सकती है, वह उपाय करो, पर साथही ईश्वरका भरोसा रक्खो। 'जौं' का भाव यह है कि उपाय करना कर्तव्य है, फल भगवान्‌के हाथ है। ८३ (१) भी देखिये।

सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि—'दैवसे किसीकी नहीं चलती। प्रमाण ब्रह्मवैवर्तपुराणे गणेश खण्डे, यथा—'दैवाधीनं जगत्सर्वं जन्मकर्मशुभाशुभम्। संयोगाश्च वियोगाश्च न च दैवात्परं बलम्॥ कृष्णायत्तञ्च तद्दैवं स दैवात्परतस्ततः। भजन्ति सततं सन्तः परमात्मानमीश्वरम्॥ दैवं वर्द्धयितुं शक्तः क्षयं कर्तुं स्वलीलया। न दैवबद्धस्तद्भक्त आविनाशी च निर्गुणः॥' अर्थात् जगत्‌का जन्म कर्म, योग-वियोग सब दैवाधीन हैं। वह दैव भगवान्‌के अधीन है। भगवान् दैवके बढ़ाने घटानेमें समर्थ हैं, इसीसे संत भगवान्‌का भजन करते हैं। भगवान् और उनके भक्त दैवके अधीन नहीं हैं। अतएव 'करै जौ दैउ सहाई' कहा। 'दैउ'=भाग्य। लक्षणासे भाग्य बनानेवाले ब्रह्माका ग्रहण करनेसे पीछेकी बात सिद्ध हुई कि जो ब्रह्मा सहायता करें तो इस उपायसे काम होजाय।' (मा० प०)।

※ दैव-पुरुषार्थ-वाद ※

'विना बीजके कोई चीज पैदा नहीं होती। बीजसेही बीज पैदा होता है और बीजसेही फल होता है। जैसा बीज बोया जाता है वैसाही फल मिलता है। जैसा कर्म किया जाता है वैसाही फल प्राप्त होता है। जैसे खेतमें बीज बोये विना फल नहीं होता वैसेही प्रारब्ध भी पुरुषार्थ विना काम नहीं देता। कर्मकर्त्ता अपने

※ अर्थान्तर—'कार्य होगा। यदि वह उपाय करो और दैवभी सहायता करेगा।', 'करै जौ दैउ सहाई' ये शब्द शिवपुराणमें नहीं हैं। उसके शब्द हैं—'तत्रोपायं शृणु प्रीत्या यं कृत्वा लप्स्यसे सुखम्। २ ३ ८ १८।' हाँ, यदि ऐसा अर्थ करें कि—'यदि यह उपाय करै तो दैव सहाय होगा' तो श्लोकका भावार्थ इससे मिल जायगा। दैव सहाय होगा अर्थात् उसके करनेसे सुख होगा।

शुभाशुभका कर्म स्वयं भोगता है, यह संसारमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। पुरुषार्थी सर्वत्र सम्मान पाता है।''' पुरुषार्थ करनेपर दैवके अनुसार फल मिलता है, किन्तु चुपचाप बैठे रहनेपर दैव किसीको कोई फल नहीं दे सकता। जैसे आगकी एक चिनगारी भी हवाके सहारेसे प्रज्वलित होकर महान् रूप धारण करती है। उसी प्रकार दैवभी पुरुषार्थकी सहायतासे बड़ा हो जाता है। जगत्‌में उद्योगहीन पुरुष फूलता-फलता नहीं दिखाई देता। दैवमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह कुमार्गमें पड़े हुए पुरुषको सन्मार्गपर पहुँचादे। जैसे शिष्य गुरुको आगे करके चलता है, वैसेही दैव पुरुषार्थकाही अनुसरण करता है। संचित किया हुआ पुरुषार्थही दैवको जहाँ चाहता है लेजाता है। पुरुषार्थका महान् फल है।' (ब्रह्मा-वसिष्ठसंवाद। अनुशासनपर्व)। कृपाचार्यजीभी कहते हैं कि—'अकेले दैव या पुरुषार्थसे कार्यसिद्धि नहीं होती। सफलताके लिये दोनोंका सहयोग आवश्यक है।' [यथा—'यथाह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्। तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति।' (सुभाषित)। अर्थात् जैसे एक चाकसे रथ नहीं चल सकता, वैसेही उद्योगके बिना दैव सिद्ध नहीं होता।] संसारमें कोई भी कार्य प्रायः निष्फल नहीं देखा जाता। इसलिये बुद्धिमान् लोग दैवके अनुकूल न होनेपर भी कार्य करते हैं। परन्तु कर्म न करनेपर तो दुःखही दिखाई देता है।'''जो पुरुष दैव और पुरुषार्थ दोनोंके सहयोगको न मानकर केवल दैव या पुरुषार्थकेही भरोसे पड़ा रहता है वह अपना अनर्थही करता है।—यह बुद्धिमानोंका निश्चय है। कई बार उद्योग करनेपर भी जो फल नहीं मिलता, उसमें पुरुषार्थकी न्यूनता और दैव, ये दो कारण हैं। परन्तु पुरुषार्थ न करनेपर तो कोई कार्य सिद्ध होही नहीं सकता।'—इसी भावसे यहाँ 'करै होइ जौं दैउ सहाई' कहा।

नोट—२ (क) 'मिलिहि' का 'हि' निश्चयवाचक है। पाहीं=से। 'जस बरु मैं बरनेउँ' अर्थात् हमने जो लक्षण बरके बताए हैं उन्हीं लक्षणोंवाला वर। (ख) 'जे जे बर के दोष बखाने। ते सब०' इति। भाव यह कि मैंने लक्षणोंका नियम किया कि अमुक लक्षण होंगे, व्यक्तिका नियम नहीं किया कि अमुक प्राणी इसका पति होगा। व्यक्तिका नियम नहीं है कि जो हम बताते हैं वही वर होगा—यह सूचित करनेके लिये कहते हैं कि यह दोष हमने शिवजीमें अनुमान किये हैं। (पं० रा० कु०)। यदि निश्चय कहदें तो माधुर्यमें उपाय और वात्सल्य अर्थात् माधुर्य-भाव जाता रहेगा—यही सोचकर 'अनुमान' कहा। नारदजी जानते हैं कि शिवजीमें वे दोष दोष नहीं हैं, इसीसे कहते हैं 'ते सब सिव पहिं मैं अनुमाने।' देखिये तो, आपहीने दोष कहे और आपहीने अनुमानकर वर निश्चय किया।

३ 'दोषौ गुनसम कह सब कोई' इति। भाव कि औरोंमें (जीवोंमें) तो ये लक्षण दोषही माने जाते हैं परन्तु शिवजीमें ये लक्षण गुणकेही सदृश माने गए हैं, वे गुणही हैं यद्यपि लौकिक दृष्टिसे दोषसे देख पड़ते हैं। यथा—'भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी। बा० १०।' दोष गुणरूपही हैं, यह दोहा ६७ में दिखा आए हैं। 'कह सब कोई' अर्थात् यह सबका सम्मत है, कुछ एक मैं ही नहीं कहता, सभी ऐसा कहते हैं। दोषोंको गुण कहना 'लेश अलंकार' है। दोष कैसे गुण हो सकते हैं, इसपर आगे चार दृष्टान्त देते हैं—'जो अहिसेज०'।

४ मिलते हुए श्लोक ये हैं—'तादृशोऽस्याः पतिः शैल भविष्यति न संशयः। २-३-८-१८। तादृशोऽस्ति वरः शम्भुर्लीलारूपधरः प्रभुः'। कुलक्षणानि सर्वाणि तत्र तुल्यानि सद्गुणैः॥ १९।' (शिवपु०)

जौं अहिसेज सयन हरि करहीं। बुध कछु तिन्ह कर * दोष न धरहीं॥ ५॥
भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं। तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं॥ ६॥
शुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥ ७॥

* कहँ—छ०, को० रा०। कर—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२

समरथ कहुँ † नहिं दोषु गोसाईं । रबि पावक सुरसरि की नाईं ॥ ८ ॥

अर्थ—जो (मान लिया कि, अगर प) विष्णुभगवान् शेष शैय्यापर शयन करते हैं तो भी पंडित लोग उनको कोई दोष नहीं लगाते । ५ । सूर्य और अग्नि सब प्रकारके रस भक्षण करते अर्थात् खींचते हैं तो भी उनको कोई बुरा नहीं कहता । ६ । गंगाजीमें शुभ और अशुभ सभी जल बहता है पर उन्हें कोई (भी) अपवित्र नहीं कहता । ७ । हृषीकेश भगवान्, सूर्य, अग्नि और गंगाजीकी तरह समर्थ को (कहीं) दोष नहीं (लगता) । ८ ।

टिप्पणी—१ 'जौ अहिसेज सयन हरि करहीं ।०' इति । (क) भाव यह कि संसारमें दोषसे कोई भी बचा नहीं है । दोष भगवान् तक में है । शेषनागकी शय्यापर सोनाभी दोष माना जाता है; पर बुद्धिमान् का प्रमाण माना जाता है, जो बुद्धिहीन हैं उनकी बात प्रमाण नहीं मानी जाती । 'अबुध' (बुद्धिहीन) दोष लगाते हैं, पर बुद्धिमान् पंडित भगवान्पर दोषारोपण न करके उनकी प्रशंसाही करते हैं, यथा—'शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम् ।'—[पंडित जन प्रशंसा करते हैं कि लोग तो एकमुँहे सर्पकोही देखकर दूरसे भागते हैं पर ये हजारमुँहे सर्पपरभी निर्भय रहते हैं, उसे वशमें किये हैं । वह नित्य आपका कीर्त्तन करता रहता है, इत्यादि । (मा० प०) । नारायणके सोनेसे यह भी गुण हो गया] ।

नोट—१ 'भानु कृसानु सर्व रस खाहीं ।०' इति । अर्थात् मल, मूत्र आदिके रसकोभी अपनी किरणोंसे खींच लेते हैं और गंगा, यमुना, सरस्वती, सरयू , सागर आदिका पवित्र जलभी खींचते हैं । बुरी-भलीका विचार कुछ नहीं करते । बुरी-भलीका विचार जो नहीं करता उसे साधारणतः लोग 'मंदबुद्धि' कहते हैं, पर सूर्यको कोई दोष न देकर उलटे यही कहते हैं कि उनकी सबपर समान दृष्टि है । (सब उनकी स्तुति करते हैं, यथा 'भास्वते सर्वभक्षाय रौद्राय वपुषे नमः', 'ते नमः उक्ति विधेय' । (वि० त्रि०) । यह भाव 'तिन्ह कहँ मंद कहत०' का हुआ ।

२ 'सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई' इति । भाव कि गंगाजीका यह कर्म अपुनीत हो रहा है । उसमें सब मैला गिरता और बहता है, उसमें सरयू , यमुना, सरस्वतीका शुभ जल भी मिलता और कर्म-नाशाका अशुभ जलभी, पर उनमें अपुनीतता कोई नहीं मानता कहता । अपना शरीर अपवित्र होनेपर लोग उसे उसी जलके पानसे पवित्र करते हैं । इन सबोंको दोष क्यों नहीं दिया जाता ? उनको अपवित्र क्यों नहीं माना जाता ?—इसका कारण आगे बताते हैं—'समरथ कहुँ नहिं दोष' । अर्थात् ये समर्थ हैं ।

३ 'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं ।०' इति । समर्थको दोष नहीं लगता क्योंकि उसमें उस दोषके पचाडालनेकी शक्ति है । समर्थ दोषोंको पचा डालता है । उसमें दोषभी विकार न उत्पन्न कर 'गुण' का रूप धारण कर लेते हैं । सूर्य सबका रस लेते हैं पर वह रस बडाही गुणकारी वर्षाजलरूप हो जाता है । अग्निमें विष्ठा आदिभी जलकर औषधि बन जाती हैं । सुरसरिमें मैले नालोंका जल मिलते ही उसके सब कीडे मर जाते हैं और वही जल गंगाजल समान गुणद हो जाता है । कर्मनाशाका भी जल उसमें पड़ते ही सुकृतरूप हो जाता है । भाव यह कि जैसे इनको कोई दोष नहीं लगता, वरंच वे दोषभी उनमें गुणरूप हो जाते हैं वैसे ही शिवजी समर्थ हैं । ये दोषभी उनमें गुणरूपही हैं । इस कथनका अभिप्राय यह है कि शंकरजीभी समर्थ हैं, जैसे हरि, भानु, कृशानु और सुरसरि समर्थ हैं । अतः उनमें भी दोष गुणरूप ही हैं ।

'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं ।०' इति ।

बाबा हरीदासजी अर्थ करते हैं कि—"समर्थको सर्वरसभोगसे दोष नहीं लगता, क्योंकि वे 'गोसाईं' हैं अर्थात् इन्द्रियाधीन नहीं हैं । जैसे रवि, पावक और सुरसरि ।" (शीलावृत्ति) । और सुधाकरद्विवेदीजी

† को—१७२१, १७६२, छ० । कहु—१६६१, १७०४ । कहँ—को० रा० ।

'गोसाईं' का अर्थ गो (पृथ्वीके) साईं (=धारण करनेवाले) अर्थात् 'भूधर' करते हैं। इस तरह उसे सम्बोधन मानते हैं।

बैजनाथजी 'गोसाईं' को गिरिराजका सम्बोधन मानते हैं। फिर दूसरा अर्थ यह करते हैं कि— "साईं=ईश्वर। उसके 'गो' अर्थात् इन्द्रियाँ हैं। रवि प्रभुके नेत्र, अग्नि मुख, गंगा चरणामृत हैं—उनकी (ईश्वरकी इन इन्द्रियोंकी) नाईं। तथा शिवजी प्रभुका अहंकार हैं, इत्यादि समर्थ हैं। इससे उनमें भगवन् भास्करका प्रकाश होनेसे दोषरूपी तमकी वहाँ गति नहीं है।" तात्पर्य कि रवि, पावक और सुरसरि भगवान्के अङ्ग हैं, इनमें भगवान्का प्रकाश है, भगवान् समर्थ हैं, उनके सम्बन्धसे ये भी समर्थ हैं।

श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि—'यहाँ दिखाते हैं कि जिनमें ईश्वरतत्व है, वेही समर्थ हैं। उनको दोष नहीं लगता वरंच उनके संयोगसे दूषणभी भूषण होजाता है।'

☞ 'जौं अहिसेज सयन हरि करहीं', 'भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं' और 'सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई'—यहाँ तक चार समर्थ गिनाए– हरि, भानु, कृशानु और सुरसरि। इनमेंसे 'हरि' स्वयं भगवान् ही हैं, अतः स्वयं समर्थ हैं। और भानु, कृशानु तथा सुरसरि क्रमसे भगवानके नेत्र, मुख और चरणोदक होनेसे भगवान्के सम्बन्धसे समर्थ हैं। पहले व्यष्टिरूपसे चार कहे, अब इन्हींको 'समर्थ' कहकर इस अर्धाली में एकत्र करके कहते हैं। 'रवि' (भानु), 'पावक' (कृशानु) और 'सुरसरि' ये तीन नाम तो स्पष्ट ज्योंके त्यों वही हैं। चौथा नामभी यहाँ अवश्य ही होना चाहिये। जैसे ऊपर 'हरि, भानु, कृसानु और सुरसरि' क्रमसे आये हैं, ठीक उसी क्रमसे 'गोसाईं', रवि, पावक और सुरसरि' इस अर्धालीमें हैं। इस तरह यहाँका 'गोसाईं' शब्द 'हरि' का वाचक माना जायगा। 'गोसाईं' शब्द यहाँ सम्बोधन नहीं है। नारदजीका शैलराजको 'गोसाईं' कहना यहाँ प्रसंगानुसार किसी प्रकार न तो उचित ही है और न संगत ही। यह भी स्मरण रहे कि इस प्रसंगमें जहाँ जहाँ संबोधन हुआ है वहाँ वहाँ 'शैल', 'हिमवंत' और 'गिरीस' ही कहा है, यथा—'सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी', 'कह मुनीस हिमवंत सुनु०', 'होइहि यह कल्यान अब संसय तजहु गिरीस'। यहाँ 'गोसाईं'=इन्द्रियोंका स्वामी वा प्रेरक=हृषीकेश=हरि।=गौ और पृथ्वीके पालनकर्त्ता=हरि, भगवान्, विष्णु।

श्रीवैजनाथदासजी, सूर्यप्रसादमिश्रजी तथा बहुतसे टीकाकारोंने 'गोसाईं' को सम्बोधन माना है। परन्तु इस दीनकी समझमें उपर्युक्त कारणोंसे उसे संबोधन मानना संगत नहीं जान पड़ता। देखिए, प्रथम चार दृष्टान्त दिए गये तब उनमेंसे प्रथम एकको (आदिका ही नाम) छोड़कर केवल तीन क्यों गिनाए जायँगे? मुनि, वह भी देवर्षि, शैलराजको यहाँ 'गोसाईं' क्यों सम्बोधन करेंगे—इसका कोई प्रयोजन यहाँ समझमें नहीं आता।

यहाँ 'समरथ' उपमेय है। गोसाईं, रवि, पावक और सुरसरि उपमान हैं। 'नाईं' वाचक और 'नहिं दोष' अर्थात् निर्दोष होना धर्म है। इस तरह यहाँ 'पूर्णोपमा' अलंकार है।

नोट—४ शिवपुराणमें इस अर्धालीका प्रतिरूप मिलता है। इसके ऊपरकी तीन अर्धालियोंकी जोड़के श्लोक उसमें नहीं हैं। 'रवि पावक सुरसरि' ये तीनो उसमें हैं। यथा—'प्रभो दोषो न दुःखाय दुःखदोऽप्रभौ हि सः। रवि पावकगङ्गानां तत्र ज्ञेया निदर्शना। २।३।८।२०।' अर्थात् प्रभु (समर्थ) में दोषभी गुण ही होता है और अप्रभुमें गुणभी दोष होते हैं। सूर्य, अग्नि और गंगामें इनका प्रमाण देखना चाहिए। भागवतमें भी इस संबंधमें कहा गया है। मिलान कीजिये—'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा। भा० १० उत्तरार्ध ३३।३०।...यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्।३१।' इस उद्धरणमें श्रीशुकदेवजीने श्रीकृष्ण-संबंधी शंकाके समाधानमें 'अग्नि' और 'रुद्र' दो तेजस्वियोंका उदाहरण दिया है और मानसकविने श्रीशिव-सम्बन्धी शंकाके समाधानमें शेषशायी हरि, सूर्य, अग्नि और सुरसरि चार समर्थोंका उदाहरण दिया है। चौपाइयोंका 'सर्ब रस खाहीं' भागवतका 'सर्वभुजो' है और यहाँका 'समरथ' (समर्थ) भागवतका 'तेजीयसां'

है। ☞ यहाँ चार दृष्टान्त क्यों दिये गए ? इसमें भी कुछ रहस्य अवश्य है ? ये प्रश्न स्वतः मनमें उठते हैं और उनके समाधानपर विचार किया जानेपर ऐसा ज्ञात होता है—वस्तुतः गुण और दोष तो मायाकृत हैं, यथा—'हरिमायाकृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं। ७। १०४।', 'सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहिं''''। ७। ४१।', और भगवान् मायातीत हैं अर्थात् मायिक गुणदोषोंसे परे हैं। अतः उनके विषयमें गुण दोषका शंका-समाधानही उचित नहीं। परन्तु मायामोहमें फँसे हुए हम लोगोंको इतने मात्रसे शान्ति नहीं होती कि वे ईश्वर हैं, उनमें दोष कहाँ ? अतः हम लोग भगवानके विषयमें भी ऐसी शंकायें किये बिना रह ही नहीं सकते। यथा 'कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।'''' १।११४' हम ऐसे जीवोंके लियेही भागवतमें परीक्षित्‌जीके द्वारा प्रश्न किया गया और उसका समाधान भी श्रीशुकदेवजीने 'तेजीयसां न दोषाय' यही किया। इस विषयको लक्षित करके गोस्वामीजीने भी उसी प्रकारकी शंकाका समाधान करते हुए चार दृष्टान्त दिये। प्रथम तो 'शेषशायी हरि' का दिया। परन्तु यह दृष्टान्त केवल शास्त्रोंपर विश्वास रखनेवालोंके लियेही होसकता है क्योंकि भगवान् हरि सर्वसाधारण जनताको प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आते। अतः दूसरा दृष्टान्त सूर्यका दिया कि सूर्यकी किरणें यद्यपि मलमूत्रादि दूषित पदार्थोंपर भी पड़ती हैं तथापि लोग सूर्यको दूषित नहीं मानते। पर सूर्य हम लोगोंसे अत्यन्त दूर होनेसे उनके संबंधमें भी बहुत तर्क वितर्क हो सकते हैं। अतः अग्निका दृष्टान्त दिया क्योंकि अग्नि प्रत्यक्ष है और हमारे निकट भी। यद्यपि अग्नि शुद्धाशुद्ध सभी पदार्थोंको जलाता है, तथापि लोग उसे अशुद्ध नहीं मानते। नीचसे नीचके घरकी भी आग काममें लाई जाती है। फिर भी यह बात व्यवहारपर निर्भर रहती है। चिता आदिकी अग्नि काममें नहीं लाई जाती। अतः गंगाजीका दृष्टान्त दिया गया। गंगाजीमें कितने ही दूषित पदार्थ (गंदे नाले, नगरभरका मलमूत्रादि, प्लेग, कालरा, आदि बीमारियोंके रोगी मुर्दे, इत्यादि) मिलते वा पड़ते हैं, फिर भी गंगाजी और गंगाजल पवित्र ही माने जाते हैं। क्षणभरके लिये शास्त्रीय शुद्धताको अलग रक्खा जाय तो भी आजकलके विज्ञानके द्वारा डाक्टरोंने भी गंगाजलको अत्यन्त शुद्ध और गुणकारी सिद्ध कर दिया है। सर्वसाधारण लोगोंको भी इसका प्रत्यक्ष अनुभव है कि गंगाजल वर्षों घरमें रखनेपर भी उसमें कीड़े नहीं पड़ते। अन्य जल तो दो चार दिनोंहीमें बिगड़ जाता है। अतः एकके बाद एक देते हुए चार दृष्टान्त दिये जिसमें सबको संतोष हो जाय।

प० प० प्र०—तीनों दृष्टान्त साभिप्राय हैं और उनका शिवजीके साथ अप्रकट संबंध है। जैसे—(१) हरि अहिसेजपर शयन करते हैं वैसे हर अपने शरीरपर सर्प लपेटे रहते हैं। (२) भानु कृशानु सर्व-रसभक्षी हैं वैसेही शिवजी भाँग, धतूरा, आदि मादक पदार्थोंका सेवन करते हैं। शिवजीका तृतीयनेत्र अग्नि स्वरूप है ही। (३) सुरसरि शुभाशुभ सभी वहनेपर भी त्रैलोक्यपावनी हैं तब जिन शिवजीने उनको धारण किया वे नग्न अमंगलवेषादि होनेपर अपवित्र, अमंगल कैसे हो सकते हैं। जैसे हरि, रवि, अग्नि और सुर-सरिको कोई दोष नहीं देता वैसेही शिवजीको कोई दोष नहीं देता।

दोहा—जौ अस ‡ हिंसिषा करहिं नर जड़ विवेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महुँ जीव कि ईस समान॥ ६९॥

अर्थ—यदि मूर्ख मनुष्य अपने ज्ञानके अभिमानसे ऐसी बराबरी (स्पर्धा) करते हैं ❀ (या करें)

---

‡ अैसहि इसिषा करहिं नर विवेक अभिमान—१७२१, १७६२। अस हिंसिषा करहिं नर जड़ विवेक अभिमान—१६६१, १७०४, छ०, को० रा०। १६६१ और रा० प० में 'करहिं', 'परहिं' पाठ है। अर्थ होगा कि—'मनुष्य करे''''तो''''पड़ेगा'।

❀ अर्थान्तर—१ 'जो नर ईर्ष्यासे ऐसा (अर्थात् दोषी) कहें, उनका 'जड विवेक' अर्थात् मूर्खोंके ऐसा ज्ञान है और उनका अभिमानही है जो ऐसा कहते हैं।'—(सु० द्विवेदीजी)। (आगे पृ० २२७ पाद टि. में देखिए)

तो वे कल्पभर नरक मे पड़ते हैं(या पड़ेंगे)। क्या 'जीव' ईश्वरके समान हो सकता है ? (कदापि नहीं) ।६६

नोट—१ 'हिसिपा'=ईर्ष्यावश बराबरी करनेका भाव; होड़, स्पर्धा। 'हिसिपा करहिं' अर्थात् ईर्ष्यावश बराबरी करनेका मन्द काम करते हैं। 'जड़' कहनेका भाव कि सामर्थ्य तो है नहीं और करते हैं बराबरीका दावा। समर्थ होते तो दोष न लगता। 'समर्थ' नहीं हैं अतएव बराबरी करनेका फल यह मिलता है कि 'परहिं कलप भरि नरक महुँ'। आदिमें 'अस हिसिपा करहिं नर' कहा और अन्तमें 'जीव कि ईस समान'। इससे सूचित हुआ कि जड़बुद्धिवाले मनुष्य बराबरी करते हैं और कहते हैं कि 'जीव' और ईश्वरतत्त्व एकही है। जीव ईश्वरांश है। जैसे ईश्वरके कर्म निर्लेप हैं, वे शुभाशुभ कर्म करते हैं तो उनको यह कर्म बाधक नहीं होते और न उनको कोई दोष लगता है, वैसेही जीवभी निर्लेप है, उसे शुभाशुभ कर्म नहीं लगते, तो फिर जो कर्म ईश्वर करता है वही कर्म हमें करनेमें क्या दोष?'

'जड़ विवेक अभिमान' कथनका भाव यह है कि ये लोग हैं तो असमर्थ, पर ज्ञानके अभिमानसे यह मूर्खतावश ईश्वरोंके वचनोंका अनुकरण तो करते नहीं किन्तु उनके आचरणोंके अनुकरण करनेका साहस कर बैठते हैं। वे यह नहीं जानते कि वे समर्थ अहंकारशून्य हैं, देहाभिमानरहित हैं, उनके शुभाशुभ कार्य स्वार्थ या अमङ्गलकी आशासे रहित होते हैं। इनको 'जड़ विवेक अभिमान' कहकर ईश्वरोंको 'निरहंकारी' जनाया।

'परहि कलप भरि नरक महुँ' इति। यह ईश्वरोंके धर्मव्यतिक्रम कर्मों वा चरितोंके अनुकरण करनेका साहस करनेवालोंको कर्मके फलकी प्राप्ति कही। भाव यह कि अनीश्वरोंको मनसेभी कभी ईश्वरोंके ऐसे कर्मोंके अनुकरणकी स्पर्धा न करनी चाहिए। यथा—'नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। भा० १०।उ० ३३।३१', 'अनुष्ठितन्तु यद्देवैर्मुनिभिर्यदनुष्ठितम्। नानुष्ठेय मनुष्यैस्तत्तदुक्तं कर्मचाचरेत् ॥ हारीतस्मृति।' अर्थात् देवताओं और महर्षियोंने जो आचरण किये हैं, मनुष्योंको उनका अनुकरण न करके उनके वचनोंका ही अनुकरण करना चाहिए।

* जीव कि ईस समान । इति *

'जीव' का अर्थ है—जीव (जीवात्मा); मनुष्य, प्राणी; अनीश्वर। यथा—'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान ।७।१११।', 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी। सो मायाबस भयउ गोसाईं। ७।११७।', 'ते जड़-जीव निजातमक घाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सोहाती। ७।५३।', 'अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं। २।१६२।', 'जीव बनु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्हकै परिछाहीं। ५।३।', 'ईस अनीसहि अंतरु तैसे। १।७०॥', 'ईस अधीन जीव गति जानी। २।२६३।'—ये वचन श्रीरामजीने भरतजीसे कहे हैं। इसमें ईशका अर्थ ईश्वर है और जीवका अर्थ 'जीव' एवं प्राणी है) । प्रथम अर्थको लेकर 'जीव कि ईस समान' का भावार्थ इस प्रकार है कि—जीव ईश्वरके समान नहीं है, यद्यपि यह ईश्वरका अंश है। जीव मायाके वश होकर काम क्रोध लोभ मोहादिमें पड़कर मलिन होजाता है, और ईश्वर तो मायाका स्वामी है, माया उससे डरती रहती है। यथा 'देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥ देखा जीव नचावै जाही। बा० २०२।' नारदजीने अपना यह सिद्धान्त हिमवान्से कहा कि जीव प्राणी कभी भी ईश्वरके समान नहीं होसकता। तात्पर्य कि प्राणीमें दोष गिने जाते हैं, ईश्वरमें दोष भी गुण समझा

२—'रवि, पावक और सुरसरिकी नाईं शिवजीमें जो दूषण हैं वे भूषणरूप हैं। उनको देखकर जो हिसिका करे वह जड़ है'''जीव किसी कालमें ईशके समान नहीं। यदि कहो कि जीव तो ईश्वर अंश अविनाशी है, जीव और ईश एकही रूप है उसपर आगे भेद कहते हैं।—(बाबा हरिदास। शीलावृत्ति)'

३—'अभिमानवश जड़वत् विवेक, अर्थात् जीव-ईश्वर एकही है ऐसा विवेक कर जो नर ईश्वरकी बराबरी करें।'—(वै०) ।

जाता है। भाव कि शिवजी ईश्वर हैं उनके दोषोंपर कोई ध्यान नहीं देता।

☞ ठीक इन्हीं शब्दोंमें श्रीभुशुण्डीजी ने यही सिद्धान्त अपना कहा है। यथा—'मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान। उ० १११।' भुशुण्डीजीने जीव-ईश्वरकी समानता न होनेका कारण भी बता दिया है कि वह मायावस परिछिन्न जड' है। दोनों जगह वही शब्द हैं—'जीव कि ईस समान'। अतएव दोनोंका भाव भी एक जनाया गया है। 'ईस' एवं 'ईश्वर' श्रीशिवजी और भगवान् या श्रीरामजी दोनोंके ही लिये इस ग्रन्थमें आया है। यथा 'भयउ ईस मन छोभु बिसेषी। १। ८७।', 'नमामीशमीशान' (७। १०८), 'सनइ लाभ जग जीव कहँ भए ईसु अनुकूल। १। ३४१।' 'ईस अनेक करवरें टारीं। १। ३५७।', 'जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं। २। २४।', 'अब ईस आधीन जगु काहु न देइय दोषु। २। २४४।', 'मुधा बचन नहिं ईस्वर कहई। ७। ६४।' (शिवजी), 'ईस्वर राखा धरम हमारा। १। १७४।' (भगवान्), 'ईस्वर अंस जीव अविनासी।'

गोस्वामीजीने शिवजीको जगदीश, ईश्वर, 'सिद्धसनकादि-जोगींद्र वृंदारका विष्णु विधि वंद्य चरणारविंद। विनय पद १२।', और ब्रह्म कहा है। पुराणों और उनमभी वैष्णवपुराण श्रीमद्भागवतमें उनको ईश्वर कहा है और त्रिदेवमें अभेद बताया है। यथा— त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः स्वरूपयोः। विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा। भा० ४। ६। ४३।', 'जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः। शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम्। ४।'—ब्रह्माजी कहते हैं 'हे ईश! मैं आपको जानता हूँ। आप शक्ति और शिव, अर्थात् प्रकृति और पुरुष, दोनोंसे परे सनातन ब्रह्म हैं। जैसे मकड़ी स्वयं ही जालेको रचकर उसमें क्रीड़ा करती और अन्तमें उसे अपनेहीमें लीन कर लेती है वैसेही आप अपनेही स्वरूप पुरुष और प्रकृतिसे संसारकी रचना, पालन और संहार करते हैं। पुनः यथा 'अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्। आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषण:। भा० ४। ७। ५०। आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज। सृजन् रक्षन्हरन्विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्। ५१।'—भगवान् कहते हैं कि मैं ही ब्रह्मा और शिव हूँ, मैं ही संसारकी रचना, पालन और संहारके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन नाम धारण करता हूँ। शिवपरक उपनिषदों (श्वेताश्वतर, रुद्र आदि) में भी शिवजीको ब्रह्म कहा गया है। मानसमें भी भगवान् शंकरको भगवानका अहंकाररूप कहा गया है, यथा—'अहंकार सिव बुद्धि अज (६। १५)।' वैष्णवाचार्य श्रीवल्लभाचार्यजी, श्रीमाध्वाचार्यजी तथा महाप्रभु कृष्णचैतन्यजीने भी शंकरजीको 'ईश्वर' माना है। ☞ इस प्रकार भगवान् शंकर 'ईश्वर' हैं। और दोहेमें 'जीव ईश्वरके समान नहीं हो सकता' यह सिद्धान्त कहा गया है।

जो जीवमात्रही ईश्वर (ब्रह्म) हो जाना मानते हैं उन्हें इस दोहेमें कड़ी फटकार है कि समानता तो दूर रही, उसकी समानताकी कामनामात्रसे विनाश होता है।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'केवलाद्वैतमें भी जीवको ईश्वरसमान होना कहीं नहीं कहा गया है। जीव अपने सहज स्वरूपमें लीन हो सकता है पर ईश्वर नहीं हो सकता। ईश्वर सोपाधिक ब्रह्म है। जीवकी उपाधि अविद्या है। अविद्यासे मुक्त होनेपर जीव ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धि कर सकता है। पर ईश्वरकी उपाधि विद्यामाया है, ईश्वर 'मायापति, मायाप्रेरक सीव' है। जीव मायामुक्त होनेपर भी मायापति, मायाप्रेरक हो ही नहीं सकता। इस तरह केवलाद्वैतके अनुसार भी ईश्वर और जीवमें उपाधिभेदसे भेद है, पर उपाधि त्यागसे भेद नहीं है। अतएव यह वचन केवलाद्वैतको भी कोई जटिल समस्या नहीं है।

विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायवाले भगवान् शंकरको भी 'जीव' मानते हैं। ब्रह्मके अतिरिक्त जितनेभी प्राणी हैं, वे सब 'जीव' हैं। अतएव विशिष्टाद्वैतमतानुयायी 'जीव' का दूसरा साधारण अर्थ 'प्राणी' या 'मनुष्य' लेते हैं। इस अर्थकी पुष्टि पूर्वार्धके 'नर' और 'जड़ बिबेक अभिमान' से होती है। जिसे पूर्वार्धमें 'नर' कहा उसीको उत्तरार्धमें 'जीव' कहा। अतः जीव=नर। ईशका अर्थ समर्थ और शंकरभी है। इस तरह

उत्तरार्धका भावार्थ यह होता है कि—'नर' (मनुष्य) ईश्वर (शंकरजी) के समान कैसे हो सकता है? विशिष्टाद्वैतमतके अनुसार मेरी समझमें अधिक उत्तम अर्थ होगा कि—'क्या अनीश्वर प्राणी समर्थ तेजस्वी पुरुषोंके समान हो सकता है?'

नोट—२ ऐसी ही शंका श्रीपरीक्षितजीने श्रीशुकदेवजीसे श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध उत्तरार्ध अ० ३३ में भगवान् श्रीकृष्णजीके सबंधमें की है। यथा—'संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च। अवतीर्णोहि भगवानंशेन जगदीश्वर। २७। स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताऽभिरक्षिता। प्रतीपमाचरद्ब्रह्मन्परदाराभिमर्शनम्। २८' अर्थात् भगवान्ने धर्मसंस्थापनार्थ एवं अधर्मविनाशनार्थ अवतार लिया तब धर्ममर्यादाके वक्ता, रचयिता और रक्षक होकरभी उन्होंने परस्त्रीगमनरूप विरुद्ध आचरण क्यों किये?

श्रीशुकदेवजीने इसका समाधान यों किया है—'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा। ३०। नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्। ३१।' अर्थात् ईश्वरों (समर्थ या तेजस्वी पुरुषों) द्वारा कहीं कहीं धर्मके व्यतिक्रम (उल्लंघन) में साहस देखा जाता है। किन्तु इन अकार्योंसे तेजस्वी पुरुषोंको कोई दोष नहीं होता, जैसे शुद्धाशुद्ध सभी कुछ भक्षणकरनेवाला अग्नि उन शुभाशुभ पदार्थोंके गुण दोषके कारण दूषित नहीं होता। जो अनीश्वर हैं (समर्थ नहीं हैं) वे ईश्वरोंके ऐसे आचरणोंके अनुकरणका कभी मनमें संकल्प भी न करें। यदि मूर्खतावश कोई वैसा आचरण करता है तो उसका विनाश हो जायगा। जैसे समुद्रसे निकले हुए कालकूटको भगवान् शंकरने पी लिया तो उनका कुछ न बिगड़ा, किन्तु यदि कोई उनका अनुकरण करके विष पान करे तो अवश्य ही नष्ट हो जायगा। इसके पश्चात् श्रीशुकदेवजीने ईश्वरों, तेजस्वियोंको दोष न लगने का कारण बताया है और हम ऐसे जीवोंके कर्त्तव्यका उपदेश दिया है। सूक्ष्म प्रकारसे वह यह है—अहंकारहीन देहाभिमानशून्य समर्थ पुरुषोंका शुभकर्म करनेमें स्वार्थ नहीं रहता और अशुभ कर्मसे उनका अनर्थ नहीं होता। अर्थात् वे न तो शुभकर्मोंसे कोई मंगलकी कामना रखते हैं और न अशुभ कर्मोंसे उन्हें अमंगल की आशा रहती है। जब ईश्वरोंको ही शुभाशुभ कर्मोंसे कोई हानि लाभ नहीं होता तो तिर्यक्, मनुष्य और देवता आदि समस्त शासित जीवोंके एकमात्र प्रभु सर्वेश्वरका किसी शुभ या अशुभसे क्योंकर संसर्ग हो सकता है? जिनके चरणकमलरजके सेवनसे तृप्त भक्तजन और योगके प्रभावसे संपूर्ण कर्मबन्धनोंसे मुक्त मुनिजन (सब प्रकारके विधिनिषेधरूप बन्धनोंसे छूटकर) स्वच्छन्द विचरते हैं, उन स्वेच्छाशरीरधारी (परमेश्वर) को कर्मका बन्धन कैसे हो सकता है? यथा—'कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते। विपर्ययेण वाऽनर्थो निरहंकारिणां प्रभो। ३३। किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्। ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः। ३४। यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः। स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः। ३५।' आदेश यह किया है कि—ईश्वरोंके वचन सत्य होते हैं (अर्थात् हमें उनके वचनोंके अनुकूल चलना चाहिए) और कहीं-कहीं उनके आचरणभी अनुकरणीय होते हैं किन्तु सब नहीं। अतः उनके जो आचरण उनके वचनों (उपदेशों) के अनुकूल हों बुद्धिमान पुरुषोंको उन्हींका अनुकरण करना चाहिए। यथा—'ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्। तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत्। भा० १०। ३३। ३२।'

'समरथ कहुँ नहि दोष गोसाईं।' 'जीव कि ईस समान।' में भागवतके उपर्युक्त उद्धरणोंका सभी भाव और उपदेश भरा हुआ है।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे मिलान करनेसे सारांश यह निकलता है कि—जिसे दोहेमें 'नर' और 'जीव' कहा है वही भागवतमें 'अनीश्वर' शब्दसे कहा गया है। दोहेका 'ईस' भागवतका 'ईश्वर' और 'ईशित' ('ईश्वराणां', 'ईशितुश्चेशितव्यानां') है। भागवतमें ईश्वरोंसे भगवान श्रीकृष्ण, श्रीरुद्र और अग्नि आदि

समर्थ सूचित किये गए हैं न कि केवल शंकरजी। इसी प्रकार इस दोहेमेंभी समझना चाहिये। यहाँ एक सिद्धान्त कहा गया है।

प० प० प्र०—आगे 'सुरसरि जलकृत' के दृष्टान्तसे तो केवलाद्वैतकी सिद्धि होती है। 'जले जल वियद् व्योम्नि' (श्रुति) के समान जीव अविद्यायुक्त होनेपर देह त्यागके पश्चात् ब्रह्ममें लीन होता है। जब तक माया और अविद्याका संपर्क रहता है तबतक जीव तत्वत भी ईश्वरके समान नहीं हो सकता। तत्त्वत ईश्वर ब्रह्म ही है और जीव भी ब्रह्म है पर अविद्यारूपी मदिराके संपर्कसे वह अपावन बना है और ईश्वर विद्योपाधिरूपी गंगाजीके समान सदा पावन ही है। अत. ईश्वरकी समानताका साहस ज्ञानाभिमानी जड जीव ही करेगा, कोई सुविचारमान्, गुरु साधुसभा-सेवक शास्त्ररहस्यज्ञ मानव यह नहीं कहेगा कि जीव ईशके समान है।

वि० त्रि०—संपूर्ण विद्या स्नात होकर भी जीव एक तृणकी रचना नहीं कर सकता। उसकी जगत् की सृष्टि स्थिति और लय करनेवाले ईश्वरसे कौन समता है? ईश्वरकी समताकी इच्छा होती है तो यह उसके बड़े भारी अकल्याणका कारण है। जगत्में जो दुर्दशा उसकी होती है, वह तो होगी ही। मरनेपर उसे पूरे कल्पभर नरक भोगना पड़ेगा। जो ज्ञानाभिमानी होकर हलाहल पान करेगा वह अवश्य मरेगा और आत्मघाती होकर घोरतर नरकमें जायगा।

सुरसरि जल कृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना॥ १॥
सुरसरि मिलें सो पावन जैसें। ईस अनीसहि अंतरु तैसें॥ २॥

नोट—महात्माओंने इसका अन्वय और अर्थ दो प्रकारसे किया है। दोनों पक्षोंमें बड़े बड़े महात्मा हैं। अत. हम यहाँ दोनोंको देते हैं। अर्थकी जाँचमें 'मिलें' के अनुस्वारकी उपयोगिताभी दर्शनीय है।

अन्वय १—बारुणी सुरसरि-जल कृत (है यह) जाना (तथापि) संत कबहुँ तेहि पान न करहिं। जैसे सो सुरसरि मिलै पावन (होती है) तैसे ईश अनीशहि अंतर है।

अर्थ—१ वारुणी गंगाजलसे बनाई हुई है यह जानकर भी संत कभीभी उसे नहीं पीते। १। वही गंगाजीमें मिल जानेपर जैसे पवित्र हो जाती है, ईश्वर और अनीश्वरमें वैसा ही भेद है। २।

अन्वय २—'सुरसरि कृत जल बारुणी जाना। संत तेहि कबहुँ न पान करहिं। ...'

अर्थ—२ गंगाजीका किया हुआ जल (अर्थात् गंगाजीका छोड़न जल) अपावन मदिरा तुल्य जानकर संत उसे कभी नहीं पीते। १। जैसे जो जल गंगाजीसे मिला हुआ है यह 'सुपावन' (सुष्ठु पावन) है, वैसे ही ईश (शिवजी) और अनीश्वर (जीव) में अंतर है।—(संतउन्मनी टीका, नंगे परमहंसजी)।

नोट—१ नंगे परमहंसजी और पाँडेजीने 'सुपावन' पाठ दिया है, पर मानस अभिप्रायदीपकमें 'सो पावन' पाठ ही है।

२ सबसे प्राचीन टीकाकार श्रीकरुणासिंधुजी (अयोध्या), प० शिवलालपाठक (काशी) और श्रीसंतसिंहजी पंजाबी (अमृतसर) हैं, जिन्होंने संवत् १८७८ वि० में टीकायें लिखीं। ये प्रथम अर्थके पक्षमें हैं। इन्हीं टीकाओंके भाव प० सुधाकर द्विवेदी, बाबा हरिदास, बैजनाथदासजी, प० सूर्यप्रसादमिश्र, श्रीजानकीशरण स्नेहलतानी आदिने अपने शब्दोंमें दिये हैं। दूसरे अर्थके पक्षमें संत श्रीगुरुसहायलाल सन्त उन्मनीटीकाकार और श्रीअवधविहारीदासजी नंगे परमहंसजी हैं। नंगे परमहंसजी प्रथम अर्थको बहुत दलीलोंसे दूषित ठहराते हैं। पहले हम श्रीनंगेपरमहंसजीके लेखके आवश्यक अंशोंको यहाँ देते हैं फिर प्रथम अर्थके पक्षमें जो लोगोंने कहा है वह देंगे।

*** अर्थ २ की पुष्टिमें श्रीनंगे परमहंसजीका कथन ***

(क)—जैसे ['सुरसरि मिलें' जल (=जो जल गंगाजीसे मिला हुआ है) और 'सुरसरि कृत

जल' (=गंगाजीका किया हुआ जल=छाडन)] इन दो जलोंमें अन्तर है, एक पावन है दूसरा अपावन, और जल-तत्त्व एक है (अर्थात् यद्यपि दोनो जल तत्त्वतः एक ही हैं), वैसेही ईश शिवजी और अनीश मनुष्यमें अन्तर है, यद्यपि दोनोमें जीवतत्त्व एक है।

(ख) यहाँ गंगाजी ब्रह्म, छाडन ब्रह्मसे पृथक् हुआ जीव और धारासे मिला हुआ जल शिवजी हुए। ब्रह्मसे पृथक् होनेसे जीव अपावन हो जाता है जैसे गंगाजीने जिस जलको छोड़ दिया है अर्थात् जो धारासे अलग हो गया है वह शास्त्रप्रमाणसे अपावन है; [यथा—'गङ्गाया निस्सृते तोयं पुनर्गङ्गा न गच्छति। तत्तोय मदिरातुल्य पीत्वा चान्द्रायण चरेत्॥' परन्तु यह श्लोक कहाँका है, पता नहीं। बहुत खोजनेपर भी अभी तक मिला नहीं।] पुनः, यथा—'तुलसी रामहिं परिहरे निपट हानि सुनु ओझ। सुरसरि-उर-गत सोइ सलिल सुरा सरिस गगोझ॥ दोहावली ६८।', 'जिमि सुरसरि गत सलिल बर सुरा सरिस गगोद॥' (सतसई)। शिवजी परमात्मासे मिले हुए हैं अतः पावन हैं; जैसे धारासे मिला हुआ जल पावन है।

(ग) छाडनको सुरसरिकृत कैसे माना जाय? उत्तर—क्योंकि छाडन जल न तो मनुष्यकृत है और न मेघकृत, वह गंगाजीकाही किया हुआ है।

(घ) यदि कहो कि जैसे मिला हुआ जल पावन है वैसेही छाडन पुनः गंगाजीके मिलनेपर पावन हो जाता है; तो उत्तर यह है कि यहाँ छूटकर पुनः मिलनेकी व्यवस्थासे कोई प्रयोजन नहीं; वर्तमानमें जो दशा दो जलों (धारासे छूटे हुए और धारासे मिले हुए जलो) की है उसीसे यहाँ मनुष्य और शिवजीकी उपमा दी गई है, उसीसे यहाँ प्रयोजन है। क्योंकि शिवजी परमात्मासे प्रथमसे ही मिले हुए, छूटकर नहीं मिले हैं। भविष्यमें दोनों जलोंकी दशा जो भी होती रहे सो रहे, उससे यहाँ प्रयोजन नहीं है।

(ङ) अर्थ १ में ये दोष हैं—(१) गंगाजलसे जब मदिरा बनी हुई है तब तो वह मदिरा है ही, उसके लिये 'बारुनि जाना' क्यों लिखा? जब वह प्रत्यक्ष ही वारुणी है तब 'जाना' क्रियाका प्रयोजन ही न था। वस्तुतः यहाँ 'जाना' शब्द देकर जनाया है कि यहाँ 'बारुनि' से वास्तविक मदिराका तात्पर्य नहीं है किंतु छाडन जल जो मदिराके तुल्य माना जाता है वह अभिप्रेत है। 'जाना' का भावार्थ ही यहाँ लेना होगा। 'बारुनि जाना'=मदिरा तुल्य माना गया है। (२)—अर्थ १ तभी हो सकता है जब 'उत्प्रेक्षा अलंकार' की उपमा रहती है। बिना 'मानो' आदि शब्दोंके ऐसा अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। 'क्योंकि न तो कोई गंगाजल लाकर मदिरा बनाता है और न कोई गंगाजीमें छोड़ने जाता है; तो ऐसी उसकी उपमा क्यों दी जायगी कि जो बात संसारमें होती ही नहीं। मूलग्रन्थमें प्रत्यक्ष होती हुई बातकी उपमा दी जाती है। 'जैसे' 'तैसे' शब्द प्रत्यक्ष होती हुई बातोंमें ही लिये जाते हैं। (३)—मदिराको तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही वर्ण निषेध और अपावन मानकर नहीं पीते तब यहाँ 'संत' का ही पान न करना क्यों लिखा? कारण स्पष्ट है कि छाडन जलको केवल संत नहीं पीते और चारों वर्ण पीते हैं। गाजीपुरके कई ग्रामोंमें देखा जाता है कि छाड़न जल चारों वर्ण पीते हैं।

❁ अर्थ १ के पक्षमें महात्माओंके कथन ❁

करुणासिंधुजी—कोई मनुष्य थोडासा गंगाजल भर ले जाय और उसमें किसी वृक्षका फल, किसीका छिलका और मिठाई (जैसे कि महुआ, गुड़) आदि मिलाकर मदिरा बनावे तो उसे कोई भले आदमी पान नहीं करते। (भाव यह कि गंगाजल यद्यपि उसी गंगाका अंश है और पावन है, पर वह महुआ, गुड आदिके संबंधसे अपावन हो जाता है, उसे सदाचारी लोग नहीं पीते। उस अल्प जलमें, उस अपावनतारूपी दोषको पचानेकी शक्ति नहीं है।)

यदि वही फल, छिलका, मिठाई हजारो मनभी गंगाजीमें डाल दिया जाय तो (गंगाजल अपवित्र नहीं होता किन्तु) वह सब भी पावन हो जाता है। (भाव यह कि गंगाजीमें वा धाराके जलमें कितनी ही

अपावन वस्तु पड़ जानेपरभी वह गंगाजल अपावन नहीं होता किन्तु पावन ही माना जाता है, क्योंकि उसमें इन अपावन वस्तुओं वा दोषोंके पचानेकी शक्ति है)। वैसे ही जीव अल्पज्ञ है। वह अनादि कालसे कर्मों (वा माया) के वशमें पड़ा हुआ है, इससे वह काम, क्रोध, लोभ आदि अनेक विकारोंको धारण किये हुए है। (भाव यह कि जीव यद्यपि ईश्वरका अंश है तथापि मायावश हो जानेसे वह दूषित हो गया है। ईश्वरसे पृथक् हो जानेके कारण उसमें दोषोंके पचानेकी शक्ति नहीं रह गई)। अतएव उन जीवोंकी संगति संतजन नहीं करते, उनका वचन नहीं पान करते। प्रत्यक्ष देखिये कि (मल, मूत्रादि) जो कुछ गंगाजीमें पड़ता है वह सब पावन हो जाता है; वैसेही जो 'ईश' अनेक विकार धारण करे तो वह विकारभी निर्विकार हो जाते हैं और उन 'ईशों' को संतजन भजते हैं। वैसे ही शिवजीको जानो। (ख)—'सुरसरि का छूटा जल' यह अर्थ यहाँ नहीं है। एवं जो यह कहते हैं कि 'जो वही मद्य गंगाजीमें पड़े तो गंगा हो जाता है वैसे ही जीव ईशको जाननेसे ईश हो जाता है'—सो यहाँ इस अर्थका प्रयोजनही नहीं है।

पंजाबीजी—अल्पज्ञ जीव एक पापसे भी पापी होजाता है और ईश्वर जो सर्वज्ञ है उसमें अनेक अनुचित कर्मभी हों तो भी वे कर्म उसे मलिन नहीं कर सकते, किन्तु स्वयं पवित्र होजाते हैं, जैसे अनेक गोपियाँ परस्त्रियाँ श्रीकृष्णजीको कलंकित न कर सकीं किंतु उनके संगसे स्वयं कृतार्थ होगईं।

प० रामकुमारजी—गंगाजलमें बनी हुई मदिरा भी पान न करनी चाहिए।—यह मदिराका त्याग दिखाया। धारारूप ईश्वर अपवित्र नहीं हो सकता, पर अल्पजलरूप जीव पापसे अशुद्ध होजाता है।

सू० प्र० मिश्र, सुधाकर द्विवेदीजी—इस प्रकार दोहार्थको दृष्टान्तद्वारा सिद्ध करते हैं। 'समूहे शक्ति' यह सिद्धान्त है। अर्थात् बहुत बड़े पदार्थमें अनेक शक्ति रहती है। समुदायमें जो शक्ति होती है वह अल्प भागमें कदापि नहीं रह सकती, जैसे गंगाजलमें जो शक्ति थी कि—'चान्द्रायणसहस्रेण यत्फलं स्याज्जनार्दन। ततोऽधिकं फलं गङ्गामृतपानादवाप्नुयात्॥ काशीखण्ड अ० २८।', वह शक्ति मदिरामें अल्पजल होनेसे मादक-पदार्थ-संयोगद्वारा जाती रही, इसलिये उसे गंगाजल न समझकर संत लोग नहीं पीते। यदि हजारों बोतल मदिरा गंगाजीमें डाल दी जाय तो उसकी सारी मादकता उसी क्षण नष्ट होजायगी, गंगाजीका ही प्रभाव देख पड़ेगा कि वह मद्यभी उसके प्रभावसे गंगाजलतुल्य होजाता है। यही व्यवस्था जीव वा मलिन प्राणी और ईश्वरकी है। मायाके अधिकांश होनेसे अल्पज्ञ जीव थोड़े पापसे नष्ट होजाता है, अर्थात् उसपर मलिनता छाजाती है, ईश्वरांशका सारा प्रभाव जाता रहता है। ईश्वरमें कितनेही दोष क्यों न हों पर दोष द्वारा उसका कुछ भी नहीं होता। यथा कृष्णजीको रासक्रीड़ा, नन्द-गृहप्रादुर्भाव आदि।

सू० प्र० मिश्र—मेरी समझमें 'अंतर' शब्दका अर्थ 'उपाधिकृत भेद' करना चाहिये, 'वास्तविक भेद' नहीं। यदि वास्तविक भेद कहें तो ग्रन्थकारका यह कथन सर्वथा शास्त्रविरुद्ध हो जायगा, क्योंकि शास्त्रोंमें माया और ईश्वरका भेद वर्णन है न कि जीव और ईश्वरका वास्तविक भेद है। यथा—'प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ। भा० ११।२२।२६।' अर्थात् हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धव। प्रकृति और पुरुष इन दोनोंमें अत्यंत भेद है। यहाँ ऐसा विवेक करना चाहिये कि मदिराके स्थानमें 'जीव' और 'गंगा' के स्थानमें 'ईश्वर' है। जीव और ईश्वरकी पावनता और अपावनताका उल्लेख नहीं है।—[इसपर वे० भू० जी लिखते हैं कि—'परन्तु रामचरित मानसके—'ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ। जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥ ३।१४।', 'ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस। परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता। ७।७८।' तथा—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥' [ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १६४ मंत्र २०, अथर्ववेद काण्ड ९ अनुवाक् ५ सूक्त ९ मंत्र २०; निघंटु प्रकरण १४ मंत्र ३०, एवं श्वेताश्वतरोपनिषन् अ० ४ मंत्र ६ 'ज्ञा ज्ञौ द्वावजावीशानीशौ।' (श्वेताश्वतर उपनिषद् अध्याय १ मंत्र ९), 'वालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो

जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते (श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ५ मन्त्र ६), इत्यादि श्रुतियोंसे ईश्वर और जीवका भेद बहुत स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है। अतः मानसकारका कथन शास्त्रविरुद्ध कदापि नहीं है। प्रत्युत उसका तोड़मरोड़कर मानस सिद्धान्तको कुचलना शास्त्रविरुद्ध है। यहाँ भेदकाही उल्लेख है।']

श्रीजानकीशरण स्नेहलताजी—दीपककारके 'मिले मधूकन्हि भे सुरा, नीर गंग पर धार। गुड़ आदिक भे गग अस ईस अनीस विचार। ५६' इस दोहेका भाव यह है कि—जीव यद्यपि ईश्वरांश है तो भी कामादिक विकारोंसे मिलित होकर अशुद्ध होगया तब वह ईश्वरकी बराबरी करे सो कैसे हो सकता है? अभिप्राय यह है कि जो अवगुण जीवको रसातल भेजता है वही अवगुण पंच ग्रह जो सूर्यादि हैं उनमें पड़नेसे शोभा देता है। भाव यह कि जो मदका सरजाम घटस्थ गंगाजलमें पड़नेसे उसको बिगाड़नेका सामर्थ्य रखता है, वही सरजाम धारस्थ जलके बिगाड़नेको समर्थ नहीं है। इसी प्रकार जो अवगुण जीवको अधपकर देता है, वही ग्रहोंमें पड़कर ग्रहोंमें जो गुण है उसीका रूप हो जाता है। ध्वनि यह है कि घटस्थ जल यदि धारके सदृश होना चाहे तो कैसे हो सकता है? वैसे ही अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञके बराबर होनेकी ईर्ष्या करे तो नरकमें जायगा। मेरी समझमें अर्थ १ ही ठीक है। 'गंगाकी धारासे छूट जानेपरही 'गंगोक' कहलाकर वह जल मदिरा तुल्य हो जाता है'—ऐसा अर्थ २ के समर्थकोंका कथन है। इस कथनसे यह भाव निकलता है कि जीव परमात्मासे बिछुड़नेही मदिराके तुल्य अपावन हो जाता है। परन्तु ऐसी बात है नहीं। जैसे गंगासे जल ले आकर यदि विचारपूर्वक रक्खा जाय तो वह शुद्ध ही रहता है, उससे भगवान्‌की सेवा होती है, इत्यादि। हाँ! वह जल महुआ आदिके संसर्गसे अपावन हो जाता है उसी प्रकार ईश्वरसे पृथक होनेपरभी जीव विचारपूर्वक रहनेपर अर्थात् कर्म, ज्ञान, उपासना युक्त रहनेपर परमात्माके तुल्य कहलाता है। यथा—'भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम वपु एक।' परन्तु जब वह कुसंगमें पड़ जाता है तब मूढ़, विषयी, दुष्ट और पापात्मा कहलाता है, उस जीवको अपावन जान संतजन ग्रहण नहीं करते। यहाँ तात्पर्य केवल यही है कि जीव ईश्वरसे पृथक् होनेपर उसका अंश होनेपर भी ईश्वरके सदृश नहीं हो सकता।'

वि० त्रि०—जैसे गंगाको मद्यमें परिणत करनेका सामर्थ्य किसीको नहीं है, वैसेही ईश्वर दोषी हो नहीं सकता। थोड़ासा गंगाजल लेकर यदि मद्य बनाया जाय, तो वह मद्य है गंगाजल नहीं। कोई हठी भले ही कहे कि गंगाजल सदा गंगाजलही रहेगा, पर कोई संत उसे ग्रहण नहीं करेगा। इसी भाँति जीव ईश्वर अंश होनेपर भी ईश्वरसे पृथक् होनेपर अनीश्वर होजाता है। मायावश होकर दोषयुक्त होजाता है। कोई विवेकाभिमानी भलेही कहे कि वह ईश्वरसे व्यतिरिक्त और कुछ नहीं है, दोष से उसका संसर्ग हो नहीं सकता, पर कोई संत इसे माननेको तैयार नहीं हो सकता। वही मद्य यदि गंगामें छोड़ दिया जाय तो वह गंगाको दूषित नहीं कर सकेगा, गंगामें मिलकर स्वयं गंगा हो जायगा। वही जीव यदि मुक्त होजाय या ईश्वरकी शरणमें चला जाय तो ईश्वरमें लय होकर तरण तारण हो जाता है। भाव यह कि अंशमें अल्पताके कारण दोषका प्रभाव पड़ जाता है, और अंशीमें महत्ताके कारण दोषका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

कोई कहते हैं कि—(क) छाड़न परक अर्थ अद्वैतमतमें अधिक ठीक बैठता है; क्योंकि गंगाजीमें और उसमें कुछ भेद होनेपर भी केवल अलग होनेसे उसको दोषी कहा गया। वही फिर गंगाजीमें मिलनेसे शुद्ध माना जाता है। परन्तु शब्दार्थमें 'गंगाजीसे अलग किया हुआ जल' ऐसा अर्थ करना होता है। इसमें 'अलग' शब्द बाहरी तथा 'कृत' शब्दको उठाकर 'सुरसरि' के साथ लगाकर अर्थ करना होता है और 'जाना' का अर्थ 'माना' करना पड़ता है। अर्थात् छाड़नपरक अर्थके लिये मूल पाठमें प्रथम 'कृत' तब 'जल', तथा 'जाना' के बदले 'माना' ठीक होता। [कवि सुगमतासे लिख सकता था—'सुरसरि कृत जल बारुनि माना। कबहुँ न संत ···' पर उसने 'सुरसरि जल कृत बारुनि जाना' लिखा।]—'सुरसरि मिलें सो पावन' का अर्थ ठीक यही होगा कि—'वह छाड़न गंगामें मिलनेसे पवित्र होता है।' क्योंकि 'सुरसरि मिले

सो' में 'सो' का महत्त्व है। जो गंगाजीसे मिला है वह तो गंगाही है। उसमें शकाका स्थानही नहीं। छाडन परक अर्थकी अपेक्षा अर्थ १ ही अधिक उचित जान पडता है। उसमें शब्दका हेरफेर, अध्याहार (अलग) नहीं करना पड़ता।

(ख) सत=सदाचारी। ब्राह्मणादि जो दुराचारी हैं वेही पीतेहैं, शूद्रादि भी जो सदाचारी हैं वे नहीं पीते। इसीसे 'संत' कहा। तात्पर्य यह कि यहाँ ब्राह्मणादिका उल्लेख न करके 'सत' शब्द देदेनेसे छाडनपरक ही अर्थ करना चाहिये, यह बात नहीं कही जा सकती।

(ग) ब्रह्म व्यापक होनेसे जीव उससे कभी अलग तो है ही नहीं। गोस्वामीजीने भी यही कहा है, यथा 'ब्रह्म जीव सम सहज सघाती। १,२०१', 'तैं निज कर्मडाल जहँ घेरो। श्रीहरि सँग तज्यो नहिं तेरो। विनय १३६।' जैसे गगाजलसे बनी हुई मदिरा गगाजल होनेपर भी वह भिन्न दूपित नामरूप गुणवाला होनेसे अपवित्र होता है और वही फिर गगाजीमें मिलनेसे उसके दूपित नाम रूपगुण नष्ट हो जाते हैं और वह गगाजल ही कहा जाता है वैसेही ईश्वरांशरूप यह जीव मायावृत देहादि अभिमानसे भिन्न नाम रूप-गुणवाला होकर दोपी होता है। वही इनका अभिमान छोडकर ईश्वरसे मिलता है तब शुद्ध हो जाता है परन्तु देहादि रहनेतक तो वह जीव ही कहलायगा। देहादिके नष्ट होनेपर अद्वैतमतसे तो वह ब्रह्मरूप हो जाता है और विशिष्टाद्वैतमतमें तो पृथक् अनुभवमें न आनेपर भी वह स्वरूपत भिन्न रहता है, वस्तुत. क्या है सो तो परमात्मा ही जाने।

(घ) यह भी कोई नियम नहीं है कि 'जो दुनियाँमें देखा जाता है वही उपमामें दिया जाता है'; वह तो एक कविकी कल्पना है। यथा 'ब्रह्म जीव बिच माया जैसे। २। १२३।', 'विप्र विवेकी वेदविद संमत साधु सुजाति। जिमि धोखें मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति। २। १४४।', अत यह नहीं कहा जा सकता कि प्रसिद्ध उपमा न होनेसे मदिरापरक अर्थ नहीं हो सकता।

बाबा हरिदासजी—किसी किसी देशमें ब्राह्मणादि सभी जातियाँ मद्यपान करती हैं। (यह बात आज भी प्रत्यक्ष देखी जाती है। शाक्त तो सभी पीते हैं) पर सतजन उसे नहीं पान करते अत उन्हींको कहा।

लमगोडाजी—गोस्वामीजीका काव्य प्रसादकाव्य है। अर्थ १ में प्रसाद गुण है, अतः वही ठीक है।

नोट—६६ (५-७), ६९, ७० (१ २) कविकी ही व्याख्या है। शिवपुराणमें नहीं है। भागवत और शिवपुराण आधार भले ही हो पर यहाँकी व्याख्या बडी ही अनोखी है।

संभु सहज समरथ भगवाना। एहिं बिबाह सब बिधि कल्याना॥ ३॥
दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किएँ कलेसू॥ ४॥
जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥ ५॥

शब्दार्थ—*दुराराध्य=जिसका पूजन, जिसको सतुष्ट वा प्रसन्न करना, जिसकी उपासना कठिन हो।* आसुतोष=शीघ्र सतुष्ट वा प्रसन्न होनेवाले। आसु (आशु)=शीघ्र, यथा 'रहइ रहइ होइ फूटहि आसू।', 'सत्वर चपल तूर्णमविलम्बितमाशु च। अमरकोश। १। ६८।'

अर्थ—शिवजी स्वाभाविक (आपसे आप) ही समर्थ और भगवान् (षडैश्वर्यसंपन्न) हैं। इस विवाहसे सब प्रकार कल्याण ही है। ३। पर महादेवजीकी आराधना कठिन है। फिर भी क्लेश उठानेसे वे शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। ४। यदि तुम्हारी कन्या तपस्या करे तो त्रिपुरके नाश करनेवाले शिवजी भावी भी मिटा सकते हैं। ५।

टिप्पणी—१ 'संभु सहज समरथ भगवाना। ' इति। (क)—पूर्व यह कहकर कि 'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं। ' तब यहाँ 'संभु सहज समरथ' ' कहनेका भाव यह है कि शिवजी समर्थ भी हैं और षडैश्वर्यसंपन्न होनेसे 'ईश्वर' भी हैं। अतएव 'अगुन, अमान' आदि दोष उनमें दोप न होकर गुणरूप

ही हैं। ये सब गुण हैं। [(ख) 'सहज' शब्दसे जनाया कि वे किसीके बनायेसे समर्थ नहीं हैं, उनका सामर्थ्य उपार्जित नहीं है, किन्तु वे स्वभावसे स्वयं समर्थ हैं। 'भगवान्' से जनाया कि दोष तो जीवोंमें होते हैं, और ये तो 'भगवान्' हैं अर्थात् सर्वदोषरहित हैं, जीवोंको गति और अगतिके देनेवाले हैं। पुनः भाव कि वे ईश हैं उनमें पूर्व कहे हुये दोष 'मलके ऐसे तन्मय हैं, उन दोषोंके ऊपर उनका प्रभाव छा गया है; अतएव उनके साथ विवाह होनेसे सब प्रकार हित ही है।' (सुधाकर द्विवेदी)। (ग) पूर्व ५२ (५) में जो कहा था कि 'इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना॥' उसीकी जोड़में यहाँ अब कहते हैं कि 'एहिं विवाह सब बिधि कल्याना।' पूर्व अकल्याणरूपी पतिवियोग हुआ और अब पुनः संयोग होगा।]

नोट—१ देखिये, 'शंभु' का अर्थ 'कल्याणकर्त्ता' है। 'सब बिधि कल्याना' के साथ इसका प्रयोग कैसा सुसंगत है। वे शंभु हैं; अतः उनका सम्बन्ध हो जानेसे सब प्रकार कल्याण हुआ ही चाहे। इसी प्रकार आगे 'दुराराध्य' और 'आसुतोष' के सम्बन्ध से (अर्थात् आराधना की कठिनता और फिर प्रसन्नता में शीघ्रता कहते समय), 'महेस' नाम दिया है। 'महेश' हैं अर्थात् महान् ईश हैं, परम समर्थ हैं, इसीसे तो उनमें दोनों विपरीत गुण, विरोधी भाव सिद्ध हैं। और 'भाविउ मेटि सकहिं' अर्थात् भावी मेटनेके सम्बन्धसे 'त्रिपुरारी' शब्द दिया। विशेष टिप्पणी २ में देखिये।

२ 'दुराराध्य पै अहहिं महेसू।' इति। आराधना बड़ी कठिन है, रावणने शिर काट-काटकर चढ़ाये। जब वे बड़ी कठिन रीतिसे आराधनीय हैं तब ऐसा कठिन क्लेश उठानेसे क्या लाभ? प्रसन्न होनेपर वे क्या दे सकते हैं यदि कष्ट उठाया जाय? इसपर कहते हैं कि वे 'महेश' हैं, महान् ऐश्वर्यसे भरे हैं, यदि क्लेश उठाया जाय तो प्रसन्न होनेपर क्या नहीं दे सकते? सभी कुछ दे सकते हैं।

३ 'दुराराध्य' हैं तो बहुत दिनों कष्ट उठाना पड़ेगा? इस शंकाकी निवृत्तिके लिए 'आसुतोष-पुनि···' कहा। अर्थात् कष्ट उठानेसे झट प्रसन्न हो जाते हैं, देर नहीं लगती। 'आसुतोष' के उदाहरण विनय-पत्रिकामें 'बावरो रावरो नाह भवानी।···' (पूरा पद ५), 'कवनि भगति कीन्ही गुननिधि द्विज।···' (पद ■), इत्यादि हैं। (सुधाकर द्विवेदीजी)।

टिप्पणी—२ 'जौं तपु करै···भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी' इति। (क) 'त्रिपुरारी' का भाव कि जैसे त्रिपुरका मारना कठिन था वैसेही भावीका मिटानाभी कठिन है। पर जैसे इन्होंने त्रिपुरको मारा वैसेही भावी मेटनेको भी वे समर्थ हैं। त्रिपुरको कोई देवता, दैत्य आदि न मार सके थे, शिवजीहीने उसे मारा। इसी प्रकार पूर्व जो कहा था कि 'जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार।६८।' उस त्रिपुरासुररूपी भावीको शिवजी मिटा सकते हैं, अन्य देव दनुज आदि उसे नहीं मिटा सकते हैं। (ख) 'भाविउ मेटि सकहिं' का भाव यह भी है कि यदि शिवजी ही पति लिखे हैं तब तो वे मिलेंगे ही, पर यदि कोई और वर इन लक्षणोंका लिखा होगा तो उस लेखको भी ये मिटा सकते हैं। प्रमाण यथा—'जिन्ह के भाल लिखी लिपि मेरी सुखकी नहीं निसानी। तिन्ह रंकन्ह कहुँ नाक सँवारत हौं आयो नकबानी। विनय पद५।'

वि० त्रि०—प्रारब्ध और नियति भी महेश विमुखको होती है। नियति ईश्वरकी शक्ति है, उसका रूप सत्संकल्प है। ईश्वर सत्यसंकल्प है, पर नियतिका स्वभाव है कि ईश्वरपरायणके सम्मुख कुण्ठिता हो जाती है। वह महेश अपनी नियतिको भी हटाकर भक्तसे साधनका संपादन कराके उसे फलसे युक्त करता है। यही उसका बड़ा भारी स्वातन्त्र्य है।

नोट—४ ☞ पार्वतीजी तो भगवती भवानी शिव-शक्ति ही हैं, इनको तपमें प्रवृत्त करानेका क्या कारण है? इस शंकाके समाधानमें यह कहा जा सकता है कि—जब योगभ्रष्ट आदि उच्च कोटिके जीव किसी कारणसे पृथिवीपर देह धारण करते हैं तब उस देहके पार्थिव अंशके साथ कुछ मायाके दोष भी आ ही जाते हैं जिनको तपश्चर्याके द्वारा नाशकर वे प्राणी दिव्य हो जाते हैं। उसी तरह सतीजीने एक तो

अपने पतिके इष्टका अपमान किया था, दूसरे पतिकाभी अपमान किया था और स्वयं भगवती होकरभी दो बार पतिसे झूठ बोलीं। ये दोष तो पूर्वसे थे ही और अब पार्थिव शरीर ग्रहण करनेसे उसके भी कुछ दोष होना स्वाभाविक ही हैं। इन दोषोंके नाश होनेपर ही वे पुनः शिवजीकी शक्ति होनेके योग्य हो सकेंगी। अतः तपके लिये कहा गया। नारदजीने पार्वतीजीसे कहा है कि तपसे पवित्र होनेपर तुम्हें शिवजी स्वीकार करेंगे; यथा 'तपसा संस्कृता रुद्रस्स द्वितीया करिष्यति।' (शिवपुराण २।३।२१।२८)।

५ जोड़के श्लोक ये हैं—'शिवस्सर्वेश्वरस्सेव्योऽविकारी प्रभुरव्ययः। शि० पु० २।३।८।२१। शीघ्रप्रसादः स शिवस्त्वां ग्रहीष्यत्यसंशयम्। तपः साध्यो विशेषेण यदि कुर्यान्छिवा तपः।२२। सर्वथा समर्थो हि स शिवस्त्वकलेश्वरः। कुलिपेरपि विध्वंसी ब्रह्माधीनस्त्वकप्रदः।२३।' इनमें 'सहज समर्थ भगवान', 'आसुतोष पुनि', 'जौ तपु करै कुमारि तुम्हारी' की जोड़में क्रमशः 'सर्वेश्वर, सेव्य, अविकारी, प्रभु, अव्यय', 'शीघ्र प्रसादः', 'तपः साध्यो' 'तपः' ये शब्द हैं और 'भाविउ मेटि सकहिं' 'त्रिपुरारी' का भाव 'कुलिपेरपि'' प्रदः', 'सर्वथा समर्था हि' में है। वे सबका नाश कर सकते हैं, ब्रह्मा उनके अधीन हैं (अतः भावी मिटा देंगे)।

बैजनाथजी—'पहले वरकी कुरूपताको विधिके अंकोंद्वारा दृढ करके शिवजीकी प्राप्तिसे भूषित किया। (फिर) शिवप्राप्तिको दुर्घट कहकर तपस्यासे कार्यकी सिद्धि कही। इसलिये यहाँ दृढता अतिशयोक्ति अलंकार हुआ। यथा—'सामासत्व विचारि के फिर विशेष दृढ भाव। दृढता अतिशय उक्ति सो वर्णत रसिक सुदाव॥ या प्रकार विधि जो बने तब तो ऐसो होय। होय होय कि हाय नहिं त्रिविध बाद इमि सोय॥' [वीरकविजी लिखते हैं कि 'पहले यह कहना कि शिवजी दुराराध्य हैं, फिर इसके विपरीत कथन कि कष्ट उठानेसे आशुतोष हैं, 'उक्ताक्षेप अलंकार' है।']

जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं॥ ६॥
बरदायक प्रनतारतिभंजन। कृपासिंधु सेवक-मन-रंजन॥ ७॥
इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें॥ ८॥

शब्दार्थ—बरदायक=वरदाता।=वर देनेमें एक ही (अद्वितीय)। रंजन-चित्तको प्रसन्न या आनन्दित करनेवाले। इच्छित=इच्छाकी हुई, चाही हुई, अभीष्ट, मनोवाञ्छित। अवराधन=आराधना, उपासना, सेवा, पूजा। अवराधना-आराधना करना।—इस क्रियाका प्रयोग केवल पद्यमें होता है। लहना=प्राप्त करना, पाना। साधना=सिद्ध करना, पूरा करना।

अर्थ—यद्यपि संसारमें वर बहुतेरे हैं (पर) इसके लिये शिवको छोड़ दूसरा वर नहीं है। ६। (शिवजी) वरदाता, शरणागतके दुःख के नाशक, दयासागर और सेवकके मनको प्रसन्न करनेवाले हैं। ७। शिवजीका आराधन किये बिना करोड़ों योग और जप साधने (निर्विघ्न पूर्ण समाप्त करने) पर भी (इसके लिये) मनोवाञ्छित फल नहीं प्राप्त किया जा सकता। ८।

नोट—१ 'जद्यपि बर अनेक जग माहीं।' इति। (क) अर्थात् इन लक्षणोंसे युक्त वर संसारमें अनेक हैं, पर इसके लिए शिवजीही वर हैं। 'दूसर नाहीं' का आन्तरिक भाव यह है कि यह दूसरेको वरेगी ही नहीं, जैसा कि आगे दोहा ८० में पार्वतीजीने स्वयं कहा है, जब सप्तर्षि पार्वतीजीके प्रेमकी परीक्षा लेने गए हैं। सप्तर्षियोंने बहुत लोभ दिखाया है, यथा 'हम तुम्ह कहुँ बरु नीक बिचारा॥ अतिसुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं बेद जासु जस लीला॥ दूषनरहित सकल-गुन-रासी। श्रीपति पुर बैकुंठ निवासी॥ अस बरु तुम्हहिं मिलाउब आनी।' और शिवजीकी अयोग्यता आदि कही है; यथा 'निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर व्याली॥ कहहु कवन सुख अस बरु पाएँ।' (७९)। पर सप्तर्षियोंसे शिवजीकी अयोग्यता और अतिशय सुंदर वरके प्राप्तिका प्रलोभन दिये जानेपर भी वे अपनी निष्ठामें अचल बनी रहीं

जैसा उनके उत्तरसे स्पष्ट है; यथा 'हठ न छूट छूटै बरु देहा।'''महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम। जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥ ८०। अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥ जौं तुम्हरे हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किए बरेषी॥ तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं॥ जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥''' इत्यादि। (नारदजी जानते हैं कि ये सती हैं, शिवजीकी शक्ति हैं। ऐश्वर्य गुप्त रखनेके लिए ही उन्होंने इस तरह घुमा-फिराकर कहा है। सुधाकर द्विवेजीका मत है कि 'सती मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिवपद अनुरागा।' इस बातको अपनी सिद्धिके बल स्मरणकर नारदने कहा कि इसे शिव छोड़ दूसरा नहीं है। (ग) वंदनपाठकजी लिखते हैं कि—'एकाक्षरकोश और 'नामैकदेशेन नाम ग्रहणम्' इस सिद्धान्तसे 'अनेक' [= अ (=विष्णु) + ने (=देवताओंका नेता=इन्द्र) +क (=ब्रह्मा)] बर (=श्रेष्ठ) हैं। अर्थात् विष्णु, इन्द्र और ब्रह्मा श्रेष्ठ हैं। पर इसे 'शिव तजि' (=शिव तजी) अर्थात् पूर्व जन्ममें इसे महादेवजीने त्याग दिया है—'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं। शिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं॥' इसलिए यह 'नाहीं' (=नाहकी=अपने पतिकी) 'दूसर' (= दूसरी) है अर्थात् दूसरी देहधारिणी है।'—(परन्तु यह पंडितोंका वाग-विलास है, क्लिष्ट कल्पना है। भाव यह है कि इसमें ऐसे ऐसे चमत्कृत गुण हैं कि दूसरा वर इसे मिल नहीं सकता (वि० त्रि०)

२ 'बरदायक प्रनतारति भंजन।''''' इति। बरदायक आदि गुण कहकर शिवजीकी प्रशंसा करते हैं। जिसमें दंपति पार्वतीजीको तपस्या करनेके लिये भेजें और पार्वतीजीका भी तपस्यामें उत्साह बढ़े। 'बरदायक' हैं जैसे कि रावण आदिको वर दिये हैं। प्रणतारतिभंजन हैं, यथा 'गये जे सरन आरति के लीन्हें। निरखि निहाल निमिष महँ कीन्हें। विनय ६।' 'कृपासिंधु' हैं अर्थात् कृपा उनके हृदयमें अगाध समुद्रवत् भरी हुई है; यथा 'करुनावरुनालय साइँ हियो है।' (क०)। इससे जनाया कि अवढरदानी हैं, वे शीघ्र कृपा करेंगे। 'सेवक मन रंजन' हैं, अतः पार्वतीजीके मनकी अभिलाषा पूर्ण करके उनको आनन्दित करेंगे।

३ 'इच्छित फल बिनु सिव अवराधें।''''' इति। यथा 'इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥ ३११॥' भाव यह है कि शिवजी वर देते समय आगा पीछा कुछ नहीं विचार करते, जो ही सेवक माँगता है वही दे देते हैं, चाहे उलटे अपनेही जी-जानपर क्यों न आ बने। देखिये मिथ्या वासुदेवके पुत्रको कृत्यानल देकर द्वारका भेज दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि सुदर्शन चक्रने काशीपुरीको जला डाला। भस्मासुरको वर दे दिया कि जिसके सिरपर वह हाथ रख दे वह भस्म हो जाय. सो वह वर पाकर आपही पर हाथ साफ करने गया। इत्यादि। इस कथनमें आशय यह है कि बिना किंचित भी सोचे-विचारे मनोवाछित फल देनेवाले शिवजी ही हैं और देवता विना विचारे वर नहीं देते, अतएव यदि मन-माँगा वर चाहते हो तो शिवजीकी आराधनासे ही मिल सकता है।—यहाँ 'प्रथम विनोक्ति अलंकार' है। ☞ यहाँ 'एहि कहँ शिव तजि दूसर नाहीं' का ही प्रसंग चल रहा है। इसलिये 'इच्छित फल' से पार्वतीजीके लिये शिवजीकी प्राप्तिरूपी इच्छित फल अभिप्रेत है। कारण कि इच्छित वरदानकी प्राप्ति ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा भी होती है पर शिवजीही प्राप्त हों, इसके लिये तो उनकी ही आराधना करनी पड़ेगी।

वि० त्रि०—सेवक मनोरंजन तो शिव ही हैं। इस कन्याको रेखा पड़ी है 'होइहि पूज्य सकल जगमाहीं', 'एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं' और बिना शिवकी आराधनाके वाञ्छितकी प्राप्ति नहीं होती। अतः यह फल तभी घटित होगा जब तुम्हारी कन्या तप करे और शिवजीसे इसका-विवाह हो।

दोहा—अस कहि नारद सुमिरि हरि गिरिजहि दीन्हि असीस।
होइहि यह * कल्यान अब † संसय तजहु गिरीस॥ ७०॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीरामजीका स्मरण करके नारदजीने पार्वतीजीको आशीर्वाद दिया। (और कहा) हे गिरिराज! अब संदेह छोड़ दो, यह कल्याण (मंगल अर्थात् विवाह) निश्चय ही होगा।'

टिप्पणी—१ जो प्रथम शैलराजने सुताको प्रणाम कराया था, उसका आशीर्वाद यहाँ लिखते हैं। 'सुमिरि हरि' का भाव कि कल्याण होनेका आशीर्वाद देते हैं और कल्याणके कर्त्ता 'हरि' हैं; यथा—'सुमिरहु श्री भगवान। पारबतिहि निरमयउ जेहि सोइ करिहि कल्यान। ७१।'; अतः हरिको सुमिरकर आशीर्वाद दिया। पुनः भाव कि 'हे भगवान्! आप यह कार्य सिद्ध करें, शिवप्राप्ति कठिन है उसे करा दें।' इस प्रकार मनमें भगवान्का स्मरण करके तब आशीर्वाद दिया।—[पुनः, दुःखहरणके संबंधसे 'हरि' शब्द दिया; क्योंकि चाहते हैं कि वे दुःख हरनेवाले भगवान् इसके क्लेशको हरें तथा दंपतिके शोचको हरें। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि "यहां 'हरि' से श्रीरामजीही अभिप्रेत हैं। जिन श्रीरामजीसे सतीजीने मरते समय वर माँगा था उन्हींका ध्यान करके नारदजीने पार्वतीजीको आशीर्वाद दिया—'हे श्रीराम! आप इसे वर दे ही चुके हैं, अब इसकी इच्छा शीघ्र पूरी कीजिये।' हरिका ध्यान करते ही भविष्यज्ञान होनेसे कहा कि 'होइहि यह कल्यान'''।" हरि=श्रीरामजी। यथा 'रामाख्यमीशं हरिं' (मं० श्लोक ६)।]

२ 'होइहि यह कल्यान'''' इति। (क) भगवानका स्मरण करके आशीर्वाद दिया और कहा कि यह कल्याण होगा। ☞इससे सूचित करते हैं कि भगवान्का स्मरण करके आशीर्वाद देनेसे ही उसकी सफलता होती है। ऋषि, मुनि, देवता, गुरुजन आदि जो आशीर्वाद देते हैं, उनकी पूर्ति प्रभुकी कृपाहीसे होती है, अन्यथा नहीं। यथा 'तात बात फुरि राम कृपाहीं। राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं। २।२५६।' (ख) 'क्या कल्याण होगा?' यह ऊपर प्रथम ही कह चुके हैं; यथा—'समु सहज समरथ भगवाना। एहि बिबाह सब बिधि कल्याना।', इसीसे यहाँ 'यह कल्यान' कहा अर्थात् जो अभी-अभी ऊपर कह चुके हैं वही। (पुनः, पूर्व पतिपरित्याग यह अकल्याण हुआ था, अब पति संयोग यह कल्याण होगा)। शिवजीसे विवाह होगा, यह आशीर्वाद दिया। पूर्व 'एहिं बिबाह सब बिधि कल्याना' और 'पहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं' में गुप्तरूपसे शिवप्राप्तिका आशीर्वाद दिया था और अब यहाँ प्रगट रूपसे आशीर्वाद दिया। 'कल्याण' का अर्थ मंगल है। विवाह भी कल्याण या मंगल कार्य है; यथा 'कल्यानकाज बिबाह मंगल सर्बदा सुख पाइहैं।' इस तरह यहाँ 'कल्याण' से विवाह-मंगल अभिप्रेत है। ['अब' से भाव यह है कि कल्याणके लिये प्रयत्न आरंभ हो जायगा और सिद्धि भी होगी क्योंकि प्रारब्ध अनुकूल है, शिवपदानुरागका पूर्वजन्मार्जित वर है। (वि० त्रि०)]

३ 'अब संसय तजहु गिरीस' इति। 'अब' का भाव कि पूर्व कल्याणकी हानि हुई थी; यथा 'इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना।' (५०); वह कल्यान अब पुनः होगा। अतः 'अब' कहा।

नोट—१ आशीर्वाद चलते समय देनेका कारण यहभी है कि गिरिराज वरके दोष सुनकर अधीर हो गये थे। इसीसे अंतमें यहभी कहा कि 'संसय तजहु गिरीस।' अर्थात् इसका विवाह शंकरजीसे होगा, दूसरेसे नहीं, इसमें संदेह नहीं है। यथा कुमारसंभवे—'समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्द्धहरां हरस्य। १।५०।' अर्थात् नारदजीने कहा कि यह सपत्नियोंसे रहित शिवजीकी अर्धाङ्गिनी होगी। अब चिंता न करो। 'तजहु' से पाया जाता है कि उन्हें शोच और संशय था; यथा 'भूठि न होइ देवरिषि बानी। सोचहिं

* अब † सब—१७२१, १७६२, छ०। १ यह २ अब—१६६१, १७०४, को० रा०

दंपति सखी सयानी ॥ उर धरि धीर कहै गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिअ उपाऊ।' (६८)। इसीसे 'संसय तजहु' कहा।

उमाचरित (श्रीपार्वती-तप) प्रकरण

कहि * अस ब्रह्मभवन मुनि गएऊ। आगिल चरित सुनहु जस भएऊ ॥ १ ॥
पतिहि एकांत पाइ कह मैना। नाथ न मैं समुझे † मुनि बैना ॥ २ ॥
जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा। करिअ बिवाह सुता अनुरूपा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अनूपा (सं० अनुपम)=सुन्दर, उत्तम। अनुरूपा=तुल्यरूपका; योग्य, उपयुक्त।

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी कहते हैं) ऐसा कहकर मुनि (श्रीनारदजी) ब्रह्मलोकको गए। आगे जैसा कुछ चरित्र हुआ उसे सुनो। १। पतिको एकान्तमें (अकेले) पाकर मैनाजीने कहा—हे नाथ! मैं मुनिके वचन (अर्थात् उनके वचनोंका आशय) नहीं समझी। २। यदि घर, वर और कुल (तीनों) उत्तम और कन्याके योग्य हों तो विवाह कीजिये। ३।

नोट—१ 'कहि अस ब्रह्मभवन मुनि गएऊ।''' इति। (क) 'नारद समाचार सब पाए। कौतुक ही गिरि गेह सिधाए। ६६। ५।' उपक्रम है और 'ब्रह्म भवन मुनि गयऊ' उपसंहार। वे ब्रह्म भवनसे आये थे; यथा 'ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू॥ नारद समाचार सब पाए। ६६। ४-५।' 'ब्रह्म भवन=ब्रह्मलोक= सत्यलोक; यथा 'सत्यलोक नारद चले करत रामगुनगान। १। १३८।' नारदजी प्रायः ब्रह्मलोकमेंही रहा करते हैं। अथवा, जब कहीं बाहर जाते हैं तो प्रायः प्रथम अपने पिता ब्रह्माजीके पास ब्रह्मलोकमें चरित सुनानेके लिये आते हैं; यथा 'प्रेम सहित मुनि नारद बरनि रामगुनग्राम। सोभासिंधु हृदय धरि गए जहाँ बिधिधाम। ७।५१।', 'बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत रामके गावहिं॥ नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्म लोक सब कथा कहाहीं॥ ७।४२।' इत्यादि। वैसेही इस समयभी चरित सुनाने गए। (ख) 'आगिल चरित सुनहु जस भएऊ' से 'पार्वती-तप प्रसंग' चला। (ग) 'चरित' शब्द यहाँ देकर जनाया कि पूर्व जो जन्म आदि कहे गये वहभी पार्वतीजीका एक 'चरित' है। यहाँतक 'जन्म' 'नामकरण' तथा 'इच्छित-वरप्राप्तिका आशीर्वाद' कहा गया। [नारद कौतुकके लिये आए, कौतुक करके चले गए। कौतुकसे क्या क्या हुआ यह याज्ञवल्क्यजी आगे कहते हैं। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—१ (क) 'पतिहि एकांत पाइ कह मैना' इति। [एकान्तमें पूछा; क्योंकि वरके विषयमें कन्या आदिके सामने माता पिताका बात करना उचित नहीं। पुनः, एकान्तमें पूछनेका कारण यह कि सबके सामने यह कैसे कहें कि हमारी समझमें बात नहीं आई। अथवा, संभव है कि सबके सामने हिमाचल मुनिकी सब बातें न कहें, अतः एकान्तमें पूछा। अथवा, कुछ समझीं, कुछ न समझीं इससे, वा, पतिका आशय जाननेकेलिये एकान्तमें पूछा। (सू० प्र० मिश्र)। ☞ घरकी बातें एकान्तमेंही कहनी चाहिए।] (ख) 'नाथ न मैं समुझे मुनि बैना' इति। न समझनेका कारण यह है कि नारदजीके वचन स्पष्ट नहीं हैं, यथा 'नारद बचन सगर्भ सहेतू। ७२।३।' इसीसे ग्रंथकारनेभी 'वचन' शब्द न रखकर 'बैन' (बयन) रक्खा। पुनः, मैनाके वचनसे पाया जाता है कि वे इतनाभर समझीं कि वर अच्छा न मिलेगा जैसा कि नारदजीने प्रथम कहा था,—'अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख। ६७।' तत्पश्चात् जो नारदजीने कहा वह न समझीं। कारण न समझनेका एक तो यह था कि नारदजी गूढ़ वचन बोले थे क्योंकि वे पार्वतीजीका ऐश्वर्य अभी खोलना नहीं चाहते थे, स्पष्ट कहना नहीं चाहते थे कि यह शिवजीकी अर्धाङ्गिनी हैं, वे ही इनके पति होंगे; दूसरे, वरके दोष सुनकर मैनाजी बहुत विह्वल और अधीर होगई थीं। [इस चरणमें

* अस कहि—भा० दा०। † बूमे—१७२१, १७६२, छ०। समुझे—१६६१, १७०४, को० रा०।

श्रीमैनाजीका भोलाभालापन दिखाया है कि कैसी सीधी सादी हैं]।

नोट—२ 'जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा।' ' इति। (क) कन्यादानमें प्रथम कुलका विचार किया जाता है, इसमें पिताकी इच्छा प्रधान होती है। फिर घरका विचार कि भोजन, वस्त्र और रहनेका सुख हो, इसमें माताकी इच्छा प्रधान है। जब ये दोनों माता-पिताकी इच्छाके अनुकूल हों तब वरके विषयमें विचार होता है। यह कन्याकी इच्छाके अनुकूल होना चाहिये। यहाँ इस क्रमके प्रतिकूल कहा है। अर्थात् पहले 'घर' कहा तब 'वर' और तब 'कुल'। कारण कि ये मैनाजीके वचन हैं। मैनाजी माता हैं अतएव वे अपनी इच्छाको प्रधानता दिया ही चाहें; इसीसे इन्होंने प्रथम अपनी रुचि 'घर' कहा, तब कन्याकी रुचि, और तब पिताकी रुचि कही। (पाँडेजी, वै०)। (ख) सु० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि यहाँ स्त्रीस्वभाव दिखलाया है। मैनाजी कहती हैं कि नारदजीने यदि किसी अयोग्य वरके साथ व्याह करनेको कहा हो तो ठीक नहीं, खूब देखभालकर व्याह करना चाहिए। ऐसा न हो कि आप नारदजीके कहनेपर व्याह कर डालें। पहले तो 'घर' उत्तम होना चाहिये; यथा 'माता वित्तम्।' 'वरु' से कन्याकी इच्छाको दिखलाया कि वर देखनेमें सुंदर हो, यथा 'कन्या वरयते रूपम्।' 'कुल' से बान्धवोंकी रुचि सूचित की कि ऐसा न हो कि विवाह करनेपर बान्धव हँसें, यथा 'बान्धवाः कुलमिच्छन्ति'। [☞ पूरा श्लोक इस प्रकार है—'कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥' (सुभाषित)। अर्थात् कन्या रूपवान् पति, माता ऐश्वर्य पिता विद्या, बंधुवर्ग उत्तम कुल और अन्य लोग (बाराती) सुंदर भोजन सत्कार चाहते हैं।] (ग) सुधाकरद्विवेदीजी कहते हैं कि मैनाको मोटी-मोटी बातें समझ पड़ीं कि मेरी कन्याके विवाहके विषयमें कुछ नारदने कहा है और किसी वरका भी नाम लिया है, इसलिये कहती हैं कि 'जौं घरु ''' अर्थात् घर, वर, कुल उत्तम और बेटीके अनुकूल हो, क्योंकि शास्त्राज्ञा है—'समाने सदृशे वरे'। अर्थात् योग्य वरको कन्या देनी चाहिये। (घ) घर, वर और कुलके साथ 'अनूपा' और विवाहके साथ 'सुता अनुरूपा' वा 'सुता' के 'अनुरूपा' कहनेका भाव कि घर वर कुल उत्तम हों, हमारे सदृश या हमसे विशेष हो और विवाह सुताके अनुरूप हो अर्थात् वर सुताके सदृश सुंदर, सुशील आदि हो। (पं०)। किसीने इसपर यह दोहा लिखा है—'रूपहिं दंपति मातु धन पिता नाम विख्यात। उत्तम कुल बाधव चहैं भोजन लोग बरात॥' ☞ 'जौं घरुबरुकुल ' से स्पष्ट है कि मैनाजी मुनिके वचनों का सीधा अर्थ ही समझीं।

३ पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें भगवानने ब्राह्मणसे बताया है कि कन्याका विवाह किसके साथ न करना चाहिये।—'जो बहुत खाता हो, अधिक दूर रहता हो, अत्यधिक धनवान् हो, जिसमें अधिक दुष्टता हो, जिसका कुल उत्तम न हो, जो मूर्ख हो, जो अत्यन्त वृद्ध, अत्यन्त दीन, रोगी, अति निकट रहनेवाला, अत्यन्त क्रोधी वा असन्तुष्ट हो'—इन बारह व्यक्तियोंको कन्या न देनी चाहिये। जो लोभवश अयोग्य पुरुष को कन्यादान करता है वह रौरव नरकमें पड़ता है; यथा 'यः पुनः शुल्कमश्नाति स याति नरकं नरः। विक्रीत्वा चात्मना मूढो नरकान्न निवर्तते॥ लोभादसदृशे पुंसि कन्यां यस्तुप्रयच्छति। रौरवं नरकं प्राप्य चाण्डालत्व च गच्छति॥ (४६। ६०-६१)। ☞ गोस्वामीजीके 'जौं घरु बरु कुल''' इससे तथा पद्म पु० के उपर्युक्त उद्धरणसे कन्याओंके माता-पिताओंको उपदेश ग्रहण करना चाहिए। पद्म पु० के उद्धरणको 'सुताके अनुरूप कौन नहीं है' इसकी व्याख्या वा परिगणन समझना चाहिए।

☞ तुलनात्मक श्लोक—'मेना प्राप्यकदाशैलनिकटं प्रणनाम सा। ३।'''मुनिवाक्यं न बुद्धं मे सम्यक् नारीस्वभावतः। विवाहं कुरु कन्यायास्सुन्दरेण वरेण ह॥ शि० पु० २। ३। ६।'

न त कन्या बरु रहउ* कुआरी। कंत उमा मम प्रान पिआरी॥ ४॥

* रहइ—छ०। 'रहउ'=रहे; यथा—'कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ' (१। २५२), 'रहउ चढाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छुडाई।' (१। २५२), इत्यादि।

जौं न मिलिहि बरु गिरिजहि जोगू। गिरि जड़ सहज कहिहि सबु लोगू॥ ५॥
सोइ बिचारि पति करेहु बिवाहू। जेहिं न बहोरि होइ उर दाहू॥ ६॥

शब्दार्थ—कंत (सं० कान्त)=पति, स्वामी। प्रान पिआरी=प्राणोंके समान या प्राणोंसे भी अधिक प्यारी।

अर्थ—नहीं तो बेटी भलेही कुँआरी रह जाय (इसमें हर्ज नहीं, पर अयोग्य घरके साथ ब्याह करना उचित नहीं)। हे स्वामिन्! उमा मुझे प्राणप्यारी है। ४। यदि पार्वतीके योग्य घर न मिला तो सब लोग कहेंगे कि (आखिर) गिरि स्वाभाविक जड़ (ही तो) हैं। (इसीसे ऐसा अयोग्य घर ढूँढ़ा) । ५। हे पति! इस बातको विचारकर ही ब्याह कीजियेगा, जिसमें फिर पीछे हृदयमें संताप न हो। ६।

नोट—१ 'न त कन्या बरु रहउ कुँआरी।' इति। (क) स्त्रियोंका कन्यापर जैसा वात्सल्य और स्नेह रहता है वैसा ही ठीक ठीक यहाँ दरसाया गया है। यह स्वभावोक्ति है। (ख) 'रहउ कुआरी' का भाव कि 'कुरूप, दरिद्री और हीनकुलवालेको कन्या न देना, क्योंकि ऐसेको कन्या देनेसे सभी (कन्या, माता, पिता, बंधुवर्ग) को दुःख होगा। (ग) 'बरु रहउ कुआरी' का भाव कि अयोग्यके साथ तो ब्याह कदापि न करूँगी, ब्याह न हो तो न सही। कन्या मुझे भार नहीं हैं। इस तरह अयोग्य घरके साथ विवाह होनेसे अधिक क्लेश जनाया और बिना ब्याही रहनेमें उतना क्लेश नहीं होता, यह जनाया। पुनः भाव कि कुआँरी रही तो इसमें अपना वशही क्या है? यथा 'कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ।' (१। २५२ श्री- जनकवचन)। मनुजीभी कहते हैं—'काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैना प्रयच्छेत गुणहीनाय कर्हिचित्॥ ६। ८६।' अर्थात् माता पिता कन्याको ऋतुमती होनेपरभी आमरण घरमें ही रक्खें, परन्तु गुणहीन वरके साथ कभी ब्याह न करे।

टिप्पणी—१ 'कंत उमा मम प्रान पिआरी।' इति। (क) ['कंत' 'एकांत' के संबंधसे कितना सुंदर है? बड़ा ही प्रिय शब्द है जिसमें पतिके प्रति प्रेमका भाव भरा हुआ है। मिलान कीजिए 'कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित चित धरहू। ५। ३६।', 'कंत राम बिरोध परिहरहू। ६। १४।', 'कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। ६। ३५।' मन्दोदरीने चिन्तित होनेपर और पति उसकी बात मान ले इस विचारसे अपना अत्यन्त प्रेम दरसानेके लिये 'कंत' सम्बोधन किया है। वैसेही यहाँ मेनाजी चिंतित हैं और चाहती हैं कि पति मेरी सलाह मान लें। (ख) 'उमा मम प्रानपिआरी' कहनेका भाव कि उसका क्लेश मुझसे न सहा जायगा, उसको दुखी देखकर मेरे प्राण न रहेंगे। यथा 'तुम्ह सहित गिरि तें गिरउँ पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं। घर जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिवाहु न हौं करौं। ९६।'—[वंदनपाठकजी लिखते हैं कि 'संस्कृत एकाक्षरकोशमें 'म' ब्रह्माको कहते हैं इस तरह 'मम'=मस्य मः इति ममः।=म (ब्रह्मा- का)+म (ब्रह्मा)=ब्रह्माको बनानेवाला महादेव। मम प्रानपिआरी-महादेवकी प्राणप्रिया है।—यह अर्थ वाक्छलसे मेनाकी जीभ पर बैठकर सरस्वतीने कह दिया। इसीको और पक्का करनेकेलिये उमा—'उः महादेवस्य मा लक्ष्मीः इति उमा—नामभी कहा। (मा० प०)। परन्तु यह क्लिष्ट कल्पना और पंडितोंका वाग्विलास है जो महाकविजीके प्रसादकाव्यकी महिमाही दिखा रहे हैं।]

नोट—२ 'जौं न मिलिहि बरु…' इति। प्रथम 'उमा मम प्रान पिआरी' कहकर अपनेको क्लेश होगा यह जनाया और अब इस वाक्यसे सुझाती हैं कि अयोग्य वर मिलनेसे मेरे तो प्राण जायँगे ही और आपकी भी हँसी होगी, आपको सभी जड़ कहेंगे और कन्याको भी क्लेश होगा। इस तरह हम तीनोंका मरण होगा क्योंकि संभावितके लिये अपकीर्ति मरणसे भी अधिक दुःख देनेवाली है। यथा 'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू। २। ९५।' 'गिरि जड़ सहज…' अर्थात् पर्वत स्वभावसे जड़ होता ही है, इसीसे इन्होंने जड़ता (मूर्खता) की तो आश्चर्य ही क्या? ये तो पर्वतराज हैं,

इन्होंने जड़ता की सो रचितही है। इसीसे गिरिजाके योग्य वर न ढूँढा। पुनः भाव कि एक तो हम जड हैं ही पर तब अन्य सब लोग भी हमें जड कहेंगे। अथवा, पर्वत जड़ होता ही है, उसके सबधसे हमें भी लोग जड कहेंगे। क्योंकि हम लोग इनके अधिष्ठाता देवता या राजा हैं।

टिप्पणी—२ 'सोइ बिचारि पति करेहु बिवाहू।' इति। (क) 'पति' का भाव कि 'पाति रक्षति इति पतिः।' अर्थात् आप हमारे रक्षक हैं, अत. इस सतापसे हमारी रक्षा कीजिये, मेरी रक्षा करना आपका धर्म है। [(ख) 'सोइ बिचारि' से सूचित होता है कि नारदजीकी बातोंसे इतना और समझ पडा था कि नारदजीने किसी अयोग्य वरकी चर्चा की है। (सुधाकर द्विवेदी)। पुन. भाव कि लोग हमें मूर्ख कहें, जड़ कहें, इसकी मुझे अधिक परवा (चिंता) नहीं, पर ऐसा न हो कि अयोग्य वरके साथ ब्याह कर देनेसे गिरिजाका दुःख देखकर हम लोगोंके हृदयमें सताप हो, अतएव खूब सोच विचारकर ब्याह कीजियेगा। यही समझकर कहती हैं कि 'जेहि न बहोरि होइ उर दाहू'] (ग) 'जेहि न…' अर्थात् आग दाह होनेसे यही अच्छा है कि कन्या कुआँरीही रह जाय।

अस कहि परी चरन*धरि सीसा। बोले सहित सनेह गिरीसा ॥७॥
बरु पावक प्रगटै ससि माहीं। नारद बचनु अन्यथा नाहीं ॥८॥

शब्दार्थ—अन्यथा=औरका और, असत्य, झूठ।

अर्थ—ऐसा कहकर (पतिके) चरणोंपर सिर रखकर गिर पड़ी। (तब) हिमवान् प्रेमसहित बोले। ७। चन्द्रमामें अग्नि भलेही प्रकट होजाय, पर श्रीनारदजीके वचन असत्य नहीं हो सकते। ८।

नोट—१ 'अस कहि'—अर्थात् जैसा ऊपर लिख आए—'जौं घरु बरु' से 'जेहि न बहोरि होइ उर दाहू।' तक। २—'परी चरन' इति। चरणोंमें शिर धरकर पडजानेका भाव कि—मेनाजी इसतरह मनाती हैं कि 'हे स्वामी! आप भी प्रतिज्ञा करें कि अयोग्य वरसे ब्याह न करेंगे। इस तरह पतिकी कार्य पद्धतिको बदलना चाहती हैं कि वे 'जोगी जटिल अकाम मन' वालोंमें कौन अच्छा है इस खोजमें न लगें, अच्छे घर वर कुलकी खोज करें। यह दशा करुणरसकी परिपूर्णता और प्रार्थनाकी हद सूचित करती है। इस करुणरसपरिपूर्ण प्रार्थनासे हिमवान्को दया आगई और वे स्नेहसहित बोले। (प०, पा०, वै, मा० प०)। ३—'सहित सनेह' का रूप आगे दिखाया गया है, यथा 'प्रिया सोच परिहरहु'। इससे यह भी जनाया कि हँसकर, हाथ पकड़कर मैनाजीको उठाकर आदरसहित अत्यत निकट बैठाकर, गलेमें हाथ डालकर इत्यादि रीतिसे प्रेम दरसाकर 'प्रिया' सबोधन करते हुये बोले। मैना घबडा गई हैं, उनको ढारस देना है, सतुष्ट करना है, अत प्रेमसहित समझाना आवश्यक था; इसीसे 'बोले सहित सनेह' कहा। ४—'गिरीसा' इति। नारदजीने जो कहा था कि 'एहि ते जसु पैहहिं पितु माता', वह फल उनको प्रत्यक्ष मिल रहा है, क्योंकि 'जब तें उमा सैलगृह जाई। सकल सिद्धि सपति तह छाई॥ ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू।'—इससे हिमवान्को नारदवचनमें पूर्ण विश्वास होगया था, वह विश्वास कैसे हट सकता है? श्रद्धासे जिस बातको पकडली, उसे नहीं छोडेंगे, इस भावको दरसानेकेलिये यहाँ प्रारभमेही 'गिरीस' नाम कविने दिया है।

नोट—५ 'बरु पावक प्रगटै ससि माहीं।' इति। (क) ☞ इस वाक्यसे नारदजीके वचनकी दृढता सूचित करते हैं कि इनका वचन तीनो कालोंमें अन्यथा होनेवाला नहीं, अत तुम स्त्रीस्वभाव छोडकर भगवानका स्मरण करो, जैसा आगे कहते हैं। सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'शशि (चन्द्रमा) जलमय है। पुराणोंमें लिखा है कि चन्द्रमा अत्रिके अश्रुजलसे बना है; यथा 'हरिहरविरञ्चिवरलाभश्रवण सहर्ष पुनःकामाऽत्रिनेत्रविगलितजलविन्दुरिन्दुः।' जल अग्निका नाशक है, उसमें अग्निका होना असभव है। वह भी सभव हो जाय तो होजाय, पर नारदका वचन अन्यथा नहीं हो सकता। इस वाक्यसे ग्रन्थकारने 'हिम'

* धरनि–छ०।

से अचल श्रद्धा दिखाई। अर्थात् 'यथा नाम तथा गुणः' इस सिद्धान्तसे जैसा गिरिका नाम 'अचल' है वैसाही नारदके वाक्यमें श्रद्धा भी अचल है, यह सिद्ध किया।' पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'चन्द्रमा भी भगवान्‌का मन है और नारदभी मन हैं। चाहे चन्द्रमा-मनका धर्म छूट जाय पर यह (नारद) मनका धर्म न छूटेगा।' और कोई महानुभाव कहते हैं कि गिरिराजका अभिप्राय यह है कि 'हे प्रिय! यह तो तुम जानती ही हो कि शशि हिमकर भी कहा जाता है, हिमालयपर वह हिम स्रवताही रहता है, उसमेंसे अग्निका स्रवना असंभव है, तो भी चाहे यह अनहोनी भी संभव होजाय पर नारदवचन असंभव हो जाय यह कदापि संभव नहीं।' ☞ यहाँ चन्द्रमासे नारदमें विशेषता दिखाई है। चन्द्रमा देवता है और नारद देवर्षि हैं। 'चन्द्रमा मनसो जातः।' अर्थात् चन्द्रमा मनसे उत्पन्न हुआ है और नारदजी तो भगवान्‌के मनही हैं।

(ख) साधारण देवता भी असत्य नहीं बोलते और ये तो देवर्षि हैं। इनके वचन स्वभावतः कभी असत्य नहीं हो सकते। इस सामान्य बातका विशेषसे समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। 'प्रौढ़ोक्ति' का भी आभास है। (वीरकवि)। यह 'सोइ बिचारि पति करेहु बिवाहू' का उत्तर है।

(ग) शिव पुराणमें भी ऐसा ही है। यथा 'इत्युक्त्वाश्रु मुखी मेना पत्यंघ्र्योः पतिता तदा। तामुत्थाप्यः गिरिः प्राह यथावत्प्राज्ञसत्तमः। ८। शृणुत्वं मेनके देवि यथार्थं वच्मि तत्त्वतः। भ्रमं त्यज मुनेर्वाक्यं वितथं न कदाचन।२।३।९।९।'

दोहा—प्रिया सोचु परिहरहु सबु‡ सुमिरहु श्री भगवान।
पारबतिहि* निरमएउ जेहि सोइ †करिहि कल्यान॥ ७१॥

अर्थ—प्रिये! सब शोच छोड़ दो, 'श्रीभगवान्' का स्मरण करो। जिसने पार्वतीको रचा (बनाया, पैदा किया) है, वही निश्चय ही कल्याण करेगा। ७१।

नोट—१ असंभव बात वा होनहारके लिये सोच न करना चाहिये। दूसरे,भगवान् ही भावीको मिटा सकते हैं। अतः सोच छोड़कर स्मरण करनेको कहा। सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि "कर्म प्रधान बिस्व करि राखा' इस पूर्वमीमांसाके सिद्धान्तको पक्का मानकर तथा 'स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे' इसके अनुसार कहा कि जिसने पार्वतीको बनाया वही सब कल्याण करेगा। बहुत ज्ञान होनेसे लोग नास्तिक हो जाते हैं, भगवान्‌में उनकी अचल श्रद्धा नहीं होती। इसलिये सब बातोंको छोड़कर 'कर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थो भगवान्' इसी एकको जो पकड़कर रहता है वही पूरा आस्तिक मूढ़ कहाता है—'सबसे बड़े हैं मूढ़ जाहि न व्यापत जगत गति।', सो महामूढ़ गिरीश अपना सिद्धान्त कहकर आप निश्चिंत हुये और अपनी स्त्रीको भी निश्चिन्त किया।"

२ 'सब सोच'। अर्थात् घर-वर-कुलका सोच, सुताके योग्य वर मिलने न मिलनेका सोच, हमको जड़ कहे जानेका सोच तथा हृदयमें दाह होनेका सोच।

३ 'सुमिरहु श्रीभगवान्' इति। (क) इससे जनाया कि हिमाचलका भागवत (नारद) के औरवचन श्रीभगवान्‌पर विश्वास है। (ख) श्रीभगवान्‌को स्मरण करनेका भाव कि वे अपनी ऐसी जोड़ी मिला देंगे। पुनः, 'पारबतिहि निरमएउ जेहि' इस सम्बन्धसे 'श्रीभगवान' कहा; जो उत्पत्ति करे वह भगवान् है। (पं० रा० कु०)। पुनः, 'श्रीभगवान' कहकर जनाया कि श्रीसहित भगवान्‌का स्मरण करो जिसमें जैसा श्रीजीका पति सुन्दर है वैसा ही पति पार्वतीजीको मिले। श्री=श्रीजी, सीताजी; यथा—'आगे राम सहित श्री भ्राता।' (पं०)। सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि—'श्रीभगवान' पदसे यह व्यंजित हुआ कि केवल

‡ अब * पारबती—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। ‡ सबु * पारबतिहि—१६६१, १७०४, को० रा०। † सोई करिहहि—ना० प्र०।

भगवान् असमर्थ हैं, श्रीसहित उनका भजन करनेसे वे सब इच्छा पूर्ण करेंगे। प० प० प्र० का मत है कि 'गिरिराजने जान लिया कि मेनाका नारद वचनपर विश्वास नहीं है और भगवान्‌की कृपाके बिना यह विश्वास नहीं होगा। श्री=लक्ष्मी, ऐश्वर्य, शोभा इत्यादि। इन सभीकी प्राप्ति श्रीकी कृपासे होगी। अतः श्रीसहित स्मरण करनेको कहा।' (ग) साहस पूर्वक ईश्वरपर भरोसाकर चित्तको दृढ़ करना 'धृतिसंचारी भाव' है। (वीरकवि)।

☞ ४ 'सोइ करिहि कल्यान' इति। नारदजीने कहा था कि 'होइहि यह कल्यान अब', अतः ये भी कहते हैं कि 'सोइ करिहि कल्यान'। दोनों वाक्योंमें 'हि' निश्चयका अर्थ दे रहा है। नारदजीने कहा—'संसय तजहु'। वैसेही ये मेनाजीसे कहते हैं कि 'सोच परिहरहु सबु'। नारदजीके सम्बन्धमें 'सुमिरि हरि' कहा था, हिमवान्‌भी उसीके अनुसार 'सुमिरहु श्रीभगवान' कहते हैं। नारदजीने 'गिरीस' संबोधन किया था, वही 'गिरीस' शब्द यहाँ वक्ता मेनाको समझानेमें देते हैं—'बाले सहित सनेह गिरीसा।' यहाँके 'गिरीश' सम्बोधनकी सार्थकता एवं चरितार्थता यहाँ दिखाई। ☞ जैसा गिरीशको नारदजीने समझाया, ठीक वैसा ही गिरीशने मेनाजीको उपदेश दिया। इससे दिखाया कि हिमवान्‌ने मुनिके वचन गाँठ बाँध लिये। उनके वचनों पर इनकी परम श्रद्धा है, अतः उसीको उन्होंने दृढ किया है। यहाँ यह भी सूचित होता है कि नारद वचन अन्यथा होगा नहीं और उन्होंने इसके कल्याण होनेका आशीर्वाद दिया है तथा संशय और शोच छोड़नेको कहा है। अतः सब चिन्ता छोड़कर भगवत्स्मरण करनेको कहा। स्वयं तो नारदके उपदेशसे शोच संशय छोड़े हुये हैं ही।

अब जौं तुम्हहि सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावनु देहू॥ १॥
करै सो तपु जेहि मिलहिं महेसू। आन उपाय न मिटिहि कलेसू॥ २॥
नारद बचन सगर्भ सहेतू। सुंदर सब गुन निधि बृषकेतू॥ ३॥

अर्थ—अब, यदि तुम्हे कन्यापर प्रेम है तो जाकर उसे ऐसी शिक्षा दो कि वह ऐसा तप करे कि जिससे शिवजी मिल जायँ। (अर्थात् वे वररूपसे प्राप्त हो जायँ)। अन्य किसी उपायसे क्लेश नहीं मिटेगा। १-२। नारदजीके वचन गूढ भाव (रहस्य)-पूर्ण, हितकारी और कारणयुक्त हैं। वृषकेतु (धर्मध्वज) श्रीशिवजी, सुंदर और समस्त गुणोंके निधान (भण्डार वा खजाना) हैं। ३।

नोट—शिवपुराणमें इससे मिलते हुये श्लोक ये हैं—'यदि स्नेहो सुतायास्ते सुतां शिक्षय सादरम्। तपः कुर्याच्छङ्करस्य सा भक्त्या स्थिरचेतसा।१०। चेत्प्रसन्नः शिवः काल्याः पाणिं गृह्णाति मेनके।२.३ ६.११।'

टिप्पणी—१ 'अब जौं तुम्हहिं' इति। (क)—'अब' का अन्वय 'जाइ सिखावन देहु' के साथ है। 'सुता पर नेहू' के साथ नहीं है। क्योंकि सुतापर माताका स्नेह तो सब दिनसे है —[दोहेमें बताया कि प्रथम परमेश्वरका विश्वास और भरोसा करना मुख्य है और अब उपाय बताते हैं। भाव यह कि भगवान्‌का भरोसा रखकर उपाय करना चाहिए। पुनः, 'अब' का भाव कि अभी सुअवसर है, अभी मुनिके वचनोंका प्रभाव सबोंपर छाया हुआ है, अतः तत्सबन्धी शिक्षाका प्रभाव तुरत पड़ेगा, फिर तुम्हारा अथवा सुताका मत कोइ फेर न दे।—'शुभस्य शीघ्रम्'। शुभकार्यमें देर न करना चाहिए। (पं०)। पुनः भाव कि एक बात तो बता चुके कि शोच छोड़कर भगवान्‌का स्मरण करो, वे क्लेश हरेंगे; कल्याण करेंगे अब दूसरी बात कहते हैं सो सुनो। (ख)—'जौं तुम्हहि सुता पर नेहू' का भाव कि यदि सत्यही कहती हो कि 'उमा मम प्रानपिआरी' 'जेहि न बहोरि होइ उर दाहू', और यदि सत्यही सुता पर तुम्हारा स्नेह है तो ऐसा करो जैसा मैं कहता हूँ। प्रियका जिसमें हित है उस साधनका उपदेश उसे जी कड़ा करके देना चाहिए। ☞ पुत्रको पिता और कन्याको माता लौकिक व्यवहारकी शिक्षा देते हैं, इसीसे हिमवान् मेनाजीसे पार्वतीजीको शिक्षा देनेके लिये कहते हैं, नहीं तो स्वयं सिखावन देते।]

२ (क)—'करै सो तप जेहि मिलहिं महेसू।' इति। नारदजीका वचन है कि 'जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥ जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं॥' अतएव कहते हैं कि 'करै सो तप"' ।—[पुन, 'सो तप' का भाव कि नारदजी कह चुके हैं कि 'दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किएँ कलेसू'। अर्थात् कठिन क्लेश करनेपर वे शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं, अतः यह ऐसा कठिन तप करे कि वे शीघ्र प्रसन्न हो जायँ। 'महेसू' का भाव पूर्व लिखा जा चुका है। तात्पर्य कि यह शिवजीके लिये भारी कठिन तप करे क्योंकि वे दुराराध्य हैं। (ख)—'आन उपाय न मिटिहि कलेसू' इति। नारदजीने कहा है कि 'इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें।' तथा 'भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥' इसीसे हिमाचल कहते हैं कि क्लेश मिटनेका एकमात्र उपाय यही है। भाव यह है कि तपसे शिवजीकी प्राप्ति हो जानेसे सब क्लेश आपही मिट जायेगा, अन्य किसी उपायसे तथा बिना शिवप्राप्तिके क्लेश नहीं मिटनेका। इसीसे 'जेहि मिलहिं महेसू' कहा, और 'आन उपाय न' कहा।]

३ 'नारद बचन सगर्भ सहेतू।' इति। भाव भरा होनेसे 'सगर्भ' कहा और उनके कहनेका यह कारण है इससे 'सहेतू' कहा। शिवजीका विवाह करना प्रगट न कहा, यह साभिप्राय है—इति भाव। [सगर्भ गर्भ सहित–भीतर कुछ और अर्थों और भावोंसे भरा हुआ। अर्थात् जैसे गर्भका बालक ऊपरसे दिखाई नहीं देता वैसेही मुनिके वचनामें जो अभिप्राय और हित भरा हुआ है वह ऊपरसे नहीं समझ पड़ता। उनके वचन रहस्यपूर्ण हैं, गूढ़ अभिप्राययुक्त हैं।]

नोट—१ 'सहेतू' का भाव कि 'ये वचन हमारे हितके सूचक हैं, शिवजीके संबधसे हमारा प्रताप बढ़ेगा, हमारी प्रशंसा होगी, कन्या भवानी होकर जगत्पूज्य हो जायगी और इस सम्बधसे हम लोगभी महिमाकी अवधि माने जायँगे, यथा 'महिमा अवधि राम पितु माता।' इन वचनोंका आशय श्रेष्ठ है। (प०)।

२ 'सगर्भ सहेतू' कहकर 'सुंदर सब गुन निधि बृषकेतू' कहनेका भाव कि जो नारदजीने 'जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष' कहा है उन कुरूपता-सूचक वचनोंके गर्भमें 'सुन्दरता' का आशय भरा है और जो 'अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना।' कहा, उन अवगुणसूचक वचनोंमें 'सर्वगुणसम्पन्न' होनेका आशय गर्भित है। वैजनाथजी एवं रा० प्र०-कार लिखते हैं कि जितने दोष नारदजीने गिनाये हैं वे अन्यत्र दोष हैं पर शिवजीमें वे गुण हैं। कदाचित् इसका व्याह शिवजीसे लिखा हो तो ठीकही है, बिना उपायभी सम्भव है, उसपर यदि उपायभी किया गया तब तो फिर कहनाही क्या? और, यदि शिवजीके साथ विवाह नहीं लिखा है तो उपाय करनेसे होगा। इसलिये दोनो प्रकारसे उपाय करना भला है। व तो गुणखानि हैं, अवगुण तो ऊपरसे दिखावमात्र हैं, इसलिये 'सुंदर' कहा।

३ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'हिमवान्ने पीछेसे नारदजीके प्रत्येक वचनपर ध्यान और विचार किया, इसीसे कहा कि 'नारद बचन सगर्भ सहेतू' हैं। वचनोंके अतर्गत जो गर्भित आशय है वह पूर्व लिखे गए हैं। भूतप्रेतादिके संग रहनेसे कोई यह न समझे कि वे अघोरी या वेधर्मी हैं, इसलिये वृषकेतु' विशेषण दिया।"

४ कोई कोई 'सुंदर सबगुननिधि बृषकेतू' को 'वचन' के ही विशेषण मानते हैं।

वि० त्रि०-'सुंदर सबगुननिधि बृषकेतू' इति।' 'कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। बान्धवा कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः।' कन्यारूपका वरण करती है इसलिये कहते हैं कि वृषकेतु सुन्दर हैं। पिता श्रुतका वरण करता है, इसलिये कहते हैं 'गुननिधि बृषकेतू'। माता वित्तका वरण करती है, इसलिये कहते हैं कि शंकर हैं, दूसरोंका कल्याण किया करते हैं, उन्हें वित्तका क्या घाटा है। बान्धव कुलकी इच्छा करते हैं, अतः कहते हैं 'सबहि भाँति संकर अकलंका' इस भाँति घर वर कुलका अनुपम कहा।

अस बिचारि तुम्ह* तजहु असंका। सबहि भाँति† संकरु अकलंका॥ ४॥
सुनि पति बचन हरषि मन माहीं†। गईं‡ तुरत उठि गिरिजा पाहीं†॥ ५॥

शब्दार्थ—असंका (सं० आशंका)=डर, संदेह, अनिष्टकी भावना। ☞ यह शब्द मानसकारने प्रायः 'भूठी शंका' अर्थात् जहाँ कोई संदेह या भयकी बात नहीं है वहाँ संदेह, शंका, भय या अनिष्टकी भावना' के अर्थमें प्रयुक्त किया है। यथा 'तदपि असंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सबकर हित होई। १। ११३।'

अर्थ—ऐसा विचारकर तुम व्यर्थकी संदेह छोड़ दो। शिवजी सभी प्रकार कलंकरहित हैं। ४। पतिके वचन सुनकर मनमें प्रसन्न होकर मेनाजी उठकर तुरत ही पार्वतीजीके पास गईं। ५।

नोट—१ 'अस बिचारि' अर्थात् नारदवचन सगर्भ और सहेतु हैं, शिवजी सुंदर हैं, गुणोंकी खानि हैं, धर्मकी ध्वजा हैं तथा सब प्रकार निष्कलंक हैं—यह विचारकर आशंका छोड़ो। 'आशंका' कहकर जनाया कि जहाँ कोई शंकाकी शोचकी, बातही नहीं है वहाँ तुम शंका कर रही हो। तुम्हारी शंका निर्मूल है, मिथ्या है। २-'सबहि भाँति अकलंका' अर्थात् 'अगुण, अमान, मातुपितुहीना' इत्यादि कोई भी कलंक उनमें नहीं हैं। पुनः, 'सबहि भाँति' अर्थात् लोक और वेद शास्त्र पुराणादि सभीके मतसे वे दोषरहित हैं। ३—☞ जैसे नारदजीने गिरिराजसे प्रथम यह कहकर कि 'जो विधि लिखा लिलार' उसे 'कोउ न मेटनिहार' फिर उपायभी बताया था, वैसेही गिरिराजनेभी मेनाजीसे प्रथम यह कहकर कि 'नारद बचन अन्यथा नाहीं' फिर उपायभी कहा कि 'करै सो तप जेहि मिलहिं महेसू।' नारदजीने कहा था कि 'तदपि एक मैं कहौं उपाई। होइ करै जौं दैउ सहाई', इसीसे इन्होंने प्रथम ही मेनाजीसे 'सुमिरहु श्रीभगवान' अर्थात् श्रीभगवान् का स्मरण करनेको कहा जिसमें वे सहायता करें और 'करै जौं दैउ सहाई' की बातभी पूरी हो जाय। और मिलान पूर्व आ चुके हैं। ४ "नारदजीकी बातसे मेनाके मनमें जो शंका और भ्रम उत्पन्न हुए थे, हिमवान् सच्ची बात कहकर उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। यहाँ 'भ्रान्त्यापन्हुति अलंकार' की ध्वनि है।" (वीर कविजी)।

टिप्पणी— (क) 'सुनि पति बचन हरषि मन माहीं। गईं ' इति। पूर्व कहा था कि 'अस कहि परी चरन धरि सीसा' ७१ (७) और यहाँ लिखते हैं कि 'गईं तुरत उठि'। इससे जनाया कि जब गिरिराज समझाने लगे तब वे उठकर बैठ गईं थीं और अब बैठेसे उठकर गिरिजाके पास गईं। मारे खुशी के 'तुरत' गईं। नारदजीके वचन सुनकर दुखित हुईं थीं, अब पतिके वचन सुनकर मनमें हर्ष हुआ।—[यहाँ 'हरषि मन माहीं' से दो बातें दिखाईं—एक तो पतिके वचनमें विश्वास होनेसे पातिव्रत्यधर्म और दूसरे यह कि आत्मजा (कन्या) को ऐसा पति मिलनेसे सुख होगा। पुनः, 'हरषि मन माहीं' मनका हर्ष कार्यसिद्धिका द्योतक है, यथा 'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी। ५। ४।' मिलानका श्लोक—'इत्याकर्ण्य गिरेर्वाक्यं मेना प्रीततराऽभवत्। सुतापं कठमगमदुपदेष्टुं तपोरुचिम्। शि० पु० २। ३। ६। १३।']

उमहि बिलोकि नयन भरे बारी। सहित सनेह गोद बैठारी॥ ६॥
बारहिं बार लेति उर लाई। गदगद कंठ न कछु कहि जाई॥ ७॥

अर्थ—उमाको देखकर नेत्रोंमें जल भर आया। मेनाजीने प्रेमसहित उनको गोदमें बिठा लिया। ६। (मेनाजी उमाको) बारबार छातीसे लगा लेती हैं। उनका गला स्नेहके कारण भर आया, कुछ बोला नहीं जाता। ७।

---

* सब—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। तुम्ह—१६६१, १७०४, को० रा०। †—१६६१ में अनुस्वार नहीं है। ‡—गइ —१६६१।

नोट-१ 'उमहि बिलोकि···' इति। (क) माता तपश्चर्याकी शिक्षा देने गईं परन्तु कन्याको तपके योग्य न समझकर उनकी सुकुमारता देख वात्सल्य उमड़ आया, नेत्रोंमें जल भर आया, प्रेमाश्रु निकल ही पड़े। कन्या एक तो स्वभावसेही सुकुमारी होती है, उसपर भी ये तो राजाकी कन्या हैं, इनकी सुकुमारताका क्या कहना? ये अति सुकुमारी हुआ ही चाहें—'अति सुकुमार न तनु तप जोगू' आगे ७४ (२) में कहा ही है। तपकी आज्ञा कैसे दें, यह सोचकर प्रेमके कारण विह्वल हो गईं, आज्ञा न दे सकीं। (ख)—सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'उमहि बिलोकि नयन भरे बारी। ' यहाँ हृदय समुद्र है, आत्मजाका मुख चन्द्रमा है, उसे देखते ही हृदय-समुद्र उमड़ा जिससे नेत्रोंमें जल भर गया। 'गोद बैठारी' से हृदयने अपने पास बैठाया और प्राणप्यारी होनेसे 'बारहि बार लेति उर लाई' से यह हृदयमें बैठा हुआ प्राण बार-बार हृदयके भीतर अपने पास रखनेके लिये हृदयमें लगा-लगाकर भीतर ले आनेका यत्न करता है। प्रेमजलके बहनेसे गला भर गया, कण्ठावरोध होनेसे मुँहसे बात नहीं निकलती—यह स्वभावोक्ति है।" (ग) 'सहित सनेह · ' यह नित्यका अनुभव लोकमें प्रत्यक्ष देखा जाता है कि ऐसी दशामें पुत्र एवं कन्यापर स्नेह अधिक उमड़ता है, माता उसे गोद लेती प्यार करती है, इत्यादि, यही स्वाभाविक मेनाजी कर रही हैं।

२ बारहि बार लेति उर लाई। · ' इति। गोदमें बिठाना और बारंबार हृदयमें लगाना यह प्रेम-विह्वलदशा प्रकट कर रहा है। यथा—'पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं', 'बार बार मेंटहिं महतारी' इत्यादि। ☞ मेनाजीका मन कर्म वचन तीनोंसे कन्यामें प्रेम दिखाया है। 'सुनि पतिबचन हरषि मन माहीं। गईं तुरत उठि ।' से मनका प्रेम दिखाया। 'गोद बैठारी', 'बारहि बार लेति उर लाई' और 'अस कहि परी चरन धरि सीसा' यह कर्मसे प्रेम दिखाया। 'कंत उमा मम प्रान पिआरी' तथा 'गदगद कंठ न कछु कहि जाई' यह वचनका प्रेम दिखाया। ☞ 'उमहि बिलोकि नयन भरे बारी। · गदगद कंठ···' में मेनाजीके 'कंत उमा मम प्रानपिआरी' और 'जौं तुम्हहि सुता पर नेहू' इन वचनोंको ग्रन्थकारने प्रत्यक्ष कर दिखाया है। [विरहका ध्यान करके बार बार हृदयसे लगाती हैं (वि० त्रि०)]

३ मिलानके श्लोक—'सुताङ्गं सुकुमारं हि दृष्ट्वातीवाथ मेनका। विव्यथे नेत्रयुग्मे चाश्रुपूर्णेऽभवता द्रुतम्। १४। सुता समुपदेष्टुं तन्न शशाक गिरिप्रिया।' (शि० पु० २। ३। ६। १५)।

जगतमातु सर्बग्य भवानी। मातु सुखद बोलीं मृदु बानी॥ ८॥

दोहा—सुनहि मातु मैं दीख अस सपन सुनावौं तोहि।
सुंदर गौर सुबिप्रबर अस उपदेसेउ मोहि॥७२॥

अर्थ—जगज्जननी जगदंबा और सर्वज्ञ भवानी माताको सुख देनेवाली कोमल मीठी वाणी बोलीं। ८। माँ! सुन। मैंने ऐसा स्वप्न देखा है, तुझे सुनाती हूँ। एक सुन्दर गौरवर्ण उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मणने मुझे ऐसा उपदेश दिया है। ७२।

टिप्पणी—१ 'जगतमातु सर्बग्य भवानी। ' इति। (क) ऐश्वर्यमें जो जगज्जननी हैं वे ही माधुर्य लिये हुये पुत्रीकी तरह मातासे बोलीं। सर्वज्ञ हैं अतः माताके हृदयका अभिप्राय जान गईं कि वे किस लिये हमारे पास आई हैं और क्यों कुछ कह नहीं सकतीं तथा यह कि वे प्रेमसे विह्वल हैं, तपके लिये आज्ञा न देंगी। भवानी हैं, अतः भवकी प्राप्तिके लिये बोलीं। पुनः भाव कि—[(ख) मातासे कन्या अपने विवाहकी या वरकी चर्चा करे, यह योग्य नहीं है। इसीसे कहते हैं कि ये सामान्य कन्या नहीं हैं, ये तो जगज्जननी हैं, इनमें अयोग्यता नहीं कही जा सकती। उसपर भी ये 'भवानी' हैं अर्थात् ये तो 'सदा संभु अरधंगनिवासिनि' हैं, इनका कुछ नया संबंध नहीं हो रहा है; इसीसे ये महादेवजीके लिये तप करनेकी बात कहेंगी, इस तरह वे शिवजीकी प्राप्तिका उपाय रच रही हैं। (पं०. मा० प०)। पुनः, (ग)—सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'नारदजीने जो तीन नाम 'उमा, अंबिका भवानी' पहले बताये हैं, वही

तीनों नाम यहाँ ग्रन्थकारने भी रक्खे हैं। 'जगतमातु'=अम्बिका, 'भवानी' दोनों जगह हैं। रहा तीसरा–'सर्वज्ञ', इससे 'उमा' नाम कहा, क्योंकि उमा=महादेवजीकी लक्ष्मी=सर्वज्ञा। अथवा, सर्वज्ञ=शर्वज्ञ=शर्व (=शिवजी) को जाननेवाली।' 'सर्वज्ञ'–शब्दमें 'परिकराङ्कुर अलंकार' की ध्वनि है।] (घ) 'मातु सुखद' इति। अर्थात् जो माताके हृदयमें है, जो शिक्षा वे देने आई हैं और जो वह चाहती हैं वही बात कोमल वाणीसे कही जिससे माताको सुख हो और सुकुमारताका विचार उनके हृदयसे निकल जाय।

२ 'सुनहि मातु मैं दीख अस' इति। (क)—पार्वतीजीका माधुर्यमें स्वप्न देखना कहा। इसी तरह श्रीसीताजीका माधुर्यमें स्वप्न देखना अयोध्याकाण्डमें कहा है; यथा—'जागे सीय सपन अस देखा। २।२२६।' (ख) 'सुंदर' अर्थात् 'कर्पूर गौरं', 'शर्वेद्राभमतीव सुंदर तनुं', 'कुंद इंदु दर गौर सुंदरं' इत्यादि। सुबिप्र=उत्तम ब्राह्मण। ['सुबिप्रवर' से जनाया कि उपदेश देनेवाला यह ब्राह्मण शास्त्रज्ञ, सदाचारी और तेजस्वी इत्यादि है। ऐसेहीके वचनोंपर लोग श्रद्धा रखते हैं, इसीसे उपदेशकका 'सुबिप्रवर' होना कहा। (सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि—'सुबिप्र=सुष्ठु विप्रो द्विजश्चन्द्रो यस्य या सुष्ठु स्थाने शेखरे विप्रश्चन्द्रो यस्य स सुविप्र=चन्द्रशेखर। वर=वर=विवाहयोग्य युवा पुरुष। अर्थात् एक शङ्खके समान गौर वर्ण, मस्तकपर चन्द्रमा धारण किये, जवान पुरुषने मेरे पास आकर मुझे उपदेश दिया। विप्र=द्विज–चन्द्र।' और सू० प्र० मिश्र कहते हैं कि 'सुबिप्र' से नारदका भी ग्रहण हो सकता है) ☞'सुबिप्र' के साथ 'बर' शब्द बड़े रहस्यका है। इससे यह भी जनाया कि वह हमारा 'बर' ही है जिसने स्वप्नमें दर्शन दिया।] (ग)—माताके मनका अभिप्राय जानकर स्वप्नके बहाने तात्पर्य सूचित करके उनके मनका असमंजस दूर करना 'सूक्ष्म अलंकार' है। (वीर कवि)। परन्तु वैजनाथजीका मत है कि यहाँ 'प्रहर्षण अलंकार' है क्योंकि माता जिस लिये पास आई, वह इन्होंने स्वयं सुना दिया।

वि० त्रि०—स्वप्नाध्यायीके अनुसार सुन्दर गौर सुबिप्रवरका कहा हुआ सत्य होता है। 'सुनावौं तोहि' का भाव कि उत्तम पुरुषसेही स्वप्न सुनानेका विधान है। इससे ज्ञात होताहै कि प्रातःकाल उठकर मेना पार्वतीजीके पास गई थीं, हिमाचलसे बातचीत रातको एकान्तमें हुई थी।

नोट—१ मिलान कीजिये—'बुबुधे पार्वती तद्वै जननीह्रितमाशु सा। १५। अथ सा कालिका देवी सर्वज्ञा परमेश्वरी। उवाच जननीं सद्यः समाश्वास्य पुनः पुनः। १६। मातश्शृणुमहाप्राज्ञेऽद्यतनेऽज मुहूर्तके। रात्रौ दृष्टो मया स्वप्नस्तं वदामि कृपां कुरु। १७। विप्रश्चैव तपस्वी मां सदयः प्रीतिपूर्वकम्। उपादिदेश सुतपः कर्तुं मासशिवस्य वै। १८।' (शिव पु० २।३।८)।

करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी॥ १॥
मातु पितहि पुनि यह मत भावा। तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा॥ २॥

अर्थ—हे गिरिराजकुमारी! नारदजीने जो कहा है उसे सत्य समझकर जाकर तप कर। १। (यदि कहें कि माता पिताकी आज्ञा बिना कैसे जा सकती हैं, तो उसपर कहते हैं कि तेरे) माता पिताको भी यह मत (विचार) अच्छा लगा है। तप सुखका देनेवाला और दुःखदोषका नाशक है। २।

टिप्पणी—१ 'करहि जाइ तपु सैलकुमारी।' इति। (क) स्वप्न जो सुबिप्रवर (रूप शिवजी) ने आकर कहा वह पाँच अर्धालियोंमें है। 'करहि जाइ तपु' यह उसका उपक्रम है और 'करहि जाइ तपु अस जिय जानी' उपसंहार है। स्वप्नके सत्य होनेका क्या प्रमाण? क्योंकि स्वप्न तो विशेषकर झूठेभी होते हैं?—इस संभवित शंकाके निवारणके लिये 'नारद कहा सो सत्य बिचारी' कहा। स्वप्न नारदजीके वचनोंसे मिलता है, इसीसे आगे माता पिताने इस स्वप्नको प्रमाण माना।—(पुनः, जगदंबा पितामाताके हृदयकी ही बात कह रही हैं, इससे भी विश्वास होगा।) (ख)—'करहि जाइ' इति। 'जाइ' का भाव कि घर छोड़कर वनमें जाकर तप कर, घरमें तप न सधेगा, क्योंकि राजमहलमें रहते हुये विषयोंसे वैराग्य

होना दुस्तर है; यथा 'होइ न विषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन। १।१४२।', यह मनुमहाराजका अनुभव है। [(ग) 'सैलकुमारी' का भाव कि 'तू ऐसेकी बेटी है कि जहाँ सभी तपस्या करनेको आते हैं. तब तू क्यों न तप कर ?'—(सू० प्र० मिश्र)। वा, 'सचमुच तू जड़की कन्या है, इसीसे तुझे अपना हित नहीं सूझता।'—(सु० द्विवेदी)। वा, धैर्य धारण कर, तू शैलराज हिमवान्‌की कन्या है अतः हिमवान्‌के समान धैर्य धारण करना चाहिये; यथा 'धैर्येण हिमवानिव' (वाल्मी० १।१७)। (रा० प्र०) ।☞वस्तुतः भाव यह है कि तुम पर्वतराजकी कन्या हो, अतः पर्वत सदृश दृढ़तासे जाकर तप कर सकती हो, डरनेका काम नहीं है। पुनः, शैलकुमारी=शैलराजकी कन्या। माधुर्यमेंही उपदेश बनता है, इसीसे राजकुमारी कहकर उपदेश किया] (घ)—'नारद कहा सो सत्य'''' इति। 'नारद कहा सो' से 'अगुन अमान' से लेकर 'हस्त असि रेख' तक और मुख्य करके 'संभु सहज समरथ भगवाना'से लेकर 'इच्छित फल बिनु सिव अवराधे।''''' तक जो कुछ कहा गया वही अभिप्रेत है।—इस वचनसे स्वप्नकी सत्यता दृढ़ कराई।

नोट—१ 'मातु पितहि पुनि यह मत भावा' इति। भाव कि यदि कहो कि कन्या स्वतन्त्र नहीं है, विवाहके पूर्व वह माता-पिताके अधीन है, तब बिना उनकी आज्ञाके घरसे बाहर कैसे जाकर तप कर सकती है ?—'न हि स्त्रीणां स्वतन्त्रता', 'कत बिधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन''''।१।१०२।' तो उसपर कहते हैं कि तेरे माँ बापका भी यही मत है, यही रुचि है। उनको यह मत पसंद है। प्रमाण यथा—'अब जौ तुम्हहिं सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावन देहू', यह पिताका मत है और यह मत माताको भी रुचता है यह 'सुनि पति बचन हरषि मन माहीं। गई तुरत उठि गिरिजा पाहीं' से सिद्ध है। पुनः माताके हृदयका संकोच मिटानेके अभिप्रायसे स्वप्नके मिष कहा कि 'मातु पितहि''''। इससे 'सुंदर गौर सुबिप्रबर' की सर्वज्ञता भी घोसित हुई।

२ 'तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा' इति। (क) सुखप्रद है अर्थात् इससे तुझे सुख मिलेगा अर्थात् शिवप्राप्ति होगी और वरके दोष भी मिट जायँगे तथा जो वरके दोष सुनकर दंपतिको दुःख हुआ वह भी (अर्थात् कारण और कार्य दोनोंहीका) नाश हो जायगा। क्योंकि नारदवचन सत्य है कि 'भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी'। (रा० प्र०, मा० प०)।

'तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा'—विप्रवरने स्वप्नमें इन शब्दोंसे गिरिजाजीको सान्त्वना दी कि तुमने जो पतिका अपमान करनेसे दुःख पाया कि कैलाससे च्युत हो पुनर्जन्म लेना पड़ा, इत्यादि, वह सब दोष और दुःख तपसे धुल जायगा और तुम्हें पुनः पूर्व सुखकी प्राप्ति होगी। मेनाजी जो समझती हैं कि शंकरजीमें ११ दोष हैं, उनसे विवाह होनेसे कन्याको सुख तो मिलेगा नहीं वरंच दुःख ही भोगना पड़ेगा उनको यह स्वप्न सुनानेसे विश्वास होगा कि तपोबलसे वरके दोषभी गुण समान हो जायँगे और दोष न रह जानेसे सुख होगा, दुःख रह ही न जायगा।

नोट—☞यह और आगेका स्वप्नवृत्तांत मानसकाही है। शिवपुराण आदिसे यह स्वप्न सरस है, भावगर्भित है, सुंदर है।

तप बल रचै प्रपंचु बिधाता। तप बल बिष्नु सकल जगत्राता॥ ३॥
तप बल संभु करहिं संघारा। तप बल सेषु धरै महि भारा॥ ४॥
तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जिय जानी॥ ५॥

अर्थ—(देख) तपके ही बलसे ब्रह्माजी संसारको रचते हैं, तपबलसे ही भगवान् विष्णु संपूर्ण जगत्‌की रक्षा (पालन) करते हैं। ३। तपबलसे ही शिवजी संहार करते हैं और तपकेही बलसे शेषजी पृथ्वीका भार (अपने एक ही सिरपर) धारण करते हैं। ४। (अधिक क्या कहें) हे भवानी ! सारी सृष्टिही तपके आधार (आश्रय, सहारे) पर है। ऐसा जीमें जानकर जाकर तप कर। ५।

टिप्पणी—१ 'तप बल रचै प्रपंच बिधाता।' इति। ☞ श्रीरामचन्द्रजीके भजनके बलसे तीनों देव (त्रिदेव) तीन काम करते हैं, यथा—'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।' (५। २१ हनुमत्‌वाक्य)। प्रपंच=सृष्टि=चौरासी लक्ष योनियाँ, इत्यादि। [भगवान्‌के नाभिकमलसे उत्पन्न होनेपर 'कैसे सृष्टि करूँ' इस बातके जाननेके लिये ब्रह्माजीने सैकड़ों दिव्यवर्षोंतक तप किया। प्रमाण यथा—'विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः। भा० ३। १०। ४।', 'भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम्। ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मल्लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान्। भा० ३। ९। ३०।'—(भगवान्‌ने उनको पुनः तप करनेकी आज्ञा दी जिससे वे सम्पूर्ण लोकोंको अपने अन्तःकरणमें स्पष्ट देख सकें और वैसीही सृष्टि रचें)। श्रीसीतारामार्चनमें भी इसकी चर्चा है। पुनश्च यथा—'सोऽनुविश्य तपसायुक्तो रजसा मदनुग्रहात्। लोकान्सपालान्विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा। भा० ११। २४। ११।' (अर्थात् ब्रह्माने तपस्या की और रजोगुणद्वारा लोकपालों सहित तीनों लोकोंकी रचना की)। भा० २।९ में लिखा हुआ है कि ब्रह्मा कमलनाभिसे उत्पन्न हो लोकरचनाका विचार करने लगे परन्तु प्रपञ्चरचनाकी विधिका ज्ञान न हुआ। उन्हें अकस्मात् 'तप' शब्द सुनाई पड़ा तब वे तपमें प्रवृत्त हुए और एक सहस्र दिव्यवर्षपर्यन्त एकाग्रचित्तसे प्राण, मन और इन्द्रियोंको जीतकर घोर तप किया। यथा—'स आदिदेवो जगतां परो गुरुः स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत। तां नाध्यगच्छद्दृशमत्र सम्मतां प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत्। ५। दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः। अतप्यत स्माखिललोकतापनं तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः। ८।' भगवान् विष्णु भी तपबलसे पालन करते हैं, यथा—'सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः। बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः। २२।' अर्थात् तपसे ही मैं संसारकी उत्पत्ति करता हूँ, तपसेही उसे ग्रास कर लेता हूँ और तपसे ही उसका पालन करता हूँ, दुश्चर तप ही मेरा वीर्य (बल) है। काशीखंड अ० २४ में भी त्रिदेवादिके विषयमें ऐसाही कहा है। ☞ जैसा यहाँ मुनिप्रवरने कहा है वैसा ही कपटीमुनिने भानुप्रतापसे कहा है। यथा—'जनि आचरजु करहु मन माहीं। सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं। तप बल तें जग सृजइ बिधाता। तप बल बिष्नु भये परित्राता। तप बल संभु करहिं संघारा। तप तें अगम न कछु संसारा। १। १६३।']

२ 'तपबल सेष धरै महिभारा' इति। शेषजीको भगवान् रामजीके बलसे यह सामर्थ्य है। यथा—'जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन।' विधि हरि हर शेष बड़े बड़े महानुभावोंकी बातका कथन 'शब्दप्रमाण' अलंकार है।

३ 'तप अधार सब सृष्टि भवानी' इति। (क) भाव कि जिन जिनको ऊपर कह आए कि सृष्टिको उत्पन्न, पालन, संहार और धारण करते हैं, वे सब तपके ही आधारसे करते हैं, तपके ही आधार पर सारी सृष्टि चल रही है, तप न होता तो यह एक क्षण न ठहर सकती। सबके तपके आधारसे सृष्टिका कार्य चल रहा है। भौतिक बलसे ये कोई कार्य नहीं हो सकता।

नोट—१ पहले विधिहरिहर और शेषका बल कहा कि उनमें तपका ही बल है और 'तप अधार' में सृष्टिका तपके आधारसे चलना कहा। पुनः भाव कि तपसे कोई बात दुर्लभ नहीं है, अतः तू भी तप कर। 'तप अधार सब सृष्टि' इस नियमका तुम भी पालन करके 'भवानी बन जाओ। २—'भवानी' संबोधनका भाव कि तुम तो भवपत्नी हो, सब जानती ही हो। (रा० प्र०)। ☞ 'अन्तमें भवानी' संबोधन 'मुनिप्रवर' का मानों पार्वतीजीको आशीर्वाद ही है कि तपके पश्चात् तुम भव-पत्नी होगी। ४—सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'भवानी=भव+आनी संसारमें लाई गई।' जिसका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि तुम संसारमें हरि इच्छासे लाई गई हो और संसारमें तपका ही आधार सबने लिया है, जिनको तुम चाहती हो वे भी तो तप करते हैं, अतएव तुम भी तपद्वारा पतिकी प्राप्ति करो।

सुनत बचन बिसमित महतारी। सपन सुनाएउ गिरिहि हँकारी॥ ६॥
मातु पितहि बहु बिधि समुझाई। चलीं उमा तप हित हरषाई॥ ७॥

प्रिय परिवार पिता अरु माता। भए* बिकल मुख आव न बाता॥ ८॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजीके वचन सुनते ही माँको आश्चर्य हुआ और उसने हिमवान्‌को बुलाकर स्वप्न सुनाया। ६। माता पिताको बहुत प्रकारसे समझाकर उमाजी प्रसन्नतापूर्वक तपके लिये चलीं। ७। प्रिय कुटुम्बी, पिता और माता (सभी) व्याकुल हो गये; किसीके मुखसे बात नहीं निकलती। ८।

नोट—१ 'सुनत वचन बिसमित महतारी।...' इति। (क) आश्चर्य हुआ, क्योंकि जो नारदजीने कहा था—'जौ तपु करै कुमारि तुम्हारी।...', वही स्वप्नमें भी कहा गया और जो हम लोगोंका संमत था वह भी यह कह रही है, यह तो उसकी जानी हुई न थी। (पं० रा० कु०)। (ख) 'हँकारी'=बुलाकर, पुकारकर। यह शब्द आनन्दका द्योतक है। भाव यह कि जिस लिये आपने हमें भेजा था, वह कार्य दैवी-विधानसे आप ही आप ठीक होगया। सब काम ठीक है, आश्चर्यकी जो बात हुई सो आप भी सुन लें। (सू० प्र० मिश्र)। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि "आश्चर्यमें होनेसे लोग पुकारकर बोलते ही हैं। अतः 'हँकारी', यह स्वभावोक्ति है"। 'हँकारी' शब्दसे जनाया कि जहाँ पार्वतीजी थीं वहीं बुला भेजा क्योंकि यहाँ लड़कीभी है। संभव है कि बुलाकर स्वप्न कहा और उसके सामने ही यह भी कहा कि पूछो यह क्या कह रही है। इससे पतिके पास स्वयं नहीं गई, उन्हींको बुलाया।

२ 'मातु पितहि बहु बिधि समुझाई' इति। (क) 'बहु बिधि' यह कि नारद-वचन असत्य नहीं हो सकता; ब्राह्मणदेवनेभी स्वप्नमें यही बात पुष्ट की; स्वप्नमें उन्होंने कहा कि तुम्हारा भी संमत है, सो भी ठीक निकला, तपश्चर्यासे दुःख-दोष मिटेंगे और कल्याण होगा और मुनिके शुभाशीर्वादसे कोई कष्ट न होगा, मैं प्रसन्नता और श्रद्धापूर्वक तपश्चर्या करनेपर तत्पर हूँ। ध्रुव आदिकी कथायें सुनाईं कि उनकी अवस्था तो मुझसे भी कम थी, हमारे मनमें हर्ष है इससे कार्यसिद्धिमें संदेह नहीं है। आप दुःख न मानिये, यात्राके समय शुभकार्यमें अश्रुपात न करना चाहिए, मैं शीघ्र ही आऊँगी, कुछ दूर तो रहूँगी नहीं तब आप क्यों घबड़ाते हैं, इत्यादि। (ख) बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि वे सब विधियाँ ये हैं कि—'स्वप्नमें जो बात कही गई वह सत्य है, आगे वेदशिरामुनिभी तुम्हें समझाने आवेंगे, उनकी बातको सत्य जान निःशोच होना ठीक है।—यह 'एक विधि' हुई।...अर्थ धर्म-काम-मोक्ष ये चार फल हैं। इनकी पृथक्-पृथक् चारि क्रियायें हैं। अर्थकी क्रिया सेवा, धर्मकी श्रद्धा, कामकी तप और मोक्षकी भक्ति है। बिना तपके कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, अतः तप करना निश्चय ही ठीक है।—यह 'तीसरी विधि' है।...ब्रह्माजी मुझसे प्रथम ही कह गए थे कि माता पिताने तुम्हारे लिये बहुत तप किया था, 'तब तुम उनको मिली हो शिवारूप'—(अर्थात् शिवारूपसे तुमने उनको दर्शन दिया था, वही अब तुमने यहाँ जन्म लिया है?)। सो तुम भी ऐसा ही तप करो तब शिवजी मिलेंगे। तुम कालीरूप धरकर प्रकट हुई हो सो अब गौरीरूप धारण करो तब ठीक है। ब्रह्माजी जगद्गुरु हैं, सो उन्होंने तुम्हे प्रथमही तपका उपदेश किया है, अतएव निश्चय ही तप करना उचित है।—यह प्रसंग शिवपुराणमें लिखा है।—यह 'पाँचवी विधि' है।

३ 'चली उमा तप हित हरषाई' इति। यात्रासमय हर्ष मंगलकारक है। पतिकी प्राप्तिके लिये तप करने जाती हैं, अतः हर्ष है। धर्मके कार्यमें हर्ष और उत्साह होनेही चाहिए। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—"दुसह दंपतिहि उमा हरयानी' (६८), 'मिलन कठिन मन भा संदेहू' (६८), 'जानि कुअवसरु प्रीति दुराई' (६८)...यह सब बातें अकेले वनमें रहनेसे निकल जायँगी तब अच्छी तरहसे पतिपदमें प्रीति करूँगी। पतिने मेरे वियोगमें 'संवत सहस सतासी' की समाधि ली थी, मैं उनके लिये अब हठयोग साधन करूँगी, इत्यादि समझ मनोरथकी सिद्धिकी आशामें पार्वतीजी प्रसन्न हुईं।"

नोट—४ (क) 'उमा' इति। यहाँ 'उमा' नामभी साभिप्राय है। ☞ पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें

* भएउ—१७२१, १७६२। भए—१६६१, १७०४, को० रा०।

पार्वतीजीके तप करने जानेका प्रसंग कामदहनके पश्चात् आता है। हिमवान् अपनी कन्याको वस्त्राभूषणोंसे भूषितकर उसकी दो सखियोंके साथ भगवान् शंकरके समीप ले आ रहे थे। मार्गमें रतिसे मदनदहनका समाचार सुनकर उनके मनमें कुछ भय हुआ और वे कन्याको लेकर पुरीमें लौट जानेका विचार करते हैं—यह देख पार्वतीजीने सखियोंके मुखसे तपकी महिमा कहलाई और यह भी कहलाया कि अपना अभीष्ट प्राप्त करनेके लिये मैं तप करूँगी। तब हिमवान्‌ने कहा 'उ-मा'—ऐसा न कर। बहुत कहनेपर भी जब पार्वतीजी घर जानेको तैयार न हुईं तब मनही मन उन्होंने पुत्रीके दृढ़ निश्चयकी प्रशंसा की। उसी समय आकाशवाणी हुई—'गिरिराज! तुमने 'उ' 'मा' कहकर अपनी पुत्रीको तपस्या करनेसे रोका, इसलिये इसका नाम 'उमा' होगा। यह मूर्तिमती सिद्धि है, अभीष्ट अवश्य प्राप्त करेगी। यह सुन हिमवान्‌ने आज्ञा दे दी। ☞यद्यपि यह कथा कल्पभेदसे कुछ भिन्न है तो भी 'बहु बिधि समुझाई' से यह ध्वनित हो सकता है कि माता पिताने वियोगके कारण विकल हो वन जानेसे रोका हो और इसीसे 'उमा' शब्द देकर उस कथाका अन्तिम अंश यहाँ सूचित कर दिया है। ☞ शिवपुराणमें भी मेनाका बहुत प्रकारसे बाहर तप करने जानेका निषेध करना कहा है। इसीसे 'उमा' नाम हुआ। यथा—'तपो निषिद्धा तपसे वनं गंतुं च मेनया। हेतुना तेन सोमेति नाम प्राप शिवा तदा।' (शिव पु० २। ३। २२। २५)। कुमारसम्भवमें भी कहा है—'उमे ऽति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम। १। २६।' (ग)—तपस्या महा उत्तम शृङ्गी तीर्थपर करने गईं। तभीसे उसका नाम गौरीशिखर पड़ा। यथा—'तपश्चकार सा तत्र शृङ्गितीर्थे महोत्तमे। गौरीशिखरनामासीत्तत्प करणाद्धि तत्। २। ३। २२। ३६।' (ग) हर्षका कारण देववाणीभी हो सकती है।

५—'प्रिय परिवार पिता अरु माता। भए बिकल ' ' इति। सुकुमारता देख व्याकुल हुए। नारदजीके—'सुता तुम्हारि सकल गुन खानी' और 'एहि तें जसु पैहहिं पितु माता' इत्यादि वचनोंसे वे इन्हें 'लक्ष्मी ही मानों घरमें पैदा हुई' ऐसा समझने लगे थे, इसीसे इनका वियोगदुःख दुःसह है, यह समझकर लोग व्याकुल हो गए।'—(सुधाकरद्विवेदी)। 'मुख आव न बाता' अर्थात् न तो जानेको कहते बनता है और न रहनेको ही कहते बने। (प० रा० कु०)। व्याकुलतामेंभी यह दशा हो जाती है।

दोहा—बेदसिरा मुनि आइ तब सबहि कहा समुझाइ।
पारबती-महिमा सुनत रहे प्रबोधहि पाइ॥ ७३॥

अर्थ—तब वेदशिरा मुनिने आकर सबको समझाकर (पार्वतीजीका महत्त्व) कहा। पार्वतीजीकी महिमा सुनकर सब प्रबोध (ज्ञान, संतोष वा समाधान) पाकर रह गए। ७३।

नोट—१ माधुर्यमें विकलता रही इसीसे मुनिने आकर ऐश्वर्य कहा, तब ज्ञान हुआ। २ ☞ 'वेदशिरा' इति। ये मुनि कौन हैं?—इसपर लोगोंके विभिन्न मत हैं। सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि—"चार शिरावाले ब्रह्माजी जो मुनिरूपसे पार्वतीजीका बालचरित देखनेकेलिये हिमालयपर आ बसे थे, उनका नाम 'वेदशिरा' है। बहुतसे लोग पुराणोंके कर्ता व्यासका ग्रहण 'वेदशिरा' से करते हैं।" सू० प्र० मिश्रजीका कथन है कि—'पुराणोंमें वेदशिराके बदले वेददर्श तथा देवदर्श नाम मिलता है। ये महर्षि कबन्धके शिष्य थे, जिनके गुरु अथर्वणवेदके आचार्य महर्षि सुमन्तु थे। वेदशिराने अपनी संहिताके चार विभाग करके मौद्ग आदि चार महर्षियोंको पढ़ाया।'—(विष्णु पु० अंश ३ अ० ७। ८।१०, भा० १२।७।१२। पर इनमें क्रमशः वेददर्श और देवदर्श नाम मिलते हैं। वेदशिरा और वेददर्श वा देवदर्श एकही हैं इसका क्या प्रमाण है?)। जो मुनि हिमालयपर रहते थे, 'जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे। उचित बास हिमभूधर दीन्हे।६५।' से यह बात ठीक हो सकती है कि उनमेंसे ये भी एक हों। कार्त्तिकमाहात्म्यमें ऐसा उल्लेख कहा जाता है कि इनके तपको देखकर इन्द्रने इनका तप भंग करनेके लिये अप्सरा भेजी। जब उस अप्सराके समस्त उपाय निष्फल होगए, कोई भी उपाय न चला तब वह उनके अंगमें जाकर लपट गई। मुनिने उसको शाप

दिया कि तू जल होजा। फिर उसके बहुत विनय करनेपर उसका शापानुग्रह इस प्रकार किया कि तुझमें शालग्राम निवास करेंगे।—(परन्तु हमें यह कथा कार्त्तिकमाहात्म्यमें मिली नहीं)। हिंदी-शब्दसागरमें 'वेद-शिरा' के ये अर्थ मिलते हैं—(१) भागवतके अनुसार कृशाश्वके एक पुत्रका नाम। (२)—(वेदशिरस्) पुराणानुसार मार्कण्डेयजीके एक पुत्रका नाम जो मूर्द्धन्याके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। कहते हैं कि भार्गव-लोगोंका मूलपुरुष यही था।

☞ ग्रंथोंमें खोजते-खोजते हमें 'मुनिश्रेष्ठ वेदशिरा' नाम भा० ४।१। में मिला। ये भृगुजीके प्रपौत्र हैं। भृगुजीके तीन पुत्र धाता, विधाता और कवि हुए। धाताके मृकण्ड हुए जिनके पुत्र मार्कण्डेयजी हैं। विधाताके प्राण और प्राणके पुत्र 'वेदशिरा मुनि' हुए। यथा—'मार्कण्डेयो मृकण्डस्यप्राणाद्वेदशिरामुनि'।४।१।४५।'

३ 'सबहि कहा समुझाइ' इति। बाबा हरिदासजी समझाना यह लिखते हैं कि—'ये उद्भवस्थिति-लय करनेवाली कालकोभी कालरूप काली हैं, कालभी इनके अधीन है। पूर्व कालीरूपसे प्रगट हुई थीं, वही अब गौरीरूप धरकर तुम्हारे यहाँ अवतरी हैं। कौन ऐसा समर्थ है जो वनमें इनको कष्ट दे सके? भगवती की ही प्रेरणासे तुम्हें हम उनकी महिमा समझाने आए हैं।' (वेदशिरा मुनिने खोलकर यह नहीं बताया कि ये सती हैं और ये शिवजीकी आद्याशक्ति हैं।)

४ 'रहे प्रबोधहि पाइ' से पाया जाता है कि वे सबके सब पार्वतीजीको पिछियाये चले जाते थे। इनके समझानेपर रुके। समाधान एवं ज्ञान पाकर शान्त हो गए। मिलान कीजिये—'समुझाइ सबहिं दृढाइ मन, पितु मातु आयसु पाइ कै। लागी करन पुनि अगमु तपु तुलसी कहै किमि गाइ कै॥ २०॥ फिरेउ मातु पितु परिजन लखि गिरिजा पन। जेहि अनुरागु लागु चितु, सोइ हितु आपन।२१।' (पार्वतीमंगल)।

उर धरि उमा प्रानपति चरना। जाइ बिपिन लागीं तपु करना॥ १॥
अति सुकुमार न तनु तप जोगू। पति पद सुमिरि तजेउ सबु भोगू॥ २॥
नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहि मनु लागा॥ ३॥

अर्थ—प्राणपति (श्रीशिवजी) के चरणोंको हृदयमें धारणकर उमाजी वनमें जाकर तप करने लगीं। १। उनका शरीर अत्यन्त सुकुमार (नाज़ुक, कोमल) है, तपके योग्य नहीं है, (तोभी) उन्होंने पति के चरणोंका स्मरण कर सब भोगोंका त्याग दिया। २। (पतिके) चरणोंमें नित्य नया अनुराग उत्पन्न होता गया, तपमें मन लग गया, देहकी सुधबुध जाती रही। ३।

टिप्पणी—१ 'उर धरि उमा प्रानपति ' इति। (क)—सतीजीका शिवजीके चरणोंमें सदा अनुराग रहा; यथा—'जौं मोरें सिवचरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रतु एहू' (५९), 'जाइ संभुपद बंदनु कीन्हा' (६०) और मरते समयभी 'जनम जनम सिवपद अनुरागा' यही वर उन्होंने भगवानसे माँगा था। अतएव पार्वतीतनमें भी 'उपजेउ शिवपद कमल सनेहू' (६८)। अब उनके लिये वनमें तप करनेको चलीं तबभी उन्हींके चरणों को हृदयमें धारण करके चलीं और आगेभी चरणोंका स्मरणकर सब भोग छोड़ा है। पुनः, (ख) 'प्रान-पति चरना' का भाव कि वनमें छोटे बालकोंके प्राणोंकी बाधा रहती है, इसीसे 'प्राणपति' (प्राणोंकी रक्षा करनेवाले) चरणोंका धारण करना कहा। तात्पर्य कि येही चरण हमारे प्राणोंकी रक्षा करेंगे।

नोट—१ 'पति' का अर्थ 'रक्षक' भी है और 'स्वामी' भी। यहाँ 'प्रानपति' और आगेके 'पतिपद' शब्दोंसे सूचित किया कि शिवजीही हमारे पति हैं, इनकी प्राप्तिका मानों यह दृढ़ संकल्प करके तपमें प्रवृत्त हुई। सतीतनत्यागसमयभी इन्हीं चरणोंका ध्यान था। यथा—'तत स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं जगद्गुरो-श्चिन्तयती न चापरम्। भा० ४।५।' अर्थात् वे बैठकर समाधि लगाकर अपने पतिके चरणकमलोंका चिन्तन करने लगीं। ☞ चरण हृदयमें रखनेका भाव यह है कि गुरुजनोंके चरणोंकी पूजा होती है। दास्यभावमें चरणोंसे ही देवताके रूपका दर्शन हुआ करता है, चरणोंकी आरतीभी चार होती है; और अङ्गोंकी एक-

एक होती हैं; क्योंकि चरणके अधिकारी सब हैं। लोकरीति भी है कि अपराध क्षमा करानेके लिये चरण ही पकडे जाते हैं, सतीतनमें जो अपराध हुआ था वह यही क्षमा करायेंगे। पुन., २—सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि—'प्राणपति' से ग्रन्थकारने पार्वतीजीका शिवजीमें अनन्य अनुराग दिखाया। अनुरागके लिये वनमें गईं जहाँ अब केवल प्राणपतिका ध्यान है। इसलिये उमा (शिवजीकी लक्ष्मी) यह नाम अब उचित ही है।—[अथवा, मातापिताके रोकनेपर भी आई हैं और इसीसे यह नाम पड गया जैसा पूर्व लिखा गया, इसीसे यहाँ भी 'उमा' ही नाम दिया गया।] पुनः, ३—सू० प्र० मिश्रजी चरणोंको हृदयमें धारण करनेका भाव यह लिखते हैं कि 'जहाँ चरण रहता है वहाँ शरीरभी रहता है। अर्थात् 'नामैकदेशे नामग्रहणम्' इस न्यायसे शंकरजीको हृदयमें रखकर तप करना आरम्भ किया। दूसरी बात यह है कि देवताओं के रूपका वर्णन पैरसे और मनुष्योंका केशसे होता है। अतएव चरणोंको हृदयमें धरकर तप करना आरंभ किया। "पुन., 'चरण' का अर्थ आचरण भी है। अर्थात् प्राणपतिको जो आचरण (अर्थात् तप) अत्यन्त प्रिय था उसे स्वयं करने लगीं।'

प० प० प्र० कहते हैं कि यहाँ पतिके चरणोंका ध्यान करना ही तपका प्रधान अंग है। ध्यानकी दृढताके लिये ही आगे आहार नियन्त्रणरूपी तपका उल्लेख है। आहार नियन्त्रण या आहार-त्याग मुख्य तप नहीं है। पति पद-ध्यान ही मुख्य है, इससे उसका उल्लेख प्रथम किया है।

वि० त्रि०—'प्राणपति' कहकर दुष्कर तपकी सुकरता दिखलाई। प्राणपतिके लिये दुष्कर कुछ भी नहीं है। इसीसे एकाग्रता भी सूचित की।

४—'जाइ बिपिन' इति। पद्मपुराणमें लिखा है कि—वे हिमालयके उस प्रदेशमें गईं जहाँ देवताओंकाभी पहुँचना कठिन था। वहाँका शिखर परम पवित्र और नाना प्रकारकी धातुओंसे विभूषित था। सब ओर दिव्य पुष्प और लताएँ फैली हुई थीं, फूलोंपर भ्रमर गुंजार कर रहे थे। ७३ (६-८) नोट ४ देखिए।

नोट—५ 'अति सुकुमार ' इति। (क) बाल्यावस्था होनेसे 'अति सुकुमार' कहा। अनन्यानुरागका यही लक्षण है कि मनुष्य सामर्थ्यसे बाहरका काम करता है। अति कोमल शरीरसे कठिन तपश्चर्या करती हैं यह सामर्थ्यसे बाहरका काम है। (ख)—द्विवेदीजी लिखते हैं कि—'पति-पद'=पतिके चरण। वा, पति-पद=पतिका स्थान कैलाश। 'पति पद' को स्मरणकर कि पतिके संगसे जो कैलासमें सुख था उसके आगे यह सांसारिक भोगसुख तुच्छ है, यह समझकर उस अपूर्व सुखके लिये साधारण सुखको छोड़ दिया। ज्यों ज्यों तपसे सांसारिक अनुराग छूटता जाता है त्यों-त्यों नित्य नया-नया अनुराग बढता जाता है। कहावत प्रसिद्ध है—'ज्यों ज्यो भीजै कामरी त्यों-त्यो भारी होय।' (मा० प०)। पद्मपुराणमें लिखा है कि वनमें जाकर उन्होंने अपने सब वस्त्र और आभूषण उतार डाले और दिव्य वल्कल धारण कर लिये, कटिमें कुशोंकी मेखला पहन ली।—यह सबभी 'तजेउ सब भोगा' में आ गया। प्राणपतिके स्मरणमें जो सुख है, उसके सामने समस्त भोग तुच्छ हैं।

टिप्पणी—२ 'नित नव चरन उपज अनुरागा' इति। ☞ पार्वतीजी मनकर्मवचनसे शिवजीके चरणकमलोंमें तत्पर हैं। पतिके चरणोंको उन्होंने हृदयमें धारण किया, यथा—'उर धरि उमा प्रानपति चरना', जिह्वासे स्मरण करती हैं, यथा—'पतिपद सुमिरि तजेउ सब भोगू' और मनमें अनुराग हुआ, यथा—'नित नव चरन उपज अनुरागा।'

३ 'बिसरी देह तपहि मनु लागा' इति। मन लगनेपर देहकी सुध नहीं रह जाती, यथा—'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही।' ☞ यहाँ क्रमसे, पहिले नारदपदपंकजमें प्रणाम हुआ, फिर उनके उपदेशसे तप हुआ, तब सब भोगोंका त्याग होनेपर नित्य नवीन अनुराग हुआ। यही भक्तिका क्रम है; यथा—'प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति-रीती॥ एहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम चरन (धरम) उपज अनुरागा।'—(पं० रा० कु०)।

सू० प्र० मिश्रजी—'बिसरी देह०' में प्रमाण 'तदाऽनपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितु प्रचक्रमे' (कुमारसंभवे। ५। १८।)। यह बात शास्त्रका सिद्धान्त है कि जब तक कोई अनुष्ठान किया जाय और उसकी शान्ति अर्थात् उद्यापन न किया जाय तब तक वह सफल नहीं होता। इस शास्त्रकी मर्यादाका पालन पार्वतीजीने पूरी तौरपर किया है। जैसा आगे कहते हैं।

नोट—६ तपका प्रकरण पार्वतीमंगलके तपके प्रकरणसे मिलाने योग्य है, मिलानसे मानसके तप-प्रकरणके भाव स्पष्ट समझमें आजायेंगे।—

'तजेउ भोग जिमि रोग लोग अहिगन जनु। मुनि मनसहु तें अगम तपहि लायो मनु ॥२१॥'
'सकुचहिं बसन विभूषन परसत जो बपु। तेहि सरीर हर-हेतु अरंभेउ बड़ तपु ॥'
(यहाँ तक 'अतिसुकुमार न तन तपजोगू। "भोगू' का भाव हुआ।)
'पूजहि सिवहि समय तिहुँ करहि निमज्जन। देखि प्रेमु ब्रतु नेमु सराहहिं सज्जन ॥२२॥'
नींद न भूख पियास सरिस निसि बासरु। नयन नीरु मुख नाम पुलक तनु हिय हरु ॥
(यहाँ तक 'नित नव चरन उपज अनुरागा।' का भाव हुआ।)
'कंद मूल फल असन कबहुँ जल पवनहिं। सूखे बेल के पात खात दिन गवनहिं ॥२३।'
नाम अपरना भयो परन जब परिहरे। नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरे ॥
देखि सराहहिं गिरिजहिं मुनिवर मुनि बहु। अस तपु सुना न दीख कबहुँ काहु कहुँ ॥
काहु न देख्यो कहहिं यह तपु जोगु फल फल चारिका।
नहि जानि जाइ न कहति चाहति काहि कुधर कुमारिका ॥ (यह तपका प्रकरण है)।

संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरष गवाँए ॥ ४ ॥
कछु दिन भोजन बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपबासा ॥ ५ ॥
बेलपाती* महि परै सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई ॥ ६ ॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नाम तब भएउ अपरना ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—मूल-जड़=खाने योग्य मीठी-मीठी जड़ें। 'मूल' कंद, शकरकंद, बेदारीकंद, आदि फला हारकी संज्ञा है =कंदमूल, यथा करहिं अहार साक फल कंदा। १। १४४।' फल=वनस्पतिमें होनेवाला वह पोषक द्रव्य, या गूदेसे परिपूर्ण बीजकोश जो किसी विशिष्ट ऋतुमें फूलोंके आनेके बाद उत्पन्न होता है। फल संज्ञा उनकी है जो पृथ्वीके ऊपर वृक्षोंमें हों। इनके अनेक भेद हैं। कुछमें केवल एक ही बीज या गुठली रहती है, कुछमें अनेक। कुछके ऊपर बहुत ही मुलायम छिलका रहता है और कुछपर बहुत कड़ा या काटेदार रहता है। सागु (साग, सं० शाक)=पौधोंकी खानेयोग्य पत्तियाँ। इसमें प्रायः पत्ते ही रहते हैं। विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि शाक छः प्रकारके होते हैं।—पत्ते, फूल, फल, डंडी, कन्द और नये-नये अंकुर। बतासा=पवन, हवा। यह शब्द ग्रामीन भाषाका है, बाँदा प्रान्तमें बोलते हुए मैंने सुना है। संभव है कि यह 'बात' का अपभ्रंश हो। विनायकीटीकाकार 'बारि बतासा' का अर्थ 'पानीके बुलबुले' करते हैं, परन्तु 'पार्वतीमंगल' से भी 'जल और पवन' अर्थ ही सिद्ध होता है। वहाँ पार्वती तपका वर्णन इस प्रकार है—'कंद मूल फल असन कबहुँ जल पवनहिं। सूखे बेलके पात खात दिन गवनहिं ॥ नाम अपरना भयउ पर्न जब परिहरे। २३, २४।' बेलपाती-बेल वृक्षकी पत्तियाँ-बेलपत्र। यह शंकरजीपर चढ़ाया जाता है। जैसे

* बेलपाति—१७२१, १७६२, छ०। बेलपात-को० रा०। बेलपाती-१६६१, १७०४। 'बेलपाती' का 'बे' पाठ करते समय ह्रस्व पढ़ा जायगा; एकही मात्रा मानी जायगी; जैसे 'जेहि' के 'जे' में सर्वत्र एक ही मात्रा मानी गई है।

तुलसी शालग्रामपर चढ़ानेका महत्व है वैसे ही शंकरजीपर बेलपत्र चढ़ानेका महत्व है। बेलपत्रका रसभी बहुत सात्विक होता है और लाभदायक होता है। परना (पर्ण)-पत्ते। अपरना (अपर्णा)=पार्वतीजीका नाम।

अर्थ—(पार्वतीजीने) एक हजार वर्ष मूल और फल खाये (फिर) सौ वर्ष साग खाकर बिताये। ४। कुछ दिन जल और पवनका ही भोजन किया (अर्थात् इन्हींके सहारे रहीं)। कुछ दिन कठिन लंघन या कड़ाके किये। ५। जो बेलपत्र सूखकर पृथिवीपर गिरते थे, तीन हजार वर्षतक उन्हींको खाया। ६। फिर सूखे पत्ते भी छोड़ दिये तब (से) उमाका नाम अपर्णा हुआ। ७।

*** संवत सहस मूल फल खाए''' इति। ***

प० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'हजारका दशांश सौ, सौका दशांश दस, दसका दशांश एक, एक वर्षका दशांश छत्तीस (३६) दिन। इस तरह क्रमसे मूल फल, साग, जल, पवन और उपवास हुआ। 'कठिन उपवास' का भाव कि जल और पवन भी भोजन नहीं कहलाता, जल और पवनपर रहनाभी उपवास ही कहलाता है, अतएव इनकाभी त्याग करनेसे 'कठिन उपवास' कहा। 'भोजन वारि बतासा'—जल और पवनको खाकर रहनेका भाव कि उमाजीको इनके सेवनमें भी वैसा ही हर्ष रहता था जैसा भोजन करनेपर सुख मिलता है।—पहले तपम उत्साह दिखाते हैं।'

'बेलपाती महि परै सुखाई। तीनि सहस संवत सोइ खाई।' यह अर्धाली तपक्रमसे प्रतिकूल पड़ती है। ऐसा समझकर मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि यह 'चौपाई क्षेपक जान पड़ती है, क्योंकि ऊपर संपूर्ण तपका क्रम लिख आए और अब सूखे बेलपत्रका खाना और छोड़ना लिखते हैं, यह व्यतिक्रम है।' बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'पाठक्रमसे अर्थक्रम बली होता है, इस न्यायके अनुसार अर्थ यों करना होगा कि शाक भोजन त्यागकर पृथ्वीमें गिरे हुए सूखे बेलपत्र खाने लगीं, उसके पीछे जलही केवल पीने लगीं और अन्तमें केवल वायु सेवन करने लगीं। या, एकबार व्रत समाप्त करके फिर प्रारम्भ किया।' (रा० प्र०)। पंडित रामकुमारजीका भी मत यही है कि 'यहाँ 'तब' और 'पुनि' से तपकी दो आवृत्तियाँ दिखाईं। पहले मूलफलादि छोड़कर उपवास किए। फिर दूसरी आवृत्तिमें सूखे बेलपत्र खाना छोड़कर उपवास किए। गोस्वामीजीके 'पार्वतीमंगल' ग्रन्थमभी कंदमूल, फल, जल, पवन और सूखे बेलपत्र—यही क्रम है, अतः यह क्षेपक नहीं हो सकता। श्रीपार्वतीजीके तपके संबंधमें बहुत प्रकारकी आलोचनाएँ हुई हैं। प्राचीन मानसविज्ञोंने अनेक प्रकारके सुंदर-सुंदर भाव कहे हैं।—

१ किसीका मत यह है कि 'रुद्रीकी कोटिसे तपस्या की। अर्थात् १००० वर्ष मूलफल फिर उसका दशांश १०० वर्ष साग दोनों मिलकर ११०० वर्ष हुए। ११ रुद्रीका स्वरूप है। इस प्रकार एक रुद्री तप पूरा हुआ। जल, पवन और उपवासके व्रत धारण करनेमें दिनकी गिनती नहीं दी है। परन्तु जैसे पहले क्रमम मूल, फल और साग तीन वस्तुएँ हैं, वैसेही दूसरे क्रममेंभी जल, पवन और उपवास तीन वस्तुएँ कही हैं। इसलिए यहाँ भी वही क्रम समझा जाय। अर्थात् वारि बतासा १००० वर्ष, उपवास सौ वर्ष। इस प्रकार दूसरा एकरुद्री तप यह हुआ। इतनेपर जब कोई वरदायक न आया तब तीसरी प्रकारका अधिक कठिन तप किया।' यह बात कालिदास महाराजके 'कुमारसंभव' से भी पुष्ट होती है। प्रमाण यथा—सर्ग ५ श्लो० १८—'यदा फलं पूर्वं तपः समाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम्। तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥' अर्थात् पूर्व तपसे जब वाञ्छित फलकी प्राप्ति न देखी तब अपने शरीरकी सुकुमारताका किंचित्भी विचार न करके उन्होंने अति कठिन तप प्रारम्भ किया। ३००० वर्ष सूखे बेलपत्र, फिर ३०० वर्ष वह भी छोड़े रहीं, यह ३३०० वर्षका तीन रुद्री तप हुआ।—सब मिलकर पाँच रुद्री तप हुआ। भाव यह कि शंकरजी पंचमुखी हैं, इस विचारसे पंचरुद्री तप किया गया।

२ बैजनाथजी लिखते हैं कि—'१००० वर्ष मूलफल खानेसे दशो इन्द्रियाँ शुद्ध हुईं, १०० वर्ष

शाक भाजी खानेसे देहाभिमानको जीता, कुछ दिन अर्थात इसका दशाश १० वर्ष जल, पवनका सेवन करनेसे मन शुद्ध हुआ, फिर कुछ दिन अर्थात् इसका दशाश एक वर्ष उपवास किया; तब चित्त थिर हुआ। इस प्रकार पहले ११११ वर्षका एक पुरश्चरण किया। जब कोई वरदायक न आया तब दूसरा पुरश्चरण इसका तिगुना अर्थात ३३३३ वर्षका किया। इस प्रकार कि ३००० वर्ष गिरे हुए सूखे बेलपत्र, ३३३ वर्ष फिर उनको भी त्यागे रहीं, जिससे बुद्धि शुद्ध हुई और तीनों अवस्थाएँ जीत तुरीया अवस्था शिवरूपमें लय हुई।'

वि० त्रि० भी दस वर्षतक जल और वायुका आहार और एक वर्ष कठिन उपवास मानते हैं। इनके मतसे ११०० वर्षकी एक रुद्री हुई फिर ११ वर्षकी दूसरी रुद्री हुई।

३ शास्त्रका सिद्धान्त है कि जबतक कोई अनुष्ठान किया जाय और उसकी शान्ति अर्थात् उद्यापन न किया जाय तबतक वह सफल नहीं होता। इस शास्त्रमर्यादाका पालन पार्वतीजीने पूरी तौरपर किया है। शान्ति दशाशसे होती है। अथवा, यह कह सकते हैं कि—जपयज्ञकी रीतिसे तप किया गया। यज्ञमें यज्ञ, तर्पण, मार्जन, विप्रभोजन और दक्षिणा ये पाँच अंग होते हैं। यहाँ १०००वर्ष मूल फल–यह यज्ञ हुआ, इसका दशाश १०० वर्ष साग–यह तर्पण हुआ, इसका दशाश १० वर्ष जल पवन—यह मार्जन हुआ। पुनः ३००० वर्ष बेलपत्र भोजन—यह विप्र भोजन हुआ, उसका दशाश ३०० वर्ष उपवास–यह दक्षिणा है। इस प्रकार जप–यज्ञ किया गया।

४ सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'कठिन क्रिया साधते-साधते अन्तमे सिद्धि होती है। इस लिये १००० वर्ष मूल फल (अर्थात् मूल याने जड़ें मिलीं तो वही खालीं, फल मिला तो उसीको खा लिया दोमेंसे जो मिला वही। वा, पहले मूल खाती रहीं, उसके बाद फल जो उससे भी हलके होते हैं खाए गए)। उसके बाद मूलफलकी अपेक्षा हलके पदार्थ साग खाकर १०० वर्ष बिताए गए। कुछ दिन सागसे भी हलका पानी पिया गया और फिर उससे भी हलका हवा पाई गई। उसके बाद और कठिन उपवास किया गया। 'कठिन' से समाधि अभिमेत है। अर्थात् समाधि लगाकर उपवास किया जिसमें हवाका पीनाभी छोड़ दिया। 'कछु दिन' से जान पड़ता है कि यह जल पीना, पवन पीना और समाधि लगाकर उपवास करना वर्ष दिनके बीच ही में किया गया, जो कई वर्ष तक किए जाते तो ग्रंथकार वर्ष (शब्द) का प्रयोग करते।'

५ रामायणीजी कहते हैं कि 'यहाँपर उपदेशहेतु क्रमशः तप दिखाया गया है। पहले राजभोग व्यञ्जनादि छोड़ जड़ें जो निरस होती हैं उनका सेवन किया। जब मूल अनुकूल हो गया तब फल और तत्पश्चात् शाक, फिर जल अन्तम पवनका आधार लिया। ये सब क्रमशः एकसे एक निरस हैं।'

☞ महानुभावोंने जो सुंदर कल्पनाएँ की हैं, वह इधर रामायणियोंने भी अपनाई और कतिपय *विद्वान् टीकाकारोंने भी उनको अपनाया है। पर मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो यह आता है कि—(१)* श्रीपार्वतीजी की सारी तपश्चर्या मुख्य अनुष्ठान ही है न कि—अनुष्ठान और उसकी सागता। सागता अनुष्ठानका अंग होता है और अनुष्ठानकी अपेक्षा बहुत कम और सुगम होता है। उसमें अनुष्ठानसे अधिक कष्ट तो कभी भी नहीं होता। (२)—तपकी दो आवृत्तियाँ तपश्चर्याके प्रसगमे जो देखनेमें आती हैं, उसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि प्रथम अनुष्ठानसे जब मनोरथकी सिद्धि न हुई तब उन्होंने पहलेसे अधिक कड़ा अनुष्ठान ठाना, शरीरकी किंचित् परवा न करके घोरतप प्रारम्भ किया। कालिदासजीका भी यही मत है। यथा—'यदा फलं पूर्व तपः समाधिना न तावता लभ्यममस्त काङ्क्षितम्। तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे।' (कुमारसंभव सर्ग ५। १८)। दूसरे यह भी हो सकता है कि प्रथम अधिकारप्राप्त्यर्थ अनुष्ठान किया गया, तत्पश्चात् मुख्य तप प्रारंभ किया गया। इस भावके प्रमाणमें हम गायत्री आदि मन्त्रोंके पुरश्चरण की विधि ले सकते हैं। उन अनुष्ठानोंमें प्रथम अधिकारप्राप्त्यर्थ कृच्छ्रादि अनुष्ठान किया जाता है, उससे शुद्धि हो जानेपर तब मुख्य अनुष्ठान होता है। यहाँ प्रथमावृत्तिमें जो तप किया गया वह भी अधिकार सिद्ध्यर्थ हो सकता है, क्योंकि इसमें जो आहार किया गया वह प्राकृत आहार है—फल, मूल, साग लोग खाते ही

हैं और जैसे कृच्छ्रादिमें अन्तमें उपवास होता है वैसेही यहाँभी उपवास किया गया। तत्पश्चात् दूसरी आवृत्ति जो हुई उसमें सूखी बेलपत्ती खाई गई, जो प्राकृतिक आहार नहीं है। यह मुख्य अनुष्ठान प्रथमावृत्तिसे बहुत कड़ा है, क्योंकि इसमें प्राणोंकी बाजी लगी है। जिसकी उपासना की जाती है उसकी प्रिय वस्तुसे ही तप किया जाता है। शिवजीको बेलपत्र बहुत प्रिय है, इसीसे अनुष्ठान उसीसे प्रारम्भ किया गया। जैसे कि गणेशजीकी तपश्चर्यामें दूर्वादल या उसका रस ग्रहण किया जाता है। ☞ इस प्रकार मुख्य तप 'बेलपाति महि परै सुखाई' से प्रारम्भ हुआ—ऐसा कहें तो अनुचित न होगा।—अब जो रुद्रकोटि तप या जपयज्ञरीतिका तप आदि भाव महानुभावोंने लिखे हैं उनपर विचार करना है।

☞ रुद्री किसे कहते हैं? इस पर जो मुझे पण्डितोंके द्वारा जानकारी हुई उसे यहाँ लिखता हूँ। (१) शुक्ल यजुर्वेदकी संहितासे कुछ मन्त्रोंको चुनकर उनका संग्रह एकत्र किया गया, जिसमें सूर्य, गणेशजी आदि देवताओंके स्तुतिपरक मन्त्र होते हुए भी शिवपरक मन्त्र ही अधिक हैं। अतः इसका नाम 'शुक्ल यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी' रक्खा गया। इसीको कर्मकांडी पंडित व्यवहारमें 'रुद्री' कहते हैं। यद्यपि वेदपाठका सामान्य फल पापनाश वा पुण्यप्राप्ति है तथापि इस रुद्राष्टाध्यायीका विनियोग विशेषतः शिवजीके अभिषेकमें किया जाता है। एक पात्रमें नीचेकी ओर महीन छेद करके उसमें जलभरके शिवजीके ऊपर टाँग देते हैं जिससे उनपर अखण्ड जलधार गिरा करती है। साथ ही पास बैठकर उपर्युक्त मन्त्रोंका पाठ किया जाता है।—इसीको 'अभिषेक' कहते हैं। यद्यपि इस संग्रहके अन्तमें 'शान्त्यध्याय' और 'स्वस्तिप्रार्थनामन्त्राध्याय' जोड़ दिये गये हैं तथापि इसे 'अष्टाध्यायी' ही कहते हैं। इसके पाठके कुछ प्रकार हैं। इसके आदिसे अन्ततक यथाक्रम पाठको 'सकृदावर्तन' कहते हैं। इसके पञ्चमाध्यायको 'नमक' कहते हैं, क्योंकि इसमें 'नमः' शब्द बारबार आया है तथा अष्टमाध्यायको 'चमक' कहते हैं, क्योंकि उसमें 'चमे' शब्द बारबार आया है। चमकमें जो मन्त्र हैं उनके ग्यारह भाग किये हैं जिसमें किसीमें चार तो किसीमें तीन और किसीमें दो या एक ही मन्त्र हैं। जब नमक अर्थात् पंचमाध्याय समग्र पढ़ा जाता है तब चमकका प्रथम भाग पढ़ा जाता है, फिर नमकको पढ़कर चमकका दूसरा भाग पढ़ते हैं, इत्यादि रीतिसे जब नमक ग्यारह बार पढ़ते हैं तब चमकके समग्र भागोंकी एक आवृत्ति पूरी होती है। नमकके पूर्वके चार अध्यायों तथा नमकके आगे चमकतक दो अध्यायोंमें जो मन्त्र हैं उनको प्रथमावृत्तिके समय यथाक्रम पढ़ा जाता है। अर्थात् प्रारम्भमें जो नमकका पहला पाठ होता है तब उस समय पहली बार नमकके पूर्वके चारों और आगेके दो अध्यायोंकाभी पाठ कर लिया जाता है फिर नहीं। दूसरे आवर्तनसे इन (छः अध्यायोंके) मन्त्रोंको छोड़ दिया जाता है, केवल नमक-चमकका ही साथ रहता है और ग्यारह आवर्तन (अर्थात् चमकका अंतिम भाग पढ़ने) पर आगेवाले दो अध्यायोंके पाठसे शान्ति और प्रार्थना करके समाप्ति करते हैं। इस प्रकारके पाठको 'रुद्र' कहते हैं। ग्यारह (११) रुद्रोंका एक 'लघुरुद्र', ग्यारह 'लघुरुद्रों' का एक 'महारुद्र' और ग्यारह महारुद्रोंका एक 'अतिरुद्र' होता है।

इसी प्रकार कृष्णयजुर्वेदके 'आपस्तंब' संहिताके कुछ मन्त्रभागकोभी 'रुद्र' कहते हैं। उसमें भी 'नमक' और 'चमक' दो भाग हैं। प्रत्येक भागमें ग्यारह ग्यारह भाग हैं जिनको 'अनुवाक' कहते हैं। उसका भी पाठक्रम वैसा ही है—एक बार समग्र नमक तब एक चमक। इस प्रकार ग्यारह बार नमक पढ़नेसे चमककी एक आवृत्ति होती है। इस अनुष्ठानको 'एकादशिनी' कहते हैं। ग्यारह एकादशिनीका एक 'लघुरुद्र' होता है। इत्यादि। ☞ अब विज्ञ पाठक देखें कि उपर्युक्त अनुष्ठानके साथ श्रीपार्वतीजीके तपका क्या मेल या संबंध है? यहाँ तो दो मन्त्रभागोंका हेरफेर है और यहाँ तो मन्त्रका नाम भी नहीं। सम्भवतः किसी शिवमन्त्रका जप अवश्य रहा होगा, परन्तु गोस्वामीजीने कोई उल्लेख नहीं किया (जैसे कि मनुशतरूपाजीके तपप्रसंगमें किया है)। यहाँ तो केवल वर्ष और दिनोंका उल्लेख किया गया, सो भी आहारकी अवधि दिखानेके लिये। क्या १२०० वर्षमें ११ संख्यामें 'रुद्रों' तक कहनेका कोई प्रमाण है? 'रुद्री' नामका प्रयोग करनेके

लिये ही ११११, ३३३३, ६६६६ आदिकी कल्पनायें पंडितोंने संभवतः की हैं, यद्यपि गोस्वामीजीके शब्दोंमें इन संख्याओंका उल्लेख नहीं है और न हमें पद्मपुराण, कुमारसंभव, शिवपुराणमें ही इन संख्याओंकी कल्पनाका कोई प्रमाण मिला।

जपयज्ञकी रीतिसे तप करना कहनेमें यह आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं कि—(१) जो भक्त इष्टकी प्राप्तिका सकल्प करेगा, वह संख्याका निश्चय नहीं करेगा। उसका ध्येय तो यही होगा कि जबतक न मिलेंगे तबतक कठिनसे कठिन तप करता रहूँगा। वह न मन्त्रकी संख्या कर सकता है, न दिनोंकी। (२)—दूसरे, जपयज्ञका विधान शास्त्रोंमें यह है कि—जपका अनुष्ठान पूरा करके तब उसका दशांश होम, होमका दशांश तर्पण और तर्पणका दशांश मार्जन (अभिषेक) और इसका दशांश या अधिक ब्राह्मणभोजन। यदि होमादिका सामर्थ्य न हो तो जपद्वारा जो होमादि किया जाता है उसकी संख्या इस प्रकार है कि दशांशके हिसाबसे होमादिकी जो संख्या ऊपर कही गई है उसमें होम के बदलेमें चतुर्गुण जप होना चाहिए और शेषमें प्राप्त संख्याका द्विगुण जप होना चाहिए। यथा—'दशांशहोमविचार ॥ जपान्ते प्रत्यह मन्त्री होमयेत्तद्-शांशतः। तर्पणं चाभिषेकं च विप्रभोजनमाचरेत् ॥ अथवा सर्वपूर्वौ च होमादिकमथाचरेत् ॥ ६८ ॥ होमाद्यशक्तौ ॥ यथदग मवेद्भस्म तत्सख्याद्विगुणो जपः। होमाभावे जप कार्यो होमसख्याचतुर्गुणः। ६६।'—(दुर्गाकल्पद्रुम शास्त्रार्थ परिच्छेदान्तर्गत जप विषयकविचार)। जपयज्ञकी इस कसौटीपर कसनेपर जपयज्ञरीत्यनुसार तपकी कल्पना की भीति किंचित् देरभी नहीं ठहर पाती। इस कल्पनाके अनुसार मूलपुरश्चरण केवल एक हजार वर्षका था और उसके बाद जो बहुत उग्र तप हुआ वह सांगतामात्र ठहरी।—कितनी अनुचित कल्पना है? फिर होमा-दिका सामर्थ्यभी हिमाचलराजको है ही, वे करा सकते थे। (३)—जपयज्ञमें जो संख्या प्रारम्भ की जाती है वही नित्य समाप्ति तक होनी चाहिये, नहीं तो वह जपही व्यर्थ होजाता है। यथा—'यत्संख्यया समारब्धं तज्जप्तव्य दिने दिने। यदि न्यूनाधिक कुर्याद् व्रतभ्रष्टो भवेन्नरः। ६५।' (श्रीदुर्गाकल्पद्रुम)। (४) वर्षोंमें दिनोंकी संख्या एकसी नहीं होती। वर्षमें दिन घट-बढ़भी जाते हैं। अधिक मासभी होता है। तब एकहजार वर्षका दशांश सौ कैसे होगा? जपसंख्यामें जब अदल-बदलका निषेध है तब कैसे मान लिया गया कि एक हजार वर्षमें जितना जप या तप हुआ उसका ठीक दशांश सौ वर्षमें होगा? इसी कठिनाई को विचारकर ही आचार्योंने जप विषयक विचार मे संख्याका दशांश कहा है, दिनका नहीं क्योंकि दिन घटते बढ़ते हैं। इत्यादि।

रुद्रकोटि अथवा जपयज्ञरीति कहनेमे बलात् जल, पवन और उपवासके लिये सौ, दश और एक वर्षकी कल्पना करनी पड़ती है जो कविके शब्दोंसे विरुद्ध है। कविके शब्द हैं—'कछु दिन भोजन बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपबासा।' हमारी समझमें श्रीसुधाकर द्विवेदीजी ठीकही कहते हैं कि 'कछु दिन' से ज्ञात होता है कि जल, पवन और उपवास वर्ष दिनसे कमही सेवन किए गए अथवा वर्ष दिनके बीचमें ही किये गए। यदि कई-कई वर्ष किये गए होते तो यहाभी कवि वर्ष शब्दका प्रयोग करते।

पं० श्रीकान्तशरणजीने एक कल्पना और भी की है। वे लिखते हैं कि 'श्रीपार्वतीजीने यवाकार तपस्या की है।' इस तरह कि प्रथम पुरश्चरण ११११ वर्षोंका हुआ। फिर ३००० वर्ष बेलपत्र आहारसे रहीं, फिर ३०० वर्ष उसेभी त्यागके रहीं, इसपर मनोरथ सिद्धिका वर मिल गया। नहीं तो ३०, ३ वर्षका करके ३३३३ वर्षोंका दूसरा पूरा होता। फिर ६६६६ का तीसरा, तब ३३३३ का चौथा पुनः ११११ का पांचवाँ पुरश्चरण यवाकृति होकर पूर्ण होता।'—विज्ञ पाठक अब स्वयं विचार लें। प्रथम तो इसका प्रमाण क्या कि पार्वतीजीने ऐसा ठाना था। दूसरे इष्टप्राप्ति तीसरेमें भी न होती तो तप घटा देतीं—क्या यह बात स्वीकार करने योग्य है? न मिलनेपर और कठिन व्रत करतीं या कि घटातीं? दूसरे, उनके वाक्यमें 'वदतो व्याघात' दोष है। पहले तो वे लिखते हैं कि 'यवाकार तपस्या' की और फिर लिखते हैं कि 'यवाकृति होकर पूर्ण होता'। तीसरी आपत्ति इस कल्पनामें यह आ पड़ती है कि 'यवाकार' शब्द तपके साथ हमें कहीं

नहीं मिला। हाँ! चान्द्रायण व्रतके सम्बंधमें पिपीलिकामध्य और यवमध्य दो भेद मनुस्मृतिमें मिलते हैं। जब व्रत शुक्लपक्षसे प्रारम्भ होता है तब वह यवमध्य कहलाता है और जो कृष्णपक्षसे प्रारम्भ होता है वह पिपीलिकामध्य कहा जाता है। यथा 'एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्द्धयेत्। उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्। एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे। शुक्लपक्षादिनियतः चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥' (मनुस्मृति ११। २१६, २१७)। अर्थात् कृष्णपक्षकी प्रतिपदासे एक एक ग्रास प्रति दिन कम करता जाय और शुक्ल पक्षमें एक एक बढ़ाता जाय। त्रिकाल स्नान करे। यह पिपीलिकामध्यचान्द्रायण व्रत हुआ। इसी प्रकार शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे आरम्भकर एक एक ग्रास प्रतिदिन बढ़ाता जाय फिर कृष्णपक्षमें एक एक ग्रास घटाता जाय—यह यवमध्य चान्द्रायण व्रत है। दोनों व्रतोंका सम्बंध चन्द्रमाके घटने बढ़नेसे है।

नोट—१ 'भोजन वारि' 'बेलपाति महि परै सुखाई' इति। (क) श्रीउमाजी जलमें केवल वही जल पीती थीं जो अपनेही आप प्राप्त हो जाता था, जैसे वनके वृक्ष केवल वर्षाजलहीपर रहते हैं और चातक स्वातीके जलपर, वह भी जो उसके मुखमें सीधा आकर पड़े, यहभी नहीं कि जो इधर उधर गिरे। यथा कुमारसम्भवग्रंथे (सर्ग ५ श्लोक २२)—'अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः। बभूव तस्याः किल पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः ॥' अर्थात् बिना मांगे जो जल मिल जाता उसे अथवा चंद्रकिरण पान करती थीं जैसे कि वृक्ष अनायास प्राप्त जल और किरणसे संतुष्ट होते हैं। (ख) इसी प्रकार बेलपत्रभी वे वही खाती थीं कि जो पेड़मेंसे सूखनेपर स्वयं गिरे। पत्तियोंको हाथसे तोड़नेसे वृक्षोंकी हिंसा होती है, इसलिए जो आपसे आप सूखकर पृथ्वीपर गिरती थी उसीको खाती थीं। पद्मपुराण सृष्टि खण्डमें लिखा है कि प्रति दिन व केवल एक बेलपत्र खाकर रहती थीं। यह बात सूचित करनेके लिये ग्रंथकारने 'परै' एकवचन क्रिया यहाँ दी है। (ग) बेलपत्र पर शिवजीका बड़ा प्रेम है (जैसे तुलसी पर भगवान्का), इस लिए उन्होंने पतिके प्रिय वस्तुको ग्रहण किया। ☞ स्मरण रखना चाहिए कि बेलपत्र और तुलसीके सेवनसे सत्वगुणकी वृद्धि होती है। (घ) यहाँ तीन हजार वर्ष बेलपत्रका खाना लिखा गया। कितने दिन उसे छोड़े रहीं, उसका उल्लेख नहीं है।

२ 'पुनि परिहरे सुखानेउ परना।' इति। (क) 'पुनि' शब्द देकर यहाँ तपकी दूसरी आवृत्ति, अनुष्ठान वा पुरश्चरण सूचित किया। जैसा पूर्व लिखा जा चुका है। कितने दिनों तक बेल पत्रका खाना छोड़े रहीं, इसका पता नहीं। पार्वतीमंगल, कुमारसम्भव और पद्मपुराणमभी इसका उल्लेख नहीं है, सर्वत्र केवल छोड़नेपर 'अपर्णा' नाम होनेका उल्लेख पाया जाता है, यथा—'नाम अपरना भयो परन जब परिहरे। नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरे। २४।', 'स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता पराहि काष्ठा तपसस्तया पुनः। तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥' (अर्थात् यह तपकी पराकाष्ठा है कि पार्वतीजीने आपही आपसे गिरेहुए पत्ते जो भोजन करती थीं वहभी छोड़ दिया। इसीसे प्रियवादिनी पार्वतीको पुराणोंके विज्ञ 'अपर्णा' कहते हैं। कुमारसम्भव सर्ग ५ श्लोक २८)। इसके बाद श्लोक २९ में कहा है कि—'तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा।' जिससे स्पष्ट है कि पत्तोंका खाना छोड़नेपर कठिन उपवास फिर किया। पुनश्च यथा—'शुष्कानि चैव पर्णानि नाशितानि तया यदा। अपर्णेति च विख्याता बभूव तनुमध्यमा।' (स्कंदपुराण)। अर्थात् जब उन्होंने सूखे पत्तोंका खाना भी छोड़ दिया तब उनका नाम 'अपर्णा' होगया।

सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि भविष्योत्तर पुराणमें चौसठ वर्ष सूखे पत्ते खाना लिखा है, यथा—'संवत्सर चतुः षष्टिं पक्वपर्णाशिनं व्रतम्।' और हरिवंशमें लिखा है कि हिमाचलके तीन कन्यायें थीं, जिनमेंसे एकका नाम अपर्णा था, यथा 'तिस्रः कन्यास्तु मेनायां जनयामास शैलराट्। अपर्णामेकपर्णां च तृतीयामेकपाटलाम्। (पूर्वखंड अ० २४)। 'कल्प भेद हरि चरित सुहाए' ही इसका समाधान है। मानसकल्पमें वही

था जैसा मानसकविने लिखा है।

३ यहाँतक चरणोंका प्रताप दिखाया कि पतिपदके प्रभावसे ही वे सब भोगादि छोड़कर तपमें क्रमशः बढ़ती गईं।

देखि उमहि तप खीन सरीरा। ब्रह्मगिरा भै गगन गभीरा ॥ ८ ॥

दोहा—भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि।

परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि ॥ ७४ ॥

शब्दार्थ—'खीन' (क्षीण)=दुर्बल; दुबला पतला।=सूखा हुआ।

अर्थ—तपसे उमाका शरीर अत्यन्त क्षीण देखकर आकाशसे गंभीर ब्रह्मवाणी हुई। ८। हे गिरिराजकुमारि! सुन। तेरा मनोरथ सिद्ध हुआ। अब (ये) सारे कठिन क्लेश त्याग दे। (अब) शिवजी तुझे निश्चय ही मिलेंगे। ७४।

टिप्पणी—१ (क) 'देखि उमहि तप''' इति। क्षीणसे जनाया कि तपसे शरीरमें हड्डीमात्र रह गई थी। (जैसा मनुजीके सम्बन्धमें कहा है—'अस्थि मात्र होइ रहे सरीरा')। शरीर क्षीण हो जानेसे यह संदेह हुआ कि शरीर अब न रहेगा, प्राण निकल जायँगे। इसीसे अब आकाशवाणी हुई। ब्रह्मगिरा=ब्रह्मवाणी=ब्रह्माकी वाणी, यथा—'सुनत गिरा बिधि गगन बखानी। पुलक गात गिरिजा हरषानी ॥' [(ख) सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'पुनि परिहरे सुखानेउ परना' इससे शरीरमें दुर्बलता दिखाई गई। अर्थात् कठिन तपसे देहकी हड्डी रह गई। अब सूखे पत्ते भी नहीं खाये जाते। तब देखनेवाले देवता लोग उमाको 'अपर्णा' 'अपर्णा' कहने लगे। अर्थात् क्षीण शरीर हो जानेसे देवताओंको संदेह हुआ कि उमा मर न जाय, इसलिये ब्रह्मलोकमें दोहाई देने लगे कि अब तो उमा 'अपर्णा' हो गई। इस कोलाहलसे ब्रह्माजीने देखा कि सचमुच उमाका शरीर क्षीण हो गया है। वे विस्मित हो गए जैसे सप्तर्षि हुये हैं; यथा 'देखि दसा मुनि बिसमय भयऊ।' तब आकाशसे ब्रह्मवाणी हुई। 'ब्रह्म' से परब्रह्म श्रीरामजी अभिप्रेत हैं, क्योंकि ५१वें दोहेके छन्दमें कह आये हैं कि 'सोइ राम ब्यापक ब्रह्म'''।' गंभीर वाणी हुई जिसमें उनके दुर्बल कानोंतक पहुँचे। वि० त्रि० जी कहते हैं कि रुद्राणी पद देना है, इसके देनेवाले ब्रह्म ही हैं, ब्रह्मा नहीं। यथा 'बिधिहि बिधिता हरिहि हरिता हरहि हरता जो दई। सो जानकी पति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई।']

२—'भयउ मनोरथ सुफल तव''' इति। (क) यहाँ 'माँगु बर' न कहकर 'भयउ मनोरथ सुफल तव' कहनेका भाव कि श्रीपार्वतीजीका मनोरथ प्रसिद्ध है, सब जानते हैं कि शिवप्राप्त्यर्थ वे तप कर रही हैं। नारदजीका यही उपदेश था। हिमाचल और वेदशिरा आदि सभी मुनि जानते हैं। अतएव आकाशवाणीने यह न कहा कि वर माँगो जैसा औरोंसे कहा है। यथा 'माँगु माँगु बरु भइ नभ बानी। परम गंभीर कृपामृतसानी। १। १४५।' इति मनुप्रसंगः, 'गयउ निकट तप देखि बिधाता। माँगहु बर प्रसन्न मैं ताता। १। १७७।' इति रावणप्रसंगः, 'गए बिभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर माँगु। १। १७७।' इति विभीषण प्रसंगः, 'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही। ३। ११।' इति सुतीक्ष्णप्रसंगः, 'काक भसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि। ७। ८३।' इति कागभुशण्डिप्रसंगः। पुनः, (ख) 'माँगु बर' न कहनेका दूसरा भाव यह है कि उमाजीको प्रकट रूपसे पतिका वर माँगनेमें संकोच होगा; यथा 'कहत बचन मनु अति सकुचाई' (दोहा ७८में ऐसा पार्वतीजीने सप्तर्षियोंसे कहाही है)। इसीसे वर माँगनेको न कहा गया।

नोट—१ 'सुनु गिरिराजकुमारि' इति। सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि—'ज्योतिषशास्त्रमें लिखा है कि जिस मनुष्यके बहुतसे नाम हों, उनमेंसे किस नामसे उसके भले-बुरेका विचार किया जाय, इसके लिये जब वह मनुष्य सुखसे सोजाय तब उसे उसके प्रत्येक नामसे पुकार-पुकारकर जगाया जाय। जिस नामके पुकारनेसे वह जाग उठे वही उसका सच्चा नाम समझो और उससे भले बुरेका विचार करो। परन्तु यदि

खाली उस मनुष्यको पुकारना ही हो जिसके कई नाम हों तो उसके बापका नाम लेनेसे वह आदमी तुरन्त समझ जायगा कि मुझे पुकारते हैं। नारदजीने पार्वतीके तीन नाम रक्खे—उमा, अंबिका, भवानी। इन्हें छोड़ पार्वतीजीको तुरन्त समझनेके लिये ब्रह्मवाणीने बापके नामके साथ उन्हें पुकारा।' ☞ वर देनाभी माधुर्यमें ही है। अतः गिरिराजकुमारि संबोधन किया। पुनः, अपने व्रतमें अचल होनेसे 'गिरिराज' का सम्बन्ध दिया।

२ 'परिहरु दुसह कलेस सब' इति। (क) भाव कि जिस कार्यके लिये तप कर रही थीं वह कार्य हो गया, अतएव अब उसे करनेका प्रयोजनही क्या रह गया? यथा 'जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि। ४। १६।', 'तापस तप फलु पाइ जिमि सुखी सिरानें नेमु। २। २३६।' (ख) 'सब' अर्थात् कंद, मूल, फल, साग पत्ते, जल, पवन और उपवास आदि। राजभोग आदिके त्यागसे जो क्लेश हैं, पतिपरित्याग आदिका जो क्लेश है, एवं तपका क्लेश—इत्यादि 'सब क्लेश' हैं।

टिप्पणी—३ 'अब मिलिहहि त्रिपुरारि' इति। (क) 'अब' का भाव कि पार्वतीजीके चित्तमें संदेह था कि मिलना कठिन है, यथा 'मिलन कठिन मन भा संदेहू।' अतः ब्रह्मवाणीने 'अब मिलिहहि' कहकर संदेह दूर किया। (ख) 'मिलिहहिं' का भाव कि यहीं आकर ब्याह ले जायँगे, ऐसा न होगा कि शैल राज तुम्हें वहाँ ले जाकर दे आवें जैसा कि राजाओंके यहाँ जहाँ तहाँ रीति है। मनुमहाराजने अपनी कन्या कर्दम ऋषिको जाकर दी थी। (ग) 'त्रिपुरारि' इति। प्रथम कहा कि 'भयउ मनोरथ सुफल तव।' क्या मनोरथ है?—यह नहीं कहा। पार्वतीजी अभी बालिका हैं। इतना मात्र कहनेसे कदाचित् उन्हें संदेह रहजाय तो ब्रह्मवाणीका होना न होना बराबर हो जायगा। अतः निस्संदेह करनेके लिये यहाँ मनोरथको स्पष्ट कर दिया कि—'मिलिहहिं त्रिपुरारि।'—[(घ) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—सतीत्यागका प्रण करनेपर सतीजीने शिवजीसे अनेक प्रकारसे पूछा था कि आपने क्या प्रण किया है पर शिवजीने उस समय न बताया था। दोहा ५७ की आठवीं अर्धालीमें ग्रन्थकर्ताने 'जदपि सती पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती।' कहा था। वही 'त्रिपुर आराती' (=त्रिपुरारि) यह नाम ब्रह्मवाणी द्वारा ग्रन्थकारने यहाँ भी कहा। इसके भाव वहाँ लिखे जा चुके हैं]।

* श्रीपार्वतीतप और श्रीमनुशतरूपातपका मिलान *

श्रीपार्वतीतप (दोहा ७३-७४)	श्रीमनुशतरूपा तप (१४३-१५१)
१ मातु पिता बहुबिधि समुझाई।	बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा
२ चली उमा तप हित हरषाई। जाइ बिपिन लागीं तप करना	नारि समेत गवन बन कीन्हा
३ अति सुकुमार न तनु तप जोगू।	कृस सरीर मुनिपट परिधाना
४ 'पतिपद सुमिरि तजेउ०'—	सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा
५ नित नव चरन उपज अनुरागा	बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग।
६ संबत सहस मूलफल खाए। सागु खाइ सत बरष गँवाए	करहिं अहार साक फल कंदा
७ कछु दिन भोजन बारि बतासा	बारि अहार मूल फल त्यागे।
	एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार।
	संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार॥
८ किये कठिन कछु दिन उपवासा	बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ
९. देखि उमहिं तपखीन सरीरा	अस्थि मात्र होइ रहे सरीरा।
१०. 'ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा।	माँगु माँगु बर भइ नभ बानी।
भया मनोरथ सुफल तव०'	परम गँभीर कृपामृत सानी॥

११. परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिँ त्रिपुरारि'	नृप तव तनय होब मैं आई।
१२. 'अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी। ""हठ परिहरि घर जायहु तबहीं'	अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी॥
१३. सुनत गिरा बिधि गगन बखानी। पुलक गात गिरिजा हरषानी॥	श्रवन सुधा सम बचन सुनि प्रेम प्रफुल्लित गात""प्रेम न हृदय समात।

अस तपु काहु न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ज्ञानी॥ १॥
अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी॥ २॥

अर्थ—हे भवानी! अनेक धीर मुनि और ज्ञानी होगये पर ऐसा (अस) तप किसीने नहीं किया। १। अब (इस) श्रेष्ठ ब्रह्मवाणीको सदा सत्य और निरन्तर पवित्र जानकर हृदयमें धारण करो। २।

नोट—१ 'अस तपु काहु न कीन्ह' इति। (क) 'अस' अर्थात् जैसा कठिन तप तुमने किया। जो 'पतिपद सुमिरि तजेउ सब भोगू' से लेकर 'देखि उमहि तप खीन सरीरा' तक ऊपर कहा गया। (ख) 'काहु न कीन्ह' का भाव कि मुनियोंने भी कठिन तप किये हैं पर उनकी ऐसी छोटी और सुकुमार अवस्था न थी जैसी तुम्हारी थी। मनु शतरूपाजीका तप तो इससे भी कठिन था पर वे जब तप करने गये थे उस समय उनका चौथा पन था और शरीर हृष्ट पुष्ट था। (ग) कुछ लोग लिखते हैं कि 'अस तप' का भाव यह है कि 'तुमने जिस कामनासे (अर्थात् पतिप्राप्त्यर्थ) तप किया इस कामनासे और किसीने नहीं किया।' या, पतिके लिये ऐसा तप नहीं किया (अर्थात् और मनोरथोंके लिए ऐसा तप किया गया है)। या, केवल पार्वतीजीकी बड़ाईके लिए ऐसा कहा।' (पं० सू० प्र० मिश्रजी)।—पर ब्रह्मवाणीके 'परिहरु दुसह कलेस सब' और 'भए अनेक धीर मुनि ज्ञानी' से इसका विरोध होगा। ब्रह्म वाणी असत्य नहीं होती। यहाँ 'अस' का भाव 'ऐसा कठिन' ही विशेष संगत है। यही भाव कुमारसंभव सर्ग ५ श्लोक २९ से भी प्रमाणित होता है; यथा—'मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम्। तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा॥' अर्थात् कमलनालसदृश अपने कोमल शरीरको इस प्रकारके कठिन व्रतोंसे रात दिन गलादेनेवाली श्रीपार्वतीजीने मुनियोंके कठिन शरीरसे किये हुये तपसमूहका अत्यन्त तिरस्कार किया। पुनः, 'अस तप'=इस विधिसे तप; अर्थात् पहले मूल फल खाकर, फिर साग, इसके बाद जल और वायु पीकर और तदनन्तर उसे भी छोड़कर ध्रुव आदिने भी तप किए पर हवा पीते थे। हवा पीना भी छोड़कर तप करना यह पार्वतीहीका काम था। अतः 'अस तपु काहु न कीन्ह' कहना उचित ही है। (मा० प०)। (घ)—☞ प्रसन्न होने पर ही वर दिया जाता है। यथा '"अति प्रसन्न मोहि जानि। माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि। १. १४८।' इति मनुप्रसंगः; 'अब प्रसन्न मैं संसय नाहीं। मागु जो भूप भाव मन माहीं॥ १. १६४।' इति कपटीमुनि-भानुप्रतापप्रसंगः; 'मागहु बर प्रसन्न मैं ताता। ""एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा। १. १७७।' इति रावणप्रसंगः। इत्यादि। अतएव 'भएउ मनोरथ सुफल तव""' यह वर देकर अब अपनी प्रसन्नताका कारण 'अस तपु काहु न कीन्ह' इत्यादि से कह रहे हैं कि धीर, मुनि और ज्ञानी अनेक हुये जिन्होंने तप किया पर पवन भी न पिया हो, कठिन उपवास किये हों और यह भी छोटी कोमल अवस्थामें, यह किसीने नहीं किया। अतः मैं बहुत प्रसन्न हूँ।

२ 'भवानी' इति। प्रथम कहा कि 'अब मिलिहहिं त्रिपुरारि'। 'मिलिहहिं' से हो सकता है कि मिलेंगे, पर पति बनेंगे या नहीं यह संदेह रह ही गया। इसके दूर करनेके लिये अब 'भवानी' संबोधन किया। प्रथम 'गिरिराजकुमारि' नाम दिया था और अब 'भव' से संबंध होनेका वर देनेपर 'भवानी' संबोधनद्वारा सूचित करते हैं कि शंकरजी तुम्हारे पति हो गए, तुम अबसे शिवजीको अपना पति और अपनेको उनकी पत्नी समझो। इसमें संदेह न करो। ☞ जैसे मनु और शतरूपाजीको वर देकर कि मैं तुम्हारा पुत्र

होऊँगा अपनी वाणीकी सत्यता दिखानेकेलिये वर देनेके बाद उनको श्रीरामजीने 'तात' और 'मातु' संबोधन किया; यथा 'तहँ करि भोग बिसाल तात गए कछु काल पुनि। ''', 'मातु बिबेकु अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें।' वैसेही यहाँ 'मिलिहहिं त्रिपुरारि' कहकर उन्हें 'भवानी' संबोधनकर अपनी वाणीकी सत्यता दृढ़ की।

टिप्पणी—१ 'अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी।''' इति। (क) इससे अनुमान होता है कि पार्वतीजीके हृदयमें यह अभिलाषा हो रही थी कि शिवजी स्वयं आकर मिलें, दर्शन दें और वर दें तब मैं तप छोड़ूँगी, यथा 'तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू। १।८१।' नारदजीने यह कहते हुये भी कि 'दुराराध्य पै अहहिं महेसू' यह भी कहा था 'आसुतोष पुनि किएँ कलेसू'; इससे उनको विश्वास था कि वे स्वयं आकर प्रसन्न होकर वर देंगे। पर शिवजी न आए। प्रायः यही रीति है कि जिस देवताके लिये अनुष्ठान किया जाता है वही प्रकट होता है। सतीतनत्यागके लिये ही प्रतिज्ञा थी सो वह तन छूटकर दूसरा जन्म भी हो गया और फिर उनके लिये तप भी किया गया तब भी वे स्वयं न आये। इसीसे आकाशवाणी यह कहकर कि 'अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी॥' तथा 'मिलहिं तुम्हहि जब सप्तरिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा।' उनको आश्वासन दे रही है, विश्वास करा रही है। (ख) 'उर धरहु' अर्थात् ऐसी धारणा करलो, इस बात को हृदयमें धारण करलो, इसे भूलना नहीं, इसमें विश्वास रक्खो। यथा 'अस उर धरि महि बिचरहु जाई।' (यह नारदजीसे भगवान ने कहा है। १।१३८।) पुनः, [भाव कि 'इस ब्रह्मवाणीको तुम प्रकाश मत करो, क्योंकि तुम कन्या हो। केवल इसको विश्वास करके हृदयमें रक्खो, किसीसे कहनेका काम नहीं है। (सू० प्र० मिश्र)। पुनः, 'ब्रह्म बर बानी'=ब्रह्मकी वरके लिये अर्थात् पतिके संबंधकी जो वाणी हुई कि 'अब मिलिहहिं त्रिपुरारि' उसे हृदयमें धारण करो। (सुधाकर द्विवेदीजी)।] (ग) 'सत्य सदा संतत सुचि जानी' इति। सदा सत्य है अर्थात् ब्रह्मवाणी झूठ न कभी हुई, न है, न होगी। 'संतत सुचि' अर्थात् कभी अशुच न हुई, न है, न होगी। 'शुचि' का भाव कि ब्रह्मवाणी से किसीके साथ कभी छल नहीं हुआ; यह वेदरूप है; वेद सब वाणियोंमें श्रेष्ठ है, सत्य है, इसमें अधर्म नहीं है। ☞विश्वास दिलानेके लिये ब्रह्म अपने वाणीकी वा, ब्रह्मवाणी अपनी प्रशंसा कर रही है।—(आशय यह है कि जो हमने 'अब मिलिहहिं त्रिपुरारि' और 'भवानी' यह कहा है, इसमें संदेह न करो। क्या चिन्ता है कि शिवजी स्वयं नहीं आए, पर यह निश्चय है कि वे अब शीघ्र मिलेंगे। अतः अब क्लेश मत उठा। पुनः सत्य और शुचि दोनों विशेषण देकर सूचित करते हैं कि इसमें झूठका लेश नहीं है। सत्य अपावन भी होता है। जिस सत्यसे किसीका प्राण जाय, वह 'सत्य' पावन नहीं है जैसे कि कसके प्रसंगमें और द्रोणाचार्यवधके प्रसंगमें हुआ। तथा भाव कि इसमें 'कुंजरो वा नरो वा' का सा सत्य नहीं है)।

आवै पिता बोलावन जबहीं। हठ परिहरि घर जाएहु तबहीं॥ ३॥
मिलहिं तुम्हहि जब* सप्तरिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा॥ ४॥
सुनत गिरा बिधि गगन बखानी। पुलक गात गिरिजा हरषानी॥ ५॥
उमा-चरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा॥ ६॥

शब्दार्थ—बागीशा=वाणियोंमें श्रेष्ठ=ब्रह्मवाणी।

अर्थ—जभी (जिस समय ही) पिता बुलाने आवें तभी (उसी समय) हठ छोड़कर घर चली जाना। ३। जब तुम्हें सप्तर्षि मिलें तब (इस) ब्रह्मवाणीको प्रमाण (सत्य, ठीक, चरितार्थ वा ठीक घटता हुआ) जान लेना। ४। आकाशसे कही हुई ब्रह्मवाणीको सुनते ही गिरिजाजी हर्षित हुईं। उनका शरीर

* मिलिहिं जबहिं अब—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। मिलहि तुम्हहि जब—१६६१, १७०४, को० रा०।

पुलकित हो गया। ५। (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं-) मैंने सुंदर उमाचरित गा-सुनाया। अब शिवजीका सुंदर चरित सुनो। ६।

नोट—१ (क) 'आवें पिता बोलावन जबहीं। …' इति। पिताने ही माताको तपकी शिक्षा देनेके लिये भेजा था। इस तरह यह पिताका ही वचन हुआ जिसे मानकर गिरिजाजी तप करने आई थीं। इसीसे कहा कि जब वे बुलाने आवें तब जाना। बिना उनकी आज्ञा घर जानेसे पिताकी आज्ञाका उल्लंघन होगा। दूसरे, उमाजीका मनोरथ तो पूरा ही हो गया, पर अभी महादेवजीकी परीक्षा बाकी है जो सप्तर्षियों द्वारा होनी है। इन कारणोंसे तुरंत घर जानेको न कहा। तीसरे, इन्हीं दो बातोंके द्वारा अपनी वाणीको प्रमाण करेंगे; अतः ऐसा कहा। (सू० प्र० मिश्र)। ☞ सम्भवतः वरदान अभी गुप्त ही रखना है। पिताके बिना बुलाये घर जानेसे एक तो सबको वरदानका पता लग जायगा, और यदि घर जानेपर वरदानकी बात गुप्त रक्खेंगी तो बिना वरदान पाये तप अधूरा छोड़ देनेसे कार्यसिद्धिमें संदेह होनेसे माता पिता दुखी होंगे। अतः ऐसा कहा। (ख) 'हठ परिहरि घर जायहु…' से जान पड़ता है कि इसके पूर्वभी पिता कई बार बुलाने आये थे, पर ये हठ करके नहीं गईं। पुनः 'घर जायहु०' का भाव कि तुम्हारा काम हो ही गया, पर बिना घर गए विवाहका संयोग नहीं होगा, इसलिये बुलाने आवें तब तुरंत चली जाना, जिसमें तुरंत विवाहका कार्य आरंभ हो सके। इसीसे 'तबहीं' कहा।

टिप्पणी—१ 'मिलहिं तुम्हहि जब सप्त रिषीसा।०' इति। (क) यह वाणीकी सत्यताका चिह्न बताया। जैसे लंकिनीको निशिचरकुलसंहारका चिह्न ब्रह्माजीने बताया था; यथा 'जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा। बिकल होसि तैं कपिके मारे। तब जानेसु निसिचर संहारे। ५।४।' भाव यह कि यदि तुम्हें पिता बुलाने आवें और सप्तर्षि आवें, ये दोनों बातें मिलें, सही निकलें, तो यह भी सत्य जान लेना कि तीसरी भविष्य-वाणी 'मिलिहहिं त्रिपुरारि' भी सत्य होगी, उनकी सत्यता इसकी सत्यता का प्रमाण होगी।—(मनु-शतरूपाजीके प्रसंगमें और रावणके अत्याचारपर देवताओंकी पुकारपरभी आकाशवाणियां हुईं पर उनमेंसे किसीमेंभी इतना प्रमाण देकर प्रेमसे वाणीकी सत्यताका विश्वास दिलाना नहीं पाया जाता। यहाँ एक भविष्यके प्रमाणके लिये दो भविष्य और कहे गए और सत्य एवं शुचि होनेका विश्वास करनेको कहा गया। यह क्यों? इससे स्पष्ट है कि शिवजी स्वयं वर देनेको नहीं आये, इसीसे पार्वतीजीको विश्वास नहीं होता था कि हमारा तप सिद्ध हुआ, शिवजी हमारे पति होंगे। अतएव बारंबार समझाते हैं और प्रमाण देते हैं।)। [(ख) 'सप्तरिषीसा'=सप्तर्षि। ☞ यह सात ऋषियोंका समूह या मंडल होता है। शतपथ ब्राह्मणके अनुसार सात ऋषियोंके नाम ये हैं—गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि। महाभारतके अनुसार—'मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वसिष्ठ। (श० सा०)। ☞ एक कल्प अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगी या ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु और मन्वन्तर होते हैं। प्रत्येक मनु एकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक समय तक अपना अधिकार भोगता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न मनु, मनुवंशी नृपतिगण, सप्तर्षि, देवता, इन्द्र तथा उनके अनुयायी गंधर्वादिका एक मंडल रहता है। (भा० ३। ११, २४)। इसलिये सप्तर्षि मंडल भी प्रत्येक मन्वन्तरमें भिन्न भिन्न होता है। स्वायंभुव मन्वन्तरमें मरीचि आदि ही सप्तर्षि होते हैं। स्वारोचिष मन्वन्तरमें अत्रि, दत्तात्रेय, च्यवन, स्तम्ब, प्राण, कश्यप, और बृहस्पति। औत्तम मन्वन्तरमें ऊर्ज नामके—कौकिभिण्डि, कुतुण्ड, दालभ्य, शङ्ख, प्रवाहित, मित और सम्मित। तामसमें कवि, पृथु, अग्नि, अकपि, कपि, जन्य तथा धामा। रैवतमें देवबाहु, सुबाहु, पर्जन्य, सोमप, मुनि, हिरण्यरोमा और सप्ताश्व। चाक्षुषमें भृगु, सुधामा, विरज, विष्णु, नारद, विवस्वान् और अभिमानी। वैवस्वत मन्वन्तरमें अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, गौतम, योगी भरद्वाज, विश्वामित्र और जमदग्नि ये सप्तर्षि मंडल रहते हैं। इस समय वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है अतः अब तकके सप्तर्षियोंके नाम लिखे गए। इसके आगे सात मन्वन्तर और हैं जिनके नाम हैं—सावर्ण्य, रौच्य,

भौत्य, मेरुसावर्णि, ऋभु, वीतधामा और विष्वक्सेन। (पद्मपुराण सृष्टिखंड)। ☞ जिस कल्पमें जिस मन्वन्तरमें पार्वतीजी का चरित हुआ हो, उसके अनुकूल सप्तर्षि मंडल यहाँ समझना चाहिये। पर यह निश्चय है कि उस मंडलमें नारदजी नहीं थे क्योंकि उनके रहते हुए सप्तर्षि नारदजीकी निंदा कैसे करते? कुमारसम्भवके मतसे यह कथा वैवस्वत मन्वन्तरकी होगी क्योंकि उसमें वसिष्ठजी और अरुन्धतीजीका भी नाम है—७७ (८) 'तबहिं सप्तरिषि सिव पहिं आए' नोट २ देखिए। विष्णुपुराणमें केवल वैवस्वत मन्वन्तरमें ही वसिष्ठजीका नाम सप्तर्षियोंमें पाया जाता है, अन्यमें नहीं। यथा 'विवस्वान् सुतो विप्र श्राद्धदेवो महाद्युतिः। मनुस्सवर्तते धीमान् साम्प्रतं सप्तमेऽन्तरे॥'''वशिष्ठः काश्यपोऽथात्रिर्जमदग्निस्सगौतमः। विश्वामित्रो भरद्वाजौ सप्त सप्तर्षयोऽभवन्॥' (विष्णुपुराण अंश ३। १। ३०, ३२)। वशिष्ठजीका नाम प्रथम होने से वे इस मंडलमें प्रधान जान पड़ते हैं।—विष्णु पुराण अंश ३ अध्याय १ और २ में चौदहों मन्वन्तरों के सप्तर्षियोंकी नामावली दी हुई है। अधिक देखना हो तो पाठक वहाँ देखें। ☞ इन्हीं सप्तर्षियोंके नामसे उत्तर दिशामें सात तारागणका एक समूह रहता है जो ध्रुवके चारों ओर फिरता दिखाई देता है। सम्भव है कि ये ऋषियोंके लोक हों]।

टिप्पणी—२ 'सुनत गिरा विधि गगन बखानी। ' इति। (क) ☞ यहाँ 'ब्रह्मवाणी' का अर्थ स्पष्ट कर दिया कि 'विधिकी कही हुई वाणी' है। (अधिक लोग 'विधि' से 'विधानकर्ता श्रीरामजी' यह अर्थ करते हैं क्योंकि आगे शिवजीको भी ये ही समझानेको प्रकट होंगे)। (ख) 'पुलक गात' यह हर्षका लक्षण है। 'पुलक गात गिरिजा हरषानी' इस कथनमें यह भी अभिप्राय भरा हुआ है कि उनका शरीर जो तपसे क्षीण हो गया था, वह ब्रह्मवाणी सुनने पर पुनः फूलकर ज्योंका त्यों हो गया, जैसे मनुशतरूपाजी ज्योंके त्यों हो गये थे। यथा 'मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई॥ हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए। मानहुँ अबहिं भवन ते आए॥ १। १४५।' [(ग) श्रीपार्वतीजीके हर्षका उल्लेख इस प्रसंगके आदि, मध्य और अन्त तीनों में दिखाया गया है। प्रथम 'सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहि उमा हरषानी॥' ६८ (१) में, (पार्थिव शरीरके कारण जो किंचित आवरण माधुर्यमें था वह नारद-वचन सुनकर हट गया अतः हर्ष हुआ)। दूसरी वार, माता पिता तप करने जाने देंगे इसमें संदेह था अतः तपके लिए आज्ञा पाकर जानेमें हर्ष हुआ—"मातु पितहि बहु बिधि समुझाई। चलीं उमा तप हित हरषाई। ७३ (७)।" और तीसरी वार संदेह था कि शंकरजी पतिरूपमें मिलेंगे या नहीं, अतः'अब मिलिहहिं त्रिपुरारि" यह ब्रह्मवाणी सुनकर हर्ष हुआ।]

३ "उमा-चरित सुंदर मैं गाया। " इति। (क) यहाँ 'उमा चरित' संपुट हुआ। "जब ते उमा सैल गृह जाईं। ६५। ७।" उपक्रम है और "उमाचरित सुंदर मैं गावा" उपसंहार है। (ख) 'उमा चरित सुंदर' और 'संभु कर चरित सुहावा', अर्थात् एकमें 'सुंदर' और दूसरेमें 'सुहावा' पद देकर दोनोंके चरितोंकी समानता दर्शित की।

प० प० प्र०—'श्रीउमा शिव चरित्र' जैसे यह एक ऐतिहासिक घटना है वैसे यह प्रदीर्घ रूपक है। श्रीमदाचार्यकृत 'सौन्दर्यलहरी' में 'आनन्द लहरी' के ४१ श्लोकोंमें जिस कुण्डलिनी महायोगका वर्णन है, उसका सार ही इस उमाशिवचरित्र रूपकमें है।

उमा और सच्चिदानन्दघन शिवका निवास ब्रह्मरंध्ररूपी कैलासपर्वतपर था। सती उमा हरिमाया मोहित हुईं और प्रदीर्घ काल तक उनका वियोग हुआ। फिर सतीने योगानलमें देहत्याग किया और 'जनमी जाइ हिमाचल गेहा'। उमा=महेशजीकी मायाशक्ति। इस माहेश्वरी शक्तिको ही कुण्डलिनी शक्ति शिवा कहते हैं—(ज्ञानेश्वरी अ० ६ देखिए। पर्वत=पीठकी रीढ़=ब्रह्मवंश रज्जु पर्वतका गेह=पृथ्वीतत्त्वका स्थान मूलाधार चक्र। इसके समीप नीचे एक कुण्डलाकार नाड़ीमें निवास करनेसे उसको कुण्डलिनी नाम प्राप्त हुआ, यही शिवजीकी शक्ति है।

पश्चात् श्रीनारद-सद्गुरुकी कृपासे वह जागृत हो गई और शिवकी प्राप्तिके लिये क्रियाशील बनी। 'जौं तप करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।' शम्भु कृपासेही शाम्भवकी आत्म-स्वरूप शिवकी प्राप्ति होती है। स्थूलदेहाहंकार, सूक्ष्मदेहाहंकार और कारण देहाहंकार ही त्रिपुरासुर हैं। इसका विनाश शिव शक्तिसे ही होता है।

महायोगकी प्रक्रिया ही तप है।

'उरधरि उमा प्रानपति चरना।'''' 'सागु खाइ सत बरष गँवाए' इस प्रकार सभी भोगोंका त्याग किया। अन्नाहार, पौष्टिकाहारका भी त्याग किया और कन्दमूल फल भक्षण करके एक सहस्र वर्ष तप किया।

'कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः' मनुष्यकी देहमें मूलाधार चक्रके नीचे 'कन्द' नामक स्थान है। इसके ऊपर और मूलाधारके नीचे कुण्डलिनीका स्थान है, उसका त्याग करके निकलीं। कन्द मूल फल पृथ्वीतत्त्वके ही विकार हैं, उनको भक्षण करती रहीं। भाव यह कि मूलाधार (पृथ्वीतत्त्वका चक्र) में प्रवेश करके पृथ्वीतत्त्वका भक्षण किया। 'पार्थिव धातु आयवी। आरोगिता (खानेपर) काढ़ीं भुरी' (ज्ञानेश्वरी ६। २३६)। तत्पश्चात् मूल फलादि खाना भी छोड़ दिया। भाव कि मूलाधार चक्रको छोड़कर ऊपर चलीं और 'कछु दिन भोजन बारि बतासा' किये। भाव यह कि जलतत्त्वके स्वाधिष्ठान चक्रमें प्रवेश किया और शरीरमें जो जलतत्त्व है उसका प्राशन करने लगीं, उसका शोषण कर दिया। पश्चात् अग्नितत्त्वके मणिपूरक चक्रका भेदन करके सुषुम्नामार्गमें ऊपर जाना पड़ता है तब हृदयमें वायुतत्त्वके अनाहत चक्रमें प्रवेश किया; यह बात 'कछु दिन भोजन बारि बतासा' से कही है। दीर्घ काल तक अनाहत चक्रपर रहीं। पश्चात् वायुतत्त्वका भी त्याग किया; अर्थात् अनाहत चक्रसे निकलकर आकाशतत्त्वके 'विशुद्ध' चक्रमें प्रवेश किया।—'किये कठिन कछु दिन उपवासा'।

जब तक श्वासोश्वासकी क्रिया चलती है तब तक जलको त्याग देनेपर भी वायुका आहार तो होता ही रहता है। वायुका भी त्याग किया इससे सिद्ध हुआ कि कुछ समाधि अवस्थामें गया। 'बिसरी देह तपहि मन लागा।' ज्ञानमयं तपः आत्मज्ञानमें मन लगा दिया। इतनी दीर्घ तपश्चर्या करनेपर भी शिवजी प्रसन्न न हुए, यह देख इससे भी कठिन तपका निश्चय किया।

'बेल पाति महि परइ सुखाई।''''' अर्थात् केवल एक बिल्वपत्र खाकर रहगईं। बिल्वपत्र त्रिदल होता है।—भाव यह है कि विशुद्ध चक्रका भी त्याग करके आज्ञा चक्रमें प्रवेश किया। इडा, पिंगल और सुषुम्ना नाड़ियोंका संगम ही त्रिदल बिल्वपत्रके समान है। इस चक्रमें स्थित रहकर पार्वतीजीने शिवपद कमलका ध्यान किया। जो कोई आज्ञाचक्रमें घटिकात्रय तक स्थिरवनी रस (विषयाशारहित होकर) रहता है उसको आत्मज्ञान होता है, यह योग शास्त्रका सिद्धान्त है। 'ई=ईषत्। ज्ञा=ज्ञान' जिसमें होता है वह आज्ञा चक्र है। इसका स्थान भ्रूमध्यमें बताया जाता है। इसीको त्रिकूटाचल, त्रिवेणी संगम, वाराणसी आदि नामोंसे उपनिषदोंमें और सन्तोंने बखाना है। आज्ञा चक्रमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है; बड़े-बड़े हार मानकर अभ्यास छोड़ देते हैं; ऐसा श्रीएकनाथजी महाराजने श्रीभागवतटीकामें स्पष्ट कहा है। कोई बड़भागी ही इसमें प्रवेश करता है। इस चक्रमें तीन घड़ी भी स्थिर रहना बड़ा भारी कठिन काम है, किन्तु पार्वतीजी इसमें ३००० वर्ष स्थिर रहीं। फिर भी शिव प्रसन्न नहीं हुए। अब इस चक्रका भेदन करके सहस्रार चक्रमें प्रवेश किया—'पुनि परिहरेउ सुखानेउ परना'। जब सहस्रारमें प्रवेश होता है तब शिव-मिलनकी आशा सफल होनेकी शक्यताकी अनुभूति होती है। जब आज्ञा चक्रसे सहस्रारमें प्राणका शक्तिका प्रवेश होता है तब विशिष्ट ध्वनि सुननेमें आती है। यही यहाँ मानों 'ब्रह्म गिरा गगन गभीरा' है। यह ब्रह्म-गिरा श्रीरामजीकीही है, रामभक्त नारदका आशिष सत्य करनेकी जिम्मेदारी तो श्रीरामजी पर ही रहती है।

पश्चात् सप्तर्षिरूपी सिद्धियाँ खड़ी होकर परीक्षा लेती हैं। सिद्धियोंके प्रलोभनसे वचनेपर आकाश वाणीकी आज्ञानुसार कुछ कालके लिये भवानी भवनमें आकर रहने लगीं। यहाँ फिर सिद्धियों आदि रूपी

विघ्नोंका सामना करना पड़ा। सप्तर्षिने फिर परीक्षा ली और अव्यभिचारिणी भक्ति देख ली तब शिवजी ब्रह्मरंध्ररूपी कैलाससे किंचित् नीचे उतरकर हिमालयमें आ गए और शिवशक्ति पार्वतीका पाणिग्रहण कर अपने धर्मरूपी वाहनपर उनको अपने पास बिठा लिया। और उमासहित कैलासरूपी ब्रह्मरंध्रमें सुखसे विलास करने लगे।

श्रीपार्वती जन्म तप अर्थात् उमाचरित-प्रकरण समाप्त हुआ।

❀ श्रीशंभु-चरित-प्रसंग ❀

जब तें सतीं जाइ तनु त्यागा। तब तें शिव मन भयउ बिरागा॥ ७॥
जपहिँ सदा रघुनायक नामा। जहँ तहँ सुनहिं राम-गुन-ग्रामा॥ ८॥

अर्थ—जबसे सतीजीने (दक्षयज्ञमें) जाकर शरीर त्याग किया तबसे शिवजीके मनमें वैराग्य होगया। ७। वे सदा श्रीरघुनाथजीका (राम) नाम जपते और जहाँ-तहाँ श्रीरामजीके गुणग्राम (यश, चरित, गुणोंकी कथा) सुना करते। ८।

नोट—१ "जब तें सतीं जाइ तनु त्यागा। " इति। यहाँ यह शंका होती है कि "क्या पूर्व वैराग्य न था जो यहाँ कहते हैं कि सतीजीने तन त्याग किया 'तबसे' वैराग्य हुआ? क्या पूर्व वे रागी थे?" इसका समाधान भिन्न भिन्न प्रकारसे लोगोंने किया है—(क) कैलासस्थलमें जो उनका प्रेम था उससे वैराग्य हो गया। इसी कारणसे उन्होंने सतीजीके वियोग में कैलासको छोड़ दिया और उतरकर इधर-उधर बिचरने लगे, यथा "दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरें॥ सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरउँ बेरागा॥ ७।५६।" सतीजी जब कैलाश पर रहती थीं तब श्रीहरिकथावार्त्ता का सत्संग रहा करता था। उनके न रहनेसे वह सुख जाता रहा, इससे चित्तमें उचाट होगया। (पं० रा० कु०, बाबा हरिदास)। पुनः (ख) "मन भयउ बिरागा" अर्थात् घरमें रहकर भक्तके विरह का दुःख सहा न गया अथवा घर नहीं सुहाता। इसलिये घर छोड़ तीर्थाटन करने लगे। (मा० त० वि०)। पुनः, (ग) कुमारसम्भवमें कालिदासजीनेभी लगभग ऐसाही लिखा है। उनके कथनानुसार भाव यह है कि सतीमरणके पश्चात् फिर उन्होंने विषयसंग छोड़ अपत्नीक रहना ही स्वीकार किया। यथा 'यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्ष रोषात्सुदती ससर्ज। तदाप्रभृत्येव विमुक्त सङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत्॥ सर्ग १। ५३।' अर्थात् जिस समयसे सतीजीने दक्षयज्ञमें शरीर त्याग किया, उसी समयसे शिवजी विषयोंके संगको छोड़कर अपत्नीक हुये। अर्थात् अन्य स्त्रीका ग्रहण न किया। पुनः, (घ) बिरागा='विशेष राग'। भाव कि देह और प्राणसे अधिक प्रिय कोई वस्तु नहीं है सो उस प्रिय तनको सतीजीने श्रीशिवजीके वियोगमें भस्म कर दिया। शिवजीका प्रेम सतीजीमें तो पूर्वसे ही था; यथा 'परम पुनीत न जाइ तजि किये प्रेम बड़ पाप।'; सतीतनत्याग होनेपर वह प्रेम अब और भी बढ़ गया—यह दो कारणोंसे। एक तो यह सोचकर कि इन्होंने हमारे निमित्त देह भी त्याग दिया। दूसरे इससे कि 'सतीतन रागका प्रतिबन्धक था, क्योंकि उसके लिये प्रतिज्ञा थी कि 'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।' वह शरीर अब छूट गया। उस (प्रतिबंधकता) के मिटनेसे अब विशेष प्रेम हुआ।' (रा० प्र०, पां०)। पुनः, (ङ) पहले सतीजीमें प्रेम था अब वैराग्य हो गया, क्योंकि उन्होंने सोचा कि संग दुःखदायी ही था, अब स्वतन्त्र हो गए। सतीजीमें माताभाव कर लिया था, सतीतनमें पत्नी भाव न रखनेकी वे प्रतिज्ञा कर चुके थे, जिससे सतीजी दुःखित रहती थीं। उनको दुःखित देखकर शिवजीके चित्तमें भी दुःखका होना सम्भव था। (रा० प्र०)। सदा विरागरूप होनेपर भी, गृहस्थको लोकसंग्रहके लिये, स्त्री रक्षा कर्त्तव्यरूपसे प्राप्त रहती ही है। घरपर रहना ही पड़ता है। यदि बाहर जाय तो स्त्रीको साथ रखना पड़ता है, रागा भासको स्वीकार करना पड़ता है, अब वह भी नहीं रह गया। अतः कहते हैं 'तब ते सिव मन भयउ बिरागा' (वि० त्रि०)।

२ 'जपहिं सदा रघुनायक नामा।' इति। (क) सदा रामनाम जपते हैं, यथा 'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती॥ १। १०८।' तथा 'संतत जपत संभु अविनासी। १।४६।' (ख) ☞ ग्रन्थकारने जो उपदेश ग्रन्थकी समाप्तिपर दिया है कि 'रामहि सुमिरिय गाइय रामहिं। संतत सुनिय रामगुनग्रामहिं। ७। १३०।', वह सब बातें यहाँ शिवजीमें दिखाते हैं। (मा० पी०)। पुनः 'सदा जपहिं' का भाव कि पहिले सतीजीसे बातचीत करनी ही पड़ती थी, तब जप बंद रहता था, अब सदा जप होता है। (वि० त्रि०)।

उपदेश	चरितार्थ
रामहि सुमिरिय	जपहिं सदा रघुनायक नामा
गाइय रामहि	कतहुँ रामगुन करहिं बखाना
सुनिय रामगुनग्रामहि	जहँ तहँ सुनहिं रामगुनग्रामा

☞ तात्पर्य यह कि यह उनकी दिनचर्या है। किंचित् भी समय भजनसे खाली नहीं जाने देते।

दोहा—चिदानंद सुखधाम सिव बिगत मोह मद काम*।
बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम†॥७५॥

अर्थ—चिदानन्द, सुखके धाम, मोह-मद काम रहित शिवजी समस्त लोकोंको आनंददेनेवाले श्रीरामजीको हृदयमें धारणकर पृथ्वीपर विचरने लगे। ७५।

नोट—१ यदि कोई कहे कि महादेवजी तो कामके नाशक हैं, वे स्त्रीके वियोगसे क्यों खिन्न होंगे, तो उसपर इस दोहेका उल्लेख किया गया। (सू० प्र० मिश्र)। श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'कविने यहाँ शिवजीका माहात्म्य वर्णन किया है, जैसे दोहा ४८ के 'पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी' इस चरणमें उनको 'अखिलेश्वर' कहा है। इस दोहेमें शिवजीके विशेषण और पीछे कहे हुये श्रीरामजीके विशेषणसे 'हरिहरयोर्भेदो नास्ति' इस वचनको सार्थक किया है। जैसे यहाँ 'चिदानंद', 'बिगत मोह मद काम', 'सुखधाम' विशेषण हैं, वैसेही ५० (३) और ५२ (८) में 'जय सच्चिदानंद जगपावन' और '(गईं सती जहँ) प्रभु सुखधामा' हैं। जिसमें मोह—मद—काम न हों वही 'जगपावन' है। जैसे यहाँ 'सकल लोक अभिराम' वैसेही वहाँ '(भरिलोचन) छबिसिंधु (निहारी)' ५० (२) है। जिसके दर्शनसे सकल लोक अभिराम शिवजीके हृदयमें भी विशेष हर्ष हुआ।'—['चिदानन्द सुखधाम' के भाव ५० (३) और ५२ (८) में आ चुके हैं। भाव यह है कि यह न समझो कि ये वियोगविरहसे पीडित होकर घरसे निकल गए। ये तो चिदानन्द हैं, सदा आनन्दरूप हैं। लोकके दिखावमात्रमें ऐसा है, वस्तुतः वे तो लोगोंको आनन्द देनेके लिये इस बहाने कैलाससे निकल पड़े हैं। श्रीद्विवेदीजी 'सकल लोक अभिराम' को शिवजीका विशेषण मानते हैं। प्रायः और सब इसे 'हरि' का विशेषण मानते हैं]।

२ 'विचरहिं महि' इति। (क) पृथ्वीपर विचरनेका भाव कि सांसारिक जीवोंको कृतार्थ करते

* 'मान' पाठ सं० १६६१, १७६२ और १७०४ में है। १६६१ की पोथीमें किसीने 'मान' शब्दको पेंसिलसे घेरकर हाशियेपर पेंसिलसे 'काम' लिखा है। 'काम' पाठ १७२१, छ०, को० रा० की पोथियोंमें है। संभव है कि 'अभिराम' के अनुप्रासके विचारसे लोगोंने 'काम' पाठ कर दिया हो। अनुप्रास होनेसे 'काम' पाठ उत्तम जान पड़ता है। दूसरे दोहा ७६ (२) में 'जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगतविरह दुख दुखित सुजाना' से सूचित होता है कि पूर्व निष्काम होना कहा जा चुका है। इसमें भी यह पाठ समीचीन जान पड़ता है। 'मान' पाठ प्राचीनतम तीन पोथियोंमें होनेसे उसकी अवहेलनाभी नहीं की जा सकती। उसके पक्षमें यह कह सकते हैं कि—'मोह, मद और मान' ये तीनों शब्द किष्किंधाकांडमें एक साथ आये हैं, यथा—'बिमि बुध तजहिं मोह मद माना।' † 'आराम'—मा० दा०, पं०।

फिरते हैं। इससे जना देते हैं कि कैलाससे उतरकर पृथ्वीपर विचरते हैं। 'विचरहिं' आनन्दपूर्वक घूमना फिरना सूचित करता है। सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'भूमि ही कर्मभूमि है, अतएव सब कर्मधर्म पृथ्वी पर ही होते हैं, स्वर्ग तो भोगस्थल है', अतः 'विचरहिं महि' कहा। (ख) 'सकल लोक अभिराम' को 'शिव' का भी विशेषण मान सकते हैं। तब 'लोक' का अर्थ 'लोग' होगा। अर्थात् सभी लोगोंको आनन्द देनेवाले (सबको आनन्द देनेके लिये पृथ्वीपर विचरते हैं)। शिवजीका विशेषण मानें तो इसका स्वरूप आगे दिखाते हैं कि 'कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना।' इत्यादि। ज्ञानियोंसे ज्ञान कहते हैं, उपासकोंसे श्रीरामगुण बखान करते हैं।

कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना। कतहुँ रामगुन करहिं बखाना॥ १॥
जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत-बिरह-दुख दुखित सुजाना॥ २॥

अर्थ—कहीं (तो) वे मुनियोंको ज्ञानका उपदेश करते और कहीं श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका वर्णन करते (अर्थात् श्रीरामयश कहते)। १। यद्यपि (शिवजी) काम और कामनाओंसे रहित (अर्थात् निष्काम) हैं, तथापि वे सुजान भगवान् भक्त (सती) के वियोग दुःखसे दुःखी हैं। २।*

नोट—१ 'कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना।' इति। (क) ☞ मुनियोंको ज्ञानोपदेश करनेका तात्पर्य यह है कि अधिकारीको ज्ञान देनेसे वह ज्ञान और बढ़ता है। शास्त्रोंमें कहा है—'जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि। प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तु शक्तितः॥'—(भास्कराचार्यकृत लीलावती) अर्थात् जलमें तेल, दुष्टमें गुप्त बात, योग्यमें दान और बुद्धिमानमें शास्त्र थोड़ा भी देनेसे विस्तृत हो जाता है। मुनि लोग भगवान्‌का मननकर अन्तःकरण शुद्धकर सत्पात्र हो गए हैं। अतः मुनियोंको अधिकारी और सत्पात्र समझकर ज्ञानोपदेश देते हैं, वह यही कि राम नाम जपो। यथा 'कहीं संभु अधिकारी पाई। १। ४८।' अधिकारी भक्त श्रोता मिलता है तब राम-गुणगान करने लगते हैं। ☞ भाव यह है कि दिनरात श्रीराम गुणानुवादमें ही समय बिताते हैं जिसमें अनन्य भक्ता सतीके विरहका दुःख न व्यापे। यही बात आगे दिखाते हैं। ☞ यहाँ शिवजीके आचरणद्वारा उपदेश देते हैं कि जब अधिकारी श्रोता मिले तब रामगुण कथन करो, वक्ता मिले तो सुनो और दोनोंके अभावमें स्वयं जप, स्मरण, मनन करो, कभी खाली न बैठो। अपेक्षाकी चर्चा पूर्व 'अस कहि लगे जपन हरि नामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा। १। ५२।' में भी कही गई है और ऊपर 'जपहिं सदा रघुनायक नामा' में भी।—भागवत २। १। ५ में भी ऐसा ही उपदेश श्रीशुकदेवजीने किया है, यथा 'तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान्हरिरीश्वरः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥ ५॥' अर्थात् हे परीक्षित! जो अभय चाहता है उसे चाहिए कि सर्वात्मा भगवान् हरि परमेश्वरका सदा कीर्तन, श्रवण और स्मरण करता रहे। इस श्लोकमें श्रोतव्य (वक्तरि सति), कीर्तितव्यश्च (श्रोतरि सति) और स्मर्तव्यश्च (वक्तृश्रोत्रभावे)' ऐसा अन्वयार्थ समझना चाहिये अर्थात् श्रोतासे कहे, वक्ता मिले तो सुने, दोनोंके अभावमें स्मरण करे। (मा० प०)। (ख) प्रथम चरणमें मुनियोंको ज्ञानोपदेश करना कहा पर दूसरे चरणमें किसीका नाम नहीं दिया गया। कारण कि श्रीरामयशश्रवणके अधिकारी श्रीरामोपासक ही होते हैं, उपासकोंका सारा कर्मधर्म एवं सर्वस्व यही है, यथा 'रामहि सुमिरिय

* 'जदपि सुजाना। २।' का अन्वय कई प्रकारसे हो सकता है।—१ 'जदपि अकाम (हैं) तदपि भगवान् (हैं अतः वे) सुजान भक्त विरहदुःख दुखित हैं।' २—'जदपि अकाम (हैं) तदपि सुजान भगवान् भक्त विरह'। ३—'जदपि भगवान (शिव) अकाम (हैं) तदपि सुजान (होनेसे) भक्त'। ४—'जदपि अकाम (हैं) तदपि भगवान् (ऐश्वर्यमान् हैं) सुजान (हैं) और भक्त विरहदुःखसे दुखित (हैं)।' (मा० प०)। ५—'जदपि सुजान अकाम (हैं) तदपि (वे) भगवान भक्त' (मा० ध०)। ६—'जदपि (वे) सुजान भगवान् अकाम (हैं) तदपि भगत'।

गाइय रामहि। संतत सुनिय राम गुन ग्रामहि ।७।१३०।' अतः उपासकोंसे रामगुणकथन करना समझना चाहिए।

❀ 'जदपि अकाम तदपि भगवाना।...' इति। ❀

१—महानुभावोंने इसका अर्थ कई प्रकारसे किया है—(१) 'यद्यपि शिवजी कामनारहित हैं तो भी वे भगवान (ऐश्वर्यवान), सुजान हैं और भक्तोंके वियोगदुःखसे दुःखित होते हैं। भाव कि सतीजीको भक्त जानकर उनके वियोगसे अपनेकोभी खेदित माना।'—(सू० प्र० मिश्र)। (२) 'श्रीशिवजी यद्यपि कामनारहित हैं (अर्थात् उनको विवाहकी इच्छा नहीं है) तथापि भगवान् श्रीरघुनाथजी भक्त पार्वतीजीका दुःख देख दुःखित हुए; क्योंकि सुजान हैं, पार्वतीजीके तप (एवं दुःख) को जानते हैं।' (रा० प्र०)। सू० प्र० मिश्र इस अर्थके विषयमें लिखते हैं कि मेरी समझमें यह अर्थ प्रकरणसे मिलता है। [परन्तु 'जदपि' और 'तदपि' इस बातको निश्चय कराते हैं कि जिसके लिये 'अकाम' कहा है उसीके लिये 'भगवान' इत्यादि भी कहा है। (और भी अन्वय तथा अर्थ पाद टिप्पणीमें दिये गए हैं)]।

२ (क) 'तदपि भगवाना'—'तोभी भगवान्‌ही तो हैं'—ऐसा अर्थ करनेपर भाव यह होता है कि 'अकाम होनेपर भी आप भक्तके विरहदुःखसे दुःखित हो गए, क्योंकि 'भगवान् हैं। भगवान्‌के छः गुणोंमेंसे एक 'करुणा' भी है—'कारुण्यं षड्भिः पूर्णं रामस्तु भगवान् स्वयम्।' दूसरेके दुःखसे दुःखी हो जाना 'करुणा' गुण है, इसी कारण आप उमाके दुःखसे दुःखित हैं। (ख) श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'भगवान्‌के परम भक्त होनेसे (वैष्णवाना यथा शम्भुः) ने भगवानके समान हो गए हैं; इसीसे कहा कि यद्यपि अकाम हैं तो भी ऐश्वर्यसे भरे हैं।' विशेष पूर्व ४६ (२-५) में लिखा जा चुका है। (ग) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'भगवान्' का भाव यह है कि 'कामनाओंको रोकनेमें समर्थ हैं, कामना पास नहीं आ सकती। कामनापर प्रबल हैं सही, तो भी भक्त (सती) के विरहसे दुखी हैं क्योंकि सुजान हैं, निज दासके दुःखसे दुःखी होना ही चाहिये।' (घ) बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि—'अकाम तो जीवभी होते हैं, उन जीवोंसे पृथक् करनेके लिये 'भगवान्' कहा है। (रा० प्र०)। (ङ) यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

३ 'भगत बिरह दुख दुखित सुजाना।' इति। (क) यहाँ 'भगत' से सतीजीका तात्पर्य है। सतीजी आपकी पूर्ण भक्ता हैं। यथा—'जौं मोरे सिव चरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रतु एहू। ५६।', 'सती मरत हरि सन बरु माँगा। जनम जनम सिव पद अनुरागा। ६५।', 'जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी। ८१।', इत्यादि। इसी अभिप्रायसे 'अकाम, भगवाना और सुजान' विशेषण दिये गये हैं। कोई यह न समझे कि शिवजी कामसे दुःखित हैं, इसी लिये कहा कि वे 'अकाम' हैं; यथा 'हमरे जान सदा शिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी। ९०।'; उन कामनाओंसे रहित हैं तब वे दुःखित क्यों हैं? क्योंकि वे सुजान हैं। वे जानते हैं कि भक्ता सती एक तो विरह दुःखसेही जाकर दक्षयज्ञमें मरीं, यथा 'हर बिरह जाइ बहोरि पितु कें जग्य जोगानल जरी। ९८।' तथा अब पार्वतीतनमेंभी पुनरसंयोगके लियेही कठिन क्लेश उठा रही हैं और अबभी वियोगसे दुखी हैं। भक्तवत्सल हैं, उनको दुःखित जानकर आपको दुःख होता है। शिवजीका दुखी होना सतीजीके मरणसे ही प्रारंभ होगया है। (ख) पुनः, 'भगत बिरह दुख' का भाव कि भक्तका वियोग हुआ इस दुःखसे दुखी हैं, यदि सती भक्त न होतीं तो दुखी न होते।

एहि बिधि गएउ कालु बहु बीती। नित नै होइ रामपद प्रीती॥ ३॥
नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अबिचल हृदय भगति कै रेखा॥ ४॥

अर्थ—इस प्रकार बहुत समय बीत गया। श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें उनकी नित्य नवीन प्रीति होती गई। ३। शंकरजीका नेम (नियम), प्रेम और उनके हृदयमें भक्तिकी अचल रेखा (लकीर वा चिह्न श्रीरामजीने) देखी। ४।

टिप्पणी—१ 'एहि विधि गयउ काल बहु बीती। ' इति। (क) बहुत कालका प्रमाण यह कि सतीतनत्यागके जितने दिनोंके बाद पार्वतीजीका जन्म हुआ, जन्मसे फिर जितनी अवस्था होनेपर वे तप करने गईं और जितने दिन तप किया, इतना काल व्यतीत होगया। (ख) 'नित नै होइ ' इति। ग्रन्थकार ने श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजीके प्रेम प्रसंगकी समानता दिखानेके लिये 'नित नै होइ ' यह कहा।

श्रीपार्वतीजी		श्रीशिवजी
अपने पतिमें नित्य नया अनुराग यथा 'नित नव चरन उपज अनुरागा।'	१	अपने पति (रामजी) में नित्यनया प्रेम। यथा 'नित नै होइ रामपद प्रीती।'
देखि उमहि तप खीन सरीरा।	२	नेम प्रेम संकर कर देखा। अविचल हृदय भगति कै रेखा
ब्रह्म गिरा भइ गगन गभीरा॥	३	प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला।
भएउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि।	४	यह प्रभु हर तुम्हार पनु रहेऊ
उमाकी प्रशंसा—'अस तप काहु न कीन्ह'	५	बहु प्रकार संकरहि सराहा। तुम्ह बिन अस ब्रतको निरबाहा।
अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी	६	अब उर राखेहु जो हम कहेऊ
ब्रह्मवाणीने समझाया—'आवैं पिता०'	७	'बहु बिधि राम सिवहि समुझावा। '
अब मिलिहहि त्रिपुरारि	८	जाइ बिबाहहु सैलजहि

(ग) [सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि अपने भक्त (सती) के दुःख दूर करने के लिये ही शिवजी चारों ओर विचरते हुए रामोपदेश और रामगुणगान करते-करते शरीरको सुखाकर एक तरहका तपही करते हैं। 'नित नै प्रीति ' इत्यादि तपही है।] (घ) 'नित नै ' से यहभी जनाया कि सतीजीके विरह दुःखसे शिवजीका प्रेम घटा नहीं किन्तु दिनोंदिन बढताही गया। उस विरहजन्य दुःखको दूर करनेहीके लिये रामपद प्रेम बढाते गए।

टिप्पणी—२ 'नेमु प्रेमु संकर कर देखा। ' इति। (क) 'नेम' सतीत्यागका, (यथा 'एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं। ५७।', 'अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना।५७।', 'तुम्ह बिनु अस ब्रत को निरबाहा। ७६।')। 'प्रेम' श्रीरामजीमें, यथा—'नित नै होइ रामपद प्रीती'। 'अविचल हृदय ' यह कि अब सतीजीको कभी (किसी तनमभी) न ग्रहण करेंगे। पार्वतीतनमें भी सतीजीको अंगीकार करना शिवजी उचित नहीं समझते, यह दृढताही 'अविचल रेखा' है। यथा 'जय महेस भलि भगति दृढाई। ५७।' [(ख) पंजाबीजी, सू० प्र० मिश्र और सु० द्विवेदीजीका मत है कि बिना श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाके पार्वतीतनमभी न ग्रहण करना यही भक्तिकी अविचल रेखा है। परन्तु इसका प्रमाण क्या है कि उनके मनमें ऐसा था कि श्रीरामजी आकर कहें? यदि उनसे कहलाकर ग्रहण करनेकी इच्छा थी तो यह भक्तिकी अविचल रेखा न रह जायगी। (ग)—एक महात्मा 'प्रेम' से 'सतीका प्रेम' लेते हैं और कहते हैं कि प्रभुने देखा कि उनके प्रेमके कारण उनके विरहमें दुखी हैं तथापि हमारी भक्तिके कारण उनको त्यागे हुये हैं, उनका कहना है कि 'सतीजीके प्रति शंकरजीका प्रेम' अर्थ करनेसे आगेके 'अविचल हृदय भगति कै रेखा' में पुनरुक्तिका दोष नहीं रहगा तथा नेममभी महत्त्व आजायगा कि जिसकी सराहना प्रभु स्वयं आगे करते हैं। पुनः, (घ)—'नेम' यह तनकी क्रिया या व्यवहार है। प्रेम मनका व्यवहार है। इस तरह भीतर बाहर दोनोंकी भक्ति की दृढ रेखा देखी।—(वि०)]

प्रगटे रामु कृतज्ञ कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला॥ ५॥
बहु प्रकार संकरहि सराहा। तुम्ह बिनु अस ब्रतु को निरबाहा॥ ६॥

अर्थ—(तब) कृतज्ञ, कृपालु, रूप और शीलके समुद्र तथा बहुत भारी तेजवाले श्रीरामचन्द्रजी

प्रकट हो गए। ५। (और उन्होंने) बहुत प्रकारसे शंकरजीकी प्रशंसा की। (कहा कि) आपके सिवा (अतिरिक्त) ऐसा (कठिन) व्रत कौन निबाह सका है ? (कोई भी तो नहीं) । ६।

नोट—१ (क) 'प्रगटे राम' इति। भगवान् प्रेमसे प्रकट होते हैं, यथा—'प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी। १८४।', 'प्रेमतें प्रगट होहिं मैं जाना। १८४।' (शंकर वचन)। अतः शिवजीका नित्य नया प्रेम और भक्तिकी अटलरेखा (कि अब सतीजीको किसी तनमेंभी न ग्रहण करेंगे, प्रभुकी अनन्य भक्तिमेंही लीन रहेंगे) देखकर प्रकट होगए। (ख) 'कृतज्ञ' इति। कृतज्ञ हैं अर्थात् जानते हैं कि शंकरजीने हमारी भक्तिको दृढ़ रखनेकेलिये ही यह प्रण किया है। (पं० रामकुमारजी)। प्रेमीके किये हुए स्वल्प सुकृतकोभी बहुत मानते हैं, इसीसे प्रभु 'कृतज्ञ' कहलाते हैं; यथा—'कृत जानन् कृतज्ञ स्यात् कृत सुकृतमीरितम्।' इति भगवद्-गुणदर्पणे। यही बात विनयमेंभी खूब कही गई है; यथा 'ज्यो सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये वपु बचन हिये हूँ। त्यों न राम सुकृतज्ञ जो सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ ॥ वि० १७०।' भक्तमालमेंभी प्रमाण मिलते हैं। यथा—'बोल्यो भक्तराज तुम बडे महाराज कोऊ थोरोऊ करत काज मानो कृतजाल है।' (श्रीमोरध्वजवाक्य। भक्तिरसबोधिनीटीका)। तिलोचनजी, देवापडाजी आदिने भी ऐसाही कहा है।—इस कृतज्ञगुण-स्वभावके कारण प्रभुने विचार किया कि हमारी भक्तिके कारण इन्होंने सतीजीको त्याग दिया। पुनः, कृतज्ञ हैं इसीसे स्वइच्छित प्रकट हुए। सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि चारों ओर रामयश फैलानेसे वे शिवजीका उपकार मानते हैं, इससे कृतज्ञ कहा। (ग) 'कृपाला' इति। भाव कि सतीजीकी अवज्ञाका, सतीकृत अपमानका किंचित्भी स्मरण आपके चित्तमें नहीं है, क्योंकि आप 'कृपाल' हैं। दक्षयज्ञमें शरीर भस्म करते समय तथा उसके पूर्व जो उन्होंने आपका स्मरण किया था; यथा 'सती मरत हरिसन बरु माँगा।' (६५), 'जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरतिहरन वेद जसु गावा॥ तौ मैं बिनय करौं कर जोरी। छूटौ बेगि देह यह मोरी। ५६।', उतने मात्रसे उन्हें दीन जानकर और शिवजीके लिये कष्ट झेलते देख उनको शिवजीसे मिला देना चाहते हैं। सतीजीके उस किंचित् स्मरणरूपी कृतिको स्मरण करके कि वे हमारी शरण आचुकी हैं वे कृपा करके प्रकट हुए। यथा 'रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की।','जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥ ७।१।', 'कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणांशातमप्यात्मवत्तया ॥' (वाल्मीकीये अयोध्याकाण्डे। सर्ग १।११)। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी सैकड़ों अपराधो को आत्मीयताके कारण स्मरण नहीं करते और भूले-चूके भी यदि उपकार हो जाता है तो उसे बहुत मान लेते हैं। पुनः, 'कृपाल' का भाव कि वे यह समझकर कि बिना हमारे ये इस दुःखसे न छूट सकेंगी, हमही एकमात्र इनका दुःख दूर करनेको समर्थ हैं दूसरा नहीं, वे कृपा करके प्रकट हुए। कृपागुणका यही लक्षण है; यथा—'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः'। इति सामर्थ्यसन्धान कृपा सा पारमेश्वरी ॥' (भगवद्गुणदर्पण वै०)

नोट—२ 'रूप सील निधि''''' इति। (क) ये सब विशेषण भी साभिप्राय हैं। सुंदर रूप देखकर शिवजी प्रसन्न होंगे और कहना मानेंगे। भारी तेज इसलिये कि तेजस्वीकी आज्ञाके उल्लंघनका साहस किसीको नहीं होता। कोमल वाणी कहकर कार्य करायेंगे, अतः 'शीलनिधि' कहा। (पं० रा० कु०)। (ख) 'रूप, शील और तेज की व्याख्या भगवद्गुणदर्पणमें इस प्रकार है। 'अंगानि भूषितान्येव निष्कावैश्च विभूषणैः। येन भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते ॥ चुंबकायः कर्षेन्यायैर्दूरादाकर्षको बलात्। चक्षुषा सगुणोरूप शाणस्मारशरावलेः ॥' अर्थात् जो बिना भूषणोंके ही भूषितसा देख पड़े और जो नेत्रोंको अपनी ओर इस प्रकार आकर्षित कर लेता है जैसे लोहेको चुंबकपत्थर उसीको 'रूप' कहते हैं, नहीं तो निष्क (कंठश्री) आदि भूषणोंसे सामान्य रूप भी सुंदर लगता है। 'हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रसंश्लेष स शीलं विदुरीश्वराः ॥' अर्थात् बड़े लोगोंका हीन, दीन, मलीन, बीभत्स, कुत्सित—ऐसे भी लोगोंके साथ गाढ़ आलिंगन करना 'शील' गुण है। मनुस्मृति कुल्लूकभट्टकृत टीका अ० २। ६ में 'शील' की व्याख्या इस प्रकार है।—'शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपं तदाह हारीतः।' ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तिता, सौम्यता,

अपरोपतापिता (दूसरोंको कष्ट न देना), अनुसूयता (गुणोंपर दोषारोपण न करना), मृदुता, अपारुष्यं (कठोर न बोलना) तु मैत्रता, प्रियवादित्व, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्यं, प्रशान्तिश्च, इति त्रयोदशविधं शीलम्।—ये तेरह शील गुण हैं। पुन, उत्तम आचरण, सद्वृत्ति, कोमल हृदय, अच्छा स्वभाव जिसमें कभी दूसरेकाजी न दुखे और ऊँच नीच कोई भी क्यों न हो उसका आदर, उससे प्रिय बोलना, इत्यादि सभी भाव सामान्यतः 'शील' के अतर्गत हैं। विनय पद १०० शीलकी व्याख्या ही है। (ग)—'रूप शील-निधि' 'तेज विशाल' (महातेजस्वी) का भाव कि रूप शील-तेज तो शिवजीमें भी हैं परन्तु श्रीरामजीका रूप और शील समुद्रवत् अपार है, अथाह है, यथा 'भरि लोचन छविसिंधु निहारी।' और तेज भी विशाल है; यथा 'राजन राम अतुल बल जैसे। तेजनिधान लखनु पुनि तैसे। १। २९३।' क्योंकि जबतक अपनेसे अधिक न देखेंगे तबतक दाव कैसे मानेंगे? पुनः, (घ)—रूपशीलनिधि कहकर जनाया कि ससारके सब रूप और स्वभाव इन्हींसे उत्पन्न हुए हैं। (सु० द्विवेदी)। (ङ) ☞ रूपशीलनिधि और विशाल तेजको देख-कर शिवजी प्रेममें ऐसे मग्न हो गए कि प्रभुको प्रणाम करना भी भूल गए। श्रीविदुरानीजीकी भी दशा श्रीकृष्णजीके मुखारविंदका शब्द सुनते ही कैसी हुई थी, यह भक्तमालके पाठकोंको विदित ही है। अत्यन्त प्रेमदशामें सुधबुध नहीं रहजाती। ☞ 'तेज बिसाला' इति। विशाल तेजके स्पष्टीकरणके सबधमें पद्म पु० में राजगद्दी प्रसंगमें जो कहा है उसे देखिए। वहाँ बताया है कि जिस दिव्य रूपका दर्शन शिवजीको उस समय हुआ था वह इतना विशाल-तेज-युक्त था कि अन्य सब नर वानर देव इत्यादि उसके तेजके प्रभावसे मूर्छित हो गए। यथा 'इत्युक्त शम्भुना रामः प्रसाद प्रणतोऽभवत्। दिव्यरूपधरः श्रीमान् अद्भुताद्भुतदर्शनः। ४२। त तथा रूपमालोक्य नर वानर देवताः। न द्रष्टुमपि शक्तास्ते भेपजं महदद्भुतम्। ४३। भयाद्दै त्रिदशाः श्रेष्ठाः प्रणेयुश्चातिभक्तितः। ४४।'

३ 'बहु प्रकार सकरहि सराहा' इति। (क) 'महादेवजीने श्रीरामयश चारों ओर फैलाया और यश फैलाकर उनकी प्रशसा की, वैसेही रामजीने शिवजीकी प्रशंसा की। यह कृतज्ञता है'। (सु० द्विवेदी)। 'ये यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस भगवद्वाक्यको चरितार्थ किया। उनके दृढ व्रतकी, उनके प्रेमकी, प्रतिज्ञाके निर्वाहकी इत्यादि प्रशसा की। आपने हमारी प्रसन्नताके लिये, भक्तिका आदर्शस्वरूप लोक को उपदेश देनेके लिये, भक्तिकी महिमा दरसानेको यह सब किया, हम यह देखकर बहुत प्रसन्न हैं इत्यादि कहा। (ख) पार्वतीतनमें भी अब सतीजीको ग्रहण न करेंगे इस हठसे निवृत्त करना है। अत. प्रथम आतेही प्रशसा कर चले। (ग) 'तुम्ह बिनु अस ब्रतु को निरबाहा।' इति। 'अस' से जनाया कि यह व्रत बहुत कठिन है। यथा 'अस पन तुम्ह बिनु करै को आना। रामभगत समरथ भगवाना॥ ५७।', 'अस व्रत' अर्थात् परम पुनीत सती ऐसी स्त्री जिसमें परम प्रेम था उसको भी सहज ही त्याग देना अत्यन्त दुष्कर व्रत है, यथा 'शिव सम को रघुपति व्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥ पनु करि रघुपति भगति देखाई। १। १०४।', 'को निरबाहा' का भाव कि ऐसा कठिन व्रत भले ही लोग करलें पर उसका आद्यन्त निर्वाह कठिन है। आपने त्याग किया, फिर लगभग एक लाख वर्ष साथ रहते हुये भी इस सकल्पसे न डिगे, कभी भूलकर भी सतीमें पत्नीभाव न आने दिया। सतीतन त्यागपर भी प्रतिज्ञाका निर्वाह कर रहे हैं। बैज-नाथजीके मतसे यहाँ 'सौशील्यगुण' है।

वि० त्रि० लिखते हैं कि देवताओंने शिवजीके प्रणकी प्रशसा की, यथा 'चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढाई। ५७। ४।' और श्रीरामजी उस प्रतिज्ञाके निर्वाहकी प्रशसा करते हैं।

बहु बिधि राम सिवहि समुझावा। पारबती कर जन्म सुनावा॥ ७॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥ ८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने बहुत प्रकारसे शिवजीको समझाया और पार्वतीजीका जन्म (समाचार) सुनाया। ७। दयासागर श्रीरामजीने पार्वतीजीकी अत्यन्त पवित्र करनी विस्तार सहित वर्णन की। ८।

नोट—१ 'बहु विधि समुझावा' इति। (क) अर्थात् कहा कि तुम्हारी प्रतिज्ञा तो यह थी कि 'एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं।' सतीजीने वह तन त्याग दिया। अब उन्होंने दूसरा तन धारण किया, फिर तुम्हारे प्राप्त्यर्थ उन्होंने उग्र तप किया, मन कर्म वचनसे वे तुम्हारी ही हो रही हैं, अब उनको ग्रहण करनेमें तुम्हारी प्रतिज्ञा भी रही, तुमको कोई दोष नहीं और उन्होंने अपनी करनीका फल भी पा लिया। विधिने आकाशवाणी द्वारा उन्हें वरदान भी दिया है। तुम्हारे ग्रहण न करनेसे ब्रह्मवाणी असत्य हो जायगी, देखिए कि यदि कोई मनुष्य कोई अनुष्ठान करे और देवता उसपर प्रसन्न हो जाय और वर माँगनेपर अथवा स्वयं उसका मनोरथ जानकर भी उसके इच्छित मनोरथको न दे तो उस देवताकी सामर्थ्यमें दोष लगता है, उसकी प्रसन्नता व्यर्थ समझी जायगी। अतः ब्रह्मवाणीने उसे वर दिया। उनकी वाणी व्यर्थ नहीं की जा सकती। पार्वतीजी आपके वियोगसे बहुत क्लेशित हैं, अब दुखियाका दुःख छुड़ाओ, उनका कष्ट देखा नहीं जाता और तुम्हें भी दुखी देखकर मुझे दया आती है। देखिए आपका नाम शिव है, आप उस नामको चरितार्थ कीजिये, पार्वतीजीको अंगीकारकर उसका कल्याण कीजिये। स्त्रीके लिये पतिको छोड़ दूसरा कल्याणकर्त्ता नहीं है। आप शिव हैं, वे शिवा हैं, अतः संयोग उचित है। उनके संगसे आपकी भक्ति वृद्धिको प्राप्त होगी; सत्संगसे उनके द्वारा लोकोपकार होगा। अतएव परोपकारार्थ विवाह करो, उससे जगत्में रामचरित प्रगट होगा। इत्यादि। (बाबा हरीदास, सु० द्विवेदी)। अथवा, 'बहु विधि' समझाना यही है जो आगे कहते हैं कि—पार्वतीजन्म, गिरिजाकी पुनीत करनी, इत्यादि। (ख) श्रीरामजीने समझाया, दूसरा कौन जगद्गुरुको समुझावे? (वि० त्रि०)। (ग) 'पार्वती कर जन्म'''' अर्थात् शैलराजके यहाँ अमुक दिन, अमुक संवत्, नक्षत्र आदिमें उनका जन्म हुआ।

२ 'अति पुनीत गिरिजा कै करनी।'''' इति। सतीतन तो भस्मही कर डाला, रहा मन, सो भी उग्रतपश्चर्या द्वारा निर्विकार होगया। बालपनसे ही उनके हृदयमें आपके प्रति अनन्य प्रेम है। दिनोंदिन वह प्रेम बढ़ता ही गया। बालचरित कहकर 'उमाचरित' कहा कि मातापिताको समझा कर अपनी इच्छासे ही वनमें आपकी प्राप्तिके लिये तप करने गईं। फिर जैसा-जैसा उत्तरोत्तर कठिन तप किया वह कहा। (ख) 'गिरिजा' का भाव कि अपराध और अपवित्रता तो दक्षसंबंधसे सतीतनमें थी और गिरिराज तो परम भक्त हैं, अतः गिरिजातन अति पुनीत है। गिरिजा मनकर्मवचनसे पवित्र हैं। (ग) 'बिस्तरसहित' कहना पड़ा, इससे सूचित करते हैं कि शिवजी यह ठाने बैठे थे कि अब विवाह नहीं ही करेंगे। *जिसमें संयोग हो जाय, शिवजी प्रसन्नतापूर्वक उनको स्वीकार कर लें, उस पक्षकी ही बातें बखानकर कहीं।* यहाँ 'कृपानिधि' विशेषण देकर पूर्वका 'कृपाल' विशेषण चरितार्थ किया। (संक्षेपसे कहनेमें संतोष नहीं, अतः विस्तारसे कहा, क्योंकि कृपानिधि हैं। वि० त्रि०।)

दोहा—अब बिनती मम सुनहु शिव जौं मो पर निजु नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥ ७६॥

शब्दार्थ—निजु (निज)=आपका।-सच्चा, यथार्थ; यथा 'जे निज भगत नाथ तव अहहीं। १। १५०।' माँगें=माँगनेसे।

अर्थ—(अंतमें यह कहा—) शिवजी! अब मेरी विनती सुनिये। यदि आपका मुझपर सच्चा प्रेम है तो जाकर पार्वतीजीको ब्याहिये—यह मुझे माँगे दीजिये। ७६।

नोट—१ 'अब बिनती मम सुनहु शिव''' इति। सतीत्याग श्रीरामजीकी प्रेरणासे हुआ, यथा 'सुमिरत राम हृदय अस आवा। ५७।' इसीसे दोनोंके संयोगकी प्रार्थनाभी आपही करते हैं। विनती करके

तब माँगनेकी वस्तु माँगी जाती है, वही नियम भगवान्‌नेभी पालन किया। सुंदर रूपका दर्शन दिया, प्रशंसा की, समझाया, विनती की और अंतमें भिक्षा माँगी, तब कार्य सिद्ध हुआ। २ ☞स्मरण रहे कि यहाँ प्रभुके विनती करनेपर तालव्य 'श' का प्रयोग कविने किया है। ३ 'जौं मो पर निजु नेहु' अर्थात् यदि सत्यही आपका मेरे ऊपर सच्चा स्नेह है तो जो मैं कहता हूँ वह मानिये (तब मैं जानूँ कि आपका सच्चा प्रेम है)। सत्य प्रेमकी यह एक बड़ी पहचान है।

४ 'यह मोहि माँगे देहु' का भाव कि आप मेरे कहनेसे जब विवाह करेंगे तो सब यही कहेंगे कि मेरे माँगनेसे यह भिक्षा आपने मुझे दी, हमारे निहोरेसे आपने विवाह किया, कोई आपको लाछन न देगा। देखिए, बड़े होकर तुमसे मैं भिक्षा माँगता हूँ, इसको तो विचार कीजिये। 'जाइ बिबाहहु' का भाव कि सम्मानपूर्वक बारात ले जाकर ब्याह लाइये।

वि० त्रि०—भगवान् आविर्भूत होकर वर देते हैं, पर यहाँ स्वयं माँग रहे हैं, कहते हैं कि सबकी विनती तुम सुनते हो। मेरी न सुननेका कोई कारण नहीं। अथवा, मैं विनती सुनता हूँ, करता नहीं सो आज तुमसे करता हूँ, इसलिये सुनो। 'मैं माँगता हूँ, मुझे दो' का भाव कि भगवान् उमासे वाग्बद्ध हो चुके हैं कि 'अब मिलिहहिं त्रिपुरारि', अतः माँगते हैं कि 'जाइ बिबाहहु'।

नोट—☞यहाँ भक्तपराधीनताका कैसा सुंदर आदर्श है? यहाँ दिखाते हैं कि भगवान् अपने भक्तोंके कैसे अधीन रहते हैं। यहाँ भागवत धर्मका महत्त्व दरसाया है, यथा—'मैं तो हौं अधीन तीन गुनको न मान मेरे भक्तवात्सल्य गुण सबही को टारे हैं।' (भक्तिरसबोधिनी टीका भक्तमाल)। पुनश्च यथा—'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ ६३ ॥ ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे। ६५। मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा। ६६। साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि। ६८।' भगवान् दुर्वासाजीसे कहते हैं कि मैं परतंत्रके समान भक्तोंके अधीन हूँ। उन्होंने मेरे हृदयपर अधिकार कर लिया है। जो स्त्री, पुत्रादिको छोड़कर मेरी शरणमें आते हैं, जिन्होंने अपने हृदयको मुझमें लगा दिया है वे मुझे उसी तरह अधीन कर लेते हैं जैसे साध्वी स्त्री अपने साधुपतिको वशमें कर लेती है। ऐसे भक्त साक्षात् मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ क्योंकि वे मेरे सिवा किसी वस्तुको प्रिय नहीं समझते। (भा० ९।४)। जोरावर भक्तसे बस नहीं चलता। बलिसे कुछ न चली तब भीख ही माँगनी पड़ी। वैसेही किसी प्रकार शिवजीने स्वीकार न किया तो लाचार हो भीख माँगी।—इसी भावसे यहाँ 'विनती' और 'माँगे देहु' कहा। जय! जय!! जय!!!

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं ॥ १ ॥

सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा ॥ २ ॥

अर्थ—शिवजी बोले कि यद्यपि ऐसा उचित नहीं है तथापि स्वामीके वचन भी मेटे नहीं जा सकते। १। हे नाथ! हम लोगोंका तो परमधर्म यही है कि आपकी आज्ञा सिरपर रखकर करें। २।

'कह सिव जदपि उचित अस नाहीं' इति।

'अस' किस वाक्यका संकेत कर रहा है, इसमें मतभेद है।

पंजाबीजीका मत है कि 'त्यागकर पुनः अंगीकार करना और फिर बारात लेजाकर विवाह करना हम अवधूतोंको उचित नहीं है।' वैजनाथजी लिखते हैं कि—'बंधनसे छूटकर पुनः बंधनमें पड़ना उचित नहीं है। सुधाकरद्विवेदीजीका मत है कि—'जाइ बिबाहहु' यह जो कहा यह उचित नहीं है। क्योंकि जब कन्याके माता पिता किसीको अगुआ करके वरपक्षमें आकर विनय करते हैं तब गणना करके कुंडली मिलाकर विवाह ठीक होता है।' प० रा० प्र० मिश्र कहते हैं कि 'प्राणीमात्रको अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी उचित नहीं

और मैं तो अवधूत हूँ, मुझे ब्याहसे अब क्या संबंध है ? दूसरे इसीने तो सीतारूप धारण किया था इससे उसके साथ विवाह करना उचित नहीं-पर साथही आपकी आज्ञा न माननी भी उचित नहीं।—ऐसे दुविधाके विचारोंमें महादेवजी पड गए और यही रीतिभी है कि विना दो बातोंके सिद्धान्तभी नहीं होता। अतएव शिवजीने यही सिद्धान्त किया जो अगली चौपाईमें है।'

मुं० रोशन लालजी लिखते हैं कि—'यह बात प्रतिकूल पाई जाती है। क्योंकि शिवजीने यही प्रतिज्ञा की थी कि 'एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं' और उस तनके छूटनेके लिये इतना सब उपाय हुआ तब अब (पार्वतीजीको ग्रहण करनेको) क्यों अनुचित कहते ? दूसरे यह कि यदि यह वास्तवमें अनुचित होता तो रघुनाथजी उनसे यह बात क्यों माँगते ? और जब उन्होंने माँगा तो शंकरजी उसे अनुचित न कहते। (पाँ०)। वीरकविजी लिखते हैं कि—'बहुत लोग यह अर्थ करते हैं कि शिवजीने कहा—'हे नाथ ! यद्यपि पार्वतीके साथ विवाह करना उचित नहीं है, फिरभी आपकी बात मेटी नहीं जा सकती; अर्थात् आपके कहनेपर लाचार होकर मुझे ब्याह करना पड़ेगा।' पर यह अर्थ नहीं अनर्थ है। इस अर्थसे और नीचेकी चौपाइयोंसे बिलकुल विरोध है। शिवजी यहाँ सेवक भाव से कहते हैं 'आप स्वामी हैं और मैं दास हूँ'। सेवकसे स्वामी विनय करे, यह कदापि उचित नहीं है। स्वामीको आज्ञा करनी चाहिए और सेवकका परम धर्म उसका पालन करना है—'उचित कि अनुचित किये विचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू। २।१७७।' स्वामीकी आज्ञाको शिवजी कभी अनुचित नहीं कह सकते।'

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि—'यदि यह कहा जाय कि विवाह करके फिर बंधनमें पड़ना उचित नहीं तो यह बात ऊपरके कथनसे विरोध पाती है कि 'भगत विरह दुख दुखित सुजाना' अर्थात् वे भक्तोंके विछोहसे यदि दुःखी हैं तो उनका अंगीकार क्यों न करेंगे ? काहेसे कि कहा गया है कि 'भक्त विरह कातर करुणालय डोलत पाछे लागे। सूरदास ऐसे प्रभुको कत दीजत पीठ अभागे।'

२ पाँडेजी, वीरकवि, विनायकीटीकाकार इत्यादिका मत है कि, शिवजी कहते हैं कि आप हमारे स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ। आपने जो ये वचन कहे कि—'विनती मम सुनहु' और 'मोहि माँगें देहु' ऐसे वचन स्वामीको सेवकसे कहना उचित नहीं। स्वामीका विनय करना कैसा ? उन्हें तो आज्ञा देनी चाहिए और सेवकका तो यह परम धर्म है कि स्वामीकी आज्ञा विना सोचे विचारे मानकर उसका पालन करे। आप आज्ञा देते तो मैं उसका पालन कैसे न करता ? विनती तो उससे कीजाय जो वचन न माने, वा जो अपनेसे बड़ा हो, न कि सेवकसे। इसी भावको आगे पुष्ट करते हैं कि लोकमर्यादा भी यही है कि माता, पिता, गुरु और स्वामीकी वाणीका पालन करना पुत्र, शिष्य और सेवकका धर्म है। इनको यह अधिकार नहीं है कि ये पहले विचार करें कि वचन मानने योग्य हैं या नहीं, तब करें या न करें। प्रभुकी आज्ञा आदर-पूर्वक पालन करना सेवकका परम धर्म है; यथा 'गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥ उचित कि अनुचित किएँ विचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥ २।१७७।' हमारे तो माता, पिता, गुरु, स्वामी और हित सब आपही हैं, लोक परलोक दोनोंके बनानेवाले आपही हैं। तब भला हमारा यह धर्म हो सकता है कि ऐसे परम हितैषी प्रभुके वचन हम टाल देवें ? आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। पुनः 'मेटि न जाहीं' का भाव कि औरोंकी आज्ञा मेटी जा सकती है पर 'प्रभु अज्ञा अपेल श्रुति गाई', अतः मैं उसे शिराधार्य करता हूँ।

नोट—पंजाबीजी आदिके मतका सारांश यह है कि—शिवजी सोचते हैं कि सतीजीने सीतारूप धारण किया, यह पार्वती वही सती तो हैं, तब इनको पत्नी बनाना मेरे लिये उचित नहीं। यदि कहो कि जिस शरीरसे अपराध हुआ वह शरीर तो अब रह ही नहीं गया तो उसपर उनका सिद्धान्त यह है कि—'मनः कृतं कृतं राम न शरीरकृतं कृतम्। येनैवालिङ्गिताकान्ता तेनैवालिङ्गिता सुता।' अर्थात् मनसे जो किया जाय वही किया हुआ समझा जाता है, क्योंकि आलिंगन तो स्त्री और लड़की दोनोंसे होता है पर मनके

भावमें अन्तर है। अतएव व्याह करना उचित नहीं। पुनः, जैसे पाप पुण्य जिस शरीरसे होता है वह तो यहीं रह जाता है फिर भी उसका सुख दुःख तो जीवको दूसरे शरीरमें भोगना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि वह पाप जीवात्मासे सम्बद्ध हैं न कि उसी शरीरमात्रसे। अतः दूसरा शरीर धारण करनेपर भी वह पाप पुण्य साथ रहता ही है। इतना ही नहीं वरंच पुण्य पाप ही दूसरे शरीरके कारण होते हैं। इस विचारसे पार्वती तनमें भी प्रेम करना उचित न होगा। 'अस' पिछले पूरे वाक्यको सूचित करता है। यद्यपि और तथापिका संबंध है, इससे इन लोगोंके अनुसार चौपाईका भाव यह है कि यद्यपि उनको ग्रहण करना मेरे लिये उचित नहीं है तथापि आपकी आज्ञा यही है तो मैं बिना किसी विचारके उसे अवश्य धारण करूँगा। दूसरे अर्थमें 'जदपि' का तात्पर्य एवं संबंध ठीक नहीं बैठता।

पाँडेजी आदिके मतका सारांश यह है कि—सेवक स्वामि भावमें 'उचित अनुचित' का विचार नहीं हो सकता, आज्ञा पालन करना ही विधि है, स्वामीकी आज्ञाको अनुचित कैसे कहेंगे जब कि स्वयं वे आगे कह रहे हैं कि 'बिनहिं बिचार करिअ' यही धर्म है। अतएव 'अस' पूर्व वाक्यके केवल 'बिनती मम सुनहु' और 'मोहि माँगे देहु' इन वाक्योंको सूचित करता है। अर्थात् 'विनती करना और माँगे देहु' ऐसा कहना उचित नहीं, पर आप स्वामी हैं, आप जैसा चाहें वैसा कहें जो भी कहें सो अमिट है। रह गया विवाह की आज्ञा सो उसके विषयमें आगे कहते हैं—'सिर धरि आयसु करिअ ', अर्थात् वह तो शिरोधार्य है।

नोट— सिर धरि आयसु ' इति। सेवक होकर अपने लिये 'हमारा' बहुवचन क्यों कहा? यहाँ सिद्धान्त कह रहे हैं, अतः 'हमारा' कहा। अर्थात् मेरा ही यह धर्म नहीं है किन्तु सभी भक्तोंका, भक्त मात्रका, हम सब लोगोंका सेवकधर्म यही है। यद्यपि और भक्तोंका नामोल्लेख यहाँ नहीं है तथापि शंकरजी तो वैष्णवोंमें शिरोमणि हैं, यथा 'नदीनां च यथा गंगा वैष्णवानामहं यथा। देवानां च यथा विष्णुर्वेदानां प्रणवस्तथा।' (ब्रह्माण्ड पु०)। केवल उन्हींके नामसे सबका ग्रहण हो सकता है। इसीसे उन्होंने 'हमारा' कहा। (पं०, सू० प्र० मिश्र)। विशेष भाव ऊपर आ चुके हैं। 'परम धरम' का भाव कि अपने प्रण पर स्थिर रहना धर्म है पर स्वामीकी आज्ञा मानना परम धर्म है।

मातु पिता गुर* प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥ ३॥
तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी॥ ४॥

अर्थ—माता, पिता, गुरु और स्वामीकी बात बिना ही विचारे शुभ जानकर करनी (मान लेनी) चाहिए। ३। (और) आप (तो) सब प्रकारसे परम हितकारी हैं। हे नाथ! आपकी आज्ञा हमारे सिर पर है। (मैं उसे शिरोधार्य करता हूँ)। ४।

नोट—१ 'मातु पिता ' इति। (क) बचपनमें माताकी आज्ञा, कुछ बड़े होनेपर घरसे बाहर निकलनेपर पिताकी आज्ञा, पाँचवर्ष बाद गुरुसे पढ़नेपर गुरुकी आज्ञा और पढ़लिखकर लोकपरलोक दोनोंमें सुख होनेके लिये जीवनपर्यन्त प्रभु (अपने स्वामी) की आज्ञा माननेसे प्राणीका भला होता है। (मा०प०)। महाभारत शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहजीने युधिष्ठिरजीसे कहा है कि—दस श्रोत्रियोंसे बढ़कर आचार्य हैं। दस आचार्योंसे बड़ा उपाध्याय (विद्यागुरु) है। दस उपाध्यायोंसे अधिक महत्त्व रखता है पिता और दस पिताओंसे अधिक गौरव है माताका। परन्तु मेरा विश्वास है कि गुरुका दर्जा माता पितासेभी बढ़कर है। माता पिता तो केवल इस शरीरको जन्म देते हैं, किन्तु आत्मतत्त्वका उपदेश देनेवाले आचार्यके द्वारा जो जन्म होता है वह दिव्य है, अजर-अमर है। मनुष्य जिस कर्मसे पिताको प्रसन्न करता है, उसके द्वारा ब्रह्माभी प्रसन्न होते हैं तथा जिस बरतावसे वह माताको प्रसन्न कर लेता है उसके द्वारा परब्रह्म परमात्माभी

* प्रभु गुरु—१७२१, १७६२, छ०। गुर प्रभु—१६६१, १७०४, को० रा०।

पूजा संपन्न होती है। इसलिये गुरु माता पितासे भी बढ़कर पूज्य हैं। गुरुओंकी पूजासे देवता, ऋषि और पितरोंकीभी प्रसन्नता होती है, इसलिये गुरु परम पूजनीय हैं। माता, पिता और गुरु कभीभी अपमानके योग्य नहीं। इनके किसीभी कार्यकी निन्दा न करनी चाहिए।' पुनः, माता, पिता और गुरु सदा अपने पुत्र या शिष्यका कल्याण ही चाहेंगे, वे कभी बुरा न चाहेंगे। अतः 'बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी' कहा।

२ (क) 'बिनहि बिचार करिअ ' इति। भाव कि विचारका ख़याल मनमें आनेसे भारी पाप लगता है; यथा 'उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू। २। १७७।' (ख) 'सुभ जानी' का भाव कि अनुचित भी यदि हो तो भी आज्ञा पालन करनेवालेका मंगल ही होगा, उसे कोई दोष नहीं देगा। अतः उसे मंगलकारक जानकर करना चाहिए। यथा 'गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें। २। ३१५।', 'परसुराम पितु अग्या राखी' से 'अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन। ते भाजन सुख सुजस के' तक (२। १७४)। (ग) 'तुम्ह सब भाँति परम हितकारी' इति। अर्थात् माता पिता आदि सब आपही हैं, आपने सब प्रकार हमारा हित किया और कर रहे हैं, यथा—'राम हैं मातु पिता सुत बंधु औ संगी सखा गुरु स्वामि सनेही। रामकी सौहैं भरोसो है राम को राम-रँगी-रुचि राचौं न केही।' क० ३०।', 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।' 'त्वमेव सर्वं मम देव देव॥'—सब भाँति हमारा परम हित किया है जैसे कि—भस्मासुरसे रक्षा की, कालकूटको अमृत कर दिया; यथा 'नामप्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥' गुरुरूपसे आपने परत्तर ब्रह्मतारक राम-मन्त्रका जप बताया, अपनी उपासना बताई, सतीजीने सीतारूप धारण किया तब आपने ही मन्त्र बताया कि क्या करना चाहिए; यथा 'सुमिरत रामु हृदय अस आवा। १। ५७।' इत्यादि। पुनः भाव कि आप हमारे माता-पिता आदि सब कुछ हैं अतः आप 'यह मोहि माँगे देहु' क्यों कहते हैं? (घ) ☞ इस चौपाईमें पुत्र, शिष्य और सेवकके धर्म उपदेश किये गये हैं। बालकोंको श्रीशंकरजीकी शिक्षापर ध्यान देना चाहिए।

३ 'आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी' इति। (क) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं', 'परम धरम यह नाथ हमारा' और 'आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी'—यहाँ शिवजीने रामजीको 'नाथ' कहा है। 'नाथ बन्धने' से 'नाथते असौ नाथः' अर्थात् जो नाथ ले (अपने अधीन कर जैसा चाहे करे) वह नाथ है। पूर्वभी शिवजीने 'बहुरि राममायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा।' यह कहा था और यहाँ 'नाथ' कहकर जनाया कि पहले तो आपने उनसे वियोग कराके चारों ओर भ्रमाया और फिर संसारकी मायामें नाथते हैं। इसलिये आप सचमुच बड़े भारी नाथनेवाले नाथ हैं।' (मा० प०)। (ख) पूर्व जो कहा था कि 'सिर धरि आयसु' इत्यादि वह सिद्धान्तमात्र कहा था। वहाँ यह न कहा था कि मैं भी आज्ञाका पालन करूँगा। यह बात यहाँ कह रहे हैं।

प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना। भक्ति बिबेक धर्मजुत रचना॥ ५॥
कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखेहु जो हम कहेऊ॥ ६॥

अर्थ—शंकरजीकी भक्ति, विवेक और धर्मसे युक्त वचन रचनाको सुनकर प्रभु (श्रीरामजी) संतुष्ट (प्रसन्न) हुए। ५। प्रभुने कहा—'हर! तुम्हारी प्रतिज्ञा रह गई (अर्थात् मान-मर्यादाके साथ निबह गई, पूरी हो गई)। अब जो हमने कहा है उसे हृदयमें रखना (अर्थात् स्मरण रखना, भूल न जाना)। ६।

नोट—१ 'प्रभु तोषेउ सुनि' इति। (क) 'तोषना' क्रिया केवल पद्यमें प्रयुक्त होती है। सं० 'तोषण' से बनाई गई है। अर्थ है 'संतुष्ट, तृप्त या प्रसन्न होना'। संतुष्ट होना कहकर उसका कारण दूसरे चरणमें बताते हैं कि उन वचनोंकी रचना भक्ति-विवेक धर्म-युक्त है। कौन वचन भक्ति युक्त है, कौन विवेक-युक्त और कौन धर्मयुक्त है इसमें मतभेद है। नीचे चार्टसे विभिन्न मत समझमें आ जायँगे।

वाक्य	पं० रा० कु०	सु० द्वि०	पं०	पा०	वि० त्रि०
जदपि उचित अस नाहीं	विवेक	विवेक	भक्ति		
नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं	,,	भक्ति	,,		
सिरधरि आयसु करिअ तुम्हारा	भक्ति	धर्म	धर्म	भक्ति	भक्ति
परम धरम यह नाथ हमारा	धर्म, भक्ति	,,	,,	धर्म	धर्म
'मातु पिता ' सुभ बानी'	धर्म	,,	विवेक		
तुम्ह सब भाँति परम हितकारी	भक्ति	धर्म	,,		

पाँडेजीका मत है कि 'सिर धरि ···' भक्ति है, 'परम धरम ···' धर्म है और इन दोनोंका सँभाल 'विवेक' है। और किसीका मत है कि—'मातु पिता ···। जिनहि बिचार'में 'बिचार' शब्द होनेसे इसे विवेकयुत वचन समझना चाहिए। ☞ मेरी समझमें सारे वचन भक्तिसंबंधी विवेक और धर्मसे युक्त हैं। (ख) यहाँ सहोक्ति अलंकार है। यथा—'जहँ मनरंजन बरनिये एक संग दुइ बात। सो सहोक्ति आभरण है प्रथनमें विख्यात।' (अ० मं०)।

२ 'कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ।' इति। (क) शिवजीने कहा था कि 'जदपि उचित अस नाहीं', उसीपर प्रभु कहते हैं कि 'तुम्हार पन रहेऊ'। भाव कि प्रण था कि 'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं', सो सती तन तो भस्म हो गया, अब तो पार्वती तन है। शिवजीने कहा कि 'मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। ·' इसीसे कवि भी यहाँ 'कह प्रभु' लिखते हैं, क्योंकि उन्होंने ही यह कहा है कि 'प्रभु' की वाणीको बिना विचारेही करना चाहिए। पुन, जैसे वहाँ 'कह सिव' लिखा वैसेही यहाँ 'कह प्रभु' लिखा। (ख) सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'यहाँ श्रीरामजीने हास्य बुद्धिसे 'हर' कहा है। अर्थात् तुम्हारा प्रण ठीक रह गया, तुमने सतीके तनको हर लिया। और आगे 'अब उर राखेहु' यह भी हास्यसे कहा है। अर्थात् याद रखना नशेकी झोकमें भूल मत जाना।' (ग) 'अब उर राखेहु' का भाव कि आप 'भोलानाथ' हैं, भोले बाबा हैं, बहुत शीघ्र भूल जाते हैं, इसीसे सावधान किये देता हूँ कि भूल न जाना। पुनः भाव कि अबतक आप हृदयमें यह रक्खे थे कि व्याह न करेंगे, पार्वतीजीको न ग्रहण करेंगे, उस बातको हृदयसे निकालकर अब उसकी जगह हमारी बात 'जाइ बिबाहहु' को रखिये। ☞ जैसे उमाजीका हठ था कि जब तक शिवजी न मिलेंगे, तब न छोड़ूँगी। इससे ब्रह्मवाणीने उनसे कहा था कि 'हठ परिहरि घर जायहु', वैसेही शिवजीसे कहा गया।

अंतरधान भए अस भाषी। संकर सोइ मूरति उर राखी ॥ ७ ॥
तबहिं सप्तरिषि सिव पहिं आए। बोले प्रभु अति बचन सुहाए ॥ ८ ॥

अर्थ—ऐसा कहकर वे अन्तर्धान (गुप्त, अदृश्य, गायब) हो गए। शङ्करजीने उसी मूर्त्ति (ध्यान) को हृदयमें धर लिया। ७। उसी समय सप्तर्षि शिवजीके पास आए। प्रभु (शिवजी) उनसे अत्यन्त सुंदर वचन बोले। ८।

नोट—१ 'अंतरधान भए ···' इति। (क) आदिमें प्रभुका एकदम प्रकट होना और यहाँ अन्तमें अन्तर्द्धान होना कहकर श्रीशिवजीके विश्वासको चरितार्थ किया जो उन्होंने आगे कहा है—'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।···१। १८५।' (ख) 'अस भाषी' अर्थात् 'हर तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखेहु जो हम कहेऊ' यह कहकर। काम हो गया, अब ठहरनेकी आवश्यकता न रह गई, अतः अन्तर्द्धान हो गए। (ग) 'संकर सोइ मूरति उर राखी'—इस कथनसे सूचित होता है कि इसके पूर्व

और किसी छविको हृदयमें बसाये हुए थे। कुछ लोगोंका अनुमान है कि इसके पूर्व वनकी झाँकी जिसका दर्शन दण्डकारण्यमें हुआ था हृदयमें रक्खे थे। (घ) प्रभुने तो याद हृदयमें रखनेको कही थी पर इन्होंने मूर्त्तिको भी हृदयमें रख ली। इससे इनकी विशेष श्रद्धा दर्शित हुई। (मा० प०)। क्षणभरका वियोग असह्य है, या तो इन आँखोंके सामने रहें या मानसिक दृष्टिके सामने रहें (वि० त्रि०)।

२ 'तबहिं सप्तरिषि ' इति। (क) ब्रह्मवाणीने सर्वप्रथम सप्तर्षिकी चर्चा की है; यथा 'मिलहिं तुम्हहिं जब सप्त रिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा ।७४।' और यहाँ श्रीरामचन्द्रजीके अन्तर्द्धान होतेही तुरन्त 'तबहिं' तत्काल ही वे आगए। अर्थात् इधर प्रभु अन्तर्द्धान हुए और उधर वे आए। इससे अधिक महात्माओंका मत यही है कि वह वाणीभी श्रीराम ब्रह्मकी ही थी और उन्हींकी प्रेरणासे सप्तर्षि भी उसी समय पहुँच गए। बैजनाथजी आदिके मतसे यह ब्रह्माजीकी वाणी थी, और ब्रह्माजीकी प्रेरणासे सप्तर्षि वहाँ आए। शिवपुराण तथा कालिदासजीका मत है कि शिवजीने तेजोमय सप्तर्षिका स्मरण किया तो वे शिवजीके सम्मुख तत्काल ही आ प्राप्त हुए और उन्होंने शिवजीकी पूजा और स्तुति की। कहा कि आपके स्मरणरूपी अनुग्रहसे आज हम अपने तपकी सिद्धि समझते हैं, अपनेको अधिक मानते हैं, क्योंकि सत्पुरुषोंके द्वारा किया हुआ आदर अपने गुणोंमें प्रायः विश्वासको उत्पन्न करता है। आपके चिंतवन करने से हम लोग उपस्थित हुए हैं। क्या आज्ञा होती है? यथा शिवपुराणे—'वसिष्ठादीन्मुनीन्सप्त सस्मार सूतिकृद्धरः। ७। सप्तापि मुनयश्शीघ्रमाययुस्स्मृतिमात्रतः।···' (२। ३। २५। ७-११)। अर्थात् शिवजीने वशिष्ठादि सप्तर्षियोंका स्मरण किया, स्मरण करते ही वे शीघ्र आ गए। पुनश्च यथा कुमारसंभवे— 'अपीज्ज्योतिर्मयान् सप्त सस्मार स्मरशासनः ॥ ३ ॥ ते प्रभामण्डलैर्व्योम द्योतयन्तस्तपोधनाः। सारुन्धतीकाः सपदि प्रादुरासन् पुरः प्रभोः ।४।···चिन्तितोपस्थितांस्तावत् शाधि नः करवाम किम्। २४।' (सर्ग ६)। पार्वतीमंगलमें भी शिवजीका उन्हें स्मरण करना लिखा है। यथा 'सिव सुमिरे मुनि सात आइ सिर नाइन्ह। कीन्ह संभु सनमानु जनम फल पाइन्ह ॥ सुमिरहि सकृत तुम्हहिं जन तेइ सुकृती बर। नाथ जिन्हहिं सुधि करिअ तिन्हहि सम तेइ नर। ४७। सुनि सुनि बिनय महेस परम सुख पाएउ।'—पार्वतीमंगलकी कथा कुमारसंभवसे प्रायः मिलती-जुलती है। पद्मपुराण सृष्टिखंडमें इन्द्रने सप्तर्षियोंको पार्वतीजीके पास भेजा है; इसलिये पद्मपुराणकी कथा मानसमें नहीं लग सकती। ☞ 'कल्पभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्हि गाए।' के अनुसार और सभी उपर्युक्त भाव ठीक हो सकते हैं। मतभेद होनेसे मानसकविने सप्तर्षिका आगमन मात्र कहकर सब मतोंकी रक्षा की है।

☞ एक बात स्मरण रखनेकी है कि मानसमें जहाँ-जहाँ स्मरण करना कहा है वहाँ उसे प्रत्यक्ष लिखा है, जैसे कि—'सुमिरत राम हृदय अस आवा', 'हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई' (श्रीसीताजी), इत्यादि। यहभी हो सकता है कि शिवजीने अपने इस कर्मसे अपनेको प्रभुकी आज्ञा पालन करनेमें परम उत्साहित और तत्पर दिखाया। (ख) 'सप्तर्षि' इति। पूर्व दोहा ७४ की अर्धाली ४ 'मिलहिं तुम्हहिं जब सप्त रिषीसा।' में लिखा जा चुका है कि प्रत्येक मन्वन्तरमें सप्तर्षि भिन्न भिन्न होते हैं। जब तक यह निश्चय न हो कि किस कल्पके किस मन्वन्तरमें यह चरित हुआ, तबतक सातोंके ठीकठीक नाम नहीं बताये जासक्ते। ☞ वर्तमान समयमें वैवस्वतमन्वन्तर चल रहा है, इसके सप्तर्षि ये हैं—'कश्यपोऽत्रिर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ गौतमः। जमदग्निर्वसिष्ठश्च साध्वी चैवाप्यरुन्धती ॥'—७४ (४) देखो।

३ 'बोले प्रभु अति बचन सुहाए।' इति। ☞ श्रीशिवजीकी रामाज्ञामें तत्परता कवि अपने शब्दोंसे दिखा रहे हैं कि सप्तर्षियोंके आते ही उन्होंने कुछ और बात न की, झट पार्वतीजीके पास जानेकी आज्ञा दी। वचनोंको 'अति सुहाए' विशेषण दिया; क्योंकि ये वचन श्रीरामाज्ञाके अनुकूल हैं। पुनः भाव कि ये वचन सप्तर्षियों, देवताओं तथा सभीको भाए अतः 'सुहाए' कहा। पुनः सुधाकर द्विवेदीके मतानुसार

'अति सुहाए' का आशय यह है कि 'तारकासुरसे सब घबड़ा गये थे, सबकी इच्छा थी कि शीघ्रही शिवजी पार्वतीजीका पाणिग्रहण करें। सप्तर्षिभी व्याहकी प्रार्थनाके ही लिये शिवजीके पास आये थे। इनके मनकी बात कहनेसे वचन 'अति सुहाए' हुए।

☞ सप्तर्षिका स्वयं प्रभु प्रेरित आगमन अथवा बुलाया जानेका आशय यह है कि विवाह कराने में एक मध्यस्थ होता है। ये मध्यस्थका काम करेंगे। ब्रह्मवाणीको प्रमाण करेंगे। यथा—'मध्यस्थमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे।' (अर्थात् इष्ट अर्थमें मध्यस्थकी आवश्यकता होती है)।

दोहा—पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु।
गिरिहि प्रेरि॥ पठएहु भवन दूरि करेहु संदेहु॥ ७७॥

शब्दार्थ—प्रेरि (सं० 'प्रेरणा' से)=प्रेरणा करके। किसीको किसी कार्यमें प्रवृत्त या नियुक्त करने या लगाने या उत्तेजना देनेको 'प्रेरणा' कहते हैं। प्रेरि=भेजकर, नियुक्त करके।

अर्थ—आप लोग पार्वतीके पास जाकर उनके प्रेमकी परीक्षा लें और हिमवान्‌को प्रेरणा करके भेजकर उन्हें घर भेजवाइए तथा उनके संदेहको दूर कर दीजिये। ७७।

नोट— 'पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु' इति। प्रभुकी आज्ञाका पालन करना, उनके वचनोंमें विश्वास रखना कि ये सदा शुभ हैं, यह सबका एवं हमारा परमधर्म है, कर्तव्य है, यह शिवजी स्वयं कह चुके हैं। इस तरह पार्वतीजीका पाणिग्रहण तो मंजूर कर चुके, प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की। तब पार्वतीजीके प्रेमपरीक्षाका प्रयोजन अब क्या रह गया? क्या प्रेम न हो तो न ग्रहण करेंगे? ये शंकायें उठाकर महानुभावोंने उसका समाधान इस प्रकार किया है—

पं० रामकुमारजी—पार्वतीजीका प्रेम तो शिवजी जानते ही हैं, अब सप्तर्षिद्वारा परीक्षा कराके उसे जगत्‌में प्रकट किया चाहते हैं। तब तो संसारने जान लिया, भीतरका प्रेम परीक्षाबिना कैसे खुले? यथा 'प्रेम अमिय मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर। २। २३८।' जैसे भरतजीका प्रेम जगत्‌को प्रकट दिखानेके लिए और आदर्श जनानेके लिये भरतकी यह परीक्षाका चरित रचा गया तथा जैसे श्रीजानकीजीकी शुद्धता जगत्‌में प्रमाणित करनेके लिए सीतात्याग और लंकामें अग्निपरीक्षाका चरित किया गया, नहीं तो श्रीरामजी तो प्रेम और पवित्रता जानतेही थे। यदि पार्वतीजीका प्रेम शिवजी न जानते होते तो ऐसा न कहते कि 'गिरिहि प्रेरि पठएहु भवन दूरि करेहु संदेहु' किन्तु संदेहयुक्त (संदिग्ध) वचन कहते। [☞ पार्वतीजीका संदेह पूर्वही कह आए हैं—'मिलन कठिन मन भा संदेहू'। देखिए जब प्रभु कृपा करते हैं तब सब भाँतिसे करते हैं। उनका परमानन्य पातिव्रत्य जगत्‌को आदर्शरूपसे दिखलानेकेलिए प्रेमपरीक्षा कराई गई'। ऐसा ही प्रेम हमारा श्रीरामजीमें होना चाहिए]

बंदनपाठकजी—'श्रीरामजीके कहनेसे महादेवजीने तो पार्वतीजीसे विवाह करना स्थिर कर लिया था, संशय केवल इतना था कि विवाहयोग्य अवस्था आगई है कि अभी कसर है। इस बातके जाँचनेकेलिए प्रेमपरीक्षा लेना कहा। अर्थात् मेरेमें प्रेमप्रभावके उत्पन्न होनेसे तुम लोगोंको अवस्था मालूम होजायगी। उस समय हिमवान्‌को हठसे भेजकर पार्वतीको घर भेजवाना। जो हिमवान्‌को संशय हो कि महादेवजी पार्वतीजीको शायद न स्वीकार करें तो तुम लोग सब संशयको दूर करदेना।

सु० द्वि०—लोकव्यवहार दिखानेकेलिए सप्तर्षिको प्रेमपरीक्षा लेनेको कहा अर्थात् हृदयसे मेरेमें पार्वतीका अनुराग है या नहीं, इसको जाँचो।

सू० प्र० मिश्र—परीक्षा लेनेका भाव यह है कि उसका हठ गया या नहीं, इसे देखकर तब हिमालयके पास जाना।—अस्तु।

॥ जाइ पठएहु—१७२१, १७६२, छ०। प्रेरि पठएहु—१६६१, १७०४। प्रेरि पठवहु—को० रा०।

वि० त्रि०—प्रभु लोग जनकी प्रीतिकी परीक्षा करते हैं, यथा 'सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा। ६। १०१। ३।' इससे प्रभुका अज्ञान नहीं समझना, उसका उद्देश्य नीति रक्षा है। यथा 'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता।' यदि कोई प्रेमके लिये तपस्या करता हो तो उसके प्रेमकी परीक्षा लेनी नीति है। परीक्षोत्तीर्ण होनेका यश उसे मिलेगा और परीक्षकका भी मान हुआ कि वे अमुककी परीक्षा लेनेके योग्य समझे गए। सती शरीरसे इन्होंने स्वामीकी परीक्षा लेना उचित समझा था, अतः स्वीकारके पहले शिवजीने इनकी भी परीक्षा लेना उचित समझा, परीक्षामें उत्तीर्ण होना तो निश्चित ही है।

☞ ब्रह्मगिराभी सत्य करनी है कि 'मिलहिं तुम्हहि जब सप्तरिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा' इसलिए सप्तर्षि भेजेगए और भेजनेका यह तो एक बहानामात्र है कि परीक्षा लें। 'दूरि करेहु संदेहु'। संदेह पार्वतीजी और हिमवान्‌जी दोनोंमें घट सकता है। गिरिराजको संदेह था कि पार्वतीजी बिना शिवप्राप्तिके घर लौटेंगी या नहीं, क्योंकि अनेक बार वे पूर्व उनको लेने गए परन्तु वे न लौटीं। यह बात ब्रह्मवाक्यसे भासित होती है कि 'हठ परिहरि घर जाएहु'। इनको समझा देना चाहिए कि अब वे अवश्य आयेंगी, उनका मनोरथ सुफल होगा, इत्यादि। पुनः, ७७ (७८) के नोट ३ में भी एक कारण लिखा जा चुका है कि विवाहमें मध्यस्थ, बिचवानी या साधककी आवश्यकता होती है। यह पार्वतीमंगलके 'दुलहिनि उमा, ईस बरु, साधक ए मुनि। बनिहि अवसि यहु काज गगन भइ अस धुनि॥ ४६॥' इस वाक्यसे भी स्पष्ट है और परीक्षा तो एक मिष मात्र है! पुनः माधुर्यमें यह भाव भी ले सकते हैं कि परीक्षा लो जिसमें मेरा संदेह दूर हो। संदेह होनेपरही लोकव्यवहारमें परीक्षा लेना देखा जाता है। इसीसे परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर सप्तर्षिको हर्ष हुआ और वे समाचार देने शिवजीके पास गए जिसे सुनकर शिवजी प्रेममें मग्न होगए।

नोट—'हिमाचल और मेना पूर्व लेने गए थे यह बात शिव पु० २।३।२३ में स्पष्ट लिखी है। यथा 'हिमालयस्तदागत्य पार्वतीं कृतनिश्चयाम्। सभार्यस्ससुतामात्य उवाच परमेश्वरीम्। २।' पर वे न लौटीं, सबको लौटा दिया; यथा—'सर्वे भवन्तो गच्छन्तु स्वं-स्वं धाम प्रहर्षिताः। १३।'

* तब रिषि तुरत गौरि पहँ गयऊ। देखि दसा मुनि बिसमय भयऊ। १॥
रिषिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी। मूरतिमंत तपस्या जैसी। २॥

अर्थ—तब (अर्थात् शिवजीकी आज्ञा सुनकर) सप्तर्षि तुरंत गौरी (श्रीपार्वतीजी) के पास गए। उनकी (तपसे क्षीण) दशा देखकर मुनि विस्मित होगए (उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ)। १। ऋषियोंने वहाँ गिरिजाजीको कैसा देखा जैसे (मानों) मूर्तिमान् तपस्या ही है। २।

नोट—१ 'तब रिषि तुरत' इति। (क) सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि—"जैसे शिवजीने बहुत बातचीत न की, तुरंत ऋषियोंको प्रेम परीक्षाके लिये भेजा, वैसेही ऋषि लोग भी 'तुरंत' गौरीजीके पास गए। श्रीरामजीकी आज्ञा शिरोधार्य करते ही पार्वतीजी शिवजीकी अर्धाङ्गिनी होगईं। शिवजी 'कर्पूर गौरं', 'कुंद इंदु दर गौर सुंदरं' कहे गए हैं। इसलिये गौरके अर्धाङ्गके योग्य यहाँ ग्रन्थकारने 'गौरी' नाम कहा।" (ख) ☞ स्त्रियाँ अपने सुहागके लिये गौरीकाही पूजन करती हैं। इससे अनुमान होता है कि पतिके लिये तप करनेसे 'गौरी' नाम पड़ा हो।—'पूजन गौरि सखीं लै आईं। १।२३१' पुनः गौरी=आठ वर्षकी कन्या=गोरे रंगकी कन्या। यथा 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी। दशवर्षा भवेत् कन्या

* यह अर्धाली संवत् १६६१ की प्रतिमें है। छूटका चिह्न देकर हाशियेपर लिखी गई है। लेखनी और मसि वही जान पड़ती है। सुधाकरद्विवेदीजी, सू० प्र० मिश्रजी, एवं पं० रामगुलामद्विवेदीजीकी प्रतियोंमें भी यह पाठ है। परन्तु काशिराजकी, छक्कनलालजी और भागवतदासजीकी पोथियोंमें नहीं है। करुणासिंधुजी एवं वैजनाथजीकी छपी पुस्तकोंमें इसकी जगहपर—'मुनि सिव बचन परम सुख मानी। चले हरषि जहँ रही भवानी॥' यह अर्धाली है जो किसी प्रामाणिक पोथीमें नहीं मिलती है।

इत ऊर्ध्वं रजस्वला।' (प्रसिद्ध है)। तप देखकर सप्तर्षिको आश्चर्य क्यों हुआ ? इसका कारण कविने यहाँ 'गौरि' शब्द देकर बता दिया है कि वह अभी आठही वर्षकी थीं जब तपस्या करने लगीं। यह अवस्था और उसपर यह दुष्कर मुनियोंके भी मनको अगम तप ! अतः आश्चर्य हुआ। (ग) गौरी, सती, पार्वती, गिरिजा, शिवा, अपर्णा, उमा आदि पार्वतीजीके ही नाम हैं। (घ) 'देखि दसा'; यथा 'देखि उमहि तप खीन सरीरा। ७५।' जो तप इन्होंने किया वह धीर मुनि ज्ञानियोंसे भी होना कठिन था, यथा 'अस तपु काहु न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ज्ञानी॥' (७५। ब्रह्मवाणी), अतः आश्चर्य हुआ।

२ 'रिषिन्ह गौरि देखी' इति। (क) मूर्तिमान तपस्या ही है ऐसा देखा अर्थात् तेजपुंज तपोमूर्ति ही हैं, तपस्याकी मानो अधिष्ठात्री देवी हैं। तपसे तेजोमय होगई हैं; यथा 'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।' पद्मपुराणमें लिखा है कि इनके तेजने सूर्य और अग्निकी ज्वालाओंको भी परास्त कर दिया। (तपसे तेजका विस्तार होरहा है, इसीसे गौरी नाम दिया। वि० त्रि०)। (ख) सू० प्र० मिश्र लिखते हैं, कि 'यहाँ कुछ त्रुटि मालूम पडती है। वह यह है कि जब साधारण जनभी किसी श्रेष्ठके यहाँ जाता है, तो वह अवश्य उसे कुछ आदरके साथ बैठाता है और उसके आनेका कारण पूछता है, तब वह अपने आनेका कारण कह सुनाता है। इन बातोंका यहाँ कुछ भी उल्लेख नहीं है। कुमारसम्भवमें उल्लेख है कि जब शिवजी ब्रह्मचारी वेषमें परीक्षा लेने गए तब गिरिजाजीने प्रथम उनका आदर सम्मान किया तदनन्तर दूसरी बातें हुई।' मेरी समझमें यहाँ पूजन आदर-सत्कार शिष्टाचारका उल्लेख न होनेके दो कारण समझ पडते हैं। एक तो यह कि मुनियोंने उनको इस शिष्टाचारका मौकाही न दिया। उन्हें बहुत काम करने हैं, इनकी परीक्षा, फिर हिमवान्को समझाकर इनके पास भेजना, इनको घर भेजवाना और सबोंका संदेह निवृत्त करना—और शीघ्रही शिवजीको सब समाचार देना। इसीसे उन्होंने पहुँचते ही प्रश्न करना प्रारंभ कर दिया। दूसरे, 'रिषिन्ह गौरि देखी' 'मूरतिवंत तपस्या जैसी।' से जान पडता है कि गौरीजी तपमें मग्न हैं, उन्होंने अभी तप करना छोडा नहीं है। छोड़तीं कैसे ? ब्रह्मवाणीने तो स्वयं कहा है कि वाणीको प्रमाण तब जानना जब सप्तर्षि मिलें। ऐसा अनुमानित होता है कि ब्रह्मवाणी और शिवजीको श्रीरामदर्शन, ये दोनों एकही समय तुरंत आगे पीछे हुए हैं। (ग) शिवपुराणमें भी ऐसाही कहा है। यथा 'इत्याज्ञप्ताश्च मुनयो जग्मुस्तत्र द्रुतं हि ते। यत्र राजति सा दीप्ता जगन्माता नगात्मजा॥ १८। तत्र दृष्टा शिवा साक्षात्तपः सिद्धिरिवा परा। मूर्ता परम तेजस्का विलसन्ती सुतेजसा। २। ३। २१। १६।' इस उद्धरणमें 'दीप्ता', 'साक्षात्तपः सिद्धिरिवा परा' 'सुतेजसा' मानसके 'मूरतिवंत तपस्या' के भावार्थही हैं। अर्थात् दीप्तियुक्त थीं मानों मूर्तिमती दूसरी तपकी सिद्धि ही परम तेजोमय मूर्तिमें विराजमान् हो।

कुमारसंभवमें श्रीपार्वतीजीकी तपोमूर्तिका वर्णन इस प्रकार है—'यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्। न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते। ५।' अर्थात् पूर्व जैसे कोमल केशोंसे मुख शोभित था, वैसे ही अब जटाओंसे सुशोभित है। कमलपुष्प केवल भ्रमरसे ही नहीं शोभित होता, किंतु काईके संगसे भी शोभित हुआ करता है। (घ)—यहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। उत्प्रेक्षा अलंकारका मुख्य तात्पर्य किसी उपमेयका कोई उपमान कल्पना-शक्ति द्वारा कल्पित कर लेना है। कल्पना प्रतिभाके बलसे ही हो सकती है। जितनी ही शक्तिवती प्रतिमा होगी उतनी ही उत्तम कल्पना हो सकेगी, इसलिये इस अलंकारको 'उत्प्रेक्षा' कहते हैं। यथा 'बल सों जहाँ प्रधानता करि देखिय उपमान। उत्प्रेक्षा भूषन तहाँ कहत सुकवि मतिमान॥' जहाँ किसी वस्तुके अनुरूप बलपूर्वक कोई उपमान कल्पित किया जाता है वहाँ 'वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' होता है। इसके भी दो भेद हैं। जहाँ उत्प्रेक्षाका विषय न कहा जाय, केवल उसके अनुरूप कल्पना की जाय वहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' होती है।—(अलंकार मंजूषा)। यहाँ तपस्याका मूर्तिमान होना कविकी कल्पना मात्र है।

बोले मुनि सुनु सैलकुमारी। करहु कवन कारन तपु भारी॥ १॥

केहि अराधहु का तुम्ह चहहू। हम सन सत्य मरमु किन* कहहू ॥ ४ ॥

अर्थ—मुनि (सप्तर्षि) बोले—हे शैलकुमारी गिरिजे! किस कारण तुम (यह इतना) भारी तप कर रही हो?। ३। किसकी आराधना कर रही हो और क्या चाहती हो? हमसे (अपना) सच-सच मर्म (भेद) क्यों नहीं कहती हो?। ४।

मिलानके श्लोक—'शृणु शैलसुते देवि किमर्थं तप्यते तपः। इच्छसि त्वं सुरं कं च किं फलं तद्वदाधुना। शिव पु० २। ३। २५। २१।' अर्थात् हे शैलकुमारी! तुम किस लिये तप कर रही हो? तुम किस देवताका या किस फलकी कामना करती हो? सब कहो।

नोट—१ 'बोले मुनि सुनु सैलकुमारी।''' इति। (क) माताको जो स्वप्न सुनाया था उसमें भी 'सैलकुमारी' ही संबोधन था। यथा 'करहि जाइ तपु सैलकुमारी। ७३। १।' यहाँ 'सैलकुमारी' से जड़ता सूचित की; इसीको आगे स्पष्ट कहेंगे; यथा 'गिरि संभव तव देह'। प्रश्नके आदिमें और उत्तरके अंतमें जड़ताका भाव सूचित किया है, फिर नहीं। (ख) 'करहु कवन कारन तपु भारी' का भाव कि जिसके लिये लोग तप करते हैं वह सब बातें तो तुम्हें बिना तप कियेही प्राप्त हैं, यथा कुमारसम्भवे सर्ग ५ श्लोक ४१—'कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौंदर्यमिवोदितं वपुः। अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपः फलं स्यात्किमतः परं वद ॥' अर्थात् ब्रह्माके प्रथम कुल (उत्तम देवकुल) में जन्म, त्रैलोक्योत्तर सौन्दर्य, कान्तिमान् दिव्य शरीर, बिना परिश्रमही ऐश्वर्य (राज्यसुख) और नवीन अवस्था (जब प्राप्त ही है तब इसके अतिरिक्त) इससे बढ़कर तपका फल क्या हो सकता है (आपही) बतलाइये? यही आशय पार्वतीमंगलके वटुरूप शिवजीके वाक्योंमें है। यथा 'जनमि जगत जस प्रगटिहु मातु पिता कर। तीयरतन तुम्ह उपजिहु भवरत्नाकर ॥ २७ ॥ अगम न कछु जग तुम्ह कहँ मोहि अस सूझइ। बिनु कामना कलेस कलेस न बूझइ ॥ जौं बर लागि करहु तपु तौ लरिकाइय। पारस जौं घर मिलै तौ मेरु कि जाइय ॥ २८ ॥ मोरे जान कलेस करिय बिनु काजहि। सुधा कि रोगिहि चाहहि रतन कि राजहि ॥ लखि न परेउ तपकारन०।'

वि० त्रि०—परीक्षा लेनेमें ही सतीसे चूक हुई थी। अतः ग्रन्थकार इनकी परीक्षा लेनेकी विधि बतलाते हैं, सप्तर्षियोंने अपना स्वरूप नहीं पलटा। केवल मन्वन्तरके सप्तर्षि होनेके नाते पूछते हैं कि किस कारण तप करती हो? जिसमें उत्तर पानेपर शंकर भगवान्‌में वरोचित गुणोंका अभाव दिखलायें और विष्णुमें सभी वरोचित गुणोंकी स्थिति निरूपण करें, इतनेसे ही परीक्षा हो जायेगी।

नोट—२ 'केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू।''' इति। 'किन कहहू' इन अन्तिम वचनोंसे जान पड़ता है कि 'करहु कवन कारन तपु भारी' का उत्तर न मिला तब दूसरा प्रश्न किया, उसकाभी उत्तर न मिला, अथवा गिरिजाको उत्तर देनेमें कुछ संकुचित देखा तब मुनियोंने कहा कि 'हम सन सत्य मरमु किन कहहू'? भाव कि हम लोग तो ऋषि हैं, हमसे क्या पर्दा? हमसे क्यों छिपाती हो?

(हम मन्वन्तरके सप्तर्षि हैं, तपस्वियोंकी देखभाल हमारे सुपुर्द है, हम वर भी दे सकते हैं, अतः हमसे मर्म कहना चाहिए। वि० त्रि०)।

[सुनत रिषिन्ह के बचन भवानी। बोली गूढ़ मनोहर बानी ॥] *
कहत बचन१ मनु अति सकुचाई। हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई ॥ ५ ॥

---

* सब—१७२१, १७६२, छ०। किन—१६६१। की न—१७०४।

१ मरम—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। बचन—१६६१, १७०४, सुधाकरद्विवेदी

* अर्धाली ५ 'कहत बचन''' के पहले 'सुनत रिषिन्ह''' कोष्ठकान्तर्गत अर्धाली पंजाबीजी, बैजनाथजी, रामायणीजी और पं० रामवल्लभाशरणजी, नंगे परमहंसजी, पाँडेजी, बाबा हरिदासजीकी छपी पुस्तकोंमें है। परन्तु सम्वत् १६६१, नागरी प्र० सभा, गीताप्रेस, आदिमें यह नहीं है। मेरी समझमें यह

मनु हठ परा न सुनै सिखावा। चहत बारि पर भीति उठावा॥ ६॥

शब्दार्थ—भीति=दीवार। वारिपर भीति उठाना=पानीपर दीवार खड़ी करना। यह मुहावरा है।

अर्थ—(ऋषियोंके वचन सुनतेही भवानी गूढ़ मनोहर वाणी बोलीं)। वचन कहनेमें मन बहुत सकुचाता है। आप सब लोग हमारी जड़ता (मूर्खता) सुनकर हँसेंगे। ५। मन हठमें पड़ा है (अर्थात् हठ पकड़ ली है), (किसीकी) शिक्षा सुनताही नहीं। वह पानीपर दीवार उठाना चाहता है। ६।

नोट—१ 'कहत वचन' इति। (क) 'कहत बचन मनु अति सकुचाई' को कवि या वक्ताकी उक्ति मान सकते हैं और पार्वतीजीकी भी। कविकी उक्ति माननेमें अर्थ होगा कि—कवि कहता है कि—'पार्वतीजी बात कह रही हैं पर उनके मनमें बहुत बड़ा सकोच भरा हुआ है। मनमें अत्यंत संकोचयुक्त होकर वे वचन कह रही हैं कि—।' इसी तरहका उदाहरण अयोध्याकाडमें यह है—'मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं। २। ६१। १।' पार्वतीजीकी उक्ति मानें तो भी अर्थ ठीक लग जाता है। (ख) सप्तर्षियोंने मर्म पूछा—'हम सन सत्य मरमु किन कहहू।' और कहा कि सत्य सत्य कहो। मर्म गुप्त रखनेकी वस्तु हैं, उसे प्रकट कहनेको कहते हैं। इसी कारण मनमें संकोच हो रहा है तथापि ब्रह्मर्षियोंकी आज्ञाकोभी कैसे टालें। अतः इस प्रकार कहना प्रारंभ किया। क्या संकोच है? इसके उत्तरकी झलक दूसरे चरणमें है कि सुननेवाले हँसेंगे, हमको मूर्ख वा जड़ कहेंगे। कौनसी यह जड़ता है यह दूसरी अर्धालीमें कहती हैं कि जलपर दीवार खड़ी करना चाहती हैं—यह जड़ताही तो है, जो सुनेगा, हँसेगा। पुनः सकोचका कारण यह भी है कि स्त्रीको स्त्रीसेभी पतिकी वार्ता करनेमें लज्जा लगती है और ऋषि चिरकालीन हैं तथा पिताके तुल्य हैं, इनसे कैसे कहें? सत्य कहनेकी आज्ञा है अतः बात बनाकर कह नहीं सकतीं। इत्यादि। अतः 'अति सकोच' है। पुनः 'अति' का भाव कि सखी सहेली आदिसे कहनेमें 'संकोच' होता है और पिता आदिसे 'अति सकोच' होता है। (ग) 'हँसिहहु सुनि' इति। मुनियोंने 'शैलकुमारी' सबोधन किया। शैल जड़ पदार्थ है, इस सबंधमें यहाँ 'जड़ताई' शब्दका प्रयोग अति उत्तम हुआ है। इस शब्दमें ध्वनि यह है कि आपने मुझे 'शैलकुमारी' कहा, सो पर्वत तो जड़ होता ही है, तब मुझमें जड़ता क्योंकर न होगी? अर्थात् मैंने शैल सबंधके योग्यही जड़ता की है, इसलिये आप हँसेंगे। (स्नेह जाड्य है, यथा 'सो सनेह जड़ता बस कहहू'। मैं स्नेहसे जड़ हूँ, मुझे समझनेका सामर्थ्य नहीं है।' वि० त्रि०।)

२ 'मनु हठ परा न सुनै सिखावा।' इति। (क) इसमें ध्वनि यह है कि आप जो शिक्षा देने आए हैं उसे भी यह न सुनेगा, यह बड़ा हठी है, जैसे और किसीकी नहीं सुनता वैसेही आपकीभी न सुनेगा।—यह भी जड़ता है, मूर्खता है। (ख) 'चहत बारिपर भीति उठावा'। अर्थात् पानीपर दीवार उठाना असभव है परन्तु मनने यही हठ ठान रक्खा है। असभवको सभव, अनहोनीको होनी करना चाहता है। शिवजीको प्राप्त करना, उनसे अपना ब्याह होना, यह इच्छा करनाही जलपर दीवार उठानेकी चाह करना है। शिवजी अगाध जल हैं, यथा 'कृपासिंधु सिव परम अगाधा।', उनकी गृहिणी (स्त्री) बनना दीवार उठाना है। पुन भाव कि वे परम विरक्त, निष्काम, योगीश्वर हैं, अतः उनसे विवाह असभव है। वा, वे 'अगेह' हैं और मैं उनकी 'गेहिनी' बनना चाहती हूँ। बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'शिवजी यहाँ

प्रक्षिप्त अर्धाली है। यदि 'कहत वचन सकुचाई' को कविकी उक्ति मान लें तब तो प्रक्षिप्ति प्रकट ही है। हाँ, जिनमें 'कहत मरम' पाठ है उनको एक अर्धाली पूर्वकी आवश्यकता प्रतीत हो सकती है। १६६१ और १७०४ मे 'वचन' ही है। 'कहत वचन' को श्रीपार्वतीजीकी भी उक्ति मानें तो भी 'सुनत रिषिन्ह' की आवश्यकता नहीं जान पड़ती है।—इसीसे हमने इसे सख्यामें नहीं ली और कोष्ठकमें रख दिया है। मानसपीयूषकी सवत् १६८४ वाले सस्करणमें हमने इसे दिया था। हाँ, शिवपुराणमें भी ऐसा श्लोक है।—'इत्युक्त्वा सा शिवा देवी गिरीन्द्रतनया द्विजैः। प्रत्युवाच वचस्सत्यं सुगूढमपि तत्पुरः। २. ३. २५. २२।'

जल हैं, समुद्रवत् अगाध और निराधार हैं, सतीत्यागके समयसेही उन्होंने घर छोड़ दिया था, जाकर वटतले समाधि लगा ली थी, फिर सती तनत्यागके पश्चात् तो उनका राग कैलासमें भी न रहगया था, यथा 'जब तें सती जाइ तनु त्यागा। तब तें सिव मन भयउ विरागा।', सो उनकी घरनी बनना चाहती हैं। घरनी घर बिना कहाँ रह सकती है, जब संयोग होगा तब वह वैराग्य छोड़कर घर बनाना ही होगा। वैराग्य छुड़ाकर उनके मनमें 'राग' उत्पन्न करानेकी चाह ही 'भीति' उठाना है। श्रीनगेपरमहंसजीकाभी यही मत है। पुनः, बारिपर भीति बनानेका भाव यह है कि जलकी स्थिति दृढ़ नहीं है, उसको आधार बनाकर उसपर दीवार खड़ी नहीं की जा सकती, वैसेही मैं तपके बलपर शिवजीको ब्याहना चाहती हूँ, यह असंभव है। 'जलपर दीवार उठाना' मुहावरा है ऐसी वस्तुको आधार बनानेका कि जो दृढ़ न हो। (ग) यहाँ 'ललित अलंकार' है, क्योंकि कहना तो यह है कि मैं योगीश्वर शिवजीसे ब्याह करना चाहती हूँ पर इस प्रस्तुत वृत्तान्तको न कहकर यह कहती हैं कि बारिपर 'भीति' उठाना चाहती हूँ। (वीरकवि)। 'करहु कवन कारन तप' का यह उत्तर है।

शिवपुराणमेंभी ऐसाही कहा है। यथा 'करिष्यथ प्रहासं मे श्रुत्वा वाचो ह्यसम्भवाः। सङ्कोचो वर्णनाद्विप्रा भवत्येव करोमि किम्। २४। इदं मनो हि सुदृढमवशं परकर्मकृत्। जलोपरि महाभित्तिं चिकीर्षति सदोन्नताम्। २।३।२५।२५।' अर्थात् आप मेरी असंभववाणी सुनकर अवश्य हँसेंगे अतः मुझे वर्णन करनेमें संकोच होता है, पर मैं क्या करूँ? यह मेरा दूसरेके वशमें पड़ा हुआ मन जलके ऊपर एक दृढ़ और बहुत ऊँची भीति बनाना चाहता है। ☞ इसके अनुसार यह अर्थ ठीक है जो हमने दिया है।

नारद कहा सत्य सोइ* जाना। बिनु पंखन्ह हम चहहिं उड़ाना॥ ७॥
देखहु मुनि अबिबेकु हमारा। चाहिअ सदा† शिवहि भरतारा॥ ८॥

शब्दार्थ—पंख (सं० पक्ष। प्रा० पक्ख। मराठी एवं हिन्दी पंख)=पक्ष, परवने, पर, डैना, पाँख। वह अवयव जिससे चिड़ियाँ, पतिंगे आदि हवामें उड़ते हैं।

अर्थ—नारदजीने जो कहा उसीको सत्य जान लिया। हम बिना पंखोंके उड़ना चाहती हैं। ७। हे मुनियो! आप हमारा अज्ञान तो देखिये कि मैं सदा-शिवजीको ही पति बनाना चाहती हूँ। ८।

नोट—१ 'नारद कहा सत्य सोइ जाना।' " इति। (क) जड़ता क्यों करती हो? जब तुम अपनी बातको असंभव जानती हो तो फिर करतीही क्यों हो? इस संभवित प्रश्नका उत्तर देती हैं कि एकतो मनने ऐसाही हठ करलिया यह कहा सुनताही नहीं। दूसरा उत्तर यह है कि 'नारद कहा' "। (ख) 'नारद कहा' अर्थात् जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ शिव तजि दूसर नाहीं॥', 'इच्छित फल बिनु शिव अवराधे। लहिअ न कोटि जोग जप साधे'—यह जो नारदने कहा था। (ग) 'सत्य सोइ जाना' इति। इससे नारदजीके वचनोंमें प्रतीति जनाई। उन्होंने बताया कि इसकेलिये शिवही वर हैं, अतः इसे मानकर उनको मनने पति मान लिया। और जो उन्होंने कहा कि 'इच्छित फल' के लिये शिवाराधन करना आवश्यक है, अतः शिवाराधन करती हूँ। ☞ इस प्रकार इन शब्दोंसे तीन बातें गुप्तरूपसे सूचित कीं।—एक तो 'केहि अवराधहु?' का उत्तर दे दिया कि देवर्षि नारदने शिवाराधन बताया, अतः शिवाराधन करती हूँ। दूसरे, 'का तुम्ह चहहु?' का उत्तर कि शिवजीको पति चाहती हूँ। तीसरे यह कि आराधना बतानेसे वे मेरे गुरु हुए, उनके वचनको त्यागनेकी नहीं। पुनः यह भी सूचित करती हैं कि यह हठ मैं अपने मनसे नहीं कर रही हूँ, नारदजी ऐसे महात्मा और देवर्षिकी सम्मतिसे करती हूँ कि जिनके कथनानुसार चलनेसे ध्रुव प्रह्लादादि कृतकार्य हो गए। वे भी आप लोगोंसे कम नहीं हैं, कि सहजही किसीके कहनेसे छोड़ दूँ—वस्तुतः सप्तर्षियोंने यह प्रश्न नहीं किया था; वे अपनी तरफसेही कह रही हैं जिसका आशय यह होसकता है।

* १ सत्य हम–१७२१, १७६२, छ०। सत्त सोइ–को० रा०। सत्य सोइ–१६६१, १७०४।
† सिवहि सदा–१७२१, १७६२, छ०। सदा शिवहि–१६६१, १७०४।

*** बिनु पंखन्ह हम चहहि उड़ाना ***

भाव यह कि योगीश्वर शिवजीकी प्राप्तिके योग्य मुझमें साधन नहीं है तथापि उनको अपना पति बनाना चाहती हूँ। (प०)। यहाँ शिवजी आकाश हैं, यथा 'चिदाकाशमाकाशवास', 'त्वं व्योम त्वं धरणि रात्मा' इति पुष्पदन्तमुनिवाक्य। सो मैं उनकी वामाङ्गी होना चाहती हूँ। वामागी होने या यों कहिये कि ईश प्राप्तिके दो उपाय हैं तप और भक्ति। (यही दो नारदजीने बताए हैं, यथा 'जौं तप करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी। १।७०।'—यह तपका उपदेश दिया। दूसरे 'इच्छित फल बिनु सिव अव राधे'। *' यह आराधनाका उपदेश किया।) ये दोनों हममें नहीं हैं। केवल गुरु नारदके वचनका भरोसा है कि 'होइहि यह कल्यान अब' और उनके आशीर्वादका भरोसा है। आकाशमें पक्षी पक्षबलसे ही उड़ते हैं। पक्ष न रहनेपर उड़ नहीं सकते; यथा 'जरे पंख अति तेज अपारा। परेउ भूमि करि घोर चिकारा। ।४।२८।', 'काटेसि पंख परा खग धरनी। ३।२६।' ☞ यहाँ पार्वतीजी अपनेको बिना पक्षका पक्षी और शिवजीको आकाश जनाती हैं। तप और भक्ति दोनों पक्ष हैं। उनसे अपनेको रहित बताती हैं। (बाबा-हरिदासजी)। प० रामकुमारजी 'कर्म और करतूत' को पंख बनाते हैं। वि० त्रि० का मत है कि आरा धनके साधन विरति और विवेक हैं, यथा 'श्रुति संमत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिबेक।' सो ये दोनों नहीं हैं फिरभी आराधना करना चाहती हूँ। अथवा कार्यसिद्धि के साधन हैं दैव और पुरुषार्थ। सो दैव प्रतिकूल है, यथा 'जस बर मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहिं उमहि तस संसय नाहीं।' और पुरुषार्थ मुझे है नहीं। ☞ 'बिना पंखके उड़ना' मुहावरा है अर्थात् बिना साधन, उपाय या पुरुषार्थकेही कार्य सफल करनेकी आशा करना।

'सिद्ध योगी बिना पंखके उड़ा करते हैं। यहाँ शिवजी चेतन आकाश हैं—'चिदाकाश-माकाशवास'। शिवप्राप्तिके योग्य साधन पंख हैं। जैसे बिना पंखके पक्षी नहीं उड़ सकता वैसेही ऊर्ध्वरेता योगीश्वर श्रीशिवजीकी पत्नी होना संभव नहीं।' (मा. त. वि.)

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'पति पत्नी भावका नेहनाताही पंख है। जबसे शिवजीने हमें त्याग दिया तबसे हम बिना पंखके होगई। अब नारदवाक्यके भरोसे बिना पंखकेही हम उड़ना चाहती हैं अर्थात् पुनः संयोग किया चाहती हैं।'

☞ वस्तुतः 'बिना पंखके उड़ना' मुहावरा है। इसके लिए यह आवश्यकता खोजनेकी नहीं है कि पंख क्या है, उड़ना क्या है, इत्यादि। ☞ यहाँ अनहोनी बातकी चाह करना 'असंभव अलंकार' द्वारा सूचित किया गया है।

☞ ऐसाही शिवपुराणमें कहा गया है। यथा 'सुरर्षेरशासनं प्राप्य करोमि सुदृढं तपः। रुद्रः पति र्भवेन्मे हि विधायेति मनोरथम् ॥ २६ ॥ अपक्षो मन्मनः पक्षी व्योम्नि उड्डीयते हठात्। २।३।२५।' अर्थात् देवर्षिकी आज्ञासे रुद्रको पति बनानेके मनोरथसे अति दृढ़ तप करती हूँ। मेरा मनरूपी पक्षी बिना पंखका होने परभी हठात् आकाशमें उड़ता है।—इस श्लोकके अनुसार 'मन' पक्षी है।

नोट—२ 'देखहु मुनि अविवेक हमारा।' इति। (क) अविवेक यही है कि शिवजीको सदाके लिये अपना पति बनाना चाहती हैं। भाव यह कि वे तो सदाही उदासी हैं तब वे स्त्री क्यों करने लगे? और मैं उनकी अर्धाङ्गिनी बननेका हठ ठाने हुये हूँ, यह मेरा अज्ञान तो देखिए? सप्तर्षियोंने भी आगे यही कहा है; यथा 'तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा।' (ख) 'देखहु मुनि' का भाव कि आप निश्चयही इसे समझ सकते हैं, आपकोभी मेरी बात ऐसीही जँचेगी। पुन' भाव कि यह बात देखनेही योग्य है। (ग) 'चाहिअ सदा सिवहि भरतारा' इति। सदा सिवहि=सदा शिवहीको।=शिवजीको ही सदाके लिये अर्थात् जन्मजन्मा-न्तरोंके लिये, निरंतरके लिये जिसमें अब कभीभी वियोग न हो। पुन', नारदजीने कहा था कि 'सदा अचल

एहि कर अहिवाता'। इसी 'सदा अचल' के सबंधसे यहाँ 'सदा सिव' कहा। अर्थात् शिवजी सदा कल्याण स्वरूप हैं, अतः उन्हींकी पत्नी बननेमें अहिवात अचल रह सकता है। (घ) ☞ यहाँ पार्वतीजीने मन कर्म वचन तीनोंहीसे शिवप्राप्तिका चाह प्रकट की है। 'मन हठ परा' यह मन, 'बिनु पंखन्ह हम चहहिं उडाना' यह कर्म और 'चाहिअ सदा सिवहि भरतारा' यह वचन है। (ङ) 'भरतारा' शब्दभी 'सहज उदासा' के संबधसे बहुतही उपयुक्त है। जो भरण पोषण करे वह 'भर्तार' है। उदासी क्या किसीका भरण पोषण करेगा? कदापि नहीं। यह भी अविरुद्धही है।

३ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'यह लेख उपहसनाय है। कोई कन्या अपने बडेसे ऐसा न कहेगी कि 'देखहु भरतारा'। पर ये बातें समझमें नहीं आतीं कि गोस्वामीजीने ऐसी खुलाखुली बातें क्यों लिखीं? देखो कालिदासने भी इसीको यों लिखा है कि पार्वतीजीने स्वयं नहीं कहा बल्कि अपनी सखीको इशारा किया, तब उसने ही कहा कि ये महादेवजीको पति चाहती हैं। ऐसा कुमारसंभवमें है।'—द्विवेदीजीकी शंका का समाधान यह है कि—(क) यहाँ वनमें पार्वतीजी अकेली तप करने आई हैं, उनके साथ कोई सखी नहीं है जैसा कि पूरे प्रसंगसे स्पष्ट है। अपि सत्यसत्य कहनेको कहते हैं, उनसे झूठभी तो नहीं कह सकतीं। इसीसे तो उत्तरके पूर्व प्रारम्भमें ही 'कहत बचन मनु अति सकुचाई' शब्दोंका प्रयोग हुआ। इन शब्दोंकी सार्थकता इस शंकाके होनेपर स्पष्ट दिख रही है। (ख) बात कहनेमें परम संकोच है, फिरभी क्या करें, लाचार हैं, ऐसाही अवसर आ पडा है। नहीं बोलतीं तो सारा मामलाही चौपट हुआ जाता है। अतः ऐसे अवसरमें ऐसा कहा जाना दोष नहीं समझा जा सकता। ☞ देखिए, श्रीकौशल्या अम्बाके सामने जब श्रीरामजीको श्रीसीताजीसे बोलना पडा तब भी कविने श्रीरामजीका सकुचाना कहकर तब उनसे वचन कहलाये हैं क्योंकि गोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे। यथा 'मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं। २।६१।' वैसेही श्रीसीताजीको भी सासके समीपही पतिको उत्तर देना पडा, तब उन्होंने 'लागि सासु पग कह कर जोरी। छमबि देबि बडि अविनय मोरी। २।६४॥'—इस तरह क्षमा प्रार्थना करके कहा ही तो। न कहतीं तो करतीं ही क्या? वियोगमें प्राणही निकल जाते। कमसे कम चौदह वर्षका वियोग सामने था। इसी तरह यहाँभी ब्रह्मवाणीसे सप्तर्षियोंका आगमन पूर्वही मालूम हो चुका है। उनका आगमन कुछ रहस्यसे ही है। यदि उनसे नहीं बोलतीं तो बनाबनाया सारा खेलही बिगड़ जानेकी संभावना है, मौका ही ऐसा आ पडा तब लाचार होकर कहना ही पडा, नहीं तो कभी न कहतीं। देखिए, वियोग सिर पर खडा देख और बिना स्पष्ट कहे काम न चलेगा लज्जा करनेसे प्राणही चले जायँगे, यह सब सोचकर सीताजीको सासके सामने मर्यादा तोडना पडी थी और उन्हीं सीताजीसे जब ग्रामवासिनी स्त्रियाँ पूछती हैं—'कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु का आहिं तुम्हारे॥ सुनि सनेहमय मंगल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी॥ २।११७।' तब कविने यहाँ मर्यादाका कैसा व्यवहार दिखाया है। पतिका नाम लेना तो दूर रहा, अंगुल्यानिर्देशभी न किया गया। और इनका घरपर छोडकर वनवासके लिये जानेपर तत्पर देख उन्हीं सीताजीको सब संकोच छोडकर पूरा लेक्चरही देना पडा जो अनुचित नहीं समझा जाता, वैसेही यहाँ समझना चाहिए।

नोट—श्रीलमगोडाजीने 'विश्वसाहित्य में रामचरितमानसके 'हास्यरस' में सारे शिव पार्वती विवाह-प्रकरणके प्रहसन कलाकी बडी सुन्दर व्याख्या की है। हम संक्षेपसे कुछ बातें लिखेंगे जो इस प्रकरण-में विचारणीय हैं।—(१) केन्ट और हेजलिटने जो अनमिल बेजोड़पनको हास्यका कारण बताया है, उसका यह बडा ही सुन्दर उदाहरण है—एक ओर पार्वतीजीकी सुंदरता और दूसरी ओर 'बर बौराह बरद असवारा' इत्यादि। (२) हाँ तुलसीदासजी पाश्चात्यदेशके इस सिद्धान्तको नहीं मानते कि कोई चरित्र हर समयही हास्य चरित रहता है, इसीसे उनकी हास्यकला अधिक शिक्षाप्रद है, क्योंकि हमें ज्ञात होता है कि कब हमारा कोई दोष हास्यप्रद होजाता है और हम सतर्क हो जाते हैं। (३) शिवजीमें उपहासभाव इतना

अधिक है कि वह ज्ञात हास्यचरित हैं और उन्हें चिढ़चिढ़ाहट नहीं आती। ☞ उपर्युक्त चौपाइयोंमें अनमिल-बेजोड़पन साफ है और अभी पार्वतीजीमें उपहासभावकी इतनीही मात्रा है कि वह स्वयं उसको स्पष्ट कर देती हैं।

दोहा—सुनत बचन बिहसे रिषय गिरि-संभव तव देह।
नारद कर उपदेसु सुनि कहहु बसेउ किसु गेह॥ ७८॥

शब्दार्थ—किसु (कस्य)=किसका। यथा 'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नाम' में 'जिसु'=जिसका।

अर्थ—(श्रीपार्वतीजीके ये) वचन सुनतेही सप्तर्षि खूब हँसे। (और हँसते हुये बोले कि क्यों न हो आखिर) तेरा शरीर पर्वतसे ही तो उत्पन्न हुआ है! (भला), कहो तो, नारदका उपदेश सुनकर (आजतक) किसका घर बसा? अर्थात् किसीका तो नहीं। ७८।

नोट—१ (क) 'सुनत बचन बिहसे रिषय' इति। सप्तर्षि परीक्षा लेने आए हैं। इसीसे वे पार्वतीजी और नारदजीके वचनोंके निरादरार्थ हँसे और नारदजीके प्रति व्यंगसे उन्होंने निन्दा सूचित करनेवाले वचन कहे। आगे दोहा ८१ में ऋषियोंने कहा है कि 'तुम्ह माया भगवान सिव सकल-जगत पितु-मातु।' और विवाहके समय श्रीमेनाजीको श्रीनारदजीके वचनोंमें प्रतीतिभी दिलाई है। इससे स्पष्ट है कि भीतरसे वे न नारदजीकी निंदा ही कर रहे हैं और न निरादर अभिप्रेत है, ऊपरसेही परीक्षार्थ यह सब कर रहे हैं। शिवपुराणमें लिखा है कि शिवजीने सप्तर्षियोंको आज्ञा दी थी कि सर्वथा छल और वंचनायुक्त वचनोंसे परीक्षा करें, इसमें संशय न करें। यथा 'सर्वथा छलसयुक्तं वचनीयं वचश्च वः। न संशयः प्रकर्त्तव्यस्मदाशासनान्मम सुव्रताः। २। ३। २५। १७।' इसीसे वे छलभरे असत्य वचन बोले—'प्रोचुश्छलवचो मृषा। २८।'—अतएव इस व्यंगमें स्तुति-पक्षके भावभी महात्माओंने दरसाये हैं। जैसे ब्रह्माकृत व्यंग स्तुति विनयमें शिवजीकी यह है,—'बावरो रावरो नाहु भवानी' वैसेही यहाँ भी व्यंग है। (ख) 'गिरि संभव तव देह' इति। भाव यह कि पर्वत जड़ है और तुम्हारी उत्पत्ति पर्वतसे है, इससे तुम्हारी बुद्धिभी जड़वत् होगई है, पथरा गई है। स्तुतिपक्षमें भाव यह है कि पर्वत परोपकारी और गम्भीर होते हैं वैसेही तुमभी परम पवित्रात्मा, गभीर और परोपकारिणी हो। 'गिरिसंभव' में लक्षणामूलक व्यंग है कि जड़की कन्या क्यों न जड़ता करे, शैलकी कन्या स्वाभाविक ही जड़ हुआ ही चाहे। (पं०, वीरकवि)।

☞ शिवपुराणमें जोड़के श्लोक ये हैं—'इत्याकर्ण्य वचस्तस्या विहस्य मुनयश्च ते। २८। न ज्ञात तस्य चरितं वृथा पण्डितमानिनः। देवर्षेः क्रूरमनसः सुज्ञा भूत्वाप्यगात्मजे। २९। नारदः कूटवादी च परचित्तप्रमंथकः। तस्य वार्ता श्रवणतो हानिर्भवति सर्वथा। ३०।' अर्थात् पार्वतीजीके वचन सुनकर मुनि हँसकर बोले। ज्ञानवती होकर भी तुमने झूठे मानी पंडित कठोर मनवाले नारदका चरित नहीं समझा, वह कूटवादी हैं, दूसरोंका चित्त मथन करनेवाले हैं। उनके वचनोंको सुनने मात्रसे ही हानि होती है। (२. ३. २५)। 'गिरि संभव तव देह' और 'नारद कर उपदेस सुनि…' में ये सब भाव भरे हुए हैं।

२ 'बसेउ किसु गेह' में 'वक्रोक्ति अलंकार' है। काकुद्वारा यह अर्थ सूचित करते हैं कि किसीका घर न बसा, जिसको उपदेश दिया, उसका घरही उजड़ गया। कामारिको पति पाकर क्या तुम्हारा घर कभी बसेगा? इसीके उत्तरमें पार्वतीजीने कहा है कि 'बसउ भवनु उजरउ नहि डरऊँ' (८०)। स्तुतिपक्षमें यह भाव कहा जाता है कि यह देह ही गेह (घर) है; यथा—'जिव जब तें हरि ते बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो। वि० १३६।' नारदजीके उपदेशसे यह देहरूपी घर रहही नहीं जाता, देहाभिमान जाता रहता है, जीव अपना सहजस्वरूप पा जाता है जिससे वह मुक्त हो जाता है। (पं०)।

दच्छसुतन्ह उपदेसिन्ह जाई। तिन्ह फिरि भवनु न देखा आई॥ १॥
चित्रकेतु कर घरु उन्ह घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला॥ २॥

शब्दार्थ—घालना=बिगाड़ना, नाश करना। यथा 'जिमि कपिलहि घालइ हरहाई। ७।३६।', 'आयु गए अरु घालहिं आनहिं। ७। ४०।' घर घालना=घर बिगाड़ना; परिवारमें अशान्ति वा हानि पहुँचाना, नाश करना, चौपट करना।

अर्थ—उन्होंने जाकर दक्षके पुत्रोंको उपदेश दिया (जिससे) उन्होंने फिर लौट आकर (घरका मुँह भी) न देखा। १। चित्रकेतुका घर उन्होंनेही चौपट किया। फिर हिरण्यकशिपुकी भी ऐसी ही दशा की। २।

नोट—१ 'दच्छसुतन्ह''''इति। भाव कि दक्ष दक्षही हैं, बड़े चतुर हैं, सो उनके भी पुत्रोंको इन्होंने ऐसा बहकाया कि उनकी दक्षता कुछ काम न कर सकी। एक भी पुत्र न रहगया। सभी पुत्र पिताकी आज्ञाके प्रतिकूल चले, घर न लौटे। जब ऐसे चतुर दक्षका घर बिगाड़ डाला तब तुम क्या चीज हो, तुम तो जड़ गिरिकीही पुत्री हो। 'जाई' का भाव कि प्रायः शिष्यही गुरुके पास जाता है, परन्तु दक्षके पुत्र नारदके पास उपदेशके लिये नहीं गए थे, वे (नारद) स्वयं बिना बुलायेही, बिना प्रयोजन उनके पास गए और उनको उपदेश दिया। भाव कि तुम्हारे पासभी तो अपने आपही आए थे, कोई बुलाने नहीं गया था। उनका यह स्वभाव है कि खोज खोजके यही काम किया करते हैं। पुनः भाव कि नारद और दक्ष दोनोंही ब्रह्माके पुत्र हैं [४८ (६) देखिये], नारदजीका जब अपने आत्मीयोंमें यह हाल है, तब तुम तो पराई हो, तुमको भड़कानेमें उन्हें कब दया आने लगी ? घरमें ही आग लगाई तब बाहरको कब छोड़ेंगे ?

२ जोड़के श्लोक ये हैं—'''नारदस्तत्र वै ययौ। ३३। कूटोपदेशमाश्राव्य तत्र सान्नारदो मुनिः। तदाज्ञया ते सर्वे पितुर्नगृहमाययुः। ३४।' ददौ तदुपदेशं स तेभ्यो आत्पथं ययुः। आययुर्न पितुर्गेहं भिक्षुवृत्ति रताश्च ते। ३७। विद्याधरश्चित्रकेतुर्यो बभूव पुराकरोत्। स्वोपदेशमयं दत्त्वा तस्मै शून्यं च तद्गृहम्। ३६। प्रह्लादाय स्वोपदेशाद्धिरण्यकशिपोः परम्। दत्त्वा दुःखं ददौ चायं परबुद्धिप्रभेदकः। ४०।' (२।३।२५)। अर्थात् दक्षके सुतोंको दो बार ऐसा कूट उपदेश दिया कि फिर वे घर न गए, भिक्षावृत्ति-मार्ग ग्रहण कर लिया। उनके पास स्वयं जाकर उपदेश दिया। विद्याधर चित्रकेतुको वैराग्यका उपदेश देकर उसका घर सूना कर दिया। प्रह्लादको उपदेश देकर हिरण्यकशिपुद्वारा उसे बहुत दुःख पहुँचवाया। अतः वे दूसरोंकी बुद्धिके भेदक हैं।

३ स्तुति पक्षका भाव—'उन्होंने फिर संसारमें भ्रमण न किया, पुनः जन्म न लिया, मोक्षमार्गकी राह ली, जहाँसे फिर लौटना नहीं होता। यथा 'पन्थानमनिवर्तनम्। भा० ६।५।२१।' चित्रकेतु भी भगवत्को प्राप्त हुआ। चित्रकेतुका अज्ञान और देहाभिमान इन्हींने मिटाया, हिरण्यकश्यप नृसिंहभगवान्के दर्शनमें कृतार्थ हुआ।' (पंजाबीजी)

४ दक्षपुत्रोंकी कथा—पंचजन प्रजापतिकी कन्यासे दक्षने विवाह करके उससे हर्यश्वनामक दश-हजार पुत्र उत्पन्न किये। (मत्स्य पुराणमें १००० पुत्र होना लिखा है—अ० ५ श्लो० ४-१२ में इसकी कथा है)। इन सबोंको दक्षने प्रजा उत्पन्न करनेकी आज्ञा दे सृष्टि रचनेके लिए तपस्या करने भेजा। सिंधु नदी और समुद्रके संगमपर नारायणसर तीर्थ है। वहाँ आ स्नानकर वे तपस्यामें तत्पर हुए। उसी अवसरपर श्रीनारद मुनि वहाँ पहुँचे और यह विचारकर कि इनका हृदय अभी स्वच्छ है, ये भगवद्भजनके योग्य हैं, इनको उपदेश लगेगा, उनसे बोले कि—'हे हर्यश्वो ! तुमने भूमिका अंत देखा है ? बिना उसके देखे सृष्टि कैसे करोगे ? प्रजापति होकरभी तुम बड़े अज्ञ हो जो व्यर्थ तप कर रहे हो। हमारे प्रश्नका उत्तर दो कि तुमने ये पदार्थ देखे हैं—(१) वह देश जिसमें केवल एकही पुरुष है। (२) एक बिल जिसमें जानेका मार्ग देख पड़ता है पर उससे निकलते किसीको नहीं देखा। (३) दोनों ओर बहनेवाली नदी (जो एक ओर उथली है और दूसरी ओर काटती है)। (४) पचीस पदार्थोंसे गठित अद्भुत घर। (५) विचित्र बोली बोलनेवाला हंस। (६) छुरा और वज्रसे रचित स्वयं घूमने वाला चक्र। (७) बहुत रूप धरने

वाली स्त्री। (८) एक पुरुष जो पुंश्चलीका पति है। (९) पृथ्वीका अंत। और यह भी बताओ कि तुम (१०) अपने सर्वज्ञ पिताकी आज्ञा जानते हो?

इन कूट वाक्योंको सुनकर हर्यश्वगणने इनका भाव अपनी बुद्धिसे यों विचारा कि 'यह लिंग शरीर राज्य है जिसमें जीवही एक पुरुष है। यही आत्माके बंधनका अनादि कारण है। ईश्वर एक है, सबका साक्षी, सर्वश्रेष्ठ, सर्वैश्वर्य-सम्पन्न और आपही अपना आधार है। उसको बिना जाने और उसमें चित्त लगाये बिना सब कर्म व्यर्थ हैं। ब्रह्ममें लीन होनेपर पातालगत व्यक्तिके समान फिर कोई नहीं लौटता। अपनी बुद्धि ही यह स्त्री है। जैसे दुष्ट स्त्रीके संगसे पतिकी स्वाधीनता चली जाती है वैसेही मायाके संगसे जीव ऐश्वर्य भ्रष्ट होगया और उस मायाकी सुख दुःख-रूप गतिका अनुगमन करता रहता है। उत्पत्ति और संहार करनेवाली माया नदी है। अन्तर्यामी पुरुष २५ तत्त्वोंका अद्भुत आश्रय है। ईश्वरप्रतिपादक शास्त्रमें कर्म जिनसे बंधन और जिनसे मोक्ष होता है कहे गए हैं, यही शास्त्र हंस है। स्वयं घूमनेवाला कालचक्र है जिसकी धार बड़ी तीक्ष्ण है। शास्त्र हमारा पिता है, निवृत्तिही उसकी उपयुक्त आज्ञा है।' मनमें इस प्रकार निश्चय करके नारदजीकी परिक्रमा करके उस मार्गको चल दिए जहाँसे कोई न लौटता। (भा० स्कं० ६ अ० ५ श्लोक १-२१)।

इसके पश्चात् दक्षने फिर पंचजनकी कन्यासे सबलाश्व नामक १००० पुत्र उत्पन्न किए-(मत्स्य पुराणमें वीरण प्रजापतिकी कन्यासे शबला नामक १००० पुत्र होना लिखा है—'हर्यश्वेषु प्रणष्टेषु पुनर्दक्षः प्रजापतिः। वैरिण्यामेवपुत्राणां सहस्रमसृजत्प्रभुः॥ शबला नाम ते विप्राः समेताः सृष्टिहेतवः॥') और इनको भी सृष्टि रचनेके लिये तपस्या करनेको वहीं भेजा। श्रीनारदजीने इनसेभी वही प्रश्न किये और अन्तमें इन्हें उपदेश दिया कि तुमभी अपने भाइयोंकी रीति ग्रहण करो, उन्हींका अनुसरण करो। इन्होंने भी वैसाही किया और घर लौटकर न गए। दक्षने जब यह समाचार पाया तो नारदपर बहुत कुपित हुए और उनसे बोले कि 'तू कपट वेश धारण किये है, असाधु है, तूने मेरे धर्मनिष्ठ पुत्रोंको भिक्षुकोंके मार्गपर भेज दिया ''। प्रथम बार हमारे साथ असह्य दुष्टता की सो मैंने ब्रह्माजीके कहनेसे सहली। अब फिर तूने हमारे साथ वही अप्रिय व्यवहार किया, हमारा सन्तानोच्छेदरूपी अमंगल जो तुमने किया है इसको मैं क्षमा नहीं कर सकता' ऐसा कहकर नारदजीको शाप दिया कि 'तुम एक ठौर स्थिर न रहोगे, तीनों लोकोंमें घूमते फिरते रहोगे, कहीं तुम्हारा पैर न ठहरेगा।' यथा—'तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद् भ्रमतः पदम्॥ भा० ६। ५। ४३॥' इसके पश्चात् दक्ष ने ६० कन्याएँ अपनी पत्नी असिक्नीसे उत्पन्न करके उन्हें ऋषियोंको व्याह दीं और इनके द्वारा सृष्टि रचाने लगे।

५ 'चित्रकेतुकी कथा'—शूरसेन देशमें चित्रकेतु सार्वभौम राजा था। इसके एक करोड़ रानियाँ थीं। —(बैजनाथजी और महाराज हरिहरप्रसादजी १६००० लिखते हैं)। परन्तु न तो कोई पुत्र ही था और न कन्या ही। एक दिन श्रीअङ्गिराऋषिजी विचरते हुए राजाके यहाँ आ पहुँचे, राजाने प्रत्युत्थान, पाद्य, अर्घ्य द्वारा पूजन कर उनका आतिथ्य सत्कार किया। राजासे कुशल प्रश्न करते हुए ऋषिजीने कहा-'राजन्! तुम्हारा आत्मा कुछ असन्तुष्टसा देख पड़ता है। किसी इष्ट पदार्थकी अप्राप्तिसे दुःखित हो? तुम चिन्तित से जान पड़ते हो, क्या कारण है?' राजाने अपना दुखड़ा सुनाया कि 'बिना एक पुत्रके मैं पूर्वजों सहित नरकमें पड़ रहा हूँ, कृपा करके वह उपाय कीजिये जिससे पुत्र पाकर दुष्पार नरकसे उत्तीर्ण हो सकूँ'। मुनिने त्वाष्ट्र चरू तैयारकर उससे त्वष्टा देवताका पूजन कराया और राजाकी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पटरानी कृतद्युतिको उस यज्ञका अवशिष्ट अन्न देकर कहा 'इसे खा लो'। फिर राजासे कहा कि इससे एक पुत्र होगा, परन्तु उससे तुमको हर्ष और शोक दोनों होंगे। ऋषि यह कहकर चले गए। पुत्र उत्पन्न होनेपर राजाने बहुत दान दिये। पुत्रवती होनेके कारण राजाकी प्रीति इस रानीसे बढ़ती गई जिससे और रानियोंके हृदयमें दाह होने लगा। वे सोचतीं कि हम दासियोंसे भी गई गुजरीं, हमसे अधिक मंदभागिनी कौन होगी। वे सवतका सौभाग्य

न देख सह सकती थीं। एक बार पुत्र सो रहा था, माता किसी कार्यमें लगी थी। सवतोंने अवसर पाकर बच्चेके ओठोंपर विषका फाया फेर दिया, जिससे उसके नेत्रोंकी पुतलियाँ ऊपर चढ़ गईं और वह मर गया। इसकी माँ को सवतोंके द्वेषका पता भी न था। बहुत देर होनेपर माताने धायसे राजकुमारको जगा लानेकी आज्ञा दी, धायने जाकर देखा तो चीखमारकर मूर्छित हो गिर पड़ी। रानी यह देख दौड़ी, कोलाहल मच गया। रानी राजा दोनोंका शोक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, महाशोकसे विलाप प्रलाप करते हुए वे मोहके कारण मूर्छित हो गए।

ठीक इसी अवसर पर श्रीअंगिराऋषि और श्रीनारदजी वहाँ आ पहुँचे। महर्षि अंगिरा और नारदजी राजाको यों समझाने लगे कि—हे राजाओंमें श्रेष्ठ! सोचो तो कि जिसके लिए तुम शोकातुर हो वह तुम्हारा कौन है और पूर्व जन्ममें तुम इसके कौन थे और आगे इसके कौन होगे? जैसे जलके प्रवाहके वेगसे बालू (रेत) बह बहकर दूर-दूर पहुँचकर कहाँसे कहाँ जा इकट्ठा हो जाती है, इसी प्रकार कालके प्रबल चक्र द्वारा देहधारियोंका वियोग और संयोग हुआ करता है। जैसे बीजमें कभी बीजान्तर होता है और कभी नहीं, वैसे ही मायासे पुत्रादि प्राणी पिता आदि प्राणियोंसे कभी संयोगको प्राप्त होते हैं और कभी वियोग को। अतएव पिता पुत्र कल्पना मात्र हैं। वृथा शोक क्यों करते हो? हम, तुम और जगत्‌मात्रके प्राणी जैसे जन्मके पूर्व न थे और मृत्युके पश्चात् न रहेंगे वैसे ही इस समय भी नहीं हैं' [भा० ६। १५। श्लो० १०८]। राजाको ज्ञान हुआ इस प्रकार कुछ सान्त्वना मिलने पर राजाने हाथसे आँसू पोंछकर ऋषियों से कहा—'आप दोनो अवधूत वेश बनाये हुए कौन हैं? आप ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं जो हम सरीखे पागलोंको उपदेश देनेके लिये जगत्‌में विचरते रहते हैं। आप दोनो मेरी रक्षा करें। मैं घोर अंधकारकूपमें डूबा पड़ा हूँ। मुझे ज्ञान-दीपकका प्रकाश दीजिए। 'अंगिरा ऋषिने दोनोका परिचय दिया और कहा कि—'तुम भगवान्‌के भक्त और ब्रह्मण्य हो, तुमको इस प्रकार शोकमें मग्न होना उचित नहीं। तुमपर अनुग्रह करनेहीको हम दोनो आए हैं। पूर्व जब मैं आया था तब तुमको अन्य विषयोंमें मग्न देख ज्ञानका उपदेश न दे पुत्र ही दिया, अब तुमने पुत्र पाकर स्वयं अनुभव कर लिया कि गृहस्थको कैसा संताप होता है। स्त्री, घर, धन और सभी ऐश्वर्य संपत्तियाँ योंही शोक, भय, संतापकी देनेवाली नश्वर और मिथ्या हैं। ये सब पदार्थ मनके विकार मात्र हैं, छनमें प्रकट और छनमें लुप्त होते हैं। इनमें सत्यताका विश्वास त्यागकर शांति धारण करो।' देवर्षि नारदजीने राजाको मंत्रोपनिषद् उपदेश किया और कहा कि इसके सात दिन धारण करनेसे सकर्षण भगवान्‌के दर्शन होंगे। फिर सबके देखते नारद मुनि मरे हुए राजकुमारके जीवात्मासे बोले—'हे जीवात्मा! अपने पिता, माता, सुहृद, बांधवोंको देख। वे कैसे संतप्त हैं। अपने शरीरमें प्रवेशकर इनका संताप दूर कर। पिताके दिये हुये भोगोंको भोगो और राज्यसिंहासनपर बैठो।' लड़का जी उठा और बोला कि—'मैं अपने कर्मानुसार अनेक योनियोंमें भ्रमता रहा हूँ। किस जन्ममें ये मेरे पिता-माता हुए थे? क्रमशः सभी आपसमें एक दूसरेके भाई, पिता, माता, शत्रु, मित्र, नाशक, रक्षक इत्यादि होते रहते हैं। ये लोग हमें पुत्र मानकर शोक करनेके बदले शत्रु समझकर प्रसन्न क्यों नहीं होते? जैसे सोना, चाँदी, आदिके व्यापारियोंके पास सोना चाँदी आदि वस्तुएँ आती-जाती रहती हैं, वैसेही जीवभी अनेक योनियोंमें भ्रमता रहता है। जितने दिन जिसके साथ जिसका संबंध रहता है उतने दिन उसपर उसकी ममता रहती है। आत्मा नित्य, अव्यय, सूक्ष्म, स्वय प्रकाशित है। कोई उसका मित्र वा शत्रु नहीं।...' (भा० स्कं० ६ अ० १४, १५। अ० १६। श्लोक १-११)। वह जीव फिर बोला कि मैं पाञ्चाल देशका राजा था, विरक्त होनेपर मैं एक ग्राम में गया। इस मेरी माताने भोजन बनाने के लिए मुझे कंडा दिया जिसमें अनेकों चींटियाँ थीं (कोई-कोई कहते हैं कि फल दिया था; जिसमें चींटियाँ थीं)। संशोधन किये बिना मैंने आग लगादी। वे सब चींटियाँ मर गईं। मैंने शालग्रामदेवका भोग लगाकर प्रसाद पाया। वही चींटियाँ मेरी सौतेली मातायें हुईं। प्रभुको अर्पण होनेसे एकही जन्ममें सबने मुझसे बदला ले लिया, नहीं तो अनेक जन्म लेने पड़ते—

'प्रभु राजेन्द्र श्रुति नीति अरु मैं नहिं पाव कलेश'। अब इस देहसे मेरा संबंध नहीं। 'यह सब माया कर परिवारा'। इतना कह जीव शरीरसे निकल गया। राजाको ज्ञान प्राप्त हुआ। उसने राज्य छोड़ दिया। नारदमुनिने सङ्कर्षण भगवान्का मंत्र दिया, स्तुतिमयी विद्या बताई। सात दिन जप करनेपर शेष भगवान्का दर्शन हुआ। आपको एक विमान मिला जिसपर चढ़कर आप आकाश मार्ग पर घूमते थे। पार्वतीजीके शापसे वृत्रासुर हुए। भा० स्कं० ६ अ० ६, १०, ११, १२ में वृत्रासुर और इन्द्रकी वार्ता आदि देखने योग्य है।—(भक्तिसुधास्वाद भक्तमाल तिलक तृतीय आवृत्ति पृष्ठ १२५-१२६)

६ 'कनककशिपुकी कथा'—प्रह्लादजीकी माताको उपदेश दिया जिससे पिता-पुत्रमें विरोध हुआ। पिता मारा गया। विशेष २६ (४) में देखिए।

दैत्य बालकोंके पूछनेपर प्रह्लादजीने स्वयं यह वृत्तान्त यों कहा है। (भा० ७ अ० ७ में यह वृत्तांत दिया है)।—हिरण्याक्षके मारे जानेपर जब मेरे पिता हिरण्यकशिपु मन्दराचलपर तप करनेके लिए गये तब अवसर पाकर देवताओंने दैत्योंपर चढ़ाई की। दैत्य समाचार पा जान बचाकर भागे, स्त्री पुत्रादि सबको छोड़ गए। मेरे पिताका घर नष्ट कर डाला गया और मेरी माताको पकड़कर इन्द्र स्वर्गको चले। मार्गमें नारदमुनि विचरते हुए मिल गए और इन्द्रसे बोले कि इस निरपराधिनी स्त्रीको पकड़ ले जाना योग्य नहीं, इसे छोड़दो'। इन्द्रने कहा कि इसके गर्भमें दैत्यराजका वीर्य है। पुत्र होने पर उसे मारकर इसे छोड़ दूँगा। तब नारदजी बोले कि यह गर्भ स्थित बालक परम भागवत है। तुम इसको नहीं मार सकते। इन्द्रने नारद वचनपर विश्वास करके मेरी माँको परिक्रमा करके उसे छोड़ दिया। नारदजी उसे अपने आश्रममें ले गए। वह गर्भके मङ्गलकी कामनासे नारदमुनिकी भक्तिपूर्वक सेवा करती रही। दयालु ऋषिने मेरे उद्देश्यसे मेरी माताको धर्मके तत्त्व और विज्ञानका उपदेश किया। ऋषि अनुग्रहसे वह उपदेश मैं अबतक नहीं भूला।

नारद सिख जे सुनहिं नर नारी। अवसि होहिं तजि भवनु भिखारी॥ ३॥
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आपु सरिस सबही चह कीन्हा॥ ४॥

अर्थ—पुरुष (हो या) स्त्री जो भी नारदकी सीख (सिखावन, उपदेश, शिक्षा) सुनते हैं वे घर बार छोड़कर अवश्य भिक्षुक हो जाते हैं। ३। (उनका) मन (तो) कपटी है और शरीरपर सज्जनोंके चिह्न हैं। वे सबको अपना सा (अपने समान) बनाना चाहते हैं। ४।

टिप्पणी—१ (क) यहाँतक तीन उदाहरण दिये। दक्ष, चित्रकेतु और हिरण्यकशिपुके। तीन उदाहरण देनेका भाव कि तीन बहुवचन है। तीन उदाहरण देकर जनाया कि ये तो लोक पीछे एक एक उदाहरण हमने दिया। (दक्षसुत स्वर्गके, चित्रकेतु मर्त्यलोकके और हिरण्यकशिपु पातालके। पर हिरण्यकशिपुकी राजधानी मुलतान कही जाती है जो भारतवर्षमें है। इससे यह आशय समझ पड़ता है कि लोक तीन हैं; इसलिए तीन उदाहरण दिये गये।)। इनके अतिरिक्त बहुतेरोंको उपदेश दे-देकर घर उजाड़ डाला। (ख) ये तीनों उदाहरण पुरुषोंको बहकानेके हुए। इसीसे फिर कहते हैं कि 'नारद सिख जे सुनहिं नर नारी'। अर्थात् स्त्रियोंको भी बहकाते हैं जिनमेंसे एक तुम भी हो जिन्हें उपदेश दिया। इस प्रकार जनाया कि तीनो लोकोंके निवासियोंको चौपट करते हैं। पुनः, ['नर नारी' कहनेका भाव कि पहले जिनको उपदेश दिया उनमें दो दक्षसुत और चित्रकेतु तो पुरुष थे और हिरण्यकशिपुकी स्त्रीको उपदेश देकर हिरण्यकशिपुको चौपट किया। वैरागी पुत्र उत्पन्न हुआ जो अपनी माँके वैधव्यका कारण हुआ। यह उदाहरण स्त्रीको सीख देनेका है। अतः 'नर नारी' कहा]।

नोट—१ (क) 'जे सुनहिं' इति। भाव कि ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं है जिसमें उनका उपदेश सुननेसे घर न बिगड़ा हो। तुमने भी सुना, इसीसे घर छोड़ वनमें पड़ी हो, राजभोग ऐश्वर्य छोड़ भिखारिनी तपस्विनी बनी हो। पुनः, भाव कि उपदेश सुनभर लेनेका यह फल होता है और तुमने तो इतना

करभी लाला। (ख)—'अवसि'=अवश्य ही। अर्थात् इसमें संदेह नहीं है। 'भिखारी होंहि' का साधारण अर्थ यही है कि द्वार-द्वार उन्हें भीख माँगनी पड़ती है, दुःख उठाना पड़ता है। देख न लो, तुम्हारा घर छुड़ाया, तपके बहाने वनमें भेजवाया और तप भी किस लिये ?—'भिखारीसे विवाह करानेके लिये।' तब तुम्हारे भिखारिनी होनेमें क्या सन्देह रह गया ? मिलान कीजिये—'असाध्व कार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः। भा० ६। ५। ३६।' (दक्षने नारदजीसे कहा है कि तुमने स्वधर्मपरायण मेरे पुत्रोंको भिक्षुओंके मार्गका उपदेश दिया)। स्तुतिपक्षमें 'भिखारी' से संसारसे विरक्त हो जाना कहा।

२ 'मन कपटी तन सज्जन चीन्हा।' इति। 'कपटी' अर्थात् मनमें कुछ है और बाहर दिखानेको कुछ और ही है। 'कपटी' कहकर दूसरे चरणमें कपटका कारण कहते हैं कि 'आपु सरिस सबही चह कीन्हा'। अर्थात् चाहते हैं कि जैसे हम घरबाररहित हैं, वैसेही किसीके भी घरबार न रह जाय। बसा-बसाया घर देख उसे उजाड़नेकी टोहमें लगे रहते हैं। सृष्टिकी बढ़ती नहीं देख सकते।—'उजरे हरष बिषाद बसेरे'। मेनाजीने भी यही कहा है, यथा 'नारद कर मैं काह बिगारा। भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा॥''' परघरघालक लाज न भीरा। ६७। १४।' 'तन सज्जन चीन्हा' अर्थात् ऊपरसे तिलक, कंठी, माला, वीणा, हरिगुणगान आदि सज्जनोंकेसे चिह्न बनाये रहते हैं। सज्जन बिछुड़े हुओंको मिलाते हैं और ये मिले हुओं को छुड़ाते हैं। (वै०)। 'आपु सरिस' अर्थात् बिना स्त्री और घरका। यथा 'साँचेहु उन्ह के मोह न माया। उदासीन धनु धामु न जाया। ६७। ३।'

३ जोड़के श्लोक—'मुनिना निज विद्या यत्ताविला कर्णरोचना। सा स्वगेहं विहायाशु भिक्षां चरति प्रायशः। ४१। नारदो मलिनात्मा हि सर्वदोज्ज्वलदेहवान्। जानीमस्तं विशेषेण वयं तत्सहवासिनः। ४२।' (शि० पु० २। ३। २५)। अर्थात् जिस-जिसने उनका कर्णरोचक उपदेश सुना वह वह घर छोड़ भिक्षावृत्ति परायण हो गया। ये देखनेमें बगला सरीखे उज्ज्वल देहवाले हैं, पर उनका मन मलिन है। हम सहवासी हैं, इससे सब जानते हैं।

४ सप्तर्षि अपने वचनोंसे सुझाते हैं कि नारदजी मन, वचन और तन तीनोंसे पराया घर बिगाड़ने में लगे रहते हैं। 'मन कपटी' से मन, 'सिख' से वचन और 'तन सज्जन चीन्हा' से तन या कर्म—इस तरह तीनोंसे धोखा देकर बहकाकर बिगाड़ना कहा। पुनः भाव कि उनके वचनोंमें तो वैराग्य भरा रहता है, मनमें कपट रहता है और तनमें सज्जन चिह्न अर्थात् ऋषि वेष बनाये रहते हैं—यह अवगुणी दुरात्माओं के लक्षण हैं, यथा 'बरन धरमु गयो, आश्रम निवास तज्यो, त्रासन चकित सो परावनो परो सो है। करम उपासना कुबासना बिनास्यो, ज्ञान बचन, बिराग बेष जगत हरो सो है॥ ' (क० उ० ८४)। पुनश्च यथा 'वचस्यन्यन्मनस्यन्यत्कार्यमन्यद्दुरात्मनाम्।' अर्थात् दुरात्माओंके मनमें कुछ, वचन कुछ और कार्य कुछ और होता है। दक्षनेभी कहा है कि तुम ऊपरसे साधुवेष धारण किये भीतरसे दूसरेका बुरा चेतते हो, यथा 'अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया। भा० ६। ५। ३६।' (पं० रा० कु०)। (ग) स्तुति पक्षके भाव कि संसारकी ओरसे मन हटाकर भगवद्भक्त बना देते हैं।

तेहि के बचन मानि बिस्वासा। तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा॥ ५॥
निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर ब्याली॥ ६॥

अर्थ—(सो) उसके वचनोंपर विश्वास मानकर तुम (ऐसेको) पति बनाना चाहती हो जो जन्मसेही स्वाभाविकही उदासीन है। ५। गुणहीन, निर्लज्ज, बुरे वेषवाला, प्रेतों और मनुष्योंकी खोपड़ियों की माला पहननेवाला (मुंडमालधारी), कुलहीन, घरबार-रहित, नंगा और सर्पोंको सारे शरीरमें लपेटे रहनेवाला है। ६।

नोट—१ 'तेहि के बचन ''' इति। (क) भाव कि कपटी, अवगुणी, मोहमाया दयारहित मनुष्य

विश्वास करने योग्य नहीं होता, तुमने ऐसे मनुष्यका विश्वास कैसे कर लिया ? यहाँतक उपदेष्टाकी निंदा की। आगे वरकी निंदा करते हैं। (ख) पार्वतीजीने पहले नारदवचनको सत्य मानना कहा था तब शिवजीको पतिरूपमें वरण करनेकी बात कही थी; यथा 'नारद कहा सत्य सोइ जाना। बिनु पंखन्ह । चाहिअ सदा सिवहिं भरतारा ॥' अतः उसी क्रमसे ऋषियोंने प्रथम उपदेष्टाकी निंदा की, (यदि पार्वतीजी इसे सुनकर नारदवचनको असत्य मान लेतीं तब तो आगे कहनेकी आवश्यकता ही न रह जाती), तब वरकी।

२ 'तुम्ह चाहहु पति व्याली' इति। नारदजीने जो वरके लक्षण बताये थे, उनसे मिलान कीजिये—

नारद	सप्तर्षि	नारद	सप्तर्षि	नारद	सप्तर्षि
१ अगुन	निर्गुण	४ उदासीन	सहज उदास	८ नग्न	दिगंबर
२ अमान	निलज्ज	५ संशयछीण	अगेह	९ अमंगल वेष जटिल	व्याली, कुबेष, कपाली
३ मातुपितुहीना	अकुल	६ जोगी ७ अकाम मन	सहज उदास		

पार्वतीमंगलमें गोस्वामीजीने इसीको वरनैछन्दमें यों लिखा है—'कहहु का सुनि रीझेहु बर अकुलीनहि। अगुन अमान अजाति मातु पितु हीनहि ॥'—जिसके अनुसार 'अकुल' का अर्थ 'अकुलीन' या 'अजाति' होना पाया जाता है। 'सहज उदासा' और 'अगेह' कहकर जनाया कि उनका किसीका घर नहीं भाता, कहीं नदी तटपर श्मशानमें पड़े रहते हैं जैसी उदासियोंकी रीति है, यथा 'कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी। बसहिं ज्ञानरत मुनि सन्यासी। ७। २९।'; क्योंकि वहाँ सदा मृतक शरीरोंको देखते रहनेसे आत्मबुद्धिका विस्मरण नहीं होने पाता। 'निर्गुण' से जनाया कि वर होने योग्य उनमें एक भी गुण नहीं है। भाँग धतूरा आदि खाते हैं। तुम उत्तम शीलादिगुणोंसे युक्त हो तब निर्गुणी तुम्हारे योग्य कैसे हो सकता है ? 'निलज' (निर्लज्ज) हैं अर्थात् भूत प्रेत पिशाच पिशाचिनियोंके साथ नंगे नाचते हैं, पिशाचियोंको घूरते हैं; ऐसेके साथ तुमभी लज्जित होगी। 'कुबेष' से चिताकी अपवित्र भस्म लगाए, पंचमुख, तीन नेत्र, जटाधारी, नग्न व्याघ्रचर्मधारी, (व्याघ्रचर्म पहने और गजचर्म ओढ़े), इत्यादि सब कहे। 'कपाली' हैं अर्थात् मनुष्यों, प्रेतों और सतीके मरनेपर सतीकेभी मुण्डोंकी माला धारण करते हैं। प्रेतोंकी मुण्डमाला धारण करनेका प्रमाण, यथा—'प्रेतसङ्नृस्थि भूषण। भा० ४। २। १५।' 'अकुल' हैं अर्थात् उनके माँ बापका ठिकाना नहीं, वे अकुलीन हैं तब कुलीन पुरुषोंके साथ वे बैठ नहीं सकते। अथवा, कुल नहीं है, तुम्हारे सास, श्वसुर, ननद, भौजाई इत्यादि कोई भी नहीं है, ऐसा घर किस कामका है ? 'अगेह' हैं, घर नहीं है; अर्थात् वहाँ तुम्हारे रहनेका कहीं ठिकाना नहीं, तब फिर रहोगी कहाँ ? 'दिगम्बर' हैं, उनके पास कपड़ा भी नहीं, तब तुम्हें ओढ़ने-पहननेको कहाँसे मिलेगा ? 'व्याली' हैं अर्थात् सर्पोंको सब अंगोंमें लपेटे रहते हैं, नागराज वासुकिको यज्ञोपवीतरूपमें धारण किये रहते हैं और इसी रूपमें ये पृथ्वीपर भ्रमण करते रहते हैं।—सबका आशय यह हुआ कि विवाह घर, वर और कुल देखकर किया जाता है, सो ये तीनोंही बातें प्रतिकूल हैं। न घर अच्छा न कुल और न वर ही अच्छा।—विशेष ७९ (७) में देखिये।

३ श्रद्धेय शिवजीके विषयमें मुनियोंका अयथार्थ घृणा प्रदर्शित करना 'बीभत्स रसाभास' है (वीरकवि)। ☞ स्तुतिपक्षमें ये सब विशेषण गुण हैं। यहाँ तक देवर्षि नारद तथा योगीश्वर शिवजीके विषयमें जो बातें कही गई हैं, उनके स्तुतिपक्षके भाव यहाँ एकत्र दिये जाते हैं—

वचन	निंदा पक्षमें भाव	स्तुति-पक्षमें भाव
'गिरि-संभव तव देह'	गिरि जड़ है, तुम उसकी पुत्री हो, इससे तुम्हारी बुद्धिभी	गिरि परोपकारी वैसेही तुमभी हो, वह गँभीर वैसेही तुमभी हो। परम पवित्र हो (पं०)

	जड हुआही चाहे, कि तुम नारद के वचन पर हठ कर बैठी हो।	
बसेउ किमु गेहू	किसका घर बसा? सबको उन्होंने उजाड़ दिया, घरका नाश कराया। कामारिको पति पाकर क्या तुम्हारा घर बसेगा? शैल-राजका घरभी उजड़ेगा।	यह देहही घर है, यथा 'जिय जब ते हरि ते बिलगान्यो। तबतें देह गेह निज जानेउ।' नारदजी के उपदेशसे फिर यह देहरूपी घर रहही नहीं जाता, देहाभिमान छूट जाता है और जीव मुक्त हो जाता है। (पं०)।
तिन्ह फिरि भवन न देखा	घर लौटकर न आए।	उन्होंने फिर संसारमें भ्रमण न किया, पुनः जन्म न लिया।
चित्रकेतु कर घर घाला	दक्षका घर उजड़ गया। वंशाही न रह गया।	(जन्मान्तर-वृत्रासुररूपमें) चित्रकेतुभी भगवान्‌को प्राप्त होगए। नारदने उनका अज्ञान और देहाभिमान मिटा दिया।
कनककसिपु कर अस हाला	उसको मरवा ही डाला। बाप-बेटेमें विरोध करा दिया।	हिरण्यकशिपु नृसिंहजीके दर्शनसे कृतार्थ हुए भगवत्‌को प्राप्त हुए।
अधसि होहिं ... भिखारी	रोटीके लाले पड़ जाते हैं। टुकड़े माँगते फिरते हैं।	घर छोड़ विरक्त संन्यासी हो जाते हैं, मिथ्या संपदा त्यागकर शमदमादिकसे संपन्न हो जाते हैं। संसारसे मनको कपट लेते हैं, दूसरेको भी सज्जन बना लेते हैं।

☞ शिवपुराणके जोड़के श्लोक—'लब्ध्वा तदुपदेशं हि त्वमपि प्राज्ञसंमता। वृथैव मूर्खीभूता त्वं तपश्चरसि दुष्करम्॥ ४४। यदर्थमीदृशं बाले करोषि विपुलं तपः। सदोदासी निर्विकारो मदनारि न संशयः। ४५। अमंगलवपुर्धारी निर्लज्जोऽसदनोऽकुली। कुवेषी भूतप्रेतादिसंगी नग्नो हि शूलभृत। ३६।' (२।३। २५)। अर्थात् तुम विदुषी होकर भी उनका उपदेश पाकर मूर्खा होकर व्यर्थही कठिन तप कर रही हो। जिसके लिए तुम कठिन तप कर रही हो वह कामारि सदा उदासी, निर्विकार, अमंगलवपुधारी, निर्लज्ज, अगेह, अकुली, कुवेषवाला, भूतप्रेतोंका साथ करनेवाला, नग्न और त्रिशूलधारी है। ☞ सदा उदासी, निर्लज्ज, कुवेषी, अकुली, अगेह, और नग्न तो स्पष्टही मानसमे हैं। मानसके निर्गुण, कपाली और व्यालीके बदले शिवपुराणमे निर्विकार, अमंगलवपुधारी, भूतप्रेतादिसंगी और शूलभृत् हैं।

नोट—शिवजीके विशेषणोंके साधारण ऊपरी भाव कुछ ऊपर नोटमे दिए गए और कुछ अगली चौपाई 'कहहु कवन सुख अस बर पाए' मे दिए जायेंगे। स्तुतिपक्षके भाव कुछ पूर्व 'जोगी जटिल अकाम मन० ।६७।' में दिए गए हैं और कुछ यहाँ पुनः दिए जाते हैं।—'सहज उदासा' अर्थात कोई शत्रु मित्र नहीं, विषय-वासना छू भी नहीं गई, अतः परमभक्त हैं। 'कुवेष' अर्थात् पृथ्वीपर ऐसा वेष किसीका नहीं है। कु=पृथ्वी। 'व्याली' अर्थात् शेषजीको सदा भूषणसरीखा धारण किये रहते हैं, यथा 'भुजगराज भूषण', 'लसद भाल बालेंदु कंठे भुजंगा'—ऐसे सामर्थ्यवान और भगवान्‌के कीर्त्तनरसिकके संगी। 'कपाली' अर्थात् जिनकी समाधि कपाल अर्थात् दशमद्वारमें रहती है। निर्गुण=गुणातीत। अकुल अर्थात् अजन्मा हैं। 'दिगंबर' और 'अगेह' से परम विरक्त संत जनाया। 'निलज' से अमान अभिमानरहित जनाया, यह भी संतलक्षण है।—इसप्रकार यहाँ व्याजस्तुति अलंकार है।

कहहु कवन सुखु अस बरु पाएँ। भल भूलिहु ठग के बौराएँ॥ ७॥
पंच कहे शिव सती बिबाही। पुनि अवडेरि मराएन्हि ताही॥ ८॥

शब्दार्थ—भूलना=गलती करना, धोखेमें पड़ जाना, लुभा जाना, चूकना। पंच=पाँच या अधिक लोगोंका समुदाय जो कोई झगड़ा निबटानेके लिए एकत्र हों।=जनता—लोक।=लोग। अवडेर (अव+रार वा राड़)='झमेला, झंझट, बखेड़ा'। (श० सा०)। अवडेरना—न बसने देना, न रहने देना, यथा 'भोरानाथ भोरे हौ सरोष होत थोरे दोष पोषि तोषि थापि अपनो न अवडेरिये।' (बाहुक)।—चक्करमें डालना, फेरेमें डालना, फँसाना। (श० सा०)। अवडेरा=घुमाव फिरावबाला चक्करदार, बड़ा। कुडंग। (श० सा०)। पुन, 'अवडेरि'=त्याग कर। (पाँ०)। सुना जाता है कि पहलवानोंमें इस शब्दका प्रयोग पाया जाता है। कोई दाँव या पेंच करके जोड़ीको फाँसा जाता है जिसे अवडेरा कहते हैं। मराएन्हि=मरवा डाला।

अर्थ—भला, कहो तो सही, ऐसा वर पाकर तुमको कौनसा सुख होगा? तुम उस ठग (नारद) के बहकानेमें खबही भूलीं (भटक गई)। ७। लोगोंके कहनेसे (पहले तो) शिवजीने सतीजीसे विवाह किया फिर फेरेमें डालकर या त्यागकर उनको मरवा डाला। ८।

नोट—१ 'कहहु कवन सुख अस वर पाएँ' इति। भाव कि 'संसारमें दो प्रकारका सुख देखा जाता है—एक तो वह है जिसका सम्बन्ध शरीरसे होता है और दूसरा वह जो मनको शान्ति एवं आनन्द प्रदान करनेवाला होता है। यदि तुम अपने शरीरके लिये नित्य सुखकी इच्छा करती हो तो तुम्हें व्याली, कपाली दिगंबर, निलज, घृणित वेषमें रहनेवाले, भूतप्रेतोंके संगी महादेवसे वह सुख कैसे मिल सकता है? वे व्याली हैं, फुफकारते हुए भयंकर भुजगोंको आभूषण रूपमें धारण करते हैं, अगेह हैं इसीसे श्मशान भूमिमें रहते हैं और रौद्ररूपधारी प्रमथगण सदा उनके साथ लगे रहते हैं। जिस वरको तुम चाहती हो उसके पानेहीमें बहुत क्लेश है और यदि कदाचित् प्राप्त भी हो जाय तो वह निष्फल वृक्षके समान है—उससे तुम्हें सुख नहीं मिल सकता। दूसरे किसी देवताके पानेसे तुम्हें मानसिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इस वरसे कदापि नहीं।'

☞ २ मिलान कीजिये पार्वती मंगलके बटुरूपधारी शिवजीके वाक्योंसे—

'कहहु काह सुनि रीझिहु बरु अकुलीनहि। अगुन अमान अजाति मातु पितु हीनहिं।
भीख माँगि भव खाहिं चिता नित सोवहिं। नाचहिं नगन पिसाच पिसाचिनि जोवहिं॥ ३१॥
भाँग धतूर अहार छार लपटावहिं।
सुमुखि सुलोचनि! हर मुखपंच तिलोचन। बामदेव फुर नाम काम-मद मोचन॥ ३२॥
एकउ हरहि न बर गुन कोटिक दूषनु। नर कपाल गज-खाल ब्याल बिष भूषनु।
कहँ राउर गुन सील सरूप सुहावन। कहाँ अमंगल बेषु बिसेषु भयावन॥ ३३॥
जो सोचहि ससिकलहि सो सोचहि रौरेहि। कहा मोर मन धरि न बरिय बर बौरहि।
हिय हेरि हठ तजहु हठै दुख पैहहु। ब्याह समय सिख मोरि समुझि पछितैहहु॥ ३४॥
उपर्युक्त सारा उद्धरण 'कहहु कवन सुख अस वरु पाए' का भाव ही है।

टिप्पणी—१ (क) 'कहहु कवन सुख अस वरु पाएँ' अर्थात् तुम्हीं कहो, ऐसा वर मिलनेसे क्या सुख मिलेगा, कुछ भी तो नहीं। भाव कि सहजही उदासीन होनेसे तुमको पतिका सुख नहीं, निर्गुण निर्लज्ज होनेसे जातिपाँतिमें प्रतिष्ठा मानका सुख नहीं, कुवेष-कपाली होनेसे संगका सुख भी नहीं, अकुल अगेह होनेसे कुल और घरका सुख नहीं, दिगंबर होनेसे खानपान ओढ़ने पहननेका भी सुख नहीं और व्याली होनेसे डर ही लगा रहेगा। भाव कि विवाह घर, वर और कुल देखकर किया जाता है सो ऐसे वरसे कोई सुख नहीं होनेका, न घरका, न पतिका, न कुलका, न खानपानका, न ओढ़ने पहिरनेका। (ख) 'भल भूलिहु ठगके बौराएँ' इति। [ठग लोग बहुधा नशेके मादकमिश्रित पदार्थ लोगोंको खिलाकर बावला बनाकर यात्रियोंको ठग लिया करते हैं। वैसे ही नारदने 'सभु सहज समरथ भगवाना। एहि बिबाह सब बिधि कल्याना।' इत्यादि वचनरूपी विषमिश्रित मोदक देकर तुमको ठग लिया। हजारों वर्ष तनको तपस्यासे कष्ट दिया, इसीसे 'भल भूलिहु' कहा। पुन भाव कि उनके चक्करमें पड़ना न था पर तुम पड़ गईं।

नोट—३ मिलानके श्लोक—'सधूर्तस्तव विज्ञानं विनाश्य निज मायया। मोहयामास सद्युक्त्या कारयामास वै तपः ।४७। ईदृशं हि वरं लब्ध्वा किं सुखं संभविष्यति। विचारं कुरु देवेशि त्वमेव गिरिजात्मजे ।४८। प्रथमं दक्षजां साध्वीं विवाह्य सुधिया सतीम्। निर्वाहं कृतवान्नैव मूढः किंचिद्दिनानि हि। ४६। तां तथैव स वै दोषं दत्वात्याक्षीत्स्वयं प्रभुः। शिव पु० २। ३। २५।' अर्थात् उस धूर्त्तने अपनी मायासे तुम्हारा विज्ञान नष्ट कर दिया और मीठीमीठी बातोंसे तुमको मोहितकर तपमें लगा दिया। भला तुम्हीं विचार करो कि ऐसा वर पानेसे क्या सुख मिलेगा? पहले दक्षकी साध्वी कन्या सतीसे विवाह किया पर मूढ़ने थोड़े दिन भी उसका निर्वाह न किया वरंच उसे दोष लगाकर त्याग दिया।

मानसके 'ठग' का भाव पूरा श्लोक ४७ है। 'दोषं दत्त्वात्याक्षीत्' और 'निर्वाहं'''हि' का सब भाव 'अवडेरि मराएन्हि' में है।

नोट—४ 'पंच कहें शिव सती बिबाही ।०' इति। भाव कि यदि कहो कि पूर्व भी तो उनके स्त्री थी, पहलेभी तो विवाह किया था, तब तुमने क्यों न रोका था, अब हमको ही क्यों मना करते हो? उसपर कहते हैं कि—'पंच कहें''''' अर्थात् शिवजी तो परम विरक्त हैं, जन्मस्वभावसेही उदासीन हैं। वे ब्याह न करते थे। देवताओंने मिलकर जबरदस्ती विवाह करवा दिया था। परन्तु उसका परिणाम क्या हुआ? उन्होंने दाँव पेंच लगाकर उसे मरवाही डाला। प्रथम तो उसके बापका अपमान करके उसको शत्रु बना दिया, फिर उसे दण्डकारण्यमें ले गए। वहाँसे लौटते समय स्वयं ही उसको श्रीरामजीकी परीक्षा लेने भेजा और परीक्षा लेनेपर उस बेचारीको दोष लगाकर त्याग दिया तथा बापके घर भेजकर उसे मरवा डाला।—यही भाव 'पुनि अवडेरि मराएन्हि ताही' का है। आशय यह कि उस विवाहसे हम सबोंको अनुभव हो गया। इसीसे तुम्हें मना करते हैं। नहीं तो जैसी दशा सतीकी हुई वैसीही तुम्हारी भी होगी। पीछे हमारी शिक्षा स्मरण करके पछताओगी। (ख) 'पंच कहें' इति। पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें सतीजीके जन्मके पूर्वकी कथा तथा विवाह-तिथि आदिका प्रसंग पुलस्त्यजीने भीष्मजीसे यों कहा है—पूर्वकालमें भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक तथा महर्लोक आदि संपूर्ण लोक दग्ध हुए, तब समस्त प्राणियोंका सौभाग्य एकत्रित होकर वैकुण्ठमें जाकर भगवान्के वक्षस्थलमें स्थित हो गया। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् जब पुनः सृष्टि - रचनाका समय आया, तब प्रकृति और पुरुषसे युक्त संपूर्ण लोकोंके अहंकारसे आवृत्त हो जानेपर श्रीब्रह्माजी तथा भगवान् श्रीविष्णुमें स्पर्धा जागृत हुई। उस समय एक पीले रंगकी भयंकर अग्निज्वाला प्रकट हुई जिससे भगवान्का वक्षः-स्थल तप उठा और वह सौभाग्यपुञ्ज वहाँसे गलित हो गया। भगवान्के वक्षस्थलका वह सौभाग्य अभी रसरूप होकर धरतीपर गिरने नहीं पाया था कि ब्रह्माजीके पुत्र दक्षने उसे आकाशमें ही रोककर पी लिया। उस सौभाग्यके अंशसे उन्हें नीलकमल समान मनोहर शरीरवाली सती नामक कन्या उत्पन्न हुई, जो 'ललिता' नामसे भी प्रसिद्ध हैं। शंकरजीने तीनों लोकोंकी सौभाग्यरूपा त्रिभुवन सुंदरी, भोग और मोक्षकी देनेवाली सतीके साथ चैत्र शुक्ल तृतीयाको विवाह किया। (अध्याय २४)। कालिकापुराणमें लिखा है कि ब्रह्माजी और भगवान् विष्णुने सृष्टि स्थितिके लिये अपनी अपनी शक्तिको ग्रहण किया, पर शिवजीने शक्तिसे संयोग न किया किन्तु योगमें मग्न हो गए। ब्रह्मादि देवता इस बातके पीछे पड़े कि शिवजीभी किसी स्त्रीका पाणिग्रहण करें पर उनके योग्य कोई स्त्री न मिली। ब्रह्माकी आज्ञासे दक्षने विष्णुमायाको कन्यारूपमें प्राप्त करनेके लिये उसकी स्तुति की। वह माया सतीरूपमें उनकी कन्या हुई जिसने अपने रूप और तपस्या द्वारा शिवजीको मोहित और प्रसन्न किया। इस तरह देवताओंके बड़े यत्न करनेपर शिवजीने सतीसे ब्याह किया। भा० ४। २। १७ में जो दक्षने कहा है कि मैंने ब्रह्माजीके कहनेसे अपनी भोली-भाली कन्या इसे ब्याह दी; यथा—'तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुहृदे। दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना।' इससे भी यही ज्ञात होता है कि ब्रह्मादि देवताओंने बलात् शिवजीका ब्याह कराया। अतएव 'पंच कहे शिव सती बिबाही' कहा। ब्रह्मादि

देवताही 'पंच' हैं। स्कंद पु० मा० के० १ मे भी लोमशजीने कहा है कि परमेष्ठी ब्रह्माजीके कहनेसे दक्षने सतीका विवाह शंकरजीके साथ कर दिया था।

दोहा—अब सुख सोवत सोचु नहिँ भीख मागि भव खाहिं।
सहज एकाकिन्ह कें भवन कबहुँ कि नारि खटाहिँ ॥७९॥

शब्दार्थ—एकाकी=अकेला रहनेवाला। अकेला। यथा 'कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी। जानि राम बनवास एकाकी ॥ २। २२८।' खटाना=निर्वाह होना, निभना, टिकना।

अर्थ—अब शिवजी सुखसे (अर्थात् सुखकी नींद) सोते हैं। उनको कोई चिन्ता नहीं रह गई। भीख माँगकर खा लेते हैं। भला स्वभावसे ही अकेले रहनेवालेके घरमें कभी स्त्रीका निर्वाह हो सकता है? (कदापि नहीं) ।७९।

टिप्पणी—१ (क) 'अब सुख सोवत सोचु नहिं भीख माँगि भव खाहिं' इति। अर्थात् अब बेफिक्रीकी नींद लेते हैं। तात्पर्य कि जबतक सतीजी जीवित रहीं तब तक उनके कारण सोच रहा; अब उनके मर जानेसे निःशोच, निश्चिन्त होगए। चितारहित होनेसे 'पैर पसार' कर सोते हैं, यही सुखसे सोना है; यथा 'जागै भोगी भोगहीं, बियोगी रोगी रोगबस, सोवै सुख तुलसी भरोसे एक रामके। क० ७।१०९।','प्रसाद राम नामके पसारि पायँ सूतिहौं। क० उ० ६९।' पुनः, 'सोचु नहिं' का स्वरूप 'भीख मागि खाहिं' मे भी बताया। इधर-उधरसे भिक्षा करलेते हैं, बनी बनाई जहाँ मिली खा लिया, घरमें चूल्हेकी जरूरत न रह गई। (ख) 'सहज एकाकिन्हके भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं' अर्थात् जो सदा अकेले रहा है, जिसकी बान अकेले रहनेकी पड़ी हुई है, उसको दूसरेका संग कब अच्छा लगेगा? कभी नहीं। उसपरभी स्त्रीका साथ? उसका निर्वाह तो असंभव ही है। पुरुष हो तो चाहे निबह भी जाय। स्त्री तो रोज हाय-हाय मचाया करेगी; [☞ पार्वतीमंगलके ७९ (७-८) में दिये हुये उद्धरणसे मिलान कीजिये। (ग) यहाँ काकुद्वारा वक्रोक्ति-अलंकार है। 'पूज्यदेव श्रीमहादेवजी और श्रीनारदजीके कर्म्मोका उपहास वर्णन किया 'हास्यरसाभास' है'—(वीरकवि)। (घ) स्तुतिपक्षमें अर्थ होगा कि जिसकी भिक्षा लेते हैं उसके 'भव' अर्थात् जन्ममरण वा संसारको खालेते हैं, हर लेते हैं, फिर आवागवन नहीं होने देते मुक्ति दे देते हैं। भिक्षा 'आकनात आखत अति थोरे' इत्यादि ही है। 'सुख सोवत' अर्थात् सदा तुरीयावस्थामें रहते हैं, आनन्दस्वरूप हैं]।

नोट—१ ऐसाही शिवपुराणमें है। यथा 'ध्यायन्स्वरूपमकलमशोकमरमत्सुखी। एकलः परनिर्वाणो ह्यसंगोऽद्वय एव च। तेन नार्याः कथं देवि निर्वाहः संभविष्यति। २। ३। २५। ५०-५१।' ☞ 'सुख सोवत' का भाव 'ध्यायन्····' मे है। अर्थात् सुखपूर्वक अकल एवं अनुपम रूपका ध्यान करते हुए अशोक हो रमण करते हैं। उत्तरार्धमें श्लोक ५१ का भाव है।

२ पं० श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी ७९ (५-८) इत्यादिके सम्बन्धमें 'हास्यरस' में लिखते हैं कि 'सहज उदासी, निर्गुण, कपाली, दिगम्बर, व्याली, सोवत सोचु नहिं और सहज एकाकी' इन शब्दोंमें हास्य व्यंग्यकी प्रशंसा कठिन है। एक ओर यह हास्यप्रद शिववेष प्रकट करते हैं और दूसरी ओर सदाशिवकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या करते हैं—यह तुलसीदासजीकी काव्यकलाका कमाल है कि हास्यरसकोभी महा-काव्यकलामें निबाहा है। मिल्टन (Milton) की कला इसके अभावमें रूखी है। यह दुभाषीपनही इन शब्दोंका जौहर है।

अजहूँ मानहु कहा हमारा। हम तुम्ह कहुँ बरु नीक बिचारा ॥ १ ॥
अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिँ बेद जासु जसु लीला ॥ २ ॥
दूषनरहित सकल-गुन-रासी। श्रीपति पुर-बैकुंठ-निवासी। ३ ।'

अस बरु तुम्हहि मिलाउब आनी । सुनत बिहसि * कह बचन भवानी ॥ ४ ॥

अर्थ—अबभी हमारा कहना मान लो । हमने तुम्हारे लिये अच्छा वर सोचाविचारा है ।१। (जो) बहुतही सुन्दर, पवित्र, सुखदायक और सुशील है, जिसका यश और चरित्र वेद गाते हैं । २ । जो दोषोंसे रहित, समस्त गुणोंकी राशि, श्रीपति और वैकुण्ठपुरीका निवासी है । ३ । हम ऐसे वरको लाकर तुमसे मिला देंगे । यह सुनतेही भवानीजी हँसकर यह वचन बोलीं—।४।

☞ जोड़के श्लोक—'अद्यापि शासनं प्राप्य गृहमायाहि दुर्मतिम् ।…५२ । त्वद्योग्यो हि वरो विष्णुस्सर्वसद्गुणवान्प्रभुः । वैकुण्ठवासी लक्ष्मीशो नानाक्रीडाविशारदः ॥ ५३ ॥ तेन ते कारयिष्यामो विवाहं सर्वसौख्यदम् ॥५४॥ इत्येवं वचनं श्रुत्वा पार्वती जगदम्बिका । विहस्य च पुनः प्राह ।' शिव पु० २।३।२५।५५।'

टिप्पणी—१ (क) 'अजहूँ मानहु कहा हमारा ।०' इति । 'अबहूँ' अर्थात् जो हुआ सो हुआ, पीछेके लिए अब पश्चात्ताप क्या ? यह तो अब मिट नहीं सकता पर अभी कुछ गया नहीं । अबभी हमारा कहना मानो । अर्थात् नारदवचनको त्याग दो । (ख) 'हम तुम्ह कहुँ वरु नीक विचारा' अर्थात् नारदने जो वर विचारा वह 'नीक' नहीं है और हमने जो सोचा है वह 'नीक' है । 'नीक' का अर्थ आगे स्वयं स्पष्ट करते हैं ।—'अति सुंदर० ।' नारदने विचारकर बताया था, यथा—'जे जे बरके दोष बखाने । ते सब सिव पहिं मैं अनुमाने ।', 'प्रभु समरथ भगवाना । एहि बिवाह सब बिधि कल्याना ॥' 'जद्यपि बर अनेक जग माहीं । एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं ।' अतः ये भी कहते हैं कि हम भी विचारकर ही बतला रहे हैं । (ग) 'अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला ॥ बैकुंठ निवासी' इति । 'अति सुंदर' अर्थात् जितने भी सुंदर पुरुष हैं उन सबसे ये अधिक सुंदर हैं । स्त्रियोंको पतिकी सुंदरता प्रिय है, इसीसे प्रथम सौंदर्यवान् होना कहा । यथा 'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप । जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ।' ['अति सुंदर' कहनेका भाव कि जटा, पचमुख, १५ नेत्र आदि कुरूपता इनमें नहीं है, यथा 'निकट बेष मुख पंच पुरारी ।', ये परम रूपवान् हैं । 'सुचि', पवित्र हैं अर्थात् शिवजीकी तरह चिताकी अपावन भस्म नहीं लगाते, मुण्डमाला, सर्प, बाघम्बर इत्यादि धारण नहीं करते, किन्तु वैजयन्ती माला, कौस्तुभमणि, वनमाला इत्यादि मांगलिक पवित्र वस्तु धारण करते हैं । 'सुखद' अर्थात् उनके दर्शनसे सुख होता है, शंकरजीकी तरह भयंकर नहीं हैं । शंकरजी संहार करते हैं, ये सबका पालन करके सबको आनन्द देते हैं ।—'निकट बेष रुद्रहि जब देखा । अबलन्ह उर भय भएउ बिसेषा ।०' ९६ (४-५) । 'सुशील' हैं, सबका आदर सत्कार, लिहाज मुरव्वत करते हैं, किसीका अनादर नहीं करते जैसे शिवजीने दक्षका किया, ऐसा सुन्दर स्वभाव है कि भृगुजीने चरणका प्रहार किया तो भी उनका पूजन ही किया, उनका चरण ही दबाने लगे कि कहीं चोट न लग गई हो । शंकरजीकी तरह ये उदासीन नहीं हैं । बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'अति' का भाव यह है कि सुंदर, पवित्र, सुखद इत्यादि तो शिवजी भी हैं परन्तु विष्णु भगवान् अतिशय सुंदर इत्यादि हैं । 'दूषणरहित' हैं अर्थात् इनमें दिगंबर, व्याली, अकुल, अगेह इत्यादि एक भी दोष नहीं है, ये सकल गुण-खानि हैं । 'पुरवैकुंठनिवासी' अर्थात् इनके घर है, वैकुण्ठ अनुपम स्थान इनका है ।-(रा० प्र०, प०, वै०) ।] 'गावहिं वेद जासु जसु लीला' का भाव कि कुलमान भी यशी होते हैं सो बात यहाँ नहीं, इनकी लीलाका यश वेद गाते हैं । 'पुर बैकुंठ' कहनेका भाव कि वैकुण्ठ बहुत हैं, अष्ट वैकुण्ठ हैं, तथा जहाँ भी भगवान् विठा दिए जाते हैं वही स्थान वैकुण्ठ कहलाने लगता है, सो नहीं किंतु जो वैकुण्ठ उपमारहित है वहाँके निवासी हैं । 'श्रीपति' का भाव कि वे दिगम्बर हैं और ये श्रीके पति हैं । [पुन , श्रीपति=शोभायुक्त हैं, लक्ष्मीपति हैं । ये वचन 'सहज एकाकिन्हके भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं' की जोड़में कहे गए । पंजाबीजी लिखते हैं कि "यद्यपि 'श्री' का अर्थ लक्ष्मीभी प्रसिद्ध है, परन्तु यहाँ रुचिवर्द्धनहेतु कथन है, इससे 'शोभाके

* बचन कह बिहँसि—१७२१, १७६२, छ० । बिहसि कह बचन—१६६१, १७०४, को० रा० ।

स्वामी' ही अर्थ ठीक है। लक्ष्मी अर्थ करनेसे सपत्नी-दाह-द्योतक रुचिघातक वाक्य होता है।" बैजनाथजी और रा० प्र० ने भी यही अर्थ किया है। श्रीपति हैं अर्थात् कुवेष नहीं हैं] अथवा श्री=धनु।

२ (क) यहाँ नौ गुण विष्णुमें दिखाए। कारण कि शिवजीमें भी नौ ही अवगुण दिखाए हैं। एककी जोड़में एक गुण यहाँ दिखाया है, यथा—

श्रीशिवजी		विष्णुभगवान्	श्रीशिवजी		श्रीविष्णुजी
सहज उदासी	१	सुशील	कपाली	५	शुचि
निर्गुण	२	गुणराशि	अकुल	६	गावहिं वेद जसु लीला
निर्लेज	३	दूषणरहित	अगेह	७	पुर बैकुंठनिवासी
कुवेषु	४	अतिसुंदर	दिगंबर	८	श्रीपति
			व्याली	९	सुखद

[१—वीरकविजी ८ ही ८ अवगुण और गुण लेते हैं और दोनोंका मिलान अन्य प्रकारसे करते हैं। वे लिखते हैं कि 'ऊपर क्रमसे १ निर्गुण, २ निर्लज्ज, ३ कुवेषु, ४ कपाली, ५ अकुल, ६ अगेह, ७ दिगंबर और ८ व्याली ये आठ दोष शिवजीके गिनाए हैं। उसी प्रकार भंगक्रमसे १ जिनके यशकी कथा वेद गाते हैं, २ सब गुणोंकी राशि, ३ अतिसुंदर, ४ वैकुण्ठवासी, ५ लक्ष्मीनाथ, ६ पवित्र, ७ निर्दोष और सुखद ये— आठ गुण विष्णुके कथन करनेमें 'यथासंख्य अलंकार' है। जिस क्रमसे पहले अवगुणोंका वर्णन है वह क्रम गुणोंके वर्णनमें नहीं निबाहा गया है। २—कोई निर्लज्जके मुकाबिलेमें 'गावहिं वेद जासु जसु लीला' अर्थात् यशस्वीको, अकुलकी जोड़में श्रीपतिको, दिगम्बरके मिलानमें सुखदको और व्यालीके मेलमें दूषण-रहित विशेषणको लेते हैं। वि० त्रि० दिगंबर, अकुल, उदासी और निर्गुणकी जोड़में क्रमशः सुशील, दूषण-रहित, श्रीपति और 'गावहिं वेद जासु जसु लीला' को लेते हैं।]

नौ ही नौ अवगुण एवं गुण कहकर एक (शिवजी) को अवगुणकी अवधि और दूसरे (विष्णुजी) को गुणोंकी अवधि सूचित की। संख्याकी अवधि ९ ही तक है। जैसा ७८ (१) में दिखा आए हैं। ☞ [श्रीपार्वतीजीने भी ऋषियोंके कथनका यही अर्थ समझा है। यह बात आगेके दोहेसे स्पष्ट है,— 'महादेव अवगुन भवन विष्णु सकल गुनधाम'। स्मरण रहे कि सप्तर्षि प्रेमपरीक्षार्थ आए हैं, इसलिए उन्होंने अवगुण शब्दका प्रयोग किया है, नहीं तो वे तो श्रीहरि हरके परम भक्त हैं। इन विशेषणों तथा वाक्योंमें भीतर-भीतर स्तुति भरी हुई है, जैसा ६७ (८), ६७ और ७९ (३-६) में लिखा जा चुका है।] (ग)—'अस वर तुम्हहि मिलाउब आनी' इति। भाव कि तुमने ऐसा उग्र तप किया तब भी तुमको शिवजी न प्राप्त हुए और हम बिना परिश्रम ही घर बैठे सुंदर वरका लाकर मिला देंगे, नारदकी तरह तुमसे उनके लिए तप करने को न कहेंगे। (घ) 'सुनत वचन कह बिहँसि भवानी' इति। 'तुम्ह कहुँ मिलाउब आनी' जो कहा इसीपर हँसीं। हँसकर ऋषिके वचनका निरादर और नारदवचनका आदर सूचित किया। हस्तरेखको तथा विधिके अंकोंको प्रमाण रक्खा। ☞ ['सुनत बचन विहँसे रिषय' वैसेही यहाँ 'सुनत वचन कह विहँसि भवानी' कहा। वे इनके वचनपर हँसे थे, ये उनके वचनपर हँसीं। इन दोनों वाक्योंके बीचमें ७८ से ८० (४) तक ऋषियोंके वचन हैं। ☞ ऋषियोंके वचन दो दोहे और ११॥ अर्धालियोंमें हैं, पार्वतीजीका उत्तर एक दोहा और ११॥ अर्धालियोंमें है।]

पं० श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी—'सुनत विहसि कह वचन भवानी'। 'शिव और विष्णुका अन-मिल बेजोड़पन अभी व्यंग्यहीकी भाषामें है, इससे पार्वतीमें भी हास्यभाव ही है जैसा आगे विदित है यद्यपि अब कुछ चिड़चिड़ापन भी है'—(हास्यरस)।

सत्य कहेहु गिरि-भव तनु एहा। हठ न छूट छूटै बरु देहा॥ ५॥
कनकौ पुनि पषान तें होई। जारेहु सहजु न परिहर सोई॥ ६॥

शब्दार्थ—भव=उत्पन्न। पपान (पाषाण)=पत्थर। सहजु=स्वभाव।

अर्थ—(पार्वतीजीने कहा-) आपने सत्यही कहा कि (मेरा) यह शरीर पर्वतसे उत्पन्न हुआ है। (इसीसे तो इसका) हठ न छूटेगा, शरीर भलेही छूट जाय। ५। (देखिये) फिर सोना भी तो पाषाणसे ही उत्पन्न होता है सो तपाये जानेपरभी वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। ६।

नोट—१ (क) 'सत्य कहेहु···' इति। सप्तर्पियोंके 'गिरिसम्भव तव देह' का उत्तर यहाँ पूरी एक चौपाईमें (दो अर्धालियोंमें) है—'सत्य' से 'परिहर सोई' तक। अर्थात् आपने जो कहा यह सत्य ही है। गिरिसंभव होनेके कारण मेरा हृदय पत्थरके समान दृढ़ और कठोर है। कारणके अनुसार ही कार्य होता है, यही नहीं किन्तु कारणसे कार्य अधिक कठिन होता है, यह स्वाभाविक नियम है। यथा—'कहँ लगि कहउँ हृदय कठिनाई। निदरि कुलिसु जेहि लही बड़ाई॥ कारन तें कारज कठिन होइ दोसु नहिं मोर। कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर॥ २। १७६।' जैसे पत्थरकी लाक नहीं मिटती वैसेही मेरी भी वृत्ति अविचल है; किसीके कहनेका प्रभाव अब उसपर नहीं पड़ता। (ख) 'हठ न छूट···' इति। भाव कि स्वभाव जन्म-जन्मान्तरमें भी नहीं छूटता। इसी तरह हमारा यह शरीर छूट जाय तब भी दूसरे जन्ममें मेरा फिर यही हठ रहेगा। जबतक शिवजीकी प्राप्ति न होगी तबतक कितनेही जन्म क्यों न हो जायँ, सबमें यही हठ रहेगा। यथा 'जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुँआरी। १। ८१।' पुनः भाव कि दुराग्रही के लिये कोई नीति नहीं है। जिनकी समझ उलटी है उन्हें किसने आजतक राहपर लगाया है। मुझे भी ऐसा ही समझकर मेरे विषयमें अधिक विचार अब न कीजिए। यह 'अजहूँ मानहु कहा हमारा' का उत्तर है।

२ (क) 'कनकौ पुनि पपान तें होई' इति। भाव कि सोनाभी पत्थरसे ही उत्पन्न होता है। सोनेको जला डालो तो भी वह अपना स्वभाव (रंग और खरापन) नहीं छोड़ता, तब पर्वतसे उत्पन्न होनेपर मैं अपना स्वभाव कैसे छोड़ सकती हूँ ? सोना जड़ होकर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता और मैं तो चेतन हूँ तब मुझे तो अपनी हठपर औरभी दृढ होना चाहिए। तात्पर्य कि शिवजीके लिये मेरा दृढ़ संकल्प है, यह छूट नहीं सकता। (ख) ☞ इसके जोड़की चौपाई अयोध्याकाण्डमें यह है—'कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहे॥ २। २०५।' (ग) यहाँ 'दृष्टान्त अलंकार' है। 'हठ न छूट···' उपमेय वाक्य है और 'जारेहु सहजु···' उपमान वाक्य है। (घ) 'पुनि' का भाव कि जैसे तुम मुझे गिरि-संभव कहते हो वैसेही कनकभी तो गिरि-संभव है। मुझसे स्वभाव छोड़नेको कहते हो, उसका स्वभाव क्यों न छुड़ा दिया ? पुनः भाव कि मैं तो उसकी बहिनही ठहरी तब मेरा स्वभाव उसका सा क्यों न हो ? (ङ) 'जारेहु सहजु न परिहर सोई' इति। भाव कि जलानेपर सभी पदार्थोंका रंग-रूप बदल जाता है, परन्तु सोना जैसे-जैसे तपाया जाता है वैसे वैसे वह औरभी चोखा रंग पकड़ता जाता है। वैसेही मेरीभी चाहे जितनी कठिन परीक्षा हो मैं हठ नहीं छोड़नेकी, मेरा प्रेम नित्य नया बढ़ताही जायगा। तपाये जानेसे सोनेका स्वभाव घटता नहीं वरंच बढ़ता है, उसका मूल्य बढ़ता है। वैसेही मेराभी उत्तरोत्तर बढ़ेगा। पुनः भाव कि जलानेपर पाषाणका हठ छूट जाता है पर पाषाणसे उत्पन्न कनकका 'हठ' नहीं छूटता, चाहे वह हजारों बार क्यों न जलाया जाय; वैसेही मेरे पिता 'गिरि' का हठ भलेही छूट जाय पर हमारा हठ नहींही छूटेगा। (खर्रा)। (च) ☞ मिलान कीजिये—'अचलसुता मनु अचल बयारि कि डोलइ। साँच सनेह साँचि रुचि जो हठि फेरइ। सावन सरित सिंधु रुख सूप सो घेरइ। मनि बिनु फनि जलहीन मीन तनु त्यागइ। सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ। ३६, ३७॥'—(पार्वती मंगल)।—ये सब भाव इन तथा आगे-की अर्धालियोंमें भरे हुये हैं। ☞ पुनः यथा शिवपुराणे—'सत्यं भवद्भिः कथितं स्वज्ञानेन मुनीश्वराः। परन्तु मे हठो नैव मुक्तो भवति हे द्विजाः॥ ५६॥ स्वतनोः शैलजातत्वात्काठिन्य सहजं स्थितम्। इत्थं विचार्य सुधिया मां निषेद्धुं न चार्हथ। २।३।२५।५७।'

नारद बचन न मैं परिहरऊँ। बसौ भवन उजरौ नहिं डरऊँ॥ ७॥

गुर के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही॥ ८॥

अर्थ—(इसी प्रकार) मैं नारदजीका उपदेश न छोड़ूँगी। घर बसे या उजड़े मुझे इसका डर नहीं (है)। ७। जिसको गुरुके वचनोंमें विश्वास नहीं है, उसे स्वप्नमभी सुख और सिद्धि (या, सुखकी सिद्धि) सुलभ नहीं हो सकती। ८।

श्रीलमगोड़ाजी,—ऋषियोंके दोनों मजाक़ोंको बड़ी सुन्दरतासे उलट दिया गया है। परन्तु अंतिम पद—'गुरके बचन प्रतीति न जेही।' ' हास्यरससे शान्तरसपर पहुँच गया है।

नोट—१ सप्तर्षियोंकी सभी बातोंका उत्तर पार्वतीजीने दिया है—

सप्तर्षियोंके वचन		पार्वतीजीके उत्तर
गिरि संभव तव देह	१	'सत्य कहेहु गिरिभव तनु एहा। हठ न छूट छूटै बरु देहा॥ कनकौ पुनि पषान तें होई। जारेहु सहजु न परिहर सोई।'
नारद कर उपदेस सुनि कहहु बसेहु किसु गेह	२	नारद बचन न मैं परिहरऊँ। बसौ भवन उजरौ नहिं डरऊँ॥
तेहि के बचन मानि बिस्वासा	३	गुर के बचन प्रतीति न जेही
चहहु कवन सुखु अस बर पाए	४	सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही

५. शिवजीके अवगुण और विष्णुजीके गुण कहे, उसका उत्तर 'महादेव अवगुनभवन बिष्नु सकल गुनधाम। जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम। ८०।' है।

अजहूँ मानहु कहा हमारा	६	जो तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनितिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा अब मैं जन्मु संभु हित हारा।
अस बर तुम्हहिं मिलाउब आनी	७	जौं तुम्हरे हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किये बरेषी॥ तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं।
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। तेहिके बचन	८	मैं पा परउँ कहै जगदंबा। तुम्ह गृह गवनहु ।

नोट—२ (क) सप्तर्षियोंने नारदजीको बुरा भला कहा। यह पार्वतीजीको बहुत बुरा लगा। इसीसे प्रारम्भमही वे उनको बताये देती हैं कि देवर्षि नारद हमारे गुरु हैं, उनके वचन हमारे लिये पत्थरकी लकीरके समान हैं, टाले नहीं टल सकते। 'नारद बचन न मैं परिहरऊँ' कहकर फिर उसका कारण बताती हैं कि गुर के बचन प्रतीति न जेही।'। (ख) 'नारद' शब्दही गुरुत्वका द्योतक है, क्योंकि 'गु–शब्दस्त्वन्धकारस्तु रु-शब्दस्तन्निरोधक। अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते॥' के अनुसार हृदयके अंधकारके नाशकको 'गुरु' कहते हैं। हृदयका अंधकार अज्ञान है। अज्ञानका नाश आत्म परमात्म ज्ञानसे ही होता है और आत्म परमात्म ज्ञान जिनके द्वारा हो, वे ही 'गुरु' हैं। अत 'गुर बिनु होइ कि ज्ञान' के अनुसार ज्ञान दाता 'गुरु' कहे जाते हैं और 'नार ज्ञान ददातीति नारद' अर्थात् 'नार' (ज्ञान) जो दे उसका नाम 'नारद' है। इस व्युत्पत्तिसे नारद और गुरु शब्द एकार्थवाची होनेसे नारदजीको 'गुरु' कहा और 'गुरोराज्ञा गरीयसी' तथा 'आज्ञा गुरूणाह्यविचारणीया—' (रघुवंशे), के अनुसार नारद बचन न मैं परिहरऊँ। 'गुरके बचन' इत्यादि कहा गया। (वे० भू० रा० कु० दास)। (ग) ☞ श्रीगुरुवाक्यपर शिष्यका ऐसाही दृढ़ विश्वास रहना चाहिए। विश्वासका धर्म दृढ़ता है, यथा 'बट बिस्वास अचल निज धर्मा।' वह अवश्य फलीभूत होगा, इसमें संदेह नहीं। शिष्यमें आचार्याभिमान होना परम गुण है, इष्टप्राप्तिका सर्वोपरि उपाय है और परम लाभ है। गुरुनिष्ठ भक्तोंकी कथाएँ भक्तमालमेंभी प्रसिद्ध हैं। (घ) 'सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही' इति। भाव कि मनुष्योंकी कौन कहे, देवताओंकोभी स्वप्नमेंभी सुख और सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। देवराज इन्द्र और चन्द्रमा ये लोकपालभी गुरुकी अवज्ञा करनेसे दुःखीही हुए।

नोट—३ शिवपुराणमें गुरुवचनपर चार श्लोक हैं। उनकोभी 'प्रतीति जेही' और 'प्रतीति न

जेही' करके यहाँ भी ले सकते हैं। जिनको प्रतीति नहीं है उनको दुःख ही दुःख होता है और जिनको प्रतीति है उन्हें सुख होता है। यथा 'गुरूणां च न पथ्यमिति येऽमिरा विदुः। ५८। गुरूणां वचनं सत्यमिति यद्धृदये न धीः। इहामुत्रापि तेषां हि दुःखं न च सुखं क्वचित्। ६०। गुरूणां वचनं सत्यमिति येषां दृढा मतिः। तेषामिहामुत्र सुखं परं नासुखं क्वचित्। ५६। सर्वथा न परित्याज्यं गुरूणां वचनं द्विजाः। गृहं वसेद्वाशून्यं स्यान्मे हठस्सुखदस्सदा। २।८।२५।६१।'

४ नारदजीसे पार्वतीजीने तप करनेका उपदेश होनेपर उनसे पंचाक्षरी मंत्रभी लेकर उनको गुरु किया था। यथा शिवपुराणे—'रुद्रस्याराधनार्थं मे मंत्रं देहि मुने हि मे। ३१। न सिद्ध्यति क्रिया कापि सर्वेषां सद्गुरुं विना।'" इति श्रुत्वा वचस्तस्याः पार्वत्या मुनिसत्तमः। पञ्चाक्षरं शंभुमन्त्रं विधिपूर्वमुपादिशत्। २।३।२१३।' अर्थात् जब पार्वतीजीने कहा कि बिना सद्गुरुके सिद्धि नहीं होती; अतः आप मुझे शिवाराधनका मंत्र दें, तब नारदजीने उनको पचाक्षरी मंत्र दिया, उसका प्रभाव बताया, ध्यान बताया।—इस तरह वे विधिपूर्वक गुरु हुए थे।

दोहा—महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ॥ ८०

शब्दार्थ—रमना=लग जाना, आसक्त हो जाना।

अर्थ—महादेवजी अवगुणोंके घर (सही) और भगवान विष्णु समस्त गुणोंके धाम हों (सही) पर जिसका मन जिससे रम गया है उसको तो उसीसे काम है। ८०।

नोट—१ ☞ श्रीपार्वतीजी अपने वचनों द्वारा उपदेश दे रही हैं कि मनुष्यको अपने उपास्यमें दृढ़ रहना चाहिए, अन्यमें चित्त लगाना उचित नहीं। यहाँ जिस सुंदरताके साथ उत्तर दिया गया है, वह देखनेही योग्य है। शिवजीमें आप जिन बातोंको दोष समझे हुए हैं, जो आप अवगुण बताते हैं, वे गुण ही हैं अवगुण नहीं हैं—यह वाद विवाद वे नहीं करती। न तो परम श्रद्धास्पदके गुण दोष विवेचनपर शास्त्रार्थ हुआ है और न विष्णुके विरुद्ध एक शब्द मुखसे निकलता हुआ है। वे सप्तर्षियोंकी बात मान लेती हैं कि ठीक है, शिवजी दोषहीके कोष हैं और विष्णु भी गुणही गुण हैं, पर मैं करूँ तो क्या? मेरा मन तो शिवजीहीमें रम गया है, इसे गुण दोष देखनेका ठिकाना नहीं रह गया। अतः वेही मुझे प्रिय लगते हैं, दूसरा नहीं। यथा 'तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नं' (कथासरित्सागर) अर्थात् जिसका मन जहाँ लगा है, उसे वही मीठा है)। पुनश्च—'गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई। ११५।' यह लोकोक्ति है। 'सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ। ३७। बौरेहिके अनुराग भइउँ बड़ि बाउरि। कोर्मनिधान कृपानु साथ सनु भावेउ। मेटि को सकइ सो आँकु जो बिधि लिखि राखेउ। ७६। को करि वादु-बिबादु बिषादु बढ़ावइ। मीठ काहि कबि कहहिं जाहि जोइ भावइ। ४०।' वाद-विवाद करनेसे क्या लाभ? बहुत कहनेकी आवश्यकताही नहीं। हमारा मन इन्हींमें रम गया है—इस बातका कोई उत्तर नहीं रह गया। जो बात ऋषियोंने कही, उसीको लेकर उसीसे उत्तर देती चली जा रही हैं। सप्तर्षियोंने पार्वतीजीको 'गिरिसंभव' कहा, शिवजीको अवगुनधाम कहा और नारदजीको 'कपटी' तथा उन्हींके संबंधसे 'बसेउ किमु गेह' इत्यादि जो जो बातें उन्होंने कहीं, उन सबोंको स्वीकार करते हुए आप उत्तर दे रही हैं।

'जेहि कर मनु रम जाहि सन' यह पद प्रेमकी एकाग्रताके लिये जनश्रुति बन चुका है। पार्वतीजीके प्रेमकी धारणामें आन्तरिक जोड़ देखा जाता है बाहरी नहीं। (हास्यरस। लमगोड़ाजी)।

जौं तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा ॥ १ ॥
अब मैं जन्म संभु हित* हारा। को गुन दूषन करै बिचारा ॥ २ ॥

---

* सं—१७२१, १७६२, छ०। हित—१६६१, १७०४, को० रा०।

जौं तुम्हरें हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किएँ बरेषी॥ ३॥

शब्दार्थ—बरेषी=वरकी इच्छा=कन्याके लिये योग्य वर देखना और मिलाना=वरदेखी (जिसे किसी किसी देशमें बरगुहारी, बरतुही, बिचवानी और सगाई भी कहते हैं)। बरेशा, बरेन्छा, बरिन्छाकी रीति यही जान पड़ती है।=विवाह सम्बन्धके लिये वर या कन्या देखना; विवाहकी ठहरौनी। यह शब्द अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है; यथा 'लोग कहैं पोच सो न सोच सकोच मेरे व्याह न बरेषी जाति पाति न चहत हौं।', 'घरघाल चालक कलह प्रिय कहियत परम परमारथी। तैसी बरेषी कीन्हि पुनि मुनि सात स्वारथ सारथी॥ ५७॥' (पार्वतीमंगल)।

अर्थ—हे मुनीश्वरो! यदि पहले आप ही मिले होते तो मैं आपकाही उपदेश सिरपर धरकर सुनती। १। अब (तो) मैं अपना जन्म शिवजीके लिये हार चुकी, (अतः अब) गुण-दोषका विचार कौन करे?। २। यदि आपके हृदयमें बहुत ही हठ है, विवाहकी बातचीत किये बिना रहा नहीं जाता। ३।

टिप्पणी—१ 'जौं तुम्ह मिलतेहु प्रथम' ' इति। (क) सप्तर्षियोंके 'अजहूँ मानहु कहा हमारा' का उत्तर यह दे रही हैं। इसपर यदि वे कहें कि 'जभी महात्मा मिल जायँ तभीसे हठ छोड़कर उनका कहा मान लेना चाहिए। हम इस समय मिले हैं, तुम्हारी भूल तुमको बताते हैं; अतः अभीसे उसे मानकर उस पर चलो।' तो, उसके उत्तरमें कहती हैं कि 'अब मैं जन्म संभु हित हारा'। अर्थात् सम्मति देने या मानने का समय अब हाथसे निकल गया। (ख) 'अब मैं जन्म संभुहित हारा' में वर्तमान स्थिति कही और आगे भविष्यकी भी यही परिस्थिति प्रतिज्ञापूर्वक कहती हैं—'जन्म कोटि लगि रगर हमारी। ' '। केवल वर्तमान कहतीं तो भविष्य रह जाता। भूतके कथनका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वह तो होही चुका। वर्तमान और भविष्यके लिये बता दिया कि मैं अपनेको शिवजीको समर्पण कर चुकी। अतः आपका उपदेश शिरोधार्य करनेमें असमर्थ हूँ। यदि आप नारदजीके पहले आते तो आपका उपदेश शिरोधार्य करती।

नोट—१ 'धरि सीसा' इति। बड़ोंकी आज्ञा सिरपर धरकर स्वीकार करना कहा जाता है, अर्थात् शिरोधार्य की जाती है। यथा 'आज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी', 'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। ७६।', 'मातु उचित धरि आयसु कीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा। २। १७४।', 'प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथे मानि करौं सिख सोई। २। २५८।', 'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब। सो सिर धरि धरि करिहि सबु "। २। २६६।', 'चले सीस धरि राम रजाई। २। ३१८।', इत्यादि। यह मुहावरा है। अतः 'धरि सीसा' कहा। अर्थात् आदरपूर्वक सुनती। ध्वनि यह है कि अब तो नारदके वचन को सिरपर धर चुकी हूँ अतः आपके वचनोंका आदर नहीं हो सकता। पुनः, भाव कि आज्ञा न माननेसे अप्रसन्न होकर शाप न दे दें यह सोचकर समझा रही हैं कि यदि प्रतिज्ञारूढ़ न होती तो अवश्य मानती, प्रतिज्ञा तोड़ना तो आपभी पसन्द न करेंगे। दूसरे, कन्याका विवाह एक ही बार होता है सो मैं तो मनसे शिवजीको वर चुकी, अब दूसरेके योग्य नहीं रही। तीसरे, आपके कहनेसे आज नारदजीका वचन छोड़ दूँ, कल और कोई आकर कुछ और कहे तो क्या आपका वचन छोड़ना आपको ठीक लगेगा?

२ 'संभु हित हारा' इति। भाव कि जैसे जुएमें जो वस्तु हार दी जाती है वह दूसरेकी हो जाती है; वैसेही मैं प्रेमरूपी जुएमें यह शरीर शिवजीके हाथ हार चुकी, अब यह तन उनका हो गया, हमारा या किसी औरका कोई अधिकार इसपर नहीं रह गया। 'को गुन दूषन करहि बिचारा' इति। भाव कि यह धर्म कुलवन्तियोंका नहीं है कि पहले किसीसे मन लग गया, फिर दूसरेकी प्रशंसा सुनी तो गुण-दोषोंक-निर्णय करने लगीं। जिसको एक बार मन दे दिया, फिर उसमें दोष न विचारना चाहिये। प्रेमास्पदमें गुण दोषका विचार करना प्रेमीके प्रेममें कच्चापन साबित करता है, उसके प्रेममें बट्टा लगाता है।— सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ। ३७।' (पार्वतीमंगल)।

३ जौं तुम्हरें हठ '—भाव कि इतना उत्तर पानेपर भी यदि आप नहीं चले जाना चाहते और

हठ करके फिर कुछ कहना चाहते हैं अतः कहती हैं 'जौं'। (वि० त्रि०)

तौ कौतुकिअन्ह आलसु नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं ॥ ४ ॥
जन्म कोटि लगि रगर* हमारी। बरौं संभु न त रहौं कुआरी ॥ ५ ॥

अर्थ—तो कौतुकप्रिय लोगो (खेलाड़ियों) को आलस्य तो होता ही नहीं, संसारमें वर और कन्यायें बहुत हैं (आप वहाँ जाकर बरेपी करें, अपना हौसला मिटा सकते हैं)। ४। हमारी तो करोड़ो जन्मोंतक यही रगड़ रहेगी कि शिवजीहीको ब्याहूँगी नहीं तो कुँआरी ही बनी रहूँगी। ५।

नोट—दोहा ८० से ८१ (४) तकका प्रसंग पत्रिका अपना जान पड़ता है। अर्धाली ५ का भाव शिवपुराणमें—'चेच्छिवस्स हि मे विप्रा विवाहं न करिष्यति। अविवाह्या सदाहं स्यां सत्यं सत्यं वदाम्यहम्। २। ३। २५। ६८।' इस श्लोकमें है।

टिप्पणी—१ 'तौ कौतुकिअन्ह' इति। कौतुकिअन्ह (=कौतुक करनेवाले) कहकर जनाया कि आप तो कौतुक करने आये हैं। 'बरेपी' कन्याकी ओरसे की जाती है, कहीं वरकी ओरसे कन्याएँ नहीं ढूँढ़ी जातीं, सो आप विष्णु भगवान्‌की ओरसे उनके लिये कन्या ढूँढ़ने आए हैं, अतः यह कौतुकही जान पड़ता है। 'कौतुकी' कहनेके और भाव ये हैं—(क) नारदजीको गुरु कहा, यथा—'गुर के बचन प्रतीति न जेही।' इससे इनको कौतुकी कहा। (ख) सप्तर्षियोंके वचन मानना नहीं हैं और वे नारदजीके उपदेशसे हटाना चाहते हैं। अतः कौतुकी कहा। (ग) कौतुकीका काम है खेल खिलाना, खेल करना। ये एकको दूसरेसे मिलानेका काम करनेको कहते हैं, यथा 'अस बरु तुम्हहि मिलाउब आनी।', अतः कौतुकी कहा।—(ब्रह्मवाणीने तो मनोरथ सुफल होनेका वरदान दिया और कहा कि अब मिलिहहिं त्रिपुरारि।' साथ ही वाणीके प्रमाणके लिये सप्तर्षियोंके मिलापकी सूचना दी थी। सप्तर्षि आए तो, पर उलटी-पलटी बातें करने लगे, दूसरा वर कर देनेकी और शिवजीकी ओरसे विमुख करनेकी कह रहे हैं। इससे वे समझ गईं कि ये खेलवाड़ कर रहे हैं। यही समझकर वे कह रही हैं कि आपको आकाशवाणीने भेजा किसलिये और आप कह क्या रहे हैं, खेलवाड़ ही करना है तो बहुत पर हैं। यहाँ तो आकाशवाणीको प्रमाण करनेवाली बात ही कहनी उचित थी)। २—'आलस नाहीं' इति। खेलाड़ी और तमाशाई आलसी नहीं होते, आलस्य करें तो फिर कौतुक कैसे कर सकें?

नोट—१ 'ऋषियोंका कैसा अच्छा मखौल है। यह याद रहे कि ऋषियोंने केवल परीक्षाके लिये यह सब कहा था। इसीसे चतुरताके साथ छिभाषीपन प्रकट है। तुलसीदासजीकी काव्यकलामें कलाकारी और कारीगरी साथ साथ चलती है।'—(हास्यरस। लमगोड़ाजी)।

२ 'जन्म कोटि लगि रगर हमारी।०' इति। यदि ऋषि कहें कि अच्छा इस जन्ममें न सही आगेके लिये हम अभीसे कहे रहते हैं। अथवा, कहें कि तुम हमारा अपमान करती हो पर शिवजी तो तुम्हें प्राप्त होनेके नहीं, तुम पीछे पछताओगी कि हमने ऋषियोंकी बात न मानी, नारदके बहकानेमें लग गईं, सब परिश्रम व्यर्थ हुआ, तो उसपर कहती हैं कि यह आसरा न रखिए, इस जन्मकी तथा एक जन्मकी क्या करोड़ो जन्म बीत जायँ तो भी मैं अपना हठ नहीं छोड़नेकी, ब्याहूँगी तो उन्हींको, नहीं तो कुँआरी ही बनी रहूँगी। 'कुँआरी रहऊँ' का भाव कि प्रतिज्ञा न छोड़ूँगी, हताश होकर संकल्पके प्रतिकूल विवाह न करूँगी, दूसरेसे विवाह कदापि न करूँगी, यह समझ लूँगी कि विवाह विधाताने लिखा ही नहीं। यथा 'तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥ सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँअरि कुआँरि रहउ का करऊँ॥' यहाँ 'विकल्प' अलंकार है। जहाँ ऐसा वाक्य हो कि ऐसा हुआ तो हुआ, नहीं तो ऐसाही होगा, वहाँ यह अलंकार होता है। आशय यह कि इस जन्ममें तप करते करते प्राण छूट गए तो

* रगरि—१७२१, १७६२, १७०४, छ०। रगर।—१६६१

दूसरे जन्ममें फिर उन्हींके लिये तप करूँगी, फिर भी न मिले तो तीसरे जन्ममें फिर शिवजीहीके लिये तप करूँगी, इसी तरह जबतक वे न मिलेंगे हठ न छोड़ूँगी, बराबर प्रयत्न करूँगी।—यह प्रेमकी सीमा है।

तजौं न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥ ६॥
मैं पा परौं कहै जगदंबा। तुम्ह गृह गवनहु भयउ बिलंबा॥ ७॥

अर्थ—मैं नारदजीका उपदेश नहीं ही छोड़ूँगी (चाहे) महादेवजी ही स्वयं सैकड़ों बार क्यों न कहें। ६। जगन्माता श्रीपार्वतीजी कहती हैं कि मैं आपके पैरों पड़ती हूँ, आप घर जायँ बहुत देर हो गई है। ७।

नोट—'तजौं न"'आपु कहहिं सत बार महेसू।' इति। 'शिवजीके लिये ही तो तप कर रही हैं, उनको पति मान चुकीं, फिर भी उनका कहना न मानेंगी।', इस कथनका क्या प्रयोजन है? इसमें क्या अभिप्राय है? इसपर महानुभावोंने अनेक भाव लिखे हैं। कुछ ये हैं—

१ पूर्व कह चुकी हैं कि 'गुर कें बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही।' इससे आचार्यका दर्जा (पद) बड़ा है। [वाल्मीकिजीने श्रीरामजीसे कहा है—'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। २। १२९।' और भी किसीने कहा है—'गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागौं पाय। बलिहारी उन गुरुनकी गोविंद दियो लखाय॥', पुनः, 'राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता।१।१६६।'] अतएव गुरुके वचनपर दृढ़ रहना ही उचित है।

२ जब किसी अनुष्ठानका फल प्राप्त होनेको होता है, उसकी सिद्धि होनेका समय आता है, तब देवता अनेक विघ्न उपस्थित करते हैं, पर उत्तम साधक इनकी ओरसे चाहे कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचे तथापि इनका प्रेम नहीं छोड़ते। यथा 'बरपि परुष पाहन पयद पंख करउ टुक टूक। तुलसी तदपि न चाहिये चतुर चातकहि चूक॥ उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर। चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥ पवि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि। रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि। दोहावली २८२। २८४।'—इष्ट स्वयं ऐसा विघ्न डालते हैं, हानि पहुँचाते हैं तब तो प्रेमी प्रेम छोड़ता ही नहीं, तब और किसीके विघ्न डालनेसे, बहकानेसे वह कब बहक सकता है? यहाँ शिवजीका स्वयं कहना ही (कि हम तुम्हारे पति नहीं होंगे, हमारे लिये तप न करो, इत्यादि) प्रेमपनमें विघ्न डालना है। कुमारसंभव और पार्वतीमंगलमें तो यहाँतक लिखा है कि शिवजी स्वयं ब्रह्मचारी बनकर परीक्षा लेने गये थे। यथा 'बटु बेष पेखन पेम-पनु ब्रत नेम ससिसेखर गए। ८५॥ (पार्वती मंगल)।

३ जब तक पाणिग्रहण न हो जाय तब तक वरको कोई अधिकार आज्ञा देनेका नहीं है। (वै०)। ☞ यहाँ ध्वनित अर्थ यह भी है कि आपको शंकरजीने क्यों भेजा? स्वयं ही क्यों न आकर परीक्षा कर ली? स्वयं ही चाहे आकर और कहकर देख न लें कि भला मैं कभी भी विचलित हो सकती हूँ। इन शब्दोंसे ज्ञात होता है कि वे जान गईं कि ये शिवजीके भेजे आये हैं। (रा० कु०) ☞ वस्तुतः दृढ़ता दिखानेका इससे बढ़कर और क्या कथन हो सकता है कि जिनके लिये मैं तप कर रही हूँ वे स्वयं ही एक बारकी कौन कहे, सैकड़ों बार स्वयं आ-आकर कहें कि हम तुमको पत्नीरूपसे वरण नहीं करेंगे, तब भी मैं हठ न छोड़ूँगी, ब्याहूँगी तो उन्हींको, नहीं तो अनब्याही रहूँगी और उनहीके लिये तप करती रहूँगी। गुरुने कहा है कि मिलेंगे। मैं उनके वचन पर दृढ़ हूँ। तब आपके कहनेसे भला मैं कब सुनने लगी? धन्य! धन्य!! धन्य!!! जय! जय!! जय!!! जगज्जननी हम सबोंको यह अनन्यताका पाठ सिखा रही हैं, अपने आचरण द्वारा उपदेश दे रही हैं। जय! जय!! जय!!!

कुछ लोगोंने और भी भाव लिखे हैं पर मेरी समझमें वे उपयुक्त नहीं हैं। जैसे कि—

(क) ऊपर जो सप्तर्षियोंने नारदजी एवं शिवजीकी निन्दा की उसका प्रायश्चित्त बताती हैं कि 'आपु कहहिं सत बार महेसू।' अर्थात् निन्दाका पाप तभी छूटेगा जब आप सौ बार महेश महेश जपें या शङ्कर

शतक जपें। यथा 'जपहु जाइ संकर सत नामा। १। १३८।' (भगवान्‌ने नारदजीसे कहा है)। (ख) नारदजीका उपदेश शंकर प्राप्तिका है। अतः अन्वयसे अर्थ कर लें कि—'नारदजीका उपदेश (प्राप्तिका) उपदेश नहीं छोड़ूँगी, चाहे आप हमसे सैकड़ों बार क्यों न कहें।'

नोट—१ 'मैं पा परौं कहै जगदंबा।....' इति। (क) यह साधारण मनुष्य प्रकृति है कि जब किसी दुष्ट या प्रतिकूल पुरुषसे सम पड़ जाता है जो दुष्टतासे बाज नहीं आता, व्यर्थ ही जीको दुखाता है, जिससे मनुष्य आजिज (तंग) आ जाता है और शिष्टाचार या अपनी भलमनसाहतके कारण कुछ कह नहीं सकता, तब वह यही कहता है—'अच्छा मैं पाँव पड़ता हूँ, हाथ जोड़ता हूँ, आपसे हार गया, जाइये बहुत देर हो गई अधिक कुछ कहना सुनना नहीं चाहता, बड़ी कृपा होगी अब आप चले जायँ।'—यही सब भाव 'पाँव पड़ने' में हैं। यह मुहावरा 'अत्यन्त दीनतासे प्रार्थना या विनय करने' के भावमें आता है। (ख) 'कहै जगदंबा' इति। श्रीनारदजी और श्रीशिवजी गुरु, साधु और इष्टकी निन्दा सप्तर्षियोंने की। पार्वतीजी उसे सह न सकीं; गुरु-इष्टकी निन्दा सुनकर क्रोध आना उचित ही था पर उन्होंने क्रोध न करके उलटे विनती की। अतः 'जगदंबा' विशेषण दिया। अर्थात् ये तो जगज्जननी हैं, पुत्र कितना ही बिगाड़ता है तब भी माता बालक जानकर या सत्य नहीं छोड़ती उसका अहित नहीं करती, न उसपर क्रोध ही करती है। यथा 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि माता कुमाता न भवति॥' (दे० रा० प्र०, पं० रा० कु०)। (ग) पार्वतीमंगलमें बटुकी बातें सुन क्रोध आया है फिर भी ऐसी ही विनय करती हैं; यथा 'करनकटुक बटु बचन बिसिख सम हिय हए। अरुन नयन चढ़ि भृकुटि अधर फरकत भए। बोली फिरि लखि सखिहि काँपु तनु थर-थर। आलि बिदा करु बटुहि बेगि बड़ बरबर॥ ३८।' 'कहि जनि उठहि बहोरि कुजुगुति सँवारहि।४०। जनि कहहि कछु बिपरीत जानत प्रीतिरीति न बात की। सिव-साधु निंदक मंद अति जो सुनै सोउ बड़ पातकी। ४१।'—ये सब भाव इस अर्धालीमें हैं। (घ) 'जगदंबा' शब्द देकर यह भी जना दिया कि ये सर्वज्ञा हैं, जानती हैं कि सप्तर्षिको आगे और क्या करना है। अभी हिमाचलके घर जाना है, उनको यहाँ भेजना है, इत्यादि।

२ 'तुम्ह गृह गवनहु....' इति। (क) इसमेंभी ध्वनिसे बहुत भाव भरे हैं। एक तो साधारण कि—'बाबा! बहुत हो चुका अब घर जाइये, अधिक जी न जलाइए।' दूसरे मैं तो उपदेश लेने आपके यहाँ गई नहीं, आप अपने घर जायँ मैंने आपको बुलाया तो है नहीं, इत्यादि। आप अपने घर रहें, मैं अपने। तीसरे, आपको क्या और काम नहीं है जो यहाँ इतना समय व्यर्थ बिता रहे हैं? जाइए अपना काम देखिए जाकर व्यर्थ बकवाद से क्या लाभ?—ये भाव तो साधारण मुहावरेके अनुकूल हुए। आशय यह कि मैं निन्दा सुनना नहीं चाहती, व्यर्थ न सताइये, चलते हूजिये।—'भइ बड़ि बार आलि कहुँ काज सिधारहिं' (पार्वतीमंगल ४०)। (ख) व्यंग्यसे यहाँ 'नारद कर उपदेस सुनि कहहु बसेउ किसु गेह' का भी उत्तर दे रही हैं कि 'जाइए, महाराज! अपना घर सँवारिये, सँभालिये, वह न उजड़ने पावे। हमारे घरकी चिन्ता न कीजिये।'। (ग) यहाँ 'तिरस्कार अलंकार' है; यथा 'त्यागिय आदरणीयहू लगिय जो दोष विशेष। तिरस्कार भूषण कहैं जिनको सुमति अशेष।' (अ० मं०)। (घ) पुनः, गुप्तरूपसे यहभी बताती हैं कि 'क्या शिवजीकी आज्ञा आप भूल गए? अब शीघ्र हमारे घर जाइये। शंकरजीकी आज्ञानुसार गिरिराजको जाकर हमारे लेजानेके लिए भेजिये।'—यह भाव 'जगदम्बा' के सम्बंधसे हो सकता है। (ङ) कोई-कोई यह भाव लिखते हैं कि 'अपने घरके लिये जाकर किसी और का घर देखिये।' यह भाव 'तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं।....' के अनुकूल है। परन्तु मुहावरोंके अनुसार तो यह अर्थ यहाँ प्रसंगानुकूल नहीं। 'गृह' के साथ 'अन्य किसीका' ये शब्द अपनी ओरसे बढ़ाने पड़ते हैं।

देखि प्रेम बोले मुनि ग्यानी। जय जय जगदंबिके भवानी ॥ ८ ॥

दोहा—तुम्ह माया भगवान शिव सकल जगत पितु मातु।
नाइ चरन सिर मुनि चले पुनि पुनि हरषत गातु ॥ ८१

अर्थ—श्रीपार्वतीजीका प्रेम देखकर ज्ञानी मुनि सप्तर्षि बोले—'हे जगदंबिके! हे भवानी! आपकी जय हो! जय हो!। ८। आप माया हैं और शिवजी भगवान् हैं। आप दोनों संसारके माता पिता हैं।'—(यह कहकर पार्वतीजीके) चरणोंमें सिर नवाकर (प्रणाम करके) मुनि वहाँसे चल दिये। उनके शरीर बारंबार पुलकित हो रहे हैं। ८।

नोट—१ 'देखि प्रेम'''' इति। (क) शिवजीकी आज्ञा थी कि—'पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु। ७७।', सप्तर्षियोंने आकर परीक्षा करके प्रेम देख लिया। अतः 'देखि प्रेम' कहा। (ख) सप्तर्षिजी पार्वतीजीका वास्तविक स्वरूप जानते हैं, अतः उनको 'ज्ञानी' कहा। (ग) मुनि जब परीक्षा लेने आये तब उन्होंने पार्वतीजीको 'शैलकुमारी' कहकर संबोधन किया था, क्योंकि परीक्षा माधुर्यहीमें होती है; इसीसे वहाँ ऐश्वर्यसूचक संबोधन नहीं दे सकते थे। परीक्षा ले चुकनेपर ऐश्वर्य खोल दिया, 'जगदंबिके भवानी' कहा। (घ) 'पार्वती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु। ७७।' उपक्रम है, 'देखि प्रेम' पर उसका उपसंहार है। (ङ) 'जय जय जगदंबिके' इति। परीक्षामें पूरी उतरीं, इससे सब अत्यन्त प्रसन्न हुये और जय-जयकार करने लगे। आनंदके उद्गारमें मुखसे ऐसे शब्द बारंबार निकलते हैं। यहाँ आनन्दकी वीप्सा है। (दो बार प्रश्नोत्तर हुआ, अतः दो बार जय-जयकार किया। वि० त्रि०)। 'जगदम्बिके' और 'भवानी' का भाव कि हम लोग जानते हैं कि आप तो जगन्माता हैं, भवकी नित्यशक्ति हैं, आप जानतीही हैं कि हम लोग किस लिये आये थे। इस तरह पूर्वके माधुर्यको ऐश्वर्यसे मिलाते हैं।

२ 'तुम्ह माया भगवान शिव''' इति। (क) माया और ईश्वरसे, प्रकृति और पुरुषसे जगत् की उत्पत्ति है। इससे दोनोंका सम्बंध अनादि सिद्ध जनाया। उत्पत्तिकर्त्ता होनेसे 'भगवान' कहा, यथा 'उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव'''। मिलान कीजिये—'श्रुतिसेतुपालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी। जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की। २। १२६।' (ख) 'नाइ चरन सिर मुनि चले' इति। जब सप्तर्षि आये थे, तब उन्होंने प्रणाम नहीं किया था, आतेही तपका कारण पूछ चलेथे, क्योंकि परीक्षा लेनी थी, बड़े बनकर आये थे। उस समय 'शैलकुमारी', 'गौरि' नाम दिये गये अर्थात् प्राकृत राजाकी कन्या कहकर संबोधन किया गया था। राजकुमारीको प्रणाम अयोग्य होता। उपदेशभी माधुर्यमें ही बनता है, ऐश्वर्यमें नहीं। अतः उस समय प्रणाम न किया। अब उनको जगदंबिके, भवानी, भगवान् शंकरकी आद्या-शक्ति माया कहा, अतः प्रणाम करना आवश्यक हुआ। प्रारम्भमें यदि प्रणाम करते तो माताकी परीक्षा लेना घोर अनुचित होता। (ग) 'तब रिषि तुरत गौरि पहिं गयऊ। ७८। १।' उपक्रम है, 'नाइ चरन सिर मुनि चले' पर उसका उपसंहार हुआ। (घ) 'पुनि पुनि हरषत गातु' इति। इससे हृदयका प्रेम सूचित हो रहा है। देवताओंको प्रणाम करनेमें हर्ष होनाही चाहिये। यथा 'चले जात सिव सती समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता॥'''भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी।५०।' पुनः निष्ठा, श्रद्धा और प्रेम देखकर मग्न होगए हैं, अतः शरीर पुलकित हो रहा है। जैसे भरतजीका स्वभाव, विनय, प्रेम, निष्ठा आदि देख श्रीवसिष्ठ, जनक, देवता आदि सभी आनंदमें मग्न हो जाते थे,—'भरत बिनय मुनि देखि सुभाऊ॥ सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥ रघुराउ सिथिल सनेह साधु समाज मुनि मिथिलाधनी। मन महुँ सराहत भरत भायप भगति की महिमा घनी॥ २। ३०१।', 'धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषत बरिआईं। मुनि मिथिलेस सभा सब काहू। पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू॥ सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन। नेम पेमु अति पावन पावन। सचिव सभासद सब अनुरागे॥ २। २०६।', 'मुनिगन गुर धुरधीर जनक से।''' तेउ बिलोकि रघुबर भरत प्रीति अनूप अपार। भए मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार॥ २, ३१७॥'

ऐसेही सप्तर्षि श्रीपार्वतीजीका प्रेम, नेम, निष्ठा तथा अंतिम विनम्र वचन आदि देख, सुन और स्मरण कर पुलकित होते हैं, प्रेममें मग्न हैं और उनकी सराहना कर रहे हैं। भवानीका स्वभाव और उनकी बातें जैसे-जैसे स्मरण होती हैं तैसे तैसे पुलकांग हो हो आता है; अतः 'पुनि पुनि हरषत' कहा। पुनः, जिस कार्यके लिये आए थे उसकी सिद्धि हुई इससे हर्ष है। (ड)—यहाँ सप्तर्षियोंका मन, वचन और कर्म तीनोंसे भवानी के चरणोंमें अनुराग दिखाया है। 'पुनि पुनि हरषत' से मन (क्योंकि हर्ष मनका धर्म है), 'जय जय जगदंबिके भवानी। तुम्ह माया भगवान' से वचन और 'नाइ चरन सिर' से कर्मका अनुराग कहा। ☞ शिव पु० में भी प्रणाम और जयजयकार है।

३ श्रीलमगोड़ाजी—(क) दृश्य हास्यसे उठकर शान्तरसके शिखरपर जा पहुँचा जो महाकाव्यकी विशेषता है। (ख) जी० पी० श्रीवास्तवजी जो इस समय हास्यकलाके मुख्य आचार्य हैं, उनके सूत्रानुसार ऋषियोंने मानों 'कुकुड़ूकूँ' बोल दिया। तुलसीदासजीकी कलाका कमाल यह है कि 'कुकुड़ूकूँ' बोलनेवाले चरित्रभी बहुधा रंगमंचसे हर्षितही विदा होते हैं।

सप्तर्षि गिरिजा-संवाद समाप्त हुआ।

जाइ मुनिन्ह हिमवंतु पठाए। करि बिनती गिरिजहि गृह ल्याए ॥ १ ॥
बहुरि सप्तरिषि सिव पहिं जाई। कथा उमा कै सकल सुनाई ॥ २ ॥

अर्थ—मुनियोंने जाकर हिमवन्तको भेजा। वे विनती करके गिरिजाजीको घर ले आए। १। फिर सप्तर्षियोंने शिवजीके पास जाकर उमाजीकी सारी कथा उनसे कह सुनाई। २।

नोट—१ 'जाइ मुनिन्ह' इति। (क) शिवजीकी आज्ञा थी कि 'गिरिहि प्रेरि पठएहु भवन' उस आज्ञाका पालन यह हुआ। यहाँ 'प्रेरि' का अर्थ खोल दिया। पूर्व 'प्रेरि' कहा और यहाँ 'पठाए'। इस तरह 'प्रेरि'=भेजकर। यथा 'भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे।९३।' (ख) 'करि बिनती·····' इति। विनती करनेका भाव कि पार्वतीजी तपका हठ किये हुये हैं, अतः विनती करके उनको तपसे निवृत्त किया। ब्रह्मवाणीके 'हठ परिहरि घर जायहु तबहीं' से यही भाव सिद्ध होता है। (ग) 'गृह ल्याए' इति। घरसे हिमाचलकी राजधानी 'औषधिप्रस्थ' अभिप्रेत है। गंधमादनपर्वत इस पुरके बाहरका उपवन है ऐसा कुमारसम्भव सर्ग ६ श्लोक ३२ में कहा है। इस पुरका वर्णन श्लोक ३६ से ४६ तक में है। पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें भी इसका वर्णन है। दोहा ६५ की अर्धाली ६ भी देखिये।

२ 'बहुरि सप्तरिषि सिव···' इति। (क) 'बहुरि' का भाव कि शिवजीकी आज्ञा तो इतनी ही मात्र थी कि प्रेमपरीक्षा लो, गिरिराजको भेजकर उमाजीको घर भेजो। लौटकर फिर अपने पास आनेको नहीं कहा था। परन्तु सप्तर्षि पार्वतीजीका निश्छल पवित्रप्रेम देख इतने मुग्ध हो गए कि उनका चरित सुनानेके लिये वे शिवजीके पास पुनः आए। परीक्षा लेने भेजा था, अतः कहने आये कि हमने परीक्षा ली, उनके प्रेमकी बलिहारी है। पुनः, 'बहुरि' कहा क्योंकि एक बार पूर्व आ चुके थे, यथा 'तबहिं सप्तरिषि सिव पहिं आए'। अब दूसरी बार आए। पुनः, बहुरि=लौटकर, फिर। पुनः, 'बहुरि' का भाव कि जब हिमाचल पार्वतीजीको घर ले आए तब।—यह भाव 'गिरिहि प्रेरि पठएहु भवन' से ध्वनित होता है। (ख) 'कथा उमा कै···' इति। अर्थात् जिस प्रकार जाकर परीक्षा ली; जो जो बातें इन्होंने कहीं और जो-जो उत्तर उन्होंने दिये वे सब कहे। तथा यह भी बताया कि कैसी तपोमूर्तिही वे देख पड़ती थीं।

भए मगन सिव सुनत सनेहा। हरषि सप्तरिषि गवने गेहा ॥ ३ ॥
मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना ॥ ४ ॥

अर्थ—(उमाजी का) प्रेम सुनते ही शिवजी आनंदमें डूब गये। सप्तर्षि प्रसन्न होकर अपने घर गए। ३। तब सुजान शिवजी मनको स्थिर करके श्रीरघुनाथजीका ध्यान करने लगे। ४।

नोट—१ 'भए मगन गिर ... मनेरा । ' इति । (क) मग्न होनेका भाव कि 'अब पार्वतीजीको भरोसा हो गया होगा और उनकी तपन मिट गई होगी ।' (रा० प्र०) । और भी भाव टीकामें दिये हैं पर मेरी क्षुद्रबुद्धिमें तो 'पार्वतीजीका अपने ऊपर सच्चा अनन्य प्रेम' होना ही मग्न होनेका वास्तविक कारण है । ... प्रेम समुद्र' आप डूब गए । त्रिपाठीजीका मत है कि भगवती ... हैं, जिनके उनके शिव शव हैं, अब पुन 'शिव' ... निश्चयसे आनन्दित हुए । (ख) 'हरषि ... गेहा' इति । सेवा जो सौंपी थी वह अपने द्वारा पूरी हो गई भगवान शंकर सेवामें 'सन्न' हुए अतः इनको भी 'हर्ष' हुआ । (ग) सप्तर्षियोंका घर कहाँ है जो इनका वहाँके घर जाना कहा गया? इसका उत्तर 'जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे । उचित बास हिमभूधर दीन्हे । ६५ ।' में ही हो जाता है कि अन्य ऋषियोंकी तरह इन्होंने भी हिमालयपरही आश्रम बना लिया था, वहीं गए । हरिद्वारसे पाँच छः मील ऊपर (पूर्वदिशा लिये हुए) एक सप्तस्रोत नामक प्रसिद्ध रमणीक स्थान है । यहाँसे थोड़ी थोड़ी दूरमें छोटी छोटी सात धाराएँ जाकर भगवती भागीरथीमें मिलती हैं । इन्हीं सप्तस्रोतोंके स्थानपर सप्तर्षियोंका निवासस्थान कुछ कालतक था, ऐसी विख्यात जनश्रुति है । कुमारसम्भवके अनुसार यह कथा ... मन्वन्तरकी है । इसी मन्वन्तरमें सप्तर्षि पार्वतीजीके पास गए थे । सप्तर्षियोंके नाम जो इसमें दिये हैं, उनमें वशिष्ठजीका भी नाम है, जो श्रीअरुन्धतीजी सहित वहाँ गए थे । वैवस्वतमन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें वशिष्ठजीका नाम प्रथम है । (विष्णुपुराण अंश ३।१।३० ... । विष्णुपुराण अंश ३ अ० १, २ में चौदहों मन्वन्तरोंके सप्तर्षियोंकी नामावली दी हुई है । उनमेंसे केवल वैवस्वतमन्वन्तरमेंही वशिष्ठजीकी गणना है, अन्य किसीमें नहीं है । ☞ सप्तर्षियोंके घरके विषयमें तर्कपूर्ण एक समाधान तो ऊपर हो ही चुका । दूसरा समाधान यह है कि हिमालयसे भिन्न भी इनके घर प्रसिद्ध हैं—(१) वशिष्ठजीका घर एक तो अयोध्याजीमें प्रसिद्धही है, दूसरा घर ('रघुवंश' महाकाव्यके सर्ग - के अनुसार) अर्बुद नामक हिमालयके एक शिखरपर भी है जहाँ रहकर महाराज दिलीपजीने उनकी नन्दिनी कामधेनुकी सेवा कर वरदान पाया था । (२) काश्यप का घर सुमेरु प्रसिद्ध है । अभिज्ञान शाकुन्तलमें भी इसका वर्णन स्पष्टरूपसे है । (३) अत्रिजीका घर चित्रकूटमें अनुसूयाआश्रमके नामसे प्रसिद्ध है । (४) जमदग्निजीका आश्रम रेवा नदीके तटपर था । (महाभारत) । (५) गौतमजीका स्थान गोदरिया सेमरिया जनकपुरसे कुछ दूरीपर अहल्याआश्रम नामसे दरभंगा जिलेमें कमतौल स्टेशनके पास था । (६) विश्वामित्रजीका स्थान कुछ दिन कौशिकी तटपर था । महर्षि हो जानेपर गंगातट कामाश्रमके सिद्धाश्रममें था जिसे आजकल बक्सर कहते हैं । इसका असली नाम 'व्याघ्रसर' है । (७) भरद्वाजजीका आश्रम प्रयागमें प्रसिद्धही है । (वि० भू० रा० कु० दास) ।

२ 'मन थिर करि ' इति । (क) अबतक सतीके स्नेह और विरहमें अबतक मन थिर न था । पुनः भाव कि श्रीपार्वतीजीके प्रेममें मन चंचल हो गया था । उनके प्रेमके हाथों मानो बिक गये थे, यथा 'हमहि आजु लगि कनउड़ काहु न कीन्ह । पारबती तप प्रेम मोल मोहि लीन्ह ॥ ५ । पार्वतीमंगल ।' अतः मनको सावधान कर फिर समाधिमें लगे । पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'सतीतनत्यागसे मनमें वैराग्य हो गया था, कहीं किसी वस्तुमें राग न होता था, सर्वत्र विचरते फिरते थे । (नीलगिरि पर भुशुण्डीजीसे रामचरित सुननेसे विश्राम मिला तब पुनः कैलास आये थे) । अब मन थिर हुआ तब ध्यान करने लगे । पहली समाधिमें काननचारी रूपका ध्यान किया था और इस समाधिमें, जिस रूपसे श्रीरामजी उनके सामने प्रकट हुये थे (यथा 'प्रगटे राम कृतग्य कृपाला । रूपसीलनिधि तेज बिसाला ॥ ७६ ।') उसी रूपका ध्यान किया । पुनः 'मन थिर करि' का भाव कि जीव स्वतः मनके वश हो जाता है जब भगवान कृपा करें, तब उसका मन अपने वशमें होता है और ये तो भगवान हैं, मन स्वतः इनके वशमेंही है, तब जैसा चाहें उससे वैसा काम लें, ये मनके अधीन नहीं हैं । अतएव उन्होंने अपनेसेही मनको थिर किया ।' त्रिपाठीजीका मत है कि आनन्दकी घटना उपस्थित होनेपर महात्मा लोग भगवानका ध्यान करते हैं, वैसेही शिवजी यहाँ ध्यान

करने लगे। (ख) ☞ मनको स्थिरकर ध्यान करने लगे अर्थात् समाधि लग गई, यथा 'सहज बिमल मन लागि समाधी। १२५।' समाधि लगनेकी बात आगे, ब्रह्माजीके वचनोंसे स्पष्ट है; यथा 'तेहि तपु कीन्ह संभु हित लागी। शिव समाधि बैठे सब त्यागी॥ ८३।' (ग) 'मन थिरु करि''''' यह उपक्रम है। इसका उपसंहार 'भयउ ईस मन छोभु बिसेषी॥''''। ८७। ४।' पर है।

श्रीपार्वती प्रेम परीक्षा प्रकरण समाप्त हुआ।

तारक असुर भयउ तेहि काला। भुज प्रताप बल तेज बिसाला॥ ५॥

तेहिं* सब लोक लोकपति जीते। भए देव सुख† संपति रीते॥ ६॥

अर्थ—१ उसी समय तारक नामका दैत्य हुआ जिसकी भुजाओंका बल, प्रताप और तेज बहुत बड़ा था। (अर्थात् जो बड़ा प्रतापी बलवान् और तेजस्वी था)। ५। उसने सब लोकों और लोकपालोंको जीत लिया। देवता सुख और संपत्ति से खाली हो गए। ६।

नोट—पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें तारकासुरके जन्मकी कथा इस प्रकार है—'महर्षि कश्यपके वरदान से दितिके वज्राङ्ग नामक एक पुत्र हुआ जिसके सभी अङ्ग वज्रके समान सुदृढ थे और जो जन्मतेही सब शास्त्रोंमें पारङ्गत हो गया। माताकी आज्ञासे यह स्वर्गमें गया और अमोघ तेजवाले पाशसे इन्द्रको बाँध लाया। ब्रह्माजी तथा कश्यपजीके कहनेसे उसने इन्द्रको मुक्त कर दिया और ब्रह्माजीसे वरदान माँगा कि मेरा मन तपस्या में लगे और वह निर्विघ्न पूरी हो। ब्रह्माजीने उसे वर दिया और एक वराङ्गी नामकी स्त्री उत्पन्न करके उसको पत्नीरूपसे अंगीकार करनेको दी। दोनों तप करने लगे। ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर वर दिया कि उसके हृदयमें आसुरभाव कभी न हो और तपस्यामें उसका अनुराग बना रहे। तपस्या समाप्तकर जब वह घर आया तो स्त्रीको न पाया। वनमें उसने स्त्रीको रोते हुए पाया। पूछने पर मालूम हुआ कि इन्द्रने उसे बहुत डरवाया और घरसे निकाल दिया था जिससे वह प्राण त्याग करनेका निश्चय कर चुकी थी। उसने वज्राङ्गसे कहा—'आप मुझे ऐसा पुत्र दीजिये जो मुझे इस दुःखसमुद्रसे तार दे। वज्राङ्गने इसी आशयसे फिर तप किया और ब्रह्माने उसे वर दिया कि 'तारक' नामक महाबली पुत्र होगा। मत्स्य पुराणमें भी इस तप और वरदानका उल्लेख है। यथा—'अलं ते तपसा वत्स मा क्लेशे दुस्तरे विश। पुत्रस्ते तारको नाम भविष्यति महाबल। अ० १४७ श्लोक १७।' वराङ्गी अपने पतिद्वारा स्थापित किये हुए गर्भको पूरे एक हजार वर्षतक धारण किये रही। इसके बाद उसने पुत्रको जन्म दिया जो जन्मते ही भयंकर पराक्रमी हो गया। देवताओंका दमन करनेके विचारसे उसने पारियात्रपर्वतपर जाकर बड़ा उग्र तप किया जिससे सुरासुर सभी जले जाते थे। सबको भयभीत देख ब्रह्माजीने उसके पास जाकर उससे इच्छित उत्तम वर माँगनेको कहा। यथा 'तद्विम्नाश्च सुराः सर्वे तपसा तस्य भीपिताः। एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मा परमं तोषमागतः॥ मत्स्यपुराण अ० १४८ श्लोक १४।' 'वृतं तेनेदमेव प्राक्प्रयाचास्मै प्रतिश्रुतम्। वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः॥ कुमारसंभव सर्ग १ श्लोक ५६॥'—और शिवपुराणमें इसे तार असुरका पुत्र कहा है। इसने जब एक हजार वर्षतक तप किया और कुछ फल न हुआ, तब इसके मस्तकसे एक बहुत प्रचण्ड तेज निकला जिससे देवता लोग व्याकुल होने लगे, यहाँतक कि इन्द्र सिंहासनपरसे खिंचने लगा। देवताओंकी प्रार्थनापर ब्रह्माजी उसे वर देने आए। पद्मपुराणमें चार सौ वर्ष तप करना लिखा है। अस्तु।

मत्स्यपुराणके अनुसार उसने साष्टाङ्ग दण्डवतकर हाथ जोड़ प्रार्थना की कि 'देव भूतमनोवास वेत्सि जन्तुविचेष्टितम्। कृतप्रतिकृताकाङ्क्षी जिगीषुः प्रायशो जनः। १८। वयंच जाति धर्मेण कृतवैराः सहामरैः। तेश्चनिःशेषिता दैत्याः क्रूरैः सन्त्यज्य धर्मिताम्। तेषामहं समुद्धर्त्ता भवेयमिति मे मतिः। १९।' हे देव! हम सब प्राणियोंके हृदयमें वास करनेवाले! आप सबकी इच्छाको भली भाँति जानते हैं। प्रायः

* तेइ—१७०४। ते—को० रा०। तेहि—१६६१, १७२१, १७६२, छ०। † सब—१७०४।

लोग दूसरेके साथ वैसा ही कर्त्तव्य करनेकी इच्छा रखते हैं जैसा उनके साथ दूसरोंने किया है। इससे देवताओंसे स्वाभाविक वैर है। उन्होंने दैत्यकुलको निःशेष कर दिया है। अतः उसका उद्धार करनेकी इच्छा है। यह कहकर तब उसने इस तरह वर माँगा कि 'किसी महापराक्रमी प्राणी या किसी अस्त्रशस्त्रसे मेरी मृत्यु न हो, यही उत्तम वर हमारे हृदयमें स्थित है। हे देवेश! यही वर मुझे दीजिये और किसी वरकी मुझे इच्छा नहीं है।' और पद्मपुराणमें यह वर माँगना लिखा है कि 'किसी भी प्राणीसे मेरी मृत्यु न हो। श्रीब्रह्माजीने कहा कि देहधारियोंके लिये मृत्यु निश्चित है, अतः ऐसा वर नहीं मिल सकता कि किसी प्रकार मृत्यु न हो। तुम ऐसा वर माँगो कि इस इससे मेरी मृत्यु न हो।' जिस किसी निमित्तसे भी, जिससे तुम्हें भय न हो, अपनी मृत्यु माँग लो, जिससे तुम्हें शंका हो उससे मृत्यु न होनेका वर माँग लो।' तब दैत्यराजने मायासे मोहित होकर यह वर माँगा कि 'हमारी मृत्यु सात दिनके बालक शिशुको छोड़कर और किसीसे न हो।' और शिवपुराणानुसार उसने दो वर माँगे। पहला तो यह कि—'मेरे समान संसारमें कोई बलवान् न हो।' दूसरा यह कि—'यदि मैं मारा जाऊँ तो उसीके हाथसे जो शिवजीसे उत्पन्न हो।' अस्तु ब्रह्माजी उसके इच्छित वरको देकर ब्रह्मलोकको गए और तारक अपने घर गया। ऐसा वर प्राप्त होनेपर महिष, कालनेमि, जम्भ, ग्रसन, शुम्भ आदि बड़े-बड़े दैत्य उससे आमिले और उसको अपना अधिपति बनाया। (मत्स्यपुराण अ० १४८, १५४, श्लोक २०२६, ४७४९)। अब तारकासुर घोर अन्याय करने लगा। त्रैलोक्यमें कोई स्वतन्त्र न रह गया। देवताओंके सारे विमान समूह छीन लिए, सुमेरुपरके देवताओंके निवासस्थानोंपर भी अधिकार कर लिया। पद्मपुराणमें लिखा है कि वायुदेवसे असुरोंका उद्योग जानकर कि वे बड़ी भारी सेना लेकर स्वर्गपर धावा करनेवाले हैं इन्द्र देवताओंकी सेना लेकर संग्रामके लिए निकले और एक साथ ही सबके सब तारकपर प्रहार करने लगे पर उसका कुछ कर न सके। उसने देवताओंको अपने हाथके पृष्ठ भागसे ही मार गिराया। बचे हुए प्राण लेकर भगे। तब सब देवता ब्रह्माजीके पास गए और उनसे अपना दुखड़ा रो सुनाया।—'देखे विधि सब देव दुखारे' पर टिप्पणी देखिए। ब्रह्माजीने कहा कि हमने उसे वर दिया है, उसका स्वयं नाश करना हमारे लिए अयोग्य है। 'विषका वृक्ष भी बढ़ाकर स्वयं ही काटना योग्य नहीं।' उस दैत्यने सात दिनके शिशुसे अपनी मृत्यु होनेका वर माँगा था। तारकासुरके तेजको श्रीमहादेवजीके वीर्यसे उत्पन्न शिशुके अतिरिक्त और कोई नहीं सह सकता। 'शिवजीके पुत्रके अतिरिक्त तारकको और कोई मार नहीं सकता। इस समय हिमालयपर पार्वतीजी शिवजीके लिए तप कर रही हैं। जाकर ऐसा उपाय रचो कि उनका संयोग शिवजीके साथ हो जाय।'—(श० सा०) शिवजी समाधिस्थ हैं, यत्न करो कि वे पार्वतीजीसे विवाह करें। (कुमारसम्भव सर्ग २। ५७, ५९, ६१। मत्स्यपुराण अ० १४६, १५४)। पद्मपुराणमें लिखा है कि—'हिमालयकी कन्या जो उमादेवी होगी, उसके गर्भसे उत्पन्न पुत्र अरणि प्रकट होनेवाले अग्निदेवकी भाँति तेजस्वी होगा। उस पुत्रका सामना करनेपर तारकासुर नष्ट हो जायगा।' (संक्षिप्त पद्मपुराणसे)। इसके आगेकी कथा आगे ग्रन्थकारने स्वयं दी है।

नोट—२ 'भयउ तेहि काला' इति। (क) इससे प्रश्न होता है—'केहि काला?' सतीजीके समयमें ही हुआ या पार्वतीजन्म होनेपर या शिवजीके दूसरी समाधि लगानेपर हुआ? स्कन्द और पद्मपुराणसे तो निश्चय होता है कि तारकासुरके वर पाने और देवताओंकी पुकारके पश्चात् श्रीपार्वतीजीका जन्म हुआ और मत्स्यपुराण तथा कुमारसम्भवका मत है कि देवताओंने जब ब्रह्माजीसे पुकार की उस समय शिवजी समाधिस्थ थे। इससे यह निश्चय होता है कि पार्वतीजीके जन्मके पश्चात् ही तारकका जन्म हुआ और पार्वतीतपकी समाप्तिके लगभग ही उसको भी वर मिला, चाहे कुछ पहले या पीछे और उसका अत्याचार समाधि होनेपर बढ़ा। मानसका 'तेहि काला' कुमारसम्भव और मत्स्यपुराणसे मिलता-जुलता है। (ख) देखिए, प्रभुकी आज्ञा तो है कि 'जाइ बिबाहहु सैलजहि' और शिवजी समाधि लगाकर बैठ गए। उनका यह कर्म प्रभुकी आज्ञाके प्रतिकूल हुआ। इसीसे भगवान्‌ने विघ्न उपस्थित कर दिया कि 'तारक असुर

भएउ तेहि काला'। उसका जन्म चाहे समाधिके पहले ही हो गया हो पर विशाल प्रताप, बल और तेज उसका समाधिस्थ होनेपर हुआ। ऐसा अन्वय कर सकते हैं कि—'भुज प्रताप बल तेज तेहि काल बिसाल भएउ।' प्रभुकी आज्ञा तो ब्याहकी है ही, अब लोकव्यवहार भी ऐसा ही आ बना कि अब उमाजीको अवश्य ब्याहेंगे। आगे 'संभु सुक्रसंभूत सुत एहि जीतै रन सोइ' इस दोहके द्वारा लोकव्यवहार कहा गया। (पं० रामकुमारजी)।

टिप्पणी—१ 'भुज प्रताप बल तेज बिसाला' इति। (क) कीर्ति, यश, बल या नाम सुनकर ही शत्रु डर जाय यह 'प्रताप' कहलाता है। 'तेज' यह है कि मुखपर तपस्याके कारण ऐसा प्रकाश है कि शत्रु सामने आनेपर आँख नहीं लड़ा सकता, देखकर काँप उठता है; यथा 'तेज निधान लखन पुनि तैसें। कंपहिं भूप बिलोकत जाकें। जिमि गज हरिकिसोरके ताकें। १।२९३।'; देखते ही सिर झुक जाना, नम्र पड़ जाना यह 'तेज' का प्रभाव है। 'बल' यह है कि कैसा भी दुर्घट कार्य हो उसे सुगमतासे बिना परिश्रम कर डाले। (ख) कुमारसंभवमें 'तेज' के संबंधमें यह लिखा है कि जब सब देवता घबड़ाकर ब्रह्माजीके पास गए, तब ब्रह्माजीके प्रश्न करनेपर इन्द्रका इशारा पाकर बृहस्पतिजीने देवताओंका दुःख यों वर्णन किया है—'इन्द्र, वरुण, यमराज, चन्द्रमा, सूर्य, पवन, रुद्रों और वासुकी इत्यादिके तेज तारकासुरके सामने नष्ट हो गए हैं। सभी उसका रुख जोहते रहते हैं, तो भी वह शान्त नहीं होता, तीनों भुवनोंको क्लेश देता है। दुष्ट कभी भी भला बिना प्रतिकारके शान्त हो सकते हैं? वह देववधूटियोंसे पंखा झलवाता है, यज्ञोंमें दिये हुए हव्योंको अग्निके मुखसे छीन ले जाता है। विष्णुका चक्र भी उसका कुछ न कर सका।' (सर्ग २, श्लोक २०-५५)। पद्मपुराणमें लिखा है कि ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—'तुम्हारा तेज किसने छीन लिया? तुम ऐसे देख पड़ते हो मानो तुममें कुछ भी करनेकी शक्ति ही न रह गई। तुम्हारी कांति जाती रही।'—यह सब तेज और प्रतापका ही भावार्थ है। इसीसे 'प्रताप तेज' विशाल कहा। उसके आगे देवताओंका तेज प्रताप जाता रहा। (ग) 'बल' के संबंधमें पूर्व कह आए हैं कि उसने यह वर माँग लिया था कि 'मेरे समान संसारमें कोई बलवान् न हो।' अतः 'बल' विशाल है। उसके सामने किसीका बल नहीं चलता। समस्त देवताओंने एक साथ उसपर प्रहार किया तब उसने रथपरसे कूदकर करोड़ों देवताओंको अपने हाथके पृष्ठ भागसे ही मार गिराया—(पद्मपुराण)।—यह उसके विशाल बलका उदाहरण है। अर्धाली ७, ८ का नोट भी 'प्रताप बल तेज' पर देखिए। ['बल' शब्दके पहिले 'प्रताप' शब्दके प्रयोगका भाव कि उसकी भुजाओंके प्रतापके बलसे उसके अनुचर लोकपालोंको बाँधकर पशुओंकी भाँति खींच लाए। इस भाँति प्रताप कहा। (वि० त्रि०)]

नोट—२ (क) 'तेहि सब लोक लोकपति जीते' इति। सब लोकपति अर्थात् 'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ १।१८२।' पद्मपुराणमें लिखा है कि अपने दूत वायुसे दैत्योंका उद्योग सुनकर इन्द्रने संग्रामकी तैयारीकी। यमराजको सेनापति बनाकर समस्त लोकपाल अपनी-अपनी दुर्जेय सेना लेकर साथमें गए। पर सबके सब प्रथम ही बार हार गये। तब उसने सबके लोकोंपर अधिकार जमा लिया। अतः 'लोक लोकपति जीते' कहा। (ख) 'भए देव सुख संपति रीते' इति। इससे जनाया कि सब देवता पराधीन होकर रह रहे हैं। पराधीनको सुख कहाँ? यथा—'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं। १।१०२।' अतः 'सुख रीते' कहा। उनके सब लोक छिन गए हैं अतः 'संपति रीते' कहा। इससे जनाया कि इन्द्रादि लोकपालोंको जीतकर उनकी सब संपत्तिभी छीन ली। 'लोक जीते' से यह भी जनाया कि लोकोंको लोकपालोंसे छीनकर अब उनमें अपनी नीतिके अनुसार हुकूमत करता था, उन अधिकारियोंके स्थानपर अपने अधिकारी नियुक्त कर दिये थे। दैत्यही देवताओंपर शासन करते थे।

अजर अमर सो जीति न जाई। हारे सुर करि बिबिध लराई॥ ७॥

तब बिरंचि सन* जाइ पुकारे। देखे बिधि सब देव दुखारे॥ ८॥

अर्थ—वह अजर अमर था, (किसीसे) जीता नहीं जाता था। देवता लोग (उसके साथ) अनेक प्रकारसे लड़ाई करके हार गये। ७। तब सबोंने जाकर ब्रह्माजीसे पुकार की। ब्रह्माजीने सब देवताओंको दुखी देखा।८।

टिप्पणी—१ 'अजर-अमर सो ... इति। (क) भाव कि वह न तो बुड्ढा ही होता है, न उसका शरीर किसी प्रकार जीर्ण या जर्जर होता है और न वह किसीके मारे मरता है; अतएव जीता नहीं जाता। [(ख) यहाँ यह शङ्का उठाकर कि 'वह अजर-अमर था तो मरा कैसे?' वे महानुभाव अपनी शंकाके समाधानार्थ यों अर्थ करते हैं कि 'अजर अमर (जो देवता गन) सों (से) जीता नहीं जाता', या, 'अजर-अमर देवताओंसे वह जीता नहीं जाता'। या, सो-सों=सदृश, समान। अर्थात् 'अजर अमर सा है, इसीसे जीता नहीं जाता।' मेरी समझमें समाधान यह हो सकता है कि जैसे देवता भी अमर कहलाते हैं, 'अमर' उनका नाम ही हो गया है, पर वे भी तो काल पाकर मरते ही हैं। देवताओंको जो 'अमर' कहा जाता है वह मनुष्यादिकी अपेक्षासे ही कहा जाता है। वैसे ही यहाँ भी 'अमर' से तात्पर्य यही है कि केवल सात दिनके शिशुको छोड़कर वह सबसे अमर था, अवध्य था। काल आदि देवता मारनेको समर्थ होते हुए भी उसे नहीं मार सकते, भगवान् विष्णुका चक्र भी उसका कुछ न कर सका, जो मृत्युके साधन प्रसिद्ध हैं और जो वर्तमान हैं उनसे वह अवध्य है उनके द्वारा इस समय वह मर नहीं सकता।—इसी भावसे उसे 'अजर अमर' कहा गया।] (ग)—'हारे सुर करि बिबिध लराई' इति। 'बिबिध' अर्थात् जितनी भी लड़ाईकी विधियाँ हैं, वह सब प्रकारकी लड़ाई की, फिर भी न जीत पाए। कोई भी प्रकार लड़ाईका न बचा। अथवा साम, दाम, दंड और भेद सब प्रकारसे लड़ाईमें हार गये। पुनः,'बिबिध' से यह भी भाव ले सकते हैं कि बहुत बार लड़ाई की, कभी न जीते। ['अजर अमर ' से बल और 'हारे सुर ' से उसका तेज दिखाया। वि० त्रि०]

२ 'तब बिरंचि सन जाइ पुकारे।' इति। (क) 'तब' अर्थात् जब किसी प्रकार न जीत पाये, जब अपना कोई पुरुषार्थ कारगर न हुआ, न चला। (ख) 'बिरंचि' का भाव कि ये सृष्टि रचयिता हैं, इन्होंने देवताओंके लिये स्वर्ग आदि लोक रचे और सृष्टि रचनेके समयसे ही आपने स्वर्गलोक यज्ञभोगी देवगणके अधिकारमें दे रक्खा है, वह अधिकार तारकासुरने छीन लिया है, अतः उन्हींके पास फरियाद लेकर आए। ☞ प्रायः यही रीति भी है कि जब देवता दैत्यों या राक्षसोंसे पीड़ित होते हैं तब इन्हींके पास फरियाद करते हैं, वैसेही यहाँ भी इन्हींसे पुकार की। रावणके अत्याचारपर भी 'बिरंचि' ही के यहाँ जाना कहा है। भाव यह है कि आपने सृष्टि रची, अधिकार दिये, वह आपकी सृष्टि नष्ट हुई जाती है, आपका सारा परिश्रम मिट्टीमें मिल जायगा, सारी सृष्टि चौपट हो जायगी, यदि आप शीघ्र इसका उपाय न करेंगे। पुनः, ब्रह्माने ही उसे वर दिया है, अतः सृष्टिरचयिता जान उन्हींके पास गए। (ग) 'देखे बिधि सब देव दुखारे' इति। देवता सृष्टिरचयिता तथा अपना स्वामी जानकर उनके पास गए और 'बिधि' (ब्रह्माजी) सबके विधानकर्त्ता हैं, अतः वे दुःखी हुए। इसी भेदसे पहले 'बिरंचि' और अब 'बिधि' नाम दिये गए। 'देखे ' का दृश्य कुमारसम्भवमें बहुत अच्छा दिखाया है। सर्ग २ श्लोक १६-२७ में लिखा है कि ब्रह्माजी देवताओंको देखकर बोले—'हे वत्स लोगो! आपके मुखोंपर पूर्ववत् कान्ति नहीं है। इन्द्रका वज्र कुण्ठित-सा और वरुणका पाश दीनसा देख पड़ता है। कुबेरकी भुजा गदासे रहित मानों अनादरको जता रही है, यमराजका दंड अशक्तसा जान पड़ता है।' क्या आपकी प्रतिष्ठा किसीने भंग की है?

नोट—१ 'भुज प्रताप बल तेज बिसाला' कहकर 'देखे बिधि सब देव दुखारे' यहाँतक उसका प्रताप, बल और तेज तीनों दिखाये। यद्यपि प्रताप और तेज प्रायः पर्य्याय शब्द की तरह प्रयुक्त होते हैं तब भी

* पाठ—१७२१, १७६२, छ०। सन—१६६१, १७०४, को० रा०।

उसमें सूक्ष्म भेद है। 'प्रताप' बल पराक्रमादि महत्वका ऐसा प्रभाव जिसके कारण उपद्रवी शान्त रहते हैं। मनुष्य एकही स्थानपर बैठा रहता है पर उसका प्रताप देशदेशान्तरोंमें दूर-दूरतक फैला हुआ काम करता है, उसका भय छाया रहता है। यथा 'जब तें रामप्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा। पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका॥ उ० ३१॥', 'जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥'—शत्रुके उरमें अत्यन्त ताप हो यह प्रतापका लक्षण है। 'भए देव सुख संपति रीते' सुख जाता रहा, यह विशेष संतापका प्रत्यक्ष चिह्न है। तथा 'तब बिरंचि सन जाइ पुकारे। देखे बिधि सब देव दुखारे॥' इन दोनोंमें तारकासुरका विशाल प्रताप कहा। और ऊपर यह भी दिखा आए हैं कि सब लोकपालोंके तेज नष्ट होगए।—'ससि मलीन रबि सीतल लागे'—यह सब प्रताप है। कोई मुँहसे कुछ भी बात निकालते डरता है। 'तेज' जैसे कि अग्नि। तेजमें अग्निका दृष्टान्त दिया जाता है। 'तेज कृसानु रोष महिषेसा।' तेजमें भी ताप और प्रकाश होता है। शरीरमें तेज रहनेसे साहस और बल होता है। भेद केवल इतना है कि तेज सन्मुख होनेपर काम देता है और प्रताप पीठ पीछे परोक्षमें भी। यथा 'राजन राम अतुल बल जैसे। तेज निधान लखन पुनि तैसे॥ कंपहि लोक बिलोकत जाके। जिमि गज हरि-किसोरके ताके॥' अर्थात् जिसकी ओर ताक दें उसकी नानी ही मर जाय। तेज और बल 'तेहि सब लोक लोकपति जीते।', 'हारे सुर करि बिबिध लराई' और 'जीति न जाई' इनमें दिखाए।

दोहा—सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुजनिधन तब होइ।
संभु-शुक्र-संभूत सुत एहि जीतै रन सोइ॥८२॥

अर्थ—ब्रह्माजीने सबसे समझाकर कहा कि इस दानवका नाश तब होगा जब शिवजीके वीर्यसे पुत्र उत्पन्न हो। इसे लड़ाईमें वही जीतेगा। ८२।

टिप्पणी—१ (क) 'सब सन कहा बुझाइ' इति। सबसे कहा जिसमें सबको सन्तोष हो और सब मिलकर उपाय करें। सबसे कहा, इसीसे सभीने वचन सुनकर अन्तमें प्रशंसा की; यथा 'मत अति नीक कहइ सबु कोई।' 'कहा बुझाइ' अर्थात् समझाया कि उसने ऐसा बड़ा उग्र तप किया था कि उसके तेजसे पृथ्वी जली जाती थी। इस दुःखके निवारणार्थ हमने उसे वरदान देकर अनुकूल बनाया और तपस्यासे रोका। वह इस समय देवता, दैत्य और असुर सभीके लिये अवध्य है। जिसके द्वारा उसका वध हो सकता है, वह पुरुष त्रिलोकीमें अभीतक पैदा नहीं हुआ। उस दैत्यने अपनी मृत्यु सात दिनके ऐसे शिशुसे माँगी है जो वीर्यसे पैदा हो। श्रीशिवजीके वीर्यमें ऐसा तेज है। उस तेजसे जो पुत्र होगा वह तारकका वध करेगा। तुम्हारा कार्य सिद्ध होगा। वही पुत्र तुम्हारा सेनापति होगा। पार्वतीजीने शिवजीको पति-रूपसे पानेके लिये तप किया है और मैंने उन्हें वरदान दिया है। शिवजी समाधिस्थ हो गये हैं। तुम जाकर ऐसा उपाय करो कि उनकी समाधि छूटे और वे पार्वतीजीको ग्रहण करें। (कुमारसंभव सर्ग २, मत्स्यपुराण अ० १४६, १५४, पद्मपुराण सृष्टिखंड। कुमारसंभवमें ब्रह्माजीके शब्द ये हैं कि 'तुम शिवजीके चित्तको किसी प्रकार उमाजीके रूपपर मोहित कर दो जैसे चुम्बक लोहेको आकर्षित करता है।' यथा 'उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः। शम्भोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत्॥ २। ५९।') पुनः, बुझाना यही है जो आगे कहा है—'दनुजनिधन तब होइ' से लेकर 'एहि बिधि भलेहि देव हित होई' तक। (ख) 'बिधि' इति। इसके यहाँ दोनो अर्थ लिये जा सकते हैं—एक तो 'ब्रह्मा, विधानकर्त्ता'; दूसरे 'विधान, उपाय, प्रकार'। अर्थात् ब्रह्माजीने विधि समझाकर कही। पुनः भाव कि ये 'विधि' हैं अर्थात् विधानकर्त्ता हैं, सब विधान जानते हैं, क्या उचित कर्त्तव्य है इसके जाननेवाले तथा करनेवाले हैं; इसीसे उन्होंने सबको दुःखित देखकर दया करके विधान (उपाय) बताया जिससे देवताओंके अधिकार उनको फिर मिल जायँ और सृष्टिका कार्य विधिपूर्वक चलता रहे। इस भावसे यहाँ 'बिधि' नाम दिया गया। (ग) 'दनुज निधन तब होइ' इति। जब

ऐसा हो तब ऐसा हो, यह 'संभावना अलंकार' है। इससे जनाया कि हम तुम्हारा दुःख दूर नहीं कर सकते, उपाय बताये देते हैं जिससे दुःख दूर हो। (घ) 'संभु शुक्र संभूत सुत' इति। भाव कि सुत तो गणेशजी भी हैं, यदि वे ज्येष्ठ पुत्र समझे जायँ (वा, 'सुर अनादि जिय जानि' के भावसे, क्योंकि उनका पूजन इनके विवाहमें होगा ही); पर वे शंभु-शुक्र संभूत नहीं हैं। [☞ इस कथनसे मत्स्यपुराण, शिवपुराण और कुमारसंभव तीनोंके मतोंका पोषण हो जाता है। यदि यह वर माँगा हो कि शंभु-शुक्र संभूत सुतसे मरूँ तो यह भी बात आ गई और यदि यहीवर माँगा हो कि सात दिनके बालकसे मरूँ तो भी इसमें आगया कि ऐसा तेजस्वी पुत्र शंकरजीके ही तेजसे संभव है, अन्यसे नहीं। अतः उनका विवाह कराना आवश्यक है। सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं सि 'शिवजी ऊर्द्ध्वरेता हैं। इस कारण उनके वीर्यका पतन होना ही दुस्तर है। तो भी जैसे हो उनके ही वीर्यसे पुत्र उत्पन्न होना चाहिए। ऊर्द्ध्वरेताका वीर्य परवश परस्त्रीकी कलासे पात नहीं होता। इसलिये विवाह होनेका उपाय प्रथम होना आवश्यक है।' (मा० त० वि०)। और मयककार लिखते हैं कि 'वीर्य' शब्दका प्रयोग करनेका कारण यह है कि 'शिवजीका वीर्य पार्वती-रतिके मिष पृथ्वीपर गिरा, वहाँसे गंगामें प्राप्त हुआ, गंगासे जाम्बुनदतालमें प्राप्त हुआ। इस प्रकार अग्नि आदिमें वह वीर्य प्राप्त हुआ जिससे षट्मुखकार्त्तिकेयका जन्म हुआ इस कारण वीर्य कहा।' (ङ) यहाँ 'शुक्र' शब्दमें १६६१ की पोथीमें तालव्यी शकारका प्रयोग किया गया है। (च) 'शंभुशुक्र' कहकर जनाया कि शरीर-सम्भूत पुत्रसे काम न चलेगा, नहीं तो शरीरसम्भूत तो वीरभद्रादिक थे ही। (वि० त्रि०)। (छ) कुमार सभवमें इस दोहेसे मिलता हुआ यह श्लोक है—'संयुगे सायुगीन तमुद्यतं प्रसहेत कः। अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहित रेतसः॥ २। ५७॥'

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि—'अजर अमर सो जीति न जाई'। कोई देवता उसे जीत न पाते थे, इसका कारण यह है कि उसका नाम 'तारक' था। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका षडक्षर मन्त्र भी तारक कहलाता है। नामका सम्बन्ध होनेसे न मरता था। यह नामका महत्त्व दिखाया। अतः उसके मारनेका उपाय 'शंभु-शुक्र संभूत सुत' बताया। शंभु=शं+भु=कल्याणकी भूमि। उनके वीर्यसे संभूत अर्थात् सं (कल्याण) ही 'भूत' अर्थात् उत्पन्न होगा। भाव यह कि शिवके भी शिवरूप लोककल्याणहेतु प्रगट होंगे। शिवजी पंचमुख हैं और शिवसुत षट्मुख होंगे। ये शिवकेभी शिव हैं, षट्मुख षडक्षरमन्त्र रूप होकर प्रगट होंगे। भगवान्ने देखा कि यह 'तारक' होकर जीवोंको भवसागरमें डालता है, हमारे जन्मकी निंदा कराता है; अतः षडक्षर ब्रह्म तारकमन्त्ररूप शिवजीके द्वारा प्रगट कराया।

मोर कहा सुनि करहु उपाई। होइहि ईस्वर करिहि सहाई॥ १॥
सतीं जो तजी दच्छ मख देहा। जनमी जाइ हिमाचल गेहा॥ २॥
तेहि तपु कीन्ह संभु पति लागी। सिव समाधि बैठे सबु त्यागी॥ ३॥

अर्थ—मेरी बात सुनकर उपाय करो, कार्य होगा, ईश्वर सहायता करेंगे। १। सतीजी जिन्होंने दक्षके यज्ञमें शरीर छोड़ दिया था उन्होंने जाकर हिमाचलके घर जन्म लिया है। २। शिवजी पति हों इस निमित्त उन्होंने तप किया। (और इधर) शिवजी सब छोड़छाड़ समाधि लगा बैठे। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'मोर कहा सुनि करहु उपाई।०' इति। भाव कि उपाय करो और ईश्वरका भरोसा रक्खो कि वे कार्य सफल करेंगे। ☞ यहाँ पुरुषार्थ और ईश्वरकी सहायता दोनोंको प्रधान रक्खा। इससे जनाया कि जीवके लिये दोनों बातें कर्त्तव्य हैं, उपाय भी और ईश्वरका भरोसा भी। यथा 'तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई। ४। २९।', 'सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिअ दैव जौं होइ सहाई। ५। ५१।'; 'तदपि एक मैं कहौं उपाई। होइ करै जौं दैउ सहाई। ६६। १।' भी देखिये। (ख) 'होइहि ईस्वर करिहि सहाई'—यह एक प्रकारसे ब्रह्माजीका आशीर्वाद हुआ। ऐसा कहा क्योंकि

मनुष्यका कर्ममें अधिकार है, फल तो ईश्वरके हाथ है; यथा—'सुभ अरु असुभ कर्म अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी।' (ग) ['होइहि ईश्वर करिहि...' ये ब्रह्माजीके वचन हैं और 'होइ करै जो दैउ सहाई।' ये हिमाचल प्रति नारदजीके वचन हैं। ब्रह्माजी तारकसुरको वर दे चुके हैं और इधर पार्वतीजीको भी वर दे चुके हैं तथा वे भगवान्के प्रभावके द्वादश प्रधान ज्ञाताओंमेंसे हैं, अतः उन्होंने निश्चय कहा—'होइहि', 'करिहि सहाई'। देवर्षि नारदने 'जौं' संदिग्ध वचन कहा; क्योंकि उन्हें पार्वतीजीका ऐश्वर्य हिमाचलसे अभी गुप्त रखना था और हिमवान्को पार्वतीजीको तप करने भेजनेके लिये उत्साहित करना था।]

२ 'सती जो तजी...' इति। (क) 'सती जो' का भाव कि संसारमें सती बहुतसी हैं, पर हम उन सतीको कहते हैं जो दक्षकी कन्या और शिवजीकी पत्नी थीं जिन्होंने दक्षयज्ञमें अपना शरीर त्याग दिया था। वही पार्वतीरूपसे हिमाचलके यहाँ अवतरी हैं। पुनः, 'जो तजी' से जनाया कि तुम यह सब वृत्तान्त जानते ही हो। एवं उनकोभी जानते ही हो। पुनः, 'सती' कहकर जनाया कि वे पतिव्रता शिरोमणि हैं, वे दूसरेको कभी न व्याहेंगी, यह तुम निश्चय जानो। वे सती हैं इसीसे उन्होंने शिवजीके लिये ही तप किया। (ख) 'जनमी जाइ' इति। ['जाइ' का भाव कि यज्ञ तो हरिद्वार कनखलमें हुआ था। वहीं उन्होंने शरीर छोड़ा था और जन्म लिया हिमाचलके यहाँ। अतः जाकर जन्म लेना कहा। यथा—'तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई। जनमी पारबती तनु पाई। ६५।' वि० त्रि० लिखते हैं कि कालिकापुराणमें लिखा है कि 'उन ऊर्ध्वरेता शम्भुके वीर्यको स्थानसे प्रचलित करनेमें पार्वती ही समर्थ हैं और किसी स्त्रीमें ऐसा सामर्थ्य नहीं है।—'तमूर्ध्वरेतसं शम्भु सैव प्रच्युतरेतसम्। कर्तुं समर्था नान्यास्ति काचिदप्यबलापरा।']

३ 'तेहि तपु कीन्ह संभु पति लागी।...' इति। (क) शंभु पति होनेके लिये तप किया। (भाव कि उन्हींको पतिरूपसे वरण कर चुकी हैं। यथा 'देखहु मुनि अबिबेकु हमारा। चाहिअ सदा सिवहि भरतारा।'—यह स्वयं उन्होंने सप्तर्षियोंसे कहा है। और ब्रह्माजीने तो वर ही दिया है कि 'अब मिलिहहि त्रिपुरारि', 'अस तपु काहु न कीन्ह भवानी'; वे जानते ही हैं। (ख) 'सिव समाधि बैठे...' इति। भाव कि विवाहके लिये कन्या तो मौजूद ही है, पर विवाहकी कोई युक्ति बैठती नहीं कि कैसे हो। तात्पर्य कि शिवजी पार्वतीजीको अंगीकार नहीं करते। यही बात आगे स्पष्ट कही है, यथा 'पारबती तपु कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अंगीकारा। ८६।' इसीसे समाधि लगाकर बैठ गए हैं। [(ग) पूर्व कहा था कि 'लगे करन रघुनायक ध्याना। ८२। ४।' अब ब्रह्माजीके वचनोंसे जान पड़ा कि ध्यानमें समाधि लग गई।] (घ) 'सब त्यागी' अर्थात् सब संग, सबका ममत्व इत्यादि त्यागकर। यथा 'भजहु नाथ ममता सब त्यागी। ६।७।' (मंदोदरीवाक्य), 'एहि विधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाँड़ि सब संगा। ३।८।'

जदपि अहै असमंजस भारी। तदपि बात एक सुनहु हमारी॥ ४॥
पठवहु कामु जाइ सिव पाहीं। करै छोभु संकर मन माहीं॥ ५॥
तब हम जाइ सिवहि सिर नाई। करवाउब बिबाहु बरिआई॥ ६॥

अर्थ—यद्यपि है तो बड़ा ही असमंजस (दुविधा, संदेह, शक) तथापि हमारी एक बात सुनो।४। जाकर कामदेवको शिवजीके पास भेजो। वह जाकर शंकरजीके मनमें क्षोभ (चंचलता, विचलता, खलबली) उत्पन्न करे। (जिससे समाधिसे मन विचलित हो, समाधि टूट जाय)।५। तब हम जाकर शिवजीके चरणोंमें माथा नवाकर जबरदस्ती व्याह करवा देंगे।६।

टिप्पणी—१ (क) 'अहै असमंजस भारी' इति। भाव कि प्रथम तो यही असमंजस है कि न जाने समाधि कब छूटे। दूसरे यदि प्रयत्न भी किया जाय तब भी उसका एक तो छुड़ाना ही दुस्तर है और कदाचित् प्रयत्नसे छूट भी जाय तो छुड़ानेवालेकी खैरियत नहीं, वह बच नहीं सकता। तीसरे, समाधि छूटनेपर भी विवाह करना कठिन है। (ख) 'पठवहु काम जाइ...' इति। 'समाधि छुड़ानेका यह उपाय

बताया। ['जाइ' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लगेगा। जाकर भेजो और वह 'जाइ शिव पाहीं'। अथवा अन्वय यों करें—'जाइ, पठवहु काम शिव पाहीं' जाकर कामदेवको शिवजीके पास भेजो। इससे जनाया कि कामदेवका आवाहन ब्रह्माजीके सामने नहीं हुआ। अन्यत्र हुआ। ब्रह्माजीसे सलाह लेकर देवता ब्रह्मलोक वा सुमेरुपरसे (जहाँ ब्रह्माजीकी कचहरी है) लौट गए। यही बात 'सुरन्ह कही निज बिपति ।८३।' से भी पाई जाती है। कुमारसम्भव भी ऐसा ही है, यथा 'इति व्याहृत्यविबुधान् विश्वयोनिस्तिरोदधे। मनस्याहितकर्त्तव्यास्तेऽपि देवा दिवं ययुः। २। ६२। तत्र निश्चित्य कन्दर्पमगमत् पाकशासनः। मनसा कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा ॥ ६३ ॥' अर्थात् ब्रह्माजी देवताओंसे इस प्रकार कहकर अन्तर्धान हो गये सब देवता मनसे अपने कर्त्तव्यका निश्चय करके स्वर्गको गये और वहाँ झटपट कामदेवका स्मरण किया। यदि 'जाइ' को 'शिवपाहीं' के ही साथ समझें तो यह भी भाव हो सकता है कि देवता सब वहीं बने रहे और वहीं उन्होंने कामदेवका आवाहन किया और जबतक 'समाधि' नहीं छूटी तबतक देवता वहीं रहे। मा० (४) भी देखिए। (ग) 'करै छोभु संकर मन माहीं' इति। शंकरजीका मन इस समय समाधिमें स्थिर है अतः मनमें क्षोभ करनेको कहा। क्षुभ संचलने। मन चंचल होनेसे समाधि छूट जायगी क्योंकि समाधि निर्विकार चित्तैकसाध्य है। 'मन माहीं' कहनेका भाव कि कामदेवका स्थान मन ही है, इसीसे उसके मनसिज, मनोज आदि नाम हैं। अतः यह शंकरजीके मनतक पहुँच सकता है दूसरेकी पहुँच वहाँ नहीं हो सकती। पुनः, मनमें क्षोभ करनेको कहा, क्योंकि महात्मा पुरुष निष्कम्प—अविचल होते हैं। उनके मनको वश करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। मन ही इन्द्रियोंके समुदायका रूप है। मनको क्षुब्ध करनेपर ही महात्माओंपर विजय हो सकती है। अतः समझाया कि कामको भेजो कि वह अन्तःकरणमें प्रवेश करके इन्द्रियसमुदायका व्याप्तकर रमणीय साधनों द्वारा कार्य सिद्ध करे]।

२ 'तब हम जाइ०' इति। (क) देवताओंने ब्रह्माजीसे पुकार की, अतः उन्होंने उपाय बताया कि इस तरह जाकर समाधि छुटानेका प्रयत्न करो। फिर आगे विवाह करानेका काम स्वयं [करनेको कहा—यह सहायता उन्होंने अपनी ओरसे देनेको कही। 'सिर नाई' का भाव कि जब किसीसे कोई काम जबरदस्ती कराना होता है तब उसका यही उपाय है। बड़प्पन छोड़ शिर चरणोंपर रख देनेसे देवता प्रसन्न हो जाते हैं। ऐंठसे बरिआई नहीं चलती। भाव कि उनको प्रणाम करेंगे और काम निकाल लेंगे। 'वे सप्तर्षिसे हिमाचलको कहला चुके हैं तब विवाह कैसे न करेंगे?' यह बरियाईका भाव है।

एहि बिधि भलेहि* देवहित होई। मत अति नीक कहै सबु कोई ॥ ७ ॥
प्रस्तुति† सुरन्ह कीन्हि अति‡ हेतू। प्रगटेउ बिषम बान झखकेतू§ ॥ ८ ॥

* भले—१७०४। † अस्तुति—१७०४, १७२१, १७६२, छ०। प्रस्तुति—१६६१। 'प्रस्तुति' पाठ १६६१ की पोथीका है। सम्भवतः इसको लेखप्रमाद समझकर या इसका अर्थ न समझकर लोगोंने 'अस्तुति' पाठ कर दिया है। यह संस्कृतभाषाका शब्द है। इसमें 'स्मरण, आवाहन और प्रकर्ष करके स्तुति एवं अत्यन्त प्रशंसा' के भाव एक साथ चित्तमें आ जाते हैं। सबसे प्राचीन पाठ होनेके अतिरिक्त भावपूर्ण होनेसे यही पाठ उत्तम लगता है।

‡ अस हेतू—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। अति हेतू—१६६१, १७०४। 'हेतू' का अर्थ प्रायः 'कारण' ही होता है। सम्भव है कि वह अर्थ ठीक न बैठनेसे 'अति' के स्थानपर 'अस' पाठ कर दिया गया। 'अस हेतू' का अर्थ 'इस हेतुसे, इस अभिप्रायसे, इस कारणसे' करना होगा। पर टीकाकारोंने—'हेतु ऐसा है कि (जिसकी स्तुति नहीं की) उसकी स्तुति कर रहे हैं।' यह अर्थ किया है।

§ बान झखकेतू—१६६१, १७२१, १७६२ छ०, को० राम। बारिचर केतू—१७०४। (परन्तु रा० प्र० में 'बान झखकेतू' ही है।

शब्दार्थ—प्रस्तुति (सं०)=प्रकर्षेण स्तुति=अत्यंत स्तुति; प्रशंसा। हेतु=प्रेम, अनुराग; यथा—'पति हिय हेतु अधिक अनुमानी। बिहँसि उमा बोलीं प्रिय बानी। १ १०७।' 'मकर'=मछली। मकर केतू= जिसकी ध्वजापर मछली का चिह्न है—८४ (६) 'कोपेउ जबहि बारिचरकेतू' देखिये।

अर्थ—इस तरह भलेही देवताओंका हित होगा (अन्य उपाय नहीं है)। (यह सुनकर) सब कोई बोल उठे कि सलाह बहुतही अच्छी है। ७। देवताओंने अत्यंत अनुरागसे कामदेवकी भारी स्तुति की (तब) पचबाणधारी मकरध्वज कामदेव प्रकट हुआ। ८।

टिप्पणी—१ 'एहि बिधि भलेहि देवहित होई।...' इति। (क) 'भलेहि'=भलेही।=भली भाँति। यहाँ ये दोनों अर्थ घटित होते हैं। इस अर्धालीका अर्थ कोई ऐसाभी करते हैं—'सबकोई कहने लगे कि यह मत बहुत अच्छा है, इस प्रकार देवताओंका पूरा हित होगा।' (ख) 'देवहित होई' इति। क्या हित होगा ? मुख्य हित तारकवध है यथा 'सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुजनिधन तब होइ।' तारकवधसे देवगण फिर स्ववश बसेंगे। [पुन: भाव कि समाधिभंगके अन्य उपाय भी हैं, पर उनके करनेसे समाधिभग होनेपर शिवजी कारणकी खोज करेंगे, देवताओंपर विपत्ति बिना आये न रहेगी। अतः उनसे भली प्रकार हित न होगा। और कामकी उत्पत्तिही मन क्षोभके लिये है, अतः उसके समाधिभङ्ग करनेपर कारणकी खोज न होगी। वि० त्रि०।] (ग) 'मत अति नीक कहै सब कोई' इति। जो मत सबके मनको भाता है, उससे अवश्य कार्य सिद्ध होता है, यथा 'नीक मंत्र सबके मन भावा।' तात्पर्य कि सब सहमत हुए।

२ 'प्रस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू।...' इति। (क) कामदेवके आविर्भावके लिये अत्यन्त स्नेहसे भारी स्तुति की। हेतु=प्रेम; यथा 'हरषे हेतु हेरि हर ही को। १।११६।', 'चले संग हिमवंत तब पहुँचावन अति हेतु। १०२।' (ख) 'प्रगटेउ' कहा क्योंकि काम तो सर्वत्र व्यापक है, मनमें ही उसका निवास रहता है, अतः स्तुति करनेपर वहीं प्रकट होगया। [देवगण आर्त थे, इसलिये उन्होंने प्रकर्षरूपसे स्तुति की, नहीं तो कामदेव बुलवा लिये जाते। यथा 'कामहि बोलि कीन्ह सनमाना। १२४।५।' (वि० त्रि०)] (ग) 'विषम बान' इति। [विषम=पाँच।=तीक्ष्ण।=मनमें विषमता अर्थात् विकार उत्पन्न करनेवाले।=कठिन जिससे कोई उबर (बच) न सके] कामदेवके बाणोंकी विषमता शिवजी भी न सह सके, यथा 'छाँड़े विषम बिसिख उर लागे। छुटि समाधि संभु तब जागे। ८७।' अतः बाणोंको 'विषम' विशेषण दिया।

नोट—१ ☞ कामदेव पचबाणधारी कहा जाता है। वे पंच बाण क्या हैं—इसमें कई मत हैं। (क) पं० रामवल्लभाशरणजी प्रमाणका एक श्लोक यह बताते थे जो अमरकोशकी टीकामेंभी है—'उन्मादस्तापनश्चैव शोषणस्तम्भनस्तथा। संमोहनश्च कामस्य बाणाः पंच प्रकीर्तिताः॥' बाबा हरिहरप्रसादजी तथा मु० रोशनलालजी इसीको भाषामें यों लिखते हैं—'वशीकरन मोहन कहत आकर्षण कवि लोग। उचाटन मारन समुझु पंच बाण ये योग॥' श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'आकर्षण, उच्चाटन, मारण और वशीकरण ये चारों कामदेवके धनुष हैं। कुपन धनुष है और मोहन, स्तंभन, सोषण, दहन तथा मदन—ये पाँच बाण हैं पर सुमनरूप हैं।' (ख) ये पाँच फूल कौन हैं ? पंजाबीजी, पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी तथा अमरकोशटीकाके अनुसार वे पाँच पुष्प ये हैं—'अरविन्दमशोकञ्च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पंचबाणस्य सायकाः॥' मु० रोशनलाल एवं बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'करना केतिक केवड़ा कदम आमके बौर। ए पाँचो शर कामके केशवदास न और॥' पंजाबीजी 'लालकमल, अशोकपुष्प, आमका बौर, चमेली और इन्दीवर' नाम लिखते हैं। श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि केवड़ा उचाटन, केतकी आकर्षण, कमल मोहन, गुलाब वशीकरण, करबीर (कनेर) मारण, ये पंच पुष्पबाण हैं। ☞ यहाँतक अनेक महात्माओंकी सम्मति लगभग एकसी है। पर किसी किसीके मतानुसार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विकारही पंचबाण हैं। पर इस मतका कोई प्रमाण हमको नहीं मिला।

२ ☞ पंचबाण धारण करनेका भाव यह कहा जाता है कि 'यह शरीर पंचतत्त्वों पृथ्वी, जल

पावक, वायु और आकाशसेही बना है। इस कारण एक एक तत्त्वको भेदन करनेके लिये एक एक बाण धारण किया है। कामदेवके बाण प्रायः पुष्पोंके ही माने गये हैं और श्रीमद्गोस्वामीजीकाभी यही मत है। यथा 'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे। २.२५।' धनुष और बाण दोनों फूलके हैं; यथा 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥ १।२५७।', 'अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई॥८४।३।'

☞ विषम बाण और मकरकेतु ये दोनों वशीकरण और विजयके आयुध साथ दिखाकर जनाया कि विजय प्राप्त होगी। मीन वशीकरणका चिह्न माना जाता है।

दोहा—सुरन्ह कही निज बिपति सब पुनि मन कीन्ह बिचार।
संभु बिरोध न कुसल मोहि बिहसि कहेउ अस मार॥८३॥

अर्थ—देवताओंने अपनी सारी विपत्ति उससे कह सुनाई। कामदेवने सुनकर मनमें विचार किया। (फिर) हँसकर उनसे यों कहा कि शिवजीके वैरसे मेरी कुशल नहीं। ८३।

टिप्पणी—१ (क) 'मन कीन्ह बिचार' कहकर जनाया कि 'संभु बिरोध न कुसल मोहि' यह उसने मनमें विचार किया और फिर यही बात स्पष्ट कहभी दी। (ख) 'संभु बिरोध न कुसल' इति। भाव कि वे शम्भु हैं, कल्याणकी उत्पत्ति करनेवाले हैं, कल्याणकर्त्ता हैं, जब कल्याणकर्त्तासे ही विरोध किया जायगा तब कल्याण कैसे हो सकता है? कुशल और कल्याण पर्याय हैं।

नोट—१ 'बिहसि कहेउ अस मार' इति। यहाँ हँसनेमें व्यजनामूलक गूढ़ व्यंग्य है कि ये सब ऐसे स्वार्थपरायण हैं कि अपना हित साधन केलिये दूसरेको आगमें झोंकते हैं; इन्हें अपना काम बननेसे प्रयोजन है चाहे दूसरेका उससे नाशही क्यों न हो। यथा 'कपट कुचालि सींवँ सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥ २. ३०२।' महानुभावोंने हँसनेके अनेक भाव लिखे हैं—(१) मेरे पराक्रमको देवतालोग अच्छी तरह जानते हैं कि मैं ईश्वरके मनमेंभी क्षोभ उत्पन्न कर देनेवाला हूँ। इसीसे ये मुझे ऐसे वीरके सामने भेजते हैं। अर्थात् अपनी शूरताके गर्वसे हँसा। (पं०, रा० प्र०)। (२) 'ये विबुध (विशेष बुद्धिमान) कहलाते हैं पर इनकी बुद्धिमें यह नहीं आता कि शिवजी तो 'अमन' (जिनके मन है ही नहीं) हैं। जब मन ही नहीं है तब हमारा यहाँ गुजर कहाँ? क्योंकि हम तो मनजात वा मनसिज ही हैं, मनहीमें प्रभावभी डालते हैं।' (रा० प्र०)। (३) 'ये सुमेरुको सेरसे मिलाया चाहते हैं। कहाँ तो सुमेरुवत् शिवजी और कहाँ सेरसमान मैं; हमारा उनका जोड़ कहाँ?' (रा० प्र०)। (४) कामदेव सोचता है कि 'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥ २ २५।'—यह मेरा प्रभाव है, ऐसा मैं हूँ। मैं अपने सामने अबतक किसीको कुछ न समझता था, पर इन्होंने आज मुझे शंकर ऐसे वीरसे भिड़ाया कि जहाँ जाकर फिर कुशल नहीं। पर क्या हानि है? क्या हर्ज? वीरका कामही समरमें सम्मुख लड़कर मरना है, यही वीरकी शोभा है; यथा 'सन्मुख मरन बीर कै सोभा। तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा॥ ६ ४१।' (पं०, रा० प्र०)। (५) देवता यह नहीं सोचते कि मेरी मृत्यु हो जायगी तो उनकोभी तो भोगका सुख न मिलेगा। (पं०)।—(मेरी समझमें हँसनेका कारण गर्व नहीं हो सकता, क्योंकि आगे वह स्वयं कह रहा है कि 'श्रुति कह परम धरम उपकारा।' इससे विरोध होगा)। (६) यह मोहदलका प्रथम वीर है, अतः मृत्युपर हँसा—'शूराणां मरणं तृणम्।' (वि. त्रि.)।

नोट—२ कहेउ अस मार' इति। 'मार' का भाव कि अभीतक तो मैं सबका मारनेवाला कहलाता था, परन्तु अब मेरीही मृत्यु जान पड़ती है। 'मार'=कामदेव। 'मार' का एक अर्थ कोशमें 'जिसपर मार पड़ती है' यहभी दिया है। इस प्रकार एक भाव यहभी निकल सकता है कि 'जिसपर मार पड़नेको है, जिसका नाश होनेको है वह कामदेव बोला।' कुशल नहीं है, इसीसे 'मार' नाम दिया। पुनः, 'राम' का

उलटा 'मार' है। भगवान् शंकरके हृदयमें 'राम' विराजमान हैं; यथा 'लगे करन रघुनायक ध्याना।' वह इस ध्यानको उलटने जा रहा है; अतः 'मार' नाम दिया गया। 'राम' की जगह 'मार' होनेपर खैरियत नहीं, माराही जायगा। 'मार' यह नाम आगे फिर ऐसाही विचार उठनेपर महाकविजीने दिया है; यथा 'चलत मार अस हृदय बिचारा। शिव बिरोध ध्रुव मरनु हमारा।' अतः 'मार' शब्दके प्रयोगका यह भाव सुसंगतभी है। 'अस'—अर्थात् 'संभु बिरोध न कुसल मोहि। तदपि करब मैं काज तुम्हारा।' 'इत्यादि।

तदपि करब मैं काजु तुह्मारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा॥ १॥
परहित लागि तजै जो* देही। सतत संत प्रसंसहिं तेही॥ २॥

अर्थ—तो भी मैं तुम्हारा काम करूँगा। श्रुति (वेद) कहती है कि परोपकार परम धर्म है। १। दूसरेके हितके लिये जो शरीर त्याग देता है, संत उसकी सदा बड़ाई करते हैं। २।

टिप्पणी—१ 'तदपि करब मैं काजु तुम्हारा।....' इति। (क) 'तदपि' का भाव कि अपनी मृत्युकी किंचित् परवा (चिंता) न करके आप लोगोंका काम करूँगा। ☞ यह कामकी सत्पुरुषता दिखाते हैं। (ख) 'श्रुति कह परम धरम उपकारा' इति। [उपकार परम धर्म है, यथा 'पर हित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई। निर्नय सकल पुरान बेद कर। ७। ४१।', 'अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥' अर्थात् व्यासजीके अठारहों पुराणोंका सारांश ये दो वचन हैं—परोपकारही पुण्य है और परपीड़ा ही पाप है। भर्तृहरिजीने भी कहा है—'एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये। सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुष राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये। ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥' (नीतिशतक ७४)। अर्थात् वे ही लोग सत्पुरुष हैं जो अपना स्वार्थ त्यागकर निःस्वार्थ भावसे दूसरोंके कार्यका सम्पादन करते हैं। जो अपना स्वार्थ रखते हुए भी दूसरोंके कार्यमें उद्यम करते हैं वे सामान्य मनुष्य हैं। और जो अपने स्वार्थके लिये दूसरोंको हानि पहुँचाते हैं, कष्ट देते हैं, दूसरोंका काम बिगाड़ते हैं, वे मनुष्यरूपमें राक्षसही हैं। परन्तु हमारी समझमें नहीं आता कि वे कौन हैं, उनको किस नामसे पुकारा जाय कि जो बिना प्रयोजन ही दूसरोंके हितकी हानि करते हैं। ☞ सब देवताओंका तो हित होगा, एक हमारी मृत्यु हो जायगी तो हो जायगी। यही उपकार 'सत्पुरुषता' है। 'श्रुति कह परम धरम उपकारा' इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट है कि इस परोपकारके विचारसे ही वह इस कार्यमें तत्पर हो रहा है। उपकारको परम धर्म कहकर जनाया कि आत्मरक्षा धर्म है।]

टिप्पणी—२ 'पर हित लागि तजै जो देही। ' इति। (क) कहनेका आशय यह है कि अभी तक तो वीरोंमें मेरी गिनती रही, वीरोंमें ही प्रशंसा होती रही और अब परोपकारियोंमें प्रशंसा होगी। (ख) 'सतत संत प्रसंसहिं तेही' इति। यहाँ संतका प्रशंसा करना कहा। शुकदेवजी, विप्र, सुकवि और बुध आदिका प्रशंसा करना न लिखा, यह क्यों? इसका कारण यह है कि मन, वचन और कर्मसे परोपकार करना सन्तोंका ही स्वभाव है; यथा 'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥ संत सहहिं दुख पर हित लागी। ७। १२१।' इसीसे ये सदा प्रशंसा भी करते हैं। सुकवि कुछ असत्य भी जोड़ गाँठ लिया करते हैं। कामदेवको एक बड़प्पन तो यही मिल गया कि उसकी गणना चार पदार्थों (पुरुषार्थों) में होने लगी। यथा 'गुरु संगति गुरु होइ सो लघु संगति लघु नाम। चारि पदारथ में गने नरकद्वारहू काम। दोहावली ३५६।' (रा० प्र०)। अथवा भाव कि आजतक मेरी गिनती षड्रिपुमें रही, सन्त मेरी निन्दा करते रहे, अब परोपकारके लिये शरीर छोड़नेसे सन्तसमाजमें मेरी प्रशंसा सदा होगी। (वि० त्रि०)। (ग) सन्त मन कर्म वचनसे परोपकार करते हैं। उनका प्रशंसा करना कहा है, अतः

* जे—१७०४, १७२१, १७६२, छ०। जो—१६६१, को० रा०।

कामदेवकी परोपकारमें मनकर्मवचनसे तत्परता भी यहाँ दिखाई है। यथा—'सुनि मन कीन्ह बिचार', मनसे विचार किया कि मरण होगा पर यह उपकारका काम है, अतएव कर्त्तव्य है; 'तदपि करब' यह मनसे तत्पर दिखाया। 'तदपि करब मैं काजु तुम्हारा। अस कहि ॥' यह वचनसे परोपकारमें तत्पर जनाया। और 'चलेउ सबहि सिरु नाई' इत्यादि कर्मकी तत्परता है। [(१) सरस्वतीजीको जब देवताओंने रामवनवास करानेके लिये संकोचमें डाला तब उसने भी कुछ ऐसा ही विचारकर हर्षपूर्वक देवताओंका काम करनेको दशरथपुर प्रस्थान किया था। यथा 'आगिल काजु बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी॥ हरषि हृदय दसरथपुर आई। २। १२।' (२) यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। पहले साधारण सिद्धान्त कहा कि 'श्रुति कह परम धरम उपकारा', फिर विशेष सिद्धान्तसे उसका समर्थन किया कि सन्त सदा परोपकारमें प्राण समर्पण कर देनेवालोंकी प्रशंसा करते हैं। (३) मानसमें इस वाक्यका उदाहरण मिल जाता है। श्रीरामजीने गीधराजकी प्रशंसा की है, यथा 'जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई। परहित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥ ३। ३१।'; श्रीरामजी सन्त हैं, यथा 'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू। २। ३२।']

अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित* सहाई ॥ ३ ॥

चलत मार अस हृदय बिचारा। शिव-बिरोध ध्रुव मरन हमारा ॥ ४ ॥

अर्थ—ऐसा कह सबको सिर नवा, हाथोंमें पुष्प धनुष (बाण और ध्वजा) लिये हुए सहायकों सहित वह चला। ३। चलते समय कामदेवने हृदयमें ऐसा विचार किया कि शिवजीसे वैर करनेसे हमारा मरण निश्चय है। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'अस कहि' उपसंहार है। 'संभु बिरोध न कुसल मोहि बिहसि कहेउ अस मार।' इसका उपक्रम है। यहाँतक कामके वचन लिखे गए। [(ख) 'सिरु नाई' इति। ☞ विदा होते समय बड़ों और बराबरवालोंको प्रणाम करना शिष्टाचार है और यहाँ तो इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि समस्त देवगणोंका ही समाज एकत्र है, उसपर भी इन्द्र देवताओंके राजा ही हैं। इसलिये प्रणाम उचित ही है। पुनः बड़ोंको प्रणाम करके चलनेसे उनका हार्दिक आशीर्वाद साथ रहता है, जिससे कार्यमें सफलता होती है। यथा 'अस कहि नाइ सबन्ह कहुँ माथा। चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा ॥' (हनुमान्‌जी। ५। ४।), 'अंगद चलेउ सबहि सिरु नाई। ६। १८।', 'रघुपति चरन नाइ सिर चलेउ तुरत अनंत। ६। ७४।' ☞ स्मरण रहे कि ग्रन्थमें महाकविने बराबर दिखाया है कि जहाँ प्रणाम नहीं किया गया है वहाँ प्रायः कार्यकी सिद्धि नहीं हुई है, यथा 'सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हियँ जलचरकेतू। १। १२५।' (कामदेव नारदकी समाधि न छुड़ा सका), 'आयसु मागि राम पहिं अंगदादि कपि साथ। लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ। ६। ५१।' (लक्ष्मणजी शक्तिसे मूर्च्छित हुए)। इत्यादि। कुछ महानुभावोंने 'सिरु नाइ' के ये भाव लिखे हैं—(१) कामदेवने अनुमानसे निश्चय किया है कि 'शिव बिरोध ध्रुव मरन हमारा', इसलिये उसने सोचा कि इस तनसे यह अंतिम दंडवत् तो कर लूँ, फिर शरीर रहे न रहे। (पं०)। (२) 'सबहि सिरु नाइ' अर्थात् सबोंने सिर नीचा कर लिया, इस विचारसे कि हमारा यह ऐसा सच्चा सेवक सहायक कहीं मारा न जाय। अथवा, सबका सिर नवा दिया। इत्यादि। परन्तु ये भावार्थ संगत प्रतीत नहीं होते।] (ख) सुमन धनुष कर सहित सहाई' इति। ☞ ये कामदेवके आयुध और बल वा सेना हैं। वन, ऋतुराज वसन्त, भ्रमर, कोकिलादि पक्षी, इत्यादि कामके सहायक सैन्य और सुभट हैं, यथा 'बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल। सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल॥ देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात। डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मनजात। ३।३७। बिटप बिसाल लता

* सन—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सहित—१६६१, १७०४, को० रा०।

श्ररुमानी। विविध वितान दिए जनु तानी ॥ कदलि ताल बर धुजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका ॥ विविध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना ॥ कहुँ कहुँ सुंदर विटप सुहाए। जनु भट बिलग बिलग होइ छाए ॥ कूजत पिक मानहु गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते ॥ मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी ॥ तीतिर लावक पदचर जूथा। बरनि न जाइ मनोज बरूथा ॥ रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुनगन बरना। मधुकर मुखर भेरि सहनाई। त्रिविध बयारि बसीठी आई ॥ चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हे। विचरत सबहि चुनौती दीन्हें ॥ लछिमन! देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका ॥ एहि के एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी ॥ ३। ३८।" (ग)

☞ 'सुमन धनुष कर' इति। [कामका धनुष फूलोंका बना हुआ है, उसका नाम उन्मादन प्रसिद्ध है, जो स्त्रीकी भौंहोंके तुल्य चलनेवाला है। यथा—'ततः कामोपि कोदण्डमादाय कुसुमोद्भवम्। उन्मादनेति विख्यातं कान्ताभ्रूतुल्यचलितम्। का० पु०।' (वि० त्रि०)] यहाँ लोग शंका करते हैं कि 'यहाँ धनुषका हाथमें लेना कहा, परन्तु बाणका नाम नहीं लिया, यह क्यों? विना बाणके धनुष व्यर्थ ही है।' समाधान यह है कि जब कामदेव प्रकट हुआ तब उसके साथ ध्वजा और बाणका वर्णन कर चुके थे; यथा 'प्रगटेउ विषम बान झख-केतू।' अब चलते समय 'सुमन धनुष' भी साथ होना कह दिया। दोनों जगह दोनोंको समझना चाहिए। इस प्रकार दोनों जगह मिलाकर कामदेवका पूरा स्वरूप कहा गया। ☞ यह श्रीमद्गोस्वामीजीकी शैली है। कि जब कोई बात दो या अधिक जगह लिखनी होती है तब वे प्रायः उसका कुछ अंश एक जगह लिख देते हैं और कुछ दूसरी जगह। अर्थ लगाते समय दोनोंको सर्वत्र समझ लेना होता है। इसी तरह यहाँ अर्थ लगानेमें ध्वजा, धनुष, और सरको दोनों ठौर लेलेना चाहिए। [दूसरे, 'सुमन धनुष'=सुमन (विषम बाण) और सुमनधनुष। पुष्पही उसके बाण हैं, अतः 'सुमन' से उसेभी कह दिया। इस तरह भी समाधान कर सकते हैं। धनुष बाण दोनों साथ हैं यह आगे स्पष्ट कहा है; यथा 'छुड़ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनु सरु धरा। ८४।']

टिप्पणी २ 'चलत मार अस हृदय विचारा। ' इति। (क) मरण निश्चय है, अतः 'मार' नाम दिया। दोहा ८३ भी देखिए। (ख) शिव-विरोधसे मरण निश्चय किया। 'शिव' से वैर करना कल्याणसे वैर करना है; अतः अकल्याण छोड़ और क्या हो सकता है? पुनः, "शिवविरोधसे मरणका निश्चय इससे किया कि शिवजी परम भागवत हैं; यथा 'संत द्रोह जिमि कर कुल नासा।' अम्बरीष दुर्वासाकी कथा प्रसिद्ध ही है।—'साधुसन्तसंतापात्किमाश्चर्यं कुलक्षयः।', साधुसंतोंके संतापसे कुलका क्षय होता है, इसमें आश्चर्यही क्या ?' (प०)। [कामदेवको ब्रह्माका शाप था कि तू शम्भुकी नेत्राग्निसे निःसंशय जल जायगा, उस शापका स्मरण कर उसने मनसे 'ध्रुव मरन हमारा' ऐसा विचार किया। यथा, 'प्रातकालश्च सस्मार शापं ब्रह्मकृतं पुरा। शम्भुनेत्राग्निदग्धस्त्वं भविष्यसि न संशयः। का. पु।' (वि० त्रि०)] यहाँ 'अनुमान प्रमाण' अलंकार है। (ग) यहाँ 'ध्रुव' शब्द बीचमें होनेसे उसके हृदयका निश्चयभी बताता है। 'शिव-विरोध ध्रुव' अर्थात् परोपकारार्थ विरोध करना आवश्यक है, अतएव वह तो निश्चयही करूँगा। और, 'ध्रुव मरन हमारा' यह उसका फलभी निश्चयही है। ये दोनो विचार उठे। (घ) ऊपर उसने अपने लिए एक वचन 'मैं' का ही प्रयोग किया था; यथा 'संभुविरोध न कुसल मोहि विहसि कहेउ अस मार', 'तदपि करब मैं काजु तुम्हारा।' पर यहाँ उसने 'शिवविरोध ध्रुव मरन हमारा' कहा। 'हमारा' बहुवचन पद देकर जनाया कि मेराही मरण नहीं, किन्तु मेरे साथ मेरे सब सहायकोंकाभी मरण है। क्योंकि यह विचार 'अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई' के पश्चात्का है, जब सहायकभी उसके साथ हैं। अथवा, 'शिवविरोध' करनेका दृढ़ संकल्प करनेसे अहंकारसे 'हमारा' कहा। आगे 'तब आपन प्रभाउ बिस्तारा। ' मे गर्व और मद संचारी भाव झलकभी रहे हैं।

तब आपन प्रभाउ बिस्तारा। निज बस कीन्ह सकल संसारा ॥ ५ ॥
कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू। छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू ॥ ६ ॥

अर्थ— तब उसने अपना प्रभाव फैलाया और सारे संसारको अपने वश कर लिया। ५। ज्योंही मीनध्वज कामदेवने कोप किया त्योंही क्षणमात्रमें समस्त वेदमर्यादा मिट गई। ६।

नोट—१ 'तब आपन प्रभाउ बिस्तारा।' इति। (क) तात्पर्य कि आखिर मृत्यु तो होनीही है, मरना तो है ही तो विनाशकालमें भी संसारको अपना प्रभाव दिखाकरही क्यों न मरूँ? कमसे कम लोगोंको यह तो दिखाही दूँ कि मैं कैसा पुरुषार्थी रहा हूँ। (यहाँ गर्व और मद संचारी भाव हैं)। (प० रा० कु०)। (ख) 'निज बस कीन्ह सकल' इति। यहाँ यह शंका होती है कि 'कार्य तो था केवल शंकरजीको विजय करनेका, सारे संसारको इसने क्यों सताया?' इसका समाधानभी लोगोंने अनेक प्रकारसे किया है।—१) एक यह कि उसने यह सोचा-विचारा कि हमारी मृत्यु तो होगी ही, पर लोग यह न समझें कि मेरा प्रभाव कुछ नहीं है, इससे अपना प्रभाव दिखाऊँ कि मैं कैसा वीर हूँ। (पं०, रा० प्र०)। (२) दूसरे यह कि शिवजीको आगे 'दुराधर्ष' कहा है, यथा 'रुद्रहि देखि मदन भय माना। दुराधरष दुर्गम भगवाना।' यदि प्रथम कामका विश्वविजयी होना न दिखाते तो श्रीशंकरजीकी उत्कर्षता न पाई जाती। इसका प्रभाव देख लेनेपर अब लोग शंकरजीकी प्रशंसा करेंगे कि ऐसे विश्वविजयी कामको उन्होंने जला दिया। (वंदनपाठकजी)। (३) तीसरे यह कि काम सबके हृदयमें रहता है। जब उसने शिवजीके विजयके लिये अपना प्रभाव डाला तो जगत् आपसे आप वशमें होगया। (वंदनपाठकजी)। (४) चौथे यह कि शत्रु पर चढ़ाईके समय जो भी सम्मुख पड़ जाता है उस परभी वार हो ही जाता है, यह रीति है। (वंदनपाठकजी)। (५) पाँचवें यह कि 'जब किसीकी मृत्यु निकट होती है तब उसका प्रताप अत्यन्त तप जाता है अतएव कामको विश्वविजयी गाया।' (वंदनपाठकजी)। (६) जब बड़ी वस्तु जलानी होती है तब अग्निभी बड़ी ही प्रकट करनी होती है और अग्नि जितनीही अधिक बड़ी होती है उतनी ही अधिक दूरतक उसका तापभी चारों ओर फैलता है। इसी तरह कामदेवको शिवजीके विजयके लिये अपनी बड़ी भारी पूरी शक्ति लगानी पड़ी और सर्वव्यापक होनेसे सभीपर उसका प्रभाव पड़ गया। ७। विश्वनाथपर प्रहार करनेके पहले विश्वको वश्य करना चाहिए। राजापर वार करनेसे पहिले उसके राज्यपर आक्रमण करना चाहिए। (वि० त्रि०)।

नोट—२ 'कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू।' इति। ☞ यह अर्धाली सूत्ररूप है और इसके आगेकी चौपाई व्याख्यारूप है। बारिचर-जलमें चलनेवाली=मछली, मीन। ध्वजामें मछलीका चिह्न धारण करनेके कारण ये कहे जाते हैं— १) कामका नाम मनसिज है, मनसे ही इसकी उत्पत्ति है। मन चंचल है, कामभी चंचल है और मीनभी चंचल। जो जैसा होता है वैसा ही संगी, साथी, संबंधी ढूँढता है। इसीसे उसने अपनी ध्वजापर मीनका चिह्न धारण किया। (प०)। (२) यहाँ 'बारिचर'—शब्दका प्रयोग खूबी, चोपाई और अभिप्रायसे खाली नहीं। 'बारि' में एक मछलीहीका सच्चा स्नेह है, जलसे उसका वियोग हुआ नहीं कि उसने प्राण दे दिये। यथा 'मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह। तुलसी एकै मीनको है साँचिलो सनेह ॥ दोहावली ३१८।' अन्य जलचर जलके बाहर भी रह जाते हैं, पर मीन एक पलभी जलसे बाहर नहीं रह सकती। जब ध्वजामें मीन है तब वहाँतक जलभी रहना (उसको जीवित रखनेके लिये) परमावश्यक है। अत 'बारिचरकेतू' नाम देकर सूचित करते हैं कि वह कामरूपी जलकी बाढ़को ध्वजातक पहुँचा देगा, तब भला धर्मका पताका क्योंकर रह सकता है? जलकी बाढ़में बाँधों और पुलोंके टूटनेकाभी भय रहता है। यहाँ ध्वजातक जल चढ़ा, इसीसे श्रुतियोंके सेतु (पुल) डूब गए। (प०)। (३) 'बारिचरकेतू' और 'श्रुतिसेतु' कथनका आशय कि मछली जलके तले (भीतर) ही रहती है सो पताकापर चली गई, इतना अधर्म जल चढ़ा, अतः श्रुतियोंकी बाँधी हुई मर्यादा न रह गई तो आश्चर्य ही क्या? पुन,

भाव कि वेदोंकी रक्षाहेतु मत्स्यावतार होता है, इसीसे उसने मत्स्यको ध्वजापर धारणकर श्रुतिसेतुको तोड़ना शुरू किया कि अब कैसे आकर वेदोंका उद्धार करेंगे। पुन. मीन और काम दोनों तमोगुणी हैं और दोनोंकी वृत्ति जलमय होती है। काम द्रवरूप ही है। यथा—'होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि बरिमनि द्रव रबिहि बिलोकी॥ ३। १७।' वैसे ही यह सबकी वृत्तिको काममय कर देता है। (पं० रा० कु०)। दोहा १२५ की छठी अर्धाली 'चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू' भी देखिए। मीन वशीकरणका चिह्न है। ध्वजापर यह चिह्न है। ध्वजापर यह चिह्न कहकर बताते हैं कि यह सारे ब्रह्माण्डको वशमें किये हुए है। यथा 'मीन निंदु रामचन्द्र कीन्ह्यो वशीकरण पाय ताहि ले निकाय जनमन भत हन्यो है।' (भक्तिरसबोधिनीटीका भक्तमाल)।

नोट—३ 'छन महुँ मिटे ' इति। (क) 'छन महुँ' अर्थात् थोड़ीही देरमें, क्योंकि कामका सारा कौतुक केवल चार दण्डतक तो रहा ही था। यथा 'दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर काम कृत कौतुक अयं।' और 'उभय घरी अस कौतुक भएऊ।' (ख) श्रुतिसेतु=वेदोंने जो वर्णाश्रम सदाचार आदि धर्मकी मर्यादा बाँध दी है। इसका वर्णन स्वयं ग्रन्थकार आगेकी चौपाइयोंमें कर रहे हैं। 'श्रुतिसेतु' सूत्ररूप है, आगे इसकी व्याख्या है। ब्रह्मचर्यादि वेदोंके बाँधे हुये पुल हैं। (ग) लड़ाईमें जिन पुलोंसे सहायता मिलती है वे पहले तोड़े जाते हैं। अतः पहला काम उसने यह किया कि श्रुति सेतुको तोड़ डाला। (वि० त्रि०)

ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ग्यान बिग्याना॥ ७॥
सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सबु भागा॥ ८॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य, व्रत और अनेक प्रकारके संयम, धैर्य, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, जप, योग और वैराग्य (यह) विवेककी सारी सेना भयभीत होकर भाग गई। ७, ८।

नोट—१ (क) ब्रह्मचर्य दो प्रकारका होता है। एक आधिदैविक दूसरा आध्यात्मिक। आधिदैविक ब्रह्मचर्यके पालनसे ही आध्यात्मिक ब्रह्मचर्यकी प्राप्ति होती है जो कि मनुष्य शरीरका चरम लक्ष्य है। और इस अधिदैहिक ब्रह्मचर्यकी पूर्ण रक्षा अष्ट प्रकारके भोगोंके त्यागसे ही हो सकती है। ब्रह्मचर्यके बाधक आठ प्रकारके भोग ये हैं—'स्रगन्धं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगस्त्वष्टविधः स्मृतः॥' दूसरा आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य है ब्रह्ममें विचरना। अर्थात् सतत काल ब्रह्म (इष्ट) का चिन्तन करना, 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत', जगत्मात्रमें ब्रह्मव्याप्तिकी भावना करते रहना, संपूर्ण चराचरमात्रको ब्रह्ममय देखना आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य कहा जाता है। आधिदैहिक ब्रह्मचर्य, नानाप्रकारके संयम, नियम, व्रत, दान, धैर्य, धर्म और ज्ञानादि आध्यात्मिक ब्रह्मचर्यके साधन हैं। साधनसे साध्य श्रेष्ठ होता है। इसीसे साध्य 'ब्रह्मचर्य' को यहाँ प्रथम कहकर तब व्रत संयमादि साधन कहे गए। साधनमें विपरीतता होनेसे साध्यमेंभी विपरीतता हो जाती है। यही बात आगे 'विवेककटक' (साधन) के भागने (विपरीत होने) पर कही गई है—'देखहिं चराचर नारिमय ..' (वे० भू०)। पुनः, मनकर्मवचन तीनोंसे मैथुनका त्याग ब्रह्मचर्य-व्रत है। मैथुन (या भोग) आठ प्रकार का होता है; यथा—'कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा। सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं तदुच्यते॥' (वै०, पं०)। 'दर्शनं स्पर्शनं केलि रहस्य गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतद्योगत्व (एतन्मैथुन) मष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥' (पां०। कोष्ठकवाला पाठ भावप्रकाशका है)। पुनश्च 'सर्वत्याग संकल्प रति तन्मय गुप्त विचार। कीर्तन सुमिरन देखिबो मैथुन अष्ट प्रकार।' (वै०)। पुनः, (ख) 'व्रत'—किसी बातके करने वा न करनेका दृढ़ संकल्प। ब्रह्मचर्य व्रत=ब्रह्मचर्यका संकल्प। कामको जीतनेसे ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। इससे कामका मुख्य शत्रु ब्रह्मचर्य है; यथा 'ब्रह्मचरज ब्रत रत मति धीरा। तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा॥ १। १२६।'; इसीसे प्रथम ब्रह्मचर्यको ही जीता, उसीका नाश प्रथम किया—यह जनानेके लिये ही इसीको प्रथम कहा। मुख्य विरोधीको काबूमें कर लेनेसे और सब तो फिर सहजही दब जाते हैं, वशमें हो जाते हैं।

(ग) 'संजम नाना' इति। संयम-इन्द्रियनिग्रह-मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेकी क्रिया। संयम कहीं बारह और कहीं दश प्रकारके कहे गए हैं। दश ये हैं—'१ अहिंसा २ सत्यमस्तेय ३ ४ ब्रह्मचर्यं ५ दयार्जवम् ६। ७ ८ क्षमाधृतिर्मिताहार ९ १० शुचिश्च संयमा दश।' अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता एवं कुटिलताका अभाव, क्षमा, धैर्य, सूक्ष्म भोजन। 'नाना' विशेषण देकर ये सब जना दिये गए। योगमें ध्यान, धारणा और समाधिके साधनको संयम कहा है। (घ) धीरज-धैर्य-कामादिके वेगके वश न होना, यथा 'वेगेनाप्यमानत्वममितं कामक्रोधयोः। गदितं धीमता धैर्यं बले भूपसि तेजसि॥' (वै०)। (ङ)— विज्ञान, योग, वैराग्यके अर्थ पूर्व दोहा ८७ (७, ९, १०) में तथा अन्यत्र भी लिखे गए हैं। 'धर्म' के चार चरण सत्य, तप, दान और विद्या हैं, यथा 'विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च।' (भा० ३।१२। ४१)। कोई कोई विद्याके बदले 'शौच' को एक पाद कहते हैं।—विशेष दोहा ४४ 'धर्म विधि...' में देखिए। 'सदाचार'-अच्छे आचरण, वेद विहित कर्म धर्म, सात्त्विक शिष्ट व्यवहार। 'जप' इति।—यह कई प्रकारका होता है। मनके अभ्यन्तर मन्त्र और मन्त्रके अभ्यन्तर मनको स्थित करना भी 'जप' है, यथा 'मनो मध्ये स्थितो मन्त्र मन्त्रमध्यस्थितं मनः। मनो मन्त्रसंयोगो जप इत्यभिधीयते॥' (वै०)। जपके नाम और भेद हारीतस्मृति में आए हैं, यथा 'जपोनामविधिवद्गुरूपदिष्टं वेदाविरुद्धमन्त्राभ्यासः। तद्विविधं वाचिकं मानसं चेति। मानसं तु मनसाध्यानयुक्तं। वाचिकं द्विविधं, उच्चैरुपांशुभेदेन। उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलं। उपांशु सहस्रगुणं, मानसं कोटिगुणम्॥' (अ० ३।४१ ४४)। विशेष ३७ (१०) में देखिए।

२ 'सभय बिबेक कटकु सब भागा' इति। (क) ब्रह्मचर्य, संयम आदिको अलग अलग कहकर 'सभय ' कहनेका भाव कि यह सब विवेककी सेना है। इनके अतिरिक्त और भी हैं, 'सब' कहनेसे उनका भी ग्रहण हो गया। (ख) यहाँ विवेककी सेनाका भागना कहा, आगे विवेक (अर्थात् राजा) का भी भागना कहते हैं। (ग) ब्रह्मचर्य आदि सबके एक साथ भाग जानेका वर्णन 'सहोक्ति अलंकार' है। इन सबोंको विवेकसैन्यके साथ रूपण देना 'रूपक' है। (वीरकवि)।

छंद—भागेउ बिबेकु सहाय सहित सो सुभट संजुग महि मुरे।
सदग्रंथ पर्बत कंदरन्हि महुँ जाइ तेहि अवसर दुरे॥
होनिहार का करतार को रखवार जग खरभरु परा।
दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनु सरु धरा॥

शब्दार्थ—संजुग-रण संग्राम। यथा 'जीतेहु जे भट संजुग माहीं। सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं॥ ६। ८९।' संजुगमहि-संग्रामभूमि, लड़ाईका मैदान। मुरे=मुड़े, फिरे, पीठ दी। कंदरा=पर्वतकी गुफा। दुरे= छिप गए। रतिनाथ=कामदेव। खरभर-खलबली। करतार (कर्तार)-विधाता।

अर्थ—विवेक सहायकों समेत भागा। उसके उत्तम उत्तम योद्धा संग्रामभूमिमें पीठ दिखा गए (अर्थात् रणमें सम्मुख न ठहर सके)। उस समय वे सब सद्ग्रंथरूपी पर्वतकी कंदराओंमें जा छिपे। संसारभरमें खलबली पड़ (मच) गई। (कहा तहाँ लोग कह रहे हैं) हे विधाता! क्या होनेवाला है? हमारी रक्षा कौन करेगा? दो मस्तक किसके हैं अर्थात् दो सिरोंवाला ऐसा कौन है कि जिसके लिये रतिके पति कामदेवने कोपकर धनुष बाण (वा, धनुषपर बाण) धारण किया है।

नोट—१ 'भागेउ बिबेकु सहाय सहित ' इति। इससे जनाया कि कामका कटक बहुत प्रबल और अपार था, इसीसे विवेकके सुभट रणभूमिमें उनके सम्मुख ठहर न सके, पीठ दिखा गए। विवेकराजा अपनी सेनासहित प्राण लेकर भगा, यथा 'ते सनमुख नहिं करहिं लराई। देखि सबल रिपु जाहिं पराई॥' १।१८१।', 'देखि बिबेक भट बड़ि कटकाई। जन्हु जीव लै गए पराई॥ १।१७९।' इधर विवेकराजा उधर काम-राजा। हृदयही देश वा राजधानी है। देवता असुरोंके भयसे भागकर सुमेरुकी कन्दराओंमें जा छिपते

थे; यथा 'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा। १।१८२।' अर्थात् हारा हुआ राजा जाकर कहीं छिपता है, जहाँ शत्रुका भय न हो। वैसेही यहाँ 'विवेकराजा' अपने मंत्री, सेना आदि सहित मनुष्योंके हृदयोंसे निकल-निकलकर सद्ग्रन्थोंमें जाकर छिप रहे। अर्थात् किसीमें ब्रह्मचर्य, संयम, सदाचार आदि न रह गए और न विवेकही रह गया। कामदेवका पूरा दखल इनके देश (हृदय) पर हो गया। सबके मन ज्ञानादिकी ओरसे हटकर कामकी तावेदारीमें लग गए। यही विवेकादिका भागना है। 'सद्ग्रन्थ' अर्थात् सदाचारके समीचीन ग्रन्थ पर्वत हैं; यथा 'पावन पर्वत वेद पुराना। ७।१२०।' उन ग्रन्थोंमें जो अध्याय, सर्ग, काण्ड, ऋचाएँ, मंत्र और श्लोकोंकी पंक्तियाँ आदि हैं, वेही कन्दराएँ हैं। अथवा, सद्ग्रन्थही पर्वतकन्दराएँ हैं। सद्ग्रन्थरूपी पर्वतकन्दराओंमें जा छिपनेका भाव कि ये सदाचार केवल पोथियोंमें लिखे भर रहगए, ऋषि मुनि, स्त्री पुरुष, देवता-मनुष्य, इत्यादि किसीमें दिखाई नहीं देते। (ख) करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि यहाँ विवेक राजा है, धर्म रथ है; धीरज ध्वजा है, ज्ञान खड्ग, संतोष चर्म, क्षमा बखतर (कवच), वैराग्य मंत्री, विज्ञान मित्र, यम भट, नियम सेनापति, सदाचार सेना, वेदाध्ययन बाजा, सदन कर्म और ब्रह्मचर्य इत्यादि सेवक हैं।' (करु०, वै०)।

२ प्रबोधचन्द्रनाटकमें कामको मंत्री और प्रधान सेनापति और महामोहको राजा कहा गया है। उसकी सेनाका भी वर्णन है। इसी प्रकार विवेकको राजा कहकर उसकी सेनाकाभी वर्णन किया गया है। दोनों प्रतिद्वन्द्वियोंके समाजकी तालिका अयोध्याकांड दोहा २३५ में दीजायगी क्योंकि वहाँ मोहको राजा कहा गया है और विवेककोभी। और, दोनोंकी तालिकाका स्वयं गोस्वामीजीने बहुत सुंदर वर्णन किया है।

३ 'होनिहारका करतार ···' इति। (क) अद्भुत घटनाएँ देखकर मनुष्य इसी भाँति सोचने लगता है। वही खाका यहाँ खींचा है। लोगोंका व्यग्र होना 'खरभर' कहलाता है; यथा 'मुनि आगवनु दसानन केरा। कपिदल खरभर भयउ घनेरा। ६.६६।', 'पुर सोभा खरभरु अधिकाई।' (पं० रा० कु०)। (ख) 'होनिहार का करतार', 'को रखवार' इत्यादि शंका वितर्क संचारी भाव है। वैजनाथजीके मतानुसार 'दुइ माथ केहि···' में प्रौढोक्ति अलंकार है। जहाँ उत्कर्षका हेतु कल्पित किया जाय वहाँ 'प्रौढोक्ति' होती है।

४ 'दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि···' इति। भाव कि एक सिरवाले तो उसके कोपमात्रसे ही वशीभूत होगए, कोई दो सिर वालाही होगा तभी परास्त नहीं हो सका। उसीके लिये कामदेवको धनुषबाण लेना पड़ा है। एक सिरवालोंके सिर तो कटही गए, वे तो वशमें हो चुके। जिसके दो सिर रहे होंगे, उसीका एक सिर अभी बच रहा है, इसीसे उसीका अभिमान तोड़नेके लिये उसे धनुषपर बाण चढ़ाना पड़ा है। मिलान कीजिए—'केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा। २।२६।' बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'यहाँ लोक तो दो ही माथकी शंका कर रहा है, यह नहीं जानता कि जिनके लिये धनुषपर सर चढ़ाया है उनके पाँच मस्तक हैं।'

वि. त्रि.—'धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहिं दहै सुखमंदा।', धर्मरूपी कमलके लिये स्त्री हिम है और वही कामका परम बल है। इस समय जगत् स्त्रीमय दिखाई पड़ रहा है। हिमकी भारी वर्षा हुई। संसार हिममय होगया। अतः धर्म सरसीरुहकी दुर्दशा कहते हैं—'भागेउ विवेक सहाय सहित।' हिमशैलसुता-शिवविवाद प्रकरण हिमऋतु होगया।

बाबा हरीदासजी—यहाँ शंका होती है कि कामकी चढ़ाई तो शिवजीपर है और वे हैं पाँचमाथवाले। उनके लिये तो 'दुइमाथ' कह नहीं सकते क्योंकि तीनकी कमी आयेगी। तब इसका समन्वय कैसे होगा? समाधान—इसमें बात यह है कि त्रिभुवनमें अबतक एकमात्र कामदेवका सिर छत्रधारी रहा है। नीति है कि प्रीति और विरोध बराबरवालेसे करना चाहिए। अब सब कहते हैं कि किस दूसरे वीरका सिर छत्रधारी हो गया है जिसपर कि रतिनाथने क्रोधित होकर धनुषबाण हाथोंमें धारण किया है कि उस दूसरे छत्रको भंग कर दूँ।

दोहा—जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि भए सकल बस काम ॥ ८४ ॥

शब्दार्थ—सजीव=जीव या प्राण युक्त=जीवधारी; प्राणधारी; प्राणी। मरजाद (मर्यादा)=नियम; सीमा; सदाचार, धर्म, रीति, परिपाटी।

'जे सजीव जग अचर चर···'

'सजीव' का भाव यह कि कोई यह न समझे कि अचर सभी जीवरहित हैं। 'अचर' में भी बहुतेरे ऐसे हैं कि जिनमें स्पर्श, गंध, आदि विषयोंकी चेष्टा होती है। वे काम क्रोधादिके वश भी होते हैं, बिना आँखोंके देखते भी हैं। उनमें पुरुषत्व और स्त्रीत्वके चिह्न भी होते हैं। जैसे कि वृक्षों, पौधों और लताओंमें। उनमें भी कोई पुरुष और कोई स्त्री संज्ञा वाले हैं। जो लोग न अपने यहाँके ग्रन्थोंको देखते हैं और न उनमें विश्वास करते हैं वेही जा बेजा शंकाएँ उठा बैठते हैं और अपने यहाँकी परम पवित्र वेदवाणीको भी निरादरकर ईसाई, मुसलमान आदि होकर दीन दुनिया दोनोंसे हाथ धो बैठते हैं। ऐसे ही लोग कहते हैं कि 'वृक्षोंका निहारना कैसे कहा ?, वे तो जड़ हैं।' वे सब कुछ पाश्चात्य साइन्सकी आँखोंसे देखते हैं कि जो साइन्स अभी प्रारम्भिक अवस्थामें है और बदलती रहती है। उन लोगोंको भी यह बता देना जरूरी है कि वर्तमान साइन्ससे बहुतसी अपने प्राचीन ग्रन्थोंकी बातें सत्य सिद्ध हो चुकी हैं। जैसे कि विमान, अग्निबाण, शब्दभेदी बाण आदि। और जड़ पदार्थोंके विषयमें इतना ही कह देना बहुत है कि विज्ञानसे यह निश्चय हो चुका है कि वृक्षोंमें भी जीवत्व है। उनमें क्रोध करने, खाने पीने, मारने, सह न सकने, आदिकी शक्तियाँ भी होती हैं। कोई बीसबाईस वर्ष हुये कि माधुरी एवं और भी पत्रोंमें यह समाचार निकला था कि अफ्रिका या अमरीकामें एक वृक्ष ऐसा है कि जिसके पास यदि कोई मनुष्य या पक्षी आदि जाता है तो उसकी डालियाँ पत्तों सहित उसपर एकदम झुक पड़ती हैं और वह उन पत्तोंमें एकदम बन्द हो जाता है। पत्ते उसे भक्षण कर लेते हैं। लाजवंती (छुई मुई) छूनेसे मुर्झा जाती है। कुम्हड़ेकी बतियाँ तर्जनी देख मुर्झा जाती हैं, यथा 'इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं। १। २७३।' पुनः यह भी सब सुनते ही हैं कि 'खरबूजा खरबूजेको देखकर रंग पकड़ता है।' वृक्षोंके बीजोंमेंभी संयोगके लिङ्ग होते हैं। इनकी नसलें भी लिङ्गोंके संयोगसे पैदा की जाने लगी हैं। अस्तु। सजीवसे जनाया कि जिनमें जीवत्व नहीं है उन्हे छोड़ शेष सब कामवश हो गए, चाहे वह चर हों चाहे अचर।

'ते निज निज मरजाद तजि०' इति। अर्थात् कामवश हो गये। चेतनोंने चेतनता छोड़ दी, जड़ोंने जड़ता छोड़ दी। यहाँ स्त्रीपुरुषोंकी आसक्तता कही। (पं० रा० कु०)। 'निज निज मरजाद तजि'—जिसके लिये जो नियम बँधे हुये हैं उन नियमोंको त्याग कर, यथा 'भये कामबस समय बिसारी'। जड़ोंकी जो मर्यादा बँधी है कि इससे आगे न बढ़ें' वह मर्यादा उन्होंने तोड़ दी। इत्यादि। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'जो न नारि हैं न पुरुष, केवल उनके नामके साथ स्त्रीलिंग और पुल्लिंगके प्रत्यय लगे हुए हैं, वे कामवश नहीं होते, पर आज वे भी कामवश हुए, उनमें भी मानों जीवन आ गया, क्योंकि काम जीवनी शक्ति है।'

☞ यहाँ प्रथम अचरका कामवश होना कहा तब चरका। इसीसे 'अचर' शब्द प्रथम दिया तब चर। अब इसीको क्रमसे आगे विस्तार करते हैं। 'सबके हृदय ···' से 'अचर' का कामवश होना कहा और 'देव दनुज ···' यहाँसे 'चर' के कामवश होनेका विस्तृत उल्लेख है।

'जे' 'ते' वाचकपद देकर दो असम वाक्योंकी समता दिखानेसे 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

सब के हृदय मदन अभिलाषा। लता निहारि नवहिं तरु साखा ॥ १ ॥
नदीं उमगि अंबुधि कहुँ धाई। संगम करहिं तलाव तलाई ॥ २ ॥
जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी। को कहि सकै सचेतन करनी ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अभिलाषा=बड़ी या प्रबल इच्छा। अंबुधि=जलका अधिष्ठान=समुद्र। संगम=मिलाप, संयोग। संगम करना=मिलना जुलना, संयोग करना। सचेतन (सं०)=वह प्राणी जिसमें चेतना हो=चैतन्य। जिनमें ज्ञान है, जो चलते-फिरते हैं। करनी=व्यवस्था, कर्म, दशा।

अर्थ—सबके हृदयमें कामकी प्रबल इच्छा हुई। लताओं (बेलों) को देखकर वृक्षोंकी शाखाएँ (डालियाँ) झुकने लगीं। १। नदियाँ उमड़ उमड़कर समुद्रकी ओर दौड़ीं। ताल तलैयोंसे संगम करने लगे। २। जहाँ जड़ पदार्थोंकी ऐसी दशा वर्णन की गई है वहाँ (भला) चैतन्य जीवोंकी करनी कौन कह सकता है ? (कोई भी तो नहीं कह सकता)। ३।

नोट—१ (क) 'सबके हृदय मदन अभिलाषा' इति। ☞ऊपर दोहेमें 'जे सजीव जग अचर चर' कह आए, अब यहाँ उनमेंसे कुछको गिना रहे हैं। यहाँसे दो अर्धालियोंमें अचेतन (जड़) जीवोंकी दशा दिखाई है। (ख) 'लता निहारि नवहिं तरु साखा' में पुरुषसंज्ञक जड़ोंमें विशेष कामोद्दीपन दिखाया। 'तरु' पुल्लिंग है, वे लता स्त्रियोंको देखकर उनपर आसक्त हो रहे हैं। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'सबके हृदय मदन अभिलाषा' यह 'जे सजीव जग' के विषयमें और 'लता निहारि''तलाई' यह अचर 'नारि पुरुष अस नाम' के संबंधमें कहा गया। लतामें कुच केशादि कोई लक्षण नारिके नहीं है और न वृक्षमें कोई लक्षण पुरुषके हैं, केवल लता शब्द स्त्रीलिंग है और तरु शब्द पुल्लिंग है। इसी भाँति नदी, तलाई आदिमें स्त्रीलिंगका और समुद्र, ताल आदिमें पुल्लिङ्गका व्यवहार है। सो इस व्यवहारके नाते ये मर्यादा त्यागकर एक दूसरेसे मिलना चाहते हैं। 'नवहिं' से जनाया कि लताएँ वृक्षोंके तले अथवा उनके बहुत निकट और उनसे नीची हैं, अतः वृक्ष उनपर संयोगके लिये झुकते हैं। और, 'नदी उमगि अंबुधि कहँ धाई' में स्त्रीवर्गमें विशेष कामासक्ति दिखाई। इस तरह सूचित किया कि स्त्रीपुरुष दोनोंपर कामका प्रभाव बराबर पड़ा। तथा 'संगम करहिं तलाव तलाई' में दोनोंमें कामकी प्रबलता एकसी साथ-साथ दिखाई। [(ख) 'लता निहारि' इति। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'वृक्ष भी देखते हैं यह शास्त्रसिद्ध बात है; यथा 'तस्मात्पश्यन्ति पादपाः'। अथवा, काम ही उनमें प्रविष्ट होकर देखता है जैसे प्रेत मनुष्योंमें प्रवेश करके अदृष्ट बात कहते हैं। नदी तो समुद्रको जाती ही है, पर 'उमग' कर धाना यही कामासक्तिका चिह्न है। नदी, तालाब और तलैयोंका उमड़ना कहा, क्योंकि बिना उमड़े दोनोंका संगम कैसे हो सकता है ?] (ग) ऊपर कहा है कि 'निज निज मरजाद तजि भए सकल बस काम।' उसीको यहाँ दिखाते हैं कि नियम तो यह है कि लता शाखाकी ओर बढ़ती है, यथा 'बढ़त बौंड़ जनु लही सुसाखा। २। ५। ८।', पर यहाँ मर्यादा त्यागकर तरु-शाख लताकी ओर झुकने लगा। इसी तरह बिना वर्षाके ही नदियाँ समुद्रकी ओर दौड़ीं। (वि० त्रि०)। (घ) 'जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरना।०' इति। अर्थात् इसीसे अनुमान कर लीजिए। उनकी विशेष निर्लज्जता वर्णन करनेमें एक तो लज्जा लगती है, दूसरे वह अकथनीय है। वह चर अर्थात् चेतनायुक्त प्राणियोंकी दशा कहाँ कि वे तो अत्यन्त कामासक्त हो रहे हैं। रक्तमांसादियुक्त स्थूल शरीरवाले जैसे कि मनुष्य पशु पक्षी आदि 'चर' समझे जायँ।

२ यहाँ 'नदी', 'धाई' और 'तलाई' बहुवचनसंज्ञक शब्द दिये हैं और 'करहिं' एक वचन क्रिया देकर अत्यन्तासक्ति दरसा रहे हैं। पाठक मनमें समझ लें। 'करहिं' पाठ तो साधारणतया ठीक ही है। पर 'करहि' हो तो यह भाव होगा।

पं० राजबहादुर लमगोड़ाजी—तुलसीदासजीके शृङ्गाररसमें मर्यादाका अवलंबन नहीं है जैसा कि उनकी फुलवारी-लीलाकी व्याख्याओंसे प्रकट है। यहाँ काम रसकाही वर्णन है, इसलिये कवि मजबूर है। पर फिरभी वर्णन संकेत और आड़से है। उर्दू कवि 'नसीम' में यह कला अच्छी है, पर वहाँ शृङ्गाररस मर्यादासे बाहर है।

पसु पच्छी नभ जल थल चारी। भए काम-बस समय बिसारी॥ ४॥

मदन अंध ब्याकुल सब लोका । निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका ॥ ५ ॥

अर्थ—आकाश, जल और पृथ्वीपर विचरने (चलने) वाले पशु-पक्षी (अपने अपने संयोगका) समय भुलाकर कामके वश हो गए । ४ । सब लोग (एवं तीनो लोक) कामांध होकर व्याकुल हो गए । चक्रवाक (चकवा चकवी) रातदिन (कुछ) नहीं देखते (अर्थात् रात दिनका विचार भूल गये) । ५ ।

नोट—१ (क) 'पसु पच्छी नभ-जल थल-चारी । भये०' इति । जल, थल और आकाश तीन ही में सारी जड़ चेतन नामक सृष्टि है, यथा 'जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना । १ । ३ ।' अतः यहाँ तीनोंको कहकर संसारभरके प्राणियोंको जना दिया । आकाशगामी पशु नंदीश्वर, ऐरावत, इत्यादि; जलके पशु मकर, घड़ियाल, कछुए, इत्यादि और थलके पशु गाय, श्वान, गर्दभ, भैंसा, बैल, हाथी, सिंह, इत्यादि । जल पक्षी कुक्कुट, बगला, हंस, बत्तख, इत्यादि । थलके पक्षी सारस, मोर, चकोर इत्यादि । (ख) 'समय बिसारी' इति । भाव कि पशुपक्षियोंमें संयोगके समय बँधे हुए हैं; जैसे कि हाथी ग्राममें संयोग नहीं करता, कुत्ते-कुत्तियोंका संयोग कार्तिकमें, गदहे गदहीका संयोग वैशाखमें और चकवा चकवीका दिनमें होता है, रातमें नहीं । इत्यादि । इस समय ये सब अपने संयोगका समय प्राप्त हुए बिनाही भोग करने लगे । (ग) 'मदन अंध ब्याकुल सब लोका' इति । 'मदन' पद देकर जनाया कि बड़े-बड़े योगी, ऋषि, ब्रह्मचारियों इत्यादिका मद जाता रहा, कोई अभिमानी इन्द्रियजित या कामजित् न बचा । 'लोक' के यहाँ दोनों अर्थ हैं—लोग और लोक । 'सब लोका' अर्थात् त्रैलोक्यमात्र । आगे तीनों लोकोंके प्राणी गिनाए गए हैं, यथा-'देव दनुज नर किंनर ब्याला०' । 'मदन अंध' पदसे जनाया कि बुराई भलाई, लज्जा आदिका कुछ ज्ञान किसीको न रह गया । अंधेको सूझता नहीं, वैसेही कामांध होनेसे इन्हें कहीं कोई और देख नहीं पड़ता जिसकी लज्जा करें । अतः 'अंधा' कहा । अन्धेको दिन रात बराबर, वैसेही इनका । अंधमें और भी भाव भरे हैं, समझनेवाले स्वयं समझ लें । 'ब्याकुल' से जनाया कि कामोद्दीपन अत्यन्त प्रबल होनेसे व्याकुल हैं कि कहाँ यह आग बुझावें । कामाग्नि शीघ्र बुझानेके लिए व्याकुल हैं । 'निसिदिन नहिं अवलोकहिं कोका' इति । 'कोका-शब्दका प्रयोग यहाँ मार्केका है । 'कोका' नाम उस पंडितका भी है जिसने कोकशास्त्र रचा था । सबके सब कोका पंडित ही हो गए, कोक-शास्त्रमें मानों खूब निपुण हैं । ऐसे कामांध हो रहे हैं कि दिनरात, समय-कुसमय कुछ नहीं सूझता ।

'निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका'

'अगले छंदमें कहा है कि 'दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर कामकृत कौतुक अयं' अर्थात् कामने यह खेल दो दंड भर किया अर्थात् दो दंडभर ही यह कामकृत कौतुक रहा और यहाँ कहते हैं कि चकवा चकवी रात दिन कुछ नहीं देखते, जिससे यह कौतुक कमसे कम एक दिन एक रात तो अवश्य ही होना समझ पड़ता है । पुनः, आगे ८६ (१) में 'उभय घरी अस कौतुक भयऊ' ऐसा लिखते हैं । इस तरह यहाँ 'तीन विरोधी बातें' आ पड़ी हैं, यद्यपि ये तीनों प्रसंगानुसार एक ही होनी चाहियें'—यह शंका उठाकर इसका समाधान महानुभावोंने अनेक प्रकारसे किया है—

(१) विजयदोहावली में लिखा है कि 'उभय घरी सुरलोकमें ब्रह्मलोक दुइदंड । रह्यो भुवनमें दिवसनिसि व्यापेउ मदन प्रचंड ॥' अर्थात् कामके प्रसंगमें तीनों लोकोंकी दशा कही गई है; इसीलिए तीन प्रकारसे समयभी लिखा गया । ब्रह्मलोकमें दो दंड तक कौतुक रहा, सुरलोकमें दो घड़ी कौतुक रहा और भूलोकमें एक रात एक दिन रहा ।

(२) करुणासिंधुजी, पं० रामकुमारजी आदि लिखते हैं कि 'कामका प्रभाव ब्रह्मांडभर में व्याप्त है । ब्रह्मांडमें एकही समय एक भागमें रात्रि और दूसरे भागमें दिन रहता है, यह सभी जानते हैं । (स्वतः पृथ्वीपरही एशिया और यूरोपमें ही देख लीजिए कि जब भारतवर्षमें सबेरा होता है उसके कई घंटे बाद विलायत में सबेरा होता है । यहाँ दिन है तब अमेरीकामें रात्रि होती है । इत्यादि) । इस कारण रात और

दिन दोनों शब्द दिए गए। तात्पर्य्य कि चक्रवाक सर्वत्र संयोग करने लगे। रात दिन दोनोंहीमें; जहाँ रात्रि है वहाँवाले रात्रिहीमें और जहाँ दिन है वहाँवाले दिनहीमें कर रहे हैं।' 'यदि केवल रातका भोग कहते तो दिनका भोग न पाया जाता और यदि केवल दिनका भोग कहते तो रात्रिका न पाया जाता। अतएव दोनों कहे'। (पं० रा० कु०)। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि जहाँ रात्रि थी वहाँके चकवा चकईने रात्रि नहीं देखी और जहाँ दिन था वहाँके चकवा-चकई दिन क्यों देखने लगे, दिनका निषेध तो केवल मनुष्यके लिये है।

(३) यदि एकही ठौरको लें तो सब खेल रातमेंही होना निश्चित होगा, क्योंकि चक्रवाक दिनहीमें संभोग करते हैं, सो मदान्ध होनेसे रात्रिमेंही संभोग करने लगे। कुछ विचार न रह गया कि अभी दिन नहीं है, रातही है। पुनः,

(४) एक दंड दिन रहेसे एक दंड रात तक यह कौतुक हुआ। अतः रात और दिन दोनों कहे। (पं० पा०)।

(५) किसी-किसीने 'निसिदिन' का अर्थ 'समय कुसमय' किया है और किसीने यह अर्थ किया है कि 'रात दिन समय कुसमयका विचार नहीं रहगया क्योंकि सब 'कोका पंडित' ही होगए।' और कोई यह अर्थ कहते हैं कि 'कोई रात दिन नहीं देखता अर्थात् किसीको यह भी नहीं सूझता कि रात है या दिन है, कौन है, क्या है।'

(६) वीरकविजी अर्थ करते हैं कि 'कोई समयकुसमय नहीं देखता कि क्या है'। वे लिखते हैं कि—"यहाँ 'कोका' शब्दका चकवा पक्षी अर्थ किया जाता है कि चकवा-चकवी दिन रात नहीं देखते। कामदेव ने यह सब छल दो दण्ड (४८ मिनट) में किया। इतने अल्प समयमें दिनरातका होना असंभव है। वंदनपाठकने अपनी शंकावलीमें लिखा है कि एक दंड रात थी और एक दंड दिन। पर यह वाग्विलास-के सिवा कोई प्रामाणिक बात नहीं है।" आप 'कोका' का अर्थ 'कोई' और 'क्या' करते हैं पर गोस्वामीजीके ग्रंथों एवं शब्दसागरमें ऐसा अर्थ दासको कहीं नहीं मिला। 'निसि-दिन' के साथ 'कोका' का कोई दूसरा अर्थ संगत भी नहीं रहता और प्रसिद्ध भी 'चकवाक' ही अर्थ है। इसी अर्थमें इसका प्रयोग इसी ग्रंथमें प्रायः सर्वत्र हुआ है। यथा 'कोक सोकप्रद पंकजद्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही।।', 'उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज कोक लोक सुखदाता। १.२३८।', 'कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना। १. २३९।', 'कोक तिलोक प्रीति अति करिही। २.२०९।', 'सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका॥ ७.३१।' इत्यादि। ☞ वस्तुतः चक्रवाकका ऐसा कट्टर नियमवाला दूसरा नहीं कि जो एक पिंजड़ेमें भी बंद कर दिये जानेपर भी समागमकी कौन कहे, भेंट भी चकवी से नहीं करता, दोनों एक दूसरेके सामने मुख भी नहीं करते। यथा 'सपदि चकइ भरत चक मुनि आयसु खेलवार। तहि निसि आश्रम पिंजरा राखे भा भिनुसार॥ २.२१५।'; जब उनकी प्रकृति भी बदल गई तब भला जो केवल शास्त्र मर्यादासेही चलनेवाले हैं उनकी क्या कही जाय?—यह आशय जनानेके लिये 'कोक' का उदाहरण दिया गया है।

(७) श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि "चकवाचकवीका नियम छोड़ना निश्चित करता है कि कामदेव शिवजीके पास रात्रिमें गया था जिस कारण चकवा चकईने अपना नियम छोड़ दिया। यदि

कहिये कि तब चकवा चकईके लिये 'दिन' शब्द क्यों लाया गया—'निशि दिन'''।', तो उसका उत्तर यह है कि 'दिन रात' द्वंद्व शब्द हैं (जो दो शब्द एक साथ बोलनेका मुहावरा है), जैसे हानि-लाभ, सुख-दुःख, हर्ष शोक, इत्यादि द्वन्द्व शब्द हैं और द्वन्द्वके साथ कहे भी जाते हैं किंतु प्रतिकूल प्रसंगमें कहे जाते हैं। जैसे यदि किसी पंडितसे पाप-कर्म हो जाय तो यही कहा जायगा कि पंडितने पाप-पुण्यका विचार नहीं किया, यदि पाप-पुण्यका विचार किया होता तो ऐसा न करता। अब देखा जायगा कि 'पाप' के साथ 'पुण्य' शब्द लगाना पड़ा है पर अर्थ करनेमें 'पाप' ही का अर्थ किया जायगा। वैसे ही चकवा चकईके लिये 'निशि-दिन' शब्द है, पर अर्थ करनेमें 'निशि' ही अर्थ किया जायगा, क्योंकि उनके लिये रात्रिही प्रतिकूल

है। पुनः, 'निशि दिन नहिं अवलोकहिं कोका' से यह ध्वनि होती है कि रातदिन देखा करते थे परन्तु उस दिन नहीं देखा। 'रात दिन' क्यों देखा करते? रात देखते हैं आपसमें अलग होनेके लिये और दिन देखते हैं मिलनेके लिये। अब देखा जाय कि यदि यह प्रसंग सबके लिये प्रतिकूल है तो चकवा-चकईके लिये प्रतिकूल क्या है? रात्रि। क्योंकि दिन तो उसके लिये अनुकूल है। (अब जो दो बातें और जो विरोधी कही जाती हैं, उनको लीजिये)—'दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर काम कृत कौतुक अयं' यह पद कामदेवके तमाशा रचनेके समयको सूचित करता है कि कामदेवने ब्रह्मांडके भीतर अपना कौतुक घड़ी भरमही रचकर तैयार कर दिया था। और 'उभय घरी अस कौतुक भयऊ' यह पद कामदेवके तमाशेका दो घड़ी स्थित रहना सूचित करता है। यह तमाशा कबतक रहा? जब तक कि कामदेव शिवजीके पास पहुँचा है और वह दो घड़ीमें उन तक पहुँचा है।—'जब लगि काम शंभु पहिं गयऊ।' पुनः, जब ब्रह्मांडके भीतर दो दंडभर खेल करना लिखा गया है तब दो घड़ीका रहना भी निश्चय होता है। क्योंकि जहाँ तमाशा किया जाता है, वहीं रहना भी होता है। सो जब ब्रह्मांड भरमें कौतुक का रहना सिद्ध हुआ तब सब लोकोंमें रहना भी निश्चय हो गया। क्योंकि ब्रह्मांडके भीतर ही सब लोक स्थित हैं। अतः 'विजयदोहावली' का लेख दोषयुक्त है।"

(८) शीलावृत्तम लिखा है कि—'कौतुक दोही दंडभर हुआ पर उसका नशा ज्योंका त्यों दो दंड और बना रहा। इस तरह दो घड़ी तक कौतुक रहा। एक घड़ी=दो दंड। पुनः 'सब लोगोंका कामांध होना लिखा है। दो घड़ीमें रात और दिन इस तरह बनता है कि जहाँ रवि है वहाँ दिन है। वहाँके नर नारियोंने मर्यादा छोड़दी, दिनमें ही भोग करने लगे। और, जहाँ रात है वहाँके चकवा चकई ने मर्यादा छोड़ दी कि रातमेंही संयोग करने लगे।'

(९) हिन्दी बोलचालमें दंड और घड़ीमें प्रायः भेद नहीं माना जाता। वीरकविजीने दंडका अर्थ 'घड़ी' किया है और प० रामकुमारजीनेभी यही अर्थ किया है। एक दंड २४ मिनटका होता है।

देव दनुज नर किंनर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला॥ ६॥
इन्ह कै दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥ ७॥
सिद्ध* बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि काम बस भए बियोगी॥ ८॥

शब्दार्थ—दनुज=दैत्य, असुर। देव, किंनर, ब्याल (=सर्प, नाग)—४४ (४) 'देव दनुज किंनर'' देखिये। प्रेत, पिशाच, भूत, बेताल—नोटमें दिये जायँगे। सिद्ध—६१ (१) देखिये। तेपि=तेऽपि=ते अपि=वे भी।

अर्थ—देवता, दैत्य, मनुष्य, किन्नर, नाग, प्रेत, पिशाच, भूत और बेतालोंको सदा कामके चेरे (चेले, दास, गुलाम, किंकर) जानकर मैंने इनकी दशा बखानकर नहीं कही। ६, ७। (जो) सिद्ध, महान् वैराग्यवान्, महामुनि और महान् योगी (हैं) वे भी कामवश योगरहित एवं विरही हो गए। ८।

नोट—१ 'देव दनुज ' इति। (क)—देवसे स्वर्गवासी, दनुजसे पातालवासी और नरसे मर्त्यलोकवासी सभी जनाए। भूत, प्रेत, पिशाच, बेताल आदि सभी रणमें भाग लेनेवाले नीच प्रकारके शिवगण हैं। भूत, पिशाच और बेताल यह सब प्रेतोंके भेद हैं। इनकी भिन्न भिन्न जातियाँ हैं। ये सब भी देवकोटि में माने जाते हैं। भूतोंका मुँह नीचेकी ओर लटका हुआ या ऊपरकी ओर उठा हुआ माना जाता है। ये आत्मायें अनेक प्रकारके उपद्रव करती और लोगोंको बहुत कष्ट पहुचाती हैं। भूत प्रेतोंके संबंधमें साधारणतः यह माना जाता है कि मृतप्राणियोंकी, जिनकी मुक्ति नहीं होती उनकी आत्माएँ चारों ओर घूमा करती हैं और उपद्रव मचाया करती हैं। पिशाच यक्षों और राक्षसोंसे हीन कोटिके बहुत अशुचि और गन्दे

* सदा—१७०४।

तथा रक्त आदि पीनेवाले कहे जाते हैं। वेताल भूत पिशाचोंकी अपेक्षा अधिक जबरदस्त और राक्षसोंकी जोड़के होते हैं। वेतालोंकी एक जाति अगियावेताल भी होती है जिनके मुखसे अग्निकी ज्वाला निकलती है। आनंदरामायणमें प्रेत पिशाचका लक्षण इस प्रकार वर्णित है—'वक्र दंष्ट्रो लम्बजिह्वो निमग्नो रक्तलोचनः। पांशुः पीनोदरः क्षामः लम्बोष्ठोऽधरस्वतः।'—भूत पिशाच आदि सभी बड़े भयंकर होते हैं। इनकी करालताका वर्णन आगे शिव बारातमें देखनेमें आता है। (ख) 'इन्ह कै दसा न कहेउँ....' इति। भाव कि औरोंके, पशुपक्षीतकके, तो समयका नियम भी है, पर इनका तो कोई नियम है ही नहीं, ये तो सदा कामासक्त बने रहते हैं, सदा कामके चेलेही हैं अर्थात् सदा कामकी वृद्धि ही चाहते हैं। आशय यह कि ये सदा सुंदर स्त्रीही ढूँढ़ा करते हैं; इसीसे इनका वर्णन विस्तारसे नहीं किया। ☞ ग्रन्थकार महात्मा हैं, इसीसे इन्होंने कामासक्त लोगोंकी करनी कुछ न लिखी। यथा 'जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन करनी।' तथा यहाँ 'इन्ह कै दसा न कहेउँ बखानी।' (पं० रा० कु०)। (ग) यहाँ देवदानवादिकी कामांधताका अर्थ दूसरे योगसे स्थापन करना कि ये तो सदा कामके अनन्य सेवकही हैं 'अर्थापत्ति प्रमाण अलंकार' है। (वीरकवि)।

७ 'सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी।....' इति। (क) भाव कि सिद्ध आदि योगीश्वर होते हैं, वे इन्द्रियविजयी होते हैं, कामी नहीं होते; सो वे भी कामातुर हो विरही हो गए। इस अयोग्यमें कामदेवकी योग्यता दिखाकर उसके प्रभावकी अतिशय बड़ाई करना 'सबंधातिशयोक्ति अलंकार' है। (वीरकवि)। (ख) ☞ यहाँ 'बियोगी' के दो भावार्थ कहे जाते हैं। एक तो 'बियोगी'=वि (= विगत) + योगी। 'भए बियोगी' = योग छोड़ बैठे; कामकी प्रबलतामें अष्टाङ्गयोगसे ध्यान छूट गया और वे कामके वश हो गए। दूसरे, सिद्ध, विरक्त, महामुनि और योगी प्रायः स्त्रीरहित होते हैं। इनके स्त्रियाँ तो होती नहीं तब उनको स्त्रियोंका संयोग कहाँ मिले और काम उन्हें सता रहा है; इस कारण वे स्त्री विरहमें कामियोंकी तरह वियोगी अर्थात् विरहीसे देख पड़ते हैं। वे स्त्रीके लिये इतने व्याकुल हैं जैसे कोई महाविरही अतिकामी स्त्रीके वियोगमें व्याकुल हो। पुनः भाव कि उनका ज्ञान ध्यान सब जाता रहा। वे सब अपने अपने धर्मोंसे वियोगी होगए। अर्थात् जो महान सिद्ध थे उनका सिद्धियोंसे वियोग होगया, महामुनियोंका मननसे वियोग होगया, महाविरक्तका वैराग्यसे और महायोगीका योगसे वियोग होगया। ये सब स्त्री ढूँढ़ने लगे।

टिप्पणी—१ यहाँतक 'आलिङ्गन, चुम्बन, भाषण और मैथुन' कहे और कामवश होनेमें चार कोटियाँ कहीं—१ जड़, २ चेतन, ३ चैतन्यतर और ४ चैतन्यतम। यथा—'जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी' 'को कहि सकइ सचेतन करनी', 'जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम।'', 'देव दनुज नर किंनर ब्याला....', 'सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी।' पशु पक्षी आदि साधारण चेतन हैं। देवदनुजादि चैतन्यतर जीव हैं। 'सिद्ध बिरक्त' आदि चैतन्यतम हैं।

छंद—भए कामबस जोगीस तापस पावरन्हि की को कहै।
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे।
अबला बिलोकहिं पुरुषमय जगु पुरुष सब अबलामयं।
दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर काम कृत कौतुक अयं।।

अर्थ—योगीश्वर और तपस्वी (ही जब) कामवश हो गए (तब) बिचारे नीच प्राणियोंकी कौन कहे। जो लोग चराचर (मात्र) को ब्रह्ममय देखते थे, वे उसे स्त्रीमय देखने लगे। स्त्री सारे जगत्‌को पुरुषमय और पुरुष सबको स्त्रीमय देखते हैं। ब्रह्माण्डभरके भीतर दो दण्डतक कामदेवने यह कौतुक रचा। (वा, कामदेवका रचा हुआ यह कौतुक हुआ)।

नोट—१ (क) 'भए कामबस जोगीस'' इति। कामका विशेष कोप योगीश्वरों और तपस्वियों

पर है, इसीसे कविने उनका नाम दो बार लिखा। यथा 'भए अकंटक साधक जोगी॥ जोगी अकंटक भए''' ।८७।' (पं० रा० कु०)। पुनः प्रथम चौपाइयोंमें योगी विरक्त आदिका कामवश होना कहा था और यहाँ छन्दमें उनके संबंधमें जो पूर्व कहा है, उसे लेकर कहते हैं कि ये तो वे लोग हैं कि जो कामसे सदा दूर रहते थे, सदा रागरहित रहते थे, जो कामजित् ब्रह्मचर्यरत हैं जिनकी सारी सिद्धि ही ब्रह्मचर्य पर खड़ी है, उनकी यह दशा हो गई, तब तुच्छ मनुष्योंकी क्या कही जाय ? न कहनेका कारण बतानेमें उनकी दशा फिर कही। तात्पर्य यह है कि वे पामर प्राणी तो योंही सदा कामवश रहा करते थे, इस समय तो जो उनकी दशा हुई वह अकथनीय है। वा, उनका कामवश होना तो स्वाभाविक इसीसे सिद्ध है, कहनेकी आवश्यकता नहीं।

२ 'देखहिं चराचर नारिमय''' इति। ब्रह्ममय देखते थे; यथा 'सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्नो।'''आदि मध्यांत भगवंत त्वं सर्वगतमीस पश्यंति ये ब्रह्मवादी। जथा पट तंतु घट मृत्तिका, सर्प स्रग, दारु करि, कनक कटकांगदादी।' (विनय ५४); 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। अर्थात् जो लोग सदा संसारको इस तरह देखते थे, सारा जगत् ब्रह्ममय है यहही जिनकी दृष्टिमें रहता था, सो भी जगत् को स्त्रीमय देखने लगे। पूर्व सब चराचरमें एक ब्रह्मको ही देखते थे अब सबमें उनको स्त्रीकाही दर्शन हो रहा है। (ब्रह्ममय देखनेवाले ज्ञानियोंको समदर्शनका अभ्यास है। उन्हें अब नारीका ध्यान आया तो ब्रह्म की भाँति वे चराचरमें नारी ही देखने लगे। वि० त्रि०)।

३ 'अबला बिलोकहि पुरुषमय''' इति। (क) अर्थात् मैं ही एक स्त्री हूँ और जगत्मात्र पुरुष है, बिना सबसे संभोग किये संतोष न होगा—ऐसी कामातुर हो रही हैं। यही हाल पुरुषोंका है; वे केवल अपनेको पुरुष देखते हैं और चराचरमात्रको स्त्रीरूप देख रहे हैं, समझते हैं कि बिना सबसे संयोग किये तृप्ति न होगी। (ख) 'अबला' का भाव कि है तो कहाती 'अबला' (बलहीन) पर यही कामका परम बल है; यथा 'एहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥ ३। ३८।' और अंतमें इसने परम बल किया ही। (ग) रसिकबिहारीके 'नैननमें प्यारी सैननमें प्यारी इन बैननमें प्यारी सुख दैननमें प्यारी है। काननमें प्यारी मन प्राननमें प्यारी गान ताननमें प्यारी रूपवाननमें प्यारी है। जागतमें प्यारी नींद लागतमें प्यारी बसी रसिकबिहारी रोम रोममें प्यारी है।' इस कवित्तको 'नारिमय' एवं 'अबलामयं' का भावार्थ समझना चाहिए। (घ) पुनः, पुरुष अबलामय देखते हैं, इसमें यह भी ध्वनि है कि मदांध होनेके कारण वे जिसी तिसी स्त्रीको अपनी प्यास वा आग बुझानेके लिए पकड़ लेते हैं, उसे 'अबला' ही जानते हैं।

४ 'दुइ दंड भरि''' इति। (क) प्रारम्भमें कहा था 'तब आपन प्रभाउ बिस्तारा'। विस्तार कैसे किया यह यहाँतक लिखा, ब्रह्मांडभरमें प्रभाव विस्तृत किया। (ख) 'दुइ दंड' और 'अयं' का अर्थ आगे करते हैं कि दो घड़ी है, यथा—'उभय घरी अस कौतुक भएऊ'। दो ही दंडमें ब्रह्मांडको जीत लिया और दो ही दंडमें शिवजीके पास पहुँच गया। (पं० रा० कु०)। 'दुइ दंड' और 'उभय घरी' पर पूर्व ८५ (५) 'निसि दिन नहि अवलोकहिं कोका' में लिखा गया है, उसे देखिये। (ग) 'कृत कौतुक अयं' इति। ब्रह्मांडका जीतना कामके लिये एक खेल या तमाशा ही है, इसीसे 'कौतुक' कहा।

सोरठा—धरी न काहूँ धीर सबके मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महुँ॥ ८५॥

अर्थ—किसीने भी धीरज न धारण किया। कामदेवने सबके मन हर लिये। श्रीरघुवीरने जिनकी रक्षा की, वे ही उस समय बच रहे। ८५।

नोट—१ 'धरी न काहू धीर''' इति। काम ऐसे प्रबल वीरसे रक्षा की। अतः 'रघुवीर' शब्द का प्रयोग हुआ। वीरही रक्षा कर सकता है। तात्पर्य कि रघुवीरकी वीरताके आगे उसकी वीरता न चली। जैसे रक्षाके संबंधसे 'रघुवीर' शब्द दिया, वैसेही मन हरण करनेके संबंधसे 'मनसिज'नाम बहुतही उपयुक्त है।

* 'जे राखे रघुबीर ते उबरे······' *

१ वेदमें तीन काण्ड हैं—कर्म, ज्ञान और उपासना। यहाँतक यह दिखाया कि कामदेवने कर्म और ज्ञानको नष्ट कर डाला। बचे तो केवल उपासक ही। ('ब्रह्मचर्य्य, व्रत, संजम नाना', 'धीरज, धर्म, सदाचार, जप, योग, वैराग्य'), 'सभय विवेक कटक सब भागा' और 'सो सुभट संजुग महि सुरे' से कर्मकांडकी और 'भागेउ बिबेक सहाय सहित' से ज्ञानकी हार सूचित की। जप तप संयम आदि कर्म हैं। विवेक ज्ञान है। रही उपासना सो उसकी रक्षा श्रीरघुबीरजीने की। (पं०)। ☞ इस वर्णनसे उपासनाकी सर्वोत्कृष्टता दर्शित की गई है।

२—'जे राखे रघुबीर' अर्थात् जिनकी रक्षा रघुनाथजीने की उन्हें कौन नष्ट कर सकता है ? उनका बाल बाँका नहीं हो सकता। अतः रघुबीराश्रित ही बचे। 'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥ १. १२६।'—यह नारदमोहप्रसंगमें भी इसी भावमें आया है और गीतावलीमें भी ऐसाही कहा है; यथा 'तिन्ह की न काम सकै चाँपि छाँह। तुलसी जे बसहिं रघुबीर बाँह॥ गी० २. ४६।'

३ श्रीनारदजी जब पंपासरपर श्रीरघुनाथजीके पास गये थे तब उन्होंने प्रभुसे प्रश्न किया था कि जब मैं आपकी मायासे मोहित होकर ब्याह करना चाहता था तब आपने मुझे विवाह क्यों न करने दिया। उसपर प्रभुने यह उत्तर दिया कि 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी। गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥ प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥ मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥ ३. ४३।' सिद्ध, महामुनि और योगियोंको अपने साधन ज्ञान, योग, पुरुषार्थबलका भरोसा रहता है। ये प्रौढ़ (सयाने) लड़के हैं, अपनी रक्षा स्वयं करें। परन्तु उपासकोंको श्रीरघुनाथजीको छोड़ स्वप्नमें भी दूसरेका आशा-भरोसा नहीं रहता। ये शिशु समान हैं। इसीसे प्रभु उनकी रक्षामें माता सरीखे सदैव लगे रहते हैं।

४ ☞ कोई कोई 'जे राखे रघुबीर' का अर्थ 'जिन्होंने रघुबीरको हृदयमें धारण किया' ऐसा करते हैं।

५ (क) 'चलत मार अस हृदय बिचारा। ८४. ४।' उपक्रम है और 'जब लगि काम संभु पहिं गएउ' उपसंहार है। (ख) 'जे' 'ते' के संबंधसे अलंकारमंजूषाके मतानुसार यहाँ 'प्रथमनिदर्शना अलंकार' है और वीरकविजीके मत से—'पहले यह कहकर कि कामदेवने सभीके मनको हर लिया, फिर अपनी कही हुई बातके विपरीत कथन कि 'जे राखे रघुबीर···' उक्ताक्षेप अलंकार है। (ग) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'हमने यह बात परंपरासे सुनी है कि गोस्वामीजीने पूर्वार्ध सोरठा लिखा तब सोचमें पड़ गए कि यह क्या अनर्थ होगया; सबमें तो शिवजी भी आगए। तब श्रीहनुमानजीने उत्तरार्ध लिख दिया।' ऐसीही किंवदंती 'बूड़ सो सकल समाज'के विषयमें है। परन्तु इसकी सचाई कहाँ तक संभव है यह विचारनेसे ही प्रकट हो जाती है।

उभय घरी अस कौतुक भएऊ। जब * लगि काम संभु पहिं गएऊ॥ १॥

शिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू। भएउ जथा थिति सबु संसारू॥ २॥

शब्दार्थ—'थिति'=ठहराव, स्थायित्व। स्थिति, अवस्था, दशा। 'जथा थिति' होना=पूर्व अवस्था या दशामें हो जाना, पूर्वस्थिति होना। 'यथाथिति' संस्कृत भाषाके 'यथास्थिति' शब्दका अपभ्रंश है जिसका अर्थ है 'स्थितिं अनतिक्रम्य वर्तते इति यथास्थिति।' स्थितिका उल्लंघन न करके जैसाका तैसा रहना। जैसा था वैसाही।

अर्थ—दो घड़ीतक ऐसा तमाशा रहा जबतक कामदेव शंभुके पास पहुँच (न) गया। १। शिव-

* १६६१ की पोथीमें 'जब है अर्थात् 'व' है।

जीको देखकर कामदेव डर गया। सारा संसार (पुनः) ज्योंका त्यों स्थिर हो गया। २।

नोट—१ 'उभय घरी ' इति। (क) दो दंडमें कामदेवने यह कौतुक सारे ब्रह्माण्डमें कर दिया और दो घड़ीतक यह कौतुक होता रहा जबतक शिवजीके पास न पहुँच गया। (नंगे परमहंसजी)। प्रायः अन्य बहुत लोगोंके मतानुसार 'घरी'–दंड। 'दुइ दंड भरि' जो छंदमें कहा था, वहींसे फिर प्रसंग उठा रहे हैं कि 'उभय घरी अस कौतुक ', बीचमें कवि अपनी उक्ति कहने लगे थे कि 'जे राखे '। (ख) 'जब लगि ' इति। इससे जनाया कि स्वर्गसे रास्ता चलते हुये ब्रह्माण्डभरमें उसने यह प्रभाव फैलाया। शिवजीके निकट पहुँचनेके पूर्वही यह यह सब कौतुक रच चुका था और सारे ब्रह्माण्डको वशमें कर लिया था। शिवजीके पास पहुँचनेके समयतक ही यह कौतुक रहा, पहुँचतेही कौतुकका अंत होगया, सब कौतुक खतम होगया।

२ 'सिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू ' इति। (क) 'ससंकेउ'=सशंक होगया, शंकितहृदय वा संदेहयुक्त होगया, डर गया। हृदयमें शंका होगई कि ये दुराधर्ष हैं, इन्हें कैसे जीत सकूँगा, इत्यादि। जगत्को वशकरनेवाला अपना प्रभाव भूल गया। ☞ कुमारसंभवमें भी ऐसाही कहा है, यथा 'स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम्। नालक्षयत् साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्॥ सर्ग ३ श्लोक ५१।' अर्थात् शिवजीके निकट जानेपर ज्योंही कामदेवकी दृष्टि उनपर पड़ी, वह भयसे शिथिल होगया, उसको यह भी सुधबुध न रही कि उसके हाथोंसे धनुषबाण मारे भयके गिरपड़े हैं।—यही सब भाव 'ससंकेउ' के हैं। (ख) 'भएउ जथाथिति ' इति। तात्पर्य कि भयसे कामका वेग नहीं रहजाता। *जब कामदेव डरा तब लोग यथास्थित होगए, जगत् निर्भय हो गया, जैसा पूर्व अपनी मर्यादामें था वैसाही पुनः होगया।* (प० रा० कु०)। यह शिवजीका प्रभाव दिखाया।

भए तुरत जग * जीव सुखारे। जिमि मद उतरि गएँ मतवारे॥ ३॥
रुद्रहि देखि मदन भय माना। दुराधरष दुर्गम भगवाना॥ ४॥

अर्थ—संसारके (सब) जीव तुरंत सुखी होगए। जैसे मद (नशा) के उतर जानेपर मतवाले सुखी होते हैं।३। दुराधर्ष, दुर्गम, षडैश्वर्यमान रुद्र (श्रीशंकरजी) को देखकर कामदेव भयभीत होगया। ४।

*** भए तुरत'''मद उतरि गएं मतवारे ***

१ (क) मदिरा या कोई भी मद्य पान करलेपर जब कोई मतवाला होजाता है तब उसके कर्म, वचन और तन किसीका भी सँभाल नहीं रह जाता। यथा 'बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे। १। ११५।' जब नशा उतर जाता है तब सावधानता आती है। इसी तरह जबतक कामरूपी भूत सिरपर सवार रहता है, तबतक मनुष्यके विचार और बुद्धि उसे छोड़ देते हैं। दितिकी कथा श्रीमद्भागवतमें प्रसिद्धही है कि कामांध होनेके कारण उसने कश्यपजीकी एक न मानी और कामरूपी मदके उतरनेपर फिर पश्चात्ताप करने *लगी*। (भा० ३।१४)। हाथी जब मदान्ध होता है, उसका मद बहता है, तब वह बड़ाही व्याकुल होजाता है। वही मद निकल जानेपर शांत होजाता है। वैसेही ब्रह्माण्डमें सर्वत्र हुआ। कामका नशा जाता रहा, तब सबके विचार ज्योंके त्यों पहले सरीखे होगए। जो जैसा पहले था वैसाही पुनः होगया। अर्थात् जो पूर्व जितने कामी थे वे उतनेही कामी रह गए, जो कामी न थे वे अब कामके वश न रह गए। (ख) मद्यका उदाहरण देनेका भाव यह है कि जैसे मदिरापानसे लज्जा, भय और मर्यादा तीनोंही नहीं रहजाते। मदिरा श्रेष्ठ लोगोंको भी दूषित करदेती है। वैसेही कामने किया था। उसके नशेमें भी लज्जा, भय, मर्यादा तीनोंही नष्ट होगए थे। प० रामकुमारजी लिखते हैं कि मदिरा और काममें इतनाही अंतर है कि 'काम भाव विशेष्य है'। (ग) 'भए सुखारे' कथनसे पाया गया कि दो घड़ी घड़ी व्याकुलता रही, यथा 'मदन अंध ब्याकुल सब लोका।'

* सब—भा० दा०, रा० गु० द्वि०।

२ 'कामका तो भोग है, तब दुखी कैसे हुए ?'—यह शंका उठाकर उसका उत्तर पं० रामकुमारजी यह देते हैं कि सब जीव कामके भारसे दुःखित हुए, दो दंडमे सबको भोगकी प्राप्ति न हुई, मन बिगड़ता रहा, स्त्रियाँ थीं नहीं, भोग किससे करते। (पं०रा०कु०)। और जिनके स्त्री थी भी तो समय अनुकूल न था।

टिप्पणी—१ 'रुद्रहि देखि मदन भय माना।'' इति। (क) रुद्र प्रलयके देवता हैं। शिवजीको देखकर भयकी प्राप्ति हुई, इससे 'रुद्र' नाम दिया। यथा 'विकट बेप रुद्रहि जब देखा। अवलन्ह उर भय भयउ बिसेषा। १. ९६।' रुद्र=रौद्ररससे परिपूर्ण। इस शब्दसे ही भयकरकी भयानक मूर्तिका ध्यान हृदयमे आजाता है। रुद्र-शब्दही भयका सूचित करनेवाला है। उसका अर्थ भी 'भयंकर, भयावन' है। यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है। (कामदेवका 'मद न' रह गया, अतः 'मदन' नाम दिया)। (ख) 'दुराधर्ष' अर्थात् दबने योग्य नहीं हैं। दुर्गम हैं अर्थात् उनके समीप कोई जा नहीं सकता और भगवान् हैं अर्थात् प्रलयकर्त्ता हैं। पुनः, भाव कि दुराधर्ष हैं इसीसे वह उन्हें आगे दबा न सका और दुर्गम हैं अतः उनको न 'पेलि सका'।—(दुराधर्ष=जिसका पराजय करना, दबाना, उपमर्दन करना या तिरस्कार करना इत्यादि अत्यन्त कठिन है। 'भगवाना' का भाव कि इनमें ज्ञान, वैराग्य आदि षडैश्वर्य सदा रहते हैं, अतः उनपर धार नहीं चल सकता)। (ग)—पूर्व लिख आए हैं कि 'सिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू' और अब यहाँ फिर लिखते हैं कि 'रुद्रहि देखि मदन भय माना'। दोनों एकही बात होनेसे पुनरुक्ति होती है ? समाधान यह है कि यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। जो पूर्व लिखा था कि 'ससकेउ मारू' उसीको अब यहाँ स्पष्ट करके लिखते हैं कि किस कारण वह सशंकित हुआ था। दुराधर्ष दुर्गम और प्रलयकारी मूर्त्ति देखकर शंकित हुआ था। अथवा, पूर्व दूरसे देखा तब शंकामात्र हुई थी और अब निकटसे देखनेपर भयभीत हो गया। [अथवा, पूर्व केवल सशंकित होनेका परिणाम कहा गया कि संसार पुनः ज्योका त्यों स्थित होगया।—'ससंकेउ मारू। भएउ जथा थिति सब संसारू।' और अब भयका कारण बताते हैं। अथवा, पूर्व शंकित होना कहकर बीचमें संसारका पूर्ववत् स्थित होना कहने लगे थे, अब पुनः वहींसे संबंध मिलाते हैं; इसीसे पुनः भयका मानना लिखा गया।]

फिरत लाज कछु करि * नहि जाई। मरनु ठानि मन रचेसि उपाई ॥ ५ ॥
प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा †। कुसुमित नव तरु राजि‡ बिराजा ॥ ६ ॥

अर्थ—फिरते हुये लज्जा लगती है और कुछ किया जाता नहीं (अर्थात् कुछ करते बनता नहीं। मनमे मरनेका निश्चय कर उसने उपाय रचा। ५। उसने तुरंतही सुंदर ऋतुराज वसन्तको प्रकट किया। फूले हुये नये नये वृक्षोंकी कतारें सुशोभित हो गईं। ६।

नोट—१ 'फिरत लाज' इति। लज्जा इससे होती है कि देवताओंको वचन दे आया था कि 'तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा।' अब उनको मुँह कैसे दिखाऊँगा। चढ़ाई करके फिर भागनेसे जो दशा वीरकी होती है वह 'लाज' से जना दी; यथा—'बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई। २। १४४। ८।' भारी अपयश होगा, यह लज्जा है। अतः यह निश्चय किया कि लौटनेसे तो मर जानाही अच्छा है; क्योंकि सबके सामने डींग मारी थी कि 'पर हित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहि तेही।' २—'कछु करि नहि जाई।'—भाव कि करना चाहता है, पर भयवश कुछ किया नहीं जाता। ३—'मरनु ठानि…' इति। 'मरता क्या नहीं करता' यह लोकोक्ति है। मनमे मरनेका निश्चय किया क्योंकि काम किये

* कहि—ना० प्र०। † रितुराजू, बिराजू—छ०। ‡सखा–१७२१, छ०। जाति–१७६२, को० रा०। राज–ना० प्र०, १७०४। राजि—१६६१। साल–पाठान्तर। ☞ 'राजि' संस्कृत भाषाका शब्द है जिसका अर्थ है—पंक्ति, अवली, कतार। ग्रन्थमें अन्यत्र भी इसका प्रयोग है। यथा—'चले मत्त गज घंट बिराजी। मनहु सुभग सावन घन राजी॥ १। ३००।' 'तरुराज' पाठका श्रेष्ठ आम या पारिजात वृक्ष अर्थ करते हैं।

बिना लौट जाय तो सबको मुँह क्या दिखायेगा, हँसी होगी और 'सभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू।' कहा ही है। अत. निश्चय किया कि मर जाऊँ तो मर जाऊँ, एक बार अपना सारा पौरुष खर्च कर दूँ। अतः जिस भयके मारे शिथिलता आ गई थी, कुछ पुरुषार्थका साहस न रह गया था, उसे छोड़कर नि.शक होकर फिर पुरुषार्थ करने लगा।

टिप्पणी—१ (क) 'प्रगटेसि तुरत ···' इति। तुरत प्रकट करना कहकर जनाया कि अपनी माया से प्रकट किया। यथा 'तेहि आश्रमहि मदन जब गएऊ। निज माया बसत निरमएऊ। १ १२६।' ऋतु राजको प्रकट करनेसे पाया गया कि उस समय और कोई ऋतु थी, वसन्त न था। 'रुचिर रितुराजा' का भाव कि जो वसत ऋतु अपने समयपर होती है, उससे यह वसंत बहुत अधिक सुदर है। (ख) 'कुसुमित नव तरुराजि बिराजा' इति। वसंतको निर्माण किया है; अत. वृक्षोका कुसुमित होना कहा और वृक्ष कुसमित हैं अतः 'नव' अर्थात् 'नमित' हैं। ('नव' से नवीनका भी अर्थ होता है)। मायिक हैं, अतः वि (विशेष) + राजा (शोभित हैं) कहा।

बन उपबन बापिका तड़ागा। परम सुभग सब दिसा बिभागा ॥ ७ ॥
जहँ तहँ जनु उपजत अनुरागा। देखि मुएंहु मन मनसिज जागा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—उपवन=छोटे छोटे वन जो वनके पास हों=हाथसे लगाये हुये वृक्षोंका वन। पुराणोंम चौबीस उपवन गिनाए गए हैं।

अर्थ—वन, उपवन, बावली, तालाब और दिशाओंके सब विभाग परम सुन्दर होगए। ७। जिधर देखो उधरही मानों प्रेमही उमड रहा है जिसे देखकर मरेहुए (एवं मरे हुओंके) मनमेंभी काम जाग उठा। ८।

टिप्पणी—१ 'बन उपबन बाटिका तडागा। ···' इति। (क) (वन उपवन सुन्दर हैं, विहारके योग्य हैं। वापिका और तडाग जलक्रीडाके योग्य हैं। वि० त्रि०)। वन और उपवनकी शोभा जलाशय विना नहीं होती, इसीसे वन, उपवनको कहकर 'बापिका तडागा' कहा। (ख) 'परम सुभग सब' कहकर जनाया कि दशो दिशाओंमें पृथक्-पृथक् न्यारी न्यारी सुदरता है। (सब दिशायें और उनके विभाग ये हैं—पूर्व, आग्नेयी, दक्षिण, नैर्ऋती, पश्चिम, वायवी, उत्तर, ईशानी, ऊर्द्ध्व और अध। 'उमगत अनुरागा' से यहाँ कामासक्तिका उमड़ना कहा। अनुरागा=कामकी लहर। 'जहँतहँ जनु ' में अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है। 'परम सुभग सब दिसा बिभागा' कहकर 'उमगत अनुरागा' और 'मनसिज जागा' कहनेका भाव कि सौंदर्य देखकर अनुराग होता है, उससे कामोद्दीपन होता है। आगेभी 'जागे मनोभव मुएहु मन बन सुभगता न परै कही' इसी भावसे कहा गया है।

नोट—१ 'देखि मुएँहु मन ' इति। साधारणतः इसका अर्थ तो यही होता है कि 'मरे हुओंकेभी मनमें कामोद्दीपन हुआ।' परन्तु इस अर्थमें लोग शका करते हैं कि 'यहाँ 'देखि' शब्द आया है और निर्जीव प्राणियोंका देखना नहीं कहा जा सकता ?' यहाँ कामदेवकी अत्यत उत्कृष्टता, उसका प्रचड प्रभाव, दिखा रहे हैं, अत. असभवकाभी सभव होना कहा गया। यह 'असभवातिशयोक्ति अलंकार' है। प्रायः औषधियोंके विषयमें प्रशसा करते हुए यह कहा ही जाता है कि यह जडी ऐसीही है कि मराहुआभी जी उठे। पुनः जैसे काशमीरके सबधमें कहा जाता है कि जली हुई लकडीभी हरी हो जाती है। वैसेही यहाँ कहा गया। मरा हुआ बीज नहीं जमता पर यहाँ वहभी जमा। (प० रा० कु०)। ☞'मुएहु' से मृतप्राय लोगोंका भाव लेना चाहिये। यथा 'अग गलित पलित मुण्ड दशनविहीन जात तुण्डम्। वृद्धो याति गृहीत्वा दड तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥' (चर्पटपञ्जरीमें कही हुई यह दशा मृतकवत् दशा है)। मानसमें भी 'अतिबूढे' को मृतकवतही माना है। यथा—'अतिबूढा। जीवत सव सम चौदह प्रानो।' 'मुएहि बधे नहिं कछु मनुसाई।' (६. ३० ४) । ८७ (७) भी देखिए।

पाँडेजी इस शंकाके निवारणार्थ 'मुएँहु मन' का अर्थ 'नपुंसकके मनमेंभी' या 'मरेहुए मनमेंभी' करते हैं। 'मरे हुए मन'='जिनके मन शमदमादि साधनोंद्वारा संकल्प-विकल्परहित होगये हैं।=जिन्होंने अपने मनको कामकी ओरसे भली भाँति मार रक्खा है। जैसे पारा मारा (फूँका) जाता है तो उसकी चंचलता दूर हो जाती है, वैसेही इनके मन मर गये हैं।'—इस अर्थके ग्रहण करनेमें फिर यह शंका उपस्थित होती है कि—'ऐसे लोगोंका वर्णन तो पूर्व कर चुके हैं; यथा 'सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भए बियोगी।', तो अब यहाँ दूसरे कौन हैं जिनसे तात्पर्य है? इस प्रश्नको उठाकर वेही यह समाधान करते हैं कि यहाँ 'मुएहु मन' शिवजीके समीपवर्ती सिद्ध, मुनि, आदिसे तात्पर्य है, जिनकी चर्चा 'सिद्ध तपोधन जोगिजन सुर किंनर मुनिबृन्द। बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं शिव सुख कंद।' दोहा १०५ में आई है और पूर्व ब्रह्मांडके सिद्ध विरक्त आदिको कहा था। परन्तु कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि पूर्व वे निकटवर्ती सिद्धादि मोहित नहीं हुए थे।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'मनकी बीज वासना है। निर्वासन मन मरा हुआ है, क्योंकि उसका बीज नष्ट हो चुका है, पर सुन्दरतामें यह प्राणदा शक्ति है कि मरा हुआ मनभी थोड़ी देरके लिये जाग उठता है।'

विनायकी टीकाकार इस प्रसंगपर लोलाम्बराजका यह श्लोक देते हैं—

'ताम्बूलं मधु कुसुमस्रजो विचित्राः। कान्तारं सुरतरु नवा विलासवत्यः॥ गीतानि श्रवण हराणि मिष्टमन्नं। क्लीवानामपि जनयन्ति पञ्चबाणम्॥' अर्थात् पान, वसन्त, सुगंधित पुष्पोंकी मालायें, सघन वन, दिव्य वृक्ष, नवयौवना स्त्री, कर्णमधुर गीत और स्वादिष्ट अन्न—ये पदार्थ गिरेहुये दिलवालों (नामर्दों) के भी मनमें कामोद्दीपन करते हैं। दोहा ८७ (७) भी देखिए।

छन्द—जागै मनोभव मुएहु मन बन सुभगता न परै कही।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही।
बिकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा।

अर्थ—मरेहुओंके एवं मरेहुये मनमें भी काम जाग उठा। वनकी सुंदरता कही नहीं जा सकती। कामरूपी अग्निका सच्चा सखा शीतल, सुगंधित और सुन्दर मंद पवन चलने लगा। तालाबोंमें बहुतसे कमल खिल उठे। सुन्दर भ्रमरोंके समूह गुंजार कर रहे हैं। कलहंस, कोयल और तोते रसीली ध्वनि कर रहे हैं, अप्सराएं गा-गाकर नाच रही हैं।

खर्रा—'मुएंहु' मनमें मनसिजका जागना कहकर आगे बताते हैं कि कैसे जागा। इस तरह कि शीतल-सुगंध-सुमंद-पवनको हृदयमें प्रवेश करके कामाग्निको प्रज्वलित कर दिया। 'सखा सही' कहकर उसमें यह अभिप्राय कह दिया है।

नोट—१ (क) 'मदन-अनल सखा सही' इति। सही=सच्चा। कामदेव भयभीत है। इस आपत्तिमें (शीतल सुमंद सुगंधित) पवनने उसकी सहायता की। इसलिये उसे 'सच्चा' सखा कहा। यथा 'आपत काल परखिअहिं चारी। धीरज धर्म मित्र अरु नारी॥', 'बिपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥ ४. ७।' यहाँ कामको अग्नि कहा। पवन अग्निको प्रज्वलित करता ही है। इसलिये पवनको अग्निका सखा कहा गया। शीतल, मंद और सुगंधित पवनसे कामोद्दीपन होता है; यथा 'चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम कृसानु बढ़ावनि हारी। १२६।३।' इससे यह कामका मित्र हुआ और आपत्तिमें सहायता करनेसे 'सच्चा सखा' हुआ। [पवन अग्निका सखा प्रख्यात है, पर वह सच्चा सखा नहीं है, वह दीपकको बुझा देता है। यथा 'सबै सहायक सबलके कोउ न अबल सहाय। बात बढ़ावत अगिनको दीपहि देत बुझाय।'; परन्तु शीतल मन्द सुगंधित पवन कामाग्निका सच्चा सखा है। कैसीही दुर्बल कामाग्नि हो,

उसे वह बढ़ाही देगा। इसीलिये 'मदन अनल सखा सही' कहा। (वि त्रि०)] (ख) 'मंजुल मधुकरा' से जनाया कि ये साधारण भौंरोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सुंदर हैं। 'कलहंस'—इस ग्रन्थमें हंस तीन प्रकारके कहे गए हैं—हंस, राजहंस और कलहंस। मधुर स्वरके संबंधसे यहाँ 'कलहंस' को कहा। 'कल' का अर्थ 'सुंदर' भी होता है। यहाँ मधुर वाणीवाले कलहंससे प्रयोजन है। क्योंकि कामोद्दीपनके लिये मधुरवाणीका प्रयोजन होता है। मिलान कीजिये—'बोलत जल कुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा।' (३. ४०)।

२ वनकी सुभगता 'कुसुमित नव तरु राजि बिराजा' से 'करि गान नाचहिं अपछरा' तक कही गई। वनशोभा, तड़ागशोभा, कमलशोभा, और मधुकर शोभा क्रमसे लिखी गई। हंसकी शोभा चालसे है; यथा—'सखी संग लै कुँअरि तब चलि जनु राजमराल।', 'हंस गवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। २, ६३।'

३ पंपासरके वर्णनसे मिलान करनेसे यहाँकी चौपाइयोंके भाव स्पष्ट हो जाते हैं। अतः यहाँ हम उनका मिलान देते हैं—

पंपासर	यहाँ
बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा।	१ बिकसे सरन्हि बहुकंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
बोलत जल कुक्कुट कलहंसा।''' सुंदर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बुलाई।	२ कलहंस पिक सुक सरस रव
चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाए। चंपक बकुल कदंब तमाला। पाटल पनस परास रसाला॥ नवपल्लव कुसुमित तरु नाना।''	३ कुसुमित नव तरुराजि बिराजा।''
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहै मनोहर बाऊ। कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं।	४ सीतल सुगंध सुमंद मारुत। पिक सरस रव

उपर्युक्त मिलानसे स्पष्ट है कि—'बहु'='नाना रंगके' अर्थात् श्वेत, पीत, अरुण, श्याम आदि रंगोंके विविध जातिके कमल।' 'मधुकरा'=मधुर मधुर शब्द करनेवाले भ्रमर। 'सरस रव' अर्थात् रसीले स्वरसे सबको मोहित और कामासक्त कर देते हैं। 'कुसुमित नव तरु राजि'=हरे नवीन पल्लवोंसे युक्त, फूल फलसे लदे हुये चंपा, कदंब, तमाल, मौलसिरी, पाकर, कटहल, ढाक या पलाश, आम आदिके वृक्ष। 'पिक सरस रव'='कुहू कुहू या पी कहाँ, पी कहाँ' का रसीला शब्द करती है जिसे सुनतेही मुनियोंके ध्यान टूट जाते हैं। ☞ यहाँ तक सब उद्दीपन है, आगे 'करि गान नाचहिं अपछरा' आलम्बन है।

४ 'करि गान नाचहिं अपछरा' इति। ☞ (क) गोस्वामीजीने 'अप्सरा' शब्दको बिगाड़ कर उसकी जगह भाव भरा हुआ 'अपछरा' शब्दका प्रयोग किया है। वे छल करने, मनको मोहित करने या चुराने आई हैं, अतः 'अपछरा' बहुतही उपयुक्त है। अपछरा=अप (=बुरी तरहसे) छरा (=छलनेवाली)। इससे भला कब किसीका भला संभव है? ये सदा तपको भ्रष्ट करती रहती हैं।—यह समझकर 'अपछरा' ही प्रायः लिखते हैं। यथा 'होहिं सगुन मंगल सुभद करहिं अपछरा गान। ६१।', इत्यादि। (ख) 'करि गान नाचहिं''' का भाव कि अपने गान तान नृत्यसे मनको विशेष मोहित करनेके लिये आई हैं। यथा 'सुरसुंदरी करहिं कल गाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनि ध्याना।१. ६१।' (ग) 'करि गान' को कोई-कोई कलहंस, पिक और शुकके साथ लगाकर भी अर्थ करते हैं, इस तरह कि—कलहंस, शुक, पिक सरस ध्वनिसे गान करते हैं और अप्सरायें उनके गानके साथ नृत्य करती हैं। पुनः 'करि गान' को देहली-दीपक भी मानकर दोनों ओर लेकर अर्थ किया जा सकता है।

दोहा—सकल कला करि कोटि विधि हारेउ सेन समेत।
चली न अचल समाधि शिव कोपेउ हृदय-निकेत ॥ ८६ ॥

अर्थ—कामदेव सेनासहित करोड़ों प्रकारसे अपनी समस्त कलायें करके हार गया। (पर) शिवजीकी अचल समाधि न डगी, तब हृदयही जिसका घर है वह कामदेव कुपित हो उठा। ८६।

नोट—१ 'सकल कला' इति। 'सकल कला' मेंसे कुछ ऊपर 'प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा।' से 'करि गान नाचहिं अपछरा' तक लिखे गए। विशेष १२६ (४७) में देखिए।

वि० त्रि०—कामका सेनापति शृङ्गार है और हावभावादि सैनिक हैं। यथा 'सेनाधिपो मे शृङ्गारो हावाभावाश्च सैनिकाः।' भाव चार हैं—स्थायी, संचारी, अनुभाव और विभाव। स्थायीके नव, संचारीके तैंतीस, विभावके दो और अनुभावके अन्तर्गत हावके ग्यारह भेद हैं। कलाएँ चौंसठ हैं। यथा 'बिब्बोका हास्तथा हावाश्चतुः षष्टिकलास्तथा। का० पु०।' ये सब कलाएँ और हाव भाव अप्सराओंके नृत्यमें दिखाये गए।

नोट—२ (क) 'हारेउ सेन समेत चली न ⋯' इति। कुमारसंभव सर्ग ३ श्लोक ४० में कहा है कि उस समय अप्सराओंका गाना सुननेपर शिवजी ध्यानमें और भी जम गए। भला आत्मेश्वरोंकी समाधि छुड़ानेमें कोई विघ्न समर्थ हो सकता है ? यथा 'श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो बभूव। आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥' पद्मपुराणमें भी कुछ ऐसा ही है—कामदेवकी कलाको समझकर वे योगमायासे आवृत होकर दृढ़तापूर्वक समाधिमें स्थित हो गए। (ख) 'कोपेउ हृदय निकेत' इति। भाव कि हृदयही कामका घर है। शंकरजीने उसका अपने घरमें जानेका रास्ताही बंद कर दिया। उसे अपने घरमें जानेका रास्ता खोलना है। अतः वह क्रोधरूपी उपायसे राह निकालनेकी युक्ति करने लगा। ☞ भला कोई अपने घरसे निकाल दिया जाय, उसमें जानेका रास्ताही बंद कर दिया जाय, तो उसे क्रोध क्यों न होगा ? क्रोध हुआ ही चाहे। ये सब भाव 'हृदयनिकेत' और 'कोपेउ' में हैं। पुनः 'हृदयनिकेत' कहकर जनाया कि उसने इन्द्रियोंको विषयोंमें प्राप्त कर दिया पर इन्द्रियाँ विषयोंको न प्राप्त हुई, विषय सामने प्राप्त होते हुये भी इन्द्रियोंने उधर न ताका तब उसे क्रोध हुआ। पुनः भाव कि हृदय उसका निकेतन (घर) है, अतः वह हृदयमें विकार उत्पन्न करनेमें समर्थ होगा। इस तरह 'हृदयनिकेत' कहकर आगेकी सफलता यहाँ प्रथमही जनाये देते हैं। ठीक ही है अपने घरमें अपनी बात चलती ही है। चलनीही चाहिए। अपनी गलीमें कुत्ता भी शेर हो जाता है। विशेष आगे चौपाईमें देखिए।

देखि रसाल* बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा ॥ १ ॥
सुमन चाप निज सर संधानें। अति रिस ताकि श्रवन लगि तानें ॥ २ ॥

शब्दार्थ—रसाल=आमका वृक्ष। साखा (शाखा) =डाल। 'माखा'—'माख' क्रिया 'मक्ष' और 'अमर्ष' दोनोंसे बनी हुई मानी जा सकती है। 'मक्ष' का अर्थ है—दंभ, दोष छिपानेकी चालाकीसे कोशिश। 'मर्ष' सहनशीलताको कहते हैं। 'अमर्ष' का अर्थ हुआ 'अधीरता' 'असहनशीलता' और इसीलिये 'रोष' और 'क्रोध' भी असहनशीलता और अधीरतासे होता है। आगे 'अब जनि कोउ माखै भट मानी।' (२५२), 'माखे लखन कुटिल भै भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें।' (२५२) और 'तुम्हरे लाज न रोष न माखा।' (६. २४) तथा यहाँ 'माख' से 'न सह सकने और इसीसे रुष्ट वा क्रुद्ध होने का भाव निकलता है। 'रोष' अर्थ लक्ष्यार्थ है। 'संधानना'=धनुषकी प्रत्यंचा चढ़ाकर उसपर बाणको लगाना। रिस=क्रोध।

अर्थ—आमके वृक्षकी एक भारी, मोटी सुंदर डाल देखकर कामदेव मनमें खिसियाया और क्रोधसे

*—बिसाल—१७०४। रसाल-१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को रा०।

भरा हुआ उसपर जा चढ़ा।१। अपने पुष्पधनुषपर अपने (पाँचों पुष्पके खास) बाण चढ़ाए और अत्यंत क्रोधसे (लक्ष्य या निशानेको) ताककर उन्हें कान-पर्यन्त ताना (खींचा)।२।

नोट—१ 'देखि रसाल बिटप' इति। (क) आम शृङ्गाररसकी मूर्ति है। इसीसे आमपर चढ़ा। आमका नामही 'रसाल' रसका आलय है और कामभी 'रसालय' है, शृङ्गाररसका रूपही है। (खर्रा)। आमके वृक्षपर चढ़नेके और भी भाव ये कहे जाते हैं,—निशाना लगाना है और निशाना ऊँचेसेही अच्छा लगता है। आजकलभी सिंहके शिकारके लिये मचान बाँधे जाते हैं जहाँसे सिंहपर निशाना लगाया जाता है। (खर्रा)। अथवा, जहाँ शिवजी समाधिमें स्थित हैं उसके समीपही आमका वृक्ष है। (पं०)। वा, आमका वृक्ष कामदेवका रथ है, अतः आमपर चढ़ा, मानों अपने रथपर चढ़कर युद्ध करनेको चला। अथवा, कामदेवने सोचा कि बाण मारकर इसके पत्तोंमें छिपभी सकेंगे जिसमें शिवजी देख न सकें। (पं०)। अतः आमपर चढ़ा। (ख) 'बर' से बड़ी श्रेष्ठ बौरोंसे लदी हुई आदि जनाया।

२ किसी किसीका मत है कि शिवजी आमकी छाँहमें समाधि लगाये बैठे थे, इसीसे कामदेव उसपर चढ़ा और कोई वटतले समाधिका लगाना और आमका वृक्ष उसके पास होना कहते हैं। पर निशाना सामनेसे और कहभी कुछ दूरीसे विशेष ठीक होता है। पद्मपुराणमें लिखा है कि समाधिस्थलकी वेदी देवदारुके वृक्षसे सुशोभित हो रही थी। और, कुमारसम्भवकाभी यही मत है, यथा—'स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम्। आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श॥' (कु० सं० ३।४४) अर्थात् देवदारुवृक्षके नीचे वेदिकापर व्याघ्रचर्म बिछाए हुए समाधिस्थ त्र्यम्बक शिवजीको कामदेवने, जिसकी मृत्यु निकट आगई है, देखा। मानसमें शिवजीका निवास प्रायः वटतले देखा जाता है। पर किस स्थानपर श्रीरघुनाथजीने उनको दर्शन दिए और कहाँ, इसपर मानसकवि चुप हैं।

३ आम, आमके पुष्प और आमके बौर ये सभी कामदेवको अतिप्रिय हैं। कुमारसम्भवमें नवीन आम्रपल्लवोंसहित आमके पुष्प और बौरको मदनका बाण कहा गया है। यथा 'सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे। निवेशयामास मधुर्द्विरेफान् नामाक्षराणीव मनोभवस्य। सर्ग ३।२७।' अर्थात् आमके कोमल पत्तेही जिनके पंख हैं ऐसे नवीन बौररूपी बाणोंको तैयारकर वसंतने उनपर भ्रमरोंको बिठा दिया है जो ऐसे जान पड़ते हैं मानों बाणोंपर नाम खोद दिया गया है।

☞'देखि' इति। पूर्व कहा था कि 'कोपेउ हृदयनिकेत' और अब कहते हैं कि 'देखि रसाल' चढ़ेउ।' इस तरह पद्मपुराणका भावभी यहाँ जना दिया कि 'पहले वह वृक्षकी शाखासे भ्रमरकी भाँति झंकार करते हुये भगवान् शंकरजीके कानमें होकर हृदयमें प्रविष्ट हुआ था पर वे उसके कुचक्रको समझकर दृढ़ता-पूर्वक समाधिमें स्थित होगए। उनके योगमायासे आविष्ट होनेपर कामदेव जलने लगा, अतः वह वासनामय व्यसनका रूप धारण करके उनके हृदयसे बाहर निकल आया।' बाहर निकलनेपर 'देखि रसाल' कहा।

४ 'मन माखा' इति। जब मनुष्य अपने कार्यसाधनमें रुकावट देख खिसिया जाता है और वह मरण निश्चय जान लेता है तब उसका क्रोध और साहस बहुत बढ़ जाता है और उस दशामें वह बड़ा भारी काम कर डालता है। यही बात 'मन माखा' कहकर जनाई गई है।

५ 'सुमन चाप निज सर संधानें।' इति। (क) 'संधानें' बहुवचन क्रिया देकर 'निज सर' से पुष्पके पाँचों बाणोंका धनुषपर लगाना जनाया। अथवा, पद्मपुराणके अनुसार 'निज सर' से जनाया कि 'आमके बौरका मनोहर गुच्छ लेकर उसमें मोहनास्त्रका अनुसंधान किया'—यही उसका बाण था जो उसने चलाया। (ख) 'अति रिस ताकि श्रवन लगि तानें' इति। अभीतक तो कामदेव सेनाकी सहायता से काम करता रहा था। जब उसने देख लिया कि सेना अपना सब करतब (कर्त्तव्य) कर चुकी, कुछ बन न पड़ा, तब स्वयं अकेलाही समाधि छुड़ानेपर उद्यत हुआ। इसीसे यहाँ अब सेनाको नहीं लिखते। रिसमें आकर वीर मनुष्य अपना पूरा पूरा पुरुषार्थ करनेपर उतारू हो जाता है, उसके बाण कराल हो जातेही हैं।

श्रीराम खरदूषणादि और श्रीराम-रावणादिके समरमें इसके अनेक प्रमाण हैं। कानपर्यन्त प्रत्यंचा खींचनेका भाव यह है कि उसने उसमें अपना भरपूर बल लगा दिया। प्रत्यंचा जितनाही ताना या खींचा जाता है, बाणभी उतनेही अधिक वेगसे जाता है जिससे दुर्भेद्यकोभी भेदा जासकता है। मिलान कीजिए— 'तानि सरासन श्रवनं लगि पुनि छाँड़े निज तीर॥ तब चले बान कराल।""कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिखँ निसित निकाम॥' (३. १९-२० खरदूषण प्रसंग); वैसेही यहाँ 'सुमन चाप निज सर संधानें। अति रिसें ताकि श्रवनं लगि तानें। छाँड़े विषमं बिसिख०।' पुनः रावणसमरमेंभी ऐसाही देखिए। यथा 'भए क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध""। तानेउ चाप श्रवनं लगि छाँड़े बिसिखँ करालें। राम मारगनं गन चले""। ६।९०।', 'खैंचि सरासन श्रवन लगि छाँड़े सर एकतीस। ६। १०१।'—इससे रावणके प्राणही लेलिये। वैसेही यहाँ कामदेवनेभी देवताओंका काम करनेके लिये प्रबल शत्रु शिवजीके लिए कानतक शरासन खींचकर उनके हृदयको लक्ष्य करके अपने खास तीक्ष्ण बाण छोड़े और उन्होंने जाकर पूरा काम किया।

छाँड़े* विषम बिसिख† उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥३॥

भएउ ईस मन छोभु बिसेषी। नयन उघारि सकल दिसि देखी॥४।

शब्दार्थ—विषम=तीक्ष्ण।=पाँच। ८३ (८) देखिये। बिसिख (सं० विशिख)=बाण। छोभ (क्षोभ)=उद्वेग, चंचलता, खलबली। उघारना=खोलना।

अर्थ—(फिर) तीक्ष्ण (पाँचों) बाण छोड़े (जो जाकर) हृदयमें लगे तब समाधि छूट गई और शिवजी जागे। ३। समर्थ शंकरजीके मनमें बहुत क्षोभ हुआ। उन्होंने नेत्र खोलकर सब दिशायें देखीं।४।

नोट—१ 'छाँड़े विषम" ' इति। (क) सारी कलायें जब कारगर नहीं होतीं तब 'निज सर' से काम लिया जाता है। वैसे ही यहाँ सब तरह हार माननेपर उसने अपने खास पंचबाणोंका प्रयोग किया। 'विषम बाणोंके' संधानकी विषमता वा तीक्ष्णता दिखाते हैं कि उन्होंने जाकर शिवजीके हृदयको वेध डाला। यहाँ 'विषम' के दोनो अर्थ हैं। (ख) कामके पाँचों बाण बड़े भयंकर हैं। यथा 'त्वदाशुगानां यद्वीर्यं तद्वीर्यं न भविष्यति। वैष्णवानाञ्च रौद्राणां ब्राह्मणाञ्च तादृशम्।' इनका वीर्य वैष्णवास्त्र, रौद्रास्त्र और ब्रह्मास्त्रसे भी अधिक है। कामदेवको ब्रह्माजीका वरदान था कि विष्णु, शिव और मैं भी तुम्हारे अस्त्रके वशवर्त्ती रहेंगे। यथा 'अहं विष्णुर्हरश्चापि तवास्त्रवशवर्त्तिनः। का० पु०।' (वि० त्रि०)। (ग) 'छूटि समाधि""' इति। समाधि छूटी, अतः ध्यान जाता रहा। पूर्व कहा था कि—'मन थिरु करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना।' तथा 'शिव समाधि बैठे सब त्यागी।'—अब बाण लगनेसे वह सब बातें जाती रहीं। ध्यान मन की एकाग्रतासे होता है सो जो मन स्थिर था वह अब अस्थिर हो गया, जैसा आगे कहते हैं—'भएउ ईस मन छोभु बिसेषी।' ☞ ब्रह्माजीने जो कहा था कि 'पठवहु कामु जाइ शिव पाहीं। करै छोभु संकर मन माहीं।', उस वाक्यको यहाँ चरितार्थ किया; अर्थात् वैसा यहाँ काम द्वारा करवाके दिखाया गया, वह काम पूर्ण हो गया।

२ (क) 'भएउ ईस मन छोभु बिसेषी' इति। 'विशेष क्षोभ' से कामके बाणकी 'विषमता' कही। 'पुष्पधनुषपर पुष्पबाण चढ़ाकर उससे समाधि छुड़ाना, अपूर्ण कारणसे कार्यका उत्पन्न करना 'द्वितीय विभावना अलंकार' है।' (वीरकवि)। 'ईश' का भाव कि श्रीरामजीकी माया ऐसी प्रबल है कि 'अक्षोभ' और 'ईश्वर' अर्थात् ऐश्वर्यमान् समर्थ शिवजीतकका मन क्षुब्ध हो गया। (वै०)। (ख) शंका—'शिवजी तो श्रीरामजीके ध्यानमें थे तब कामदेवसे उनको विघ्न क्यों हुआ?', समाधान—प्रभु की तो आज्ञा थी कि— 'अब उर राखेहु जो हम कहेऊ' (७७)। 'जाइ बिबाहहु सैलजहि' (७६) यह प्रभुने कहा था और इसीको हृदयमें धरनेको कहा था। शिवजीने यह आज्ञा शिरोधार्य भी की, यथा 'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा।',

* छाड़ेउ। † बान—१७२१, छ०, भा० दा०। बिसिष—१६६१।

'आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी' (७७)। परन्तु तत्पश्चात् इस आज्ञाका पालन न कर वे समाधिस्थ हो बैठे, उनकी आज्ञाको हृदयमें धरनेके बदले उन्होंने उनकी मूर्ति हृदयमें धर ली और श्रीपार्वतीजी तथा देवताओं का दु ख हरना इस समय परम आवश्यक है। अतएव समाधिमें विघ्न हुआ। (वै०)। (ग) 'नयन उघारि' इति। इससे जनाया कि शिवजीकी समाधिमें नेत्र बंद थे। (पद्मपुराणकी कथामें उनके नेत्र अधखुले थे और उनकी दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर जमी हुई थी। उससे एकवाक्यता यों की जा सकती है कि पूर्व जो नेत्र अधखुले थे और एक ओर ध्यानमें लगे हुये थे उनको उस ओरसे उठाकर पूरा खोला और सब दिशाओंमें देखा।) नारदजीकी समाधिमें नेत्र खुले हुये थे, इसीसे वहाँ नेत्रोंका खोलना नहीं लिखा गया। पुन', 'उघारि' से यह भी जनाया कि कामके किसी करतबसे नेत्र नहीं खुले वरच मनमें चचलता आजानेपर उसका कारण देखनेके लिये उन्होंने स्वय नेत्रोंको खोला। (घ) 'सकल दिसि देखी'—सब दिशाओंमें देखा कि चित्तके विकारका क्या कारण है, यथा 'हेतु स्वचेतो विकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम्।' (कु० स० सर्ग ३। ६९)।

सौरभ पल्लव मदनु बिलोका। भएउ कोपु कंपेउ त्रैलोका॥ ५॥
तब शिव तीसर नयन उघारा। चितवत कामु भएउ जरि छारा॥ ६॥

अर्थ—आमके पत्तोंमें (छिपे हुए) कामदेवको (उन्होंने) देखा (तो) उन्हें बड़ा क्रोध हुआ जिससे तीनों लोक काँप उठे। ५। तब शिवजीने तीसरा नेत्र खोला। देखते ही कामदेव जलकर राख हो गया। ६।

नोट—१ (क) 'सौरभपल्लव मदनु बिलोका' इति। पूर्व कामदेवका आमकी मोटी डालपर बैठना कहा था, यथा 'देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदनु मन माखा' और यहाँ लिखते हैं कि 'सौरभपल्लव मदनु बिलोका'। इसमें भाव यह है कि कामदेवने बाण मारनेके लिये बड़ारूप धारण किया, इसीसे बड़ी मोटी शाखापर चढ़कर वहाँसे बाण छोड़े। बाण छोड़नेपर जब क्षोभ हुआ और शिवजी नेत्र खोल देखने लगे तब छोटारूप धरकर आमके पत्तोंमें छिप गया। (शिकारीकी पोशाकभी हरी होती है, पत्ते भी हरे, कामका शरीर भी श्याम।) यथा —'तरुपल्लव महँ रहेउ लुकाई' (श्रीहनुमान्‌जी)—(खर्रा)। 'मदन बिलोका'—कामदेवको देखा। दूसरा भाव कि देखकर जनाया कि अब तू सच ही 'मदन' हो जायगा तेरा 'मद' न रह जायगा, तेरा नाश ही किये देता हूँ। (ख) 'भएउ कोपु कपेउ त्रैलोका' इति। 'कोप' देखकर ऐसा अनुमान होता था कि प्रलय करना चाहते हैं। इसीसे त्रैलोक्य काँप उठा। एक बार सतीका मरण सुनकर कोप किया था सो सब देवता देखे हुए हैं कि दक्षयज्ञकी क्या दशा हुई। उसके पश्चात् यह कोप देखा तो भयभीत हो गए कि न जाने क्या कर डालें ? हमारे मित्र कामदेवका नाश न कर डालें।

२ (क) 'तब शिव तीसर नयन उघारा' इति। श्रीशिवजीके प्रत्येक सिरमें तीन तीन नेत्र हैं, इसीसे त्रिनेत्र या त्रिलोचन भी उनका नाम है। चद्रमा, सूर्य और अग्नि तीन नेत्र हैं, यथा 'भारती बदन बिष अदन सिव ससि-पतग पावक नयन'—(क० उ० १५२), 'निठुर निहारिए उघारि डीठि भाल की'—(क० उ० १६६)। पहले दो नेत्रोंसे देखा कि कामदेव कहाँ छिपा हुआ है और तीसरा नेत्र उसको भस्म करनेके लिए खोला, क्योंकि जलाना काम अग्निका है। कोई-कोई महानुभाव ऐसा भी कहते हैं कि दो नेत्र सूर्य चन्द्ररूप जगत्‌की उत्पत्ति और पालन करते हैं और अग्निनेत्र प्रलय करनेवाला है। इसीसे त्रैलोक्यवासी काँप उठे। कुमारसभवके अनुसार कामदेवको देखते ही तीसरे नेत्रसे अग्निज्वाला निकल पड़ी। (ख) तीसरे नेत्रसे जलानेके अनेक भाव टीकाकारोंने लिखे हैं जिनमें से कुछ ये हैं—

(१) तीसरे नेत्रसे जलाया क्योंकि कामभी चारों फल, अर्थ, धर्म, काम और मोक्षमें तीसरा है (रा० प्र०)। वा, (२) यह तुच्छ जीव है, जो नेत्र घुरेरनेहीसे काम चले तो शस्त्र क्यों चलावें। (पंजाबीजी)।

था, (३) कामका मनमें प्रवेश करनेका फाटक नेत्र है; इसलिये द्वारहीपर मारा, भीतर न आने दिया। (रा० प्र०)। या, (४) श्रीरामजी आपसे पार्वतीजीको ग्रहण करनेको कह गये थे, उसमें काम समाधि छुटाकर सहायक हुआ, इसलिए नेत्रावलोकन कृपा दृष्टि है। उसपर यह कृपा की कि अबतक तन होनेसे एकदेशीय था, अब सर्वदेशी बना दिया, यथा 'बिनु बपु ब्यापिहि सबहि अब' (८७)। (पं० रा० प्र०)।

—अग्निनेत्रसे चितवना और कामका भस्म होना, कारण और कार्य एकसाथ होनेसे 'अक्रमातिशयोक्ति' अलंकार हुआ—(वीरकवि)।

नोट—३ 'चितवत' अर्थात् आँख खुलते ही दृष्टि उसपर पड़ते ही वह भस्म हो गया, देर न लगी, देवता मुँहसे कुछ बात भी न कह सके। यथा—'स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात ॥ क्रोध प्रभो! संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति। तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥कु० स०।३।७१-७२।' अर्थात् कामदेवको देखते ही उनके तीसरे नेत्रसे अग्निज्वाला निकली और जबतक देवगणके मुखसे वचन निकलें-निकलें कि हे प्रभो! क्रोधको रोकिये, रोकिये, तबतक ज्वालाने कामदेवको भस्मही कर डाला।

हाहाकार भयउ जग भारी। डरपे सुर भए असुर सुखारी ॥ ७ ॥
समुझि कामसुख सोचहिं भोगी। भए अकंटक साधक जोगी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—हाहाकार=शोर, हलचल, हा हा! हाय! हाय!—ये शोकके वचन हैं। डरपना=डरना, यथा 'एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महिदेव श्राप अति घोरा। १। १६६।' भोगी=इन्द्रियोंका सुख चाहनेवाले; विषयासक्त, विषयी; व्यसनी लोग। अकंटक=कंटक (काँटा) रहित=निष्कंटक, विघ्नबाधारहित; बेखटका।

अर्थ—संसारमें बड़ा हाहाकार मच गया। देवता डर गये और दैत्य प्रसन्न हुये। ७। विषयी लोग काम-सुखको याद कर-करके शोचमें पड़ गये और साधक योगी निष्कंटक हो गए। ८।

नोट—१ 'हाहाकार भयउ जग भारी। डरपे सुर०' इति। देवताओंने जब तारकासुरसे पीड़ित हो श्रीब्रह्माजीसे जा पुकार की तब 'सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुजनिधन तब होइ। संभु सुक्रसंभूत सुत एहि जीतइ रन सोइ ॥ ८२ ॥ मोर कहा सुनि करहु उपाई।' श्रीब्रह्माजीकी आज्ञानुसार देवताओंने शिवजीकी समाधि छुड़ानेके लिये कामदेवको भेजा था। श्रीशिवजीने अग्नि नेत्र खोलकर कामदेवको भस्म कर दिया। देवता भयभीत हो गये हैं, क्योंकि कामही जब भस्म हो गया तो शिवजीके वीर्यसे पुत्र उत्पन्न होना ही असम्भव हो गया, पुत्र न उत्पन्न होनेसे तारकासुरका वध नहीं हो सकता, अब असुर और भी सतावेंगे। जो कारण देवताओंके शोकका हुआ, वही असुरोंकी प्रसन्नताका हुआही चाहे। दूसरा कारण भयका यह है कि हम लोगोंने कामदेवको समाधि छुड़ाने भेजा था, यह जानकर शिवजी हमें भी दंड न दें। जैसे दक्षयज्ञमें दक्षकी सहायता करनेवाले सब देवताओं और मुनियोंको भी भारी दंड दिया गया था।—यह तो स्वर्गवासियोंके भयका कारण हुआ। पुनः भाव कि कामके नाशसे तो सभीके वंशोंका अब नाश ही हुआ, पितृतर्पणादि कौन करेगा? इत्यादि। इससे जगत्‌के और लोगोंमें हाहाकार मचा।

२ 'समुझि काम सुख सोचहिं भोगी ' ' इति। (क) विषयी लोगोंको चिन्ता हो गई कि अब विषय-सुख भोग कैसे करेंगे। मैथुन विषयानंद आठ प्रकारका है; इसीसे विषयीका कामसुख समझकर सोचना कहा। अथवा, वे सोचते हैं कि कामदेव भस्म कर दिया गया तब तो हम अब कामवासना ही न पैदा होगी, अतः भोगके सुखसे अब हम सदाके लिये वंचित रहेंगे। (ख) 'भए अकंटक साधक जोगी' इति। साधक योगियोंके लिये काम काँटा है अर्थात् शत्रु है; यथा 'भए कामबस जोगीस तापस पावँरन्हि की को कहै। ८५।' वे अकंटक हो गए अर्थात् शत्रुहीन हो गए। यथा 'आए करै अकंटक राजू। २।२२८।'

३ ☞ यहाँतक शिवजीकी समाधि छुड़ानेके प्रसंगमें कामदेवके तीन आक्रमण या एकके बाद

एक करके तीन बार उपाय करना कहकर यह भी दिखाया गया है कि 'सिद्ध, विरक्त, महामुनि, योगीश, तापस' आदिसे श्रीशिवजी कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। सिद्धादिको मारने (कामवश करने) में न तो कामदेवका ही काम पड़ा और न उसकी सेनाका। वे तो उसके प्रभावमात्रसे ही मारे गए। देखिए कामदेव जब देवताओंसे बिदा होकर चला तब प्रथम उसने केवल अपना प्रभाव फैलाया, यथा 'तब आपन प्रभाउ बिस्तारा' और इतनेहीसे उसने 'निज बस कीन्ह सकल संसारा।' कामके प्रभाव एवं कौतुकका वर्णन 'तब आपन प्रभाउ बिस्तारा' ८४ (५) से लेकर 'धरी न काहू धीर ...' ८५ तक है। इस खेलमात्र (प्रभावदर्शनमात्र) से 'भए कामबस जोगीस तापस'। पर इसका किंचित् भी प्रभाव शिवजीपर न पड़ा।—यह प्रथम आक्रमण हुआ। शिवजीपर कुछ भी प्रभाव न पड़नेसे वह खिसिया गया और प्राणोंपर खेलकर उसने दूसरा उपाय रचा। उसने रुचिर ऋतुराजको प्रकट किया। वनकी परम सुभगता आदि उपाय रचे जिसे देख 'मुएहुँ मन मनसिज जागा।' 'मुएहु मन' से जनाया कि सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी' और 'जोगीस तापस', जिनका पूर्वही कामके प्रभावसे ही पराजित होना कह आए हैं, उनसे ये 'मुएँहु मन' अधिक हैं, क्योंकि इनको प्रभावमात्रसे न वश कर सका था, इनके लिये विशेष उपाय रचना पड़ा था। ८६ (६)-८६ 'मुएँहु मन' देखिये।—यह दूसरा आक्रमण है, जो 'मरनु ठानि मन रचेसि उपाई' ८६ (५) से लेकर 'सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत।' (८६) तक वर्णित है।—यहाँ काम और उसकी सेनाकी कलाओंका बल दिखाया, पर इसका भी प्रभाव शिवजीपर न पड़ा। तब उसने स्वयं अपना निजका पुरुषार्थ दिखाया जो 'कोपेउ हृदयनिकेत' (८६) से 'छाड़े बिषम बिसिख उर लागे।' तक है। यह तीसरा आक्रमण है। इससे शिवजीकी समाधि छूट गई।

४ 'कामु भएउ जरि छारा' इस एक कारणसे ही कई विरोधी कार्य एकसाथ उपस्थित हो गए। देवता डरे, असुर सुखी हुए, भोगी चिंतित हुए और योगी निष्कंटक हो गए। अतः यहाँ 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

छंद—जोगी अकंटक भए पति-गति सुनत रति मुरुछित भई।
रोदति बदति बहु भाँति करुना करत संकर पहिं गई॥
अति प्रेम करि बिनती बिबिध बिधि जोरि कर सन्मुख रही।
प्रभु आसुतोष कृपाल सिव अबला निरखि बोले सही॥

शब्दार्थ—रति-कामदेवकी स्त्री जो दक्षके पसीनेसे उत्पन्न उनकी कन्या मानी जाती है। सबसे अधिक रूपवती और सौंदर्यकी साक्षात् मूर्ति होनेसे समस्त देवताओंके मनमें, इसे देखकर, अनुराग उत्पन्न हुआ था, इसीसे इसका नाम 'रति' पड़ा। करुना (करुणा)-वह दुःख जो अपने प्रिय बंधु इष्ट मित्रादिके वियोगसे उत्पन्न होता है। शोक। सही-सत्यही, सचमुच, निश्चय।

अर्थ—योगी वेखटके हो गए। रति अपने पतिकी दशा सुनते ही मूर्च्छित हो गई। रोती, पीटती है, विलाप करती है, (इस तरह) बहुत प्रकारसे शोक करती हुई वह (कल्याणकर्त्ता) शंकरजीके पास गई। अत्यन्त प्रेमसे बहुत प्रकारसे विनती करके वह हाथ जोड़ सामने खड़ी रह गई। समर्थ, शीघ्र प्रसन्न होनेवाले, दयालु शिवजी अबला (असहाय स्त्री) को देख बोलेही तो सही। (अर्थात् दुःखित देख रहा न गया, करुणा आगई और प्रसन्न होकर ये शुभ वचन बोल ही पड़े।)

नोट—१ (क) 'पति गति सुनत' इति। किससे सुना? पद्मपुराण और कुमारसंभवमें तो 'रति' का कामदेवके साथ वहाँ जाना और आक्रमणमें सहायक होना कहा गया है, यथा 'समाधवेनाभिमतेन सख्या रत्या च सा शंकमनुप्रयातः। अंगव्ययप्रार्थितकार्यसिद्धिः स्थाण्वाश्रमं हैमवतं जगाम॥' (कु० स० ३. २३)। अर्थात् मदन अपने प्रिय सखा वसंत और रतिके साथ हिमाचलपर शिवजीके आश्रममें यह निश्चय करके गया कि चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ पर देवकार्य सिद्ध कर दूँगा। इनके अनुसार रतिने कामदेव

को भस्मीभूत होते स्वयं देखा। पर मानसकार यहाँ 'पति गति सुनत' अर्थात् दूसरोंसे कामदेवकी गतिका सुनना लिखते हैं। इसीसे रतिका समीप होना नहीं पाया जाता। उससे दूर ही वह रही होगी। 'हाहाकार भएउ जग भारी'—यह देवताओंका हाहाकार सुनकर उसे कामदेवके भस्म होनेका हाल मिला अथवा नारदजीने समाचार दिया हो। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'कामदेवने विभाव प्रस्तुत कर दिया था, पर वहाँ अनुभावही नहीं हुआ, स्थायी भाव पुष्ट कैसे हो? अतः रतिका आगमन न होसका था। उसने पतिकी गति सुनी।'

(ख) 'रुदति'—यह रीति स्त्रियोंमें प्रायः नित्य ही देखनेमें आती है कि मृतककी प्रशंसा कर-करके रोती हैं, कहीं कहीं सिर और छातीभी पीटती हैं, ये सब भाव 'रुदति' शब्दमें ध्वनित हैं। रावणके मरनेपर भी ऐसा ही हुआ था, यथा 'पति सिर देखत मंदोदरी। मुरछित बिकल धरनि खसि परी॥ जुवति-बृंद रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं॥ पतिगति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहि बपुष सँभारा॥ उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥ तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी॥ सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा॥ बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सनमुख धरि काहु न धीरा॥'...'तव बस बिधि प्रपंच सब नाथा।' (६।१०३)। ऐसा ही यहाँ भी समझ लेना चाहिये। (ग) 'रुदति करुना करत' इति। 'कुमारसम्भव' सर्ग ४ में रतिका विलाप कालिदासजीने वर्णन किया है। उसमेंसे किंचित् यहाँ लिखा जाता है।—हे प्राणनाथ! तुम्हारा सुन्दर शरीर इस दशाको प्राप्त देखकरभी मेरा हृदय विदीर्ण नहीं होता। हा! स्त्री कैसी कठोर होती है। हे पति! तुम जो यह कहा करते थे कि तू मेरे हृदयमें रहती है, मेरी प्रिया!' वे वचन तुम्हारे कहाँ गए? वे वचन तो आज मुझे छल ही प्रतीत होते हैं, नहीं तो तुम्हारा शरीर नष्ट होनेपर 'रति' नष्ट क्यों न हुई?... तुम्हारे हाथोंसे बना हुआ वसन्त सम्बन्धी पुष्पोंका यह आभरण मेरे अङ्गोंपर वर्तमान है, परन्तु वह तुम्हारा सुन्दर शरीर नहीं दिखाई देता। क्रूर देवताओंके स्मरण करनेपर मेरे पैरोंमें महावर समाप्त किए बिना ही तुम चले गए थे, अब आकर उसे पूरा तो करो।...हे पति! तुमसे अलग होकर मैं छनभरभी जीती रह सकी, यह निन्दा अवश्य मुझे प्राप्त होगी।...हे कामदेव! इस समय दर्शन दो। यह वसन्त तुम्हारा दर्शन चाहता है, पुरुषोंका प्रेम स्त्रियोंमें स्थिर भले न हो, पर मित्रोंपर तो अवश्य ही होता है।...दुःसह दुःखसे मेरा रंग धूम्रसा हो गया है। मुझे देखो तो सही! हे वसन्त! देखो चन्द्रिका चन्द्रके साथ जाती है, बिजली मेघके साथ नष्ट होती है, स्त्री पतिके मार्गमें जानेवाली है, यह जड़ भी जानते हैं, मुझे अग्नि देकर तुम पति के समीप पहुँचा दो।...' (श्लोक ५-३८)।—यही सब बहु भाँतिकी करुणा है।

(घ) 'संकर पहिं गई'। शंकर शब्दकी सार्थकता उनके आचरणमें प्रकट कर दिखाई है। कल्याण कर्त्ता उनका नाम ही है। अतः व कल्याण करेंगे, अतः शंकरके पास गई और उन्होंने कल्याण किया भी।

२ 'अति प्रेम करि बिनती'...' इति। इससे जनाया कि 'रोदति बदति बहु भाँति करुना करत' ये शिवजीके पास पहुँचनेके पूर्व मार्गमें चलते हुए समयकी दशाका वर्णन है। समीप पहुँचनेपर 'अति प्रेम' से विनती करने लगी। पद्मपुराणमें उसकी 'विविध भाँतिकी विनती' विस्तारसे है।* कल्याणमय, शरण्द,

---

* पद्मपु० सृष्टिखंडमें पुलस्त्य भीष्मसंवादमें मदनदहनप्रसंगकी कथा भी है। पुलस्त्यजी कहते हैं—कामदेवको भगवान् शिवके हुङ्कारकी ज्वालासे भस्म हुआ देख रति उसके सखा वसन्तके साथ जोर-जोरसे रोने लगी। फिर वह त्रिनेत्रधारी भगवान् चन्द्रशेखरकी शरणमें गई और धरतीपर घुटने टेककर स्तुति करने लगी।

रति बोली—जो सबके मन हैं, यह जगत् जिनका स्वरूप है और जो अद्भुत मार्गसे चलनेवाले हैं उन कल्याणमय शिवको नमस्कार है। जो सबको शरण देनेवाले तथा प्राकृतगुणोंसे रहित हैं उन भगवान् शंकरको नमस्कार है। भक्तोंको मनोवांछित वस्तु देनेवाले महादेवको प्रणाम है। कर्मोंको उत्पन्न करनेवाले

मनोवाञ्छित प्रदान करनेवाले, इत्यादि विशेषणोंको दे देकर उसने बारंबार नमस्कार करके अन्तमें अपना मनोरथ इस प्रकार कहा है—मैं अपने प्रियतमकी प्राप्तिके लिये सहसा आपकी शरणमें आई हूँ। भगवन्! मेरी कामनाको पूर्ण करनेवाले और यशको बढ़ानेवाले मेरे पतिको मुझे दे दीजिये। मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकती। पुरुषेश्वर! प्रियाके लिये प्रियतम ही नित्य सेव्य है। आपही इस भुवनके स्वामी और रक्षक हैं। आप परमदयालु और भक्तोंका दुःख दूर करनेवाले हैं।'

३ 'प्रभु आसुतोष कृपाल शिव' इति। 'प्रभु' का भाव कि आप समर्थ हैं। कर्त्तुं अकर्त्तुं, होनी-अनहोनी, संभव असंभव आप सब कुछ कर सकते हैं। कामदेवको जला दिया, उसे जिला भी सकते हैं। 'आसुतोष' हैं अर्थात् कोई आपका कितना ही अपराध क्यों न करे पर यदि फिर दीन होकर विनती करे तो आप उसके पूर्व कृत अपराधोंपर किंचित् भी विचार न करके उसपर शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। ☞ प्रीति एवं क्रोध तीन प्रकारके कहे गए हैं—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। यथा—'उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि। प्रीति परिच्छा तिहुन की बैर व्यतिक्रम जानि। दोहावली ३५२।' आपका क्रोध उत्तम है, शीघ्र मिट जाता है जैसे पानीकी लकीर। 'कृपाल' हैं, प्रसन्न होकर शीघ्र कृपा करते हैं, रतिपर भी कृपा करेंगे। 'शिव' अर्थात् कल्याणस्वरूप हैं। कामदेवके बिना सृष्टि कैसे चलेगी? देवताओंका कल्याण कैसे होगा? यह सब समझकर कल्याणका उपाय करेंगे। (ग) 'अबला निरखि' इति। प्रथम 'प्रभु' कहकर 'अबला निरखि' कहनेका भाव कि असहाय, असमर्थको देखकर समर्थकीसी बात कहेंगे, कृपा करेंगे, कृपा न करनी होती तो मौन रह जाते, बोलते नहीं। 'अबला' नाम ही यहाँ दीनता, निर्बलता, पराधीनता, असहायता और पतिविहीनता सूचित कर रहा है। 'अबला' का अर्थ है—'नहीं है बल जिसके'। स्त्री पराधीन है पर जबतक पति रहता है तबतक उसे पतिके बलसे बल रहता है। पतिके मर जानेपर, एकमात्र बल जो उसको था, वह भी न रह गया और वह यथार्थ ही 'अबला' हो गई। इसीसे 'अबला' शब्द बहुत ही उत्तम यहाँ प्रयुक्त हुआ है। (घ) 'बोले सही'। ☞ यहाँ दिखाया कि जब विनती मन, कर्म, वचन तीनों से की जाती है तब देवता शीघ्र प्रसन्न होते हैं। रतिने मन, वचन, कर्म तीनोंसे विनती की। यहाँ 'अति प्रेम' से मन, 'करि विनती' से वचन और 'जोरि कर' से कर्म सूचित किया गया। इसीसे शिवजी शीघ्र प्रसन्न हो गए। ग्रन्थमें इसके उदाहरण सर्वत्र हैं।

नोट—४ ☞ यहाँ तक मदनकी चढ़ाई और दहन प्रसंगमें चार हरिगीतिका छन्द आए हैं। चार छन्दोंके प्रयोगका भाव यह कहा जाता है कि यहाँ कामदेवने चार चतुष्टयोंको विजय किया है—(१) तप, योग, ज्ञान, वैराग्यको। (२) देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरको। (३) चारों वर्णों और (४) चारों आश्रमोंको। वे० भू० प० रामकुमारदासजी कहते हैं—(क) यहाँके चारों छन्द कामसंबंधी ही हैं। परन्तु तीन छन्दोंमें 'रतिनाथ', 'काम' और 'मनोभव' शब्द क्रमशः स्वतंत्ररूपसे आए हैं और चौथेमें रतिकी गौणतामें आया है। प्रथम छन्दमें 'रतिनाथ' का भाव है—रति (आसक्ति) + नाथ (नाथृबंधने) अर्थात् जिसने सबको अपनेमें आसक्त (अर्थात् कामासक्त) करके बाँध लिया है। इस अर्थका स्पष्टीकरण

महेश्वरको नमस्कार है। देव! आप ललाटमें चन्द्रमाका चिह्न धारण करते हैं, आपको नमस्कार है। आपकी लीलाएँ असीम हैं। उनके द्वारा आपकी उत्तम स्तुति होती रहती है। वृषभराज नंदी आपका वाहन है। आप दानवोंके तीनों पुरोंका अंत करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप सर्वत्र प्रसिद्ध हैं और नानाप्रकारके रूप धारण किया करते हैं, आपको नमस्कार है। कालस्वरूप आपको नमस्कार है तथा काल और कल दोनोंसे अतीत आप परमेश्वरको नमस्कार है। आप चराचर प्राणियोंके आचारका विचार करनेवालोंमें सबसे बड़े आचार्य हैं। प्राणियोंकी सृष्टि आपहीके संकल्पसे हुई है। आपके ललाटमें चन्द्रमा शोभा पाते हैं।

दोहेमें किया गया है, यथा—'भए सकल बस काम'। दूसरे छन्दमें 'काम'—शब्द देनेका भाव कि ब्रह्मांडभरको वश करनेमें उसे किंचित् भी प्रयास नहीं करना पड़ा। ब्रह्मांडको वश करना उसका एक कौतुक मात्र था। इसीसे दूसरे छन्द में 'काम' शब्द दो बार आया है—'भए कामबस जोगीस' और 'काम कृत कौतुक अयं'। कामवश होना कहकर फिर यह भी उसी 'काम' शब्दसे बताया कि कामने सबको कैसे वशमें कर लिया। काम=इच्छा। कामकृत=इच्छामात्रसे किया। अर्थात् उसने कौतुककी इच्छा मात्रकी, बस सब वशीभूत हो गए। प्रथम दो छन्दोंमें दिखाया कि इच्छामात्रके कौतुकसे जीवित-मनवालोंको वशमें कर लिया और तीसरे में दिखाया कि 'मुये' मन को सहायकोंकी कृपाद्वारा वश किया और स्वयं मुये मनमें प्रवेश करके उसे जगाया। इसीसे यहाँ 'मनोभव' नाम दिया गया। जब अपनी इच्छामात्र तथा साथियोंकी सहायतासेभी शिवजीको न क्षुब्ध कर सका तब शरीरके बलका प्रयोग किया और शरीरसे विनाशको प्राप्त हो गया। चौथेमें रतिकी गौणतामें कहकर जनाया कि रतिकी याचनासे (यहाँ 'नाथृ' धातु 'याचने' अर्थमें है। उसे शक्ति एवं शरीर प्राप्त हुआ। शक्ति तुरन्त ही प्राप्त हो गई; इससे उसे पहले कहा। शरीर कालान्तरमें प्राप्त हुआ, अतः उसे पीछे कहा।

(ख) कर्मकांडी और शुष्क ज्ञानवाले ज्ञानियोंका वश होना और उपासकोंका उबारना कहा। शिवजी ज्ञानी उपासक हैं अतः काम उनसे डर गया और उन्होंने उसपर निग्रह-अनुग्रह भी किया। ज्ञानी उपासकोंसे काम डरता है, यथा 'नारद बिष्नु भगत पुनि ज्ञानी' अतः 'कामकला कछु मुनिहि न ब्यापी। निज भय डरेउ मनोभव पापी।'

दोहा—अब तें रति तव नाथ कर होइहि नामु अनंगु।
बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि सुनु निज मिलन प्रसंगु ॥८७॥

शब्दार्थ—अनंग=बिना अंगका; कामदेवका नाम है। प्रसंग=बात।

अर्थ—हे रति! अबसे तेरे स्वामीका नाम 'अनंग' होगा। वह सबको बिना शरीरहीके व्यापेगा। (यदि वह कहे कि मुझे तो उससे सुख न होगा तो उसको सान्त्वना देनेके लिये स्वयं ही यह भी कहते हैं (कि) और अब तू अपने पतिसे मिलनेकी बात सुन। ८७।

नोट—१ (क) 'होइहि नाम अनंगु' इति। अर्थात् अबसे कामदेवका नाम मात्र रहेगा, शरीर न रहेगा, पर क्रियाकारिता रहेगी। केवल तेरे मिलापके लिये मैं उसे शरीर देता हूँ। (ख) 'बिनु बपु ब्यापिहि'—यह अनुग्रह है, प्रसाद है। इस आशीर्वादसे संसारका काम होता रहेगा। 'बिनु बपु ब्यापिहि सबहि—' प्रसन्नताका फल है। अभीतक वह एकदेशीय था और 'अब सबको बिना अंगके ही व्यापेगा', इस आशीर्वाद से वह सर्वदेशीय, सर्वव्यापी बन गया। (ग) 'सुनु मिलन प्रसंग' अर्थात् कब और कहाँ वह तुमसे सशरीर मिलेगा अब यह भी बताता हूँ सो सुन। उसको प्रद्युम्नजीकी प्राप्ति कैसे हुई यह प्रसंग श्रीमद्भागवत स्कंध १० उत्तरार्ध अ० ५५ में है।

जब जदुबंस कृष्नु अवतारा। होइहि हरन महा महिभारा ॥ १ ॥
कृष्नतनय होइहि पति तोरा। बचनु अन्यथा होइ न मोरा ॥ २ ॥
रति गवनी सुनि संकर-बानी। कथा अपर अब कहौं बखानी ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—यदुबंस (= यदुवंश) = राजा यदुका कुल। राजा ययातिके बड़े पुत्रका नाम यदु था जो शुक्राचार्यकी लड़की देवयानीसे पैदा हुआ था। ययातिने जब उससे युवावस्था माँगी और उसने वृद्धावस्थाके बदलेमें अपनी युवावस्था देना स्वीकार न किया तब ययातिने शाप दे दिया। शापकी बात श्रीकृष्णजीने स्वयं उग्रसेनसे कही है। यथा 'ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने। भा० १०।४५।१३।' अर्थात् हम यादवोंको शाप है, इससे हम राजसिंहासनपर नहीं बैठ सकते। प० पु० भूमिखण्डमें लिखा है

कि ययातिने शाप दिया कि 'तेरा वंश राज्यहीन होगा। उसमें कभी कोई राजा न होगा' फिर यदुकी प्रार्थना-पर कि मैं निर्दोष हूँ, मुझ दीनपर दया कीजिए, राजाने प्रसन्न होकर वर दिया कि भगवान् तेरे वंशमें अंशोंसहित अवतार लेंगे, उस समय तेरा कुल शापसे मुक्त और पवित्र हो जायगा। यदुवंशका वर्णन भा० । ९ । ३० में दिया है।

अर्थ—जब पृथ्वीका भारी भार हरण करनेके लिये यदुवंशमें (भगवान्का) श्रीकृष्णावतार होगा।१। तब श्रीकृष्णजीका पुत्र (प्रद्युम्न) तेरा पति होगा। मेरा वचन असत्य नहीं होता। २। श्रीशंकरजीके वचन सुनकर रति चली गई। अब दूसरी कथा विस्तारसे कहता हूँ। ३।

नोट—१ (क) 'जब जदुबंस ' ' इति। अर्थात् द्वापरके अन्तमें। इससे ज्ञात पड़ता है कि पार्वती-जन्म-तप तथा मदन-दहन यह सब सम्भवतः त्रेताही में हुआ। (ख) 'हरन महि भारा' इति। द्वापरमें बहुतसे राक्षसही मनुष्यरूप धारणकर पृथ्वीपर आए थे, यथा 'भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः। आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ। भा० १०। १। १७। अर्थात् जरासंध, कंस, शिशुपाल, वक्रदंत, दुर्योधनके भाई इत्यादि सब पूर्व जन्ममें राक्षस थे। इन्हींका नाश करनेकेलिये भगवानने यदुवंशमें अवतार लिया। ये सब भूमिपर भारस्वरूप थे। भा० ११। ३। २३ में भी कहा है। यथा 'एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी। रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम्।' अर्थात् यदुवंशमें बलराम और कृष्णरूपसे जन्म लेकर पृथ्वीका भार उतारा।

२ 'कृष्नतनय होइहि पति तोरा' इति। भा० १० उत्तरार्ध अ० ५५ में कथा है कि श्रीकृष्णजीके पुत्र प्रद्युम्नजीको सूतिकागृहसेही शंबरासुर उठा ले गया था, जब वे दस दिनके भी न थे और लेजाकर समुद्रमें डाल दिया था। वहाँ एक बलवान् मत्स्यने उनको निगल लिया। दैवयोगसे यह मत्स्य एक मछुवाहेके जालमें फँसगया। धीवरलोग उसे राजाकी भेंटके योग्य समझकर उस मत्स्यको शंबरके निकट लेगए। शंबरासुरके रसोइयेने जब उसका पेट चीरा तो उसमेंसे एक सुंदर बालक निकला। उन्होंने लेजाकर उसे मायावतीको दे दिया जो शम्बरासुरके यहाँ रसोईकी देखभालका काम करती थी। मायावतीको बड़ा आश्चर्य हुआ। नारदजीने उसी समय आकर उसे बताया कि यह कामदेवका अवतार है। मायावती पूर्वकी रति थी जो इस रूप और नामको धारणकर अपने पतिकी प्रतीक्षा कर रही थी। नारदजीसे मालूम होनेपर वह उनका पालन करनेलगी। मायावतीने प्रद्युम्नको सब वृत्तांत पूर्व और वर्तमान जन्मका बताया और प्रद्युम्नको मोहनी माया सिखाई जिससे वे शंबरासुरको मारसके। शंबरासुरके वधके बाद पति-पत्नी दोनों श्रीरुक्मिणीजी (प्रद्युम्नजीकी माता)के पास गए। खोए हुए बेटेको पाकर सब प्रसन्न हुए। हिंदीशब्दसागरमें न जाने कहाँसे किस प्रमाणसे यह लिखा है कि प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्ध कामदेवके अवतार कहे गए हैं। जो भी हो यदि ऐसा कहीं प्रमाण हो भी तो भी वह न तो गोस्वामीजीका संमत है न शंकरजीका और न भागवतका। भा० १०। उ० ५५ के 'कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना। देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत। १। स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः। प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः। २।' अर्थात् वासुदेवके अंश कामदेवने रुद्रद्वारा भस्म किये जानेपर पुनः शरीर प्राप्तिके लिये वासुदेवहीका आश्रय लिया। वह कामदेवही भगवान् कृष्णके वीर्यद्वारा रुक्मिणीजीके गर्भसे प्रद्युम्नरूपसे उत्पन्न हुआ।—इस उद्धरणसे प्रद्युम्नजीकाही रतिपति होना स्पष्ट है।

३ (क) 'होइहि पति तोरा' का भाव कि तब तेरा पति अनंग न रहेगा, सदेह होकर तुझको पति-सुख देगा। (ख) 'बचनु अन्यथा होइ न मोरा' इति। अन्यथा=व्यर्थ, असत्य, निष्फल। शिवजी न भी कहते तब भी वचन झूठा नहीं हो सकता था। यह जो कहा वह केवल उसके विश्वास और परितोषके लिये। ऐसेही श्रीरामजीके वचन श्रीमनुशतरूपाजी-प्रति और भुशुण्डिप्रति हैं,—'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥ पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भए भगवाना॥ १५२।', 'पुनि

पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥···भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥ ७।८६।' इसीतरह नारदप्रति भगवान्‌के वचन हैं,—'जेहि बिधि होइहि परमहित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥ १३२॥'—इत्यादि। (खर्रा)।

४ (क) 'रति गवनी सुनि संकर बानी' इति। श्रीशंकरजीकी वाणी अर्थात् कल्याणकारी कथाकी इति यहाँ लगाई। 'रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिं गई' उपक्रम और 'रति गवनी सुनि संकर बानी' उपसंहार है। रतिको सद्यः पतिकी प्राप्ति नहीं हुई, अतः वह हर्षित नहीं है और दूसरे युगमें मिलनेकी ध्रुव आशा है, इससे उसे विषाद भी नहीं है। अतः हर्ष-विषाद कुछ न कहकर 'रति गवनी' मात्र कहा गया। 'अबला निरखि बोले सही' और 'रति गवनी' के बीचमें शंकरवाणी है। ☞ मदन-दहन प्रसंग यहाँ समाप्त हुआ। यह सब कथा श्रीशम्भुचरितके अन्तर्गत है, जो 'सुनहु संभु कर चरित सुहावा' ७५ (६) पर प्रारंभ हुआ था। (ग) 'कथा अपर अब कहौं बखानी'। यहाँसे अब पार्वती विवाहकी कथा प्रारंभ होती है। 'अपर' अर्थात् शिवसमाधि, मदनदहन और रतिवरदानकी कथा कही, अब दूसरी कथा कहते हैं।

श्रीशंभुचरितान्तर्गत मदन-दहन-प्रसंग समाप्त हुआ।

(शंभुचरितान्तर्गत)

उमा-शंभु-विवाह-प्रसंग

देवन्ह समाचार सब पाए। ब्रह्मादिक बैकुंठ सिधाए॥ ४॥
सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गए जहाँ सिव कृपानिकेता॥ ५॥

अर्थ—देवताओंने सब समाचार पाए। ब्रह्मा आदि (सब देवता) वैकुण्ठको चले।४। (वहाँसे) विष्णु और ब्रह्माजी सहित सब देवता जहाँ कृपाके धाम श्रीशिवजी थे, वहाँ गए।५।

नोट—१ 'देवन्ह समाचार सब पाए' इति। नारदजीने रतिको मदनदहनकी सूचना दी, फिर उसको वरदान होतेही उन्होंने देवताओं और ब्रह्माजीको खबर दी। ब्रह्माजीने कहाही था कि शंकरजीकी समाधि छूटनेपर हम जाकर उनका जबरदस्ती विवाह करवायेंगे; अतः देवता तुरंत ब्रह्माजीके पास समाचार पातेही पहुँचे। अथवा, कामदेवको शिवजीके पास भेजकर वे ब्रह्मलोक वा ब्रह्माजीकी कचहरीमें ही बने रहे, अपने अपने स्थान को लौट न गए थे, इसीसे 'तब बिरंचि पहिं जाइ पुकारे' कहकर वहाँसे उनका लौटना नहीं कहा। यथा 'एहि बिधि भलेहि देवहित होई। मत अति नीक कहै सबु कोई'। यह कहकर वक्ता 'अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू' यह कहते हैं। अतः वहीं नारदजीसे समाचार मिलनेपर तुरत ब्रह्माजीको साथ लेकर वे वैकुण्ठ श्रीविष्णु भगवान्‌के पास गए। 'सब' अर्थात् मदनका प्रभाव फैलाना, कोटि कलायें रचना, फिर स्वयं पंचवाण चलाना, त्रिनेत्रका उसे भस्म करना और रतिको वरदान देना, यह सब समाचार।

२ 'सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता' से जनाया कि भगवान् विष्णुको साथ लेनेके लिए वैकुण्ठ गए थे। ☞ स्मरण रहे कि अन्यत्र भी लिखा गया है कि विधि, हरि, हर ये त्रिदेव जगत्‌के कार्यके लिए एक-पादविभूतिमें रहते हैं। जिसके द्वारा जो कार्य होनेको होता है उसके पास अन्य दो जाते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं। उसी तरह यहाँ भी ये दोनों शिवजीके पास गए। त्रिपाठीजीका मत है कि बरिआईं विवाह कराना है और विष्णुपर शिवजीकी बड़ी प्रीति है, इनको ले चलनेसे शिवजीपर अधिक दबाव पड़ेगा। इसलिये सब वैकुण्ठको गए।

३ 'गए जहाँ सिव कृपानिकेता' इति। अभी कृपा करके रतिको वरदान दिया ही है, यथा 'प्रभु आसुतोष कृपाल सिव०'। अतः 'कृपानिकेत' विशेषण दिया। पुनः भाव कि देवताओंने कामको विघ्न करने

भेजा तब भी इनपर रुष्ट न होकर कृपा ही करेंगे, इनकी प्रार्थना स्वीकारकर सबका दुःख हरेंगे, यह जनानेके लिये प्रारम्भमें ही यह विशेषण बीजरूपसे दिया।

पृथक पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भए प्रसंन चंद्र अवतंसा॥ ६॥
बोले कृपासिंधु वृषकेतू। कहहु अमर आए केहि हेतू॥ ७॥
कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी। तदपि भगतिबस बिनवौं स्वामी॥ ८॥

अर्थ—उन सबोंने अलग अलग शिवजीकी स्तुति की। चन्द्रशेखर श्रीशिवजी प्रसन्न हुए। ६। दयासागर धर्मकी ध्वजा शिवजी बोले—हे देवताओ! कहिये, आप किसलिये (कैसे) आए ? । ७। ब्रह्माजीने कहा—हे प्रभो! आप अन्तर्यामी हैं (सबके हृदयकी जानते ही हैं), तथापि, हे स्वामी! भक्तिवश मैं आपसे विनती करता हूँ। ८।

नोट—१ 'पृथक पृथक' इति। (क) सब स्वार्थके लिए आए हैं, अर्थार्थी हैं और आर्त्त भी हैं; इसीसे सबने अलग अलग स्तुति की, जिसमें शिवजी प्रसन्न हो जायँ। (ख) 'भए प्रसन्न चंद्र अवतंसा' इति। अवतंस–टीका, भूषण, शिरोभूषण। 'चंद्र अवतंसा'=चन्द्रमा जिनका शिरोभूषण है=चंद्रशेखर। 'चन्द्रअवतंस' विशेषणका भाव—(१) क्षीण, हीन, दीन, दुर्बलको आश्रय देनेवाले हैं। देवता लोग इस समय अपने लोकोंसे निकाले हुए, यज्ञभागसे वंचित क्षीण, दुर्बल तथा ऐश्वर्यके छिनजानेसे, 'सुख संपत्ति-रीते' हो जानेसे दीन और दुःखित हैं; उनको भी आश्रयदाता होंगे। (२) चद्रमाको आश्रय देकर जगत्पूज्य बना दिया, वैसेही देवगणकी रक्षाका उपाय करके उनको फिरसे ऐश्वर्यसंपन्न करके उनकी प्रतिष्ठा स्थापित कर देंगे। (३) चन्द्रमा गुरुद्रोही और वक्र है, और देवताओंने भी स्वार्थवश जगद्गुरु शंकरजीका अपराध किया, तो भी जैसे चंद्रमाको अपनाया वैसेही इनको अपनायँगे। (४) चन्द्रमा शरदातपको हरता है वैसेही शिवजी देवताओंके संतापको हरेंगे। (५) दक्षने चन्द्रमाको शाप दिया, उसी दक्षने सतीजीका अपमान किया। जैसे दक्षसे त्रासित चन्द्रमाको आपने ग्रहण किया वैसे ही दक्षसे अपमानित सतीको जो अब पार्वतीरूपमें हैं आप स्वीकार करेंगे। इत्यादि।

२ यहाँ पंजाबीजीने यह शंका की है कि—'देवताओंमें भगवान् विष्णु और ब्रह्माजी भी थे। इनको शिवजीने न प्रणाम ही किया और न अभ्युत्थानका शिष्टाचार किया। यह क्यों ?' और इसका समाधान यह किया गया है कि शिवजीके उपास्यदेव श्रीरघुनाथजी हैं, उनको छोड़ वह और किसीको बड़ा नहीं मानते, यथा 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नाएउ माथ। ११६।' परन्तु भा० ४।६।४० 'स तूपलभ्यागतमात्मयोनिं सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः। उत्थाय चक्रे शिरसाऽभिवन्दनमर्हत्तमः कस्य यथैव विष्णुः॥' (अर्थात् सुरेश तथा असुरेशोंसे भी वन्दित शंकरजीने ब्रह्माजीको आया हुआ देख इस तरह सिर झुकाकर और उठकर प्रणाम किया जैसे भगवान् विष्णु वामनरूपसे कश्यपजीके पुत्र होनेसे कश्यपजीको प्रणाम करते हैं)। एवं भा० ४. ७. २२ 'प्रणेमुः सहसोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः।'। (अर्थात् दक्षयज्ञशालामें भगवान् विष्णुको आये हुये देख ब्रह्मा, इन्द्र, शिवजी आदिने उठकर उनको प्रणाम किया।), इन प्रामाणिक वाक्योंसे विरोध पड़ता है। इनमें शिवजीका ब्रह्माजी एवं भगवान्को प्रणाम करना स्पष्ट कहा है। इसका समाधान ८८ (३) के नोट २ में भी कुछ लिखा जा चुका है।

☞ विविध पुराणोंके देखनेसे प्रत्येक पक्षपातरहित मनुष्य इस सिद्धान्तपर पहुँचेगा कि विष्णु, शंकर और ब्रह्मा तीनोंहीके 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'नित्यविज्ञानानन्दघन निर्गुणरूप सर्वव्यापी', 'सगुण एवं निराकाररूप' और 'ब्रह्मा विष्णु रुद्र' ये रूप सिद्ध होते हैं। विष्णुपुराणमें श्रीपराशरजी भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि 'निर्विकार, शुद्ध, नित्य, परमात्मा, सर्वदा एक रूप, सर्वविजयी, हरि, हिरण्यगर्भ, शंकर, वासुदेव, आदि नामोंसे प्रसिद्ध, संसारतारक, विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके कारण,

एक और अनेक स्वरूपवाले, स्थूल, सूक्ष्म, उभयात्मक व्यक्ताव्यक्त स्वरूप एवं मुक्तिदाता भगवान् विष्णुको मेरा बारंबार नमस्कार है। इस संसारकी उत्पत्ति, पालन एवं विनाश करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेशकेभी मूलकारण, जगन्मय उस सर्वव्यापी भगवान् वासुदेव परमात्माको मेरा नमस्कार है। विश्वाधार, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सर्वभूतोके अन्दर रहनेवाले, अच्युतपुरुषोत्तम भगवान्को मेरा प्रणाम है। वि. पु. १।२।१५।

भा० ४।७।५१५४ में श्रीमन्नारायणवाक्य हैं कि मैं ही सृष्टि, पालन और संहार कृत्योंके अनुकूल ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप धारण करता हूँ। इसी प्रकार ब्रह्माजीके बारेमें देवीपुराण ८३।१३-१६ में कहा गया है कि 'उत्तम बुद्धिवाले, व्यक्ताव्यक्त रूप, त्रिगुणमय, सबके कारण विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार कारक ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूप तीनों भावोंसे भावित होनेवाले देवाधिदेव ब्रह्मदेवके लिये नमस्कार है। हे महाभाग! आप रजोगुणमें आविष्ट होकर हिरण्यगर्भरूपसे चराचर संसारको उत्पन्न करते हैं तथा सत्त्वगुणयुक्त होकर विष्णुरूपसे पालन करते हैं एवं तमोमूर्ति धारण करके रुद्ररूपसे संपूर्ण संसारका संहार करते हैं।'

भा० ८।७।७४५ में कालकूटसे जलते हुए देवदानवगण जब शंकरजीके पास गये तब प्रजापतियोंने शंकरजीकी स्तुति करते हुए ऐसा ही कहा है। जैसे श्रीमद्भागवतमें भगवान्का वाक्य है कि 'अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्॥' यथार्थमें इन तीनों एक हैं। वैसे ही शिवपुराणमें शिववाक्य है 'त्रिधा भिन्नोऽहं विष्णो ब्रह्माविष्णुहराख्यया। एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बंधनं भवेत्॥' लिंगपुराणमें कई अद्भुत कथाएँ ऐसी हैं जिनसे देवताओंमें श्रेष्ठ विष्णु और ब्रह्मासे भी शिवका उत्कर्ष दिखाया गया है। लिंगपुराणमें जिस प्रकार शिवजीको परब्रह्म परमात्मस्वरूप माना है, उसी प्रकार अन्य पुराणोंमें विष्णु आदिको सर्वशक्तिमान् माना है। परन्तु सर्वशक्तिमान् परमेश्वर स्वरूप है एक ही व्यक्ति, किसी भी पुराणमें परमेश्वरकी शक्तिका भागीदार नहीं मिलता। पूर्ण पुरुषकी ही भिन्न-भिन्न नामोंसे वंदना की गयी है। हिन्दू विचारोंका अद्भुत ऐक्य ही हिन्दूधर्मकी महान् विशेषता है।

शिवपुराणमें कहा गया है कि 'ये तीनों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) एक दूसरेसे उत्पन्न हुए हैं, एक दूसरेको धारण करते हैं और एक दूसरेके अनुकूल आचरण करते हैं। कहीं ब्रह्माकी प्रशंसा की जाती है, कहीं विष्णुकी और कहीं महादेवकी। उनका उत्कर्ष एवं ऐश्वर्य इस प्रकार एक दूसरेकी अपेक्षा अधिक कहा है मानो वे अनेक हों।'

वैसे ही यहाँ कहा है कि 'सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गये जहाँ सिव कृपानिकेता॥ पृथक-पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भये प्रसन्न चंद्र अवतंसा।' इस संबंधसे शिवजीकी अतिशय प्रशंसा 'संबंधातिशयोक्ति' अलंकार है।

उपर्युक्त वाक्योंसे यह स्पष्ट है कि वस्तुतः एकही ब्रह्म सृष्टि-कार्यनिमित्त तीन रूप धारण करता है। तीनोंमें गुणजन्यभेद होनेपर भी वास्तविक अभेद है। इसकी पुष्टि विष्णुपुराणके 'सृष्टिस्थित्यन्तकारणीं ब्रह्माविष्णुशिवाभिधाम्। स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः।' एकही भगवान् सृजन, रक्षण, और हरणरूप कार्य करनेसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश नामोंको प्राप्त होते हैं। नाम रूपका भेद है, परन्तु वस्तुतत्त्वमें कोई भेद नहीं है।

जब जिसके द्वारा सृष्टि-रक्षा आदिका कार्य होनेको होता है तब उसके पास शेष दो रूप देवगण सहित जाते हैं और उसकी स्तुति करते हुए उसको जगत्मात्रका स्वामी, स्रष्टा, उद्भवस्थिति संहारकर्त्ता और अपनेको उनका सेवक कहते हैं। वास्तवमें तीनों एकही तत्त्व हैं, अभेद हैं। तब कौन किसका वंद्य कहा जाय? वे परस्पर एक दूसरेसे वंद्य हैं।

रह गया यह कि यहाँ प्रणामादि क्यों न किये गये। इसका कारण तो यही जान पड़ता है कि ब्रह्माजीके वचन भी सत्य करने हैं। उन्होंने कहा था कि 'तब हम जाइ सिवहि सिरु नाई।...'। इसीलिये

ब्रह्माजीका स्तुति आदि करना लिखा गया और शिवजीका उनको प्रणाम करना नहीं कहा गया। यहाँ ब्रह्माजी सेवकभाव लेकर आए हैं, यह 'सिरु नाई' एवं 'कह बिधि तुम्ह प्रभु' से स्पष्ट है। तब शिवजी प्रणाम कैसे करते? वास्तवमें कोई किसीसे न्यूनाधिक नहीं है। ब्रह्माजी परपितामह हैं, आगे समधी बनकर बारातमें जायँगे। भगवान्‌के व्यंग्य वचन सुन सुनकर शिवजी हँसते देखे जाते हैं, क्योंकि हरि और उनके वचन दोनोंही शिवजीको प्रिय हैं। यथा 'मनहीं मन महेस मुसुकाहीं। हरिके व्यंग्य बचन नहि जाहीं॥ अति प्रिय वचन सुनत प्रिय केरे।' (६३)।

नोट—३ (क) 'बोले कृपासिंधु वृषकेतू।' इति। कृपाके समुद्र हैं, असीम कृपा करेंगे। वृष (बैल, धर्म) आपकी पताकापर है। उपकार परम धर्म है, यथा 'श्रुति कह परम धर्म उपकारा'। इस तरह (=वृषकेतु परोपकाररूपी परम धर्म) आपकी पताकापर है। भाव कि आप परोपकारका पता का बाँधे वा फहरा रहे हैं। कृपा की और परोपकार करेंगे। (खर्रा)। पुनः भाव कि धर्मध्वज हैं। अतः धर्मकी, वेदमर्यादाकी रक्षा अवश्य करेंगे। (ख) 'कहहु अमर आए केहि हेतू' इति। 'अमर' संबोधनसे ही अभय दान दे रहे हैं जैसे श्रीरघुनाथजीने विभीषणको 'लंकेस' कहकर सम्बोधन किया था। 'कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी।०' यह 'कहहु अमर आए केहि हेतू' का उत्तर है। (ग) 'तदपि भगति बस बिनवौं०'। भाव कि जिस लिए हम आये हैं सो तो आप जानतेही हैं तो भी भक्तिभावके अनुसार अन्तर्यामीसे कहाही जाता है, यह भक्तिकी रीति है, स्वामी जानते हुए पूछते हैं और भक्त कहता है। जैसे मनुजीसे माँगनेको कहा गया तब उन्होंने कहा कि 'सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी'। उसपर भगवान्‌ने कहा 'सकुच बिहाइ मागु नृप मोही। १४६।' तब उन्होंने माँगा। यह भक्तिकी रीति है। मिलान कीजिए—'जद्यपि अवध सदैव सुहावन। रामपुरी मंगलमय पावनि॥ तदपि प्रीतिकी रीति सुहाई'। यही भाव 'भगति—बस' का है।

दोहा—सकल सुरन्ह के हृदय अस संकर परम उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिबाहु॥ ८८॥

अर्थ—१ हे श्रीशंकरजी! हे नाथ! समस्त देवताओंके हृदयमें ऐसा परम उत्साह है (कि) आपका ब्याह अपनी आँखोंसे आपका ब्याह देखना चाहते हैं। ८८।

अर्थ—२ हे नाथ! कल्याणकारी मंगलोत्सव आपका ब्याह अपनी आँखोंसे देखना चाहते हैं, ऐसा सब देवताओंके हृदयमें है। ८८।

नोट—१ 'सकल सुरन्ह के हृदय अस'। भाव कि यह उनके हृदयकी बात है जो वे प्रगट न कर सकते थे, आप 'अन्तर्यामी' हैं जानतेही हैं, वही मैंने आज्ञानुसार प्रगट कह सुनाया। 'निज नयनन्हि चहहिं' इन वचनोंमें भी संकोच भरा हुआ है। संकोच न होता तो कहते कि 'निज नयनन्हि देखहिं' के सब देवता आपका विवाह देखें। देवता संकोचवश हैं, इसीसे उन्होंने स्वयं न कहा, विधिने उनकी चाह अपनी ओरसे कही। (प० रा० कु०)। पुनः 'सकल सुरन्ह' का भाव कि मैंने तो पहिला व्याह जो सतीके साथ हुआ था उसे देखा है। पर उस मन्वन्तरके देवता अब रहे नहीं, साथके सब देवता इस मन्वन्तरके हैं इन्होंने आपके व्याहकी कथा केवल सुनी है। अतः ये लोग अपनी आँखोंसे देखना चाहते हैं। (वि० त्रि०)। उछाहु-मंगल, आनन्द, उत्साह, उत्कंठा। यथा 'तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजसु', 'प्रभु बिबाह जस भएउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥', 'रामरूपु भूपति भगति ब्याहु उछाहु अनंदु। जात सराहत मनहिं मन मुदित गाधिकुलचंदु'।

यह उत्सव देखिअ भरि लोचन। सोइ कछु करहु मदन-मद-मोचन॥ १॥
कामु जारि रति कहुँ बरु दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा॥ २॥

सासति करि पुनि करहिँ पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥ ३॥

शब्दार्थ—पसाउ (सं० प्रसाद, प्रा० पसाव)=प्रसाद, कृपा, अनुग्रह। यथा 'चारित कुँवर बियाहि पुर गवने दसरथ राउ। भए मंजु मंगल सगुन गुरु-सुर संभु-पसाउ॥' (श्रीरामाज्ञाप्रश्न ३८)।

अर्थ—हे कामदेवके मदको छुडानेवाले! वही (ऐसाही) कुछ कीजिये कि सब लोग यह उत्सव नेत्र भरकर देखें। १। 'कामदेवको जलाकर रतिको वरदान दिया', हे दयासागर! यह आपने बहुतही अच्छा किया। २। हे नाथ! समर्थ स्वामियोंका यह सहज (जन्मका) स्वभावही है कि वे दंड देकर फिर अनुग्रह किया करते हैं। ३।

नोट—१ 'यह उत्सव देखिअ ' इति। (क) पूर्व कहा कि 'निज नयनन्हि देखा चहहिं तुम्हार बिबाहु' और यहाँ 'यह उत्सव' फिर कहकर जनाया कि विवाह देखनेकी बड़ी लालसा है, भारी उत्कंठा है। ☞ जो विषय अत्यंत प्रिय होता है, उसके थोड़े सेवनसे तृप्ति नहीं होती, इन्द्रियोंको उसके भरपूर भोगनेकी इच्छा होती है, इसीसे 'भरि लोचन' देखनेको कहा। (ख) ☞ जहाँ जहाँ दर्शनकी भारी उत्कंठा देखी जाती है, वहाँ वहाँ कविने 'भरि लोचन' देखना कहा है। यथा—

उत्कंठा		दर्शन
'हृदय बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ। …	१	भरि लोचन
तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची। ४८।'		छबिसिंधु निहारी
'रामचरनबारिज जब देखौं। तब निज जनम सुफल करि लेखौं	२	निज प्रभु बदनु निहारि
भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं …।' ६।११०, १११		निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी।

३—'मंगलमूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि करि।'

४—'सबके उर कबहिं देखिबे नयन भरि राम लखन दोउ बीर। १. ३००।'

पुनः, (ग)—'भरि लोचन' अर्थात् जी भरकर देखनेका भाव कि सब तारकासुरसे सताये हुए हैं, शीघ्र विवाह हो जाय जिसमें हम सब बारातमें जाकर जी भरकर आनंद लूटें, नहीं तो यदि उसने हमें सता ही लिया कैद कर लिया या ऐसा कोई कड़ा दंड दिया कि हम विवाहमें न जा सकें, तो फिर ब्याह कौन और कैसे देखेगा? जीकी लालसा जीहीमें रह जायगी। (घ) 'सोइ कछु करहु' अर्थात् जिससे भी कार्य बने वही कीजिए, हम और कुछ नहीं कहते। (ङ) 'मदन-मद-मोचन' संबोधन देकर देवता सूचित करते हैं कि हम जो विवाह करनेकी प्रार्थना करते हैं यह कुछ इस लिये नहीं कि आपकी तृप्ति होगी; क्योंकि आप तो कामके मदके मर्दन करनेवाले हैं, आपने तो कामको जलाही डाला; किंतु इससे कहते हैं कि देवताओंका संकट दूर हो। *आप अपने सुखके लिये विवाह न करें सही, किंतु हमारे हेतु करें, हमें विवाह* देखनेका सुख दें। भक्तोंकी रुचि रखनेके लिये विवाह कीजिए। (रा० प्र०; बै०)।

२ 'काम जारि…' इति। (क) यह मानवप्रकृति है। जिसको प्रसन्न करना होता है उसके किये हुए कार्यकी प्रथम प्रशंसा की जाती है। वैसा ही यहाँ देखा जाता है। (ख) 'सासति करि पुनि…' इति। इस अर्धालीको अर्धाली २ 'काम जारि…' और अर्धाली ४ 'पारबती तपु कीन्ह…' के बीचमें दीप-देहली-न्यायसे रखकर जनाया कि यह आगे पीछे दोनों अर्धालियोंके साथ है। कामको दंड दिया फिर रतिपर करुणा करके प्रसन्न हो वरदान देकर कामदेवपर अनुग्रह भी किया। ब्रह्माजी गुप्त रीतिसे दरसाते हैं कि इसी प्रकारसे सतीजीने सतीतनमें आपकी अवज्ञा की, इष्टका अपमान किया, झूठ बोलीं, इत्यादि अपराध किये। उसका दंड अबतक उनको बहुत मिल चुका। आप स्वामियोंके सहज स्वभावको जानते ही हैं। अपने उस प्रभुत्वके सहज स्वभावसे अब उसपर भी कृपा कीजिये। (ग) 'कृपासिंधु…' इति। अर्थात् दयानिधान लोगोंको जैसा चाहिये वैसा ही आपने किया। इससे सृष्टिका कार्य न बिगड़ेगा। (घ) 'नाथ प्रभुन्ह कर…' इति। यथा 'नाथं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये। देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया।

भा० ४। ७। २।' यह धाक्य शिवजीको दक्षके सम्बन्धमें है कि दक्ष-जैसे बालबुद्धिवालोंके अपराधको न मैं कहता हूँ और न स्मरण ही करता हूँ। केवल सावधान करनेके लिए थोड़ा दण्ड दे दिया है। श्रुतिसेतुकी रक्षाके लिये दण्ड देना आवश्यक है। यथा 'जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा। ७। १०७। ४।'

पारबती तपु कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अंगीकारा ॥ ४ ॥
सुनि बिधि बिनय* समुझि प्रभु बानी। ऐसेइ होउ कहा सुखु मानी ॥ ५ ॥

अर्थ—पार्वतीने भारी तप किया है, अब उसे (वा उसके तपको) अंगीकार कीजिए। ४। ब्रह्माजीकी विनती सुनकर और प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका वचन याद करके शिवजीने आनन्द एवं प्रसन्नतापूर्वक कहा कि 'ऐसा ही हो'। ५।

नोट—१ (क) 'तप कीन्ह अपारा' कहनेका भाव कि उग्र तपस्या करनेसे वे अब शुद्ध हो गई हैं और यह तपभी आपहीके लिये ही किया है। 'अपारा' कहा क्योंकि ऐसा तप किसीने नहीं किया, यथा 'अस तपु काहु न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ज्ञानी।' (ख) 'करहु तासु अब अंगीकारा' इति। भाव कि आप पति हो, इसीलिये यह अपार तप किया गया। आप तप करनेवालेको उसका फल दिया करते हैं, अतः इसके तपको सुफल कीजिए, उसका मनोरथ पूरा कीजिये। अंगीकार=स्वीकार।=ग्रहण।

२ (क) 'सुनि बिधि ' इति। भाव कि 'बिधि' की विनय है, अतः 'विधि' ही है, करनी ही चाहिए। उल्लंघन करने योग्य नहीं है। 'प्रभु बानी' है, अर्थात् स्वामी (श्रीरामजी) की आज्ञा है सो भी भंग करने योग्य नहीं। अतः दोनों माननीय हैं, कर्त्तव्य हैं। 'बिधि बिनय'—'कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी' से (८) से यहाँ 'करहु तासु अब अंगीकारा' तक है। और 'प्रभु बानी' दोहा ७६ 'जाइ बिबाहहु सैलजहिं ' 'अब उर राखेहु जो हम कहेऊ।' है। (ख) प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके वचन अकेले ही इस कार्यके लिए काफी थे, तो भी साथ ही साथ एक कारण यहाँ, ब्रह्माजीकी प्रार्थना, और भी उपस्थित हो गया, इस प्रकार यहाँ 'द्वितीय समुच्चय अलंकार' हुआ। यथा 'एक काजके करनको हेतु जु होवैं अनेक। ताहि समुच्चय दूसरो बरनैं कवि सविवेक ॥'—(अ० मं०)।

तब देवन्ह दुंदुभीं बजाईं। बरषि सुमन जय जय सुरसाईं ॥ ६ ॥
अवसरु जानि सप्तरिषि आए। तुरतहि बिधि† गिरिभवन पठाए ॥ ७ ॥

अर्थ—तब देवताओंने नगाड़े बजाए और फूलोंकी वर्षा कर करके 'जय जय सुरसाईं' (हे देवताओंके स्वामी! आपकी जय हो! जय हो!!) ऐसा कहने लगे। ६। उचित समय जानकर सप्तर्षि आए। ब्रह्माजीने तुरन्त ही उनको हिमाचलके घर भेजा। ७।

नोट—१ 'तब देवन्ह ' इति। (क) 'तब' अर्थात् जब शंकरजीने कह दिया कि 'ऐसेइ होउ' तब। इससे जनाया कि पहले सन्देह था कि पार्वतीजीको अंगीकार करेंगे या नहीं जैसा कि ब्रह्माजीने उनसे कहा था, यथा 'जदपि अहइ असमंजस भारी' एवं 'जदि बिधि भलहि देवहित होई।' 'भलेहि' सन्देहवाचक है। (ख) 'दुंदुभीं बजाईं' इससे अपना हर्ष सूचित किया। दुंदुभी एक वचन है 'दुंदुभीं' बहु वचन है। अनुस्वार बहुवचनका चिह्न है। 'नदी' का बहुवचन 'नदीं', यथा 'नदीं उमगि अंबुधि कहुँ धाईं' और 'तलाई' का बहुवचन 'तलाईं' है, यथा 'सगम करहिं तलाव तलाईं' (८५)। जैसे नगाड़े बजाना हर्षका सूचक है वैसे ही 'बरषि सुमन ' भी हर्षके ही कारण हो रहा है। यथा—धनुषके टूटनेपर 'पुर अरु ब्योम बाजने

* वचन—१७०४। विनय—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।
† हिमि—१७०४। बिधि—अन्य सबोंमें।

बाजे। सुर किन्नर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा।' (२६५), और फिर विवाह हो जानेपर—'सुनि हरषहिं बरषहिं बिबुध सुरतरु सुमन सुजान।' (३२४)। इसी तरह शिव पार्वती विवाह हो जानेपर 'हिय हरषे तब सकल सुरेसा॥ जय जय जय संकर सुर करहीं॥ बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। सुमन बृष्टि नभ भइ बिधि नाना॥' (१०१)।—देवता लोग स्वार्थकी सिद्धि देखकर इस प्रकार अपना हर्ष प्रकट किया करते हैं। (ग) 'सुरसाई' कहा क्योंकि पार्वतीजीका ग्रहण करनेसे देवताओंकी रक्षा होगी। स्वामी सेवककी रक्षा करता ही है।

२ (क) 'अवसर जानि०' इति। शिवजीने पार्वतीजीको ग्रहण करना स्वीकार कर लिया है, ब्रह्मादि देवता अभी यहीं उपस्थित हैं, बस तुरत इसी समय लग्न निश्चितकर बारात सजा ली जाय, फिर कहीं समाधि आदिकी शंका न रह जाय। उचित अवसरपर काम करनेसे सराहना और सफलता होती है। 'अवसर कौड़ी जो चुकै बहुरि दिए का लाख। दुइज न चदा देखिये उदय कहा भरि पाख। दोहावली ३४४।' इससे जनाया कि सप्तर्षियोंको बड़ी लालसा है कि इस महामंगलमें हम भी किसी प्रकारसे निमित्त बनें। अब अवसर आया है कि ब्राह्मण लग्नपत्रिका लिखानेके लिये भेजा जाय, अतः सप्तर्षि स्वयं पहुँच गए। (ख) 'तुरतहि बिधि गिरि-भवन पठाए'।—इससे जनाया कि सब चाहते हैं कि तुरत ही विवाह हो जाय। ब्रह्माजीको अभी सब घेरे हुए हैं, इसीसे उन्होंने कार्यमें शीघ्रता की जिसमें सबको सन्तोष हो। (ग) 'गिरि भवन पठाए'—उनको समाचार देने और मुहूर्त ठीककर लग्नपत्रिका लानेको भेजा। यथा 'सनु प्रसंग गिरिपतिहि सुनावा। सुदिनु सुनखतु सुघरी सोचाई। बेगि बेदबिधि लगन धराई। पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही॥ ६१।', 'जाहु हिमाचल गेहु प्रसंग चलाएहु। जौं मन मान तुम्हार तौ लगन लिखाएहु। अरुंधती मिलि मेनहि बात चलाइहि। नारि कुसल इह काजु आजु बनि आइहि। दुलहिनि उमा ईस बरु साधक ए मुनि। बनिहि अवसि एहु काजु०। पार्वतीमंगल ४८-४६।'—ये सब भाव यहाँ ले सकते हैं।

प्रथम गए जहँ रहीं भवानी। बोले मधुर बचन छल सानी॥ ८॥

दोहा—कहा हमार न सुनेहु + तब नारद कें ‡ उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ कामु महेस॥ ८९॥

अर्थ—वे पहले वहाँ गए जहाँ भवानीजी थीं और कपटभरे मीठे वचन बोले। ८। नारदके उपदेशसे तुमने उस समय हमारी बात न सुनी (कहा न माना)। अब तो तुम्हारा प्रण झूठा हो गया (क्योंकि) महादेवजीने (तो) कामको जला डाला। ८६।

नोट—१ 'प्रथम गए जहँ रहीं ' इति। (क) इससे जनाया कि पार्वतीके रहनेका घर अलग था, जैसे जनकपुरमें श्रीजानकीजीका महल अलग था।—'सिय निवास सुंदर सदन सोभा किमि कहि जाइ। २१३।' प्रथम इनके पास क्यों गए?, यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर रामायणी लोग यह देते हैं कि 'जब पहले गए थे तब वे अनशनव्रत कर रही थीं। उस समय बुद्धि और होती है और अब परम राजसी ऐश्वर्य भोग रही हैं। अतः देखना चाहते हैं कि अब कैसी वृत्ति है। वा, छेड़कर उनके मुखारविंदसे कुछ और भी सुनना चाहते हैं। (अर्थात् विनोदार्थ वहाँ गए, कौतुकी हैं ही, यथा—'तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं। ८१।') ☞ प० रामकुमारजीका मत है कि प्रथम बार उत्तर न सूझा था, अब उत्तरकी जगह मिल गई है। अतः गए कि देखें अब क्या कहती हैं। यह समाधान विशेष संगत है। विशेष दोहा ६० में देखिये। (ख) 'बोले मधुर बचन छल सानी' इति। कपटी छली लोग मधुर बोलते ही हैं जिसमें उनका कपट चल जाय, यथा 'कपट बोरि बानी मृदुल बोलेउ जुगुति समेत। १। १६०।' (कपटी मुनि), 'सुनि प्रतीति बहु

+ सुनहु—१६६१। सुनेहु—औरोंमें। ‡ कर—१७०४। कें—१६६१। के—औरोंमें।

बिधि गढि छोली । अवध साढसाती तब बोली । २ । १७ ।' (मथरा) । कपटी मुनि और मंथरा तो भीतर से कपटी थे पर यहाँ यह बात नहीं है । ये उदाहरण एकदेशीय-मात्र समझे जायँ । यहाँ 'छल सानी' कहकर जनाते हैं कि सप्तर्षियोंका हृदय शुद्ध है, उनके वचनमात्रमें ही छल है, भीतर तो पूज्य भाव है, ऊपरसे दिखावमात्रके ऐसे वचन हैं । विनोदयुक्त हैं । (खर्रा) । पुनः, छल साने हुए वचन प्रायः इसलिये मीठी वाणीसे बोले जाते हैं कि जिसमें जिसको छेड़ा जाता है उसको बुरा भी न लगे, वह रंज न हो, उसे क्रोध न आवे, नहीं तो विनोदका मजा ही चला जाय । (भावोपहृत न होनेसे यहाँ छलयुक्त वचन भी प्रशस्त है ।)

२ 'कहा हमार न सुनेहु तब नारद कें उपदेसु', यथा 'तजौं न नारद कर उपदेसू । आपु कहहिं सत बार महेसू', 'जनम कोटि लगि रगर हमारी । बरौं संभु न त रहउँ कुँआरी ।' 'अब भा झूठ तुम्हार पन' अर्थात् यह काम अब तो अविवेकका साबित हुआ । जब कामको जला दिया तो अब ब्याह करके क्या करेंगे ? और तुम्हें पतिका सुख ही क्या होगा ? पाँडेजी 'अब भा झूठ' को देहरीदीपक मानकर अर्थ करते हैं कि 'नारदका उपदेश और तुम्हारा प्रण दोनों झूठे हुए ।'

३ (क) 'जारेउ काम महेसु' । कामको जलानेमें 'महेस' नाम दिया । भाव कि ये महान् समर्थ हैं इससे इन्होंने कामको भस्म ही कर दिया, नहीं तो उसे भस्म करना तो दूर रहा, जीतनेको भी कोई समर्थ नहीं है । यथा 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे । सकल भुवन अपने बस कीन्हे । २५७ ।', 'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे । ते रतिनाथ सुमन सर मारे । २ । २५ ।' अब तो कुँआरीही रहो या हमारे बताए बरको ब्याहो । (ख) परीक्षा बड़े गजबकी थी और व्यङ्ग्यका माधुर्य तो स्पष्ट है ही । (लमगोड़ाजी) ।

वि० त्रि०—भाव यह है कि कन्यादान अथवा प्रतिग्रहमें कामकी ही प्रधानता है । मन्त्र पढ़ा जाता है—'को दात् कस्मा अदात्, कामोदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते ।' (अर्थात् किसने दिया ? किसको दिया ? कामको दिया । हे काम ! यह सब तेरे लिये है) । जब काम ही नहीं तब विवाह क्या ? पुत्रप्रयोजना भार्या ।

सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी । उचित कहेहु मुनिबर बिज्ञानी ॥ १ ॥
तुम्हरे जान कामु अब जारा । अब लगि संभु रहे सबिकारा ॥ २ ॥

शब्दार्थ—'सबिकारा'=विकारयुक्त । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये षट्विकार माने गए हैं । इनमें से यहाँ 'काम'-विकारसे ही तात्पर्य है । अर्थात् कामी हैं ।

अर्थ—यह सुनकर भवानी मुस्कुराकर बोलीं—हे विज्ञानी मुनीश्वरो ! आपने यथार्थ (ठीक) ही कहा । १ । आपकी समझमें शिवजीने अब कामको जलाया । अबतक वे कामी ही रहे । २ ।

नोट—१ 'सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी०' । (क) मुस्कुरानेके भाव कि ज्ञानी और मुनिश्रेष्ठ होते हुए भी अज्ञानीकेसे वचन कहे । (खर्रा) । वा, इस तरह उनके वचनका निरादर सूचित किया । एवं मुस्कुराकर जनाया कि क्या अभीभी आपका चित्त परीक्षासे नहीं भरा, फिर कुछ सुनना चाहते हैं ?—(वै०) (ख) 'मुसुकाइ' के साथ 'भवानी' ऐश्वर्यसूचक पद दिया, नहीं तो राजकुमारीकी हैसियतसे ऋषियोंपर हँसना पाप है । यथा 'सुनत बिहँसि कह बचन भवानी ॥ सत्य कहेहु गिरिभव तनु एहा' (८०) । (ग) 'उचित कहेहु मुनिबर बिज्ञानी' इति । 'विज्ञानी मुनीश्वरोंका ऐसा कहना योग्य ही है ! शंकरजीको काम विकारयुक्त जानना यही विज्ञानका स्वरूप है ?'—यह व्यङ्ग्य है । (रा० कु०) । आप विज्ञानी हैं, बड़े हैं, तब क्या कहूँ ? आपका कहना ठीक ही है । आप जो कहें उचित ही है । वीरकविजी लिखते हैं कि 'मुनिबर बिज्ञानी' में स्फुटगुणीभूत व्यङ्ग है । विज्ञानी मुनियोंका अज्ञानीकी तरह बातें कहना बड़े आश्चर्यकी बात है । पाँडेजीका मत है कि 'विवाहके व्यवहारमें अपना देवर मानकर' हँसकर बोलीं । बैजनाथजी भी लिखते हैं कि सप्तर्षि ब्रह्माजीके पुत्र हैं और रुद्र भी ब्रह्माजीसे उत्पन्न हैं, इस प्रकार ये शिवजीके छोटे भाई हुए ।

इधरके प्रान्तोंमें रीति है कि छोटा भाई भावज (बड़े भाईकी पत्नी) से हँसी करता है, उसीको यहाँ लक्ष्य करके श्रीपार्वतीजीने ये वचन कहे। अभिप्राय कि विज्ञानी होनेके कारण तुम सब जानते ही हो, तब अज्ञानियोंकीसी बात कहनी उचित न थी। हाँ, इस नातेसे आपका कहना उचित ही है, नहीं तो अनुचित था। अन्य महानुभावोंके मतानुसार जब सप्तर्षि प्रथम बार आपको 'सकल जगत मातु' (८१) एवं 'जगदंबिके भवानी' कहकर प्रणाम कर चुके हैं तब उसके प्रतिकूल दूसरा अर्थ सगत नहीं जान पडता।

२ (क) 'तुम्हरें जान कामु अब जारा।०' इति। इसमें अज्ञानपनको स्पष्ट कह दिया। 'अब जारा' इस वचनसेही शिवजीपर दोषारोपणकी झलक निकल रही है जो वे आगे कहती हैं। और उनके वचनोंका खंडनभी इनमें ही है। अर्थात् शिवजी तो कामदेवको अनादिकालसे जलाए हुए हैं, कुछ अब नहीं जलाया। 'तुम्हरें जान कामु अब जारा' यह सूत्र है, इसीकी व्याख्या आगेके तीन चरणोंमें है। (ख) 'हमरें जान सदा शिव जोगी०' इति। सदाका अन्वय 'जोगी, अज' इत्यादि सबके साथ है।

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—'मखौल कितना साफ है कि आप लोग ऋषि होते हुए भी असली रहस्य न समझ सके और शिवजीमें विकारकी संभावना कर ली। वक्तृताका आगामी अंश हमारे प्रसंग से बाहर है...परन्तु इसमें प्रेमकी दृढ़ता और प्रतिज्ञाकी अटलता कूट-कूट भरी है और कामदेवके भस्म होनेका रहस्य भी खोल दिया गया है। यह भी प्रगट कर दिया गया है कि सच्चे प्रेमको अपने ऊपर विश्वास होता है, जैसा किसी उर्दू कविने कहा है 'कच्चे धागेसे चले आयेंगे सरकार बँधे।' (हास्यरस)।

हमरें जान सदा शिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥ ३॥
जौं मैं शिव सेए अस जानी। प्रीति समेत कर्म मन बानी॥ ४॥
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥ ५॥

शब्दार्थ—अनवद्य (अन्+अवद्य)=अनिन्द्य, निर्दोष। (श० सा०)।—अवद्य=अधम, गर्ह्य, नीच। यथा 'निकृष्ट प्रतिकृष्टार्वं रेफ याप्यावमाधमाः। कुपूय कुत्सितावद्य खेट गर्ह्याणकाः समाः।' अनवद्य= उत्तम। अभोगी=जिसको स्त्री आदि समस्त भोग विषयोंकी इच्छा नहीं=अनित्य समस्त भोग विषयोंसे विरक्त या उदासीन। भोग आठ प्रकारके हैं-शिरगंध, वनिता, वस्त्र, गीत, तांबूल, भोजन, भूषण और वाहन।

अर्थ—हमारी समझमें तो शिवजी सदासेही योगी, अजन्मा, अनिन्द्य, निष्काम और भोगविषयों-से विरक्त हैं। ३। यदि मैंने ऐसा जानकर शिवजीकी सेवा मन, कर्म, वचनसे प्रेमसहित की है। ४। तो, हे मुनीश्वरो! सुनिये, दयाके निधान (सागर, भंडार) 'ईश' हमारा प्रण सत्य करेंगे। ५।

नोट—१ 'हमरें जान सदा शिव जोगी।''''' इति। (क) 'सदा' का अन्वय 'जोगी', 'अज' इत्यादि सबके साथ है। (ख) यहाँ 'योगी' आदि पाँचों विशेषण बड़े महत्वके हैं। योगी हैं; यथा 'नाम वामदेव दाहिनो सदा-असंग-रंग अर्ध-अंग अंगना अनंगको महनु है। क० ७।१६०।' 'तुम्हरें जान' की जोड़में यहाँ 'हमरें जान' कहा। दोनोंकी 'जान' का मिलान—

यहाँ—१ तुम्हरें जान २ अब लगि ३ संभु रहे सविकारा।
यहाँ—१ हमरें जान २ सदा ३ शिव जोगी।

'योगी' कामकी चाह नहीं करते। यथा 'समुझि काम सुख सोचहिं भोगी। भए अकंटक साधक जोगी।' इनको कामसे वैर है, तब ये कामी कैसे हुए? पुनः, 'अज' अर्थात् अजन्मा हैं। अजन्मा कहकर वासनारहित बताया, क्योंकि काम (वासना) से ही जन्म-मरण होता है और इनका जन्म नहीं होता; तब ये कामी कैसे हुए? अनवद्य हैं अर्थात् निर्विकार हैं तब इनमें विकार कैसे संभव है? 'अकाम' अर्थात् स्त्रीविषयसे रहित हैं और अभोगी अर्थात् समस्त भोगविषयसे विरक्त हैं, विषयके पास भी नहीं जाते, विषय भोग नहीं करते, तब कामी कैसे होसकते हैं? ☞जो वासनासे रहित होता है, वही अकाम और

अभोगी होता है और वही उत्तम कहा जाता है।

२ 'जौं मैं शिव सेए अस जानी।...' इति। (क) 'अस' अर्थात् योगी, अज, अनवद्य, अकाम और अभोगी। भाव कि स्त्री होते हुए भी मैं यह जानकर भी कि उनको स्त्रीकी चाह नहीं है, वे अकाम अभोगी हैं, मैं उन्हींसे विवाह करना चाहती हूँ, मुझे भी विषयभोगकी इच्छा नहीं है। (ख) 'सेए...प्रीति समेत कर्म मन बानी' इति। सेना=सेवा, उपासना या आराधना करना। 'केहि अवराधहु' जो प्रथम बार सप्तर्षियोंने कहा था, वही 'अवराधन' यहाँ 'सेवा' है। 'प्रीति समेत'; यथा 'उर धरि उमा प्रानपति चरना।...', 'नित नव चरन उपज अनुरागा।...७४।', 'जेहिं कर मन रमु जाहि सन तेहि तेही सन काम ॥ ८०। देखि प्रेम बोले मुनिग्यानी। ८१।' 'कर्म' यथा—'संबत सहस मूल फल खाए। ७४। ४।' से लेकर ७४ (७) तक सारा तप। मन, यथा—'बिसरी देह तपहि मनु लागा। ७४ (३)', 'उर धरि उमा प्रानपति चरना', 'सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी।...' (६८), 'उमा सो बचनु हृदय धरि राखा' (६८), इत्यादि सब मनकी सेवा है। वाणीकी सेवा; यथा 'बरौं संभु न त रहौं कुँआरी।','तजौं न नारद कर उपदेसू।' इत्यादि। ☞ शिवपुराणमें लिखा है कि नारदजीने पार्वतीजीको पंचाक्षरी शिवमंत्र जपनेको बताया था। इसके अनुसार श्रीपार्वतीजी शिवमंत्र बराबर जपती रहीं। यही उनकी वाचिक सेवा है। ☞ जप गुप्त रखना चाहिए, यथा 'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहि जब करिअ दुराऊ।१।१६८।' इसीसे ग्रंथकारने भी स्पष्ट न लिखा था; उन्हींकी 'कहनी' लिखदी। जब पार्वतीजीने 'बाणी' से सेवा कही तब उससे नाम या मंत्रका जप सिद्ध हुआ।

३ 'तौ हमार पन सुनहु मुनीसा।...' इति। (क) ठीक ऐसेही वचन श्रीजानकीजीके हैं। दोनोंका मिलान—

श्रीपार्वतीजी	श्रीजानकीजी (दोहा २५६)
कर्म मन बानी	१ तन मन बचन मोर पन साँचा,
जौं मैं शिव सेए	२ रघुपतिपदसरोज चितु राचा।
तौ...कृपानिधि ईसा	३ तौ भगवान सकल उर बासी,
हमार पन...करिहहिं सत्य	४ करिहि मोहि रघुबर कै दासी।
प्रीति समेत; हमार पन	५ प्रभु तन चितइ प्रेम-पन ठाना।

(ख) 'हमार पन' अर्थात् 'बरौं संभु न त रहौं कुँआरी'। शिवजीहीसे विवाह करूँगी, दूसरेसे नहीं। (ग) 'करिहहिं सत्य' अर्थात् मेरा प्रण सत्य होगा, झूठ नहीं होनेका, भगवान् हमारी प्रतिज्ञाको अवश्य सत्य करेंगे। 'कृपानिधि' का भाव कि वे दयासागर हैं, मुझपर अवश्य दया करेंगे, मुझे उनकी अहेतु-कीय कृपाका भरोसा है। (घ) 'ईसा' इति। ईशके दोनों अर्थ लग सकते हैं—एक तो परमेश्वर श्रीरामजी। यथा 'जौं प्रभु दीनदयाल कहावा। तौ सबदरसी सुनिय प्रभु... ॥ ५६ ॥' सतीजीने इन्हीं सर्वदर्शी प्रभुका स्मरण आर्ति हरण करनेके लिये किया था। और उन्हीं प्रभुने अबतक बराबर उनपर कृपा की है। इसीकी जोड़में श्रीजानकीजीके वचन 'तौ भगवान सकल उर बासी' हैं। अतः, ईश=श्रीरामजी। दूसरे, ईश=शंकरजी। (ङ) पुनः, 'ईश' का भाव कि वे समर्थ हैं, असंभवको भी संभव करदेंगे। ४ ☞ यहाँतक सप्तर्षियोंके 'अब भा झूठ तुम्हार पन' का उत्तर हुआ।

तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा। सोइ अति बड़ अबिबेकु तुम्हारा॥ ६ ॥

अर्थ—आपने जो कहा कि महादेवजीने कामदेवको जला दिया, यही (आपका कथन) आपका अत्यंत बड़ा भारी अज्ञान है। ६।

नोट—१ 'हर जारेउ मारा' इति। कामदेवका संहार करनेके संबंधसे 'हर' नाम दिया। इससे यह भी जनाया कि ये संसारमात्रका संहार करनेवाले हैं, कामको भस्म करना कौन बड़ी बात है? अथवा, 'क्लेशं हरतीति हरः' क्लेश हरण करनेके संबंधसे 'हर' नाम दिया। अर्थात् वह साधकों, योगियों और

भक्तजनोंको क्लेश दे रहा था, अतः उसे जला डाला। २ 'तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा।...' इति। 'हर जारेउ मारा।' अर्थात् आपके कथनसे यह आशय निकलता है कि अभीतक शिवजीको काम व्यापता था, अब न व्यापेगा। अथवा, कामका जलाना कहकर आप भगवान् शंकरपर दूसरोंको कष्ट देने या मारने आदिका दोष लगाते हैं।—ये दोनों इलजाम अनुचित हैं। क्योंकि वे तो सदासे योगी, अज, अकाम, अनवद्य और अभोगी हैं। दूसरे वे किसीको क्यों मारने या जलाने लगे? वे तो राग-द्वेष-क्रोधादिसे परे हैं, अतः यह दोषारोपण भी अनुचित है।—इसीको आगे स्पष्ट दृष्टान्त देकर समझाती हैं और इसीसे उनको 'अविवेकी' कहती हैं। ३—'सोइ' अर्थात 'हर जारेउ मारा' वा 'जारेउ कामु महेस' यह कथन।

*** अति बड़ अबिबेक तुम्हारा ***

१ 'अति बड़ अबिबेकु' से तीन तरहका अज्ञान पाया गया 'अविवेक', 'बड़ अविवेक' और 'अति बड़ अविवेक'। भवानीजीने उनमें तीनो बातें दिखाईं। 'तुम्हरें जान काम अब जारा' यह अविवेक है अर्थात् इतना भी ज्ञान तुमको नहीं कि ये तो सदासे योगी, अकाम और अभोगी, सदासेही कामरहित हैं। ☞ यह भी न जानना अविवेक है। 'अब लगि संभु रहे सबिकारा' अर्थात् शंभुको षट्विकारयुक्त मानना, उनको कामी जानते रहे, यह 'बड़ अविवेक' है। और, 'हर जारेउ मारा' अर्थात् भगवान्‌में किसीको मारनेका दोष लगाना यह 'अति बड़ अविवेक' है। 'हर जारेउ मारा' इस कथनको सप्तर्षिका 'अति बड़ अविवेक' कहा, क्योंकि इससे ईश्वरपर दूसरोंके मारने या जलानेका दोष आरोपित होता है, वस्तुतः ईश्वर किसीका अनभल नहीं करते, वे किसीको नहीं मारते। पापी अपने पापसे मारे जाते हैं, यथा— 'बिश्वद्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारग गामी। लं० १०६।', 'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता। २। ६२।', 'कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू। अ० २८२।', 'जीव करम बस सुख दुख भागी। २। ११।'

श्रीमद्भागवत स्कं० ४ अ० ६ में श्रीब्रह्माजीने शिवजीसे ऐसा ही कहा है।—'त्वं कर्मणां मंगल मङ्गलानां कर्तुः स्म लोके तनुषे स्वः परं वा। अमङ्गलानां च तमिस्रमुल्बणं विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥ ४५ ॥ न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव। भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम् ॥ ४६ ॥ पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः परोदयेनार्पित हृद्रुजोऽनिशम्। परान्दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदास्तान्माऽवधीद्दैववधान्भवद्विधः ॥ ४७ ॥' भाव यह कि 'जिनका स्वभावही है कि दूसरेके मर्मको सदा छेदन करते हैं उनको समझ लेना चाहिये कि उन्हींका कर्म उनका छेदन करता है। दैव आप ही उनके विपर्यय हो रहा है। जिनका हृदय मायासे तप्त हो रहा है, वे अहंममर्में पड़े हैं। जैसे-जैसे उनके दुष्कर्म उदय होते हैं वैसे ही वे फल भोगते हैं। आप सरीखे जो भगवत् आश्रित हैं वे उनके दुष्कृत देख यही सोचते हैं कि दैवगतिमें यह विचारा क्या करे, आप सब उसपर कृपाही करते हैं।'

कुमारसंभवमें श्रीपार्वतीजीने ब्रह्मचारी (शिवजी) से कहा है कि—(सर्ग ५ श्लोक ७५) 'उवाच चैनं परमार्थतोहरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्। अलोक सामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥' अर्थात् महात्माओंके चरित अज्ञानी नहीं समझते; इसीसे वे उनको दोष लगाते हैं, उनके चरित्रोंकी निंदा करते रहते हैं।—इस प्रकार तीन बातें जो भवानीने कहीं, उन्हीं तीनोंमें क्रमसे तीनों प्रकारके अविवेक उन्होंने सप्तर्षियोंमें कहे।

२ ☞ स्मरण रहे कि श्रीभवानीजीने उनके 'जारेउ कामु महेस' इन्हीं तीन शब्दोंको पकड़कर इन्हींसे उनको 'अविवेकी', 'बड़ अविवेकी' और 'अति बड़ अविवेकी' कह डाला। इस वाणीमें उन्होंने तीन अर्थ और तीनों दोषयुक्त दिखाए—एकतो यह कि कामको 'अब' जलाया; दूसरे, कामदेवके रहते वे कामी बने रहे अब कामवासना नहीं रहगई और तीसरे यह कि कामको जलाया (इससे रागद्वेष विकारयुक्त

दिखाया)। इस तरह कामके जीवित रहते और उसके न रहते, दोनों दशाओंमें, इनके शब्दोंसे इनका शिवजीको दोषी ठहराना साबित किया। इसप्रकार सप्तर्षियोंको उनकेही वाक्यसे लज्जित कर दिया, फिर वे कुछ कहही न सके।

३ पुन, प्रथम वाक्य भवानीजीका यह है—'उचित कहेहु मुनिबर बिज्ञानी।' व्याख्या आगेके सब वचन हैं। व्यंगसे प्रथम कहा कि 'विज्ञानी मुनिवर' का ऐसा कथन अयोग्य है। आगे इस व्यंगको स्वयं धीरे धीरे खोलती हुई अन्तमें स्पष्ट कह दिया कि ऐसे कथनसे स्पष्ट है कि आप 'अत्यन्त बड़े अज्ञानी हैं। जैसे अन्तमें 'अति बड़ अबिबेक' वैसेही आदिमें 'मुनिवर विज्ञानी'। 'मुनिवर विज्ञानी' से तीन तरहके मुनियोंकी सूचना दी—मुनि, मुनिवर, विज्ञानी मुनिवर। क्रमसे इनके कथन अविवेक, बड़ अविवेक, अति बड़ अविवेक' के कहे। अर्थात् मुनियोंका ऐसा कथन अविवेकका, मुनिवरोंका 'बड अबिबेक'का और विज्ञानी मुनिवरोंका ऐसा कथन 'अति बड अबिबेकका' सूचक है।

त्रिपाठीजीका मत है कि "मैंने कामवासनासे शङ्करकी उपासना की है, ऐसी धारणा तुम लोगोंका बड़ा अविवेक है, पर शङ्करमें अभिमानका आरोप करना कि उन्होंने कामको जलाया, यह तुम्हारा और बड़ा अविवेक है।"

तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहि काऊ ॥७॥
गएं समीप सो अवसि नसाई। असि मन्मथ महेस कै नाई ॥८॥

अर्थ—हे तात ! अग्निका तो यह सहजही (अपना निजका, जन्मसेही) स्वभाव है कि पाला उसके पास कभीभी नहीं जाता। ७। समीप जानेपर (तो) वह अवश्य नष्ट हो जायगा। कामदेव और महादेवजीका (भी) एसाही न्याय है। ८।

नोट—१ 'तात अनल' इति। (क) प्रथम तो ऋषियोंको अत्यन्त बड़ा अज्ञानी कहा और अब उनको 'तात' सम्बोधन करती हैं, यह कैसा? 'तात' संस्कृत भाषाका शब्द है। यह 'पिता' का वाचक है और पितृतुल्य गुरुजनोंके लिये प्रयुक्त हो सकता है। पर दुलार, प्यार आदिके भावसे छोटोंके लिये जब आवेगा तब प्राय सम्बोधनरूपमें ही आवेगा। सम्बोधनरूपमें यह भाई, मित्र, पुत्र, विशेषत अपनेसे छोटेके लिये व्यवहृत होता है। यहाँ आदिमें श्रीपार्वतीजीका 'भवानी' नाम दिया है,—'सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी।' भवानी हैं, जगन्माता या भवबामा होनेसे प्रथम तो सप्तर्षियोंको उन्होंने डॉट फटकार बताई, फिर माताके समान उनको समझाने लगीं, अत. प्यारका सबोधन दिया। माताका यह सहज स्वभाव होताही है। पंजाबीजी लिखते हैं कि पूर्व इनको अविवेकी कहा था, इसीसे अब सम्मानहेतु 'तात' सम्बोधन किया। और पॉडेजी इसको संबोधन न मानकर अग्निका धर्म मानते हुए इस चरणका अर्थ करते हैं कि 'अग्निका सहज स्वभावही 'तात' (गर्म) है।' (ख) 'हिम तेहि निकट०। गए समीप सो अवसि नसाई' इति। हिम और अग्निका दृष्टान्त यहाँ देनेके भाव य कहे जाते हैं कि—(१) आगके पास जाड़ा पाला नहीं रहने पाता, उसका नाश हो जाता है। वह पास न जाय तो अग्नि उसे जलाने तो नहीं जाती। वैसेही कामदेव धृष्टतापूर्वक स्वयं शिवजीके पास गया। अग्निनेत्र खुलतेही वह जलमरा, इसमें शिवजीका दोष क्या? (२) परमार्थमें ज्ञानवैराग्यादि अग्निरूप हैं, उनके पास कामादिरूपी हिम नहीं जाता। (वै०)। (३) लौकिकमें पाला वायव्यदिशामें रहता है, आग्नेय दिशामें जाताही नहीं, अत 'निकट जाइ नहि काऊ' के दृष्टान्तमें इन दोनों की उपमा दी। (वै०)

२ 'असि मनमथ महेस कै नाई' इति। 'नाई' का अर्थ है—१ समान दशा, एकसी गति। २ समान, तुल्य। इस चरणके अर्थमें टीकाकारोंको बड़ा कठिनाईका सामना पड़ा है और व भावार्थ कहकर निकल गए। 'असि' और 'नाई' दोनों पर्य्यायसे हैं, यही कठिनाईका कारण हो गया। पांडेजी 'नाई' का अर्थ 'पास'

लिखते हैं और वीरकविजीनेभी 'निकट जानेसे ऐसा अर्थ किया है। दासकी समझमें इसका दो प्रकार अर्थ हो सकता है। एक कि 'ऐसीही मन्मथ और महेशकी एकसी गति या दशा है।' दूसरा कि 'ऐसाही न्याय मन्मथ और महेशका है' अर्थात् यही न्याय उनमें लागू होता है। ☞ स्मरण रहे कि सं० १६६१ की पोथीमें 'नाईं' शब्द है। यह संस्कृत भाषाके 'न्याय' शब्दका अपभ्रंश है। न्याय पुल्लिंग है, नाईं स्त्रीलिंग है। 'असि' के संबंधसे स्त्रीलिंगका प्रयोग हुआ है। यहाँ 'नाईं' संज्ञा है, विशेषण नहीं है।

उपमान वाक्यमें दो बातें कहीं। एक कि अग्निका सहज स्वभाव है कि हिम उसके पास नहीं आता। दूसरी कि यदि हिम गया तो अवश्य नष्ट हो जाता है। यही न्याय या यही दशा शिवजीकी और कामदेवकी है। महेशके पास काम जाताही नहीं, यदि गया तो अवश्य नष्ट हुआ चाहे। महेश अनलरूप हैं, काम हिमरूप है, 'मन्मथ' की जोड़में 'महेस' का प्रयोग कैसा उत्कृष्ट हुआ है! यह मनको मथनेवाला है तो ये भी तो देवोंके देव महादेव हैं। भला इनके मनमें यह कब विकार उत्पन्न कर सकता है? यहाँ दृष्टान्त 'अलंकार' है। ☞ 'तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा।' से लेकर 'असि मन्मथ…' तक सप्तर्षियोंके 'जारेउ कामु महेस' का उत्तर है।

दोहा—हिय हरषे मुनि बचन सुनि देखि प्रीति बिस्वास।
चले भवानिहि नाइ सिर गए हिमाचल पास ॥९०॥

अर्थ—(भवानी पार्वतीजी) के वचन सुनकर और उनका प्रेम और विश्वास देखकर सप्तर्षि मनमें प्रसन्न हुए। वे भवानीको मस्तक नवा (प्रणाम) कर चल दिये और हिमाचलके पास पहुँचे।९०।

नोट—१ 'हिय हरषे मुनि वचन सुनि' इति। (क) 'हिय हरषे' का भाव कि 'अति बड़ अविवेकी' बतानेपर रंज न हुए क्योंकि मुनि हैं। जैसे 'छल साने' वचन कहे थे वैसा ही उत्तरभी मिला। (ख) *'देखि प्रीति बिस्वास।' इति। प्रीति देखी, यथा 'जौं मैं सिव सेए अस जानी। प्रीति समेत करम मन बानी।'* देखि विश्वास, यथा 'तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा'। (प्रीति देखी कि 'शिवजी ने कामको जलाया' यह दोषारोपण सह न सकीं, तुरन्त बोलीं 'यह अति बड़ अबिबेक तुम्हारा।' विश्वास देखा कि गुरुरूपसे नारदपर और इष्टदेवरूपमें शिवजीपर कैसा अटल विश्वास है—'तौ हमार…'। वि० त्रि०)। (ग)—पं० रामकुमारजी यह शंका उठाकर कि 'इस बार तो उन्हें भवानीके पास न ब्रह्माहीने भेजा न शिवने, तब वे अपनेसे क्यों गए?' और उसका समाधान करते हैं कि 'पहले जब उमाकी परीक्षा लेने आए तो उमाजीके वचनसे निरुत्तर हो गए, कोई जवाब न बन पड़ा। अब मनमें आई कि 'अब भा झूठ तुम्हार पन' यह कहें चलकर, देखें क्या जवाब देती हैं।

☞ इस प्रसंगमें दो बातें स्मरण रखनेकी हैं कि श्रीपार्वतीजीके लिये सर्वत्र बहुवचन क्रियाओंका प्रयोग हुआ है।—'प्रथम गए जहँ रहीं भवानी', 'सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी'। दूसरे जैसे मुनियोंने 'हमार' 'तुम्हार' का प्रयोग किया वैसे ही उत्तरमें 'हमार, हमरें', 'तुम्हार, तुम्हरें' का प्रयोग हुआ है।

२ 'चले भवानिहि नाइ सिर' यह उपसंहार है। 'प्रथम गए जहँ रहीं भवानी। ८६। ८।' उसका उपक्रम है। विनोदार्थ आए थे, विनोद हो गया और निरुत्तर भी हो गए। अतः कुछ न बोले, प्रणाम करके चलते हुए। *प्रथम बार भी चलते ही समय प्रणाम किया गया था।* प्रथम बार परीक्षा लेने आए थे तब पार्वतीजीने उनसे चले जानेको कहा था; यथा 'मैं पा परउँ कहै जगदंबा। तुम्ह गृह गवनहु भयउ बिलंबा।८१।', तब वे गए थे। अबकी बार यह नौबत नहीं आई; कारण कि अबकी विनोदमात्र था और वहभी मधुरवाणीमें।

३ 'गए हिमाचल पास' इति। 'तुरतहिं बिधि गिरि भवन पठाए।' ८९ (७) पर प्रसंग छोड़ा था, अब 'गए हिमाचल पास' कहकर वहींसे प्रसंग मिलाते हैं।

सबु प्रसंगु गिरिपतिहि सुनावा। मदन दहन सुनि अति दुखु पावा ॥ १ ॥

बहुरि कहेउ रति कर बरदाना। सुनि हिमवंत बहुत सुखु माना ॥ २ ॥
हृदय बिचारि संभु प्रभुताई। सादर मुनिवर लिये बोलाई ॥ ३ ॥

अर्थ—(और उन्होंने) गिरिराजको सब प्रसंग (समाचार) सुनाया। कामदेवका भस्म होना सुनकर वह अत्यन्त दुःखी हुए। १। फिर उन्होंने रतिका वरदान (पाना) कहा, वरदान सुनकर वे बहुत सुखी हुए। २। हृदयमें शंकरजीकी प्रभुता विचारकर हिमवान्‌ने आदरपूर्वक श्रेष्ठ श्रेष्ठ मुनिवरोंको बुलवा लिया।३।

नोट—१ (क) 'सब प्रसंगु' अर्थात् तारकासुरसे पीड़ित देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाना। उनकी सलाहसे शिवजीकी समाधि छुड़ानेके लिये उन सबोंका कामदेवको भेजना और कामदेवका ब्रह्माण्डको विजय करके शिवजीकी समाधि छुटाना, शिवजीका उसे भस्म कर देना। इतनी कथा कही। (ख) 'मदन दहन सुनि अति दुखु पावा'—दुःख होनेका कारण यह हुआ कि कन्याको पतिका सुखही न होगा, हमें नाती पनातीका सुख न मिलेगा और इतना भारी तप शिवजीके लिये जो किया गया वह सब व्यर्थ ही हुआ। अब उनके साथ विवाह करना उचित होगा या नहीं, यह चिंता पड़ गई। उधर तप उन्हींके लिये किया गया है, अत. यह टाले टलभी नहीं सकता। (ग) 'अति दुखु पावा' से जनाया कि पूर्व पतिके दोष सुनकर दु ख हुआ था और अब कामदेवका दहन सुना, तब 'अति दु ख' हुआ। (घ) 'रति कर बरदाना। सुनि बहुत सुखु माना' इति। भाव कि जिसकी हानिसे अति दुःख होता है, उसको लाभसे अति सुख हुआ ही चाहे। अतः वरदान सुनकर अति सुख हुआ। पुन जिस वस्तुकी हानिसे अति दु ख होता है जब वही वस्तु पुनः प्राप्त हो जाती है तब जो सुख होता है वह अकथनीय होता है, अत. 'अति सुखु माना' कहा। बहुत दुःख हुआ अत उसकी निवृत्तिके लिये रतिका वरदान कह सुनाया। इससे सिद्ध हुआ कि दंपतिकी अब भी वही लौकिकी दृष्टि है। (च) 'बिचारि प्रभुताई' अर्थात् विचारा कि बड़े ही समर्थ हैं, कृपालु हैं—'नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ। सासति करि पुनि करहिं पसाऊ'। उजाड़ना और फिर बसा देना, मारना और जिलाना इत्यादि कामोंके करनेको आप ही समर्थ हैं। इस प्रभुताको विचारनेसे लौकिकी दृष्टिसे जो शंका हुई थी वह जाती रही। अत ब्याहके लिये तैयार हो गए। (छ) 'सादर मुनिवर लिये बोलाई' इति। सप्तर्षि तो समीप हैं ही, अत. 'मुनिवरो' से उन ऋषियोंका ग्रहण है जो हिमालयपर बसे हुए थे। यथा 'जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे' (६५), 'बदरिसा मुनि आइ तब सबहिं कहा समुझाइ' (७२)। मुनिवरोंका बुलाना कहकर जनाया कि सप्तर्षियोंने रतिके वरदानके पश्चात् ब्रह्मादि देवताओंका शिवजीके पास जाना, विवाह अंगीकार कराना और तुरंत अपना यहाँ भेजा जाना भी कहा और यह भी कहा कि सब देवता अभी वहीं हैं, हमारी राह देख रहे होंगे। यह जानकर हिमवान्‌ने भी शीघ्रता की। उसी समय उन्होंने ज्योतिषी मुनीश्वरोंको बुलवाकर मुहूर्त्त निश्चय कराई।

सुदिन सुनखतु सुघरी सोचाई। बेगि बेद बिधि लगन धराई ॥ ४ ॥
पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही। गहि पद बिनय हिमाचल कीन्ही ॥ ५ ॥

अर्थ—उनसे शुभ दिन, शुभ नक्षत्र और शुभ घड़ी शोधवाकर वेदविधानके अनुसार शीघ्र लग्न धराई अर्थात् निश्चित कराके लिखा ली। ४। हिमाचलने वही लग्नपत्रिका सप्तर्षियोंको दे दी और चरण पकड़कर उनकी विनय की। ५।

नोट—१ 'सुदिन सुनखतु सुघरी सोचाई . लगन ' इति। (क) दिन, नक्षत्र और घड़ी में 'सु' उपसर्ग देनेसे पाया जाता है कि दिन, नक्षत्र, घड़ी बुरे भी होते हैं। त्रिपाठीजी कालिका पुराणका प्रमाण देते हुए लिखते हैं कि वैशाख सुदी पंचमी गुरुवार, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र, मेष लग्न, भरणीके आदिमें सूर्य, यह लग्न मुनियोंने स्थिर की। यथा 'माधवे मासि पञ्चम्यां सिते पक्षे गुरोर्दिने। चन्द्रे चोत्तरफाल्गुन्या भरण्यादौ· स्थिते रवौ।'

२ 'बेगि बेद बिधि...' इति । (क) 'बेगि' का भाव कि कहीं शिवजी फिर समाधि न लगा बैठें। अथवा, यह जानकर कि देवता दुखी हैं, इसीसे ब्रह्माजीने सप्तर्षियोंको हमारे यहाँ भेजा है, वे प्रतीक्षा कर रहे होंगे। अतः शीघ्रता की कि इन्हीं के साथ लग्न चली जाय। शुभ कार्यमें विलंब करना उचित नहीं— 'शुभस्य शीघ्रम्'। 'बेद बिधि...' इस कथनसे ज्ञात हुआ कि देवता लोग भी वेदका प्रमाण मानते हैं और वेदके अनुसार चलते हैं। (ख) 'पत्री ' सोइ दीन्ही।' ' इति। 'यहाँ लगन धराई' का अर्थ खोल दिया कि लग्न आदि शोधवाकर पत्रमें लिखवा लिया और वही पत्र उनको दे दिया। इस पत्रको लग्नपत्र या पत्रिका कहते हैं। ☞ इसमें विवाह और उससे संबंध रखनेवाले दूसरे कृत्योंका भी लग्न स्थिर करके व्योरेवार लिखा जाता है। (ग) 'गहि पद बिनय...' इति। विनती की कि हमारे महत् भाग्य उदय हुए, हम तो किसी योग्य नहीं, उनको कुछ दे नहीं सकते। इत्यादि। मेरी ओर से यह बहुत बहुत विनती ब्रह्माजी और महेश जीसे कर दीजियेगा।

जाइ बिधिहि तिन्ह* दीन्हि सो पाती। बाचत प्रीति न हृदय समाती ॥ ६ ॥
लगन बाचि अज† सबहि सुनाई। हरषे मुनि § सब सुर समुदाई ॥ ७ ॥
सुमनबृष्टि नभ बाजन बाजे। मंगल कलस दसहु दिसि साजे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—पाती=पत्रिका, लग्नपत्र। समुदाई (समुदाय)=समाज, गिरोह।

अर्थ—उन्होंने जाकर वह पत्रिका ब्रह्माजीको दी। उसे पढ़ते हुये उनके हृदयमें प्रेम नहीं समाता (उमड़ा चला आता है)। ६। ब्रह्माजीने लग्न पढ़कर सबको सुनाया। सब मुनि और सब देव-समाज (सुनकर) हर्षित हुए। ७। आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी, बाजे बजने लगे। दशो दिशाओंमें मंगल-कलश सजाये गए। ८।

नोट—१ 'जाइ बिधिहि...' इति। (क) पार्वतीमंगलसे जान पड़ता है कि एक रात सप्तर्षियोंको हिमाचलके यहाँ लग्नपत्रिकाके कारण ठहरना पड़ा था; यथा 'रिषि सात प्रातहि चले प्रमुदित ललित लगन लिखाइ कै। ५१।' (ख) 'बिधिहि तिन्ह दीन्हि सो पाती' इति। लग्नपत्रिका कन्याका पिता वरके पिताके पास भेजता है। यहाँ ब्रह्माजी समाजमें अगुआ हैं, प्रधान हैं, सबके पितामह हैं, इन्होंने शिवजीको विवाहके लिये राजी किया और इन्होंने सप्तर्षियोंको गिरिराजके पास भेजा था। यहभी रीति है कि जब पिता नहीं होता तो जो बड़े-बूढ़े होते हैं उनके हाथमें पत्रिका दीजाती है। शिवजी तो दूलह हैं; विवाहका कार्य बड़े-बूढ़ेके हाथमें रहता है। अतः इन्हींको लग्नपत्रिका दी गई। पुनः, श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीसे ही रुद्रकी उत्पत्ति कही गई है। यथा 'धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः। सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः ॥७ स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान्भवः। ८।' अर्थात् सनकादिने जब सृष्टि रचना करनी स्वीकार न की तब ब्रह्माजीको क्रोध आगया। बहुत रोकनेपर यह क्रोध भृकुटियोंद्वारा तुरन्त एक नील लोहित वर्ण बालकके रूपमें प्रकट हो गया। वे देवताओंके पूर्वज भगवान् शंकर उत्पन्न होतेही रोने लगे। इत्यादि। (भा. ३. १२)। पद्मपुराण सृष्टिखंडमेंभी है कि क्रोध आनेपर ब्रह्माजीकी ललाटसे मध्याह्नकालीन सूर्यके समान अर्धनारीश्वररूप रुद्र प्रकट हुए। इत्यादि।—इन प्रमाणोंसे ब्रह्माजी शिवजीके पिताही हैं। अतः ये समधी हैं; इसीसे इनको लग्नपत्रिका दी गई। इनका और हिमाचलका समधौरा हुआ है। यथा 'पहिलिहि पँवरि सुसामध भा सुखदायक। इत बिधि उत हिमवान सरिस सब लायक ॥' (७२। पार्वतीमंगल)। (ग) 'बाचत प्रीति न हृदय समाती।' इति। ☞ श्रीरामविवाहकी पत्रिका जब श्रीदशरथजी महाराजके पास आई तब उनकाभी यह हाल हुआ था। विशेष भाव वहीं लिखे गए हैं।

---

* दीन्ही सो-१७०४। †—बिधि-१७२१, छ०। अस—१७६२। तेहि-१७०४। अज-१६६१, को० रा०। §—मुनि सब-१७०४। मुनिबर—को० रा०। मुनि सब १६६१, १७२१, १७६२, छ०।

* दोनोंका मिलान *

श्रीब्रह्माजी	श्रीदशरथजी (दोहा २६०)
जाइ बिधिहि तिन्ह दीन्हि सो पाती	१ करि प्रनामु तिन्ह पाती दीन्ही।
बाँचत प्रीति न हृदय समाती	२ बारि बिलोचन बाचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती।
लगन बाचि अज सबहि सुनाई	३ पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची
हरषे मुनि सब सुर समुदाई	४ हरषी सभा बात सुनि साँची
सुमन बृष्टि नभ बाजन बाजे	५ हरषि हने गह गहे निसाना
मगल सकल दसहु दिसि साजे	६ 'भुवन चारिदस भएउ उछाहू ॥' 'मगल रचना रची बनाई'। २६६।

☞ 'प्रीति न हृदय समाती' की व्याख्या उपर्युक्त मिलानमें आये हुए उद्धरणोंसे हो जाती है। 'प्रेम समाता नहीं', अर्थात् इतना बढा है कि हृदयरूपी पात्रमें न अट सका, अश्रु और रोमाचरूपसे बाहर निकल पडा। प्रेममें यह दशा हो जानेका कारण एक तो यह है कि देवताओं का दु ख अब अवश्य शीघ्र दूर होनेकी पूर्ण आशा हो गई, पार्वतीजीको वर दिया वह पूरा होगा, बारातमें समधी बनकर जायँगे। दूसरे पत्रिकाकी रचना भी कारण है। (घ) दो बार बाँचनेके उल्लेख का भाव एक तो यह कि प्रेमके मारे पढी न जा सकी, पढते ही प्रेमविभोर हो गए। इससे दुबारा पढी, जैसे कि दशरथजी महाराजने। दूसरा कि प्रथम पढकर स्वय समझ लिया तब सबको भी पढकर सुनाया। तीसरा भाव कि प्रथम लग्नपत्रका पढना लिखा और दूसरी बार केवल लग्न सबको सुनाई। बाँचना एकही बारका कहा, दूसरी बार बाँच चुकने पर केवल लग्नको सुनाया। वा, चौथा भाव कि प्रथम स्वय पढकर आनद लिया फिर प्रेमलपेटीपत्रिका सबको सुनाकर सबकोभी आनन्द दिया। ☞ 'नभ बाजन बाजे', 'मगल कलस दसहु दिसि साजे'।' कहनेसे पाया जाता है कि ब्रह्माजीने लग्न सुनाकर सबसे यहभी कहा कि सबके सब विवाहके मंगल साज सजो और शीघ्र बारातकी तैयारी करो। इसीसे तुरत मगल सजाए और बधाइयाँ होने लगीं। यथा 'बेगि बुलाइ बिरचि बँचाइ लगन तब। कहेन्हि बियाहन चलहु बुलाइ अमर सब ॥ बिधि पठए जहँतहँ सब सिवगन धावन। सुनि हरषहिं सुर कहहि निसान बजावन ॥ पार्वतीमगल। ५६।' (ङ) 'हरषे मुनि सब सुर०'। हर्षका कारण स्पष्ट है कि अब तारकासुरका नाश शीघ्र होगा, हमारी विपत्ति दूर होगी एव बाराती बनकर तुरत ही जायँगे। इत्यादि। हर्ष मनका है, इसीको सुमनवृष्टि करके कर्मद्वारा प्रगट कर रहे हैं। (च) 'मगल कलस दसहु दिसि साजे' इति। दसहु दिशि कहकर जनाया कि समस्त दिग्पाल मगल मनाने लगे, सभी अपने अपने यहाँ मगल कलश सजा सजाकर रख रहे हैं। 'मंगल कलश' उन्हें कहते हैं जो विवाहके समय सजाए हुए चौक पूरकर द्वार द्वारपर रक्खे जाते हैं। इनपर मगल शकुनसूचक पक्षी आदिभी बनाए जाते हैं। श्रीराम विवाहमें भी इनका उल्लेख है [और राज्याभिषेकपर भी। यथा 'मगल कलस अनेक बनाए। २८६। २।', 'छुहे पुरट घट सहज सुहाए। मदन सकुन जनु नीड बनाए। ३४६। ६।' (येही मगलकलश हैं, विशेष वहीं देखिए), 'कचन कलस बिचित्र सँवारे। सबहिं धरे सजि निज निज द्वारे' (७। ६)। सभवत: 'मगल कलस' का भाव न समझकर लोगोंने 'मगल सकल' पाठ कर दिया हो। 'मगल कलस' पाठमें दोनों भावोंका समावेश हो सकता है—'मगल' और 'मगल कलश'। इसप्रकार प्रथम 'मगल' का अर्थ होगा—'शकुन सूचक द्रव्य'। यथा 'मगल मुदित सुमित्रा साजे ॥ हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मगल मूला ॥ अच्छत अकुर रोचन लाजा। मजुल मजरि तुलसि बिराजा ॥ छुहे पुरट घट सहज सुहाये। मदन सकुन जनु नीड बनाए ॥ सगुन सुगध न जाइ बखानी। मगल सकल सजहिं सब रानी ॥०' इत्यादि। (१। ३४६)। पुन०, यथा—'बदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाए मगल हेतू ॥ बीथीं सकल सुगध सिचाई। गजमनि रचि बहु चौक पुराई ॥ नाना भाँति सुमगल साजे। हरषि नगर निसान बहु बाजे ॥ (उ० ६), यह ही अनेक प्रकारके 'मगल' हैं।

पं० रामकुमारजी—'देवता सब प्रायः यहीं रहे हैं तब आकाशमें बाजा बजानेका क्या प्रयोजन ? इसी जगह क्यों न बजाए ?' इस सम्भवित शंकाका उत्तर यह है कि (सुरतरुके पुष्पोंकी) वृष्टि नभसे ही बनती है, इसीसे सुमनवृष्टि वहींसे हुई और बाजेभी साथसाथ वहींसे बजे। अथवा 'बाजन बाजे' बहुवचन पद देकर जनाया कि गंधर्वलोग आकाशसे अनेक बाजे बजा रहे हैं। यह काम उनका है।'

दोहा—लगे सँवारन सकल सुर बाहन बिबिध बिमान।
होहिं सगुन मंगल सुभद* करहिं अपछरा गान ॥९१॥

अर्थ—सब देवता अपने भाँतिभाँतिके वाहन और विमान सजाने लगे। शुभदायक (मंगलकारक) मंगल शकुन हो रहे हैं; अप्सराएँ गाना गा रही हैं। ९१।

नोट—१ 'लगे सँवारन' इति। (क) लग्न पड़ी गई और तुरत देवता वाहनादि सजाने लगे। इससे निश्चय हुआ कि लग्न जल्दीकी ठहरी है। (ख) 'बाहन बिबिध बिमान' इति। देवताओंके वाहन भिन्न भिन्न हैं जैसे कि भगवान विष्णुका वाहन गरुड़, इन्द्रका ऐरावत, यमका भैंसा, कुबेरका पुष्पकविमान, वरुणका मगर, ब्रह्माजीका हंस एवं हंसाकार विमान, अग्निदेवका बकरा, पवनदेवका मृग, ईशानका वृषभ और नैर्ऋतका प्रेत वाहन है। इसी प्रकार सब लोकपाल, ग्रह आदि अपनी अपनी सेना-सहित थे। वाहन=सवारी। विमान=आकाशमें उड़नेवाले रथ। ये भी अनेक प्रकारके होते हैं। कुबेरका पुष्पक विमान प्रसिद्धही है। ☞'मानसार नामक' प्राचीन ग्रंथके अनुसार विमान गोल, चौपहला और अठपहला होते हैं। गोलको 'वेसर', चौपहलेको 'नागर' और अठपहलको 'द्रविड़' कहते हैं। (श० सा०)। देवताओंके विमान भी दिव्य होते थे। उनमें घटने-बढ़ने, छोटे बड़े होजानेकी शक्ति होती थी। त्रिपुरासुरके तीनों विमानोंकी चर्चा पूर्व आ चुकी है। वे नगरके समान बड़े थे। पुष्पक विमानपर समस्त वानरयूथप आगए थे। (ग) वाहनोंपर बहुमूल्य झूलें आदि डाली जाती हैं, उनको आभूषण पहनाये जाते हैं, तिलक आदि अनेक विचित्र रंगोंसे उनके मस्तक आदिपर चित्रकारी होती है, उनको मालाएँ पहनाई जाती हैं। इत्यादि। यही सब 'सँवारना' है। ऐसाही विमानोंके संबंधमें जानिये। आज भी बारातों और मंगलोत्सवोंमें यह रीति देखनेमें आती है।

२ 'होहिं सगुन मंगल सुभद' इति। (क) 'सुभद' (शुभद)=शुभदायक। यह संस्कृत शब्द है। ☞सम्भवतः अर्थ न समझनेके कारण इसे लेखकप्रमाद समझकर 'सुभग' और 'सुखद' पाठ लोगोंने कर दिया हो। (ख) मंगल शकुनोंका वर्णन कवि श्रीरामजीके विवाहकी बारातके पयान समय करेंगे, इसीसे उन्होंने यहाँ केवल 'मंगल सुभद' विशेषण देकर छोड़ दिया। दोहा ३०३ में जो वर्णन है, वही सब यहाँ मंगल सुभदसे कह दिया है। यथा 'होहिं सगुन सुंदर सुभदाता॥ चारा चाषु बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई। दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल दरसु सब काहूँ पावा॥ सानुकूल बह त्रिबिधि बयारी। सघट सबाल आव बर नारी। लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पियावा॥ मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगल गन जनु दीन्हि देखाई॥ छेमकरी कह छेम बिसेषी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी॥ सनमुख आयो दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना॥ मंगलमय कल्यानमय अभिमत फल दातार। जनु सब साँचे होन हित भये सगुन एक बार ॥ ३०३ ॥ मंगल सगुन सुगम सब ताकें०'। ☞ इस उद्धरणका 'सुभदाता' और 'कल्यानमय अभिमत फलदातार' ही यहाँका 'सुभद' है और 'मंगलमय' यहाँका 'मंगल' है।

३ स्कंद पु० मा० के० के मतानुसार शिवजीने विष्णु, ब्रह्मा आदिको नारदजीके द्वारा बारातके लिये बुलाया है और मानस कल्पवाली कथाके अनुसार जान पड़ता है कि सप्तर्षियोंने ब्रह्माजी को लग्नपत्रिका दी। उसे पाकर ब्रह्माजीकी प्रेरणासे सब देवता बराती बनकर चले। स्कंद पु० के शिवजी विवाहके लिये

* सुभग—छ०। सुखद—१७०४, को० रा०। सुभद—१६६१, १७२१, १७६२।

उतावले हो रहे थे। मानसकल्पके शिवजी ऐसे नहीं हैं। यहाँ तो ब्रह्मादि देवता ही उनके विवाहके लिये उत्सुक हैं। इसीसे तो लग्न सुनतेही सब सुर और मुनि हर्षित होकर बारातके लिये तैयार होने लगे। 'पार्वतीमंगल' में ब्रह्माजीकाही सबको निमंत्रण भेजना कहा है। यथा 'पगि घुलाइ बिरंचि बँचाइ लगन तब। कहेन्हि बियाहन चलहु बुलाइ अमर सब। विधि पठए जहँ तहँ सब सिवगन धावन। सुनि हरषहिं सुर कहहिं निसान बजावन॥ ५६। रचहिं बिमान बनाइ सगुन पावहिं भले। निज निज साजु समाजु साजि सुरगन चले।'

सिवहि संभुगन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहिमौरु सँवारा॥ १॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला॥ २॥
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीनि उपबीत भुजंगा॥ ३॥
गरल कंठ उर नर-सिर-माला। असिव बेष सिवधाम कृपाला॥ ४॥
कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा। चले बसहँ चढ़ि बाजहिं बाजा॥ ५॥

शब्दार्थ—'मौरु' (मौर)—एक प्रकारका शिरोभूषण जो ताड़पत्र या खुखड़ी आदिका बनाया जाता है और विवाहमें वरके शिरपर पहनाया जाता है। 'कुंडल'—यह कानोंमें पहननेका एक मंडलाकार भूषण है, जो प्रायः सोने या चाँदीका होता है। यह अनेक प्रकारके आकारका बनाया जाता है, जैसे—मकराकृत, मीनाकृत, मोराकृत कुण्डल। 'कंकन' (कंकण)—यह आभूषण हाथकी कलाईपर बाँधा जाता है और विवाहके पश्चात् बारात लौटनेपर कंकण छोड़नेकी रस्म होती है। शब्दसागरमें लिखा है कि विवाहमें देशाचार अनुसार चाकर, सरसों, अजवायन, आदिकी पोटली कपड़ेमें ला पाटलियाँ लाल-पीले तागेसे बाँधते हैं, एक तो लोहेके छल्लेके साथ दुलह या दुलहिनके हाथमें बाँध दी जाती है। शेष आठ मूसल, चक्की, ओखली, पीढ़ा, हरीस, लोढ़ा, कलश आदिमें बाँधी जाती हैं। 'डमरु'—एक बाजा जिसका आकार बीचमें पतला और दोनों सिरोंकी ओर बराबर चौड़ा होता जाता है। दोनों सिरोंपर चमड़ा मढ़ा होता है। इसके बीचमें दो तरफ बराबर बढ़ी हुई डोरी बँधी रहती है जिसके दोनों छोरोंपर एक एक कौड़ी या गोली बँधी होती है। बीचमें पकड़कर जब बाजा हिलाया जाता है तब दोनों कौड़ियाँ चमड़ेपर पड़ती हैं और शब्द होता है। यह बाजा शिवजीका बहुत प्रिय है। (श० सा०)। संस्कृत व्याकरणके चौदह मूल सूत्रोंकी रचना 'डमरु' से ही हुई है। इस संबंधमें एक मत यह है कि व्याकरणके पारदर्शी होनेके उद्देश्यसे पाणिनिने घोर तपस्या की। शिवजीने प्रकट होकर ताण्डव नृत्य करते हुए चौदह बार डमरु बजाया। उसके १४ नादोंसेही १४ सूत्रोंकी रचना हुई। इसीसे वे माहेश्वर सूत्र कहलाए। दूसरी कथा यह है कि सनकादिकी प्रार्थनापर शिवजीने १४ बार डमरुध्वनि की जिससे ये १४ सूत्र हुए। (विशेष विनयपीयूष पद १० में देखिए)। कहा जाता है कि इस जगत्‌का विनाश करनेवाले रात्रि दिवसकोही शिवजी डमरुरूपसे धारण किये हुए हैं।

अर्थ—शिवजीके गण शिवजीका शृङ्गार कर रहे हैं। जटाओंका मुकुट बनाकर उसपर सर्पोंका मौर सजाया गया। १। सर्पोंके कुंडल और सर्पोंके कंकण पहने हैं। शरीरपर भस्म (रमाए) और बाघम्बरका वस्त्र (कटिमें बँधा है)। २। सुंदर ललाट (माथे) पर सुंदर चन्द्रमा और सुंदर सिरपर सुंदर गंगाजी (विराजमान हैं)। तीन नेत्र हैं। सर्पोंका ही जनेऊ है। ३। कंठमें हालाहल विष और वक्षस्थल (छाती) पर मनुष्योंकी खोपड़ीकी माला है। ऐसा अमंगल वेष होनेपर भी वे कल्याणके धाम और कृपालु हैं। ४। हाथमें त्रिशूल और डमरु विशेष शोभा दे रहे हैं (शिवजी यह शृङ्गार हो जानेपर) बैल (नन्दीश्वर) पर चढ़कर चले। बाजे बज रहे हैं। ५।

टिप्पणी—१ 'सिवहि संभुगन करहिं सिंगारा।०' इति। (क) उधर देवता बारातकी तैयारी करते हैं, उसी समय इधर गण वरको तैयार करते हैं। वरका शृङ्गार वर स्वयं नहीं करता, दूसरे ही करते

हैं; इसीसे यहाँ शिवगणोंका शृंगार करना कहा। (पुनः उनका शृङ्गार उनके अनुकूल अन्य देवता कर भी नहीं सकते। शिवजीके नित्यके परिकरही जान सकते हैं कि उनके स्वरूपके योग्य कैसा शृङ्गार करना चाहिए। अतः 'शंभुगण' काही शिवजीको सजाना कहा)। [(ख) भगवान् शंकरके किस अंगमें कौन सर्प आभूपण-रूपसे रहते हैं? उत्तर—वे सर्पराज वासुकिको छातीमें चपकाए हुए यज्ञोपवीतकी भाँति धारण करते हैं। कम्बल और अश्वतर इन दोनो नागोंको दोनों कानोंका कुण्डल बना रक्खा है। कर्कोटक और कुलिकसे उत्तम कङ्कणका काम लेते हैं। शङ्ख और पद्म नामक नाग उनके भुजबंद हैं। (स्क० पु० मा० के०)। ऐसाही शृङ्गार शिवगणोंने शिवजीका किया]। (ग) 'तन विभूति पट केहरि छाला' इति। दूलहके अंगराग लगाया जाता है। उसकी जगह यहाँ 'विभूति' अर्थात् भस्म है। जामाकी जगह बाघाम्बर है। 'छाल'=चर्म। सिंहचर्म पहने नहीं हैं, किंतु बाँधे हैं, जैसे कटिमें पटुका बाँधा जाता है। आगेके 'नगन जटिल भयंकरा' जो लड़कोंने माँबापसे कहा है उससे शिवजीका नग्न होना, वस्त्र न पहिने होना स्पष्ट है। केहरिछाला पटुका है। (घ) 'ससि ललाट सुंदर सिर गंगा' इति। वेप भरमें यही सुंदर हैं, चन्द्रमा और गङ्गाजी। इसीसे इन्हींके साथ 'सुंदर' विशेषण दिया। मस्तकपर चन्द्रमा है, उसके ऊपर गङ्गाजी, इसीसे प्रथम चन्द्रमाको कहा तब गङ्गाको। [(ङ) 'गरल कठ०। असिव वेप सिवधाम' इति। 'गरल' अर्थात् देवता आदिको कालकूटकी विपम ज्वालासे जलते देख आपने उस गरलको कंठमें रख लिया था। जिसके कारण कंठ नीला पड़ गया है। उसीका यहाँ संकेत है। यह शिवजीके अत्यंत कृपालु करुणामय स्वभावका सूचक है, इसीसे 'कृपाला' कहा। 'उर नर सिर माला' से स्पष्ट किया कि मृतक मनुष्योंकी खोपड़ियोंकी माला है। कहा जाता है कि श्रीसुरथ और श्रीसुधन्वाजी जो राजा नीलध्वज या हंसध्वजके लड़के थे जिन्होंने युधिष्ठिरजीके राजसूय यज्ञके घोड़ेको पकड़ा था और परम भागवत थे, उनके मारे जानेपर उनकी खोपड़ियोंको भी मालामें धारण किये रहते हैं। स्कंद पु० में लिखा है कि जब चन्द्रमा राहुसे डरकर शिवजीकी शरणमें गया और शंकरजीने उसे मस्तकपर स्थान दिया तब राहुने आकर शंकरजीकी स्तुति करके उनसे अपना भक्ष्य माँगा। शंकरजीके कहनेपर कि मैं देवता और असुर सबका आश्रय हूँ, राहुभी उनको प्रणाम कर मस्तकपर जा बैठा। तब भयके मारे चन्द्रमाने अमृतका स्राव किया। उस अमृतके सम्पर्कसे राहुके अनेक सिर हो गए। देवकार्य सिद्धिके लिये शंकरजीने उन सब मुण्डोंकी माला बना ली। (माहेश्वर केदारखण्ड)। साथ ही यह भी कहा जाता है कि जब-जब सतीजी शरीरका त्याग करती हैं तब तब उनके मुंडको वे धारण करते हैं, उन्हीं मुंडोंकी यह माला है। पर यहाँ 'उर नर सिरमाला' से इसका निराकरण होता है। (च) 'असिव वेप'—मुंडमाला, श्मशानकी विभूति, सर्प लपेटे, व्याघ्राम्बर इत्यादि वेप 'अमंगल' है; परन्तु आप शिवधाम (कल्याणके घर) और कृपालु हैं। अतः दूसरोंको भी कल्याण देते हैं। यथा 'भेष तो भिखारि को भयंकर रूप संकर दयाल दीनबंधु दानि दारिद-दहनु है। क० उ० १६०।', 'साज अमंगल मंगल रासी। २६। १।' देखिये। ☞ 'कुमारसंभव' सर्ग ५ श्लोक ७५-८२ में ब्रह्मचारी (शिव) से शिवजीके अमंगल वेपकी निंदा सुनकर श्रीपार्वतीजीने कहा है कि 'अज्ञानी लोग महात्माओंको यथार्थ नहीं जान सकते, इसीसे उनकी निन्दा करते हैं। शिवजी तो दरिद्र होनेपर भी संपत्तियोंके कारण हैं, श्मशानके आश्रय होते हुए भी त्रैलोक्यनाथ हैं, भयंकर रूप होते हुए भी वे शिव कल्याण सौम्यरूप हैं—'स भीमरूपः शिव इत्युदीर्य्यते'। चिताभस्मभी उनके देहस्पर्शसंसर्गसे पवित्र करनेको समर्थ हो जाती है। देवता उसे शिरोधार्य करते हैं। ऐरावतपर चढ़ने-वाला इन्द्र बैलपर सवार शिवके चरणोंको प्रणाम करता है।' इत्यादि।] यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

२ 'कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा।' इति। त्रिशूलसे भक्तजनोंके तीनों शूलोंका नाश करते हैं। बसहपर सवार हैं। वृपभ धर्मका स्वरूप है। बसहपर सवार हैं अर्थात् धर्मपर आरूढ हैं, यथा 'जौं नहि करउँ दंड खल तोरा। होइ भ्रष्ट श्रुति मारग मोरा', 'मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधे.'। 'कर डमरु बिराजा' कह-कर 'चले' और 'बाजहिं बाजा' कहनेका भाव कि शिवजीभी डमरू बजाते जा रहे हैं औरभी बाजे बज रहे हैं।

'बाजा' के साथ 'बाजहिं' क्रिया दी और डमरूके लिये 'बिराजा'। ऐसा करके जनाया कि डमरू इन सब बाजोंसे विशेष है; कारण कि डमरू व्याकरण शास्त्रका मूल है और उसके बजानेवाले श्रीशंकरजी हैं। ऊपर कहा था कि 'सुमन वृष्टि नभ बानन बाजे' और यहाँ कहते हैं कि 'चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा', इस तरह जनाया कि ऊपर और नीचे दोनों बाजे बज रहे हैं। [यदि 'बाजहिं' को एक वचन मानें तो डमरू बजाते हैं, यह अर्थ कर सकते हैं]।

प० राजबहादुर लमगोड़ा—चित्रका अनमिल बेजोड़पन 'ससि ललाट सुंदर सिर गंगा' के साथ साथ विचारणीय है। 'अहिमौर सँवारा' में 'सँवारा' शब्द हास्यकलाकी जान है। मैं तो जब इस प्रसंगको पढ़ता हूँ तो मुँहसे अनायासही निकल जाता है कि 'बलिहारी भँग घुटना बाबाकी, क्या शक्ल बनाई है।' परन्तु कवि बड़े सुंदर संकेतसे याद दिला देता है कि यह नक्काली नहीं है। इसमें शिव व्यक्तित्वका रहस्य भी है—'अशिव वेष शिवधाम कृपाला'। तुलसीदासजीकी कलाकी यह विशेषता है कि संकेत ऐसे होते हैं कि रसभंग न हो।

दूलहके साजका शिव-दूलहके साजसे मिलान

सिरपर पगड़ी। उसपर रंगबिरंगके मणियोंसे जटित मौर	१	जटामुकुट। उसपर रंगबिरंगके मणियुक्त सर्पोंका मौर
कानोंमें कुंडल, हाथमें कंकण	२	सर्पका सिर और पूँछ मिलाकर कुंडल बना। कंकणाकार करके कलाईमें लपेट दिया।
उबटन, अतर	३	विभूति, चिताकी भस्म
जामा नीमा पटुका	४	बाघाम्बर
दही अक्षतका तिलक	५	द्वैजचन्द्र
शुद्धताके लिये स्नान	६	गंगाजी सदा विराजमान
माथेपर डिठौना जिसमें नजर न लगे	७	भालपर अग्निनेत्र—'निठुर निहारिये बीठी भालकी।'
व्याहके पूर्व तीनसूतका जनेऊ	८	तीनसर्पोंसे त्रिसूत्र जनेऊ बना
दूलहके पास खड्ग वा लोहेका अस्त्र रक्षार्थ रहता है	९	त्रिशूल और डमरू
मोतीमणि आदिकी माला	१०	नरमुंडमाल

नोट—१ सर्पोंके आभूषण, विभूति, व्याघ्रचर्म आदिके धारण करनेके कुछ आध्यात्मिक भाव—
(क) काल भगवान्‌के अधीन है, इस भावको दरसानेके लिये आप महाविषधर सर्पको धारण किये हैं। पुनः, जिस समय जीव अपनी सत्ताको शिवभावमें लीन कर देता है उस समय जीवसे द्वन्द्वात्मक कर्मोंसे युक्त प्रकृतिके नानाप्रकारके धर्म अपने आपही निवृत्त हो जाते हैं। इस बातको प्रकट करनेके लिये शंकरजी सर्पोंको अपना अलंकार बनाए हैं। (ख) स्थूलका अन्तिम परिणाम भस्म है। इस स्थूल ब्रह्माण्डको भस्मरूपमें ले आनेवाले शंकर हैं। इस भावको सूचित करनेके लिये उनके शरीरमें भस्म लगी रहती है। यह त्याग वैराग्य उदासीनता निर्लिप्ततादिको भी प्रकट करता है। (ग) अति शौर्यशाली तथा बली जीवोंपर शासन करनेमें समर्थ हैं। व्याघ्रचर्म धारण करना इस भावका सूचक है। पुन, प्रथमरूपमें ब्रह्मांडके साथ कालका सम्बन्ध है। ब्रह्माण्डकी आयुके अनुसार महाकाल रुद्रभी परिच्छिन्न हैं। इसलिये रुद्रको व्याघ्राम्बरधारी कहा है। (घ) मस्तकमें चन्द्रमाका संकेत प्रणवकी अर्धमात्रासे है और इसी निमित्त उनके मस्तकको अर्धचन्द्र भूषित करता है। (श्रीभवानीशंकरजी)। बालशशि धारणकर जनाते हैं कि टेढ़े, कुटिल, दीन क्षीणकोभी शरण देते तथा जगद्वन्द्य करते हैं—'यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।' (ङ) आध्यात्मिक गङ्गा एक बड़ा तेजपुञ्ज है जो महाविष्णुके चरणसे निकलकर ब्रह्माण्डनायक श्रीमहादेवजीके मस्तकपर गिरता है और वहाँसे संसारके कल्याणके निमित्त फैलता है। इस तेजको केवल 'महादेव' धारण कर सकते

हैं। श्रीशिवजीकी कृपासे इस आध्यात्मिक गङ्गाका लाभ अभ्यन्तरमें अन्तरस्थ काशीक्षेत्रमें होता है। (श्रीभवानीशंकर)। पुनः, शिवजीको 'पृथ्वीका अभिमानी देव' कहा गया है। पृथ्वीका सबसे उच्च प्रदेश हिमालय ही उनका सिर है। हिमालयसे जगत्पावनी पुण्यसलिला श्रीगङ्गाजीका आविर्भाव होता है। इस भावको प्रकट करनेके लिये शंकरजी गंगाजीको अपने मस्तकपर धारण करते हैं। (च) दोनों नेत्र पृथ्वी और आकाशके सूचक हैं। तृतीय नेत्र बुद्धिके अधिदैव सूर्य ज्ञानाग्निका सूचक है। इसी ज्ञानाग्निरूप तीसरे नेत्रके खुलनेसे काम भस्म हो गया था। (छ) 'गरलकंठ' इति। संसारके अनिष्टसे अनिष्टकारी पदार्थोंको भी अनुकूल बनानेमें आप समर्थ हैं। इस भावको प्रकट करनेके लिये आप विष पान किया करते हैं। (श्रीगंगेश्वरानन्दजी)। (ज) 'नर सिर माला' इति। विनयमें भी 'नृकपालमालधारी' (पद १२) कहा है। कारण शरीर विशिष्ट चेतनकी समष्टि ही रुद्र हैं। कारणविशिष्ट चेतन जो शरीरद्वयके नष्ट होनेपर अवशिष्ट रह जाता है, उन्हीं सब प्रलयकालीन जीवोंकी स्थितिके सूचक भगवान् शंकरके गलेमें मुंडमाल पड़ी हुई है। (श्रीगंगेश्वरानन्दजी)। (झ) 'त्रिशूल' का भाव है त्रितापका नाश करना अर्थात् त्रितापसे मुक्ति पाकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंसे भी परे तुरीयामें पहुँचना। ऐसा साधक ही यथार्थ त्रिशूलधारी है। (श्रीभवानीशंकरजी)। 'डमरू' का भाव शब्दार्थमें दिया गया है। (ञ) 'बसह' इति। सत्वगुणका पूर्ण विकास होनेपर ही धर्मका विकास होता है। पशुजातिमें सबसे अधिक सत्त्वगुणका विकास गोजातिमें है। इसलिये धर्मका सूचक बैल ही श्रीशिवजीका वाहन है। श्रीवासुदेवशरणजी लिखते हैं कि कामकी एक संज्ञा 'वृष' है। शिवजी मदनका दहन कर चुके हैं। उन्होंने कामको परास्त कर लिया है। वे अरूपहार्य योगीश्वर हैं। अतएव 'वृष' उनका वाहन बन गया है।—विशेष देखना हो तो 'विनयपीयूष' में पद १०, ११, १२ में एवं अन्य शिवस्तुतियोंमें देखिए।

वि० त्रि०—शिवजी तमोगुणके अधिष्ठाता होनेपर भी त्रिगुणातीत हैं, इसीलिये अशुभ वेष शिवधाम हैं। भस्म, गंगाजी, तृतीय नयन, सर्प और डमरूके व्याजसे पाँचों तत्वोंको धारण किये हुए हैं। चन्द्र और गरलके व्याजसे संजीवनी और मारण शक्ति (जो सब शक्तियोंकी सार हैं) धारण किये हुये हैं! 'अशिव वेष शिवधाम' यह अलौकिकता है। लोकमें ठीक इसके विपरीत है। सौम्यको 'सौम्य वेष' और करालको कराल वेष प्रिय लगता है।

प० प० प्र०—(क) 'जटा मुकुट अहि मौरु सँवारा'—जटा मुकुट तो मंगलरूप है किन्तु उसपर का 'अहिमौर' अमंगल है। तथापि अहिमौर बताता है कि कोई कितनाही बड़ा तपस्वी क्यों न हो जबतक वासनारूपी सर्पका फण उसके ऊपर रहता है तबतक भव भयसे छुटकारा न मिलेगा। वह सर्प डसेगा। (ख) 'ससि ललाट'—शशिके धारणका भाव कि तुम भलेही वक्र और कलंकित आदि क्यों न हो, यदि सद्गुरुरूपी शिवजीका आश्रय ले लोगे तो अवश्य जगद्वन्द्य हो जाओगे। (ग) 'सुंदर सिर गंगा' द्वारा सूचित करते हैं कि वासनारूपी नागिनके भय और उसके दुःखद विषयरूपी विषसे मुक्त होनेके लिये ज्ञान-गंगाको सिरपर धारण करना चाहिए। भगवच्चरणामृतको सिरपर चढ़ाइये। ज्ञान गंगा सद्गुरु शिवजीकी कृपासे ही प्राप्त होगी—'ज्ञानमहेश्वरादिच्छेत्'। 'बिन गुरु होइ कि ज्ञान। ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।' अतः प्रथम अहिमौर तब वैराग्यकी आवश्यकता बताई। शंकरजी 'वैराग्याम्बुज भास्कर' हैं ही। (घ) 'कुण्डल व्याला'—मनही भयंकर व्याल है। कानोंमें जो नाद सुन पड़ती है, उसमें मनको लगानेसे वह मनरूपी व्याल वशमें आता है—(योग तारावली देखिए)। इस अभ्यासको नादानुसंधान कहा है। मनको वश करनेके लाखों साधनोंमें यह सर्वश्रेष्ठ है। यहाँ योगाभ्यासकी आवश्यकता सूचित की। (ङ) 'कंकन व्याला'—विषय दुर्धर व्याल हैं, इनसे जीव घिरा हुआ है जिससे उसका भगवान्से वियोग हुआ। नादानुसंधानरूपी योग-साधन द्वारा विषय व्यालबंधन तो छूटेगा ही, पर वे जीवके वशमें इसके हाथमें कंकणके समान भूषणास्पद बनके रहेंगे। (च) 'पट केहरि छाला'—योगाभ्यास बाघम्बर पर करना शीघ्र सिद्धिप्रद होता है। व्याघ्र क्रूर

पशु है पर इसका चर्म पवित्र है। व्याघ्रचर्म कटिमें लपेटनेसे सूचित किया कि दोषोंको त्यागकर गुणोंका ग्रहण करना चाहिए। (छ) 'तनु विभूति' से जनाया कि अष्टसिद्धि आदि विभूति योगाभ्याससे प्राप्त होगी, पर जो साधक इस ऐश्वर्यको चिताभस्मके समान अमंगल समझकर त्याग करेगा उसके शरीर पर लगा हुआ भस्मभी परममंगल कारक होगा। यह याद रक्खे कि सब द्रव्य एवं ऐश्वर्य एक दिन भस्म होगा ही। (ज) 'नयन तीनि' शिवजी त्रिनयन हैं। कृशानु भानु और हिमकररूप हैं। मध्य नयन कृशानु है। नयन-नेता=ले आनेवाला (अमरव्याख्या सु)। मुख्य समाधानतक ले जानेवाले तीन नयन श्रीरामनाममें हैं, यथा 'बंदौं नाम राम रघुवरको। हेतु कृसानु भानु हिमकर को। १९। १।' श्रीरामनामरूपी नयनका अभाव हो और तीन या उससे भी अधिक आँखें हों तो भी भक्ति विवेक विरागका दर्शन होना असंभव है। जिसके पास रामनाम नेत्र होगा वह कृतकृत्य होगा। (झ) 'उपबीत भुजगा' इति। भुजग=कुटिल गति। भाव यह है कि रामनामके प्रभावसे कुटिलगति वाले काम क्रोधादि महा भयंकर भुजग वशमें आजायँगे। (ञ) 'गरलकंठ'—रामनामके प्रभावसे कालकूट भूषण हो गया, वे नीलकंठ बन गए, अमर होगए। रामनामका प्रभाव दिखाया कि उससे जन्ममरणका भय दूर हो जाता है। संसारमें फिर आना नहीं पड़ता। (ट) 'उर नर सिरमाला'—इससे जनाया कि ऐसे रामनाम निरत रामभक्त भगवान् शिवजीको इतने प्रिय होते हैं कि वे उनके मुडोंकी माला अपने गलेमें धारण करते हैं। (ठ) 'कर त्रिसूल'—भाव कि शिवजी और रामनाम रामनामप्रेमी भक्तोंके त्रि-शूल त्रिविध तापोंका नाश करते हैं। (ड) 'कर डमरु बिराजा' इति। डमरू एक प्रकारका बाद्य है। इसके वादनसे डम् डम् ऐसी ध्वनि निकलती है। डम् इति ध्वनिं इयर्ति इति डमरु (अमरव्या सु)। शिवजीकी डमरुध्वनि की यह महिमा है कि उसको सुनतेही सब प्रतिकूलता भाग जाती है। 'श'—कार शंकर है। उनके 'कर'में श (कल्याण) विराजता है। (ढ) 'चले बसहु चढ़ि' इति। शिवजी वृषारूढ होकर व्याहके लिये चल पड़े। वृष=धर्म। योग, ज्ञान और भक्तिकी प्राप्तिका मूल आधार धर्म है। वेदपुराणोक्त धर्मपर आरूढ होकर चलनेसे ही यह सब साधन अनायास सिद्ध होगा, अन्यथा असंभव है। यथा 'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना', 'बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई'।

उपसंहार। 'जटा मुकुट'से प्रारम्भ किया, मानों साधन मन्दिरके कलशासे प्रारम्भ हुआ, और साधनमन्दिरकी धर्मरूपी नींव तक बखाना है। शिवजीके वेषमें जो कुछ अमंगलता देखनेमें आती है, वह इस प्रकार परम मंगलताका बोध करानेके लिये है। १४ प्रकारोंसे भूषित शिवजी अमंगल वेषवाले होनेपर भी १४ भुवनोंमें वंद्य और पूज्य हैं और 'श्रीरामभूपप्रियम्' हैं। वैसे ही इस साधन परंपराका आश्रय लेनेवाला जीव चौदहों भुवनोंमें पूज्य वंद्यही बनेगा, यह भी ध्वनित किया है।

देखि सिवहि सुरत्रिय मुसुकाहीं। बर लायक दुलहिनि जग नाहीं॥ ६॥
बिष्नु बिरंचि आदि सुर ब्राता। चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता॥ ७॥
सुर समाज सब भाँति अनूपा। नहिं बरात दूलह अनुरूपा॥ ८॥

शब्दार्थ—ब्राता (व्रात)=समूह, समुदाय। यथा 'समूहो निवह व्यूह संदोह विसर व्रजा। स्तोमौघ निकर व्रात वार संघात सञ्चया। ३९। समुदाय समुदय।' (अमरकोश २। ६)।

अर्थ—श्रीशिवजीको देखकर देवताओंकी स्त्रियाँ (देवाङ्गनायें) मुस्कुरा रही हैं कि (अहा! इस) वरके योग्य (तो) दुलहिनि संसारभरमें नहीं मिलेगी। ६। श्रीविष्णुभगवान् और श्रीब्रह्माजी आदि देवताओंके समाज (अपनी अपनी सवारियों पर चढ़ चढ़कर बारातमें चले। ७। देव समाज सब प्रकार उपमा रहित (अर्थात् परम सुन्दर) था। (हाँ! पर) बारात दूलहके योग्य न थी। ८।

प० राजबहादुर लमगोड़ा-देववधुओंका मजाक देखिये। 'मुसुकाहीं' 'बरलायक दुलहिनि जग नाहीं' और 'नहिं बरात दूलह अनुरूपा' की चुटकियाँ गजबकी हैं। अनमिल बेजोड़पन बिलकुल साफ कर दिया है।

नोट—१ देववधूटियोंके दबी जबान मुस्कुरानेमें व्यंग यह है कि पार्वतीजी तो परम सुन्दर हैं पर दूलह ऐसा परम भयावन है, भला यह उनके योग्य कब हो सकता है ? दूलहके स्वरूपके योग्य तो वैसे वेषवाली स्त्री हो सकती है, सो कहीं मिलनेकी नहीं। कहाँ तो अमंगल वेष एवं भयंकर दूलह और कहाँ परम सुंदर रूपवती दुलहिनि ? दो अनमिल वस्तुओंका एक ठौर वर्णन होनेसे यहाँ प्रथम विषम अलंकार है।

२—पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ सुरत्रियोंका मुस्कराना लिखा पर उनका कहना नहीं लिखा। (अर्थात् मनही मन यह समझकर कि 'बरलायक दुलहिनि जग नाहीं' मुस्कुरा रही हैं)। 'मुसुकाहीं' का कारण दूसरे चरणमें देते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'बर लायक दुलहिनि जग नाहीं' में भाव यह है कि इनके योग्य केवल चिद्रूपा श्रीपार्वतीजीही हैं, जो अप्राकृत हैं, इस जगकी नहीं हैं।

३ 'विष्नु बिरंचि आदि सुरब्राता।...' इति। (क) कविकी सँभाल यहाँ दर्शनीय है। यदि 'बिरंचि आदि' अथवा 'विष्णु आदि' कहते तो विष्णु या ब्रह्माकी न्यूनता पाई जाती। अर्थात् दूसरेकी सामान्यता पाई जाती, दूसरा छोटा समझा जाता। इस दोषको बचानेके लिये 'बिष्नु बिरंचि' दोनोंको कहकर तब 'आदि' शब्द दिया। नहीं तो इनमेंसे एक जो 'आदि' शब्द के पश्चात् लिखा जाता वह अन्य देवताओंके समान समझा जाता। (पं० रा० कु०)। (ख) 'सुरब्राता' कहा क्योंकि देवताओंकी बहुत जातियाँ, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, आदि हैं, सबके अपने-अपने अलग अलग यूथ हैं। वही यहाँ 'सुरब्राता' से जनाया। (ग) 'चढ़ि चढ़ि बाहन'—विष्णु गरुडपर, ब्रह्मा हंसपर, इन्द्र ऐरावतपर, इत्यादि। विशेष दो० ९१ नोट १ में देखिए। बहुतसे विमानोंपर हैं और सब सपरिवार हैं। इसीसे सुरत्रियों की भी चर्चा की गई। (घ) 'सब भाँति अनूपा' अर्थात् रूप, भूषण, बसन, वाहन इत्यादि सब प्रकारसे परम सुन्दर हैं, कोई उपमा नहीं दी जा सकती। (ङ) 'नहिं बरात दूलह अनुरूपा' अर्थात् जैसा दूलह है, जैसा उसका समाज है, वैसी ही बरात होनी चाहिए। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि इसमें भाव यह है कि 'बारात अनुपम है, परन्तु सर्पादि भूषणोंके योगसे दूलह ऐसी बारातके योग्य नहीं।' ☞ यहाँतक बारातियोंके समाजका वर्णन हुआ। बारातमें कौन आगे, कौन पीछे, यह बात भी कविने अपने क्रमशः वर्णनसे जना दी है। आगे पार्षदोंसहित विष्णुभगवान हैं, उनके पीछे ब्रह्माजी और उनके पीछे देवसमाज हैं।

दोहा— बिष्नु* कहा अस बिहसि तब बोलि सकल दिसिराज।
बिलग-बिलग होइ चलहु सब निज-निज सहित समाज ॥९२॥

अर्थ—तब विष्णु-भगवान्ने सब दिग्पालोंको बुलाकर हँसकर ऐसा कहा—(भाई !) सब लोग अपने-अपने समाज समेत अलग-अलग होकर चलो। ९२।

नोट—१ 'बिष्नु कहा अस बिहसि तब बोलि सकल दिसिराज।' इति। (क) हँसकर हास्य किया। यहाँ हँसकर कहना एक तो व्यंग्य है; यथा 'हरि के ब्यंग बचन नहिं जाहीं।'; व्यंगोक्तिद्वारा यहाँ हास्यरस वर्णन किया गया। दूसरे, यह हँसना दयालुता सूचित करता है। शिवगणोंने दूलहका शृङ्गार किया और उनके हृदयमें दूलहके साथ साथ चलनेकी रही, पर देवताओंके बीचमें उनका गुजर कैसे हो ? भगवान्ने सोचा कि सबका समाज अलग अलग हो जाय तो शिवगणोंकीभी लालसा पूरी हो जायगी। इस कारण हँसकर व्यंग वचन कहे। तीसरा कारण हँसकर कहनेका यह है कि जबतक इस तरह न कहेंगे, शिवजी अपनी सेनाके साथ न रहेंगे और जबतक शिवगण शिवजीके साथ न होंगे तबतक वह बारात शिवजीकी बारात न जान पड़ेगी। (ख) 'बोलि सकल दिसिराज' इति। दशों दिक्पालोंसे कहा, शिवजीसे न कहा कि आप हमसे अलग हो जाइए, यह इसलिये कि उन्होंने सुन्दर रूप धारण नहीं किया, अतः वे अपनी अनुपम बारात अपने साथ बुलाकर करलें, देवताओंके साथ यह रूप नहीं सोहता। (पं० रा० कु०)। (ग) 'सकल

* पाठान्तर—'बिष्नु कहा तब बिहँसि करि'

दिसिराज'। दिक्पाल दस हैं जो दशों दिशाओंका पालन करते हैं—पूर्वके इन्द्र, अग्निकोणके अग्नि (वह्नि), दक्षिणके यम, नैर्ऋत्यकोणके नैर्ऋत (सूर्य), पश्चिमके वरुण, वायव्यके पवन, उत्तरके कुबेर, ईशानके ईश (वा चन्द्र), ऊर्ध्वके ब्रह्मा और अधोदिशाके अनंत नाग। ☞ दश दिशाओंपर विशेष ८८।१ भाग १ में देखिए। (घ) दस दिक्पालोंके अधिकारमें ही सब देवता हैं, अतः इन्हींको बुलाकर कहा। (ङ) 'बिलग बिलग ' इति। 'अपना अपना समाज अलग अलग लेकर चलो' कथनका भाव कि जिसमें स्पष्ट प्रतीति हो कि यह अमुक दिक्पालका समाज है, अपनी अपनी तैयारी और त्रुटिका अपनेको ही जिम्मेदार रहना चाहिए। एककी त्रुटिके सब जिम्मेदार न समझे जायँ। सबकी अलग अलग शोभा दिखाई पड़े। शिवजी स्वयं ईशानकोणके दिक्पाल हैं, इनकी शोभा अलग रहे। (वि० त्रि०)।

बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु* पर पुर जाई॥ १॥
बिष्नु बचन सुनि सुर मुसुकानें। निज निज सेन सहित बिलगानें॥ २॥
मन ही मन महेसु मुसुकाहीं। हरि के बिंग्य बचन नहिं जाहीं॥ ३॥

शब्दार्थ—बिलगाना=अलग अलग होजाना। बिंग्य (व्यंग्य)—शब्दकी तीन प्रकारकी शक्तियों या वृत्तियोंमेंसे वह शक्ति या वृत्ति जिससे शब्द या शब्दसमूहके वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थसे भिन्न किसी औरही अर्थका बोध होता है, साधारण अर्थको छोड़कर कोई विशेष अर्थ प्रकट होता है 'व्यंजना शक्ति' कहलाती है। व्यंजनाशक्तिसे प्रकट होनेवाले विशिष्ट गुप्त अर्थको 'व्यंग्य' कहते हैं। इस तरह, व्यंग्य=वह लगती हुई बात जिसका कुछ गुप्त अर्थ हो।

अर्थ—भाई ! दूलहके योग्य बारात नहीं है। पराये (दूसरेके) नगरमें जाकर हँसी कराओगे ? ॥१॥ विष्णुभगवान्‌के वचन सुनकर देवता मुस्कुराए और अपनी अपनी सेनाके सहित अलग अलग होगए। २॥ महादेवजी मनही मन मुस्कुरा रहे हैं कि भगवान्‌के व्यंग्य वचन नहीं छूटते ? (वा, व्यर्थ न जाने पावें)। ३।

प० राजबहादुर लमगोड़ा—भगवान् विष्णुकी चुटकी भी मजेकी है। 'सुर मुसुकाने' में परिहास भाव और 'मनही मन महेस मुसुकाहीं' में उपहास भाव कूट कूटकर भरा है। शिवजीका उदार उपहास देखिये कि मजाककी पूर्ति स्वयं करालेते हैं जैसा आगे प्रगट होगा।

टिप्पणी—१ 'बर अनुहारि बरात न भाई।०' इति। (क) अनुहारि (अनुहारका स्त्रीलिंग)=योग्य, अनुरूप, लायक। ऊपर कहा था कि 'सुर समाज सब भाँति अनूपा। नहिं बरात दुलह अनुरूपा।' अर्थात् बारात सब भाँति सुंदर है और वर सब भाँति असुंदर वा कुरूप है। इसी बातको विष्णु भगवान् व्यंगसे कह रहे हैं कि 'बर अनुहारि बरात नहीं है' अर्थात् वर तो सुंदर है पर बारात असुन्दर है—यह व्यंग सुनकर देवता भी हँसे और शिवजी भी हँसे [पंजाबीजीभी ऐसाही लिखते हैं—'काव्यमें चमत्कारको व्यंग कहते हैं। यहाँ इन वचनोंमें यह चमत्कार है कि कहना तो था कि बरातके अनुसार वर नहीं है और कहा, यह है कि वरके अनुसार बरात नहीं। पुनः कहा कि तुम्हारी हँसी होगी और (इस कथनमें) तात्पर्य्य यह है कि वरकी हँसी होगी।' यहाँ व्यंग्यसे जनाया कि बारात तो अनुपम है, पर वर कुरूप है।] 'भाई' प्यार और प्रेमका संबोधन है। विशेष ८.१३, १२. १०, २६. ८, भाग १ देखिए। [(ख) 'सुर मुसुकाने' कथनसे पाया गया कि देवताओंने यह व्यंग्य समझ लिया और उसे पसंद किया। व्यंग्य दो प्रकारका होता है। एक तो विनोदका जो दिल्लगी करनेवालेको, समाजको तथा जिसके संबंधसे दिल्लगी की जाय उसको भी प्रिय लगता है। यथा 'गारी मधुर स्वर देहिं सुंदरि बिंग्यबचन सुनावहीं। " सुनि सचुपावहीं॥ ३।९९।' दूसरा व्यंग्य तिरस्कारात्मक जो कमसे कम उसको बुरा लगता है जिसके संबंधमें वह बोला जाता है (जैसे जनकपुरमें धनुर्भंगके पश्चात् परशुरामजीके साथ लक्ष्मणजीके वचन)। भगवान् विष्णुका व्यंग्य विनोदका था। इसीसे

* करैहहि—रा० प०। अर्थात् बारात जाकर हँसी करावेगी।

देवता हँसे और शिवजीको भी वह व्यंग्य 'अति प्रिय' लगा।] यहाँ 'सुरों' के संबंधमें 'मुसुकानें' कहा और शिवजीके संबंधमें कहते हैं कि 'मनही मन महेस मुसुकाहीं'। इस भेदमें भाव यह है कि देवता प्रकट मुसुकाये और महादेवजी मनही मन मुसुकाए। अर्थात् ये मनहीमें प्रसन्न हुए और देवता लोग भगवान्‌का तर्क सुनकर हँसे। पुनः, 'मुसुकानें' और 'मुसुकाहीं' से जनाया कि देवता एकही बार सबके सब हँसे और शिवजी बारंबार मुसुका रहे हैं, मनही मन बहुत प्रसन्न हो रहे हैं। (ग) 'हरिके बिंग्य बचन नहिं जाहीं' इति।— [पंजाबीजी 'नहिं जाहीं' का अर्थ 'व्यर्थ न जावें' ऐसा करते हैं। वे लिखते हैं कि शिवजीके वचनोंका अभिप्राय यह है कि 'हरि हमारे प्यारे हैं और उनकी इच्छा हँसी करानेकी है तो हमको भी यही कर्त्तव्य है जिसमें वे प्रसन्न रहें'। इसमें महेशजीकी गंभीरता दिखाई है। व्यंग्यका अन्य अर्थ संगत नहीं है क्योंकि कवि आगे स्वयं कहते हैं कि 'अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे'। यह व्यंग्य प्रसन्नताको सूचित कर रहा है।' श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि (जब देवता अलग हो चले तब भी) 'भगवान् बारंबार व्यंग्य वचन कह रहे हैं। इसीसे 'नहिं जाहीं' नहीं जाते ऐसा कहा। मंदहँसन स्वनिष्ठ उत्तम हास्य है'। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'देवताओंने भगवान्‌की आज्ञाका पालन किया कि अलग-अलग होगए और शिवजीने आज्ञावाले गणोंको बुलाया। 'हरिके बिंग्य बचन नहिं जाहीं' अर्थात् रहें]

अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे। भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे॥ ४॥
सिव अनुसासन सुनि सब आए। प्रभु-पद-जलज सीस तिन्ह नाए॥ ५॥
नाना बाहन नाना बेषा। बिहसे सिव समाज निज देखा॥ ६॥

शब्दार्थ—भृंगी—अमरकोशमें नंदीश्वरकाही नाम 'भृंगी' भी कहा है, यथा—'भृङ्गी भृङ्गी रिटिस्तुण्डी नन्दिको नन्दिकेश्वरः।' (१. १. ४३)। ये कामरूप हैं, जब जो रूप और जितने रूप चाहें बना सकते हैं। ये वाहन भी हैं और शिवजीके द्वारपाल भी। यथा 'लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वाम प्रकोष्ठार्पित हेमवेत्रः। मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैवमाचापलायेति गणान्व्यनैषीन्॥ कु० सं० ३. ४१।' अर्थात् शिवजीके समाधिस्थ होनेपर द्वारपर सोनेका बेत लिये हुए गणोंको अपने मुखपर अंगुली देकर इस इशारेसे उनको मना करते हैं कि यहाँ कुछ भी शब्द न करो। ये प्रमथादि गणोंके नायक हैं। शब्दसागरमें 'भृंगी' को 'शिवजीका एक विशेष पार्षद', कहा है। ☞ हो सकता है कि इस नामका कोई और पार्षद हो जो साथमें चोबदारकी तरह चल रहा हो अथवा नन्दीश्वरहीके ये दोनों नाम और रूप हों। जिस समय जैसी सेवाकी आवश्यकता होती है, वैसा रूप धारण कर लेते हैं। प्रेरि=प्रेरणा करके।=भेजकर। यथा 'गिरिहि प्रेरि पठयहु भवन' (७७)। अनुशासन=आज्ञा। टेरना=बुलाना=ऊँचे स्वरसे पुकारना।

अर्थ—अपने प्यारेके अत्यंत प्रिय वचन सुनतेही उन्होंने भृङ्गीको भेजकर अपने समस्त गणोंको बुला लिया। ४। शिवजीकी आज्ञा सुनकर सब आए और स्वामीके चरणकमलोंमें उन्होंने शिर नवाया (प्रणाम किया)। ५। भाँति भाँतिके अनेक वाहन और अनेक वेषोंवाले अपने समाजको देख शिवजी खूब हँसे। ६।

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—'अति प्रिय' में उपहास भाव इतना कूटकूटकर भरा है कि कुछ हिसाब नहीं। दोस्तकी बात (मजाक) से शिवजीको बड़ा आनंद हुआ। 'अनमिल बेजोड़पन' के उभारनेके लिये और दूसरी ओर 'जस दूलह तसि बनी बराता' का 'जोड़' साफ दिखा देनेके लिये यही ठीक था कि सब शिवसमाज एक साथ हो जाय।

नोट—१ 'भृंगिहि प्रेरि···' इति। भृंगीको प्रेरित किया। उन्होंने समस्त गणोंको उच्चस्वरसे आवाज देकर बुलाया। चाहे वह कोई दूसरा गण हो और चाहे नन्दीश्वरहीके ये दोनों रूप हों। एक रूपमें वाहन बने हैं, दूसरे रूपसे सेवक भृङ्गी। 'अनुसासन सुनि' से जनाया कि सबको शिवजीकी आज्ञा उन्होंने

सुनाई। कोई कोई 'भृङ्गी' का अर्थ 'बिगुल' करते हैं, पर 'अनुसासन सुनि' से भृङ्गीगणही अर्थ होना ठीक है।

२ 'शिव अनुसासन सुनि सब आए।०' इति। आज्ञा सुनकर सब आए। भाव कि मंगलका समय है उसमें अपनी कुरूपता (अमंगल रूप) समझकर न आते, पर भृङ्गी द्वारा शिवजीकी आज्ञा पाकर आए। 'प्रभु पद जलज सीस तिन्ह नाए' इससे उनकी स्वामिभक्ति और जानकारी जनाई। ये गण कौन हैं, यह कवि आगे स्वयं लिखते हैं। (प० रा० कु०)। ३—'नाना बाहन नाना बेषा।०' इति। प्रथम मनमें हँसे थे, अब खिलखिलाकर वा प्रगट हँसे। एक कारण इसका यह भी है कि पहले अपने मित्रों और छोटोंमें थे। दूलहरूपसे उनके सामने ज़ोरसे हँसना अयोग्य समझा, अब अपनी जमातमें हैं इससे खूब हँसे। शिवजीकी हँसीमें भगवान्‌की व्यंगोक्तिका उत्तर व्यंजित होता है। वे यहाँ हँसकर उत्तरमें जनाते हैं कि अब तो बारात करके योग्य हो गई न ? अब तो 'पर पुर' में हँसी न होगी ? श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि यह परनिष्ठ मध्यम हास्य है।

कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू ॥ ७ ॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्टपुष्ट कोउ अति तन खीना ॥ ८ ॥

छंद—तन खीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरें।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरें ॥
खर स्वान सुअर सृकाल* मुख गन बेष अगनित को गनें।
बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमाति बरनत नहि बनें ॥

सोरठा—नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी भूत सब।
देखत अति बिपरीत बोलहिं बचन बिचित्र बिधि ॥ ९३ ॥

शब्दार्थ—बिपुल=बहुत। बाहु=भुजा, हाथ, बाँह। रिष्टपुष्ट (हृष्टपुष्ट)-मोटाताजा। गति-रीति, वेष, ढंग, चाल।—दशा—(प० रा० कु०)। कपाल-मरे हुए मनुष्यकी खोपड़ी। सद्य (सं० अव्यय)-आजहीका, तुरतका, तत्कालका, ताजा। शोनित खून, रक्त, रुधिर। भरें-लगाए हुए, पोते हुए। खर=गर्दभ, गदहा। स्वान=कुत्ता। सुअर=शूकर। सृकाल (शृगाल)=सियार, गीदड़। जिनस (जिंस)=किस्म, जाति प्रकार। जोगि=जोगड़े, प्रमथादि पार्षद। जमाति (जमाअत)=गरोह, समूह। तरंगी=लहरी, मनमौजी, जो जीमें आए वही करनेवाले।

अर्थ—कोई बिना मुखका है तो किसीके बहुतसे मुख हैं, कोई बिना हाथपैरका है तो किसीके बहुतसे हाथ पैर हैं। ७। किसीके बहुतसे नेत्र हैं तो कोई बिना आँखका ही है। कोई मोटा ताज़ा है तो कोई अत्यन्त दुर्बल शरीरका (अर्थात् बिलकुल सूखा हुआ, जिसके शरीरमें मांस रहही नहीं गया)। ८। कोई अत्यन्त दुर्बल शरीरका है तो कोई अत्यन्त मोटा ताज़ा है। कोई पवित्र और कोई अपवित्र वेष धारण किये हैं। उनके आभूषण (गहने) भयंकर हैं, हाथोंमें खोपड़ियाँ हैं। सभी शरीरोंमें ताज़ा खून पोते हुए हैं। उनके मुख गदहे, कुत्ते, सुअर और गीदड़ोंकेसे हैं। गणों (शिवजीके पार्षदों वा सेवकों) के अगणित (बेशुमार, असंख्य) वेष हैं, उन्हें कौन गिने ? बहुत जातिके प्रेत, पिशाच और जोगड़ोंकी जमातें हैं, उनका वर्णन करते नहीं बनता। (छंद)। सब भूत परम तरंगी हैं, सब मनमौजी गीत गा रहे हैं और नाच रहे हैं। वे देखनेमें बहुत ही बेढंगे हैं, विचित्र प्रकारकी बोली बोल रहे हैं। (सोरठा)। ९३।

* पाठान्तर-सृगाल—(रा० बा० दा०)

पं० राजबहादुर लमगोडा—इस शिवसमाजको देखिये और दिल खोलकर हँसिये। अनमिल बेजोड़पनका इससे सुंदर उदाहरण मिलना कठिन है। यह व्यंगचित्र सर्वसाधारणको इतना रुचिकर हुआ कि आजभी धनी वैश्योंके लड़कोंके विवाहमें विदूषक लोग इसी शिवसमाजकी नकलमें हास्यजनित प्रगतियाँ करते देखे जाते हैं; क्योंकि शिवबारात सौभाग्यसूचक समझी जाती है।

प० रामकुमारजी—१ (क) 'कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू'। बिना मुखकेहो जीवित हैं, इस कथनसे उनकी दिव्यता दिखाई। यहाँसे लेकर 'तन खीन कोउ अतिपीन' तक गणोंका रूप वर्णन किया, आगे उनका वेष कहते हैं।—'पावन कोउ अपावन गति धरें'। यहाँ गतिका अर्थ दशा है। (ख) 'भूषन कराल कपाल कर'। भाव कि जैसे देवता वैसा ही उनका वेषभी हुआ ही चाहे। गण कराल वैसे ही उनके भूषणभी कराल। ['कपाल कर' कहकर 'सद्य सोनित तन भरें' कहनेसे जान पड़ता है कि खोपड़ियोंसे खून टपक रहा है, वही खून सारे शरीरमें पोते हुए हैं। 'पावन गति धरें' अर्थात् त्रिपुण्ड्र रमाए, रुद्राक्ष पहने, रुद्राक्षका कंठा गलेमें पहने, इत्यादि जिससे वे पवित्र जान पड़ते हैं। हाथमें ताजे कटे हुए सिर लिये हैं, यह अपावन गति है। (ग) 'खर स्वान सुअर सृकाल मुख गन बेष०' इति। अर्थात् किसीका मुख गधेकासा है, किसीका कुत्तेकासा, इत्यादि। गणोंके वप अगणित हैं। [कोई कोई 'मुख' का अर्थ 'मुख्य' करते हैं, यह अर्थ यहाँ नहीं लगता, क्योंकि पूर्व कह आए हैं कि 'भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे', सभीको बुलाया, मुख्यहीको नहीं। प्रथम इतनाभर कहा था कि कोई मुखहीन हैं, कोई बहुमुख हैं। और यहाँ यह बताया कि मुख किस प्रकार-का है—मनुष्यकासा, देवताकासा या और किसी तरहका ?]

नोट—१ पार्वतीमंगलके वर्णनसे मिलान कीजिये—'प्रमथनाथके साथ प्रमथगन राजहिं। बिबिध भाँति मुख बाहन बेष बिराजहिं॥ ६१॥ कमठ खपर मढ़ि खाल निसान बजावहिं। नरकपाल जल भरिभरि पिअहिं पियावहिं। बर अनुहरति बरात बनी हरि हँसि कहा। मुनि हिय हँसत महेस केलि कौतुक महा॥ ६२॥', तथा 'मुदित सकल सिवदूत भूतगन गाजहिं। सूकर महिष स्वान खर बाहन साजहिं। ५७। नाचहिं नाना रंग तरंग बढ़ावहिं। अज उलूक बृक नाद गीत गन गावहिं। ''५८।'—इससे मानसके वर्णनके भावार्थ स्पष्ट हो जाते हैं। 'जोगि जमाति प्रमथगण हैं जो शिवजीके मुख्य पार्षद हैं। 'कपाल कर' से एक अर्थ तो यही है जो ऊपर दिया गया, दूसरा यह कि एक हाथमें खोपड़ियोंके ही पात्र हैं जिनसे जल पीते हैं।

नोट—२ 'बहु जिनस प्रेत पिसाच' ' इति। (क) यहाँ प्रेत पिशाचके साहचर्यसे 'जोगि' (योगी) भी प्रेत पिशाचोंकी ही कोई जाति जान पड़ती है। योगिनियो रणदेवियोंका वर्णन युद्धमें अरण्य और लंका-काण्डोंमें आया है। जैसे योगिनियाँ हैं वैसे ही योगी भी एक जाति हो होगी। कालिकापुराणके अध्याय २६ में प्रमथ आदिकी उत्पत्तिका वर्णन है। प्रमथ, भूत, पिशाच आदिकी रणमें भाग लेनेवाली नीच जातियाँ भी हैं और प्रमथोंकी अनेक ऊँची जातियाँ भी हैं जो योगी हैं और शंकरजीके समान हैं। हमारी समझमें 'जोगि जमाति' से यही अभिप्रेत होगा। स्कंद पुराण ब्रह्मोत्तर खण्डमें इनके रूप और वेषका वर्णन सुना जाता है। (ख) पं० रामकुमारजी जोगि' से 'योगी शिवजी' का अर्थ करते हैं और कहते हैं कि 'जोगी' के साहचर्यसे यहाँ 'जमाति' शब्द दिया। योगी शिवजीकी जमात है, अत. 'बरनत नहि बनें।' अर्थात् अकथ्य है। वे यह भी कहते हैं कि योगियोंके समूहको 'जमात' कहते हैं; जिससे समझ पड़ता है कि वे दोनो प्रकार अर्थ करते हैं। आगे बालकोंने जो—'सग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकट रजनीचरा' कहा है, उससे बारातम (रातमें विचरनेवाली) योगिनियोका भी साथ होना पाया जाता है। वैसेही योगीभी प्रमथादिकी एक जाति ही जान पड़ती है। पार्वती मंगलसे भी यही सिद्ध होता है।

३ (क) इनके वाहनोंका उल्लेख नहीं किया गया। मुख बताए, उसीसे समझ पड़ता है कि जैसा मुख है वैसाही सवारी है। पार्वतीमंगलमें वाहनोंका वर्णन इस तरह है,—'मुदित सकल सिव दूत भूतगण गाजहिं। सूकर महिष स्वान खर बाहन साजहिं। ५।' प्रेत पिशाच, भूत—८५(६) में देखिए। कहते

हैं कि पिशाचोंका मुख मुर्देके छेदके समान होता है और उनकी तालु अग्निके समान चमकती रहती है। (ख)—'नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी भूत सब' इति। देवसमाजमें अप्सरायें गाती हैं,—'होहिं सगुन मंगल सुभद करहिं अपछरा गान। ९१।' शिवसमाजमें भूत नाचते-गाते हैं। सब 'परम तरंगी' हैं, अर्थात् बड़ेही लहरी हैं, जैसी तरंग मनमें उठी वैसाही नाचने गाने लगते हैं। इससे यह भी जनाते हैं कि देखनेमें कराल हैं पर हृदयके स्वच्छ हैं—(प० रा० कु०)। यहाँपर 'भूत सब' शब्द देकर जनाया कि ऊपर जो 'बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमाति' कहा उन सबकी 'भूत' संज्ञा है। उन्हींको यहाँ 'भूत' कहा। (ग) 'देखत अति बिपरीत बोलहिं बचन बिचित्र बिधि' इति। 'देखत अति बिपरीत' अर्थात् देखनेमें अच्छे नहीं अत्यन्त बुरे आचरणवाले हैं। 'बोलहिं बचन बिचित्र बिधि' अर्थात् किसीका गला घघाता है, कोई हकलाता है, कोई भिन्नाता है, इत्यादि। कोई कुत्तेकी कोई भेड़ियेकी कोई गधे इत्यादि की भाँति भाँतिकी बोलियाँ बोलते हैं। यथा 'नाचहिं नाना रंग तरंग बढ़ावहिं। अज उलूक वृक नाद गीत गन गावहिं। ५८।' इति पार्वतीमंगल। पंजाबीजीने 'बिचित्र बिधि' का अर्थ सुन्दर वाणी किया है और अन्य कुछ महानुभावोंने ये अर्थ किये हैं—(१) शास्त्रविदित वचन बोलते थे, गीत रागरागिनी संयुक्त गाते थे, विधि पूर्वक विचित्र वचन बोलते थे (२) अनख ढगसे बोलते थे। (३) जो किसीके समझमें न आवे ऐसे विचित्र ढंगसे बोलते थे।

४ 'कोउ मुख हीन०' में 'हीन, बिपुल, पद, नयन' इत्यादि शब्द कई बार आए हैं जिससे भाव अधिक रुचिकर हो गए हैं अतः यहाँ 'पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार' है।—एक शब्द बहु बार जहँ परै रुचिरता अर्थ। पुनरुक्ती परकाश सो बरनैं बुद्धि समर्थ। (अ० म०)। यहाँ शिवजीकी बारात वर्णनमें हास्यरसकी प्रधानता है और गौणरूपसे अद्भुत तथा बीभत्सकी भी किंचित् झलक है। शंकरजी अवलम्बन विभाव हैं। उनकी विलक्षण वेषरचना, सर्पभूषण, जटिल, हरिचर्म और विभूतिधारण, अद्भुतगण उद्दीपन विभाव हैं। उन्हें देखकर सुर, देवांगनाओंका हँसना अनुभाव है, हर्ष संचारी भाव द्वारा हास्य स्थायीभाव पुष्ट होकर रसरूप हुआ।

प० प० प्र०—१ शिवसमाज और देवसमाज। (१) शिवसमाजमें 'कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू'। देवोंमें दो मुख और चार शृङ्गवाले अग्निदेव हैं तथा चार मुखवाले ब्रह्माजी हैं। इस तरह देवोंमें 'बिपुल मुखकाहू' हैं, पर 'कोउ मुखहीन' नहीं है। शिवसमाजमें मुखहीन हैं फिर भी जीते हैं, दौड़ते-नाचते हैं, यह उनकी अलौकिकता है। कबंधका मुख नष्ट होनेपर उसे पेटमें मुख देना पड़ा तब वह जीवित रहा। मुखहीनका जीना असम्भव है सो शिवसमाजमें देखिए। (२) 'बिनु कर पद कोउ बहु पद बाहू' इति। विष्णुके चार हाथ हैं। अग्निके सात हाथ और तीन पैर हैं, इस प्रकार देवोंमें भी 'बहुपद बाहु' हैं, पर 'बिनु कर पद' कोई नहीं हैं। शिवगणोंमें 'बिनु पद' होते हुए भी दौड़नेवाले हैं यह अलौकिक है। यह केवल योगसामर्थ्यसे ही हो सकता है। (३) 'बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना' इति। ब्रह्माके आठ, अग्निके चार और इन्द्रके सहस्र नेत्र हैं। सहस नयन होनेपर भी इन्द्र अंधा सा है—'लोचन सहस न सूझ सुमेरू।' पर शिवसमाजमें अंधेभी अपरिचित मार्गपर आनन्दमग्न होकर चल रहे हैं; यह अलौकिक योगसामर्थ्य निदर्शक है। (४) 'रिष्टपुष्ट कोउ अति तन छीना' इति। देव प्रायः सभी हृष्टपुष्ट होते हैं, पर लोकलज्जाको डरते हैं, विषयी हैं अतः वस्त्रभूषणोंसे अपनी कुरूपता छिपाते हैं। शिवसमाज 'सब लोकलाज खोई' वाले हैं। निस्पृह हैं, यथालाभ सन्तुष्ट हैं। जैसे उनके स्वामी वैसे ही वे। और देवसमाज स्वार्थी हैं।—'आये देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी।' (५) 'पावन कोउ अपावन गति धरे' इति। कोई रुद्राक्ष, रुद्राक्ष-माला, तिलक, वस्त्र भूषण, झाँझ मृदंग, शंख, शहनाई आदि धारण किये हैं। इसके विरुद्ध कोई कपाल, सद्यशोणित आदि अपावन अमंगल पदार्थोंको धारण किये हैं। देवोंमें भी स्याहीके समान कृष्णवर्ण और महिषारूढ यमराज हैं, सात हाथ, दो मस्तक और तीन पदवाले अग्नि मेषारूढ हैं; घोड़ेका मुख, नरका शरीर तथा नरमुख, अश्वशरीर वाले किन्नर हैं। निर्ऋति देवका वाहन तो प्रेत ही है। वरुणका वाहन

मगर है।—क्या ये सादर्य और पावनताके लक्षण हैं? पर दोष देखनेवालेको दोष ही दीखते हैं और गुणो की खोज करनेवालेको गुण ही देख पडते हैं। निर्दोष तो एकमात्र भगवान् ही हैं—'निर्दोष हि सम ब्रह्म'।

☞ इस शिवसमाजवर्णनमे ध्यानमें रखने योग्य एक बात यह है कि इस समाजमें एक भी स्त्री नहीं है। शिवसमाज अपने स्वामीके समान 'जोगी अकाम मन' है, यह यहाँ ध्वनित किया गया है। देव तो अपनी अपनी पत्नीको साथ लेकर चले हैं, इतना ही नहीं किन्तु अप्सराओंका समाज भी उनके साथ है। जैसे शिवदूलहवेषवर्णनमें शृंगार और रौद्र रसोका अभाव है वैसेही शिवसमाजमें दोनोका अभाव है। कामके अभावमें क्रोधभी नहीं है।

(६) 'नाचहि गावहि गीत परम तरंगी ' इति। देवसमाजमें अप्सराएँ गान कर रही हैं, पर यह गान देवोंको प्रसन्न करनेके लिये है, स्वतन्त्र नहीं है। शिवसमाजमें भी गायक हैं, पर वे स्वामितन्त्र होते हुए भी स्वतंत्र आत्मतंत्र हैं, आत्मानन्दमें रँगे हुए स्वामिभक्तिरस सरितातरंगमें जो जिसको जब भाता है वह तब तैसा गाता नाचता है।

७ ☞ 'देखत अति बिपरीत'—यहाँ हमारे पथप्रदर्शक (कवि) पर्देके पीछे प्रकाशमें बताते हैं कि शिवगण विपरीत नहीं हैं, पर उनका व्यवहार आचरण विपरीत सा दीखता है। शिवगणोंने सोनेपर चाँदीका मुलम्मा चढा दिया है और देवोंने चाँदीपर सोनेका मुलम्मा चढाया है। देवोंने स्वार्थको परमार्थमें छिपाया है और शिवगणोंने अपवित्रतामें परमार्थको छिपाया है। इस प्रकार शिवसमाज भी अशिववेष शिवधाम है। जैसा देव वैसा भक्त।

३ शिवसमाजमें रस। शृङ्गाररस नहीं है। वीररस नहीं सा है क्योंकि इस रसका स्थायी भाव उत्साह तो सबमें है पर उद्दीपन विभावादिका पूर्ण अभाव है। मुखहीन, करहीन, पदहीन, अति तनु क्षीण शिवगण करुणरसका उद्दीपन विभाव हैं। अति विपरीत, अति विचित्र बोलना, नयन बिना देखना, पदविहीनोका चलना इत्यादि अद्भुत रस तो भरा पड़ा है। इसी तरह हास्य, भयानक, वीभत्स रस तो भरपूर हैं। रौद्र नहीं है, क्योंकि क्रोध किसीमे नहीं है, कोई शत्रु मित्र नहीं है। शान्तरस पावन गति- वालोंमें है। नाचना, गाना, शिववन्दन करना इत्यादि भक्तिके सचारी भाव हैं।

नि० त्रि०—इस बारातमें सात्त्विक राजस तामस तीनों प्रकृतिके लोगोंके इष्टदेव हैं। शिवजीकी जमातमें राजसके इष्टदेव यक्ष राक्षसोंका अन्तर्भाव है। भूत प्रेत तामसी लोगोंके इष्टदेव हैं। विष्णु आदि सात्त्विक लोगोंके इष्टदेव हैं। इस तरह यह बारात इष्टदेवोंकी है। इसीलिये कहा गया कि 'उमा महेस बिबाह बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती।' ये श्रीराम सुकीर्ति सरयूके जलचर हैं। रामभक्तोंको इनसे बचकर रहना चाहिए। जलचर मनुष्योंको निगल जाते हैं, इसी भाँति इष्टदेव भी उपासकको अपनेमें मिला लेते हैं। भूतप्रेतके उपासक भूत प्रेत, यक्षराक्षसके उपासक यक्षराक्षस और देवताके उपासक देवता हो जाते हैं। और प्रभु कहते हैं कि मेरे उपासक मुझको प्राप्त होते हैं—'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।', अतः रामभक्तोंको अन्यकी उपासनामें तन्मय न हो जाना चाहिए।

जस दूलहु तसि बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिं* मग जाता॥ १॥

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) जैसा दूलह है (अब) वैसीही बारात बन गई। मार्गमें जाते हुए बहुत प्रकारके अनेक कौतुक हो रहे हैं। १।

टिप्पणी—१ (क) 'जस तसि' का भाव कि प्रथम बारात दूलहके अनुरूप न थी, यथा 'सुरसमाज सब भाँति अनूपा। नहि बरात दूलह अनुरूपा। ९२। ८।' (ख) 'तसि बनी' अर्थात् अब अनुरूप बन गई। तात्पर्य कि अब बारातने शोभा पाई, जैसी चाहिये वैसी ही अब है। पुन. भाव कि अब बारातकी

* होत—१७०४

शोभा हो गई, इससे अब हँसी न होगी। पहले बारात देवताओंकी सी थी, वह वरके अनुरूप न थी, इससे उनकी हँसी होती, यथा 'वर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई। ९३। १।' यथायोग्यका वर्णन 'प्रथम सम अलंकार' है। (ग) 'कौतुक विविध होहिं मग जाता' इति। 'विविध कौतुक' का भाव कि और बारातमें जो कौतुकी हैं वेही कौतुक करते हैं और इस बारातमें सभी कौतुकी हैं; यथा 'परम तरंगी भूत सब। ९३।'. इसीसे यहाँ 'विविध' कौतुक होते हैं। ☞ बारातोंमें कौतुक, गान आदि सब होता ही है, यथा 'करहिं बिदूषक कौतुक नाना। हास कुसल कल गान सुजाना। ३०२। ८।' वैसे ही यहाँ भी हो रहे हैं। यहाँ 'विविध कौतुक' क्या है, यह ऊपर दोहेमें लिख आए हैं 'नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी भूत सब। देखत अति बिपरीत बोलहिं बचन बिचित्र बिधि।' (घ) देवताओंकी बारातका चलना लिख आए, यथा 'बिष्नु बिरंचि आदि सुरब्राता। चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता।९२। ७।', अब भूतोंकी बारातका चलना कहते हैं।—'कौतुक विविध होहिं मग जाता।'

नोट—बारातका वर्णन यहाँ समाप्त हुआ। बारातकी समाप्तिसे पहले ही 'जस दूलहु तसि बनी बराता' यह Suggestiveness की कला बड़ी सुन्दर है। श्रीतुलसीदासजी हमारी कल्पना शक्तिको उभारकर स्वतंत्रभी छोड़ देते हैं। चाहे जितने कौतुकोंकी कल्पना आप करते जायँ। 'विविध'—शब्द भी इस कलाकी जान है। कौतुक अनेक प्रकारके हैं, एक ही तरहके नहीं कि जी ऊब जाय।

शिव-बारात-वर्णन प्रसंग समाप्त हुआ

इहाँ हिमाचल रचेउ बिताना। अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना॥ २॥
सैल सकल जहँ लगि जगमाहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं॥ ३॥

अर्थ—यहाँ (कन्याकी ओर) हिमाचलने अत्यन्त विचित्र मंडप रचा जिसका वर्णन नहीं हो सकता। २। जगत् भरमें जहाँतक सब छोटे बड़े पर्वत हैं जो वर्णन करनेसे चुक नहीं सकते। ३।

टिप्पणी—१ 'इहाँ हिमाचल ' इति। (क) 'इहाँ' का सम्बंध ऊपरसे है। 'लगन बाँचि अज सबहि सुनाई। हरषे मुनि सब सुरसमुदाई। सुमन बृष्टि नभ बाजन बाजे। मंगल कलस दसहुँ दिसि साजे। ९१ (७ ८)'।—वहाँसे इसका सम्बंध है। वहाँ देवता मंगल साजते हैं, यहाँ हिमाचलने वितान रचा है। वहाँ ग्रन्थकारको इसके कहनेका मौका नहीं मिला। जब बारात चली, तब वितानकी चर्चाका मौका मिला। पुनः, 'इहाँ' से सूचित होता है कि इस समय ग्रन्थकारकी बुद्धि भी बारातकी पेशवाई-अगवानीमें है, घरातियों-जनातियोंके साथ है। (ग) प्रथम राजाके घरकी शोभा कहते हैं, आगे पुरकी शोभा कहेंगे। वितानके वर्णनसे हिमाचलके घरका वर्णन हुआ, क्योंकि वितान घरमें है। यथा 'भूप भवन किमि जाइ बखाना। बिस्वबिमोहन रचेउ बिताना। १। २८७।'

२ 'अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना' इति। 'अति बिचित्र' का भाव—(क) पुरकी शोभा विचित्र है; यथा 'पुर सोभा अवलोकि सुहाई। लागइ लघु बिरंचि निपुनाई।' और राजाके घरकी शोभा 'अति विचित्र' है, यथा 'कनककोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना। ५।३।' 'गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं। ५। ५।' (ख) वह वितान अनेक प्रकारके मणियोंसे रचित है जो पर्वतसे प्रकट हुई हैं, यथा 'प्रगटीं सुंदर सैल पर मनि आकर बहु भाँति। ६५।' (ग) 'जनकपुरका वितान 'विचित्र' है, यथा 'जाइ न बरनि बिचित्र बिताना॥२८९।॥' और यह वितान 'अति विचित्र' है। यह भेदभी साभिप्राय है। जनकपुरका वितान गुणी मनुष्योंका बनाया हुआ है,यथा 'पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान बिधि कुसल सुजाना॥ बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। २८७।' और यहाँका वितान 'हिमाचल रचेउ' अर्थात् यह देवताओंका रचा हुआ है। इसीसे इस वितानकी विशेषता 'अति' से जनाई। -[☞ श्रीमद्गोस्वामीजीकी यह शैली है कि जिस विषयको एकसे अधिक बार वर्णन करना है, उसको पूरा पूरा सर्वत्र नहीं लिखते,

किन्तु उसे प्रायः एक ही स्थलपर कह देते हैं जहाँ उसकी प्रधानता समझते हैं और अन्यत्र वही वर्णन वहाँके दो एक शब्दों द्वारा सूचित कर देते हैं। श्रीमिथिलाजीमें मंडपकी विचित्र रचना विस्तारसे कहेंगे, इसलिये यहाँ 'अति विचित्र नहिं जाइ बखाना' इतना ही कहकर छोड़ दिया। वहाँके 'अति बिचित्र', 'रचना', 'बितान', 'जाइ न बरनि' ये शब्द यहाँ देकर वैसी ही रचना यहाँ भी बना दी गई। विचित्र रचनाका वर्णन 'रचहु बिचित्र बितान बनाई' २८७ (६) से लेकर 'जाइ न बरनि बिचित्र बिताना' २८९ (३) तक है। इसमें विचित्र शब्द दो बार और रचनाकी अति विचित्रता एक बार कही गई है। यथा 'रचना देखि बिचित्र अति मन बिरंचि कर भूल। २८७।'—ये सब भाव 'अति विचित्र' में यहाँ भी समझना चाहिए। ऐसा विचित्र कि ब्रह्माभी अपनी कारीगरी भूल जाते हैं, इसे देखकर भौचक्केसे हो जाते हैं। प० रामकुमारजीकी दृष्टि केवल वितानके साथ जो 'विचित्र' शब्द है उसीपर सम्भवतः पड़ी होगी]। २—'नहिं जाइ बखाना' इति। जो 'अति विचित्र' होता है वह बखाना नहीं जा सकता, यथा 'गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं। ५। ५।', 'जाइ न बरनि बिचित्र बिताना। २८९। ३।' यहाँ भी वितान 'अति विचित्र' है, इसीसे कहते हैं कि 'नहिं जाइ बखाना'। बखाना नहीं जाता, इसीसे ग्रन्थकारने उसका बखान नहीं किया।—यह 'नहिं जाइ बखाना' इन वचनोंका स्वरूप दिखा दिया।

३ 'सैल सकल जहँ लगि' इति। (क) शैल भाई बिरादरी हैं, जाति बिरादरीके हैं, इससे इनको प्रथम न्योता—यह बात 'सैल' शब्दको आदिमें देकर जना दी। और बिरादरी होनेसे छोटे बड़े सभीको न्योता, क्योंकि बिरादरीमें छोटे बड़ेका भेद नहीं माना जाता। सब बराबरके माने जाते हैं। (ख) 'जहँ लगि जग माहीं' से जनाया कि सातों द्वीपोंके पर्वतोंको निमंत्रित किया। (ग) 'नहिं बरनि सिराहीं' का भाव कि सबको पृथक् पृथक् न्योता दिया था, इससे सबको पृथक् पृथक् वर्णन करना चाहिए था, इसी कारण कहते हैं कि वर्णन करनेसे चुक नहीं सकते, इतने अधिक हैं। यह भी दिखाया कि जिनका जिनका वर्णन नहीं हो सकता, उन सबोंको न्योता पृथक् पृथक् किया गया है। (घ) ☞ 'लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं' का अन्वय दीपदेहलीन्यायसे आगेके 'बन सागर सब नदीं तलावा' के साथ भी है।

बन सागर सब नदीं तलावा। हिमगिरि सब कहुँ नेवत पठावा॥ ४॥
कामरूप सुंदर तन धारी। सहित* समाज सहित बर नारी॥ ५॥

शब्दार्थ—नेवत-निमन्त्रण, न्योता विवाह आदि मंगल उत्सवोंमें जाति, बिरादरी, सम्बन्धी और मित्र आदिको सम्मिलित होनेके लिये बुलानेकी रीति। कामरूप=इच्छा अनुसार रूप धारण करलेनेवाला।

अर्थ—(और जितनेभी छोटे बड़े) सब वन, समुद्र, नदियाँ और तालाब हैं उन सबोंको हिमाचलने न्योता भेजा। ४। वे सब इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले सुन्दर शरीर धारण कर समाज सहित अपनी अपनी सुन्दर स्त्रियोंको साथ लिये हुए। ५।

टिप्पणी—१ 'बन सागर सब नदीं तलावा।' इति। (क) हिमालय स्वयं जलमय है, यथा 'जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे' (११६)। यह स्वयं पर्वत है और इसपर वन हैं, इसीसे पर्वतों, वनों और जलाशयोंको न्योता दिया।—[नदी शैलकन्या कहलाती हैं जैसे कि गंगाजी 'हिमसैलबालिका' (विनय १६), नर्मदाजी 'मेकलसैलसुता' (१। ३१) कहलाती हैं। समुद्र नदियों जलाशयोंका पति कहलाता है। इस नाते नदियों और समुद्रोंको सपरिवार न्योता।] (ख) 'सब' का अन्वय वन, सागर, नदी और तालाब सबके साथ है। 'सब' कहकर जनाया कि घरभरको न्योता भेजा, यही बात आगे कहते हैं—'सहित समाज सहित बर नारी।'

* सहित समाज सोह—१७०४। सकल समाज सहित—को० रा०। सहित समाज सहित—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

२ 'कामरूप सुंदर तन धारी।....' इति। (क) जैसी जिस समय कामना करें, वैसा रूप धर ले सकते हैं, इसीसे 'सुंदर तन' धारण किये हैं। पुनः, (पर्वत आदि कैसे आ सकते हैं वे तो जड़ हैं, इसीसे) 'कामरूप' कहा। अर्थात् वे सब अपने उस निज रूपसे नहीं आ सकते थे, इसीसे शरीर धारण करके आए। ☞ पूर्व दोहा ६५ (६) में बताया गया है कि—पर्वत, नदी आदिसे उनके अधिष्ठाता देवता अभिप्रेत हैं। वे जब जैसा चाहें वैसा रूप धारण कर सकते हैं। देखिए, जब रघुनाथजीने समुद्रपर कोप किया तब वह 'विप्ररूप' धरकर आया था। इसी प्रकार नदियोंके दो रूप हैं, एक जलप्रवाहरूप दूसरा मूर्तिमान् देवरूप। पार्वतीमंगलसे भी यही भाव पुष्ट होता है। यथा 'गिरि बन सरित सिंधु सर सुनइ जो पायउ। सब कहँ गिरिबर नायक नेवति पठायउ। ५२। धरिधरि सुंदर भेष चले हरषित हिए। ५३।' इसपर वि० त्रि० कालिकापुराणका प्रमाण देते हैं—'नद्यश्च पर्वताः सर्वे द्विरूपास्तु स्वभावतः। तोयं नदीनारूपं तु शरीरमपरं तथा॥ स्थावरं पर्वतानान्तु रूपं कायं तथा परम्। शुक्तीनामथ कम्बूनां यथैवान्तर्गता तनुः॥ बहिरस्थिस्वरूपन्तु सर्वदैव प्रवर्त्तते। एवं जलं स्थावरन्तु नदीपर्वतयोस्तदा। अन्तर्वसति कायस्तु सततं नापपद्यते। नदीनां कामरूपित्वं पर्वतानान्तथैव च। जगत्स्थित्यै पुरा विष्णुः कल्पयामास यत्नतः॥'—जैसे नदी आदिके दो रूप होते हैं। स्थूल रूप तो वही है जैसा हम लोग देखते हैं, पर इसीके अन्तर्गत उनका दूसरा रूप है। जैसे शङ्ख और घोंघा आदिके दो रूप होते हैं, एक तो ऊपरवाली खोपड़ी जड़रूप, दूसरा भीतरका जन्तु चेतन रूप।] (ख) 'सुंदर तन धारी' इति। सुंदर शरीर धारण करनेका भाव यह है कि जिनके यहाँ जाना है, वे सब सुंदर हैं। हिमाचल, मेना और पुरवासी सभी सुंदर हैं। यथा 'बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनिमन मोहहीं।' (९४ छंद)। (विवाहका समय है, ब्रह्मादि देवता बारातमें आ रहे हैं, अपने सब सम्बन्धीभी जुटेंगे, अतएव 'सुंदर तन' धारण करके आना योग्य ही है)। (ग) 'सहित समाज सहित बर नारी' इति। इससे स्पष्ट है कि हिमाचलने सभीको न्योता दिया है, इसीसे सब सपरिवार आए हैं। (घ) 'बर नारी' अर्थात् जैसे इनके पति सुन्दर तनधारी होकर चले वैसे ही ये सुन्दर रूप धारण करके साथ चलीं।

गए सकल तु* हिमाचल गेहा। गावहिं मंगल सहित सनेहा॥ ६॥
प्रथमहि गिरि बहु गृह सँवराए। जथा जोगु तहँ तहँ सब छाए॥ ७॥
पुर-सोभा अवलोकि सुहाई†। लागै लघु बिरंचि निपुनाई॥ ८॥

शब्दार्थ - जथाजोग=यथायोग्य, जैसा चाहिए वैसा। छाना (अकर्मक क्रिया)=डेरा डालना, बसना, टिकना। यथा—'राम प्रबरषन गिरि पर छाए। ४। १२।', 'चित्रकूट रघुनंदन छाए। २। १३४।' निपुनाई-निपुणता, कौशल, रचना चातुरी, कला-कौशल।

———————————————————————— मोहन

* तुहिनाचल—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। तु हिमाचल-१६६१, १७०४, बंदन पाठक। रा० प० 'आए सकल हिमाचल गेहा' पाठ है। तुहिनाचल=तुहिन+अचल=हिमाचल। सं० १६६१ में 'तु हिमाचल' स्पष्ट है। 'तु' अव्यय होनेसे कई अर्थ देता है। जैसे कि 'निश्चय, तो, सादर', इत्यादि। यथा 'तु स्याद्भेदेऽवधारणे। अमरकोश ३।३।२४१।' पादपूर्तिके लिये भी बिना किसी अर्थके इसका प्रयोग होता है, यथा—'तु हि च स्म ह वै पादपूरणे। अमरकोश ३।४।५।'—इस तरह एक तो पादपूर्तिके लिये समझ लें तो भी कोई अड़चन नहीं पड़ती। दूसरे यदि 'सादर' अर्थ लें तो यह भाव निकलता है कि सब लोग आदरपूर्वक हिमाचलके यहाँ गए। जब किसी हित, मित्र या पूज्यके यहाँ लोग निमन्त्रणमें जाते हैं तब समयानुसार कुछ भेंट अवश्य ले जाते हैं, विशेषकर कन्याके विवाहमें तो अवश्य ही। दूसरे, राजा, गुरु एवं देवताओंके यहाँ खाली हाथ जानेका शास्त्रोंमें निषेध भी है—'रिक्तहस्तस्तु नो पेयाद्राजानं दैवतं गुरुम्।' 'तु' अव्यय देकर जनाया कि ये निमन्त्रित लोग भेंट लेकर आए। यथा—'धरि धरि सुंदर भेष चले हरषित हिए। चवँर चीर उपहार हार मनिगन लिए॥ पार्वतीमंगल ५३।' † न जाई—१७०४। 'सुहाई' औरोंमें।

अर्थ—सब सादर हिमाचलके घर गए। सब प्रेमसहित मंगल गीत गा रहे थे। ६। हिमाचलराजने पहलेहीसे बहुतसे घर सजवा रक्खे थे। वहाँ वहाँ वे सब यथायोग्य (जहाँ जिसके लिये जैसा उचित था, जिसको जहाँ सुपास था) टिक गए। ७। नगरकी सुन्दर शोभा देखकर ब्रह्माजीकी रचना चातुरी तुच्छ लगती थी। ८।

टिप्पणी—१ 'गए सकल तु हिमाचल गेहा।' इति। (क) हिमाचलके घर गए। 'गेह' कहने का भाव कि हिमाचल पर्वत तो अनेक योजनका है। जहाँ उसका अधिष्ठाता देवता हिमाचलराज रहता है वहाँ गए। (ख) 'गावहि मंगल' इति। विवाहके समय मंगलगान होताही है इसीसे स्त्रियाँ मंगल गाती हैं। ☞प्रायः स्त्रियाँही मंगल गाया करती हैं, यथा 'सुरसुंदरीं करहिं कल गाना। ९१।', 'मंगल गान करहिं बर भामिनि', इत्यादि। वैसेही यहाँभी समझना चाहिए। (ग) 'सहित सनेहा' इति। भाव कि इस विवाहोत्सवको अपनेही घरका मंगल समझती हैं, अतः प्रेमसे गाती हैं जैसे घरके उत्सवमें गातीं।

२ 'प्रथमहि गिरि बहु गृह'' इति। (क) ऊपर न्योतहरियोंका आना कहा, इसीसे यहाँ 'प्रथमहिं' पद दिया। भाव कि न्योता देनेके साथही उनके टिकनेका पहलेही बंदोबस्त कर दिया गया कि न जाने कब आ जायँ। 'बहु गृह' सजवाए क्योंकि न्योतहरी बहुत हैं। (ख) 'सँवराए' कथनका भाव कि ये सब घर पूर्वकेही बने हुए हैं, केवल सजाए गए हैं। अर्थात् इस समय केवल रचना विशेष की गई है। (ग) 'यथाजोग' कहकर जनाया कि सबको उचित स्थान टिकनेको मिला, यथा 'उचित बास हिमभूधर दीन्ह' (९५)। पूर्व 'लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं' कहा था, अब उन्हीं सबोंका यथायोग्य बसना कहते हैं, इस तरह कि छोटेको छोटा स्थान, बड़ेको बड़ा, जो जैसा है वैसाही स्थान उसको दिया गया।—ये सब स्थान हिमाचलके घरके भीतर हैं, क्योंकि न्योतहरी सब हिमाचलके घरमें गए हैं—'गए सकल तु हिमाचल गेहा'। घरमेंकेही घर सजवाए गए हैं, सबोंको घरमेंही वास दिया गया है। यह बात आगे प्रसङ्गसे भी निश्चित होती है। यहाँ तक राजाके घर वर्णन किये। वितान और निमंत्रित लोगोंका वर्णन हुआ आगे पुरका वर्णन करते हैं। आशयसे जनाया कि राजाका स्थान बड़ा भारी है कि जिसमें अनन्त लोगोंकी समाई होगई। ['छाए' शब्दसे जनाया कि कुछ दिनोंतक यहाँ निवास होगा। यथा 'चित्रकूट रघुनंदन छाए। २।१३४।', 'बर्षाकाल मेघ नभ छाए। ४।१३।', 'सकल सिद्धि संपति तहँ छाई। १।६५।']।

३ 'पुर सोभा अवलोकि सुहाई।'' इति। (क) ☞ जहाँ अत्यंत शोभा दिखानी होती है, वहाँ ग्रन्थकार 'विधि' के बनानेकी उत्प्रेक्षा किया करते हैं। यथा 'सिंहासनु अति दिब्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा ॥ १।१००।३।', 'चारु बनाउ बिचित्र सँवारी। मनिमय बिधि जनु स्वकर सँवारी। १।२१३।२।', 'जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई। १।२३०।६।', 'कहा एक मैं आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे। १।३११।५।', 'मनिखंभ भीति बिरंचि बिरची कनक-मनि मरकत खची। ५।२५ छंद।' इत्यादि। (ख) लागै लघु बिरंचि निपुनाई इति। तात्पर्य कि ब्रह्माकी सृष्टिभरमें ऐसा सुंदर नगर नहीं है। बिरचिकी निपुणताका नमूना घरमें मौजूद है। सिंहासन उनका बनाया हुआ है, यथा 'सिंघासनु अति दिब्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा। १।१००।३।' यह निपुणता पुरकी शोभाके आगे लघु लगती है। यह कहकर जनाया कि पुर बड़ी कारीगरीसे बना है। यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है। (त्रिपाठीजीका मत है कि 'अनुकरणकी वस्तु असलीसे अच्छी बनी हुई है। नकली कमल असलीसे सुंदर बने हैं, इसलिये बिरचिकी निपुणता थोड़ी मालूम होती है।) (ग) पुरकी शोभा 'अत्यन्त' कहनेसे राजाके स्थान महल आदिकी विशेषता सूचित होगई, क्योंकि पुरसे राजाका स्थान विशेष सुन्दर होताही है, इसीसे पुरकी शोभा अधिक कही गई। (घ) प्रथम वितानकी रचना, निमंत्रित लोगोंका आगमन और गृहोंका सँवारना कहकर तब पुरकी शोभा कहनेका भाव कि यह सब पुरकी शोभा है।

छंद—लघु लाग बिधि की[1] निपुनता अवलोकि पुर सोभा सही ।
बन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सब सक को कही ॥
मंगल बिपुल तोरन पताका केतु गृह गृह सोहहीं ।
बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि-मन मोहहीं ॥

दोहा—जगदंबा जहं अवतरी सो पुरु बरनि कि‡ जाइ ।
रिद्धि*-सिद्धि-संपत्ति सुख नित नूतन अधिकाइ ॥ ९४ ॥

शब्दार्थ—तोरन=बन्दनवार । मंगल अवसरोंपर आम, अशोक आदिके पत्तोंको सुतलीमें लगाकर या पुष्पोंकी माला बनाकर दीवारों, द्वारों, खंभों, आदिपर सजावटके लिये लटकानेकी रीति है । इन्हींको तोरण कहते हैं । संस्कृतमें 'तोरण' का अर्थ—'किसी घर या घरका बाहरी फाटक विशेषतः वह द्वार जिसका ऊपरी भाग मंडपाकार तथा मालाओं और पताकाओं आदिसे सजाया गया हो'—ऐसा वाल्मीकीय आदिमें मिलता है । श्रीबैजनाथजीने 'तोरण' का अर्थ 'मंडपका फाटक' किया है । 'पताका', 'केतु'—बाँस या कदंब, मोलसरी आदि लकड़ियोंके डंडे (पाँच हाथसे लेकर बत्तीस हाथतक लंबे) जिनपर पताका फहराती है उन्हें 'केतु' या 'ध्वजा' कहते हैं । जो तिकोना या चौकोर कपड़ा ध्वजाके सिरेपर लगाया जाता है, उसे 'पताका' कहते हैं । इसपर कोई न कोई चिह्न अवश्य होता है । ये रंग बिरंगके होते हैं । पताका बिना डंडेके भी सुतली आदिमें लगाकर फहराते हैं । पुनः, केतु=झंडा, निशान, अलम । 'पताका'=फरहरा, झंडी ।—मंगल कार्योंमें शोभाके लिये इनका व्यवहार होता है । आनंदरामायण मनोहरकाण्ड हनुमद्ध्वजारोपण सर्गके अनुसार पाँच हाथतकके डंडेमें जब वस्त्र लगता है तब उसे 'पताका' और इससे अधिक बत्तीस हाथतकके डंडेमें जब वस्त्र रहे तब उसे 'ध्वजा या केतु' कहते हैं । रिद्धि (ऋद्धि)=समृद्धि, बढ़ती । ऋद्धि सिद्धि=समृद्धि और सफलता ।

अर्थ—नगरकी शोभा देखकर सचमुच (यथार्थ ही) ब्रह्माजीका कलाकौशल तुच्छ लगने लगा । वन, बाग, कुएँ, तालाब और नदियाँ सभी सुंदर हैं । उन (की सुंदरता) का वर्णन कौन कर सकता है ? (कोई भी नहीं) । घर घर बहुतसे मंगल तथा मांगलिक बंदनवार,†† पताका और ध्वजाएँ शोभित हो रही हैं । वहाँके सुंदर चतुर स्त्री पुरुषोंकी छटा देखकर मुनियोंके मन मोहित हो जाते हैं । जिस नगरमें स्वयं जगत्की माताने ही अवतार लिया क्या वह पुर वर्णन किया जा सकता है ? (अर्थात् नहीं) । ऋद्धि सिद्धि, संपत्ति और सुख नित्य नये बढ़ते जाते हैं । ९४ ।

नोट—१ लमगोड़ाजी लिखते हैं कि—'मानों एक ओर शिवसमाज और दूसरी ओर हिमाचल पुरी का अनमिल बेजोड़पन एक अनुपम उदाहरणरूपमें रचा गया है । हास्यरसकी एक सूक्ष्म बात याद रहे कि शिवसमाजका चित्र तभी हास्यप्रद हो सकता है जब शिवगणोंका रूप भी भीतरसे कल्याणकारी और बाहरसे अशिव हो; अन्यथा वही दृश्य भयानक रसका सूचक हो सकता है । लड़के जो इस रहस्यको समझ नहीं सके भयभीत हुए और बड़े (सयाने) जो जो इसे समझ सकते थे, उनके लिये वह हास्यका मसाला बना । बड़े शिव-बारातपरभी हँसते हैं और लड़कोंके भयपरभी । (हास्यरस पृष्ठ ७०) ।

टिप्पणी—१ 'लघु लाग…' इति । (क) 'सही' अर्थात् निश्चयही लघु लगती है, इसीसे कविने

---

१ कै—रा० प० ।

‡ न जाइ १७०४ । * रिधि सिधि सपति सकल सुख—१७२१, छ०, भा० दा० । रिद्धि सिद्धि संपत्ति सकल सुख—को० रा० । रिद्धि सिद्धि संपत्ति सुख—१६६१, १७०४ ।

†† दूसरा अर्थ—प्रत्येक घरके फाटकपर अनेक मांगलिक ध्वजाएँ आदि शोभित हैं ।

वहीं उसी समय प्रथमही लघु लगना लिख दिया था। यथा 'लागै लघु विरंचि निपुनाई'। (वि० त्रि० 'सही' को शोभाका विशेषण मानते हैं। शोभा सही=सची शोभा)। (ख) 'लघु लाग ' सही' इस कथनसे पाया गया कि पुरकी शोभा ब्रह्माजीके कला-कौशलसे बाहर है। यह भगवतीका चमत्कार है। (ग) ☞ यहाँ 'लघु लाग '' यह पुरकी शोभा कही और आगे 'मंगल बिपुल तोरन '' मे फिर पुरकी शोभा कह रहे हैं, बीचमें 'बन बाग' आदिकी शोभा कही है—ऐसा करके जनाया कि वन, बाग आदि शहरके बीचमें भी हैं। (घ) 'बन बाग कूप तडाग ' इति। यह पुरके बाहरकी शोभा कहते हैं, यथा 'सुमन वाटिका बाग बन । सोहत पुर चहुँ पास। १। २१२।', 'पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर परम रुचिराई। देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तडागा॥ बापी तडाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं। । ७। २९।' (ङ) 'सक को कही'—कोई कह नहीं सकता इसीसे केवल वन-बाग आदि सबके नाम भर गिना दिये, उनकी सुन्दरता न कही। (च) 'मंगल बिपुल तोरन ' ' इति। विपुल मंगल हैं। अर्थात् द्वार द्वार पर चौकें पूरी गई हैं, विचित्र स्वर्णके घट धरे हैं, मांगलिक वृक्ष लगे हैं; यथा 'कंचन कलस बिचित्र सवारे। सबनि धरे सजि सजि निज द्वारे॥ बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाए मंगल हेतू॥ बीथीं सकल सुगंध सिंचाई। गजमनि रचि बहु चौक पुराई॥.. ७। ९।' पुरके बाहरकी शोभा कहकर अब पुरके भीतरकी शोभा कहते हैं। 'गृह गृह सोहहीं' कहकर जनाया कि पार्वतीजीके विवाहका उत्सव घर घर हो रहा है। [पार्वती मंगलमें ग्रन्थकारने यह रचनायें यों वर्णन की हैं—'कहेउ हरषि हिमवान बितान बनावन। हरषित लगीं सुआसिनि मंगल गावन॥ ५३॥ तोरन कलस चँवर धुज बिबिध बनाइन्हि। हाट पटोरन्ह छाय सफल तरु लाइन्हि। ५४।'] (छ) 'बनिता पुरुष सुंदर चतुर' कहनेका भाव कि चतुराई बिना सुन्दरता खंडित है, अधूरी रहती है, 'सुंदर चतुर' कहकर पूर्ण शोभा जनाई। (६ ॥)'सुंदर' से शरीरकी शोभा कही और 'चतुर' कहकर अनेक शुभगुणसंपन्न जनाया। यथा—'पुर-नर नारि सुभग-सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता। १।२१३।' 'चतुर' से पवित्र, धर्मात्मा, ज्ञानी और गुणवान् जनाया। (ज) 'मुनि मन मोहहीं' से सुन्दरताकी अतिशय बड़ाई कही कि जिनका मन 'बिधि प्रपंच बियोगी' है, विधिकी निपुणतासे विरक्त है, वे भी मोहित हो जाते हैं। पुरकी शोभा कहकर तब यहाँ तक पुरवासियोंकी शोभा कही गई।

टिप्पणी—२ 'जगदंबा जहँ अवतरी ' इति। (क) ☞ अत्युक्तिका समाधान इसी प्रकार ग्रन्थकार सर्वत्र करते हैं। यथा 'बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु। तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु॥ १। २८९।', 'सोभा दसरथ भवन कइ को कबि बरनै पार। जहाँ सकल सुर-सीसमनि राम लीन्ह अवतार। १। २९७।' तथा यहाँ 'जगदंबा जहँ अवतरी ''। (ख) 'जगदंबा' का भाव कि जो जगत्की उत्पत्ति करनेवाली हैं, वह वहीं अवतरीं तब उस जन्मभूमिकी शोभा कौन कह सके। तात्पर्य कि जगत्‌भरसे उसकी शोभा अधिक है। (ग) 'रिद्धि सिद्धि संपत्ति ' यह दूसरा हेतु शोभाके अकथनीय होनेका है। 'ऋद्धि सिद्धि संपत्ति' अर्थात् अष्ट सिद्धियाँ और नवो निधियाँ सभी सुख नित्य नवीन अधिक होते हैं। इससे शोभा नहीं कही जा सकती। जब उमाजी गिरिराजके घरमें अवतरीं तबसे सिद्धियों और निधियोंने वहीं वास कर लिया। यथा 'जब ते उमा सैल गृह जाईं। सकल सिद्धि संपति तहँ छाईं। ६५।' और जब विवाह होने लगा तब 'नित नूतन' अधिक होने लगीं। 'नित नूतन अधिकाई' कहनेसे प्रथमका (पूर्वका) वर्णन न्यून हो गया।

३ ☞ हिमाचलके यहाँ सब वस्तुओंकी शोभा अकथनीय है—यह इस प्रसंगमें दिखाया है। यथा—

(१) इहाँ हिमाचल रचेउ बिताना। अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना।

(२) बन बाग कूप तडाग सरिता सुभग सब सक को कही।

(३) बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि मन मोहहीं।

(४) जगदंबा जहँ अवतरी सो पुर बरनि कि जाइ।

(५) सो जेवनार कि जाइ बखानी। बसहिं भवन जेहि मातु भवानी। ९९।
(६) जेवत जो बढ़ेउ अनंदु सो मुख कोटिहू न परै कह्यो। ९९।
(७) सिंघासन अति दिव्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा। १००।
(८) सदरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहु बदन बखानी। १००।
(९) अस कनक भाजन भरि जाना। दाइज दीन्ह न जाइ बखाना। १०१।
(१०) पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना। १०२।

नोट—२ पार्वतीमंगलके वर्णनसे मिलान कीजिये। 'तोरन कलस चँवर धुज । गौरी नैहर केहि बिधि कहहु बखानिय। जनु रितुराज मनोजराज रजधानिय॥ ५४॥ जनु राजधानी मदनकी बिरची चतुर बिधि और ही। रचना बिचित्र बिलोकि लोचन बिथक ठौरहि ठौरही। ५५।'

नगर निकट बरात सुनि* आई। पुर खरभरु सोभा अधिकाई॥ १॥
करि बनाव सजि‡ बाहन नाना। चले लेन सादर अगवाना॥ २॥
हिय हरषे सुरसेन निहारी। हरिहि देखि अति भए सुखारी॥ ३॥
शिव समाज जब देखन लागे। बिडरि चले बाहन सब भागे॥ ४॥

शब्दार्थ—खरभरु=खड़बड़, चहल पहल, धूमधाम। बनाव=शृङ्गार सजावट। अगवाना। (संज्ञा पु०)—जब बारात कन्याके घरके पास आ जाती है तब कन्यापक्षके मुख्य लोग खूब सजधजकर गाजे बाजे सहित आगे जाकर बारात और समधीसे मिलकर उनको सादर द्वारपर ले आते हैं, इन्हीं लोगोंको 'अगवान' कहते हैं। और, इस अभ्यर्थनाको 'अगवानी' वा 'पेशवाई' कहते हैं। सजि=सजाकर, भूषण वस्त्रादिसे अलङ्कृत करके। सेन-सेना, समाज। बिडरना=बिशेष डर जाना। यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है और इसका प्रयोग प्रान्तिक है। 'बिडरि', यथा—'हारे ले बिडारे जाइ पति पै पुकारे कही सुनो बचमारे मति जावो हरि गाइए।'—(भक्तमाल भक्तिरसबोधिनी टीका क० ३१), 'भजे बिडरि बालक चहुँ ओरी' (छात्रप्रकाश)।

अर्थ—बारातको नगरके निकट आई सुनकर नगरमें चहल पहल (मचने) से उसकी शोभा और भी बढ़ गई। १। कन्या पक्षवाले अगवानी लोग अपना अपना बनाव-शृङ्गार करके और अनेक प्रकारकी सवारियाँ सजाकर आदरपूर्वक अगवानी लेने चले। २। देवताओंके समाजको देखकर वे मनमें हर्षित हुए। और, विष्णु भगवान्‌को देखकर तो अत्यन्त ही सुखी हुए। ३। (किंतु) जब वे शिवसमाजको देखने लगे तब सब वाहन (घोड़े, हाथी, ऊँट आदि) डरसे भड़ककर तितर बितर हो भागे। ४।

टिप्पणी—१ 'नगर निकट बरात सुनि आई।...' इति। (क) 'निकट सुनि' का भाव कि अभी बारात इतनी दूर है कि सुन पड़ी, देख नहीं पड़ती, नहीं तो 'देखि' कहते। ☞ रीति है कि जब बारात निकट आ जाती है तब लोग अगवानीके लिये चलते हैं। निकट आनेका समाचार सुनकर सज-धजकर तैयार रहते हैं। (ख) 'पुर खरभरु' इति। जो स्थिर है वह चलायमान होय, यही 'खरभरु' कहलाता है। यथा 'हानिहार का करतार को रखवार जग खरभरु परा। ८४।', 'खरभरु नगर सोच सब काहू। दुसह दाह उर मिटा उछाहू।', 'चिक्करहि दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे। ५। ३५।', 'सुनि आगमन दसानन केरा। कपि दल खरभरु भयउ घनेरा। ६। ९९।' (ग) 'सोभा अधिकाई' का भाव कि शोभा तो पुरमें पूर्वसे ही थी, यथा 'पुर सोभा अवलोकि सुहाई। । ९४। ८।', अब बारातका निकट आना सुनकर

* जब—१७०४। सुनि—१६६१, १७२१, १७६२, छ०। ‡ सब-१७०४, गौड़जी। सजि-१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

पुरमें चहल पहल मच गई है, अगवानीके लिये लोग तैयार हो रहे हैं, इसीसे अब शोभा अधिक हो गई है। यही आगे लिखते हैं—'करि बनाव···'।

२ (क) 'करि बनाव सजि बाहन नाना। ' इति। अगवानीमें वाहन मुख्य हैं, इसीसे वाहनोंका साजना कहा। 'नाना' से जनाया कि बहुत हैं, हाथी, घोड़े, ऊँट आदि सभी हैं और अनेक जातिके हैं। प्रथम सब तैयारी करके तब लोग अगवानीको जाते हैं, इसीसे 'सजि' पद दिया। (ख) 'हिय हरषे सुर सेन निहारी' इति। प्रथम सुरसेनके देखनेसे पाया गया कि देवता लोग अलग अलग होकर आगे हो गए हैं, शिवजीको पीछे छोड़ दिया है, इसीसे प्रथम देवसमाज देख पड़ा, पीछे शिवसमाज। 'सुरसमाज' सब सुन्दर है, यथा 'सुर समाज सब भाँति अनूपा।' इसीसे सुरसमाजको देखकर हर्ष हुआ। (ग) 'हरिहि देखि अति भए सुखारी' इति। एक चरणमें देवताओंको कहा, दूसरेमें विष्णु भगवानको। देवताओंसे विष्णु भगवान्‌को पृथक् कहकर जनाया कि ये सब देवताओंसे अधिक सुन्दर हैं। 'अति भए सुखारी' का भाव कि देवसमाजको देखकर सुखी हुए और भगवान्‌को देखकर 'अति सुखी' हुए। (घ) 'शिवसमाज जब·· ' इति। शिवसमाज, यथा—'नाना बाहन नाना बेषा। बिहसे सिव समाज निज देखा।' ९३ (६) से 'देखत अति बिपरीत ।' ९३ तक। (ङ)। 'बिडरि चले···' से जनाया कि जो नाना वाहन यूथ यूथ थे वे सब मारे भयके पृथक् पृथक् होकर भागे; क्योंकि शिवसमाज बहुत भयंकर है। और, जो यूथ बँधे थे वे सबभी भागे और 'बिडरि' चले। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि शिवसमाजको देखकर हाथी घोड़े ऐसे भड़के कि सवारोंके रोकनेपर भी न रुके, भाग निकले। अतः सवारका भागना न कहकर वाहनका भागना कहते हैं)।

नोट—१ सब वाहन एवं अधिकांश पैदल दर्शक हाथी घोड़ोंके भड़कनेके कारण भगे। अगवानियोंका भागना नहीं समझना चाहिये, क्योंकि ये तो बारातको लेकर आयेंगे। ☞ बाराती प्रायः अपरिचित होते हैं, इसीसे भेंट प्रणाम किसीसे कोई नहीं करता, सवारसे सवार मिलते हैं, और लोग तमाशा देखते हैं। अतएव यहाँ भेंट या प्रणाम करना कुछ न कहा, केवल देखनाभर लिखा है। यथा 'हिय हरषे सुरसेन निहारी' (१), 'हरिहि देखि अति भए सुखारी' (२), 'शिव समाज जब देखन लागे' (३)। 'देखन लागे' में भाव यह है कि पूरा समाज नहीं देख पाये कि वाहन भड़ककर भगे। यह भी जनाया कि चकित होकर देख रहे हैं कि यह कैसी बेढंगी बारात है।

२ लमगोड़ाजी—'बिडरि चले ' इस भगदड़का फिल्म कला और हास्यप्रद चित्रण विचारणीय है। आगे चलकर लड़कोंका चित्रण 'भय कंपित गाता' भी इन्हीं कलाओंका उदाहरण है।

> धरि धीरजु तहँ रहे सयानें। बालक सब लै जीव परानें॥ ५॥
> गए भवन पूछहिँ पितु माता। कहहिँ बचन भय कंपित गाता॥ ६॥

शब्दार्थ—जीव=प्राण। पराने=भागे।

अर्थ—समझदार ज्ञानवान् कुछ बड़ी अवस्थावाले धीरज धरकर वहाँ डटे रह गए और बालक (तो) सब प्राण लेकर भगे। ५। घरमें जानेपर पिता और माता पूछते हैं (तब वे) भयके मारे काँपते हुए शरीरसे वचन कह रहे हैं। ६।

टिप्पणी—१ 'धरि धीरजु तहँ रहे सयानें।···' इति। (क) 'तहँ रहे' का भाव कि समाज देखकर डरे तो सयानेभी, पर वे धैर्य धारण करके रह गए, भागे नहीं। (ख) 'सयानें' का भाव कि समझदार हैं, वे यह समझकर खड़े रहे कि ये हमें भक्षण न करेंगे, इनका वेषही ऐसा है। और बालक लोग प्राण लेकर भगे कि कहीं ये हमें खा न जायँ। पुनः, 'बालक सब लै जीव परानें' के संबंधसे 'सयानें' का अर्थ है—'अवस्थामें बड़े', 'वयोवृद्ध', 'समझदार', 'ज्ञानवान', 'हाथी, घोड़ो, आदिके संभालनेमें कुशल', तथा 'जो शिवजीका स्वरूप भली भाँति समझते थे, जो यह जानते हैं कि शिवजी असुरोंको मोहित करनेके लिये ही यह अमंगल वेष धारण

किये हुए हैं पर वस्तुतः हैं मंगलराशि । यथा पद्मपुराणे—'त्वञ्च रुद्र महाभाग मोहनार्थं सुरद्विषाम् । पाखण्डा-चरणं धर्मं कुरुष्व सुरसत्तम् । एवं देवहितार्थाय वृत्तिं वेदविगर्हिताम् । विष्णोराज्ञाम्पुरस्कृत्य कृतम्भस्मादि धारणम् । बाह्यचिह्नमिदं देवि मोहनार्थं सुरद्विषाम् । अन्तरे हृदये नित्यं ध्यात्वा देवं जनार्दनम् ॥' (उत्तरखण्ड अ० २३५ श्लो० २८-३०) । अर्थात् हे देवश्रेष्ठ महाभाग रुद्रजी ! आप असुरोंको मोहित करनेकेलिये पाख-ण्डके आचरण ग्रहण करें । भगवान् विष्णुकी इस आज्ञाके अनुसार देवताओंके हितार्थ वेदविरुद्ध निषिद्ध आचरण हमने धारण कर लिये । चिताकी भस्म रमाने, मुण्डमाल और सर्पादि धारण करने लगे । श्रीशिवजी कहते हैं कि हृदयमें तो मैं सदैव जनार्दन भगवान्काही ध्यान करता हूँ । विशेष पूर्व २६ (१) 'साज अमंगल मंगलरासी' भाग १ देखिए । (ख) बालक और पशु अज्ञानी हैं, वे भगे । सयाने जिनके ज्ञान है वे वहीं बने रहे । सयानोंने अपने ज्ञानसे धीरज धरा जो बालक हैं वे अज्ञानके कारण धीरज न धर सके, अतः भगे ।

२ 'बालक सब लै ···' इति । (क) बालकके साथ 'सब' विशेषण दिया, 'सयानें' के साथ कोई विशेषण नहीं दिया । इससे जनाया कि बालकोंमेंसे वहाँ कोई न रह गया, सभी भाग गए । सवारभी सब भागे; यथा 'बिडरि चले बाहन सब भागे' । 'सयाने' के साथ 'सब' विशेषण न देनेका तात्पर्य यह है कि कुछ भागे, कुछ वहीं रहे । (ख) ☞ बालक युवा और वृद्ध तीनों अगवानीमें थे । जिस क्रमसे अगवानी लेने चले, उसी क्रमसे ग्रन्थकार लिखते हैं । युवा सवारीमें आगे आगे थे । उनके वाहन उन्हें ले भागे, न तो वे समय पर घर गए और न वहाँही रहे । अतः ग्रन्थकारने उनका हाल कुछ न लिखा । उनके पीछे सयाने थे, वे वहीं खडे रहे, उन्होंने अगवानी करके बारातको लेजाकर जनवासेमें ठहराया । इनके पीछे बालक थे जो भागकर घर आए और सब वृत्तांत कहा । (ग) बालकका प्राण लेकर भागना कहा, क्योंकि उनको बारात यमराजकी सेनासी देखपडी; यथा 'जम कर धार कि धौं बरिआता' । यमदूत प्राण हरण करने आते हैं, इसीसे 'प्राण लेकर' भागना कहा कि कहीं ये ले न लें ।

३ 'गए भवन पूछहिं पितु माता । · ' इति । (क) 'पूछहिं' से जनाया कि घर जाकर इन्होंने बारातका हाल स्वयं न कहा, क्योंकि भयसे व्याकुल हैं । भयसे शरीर काँप रहा है । भयके मारे मुँहसे बात नहीं निकलती और मनमें भय भरा है । अर्थात् तन-मन-वचन तीनोंमें भयको प्राप्त हैं, इसीसे पिता-माताको पूछना पडा । माता-पिताको चिन्ता हो गई कि एकायक इसको क्या हो गया, कोई रोग तो नहीं हो गया जो यह थर थर काँप रहा है । पूछनेपर इन्होंने कहा । [(ख) प्रथम पिताको लिखा, तब माताको क्योंकि पिता घरके बाहर बैठे हुए पहले मिले तब माता । (ग) बाहनों और बालकोंका अयथार्थ भयवर्णन 'भयानक रसाभास' है । (वीरकवि)] ।

कहिअ* काह कहि ‡ जाइ न बाता । जम कर धार कि धौं बरिआता ।७॥
बरु बौराह बसह † असवारा । ब्याल कपाल बिभूषन छारा ॥८॥

शब्दार्थ—बरिआत=बारात । बौराह=बौरहा, बावला, पागल । बसह (सं० वृषभ)=बैल । अस-वार=चढा हुआ, सवार । छार (क्षार)=राख, भस्म ।

अर्थ—क्या कहें ? कुछ बात कही नहीं जाती । भला यह यमकी सेना है कि बारात है ? । ७ । दूलह पागल है, बैलपर सवार है । सर्प, मनुष्योंकी खोपडियाँ (नरमुंडमाला) और राखही उसके विभू-षण (भूषणविशेष) हैं । ८ ।

टिप्पणी—१ 'कहिअ काह ···' इति । (क) कहना तो चाहिए था कि 'बारात है कि यमकी सेना है, पर ऐसा न कहकर कहा कि 'यमकी सेना है कि बारात' । क्योंकि वे इसे निश्चय ही यमकी सेना समझे

* कहा-पाठान्तर । ‡ जात-१७०४ । † बरद-१७०४, १७२१, १७६२, छ० । बसहु-१६६१ ।

हुए हैं। इसीसे 'जम कर धार' में 'धों' नहीं कहते, 'वरिआत' में 'धों' कहते हैं। बारात होनेमें संदेह है, निश्चय नहीं है। यहाँ सदेहालंकार है। (ख) यमके दर्शनसे शरीर काँपने लगता है, बोल नहीं निकलता। इन्हें यमकी सेना देख पड़ी, इसीसे ये बीचमें न रुके, घरमें आ घुसे। घरमें मातापिता बारातका हाल पूछते हैं तो उसपर कहते हैं कि 'कहिअ काह' क्या कहें? अर्थात् आप जो पूछते हैं सो तो कही नहीं जाती। फिर आगे कुछ कहते हैं। पुनः भाव कि तुम क्या पूछते हो, हमसे तो बोलाभी नहीं जाता, कहें तो क्या कहें और कैसे कहें। (ग) शिवसमाज किसीसे भी कुछ कहते नहीं बनता; यथा 'बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बने। ६३।' तब इन बेचारे बालकोंसे कैसे कहते बने।

२ 'बरु बौराह बसह'' इति। (क) बारातको कहकर अब वरका हाल कहते हैं। ☞ जो बारात देखने जाते हैं वे बारात देखते हैं, वर देखते हैं, वरकी सवारी देखते हैं, वरके आभूषण देखते हैं, इत्यादि। वैसेही ये सब देखने लगे। देखनेपर सब विपरीतही देख पड़ा, वह यह कि वर उत्तम सवारी पर चढ़ता है, घोड़ेपर या पालकीमें प्रायः चढ़ता है पर यह बैल पर सवार है। वर सोनेके बाले, कंकण आदि पहनते हैं और यह सर्पोंको पहने है। वर मोहनमाल, मोतियों या मणियोंकी माला पहनते हैं और यह नरमुंडमाल पहने है। वर पीतांबर आदि धारण करते हैं और यह नंगा है। वर अतरचन्दनादि लगाए रहते हैं और यह श्मशानकी भस्म रमाए है। बारातमें सुंदर सुंदर बाराती आते हैं, इसके बाराती भूत-प्रेत-पिशाच हैं। तात्पर्य कि यहाँ तो एक बातभी अच्छी नहीं है। (ख) बरको बौरहा कहकर 'बौरहा' के लक्षण कहते हैं—'बसह असवारा'' इत्यादि। सवारीपर प्रथम दृष्टि पड़ी, क्योंकि बड़ी है, इसीसे प्रथम सवारी कहकर तब आभूषण कहे।

छंद— तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
संग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकट मुख रजनीचरा।
जो जिअत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही।
देखिहि सो उमा-बिबाहु घर-घर बात असि लरिकन्ह कही।

शब्दार्थ—जटिल=जटाधारी। जटा=एकमें उलझे हुए शिरके बहुत बड़े बड़े बाल। रजनीचर=निशिचर। जोगिनि (योगिनी)=रणदेवियाँ जो रणमें कटे मरे मनुष्योंके रुंडमुंडको देखकर आनंदित होती हैं और मुंडोंको गेंद बनाकर खेलती हैं।

अर्थ—(वरके) शरीरपर भस्म लगी है, सर्प और मुंडमाल उसके आभूषण हैं। वह नंगा, जटाधारी, और भयंकर है। उसके साथ भयंकर मुख वाले भूत-प्रेत पिशाच, योगिनियाँ और निशाचर हैं। जो कोई बारातको देखता जीवित बच जायगा सचमुचही उसके बड़े पुन्य होंगे। वही उमाजीका विवाह देखेगा।—घर घर लड़कोंने ऐसी बातें कहीं।

टिप्पणी—१ 'तन छार ब्याल'' इति। (क) सब आभूषणोंके ठिकाने (अर्थात् कौन किस अंगमें हैं) पूर्व 'जटा मुकुट अहिमौर सँवारा॥ कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला।''गरल कंठ उर नर सिर माला।' दोहा ९२ में लिख आए, इसीसे यहाँ आभूषणभर कहे, उनके स्थान न कहे। (ख) 'भयंकरा' से आभूषण, रूप और साथियों,साथके गणों,को भयकर जनाया। 'भयंकरा' दीपदेहली है। (ग) शंका—शिवजी चाहते तो गणोंसमेत सुन्दर रूप धारण कर लेते तब उन्होंने मंगल-समयमें अमंगल रूप क्यों धारण किया? समाधान—महात्मा देवर्षि नारदका वचन है कि 'जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष। अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख। ६७।' उनके वचन सत्य करनेके लिए वे पार्वतीजीको अमंगलवेषसे प्राप्त हुए।—'मृषा न होइ देवरिषिभाषा' [यह शिवजीका सहज वेषभी है। इस वेषसे पार्वतीजीकी अकामताभी प्रतीत हुई है। जैसे श्रीरामजी नारदवचन सत्य करते

हैं, यथा 'नारद बचन सत्य सब करिहौं', वैसेही शंकरजी उनके वचन सत्य करते हैं। शिवजीके इस विवाह शृङ्गारमें शृङ्गाररसका कहीं पता नहीं है यह विशेष ध्यानमें रखनेकी बात है। रौद्र और शृङ्गारको छोड़ अन्य सब रसोंका अस्तित्व शिवशृङ्गारमें है। समन्वयकी यह सावधानता कितनी सराहनीय है। काम नहीं है, अतः शृङ्गार नहीं है। प० प० प्र०।] (घ) [नोट—शिवजीका बाघाम्बर पहने होना पूर्व कह आये हैं; यथा—'तन बिभूति पट केहरिछाला' और यहाँ 'नगन जटिल' अर्थात् नंगा होना कहते हैं। इससे जान पड़ता है कि बाघाम्बर लँगोटीकी तरह नहीं पहने हैं, किन्तु उसे केवल ऊपरसे डाले हुए हैं। बालक छोटे हैं और नीचे खड़े हैं। शिवजी नन्दीश्वरपर सवार हैं। इसीसे लड़कोंको नंगे दिखाई पड़े।]

२ 'संग भूत प्रेत पिसाच' इति। (क) वरका वर्णन कर अब बारातियोंका वर्णन ब्यौरा करके कहते हैं कि संगमें भूतप्रेतादि हैं। प्रथम कहा कि बारात यमराजकी सेना है। यहाँ यमकी सेना का अर्थ खोल दिया कि यही सब भूत-प्रेत-पिशाचादिही यमकी सेना है। वर स्वयं भयंकर है और भयकरोंको साथ-में लिये है। (ख) ☞ देवताओंने प्रथमसेही संग छोड़ दिया, इसीसे देवताओंको संगमें नहीं कहते, भूत प्रेत संग हैं, अतः उन्हें कहते हैं। विकट=भयंकर। अर्थात् खा ही जायँगे। (ग) 'जो जिअत रहिहि'' इति। ऊपर 'बिकट मुख रजनीचरा' कहा। (रजनीचर मनुष्योंको खाजाते हैं; यथा 'नर अहार रजनीचर चरहीं। २। ६३।')। इससे जनाया कि ये भयकर-मुख हैं, अवश्य सबको भक्षण करलेंगे। जो कदाचित् अभी न भक्षण करेंगे तो भी बारात देख लेनेपर कोईभी न जीवित बचेगा, सब डर जायँगे। (घ) 'जो' 'रहिहि' एकवचन देनेका आशय यह है कि बारात देखकर सब न जीवित रहेंगे, कोई एक (चाहे) जीता बच जाय। जो कोई एक बच गया उसके बड़े पुण्य होंगे। (ङ) 'पुन्य बड तेहि कर सही' इति। भाव कि पुण्यपुरुषही यमकी सेनासे बचते हैं, पापी मारे जाते हैं। 'जो' संदिग्ध वचन है। तात्पर्य कि पहले तो कोई जियेगा नहीं, यदि कोई जियाभी तो वही जिसके 'बड पुन्य' बहुत बड़े पुण्य होंगे, छोटे पुण्यवाला न बचेगा। 'सही' का भाव कि पुण्य बड़ा और सही होगा तभी बचेगा, अन्यथा नहीं। पुनः भाव कि जिस पुण्यमें विघ्न हुआ होगा उस पुण्यसे नहीं बच सकेगा।

'देखिहि सो उमा बिवाह'' इति। (क) 'जो' का संबंधी 'सो' यहाँ है। 'जो जिअत रहिहि' 'सो बिवाह देखिहि'। (ख) 'उमाबिवाह' कहा क्योंकि यहाँ 'उमा' प्रधान हैं; कन्यापक्षवालोंमें कन्या की प्रधानता रहती है, अतः 'उमा बिवाह' कहा। वरपक्षके होते तो 'शिवविवाह' कहते। (ग) 'घर घर बात असि लरिकन्ह कही' इति। घर-घर कहनेका भाव कि देखनेकी इच्छा लड़कोंको बहुत रहती है; इसीसे घरघरके लड़के बारात देखने आए थे।

☞ मिलान कीजिये—'घरघर बालक बात कहन लागे तब। प्रेत बैताल बराती भूत भयानक। चढ़ो बर बाउर सबइ सुबानक। ६५। कुसल करइ करतार कहहिं हम साँचिय। देखब कोटि बिआह जिअत जौं बाँचिय। ६६।' (पार्वतीमंगल)।

प० प० प्र०—भयानकरसकी महिमा तो देखिए। कपाल शिवगणोंके हाथमें है। पर बालकोंने उसे शिवजीके हाथमें ही रख दिया। शिवसमाजमें योगिनी, चामुण्डा आदि स्त्रियाँ हैं ही नहीं तथापि बालकों की भयाकुलबुद्धिने योगिनियोंका अस्तित्वभी बताना। भयग्रस्त बालकोंके स्वभावका यहाँ यथातथ्य वर्णन किया है।

दोहा—समुझि महेस समाज सब जननि जनक मुसुकाहिँ।
बाल बुझाए बिबिध बिधि निडर होहु डरु नाहिँ। ९५।

अर्थ—महादेवजीका सारा समाज समझकर सब माता-पिता मुस्कुराने लगे और उन्होंने बालकों को अनेक प्रकारसे समझाया कि निडर हो जाओ, कोई डरकी बात नहीं है। ९५।

टिप्पणी—१ (क) लड़के यमकी धार समझकर डरे और माता-पिता महेशका समाज समझकर हँसे कि शिवजीका समाज ही ऐसा है। [☞ लड़कोंने जिस तरह सारे दृश्यको बयान किया है वह कितना भयानक है ? परन्तु कविकी हास्यकलाका लुत्फ देखिए कि इस भयानक दृश्यसे भी हँसी आती है। 'जननि-जनक मुसुकाहिं' का हास्य दोतरफा है। हँसी एक ओर तो भंगघोटना बाबाके समाजपर आती है और दूसरी ओर लड़कोंकी बुद्धिपर। 'बर बौराह बरद असवारा' तो एक हास्यप्रद जनश्रुति बन गया है। सारा दृश्य फिल्मकलासे ओतप्रोत है।—(लमगोड़ाजी)]। (ख) 'बाल बुझाए बिबिध बिधि' इति। बहुत प्रकार से समझाना कहा क्योंकि लड़के घर-घरके हैं, बहुत हैं, घरघरके मातापिताभी मिलकर बहुत हैं, किसीने कुछ कहकर समझाया, किसीने कुछ और कहकर समझाया, इत्यादि बहुत प्रकार हुआ। अथवा, बालक बहुत डरे हुए हैं; यथा 'बालक भभरि भुलान फिरहिं घर हेरत' (पार्वतीमंगल ६४)। इसीसे प्रत्येकको विविध प्रकारसे समझाना पड़ा कि डर छूट जाय। (ग) 'निडर हाहु···' का भाव कि लड़के बिना डरके डरे हुए हैं—(यहभी डर छुड़ानेका एक ढङ्ग है)।

लै अगवान बरातहि आए। दिए सबहि जनवास सुहाए ॥ १ ॥
मैना सुभ आरती सँवारी। संग सुमंगल गावहिं नारी ॥ २ ॥

अर्थ—अगवाने लोग बारातको ले आए और सबोंको सुन्दर सुन्दर जनवासा (ठहरनेको) दिया। १। श्रीमेनाजीने मंगल आरती सजाई; साथमें स्त्रियाँ सुन्दर मंगलाचारके गीत गा रही हैं। २।

टिप्पणी—१ (क) 'लै अगवान·' इति। पूर्व कह आए हैं कि 'धरि धीरज तहँ रहे सयाने', यही सयाने जो वहाँ रह गए थे वेही बारातकी अगवानी कर बारातको ले आए। पुनः, पूर्व कहा था कि आदर-पूर्वक अगवानी लेने चले—'चले लेन सादर अगवाना। ६५। २।', अब यहाँ अगवानी ले आना कहा। ☞ यहाँतक 'अगवानी' की रस्मका वर्णन हुआ। (ख) 'दिए सबहि जनवास···'—'दिए' और 'सुहाए' बहुवचन-पद देकर जनाया कि बहुतसे जनवासे दिये। सबको न्यारे-न्यारे (पृथक् पृथक्) जनवासे दिये क्योंकि सब एक जनवासेके लायक नहीं हैं। देवता, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि अनेक जातिके बाराती हैं। सब अलग-अलग ठहरे यह आगे स्पष्ट है, यथा 'अचवाइ दीन्हे पान गवने बास जहँ जाको रह्यो ।६६।' इससे पाया गया कि सबका निवास पृथक् पृथक् था। (ग) 'सुहाए' बहु बचनमें प्रयोग किया गया है; यथा 'कलपभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए। १। ३३।', 'जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए। मुनिन्ह सकल सादर करवाए। १। १४३।', 'तिन्हकें निकट बिसाल सुहाए। धवल धाम बहु बरन बनाए। १। २२५।', 'नवपल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए। १। २२७।', 'देखन बागु कुँअर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए। १। २२६।' इत्यादि। यदि एक ही जनवासा होता तो 'सुहावा' एकवचन—पद देते। यथा 'मध्य बाग सरु सोह सुहावा। १। २२७।', 'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। १। २३७।', 'सीस जटा ससि बदनु सुहावा। १। २६८।', 'सिंघासन अति दिव्य सुहावा। १। १००।' इत्यादि। (घ) 'सबहि' का भाव कि कोई यह न समझे कि देवता उत्तम जनवासेके योग्य हैं और भूत-प्रेतादि उत्तम निवासस्थान के योग्य नहीं हैं, अतः देवताओंको अच्छे जनवासे मिले होंगे और भूतप्रेतोंको बुरे। सभीको सुन्दर उत्तम जनवासे दिये गए। सबका समान आदर किया गया।

२ 'मैना सुभ आरती सँवारी।···' इति। (क) 'मैना सँवारी' कहनेसे पाया गया कि मेनाजीने अपने हाथों आरती सजाई। इससे रानी मेनाजीकी श्रद्धा दिखाई। (ख) 'सुभ आरती' इति। शुभ और मंगल पर्य्याय हैं, यथा 'श्वः श्रेय शं शिवं भद्रं कल्याणं मंगलं शुभमित्यमरे।' विवाहके पूर्व वरका परछन होता है; यथा 'सजि आरती अनेक बिधि मंगल सकल सँवारि। चलीं मुदित परिछन करन गजगामिनि बर नारि। १। ३१७।' पुनः, 'शुभ आरती' से परछनके साजसामग्रीका ग्रहण हुआ; यथा 'रामु दरस हित

अति अनुरागीं। परिछनसाजु सजन सब लागीं॥ हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगलमूला॥ अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा॥ १। ३४६।' यहाँ 'सुभ आरती सँवारी' कहकर आगे 'परिछन चली हरहि' कहनेसे स्पष्ट हुआ कि आरती करना ही 'परिछन' है। (परन्तु इसमें आरतीके अतिरिक्त और भी रीतियाँ होती हैं)। (ग) 'संग सुमंगल गावहिं नारी' इति। 'संग नारी' कहकर श्रीमेना अंबाजीकी प्रधानता जनाई। अर्थात् मेनाजी गाती हैं और उनके संगमें और स्त्रियाँ भी मिलकर गा रही हैं। 'मैना' शब्दके साथ 'गावहिं' बड़ा चोखा है। इनका स्वर मधुर है इसीसे 'मैना' नाम है, मानों 'मैना' (सारिका) ही हैं।—[पं० रामकुमारजीका यह मत है, पर अधिकांश लोगोंके अनुसार मेनाजी नहीं गा रही हैं। केवल स्त्रियाँ गा रही हैं। मेनाजी पर ९८ (३) में लिखा जा चुका है।]

कंचन थार सोह बर पानी। परिछन चली हरहि हरषानी॥ ३॥
बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। *अबलन्ह उर भय भएउ बिसेषा॥ ४॥

शब्दार्थ—कंचन=सोना, सुवर्ण। परिछन (परछन)=विवाहकी एक रीति जिसमें बारात घरपर आनेपर कन्यापक्षकी स्त्रियाँ वरके पास जाती हैं और उसे दही अक्षतका टीका लगाती हैं, उसकी आरती उतारती हैं तथा उसके ऊपरसे मूसल, बट्टा आदि घुमाती हैं। (श० सा०)। वरके घरपरभी वरपक्षकी स्त्रियाँ माँ, भावज, इत्यादिभी परछन करती हैं। कोई-कोई 'परछन' को 'परीक्षण' का अपभ्रंश कहते हैं और कहते हैं कि यह वरकी परीक्षा है और कोई इसे 'परि+अर्चन' का अपभ्रंश मानते हैं। थार (थाल)=काँसे या पीतल आदिका बड़ा छिछला थालीसे बहुत बड़ा बर्तन।

अर्थ—सुंदर हाथोंमें सोनेका थाल शोभित है। (इस प्रकार वे) हर्षपूर्वक महादेवजीका परछन करने चलीं। ३। जब उन्होंने बिकट (भयंकर) वेषवाले रुद्रको देखा तब स्त्रियोंके हृदयमें बहुत अधिक भय उत्पन्न हो गया। ४।

टिप्पणी—१ 'कंचन थार सोह…' इति। (क) 'संग सुमंगल गावहिं नारी' और 'परिछन चली हरहि हरषानी' से सूचित किया कि घरसे सब गाते हुए चलीं। (ख) 'कंचन थार'—इसमें परछनका सब मंगल द्रव्य रक्खा हुआ है जो पूर्व शुभ आरतीकी टिप्पणीमें कह आए। थालमें आरती भी सजाई हुई होती है। (ग) 'बर पानी' कहकर हाथोंको कमल समान जनाया। 'बर पानी' अर्थात् हस्तकमलमें। यथा 'कनक थार भरि मंगलन्हि कमल करन्ह लिये मात। चलीं मुदित परिछनि करन पुलक पल्लवित गात। १। ३४६।' (घ) 'परिछन चली हरहि…'—हरका परछन करने चलीं और हर्षित हैं। तात्पर्य यह कि शिवजीका दर्शन होगा इस विचारसे हर्षित हैं। दर्शनके लिये हर्ष हुआ कि दर्शन करके आरती उतारेंगी। यथा 'रामवरसहित अति अनुरागीं। परिछनि साज सजन सब लागीं। १। ३४६।' (इसीसे यहाँ 'हर' शब्द दिया। जो क्लेशोंके हरनेवाले शिव हैं उनकी हम दूलहरूपमें आरती करेंगी। साधारणतः भी वरको देखने आदिका उत्साह सासु आदिको होता ही है और मंगलकार्यभी है, अतः हर्ष होना स्वाभाविक है।)

२ (क) ☞ इस प्रसंगभरमें श्रीमेनाजीकी प्रधानता दिखाई है।—शुभ आरती सँवारनेमें प्रधान हैं—'मैना सुभ आरती सँवारी'। गानेमें प्रधान हैं, स्त्रियाँ तो संगमें गाती हैं—'संग सुमंगल गावहिं नारी'। शोभामें प्रधान हैं—'कंचन थार सोह बर पानी'। चलनेमें प्रधान हैं—'परिछन चली हरहि हरषानी'। (ख) पुनः, यहाँतक आरती, गान, थाल, हाथ और स्नेहकी शोभा कही। 'आरती सँवारी' से आरतीकी, 'सुमंगल गावहिं' से गानकी, 'कंचन थार' से थाल की, 'बर पानी' से हाथकी और 'हरषानी' से स्नेहकी शोभा कही।

३ 'बिकट बेष रुद्रहि' ' इति। (क) बिकट अर्थात् भयंकर; यथा 'तन छार ब्याल कपाल भूषन

---

* अबलन्हि—१७०४, को० रा०। अबलन्ह—१६६१, १७२१, १७६२।

नगन जटिल भयंकरा।' इसीसे अबलाओंको विशेष भय हुआ। (ख) 'रुद्रहि देखा' से पाया गया कि और गणादि संगमें कोई नहीं हैं, रुद्र अकेले ही हैं। यह बात आगेके 'गए महेस जहाँ जनवासा' से स्पष्ट है; क्योंकि जनवासेको जाते समय भी कोई गण साथमें नहीं कहा गया। (संभव है कि भूत प्रेतादि बहुत कुरूप एवं नंगे थे जिन्हें देख लड़के भय खाकर भाग लेकर भाग आए थे, इसीसे यह समझकर कि अब स्त्रियाँ परछन करने आयेंगी अतः गणादिको जनवासेमें रहने दिया हो; अथवा, देवताओंमें यह रीतिही हो कि बाराती जनवासेमें ठहरा दिये जाते हैं, केवल वर परछनके लिये कन्याके द्वारपर आता है क्योंकि यहाँ शंकरजीके अतिरिक्त कोई भी बाराती नहीं कहा गया। 'जब देखा'का भाव कि विकट वेष तो नारदजीसे सुना था, यथा—'नगन अमंगल बेष'; पर देखना दूसरी बात है। सुननेसे डरी न थीं, देखनेसे डरीं। (ग) शिवजीका रूप वेष देखकर स्त्रियाँ भयको प्राप्त हुईं, इसीसे यहाँ 'रुद्र' नाम दिया। रुद्र भयानक हैं, उन्हें देखकर डर लगता ही है। यथा 'रुद्रहि देखि मदन भय माना। १।८६। (घ) 'अबलन्ह उर भय' कहनेका भाव कि भय तो पुरुषोंको भी हुआ और ये तो बेचारी 'अबला' ही हैं, अतः इनको विशेष भय हुआ तो आश्चर्य ही क्या? ऐसा होना तो उचित ही था। (ङ) 'भय बिसेषा' का भाव कि भय तो औरोंको भी हुआ। बालकोंको, वाहनोंको, अगवानोंको, सभी को भय हुआ था, केवल सयाने लोगही धैर्य धारण कर वहाँ रह गए थे और सब तो भागही गए। पर, अबलाओंको 'विशेष' भय हुआ, क्योंकि भयभीत होना तो नारित्वस्वभावही है; यथा 'नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥'''भय अविवेक असौच अदाया॥ ६ १६'। ['विशेष भय' के और भाव ये हैं—(१) शंकरसमाज देखकर भय हुआ और ये तो सिरसे पैरतक सर्प लपेटे थे, इससे इन्हें देख विशेष भय हुआ। (२) ब्रह्मा विष्णु आदि और उनके समाजोंको देखकर बहुत हर्ष हुआ था, उनके बाद एकदमसे विकट विकराल स्वरूप देख पड़ा, इसीसे 'विशेष हर्ष विशेषभय' में परिवर्तित होगया; वे परम भयभीत होगईं। (३) आरती देख कर सर्प लपलपाए, अतः बहुत डर गईं।]

☞ नोट—यह चित्रभी हास्यप्रद है परन्तु यहाँ हँसी टिकाऊ नहीं है। कारण कवि स्वयं आगे लिखता है। (लमगोड़ाजी)। स्त्रियोंका अयथार्थ भय 'भयानक रसाभास' है।

> भागि भवन पैठीं अति त्रासा। गए महेसु जहाँ जनवासा॥ ५॥
> मैना हृदय भएउ दुखु भारी। लीन्ही बोलि गिरीसकुमारी॥ ६॥

शब्दार्थ—पैठीं (संभवतः 'प्रविष्ट' का अपभ्रंश 'पैठना' है)=घुस गईं, घरके भीतर चली गईं। यथा 'चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा। ५।१८।'

अर्थ—अत्यन्त भयके मारे भागकर वे सब घरमें घुस गईं। और महादेवजी जहाँ जनवासा था वहाँ चले गए। ५। श्रीमेनाजीके हृदयमें भारी दुःख हुआ। उन्होंने गिरीशकुमारी श्रीपार्वतीजीको बुला लिया। ६।

टिप्पणी—१ 'भागि भवन पैठीं''' इति। (क) बालक डरे थे, अतः वे भागकर घरमें चले गए; यथा 'बालक सब लै जीव पराने। गए भवन'''; और इनके संबंधमें कहते हैं कि ये भागकर 'भवन पैठीं' भवनमें पैठ गईं। वहाँ 'गए' और यहाँ 'पैठीं' शब्द देकर स्त्रियोंके 'अति त्रास' का स्वरूप दिखाया है। (ख) 'अति त्रासा' का भाव कि बालकोंको 'त्रास' हुई और स्त्रियोंको 'अति त्रास' हुई। अथवा, अबलाओंके उरमें विशेष भय हुआ इसीसे 'अति त्रास' हुई। (ग) 'गए महेसु''' इति। इससे जनाया कि शिवजी परछन करानेको खड़े रहे, जब स्त्रियाँ भाग गईं तब आप भी जनवासेको चले गए। ☞ इससे सिद्ध होता है कि अगवानी लोग बारातियोंको जनवासा देकर शिवजीको परछन करानेके लिये द्वारपर ले आए थे। इसीसे जब स्त्रियाँ भाग गईं तब जनवासेमें इनका जाना लिखा गया। अथवा, इनको भी जनवासा देकर तब वहाँसे लाये हों। [जनवासेमें चले जानेका भाव यह भी कहा जाता है कि शिवजीने यही समझा कि इस देश और

२। ११६।', 'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा। २। २६१॥', 'बिधि बामकी करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही बावरी। २। २०१।', 'दै दोष सकल सरोष बोलहिं बाम बिधि कीन्हो कहा। २। २७६।', इत्यादि। (ग) 'तेहि जड' इति। 'जड' कहनेका भाव कि ऐसी रूपवती कन्याका ऐसा पति बनाना 'जडता' है। रूपवती दुलहिनके लिये रूपवान् दूलह चाहिए न कि विकट वेषधारी बावला। ऐसा बुरा वर रचना मूर्खताका काम है। यथायोग्य कार्य करनेसे ही 'बिधि' को 'विधि' कहा जाता है, योग्य कार्य करनेसे ही वह चतुर कहा जाता है। यथा 'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥ १। २२३।' (यह विधिकी चतुरता है), 'कैकइ सुअन जोगु जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई। २। १८१॥' (यहाँभी यथायोग्य करनेसे विधिको चतुर कहा)। पार्वतीजीके संबंधमें अयोग्य करने (अयोग्य वर रचने) से यहाँ 'जड' कहा। ऐसे ही अयोग्य कार्य करनेसे 'बिधि' को निठुर, निरंकुश, नीच, वाम आदि विशेषण (उपर्युक्त उद्धरणोंमें) लोगोंने दिये हैं। [(घ) पंजाबीजी लिखते हैं कि पार्वतीजीको रूप और तदनुकूल बुद्धि, धैर्य आदि गुण जैसे होने चाहिएँ वैसेही विधिवत् दिया, इसीसे 'तुम्हहि रूप अस दीन्हा' के साथ 'बिधि' शब्द दिया। और वरको भयकर जटिल आदि अयोग्य रूप गुणवाला बनानेसे उसी विधिको 'जड' कहा। और किसीका मत यह है कि इस समय मेनाजी व्याकुल हो गई हैं, इसीसे विह्वलताके कारण उन्होंने 'जड' कह दिया। यथा 'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इन्ह को बिलगु न मानिये बोलहिं न बिचारी॥ लोकरीति देखी सुनी व्याकुल नरनारी। अति बरषे अनबरषेउ देहिं दैवहि गारी॥' (विनय ३४)। और कोई-कोई 'जड' को वरका विशेषण मानकर अर्थ करते हैं कि 'उसने दूलहको जड और बावला कैसे बनाया'। (ङ) इस अर्धालीमें दो अनमिल बातोंका वर्णन है—कहाँ तो यह रूप और कहाँ बावला वर ? अतः यहाँ 'प्रथम विषम अलंकार' है] (च) ☞ यहाँ मेनाजीके तन, मन और वचन तीनोंकी दशा दिखाई। स्नेहके कारण हृदयमें दुःख हुआ, यह मनकी व्यवस्था कही। उमाको स्नेहसे गोदमें बिठा लिया यह तनका हाल कहा और आगे उमाके स्नेहके कारण दुःखकी बातें करती हैं कि 'जेहि बिधि ···' इत्यादि, यह वचनकी दशा कही। भाव कि मेनाजी तन-मन-वचनसे उमाजीके स्नेहमें डूब गई हैं।

वि० त्रि०—जो प्रश्न महादेवसे करना चाहिये था, वह अपनी कन्यासे करने लगीं। विधिको उपालम्भ देती हैं, अथवा, इस व्याजसे कन्याकी अस्वीकृति चाह रही हैं।

छंद—कस कीन्ह बरु बौराह बिधि जेहिं तुम्हहि सुंदरता दई।
जो फलु चहिअ सुरतरुहि सो बरबस बबूरहि लागई॥
तुम्ह सहित गिरितें गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं।
घरु जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिबाहु न हौं करौं॥

शब्दार्थ—बरबस=जबरदस्ती, बरजोरी, जबरई, बलात्कार। जाउ (जाय)=बिगड जाय, उजड जाय। 'घर जाना' मुहावरा है अर्थात् घर बिगड जाय, कुलका नाश हो जाय। हौं=मैं।

अर्थ—जिस विधाताने तुमको सौंदर्य (अर्थात् सुंदर रूप) दिया, उसने दूलहको कैसे बावला बनाया ? जो फल कल्पवृक्षमें लगना चाहिए वह जबरन बबूलमें लग रहा है। तुम्हारे सहित मैं पर्वतपरसे (भलेही) गिर पड़ूँ (गिरकर प्राण दे दूँ), आगमें जल मरूँ, समुद्रमें डूब मरूँ, घर (भलेही) उजड जाय, वंशका नाश हो जाय और (चाहे) जगत्‌भरमें अपयश (क्यों न) हो पर मैं जीतेजी विवाह नहीं (ही) करूँगी।

टिप्पणी—१ 'कस कीन्ह ···' इति। (क) यह बात बारबार कह रही हैं, इसीसे ग्रन्थकारने भी इसे दो बार यहाँ लिखा; यथा 'जेहि बिधि तुम्हहि रूप अस दीन्हा। तेहि जड बरु बाउर कस कीन्हा।' पूर्व कह चुकी हैं, वही बात फिर कहती हैं। (वस्तुतः ऐसा कुछ नियमभी है कि किसी-किसी छन्दके आरंभमें कुछ

शब्द दोहराये जाते हैं। मानसमेंभी कई स्थानोंपर ऐसा हुआ है)। (ख) 'जो फलु चहिअ ...' इति। यहाँ उमाजी फल हैं, सुन्दर रूपवाला पति सुरतरु है, शिवजी बबूलका वृक्ष हैं, शिवजीकी प्राप्ति होनेको है यह बबूलमें उस फलका लगना है। 'चहिअ सुरतरुहिं' का भाव कि कल्पवृक्ष देववृक्ष है, यह देवताओं का भाग्य है। आशय यह कि उमाजीका ब्याह तो किसी परम सुंदर देवताके साथ होना चाहिए था। बबूल प्रेतवृक्ष है। प्रेतवृक्ष बबूलमें यह सुंदर फल लगनेको है अर्थात् प्रेताधिपतिके साथ विवाह हो रहा है। कल्पवृक्षके फलके समान सुंदर फल नहीं और बबूलसमान निकाम (निकम्मा) नहीं कि पास जाय भी तो काँटेही चुभेंगे। बबूलमें काँटेही काँटे, वैसेही वरमें सर्प, विभूति, मुण्डमाल, जटा, बाघाम्बर, आदि काँटेही काँटे हैं [वैजनाथजी आदिका मत है कि यहाँ परम सुंदर भगवान् विष्णु 'सुरतरु' हैं। पार्वतीजी और उनका सौंदर्य (परम सुंदरी पार्वतीजी) फल हैं। शिवजी काँटेदार बबूलका वृक्ष हैं। मेनाजी सोचती हैं कि पार्वतीजीका विवाह होना चाहिए था भगवान् विष्णुसे सो न होकर कुरूप, भयंकर वेषवाले शिवजीसे होनेको है।] (ग) 'बरबस लागई' का भाव कि हमारा मन तो कदापि नहीं है कि शिवजीके साथ ब्याह हो। मैं नहीं करना चाहती। ['बरबस' कहा क्योंकि शिवजी ही पति हों इसी लिये तप कराया और किया गया। शिवप्राप्तिका वरभी मिल गया। यथा 'भएउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि। परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि। ७२।' ब्रह्मवाणी असत्य हो नहीं सकती। अतएव न चाहनेपरभी बलात् होनेको है। (घ) मेनाजीकी इच्छाके विरुद्ध वर मिलना 'विषादन अलंकार' है; यथा 'जहँ चित चाही वस्तु ते पावै वस्तु विरुद्ध। बुद्धिवंत नर बरनहीं तहाँ विषादन शुद्ध।' (अ० मं०)। श्रीमेनाजी अपने उपर्युक्त अभिप्रायको सीधे-सीधे न कहकर उसका प्रतिबिंब मात्र 'सुरतरु' 'लागई' कहकर जनाती हैं। ऐसा वर्णन 'ललित अलंकार' है। यथा 'ललित अलंकृत जानिये कह्यो चाहिए जौन। ताहीके प्रतिबिंबही बरनन कीजै तौन।' (अ० मं०)।]

२ 'तुम्ह सहित गिरि तें गिरौं...' इति। (क) भाव कि तुम जीती रहोगी तो वे बलात् ब्याह कर लेंगे, इसलिये 'तुम्हारे सहित' मैं पर्वतसे गिरूँगी। मेनाजी और पार्वतीजी 'गिरि' पर हैं। हिमाचल 'गिरि' हैं। इसीसे प्रथम गिरिपरसे गिरनेकी बात कही। (ख) ☞ यहाँ तीन प्रकारसे मरनेकी तैयारी दिखाई— 'गिरि तें गिरौं', 'पावक जरौं', 'जलनिधि महँ परौं'। पर्वत, पावक और जल इन तीनके कहनेका भाव यह है कि मरनेपर शरीरको तीन तत्त्वोंमेंसे इन्हीं किसी एककी प्राप्ति होती है—किसीको पृथ्वीतत्त्व, किसीको अग्नितत्त्व और किसीको जलतत्त्वकी। [पुनः भाव कि मरनेपर शरीरकी तीनही प्रकार की गति होती है; यथा 'कृमि भस्म बिट परिनाम तनु तेहि लागि जग बैरी भयो।' (विनय १३६)। इन तीन विवस्थाओंके लिये तीन प्रकारसे कहा। पर्वतसे गिरनेपर पृथ्वीतत्त्वमें मिलनेसे 'कृमि', अग्निमें जलनेसे भस्म और समुद्रमें डूबनेसे जलजन्तुओंके खा लेनेसे 'विष्ठा' होगी] (ग) गिरि, पावक और जलनिधि तीनोंके क्रमका भाव कि प्रथम पर्वतसे गिरना सुगम वा सुलभ है, अतः उत्तम है। इससे कठिन है 'पावकमें जलना'। क्योंकि इसमें चिता बनानेकी कठिनता है, अतएव यह मध्यम है। समुद्रमें जाकर डूबना इन दोनोंसे कठिन है क्योंकि समुद्र दूर है, उसकी प्राप्ति शीघ्र नहीं हो सकती। अतएव निकृष्ट उपाय होनेसे उसे अन्तमें कहा। [पुनः दूसरा भाव यह कहा जाता है कि प्रथम गिरिपरसे गिरनेको कहा, फिर सोचीं कि हिमाचल गिरिराज हैं, इस कारण कदाचित् गिरिपरसे गिरनेपरभी मृत्यु न हो तब अग्निमें जलमरूँगी और यदि अग्निदेवभी न जलावें (क्योंकि सब देवताओंका स्वार्थ इसी विवाहमें है) तो समुद्रमें डूब जाऊँगी]

प० प० प्र०—मरनेके ये तीन उपाय मेनाके मनोभावानुकूल हैं। वे सोचती हैं कि भयानक रुद्रका स्पर्श किसी प्रकार भी मेरी प्रिय पुत्रीके देहको न होने पावे। गिरिसे गिरने पर व्याघ्रादि पशु उसे तुरन्त खा लेंगे, मृत देहोंका पता भी न लगेगा, यह उत्तम उपाय है और सहज साध्य है। अग्निमें जलनेसे देह भस्म हो जायगी, पर वह योगी चिताकी भस्मको विभूति समझता है, भस्मको भी रुद्रलेपका डर

लगेगा, अतः यह उपाय उतना उत्तम नहीं। जलमें डूबकर मरनेसे जलचर देहको खालेंगे, मृतदेह उनके हाथ न लगेगी, पर समुद्र दूर और दुर्गम है।—विष, शस्त्र या उद्बन्धनसे मरना इससे सुलभ है पर विषसे मरनेपर वे उसे जिला लेंगे। शस्त्रसे मस्तक काटकर मरनेपर वे किसी पशुका मस्तक उसपर रख देंगे दक्षकीसी दशा होगी। इत्यादि। देवोंके पास अमृत रहताही है और उन्होंने स्वार्थवश यह सब कराया है। अतः जिस साधनसे मृत देह उनको न मिल सके वेही सोचे।

लमगोड़ाजी—'यहाँ अनमिल बेजोड़पनसेही करुणरस उत्पन्न हो गया है। इसीसे मेरी धारणा है कि यह अनमिल बेजोड़पन हास्यरसमें गिना जाना चाहिए जिससे हँसी आवे।—हाँ! यहाँ कविका कमाल है कि एक चित्रसे एक ओर हास्य, दूसरी ओर भयानक एवं करुणरस उत्पन्न किये हैं। पर कवि अन्तमें ओर करुणरसपरही देता है—'जो फलु चहिअ सुरतरुहि सो बरबस बबूरहि लागई'। इसीलिये 'छछूँदर लगावै चमेलीका तेल' का सकरुण रूपान्तर प्रयुक्त हुआ है।'

टिप्पणी—३ 'घर जाउ ' इति। (क) पूर्व कह आए हैं कि बारात यमकी सेना है (यह लड़कोंने घरघर कहा है)। विवाह न करनेसे यमकी सेना घर अवश्य लूट लेगी और अपयश होगा, यही सोचकर कहती हैं कि 'घर जाउ '। अर्थात् घरका लुट जाना और अपयश होना यह सब मुझे स्वीकार है, मंजूर है, पर विवाह करना अंगीकार नहीं है। 'घर जाना' शीघ्र होगा और अपयश पीछे। अर्थात् घर लुटनेमें देर नहीं होनेकी और अपयश तो उसके पश्चात् कहीं होगा जब खबर फैलेगी, इसीसे 'घर जाउ' प्रथम कहा। [(ख) बैजनाथजी आदिने 'बारात घर लौट जाय', 'हमसे घर छुट जाय', 'शिवगण हमारा घर लूट लें'—इस प्रकार अर्थ किये हैं। पर 'घर जाना' मुहावरा है, अतः ये अर्थ ठीक नहीं है।]

दोहा—भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि।
करि बिलापु रोदति बदति सुता सनेहु सँभारि॥ ९६॥

शब्दार्थ—बिलाप=बिलख बिलखकर या बिकल होकर रोनेकी क्रिया=शोकयुक्त वचन निकालना। रोदति=रुदन करती हैं, रोती हैं। बदति=कहती है।

अर्थ—हिमाचलराजकी स्त्रीको दुःखित देखकर सब स्त्रियाँ व्याकुल हो गईं। (मेनाजी) बेटीके स्नेहको याद कर करके बिलख बिलखकर रोतीपीटती और कहती थीं। ९६।

वीरकविजी—१ 'पर्वतराजकी भार्याको बिकल हुई देखकर अन्य स्त्रियोंका व्याकुल होना रोना 'भिन्नपदीय प्रत्यनीक अलंकार' है।

२—शंका—मेनाजी पहलेही देवर्षि नारद और हिमवान्द्वारा शिवजीके रूपको सुन चुकी थीं, फिर इतना डर उन्हें क्यों हुआ जब कि उन्होंने उक्त वरकी प्राप्तिके लिये कन्याको तपस्या करने भेजा? समाधान—मानसप्रकरणमें कह आए हैं कि कविता-नदीके लोकमत और वेदमत दो किनारे हैं। यहाँ नदीकी धारा लोकमतके किनारेसे लगकर चल रही है। स्त्रियोंका स्वभाव भीरु और चंचल होता है। भीषण वेष देख पहलेकी कही सुनी बातें मेनाको भूल गईं। वे पुत्रीके स्नेहमें विह्वल हो उठीं। फिर इस घटना संघर्षसे श्रीपार्वतीजीकी अत्यन्त महिमा सब लोगोंपर व्यक्त करना कविको अभीष्ट है।

३ 'हिंदी नवरत्नके लेखक इस बातको लेकर गोसाईंजीपर बेतरह टूट पड़े हैं। उन्होंने यहाँ तक कविपर आक्षेप किया है कि महादेवजीका विवाह इस कारण बिगाड़ा गया है जिसमें श्रीरामचन्द्रजीके विवाहकी शोभा बढ़ जाय। शिव! शिव! इस दोषारोपणसे समालोचकोंने सत्यका गला घोंट डाला है।'

टिप्पणी—१ 'भईं बिकल ' इति। (क) मेनाजीके वचन सुनकर कि वे पार्वतीसहित प्राणान्त करनेपर तुली-हुई हैं, तथा उनको अत्यंत दुःखित देख, देखनेवाली सब स्त्रियाँ बिकल हो गईं। (ख) पहले मेनाजी नेत्रोंमें अश्रु भरे हुए दुःखकी बातें कहती रहीं, अब उच्च स्वरसे रोने लगीं। अतः 'करि बिलाप

रोदति' कहा। (ग) 'करि बिलाप…सनेह सँभारि' इति। भाव कि सुताका स्नेह सँभालकर, हृदयमें धारण करके दुःख मानकर और उसके गुणोंको विचारकर विलाप करके रोती हैं और सुताके रूप और गुणोंको बखान करती हैं, अपने दुःखकी बातें कहती हैं।—['सुता सनेह' के तीन अर्थ हो सकते हैं—सुतापर अपना स्नेह, सुताका अपनेपर स्नेह और सुताकी कोमलता। स्नेह=कोमलता। तीनों अर्थ यहाँ घटित होते हैं। मुझे यह प्राणोंसे अधिक प्यारी है तब ऐसे कुयोग्य वरके साथ मैं व्याह कैसे करने दूँ? इसका मुझमें इतना स्नेह है तब इसकी रक्षा मैं न करूँ तो कौन करेगा? वि० त्रि० 'सुता सनेह सँभारि' का भावार्थ यह कहते हैं—'बेटीके स्नेहको सँभारे हुए हैं, कोई त्रुटि नहीं होने पावे। यदि ऐसे वरसे व्याह हो गया तो माँके प्रेममें (वात्सल्य) में त्रुटि समझी जायगी।']

नारद कर मैं काह* बेगारा‡। भवनु मोर जिन्ह† बसत उजारा॥ १॥
अस उपदेसु उमहि जिन्ह दीन्हा। बौरे बरहि लागि तपु कीन्हा॥ २॥

अर्थ—मैंने नारदका क्या बिगाड़ा जिन्होंने मेरा बसता हुआ घर उजाड़ डाला?। १। और जिन्होंने उमाको ऐसा उपदेश दिया कि उनने बावले वरके लिये तप किया। २।

टिप्पणी—१ 'नारद कर मैं काह बेगारा। …' इति। (क) विधिकी निंदा करके अब नारदकी निन्दा करती हैं, क्योंकि विधि तो कर्मका फल देते हैं; उनका दोष ही क्या? जिसके लिये तप किया गया, विधिने उसकी प्राप्ति कर दी। कर्म (तप) करानेके हेतु नारदजी ही हैं, इन्हींने तप करवाया जैसा वे स्वयं आगे कहती हैं। [(ख) 'काह बेगारा' का भाव कि जो कोई किसीको हानि पहुँचावे तो बदलेमें यदि उसको हानि पहुँचाई जाने तो अपराध नहीं माना जाता, कोई दोष नहीं देता; पर मैंने तो नारदजीका कुछ बिगाड़ा नहीं, तब उन्होंने हमसे काहेका बदला लिया कि हमारा अनर्थ किया?]। (ग) 'भवन मोर…' इति। इस कथनसे जान पड़ता है कि मेनाजीको यह निश्चय विश्वास हो गया है कि अब घर न बचेगा। 'भवनका उजाड़ना' कहनेमें भाव यह है कि सप्तर्षियोंका वाक्य सुन चुकी हैं कि नारदके सिखावनसे घर नष्ट होता है; यथा 'नारद सिख जे सुनहिं नर नारी। अवसि होहिं तजि भवनु भिखारी। १। ७९।'—(सप्तर्षियोंके वाक्य मेनाजीने सुने हैं इसका प्रमाण नहीं मिलता, यह अनुमानही होगा। पर यह कह सकते हैं कि मेनाजी नारदजीका स्वभाव जानती हैं और जो कह रही हैं वह भी जानती हैं। यह बात पार्वतीमंगलसे भी सिद्ध होती है)।—और व्याह न होनेसे बाराती घर अवश्य लूट लेंगे यह मेनाजीको निश्चय है जैसा कि 'घर जाउ …' उपर्युक्त वचनोंसे स्पष्ट है।—यही विचारकर कहती हैं कि नारदने मेरा घर उजाड़ा। तप कराकर बावले वरको ला मिलाया जिससे घर बचना कठिन है। (घ) 'बसत' का भाव कि घर संपूर्ण पदार्थोंसे संपन्न है, यदि घरमें कुछ न होता तो इतना दुःख न होता। इन्होंने तो बसा-बसाया घर उजाड़ा।

२ 'अस उपदेसु…' इति। (क) यथा 'जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी। जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं। १। ७०।'—[☞ जो प्रथम अर्धालीमें कहा था कि 'नारद कर मैं काह बेगारा' उसीको अगली तीन अर्धालियोंमें स्पष्ट करती हैं कि मैंने कुछ नहीं बिगाड़ा, उन्होंने व्यर्थ ही, अकारण ही हमारा घर उजाड़ा, हमारी लड़कीसे वृथा ही बावले वरके लिये तप करवाया, हमारी लड़कीका जन्म बिगाड़ा। (ख) 'बौरे बरहि…' का भाव कि ऐसा वर मुफ्त भी मिलता तो भी मैं उसे अपनी कन्या न व्याहती, सो उसके लिये उन्हींने उसे तपका उपदेश दिया, जिसमें उनका चाहा-चेता टल न सके। ☞ यहाँ 'बरबस बबूरहि लागई' का भाव स्पष्ट कर दिया है।] (ग) ब्रह्माने बावला वर बनाया, अतः प्रथम ब्रह्माका बुरा भला कहा था, यथा 'कस कीन्ह बर बौराह…'। और नारदजीने तप करवाया, अतः इनकी भी निन्दा की।

* कहा—छ०। काह—१६६१, १७२१, १७६२। ‡ बिगारा—प्रायः औरोंमें। बेगारा—१६६१। † जेहि—१७०४।

साचेहु उन्ह कें मोह न माया। उदासीन धनु धामु न जाया॥ ३॥
पर-घर घालक लाज न भीरा। बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा॥ ४॥

शब्दार्थ—मोह=प्रीति। माया=कृपा, दया। यथा 'माया दम्भे कृपायां च।' जाया=विवाहिता स्त्री, विशेषत वह जो बच्चा जन चुकी हो। यथा 'तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुन इति श्रुति।' जिसमें पुरुष फिर पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है वही स्त्री 'जाया' कहलाती है। इसका एक अर्थ 'संतान' भी होता है। घालक=नाशक, नाश करने या बिगाड़नेवाले। भीरा=भय, डर। बाँझ=वह स्त्री जिसके बच्चा न होता हो; वन्ध्या। प्रसव=बच्चा जननेवाली, प्रसूति।=बच्चा जननेकी क्रिया। पीरा (सं० पीडा)=पीड़ा, दर्द, कष्ट।

अर्थ—सत्यही उनके मोह है न माया (या, मायामोह नहीं है)। न शत्रु है न मित्र, न धन है न धाम और न स्त्री पुत्र ही। ३। वे पराया घर उजाड़नेवाले हैं, उनको न लज्जा है न भय। भला बाँझ प्रसवकी पीड़ाको क्या जाने?। ४।

टिप्पणी—१ 'साचेहु उन्हकें मोह न' इति। (क) 'साचेहु' कहकर जनाया कि जब सप्तर्षियोंकी कहनी सुनी थी कि नारदके मोह माया नहीं है तब उनकी बात सत्य न मानी थी, इसीसे अब कहती हैं कि 'साचेहु' अर्थात् यह बात सत्य साबित हुई।—(पर इसका क्या प्रमाण है कि प्रेमपरीक्षार्थी गुप्त बातें सप्तर्षियों या गिरिजाजीने मातासे कहीं? मेरी समझमें नारदमुनिका यह स्वभाव सब जानते ही हैं, वैसेही मेनाजीभी सुनती या जानती रही हैं पर अब स्वयं उसका अनुभव हुआ, अपनेही ऊपर बीत रही है; अत वे कहती हैं कि 'साचेहु' अर्थात् अभीतक तो सुना ही था अब जान गई कि जो सब कहते हैं वह सत्यही है)। (ख) 'मोह न माया' इति। भाव कि उन्होंने इतनी छोटी और सुकुमार कन्यासे तप कराया और वह भी बावले वरके लिये, यदि उनके हृदयमें प्रेमका अङ्कुर होता तो ऐसा कदापि न करते। माया, कृपा, दयाभी नहीं है, यदि होती तो जब हमने उमाको लेजाकर चरणोंपर डाल दिया था, यथा 'सुता बोलि मेली मुनि चरना।' तब तो दया लग आनी थी। आगे मोहमाया न होनेका कारण स्वयं कहती हैं (ग) 'उदासीन धनु धामु न जाया' इति। 'उदासीन' से भाव यह कि अलेमास नहीं हैं, उनमें भलमसाहत है ही नहीं, नगोंके समान हैं, यदि भलेमास होते तो अच्छेके यहाँ ब्याह कराते। 'धनु धाम' का भाव कि धन धाम स्त्रीमें मोह माया होती ही है, पर इनके ये तीनों नहीं हैं, तब माया मोह कहाँसे हो? अपने धन, धाम, स्त्री नहीं हैं, इसीसे 'परघरघालक' हैं, पराया घर उजाड़ा करते हैं, सबको अपनासा बनाना चाहते हैं, यथा 'आपु सरिस सबही चह कीन्हा। १। ७९।' ☞'साचेहु उन्ह के जाया' यह बावले वरके लिये तप करानेका कारण बताया और आगे 'परघरघालक' में भवन उजाड़नेका हेतु कहती हैं।

२ 'पर घर घालक' इति। (क) 'दच्छसुतन्ह उपदेसेन्हि जाई। तिन्ह फिरि भवन न देखा आई। चित्रकेतु कर घर उन्ह घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला। १।७९।' तथा 'भवन मोर जिन्ह बसत उजारा।' के सम्बन्धसे 'पर घर घालक' कहा। पूर्व औरोंसे तथा पुराणों इतिहासोंमें सुना था और अब स्वयं भी अनुभव किया। (ख) 'लाज न भीरा' इति। अर्थात् लज्जा नहीं है कि कोई कुछ एवं क्या कहेगा? डर नहीं है कि लोक परलोक बिगड़ेगा। (विरक्त हैं, उदासीन हैं, धन धाम स्त्री पुत्र कुछ हैंही नहीं अत नंगापन करनेमें डर नहीं है कि कोई हमारा बिगाड़ना चाहे तो बिगाड़ेगा क्या? लज्जा नहीं है' कहनेमें भाव यह भी है कि ब्रह्माजीने एवं दक्षने शाप भी दिया तब भी परघरघालनेका स्वभाव न छोड़ा ऐसे निर्लज्ज हैं)। (ग) 'बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा' इति। अर्थात् घर होता तो घर बिगड़नेकी पीर भी जानते। [पुन भाव कि स्त्री होती और उससे कोई कन्या होती तब उसको यदि ऐसा वर मिलता तो भलेही जान पड़ता कि माता पिता को कैसा दु ख होता है, तभी दूसरेके दु खको समझते, फिर ऐसा उपदेश कभी न देते। इस चरणमें काकोक्ति द्वारा कण्ठध्वनिसे विपरीत अर्थ भासित होनेसे यहाँ 'वक्रोक्ति अलंकार' है अर्थात् वंध्या स्त्री प्रसव

वेदनाको नहीं जान सकती, उसका अनुभव हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसके संतान कभी होती नहीं, जिसपर पड़े वही जान सकता है।]

नोट—पार्वतीमंगलमेंभी मेनाजीके ऐसेही वचन हैं। वहाँ सप्तर्षियोंकोभी लथाड़ा है। यथा—'नारद के उपदेस कवन घर गे नहि। ६६। घरघालक चालक कलह प्रिय कहियत परम परमारथी। तैसी बरेखी कीन्हि पुनि मुनि सात स्वारथ सारथी। उर लाइ उमहि अनेक विधि जलपति जननि दुख मानई। ६७।'

जननिहि बिकल बिलोकि भवानी। बोली जुत बिबेक मृदु बानी ॥५॥
अस बिचारि सोचहि मति माता। सो न टरै* जो रचै बिधाता ॥६॥

शब्दार्थ—मति=मत, नहीं, न। रचना=विधान करना, निश्चित करना, लिखना।

अर्थ—माताको व्याकुल देखकर भवानी (श्रीपार्वतीजी) विवेकयुक्त कोमल वाणी बोलीं। ५। हे माता! जो विधाता निश्चित कर देता है वह टलता नहीं—ऐसा विचार कर शोच न कीजिए। ६।

टिप्पणी—१ 'जननिहि बिकल बिलोकि···' इति। (क) मेनाजीको विकल देखकर सब स्त्रियाँ विकल हो गई थीं। 'जननिहि' कहकर जनाया कि औरोंको व्याकुल देखकर नहीं वरंच जननी' को व्याकुल देखकर बोलीं। (कारण कि और सब तो मेनाजीकी व्याकुलतासे व्याकुल थीं। जब उनकी व्याकुलता जाती रहेगी तब और सब तो स्वयंही शान्त हो जायँगी)। (ख) 'भवानी' नाम देनेके भाव ये हैं—(१) यद्यपि ये कन्या हैं और माता आदि सभी व्याकुल हैं तथापि ये किंचितभी व्याकुल नहीं हैं। सबकी शिवजीमें अप्रीति है पर इनका प्रेम जैसाका तैसा दृढ़ बना हुआ है। ये जानती है कि हम शिवपत्नी थीं और अबभी वेही हमारे पति होंगे, इसलिए कविने 'भवानी' अर्थात् भवपत्नी कहा। (२) भला बचा माँको क्या ज्ञानोपदेश करेगा? और यहाँ ये ज्ञानोपदेशके वचन कह रही हैं, अतः कवि प्रथमही समाधानकेलिये 'भवानी बोली' कहकर तब उनके वचन कहते हैं। अर्थात् ये तो भवपत्नी हैं, लीलामात्रकेलिये ये मेनाजीकी पुत्री हुई हैं, नहीं तो ये तो 'सदा संभु अरधंग निवासिनी' हैं। (ग) 'जुत बिबेक' इति। वाणीको यह विशेषण देकर जनाया कि और सब स्त्रियाँ अज्ञानी हैं, इसीसे वे सब मेनाजीको विकल देख स्वयंही विकल होगईं; यथा 'भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि।'; किसीको ज्ञान नहीं है कि मेनाजीको समझाकर उनका शोच दूर करतीं। भवानी व्याकुल नहीं हुईं क्योंकि इनको विवेक है। पुनः, भाव कि 'विवेकमय' वचनोंसे शोक और व्याकुलता दोनोंही दूर होते हैं; यथा 'सोक निवारेउ सबहि कर निज बिज्ञान प्रकास। २.१५६।', 'कहि प्रिय बचन बिबेकमय कीन्ह मातु परितोषु। २.६०।' अतः 'विवेकयुत' वचन बोलीं। [(घ) भवानीके बोलनेका एक कारण तो स्पष्टही है कि सभी स्त्रियाँ व्याकुल हैं, कोईभी सावधान नहीं हैं जो माताको समझातीं। दूसरा कारण यह कहा जाता है कि जब तक माता ब्रह्माको दोष देती रहीं तबतक आप न बोलीं, परन्तु जब नारदजीको बुराभला कहने लगीं तब बोलना आवश्यक हो गया,क्योंकि गुरुकी निंदा सुनना पाप है। यदि आपही सुनती रहतीं तो जगत्में फिर गुरुमर्यादा कैसे रहती? श्रीसीतास्वयंवरमेंभी माता सुनयनाजी बहुतही विह्वल होगई थीं, परन्तु वहाँ उनकी एक सखी बड़ी सयानी थी, उसने उनको समझा लिया था]

२ 'अस बिचारि सोचहि मति ' इति। (क) 'विचार' का भाव कि विचारि करनेपर शोच जाता रहता है, अतएव मेरे वचनोंपर विचार करो। (ख) 'सो न टरै···'—आगेकी चौपाईमें देखिये। यहाँ लिखा है—'जो रचै विधाता' और आगे कहते हैं 'करम लिखा जो।' इस तरह ' रचने' का अर्थ 'लिखना' स्पष्ट कर दिया ।

करम लिखा जौं बाउर नाहू। तौ कत दोसु लगाइअ काहू ॥ ७ ॥
तुम्ह सन मिटहि कि बिधि † के अंका। मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलंका ॥८॥

* मिटै—१७०४। † कर—१७०४। कै—को० रा०। के—१६६१, १७२१, १७६२

शब्दार्थ—कत=क्यों, किसलिये। सन=से। अंक=रेखा, लेख, अक्षर। कलंक=अपयश, धब्बा, बदनामी, दोष। नाहू (सं० नाथ)=स्वामी, पति, यथा 'नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी। २.१४० ।'

अर्थ—जो हमारे कर्म (भाग्य) में बावलाही पति लिखा है तो किसलिये किसीको दोष लगाया जाय (एवं लगाती हो) ? । ७। विधाताके लिखे हुए अंक क्या तुमसे मिट सकते हैं ? (अर्थात् कदापि नहीं मिट सकते)। हे माता ! व्यर्थही अपने ऊपर कलंक मत लो। ८।

टिप्पणी—१ (क) 'करम'=लिलार, ललाट, (भाग्य), यथा 'दुख सुख जो लिखा लिलार हमरे ।' मेनाजीने नारदजीको दोष लगाया कि 'अस उपदेसु उमहि जिन्ह दीन्हा। ', इसीपर कहती हैं कि 'करम लिखा जौं ... कत दोसु लगाइअ काहू।' तात्पर्य कि इसमें हमारे कर्मका दोष है, नारदजीका नहीं। यथा 'कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू। २।२८२।' पुनः भाव कि तुमही कहती हो कि 'जेहि बिधि तुम्हहि रूपु अस दीन्हा। तेहि जड़ बरु बाउर कस कीन्हा।' (अर्थात् यह सिद्धान्त तुम जानती हो और यहभी जानती हो कि विधिने ऐसा वर लिखा है तब व्यर्थ किसीको दोष क्यों लगाती हो ?) [(ख) 'तुम्ह सन मिटहि कि' इति। 'सो न टरै जो रचै बिधाता', 'करम लिखा जौ बाउर नाहू' और 'तुम्ह सन मिटहि कि बिधि के अंका' कहकर माताको नारदजीके पूर्व वचनोंका स्मरण कराती हैं।—'कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार। ६८।', जस बरु मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहि उमहि तस संसय नाहीं', 'जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष। अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख। ६७।' अर्थात् उन्होंने विधाताका लिखा हमारे भाग्यमें जो है वह बता दिया था। तब नारदमुनिका इसमें दोष क्या ? तुम उनके वचन भूल गई हो, सो मैं याद दिलाती हूँ। वे तो प्रथमही कह चुके हैं कि 'हस्त असि रेख' अर्थात् 'विधिके अंक' ऐसेही पड़े हैं।—यह नारद सिद्धान्त है कि 'विधिके अंक नहीं मिटते' अतः 'करम लिखा जौ बाउर नाहू' अर्थात् विधाताने हमारे भाग्यमें ऐसाही पति लिखा है यह कहकर अब कहती हैं कि 'तुम्ह सन मिटहि कि ?'।] अर्थात् तुम्हारे मिटाये विधिके अंक नहीं मिटेंगे, तुम जो विधाताके अंक मेटनेको कह रही हो, यह हो नहीं सकता। 'जीवत बिवाहु न हौं करौं' यही विधाताके लिखे अंकोंका मिटाना है, सो यह हो नहीं सकता। मेनाजीने जो कहा था कि 'कस कीन्ह बरु बौराह बिबाह न हौ करौं' उसीपर कहा कि 'तुम्ह सन मिटहि कि बिधि के अंका', और जो माताने कहा था कि 'घर जाउ अपजसु होउ' उसपर कहती हैं कि 'व्यर्थ जनि लेहु कलंका।'

नोट—'व्यर्थ जनि लेहु कलंका' इति। भाव कि पर्वतपरसे गिरने, अग्निमें जलने या समुद्रमें डूबने से सब तुम्हींको दोष देंगे, बुरा भला कहेंगे। नारदजी एवं विधाताको कोई दोष न देगा और न उनका कोई दोष है, क्योंकि विधाता कर्मोंके अनुसार लिख देता है, यथा 'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता। २।२८२।', हमारे कर्मोंके अनुसार उसने हमारा पति लिख दिया। अतः विधाताका दोष नहीं। और नारदजीने लिखा हुआ सुना दिया, जैसा होना है वह बता दिया, अतः उनकाभी दोष नहीं। जब अपनेही कर्मोंका दोष है तब उनको बुरा कहनेसे तुमको कोई अच्छा न कहेगा। 'व्यर्थ' से यहभी जनाया कि ब्याह तो होनाही है और वरभी यही मिलना है, हाय हाय करनेपरभी कुछ और नहीं हो सकता। लोग तुमकोही कलंक लगायेंगे कि बहुत रो पीटकर करही क्या लिया ?

छंद—जनि लेहु मातु कलंकु करुना परिहरहु अवसरु नहीं।
दुखु सुखु जो लिखा लिलार हमरें जाब जहँ पाउब तहीं॥
सुनि उमा बचन बिनीत कोमल सकल अबला सोचहीं।
बहु भाँति बिधिहि लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं॥

शब्दार्थ—करुणा=मनका वह विकार जिससे पराये दुःखको देखकर दुःख होता है। पर यहाँ 'करुणा' से करुणाका कार्य 'शोक, दुःख, विलाप, रोना पीटना' अर्थ गृहीत है; यथा 'जनि अबला जिमि करुना करहू' (कैकेयीवाक्य दशरथंप्रति। २. ३५)।

अर्थ—हे माता! कलंक मत लो, रोनाधोना छोड़ो, यह अवसर शोकका नहीं है। हमारे ललाटमें जो दुःख-सुख लिखा है वह जहाँही मैं जाऊँगी वहाँही मुझे मिलेगा। उमाजीके बहुत नम्र, विनययुक्त और कोमल वचन सुनकर सब स्त्रियाँ शोच एवं सोचविचार करने लगीं और विधाताको बहुत प्रकारसे दोष लगा लगाकर नेत्रोंसे आँसू गिराने लगीं।

टिप्पणी—१ 'जनि लेहु कलंकु' इति। (क) मेनाजी विलाप करके रोती हैं; यथा 'करि बिलाप रोदति बदति', इसीपर कहती हैं कि 'करुना परिहरहु अवसरु नाहीं'। अर्थात् यह मंगलका अवसर है, न कि करुणाका। (करुणाका अवसर तो तभी था जब नारदसे पहिले पहल समाचार सुना था। वि० त्रि०)। यही कवि आगे कहते हैं— लगे होन पुर मंगल गाना'। (ख) 'दुखु-सुखु जो लिखा' इति। प्रथम दुःखकी उत्पत्ति है पीछे सुखकी (और इस समय तो दुःख सिरपर पड़ा है) इसीसे प्रथम 'दुःख' कहा। दुःख-सुख दोनों कहनेका भाव कि ये दोनों साथही रहते हैं, कहीं भी जीव जाय, दोनों मिलते हैं। कहीं ऐसा नियम नहीं है कि यहाँ सुखही मिलेगा या दुःखही मिलेगा; यथा 'जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा॥ काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥ २।१५०।' (ग) 'सुनि उमा बचन बिनीत' इति। मेनाजी विलाप करके विकल हुईं; यथा 'करि बिलाप जननी बिकल अवलोकि', तब स्त्रियाँ भी विकल हुईं। उमाजीने सोचकर विवेकयुत विनम्र वचन कहे कि 'दुखसुख जो लिखा'। इसीसे सब स्त्रियाँ सोचको प्राप्त हुईं। [पुनः, 'सोचहिं'=विचार करने लगीं। अर्थात् विचारती हैं कि धन्य है यह कन्या! है तो यह बालिका, पर इसकी बुद्धि सयानोंसे भी अच्छी है। जो यह कहती है सो सत्यही है। नारदका क्या दोष? उन्होंने तो प्रथमही कह दिया था कि जो 'बिधि लिखा लिलार' उसके अनुसार वर ऐसा अवश्य मिलेगा। दोष है तो विधिहीका न कि नारदका। यह भाव आगेके 'बिधिहि लगाइ दूषन' से भी सिद्ध होता है। अर्थात् वे अब नारदको दोष नहीं देतीं। पंजाबीजीका मत है कि स्त्रियाँ पार्वतीजीके वाक्योंको सुनकर 'सोचहिं' अर्थात् चिन्ता करती हैं कि ऐसी सुन्दर और बुद्धिमान कन्याको पति कैसा अयोग्य मिला है, विधातापर इसका दोष धरकर सब रुदन करती हैं] (घ) 'बहु भाँति' इति। बहुत भाँति दूषण लगाती हैं; यथा 'सहित बिषाद परसपर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं॥ निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहिं ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥ रूख कलपतरु सागरु खारा॥ २।११९।' इत्यादिही बहुत प्रकार हैं। विधि होकर इसने ये ये 'अविधि' कार्य किये। (ङ) 'बिधि' को दोष लगानेका भाव कि माताने विधि और नारद दोनोंको दोष लगाया। पार्वतीजीने माताको मना किया—'जनि दोषु लगाइअ काहू' यह समझकर स्त्रियाँ विधिको दोष देती हैं, क्योंकि पार्वतीजीने विधिके लिखनेका प्रमाण रक्खा है—'करम लिखा जो', 'जो बिधि लिखा लिलार'।

दोहा—तेहि अवसर नारद सहित अरु रिषिसप्त समेत।
समाचार सुनि तुहिनगिरि गवने तुरत निकेत॥ ९७॥

शब्दार्थ—तुहिन=पाला, तुषार, हिम। तुहिनगिरि=हिमाचल।

अर्थ—यह समाचार सुनतेही तुरंत उसी समय नारदमुनि सहित और सप्तर्षियोंको भी साथ लिये हुये हिमाचलराज घरमें गए। ९७।

लमगोड़ाजी—किस कुशलतासे करुणरसके प्रवाहको शान्तरसकी ओर फेरा है!! माताको भावी पर संतुष्ट होनेका उपदेश, पातिव्रत्य धर्मकी ओर संकेत जिस रूपमें यहाँ है, वही रूप दुःखी माताके

सामने ठीक था।

नोट—१ यहाँ 'सहित' और 'समेत' दो शब्द पर्यायवाची देकर सूचित किया कि केवल नारदजी कोही नहीं घरमें ले गए किन्तु सप्तर्षियोंकोभी साथ ले गए। सप्तर्षियोंकाभी साथ ले जाना आवश्यक दिखाया। इसी कारण इनके लिए एक शब्द ('समेत') अधिक दिया और जनाया कि केवल नारद मुनिके साथ जानेमें काम न चलेगा। पुनः, 'सहित' शब्दसे यहभी भाव लिया जा सकता है कि 'स + हित' अर्थात् हित मित्रों समेत' वा 'प्रेमसमेत नारदको सप्तर्षि समेत'। आदर प्रेमसहित नारदजीको साथ लेजाना कहकर जनाया कि स्त्रियाँ इनको दोष लगा रही हैं पर हिमाचल दोष न देकर इनका आदर कर रहे हैं। पुनः, दो पर्याय शब्द देनेका भाव यहभी हो सकता है कि नारदजीको लेकर जारहे थे कि इतनेमेंही सप्तर्षिभी आ गए तब उनकोभी साथ ले लिया। पर इसका प्रमाण अभी कोई मिला नहीं है।

२ 'नारद सहित अरु रिषि सप्त समेत' इति। नारदजीको साथ ले आनेका भाव यह है कि स्त्रियाँ इनको दोष दे रही हैं, इसलिये ये ही इनको समझावें। दूसरे यह कि समझानेमें नारदजी बड़े प्रवीण हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं, इनके समान समझाना किसीसे नहीं बन पड़ता। और सप्तर्षियोंको साथ इसलिए लाए कि स्त्रियोंका इस समय नारदपर विश्वास नहीं है फिर प्रत्येक मनुष्य अपना समर्थन करता ही है परन्तु सात बड़े बड़े महर्षि महात्माभी यही बात कहेंगे तब विश्वास हो जायगा। तीसरे, (प० रामकुमारजीके मतानुसार) 'सप्तर्षियोंको साथ इससे लाये कि इन्होंने नारदजीकी निंदा की थी।' अतः अब नारदजीके वचनोंसे, उनके समझानेसे मेनाको बोध न होगा न संतोष होगा, उनके वचनोंपर इनकी प्रतीति नहीं होनेकी। जब सप्तर्षियोंके सामने नारदजी मेनाजीको समझायेंगे और सप्तर्षि उनके वचनोंमें अपनी सहानुभूति दिखावेंगे, उनके वचनोंमें सहमत होते जायँगे तब विश्वास होगा कि ये सत्य कह रहे हैं, इनका कुछ भी दोष नहीं है। नारद सफाई देंगे, सप्तर्षि उनके गवाह या साक्षी होंगे। चौथे यह कि सप्तर्षि 'बरेखी' करने आए थे, उन्होंने हिमाचलको पार्वतीजीके ब्याहकी तैयारी करनेको कहा और लग्न धरवाई थी, इससे उनको भी मेनाजी दोषी समझती हैं, यथा—'तैसी बरेषी कीन्हि पुनि मुनि सात स्वारथ सारथी।' (पार्वतीमंगल ६७)। अतः दोनों मुलजिमोंको साथ लाये कि दोनों समझावें।

तब नारद सबही समुझावा। पूरुब कथा प्रसंगु सुनावा॥ १॥
मयना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी॥ २॥
अजा अनादि शक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥ ३॥
जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥ ४॥
जनमीं प्रथम दच्छगृह जाई। नामु सती सुंदर तनु पाई॥ ५॥
तहहुँ सती संकरहि बिबाहीं। कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—अजा=अजन्मा अर्थात् कारणरहित स्वइच्छित जन्म लेनेवाली। अबिनासिनि=नाश रहित। अर्थात् मोहादि कारणोंसे आत्मस्वरूप नहीं भूल सकती, किन्तु जिनका ज्ञान सदा एकरस बना रहता है (वैजनाथजी)।

अर्थ—तब नारदजीने सबको समझाया। पूर्व-जन्म कथाका प्रसंग सुनाया। १। (वे बोले) हे मैना! सत्य सत्य हमारी बात सुनो, तुम्हारी बेटी जगन्माता भवानी (शिवपत्नी) हैं। २। अजन्मा, अनादि शक्ति और अविनाशिनी हैं। सदा श्रीशिवजीके अर्धाङ्गमें निवास करनेवाली अर्थात् उनकी अर्द्धाङ्गिनी हैं। ३। जगत्‌को उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाली हैं। अपनी इच्छासे लीला शरीर धारण करनेवाली हैं। ४। पहिले दक्षके घर जाकर इन्होंने जन्म लिया (उस समय इनका) नाम सती था। इन्होंने

सुंदर शरीर पाया था। ५। वहाँ भी सतीने शंकरहीको व्याहा था (एवं सतीजी शङ्करको व्याही गई थीं)। यह कथा सारे संसारमें प्रसिद्ध है। ६।

नोट—१ 'तब नारद सबही समुझावा।०' इति। केवल नारदजीने समझाया, सप्तर्षियोंने नहीं; इसका एक कारण यह है कि पूर्व इन्होंने गिरिजाजीका भविष्य और वर्तमान मेना और हिमाचलको सुनाया था यद्यपि हिमाचलने इनको त्रिकालज्ञ कहकर 'भूत' कालभी पूछा था। उस समय 'भूत' कालका चरित सुनाने का अवसर न था, क्योंकि उसमें ऐश्वर्य भरा है। उसके सुननेसे माधुर्यमें दंपतिको इनके पालन पोषण आदि का यथार्थ सुख न प्राप्त होता। अब उस प्रसंगके सुनानेका अवसर है। पुनः, पूर्वप्रसंग सुनानेका भाव कि नारदजीने पूर्व कर्मगति 'जो विधि लिखा लिलार' कहकर समझाया था; परन्तु इस समय इनको उससे धैर्य और सन्तोष नहीं हो सकता था क्योंकि वे विधाताको भी तो दोष देही रही हैं। अतएव पूर्वका ऐश्वर्य-मय प्रसंग कहकर धैर्य देंगे। (ख) 'सबही' का भाव कि भवानीने केवल माताको समझाया था और इन्होंने सबको समझाया, मेना तथा सब स्त्रियों आदिको जो वहाँ उपस्थित थीं। कैसे समझाया यह दूसरे चरणमें कहते हैं। पूरुब कथा०' अर्थात् पूर्व सती तनकी कथाका प्रसंग सुनाया। आगे जैसा सुनाया सो कहते हैं।

टिप्पणी—१ 'मयना सत्य सुनहु मम बानी।०' इति। (क) यहाँ मेनाजी ही मुख्य हैं। इन्हींकी विकलतासे औरोंकी विकलता है। यथा 'भईं विकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि'। इनको बोध हो जानेसे और सब स्वयं शान्त हो जायँगी, इसीसे इन्हींको सम्बोधन करके कहते हैं। 'सत्य सुनहु मम बानी' कथनका भाव कि नारदके वचनमें मेनाजीको विश्वास नहीं है, इसीसे वे कहते हैं कि हमारा वचन सत्य है, हम झूठ नहीं बोलते। अथवा, तुम्हारे समझानेके लिये हम बात बनाकर नहीं कहते, हम सत्य ही कहते हैं। वा. उमाका ऐश्वर्य कहना चाहते हैं, इनको इसमें विश्वास दिलानेके लिए 'सत्य'—पद दिया। (पहिले जो कहा था उस वाणीमें कौतुकका पुट था। सत्य बातको गुप्त रक्खा था। वि० त्रि०)। (ख) 'जगदंबा तव सुता भवानी' इति। जगन्माता और शिवपत्नी हैं। पुनः, भवानी इनका नाम है और ये जगत्‌की माता हैं; यह ऐश्वर्य कहा। 'सुता तुम्हारि' अर्थात् ये ही तुम्हारी सुता हैं; यह माधुर्य कहा, यथा 'जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की।' में श्रीजानकीजीकी माधुर्यमें स्तुति है। (ग) 'अजा अनादि-शक्ति अबिनासिनि।' इति। इनका जन्म नहीं होता, इसीसे आदि रहित हैं, इनका नाश नहीं इसीसे अन्तरहित हैं, यथा 'नहि तव आदि अंत अवसाना'। शक्ति कहकर दूसरे चरणमें बताते हैं कि किसकी शक्ति हैं,—'सदा संभु अरधंग निवासिनि'। [अर्थात् शिवजीका नित्य संयोग इनको प्राप्त है। तुम्हारे देखनेमें ये अलग जान पड़ती हैं पर वस्तुतः शंभुसे इनका वियोग किसी कालमें नहीं है। इससे यह शंका जीमें हो सकती है कि 'यदि उनको नित्य संयोग है और इनका जन्म तथा विनाश इत्यादि नहीं होते तो हमारे यहाँ जन्म कैसे हुआ ? इसके निवारणार्थ 'निज इच्छा लीला बपु धारिनि' कहा। अर्थात् अपनी इच्छासे जब जब लीला करना चाहती हैं 'तब तब शरीर धारण करती रहती हैं। 'अजा अनादि शक्ति अबिनासिनि' कहकर इनको 'चिच्छक्ति' रूपा जनाया]।

२ (क) 'जग संभव पालन लय कारिनि।०' इति। सदा 'संभु अरधंग निवासिनि' कहकर उत्पत्ति पालन संहार करना कहनेका भाव कि माया ईश्वरसे मिलकर उत्पत्ति आदि कर्म करती है। अर्थात् प्रकृति पुरुषसे मिलकर जगत्‌का व्यवहार करती है। जगत्‌की उत्पत्ति पालन संहार करती है अर्थात् यही ब्रह्मा, विष्णु, महेश बनाती है; प्रधान माया त्रिगुण धारण करनेसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहलाती है। (ख) 'निज इच्छा लीला बपु धारिनि' अर्थात् इनका शरीर धारण करना कर्मके वशसे नहीं होता, इनका शरीर 'लीला बपु' है, पाञ्चभौतिक नहीं है। यह कहकर आगे बपु धरना कहते हैं। [जिस तरह श्रीशंकरजीमें भगवान्‌के आवेशावतार होनेके कारण शास्त्रोंमें ईश्वरत्व प्रतिपादन किया गया है उसी तरह श्रीपार्वतीजीमें

भी भगवच्छक्तिके आवेश होनेसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि करनेका निरूपण किया जाता है। (वेदान्तभूषण प० रामकुमारदासजी)]

बाबा हरिदासजी (शीला)—'तब नारद सबही समुझावा' इति। जब श्रीशिवजीका कुवेष देख मेना आदि सब व्याकुल हुए तब नारदजीने श्रीशिवजीका परत्व कहकर सबको समझाया कि ये विश्वात्मा सर्वजीवोंके हृदय हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकाररूप सब इनके अधीन हैं, ये मलिन नहीं हैं, सदा एकरस दुःखसुखातीत हैं, इसीसे वे स्वतन्त्र हैं। ऐसे समझाकर तब 'पूरुब कथा प्रसंग' सुनाया। 'पूरुब' अर्थात् प्रकाशमयी कथा कही जो आगे कहते हैं। भवानी अर्थात् भव (संसार) में आनि अर्थात् अरिता (शत्रुता) है, रामचरितरूपी औषधिको प्रकट करनेवाली है जिससे भवरोगका नाश होगा। अजा अर्थात् अज जो ब्रह्म उसकी अनादिशक्ति है। अविनाशिनी है अर्थात् यावत् देव, दैत्य, राक्षस, नरादि जो समस्त जीव त्रैलोक्यमें हैं वे इन्हींकी शक्तिसे डोलते फिरते अर्थात् चैतन्य हैं, ब्रह्म प्रकाशक हैं और ये चैतन्य करनेवाली हैं।'

टिप्पणी—३ (क) 'जनमीं प्रथम दच्छगृह जाई।०' इति। प्रथमका भाव कि तुम्हारेही यहाँ नहीं प्रथम जन्म लिया किन्तु तुम्हारे यहाँसे पहले दक्षके घर जन्म लिया था। 'जाई' का भाव कि अपनी इच्छासे अवतार लिया। 'निज इच्छा लीला बपु' धारण किया, इसीसे सुंदर तन है, यथा 'इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे। १५२। १।', 'कामरूप सुंदर तनु धारी। ६४। ५।', 'हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा। ७। ८।' इत्यादि। पुनः 'सुंदर तनु पाइ' कथनका भाव कि मेनाजी यह कहती थीं कि 'जेहि बिधि तुम्हहि रूपु अस दीन्हा। तेहि जड़ बरु बाउर कस कीन्हा।' इसी बातको भावसे कहते हैं कि दक्षके यहाँ भी इनका सुन्दर तन था, वहाँ भी सती शंकरजीको ब्याही गई थीं। (ख) ☞ यहाँ तक भवानीके नाम, रूप, लीला और धाम चारों कहे। 'अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि' यह नाम है, 'सदा संभु अरधंग निवासिनि' यह धाम है, 'जग संभव पालन लय कारिनि' यह लीला है और 'निज इच्छा लीला बपु धारिनि' यह रूप है।—यह निर्गुणस्वरूपके सम्बन्धसे कहे, आगे सगुणरूपके सम्बन्धी ये चारों कहे हैं—'जनमीं प्रथम दच्छगृह जाई' यह धाम, 'नाम सती' यह नाम, 'सुंदर तनु पाई' यह रूप और आगे 'एक बार आवत सिवसंगा' से 'अब जनमि तुम्हरे भवन' तक लीला है। (ग) 'तहहुँ सती संकरहि बिबाहीं' अर्थात् किसी भी जन्ममें शिवजीसे वियोग नहीं होता। (घ) 'कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीं।' अर्थात् सब जानते हैं, अतएव इसके कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। जो कथा प्रसिद्ध नहीं है सो हम सुनाते हैं,—'एक बार आवत०'।

नोट—१ सती जन्म सती तनत्याग, वीरभद्रद्वारा दक्षयज्ञविध्वंस और पार्वतीजन्मकी कथाएँ श्रीमद्भागवत स्कंध ४ अ० १ २, ३, ४, ५, ७, *मत्स्यपुराण*, *शिवपुराण*, *सनत्कुमार वायवीय संहिता पूर्व भाग* अ० १८, १९, द्वितीय सतीखंड अ० २५, २६, तथा पद्मपुराण और स्कंद पुराणमें विस्तृतरूपसे हैं। सती मोह, सीतावेषधारण, श्रीरामपरीक्षा और सतीत्यागकी कथा भावार्थरामायण, आनंदरामायण सारकांड सर्ग ७, वीरभद्रचम्पू ग्रन्थ, शिवपुराण रुद्र संहिता सतीखण्ड अ० २४, २५, २६ में हैं। उद्धरण सतीमोह-प्रकरणमें दिये गये हैं। मानसमें सतीमोह प्रसंग 'उर उपजा संदेहु बिसेषी। ५०। ५।' से 'होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा। ५१। ४।' तक है। 'करेहु सो जतन बिबेकु बिचारी। ५२। ३।' से 'मैं संकर कर कहा न माना। ५४। १।' तक सीता वेष धरकर परीक्षा लेने तथा पश्चात्ताप करनेका प्रसंग है।

नोट—२ 'अजा अनादि सक्ति' इत्यादि। मिलान कीजिए—'एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम्। जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम।५६। तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते पतिमम्बिका। अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम्। ६०। भा० ४।७।' अर्थात् दक्षकन्या सतीने अपने पूर्व शरीरको इस प्रकार त्यागकर हिमालयकी भार्या मेनाके कोखसे जन्म लिया। जिस प्रकार प्रलयकालमें लीन हुई शक्ति फिर ईश्वरका

ही आश्रय लेती है, उसी प्रकार अनन्यपरायणा श्रीअम्बिकादेवीने उस जन्ममेंभी अपने एकमात्र आश्रय और प्रियतम भगवान् शंकरकोही वरा।

एक बार आवत शिव संगा। देखेउ रघुकुल* कमल पतंगा ॥ ७ ॥
भएउ मोहु शिव कहा न कीन्हा†। भ्रम बस वेष सीअ कर लीन्हा† ॥ ८ ॥
छंद‡—सिय वेषु सतीं जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरीं।
हर बिरह जाइ बहोरि पितु कें जग्य जोगानल जरीं ॥
अब जनमि तुम्हरें भवन निज पति लागि दारुन तप किआ।
अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्वदा संकर प्रिआ ॥
दोहा—सुनि नारद के बचन तब सब कर मिटा बिषाद।
छन महुँ ब्यापेउ सकल पुर घर घर यह संबाद ॥९८॥

अर्थ—एक बार शिवजीके साथ (कैलासको) आते हुए इन्होंने रघुवंशरूपी कमलके (खिलानेको) सूर्य्य (रूप श्रीरामचन्द्रजी) को देखा। ७। (तब) इनको मोह हुआ। इन्होंने शिवजीका उपदेश न माना और भ्रमके वश होकर श्रीसीताजीका वेष बना लिया था। ८। सतीजीने जो सीताजीका रूप धारण किया उसी अपराधसे श्रीशङ्करजीने उनको त्याग दिया। शिववियोगमें फिर वे पिताके यज्ञमें जाकर योगाग्निमें जल मरीं। अब तुम्हारे घर जन्म लेकर अपने पति (शिवजी) के लिये उन्होंने बड़ा उग्र (कठिन) तप किया। ऐसा जानकर चिन्ता छोड़ो, गिरिजा तो सदाही शिवजीकी प्रिया (पत्नी) हैं। तब नारदके वचन सुनकर सबका शोक मिट गया और क्षणभरमें घर घर सारे नगरमें यह वृत्तान्त फैल गया। ९८।

टिप्पणी—१ (क) 'एक बार आवत शिव संगा०' इति। 'आवत' अर्थात् दण्डकारण्यसे कैलासको आ रहे थे। 'रघुकुलकमल-पतंगा' का भाव कि जैसे सूर्य्यके समीप अन्धकार नहीं जाता वैसेही श्रीरामजीके पास मोह नहीं जाता, यथा 'राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा। ११६।५।' वही बात यहाँ कहते हैं। 'भएउ मोहु शिव कहा न कीन्हा' अर्थात् ये श्रीरामजीमें मोह (आरोपण) करने लगीं कि जहाँ मोह संभवही नहीं था। उनके स्वरूपमें भ्रम किया, यथा 'भ्रमबस वेष सीय कर लीन्हा'। भ्रमभी तिमिर है, यथा 'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा ।११६।४।' (ख) सिय वेषु सती जो कीन्ह०' इति। तात्पर्य कि श्रीरामजीमें मोह और भ्रम करनेसे नहीं त्यागा और न अपनी आज्ञाको भंग करनेसेही त्याग किया, क्योंकि शिवजी क्षमाशील हैं और ईश्वरमें मोह और भ्रम तो बड़े बड़े ज्ञानियोंको हो जाता है, किंतु सीतावेष धारण करनेसे इनका परित्याग किया, क्योंकि शिवजीका सीताजीमें माताभाव है, इत्यादि। (ग) 'हर बिरह जाइ०' इति। 'हरके विरहके कारण योगाग्निमें जल गई' कहनेका भाव कि योगाग्निसे विरहाग्नि अधिक तापदाता है, यथा 'तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई।' (यह श्रीसीताजीने त्रिजटासे कहा है)। पुन, योगाग्निसे शरीर त्याग करना उत्तम रीति है, यथा— 'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा बैकुंठ सिधारा। ३। ९।', 'तजि जोग-पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे। ३। ३६।' ['बहोरि'-शब्दका भाव कोई कोई महानुभाव यह भी कहते हैं कि पहिले विरहानलमें जलती रहीं, फिर यज्ञमें जानेपर क्रोधानलकी आँच लगी तब योगाग्नि प्रकटकर भस्म हो गईं।] 'तपु किया' अर्थात् हमने नहीं करवाया।

टिप्पणी—२ 'अस जानि संसय तजहु०' इति। भाव कि न तो ब्रह्माने इनके लिए बावला वर

* रविकुल—प० रा० व० श०। † कीन्ही, लीन्ही—रा० प्र०, प०। ‡ यह हरिगीतिका छंद है।

बनाया और न हमने इनको बावले वरके लिए तपही कराया, इन्होंने आपही तप किया है। इनका शिव जीका सम्बन्ध कुछ नवीन नहीं है, ये तो सदासे शिवजीकीही प्रिया अर्थात् अनादि शक्ति हैं। इन्होंने अपने पतिके लिए तप किया और शङ्करजी उनका सदा प्रिय करते हैं, यह कहकर दोनोंमें अन्योन्य प्रीति दिखाई। 'अस जानि' अर्थात् जैसा पूर्व कह आए—'जगदम्बा तव सुता भवानी' से 'अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति लागि दारुन तपु किया।' तक। (यह दीपदेहरीन्यायसे दोनों तरफ लगता है।)

३ (क) 'सुनि नारद के वचन तब०' इति। पार्वतीजीके समझानेसे विषाद न गया, क्योंकि वे अपना ऐश्वर्य अपने मुखसे न कह सकती थीं, जब नारदने उनका ऐश्वर्य वर्णन किया तब विषाद मिटा। 'तब नारद सबही समुझावा।' से यहाँ तक नारदके वचन हैं। 'तब नारद०' उपक्रम है और 'सुनि नारदके वचन तब' उपसंहार। [नारद शब्दके अनेक अर्थ हैं पर यहाँ 'नुः इद नारं अज्ञानं द्यति नाशयति ताडयति' नर जीवोंके अज्ञानको मारपीटकर भगाते हैं, इससे नारद कहलाते हैं। यह धात्वर्थ यहाँ चरितार्थ हुआ है। प० प० प्र०।] (ख) 'व्यापेउ सकल पुर घर घर०'। पूर्व दुःखकी बात घर घर व्यापी थी, अब यह संवाद घर घर व्यापा। प्रथम लडकों द्वारा घरघर बात फैली थी, अब भी वैसे ही फैली। पुनः भाव कि घर घरका विषाद दूर हो गया, जो वहाँ उपस्थित थे उनका विषाद नारद वचन सुननेसे चला गया और जो वहाँ नहीं थे उनका (अर्थात् पुरवासियोंका) विषाद यह संवाद घरघर व्याप जानेसे दूर हो गया। पुनः, आदिमें कहा था कि 'नारद सबही समुझावा', अतः अन्तमें यहाँ कहा कि 'सुन कर मिटा विषाद'। भाव कि नारदके वचन सुननेसे विषाद नहीं रह जाता। यहाँ 'भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार' है।

पं० श्रीराजबहादुर लमगोडाजी—नारदजीने सारे महाकाव्यवाले रहस्यको खोल दिया, अब प्रहसन कला शान्तरसके शिखरपर पहुँच गई। तुलसीदासजीका कमाल ही यही है कि वे हर रसको उसके पूरे जोरमें लिखते हैं, पर अंतमें महाकाव्य-कलाके उच्च शिखरपर पहुँचा देते हैं और नाटकीय एवं महाकाव्य कलाका एकीकरण हो जाता है जो संसारमें सफलताके साथ किसी और कविसे बन नहीं पड़ा।

नोट—नारदजीका मेना और हिमाचलको समझाना शिवपुराण पार्वतीखण्डमें है। शिवपुराणमें नारदजीने यह बातें पहलेही बार हिमालयसे कही हैं। यथा 'अनया कन्यया तेऽद्रे अर्द्धनारीश्वरो हरः। २। ३। ८। २९। शरीरार्द्धं हरस्यैषा हरिष्यति सुता तव। ३०।', 'एषा तव सुता काली दक्षजा ह्यभवत्पुरा। ४५। सती नामा भवत्तस्यास्सर्वमङ्गलदा सदा। सती सा वै दक्षकन्या भूत्वा रुद्रप्रियाभवत्। ४६। पितुर्यज्ञे तथा प्राप्यानादरं शङ्करस्य च। तं दृष्ट्वा कोपमाधायात्याक्षीद्देहं च सा सती। ४७। पुनस्सैव समुत्पन्ना तव गेहेऽम्बिका शिवा। पार्वती हरपत्नीयं भविष्यति न संशयः। ४८।'

> तब मयना हिमवंतु अनंदे। पुनि पुनि पारबतीपद बंदे॥ १॥
> नारि पुरुष सिसु जुबा सयाने। नगर लोग सब अति हरषाने॥ २॥
> लगे होन पुर मंगल गाना। सजे सबहि हाटक घट* नाना॥ ३॥
> भाँति अनेक भई जेवनारा। सूपसास्त्र जस कछु व्यवहारा॥ ४॥

शब्दार्थ—अनंदे=आनंदको प्राप्त हुए सुखी हुए। बंदे=वंदना की। स्तुति, प्रणाम, आदर, पूजन, यह सब 'बन्दना' है, यथा—'पुनि मुनिगन्ह दुहुँ भाइन्ह बंदे। अभिमत आसिष पाइ अनंदे। अ० २४२।' जुबा (युवा)=जवान, युवा अवस्थाके। सयाने=वृद्ध, बूढ़े। हाटक=सोना। जेवनार=भोजनके पदार्थ, रसोई। व्यवहारा (व्यवहार)=क्रिया, रीति। सूपशास्त्र=पाक शास्त्र, वह पुस्तक जिसमें भोजनके अनेक विधान दिये हैं। रसोईमें दालका उत्तम बनना मुख्य समझा गया है। इसीसे रसोइयाकी परख होती है। इसी

* १६६१ में 'घटकँ' है।

कारण पाकशास्त्रका नाम सूपशास्त्र हुआ। सूप=दाल।

अर्थ—तब मेना और हिमवान् अत्यन्त आनन्दमें मग्न हो गए और उन्होंने बारंबार पार्वतीजीके चरणोंकी वन्दना की। १। स्त्री, पुरुष, बालक, जवान और वृद्ध नगरके सभी लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए।२। पुरमें मंगलगान होने लगा, सभीने अनेक प्रकारके (चित्रित) सोनेके कलश सजाए अर्थात् अपने अपने द्वारपर सजाकर रक्खे। जैसी कुछ पाकशास्त्रमें रीति है उसके अनुसार अनेक प्रकारकी रसोई बनी। ४।

टिप्पणी—१ 'तब मयना हिमवतु०' इति। मेना अधिक व्याकुल थीं, अतः उन्हें अधिक आनंद हुआ; यथा 'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई।' इसीसे मेनाको प्रथम लिखा। इसी प्रकार श्रीसुनयनाजीका अधिक आनद दिखानेके लिये उनका नाम जनकमहाराजके पहले लिखा गया है; यथा 'सखिन्ह सहित हरषी अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥ जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई॥ १। २६३।' पुनः, नारदजीने मेनाहीको संबोधन करके समझाया था,—'मयना सत्य सुनहु मम बानी' से 'अस जानि संसय तजहु' तक; इससे भी उनको अधिक हर्ष है और इसीलिये पतिके पहिले इनको कहा गया। [हिमवानने यद्यपि धैर्य नहीं छोड़ा था, पर वरको देखकर वे भी विषण्ण थे, अब नारदजीका व्याख्यान और सप्तर्षि तथा स्वयं उमाकी मौनरूपेण स्वीकृति देखकर समझ गए कि उमा जगदम्बा हैं।''' (वि. त्रि.)] (ख) 'बंदे' इति। ऐश्वर्य सुनकर भगवतीभाव आगया; अतः पुनः पुनः प्रेमसे पदवंदना कर रहे हैं। पुनः भाव कि ऐश्वर्य जानकर सुख हुआ, सुताभाव माननेसे भय हुआ; यथा 'अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना।' अतः 'पुनि पुनि पद बंदे'।

२ 'नारि पुरुष सिसु जुबा सयाने।' इति। अर्थात् जितनी भी स्त्रियाँ थीं; बाल, युवा और वृद्धा तथा तीनों अवस्थाके पुरुष सभीको सुख हुआ। (ख) 'नगर लोग' का भाव कि हिमाचलके घरकेही नहीं किंतु नगर भरके और कोई कोई ही नहीं किन्तु सभी। नगरभरके लोग 'अति' दुखी हुए थे, इसीसे 'अति हरषाने'। नारदके वचन सुनकर मेना और हिमवंतको आनद हुआ, पीछे जब बात नगरमें फैली तब पुर-वासियोंको हर्ष हुआ, उसी क्रमसे आनंद होना लिखा गया।

३ 'लगे होन पुर मंगल गाना।०' इति। (क) प्रथम मंगलगान हो रहा था; यथा 'गावहिं मंगल सहित सनेहा', 'संग सुमंगल गावहिं नारी'—वह मंगलगान बंद हो गया था क्योंकि 'अबलन्ह उर भय भएउ बिसेषा' और उसकी जगह रोदन होने लगा था; यथा 'भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरि नारि। करि बिलाप रोदति बदति सुता सनेह सँभारि'। अब वे मंगलगीत पुनः होने लगे। (ख) 'सजे सबहि हाटक घट०' इति। (घट तो पहले ही सजे और रक्खे गये थे, पर जब मंगल गान बन्द हो गया, करुणा छा गई, तब वे उठाकर घरमें रख दिये गये थे। अब पुनः) घरघर स्वर्ण घट सजे गए। घट सजाकर द्वार-पर रखे गए, यथा 'कंचन कलस बिचित्र सँवारे। सबनि धरे सजि निज निज द्वारे।' (ग) 'नाना' इति। घट नाना प्रकारके हैं अर्थात् अनेक प्रकारसे बने हैं, अनेक प्रकारसे चित्रित हैं और अनेक हैं।

४ 'भाँति अनेक भई जेवनारा।०' (क) 'भाँति अनेक' अर्थात् चारों प्रकारका भोजन बना, यथा 'चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई। छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती॥ ३२९। २५।' इन सबोंका बोध इस पदसे कराया। [बैजनाथजीका मत है कि भक्ष्य, भोज्य और चोष्य आदि विविध भाँतिके भोजन हैं। वे भक्ष्यम चर्वणवत् रुखे स्वादिष्ट व्यञ्जनोंको लेते हैं, जैसे लड्डू, बूँदी, सुर्मे, पापड़, समोसा, पिडाक, मठरी, खाजा, आदि। भोज्यमें वे दाल, भात, खिचड़ी, तस्मई, (खीरान्न, खीर) रोटी, पूरी, पूवा, अमरती, जलेबी आदि मिठाई, दूध दही मलाई, मोहनभोग आदिको लेते हैं और चोष्यमें साग-भाजी तरकारीका ग्रहण करते हैं। श्रीकरुणासिंधुजी भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य चार प्रकार मानते हैं। चोष्य वस्तुतः वे पदार्थ हैं जो चूसे जाते हैं और लेह्य वे हैं जो चाटे जाते हैं। कोई भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय चार प्रकार मानते हैं। वीरकविजी पेय (पीने योग्य)

को चोष्यम गिनते हैं।] (ग) ☞ जनकपुरमें विवाहमें भातका परसना कहा है, यथा 'सूपोदन सुरभी सरपि सुदर स्वाद पुनीत। छन महँ सबके परसि गे चतुर सुआर विनीत॥ ३२८।' परन्तु हिमाचलके यहाँ देवताओंका भात खाना नहीं लिखते हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि देवताओंमें भात खानेकी रस्म (चाल) नहीं है, मनुष्योंमें ही है। दूसरे, यह कि वरके कुलमें कोई है ही नहीं भात कौन खाये, भात बिरादरी और कुलके ही खाते हैं, इसीसे भातका परसना न लिखा।

प० रायबहादुर लमगोडाजी—१ 'तब मयना हिमवंत अनंदे। ' इति। यह हर्ष कितना टिकाऊ है। हमने करुणा, भयानक और हास्यरसोंके ज्वारभाटेको देखा है, पर अब हम महाकाव्यके उस उच्च शिखरपर हैं जहाँ स्थाई हर्ष है—शिव और शिवाकी जोड़ी समाजके कल्याणके लिये सामने है। इसी रूपकी वन्दना वेदमें है। यहाँ भी दंपति माता पिता भी इसीलिये 'पुनि पुनि पारबती पद बंदे।'

२ लड़कियोंके पैर पूजनेका रहस्यभी यही है—हम अष्टमी बालक और बालिकाका पूजन 'देवी' और देवरूपमें करके आरती उतारते हैं और विवाह समय अपनी पुत्रीके पदका पूजन लक्ष्मी तथा पार्वती रूपमें करते हैं।

३ तुलसीदासजीके प्रहसनकलाका यह सिद्धान्त न भूलना चाहिये कि कोई चरित्र हमेशा हास्यप्रद नहीं रहता, हम 'परिस्थिति' तथा किसी दोषके प्रभावके कारण हास्य पात्र बन जाते हैं।

सो जेवनार कि जाइ बखानी। बसहिं भवन जेहि मातु भवानी॥ ५॥
सादर बोले सकल बराती। बिष्नु बिरंचि देव सब जाती॥ ६॥
बिबिध पाँति बैठी जेवनारा। लागे परुसन निपुन सुआरा॥ ७॥
नारिबृंद सुर जेवत जानी। लगीं देन गारीं मृदु बानी॥ ८॥

शब्दार्थ—कि=कैसे, किस प्रकार।=क्या। जेवनार=बहुतसे मनुष्योंका एक साथ बैठकर भोजन करना, भोज, भोजन करनेवाले। पाँति=पंक्ति, पंगत।=एक साथ भोजन करनेवाले बिरादरीके लोग, परिवार समूह। सुआर=रसोइया, रसोई बनानेवाले, सूपकार। वृंद=समूह, झुण्ड।

अर्थ—(भला) जिस घरमें (स्वयं) माता भवानीका निवास हो वहाँकी यह जेवनार किस प्रकार एवं क्या वर्णन की जा सकती है? ।५। (हिमाचलने) सब बारातियोंको, तथा विष्णु, ब्रह्मा और सब जातिके देवताओंको आदरपूर्वक (भोजनके लिये) बुला लिया।६। अनेक जातिके देवताओंकी 'पाँति' जेवनारको बैठी (एवं भोजनकरनेवालोंकी अनेक पंक्तियाँ बैठीं। तब) प्रवीण रसोइए परसने लगे।७। देवताओंको भोजन करते जानकर स्त्रीवृन्द मीठी कोमल वाणीसे गालियाँ देने लगीं। अर्थात् गालियाँ गाने लगीं।८।

टिप्पणी—१ 'सो जेवनार कि जाइ बखानी।०' इति। (क) 'मातु भवानी' का भाव कि भोजन बनाने और खिलानेमें माताही मुख्य है। (ख) 'बसहि भवन जेहि' का भाव कि जिनके स्मरणमात्रसे दूसरोंके यहाँका पाक सुन्दर होता है वही यहाँ बसती हैं, तब इनके अपने भवनके पाक क्या न सुन्दर होंगे? (ग) 'भवानी' का भाव कि ये भवपत्नी हैं, अतः भवके लिये, भवके बरातियोंके लिये, इन्होंने अपने प्रभावसे जेवनारको सुन्दर कर दिया, यथा 'जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई। ३०६।७।'

२ 'सादर बोले सकल बराती। ' इति। (क) देवता भावके भूखे हैं, इसीसे विष्णु आदिको सादर बुलाया। पाँवड़े देते लाना आदर है, यथा 'परत पाँवड़े बसन अनूपा। सुतन्ह समेत गवन कियो भूपा॥ ३२८।२।', 'गिरिबर पठए बोलि लगन बेरा भई। मंगल अरघ पाँवड़े देत चले लई। ७१।' (पार्वती मंगल)। (ख) 'सकल बराती' अर्थात् भूत, प्रेत, राक्षस, योगिनी, इत्यादि सबको बुलाया। सब जातिके देवताओंका एक साथ बुलाया हुआ, इससे सूचित किया कि स्थान बड़ा भारी है जिसमें सबको एक ही समय न्यारे-न्यारे बिठाकर एक साथ भोजन कराया गया जैसा आगे लिखते हैं—'बिबिध पाँति बैठी जेव

नारा'। ['देव सब जाती' अर्थात् देवताओंकी जितनी जातियाँ या किस्में हैं वे सब बारातमें थे। जैसे—आठ दिक्पाल, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, उन्चास मरुत्, यक्ष, गंधर्व, किन्नर, नाग, सिद्ध, इत्यादि।] (ग) 'विविध पाति०' का भाव कि देवता अनेक जातिके हैं, अपनी अपनी जातिकी पाँति है, इसीसे अनेक जाति और अनेक पाँति दोनो कहे। (घ) 'निपुन सुआरा' इति। रसोइयोंकी निपुणता यह है कि जिसको जितना चाहिये उतना ही परोसें, जो वस्तु जिसको चाहिये वह विना माँगे देवें, पवित्रता और सावधानतासे परोसें, ऐसा न हो कि कोई पदार्थ इधर-उधर गिर जाय, कोमल वाणीसे नम्रतापूर्वक भोजन करावें। पुनः भाव कि क्षणमात्रमें इतनी बड़ी पगतिको पारस कर दिया; यथा 'छन महुँ सबके परुसि गे चतुर सुआर विनीत। ३२८।' अनेक जाति पाँतिकी पगति है और बड़ी भारी है, अतः निपुण रसोइयों ही का यहाँ काम है।

३ 'नारि बृंद सुर जेंवत जानी', यहाँ जेंवत 'देखी' न कहकर 'जानी' पद देकर जनाया कि स्त्रियाँ सब परदेमें हैं। भोजनके समय देवता सब वेदपाठ करते रहे। जब वेदपाठ बंद हुआ तब जान लिया कि अब भोजन कर रहे हैं, अथवा और किसी प्रकार जाना हो।

छंद—गारीं मधुर सुर देहिं सुंदरि बिंग्य बचन सुनावहीं।
भोजनु करहिं सुर अति बिलंबु बिनोदु सुनि सचु पावहीं॥
जेंवत जो बढ़्यो अनंदु सो मुख कोटिहूँ न परै कह्यो।
अचवाइ दीन्हे पान गवने बास जहँ जाको रह्यो॥

दोहा—बहुरि मुनिन्ह हिमवंत कहुँ लगन सुनाई आइ।
समय बिलोकि बिवाह कर पठए देव बोलाइ॥९९॥

शब्दार्थ—सुर=स्वर, शब्द, आवाज। सुंदरि=गौरांगिनी, गौर वर्णवाली, स्त्रियाँ। विनोद=हास-विलास, मनोरंजक व्यंग, हँसी दिल्लगीकी बातें। सचु=सुख; यथा 'हँसहि संभुगन अति सचु पायें।१३४।५।', 'करें हरि भली प्रभु घोरा असवार भए भारी फौज सब कहें लोग सचु पावहीं' (भक्तिरसबोधिनी टीका)। जेंवत (जेंवना=जीमना; भोजन करना)=खाते समय। अचवाना=भोजनके बाद हाथ-मुँह धुलाना, कुल्ली कराना। आचमन कराना। लगन=लग्नका मुहूर्त; लग्नपत्रिका। ९१ (४) देखो।

अर्थ—स्त्रियाँ मधुरस्वरसे गालियाँ देती हैं और व्यंग्यभरे वचन सुनाती हैं। देवता विनोद (जो गालीके गानमें है उसे) सुनकर सुख पा रहे हैं (इसीसे वे) भोजन करनेमें बड़ी ही देर लगा रहे हैं। भोजनके समय जो आनन्द बढ़ा वह करोड़ो मुखोंसे भी नहीं कहा जा सकता। (भोजन कर चुकने पर) हाथ-मुँह धुलवाकर सबको पान दिये गए (तब) सब जहाँ जिसका निवासस्थान था अर्थात् जो जहाँ ठहरे थे वहाँ चले गए। फिर मुनियोंने आकर हिमवान्‌को लग्नपत्रिका सुनाई। विवाहका समय देखकर उन्होंने देवताओंको बुला भेजा। ९९।

टिप्पणी—१ (क) 'गारी मधुर सुर०' इति। मृदु वाणी और मधुर स्वरसे गाली देती हैं। व्यंग वचन सुनाती हैं क्योंकि प्रगट गाली कठोर होती है। वही व्यंग्यके भीतर मृदु और मधुर हो जाती है। एक तो उनकी वाणी मृदु और मधुर है, उसपर भी व्यंग्य सुनाती हैं। अर्थात् अपनी ओरके पुरुषोंका नाम लेकर और ब्रह्मादि देवताओंकी स्त्रियोंके नाम लेकर व्यंग्यसे दोनोंका संयोग होना गाती हैं, यथा 'जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी। ३२९। ६।' [☞ विवाहकी गालियाँ मीठी कही जाती हैं, क्योंकि ये प्रेमकी गालियाँ हैं, केवल प्रमोद-विनोद हासविलासके निमित्त गाई जाती हैं। दोहा-वलीमें इनको 'अमियमय' कहा है; यथा 'अमिय गारि गार्‍यो गरल गारि कीन्ह करतार। प्रेम बैर की जननि

जुग जानहिं बुध न गँवार। ३२८।' किसी औरने भी कहा है—'फीकी पै नीकी लगे जो विवाहमें गारि'। गालियाँ जो और समय वैर विरोधकी कारण हो जाती हैं, बुरी लगती हैं, वेही विवाहमें प्रिय लगती हैं। जो अंगीकार करने योग्य नहीं उसे अंगीकार करनेसे यहाँ 'अनुज्ञा अलंकार' है। व्यंग्य जैसे शिवजीको कहती हैं कि इनके तो माँबापकाही ठिकाना नहीं।] (ख) 'भोजन करहिं सुर अति बिलंब०' इति। विलंब से भोजन करते हैं जिसमें और सुननेको मिले। आनंदके लिये ही विनोद होता है अतः 'सचु पावहीं' कहा। (ग) 'जेवत जो बढ्यो अनंद०', यहाँ सचुका अर्थ आनंद स्पष्ट कर दिया। 'जेवत बढ्यो अनंद' का तात्पर्य कि जेवनार बहुत अच्छा बना है,—'सो जेवनार कि जाइ बखानी', और गालियाँ बहुत अच्छी हुईं कि जिससे सब देवता प्रसन्न हुए। 'अँचवाइ दीन्हे पान०' का भाव कि भृत्यगण सबको आचमन करवाते हैं, पान देनेवाले पान देते हैं, यथा 'अँचइ पान सब काहू पाए।' (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'यज्ञभुक् देवता आज भोजन करने बैठे हैं, स्तुतिके स्थानपर गाली हो रही है। उनके लिये गाली नई वस्तु है। सो प्रेमकी गाली सुन-सुनकर आनन्द बढ़ रहा है। यह दृश्य देखकर लोग फूले नहीं समाते थे, अतः कहते हैं कि वर्णन नहीं हो सकता)। (ङ) 'बास जहँ जाको रह्यो' से जनाया कि एक जनवासेमें सबका वास न था, कई जनवासे थे।

नोट—१ इस प्रकरणमें पहले भोजन कहा गया, तब विवाह और आगे श्रीसीतारामजीके विवाहमें प्रथम विवाह हुआ तब जेवनार। भेदका कारण यह है कि यहाँ देव विवाह है, अतः इसमें देवलोककी रीति बर्ती गई और श्रीसीतारामजी मनुष्य अवतार हैं इसलिये उनके विवाहमें मनुष्यलोक (भूलोक) की रीतिसे प्रथम विवाह हुआ तब जेवनार। कोई कोई महानुभाव कहते हैं कि जेवनार इससे पहले हुआ कि कहीं ऐसा न हो कि व्याह करके दूलह तुरत चल दे, क्योंकि डरे हुए हैं कि परछन न होनेसे दूलह रुष्ट न हो गया हो। तथा देवताओंका प्रयोजन तो विवाहसे ही सिद्ध हो जाता है फिर उन्हें ठहरनेकी आवश्यकता नहीं। ये सदाके स्वार्थी हैं। अतः डर है कि विवाह होते ही वे दूलहको लेकर चल न दें। इससे जेवनार प्रथम ही कर दिया गया।

त्रिपाठीजीका मत है कि 'व्याह मेष लग्नमें सूर्योदयके समय होनेवाला था, अतः रातको बारात व्याहके पहिले ही जिमाई गई। रामजीका व्याह रात्रिके समय था, अतः बारातका अपने घर जिमाना दूसरे दिन हुआ।'

टिप्पणी—२ 'बहुरि मुनिन्ह हिमवंत···' इति। (क) मुनिन्ह बहुवचन देकर सूचित करते हैं कि सप्तर्षियोंने आकर लग्न जनाई;* क्योंकि हिमाचलके यहाँसे लग्न सप्तर्षि ले गए हैं—'पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही। गहि पद बिनय हिमाचल कीन्ही। ९१। ४।', वही सप्तर्षि अब विवाह कराते हैं। [इस विवाहमें गर्ग, वसिष्ठ, बृहस्पति, अत्रि, गौतम, भागुरि, भृगु, शक्ति, जमदग्नि, पराशर, मार्कण्डेय, शिलावाक्, शून्य पाल, अक्षतश्रम, अगस्त्य, च्यवन और गोभिल आदि महर्षि विवाहकार्य विधिपूर्वक संपन्न करानेके लिये उपस्थित थे। गर्गजी हिमवान्के पुरोहित थे।] (ख) लग्न सुनानेका तात्पर्य कि हिमाचल अब देवताओं को बुला भेजें, यही बात आगे कहते हैं—'समय बिलोकि०'। (वि० त्रि० लिखते हैं कि 'प्रातःकालमें सप्तर्षि लोग लग्न सुनाने आये, अर्थात् वरपक्षसे कहलाया गया कि बुलावा जल्दी भेजें। नहीं तो हिमवान् ने ही ऋषियोंको बुलाकर लग्न स्थिर कराया था, उन्हें फिरसे सुनानेकी आवश्यकता क्या थी?')। (ग) 'समय बिलोकि'। ऋषियोंने आगेसे लग्न जनाई और हिमाचलने लग्नका समय देखा, इससे जाना गया कि हिमाचल पंडित हैं।† 'सुनाई आइ' का भाव कि लग्नकी बात बहुत सूक्ष्म है, कहला भेजनेके लायक

* इसीसे और भी सर्वत्र बहुवचन ही कहा है, यथा—'बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाई', 'जस विवाह के बिधि श्रुति गाई। महा मुनिन्ह सो सब करवाई', 'वेदमंत्र मुनिवर उचरहीं।'

† उस समय वृश्चिक लग्न थी—(वै०)। विवाह मेषलग्नमें हुआ—(वि० त्रि०)।

नहीं थी; मुनियोंने स्वयं ही आकर सुनाई। ☞ अब सर्वत्र देवताओं ही का नाम देते हैं, शिवगणोंका नाम कहीं नहीं कहते, यथा 'सादर बोले सकल बराती। बिष्नु बिरंचि देव सब जाती॥' (१); 'भोजन करहिं सुर अति बिलंब बिनोद सुनि सचु पावहीं।' (२); 'समय बिलोकि बिवाह कर पठए देव बोलाइ।' (३); 'बोलि सकल सुर सादर लीन्हे। सबहि जथोचित आसन दीन्हे॥' (४); 'जगदंबिका जानि भव भामा। सुरन्ह मनहिं मन कीन्ह प्रनामा।' (५); तथा 'पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा। हिय हरषे तब सकल सुरेसा॥' (६)। इससे यह सूचित होता है कि उन सबोंने भी अब देवताओंके समान सुंदर रूप धारण कर लिया है। अथवा, बारात पूरी करके वे सब चले गए। (सबने सुंदर रूप धारण कर लिए; यह बात पार्वतीमंगलके 'बर बिलोकि बिधु गौर सुअंग उजागर। करति आरती सासु मगन सुखसागर॥ ७३।' से अनुमानित होती है। अब शिवजीका भी भयंकर रूप नहीं है)।

बोलि सकल सुर सादर लीन्हे। सबहि जथोचित आसन दीन्हे॥ १॥
बेदी बेदबिधान सँवारी। सुभग सुमंगल गावहिँ नारी॥ २॥
सिंघासनु अति दिब्य सुहावा। जाइ न बरनि‡ बिरंचि बनावा॥ ३॥
बैठे सिव बिप्रन्ह सिरु नाई। हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई॥ ४॥

शब्दार्थ—जथोचित (यथोचित)=यथायोग्य। ९४ (७) देखो। बेदी (वेदी, वेदिका)=यज्ञादिक शुभकर्मोंमें भूमिको शुद्ध और साफ करके उसपर कुछ शुद्ध मट्टी डालकर प्रायः चौकोर भूमि तैयार करते हैं, इसीको वेदी कहते हैं। विधान=(में कही हुई) रीति। दिव्य=अलौकिक, बहुत ही सुंदर।

अर्थ—(हिमाचलने) सब देवताओंको आदरपूर्वक बुलवा लिया और सबको यथा योग्य आसन (बैठनेको) दिये। १। वेदोक्त रीतिसे वेदी सजाई गई। स्त्रियाँ सुंदर श्रेष्ठ मंगल गीत गाने लगीं। २। (वेदिकापर) अत्यन्त दिव्य सुन्दर सिंहासन (सुशोभित है जो) वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि स्वयं ब्रह्माजीका बनाया हुआ है। ३। ब्राह्मणोंको मस्तक नवाकर और हृदयमें अपने इष्टदेव श्रीरघुनाथजीका स्मरण करके शिवजी उस सिंहासनपर बैठे। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'बोलि सकल सुर०' इति। बुला भेजा। जब वे आगए तब सबको यथायोग्य आसन दिया। 'सकल'—पद देनेका भाव कि सभी देवता मानकी इच्छा रखते हैं, इसीसे सबको बुलाया और सबको आसन दिये, यथा 'सादर बोले सकल बराती'। 'सादर' अर्थात् पाँवड़े देते हुए जैसे भोजनके समय बुलाया था वैसे ही विवाह समय बुलाया। बरातियोंको आसन देकर आगे वरको आसन देना कहते हैं। (ख) 'बेदी बेद बिधान०' इति। देवताओंमें वेदका प्रमाण है, इसीसे सर्वत्र वेदका ही प्रमाण कहते हैं; यथा 'सुदिन सुनखत सुघरी सोचाई। बेगि बेदबिधि लगन धराई' (१), 'बेदी बेदबिधान सँवारी' (२), 'जस बिवाह कै बिधि श्रुति गाई' (३)। 'सँवारी' कहकर जनाया कि वेदी अत्यन्त सुंदर बनी है। वेदी बैठनेके लिये बनी है; यथा 'बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीयसहित राजत रघुराजू॥' (अ०)। वेदीपर सिंहासन है। उसपर शिवजी बैठे, स्त्रियाँ वरके आगमनके मंगल गीत गाती हैं। ☞ सुभग और सुमंगलका 'सु' दोनों सुन्दरताके वाचक होनेसे पुनरुक्तिका आभास है। इसका समाधान यह है कि सुभगका स्त्रियोंके गानसे सम्बन्ध है और सुमंगलका 'सु' मंगलसे संबंध रखता है।

२ (क) 'सिंघासनु अति दिब्य०' इति। वेदी दिव्य है, सुहाई है और सिंहासन अति दिव्य है, अति सुहावा है क्योंकि वेदीके ऊपर रक्खा हुआ है, मानों बिरंचिका बनाया है—यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा है।

‡ बिचित्र—१७०४, वीरकवि। बिरंचि—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०, पं०, बै०।

अथवा, विरंचिका ही बनाया है कहीं इसका प्रमाण अवश्य होगा।❀ (ख) 'बैठे सिव बिप्रन्ह०' इति। विप्रोंको सिर नवानेका भाव कि विप्र सब नीचे बैठे हैं और आप सिंहासनपर बैठने जाते हैं, अतः अपराध क्षमार्थ ऐसा किया। अथवा, ब्राह्मण रामजीके इष्ट हैं इससे प्रथम विप्रोंको स्मरण किया तब रामजीका। ब्राह्मण वहाँ उपस्थित हैं, वेही विवाह करा रहे हैं इससे उन्हें सिर नवाया (यह लोकरीति है, शिष्टाचार है) और श्रीरामजी वहाँ प्रगट नहीं हैं इसीसे उनको हृदयमें सुमिरा। 'निज प्रभु' से कोई दूसरा प्रभुभी पाया जाता है, अतः 'रघुराई' कहकर दाशरथी श्रीरामजीको 'निज प्रभु' बताया। (पुनः, शिवजी भक्तिपथके मुख्य आचार्य हैं और भक्तिपथका प्रथमपाद विन्यास है 'प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीती'। अतः प्रथम विप्रोंको प्रणाम किया। वि० त्रि०) ['हृदय सुमिरि' का भाव महात्मा लोग यह कहते हैं कि अमनिया पदार्थ प्रथम अपने इष्टको अर्पण वा निवेदन करके तब स्वयं ग्रहण करना चाहिये,—'तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं'। इसलिये प्रभुको सिंहासन अर्पण करके तब उसपर बैठे। मंगलकार्योंमें इष्टदेवका स्मरण आरम्भमें करना उचित ही है।] रघुनाथजी शिवजीके इष्टदेव और 'निज प्रभु' हैं; यथा 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। ५१। ८।', 'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी। ११९। २।'

बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाई। करि सिंगारु सखीं लै आईं॥ ५॥
देखत रूप सकल सुर मोहे। बरनै छबि अस जग कबि को है॥ ६॥
जगदंबिका जानि भवभामा†। सुरन्ह मनहिं मन कीन्ह प्रनामा॥ ७॥
सुंदरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहुँ‡ बदन बखानी॥ ८॥

शब्दार्थ—मोहे=मोहित हो गए, लुभा गए, रीझे, लुब्ध हो गए, यथा 'देखि रूप मोहे नरनारी। २४८।४।', 'चाप्यो दल दूलह चारु बने। मोहे सुर औरन कौन गने।' (केशव), 'देखत बपु अति स्यामल सोहै। देखत सुरनर को मन मोहै।' बहुरि—फिर अर्थात् तत्पश्चात्।

अर्थ—तब मुनीश्वरोंने उमाको बुलाया अर्थात् आज्ञा दी कि उमाको ले आओ। सखियाँ उनका शृङ्गार करके उन्हें ले आईं। ५। उनके रूपको देखते ही समस्त देवता मुग्ध हो गए (तब भला) संसारमें ऐसा कवि कौन है जो उस छबिका वर्णन कर सके?। ६। जगन्माता और भव (शंकरजी) की पत्नी जान

❀ यहाँ कोई कोई शंका करते हैं कि "पूर्व कह आए हैं कि 'पुर सोभा अवलोकि सुहाई। लघु लागइ बिरंचि निपुनाई' तो अब ब्रह्माके बनाए हुए सिंहासनमें क्या चतुरता है जो वर्णन नहीं हो सकती?" और इसके समाधानार्थ यह अर्थ करते हैं कि—(१) उसका बनाव विरंचिसे भी वर्णन नहीं हो सकता। (२) जो ब्रह्माके बनाए हुए हैं वे वर्णन नहीं कर सकते। (प०)। दासकी समझमें इसका भाव यह समझना चाहिए कि ब्रह्माजीने इसे अपने हाथोंसे बनाया है, इसीसे वर्णन नहीं किया जा सकता। यथा 'जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे। मन भावहि मुख बरनि न जाहीं। १। ३११।', 'सीयमातु किमि जाइ बखानी। सब समेटि बिधि रची बनाई। ३२४। १, २।', इत्यादि स्थलोंमें जहाँ-जहाँ ब्रह्माजीका स्वयं बनाना या रचना लिखा है वहाँ वहाँ 'बरनि न जाई' या इसीके समानार्थी शब्द ग्रन्थकारने प्रयुक्त किये हैं, तथा यहाँभी इसी प्रकार समझ लेनेमें कोई शंकाकी बात नहीं जान पड़ती। अत्यन्त सुंदरताके वर्णनमें प्रायः विरंचिका बनाया कहा करते हैं, यथा 'जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई' (१), 'चारु बजार बिचित्र अँबारी। मनिमय जनु बिधि स्वकर सँवारी' (२), 'मनिजुत भीति बिरंचि बिरची कनकमनि मरकत खची', (३), तथा यहाँ अत्यन्त सुंदरताके कारण 'बिरंचि बनावा' कहा गया। और सब सृष्टि विरंचि संकल्पसे रचते हैं।

† बामा—ना० प्र०, १७०४। ‡ कोटिन्ह—ना० प्र०। १७०४। कोटिहु—१६६१, १७२१, १७६२; छ०, को० रा०।

कर देवताओंने उन्हें मन ही मन प्रणाम किया। ७। भवानीजी सुंदरताकी सीमा हैं, करोड़ों मुखोंसे भी बखानी नहीं जा सकतीं। ८।

टिप्पणी—१ 'बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाईं' इति। (क) 'बहुरि' पदसे पाया गया कि मुनियोंने ही मन्त्र पढ़कर शिवजीको सिंहासन अर्पण किया, उसपर उनको बिठाया। ['मुनीसन्ह' से सप्तर्षिका ग्रहण पार्वतीमंगलके अनुसार हो सकता है एवं औरोंका भी, जैसा पूर्व दोहा ९९ में लिखा गया है; यथा—'सत-रिषिन्ह बिधि कहेउ बिलंबु न लाइय। लगन बेर भे बेगि बिधान बनाइय', 'थापि अनल हर बरहि बसन पहिराएउ। आनहु दुलहिनि बेगि समउ अब आएउ'।' अतएव उन्होंने उमाको बुलाया। और बारातियोंको हिमाचलहीने सादर आसन देकर बैठाया, जैसे जनक महाराजने किया था,—'निज पानि जनक सुजान सब कहँ आनि सिंघासन धरे।' बोलाईं अर्थात् लानेकी आज्ञा दी।] माता जानकर शृङ्गार वर्णन न किया। एक ही चरणमें शृङ्गार करना और ले आना कहकर ले आने एवं शृङ्गार करनेमें अति शीघ्रता दिखाई,बहुत सखियोंने मिलकर शृङ्गार किया। अलङ्कृत कन्याके दानका विधान है। अतः शृंगार करके लाईं। (ख) 'देखत रूप सकल सुर मोहे।०' इति।—यह रूपकी सुंदरता है। भगवतीकी शोभा देखकर सब देवता मोहित हो गए और देवी मोह-रूप हैं, सबको मोहको प्राप्त कर देती हैं। यथा—'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति','जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह बस करई।' इसी कारण सब देवता मोहित हो गए। इसका हाल आगे लिखते हैं—'जगदंबिका जानि०'। 'बरनै छबि अस जग कबि को है' की व्याख्या आगे लिखते हैं—'सुंदरता मरजाद०'। ये दोनों बातें क्रमसे लिखी हैं। (ग) 'बरनै छबि अस जग कबि को है' का भाव कि दिव्य बुद्धिवाले सब देवता छबि देखकर मोहित हो गए तब जगत्में प्राकृत बुद्धिवाले कवि क्या वर्णन करेंगे ? [श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि रूप वह कहा जाता है जो बिना भूषण ही के भूषित हो। ऐसे साधारण रूपको तो देखते ही देवगण मोहित हो जाते हैं तब फिर भला उस रूपका शृङ्गार जब होगा तो उसे भला कौन कवि वर्णन कर सकता है ? पुनः, जब देवता ही मोहित हो गए तब मनुष्य ऐसा कौन है जो उस रूप और छबिको नखसे शिख तक देख सका हो ? और जब देखा ही नहीं तब वर्णन क्योंकर कर सके ? कोई-कोई महानुभाव कहते हैं कि यहाँ कालिदासजीकी ओर संकेत है। उन्होंने उमाजीका नख-शिख वर्णन किया। उसका फल यह मिला कि उनको कुष्ठ हो गया। बहुत विनय करने पर उन्हें 'रघुवंश' काव्य बनानेकी आज्ञा हुई जिसके बनानेपर रोग दूर हुआ]।

२ 'जगदंबिका जानि भवभामा।०' इति। (क) प्रथम रूप देखकर मोहित हो गए, फिर प्रबोध होनेपर जगत्की माता भवभामा जानकर मातृबुद्धिसे प्रणाम किया। (ख) मनमें प्रणाम करनेका भाव कि माधुर्यके समयमें ऐश्वर्य न प्रकट किया, इस विचारसे कि हमारे प्रणाम करनेसे इनका ऐश्वर्य खुल जायगा। (और ऐश्वर्य खुलनेसे विवाहकार्यमें विघ्न पड़ेगा)। (ग) 'जानि भवभामा' का भाव कि भव (शंकरजी) जगत्वंद्य हैं,—'संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावहिं सीसा।' उनकी ये भामा हैं अतः ये भी जगत्वंद्य हैं—यह जानकर प्रणाम किया। (घ) 'जगदंबा' का भाव कि जगत् भरकी शोभा इन्हींकी बनाई है।

नोट—मिलान कीजिये पार्वतीमंगलके 'सखी सुआसिनि संग गौरि सुठि सोहति। प्रगट रूपमय मूरति जनु जगु मोहति ॥ ७६ ॥ भूषन बसन समय सम सोभा सो भली। सुखमा बेलि नवल जनु रूप फलनि फली। कहहु काहि पटतरिय गौरि गुन रूपहि। सिंधु कहिय केहि भाँति सरिस सर कूपहि ॥ ७७ ॥ आवत उमहिं बिलोकि सीस सुर नावहिं। भए कृतारथ जनम जानि सुखु पावहिं।'

टिप्पणी—३ 'सुंदरता मरजाद भवानी।०' इति। (क) भाव कि मर्यादातक कोई पहुँचता नहीं, इससे उत्कृष्ट सुन्दरता कहीं है नहीं। 'कोटिहु बदन' का भाव कि एक तो करोड़ों मुख किसीके हैं नहीं, हों भी तो उनका सौंदर्य बखाना नहीं जा सकता। ☞ 'कोटिहुँ' कहकर शेष शारदा आदिका भी निरादर किया।

(ख) ☞ नारदजीने पार्वतीजीके तीन नाम कहे थे, यथा 'नाम उमा अंबिका भवानी'। यहाँ उसी क्रमसे तीनों नाम लिखे गए हैं। यथा (१) 'बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाई', (२) जगदंबिका जानि भवभामा; (३) सुंदरता मरजाद भवानी।

छंद—कोटिहु बदन नहिं बनै बरनत जगजननि सोभा महा।
सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद मंदमति तुलसी कहा॥
छबिखानि मातु भवानि गवनीं मध्य मंडप सिव जहाँ।
अवलोकि सकहिं न सकुच पतिपद-कमल मनु मधुकरु तहाँ॥
दोहा—मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि।
कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जियँ जानि॥ १००॥

अर्थ—जगज्जननी पार्वतीजीकी महान्शोभा करोड़ों मुखोंसेभी वर्णन करते नहीं बनती। श्रुति,शेष और सरस्वतीजीतक कहनेमें सकुचते हैं, तब भला मंदबुद्धि तुलसीदास क्या है (किस गिनतीमें हैं जो कहेगा) छबिकी खानि माता भवानी मण्डपके बीचमें जहाँ शिवजी थे गईं। संकोचवश पतिके चरणकमलोंको वे देख नहीं सकतीं, पर उनका मनरूपी भौंरा वहीं था। मुनियोंकी आज्ञासे श्रीशिवपार्वतीजीने गणपतिजीका पूजन किया। हृदयसे देवताओंको अनादि जानकर कोई इस बातको सुनकर संशय न करे। १००।

टिप्पणी—१ (क) 'कोटिहु बदन नहि बनै बरनत' अर्थात् महक्ता दो सहस्रकी कौन कहे जिसके करोड़ों मुख हो वह भी वर्णन नहीं कर सकता, यह कहकर आगे उसका कारण बताते हैं कि 'जगजननि' ये जगन्माता हैं और 'सोभा महा' अर्थात् उनकी शोभा अपार है। 'जगजननि' का भाव कि जगत्भर की शोभा इन्हींकी बनाई हुई है, तब इनकी शोभा कौन कह सके? अथवा, जगत्भरकी ये माता हैं, सारी प्राकृतिक शोभा इन्हींसे उत्पन्न हुई है, तब भला यह आपकी शोभाकी उपमा कैसे हो सकती है? अथवा, माता की शोभा कौन कहे, जगत्मात्र उनकी संतान है। माताकी शोभा सुंदरता वर्णन करनेका अधिकार बालकको नहीं है; यथा 'जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगारु न कहौं बखानी। १०३। ४।' (ख) 'सोभा महा' इति। महाशोभा है, इसीसे सर्वत्र शोभा विशेष लिखते हैं, यथा—

रूप देखकर देवता मोहित हो गए,— 'देखत रूप सकल सुर मोहे' (१)
छबिकी खानि हैं, कोई कवि कह नहीं सकता,— 'बरनै छबि अस जग कवि को' (२),
सुंदरता की मर्यादा हैं, कोटिहु बदनसे कहते नहीं बनती,— 'सुंदरता मरजाद भवानी।…' (३)
शोभा महान् है, श्रुतिशेषादि नहीं कह सकते,— 'सकुचहिं कहत०' (४)।

२ (क) 'सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद'। श्रुति, शेष और शारदा ये सब वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। पुनः, श्रुतिसे भूलोक, शेषसे पाताल और शारदासे ब्रह्मलोक एवं स्वर्गलोकके सर्वश्रेष्ठ वक्ता सूचित किए। इन सबका सकुचाना कहकर त्रैलोक्यके समस्त श्रेष्ठ वक्ताओंको असमर्थ दिखाया। इस तरह 'सकुचहिं कहत०' से महाशोभाका अर्थ खोला। यहाँ 'सबधातिशयोक्ति अलकार' है। योग्य वक्ताओंमें वर्णनकी अयोग्यता कहकर शोभाकी अतिशय बड़ाई कही गई। पुन. 'सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद' का भाव कि जब 'कोटिहु बदन' से नहीं कहते बनती तब यदि हम कहते हैं तो पार न मिलेगा और पार न मिलनेसे हमारी लघुता होती है, यह सोचकर सकुचते हैं। (ख) 'मदमति तुलसी कहा' अर्थात् जब श्रुतिशेषादि दिव्य बुद्धिवाले कहनेमें सकुचते हैं तब मैं तुलसी तो मतिमंद, मंदबुद्धि हूँ। मैं क्या हूँ, कुछभी तो नहीं हूँ जो वर्णनका साहस कर सकूँ। (ग) 'छबि खानि मातु०' इति। प्रथम सखियाँ श्रीपार्वतीजीको मंडपकी सीमामें ले आई थीं, अब 'मध्यमंडप' को चलीं। ☞ यहाँ शोभा वर्णनके सबधमें जननि-शब्द अनेक बार आया है। यह साभि

प्राय हैं। सबके साथ 'जननि' पद देकर यह बात दरसाते हैं कि सबका इनके प्रति मातृभाव है। मातृबुद्धि-सेही देवताओंने प्रणाम किया,—'जगदंबिका जानि भवभामा। सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा'। 'जग-जननि' की शोभा श्रुति शेषादि माता मानकर ही नहीं कह सकते। और, वक्ता याज्ञवल्क्यजी मातृभावसे कहते हैं कि 'छबिखानि मातु भवानि०'।

३ 'अवलोकि सकहिं न०' इति। (क) अर्थात् नीचे दृष्टि किये हैं, इसीसे चरण देखे। (ख) 'पति-पदकमल०' अर्थात् जहाँ पतिके पदकमल हैं वहीं इनका मन मधुकर है। ☞ पूर्व सतीतनमें शिवजीके चरणोंमें स्नेह था, यथा 'जौं मोरे सिवचरन सनेहू। मनक्रमवचन सत्यब्रत एहू'। अब उमातनमें भी शिव-चरणोंमें स्नेह कहते हैं। पतिपदमें प्रेम करना पतिव्रताका धर्म है, यथा 'एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा'। [(ग) 'सकुच' का कारण लोकमर्य्यादा, लोकलज्जा है। सब समाज जनाती, बराती वहाँ बैठे हैं और आप दुलहिन बनी हैं। पंजाबीजी सतीतनमें पति-अवज्ञाके कारणभी संकोच होना कहते हैं। 'पतिपद कमल मन मधुकर तहाँ' में 'परंपरित रूपक' है। (घ) मन मधुकर चरणोंमें कबसे लगा है, प्राप्त होनेमें संकोच बाधक हो रहा है। भाव यह कि शिवजीका सौन्दर्य कैसा था जिसपर त्रैलोक्यसुन्दरी उमा मुग्ध थीं। 'अंग अंगपर उदित रूपमय पूपन' (पा० मं०)। वि० त्रि०]

४ 'मुनि अनुसासन गनपतिहि०' इति। (क) 'कोउ सुनि संसय करै जनि' कहा क्योंकि 'शिव-पार्वतीविवाहही अभी हो रहा है, गणेशजीका जन्म हुआही नहीं तब गणेशपूजन कैसे हो रहा है?' यह संदेह मनमें प्राप्त होनेकी सम्भावना है, अतएव कवि स्वयं ही उसका समाधान करते चलते हैं। (ख) 'सुर अनादि जिय जानि' इति। सब देवताओंके मंत्र ऋचायें लिखी हैं; इससे सिद्ध होता है कि सब देवता अनादि हैं।

नोट—१ (क) श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीजी लिखते हैं कि मन्त्रमयी मूर्त्ति तो सनातन है, अनादि है। अतः गणेशजी अनादि कहे गए। रा. प. प. कार लिखते हैं कि 'मन्त्रमयीमूर्ति अनादि मीमांसारीति वेदोंमेंभी लिखा ज्योंका त्यों ब्रह्माजीने रचा' [प्रमाण श्रुतिः—'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।' (यजुर्वेद)] (ख) गोस्वामीजी तो सभीको श्रीसीताराममय देखते हैं—'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'। इस प्रकारभी सब देवता अनादि हैं। (ग) विवाह अभी हुआ नहीं, किंतु गणेशपूजन करानेमें 'भाविक अलंकार' है—(वीरकवि)। (घ) विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'यहाँपर हिंदूधर्मके गूढ़ रहस्यके कुछ दिग्दर्शन करनेकी आवश्यकता है, सो यों कि भक्तजन अपनी अपनी रुचिके अनुसार विशेषगुणसंपन्न देवताको इष्ट मानकर उसका पूजन सर्वोपरि बतलाते हैं। परन्तु यथार्थमें ये सब उसी परब्रह्म परमात्माके उपासक हैं—तुलसीदासजीने तो सर्वरूपरूपी, सर्वशरीर शरीरी, सर्वनाम नामी रामहीको जानकर समस्त नामोंसे रामहीको वंदन किया है—जैसा लिखा है 'सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥' क्योंकि इन्होंने श्रीरामहीको परमात्मा रूप सिद्ध किया है, यथा 'राम सो परमात्मा भवानी।' "श्रीगणेशजीकी प्रथम वंदना तथा उनका प्रथम पूजन इस आधुनिक प्रथाको गोस्वामीजीने कितनी उत्तमरीतिसे निबाहा है कि ग्रन्थके आदिमें वंदनाभी की तथा उन्हें राममय और रामहीके कारण पूज्यपद पाए हुए कह गए और सबसे बडे महादेवजी और पार्वतीजी जिनके कि ये संतान पुराणोंमें कहे गए हैं, उन्हींके विवाहमें उनका पूजन करवाकर उन्हें अनादि कहकर दर्शाया है कि ये भी परमात्मारूप पूजनीय हैं। पुराणोंमें दो पीठ प्रसिद्ध हैं—एक विष्णुपीठ जिसमें विष्वक्सेन प्रथमपूज्य हैं और दूसरा रुद्रपीठ जिसमें गणेश प्रथमपूज्य हैं। बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि पाखंडधर्मके बढ़नेपर श्रीशंकरजीने शंकराचार्यरूपसे अवतार लेकर समस्त पाखंडियोंको परास्त किया और वैदिकधर्म स्थापन किया। संपूर्ण पंडित इन्हींके अनुयायी होगये और तभीसे बहुधा लोगोंकी रुचि विष्णुपीठकी अपेक्षा रुद्रपीठ पर हुई। तभीसे समस्त मंगलकार्योंमें गणेशजीका प्रथम पूजन होने लगा। प्राचीन ग्रन्थोंमें ऐसा नहीं किया गया है।'

जसि बिबाह कै बिधि श्रुति गाई। महामुनिन्ह सो सब करवाई ॥ १ ॥
गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहि समरपीं जानि भवानी ॥ २ ॥
पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा। हिय हरषे तब सकल सुरेसा ॥ ३ ॥
बेदमंत्र मुनिबर उच्चरहीं। जय जय जय संकर सुर करहीं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—गहि=ग्रहण करके लेकर, पकड़कर। पानी (पाणि)=हाथ।=जल। सुरेस (सुरेश) =दिग्पाल। सब दिग्पाल अपनी अपनी सेनाके ईश हैं, यथा 'निज निज सेन सहित बिलगाने'। कुस (कुश)= काँसकीसी एक घास होती है जो नोकीली, तीखी और कड़ी होती है। कुश बहुत पवित्र माना जाता है। यज्ञ, विवाह, तर्पण आदि कर्मकाण्डोंमें और आसनके काममें इसका उपयोग होता है। कुश और जल हाथमें लेकर संकल्प पढ़ा और किया जाता है। वेदमन्त्र—अर्थात् स्वस्तिवाचन इत्यादि।

अर्थ—श्रुतियोंमें विवाहकी विधि जैसी कुछ कही गई है। महामुनियोंने वह सब करवाई। १। हिमाचलने हाथमें कुश, जल और कन्याका हाथ लेकर उन्हें भवानी (भवपत्नी) जानकर भव (शिवजी) को समर्पण किया। २। जब महादेवजीने पाणिग्रहण किया तब सभी दिक्पाल देवता हृदयमें बड़े प्रसन्न हुए। ३। श्रेष्ठ श्रेष्ठ मुनि वेदमन्त्रोंको उच्चारण कर रहे हैं, और देवता 'जय जय जय शंकर' अर्थात् शंकरजी का जयजयकार करते हैं। ४।

टिप्पणी—१ 'जसि बिबाह कै बिधि०' इति। (क) यहाँ लोकरीति नहीं कहते, इससे पाया गया कि लोकरीति देवताओंमें नहीं है, मनुष्योंमें है, यथा 'करि लोक बेद बिधानु कन्यादान नृपभूषन किये। ३२४।' (ख) एक चौपाईमें (दो चरणोंमें) सब विवाहकी विधि करना कहा, एकमें कन्यादान करना कहा। दो चौपाइयोंमें (चार चरणोंमें) विवाहभर वर्णन कर दिया। महादेवपार्वतीविवाह बहुत संक्षेपसे गोसाईं जीने कहा, क्योंकि आगे श्रीरामविवाह विस्तारसे कहेंगे। ☞ ग्रन्थकारकी रीति है कि जो प्रसंग एक जगह विस्तारसे कहा है उसे दूसरी जगह संक्षेपसे कहते हैं, और जो संक्षेपसे कहते हैं उसे दूसरी जगह विस्तारसे कहते हैं।

नोट—१ मिलान कीजिये—'बिप्र बेदधुनि करहिं सुभासिष कहि कहि। गान निसान सुमन झरि अवसर लहि लहि ॥ ७८ ॥ बरु दुलहिनिहि बिलोकि सकल मन रहसहिं। साखोच्चार समय सब सुरमुनि बिहँसहिं। लोक बेद बिधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर। कन्यादान संकलप कीन्ह धरनीधर ॥ ७९ ॥ पूजे कुलगुरु देव कलसु सिल सुभ धरी। लावा होम बिधान बहुरि भाँवरि परी। बंदन बंदि ग्रंथिबिधि करि ध्रुव देखेउ। भा बिबाह सब कहहिं जनमफल पेखेउ ॥ ८० ॥' (पार्वतीमंगल)।

टिप्पणी—२ 'गहि गिरीस कुस कन्या पानी।…' इति। 'पानी' शब्द यहाँ श्लेषार्थक है, हाथ और जल दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। (यह शब्द 'गिरीस', 'कुस' और 'कन्या' तीनोंके साथ अर्थ करनेमें लिया जायगा। इसीसे सबके अन्तमें दिया गया)। 'जानि भवानी' क्योंकि नारदजीसे सुन चुके हैं कि ये 'सदा संभु अरधंगनिवासिनि' हैं। [भवपत्नी जानते हैं, अतः उनकी वस्तु (अमानत, धरोहर) जानकर उनकी अमानत उनको समर्पित की, सौंप दी। यथा 'त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्।' अर्थात् यह सदासे आपकी है, अतः मैं आपकी इस वस्तुको आपको ही समर्पण करता हूँ, आप इसे लीजिए। अपनी जानकर देते तो 'दान' करना कहते। पंजाबीजी लिखते हैं कि हिमाचलने विचारा कि ये ईश्वरी हैं, हमको कृतार्थ करनेके लिये कुछ दिनोंके लिये हमारे यहाँ आ गई थीं, अब पुनः उनको प्राप्त हुईं, मैं कौन हूँ जो दानका अभिमानी बनूँ।]

नोट—२ स्क० पु० में समर्पण इस प्रकार है—'इमां कन्यां तुभ्यमहं ददामि परमेश्वर। भार्यार्थं प्रतिगृह्णीष्व' अर्थात् हे परमेश्वर! मैं अपनी यह कन्या आपको धर्मपत्नी बनानेके लिये समर्पित करता हूँ;

कृपया स्वीकार करें। (स्क० मा० के०)। ☞ अब पाठक स्वयं देख लें कि गोस्वामीजीके शब्द व्यासजी के शब्दोंसे कितने अधिक भावात्मक और उत्कृष्ट हैं।

३ यहाँ विवाह बहुत संक्षेपसे कहा है, इसीसे मेनाजीका आना नहीं कहा। 'जस विवाह कै विधि श्रुति गाई। महामुनिन्ह सो सब करवाई' इसीके भीतर मेनाजीका आगमन कह दिया गया; क्योंकि वेदमें स्त्रीसहित कन्यादान करनेकी विधि है। आगे श्रीराम विवाहमें मेनासहित हिमाचलका कन्यादान करना कहा है। यथा 'जनक वामदिसि सोह सुनयना। हिमगिरि संग बनी जनु मयना। ३२४। ४।' स्कंद पु० माहेश्वर केदारखण्डमें भी लिखा है कि 'गर्गाचार्यजी (हिमाचलके पुरोहित) के आदेशसे हिमाचल अपनी पत्नी मेनाके साथ कन्यादान करनेको उद्यत हुए। मेना सोनेका कलश लेकर उनकी अर्धाङ्गिनी बनी हुई थीं। परम सौभाग्यवती मेना समस्त आभूषणोंसे विभूषित होकर हिमवान्‌के साथ बैठी थीं।'

४ प्रथम सब विधि कराके पीछे कन्यादान करना लिखा। इससे पाया गया कि देवताओंमें ऐसी ही रीति है, सब कृत्य करके तब कन्यादान होता है और मनुष्योंमें प्रथम कन्यादान होकर तब पीछे सब कृत्य होते हैं। (प० रा० कु०)।

५ भवानीको भवके अर्पण करना कहकर यथायोग्यका संग वर्णन किया यह 'प्रथम सम अलंकार' है।

टिप्पणी—३ 'पानिग्रहन जब कीन्ह०' इति। (क) पाणि गहकर शिवको समर्पण किया। जब शिवजीने पाणिग्रहण किया तब सब सुरेश हर्षित हुए कि अब सुरोंकी रक्षा होगी, तारकासुर मारा जायगा। (ख) 'जब' का भाव कि पाणिग्रहण तक देवताओंको संदेह था कि व्याह करें या न करें। उसके होजाने पर संदेह न रह गया, अतः 'हरषे'। (ग) देवता स्वार्थमें जड हो जाते हैं; यथा 'विबुध बिनय सुनि देवि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड जानी।' (अ०)। यहाँ भी वे स्वार्थवश जड होगए हैं, यह नहीं जानते कि शिवजी भगवान्‌की और ब्रह्माकी आज्ञासे बारात लेकर व्याह करने आए हैं, विवाह कैसे न करेंगे? [पंजाबीजी लिखते हैं कि 'पूर्व सतीशरीरमें अवज्ञा और शंकरजीका वैराग्य विचारकर संयोगमें संदेह था'। त्रिपाठीजी लिखते हैं— 'पाणिग्रहणके पहिले तक डर रहा कि बात बिगड़ने न पावे। परम विरक्तका व्याह है। इन्हें राजी करनेमें क्या क्या नहीं करना पड़ा। सब कुछ ठीक होने पर मेना ही मचल पड़ीं कि चाहे प्राण जाय व्याह न होने दूँगी। लोकपालोंको आतिशय विश्वास नहीं हो रहा है। 'अँधरेको आँख मिले तब जाने।' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। अतः पाणिग्रहण होनेपर ही विश्वास हुआ।']

४ 'वेदमंत्र मुनिवर उचरहीं।०' इति। (क) मुनि कृत्य करवा रहे हैं, अतः वेदमंत्र उच्चारण करते हैं। देवता अपनी अर्थसिद्धि समझकर हर्षित हुए, इसीसे जयजय करते हैं कि आप सबसे उत्कृष्ट हैं। पाणिग्रहण करके सबका कल्याण किया, इसीसे 'शंकर' कहा। (ख) पाणिग्रहणके पश्चात् जयध्वनि वेद ध्वनि होती है, सुमनवृष्टि होती है, बाजे बजते हैं; यथा 'जय धुनि बंदी वेद धुनि मंगल गान निसान। सुनि हरषहिं बरषहिं बिबुध सुरतरु सुमन सुजान। ३२४।', वही यहाँ लिखते हैं—'वेद मंत्र ', 'सुमन वृष्टि भै बिधि नाना' ['जय जय' में वीप्सा अलंकार है।—'आदर अचरज आदि हित एक शब्द बहु बार। ताही विप्सा कहत हैं जे सुबुद्धि भंडार॥' महानुभावोंने और भाव ये कहे है—१ तीन बार जयसे तीनों लोकोंम वा आदि मध्य अंत सर्वदा, वा मन वचन कर्म तीनोंसे जय सूचित की। २—'तीनों अवस्थासे जयरूप जो तुरीयस्वरूप शिवजी हैं, उनकी जय हो'—(पंजाबीजी)]।

५ पाणिग्रहण—विवाहमें कन्यादानके समय कन्याका हाथ वरके हाथमें दिया जाता है, इसीको 'पाणिग्रहण' कहते हैं। उस समयसे कन्या वरकी स्त्री हो जाती है। पाणिग्रहणके समय वरको वचन देना होता है कि हम इसके अपराध क्षमा करेंगे। पर यहाँ कन्यादान नहीं है, यहाँ समर्पण है, हाथमें हाथ पकडा कर सौंप दिया, वचनबद्ध की बात यहाँ नहीं है। इसीसे आगे मेनाजीने शिवजीसे प्रार्थना की है कि 'नाथ उमा मम प्रानप्रिय गृह किंकरी करेहु। छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसन्न बर देहु'।

बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। सुमन बृष्टि नभ भै बिधि नाना ॥ ५ ॥
हर-गिरिजा कर भएउ बिबाहू। सकल भुवन भरि रहा उछाहू ॥ ६ ॥
दासी दास तुरग रथ नागा। धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा ॥ ७ ॥
अंन कनक भाजन भरि जाना। दाइज दीन्ह न जाइ बखाना ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—बिधान=प्रकार, रीति, ढंग। बृष्टि=झड़ी। उछाह=उत्साह। जान (यान)=विमान, रथ, सवारी। दाइज=दाइजा, दहेज, वह धन और सामान जो कन्यापक्षकी ओरसे वर पक्षको दिया जाय (प्रायः जो कन्याका पिता वर वा समधीको देता है)।

अर्थ—अनेक प्रकारके बाजे तरह तरहसे बजने लगे, आकाशसे अनेक प्रकारसे भाँति-भाँतिके फूलोंकी वर्षा (झड़ी) होने लगी। ५। श्रीशिवपार्वतीजीका व्याह हो गया। समस्त लोकोंमें उत्साह आनंद भरपूर छा गया*। ६। दासी, दास, घोड़े, रथ, हाथी, गायें, वस्त्र और मणि आदि अनेक जातिकी न्यारी-न्यारी सब वस्तुएँ। ७। अन्न और सोनेके बर्तन रथों विमानों आदि सवारियोंमें भरभरकर दहेजमें दिये गए, जिनका वर्णन नहीं हो सकता। ८।

टिप्पणी—१ 'बाजहि बाजन०' इति। बाजे बहुत प्रकारके होते हैं और तरह-तरहसे बजते हैं; यथा 'झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई। बाजहिं बहु बाजने सुहाए। १। २६३।', 'सरस राग बाजहि सहनाई॥ घटघटि धुनि बरनि न जाहीं। १। ३०२।' (ख) 'सुमनबृष्टि नभ भै बिधि नाना', यथा 'बरषहि सुमन सुअंजलि साजी', 'बरषहिं सुमन रंग बहु माला', 'सुरतरु सुमनमाल सुर बरषहिं', 'देवन्ह सुमनबृष्टि झरि लाई'। यहाँ नाना विधिसे वृष्टि हुई, कोई छुट्टे फूल तो कोई मालायें और कोई सुन्दर अंजलि सजाकर इत्यादि रीतिसे पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं। (ग) (यहाँ विवाहमें सेंदूरदान, कोहबर, भाँवरी इत्यादि कई रीतियोंका होना वर्णन नहीं हुआ। इसका कारण यह जान पड़ता है कि देव विवाहमें ये रीतियाँ नहीं हैं, केवल पाणिग्रहणही पर्याप्त है।)। (घ) ☞ यहाँ देवताओंके मन वचन कर्म तीनोंका हाल कहा, तीनोंसे उनकी प्रसन्नता दिखाई। 'हिय हरषे तब सकल सुरेसा' (हर्ष मनका धर्म है), 'जय जय जय संकर' यह वचन है और तनसे फूलोंकी वर्षा की।

२ (क) 'हर गिरिजा कर०' इति। जगत् प्रकृतिपुरुषमय है, प्रकृतिपुरुषके उत्साहसे भुवन-भरमें उत्साह भर गया अर्थात् भुवन भरके सभी लोग उत्साहयुक्त हुए। मुनि लोगोंने उत्साह गाया, इसीसे भुवनमें फैल गया, सभी कोई वह सुनकर उत्साहयुक्त होते हैं। 'भरि रहा' का भाव कि उत्साह अब कभी जा न सकेगा। [तृतीयविशेष अलंकार है—(वीरकवि)]। पुनः, हर और गिरिजा नाम यहाँ देव दुःख-हरणके विचारसे दिये। हर दुःख हरनेवाले और गिरिजा परोपकारिणी। (ख) 'दासी दास तुरग०' इति। दासी दास सेवाके लिये, घोड़े रथ गज चढ़नेके लिये, धेनु दूध पीनेके लिये, वस्त्र और मणि पहिननेके लिये दिये। 'वस्तु बिभागा' का भाव कि सब वस्तुयें न्यारी-न्यारी दीं। अर्थात् प्रत्येक वस्तु कई कई प्रकारकी हैं इसीसे वस्तुका विभाग कहा। यथा 'वस्तु अनेक करिअ किमि लेखा। कहि न जाइ जानहि जिन्ह देखा।' ☞ 'दासी' अर्थात् जो श्रीपार्वतीजीकी शुचि सेविकायें थीं; यथा 'दासी दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे। ३३६। २।', 'दाइज बसन मनि धेनु धन हय गय सुसेवक सेवकी। दीन्ही मुदित गिरिराज जो गिरिजहि पियारी पेवकी।' (पा० मं० ८२)। 'रथ' को 'तुरग' और 'नागा' के बीच देहरीदीपकन्यायसे रखकर सूचित करते हैं कि घोड़े और हाथी जुते हुए रथ दिये गए एवं घोड़े हाथी अलग अलगभी दिये।

* यथा—'भैलेउ जनमफल भा बिवाह उछाह उमगहि दस दिसा। निसान गान प्रसून झरि तुलसी सुहावनि सो निसा॥' (पार्वती मंगल ८१)।

त्रिपाठीजीका मत है कि 'चतुरङ्गिणी सेना और वस्तु विभाग दिये। दासी-दाससे पदाति कहा। तुरग रथ नागसे शेष तीनों अंग कहे। और भी तीन विभाग दिये—धेनुविभाग, वसनविभाग और मणिविभाग।']

३ 'अन्न कनक भाजन भरि०' इति। अन्न भोजनके लिये और कनकभाजन वैपरने (नित्य भोजनादिके काममें लाने) के लिये दिये। [पुनः, अन्न दहेजमें दिया, क्योंकि इनको वनमें अन्नकी प्राप्ति नहीं है, यथा 'अब सुख सोवत सोच नहिं भीख माँगि भव खाहिं। सहज एकाकिन्ह के भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं। ७९।' नहीं तो लोग दहेजमें अन्न नहीं देते, यथा कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनक मनि मंडप पूरी। कंबल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहु मोल न थोरे॥ गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी॥ ३०६। ७-४।' पुनश्च 'तुरग लाख रथ सहस पचीसा। सकल सँवारे नख अरु सीसा॥ मत्त सहस दस सिंधुर साजे। जिन्हहिं देखि दिसि कुंजर लाजे। कनक बसन मनि भरि भरि जाना। महिषी धेनु बस्तु बिधि नाना। दाइज अमित न सकिय कहि दीन्ह बिदेह बहोरि॥ ३३३।', यह भाव कई महानुभावोंने 'अन्न और पात्र देनेके' लिखे हैं, माधुर्यमें यह ठीक भी हो सकता है, नहीं तो शिवजी तथा पार्वतीजीकी महिमा अभी-अभी नारदादिसे सुन जानकर यह भाव कहाँ रह सकता है कि घरमें लड़कीको अन्न खानेको न मिलेगा। बरतन तो आजभी दिये जानेकी रीति है।] चीजें अगणित हैं, कहाँ तक लिखें (और आगे श्रीसीताराम विवाहमें विस्तारसे लिखनाभी है) इसीसे कुछके नाम गिनाकर लिखते हैं कि 'न जाइ बखाना'। अर्थात् अमित है। इतनेहीमें सब कह चुके, कुछ बाकी न रह गया।

छंद— दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यो।
का देउँ पूरनकाम संकर चरनपंकज गहि रह्यो॥
सिव कृपासागर ससुर कर संतोषु सब भाँतिहि कियो।
पुनि गहे पदपाथोज मयना प्रेम परिपूरन हियो॥

दोहा—नाथ उमा मम प्रान सम* गृहकिंकरी करेहु।
छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसंन बरु देहु॥१०१॥

शब्दार्थ—पूरनकाम (पूर्णकाम)=निष्काम, जिसकी सब कामनाएँ पूर्ण हैं, किसी बातकी चाह जीमें नहीं रहगई है; आप्तकाम, सदाव्रत।=दूसरोंकी इच्छा पूर्ण करनेवाले। ससुर (श्वशुर)=पत्नीका पिता। संतोष=समाधान, सम्मान।

अर्थ—हिमाचलने बहुत प्रकारका दहेज दिया। फिर हाथ जोड़कर कहा—'हे शंकर! आप तो पूर्णकाम हैं, सबके कल्याणकर्ता हैं, मैं आपको क्या दे सकता हूँ?' (इतना कहकर वे) उनके चरण कमलोंको पकड़कर रह गए (चरण छोड़नेकी इच्छा नहीं करते)। कृपासिंधु शिवजीने सब प्रकारसे ससुरका सम्मान किया फिर (हिमाचलके छोड़नेपर) श्रीमेनाजीने (शिवजीके) चरणकमल पकड़े। (उनका) हृदय प्रेमसे परिपूर्ण है। (मेनाजी बोलीं—) हे नाथ! उमा मुझे प्राणोंके समान (प्रिय) है। इसे अपने घरकी टहलनी बनाइयेगा। अब इसके सब अपराधोंको क्षमा कीजियेगा। प्रसन्न होकर मुझे अब (यही) वरदान दीजिये। १०१।

नोट—१ 'दाइज दियो बहु भाँति' इति। कुछ छंदोंका नियम है कि वे पूर्व कहे हुए कुछ शब्दोंको प्रारंभमें दोहराते हैं। पूर्व कहा है कि 'दाइज दीन्ह न जाइ बखाना।' उसीसे यहाँ छंदका प्रारंभ किया—'दाइज दियो बहु भाँति'। अर्थात् दहेज जो पूर्व लिख आए हैं वह बहुत भाँतिका है। यदि इसको स्वतंत्र वाक्य मानें तो भाव यह होगा कि दहेज बहुत भाँतिका दिया गया, हमने उसमेंसे कुछ भाँतिका कहा है;

* सम—१६६१, ना० प्र०, गौड़जी। प्रिय—१७२१, १७६२, भा० दा०, को० र०, छ०, रा० प्र०।

यह तो इतनी भाँतिका है कि गिनाया नहीं जा सकता। भाव कि वस्तुएँ अनेक हैं और प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकार की हैं।

२ (क) 'कर जोरि' इति। यह विनम्रता दीनताकी परमा मुद्रा है। पुनः भाव कि दान करके विनय करना सम्मान है, विनययुक्त दान आदरका दान है। दान करके विनय न करना अभिमानका सूचक है। (ख) 'चरन पकज गहि रह्यो' इति। चरण पकड़के रह जाना, यह अत्यंत दीनता, व्याकुलता और प्रेम विभोरताका सूचक है। और मेनाजी प्रेमविभोर हैं, इससे वे प्रथमसे ही चरणोंपर गिरीं।

टिप्पणी—१ (क) 'शिव कृपासागर०' का भाव कि ज्योंही हिमाचल प्रार्थना करके चरणोंपर गिरे त्योंही शिवजीने उनपर बड़ी भारी कृपा की। (ख) 'का देउँ पूरनकाम' से जनाया कि हिमाचलको दहेज देनेमें संतोष नहीं हुआ, इसीसे शिवजीने उनका संतोष किया कि 'आपने हमें बहुत दिया'। (ग) 'संतोष सब भाँतिहिं किया' अर्थात् उनके दहेजकी दानकी, सेवाकी और उनकी भक्ति इत्यादि सभी बातोंकी प्रशंसा की। (घ) 'पुनि गहे पदपाथोज मेना०' इति। सास और ससुर दोनोंका शिवजीमें और शिवजीका सास-ससुरमें समान प्रेम है; इसीसे ग्रन्थकार समान भाव मान कर रहे हैं—(१) दोनोंका 'शिवचरण गहना' कहा। (२) दोनोंके साथ चरणोंको कमलका विशेषण दिया। इस तरह शिवपदकमलमें दोनोंका मधुकर समान प्रेम दिखाया। (३) सास ससुर दोनोंके नाम दिये। (४) ससुरका दहेज देकर और सासका उमा-को सौंपकर प्रार्थना करना दिखाया। (५) दोनोंका शिवजीमें ईश्वरभाव दिखाया। (६) शिवजीका दोनोंमें माधुर्यभाव रखकर दोनोंको संतोष देना कहा। यथा—

श्रीहिमाचलराज	श्रीमेनाजी
का देउँ चरनपकज २ गहि१ रहे	पुनि गहे१ पदपाथोज२ मैना
पुनि कर जोरि हिमभूधर३ कह्यो	,, मैना३
का४ देउँ पूरनकाम५ सकर	नाथ५ उमा मम४ प्रानसम गृहकिंकरी०
ससुर कर संतोष६ सब७ भाँतिहिं कियो	बहुबिधि७ संभु सासु समुझाई६

☞ मेनाजीने उमाके अपराध क्षमा करनेकी प्रार्थना की, इसीसे उनको समझाया कि 'हमने सब अपराध क्षमा किये तथा आगेभी क्षमा करते रहेंगे, (मनुष्योंके विवाहमें अपराध क्षमा करनेकी प्रतिज्ञा कन्यादानके समय होती ही है)—इसे गृहकिंकरी बनायेंगे, आप निश्शंक रहें।' हिमाचलने दहेज देकर प्रार्थना की कि 'का देउँ०', इसीसे उनका संतोष करना कहा, इस तरह कि हमने बहुत कुछ पाया।

२ 'नाथ उमा मम०' इति। (क) वर माँगती हैं अतः 'नाथ' संबोधन किया—'नाथ याचने'। (ख) नारदजीसे सुन चुकी हैं कि 'सिय बेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी'। इसीके लिये प्रार्थना करती हैं कि 'छमेहु सकल अपराध अब'। (ग) 'सकल अपराध', यथा 'भगउ मोह शिव कहा न कीन्हा' (१), 'भ्रमबस बेष सीय कर लीन्हा' (२), 'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना' (३), 'पुनि पतिबचन मृषा करि माना' (४), 'प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा' (५)। (घ) माताका स्नेह कन्यापर अधिक रहता है, इसीसे माताने कन्याके लिए प्रार्थना करके वर माँगा।

नोट—३ 'छमेहु सकल अपराध अब' इति। यहाँ पूर्वार्धमें 'नाथ उमा मम प्रान सम०' यह कन्या के लिये प्रार्थना है और उत्तरार्धमें 'छमेहु' के साथ 'सकल' और 'अब' शब्द देकर यही आशय प्रकट किया है कि पूर्व इसके अपराध आपने क्षमा नहीं किये थे (यह 'असुंदर व्यंग्य' है) इसीसे इसको इतना संकट भोगना पड़ा, 'अब' इसके समस्त अपराध जो पूर्व इससे हुए थे तथा जो आगे इससे हो जायँ उन सबोंको क्षमा करदीजिये और करते रहियेगा। 'मम प्रानसम' कहकर यह भी जनाया कि इसको दुःख होनेसे मुझे अत्यन्त दुःख होगा, अतः मेरी खातिर इसके अपराध क्षमा करते रहियेगा।—यह तो हुआ प्रसंगानुकूल अर्थ। और, साधारण अर्थ यह है कि जो अपराध इससे हो जायँ उन्हें क्षमा कीजियेगा जैसा कि प्रायः

कहनेकी रीति है। कोई कोई 'छमेहु सकल अपराध' को मेनाजीमें ही लगाते हैं। अर्थात् मेनाजी कहती हैं कि मुझसे जो अपराध हुए कि मैं आपको देखकर घरमें भागकर जा घुसी थी और आपको तथा औरोंको भी बुराभला कहडाला था, उन्हें क्षमा कीजिये।

२ 'गृहकिंकरी करेहु' और 'छमेहु सकल अपराध' यह लोकोक्ति है, साधारण बोलचाल है—सदा मुझे अपना दास समझियेगा, सब अपराध क्षमा कीजियेगा; इत्यादि। पर इनमें व्यंग्यसे कुछ विशेष भाव भी निकलते हैं। जैसे कि—श्रीनारदजी और सप्तर्षियोंने शिवजीको 'अगेह', 'अकुल अगेह दिगंबर' कहा था। मेनाजीके वचनोंसे व्यंग्यद्वारा यह भाव टपकता है कि अब तो इसके लिये घर बनाकर रहना और इसको टहलनी कर देना। यह असुंदर गुणीभूत व्यंग्य है। वैजनाथजी यह भाव कहते हैं कि घरहीमें सेवा कराना, अब अकेले न छोड़ना। बेमर्याद यह बाहर न जाने पावे क्योंकि सतीको अकेले न छोड़ते तो वे क्यों सीतावेष धारण करतीं।

३ यहाँ मेनाजी मन, वचन और तन तीनोंसे लगी हुई विनती कर रही हैं। 'प्रेमपरिपूरन हियो' से मन, 'गहि पद' से तन और 'नाथ उमा मम प्रान सम' से वचनकी दशा प्रकट है।

☞ यहाँ विवाहप्रसंगमें कहीं भी मेनाजीका शृङ्गार वर्णन नहीं किया गया। ये भी कन्यादानके समय हिमाचलके साथ रही हैं और इनका शृङ्गारभी वैसा ही था जैसा श्रीसुनयनाजीका,—यह श्रीसुनयना अंबाके शृङ्गारके समय कहा है—'सुजस सुकृत सुख सुंदरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई॥ जनक बामदिसि सोह सुनयना। हिमगिरि संग बनी जनु मैना॥ ३२३॥'—आगे वर्णन करना था, अतः यहाँ वर्णन नहीं किया।

नोट—मिलान कीजिये—'गहि सिव पद कह सासु बिनय मृदु मानबि। गौरि सजीवनिमूरि मोरि जिय जानबि। ८६।' (पार्वतीमंगल)।

बहु बिधि संभु सासु समुझाई। गवनीं भवन चरन सिरु नाई॥ १॥
जननीं उमा बोलि तब लीन्ही। लै उछंग सुंदर सिख दीन्ही॥ २॥
करेहु सदा संकर-पद-पूजा। नारिधरमु पति देउ न दूजा॥ ३॥
बचन कहत भरे* लोचन बारी। बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी॥ ४॥

शब्दार्थ—उछंग (उत्संग)=गोद। यह केवल पद्यमें आता है। नारिधर्म=पातिव्रत्य।

अर्थ—शिवजीने बहुत तरहसे सासुको समझाया (तब वे) चरणोंमें सिर नवाकर घरको गईं। १। तब (लौटनेपर) माताने उमाको बुला लिया और गोदमें लेकर सुन्दर शिक्षा दी।२। 'सदा शिवजीके चरणों की सेवा-पूजा करती रहना। स्त्रियोंके धर्ममें पति ही (उनका) देवता है, (पतिको छोड़) और कोई (देवता) नहीं है। ३। वचन कहते कहते नेत्रोंमें जल भर आया, (तब उन्होंने) फिर कन्याको छातीसे लगा लिया।४।

टिप्पणी—१ 'बहु बिधि समुझाई', यह कि (१) अपराध क्षमा करेंगे, (२)—गृह किंकरी बनायेंगे। (३)—'नाथ उमा मम प्रान सम' जो मेनाने कहा था उसके उत्तरमें कहा कि इनको किंचित् भी क्लेश नहीं होगा, तुम्हें ये प्राणसम प्रिय हैं तो हमारी भी ये प्राणप्रिया हैं। उमाके प्रेममें माता विह्वल हैं, इसीसे 'बहुबिधि' समझाया।

नोट—१ बाबा हरिदासजी 'बहु बिधि' में पाँच विधिसे समझाना लिखते हैं। एक यह कि सती नाम पतिवियोगिनीका है, इसलिये अमंगल है और मेरा नाम शिव है जो मांगलिक है। इसी परस्पर विरोध होनेके कारण उस समय वियोग हुआ। दूसरी यह कि इन्होंने उस समय माता श्रीसीताजीका रूप धारण

* भरि—१७०४, को० रा०। भरे—१६६१, १७२१, १७६२।

किया था, यदि हम भक्तिपथका त्याग करते तो जगत्भर भ्रष्ट मार्ग धारण कर लेता, इसलिए सतीको त्यागना पड़ा। तीसरी यह कि ब्रह्माकी सभामें दक्षके नाश होनेके लिये नन्दीका शाप हुआ था, बिना हमसे वियोग हुए दक्षका नाश कैसे होता? अतः वियोग हुआ। चौथी यह कि तुम दोनों स्त्रीपुरुषने आदिशक्तिको पुत्रि रूपमें पानेके लिये बड़ा तप किया था, उसकी पूर्ति बिना सतीतनत्यागके नहीं होती, इसीसे वियोग हुआ। पाँचवीं यह कि शैल परोपकारी हैं। गंगा आदि इसीसे निकलकर जगत्के पाप हरती हैं। अतः जगत्का उपकार करनेके लिए ये शैलसुता हुई हैं, आगे रामकथाकी श्रोता बनकर जगत्का उपकार करेंगी। २—प० शुकदेवलालजी 'बहु बिधि' समझाना यह लिखते हैं कि 'अपने भाग्यको धन्य मानो कि तुम्हारे यहाँ सब देवताओंने आकर तुमको दर्शन दिया। हम पार्वतीपर कदापि रुष्ट नहीं होनेके, तुम चिंता न करो। हमारा जो वेष तुम देखती हो यह तो हम केवल असुरोंको मोहित करनेके लिए भगवान्‌की आज्ञासे बनाए रहते हैं, यह हमारा वास्तविक रूप नहीं है। इत्यादि।' ३—जो 'छमेहु सकल अपराध अब' को मेनामें लगाते हैं उनके अनुसार भाव यह होगा कि हमारा वेष ही ऐसा है कि साधारण लोग इसे देखकर डर जाते हैं, आप जो डरकर भाग गई थीं, यह स्वाभाविक बात है, इसमें आपका दोष क्या? हम तो उसको कभी मनमें नहीं लाये।

टिप्पणी—२ (क) 'गवनीं भवन' से जनाया कि महलके बाहर निकल आई थीं। समझानेसे प्रसन्न हुई तब प्रणाम करके भवनको गई। उमाजीको पातिव्रत्य धर्मकी शिक्षा देनेके लिये शीघ्रतासे गई। (ख) 'जननीं उमा बोलि' इति। शिवजीसे उमाजीके लिये प्रार्थना की, अब उमाको शिवसेवाका सिखापन देती हैं। (ग) 'लै उछंग०'—गोदमें बैठाया, यह स्नेहका आधिक्य है, यथा 'अधिक सनेह गोद बैठारी'। (घ) 'संकर पद पूजा' का भाव कि कल्याणकर्ताके पूजनसे तुम्हारा कल्याण है। (ङ) 'नारि धरम०'। पति पदकी पूजा सदा करना यह कहकर उसका कारण उत्तरार्धमें बताती हैं कि स्त्रीको पतिदेव छोड़ दूसरा धर्म नहीं है। 'एकै धरम एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा।' (आ०) [भाव यह कि उसका मुख्य धर्म यही है कि पतिहीको एकमात्र अपना उपास्य और आराध्य देव माने। पर यह स्मरण रहे कि भगवानकी भक्ति स्त्रियोंको भी कही गई है। भगवानका आराधन परम धर्म है, ऐसा न होता तो गोपिकाओंके प्रेमकी प्रशंसा नारदजी भक्तिसूत्रमें न करते, श्रीपार्वतीजी रामनाम न जपतीं, वामदेवजीसे वैष्णवदीक्षा न लेतीं। श्रीमीराजी, रत्नावतीजी, कुन्तीजी, द्रौपदीजी, करमैतीजी इत्यादि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं]

'बचन कहत भरे०' इति। सिखापन दे चुकीं, अब वचन कहती हैं। पहिले गोदमें लिये रहीं, अब अत्यन्त स्नेहवश होकर कुमारी वा पुत्रिभावसे उरमें लगा लिया, ऐश्वर्य भूल गया जो नारदसे सुना था। दुःखकी बात जब कहने लगीं तब नेत्रोंमें जल भर आया। [☞ 'लाइ उर लीन्हि' यह करुणरसकी परिपूर्णता जनाता है। कुछ लोग कहते हैं कि हृदयसे लगाकर जनाती हैं कि तनसे तो वियोग हो रहा है पर हृदयसे न जाना। (प्र० सं०)। श्रीसीताजीकी विदाईके समय उन्हें शिक्षा दी गई थी कि 'सास ससुर गुर पूजा करेहू। पतिरुख लखि आयसु अनुसरेहू।', पर यहाँ ऐसी शिक्षा नहीं दी गई, क्योंकि यहाँ तो सास, ससुर और गुरु तीनोंका अभाव है। (वि० त्रि०)]

कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुखु नाहीं॥ ५॥
भै अति प्रेम बिकल महतारी। धीरजु कीन्ह कुसमय बिचारी॥ ६॥
पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेमु कछु जाइ न बरना॥ ७॥
सब नारिन्ह मिलि भेटि भवानी। जाइ जननि उर पुनि लपटानी॥ ८॥

शब्दार्थ—कत = किसलिये, क्यों। सृजना = उत्पन्न करना, रचना। भेंटना = गले वा छातीसे लगकर मिलना।

अर्थ—जगत्‌में विधाताने स्त्रियोंको क्यों बनाया? पराधीनको तो स्वप्नमें भी सुख नहीं। ५। माता प्रेममें अत्यन्त व्याकुल हो गईं। कुसमय विचारकर उन्होंने धैर्य धारण किया। ६। बारंबार मिलती हैं और चरणोंको पकड़कर पैरोंपर गिर पड़ती हैं। अत्यन्त प्रेम है, कुछ वर्णन नहीं किया जाता। ७। श्रीपार्वतीजी सब स्त्रियोंसे मिल भेंटकर माताके हृदयसे फिर जा लपटीं। ८।

टिप्पणी—१ 'कत बिधि सृजीं०' इति। भाव कि स्त्री सदा पराधीन ही रहती है। 'सुख नाहीं' अर्थात् पराधीनतामें सर्वथा दुःख ही दुःख है। ☞ हितोपदेशमें पराधीनको मृतकसमान कहा है; यथा 'ये पराधीनता यातास्ते वै जीवन्ति के मृताः।' स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रता ही बिगड़ना कहा गया है, यथा 'जिमि सुतंत्र होइ बिगरहिं नारी' (कि०)। कन्या बालपनेमें मातापिताके अधीन है, वे जहाँ चाहे व्याह करें, व्याहके बाद युवावस्थामें पतिके अधीन है, वह जैसे चाहे तैसे रक्खे। और वृद्धावस्थामें पुत्रके अधीन है। यह मनुका वचन है।—'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। वार्द्धके तु सुतो रक्षेत् न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥' स्त्री पराधीन रहती है, इस कथनका भाव यह है कि अब पतिके अधीन रहकर पतिकी सेवा करना। [पुनः भाव कि विधिप्रपंच गुण और दोष मिलाकर बना है। इसमें सुख भी है और दुःख भी। पर स्त्रियोंको तो स्वप्नमें भी सुख नहीं। उसको सदा पराधीन रहना पड़ता है। कारण कि स्त्रीमें स्वतन्त्रताकी योग्यता नहीं है। उसके शरीरका संगठन ऐसा है कि उसे सदा रक्षाकी आवश्यकता रहती है। स्वतंत्र रहनेसे बिगड़ जाती है। उमाको विदा कर रही हैं, अतः स्त्रीजातिकी परवशतापर आक्षेप करती हैं। (वि० त्रि०)]

२ (क) 'भै अति प्रेम०' इति। 'कुसमय बिचारी' अर्थात् रुदन करने या व्याकुल होनेका समय नहीं है। मंगल समयमें आँसू न बहाना चाहिए। [पुनः, 'कुसमय' है अर्थात् दुःखका समय नहीं है, मंगलका समय है। या, यह विचारकर कि करुणावश होनेसे समयके व्यापार बिगड़ जायँगे। कन्याभी दुःखित होगी। (वै०)] (ख)-'पुनि पुनि मिलति०' इति। प्रेममें नेम नहीं रहजाता, इसीसे चरणोंमें पड़ती हैं। प्रेम कहते नहीं बनता (अकथनीय है), यथा 'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥' ☞यहाँतक माताका प्रेम पार्वतीप्रति दिखाया। आगे पार्वतीजीका प्रेम माताप्रति दिखाते हैं। (ग) प्रथम उमाको गोदमें बिठाया, फिर हृदयमें लगा लिया, अत्यन्त प्रेममें बिकल होगई तब धीरज धरा। अर्थात् उमाको गोदसे उतारकर भेंटने लगीं। जब भेंटने लगीं तब पुनः परमप्रेमको प्राप्त हुईं। (घ) पुनः पुनः मिलती हैं, पुनः पुनः चरणोंमें पड़ती हैं। चरणोंमें पड़पड़कर भेंटनेकी विधि नहीं है, इसीपर आगे लिखते हैं कि परम प्रेम है, प्रेमके ही कारण बिकल हैं; यथा 'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥ दिसि अरु बिदिस पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥' [(ङ) पुनः, 'मिलति परति' से दो भाव दरसाए। माधुर्यमें वात्सल्यभावसे मिलती हैं। जब ऐश्वर्य स्मरण हो आता है तब पैरो पड़ने लगती हैं, प्रणाम करती हैं, चरण पकड़ लेती हैं]।

३ 'सब नारिन्ह मिलि भेटि०' इति। (क) 'मिलि' 'भेटि' दोनोंका एकही अर्थ है, यहाँ दोनों शब्द लिखनेका तात्पर्य यह है कि सब स्त्रियोंसे दो-दो बार मिलीं। (ख) 'सब' से मिलने भेंटनेका भाव कि पार्वतीजी सुशीला हैं, सयानी हैं, सबका मान रखती हैं, व्यवहार यथार्थ बरतती हैं; इसीसे सब स्त्रियोंने प्रसन्न होकर आसिष दिया। (ग) मातासे दो बार भेंटीं; प्रथम आदिमें सबसे पहिले और फिर सबसे पीछे अन्तमें, 'पुनि पुनि मिलति०' और 'जननिहि बहुरि मिलि०'। बीचमें सब स्त्रियोंसे भेंटीं। यह भेंटनेका क्रम है, अतः इसी क्रमसे गुसाईंजीने लिखा। (घ) 'जाइ जननि उर पुनि लपटानी' से पाया गया कि प्रेममें मतवाली हो जाती थीं तब पुनः पुनः मिलती चरणोंपर पड़ती थीं और पार्वतीजीभी तब माताके उरमें पुनः पुनः लपट जाती रहीं। पुनः, भाव कि माता पुनः पुनः मिली, इसीसे पार्वतीजीभी मातासे पुनः पुनः मिलती हैं।

नोट—मिलान कीजिए। 'भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुँचावहिं। हुँकरि हुँकरि सुलवाइ धेनु जनु धावहिं। उमा मातु मुख निरखि नयन जल मोचहिं। नारि जनम जगु जाय सखी कहि सोचहिं। ८७'।

(पार्वती मंगल)।

छंद—जननिहिं बहुरि मिलि चलीं उचित असीस सब काहूँ दईं।
फिरि फिरि बिलोकति मातुतन तब सखीं लै शिव पहिं गईं॥
जाचक सकल संतोषि संकरु उमासहित भवन चले।
सब अमर हरषे सुमन बरषि निसान नभ बाजे भले॥

दोहा—चले संग हिमवंतु तब पहुँचावन अति हेतु।
बिबिध भाँति परितोषु करि बिदा कीन्ह बृषकेतु॥ १०२॥

शब्दार्थ—जाचक (याचक)=मँगता, भिक्षुक। 'संतोषि' अर्थात् इतना दान दिया कि अघागए फिर माँगनेकी चाह न रह गई, यथा 'जाचक सकल अजाचक कीन्हे।' 'हेतु'=प्रेम, यथा 'भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाए। छरस असन अति हेतु जेंवाए॥', 'अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू। प्रगटेउ बिषम बान झषकेतू'। परितोष=प्रसन्न, संतोष, खुश। इच्छा पूर्ण होनेसे जो प्रसन्नता हो। बिदा कीन्ह=लौटनेकी आज्ञा दी, लौटाया, रुखसत किया।

अर्थ—(पार्वतीजी) मातासे फिर मिलकर चलीं, सब किसीने उन्हें यथायोग्य आशीर्वाद दिये। वे घूमघूमकर पीछे माताकी ओर देखती जाती हैं। तब सखियाँ उनको शिवजीके पास ले गईं। सब याचकोंको संतुष्टकर शिवजी पार्वती सहित अपने घर कैलासको चले। सब देवता फूलोंकी वर्षा कर करके प्रसन्न हुए। आकाशमें भली भाँति (धमाधम) नगाड़े बजने लगे। तब हिमाचल अत्यंत प्रेमसे पहुँचानेके लिये साथ चले। वृषकेतु श्रीशिवजीने अनेक प्रकारसे परितोष करके उनको बिदा किया। १०२।

टिप्पणी—१ (क) 'जननिहि बहुरि मिलि०' इति। मातासे भेंट करके जब चलीं तब स्त्रियोंने आसिष दिया। तात्पर्य यह कि अब सब जानगईं कि ये सबसे मिलभेंट चुकीं, कोई बाकी नहीं रहा, अब ये न लौटेंगी, इससे इस समय आसिष दिया। (ख) उचित असीस स्त्रियोंके लिये अहिवातकी अचलता है; यथा 'सदा सुहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहिसीस', 'अचल होहु अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जलधारा'। (ग) 'फिरि फिरि बिलोकति०' इति। फिरिफिरि देखनेका भाव कि जब सखियाँ उमाजीको शिवजीके पास लेगईं तब माता पीछे होगईं; इसीसे फिरफिरकर देखती हैं। 'फिरि फिरि' यह कि कुछ दूर चलती हैं फिर माताको देखती हैं, फिर चलती हैं, कुछ दूर चलकर फिर पीछे देखती हैं। पुन भाव कि सखियाँ अब उनको माताके पास नहीं आने देतीं, अतः 'फिरिफिरि बिलोकत' * (घ) 'सखी लै गईं' अर्थात् माता और सब स्त्रियाँ वहीं रहगईं।

२ (क) 'जाचक सकल संतोषि संकरु' इति। जब उमाजी पास आगईं तब उनके कल्याणार्थ शिवजीने दान पुण्य किया। याचक तो आपको सदाही अत्यंत प्रिय हैं, यथा 'जाचक सदा सुहाहीं' इति

---

१ जननी—१७०४। २ मिल-१६६१। ३ जब-१७२१, १७६२, छ०, को. रा.। सब-१६६१, १७०४, रा. प्र.। ४—'न' का 'ने' या 'न' पर चिह्न देकर हाशियेपर महीन कलम या नियसे 'हि' बनाया है। राशावाले हाथका बनाया जान पड़ता है। १६६१में ।, १७०४ मे भवन है। भवनहि-१७२१, १७६२, को०रा०।

* १ लोकरीति भी है कि कन्या बिदा होते समय पीछे फिरफिरकर देखती है। ऐसा न करनेसे अपवाद होता है कि अरे! यह तो पहिलेसेही पतिको पहिचानती थी। २ प०—(क) इससे अपनी कृतज्ञता जनाती हैं कि तुम्हारे यहाँ यह शरीर हमें मिला जिससे बिछुड़ेहुए पति फिर मिले। (ख) कृपादृष्टि डालती हैं कि तुम्हारा घर सदा श्रीसे पूर्ण रहेगा, देवता, मुनि आदि यहाँ बराबर वास करेंगे। इस कृपा दृष्टिका फल है कि नरनारायण वहाँ सदा विराजते हैं, उद्धवादि संत वहाँ जातेथे।'

विनये, और यहाँ तो याचकोंके लिये समयही है। (ख) 'उमासहित भवन चले' इति। सकल याचकोंको संतुष्ट कर उमासहित चलना कहकर सूचित किया कि इतने अधिक याचक थे और इतना अधिक दान दिया; जिसने जो और जितना माँगा उससे भी अधिक देकर उनको तृप्त करके चले। पुनः यह कि जितना कुछ दहेज मिला वह सब वहीं दान कर दिया। हिमाचलकी दीहुई वस्तुओंमें उमाजीही बाकी रहगई सो उन्हें लेकर घरको चले। यह भाव 'उमासहित भवन चले' का दिखानेके लिये ही 'सुरन सहित चले', 'गनन सहित चले' ऐसा कुछ भी न कहा। (ग) 'भवन' अर्थात् कैलासको चले; यथा—'भवन कैलास आसीन कासीं) (विनय)। आगे इसी अर्थको स्पष्ट कर दिया है,—'जबहि संभु कैलासहि आए'।

३ (क) 'सब अमर हरषे सुमन०' इति। देवता लोगोंने समय जानकर फूल बरसाए, यथा—'समय-समय सुर बरषहिं फूला'। यात्रामें मंगलकेलिये पुष्पकी वृष्टि होती है, यथा 'बरषहिं सुमन सुमंगल दाता। ३०२।४।', 'सुर प्रसून बरषहिं हरषि करहिं अपछरा गान। चले अवधपति अवधपुर मुदित बजाइ निसान। ३३६।' और चलनेकी तैयारी करनेपर निसान बजाए जाते हैं; यथा 'चली बरात निसान बजाई। मुदित छोट बड़ सब समुदाई।३४३।७।' यात्रा समय हर्ष मंगलसूचक है, यथा—'चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा' (सुं०)—ये समस्त बातें शुभ मंगलमय यात्राकी द्योतक हैं। पुनः, जब शंकरजी उमासहित भवनको चले तब सबको हर्षका कारण यह हुआ कि अब तारकासुर मारा जायगा। कामदेवके भस्म होनेपर सब देवता बहुत दुःखी और सभीत थे—'हरषे सुर भए असुर सुखारी'। वह डर अब दूर हुआ, असुरबधकी प्रतीति हुई। (ख) ☞ हिमाचलने प्रथमदिन बारातको खिलाया और दूसरे दिन व्याह करके बिदा कर दिया, इससे जाना गया कि देवताओंमें ऐसीही चाल है। [परन्तु 'पार्वतीमंगल' में विवाहके पश्चात् जेवनार हुई और फिर बिदाई हुई। यथा 'लोक बेद बिधि कीन्ह जल कुस कर। कन्यादान संकलप कीन्ह धरनीधर। ७६।…जेइँ चले हरि दुहिन सहित सुर भाइन्ह। भूधर भोर बिदा कर साज सजाएन्ह। ८५।'] (ग) 'बाजे भले' अर्थात् गहगहाकर बजे।

४ (क) 'चले संग हिमवंतु तब०' इति। अर्थात् जब उमासहित शिवजी भवनको चले तब। (ख) ☞ मेनाजी भवनसे बाहर आईं और भेंट करके फिर भवनमें गईं अर्थात् जैसा स्त्रीको उचित है वैसा मेनाने किया। और हिमाचल बरको पहुँचानेको पुरके बाहरतक गए। अर्थात् जैसा पुरुषोंको चाहिये वैसाही इन्होंने किया। (ग) 'अति हेतु'=अत्यन्त स्नेहसे; यथा 'हरषे हेतु हेरि हर ही को'। (घ) 'बिबिध भांति परितोष करि' अर्थात् जैसे पूर्व बहुत तरह समझाया था वैसेही अब फिर बहुत तरह समझाया; सेवा, भक्ति, दान, दहेज इत्यादिकी प्रशंसा की। (ङ) 'पहुँचावन चले' कहकर 'बिदा कीन्ह' कहनेका भाव कि पहुँचानेकेलिये साथ न ले गए, वहींसे अथवा कुछ दूर चलकर निकटसेही लौटा दिया। ऐसा करनेमें 'वृषकेतु' कहा, अर्थात् धर्मकी ध्वजा हैं, ऐसा करना धर्म है। ☞ बिवाह प्रसंगमें आदि और अंत दोनोंमें देवताओंका हर्ष, पुष्प-वृष्टि, बाजोंका बजना कहकर बारातके प्रसंगको संपुटित किया है। बारात चलनेके प्रथम 'हरषे मुनि सब सुर समुदाई॥ सुमन वृष्टि नभ बाजन बाजे।' ६१ (७-८) उपक्रम है, और बारात बिदा होनेपर 'सब अमर हरषे सुमन बरषि निसान नभ बाजे भले' यह उपसंहार है।

तुरत भवन आए गिरिराई। सकल सैल सर लिए बोलाई॥ १॥
आदर दान बिनय बहु माना। सब कर बिदा कीन्ह हिमवाना॥ २॥
जबहिं संभु कैलासहिं आए। सुर सब निज निज लोक सिधाए॥ ३॥
जगतमातुपितु संभु-भवानी। तेहिं सिंगारु न कहउं बखानी॥ ४॥

शब्दार्थ—शृङ्गार=नख शिख शोभा; शरीरकी चित्ताकर्षक सजावट, इत्यादि। स्त्रियोंके शृङ्गार सोलह कहे गए हैं—अंगमें उबटन लगाना, नहाना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, बाल सँवारना, काजल लगाना, सेंदूरसे माँग भरना, महावर देना, भालपर तिलक लगाना, चिबुकपर तिल बनाना, मेंहदी लगाना, अरगजा,

आदि सुगंधित द्रव्योंका प्रयोग करना, आभूषण पहनना, फूलोंकी माला धारण करना, पान खाना, मिस्सी लगाना।—'अंग शुची मंजन वसन माँग महावर केश। तिलक भाल तिल चिबुकमें भूषण मेंहदी वेश॥ मिस्सी काजल अर्गजा बीरी और सुगंध। पुष्पकलीयुत होय कर तब नवसप्त निबंध।' ☞यहाँ नखशिख-शोभाके साथ साथ महती सम्भोगलीला भी 'सिंगार' शब्दसे अभिप्रेत है।

अर्थ—गिरिराज हिमाचल तुरंत घर आए और सब पर्वतों और तालावोंको बुला लिया। १। बहुत आदर, सम्मान, दान और विनयसहित सबकी विदाई हिमवान्‌ने की। २। (इधर) जैसेही शिवजी कैलासपर आए (वैसेही) सब देवता अपने अपने लोकोंको चलते हुए। ३। भवानी और शिवजी जगत्‌के माता पिता हैं, इसीसे मैं उनका शृङ्गार बखानकर नहीं कहता। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'तुरत भवन आए०'। बारातियोंके बाद घराती वा जनातीकी विदाई होती है। पाहुने, संबंधी, इष्टमित्र अपने यहाँ बारात आनेके बहुत पूर्वसे टिके हुए हैं, अतः 'तुरत' आकर इनको विदा किया। (ख) 'सकल सैल सर' इति। 'सैल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं॥ बन सागर सब नदीं तलावा। हिमगिरि सब कहुँ नेवत पठावा॥' यह ६४ (३-४) में कहा है पर यहाँ केवल 'सैल सर' का नाम दिया गया। इससे यह न समझो कि 'केवल इन्हीं दोकी विदाई हुई, वा केवल यही दो बुलाए गए थे, अतः पूर्वापर विरोध है।' निमंत्रण भेजनेमें 'सैल' को आदिमें और 'तलावा' (=सर) को अंतमें कहा, इनके बीचमें 'बन सागर सब नदी तलावा' को कहा था। ग्रन्थकारने यहाँ विदा करनेमें आदि और अंतके नाम ग्रहण करके मध्यवेभी सभी नामोंका ग्रहण सूचित कर दिया।

२ (क) 'आदर दान बिनय बहु माना०' इति। यथा 'सनमानि सकल बरात आदर दान बिनय बड़ाइ कै। ३२६।' [यहाँ चार प्रकारसे विदाई कही है। जिनकी लड़की अपने यहाँ ब्याही है, जो अपने यहाँका कुछ ले नहीं सकते उनका आदर; छोटों और विप्रोंको दान, बड़ों और मुनियोंसे विनय और मान्य (जिनके यहाँ अपने घरकी कन्या ब्याही है उन) का मान किया। अथवा, सबका सब प्रकार आदर दान मान आदि किया। सम्मान दान सब दानोंसे बड़ा है।] (ख) 'सब कर बिदा कीन्ह' इति। भाव कि सबको न्योता भेजा था, यथा 'हिमगिरि सब कहुँ नेवत पठावा।' इससे 'सबको' विदा करना कहा। 'विदा कीन्ह' का भाव कि पाहुने बिना विदा किये विदा नहीं होसकते। आज्ञा लेकरही जाना होता है; यथा 'चलेउ पवन सुत बिदा कराई'। (ग) 'बिदा कीन्ह हिमवान' का भाव कि स्वयं अपनेसे विदा किया, राजा होकरभी निरभिमान हैं, दूसरेसे विदा करा देते ऐसा नहीं किया।

३ (क) 'जबहिं संभु कैलासहि आए०' इति। भाव कि बाराती शिवजीको घरतक पहुँचाकर तब विदा हुए। इस चौपाईका सम्बन्ध ऊपरके 'जाचक सकल संतोषि सकरु उमासहित भवन चले' से है। वहाँ 'भवन चले' यहाँ 'भवन (कैलास) में आए',—'भवन कैलास आसीन कासी।' सूचीकटाहन्यायानुसार प्रथम हिमाचलका भवनमें आकर सबको विदा करना कहकर तब शिवजीका कैलासपर आना और विहार इत्यादि वर्णन करते हैं। (ख) 'सुर सब निज निज लोक सिधाए' इति। [यहाँ शिवजीका देवताओंको विदा करना न लिखकर 'सब सिधाए' कहा। भाव यह कि हिमवान्‌ने तो सबको न्योता दिया था इससे सबको बिदाभी किया और यहाँ शिवजीने किसीको निमन्त्रण तो दिया न था। सब देवता अपनेसेही बारात सजकर साथ चले थे। ब्रह्मा विष्णु आदिहीने तो शिवजीको दूलह बनाया था। अतः इनकी बिदाईभी न कही गई। जैसे स्वयं बाराती बनकर बारात लेगए वैसेही स्वयं चलेभी गए]। अथवा, यहाँ विदाईका प्रसंग चल रहा है, विदाईका समय है। मेनाने पार्वतीजीको बिदा किया, वृषकेतु शिवजीने हिमाचलको विदा किया, हिमाचलने बरातियों और घरातियोंको बिदा किया। इसी तरह यहाँ महादेवजीने देवताओंको विदा किया। तब वे सिधाए। [स्कंद पु० के अनुसार शिवजीने देवर्षि नारदद्वारा भगवान विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्रादि देवताओंको बारातमें चलनेके लिये कहला भेजा था। पूर्व इस विषयमें लिखा जा चुका है]

४ 'जगतमातु पितु०' इति। (क) मातापिताका शृङ्गार पुत्रको कहना अनुचित है। जगत्‌के माता पिता हैं, यथा रघुवंशमहाकाव्ये 'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ'। यह कहकर जनाया कि जगत्‌मात्रके कवियोंको शंभुभवानीका शृङ्गार कहना अनुचित है। (ख) यहाँ 'मातु पितु संभु भवानी' यथासंख्य नहीं है।'पाठकमादर्थक्रमोबलीयान्'। (ग) यहाँ प्रथम 'मातु' कहनेका भाव कि शृङ्गार न कहनेमें माता मुख्य है, माताका शृङ्गार न कहना चाहिये। (घ) 'तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी' का भाव कि यहाँ शृङ्गार कहनेका प्रयोजन था। स्त्री पुरुषकी क्रीडाका वर्णन शृङ्गार कहलाता है। जैसी महादेवपार्वतीजीने कामक्रीडा की वैसा ग्रन्थकार न वर्णन कर सके। [स्मरण रहे कि भगवान् शंकरनेभी इस समय अत्यन्त सुन्दर रूप धारण करके सुरतारंभ किया। स्कंद पुराणका मत है कि दंपति महान् क्रीडाके लिये गधमादनपर्वतके एकान्त प्रदेशमें चले गए थे। पर मानसकल्पकी कथामें यह विहार कैलासपर हुआ। वैजनाथजी लिखते हैं कि यह कविकी उक्ति है। इनका शृङ्गाररसमय चरित कहनेमें लज्जा लगती है। यह अश्लील दूषण विचारकर न कहा—'व्रीडाजुगुप्साऽमंगलव्यंजकत्वातश्लीलं त्रिधेति' काव्यप्रकाशे। अर्थात् लज्जा, घृणा तथा अमंगलका व्यंजक होनेसे अश्लील दोष तीन प्रकारका है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि शम्भुशुक्रसम्भूत सुतकी इस समय बड़ी आवश्यकता थी, अतः शृङ्गाररसका विधान बड़े विस्तारसे हुआ, जिसे देखकर भगवान् नन्दिकेश्वरने कामशास्त्रकी रचना की।]

करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा॥ ५॥
हरगिरिजा-बिहार नित नयऊ। एहि बिधि बिपुल काल चलि गयऊ॥ ६॥
तब जनमेउ† षटबदन कुमारा। तारकु असुरु समर जेहि मारा॥ ७॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। षन्मुख जन्मु सकल जग जाना॥ ८॥

शब्दार्थ—*भोगबिलास=आमोदप्रमोद, रतिक्रीडा। भोग=सुख। बिलास=मनोविनोद; आनंदमय क्रीडा; प्रेम सूचक एवं प्रसन्न करनेवाली क्रियायें। बिहार=संभोग; रतिक्रीडा। षन्मुख (षण्मुख) = छः मुख वाले कार्त्तिकेयजी।*

अर्थ—श्रीशिवजी और गिरिजाजी विविध प्रकारके भोगविलास करते हैं, गणोंसहित कैलासपर बसते हैं। ५। इनका नित्य नया विहार होता था। इस प्रकार बहुत समय बीत गया। ६। तब छः मुखवाले 'कुमार' नामक पुत्रका जन्म हुआ, जिसने तारकासुरको संग्राममें मारा। ७। वेद, शास्त्र और पुराणोंमें षट्‌मुखके जन्म (की कथा) प्रसिद्ध है, सारा संसार जानता है। अर्थात् लोक और वेद दोनोंमें प्रसिद्ध है। ८।

टिप्पणी—१ 'करहिं बिबिध बिधि भोगबिलासा' इति। इस समय शिवजी प्रवृत्तिमार्गको ग्रहण किये हुये हैं, वही यहाँ कहते हैं—जैसे प्रवृत्तिमार्गवाले अनेक प्रकारका भोगविलास करते हैं वैसेही शिवजी 'करहिं बिबिधबिधि भोगबिलासा।' (१); प्रवृत्तिवाले अपने गण समेत अपने घरमें रहते हैं, वैसेही शिवजी 'गनन्ह समेत बसहिं कैलासा।' (२); प्रवृत्तिवाले अपनी स्त्रीके संग बिहार करते, वैसेही 'हर गिरिजा बिहार नित नयऊ।' (३); प्रवृत्तिवाले पुत्र उत्पन्न करते हैं वैसेही यहाँ 'तब जनमेउ षटबदन कुमारा।' (४); वे विवाह करते हैं वैसेही यहाँ 'हरगिरिजा कर भयउ बिबाहू' (५)। पुनः भाव कि तप नहीं करते भोगविलास करते हैं, गण उनकी सेवा करते हैं, निर्जन स्थानमें नहीं रहते बरन कैलास दिव्य स्थानमें रहते हैं, अब कहीं विचरते नहीं। (उत्तरकांड दोहा ५६ में शिवजीने कहा है कि प्रियाके वियोगमें वैराग्यवान् होकर गिरि बन आदिमें अकेले विचरते थे। इसीसे यहाँ अब प्रियसंयोग होनेपर उस दशाका त्याग कहा। वि० त्रि० लिखते हैं कि भोगविलासकी विस्तृत विधि है, कामशास्त्रमें उसका उल्लेख है। जिसने कामशास्त्र नहीं देखा उसे क्या मालूम ? पशुकी भाँति सन्तति उत्पन्न कर लेना दूसरी बात है।]

† १६६१ में 'जनमेउ' है।

२ (क) 'हर गिरिजा बिहार नित नयऊ' इति। पुराणोंमें लिखा है कि महादेवजीने कई हजार वर्ष रातदिन भोगविलास किया तब कार्त्तिकेयका जन्म हुआ। (ख) 'बिपुल काल चलि गएऊ' का भाव कि भोगविलास तथा विहारमें बहुत दिन बीत गए, कुछ जानही न पड़ा। श्रीशिवजी योगकी अवधि हैं और भोगकीभी अवधि हैं, यथा 'श्रुतिपथपालक धरमधुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर। ७।२४।२।' (यह श्रीरघुनाथजीके सबधम कहा गया है।) विपुल काल बीत गया, पर विहारसे तृप्ति नहीं होती, यथा 'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषयभोग बहु घी तें' (विनय)। इसीसे 'नित नयऊ' कहा अर्थात् जैसे घी पड़नेसे अग्नि बढ़ती है वैसेही विषयभोगसे कामाग्नि बढ़ती है। (नित नव विहार पर कालिदासने 'कुमारसंभव' लिख डाला, परन्तु ग्रन्थकारने इसे अनुचित समझकर दिग्दर्शनमात्र कर दिया। वि० त्रि०)।

३ 'तब जनमेउ षटबदन कुमारा॰' इति। (क) प्रथम भोगविलास करना कहा, फिर गिरिजासंग विहार करना कहकर तब षट्वदनका जन्म, क्रमसे यह सब वर्णन किया गया। पंचमुख महादेवजी एकमुख पार्वतीजी, दोनोंके संगसे षट्मुख कुमार हुए। षट्वदनका नाम 'कुमार' है, मुद्रालंकारसे यह भी यहाँ जना दिया है। (ख) षट्मुखका जन्म तारकासुर-वधहेतु हुआ। इसीसे षट्वदनका जन्म और तारकासुरका वध साथही कहा। आगे फिर जन्म और तारकासुरके वधका हाल कहते हैं कि ये दोनों बातें लोकवेदप्रसिद्ध हैं। (ग) 'तारक असुरु समर जेहिं मारा' यह देवकार्यकी सफलता गाई। (घ) 'समर मारा' का भाव कि छल करके अथवा और कोई उपाय करके नहीं मारा, सम्मुख लड़कर मारा। (ङ) ☞ षट्मुखका जन्म कई प्रकारसे मुनियोंने कहा है। सबका मत रखनेके लिये कोई प्रकार यहाँ नहीं लिखा।

४ 'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना॰' इति। (क) इन तीन ग्रन्थोंका प्रमाण वक्ता प्रायः देते हैं, यथा 'नाना पुराणनिगमागमसम्मतं यद्', 'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान।' इत्यादि। ये तीनों जगत् में प्रसिद्ध हैं तथा इन तीनोंमें षडाननजन्म प्रसिद्ध है। इसीसे सब जगत् जानता है। अतएव पहिले तीनोंमें प्रसिद्ध होना कहकर सब जगत्‌का जानना कहा। ☞ देखना चाहिये कि कहाँ-कहाँ है। मत्स्यपुराणमें विस्तारसे जन्मकथा है। भारतमें तो 'कार्त्तिकेयपर्व' ही एक पर्व है।

नोट ☞ 'षटबदनकुमारा'।—इनके छः मुख थे इससे षडानन नाम पड़ा। जन्मकी कथाएँ वाल्मीकीय बालकांड सर्ग ३६, मत्स्यपु० अ० १५८, महाभारत वनपर्व, पद्म पु० सृष्टि खंड, स्कंद पुराण मा० के० खंडादिमें विविधप्रकारसे दी हुई हैं। शिवपार्वतीजीको भोगविलास करते हुए सौ या सहस्र वर्ष बीत गए तब इनका जन्म हुआ। वाल्मीकीयके मतसे दिव्य सौ वर्षतक विहार हुआ, यथा—'दृष्ट्वा च भगवान्देवीं मैथुनायोपचक्रमे। तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः। शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम्॥ १। ३६। ६।' और मत्स्य पु० के अनुसार सहस्र वर्ष हुआ, यथा 'विश्रुतः क्रीडतीत्युक्त ययुस्ते च यथागतम्। २२।…गते वर्षसहस्रे तु देवास्त्वरितमानसाः॥ २३। अ० १५८।' कृत्तिकाओंने इनको पाला। (स्कं० पु० के अनुसार कृत्तिकाओंने अग्निद्वारा शंकरजीके वीर्यको धारण किया) इसलिये अथवा पद्म पु० के अनुसार कृत्तिकाओंने श्रीपार्वतीजीको सरोवरका जल पीनेको दिया और उनसे वचन ले लिया कि उनका पुत्र कृत्तिकाओंके नामसे (कार्तिकेय) प्रसिद्ध हो, वा कृत्तिका नक्षत्रमें जन्म होनेसे इनका नाम कार्तिकेय या स्वामिकार्तिक हुआ। तेजके स्कन्न होने, गंगाजी और अग्निके धारण करनेसे स्कन्द, गांगेय और अग्निभू इत्यादिभी इनके नाम हुए। इन्द्रकी सेनाके सेनापति होकर इन्होंने तारकासुरपर चढ़ाई की, इससे सेनानीभी कहलाए। तारकासुरने मुद्गर भिंडपालादि शस्त्रास्त्र इनपर चलाए पर वह इनका कुछ न करसका। इन्होंने एक गदा मारी जिससे वह घायल होगया तब उसने जाना कि ये दुर्जेय हैं, हमारे काल हैं। यह समझकर उसने सब सेनासहित एकबारगी इनपर प्रहार किया, पर इससे भी कुछ न हुआ। अब कार्त्तिकेयजी कुपित हुए, असुरसैन्य मारी गई और भगी। तब तारकासुरने गदाका प्रहारकर इनके वाहन मोरको मारा। वाहन और देवताओंको भयभीत देख ये शक्ति लेकर उसपर दौड़े और उसके प्रहारसे उसका हृदय विदीर्णकर उसके प्राण लेलिये।

(मत्स्यपु० अ० १६०)।—'विनय पीयूष' में विनयपत्रिकाके पद १५ में इनकी कथा विस्तारसे लिखी गई है, प्रेमी पाठक वहाँ देखें।

छंद—जगु जान षन्मुख जन्मु कर्मु प्रतापु पुरुषारथु महा।
तेहि हेतु मैं वृषकेतुसुत कर चरित संछेपहि कहा॥
यह उमा संभु बिबाहु जे नरनारि कहहिं जे गावहीं।
कल्यानकाज बिबाह मंगल सर्बदा सुखु पावहीं॥

दोहा—चरितसिंधु गिरिजारमन बेद न पावहिं पारु।
बरनै तुलसीदास किमि अति मतिमंद गँवारु॥१०३॥

अर्थ—षट्मुखकी उत्पत्ति, कर्त्तव्य, प्रताप और महान् पुरुषार्थ (सपूर्ण) को संसार जानता है। इसी कारण मैंने धर्मकी ध्वजा श्रीशंकरजीके पुत्रका चरित थोड़ेहीमें कहा। जो स्त्रीपुरुष इस शिवपार्वती विवाहकी कथाको (व्याख्यानरूपमें) कहेंगे और जो इसे (संगीतके ढंगसे) गाते हैं वा गायेंगे वे कल्याणके कार्यों विवाह मगल (आदि) में सदा सुख पाते हैं और पावेंगे। श्रीगिरिजापति शंकरजीका चरित समुद्र (वत् अपार) है, वेदभी उसका पार नहीं पाते, (तब) अत्यंत मंदबुद्धि और गँवार तुलसीदास क्योंकर वर्णन कर सकें। १०३।

टिप्पणी—१ (क) 'जग जान षन्मुख०' इति। मत्स्यपुराणमें जन्म, कर्म, प्रताप और पुरुषारथ चारो विस्तारसे लिखे हैं, वहाँ पाठक देख लें, इतना विस्तार यहाँ नहीं लिख सकते। जन्मादि क्रमसे कहे हैं। जन्म अनेक प्रकारसे कहे हैं, कर्म देवताओंको अभयदान आदि, प्रताप यह कि उनके स्मरणसे शत्रु और रागादिका नाश होता है और मनोरथ सिद्ध होते हैं। महापुरुषार्थ तारकासुरका वध है। [पुनः, केवल शम्भुशुक्रसंभूत होना 'जन्म'। जन्म ग्रहण करते ही सुरसेनापतिपदपर अभिषेक 'प्रताप' और उनकी शक्तिका किसी देवतासे न उठना 'महापुरुषार्थ' है। (वि. त्रि.)] (ख) 'तेहि हेतु मैं०' इति। यह याज्ञवल्क्यजीकी उक्ति है। वे भरद्वाजजीसे कहते हैं कि आप वेद पुराण शास्त्र जानते हैं, इन्होंने जगत्के लिये विस्तारसे कहा है, अतएव जगत्भी जानता है। इसीसे संक्षेपसे कहा। ☞ संक्षेपका कारण सर्वत्र लिखते हैं; यथा 'जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़ै कथा पार नहि लहऊँ॥ ताते मैं अति अलप बखाने। थोरेहि महँ जानिहहि सयाने' (१), कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं। एहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछुयक है कही।' (२), तथा यहाँ 'जग जान०'। पुनः भाव कि जिनके चरित वेदादि कहते हैं, संसार जानता है, उनके चरित भला मैं कहाँ तक बखान कर सकता हूँ ['जग जान' से यह भी जनाया कि चरित अत्यंत प्राचीन परमानंददायक और मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करनेवाला प्रसिद्ध है, इसीसे सब जानते हैं।]

२ (क) 'यह उमा संभु' इति। अब प्रसंगका माहात्म्य कहते हैं। इस कथनका भाव यह है कि हम अपने ग्रंथका माहात्म्य कहते हैं। 'नर नारि' कहकर सबको अधिकारी बताया। 'कहहि' अर्थात् कथारीतिसे कहते और गानरीतिसे गाते हैं। ☞ षट्मुखके जन्मसे महादेव पार्वतीका विवाह सफल हुआ। तारकासुरके वधसे षट्मुखका जन्म सफल हुआ। यह सब कहकर माहात्म्य कहनेका भाव कि ये सब चरित्र विवाह-संबंधी हैं। (ख) 'कल्यान काज बिबाह मंगल०' इति। मंगल और कल्याण पर्याय शब्द हैं, यथा—'कल्याण मंगल शुभ' इत्यमरः। पर यहाँ दोनो लिखनेसे ज्ञात होता है कि कुछ भेद है। वह यह कि 'कल्याण=भलाई। और, मंगल=अशुभकी निवृत्ति', यथा 'मंगलमय कल्यानमय अभिमत फल दातार। १। ३०३।' कल्याण-कर्त्ताके विवाहसे कल्याण होगा, इस विवाहसे देवतादि सबका कार्य हुआ, इसीसे इसके श्रवणसे सबका

कार्य सिद्ध होगा। विवाह सुननेसे विवाह, मंगल सुननेसे मंगल और सुखके चरित्र सुननेसे सुख पावेंगे।—यह सब होंगे। [यहाँ विवाहकी फलश्रुति कही है। 'कल्यानकाज विवाहमंगल सर्वदा सुख०' का भाव महात्मा लोग यह कहते हैं—(१) जो किसी कार्य्यके लिए कहे या गावें उसे कार्य्यमें कल्याण होगा। जो विवाहके लिए पढ़ेंगे उनका विवाहमें मंगल होगा और जो निष्काम पढ़ते हैं उनको सदाही सुख होगा।' (शुकदेवलालजी)। या, (२) विवाहही कल्याणकार्य्य है। (३) या, 'कल्याणके यावत्कार्य्य (धन, धाम, स्त्री पुत्र, आरोग्य, दीर्घायु आदि), विवाहादि यावत् मंगल प्रसिद्ध उत्सवादि सहित सदा सर्वदा सुखपूर्वक सब वस्तु पावेंगे।' (वै०)]

३ (क) 'चरित सिंधु गिरिजा रमन०' इति। 'सुनहु संभु कर चरित सुहावा' से लेकर 'चरित सिंधु०' तक शंभु चरित है। यहाँ गोसाईं जी अपनी इति लगाते हैं— बरनै तुलसीदास किमि०'। गिरिजा रमनका भाव कि जैसे गिरिजाके पति हुए यह चरित समुद्र है तात्पर्य्य कि जितना हमने कहा इतनाही नहीं है। 'चरित सिंधु' कहकर चरितकी अपारता दिखाई यथा 'रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कवि कौने लह्यो', इसीसे 'बद न पावहिं पार' कहा। [शिवमहिम्नस्तोत्रमें पुष्पदन्तने कहा है— असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिंधुपात्रे सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी। लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥' चरित सिंधु०'—भाव कि नदी का पार मिलता है, समुद्रका नहीं। इसलिये 'न पावहिं पार' कहा। वेद सभी कुछ कह सकते हैं, जब वे ही नहीं कह सकते तब मैं क्योंकर कह सकूँ (मा०स०)। चरितसिंधु न पावहिं पार' यहाँ यह। ऐसेही श्रीरामचरितके संबंधमें उत्तरकांडमें कहा है— चरितसिंधु रघुनायक थाह कि पावै कोइ।७।१२३।' इससे जनाया कि दोनोंके चरित अपार अथाह सागर हैं। यह समानता दिखाई। (प० प० प्र०)। (ख) 'अति मतिमंद गँवार' इति। भाव कि वेद पढ़ सुनकर चरित जाने जाते थे, वही वेद जब पार नहीं पाते तब मैं तो वेद पढ़े नहीं हूँ क्योंकि अति मति मंद हूँ, न वेदोंको सुनाही है क्योंकि गँवार हूँ, ग्रामवासी हूँ, ग्राममें वेदकी प्राप्ति कहाँ संभव है जो सुनता। (ग) महादेव-पार्वतीका विवाह गुसाईं जीने नियमपूर्वक गाया है। 'शिवजी गणों समेत कैलाससे चले' वहाँसे 'विवाह करके कैलाश आए', यहाँ तक प्रत्येक दोहेमें एक छन्द लिखते हैं और प्रत्येक दोहेमें चार चार चौपाइयाँ लिखीं। एकही एक दोहा और एकही एक छन्द लिखते हैं, सर्वत्र छन्द एकही प्रकारका है। [इसमें ११ ही छन्द हैं अर्थात् एक रुद्री (रुद्र = ११) देकर इस प्रसंगको विशेष मांगलिक बना दिया है। स्मरण रहे कि इस प्रसंगमें (संवत् १६६१ की प्रतिसे स्पष्ट है कि) मूल पाठमें 'शिव' शब्द प्रायः तालव्यी शकारसेही लिखा गया और जहाँ कहीं सयोगी 'ख' चाहिए वहाँ ष की जगह खकारही का प्रयोग प्रायः हुआ है। इसमें भी कुछ भाव अवश्यही होंगे। पाठकगण तथा खोजक इसपर विचार करें।]

नोट—१ 'कर्म प्रताप पुरुषारथ महा' तारकासुरके वधसेही प्रकट है। इनका तेज देखकर इन्द्रको सोच हुआ और इसने इनपर वज्रका आघात किया जिससे इनका पेट फट गया। इन्होंने अपने हाथसे अपना पेट पकड़ लिया। अश्विनीकुमारने औषधि देकर पेटको फिर जैसाका तैसा कर दिया। एकबार इन्होंने पर्वतमें बरछा मारा जिससे पर्वतके आरपार छेद हो गया। पैदा होनेके सप्ताहके भीतरही तारकासुरका इन्होंने वध किया था। इत्यादि।

२ षण्मुख और वृषकेतुसुत दो नाम इनके इस प्रकरणमें दिये गए। तारकासुरके वध और तन प्रताप तथा पुरुषार्थके विचारसे षट्वदन नाम दिया गया। छः मुखवाले हैं तब क्यों न ऐसे हों? वृषकेतुसुत इससे कहा कि तारकासुरके वधसे फिर धर्मका प्रचार हुआ।

नोट—३ पं० श्रीरामबहादुर लमगोड़ाजीके 'विश्वसाहित्यमें रामचरितमानस हास्यरस' नामक पुस्तकके आधारपरही इस (शिव पार्वती विवाह) प्रकरणके नोट लिखेगए हैं, यह प्रकरण समाप्त हो रहा है, अतएव विश्वसाहित्यके नातेसे अब एक नैतिकता पूर्ण अवतरण यहाँ दिया जाता है। पृष्ठ ७४ पर

श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि मैंने 'रामायणमें करुणरस' शीर्षक लेखमालामें (जिसका कुछ अंश 'कल्याण' में प्रकाशित हो चुका है) यह स्पष्ट कर दिया है कि पश्चिमी दुखान्त नाटकीय सिद्धान्तके कारण आदर्शवाद (Idealism) सर्वदा असफलही समझा जाता है। नवीन साहित्य-यज्ञके एक प्रतिनिधि बर्नार्डशा अवश्य हैं। उन्होंने भी अपने 'Man and Superman' नामक नाटकमें आदर्शवादका मखौलही उड़ाया है। टैनर एक आदर्शवादी था जो संसारसे विरक्त होकर त्यागपूर्ण जीवन बिताना चाहता था। अना मायारूपिणी स्त्री थी जो उसे आदर्शके आकाशसे वास्तविकताकी पृथ्वीपर खींच लाना चाहती थी। आखिर टैनर मायाके फंदेमें फँस गया और विवाह हो गया। पर बेचारेकी आदर्शपूर्ण भावनायें अब भी बनी हुई थीं। वह भोग-विलासकी सारी सामग्री बेचकर अब भी एक कुटिया बनाना चाहता था। अनाकी सखियाँ उसकी ऐसी आदर्शपूर्ण वक्ता सुनकर सतर्क हुईं तो उसने कहा 'उन्हें बकने दो' (Let him talk)। आह, जीती हुई माया अपने पराजित व्यक्तिकी सिर्फ बातोंवाली डींगकी परवा नहीं करती। पश्चिमी संसारमें आदर्शवादकी मिट्टी तो अब भी पलीदही है, पर यहाँ देखिए कि आज्य सभ्यतामें शिव पार्वती विवाह बड़े मर्मकी चीज है। आज भी स्त्री-समुदायमें पातिव्रत्य धर्मके नाते पार्वती (गौरि)—पूजाकोही प्रमुखता प्राप्त है। और, शिवजी तो 'सदा शिव योगी' तथा आदर्श एवं वैराग्यकी मूर्तिही समझे जाते हैं। पार्वतीजीका आदर्श भोग वासना नहीं है अपितु सेवा है। व अनाकी तरह शिवजीका नाचे नहीं नचाती परन्तु अपनेको शिवजीके अर्पण करती हैं—शिवपार्वती विवाहके बाद शिवजीके किसी आदर्शको धक्का नहीं लगा। उनकी कुटीकी सजावट वही योगीकी कुटीकी सजावट बनी रही। हाँ, उसमें अन्नपूर्णाने सौन्दर्य्यका समावेश अवश्य होगया जिससे जीवनका रूखा सूखा पन जाता रहा'।—कविने इसीलिये लिखा है 'संभुचरित सुनि सरस सुहावा' (योगके साथ 'हास्यरस' भी है और 'शृङ्गार-रस' भी)।

वीरकविजी—'चरित सिंधु" बरनै तुलसीदास किमि०' में उक्ताक्षेप और 'विचित्र' अलंकारकी ध्वनि व्यंजित होती है। 'अत्यंत मतिमंद कहकर अपनेको गँवार बनाना इसमें श्रेष्ठ वक्ता होनेकी इच्छा रखना विचित्र है। लघुता ललित सुबारि न खोरी है।'

श्रीशिव-पार्वती विवाह-प्रकरण यहाँ समाप्त हुआ।

कैलास-प्रकरण

(उमा-शंभु-संवादका हेतु)

संभु-चरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुखु पावा ॥ १ ॥
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि* नीरु रोमावलि ठाढ़ी ॥ २ ॥
प्रेम बिबस मुख आव न बानी। दसा देखि हरषे मुनि ग्यानी ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सरस-रसयुक्त, रसीला=नवों रसोंसे पूर्ण। लालसा=उत्कट इच्छा; बहुत बड़ी अभिलाषा या चाह। रोमावलि=रोंगटे, रोयोंकी पंक्ति।=रोयोंकी पंक्ति जो पेटके नीचों बीच नाभिसे ऊपरकी ओर गई हुई होती है।

अर्थ—श्रीशिवजीका सुंदर रसीला चरित सुनकर श्रीभरद्वाज मुनिने बहुतही सुख पाया। १। उनको कथा (सुनने) की लालसा बहुत बढ़ी, नेत्रोंमें जल भर आया और रोमावली खड़ी हो गई। २। प्रेमसे बेबस हो गये, मुखसे वचन नहीं निकलता। (भरद्वाजजीकी यह) दशा देखकर ज्ञानी मुनि श्रीयाज्ञवल्क्यजी हर्षित हुए। ३।

टिप्पणी—१ 'संभुचरित सुनि सरस सुहावा' इति। (क) 'सरस' से जनाया कि यह प्रसंग नवों

* नयन—१७०४, को० रा०, वि० त्रि०। नयनन्हि—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

रसोंसे पूर्ण है।—[नवो रसोंके लक्षण पूर्व ३७। १० 'नवरस जप तप जोग बिरागा' और 'भावभेद रसभेद अपारा। ९। १०।' में विस्तारमें लिखे गए हैं। भक्तवर श्रीशर्वरीशजीने 'नव रस तरंग' में रसोंके लक्षण इस प्रकार दिये हैं—(१) शृंगार—'दंपति छबि करपै जहाँ बरपै मोद अपार। सरसै सदा बसंत ऋतु रसमय सोइ शृङ्गार॥' उदाहरण—'छबिखानि मातु भवानि गवनीं मध्य मंडप शिव जहाँ। अवलोकि सकहि न सकुच पतिपद कमल मनु मधुकर तहाँ। १। १००।', (२) हास्य—'हाव भाव मुख भ्रू नयन बयन व्यंग्य सुनि चैन। तेहि रस हास्य जनावई बरनत बनै बनै न॥'; (३) करुण—'सुखकी चिंता ताप तय दुखहि रहै ठिघराय। करुणा रसको रूप इमि सर्बरीश बिलगाय॥' (४) रौद्र—'रिस नख शिख लौं व्यापि रहि तपै ताप तन माहि। रस सु रौद्र तेहि कवि कहैं हर्ष शोक भय नाहिं।', (५) वीर—'धीर गनै नहिं शक मन रहै धीर रणरंग। लखै आपनी घात को सो रस बीर प्रसंग॥'; (६) भयानक—'जाके वेग बिलाय चित्त भभरे मन बुधि ज्ञान। ज्ञान भयानक रस हरेउ कैसे करै बखान॥'; (७) वीभत्स—'घृणता अरु दुर्गंधता कुत्सित महा कुरूप। सहजहि लहिय बिराग जहँ सो बिभत्सरसरूप॥'; (८) अद्भुत—'सत्य बीच भासै असत असत बीच सत्यार्थ। हरिचरित्र जग नाट्य सम अद्भुत यहै यथार्थ॥ मन बुधि चित सब मिलि रहहिं ठगाय। होइ विवर्ण ठग भासहीं अद्भुत यहै जनाय॥'; (९) शान्त—'गत संकल्प बिकल्प होइ चमकति चमक तुरीय। शर्वरीश गत शान्तरस अकथनीय कथनीय॥']

उदाहरण, यथा—(१) 'बिष्नु बिरंचि आदि सुरब्राता। चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता॥ सुर समाज सब भाँति अनूपा। ९२। ७-८।', 'सिवहि संभुगन करहिं सिंगारा।', 'करि बनाव सजि बाहन नाना। चले लेन सादर अगवाना। ९५। २।', कामसमाजवर्णन, गाली गान, आदि शृङ्गाररसके उदाहरण हैं।

(२) हास्य—'बिष्नु बचन सुनि सुर मुसुकानें। निज निज सेन सहित बिलगानें। ९३। २।', 'देखि सिवहि सुरत्रिय मुसुकाहीं। बर लायक दुलहिनि जग नाहीं। ९२। ६।', 'नाना बाहन नाना बेषा। बिहसे सिव समाज निज देखा। ९३। ६।'; इत्यादि।

(३) करुण—'भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि। करि बिलाप रोदति बदति सुता सनेह सँभारि। ९६।'...जनि लेहु मातु कलंकु करुना परिहरहु अवसर नहीं। ९७।', 'रोदति बदति बहु भाँति करुना करत संकर पहिं गई। अति प्रेम करि बिनती बिबिध बिधि जोरि कर सन्मुख रही। ८७।'

(४) रौद्र—'रुद्रहि देखि मदन भय माना। दुराधरष दुर्गम भगवाना। ८६। ४।', 'बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा। ९६। ४।', 'सौरभपल्लव मदनु बिलोका। भयउ कोप कपेउ त्रैलोका॥ तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा। ८७। ५-६।'

(५) वीर—'अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमनधनुष कर सहित सहाई॥ कोपेउ जबहि बारिचरकेतू। छन महुँ मिटे सकल श्रुतिसेतू॥ ब्रह्मचरज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ज्ञान बिज्ञाना॥ सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सबु भागा॥ ८४।३-८।', 'देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा। सुमन चाप निज सर संधाने। अति रिस ताकि श्रवन लगि ताने॥ छाँड़े बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥ ८७। १-३।'

(६) भयानक—'सिवसमाज जब देखन लागे। बिडरि चले बाहन सब भागे॥... बालक सब लै जीव पराने॥ गए भवन पूछहिं पितु माता। कहहिं बचन भय कंपित गाता॥ कहिअ काह कहि जाइ न बाता। जम कर धार किधौं बरिआता॥ ९५। ४-७।', 'बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा॥९६॥

(७) बीभत्स—'भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरें॥ खर स्वान सुअर सृकाल मुख गन बेष अगनित को गनै...' ९३।

(८) अद्भुत—'कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू॥ बिपुल नयन

कोउ नयन विहीना। रिष्टपुष्ट कोउ अति तनखीना॥ ९३।', 'अजा अनादिशक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि। जग संभव पालन लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥ जनमीं प्रथम दच्छ गृह जाई। नाम सती सुंदर तन पाई॥ ९८। २-५।'

(९) शान्त—'जब तें सती जाइ तनु त्यागा। तब तें शिव मन भयउ बिरागा॥ जपहिं सदा रघुनायक नामा। जहँ तहँ सुनहिं रामगुनग्रामा॥ चिदानंद सुखधाम शिव बिगत मोह मद मान (काम)। बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम॥ ७५॥', 'मयना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी॥ निज इच्छा लीलावपुधारिनि॥'; 'संकर सहज सरूप सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा। ५८। ८।'

[☞ पुनः, इसमें वात्सल्य, सख्य और दास्य भक्तिसंबंधी ये रसभी हैं।

(१०) वात्सल्यरस यथा कहहु सुता के दोष गुन मुनिबर हृदय बिचारि। ६।', 'जननी उमा बोलि तब लीन्ही। लै उछंग सुंदर सिख दीन्ही॥ करहु सदा संकरपद पूजा। नारि धरमु पति देउ न दूजा॥१०२। २-३।','नाथ उमा मम प्रान सम गृहकिंकरी करेहु। छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसंन बरु देहु॥१०१।'

(११) सख्य, यथा 'अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे। ६ । ४।'

(१२) दास्य, यथा 'भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे॥ शिव अनुसासन सुनि सब आए। प्रभुपद जलज सीस तिन्ह नाए॥ ९३। ४५।', 'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिअ सुभ जानी॥ तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी॥ ७७। २४।'

☞ पुनः, श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्तिकेभी लक्षण इसमें पाये जाते हैं; अतः 'सरस' कहा। उदाहरण, यथा—'जपहिं सदा रघुनायक नामा। जहँ तहँ सुनहिं रामगुनग्रामा। ७५। ८।', 'बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम। ७५।', 'नित नै होइ रामपद प्रीती। ७६। २।', 'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। ··· ७७। २।', 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा ·। ५२। ७।', 'नाथबचन पुनि मेटि न जाहीं।', इत्यादि।]

(ख) 'संभुचरित' इति। 'उमाचरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा॥ १। ७५। ६।' उपक्रम है, 'संभुचरित सुनि सरस सुहावा' उपसंहार है।—यही इतनेके बीचमें 'शम्भुचरित' है। इसके भीतर नवरस हैं, अतः यह 'सरस' है। सरस है, इसीसे स्वयं 'सुहावा' अर्थात् सुंदर है और दूसरोंको सुहाता है। 'सरस' और 'सुहावा' दो विशेषण दिये, इसीसे 'अति सुख' पाना लिखा।

(ग) ☞ अच्छे वक्ताओंकी वाणी सुनकर सर्वत्र श्रोताओंको 'अति सुख' हुआ है। यथा—

(१) 'रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुखु मानी॥ ४८।२।'

(२) 'भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा। ३। १६। १।'

(३) 'हरिचरित्रमानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमिति सुख पावा॥ ७। ५३। ७।' (उमाजी)।

(४) 'नयन नीर मन अति हरषाना। श्रीरघुपति प्रताप उर आना॥ ७। ६३। २।' (गरुड़जी)।

तथा यहाँ, (५) 'संभुचरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा।'

टिप्पणी—२ 'बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। ···' इति। (क) सुनकर 'अति सुख' पाया, इसीसे 'बहु लालसा' बढ़ी कि शिवचरित्र और सुनावें। 'अति सुख पावा', अतएव 'नयन नीर रोमावलि ठाढ़ी'। नेत्रोंमें जल और तनमें रोमांच होना प्रेमकी दशा है, इसीसे आगे 'प्रेम' शब्दभी लिखते हैं—'प्रेम बिबस मुख आव न बानी'। अथवा, (ख) कथा सरस है, भरद्वाजजी रसके जानकार हैं, इसीसे कथापर बहुत लालसा बढ़ी। यथा 'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥ ७।५३॥' लालसा बढ़नेकी बात चेष्टा या दशाके द्वारा जान पड़ी। दशा आगे लिखते हैं—'नयन नीर···'। (ग) [पंजाबीजी लिखते हैं कि श्रीयाज्ञ-

वल्क्यमुनिकी 'कथाकी रीति और अपूर्वकथासे 'अति सुख' हुआ। अथवा, कथा सरस और सुंदर है और भरद्वाज 'सर्वरसग्राही' हैं, इसलिये 'सुहावनी' भी है]।

३ 'प्रेम बिबस मुख आव न बानी।' इति। (क) प्रेममें मुखसे वाणी नहीं निकलती; यथा 'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा। प्रेम भरा मन निज गति छूँछा। २।२४२।७।'—(वैजनाथजी लिखते हैं कि प्रियका रुख देखकर या गुण सुनकर जो प्रेम उमगता है और शरीरकी सुध नहीं रहजाती, यह प्रेमकी पहली 'उग्र दशा' है)। (ख) 'दसा देखि' इति। मन, कर्म और वचन तीनोंकी दशा देखी। यथा 'बहु लालसा कथा पर बाढ़ी' यह मन, 'नयनन्हि नीरु रोमावलि ठाढ़ी।' यह तन वा कर्म और 'प्रेम बिबस मुख आव न बानी' यह वचनकी दशा कही। मन, कर्म और वचन तीनोंसे भरद्वाजजीको यहाँ प्रेममें मग्न देख श्रीयाज्ञवल्क्यमुनि हर्षित हुए। (ग) 'मुनि ग्यानी' कहनेका भाव कि श्रीयाज्ञवल्क्यजीको यह ज्ञान अच्छी तरहसे है कि शिवविमुख श्रीरामजीको प्रिय नहीं हैं, शिवभक्त श्रीरामजीको प्रिय हैं। अथवा, ज्ञानी होते हुएभी प्रेमकी दशा देखकर प्रसन्न हुए। इससे जनाया कि श्रीयाज्ञवल्क्यजी ज्ञानी और प्रेमी दोनों हैं। प्रेम ज्ञानकी शोभा है, यथा 'सोह न रामपेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू। २। २७७। ५।' वे कोरे शुष्क ज्ञानी नहीं हैं।

प० प० प्र०—हर्षित इससे कि ऐसा श्रोता बड़े भाग्यसे मिलता है। श्रीरामकृपासेही ऐसे शिव-राम प्रेमी श्रोतासे सत्संग करनेका लाभ वक्ताको मिलता है। भुशुण्डीजीनेभी कहा है—'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संतसमागम दीन। ७। १२३।' यह केवल विनय नहीं है। यह त्रिसत्य है कि भरद्वाज या गरुड़जीके समान श्रोतासे सत्संग करनेका भाग्य केवल रामकृपासे ही मिलता है।

नोट—१ श्रोताको वक्ताकी प्रशंसा करके अपनी कृतज्ञता जनानी चाहिए थी, सो यहाँ नहीं कीगई ? इसका समाधान यह है कि ग्रन्थकारने इनका कृतकृत्य होना 'प्रेम बिबस मुख आव न बानी' कहकर सत्य कर दिखाया। इसीसे आगे इनकी वाणी, इनका बोलना नहीं लिखा।

अहो धन्य तव जन्मु मुनीसा। तुम्हहि प्रान सम प्रिय गौरीसा॥ ४॥
सिव-पद कमल जिन्हहि रति नाहीं। रामहि ते सपनेहुँ न सोहाहीं॥ ५॥
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। रामभगत कर लच्छन एहू॥ ६॥

अर्थ—अहा हा! हे मुनीश! आपका जन्म धन्य है। आपको गौरीपति श्रीशिवजी प्राणोंके समान प्रिय हैं। ४। श्रीशिवजीके चरणकमलोंमें जिनका प्रेम नहीं है, वे स्वप्नमें भी (अर्थात् कभी भूलकरभी) श्रीरामजीको नहीं भाते। ५। विश्वनाथ (श्रीशिवजी) के चरणोंमें निष्कपट प्रेम होना, यही (वा, यहभी) श्रीरामभक्तका लक्षण है। ६।

टिप्पणी—१ 'अहो धन्य तव जन्म' इति। (क) याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजीकी प्रशंसा कर रहे हैं, इसीसे सबोधनमेंभी 'मुनीश' यह बड़प्पनका पद दिया। (पहले मुनि ही सबोधन किया था, यथा— 'सुनु मुनि मिटिहि बिषाद', अब प्रेममें विभोर देखकर 'मुनीस' कहते हैं। वि. त्रि)। श्रीरामजीके शुचि सेवक होनेसे आश्चर्य हुआ, अतः 'अहो' कहा। श्रीरामजीका शुचि सेवक होना आश्चर्य है। श्रीरामजीके शुचि सेवक होने तथा गौरीश इनको प्राणसम प्रिय होनेसे 'धन्य' कहा।—(पंजाबीजी लिखते हैं कि भाव यह है कि 'हमने गौरीशके चरित तुमको सुनाए थे कि यदि विरक्त होंगे तो इनका मन इन चरित्रोंमें न लगेगा, प्रेम न होगा। तुम धन्य हो, तुमको ईश्वरोंकी सब क्रियायें प्यारी हैं। अथवा, भेद दृष्टिवाले तत्वके अधिकारी नहीं हैं। दोनोंमें तुम्हारी भक्ति है, इसलिये तुम धन्य हो)। (ग) 'गौरीसा' का भाव कि जैसे गौरी (पार्वती जी) को ईश (शिवजी) प्रिय हैं, वैसेही तुमकोभी प्रिय हैं। (घ) श्रीभरद्वाजजीकी रामभक्ति प्रकट है,

इसीसे याज्ञवल्क्यजीने संवादके आदिमें कहा था कि 'राम भगत तुम्ह मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी।४७।३।' शिवभक्ति गुप्त है। जब शिवचरित सुनाया गया तब प्रकट हुई, उसीको देखकर प्रशंसा करते हैं।

२ 'शिवपद कमल जिन्हहिं रति नाहीं। ' इति। (क) तात्पर्य कि ऐसे लोग रामभक्त कहलाते भर हैं, पर भगवानको प्रिय नहीं हैं, यथा 'सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा। ६ २।'—(पं० रा० कु० का पाठ 'भावा' है)। (ख) सगुण रूप होनेसे 'सपनेहुँ' कहा, नहीं तो ईश्वरको स्वप्न कैसा ?—('स्वप्नमभी' मुहावरा है। स्वप्नसे तात्पर्य नहीं है। सपनेहु सॉचहु मोहि पर जौं ' १। १५ देखिए)। (ग) श्रीरामजीके प्रिय (भक्त) में प्रेम न हुआ तो श्रीरामजीको कैसे सुहावें ? पुनः भाव कि शिवपदमें रति नहीं है अर्थात् उनसे विरोध करते हैं। विरोध करना इससे पाया गया कि श्रीरामजीको स्वप्नमें भी नहीं सुहाते। [यहाँ शिवपदकमलरतिका अभाव विवक्षित है। प्रेमका अभाव होनेपर भी शिवद्रोहका अभाव रह सकता है। अतः रति नाहीं से विरोध करनेका भाव लेना सुसंगत नहीं है। शिवद्रोही तो नरकगामी होते हैं, यथा 'संकर प्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास। ६। २।' शिवपदरतिहीनको श्रीरामजीकी भक्ति नहीं, यथा 'संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि। ७। ४५।' (प० प० प्र०)]

३ 'बिनु छल बिस्वनाथपद नेहू। ' इति। (क) 'बिस्वनाथ' का भाव कि शिवजी विश्वको उत्पन्न करते हैं, विश्वका पालन करते हैं, विश्वके आत्मा हैं, यथा 'जगदातमा महेसु पुरारी। जगत जनक सबके हितकारी। १। ६४। ५।' अतएव इनके पूजनसे विश्वम्भरका पूजन हो गया। पुनः भाव कि इनकी प्रसन्नता पर जगत्‌की प्रसन्नता निर्भर है। (ख) विश्वनाथके चरण सेवनसे श्रीरामजीकी भक्ति मिलती है। यथा 'होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥ ६। ३। ३।' (ग) छल क्या है ? 'स्वारथ छल फल चारि बिहाई' से स्पष्ट है कि स्वार्थकी चाह, अर्थ-धर्म-काम-मोक्षकी चाहभी छल है। संसारको दिखानेके लिये जो भक्ति की जाती है वह छल है। [(घ) रामभगत कर लच्छन एहू' इति। भागवतोंपर प्रेम करना ही भागवतोंका मुख्य लक्षण है, यथा 'आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्। तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥ (पाद्मे)। श्रीशिवजी परम भागवत हैं, यथा—'निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा। वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा। भा० १२। १३। १६।' (शुकदेवलालजी)]

वि० त्रि०—असाधारण धर्मको लक्षण कहते हैं। यहाँ भरद्वाजजीकी परीक्षा ली गई कि लक्षितमें लक्षण घटता है या नहीं। सो लक्षण घटा। अतः कथा सुननेका अधिकारी जान लिया।

अलंकार—'तुम्हहि प्रान सम प्रिय गौरीसा' में पूर्णोपमालंकार है। 'शिवपदकमल जिन्हहि रति नाहीं। ' में पहले साधारण बात कहकर कि जिनका शिवपदकमलमें प्रेम नहीं है वे श्रीरामजीको प्रिय नहीं होते, फिर उसका समर्थन विशेष सिद्धांतसे करना कि श्रीरामभक्तका लक्षणही यह है कि श्रीशिवजीमें प्रेम हो 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

सिव सम को रघुपति ब्रत धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥ ७॥
पनु करि रघुपति भगति देखाई*। को सिव सम रामहि प्रिय भाई। ८॥

अर्थ—श्रीशिवजीके समान श्रीरघुनाथजीकी भक्तिका व्रत धारण करनेवाला दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं (कि) जिन्होंने सती ऐसी पतिव्रता स्त्रीको बिना अघके ही त्याग दिया। ७। और प्रण करके श्रीरघुनाथजीकी भक्तिको दिखाया है। हे भाई! श्रीरामजीको शिवजीके समान (दूसरा) कौन प्रिय है ? अर्थात् कोई नहीं। ८।

---

* 'दृढाई'—रा० प०, गौड़जी, ना० प्र०। 'दिढाई'—वीरकवि। देखाई—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०, पंजाबीजी। प्राचीन पोथियोंमें 'देखाई' है।

टिप्पणी—१ 'शिव सम को ' इति। (क) प्रथम कहा कि जिनके शिवपदकमलमें प्रीति नहीं है वे श्रीरामजीको नहीं सुहाते और उनके चरणोंमें निष्कपट प्रेम होना यह रामभक्तका लक्षण है, अब इसीका कारण लिखते हैं कि 'शिव सम को '। अर्थात् उनका रघुपतिव्रत पतिव्रताके व्रतके समान है।

* 'बिनु अघ तजी···' इति *

महर्षि याज्ञवल्क्य आदिके मतसे श्रीसतीजी 'बिनु अघ' हैं, क्योंकि उन्होंने किसी पाप बुद्धिसे सीतारूप नहीं धारण किया, परीक्षार्थ धारण किया। 'शिवजी रघुपतिव्रतधारी हैं। श्रीसीतारूप धारण करना उस व्रतके विरुद्ध है, उससे भक्तिका नाश है। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, यथा 'जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगति पथु होइ अनीती। १। ५६।८।', इस कारण उनको त्याग करना पड़ा। पुनः, 'बिनु अघ' कहनेका भाव कि पापसे तो सभी त्याग करते हैं, पाप होनेपर त्याग करनेसे कौन बड़ाई है? भक्तिकी रक्षाके लिए बिना पापके ही त्याग किया, यह शिवजीकी बड़ाई है। (प० रामकुमारजी)। याज्ञवल्क्यजी यहाँ श्री शिवजीके रघुपति भक्तिव्रतकी प्रशंसामें यह प्रमाण दे रहे हैं। देखिए, अपराधिनी अहल्याके त्यागसे क्या किसीने गौतमजीकी प्रशंसा की? किसीने तो नहीं। तब अपराधिनी सतीके त्यागमें श्रीशिवजीकी बड़ाई कैसे सम्भव हो सकती है?

यहाँ प्रायः सभी यह शंका करते हैं कि सतीमोह आदि प्रकरणों और आगे कैलास प्रकरणमें भी जो कहा है—'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति बचनु मृषा करि जाना। १। ५६। १।', 'कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा। १। ५८। २।', 'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवाँ इव उर अधिकाई। १। ५८। ४।', 'सिव चेपु सतीं जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरीं।१।६८।', इत्यादि—इन प्रमाणोंके होते हुएभी 'बिनु अघ' कैसे कहा? इससे पूर्वापर विरोध होता है। दूसरी शंका यह करते हैं कि 'यदि सतीजीका कोई अपराध न था तो शिवजीपर उनके त्यागका दोष आरोपण होता है, उनमें श्रीपार्वतीजीके कथनानुसार 'अकरुणा और मर्यादा भंग' दोष लगेगा, क्योंकि निरपराध पतिव्रताका त्याग करना घोर अन्याय है।'—ये शंकाएँ उठाकर उनके समाधानभी महानुभावोंने किये हैं।—

१ 'अघ' शब्दका अर्थ 'पाप, दुःख, खेद और व्यसन' है। यथा—'अहो दुःख व्यसनेष्वघम्' (अमरे ३। ३। २७)। यदि 'दुःख' अर्थ ले लें तो शंका निवृत्त हो जाती है। अर्थ यह होगा—'सती ऐसी प्रिय स्त्रीकोभी त्याग देनेमें उनको किंचित् दुःख न हुआ, शिवजी रामभक्तिमें ऐसे पक्के हैं।' (मा० त० वि०)। इस अर्थमें कोई-कोई यह शंका करते हैं कि शिवजी तो स्वयं कहते हैं कि 'तब अति सोच भयउ मन मोरें। दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरें। ७। ५६।' तब 'बिना दुःख' कैसे माना जाय? प्रत्युत्तरमें कहा जाता है कि सतीजीमें पत्नी भावका त्याग करनेमें दुःख नहीं हुआ, जब सतीजी दक्षयज्ञमें जाकर भस्म हुईं तब शिवजी 'भक्तके विरहसे' व्याकुल हुए, यथा 'जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना १। ७५। २।' देखिये। सतीजीमें आपके दो भाव हैं, एक पत्नी दूसरा भक्त। पत्नीभावसे वियोगका दुःख नहीं हुआ। वरन् भक्तिभावसे हुआ।

२ 'बिनु अघ' शिवजीका विशेषण मान लें अथवा 'रघुपति व्रत' का। अर्थात् निष्पाप (अनघ) शिवजीने सती ऐसी स्त्रीको तज दिया। अथवा, शिवसमान निर्मल रघुपतिभक्तिव्रत धारण करनेवाला कौन है? बिनु अघ=निर्मल, यथा 'पर अघ सुनइ सहस दस काना। १। ४। ६।', 'बिनु अघ रघुपतिव्रतधारी'= पापरहित रघुपतिव्रत धारण करनेवाला। भाव यह कि लोग व्रत नियमादि लोभवश या स्वार्थके लिये करते हैं और शंकरजीने सतीत्यागरूपीव्रत केवल श्रीरामचन्द्रजीकी भक्तिके निमित्त धारण किया। (प०)।

४ नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि सतीने सीताजीका रूप धारण किया, इस अपराधसे शिवजीने उनका त्याग किया, अतः सतीजी पापी नहीं हैं। पापी उसको कहते हैं जो स्वयं पापकर्म करता है

और अपराधी उसको कहते हैं जो अपनी चूकसे दूसरेको नुकसान पहुँचा देता है, वैसेही सतीजीने शिवजी-को नुक़सान पहुँचा दिया था कि शिवजी जिन सीताजीको माता भाव करके मानते थे, उन्हीं सीताजीका रूप सतीने बना लिया था। अब यदि शिवजी सतीजीसे संग करते हैं तो माताभावमें विरोध पड़ता है, यही शिवजीका नुकसान है। (प्रमाण)—'जौं अब करउँ सती सन प्रीती। मिटै भगतिपथ होइ अनीती।' इसी कसूरसे शिवजीने त्याग किया था, अतः सतीके लिये 'बिनु अघ' की शंका करना वृथा है।

४ मा० त० वि० कार लिखते हैं कि—(क) 'स्त्री त्याग किये जाने योग्य तभी है जब व्यभिचारका पाप पाया जाय और पाप यही है जिसका प्रायश्चित्त भी हो, सो पाप सतीमें नहीं रहा तथापि श्रीशिवजी रामव्रत अभिरक्षक हैं, इसलिये सतीको त्याग किया। जिसमें दूसरोंको भी भय हो।' (ख) 'निज अघ समुझि' और 'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना' इत्यादिमें जो 'अघ' कहा गया है, यह केवल सतीजीका अनुमानमात्र है; यथा 'सती हृदय अनुमान किय ''। १। ५७।' और यहाँ जो 'बिनु अघ' कहा है यह याज्ञवल्क्य स्मृतिकार-की सम्मति है। 'तजी' से 'पृथक् शय्या' का तात्पर्य है। इतनेपर भी शिवजीने उनका ग्रहण नहीं किया, इस अन्तिम अवस्थाका उल्लेख यहाँ 'बिनु अघ सती' में है। (ग) अथवा, यद्यपि सतीजीने अपनेको अघयुक्त कहा तथापि श्रीशिवजी और श्रीरामजी किसीनेभी उनको अघवाली न कहकर 'परम पुनीत' और 'अति पुनीत' ही कहा है। संभवतः उन्होंने सोचा होगा कि असत्य भाषण आदि अपराध तो छोटोंसे होता ही है, ऐसे अपराधके लिये यदि स्वामी उसका त्याग करे तो निर्वाह नहीं होनेका।—जान पड़ता है कि सतीजीको अंततक यह नहीं मालूम हुआ कि शंकरजीने उनका किस कारणसे त्याग किया है; वे यही समझती रही हैं कि मैं झूठ बोली, पतिका वचन असत्य माना और श्रीरामजीको मनुष्य माना, इसीसे मेरा त्याग हुआ है और इसीसे उन्होंने इन्हींका पश्चात्ताप किया है। पश्चात्ताप न होता तो वह पाप बना रहता। पश्चा-त्तापसे पाप धुल गया, अब वह नहीं है।

५ बैजनाथजी लिखते हैं कि बिना पाप सती ऐसी सुंदर पतिव्रताको त्याग करनेका भाव यह है कि यदि शिवजी उनको ग्रहण करते तो शिवजीको कोई पाप न लगता, जो सतीजीका पाप विचारिये तो व्यर्थ ही है, वे अपना फल भोगतीं, शिवजीसे क्या प्रयोजन ? यदि कहो कि संबंध है तो इसका उत्तर है कि यह तो नियम शिवजीमें नहीं, क्योंकि जब राजा वीरमणिने रामाश्वमेधमें घोड़ा बाँधकर श्रीशत्रुघ्नजीसे युद्ध किया तब शिवजीने वीरमणिका साथ दे शत्रुघ्नजीसे युद्ध किया, इत्यादि। और सतीजीने परीक्षामात्र सीता-वेष धारण किया, वेष करनेसे असलियत तो आ नहीं जाती, यथा 'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ। ७। ७२।' श्रीराम-स्नेह-दृढ़ता हेतुही शिवजीने उनका त्याग किया और किसी कारण नहीं।

(विचार कीजिए तो सतीजी निष्पापही ठहरेंगी जैसा ऊपर कुछ महानुभावोंका मत लिखा गया है)। एक पाप 'सीतावेष' धारण करना कहा जाता है। इसमें सतीजी यों निर्दोष ठहरती हैं कि जीव जिस उपायसेभी भगवत-सम्मुख हो उसे दोष नहीं कहते। सतीजीने तो प्रभुको जाननेहीके लिये परीक्षार्थ सीतारूप धारण किया था न कि किसी पापबुद्धिसे।—'जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई। ७। ८९। ७-८।' भुशुण्डीजीका वाक्य है कि बिना जाने विश्वास नहीं होता, बिना विश्वास प्रीति नहीं होती और बिना प्रेमके भक्ति दृढ़ नहीं होती। सतीजीने जाननेके लिये यह किया, अतः निर्दोष हैं। देखिए गोपिकावृन्दने तो काममोहित हो प्रभुमें प्रेम किया था तब भी उनको कोई दोष न लगा वरन्‌ वे परम धन्य मानी गईं। यथा 'काममोहित गोपिकन्ह पर कृपा अतुलित कीन्ह। जगतपिता बिरंचि जिन्हके चरन की रज लीन्ह। विनय २१४।' औरभी देखिए नित्यही देखनेमें आता है कि लड़के लीला-स्वरूप श्रीराम-कृष्ण सीता राधिका आदि बनते हैं पर वे सदाके लिये श्रीराम-कृष्ण आदि नहीं मान लिये जाते, जितनी देर वे लीलारूप धारण किये रहते हैं उतनीही देर

वह भाव उनमें माना जाता है। उनके पिता-माता-विद्यागुरु आदि उन्हीं लड़कोंको पुत्र, विद्यार्थी आदि भावों से दण्ड देते हैं तथापि उन माता, पिता, गुरु आदिको लोग और वेद-शास्त्र कोईभी तो दोष नहीं लगाते। इसी तरह भगवत् सम्मुखताके लिये और वहभी पतिकी आज्ञासे—'तौ किन जाइ परीछा लेहू ॥ तब लगि बैठ अहौं बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहिं पाहीं ॥ जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी ॥ १।५२।१-३।'—सतीजी, यह जाननेके लिये कि ये राम ब्रह्महो हैं या नहीं, परीक्षार्थ गईं और उसीके लिये कुछ मिनटोंके लिये उन्होंने सीता वेष धारण किया। अतः उसमें कोई पाप न था और शिवजीभी यदि उनको न त्याग करते तोभी कोई उनको पाप न लगाता।

दूसरा पाप 'पतिसे झूठ बोलना' है। सतीजी परीक्षासे भयभीत होगई थीं, वे घबड़ाई हुई पतिके पास आई थीं—'सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोचु। १।५३।', "'जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा ॥'" 'सतीं समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ। ५६। १।' विद्यामायाकी प्रेरणासे जीवको मोह होता है, जैसे श्रीभुशुण्डीजी, गरुड़जी और नारदजीको हुआ, तोभी इनको कोई पापी नहीं कहता, फिर सतीजीने जो 'भय बस' शिवजीसे दुराव किया तो उनका दोष क्या? यह तो मायाकी प्रेरणासे हुआ; यथा 'बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहिं झूँठ कहावा।१।५६।५।' कोई किसीसे जबरदस्ती झूठ कहलावे तो वह झूठ पाप कैसे? फिर शिवजी स्वयं कहते हैं कि 'परम पुनीत न जाइ तजि" ।५६।' सतीजी ऐसी पतिव्रता हैं, परम पवित्र हैं। यह भाव 'सती असि नारी' विशेषणसेभी झलकता है कि सतीत्वमें कलंक लगानेवाला कोई बाधक अर्थात् दोष नहीं था। इसमें यदि यह कहा जाय कि सभी जीव तो मायावश ही पाप आदि करते हैं तब तो उन सबकोही दोष नहीं लगना चाहिये तो इसका एक समाधान यह किया जाता है कि शिवजीका भाव सम्भवतः यह है कि जैसे किसी पाषाण आदिका विग्रह बने और उसकी प्रतिष्ठा होनेके पश्चात् वह विग्रह खंडित हो जाय तो उस पाषाणको किसी अन्य काममें नहीं लाया जाकर उसे पुण्य नदियोंमें विसर्जन कर दिया जाता है; जिसका अभिप्राय यह है कि दूसराभी उसे काममें न लावे, इसीप्रकार सतीजीके जिस शारीरिक तत्वमें श्रीसीताजीका आकार अर्थात् रूप प्रकट हुआ वह आकार नष्ट होने (बदलने) परभी उस मूल शारीरिक तत्वको काममें लाना उचित नहीं है। क्या इतना उच्च भाव कोई धारण कर सकता है? इसीसे श्रीयाज्ञवल्क्यादिने उनकी प्रशंसा की है।

अथवा, सतीजीका दोष तो था ही जैसा सतीजीने स्वयं 'निज अघ' आदिसे कई जगह जनाया है, परन्तु 'पश्चात्तापेन शुद्ध्यति' इस वाक्यानुसार पश्चात्तापसे उनकी शुद्धि होगई थी।

इन उपर्युक्त विचारोंके अनुसार सतीजीको स्मृतिकार श्रीयाज्ञवल्क्यजीने 'बिनु अघ' निष्पापही निश्चय किया, दूसरा चाहे उनमें पापका आरोप भलेही करे। और, बिना अपराधके त्यागमें ही शिवजीकी भक्तिकी परमोच्च भावना और उनके चरितकी परम स्वच्छता प्रकट हो रही है।

वैजनाथजी टीकही लिखते हैं कि 'भागवतधर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है। असली मातापिताके दर्शन स्पर्शसे धर्ममें बाधा नहीं होती, यथा 'लीन्ह लाइ उर जनक जानकी।', 'बार बार मुख चुंबति माता', इत्यादि। राजा, मित्र, श्वसुर, गुरु और इष्ट इनकी स्त्रियोंमें माताभाव मानना चाहिए, परन्तु इनमें मानसी संबंधकी चेष्टा दर्शाना इस भावनामें धर्मकी बड़ीही सूक्ष्म गति है क्योंकि जिनमें माता भाव रक्खा जाता है, पर जो असली माता नहीं हैं, उनके एकमात्र चरणोंकाही दर्शस्पर्श उचित माना गया है, सर्वाङ्गका नहीं। देखिए लक्ष्मणजीने श्री श्रीजानकीजीके आभूषण देखकर यही कहा था कि 'नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले। २२। नूपुरेत्वेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥ वाल्मी ४.६।' ऐसे भागवतधर्मके भावका निर्वाह दुर्घट है, क्योंकि थोड़ेहीमें संसार दूषण लगाता है। सतसईमें कहाभी है—'अवजस जोग कि जानकी मनि चोरी की कान्ह। तुलसी लोक रिझाइबो करसि कातिबो नान्ह ॥' धर्मको परम स्वच्छ अमल रखनेके लिये बहुत सफाईसे काम करनेकी आवश्यकता होती है। श्रीभरतजीने ऐसाही किया तभी तो उनका निर्मल

यश जगमगा रहा है।—परन्तु सफाईका व्यापार जैसा भरतजी और शिवजीका हुआ वह कुछ प्रभुको रिझाने के लिये नहीं किया गया, क्योंकि प्रभु तो सर्वज्ञ हैं, अन्तर्यामी हैं, वे तो सबे प्रेमसे रीझते हैं जो इनमें स्वाभाविकही परिपूर्ण है। इन्होंने अपने धर्मकी अमलताहेतु सतसईके वाक्यानुसार 'नान्ह काता'।'

श्रीशिवजीका भक्तिभाव बड़ाही गूढ़ और सूक्ष्म है। उनका श्रीसीताजीमें माताभाव है। वे अपने आचरणसे उपदेश दे रहे हैं कि इष्टकी परछाहींपरभी दृष्टि न डालनी चाहिए। श्रीरघुपति-स्नेहको अमल और निर्दूषित रखनेके लियेही उन्होंने परम सती पत्नीका त्याग किया। वस्तुतः यहाँ पापका कोई प्रयोजन नहीं।

शिवजीको छोड़ भक्तिपक्षमें इतना सावधान कौन होगा कि केवल कुछ मिनटोंके लिये और वहभी परीक्षार्थ सीताजीका वेषमात्र बनालेनेसे सतीजीमें माता-भाव कर लिया, तथा पत्नीभाव स्थित रखनेमें अपने भक्तिपथको दूषित और कलंकित समझा! यथा 'जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगति पथु होइ अनीती। १।५६।८।' धन्य! धन्य!! धन्य!!! क्यों न हो, जगत्‌के आचार्यके योग्यही है। इसीसे तो गोस्वामीजीने उनको 'मूलं धर्म तरोः' कहा है।

☞ उपदेश—यहाँ भक्तोंको बड़ा भारी उपदेश है। प्रथम तो यह कि भगवद्विमुखसे प्रीति न करे। दूसरे यह कि लीला-स्वरूपमेंभी भगवद्भाव रक्खे। किसीमें प्रभुका कोई गुण देखकर उसमें वह भावना रखनेसे भक्ति दृढ़ होती है। यह बात श्रीशिवजीने अपने आचरणसेही दिखा दी है। वर्तमान समयके महात्मा श्रीमधुसूदनाचारी (मधुप अली) चँदवारा ग्राम जिला बाँदाके, योगिराज बाबा मोहनदासजी फतेहपुरनिवासी और नवलवर-उपासक भक्तप्रवर श्रीरामाजी रेड़ायनिवासी, जिला सारन, के चरित्र इस समयभी जीते-जागते उदाहरण हैं। (इस संस्करणके समय इनमेंसे दोका साकेतवास हो चुका है। श्रीविभीषणजीकी भक्ति भक्तमालमें देखने योग्य है कि मनुष्यको देख उसमें श्रीरामजीका भाव ले आए कि हमारे सरकारभी नराकारही हैं। ☞श्रीशिव पार्वतीजीका नित्य संयोग है। भक्तोंमें श्रीरामभक्ति दृढ़ करनेके हेतुही, यह सब लीला हुई है।

श्रीजानकीशरणजीने उपर्युक्त विचारोंका खंडन किया है। वे लिखते हैं—'सतीजी तो 'बिनु अघ' किसी प्रकार कही जाही नहीं सकतीं। क्या परपतिमें पापबुद्धि लानाही पाप है? और पाप पाप नहीं कहा जाता? सतीजीमें एक पाप कौन कहे अनेकों पाप साबित हैं। देखिए पतिव्रताका धर्म है—पति-वचनमें विश्वास रखना'"। सतीजीको 'लाग न उर उपदेस जदपि कहेउ सिव बार बहु', जिसके लिए स्वयं शिवजी सोचते हैं—'मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं।' सतीसे जो कर्म हुआ, पतिके वचनको नहीं मानना, उसका फलभी शिवजीने अनुमान किया और वही हुआभी, तो क्या बिना अघकेभी दुःख होता है? पुनः, दशरथनन्दन परब्रह्म परमात्माको प्राकृत मनुष्य करके मानना, कहना और इस कथनको सुनना इसपर शंकरजीने पार्वतीजीसे कहा था, यथा—'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साँच।' इत्यादि। क्या ऊपरके अपराधियोंको निष्पापही समझा जावे? पुनः जब सतीके अनुमानसे श्रीरामजी मनुष्य ही ज्ञात हो रहे थे तहाँ विरही मनुष्य जिसकी पत्नी खो गई है उस दशामें उसकी पत्नीका रूप धारण करके उसके निकट जाना क्या पतिव्रताका कर्म है? इतनेपरभी सतीको अघयुत कहनेमें लोग सब काहेको सकुचाते हैं? परीक्षा पानेपर लौटकर शिवजीके पास आनेपर सतीने शिवजीसे मिथ्या कहा, यथा 'कछु न परीच्छा लीन्ह गोसाईं। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं।' क्या मिथ्या बोलना अघ नहीं है? 'नहिं असत्य सम पातक पुंजा' का क्या भाव होगा? सतीजीके मिथ्या भाषणपर शिवजीका विचारना—'बहुरि राम मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा।'

'जो लड़के लीलारूप बनते हैं वह परीक्षार्थ नहीं, भ्रमवश नहीं, बल्कि प्रेमवश। सतीजीका सीता-रूप बनना प्रेमवश तथा भक्तिवश माना जायगा तो ऐसी भक्ताके लिये शिवजी नहीं कहते कि 'किये प्रेम बड़ पाप।' भगवान कृष्णके विरहमें गोपिकायें कृष्णचरित्र करने लगीं, कोई कृष्ण बनी कोई राधिका आदि,

इसी भक्तिपर भगवान् प्रगट हो गए। और सती तो 'भ्रमवस बेष सीय कर लीन्हा'। उसका फलभी देखिए 'सियबेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी'। और स्वरूप बननेवाले लड़कोंको माता पिता दंड देते हैं, यह अन्याय करते हैं। लीलानुकरण-पद्धतिमें लिखा है कि जैसे अर्चाविग्रहका पूजनविधान होता है उसी प्रकार लीलारूपभी चाहिए अर्थात् जै वर्षतक लड़के लीलारूप बनें तबतक उनके साथ लौकिकसंबंध नहीं रखना चाहिए तब प्रभु स्वय लीलारूपमें आवेश होकर प्रगट होते हैं, नहीं तो लीला नहीं बल्कि उनकी गीला होती है।

'मायाकी प्रेरणासे जीवको मोह होता है, इसमें जीवका कौन दोष ? इसका समाधान—क्या भुशुण्डी, गरुड, नारदादिही मायाके वश मोहित हुए ? मायाके वशमें सारा संसारही है अर्थात् सबही लोग परवश हैं इस सिद्धान्तसे किसीको पाप लगना नहीं चाहिए।···कोई जबरदस्ती किसीसे झूठ कहलावे तो वह पाप कैसे ?' समाधान—जिस समय यवनोंका अत्याचार भारतनिवासियोंके ऊपर हुआ था उस समय अनेकों भारतवासी हिंदुओंको यवनोंने जबरदस्ती गोमास खिला दिया था और अपनी विधिसे मुसलमान बना दिया था, अनेकों आदरणीया भारतनिवासिनी सती स्त्रियोंके साथ बलात्कार किया था, पुनः यवनी बना दिया, क्या यह सब पाप नहीं गिना जायगा ? मूलके पाठको लोगोंने बदल दिया है 'परम प्रेम नहिं जाइ तजि ' मे प्रेमकी जगहपर 'पुनीत' कर दिया है।

'यद्यपि ऐश्वर्यमें शिव पार्वतीजीका नित्य संयोग है, तथापि भक्तिको दृढाने हेतु शिवजीने माधुर्य लीला मर्यादापालनके हेतु की है। सोभी निज सिद्धान्तसे नहीं, निज इष्टदेव श्रीरामचन्द्रजीकी सम्मतिसे, यथा 'सुमिरत राम हृदय अस आवा। यह तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।' यदि सती निष्पाप होतीं' तो उनके साथ प्रेम करनेमें पाप कैसा ? यथा 'किये प्रेम बड पाप।' (मा० अ० दी० चक्षु)।'

प० प० प्र०—सतीजीने यद्यपि असत्य भाषण और पतिसे कपट किया तथापि वह उनकी निज बुद्धिसे नहीं हुआ। वह राममायाकी प्रेरणासे हुआ—'प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा'। किसीको गुप्त रीतिसे मदिरा पिलानेपर वह यदि असत्य भाषणादि पाप करे तो यह मानना कि उसने यह पाप किया महादोष है। ☞ यहाँ यह उपदेश मिलता है कि सती सदृश पतिव्रता या नारद एवं गरुड समान किसी सन्तसे जब उनके स्वभावविरुद्ध कोई दोष या पाप इत्यादि हो जाता है, तब उसकी चर्चा करना दूसरोंके लिये सन्तनिन्दा करनेके समान है। दूसरोंके दोषोंके विषयमें उदासीन रहना ही हितकर है। पाप हुआ या नहीं और किसने किया इसका निर्णय करना अति दुष्कर है। 'कठिन करम गति जान बिधाता' ऐसा समझकर भगवान्का स्मरण करना ही श्रेयका मार्ग है। जिससे पाप हुआ उस दोषभाजन या पापकर्ताको पश्चात्तापसे दग्ध होकर पापक्षालनके लिये भगवच्छरणागति और भगवन्नामाश्रय ग्रहण करना आवश्यक है। वह कभी ऐसा न मान ले कि हरिमायाकी प्रेरणासे ही ऐसा हुआ, क्योंकि हरिमायाकी करनीको जानना अति अगम्य है।

टिप्पणी—२ (क) 'सती असि नारी' इति। भाव कि सतीजी पतिव्रताशिरोमणि हैं, उनपर शिवजीका अत्यन्त प्रेम है तथा वे अत्यन्त सुन्दरी हैं, यथा 'पतिदेवता सुतीय महुँ मातु प्रथम तव रेख। महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष। १। २३५।', 'सदा संभु अरधग निवासिनि', 'जनमीं प्रथम दच्छ गृह जाई। नामु सती सुंदर तनु पाई॥ १। ६८। ३, ५।' वे ऐसी थीं कि उनका त्याग करना कठिन और असह्य था, यथा 'परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेम बड पापु। प्रगटि न कहत महेस कछु हृदय अधिक संतापु। १। ५६।', 'दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरें। ७। ५६। ५।'—ऐसी उन सतीजीकोभी 'रघुपतिव्रत' के रक्षणार्थ त्याग दिया।

(ख) 'पनु करि रघुपति भगति देखाई' इति। अर्थात् सतीजीके त्यागकी प्रतिज्ञा करके रघुनाथजी के चरणोंमें जो उनका प्रेम था वह उन्होंने प्रकट कर दिया। 'देखाई' का भाव कि शिवजीकी भक्ति गुप्त थी, दूसरेको दिखाती न थी, श्रीशिवजीने अपने कर्म (आचरण) द्वारा दिखाया कि ऐसी भक्ति करनी चाहिए,

श्रीरघुपतिभक्तिका आदर्श यह है। (ग) 'को शिव सम रामहि प्रिय', यथा—'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें ॥ १ । १३८ । ६।' (ये भगवान्‌के वचन हैं)। (घ)—'भाई' संबोधनकी रीति है। विशेप भाव पूर्व आचुके हैं।

दोहा—प्रथमहि मैं कहि शिवचरित बूझा मरमु तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त विकार ॥ १०४ ॥

अर्थ—मैंने प्रथमही श्रीशिवजीका चरित कहकर तुम्हारा भेद ले लिया। तुम श्रीरामचन्द्रजीके संपूर्ण दोषोंसेरहित पवित्र सेवक हो। १०४।

टिप्पणी—१ 'प्रथमहि'''तुम्हार' इति। इससे पाया गया कि शिवविमुखको श्रीरामचरित न सुनाना चाहिए। याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजजीका मर्म लेनेके लिये प्रथम शिवचरित कहा, इसीसे गोस्वामीजीने प्रथम रामभक्तका चरित्र कहकर तब रामचरित कहा। ऐसा करके उन्होंने सबको यह दिखाया कि हमकोभी गौरीश प्राणोंके समान प्रिय हैं।

नोट—१ 'सुचि सेवक'' इति। 'शुचि' और 'रहित समस्त विकार' से तात्पर्य उन दोषोंसे है जो ऊपर चौ० ३८ में कहे गए हैं। अर्थात् शिवभक्ति और श्रीरामभक्तिमें भेदभाव रखना, परम भागवत श्रीशिवजीके चरित और श्रीरामचरितमें भेद-बुद्धि रखना इत्यादि विकार हैं। श्रीशिवजीके चरितमें वैसा ही प्रेम रखना जैसा श्रीरामचरितमें यह श्रीरामसेवककी शुचिता है। श्रीशिवजीसे द्रोह करना और श्रीरामजीके सेवक बनना यह अशुचिता है। जो शिवद्रोही हैं वे श्रीरामजीके शुचि सेवक नहीं हैं। 'सुचि सेवक तुम्ह राम के' का भाव कि शिवजीके चरणकमलोंमें तथा उनके चरितमें तुम्हारा वैसा ही प्रेम है जैसा श्रीराम-चरणकमल और उनके चरितमें। कैसे जाना ? यह पूर्व कह आए—'नयन नीरु रोमावलि ठाढ़ी ॥ प्रेमबिबस मुख आव न बानी। दसा देखि हरषे मुनि ज्ञानी ॥' शिवचरित सुननेपर उनकी यह प्रेमकी दशा प्रत्यक्ष देखी। दूसरे, इससे कि उन्होंने श्रीरामकथा विस्तारसे कहनेकी प्रार्थना की थी, यथा 'कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी। ४७। १।' और याज्ञवल्क्यजीने कहाभी—'तात सुनहु सादर मन लाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई। ४७। ५।' पर यह प्रतिज्ञा करके भी रामचरित न कहकर शिवचरित कहने लगे, तो भी वे सावधान-तापूर्वक सुनते रहे, कहीं टोकाभी नहीं, यहभी न कहा कि मैंने तो रामकथा पूछी और आप कहने लगे शिवचरित। इत्यादि। वरंच शंभुचरित सुनकर अत्यन्त सुखको प्राप्त हुए। ☞ उत्तम श्रोताके यही लक्षण हैं। २—पंजाबीजीका मत है कि 'शुचि' से निष्काम और 'रहित बिकार' से निर्दंभ सूचित किया। भाव कि जो सकाम और दंभी होते हैं वे एकान्तमें गुरुजनोंसे प्रश्न करके उनको उत्तर देनेमें सावधान करते हैं और उनके हृदयमें गुह्य आशा यह रहती है कि ये बड़े प्रामाणिक वक्ता हैं, हमारे पास इनके रहनेसे हमारी महिमा प्रसिद्ध होगी, इत्यादि वासनाकृत विकार तुममें नहीं पाए जाते। और वैजनाथजी 'विकार' से कामादिका ग्रहण करते हैं।

मैं जाना तुम्हार गुन सीला। कहौं सुनहु अब रघुपति लीला ॥ १ ॥
सुनु मुनि आजु समागम तोरें। कहि न जाइ जस सुखु मन मोरें ॥ २ ॥

शब्दार्थ—'सीला' (शील)=पवित्राचरण, सद्‌वृत्ति, स्वभाव। यथा 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते इत्यमरे ३. ३. २००।', 'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानंच शीलमेतत्प्रशस्यते' (अमरटीका शीलनिरूपणाध्याय), 'शुचौ तु चरिते शीलम्। १।७।२६।' लीला=चरित। मनुष्यके मनोरंजनके लिये किये हुए ईश्वरावतारोंका अभिनय। वह व्यापार जो चित्तकी उमंगसे केवल मनोरंजनार्थ किया जाय। समागम= सम्मिलन, मिलनेसे, सत्संगसे।

अर्थ—मैंने तुम्हारा गुण और शील जान लिया। अब मैं श्रीरघुनाथजीकी लीला कहता हूँ, सुनो

। १ । हे मुनि ! आज तुम्हारे समागमसे जैसा कुछ सुख मेरे मनमें हुआ है वह कहा नहीं जा सकता । २ ।

टिप्पणी—१ 'मैं,जाना तुम्हार गुन सीला ।···' इति । (क) भाव कि आप समस्त विकारोंसे रहित समस्त गुणोंसे युक्त हैं, यथा 'संत हंसगुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ।' (ख) ☞ प्रथम श्रोता के सब लक्षण भरद्वाजजीमें कहकर तब कथा सुनानेको कहते हैं । श्रोताके लक्षण उत्तरकांड दोहा ६६ 'श्रोता सुमति सुसील सुचि कथारसिक हरिदास । पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास ।' में दिये हैं । ये सब लक्षण इनमें हैं—(१) सुमति, यथा—'मैं जाना तुम्हार गुन' । सुमति आदि गुण हैं । [सुमति, यथा 'सभु चरित सुनि सरस सुहावा । भरद्वाज मुनि अति सुख पावा ।' (वि० त्रि०)] (२) सुशील, यथा 'मैं जाना तुम्हार गुन सीला' । (३) शुचि, यथा 'सुचि सेवक तुम्ह रामके रहित समस्त बिकार । (४) कथा-रसिक, यथा 'बहु लालसा कथा पर बाढ़ी' । (५) हरिदास—'सुचि सेवक तुम्ह राम के···' । (ग) 'कहौं सुनहु अब' इति । 'अब' का भाव कि हमने प्रथम रामचरित कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, यथा 'तात सुनहु सादर मनु लाई । कहहुँ राम कै कथा सुहाई । ४७।५।' पर बीचमें तुम्हारा मन लेनेकेलिये शिवचरित कहने लगा था । अब रघुपतिचरित कहता हूँ । पुनः, दूसरा अभिप्राय यह है कि तुम शिवभक्त हो, राम भक्त हो, तुम्हारे चित्तमें कुतर्क नहीं है, तुमको रघुपति लीला अत्यन्त मधुर लगेगी । यथा 'हरिहरपद रति मति न कुतरकी । तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की । १ । ६ । ६।' अतएव 'अब' कहता हूँ, सुनो । पुनः, भाव कि उत्तम अधिकारी श्रोताके सब लक्षण तुममें परीक्षा करके देख लिये, अतः अब कहता हूँ, क्योंकि अनधिकारीसे न कहना चाहिए । [आसुरी संपत्तिवालोंको सुनानेसे उनका अकल्याण होता है; यथा 'अस रघुपति लीला उरगारी । दनुज बिमोहनि जन सुखकारी ।'; अतः कथा कहनेके पहले यह समझ लेना चाहिए कि इससे सुनने वालेकी हानि तो नहीं होगी, तब कथा कहनी चाहिए । सतीपर बड़ी विपत्ति कथाके अनादरसे आई(वि त्रि)]

२ 'सुनु मुनि आजु समागम तोरें ।···' इति । (क) 'आजु समागम तोरें' से जनाते हैं कि यह सब शिवचरित 'जागबलिक मुनि परम बिबेकी । भरद्वाज राखे पद टेकी ।४५।४।' से 'सभुचरित सुनि सरस सुहावा । दसा देखि हरषे मुनिज्ञानी । १०४।३।' तक; एकही दिनमें याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजजीको सुनाया था । पुन. भाव कि समागम तो पूर्व भी प्रति दिन होताही रहा और सुखभी मिलता रहा, परन्तु आजके समागमसे बड़ा सुख हुआ । तथा, आजका सा सुख पूर्व कभी नहीं मिला था । (ख) संतसमागमसे सुख होताही है, यथा 'संत मिलन सम सुख जग नाहीं । ७।१२१।१३।', 'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन । निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन । ७ १२३ ।' (ग) ☞ भरद्वाजजीका सुख प्रथम कह आए, यथा—'सभुचरित सुनि सरस सुहावा । भरद्वाज मुनि अति सुख पावा' । अब इस चौपाईमें याज्ञवल्क्यजीका सुख वर्णन करते हैं—'कहि न जाइ जस सुख मन मोरें' । इस प्रकार अन्योन्य सुख वर्णन किया । (घ) श्रोता और वक्ता दोनोंने शिवचरितसमुद्रमें स्नान किया, यथा 'चरितसिंधु गिरिजारमन बेद न पावहिं पारु । १०३।' चरित कहने सुननेसे सुख होना 'स्नान' करना है । यथा 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं । ते सुकृती मन मुदित नहाहीं । ४१।६।' (ङ) ☞ स्मरण रहे कि सुंदर वक्ता पाकर श्रोताको सुख होता है और सुंदर श्रोता पाकर वक्ताको सुख होता है । यथा—

(१) शिवजी (वक्ता)—'प्रश्न उमा कै सहज सुहाई । छल बिहीन सुनि सिव मन भाई । १.१११. ६ ।'
'उमा प्रश्न तव सहज सुहाई । सुखद संत संमत मोहि भाई । १. ११४. ६ ।'

श्रीउमाजी (श्रोता)—'नाथ कृपा अब गयउ बिषादा । सुखी भयउँ प्रभु चरन प्रसादा । १ । १२०। ३।'

(२) भुशुण्डीजी (वक्ता)—'सुनत गरुड कै गिरा बिनीता । सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता ॥ भयउ तासु मन परम उछाहा । ७. ६४ ।', 'पुलक गात लोचन सजल मन हरषेउ अति काग । ७. ६६ ।'

गरुड़जी (श्रोता)—'मोह जलधि बोहित तुम्ह भए । मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए । ७. १२५ ।'

(३) तथा-यहाँ—याज्ञवल्क्यजी—'कहि न जाइ ...'। भरद्वाजजी—'अति सुख पावा।'

(ङ)—'कहि न जाइ' से जनाया कि अपूर्व एवं अकथनीय आनंद मिला।

रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिँ सतकोटि अहीसा॥ ३॥

तदपि जथा श्रुत कहौं बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनु पानी॥ ४॥

शब्दार्थ—अहीसा (अहि ईश)=सर्पराज श्रीशेषजी। जथा (यथा)=जैसा। श्रुत=सुना हुआ, ज्ञात। जथाश्रुत (यथाश्रुत) एक शब्द है। यथाश्रुत (सं०) ='श्रुत अनतिक्रम्य वर्तते इति यथाश्रुतम्' अर्थात् जो सुने हुयेके बाहर नहीं। तात्पर्य कि जो या जैसा सुना हुआ है। गिरापति=वाणीके स्वामी (प्रेरक); विशेष—मं० श्लो० १ में देखिए। धनुपानी=धनु पाणि=हाथमें धनुष धारण किये हुए, यथा 'जासु उर बसहिं राम धनुपानी।'

अर्थ—हे मुनीश्वर! रामचरित अत्यन्त अपार है। सौ करोड़ शेष (भी उसे) नहीं कह सकते।३। तो भी वाणीके स्वामी, हाथोंमें धनुष (बाण) धारण करनेवाले प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करके जैसा सुना है वैसा बखानकर कहता हूँ।४।

टिप्पणी—१ 'रामचरित अति अमित ' इति। (क) प्रथम शिवचरितको सिन्धु कह आए, अब श्रीरामचरितकी बहुतायत कहते हैं। तात्पर्य कि भक्त और भगवान् दोनोंके चरित अनंत हैं। अनंतता या अपरिमेयत्व दूसरे चरणमें दिखाते हैं कि 'कहि न सकहि सतकोटि अहीसा'। (ख) 'अति अमित' कथनका तात्पर्य यह भी है कि हम इसे प्रभुके प्रसन्न होनेकेलियेही कहते हैं, कुछ समाप्तिके विचारसे नहीं कहते। यथा, 'एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं। प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं। ७। ९२।', 'बुध बरनहि हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी। १। १३। ८।', 'राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार। '। १।३३।', 'जल सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं। ७। ५२। ४।' इत्यादि 'अति अमित' के प्रमाण हैं। [(ग) जबतक इनका मर्म नहीं जान लिया कि ये शिवविमुख नहीं हैं तबतक 'मुनीश' संबोधन नहीं दिया था। यथा 'कहो सो मति अनहारि अब' 'सुनु मुनि मिटिहि बिषाद।१. ४७' शंभुचरितमें प्रेम देख सच्चा रामभक्त जाना तब 'मुनीश' संबोधन भी देने लगे। यथा 'अहो धन्य तव जन्मु मुनीसा।', 'रामचरित अति अमित मुनीसा'। (घ) 'कहि न सकहि सतकोटि अहीसा।' इति। भाव यह कि जब सौ करोड़ शेष एकत्र होके कहें, तोभी कह नहीं सकते तब एक मैं मनुष्य क्या कह सकता हूँ। पुनः, शेषजीके दो हजार जिह्वाएँ हैं, उसपर भी करोड़ों शेष। और मेरे तो एकही जीभ है तब मैं कैसे कह सकता हूँ? (ङ) शतकोटि शाखासे वेद शंभु चरित कहते हैं पर पार नहीं पाते—'चरित सिंधु गिरिजारमन वेद न पावहिं पार।' यह भागवत चरितकी अनंतता है। शतकोटि अहीश राम चरित नहीं कह सकते, क्योंकि 'नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा।', 'रामचरित सतकोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा। ७। ५२। २।' अपारका पार कहाँ?—यह रामचरितकी अनंतता है।

२ 'तदपि जथाश्रुत कहौं ' इति। (क) ऐसाही अन्य सभी वक्ताओंने कहा है। यह बड़े लोगोंके कथनकी रीति है। यथा—

श्रीशिवजी—'तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी। १.११४.५।'

भुशुण्डीजी—'राम अमित गुनसागर थाह कि पावइ कोइ। संतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहि सुनाएउँ सोइ। ७.९२।'

तुलसीदासजी—'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत। १. ३०।'

[भेद केवल इतना है कि भगवान् याज्ञवल्क्य यथाश्रुत कहनेमें समर्थ हैं, यथा 'ते श्रोता बक्ता समसीला। सवँदरसी जानहिं हरिलीला।' और दीन घाटके वक्ता यथाश्रुत कहनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं।

यथा 'किमि समर्भो मैं जीव जड कलिमल ग्रसित विमूढ। तदपि कही गुर बारहि बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥ भाषाबद्ध करब मैं सोई।' (वि० त्रि०)]

(ख) गोस्वामीजीने अपने गुरुजीसे सुनी। शिवजीने महर्षि अगस्त्यजीसे सुनी, यथा 'रामकथा मुनिवर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी। १ ४८ ३।' भुशुण्डीजीने शिवजीसे सुनी, यथा 'सो सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। १ ३० ४। और याज्ञवल्क्यजीने भुशुण्डीजीसे सुनी—तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। १ ३०।' (ग) 'कहौं बखानी' अर्थात् विस्तारपूर्वक कहूँगा। (घ) 'सुमिरि गिरापति ' इति। श्रीरामचरित कहनेके लिये 'गिरापति' का स्मरण किया, यह बात वे स्वयं आगे कहते हैं—'जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहि बानी '। कौन गिरापति? धनुपाणि अर्थात् धनुषधारी, धनुर्धर शार्ङ्गधर। कौन धनुषधारी? 'राम सूत्रधर अंतरजामी।' कौन राम? वह जो 'प्रभु' अर्थात् राजा हैं, अथवा, 'गिरा' को प्रेरण करने और विघ्न दूर करनेमें समर्थ हैं, धनुष बाण लियेहुए विघ्नोंसे रक्षा करते हैं, गिराको प्रेरित करनेवाले हैं। श्रीरामजीको 'गिरापति' कहा, यह बात आगेके 'प्रनवौं सोइ कृपाल रघुनाथा' से स्वयं कविने स्पष्ट कर दी है।

नोट—१ पाँडेजी 'गिरापति-प्रभु' ऐसा मानकर अर्थ करते हैं। अर्थात् सरस्वतीके पति ब्रह्माजीके स्वामी धनुर्धर श्रीरामचन्द्रजी। गिरापति = ब्रह्माजी, यथा 'ईस न गनेस न दिनेस न धनेस न सुरेस सुर गौरि गिरापति नहिं जपने। क० ७। ७८।' और प्रभु श्रीरामजी गिरापति हैं, इसके प्रमाण ये हैं—'ब्रह्म बरदेस बागीस व्यापक निमल विपुल बलवान निर्बान स्वामी। वि० ५४।', 'बेद विख्यात बरदेस बामन बिरज बिमल बागीस बैकुंठस्वामी। वि ५५।', 'बरद बनदाभ बागीस विश्वात्मा बिरज बैकुंठ मंदिर बिहारी वि ५६।'—विशेष म० श्लो० १ म 'वाणी' पर टिप्पणी देखिए। १ ११ ७ भी देखिए। रा० प्र०—कार और पंजाबीजी 'गिरापति' 'धनुपानी' का भाव यह लिखते हैं कि आप वाणीका रसनापर स्थित करेंगे और जो कुछ कहना उचित होगा उसे कहलावेंगे, जो कहते न बनेगा उसे ठीकसे कहला लेंगे। पुनः, यशकथनमें अनेक विघ्न होते हैं, उनकोभी निवारण करेंगे। इस भावकी पुष्टि 'कबि उर अजिर नचावहिं बानी' अगली चौपाईसे होती है। (रा० प०)। पुनः, 'गिरापति प्रभु' के स्मरणका भाव कि जो कठपुतलीके नाचको यथार्थत नेत्रसे देखना चाहे अर्थात् यह देखना चाहे कि किस प्रकार काठकी पुतली नाचती और बोलती है तो उसके स्वामी सूत्रधरका सम्मान करे, तब वह तमाशेका सार दिखलाकर तुष्ट करेगा, वैसेही वाणीके सूत्रधर तथा स्वामी श्रीरामजी हैं, उनकी अनुकूलतासे वाणीका यथार्थ नृत्य प्रदर्शित होगा, अतएव 'गिरापति' कहा। (मा० म०)। भाव यह कि जैसे कठपुतलीका नाच देखनेका इच्छुक कठपुतलीसे न बोलकर उसके सूत्रधरकाही सम्मान करता है वैसेही यहाँ कथा कहनेमें वाणीका स्मरण न करके उसके सूत्रधर नचानेवाले स्वामी श्रीरामजीकाही स्मरण करके कथा प्रारंभ करते हैं, इनकी अनुकूलतासे वाणी यथार्थ रीतिसे हृदयमें नाचेगी।

वि० त्रि० का मत है कि 'रामसच्चिदानन्दकी तीन शक्तियाँ हैं। सत शक्ति (महालक्ष्मी), चित्शक्ति (महासरस्वती) और आनन्द शक्ति (महाकाली)। इस भाँति रामजी गिरापति हैं।

२ रामचरितको 'अति अमित' कहकर फिर उसीको यह कहकर प्रतिपादन करना कि यथाश्रुत कहूँगा 'निषेधाक्षेप अलंकार' है। यथा 'पहिले करै निषेध जो फिर ठहरावै ताहि। कहत निषेधाक्षेप तेहि कविजन सकल सराहि।' (अ० म०)।

सारद दारु-नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ ५॥
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥ ६॥

शब्दार्थ—दारुनारि—लकडीकी बनीहुई स्त्री=कठपुतली। सूत्रधर—सूत्र (=सूत, तार)+धार=कठपूतरीको सूत्र पकडकर नचानेवाला। अजिर=आँगन। जनु (जन)=दास, भक्त।

अर्थ—सरस्वतीजी कठपुतलीके समान हैं। अन्तर्यामी स्वामी श्रीरामजी सूत्रधर हैं। ५। अपना जन जानकर जिस कविपर वे कृपा करते हैं उसके हृदयरूपी आँगनमें वाणीको नचाते हैं। ६।

टिप्पणी—१ 'सारद दारुनारि' इति। (क) कठपुतलीका स्वामी होता है जो उसे सूत्र धरकर नचाता है। यहाँ श्रीरामजी शारदाके स्वामी हैं, अन्तर्यामीरूपसे उसे नचाते हैं। तात्पर्य कि अन्तर्यामी श्रीरामजी शारदाके स्वामी हैं, शारदाको प्रेरित करते हैं। दाशरथी श्रीरामजी एकपत्नीव्रत श्रीसीताजीकेही स्वामी हैं, इसीसे अन्तर्यामीरूप पृथक् कहा। वाणी जड़ है, अन्तर्यामी प्रेरणा करता है तब निकलती है, इसीसे वाणीको कठपुतलीके समान कहा, यथा 'विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई। १.११७।'—('स्वामी' कहकर यहभी जनाया कि मेरेही स्वामी सरस्वतीके नचानेवाले हैं, अतः मुझपर कृपा करके वे उसे अच्छी तरह नचावेंगे)। (ख) 'अंतरजामी' का भाव कि कठपुतलीको नचानेवाला छिपकर बैठता है और सूत्रधर कठपुतलीको नचाता है तथा श्रीरामजी अन्तर्यामी रूपसे वाणीको नचाते हैं। ये भी छिपे बैठे हैं, अन्तर्यामी रूप देख नहीं पड़ता। 'उमा दारुजोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं। ४।११।७।' इस चौपाईमें ग्रन्थकारने श्रीरामजीका अन्तर्यामीरूपसे सबको नचाना कहाही है। (गीतामेंभी कहा है 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। १८। ६१।' अर्थात् शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए संपूर्ण प्राणियोंको अंतर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। भा० १.६.७ मेंभी कहा है 'ईशस्य हि वशे लोके योषा दारुमयी यथा' अर्थात् कठपुतलीके समान यह संपूर्ण लोक ईश्वरके वशीभूत है। (ग) यहाँ नचानेवाला, नाचनेवाला और नचानेका स्थान तीनों उत्कृष्ट हैं—श्रीरामजी ऐसे नचानेवाले, शारदा ऐसी कठपुतली और 'जन उर' आँगन है।

नोट—१ 'राम सूत्रधर' इति। ऊपर 'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी' में श्रीरामजीको 'गिरापति' कह आए हैं, उसी अर्थको यहाँ पुन. ज्ञापकहेतुद्वारा युक्तिसे समर्थन किया है अर्थात् वाणीके सूत्रधर हैं, उसे नचाते हैं, इससे जान पड़ा कि वे उसके स्वामी हैं। अतः यहाँ काव्यलिंग अलंकार है।

२ कठपुतली तार या घोड़ेके बालके सहारे नचाई जाती है, जिसे 'सूत्र' कहते हैं। कठपुतलीको नचानेवाला 'सूत्रधर' परदेमें छिपकर बैठता है। वैसेही सूत्रधर राम गोसाईं देख नहीं पड़ते। साधारण पुरुष केवल सरस्वतीकी क्रिया देखते हैं। सूत्र क्या है, इसमें मतभेद है।

वैजनाथजी कहते हैं कि 'अन्तर्यामीकी प्रेरणारूप सूत्र नाभिस्थान परावाणीमें लगा है'। फिर आगे चलकर वे लिखते हैं कि काव्यमें तीन कारण होते हैं—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। शक्ति (ईश्वरकी प्रेरणा) तो सूत्र है जिसे पकड़कर प्रभु वाणीको नचाते हैं, व्युत्पत्ति वाणीका वस्त्र और अभ्यास भूषण है। जैसे भूषण वस्त्रसे कठपुतलीका नाच अच्छा लगता है वैसेही व्युत्पत्ति, अभ्यास और शक्तिसे प्रकट वाणी भी भली लगती है।

मा० म० कार लिखते हैं कि 'वाणी पाँच हैं—अतिपरा, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। यथा—'क्रम ते बाणी पंच हैं लखो वैखरी माँझ। तुलसी पश्यती परा परापरा पर माँझ।' (रामनामकला मणिकोश) सब वाणियोंका कारण अति परा है, उसका स्थान शिखा है। वही वाणी नाभिमें आनेसे परा कहलाती है, उस वाणीका सूत्र ब्रह्म है। वही वाणी हृदय, कंठ और जिह्वापर आनेसे क्रमसे पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहलाती है। उनके सूत्र सत्त्व, रज, तम हैं। 'अति परा' के कारण श्रीरामजी हैं, अतएव उनको सूत्रधर कहा।' और जानकीशरणजी अ० दी० च० में लिखते हैं कि 'वाणी चार हैं—परा वाणी हृदयमें बसती है और सर्वगुणोंसे रहित है, पश्यन्ती हृदयके शिरोभागमें रहती है और सात्त्विकगुणसंयुक्त है, मध्यमा कंठमें और वैखरी मुखमें विराजती हैं और क्रमशः राजस तामसगुण युक्त हैं। तीनों सूत्रों, सत्त्व, रज, तम, की

सूत्रधर विन्दुरूपा श्रीजनकनन्दिनी हैं क्योंकि वे निर्गुणात्मिका कही जाती हैं। परन्तु पराका सूत्र रेफ है और रेफात्मक श्रीरामचन्द्रजी हैं, इसीसे ग्रन्थकारने उनको सूत्रधर कहा।'

श्रीकरुणासिंधुजी वाणीके चार स्थान बताते हैं—परा, पश्यंती आदि। आद्या शक्ति वा त्रिदेव को पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीके सूत्रोंका और श्रीरामजीको परावाणीके सूत्र (अन्तर्यामी ब्रह्म) का सूत्रधर बताते हैं।

श्रीगंगाप्रतापदीगरजी लिखते हैं कि किसी किसीका अनुभव है कि इन वाणियोंके स्थान इस प्रकार हैं—वैखरीका जिह्वा, मध्यमाका कंठ, पश्यतीका त्रिकुटी और पराका मस्तक। विचारके पश्चात् ही वाणीका उपयोग होता है और विचारका केन्द्र मस्तकही है तथा सब शक्तियोंका ही केन्द्र यही है। इससे परावाणीका स्थानभी यदि यही हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसपर कल्याणके योगांकमें एक लेखभी है—कुंडलिनीके संबंधमें।

उपर्युक्त महानुभावों तथा अबतकके टीकाकारोंमसे प्रायः किसीनेभी कोई प्रमाण नहीं दिये हैं जिनके आधारपर उन्होंने वाणीके प्रकार और उनके स्थान लिखे हैं। हमने बहुत खोज करके 'भगति हेतु विधि भवन विहाई। सुमिरत सारद आवत धाई। १।११।४।' में इस विषयपर प्रकाश डाला है। वाणी चार प्रकारकी है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। मूलाधारस्थ पवनसे संस्कारीभूत शब्दब्रह्मरूप स्पंदशून्य बिन्दुरूप मूलाधारमें स्थित वाणीको 'परावाणी' कहते हैं। वही परावाणी जब उस पवनके साथ नाभिकमलतक आती है और वहाँ कुछ स्पष्ट (अभिव्यक्त) होनेपर मनका विषय होती है तब उसको 'पश्यन्ती' कहते हैं। वही वाणी जब पवनके साथ हृदयतक आती है और कुछ अधिक स्पष्ट होती है परन्तु श्रोत्रके द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता, केवल जपादिमें बुद्धिके द्वारा जानने योग्य होती है तब उसको मध्यमा कहते हैं। वही जब मुखतक आती है और श्रोत्रसे ग्राह्य होती है तब 'वैखरी' कही जाती है। विशेष १। ११। ४ में देखिये।

टिप्पणी—२ 'जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। ...' इति। (क) कठपुतलीवाला धनिक जानकर द्रव्यके लिये नचाता है, और श्रीरामजी 'जन' जानकर कृपा करके (अर्थात् जनसे कुछ चाहते नहीं) वाणीको नचाते हैं। [अथवा, कठपुतलीका स्वामी धनके लोभसे धनवान् देखकर तब नचाता है, वैसेही श्रीरामजी प्रेम वा भक्तिरूपी धनका धनी देखकर अपने यशके विस्तार होनेके लोभसे एवं भक्त जानकर वाणीको नचाते हैं। कठपुतलीवाला निर्धनके यहाँ नहीं नचाता, वैसेही श्रीरामजी भक्ति धन रहितके हृदयमें वाणीको नहीं नचाते, क्योंकि यहाँ निज-यश विस्ताररूपी लाभ नहीं होनेका। (म० दी० च०)] (ख) 'कृपा करहिं' से जनाया कि कृपा डोर है, यथा 'कृपा डोरि बंसी पद-अंकुस परम प्रेम मृदु चारो। वि० १०२।' (ग) ☞ यहाँ 'जन जानि' और 'कवि उर' दो नाम लिखते हैं। तात्पर्य कि जन और कवि दोनों हों तब उरमें नचाते हैं, केवल कवि हो जन न हो तो श्रीरामजी ऐसी वाणीको नहीं नचाते और यदि केवल जनही है, कवि नहीं, तो भी वाणीको नहीं नचाते। पुनः, (घ) कृपा करनेमें 'जन' कहा, क्योंकि कृपा जनहीपर होती है और वाणीको नचानेमें 'कवि' शब्द देनेका तात्पर्य कि जिसके उरमें वाणी नाचे वही कवि है और जिसपर कृपा हो वही जन है। (ङ) वहाँ कठपुतलीका नाच देखकर लोग सुखी होते हैं, यहाँ श्रीरामजीके कृपापात्र कविकी वाणीका विलास देखकर बड़े बड़े विद्वान प्रसन्न होते हैं। श्रीरामजी ऐसे निपुण नचानेवाले हैं तब वाणीकी शोभा क्योंकर न हो? (च)—कविके उरको 'अजिर' कहा, क्योंकि पुतली नचानेवाला प्रायः मैदानमें नचाता है। इस प्रकार यहाँ 'सारद दारुनारि... बानी'में साङ्गरूपक है।

श्रीलमगोड़ाजी—'सारद दारुनारि ...। राम सूत्रधर ...। कवि उर ...' इति। कविवर टैगोरका भी यही मत है कि वस्तुतः कवि केवल एक बाँसुरी है, आवाज जो उसमेंसे निकलती है किसी औरहीकी है! पूज्य आचार्य श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदीने मुझसे एक बार पूछा था कि क्या तुलसीदासजीने यह सब सोचकर

लिखा था जो तुम लोग खोज खोजकर उनके शब्दोंसे निकालते हो! मैंने कविवर टैगोरके मतके आधारपर उत्तर [illegible] सरस्वतीके वाक्य होते हैं, जिनमे सदा नवीनता रहती है— [illegible], वह नहीं सोचता कि कोई उसकी किरणोंसे रंगोंका विज्ञान निकाल रहा होगा, कोई चिकित्सक सूर्यस्नानकी विधि बताता होगा, इत्यादि इत्यादि। इसी तरह कवि सोचकर नहीं लिखता। उसका शब्दप्रवाह सुरसरिधारकी तरह स्वाभाविक होता है। भाष्यकार, टीका लिखनेवाले और समालोचक अनेक-अनेक गुण ढूँढ़ निकालते हैं। इसीलिये मिलटननेभी कहा है कि काव्य लिखनेसे पहले कविको अपना जीवन ही काव्य बनाना चाहिए; तब तो सरस्वतीका प्रवाह उसके शब्दोंद्वारा निकलेगा परन्तु सौभाग्य यह है कि तुलसीदासजी बहुत अधिक मात्रामें जानबूझकर लिखनेवाले कवि (Conscious poet), थे; यह बात स्पष्ट हो जायगी यदि आप इस बातपर विचार करें कि हर विचारणीय घटना या वक्तृताके पहले या पीछे वे स्वयं जो आलोचना करते हैं उससे अच्छी आलोचना करना कठिन है।

प्रश्न—'सुमिरत सारद आवत धाई। १। ११। ४।', 'सारद बोलि विनय सुर करहीं।२।११।८।', 'अस कहि सारद गइ विधि लोका। २। २९५।', 'देखि मनोहर चारिउ जोरी। सारद उपमा सकल ढँढोरी।' आदि स्थलोंपर शारदाको चैतन्य कहा गया है, तब यहाँ जड़ कठपुतलीकी उपमा क्यों दीगई? (वे० भू०)।

उत्तर—ईश्वरका ज्ञान सदा एकरस रहता है, कभी संकुचित नहीं होता और एकपादविभूत्यंतर्गत जीव भगवान्‌की मायाके अधीन हैं। अतः जीवका ज्ञान एकरस नहीं रहता, संकुचित विकसित होता रहता है; यथा 'ज्ञान अखंड एक सीतावर। माया वस्य जीव सचराचर।','माया वस्य जीव अभिमानी','उपजइ बिनसइ ज्ञान जिमि पाइ सुसंग कुसंग' इत्यादि। सब जीवोंके समान शारदाभी एक जीव विशेष ही है। जड़ चैतन्य सभी ईश्वराधीन हैं। सबका व्यापार भगवत्प्रेरणासेही चलता है, स्वतन्त्र नहीं। इसीसे अर्थात् केवल भगवत्पारतंत्र्यत्वकेही लक्ष्यसे शारदा एवं सबको कठपुतलीसे उपमा दी गई है, कुछ जड़त्वभावसे नहीं; क्योंकि यदि जड़त्वभावसे कठपुतलीकी उपमा शारदाकी दी जाती तो यह कठपुतलीकी उपमा शिवजी संपूर्ण चराचरमात्रके लिये न दे डालते। यथा 'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं।' श्रीमद्भागवतमेंभी चराचरमात्रके लिये भगवत्पारतंत्र्यत्वके ही कारण 'योपादारुमयी यथा' कहा गया है। (वे०भू०)

नोट—३ विनायकी टीकाकारने 'सारद दारुनारि' की व्याख्यामें एक भजन उद्धृत किया है— 'धनि कारीगर करतारको पुतलीका खेल बनाया। बिना हुक्म नहिं हाथ उठावे बैठी रहे नहिं पाँव चलावे॥ हुक्म होइ तो नाच नचावै जब आप हिलावे तार को। जिसने यह जगत् रचाया॥१॥ जगदीश्वर तो कारीगर है पाँचों तत्वकी पुतली नर है। नाचे कूदे नहि बजर है पुतलीघर संसारको। बिन ज्ञान नजर नहि आया॥२॥ उसके हाथमें सबकी डोरी कभी नचावे काली गोरी। किसीकी नहिं चलती बरजोरी तज दे झूठ विचारको। नहिं पार किसीने पाया॥ ३॥ परलयमें हो बंद तमासा फेर दुबारा रच दे खासा। 'छज्जूराम' को हरि की आसा है धन्यवाद हुशियारको। आपेमें आप समाया॥ ४॥'

प्रनवौं सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनौं बिसद तासु गुन गाथा॥ ७॥

अर्थ—उन्हीं कृपाल रघुनाथजीको मैं प्रणाम करता हूँ और उन्हीं (कृपालु) के निर्मल गुणोंकी कथा वर्णन करता हूँ। ७।

टिप्पणी—१ (क) 'सोइ कृपाल' अर्थात् वाणीके प्रेरक जो कृपा करके 'कवि उर अजिर नचावहिं बानी' उनको। कृपाल अर्थात् कृपा करनेवाले कहा क्योंकि ऊपर कह आए हैं कि 'जेहि पर कृपा करहिं'''।' (ख) 'कृपाल रघुनाथा' इति। पूर्व 'राम अंतर्यामी' कहा था और यहाँ 'कृपाल रघुनाथा' कहा, इसमें भाव यह है कि वह जनपर कृपा करनेवाले अन्तर्यामी कृपा करके रघुनाथ हुए हैं, अर्थात् निर्गुण (अव्यक्त) से सगुण हुए हैं। सगुण होनेमें कृपा मुख्य है—'मुख्यं तस्य हि कारुण्यं'; इसीसे 'कृपाल' विशेषण दिया। पुनः 'कृपाल'

का भाव कि मैं रघुनाथजीको प्रणाम करता हूँ, वे मुझे अपना जन जानकर मेरे हृदयमें वाणीको नचावें जिसमें मैं उनके गुण वर्णन करूँ। (ग) 'विसद तासु गुन गाथा' इति। विशद कहनेका भाव कि जैसे भगवान्‌के गुण विशद हैं, वैसेही मेरी वाणी विशद हो जाय। यथा 'करहु अनुग्रह अस जिय जानी। बिमल जसहिं अनुहरइ सुबानी। १ १४. १३।' (घ) ☞ स्मरण रहे कि अन्य सब वक्ताओंने भी श्रीरामजीको प्रणाम करकेही कथा प्रारंभ की है—

तुलसीदासजी—'अब रघुपति-पद पंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिबर्य'। १ ४३।', 'सुमिरि सो नाम राम गुनगाथा। करौं नाइ रघुनाथहि माथा। १ २८ २।'

शिवजी—'करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी। १। ११२। ५।'

भुशुण्डीजी—'तरहिं न बिनु सेयें मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी। ७ १२४ ७।' यह अन्तका मंगलाचरण है। इसीसे सूचित हुआ कि आदिमें श्रीरामजीको प्रणाम करके भुशुण्डीजीने कथा आरंभ की है।

☞ इस प्रसंगमें यहाँ निर्गुण और सगुण दोनो रूप कहे हैं, इसीसे स्मरण और प्रणाम दो बातें पृथक् पृथक् लिखीं। निर्गुणके लिये 'सुमिरि' क्रिया और सगुणके लिये 'प्रनवौं' कहा है—'सुमिरि गिरापति। राम सूत्रधर अंतरजामी', 'प्रनवौं सोइ कृपाल रघुनाथा'।

☞ यहाँ तक उमा शंभु संवादका हेतु कहा। आगे उमा शंभु संवाद कहते हैं।

कैलास–प्रकरण (तदन्तर्गत)

उमा–शंभु–संवाद एवं शिव–गीता

परम रम्य गिरिबरु कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू॥ ८॥

दोहा—सिद्ध तपोधन जोगिजन सुर किंनर मुनिबृंद।
बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं सिव सुखकंद॥ १०५॥

शब्दार्थ—रम्य=सुंदर, जो देखी हुई होनेपर भी अनदेखीसी जान पड़े, रमणीय। तपोधन=तपस्वी, तपही जिसका धन है, जो तपके सिवा और कुछ नहीं करता।=तपस्यापूर्ण—(वै०)। सुखकंद=आनंदकंद, आनंदघन। कंद=मूल।=मेघ, घन, बादल, यथा 'यज्ञोपवीत विचित्र हेममय मुक्तामाल उरसि मोहि भाई। कंद तड़ित बिच ज्यों सुरपति धनु निकट बलाक पाँति चलि आई।' (गीतावली)।

अर्थ—कैलास पर्वतोंमें श्रेष्ठ और अत्यन्त रमणीय है, जहाँ श्रीशिव पार्वतीजीका निवास रहता है। ८। सिद्ध, तपस्वी, योगीलोग, देवता, किन्नर और मुनियोंके समूह वहाँ बसते हैं और ये सब पुण्यात्मा आनंदकंद शिवजीकी सेवा करते हैं। १०५।

टिप्पणी—१ (क) 'परम रम्य' का भाव कि इसकी रमणीयता देखकरही श्रीशिवजी सदा कैलासपरही उमासहित रहते हैं, तथा इससे सदा सुख पाते हैं। [मिलान कीजिए—'परम रम्य आराम येहु जो रामहि सुख देत। १ २२७।' से। (जैसे पुष्पवाटिकामें) श्रीरामजीका सुख देनेसे श्रीजनक महाराजके बागको 'परम रम्य' कहा है। भाव कि श्रीरामजी स्वयं सुखस्वरूप आनंदघन हैं, उनका भी इसने आनंद दिया, इसलिये बागको 'परम रम्य' कहा, वैसेही यहाँ सुखकंद शिवजी' को कैलाससे सुख होता है इससे कैलासको 'परम रम्य' कहा गया।] पुन 'परम' का भाव कि अन्य सब स्थानोंसे कैलासकी शोभा अधिक है। ('परम' अतिशयका बोधक है। यह शब्द और भी स्थानोंके साथ आया है—'परम रम्य मुनिबर मन भावन। १। ४४। ६।', 'परम रम्य आरामु येहु', इत्यादि)। (ख) 'गिरिबरु' से जनाया कि सब पर्वतोंसे यह अधिक श्रेष्ठ है। (ग) 'सदा जहाँ शिव उमा निवासू' से सूचित किया कि शिव–उमाके निवाससे पर्वतकी बड़ाई हुई है, जैसे श्रीसीतारामजीके चित्रकूटनिवाससे विन्ध्याचलने बड़ाई पाई। यथा 'बिधि मुदित मन

सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई। २। १३८। ८।' उमा-सहित यहाँ निवास कहनेका भाव कि यह श्रीशिवजीका विहारस्थल है। एक रूपसे श्रीउमामहेश्वरजी यहाँ सदा विहार करते हैं। [पुनः भाव कि हिमालय पर और भी पर्वतशिखर हैं जो रमणीय हैं, परन्तु यह अत्यन्त रमणीय है; इसीसे उमासहित शिवजी यहाँ सदा रहते हैं। इस प्रकार यहाँ स्थानी और स्थान दोनोंकी श्रेष्ठता दिखाई। (पुनः 'सदा' का भाव कि काशीमें भी वे रहते हैं, यथा 'जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न'। परन्तु राजा दिवोदासके समयमें शिवजीके काशी छोड़नेकी कथा सुनी जाती है। कैलासमें सदा निवास रहता है। वि० त्रि०)। (घ) यहाँ उमा-शंभु-संवादका स्थान दिखाया ☞इसी तरह अन्य तीनों वक्ताओंकी कथा अथवा संवादोंके स्थान ग्रन्थकारने कहे हैं। यथा—

(१) 'नौमी भौमवार मधु मासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा। १। ३४। ५।'—(तुलसीदासजी)

( ) 'भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। १। ४४। १। ' जागबलिक मुनि परम बिबेकी। ' '(याज्ञवल्क्यजी)

(३) 'उत्तरदिसि सुंदर गिरि नीला। तहँ रह काकभुसुंडि सुसीला॥ ७।६२।२। गएउ गरुड़ ' '(भुशुण्डीजी)।

प० प० प्र०—१ चारों सम्वादोंके स्थानोंके वर्णनसे यह सूचित किया है कि परमरम्य, परम पावन, अति विचित्र और गूढ़ रघुपतिकथाके लिये स्थान भी परमरमणीय, परमपावन, सन्त मुनि और सुकृती पुरुषोंका निवासवाला होना चाहिए। वहाँ शान्ति और एकान्त भी चाहिए।

२ 'जहाँ शिव उमा निवासू' इति। विवाहके पूर्व शिव उमा थे। विवाह करके कैलासपर पहुँचनेपर शंभु भवानी बने, यथा 'जबहिं संभु कैलासहि आए।'''जगतमातुपितु संभु भवानी। १०३। ३-४।' शृङ्गार विहार समय 'हर गिरिजा' और गिरिजारमण बने, यथा 'हरगिरिजा बिहार नित नयऊ', 'चरितसिंधु गिरिजारमन'''। १०३।' पुत्रसुखदर्शनसे गृहस्थ कर्तव्यमुक्त होनेपर जब रामभक्तिपथका अवलंबन किया तब फिर शिव उमा होगए। केवल भावार्थभेदवाले शब्दोंके प्रयोगसे विशेष कुछ भी न कहकर गूढ़ भावना, परिस्थिति, कर्तव्यपालन इत्यादिका दिग्दर्शन सुचारु रूपसे करनेकी यह 'मानसकवि तुलसी' की काव्यकला समग्र मानसमें अथसे इति तक भरी पड़ी है!

टिप्पणी—२ 'सिद्ध तपोधन'''' इति। [(क) 'बृंद' शब्द सिद्ध आदिके अन्तमें देकर सबके साथ सूचित किया अर्थात् सिद्धोंके वृंद, तपोधनवृंद इत्यादि। (व्याकरणमें यह नियम है कि द्वन्द्वसमासके अन्तमें जो पद होता है वह उस समासके प्रत्येक शब्दके साथ भी लगता है। यथा—'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणपदं प्रत्येकमपि सम्बद्ध्यते'।) सिद्ध भी देवताओंकी एक जाति है। तथा जो योगद्वारा सिद्धियोंको प्राप्त होचुके हैं, जिनका साधनकाल समाप्त होगया और जो सिद्ध होगए। योगी—१। २२। १, किन्नर—१। ६१। १ में देखिए। 'मुनि' वे मुनि-समुदाय भी हैं जो स्वारोचिष मन्वन्तरमें कश्यपजीके स्त्री मुनिसे उत्पन्न हुए। अरिष्टासे जो उत्पन्न हुए वे किन्नर और गंधर्व कहलाए। (प० पु० सृष्टिखंड)। 'बसहिं तहाँ सुकृती' का भाव कि सुकृतोंसे कैलासमें वास होता है। तहाँ अर्थात् जहाँ 'सदा शिव उमा-निवासू' है। 'बसहिं तहाँ' कहनेका भाव कि उमा-शिव-निवास वहाँ सदा रहता है, इसीसे सुकृती वहाँ बसते हैं। यदि वहाँ शिव-उमा निवास सदा नहीं होता तो न बसते। 'सुकृती' का भाव कि उन्हें कैलास सुकृतसे मिला है, इसीसे वहाँ बसते हैं, कहीं अन्यत्रसे आकर शिव-सेवा नहीं करते। सुकृतसे कैलास मिला और सुकृतसेही शिवसेवा मिली। 'बृंद' शब्द सकलका संबंधी है। (ग) 'बसहिं' और 'सेवहिं सुखकंद' कहनेका तात्पर्य है कि सुकृतका फल सुख है, यथा 'सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी। १. १५५. २।', 'भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी। २. १. २।', 'बरनाश्रम निजनिज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग। ७. २०।'—ये कैलासके बाससे सुख नहीं मानते। शिवजी सुखके कंद हैं, उनकी सेवा करते हैं। अर्थात् शिवसेवामेही सुख मानते हैं। (घ) 'सेवहिं' का भाव कि सेवाके लिए ही बसते हैं और शिवजी सेवक सुकृतियोंका पालन करते हैं। सेवक सालि हैं, यथा 'सेवक सालि पाल जलधर से', 'बर्षारितु

रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास'। (ङ) 'सुखकंद' अर्थात् सुखरूपी जलकी वर्षा करनेवाले मेघ हैं। 'कं' (जल) ददातीति कंदः।'—'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी। २। १। २।' [कंदका अर्थ मूलभी है। 'मूल' अर्थमें भाव यह होगा कि शिवजी सुखरूपी वृक्षकी जड़ हैं। जैसे मूलकी रक्षाके बिना वृक्ष नहीं रह सकता, वैसेही शिवसेवा-बिना सुख रह नहीं सकता; यथा 'जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही। ४। १७।५।' 'कंद' का अर्थ मेघ करते हुए पाँडेजी कहते हैं कि 'सेवहिं सुखकंद' का भाव यह है कि हमपरभी कभी श्रीरामयशजलकी वर्षा कर देंगे,—'बरषहिं रामसुजस बर बारी']।

नोट—मिलान कीजिए भा० ४। ६। ६ 'जन्मौषधि तपो मंत्र योगसिद्धैर्नरेतरैः। जुष्टं किन्नर गंधर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा॥' यहाँसे लेकर श्लोक २२ तक कैलासका बहुत सुंदर वर्णन है। यह सब भाव गोस्वामीजीने 'परम रम्य' विशेषणसे जना दिये हैं। 'सिद्ध तपोधन' आदिसे कैलासकी पवित्रता दिखाई। वाल्मीकीयमेंभी सिद्ध तपोधन मुनियोंके निवासका प्रमाण मिलता है। अहल्याको शाप देनेके पश्चात् परम तपस्वी गौतमजी हिमालयके उस शिखरपर तपस्या करने लगे जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं। यथा 'इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते। हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः। वाल्मी० ।१। ४८ ।३३।'

हरि-हर-बिमुख धर्म रति नाहीं। ते नर तहँ सपनेहुँ नहिं जाहीं॥ १॥
तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला॥ २॥

शब्दार्थ—बिमुख=उदासीन, विरुद्ध, प्रतिकूल, जिसकी प्रीति नहीं है। बिटप=वृक्ष, पेड़। नित नूतन=नित्य नया, सदा हराभरा। बिसाला (विशाल)=बड़ा भारी।

अर्थ—जो हरि हर विमुख हैं, जिनकी धर्ममें प्रीति नहीं है, वे मनुष्य वहाँ स्वप्नमें भी नहीं जाते। १। उस पर्वतपर एक विशाल बरगदका वृक्ष है जो सब कालोंमें सदा हराभरा नित्य नया और सुन्दर बना रहता है। २।

टिप्पणी—१ 'हरिहर बिमुख···' इति। (क) दोहेमें कैलासके अधिकारी कहे,—'सिद्ध तपोधन जोगि जन ' इत्यादि। अब अनधिकारी कहते हैं।—'हरिहर बिमुख'। इस तरह यहाँतक तीन कोटि (तरह) के लोग गिनाये। एक तो वे जो 'सदा' निवास करते हैं—'सदा जहाँ शिव उमा निवासू।' दूसरे, सिद्ध तपस्वी योगी इत्यादि सुकृती लोगोंका निवास कहा; इनका वहाँ 'सदा' निवास नहीं है, क्योंकि इनको सुकृतसे कैलासवास प्राप्त हुआ है, जितना सुकृत है उतने ही दिनका वास है, 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। गीता ६। २१।'; इसीसे सुकृती लोगोंके निवासमें 'सदा' पद नहीं दिया गया। तीसरी कोटिमें वे लोग गिनाये जिनका वहाँ आना ही नहीं होता। वे हैं 'हरिहरबिमुख···'। (ख) यहाँ प्रथम 'हरि' को कहनेका भाव यह है कि जैसे शिवविमुख श्रीरामजीको नहीं भाते; यथा 'सिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहि ते सपनेहु न सोहाहीं। १। १०४।' वैसेही 'हरिविमुख' शिवजीको नहीं सुहाते, शिवजी उन्हें अपने कैलासमें निवास नहीं देते। ☞ इसी वचनके अनुकूल कैलासवासियोंकाभी उल्लेख किया गया है।—'सेवहि शिव सुखकंद' कहकर जनाया कि ये लोग हरि हर विमुख नहीं हैं; 'बसहिं तहाँ सुकृती सकल' से सूचित किया कि ये सब धर्मरत हैं। पुनः, (ग) दोहेमें जाग्रत अवस्थाके निवासी कहे गए और अब स्वप्नावस्थाका हाल कहते हैं कि जो हरिहरविमुख हैं वे वहाँ स्वप्नमेंभी नहीं जाते तब वहाँ 'वास' की कौन कहे। जाग्रतावस्थामें जो व्यवहार होता है वही स्वप्नावस्थामें होता है, सुषुप्तिमें कुछ नहीं होता और पुण्यपापके फलका भोगभी जाग्रत और स्वप्नावस्थामें ही होता है। इसीसे जाग्रत और स्वप्न दोही अवस्थायें लिखीं। पुनः, (घ) 'हरि हर बिमुख' से उपासनाहीन, 'धर्म रति नाहीं' से कर्महीन, इस तरह दो कोटिके लोग गिनाए। इससे जनाया कि उपासक और धर्मात्मा वहाँ बसते हैं। ज्ञानीका नाम यहाँ नहीं दिया गया क्योंकि ज्ञानियोंको कैवल्य मोक्ष प्राप्त होता है अथवा ज्ञानाभिमानके कारण वे वहाँसे च्युत हुए हैं। यथा 'जे ज्ञान मान

बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी। ७। १३।' [पुनः 'धर्म रति नाहीं' का भाव कि धर्मपर चलनेवालोंको दुःख नहीं होता किंतु सुखकी प्राप्ति होती है, यथा 'सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी। १। ११५।', 'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि"। ७। २०।', धर्ममें प्रीति न होनेसे सुखमेधसे वंचित रहकर दुःख भोगते हैं।—'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता। ७। १०२।' सुखका साधन धर्म है, अतः धर्मसे विमुख रहनेसे सुख कब हो सकता है? शंकरजी धर्मके मूल हैं, यथा 'मूल धर्मतरोः' (आ० मं०)। (प्र० स०)]

वि० त्रि०—'ते नर तहँ सपनेहुँ नहिं जाहीं' इति। भाव कि ऐसोंमेंसे कोई कैलास जानेका स्वप्न भी नहीं देखता। यह बात स्पष्ट ही है। आसुरी प्रवृत्तिके लोगोंको वहाँ जानेमें अधिक सुविधा है, क्योंकि वे मद्यमांसादिके प्रयोगसे उस भयानक शीतका सामना कर सकते हैं। पर उनका जाना न जानेके बराबर है। यही ठीक है कि वे नहीं जाते, क्योंकि उन्हें वहाँ सिवा हिम और पाषाणके कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता। दिव्यप्रदेशके दर्शनके लिये दिव्यदृष्टिकी आवश्यकता होती है। बिना सूर्यमें संयमद्वारा दृष्टि प्राप्त किये कैलासके दिव्याशाका, जिसका यहाँ वर्णन है, दर्शन नहीं प्राप्त हो सकता।

टिप्पणी—२ 'तेहि गिरि पर बट"' इति। (क) ☞ 'परम रम्य गिरिबरु कैलासू' से 'तेहि गिरि पर" ' तक गिरिका वर्णन किया। (ख) 'बट बिटप बिसाला' इति। 'बिसाला' अर्थात् हजार योजन लंबा चौड़ा है। [वटवृक्ष बहुत बड़े बड़े आज दिनभी भारतवर्षमें पाए जाते हैं। नर्मदातटपर एक वटवृक्ष इतना विशाल है कि उसके नीचे महाराजा अपनी छः छः सात सात हजार मनुष्योंकी सेना साथ लिये उसके नीचे महीनों विहार किया करते थे। इसके पत्ते इतने सघन हैं कि वेही शामियानेका काम देते हैं, वर्षाकी बूँदों और सूर्यकी किरणोंका वहाँ गमगुजर नहीं। इसकी छाया गर्मीमें सुंदर शीतल और जाड़ेमें गर्म रहती है।—तब फिर कैलासस्थ वटकी विशालताका कहना ही क्या? यह तो अनादिकालीन है। इसी प्रकारका भगवान् विष्णुका अक्षयवट है जो प्रलयमें भी बना रहता है। भा० ४। ६। ३२ में भगवान् शंकरके वटवृक्षका वर्णन इस प्रकार है—'स योजनशतोत्सेधः पादोन विटपायतः। पर्यक्कृताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जितः॥' अर्थात् वह वृक्ष सौ योजन ऊँचा और पचहत्तर पचहत्तर योजन लंबी शाखाओंसे फैला हुआ था। उसके चारों ओर निश्चल छाया थी। उसमें कोई घोसला भी नहीं था, और उसके नीचे रहनेवालोंको धूपका कष्ट नहीं होता था] गिरिकी शोभा कहकर अब गिरिके ऊपर स्थित वटकी शोभा कहते हैं। (ग) 'नित नूतन सुंदर सब काला' इति। अर्थात् उसके पत्ते कभी नहीं झड़ते, सदा हरे भरे कोमल बने रहते हैं। 'सब काला' अर्थात् वर्षा, हिम, ग्रीष्म सभी ऋतुओंमें तथा भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें, दिन रात संध्या सभी समय सुंदर रहता है; तात्पर्य कि उस वटवृक्षको कालके धर्म नहीं व्यापते। [साधारण वटके विषयमें किसी कविने कहा है—कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री चेष्टिकागृहम्। शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्॥', और यह तो शिवविश्रामविटप है तब यह सब ऋतुओंमें नितनूतन सुन्दर हो तो आश्चर्य क्या? 'नित नूतन" काला' कहकर इसे माया-आवरण और प्राकृत विकारोंसे रहित तथा दिव्य जनाया।]

त्रिबिध समीर सुसीतलि छाया। सिव बिश्राम बिटप श्रुति गाया॥ ३॥
एक बार तेहि तर प्रभु गएऊ। तरु बिलोकि उर अति सुखु भएऊ॥ ४॥

शब्दार्थ—समीर=पवन, वायु। सुसीतलि (सुशीतल)=अनुकूल ठंढी। विश्रामविटप=वह वृक्ष जहाँ श्रमनिवृत्तिके लिये जाते हैं, श्रमनिवृत्तिका स्थान। शिवजीको विश्रामदेनेवाला वृक्ष। तर=तले, नीचे। तरु=वृक्ष।

अर्थ—(शीतल, मंद, सुगंधित) तीनों प्रकारकी वायु और सुंदर (अनुकूल) शीतल छाया वहाँ रहती है। वेदोंने उसे शिवजीके विश्राम करनेका वृक्ष कहा है। ३। एक बार प्रभु (श्रीशिवजी) उसके नीचे गए। वृक्षको देखकर उनके हृदयमें अत्यन्त सुख हुआ। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'त्रिबिध समीर' इति। तीनों प्रकारके पवनका चलना कहते हैं, परन्तु इसका कोई कारण नहीं कहते, इससे पाया जाता है कि वहाँ बिना कारणही सदा स्वतः त्रिविध समीर चलता रहता है। (कारणभी स्पष्ट है। हिमालयपर होनेसे शीतल, विशाल वृक्ष उसपर होनेसे मंद और कैलासपर शिवजीके मित्र कुबेरका चैत्ररथ वन होनेसे सुगंधित है)। (ख) 'सुसीतलि छाया' इति। बटकी सुंदर छाया विशेष सुखदाई है, इसीसे कविने बहुत जगह बटकीही छायामें बैठना, तथा कथाका होना लिखा है। यथा 'तब लगि बैठ अहौं बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं। १.५२.२।', 'जानी अमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंबु कीन्ह बट छाहीं। २. १११। ३।', 'तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बटु सीतल पानी॥ तहँ बसि''। २. १२४. ३-४।', 'बटछाया बेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई॥ जहाँ बैठि '। २.२३७।', 'करि तड़ाग मज्जन जल पाना। बट तर गयउ हृदय हरषाना॥ ५. ६३. ३।', 'मेरु सिखर बटछाया मुनि लोमस आसीन। ७. ११०।' तथा यहाँ—'तेहि गिरिपर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला।''। (ग) 'सुसीतलि' का भाव कि बहुत शीतलसे जाड़ा लग आता है, रोग उत्पन्न होता है, इसीसे सुशीतल कहकर जनाया कि यह दोषरहित है, सदा एकरस सुखदायक है। यथा 'प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई। १. ३६ ६।' तथा 'भरत सुभाउ सुसीतलताई। सदा एक रस बरनि न जाई। १. ४२. ८।' देखिए)। पुनः, (घ) शीतल छाया कहकर जनाया कि उमा शम्भु-संवाद ग्रीष्म-ऋतुमें हुआ, गर्मीके दिन थे और गर्मीमें बटछाया अच्छी लगतीही है। (ङ) 'सिव बिश्राम बिटप' कहकर बटको अमर बताया और 'श्रुति गाया' से उसका अजर होना कहा। ऊपर 'सुंदर सब काला' अर्थात् काल और प्राकृत विकाररहित कह ही आए हैं। इस तरह इस बटको दिव्य जनाया। इसीसे इसका नाम 'अक्षयवट' है। 'श्रुति गाया' से इसे अनादिकालीन जनाया क्योंकि वेद अनादि हैं।

नोट—१ कुछ महात्माओंका मत है कि कथावार्ता कहना-सुननाही महात्माओंका विश्राम है, यथा 'करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी। १. २३७.५।', 'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजनु बिश्रामु। बैठे प्रभु भ्राता सहित दिवसु रहा भरि जामु। १. २१७।'—(दोनों ठौर दोपहरका समय है। इसलिये विश्रामसे कथावार्ताही सूचित होती है।), 'एहि बिधि कहत राम गुनग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा। ५. ८. २।', 'सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा। १. ३५. ७।' यह बट कथावार्ताका स्थान है। यहाँ आकर कथाका स्मरण होनेसे विश्राम और अतिसुख मिलता है। यथा 'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ श्रीरघुनाथरूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा। १. १११. ७-८।' भाव कि कथाकी स्मृतिसे परमानंद होकर अमित सुख होता है। देखिए श्रीसनकादिजी ब्रह्मानंद छोड़कर कथा सुनते हैं क्योंकि इसमें परमानंद मिलता है जिससे बढ़कर सुख नहीं।

गिरि और बटकी शोभाका मिलान

कैलास	बट
परम रम्य गिरिबर कैलासू	१ यहभी सब कालमें सुंदर है—'नित नूतन सुंदर '।'
गिरि बर	२ बट बिसाल
शिव-उमा-निवास	३ शिव-विश्राम विटप
अपनी रमणीयतासे सुखद है	४ बट 'बिलोकि उर अति सुख भयऊ।'

टिप्पणी—२ 'एक बार तेहिं तर प्रभु गयऊ।'' इति। (क) 'एक बार' का भाव कि यह शिवजीके विश्रामका बट है, वहाँ अनेक बार गए हैं, जाया आया करतेही हैं, उनमेंसे एक बारका हाल हम कहते हैं कि जब श्रीपार्वतीजीने श्रीरामचरितका प्रश्न किया था।—['एक बार'=एक दफा, एक समयकी बात है कि।] (ख) 'गयऊ' से जनाया कि रहनेके स्थानसे बटवृक्ष अलग है, दूर है। उस बटतले विश्राम किया करते हैं। (ग) 'तरु बिलोकि'' अर्थात् वृक्षकी शोभा देखकर सुख हुआ। तरुकी शोभा पूर्वही कह आए

हैं–'नित नूतन सुंदर'"। (घ) 'अति सुख भयऊ' कहकर जनाया कि वटकी अत्यंत शोभा है, इसीसे अत्यंत सुख हुआ। यथा 'नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल छाँहँ सुखद सब काला॥ मानहु तिमिर अरुन-मय रासी। बिरची बिधि सँकेलि सुषमा सी। २। २३७। ४५।'—[पुनः, 'अति सुख' होनेका कारण स्थान और विटप आदिकी परम रमणीयता है, यथा 'परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत।' १।२२७।' और यह वट 'परमरम्य गिरिवर कैलास' पर है ही। पुनः, वट सुखदाई होताही है, यह बात ग्रंथकारने ग्रंथभरमें उसीको बारंबार लिखकर जना दी है। यथा 'नाथ देखिअहिं बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥ तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसाल देखि मन मोहा। २।२३७', इत्यादि। टि० १ (ख) देखिए। और शिवजीको तो वट इतना अधिक प्रिय है कि 'प्राकृतहूँ बट-बूट बसत पुरारि हैं। क. ७. १४०।' (ङ) यहाँ लोग यह प्रश्न करने लगते हैं कि 'क्या और कभी ऐसा सुख न मिला था जो 'एक बार' और 'अति सुख' यहाँ लिखा ? इसका उत्तर टि० २ (क) में आजाता है। अर्थात् यह एक दफाकी बात है; वैसेही उनको सदा यही सुख होता है जब जब वे यहां आते हैं]

नोट–२ वैजनाथजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीने श्रीरामनवमीको श्रीअयोध्याजीमें कथा प्रारम्भ की, श्रीयाज्ञवल्क्यजीने फाल्गुन द्वितीयाको प्रयागमें और शिवजीने 'एकबार' जेठग्रीष्ममें कैलासपर इस विशाल वटके नीचे कथा कही।

निज कर डासि नागरिपुछाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला॥ ५॥
कुंद इंदु दर गौर सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनिचीरा॥ ६॥

शब्दार्थ—डासना=बिछाना। नाग=हाथी। नाग रिपु=सिंह। छाल=खाल, चर्म। नागरिपुछाला=बाघांबर। सहजहिं=स्वाभाविकही अर्थात् कथा या समाधिके विचारसे नहीं, साधारणही। कुंद—यह पौधा जुहीकासा होता है, कुआरसे फाल्गुन चैततक फूलता रहता है। मं० सोरठा ४ देखिए। दर=शंख। प्रलंब=बहुत लंबी अर्थात् घुटनेतक लंबी, आजानु। परिधन (सं० परिधान)=कमरके नीचे पहिननेका वस्त्र। अमर-कोशमें इसके चार नाम दिये हैं, यथा—'अन्तरीयोपसंव्यान परिधानान्यधोंऽशुके।' अमरे २. ६. ११७।' मुनिचीरा (चीर=वस्त्र)=वल्कल वस्त्र।

अर्थ—अपने हाथोंसे वाघांबर बिछाकर कृपालु शिवजी स्वाभाविकही वहां बैठ गए। ५। कुंद-पुष्प, चन्द्रमा और शंखके समान गौर (गोरा, उज्वल) शरीर है। भुजाएँ बहुत लम्बी हैं। मुनियोंकेसे वल्कल वस्त्र (पहने हुए) हैं। ६।

टिप्पणी—१ (क) 'निज कर डासि' इति। इससे सूचित हुआ कि वहाँ कोई नहीं था। [इससे निरभिमानताभी सूचित होती है। ☞उपदेश—'गोस्वामीजी सब आचार्यवक्तृत्वधर्म श्रीमहादेवजीद्वारा लक्षित कराते हैं। जब ऐसा हो तब भगवत्तत्व उपदेश (करने) का अधिकारी है और तभी जिज्ञासुको यथार्थ तत्व प्राप्त होता है। वक्ताको चाहिए कि मन कर्म-वचनसे निरभिमानी हो, अपने शरीरकी सेवा करानेकी अपेक्षा न करे, अपने हाथो सब कर्म और शरीरकी परिचर्य्या कर ले।' (करु०)] (ख) वैज-नाथजीका मत है कि 'एकाग्रताहेतु अपने हाथसे बिछाया जिसमें कोई दूसरा न आवे। इससे जनाया कि वे अकाम हैं। सिंहचर्म ज्ञान सिद्धि दायक है।' रा० प्र० कार कहते हैं कि 'अति संकोची हैं, संकोचके मारे किसीसे बिछानेको न कहा; अथवा जीवोंके उपदेश हेतु कि सबसे लघु बना रहना चाहिए, वा इससे निर्दंभ जनाया। दूसरोंसे काम कराना और सिद्ध बनकर बैठना यहभी दंभका स्वरूप है। अथवा, एकान्तमें पार्वतीजीको उपदेश करना है, यहाँ कोई गण नहीं हैं'। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'अपने हाथ आसन बिछानेमें अनेक हेतु हो सकते हैं पर 'स्वयं दासास्तपस्विनः' तपस्वीको अपनी सेवा स्वयं करनी चाहिए। दूसरा कारण विशेष महत्वका यह है कि जिस व्याघ्रचर्म, कुश, कंबल, कृष्णाजिन इत्यादि आसनपर

बैठकर ध्यान वा जपादि पारमार्थिक साधन किया जाता है उसको दूसरेके स्पर्शसे बचाना चाहिए, क्योंकि स्पर्श करनेवालेके संस्कार स्पर्शसे सक्रमित होते हैं। इसीसे कितने तपस्वी लोग अपना आसन अपने कंधेपर रक्खे हुए ही कहीं जाते हैं, जानेपर अपने हाथसे उसे बिछाते और उसपर बैठते हैं। न्यूनाधिकारी साधकके आसन पर बैठना भी उचित नहीं। संस्कारोंका संक्रमण अन्नमें जैसा अति सूक्ष्म रीतिसे होता है वैसा आसन जल, स्थान इत्यादिमें भी होता है। अतः 'शिवजी धर्ममार्ग चरित्रेण' बताते हैं।']

(ग) *नागरिपुछाला'* इति। *'शिवजीके बाघाम्बर है'* (उनको बाघम्बर प्रिय है, बाघम्बर आपका वस्त्र है, बाघम्बर आपका आसन है, यह सदा आपके पास रहता है) इसीसे सर्वत्र इसीका उल्लेख है। यथा *'कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति कटि केहरिछाला। १। ६२। २।'*, *'शम्भ्वाभमतीव सुंदर तनु शार्दूलचर्माम्बरं। ६। मं० २।'*, *'मृगाधीशचर्माम्बरं मुण्डमाल'। ७। १०८।'* तथा यहाँ 'निज कर डासि नाग रिपुछाला'। इसीसे इसीको बिछाया। [पार्वतीजीके संशयरूपी नागको नष्ट करना है, अतः सिंहचर्म बिछाया। अथवा, संशयरूपी सिंह रामभक्तिरूपी गऊसे विरोध करता था, अतः उसकी खाल निकालकर उसको दबाकर बैठे। (रा० प्र०)]

नोट—१ आसन अनेक प्रकारके कहे गए हैं। सबों के धर्म पृथक् पृथक् हैं। यथा 'कुशासने भवेदायु मोक्ष स्याद्व्याघ्रचर्मणि। अजिने सर्वसिद्धि स्यात्कम्बले सिद्धिरुत्तमा॥ वस्त्रासनेषु दारिद्र्य धरण्या शोकसंभव। शिलायाञ्च भवेद्व्याधि काष्ठे व्यर्थपरिश्रम। अगस्त्य स० ३२। १२१३।' अर्थात् कुशासनसे आयुकी वृद्धि, बाघाम्बरसे मोक्ष, कृष्णमृगचर्मसे सर्वसिद्धि, और (ऊनी) कंबलासनसे उत्तमा सिद्धि, अर्थात् सद्गति की प्राप्ति होती है। इसी तरह सूतीवस्त्रासनसे दारिद्र्य, बिना आसनके खाली भूमिसे शोकोत्पत्ति, पत्थरसे रोग और काष्ठासनसे पूजनादि व्यर्थ हो जाते हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'बैठे सहजहिं' साधारण ही बैठ गए अर्थात् सुखासनसे बैठ गए, ध्यानके लिये बटतले नहीं बैठे जैसे सतीमोह होनेपर बैठे थे, यथा *'तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बटतर करि कमलासन। संकर सहज सरूप सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥ १। ५८। ७-८।'* पुनः भाव कि सब कृत्यसे सावकाश पाकर बैठे, कालक्षेप करनेको बैठे। (ख) 'कृपाला' का भाव कि शिवजी त्रिकालज्ञ हैं जानते हैं कि एकान्त पाकर पार्वतीजी आकर अपना संदेह प्रकट कर प्रश्न करेंगी, उनके संशयकी निवृत्तिके लिये कृपा करके एकान्तमें आकर बैठे। पुनः भाव कि इससे वक्ताका लक्षण बताया कि उसे ऐसा कृपालु होना चाहिए।

३—कुंद इंदु दर गौर सरीरा।' इति। (क) कुंद समान कोमल और सुगन्धयुक्त, इन्दु समान प्रकाश और आह्लाद युक्त तथा शंख समान सचिक्कन और दृढ़। यहाँ वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। शरीर उपमेय है, कुंद इंदु दर उपमान हैं, गौर धर्म है, 'सम' वाचक यहाँ नहीं है। [(ख) कीनारामजी कहते हैं कि 'कुंद इंदु दर *भगवान शंकरके तीनों स्वरूपोंके प्रतिपादक हैं।* कुन्द ईश्वरस्वरूपकी उपमा है, क्योंकि इससे सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारसे विशेष संबंध है। इन्दु सदाशिवतत्त्वका बोधक है जो शान्तिका अधिष्ठाता है। इसी तरह दर विशुद्ध विज्ञानात्मक महाशिवस्वरूपका परिचायक है। (ग) बैजनाथ *जी लिखते हैं कि इन तीन उपमाओंसे सर्वांगकी शोभा दिखाते हैं।* 'कुंद' से शोभाके तीन अंग रमणीकता, मृदुता और सुकुमारता लिये, देखे हुए होनेपर भी अनदेखासा जानना यह गुण इनमें है। 'इन्दु' से माधुरी (जिसे देखने पर तृप्ति न हो), सुंदरता (सर्वांग सुठौर होना) और द्युति अंग लिये। और, 'दर' से कान्ति (सुवर्ण कीसी ज्योति), लावण्य (जैसे मोतीका सा पानी) और रूप (जो बिना भूषण ही भूषित लगे) ये तीन अंग कहे।] (घ)—☞ कृपाल कहकर भीतर (अन्तःकरण) की शोभा कही थी, अब बाहर तन की शोभा कुन्दादिसे कहते हैं। ☞ गौरता वा गोरेपनमें एक एक स्थलके एक एक उपमान कहे गए हैं पृथ्वीका कुन्द, स्वर्गका इन्दु और जलका शंख। जल, थल और नभ ये तीन ही स्थान होते हैं। [इन तीन

उपमाओंको देकर तीनों लोकोंमें सुंदरताकी सीमा होना सूचित किया। कुन्दसे भूलोक, इन्दुसे स्वर्ग और दरसे पाताल लोक सूचित किया; शंख समुद्रमें होता है। (ङ) तीनों उपमाओंके गुण पृथक् पृथक् हैं परन्तु शिवजीमें तीनोंके गुण एक ही ठौर मिलते हैं। कुन्दसमान उज्ज्वल, कोमल, सुगंधित; इन्दुसम शीतल प्रकाश-युक्त और अमृतमय; तथा 'दर' के समान पुष्ट, सुडौल, सचिक्कन। कंठ शंखसमान त्रिरेखा युक्त है।]

प. प. प्र.—जैसे यहाँ कुन्द, इन्दु, दर तीन उपमाएँ वक्तव्य गुणोंको दरसानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं वैसे ही श्रीरामजीकी श्यामताके लिये नीलसरोरुह, नील मणि, नील नीरधर ये तीन उपमायें दी गई हैं। कुन्दमें प्रसन्नता, सुगन्ध, कोमलता, सरसता, माधुर्य, भृङ्गोंको आकर्षित करनेकी शक्ति आदि नौ गुण हैं, जैसे नील सरोरुहमें हैं। कुन्दमें तेजस्विता शीतलता, ताप दाह-निवारक शक्ति इत्यादि नहीं हैं, ये गुण इन्दुमें हैं। पर काठिन्य, गाम्भीर्य, शब्दमाधुरी, शब्दकी ध्वनिकी पवित्रता, माङ्गल्य, भयकारिता, भयहारिता इत्यादि शंखके गुण कुन्द और इन्दुमें नहीं हैं। कुन्दके गुण अल्पकाल टिकते हैं पर दरके गुण दीर्घकाल तक रहते हैं तथा नीलमणिकी कठिनता और शंखकी कठिनतामें बहुत अंतर है। वैसा ही भेद नील सरोरुह और कुन्दमें, तथा नीलनीरधर और शङ्खमें है। इस प्रकार शिवजीसे रामजीकी किंचित् श्रेष्ठता भी सूचित की है। उपर्युक्त गुणोंके लिये आधार शिवरूपवर्णनमें मानसमें ही हैं। विस्तारभयसे यहाँ नहीं दिये जाते।

नोट—२ 'भुज प्रलंब' अर्थात् आजानबाहु हैं। 'परिधन मुनिचीरा' अर्थात् उदासीन तपस्वी वेष है। पुनः भाव कि 'आप ऐसे विरक्त हैं कि भोजपत्र आदि वल्कल वस्त्र ही पहनते हैं, पर हैं 'प्रलंबभुज' अर्थात् दान देनेके लिये सदा हाथ बढाये रखते हैं। (करु०)।

तरुन अरुन अंबुज सम चरना। नख दुति भगत हृदय तम हरना॥ ७॥
भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी। आननु सरद-चंद-छबि हारी॥ ८॥

शब्दार्थ—अंबुज=कमल। दुति (द्युति)=चमक, ज्योति। भुजग=सर्प। आनन=मुख।

अर्थ—नये पूरे खिले हुए लाल कमलके समान चरण हैं। नखोंकी ज्योति भक्तोंके हृदयके अंधकारको हरनेवाली है। ७। सर्प और (चिताकी) भस्म आपके शरीरके आभूषण हैं और आप त्रिपुरासुरके शत्रु हैं। मुख शरद्पूर्णिमाके चन्द्रमाकी छबिका हरनेवाला है। ८।

टिप्पणी—१ 'तरुन अरुन अंबुज सम चरना। ....' इति। (क) यहाँ पूर्णोपमालंकार है। चरण उपमेय है, अंबुज उपमान है, सम वाचक है और अरुन धर्म है। 'नखदुति भगत हृदय तम हरना' यह चरणका विशेषण है। वे चरण कैसे हैं ? अपने नखोंकी द्युतिद्वारा भक्त हृदय-तमको हर लेते हैं। 'नखकी द्युति भक्तके हृदयतमको हरती है'—इस अर्थमें 'हृदयतम हरनी' पाठ होना चाहिए, पर यहाँ 'हरनी' पाठ नहीं है, 'हरना' है। 'नखोंकी द्युति भक्तोंके हृदयतमको हरनेवाली है' ऐसा अर्थ करनेमें समर्थन इस प्रकार करना होगा कि भाषामें लिङ्गका नियम नहीं रहता। यथा 'निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा। १। २०३। ८।', 'मरम बचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला। ३। २८। ५।'—इस ग्रन्थमें प्रायः कर्ताके साथ क्रियाका सम्बन्ध नहीं रहता, कर्मके साथ रहता है। यथा—'जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी। ६।३२।६।'—यहाँ अङ्गदके साथ क्रियाका सम्बन्ध नहीं है, 'सीता' के साथ है, इसीसे 'हारी' कहा। पुनः यथा 'तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखी चहउँ जानकी माता। ५। ८। ४।' तथा यहाँ 'हृदयतम' के साथ 'हरन' क्रियाका संबंध है। ऐसे ही आगे 'आननु सरदचंद छबि हारी' में 'हारी' छबिके साथ है। (अथवा, 'चरना' के योगसे यहाँ 'हरना' कहा। अथवा, 'नख अपनी द्युतिसे तम हरनेवाले हैं' ऐसा अर्थ कर लें। अर्थात् नखका उसे विशेषण मान लें।) (ख) 'नख दुति भगत....' इति। 'हृदय तम हरना' से सूचित किया कि चरण हृदयमें धारण करे तब हृदयका अंधकार हरण होगा। 'भगत हृदय' कहनेका भाव कि भक्त लोग ही चरणोंको हृदयमें धारण करते हैं, इसीसे उन्हींके

हृदयका तम हरते हैं। वे चरणोंको हृदयमें रखते हैं इसीसे भक्त कहलाते हैं—पादसेवन चतुर्थ भक्ति है ही। नखद्युति हृदयतमको हरती है इस कथनसे जनाया कि शिवजी सबके गुरु हैं, जगद्गुरु हैं, यथा 'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना।१।१११।५।' गुरुवन्दनामें लिखा है कि गुरुदेव अपने पदनखज्योति द्वारा शिष्यके मोहांधकार को नाश करते हैं। यथा 'श्रीगुर पद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥ दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू। १।१।५-६।' यह लक्षण शिवजीमें दिखाकर उन्हें सबका गुरु जना दिया। पार्वतीजी उन्हें आगे 'त्रिभुवनगुरु' कहेंगी ही, उसीको बीजरूपसे यहाँ कह दिया है। 'भगत हृदय तम हरना' विशेषण यहाँ देकर सूचित करते हैं कि पार्वतीजीके मोहभ्रम संशयरूपी तमका विनाश करेंगे।

२ 'भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी। ' इति। (क) कथाके प्रारम्भमें मंगलरूपका वर्णन करते हैं, इसीसे यहाँ अमंगल साज नहीं कहा। मुनिचीर पहने हैं। नरशिरमाल अमंगल है, अतः उसे यहाँ नहीं कहते। (ख) 'भुजग' से सर्पराज शेष (वा वासुकि) को सूचित किया। शेषजी भूषण हैं, यह आगेके 'भुजगराज भूषन सुरनाथा' १०६ ८ से स्पष्ट है। शेष भगवान्‌के भक्त हैं, अनन्त नाम लेते हैं, अपने ऊपर भगवान्‌को शयन कराते हैं। इसीसे इनका संग यहाँ वर्णन किया है। रामभक्त होनेसे वेभी इनका साथ नहीं छोड़ते। (ग) भूति'—विभूतिका बड़ा माहात्म्य है, इसीसे विभूतिको वर्णन किया। (करुणासिंधुजी का मत है कि यह विभूति श्रीअवधकी है जो शरीर पर रमाये हैं। इससे आपकी परमोपासना दर्शित की है)। [भूति और भुजग का संबंध शिवजीके सवधर्म प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। यथा 'कुन्देन्दुदरगौर सुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदं'... 'भव अंग भूति मसानकी सुमिरत सुहावनि पावनी', 'तन बिभूति पट केहरि छाला', 'सोय भूति विभूषणं', 'यस्योरसि व्यालराट्', 'कंठ भुजंगा', यहाँतक कि रुद्राष्टक भी 'भुजंगप्रयातवृत्त' में किया गया है। (प० प० प्र०)]

नोट—१ 'त्रिपुरारी' इति। (क) 'मुनि सन बिदा मागि त्रिपुरारी' १. ४८ ६ देखिए। (ख) भाव कि त्रिपुरको मारकर आपने त्रिलोकको सुख दिया है। (प० रामकुमारजी)। पुनः, त्रिपुरारीका भाव कि 'मनही असुर है। उसके तीन पुर काम, क्रोध और लोभ, अथवा, अर्थ धर्म काम, वा सत्व रज तम हैं, जिनमें वह क्षण क्षण बनाही रहता है। जब मनको उसके स्थान सहित नाश कर डाले तब परमतत्त्व उपदेश कर सकता है। शिवजीने इन सबोंका नाश कर डाला है। (करु०)। पुनः, त्रिपुरारी' कहकर त्रिगुणात्मक मोहका नाशक जनाया। (वै०)। पुनः भाव कि स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीनों शरीरही त्रिपुर हैं। त्रिपुरासुरके वधसे त्रैलोक्य सुखी हुआ, वैसेही श्रीशिवजी जीवोंके स्थूल-सूक्ष्म कारण तीनों शरीरों तथा काम क्रोध-लोभ एवं त्रिगुणात्मक मोह आदिका नाशकर उनको भवबंधनसे छुड़ानेवाले तथा सुखी करनेवाले हैं। (रा० प्र०)।

टिप्पणी—३ 'आननु सरद चंद छबि हारी' इति। (क) भुज प्रलंब परिधन मुनिचीरा' यह शरीरके मध्यभागका वर्णन हुआ। 'आननु सरदचंद छबि हारी' यह ग्रीवाके ऊपरका भाग वर्णन किया गया। ध्यान वर्णन करनेकी एक रीति यहभी है। (ख) यहाँ आनन शरदचन्द्र है, श्रीरामकथा शशिकिरण है, (अथवा वाणी किरण है), यथा 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी। १ १२०. १।' शरद्चन्द्र आतप हरता है, आननचन्द्र मोह शरदातपको हरण करता है। [(ग) 'छबिहारी' का भाव यह कि चन्द्रमा तो एक दिन ताप हरता है, दूसरे दिन सूर्य फिर तप्त कर देते हैं पर आपका मुखचन्द्र दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों तापोंका चरितामृत देकर नष्टही कर देता है, फिर उन तापोंको कभी होनेही नहीं देता, यह विशेषता है। (करु०)। (घ) इससे अत्यन्त अज्ञानतम नाशक जनाया। और विषयानलसे सतप्तोंके ताप हरण करनेवाले निश्चित कराया तथा भक्तचकोरको सुखदाई व्यंजित किया। (रा०प्र०)

वि० त्रि०—'तरुन अरुन अंबुज' से 'मुनिमन मधुप' का आश्रय कहा। 'भुजग भूति भूषन' से वैराग्य कहा। त्रिपुरारी' से सत्यसंध कहा। 'चंद छबिहारी' से सौन्दर्य कहा, भाव कि इनको चरित ही रसमय नहीं है, मूर्ति भी रसमयी है।

प० प० प्र०—१०६ (५-८) इन चार चौपाइयोंमें श्रीशिवजीके इस रूप और गुणोंमें माधुर्य ओजका सुंदर मिश्रण है। यहाँ प्रसाद गुणभी सहज है। इन तीन गुणोंका रसभावनुकूल मधुर मिश्रण अन्य ग्रंथोंमें मिलना दुर्लभ है।

दोहा—जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल।
नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बाल-बिधु-भाल ॥ १०६ ॥

शब्दार्थ—सुरसरित=देवनदी गंगाजी। नलिन=कमल। लावन्य (लावण्य)=लुनाई, नमक, सुंदरता। लावण्यनिधि=सुंदरताके समुद्र वा खजाना। बालबिधु-द्वितीयाका चन्द्रमा।

अर्थ—सिरपर जटाओंका मुकुट और गंगाजी सुशोभित हैं नेत्र कमल समान बड़े-बड़े हैं, कंठ नीला है, व सौन्दर्यनिधान हैं, उनके ललाटपर द्वितीयाका चन्द्रमा शोभित है। १०६।

टिप्पणी—१ भगवान् शंकरकी शोभा वर्णन कर रहे हैं, इसीसे यहाँ सब शोभाही कही है। 'कुंद इंदु दर गौर सरीरा' यह शरीरकी शोभा कही, भुज प्रलंब से भुजाओंकी शोभा कही, 'परिधन मुनिचीरा' से कटिकी शोभा कही। (☞ जहाँ-जहाँ भयंकररूप कहा गया है वहाँ वहाँ नग्न कहा है। 'नगन जटिल भयंकरा' ११५।)। 'तरुन अरुन अंबुज सम चरना' यह चरणोंकी शोभा है, 'नख दुति भगतहृदयतम हरना' से नखकी शोभा कही 'भुजग भूति भूषन' यह शरीरकी शोभा है, यथा 'गौर सरीर भूति भल भ्राजा। १ ३६८।', 'आननु सरदचंद छबिहारी' से मुखकी, 'जटा मुकुट' से सिरकी, 'लोचन नलिन' से नेत्रकी, 'नीलकंठ' से कंठकी और 'बाल बिधु भाल' से ललाटकी शोभा कही गई।

नोट—१ (क) 'जटा मुकुट' इति। यही उदासीनताका वेष है। शिवजी उदासीन रहते हैं, सबमें उनका समान भाव है, कोई शत्रुमित्र नहीं। (वै०)। पुन भाव कि वक्ता भीतर-बाहरसे पहले स्वयं विरक्त स्वरूप धारण करे तब उपदेष्टा बनने योग्य हो, देवनदी गंगाको सिरपर धारण करनेका भाव कि किसीसे झूठ न बोले। (रा० प्र०)। शिवजी सदा सत्य बोलते हैं। वे साक्षी हैं। (करु०)। (ख) 'लोचन नलिन बिसाल' अर्थात् कमल दल समान लंबे। भाव कि नेत्र कृपारसभरे हैं, जिससे श्रोताको आह्लाद हो। (वै०, करु०)। 'नीलकंठ' का भाव कि त्रैलोक्यपर दया करके जो कालकूट आपने पी लिया था उस दयालुताका चिह्न अब भी आपके कंठमें विराजमान है, उसीसे कंठ नीला पड़ गया। यथा 'जरत सकल सुरबृंद बिषम गर। जेहि पान किय। कि० मं० सो०।', 'पान कियो विष भूषन भो। क० ७।१५७।', 'विष भूति विभूषन। क० उ० १५१।' पुन भाव कि 'यद्यपि विष जलाता है तबभी आप उसे त्यागते नहीं' अर्थात् जिसको एक बार अंगीकार कर लेते हैं फिर उसका त्याग नहीं करते। (रा० प्र०, प०)। इससे भक्तवात्सल्य सूचित किया। 'लावण्यनिधि' का भाव आगे दिया गया है। 'सोह बाल बिधु भाल' इति। द्वितीयाका चन्द्रमा दीन, क्षीण तथा वक्र है, पर आपके आश्रित होनेसे आपने उसेभी जगद्वन्दनीय बना दिया। यथा 'यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते। मं० श्लो० ३।' पुन भाव कि कैसाही टेढ़ा क्यों न हो आप उसे उपदेश कर वन्दनीय बना देते हैं। (रा० प्र०)। द्वितीयाचन्द्रदर्शन मांगलिक है, अतएव आपका दर्शनभी मंगलप्रद है। (करु०)। मं० श्लो० ३ भी देखिए। ☞ वक्ता कैसा वैराग्यवान आदि होना चाहिए यह यहाँ दिखाया है। (करु०)†

† प० प० प्र०—इस शिवरूपवर्णन तथा दोहा १०७ में उत्तम सद्गुरुके सभी लक्षण मिलते हैं। शिवजीने पार्वतीजीसे सद्गुरु लक्षण ये कहे हैं— सद्गुरु परमेशानि शुद्धवेषो मनोहरः। सर्वलक्षणसंपन्नः सर्वावयवशोभितः। १। सर्वागमार्थतत्त्वज्ञः सर्वतंत्रविधानवित्। लोकसम्मोहनाकारो देववत् प्रियदर्शनः। २। सुमुखः सुलभः स्वच्छो भ्रमसंशयनाशकः इंगिताकारवित् प्राज्ञ ऊहापोहविचक्षणः। ३। अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः सर्वज्ञो देशकालवित्। आज्ञासिद्धिस्त्रिकालज्ञो निग्रहानुग्रहक्षमः। ४। वेधको बोधकः शान्तः सर्वजीव-

टिप्पणी—२ 'लावन्यनिधि' इति। शोभाके समुद्र हैं। समुद्रमें रत्न हैं। समुद्र मंथनसे चौदह परमोत्तम रत्न निकले थे। इस प्रसगमें भगवान् शंकरके स्वरूपमें कुछ रत्नोंका वर्णन किया है। जैसे कि—१ 'नीलकंठ' से गरल (कालकूट), २ 'बिधुमाल' से चन्द्र, ३ 'कुंद इंदु दर गौर' से शंख, ४ 'प्रनत कलपतरु नाम' (आगे दोहा १०७ में) से कल्पवृक्ष, ५ 'करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी॥ ११२ ५।' से अमृत-(रा० प्र० और वै० 'भाल बिधु भाल' से ही अमृत रत्नका ग्रहण करते हैं। प० प० प्र० रामकथा सुधाको लेते हैं जो उनके मुखसे टपकती है, यथा 'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा-सुधा रघुबीर'), ६ '·खदुति' से मणि, यथा 'श्रीगुर पद नख मनिगन-जोती। १। १। ५।', ७ 'पारवती भल अवसरु जानी। गईं संभु पहिं मातु भवानी। १०७। २।' से लक्ष्मीका ग्रहण हुआ, यथा 'या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता'। ❀ ८ 'रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखदानि' से कामधेनु रत्न कहा। †

नोट—२ समुद्रसे चौदह रत्न निकले थे। यथा—'लक्ष्मी कौस्तुभ पारिजातक सुरा धनवन्तरिश्चन्द्रमा। गावः कामदुघा सुरेश्वरगजो रम्भादि देवाङ्गना॥ अश्वः सप्तमुखो विषं हरिधनुः शङ्खोऽमृतञ्चाम्बुधेः। रत्नानीति चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम्॥' (अज्ञात) परन्तु इनमेंसे यह आठ रत्न शिवजीके योग्य जानकर ग्रंथाकारने इस प्रसंगमें दिये हैं, छः को अयोग्य जानकर छोड़ दिये।

टिप्पणी—३ ☞ इस प्रसंगमें नाम, रूप, लीला और धाम चारों कहे हैं, इस तरह कि विवाह आदिका वर्णन लीला है, 'परम रम्य गिरिबरु कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू' यह धाम है, 'कुंद इंदु दर गौर सरीरा' से 'नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधु भाल' तक रूपका वर्णन है और आगे 'प्रनत कलपतरु नाम। १०७।' में नाम कहा गया।

वि० त्रि०—'लावण्यनिधि' से शृंगार, 'जटामुकुट' से हास्य, 'कृपालु' से करुणा, 'भुज प्रलंब' से वीर, 'नखदुति भगत हृदय तम हरना' से अद्भुत, 'त्रिपुरारि' से रौद्र, 'भूतिभूषण' से वीभत्स, 'भुजग भूषण' से भयानक और 'निज कर डासि नागरिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला' से शान्तरस द्योतित किया। अथवा जटामुकुटसे तपस्वियों का राजा, 'सुरसरितसिर' से भक्तवत्सल, 'लोचन नलिन बिसाल' से सर्वद्रष्टा, 'नीलकंठ' से आर्तिहर, 'लावण्यनिधि' से छविधाम और 'बालबिधु भाल' से महिमाप्रद कहा।

लमगोड़ाजी—तुलसीदासजीकी काव्यमयी चित्रकलाका कमाल यह है कि उनके नखशिखवर्णनों-

---

दयाकरः। स्वाधीनेन्द्रियसचारः षड्वर्गे विजयप्रदः। ५। अग्रगण्योऽतिगम्भीरः पात्रापात्रविशेषवित्। शिव विष्णुसमः साधुर्मनुभूषभूषितः। ६। निर्ममो नित्यसन्तुष्टः स्वतन्त्रोऽनन्तशक्तिमान्। सद्भक्तवत्सलो धीरः कृपालुः स्मित पूर्ववाक्। ७। नित्ये नैमित्तिकेऽकाम्येरतः कर्मण्यनिन्दिते। रागद्वेषभयक्लेशदम्भाहंकार-वर्जितः। ८। स्वविद्यानुष्ठानरतो धर्मज्ञानार्थदर्शकः। यदृच्छालाभसन्तुष्टो गुणदोषविभेदकः। ९। स्त्रीधनादिष्वनासक्तो असता व्यसनादिषु। सर्वाहमावसन्तुष्टो निर्द्वन्द्वो नियतव्रतः। १०। अलोलुपो ह्यसङ्गश्च पक्षपाती विचक्षणः। निःसगो निर्विकल्पश्च निर्णीतात्मातिधार्मिकः। ११। तुल्य निंदा स्तुतिर्मौनी निरपेक्षो नियामकः। इत्यादि लक्षणोपेतः श्रीगुरुः कथितः प्रिये। १२।' (हिन्दी महायोगविज्ञान। य श्लोक कुलार्णवतंत्रके हैं ऐसी स्मृति उत्स्फूर्त होती है)। पाठक मानसवाक्योंसे तुलना करलें।

❀ वै०—नेत्रकमलमें कृपारूप लक्ष्मी। रा० प्र०—विभूति ही लक्ष्मी है, क्योंकि विभूतिका अर्थ ऐश्वर्य भी है। प० प० प्र०—लक्ष्मी=उमा। 'ओः महेशस्य मा=उमा'। † वै०—भृकुटी धनुष है, दयादृष्टि कामधेनु, उपदेशवचन धन्वन्तरि, भवरुजहर्ता कीर्ति उच्चैःश्रवा, कर कल्पतरु। प० प० प्र०—धन्वन्तरि=वैद्य। सद्गुरुवैद्य है, और शंकरजी 'त्रिभुवनगुरु बेद बखाना', 'गुरुं शंकररूपिणम्'। सुष्ठु गतिं ददाति इति सुरा अर्थात् सुरा=उत्तम वस्तुको देनेवाली। रामस्नेहरूपी सुरा इनके पास है। नागरिपुछालामें 'नाग' (गज) है।

को विचारे तो सारे प्रसंगों और भावोंके परिवर्तन सामने आ जाते हैं। ऊपरके वर्णनकी शिवविवाहके समयके वर्णनसे तुलना कीजिए और आनंद उठाइये।

बैठें सोह कामरिपु कैसें। धरें सरीरु सांतरसु जैसें॥ १॥
पारवती भल अवसरु जानी। गईं संभु पहिं मातु भवानी॥ २॥

अर्थ—कामदेवके शत्रु श्रीशिवजी बैठे हुए कैसे सुशोभित हो रहे हैं, जैसे (मानों) शान्तरसही शरीर धारण किये (बैठा) हो। १। अच्छा अवसर (मौका) जानकर (जगत्) माता भवानी श्रीपार्वतीजी श्रीशिवजीके पास गईं। २।

टिप्पणी—१ 'बैठें सोह ⋯' इति। (क) ☞ बैठे कहकर प्रसंग छोड़ा था, यथा 'बैठे सहजहिं संभु कृपाला। १०६। ५।'; बीचमें स्वरूपका वर्णन करने लग थे अब पुनः वहींसे उठाते हैं—'बैठें सोह '। (ख) 'बैठें सोह कामरिपु'—यहाँ 'कामरिपु' कहकर शान्तरसकी शोभा कही। तात्पर्य कि जबतक कामविकारसे रहित न हो तबतक शान्तरस नहीं आ सकता, जब कामका नाश होता है तब शान्तरसकी शोभा है। जब मनुष्य शान्त होता है तभी बैठता है, बिना शान्ति के दौड़ता फिरता रहता है। (ग) 'धरें सरीरु सांतरसु जैसें' इति। अर्थात् शिवजी शान्तरसके स्वरूप हैं। शान्तरस उज्ज्वल है और शिवजी भी गौरवर्ण हैं—['कर्पूर गौरं', 'कुंदेंदु कर्पूर दर गौर विग्रह' (वि० १०), 'कबु कुंदेंदु कर्पूर गौर' (वि० १२)] तथा उनका सब साजही उज्ज्वल है। यथा (१) 'कुंद इंदु दर गौर सरीरा' (शरीर उज्ज्वल), (२) 'नखदुति-भगतहृदयतम हरना' (नखद्युति उज्ज्वल), (३) 'भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी' (विभूति और शेष दोनों उज्ज्वल), (४) 'आनन सरदचंद छबिहारी' (मुख चन्द्रसमान प्रकाशित), (५) 'सुरसरित सिर' [सुरसरितभी शुक्लवर्णा हैं—'भ्राज विबुधापगा आपु पावन परम मौलि मालेव सोभा विचित्रं'—(वि० ११)], (६) 'बिधु भाल' (चन्द्रमाभी शुक्लवर्ण)। (घ) 'कुंद इंदु दर गौर' में स्वरूपका वर्णन उठाकर 'बाल बिधु भाल' पर समाप्त किया। इस तरह प्रथम शिवजीका शुक्लरूप वर्णन करके तब शान्तरसकी उपमा दी।

नोट—१ (क) श्रीबैजनाथजी शान्तरसका वर्णन यों करते हैं—'शान्त चित हरि-गुरु-कृपा है विभाव सत्संग। अनुभाव नासाग्र दृग सात्विक सकल अभंग। मति धृति अरु निर्वेदता अपस्मृती संभ्रांति। वितर्कादि संचार सब स्थाई मति शांति॥' शान्तका देवता परब्रह्म है, शिवजीकेभी देवता परब्रह्म हैं, परमात्मा आलम्बन और आत्मतत्त्व उद्दीपन है। (ख) मा० म० के मतसे यहाँ निर्वेद (मनका वैराग्ययुक्त होना) स्थायी, रामतत्त्वका ध्यान अनुभाव (शान्तरसको अनुभव करानेवाला), वट उद्दीपन और सभा विभाव हैं जो रसको प्रकट कर रहा है। करुणारुण जो उनमें विराजमान है वही संचारी है। इस रसके स्वामी ब्रह्म हैं। अतएव श्रीशिवजी अपने स्वामीकी अभंग कथा कहेंगे। (ग) रसरत्नहारमें 'शान्तरस' का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—'सम्यग्ज्ञान समुद्भूतः शान्तो निस्पृहनायकः। रागद्वेष परित्यागात्सम्यग्ज्ञान समुद्भवः।' अर्थात् शान्तरस जिसका नायक निस्पृह रहता है उसकी उत्पत्ति उस सम्यक् ज्ञानसे है जो रागद्वेषके परित्यागसे उत्पन्न होता है।

२ (क) 'कामरिपु' का भाव कि कामना अनेक दुःख उत्पन्न करती है, आप उनके निवारक हैं। अर्थात् श्रोताके हृदयसे कामनाओंको निर्मूल कर देनेको समर्थ हैं। (रा० प्र०)। 'धरें सरीर सांतरस जैसें'—शान्त होकर बैठनाभी उपदेशहेतु है। इससे जनाते हैं कि बिना शान्तचित हुये उपदेश लगता नहीं। अथवा, काम हरिकथाका बाधक है, यथा 'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बए फल जथा।' अत: 'कामरिपु' विशेषण दिया। (रा० प्र०)। तात्पर्य यह कि वक्ता और श्रोता दोनों निर्विकार हों। (पं० रा० कु०)। (ख) पुनः भाव कि 'उनका भोगविलास भी कामाभास है, सो भी देवताओंके कल्याणके लिये है' (वि० त्रि०)। ☞ 'बैठें सोह⋯सांतरस जैसें' इति। क्योंकि इसी अवस्थामें श्रीरामकथाका वर्णन

हुआ, इसलिए उसमें शान्तरस प्रधान है। कविका कमाल है कि नवों रसोंको पूरे जोरमें लिखता है जो नाट्कीयकलाकी विशेषता है पर हर रसको शान्तरसके इस कैलास शिखरपर मानों पहुँचा देता है, जो महाकाव्यमें होनाही चाहिए। (लमगोडाजी) (ग) प्रथम चरणमें उपमेय वाक्य देकर फिर वाचक शब्द 'जैसे' द्वारा उसकी विशेषसे समता दिखाना 'उदाहरण अलंकार' है।

टिप्पणी—२ (क) ☞ *कथाके प्रारम्भसमय शिवजीका स्थान और स्वरूप वर्णन किया। इसीके* द्वारा, इसीके व्याजसे ग्रन्थकारने कथाके स्थान और वक्ताओंके लक्षण कहे हैं। (ख) 'परम रम्य गिरिबरु कैलासू। सदा जहाँ शिव उमा निवासू॥ तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला॥' से जनाया कि कथाका स्थान ऐसा होना चाहिये। अब उदाहरण सुनिये। (१) भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिबर-मन भावन॥ तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। १. ४४। (२) सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी। बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। १. ३५। (३) गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सयल एक सुंदर भूरी। तासु कनकमय सिखर सुहाए। चारि चारु मोरे मन भाए॥ तिन्ह पर एक एक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला। सैलोपरि सर सुंदर सोहा। मनि सोपान देखि मन मोहा। ७. ५६। (४) मंगलरूप भयउ बन तब तें। कीन्ह निवास रमापति जब तें॥ फटिकसिला अतिसुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई। कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृपनीति बिबेका॥ ४। १३। ५-७।', इत्यादि।

☞ (ग) वक्ता कैसा होना चाहिए सो सुनिए।—(१) 'निज कर डासि नागरिपुछाला'। ऐसा निरभिमान और कृपाल होना चाहिये। (२) 'बैठे सोह कामरिपु कैसें। धरें सरीरु सांतरसु जैसें।'—ऐसा स्वरूप हो और निष्काम हो।

☞ (घ) वक्ताके सात लक्षण कहे गए हैं। यथा—'विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धकृत्। दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽतिनिस्पृहः॥' इन सातोंको श्रीशिवजीमें घटित दिखाते हैं।—(१) विरक्त, यथा 'योग ज्ञान वैराग्यनिधि। १०७।' (२) वैष्णव, यथा 'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी। ११६। २।' (३) विप्र, यथा 'वंदे ब्रह्मकुल कलंक शमनं' (३ म० श्लो० १)। (४) वेद शास्त्र विशुद्धकृत, यथा 'सकल-कला-गुन-धाम। १०७।' (५) दृष्टान्तकुशल, यथा 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजग बिनु रजु पहिचानें। ११२ १।', 'जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी। ११७ २।', 'उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा। ११७.४।' इत्यादि। (६) धीर, यथा 'बैठें सोह कामरिपु कैसें। धरें सरीरु सांतरसु जैसें।' (७) निस्पृह, यथा 'कामरिपु' अर्थात् निष्काम।

प० प० प्र०—शिवजी जहाँ बैठे हैं वहाँ 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी' इन पंचपरोपकारियोंका सम्मेलन हुआ है। यथा 'शिव विश्राम बिटप', 'परमरम्य गिरिबर कैलासू', 'सुंदर सिर गंगा'। और पृथ्वी पर तो बैठे ही हैं। शिवजी स्वयं सन्तशिरोमणि हैं ही। सन्तोंके लक्षण उनमें भरपूर हैं।

टिप्पणी—३ 'पारबती भल अवसरु जानी।' इति। (क) अच्छा अवसर यह कि भगवान् शंकर सब कृत्यसे अवकाश पाकर एकान्तमें बैठे हैं। अपना मोह प्रकट करना है, इसलिए एकान्त चाहिए। श्रीभरद्वाजजीनेभी अपना मोह श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे एकान्तमें कहा था जब सब मुनि चले गए थे, क्योंकि सबके सामने अपना मोह कहनेमें लज्जा लगती है, यथा 'कहत सो मोहि लागत भय लाजा। १.४५. ८।' जब शिवजी वटतले आये थे तब उनके साथ कोई न था, अपने हाथों उन्होंने बाघाम्बर बिछाया और जब पार्वतीजी आईं तबभी वहाँ कोई और न आया था। स्त्री पुरुषका एकान्त है यह समझकर आईं। (रा० प्र० का मत है कि सुंदर दिन मुहूर्त तिथि नक्षत्र आदि और शिवजीको प्रसन्न बैठे जानकर आईं)। (ख) 'भल अवसर' जानकर गईं, क्योंकि समयपर काम करना चाहिए, समयपरही कार्य करनेकी प्रशंसा है,

यथा 'समय हि साधे काज सब समय सराहहिं साधु' (दोहावली ४४८)। [सब लोगोंने अवसर देखा हैं, वैसेही पार्वतीजीने अवसर देखकर काम किया। उदाहरण यथा—'अवसरु जानि सप्तरिषि आए। तुरतहिं बिधि गिरि भवन पठाए। १. ८६।', 'सो अवसरु बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना। १.३६१।', 'सीय मातु तेहि समय पठाई। दासीं देखि सुअवसरु आई। २. २८१।', 'ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई। पुनि न बनिहि अस अवसरु आई। ३.४१।', 'अवसर जानि बिभीषनु आवा। भ्राता चरन सीसु तेहिं नावा। ५. ३८।', 'देखि सुअवसर प्रभु पहिं आयउ संभु सुजान। ६ ११३।' ☞ अवसर पर कार्य करनेसे कार्य सिद्ध होता है और संत तथा जगत सराहता है। यथा 'लाभ समय को पालिबो, हानि समय की चूक। सदा बिचारहिं चारु मति सुदिन कुदिन दिन दूक॥ दोहावली ४४४।', 'अवसर कौडी जो चुकै, बहुरि दिये का लाख। दुइज न चंदा देखिय, उदौ कहा भरि पाख॥ दो० ३४४।', 'समरथ कोउ न राम सों, तीय हरन अपराधु। समय हि साधे काज सब, समय सराहहिं साधु। दो० ४४८।' इत्यादि। (ग) 'पारबती' नामका भाव कि ये पर्वतराजकी कन्या हैं। पर्वत परोपकारी होते हैं, यथा 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥' अतः ये भी शिवजीके पास जगत्का उपकार करनेके विचारसे आई हैं, यथा 'कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी।' [नदी पर्वतसे निकलती है और समुद्रमें जा मिलती है। वाल्मीकीयरामायणके सबंधमें कहा गया ही है—'वाल्मीकि गिरि-संभूता रामसागरगामिनी'। वैसेही श्रीरामचरितमानसकथारूपिणी नदी आप (पार्वतीजी) के द्वारा निकलकर श्रीरामराज्याभिषेक-प्रसंगरूपी समुद्रमें जा मिलेगी।—यह 'पार्वती' शब्दसे जनाया] (घ) 'गईं संभु पहिं मातु भवानी' इति। 'भवानी' (भवपत्नी) हैं, अतएव सबकी माता हैं। सबके कल्याणके लिये गई हैं, इसीसे 'शंभु' पद दिया अर्थात् कल्याणकर्त्ताके पास गई। (माता पुत्रोंका सदा कल्याण सोचती, चाहती और करती है। ये जगज्जननी हैं, अतएव ये जगत्मात्रका कल्याण सोचकर कल्याणके उत्पत्तिस्थान एवं कल्याणस्वरूप 'शंभु' के पास गईं। 'शंभु' के पास गई हैं अतः अब इनकाभी कल्याण होगा। शिवजी अब इनमें पत्नी-भाव ग्रहणकर इनका वैसाही आदर करेंगे)।

जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बाम भाग आसनु हर दीन्हा॥ ३॥
बैठीं सिव समीप हरषाई। पूरुब जन्म कथा चित आई॥ ४॥

अर्थ—प्रिय पत्नी जानकर शिवजीने इनका अत्यंत आदरसम्मान किया। अपने बाईं ओर बैठने को आसन दिया। ३। श्रीपार्वतीजी प्रसन्न होकर शिवजीके समीप (पास, निकट) बैठ गईं। (तब इनको अपने) पूर्व (पिछले) जन्म की कथा स्मरण हो आई। ४।

टिप्पणी—१ 'जानि प्रिया' इति। (क) 'जानि प्रिया' का भाव कि प्रियाका आदर सब कोई करता है। ये शिवजीकी प्रिया हैं; यथा 'अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्वदा संकर प्रिया। १. ६८।', 'दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरें। ७. ५६।' (ख) पूर्व सतीतनमें जब सीतारूप धारण किया था तब शिवजीने माता मानकर सम्मुख आसन दिया था।—'जाइ संभुपद बंदनु कीन्हा। सनमुख संकर आसनु दीन्हा। १. ६०. ४।', अब प्रिया जानकर वामभागमें आसन दिया। क्योंकि त्याग उसी शरीरका था जिससे सीतारूप धारण किया था; यथा 'एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। ५७. २।' [(ग) रा० प्र० कारका मत है कि प्रियाके मनकी बात जानकर कि श्रीरामकथा पूछने आई हैं इनका अति आदर किया] (घ) 'आदरु अति कीन्हा' इति। हँसते और प्रिय वचन कहते हुए स्वागत करना, योग्य आसन देना, इत्यादिही 'अति आदर' है। [(ङ) 'बाम भाग' इति। यहाँ 'अति आदरु' का अर्थ खोल दिया। बाईं ओर अपने पास बिठाना यही 'अति आदर' का स्वरूप है; यथा 'अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी। ६। ३७। ४।'; इत्यादि। यहाँ 'हर' शब्दके श्लेषद्वारा ग्रंथकार गुप्त रीतिसे यह भी दिखा

रहे हैं कि इन्होंने पार्वतीजीके पूर्व (सती) शरीरमें उनका योग्य (वामभागका) आसन जो हर लिया था, यथा 'सनमुख संकर आसन दीन्हा', वह 'हर लिया हुआ' आसन फिर दिया। अर्थात् पार्वतीतनमें माता भाव नहीं रखा। श्लिष्ट शब्द द्वारा किसी पूर्व कहे हुए गुप्त अर्थको कविका स्वयं खोलना 'विवृतोक्ति अलंकार' है।]

२ 'बैठीं शिव समीप हरषाई।' इति। (क) 'समीप' अर्थात् वामभागमें उनके पास ही। 'हरषाई' का भाव कि सतीतनमें जब सम्मुख आसन दिया था तब दुःखी हुई थीं, अब वाम भागमें आसन पानेपर हर्ष हुआ, क्योंकि इससे सूचित हुआ कि शिवजीने हमारे पूर्वके अपराध क्षमा कर दिये। (ख) 'पूरुब जन्म कथा चित आई'—भाव कि जब वाम भागमें आसन दिया तब 'सनमुख आसन'-वाली बात की सुध आई कि पूर्व जन्ममें हम श्रीरामजीमें मोह हुआ था, तब इन्होंने सम्मुख आसन दिया था, इत्यादि। [(ग) मा० म० कार तथा रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'इसी घटनासे सतीजीका अपमान हुआ था अर्थात् अनादरपूर्वक शिवजीने सम्मुख आसन दिया था, जो पार्वतीजन्मका हेतु हुआ। अब आदर करके बैठाया तब सती अवतारकी कथा याद पड़ी।']

श्रीशिवजी तथा श्रीपार्वतीजीका मिलान

श्रीशिवजी		श्रीपार्वतीजी
बैठे सहजहि संभु कृपाला	२	बैठीं शिव समीप हरषाई
धरें सरीर सांतरस जैसें	२	'मातु भवानी' कहकर शांतरस जनाया
एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ	३,४	पारबती भल अवसरु जानी। गईं संभु पहिं
हर हिय रामचरित सब आए	५	पूरुब जन्मकथा चित आई
तब बिलोकि उर अति सुख भयऊ	६	बैठीं शिव समीप हरषाई

पति हिय हेतु अधिक अनुमानी *। बिहसि उमा बोलीं प्रिय †बानी॥ ५॥
कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥ ६॥

अर्थ—पतिके हृदयमें (अपने ऊपर पूर्वकी अपेक्षा) अधिक स्नेह अनुमान कर श्रीउमाजी हँसकर प्रिय वाणी बोलीं। ५। जो समस्त लोकोंका कल्याण करनेवाली है वही कथा श्रीगिरिजाजी पूछना चाहती हैं। ६।

टिप्पणी—१ 'पति हिय हेतु' इति। (क) शिवजीने उमाजीका 'अति आदर' किया, इसीसे 'अधिक हेतु' कहा। हेतु=स्नेह, प्रेम। (ख) बिहँसि अर्थात् प्रसन्न होकर। तात्पर्य कि पति की प्रसन्नता चाहती ही थीं सो मिल गई, अतः प्रसन्न हुईं। [श्रीकरुणासिंधुजी हँसनेका कारण 'पिछला तिरस्कार, अपनी अज्ञानता और अब अपनी सम्मुखता तथा शिवजीकी प्रसन्नताका अनुमान कि ऐसे दयालु हैं कि मेरी समस्त चूक क्षमा कर दी', यह सब बताते हैं। वैजनाथजी लिखते हैं कि पूर्वकी अपेक्षा अधिक स्नेह अनुमान करनेपर हृदयसे आनंदसिंधु उमड़ा जिसका प्रवाह बाहर आनेपर हँसी द्वारा प्रगट हुआ। वि० त्रि० का मत है कि पूर्वजन्मकी कथाकी स्मृतिसे हँस पड़ीं।] (ग) 'अनुमानी'=मनमें मानकर अर्थात् मनमें निश्चय करके (बोलीं)। ☞ इस कथनका तात्पर्य यह है कि जबतक वक्ता हृदयसे प्रसन्न न हो तबतक प्रश्न न करना चाहिए। (घ) ☞ पार्वतीजी अवसर जानकर आईं और अवसर पाकर बोलीं। (शिवजी का अपने ऊपर प्रेम और प्रसन्न देखकर बोलना ही अवसर पाकर बोलना है)। (ङ) यहाँ पार्वतीजी के

* मन मानी—१७२१, १७६२। मन माहीं—छ०, भदन पाठक। अनुमानी-१६६१, १७०४, को० रा०। † मृदु बानी—१७२१, १७६२, को० रा०। प्रिय बानी—१६६१, १७०४

मन, वचन और कर्म तीनों लगे हुए दिखाए हैं। 'बिहँसि' से मनकी प्रसन्नता कही, वचन 'प्रिय' हैं और 'बोलीं कर जोरी' यह कर्म है। हाथ जोड़ना आगे स्पष्ट है; यथा 'करहु कृपा बिनवौं कर जोरें। १०६।५।', 'बंदौं पद धरि धरनि सिरु बिनय करौं कर जोरि। १०६।'

२ 'कथा जो सकल लोक···' इति। (क) लोकहितकारिणी कथा पूछना चाहती हैं, इसीसे 'शैलकुमारी' कहा। शैल परोपकारी हैं—'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी।' उनकी ये कन्या हैं अतः परोपकारिणी हैं, वह कथा पूछती हैं जिससे जीवों का उपकार होगा। यथा 'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी। पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा। १।११२।' कथा समस्त लोकों का हित करनेवाली है अर्थात् सबको पवित्र करनेवाली है। [विशेष 'पारबती भल अवसरु जानी' चौ० २ में देखिए। (ख) 'शैलकुमारी' का लोकहितकारिणी कथाका पूछना योग्य ही है। यह कारणके समान कार्यका वर्णन 'द्वितीय सम अलंकार' है, यथा—'कारणके सम बरणिये कारजको जेहि ठौर। देखि सरिस गुन रूप तहँ बरनत हैं सम और।' (अ० मं०)। 'शैलकुमारी' संज्ञा साभिप्राय होनेसे 'परिकरांकुर' की ध्वनि व्यंजित होती है। (वीरकवि)]

प० प० प्र०—जो सज्जन परहित करता है उसके मनमें स्वप्नमें भी यह कल्पना स्पर्श नहीं करती कि मैं लोकहित या परोपकार करूँगा। दूसरोंका दुःख या अहित देखकर सन्तोंका हृदय दुखी होता है और वे अपने हृदयको शान्ति देनेके लिये ही दूसरोंका दुःख निवारण और परोपकार करते रहते हैं। विटप, सरिता, गिरि, धरणीका जैसे सहज स्वभाव है परोपकार करना वैसेही यह सन्तोंका सहज स्वभाव है, उनसे रहा ही नहीं जाता; वे तो शत्रुओंका भी दुःख दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। शैलजा तो अपने हृदयकी असम्भावना, मोह, आदिसे छुटकारा पानेके लिये ही प्रश्न करती हैं पर सन्तोंका प्रत्येक महत्त्वका कर्म स्वाभाविक ही लोकोपकारक ही ठरहता है। अतएव इन शब्दोंसे यह भाव न समझ लेना चाहिए कि वे लोकोपकार हेतु कथा पूछती हैं।

बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी॥ ७॥
चर अरु अचर नाग नर देवा। सकल करहिं पद पंकज सेवा॥ ८॥

अर्थ—हे विश्वके स्वामी! हे मेरे नाथ! हे त्रिपुरासुरके नाशक! आपकी महिमा तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। ७। चेतन और जड़, नाग, मनुष्य और देवता (तीनों लोकोंके निवासी) सभी आपके चरण-कमलोंकी सेवा करते हैं। ८।

टिप्पणी—१ 'विश्वनाथ मम नाथ···' इति। (क) 'विश्वनाथ' का भाव कि आप संसारभरके स्वामी हैं; अतः संसारभरका कल्याण करना आपका कर्त्तव्य है सो कीजिए, सकल लोकहितकारिणी कथा कहिए। (सकल लोकहितकारिणी कथाके सम्बन्धसे 'विश्वनाथ' कहा और अपनी विशेषता निमित्त फिर 'मम नाथ' कहती हैं)। (ख) 'विश्वनाथ' कहकर फिर अपनेको पृथक्-कर 'मम नाथ' अर्थात् अपना नाथ कहनेका भाव कि मैं अपने नाथकी नाईं पूछ रही हूँ, विश्वनाथके नातेसे नहीं पूछती हूँ। आप मेरे नाथ पृथक् करके हैं, यथा 'सुर-नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं। ३।१४।६।' (श्रीलक्ष्मण-वचन श्रीरामप्रति)। तात्पर्य कि अपने नाथसे जोर अधिक है। (पुनः भाव कि विश्वके स्वामी जगत्‌भर का पालन पोषण कल्याण करते हैं फिर भी जगत्‌की अपेक्षा अपने जनपर विशेष कृपा करते हैं, यथा 'नर नारायन सरिस सुभ्राता। जग पालक बिसेषि जन त्राता। १।२०।५।', अतएव 'मम नाथ' कहकर अपने ऊपर विशेष कृपा चाहती हैं)। (ग) 'मम नाथ' अर्थात् आप मेरे पति हैं, अतः मेरे भ्रम-संशय-मोहको दूर करना आपका कर्त्तव्य है, उसे दूर कीजिए। यथा 'ससि भूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी। १०८।४।', 'अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू।···

अजहूँ कछु ससउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें। १०६। २, ५।' ☞ ऐसा ही सब श्रोता कहते हैं। यथा 'नाथ एक ससउ बड़ मोरें। करगत बेदतत्त्व सबु तोरें। अस बिचारि प्रगटौं निज मोहू। हरहु नाथ करि जन पर छोहू। जैसें मिटै मोह भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी। १। ४५।४७।' (भरद्वाज), 'देखि परम पावन तव आश्रम। गयउ मोह ससय नाना भ्रम। अब श्रीरामकथा अति पावनि। सदा सुखद दुखपुंज नसावनि॥ सादर तात सुनावहु मोही। बार बार बिनवउँ प्रभु तोही। ७। ६४।' (गरुड़)। (घ) 'पुरारी' इति। भाव कि त्रिपुरासुर तीन पुरोंमें तीनों लोकोंमें रहता था, आपने इसके तीनों पुरों सहित उसका नाश किया। वैसेही मोह, सशय और भ्रम ये तीन पुर हैं जिनमें शोकरूपी त्रिपुरासुर रहता है, आप तीनों पुरों (मोहादि) सहित शोकका नाश करके मुझे सुख दें। [पुन भाव कि त्रिपुरासुर तीनों लोकों को पीड़ित किये था। आपने उसे मारकर तीनों लोकोंको सुखी किया, वैसे ही यह कथा कहिये जिससे तीनों लोकोंको सुख हो। (रा० प्र०)] त्रिपुरकी कथा—१। ४८। ६ 'मुनि सन बिदा मॉगि त्रिपुरारी' में देखिए। ☞ शोक, मोह, संदेह और भ्रम ये चारों शिवजीकी उक्तिमें स्पष्ट हैं। यथा 'राम कृपा तें पारबति सपनेहु तव मन माहिं। सोक मोह सदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं। १। ११२।' शिवजीने जो यह कहा है कि 'मम बिचार कछु नाहिं', उसमें भाव यह है कि शिवजीके विचारमें त्रिपुर कुछ नहीं हीके समान है। (च) 'विश्वनाथ 'मम नाथ' कहनेके बाद पुरारी' कहनेका भाव कि आपने त्रिपुरासुरका वध करके विश्वका हित किया, शोक मोह सदेह भ्रमका नाश करके मेरा हित कीजिए। कथासे विश्वका और मेरा, दोनोंका हित है, पुन, पुरारी' कहकर जनाया कि पूर्वकालमे आपने तनसे विश्वका हित किया है, अब कथा कहकर वचनसे विश्वका हित कीजिये क्योंकि यह कथा 'सकल लोक हितकारी' है जो मैं पूछना चाहती हूं। (छ) त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी' इति। कौन महिमा विदित है? एक तो त्रिपुरवधकी (क्योंकि त्रिपुरासुर तीनों लोकोंको नाकों चना चबवाता था, उसके बधसे तीनों लोकोंमें महिमा विख्यात हुई), दूसरी महिमा आगे कहते हैं 'चर अरु अचर नाग नर देवा। सकल करहिं पदपकज सेवा।' इत्यादि। पुन, त्रिभुवनमें महिमा विदित है, इसीसे त्रैलोक्यनिवासियों (नाग, नर, देव) का सेवा करना लिखा।

२ 'चर अरु अचर नाग इति। (क) यहॉं चर और अचर दोनोंका कहा। चेतन जीवोंका सेवा करना तो ठीक है पर अचर (जड पदार्थ) की सेवा कैसे सभव है? वे क्योंकर सेवा करते हैं? उत्तर यह है कि भक्त चाहे कहीं किसी योनिमें क्यों न रहें वे कहीं भी सेवा नहीं छोड़ते, उसी योनिमें रहकर भगवान्‌का स्मरण करते रहते हैं जैसा कि कहा है—

(१) 'जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं। सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू। अस अभिलाष नगर सब काहू। २। २४।' (अवधपुरवासी)

(२) 'जेहि जोनि जनमौं कर्म बस तहँ रामपद अनुरागऊँ। ४। १०।' (बालि)

(३) 'खेलिबे को खग मृग तरु किंकर है रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नातें नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं।' (विनय २३१ गोस्वामीजी)। यदि 'तरु' से सेवा न हो सकती तो ऐसा कदापि न कहते। वृक्षोंकी सेवा यह है कि फूल और छाया खूब दें। भगवान्‌की सेवा वनमें जड पदार्थोंने की ही है, यथा 'फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना। २। १३७।', 'सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी। ६। ५। ५।' अयोध्याकाडमें मेघों, वृक्षों और तृण आदिकी सेवा सबने पढ़ा ही है। यथा 'मंदु मृदु महि मगु मगलमूला॥ किए जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात। तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात। २। २१६।', 'भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं॥ कुस कटक कॉंकरी कुराईं। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं॥ महि मंजुल मृदु मारग कीन्हें। बहत समीर

त्रिबिध सुख लीन्हें ॥ सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं। बिटप फूलि फलि तृन मृदुताहीं ॥ मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम प्रिय जानी। २. ३११।' दोहावलीमें भी कहा है—'निनु ही रितु तरुवर फरै सिला द्रवै जल जोर'। [पुनः यहाँ 'जड़' शब्द न देकर 'अचर' शब्द दिया है। एक तो 'चर' के संबंधसे। दूसरे 'अचर' शब्द देकर जनाया कि जो मनुष्यादिकी तरह इधर-उधर जा-आ नहीं सकते परन्तु जिनमें जीवात्मा (चेतन) रहा करता है। जब स्वामी उनके पास आवे हैं, तब वे (अचर) उनकी सेवा करते हैं।] (ख) कैलासवासी जो सुकृती हैं, उनका शिव सेवक होना कह आये—'सिद्ध तपोधन ...सेवहिं शिव सुखकंद। १०५।' और अब यहाँ 'चर...' से अन्य सब स्थानोंके लोगोंको कहते हैं जो कैलासमें वास नहीं करते वरंच अन्यत्र रहकर सेवा करते हैं। (ग) 'नाग नर देवा'—नागसे पाताल (क्योंकि ये पातालमें रहते हैं), नरसे मर्त्यलोक और देवसे स्वर्गलोक अर्थात् त्रैलोक्यनिवासी चराचर जीवोंका सेवा करना दिखाकर शंकरजीको त्रिभुवनगुरु जनाया; यथा 'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना। आन जीव पाँवर का जाना। १११। ५।'। (घ) 'सकल करहिं...'; यथा 'संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा। ५०।६।' सेवाका हेतु आगे दोहेमेंभी कहा है।

प० प० प्र०—यहाँ 'सकल करहिं पद पंकज सेवा' के 'सकल' शब्द पर ध्यान देना आवश्यक है। भाव यह है कि महेश जगदात्मा हैं—'जगदात्मा महेस पुरारी'। प्रत्येक प्राणी, चर हो वा अचर, अपने सुखके लिये रातदिन प्रयत्नशील रहता है, यही प्रभु की सेवा है। कोई विरला ही यह जानता है कि 'आत्मा त्वं गिरिजापतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्। पूजाते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः। संचारः पदयोः प्रदक्षिण विधिः स्तोत्राणि सर्वागिरः। यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलंशम्भो तवाराधनम्।'—भले ही कोई जाने या न जाने पर आत्माके सुखके लिये ही सब कुछ किया जाता है। कोई मार्ग भूलकर करता है और कोई उचित मार्गसे जानबूझकर करता है, इतना ही भेद है।

दोहा—प्रभु समरथ सर्बग्य सिव सकल कला गुन धाम।
जोग ग्यान बैराग्य निधि प्रनत कलपतरु नाम ॥ १०७

अर्थ—हे प्रभो! आप समर्थ, सर्वज्ञ, कल्याणस्वरूप, संपूर्ण कलाओं और गुणोंके धाम और योग, ज्ञान तथा वैराग्यके समुद्र भण्डार या खजाना हैं। आपका नाम शरणागतोंके लिये कल्पवृक्ष है। १०७।

टिप्पणी—१ (क) पहले 'विश्वनाथ'कहकर समस्त ब्रह्माण्डका नाथ कहा, अब 'प्रभु' कहकर ब्रह्माण्डमें जो जीव बसे हुए हैं, उनका नाथ कहती हैं। (ख) 'समरथ' अर्थात् रामकथा कहने तथा भ्रम दूर करनेको समर्थ हैं, क्योंकि सर्वज्ञ हैं; कल्याणस्वरूप हैं, सकल कलाओं और गुणोंके धाम हैं [अर्थात् सब कलाओंसहित विद्याका आपमें निवास है, इत्यादि। कला—'सकल कला सब विद्याहीनू। १।६।८।' देखिए। 'समर्थ' से उत्पत्ति-पालन-संहार करने तथा शापाशीर्वादादि देने को समर्थ जनाया (वै०)। पुनः, 'सर्वज्ञ' से ज्ञानकी निरतिशयता कही, 'योग ज्ञान वैराग्यनिधि' से जगद्गुरु होना द्योतित किया। (वि० त्रि०)]

नोट—१ करुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'चन्द्रमा जब सोलह कलाओंसे पूर्ण हो तब पूर्णिमा होती है। 'सकल कला गुन धाम' कहकर शिवजीका सदा षोडश कलाओं और अनंत गुणोंसे पूर्ण होना यहाँ जनाया है।' बैजनाथजी 'चौंसठ कला वा षोडश कला' ऐसा अर्थ करते हैं। सोलह कलायें; यथा 'धर्मैश्वर्य यश मोक्ष श्री शरण रक्ष बिरतीस। पोषण मरणोत्पत्तिस्थिति लयाधार रिपुखीस ॥' (वै०)।

टिप्पणी—२ 'प्रनत कलपतरु नाम' अर्थात् प्रणत आपका नाम जपकर चारों पदार्थ प्राप्त करते हैं। चर-अचर आदि जो पूर्व गिना आए वे सभी प्रणत हैं, ये सब पाद-सेवन-भक्ति करते हैं, नाम जपते हैं और मनोरथ पाते हैं। ('नाम' उपमेयमें कल्पतरु उपमानके गुण स्थापन करनेमें 'द्वितीय निदर्शना अलंकार' है)।

प० प० प्र०—ये सब विशेषण श्रीरामजीमें भी पाये जाते हैं। प्रभु समर्थ; यथा 'प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। ३। १७। १४।'; सर्वज्ञ यथा 'सुनु सर्वज्ञ कृपा सुखसिंधो। ७। १८। १।'; शिव=सच्चिदानन्द, 'राम सच्चिदानंद दिनेसा। १। ११६। ५।' सकल कला, यथा 'अलप काल सब बिद्या आई। १। २०४। ४।'; गुन धाम, यथा 'बिनय सील करुना गुन सागर। १। २८५। ३।' 'योग ज्ञान वैराग्यनिधि' यथा 'कोसलपति भगवान्', भगवान्‌से योग, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धर्म और श्री इन छः गुणोंका निधि ही रहता है। 'प्रनत कल्पतरु नाम' यथा 'नाम कामतरु काल कराला। १। २७। ५।' 'प्रनत कलपतरु करुना पुंजा। ७। १२६। २।' इस प्रकार राम और शिवमें अभेद बताया।

जौं मो पर प्रसंन सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी॥ १॥
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥ २॥

अर्थ—हे सुखकी राशि (ढेर, समूह, खजाना)! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे सत्यही अपनी 'निज दासी' जानते हैं। १। तो हे प्रभो! अनेक प्रकारसे श्रीरघुनाथजीकी कथा कहकर मेरा अज्ञान हरिये। २।

टिप्पणी—१ 'जौं मोपर प्रसंन सुखरासी।' इति। (क) पूर्वसुखके विशेषण कहे, यथा 'प्रभु समरथ सर्वग्य शिव सकल-कला-गुन धाम। जोग-ज्ञान-वैराग्य निधि प्रनत कलपतरु नाम।' इस दोहेमें जितने विशेषण हैं वे सब सुखके रूप हैं। 'सुखराशि' कहकर इन सबों की राशि जनाया। पुनः, आगे शिवजीको कल्पतरु कहती हैं; यथा 'जासु भवनु सुरतरु तर होई' और कल्पवृक्ष सब सुखोंकी राशि है, अतएव 'सुखरासी' संबोधन दिया। 'सुखरासी' का भाव कि अज्ञानरूपी दुःख दूर करके मुझे सुखी कीजिये। यह बात उपसंहारमें स्पष्ट है—'नाथ कृपा अब गयउ बिषादा। सुखी भयउँ प्रभु चरन प्रसादा। १२०.३।' (ख) श्रीशिवजीने 'जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा' इस अत्यंत आदरको देखकर कहती हैं कि 'जौं मो पर प्रसंन' यदि सत्यही आप मुझपर प्रसन्न हैं; और जो 'प्रिया' जानकर 'बाम भाग आसनु हर दीन्हा' उसको लेकर कहती हैं कि 'जौं जानिय सत्य मोहि निज दासी'। (ग) शंका—शिवजी तो सत्यही दासी जानते हैं, उनमें असत्य कहाँ है जो कई बार 'सत्य' शब्द दिया? समाधान—'सत्य' शब्दका संबंध शिवजीके साथ नहीं है किंतु उमाके साथ है अर्थात् सत्य दासीका विशेषण है। पार्वतीजी कहती हैं कि यदि आप मुझे सत्य (सच्ची) दासी जानते हों कि यह हमारी 'सत्य कै दासी' है, झूठी दासी नहीं है—यह आगे स्पष्ट कहा है जिससे इस अर्थकी पुष्टि होती है, यथा—'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी। ११०. १।' मन कर्म वचनसे दासी होना 'सत्य दासी' होना है। (यथा—'मन बच क्रम मोहि निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना। ७. १२१।', 'यह मम भगत कर्म मन बानी। ७. ११४।')—[प्रथम संस्करणमें हमने यही अर्थ दिया था परंतु अब मेरा विचार है कि मुख्य अर्थ यह नहीं है इसीसे इसको हमने ऊपर अर्थमें नहीं दिया है। मेरी समझमें ऐसा बोलना मुहावरा है। दूसरे; 'सत्य' 'जानिय' के साथ है। 'सत्य' और 'निजदासी' के बीचमें 'मोहि' शब्द रक्खा गया है जो दोनोंको अलग करता है। 'जानिय मोहि सत्य निज दासी' पाठ कवि रख सकते थे। तीसरे, 'निज' का अर्थ 'सच्चा, खास' भी है, अतः 'सत्य' शब्दको बिना यहाँ लाये भी 'सच्ची दासी' अर्थ हो जाता है; यथा 'जे निज भगत नाथ तव अहहीं। १। १५०। ८।', 'प्रभु सर्बग्य दास निज जानी। १. १४५.५।', 'देखि दसा निज जन मन भाए। ३. १०. १६।', 'अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मोपर निजु नेहु। १. ७६।', 'मन मेरो मानै सिख मेरी। जौं निज भगति चहै हरि केरी।' (बिनय)। बैजनाथजी अर्थ करते हैं—'मन-कर्म-वचनसे मैं आपकी दासी हूँ, यदि यह बात आप सत्य जानते हैं।' इनके अनुसारभी, निज दासी=मन कर्म-वचनसे सेवामें रत। पंजाबीजीका मत है कि वाम भागमें आसन देनेसे निश्चय करती हैं कि मुझपर प्रसन्न हैं और दासी बना लिया। 'जानिय सत्य...'

का भाव कि आपने मेरे पूर्व जन्मकी सब अवज्ञायें, जो मुझसे हुई थीं, अपने चित्तसे भुला दीं] (घ) 'दासी' कहकर उसका अधिकार दिखाती हैं।

प० प० प्र०—'प्रभु' और 'दासी' शब्दोंसे सेव्य-सेवक, आश्रय-आश्रित संबंध जनाया। आगे यह संबंध 'तुम्ह त्रिभुवन गुरु' कहके गुरु-शिष्य-संबंधमें परिणत होगा, तब शिवजी कहेंगे। आगे मतिभ्रम भारीका हरण, दुःख विनाश ('सहि कि दरिद्रजनित दुखु सोई') और सुखलाभ यह 'प्रयोजन' कहा है। 'नाना विधि रघुनाथ कथा' यह विषय कहा। 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी' इत्यादि और 'आरत अधिकारी' में अधिकारी अनधिकारी कहा है।

टिप्पणी—२ 'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना।…' इति। (क) 'तौ' का संबंध 'जौं मो पर…' से है। तात्पर्य कि यदि प्रसन्न हैं तो उस अपनी प्रसन्नताको सफल कीजिए। क्योंकि जिसको ईश्वर अपना जाने और ऐसा जानकर उसपर प्रसन्न हो, तो उसमें अज्ञान न रहना चाहिए। इसीपर आगे दृष्टान्त देती हैं—'जासु भवन…'। अज्ञान हरनेमें 'प्रभु' कहा, अर्थात् हरनेको समर्थ हैं। ☞ ऊपर १०७.४ में कहा है कि 'पूरब जन्म कथा चित आई', अर्थात् स्मरण हो आया कि पूर्व जन्ममें शिवजी न तो मुझपर प्रसन्नही रहे और न उन्होंने मुझे निज दासीही समझा, इसीसे पूर्व जन्ममें अज्ञान दूर न हुआ। इसीसे अब कहती हैं कि अब यदि आपने मुझे निज दासी समझा है और मुझपर प्रसन्न हुए हैं तो अब अज्ञानको भी चला जाना चाहिए, अब उसके रहनेका कौन संबंध है जो यह बना रहे? (ख) 'हरहु मोर अज्ञाना।' इति। श्रीराम-स्वरूपका न जान पड़ना अज्ञान है, यही पार्वतीजी आगे कहती भी हैं।—'तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ। १२०। २।' (ग) 'कहि रघुनाथ कथा' इति। अर्थात् यद्यपि अज्ञानकी निवृत्ति वेदांतसे भी होती है, पर उससे मेरा भला न होगा; अतः आप वेदान्त कहकर अज्ञान न हरिये, किंतु श्रीरघुनाथजीकी कथा कहकर हरिये। तात्पर्य कि आत्म परमात्म ज्ञानमें मुझे अज्ञान नहीं है, सगुण ब्रह्म (की लीला) जाननेमें अज्ञान है। अतएव सगुण ब्रह्मकी कथा कहकर अज्ञान हरण कीजिए। पुनः भाव कि श्रीरघुनाथजीकी कथामें ज्ञान परिपूर्ण है। यथा 'राम कथा मुनिबर बहु बरनी। ज्ञान जोनि पावक जिमि अरनी। ७। ३२। ८।' इसीसे पृथक् ज्ञान कहकर अज्ञान हरण करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। पुनः भाव कि अगस्त्यजीके मुखसे श्रीरामकथा सुन चुकी हैं; यथा 'राम कथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी। ४८। ३।' इससे जानती हैं कि वह ज्ञानकी समूह है। अतः 'रघुनाथ कथा' ही सुनना चाहती हैं। (घ) 'विधि नाना' इति। अज्ञान भारी है, इसीसे कहा कि 'नाना विधि' से कथा कहिए। [बैजनाथजी 'नाना विधि' से 'अवतारका हेतु, धामकी महिमा, नामका प्रताप, रूपके गुण और ऐश्वर्य-माधुर्य-यश-कीर्त्तिमय लीलादि' का भाव लेते हैं।]

जासु भवनु सुरतरु तर होई। सहि कि दरिद्र जनित दुखु सोई॥ ३॥
ससि-भूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी॥ ४॥

अर्थ—जिसका घर कल्पवृक्षके नीचे हो, (भला) वह दरिद्रसे उत्पन्न दुःखको क्यों सहेगा?। ३। हे शशिभूषण (चन्द्रशेखर)! हे नाथ! ऐसा हृदयमें विचारकर मेरे बुद्धिके भारी भ्रमको हर लीजिए। ४।

टिप्पणी—१ 'जासु भवन सुरतरु तर होई।…' इति। (क) 'सुरतरु'—क्षीरसागरमथनसे निकला हुआ एक वृक्ष जो देवलोक (स्वर्ग) में है।—'नाम रामको कलपतरु' १। २६ में देखिए। (ख) यहाँ शिवजी कल्पवृक्ष हैं, उसके तले पार्वतीजीका भवन है; अर्थात् ये शिवजीकी दासी हैं। (ग) 'सुरतरु तले' भवन होनेमें ही शिवजीकी प्रधानता है, इसीसे शिवजीकी प्रधानता रखनेके लिये ऐसा कहा है। भवनके पास कल्पवृक्ष होनेमें पार्वतीजीकी प्रधानता होती, इससे वैसा नहीं कहा। (घ) ऊपर नामको कल्पतरु कहा है—'प्रनत कलपतरु नाम'। रूपभी कल्पतरु है,यह यहाँ कहा। भाव यह कि जिसका नाम लेनेसे मोहका नाश होता

है,उसके समीप रहनेपर तो मोह किसी प्रकार न रहना चाहिए। यहाँ शिवजी सुरतरु हैं और उनके समीप रहना यही भवन है। (ङ) ☞ कल्पवृक्षके तले जाकर माँगनेसे कल्पवृक्ष देता है। यथा 'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। मागत अभिमत पाव जग राव रंक भल पोच। २। २६७।' पार्वतीजी कल्पवृक्ष-रूप शिवजीके पास गईं,—'बैठीं शिव समीप हरषाई'; और माँगती हैं कि मेरा अज्ञान नष्ट हो,—'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना'। सुरतरु तले जानेवालेका दरिद्र नाश होता है और मेरा भवन ही सुरतरुतले है। तात्पर्य कि एक बारही आपके पास जानेसे अज्ञान दूर हो जाता है और मैं तो रात दिन आपके पास ही रहती हूँ—यही सुरतरु तले भवनका होना है। (च) 'सहि कि दरिद्र-जनित···' इति। मोह दरिद्र है, यथा 'मोह दरिद्र निकट नहि आवा। ७। १२०। ४।' उसीके हरनेकी प्रार्थना करती हैं—'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना'। अज्ञान और मोह पर्याय हैं। (दरिद्रता स्वयं ही दुःख है, यथा—'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। ७। १२१। १३।' यहाँ 'वक्रोक्ति अलंकार' है।)

२ 'ससिभूषन अस हृदय विचारी।' इति। (क) शशिभूषणका भाव कि शशि शरदातपको हरता है, यथा 'सरदातप निसि ससि अपहरई'; आप मेरे मोहरूपी तापको हर लीजिए। यह भाव उपसंहारके 'मिटा मोह सरदातप भारी। १। १२०। १।' से सिद्ध होता है। इस तरह 'सुरतरु' और 'शशिभूषण' दोनोंही विशेषण मोहके ही नाशनेलिये कहे गए। [(ख) 'ससिभूषन', यथा 'आननु सरद चंद छबि हारी। १०६। ८।', 'सोह बालबिधु भाल। १०६।' मुख चन्द्र है, वचन किरण हैं, भारी भ्रम वा मोह शरदातप है। यथा 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी।' (ग) पुनः भाव कि 'आपने अल्प कलावाले एवं वक्र चन्द्रमाको मस्तकपर धारण किया और उसे जगत्‌वन्द्य बना दिया, मैं भी अल्प-गुणयुक्त और संशयात्मक हूँ तथापि आपने मुझे अंगीकार कर लिया है; अथवा जैसे चन्द्रमा औषधियोंको रस देता है और अंधकारभी हरता है, वैसेही आप मेरी बुद्धिको भक्तिरूपी रस दें और मेरे बुद्धिका भ्रमभी निवारण करें।' (पं०)।] (घ) 'अस हृदय विचारी' का भाव कि आप चन्द्रभूषण हैं, सुरतरु हैं, अपने गुणों को विचारकर मेरा भ्रम दूर कीजिए, मेरे अवगुणोंकी ओर न देखिए। (ङ) 'मम मति भ्रम भारी'—मतिका भ्रम आगे कहती हैं—'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि। १०८।'

वि० त्रि०—गुरुसे पूछनेपर ही ज्ञान होता है, अतः पहिले अज्ञानके दूर करनेकी प्रार्थना मायाकी आवरण शक्ति दूर करनेके लिये की थी—'हरहु मोर अज्ञाना'। अब दूसरी प्रार्थना मायाकी विक्षेपशक्ति (भ्रम) को दूर करनेके लिये हो रही है। पहिले वस्तुका अज्ञान होता है, उसके बाद अन्यथा ज्ञान होता है। ये ही दोनों क्रमशः मायाकी आवरण शक्ति और विक्षेपशक्ति कहलाते हैं।

प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी ॥ ५ ॥
सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना ॥ ६ ॥
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—परमार्थ=परम अर्थ=जो पदार्थ सबसे परे है। (पा०)। परमारथवादी (परमार्थवादी)= ब्रह्मज्ञानी, चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मके स्वरूपको यथार्थ जानने और कहनेवाले। 'परमारथ पथ परम सुजाना। १। ४४। २।' देखिए। अनग=बिना अंगके (ही सबको व्यापनेवाला)=कामदेव। यथा 'अब ते रति तव नाथ कर होइहि नामु अनंगु। बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि सुनु निज मिलन प्रसंगु। १। ८७।' आराती= शत्रु। 'अराती' शुद्ध संस्कृतभाषाका शब्द है। 'अभिघाति पराऽराति प्रत्यर्थि परिपन्थिनः।' अमरे २। ८। १०। अनंग आराती=कामारि।

अर्थ—हे प्रभो ! जो परमार्थवादी मुनि हैं वे श्रीरामजीको अनादि ब्रह्म कहते हैं। ५। शेष, शारदा,

वेद और पुराण सभी श्रीरघुनाथजीके गुण गाते हैं। ६। और फिर, हे कामदेवके शत्रु! (ये ही नहीं किन्तु) आपभी दिन रात आदरपूर्वक राम-राम जपते हैं। ७।

टिप्पणी—१ 'प्रभु जे मुनि परमारथवादी।…' इति। (क) 'जे' अर्थात् सब मुनि नहीं, केवल वही जो परमार्थतत्वके ज्ञाता और वक्ता हैं। ('परमार्थवादी' हेतुगर्भित विशेषण है। इससे जनाया कि ये यथार्थ तत्वके ज्ञाता होनेसे इनका विचार वा ज्ञान प्रामाणिक है)। (ख) 'कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी' अर्थात् मुनि लोग रूपका निरूपण करते हैं। यथा 'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं। ॥। १०।', 'करि ध्यान ज्ञान विराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं। ३। ३२।' यहाँ 'रूप' कहकर आगे 'लीला' कहती हैं। (ग) 'सेस सारदा…', यथा 'सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान। १। १२।' मुनि, शेष, और शारदासे मर्त्य, पाताल और स्वर्ग तीनों लोकोंके प्रधान प्रधान वक्ताओंको कह दिया। वेद और पुराण तीनों लोकोंके वक्ता हैं। (घ) 'सकल करहिं…' का भाव कि वे रघुपति यही हैं या कोई और 'रघुपति' हैं जिनका वेदादि गुण गाते हैं। ☞ इन दोनों चरणोंमें 'लीला' कही, 'रघुपति गुण गान' लीला है। आगे 'नाम' को कहती हैं। ['राम' से कई रामका बोध होता है, अतः 'रघुपति' कहा। (पां०)]

२ (क)—['तुम्ह पुनि' का भाव कि वे श्रीरामजीको अनादि ब्रह्म भले ही मानें और कहें तथा उनका गुणगान करें तो भलेही करें, इसमें मुझे आश्चर्य नहीं होता, परन्तु आप तो 'प्रभु समर्थ सर्वज्ञ सकल-कला गुण धाम योग ज्ञान वैराग्य निधि' हैं तथा 'अनंग आराती' हैं अर्थात् कामनारहित पूर्णकाम हैं; इत्यादि विशेषणों और गुणोंसे युक्त होनेपरभी आप 'राम राम' जपते हैं, इसीसे मुझे भारी संदेह हो गया है] (ख) 'दिन राती' अर्थात् निरंतर जपते हैं, विश्राम नहीं करते, भजनहीमें विश्राम मानते हैं। (ग) 'सादर जपहु' का भाव कि श्रीशिवजीको राम नाम अत्यन्त प्रिय है; यथा 'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। १। ३२। ८।' इसीसे आदरपूर्वक जपते हैं। [पुनः, 'सादर'=भावपूर्वक। भाव कि श्रीसीताजीके वियोगकालमें रघुनाथजीको अति शोकातुर देखकर भी आपकी श्रद्धामें किंचित् भी न्यूनता न आई। (पं०)] (घ) 'अनंग आराती' का भाव कि कामका नाश करके 'राम राम' जपते हैं, क्योंकि काम भजनका बाधक है। कामको त्यागकर भजन करना चाहिए। यथा 'तव लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन विश्राम। जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम। ५। ४६।' [पुनः भाव कि और लोग सकाम जपते हैं और आप निष्काम जपते हैं, उसपर भी आदरपूर्वक जपते हैं। (पं०)। पुनः भाव कि कामदेवको भस्म करके फिर उसे अंगहीन सजीव कर दिया, ऐसे समर्थ होकरभी आप नाम जपते हैं। (वै०)] (ङ) ☞ यहाँ नाम कहा, आगे 'धाम' कहती हैं। शिवजी राम नाम जपते हैं, यथा 'अस कहि लगे जपन हरि नामा। ५२। ८', 'राम नाम सिव सुमिरन लागे। ६०। ३।', 'महामंत्र जोइ जपत महेसू', 'तव नाम जपामि नमामि हरी। ७। १४।', इत्यादि।

नोट—श्रीपार्वतीजी रूप, लीला, नाम और धाम चारों श्रीरघुपतिकथामें सुनना चाहती हैं, अतएव यहाँ अपने वचनोंमें ये चारों बातें गुप्त रीतिसे प्रकट कर रही हैं। क्रमसे वे चारोंका महत्त्व कहती जा रही हैं। ऊपर जो उन्होंने कहा था—'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना', उससे इस भावका समर्थन हो रहा है।

टिप्पणी—३ रूप, लीला और नामको क्रमसे कहनेका भाव—(क) मुनि, शेषादि और श्रीशिवजी ये सभी नाम, रूप, लीला और धामका निरूपण करते हैं। रही बात यह कि एक-एक मुख्य है। जिसमें जो मुख्य है उसमें उसीको कहा गया। परमार्थवादी मुनिमें रूपकी प्रधानता है, शेषादिमें लीलाकी और शिवजी में नामकी प्रधानता है। अतएव इन्होंको पृथक्-पृथक् उनके साथ कहा। पुनः, (ख) ☞ रूप, लीला और नाम उत्तरोत्तर एकसे दूसरेको अधिक प्रिय जनाया। मुनि रूप कहते हैं। (क्योंकि मुनि मननशील होते हैं।

ये रूपका ध्यान करते हैं। इसीसे ये 'रूप' के ज्ञाता होनेसे उसीको कहते हैं)। लीला रूपसे विशेष प्रिय है, यथा 'हरि ते हरिचरित पियारे' (गीतावली), 'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। जे हरि कथा न करहिं रति तिन्हके हिय पाषान। ७। ४२।' लीलासे नाम अधिक प्रिय है, यथा 'रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि। १। २५।' (ग) ☞ रूपसे लीला और लीलासे नाम विशेष है, अतएव इनके ग्रहण करनेवाले भी इनसे उत्तरोत्तर विशेष दिखाए गए। मुनियोंसे शेषादि विशेष हैं, क्योंकि मुनि इनकी उपासना करते हैं और इनसे शिवजी विशेष हैं क्योंकि ये सब शिवजीका गुण गाते हैं।—'चरित-सिंधु गिरिजारमन वेद न पावहिं पारु। १०३।'

४ यहाँ तीन प्रमाण दिये हैं—मुनि, शेषादि और शिवजी। तीन प्रमाण देनेका कारण यह है कि पार्वतीजीने सती तनमें शिवजीके मुखसे तीन ही प्रमाण सुने हैं। जो प्रमाण सुने हैं वे ही आपभी दे रही हैं। यथा 'जासु कथा कुंभज रिषि गाई। ५१। ७।', 'मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं', 'कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं' और 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा। १। ५१। ८।'

५ जिस क्रमसे शिवजीने वर्णन किया था, उसी क्रमसे पार्वतीजीनेभी प्रश्न उठाया। दोनोंका मिलान—

श्रीशिवजी	श्रीपार्वतीजी
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा	१ तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु ··
सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।	२ प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥
मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं	३ सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना
सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित।	४ राम सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई।

रामु सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥ ८॥

अर्थ—(जिनको मुनि अनादि ब्रह्म कहते हैं, जिनका यश शेषादि गाते हैं और जिनका नाम आप जपते हैं) वे राम वही अवधके राजा दशरथके पुत्र हैं (जिनको वनमें विलाप करते देखा था), या अजन्मा, निर्गुण (अव्यक्त) और अलक्ष्य गति वाले कोई और (राम) हैं ?। ८५।

टिप्पणी—१ (क) वेद पुराणोंके वचनोंसे और महादेवजीके इष्ट (होने) से ब्रह्म निश्चय किया। 'अवध' पद कहकर धाम सूचित किया; नहीं तो 'नृपतिसुत' इतना ही कहतीं। अवधनृपतिके सुत हैं तब तो अवध उनका धाम है। (ख) 'की अज अगुन अलख गति कोई' इति। ऊपर जो तीन बातें तीन चौपाइयोंसे कहीं वही यहाँ 'अजादि' तीन पदों (विशेषणों) से कहती हैं। अर्थात् उपर्युक्त तीनों चौपाइयोंका प्रयोजन अज आदि तीन पदोंसे ग्रहण किया गया। 'प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी'।—यह बात 'अज' से, 'सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना।'—यह बात 'अगुण' से, और 'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनग आराती'।—यह बात 'अलखगति' से ग्रहण की। (ग) ब्रह्मके तीन लक्षण हैं—अज, अगुण, अरूप। यथा 'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भएउ कोसलपुर भूपा। १। १४१। २।' यहाँ जो 'अलखगति' कहा, उसका अर्थ इस प्रकार 'अरूप' हुआ। (घ) 'की अज अगुन···' इस शंकाका कारण आगे देती हैं कि 'जौं नृपतनय ')। अज आदिके भाव भी वहीं दिये जायँगे।

वैजनाथजी—१ यह आश्चर्य अभिनिवेशित वार्ता है। जैसे लोकमें कोई महाराज नामज़ादा किसी-के कार्यहित दया कर एकाकी हो निकले और कोई उसे पहचानकर कहे कि यह तो अमुक महाराजा है तो

सब यही कहेंगे कि तू झूठा है, क्योंकि तू एक अदना (तुच्छ साधारण व्यक्ति) को महाराज बताता है, भला वह होते तो उनके निशान सेनाके पदप्रहारसे गर्जो जमीन खुदकर रज हो आकाशको जाती। यदि किसी-ने विश्वास किया भी तो ऐश्वर्यहीन देख आश्चर्यवश पुनः पूछता है कि अरे, यह वही महाराजा है! वैसे ही सतीजीको प्रथम विश्वास नहीं आया। जब प्रभाव देखा तब बुद्धि भ्रमित हो गई जिससे यथार्थ बोध न हो सका। किंचित् विश्वास है इसीसे आश्चर्यान्वित होकर पूछती हैं कि 'राम सो…'

२ 'अज' का भाव कि ब्रह्म तो जन्म नहीं लेता, वह तो अजन्मा है और ये तो राजाके पुत्र हैं। ब्रह्म 'अगुण' अर्थात् मायिक गुणोंसे परे है, उसमें कोई गुण छू नहीं जाते और ये तो रजोगुणवश सकाम होनेसे स्त्रीमें आसक्त रहे, स्त्रीवियोग होनेसे तमोगुणवश हो विलाप करते देखे गए। ब्रह्म अलखगति है, उसकी गति कोई जान नहीं सकता। [ब्रह्मकी गति अलक्ष्य है, वह प्राकृत इन्द्रियोंका विषय नहीं है। बिना दिव्य सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त किये कोई देख नहीं सकता और न जानही सकता है। यथा—'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। कठ० १. ३. १२।'] और इनकी गति तो प्रत्यक्षही सबको दिख रही है। मैंने स्वयं देखी है जैसा आगे कहती हैं—'देखि चरित…।' और सभीने देखा है कि विरहसे व्याकुल हो रहे थे—'देखा प्रगट बिरह दुख ताकें। ४९.८।'

टिप्पणी—२ ☞ शिवजीका उपदेश सतीजीको नहीं लगा। इसका कारण एक तो वहीं उसी प्रसंगमें कहा गया है, यथा 'लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु। बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानि जिय। १.५१।' अर्थात् इसमें मायाका प्राबल्य कारण था। दूसरे, शिवजीने वहाँ अवतारका हेतु नहीं कहा था, इससे संदेह बना रह गया कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता, वही शंका यहाँ प्रकट करती हैं—'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि'। यह शंका पूर्व सती तनमेंभी रही थी। यथा 'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद। १.५०।' इसीसे वे बारंबार अवतारका कारण पूछती हैं। यथा 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी। १.११०।', 'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्ब-रहित सब उर पुर बासी॥ नाथ धरेउ नृप-तन केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥ १.१२०।'

दोहा—जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥ १०८॥

अर्थ—(क्योंकि वे राम) यदि राजपुत्र हैं तो ब्रह्म कैसे? (और यदि ब्रह्म हैं तो) स्त्री वियोग-विरहमें बुद्धि बावली कैसे? उनके चरित देखकर और महिमा सुनकर मेरी बुद्धि अत्यंत चकरा रही है अर्थात् बुद्धि निश्चय नहीं कर पाती कि ये दाशरथी राम ब्रह्म हैं।

टिप्पणी—१ पार्वतीजीने जिन तीन बातोंसे श्रीरघुनाथजीको ब्रह्म निश्चय किया उन्हीं तीनों प्रकारोंसे श्रीरामजीके ब्रह्म होनेमें संदेह करती हैं। यथा—(क) 'प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।' इसके विरुद्ध यहाँ दिखाती हैं कि 'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि?' राजपुत्र हैं तब अनादि ब्रह्म कैसे? (ख) 'सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना।' इसके विरुद्ध दिखाती हैं कि शेषादि जिनका गुण गाते हैं, उनकी मति नारि-विरहमें भोरी हो गई, यह गुण कैसे संभव करें? (ग) 'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती॥' अर्थात् जिनके नामकी ऐसी महिमा है। यथा 'राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा। संतत जपत संभु अबिनासी। सिव भगवान ज्ञान गुन-रासी॥ आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परम पद लहहीं॥ सोपि राम महिमा मुनिराया। सिव उपदेसु करत करि दाया। १। ४६।' जिनका ऐसा नाम है, उनके चरित कैसे हैं? भाव कि प्रथम तो ब्रह्मका अवतार नहीं होता और यदि अवतार हो भी तो उनमें अज्ञान नहीं हो सकता।

नोट—१ अपनी ओरसे जो पूर्व कहा है उसका खण्डन करती हैं। राजाके पुत्र हैं, राजाके यहाँ इनका जन्म हुआ तब ये ब्रह्म कैसे हो सकते हैं कि जिनका परमार्थवादी मुनि ध्यान करते हैं ? स्त्री विरह में ये ऐसे विह्वल हो गए कि इनकी बुद्धि बावली हो गई, ये विलाप करते थे और लताओं वृक्षों आदिसे पूछते थे, यथा 'हा गुनखानि जानकी सीता। रूप सील व्रत नेम पुनीता॥ लछिमन समुझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाती। हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनयनी। खंजन सुक कपोत मृग मीना॥' से 'एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहु महा बिरही अति कामी' तक। (३। ३०। ७-१६)। जो ऐसे पागल हो रहे थे उनकी लीला भला शेषादि कैसे गावेंगे ? 'देखि चरित' अर्थात् 'नारि बिरह मति भोरि' यह चरित प्रत्यक्ष देखा और महिमा कुंभज ऋषि तथा आपसे सुनी। जिनकी ऐसी महिमा है कि आप निष्काम होकर उनका नाम सादर निरंतर जपा करते हैं उनके चरित्र ऐसे कब हो सकते हैं ? (भाव यह कि इन सब बातोंका सामञ्जस्य नहीं बैठता। इस भाँति परमार्थवादी, शेष, शारदा, वेद, पुराण और स्वयं शिवजीके सिद्धान्त पर भगवती उमाने संदेह किया। (वि० त्रि०)

वैजनाथजी—'महिमा सुनत', यथा पुरुषसूक्ते—'एतावानस्य महिमा तो ज्यायाश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' अर्थात् ऐसे पुरुषकी इतनी महिमा है जो लोकका मोक्षदाता है। इसी कारणसे उसको श्रेष्ठ पुरुषोत्तम कहते हैं। उसके एक पाद अर्थात् किंचित् अंशसे चराचर संसार है, तीन पाद आकाशमें हैं। अथवा वह विनाश रहित स्वयं प्रकाश है। इत्यादि महिमा है। २ 'देखि चरित'— अर्थात् 'नारि बिरह मति भोरि' यह चरित देखकर और अगस्त्यजीसे, शेष वेद पुराणादिसे तथा आपके मुखसे महिमा सुनकर।

जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥ १॥
अग्य जानि रिस उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू॥ २॥

शब्दार्थ—अनीह (अन् ईहा) इच्छा, चाह वा कामना रहित। 'एक अनीह अरूप अनामा। १.-१३. ३।' देखिए। व्यापक—१. १३. ३ देखिए। विभु=समर्थ अर्थात् सत्यसंकल्प, सत्यकाम। अग्य=अज्ञान, अनजान, अबोध, नासमझ, नादान।

अर्थ—यदि अनीह, व्यापक, समर्थ (राम ब्रह्म) कोई और हो तो, हे नाथ! मुझे वह भी समझाकर कहिये। १। मुझे अबोध (नादान) जानकर मनमें क्रोध न लाइए। जिस तरह मेरा मोह मिटे वही कीजिए। २।

टिप्पणी—१ 'जौं अनीह···' इति। (क) अज, अगुण, अलखगति, अनीह, व्यापक और विभु कहकर पूर्व जन्मके संदेह प्रकट किये कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता; यथा 'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद। १। ५०।'; इसीसे कहती हैं कि नृपतिसुतसे अन्य जो कोई पूर्वोक्त विशेषणयुक्त ब्रह्म है, उसेभी समझाकर कहिए। तात्पर्य कि ब्रह्मका 'बूझना' कठिन है। (ख) यहाँ अगुण ब्रह्मको 'बुझा' कर अर्थात् समझाकर कहनेकी प्रार्थना करती हैं क्योंकि निर्गुण ब्रह्मके चरित नहीं होते, वह तो अनीह है और सगुण ब्रह्म चरित्र करते हैं इससे ऊपर उनकी कथा कहनेकी प्रार्थना की है। यथा 'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना।'

वैजनाथजी—जो गुण सुने वे देखनेमें नहीं आए, इसीसे श्रीरामरूपमें परब्रह्मका निश्चय नहीं होता। इसीसे कहती हैं—'जौं अनीह···'। अनीह=बालयुवावृद्धावस्था, पुष्ट, क्षीण, उदासीन या प्रसन्न इत्यादि चेष्टाओंरहित सदा एकरस प्रसन्नरूप। 'विभु'=समर्थ अर्थात् विभवरूप अवतार। भगवान्‌के पाँच रूप हैं (ब्रह्मस्वरूपके पाँच भेद हैं)। उनमेंसे अर्चा और व्यूह इन दो रूपोंमें तो पार्वतीजीने अपने आपही बोध कर लिया है। इनके अतिरिक्त जो तीन रूप पर, अन्तर्यामी और विभव हैं, उनके संबंधमें संदेह है, वही

पूछती हैं कि इनमेंसे जो सर्वोपरि परब्रह्मरूप हो (पर स्वरूप हो) वह हमें समझाइए। उसका ऐश्वर्य सुनाकर मेरे मनको बोध करा दीजिए।

टिप्पणी—२ 'अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू।....' इति। (क) ☞ इस वचनसे निश्चय होता है कि 'जौं अनीह व्यापक विभु कोऊ' इतना कहतेही शिवजीकी चेष्टा बदल गई, क्रोधयुक्त हो गई, जैसा कि आगे शिवजीके वचनोंसेभी प्रमाणित होता है। यथा 'एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोह बस कहेहु भवानी। तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। १. ११४।' क्रोधका चिह्न देखतेही पार्वतीजी समझ गईं कि मुझसे कहते नहीं बना, बात बिगड़ गई, इसलिये तुरतही 'अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू' कहकर वे प्रार्थना करने लगीं। (बैजनाथजीका मत है कि 'अज्ञ जानि' का भाव यह है कि 'पूर्ववत् अज्ञान जानकर क्रोध न कीजिए कि समझेगी कि नहीं, कौन व्यर्थ बकवाद करे। अथवा, पूर्णबोध बिना मैं अज्ञ हूँ, बिना बताये कैसे बोध होगा, ऐसा जानकर रिस न कीजिये)। (ख) 'अज्ञ जानि....' का भाव कि अज्ञका अपराध बड़े लोग उरमें नहीं रखते; यथा 'छमहु चूक अनजानत केरी। १. २८८. ४।' फिर स्त्रियाँ तो सहजही अज्ञ होती हैं, यथा 'कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अज्ञ। १. ५७।' अतएव कहती हैं कि अज्ञ जानकर रिस न कीजिए किंतु अज्ञताको हर लीजिए। (पुनः, 'अज्ञ जानि....' का भाव कि नासमझ होनेके कारण यदि मैंने कुछ अनुचित कहा हो तो उसे क्षमा कीजिए। यथा 'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता। १. २८५. ६।')। (ग) 'जेहि बिधि मोह मिटै....' इति। मोह मिटानेका उपाय हरि-कथा है। यथा 'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। ७. ६१।' सो यह बात वे प्रथमही कह चुकी हैं-'कहि रघुनाथ कथा....'। (भाव कि मैं वह विधि नहीं जानती जिससे मोह मिट जाय। यदि कथा कहनेके अतिरिक्त कोई विधि हो, तो उसे ही काममें लाइये। वि० त्रि०)।

मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई॥ ३॥
तदपि मलिन मन बोधु न आवा। सो फलु भली भाँति हम पावा॥ ४॥

अर्थ—मैंने वनमें श्रीरामजीकी प्रभुता देखी थी, परंतु अत्यंत भयसे व्याकुल (होनेके कारण मैंने यह बात) आपको सुनाई नहीं। ३। तोभी मेरे मलिन मनको बोध न हुआ। उसका फल हमने भली प्रकार (खूब अच्छी तरह) पा लिया। ४।

टिप्पणी—१ 'मैं बन दीखि....' इति। (क) यदि शिवजी कहें कि मोह मिटनेका हेतु तो हो चुका है, तुम वनमें श्रीरामजीकी प्रभुता देखही चुकी हो; तो उसपर कहती हैं—'मैं बन दीखि....', 'अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा....'। (ख) महिमा सुनना ऊपर कह चुकी हैं;—'देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति....'। इससे पाया गया कि महिमा देखी नहीं, यह शिवजीसे दुराव करना ठहरता है, इसीसे कहती हैं कि 'मैं बन दीखि राम प्रभुताई' पर आपके भयसे व्याकुल होकर आपसे नहीं सुनाया; कारण कि आपका कहा मैंने नहीं माना था और वहाँ जानेपर आपकीही बात ठीक निकली, तब मैं अत्यन्त भयभीत हो गई कि अब क्या उत्तर दूँगी। यथा 'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञानु राम पर आना॥ जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा। १. ५४।', 'सतीं समुझि रघुबीर प्रभाऊ॥ भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ। १. ५६. १।' (ग) जब शिवजीकी चेष्टा रिसयुक्त हुई तब समझ गईं कि यही रामजी ब्रह्म हैं, इनसे अतिरिक्त और कोई ब्रह्म नहीं है। यही अब कहती हैं। (ग) 'न तुम्हहिं सुनाई' कहकर अपना कपट प्रकट करती हैं। बा को छिपाकर दूसरी बात कहना कपट है। वह कपट यह था कि 'कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहिं नाईं॥ जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई। १. ५६. २–३।' ☞ पूर्व शिवजीसे कपट किया था, इसीसे उनके हृदयमें ज्ञान उत्पन्न न हुआ; यथा 'होइ न बिमल बिबेक उर गुर सन कियें दुराव। १। ४५।' अब दुराव छोड़कर कपट त्यागकर

शिवजीसे सब हाल स्पष्ट कह रही हैं, इसलिये अब श्रीराम स्वरूपका बोध हो जायगा। (घ) [वनमें प्रभुता देखनेका प्रसंग—'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥ कहेउ बहोरि कहा वृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू। १. ५३. ७—८॥' तथा 'जाना राम सती दुखु पावा। निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा॥ सतीं दीख कौतुकु मग जाता। १.५४ ३।' से 'बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी। ५५ ७।' तक है। अत्यंत भयसे व्याकुल होनेका प्रसंग—'सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोचु। ५३।' से 'उर उपजा अति दारुन दाहा' तक। पुनः, 'सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भईं सभीता।' इत्यादि। १.५५.५—८। तथा—'सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ। ५६ १।']

२ 'तदपि मलिन मन बोधु न आवा।'' इति। (क) बोध न होनेका हेतु कहती हैं कि मन मलिन था इसीसे ज्ञान न हुआ। मनमें संशय, भ्रम आदि करनेसे ज्ञानादि गुण नष्ट हो जाते हैं, मन मलिन हो जाता है। यथा 'अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं। १। ११६। ६।' सतीजीको बहुत संशय हुआ था। यथा 'अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा। १। ५१।' इसी तरह गरुडके हृदयमें बहुत भ्रम था इसीसे उनको प्रबोध न होता था। यथा 'नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा। ७। ५८।' [गुरुकी अवज्ञा करनेसे ईश्वरका साक्षात्कार होनेपर भी बोध नहीं होता। (रा० प्र०)]। (ख) 'सो फलु भली भाँति ' इति। अर्थात् ईश्वरमें नरबुद्धि लाई, आपका वचन झूठ माना, इसका फल भली प्रकार मिला। यथा 'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति बचनु मृषा करि जाना॥ सो फलु मोहि बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा। १। ५६।' [भलीभाँति फल यह कि पतिने सतीतनमें पत्नीभावका त्याग किया, यह पति-परित्यागका भारी दुःख, उसीके कारण आगे तन त्याग, पुनर्जन्म, बालपनेहीसे उग्र तप, इत्यादि जो हुआ वह सब इसीका परिणाम था। यथा 'प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी। निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवा इव उर अधिकाई। १। ५८।'] (ग) ☞ भ्रम अन्तःकरणमें होता है। अन्तःकरण चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इसीसे यहाँ ये चारों कहे गए। यथा 'बैठीं सिव समीप हरषाई। पूरुब जन्म कथा चित आई।', 'देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि।', 'अजहूँ कछु संसउ मनु मोरें।' 'मेरी' बुद्धि भ्रमित हो रही है, 'मेरे' मनमें संशय है। 'मोरि' 'मोरें' यह अहंकार है। मन और बुद्धिके साथ अहंकार मिला हुआ है। (घ) ☞ यद्यपि प्रभुता देखी तथापि बोध न हुआ। कारण कि ब्रह्ममें मनुष्यबुद्धि करनेसे मन मलिन हो गया था, इससे तथा शिवजीसे दुराव करनेसे एवं मायाकी प्रबलतासे बोध न हुआ। [यथा—'सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ॥ निज माया बलु हृदय बखानी। १ ५३।', 'बहुरि राम मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूँठ कहावा। ५६।१।' इसी तरह नारदको मायावश बोध न हुआ था; यथा 'सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। माया बस न रहा मन बोधा। १ १३६।' मोहसे मन मैला हो जाता है, यथा 'मोह जनित मन लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।'']

वैजनाथजी—'सो फलु भली भाँति हम पावा'—भाव कि आप ऐसे आचार्यका उपदेशामृत उसपरभी प्रभुका दर्शनरूप अमृत दोनोंको पानेपरभी दुःख हुआ क्योंकि मुझसे उचित कर्त्तव्य न बना। नहीं तो प्रभुका प्रभाव देखकर चाहिए था कि त्राहि-त्राहि करती हुई स्तुति करती तो वे शरणपाल मेरा अपराध क्षमा कर देते और आपसे सच्ची बात कह देती तो आपभी दयालु हो क्षमा कर देते; परन्तु मन मलिन था, इससे एकभी कर्त्तव्य न बना।

वि० त्रि०—'तदपि मलिन'' इति। पहिले आचरण और विक्षेप कह चुकीं, अब मनोमल कहती हैं, अर्थात् अपनेमें मायाकी तीनों शक्तियों आवरण, विक्षेप और मलको दिखलाया। अज्ञानका फल ही दुःख है सो भली भाँति मैं पा चुकी। फिर भी दण्डसे अज्ञान पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ।

प० प० प्र०—कारण कार्यक्रमानुसार चरणोंका क्रम यह चाहिए 'मैं वन दीख राम प्रभुताई। तदपि मलिन मन बोध न आवा। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई।…'। यहाँ यह क्रम न रखकर जनाया कि पूर्वजन्मकी उस घटनाकी स्मृतिसे पार्वतीजी इतनी डर गईं कि भयकी बातही पहिले कह डाली। प्रभुताके देखनेका परिणाम प्रतीतिसे प्रीति होना कहा है, पर यहाँ कारणके अस्तित्वमें भी कार्य नहीं हुआ, यह विशेषोक्ति अलंकार है। पार्वतीजीकी भावनाको प्रदर्शित करनेके लिये यहाँ कारण-कार्य संबंध भंग किया गया।

अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें॥ ५॥

प्रभु तब मोहि बहु भाँति प्रबोधा। नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा॥ ६॥

अर्थ—मेरे मनमें अबभी कुछ संशय है। (अब मुझपर) कृपा कीजिये, मैं हाथ जोड़कर विनती करती हूँ। ५। हे प्रभो! उस समय आपने मुझे बहुत तरहसे समझाया था (फिरभी मेरा संदेह न मिटा), हे नाथ! यह सोचकर (कि इसने हमारी बात न मानी थी) क्रोध न कीजिए। ६।

नोट—१ 'अजहूँ कछु संसउ' इति। पूरा संशय 'उर उपजा संदेहु बिसेषी। ५०.५।' से 'अस संसय मन भएउ अपारा। ५१. ४।' तक में दिखाया गया। इसमेंसे कुछकी निवृत्ति तो श्रीरामपरीक्षा समय उनका प्रभाव देखनेपर हो गई थी। १. ५३, १. ५४. २-३, ५५. ७-८ देखिए। अर्थात् यह निश्चय हो गया था कि [illegible] …य हैं, इसमें अब संदेह नहीं। परीक्षा लेनेपर अब वे उससे [illegible] एक अगुण जो अवतार नहीं लेते, दूसरे सगुण जो अवतार [illegible] अवधनृपतिसुत सोई।…' इत्यादिसे प्रकट किया। परन्तु 'की अज अगुन अलख गति कोई।', 'जौं अनीह व्यापक बिभु कोऊ' यह सुनतेही शिवजीकी चेष्टा बदली देख आपको विश्वास हो गया कि ये ब्रह्मही हैं, ब्रह्म दो नहीं हैं, और अवतारभी ब्रह्मका होता है। अब मुख्य संशय केवल यह रह गया कि किस हेतु और किस प्रकार निर्गुण ब्रह्म सगुण होता है। शेष प्रश्न इन्हींकी शाखाएँ हैं।

टिप्पणी—१ 'अजहूँ कछु संसउ…' इति। (क) अर्थात् परिपूर्ण संशय अब नहीं है, पूर्व बहुत था,—'अस संसय मन भएउ अपारा। ५१. ४।' (ख) 'करहु कृपा' अर्थात् संशय दूर कीजिए। संशयसे भारी क्लेश मिला, उसका लेश अभी बना हुआ है, इसीसे संशय दूर करनेके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हैं और उसके हरण करनेके लिये ही 'कृपा' करनेको कहती हैं जैसा आगे 'तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। १२०. २।' से स्पष्ट है।

२ 'प्रभु तब मोहि बहु भाँति प्रबोधा।…' इति। (क) यदि शिवजी कहें कि हमने तो संदेह दूर करनेके लियेही बहुत समझाया, इसीसे 'प्रबोध' पद दिया। प्रबोध=प्रकर्ष करके समझाया। (ख) ☞ यहाँ उपदेश न माननेके अपराधके लिये क्षमाप्रार्थी हैं। इसके पूर्व जो 'अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू' कहकर क्षमा माँगी थी वह प्रश्नकी अज्ञानताके लिये माँगी थी। इसीसे दो बार क्रोधका क्षमा कराना लिखा गया। (ग) ☞ पार्वतीजी अपने मनसे शिवजीका रुष्ट होना समझे हुई हैं, वस्तुतः शिवजीको क्रोध नहीं है। देखिए, जब सतीजीने उपदेश न माना था तब वे हरिकी मायाका बल समझकर हँस दिये थे, सतीपर क्रोध नहीं किया था। यथा 'लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु। बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानि जिय। ५१।' [(घ)—'बहु भाँति प्रबोधा'-प्रसंग "सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ॥ जासु कथा कुंभज रिषि गाई।' से 'लाग न उर उपदेसु…। ५१' तक है।]

तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं॥ ७॥

कहहु पुनीत राम गुन गाथा। भुजगराज भूषन सुरनाथा॥ ८॥

शब्दार्थ—बिमोह=विशेष मोह, भारी मोह। रुचि=लालसा। पुनीत=पवित्र एवं पावन करनेवाली।

अर्थ—तबका सा विशेष मोह अब नहीं है। (अब तो) मनमें श्रीरामकथापर रुचि है। अर्थात् श्रीरामकथा सुननेकी चाह मनमें है। ७। हे सर्पराजभूषण (शेषजीको भूषणरूपसे धारण करनेवाले)! हे सुरस्वामी! श्रीरामजीके पावन गुणोंकी कथा कहिए। ८।

टिप्पणी—१ 'तब कर अस बिमोह अब नाहीं०' इति। (क) भाव कि उस समय मायाकी प्रबलतासे मेरा मन मलीन हो गया था, इसीसे तब विशेष मोह था। यथा 'माया बस न रहा मन बोधा। १. १३६।' अब सामान्य मोह रह गया है। (ख) 'रामकथा पर रुचि मन माहीं' इति। इसीसे बारबार कथा कहनेको कह रही हैं—(यह रुचिका स्पष्ट प्रत्यक्ष लक्षण है। श्रीशिवजीनेभी कहा है—'तब मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई। ७। १२८। २।')—यथा 'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना। १०८ २।', 'कहहु पुनीत रामगुन गाथा।' (यहाँ) और आगे भी 'अति आरति पूछौं सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया। ११०। ३।'-इत्यादि सबोंमें 'कहहु' क्रिया देकर 'रुचि' का स्वरूप दिखाया है। (ग) ☞ प्रथम कहा कि वनमें श्रीरामजीकी प्रभुता देखनेपरभी कुछ संदेह रह गया, यथा 'मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहिं सुनाई। तदपि मलिन मन बोधु न आवा।' और अब कहती हैं कि आपके समझानेपरभी कुछ मोह रह गया है। (अथवा, यह कहकर कि आपके समझाने परभी मैं न समझी थी, यह समझकर क्रोध न कीजिए, अब क्रोध न करनेका कारण बताती हैं कि अब कुछ ही मोह रह गया है। जब तक 'बिमोह' रहा तबतक रामकथा सुननेकी रुचि न थी, अब वैसा मोह नहीं है यह इससे जानती हूँ कि अब उसमें रुचि है)।

२ 'कहहु पुनीत रामगुन-गाथा।' इति। (क) श्रीरामगुणगाथा पुनीत है, यह स्वयं शिवजी आगे कहते हैं। यथा 'पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा। ११२. ७।' पुनः यथा 'पावन गंग तरंग मालसे। १. ३२. १४।', 'कहहु राम गुन गाथा' का भाव कि उसके सुननेसे रहा सहा मोहभी नष्ट हो जायगा। यथा 'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। ७।६१।' (ख) 'भुजगराज भूषन' अर्थात् शेष ऐसे वक्ता आपके भूषण हैं, अतः आप सब कुछ कह सकते हैं। [पुनः, शेषजी भक्तोंमें श्रेष्ठ हैं, आचार्य हैं, सो आपके भूषण हैं, तब और कौन आपसे बढ़कर हो सकता है? आपसे कुछ छिपा नहीं रह सकता। (रा० प्र०, कर०)। पद्मपुराण पातालखंडमें श्रीवात्स्यायन ऋषिप्रवरने इन्हींसे श्रीरामचन्द्रजीकी कथा विस्तारसे सुनी है। इसके पूर्व सूर्यवंशके राजाओं और श्रीरामाश्वमेधकी संक्षिप्त कथाभी शेषजीहीने उन्हें सुनाई थी। शेषजीके ऊपर भगवान् शयन किये हुए हैं, उनसे अधिक भगवान्के चरित्र और कौन जानेगा? हजार मुखोंसे वे निरंतर प्रभुका गुण गान कियाही करते हैं। आरतीमें ग्रन्थकारने कहा ही है—'सुक सनकादि सेष अरु सारद, बरनि पवनसुत कीरति नीकी।' मानसमें भी कहा है—'सहस बदन बरनइ परदोषा। १। ४। ८।' में देखिये।] (ग) 'सुरनाथा' का भाव कि देवता लोग सब वस्तुओंके ज्ञाता होते हैं और आप तो उनकेभी स्वामी हैं, अतः सब बात जानते ही हैं। [पुनः देवता सत्वगुणी, 'ज्ञान' अर्थात् विशेष बुद्धिमान और जानकार होते हैं। आप उनकेभी स्वामी हैं, अतएव उनसेभी श्रेष्ठ हैं। पुनः आप देवस्वामी हैं अतएव आपका स्वरूप दैवी मायासे परे है, तब भला आपसे बढ़कर रामकथाका वक्ता और मोहकी निवृत्ति करनेवाला कौन मिलेगा।? (रा० प्र०, रामदासजी)। पुनः भाव कि आप अपने आश्रितों पर कृपा करते हैं, सुरवृंदपर कृपा करके विष पानकर लिया था। मुझपर कृपा कीजिए। (वि० त्रि०)]

दोहा—बंदौं पद धरि धरनि सिरु बिनय करौं कर जोरि।
बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि॥ १०६॥

अर्थ—मैं पृथ्वीपर सिर धरकर आपके चरणोंको प्रणाम करती हूँ और हाथ जोड़कर विनती करती हूँ। श्रुतियोंका सिद्धांत निचोड़कर श्रीरघुनाथजीका निर्मल यश वर्णन कीजिए। १०६।

टिप्पणी—१ (क) 'वंदौं पद धरि धरनि सिरु' अर्थात् चरणोंपर वा पृथ्वीपर सिर रखकर प्रणाम करना वन्दनाकी अवधि (सीमा पराकाष्ठा) है और 'बिनय करौं कर जोरि' अर्थात् बद्धांजलि होकर, हाथ जोड़कर विनय करना यह विनय की सीमा है। (ख) 'श्रुति सिद्धांत निचोरि' इस कथनसे सिद्ध हुआ कि श्रीरघुबरयश श्रुतियोंका सिद्धांत है। तात्पर्य कि सब वेद श्रीरामजीका यश वर्णन करते हैं। यथा "वंदौं चारिउ वेद भव-बारिधि बोहित सरिस। जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जसु। १. १४।' वेद साक्षात् मूर्तिमान होकर रामयश गान करते हैं। यथा 'बंदी बेप वेद तब आए जहँ श्रीराम।'"लखेउ न काहू मरम कछु लगे करन गुन गान। ७. १२।'"जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।' [वेद रघुबर विमल यश वर्णन तो करते हैं पर वेदका अन्त नहीं, यथा 'अनन्ता वै वेदाः' (भरद्वाज); अतः कहती हैं कि वेदोंमेंसे उसके सिद्धान्तको निचोड़कर कहिये, अर्थात् उसका सार भजनोपयोगी अंश रघुबर यश कहिये। (वि० त्रि०)]

वेदान्तभूषणजी—'श्रुति सिद्धांत निचोरि' इति। महर्षि हारीतजीने श्रुतिसिद्धान्तका वर्णन इस तरह किया है—'प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तस्य प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलंचैव तथा प्राप्तिविरोधिनः॥ वदन्ति सकला वेदा सेतिहास पुराणकाः। मुनयश्च महात्मानो वेदवेदाङ्गवेदिनः॥" अर्थात् जीवके परम प्राप्य ब्रह्म श्रीरामजीका स्वरूप, ब्रह्मके दासभूत जीवका स्वरूप, भगवत्प्राप्तिसे लाभ और जीवको भगवत्से वियोग करानेवाले विरोधियोंके स्वरूप, इन्हीं पाँच तत्त्वोंको इतिहासपुराणों सहित समस्त वेद तथा वेदवेदाङ्गके जाननेवाले महात्मा मुनि लोग वर्णन करते हैं। श्रुति सिद्धान्त निचोड़कर कहनेके लिये आग्रह करनेपर श्रीशंकरजीने श्रीरामचरितके साथ साथही इन पाँच स्वरूपोंका विवरणभी स्पष्ट रूपमे कर दिया है। एक सिलसिलेसे इन्हींका वर्णन इसलिये नहीं किया गया कि पार्वतीजीने केवल रघुबरचरितकोही श्रुतिसिद्धान्त समझकर उसनेलिये प्रश्न किया था; परन्तु परम वेदज्ञ श्रीशंकरजीने प्रसङ्गानुकूल इन पाँचों सिद्धान्तोंका वर्णन अच्छी तरह किया है। 'जेहि इमि गावहि वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान। ११८।', 'कहि नित नेति निरूपहिं वेदा।" में 'प्राप्यस्वरूप'; 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी। ७.११७।', 'जीव अनेक एक श्रीकंता', इत्यादिमें प्राप्तका स्वरूप; "जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी। ७। १२६।', 'नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना॥ सोइ कवि कोविद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा। ७. १२७।', 'श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। भजिय राम सब काज बिसारी। ७. १२३।' में उपाय; 'सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंत काल रघुपतिपुर जाहीं। ७. १५।' मे फल (भगवत्प्राप्तिमे लाभ) और 'एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा। ३. १५।' इत्यादिमे विरोधीका स्वरूप दिखाया है।

जदपि जोषिता नहिं* अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥ १॥
गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहं पावहिं॥ २॥
अति आरति पूछौं सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया। ३॥

शब्दार्थ—जोषिता (सं० योषिता)=स्त्री। अधिकारी=उपयुक्त पात्र, हकदार।

अर्थ—यद्यपि स्त्री अधिकारिणी नहीं है (तथापि मैं तो) मन कर्म-वचनसे आपकी दासी हूँ। १। साधु लोग जहाँ आर्त अधिकारी पाते हैं वहाँ वे गूढ तत्वको भी नहीं छिपाते (कह देते हैं)। २। हे देवताओंके स्वामी! मैं अत्यन्त आर्त्तभावसे पूछ रही हूँ। मुझपर दया करके अब रघुनाथजीकी कथा कहिए। ३।

* अन–१७२१, १७६२, को० रा०, छ०। नहि—१६६१, १७०४।

टिप्पणी—१ 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी' इति । (क) दोहेमें श्रुतिसिद्धान्त कहनेकी प्रार्थना है । स्त्रीको वेद सुननेका अधिकार नहीं है । यथा "स्त्री शूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा । भा० १।४।२५ ।" [(ख) 'जोषिता नहिं अधिकारी' का भाव आगे दोहा १२० के 'जदपि सहज जड़ नारि अयानी । ४ ।' में श्रीपार्वतीजीने स्वयं स्पष्ट कर दिया है । अनधिकारीकाही अर्थ 'सहज जड़ और अयानी' स्पष्ट किया गया है । दोनो जगह 'जदपि' शब्दभी है । भाव यह है कि उनमें इतनी गम्भीर सूक्ष्मबुद्धि नहीं होती कि वे गंभीर गहन विषय समझ सकें ।]

नोट—१ वेदान्त भूषणजीका मत है कि "यहाँ आया हुआ 'जोषिता' शब्द संस्कृतभाषाके रूढ्यात्मक 'योषित्' शब्दका अपभ्रंश न होकर 'जुष प्रीति सेवनयोः' इस 'जुष' धात्वात्मक शब्दसे बनाया हुआ है जिसका भाव यह हुआ कि जो स्त्री विषयानुरागिणी होकर भगवत्-भागवत-व्यतिरिक्त अन्यकी प्रीतिपूर्वक सेवा करे वही श्रुतिसिद्धान्तकी अधिकारिणी नहीं है । शास्त्रकारोंने शिवजीकीभी आवेशावतारोंमें गणना की है और श्रीमद्भागवत तथा मानसमें उनको परम भागवत कहा है । भगवद्भक्ता स्त्री श्रुतिसिद्धान्तित परमज्ञानकी अधिकारिणी है, इस बातको 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्' (गीता ९. ३२) से भगवान्ने स्वयंही स्पष्ट कर दिया है । वाचक्नवी गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, अदिति, यमी और आत्रेयी आदि अनेक विदुषी स्त्रियोंके नाम उपनिषदों और संहिताभागमें आए हैं जिन्होंने अमुक अमुक सूक्तोंके अर्थ समझकर महर्षियोंको पढ़ाये हैं ।"

इस विषयमें व्याकरण साहित्याचार्य पं० रूपनारायण मिश्रजीके विचार इस प्रकार हैं । 'जोषिता' 'युष सेवायाम्' इस सौत्रधातुसे, 'हृ सृ रुहि युषिभ्य इतिः । उणादि सूत्र १. १०२ ।' इस सूत्रसे इति प्रत्यय करनेसे योषित् शब्द बनता है । भागुरिजीके मतसे हलन्त शब्दोंसे 'आप्' प्रत्यय होता है । यथा "आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ।" अर्थात् जैसे वाच्का वाचा, निश्का निशा और दिश्का दिशा, वैसेही योषित्का योषिता होता है । अथवा, इसी धातुसे स्वार्थे णिच् प्रत्यय करके कर्ममें 'क्त' प्रत्यय होनेसे भी योषिता शब्द हो सकता है । यद्यपि अमरकोशमें 'योषित्' ऐसा तकारांत ही है तथापि अन्य कोशोंमें 'योषिता' भी मिलता है । यथा 'स्त्रीर्वधूर्योषिता रामा' इति त्रिकांडशेषः ।' हिन्दीमें 'य' का 'ज' प्रायः पढ़ा जाता है और गोस्वामीजीने 'य' के स्थानपर 'ज' का प्रयोगभी किया है, जैसे कि जथा, जोग, जग्य, जमन इत्यादि । वैसेही यहाँभी 'योषिता' को 'जोषिता' लिखा । संस्कृतमें यकारादि 'योषिता' शब्द ही सर्वत्र मिलता है, चवर्गादि 'जोषिता' ऐसा पाठ कहीं देखनेमें नहीं आता । यदि मिले तो 'जुषी प्रीति सेवनयोः' इस धातुसे वह बन सकता है; परन्तु उसका अर्थ वही होगा जो यकारादि योषिता शब्दका है; क्योंकि 'जुष्' धातुका प्रयोग कुत्सित सेवामें नहीं मिलता जैसे कि "जोषयेत्सर्व कर्माणि (गीता ३।२६)" इत्यादि वचनोंसे सिद्ध है ।

वे० भू० जीका अर्थ माननेमें औरभी आपत्तियाँ पड़ती हैं । 'जदपि' शब्दका तात्पर्य इस अर्थमें सिद्ध नहीं होता । क्योंकि श्रीपार्वतीजी अपनी गणना 'जोषिता' में कर रही हैं । श्रीमद्भागवत, गीता आदि और अन्यत्र मानसमें ही जो स्त्रियोंके संबंधमें इस ढंगके वाक्य आए हैं वहाँपर भी स्त्रीवाचक शब्दोंके अर्थ इसी प्रकार भिन्न-भिन्न करने होंगे । अतः इस प्रसंगकी व्यवस्था इस प्रकार करनी ठीक होगी कि जैसे 'स्त्रीशूद्रद्विजबंधूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा । भा० १.४.२५ ।' तथा भा० ११.१७.३३; ११ ८, ७-१४ और गीता ९।३२ में स्त्रियों और शूद्रोंको पाप योनि कहा गया है और इसीसे उनको श्रुतिका अधिकारी नहीं कहा गया फिर भी भगवत् सम्मुख होनेसे उनका अधिकारी होनाभी कहा है, वैसेही यहाँ सर्वसाधारण स्त्रीकी प्रकृति प्रवृत्ति प्रधान अर्थात् रजोगुणी और तमोगुणी होनेसे अनधिकारी कहा है । अर्थात् स्त्रियोंमें प्रायः अनधिकारी ही होती हैं । ऋषिपत्नियाँ और ब्रह्मवादिनी आदि तो अपवादमात्र हैं । सिद्धान्त समूहका होता है ।

प्र० स्वामी भी मेरे मतसे सहमत हैं । वे लिखते हैं कि पार्वतीजीकी भावना यह है कि स्त्रियोंको वेदादिमंत्रश्रवणका अधिकार नहीं है, यह सत्य है, तथापि मैं 'दासी मन क्रम बचन तुम्हारी' अर्थात् मैं सती,

श्रीकरुणासिंधुजी कहते हैं कि "संसार और उसका सम्बन्ध जिसे दु:खरूप लग रहा है, जो उससे संतप्त हो रहा है और सत्संग तथा तत्व पाकरही सुखी होगा, वही 'आर्त अधिकारी' है। आरत (आर्त)-पीड़ित, दु:खित। कातर] (च) 'जहँ पावहिं' इति। भाव कि आर्त अधिकारी सर्वत्र नहीं मिलते ['जहँ' से सूचित करती हैं कि आर्त अधिकारी कहीं भी हो, किसीभी वर्ण या आश्रमका हो, स्त्री या पुरुष कोईभी हो, गूढ़ तत्व उसे उसी अवस्थामें बताया जा सकता है]

४ 'अति आरति पूछौं सुरराया।' इति। (क) 'अति आरति पूछौं' का भाव कि आर्त अधिकारी होते हैं और मैं तो अति आर्त्त हूँ। ☞यहाँ तक दोनों प्रकारसे अपनेको अधिकारी जनाया—एक तो दासी-भावसे, दूसरे 'अति आर्त्त' से। ☞ अति आर्त्तका लक्षण यह है कि आर्त अपना दु:ख बारबार निवेदन करता है। श्रीपार्वतीजी यहाँ बारबार कथा कहनेकी प्रार्थना कर रही हैं, वे अपनेको अति आर्त्त दिखा रही हैं। चरणोंपर पड़ती हैं, हाथ जोड़ती हैं, बारबार बिनती करती हैं जैसा पूर्व कह आए हैं, यथा 'बंदौं पद धरि धरनि सिर बिनय करउँ कर जोरि' इत्यादि सब 'अति आरति' का स्वरूप है। (ख) 'सुरराया' का भाव कि देवता 'आर्तिहर' होते हैं और आप तो देवताओंके राजा हैं, देव देव महादेव हैं। पुन: भाव कि सामान्य राजा आर्तको देखकर उसके दु:खको दूर करते हैं और आप तो सुरराया हैं। पुन: भाव कि आप सुरोंके दु:खको दुष्टोंका दलन करके दूर करते हैं, वैसे ही मेरे मोहभ्रमरूपी दुष्टोंका नाश करके मेरे अत्यंत दु:खको दूर कीजिए, ये मुझे अत्यन्त दु:ख दे रहे हैं। (ग) 'रघुपति कथा कहहु करि दाया' इति। (पूर्व 'गूढ़ौ तत्व' और यहाँ 'रघुपतिकथा' शब्द देकर जनाया कि 'रघुपतिकथा 'गूढ़ तत्व' है)। 'करि दाया' का भाव कि आपका कृपा पात्र कथाश्रवणका अधिकारी है। यथा 'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।'—

नोट—२ श्रीशिवजी अनधिकारीसे श्रीरामतत्व नहीं कहते। यथा 'रिषि पूछी हरिभगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई। १ ४८।', 'तब मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई॥ यह न कहिअ सठही हठसीलहि। । ७ १२८।' इत्यादि। अतएव श्रीपार्वतीजी आर्त्त होकर दयाकी अभिलाषिणी हैं। अन्तमें 'कहहु करि दाया' कहकर जनाया कि मैं तो बारबार एकमात्र आपकी कृपाकाही अवलंब लिये हुए हूँ। यह भाव दृढ़ करनेके लिये प्रश्नोंके आदि अन्तमें दयाका संपुट दिया है। यहाँ 'कहहु करि दाया' और अंतमें 'सोउ दयाल राखहु जनि गोई।' कहा है।

नोट—३ इन चौपाइयोंसे मिलते-जुलते श्लोक अध्यात्मरामायण बाल कांड सर्ग १ में ये हैं "पृच्छामि तत्त्वं पुरुषोत्तमस्य सनातनं त्वं च सनातनोऽसि॥ ७॥ गोप्यं यदत्यन्तमनन्यवाच्यं वदन्ति भक्तेषु महानुभावाः। तदप्यहोऽहं तव देव भक्ता प्रियोऽसि मे त्वं वद यत्तु पृष्टम्। ८। जानाम्यहं योषिदपि त्वदुक्तं यथा तथा ब्रूहि तरन्ति येन। ९।" अर्थात् मैं आपसे पुरुषोत्तम भगवान्‌का सनातन तत्व पूछना चाहती हूँ, क्योंकि आप भी सनातन हैं। जो अत्यंत गुप्त रखने योग्य विषय होता है तथा जो अन्य किसीसे कहने योग्य नहीं होता उसे भी महानुभाव लोग अपने भक्तोंसे कह देते हैं। हे देव! मैं भी आपकी भक्ता हूँ, आप मुझे अत्यंत प्रिय हैं, अतएव जो मैंने पूछा है उसे कहिए। इस तरह समझाकर कहिए कि स्त्री होनेपर भी मैं आपके वचनोंको सहजही समझ सकूँ। (७-९)। मानसके 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी', 'दासी मन क्रम बचन तुम्हारी', 'गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं' इन उद्धरणोंकी जगह क्रमशः अध्यात्ममें 'जानाम्यहं योषिदपि त्वदुक्तं यथा तथा ब्रूहि", 'तदप्यहोऽहं तव देव भक्ता प्रियोसि मे त्वं' और 'गोप्यं यदत्यन्तमनन्यवाच्यं वदन्ति भक्तेषु महानुभावाः' ये वाक्य हैं।—अब प्रेमी पाठक मानसके इस अधिकारित्व प्रसंगको अध्यात्म रा० के उद्धरणसे स्वयं मिलाकर देखें तो उनको स्वयं देख पड़ेगा कि यहाँका वर्णन वहाँसे कहीं उत्तम और बढ़कर हुआ है।

यहाँ श्रीरामचरितरूपी गूढ़ तत्वके तीन अधिकारी कहे गए। एक वह जो मन कर्म वचनसे तत्व वेत्ताका दास हो। दूसरे जो आर्त्त हो। और, तीसरे वह जिसपर संतकी दया होजाय। श्रीपार्वतीजीके इन

वचनोंका अभिप्राय स्पष्ट है। वे कहती हैं कि मैं स्त्री होनेके कारण अधिकारिणी नहीं हूँ, क्योंकि स्त्रियाँ प्रायः सहज अज्ञ होती हैं, परन्तु जो मन कर्म वचनसे श्रीरामतत्त्ववेत्ताका दास हो वह अधिकारी माना जाता है चाहे वह स्त्रीही क्यों न हो। (यही आशय अध्यात्म रा० का है)। यह लक्षण मुझमें अवश्य है। मैं मनसा-वाचा कर्मणा पातिव्रत्यका अनुसरण कर रही हूँ।☞मानसकी पार्वतीजी फिर इस दावेको भी छोड़ देती हैं और दूसरे अधिकारत्वकी शरण लेती हुई कहती हैं। यदि दासीसे भी न कहा जा सके तो 'आर्त्त जिज्ञासु' भी तो अधिकारी होता है। मैं अति आर्त्त हूँ। यह भी न सही, मैं सब प्रकार अयोग्य हूँ। अनधिकारिणी हूँ, तोभी आप मुझे अपनी कृपासे अधिकारिणी बना लीजिए।☞यहाँ श्रीपार्वतीजीने अधिकारिणी होनेका अभिमान जब सर्वथा छोड़ दिया तब उनको संतोष हुआ कि शिवजी अब अवश्य कृपा करेंगे, इसीसे आगे प्रश्न करना प्रारंभ कर दिया। अध्यात्म रा० में अपनेको अधिकारिणी जनाकर, उसी दावेपर पूछनेका साहस किया गया है और यहाँ मानसमें वे सब अधिकार होते हुए भी अभिमान छोड़कर अपनेको अनधिकारिणी जनाकर केवल शिवकृपाकाही आश्रय लिया गया है।—यह एक भारी विशेषता है।

अथ श्रीशिवगीता

वि० त्रि०—"श्रीरामचरितमानस भरद्वाजजीके इस प्रश्नपर खड़ा है कि 'राम कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही।' ऐसाही प्रश्न भगवती हिमगिरि नन्दिनीने शिवजीसे किया था, और शिवजीने उसका समाधान किया था। उसी प्रसङ्गको याज्ञवल्क्यजीने उक्त प्रश्नके उत्तरमें कह डाला। यह रामचरितमानस है। अपने संशयके उन्मूलनके लिये गिरिजाने आठ प्रश्न किये, तत्पश्चात् बारह प्रश्न श्रीरामावतारके चरित्रवर्णन तथा भक्तिज्ञानादि विषयक किये, एवं गिरिजाके बीसो प्रश्नोंका उत्तर ही श्रीरामचरितमानस है। अन्तमें भगवतीने यह भी विनय किया कि जो कुछ मुझसे पूछनेमें रह गया हो, उसे भी छिपा न रखिये; अर्थात् जानने योग्य जितनी बातें हैं वे सब गिरिजाजीने पूँछीं और शिवजीने उत्तर दिया। परन्तु चार प्रश्नोंके उत्तरमें ही गिरिजाका सब संशय जाता रहा और वे कृतकृत्य होगई। अतः मैं उतने ही अंशको शिवगीता कहता हूँ। अवतारवादमें जो कुछ कहना है, उतनेमें सब कुछ कहा गया।"

श्रीगोस्वामीजीने कहा है कि 'नदी नाव पटु प्रश्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका।', अतः यह जानना परमावश्यक है कि किस प्रश्नका कौनसा उत्तर है। गिरिजा बीस प्रश्न बराबर करती गईं और शिवजीने भी सबका उत्तर क्रमसे इकट्ठा ही दिया। उनमेंसे पहिले आठके पृथक्करणमें बड़ी कठिनता पड़ती है। यद्यपि श्रीग्रन्थकारने प्रश्नोंको पृथक् करनेके लिये 'हरहु मोर अज्ञाना', 'कहहु' इत्यादि प्रार्थना सूचक लोट् लकारका आठ बार बराबर प्रयोग किया, तथापि उत्तरमें 'सुनहु' 'तजु' आदि क्रियाओंका भी आठ बार प्रयोग किया है, फिर भी हम जैसे अल्पज्ञोंको प्रश्न उत्तरके मिलानमें बड़ी कठिनता पड़ती है। अतः उनका मिलान नीचे दिया जाता है।

यदि पाठक मिलानके अनुसार प्रश्न और उत्तरको मिला-मिलाकर पढ़ेंगे तो उनको ग्रन्थके समझने में बड़ा सुभीता होगा और ग्रन्थकारकी पंडिताईपर चकित होना पड़ेगा, कि जै बार 'कहहु' कहकर प्रश्न है, ठीक उतनीही बार 'सुनहु' कहकर उत्तर है, शिवजीने प्रत्येक 'कहहु' के उत्तरमें 'सुनहु' कहा है।

प्रश्न		उत्तर
जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी। तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना। १०८। १-२।	१	'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी' से 'गिरिजा सुनहु रामकै लीला। सुर हित दनुज बिमोहन सीला' तक (११२।५ से दो० ११३ तक)
जासु भवन सुरतरु तर होई। सह कि दरिद्र जनित दुखु सोई॥ ससिभूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी। १०८।३-४।	२	'रामकथा सुंदर करतारी' से 'सादर सुनु गिरिराजकुमारी' तक। (११४।१-२)

'प्रभु जे मुनि परमारथवादी' से 'कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ। (१०८।५ से १०६।१ तक)
अज्ञ जानि रिसि उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सो करहू। १०६।२।'
'मैं बन दीख राम प्रभुताई। १०६।३।' से 'करहु कृपा बिनयौं कर जोरे। १०६।५।' तक
'प्रभु मोहि तव बहु भाँति प्रबोधा' से 'कहहु पुनीत रामगुन गाथा' तक। १०६ (६-८)।
बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ करजोरि।
बरनहु रघुबर बिसद जस श्रुतिसिद्धांत निचोरि।१०६।
'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी' से 'रघुपति कथा कहहु करि दाया।' तक। ११६ (१-३)।

३ 'रामनाम गुन चरित सुहाए। ११४।३।'से 'अस निज हृदय बिचारि तजु संसय। ११५।' तक
४ 'भजु रामपद।११५' से 'बोले कृपानिधान।' १२० तक
५ सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़।१२०
६ सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब।
सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर सुखद। १२०
७ हरिगुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित।
मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु। १२०
८ 'सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाए। बिपुल बिसद निगमागम गाए। १२१। १।'

श्रीसियावर रामचन्द्रजीकी जय।

* ☞ इसके बाद पृष्ठ ४६३ से पढ़िए।

श्रीरूपकलादेव्यैनमः

श्रीहनुमतेनमः

॥ श्रीसीताराम ॥

मानस-पीयूष

(श्रीरामचरितमानस का संसार में सबसे बड़ा तिलक)

प्रथम सोपान (बालकांड)

भाग २ (ख)

[उमा-शम्भु-संवाद, प्रश्नोत्तर, अवतारहेतु-प्रकरण दोहा ११०(४) से दोहा १८८(६) तक]

श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजी, पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी, एवं श्रीमानसी वंदनपाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरण दासजी (श्रीकरुणासिंधुजी), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीजी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), बाबा श्रीहरिदासजी, श्री पांडेजी, श्रीरामबख्शजी (मुं० रोशनलालकृत टीका), श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीबैजनाथजी संतउन्मनी श्रीगुरुसहायलालजी आदि पूर्व मानसाचार्यों टीकाकारोंके भाव; मानसराजहंस पं० विजयानंद त्रिपाठीजीकी अप्रकाशित एवं प्रकाशित टिप्पणियाँ, श्रीस्वामी प्रज्ञानानंद सरस्वतीजीकी अप्रकाशित टिप्पणियाँ, आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम० एस-सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्ड सबजज, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीनंगेपरमहंसजी (बाबा श्रीअवधबिहारी दासजी) और बाबा जयरामदास दीनजी आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी आदि आधुनिक मानस-विज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओं का सुन्दर संग्रह।

तृतीय संस्करण

संपादक एवं लेखक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

मानस-पीयूष कार्यालय, ऋणमोचनघाट, श्रीअयोध्याजी

तुलसी संवत् ३३५ वि० सं० २०१४]

कुछ ग्रन्थोंके नाम जो भाग २ में आये हैं

अगस्त्य रामायण
अगस्त्यसंहिता
अद्भुत रामायण
अध्यात्म रामायण
अनेकार्थकोश
अन्वितार्थ प्रकाशिका टीका
(श्रीमद्भागवतकी)
अभिप्राय दीपक
अभिज्ञान शाकुन्तल
अमरकोश
अमरविवेक टीका (महेश्वरकृत)
अमरव्याख्यासुधा
अलंकार-मंजूषा
अष्टाध्यायी (पाणिनि)
अष्टावक्र वेदान्त
आगमसार
आचार मयूख
आनन्द रामायण
आत्मरामायण
आह्निक सूत्रावली
उपनिषद्—
कठ, छान्दोग्य, तैत्तिरीय,
मुक्तिकोपनिषद्, श्रीरामतापनी,
श्रीरामरहस्य, बृहदारण्यक,
शाण्डिल्य, श्वेताश्वतर,
श्रीसीतोपनिषद् ।
उपनिषद्भाष्य (श्रीदर्शनानंदकृत)
उमानन्दनाथकृत तांत्रिक ग्रन्थ
(श्री)एकनाथमहाराजकी भागवत
टीका
एकाक्षरकोश
ऋग्वेद
कथासरितसागर
कवितावली
कामन्दकीय नीतिसार
(प्रतिष्ठेन्दुशेखर)
कामसूत्र (बाभ्रव्यऋषि)
कार्तिकमाहात्म्य
काशीखण्ड
किशोर रामायण
कुमारसम्भव
कुलार्णवतन्त्र
कृष्णगीतावली
कोशलखण्ड
गीता
गीता ज्ञानेश्वरी टीका
गीतावली
चर्पटपञ्जरी
चाँद (पत्रिका)
चाणक्यनीति
(श्री) जानकीभाष्य (श्रीराम-
प्रसादाचार्य)
तार्किकरत्ता
तुलसीपत्र (बालकराम विनायक)
त्रिकाण्डशेष कोश
(श्री) दुर्गाकल्पद्रुम शास्त्रार्थ
परिच्छेद
देवी भागवत
दोहावली
नवरस तरंग (श्रीशबरीशजी)
नक्षत्र चित्रपट श्रीरघुनाथशास्त्रीकृत
नारद पञ्चरात्र
नारदभक्तिसूत्र
(श्री) निम्बार्काचार्य भाष्य
पाण्डव गीता
पातंजल योग
पार्वतीमंगल
पुराण—
कालिका, गरुड़, पद्म, ब्रह्माण्ड,
भविष्योत्तर, श्रीमद्भागवत,
मत्स्य, महाभारत, मार्कण्डेय,
लिङ्ग, वायु-पुराण, वामन,
वाराह, विष्णु, शिव, स्कन्द,
हरिवंश
प्रबोधचन्द्रनाटक
प्रसन्नराघव नाटक
विजय दोहावली
विनयपत्रिका
बरवै रामायण
वैराग्यसंदीपनी
भक्तमाल (श्रीनाभाजी)
भक्तिरसबोधिनी टीका
(श्रीप्रियादासजी)
भक्तमालकी टीका (श्रीरूपकलाजी)
भक्ति रसायन
भर्तृहरिशतक
भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व
भावार्थ रामायण
भास्करबीजगणित
भुवनेश्वरसंहिता
मनु संहिता
मनुस्मृति
„ कल्लूकभट्टकृतटीका
मन्त्ररामायण (यजुर्वेद)
महारामायण
माधवनिदान
माधुरी (पत्रिका)
माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेदीय
मानसतत्त्व विवरण
मानसपत्रिका
मानसमणि
मानसर
मानसांक (गी० प्र०)
मेदिनीकोश
यजुर्वेद
योगतारावली
योगशास्त्र
योगसूत्र

रघुवंश
रसरत्नहार
राजशिक्षा सोपान
रामचन्द्रिका
(श्री) रामरहस्यत्रय
(श्री) रामस्तवराज
,, भावप्रकाशिका टीका श्रीरसरंगमणिकृत
रामहृदय
'रायलहारस्कोप' (वि. सूर्यनारायणकृत)
(श्री) रामाज्ञाप्रश्न
लट्टायनसंहिता
लोमश रामायण
लोलम्बराज
वसिष्ठसंहिता
वात्स्यायनसूत्र
विश्रामसागर
विष्णुधर्मोत्तर
वीरभद्रचम्पू
वेदान्तसार अभंग रामायण (मराठी)
वैदिक निघन्टु
शतपथ ब्राह्मण
शाङ्कर भाष्य (ब्रह्मसूत्रपर)
शिवसंहिता
शिवस्मृति
शुकदेवलालकी टीका
शुक्रनीति
शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन वाजसनेयी
,, ,, रुद्राष्टाध्यायी
श्रीभाष्य
संगीत दामोदर
सतसई (तुलसीकृत)
सत्यार्थप्रकाश (स्वामीदयानन्द)
सदाशिवसंहिता
सनत्कुमारसंहिता
सप्तशती
सरयूदासजीका रामचरितमानस का गुटका
सांख्यकारिकाभाष्य (गौडपादाचार्य)
सांख्यतत्त्व कौमुदी
सांख्यशास्त्र
सामवेद भाष्य (जयदेव वेदालंकार)
साहित्य दर्पण
सिद्धान्ततत्त्वदीपिका
सिद्धान्त शिरोमणि (श्रीभास्कराचार्य)
सुधा (पत्रिका)
सुन्दर विलास
सुन्दरी तन्त्र
सूर्य्यसिद्धान्त
सौन्दर्य लहरी
स्वप्नाध्यायी
हठयोग प्रदीपिका
हनुमानबाहुक
हस्तामलकस्तोत्र
हितोपदेश
हेमकोश

नोट—श्रीरामचरितमानसकी टीकाओंके नाम तथा संकेताक्षरोंके विवरण सब भाग १ में दिये जा चुके हैं, अतः यहाँ नहीं दिये जाते।

बालकांड भाग २ के संस्करण

संस्करण	साइज	पृष्ठ संख्या	सम्वत्	प्रेस
प्रथम	डेमाई अठपेजी	६६६-१०६०	तु० सं० ३०३-३०४	सीताराम प्रेस, श्रीअयोध्याजी
		१०६१-१४८६	सम्वत १६८३-१६८४	श्रीसीताराम प्रेस, बनारस
द्वितीय	२०×३०=८	१६६०	श्रावण शु० ११ संवत् २००६	आनन्द प्रेस, श्रीअयोध्याजी
तृतीय	,,	भाग २ (क)	पौष सम्वत् २०१४	श्रीसीताराम प्रेस, वाराणसी पृष्ठ १-४८६ तक
,,	,,	भाग २ (ख)	,,	श्रीशङ्कर मुद्रणालय, वाराणसी

श्रीपार्वतीजीके प्रश्न

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी । निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी ॥ ४ ॥
पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा । बालचरित पुनि कहहु उदारा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—उदार=बड़ा दानी, देनेमें किंचित् संकोच न करनेवाला।—'उदारो दातृ महतो' इत्यमर। ३।३।१६।', 'जनु उदार गृह जाचक भीरा। ३ ३६.८।', 'सुनहु उदार सहज रघुनायक। सुंदर अगम सुगम बर दायक। ३. ४२ १।', 'ऐसो को उदार जग माहीं। बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं। विनय १६२।' =सुन्दर, यथा 'उदारं सुंदर प्रोक्तमुत्कृष्ट पूजितं तथा' इति त्रिलोचन'। -सरल, यथा 'बालचरित अति सरल सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए। २०४।१।', 'दक्षिणे सरलोदारौ' इत्यमरे। ३।१।८।

अर्थ—प्रथम उस कारण को विचारकर कहिए जिससे निर्गुण ब्रह्म 'सगुण वपुधारी'* होता है। ४। हे प्रभो! श्रीरामजीका अवतार कहिए और तब फिर उदार बालचरित कहिए ॥५॥

नोट—१ श्रीपार्वतीजीकी मुख्य शंका और उनका सिद्धांत "प्रथम सो कारन धारी" में है। उनका सिद्धान्त है कि निर्गुण ब्रह्म सगुण होता ही नहीं—'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नृप जाहि न जानत वेद। ५०।' देखिये। दूसरे यह कि 'जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि। १०८।' अर्थात् जो देह धारण करता है वह निर्गुण ब्रह्म नहीं है। इस प्रकार उनके सिद्धान्तमें ब्रह्म दो हैं, एक निर्गुण दूसरा सगुण। और शिवजीका सिद्धान्त है कि जो निर्गुण है वही सगुण है, दोनों एक ही हैं। १०६.१ 'जौं अनीह व्यापक बिभु कोऊ। ' ' में बताया गया है कि शिवजीकी चेष्टा ही देखकर उन्हें विश्वास हो गया कि ब्रह्म एक ही है, निर्गुण ही सगुण है। अतएव उनका अब केवल यह प्रश्न रह गया कि 'निर्गुण ब्रह्म किस कारण सगुण होता है?' क्यों शरीर धारण करता है?

टिप्पणी—१ 'प्रथम सो कारन ' इति। (क) पार्वतीजीकी मुख्य शंका यही है। उन्हें निर्गुणके सगुण होनेमें सदेह है, इसीसे निर्गुण ब्रह्मके सगुण होनेका ही प्रश्न प्रथम किया। अथवा, प्रथम अवतारका हेतु वा प्रयोजन पूछा, फिर अवतारकी लीलाका प्रश्न क्रमसे करती हैं। (ख) यहाँ निर्गुण ब्रह्मका सगुण होना पूछनेसे जाना गया कि उमाजीने अपनी इस शंकाको कि, 'ब्रह्म अवतार नहीं लेता।' शिथिल समझा और शिवजीके—'सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी। ५१।" अर्थात् ब्रह्म अवतार लेता है—इस उपदेशको पुष्ट समझा। (ग) यहा वस्तुत दो प्रश्न हैं। एक कि 'निर्गुण ब्रह्म सगुण कैसे हुआ?' दूसरे 'वपुधारी कैसे हुआ?' अर्थात् पचतत्व निर्मित शरीर कैसे धारण किया?—[इससे सिद्ध हुआ कि वे समझती हैं कि प्रभुका यह शरीर मनुष्यकास। पचतत्त्वोंका ही है, यथा 'छिति जल पावक गगन समीरा। पचरचित अति अधम सरीरा। ४।११।' अत 'बपु धारी' में यह प्रश्न आ गया कि 'उनका शरीर इन्हीं पचतत्वोंसे बना है, या वे और किसी प्रकार स्वरूप धर लेते हैं, वह शरीर किसी और प्रकारका है?']। (घ) 'कहहु बिचारी'—भाव कि निर्गुणका सगुण होना बहुत कठिन है। क्या यह बात आपके विचारमें आसकती है? यहाँ 'कहहु बिचारी' कहा अर्थात् स्वय समझकर कहिए और आगे चलकर पुन कहती हैं कि "राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्ब रहित सब उर पुर-बासी॥ नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू।१२०.६-७।' अर्थात्

* इसके अर्थ ये हैं—(१) सगुण शरीरधारी होता है। (२) सगुण कैसे होता है? तथा वपुधारी कैसे होता है? (प० रामकुमार)।

मुझे समझाकर कहिए। 'बिचारी' और 'समुझाई' 'कहहु' का तात्पर्य यह है कि यह शंका भारी है, इसे विचारने और समझानेकी आवश्यकता है।

['बिचारी' में यह शंका होती है कि "क्या शिवजी जानते नहीं हैं, अब उसका कारण ढूँढ निकालेंगे ?", परन्तु यह बात नहीं है। पार्वतीजीके कथनका भाव यह है कि निर्गुण ब्रह्म अवतार लेता है, यह तो आपके व्यवहार और प्रभुके ऐश्वर्यसे जो मैंने वनमें देखा था, निश्चय हो गया, परन्तु वह क्यों अवतार लेता है यह समझमें नहीं आता, पूर्णकामको प्रयोजन नहीं हो सकता, सत्यसंकल्पको शरीर धारण की आवश्यकता नहीं। अतः उसे इस तरह विचारकर कहिये कि मेरी समझमें आ जाय।]

२ 'पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा।' इति। (क) अर्थात् रज और वीर्यसे पैदा हुए, गर्भमें रहे, कि आकर प्रकट हो गए ? गर्भसे प्रकट हुए कि गर्भमें नहीं आए ऐसे ही प्रकट हो गए ? और प्रकट होकर जो चरित किये सो कहिये।

नोट—२ 'राम अवतारा'। यहाँ इस प्रश्नमें अवतार पूछा कि कैसे अवतीर्ण हुए, गर्भसे पैदा हुये कि साक्षात् प्रकट हो गए। परन्तु जब शिवजीने चार दोहोंमें 'सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। ११६।१।' से 'ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं। ११६।६।' तक अगुण-सगुणका स्वरूप भली भाँति समझाया तब इनको पूर्ण विश्वास हो गया कि श्रीरामजीही निर्गुण और सगुण दोनों हैं, मोह माया, हर्ष विषाद इत्यादिका लेशभी इनमें नहीं है, ये 'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी' हैं और तब इन्होंने श्रीरामजीके अवतारका हेतु भी पूछा। इसीलिये शिवजीने अवतारके साथ अवतारका हेतु भी कहा है। 'नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू। १२०।७।' का उत्तर "हरि अवतार हेतु जेहि होई। १२१।२।' से 'यह सब रुचिर चरित मैं भाषा। १८८।६।' तक है। इसके आगे शुद्ध परात्पर ब्रह्मका अवतार वर्णन किया गया है।

श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि "इनको पूर्व सती तनमें तीन संदेह हुए थे उनका स्मरण करके गर्भित प्रश्न करती हैं। क्रमहीसे दोनों प्रश्नोंमें अवान्तर समस्त तात्पर्य भरा है। वे सोचती हैं कि हमारे मतमें निर्गुण ब्रह्म सगुण नहीं होता। यदि शिवजी कहेंगे कि निर्गुण सगुणरूप होता है तब मैं समझूँगी कि सती तनमें मुझसे समझते न बना था, रामचन्द्रजीही निर्गुण ब्रह्म हैं, भक्तोंके लिए सगुण हुए। दूसरा प्रश्न अवतार और लीलाका यह सोचकर किया कि यदि रामचन्द्रजीको निर्गुण न कहेंगे तो यह कहेंगे कि विष्णुके अवतार हैं, तब मैं यह समझूँगी कि मेरी समझमें गलती थी कि ये विष्णु नहीं हैं। यदि न निर्गुण और न विष्णुही कहा तो दशरथ-पुत्र कहेंगे, परन्तु मैंने वनमें इनके चरित्रमें परात्पर विग्रह स्वरूप देखा है, यह सोचकर तीसरा प्रश्न लीलाका किया कि इससे उनका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट समझमें आ जावेगा। बाकी सब प्रश्न इन्हींके अन्तर्गत हैं।"

वि० त्रि०—रामजी कैसे अवतीर्ण हुए ? भाव यह कि सभी अवतारोंके अवतीर्ण होनेकी विधि पृथक् पृथक् है। नृसिंह भगवान् खम्भेसे अवतीर्ण हुए, वाराह ब्रह्मदेवकी नासिकासे, इत्यादि। ये कैसे अवतीर्ण हुए ?

नोट—३ 'बालचरित पुनि कहहु उदारा' इति। (क) बालचरितको उदार कहनेका भाव कि इसमें थोड़ी ही रीझमें बहुत कुछ दे देते हैं, जैसे बालक लड्डू देख रुपया भी दे देता है, गोदमें आ जाता है, इत्यादि। देखिए, श्रीभुशुण्डीजीको कैसा बड़ा वर मिला। यथा "मन भावत बर मागउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी। ७।८४।८।' से 'एवमस्तु कहि रघुकुल नायक। कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही।७।८८।१।' तक। 'उदार' के सभी अर्थ जो शब्दार्थमें दिये गए यहाँ लगते हैं। बालचरित सुंदर है, सरल है, उत्कृष्ट है और परम दानशील है। पुनः, (ख) उदार = देशकालपात्रापात्रका विचार न करके याचकमात्रको स्वार्थरहित मनोवांछित दान देनेवाला। यथा 'पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणे। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यं वचसा हरे।'

भ० गु० द०, वै० ।' वि० त्रि० कहते हैं कि इस चरितमें दासोंको अधिक आनन्द मिलता है; यथा 'वालचरित हरि बहु विधि कीन्हा ॥ अति अनंद दासन्ह कहं दीन्हा ।', इसीसे इसे उदार कहा ।

४ वालचरित प्रकरण कहाँसे कहाँ तक है? इसके और अन्य चरितोंके प्रकरणठीक ठीक जाननेके लिए हमें मूल रामायणसे सहारा लेना चाहिये जो श्रीमद्गोस्वामीजीने श्रीभुशुण्डीजीसे उत्तरकांडमें कहलाया है। वहाँ वाल-चरित ऋषि-आगमन तक दिखाया है। यथा "तव सिसुचरित कहेसि मन लाई ॥ वाल-चरित कहि विविध विधि मन महँ परम उछाह। रिषि आगमन कहेसि पुनि श्रीरघुवीर विवाह। ६४।' शिशु चरित तो प्रगट होते ही दोहा १६२ से प्रारंभ हो गया, यथा "कीजै सिसु-लीला अति-प्रिय-सीला यह सुख परम अनूपा ॥ सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा ॥", "सुनि सिसु रुदन परम प्रिय वानी। संभ्रम चलि आईं सव रानी ॥" परन्तु सिलसिलेसे यह प्रसंग नामकरणसंस्कार होने पर 'मुनि धन जन सरवस सिव प्राना। वालकेलि रस तेहि सुख माना। १६८।२।' से प्रारंभ होकर "यह सब चरित कहा मैं गाई। २०६।१।" तक गया है।

कहहु जथा जानकी विवाही। राज तजा सो दूषन काही ॥६॥
बन वसि कीन्हे चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा ॥७॥
राज वैठि कीन्हीं बहु लीला। सकल कहहु संकर सुखसीला ॥८॥

अर्थ—जिस तरह जानकीजीको व्याहा सो कहिए। राज्यका त्याग किया सो किस दोषसे? ॥ ६ ॥ वनमें वसकर जो अपार चरित किये, उन्हें कहिए। हे नाथ! जिस प्रकार रावणको मारा वह कहिए ॥७॥ हे सुखस्वरूप श्रीशंकरजी! राज्य पर बैठकर श्रीरामजीने बहुत लीलाएँ कीं, वह सब कहिए ॥८॥

टिप्पणी—१ 'कहहु जथा जानकी बिवाही।' इति। इस प्रश्नसे मुनि-यज्ञरक्षा, अहल्योद्धार, धनुर्भङ्ग, इत्यादि (वालचरितके पश्चात्) जितना भी चरित वालकाण्डकी समाप्ति तक है वह सब 'जानकी-विवाह' की कथा है; यथा 'वालचरित कहि विविध विधि मन महँ परम उछाह। रिषि आगवन कहिसि पुनि श्री रघुवीर बिवाह। ७।६४।' इस तरह चार प्रश्नोंमें वालकाण्ड समाप्त हुआ। आगेके चरणमें 'राज तजा'... यह अयोध्याकांडका प्रश्न है। एक ही प्रश्नसे अयोध्याकाण्ड पूर्ण हुआ।

नोट—१ मूल रामायणमें 'वालचरित' के पश्चात् 'ऋषि आगमन' है तब 'श्रीरघुवीरविवाह'; परन्तु यहाँ श्रीपार्वतीजीके प्रश्नोंमें 'वालचरित' के पश्चात् 'विवाह' का प्रश्न है। दोनोंमें भेद नहीं है, क्योंकि ऋषि-आगमन ही विवाह का मुख्य कारण है। श्रीदशरथजी महाराजने जब पुत्रों के देने में संकोच किया, तब वसिष्ठजी ने राजाको समझाया है। यथा 'सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं ॥२०८।४।', 'तब वसिष्ठ बहु विधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा।'; वह समझाना यही था कि इनके साथ जाने से इनका विवाह होगा। कवि ने विश्वामित्रजी के वचनों में भी 'अति कल्याण' ये शब्द देकर इसी, वातको गुप्त रीतिसे कह दिया है। यथा 'देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अज्ञान। धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान। २०७।' विवाहको 'कल्यान कार्य' कहते भी हैं यथा "कल्यान काज विवाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं ।१.१०३।' गीतावलीमें भी श्रीविश्वामित्रजीके वहाने विवाह कहा गया है। यथा "जनम प्रसंग कह्यो कौसिक मिस सीय स्वयंवर गायो। राम भरत रिपुदवन लखन को जय सुख सुजस सुनायो। तुलसिदास रनिवास रहस वस भयो सब को मन भायो। गी० १.१४।', विश्वामित्रजीने भी कहा है—'राजन राम लखन जौं दीजे। जस रावरो लाभ ढोटनिहूँ...। गी० १.४८।' यह वात वाल्मीकीय और अध्यात्म-रामायणोंसे भी स्पष्ट है। पुत्र जब विवाह योग्य हुए तब राजाको उनके विवाहकी बड़ी चिंता हुई। उसी समय शिवजी विश्वामित्रजी आए। यथा 'अथ राजा दशरथ

स्तेषां दारक्रिया प्रति ॥३७॥ चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः । तस्य चिन्तयमानस्य मंत्रिमध्ये महात्मनः ॥३८॥ अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः । वाल्मी० १।१८ ।' अर्थात् धर्मात्मा राजा दशरथ मन्त्रियों, बंधुवर्गों और गुरु सहित पुत्रोंके विवाहके संबंधमें विचार कर ही रहे थे कि उसी समय महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्रजीका आगमन हुआ। पुनश्च, "रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः । १२ । योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी । १८ । विश्वामित्रोऽपि रामाय तां योजयितुमागतः । एतद्गुह्यतमं राजन्न वक्तव्यं कदाचन । १६ । अ० रा० १।४ ।' अर्थात् वसिष्ठजीने समझाया कि श्रीरामजी मनुष्य नहीं हैं, सनातन परमात्मा हैं और सीताजी योगमाया हैं जो जनकनन्दिनी हुई हैं। दोनोंका संयोग (विवाह) करानेके लिए ही इस समय श्रीविश्वामित्रजी यहाँ आए हैं, यह अत्यन्त गुप्त रहस्य है, इसे कभी किसीसे न प्रकट करना।—अतएव श्रीपार्वतीजीने 'ऋषि आगमन' को 'विवाह' का ही अंग मानकर उसको पृथक् नहीं कहा। ☞ इस तरह 'कहहु जथा जानकी बिवाही' यह प्रश्न या प्रसंग "आगिलि कथा सुनहु मन लाई। १.२०६.१।' से बालकाण्डके अन्त तक है। और मूल रामायणके अनुसार 'आगिलि कथा सुनहु मन लाई' से 'रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया।१ २१०७।' तक 'ऋषि आगमन' प्रसंग है और 'तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिय जाई॥ धनुषयज्ञ सुनि ।१.२१०.८।' से 'सियरघुबीर बिवाह' प्रकरण प्रारंभ होगा।

प. प. प्र.—'जथा' का भाव कि जयमाल स्वयंवरमें ब्याहा या पण-स्वयंवरमें, या वीरशुल्का प्राप्त की या ब्राह्म विवाहविधिसे ब्याहा अथवा दुष्यन्त शकुन्तला विवाहके समान गान्धर्वविधिसे ब्याहा, या कन्याकी इच्छासे कन्याके पिता आदिसे युद्ध करके ले आए, इत्यादि, कहिए।

वि. त्रि.—भाव कि माता पिताने कन्या देखकर विवाह नहीं किया, अपने पुरुषार्थसे श्रीरामचन्द्रजीने श्रीजानकीजीको ब्याहा, सो वह कथा कहिए।

टिप्पणी—२ 'राज तजा सो दूषन काही' इति। किस दोषसे राज छोड़ दिया? इस प्रश्नसे जनाया कि राज्यमें कोई दोष देखा होगा तभी उसे छोड़ा, नहीं तो राज्यके लिए लोग संसारमें क्या नहीं करते, उस पर भी 'अवधराज सुरराज सिहाहीं' ऐसे राज्यको क्यों छोड़ते? इसका उत्तर शिवजीने "भूप सजेउ अभिषेक समाजू। चाहत देन तुम्हहि जुबराजू॥ राम करहु सब संजम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहै काजू॥ गुरु सिख देइ राय पहिं गयऊ। राम हृदय अस बिसमउ भयऊ॥ जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥ करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भयउ उछाहा॥ बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥ प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। २.१०.२-८।' इन चौपाइयोंमें दिया है। चारों भाइयोंके सब संस्कार जन्मसे लेकर विवाह तक साथ साथ हुए और राज्य भाइयोंको छोड़कर अकेले मुझ बड़े पुत्रको ही, यह अनुचित समझ उन्होंने राज्यत्यागके उपाय रच दिये और राज्य छोड़ दिया।

नोट—२ इस पर यह शंका होती है कि 'जब इस दोषसे छोड़ा तब फिर उसे ग्रहण क्यों किया?' समाधान—बिना भक्त भरतके राज्य स्वीकार न किया और भरतजीके देनेसे स्वीकार किया। (रा० प्र०)। पुराणों तथा रामायणोंसे स्पष्ट है कि श्रीरघुनाथजीने राज्य सब भाइयोंके पुत्रोंको बाँट दिया था।

३ राज्य तो कैकयीके वरदानके कारण छोड़ा गया पर यहाँ श्रीरामजीका उसमें दोष देखकर छोड़ना कहा गया। इसका कारण यह है कि श्रीरामजी स्वतंत्र हैं, वे राज्य ग्रहण करना चाहते तो यह विघ्न होता ही क्यों? यह सब लीला तो प्रभुकी इच्छासे ही हुई। यथा 'तब किछु कीन्ह राम रुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी। २ २१८.३।' सत्योपाख्यानमें तो कैकेयीजीसे श्रीरामजीका यह माँगना लिखा है कि हमारे लिए तुम अपयश सहो, यदि तुम्हारा हम पर प्रेम है और कैकेयीजीने उसे स्वीकार भी कर लिया था। अत जो कुछ भी हुआ वह श्रीरामजीकी इच्छासे।

टिप्पणी—३ 'बन बसि कीन्हें चरित अपारा ' इति । (क) ☞ इस प्रश्नसे अरण्य, किष्किन्धा, और सुन्दर तीन काण्ड समाप्त हुए। बनचरित बहुत है इससे 'अपार' कहा। बहुत चरितका प्रमाण भुशुण्डीजीकी मूल रामायणसे मिलता है। उन्होंने बनचरितकी सूची दो दोहोंमें अधिकमें दी है। यथा-(१) 'सुरपति सुत करनी ।७।६४।८', (२) 'प्रभु अरु अत्रि भेंट पुनि बरनी ।७।६४।८', (३, ४) 'कहि बिराध बध' 'जेहि बिधि देह तजी सरभंग', (५-६) 'बरनि सुतीछन प्रीति पुनि' 'प्रभु अगस्ति सतसंग । ६५ ।', (७) 'कहि दंडक बन पावनताई', (८) 'गीध मइत्री पुनि तेहिं गाई', (९) 'पुनि प्रभु पंचवटी कृत बासा । भंजी सकल मुनिन्ह की त्रासा ।', (१०) 'पुनि लछिमन उपदेस अनूपा' इत्यादिसे 'सागर निग्रह कथा सुनाई । ७ । ६७ । ८ ।' तक सैंतालीस चरित्र भुशुण्डीजीने गरुड़जीसे वर्णन किये हैं। अतएव 'अपार' कहा। अथवा, 'अपार' इससे कहा कि अन्य प्रश्नोंका और विशेषकर कई प्रश्नोंका उत्तर एक ही एक काण्डमें मिल जाता है और इसका उत्तर तीन काण्डोंमें है। अथवा, जिसका कोई पार न पा सके ऐसे जो गुप्त रहस्य हैं उनमेंसे अनेक वनमें (चित्रकूट, स्फटिकशिला, पंचवटी आदिमें) हुए, अतएव 'अपार' कहा। अथवा सतीतनमें प्रभुकी अपार महिमा वनमें देख अत्यंत सभीत हो गई थीं, उस चरितका पार न पा सकीं, उसको विचारकर 'अपार' कहा। (ख) वनमें पर्णकुटी छाकर बहुत दिन (लगभग तेरह वर्ष) रहे, अतएव 'बन बसि' वनमें बसना कहा। (ग) 'कहहु नाथ जिमि रावन मारा'—से संपूर्ण लंकाकाण्डका ग्रहण हुआ। यदि इतना ही कहतीं कि रावणवध कहिए, 'जिमि' अर्थात् जिस तरह यह शब्द न कहतीं तो शिवजी केवल राम-रावण-संग्राम कहते। सेतुबंधन, अंगद रावणसंवाद, कुंभकर्णमेघनादादिका वध इत्यादि कुछ न कहते। 'जिमि' शब्दसे इन सबोंका ग्रहण हुआ। [इससे रावणके मारनेकी विधि पूछी। इसका मारना बड़ा कठिन था। दुर्गम स्थानमें निवास, मेघनाद कुम्भकर्ण प्रभृतिसे रक्षित, स्वयं तपस्या वरदानादिसे अजेय, सिर कटनेपर भी न मरना, आदि ऐसी अनेकानेक बातें थीं। जनकनन्दिनीजी भी इसके मरनेकी विधि त्रिजटासे पूछने लगीं। सो उसके मरनेकी विधि बताइये। (वि० त्रि०)]

४ "राज बैठि कीन्ही बहु लीला । " इति । (क) मूल रामायणमें यह प्रसंग इस प्रकार है "जेहि बिधि राम नगर निज आए । बायस बिसद चरित सब गाए ॥ कहेसि बहोरि राम अभिषेका । पुर बरनत नृपनीति अनेका ॥ ७।६८ ।' यह प्रसंग उत्तरकाण्डके प्रारंभसे 'अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आए । कृपासिंधु के मन अति भाए । ७ ५०.१।' तक है। (ख) "संकर सुखसीला" कहनेका भाव यह है कि आप सब चरित (जो राज्यपर बैठकर श्रीरामचंद्रजीने किये) मुझसे कहकर मुझे सुख दीजिए, जैसे श्रीरामचंद्रजीने अपने चरित्रोंद्वारा श्रीअवधपुरवासियोंको सुख दिया था। श्रीरामचन्द्रजीने राजा होनेपर राज्यलीलासे पुरवासियोंको सुख दिया, अतएव पुरवासी उन्हें 'सुखराशि' कहते थे, यथा "रघुपति-चरित देखि पुरबासी । पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी । ७ २०.६ ।' आप मुझे सुनाकर सुख देंगे, अतएव आप भी 'सुखशील' हैं। श्रीरामचंद्रजीने श्रीअवधमें अपने चरितसे पुरवासियोंको सुख दिया था, श्रीशिवजीने कैलासपर श्रीरामचरित सुनाकर श्रीपार्वतीजीको सुख दिया। श्रीरामचरितसरितमें स्नान करनेवालोंको आज भी वही सुख होता है। यथा 'भरत राम रिपु दवन लखन के चरित सरित अन्हवैया । तुलसी तबके से अजहूँ जानिबे रघुबर नगर बसैया । गीतावली । १।६।६ ।' तब श्रीपार्वतीजीको सुख क्यों न हो। कुछ महानुभाव 'सुखशीला'को लीला और शंकर दोनोंका विशेषण मानते हैं। क्योंकि चरित देखकर पुरवासी सुखी हुये थे जैसा ऊपर कहा गया है। [☞ 'सुखशील'का भाव कि रामराज्यसे ऐसा सुख हुआ कि आजतक भारत उसे भूलता नहीं। जब बहुत सुख मिलता है तब लोग कहते हैं कि रामराज्य है। आप सुखशील हैं, ऐसे सुखकी कथा कहिये। (वि० त्रि०)]

दोहा—बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुबसमनि, किमि गवने निज धाम ॥११०॥

अर्थ—फिर (तत्पश्चात्), हे करुणाधाम ! जो आश्चर्य (की बात) श्रीरामजीने किया वह कहिए। रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजी प्रजा-सहित अपने धामको कैसे गए ? ॥११०॥

टिप्पणी—१ (क) 'करुनायतन' इति। पार्वतीजी जानती हैं कि शिवजी श्रीरामजीकी 'निज धाम यात्रा' न कहेंगे। उनकी अरुचि जानकर उसको कहलानेके लिये 'करुनायतन' सम्बोधन देकर सूचित करती हैं कि मुझपर करुणा करके यह चरित कहिये। यद्यपि पार्वतीजीने बहुत नम्रतापूर्वक यह प्रश्न किया तथापि शिवजीने पर-धाम-यात्रा नहीं ही कही। (ख) 'कीन्ह जो अचरज राम' इति। 'आश्चर्यकी बात' कहा, क्योंकि किसी और अवतारमें ऐसा नहीं हुआ (कि भगवान् सदेह अपने धामको गए हों और अपनी प्रजाको भी साथ ले गए हों। यह अद्भुत चरित इसी अवतारमें देखा गया। (ग) ☞ अवतारसे लेकर निजधाम यात्रातक पृथक्-पृथक् कथाएँ पूछकर अंतमें फिर उन्होंने यह भी कह दिया कि 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई।' जिसमें एक भी चरित रह न जाय।—इससे श्रीपार्वतीजीकी श्रीरामकथामें अत्यंत प्रीति प्रकट होती है। (यह प्रीति देखकर ही शिवजीने श्रीरामचरित कहा।—'तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई। ७।१२८।')

वि० त्रि०—'कीन्ह जो अचरज ' इति। प्रजाप्रेमकी पराकाष्ठा हो गई। संपूर्ण प्रजाको कैसे साथ ले गए ? 'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्', कर्मकी विचित्रतामें ही सृष्टिमें वैचित्र्य है। सबका कर्म एक साथ ही कैसे समाप्त हुआ जो सबके सब मुक्त हो गए ?

"किमि गवने निज धाम"

इस प्रश्नका उत्तर श्रीरामचरितमानसमें स्पष्ट रीतिसे कहीं नहीं पाया जाता। गुप्त रीतिसे इसका उत्तर अवश्य उत्तरकाण्डमें सूचित कर दिया गया है, ऐसा बहुतोंका मत है। उनका मत है कि श्रीरामस्वरूपका बोध हो जानेसे श्रीपार्वतीजीको गुप्त उत्तरसे पूर्ण संतोष हो गया, उनको उत्तर मिल गया, नहीं तो वे कथाकी समाप्तिपर अवश्य इस प्रश्नका उत्तर माँगतीं। दूसरा मत है कि श्रीशिवजीने इस प्रश्नका उत्तर गुप्त या प्रकट किसी रूपसे दिया ही नहीं।

कुछ महानुभावोंने यह प्रश्न उठाकर कि 'परमधाम यात्रा स्पष्ट शब्दोंमें क्यों वर्णन नहीं की गई अथवा इस दोहेके प्रश्नोंका उत्तर स्पष्ट क्यों नहीं कहा गया ?' उसका उत्तर भी अपने अपने मतानुसार दिया है। हम पहिले उनमेंसे कुछका उल्लेख यहाँ करते हैं—

१ परधाम यात्राके सम्बन्धमें ऋषियोंके मत भिन्न भिन्न हैं। कितने ही मतोंसे इसके उत्तरमें विरोध पड़ता। श्रीगोस्वामीजीने प्रश्न तो कहा "पर चित्त उनका अत्यंत कोमल था, अतमें उपरामकी बात न कही जा सकी।" (बाबा रामदासजी)।

२ उपासकोंका भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजी श्रीअयोध्याजीमें नित्य विहार करते हैं, अतएव उनके भावानुसार किसी अन्य धाममें उनकी यात्रा हुई ही नहीं। वा, इसीसे 'विरस जानकर यात्रा न कही।' (वंदनपाठकजी)। गुप्त उत्तरसे उपासकोंकी भावनाके विरुद्ध भी न पड़ा और उत्तर भी हो गया।

३ 'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप। ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप। ७।४७।" में प्रजाका नित्य धाम-गमन गुप्तरूपसे कहा गया है। क्योंकि 'कृतार्थरूप' कहनेमें प्रजाका आवागमनरहित होना सूचित कर दिया गया है। ब्रह्म श्रीराम जहाँके राजा हैं वह सच्चिदानंदघन है, 'अप्राकृत' है अर्थात् साकेत केवल सच्चिदानंद है यह सूचित किया। (रा० प्र० से उद्धृत)।

रा० प्र० कार लिखते हैं कि "इस प्रश्नको उत्तरके योग्य न विचारकर उत्तर न लिखा। क्योंकि साकेत और श्रीअवध एक ही पदार्थ हैं। जैसे साकेतविहारी और अवधविहारी नाम मात्र दो हैं, इसी प्रकारसे व्यवस्था श्रीसाकेत और श्रीअवधकी जानो।"—[प्रमाण सदाशिवसंहिता यथा 'भोगस्थानं पराऽयोध्या लीलास्थानमिदं भुवि। भोगलीलापती रामो निरंकुश विभूतिकः।' (स० शि० सं० पटल ५)]—"अवधहि में प्रगट भए हैं अवधहि मे पुनि रहे समाय।' इसीलिए इस प्रश्नका खंडन-'उमा अवधवासी नर नारि कृतारथरूप। ' इस दोहेमे किया। यहाँ कृतारथरूप कहकर और ठौर जानेका भ्रम दूर किया क्योंकि वे कृतार्थरूप हैं, और ठौर क्यों जायँगे? जहाँके राजा ब्रह्मसच्चिदानन्दघन रघुनायक हैं वहाँका त्याग किस भाँति सम्भव है? यहाँ 'बहुरि कहहु करुनायतन—' इस प्रश्नको व्यर्थ ठहराया" (व्यर्थ ठहराया अर्थात् पुरवासियोंको किस तरह और कहाँ ले गए, यह प्रश्न ही 'नर नारि कृतारथ रूप ' जान लेनेपर अब नहीं उठता या रह जाता)।

साराश तात्पर्य यह निकला कि श्रीपार्वतीजीको श्रीरामतत्त्वका उस समय यथार्थ बोध न होनेसे उनका 'प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम' यह प्रश्न करना उचित ही था। परन्तु रामतत्त्वके ज्ञाता श्रीशिवजीने जब उन्हें बोध करा दिया कि 'अवधवासी नरनारि कृतारथरूप ' हैं तब उनका 'निज-धाम गवन' का सदेह ही निवृत्त हो गया, इसीसे उन्होंने कथाके बाद यह कहा कि 'जानेउ रामप्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह। उ० ५२।' जो शिवजीने 'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप' कहा था, वही 'प्रभु चिदानंदसंदोह' श्रीपार्वतीजीके वचनोंमे है।

बाबा श्रीजयरामदासजी रामायणी (साकेतवासी) लिखते हैं कि "इस प्रश्नका उत्तर शिवजीने दिया ही नहीं है, इसीसे इस ग्रन्थमें वह कहीं नहीं मिलता। उत्तर न देनेका कारण यह है कि "श्रीपार्वतीजीने कुल १४ प्रश्न किये हैं। उन्हें दो विभागोंमे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भागमें ८ प्रश्न हैं—'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी' से 'राज बैठि कीन्ही बहु लीला। सकल कहहु संकर सुभ सीला' तक। "उपर्युक्त प्रथम ८ प्रश्नोंका आरंभ 'प्रथम' शब्दसे होता है और उनकी समाप्ति राजगद्दीकी प्राप्ति विषयक प्रश्नपर होती है। उसके आगे 'बहुरि'—शब्दसे दूसरा भाग आरंभ होता है। उसमें छः प्रश्न हैं, जिनमें श्रीरघुनाथजीके स्वरूपका बोध न होनेके कारण कुतर्कके आभास एवं असंभावनाकी आशङ्कासे युक्त पहला प्रश्न तो यही है। इसके सिवा ५ क्रमशः भगवत्तत्त्व, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यके विषयमें हैं। यथा 'बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम। ।' जब श्रीशङ्करजीने 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकास-निधि प्रकट परावरनाथ' से 'राम सो परमात्मा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी' इस चौपाई तक पार्वतीजीको श्रीरघुनाथजीके स्वरूपका बोध करा दिया, तब श्रीपार्वतीजीकी सारी कुतर्ककी रचना नष्ट होगई और उन्हें जो श्रीरघुनाथजीका प्रजावर्ग सहित निज धामको जाना असंभवसा जान पड़ता था वह सारी दारुण असभावना नष्ट होगई,—'सुनि सिवके भ्रम भंजन बचना। मिटि गइ सब कुतर्क कै रचना॥ भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥'—तब वे श्रीमहादेवजीके चरणकमलोंको स्पर्शकर हाथ जोड़कर कहने लगीं—'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥ तुम कृपालु सब संसय हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥ प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू।' अर्थात् अब मुझे श्रीरामजीके स्वरूपका बोध हो गया है"" मुझे अपनी किंकरी जानकर मैंने पहले (श्रीरामचन्द्रजीके सिंहासनारूढ होने तकके आठ) प्रश्न किये हैं अब 'सोई'—केवल उतनोंहीका वर्णन कीजिये। [तात्पर्य्य कि इसके आगे 'बहुरि' शब्दसे आरंभ होनेवाले छः प्रश्नोंको मैं वापस लेती हूँ। अब उनके उत्तर सुननेकी मुझे आवश्यकता नहीं है। अतः वे खारिज समझे जायँ]। इस प्रकार जब प्रश्नकर्त्ताहीने अपने प्रश्नोंको निकाल दिया तो वक्ता उत्तर कैसे दे सकता है? इसी उत्तरकांडमें राज्याभिषेकतकका चरित्र सुनानेके पश्चात् जब शिवजीने कहा कि 'अब का कहौं सो कहहु

भवानी' तब उन्होंने "बायस तनु रघुपति भगति मोहि परम संदेह' इत्यादिसे नया प्रश्न श्रीकाकभुशुण्डिजीके विषयमें किया है। इससे सिद्ध है कि अब उन्हें पीछेके प्रश्नोंका उत्तर सुननेकी इच्छा नहीं थी।"

किसी-किसी महानुभावका मत है कि इस प्रश्नका उत्तर 'एक बार रघुनाथ बुलाए । ७।४३।' से 'गए जहाँ सीतल अमराई। भरत दीन्ह निज बसन डसाई॥ बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई। मारुतसुत तब मारुत करई। ७।५०।' तकमें गुप्तरूपसे है। शीतल अमराईसे लौटकर फिर घरमें आना वर्णन नहीं किया गया और प्रसंगकी समाप्ति करही दी गई। अतएव समझना चाहिए कि इतनेसे ही निजधामयात्रा सूचित करदी गई है। और कोई कहते हैं कि 'हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक सुखदाता॥ पुनि कृपाल पुर बाहेर गए' इन अर्धालियोंमें पुर-बाहर जाना कहकर परधामयात्रा, और, 'सेवक' कहकर 'प्रजा' को संग लिये जाना सूचित कर दिया गया है, यथा 'हम सेवक स्वामी सियनाहू। होउ नात एहि ओर निबाहू।' पुनः सेवकसे सुग्रीवादि सखा सेवकोंकोभी साथ लेजाना जना दिया। 'गए जहाँ सीतल अमराई' के शीतल अमराईसे निज धाम साकेतलोक सूचित किया।

सत उन्मनी टीकाकार, प० शिवलालपाठक और श्रीपंजाबीजी इस दोहेमें दो प्रश्न मानते हैं। १—'कीन्ह जो अचरज राम' अर्थात् कौन-कौन आश्चर्यजनक कार्य किये? २—प्रजासहित निज धाम क्योंकर गए? मयङ्ककार लिखते हैं कि "प्रथम आश्चर्य यह है कि अपने विश्वास निमित्त श्रीरामचन्द्रजीने श्रीजानकीजीसे शपथ कराया चौथा आश्चर्य यह है कि मनुष्यशरीरसे किस प्रकार परधाम गए? और पाचवा यह कि क्या इस अयोध्यासे श्रेष्ठ कोई अन्य रामचन्द्रजीका धाम है?

वेदान्तभूषणजी—प्रत्येक प्रधान भगवदवतारोंके निजधामगमनमें कुछ विलक्षणता है। जैसे, नृसिंहजीका शरभ शिवसे युद्ध करके, श्रीकृष्णजीका व्याधके बाणद्वारा, इत्यादि। वैसेही मुख्यतम अवतार श्रीरामजीकेभी निजधामगमनमें जो विलक्षणता हो वह कहिए। अयोध्याके प्रतापी राजाओंमेंसे कई एक राजा अपनी अयोध्यानिवासी प्रजाको साथ लिये भगवल्लोकको गए हैं। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र, रुक्मांगदजी और ऋषभजी और कुशजी अयोध्याके समस्त जीवोंसहित परधामको गए हैं। और, श्रीरामजी एक तो मुख्यतम अवतार, दूसरे अवधनरेशोंमें सबसे प्रतापी रघुवंशमणि थे, अतः वे अवश्य अवधनिवासी प्रजाओंके साथ स्वधामको गए होंगे। अतएव उस गमनका चरित्र भी कहिए। पार्वतीजी यह समझे बैठी हैं कि अन्य अवतारोंकी तरह श्रीरामजी भी कहींसे आकर फिर चले गए होंगे, क्योंकि 'अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी' यह बात सतीजीसे स्वयं श्रीशिवजीने ही कही थी और इस समय पार्वतीजीको 'पूरुब जन्म कथा चित आई' है, इसीसे उन्होंने ऐसा प्रश्न किया कि निज धामको कैसे गए? परंतु शिवजी तो जानते हैं कि प्रभु 'अवधहीसे प्रगट हुए और अवधमेंही रहत समाय', इसीसे उन्होंने कहा कि 'राम अनादि अवधपति सोई' अर्थात् श्रीरामजी कहींसे आते नहीं और जब आतेही नहीं तो जायेंगे कहाँ? अतः 'उमा अवधवासी नर नारि कृतारथरूप। ' यही पार्वतीजीके प्रश्नका उत्तर भी है।

☞इस दीन (संपादक) की समझमें तो श्रीपार्वतीजीने जितने प्रश्न किये, उनमेंसे कोई भी वापस नहीं लिये गए। यदि श्रीरामचरित (परमधाम) के बादके प्रश्न वापस लिये गये होते तो शिवजीने श्रीरामचरित वर्णन करते हुए बीच बीचमें उनकी व्याख्या न की होती। केवल बात यह है कि श्रीरामचरितमें ही भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि सभी सिद्धान्तोंके प्रश्न किसी न किसी पात्र द्वारा उठाए गए हुए और उनके उत्तर दिये हुए बराबर पाए जाते हैं। श्रीपार्वतीजी न जानती थीं कि भक्ति आदि भी श्रीरामचरितके अंग हैं इसीसे उन्होंने प्रश्न किया। जब उत्तर मिल ही गया तो अंतमें फिर कैसे पूछतीं? फिर पूछतीं तो समझा जाता कि कथा ध्यान देकर नहीं सुनी एवं बड़ी मूर्ख हैं। बुद्धिमानके लिये इशारा काफी है। प्रश्नकर्त्ताका संतोष होगया, फिर क्यों वह पूछता? दूसरे, यदि प्रश्न वापस लेतीं तो अपनी 'चोरी' आदि

और गुप्त रहस्य शिवजी न कहते । विशेष आगे १११ (१-४) में भी देखिये । यह मेरा अपना विचार है और महानुभावोंको जो रुचे उनके लिये वही अच्छा है । सतोष हो जाना चाहिए ।

प० प० प्र०—'किमि गवने निज धाम' के उत्तरका उपक्रम यों किया है—'जानि समय सनकादिक आए । ७।३२।३ ।' यहाँके 'समय' शब्दका भाव 'निजधाम गमन-समय' लेना आवश्यक है, अन्यथा शब्द-गत निरर्थक दोष घटित होगा, क्योंकि नारद और सनकादिक तो प्रति दिन अयोध्यामे आते थे और दरबारमे ही आते थे, यह 'नारदादि सनकादि मुनीसा । दरसन लागि कोसलाधीसा । दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं ।' के 'कोसलाधीस' शब्दसे सिद्ध होता है । 'कोसलाधीस' से राज्यासहासनासीन दरबारमे बैठे हुए श्रीराम अभिप्रेत हैं । इस उद्धरणमे 'समय जानि', 'अवसर जानि' इत्यादि शब्द नहीं हैं । उप-संहारमे भी 'तेहि अवसर मुनि नारद आए करतल बीन । ७।५० ।' ऐसा कहा है । जब भगवान् प्रजासहित निजधाम गवन करनेको तैयार हुए उसी अवसरपर नारदजी आए ।

☞ साक्षात् निजधाम गमनके समय जो अन्तिम स्तुति नारदकृत है उसमें रघुपति, रघुनाथ, इत्यादि रघुवश या रविकुलसबधी एक भी शब्द नहीं है । 'गावन लागे राम कल कीरति सदा नवीन' उपक्रम है और 'तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत जन । ७।५१।६ ।' उपसंहार है । 'राम' शब्दसे उपक्रम किया और 'प्रभु' शब्दसे उपसहार किया, क्योंकि रघुकुल या रविकुलका सबंध छोडकर प्रभु राम ही उस समय निज धामको जा रहे थे, रघुरशमणि निज धाम नहीं गए, प्रभु राम गए । (इस स्तुति मे 'दसरथकुल कुमुद सुधाकर' और 'कोसलामंडन' शब्द आए हैं) ।

और भी प्रमाण देखिए—वसिष्ठजीने अवतारकालमे कभी श्रीरामजीकी ऐश्वर्यभावसे न तो स्तुति ही की न कुछ माँगा ही, क्योंकि गुरु शिष्य सबधका निर्वाह आवश्यक था । पर जब उन्होंने देखा कि प्रभु आज कलमें परधाम सिधारनेवाले हैं तब वे स्वय राजमहलमे गए और ऐश्वर्यभावसे स्तुति करके उन्होंने वर भी माँग लिया । इससे भी बलवत्तर प्रमाण 'मारुतसुत तब मारुत करई । पुलक बपुष लोचन जल भरई । ७।५०।७ ।' यह चौपाई है । सेवामे पुलक बपुष होना स्वाभाविक है पर लोचन जलका उल्लेख रामसेवारत हनुमान्जीके चरित्रमें नहीं है, यह लोचनजल रामवियोग दुःखजनित है । (उत्तरकांडमे देखिए) । दूसरा जो सपादकजीका मत है वही उचित है ।

> पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी । जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी ॥१॥
> भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा । पुनि सब बरनहु सहित बिभागा ॥२॥
> औरौ राम रहस्य अनेका । कहहु नाथ अति बिमल बिबेका ॥३॥

शब्दार्थ—तत्व = वास्तविक यथार्थ पदार्थ । विज्ञान = विशेष ज्ञान, अनुभव । = ब्रह्मलीन दशा । म० श्लो० ४, १ १= ५,१ ३७.६ 'कहव ज्ञान बिज्ञान विचारी' मे देखिये । विभाग = प्रत्येक भाग । कई खडों या वर्गोंमे विभक्त वस्तुका एक-एक खड या वर्ग, अश, भाग । औरौ = औरभी । रहस्य – गुप्त एवं गूढ चरित्र ।

अर्थ—हे प्रभो ! फिर यह तत्व विस्तारपूर्वक कहिये जिसके विशेष ज्ञान एव साक्षात्कारमे ज्ञानी मुनि डूबे रहते हैं ॥ १ ॥ फिर भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य इन सबोंको (अर्थात् इन चारोंके स्वरूपों को) उनके प्रत्येक भागसहित (पृथक् पृथक्) वर्णन कीजिए ॥ २ ॥ औरभी जो श्रीरामजीके अनेक रहस्य (गुप्त चरित) हैं उन्हेंभी कहिए । हे नाथ ! आपका ज्ञान अत्यंत निर्मल है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी' इति । (क) ऊपर कहा था कि 'गूढौ तत्व न साधु दुरावहिं' अब वही गूढ तत्व पूछ रही हैं । विज्ञानसे गूढ तत्व लख पडता है, इसीसे 'जेहि विज्ञान' पद दिया । (ख) 'सो तत्व जेहि' का भाव कि सब विद्याओंका तत्व होता है सो मैं नहीं पूछती, किंतु मैं वही

तत्व पूछती हूँ जिसमें विज्ञानी मुनि मग्न रहते हैं। (ग) ☞ श्रीपार्वतीजीने श्रीरामचरित पूछकर तब तत्व, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और रामरहस्य पूछे। (इसका कारण यह है कि वे समझती थीं कि ये सब बातें रामायणमें नहीं हैं। इसीसे उन्होंने ये प्रश्न अलग किये। ☞ यहा सहज जिज्ञासुका स्वरूप दिखाया है कि वह अज्ञ होता है) । श्रीशिवजीने इन सब प्रश्नोंके उत्तरभी रामायणके अतर्गतही कह दिये, इसीसे रामचरितके पश्चात् इनके उत्तर नहीं दिये। यदि पृथक् उत्तर देते तो समझा जाता कि ये सब रामायणमें नहीं हैं।

वि० त्रि०—सगुण विषयक प्रश्न करके अब शुद्ध निर्गुणरूप पूछती हैं। सिद्धि विषयक बातें पूछकर फिर साधनके विषयमें पूछती हैं कि भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यको विभाग सहित कहिए, क्योंकि ये चारों साधन पृथक् होनेपर भी परस्पर उपकारी हैं।

नोट—१ (क) 'पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी । 'का उत्तर, यथा "धरे नाम गुर हृदय बिचारी । वेदतत्व नृप तव सुत चारी ।१।१९८।१।', 'जोगिन्ह परम-तत्व-मय भासा । शात सुद्ध सम सहज प्रकासा ।' १।२४२।४।' इस प्रकार 'तत्त्व'=गूढ़ तत्त्व, परम तत्त्व=ब्रह्म। यह अर्थ कोशोंमेभी है।

(ख)—भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यके उत्तर क्रमसे सुनिये। (१) 'भक्ति' का उत्तर 'भगति निरूपन बिबिध बिधाना ।१.३७.१३।' में देखिए। (२) 'ज्ञान' का उत्तर है 'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं । ।१५।७।' ज्ञानका स्वरूप ४.७. १४-२२ में यों दिखाया है—' प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा ॥ उपजा ज्ञान बचन तब बोला । नाथ कृपा मन भयउ अलोला ॥ सुख सपति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥ ए सब राम भगति के बाधक । कहहि सत तव पद अवराधक ॥ सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं । मायाकृत परमारथ नाहीं ॥ सपनें जेहि सन होइ लराई । जागें समुझत मन सकुचाई ॥ अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती । सब तजि भजन करौं दिन राती ॥ सुनि बिराग सजुत कपि बानी ।" पुन यथा "तारा बिकल देखि रघुराया । दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया ॥ छिति जल पावक गगन समीरा । पच रचित अति अधम सरीरा ॥ प्रगट सो तनु तव आगे सोवा । जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ॥ उपजा ज्ञान चरन तब लागी । लीन्हेसि परम भगति वर माँगी ॥४।११।३-६।' पुन अयोध्याकाण्डमें निषादराजको लक्ष्मणजीने ज्ञान वैराग्य भक्तिरस मिश्रित उपदेश दिया है जो 'लक्ष्मणगीता' नाम से प्रसिद्ध है। यथा 'बोले लषन मधुर मृदु बानी । ज्ञान बिराग भगति रस सानी ॥ काहु न कोउ सुख-दुख कर दाता । निज कृत करम भोगु सबु भ्राता ॥ जोग बियोग भोग भल मदा । हित अनहित मध्यम भ्रम फदा ॥ जनमु मरनु जहँ लगि जग-जालू । सपति बिपति करमु अरु कालू ॥ धरनि धाम धनु पुर परिवारू । सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू ॥ देखिअ सुनिय गुनिय मन माहीं । मोह मूल परमारथ नाहीं ॥ सपनें होइ भिखारि नृप रकु नाकपति होइ । जागें लाभ न हानि कछु तिमि प्रपच जिय जोइ । ९२ ।' इत्यादिसे 'भगत भूमि भूसुर सुरभि । ९३ ।' तक। (३) विज्ञान, यथा 'तिन्ह सहस्र महँ सब सुखखानी । दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी । ७।५४।५ ।' श्रीपार्वतीजीके इन वचनोंसे स्पष्ट है कि ब्रह्ममें लीन होनाही 'विज्ञान' है। इस तरह 'विज्ञान' का उत्तर 'ब्रह्मानंद सदा लय लीना । देखत बालक बहु कालीना ॥ ७ ३२ ४ ।,' 'ब्रह्मानद लोग सब लहहीं । बढ़उ दिवस निसि बिधि सन कहहीं ।' इत्यादि। (४) विराग' का उत्तर, यथा 'कहिअ तात सो परम बिरागी । तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी । ३ १५ ८ ।' (किसीने ज्ञानदीपक प्रसगको ज्ञान, विज्ञान के उत्तरमें दिया है पर वह पार्वतीजीके प्रश्नका उत्तर नहीं है) ।

टिप्पणी—२ "भगति ज्ञान विज्ञान " इति। भक्तिको प्रथम कहा क्योंकि ज्ञान और वैराग्य दोनों भक्तिके पुत्र हैं। 'विभाग सहित' का भाव कि इनका एक साथ भी वर्णन हो सकता है। यथा "भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव सभव खेदा । ७ ११५ ।' इस तरहका वर्णन वे नहीं चाहतीं। उनको पृथक्-पृथक् सुननेकी श्रद्धा है, इसीसे विभाग-सहित कहनेकी प्रार्थना की।

३ "औरौ राम-रहस्य अनेका।..." इति। (क) 'औरौ' का भाव कि पूर्व जो तत्व, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान आदिके प्रश्न किये वे सबभी 'रहस्य' हैं; यथा 'यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ। ७।११६।' (ज्ञान और भक्तिके भेदके संबधमें ऐसा कहा गया है)। इनके अतिरिक्त और भी जो अनेक रामरहस्य हैं उन्हें कहिए। यदि 'औरौ राम रहस्य' न कहकर केवल 'रहस्य' कहतीं तो भ्रम होता कि किसका रहस्य कहें, क्योंकि शिवरहस्य, देवीरहस्य, विष्णुरहस्य आदि अनेक रहस्य हैं। अत. 'राम रहस्य' कहकर जनाया कि केवल श्रीरामजीके और रहस्य पूछती हैं। (ख) 'अनेका' का भाव कि कोई संख्या देकर रामरहस्य पूछतीं तो प्रीतिकी इति समझी जाती कि बस इतनाही सुननेकी इच्छा है, आगे नहीं। 'अनेक' कहकर जनाया कि सब कहिए जितने आप जानते हों, एक दो कहकर न रह जाइयेगा। (ग) 'अति बिमल बिबेका" इति। रामरहस्य गुप्त वस्तु है, किसीको वह देख नहीं पड़ता और न कोई उसे जान सकता है। यथा 'यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ। जो जानइ रघुपति-कृपा सपनेहु मोह न होइ। ७ ११६।' रहस्य विमल विवेकरूपी नेत्रोंसे देख पड़ता है। यथा 'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन। १।२।२।', 'उघरहि बिमल बिलोचन ही के।...सूझहिं रामचरित-मनि-मानिक। गुपुत प्रकट जहँ जो जेहि खानिक। १।१।' अतएव 'अति बिमल बिबेका' विशेषण देकर जनाया कि आपको सब रहस्य देख पड़ते हैं। (पुन. भाव कि साधक-सिद्ध-सुजान सिद्धांजन लगाकर गुप्त वस्तु देखते हैं और भक्त लोग श्रीगुरुपदरजरूपी अंजन लगाकर विमल विलोचन पाकर गुप्त चरित्र देख लेते हैं; पर आप तो सहज ही अति निर्मल ज्ञानवान् हैं, आपको बिना किसी उपायके श्रीरामकृपासे सहज ही सब रहस्य साक्षात् देख पड़ते हैं। वै० स० में शेष और महेशको विमल विवेकी कहा है, यथा 'को बरनै मुख एक तुलसी महिमा संत की। जिन्ह के बिमल बिबेक सेष महेस न कहि सकत। ३४।' यहां 'अति बिमल बिबेक' कहकर उन्हें शेषसे भी श्रेष्ठ जनाया।

नोट—२ इस प्रश्नका उत्तर-(क) "देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड। रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥ १. २०१।' से 'यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई। २०२.८।' तक। (ख) 'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ। रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ। १.१९५। यह रहस्य काहू नहि जाना।' (ग) 'निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा। १।२४४।७।' (घ) 'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी। १.२४१.४।...'। (ङ) 'मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥ एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद चकोरा। २।११५.४-५।' (च) "लछिमनहूँ यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना।३.२४.४।' इत्यादि।

प० प० प्र०—पहले आठ प्रश्नोंके कथनमें 'कहहु' क्रिया-पद बार बार आया है। इसका कारण यह है कि वे सब प्रश्न रामचरित कथाके हैं। 'कथा' के साथ मानसमें करना या कहना या गाना क्रिया का ही प्रयोग मिलता है। जहाँ तात्त्विक सिद्धान्तोंकी चर्चा या कथनका संबंध है वहाँ कहना या करना क्रियाका प्रयोग न करके बखानना, बर्णन करना इत्यादि प्रयोग मिलते हैं। यह दोहा ४४ की टीकामें लिखा जा चुका है। वही नियम यहाँ भी चरितार्थ किया है; पर 'रहस्य' के साथ 'कहहु' कहा है। इसमें भाव यह है कि गूढ़ चरित कथाका 'रहस्य कहहु'। यह भेद ध्यानमें रखनेसे मतभेदके लिये स्थान बहुत कम हो जाते हैं।

इन प्रश्नोंके उत्तर श्रीरामकथाके कथनमें प्रसगानुकूल दिये हैं। प्रत्येक सोपानमें न्यूनाधिक प्रमाणसे गूढ़ तत्वका बखान है, भक्ति ज्ञान विज्ञान-विरागादिका विवरण है। रामरहस्योंका उद्घाटन प्रसंगानुसार यत्र-तत्र किया है। उत्तरकाण्डमें विशेषरूपसे है।

वि० त्रि०—'रामरहस्य अनेका' इति। जितनी भाँतिकी मायायें हैं उन सबोंमें रहस्य होता है। उस रहस्यके जाननेसे वह माया समझमें आ जाती है। सबसे प्रबल रामकी माया है। उस मायाका रहस्य ही

रामका रहस्य है। उसके जाननेसे राममायाका पता चलता है, अतः उसके जाननेकी बड़ी आवश्यकता है, जिसके सामने महेशके उपदेशका बल नहीं चलता। वह माया भी एक प्रकारकी नहीं है। उमाका स्वयं अनुभूत विषय है। एक मायाने उन्हें मोहित किया था और दूसरीने अनेक ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रसहित पलभरमें रचे। यह दो प्रकारकी माया तो उनकी स्वयं अनुभूति थी। अतः रहस्य भी कमसे कम दो होने चाहिये, इसलिये 'रहस्य अनेका' कहती हैं।

जौं प्रभु मैं पूछा नहि होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई ॥ ४ ॥

तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। आन जीव पाँवर का जाना ॥ ५ ॥

अर्थ—हे प्रभो! जो बातें मैंने न भी पूछी हों, वह भी, हे दयालु! छिपा न रखिएगा ॥ ४ ॥ वेदोंने, आपको त्रैलोक्यका गुरु कहा है। अन्य जीव पामर (नीच) हैं, वे क्या जानें? ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ 'जौं प्रभु मैं पूछा नहि होई।०' इति। (क) ☞श्रीपार्वतीजीके इस प्रश्नके कारण, उनके इस कथनसे, अब शिवजी अपना अनुभव भी कहेंगे, नहीं तो जितना उन्होंने पूछा था उतना ही कहते। (ख) 'दयाल' सम्बोधनका भाव कि बिना जानी हुई बातका प्रश्न कोई कर ही न सकती थीं, जितनी बातें जानती थीं उतनी हीका प्रश्न किया है, क्या और पूछने योग्य बात है सो नहीं जानतीं। अतः 'दयाल' कहकर जनाया कि दया करके औरभी जो मैंने नहीं पूछा हो, मैं न जानती हूँ, वह भी कहिए। (ग) 'राखहु जनि गोई' का भाव कि बहुत बातें गोपनीय हैं, (उन गोपनीय बातोंकोभी कृपा करके अपनी ओर से कहिए। यह प्रश्न करनेकी चतुराई है। छिपानेवाली बातें पूछती हैं इसीसे उपक्रम और उपसंहारमें प्रार्थना की है—'गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं' तथा 'सोउ दयाल राखहु जनि गोई'। पुनः, उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें 'दया' करनेको कहा है—'रघुपतिकथा कहहु करि दाया' और यहाँ 'सोउ दयाल०'। कृपाका संपुट देनेका भाव कि सबका उत्तर दया करके दीजिए। 'दया' मुख्य है। उपक्रममें पूछे हुए चरितोंको दया करके कहनेको कहा और उपसंहार में बिना पूछे हुए चरितोंको दया करके कथन करनेकी *प्रार्थना करती हैं।*☞ *कौन बातें हैं जो पार्वतीजीने नहीं पूछीं और शिवजीने कहीं?* उत्तर—अपनी चोरी अपना अनुभव। यथा 'औरौ एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ॥ काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानै नहिं कोऊ ॥ परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ॥ १९६। ३-५।', 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना। ३ ३९. ५।' इत्यादि।

प० प० प्र०—'जौं प्रभु मैं पूछा नहि होई... गोई' इति। रमणीय भाव यह है कि जिन प्रश्नोंके पूछनेकी इच्छा है पर पूछना असम्भव-सा हो रहा है, उन प्रश्नोंका उत्तर भी गुप्त न रखियेगा। ऐसे प्रश्नोंमें मुख्य है 'सीतापरित्याग'। सती-देहमें पार्वतीजी पतिपरित्याग दुःखका अनुभव भरपूर कर चुकी हैं, इससे इस प्रश्नके लिये उनकी जिह्वा खुलती ही नहीं, अतः इस सम्बन्धका प्रश्न करना असम्भव हो गया। इस प्रश्नके उत्तर का संकेत 'दुइ सुत सुंदर सीता जाए ।७।२५।६।' में है। क्योंकि आगे 'दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे' ऐसा कहा है। इस भेदमें ही सीतापरित्याग और परित्यक्त दशामें पुत्रजन्म सूचित किया है। श्रीसीता-भूमि विवर प्रवेश-विषयक ऐसा दूसरा प्रश्न है जो वे न कर सकीं। इसका उत्तर केवल दो-एक शब्दोंमें 'दोउ विजयी विनयी अति सुंदर' इस चरणमें सूचित कर दिया है। 'विजई' से रामाश्वमेध समयका विजय और 'विनई' से दोनों पुत्रोंके यज्ञमण्डपमें श्रीसीताजी और श्रीवाल्मीकिजीके साथ आकर रामायण गान करके जो विनय दिखाया है उसकी ओर संकेत है। इसीके सम्बन्धसे भूमि विवर प्रवेश ज्ञात होता है। ऐसा ही तीसरा प्रश्न जिसके पूछनेका साहस न हुआ वह है 'लक्ष्मणजीका निर्याण', इसका उत्तर 'एक बार बसिष्ठ मुनि आए। जहाँ राम सुखधाम सुहाए। अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक लीन्हा।' में

गूढ़ ध्वनि द्वारा संकेत किया गया है। यहाँ पद-प्रक्षालन सेवा स्वयं रघुनाथजीने की है। (ठीक है। पर एकान्तमें मिलनेके कारण स्वयं करना उचित है। हनुमान्‌जी अथवा कोई भ्राता भी साथमें नहीं है। कोई भी साथ होता तो वसिष्ठजी न आ सकते थे। यह भी कहा जा सकता है)।

इन प्रसंगोंके स्पष्ट वर्णनके लिये जो कठिनता हृदयमें चाहिए वह गोस्वामीजीके कोमल हृदयमें नहीं है, अतः उनसे भी इन प्रसंगोंका स्पष्ट कथन न करते बना।

टिप्पणी—२ "तुम्ह त्रिभुवन गुर वेद बखाना।' ' " इति। (क) 'त्रिभुवन गुर' का भाव कि आप सबके गुरु हैं, अतः कथा कहकर त्रैलोक्यवासियोंका उपकार करना आपका कर्त्तव्य है, सो कीजिए। (ख) 'पॉवर का जाना' अर्थात् अपनेसे वे कुछ नहीं जान सकते, जो आप कहेंगे वही वे जानेंगे। भाव कि सब जीवोंको कृतार्थ कीजिए, सबोंपर कृपा करके सब पदार्थ प्रकट कर दीजिए। [पुन. 'आन जीव पावर' का भाव कि आप पामर जीवोंमें नहीं हैं, आपकी गणना तो ईश्वरकोटिमें है, कारण कि आप मोक्षाधिकारी हैं अर्थात् स्वयं जीवन्मुक्त रहते हुए दूसरोंको मुक्ति प्रदान करते हैं। (वे० भू०)। (ग) उमाजीके प्रश्नोंका प्रकरण यहां समाप्त हुआ। 'विश्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा विदित तुम्हारी।१०७.७।' उपक्रम है और 'तुम्ह त्रिभुवन गुर०' उपसंहार है।]

प० प० प्र०—जबतक पति-पत्नी-भावसे प्रार्थना करती रहीं तबतक रामकथा कहनेका विचार शिवजी-के मनमें नहीं आया। 'तुम्ह त्रिभुवन गुर' कहनेसे अब गुरु-शिष्य- संबंध प्रस्थापित होनेपर कथाका उपक्रम करेंगे। (सब प्रश्न यहाँ समाप्त हो गये। अन्तमें इसपर समाप्त करके जनाया कि दूसरा कोई इनका यथार्थ उत्तर दे नहीं सकता। उपक्रममें 'विश्वनाथ' और 'त्रिभुवन' शब्द हैं, उपसंहारमें भी 'त्रिभुवनगुर' है। उनके चुप हो जानेपर उत्तरका आरंभ हुआ)।

उमा-प्रश्न-प्रकरण समाप्त हुआ।

प्रश्नोत्तर-प्रकरणारंभ

प्रश्न उमा के[1] सहज सुहाई। छल-बिहीन सुनि सिव मन भाई॥ ६॥
हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ ७॥

शब्दार्थ—आए = झलक पड़े, स्मरण हो आए।

अर्थ श्रीपार्वतीजीके छलरहित सहज ही सुंदर प्रश्न सुनकर शिवजीके मनको भाए॥ ६॥ हर (श्री-शिवजी) के हृदयमें सब रामचरित आ गए। प्रेमसे शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें जल भर गया॥७॥

टिप्पणी—१ 'प्रश्न उमाके ' ' इति। गोस्वामीजी सर्वत्र 'प्रश्न' शब्दको स्त्रीलिंग ही लिखते हैं। यथा 'प्रश्न उमाके सहज सुहाई' (यहां), 'धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी। ७.६५.७।' इत्यादि। (ख) 'सहज सुहाई' अर्थात् बनावटी नहीं; यथा 'उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। १.११३।' छलरहित होनेसे 'सुहाई' कहा। अपना अज्ञान एवं जो बातें प्रथम सतीतनमें छिपाये रही थीं, यथा 'मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई', वह सब अब कह दीं; इसीसे 'छल विहीन' कहा। यथा 'रामु कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं। २३७.२।' ईश्वरको छल नहीं भाता, यथा 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।५.४४.५।' ये प्रश्न 'छल विहीन' हैं, अतः मनको भाए। (ख) प्रश्न 'सुहाये' और 'मन भाये' हैं यह आगे शिवजी स्वयं कहते हैं—'उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। सुखद संत संमत मोहि भाई। ११४ ६।'

---

[1] के—१७२१। के—१६६१, १७०४, १७६२। कर-छ०, को० रा०।

नोट—१ प्रश्न चार प्रकारके होते हैं—उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम। उत्तम प्रश्न छलरहित होते हैं, जैसे कि जिज्ञासु जिस बातको नहीं जानते उसकी जानकारीके लिये गुरुजनोंसे पूछते हैं जिससे उनके मनकी भ्रान्ति दूर हो। फिर उन बातोंको समझकर वे उन्हें मनन करते हैं। यथा 'एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छल हीना। ३.१४.५।' मध्यम प्रश्न वह है जिनमें प्रश्नकर्ता वक्तापर अपनी विद्वत्ता भी प्रगट करना चाहता है जिससे वक्ता एवं और भी जो वहाँ बैठे हों वे भी जान जायँ कि प्रश्न-कर्त्ता भी कुछ जानता है, विद्वान् है। निकृष्ट प्रश्न वह है जो वक्ताकी परीक्षा हेतु किये जाते हैं। और अधम प्रश्न वे हैं जो सत्सग-वार्तामें उपाधि करने, विघ्न डालनेके विचारसे किये जाते हैं। ☞ पार्वतीजीके प्रश्न उत्तम हैं क्योंकि वे अपना संशय, भ्रम, अज्ञान मिटानेके उद्देश्यसे किये गए हैं। यथा "जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी॥ तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। ' । १०८ १-२।', 'जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू', 'अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें।१०६ २,५।' इत्यादि।

२ कुछ महानुभावोंने इस विचारसे कि 'प्रश्न' शब्द पुल्लिंग है और 'सुहाई' स्त्रीलिंग, 'सुहाई' और 'छल बिहीन' को 'उमा' का विशेषण माना है, पर यह उनकी भूल है। ग्रंथकारने इस शब्दको स्त्रीलिंगका ही माना है।

टिप्पणी- २ "हर हिय रामचरित सब आए। " इति। (क) पूर्व कहा था कि "रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा। ३५।११।" इससे स्पष्ट है कि सब रामचरित शिवजीके हृदयमें है, तब यहाँ यह कैसे कहा कि शिवजीके हृदयमें आए? इस शंकाका समाधान यह है कि बात सब हृदयमें रहती है पर स्मरण करानेसे उनकी सुध आ जाती है। मानसग्रंथ हृदयमें रहा, पर पार्वतीजीके पूछनेसे वह सब स्मरण हो आया। यही भाव हृदयमें 'आए' का है। यथा "सुनि तव प्रश्न सप्रेम सुहाई। बहुत जनम कै सुधि मोहि आई।७।६४।३।" [भुशुण्डीजी सब जानते थे, पर गरुड़जीके प्रश्न करनेपर वे सब सामने उपस्थितसे हो गए, स्मरण हो आए। श्रीमद्भागवतमें इसी प्रकार जब वसुदेवजीने देवर्षि नारदजीसे अपने मोक्षके विषयमें उपदेश करनेकी प्रार्थना की, यथा 'पृच्छेमहाऽजसैवाद्धा तथा न शाधि सुव्रत। ११।२।६।', तब देवर्षि नारदजीने भी ऐसा ही कहा है यथा "त्वया परमकल्याण पुण्यश्रवणकीर्त्तन। स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम॥ १२॥" अर्थात् आपने परमकल्याणस्वरूप भगवान् नारायणका मुझे स्मरण कराया जिनके गुणानुकीर्त्तन पवित्र हैं। वैसे ही यहाँ समझिये। पुनः जैसे पंसारीकी दूकानमें सब किराना रहता है पर जब सौदा लेनेवाला आकर कोई एक, दो, चार वस्तु माँगता है तब उसके हृदयमें उस वस्तुका स्मरण हो आता है कि उसके पास वह वस्तु इतनी है और अमुक ठौर रक्खी है। इसी तरह जैसे-जैसे पार्वतीजीके प्रश्न होते गए वैसे ही वैसे उनके उत्तरके अनुकूल श्रीरामचरित चित्तमें स्मरण हो आए] पुनः, हृदयमें 'आए' का भाव कि सब प्रश्नोंके उत्तर मुखाग्र कहने हैं, सब चरित शिवजीको कंठ हैं, उनके हृदयसे ही निकलेंगे, पोथीसे नहीं। (ख) 'सब' अर्थात् जो चरित पूछे हैं एवं जो नहीं पूछे हैं वे भी। (ग) 'प्रेम पुलक ' इति। चरित स्मरण होनेसे प्रेम उत्पन्न हुआ, यथा 'रघुबर भगति प्रेम परमिति सी।१.३१.१४।' उससे शरीर पुलकित हुआ क्योंकि शिवजीका श्रीरामचरितमें अत्यन्त प्रेम है, यथा 'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। १ ३२.८।' (घ) ['हर' शब्द देकर जनाया कि वे रामचरित कहकर उनका दुःख हरेंगे]।

श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥८॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका रूप हृदयमें आ गया। उन्हें परमानन्दका अमित सुख प्राप्त हुआ॥८॥

टिप्पणी—१ (क) श्री=शोभायुक्त। दूसरे चरणमें शोभाका आधिक्य दिखाते हैं। परमानन्दस्वरूप श्रीशिवजी भी शोभाको देखकर असीम सुखको प्राप्त हुए। (पं० रामकुमारजी 'परमानंद' शब्दको

शिवजीमें लगाते हैं । (ख) प्रथम 'हर हिय रामचरित सब आए' कहकर तब 'श्रीरघुनाथरूप उर आवा' कहनेका भाव कि जब रामचरित हृदयमें आता है तभी रामरूप हृदयमें आता है, यथा 'रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु। तुलसी सुभग सनेह बन सिय-रघुबीर-बिहारु। १।३१।' श्रीरामचरित और श्रीरामरूप हृदयमें आए। रामचरित सुनाना है और श्रीरामरूपका भ्रम (जो पार्वतीजीको है उसे) दूर करना है, इसीसे ये दोनों हृदयमें आकर प्राप्त हुए। पुन, रामचरित आनेपर तब श्रीरामरूप हृदयमें आया, क्योंकि रामचरितमें श्रीरामरूप कथित है, जब चरित कहा जाता है तब इसमें रामरूपका वर्णन होता है; अतः रामरूप पीछे आया। [नाम-स्मरणके प्रभावसे रूपका अनायास हृदयमें आना कहा गया है, यथा 'सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेषे।' और यहाँ चरितसे हृदयमें रूपकी प्राप्ति कही। इस प्रकार रामनाम और रामचरितकी समानता दिखाई। प. प. प्र.]।

नोट—१ प्रथम चरित आता है, उससे प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेमसे रूपका साक्षात्कार होता है। ठीक यही दशा क्रमशः शिवजीकी हुई। यथा 'हर हिय रामचरित सब आए', 'प्रेम पुलक लोचन जल छाए', तब 'श्रीरघुनाथ रूप उर आवा।' श्रीदशरथजी महाराजने श्रीजनकपुरसे आई हुई पत्रिका जब पाई और उसमें श्रीरामजीके चरित पढ़े तब उनकी भी क्रमशः यही दशा हुई थी। यथा 'बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥ राम लषन उर कर बर चीठी। १।२९०।४-५।' 'रामकथा मंदाकिनी '। १।३१।' भी इसी भावका पोषक है।

बाबा हरीदासजी—श्रीशिवजी अबतक कहाँ रहे जो गिरिजाजीके सुध कराने पर चरित और ध्यान उदय हुए?" (संभवतः उनकी शंका यह है कि उनका ध्यान अबतक कहाँ रहा?)। समाधान "जबसे सतीजीसे वियोग हुआ तबसे गिरिजा समान श्रीरामकथाका श्रवणरसिक तथा श्रीशिवजीसे पूछनेवाला कोई और न मिला। अथवा, वे अबतक परात्पर निर्गुण ब्रह्मके ध्यानमें रहे, वही पिछला अभ्यास बना रहा, जब उमाजीने सुध कराई तब उनके हृदयमें रामचरित और ध्यान उदय हुए।"

नोट—२ कोई-कोई 'श्रीरघुनाथ' से 'श्रीसीताजीसयुक्त श्रीरामजी' का अर्थ करते हैं, जैसे 'बसहु हृदय श्री अनुज समेता। ३।१३।१०।', 'श्रीसहित दिनकरबंसभूषन काम बहु छबि सोहई। ७।१२।' इत्यादिमें 'श्री' शब्द श्रीसीताजीके लिए आया है। परन्तु आगे 'बंदौं बालरूप सोइ रामू। ११२।२।' कहा गया है, इससे यहाँ बालरूपका ही हृदयमें ध्यान होना निश्चित है। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि यहाँ वही रूप अभिप्रेत है जिसके दर्शन उन्हें पार्वतीजीसे विवाह करानेके लिए हुआ था।

प. प. प्र.—'रूप उर आवा' इति। पार्वती-विवाह प्रकरणमें श्रीरामजीने जिस रूपमें प्रकट होकर दर्शन दिया था, वसे शिवजीने हृदयमें रख लिया था, पर दीर्घकाल तक निर्गुण-निर्विकल्प-समाधि और पार्वती विवाह तथा उसके पश्चात् दीर्घकाल तक गिरिजारमण होकर शृंगार-लीला विहारके कारण वह सगुण मूर्ति विस्मृत सी हो गई थी। अब चरित्र-स्मरणके प्रभावसे वही मूर्ति प्रगट हुई, ऐसा मानना ही पूर्व संदर्भ और वस्तु स्थितिके अनुरूप है। 'श्रीरघुनाथ' शब्दोंका भी उसी रूपसे सबंध है।—'प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूप सीलनिधि तेज बिसाला'। श्री='तेज बिसाला'। वही रूप हृदयमें आया क्योंकि यहाँ भी पार्वतीजी ही निमित्त बनी हैं।

नोट—४ 'परमानंद अमित सुख पावा' इति। (क) उत्तरकाण्डमें श्रीभुशुण्डीजीके वचन हैं कि "जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति। ७।८८।', इन्हीं वचनोंकी अपेक्षासे इन्हींके अनुसार यहाँ 'अमित परमानद सुख' कहा। श्रीरामदर्शनका सुख ऐसा ही है, यथा "चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु-सतरूपा॥ हरष बिबस तन दसा भुलानी।

१।१४८।', "जाहि जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद। १।२०३।' इत्यादि। (ख) 'अमित सुख' का स्वरूप आगे दिखाते हैं—'मगन ध्यानरस'।

दोहा—मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह ॥१११॥

शब्दार्थ—दंड-'दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर' १।८५ छंदमें देखिए।=घड़ी, साठ पल या चौबीस मिनटका काल। रस=वेग, आनंद-'रसो ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तैत्ति० आनंदवल्ली अनुवाक ७)। =किसी विषयका आनंद, यथा 'जो जो जेहि जेहि रस मगन तहँ सो मुदित मन मानि'।=मनकी तरंग। ध्यानरस=ध्यानजनित आनंद, यथा 'जाग न ध्यानजनित सुख पावा।३।१०।१७।'

अर्थ—श्रीमहादेवजी ध्यानके आनन्दमें दो दंड तक मग्न रहे, फिर उन्होंने मनको बाहर किया और हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीका चरित वर्णन करने लगे॥ १११॥

टिप्पणी—१ (क) मन ध्यानरसमें मग्न हो गया, बाहर नहीं होना चाहता था, क्योंकि मूर्त्ति अत्यंत मधुर है, मनोहर है। यथा 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी। २१५।८।', 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी। ३३७.४।', इसीसे ध्यानको 'रस' कहा। चरित हृदयमें आए, श्रीरामरूप हृदयमें आया, दो दंड श्रीरामरूपमें मनको मग्न किये रह गए, फिर उसे ध्यानसे अलग किया। इसीसे 'कीन्ह' पद दिया। (ख) 'बाहेर कीन्ह' से सूचित करते हैं कि जबरदस्ती हठपूर्वक मनको ध्यानसे हटाया। (ग) 'परमानंद अमित सुख' को छोड़कर मनको किसलिये बाहर किया?" इसका उत्तर यह है कि ध्यान करनेके लिये इस समय बहुत कालका अवकाश नहीं है, हरिचरित्र वर्णन करना है, इसीसे हरिचरित्र वर्णन करनेमें मनको लीन किया। ☞ इसी तरह सभी भक्त चरित्रके लिये ध्यान छोड़ देते हैं। यथा 'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। ७।४२।' (सनकादिकजी), 'राम लखनु उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी॥ पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची। १।२९०।' (श्रीदशरथजी)। क्योंकि भक्तोंको भगवान्से भगवान्के चरित्र प्रिय हैं—"प्रभु ते प्रभु चरित पियारे" इति गीतावल्याम्। पुनः ऐसी मूर्तिका परम आनंद छोड़कर <u>कथा कहने लगे, यह कथाका माहात्म्य है</u>। यहाँ कथाका यह महत्त्व दिखाकर कथाकी विशेषता दिखाई है। [और भी उत्तर ये हैं—(३) कदाचित् ध्यानमें समाधि लग जाय तो प्रश्नकर्ता बैठा ही रह जायगा। इस समय पार्वतीजी कथा सुननेको अति उत्कंठित हैं। (पं०)। (४) ध्यानमें स्वार्थ था और चरितसे परमार्थ होगा अर्थात् श्रीरामचरित कहनेसे तीनों लोकोंका उपकार होगा और ध्यानमें केवल अपने हीको सुख है, यह जानकर ध्यान छोड़ा। (पं०)। (५) ध्यानमें मग्न होकर श्रीरामचरित वर्णन करनेके निमित्त वृत्तिका उत्थान किया। ध्यान करनेका कारण यह है कि ध्यानके पश्चात् वचन मधुर और स्निग्ध होकर निकलते हैं। (पं०)। (६) आनंद ध्यान और यश दोनोंमें तुल्य है। अतः कुछ काल ध्यान किया फिर यश कथन करने लगे। जैसे, कोई पेड़ा खाकर जलेबी खाय। (रा० प्र०)। (७) सब कार्योंके प्रारंभमें ध्यान करना विधि है। अतएव ध्यान करके तब कथा आरम्भ की। (रा० प्र०)। (८) ध्यान करनेका हेतु यह था कि प्रभुसे प्रार्थना करें कि वह शक्ति प्रदान करें जिससे हमारे कथनसे इनका महामोह वा भ्रम दूर हो। (रा० प्र०)। वा, (९) ध्यानमें प्रश्नोंपर विचार करते रहे जब विचार आ गए तब मनको बाहर किया (रा० प्र०)।] (१०) प्रश्न सुनतेही सब चरित हृदयमें आतेही वे गद्गद् हो उनके आनंदमें मग्न हो गए, परंतु प्रश्नोंका उत्तर देना था उस संस्कारसे फिर देहपर आगए।

नोट—श्रीबैजनाथजी ध्यानरसका अर्थ 'शान्तरस' करते हैं। भाव यह कि "शान्तरसमें डूबे रहे फिर मन बाहर किया अर्थात् परमहंसी वृत्ति छोड़ सज्जनोंकी वृत्ति धारण की। यहाँ शान्तरसमें परमात्मा

श्रीरामरूप आलंबन और आत्मतत्त्व उद्दीपन है, इत्यादि ।" इस भावमें "रस" = वह आनन्दात्मक चित्तवृत्ति या अनुभव जो विभाव अनुभाव और संचारीसे युक्त किसी स्थायीभावके व्यंजित होनेसे उत्पन्न होता है। "पार्वतीजीका प्रश्न सत्संग मूलक है, प्रेम जल पाकर उससे रामचरित अंकुर हुआ, जिसके चिंतनसे इन्द्रियोंकी वृत्ति अहंकारमें, अहंकार चित्तमें, और चित्त बुद्धिमें लीन हो गए। बुद्धि पाकर मन शुद्ध हो आत्मरूपमें, आत्मरूप श्रीरामरूपमें लीन हो गया।" (वै०)।

टिप्पणी—२ "हरषित बरनै लीन्ह" इति। ☞श्रीरामचरितका वर्णन महात्मा लोग हर्षपूर्वक ही किया करते हैं। यथा 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं। १।४१।६।' अब इनके उदाहरण सुनिये। चारों वक्ताओंकी हर्षपूर्वक प्रवृत्ति इसी ग्रंथमें देख लीजिए। यथा—(क) 'भयेउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू।१।३६।१०।' (श्रीगोस्वामीजी)। (ख) "सुनु मुनि आजु समागम तोरें। कहि न जाइ जस सुख मन मोरें॥ रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सतकोटि अहीसा॥ तदपि जथाश्रुत कहौं बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी। १।१०५।' (श्रीयाज्ञवल्क्यजी)। (ग) "करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी।१।११२।४।' (श्रीशिवजी)। (घ) "भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुनगाहा। ७।६४।६।' (श्रीभुशुण्डीजी)।

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥१॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥२॥

शब्दार्थ—भुजग = सर्प। रजु (रज्जु) = रस्सी। जाइ हेराई = खो जाता है, अदृश्य हो जाता है; विस्मृत हो जाता है; नगण्य हो जाता है।

अर्थ—जिनको बिना जाने झूठा भी सत्य जान पड़ता है, जैसे रस्सी को बिना पहचाने (उसमें) साँप (का भ्रम हो जाता है)॥ १॥ जिसके जान लेने पर संसार खो जाता है, जैसे जागनेपर स्वप्नका भ्रम जाता रहता है॥२॥

नोट—१ यहाँसे लेकर 'करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी'''। ११२।४।' तक वस्तुनिर्देशात्मक तथा नमस्कारात्मक मंगलाचरण है।

वस्तुनिर्देशात्मक वह मंगलाचरण कहलाता है जिसमें वक्ता सूत्ररूपसे वह समस्त कथा बीजरूपसे कह जाता है जो वह वर्णन करना चाहता है। समस्त रामचरितमानसका तात्पर्य पार्वतीजीका मोह छुड़ाना है और वह रामरूपका ठीक ज्ञान करादेनेहीसे होगा। अत यहाँ शिवजीने श्रीरामजीके ठीक रूपका ज्ञान करानेके हेतुही यह चौपाई कही है। गोस्वामीजीके समस्त काव्यग्रन्थोंमें इस प्रणालीका निर्वाह बड़ी खूबी-से हुआ है, सैकड़ों उदाहरण उसके रामचरितमानसहीमें पाये जाते हैं। यथा 'नीलाम्बुज श्यामल कोमलाङ्ग सीता समारोपित वामभाग। पाणौ महासायक चारुचाप नमामि राम रघुवंश नाथ॥', 'गई बहोरि गरीब निवाजू।' इत्यादि। 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें' और 'जेहि जाने जग जाइ हेराई' उपमेयवाक्य हैं और 'जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें' तथा 'जागे जथा सपन भ्रम जाई' उपमान वाक्य हैं। दोनों वाक्योंमें 'जिमि' और 'जथा' वाचकपद देकर समता दिखाई है। अतएव इनमें 'उदाहरण अलंकार' है।

"झूठेउ सत्य'''" इति।

(समन्वय-सिद्धान्तानुसार)

१—यद्यपि अद्वैत सिद्धान्तमेंही रज्जुसर्पके दृष्टांतसे जगत्को मिथ्या कहना प्रचलित है तथापि श्रीमद्गोस्वामीजीने इन (रज्जुसर्पादि) प्रचलित दृष्टान्तोंको समन्वय सिद्धान्तमेंभी सुगमताके साथ लगाया है जिससे सभी दृष्टान्त समन्वयसिद्धान्तमें लग जाते हैं और इसकी उपादेयता भी बढ़ जाती है।

मानसपीयूषके इस संस्करणके परिचयमें बताया जा चुका है कि श्रीमद्गोस्वामीजी भगवान् बोधायनाचार्यके समन्वयसिद्धान्तके पूर्ण अनुयायी हैं। इस समन्वय सिद्धान्तका विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त नाम पड़ने परही लोगोंमें परस्पर भेदभाव मालूम पड़ने लगा है; भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजीने अपने आचार व्यवहारोंसे उस व्यापक सिद्धान्तसे जनसमुदायको अपनाया। उन्हींके शिष्यप्रशिष्योंमें श्रीगोस्वामीजी हैं। अतः उनके रचित इस मानसमेंभी उसी तरह व्यापक शब्दोंके प्रयोग भरे पड़े हैं जिससे लोगोंको अद्वैत सिद्धान्तप्रतिपादनकीही भावना होती है।

समन्वय सिद्धान्तमें 'झूठ, मृषा, मिथ्या, असत्य' का अर्थ महर्षि पतंजलिके "विपर्ययो मिथ्या ज्ञानमतद्रूपं प्रतिष्ठम्" इस सूत्रके अनुसार 'विपरीत वा अयथार्थ ज्ञानका विषय' है। अर्थात् जिस वस्तुका ठीक-ठीक ज्ञान हमें नहीं हुआ, जिसको हम कुछका कुछ समझ रहे हैं।

'सत्य' का अर्थ है 'यथार्थ ज्ञानका विषय' अर्थात् जिसको हम ठीकठीक जानते हैं।

समन्वयसिद्धान्तमें 'ब्रह्म' शब्दसे 'चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' काही ग्रहण होता है। अर्थात् चिदचित् जगत् ब्रह्मका शरीर है और ब्रह्म इसका शरीरी अन्तर्यामी आत्मा है। तात्पर्य यह कि जो चराचर जगत् हमारे दृष्टिगोचर हो रहा है वह वस्तुतः 'चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' ही है। परन्तु हमने उस अन्तर्यामी ब्रह्मको उस रूपमें न जानकर केवल उसके एक अंश परिणामी जगत्को एकरस नित्य मान लिया (और उसीमें हम आसक्त हो गए), यही 'अयथार्थ ज्ञान' है और जगत् 'अयथार्थ ज्ञानका विषय' है अतः 'झूठा' है। यदि हम अन्तर्यामी ब्रह्मको जगत्के शरीरीरूपमें जानते होते तो यह 'झूठा' न कहा जाता।

यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि "रज्जु सर्पका दृष्टान्त अद्वैतसिद्धान्तमेंही ठीक बैठता है, क्योंकि जैसे केवल रज्जुमें उससे अत्यन्त भिन्न सर्पका भास होता है, वैसेही केवल ब्रह्ममें जगत्का भास होता है और समन्वय सिद्धान्तमें तो ब्रह्म सदा चिदचिद्विशिष्ट होनेसे जगत् सूक्ष्मावस्थामेंभी उसमें वर्तमान है, रज्जुमें यदि सर्प होता तो यह दृष्टान्त ठीक होता ?" यह भी प्रश्न होता है कि "रज्जुमें सर्पकी कौन सत्ता विद्यमान है जिससे सर्पका भ्रम हो जाता है, क्योंकि रज्जु और सर्पके लिये तो पंचीकरण-प्रक्रियाकाभी संघट्ट नहीं हो सकता ?"

उसके समाधानके लिए हमें प्रथम सिद्धान्त जान लेना चाहिए कि समन्वय सिद्धान्तमें दार्शनिकोंने 'आकृति' को भी शब्दोंका वाच्य माना है। उसीको 'जाति' आदि शब्दोंसे भी व्यवहार किया जाता है। इसीसे रज्जु, जलरेखा तथा भूदलनादिमेंही सर्पकी भ्रान्ति होती है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि अन्यत्र आकृति भी नहीं पाई जाती।

अवयवरचनाविशेषको जाति माना जाता है। गौकी आकृतिविशेषको ही गोत्व जाति कहते हैं। वह आकृति जहाँ भी होगी, उसको गौ माना जायगा। इस सिद्धान्तानुसार सर्पका लंबापन, वर्तुलाकार आदि कुछ आकार-विशेष रज्जुमें होनेसे रज्जुमें सर्प भी वर्तमान है। जैसे ब्रह्मके साथ जगत् भी है, वैसे ही रज्जुके साथ सर्प भी है। अतः दृष्टान्तमें कोई वैषम्य नहीं आता।

इसपर शंका हो सकती है कि "जब रज्जुमें नित्य सर्प है ही तब जो लोग व्यवहारमें यह कहते हैं कि 'यह रज्जु है' 'यह सर्प है' इसकी व्यवस्था किस प्रकार होगी ?" इसका समाधान यह है कि रस्सीमें रस्सीके अवयव बहुत हैं और सर्पके अवयव कम हैं, अतः रस्सीमें रस्सीके अवयव विशेष होनेसे उसे रस्सी कहा जाता है। परन्तु जब अंधकारादि दोषरूप प्रतिबंधकोंसे उसके अवयव आच्छादित हो जाते हैं तब उसमें स्थित सर्पके जो अवयव हैं, वे अनुभवमें आते हैं, इसीसे उसमें सर्पका भास होता है। जब प्रकाश आदिसे अन्धकारादि दोषरूप प्रतिबंधकोंका नाश हो जानेपर रज्जुके अवयव अनुभवमें आते हैं तब रज्जुका ज्ञान होनेसे सर्पका अनुभव नहीं होता।

इस प्रकार रज्जुमे कुछ अंशोमे सर्पकी स्थिति होनेपर वह अव्यवहारी अर्थात् व्यवहार करनेमे अयोग्य है, अत उसको सर्प नहीं कहा जाता। पुन, 'झूठा' का अर्थ परिणामी अर्थात् परिवर्तन शील और 'सत्य' का अर्थ 'अपरिणामी' अर्थात् 'स्थिर' भी ले सकते हैं। परमात्माको न जाननेसे जीव इस परिवर्तनशील जगत्को स्थिर समझकर उसमे फँसता है। अत इन चौपाइयोंसे भ्रमकी निवृत्ति की गई है।—(व्या० न्या० मीमासा० वेदान्ताचार्य सार्वभौम वासुदेवाचार्यजी)।

२ बाबा जयरामदासजी—'झूठेउ सत्य ' इति। जैसे—'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं' मे कुछ लोगोंका कहना है कि गोस्वामीजीने जगत्को मिथ्या माना है, वैसे ही यहापर उनके मतानुसार जगत्-प्रपंचको झूठा कहा गया है। परन्तु यहापर भी पूर्व (रज्जौ यथाऽहेर्भ्रम) की तरह सर्प और रस्सीकी उपमा है। अतएव यहा भी उसी प्रकार प्रकट जगत्के नानात्वका सत्य भासना मृषा है, न कि जगत्। ❀ इसके बादकी चौपाइयॉ स्पष्ट बतला रही हैं कि यह जगत् जब रामरूपमे यथार्थ भासता है तब इसका नाना-रूप प्रतीत होना खो जाता है, यथा 'जेहि जानें जग जाइ हेराई। ' तथा 'बंदउँ बालरूप सोइ रामू '। तात्पर्य यह कि जिस रूपमे हम जगत्को देख रहे हैं वह सत्य नहीं है, इसका रूप राममय है। अत इस जगत्का नानाकार झूठा है, न कि जगत्ही झूठा है, जगत् तो रामरूप आकारमे सत्य है, क्योंकि जब हमको जगत् निजप्रभु राम-मय जान पड़ता है तब इसका नानात्व इसी प्रकार गायब हो जाता है जिस

❀"यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं" मे जगत्को मिथ्या मानना अद्वैतवाद कहा जाता है। बाबा जय-रामदास 'दीन' जी लिखते हैं कि अद्वैतवादके निरासमे यहाँ पहले तो 'यत्सत्वात्' (जिस प्रभुकी सत्तासे ऐसा हो रहा है—'नाथ जीव तव माया मोहा'। फिर श्लोकके प्रथम और अद्वैतवादके विरोधी तीसरे चरणपर ध्यान देना चाहिये। यह 'यत्' कौन है यह चौथे चरणमे बताकर उनको प्रणाम किया गया है। 'यन्माया ' से उन्हें कर्मयोगका अधीश्वर, 'यत्सत्वात् ' से ज्ञानका आधार और 'यत्पादप्लव ' से उन्हें उपासनाका आधेय बताया गया है। अतिम चरणमे उन्हींको "अशेषकारण परम्" बताया है। इससे अवतारवाद और सेव्यभाव स्पष्ट सिद्ध होता है।

अब रहा यह प्रश्न कि जगत् मृषा कितने अंशमे मालूम होता है। इसका निर्णय दी हुई उपमासे ही कीजिये। रस्सीको सॉप मानना मिथ्या है, न कि रस्सी और सॉप ये दोनों मिथ्या हैं, क्योंकि यदि सॉपका अस्तित्वही न होता तो उसका भ्रम ही कहॉसे आता? इसी प्रकार यह जगत् कारणरूपसे सत्य और कार्यरूपमे मृषा है, इसीसे हमे रामरूप जगत्मे नानारूप जगत्की भ्रान्ति हो रही है। अर्थात् है तो यह जगत् (स्थावर जगम) श्रीरामरूप —'अग जग रूप भूप सीतावर' (वि० प०), परन्तु हमलोगो को प्रभुकी ही मायाके आवरणके कारण नानारूपमे भास रहा है। जैसे रस्सी यथार्थमे है, वैसे ही यह समस्त जगत् रामरूपमे यथार्थ है—'सीयाराममय सब जग जानी', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत', 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत'।

जिस तरह रज्जुमे सर्पका भ्रम मिथ्या है, उसी तरह इस रामरूप जगत्मे गृह, वृक्ष, पर्वत, सरिता, पशु, पक्षी, पुत्र, कलत्र आदि नानात्वका भासना झूठा है। (मानसरहस्य)। परन्तु सर्प किसी समय देखा सुना हुआ है, सर्पका होना मिथ्या नहीं है। "नानारूप जगत् विशेषण या शरीररूपमे सत्य देखा गया है परन्तु जगत्का विशेष्य या स्वतत्ररूपसे देखना ही झूठा है, मिथ्या है।—(मा० पी० स०)। अत यह विधिप्रपंच भी कारणरूपसे नित्य और अनादि है। यथा 'विधि प्रपच अस अचल अनादी।", 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।' (गीता १३।१९)। अतएव जगत्को सर्वथा मिथ्या नहीं कहा गया है, किंतु इस प्रकट जगत्का नानारूपमे सत्यसा प्रतीत होना मिथ्या माना गया है।

प्रकार जागनेपर स्वप्नका भ्रम नष्ट हो जाता है। स्वप्नका भ्रम क्या है—'सपनें होइ भिखारि नृपु रंक नाकपति होइ'। अर्थात् कोई राजा स्वप्नमे अपनेको भिक्षुकके रूपमे जानता या देखता है अथवा कोई भिक्षुक अपनेको इन्द्ररूपमे देखता है। परन्तु स्वप्नमे राजाका भिक्षुक होना तथा भिक्षुकका इन्द्र होना मिथ्या था, न कि संसारमें भिक्षुकका होना और स्वर्गमें इन्द्रका होना। ये दोनों बातें सत्यही हैं, केवल स्वप्नमें उन व्यक्तियोंका अपने लिये ऐसा परिवर्तन देखना झूठा था। इसी प्रकार जगत्को झूठा न कहकर उसमें जो नानात्व भासता है, उसे ही झूठा कहा गया है। साथही जगत् जिस रामका रूप है, उसकी वन्दना भी गई है और नामजप (उपासना) की बात कही गई है, जो अद्वैतवादके विरुद्ध है। (मानसरहस्य)।

वेदान्तभूषणजी—'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजग बिनु रजु पहिचानें॥ जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाइ' इति। जैसे यहाँ श्रीशिवजी मङ्गलाचरण करते हुए जगत् और श्रीरामजीमे परस्पर स्वभाव तथा स्वरूपके भेद बतलानेके लिये रज्जु और भुजगका दृष्टान्त देते हैं वैसे ही श्रीगोस्वामीजीने भी अपने मङ्गलाचरणमे 'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' से यही बात कही है। इन प्रकरणोंमे जगत्के मिथ्यात्वका तात्पर्य्य नहीं है क्योंकि जो पदार्थ नित्य तथा भगवदाश्रित रहते हैं वे कभी मिथ्या हो ही नहीं सकते, कारण कि भगवान् भी मिथ्या नहीं हैं। जगत् नित्य और हरि-आश्रित है, यथा 'बिधि प्रपंच अस अचल अनादी' और 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई' इत्यादि। इसीसे यहाँ मिथ्या न कहकर भ्रम कहा गया है। 'भ्रम' का अर्थ है 'औरका और समझ पड़ना' जैसे कि भूदलन, जलरेग और रज्जुका सर्प आदि। वैसे ही भ्रममे पड़कर अस्वतंत्र जगत्को स्वतंत्र मान लेना झूठा है, इसीसे 'भ्रम' कहा। 'जग जाइ हेराई' कहकर केवल अदृश्य होना कहा, मिथ्या नहीं। क्योंकि जगत् तो सदैव सृष्टिक्रमानुसार बना ही रहता है, केवल जिस भाग्यभाजन जीवपर परमात्माकी निर्हेतुकी कृपा हो जाती है वह मुक्त हो जाता है और त्रिपादविभूति श्रीसाकेतमे जानेपर वह ब्रह्मके सहित संपूर्ण कामनाओंको भोगते हुए आप्तकाम हो जाता है, यथा 'यो वेद निहितं गुहायाम्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (तैत्ति० आ० १.१)।

प० रामकुमारजी—१ 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें।०' इति। ☞ यहाँ झूठ जगत्के लिये और 'जाहि' आगेका 'जेहि' श्रीरामचन्द्रजीके लिये आया। जगत्का ग्रहण 'जेहि जाने जग जाइ हेराई' से और 'राम' का ग्रहण 'बंदौं बालरूप सोइ रामू' इन अगले चरणोंसे हुआ। ☞ यह भी स्मरण रहे कि यहाँ दृष्टान्त एकदेशीय है, सर्वदेशीय नहीं, केवल सत्य और असत्य दिखलानेके लिये दृष्टान्त दिया गया है। इतना मात्र दिखानेके लिए, कि बिना रामजीको जाने जगत् सत्य प्रतीत होता है और उनको जाननेपर वही असत्य है, दृष्टान्त दिया गया है। यहाँ झूठा जगत् सर्प है और श्रीरामजी रज्जु हैं। दृष्टान्तके इस अंशसे यहाँ कविको प्रयोजन नहीं है कि "रस्सी जड़ है और सर्प चैतन्य है, वैसे ही रामजी जड़ हैं और जगत् चैतन्य"। इस देशमें दृष्टान्त नहीं दिया गया है। यहाँ कविने दो दृष्टान्त दिये, एक जाननेमें, दूसरा न जाननेमें, अर्थात् श्रीरामजीको न जाननेसे जगत् सत्य है और जाननेसे असत्य।

२ (क) 'झूठेउ'। जगत् झूठा है, यथा 'झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहत जे अंत लहा है' (क०)। (ख) यहाँ रज्जु रामजी हैं और जगत् भुजंग (सर्प) है, यथा 'मा पादि स र भुजम दृष्ट०'। (ग) जगत्को भुजगकी उपमा देनेमें भाव यह है कि जगत्का वास्तविक रूप न जाननेसे वह सर्पकी तरह चैतन्य तथा भयदायक है, यथा 'बूड़ेउ मृगबारि खायेउ जेवरी के साँप रे' (वि० ७४)। [नोट—पंडितजीका आशय यह जान पड़ता है कि 'झूठेउ सत्य ' इस चौपाईमें जो रज्जु सर्पका दृष्टान्त दिया गया है, उसमें केवल 'अन्यथा ज्ञान' अर्थात् भ्रम ही दर्शित किया गया हो यह बात नहीं है, किंतु जैसे रज्जु वस्तुत

हितकारक ही है, बाधक नहीं है, परन्तु उसका ज्ञान न होनेसे उसमें अहितकारक और बाधक सर्पका भास होता है, वैसे ही श्रीरामजी सबके हितकारक और अनुकूल हैं, परन्तु उनको न जाननेसे उनमें दुःखदायी एवं प्रतिकूल संसारका अनुभव होता है]। (घ) 'जिमि भुजग बिनु रजु पहिचाने' इति। भाव कि जैसे रज्जुमें सर्प भ्रम है, वैसे ही श्रीरामजीमें जगत् भ्रम है। जिनकी दृष्टिमें रज्जु है उनकी दृष्टिमें (वहाँ) सर्प नहीं है और जिनकी दृष्टिमें सर्प है, उनकी दृष्टिमें (वहाँ) रज्जु नहीं है। इसी प्रकार जिनकी दृष्टिमें श्रीरामजी हैं, उनकी दृष्टिमें जगत् (स्वतन्त्रात्मक) नहीं है और जिनकी दृष्टिमें जगत् है, उनकी दृष्टिमें रामजी नहीं हैं। (एक ही वस्तुमें) रज्जु और सर्प (के भाव) चित्तमें एक संग नहीं रहते।

बैजनाथजी—(श्रीपार्वतीजीके मनमें श्रीरामरूपकी सत्यतामें भ्रम है इसीलिये श्रीशिवजी कहते हैं कि 'हे प्रिय ! इसमें कुछ तुम्हारा दोष नहीं है, संसारमें स्वाभाविक यही रीति है कि जिसी पदार्थको विचारो उसीको बिना यथार्थ जाने झूठ भी सत्य ही देख पड़ता है।

२ श्रीरामरूपको जान लेना चाहिये, क्योंकि जान लेनेमें जगत ही हेराय जाता है, जैसे स्वप्नमें किसीने देखा कि मैं लुट गया, अथवा किसीने देखा कि मुझे द्रव्य मिल गया, जागनेपर दोनोंके भ्रम मिट गए। वैसे ही संसार भ्रमरूप है। जैसे हण्डीमें गिलास और गिलासमें दीपशिखा है पर सब यही कहते हैं कि हण्डीका प्रकाश है, कोई यह नहीं कहता कि दीपशिखाका प्रकाश है। इसी प्रकार प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पंचभूतमय जगद्रचनामें भगवत्स्वरूपकी चैतन्यता है, पर लोग ऐसा न मानकर देहव्यवहारहीको सत्य मानते हैं। यथा राजा प्रजा, ब्राह्मण-शूद्र, पिता पुत्र इत्यादि भ्रमरूप संसारकी सत्यता तभीतक है जबतक रामरूपको नहीं पहचाना, जब रामरूपकी पहचान हुई तब लोकसत्यता हेराय गई। भाव कि वैर त्यागकर सबमें समदृष्टिसे भगवान्‌को व्याप्त देखने लगता है।

पं० श्रीकान्तशरण—श्रीरामजीको जानना जागना है। जाननेपर सम्पूर्ण जगत्‌का बोध श्रीरामजीके शरीररूपमें हो जाता है, तब उस (जगत्) के प्रेरक नियामक श्रीरामजी जाने जाते हैं और जगत्‌की भ्रमात्मक नानात्व सत्ता नहीं रह जाती, यही जगत्‌का 'हेराय' (खो) जाना है जैसे स्वप्नकी मन कल्पित सृष्टि जागनेपर नहीं रह जाती, वैसे ही जगत्‌का नानात्वरूप भी मनसे कल्पित है, यथा "जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैतजनित संसृति दुख संसय सोक अपारा॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआई। त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृनकी नाई॥" (वि० १२४)। अर्थात् जगत् श्रीरामजीका शरीर है, यथा 'जगत्सर्वं शरीरं ते'। (वाल्मी० ६।११७।२७)। ऐसा ज्ञान होनेपर फिर कोई शत्रु मित्र आदि नहीं रह जाते। अतः हित करनेवाले माता, पिता आदिको मित्र, और अनहित करनेवालोंको शत्रु आदिकी भावना मनकी भ्रमात्मक कल्पना है। यही नानात्वदृष्टि 'सुतबित-देह-गेह स्नेह' रूप जगत्‌के नामसे प्रसिद्ध है। इस नानात्वका दशदिगात्मक रूप—'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी ' है।

❀ अद्वैतमतके अनुसार भाव ❀

"झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। " इति। प्रथम मंगलाचरण श्लोक ६ में 'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं' अर्थात् जिनकी सत्तासे सकल (संसार) सत्य भासता है ऐसा कहा है। परन्तु वहाँ यों भी अर्थ हो सकता है कि सत्य जगत् जिनकी सत्तासे भासता है, अतः ग्रन्थकार इस उद्धरणका अपना अभीष्ट अर्थ स्पष्ट करते हैं कि जगत् झूठा है परन्तु सत्य भासता है। सम्भवतः इसी अभिप्रायसे कविने वहाँका रज्जु-सर्पका दृष्टान्त ही यहाँ दिया है।

वहाँ केवल यही कहा कि ब्रह्मकी सत्तासे जगत्‌का भास होता है, परन्तु यह नहीं बताया था कि वह विपरीत भास अर्थात् भ्रम क्यों होता है और उसकी निवृत्ति कैसे होगी। वह यहाँ कहते हैं कि ब्रह्मके न

जाननेसे झूठा जगत् सत्यसा भासता है तथा ब्रह्मको जाननेसे उसकी निवृत्ति होती है। अर्थात् जगत्का अनुभव तो जैसा ब्रह्मज्ञानके पहले था वैसा ही रहेगा, परन्तु ज्ञानके पूर्व वह उसे सत्य समझता था, अतः प्रियाप्रिय भावसे सुख दुःख, हर्ष, विषाद आदि पाता था, अब ज्ञान होनेसे उसके सत्यत्वबुद्धिका नाश हो गया अतः अब वह सुख दुःख नहीं पाता।

यहाँपर यह सब विषय कहनेका तात्पर्य है कि शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि यद्यपि तुमने केवल श्रीरामजीके स्वरूपको नहीं जाना अतः उसके जाननेके लिये यह प्रश्न किया है, तथापि इसके साथ और भी बात यह है कि श्रीरामजीको न जाननेसे प्रपंच दुःखदायी भासता है और उनको जाननेसे उस दुःखकी निवृत्ति होती है।

इसी प्रकार हम लोगोंको भी यह समझना चाहिए कि यदि हमें श्रीरामजीके विषयमें कोई शंका न भी हो तो भी इस प्रापंचिक दुःखसे छूटनेके लिए श्रीरामजीका स्वरूप जानना आवश्यक है और स्वरूपके ज्ञानके लिए चरित जाननेकी आवश्यकता है। नादबिन्दूपनिषद्में कहा है कि जैसे रज्जुका त्याग करके अर्थात् रज्जुको न जानकर भ्रमसे कोई सर्पका ग्रहण करता है अर्थात् उसे सर्प समझता है, वैसे ही मूढ़ बुद्धि जीव सत्य ब्रह्मस्वरूपको न जानकर जगत्को देखता है। जब वह रज्जुके टुकड़ेको जान जाता है तब सर्परूप नहीं रहता, वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्मको जाननेपर यह सब प्रपंच शून्य हो जाता है। यथा "यथा रज्जु परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात्। २६। तद्वत् सत्यमविज्ञाय जगत् पश्यति मूढधीः। रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति। २७। अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपंचे शून्यतां गते।" श्रीमद्भागवतमें भी दशमस्कन्धमें ब्रह्माजी स्तुति करते हुए कहते हैं कि रज्जुके अज्ञानसे उसमें सर्पशरीरकी उत्पत्ति अर्थात् अनुभूति होती है और रज्जुके ज्ञानसे उस सर्पकी निवृत्ति होती है, वैसे ही आत्माका स्वरूप न जाननेसे यह सकल प्रपंच भासता है और आत्माके ज्ञानसे विलीन होता है। यथा "आत्मानमेवात्मतयाविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्। ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा। १०।१४।२५।"

यद्यपि उपर्युक्त दोनों स्थलोंमें जगत् तथा रज्जु सर्पको स्पष्ट शब्दोंसे मिथ्या नहीं कहा है तथापि वह बात अर्थात् सिद्ध है कि जो अज्ञानसे भासता है और ज्ञानसे नष्ट होता है वह मिथ्या (भ्रम) ही है। अन्यत्र स्पष्ट शब्दोंमें मिथ्यात्व कहा भी गया है। यथा 'वेदः शास्त्रं पुराणं च कार्यं कारणमीश्वरः। लोको भूतं जनस्त्वैक्यं सर्वं मिथ्या न संशयः। ४३।' (तेजोबिन्दूप०)। अर्थात् वेद, शास्त्र, पुराण, कार्य, कारण, ईश्वर, तीनों लोक, पंचभूत और प्राणी इत्यादि सब मिथ्या हैं, इसमें संशय नहीं। भागवत दशम स्कन्धकी ब्रह्मस्तुतिमें 'ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्। १० १४.२४।' इस प्रकार संसारको मिथ्या समुद्र कहा है। अध्यात्मरामायणमें भी "असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्। ७.५.३७।" ऐसा कहा है। अर्थात् रज्जु आदि जो सर्प नहीं हैं, उनमें सर्पकी भावना जैसे होती है वैसे ही ईश्वरमें जगत्की भावना होती है।

तेजोबिन्दूपनिषत्के वाक्योंसे यह शंका उपस्थित होती है कि "जब वेद शास्त्र पुराण आदि सभी मिथ्या हैं तब दुराचरण आदिसे न तो कोई रोकनेवाला रह गया और न कोई रोकनेकी आवश्यकता ही रह गई। इस प्रकार आचार-विचार सभीका लोप हो जायगा जो परिणाममें अहितकर है।" समाधान यह है कि जब तक जीवको किंचित्‌भी देहाभिमान है तबतक उसको वेद शास्त्र पुराण आदि सब जगत् सत्य ही है और उसको वेदशास्त्रानुसार चलना ही चाहिए। आत्मज्ञानोत्तर जब वह ब्रह्ममें लीन रहेगा तब उसके लिये ये सब कथन सत्य हैं क्योंकि उस समय संसार सत्य हो वा झूठ उसके लिये दोनों बराबर हैं। (ब्रह्मचारीजी)

वि० त्रि०—झूठ और सत्यका विभाग बुद्धिके अधीन है। जिस पदार्थको विषय करनेवाली बुद्धिका नाश नहीं होता वह पदार्थ सत्य है और जिसको विषय करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है वह झूठ है। झूठ-विषयक बुद्धि तभी तक बनी रहती है जबतक सत्यका ज्ञान न हो। सत्यका ज्ञान होतेही झूठविषयक

बुद्धिका नाश हो जाता है, जैसे जबतक रज्जुका ज्ञान नहीं होता तबतक सर्पविषयक बुद्धि बनी रहती है, रज्जुका ज्ञान होते ही सर्पविषयक बुद्धिका नाश हो जाता है। अतः रज्जु सत्य है और उसमें भासित होनेवाला सर्प झूठ है। इसी न्यायसे संसारका मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं कि ब्रह्मके ज्ञानसे संसार खो जाता है; अर्थात् संसारको विषय करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे जागनेसे स्वप्नको विषय करनेवाली बुद्धिका नाश हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है।

※ जेहि जानें जग जाइ हेराई ··· ।" ※

पं० रामकुमारजी—(क) श्रीरामजीको जानना जागना है। जगत् स्वप्न भ्रम है। स्वप्नमें अनेक भ्रम होते हैं, यथा 'सपनें होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ', 'जौं सपने सिर काटै कोई।०' इत्यादि। इसीसे 'सपन-भ्रम' कहा, एक भ्रम न कहा। जैसे जागनेसे स्वप्नभ्रम जाता रहता है, वैसेही श्रीरामजीको जाननेसे जगत् जाता रहता है। भाव कि जब श्रीरामजी ही शरीरी-शरीररूपसे व्यापक व्याप्य हैं, यथा 'विश्वरूप व्यापक रघुराई'। भगवान् ही विश्वरूप हैं—'विश्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन विश्वास। लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु। लं० १४।' पुनः यथा 'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥भा० ११।२।४१।' जब यह समझ पड़ता है तब जगत् कहाँ रह जाता है? कहीं भी तो नहीं—"मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।" बस जगत् इस भाँति दीखने लगता है।—यह भाव 'जग जाइ हेराई' का है। पुनः, (ख) जगत् बिना जाने अज्ञानतासे है, ज्ञान होने पर जगत् नहीं है। जगत् स्वप्नरूप है, यथा 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना।' श्रीरामजीको जाने बिना जगत् सर्पकी नाईं दुःखदाता है, अर्थात् जन्ममरण बनाही रहता है और रामजीको जान लेनेसे वही दुःखद जगत् राममय होकर सुखदायक हो जाता है—'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध। ७।११२।'

(नोट)—१ सर्प भयदायक है, डस लेता है। रस्सी निर्भय और सुखदायक है, जल भरनेके काम आती है, इत्यादि। इसी प्रकार जगत् और श्रीरामजी हैं। अर्थात् जगत्-व्यवहार सत्य मान लेनेसे, उसमें आसक्त होनेसे, जन्म-मरण होता है; यही सर्पका डसना है। और, उसे श्रीराममय जान लेनेसे, श्रीरामजीको उसका प्रकाशक और उसे प्रकाश्य जान लेनेसे लोकपरलोक सब प्रकारसे सुख होता है। श्रीरामजी सत्य हैं, जगत्-व्यवहार असत्य है, ऐसा निश्चय होनेपर आवागमन छूट जाता है।

२ "हेराई" शब्दका स्वारस्यही है कि वह वस्तु (जिसका 'हेराना' कहा गया है) है, पर हमारे काममें नहीं आती। अर्थात् अब हमको जगत् दुःखद नहीं रह गया। इस शब्दसे जगत्का अभाव नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत इससे उसकी अन्यत्र सत्ता ही ज्ञात होती है।

वेदांतभूषणजी—ईश्वरकर्तृक होनेसे स्वाप्नसृष्टि और जाग्रतसृष्टि दोनों सत्य हैं, क्योंकि 'ईश देइ फल हृदय बिचारी' अर्थात् ईश्वर तो जीवोंके शुभाशुभ कर्मानुसार सुखदुःख फल देनेके लिए ही सृष्टिकी रचना करता है। अस्तु स्वाप्नसृष्टिभी ईश्वरकर्तृक है, इसे स्वयं श्रुतिही स्पष्टरूपसे कहती है, कि 'न तत्र रथा न रथयोगा न पंथानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते स हि आत्मा' (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।१०)। अर्थात् स्वप्नावस्थामें रथ, घोड़े, सड़क, और मैदान आदि नहीं रहते, परन्तु जीवोंके कर्मानुसार वहाँ पर भी ईश्वर सब कुछ तैयार कर देता है। जिस तरहसे स्वप्नमें कर्मफल भोगनेके बाद जागने पर जीवोंको वह स्वप्न एक भ्रममात्रही मालूम होता है, उसी तरह स्थूल शरीरसे जागृतावस्थाके सुख दुःख भोग लेनेसे जबसब प्रकारके कर्मोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है और जीव भगवत्कृपासे परमपद प्राप्त कर लेता है तब यह स्थूल जगत् भी एक भ्रम ही मालूम पड़ने लगता है। इसे श्रुतियोंने 'स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्य्येति' (छांदोग्य

८।१२।३) इत्यादि शब्दोंमें समझाया है। इसका और भी विशेष विवरण 'जों सपने सिर काटै कोई। ११८।२।' में देखिए।

(नोट) ३ 'जेहि जान जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई" इति। स्वप्नदृष्टि और स्वप्न सृष्टिके व्यापार सोनेमें सत्यही जान पड़ते हैं। जब तक स्वप्न देखनेवालेकी नींद नहीं टूटती, वह जागता नहीं, तब तक (स्वप्नमें ही कोई कितना समझावे) उसे कदापि कोई समझा नहीं सकता कि यह सब भ्रम है, स्वप्न है, मिथ्या है। जब वह स्वयं जागता है तब आप ही आप बिना परिश्रम जान लेता है कि यह सब हमारा भ्रम था।

श्रीलक्ष्मणजीने निषादराजको समझाते हुए इस बातको बड़ी उत्तम रीतिसे दिखाया है, यथा "सपनें होइ भिखारि नृपु, रंकु नाकपति होइ। जागें लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥ २।९२।" अर्थात् जैसे कोई कंगाल स्वप्नमें देखे कि वह राजा हो गया, उसे इन्द्रका पद प्राप्त हो गया अथवा कोई राजा देखे कि वह भिखारी हो गया, तो यह भ्रम दोनोंको स्वप्नमें सत्य जान पड़ता है। एक मारे खुशीके फूला नहीं समाता, दूसरा शोकसे पीड़ित हो रहा है। जब वे जागते हैं, तो न पहलेका हर्ष, न दूसरेका शोक रह जाता है। दोनोंको तब विश्वास होता है कि यह तो सब झूठा था, भ्रम था—यही हाल इस जगत्‌का है।—'जों सपनें सिर काटइ कोई। बिनु जागें न [illegible] दूरि होई। १।११८।२।'

ठीक यही हाल जगत्‌का है। जो कुछ यहाँ हम देखाई पड़ता है, यह सब स्वप्नका भ्रम है, यथा ' धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥ देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं।२।९२।' जब तक हम मोह-निशामें सो रहे हैं ये सब प्रपंच हमें सत्य जान पड़ते हैं, यथा 'मोह निसा सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।२।९३।' जब ज्ञानरूपी सूर्योदय होता है और हमारी आँखें खुलती हैं तब हम श्रीरामजीहीको सत्य जानते हैं और जगत्‌के व्यवहार असत्य प्रतीत होते हैं, जगत् प्रपंचको सत्य मानना ही स्वप्न देखना है। यह हमारी माता है, यह पिता है, यह भाई है, यह पुत्र है, यह स्त्री है, यह हमारा शरीर है, यह हमारा धन है, यह हमारा घर है, ये हमारे मित्र हैं, ये हमारे कुटुम्बी हैं, इत्यादि अहं-ममत्वके कारण सुखदुःखादिका भोगना नाम ही जगत् है। और संसारसे वैराग्य होना अहं-ममत्वका छूट जाना जगतका हेराना या खो जाना है। श्रीरामजीका जानना जागना है, यथा 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजनु जगत सब सपना॥', "जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेकु मोह-भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा। २।९३।४-५।'

इसी विषयको विनयपत्रिकाके निम्न पदोंमें क्या ही अच्छा दिखाया है। इनसे ये रज्जु सर्प, स्वप्न और जागना, इत्यादि खूब स्पष्ट समझमें आ जायँगे।

(१) "जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी। देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी॥ सोवत सपनेहूँ सहै संसृति संताप रे। बूड़ो मृगबारि खायो जेवरीको साँप रे॥ कहैं बेद बुध तू तौ बूझि मन माहिं रे। दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे॥ तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहूँ ताय रे। रामनाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे॥ ७३।'

(२) 'जानकीशकी कृपा जगावती सुजान जीव जागि त्यागि मूढ़ताऽनुराग श्री हरे। करि बिचार तजि बिकार भजि उदार रामचंद्र भद्रसिंधु दीनबंधु बेद बदत रे॥ मोहमय कुहू निसा बिसाल काल बिपुल सोयो खोयो सो अनूप रूप स्वप्न जूपरे। अब प्रभात प्रगट ज्ञान-भानु के प्रकास बासना सराग मोह द्वेष निबिड़ तम टरे।७४।'

बंदौं बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥ ३॥

शब्दार्थ—सिधि (सिद्धि)-आठ सिद्धियाँ (अणिमा आदि) भगवत् वा योगसंबंधी हैं और दश सामान्य सिद्धियाँ हैं, इनका विस्तृत उल्लेख म० सो० १ मे हो चुका है। इनके अतिरिक्त पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। सुलभ = सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।=सुगम। जिसु=जिसका। यह 'यस्य' का अपभ्रंश जान पड़ता है। यथा 'नारद के उपदेस सुनि कहहु बसेउ किसु गेह। १।७८।' मे 'किसु'=किसका।

अर्थ—उन्हीं रामचन्द्रजीके बालरूप (एवं बालरूप श्रीरामचन्द्रजी) की मैं वन्दना करता हूँ, जिनका नाम जपनेसे सब सिद्धियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) "बंदौं बालरूप" इति। श्रीरामजीके निर्गुणरूपका गुण कहकर अब सगुणरूपके गुण कहते हैं। जब निर्गुणसे सगुण हुये तब प्रथम बालरूप धारण किया, इसीसे, अथवा, शिवजीकी उपासना बालरूपकी है इससे बालरूपकी वन्दना की। अथवा, शिवजी चाहते हैं कि हमारे हृदयरूपी आँगनमे प्रभु बसें, और बालरूप ही आँगनमे विचरता है इसीसे वे दशरथ अजिरविहारी बालरूप रामकी वंदना करते हैं। (ख) पूर्व जो 'श्रीरघुनाथरूप उर आवा। १११।८।' कहा था उसे यहाँ खोला कि वह कौन रूप था-बालरूप।

नोट—१ "बालरूप सोइ रामू" इति। (क) "सोइ"-जिनके विशेषण ऊपर दो चौपाइयोंमें दिए और यहाँ भी। अर्थात् जिनको न जाननेसे झूठा भी सत्य प्रतीत होता है और जिनके जाननेसे जगत्‌के व्यवहार असत्य प्रतीत होने लगते हैं, पुन: जिनके नामके जपसे सम्पूर्ण सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं उन रामचन्द्रजीको (बन्दौं)। (ख) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि "शिवजी शान्तरसमे श्रीरामचन्द्रजीको भजते हैं, इसीसे बालरूपहीको इष्ट मानते हैं, उसीका ध्यान करते हैं, क्योंकि यावत् विधिकी भक्तियाँ हैं उन सबके करनेको बालरूप सुलभ है। इस अवस्थामें विधि-अविधि नहीं देखते और थोड़ी सेवामे बहुत प्रसन्न हो जाते हैं; जैसे बच्चा मट्टीके खिलौनेके बदलेमें अमूल्य पदार्थको दे देता है।" [इस कथनसे भगवान्‌मे अज्ञताका आरोपण होता है कि वे ऐसे अज्ञानी हैं कि किसीके फुसलानेमें आ जाते हैं। पर वस्तुत इसमे भाव यह है कि भगवान्‌को जिस प्रकारसे जो भजता है, भगवान् उसके साथ उसी प्रकारका नाट्य करते हैं। जो उनको लड़का मानते हैं, उनके साथ वे भी प्राकृत बालकोंकासा नाट्य करते हैं। दूसरा भाव इसमें यह है कि बालक रूपमें जितनी सेवा भक्त कर सकता है उतनी सेवा अन्य अवस्थाके रूपोंमे नहीं हो सकती।] (ग) श्रीलोमशजी और कागभुशुण्डीजीकी उपासना भी बालरूप रामकी थी। यथा 'बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहिं मुनि कृपानिधाना। ७.११३।', "इष्टदेव मम बालक रामा।७।७५।" पुनः, देखिए कि सभी जीवोंके बालक स्वाभाविक ही बड़े ही भले और प्यारे लगते हैं, सभव है कि यह भी एक कारण बालरूपकी उपासनाका हो।—(रा० प०)। काशिनरेशजी लिखते हैं कि "बालक सो परमहस बेदन अस भनी है" अर्थात् बालक परमहस रूप हैं। अतएव बालरूपकी वन्दना की। (रा० प० प०)

२ इस ग्रंथमे कई ठौर शिवजीका ध्यान करना, हृदयमे अन्य अवस्थाओंके रूपों और छबिकी मूर्तिको धारण करना, और बाल, विवाह, उदासीन, राज्याभिषेक आदि सभी समयके रूपोंमे मग्न होना वर्णित है। यथा 'परमानद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले। १.१९६।', 'संभु समय तेहि रामहि देखा। ' पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता॥ भये मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥ ५०।', "अतरधान भये अस भाखी। संकर सोइ मूरति उर राखी॥ १ ७७।", "बिनय करत गदगद गिरा पूरित पुलक सरीर॥ ७.१२।" "बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसग। ७.१४।"

इससे स्पष्ट है कि श्रीशिवजी सभी रसोंके आनन्दके भोक्ता हैं।—'सेवक स्वामि सखा सिय-पीके'। सभी रसोंके उपासक श्रीशिवजीको अपना गुरु मानते हैं।—"तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखाना।", "संकर भजन

बिना नर भगति न पावइ मोरि । ७ ४५ ।" और "बिनु तव कृपा रामपद पंकज सपनेहु भक्ति न होइ ।", 'रिपै सिद्ध मुनि मनुज दनुज सुर अपर जीव जग माहीं । तुअ पद बिमुख पार न पाव कोउ कलपकोटि चलि जाहीं ॥ विनय ६ ।' भी इसके प्रमाण हैं । भक्तमालमें श्रीनरसीजीकी कथा भी देखिए ।

ब्रह्मचारी श्रीविन्दुजी कहते हैं कि "अब यह प्रश्न है कि श्रीशिवजीका ध्येय स्वरूप क्या है ? कुछ महात्माओंका मत है कि उनका ध्येय रूप श्रीरामजीका बालस्वरूप है । क्योंकि यहाँपर वे स्वतः भावसे हार्दिक चावसे रामजीके बालरूपकी वन्दना करते हैं—"बन्दौं बालरूप सोइ रामू" । यहाँपर उद्दीपन प्रत्यक्ष स्वरूप रामजीका कोई नहीं है । प्रत्यक्ष कोई उद्दीपन होनेसे उससे प्रभावान्वित होकर हृदय उसके वशीभूत हो जाता है । अतः उस समय उस छटाका ध्यान एवम् स्मरण होना स्वाभाविक है । परन्तु जब प्रत्यक्ष कोई उद्दीपन न हो उस समय यदि भावुक स्वतः किसी स्वरूपका ध्यान करे तो वह उसका सहज और एकान्त ध्येय समझा जाता है । यहाँपर भगवान् शंकरका रामजीके बालस्वरूपका ध्यान ऐसा ही ध्यान है । उसका स्मरण होते ही वे मग्न हो गए, उनका मन उस रूपमाधुरीमें लीन हो गया । जब जब रामावतार हुआ तब तब उनकी बाल छविके दर्शनोंके लोभसे वे अपने शिष्य भुशुण्डीके साथ छद्मवेशमें अयोध्या-राजसदनमें अवश्य गए हैं । छद्मवेष तभी धारण किया जाता है जब हृदयमें कोई रहस्यात्मक भाव उत्पन्न होता है—वह उसका निजी ऐकान्तिक भाव होता है । इससे भी भगवान् शङ्करका बाल-स्वरूप ही स्वकीय ध्येय सिद्ध होता है । यदि यह कहा जाय कि उन्होंने भगवान् (श्रीरामचन्द्रजी) के और रूपोंको भी प्रेमसे देखा है, जैसे विवाह, वनयात्रा, संग्राम, विजय, राज्याभिषेकके अवसरोंपर तथा भगवान्‌ने जब प्रगट होकर उन्हें विवाह प्रस्तावपर सहमत किया तब—"संकर सोइ मूरति उर राखी" । तो इसका यह तात्पर्य है कि भावुकों और उपासकोंका एक अङ्गी रस अथवा ध्येय होता है और (रस अथवा रूप) अङ्ग स्वरूप । जैसे मुख है तथा और अङ्ग हैं । जैसे सभी अङ्गोंकी छटाओंपर भावुक जन मोहित होते हैं और उनका वर्णन करते हैं पर मुखका विशेष रूपसे, उसके दर्शनोंसे वे अत्यन्त आनन्दित होते हैं । इसी प्रकार रसिक उपासकोंका अङ्गी रस उनका सविशेष भाव अथवा ध्येय होता है तथा इष्टके मुखेतर (अन्यान्य) अङ्गोंकी तरह अन्य रस या भाव अथवा स्वरूप अङ्गभूत सामान्य होता है । यद्यपि "जनक भवनकी सोभा जैसी । गृहगृह प्रति पुर देखिय तैसी ॥" तथापि राजसदनकी विशेषता थी । इसी प्रकार इष्टके यद्यपि सभी स्वरूप एकसे गुण धर्म एवम् महत्त्वके हैं, परन्तु अपनी रुचि और भावनाके अनुसार एक विशेष अथवा अङ्गी ध्येय हो जाता है ।

प्र० स्वामीका मत है कि शिवजी बालरूपके उपासक नहीं हैं और उसके प्रमाणमें लिखते हैं कि "मानसमें जिस रूपके दर्शनके लिये शिवजी छटपटा रहे हैं वह बालरूप नहीं है । बालकाण्डमें ५० (३) में 'जय सच्चिदानंद जगपावन' कहकर जिनके प्रेममें मग्न हुए वह बालरूप नहीं है । 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा' में जिसका कथन है वह बालरूप नहीं है, 'रघुबीररूप' है (इसके आगे 'रघुबीर', 'बीर', 'रघुनाथ' शब्दोंके भेद लिखे हैं, जो दोहा २१० में आ चुके हैं) । 'प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला । रूप सील निधि तेज बिसाला । १।७५।२ ।', यह अवतार समाप्तिके पश्चात्‌की बात है । यह भी बालरूप नहीं है । शिवपार्वती-विवाहके समय 'बैठे शिव बिप्रन्ह सिरु नाई । हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई' । जिस राम प्रभुकी इच्छासे विवाह स्वीकार किया और जिसकी मूर्त्तिको हृदयमें रख लिया था, उसीका स्मरण किया । यह भी बालरूप नहीं है ।

'जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं । ते पद पखारत भाग्यभाजन जनक ।३२४ छन्द ।' जनकजीने बालरूप रामके पद नहीं पखारे । इत्यादि । सम्पूर्ण मानसमें केवल एक बार ही बालरूपको वंदन किया है । यहाँ बालरूपका वंदन साभिप्राय है, गूढार्थ-चन्द्रिकामें साधार सविस्तर लिखा है । यह वंदन

सतीपार्वती भवानीके भ्रमको मिटानेके हेतु ही किया है।"—पाठक दोनों महात्माओंकी दलीलोंको स्वयं विचार करके जैसा उनको रुचे ग्रहण करें।

३ (क) श्रीसंतसिंहजी पंजाबी लिखते हैं कि "ऊपर दो चौपाइयोंमें स्वरूप-लक्षण अर्थात् परमात्माका निज स्वरूप वर्णन हुआ और यहाँ तटस्थ लक्षणोंका स्वरूप कहा है।" (तटस्थ=किसी वस्तुका वह लक्षण जो उसके स्वरूपको लेकर नहीं बल्कि उसके गुण और धर्म्म आदिको लेकर बतलाया जाय)। प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि श्रीपार्वतीजीने प्रश्न किया कि निर्गुण ब्रह्म सगुण कैसे होता है, अतः निर्गुण सगुणको समझानेके लिए श्रीशिवजीने दोनों रूप कहे हैं, पहला रूप यही है—'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। ''जेहि जानें जग जाइ हेराई।''' और दूसरा रूप 'बंदउँ बालरूप सोइ रामू' है, यह बात 'सोइ' शब्दसे प्रकट होती है। इसीको पंजाबीजीने तटस्थ लक्षण कहा है।

संत उनमनी टीकाकार लिखते हैं कि यह रूप "भ्रूब्राणमध्यमें वा अधर श्वेत द्वीपमें सन्तोंको अनुभव होता है। यद्वा केवल नेत्र सूर्य्य अग्नि इत्यादि बुद्धि सवित् प्रवृत्ति करि। जिसका भेद सन्त ही जानते हैं।"

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "बालरूप राम और किशोररूप राम एकही हैं, फिर भी बालरूपके उपासक बालरूपको ही इष्ट मानते हैं। प्रसंग यहाँ निर्गुण ब्रह्मका है। निर्गुणमें ही जगत्का भ्रम होता है। अतः बालक रामकी उपासनासे निर्गुण ब्रह्मकी उपासना कही। निर्गुण सगुणमें अवस्था भेद मात्र है। सगुणको किशोरावस्था मानिये तो निर्गुण बाल्यावस्था है। जगत्में रहते हुए भी प्रपंचसे पृथक् होनेसे बालरूप में निर्गुण उपासना ही कही।"

४ 'बंदउँ बालरूप सोइ रामू।'''अजिर बिहारी' इस चौपाईमें "प्रथम निदर्शना" अलंकार है। 'सोई' 'जोई' इत्यादि शब्दोंसे यह बात प्रगट है। वीरकविजी लिखते हैं कि 'ऊपरकी चौपाई (जेहि जानें जग जाइ हेराई।=) का भाव लेनेसे यहाँ 'विकस्वर अलंकार' होता है। पहले विशेष बात कहकर उसका समर्थन 'बंदउँ बालरूप सोइ रामू'—इस सामान्यसे करके फिर भी संतुष्ट न होकर विशेष सिद्धान्तसे समर्थन करते हैं कि जिनका नाम जपनेसे सारी सिद्धियाँ सुलभ होती हैं।"

टिप्पणी—२ (क) 'सोइ रामू।''' इति। जिसके बिना जाने जगत् रज्जुमें सर्पकी नाईं भासता है और जिसके जाननेसे जगत् स्वप्नभ्रमवत् हिरा जाता है, ऐसा कहकर श्रीरामजीकी वन्दना करनेका भाव यह है कि पार्वतीजीको श्रीरामरूपमें भ्रम है, इसीसे श्रीरामरूपकी वन्दना करते हैं कि (मैं तो एक बार इनको उपदेश कर ही चुका पर इनको बोध न हुआ, अतः अब आप ऐसी कृपा करें कि) मेरे अबकी बारके कथनसे इनको आपका रूप जान पड़े। आपके जाननेसे भ्रम दूर होता है, यह बात स्वयं पार्वतीजीने आगे स्वीकार की है, यथा 'तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ। १.१२०.२।' पुनः भाव कि बिना आपको जाने जगत्ने सतीजीको सर्पकी नाईं दुःख दिया, डस लिया, जिससे इनका मरण और पुनर्जन्म हुआ। अब मैं प्रार्थना करता हूँ, कृपा कीजिए कि आपका रूप इनको जान पड़े जिसमें आगे जन्ममरण दुःख न भोगना पड़े। (ख) "सब सिधि सुलभ ''" इति। [यथा 'विनाप्यर्थैः समर्थं हि दातुमर्थचतुष्टयम्। मङ्गलायतनं तन्मे बाल्ये यद्राममाषितम्।' अर्थात् बिना अर्थके भी जो धर्मार्थकाममोक्ष देनेमें समर्थ है, ऐसा रामजीका बाल्यावस्थाका भाषण, मेरे लिये मंगलका आयतन हो। (वि० त्रि०)]। यहाँ तक छः चरणोंका अन्वय एक साथ है।

मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी ॥४॥

शब्दार्थ—द्रवौ ('द्रवना' से)=कृपा कीजिये। अजिर=आँगन।

अर्थ—मंगलोंके धाम, अमंगलोंके हरनेवाले और श्रीदशरथ महाराजके आँगनमें विहार करनेवाले वे (बालकरूप श्रीरामजी मुझपर) कृपा करें ॥४॥

टिप्पणी—१ (क) नाम, रूप, लीला और धाम इन तीनोंका संबंध लगाकर तब शिवजी "बंदौं बालरूप " इत्यादिसे रूपकी वन्दना करते हैं। तात्पर्य कि शिवजीने यहाँ श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम चारोंका मंगलाचरण किया है। ☞ नामादि चारों 'मंगलभवन' हैं यथा—

नाम—मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी। १ १० २

रूप—मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी। (यहाँ)

लीला—मंगल करनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। १ १०

धाम—सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि प्रद मंगल खानी। १ ३५ ५

अतएव पार्वतीजीके मंगल कल्याणके लिए यहाँ कथाके प्रारंभमें शिवजीने चारोंका मंगलाचरण किया है। यथा 'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू' से नाम, 'बंदौं बालरूप सोइ रामू' से रूप, 'द्रवौ सो दसरथ-अजिर' से धाम (क्योंकि दशरथ अजिर श्रीअयोध्याधाममें है) और 'बिहारी' से लीला (क्योंकि विहार करना लीला है) का मंगलाचरण किया है।

(ख) 'मंगलभवन ' अर्थात् आप स्वयं मंगलके भवन हैं और दूसरोंका अमंगल हरते हैं। "मंगलायतनो हरि"। 'दसरथ अजिर बिहारी' कहते हुए 'द्रवौ' कहनेका तात्पर्य यह है कि हमारे हृदयांगनमें ही विहार कीजिये। यथा "तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताइ हरैं। अति सुंदर सोहत धूरि भरे छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं। दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों किलकैं कल बाल बिनोद करैं। अवधेसके बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिरमें बिहरैं ॥" (क० १।३)। इसीसे बालरूपकी वंदना की। बालक घरका आँगन छोड़ बाहर नहीं निकलता, सदा आँगनमें ही 'विचरता' है।

नोट—१ स्मरण रहे कि श्रीमद्गोस्वामीजीने "मंगल भवन अमंगलहारी" नामको स्मरणकर कथा प्रारम्भ की है, यथा "भाय कुभाय अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥ सुमिरि सो रामनाम गुनगाथा। करउँ नाइ रघुनाथहि माथा॥ २८।१—२।' भगवान् शंकरने भी उसी 'मंगल भवन अमंगलहारी' से कथा प्रारंभ की है। भेद केवल इतना है कि श्रीमद्गोस्वामीजीने श्रीरामनामको 'मंगलभवन अमंगल हारी' कहा, यथा 'मंगल भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी। १। ७।' और श्रीशिवजीने यही विशेषण श्रीरामरूपको दिया। इस प्रकार ग्रन्थमें नाम और रूप दोनोंका ऐक्य और दोनोंका 'मंगल भवन अमंगलहारी' होना पुष्ट किया है। ग्रंथकारने यह बात नाम वंदनामें भी प्रकट की है, यथा 'समुझत सरिस नाम अरु नामी'।

२ प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि चौपाईके अन्तिम चरणमें जो 'अजिरबिहारी' शब्द आए हैं वे बालरूप ही पर घटित हो सकते हैं। अत 'मंगलभवन अमंगलहारी' शब्द भी 'बालरूपके' ही विशेषण हैं। वास्तवमें राजा दशरथका अमंगल (वंशलोप वा अपुत्र होना इत्यादि) बालस्वरूप प्रकट होकर हरण किया और बालस्वरूपसे ही दशरथके घरको मंगलसे भर दिया। चारों भाइयोंके संस्कार होते समय उनके जन्मके क्रमानुसार लगातार तीन दिन तक एक एक मंगलका सिलसिला चला जाता था—जैसे रामजीकी छठी चतुर्दशीको, भरतजीकी पूनोंको और लक्ष्मण और शत्रुघ्नजीकी प्रतिपदाको। गीतावलीमें इस बातको रतजगाके संबंधमें गोस्वामीजीने स्पष्ट कहा है, यथा 'ज्यों आजु कालिहु परहुँ जागन होंहिंगे नेवते दिये।' (गी० बा० पद ५) इत्यादि।

प० शुकदेवलालजी—प्रथम भगवच्चरित्रके मंगलाचरण हीमें श्रीपार्वतीजीके समस्त संदेहोंको निवारण करते हुए श्रीशिवजीने अपने इष्टदेव बालरूप श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम किया है।

करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी । हरषि सुधा सम गिरा उचारी ॥५॥
धन्य धन्य गिरिराजकुमारी । तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी† ॥६॥

अर्थ—त्रिपुरासुरके नाशक श्रीमहादेवजी श्रीरामजीको प्रणाम करके हर्षपूर्वक अमृत समान वचन बोले ॥ ५ ॥ हे गिरिराजकुमारी ! तुम धन्य हो ! धन्य हो ! तुम्हारे समान कोई भी उपकारी (परोपकार करनेवाला) नहीं है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'करि प्रनाम ''' इति । ☞ श्रीशिवजीका तीन बार प्रणाम करना इस प्रसंगमें लिखा गया । एक 'बंदौं बालरूप सोइ रामू', दूसरे 'करि प्रनाम रामहि' (यहाँ) और तीसरे दोहा ११६ में "रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ ।" प्रथम 'बंदौं''' में मानसिक मंगलाचरण है, दूसरे 'करि प्रनाम''' में वाचिक और तीसरे 'सिव नायउ माथ' में कायिक मंगलाचरण है । इस प्रकार मन, वचन और कर्म तीनोंसे यहाँ मंगलाचरण और प्रणाम दिखाया । पुनः, (ख) वंदन और प्रणाम दो बातें दो बार कहकर जनाया कि निर्गुणरूपकी वंदना की और सगुणरूपको प्रणाम किया । ['बंदौं बालरूप' ये श्रीशिवजीके वचन हैं और 'करि प्रनाम' ये ग्रन्थकारके वचन हैं । 'बंदन' में स्तुति और प्रणाम दोनों शामिल हैं । संभवत. शिवजीने 'बंदौं बालरूप' कहते हुए साथ ही साथ शिर झुकाया और फिर श्रीगिरिराजकुमारीको संबोधन करने लगे । इसी बातको कवि लिखते हैं "करि प्रनाम'''" । 'बालरूप' भी सगुणरूप ही है ।] (ग) 'त्रिपुरारी' का भाव कि शिवजीने त्रिपुरासुरका वध किया था, अब उनकी वाणीसे त्रिपुरके समान दुःखदाता मोहरूपी असुर एवं अरि नाशको प्राप्त होगा । [पुनः अमरकथाको सुनकर त्रैलोक्य आनन्दित होगा; अतएव 'त्रिपुरारी' विशेषणयुक्त नाम दिया । ४८।६, १०६।८, १०७।७ देखिए] । (घ) "मगन ध्यानरस '''। रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह । १११ ।' पर प्रसंग छोड़ा था । बीचमें मंगलाचरण किया, अब फिर वहींसे प्रसंग उठाते हैं । वहाँ 'हरषित बरनै लीन्ह' कहा, यहाँ, 'हरषि सुधा सम गिरा उचारी' । (ङ) गिरा सुधा समान है; पार्वतीजीने अंतमें स्वयं इसे अपने मुखसे स्वीकार किया है । यथा 'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर । श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर । ७।५२ ।' 'सुधासम' कहनेका भाव कि मधुर है, अत्यन्त रुचिकर है तथा जन्ममरण छुड़ानेवाली है । (च) 'गिरा उचारी' से पाया गया कि पूर्वकी चारों चौपाइयाँ मानसिक हैं । मनमें मंगलाचरण किया, अब वाणी उच्चारण करते हैं ।

नोट—१ 'सुधा सम' कहा क्योंकि आप अमर कथा कहेंगे, इसीको सुनकर शुकजी अमर हो गए । पुनः यहाँ 'सुधा' ही न कहकर 'सुधा सम' कथनका भाव कि—(क) समुद्रसे निकली हुई सुधासे तृप्ति हो जाती है, अन्य दूसरे स्वादकी इच्छा नहीं होती, परन्तु श्रीरामकथा सुधासे रसज्ञोंकी तृप्ति नहीं होती,—'''नहिं अघात मति धीर' । और साथही साथ अन्य रसोंके स्वादोंकी इच्छा भी नहीं होती । यथा "तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे । विनय १६९ ।' (ख) समुद्रसे निकली हुई सुधा पांचभौतिक शरीरको युगान्त या कल्पान्त तकके लिये अमर बना देती है और श्रीरामकथासुधा जीवको मुक्त कर देती है, जिससे वह फिर जन्ममरणको प्राप्त ही नहीं होता—यथार्थत. अमर होना यही है ।—"न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते" (छा० ८।१५।१), 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' (गीता ८।१६) । (ग) इसपर शंका हो सकती है कि "जब सुधा 'रामकथासुधा' की समता नहीं कर सकती तब उसकी उपमा देकर सम क्यों कहा ?" तो उत्तर यह है कि जब समानताकी उपमा नहीं मिलती तब किंचित् मात्र भी जिसमें सादृश्य होता है उसीको देकर संतोष करना पड़ता है । जैसे 'इषुवत्पविता गच्छति'

† अधिकारी—छ० । उपकारी—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, को० रा० ।

अर्थात् सूर्य बाणके समान वेगसे जाते हैं। इसमें बाणकी अपेक्षा सूर्यकी गति बहुत भारी है पर उपमा दें तो किसकी दें, उपमा तो सर्वसाधारणके अनुभूत वस्तुकी ही दी जाती है जिससे वह तात्पर्यको समझ जाय। पुनः जैसे 'वायु वेगसम मन' इसमें मनके वेगको वायुके समान कहा गया है यद्यपि मनका वेग अकथनीय है। इत्यादि।

टिप्पणी—२ 'धन्य, धन्य गिरिराजकुमारी' इति। (क) उपकारके सम्बन्धसे 'गिरिराजकुमारी' सम्बोधित किया। १०७।६ 'सैलकुमारी' देखिए। गिरि परोपकारी होते ही हैं। गिरिराजने गिरिजाका ब्याह शिवजीके साथ करके देवताओंका उपकार किया। 'यहाँ द्वितीय सम' अलंकार है। गिरिराजकी कन्या परोपकारिणी हुआ ही चाहें। इसमें परिकराङ्कुरकी ध्वनि है। (ख) 'धन्य धन्य'—भाव कि तुम धन्य हो, गिरिराज धन्य हैं कि जिनकी तुम कन्या हो। ☞ परोपकारी जीव धन्य है क्योंकि परोपकार समस्त शास्त्रोंका सिद्धान्त है यथा—'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥ निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥ ७।४१।१-२।' 'अष्टादश पुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् (प्रसिद्ध)। धर्म और पुण्य पर्याय हैं। "कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला' गरुडजीके इस प्रश्नका उत्तर भुशुण्डीजीने यह दिया है कि "परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा। ७।१२१।२२।" इस तरह धर्म=पुण्य। पुनः यथा 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः' इत्यमरः। ३।१।३। ['धन्य धन्य' में आदरकी वीप्सा है। यहाँ वीप्सा अलंकार है। 'धन्य धन्य' अर्थात् तुम प्रशंसायोग्य हो। ☞ श्रीभुशुण्डीजीने गरुडजीके सुन्दर प्रश्न सुनकर उनकी बुद्धिके सम्बन्धमें ऐसा ही कहा है, यथा 'धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रस्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी॥७।९४।२।' वैसे ही यहाँ 'प्रस्न सुहाई' के सम्बन्धसे 'धन्य धन्य' कहा गया। अध्यात्म रा० सर्ग १ में इसी भावको यों लिखा है— "धन्यासि भक्तासि परात्मनस्त्वं यज्ज्ञातुमिच्छा तव रामतत्त्वम्। पुरा न केनाप्यभिचोदितोऽहं वक्तुं रहस्यं परमं निगूढम्। १६।" अर्थात् तुम श्रीरघुनाथजीकी परम भक्ता हो क्योंकि तुमने श्रीरामतत्त्वके जाननेकी इच्छा प्रकट की है। अतएव तुम धन्य हो, प्रशंसा योग्य हो। इस परम गोप्य रहस्यको आजतक मुझसे किसीने नहीं पूछा था और न मैंने कहा।—इसके अनुसार यह भी भाव हुआ कि परम गोप्य रहस्य प्रथम प्रथम इन्होंने पूछा इससे 'धन्य धन्य' कहा। वि० त्रि० का मत है कि पार्वतीजी के "प्रथम बिनय 'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना' की पूर्तिमें यहाँसे हाथ लगा। इस विनयमें दो अभिलाषायें हैं— एक तो रामकथा सुननेकी, दूसरी अज्ञानहरणकी। अतः दोनों अभिलाषाओंके लिये दो बार धन्य धन्य कहा।" (ग) 'उपकारी'—क्या उपकार किया यह आगे कहते हैं कि सबको श्रीरामचरणानुरागी बनानेके लिये जगत्का कल्याण करनेके लिये श्रीरामकथा, श्रीरामतत्त्व पूछा है।

पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥ ७॥
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी॥ ८॥

शब्दार्थ—कथा प्रसंग=कथाके प्रसंग। (प० रा० कु०)। =कथा और प्रसंग। =कथाके संबंध में। (वीरकवि)। १।३७।१५ "औरौ कथा अनेक प्रसंगा" देखिए।

अर्थ—तुमने श्रीरघुनाथजीकी कथाके प्रसंग (एवं कथा और उसके प्रसंग) पूछे हैं, जो समस्त लोकोंके लिये जगत्पावनी गंगाजी (के समान) है॥ ७॥ तुम श्रीरघुवीरजीके चरणोंकी अनुरागिणी हो। तुमने प्रश्न जगत्के कल्याणके लिये किये हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ "पूँछेहु रघुपति कथा" इति। (क) पार्वतीजीने कहा था 'रघुपति कथा कहहु करि दाया', वही बात यहाँ शिवजी कह रहे हैं। (ख) कथा प्रसंगा=कथाके प्रसंग। पार्वतीजीने कथाके प्रसंग

ही पूछे हैं, यथा 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। ', 'पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा', 'बालचरित पुनि कहहु उदारा', इत्यादि। ये सब कथाके प्रसंग ही हैं। इसीसे 'कथा प्रसंग' पूछना कहा। (किसी किसीका मत है कि "यहाँ कथा और प्रसंग दो बातें हैं। पार्वतीजीने प्रथम जो यह कहा था कि 'रघुपति कथा कहहु करि दाया' उसकी जोड़में यहाँ 'कथा' शब्द दिया और फिर जो एक एक प्रसंग पृथक्-पृथक् पूछे उनकी जोड़में यहाँ 'प्रसंग' शब्द दिया गया।" पंजाबीजीका मत है कि 'प्रसंग'=वार्ता। (ग) "सकल लोक जग पावनि गंगा।" इति। अर्थात् सकल लोक और जगको पावन करनेवाली है। यथा 'वाल्मीकि गिरिसम्भूता रामसागर गामिनी। पुनातु भुवनं पुण्या रामायण महानदी।' यहाँ 'सकल लोक' से 'जग' को पृथक् कहा है, यथा 'तिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं। २।१७४।', 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं।॥ १।१७६।' तथा यहाँ 'लोक जग पावनि' कहा। (हमने 'जगपावनि' का गंगाका विशेषण माना है और 'सकल लोक' को 'कथा-प्रसंगा' के साथ लेकर अर्थ किया है। प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि 'मेरे विचारसे इसका पाठ 'पावनि जस' होना अधिक संगत जान पड़ता है, नहीं तो लोक और जग शब्दोंमें पुनरुक्ति हो जाती है और न्यूनपदत्व और अन्वयभ्रष्टताका दोष आ जाता है। परन्तु प्रायः समस्त प्राचीन पोथियोंमें पाठ 'जग पावनि' ही है। 'लोक' का अर्थ 'लोग' भी है। इस तरह यह 'द्वितीय निदर्शना अलंकार' है।

नोट—१ "सकल लोक जग पावनि गंगा" इति। श्रीभगीरथ महाराज केवल अपने पुरखा सगर महाराजके पुत्रोंके उद्धारके लिए गंगाजीको पृथ्वीपर लाए। पर इस कार्य्यसे केवल उन्हींका उपकार नहीं हुआ वरन् तीनों लोकोंका हुआ और आज भी हो रहा है क्योंकि गंगाजीकी एक धारा स्वर्गको और एक पातालको भी गई जहाँ वे मन्दाकिनी और भोगवती नामसे प्रसिद्ध हुईं। श्रीशिवजी कहते हैं कि इसी तरह तुम्हारे प्रश्नोंसे तीनों लोकोंका हित होगा। यहाँ पार्वतीजीका प्रश्न भगीरथ है, कथाको जो कहेंगे वह गंगा है। प्र० स्वामी लिखते हैं कि 'जग' में श्लेष है। जग=का दूसरा अर्थ है जंगम। भागीरथी गंगा तो देश-परिच्छिन्न हैं, स्थावर हैं और पार्वतीजीके निमित्तसे प्रगट होनेवाली रामकथा गंगा जंगम है— 'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।'

टिप्पणी—२ "तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। " इति। (क) ☞ भगवान्‌के अनुरागी जगत्‌का हेतु रहित उपकार करते हैं। यथा "जग हित निरुपधि साधु लोग से। १।३२।१२।', 'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी। ७।४७।५।' तुममें मोह नहीं है (यह आगे कहते हैं), तुमने जगत्‌के हितार्थ प्रश्न किया, अतएव तुम रघुबीर चरणकी अनुरागिनी हो। पुनः कथा सुननेसे अनुराग होता है, यथा 'राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान।७।१२८।' तुम तो अनुरागिनी हो ही, तुमने जगके हितके लिये प्रश्न किये जिसमें कथा सुनकर सारा जगत् श्रीराम-चरणानुरागी हो जाय तथा (सकल लोक जग पावनि गंगाके समान यह कथा पूछकर तुमने) सकल जग-को पावन किया।

नोट—२ श्रीरामचरणानुरागिणी कहनेका एक कारण पूर्व श्रीभरद्वाजप्रसंगमें भी कह आये हैं कि वक्ताओंकी यह रीति है। दूसरे, श्रीरामचन्द्रजीने प्रगट होकर श्रीशिवजीसे इनकी सुफारिश की थी, यथा "अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिसतर सहित कृपानिधि बरनी॥ जाइ बिबाहहु सैलजहि " (७६)। श्रीरामपदमें प्रेम न होता तो प्रभु ऐसा क्यों करते? तीसरा भाव कि श्रीरामपदानुरागीको मोहभ्रमादि होता ही नहीं और तुम श्रीरामानुरागिनी हो, अतः यह निश्चय है कि तुम अपनेमें मोह आदि कहकर लोकहित करना चाहती हो। (रा० प्र०)।

३ श्रीअनुसूयाजीने अंबा श्रीजानकीजीको पातिव्रत्यधर्मका उपदेश देकर कहा था कि 'सुनु सीता

तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं । तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा ससार हित । ३।५ ।' वैसेही यहाँ शिवजीके वचन हैं ।

दोहा—रामकृपा तें पारबति१ सपनेहु तव मन माहिं ।
सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं ॥११२॥

अर्थ—हे पार्वती ! मेरे विचार (समझ) मे तो श्रीरामकृपासे तुम्हारे मनमे स्वप्नमे भी शोक, मोह, सदेह और भ्रम कुछ भी नहीं है ॥ ११२ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'रामकृपा तें' का भाव कि तुम रघुबीरचरणानुरागिनी हो, इसीसे तुम पर रामकृपा है और रामकृपासे शोकादि कुछ नहीं है । इससे शिवजीका यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि मोह-सदेहादि सब श्रीरामकृपासे जाते रहते हैं । अथवा, (ख) श्रोताकी खातिरी करना सब वक्ताओंकी रीति है । यथा 'रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी । चतुराई तुम्हारि मैं जानी । चाहहु सुनै राम गुन गूढा । कीन्हिहु प्रस्न मनहु अति मूढ़ा ॥ १।४७ ।' (इति याज्ञवल्क्य), 'सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे । कृपापात्र रघुनायक केरे ॥ तुम्हहिं न ससय मोह न माया । मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया ।७।७०।' (इति भुशुण्डि) तथा यहाँ 'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी' । अथवा, (ग) शोक मोह-सदेहादिके रहते हुएभी यह कहकर कि तुम्हारे मनमें कुछ भी नहीं है यह दिखाते हैं कि भगवत् सम्मुख होतेही जीवके अवगुण नहीं गिने जाते । यथा 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं । ५।४४।२ ।'

नोट १ 'सोक मोह सदेह भ्रम' के भेद । १।३१।४ 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी' मे देखिए । वि० टी० कार लिखते हैं कि 'श्रीअगस्त्य-शिवसत्सगमें जो वस्तु पार्वतीजीको प्राप्त हुई थी वह उन्होंने वनमें जाकर गँवा दी, सो दी, इसीसे शोक हुआ, सतीतनमें पतिके वचनपर विश्वास न हुआ और श्रीराम-चन्द्रजीके ब्रह्म होनेमे सदेह हुआ यही मोह है, और श्रीरामचन्द्रजीको प्राकृत नर समझा यह भ्रम है' ।

नोट—२ यहाँ प्राय लोग यह शङ्का किया करते हैं कि "श्रीशिवजी यह कहते हैं कि 'हमारे विचारमें तो तुम्हें शोक मोह सदेह भ्रम स्वप्नमे भी नहीं है', यदि यह सत्य है तो फिर शिवजीने आगे चलकर यह कैसे कहा कि, 'अस निज हृदय बिचारि तजु ससय भजु रामपद । सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम । ११५ ।', 'एक बात नहिं मोहि सुहानी । जदपि मोह बस कहेउ भवानी । १।११४।७ ।' और 'राम सो परमात्मा भवानी । तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी ॥ अस ससय आनत उर माहीं । ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं ।११६।५-६।' इतना ही नहीं वरन् श्रीपार्वतीजीने आपके इन अतिम वचनोंका समर्थन भी तुरत ही किया कि "ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी । मिटा मोह सरदातप भारी ॥ तुम्ह कृपाल सब ससय हरेऊ । रामसरूप जानि मोहि परेऊ ॥ नाथ कृपा अब गयेउ बिषादा ।१।१२० (१-३)' और कथाकी समाप्तिपर पुन ऐसा ही कहा, यथा "नाथ कृपा मम गत संदेहा ॥ उपजी राम भगति दृढ बीते सकल कलेस । ७।१२९ ।', 'तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह ।७।५२।' श्रीयाज्ञवल्क्यजीभी इनको भ्रम होना सूचित करते हैं, वे श्रीभरद्वाजमुनिसे कहते हैं कि 'सुनि सिवके भ्रम भजन वचना । मिटि गइ सब कुतरक कै रचना ॥ भइ रघुपति-पद प्रीति प्रतीती । दारुन असभावना बीती । ११६।७-८ ।' ?"

इस शंकाका समाधानभी अपनी अपनी मतिके अनुसार लोगोंने किया है ।

---

१ हिमसुता—१७२१, छ०, भा० दा०, रा० प० । पारबति—१६६१,१७०४,१७६२, को० रा०, गौड़जी । 'हिमसुता' पाठमें 'हिम' से 'हिमगिरि' का अर्थ लेना होगा । साहित्यानुसार 'हितसुता' शब्द ठीक नहीं है, 'हिमगिरिसुता' ठीक है । हिमगिरिसुताका भाव यह है कि 'हिमगिरि अचल, धवल, स्वच्छ है, वैसेही तुम्हारी बुद्धि अचल, निर्मल और निर्विकार है । (वै०, रा० प्र०) ।

१—श्री प० रामकुमारजी कहते हैं कि—(क) भगवान् भक्तोंके अवगुणोंको हृदयमे नहीं लाते, यथा 'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ', 'जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन' (वि० २०६), इत्यादि। [विशेष प्रमाणोंके लिए २६ (५) देखिए]। तब औरोंकी क्या गिनती! सन्त अपने प्रभुका स्वभाव गुण क्यों न अनुसरें? अत वे भी प्रभुके कृपापात्रों मे अवगुण रहते हुए भी उन अवगुणोंको गिनतीमे नहीं लाते। पुन, (ख) उत्तम वक्ताओंकी रीति यहा दिखाई है। प्रथम खातिर फिर भय आदि यह रीति है। अर्थात् वे श्रोताको पहिलेसे भय नहीं देते, क्योंकि ऐसा करें तो वह डर जायगा, उनका उपदेश ही क्या सुनेगा। जिसका फल यह होगा कि हृदयम सन्देहकी ग्रन्थि जैसीकी तैसी बनी ही रह जावेगी। इस विचारसे वे उसकी बडी खातिर करते हैं। ऐसाही श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि और श्रीभुशुण्डीजीने किया है, यथा 'रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी। कीन्हेहु प्रश्न मनहु अति मूढा।' (४७), यह कहकर मुनि कथा कहने लगे और जैसे 'सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपापात्र रघुनायक केरे॥ तुम्हहिं न ससय मोह न माया। मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥' (उ० ७०) कागभुशुण्डीजीने यह कहकर तब फिर कहा कि 'तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं।', वैसे ही यहाँ शिवजीने ऐसा कहकर उनका आदर किया, दमदिलासा दिया, आगे फिर "तदपि असका कीन्हेहु सोई" इत्यादि वचन कहते हुए भय देकर कथा प्रारम्भ करेंगे। आदर और भयकी रीति श्रीशुकदेव-परीक्षितजीके सम्वादमे भी देख लीजिए। (पं० रामकुमारजीके भाव सयुक्तिक और उचित हैं—प० प० प्र०)।

२ श्रीमानसी वन्दनपाठकजी इस शकाका समाधान यों करते हैं कि "यहाँ जो मोहादिका न होना कहा है वह अविद्याजनित शोकमोहादि हैं जो भवसिन्धुमे डालनेवाले हैं। श्रीपार्वतीजीको विद्यामायाजनित मोह है। वह रामविषयक मोह भवपार करनेवाला है, यथा "हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥ ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढइ बिहगबर॥ (उ० ७६)। इसका प्रमाण शिवजीने आप ही दिया है कि 'तदपि असका कीन्हेहु सोई। कहत सुनत सबकर हित होई'। इस चौपाईसे प्रकरण लगा है, सदेह नहीं है। विशेष ११४ (७) भी देखिए।

३ शिवजीके इस वाक्यमे 'राम कृपा तें' और 'मम बिचार' शब्द बडे गूढ हैं। जिसपर श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा होगी उसको शोकादिक रह ही नहीं सकते, श्रीरामकृपासे यह सब छूट जाते हैं, हमारे विचारमे तो ऐसाही है कि तुमने यह शका परोपकार हेतुही की है, यह तुम्हारी शका नहीं है। इसीसे आगे चौपाई मे "असका" शब्द दिया अर्थात् जो सत्यही शका नहीं है किन्तु शकाभास है—केवल शकाका मिस (बहाना) है। आगे जो कहा 'तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी' और 'जदपि मोह बस कहेउ भवानी' उसका तात्पर्य यह जान पडता है कि तुम्हें मोह नहीं है, कथा सुननेकेलिये तुमने अपनेको मोहके वश होना कहा। तो भी हमारे सिद्धान्तसे परात्पर परब्रह्मके विषयमे ऐसा प्रश्न (इस अभिलाषासे भी कि कथा सुननेको मिले) करना अनुचित है। और जो उन्होंने कहा कि सशय छोडो, हमारे भ्रमभजन वचन सुनो, यह श्रीपार्वतीजीके वचनोंके अनुसार कहा है अर्थात् यदि तुम्हें भ्रम है जैसा तुम कहती हो तो वह भी दूर हो जायगा और औरोंके भी भ्रम दूर होंगे।

४ ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी कहते हैं कि वास्तविक तात्पर्य्य यह है कि भगवान् शिवने पहले श्रीपार्वती अम्बाके स्वत शुद्ध (प्रकृत) स्वरूपको सहज ही सम्बोधन किया और फिर उनके लीला (नाट्य) स्वरूपको। यही कारण है कि उन्होंने पूर्वमे उनमें स्वप्नमें भी शोक मोह सदेह भ्रमकी स्थिति नहीं मानी, उनकी उद्भावना नहीं की। फिर घटनाक्रमसे उनमे किञ्चित् मोहका आरोप करते हुए उनके नाट्य चरितको बुद्धिस्थ किया। अस्तु भगवतीका मूल स्वरूप तो वैसा ही शुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव (मोहरहित) है जैसा श्रीशिव भगवान्ने वर्णन किया है।

५

५ मानसतत्त्व विवरणकार लिखते हैं कि "शिवजी श्रीपार्वतीजीके 'अस जानि जनि रिसि उर धरहू। जेहि बिधि मोह मिटइ सोइ करहू', 'सो फल भली भाँति हम पावा', 'तव कर अस विमोह अब नाहीं। राम कथा पर रुचि मन माहीं', इत्यादि इन वाक्योंका अभिप्राय देखकर कहते हैं कि हे पार्वती! जिस किसमके शोक मोह और संदेह भ्रमपर मेरी दृष्टि थी सो तुम्हारे मनमें स्वप्नमें भी नहीं है इस जागृतिका क्या कहना, कि जो तुम पूर्व वृत्तान्त स्मरण करके डर रही हो। 'तदपि असंका०' और एक बात नहिं मोहिं सुहानी।००' फिर यह क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि शिवजी जिस बातपर क्रोध कर रहे हैं वह 'विमोह' मात्र अर्थात् महामोह है। वह बात न सुहाई, क्योंकि वह उपासकोंकी रीतिके प्रतिकूल है।"

६ प० श्रीकान्तशरणजी कहते हैं कि "श्रीशिवजी और श्रीयाज्ञवल्क्यजीने इनके पूर्व पक्षके अंशोंको लेकर कहा है कि जिनमें मोह आदि वास्तविक रूपमें होंगे, वे इन वचनोंसे छूट जायँगे। इस तरह इस प्रसंगके महत्त्वको कहा है। श्रीपार्वतीजीने जिस भावसे अज्ञान बनकर पूर्व पक्ष किया है उसका अन्ततक निर्वाह किया है और इस तरह श्रोताओंके लिये प्रसंगोंका महत्व और वक्ताओंके प्रति कृतज्ञता वर्णनकी रीति बतलाई है।"

७ वि० त्रि० लिखते हैं कि शिवजी पार्वतीजीपर रामजीकी कृपा देख चुके हैं कि स्वयं प्रकट होकर माँगा कि 'जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि माँगे देहु', उस पार्वतीको शोक, मोह, संदेह, भ्रम क्या कभी हो सकता है? 'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया'। अतः कहते हैं 'सोक मोह ... नाहिं।'

तदपि असंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सब कर हित होई॥ १॥
जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहि भवन समाना॥ २॥

शब्दार्थ—असंका (आशंका)=झूठी शंका, बिना सन्देहका संदेह, बनावटी शंका। शंका।-अति शंका (प० प० प्र०)। श्रवण=कान। रंध्र=छेद। अहि-भवन=सर्पका बिल।=बाँबी।

अर्थ—तथापि तुमने वही आशंका की है जिसके कहने सुननेसे सबका कल्याण होगा॥१॥ जिन्होंने कानोंसे हरिकथा नहीं सुनी, उनके कानोंके छिद्र साँपके बिल-के समान हैं॥२॥ॐ

टिप्पणी—१ 'तदपि असंका ...' इति। (क) अशंका, यथा "जौ नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। १०८।' पार्वतीजीने शंकायें की और कथा-प्रसंग पूछे, दोनोंसे सबका हित कहते हैं, यथा "पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जगपावनि गंगा॥ तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी।"—यही हित है। अर्थात् इससे जगत् पवित्र होगा, सबका भ्रम दूर होगा, जैसा शिवजी स्वयं आगे कहते हैं—"सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम। ११५।"—('अशंका' शब्द देकर शिवजी अपने पूर्वके वचनोंको पुष्ट कर रहे हैं। अर्थात् जिसमें तुम्हें संदेह नहीं है वही बात, शंका उठाकर, तुमने दूसरोंके हितार्थ पूछी है। 'आशंका' शुद्ध शब्द है उसे 'असंका' कहा जैसे आकाशको अकास, 'आनंद' को अनंद, 'आश्चर्य या आचरज' को अचरज, 'आषाढ़' को असाढ़, इत्यादि।)

(ख) 'कहत सुनत ...'। कहने सुननेमें कैसे हित होगा? इस तरह कि लोग कहेंगे कि पार्वतीजीने ऐसी शंका की थी और शिवजीने ऐसा उत्तर दिया था, अतएव माननीय है—ऐसा समझकर भ्रमादि दूर होंगे। [पुन०, 'कहत सुनत' का भाव कि चाहे कहें चाहे सुनें, अर्थात् वक्ता और श्रोता दोनोंका कल्याण होगा। 'सब कर' का भाव कि इसके कथन श्रवणका अधिकार सबको है, कोई भी जाति, वर्ण या आश्रमका क्यों न हो, सभीका भला होगा। 'कहत सुनत सब कर' ये शब्द 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।' के उत्तरमें हैं। अर्थात् तुमने जो कहा कि 'स्त्रिया अधिकारिणी नहीं हैं' यह बात श्रीरामकथाके संबंधमें नहीं है, इसके

ॐ दूसरा अर्थ—"जिन कानोंने हरिकथा नहीं सुनी वे कर्णछिद्र सर्पके बिलके समान हैं।" आगेकी चौपाइयोंमें इसी प्रकारका अर्थ है इसलिये यहाँ भी वैसा ही अर्थ कर सकते हैं। (मा० पी० प्र० सं०)

कथन-श्रवणके अधिकारी सभी हैं। क्या हित होगा ? उत्तर—भ्रम दूर होगा, भवबंधन छूटेगा, श्रीरामपदमें प्रीति होगी। यथा 'कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥ ७।१२६।' 'उपजइ प्रीति रामपदपंकज॥ मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥ ७।१२६।']

प० प० प्र०—'तदपि असंका कीन्हिहु''' इति। पार्वती-तनमें भी सती-तन-वाला संशय बना ही है, यह देखकर उसकी चर्चा चलाई। श्रीरामजीको नर कहा, इससे महेशजीके हृदयमें खलबली मच गई है, पर पार्वतीजी सभीत न होने पावें इस विचारसे ऊपरसे शान्ति धारण करके कहा कि 'कहत सुनत सबकर हित होई'। तथापि हृदयकी खलबली शान्तिका भंग करना चाहती है, आशंकाका विषय छोड़कर विषयान्तर कहनेका यही कारण है। सतीदेहमें भवानीने जो कुछ किया था, उसकी स्मृति बलवती होकर आगेकी चौपाइयोंमें पर्यायसे व्यक्त हो रही है। इन चौपाइयोंमें तथा आगे ११५ (८) तक मानसशास्त्राभ्यासियोंके लिये बहुत खाद्य भरा हुआ है। २—श्रीरामजीका दर्शन होनेपर सतीजीने नमन नहीं किया। नमस्कार भी नहीं किया। बहुत समझानेपर भी उनके हृदयमें रामभक्ति न आई। रामगुनगान न करके उलटे उनकी परीक्षा लेनेको दौड़ी गईं। अन्तमें कैलासके मार्गमें शिवजीके विविध कथाएँ कहनेपर भी उन्हें हर्ष न हुआ। सतीजीने रामकथा सुनानेकी प्रार्थना भी न की। इन्हीं छः बातोंकी चर्चा आगेकी छः चौपाइयोंमें करते हैं; पर पार्वतीजी भयभीत होने न पावें, इस हेतुसे क्रम भंग किया है तथा 'राम' के स्थानमें 'हरि' शब्द प्रयुक्त किया है। तथापि चौ० ६ में तो 'राम' शब्द आ ही गया।—ऊपर कहा हुआ भावार्थ न लेनेसे प्रथम चौपाई और बादकी छः चौपाइयोंमें विषयान्तर और अप्रस्तुत विषयक कथन दो दोष होते हैं।

वि० त्रि०—१ 'तदपि असंका''' इति। भाव कि तुम्हारी आशङ्काका अभिप्राय यह है कि चरित्र देखकर जब मुझे मोह हो गया तो वही चरित्र सुनकर जीवोंको मोह होना कौन बड़ी बात है। अतः शंकाके व्याजसे वे बातें मुझसे कहलाना चाहती हो जिनसे संसार मोहसे छूटकर कल्याण प्राप्त करे।

२ 'जिन्ह हरि कथा'' इति। जो विकलेन्द्रिय या विकृतमतिवाले हैं उन्हें किसी वस्तुका सम्यक् ज्ञान हो नहीं सकता, उनका कथन सर्वथा उपेक्षणीय है। ऐसे लोग छः प्रकारके होते हैं। इनसे शिवजी श्रोताको सावधान किये देते हैं। पार्वतीजीके प्रथम विनय 'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना।''' का उत्तर हरि विमुख निन्दा तथा प्रार्थनाकी स्वीकृति द्वारा शिवजी दे रहे हैं। ☞ निन्दा विधेयकी स्तुतिके लिये की जाती है, निन्दायोग्यकी निन्दाके लिये नहीं। यहाँपर छः प्रकारकी निन्दा हरिकथाश्रवणकी स्तुतिके लिये की गई। कामकथारूपी सर्पके निवाससे जिसके कर्णछिद्र बिलके समान भयंकर हो गए, उसके कलेजे पर साँप लोट रहा है, उसके कहनेका कौन प्रमाण ! (यह पहिला हरिविमुख है)।

टिप्पणी—२ 'जिन्ह हरि कथा सुनी नहि काना।''' इति। (क) हरिकथासे हित होता है और ये उसे नहीं सुनते, अतएव इनके कान व्यर्थ हैं। (यहाँ 'हरि' शब्द देकर भगवान्‌के सभी अवतारों और स्वरूपोंकी कथायें सूचित कर दी हैं। कोई-कोई 'हरि' से 'राम' का ही अर्थ लेते हैं।—'रामाख्यमीशं हरिम्' (मं० श्लो० ६)। (ख) 'सुनी नहिं काना' का भाव कि जो वस्तु सुननी चाहिए, जैसे कि हरिकथा, यथा 'श्रवनन्ह को फल कथा तुम्हारी' (विनय), सो नहीं सुनते और जो न सुनना चाहिए, सो सुना करते हैं। (ग) अहिभवनमें सर्प रहते हैं, कानोंमें प्रपंचरूपी सर्पोंने निवास किया है। अर्थात् कानोंसे विषयप्रपंचकी कथाएँ सुना करते हैं। [सर्पके बिलमें प्रायः कोई दूसरा जीव नहीं जाता, वैसे ही जिन कानोंमें विषय-सर्प रहता है उनमें श्रीरामकथा नहीं जाती। अर्थात् उनको रामकथा अच्छी नहीं लगती।] (घ) यहाँ 'श्रवण' को प्रथम कहा क्योंकि श्रवणभक्ति प्रथम है। (ङ) पहले तो कहा कि 'कहत सुनत सब कर हित होई'; इसमें 'कहत' शब्द प्रथम रक्खा और 'सुनत' पीछे, परंतु यहाँ 'जिन्ह हरिकथा सुनी नहि काना' कहा, अर्थात् यहाँ 'सुनना' प्रथम कहते हैं और आगे 'जो नहिं करै राम गुन गाना' कहते हैं अर्थात् कहना, गुण गान

करना यह पीछे कहते है । इस भेदमे तात्पर्य यह है कि श्रवण और कथन दोनों ही एक समान प्रधान हैं, कोई कम बेश न्यूनाधिक नहीं हैं । पुन , श्रीमद्भागवतमें नवधा भक्तिकी गणना 'श्रवण' ही से प्रारंभ की है, यथा "श्रवण कीर्त्तन विष्णो स्मरण पादसेवन ।७।२३।' पुन , वाल्मीकिजीने श्रीरघुनाथजीके जो चौदह निवास स्थान कहे हैं, उनमे भी यही क्रम है । यथा "जिन्हके श्रवन समुद्र समाना । कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना । भरहिं निरंतर होहि न पूरे । लोचन चातक जिन्ह करि राखे । रहहिं दरस जलधर अभिलाषे । जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु ।२.१२८।", अतएव गोस्वामीजीने भी इस प्रसगका 'श्रवण' ही से उठाया ।

नयनन्हि संत दरस नहिं देखा । लोचन मोरपख कर लेखा ॥३॥

ते सिर कटु तुंबरि सम-तूला । जे न नमत हरि गुर पद मूला ॥४॥

शब्दार्थ—दरस (स० दर्श, दर्शन) = मूर्ति, स्वरूप, यथा 'भरत दरसु देखत खुलेउ मग लोगन्ह कर भागु । २ २२३ ।' ☞ 'दरस दिखाना, दरस देखना' पूर्वकालमे भाषाका मुहावरा सा रहा है ऐसा जान पड़ता है । यथा 'ग्राम निकट जब निकसहिं जाई । देखहिं दरसु नारि नर धाई । २.१०९ ७ ।' श्रीप्रियादासजीने 'भक्तिरसबोधिनी टीका' (भक्तमाल) मे इसका प्रयोग किया है । यथा 'कह्यो कुवा गिरौ चले गिरन प्रसन्न हिये जिये सुख पायो ल्यायो दरस दिखाइए ।' (पीपाजीकी कथा क० २८३) अर्थात् दर्शन दिया । वैसे ही यहाँ, 'दरस देखा'–दर्शन किया । पुन , दरस दर्श, दर्शन, यथा 'दरस परस मज्जन अरु पाना । हरइ पाप कह बेद पुराना । १ ३५.१ ।' मोरपख–मोरका पर जो देखनेमे बहुत अधिक सुदर होता है और जिसका व्यवहार अनेक अवसरोंपर प्राय शोभा या शृगारके लिये होता है । लेखा=लिखा हुआ ।= रखायें, नकशा, गणना, गिनती । कटु तुंबरि=कड़वी लौकी (तोंबी) जो भोजनके कामकी नहीं होती । कोई-कोई इसका अर्थ उस कड़वी लौकीका करते हैं जिसके कमडल बनाये जाते हैं, जो भोजनके कामकी नहीं होती । संत महात्माओंका कहना है कि यहा कमंडलवाली तोंबीसे तात्पर्य नहीं है, क्योंकि उससे तो सत महात्माओंका बड़ा उपकार होता है । प्रत्युत उस लौकीसे तात्पर्य है जो लबी-लबी होती है तथा जो कमडलके काममे नहीं आती, किंतु उससे जाल बनाये जाते हैं जो जीवोंके फासने और नष्ट करनेके काममे आते हैं । यह लौकी जाल सरीखी फैलती है । लोग जहाँ इसे होते देखते हैं तुरत उखाड़ फेंकते हैं । बैजनाथजी 'कड़वी तरोई' अर्थ करते हैं । 'सम तूल'—समान, सम, समतल–ये पर्याय शब्द हैं । इनका अर्थ है—सदृश, तुल्य । 'समतूल' महोरा (बुंदेलखण्ड) देशकी बोली है । वहाँ 'बराबर' के अर्थमें इसका प्रयोग होता है । मानसमें अन्यत्र भी इसका प्रयोग हुआ है । यथा 'एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल । तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल । १ २४७ ।' पदमूल–नोट-२ देखिए ।

अर्थ—जिन नेत्रोंसे संतोंका दर्शन नहीं किया गया* वे नेत्र मोरके पखकी चन्द्रिकाओंके समान हैं ॥३॥ जो सिर भगवान् और गुरुके चरणोंपर नहीं झुकते अर्थात् उनको प्रणाम नहीं करते, वे कड़वी तोंबीके समान × हैं ॥४॥

* अर्थान्तर १ सतोंको देखकर उनका अवलोकन नहीं किया । २ नेत्रोंसे सतदर्शन न हुआ और न संतोंने उन्हें देखा । ३ आदरसमेत दर्शन नहीं किया । (प० शुकदेवलालजी । इनका मत है कि दरस और देखा दो शब्द ताकीदके लिये लिखे गए । ☞ ये सब अर्थ टीकाकारोंने पुनरुक्ति समझकर किये हैं । वस्तुत यहाँ पुनरुक्ति नहीं है । दरस रूप, दर्शन, यथा 'रहहिं दरस जलधर अभिलाषे । २।१२८।६ ।')

× सम और तूलमें पुनरुक्तिके भ्रमसे लोगोंने ये अर्थ किये हैं—१ कटु तूँबरि और तूल (रूई) के समान हैं (न जाने कब उड़ जायँ) । २—तूँबरि सम कटु और तूल सम तुच्छ । (प०) । ३ अनुमानमें कटु तूँबरि समान हैं । (तुल अनुमाने) इत्यादि ।

टिप्पणी—१ "नयनन्हि संत दरस " इति । (क) कथा सतके सगसे होती है, यथा "बिनु सतसग न हरि कथा । ७६१ ।' जब सतोंका दर्शन ही नेत्रोंसे कभी नहीं किया, उनके पास गए ही नहीं, तब कथा सुननेको कैसे मिले ? कथामे रुचि क्योंकर उत्पन्न हो ? (ग) प्रथम "जिन्ह हरि कथा सुनी नहि काना" से हरिविमुखोंको कहा, अब 'सत दरस नहि देखा' से सत वा भागवतविमुखोंका हाल कहते हैं कि साधुसतोंसे इतना वैर रखते हैं कि आँखोंसे उन्हें देखते भी नहीं, उनका सग तो दूर रहा। भा० २ ३.२२ में जो "लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये" ये शब्द आए हैं उसके 'विष्णुलिंग' से सत ही अभिप्रेत है। 'सत भगवंत अंतर निरंतर नहि किमपि '।

वैजनाथजी—"यहाँ असज्जनोंके लक्षण वर्णन करके सज्जनोंके लक्षण दर्शित किये है । यथा कथा-श्रवण उचित, सतदर्शन उचित तथा हरिगुरुचरणोंको प्रणाम उचित, हरिभक्ति उचित, गुणगान उचित, कथा सुनकर हर्ष होना और लीलामे मोह न होना उचित है। इन सब वाह्यकर्मांके साथ एक एक अगको व्यर्थ कहा(यदि उस अगसे वह उचित कार्य्य न हुआ)।"

नोट—१ "लोचन मोरपख कर लेखा" । मोरके पखमें चंद्रिकाएँ बनी होती हैं, देखनेमें वे नेत्रसे जान पड़ते हैं जो बड़े ही सुन्दर और जीको लुब्ध करनेवाले होते हैं। परन्तु वे चद्रिकाएँ देखने ही भरकी सुन्दर है, रेखा मात्र ही हैं, उनकी आकृति मात्र नेत्रकी सी है, उनसे देखनेका काम नहीं लिया जा सकता, चक्षुका काम रूप देखना है सो उन नेत्रोंसे नहीं हो सकता, अतएव वे व्यर्थ हैं।

सतोंका दर्शन जिन नेत्रोंसे न किया गया उनकी गणना मोरपखमें की गई है। अर्थात् वे नेत्र चाहे कैसे ही खूबसूरत कमलवत् ही क्यों न हों, पर वे और उनकी सुन्दरता व्यर्थ है। हरिगुरु सत-दर्शनहीसे नेत्र सफल होते हैं अन्यथा वे नेत्र केवल नामधारक है। यथा 'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी । ७ । ७५ ।'

वि० त्रि०—सन्तका लक्षण है कि उनको भगवान्के चरणोंको छोड़कर न शरीर प्यारा है न घर। यथा 'तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्ह कहुँ देह न गेह' । रामप्रेमसे ही सन्तका आदर है। जिसने रामकथा सुनी ही नहीं, वह सन्तके दर्शनके लिये क्यों जायगा ? नेत्रोंका फल भगवद्दर्शन है, किन्तु भगवद्दर्शन दुलभ है, परन्तु भगवान्की चलमूर्ति (सत) का दशन तो सुलभ है। सन्तदर्शनसे पाप दूर होते है, उसे सन्तदर्शन हुआ नहीं, अत वह पापी है, जो चाहेगा बकेगा।

टिप्पणी—२ 'ते सिर कटुतूँबरि समतूला' इति। (क) कटुतूँबरी सिरके आकारकी होती है। लबी तूबरी न तो कड़वी होती है और न सिरके आकारकी ही, इसीसे 'कटु' तूँबरीकी उपमा दी गई। (ख) ☞ सतका दर्शन करनेपर सतके चरणोंमे मस्तक नवाना चाहिए। अत क्रमसे कथाश्रवण कहकर जिनसे कथा प्राप्त होती है उन सतोंको कहा, सतमिलनपर प्रणाम कहा गया। परन्तु यहाँ 'सत' पद न कहकर उसकी जगह 'हरि-गुरु-पदमूला' कहा, इसका कारण यह है कि हरि, गुरु, सत तीनों एक ही हैं—'भक्ति भक्त भगवत गुरु चतुर नाम वपु एक'—(नाभाजी)। पुन, (ग) प्रथम 'हरि' को कहा, फिर सतको और यहाँ गुरुको भी कहकर हरिका सपुट दिया। इस तरह यहाँ तक भगवान्के तीनों रूपोंसे विमुखोंका हाल कहा—हरिविमुख, सतविमुख और गुरुविमुख। सब दृष्टात तीनोंमे लगालेने चाहिये, यह जनाया। आगे भगवान्के चोथे शरीर 'भक्ति' से विमुखोंको कहते है।

नोट—२ "ते सिर०। हरिगुरु पद मूला॥"—यहा "पद मूला" पद कैसा उत्तम पड़ा है। इसकी विलक्षणता श्रीमद्भागवतके स्कंध २ अ० ३ के २३ वें श्लोकसे मिलान करनेपर स्पष्ट देख पड़ेगी। "पदमूल" तलवेको कहते हैं। रज और चरणामृतका तलवों हीसे सम्बन्ध है। इन्हींकी रज लोग शिरपर धारण करते

और तीर्थ पान करते हैं। ध्यान भी चरणचिह्नका किया जाता है। पुनः ऊपरके भागमें नूपुरादि और नखका ध्यान होता है। तुलसी ऊपर चढ़ेगी। शीशपर तलवेही रक्खे जाते हैं। "पदमूला" में पद्का ऊपरी भाग और पदमूल दोनोंका अभिप्राय भरा है। श्रीमद्भागवतके 'भागवताङ्घ्रिरेणु' अर्थात् रज और 'विष्णुपद्या न वेद गंधम्" अर्थात् चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीका सूँघना दोनों ही भाव इसमें दर्शा दिये हैं।

इसी प्रकार यहाँ "हरि-गुरु" पद भी विलक्षण चमत्कार दिखा रहा है। इसमें गुरु गोविन्द, दोनोंके नमस्कारका भाव है। श्रीमद्भागवतमेंभी इन दोनोंकी वन्दनाका निर्देश है, यथा 'न नमेन्मुकुन्दम्' (श्लोक० २१) अर्थात् भगवान्का वन्दन। फिर वहीं आगे "भागवताङ्घ्रिरेणु' अर्थात् भगवद्भक्त भागवतकी चरणरेणु-का सेवन। अस्तु, दोनों ही सेव्य हैं।

हरिगुरुको जो प्रणाम इत्यादि नहीं करते उनके शिर व्यर्थ हैं। वे शरीरपर मानों बोझ ही हैं, जैसा श्रीमद्भागवतके "भारः परम पट्ट-किरीट-जुष्टमप्युत्तमाङ्ग" (श्लोक २१) में कहा है।

जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥ ५॥

जो नहिं करै राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥ ६॥

शब्दार्थ—आनी (आनना = लाना) = लाई यथा "कुल कलंकु तेहि पावँर आना। १।२८३।३।' 'आनहु रामहि वेगि बोलाई। ७।३६।१।' सव (शव) = मृतक मुर्दा, मरा हुआ।

अर्थ—जो हरिभक्तिको अपने हृदयमें नहीं लाए अर्थात् जिनमें हरिभक्ति नहीं है, वे प्राणी जीतेजी मुर्देके समान हैं॥ ५॥ *जो जिह्वा श्रीरामगुणगान नहीं करती, वह मेढककी जीभके समान है॥ ६॥*

टिप्पणी १—'जिन्ह हरिभगति हृदय नहि आनी।०' इति। (क) हरिगुरुसतचरणसेवनसे हरिभक्ति प्राप्त होती है, अतः 'नमत हरिगुरुपदमूला' कहकर हरिभक्तिको कहा। (ख) 'हरिभगति' शब्दसे जितनी प्रकारकी भक्तियाँ हैं उनसबोंका यहाँ ग्रहण हुआ। इनमेंसे तीन भक्तियाँ ऊपर तीन अर्धालियोंमें कही गई—कथा श्रवण, सतसंग और गुरुपदसेवा (तीसरि भगति अमान)। (ग) 'जीवत सव समान तेइ प्रानी' इति। (लं० ३० में अंगदके वचन रावणप्रति ये हैं—'*कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥* सदा रोगबस संतत क्रोधी। विष्नुबिमुख श्रुति संत विरोधी॥ तनु पोषक निंदक अघखानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी'। इनमें १४ प्राणियोंको 'जीवत सव सम' कहा है, उन १४ मेंसे दो ये हैं—विष्णु-विमुख और श्रुतिसन्तविरोधी। अर्थात् जीते जी ये मुर्दे (मरे हुए) के तुल्य हैं। इस प्रमाणके अनुसार उपर्युक्त चार अर्धालियोंमें जिनको गिना आए वेभी इस गणनामें आ गए, क्योंकि 'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं।' तथा 'जिन्ह हरिभगति हृदयँ नहिं आनी' ये दोनों विष्णुविमुख हैं ही और 'नयनन्हि संत दरस नहिं देखा' ये संत विरोधी हैं तथा ये सब एवं 'जे न नमत हरिगुरुपदमूला' श्रुतिविरोधी हैं क्योंकि वे श्रुतिके प्रतिकूल चलते हैं।

नोट—१ शवसमान कहनेका भाव कि उनका जीवन व्यर्थ है, जैसे मुर्दा फेंका या जलाया ही जाता है। पुनः, जैसे मुर्देको छूनेसे वा उसके संबंधसे लोग अपवित्र हो जाते हैं, स्नान दानसे शुद्धि होती है, वैसे ही भक्तिहीन मनुष्य अपवित्र तथा अमंगलरूप और उसके संगी भी अपवित्र। २—प्रोफे० श्रीदीनजी कहते हैं कि शव-समानका भाव यह है कि जैसे मुर्दा-शरीर घृणाका पात्र हो जाता है, उसी प्रकार वह भी घृणाका पात्र है, कोई भी उसे अपने सन्निकट नहीं रखना चाहता। ३ मिलान कीजिए—'जीवत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जियै जगमे तुलसी नतु डोलत और मुये धरि देही॥'(क०)

टिप्पणी—२ "जो नहिं करै राम गुन गाना।" इति। (क) ऊपर शिवजीने कथाके संबंधमें कहा है कि "कहत सुनत सब कर हित होई"। 'कहत सुनत' मेंसे 'सुनत' अर्थात् श्रवन करना 'जिन्ह हरिकथा

सुनी नहिं काना' में कह आए, अब 'कहत' अर्थात् कीर्तन करना वा कीर्तन-भक्ति कहते हैं। भक्ति पाकर गुणगान करना चाहिए, अत 'हरिभगति हृदय नहिं आनी' के बाद 'गुन गान' करना लिखा। गुन गान करने और सुननेसे हृदय पुलकित होता है, अत आगे इसे कहते हैं।

नोट—४ 'जाहु सो दादुर जीह ' इति। मेंढकके जिह्वा होती ही नहीं। इसकी उपमा देकर सूचित किया है कि जिह्वाका साफल्य श्रीरामगुणगानमे है, जिनसे यह न हुआ उनकी जिह्वा व्यर्थ है, न होनेके सदृश है, उनका बोलना निरर्थक है जैसे कोई विना जीभके बडबडाये। मेंढकोंके विषयमें ऐसी कथा है कि एक बार अग्निदेव रुष्ट होकर पातालको चले गए। वहाँ अग्निकी उष्णतासे मेंढक ऊपर निकल आए। इधर देवगण अग्निकी खोजम जव वहाँ पहुँचे तो मेंढकोंसे अग्निका पता लग गया। अग्निदेवने मेंढकोंको शाप दिया कि तुम्हारे जीभ न रहे। इसपर देवताओंने उन्हें आशीर्वाद दिया कि उष्णतासे यदि तुम मृतक भी हो जाओगे तो भी पावसके प्रथम जलसे तुम सजीव हो जाया करोगे। अयोध्याकाण्डमे कहा भी है—'जल ज्यों दादुर मोर भए पीन पावस प्रथम। २४१।' सुना है कि जापानम इनकी खेती होती है।

कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती ॥७॥

शब्दार्थ—निठुर (निष्ठुर) = निर्दय, दयारहित।

अर्थ—वही छाती वज्रसमान कठोर और निष्ठुर है, जो हरिचरित सुनकर भी हर्षित नहीं होती ॥ ७ ॥

नोट—१ भगवत्-चरित्र सुनकर हर्ष होना चाहिए। यथा 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं ।१.४१.६।' हर्ष न होनेसे कठोर और निष्ठुर कहा। निठुर="जिसमें निचोडनेसे कुछ भी रस न निकले, रसहीन, भावनाहीन, जिसमें कोई भी भलीबुरी भावना रह ही नहीं जाती।" (प्रोफ़० दीनजी)। पुन , निठुर कहनेका भाव कि वे अपनी आत्माका नाश कर रहे हैं, उनको अपने ऊपर भी किंचित् दया नहीं आती। (वै०)। यथा "ते जड जीव निजात्मक घाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सोहाती ॥ ७.५३ ।' पुन द्रवीभूत न होनेसे कुलिशकठोर और निष्करुण होनेसे निठुर कहा। यथा 'हिय फाटहु फूटहु नयन जरहु सो तन केहि काम। द्रवै स्रवै पुलकै नहीं तुलसी सुमिरत राम।'—(वि०त्रि०)। २—चौपाईका भाव यह है कि प्रथम तो वे कथा सुनते ही नहीं और यदि सुनते भी हैं तो हृदयमें हर्ष नहीं होता, प्रत्युत मोह होता है। मोहका हेतु आगे कहते हैं।

☞ ११३ (२) से ११३ (७) तक सभी चौपाइयों का भाव और अर्थ श्रीमद्भागवत २ ३ से मिलता-जुलता है, अत हम उनश्लोकोंको यहाँ उद्धृत करते हैं—

"आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ। तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया ॥१७॥
तरव किं न जीवन्ति भस्त्रा किं न श्वसन्त्युत। न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥१८॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरै संस्तुत पुरुष पशु। न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रज ॥१९॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये न शृण्वत कर्णपुटे नरस्य। जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगाय गाथा ॥२०॥
भार परपट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्ग न नमेन्मुकुन्दम्। शावौकरौ नो कुरुत सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥२१॥
बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये। पादौ नृणा तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥२२॥
जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणु न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु। श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्या श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥२३॥
तदश्मसार हृदय बतेद यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयै। न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्ष ॥२४॥"

अर्थात् ("सूर्यनारायण उदय और अस्त होहोकर मनुष्योंकी आयुको वृथा नष्ट करते हैं। इसमे उतना ही समय सफल है जिसमे हरि चर्चा की गई हो। जैसे मनुष्य जीते हैं वैसे क्या वृक्ष नहीं जीवित रहते, लोहारकी धौंकनी क्या हमारे तुम्हारे सामने नहीं श्वासा लेती, ऐसे ही गाँवके पशु कुत्ता, शूकर आदि क्या

भोजन और मलत्याग नहीं करते ? यदि मनुष्यमे भक्ति नहीं है तो मनुष्योंमे और उनमे कुछ अन्तर नहीं है। कुत्ते जिस प्रकार द्वार द्वार फिर फिरकर गृहपाल द्वारा ताडित होते हैं, ग्राम्य शूकरादि जैसे असार वस्तु ग्रहण करते हैं और ऊँट जैसे केवल कण्टक भोजन करता है एवं गधा जैसे केवल बोझ लादता है, वैसेही जिसके श्रवणपथमे भगवानने कभी प्रवेश नहीं किया अर्थात् हरिभक्तिहीन मनुष्य कुत्तेके समान सर्वत्र तिरस्कारको पाता है और शूकरके समान असार (विषय) ग्राही है। वह ऊँटके समान दु खादि कण्टकोंको भक्षण करता है एव गधेके समान केवल ससारके भारमे क्लेशको प्राप्त होता है ॥१७ १८।) । हे सूतजी! मनुष्यके कान बिलके समान व्यर्थ हैं जिनमे कभी भगवद्‌चरित्र नहीं गया, वह जिह्वा मेढककी जिह्वाके सदृश वृथा है जो हरिकथाओंका कीर्तन नहीं करती ॥२०॥ वह शिर पट्ट और किरीट मुकुटसे युक्त होनेपर भी भाररूप है जो हरिके आगे न झुके, वे हाथ मुर्देके हाथोंके समान हैं जो सोनेके कङ्कण धारण किए हैं परन्तु कभी हरिकी सेवा या टहल नहीं करते ॥ मनुष्योंके वे नेत्र मोरके परमे जैसे केवल देखनेके नेत्र बने होते हैं वैसे ही हैं जो भगवान्‌की पवित्र मूर्त्तियोंका दर्शन नहीं करते और वे पैर वृक्ष ऐसे वृथा हैं जो भगवान्‌के मंदिरमें या तीर्थ स्थानमें नहीं जाते ॥२७॥ वह मनुष्य जीते ही मरेके तुल्य है जो भगवान्‌के चरणोंकी रेणुको शिरपर नहीं धारण करता या विष्णुके चरणोंपर चढी हुई तुलसीके गन्धको नहीं सूँघता ॥२३॥ वह हृदय वज्रका है जो हरिनामोंका सुनकर उमग न आवै, गद्‌गद न हो और रोमाच न हो आवे एव नेत्रोंमे आनदके आँसू न भर आवें ॥ २४ ॥

☞ ४ 'जिन्ह हरिकथा सुनी नहि काना ।' से 'सुनि हरिचरित न जो हरषाती ।' तकका आशय यह है कि श्रवणेन्द्रिय तभी सफल होती है जब उससे निरन्तर भगवान्‌का चरित्र सुना जाय, अत कानोंसे सदा भगवान्‌के चरित, गुण और नामादिकोंही श्रवण करना चाहिए। इसी तरह नेत्रोंसे सत भगवंत आदिके दर्शन चरणस्पर्श आदि करे, सिरसे भगवान्, सत, गुरुको प्रणाम करे। हृदयसे भक्ति करे और चरित सुनकर, सत हरि गुरुका दर्शन और उनको प्रणाम करके हर्षित हो, हर्षसे शरीरमे रोमाच हो। जिह्वासे निरन्तर श्रीरामयश गुण-नामका कीर्त्तन करे, इत्यादिसे ही नेत्र, सिर, हृदय और जिह्वाका होना सफल है, नहीं तो इनका होना व्यर्थ हुआ। यथा "चक्षुर्भ्यां श्रीहरेरेव प्रतिमादिनिरूपणम्। श्रोत्राभ्यां कलयेत्कृष्णगुणनामान्यहर्निशम्। ६१।६७।", "सा जिह्वा या हरिं स्तौति तन्मनस्तत्पदानुगम्। तानि लोमानि चोच्यन्ते यानि तन्नाम्नि चोत्थितम्। ५०।२१।" (प० पु० स्वर्गखड)। इन सब चौपाइयोंमे 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

प० प० प्र०—श्रीमद्भागवतके श्लोकोंमे हाथ, चरण, नाक और भगवन्नामकी भी चर्चा है, पर सतीजीके चरित्र प्रसगमे उनका सबंध नहीं आया, इसीसे शिवजीने यहाँ उनकी चर्चा नहीं की। भागवतके श्लोकोंमे इतना ओज नहीं है जितना इन चौपाइयोंमे है। इसका कारण भी शिवजीके हृदयकी 'प्रक्षुब्धता पर दबाई हुई अवस्था' है। आगे ११४ (७) से ११५ (७) तक यह दबाव भी उड जाती है और प्रक्षुब्ध हृदयकी भावना स्वय प्रगट हो जाती है। श्रीमद्भागवतके श्लोकोंके शब्दोंको कुछ फेर फार करके यहाँ प्रयुक्त करना भी गूढ़-भाव प्रदर्शनार्थ है। रामायणी लोग श्लोकों और चौपाइयोंके शब्दोंका मिलान धात्वर्थके आधारसे कर सकेंगे। मराठी गूढ़ार्थचन्द्रिकामे विस्तारसे लिखा है। (यह अभी प्रकाशित नहीं हुई है)।

गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुर हित दनुज बिमोहनसीला ॥८॥

शब्दार्थ—विमोहन = विशेष मोहमे डालनेवाली। सीला (शील। यहा यह शब्द विशेषण है)= प्रवृत्त, तत्पर, प्रवृत्तिवाला, स्वभावयुक्त। यथा 'सकल कहहु सकर सुखसीला। १-११०.८।', 'कपि जयसील रामबल ताते।'

अर्थ—हे गिरिजे! सुनो। श्रीरामचन्द्रजीकी लीला देवताओंका हित और दैत्योंको विशेष मोहित करनेवाली है ॥८॥

नोट—१ इसके जोड़की चौपाइयाँ अयोध्या, अरण्य और उत्तरकांडोंमें ये हैं—"राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे। २।१२७।७।", 'उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरिबिमुख न धरम रति। ३ मं०।", "असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी। ७।७३।१।" इन उपर्युक्त उद्धरणोंमें जो 'बुध', 'पंडित', 'मुनि' और 'जन' कहे गए हैं वेही यहाँ 'सुर' हैं और जो उनमें 'जड़', 'बिमूढ़', 'हरि बिमुख न धर्म रति' और 'दनुज' कहे गए हैं वेही यहाँ 'दनुज' हैं। अथवा, ७।७३ में 'दनुज बिमोहनि', 'जन सुखकारी' कहा और यहाँ 'दनुज बिमोहन लीला' और 'सुर हित' कहा, अतएव 'जन' ही 'सुर' हैं। अथवा, चारों स्थलोंमें पृथक्-पृथक् नाम देकर 'सुर, जन (भक्त), बुध, पंडित मुनि' इन सबोंको सुखकारी जनाया। अथवा, बुध और जनको सुख, पंडित मुनिको वैराग्य और सुरोंको हितकारी होना कहा। पुनः, गीता और विष्णुधर्मोत्तरमें दो प्रकृतिके प्राणियोंका संसारमें होना कहा गया है, एक दैवी दूसरी आसुरी। यथा 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।" (गीता १६।६), "द्विविधो भूतसर्गोऽयं दैव आसुर एव च। विष्णुभक्ति परो दैवो विपरीतस्तथासुरः।" (विष्णु धर्मोत्तर)। अर्थात् इस लोकमें दो प्रकारके जीवोंका सर्ग (सृष्टि) है, एक दैवी दूसरी आसुरी। जो विष्णुभक्तिपरायण हैं वे दैवी-सर्गसंभूत हैं और जो उनके विपरीत हैं, वे आसुरी-सर्ग संभूत हैं।—इसके अनुसार सुर, बुध, पंडित आदिसे दैवीसर्गसंभूत प्राणीमात्र और दनुज, मूढ़ आदिसे आसुरी संपत्तिवाले अभिप्रेत हैं। वैराग्य और सुख होना हित है। आसुरी और दैवी संपदावालोंके लक्षण गीता अ० १६ में देखिए।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ जन अथवा दैवी संपदावाले 'सुर' हैं और दुर्जन अथवा आसुरी संपदावाले असुर हैं। (ख) कहना-सुनना और न कहना-सुनना दोनों ऊपर कह आए। अब दोनोंका हेतु लिखते हैं। जो सुर हैं उनका हित होता है, अतः वे कहेंगे-सुनेंगे। जो आसुरी-संपत्तिवाले हैं उनको श्रीरामलीला मोह उत्पन्न करनेवाली है, अतः वे कथा न कहें सुनेंगे। (यह सती-चरित्रपर कटाक्ष है, व्यंग है। प० प० प्र०)।

नोट—१ श्रीरामकथा देवताओंको हितकारिणी और दैत्योंको अहितकारिणी है। तात्पर्य यह है कि दैवीसंपत्तिवाले सात्त्विक-बुद्धिवाले सज्जनोंमें इससे भक्ति, वैराग्य, विवेक आदिकी वृद्धि होती है, उनका लोक-परलोक दोनों बनता है और आसुरसंपत्तिवालों राजस तामस-वृत्तिवालोंमें उसी रामचरितसे मोहकी विशेष वृद्धि होती है, वे शास्त्रोंमें सुनते हुए भी मूढ़ ही बन जाते हैं, ईश्वरको प्राकृत मनुष्यही कहने लगते हैं। इसपर यह शंका हो सकती है कि—"रामलीला वस्तु तो एक ही है उससे दो विरुद्ध कार्य कैसे?" समाधान यह है कि—जैसे स्वातीजल तो वही होता है पर उसका बूँद पृथक् पृथक् वस्तुओंमें पड़नेसे उनमें पृथक् पृथक्गुण उत्पन्न करता है। देखिए सीपमें पड़नेसे वह मोती बन जाता है, वही केलेमें पड़नेसे कपूर, बाँसमें बंसलोचन, गोकर्ण (गौके कान) में पड़नेसे गोरोचन बन जाता है और सर्पमें उसीसे विषकी वृद्धि होती है। ११।६ देखिए। पुनः देखिए, भगवान् श्रीकृष्णके जिस अद्भुत रूपको अर्जुन देखकर उनकी शरण गए उसीको दुर्योधनने देखकर उसे नटका खेल कहा। इत्यादि। इसी तरह श्रीरामलीला वस्तु एक ही है पर पात्रापात्रभेदसे वह भिन्न भिन्न एवं विरोधी गुणोंको उत्पन्न करती है, 'सुरों' का हित होता है और असुरोंका अहित। यहाँ 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

२ "गिरिजा सुनहु"—यहाँ पार्वतीजीको संबोधन करके सुननेको कहनेमें भाव यह है कि—शिवजी कथाका पात्रभेदसे भिन्न भिन्न गुण कहकर श्रीपार्वतीजीको सावधान कर रहे हैं कि देखो फिर लीलासे मोहमें न पड़ जाना, मोहमें पड़ना असुरोंका काम है न कि दैवीसंपत्तिवालोंका। इसी प्रकार जब अरण्यकांडमें पहुँचे तब भी सावधान किया है—'उमा राम गुन गूढ़ '। क्योंकि वहाँ तो वही लीला वर्णन की जायगी कि जिससे उन्हें सतीतनमें मोह हुआ था। (वै०)।

दोहा—रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखदानि।
सत[1] समाज सुरलोक सब को न सुनै[2] अस जानि ॥११३॥

अर्थ—श्रीरामकथा कामधेनु समान है, सेवा करनेसे सब सुखोंको देनेवाली है। सतसमाज समस्त देवलोक हैं, ऐसा जानकर उसे कौन न सुनेगा? ॥११३॥

नोट—१ 'रामकथा सुरधेनु'। सुरधेनु = कामधेनु। क्षीरसागरमंथनसे निकले हुए चौदह रत्नोंमेंसे यह भी एक है। यह अर्थ, धर्म, कामकी देनेवाली है। जमदग्निजी और वसिष्ठजीके पास इसीकी सन्तान नंदिनी आदि थीं।—३१।७ 'कामदगाई' देखिए। 'सेवत'—रामकथाकी सेवा उसका पूजनीयभावसे सादर कीर्तन श्रवण है।

टिप्पणी—१ 'रामकथा सुरधेनु०' इति। (क) पूर्व 'सुरहित' कहकर अब उसे (सुरहितको) चरितार्थ करते हैं कि भक्त सुर हैं, रामकथा सुरधेनु है, सतसमाज सुरलोक है। तात्पर्य कि कामधेनु सुरलोकमें है, रामकथा सतसमाजमें है—'बिनु सतसंग न हरिकथा'—इससे रामकथाके मिलनेका ठिकाना बताया। जैसे सुरधेनुका ठिकाना सुरलोक है वैसे ही कथाका सतसमाज है। (ख) 'सेवत सब सुखदानि'। सब सुखोंकी दात्री जानकर दैवीसम्पदावाले ही सुनते हैं अर्थात् सब सुनते हैं। 'सब सुखदानि' का भाव कि कामधेनु अर्थ, धर्म और काम तीन पदार्थ देती है और 'कथा चारों पदार्थ देती है' यदि ऐसा लिखते तो चार ही पदार्थोंका देना पाया जाता परन्तु कथा चारों पदार्थ तो देती ही है और इनसे बढ़कर भी पदार्थ ब्रह्मानंद, प्रेमानंद, ज्ञान, वैराग्य, नवधा प्रेमपराभक्तियों इत्यादि अनेक सद्‌गुणोंको भी देनेवाली है, यही नहीं किंतु श्रीरामचन्द्रजीको लाकर मिला देती है। अतएव 'सब सुखदानि' कहा। पापहरणमें गंगासमान और सर्वसुखदातृत्वमें कामधेनु समान कहा। ('सब सुखदानि' अर्थात् सबको, जो भी सेवा करे उसे ही, सब सुखोंकी देनेवाली है)।

प० प० प्र०—सब सुख तो रामभक्तिसे मिलते हैं, यथा 'सब सुखखानि भगति तैं माँगी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़ भागी। ७।८५।३।' रामकथा सुरधेनु रामप्रेमभक्ति प्रदान करती है। मानसके उपसंहारमें शिवजीने ही कहा है कि 'रामचरन रति जो चह अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान। ७। १२८।', 'सुख कि होइ हरि भगति बिनु। बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।' भाव यह कि सतसंगमें रामकथा श्रवण करनेसे वैराग्य, विमल ज्ञान और पराभक्ति लाभ क्रमशः होते हैं।

नोट—२ रामकथाश्रवण स्वयं रामभक्ति है। इसीसे सब सुख प्राप्त हो जाते हैं। बालकाण्ड दो० ३१ में भी कहा है—'जीवनमुकुति हेतु जनु कासी', 'सकल सिद्धि सुख संपति रासी', 'रघुबर भगति प्रेम परमिति सी।'

नोट—३ (क) यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। (ख) सुरतरु, चिन्तामणि और कामधेनु सभी अभिमतके देनेवाले हैं। यहाँ कामधेनुकी उपमा दी क्योंकि धेनु सर्वत्र पूजी जाती है और श्रीरामकथा भी पूजनीय है, यह दोनोंमें विशेष समता है। पुनः गौ विचरती है, तरु स्थायी है और चिंतामणि केवल इन्द्रको प्राप्त है। कथा भी सतसमाजद्वारा सर्वत्र सबको प्राप्त है। (ग) 'सुरलोक सब', यही पाठ प्रायः सभी प्राचीन पोथियोंमें

१ संत सभा—वै०, रा० प्र०। सतसमाज-१६६१। 'स' पर अनुस्वार स्पष्ट है पर हाथसे पोछा हुआ जान पड़ता है। यह लेखकप्रमाद है क्योंकि इससे छन्दोभंग दोष आता है।
२—सुनैं-१६६१।

मिलता है, परन्तु 'सत्र' का ठीक अर्थ न समझकर कुछ टीकाकारोंने 'सत्र' की ठौर 'सम' पाठ कर लिया है। सुर-लोक = देवताओंके लोक, स्वर्ग। देवलोक बहुत हैं। मत्स्यपुराणमे भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्यम् ये सातो लोक देवलोक कहे गए हैं। विश्रामसागर एव दासबोधमे स्वर्ग एकीस कहे गए हैं। वरुण, कुबेरादि अष्ट लोकपालोंके ही आठ लोक हैं। इनके अतिरिक्त नवग्रहोंके लोक भी सुरलोक कहे जाते हैं, इत्यादि। अतएव 'सत्र' पाठ निस्सदेह ठीक है। पुन लोकका अर्थ समाज भी है। यह अर्थ भी यहाँ ठीक घटित हो सकता है। अर्थात् 'सतसमाज समस्त देवसमाजके समान है'।

४ 'को न सुनै अस जानि' इति। (क) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि "सभीका इससे हित है—'सुनहिं बिमुक्त बिरति अरु बिषई। लहहिं भगति गति सपति नई ॥' अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुषोंको भक्ति तथा वैराग्यवानोंको मुक्तिका लाभ है और विषयी सपत्तिको पाते हैं जिससे उन्हें मोह बढ़ता है।" (ख) इसकी जोडकी चौपाई दोहा ३१ (७) में है—'रामकथा कलि कामद गाई'। वहाँ भी देखिये।

वि० त्रि०—विनय करते हुए गिरिजाने कहा कि 'जासु भवन सुरतरु तर होई। सह कि दरिद्रजनित दुख सोई', इसीके उत्तरमे शिवजी कहते हैं कि दारिद्रजनित दु ख सहनेका कोई कारण नहीं। रामकथारूपी सब सुखदानि कामधेनुका सेवन करो। अज्ञानसे ही लोग दु ख सह रहे हैं, नहीं तो रामकथारूपी कामधेनुके रहते दु ख की कौनसी बात है ?

रामकथा सुदर करतारी। ससय बिहग उड़ावनिहारी ॥१॥
रामकथा कलि बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी ॥२॥

शब्दार्थ—करतारी-हाथकी ताली। तारी (ताली) दोनों हथेलियोंके परस्पर आघातका शब्द।= हथेलियोंको एक दूसरेपर मारनेकी क्रिया, थपेडी। कलि=कलियुग।=कलह, पाप, मलिनता। कुठारी= कुल्हाड़ी।

अर्थ—श्रीरामकथा हाथकी सुदर ताली है जो सशयरूपी पक्षियोंको उडाने वाली है ॥१॥ श्रीरामकथा कलिरूपी वृक्ष (को काटने) के लिये कुल्हाड़ी है। हे गिरिराजकुमारी ! उसे आदरपूर्वक सुनो ॥२॥

टिप्पणी—१ 'रामकथा सुदर करतारी' इति। (क) कथाको 'करतारी' कहनेका भाव कि—(१) कथा शब्दरूप है और करताली भी शब्द है। (२) रामकथाको ऊपर सुरधेनु और सतसमाजको सुरलोक कहा है परन्तु सुरधेनु और सुरलोक दोनों अगम (दुर्लभ) हैं। कामधेनु सुरलोकमे है, सतसमाज मृत्युलोकमे है और कथारूपिणी कामधेनु संतसमाजमें है—यह सुगमता ऊपर दोहेमे दिखाई गई। किन्तु सतसमाजका मिलना भी तो दुर्लभ है, यथा 'सतसगति दुर्लभ ससारा। ७ १२३ ६।' अतएव 'करतारी' समान कहकर रामकथाका सबको सुलभ होना जनाया। क्योंकि हाथ सबके होते हैं, ताली बजाना अपने अधीन है। 'करतारी' अपने पास है, मानों कामधेनु अपने घरमे बँधी है, सभी घर बैठे सुख प्राप्त कर सकते हैं, सन्तसमाज ढूँढनेका कोई प्रयोजन नहीं है। (ख) ['ताली दोनों हाथोंसे बजती है। भवानी, गरुड़ आदि श्रोता और शिष्य बाएँ हाथके समान हैं और श्रीशिवजी, भुशुण्डीजी आदि वक्ता और गुरु दक्षिण हस्तवत् हैं। प्रश्नोत्तर होना शब्द अर्थात् तालीका बजना है। (प०)। अथवा, मुखसे कथाका वर्णन करना ताली बजना है, नाम और रूप दोनों हाथ हैं, दिव्य गुण अँगुलियाँ हैं, नाम और रूपकी गुणमय कथा 'करतारी' है। जैसे कि अहल्योद्धारमे उदारता, यज्ञरक्षामे वीरता, धनुर्भगमे बल, खरदूषणादिके बधमें शौर्य, शबरी-गीधपर अनुकपा और सुग्रीवपर करुणा इत्यादि गुण सुननेसे सशय आप ही चले जाते हैं। (वै०)]। (ग) 'करतारी' को सुदर कहनेका भाव कि तालीके शब्दसे कथाका शब्द सुदर है क्योंकि यह भगवत् यश आदि अनेक गुणोंसे परिपूर्ण है और वह ध्वन्यात्मक है। [पुन भाव कि वक्ता और श्रोता दोनों सुदर अर्थात् ज्ञानी विज्ञानी

हों। जब ऐसे वक्ता श्रोता परस्पर श्रीरामकथा कहते सुनते हैं तब उनके शब्द सुनकर सब जीवोंके संशय रूपी पक्षी उड़ जाते हैं। (शीलावृत्त)]

२ "संसय बिहग उड़ावनिहारी" इति। (क) श्रीपार्वतीजीने प्रार्थना की थी कि 'अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें।' (अर्थात् कुछ संशय अब भी बना रह गया है), इसी वाक्यके संबंधसे शिवजी यहाँ कहते हैं कि रामकथा संशयको उड़ा देनेवाली है। (ख) 'संशय' को विहंग कहनेका भाव कि जैसे पक्षी वृक्षपर आते, बैठते और तालीका शब्द करनेसे अर्थात् हाँकनेसे उड़ जाते हैं, वैसे ही अनेक संशय जो आते (उत्पन्न होते) हैं वे कथा सुननेसे चले जाते हैं। [(ग) जैसे ताली बजानेके साथ-साथ लोग हल्ला मचाते हैं, लगे लगे कहते हैं, तब पक्षी उड़ता है, वैसे ही कथा जब कहे सुने और उसमें लगे अर्थात् उसे धारण करेगा तब संशय पक्षी भागेगा, अन्यथा नहीं। (खर्रा)। पुन भाव कि चिड़िया उड़ानेका सुगम उपाय यही है कि बैठे-बैठे ताली बजा दे, चिड़ियाँ स्वयं उड़ जायँगी। इसी भाँति कथा आरंभ कर दे, संशय आप ही भाग जायगा। (वि० त्रि०)]।

मा० म०—"सम श्रोता वक्ता बजै तारी चुटकी नून। नेह कथा रघुनंद को तारी हुटकी ऊन।" अर्थात् जहाँ श्रोता वक्ता समान हों वहाँ मानों ताली बजती है और जहाँ दोमेंसे एक भी न्यून हुआ वहाँ मानों चुटकी बजती है। परंतु चुटकीसे संशय पक्षी भागता नहीं और जो इससे भी न्यून हुआ तो उसको केवल हाथ ही हिलाना जानो।

नोट—१ संशय पक्षी है जो खेतका अन्न और वृक्षके फल खाता है, रखवाले उसे हाँकते हैं, इत्यादि। यहाँ खेत या वृक्ष, अन्न और फल, किसान, रखवाले और पक्षी आदि क्या हैं? उत्तर—यहाँ तन खेत या वृक्ष है। श्रीरामभक्ति श्रीरामसम्मुखता श्रीरामप्रेम आदि अन्न और फल हैं। जीव किसान है। गुरु, आचार्य, संत वक्ता रखवाले हैं, यथा 'जे गावहिं यह चरित सँभारे। तेइ येहि ताल चतुर रखवारे। ३८।१।' ये राजकुमार हैं तो ब्रह्म कैसे? ब्रह्म हैं तो स्त्रीवियोगमें बावले क्यों हो रहे थे? एक तुच्छ राक्षसने उन्हें नाग पाशमें बाँध कैसे लिया? इत्यादि संशय पक्षी हैं जो जीवके श्रीरामसम्मुखता आदि अन्न वा फलको खाते हैं। आचार्यके मुखसे जो कथाका वर्णन होता है वही थपोड़ी शब्द है जिससे संशय उड़ जाते हैं। (वै०)

२ "रामकथा कलि बिटप कुठारी" इति। (क) ☞ श्रीरामकथाको प्रथम संशयरूपी पक्षीको उड़ानेके लिए 'करतालो' कहा। रामकथा-करतालीने संशय पक्षियोंको उड़ा तो दिया, परन्तु जबतक उनके बैठनेका आधार या अड्डा 'बिटप' बना हुआ है तबतक वे वहाँसे सर्वत जाते नहीं, उड़े और फिर आ बैठे। अवश्य पक्षीको उड़ाना कहकर अब उसके आधारको जड़से काट डालना भी कहा। न वृक्ष रहेगा न पक्षी उसपर बैठेगा। इस तरह भाव यह हुआ कि श्रीरामकथा संशय पक्षीको उड़ाकर फिर उसके बैठनेके स्थान (संशयके स्थान) कलि-बिटपका भी नाश करती है। (ख) कलिको बिटप कहनेका भाव कि पक्षी वृक्षपर आते हैं और संशय कलिमें आते हैं। अर्थात् संशय मलिन बुद्धिमें होते हैं, दिव्य बुद्धिमें नहीं। (पं० रा० कु०) (संशयका आधार मनकी मलिनता है जो पापोंका मूल है। संशय मलिन मनमें ही बसेरा लेते हैं, यथा 'तदपि मलिन मन बोधु न आवा। १०६।४।' कलिका स्वरूप भी मल मूल मलिनता ही है, यथा 'कलि केवल मल मूल मलीना', इसीसे 'कलि' को 'बिटप' कहा। कलिका अर्थ मलिनता वा पाप भी है। (ग) बैजनाथजी 'कलि बिटप' का रूपक यों देते हैं कि यहाँ कलि वृक्ष है, कुसंग उसका मूल है, कुमति अंकुर है। पाप कर्म शाखा पल्लवादि हैं और दुःख फल हैं। रामकथा कुल्हाड़ी है। "आचार्य लोहाररूप धातु नाम गढ़नि, गुण धार, युक्ति बेंट, वक्ता बढ़ई और वचन प्रहार हैं।—(सूक्ष्म रीतिसे केवल इतनेसे काम चल जाता है। कलिवृक्ष, कथा कुल्हाड़ी, वक्ता-काटनेवाला, वचन-प्रहार)। (घ) संशयमें विहंगका और कलिमें

वृक्षका आरोपण 'सम अभेद रूपक' है। एक रामकथाकी समता पृथक्-पृथक् धर्मोंके लिये करताली और कुल्हाडीसे देना 'मालोपमा अलंकार' है। दोनोंकी संसृष्टि है। (वीर)।

टिप्पणी—३ 'सादर सुनु ' इति। ☞श्रीरामचरित आदरपूर्वक सुनना चाहिए। यथा—

'सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥ १।१०।६।'
'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥ १।२।१२।'
'सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥ १।३८।२।'
'राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥ ५। सोइ सादर सर मज्जन करई॥ १।३९।६।'
'सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए ते॥ १।४३।६।'
कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥१।३५।' (तुलसी)।
'तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई। (याज्ञवल्क्य) १।४७।५
'कहौं राम-गुन-गाथ भरद्वाज सादर सुनहु। १।१२४।' (याज्ञवल्क्यजी)।
'सब निज कथा कहउँ मैं गाई। तात सुनहु सादर मन लाई।'(भुशुंडीजी) ७।६५।४।

तथा यहाँ "सादर सुनु गिरिराजकुमारी"।

नोट—३ (क) उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि चारों वक्ताओंने अपने अपने श्रोताओंको सादर सुननेके लिये बराबर सावधान किया है। (ख) 'सादर सुनु' का भाव कि पापका नाश तथा संशयकी निवृत्ति एवं बुद्धिकी मलिनताका सर्वत अभाव तभी होगा जब कथा सादर सुनी जायगी और सादर श्रवण तभी होता है जब उसमें श्रद्धा हो। कथा औषधि है, श्रद्धा उसका अनुपान है। यथा 'अनूपान श्रद्धा मति रूरी। ७।१२२।७।' इसीसे रामकथा सादर सुननेकी परंपरा है। (ग) ☞ यहाँतक कथाका माहात्म्य कहा और कथाके अधिकारी तथा अनधिकारी बताए। इस प्रसंगका उपक्रम 'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। ११२।६।' है और 'सादर सुनु गिरिराजकुमारी' उपसंहार है। (घ) ☞संशय दूर करके कथा कहनेकी रीति है। यथा 'एहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुर-पद-पंकज धूरी॥ करत कथा जेहि लाग न खोरी।१।३४।'

राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥३॥
जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥४॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके नाम, गुण, चरित, जन्म और कर्म (सभी) सुन्दर और अगणित हैं, ऐसा वेदोंने कहा है॥ ३॥ जैसे भगवान् श्रीरामजीका अंत नहीं, वैसे ही उनकी कथा, कीर्त्ति और गुण भी अनंत हैं॥ ४॥

नोट—१ नाम जैसे कि राम, रघुनंदन, अवधविहारी, हरि, आदि। गुण जैसे कि उदारता, करुणा, कृपा, दया, भक्तवत्सलता, ब्रह्मण्य, शरणपालत्व, अधम उधारण आदि। चरित जैसे बालचरित, यश कीर्ति प्रतापादिका जिनमें वर्णन ऐसे धनुर्भंग-युद्धादि चरित। जन्म जैसे कि मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, कृष्ण, वराह आदि असंख्यों अवतार लेना। कर्म जैसे कि वेद धर्म-संस्थापन आदि। (प०, वै०)।

टिप्पणी—१ 'राम नाम गुन चरित ' इति। (क) नाम, गुण, चरित, जन्म और कर्म आदिको यहाँ गिनाकर तब कथा कहनेका भाव यह है कि जो कथा हम कहते हैं उसमें श्रीरामनाम, श्रीरामगुण, श्रीरामचरित, श्रीरामजन्म, और श्रीरामकर्म ये सभी हैं और सभी सुहाए हैं। [मा० त० वि० कार लिखते हैं कि "नाम, गुण आदि पाँच गिनाए मानों पचागरूपको श्रुतियोंने अगणित भेद करके गाया है"] (ख) [नाम, गुण आदि सभी अनंत हैं। यथा 'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा। ७।९१।३।', 'राम अनंत अनंत गुनानी। जनम करम अनंत नामानी। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं। ७।५२।३४।'] (ग) 'श्रुति गाए' यथा "जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु

नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं । ७।१३ ।' श्रुति गाए' कथनका भाव कि सब प्रामाणिक हैं । भगवान् के जन्म कर्म सब दिव्य हैं और असंख्य हैं । यथा 'जन्मकर्म च मे दिव्य (गीता ४।६), 'अवतारा ह्यसङ्ख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः । (भागवते १।३।२६) ।

"जथा अनत राम भगवाना । · " इति । भाव कि जैसे श्रीरामजी भगवान् (षडैश्वर्ययुक्त) हैं वैसे ही उनके चरित आदि ऐश्वर्यसे भरे हुए हैं, जैसे श्रीरामजीका अंत नहीं मिलता वैसे ही कथा आदिका भी अंत नहीं मिलता । [प० रामकुमारजीने यह अर्थ किया है । पर प्राय लोग वही अर्थ करते हैं जो ऊपर दिया गया ।]

नोट—२ 'जथा अनंत ' इति । यथा "नान्त विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते, मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये । गायन्गुणान्दशशतानन आदिदेव शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्यपारम् । भा० २।७।४१ ।" अर्थात् उन पुराण-पुरुषके मायाबलका अत न तो मैं ही जानता हूँ और न तुम्हारे अग्रज समस्त (सनकादि) मुनिही जानते हैं । आदिदेव शेष भगवान् अपने हजार मुखोंसे नित्यप्रति उनका गुण गान करते हुए भी अबतक पार न पा सके । तब और जीव किस गिनतीमें हैं ।

३ वे० भू० जी—'भगवाना' इति । यह शब्द जीव विशेष और परमात्माके लिये भी शास्त्रोंमें व्यवहृत हुआ है जिसका कारण यह है कि 'भग' शब्दसे बहुतसे अर्थोंका ग्रहण किया जाता है । सब शब्दोंमें साधारण और असाधारण दो भेद होते हैं । जो शब्द किसी एकके लिए ही प्रयुक्त किया जा सके, दूसरेमें उसका समावेश न हो उसे असाधारण कहते हैं और जिस शब्दका प्रयोग बहुतोंमें होता हो उसे साधारण कहा जाता है । इसलिए असाधारण 'भग' (ऐश्वर्य) केवल परमात्मामें ही व्यवहृत हो सकता है और साधारणका व्यवहार जीवविशेष, जैसे कि देवताओं और महर्षियों आदिमें करके उन्हें भी भगवान् शब्दसे विशेषित किया गया है । असाधारण भग ये हैं, ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य्य, तेज, वीर्य्य, पोषणत्व, भरणत्व, धारणत्व, शरण्यत्व, सर्वव्यापकत्व, और कारुण्यत्व आदि । यथा "ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यतेजो वीर्य्यान्यशेषत । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ।" (तत्वत्रयभाष्ये) ॥ १ ॥ "पोषण भरणाधार शरण्य सर्वव्यापकम् । कारुण्य षड्भि पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम् ॥ २ ॥' इन श्लोकोंमें कहे हुए ऐश्वर्य्य केवल परमात्मा हीके गुण हैं, इसलिए ये असाधारण हुए । साधारण भग ये हैं—"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य यशसा श्रियमेव च । ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णाभग इतीरणा ॥ १ ॥" (वि० पु०), 'उत्पत्ति प्रलयञ्चैव जीवानामगतिगतिम् । वेत्ति विद्यामविद्याञ्च सवाच्यो भगवानिति ॥ २॥' इन श्लोकोंमें कही हुई बातोंके प्राप्त एवं जाननेवालोंको भी भगवान् कहा जाता है और ये सब साधनोंसे प्राप्त एव ज्योतिष तथा दर्शनोंसे जानी जाती हैं । इसलिए शास्त्रज्ञों, लौकिक ऐश्वर्यशालियों तथा देवताओंको भी भगवान् शब्दसे विशेषित किया जाता है । इन श्लोकोंमें कहे गए भग परमात्मा तथा जीव-विशेषमें भी रहनेसे ये साधारण भग हुए । यही कारण है कि कहीं-कहीं ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादि देवताओंको तथा नारद वशिष्ठादि महर्षियोंको भी अभियुक्तोंने भगवान् शब्दसे विशेषित किया है ।

तदपि जथा श्रुत जसि मति मोरी । कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी ।।५।।

शब्दार्थ—तदपि=तथापि, तो भी । जथाश्रुत–सुना हुआ । १०४ (३४) देखिए ।

अर्थ—तो भी तुम्हारी अत्यत प्रीति देखकर मैं कहूँगा, जैसा कुछ मैंने सुना है और जैसी कुछ मेरी बुद्धि है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ "तदपि जथाश्रुत ।" ☞अभिमानरहित बोलना उत्तम वक्ता पुरुषोंकी रीति है । इसीसे सभी वक्ताओंने 'दूसरोंसे सुनी हुई' और 'मति अनुसार' कहा है । (क) 'जथाश्रुत', यथा—(१) गोस्वामीजी–"मैं पुनि निज गुर सनसुनी कथासो ।।३०।। "भाषाबद्ध करबि मैं सोई ।" (२) याज्ञवल्क्यजी–'तदपि जथाश्रुत कहौं बखानी । १०४।५।' (३) भुशुण्डीजी—'संतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहि

सुनायउँ सोइ । ७।६२ ।' तथा यहाँ शिवजी 'जथाश्रुत' कहते हैं । (ख) 'जसि मति मोरी' (मति अनुसार); यथा—(१) 'करइ मनोहर मति अनुहारी । ३६।२ ।' (तुलसीदासजी) । (२) 'कहौं सो मति अनुहारि अब···। १।४७ ।', 'रघुपतिकृपा जथामति गावा । मैं यह पावन चरित सुहावा ।७।१३०।४ ।' (याज्ञवल्क्य जी) । (३) 'निज मति सरिस नाथ मैं गाई । ७।६१।१ ।', 'कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा । व्यास समास स्वमति अनुरूपा । ··नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ । ७।१२३ ।' (भुशुण्डीजी) । (४) 'मति अनुरूप निगम अस गावा । १।११८ ।' (वेद) । (५) 'निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं । निगम सेष सिव पार न पावहिं । ७।६१।४ ।' वैसे ही शिवजी भी निरभिमानके वचन कह रहे हैं ।

नोट—१ 'जथाश्रुत जसि मति ··' के और भाव —(क) वेदोंने भी इनका वर्णन करके पार न पाया, वे 'नेति नेति' कहते हैं, 'इति' नहीं लगा पाते, और किसीकी भी बुद्धि वहाँतक नहीं पहुँच सकी फिर भला और किसीकी क्या सामर्थ्य कि कहे ! इसलिए जैसा कुछ हमने सुना समझा है वह कहता हूँ । (ख) श्रीपार्वतीजीने शिवजीको 'भगवान्', 'समर्थ' आदि विशेषण देकर तब उनसे प्रश्न किए और कथा पूछी है; यथा 'सिव भगवान ज्ञान गुन-रासी','प्रभु समर्थ सर्बग्य सिव सकल-कला-गुन धाम ।','जोग ज्ञान वैराग्य निधि प्रनत कल्पतरु नाम', 'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना ।' इसी पर उनका इशारा है । वे कहते हैं कि यह सब ठीक है पर भगवान् रामचन्द्रजी और उनके चरित इत्यादि अनन्त हैं, हम इतने समर्थ होने पर भी उनका वर्णन यथार्थ नहीं कर सकते । (ग) इन शब्दोंसे अपने वाक्यको प्रमाणित कर दिखा रहे हैं । अर्थात् यदि उनका अंत मिल सकता तो हम सब जानते ही होते और कह भी सकते । (घ) 'यथाश्रुत' कहकर तब 'जसि मति मोरी' कथनका भाव कि जो कुछ हमने सुना है वह भी सबका सब और यथार्थ मैं नहीं कह सकता, जहाँ तक मेरी बुद्धिकी पहुँच है वहीं तक कह सकूँगा । इससे यह भी जनाया कि सुना बहुत है इतना ही नहीं कि जितना कहता हूँ । (ङ) अनन्त वस्तुके कथनमें यही होता है कि वह यथाश्रुत और यथामति कहा जाता है ।

टिप्पणी—२ (क) 'कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी' इति ।☞ यह कथाका उपक्रम है । इसका उपसंहार "तब मन प्रीति देखि अधिकाई । तब मैं रघुपति कथा सुनाई । ७।१२८।२ ।' पर है । (ख) 'प्रीति अति'— [*श्रीपार्वतीजीने पूर्व कथा श्रवण हेतु तीन अधिकारी गिनाए हैं*-(१) जो मन कर्म वचनसे वक्ताका दास हो । (२) जो अति आर्त्त हो । और (३) जो वक्ताका कृपापात्र हो । इन तीनोंमेंसे 'अति आर्त्त' होना ही 'अति प्रीति' है, इसीको शिवजीने ग्रहण किया । अतएव जो पार्वतीजीने कहा है कि 'अति आरति पूछौं सुरराया । रघुपति कथा कहहु करि दाया ।' यही 'अति प्रीति' है, जिसका देखना शिवजी कह रहे हैं] (ग) अति प्रीति देखकर तब कथा कहने-सुनानेका भाव कि कथा, कीर्त्ति, गुण आदि गुह्य (गोपनीय) थे, अति प्रीति देखकर प्रकट किये गए ।☞ उपसंहार भी 'तब मन प्रीति देखि ··' पर करके शिवजी उपदेश कर रहे हैं कि जिसकी श्रीरामकथामें अत्यन्त प्रीति हो उसीको कथा सुनानी चाहिए, प्रीतिरहितको कदापि न सुनावे । इसी प्रकार श्रोताको चाहिए कि पहले अपनेको 'अति आर्त्त अधिकारी' बना ले, तब प्रश्न करे, तो फिर 'गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं ।' (घ) श्रीशिवजी इन चौपाइयों और शब्दोंसे कथाका प्रारंभ करते हैं और अन्तमें इन्हीं शब्दोंसे कथाकी समाप्ति करेंगे ।—

उपक्रम		उपसंहार
"जथा अनत राम भगवाना । तथा कथा कीरति गुन नाना ॥ रामनाम गुन चरित सुहाये । जनम करम अगनित स्रुतिगाये ॥"	१	राम अनंत अनंत गुनानी । जनमकरम अनंत नामानी ॥७।५२॥ स्रुति सारदा न बरनइ पारा ।
"जसि मति मोरी"	२	मैं सब कही मोरि मति जथा (उ० ५२)
"कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरा"	३	तब मन प्रीति देखि अधिकाई ।०']

उमा प्रश्न तव सहज सुहाई । सुखद संत-संमत मोहि भाई ॥६॥
एक बात नहिं मोहि सोहानी । जदपि मोह बस कहेहु भवानी ॥७॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना । जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥८॥

शब्दार्थ—संत समत=संत अनुमत=जिसमें संत भी सहमत हों। सम्मत=सहमत, अनुमत, अनुमोदित ।=अनुमति । भाई=अच्छी लगी । (गोस्वामीजी 'प्रश्न' को स्त्रीलिंग मानते हैं, इसीसे उसीके अनुसार 'भाई' क्रिया दी है)।

अर्थ—हे उमा ! तुम्हारे प्रश्न स्वाभाविक ही सुन्दर, सुख देनेवाले और संतसमत हैं (अतएव) मुझे भी भाए ॥ ६ ॥ (परन्तु) हे भवानी ! मुझे एक बात अच्छी नहीं लगी, यद्यपि तुमने मोहवश ही ऐसा कहा (अथवा, यद्यपि तुमने अपनेको मोहके वशमें होना कहा है) ॥ ७ ॥ तुमने जो यह कहा कि 'वे राम कोई और हैं जिन्हें वेद गाते हैं और जिनका ध्यान मुनि लोग करते हैं ।' ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ "उमा प्रश्न " इति । (क) 'संतसमत' अर्थात् छलरहित हैं, यथा 'प्रश्न उमा के सहज सुहाई । छल बिहीन सुनि सिव मन भाई । १.१११.६ ।'—[इन दोनों चौपाइयोंमें एक ही बात कही गई है । १११.६ में 'सहज सुहाई' और 'छलविहीन' होनेसे 'मन भाई' कहा था और यहाँ 'सहज सुहाई' 'सुखद संतसमत' होनेसे 'मन भाई' कहा है । इस प्रकार 'सुखद संतसमत' से 'छलविहीन' का अर्थ ग्रहण कराया गया । (ख) 'सहज सुहाई' के भाव १११.६ में देखिए । बैजनाथजी लिखते हैं कि प्रश्न सहज सुन्दर हैं क्योंकि रामतत्व-विषयक हैं, इसीसे सबको 'सुखद' हैं । संतसंमत हैं क्योंकि परमार्थ-साधक हैं, इसीसे मुझे भाए ।]

वि० त्रि०—प्रश्नकी प्रशंसा करते हैं । 'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि' यह प्रश्न बहुत सुन्दर है और इसमें स्वाभाविकता है । ऐसे मार्मिक प्रश्नके उत्तरमें वक्ताको भी सुख होता है । सन्तोंकी भी यही सम्मति है कि प्रकृत जिज्ञासुकी यथार्थ जिज्ञासाका उत्तर देना चाहिए । शुष्क तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है । बलवान् तार्किक निर्बलको दबा लेता है और जो उससे भी बड़ा तार्किक है वह उसके तर्कका भी खण्डन कर देता है, अतः शास्त्रकी मर्यादाके भीतर भीतर तर्क होना चाहिए । तुम्हारा तर्क शास्त्रके भीतर है, शास्त्रके समझनेके लिए है ।

टिप्पणी—२ (क) 'एक बात नहिं ' भाव कि और सब बातें सुन्दर, सुखद और संतसंमत हैं, केवल एक ही बात असुन्दर, दुःखद और साधु-असम्मत है, इसीसे वह हमें नहीं अच्छी लगी, अन्य सब अच्छी लगीं । [(ख) यहाँपर यह दिखाया है कि रोचक और भय तुल्य होने चाहिएँ, तभी जिज्ञासुका कल्याण होता है । यदि संकोचवश रोचकही रोचक कहे तो ठीक नहीं और यदि अपनी उत्कृष्टता दिखानेके लिए बहुत ही भय या ताना दे तो वह भी उचित नहीं । वक्ताओंको यह नीति स्मरण रखनी चाहिए । इसी विचारसे श्रीशिवजीने प्रथम पार्वतीजीकी प्रशंसा की, उनके प्रश्नोंको सुन्दर, सुखद सन्तसम्मत कहा और तब यह कहा कि 'एक बात नहिं मोहि सोहानी' । (बाबा रामदासजी, प०, रा० प०) । पुनः 'नहिं मोहि सोहानी' का भाव कि एक प्रश्न जो सन्तसम्मत नहीं है वह भवानीके मुखसे निकलना न चाहिये था, ऐसा प्रश्न उमा (=महेशकी लक्ष्मी) को लाञ्छनास्पद है । जो प्रश्न शिवजीको अप्रिय लगा उससे उनके हृदयमें क्रोधका प्रादुर्भाव हुआ है और वे पार्वतीजीको फटकारना चाहते हैं, पर वे भयभीत न हो जायँ, इस लिए सामान्यरूपसे कहेंगे । प० प० प्र० ।] (ग) 'जदपि मोह बस कहेहु' अर्थात् पक्षपात करके नहीं कही गई तब भी हमें अच्छी नहीं लगी । ☞ यह बात शिवजीको यहाँ तक असह्य हुई कि उनसे रहा न गया, उन्होंने उसे कह ही डाला । वह कौन एक बात है सो आगे कहते हैं । (घ) पूर्व दोहा १०८ में श्रीपार्वतीजीने तीन बातें कहीं । (श्रीरामपरत्वके तीन प्रमाण दिए)—(१) प्रभु जे मुनि परमा-

रथवादी कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।', (२) सेस सारदा वेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना', (३) 'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनग आराती॥'' और अन्तमें कहा 'राम सो अवध नृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई।'-यह अंतिम बात है। 'की अज अगुन ' ही वह बात है जो न सहाई। 'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना' के 'कोउ आना' का और 'की कोई' का एक ही अर्थ है। शिवजीको यह बात कितनी दुःखद और नापसन्द (अरुचिकर) एवं असह्य हुई यह उनके उत्तरके शब्दोंकी स्थितिसे झलक रही है। उन्होंने पार्वतीजीकी तीन बातोंमेंसे दोको 'राम कोउ आना' के साथ कहा। (अर्थात् 'राम कोउ आना' कहकर उसी अर्धालीके दूसरे चरणमें 'जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना' इन दो बातों या प्रमाणोंको कहा, अपनेको न कहा)। 'राम कोउ आना' के साथ अपना नाम नहीं रक्खा—

पार्वतीजीका प्रश्न	श्रीशिवजीका उत्तर
सेस सारदा वेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना	१ जेहि श्रुति गाव
प्रभु जे मुनि परमारथ वादी।	२ धरहिं मुनि ध्याना
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती।	३ इसका उत्तर नहीं दिया।

'राम कोउ आना' के साथ अपना नाम न देकर जनाया कि दाशरथी श्रीरामजीके अतिरिक्त किसी अन्य रामके साथ हमारा नाममात्र भी नहीं है, अन्य रामके प्रतिपादनमें हमारा किंचित् कहीं भी सम्बंध नहीं है। ☞ यह शिवसिद्धान्त है। जहाँ अन्य रामका प्रतिपादन हो वहाँ हमारे सम्बन्धकी कौन कहे वहाँ तो हमारा नाम भी नहीं सुना जायगा।

वि० त्रि०—आँखें तो बहुतोंको हैं पर सभी रत्नको पहचान नहीं सकते, उन्हें शीशेमें और रत्नमें भेद नहीं मालूम पड़ता, उस भेदको तो केवल जौहरीकी आँखें देखती हैं। अतः रत्नका ग्रहण दो एक रात्निकोंको दिखाकर, सत् तर्क द्वारा श्रद्धा करके ही संसार करता है। जो अभागा रात्निकोंपर कुतर्कके बलसे श्रद्धा नहीं करता, वह सदा रत्नसे वंचित रहता है। इसी भाँति राम ब्रह्म हैं या नहीं, इसका निर्णय सामान्य पुरुष नहीं कर सकता। इस बातके जौहरी परमार्थवादी मुनि और शेष शारदादि हैं, उनके वचन पर सत् कर्मद्वारा श्रद्धा करना ही प्राप्त है।

शिवजीका कहना है कि जब तुम स्वयं कहती हो कि 'प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥ सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥ तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनग आराती॥', तब तुमने कुतर्कका आश्रयण करके इनके वचनोंमें अश्रद्धा क्यों की? ये लोग जब कहते हैं कि ये वही राम हैं जिनका वेद गुणगान करता है और मुनि ध्यान धरते हैं, तब तुम्हारे मनमें 'राम कोउ आना' की भावना कैसे उठी? जिसे विशेषज्ञ महात्मा एक स्वरसे कहें उस विषयमें भी संशयको बनाये रखना, यह मोहकी छाया है। यही बात मुझे भी अच्छी न लगी। इस प्रकारकी धारणा तो हरिविमुखोंको होती है, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अब उन्हीं हरिविमुखोंकी भर्त्सना पार्वतीजीका भ्रम मिटानेके लिए शिवजी क्रमसे करते हैं।

वै०—'मोह बस कहेहु' तुमने अपने मनको मोहके वश होना कहा है। इस अर्थमें भाव यह है कि इस कथनसे तुम निर्दोष ठहरती हो, मोह वश होनेसे मनुष्य ऐसा कह सकते हैं। शिवजी पार्वतीजीको वचन-दण्ड दे रहे हैं, उनके कथनका अभिप्राय यह है कि तुम कहती हो कि अब पहला-सा विमोह नहीं किन्तु कुछ ही है, अज्ञ जानकर रुष्ट न हूजिए, अब कथा सुननेकी रुचि मुझको है। सो कथा सुननेके लिए तो तुमको मोह नहीं और श्रीरामरूपमें संदेह करनेके लिए मोह है यद्यपि उनका प्रभाव तुमने अघाकर देख लिया है।

जैसे एक बने हुये मतवालेने राजाको गालियाँ दीं। उसके नौकरोंने उसे दण्ड देना चाहा तो राजाने रोक दिया कि वह तो पागल है, अपने होशमें नहीं है, ऐसेको दंड देना उचित नहीं। वह और भी शेर हुआ, अधिक गालियाँ देता हुआ आगे चला जहाँ नदीमें हलकर पार जाना पड़ता था। वहाँ उसने अपनी जूती उतारकर हाथमें ले ली। तब राजाने उसको दंड देनेकी आज्ञा दी और कहा कि गालियाँ देनेके लिए तुझे होश न था और जूती बचानेका होश है! वैसे ही यहाँ शिवजी कहते हैं कि हमारे विचारमें तुम्हें मोह नहीं है, तुमने जान-बूझकर ऐसा प्रश्न किया है इसीसे मुझे यह बात नहीं सुहाई।

नोट—'भवानी' संबोधनका भाव कि तुम तो भव-पत्नी हो, हमसे सम्बन्ध रखनेवालेको ऐसा कदापि न कहना चाहिये था। यही मुझे दुखी कर रहा है।

दोहा—कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाषंडी हरि-पद-बिमुख जानहिं झूठ न साच ॥११४॥

शब्दार्थ—ग्रसना – बुरी तरह पकड़ना, ऐसा पकड़ना कि छूट न पावे। झूठ-वह बात जो यथार्थ न हो। 'झूठ साँच कुछ नहीं जानते' यह बोली है, मुहावरा है अर्थात् वे झूठ और सत्यमें फर्क नहीं निकाल सकते, उसका विवेचन नहीं कर सकते।

अर्थ—ऐसा अधम मनुष्य कहते हैं, जिन्हें मोहरूपी पिशाचने ग्रस लिया है, जो पाखण्डी हैं, हरिपद-विमुख हैं और झूठ सच कुछ नहीं जानते* ॥ ११४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कहहिं सुनहिं अस अधम ''—भाव कि न तो ऐसा कहना ही चाहिए और न सुनना ही। अधम = अधर्मी। 'अधर्मी' हैं अर्थात् कर्म (कर्मकाड) रहित हैं। 'ग्रसे जे मोह पिसाच' मोह पिशाचने ग्रस लिया है अर्थात् ज्ञान (ज्ञानकाड) रहित हैं। 'हरिपदविमुख' हैं अर्थात् उपासना (काड) रहित हैं। इस तरह इन तीन उपाधियोंसे उन *लोगोंको जो दाशरथी श्रीरामजीसे भिन्न अन्य 'राम'* का प्रतिपादन करते हैं, वेदत्रयी कर्म ज्ञान-उपासना काडत्रयसे रहित बताया। और काडत्रयरहित होनेसे इनकी मुक्ति कदापि नहीं हो सकती, सदा संसारचक्रमें पड़े जनमते-मरते रहेंगे—यह जनाया। (ख) 'ग्रसे जे मोहपिसाच'—*मोहको पिशाचकी उपमा देनेका भाव कि भूत प्रेत जिसको लगते हैं,* जिसके सिरपर सवार होते हैं, वह पागल सरीखा बोलने लगता है, वैसे ही ये बोलते हैं। जैसे पिशाच सिरपर चढ़कर पिशाच-ग्रस्तसे जो चाहता है कहलवाता है, वैसे ही मोहरूपी पिशाच इनके सिरपर सवार है, वही इनसे परमेश्वरके विषयमें जसी-तैसी बातें बकवाता है, यथा 'बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे। ११५.७।', 'मरम बचन सुनि राउ कह कहु कछु दोषु न तोर। लागेउ तोहि पिसाच जिमि कालु कहावत मोर। २.३५।' (ग) 'पाषंडी' हैं अर्थात् दिखानेभरके लिये करते हैं। [(घ) त्रिपाठीजीका मत है कि "यह पहिले प्रकारके हरिविमुखों (जिन्होंने 'हरिकथा सुनी नहिं काना') के लिये कहते हैं कि ऐसे अधम लोग ऐसी बातें कहते और सुनते हैं। हरिकथा तो कभी सुनी नहीं, वे मिथ्या संसारको ही सत्य माने बैठे हैं, ब्रह्म (सत्य) उनके लिये कोई वस्तु ही नहीं है।"]

नोट—ग्रसे जे मोह पिशाच, पाखण्डी इत्यादि विशेषण औरोंके देकर उसके अभिप्रायसे शिवजी पार्वतीजीको धिक्कारते हैं। (वे०)। इस भावके अनुसार यहाँ तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यंग है—"चमत्कारमें

* कोई-कोई ऐसा अर्थ करते हैं—वे झूठ जानते हैं, सत्य नहीं जानते। और कहते हैं कि जैसे सन्तोंको झूठ बोलना विषके समान जान पड़ता है, वैसे ही खलोंको सत्य बोलना विषके समान जान पड़ता है।—'मिथ्या माहुर सज्जनहिं खलहिं गरल सम साँच। तुलसी छुअत पराइ ज्यों पारद पावक आँच। ३३१।' (दोहावली)। अतएव इनका झूठ ही जानना कहा।

व्यग्य अरु वाच्य बराबर होय।' तुल्य प्रधान गुणीभूत वहाँ कहा जाता है जहाँ वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ बराबरीके हो। कथन तो यहाँ सर्व साधारणके लिये है पर उस सर्व साधारणमें पार्वतीजी भी आ जाती है, अत उनपर भी घटित हो जाता है वे चाहें तो ऐसा समझ सकती हैं कि यह सब मुझको कहते हैं। 'मोह पिसाच' मे सम-अभेद रूपक है। पहले एक साधारण बात कहकर कि ऐसा अधम नर कहते हैं फिर उसका समर्थन विशेष सिद्धान्तसे करना कि जो मोहग्रस्त है, पाखण्डी है इत्यादि वे ऐसा कह सकते हैं किन्तु तुम्हारा कहना युक्त नहीं—'अर्थान्तरन्यास अलकार' है। प्र० स्वामीके टिप्पण आगेकी चौपाईमे देखिए।

अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥१॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहु संत सभा नहिं देखी॥२॥

शब्दार्थ—अज्ञ-जिनका धर्मभूत ज्ञान सकुचित हो। अकोविद शास्त्रजन्य ज्ञानसे रहित।-जो पंडित नहीं है। काई-जग, मैल, मल। लपट-विषयोंमे लपटे हुए, विषयी, कामी, यथा 'पर त्रिय लपट कपट सयाने। ७.१००।' कपटी-जिनके मनमे कुछ हो और बाहर कुछ।—'मन कपटी तन सज्जन चीन्हा।'

अर्थ—जो अज्ञानी, अकोविद, अन्धे और भाग्यहीन है, जिनके मनरूपी दर्पणमें विषयरूपी मल लगा है॥ १॥ जो विशेषरूपसे लपट, कपटी और कुटिल हैं, जिन्होंने (जाग्रत्की कौन कहे) स्वप्नमें भी सन्तसमाजका दर्शन नहीं किया॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'अज्ञ' से ज्ञाननयनरहित जनाया और 'अकोविद' से श्रुतिस्मृतिनेत्ररहित। [यथा वृद्धपाराशरस्मृतौ—"श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे ब्राह्मणाना प्रकीर्त्तिते। एकेन विकल काणो द्वाभ्यामन्ध इतीरित।" अर्थात् शास्त्रोंमें ब्रह्मवेत्ताओंके वेद और धर्मशास्त्र दो नेत्र कहे गए हैं। इनमेंसे जिसको एक ही का ज्ञान हो दूसरेका न हो वह काना है और जिसे दोनोंका ज्ञान न हो उसे अंधा कहा गया है। पुनश्च यथा हितोपदेशे—"अनेकसशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्। सर्वस्य लोचन शास्त्र यस्य नास्त्यध एव स।" अर्थात् अनेक सशयोंका छेदन करनेवाला और परोक्ष बातोंका दर्शानेवाला शास्त्र सबकी आँख है, जिसे यह न हो अर्थात् जिसे शास्त्रका ज्ञान नहीं है, वह ही अंधा है], इसीसे (ज्ञान-श्रुतिस्मृति नेत्रहीन होनेसे) अंधा कहा। अथवा, (ख) 'अज्ञ अकोविद' से भीतर (हृदय) के नेत्रोंसे रहित कहा और 'अंध' से बाहरके नेत्रोंसे रहित जनाया (अर्थात् इनके भीतरकी और बाहरकी दोनों ही फूटी), क्योंकि सगुण ब्रह्म बाहरके नेत्रोंसे देख पड़ता है। आगे इसीको स्पष्ट करके लिखते हैं—'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना।' (ग) [मा० पी० प्र० स०—'अज्ञ अकोविद ' का अन्वय या सबंध चौथी चौ० 'मुकुर मलिन ' से है। 'अज्ञ' है अर्थात् ज्ञान-वैराग्य नेत्रहीन हैं। ज्ञान वैराग्य और श्रुतिस्मृति ये ही दो नेत्र कहे गए हैं, यथा 'ज्ञान बिराग नयन उरगारी। ७ १२०।']

प० प० प्र०—मोह पिशाचग्रस्त = विमोहवश। पाखडी = न धर्मरति। हरिपदविमुख = हरि बिमुख। जानहिं झूठ न साँच मतिमद। इस प्रकार यहा चारको कहा, पर इनमे प्रथम मोहपिशाचग्रस्तोंका उल्लेख पार्वतीजीपर कटाक्ष करके ही किया है। इन चारोंको ही आगे क्रमश अभागी, अध, अकोविद और अज्ञ कहते हैं, यथा 'अज्ञ अकोविद अध अभागी'। पर चौपाईमे क्रम उलटा है। कारण कि शिवजीने पार्वतीजीके मोहसे ही उपक्रम किया है और अन्तम उपसहार भी पार्वती-मोहके विषयम ही करना है।

सती-पार्वती, गरुड, नारदादि ज्ञानीको मोह होता है, वे अभागी हैं। पाखडी-जो वेदविरोधी रावणादि राक्षसोंके समान हैं, अपनी सत्ता, ऐश्वर्यादिके अभिमानसे मदसे अधे हो जाते है जिससे रामलीलाका रहस्य उनकी समझमे नहीं आता। हरिपदविमुख हरिभक्तिविहीन हरिविरोधी अकोविद है, वह उलटा ही जानता है। और जो अज्ञ अर्थात् मतिमद है, वह झूठ और सत्य कुछ नहीं जानता, उसको शास्त्रज्ञान आदि कुछ नहीं है।

ऐसे चार प्रकार न माननेसे भरद्वाज, गरुड, सती, पार्वती आदिको भी पाखण्डी और हरिविरोधी कहना पड़ेगा, पर ऐसा मानना सत्यका अपलाप और सन्तोंकी निन्दा ही ठहरेगी। (आगे शृङ्खला ११५। ३-४ में देखिए)।

वि० त्रि०—वेद-असम्मत वाणी बोलनेवाले, यदि विज्ञ भी हों, तो उन्हें अज्ञ ही समझना चाहिए। जिसे इतना अभिमान है कि अपनी समझके सामने ईश्वरीय वाणीको नहीं गिनता, अथवा ऐसा अविश्वासी है कि सनातन वेदपर विश्वास नहीं करता, अथवा मनसे भी अचिन्त्य रचनावाले संसारको देखनेपर भी उसके रचयिताकी ओर जिसका ध्यान नहीं जाता, वह विज्ञ होनेपर भी अज्ञ है, कोविद (पंडित) होनेपर भी मूर्ख है, आँख रहते अंधा है। यदि ईश्वरमें विश्वास हो तो यह बात भी समझमें आवे कि इस विश्वका रचनेवाला विश्वके कल्याणके लिये बिना कुछ उपदेश दिये उसे उपेक्षित नहीं छोड़ सकता। अतः उसे वेद शास्त्रकी आवश्यकता मालूम पड़ेगी, और जिसे ईश्वरपर विश्वास नहीं वह वेद क्या मानेगा? तब यह अभागी है, भवभंजनपदविमुख है, मुनि जन धन-सर्वस्व शिव-प्राण उसके भाग्यमें नहीं, वह सदा जन्म-मरणरूपी संसारमें पड़ा हुआ अधमगतिको प्राप्त होता चला जायगा।

टिप्पणी—२ 'कोई बिषय मुकुर मन लागी' इति। (क) विषयरूपी काई मनरूपी दर्पणमें लगी हुई है अर्थात् मन विषयी हो रहा है, तब रामरूप कैसे देख पड़े? विषयीको भगवान् नहीं देख पड़ते। यथा "*राम प्रेम पथ पेखिये दिए बिषय तन पीठि। तुलसी केचुरि परिहरे होत साँपहू डीठि।*" (दोहावली ८२)। अर्थात् श्रीरामप्रेमगली तभी देख पड़ती है जब विषयको पीठ दे, उससे विमुख हो जाय, जैसे सर्पको उस समय तक नहीं सूझ पड़ता जबतक केंचुल उसके शरीरको आच्छादित किये रहती है।

३ "लंपट कपटी कुटिल ..." इति। (क) [लंपट अर्थात् कामी, परस्त्रीगामी, व्यभिचारी हैं, इसीसे उनके मनमें कपट रहता है, स्वकार्यसाधनार्थ वे कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं और मनमें उनके कुछ है, सारा व्यवहार कपटका रहता है, अतः कपटी कहा। कुटिल हैं अर्थात् टेढ़ी चाल चलते हैं। वि० त्रि० लिखते हैं कि "कपटी अपनी अन्तरात्मासे कपट करता है, उसे सत्यज्ञान हो ही नहीं सकता। यथा '*कपट करौं अंतरजामिहु ते अघ व्यापकहि दुरावौं*'। कुटिल परम सरल वचनमें भी पेंच देखता है, यथा '*चलै जोंक जिमि बक्रगति जद्यपि सलिल समान।*' ऐसे लोगोंको वेदपर विश्वास नहीं हो सकता।"] '*सपनेहुँ*' का भाव कि सन्तसमाजका दर्शन बड़े भाग्यसे होता है, यथा '*बड़े भाग पाइब सतसंगा।* ७ ३३.८।' जब बड़े भाग्य उदय हों तभी दर्शन होता है, सामान्य भाग्यसे सन्तदर्शन नहीं मिलता। और, इनके न तो बड़ा भाग्य है और न सामान्य ही, ये तो अभागे हैं। इसीसे इन्हें स्वप्नमें भी सन्तसभाके दर्शन नहीं हुए। [पुनः, भाव कि जाग्रत्‌अवस्थामें दर्शन होना बड़ा भाग्य है। यह न हो पर कदाचित् स्वप्नमें ही सन्तोंके दर्शन हो जायँ तो भी भाग्य ही समझना चाहिए, यद्यपि यह सामान्य ही है। पर ये पूरे 'अभागी' हैं, क्योंकि इन्हें कभी स्वप्नमें भी दर्शन नहीं हुआ। पुनः, मुहावरेके अनुसार 'सपनेहु' का भाव 'कभी भी' 'भूलसे भी' है। पुनः, ऊपर जो '*अज्ञ अकोबिद अंध अभागी*' में '*अंध अभागी*' कहा था उसीके सम्बन्धसे यहाँ '*सपनेहु सतसभा ...*' कहा। अंधे भी स्वप्न देखते हैं, पर ये ऐसे अभागे हैं कि इन्होंने कभी स्वप्न भी सन्तोंका नहीं देखा। पुनः भाव कि मनुष्य जो व्यवहार दिनमें करता है प्रायः वही उसे स्वप्नमें देख पड़ता है और ये तो लंपट हैं, इनका व्यवहार कपट एवं कुटिलताका रहता है, अतएव इन्हें वही स्वप्नमें दीखेगा। जागृतिमें सन्तसमागम किया होता तो स्वप्नमें भी सम्भव था।—स्वप्नमें भी किये हुए सत्सङ्गका प्रभाव श्रीवसिष्ठजी तथा श्रीविश्वामित्रजीके उस प्रसङ्गसे अत्यंत स्पष्ट हो जाता है जब कि पचास हजार वर्षके कठिन तपके फलपर विश्वामित्रजी अपने सिरपर पृथ्वी न धारण कर सके और वसिष्ठजी स्वप्नमें किये हुए केवल दो घड़ीके सत्सङ्गके फलपर पृथ्वीको अपने सिरपर धारण करनेको समर्थ हुए थे। स्वप्नके सत्सङ्गका यह प्रभाव

हैं अतः 'सपनेहु सत सभा नहीं देखी' का भाव कि स्वप्नमें भी सत्सङ्ग होना दुर्लभ पदार्थ है, यदि हो जाता तो वे सुधर जाते, सत-असमत-वाणी न कहते। पुनः भाव कि इनका साथ सदा असन्तोंका रहता है, अतः ये सब आचरण इनमें हैं]। ☞ सतसभा नहिं देखी' का भाव कि सन्तदर्शनसे बुद्धि निर्मल हो जाती है। यथा 'सत दरस जिमि पातक टरई। ४।१७।', 'काक होहिं पिक बकउ मराला', 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। १।३।' इन्होंने दर्शन नहीं किया, इसीसे मलिनबुद्धि बने रहे।

कहहिं ते बेद असंमत बानी। जिन्ह[1] के सूझ लाभु नहिं हानी ॥३॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना ॥४॥

शब्दार्थ—वेद-असमत = वेदविरुद्ध, वेदाके प्रतिकूल।

अर्थ—जिन्हें अपना हानि-लाभ नहीं सूझता, वे ही वेदविरुद्ध वचन कहते हैं ॥ ३ ॥ (उनका मन-रूपी) दर्पण मैला है और वे नेत्ररहित हैं, तब भला वे बेचारे श्रीरामरूप कैसे देखें ? ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कहहिं ते बेद ' इति। 'सतसभा नहिं देखी' से सत-विरुद्ध और 'वेद-असमत' से वेदविरुद्ध। अर्थात् उनकी वाणी सन्त और श्रुति दोनोंसे विरुद्ध है, अतएव वह प्रमाण नहीं है। इससे जनाया कि तुम्हारी 'राम कोउ आना' वाली बात सत-श्रुति-असमत है। (ख) 'लाभ नहिं हानी' इति। लाभ क्या है ? रघुपति भक्तिका होना। यथा 'लाभु कि किछु हरिभगति समाना। ७।११२।८।', 'लाभ कि रघुपति-भगति अकुठा। ६।२६।८।' हानि क्या है ? नरतन पाकर भी भगवद्भक्ति न करना। यथा 'हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई। ७।११२।६।' [पुनः यथा 'तुलसी हठि हठि कहत नित चितु सुनि हित करि मान। लाभ राम-सुमिरन बडो बड़ी बिसारे हानि।' (दोहावली २१)] (ग) 'सूझ'—ऊपर इनको 'अंध' कह आए, इसीसे यहाँ न सूझना कहा, क्योंकि अन्धेको सूझता नहीं। लाभ और हानि इनको नहीं सूझते, यथा 'परमारथ पहिचानि मति लसति विषय लपटानि। मनहु चिता ते अधजरत तुलसी सती परानि ॥' इति दोहावल्या। अर्थात् परमार्थको जानकर भी बुद्धि विषयमें लपटी रहती है, इनकी दशा वैसी ही शोचनीय है जैसे कोई स्त्री सती होन जाय और अधजली होकर उठ भागे]

प० प० प्र०—"काई विषय मुकुर मन लागी ॥ लपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहु सतसभा नहिं देखी।'— ये हैं वेद-असम्मत-वाणी कहनेके कारण और 'जिन्हके सूझ लाभ नहिं हानी', कारण भी चार ही गिनाये हैं। चारोंको लाभ हानि नहीं सूझती। जिन्होंने स्वप्नमें भी सन्तसभा नहीं देखी वे अकोविद होते हैं। जो अंधे हैं वे मदांध हैं, व विशेष विषयलपट, विशेष कपटी और विशेष कुटिल बनते हैं जैसे रावण। अज्ञ और अंध अकोविद लोगोंके मनपर विषय काई लगी रहती है।—ऐसे चार भेद न माननेसे सती, पार्वती, गरुडको लपट कपटी कुटिल विशेष आदि मानना पड़ेगा। सतीने कपट तो किया ही पर विशेष नहीं किया और लपटादि नहीं हैं यह है दुर्जनोंका लक्षण। जो अभागी है वे 'हरि मायाबल जगत भ्रमाहीं'। शेष तीन अविद्या मायावश भ्रमते रहते हैं।" (शृङ्खलाके लिये ११५।७-८ में देखिए)

वि० त्रि०—वेद तो कहता है कि 'चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ। रघो कुलेऽखिल राति राजते यो महीस्थितः।' (रा०पू०ता० उ०), (अर्थात्) चिन्मय महाविष्णु हरि रघुकुलमें श्रीदशरथजीके यहाँ उत्पन्न हुए। रामरहस्योपनिषद् कहता है कि 'राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः। राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम्।' और मुक्तिकोपनिषत्में कहा है कि 'राम त्वं परमात्मासि सच्चिदानन्दविग्रह। इदानीं त्वा रघुश्रेष्ठ प्रणमामि मुहुर्मुहु।' राम आप परमात्मा सच्चिदानन्दविग्रह हैं। हे रघुश्रेष्ठ ! आपको बार बार प्रणाम। सामवेदके उत्तरार्चिक अ० १५ स० २ सू० १ म० ३ में सक्षेपसे रामकथा भी वर्णित है—'भद्रोऽभ-

---

१ जिन्हहि न—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। जिन्ह के—१६६१, १७०४।

भद्रया सह सचमान आगात्, स्वसार जारोऽभ्येति पश्चात्। सुप्रकेतैर्द्युभिरग्नि वितिष्ठन्नुशद्‌भिर्वर्णैरभिराम-मस्थात्।' (भद्र कल्याणकरो रामचन्द्र भद्रया सीतया सचमान सहित यदा वनमागात् तदा जार धर्मविरुद्धाचरणेन स्वायुषो जरयिता रावण पश्चाद् रामासान्निध्ये स्वसार स्वपित्रादिऋषिरक्तोत्पन्नत्वेन भगिनी तुल्या सीताम् अभ्येति हरणार्थमायात् तदनन्तरं सुप्रकेतै शोभनध्वजै द्युभि अलौकिकैरशद्भि कमनीयै वर्णै रथै कुम्भकर्णादिभिश्च सह अग्नि क्रोधाग्निप्रज्वलितहृदयो रावण वितिष्ठन् युद्धाय सन्नद्ध सन् रामम् अभिस्थात् रामस्य सान्निध्य गतवान्।) अर्थात् कल्याणकर श्रीरामचन्द्र जब कल्याणकरी सीताजीके साथ वन गये, तब धर्मविरुद्धाचरणसे अपने आपको नष्ट करनेवाले रावणने रामजीकी अनुपस्थितिमे स्वपित्रादि ऋषियोंके रक्तसे उत्पन्न भगिनीके समान सीताके समीप जाकर उन्हें हरण किया, तदनन्तर क्रोधाग्निसे जलता हुआ वह विचित्र वर्णवाले रथोंसे सज्जित होकर कुम्भकर्णादिकोंसे युक्त, रामजीके साथ युद्ध करने गया।' मन्त्ररामायण प्रसिद्ध ही है, पर वे कहेंगे कि राम कोई दूसरे है।

टिप्पणी—२ "मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। " इति। (क) 'मुकुर' का भाव कि निर्मल मनसे श्रीरामजी देख पडते हैं। यथा 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ ५।४४।' 'नयन' का भाव कि श्रुतिस्मृति ज्ञानसे श्रीरामरूप देख पडता है। पर इनका मन मुकुर मलिन है और श्रुतिस्मृति-ज्ञान-नेत्र इनके नहीं है, अत इन्हें नहीं सूझता। 'मुकुर मलिन और नयन बिहीना' की व्याख्या "अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी' में कर आए है, पर वहाँ 'रामरूप देखहि किमि दीना' यह नही कहा था, इससे इसकी व्याख्या वहाँ नहीं की गई। (ख) 'रामरूप देखहि किमि' का भाव कि बिना रामरूप देखे वेद असमत वाणी कहते हैं, यदि रामरूप देख पडे तो ऐसा न कहें। ☞ जिन्हें पूर्व कह आए और जिन्हें 'पर' (आगे) कहेंगे वे सब रामरूप देखनेके अधिकारी नहीं हैं। (ग) 'देखहिं किमि दीना' इति। शका—"दीन तो भगवान्‌को प्रिय है यथा 'जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना। १।१८६।' और दर्शनके अधिकारी है (यथा 'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना। ३।८।४।', 'हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहि दाया। ३।१०।४।' "एहि दिवान दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।" (विनय) तब यहाँ 'देखहिं किमि दीना' कैसे कहा ?" समाधान यह है कि जिन दिव्य गुणोंसे भगवान् देख पडते है उन गुणोंसे ये हीन है, ऐसे दीन रामरूप देखनेके अधिकारी नहीं है। जो दीन भगवान्‌को प्रिय हैं वह सब दिव्य गुणोंसे पूर्ण हैं पर अपनेको सबसे छोटा या तुच्छ मानते है। गीताके "अवजानन्ति मा मूढा मानुषीं तनुमाश्रिता। ९।११।' ही यहाँके 'दीन' है।

नोट—१ यहाँ मुकुरकी उत्प्रेक्षासे अपने हृदयमें श्रीरामजीको देखना कहा क्योंकि मन या अन्त करणमें ही ज्ञान वैराग्य नेत्र है और वहीं श्रीरामरूप भी है। यथा 'दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है। वि० १३५।', 'परिहरि हृदयकमल रघुनाथहि बाहेर फिरत बिकल भयो धायो। वि० २४४।' (बाबा रामदासजी)।

२ (क) मानस तत्व विवरणकार लिखते है कि—"यहाँ उपमेयलुप्ता अलकार है। विषयसे अन्त - करण मलिन हो रहा है—'ज्ञानचाप्रतिम तस्य त्रिकालविषय भवेत्। दूरश्रुतिर्दूरदृष्टि स्वेच्छया खगता व्रजेत्॥' इति शिवसहितायाम्। इसलिये सफाई जरूरी है सो हुई नहीं। एव जो सन्तरहस्य है-'उलट नयना देखले अपना राम अपनेमें' सो इससे भी हीन है एव रामधन रहित है तो रामरूप कैसे देख सकें ? अथवा दो जनोंको निकट वस्तु देखना अगम है। एक वह जिसका दूरबीन मलिन है, दूसरा जिसे मोतियाबिन्द हो। और रामरूप तो दूरसे भी दूर और निकटसे भी निकटतर है। दूरबीनका मुकुर मानसचक्र है उसमें जग लगा अर्थात् अगोचरी मुद्रा सिद्ध नहीं हुई है। पुन, श्रुति स्मृति रूपी नेत्र होते तो भी रामरूप देख पडता क्योंकि श्रुतिस्मृतिके नेत्र रामनाम है, यथा 'लोचनस्थ श्रुतीनाम्'। यह भेद उनको नहीं मिला, अतएव वे

रामरूप कैसे देख सकें ।" (ख) प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि 'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार' है। (ग) रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'मुकुर मलिन०' का भाव यह है कि "विवेक रहित हैं। कदाचित् मोतियाबिन्द आदिसे जब नहीं सूझता है तब ऐनक लगाते हैं सो वह भी मलिन है, अर्थात् देखनेके उपयोगी नहीं। यहाँ मुकुर स्थाने उपदेष्टाको जानो।" (घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि "मनरूपी दर्पण तो विषयरूप मल लगनेसे मलिन है, फिर वे विचार विवेकरूपी नेत्रोंसे रहित हैं, उनको अपना ही रूप नहीं सूझता है तब रामरूप कैसे देख पड़े ? मनदर्पण अमल आत्मरूपके सम्मुख हो और विचार-विवेक नेत्र हों तो अपना रूप देखे और वैराग्य सन्तोषकी सहायतासे सावधान होवे तब आत्मरूपके बुद्धि-विज्ञान नेत्रोंसे रामरूप देख पड़े। जो अपना ही आत्मरूप भूला है और बुद्धि ज्ञानहीन विषयवश है वह दीन रामरूप कैसे जाने ? यहाँ गुण देख उपमेयका उपमानमें आरोप होनेसे 'गौनी साध्यवसाना लक्षणा' है।"

☞ नोट—विषयकाईके दूर करनेकी औषधि भी गोस्वामीजीने बताई है। वह यह कि गुरुपद रजके सेवनसे मलिनता दूर होती है। यथा 'श्रीगुरुचरन सरोजरज निज मन मुकुर सुधारि।' पुनः यथा 'गुरु पदरज मृदु मञ्जुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष बिभंजन।'

जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥५॥
हरि-माया-बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥६॥

शब्दार्थ—जल्पना=बकना, डींग मारना; बकवाद करना, बढ़-बढ़कर बातें करना, शेखी बघारना। यथा 'एहि बिधि जल्पत भयउ बिहाना। ६।७१।६।', 'जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि सठ बिलोकु मम बाहु।६।२२।', 'सत्य सत्य सब तव प्रभुताई। जल्पसि जनि देखाउ मनुसाई। ६।८८।१०।', 'जनि जल्पना करि सुजस नासहि'। ६।=६।' कल्पित=मनसे गढ़े हुए, मनगढ़न्त; यथा 'दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ। ७।९७।' भ्रमाहीं=भ्रमते रहते हैं, जन्म-मरणके चक्रमें चक्कर खाते रहते हैं। ☞ 'भ्रमाना' भ्रमना-की सकर्मक क्रिया है परन्तु यहाँ वह अकर्मक क्रियाके ही अर्थमें है। अघटित=अयोग्य, अशोभित, अनुचित, कुछ आश्चर्यकी बात।

अर्थ—जिनके निर्गुण सगुणका विवेक नहीं है, वे अनेक मनगढ़ंत बातें बकते हैं ॥ ५ ॥ भगवान्की मायाके वशमें होकर वे संसारमें चक्कर खा रहे हैं। उनके लिये तो कुछ भी कह डालना असंभव नहीं है (अर्थात् वे सभी तरहकी बेढंगी बातें कह सकते हैं, उनका कुछ भी कह डालना आश्चर्य की बात नहीं)।

टिप्पणी—१ (क) 'अगुन न सगुन बिबेका' इति। अगुण-सगुणका विवेक यह है कि जब वह अव्यक्त रहता है तब अगुण, निर्गुण वा अव्यक्त कहलाता है और जब प्रत्यक्ष दिखाई देता है तब वही सगुण कहा जाता है, दोनोंमें वास्तविक भेद नहीं है। यथा 'एक दारु गत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू। १।२३।४।' अर्थात् निर्गुण काठके भीतरके अव्यक्त अप्रकट अग्निके समान है और सगुण प्रत्यक्ष या व्यक्त अग्निके समान है। जैसे 'अति संघर्षन कर जो कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई", वैसे ही जो निर्गुण 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ ' इत्यादि विशेषणोंसे युक्त है वह भी 'नामनिरूपन नाम जतन तें' प्रगट हो जाता है—'सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें', पुनः, प्रेमको अधिकतासे प्रगट हो जाता है, यथा 'प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी', 'नेम प्रेमु संकर कर देखा।...प्रगटे राम कृतग्य कृपाला। १।७६।' इत्यादि। विशेष १।२३।४ में देखिए। एवं श्रीशिवजी भी अगुण-सगुणका विवेक आगे स्वयं ही कहते हैं—'सगुनहिं अगुनहिं नहि कछु भेदा। ...जलु हिम उपल बिलग नहि जैसे।११६। १३।' (ख) 'जल्पहिं कल्पित बचन' अर्थात् वेद-असंमत वाणी कहते हैं। वेदविरुद्ध होनेसे 'कल्पित' कहा। (ग) 'रामरूप देखहिं किमि दीना' और 'जल्पहिं कल्पित बचन' दोनों बातें कहकर जनाया कि श्रीरामरूप तो देखते नहीं और बातें बहुत गढ़ते-बकते हैं।

२ "हरि माया बस " इति । (क) अर्थात् अविद्यामायाके वश हैं । (हरिमाया दो प्रकारकी है, एक विद्या दूसरी अविद्या । जीव अविद्या मायाके वश जगत्में जन्ममरणके चक्रमें पडे भ्रमण करते रहते हैं, चौरासी भोगते हैं, वारवार जन्म लेते और मरते रहते हैं । यथा "तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥ एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा । जा बस जीव परा भव-कूपा ॥ एक रचइ जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें । ३।१५।४-६ ।' अत यहाँ अविद्यामायावश होना ही अभिप्रेत है ।')। (ख) 'तिन्हहि कहत '—अर्थात् अज्ञानकी बातें जो वे कहते हैं वे सब उनमें घटित हैं, उनके योग्य ही हैं । (ग) ☞ ऐसा ही भुशुण्डीजीने कहा है । यथा "माया बस मतिमंद अभागी । हृदय जमनिका बहु बिधि लागी ॥ ते सठ हठ बस संसय करहीं । निज अज्ञान राम पर धरहीं ॥ काम क्रोध-मद-लोभरत गृहासक्त दुख रूप । ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ परे तम कूप ॥ ७।७३ ।' इस तरह शिवजी और भुशुण्डीजीका एक ही सिद्धान्त है । [जिसने हरिभक्तिको हृदयमें स्थान नहीं दिया उस चौथे प्रकारके हरि विमुखके विषयमें यह कहा गया है । (वि० त्रि०)]

बातुल भूत बिबस मतवारे । ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे ॥७॥
जिन्ह कृत महामोह मद पाना । तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना ॥८॥

शब्दार्थ—बातुल=जिसको बात या बाई चढी है, बावला, सिडी, पागल । भूतविवश = जिसके शरीरमें भूतप्रेत समागया है, भूतका आवेश है, प्रेतग्रस्त । मतवारे (मतवाले) = जो मदिरा, भंग, धतूर आदि मादक पदार्थ खाकर पागल हो जाते हैं, उन्मत्त, नशेमें चूर । कान करना = सुनना । यथा 'तेइ कछु कान न कीन्ह कुटिल प्रबोधी कूबरी । २।५० ।' यह मुहावरा है ।

अर्थ—जिन्हें सन्निपात हो गया है, जो पागल हैं, जो भूत (प्रेतों) के विशेष वश हैं, जो मतवाले हैं और जिन्होंने महामोहरूपी मदिरा पी है, उनके कथन (वचनों, बातों) पर कान न देना चाहिए ।७,८।

टिप्पणी—१ 'बातुल भूत बिबस मतवारे' का दूसरा अर्थ इस प्रकार भी होता है कि-'बातुल' से लोभी (यथा 'लोभ बात नहिं ताहि बुझावा । ७।१२०।४ ।') वा कामी (यथा 'काम बात कफ लोभ अपारा ।' ७।१२१।३० ।'), 'भूतबिबस' से मोहग्रस्त (यथा 'ग्रसे जे मोह पिसाच । ११४ ।') और 'मतवारे' से महामोही (यथा 'जिन्ह कृत महामोह मद पाना') का ग्रहण कर लें तो भाव यह होगा कि लंपट (कामी लोभी), 'ग्रसे जे मोह पिसाच' और महामोही ये कोई विचारकर वचन नहीं बोलते । इनके कथन पर कान न देना चाहिए । पर यह अर्थ शिथिल है, क्योंकि एक ही बात दो जगह कहने से पुनरुक्ति दोष आता है ।—पूर्व जो 'ग्रसे जे मोह पिसाच' कहा उसीको यहाँ 'भूतविवश' कहा, [क्योंकि भूत और पिशाच प्राय एक ही है । पूर्व जो 'लंपट कपटी कुटिल' कहा, वही यहाँ 'बातुल' है; क्योंकि लंपट कामीको कहते हैं, यथा 'परतिय लंपट कपट सयाने', और कामको बात कहा ही है—'काम बात'"'। ७।१२१ ।' बातग्रस्तको बातुल कहते हैं], 'जिन्ह कृत महामोह मद पाना' कहनेसे 'मतवारे' का कथन हो चुका, तब पुन 'मतवारे' कहनेका प्रयोजन ही क्या रह गया ? यदि कविको यह अर्थ अभीष्ट होता तो विकारोंके नाम खोलकर लिखते, जैसे 'मोह' को पिशाच और महामोहको मादक कहा था ।

टिप्पणी—२ 'जिन्ह कृत महामोह मद पाना ।' इति । (क) ☞ 'मोह' को पिशाच कहा—'ग्रसे जे मोह पिसाच' । 'महामोह' को मादक (मद्य) कहा । तात्पर्य कि पंचपर्वा अविद्याके भेदोंमेंसे मोह और महामोह भी दो भेद हैं । यथा "तमोऽविवेको मोह स्यादन्त करणविभ्रम । महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखैषणा । मरणं ह्यन्धतामिस्र तामिस्र क्रोध उच्यते । अविद्या पंचपर्वैषा समुद्भूता महात्मन ", (विष्णुपुराण) । अर्थात् अविवेकको तम कहते हैं, मनके भ्रमको मोह, विषयसुखकी इच्छाको महामोह, मरणको अंधतामिस्र और क्रोधको तामिस्र कहते हैं । इस प्रकार परब्रह्म परमात्मासे यह पाँच प्रकारकी अविद्या प्रगट

हुई है। (१३६।५-६ भी देखिए ❀)। (ख) यह प्रसंग 'मोह' से उठाया था—'ग्रसे जे मोह पिसाच', और 'महामोह' पर समाप्त किया—'जिन्ह कृत महामोह मद…'। आदि अन्तमें मोहको लिखनेका भाव कि जितने अवगुण इनके बीचमें वर्णन किये गए, वे सब मोह और महामोहके अन्तर्गत हैं। पुनः, (ग) अनधिकारी कुतर्कियोंका प्रसंग 'मोह' से उठाकर (यथा 'कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। ११४।') यहाँ महामोहपर समाप्त करनेका तात्पर्य यह है कि मोह सभी अवगुणोंका मूल है, यथा 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। ७.१२१.२९।', 'मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।' [(घ) 'महामोहमद पाना' का भाव कि साधारण मदिरासे माते हुएके वाक्यका कोई प्रमाण नहीं करते क्योंकि वे तो अलाप-शलाप बका ही करते हैं, तब जो महामोहरूपी मदिरा पीकर मतवाले हुए हैं उनकी कौन कहे? (रा० प्र०)]। (ङ) ☞ जो-जो श्रीरामजीमें कुतर्क करनेवाले हैं, उन-उनके नाम यहाँतक गिनाए कि इनसे लोगोंकी बातें न सुननी चाहिए। यहाँतक कहनेवालोंकी छः कोटियाँ कीं। प्रत्येक कोटिमें 'कहना' है। यथा—(१) 'कहहिं सुनहिं अस…। ११४।' (२) 'कहहिं ते वेद असंमत बानी।' (३) 'जल्पहिं कल्पित बचन अनेका।' (४) 'तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं।' (५) 'ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे।' (६) 'तिन्ह कर कहा करिय नहि काना।—[(१) से (५) तक 'कहना' क्रिया वा कथनार्थवाची शब्दका प्रयोग हुआ और अन्तमें 'कहा' (कथन) शब्दका प्रयोग हुआ। इसका भाव यह है कि जिन जिनका ऐसा कहना लिखा गया, उन सबोंका ही कहना न मानना चाहिए, उनपर ध्यान न देना चाहिए, उनके वचन अयोग्य हैं, वेदविरुद्ध होते हैं। मा० पी० प्र० सं०]। (च) छः कोटियाँ कहनेका भाव कि ऐसे लोग छः प्रकारके हैं—(१) कांडत्रयरहित। (२) अवगुणी। (३) निर्गुणसगुण विवेकरहित। (४) मायावश। (५) बातुल भूतविवश मद्यप। (६) महामोहवश।—महामोह भीतरकी मदिरा है और मतवालोंका मतवालापन मदिरासे है।'

प० प० प्र०—'बातुल भूत बिबस मतवारे' यह बचन अज्ञ, अकोविद और अंध इन तीनोंके लिए उपसंहारात्मक है। काम वात है, उससे क्रोधकी उत्पत्ति होती है। अज्ञान विषयी जीव विषय-कामनारूपी वातसे वातुल है। भूत और पिशाच भिन्न हैं, यथा 'संग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि' (शिव-समाज वर्णनमें), 'जंबुक भूत प्रेत पिसाच। ३।२० छं० १।', इत्यादि। माधवनिदानग्रंथमें भी भूतमहोत्थ उन्माद और पिशाचमहोत्थ उन्मादके लक्षण भिन्न हैं। 'अयथार्थ वाग् विक्रमचेष्टः' भूतोत्थ उन्मादका एक लक्षण है। वह मनुष्य लज्जास्पद आसुरी राक्षसी वृत्तिसे बोलता है, क्रिया करता है। यह अकोविदके लिए

❀ मानस तथा गोस्वामीजीके अन्य ग्रंथोंमें तम, और महामोह ये शब्द यत्र-तत्र आये हैं। इनका अर्थ प्रसंगानुसार जहाँ जैसा है वहाँ वैसा मानसपीयूषमें लिखाही गया है। टीकाकारोंने इनके अर्थोंके भेद जो लिखे हैं वह भी इसमें दिये गए हैं। यहाँ पर पं० रामकुमारजीने मोह और महामोह दोनों शब्दोंके प्रयोगका कारण यह बताया है कि पंचपर्वा अविद्यामें ये दोनों नाम हैं।

ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिकाकी 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' टीकामें पंचपर्वा अविद्याका नाम आया है। यथा "अतएव 'पचपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः। ४७।" उस प्रसंगमें कहा गया है कि योग-शास्त्रमें जो पचक्लेश, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, बताए हैं इन्हींको सांख्यशास्त्रने क्रमशः तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र कहा है। तम और मोहके उसीमें आठ-आठ भेद कहे हैं और महामोहके दश। यथा "भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः। ४८।" अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार और पंचतन्मात्राओंमें आत्मबुद्धि होना 'तम' है। अणिमादि अष्टसिद्धियोंमें आत्मीयत्व और शाश्वतिकत्व बुद्धि 'मोह' है। और, शब्दादि पंचविषय दिव्य और अदिव्य भेदसे दश हैं, इनमें आसक्ति होना 'महामोह' है।—यह व्याख्या सांख्यशास्त्रानुसार है।

कहा है। ऐश्वर्य मदसे अध ही मतवारे हैं। यथा 'सब ते कठिन राजमदु भाई। जो अँचवत नृप मातहिं तेई। २।२३१।६-७।'

'जिन्ह कृत महामोह मद पाना' यह वचन 'हरिमायावश अभागी' जीवोंके लिए है।—'मायावस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥ ते सठ हठवस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं। ७।७३।८-६।' सतीजीने स्वयं ही कहा है कि 'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञान राम पर आना'। उपक्रममें इनके विषयमें कहा कि 'तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं' और उपसंहारमें कहा कि 'तिन्ह कर कहा करिअ नहि काना'। शेष तीन अज्ञ, अकोविद अंध (के विषयमें कहा) 'जल्पहि कल्पित बचन अनेका'। (शृंखलाके लिये ११७।१-३ देखिए)।

वि० त्रि०—'बातुल भूत बिबस मतवारे।' यह पाचवें हरिविमुखके विषयमें कहा जो रामगुण-गान नहीं करता। रामगुणगान न करनेवालेकी बुद्धि मलिन हो जाती है, वह विचारहीन बातें बोलता है। 'जिन्ह कृत महामोह मद पाना।' यह छठें प्रकारके हरिविमुखके विषयमें कहा है जो हरिचरित सुनकर हर्षित नहीं होता। मद्य पीनेवाले प्रत्यक्ष देखते हैं कि मद्यपकी बुद्धिका लोप हो जाता है। स्वयं भी बुद्धि लोपका अनुभव करते हैं। उन्हें बुद्धिलोपकी अवस्था अच्छी लगती है, वे उसीपर आसक्त हैं इस लिये वे मद्य पीते हैं। इसी भाँति कुछ लोग ऐसे हैं कि उन्हें धर्मविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध तथा ईश्वरके विरुद्ध बोलना अच्छा लगता है, जानते हैं कि यह बात बुरी है, पर उन्हें व्यसन होगया है, उसका त्याग नहीं कर सकते, जिस भाँति मद्यप मद्यके दोषोंको जानता हुआ उसको त्याग नहीं सकता, बल्कि उसकी प्रशंसा करता है। मद्यपके कहनेका न तो कोई खयाल करता है और न कोई उसका कहना मानता है। मोहमयी मदिरा तो बड़ी प्रबल है, उसे पान करनेवालेकी बात तो कभी सुननी नहीं चाहिए, वह सब कुछ कह सकता है। तुम तो परीक्षा तक ले चुकी हो, तुम्हें रामकथापर रुचि है, तुमने ऐसी बात मुँहसे निकाली कैसे ?

दोहा—अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु राम पद।
सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम-तम रबिकर बचन मम ॥११५॥

अर्थ—अपने हृदयमें ऐसा विचारकर संदेहको छोड़ो और श्रीरामजीके चरणोंका भजन (सेवन) करो। हे गिरिजे! भ्रमरूपी अंधकारका नाश करनेवाले सूर्यकिरणरूपी हमारे वचन सुनो॥११५॥

टिप्पणी—१ (क) 'अस' अर्थात् यह लोग अप्रमाणिक बात कहते हैं, इनके कथन पर कान न देना चाहिये, ऐसा। (ख) ☞ ऐसा ही भुशुण्डीजीने गरुड़जीसे कहा है। यथा "अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद। ७।९०।' तात्पर्य यह है कि विचार करनेपर संशय चला जाता है। बिना हृदयमें विचारे संदेह दूर नहीं होता किंतु परिताप बढ़ता जाता है। यथा "अनसमुझे अनसोचिबो अवसि समुझिये आपु। तुलसी आपु न समुझिये पल पल पर परिताप।" (दोहावली)। संशय दूर होनेपर भजन बनता है। (ग) 'सुनु गिरिराजकुमारि'-भाव कि जिनको पूर्व गिना आए हैं, उनके वचन न सुनो, वे भ्रममें डालनेवाले हैं प्रत्युत हमारे वचन सुनो, क्योंकि हमारे वचन भ्रमके नाशक हैं। ☞ संशय दूर करके अब भ्रमको दूर करते हैं।

वि० त्रि० १ (क) 'अस तजु संसय' इति। अधम नर बातुल, भूतविवश और मतवालेकी भाँति श्रुतिसिद्धांत विषयोंपर शंका उठाते हैं, शास्त्रविरुद्ध बातें कहते हैं। संसारसागरके पार जानेके इच्छुकों को वेदपर विश्वास करना ही होगा। संशय और विपर्यय ये दोनों तत्परत्वके मुख्य प्रबंधक हैं। इनका नाश विपरीत निश्चयसे होता है। अतः इस विषयकी शंका छोड़ो। रामको ब्रह्म समझकर भजो। (ख) 'सुनु'—मनन निदिध्यासन भी 'श्रवण' के अन्तर्गत हैं। जिसने सुनकर मनन निदिध्यासन नहीं किया, उसने

वस्तुत श्रवण ही नहीं किया, क्योंकि उसका सुनना न सुननेके बराबर है। यहाँ 'सुनु' कहकर तीसरी विनतीके उत्तरकी समाप्ति कही गई।

☞ यहाँ यह शंका उपस्थित होती है कि "शिवजी पार्वतीजीसे खलोंके वचन श्रवण करनेको मना करते हैं और यह उमामहेश्वरसंवाद त्रेतायुगमें हुआ, यथा 'एक बार त्रेताजुग माहीं। संभु गए कुभजरिषि पाहीं'। ८७ हजार वर्षपर शिवजीकी समाधि छूटी, फिर सतीका मरण हुआ, पार्वतीका जन्म हुआ, ४४०० वर्ष पार्वतीजीने तप किया, तत्पश्चात् विवाह हुआ, भोगविलासमें बहुत वर्ष बीते, उसके कुछ दिनों बाद संवाद हुआ। १२ लाख ९६ हजार वर्ष त्रेताका प्रमाण है तबतक त्रेतायुग ही रहा। तब त्रेतायुगमें खल कहाँ रहे? यथा 'ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक वृंदबहु होइहहिं कलिजुग माहिं ।७.४०।'" इसका समाधान यह है—शिवजीने पार्वतीजीसे कहा कि 'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हेहु प्रस्न जगतहित लागी'। जगत्‌के हितार्थ जब यह प्रश्न किये गए हैं तब यह आवश्यक हुआ ही कि इसके अधिकारी और अनधिकारियोंका वर्णन करते। जिनकी बातें कान देनेसे मोह उत्पन्न होता है, यह भी बताना ही चाहिये जिससे जगत् उनसे बचे। अतएव जगत्‌हितार्थ श्रीपार्वतीजीके मिषसे जगत्‌को खलोंके वचन सुननेसे मना करते हैं। शिवजी सर्वज्ञ हैं, वे जानते हैं कि आगे द्वापर और कलिमें ऐसे खल होंगे। यह उपदेश वा कथन वैसा ही है जैसा अनुसूयाजीका पातिव्रत्यका उपदेश श्रीसीताजीप्रति हुआ है, यथा 'सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। तोहि प्रानप्रिय राम कहेउँ कथा संसारहित'। (ग) 'रबिकर बचन मम'—यहाँ वचनको सूर्य्यकिरण कहा है, रवि क्या है? शिवजीका ज्ञान ही रवि है, यथा 'जासु ज्ञान रबि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनिकमल बिकासा। २.२७७।१।' (घ) ☞ 'देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि' उमाजीके इस वचनके सम्बन्धसे यहाँ 'भ्रमतम रबिकर बचन मम' कहा गया। यहाँ परंपरितरूपक है।

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥१॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥२॥

शब्दार्थ—सगुन, अगुन—नोट १ में देखिए। अरूप=व्यक्तरूप रहित। =प्राकृतरूप रहित, चिदानंदरूपवाला। अलख (अलक्ष्य) – जो देख न पड़े।

अर्थ—सगुण और निर्गुणमें कुछ भेद नहीं, मुनि, पुराण, पंडित और वेद (ऐसा) कहते हैं ॥१॥ जो निर्गुण, (व्यक्त) रूपरहित, अलक्ष्य और अजन्मा है वही भक्तके प्रेमके वश सगुण (व्यक्त गुणयुक्त) होता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'सगुनहि अगुनहि नाहि ...' इति। पूर्व दोहा ११४ (४) में कहा कि 'जिन्ह कें अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥' अब अगुन-सगुनका विवेक कहते हैं कि इनमें कोई भेद नहीं है। निर्गुण सगुणमें कुछ भेद नहीं है, इस कथनका भाव यह है कि जैसे निर्गुणमें मोहादि विकार नहीं है वैसे ही सगुणमें भी विकार नहीं है। निर्गुणमें सगुणसे बड़ा भेद समझ पड़ता है, निर्गुणमें किंचित् भी विकार नहीं है और सगुणमें सभी विकार देख पड़ते हैं (यद्यपि वस्तुत ये भी विकार नहीं हैं), इसीसे इनमें अभेद कहा। दोनोंमें अभेद है, कोई भी भेद नहीं है, इसमें 'मुनि पुराण बुध और वेद' का प्रमाण देते हैं—'गावहि मुनि ...'।

※ सिद्धान्त ※

☞ १—समन्वयसिद्धान्तानुसार ब्रह्म वस्तुत गुणसामान्याभावयुक्त है ही नहीं। वह सदा दया, क्षमा, वात्सल्य आदि दिव्य गुणों और सम्यक् एश्वर्योंसे युक्त है। दिव्य गुणोंकी दो अवस्थायें हैं। एक

व्यक्त, दूसरी अव्यक्त। जब दिव्य गुण अव्यक्त अवस्थामें रहते हैं तब ब्रह्मको निर्गुण वा अगुण कहा जाता है। अगुण=अ (नहीं)+(व्यक्त) गुण।=नहीं है व्यक्त गुण जिसमें। अथवा, अगुण=अव्यक्त हैं गुण जिसके। यह मध्यमपदलोपी समासद्वारा अर्थ होगा।

'अगुण' का अर्थ मानसके बहुतेरे प्रसंगोंमें इसी प्रकार होगा। गोस्वामीजीका अभिप्राय भी यही जान पड़ता है जैसा कि अनेक प्रसंगोंपर विचार करनेसे सिद्ध होता है; यथा 'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥'''एक दारुगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ॥' निर्गुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार। १.२३।", "जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता ॥ अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ ॥ ३.१३।"—(इसमें यद्यपि 'अगुन' शब्द नहीं है परंतु अंतिम चरणके 'सगुन' शब्दसे स्पष्ट है कि प्रथम दो चरणोंमें 'निर्गुण' स्वरूपका वर्णन है),"लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा ॥''' बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा ॥ ७।१११।" इत्यादि। और "कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव ॥ ६।११२।" में तो स्पष्ट ही कर दिया गया है।

यद्यपि 'निर्गुण' शब्दका अर्थ समन्वय-सिद्धान्तके विद्वानोंने "मायिक गुणोंसे रहित" किया है तथापि यह अर्थ मानसके ऐसे-ऐसे कतिपय प्रसंगोंमें संगत नहीं होता।

जैसे कि प्रकृत प्रसंगमें 'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।' से जना रहे हैं कि सगुण और अगुण दो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं जो अनुभवमें आती हैं। आपाततः भिन्न अवस्था होनेसे इनको दो मान सकते हैं परंतु विचारपूर्वक सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर उनमें भेद नहीं है, यही बात यहाँ कही गई है। अब 'अगुन' का अर्थ 'मायिक गुणोंसे रहित' लेनेसे यह आपत्ति पड़ती है कि तब सांनिध्यात् 'सगुण' का अर्थ भी उसी ढंग-से 'मायिक गुणोंसे युक्त' होगा जो अत्यंत अनिष्ट है। दूसरे, जो मायिक गुणोंसे रहित है वह दिव्यगुणोंसे युक्त है इस कथनसे कोई विशेषता नहीं आती। तीसरे, 'मायिक गुणोंसे रहित' और 'दिव्यगुणोंसे युक्त' ये विशेषण व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओंमें समान रूपसे लग सकते हैं तब फिर 'नहि कछु भेदा' शब्दोंका महत्व ही क्या रह जाता है?

२ अद्वैत सिद्धान्तमें ब्रह्मको निर्गुण अर्थात् दिव्य (अर्थात् सात्विक) और अदिव्य (अर्थात् राजस तामस) सर्वगुणोंसे रहित केवल सच्चिदानंदस्वरूप माना जाता है। ध्यान रहे कि 'सच्चिदानन्द' गुण नहीं है किंतु ब्रह्मका स्वरूप ही है। उपनिषद् पुराण आदिमें जो माया प्रकृति अव्यक्त आदि नामोंसे कही जाती है, वह ब्रह्मकी शक्ति है। उसके सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। मायामें ये तीनों गुण समान अवस्थामें रहते हैं। जब इन गुणोंमें मिश्रण आरंभ होता है तब महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत आदि सब सृष्टि अनुभवमें आती है। इस मायाके दो भेद हैं-विद्या और अविद्या। विद्योपाधि ब्रह्मको ईश्वर कहा जाता है। यह ईश्वर कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ एवं भक्तवत्सल तथा दया क्षमा आदि गुणोंसे युक्त है। यद्यपि ये सब गुण मायाके हैं ब्रह्मके नहीं, तथापि माया स्वयं जड़ है, उसको स्वयं कुछ बल नहीं है, वह चिद्रूप ब्रह्मके आश्रयसे ही सब कुछ करती है; जैसा मानसमें ही कहा है—"एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें। ३.१५.६।" अतः इन मायाके गुणोंका आदि आश्रय होनेसे ब्रह्मको 'सगुण' कहा जाता है परंतु वह वस्तुतः है निर्गुण।

सत्व गुण भी मायाका ही है तथापि मायाका परिवार जहाँ-जहाँ गिनाया गया है वहाँ-वहाँ काम क्रोधादि राजस तामस गुणोंका ही उल्लेख मिलता है; जिससे स्पष्ट है कि दया क्षमा वात्सल्य आदि सात्विक गुण जो कि साधारण जीवों तकमें देख पड़ते हैं वे जीवको मायासे छुड़ानेवाले हैं। इसीसे उनको मायाके

परिवारमें नहीं गिनाया गया। जैसे मोक्षादिकी कामना कामना नहीं कही जाती, वैसे ही सात्त्विक गुण मायाके होनेपर भी उनकी गणना मायामें नहीं की जाती। अतः जैसे जीवोंके सात्त्विक गुण मायामें नहीं गिने जाते वैसे ही ईश्वरके जो शुद्ध सात्त्विक गुण हैं वे भी मायाके नहीं माने जाकर ईश्वरके ही माने जाते हैं यद्यपि वे गुण हैं मायाके ही।

टिप्पणी – २ "गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा" इति। अर्थात् हमारे इस वाक्यके कि 'सगुनहि अगु-नहि नहिं कछु भेदा' ये सब प्रमाण हैं। 'सगुनहि ' ये वचन शिवजीके हैं। इन वचनोंको कहकर वे जनाते हैं कि हम भी यही कहते हैं। यथा 'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर वचन मम।' यही प्रथम वचन है।

वि० त्रि०—शास्त्रका अनुवाद बाँच लेनेसे कोई शास्त्रके मर्मको नहीं जान सकता। उसे तो गुरुपरंपरासे मननशील महात्मा लोग जानते हैं। अतः वेद पुराणके साथ ही, मुनि और बुधको भी प्रमाण दे रहे हैं।

नोट—मुनि, पुराण, बुध और वेदोंके गानेके प्रमाण, यथा (क्रमसे)—

(क) "निरंजननिष्प्रतिम निरीहं निराश्रयं निष्कलमप्रपञ्चम्। नित्यं ध्रुवं निर्विषयस्वरूपं निरन्तरं राममहं भजामि।", "राम सत्यं परं ब्रह्म रामात् किंचिन्न विद्यते। तस्माद्रामस्वरूपोऽयं सत्यं सत्यमिदं जगत्।" (रा० स्तव० ५६, ६४), अर्थात् निर्मल, निरुपम, इच्छासे रहित, जिनको किसीका आश्रय नहीं है, निरवयव, प्रपंचसे रहित, अविनाशी, जिनका स्वरूप निर्विषय है ऐसे श्रीरामजीको मैं निरंतर भजता हूँ॥ ५६॥ श्रीरामजी ही सत्य परब्रह्म हैं। उनके बिना और कुछ नहीं है, अतः यह जगत् श्रीरामजीका ही स्वरूप है (यह बात) सत्य है। अथवा यह जगत् सत्य है, सत्य है॥ ६४॥

(ख) 'सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥ योऽसौ निर्गुण प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः। प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते॥" (विष्णुपु०)। अर्थात् सत्व, रज, और तम ये प्रकृतिके गुण हैं। ये गुण भगवान्में नहीं हैं, वह सर्व शुद्ध पदार्थोंसे शुद्ध है। वह आदि पुरुष (मेरे ऊपर) प्रसन्न हों॥ शास्त्रोंमें जो भगवान्को निर्गुण कहा जाता है इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् मायाके तुच्छ गुणोंसे रहित हैं॥

पुनश्च "परमानन्दसन्दोहो ज्ञानमात्रश्च सर्वगः। सर्वैर्गुणैः परिपूर्णः सर्वदोषविवर्जितः॥" (वराहपु०) अर्थात् वह परमात्मा श्रेष्ठ आनंदसे परिपूर्ण, ज्ञानस्वरूप, और सर्वव्यापक है। वह सर्व (दिव्य) गुणोंसे परिपूर्ण और सर्व दोषोंसे रहित है।

"समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ,स्वशक्तिलेशाद्धृतभूतसर्गः। तेजो बलैश्वर्य महावबोध सुवीर्य शक्त्यादि गुणैकराशिः॥ परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः संति परावरेशे।" (विष्णु पु० ६ ५ ८४—८५) अर्थात् सर्व मंगलकारी गुणोंसे युक्त, अपने शक्तिके लेशमात्रसे जो अनंत ब्रह्मांडोंको धारण करते हैं, जो तेज, बल, ऐश्वर्य, आदि गुणोंसे युक्त हैं (हम लोगोंके दृष्टिसे) श्रेष्ठ (देवता आदि) जिसके अपेक्षा छोटे हैं ऐसे जिस ईश्वरमें क्लेश आदि कुछ भी नहीं हैं वे बड़ोंके भी बड़े हैं।

'समस्त हेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदम्"" (विष्णु पु० १.२२.५३) विष्णु जिनका नाम है ऐसा श्रेष्ठ पद सर्व त्याज्य (गुण आदि) से रहित है।

(ग) "निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धादुपपद्यन्ते" (जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्यजी। श्रीभाष्य)। अर्थात् परब्रह्मके विषयमें (श्रुति पुराणादिमें) जो निर्गुण बोधक वाक्य मिलते हैं उनका परब्रह्ममें त्याज्य गुणोंका संबंध न होनेसे प्रतिपादन किया जाता है। 'स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेष कल्याण [illegible]। अर्थात् समस्त दोषोंसे रहित और स्वभावतः जिनमें [illegible]

प्राकृतगुणरहितत्वेन दिव्यगुणवत्त्वेन च निर्गुण सगुणपदवाच्यं ब्रह्म एकमेव।" (विन्द्राचार्य

जगद्गुरु श्रीरामप्रसादाचार्यजी) प्राकृत गुणोंसे रहित होनेसे निर्गुण और दिव्यगुणोंसे युक्त होनेसे सगुण शब्दोंसे कहा जानेवाला परब्रह्म एक ही है।

(घ) "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।" (श्वेताश्वतर उ० ६-८) इसपर ब्रह्मकी स्वाभाविक ज्ञान बलक्रियात्मक विविध परा-शक्ति सुनी जाती है। 'य आत्मापहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः ।" (छांदोग्य ८.७.१)। अर्थात् आत्मा पाप, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासादिसे रहित, और सत्यकाम सत्यसंकल्प है।

टिप्पणी ३ "अगुन अरूप अलख अज जोई। " इति। (क) यह श्रीपार्वतीजीके "राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई।" इस प्रश्नका उत्तर है। चारों विशेषणोंका स्वरूप आगे दृष्टान्तद्वारा दिखाते हैं। (ख) "भगत प्रेम बस सगुन सो होई" यह सगुण होनेका हेतु कहते हैं, यथा "तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरौं देह नहिं आन निहोरें। ५ ४८।', 'व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥ १ १३।', "भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तन भूप। ७ ७२।" भगवती श्रुति भी कहती है—'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना' (रा०पू०ता०)। यह पार्वतीजीके प्रथम प्रश्न 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी। ११०४।" का उत्तर यहाँसे चला।

मा० त० वि०—जो अगुण अर्थात् सच्चिदानंदमात्र है, अरूप अर्थात् प्राकृतरूपरहित अनादिरूप है, अलख अर्थात् प्राकृत इंद्रियसे गोचर नहीं किंतु निज शक्तिसे (गोचर होता है) और जो अज है अर्थात् मातापिताके रजवीर्यसे उत्पन्न नहीं, वही भक्तके प्रेमके मारे सगुण होता है, जब भक्तको देखा कि वह तदाश्रय, तल्लीन, तद्रूप हो गया, फिर तो सगुणरूप बनाका बना ही है अर्थात् स्वतन्त्र सच्चिदानन्दरूप ही किसीको साकेतादि सर्वोत्कृष्ट लोकोंमें अद्भुत लीला सम्पन्न, किसीको पुत्रस। इत्यादि यथायोग्य भावात्मक प्रेमकी बाहुल्यतासे, न कि जीवोंकी तरह परतन्त्र, अल्पज्ञ आदि गुणविशिष्ट हो जाता है। ऐसे निर्विशेष तत्वका सविशेष होना क्यों कर (सिद्ध होता है) यह आगे कहते हैं "जल हिम "।

वि० त्रि०—अगुण, अरूप, अव्यक्त और अज जिस ब्रह्मको कहते हैं, वह भक्तके प्रेमके वश हो जाता है। जैसा भक्त चाहता है वैसा वह बन जाता है। यथा 'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। गीता ७।२१।' यह निर्गुणसे सगुण, अरूपसे रूपवान्, अव्यक्तसे व्यक्त और अजसे जन्मवाला हो जाता है।

वे० भू०—भाव यह है कि जो अगुण है अर्थात् सच्चिदानन्दमात्र है, प्राकृत गुण (जैसे काम क्रोधादि) रहित है, जो प्राकृतरूप श्यामत्व, गौरत्व तथा बाल, पौगंड, युवा आदि अवस्थापन्न रूपरहित है वा जिसका रूप अनादि है जो अलख है अर्थात् जो प्राकृत नेत्रादि इन्द्रियोंसे अगोचर है किंतु अपनी शक्तिसे ही गोचर होता है, जो माता पिताके वीर्यसे उत्पन्न नहीं एवं जिनका जन्ममरणादि विकारोंसे रहित शुद्ध सत्त्वात्मक विग्रह है वे ही भगवान् भक्तोंके प्रेमवश दिखाने मात्रको प्राकृत गुणोंका भी ग्रहण करते हैं। यथा "शुद्धस्वधाम्न्युपरताखिल बुद्ध्यवस्थं चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम्। तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्यामास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्र। भा० ४ ७ २६।', "मनहु महा बिरही अति कामी। ३ ३० १६।', "नारि बिरह दुख लहेउ अपारा। भयो रोष रन रावन मारा।" तथा प्राकृतरूपोचित अवस्थाओंका ग्रहण भी अपने दिव्य विग्रहमें करते हैं, यथा भये कुमार जबहिं सब भ्राता। १ २०४।', "बय किसोर सुखमासदन । १ २२०।' इत्यादि। इसीसे प्राकृत इन्द्रियोंसे ग्राह्य भी होते हैं, यथा "नयन बिषय मो कहँ भयेउ। १ ३४१।', "समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। २.१२१।", "स्याम सिसु गहि मिस प्रेम बस परसि मनोहर गात। तन पुलकहिं अति हरषु हिय देखि देखि दोउ भ्रात। १।२२४। इत्यादि।

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें ॥३॥

शब्दार्थ—हिम उपल-बर्फका पत्थर अर्थात् ओला । बिलग = अलग, भेदवाले ।

अर्थ—जो गुणरहित है वही सगुण है । (यह) कैसे ? जैसे जल और ओलेमें भेद नहीं ॥३॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीपार्वतीजीको संदेह था कि निर्गुण ब्रह्म सगुण नहीं होता, यथा "ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद । सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद ।१.५०।' श्रीशिवजी ने निर्गुणका सगुण होना कहकर उनका यह संदेह दूर किया । आगे दोहेतक श्रीरामरूपमें जो संदेह है उसे दूर करते हैं । (ख) "जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें" इति । अर्थात् जैसे जल और हिमउपलमें कुछ भेद नहीं है, इसी प्रकार अगुण और सगुणमें भेद नहीं है । जो अरूप था उसका रूप इस प्रकारसे हुआ जैसे जलसे हिमउपल हुआ, जो अगुण था वह ऐसा सगुण हुआ जैसे हिमउपल, तथा जो अलख था वह ऐसा लख पड़ा, जो अज था उसने इस प्रकार जन्म लिया । ☞ हिमउपलमें ही सब दिखा दिया । प्रथम जो जल था वही कारण पाकर पत्थर (ओला) हुआ और फिर जल हो गया । ऐसे ही जो प्रथम निर्गुण था वह (भक्तप्रेमरूपी) कारण पाकर सगुण (व्यक्त गुणवाला) हुआ और फिर निर्गुण (अव्यक्त गुणवाला) हो गया । [(ग) जो निर्गुण है वह सगुणरूप कैसे धारण करता है, इसका उत्तर यहाँ दिया कि जो निर्गुण है वही सगुण है जैसे जल और ओला । भाव कि तुम सगुणमें विकार आरोपण करती हो, वस्तुत उसमें विकार है नहीं । जैसे जल निर्विकार है वैसे ही ओला भी । ओला भी जल ही है और कुछ नहीं । वैसेही सगुण और निर्गुणमें भेद नहीं । (खर्रा)] ।

मा० त० वि०—जल कारण पाकर ओला बन गया पर ज्योंका त्यों स्वयमेव रसरूपही है न कि औरका और होगया ।

नोट—१ 'जल हिम उपल' का दृष्टान्त देनेका तात्पर्य यह है कि जैसे जलमें कठिनता, वर्तुलाकार और विशिष्ट श्वेतता आदि गुण प्रथम देखनेमें नहीं आते परन्तु जब शैत्यसंयोग होता है तब बिना किसी अन्य वस्तुके मिलाये ही वह बर्फ बन जाता है, उस समय उसमें ये सब गुण प्रकट होजाते हैं और तदनुसार उसका नामभी दूसरा हो जाता है । अज्ञानी लोग इसे जलसे भिन्न समझते हैं पर ज्ञानी इसमें और जलमें अभेद मानेंगे । यदि जलमें कोई अन्य वस्तु मिलनेसे ओला बनता तो कहा जा सकता था कि उपर्युक्त धर्म उस मिलाये हुये वस्तुके हैं पर इसमें कोई अन्य वस्तु न मिलानेपर भी ये गुणधर्म उत्पन्न होते हैं अत यह सिद्ध है कि ये गुणधर्म पूर्वही स्थित थे, प्रथम अव्यक्त थे, अब व्यक्त हो गए । जैसे कोई अपरिचित मनुष्य हमारे सामने आवे तो हम उसे मनुष्य ही कहते हैं । यदि वह गाने लगा तो हम उसे गवैया कहेंगे अर्थात् गुणके प्रकट होनेपर हम कहेंगे कि गवैया आया है । यदि हम उस मनुष्यके गुण पहलेसेही जानते हैं तो न गानेपर भी हम उसे गवैया ही कहते हैं । इसी तरह अव्यक्त ब्रह्मको न जाननेपर हम उसके गुण प्रकट होनेपर उसे सगुण कहते हैं और उसके गुण पूर्वसेही जाननेपर अव्यक्तावस्थामेंभी हम उसे उन गुणोंसे युक्त कहते हैं । जैसे अव्यक्तावस्थामें भी " जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता " आदि कहकर स्तुति की गई है और सगुण होने पर भी उसको "जय सगुन निर्गुन रूप अनूप भूप सिरोमने । ' " आदि कहा है ।

वेदान्तभूषणजी—जल और ओलेमें केवल द्रवत्व और कठिनत्वका भेद रहता है । अर्थात् वही पदार्थ जब द्रवत्वरहित तथा कठिनत्वविशिष्ट रहता है तब ओला कहा जाता है और जब द्रवत्व विशिष्ट तथा कठिनत्वरहित रहता है तब जल कहा जाता है । केवल द्रवत्व एवं कठिनत्वके उद्भूतानुद्भूतके कारण वह दो नामसे कहा जाता है । 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत् । छांदोग्य ६ ३ ४ ।' के अनुसार अप् तत्वमें चतुर्थांश तेजतत्व तथा चतुर्थांश पृथ्वीतत्व है, इसलिये जिस समय तेज तत्वकी अधिकता

रहती है उस समय अप् तत्व द्रवत्वाधिक्यके कारण जल कहा जाता है और जिस समय पृथ्वी तत्वकी अधिकता रहती है उस समय अप् तत्व कठोरतायुक्त होनेके कारण हिम, उपल, ओला, बर्फ आदि कहलाता है। केवल इसके अतिरिक्त जल और ओलेमें कोई भेद नहीं रहता। इसी तरह स्वाभाविक दिव्यगुण-विशिष्ट सगुण और स्वाभाविक हेयगुणरहित निर्गुणमें केवल ऐश्वर्य्य तथा माधुर्य्यके गोपनत्व एवं प्रदर्शनत्व-मात्रका भेद रहता है। अर्थात् जब ब्रह्म अपने ऐश्वर्य्यके आधिक्यका गोपन करके माधुर्य्यके आधिक्यका प्रदर्शन प्राकृत इन्द्रिय विशिष्ट जीवोंको कराता है तब सगुण और जब माधुर्य्याधिक्यका गोपन करके केवल शास्त्रों द्वारा ऐश्वर्य्याधिक्यका प्रदर्शन कराता है तब निर्गुण कहा जाता है। जिस तरह अप् तत्वके द्रवत्व एवं कठिनत्वका कारण तेज एवं पृथ्वीतत्वकी उद्भूतता तथा अनुद्भूतता है, उसी तरह ब्रह्मके उभयरूप-प्रदर्शनत्वका कारण 'भगत प्रेम बस सगुन सो होई', 'सोइ दसरथ-सुत भगतहित कोसलपति भगवान' इत्यादिके अनुसार भक्तपरवशता करुणा आदिको प्रगट करनेसे सगुण तथा इससे भिन्न ईश्वरत्व-प्रदर्शनकालमें निर्गुण कहलाता है।

वि० त्रि०—शास्त्रकी मर्यादा कहकर अब उसी मर्यादाके भीतर तर्क भी दे देते हैं। प्रश्न यह है कि निर्गुण और सगुण दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, एकमें ही विरुद्धधर्माश्रयत्व कैसे सम्भव है ? उत्तर देते हैं कि दो पदार्थ नहीं हैं, अवस्थाभेदसे स्वरूपमें भेद मालूम पड़ता है। वास्तवमें भेद कुछ नहीं। जैसे जलका स्वाभाविक गुण द्रवत्व है, परन्तु शीतके वश होकर उसमें दृढ़ता आ जाती है और वह पत्थर सा दृढ़ हो जाता है, जो बात उसमें नहीं थी वह आ जाती है।—इस भाँति 'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि' इस मोहाशाको मिटाया।

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा ॥४॥

शब्दार्थ—तिमिर = अंधकार। पतंग = सूर्य। प्रसंग (सं०) = घनिष्ठ संबंध, संबंध प्राप्ति।*

अर्थ—जिसका नाम भ्रमरूपी अंधकार (नष्ट करनेके) लिये सूर्यके समान है उसमें मोहका संबंध कैसे कहा जा सकता है ? ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम कथाका माहात्म्य कहा, यथा "रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुख दानि। ११३।', 'रामकथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनि हारी ॥ रामकथा कलि बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी।' इत्यादि, अब नाममाहात्म्य कहते हैं—'जासु नाम भ्रम '। और आगे रूपमाहात्म्य कहते हैं। (ख)—(यहाँ पार्वतीजीके "नारि बिरह मति भोरि" का उत्तर है)। (ग) 'जासु नाम भ्रम तिमिरि पतंगा' इति। अर्थात् जिनका नाम—लेनेसे दूसरोंके भ्रम मिट जाते हैं, यथा 'सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥ १।२५।७।' [भाव कि प्रभुका तो नाममात्र भ्रमका नाशक है। जहाँ सूर्य प्रकाशमान है वहाँ अन्धकार कैसा ? नामके तेजके सम्मुख मोह जा ही नहीं सकता, यथा "दिनकर के उदय जैसे तिमिरि तोम फटत" (विनय)। (घ) 'तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा' अर्थात् जिसके नाममें यह गुण है कि वह दूसरेके मोह भ्रमको दूर कर देता है, उसमें मोह-सम्बन्धप्राप्ति असम्भव है, उसमें मोह होनेकी चर्चा चलाना अयोग्य है, मोह होना तो कोसों दूर है, भाव यह कि भ्रम अपनेमें है, उसमें मोहका लेश-संबन्ध नहीं है। पार्वतीजीने जो कहा था कि 'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी। १।५१।२।' यही 'बिमोह प्रसंग' है, जिसकी ओर यहाँ इशारा है। (यह समाधान 'कैमुतिकन्याय' से किया गया है। जिसने बड़े बड़े काम किये उसे छोटा काम क्या बड़ी बात है)]।

नोट—भुशुण्डीजीनेभी ऐसा ही कहा है। यथा 'निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख

---

* प्रथम संस्करणमें 'प्रसंग' का अर्थ 'चर्चा' लिखा गया था और इस चरणका अर्थ 'उसके सम्बन्धमें मोहकी चर्चा कैसे ला सकते हैं' किया गया था।

संदोहा । प्रकृति-पार प्रभु सब-उर-बासी । ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥ इहाँ मोह कर कारन नाहीं । रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥ ७।७२ ।' यहाँ परंपरित रूपक और वक्रोक्तिका मिश्रण है।

वि० त्रि०—नाम और रूप मायाके अंश हैं। इसलिये उन्हें उपाधि कहा। यथा 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी'। स्वरूप तो उनका सच्चिदानन्द है, पर इस नाम उपाधिमें, जिसके सम्बन्धसे ऐसा सामर्थ्य आ जाता है कि सूर्यकान्तमणिकी भाँति पापरूपी रूईकी राशिको भस्म करके ज्ञानका कारण होता है, वह विरह विकल नहीं हो सकता।

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा ॥५॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥६॥

शब्दार्थ—दिनेसा (दिनेश)=दिनके स्वामी, सूर्य। लव लेसा (लवलेश)=किंचित् भी, लेश वा नाममात्र। बिहान=सवेरा।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानंद (रूप) सूर्य हैं। वहाँ मोहरूपी रात्रिका लेशमात्र नहीं है ॥५॥ वे स्वाभाविक ही प्रकाशरूप और भगवान् (षडैश्वर्ययुक्त) हैं। वहाँ विज्ञानरूपी सवेरा ही नहीं होता ॥६॥

टिप्पणी—१ (क) "राम सच्चिदानंद" का भाव कि सच्चिदानन्दरूपमें मोहादि विकार नहीं हैं; इसीसे ऐश्वर्यमें सच्चिदानन्द कहते हैं; यथा 'जय सच्चिदानंद जग पावन। १।५० ।', 'तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा। १।५० ।', 'जानेउँ राम प्रताप प्रभु चिदानंद संदोह ॥ ७।५२ ।', 'उमा अवधवासी नर नारि कृतारथरूप। ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप। ७।४७ ।', 'सोइ सच्चिदानंद घन रामा ॥ अज बिग्यान रूप बल धामा ॥··· ७।७२।', 'चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन ।७।६८।', 'प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह। कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह। ७।७७ ।' इत्यादि, तथा यहाँ 'राम सच्चिदानंद दिनेसा।' कहा। (ख) नामको सूर्य कह आए; यथा 'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। अब रूपको सूर्य कहते हैं। इस तरह नाम-नामीसे अभेद दिखाया।—['न भेदो नाम नामिनोः।' पुनः भाव कि—(१) पहले दूसरे के अंधकारको दूर करना कहा। फिर स्वयंप्रकाशरूप होना कहकर दर्शित किया कि उनके पास तो अंधकार जा ही नहीं सकता। (२) नामको पहले कहा क्योंकि नामके अभ्याससे रूपका साक्षात्कार होता है]।

नोट—१ "राम सच्चिदानंद दिनेसा" का भाव कि जैसे सूर्योदय होता है तो किसीको बतलाना नहीं पड़ता कि यह सूर्य है, सब देखकर आपही जान लेते हैं, वैसेही श्रीरामजीके रूप, चरित्र, गुण आदि देखकर उन्हें सच्चिदानन्द भगवान् माननाही पड़ता है, प्रमाणकी आवश्यकता नहीं रहती। परशुरामगर्वदलन, बालिवध, खरदूषणवध, सेतुबंधन इत्यादि प्रसंग ऐसे ही हैं। 'सच्चिदानंद' पद देकर सूर्यसे इनमें विशेषता दिखाई। (मा० पी० प्र० सं०)।

टिप्पणी—२ 'नहि तहँ मोह निसा लव लेसा' इति। भाव कि सूर्यके पास रात्रि नहीं होती, इसी प्रकार सच्चिदानंदरूपमें मोह नहीं होता। यथा 'चिदानंद संदोह मोहापहारी। ७।१०८।' सूर्य रात्रिका 'अपहारी' है, वैसे ही सच्चिदानन्द 'मोहापहारी' है। (यहाँ परंपरित रूपक अलंकार है)।

३ "सहज प्रकासरूप भगवाना।···" इति। (क) भगवान्से सूचित किया कि समस्त ब्रह्माण्डोंके तथा मायाके पति हैं; यथा "सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी। १।५१।" (ख) 'नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा' कथनसे पाया वा समझा गया कि मोह नहीं है तो ज्ञानरूपी बिहान है, अतएव उसके निराकरणार्थ कहते हैं कि 'सहज प्रकासरूप भगवाना।···'। [भाव कि जिस प्रकार सूर्य सहज प्रकाशरूप है, उसमें अंधकार या निशाका लेश नहीं,

दिनकाभी प्रवेश नहीं, पृथ्वीके जिस भागमें उसकी विद्यमानता होती है, वहाँ दिनकी कल्पना की जाती है और जहाँ उसका अभाव रहता है वहाँ रात्रिकी भावना होती है, अर्थात् उसकी अभाव दशाको रात्रि कहते हैं और भावकी अवस्थाको दिन, वस्तुतः उसमें इन दोनोंकी सम्भावना नहीं, वह शुद्ध और सहज प्रकाशरूप है, यथा "सहज प्रकाशरूपेच रवौ न दिशा न दिनम्।" इसी तरह सच्चिदानन्द भगवान् परम ज्ञानके तत्त्वभूत स्वतः और स्वाभाविक प्रकाशमय अविच्छिन्न ज्ञानके सूर्य हैं। इसलिये उन्हें ज्ञानकी अपेक्षा नहीं।—'देखिय रबिहि कि दीप कर लीन्हे।' वहाँ न अज्ञान है न ज्ञान, ज्ञान वा अज्ञान होना जीवधर्म है जैसा आगे कहते हैं। जैसे रातकी अपेक्षा दिन है वैसेही पहले अज्ञान होता है तब ज्ञान होता है, यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो एकरस स्वतः प्रकाश है। प्रभु स्वतः प्रकाशरूप हैं और उनका बड़ा भारी ऐश्वर्य है। 'नहिं तहँ मोह निसा' से दिखाया कि उनमें अज्ञान नहीं है और 'नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना' से दिखाया कि ज्ञान भी नहीं है]

पुनः, (ग) 'सहज प्रकाशरूप' कहकर जनाया कि सूर्य सहज प्रकाशरूप नहीं है। वह श्रीसीतारामजी हीसे प्रकाश पाता है। यथा "यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ गीता १५।१२।" (अर्थात् जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है उसको तू मेरा ही तेज जान)। और, श्रीरामचन्द्रजी सहज प्रकाशरूप हैं, किसीके प्रकाशसे प्रकाशरूप नहीं हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं।

नोट—२ 'नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना' इति। भाव कि सवेरा तो वहाँ ही कहा जा सकता है जहाँ रात रही हो। जहाँ रात है ही नहीं वहाँ यह नहीं कह सकते कि सवेरा हुआ। वैसेही जहाँ अज्ञानरूपी रात्रि है ही नहीं वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान हुआ, जहाँ मोह रहा हो वहीं ज्ञानसे उसके नाश होनेपर विज्ञानरूप सवेरा होना कहा जा सकता है। [यहाँ अधिक अभेद रूपक है।—(वीरकवि)]।

पुनः, यों भी कह सकते हैं कि उदय तभी कहा जा सकता है जब सूर्य्य अस्त हुआ हो, और जहाँ सूर्य्य सर्वकाल है, अस्त कभी होता ही नहीं, वहाँ तो उसका उदय होना अथवा प्रभात होना नहीं कहा जा सकता। इसी तरह प्रभु तो सदा विज्ञानरूप ही हैं वहाँ विज्ञानका उदय होना नहीं कहा जा सकता।

श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि "लोग कहते हैं कि सूर्य्य रात्रिका शत्रु है, जब भानुने रात देखी ही नहीं तो उसका नाशक कैसे? वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीकी आत्मामें अविद्या फुरती ही नहीं तो उसकी अभाव किया कैसे कही जाय? जो कोई कहे कि उनमें अज्ञान नहीं पर ज्ञान तो है, उसपर कहते हैं कि वे सहज प्रकाशरूप हैं अर्थात् उनका प्रकाश उपजने या विनाश होनेवाला नहीं है। उनमें ज्ञानका होना ऐसे कहते हैं जैसे सूर्य्यके लिए दिन—दोनों ही असम्भव। तात्पर्य्य यह कि जिन्होंने निशा देखी है वे दिनको भी जानते हैं, जिस भानुमें रात कभी हुई नहीं उसमें दिन किसको कहिये। वैसे ही जिन जीवोंकी बुद्धिमें अविद्या है सो अविद्याकी निवृत्त्यवस्थाको ज्ञान कहते हैं और जिस सच्चिदानन्द आत्मामें अज्ञान कुछ फुरा ही नहीं वहाँ ज्ञान किसको हो और किसका"

श्रीपंजाबीजीके लेखका भाव यह है कि ज्ञान वा अज्ञानका होना जीवमें स्थापित हो सकता है, राममें नहीं। जीव अज्ञानी है, इसलिए उसे ज्ञानका भास होता है। जिसमें अज्ञान है ही नहीं उसमें ज्ञानका भास कैसा? जिसने रात्रिको देखा है उसे दिनका भान होगा, जिसने रात्रि देखी ही नहीं और सदा प्रकाश ही में रहता है वह तो यही जानेगा कि केवल यही दशा रहती है, दिनका उसे नाम तक मालूम न होगा। इसी प्रकार राममें अज्ञानकी स्थापना नहीं हो सकती। अतः ज्ञानकी भी स्थापना नहीं की जा सकती। वहाँ तो एकरूप सदा ही ज्योति ही ज्योति है, प्रकाश ही प्रकाश है, विज्ञान ही विज्ञान है।

३ 'पुनि' इति। पूर्व लिखा जा चुका है कि यह शब्द गहोरावासियोंमें बिना अर्थकाही बोला जाता है। यथा 'मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई' में 'मैं पुनि' = मैंने, 'मैं पुनि गएउँ बंधु सँग लागा' में 'मैं पुनि' = मैं। 'पुनि' का

अर्थ 'और' भी ले सकते हैं। अथवा 'पुनि' का भाव कि जैसे रातके बाद फिर दिन, अज्ञानके बाद फिर ज्ञान, वैसा यहाँ पुनर्विज्ञानका प्रसंग नहीं।

४ इन चौपाइयोंसे मिलते-जुलते श्लोक ये हैं—"अज्ञानसंज्ञौ भवबंधमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्। अजस्र चित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥ भा० १०.१४.२६।" अर्थात् भवबंधन और उससे मोक्ष दोनों ही अज्ञानके नाम हैं। ये सत्य और ज्ञानस्वरूप परमात्मासे भिन्न अस्तित्व नहीं रखते। जैसे सूर्यमें दिन और रातका भेद नहीं है, वैसे ही विचार करनेपर अखण्ड चित्स्वरूप केवल शुद्ध आत्मतत्त्वमें न तो बन्धन ही है और न मोक्ष ही। पुनश्च, "यथाप्रकाशो न तु विद्यते रवौ ज्योतिःस्वभावे परमेश्वरे तथा। विशुद्धविज्ञानघने रघूत्तमेऽविद्या कथं स्यात्परतः परात्मनि॥ २१॥ नाह्नो न रात्रिः सवितुर्यथा भवेत् प्रकाशरूपाव्यभिचारतः क्वचित्। ज्ञानं तथाज्ञानमिदं द्वयं हरौ रामे कथं स्थास्यति शुद्धचिद्घने॥ २३। तस्मात्परानन्दमये रघूत्तमे विज्ञानरूपे हि न विद्यते तमः। अज्ञानसाक्षिण्यरविन्दलोचने मायाश्रयत्वान्नहि मोहकारणम्। २४॥" (अ० रा० १.१) अर्थात् जिस प्रकार सूर्यमें कभी अंधकार नहीं रहता, उसी प्रकार प्रकृत्यादिसे अतीत, विशुद्ध ज्ञानघन, स्वतः प्रकाशरूप, परमेश्वर परमात्मा राममें भी अविद्या नहीं रह सकती॥ २१॥ प्रकाशरूपताका कभी व्यभिचार न होनेसे जिस प्रकार सूर्यमें रात दिनका भेद नहीं होता, वह सर्वदा एक समान प्रकाशमान रहता है—उसी प्रकार शुद्ध चेतनघन भगवान् राममें ज्ञान और अज्ञान दोनों कैसे रह सकते हैं? २३। अतएव परानन्दस्वरूप विज्ञान अज्ञानसाक्षी कमलनयन भगवान् राममें अज्ञानका लेश भी नहीं, क्योंकि व मायाके अधिष्ठान हैं, इस लिये वह उन्हें मोहित नहीं कर सकती॥ २४॥

हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥७॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥८॥

शब्दार्थ—अहमिति (अहं इति)=अहं ऐसा।=अहंकार, यथा 'अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा। २८३।६।', 'जिता काम अहमिति मन माहीं। २७।५।', 'चले हृदय अहमिति अधिकाई। १२६।७।', 'हृदय रूप अहमिति अधिकाई। १३४।१।' परमानंद परम आनंदस्वरूप। परेश (पर ईश)—सबसे परे जो ब्रह्मा आदि हैं उनके भी स्वामी। सर्वश्रेष्ठ स्वामी। यथा 'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी'। पुराना—पुराणपुरुष।

अर्थ हर्ष शोक, ज्ञान अज्ञान, अहं ऐसा जो अभिमान अथवा अहंकार और अभिमान (ये सब) जीवके धर्म हैं॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजी (तो) ब्रह्म, व्यापक, परमानंदस्वरूप, परात्पर स्वामी और पुराण पुरुष हैं, यह सारा जगत् जानता है॥ ८॥

टिप्पणी—१ "हरष बिषाद " इति। (क) जीव कर्मवश दुःख सुखका भागी होता है, उसमें ज्ञान और अज्ञान दोनों रहते हैं, परन्तु ईश्वरमें ज्ञान एकरस रहता है। यथा "ग्यान अखंड एक सीताबर॥ जौं सब के रह ग्यान एक रस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥ ७।७८।" (ख) 'अहमिति' अर्थात् मैं। इसीको 'अहंकार' कहते हैं। अहंकार और अभिमानमें भेद यह है कि अहंकार अपनेका होता है और अभिमान वस्तुका होता है कि यह हमारी है। [बैजनाथजीका मत है कि देहव्यवहारको अपना मानना 'अहमिति' है और मैं ब्राह्मण, मैं विद्वान्, मैं धनी, मैं राजा इत्यादि 'अभिमान' है। हमारी समझमें 'अहमिति' 'अहं इति' कहकर अभिमानका स्वरूप क्या है यह बताया है। वि० त्रि० जी 'अहमिति' से अस्मिता और 'अभिमान' से गर्वका अर्थ लेते हैं।] (ग) 'जीव धर्म' इति। ये सब जीवके धर्म हैं। यथा 'माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥ ७।७८।६।' भाव कि तुम श्रीरामजीमें

'विषाद' समझती हो यदि हम उनमें 'हर्ष' कहें, तुम उनमें अज्ञान कहती हो यदि हम उनमें ज्ञान कहें तो यह भी नहीं बनता क्योंकि हर्ष विषाद ये सभी जीवके धर्म हैं।

नोट—१ "जीव धर्म " । अर्थात् ये सब विकार जीवोंमें होते हैं, ईश्वरमें नहीं। उदाहरणार्थ श्रीलोमशमुनि, श्रीसनकादिजी और गरुडजीको लीजिए। चिरजीवी मुनि श्रीलोमशजी निर्गुणब्रह्मके वेत्ता परम ज्ञानी जो "सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं वेदा ॥ ७।१११ ।' ऐसा कहते थे और 'ब्रह्म-ज्ञान रत मुनि विज्ञानी' थे, उनको भी क्रोध आ ही गया। श्रीसनकादिजीको भी क्रोध आ गया कि जो "ब्रह्मानंद सदा लयलीना। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ॥ ७।३२ ।", इन्होंने जय विजयको शाप दे ही तो दिया। "गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी। हरिसेवक अति निकट निवासी। ७।५४ ।" सो इनको भी मोह हो ही गया। ये सब विज्ञानी हैं, फिर भी जीव ही तो ठहरे। श्रीरामजी इन द्वन्द्वोंसे परे हैं, जीव नहीं हैं, वे तो 'ब्रह्म व्यापक ' हैं।

टिप्पणी—२ "राम ब्रह्म व्यापक " इति। (क) ब्रह्म अर्थात् बृहत् हैं, बड़ेसे भी बहुत बड़े हैं। व्यापक हैं अर्थात् सूक्ष्म हैं। यथा "अणोरणीया महतो महीयान् ।" इति श्रुतिः। (श्वे० ३।२०)। यह जगत् जानता है, यथा 'सब को प्रभु सब में बसै जानै सब कोइ ।' (विनय)। परमानन्दस्वरूप हैं अर्थात् उनमें दुःख कहीं आ ही नहीं सकता। पुराना, यथा 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना। १४४।६ ।

दोहा—पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नाएउ माथ ॥११६॥

शब्दार्थ—"पुरुष"—महर्षि पतञ्जलिके सिद्धान्तानुसार "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।" (समाधिपाद)। अर्थात् पंचक्लेश और कर्मविपाकाशय (कर्मफलभोग) आदिसे अपरामृष्ट (अर्थात् जिनको क्लेशादि स्पर्श भी नहीं कर सकते) वह पुरुषविशेष ईश्वर है। यजुर्वेदमें पुरुषकी व्याख्या इस प्रकार है—'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पुरुषः ।३१।३।' श्वेताश्वतरमें "स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् । ३।३।१६" अर्थात् जो सबको जाननेवाले हैं, जिनका जाननेवाला कोई नहीं है, उनको महापुरुष सबके आदि पुरातन और महान् पुरुष कहते हैं। "प्रसिद्ध"=विख्यात अर्थात् वेदों शास्त्रों आदिमें प्रसिद्ध। दूसरा अर्थ 'सिद्ध' शब्दमें 'प्र' उपसर्ग लगाकर 'प्रसिद्ध' शब्द बना हुआ लेकर किया जाता है। इस प्रकार 'प्रसिद्ध'=जिसकी उभय विभूतिकी सिद्धि बिना किसी उपायके स्वाभाविक ही प्राप्त हो=उभयविभूतिनायक। इस तरह यह श्रीरामजीका एक विशेषण है, यथा 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।' (यजु० ३१।३), 'भोगस्थानं पराऽयोध्या लीलास्थानं त्विदं भुवि। भोगलीलापती रामो निरङ्कुश विभूतिकः ।' (सदाशिव संहिता ५)। "प्रकासनिधि"=प्रकाशके अधिष्ठान खजाना या भंडार। प्रगट (प्रकट)=प्रत्यक्ष हैं। "परावर"—'परे अवरा (न्यूना) यत्र' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'परावर'का अर्थ है 'जिसमें बड़ेसे बड़े जाकर छोटे होजाते हैं।' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ। यह शब्द परब्रह्म परमात्माके लिये उपनिषदोंमें भी आया है यथा—' भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।। मुण्डक० २ खण्ड २ श्रुति ८।" अर्थात् उस 'परावर' (परात्पर पुरुषोत्तम) से इस जीवके हृदयकी अविद्यारूप ग्रंथि खुल जाती है और उसके सब संशय कट जाते हैं तथा उसके शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। * नाथ-सबके स्वामी, सर्वेश्वर।—'पतिं विश्वस्य आत्मेश्वरम्' ।

* प्रायः अन्य टीकाकारोंने 'परावरनाथ' को एक शब्द मानकर 'परावर' के अर्थ किये हैं—(क) पर=त्रिपादविभूति जो परधाममें है। अवर एकपादविभूति अखिल ब्रह्माण्डरचना। (वै०)। (ख)

अर्थ—जो पुराण-पुरुष हैं (जिनको 'पुरुष सूक्त' में 'पुरुष' नामसे कहा गया है), (वेद-शास्त्रादिमें) प्रसिद्ध हैं एवं उभयविभूतिनायक हैं,† संपूर्ण प्रकाशके अधिष्ठान हैं, प्रकट हैं‡ परावर हैं और सबके नाथ हैं, वेही रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजी मेरे स्वामी हैं—ऐसा कहकर श्रीशिवजीने मस्तक नवाया (प्रणाम किया) ॥ ११६ ॥

नोट—१ 'प्रसिद्ध' का अर्थ यदि विख्यात लें तो भाव होगा कि सब कालमें, सब देशमें तथा वेदशास्त्रपुराणादिमें प्रसिद्ध हैं, यथा 'शास्त्रं न तत्स्यात् नहि यत्र रामः काव्यं न तत्स्यात् नहि यत्र रामः। न संहिता यत्र न रामदेवो न सा स्मृतिर्यत्र न रामचन्द्रः ।' (पद्मपुराणे । वै०) 'ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या यस्यांशा लोकसाधकाः। तमादिदेवं श्रीरामं विशुद्धं परमं भजे ।' (स्कंद पु० । वं०)।

२ 'प्रकाशनिधि' इति । भाव यह कि संपूर्ण प्रकाशयुक्त पदार्थोंके जो प्रकाशक हैं, संपूर्ण ज्योतिमानोंका संपूर्ण प्रकाश जिनके प्रकाशके एक क्षुद्रतम अंशद्वारा सम्पादित होता है, सारा जगत् जिनके प्रकाशसे प्रकाशित है, यथा "तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः", "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥" (मुण्डक० २, खण्ड २।६, १०)। 'सब कर परम प्रकाशक जोई'

वैजनाथजीके मतानुसार, प्रकाश निधि' = 'जिसके रूपमें संपूर्ण प्रकाश परिपूर्ण है' यथा "तत्त्वस्वरूपं पुरुषं पुराणं स्वतेजसा पूरितविश्वमेकम्। राजाधिराजं रविमंडलस्थं विश्वेश्वरं राममहं भजामि" (सनत्कुमारसंहिता), 'एकं चापि परं समस्तजगतां ज्योतिर्मयं कारणम्। प्राग् ते च विकारशून्यमगुणं निर्नामरूपं च यत्। तच्छ्रीरामपदारविन्दनखरप्रान्तस्य तेजोमलम्। ब्रह्म वेद शिरो वदन्ति परमं तत्त्वं परं नास्त्यत ।'' (भा०) । (वै०)। 'प्रकाशनिधि' का विशेष विवरण 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' ब्रह्मसूत्र १।१।२४ पर श्रीभाष्य, श्रीआनन्दभाष्य और श्रीजानकीभाष्य देखना चाहिए।

३ 'राम सो अवधनृपतिसुत सोई। ~', पार्वतीजीके इस प्रश्नका उत्तर चल रहा है। 'राम ब्रह्म व्यापक ' से अन्तर्यामी स्वरूप कहकर अब सर्वकारणरूप पर स्वरूप कहते हैं। (रा० प्र०)

टिप्पणी—१ (क) दोहेका भावार्थ यह है कि जो 'पुरुष, प्रसिद्ध, प्रकाशनिधि और परावर नाथ' इन विशेषणोंसे युक्त हैं वे 'श्रीराम' प्रगट हैं। वे रघुकुलमणि हैं, अर्थात् उन्होंने रघुकुलमें जन्म लिया है। (ख) अन्तमें 'रघुकुलमनि' कहकर (पूर्व कथित) समस्त ऐश्वर्यको माधुर्यमें घटित किया है। (ग) ☞ यही प्रसंग उत्तरकांड दोहा ७२में विस्तारसे कहा गया है। यथा "सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज विज्ञानरूप बलधामा ॥ ३ ॥ व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता ॥ ४ ॥ अगुन अदभ्र गिरा

पर=जीव। अवर=माया। (ग) परावर='ब्रह्मादि पूर्वज, मनु आदि'। (मानसकोश)। (घ) पर = निर्गुण। अवर=सगुण। (रा० प्र०)। (ङ) पर = कारणावस्थापन्न जीव तथा प्रकृति-सूक्ष्म चिदचित्। अवर=कार्यावस्थापन्न जीव और प्रकृति स्थूल चिदचित। (वे० भू०)। (च) पर=अवतारी। अवर=अवतार। नाथ=सर्वेश्वर। कर्मधारयसमाससे। (वे० भू०)।

इस तरह 'परावरनाथ'=(क) त्रिपादविभूति एवं एकपादविभूति दोनों विभूतियोंके स्वामी। यथा "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।" (पुरुषसूक्त यजु० ३१।३)। (ख) जीव और प्रकृतिके स्वामी। 'जीव, माया और जगत्के स्वामी'—(मानसांक)। (ग) ब्रह्मादि पूर्वजोंके स्वामी। (घ) निर्गुण और सगुण दोनोंके स्वामी। (ङ) सृष्टिके पूर्वोत्तर कालीन जीव और प्रकृतिके स्वामी। (च) अवतारी, अवतार और सर्वेश्वर।

† अर्थान्तर—'जो पुरुष प्रसिद्ध हैं'। वै०)। ‡ प्रथम संस्करणमें 'प्रगट' का अन्वय 'रघुकुलमनि' के साथ करके अर्थ किया गया था कि 'जो रघुकुलमें मणिरूप प्रकट हुए हैं'।

गोतीता । समदरसी अनवद्य अजीता ॥ ५ ॥ निर्मम निराकार निर्मोहा । नित्य निरंजन सुख संदोहा ॥ ६ ॥ प्रकृति-पार प्रभु सब उर बासी । ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥७॥ इहाँ मोह कर कारन नाहीं । रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥ ८ ॥ भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप । । ७२ ।"

२ 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ' कहकर मस्तक नवानेका भाव यह है कि श्रीशिवजीने प्रथम मानसिक प्रणाम किया था । 'बंदों बालरूप सोइ रामू । करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी । १।११२ ।"-वाला प्रणाम मानसिक था । और अब वचन कहकर प्रणाम करते हैं । इसीसे 'कहि' शब्द दिया गया ।

३ "राम ब्रह्म व्यापक । पुरुष प्रसिद्ध' नाथ" इन विशेषणोंका भाव यह भी है कि जिन्हें वेदान्ती व्यापक ब्रह्म कहते हैं । सांख्य पुराण पुरुष कहता है, [यहाँ 'सांख्य' से सेश्वर सांख्य, जिसे पातञ्जलिदर्शन कहते हैं, समझना चाहिये न कि कपिलदेवजीका सांख्य, क्योंकि (कपिलदेवजीके) सांख्य सिद्धान्तमें 'पुरुष' शब्दसे अनेक जीवोंका ही ग्रहण किया गया है । उसमें ईश्वरकी सत्ता नहीं मानी गई है ।]—जिसे योगी प्रकाशनिधि और पौराणिक परावरनाथ कहते हैं, सारांश यह कि जो कोई भी जो कुछ भी नाम कहता है, है वह सब श्रीरामजी ही । यथा हनुमन्नाटके—"यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो, बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः । अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः, सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥" अर्थात् शैव 'शिव' मानकर, वेदान्ती ब्रह्म मानकर, बौद्ध बुद्ध मानकर, प्रमाणमें प्रवीण नैयायिक लोग कर्ता-शब्दसे, जैनी अर्हन् शब्दसे, और मीमांसक कर्म-शब्दसे जिनकी उपासना करते हैं, वेही ये त्रिलोकीनाथ हरि श्रीरामचन्द्रजी आप लोगोंके वाञ्छित फलोंकी पूर्ति करें ।

पंजाबीजी—"राम ब्रह्म व्यापक जग जाना ।" से लेकर यहाँ तक बारह विशेषणोंमें निर्गुणका स्वरूप कहा और 'रघुकुलमनि' यह एक विशेषण सगुण रूपका कहकर अपनी अभेद उपासना श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपमें लगाकर शंकरजीने ग्रंथके आरंभके समय निर्विघ्न परिसमाप्ति हेतु इष्टदेवको प्रणाम किया ।

वै० भू०—'मम स्वामि सोइ' का भाव कि 'रघुकुलमनि' महाराज श्रीदशरथजीको भी कहा गया है, यथा 'अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ । बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊ । १।१८८।७ ।' अतः ब्रह्म, व्यापक, पुरुष आदि अनेक विशेषण देकर तब 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ' कहा । अर्थात् जो इन विशेषणोंसे युक्त हैं वे 'रघुकुलमणि' मेरे स्वामी हैं, अन्य 'रघुकुलमणि' नहीं ।

नोट—४ हर्ष विषाद ज्ञान अज्ञाना ।" से लेकर यहाँ तकका तात्पर्य यह है कि जिस ब्रह्मकी वार्ता इस समय मैं कर रहा हूँ उसमें हर्षविषादादि जीवधर्मोंका आरोप नहीं हो सकता । वह तो जीव और माया तथा मेरे समान ईश कोटिवाले व्यक्तियोंका भी स्वामी है और वही मेरा इष्टदेव श्रीरामरूपमें प्रत्यक्ष है ।

वि० त्रि०—१ श्रीशिवजी अब उन छहों आर्यों (राक्षिकों) की ओरसे उत्तर दे रहे हैं जिनके सिद्धान्तका उमाने अनादर किया था । 'राम-सच्चिदानंद दिनेसा । ११६।५ ।' से दोहा ११६ तक परमार्थवादीकी ओरसे कहा । २-हर्ष, शोक, ज्ञान, अज्ञान, अस्मिता और गर्व ये सातों जीव-धर्म हैं । बंधसे लेकर मोक्षतक द्वैत जीवकल्पित है, इससे उन्हें जीवधर्म कहा । ब्रह्मके सात धर्म हैं—व्यापक, परमानन्द, परेश, पुराना, पुरुष प्रसिद्ध (यथा 'जगदातमा प्रानपति रामा'), प्रकाशनिधि (यथा 'जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं') और प्रकट परावरनाथ (यथा 'राम रजाइ मेटि जगमाहीं । देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं ॥ उमा दारुजोषित की नाईं । सबहि नचावत राम गोसाईं ') ।

निज भ्रम नहि समुझहिं अज्ञानी । प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ॥१॥

जथा गगन-घनपटल निहारी । झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ॥२॥

शब्दार्थ—जड = मूर्ख ।—विशेष टिप्पणीमें देखो । प्रानी (प्राणी) = जीव, मनुष्य । धरना = आरोपण करना । अपनेमें स्थित गुणोंको दूसरेमें मानना । पटल = परदा । = समूह, (प० रा० कु०, वै०) । झाँपना = ढक लेना, छिपा देना ।

अर्थ—अज्ञानी मूर्ख मनुष्य अपना भ्रम तो समझता नहीं, (और उलटे) मोहका आरोपण करता है प्रभु श्रीरामजीमें ॥ १ ॥ जैसे आकाशमें मेघपटल देखकर कुविचारी मनुष्य कहता है कि मेघोंने सूर्यको ढक लिया ॥ २ ॥

नोट—१ इन चौपाइयोंकी जोडकी चौपाइयाँ भुशुण्डि गरुड-संवादमें ये हैं—"जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा । सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ॥ नौकारूढ चलत जग देखा । अचल मोह बस आपुहि लेखा ॥ बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी । कहहिं परस्पर मिथ्यावादी ॥ हरि बिषइक अस मोह बिहंगा । सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा ॥ ७।७३ ।"

टिप्पणी—१ "निज भ्रम ..." इति । (क) नहिं 'समुझहिं' का भाव कि यदि अपना भ्रम समझ पडता तो प्रभुपर मोहका आरोप कदापि न करता । अज्ञानी कहनेका भाव कि भ्रम अज्ञानसे होता है और अज्ञान जीवका धर्म है । यथा 'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना । जीव धर्म ... । १।११६ ।' [(ख) 'प्रभु पर मोह धरहिं' अर्थात् प्रभुको अज्ञानी समझते हैं । यहाँ सतीजीके 'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी' इन विचारोंकी ओर संकेत है । पुन, 'नारि बिरह दुख लहेउ अपारा । भयउ रोषु रन रावन मारा । १।४६ ।' (श्रीभरद्वाज वाक्य) । अर्थात् प्रभुका नरनाट्य देखकर उन्हें सचमुच ही सुखी एवं दुःखी, कामी एवं क्रोधी, इत्यादि मान लेते हैं और उनको प्राकृत राजा समझने लगते हैं । विरही, कामी, क्रोधी आदि समझना ही प्रभुमें मोहका आरोप करना है । वस्तुतः ब्रह्म अवतारकालमें भी कभी मोहावृत नहीं होता वरंच नरनाट्य करता हुआ वह लीलारसका भोग करता है । यथा 'परम पुरुषोऽपि लीलार्थं दशरथवसुदेवादि दिवृत्ताकादिकमात्मन लब्ध्वा तैर्मनुष्यधर्मलीलारसं भुङ्क्ते ।' (श्रीभाष्य ४।४।१४)] (ग) 'जड प्रानी' कहनेका भाव कि प्रभुमें मोहका आरोप करना जडता है । यथा 'जेहि बिधि मोह भयउ प्रभु मोही । राम कृपा आपनि जडताई । कहउँ खगेस सुनहु मन लाई । ७।७४–७५ ।' श्रीरामजी सूर्य हैं, मोह रात्रि है, सूर्यके यहाँ रात्रि कभी भी नहीं है—'राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा ।' जहाँ मोहरात्रिका लेशमात्र नहीं वहाँ मोहका आरोप करते हैं, प्रभुको अज्ञानी समझते हैं, अपना भ्रम नहीं समझ पडता, अतः जड कहा । [जो पुरुष मोहवशात् इष्ट अनिष्ट, सुख-दुःख आदि नहीं जानता उसे अज्ञ वा जड कहते हैं । यथा 'इष्टं वानिष्टं वा सुखदुःखे वा न चेत्त्योर्मोहात् । विन्दति परवशगः स भवेदिह जड संज्ञकः पुरुषः ।''] (घ) अपना भ्रम नहीं समझते, उलटे प्रभुपर मोह धरते हैं, इसीपर आगे दृष्टान्त देते हैं । प्रभुपर मोह धरना अधर्म है, यथा "पाछिल मोह समुझि पछिताना । ब्रह्म अनादि मनुज करि माना । ७।६३ ।'

नोट—२ "जथा गगन घन ..." इति । (क) पूर्व एक साधारण बात कहकर कि अज्ञानी मूर्ख मनुष्य अपना भ्रम तो समझता नहीं उलटे प्रभुपर मोहका आरोपण करता है, अब उसकी विशेषसे समता दिखाते हैं । अतः यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है । यहाँ सच्चिदानन्द भगवान् रामजी निर्मल आकाश हैं, सूर्यका बादलोंसे ढाँका जाना कहना श्रीरामजीको मोहावृत कहना है, और 'अज्ञानी जड प्राणी' यहाँके 'कुविचारी' हैं । (ख) "झाँपेउ भानु" इति । झाँपना कहनेसे जान पडता है कि वस्तु जो छुपाई गई है वह छोटी है और ढाँकनेवाली वस्तु बडी है । मेघ नीचे हैं, सूर्य ऊपर । वे सूर्यको तो ढक नहीं सकते । हाँ ! वे पृथ्वीके सन्निकट होनेसे अपने आकारप्रकारानुसार पृथ्वीके किंचित् अंशको एवं उस अंशपर उपस्थित चराचरवर्गको ही आच्छादित करते हैं । इस तरह मेघोंने देखनेवालेको ढक लिया, इसीसे उसे सूर्य नहीं दिखाई पडते । परंतु वह अपनी गलती नहीं समझता । यदि बद्रीनारायण आदिक ऊँचे पर्वतोंकी शिखरपर

वह मनुष्य चढ़ जाय तो उसको अपनी गलती सूझ पड़े कि मेघ तो बहुत नीचे थोड़ेसे घेरेमें है और सूर्य तो इनसे बहुत दूर ऊँचे पर है। वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी तो 'मोह-पार' हैं और इनको मोहने घेर लिया है जिससे वे उससे परे जो रामरूप है उसे तो देख ही नहीं सकते और हठवश कहते हैं कि श्रीरामजीको मोह है। अपनेमें ज्ञान हो तो समझे कि यह तो नरनाट्य है। श्रीपंजाबीजी यों लिखते हैं कि "परदा तो नेत्रोंपर पड़ा है और वे उसे सूर्यके आगे ठहराते हैं।"

टिप्पणी—२ (क) प्रथम श्रीरामजीको सूर्य कह आए—"राम सच्चिदानंद दिनेसा"। इसीसे यहाँ सूर्यका ही दृष्टान्त प्रथम दिया है। (ख) 'कहहिं कुबिचारी' का भाव कि जो सुविचारी, विचारवान् समझदार ज्ञानी हैं वे ऐसा नहीं कहते, वे तो यह कहेंगे कि हमारी दृष्टिके सामने मेघका आवरण आ गया है जिससे हम सूर्यकी प्रभासे वंचित हो रहे हैं। (ग) 'कुबिचारी' का भाव कि ये विचार नहीं करते, कि सूर्य लक्षयोजन (पर) है, बादलोंसे कैसे ढाँका जा सकता है ? जब बादल सूर्यके ऊपर होते और सूर्यसे बड़े होते तब कहीं ढक सकते। अपनी दृष्टि और सूर्यके बीचमें बादल है, इससे अपनी ही दृष्टि ढकी हुई है जिससे सूर्य नहीं देख पड़ते। चौपाईका तात्पर्य यह है कि मोह अपनेमें है, प्रभुमें नहीं। [जैसे बादलोंसे सूर्य नहीं ढपे हैं वैसे ही श्रीरामजी श्रीजानकी विरहमें न तो विलाप ही कर रहे हैं, न उन्हें खोज रहे हैं और न व्याकुल ही हैं, वे तो नरनाट्य कर रहे हैं, श्रीजानकीवियोग तो उनको कभी होता ही नहीं, दोनोंका नित्यसंयोग है। (जैसा सतीतनमें परीक्षा करके पार्वतीजी देख चुकी हैं। यथा "अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥ सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता॥१।५६।', 'सती दीख कौतुक मग जाता। आगे रामु सहित श्री भ्राता॥ १।५४।' याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं "कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुखु ताकें। १.४९।" उनमें मोह नहीं, मोह और भ्रम है देखनेवालेको। (वै०, नंगे परमहंसजी)]।

प० प० प्र०—'निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। ' इत्यादि तीन अर्धालियोंमें अज्ञ, अकोबिद, अंध, अभागीकी चर्चा सोदाहरण चलाई है। प्रभुपर मोह आरोपित करनेका सर्वसामान्य हेतु यहाँ सिद्धांतरूपसे कहा है। आगे दो चौपाइयोंमें दृष्टान्त है। रज्जु न देखनेसे किसी किसीको भ्रम पैदा होता है। भ्रमका मूल कारण अज्ञान है। न जाननेसे बाह्य सादृश्यसे विपरीत ज्ञान पैदा होता है। इसको भ्रम कहते हैं। रज्जुके स्थानमें रज्जु ज्ञान न होनेसे सर्पका भ्रम होता है, अथवा सर्पको न जाननेसे पुष्पहारका भ्रम होता है, यही उस रज्जुपर या सर्पपर अपना अज्ञान और भ्रम आरोपित करना है। रज्जु है नहीं यह अज्ञान आरोपित करना है, राम ब्रह्म नहीं हैं यह अज्ञानका धरना है और राम नृपसुत हैं यह भ्रमका धरना है। तीनों अवस्थाओं तथा तीनों कालोंमें रज्जु रज्जु ही है, वह कभी सर्प नहीं बनती, वैसेही राम सदा सर्वकाल सर्व अवस्थाओंमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही हैं।

२ अज्ञानी=जड मूढ़। 'जड़' की व्याख्या 'ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सोहाती। ७।५३।७।', 'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी।' इन उद्धरणोंमें है। अर्थात् जड-हरिपदविमुख, हरिभक्ति विमुख, केवल ज्ञानके लिये यत्न करनेवाले। अज्ञानी अपना भ्रम प्रभुपर आरोपित करते हैं। हरिपदविमुख, हरिभक्तिविमुख अपना मोह प्रभुपर धरते हैं। अब वाच्यार्थमें दृष्टान्त देकर गूढ़ार्थमें हरिमायावश अभागीकी हालत कहते हैं।—

'जथा गगन घनपटल ' इति। 'घनच्छन्न दृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः। तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धि स्वरूपोऽहमात्मा। हस्तामलक स्तोत्र १२।' नेत्रोंके ऊपर मेघपटल सामने आनेसे देखनेवाला सूर्यको नहीं देख सकता, यह मेघपटलको ही देखता है। यह आकाशस्थ मेघ

पटल निसर्गमे स्वय आता है या पवनके प्रभावसे इकट्ठा होता है, इसमे देखनेवाला कारण नहीं है, अथवा नेत्रेन्द्रिय भी सदोष नहीं है, पर सूर्यको न देख सकनेसे उसकी बुद्धिमे भ्रम पैदा होता है, आकाशमे मेघपटल न आता तो वह ऐसा न कहता। यह दृष्टान्त हरिमायामोहित सती, पार्वती और गरुड़ समान व्यक्तियोंके लिए है। मोहाम्भोधर प्रकृतिके प्रभावसे ही आता है और बुद्धिमे जो भ्रम होता है वह हरि-मायाकी महिमासे ही। (शृखलाके लिये ११७।३-४ मे देखिये)।

वि० त्रि०—'निज भ्रम ' इति। अपने भ्रमको न समझनेवाले ही अज्ञानी है। जो अपने भ्रमको समझता है वह ज्ञानी है। दर्पणके प्रतिबिंबका ज्ञान जानकारके लिए प्रमा और अनजानके लिए भ्रमात्मक है। मन्दान्धकारमे रज्जुका सर्प दिखाई पडना अज्ञान नहीं है, रज्जुको सर्प समझना अज्ञान है। वह तो सभीको सर्परूपमे ही दिखाई पडेगी। परन्तु जानकारको वहाँ भ्रमप्रयुक्त क्रियाका अभाव है। अविवेकी प्राणी अपने भ्रमको न समझेंगे, वे रज्जुको ही दोष देंगे कि वह सर्परूपमे क्यों परिणत हो गई। 'जथा गगन · '—इससे आवरणशक्ति कहा।

चितव जो लोचन अंगुलि लाएं। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएं ॥३॥

उमा राम विषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥४॥

शब्दार्थ—लाएँ = लगाकर, लगाये हुये। भाएँ-समझमे, यथा 'नहिं भलि बात हमारे भाएँ। १।६२।' विषइक-विषयका-सम्बधका, सबधी।

अर्थ—जो कोई मनुष्य नेत्रमें अँगुली लगाकर चन्द्रमाको देखे तो उसकी समझमे दो चन्द्रमा प्रकट हैं॥ ३॥ उमा! श्रीरामचन्द्रजीके विषयका मोह ऐसा है* जैसा आकाशमे अधकार, धूँआ और धूलका सोहना॥ ४॥

नोट—१ "लोचन अंगुलि लाए' ।०" इति। (क) आँखके निचले भागमे एक उँगलीसे जरासा दबाकर और पुतलीको जरा ऊपर चढाकर देखनेसे एक वस्तु दो रूपोंमे दिखाई देती है, यह प्रत्यक्ष अनुभव जो चाहे करके देख ले। (ख) भाव यह है कि दोष कसूर तो अपना करें और चन्द्रमा दो दिखाई दें तो कहते है कि दो चन्द्रमा उदय हुए हैं। इसमे चन्द्रमाका क्या दोष ? (ग) पूर्व एक साधारण बात कही कि मूर्ख अपनेमे तो दोष देखते नहीं, उलटे प्रभुमे मोहकी कल्पना कर लेते है, इसी उपमेय वाक्यकी समता विशेष बातसे यहाँ भी दिखा रहे है। अतएव यहाँ 'उदाहरण' अलकार है।

टिप्पणी—१ पिछले चरणोंमें सूर्यका दृष्टान्त देकर अब चन्द्रमाका दृष्टान्त देते हैं। इस तरह सूर्य और चन्द्रमा दोनोंका दृष्टात देकर जनाया कि श्रीरामजी सदा सर्वकालमे निरन्तर रहते हैं, सूर्यसे दिनका ग्रहण हुआ और चन्द्रसे रात्रिका। पुन भाव कि जैसे मेघसमूह (के आवरण) से सूर्य नहीं देख पडते वैसेही भारी मोहसे श्रीरामजी ब्रह्म नहीं जान पडते किंतु मनुष्य जान पडते है। जैसे उँगली लगानेसे दो चन्द्रमा देख पड़ते हैं, वैसे ही सामान्य मोहसे श्रीरामजी देख तो पडते है पर चन्द्रमाकी तरह दो देख पड़ते हैं—ईश्वर और मनुष्य। यथा 'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि। १।४२।' इति भरद्वाज, एवं 'राम सो अवधनृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई। १।१०८।' इति श्रीपार्वतीवाक्य।

नोट—२ भगवान् शकराचार्यजीने भी प्रथम ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें 'एकश्चन्द्र सद्वितीयवत्' लिखा है।

३ यहाँ दो दृष्टान्त देनेका भाव यह भी हो सकता है कि किसी वस्तुका यथार्थ ज्ञान होनेके लिए करण अर्थात् मन और इन्द्रिय आदिका शुद्ध होना आवश्यक है। करणके निर्दोष होनेपर भी यदि कोई

---

* अर्थान्तर—'श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें इस प्रकार मोहकी कल्पना करना वैसा ही है जैसा' (मानसाक)। सोहना=दीखना। (मानसाक)।

बाह्य प्रतिबंध आ जावे तो भी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। प्रथम दृष्टान्त ('जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु ') से बाह्य प्रतिबंध जनाया और दूसरे दृष्टान्त ('चितव जो लोचन अगुलि लाएँ') से करण-का दोष दिखाया। अब दार्ष्टान्तमें भगवान् श्रीरामजी भानु हैं, उनका नरवेष धारणकर नरनाट्य करना घनपटल है, यह भगवान्का ज्ञान न होनेके लिए बाह्य प्रतिबंध है। पुन, अविद्याके कारण अपना मन और इन्द्रियाँ दूषित हैं वैसे ही अगुली लगानेसे अपने नेत्र दूषित हुये, यह श्रीरामरूपी चन्द्रका यथार्थ ज्ञान न होनेके लिये करणदोष है।

दो दृष्टान्त देकर जनाया कि एकएक ही प्रतिबंध होनेसे वस्तुका यथार्थ ज्ञान नहीं होता और जहाँ अनेक प्रतिबंध हैं वहाँ यथार्थ ज्ञान कब हो सकता है।

श्रीनगे परमहंसजी—'प्रगट जुगल ससि ' का भाव कि "जिसकी बुद्धिमें द्वैत लगा है उसको श्रीराम-जानकी दो देख पडते हैं, नहीं तो (दोनों) एक हैं। अत श्रीरामजीके लिये जो मोह है कि श्रीजानकीजीके विरहमें खोजते हैं यह वृथा है।"

वेदान्तभूषणजी—'चितव जो लोचन अगुलि लाए।०' इति नेत्रमें अँगुली लगाकर दोनों पुतलियों की सीधको ऊपर नीचे कर देनेसे दो चन्द्रमाकी प्रतीति होती है। उस अवस्थामें चन्द्रमाको दो मान लेना निस्सदेह अज्ञान है, लेकिन दो चन्द्रकी प्रतीति होना अज्ञान नहीं है क्योंकि दर्शन सामग्री एव देश भेदसे चन्द्रद्वयका प्रतीत होना सत्य है। इसका तात्पर्य यह है कि चक्षुगोलकोंकी नेत्रेन्द्रियोंके एक सीधसे हटकर ऊपर और नीचे हो जानेसे दो सामग्री हो जाती है जिससे चन्द्रद्वयकी प्रतीति होती है जैसे एक वस्तुको दो व्यक्ति एक साथ ही देखते हों वैसे ही अँगुली लगानेपर नेत्रेन्द्रियाँ दो जगह होकर एक साथ ही चन्द्रमा को देखती हैं। दो व्यक्तियोंके देखनेपर दोनों शरीरोंका अनुग्राहक जीवात्मा भिन्न भिन्न होता है, इसी-लिए उस पदार्थका दो रूपसे भासित होना नहीं माना जा सकता है। परन्तु नेत्रमें अँगुली लगानेपर तो चक्षुरिन्द्रिय देखनेकी शक्तियाँ दो भागोंमें बँट जाती हैं किन्तु उनका अनुग्राहक प्रत्यगात्मा एक ही होनेके कारण चन्द्रद्वयकी प्रतीति होना 'सर्व विज्ञान यथार्थमितिवेदविदाम्मतम्' इस शास्त्रसिद्धान्तके अनुसार सत्य है। इसीसे यहाँ श्रीशकरजीने, अँगुली लगानेके कारण जो चन्द्रद्वयकी प्रतीति होती है, उस प्रतीतिके यथार्थ होनेसे ही उसमें कोई दोष नहीं दिया जैसे कि अन्य दृष्टान्तोंमें 'अज्ञानी, कुविचारी, मोहित और भ्रमित' आदि कहा है। शका हो सकती है कि "जब उन्हें उसमें कुछ अच्छा या बुरा कहना ही न था तब "चितव जो लोचन अगुलि लाए।०' आदि कहनेका प्रयोजन ही क्या था?", इसका समाधान बहुत ही सरल है कि देखनेकी सामग्री दो हो जानेसे तो दो चन्द्रकी प्रतीति होनी ठीक ही है, परन्तु ब्रह्मको 'अवधनृपतिसुत' से भिन्नको 'अगुण, अज आदि विशेषणयुक्त' देखना, अथवा सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्मको दो अवस्था-वाला मान लेना सत्य नहीं किंतु अज्ञान है। क्योंकि ब्रह्मके जाननेका साधन औपनिषदिक ज्ञान दो भागों में विभक्त नहीं होता, किंतु धर्मभूतज्ञानके साथ तिरोहित हो जाता है, और उसकी जगहपर अज्ञान एव तज्जन्य मायामोह भ्रमादि आसन जमा लेते हैं। इसीसे यहाँ 'चितव जो लोचन' आदि कहना पडा।

टिप्पणी २ "उमा राम विषइक अस मोहा। " इति। (क) यहाँ तक जीव (देखनेवालों) के सबंधका जैसा मोह है वैसा कहकर अब रामविषयक मोहको कहते हैं अर्थात् जो श्रीरामजीमें प्रत्यक्ष मोह देख पड़ता है (जैसे कि श्रीसीताजीको खोजना, उनके विरहमें विलाप करना, इत्यादि) वह कैसा है यह बताते हैं। 'नभ तम '। (ख) 'नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा' इति। अर्थात् वह मोह ऐसा है जैसे तम, धूम और धूरिसे आकाश शोभित होता है। यहाँ 'सोहा' एकवचन क्रिया है। यदि आकाशके द्वारा तम, धूम, धूरिकी शोभा कहनी होती तो सोहे बहुवचन कहते। (ग) 'सोहा' कहनेका भाव कि तम धूम धूरिसे आकाशकी अशोभा नहीं हुई, किंतु शोभा ही हुई। इसी प्रकार मोह (की लीला) से

श्रीरामजी अशोभित नहीं हुए वरंच शोभित हुए हैं। तात्पर्य कि नरतनमें मोहादिके ग्रहणसे माधुर्यकी शोभा है, ऐश्वर्य प्रगट होनेसे स्वाँगकी शोभा नहीं रह जाती। [मोह आदि जो नरनाट्यमें दिखाए गए हैं उनसे श्रीरामजीकी भी शोभा है। यदि वे ऐसी लीला न करते तो शोभा न होती। क्योंकि प्रभुने नर-शरीर धारण किया है। जैसे नाट्य करनेमें यदि नटका स्वरूप खुल जाय तो नटकी शोभा नहीं रह जाती, वैसे ही प्रभुके माधुर्य नरनाट्यमें यदि लोग यह जान जाते कि ये परात्पर ब्रह्म हैं तो फिर नरनाट्य ही कहाँ रह जाता ? ऐश्वर्य्य न प्रगट हो इसी विचारसे तो श्रीशंकरजी समीप न गए थे, यथा 'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ'। ऐसा ही श्रीवाल्मीकिजीने कहा है। यथा "नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥ राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥ तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा॥ २.१२७।" प्रभुके नरनाट्यकी शोभा यही है कि लीलाको देख-देखर सब वाह-वाह ही करते रहें कि खूब भेस बनाया, जैसा भेस वैसा ह नाट्य। श्रीभुशुण्डीजीने भी गरुड़जीसे ऐसा ही कहा है, यथा "जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥ ७.७२। असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥" अध्यात्मरामायणमें वसिष्ठजीने कहा है। यथा "देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं भक्तानां भक्तिसिद्धये। रावणस्य-वधार्थाय जातं जानामि राघव। २४। तथापि देवकार्यार्थं गुह्यनोद्घाटयाम्यहम्। यथा त्वं मायया सर्वं करोषि रघुनन्दन। २५। तथैवानुविधास्येऽहं शिष्यस्त्वं गुरुरप्यहम्। २.२।' अर्थात् हे राघव! मैं जानता हूँ, आपने देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये, भक्तोंकी भक्ति सफल करनेके लिये और रावणका वध करनेके लिये ही अवतार लिया है। २४। तथापि देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये मैं इस गुप्त रहस्यको प्रकट नहीं करता। हे रघुनन्दन! जैसे आप मायाके आश्रयसे सब कार्य करेंगे वैसे ही मैं भी 'तुम शिष्य हो और मैं गुरु हूँ' इस संबंधके अनुकूल व्यवहार करूँगा।'

नोट—"नभ तम धूम धूरि" इति। तम, धूम और धूरि दार्ष्टान्तमें क्या है, इसमें मतभेद है।

(१) पं० रामकुमारजीका मत है कि-(क) यहाँ श्रीरामजी नभ हैं, राजसी, सात्विकी और तामसी मोह क्रमसे तम, धूम और धूरि हैं। ये श्रीरामजीको स्पर्श नहीं कर सकते। (जैसे तमादि आकाशका स्पर्श नहीं कर सकते, उसका अंत नहीं पा सकते। यथा "तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥ तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा। ७.९१।")। अथवा, (ख) जैसे आकाशमें तम, धूम और धूरि सोहते हैं, वैसे ही श्रीरामजीमें मोह शोभित हो रहा है। तम तमोगुण है, धूम सत्वगुण और धूरि रजोगुण है। इन मायिक गुणोंसे ईश्वर मलिन न होकर शोभाहीको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि श्रीरामजीके ग्रहण करनेसे 'मोह' की 'लीला' संज्ञा हुई जिसके गानसे जीव कृतार्थ होता है।

(२) श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि "आकाश सदा एकरस निर्मल शोभित है। उसमें देखने मात्रको अन्धकारसे विशेष आवरण, धूरीसे सामान्य और धूमसे किंचित् आवरण दिखाई पड़ता है सो देखने-वालेको देखने मात्रका आवरण है, आकाश तो सदा अमल है। वैसे ही विषयी जीवोंको अपन मोहसे प्रभुमें मोह दिखाई पड़ता है। आत्मरूपमें ८ आवरण हैं। १ प्रकृति, २ बुद्धि, ३ त्रिगुणाभिमान, ४ आकाश, ५ वायु, ६ अग्नि, ७ जल, ८ पृथ्वी। वायुतक जीवको ज्ञान रहता है। जब अग्नितत्त्वमें आया तब किंचित् आवरण हुआ जैसे धूमसे आकाशमें—(सतीजी, गरुड़जी आदि ज्ञानियोंको जैसे मोह हुआ)। जलतत्त्वका आवरण सामान्य आवरण है जैसे आकाशमें धूल (जैसे रावणादि विमुख जीव जानते हुए भी प्रभुमें मनुष्यत्व आरोपण करते थे)। पृथ्वीतत्व आवरण होनेसे जीव विषयी हुआ, यह विशेष आवरण है, जैसे अंधकार—(विषयी प्रभुमें ईश्वरता देखते ही नहीं)।"

(३) वीरकविजी (श्रीबैजनाथजीके ही भावको लेकर) इस प्रकार लिखते हैं कि आकाश निर्लेप है। धूल धरतीका विकार है, धुआँ अग्निका और तम सूर्य्यके अदृश्य होनेका। कारण पाकर ये आकाशमें फैलते और स्वयं विलीन हो जाते हैं। आकाश इनके दोषोंसे सर्वथा अलग है, वह ज्योंका त्यों निर्मल बना रहता है। यहाँ भी उदाहरण अलंकार है।

(४) श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि जैसे आकाशमें तम, धूम और धूरि देख पड़ते हैं किन्तु आकाशमें ये कोई विकार नहीं है, वैसे ही श्रीरामजीके विषयमें (उनके नरनाट्यमें) बालचरित, श्रीसीता-वियोगविरह और रणक्रीड़ा करके रावणादिका वध दिखलाई पड़े हैं, पर ये कोई श्रीरामजीमें हैं नहीं क्योंकि तम, धूम, धूरि ये सब आकाशमें कारणसे हैं वैसे ही श्रीरामजीके चरितमें बालचरित आदि सब कारण पाकर हुए हैं। जैसे तम, धूम और धूरिके कारण कुहरा, अग्नि और पवन हैं वैसे ही बालचरितका कारण मनुशतरूपाका वरदान है। (दोनोंने वर माँगा था कि हमारे पुत्र हों और प्रभुने उनको यह वर दिया भी, यथा 'चाहौं तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ। १.१४९। एवमस्तु करुनानिधि बोले।', "जो बरनाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा। १५०। जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं।", "इच्छामय नरबेष सँवारें। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारें॥ अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता॥ १ १५२।" सीताविरहका कारण नारदजीका शाप है। यथा 'मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी॥ श्राप सीस धरि हरषि हिय । १। १३८।', 'मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुखभारा। ३.४१।')। रणक्रीड़ा तथा रावणादिके वधके कारण ब्रह्मस्तुति एवं आकाशवाणी है। (रणक्रीड़ामें नागपाशबंधन, अठारह दिन तक रावणसे संग्राम करके तब उसका वध करना, इत्यादि रणकी शोभाके लिये है। यही शिवजीने बताया है। यथा 'नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना॥ रनसोभा लगि प्रभुहि बँधायो '।६.७२।' नहीं तो "भृकुटिभंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई।१.६४।", रावणवधके कारण ब्रह्मस्तुति, आकाशवाणी और रावणका वरदान है। यथा 'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा।'''। १।१८६।', 'हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥ गगन ब्रह्मबानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना।', "हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥ १।१७७।", "रावन मरनु मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साचा। १।४९।')। जैसे आकाशमें कुहरा, अग्नि और पवनरूपी कारणोंका अभाव होनेसे तम, धूम आदि कार्योंका अभाव हो जाता है (वैसे ही सबके वरदानों आदिकी पूर्ति बालचरित, सीताविरह, रावणवध आदि कार्योंद्वारा हो जानेपर फिर ये मोह लीलारूपी कार्य नहीं रह जाते जिनसे लोगोंको भ्रम हो जाता है)। और, आकाश कार्यकारणसे रहित सदा स्वच्छ है वैसे ही श्रीरामजी इन कार्य कारणोंसे रहित, अर्थात् उनसे परे, सदा स्वच्छ, निर्मल, निर्विकार हैं। यथा 'सुद्ध सच्चिदानंदमयकंद भानुकुल केतु। चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥ २।८७।"

(५) मयङ्ककार कहते हैं कि "शिवजीके वचनका तात्पर्य यह है कि राम-विषयक मोहरूपी तमने गरुड़के हृदयको तमवत् आच्छादित किया और तुम्हारे हृदयको धूमवत् आच्छादित किया और भरद्वाज मुनिके हृदयको धूरवत् आच्छादित किया, तब उनके संदेह निवारणार्थ कागभुशुण्डी, मैं और याज्ञवल्क्यने पराभक्तिमय कथाको कहा जिससे वह सब दूर हो गए और उन्हींके द्वारा जगत्‌में इस कथाका प्रचार हुआ।" सारांश यह कि गरुड़जीको रणमें प्रभुका बंधन देखकर, तुमको (सतीतनमें) सीताविरहविलाप एवं वनलीला देखकर और भरद्वाजको स्त्रीविरह तथा रोषयुक्त हो रावणवध करने इत्यादिमें जो मोह हुआ वही क्रमश तम, धूम और धूरि है। [परन्तु इस भावमें यह शंका उपस्थित होती है कि क्या उस समय श्रीभरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद हो चुका था, जब शिवजीने श्रीपार्वतीजीसे यह कथा कही? याज्ञवल्क्यजीके "ऐसेइ

ससय कीन्ह भवानी । महादेव तब कहा बखानी ॥ कहौं सो मति अनुहारि अब उमा सभुसवाद ॥ १.४७ ।" से विरोध होता है। यदि भरद्वाजजीकी जगह श्रीभुशु डीजीका मोह ले तो कुछ अच्छा अवश्य हो जाता है, पर तीनों सवादोंका इन तीन दृष्टान्तोंमें लानेकी बात चली जाती है।]

नोट—यहाँ तक बाहरके आवरण कहे आगे भीतरके आवरण कहते हैं। (प० रा० कु०)।

प० प० प्र०—१ 'चितव जो ··' इति। (क) इस दृष्टान्तमें यह भेद है कि यहाँ नयन दोष जानबूझ कर निर्माण किया गया है। निसर्ग और हरिमाया यहाँ अज्ञान और भ्रमका कारण नहीं है। 'नयन दोष जा कहँ जब होई। ' यह दृष्टान्त सदृश नहीं है। यहाँ नयन दोष प्राकृतिक है, सहज ही पैदा हुआ है और यहाँ 'चितव जो ' में नयनदोष जानबूझकर अल्पकालके लिये निर्माण किया गया है—दोनोंमें इतना भेद है। पाखण्डी लोग जानबूझकर ऐसा करते हैं। रावण ठीक ठीक जानता था पर जानबूझकर प्रभुपर मनुष्यत्वका आरोप करता रहा। (ख) मोहपिशाचग्रस्त पाखण्डी हरिपदविमुख और 'जानहिं झूठ न साँच'-वालोंके मोहभ्रमादिके हेतु भिन्न भिन्न होते हैं, पर 'प्रभु पर मोह धरहिं' यह कार्य एक ही है।

२ 'नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा' इति। 'सोहा' एकवचन है। 'धूरि' कर्त्ता होता तो 'सोही' चाहिए था। तम, धूम, धूरि तीनोंको साथ ले लें तो 'सोहहिं' चाहिए था। अत 'नभ सोहा' ऐसा लेनेसे अर्थ होता है कि तम, धूम और धूरिके कारण आकाश सोहता है, उसकी कुछ हानि नहीं होती।

तम (अधकार) में ही आकाशकी शोभा मनोहर लगती है। दिनमें सूर्यके प्रकाशमें आकाश नयन-मनोहर नहीं होता। रामचरित्रमें अज्ञान, मोह भ्रम, हर्ष शोक आदि विकार जो दीखते हैं वे उनकी शोभा ही बढ़ाते हैं—'फूलें कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा।' रात्रिमें ही असख्य तारागण, ग्रहादिक आकाशस्थ देदीप्यमान मणिदीपोंके समान उस सुनील आकाशपटलपर मनोहर लगते हैं, उससे प्रसन्नता और शीतलताका लाभ होता है। उसपर भी यदि राका रजनी और राकाशशि हों तब तो उस मनोहरतासे परमानन्द आदि होते हैं और चकोरको तो परम सुख और सुधाकी प्राप्ति होती है। चक्रवाक दुखी होते हैं। निर्गुण ब्रह्ममें मायाका सयोग होनेपर सगुण ब्रह्म दीखता है, इसमें यदि 'राका रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम' और 'रामचरित राकेशकर' भी हों तो सन्त-चकोरोंको सुखकी परम सीमा ही उपलब्ध होती है। तम तमोगुणका प्रतीक है, अज्ञानका उपमान है। वह आकाशस्थ तम आकाशको स्पर्श तक नहीं करता। इसी प्रकार राम-कृष्णादिके तमोगुणी चरित भी भक्तोंको सुखदायक, दुर्जनोंको विमोहक और सुरहितकारी ही होते हैं।

३ 'धूम' धूसर होता है पर ऊर्ध्वगामी है और ऊर्ध्वगति सत्वगुणका लक्षण है—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था। गीता।' अत धूमसे भगवानके सत्वगुणी चरित्र समझना चाहिए। निर्गुण निराकार ब्रह्ममें सत्वगुण भी नहीं है। धूमको आकाशमें फैलानेमें वायुकी आवश्यकता है, वातकी मदद बिना गतिका अस्तित्व ही नहीं रहता। वायु (=माया) + निर्गुण निराकार ब्रह्म = सगुण साकार ब्रह्म। उनके सत्वगुणी लीला चरित आकाशगामी धूमके समान आकाशकी शोभाके वर्धक ही होते हैं। प्रतिक्षण इस धूमकी गति और दिशा पलटती है। वह आकाशगामी धूम भी नयनमनोहर होता है, इसीसे लोग उसका फोटो लेते हैं। इन चरित्रोंके पठन-पाठन, कथन-श्रवण और अनुकरणसे ज्ञान भक्ति-लाभ होता है और जैसे वह धूम आकाशमें समा जाता है, वैसेही ज्ञानी भक्त जीव ब्रह्ममें लीन हो जाता है अथवा हरिधामगमनरूपी सर्वोत्तम परमोच्च गतिको प्राप्त होता है।

४ 'धूरि' रजोगुणका प्रतीक है। धूरि=रज। 'रज मग परी निरादर रहई' पर 'गगन चढ़त रज पवन प्रसंगा'। आकाशमें चढ़नेके लिये इसे भी पवनकी आवश्यकता है। वह आकाशगामी रज आकाशकी शोभा ही बढ़ाती है। वैसे ही प्रभुके रजोगुणी चरित हर्ष-शोक, विरहविलापादि, कामीजनोंकेसे चरित्र,

विवाहोत्सव, पुत्र-जन्मादि सभी चरित्र रजोगुणी हैं। पर इन चरित्रोंके पठन-पाठनादिसे जीवके हृदयाकाशका रजोगुण भाग जाता है, और वह स्वच्छ निर्मल बन जाता है। वायु और अग्नि (सूर्यकी उष्णता) की सहायतासे जो वाष्प तैयार होता है उसको जलधर बनानेके लिये आकाशस्थ अति सूक्ष्म रज कणोंका ही उपयोग होता है और वह जलद जगजीवनदाता होता है, वाष्प नहीं। निर्गुण ब्रह्मरूपी आकाशमें रजोगुणी सगुणचरित्ररूपी लीला धूरि मायारूपी पवनकी गतिसे उड़ती है। भाव कि वह निर्गुण ब्रह्म ही कल्याणघन, दयाघन बनकर कृपावारिकी वृष्टि करता है। 'कृपा-बारिधर राम खरारी' भक्त-भय-हारी होते हैं। निर्गुण ब्रह्म ग्रीष्म ऋतुके दिवसके आकाशके समान है। जीवके हृदयका रजोगुण 'रज मग परी निरादर रहई' के समान 'सबके पद प्रहार नित सहई'। सगुण चरित्रमें त्रिगुणात्मक लीला ही मनोहर और प्रलोभनीय होती है।

वि० त्रि०—अब विक्षेप कहते हैं। आवरणसे आत्माका अज्ञान होता है, विक्षेपसे द्वैतकी प्रतीति होती है। अपनी आँखमें उँगली द्वारा विक्षेप हुआ, चन्द्रमाको कोई विक्षेप नहीं हुआ, अच्छी तरह मालूम है कि एक है, पर चन्द्रमा दो दिखलाई पड़ने लगते हैं। जगत्‌का आभास कर्म दोषोंसे उत्पन्न है, उसकी निवृत्ति ज्ञानमात्रसे नहीं हो सकती। चूक अपनी है चन्द्रमाकी नहीं। इसी भाँति अपना द्वैत भाव राममें दिखाई पड़ता है। जबतक कार्यका लय नहीं होगा, व्यवहार लय नहीं हो सकता। इसी भाँति स्वयं मलावृत होनेसे रामजीमें मलिनता दिखाई पड़ने लगती है। हमें जब अंधकार, धूम और धूलिका अनुभव होता है, तब कहते हैं कि आकाश अंधकार, धूम और धूलिसे भर गया। तमसे सूक्ष्म, धूमसे स्थूल और धूलिसे स्थूलतर मल कहा। यहाँ ब्रह्मकी उपमा आकाशसे दी गई, क्योंकि आकाश और चिदात्मा विलक्षण नहीं हैं। दोनों ही सूक्ष्म, निर्मल, अज, अनन्त, निराकार, असङ्ग और सबके भीतर बाहर व्याप्त हैं। चैतन्यपूर्ण आत्मा ही आकाश है, उसमें किसी वस्तुका लेप नहीं हो सकता। जीव समझता है कि जैसी हमें सच्ची विकलता होती है, वैसी ही रामजीको भी होती है। यह निर्गुण निराकारमें अध्यासका उदाहरण है। वह सबका प्रकाशक है, उसमें अज्ञानान्धकार कहाँ?

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ ५॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥ ६॥

शब्दार्थ—करन (करण) = इन्द्रियाँ। सचेत = चेतन-युक्त चैतन्य, सजग, स्फूर्त। प्रकाशक = प्रकाश करनेवाले। जिसकी सत्तासे किसी अन्य वस्तुका अस्तित्व कायम रहे वह 'प्रकाशक' और वह वस्तु 'प्रकाश्य' कहलायेगी। जैसे अँधेरेमें दीपकद्वारा हम किसी वस्तुको देखते हैं तो दीपक 'प्रकाशक' है और वह वस्तु 'प्रकाश्य' है। दीपकको हटा दिया जाय तो वह वस्तु स्वयं लुप्त हो जायगी। इसी तरह श्रीरामजी समस्त वस्तुओंके प्रकाशक हैं। (लाला भगवानदीनजी)। उनके सत्तारूपी प्रकाशसे जगत् भासित होता है, अनुभवमें आता है, अतः जगत् प्रकाश्य है जैसा आगे कहते हैं।

अर्थ—विषय, इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके देवता और जीव सबके सब (प्रतिलोमरीतिसे) एक दूसरे (की सहायता) से चैतन्य होते हैं॥ ५॥ जो सबका परम प्रकाशक है (अर्थात् जिसके कारण सबका अस्तित्व अनुभवमें आता है) वही अनादि (ब्रह्म) अयोध्यापति श्रीरामजी हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) "विषय करन ......" इति। पूर्व कह आए हैं कि श्रीरामजी सहज प्रकाशरूप एवं प्रकाशनिधि हैं—'सहज प्रकासरूप भगवाना।' 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि......। ११६।' अब उनका प्रकाश कहते हैं। विषय इन्द्रियोंसे, इन्द्रियाँ देवताओंसे और देवता जीवसे उत्तरोत्तर सचेत हैं। विषय, करण आदि एकसे एक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। विषयमें इन्द्रियोंको आकर्षण करनेकी शक्ति है, यही विषयकी चैतन्यता

है।* [विषय, इन्द्रियाँ और उनके देवताओंके नाम निम्न चार्ट (नक़शे) से स्पष्ट हो जायँगे। प्रत्येक इन्द्रिय पर एक-एक देवताका वास है, यथा 'इद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना। आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी। उ० ११८।' इन्द्रियोंमे चेतनता उनके देवतोंसे आती है, यदि देवता अपना वास उनपरसे हटा लें तो वे कुछ काम नहीं कर सकतीं, इसी भाँति विषय इन्द्रियोंसे चेतनता पाते है और इन्द्रियोंके देवता जीवसे प्रकाश पाते हैं। शरीरके जीवरहित होनेपर देवता इन्द्रियोंको सचेत नहीं कर सकते। जीव भी बिना श्रीरामजीकी सत्ताके कुछ नहीं कर सकता है।

	विषय—	इन्द्रियाँ—		इन्द्रियोंके देवता—
पंच तन्मात्रा / ज्ञानेन्द्रियोंके विषय	शब्द	श्रवण	ज्ञानेन्द्रियाँ	दिशा
	स्पर्श	त्वचा (त्वक्)		पवन
	रूप	नेत्र		सूर्य्य
	रस	जिह्वा		वरुण या प्रचेता
	गंध	नासिका		अश्विनीकुमार
कर्मेन्द्रियोंके विषय	भाषण, भक्षण	वाणी (मुख)	कर्मेन्द्रियाँ	अग्नि
	लेना देना	हाथ		इन्द्र
	चलना	पैर		जगविष्णु उपेन्द्र
	मल त्याग	गुदा (पायु)		यम, या मित्र
	मैथुन, मूत्र त्याग	उपस्थ		प्रजापति या मृत्यु
	संकल्प करना	मन	अन्तःकरण	चन्द्रमा
	निर्णय करना	बुद्धि		ब्रह्मा
	धारणा	चित्त		विष्णु, वा अच्युत वा वासुदेव
	अहंता होना	अहंकार		शिव (रुद्र)

नोट—१ 'विषय करन सुर ...' इति। अद्वैतमतानुसार भाव यह कहा जाता है कि 'जीव चेतन है, सुर भी जीव होनेसे चेतन है और विषय तथा करण जिसमें मनका भी समावेश है मायाके कार्य होनेसे जड़ है। जैसे तारमें बिजली और कोयलेमें अग्निके प्रविष्ट होनेसे तार तथा कोयला प्रकाशरूप देखनेमें आता है, वैसे ही चेतन जीव मनमें व्याप्त होनेसे मन चैतन्ययुक्त अर्थात् सचेत होता है। मनसे और देवताओंसे इन्द्रियाँ तथा देह सचेत होते हैं। जीव ब्रह्मका प्रतिबिंब है। अतः जैसे चन्द्रका प्रकाश और जल आदिमें पड़े हुए सूर्यप्रतिबिंबका प्रकाश वस्तुतः सूर्यके ही प्रकाश है, वैसेही जीवका चैतन्य भी श्रीरामजीका ही है। इस प्रकार श्रीरामजी सबके परम प्रकाशक अर्थात् सबको सचेत करनेवाले हैं।'

२ विशिष्टाद्वैतमतानुसार जीव स्वयं चेतन है तथापि प्रलयावस्थामें देह, मन, इन्द्रियाँ आदि न होनेसे वह जड़वत् ही रहता है। जब श्रीरामजीकी इच्छासे देहादिकी सृष्टि होती है तब उसमें प्रविष्ट होकर वह चेतनताका व्यवहार करता है। अतः उसको भी सचेत करनेवाले श्रीरामजी हुए। अथवा, मायावशात् यह जीव अचेत अर्थात् अज्ञानाच्छादित रहता है, मैं कौन हूँ, मेरा क्या कर्त्तव्य है, इत्यादिका ज्ञान उसको नहीं रहता। जब श्रीरामजीकी कृपा होती है तब वह सचेत होता है।

---

* 'विषय' का अर्थ देश और आश्रय भी होता है। इस अर्थको लेकर किसीका कहना है कि करण, सुर और जीव सभीका आश्रय या देश देह है, इस तरह 'विषय' का अर्थ 'देह' भी होता है। देह जड़ होने-पर भी जीवका चैतन्य लेकरही सचेत होता है।

टिप्पणी—२ "सब कर परम प्रकासक जोई। " इति। (क) सबके 'परम प्रकाशक' कथनका भाव कि करण, सुर और जीव ये सब एकही एकके प्रकाशक हैं और श्रीरामजी सबके प्रकाशक हैं। पुन भाव कि करण, सुर और जीव ये सब प्रकाशक हैं और श्रीरामजी 'परम प्रकाशक' हैं। इन्द्रिय-सुर जीवके प्रकाशसे विराट् (समष्टि ब्रह्माण्डगोलक) चैतन्य न हुआ, किन्तु श्रीरामजीके प्रकाशसे चैतन्य हुआ। [यथा 'वर्षपूग सहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम्। कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत्। भा० ३।५।३४।' अर्थात् वह अण्ड एक सहस्र वर्ष तक जलमें पड़ा रहा, तदनन्तर काल-कर्म-स्वभावस्थित जीव (सबको अपने स्वरूपमें स्थित रखने वाले परमात्मा) ने उस निर्जीव अण्डको सजीव कर दिया]। (ख) "राम अनादि अवधपति सोई" अर्थात् जो सबका परम प्रकाशक परमात्मा है वही श्रीरामजी हैं। 'अनादि' का भाव कि विषयकरणादिके आदि श्रीरामजी हैं और श्रीरामजीका आदि कोई नहीं है, वे अनादि हैं। अनादि देहलीदीपकन्यायसे राम और अवध पति दोनोंके साथ है। 'अनादि' अवधपतिका भाव कि अनादिकालसे अवधपति हैं ('अनादि अवधपति' कथनसे अवधकी भी अनादिता सूचित कर दी। इस विशेषणसे जनाया कि त्रेतायुगसेही ये अवधपति नहीं हुए किन्तु अनादि कालसे हैं। पुन ,'अनादि राम' कहनेमे निर्गुण ब्रह्मका बोध होता इसीसे सगुणवाचक पद 'अवध पति' दिया। [(ग) श्रीरामजी सबके प्रकाशक कैसे हैं यह 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं ' मं० श्लो० ६ की व्याख्यामें भी देखिए। अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों मतोंके अनुसार ब्रह्म सबका परम प्रकाशक है। अद्वैतमतानुसार ब्रह्मका परमप्रकाशकत्व ऊपर "बिषय करन सुर" पर नोट १ में एक प्रकारसे दिया ही है, दूसरा प्रकार ऐसा है— इस मतमें भ्रमका अधिष्ठान ही उसका (भ्रमका) प्रकाशक है, जैसे रस्सी पर सर्पका भ्रम होता है। यहाँ सर्पका भास करानेवाली रस्सी ही है। रस्सी यहाँ न होती तो सर्पका भ्रम न होता। अत सर्पका प्रकाशक रस्सी है। परन्तु विचार करने पर रस्सी भी भ्रम ही है, वस्तुत यह सन है। (सनको ही ऐंठन आदि देनेसे रस्सी, टाट, बोरा आदि अनेक पदार्थ मानते हैं परन्तु सर्वसाधारणको यह बात ध्यानमें नहीं आती) अत सिद्ध हुआ कि सर्पका प्रकाशक रस्सी है और रस्सीका प्रकाशक सन है, इसलिये सर्पका परम प्रकाशक सन है। ऐसे ही दुनियामें जो ये अनेक पदार्थ अनुभवमें आते हैं उनमें एकका दूसरा प्रकाशक है, जैसे घरई, पुरवा आदिका मृत्तिका, घडा, लोटा, गिलास आदिका ताँबा, कटक, कुंडल, आदिका सुवर्ण, धोती, कुरता आदिका रुई प्रकाशक है परन्तु मृत्तिका, ताँबा, सुवर्ण और रुई इत्यादिका भी मूल प्रकाशक परब्रह्म ही है। अत इन सब अनंत पदार्थोंका परम प्रकाशक (इनका मूलतत्व) परब्रह्म परमात्मा श्रीरामजी ही हैं। विशिष्टाद्वैतमतानुसार भी पूर्व नोट २ में एक प्रकार कहा है, दूसरा—जैसे सूर्य, अग्नि आदि सबको प्रकाशित करते हैं परन्तु उनको भी प्रकाशित करनेवाले श्रीरामजी हैं, यथा 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्। गीता १५।१२।' इत्यादि।

वि० त्रि०—'निज भ्रम नहि समुझहि अज्ञानी। ११७।१।' से यहाँ तक शिवजीने शारदाकी ओरसे उत्तर दिया।

> जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू ॥७॥
> जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥८॥

शब्दार्थ—प्रकाश्य, प्रकाशक—ऊपर चौ० ५ ६ में देखिये। मायाधीश=मायाका स्वामी वा प्रेरक एव अधिष्ठाता। सहाया=सहायतासे।

अर्थ—यह सब जगत् प्रकाश्य है। मायाके अधिष्ठाता, ज्ञान और गुणोंके धाम श्रीरामजी प्रकाशक हैं ॥ ७ ॥ जिनकी सत्यतासे जड माया भी मोहकी सहायतासे सत्यसी जान पडती है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'जगत प्रकास्य ' इति। ☞ अन्तर्प्रकाश (भीतरका प्रकाश) कहकर अब बाहरका

प्रकाश कहते हैं। जगत् प्रकाशमान् हैं, श्रीरामजी प्रकाशकर्त्ता हैं। जगत् कार्य है, उसमें प्रकाश कहकर अब (आगे) जगत्के कारणमें प्रकाश कहते हैं। जगत्का कारण माया है। 'श्रीरामजी मायापति हैं, ज्ञानगुण-धाम हैं, इस कथनका भाव यह है कि मायाकी जड़ता और अवगुण (विकार) इनमें नहीं आते। ये तो मायाको ज्ञान और गुण देते हैं, तब उनसे वह जगत्की रचना करती है, यथा 'एक रचइ जग गुन बस जाके।'

नोट—१ "प्रकाशक", "मायाधीश", "ज्ञानगुणधाम"। इन विशेषणोंको देकर सूचित करते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी जगत्के प्रकाशक और कारण, और केवल जगत्हीके नहीं वरन् जगत्को रचनेवाली मायाके भी प्रकाशक हैं। मायाको जड़ कहा अर्थात् बताया कि उसमें अपनी कुछ शक्ति नहीं है, उसमें श्रीरामजीकी शक्ति है इसीसे श्रीरामजीको मायाका स्वामी कहा। श्रीभुशुण्डीजीने भी कहा है कि "माया खलु नर्तकी बिचारी" है (उ० ११६), जैसा नाच श्रीरामजी नचाते हैं वैसा नाचती है। यथा 'सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा। ७।७२।'

"मायाधीश कहनेसे यह शंका होती है कि मायाके सम्बन्धसे श्रीरामजीमें भी मायाजनित अज्ञान और अवगुण होंगे? इस शंकाके निवारणार्थ "ज्ञान-गुण धाम" विशेषण दिया अर्थात् श्रीरामजीमें माया-के विकार नहीं हैं, वे तो ज्ञान और गुणोंके घर हैं, उन्हींसे ज्ञान और गुण पाकर माया जगत्की रचना करती है। (मा० पी० प्र० स०)।

"ज्ञान गुणधाम्", ज्ञानादि दिव्य गुणोंके धाम हैं। यथा "ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेज.सौशील्यवात्सल्यमार्द-वार्जवसौहार्दसौम्यकारुण्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यस्थैर्यधैर्यशौर्यपराक्रमसत्यकामसत्यसङ्कल्पकृतित्वकृतज्ञताद्यसंख्येयकल्याणगुण गुणौघमहार्णव इति रामानुजमताथे ।" पुन भगवद्गुणदर्पणे यथा "ज्ञानशक्ति बलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषत । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभि ॥ हेयप्रत्यनीकत्वाशेषत्वाभ्या सह गुणात्मकमिद । जगदुत्पत्त्यादिव्यापारेषुप्रधान कारण ॥ आश्रयणभजनोपयोगिनोऽन्ये गुणावश्यन्ते तत्र सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वैकत्वविभुत्वामलत्वस्वातन्त्र्यानन्द त्वादयो ॥ इत्यादि ॥ (बैजनाथजी)।

मूलरामायणमें नारदजीने श्रीरामचन्द्रजीके अनेक गुण वर्णन किए हैं जो विशेष देखना चाहें देख लें। इनमेंसे यदि एक गुण भी किंचित् मात्रामें किसीमें आ जाता है तो वह महात्मा और सिद्ध हो जाता है।

नोट—२ 'जासु सत्यता तें ' इति। (क) जिन शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं उनका प्रकरणानुसार जो अर्थ ठीक बैठता है वही लिया जाता है; जैसे 'हरि' शब्द मानसमें (१) 'रामाख्यमीशं हरिम्। मं० श्लो० ६।', (२) 'कृपासिंधु नररूप हरि। मं० सो० ५।' (३) 'कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। ५।१२।७' इत्यादि स्थानोंमें पृथक्-पृथक् अर्थमें आया है। (१) में जीवोंके क्लेश हरनेवाले अथवा भगवान्। (२) में भगवान् अथवा सूर्य, और (३) में बंदर अर्थ लिया गया है। वैसे ही झूठ, मृषा, मिथ्या आदि शब्दोंका प्रयोग तुलसीग्रंथावलीमें भिन्न-भिन्न स्थलोंमें भिन्न-भिन्न अर्थोंमें हुआ है। यथा 'झूठेहुँ हमहिं दोष जनि देहू। २।२८।३।', 'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। २।२१०।', 'झूठइ लेना झूठइ देना। ७।३९।', 'झूठो है झूठो है झूठो सदा जग सत कहत जे अंत लहा है। क० ७।','मृषा न कहउँ मोर यह बाना।७।१६।७।','छाँड़हु नाथ मृषा जल्पना। ६।२६।', 'मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहँ संत कहहिं सब कोई। ७।६८।' इत्यादि स्थलोंमें जहाँ जो अर्थ ठीक बैठता है वही लिया गया है।

इसी प्रकार 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। १।११२।१।' में जो अर्थ ठीक बैठता है वह दिया गया। वहाँ 'सत्य' के प्रतिपक्षमें 'झूठ' शब्द दिया गया, उसीके अनुसार यहाँ भी 'सत्य इव' कहनेसे इसके प्रति-पक्षमें 'झूठ' का ग्रहण होता है। सत्य इव भासती है अर्थात् सत्य नहीं है, झूठ है। इस 'झूठ' का अर्थ यहाँ

परिवर्तनशील अर्थात् परिणामी, बदलनेवाला, अस्थिर।' और 'सत्य' का अर्थ 'परिवर्तनरहित अर्थात् अपरिणामी, न बदलनेवाला, स्थिर' है।

माया अर्थात् मायाका कार्य जगत् झूठा है और श्रीरामजी सत्य हैं। जैसे जल ठंडा है और अग्नि उष्ण है। इस भेदको न जाननेवाले मनुष्यको यदि गर्म जल दिया जाय तो वह उसका उष्णता धर्म जलका ही धर्म समझेगा, वैसे ही जगत् श्रीरामजीमें मिला हुआ है इसलिये कभी-कभी जगत्‌में भी सत्यत्वका अनुभव हो जाता है, यद्यपि वह सत्यत्व धर्म श्रीरामजीका ही है। मोहवशात् इस भेदको और श्रीरामजीको न जाननेसे अज्ञानी जीव इस सत्यत्वको जगत्‌का ही मान बैठते हैं और उसमें फँसकर दुःख उठाते हैं।

'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने' में श्रीरामजीको न जाननेसे झूठ सत्य जान पड़ता है यह बताया था। और यहाँ बताते हैं कि श्रीरामजीकी सत्यतासे माया सत्य सी जान पड़ती है। इन दोनों वाक्योंको विचार करनेसे यह बात सिद्ध होती है कि जगत्‌में भासमान सत्यत्व वस्तुतः श्रीरामजीका है, जब हम रामजीको जानेंगे तब हमें यह ज्ञान हो जायगा कि यह सत्यत्व श्रीरामजीका है।

पूर्व 'विषय करन' को सचेत और जगत्‌का प्रकाश करनेवाला कहा और यहाँ श्रीरामजीको 'माया धीस' कहा, उससे जान पड़ा कि माया अर्थात् विषय करण और जगत् भी कोई एक सत्य वस्तु है जिसके अधीश श्रीरामजी हैं। उसके निराकरणार्थ कहते हैं कि 'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव'। अर्थात् माया सत्य नहीं है, उसका सत्यसा भासना श्रीरामजीकी सत्यतासे है।

जैसे "यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं" इस प्रसंगकी कुछ बातें 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।११७।१।' में कविने खोलीं, वैसे ही 'झूठेउ सत्य' की कुछ विशेष बातें यहाँ खोलते हैं।

'झूठेउ सत्य' से यह अर्थ होता है कि झूठा भी सत्य है। अथवा, जो द्वैत अद्वैत दोनोंको सत्य मानते हैं उनके मतानुसार 'झूठ भी है और सत्य भी है' ऐसा भी अर्थ होता है। अतः गोस्वामीजी अपना अभीष्ट अर्थ स्पष्ट करनेकेलिये यहाँ 'भास सत्य इव' पद देते हैं अर्थात् माया वस्तुतः सत्य नहीं है, किन्तु श्रीरामजीकी सत्यतासे सत्य भासित होती है।

"विषय करन सुर जीव समेता" से लेकर यहाँ तक तीन बातें दिखाईं। एक यह कि इन सबोंके सचेत करनेवाले श्रीरामजी हैं। दूसरे यह कि जगन्मात्रको प्रकाशित करने वाले (अर्थात् जिनके कारण हमें जगत् अनुभवमें आता है वह) भी श्रीरामजी ही हैं। तीसरे यह कि उनमें जो सत्यत्व भासता है वह भी श्रीरामजीके सत्यत्वसे ही भासता है। यथा "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।मुण्डक० २।२।१०।" जैसे 'रज्जु सर्प' के सचलन, भास, सत्यत्व आदि सब गुणधर्म उसके अधिष्ठान 'रज्जु' के ही हैं वैसे ही यह जगत् श्रीरामजीमें भासित होनेसे इस जगत्‌के चेतनत्व, भास और सत्यत्व सब गुणधर्म श्रीरामजीके ही हैं, यह बात उपर्युक्त प्रसंगसे जनाई है।

मा० पी० प्र० सं०—स्थूल शरीरकी सत्तासे नख और बाल बढ़ते हैं, यदि इन दोनोंको शरीरसे अलग कर दें तो स्थूल शरीरको किंचित् पीड़ा नहीं होती। इसी प्रकार ईश्वरकी सत्तासे जड़ मायामें सत्यकी प्रतीति होती है, उसके अलग हो जानेसे जीवको दुःख नहीं, वरन् सुख ही होता है। पुनः, जैसे चुम्बक पत्थरकी सहायतासे लोहा (जड़ वस्तु) चैतन्य (चलता हुआ) जान पड़ता है, वैसे ही माया मोहकी सहायतासे सत्य जान पड़ती है। (यह भाव अध्यात्म रामायणके आधारपर होगा। यह अद्वैत मत है)। अध्यात्म रामायण सर्ग १ में शिवजीके वचन इस प्रसंगपर ये हैं—"सर्वान्तरस्थोऽपि निगूढ आत्मा स्वमायया सृष्टमिदं विचष्टे। जगन्ति नित्यं परितोभ्रमन्ति यत्सन्निधौ चुम्बकलोहवद्धि॥ १८॥ एतन्नजानन्ति विमूढचित्ताः स्वाविद्यया संवृतमानसा ये। स्वाज्ञानमप्यात्मनि शुद्धबुद्धेस्त्वारोपयन्तीह निरस्तमाये॥ १९॥" अर्थात् प्रभु सब जीवोंके अन्दर बसे हैं, परन्तु बहुत गुप्त हैं, अपनी मायासे रचे हुये इस संसारको देख रहे हैं। जगत्

जड है तो भी उनके प्रभावसे नित्य ही इस प्रकार परिभ्रमण कर रहा है जैसे जड लोहा चुम्बक पत्थरके प्रभावसे। अर्थात् यह जो मायाका दृश्य है यह प्रभुकी सत्ताके कारण सत्यसा देख पडता है। ऐसा न जान कर अपने मनपर अविद्यामायाका आवरण डाले हुए मूर्ख लोग अपने अज्ञानको आत्मरूप, शुद्धबुद्ध, मायासे परे प्रभुमें आरोपण करते हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'जासु सत्यता तें जड माया' इति। आगे इसीको दृष्टान्त देकर दिखाते हैं। झूठी मायाके सबधसे रामजी न देख पडे, किन्तु असत्य मालूम हुए, यथा ' 'गगन घनपटल निहारी। झापेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥', 'मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म'। रामजी सत्य हैं, उनकी सत्यतासे झूठी माया सत्य जान पडी। (ख) जो असत्य और जड माया श्रीरामजीकी सत्तासे सत्य और चेतन भासती है—ऐसा कहनेसे यह पाया जाता कि सभीको माया सत्य प्रतीत होती है, इससे "मोह सहाया" पद दिया। भाव यह कि जिसको मोह है, उसीको माया सत्य भासती है, अन्यको नहीं। यथा "बदन हीन सो ग्रसइ चराचर पान करन जो जाहीं", "जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि। ७।१४२।' (मोह, अज्ञान, अविवेक पर्याय शब्द हैं। अविवेकी मनुष्य अपनेको देह समझकर देहके ही पालन पोषणमें लगा रहता है। यदि मोह न होता तो वह देहको जड, असत्य और अपनेको उससे भिन्न चेतन अमल सुखराशि जानता) जो मोहरहित ज्ञानी पुरुष हैं जैसे श्रीशुक-सनकादिकजी उनको तो वह असत्य ही देख समझ पडती है। (प्र० स०)। (ग) पुन, यहाँ श्रीरामचन्द्रजी और माया दोनोंका प्राबल्य दिखा रहे हैं। श्रीरामजीमें इतनी सत्ता है कि असत्यको सत्य प्रतीत करा देते हैं और मायामें इतनी असत्यता है कि ऐसे ईश्वरको असत्य कर देती है। देखिए, गरुडको मोहमें डाल दिया, यथा 'व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥ सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥ ।७।५८।' इसी तरह सतीजीको, यथा 'बहुरि राम-मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा।' (प्र० स०)।

वि० त्रि०—माया अघटित-घटना पटीयसी है। उसके अधीश बनकर सगुण हुए। मिथ्या माया जड है। उसमें प्रकाशन शक्ति नहीं है। परिच्छेदके अवभासको अनात्माभास कहते हैं, वही अविद्या, जड शक्ति, शून्य या प्रकृति कहलाता है। ब्रह्म चेतन है, उसकी सत्यतासे जड माया (ससार), मोह (अज्ञान) की सहायतासे सत्य भी मालूम होती है। भाव यह कि श्रीरामजीमें जो 'बिरह बिकलतादि' तुमने देखा वह माया थी, सत्य नहीं था। जब रामजीमें सारा ससार, बिना हुए दिखाई पडता है तो उतना बिरह बिकलतादिका बिना हुए दिखाई पडना कौनसी बडी बात थी। तुम्हारे अज्ञानकी सहायतासे वह सब सत्य दिखाई पड़ा।

दोहा—रजत सीप महु भास जिमि जथा भानुकरबारि।
जदपि मृषा तिहु काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि॥११७॥

शब्दार्थ—रजत = चाँदी। भास (स०) = भासती है = चमकती है, प्रतीत होती है। भास (सज्ञा) = प्रतीति। भानुकर = भानु (सूर्य) कर (किरण)। भानुकर बारि—१।४३।८ 'तृषित निरखि रबिकर भव बारी।...' में देखिए। मृषा = अयथार्थ ज्ञानका विषय, धोखा देनेवाला। टारना हटाना।

अर्थ—जैसे सीपमें (व्यवहारात्मिका) रजतका भास और जैसे सूर्यकिरणमें (व्यवहारात्मक) जलका भास, यद्यपि ये (व्यवहारात्मिक रजत और व्यवहारात्मक जल दोनों) तीनों कालों (भूत, भविष्य, वर्तमान) में मिथ्या हैं (तथापि) इस 'भ्रम' को कोई हटा नहीं सकता। (भाव कि भ्रम हो जाता ही है)॥११७॥

टिप्पणी—१ जैसे सीपमें चाँदीका भास होता है और सूर्यकिरणमें जलका, वैसे ही श्रीरामजीकी सत्यतामें माया सत्य भासती है। (पिछली चौपाई 'जासु सत्यता ते जड माया। भास सत्य इव मोह

सहाया।' मे जो कहा उसीका दृष्टान्त इस दोहेमे दे रहे है। वहाँ मायाका स्वरूप कहा, यहाँ उसका दृष्टांत दिया)। सीप सत्य है, (उसमे) चादी (का भास) झूठ है। सूर्यकिरण सत्य है, (उसमे) जल (का भास) झूठ है। ऐसे ही श्रीरामजी सत्य है, माया झूठी है।

२ यहाँ दो दृष्टान्त दिये है—सीपमे चाँदीका भ्रम और रविकिरणमे जलका भ्रम। दो दृष्टान्त इस लिये दिये कि श्रीरामजीके दो रूप है, एक निर्गुण दूसरा सगुण। (इन्हीं दो का प्रसग यहाँ चला जा रहा है)। दो रूप, यथा 'जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुनप्रेरक सही'। सगुण स्थूल है, इससे सगुण रूपके दृष्टातमे 'सीप' को कहा, क्योंकि 'सीप' स्थूल है। निर्गुणरूप सूक्ष्म है उसके लिये रविकिरणका दृष्टान्त दिया, क्योंकि सूर्यकिरण भी सूक्ष्म है। अथवा, जो दृष्टान्त मायाके लिये दिया, वही आगे जगत्के लिये देते है, इसीसे यहाँ दो दृष्टान्त दिये—एक मायाके लिये, दूसरा जगत्के लिये। [पुन ऐसा भी कह सकते है कि रज्जुसर्प अँधेरेका दृष्टान्त है और रजत-सीप तथा मृगजल पूर्ण प्रकाशके दृष्टान्त है जिनमेसे एक निकटका और दूसरा दूरका है]

नोट—१ समन्वय सिद्धान्तानुसार 'मृषा' शब्दका अर्थ 'अयथार्थ ज्ञानका विषय, धोखा देनेवाला, परिवर्तनशील' इत्यादि ही माना जाता है, जैसा कि 'झूठेउ सत्य' की व्याख्यामे लिख आए है। 'तिहुँ काल' का भाव कि यह आजहीका ऐसा नहीं है, भूतकालमे भी ऐसा ही था और आगे भी ऐसा ही 'मृषा' रहेगा। 'भ्रम न सकइ कोउ टारि' का भाव कि यह जानतेहुए भी कि शुक्ति रजत और मृगजल सदा ऐसाही धोखा देते है तब भी इनके धोखेमे लोग आ जाते है। 'जदपि' कहकर इसमे यह विलक्षणता दिखाई।

इस सिद्धान्तानुसार शुक्ति रजत और मृगजल दोनों है और सदा अपने अधिष्ठानमे, अर्थात् रजत शुक्तिमे और जल सूर्यकिरणमें, स्थित है। इसका समर्थन 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजग बिनु रजु पहिचाने। ११२।१।' मे किया जा चुका है। एक समाधान और यह भी है कि नैयायिकोंने चादीको तेज माना है और शुक्ति पृथ्वीतत्त्व है। पंचीकरणके अनुसार पृथ्वीमे तेजका अष्टमाश है। अत शुक्तिमेके पृथ्वीतत्त्वका अश आच्छादित होनेसे उसमें स्थित तेजसतत्त्वका अनुभव होता है। तब उसमे चाँदीका भास होता है। इसी प्रकार सूर्यकिरण तेज है और पचीकरणानुसार तेजमे जलतत्त्वका अष्टमाश है। जब तेजसतत्त्वका आच्छादन होता है तब किरणोंमे जलतत्त्वका भास होता है। [श्रीरामानुजाचार्यस्वामी, स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी और श्रीप्रभाकरजी आदि वेदवेत्ताओंका यह निश्चित सिद्धात है कि सम्पूर्ण ज्ञान सत्य है—'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदाविदा मतम्।' (श्रीभाष्य), और श्रुति स्मृतियोंमे भी त्रिवृत्करण, पंचीकरण और सप्तीकरण आदिसे सीपमे रजतकी तथा रविकिरणमे जलकी नित्य सत्यता समझाई गई है। रज्जुमे सर्पका, सीपमे रजतका तथा रविकिरणमे जलका भ्रम उसकी स्वल्पसत्ताका प्रत्यायक है। जहाँपर जिसकी सत्ता स्वल्पमात्र भी नहीं रहती, वहा उसका भ्रम नहीं होता। जैसे सीपकेही पृष्ठ भाग पर अथवा तमाल-पत्रादिमे रजतका भान नहीं होता क्योंकि वहाँ रजतकी स्वल्प सत्ता भी नहीं है। (वे० भू०)]।

इस पर यह शका हो सकती है कि इस सिद्धातके अनुसार जब शुक्तिमे रजत और सूर्यकिरणमे जल सूक्ष्मरूपसे है ही तब उसके ज्ञानको 'भ्रम' क्यों कहा गया ? इसका समाधान यह है कि उसके ज्ञानको यहाँ 'भ्रम' नहीं कहा गया, किन्तु वह वस्तुत 'मृषा' अर्थात् अयथार्थ ज्ञानका विषय, अस्थिर और परिवर्तनशील है तथापि हम उसे यथार्थ ज्ञानका विषय, स्थिर और परिवर्तनरहित समझते है, यही 'भ्रम' है।

☞ २ बाबा जयरामदासजी—"जासु सत्यता ते जड माया " यह चौपाई अद्वैतमतके समर्थनमे उद्धृत की जाती है। यहाँ यह कहा जाता है कि मायाको असत्य कहा गया है, अत यह अद्वैतवाद है। परन्तु इसके ऊपरकी चौपाई देखिये—"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुनधामू।" इसमे श्रीरामजीको मायाधीश कहकर स्पष्ट मायावाद सूचित किया गया है तथा जगत् शब्द जड मायाके पर्यायवाची शब्दके

रूपमें व्यवहृत हुआ है। दोहेके नीचेकी चौपाई 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।' में भी जगत्का भासनाही असत्य कहा गया है; क्योंकि यहाँ भी वही स्वप्नकी उपमा दी गई है; यथा "जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई।" और इस भ्रम का हटना सिवा रामकृपाके और किसी साधनसे सम्भव नहीं है—'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।' यद्यपि यह भ्रम तीनों कालमें मिथ्या है, अर्थात् यह जगत् तीनों कालमें रामरूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, फिर भी उस भ्रमको कोईभी अपने पुरुषार्थसे हटानेमें समर्थ नहीं है जैसा कि "रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर-बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि।" इस दोहेमें कहा है। यहाँ 'रजत-सीप' की उपमासे 'विद्यामाया' और 'भानुकरबारि' की उपमासे अविद्यामायाको सूचित किया गया है; क्योंकि विद्यामाया—'एक रचइ जग गुन बस जाकें' दु:खद नहीं है, परन्तु वह नानारूप-जगत्को भासित कराकर, पर्दासा डालकर भ्रम उत्पन्न करती है और दूसरी अविद्यामाया मृगतृष्णाकी भाँति "मैं", "मोर", "तैं" 'तोर' बंधनवाली दुःखरूपा है, यथा 'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥'

इन दोनों प्रकारकी मायाओंसे युक्त जगत् न कभी पहले भूतकालमें ही रामरूपको छोड़कर वस्तुतः इस नानारूपमें था, न अब वर्तमानकालमें ही है और न आगे कभी भविष्यमें ही इसका यह नानात्व वास्तविक होगा; तीनों कालोंमें यह जगत् भगवत्स्वरूप ही सत्य है। इसीसे कहा गया है—'एहि बिधि जग' अर्थात् इस प्रकारका यह जगत् जो 'हरि आश्रित रहई' अर्थात् जिसके आश्रय केवल श्रीरामजी ही हैं, जिनका यह विश्वरूप है—"बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वास।" अतएव यहाँ भी माया या जगत्को मिथ्या न कहकर उसके नानात्व भ्रमको ही मिथ्या कहा गया है, जो भ्रम श्रीरामकृपासे ही मिटता है। भ्रम मिटनेपर जीवको यह संसार श्रीरामरूप भासने लगता है तथा वह भ्रमजनित दु:खसे मुक्त होकर सुखी हो जाता है। इस लिये यहाँ भी अद्वैतवादसे कोई सम्बन्ध नहीं है। (मानस रहस्य)।

३ वे० भू०—वेदान्तप्रकरणमें गोस्वामीजी 'असत्य' और 'जड़' शब्दोंको पर्य्यायवाची तथा 'सत्य' और 'चेतन' शब्दोंको पर्य्यायवाची मानते हैं *। यह निम्न चौपाई और विनयके पदसे स्पष्ट हो जाता है—'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।' अर्थात् जिस ब्रह्मकी चैतन्यतासे सहायक भूत अपने कार्य्य मोहके सहित जड़ माया भी चैतन्य भासित होती है, वह दयालु ब्रह्म रघुकुलावतीर्ण श्रीरामजी ही हैं। यदि यहाँ 'सत्य इव' का 'चैतन्य इव' अर्थ न किया जायगा तो 'जड़' शब्दकी कोई गतिही नहीं रह जाती। अतएव 'जड़' शब्दके साहचर्य्यसे मायामें सत्यका अर्थ चैतन्य और 'असत्य' का अर्थ जड़ मानना नितांत आवश्यक है।† मायाको मिथ्या माननेको तो ग्रंथकार ही विनयपत्रिका और कवितावलीमें

---

* परन्तु गोस्वामीजीने इस ग्रन्थमें श्रीरामजीको सत् (सत्य चित्) (चेतन) एक साथ ही अनेक बार कहा है। यथा 'व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥१।२३।६' 'राम सच्चिदानंद दिनेसा। १।११६।५।', 'सोइ सच्चिदानंदघन०। ७।२५।' इत्यादि। यदि सत्य और चेतन पर्याय होते तो क्या इस प्रकार एक साथ इनका प्रयोग हो सकता है? (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)।

† परन्तु इसपर शंका होती है कि—यहाँ जड़ शब्द एकबार और सत्य शब्द दो बार आया है अतः विशेष होनेसे सत्य शब्दके प्रतियोगितामें जड़का अर्थ मिथ्या क्यों न किया जाय? जैसा कि आगेके दोहा 'जदपि मृषा तिहुँ काल' में स्पष्ट कहाही है, इसी प्रकार अन्यत्रभी 'असत्य', मिथ्या आदि शब्दोंका प्रयोग किया ही है। वहाँ भी क्या ऐसी ही खींचातानी करके अर्थ किया जाय जो सर्वथा अनुचित है। (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)।

मना,कर रहे हैं। यथा 'जौं जग मृषा तापत्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखे ?‡ 'झूठो है झूठो है झूठो सदा जग सत कहत जे अंत लहा है। ताको सहै सठ संकट कोटिक काढत दंत करत हहा है। जानपनीको गुमान बडो तुलसीके बिचार गँवार महा है।' (क०)। अद्वैतसिद्धान्त प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक तीन सत्ताओंको मानता है। गोस्वामीजीने इनको कहीं भी स्पष्ट न लिखकर अद्वैत सिद्धांतोंको भ्रमात्मक माना है। यथा "कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै। तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपनु पहिचानै।" भाव यह है कि प्रकृतिको सत्य कहनेवाले साख्यवादको, असत्यमाननेवाले अद्वैतवादको और दोनों सिद्धांतोंको प्रबल माननेवाले द्वैताद्वैत (भेदाभेद) वादके सिद्धांतोंको भ्रमात्मक* कहते हुए परित्याग करनेके लिये बतलाया गया है।

कोई-कोई समझते हैं कि रजत-सीप आदि दृष्टान्त केवल अद्वैतवादियोंके ही हैं। ऐसा मानना सर्वथा भूल है क्योंकि इन्हीं दृष्टान्तोंको सभी दार्शनिकोंने अपने अपने पक्षके समर्थनमें अर्थान्तरसे दिया है।

इसी तरह रज्जु सर्प और भानुकरबारि आदिके दृष्टान्तोंको भी समझना चाहिए।

इस दोहे से अद्वैतवाद कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अध्यास तो बिना तीनके बन ही नहीं सकता। एक तो अधिष्ठान (आधार) जिसमें कि किसी दूसरी वस्तुका आरोप होता हो। दूसरा वह पदार्थ जिसकी कल्पना अधिष्ठानमें की जाय। तीसरा वह (अधिष्ठाता) जो कि अज्ञानसे दूसरेमें दूसरेका आरोप करे। जैसे कि दृष्टान्तमें १ अधिष्ठान=सीपि, रवि किरण और रज्जु आदि। २—कल्पित पदार्थ रजत, जल और सर्पादि। ३—अधिष्ठाता=कल्पना करनेवाला अज्ञानी व्यक्ति। क्योंकि सीपि, रविकिरण और रज्जु आदिको तो यह भाव हो ही नहीं सकता कि मुझमें चाँदी, जल और सर्पादिका आरोप हुआ है। इसी प्रकार चाँदी आदिको भी यह अनुमान नहीं हो सकता कि मैं सीपि आदिमें अध्यस्त हूँ। यह भास तो उसे होगा जो अधिष्ठान सीपी आदि तथा अध्यस्त रजत आदिसे सर्वथा भिन्न कोई एक तीसरा ही हो। इसी तरह,

‡ वस्तुतः यहाँ लोगोंका तर्क वितर्क है कि यदि जगको झूठ कहें तो दुःखका अनुभव किस प्रकार हो सकता है? इसके आगे कहते हैं कि—'कहि न जाइ मृगबारि सत्य भ्रमतें दुख होइ बिसेषें।' अर्थात् (सूर्यके किरणोंसे) जो मृगजलका भ्रम होता है उससे भी बहुत दुःख होता है, परन्तु उसको सत्य नहीं कहा जाता। अन्तमें 'तुलसीदास सब बिधि प्रपंच जग जदपि झूठि श्रुति गावै' इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंमें जगत्‌को झूठ कहा और अपने सिद्धांतकी श्रुतिकी सम्मति भी बताया। (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)।

* इस कथनसे तो प्रायः सब आचार्योंके सिद्धान्तोंको भ्रमात्मक कहना पडेगा, क्योंकि कुछ लोग (बौद्धादि) जगत्‌को असत्य मानते हैं, कुछ (विशिष्टाद्वैती, द्वैती तथा सर्वसाधारण लोग) इसको सत्य मानते हैं और कुछ (निम्बार्कादित्यानुयायी) सत्यासत्य मानते हैं। अतः उपर्युक्त कथनानुसार ये सब सिद्धांत भ्रमात्मक मानने पडेंगे। श्रीस्वामी शंकराचार्यजीके अनुयायी (अद्वैती) जगत्‌को न सत्य मानते हैं न असत्य, *किन्तु सदसद्विलक्षण अर्थात् अनिर्वचनीय मानते हैं, अतः गोस्वामीजीके विचारसे यही एक सिद्धांत* भ्रमरहित है, (ध्यान रहे कि अद्वैत मतमें मिथ्या, मृषा, असत्य आदि शब्दोंका तात्पर्य 'अनिर्वचनीय' ही है)। दूसरोंको क्या कहें खास गोस्वामीजीने ही अपने ग्रंथोंमें इन शब्दोंका प्रयोग विशेषरूपसे किया है जैसा कि अद्वैतीयोंको छोडकर अन्य कोई प्रायः नहीं करता, तो क्या गोस्वामीजी अपने ही कथनको भ्रम कहेंगे, मेरे विचारसे तो गोस्वामीजीके इस कथनका तात्पर्य यह है कि "जगत्‌के सत्य मिथ्याविषयक वादविवादसे जीवका उद्धार न होगा, अतः इस व्यर्थ झगडेको छोडकर आत्मज्ञान कर लेना चाहिये, इसीसे ही जीवका उद्धार होगा, (ध्यान रहे कि यहाँ पर 'सो आपनु पहिचानै' कहा है, अपनेको जाननेसे मोक्ष कहनेवाले अद्वैती ही हैं)। (प० रूपनारायण मिश्र)।

अधिष्ठानपदार्थ ब्रह्म १। अध्यस्त पदार्थ जगत् २। और अधिष्ठाता (अध्यास करनेवाला) अज्ञानी ३, होने चाहिये। विना इन तीनोंके अध्यासवाद वनही नहीं सकता। और जब तीनों नित्य (अनादि) होंगे तभी स्वामी शंकराचार्यजीके बतलाये "एवमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽयमध्यास" इस सिद्धान्तके अनुसार यह अध्यासवाद सिद्ध होगा। *

४ श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि "अपने स्थानमें चाँदी और जल सच्चे हैं। उसी सचाईसे सीपमें चाँदीकी प्रभा दिखाई देती है और रविकिरणमें जलकी। सीपमें चाँदीका प्रकाश मात्र है, स्थूल सीपही है, उसको चाँदी मानना भ्रम है, तथा रविकिरणमें जलका प्रकाशमात्र है, स्थूल किरण ही है, उसको जल मानना भ्रम है। वैसे ही संसारमें ईश्वरका प्रकाश मात्र है, स्थूल पंचभौतिक है यथा स्त्री पुत्र आदि यावत् देह व्यवहार है, उसको सत्य मानना भ्रम है। यद्यपि देह व्यवहार तीनों कालमें वृथा है तो भी उसमें सचाईका भ्रम मिटता नहीं।"

नोट—५ अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार दोहेका भाव यह है कि जगदुत्पत्तिके पूर्व यह जगत् नहीं था अथवा प्रलयके बाद नहीं रहेगा, यह बात सर्व साधारणकी बुद्धिमें आ जाती है परन्तु जब कि प्रत्यक्ष जगत्का अनुभव हो रहा है और उससे सुख दुःख प्राप्त होता है, अतः अनुभवकालमें तो यह अवश्य है, ऐसा ही सर्व साधारण लोग समझते हैं। परन्तु इस सिद्धान्तमें चराचर जगत् न तो प्रथम था, न इस समय है और न आगे होगा। गोस्वामीजी दो दृष्टान्त देकर इसी सिद्धांतका प्रतिपादन यहाँ कर रहे हैं।

रज्जुसर्पके दृष्टान्त पूर्व दिये गए। उसपर कदाचित् कहा जाय कि सर्प चेतन होनेसे हल्ला-गुल्ला करनेसे भाग गया होगा वस्तुतः यह सर्प ही था, रस्सी न थी, अतः रस्सीमें सर्पका भ्रम होना सिद्ध नहीं होता, अतएव शुक्ति (सीप) रजतका दृष्टान्त देते हैं। रजत समझकर जब उसको उठाया तब हाथमें सीप आई तब ध्यानमें आ जाता है कि जिसको हम रजत समझते थे वह रजत नहीं है, सीप है। अतः सिद्ध हुआ कि सीप अनुभवकालमें रजत न था, अब भी नहीं है। अतएव आगे भी नहीं होगा। इस प्रकार तीनों कालमें उसका मृषात्व सिद्ध हो गया।

कुछ दार्शनिक रज्जु सर्प, शुक्ति (सीप) रजत, और मृगजल आदिको सत्य अर्थात् तीनों कालोंमें विद्यमान मानते हैं, अतः गोस्वामीजी अपना मत स्पष्ट शब्दोंमें लिखते हैं कि ये तीनों कालोंमें मृषा हैं।

* वस्तुतः अद्वैत सिद्धान्तानुसार ब्रह्मको छोड़कर अन्य जीव अथवा जगत् कोई पदार्थ है ही नहीं परंतु यह बात पामर जीवोंके समझमें सहसा नहीं आती। अतः उनको समझानेके लिए शास्त्रमें कहा गया है कि जैसे रज्जुपर सर्प भासता है वैसाही ब्रह्मपर जगत् भासता है। तात्पर्य प्रातिभासिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता मानकर ही यह सब कथन है। पारमार्थिक सत्तामें तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वा 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि कथनको भी स्थान नहीं है, ठीक ही है जब कि ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं तब किसको किसका अध्यास होगा! परंतु यह तत्व न समझनेसे ही अनेक शंकाएँ उठती हैं। उनका समाधान भी किया जाता है जिसपर लोग और तर्क वितर्क करने लगते हैं, जैसे श्रीरामजीका श्रीजानकीजीसे कदापि वियोग नहीं होता तथापि लीलाके अनुसार दोनोंका वियोग, उससे दोनोंको शोक, पुनर्मिलन, फिर हर्ष इत्यादि पुराणादिमें वर्णित है, जिसको लेकर अज्ञानी जीव उसपर तर्क वितर्क करने लगते हैं, उन्हीं लोगोंके विषयमें बालकांडमें श्रीपार्वतीजीके प्रश्न पर दोहा ११४ से ११८ तक कहा गया है। मेरे विचारसे श्रीगोस्वामीजीने इस भक्तिप्रधान ग्रंथमें चरित्रको ही प्राधान्य दिया है तथापि अन्य विषय और दार्शनिक तत्व विचार भी यत्र तत्र संक्षेपसे दिये हैं, ऐसे स्थलोंपर अपने सम्प्रदायके सिद्धांतानुसार ग्रंथकी संगति लगाने भरका यत्न करना चाहिए, अन्य सिद्धान्तके खंडनमें समय न देना ही अच्छा। (पं० रूपनारायण मिश्र)।

प०, प० प्र०—'रजत सीप ' इति । इन दृष्टान्तोंसे जनाते हैं कि जगत्की प्रातिभासिक सत्ताका नाश जीवके अधीन नहीं है। व्यवहारकालमें व्यावहारिक सत्ताका नाश भी जीवके प्रयत्नसे नहीं होता है। भ्रमाधिष्ठान सीप और भानुकरको जान लेनेपर भी उस ज्ञानी की इन्द्रियोंको विशिष्ट परिस्थितिमें शुक्तिमें रजत और भानुकरमें जलका आभास तो होगा ही, पर वे त्रिकालमें सत्य नहीं हैं यह जाननेवाला उनसे सुखप्राप्तिकी आशा कभी करेगा ही नहीं। इस विश्वकी पारमार्थिक सत्यता सत्ता नहीं है। यह प्रपंच 'मोहमूल परमारथ नाहीं' यह लक्ष्मणगीतामें कहा ही है। जीवन्मुक्तावस्थामें भी विश्वकी प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ता नष्ट नहीं होती है। केवल निर्विकल्प समाधिअवस्थामें विश्व नहीं रह जाता।

दो दृष्टान्त साभिप्राय हैं। इन दो दृष्टान्तोंसे वेदान्ताद्वैतसंप्रदायके दो मतोंका दिग्दर्शन कराया है। शुक्तिका रजतमें शुक्तिका उपादान कारण है और सूर्यकिरणोंकी विशिष्ट परिस्थिति निमित्त कारण है। एक पक्ष मायाधिष्ठान ब्रह्मको निमित्त और मायाको उपादान कारण मानता है। जल बीचि, कनक कङ्कण दृष्टान्त भी इस मतके ही निदर्शक हैं। दूसरे दृष्टान्तमें भानुकर उपादान है और भूमिकी विशिष्ट परिस्थिति निमित्त कारण है। (यह दूसरा पक्ष है जो) ब्रह्मको उपादान और मायाको निमित्त मानता है। इन दो दृष्टान्तोंमें सूर्यस्थानीय ब्रह्म है, एकमें सूर्य उपादान है और एकमें निमित्त। भागवतटीकाकार श्रीधर ब्रह्मको उपादान और मायाको निमित्त मानते हैं तथा बहुतसे ज्ञानासक्तभक्तमार्गीय केवलाद्वैती सन्तोंका भी यही मत है। शङ्करानन्दादि ब्रह्मको निमित्त और मायाको उपादान मानते हैं। पर दोनोंमें अभेद होनेसे कोई हानि नहीं है। ब्रह्मको उपादान माननेवाले परिणामवादका अंगीकार नहीं करते।—देखिए श्रीमद्भागवतकी वेदस्तुति 'न घटत उद्भव प्रकृतिपुरुषयोरजयो । भा० १०।८७।३१।' की श्रीधरी टीका।

वि० त्रि०—सीपमें रजत तीन कालमें असत्य है। सीपीकी सत्यतासे उसमें सत्यताकी प्रतीति होती है। सीपीका इदमंश रजतमें प्रतीत होता है, और सीपीका नील पृष्ठ त्रिकोणाविरूप तिरोहित रहता है। इसी भाँति परमात्मामें इस मिथ्या जगत्की प्रतीति होती है। असग आनन्दादि गुण तिरोहित हो जाते हैं, और रजतकी भाँति जगत् भासित होने लगता है। यह हुआ मन्द अंधकारका भ्रम। अब प्रकाशका भ्रम कहते हैं। जेठकी दुपहरियामें जलका भ्रम होता है। वह जल तीनों कालोंमें असत्य है, पर दिखलाई पड़ता है। ज्ञानसे भ्रमकी निवृत्तिमात्र होती है, संसार-दर्शनकी निवृत्ति नहीं होती, वह तो उसी भाँति भासित होता रहता है। 'भ्रम न सकै कोउ टारि' का यही अभिप्राय है कि असत्य प्रतीतिके बाद भी उसका दिखाई देना नहीं बन्द होता। उसी भ्रमको कोई टाल नहीं सकता। संसार-भ्रम क्या टलेगा?

टिप्पणी—३ (क) "तिहुँ काल" का भाव कि श्रीरामजी तीनों कालोंमें हैं, *माया उनके आश्रित है,* इससे वह भी तीनों कालोंमें है। यथा 'विधि प्रपञ्च अस अचल अनादी।' (ख) 'भ्रम न सकै कोउ टारि'—मृषा होते हुये भी सत्य ऐसा भासती है इस भ्रमको कोई हटा नहीं सकता। अर्थात् भ्रमको दूरकर मायाको छोड़ देना शक्तिसे बाहर है, यथा 'सो दासी रघुबीरकी समुझें मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि।' ☞ छूट नहीं सकती तब आखिर जनक, शुकदेव आदि मायासे छूटे कैसे? अपनी शक्तिसे नहीं, किंतु रामकृपासे। रामकृपासे ही यह भ्रम मिटता है यही आगे कहते हैं,—'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।' पुन, [(ग) यहाँ 'कोउ' का अर्थ है स्वयं वह अथवा दूसरा कोई अथवा जिस अधिष्ठानपर भ्रम हुआ है जबतक उसका ज्ञान नहीं होगा तबतक कोई नहीं टाल सकता। इसीसे श्रीरामजीको जाने बिना उनमें जो जगत्का भास होता है उसे कोई टाल नहीं सकता। (घ) 'कोउ न सकै' का यह भी एक भाव है कि टारने का प्रयत्न तो बहुत करते हैं, योग, जप, तप, यज्ञ आदि अनेक साधन करते हैं, परन्तु इनके द्वारा छूटना तो दूर रहा और अधिक भ्रममें फँसता जाता है]

नोट—६ पंजाबीजी लिखते हैं कि "सीपमें चाँदी सीपके अज्ञान (ज्ञान न होने) से और रेतका

ज्ञान न होनेसे रविकिरणके विषय मृगतृष्णाका जल दृष्टिमें आता है। ये कल्पित पदार्थ असत्य हैं, पर उस समय असत्य नहीं भासते", इसीसे 'न सके कोउ टारि' कहा।

एहि बिधि जग हरि आश्रित[१] रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥१॥
जौं सपनें सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई ॥२॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥३॥

शब्दार्थ—आश्रित – ठहरा हुआ, सहारे पर टिका हुआ, अधीन।

अर्थ—इसी प्रकार जगत् भगवान्‌के आश्रित रहता है, यद्यपि वह असत्य (परिवर्तनशील) है तोभी दुःख देता है ॥ १ ॥ जैसे, यदि स्वप्नमें कोई सिर काटे तो बिना जागे उसका दुःख दूर नहीं होता ॥ २ ॥ हे गिरिजे! जिसकी कृपासे ऐसा भ्रम मिट जाता है वही कृपाल श्रीरघुनाथजी हैं ॥३॥

नोट—१ (क) दोहा ११७ (८) 'जासु सत्यता तें जड माया।...' में मायाका स्वरूप कहा और यहाँ ११८ (१) में जगत्‌का स्वरूप बताया। इन दोनोंके बीचमें दोहा ११७ 'रजत सीप...' को देकर दोहेको दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर सूचित किया। अर्थात् माया और जगत् दोनोंका एक ही स्वरूप है यह जनाया। (ख) 'एहि बिधि' अर्थात् जिस विधि सीपीके आश्रित चाँदी और रविकिरणके आश्रित जल इसी प्रकार हरिके आश्रित जगत् है। अर्थात् उनकी सत्तासे जगत् सत्य (अपरिणामी) प्रतीत होता है। (ग) 'एहि बिधि...' का तात्पर्य यह है कि शुक्ति रजत और मृगजल शुक्ति और सूर्यकिरणके आधारपर ही भासते हैं। वैसे ही जगत् भी श्रीरामजीके आधार पर भासता है। 'एहि बिधि' से इन्हीं दोका बोध होता है न कि मायाका। मायाका स्वतन्त्र अनुभव है नहीं, जगत् आदि कार्यरूपसे ही उसका अनुभव होता है। अतः दोनोंमें अभेद मानकर ही यत्र-तत्र इन शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। (घ) 'एहि बिधि' से जाना गया कि जैसे शुक्तिरजत, मृगजल, रज्जुसर्प आदि तीनों कालमें नहीं हैं वैसे ही जगत् पहले नहीं था, अभी नहीं है और न आगे रहेगा। इसपर यदि कोई कहे कि 'जब यह असत्यही है तो फिर उसकी चिंताकी क्या आवश्यकता, उससे कोई हानि नहीं होगी?' तो उस पर कहते हैं कि यद्यपि यह असत्य है तथापि दुःख देता है, अतः उसके (भ्रमके) निवृत्तिका उपाय करना चाहिए। यहाँ शंका हो सकती है कि 'ब्रह्म सत्य है तब उसका आश्रित जगत् असत्य कैसे हो सकता है?' समाधान—जैसे ब्रह्म चेतन है परंतु उसका आश्रित जगत् जड है। ब्रह्म आनंदघन है परन्तु जगत् दुःखदाई है, वैसे ही सत्य ब्रह्मका आश्रित जगत् असत्य हो सकता है।

टिप्पणी—१ (क) 'एहि बिधि' अर्थात् जैसे माया हरिके आश्रित है वैसे ही जगत् भी हरिके आश्रित है। (ख) जो दृष्टान्त मायाके सम्बन्धमें दिया वही दृष्टान्त जगत्‌में देनेका तात्पर्य यह है कि माया और जगत् दोनों एक हैं। माया जगतकी उपादान कारण है, कार्य्य और कारण अभिन्न हैं जैसे मृत्तिका और घट*। भगवान्‌ने स्वयं कहा है 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।' जगत् मायामय है। (ग) 'जदपि असत्य देत दुख अहई'। 'यद्यपि असत्य है तो भी दुःख देता है' यह सत्य है, तब शंका होती है कि असत्यका दुःख देना कैसे सत्य माना जाय? इसी पर शंकानिवारणार्थ दृष्टान्त देते हैं—'जौं सपनें सिर काटै कोई०'। ☞ यहाँ दिखाया कि माया और जगत्‌का स्वरूप एक ही है। माया असत्य है—'जदपि मृषा तिहु०', जगत् असत्य है—'जदपि असत्य०', माया हरिके आश्रित,—'जासु सत्यता

१ आस्रत—१६६१। * मायाको जगत्‌का उपादान कारण मानना सांख्यका मत है। अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैतादि ब्रह्मको ही उपादान कारण मानते हैं।

ते जड़ ', जग हरि आश्रित—'एहि विधि जग०', माया भ्रमरूप है,—'भ्रम न सकै कोउ टारि', जगत् भ्रमरूप,—'जासु कृपा अस भ्रम'।

२ "अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते। रूप्यंशुक्तौ फणीरज्जौ वारि सूर्यकरे यथा॥ इति अष्टावक्रवेदान्ते" अष्टावक्रजी कहते हैं कि हमको अज्ञानके कारण यह जगत् सीपमें चाँदी, सूर्यकिरणमें जल और रस्सीमें सर्पकी नाईं भासता है। यही तीनों दृष्टान्त गोस्वामीजीने भी दिये हैं, परन्तु युक्तिके साथ। जहाँ जैसा चाहिए वहाँ वैसा कहा, एक ही ठौर तीनों दृष्टान्त न कहे। यह तुलसीकी विलक्षणता है। तीनों दृष्टान्त यथा 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजग बिनु रजु पहिचाने' (१), 'रजत सीप महँ भास जिमि' (२), जथा भानुकर बारि' (३)। गोस्वामीजीने पूर्व सर्पको 'जग' के साथ दोनोंका भयावन धर्म लेकर कहा। भाव यह कि जैसे सर्प भयावन है, उसके डसनेसे लहरें आती हैं, मृत्यु होती है, वैसे ही जगत् भयावन है, उसको सत्य जानना ही उसका डसना है जिससे पुनर्जन्म मरण होता है। और यहाँ 'रजत सीप०' इस दोहेमें सीपमें चाँदी और मृगवारिमें जल इन्हीं दोका प्रयोजन था जैसा कि दोहा ११७ की टिप्पणी १ में लिखा गया।

३ श्रीगोस्वामीजीने दोनों प्रचलित मतोंको यहाँ दिया है। किसीके मतसे माया और जगत् हैं। उनके मतके अनुकूल कहते हैं कि 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू'। अर्थात् जगत् है तभी तो जगत्को प्रकाशित करते हैं। तथा 'मायाधीस ज्ञानगुनधामू' से दिखाया कि माया है तभी तो मायाके अधीश हैं। पुनः, किसीके मतसे न माया है न जगत। यथा 'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोहसहाया॥' 'रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।०', 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत०'। सीपमें चाँदी नहीं है, सूर्यकी किरणमें जल नहीं है, ऐसे ही माया और जगत् भी नहीं है।

वे० भू० जी—रजतादिका दृष्टान्त देकर 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई' पदसे जग और ब्रह्मका शरीर-शरीरी भावसे अपृथक्सिद्ध संबंध दिखलाया है। क्योंकि श्रुतिस्मृतिका मतव्य जगत् और ब्रह्मके शरीर शरीरी भावमें है। यथा 'यस्य पृथिवी शरीरं', 'यस्य मा शरीरमिति श्रुतिः', 'जगत्सर्वं शरीरं ते' इत्यादि।

टिप्पणी—४ (क) 'जौं सपने सिर काटै कोई।०'। अर्थात् जगत् स्वप्न है,—'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना'। ससारी दुःख स्वप्नका दुःख है जो जागनेसे ही जाता है। यथा 'सपने के दोष दुख जागे ही पै जाहि रे।' (विनय)। हरिका जाननाही जागना है, यथा 'जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई'। (ख) जासुकृपा अस भ्रम मिटि जाई'।—'अस' अर्थात् जैसे जागनेसे स्वप्न भ्रम मिट जाता है उसी प्रकार। पुनः, अस अर्थात् जो किसीके टाले न टल सका था, यथा 'भ्रम न सकै कोउ टारि', वह भ्रम (मिट गया)। भाव यह है कि भ्रमका मेटना/मिटाना क्रियासाध्य नहीं है वरन् कृपासाध्य है। स्वप्नका भ्रम जागनेसे जाता रहता है। मोह निशामें सोये हुओंको रामकृपा जगाती है, यथा विनये 'जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव०'। मूढ़ताका त्याग और श्रीहरिपदमें अनुराग करना ही जागना है, यह रामकृपासे ही होता है। सोतेमें अपना दुःख दूर करनेका सामर्थ्य जीवमें नहीं है, (वह किसीके जगानेसे ही जागता है। जैसे सोतेमें बर्राते हुए सुनकर लोग सोए हुएको सावधान कर देते हैं कि क्या है? क्या बर्रा रहे हो? यही बात यहा बताते हैं कि 'जासु कृपा०' अर्थात् इस ससाररूपी रात्रिमें सोये हुए जीवको श्रीरामजीकी कृपा जगाती है।) रामकृपासे दुःख दूर होता है। और कोई भ्रम टाल भी नहीं सकता, रामजीकी कृपासे भ्रम मिट जाता है। (ग) 'सोइ कृपाल रघुराई'। जगत्का भ्रम कृपा करके मेटते हैं अतः कृपाल कहा। पुनः कृपालका भाव कि कृपा करके रघुराई हुए, अवतारका हेतु कृपा ही है—'मुख्य तस्य हि कारुण्य'। (कृपा न करते तो रघुकुलमें अवतार ही क्यों लेते? नास्तिकोंका उपहास क्यों सहते?)।

वि० त्रि०—ऊपर सीपमें रजत और भानुकरमें वारिके रहनेकी विधि कह आए कि उनकी भ्रान्तिमात्र होती है। इसी भाँति हरिमें जगत्के होनेकी भ्रान्तिमात्र है, वस्तुतः जगत् कुछ हुआ नहीं, भ्रान्तिमात्र है, मिथ्या है, फिर भी यह दुःख देता रहता है। उदाहरण देते हैं कि जैसे कोई स्वप्नमें सिर काटे। सिर तो वस्तुतः सुरक्षित है, सिरका काटना बिल्कुल झूठ है, पर स्वप्न देखनेवाला सिरके कटनेकी पीड़ा और मरनेका दुःख ठीक ठीक अनुभव करता है। उसे उस दुःखसे कोई छुटा नहीं सकता। उसको दुःखसे बचा देनेका एकमात्र उपाय उसका जागना है। जागनेसे ही उसका भ्रम मिट सकता है। स्वप्नके विकल्पमें केवल मन ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप होकर विचित्रतासे भासता है। इसी प्रकार शुद्ध संवित् भी विचित्राकारसे भासती है। 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। ११७। ७।' से 'गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई। ११८। ३।' तक श्रीशिवजीने शारदाकी ओरसे कहा।

नोट—७ (क) 'कृपा' अर्थात् एकमात्र हम ही समस्त जीवोंकी रक्षाको समर्थ हैं, जीवकी सामर्थ्य नहीं है कि वह अपना दुःख दूर कर सके, यह सामर्थ्यका अनुसंधान कृपा है। यथा 'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसंधान कृपा सा पारमेश्वरी।'—(वै०)। (ख) 'जासु कृपा', यथा 'सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि', 'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥' (ग) जागना कृपासाध्य है तो कृपा कैसे हो? इसका उत्तर यह है कि "मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।" छल छोड़कर भजन करनेसे प्रभु कृपा करते हैं, इसका उदाहरण इसी ग्रन्थमें ठौर-ठौर मिलेगा, यथा "मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुर जूथा", जब इस प्रकार ब्रह्मादिक प्रभुके शरण गए तब तुरत कृपा हुई, यथा 'गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह' (१८६), प्रभुने दुःखकी निवृत्तिका उपाय कर दिया।

रू०ना० मिश्र—अद्वैत सिद्धान्तानुसार भाव यह है कि यहाँ असत्य होते हुये भी जगत् दुःख देता है इसका उदाहरण देते हैं "जौं सपने सिर काटै कोई ।"। अद्वैतमतानुसार जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है। स्वप्नमें देखे हुये सब पदार्थ मिथ्या होनेपर भी सुख दुःख देते हैं वैसे ही जगत् मिथ्या होनेपर भी सुख दुःख देता है, यथा "तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्॥ भा० १०।१४।२२।" अर्थात् यह अशेष जगत् असद्रूप, स्वप्नवत् अत्यंत दुःखद है। पुनश्च, "शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया। स्वप्नो यथात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी॥भा० ११।११।२।" अर्थात् इस जीवको मायासे शोक, मोह, सुखदुःख और देहप्राप्ति इत्यादि संसृतिका भास होता है, वह वास्तविक नहीं है जैसे कि स्वप्न।

यहाँ 'जासु सत्यता ते जड माया' से 'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई' तक ग्रंथमें परब्रह्म श्रीरामजी को सत्य तथा जगत्को मृगजल, शुक्तिरजत, स्वप्नवत् मिथ्या कहा है। इसी प्रकार इस ग्रंथमें तथा विनय पत्रिकामें परब्रह्म श्रीरामजीको सच्चिदानंदरूप एक, अनीह, अज, निर्गुण, निर्विकार, निराकार इत्यादि तथा जगत्को रज्जुसर्पादिवत् मिथ्या अनेक स्थलोंमें कहा है, इससे यही सिद्ध होता है कि श्रीगोस्वामीजी अद्वैत सिद्धांतके अनुयायी हैं, क्योंकि उपनिषद्, श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराण आदि सर्वमान्य प्राचीन ग्रन्थोंमें इस प्रकारका वर्णन मिलता है जिसको सर्व साम्प्रदायिक अपने अपने सिद्धांतानुसार किसी न किसी प्रकार लगा लेते हैं परंतु निजी साम्प्रदायिक ग्रंथमें इस प्रकारका वर्णन अद्वैतानुयायियोंके ग्रंथोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता है।

श्रीगोस्वामीजी किस सम्प्रदायके हैं यह तो इतिहासज्ञ लोग सिद्ध करें परंतु उनके ग्रंथकी शैली सगुणोपासक अद्वैतियोंके समान है* इतनी बात निर्विवाद है और "वचस्येकं मनस्येकं कायमेकं महात्मनाम्"

* श्रीगोस्वामीजी विशिष्टाद्वैती होते हुए उन्होंने अद्वैतियोंकासा प्रतिपादन क्यों किया इसका कुछ समाधान इस ग्रंथके प्रारंभमें "नये संस्करणका परिचय" में देखिए।

इस वचनके अनुसार जैसा वे प्रतिपादन करते हैं वैसा ही उनका मत है यह भी सिद्ध ही है।

इसपर शंका हो सकती है कि अद्वैती तो निर्गुण ब्रह्मको ही माननेवाले हैं। वे तो "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ही ब्रह्म हूँ, यही कहनेवाले हैं। वे सगुणोपासना और भक्तिमार्ग क्या जानें? इसका समाधान यह है कि—अद्वैत मतानुयायियोंमें दो भेद हैं, एक ज्ञान प्रधान और दूसरा भक्तिप्रधान। इनमें पहले भक्तिमार्गको मानते हुए भी तत्त्वविचार, आत्मचिंतनमें विशेष निमग्न रहते हैं और दूसरे ब्रह्मको निर्गुण निर्विकार आदि मानते हुए भी सगुण रूपके सेवा पूजा आदि भक्तिमार्गमें निमग्न रहते हैं। इन दो मार्गोंमें प्रथममार्ग विशेष कठिन है, दूसरा उसकी अपेक्षा कुछ सुलभ है, अतः प्रथम मार्गके अनुयायी थोड़े हैं और दूसरे मार्गके अनुयायी विशेष हैं। गोस्वामीजीने अपने ग्रंथोंमें दोनों मार्गोंका प्रतिपादन समान भावसे किया है तथा दोनों मार्गके अनुयायी इसमें वर्णित हैं। इस चरित्र प्रधान ग्रन्थके अंतिम फलश्रुतिमें भी "रामचरनरति जो चह अथवा पद निर्वान" कहकर स्पष्टरूपसे दो फल बताये हैं। श्रीलोमशजी प्रथम पक्षके अनुयायी हैं और श्रीशिवजी, अगस्त्यजी, सुतीक्ष्णजी आदि दूसरे पक्षके अनुयायी हैं।

अद्वैतसिद्धान्तको माननेवाले सगुणोपासक किस प्रकार होते हैं इसका उदाहरण महाराष्ट्रिय संत हैं। श्रीज्ञानेश्वर महाराज, नामदेवजी, एकनाथमहाराज, तुकारामजी महाराज, समर्थ रामदासस्वामी आदि अनेक महात्मा कट्टर अद्वैती होते हुए कट्टर सगुणोपासक हो गए हैं, यह बात उनके ग्रंथोंसे सिद्ध होती है। किसीने यहाँ तक कह डाला है कि यथार्थ उपासक तो अद्वैती ही हो सकता है, अन्य लोग तो उपासनाकी नकल उतारते हैं। ठीक भी है। उपासक तो अपने इष्ट उपास्यको छोड़कर अन्यको जानताही नहीं, कहाँ तक कहें वह अपना तन, मन, धनकी कौन कहे स्वयं अपनेको उपास्यमें मिला देता है; जैसा कि अरण्यकांडमें अनुसूयाजीने श्रीकिशोरीजीसे कहा है कि उत्तम पतिव्रताको अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषका भान ही नहीं होता, ऐसे ही उस उपासकको स्थिति है, वह "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् यह जो सब अनुभवमें आता है वह सब मेरा उपास्य परब्रह्म परमात्मा ही है, 'अहं ब्रह्माऽस्मि' अर्थात् मैं जिसको 'अहम्' ऐसा कहता हूँ वह 'ब्रह्म' ही है, मैं वास्तविक कोई वस्तु नहीं हूँ। "देह-बुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः। तत्त्वबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः ॥" अर्थात् देह बुद्धिसे मैं आपका दास हूँ, जीव बुद्धिसे आपका अंश हूँ, परंतु तत्त्वविचारसे वास्तविक मैं तुही हूँ, यहाँपर 'एव' शब्द 'त्व' के साथ लगा है न कि 'अहम्' के साथ अर्थात् 'त्व' का प्राधान्य है। दूसरोंको क्या कहें, इस सिद्धान्तके आद्य उद्धारक शंकराचार्य 'अविनयमपनय विष्णो०' इत्यादि 'षट्पदी' में कहते हैं, 'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ॥' अर्थात् हे नाथ! यद्यपि (आपमें और मेरेमें वास्तविक कुछ) भेद नहीं है (तथापि द्वैत बुद्धिसे व्यवहार दशामें यही कहा जाय कि) आपसे 'मैं' हूँ, न कि मुझसे आप जैसे समुद्र और तरंगोंमें कुछ भेद नहीं है तथापि समुद्रसे तरङ्ग कहा जाता है तरङ्गोंसे समुद्र नहीं कहा जाता।

बड़े खेदकी बात है कि ऐसे महापुरुषको कुछ लोग 'मिथ्यावादी, मृषावादी' इत्यादि व्यंग्य कटु वचन (गुप्त गालियाँ) कहा करते हैं। सुना जाता है कि प्राचीन ग्रन्थोंमें कुछ लोगोंने अद्वैत खण्डनके समयमें इस प्रकार कहा है, यदि यह सत्य हो तो उन महापुरुषोंको क्या कहा जाय! हो सकता है कि अपने सिद्धांतके अभिनिवेशसे क्रोधावेशमें आकर मुखसे कुछ निकल गया हो जैसा कि श्रीरामजीके राज्याभिषेकमें विघ्न होनेसे क्रुद्ध होकर लक्ष्मणजीने अपने पिताको कटु वचन कहे हैं (अ० रामायण), परन्तु हम लोगोंको विशेषतः श्रीरामानन्दियोंको तो उसका अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिए, क्योंकि हमलोगोंके पूर्वाचार्य श्रीनाभास्वामीजीने अपने श्रीभक्तमालमें "कलिजुग धर्म पालक प्रगट आचारज सकर सुभट ।०' इत्यादि वर्णन किया है। गोस्वामीजीके ग्रन्थोंका माननेवालोंको तो विशेषरूपसे सावधान रहना चाहिए, क्योंकि इन्होंने तो जगत्को 'मिथ्या, मृषा, असत्य, झूठ आदि' कहनेकी झड़ी ही लगा दी है।

मुख्य तात्पर्य कहनेका यह है कि अद्वैतसिद्धान्तानुयायी होनेसे और जगत्‌को झूठ कहनेसे उपासनामें यत्किंचित् भी न्यूनता नहीं आती किन्तु विशेष लाभ ही है। अपने ऊपर अपना प्रेम तो सबका स्वभाव-सिद्ध है, 'मैं सदा रहूँ, मेरा नाश कभी न हो' यह सभी चाहते हैं, परन्तु मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह न जाननेसे देहादिको ही अपना स्वरूप मानकर अर्थात् यह देहादिक ही मैं हूँ ऐसा समझकर ही इनपर प्रेम करते हैं और रात दिन उसके लालन-पालनमें लगे रहते हैं परन्तु जब यह ज्ञान होगा कि यह "देह, इन्द्रियाँ, मन और चेतन जीवात्मा" मैं नहीं हूँ किन्तु परब्रह्म परमात्मा श्रीरामजी ही मेरा स्वरूप हैं तब देहादिकी आसक्ति, प्रेम आदि हटकर श्रीरामजीपर यह सब होगा और तदनुसार उन्हींका लालन, पालन आदि सब कुछ होगा।

इसी प्रकार जगत्‌को मिथ्या माननेसे लाभ ही है, क्योंकि जगत्‌को झूठ समझनेपर न तो उसपर आसक्ति रहेगी, न उसकी इच्छा होगी और न उसके प्राप्तिसे हर्ष तथा अभावसे दुःख होगा, इन सब विषयोंको दुःखदाई तो सबही मानते हैं, उसका त्याग तो अवश्य करना ही है, तब इसको सत्य माननेका व्यर्थ उपद्रव किसलिये किया जाय, सत्य माननेसे उसमें आसक्ति बढ़ेगी, मिथ्या माननेसे आसक्ति घटेगी और उसके त्यागसे कष्ट नहीं होगा, इस प्रकार अद्वैतियोंके इस सिद्धान्तमें भी लाभ ही है।

अद्वैती जो जगत्‌को मिथ्या कहते हैं इस *मिथ्या* शब्दका अर्थ है '*अनिर्वचनीय*' अर्थात् जिसका प्रतिपादन ठीकठीक नहीं हो सकता। नहीं कहो, तो अनुभवमें आता है, और है कहो, तो विचारनेपर हाथमें कुछ लगता नहीं। जैसा रज्जु-सर्प रज्जुके न जाननेसे अनुभवमें आया और समीप जाकर देखने लगे तो लापता हो गया, इसलिये इसको है या नहीं, कुछ कहा नहीं जाता, इसीको 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। ठीक भी है कि व्यासजी, जैमिनीजी, आदि षड्दर्शनाचार्य तथा श्रीस्वामी रामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान भी जिसके निर्वाचनमें सहमत होकर एक निर्णय न कर सके तो उसको 'अनिर्वचनीय' न कहा जाय तो और क्या कहा जाय वह तो 'अनिर्वचनीय' सिद्ध ही हुआ।

उपनिषद्, पुराण, आदिमें द्वैत और अद्वैत ये दो शब्द मिलते हैं। विशिष्टाद्वैतका नाम तक कहीं नहीं है, तथापि श्रीरामानुजाचार्यजीने सब श्रुतियोंका समन्वय करके एक सिद्धान्त सिद्ध किया और उसीका नाम 'विशिष्टाद्वैत' रक्खा है। (इसका अर्थ कोई यह न समझे कि यह सिद्धान्त आधुनिक है। ये सब सिद्धांत प्राचीन परंपरागत हैं, समयानुसार लुप्त हुए थे, तो इन आचार्योंने उनका जीर्णोद्धार किया है), ठीक ऐसे ही श्रीगोस्वामीजीने अपना क्या सिद्धान्त है यह कहीं स्पष्ट नहीं कहा, तथापि इस चरित्र ग्रंथमें निर्गुण परब्रह्मका वर्णन तथा जगन्मिथ्यात्व आदि अद्वैतियोंके खास विषयोंका वर्णन उन्होंने विशेष रूपसे किया है (*जिसकी यहाँ बिलकुल आवश्यकता नहीं थी*) इसीसे उनके विचारोंका अनुमान कोई भी निष्पक्षपातसे कर सकता है, मेरे विचारसे जो अद्वैती निर्गुणमतके नामपर उपासकोंको तुच्छ समझते हैं या विरोध करते हैं, और जो उपासनाके नामपर निर्गुण विचारको तुच्छ समझते हैं या विरोध करते हैं, उन दोनोंके लिए गोस्वामीजीने इस प्रकार एकत्र वर्णन किया है कि ये दोनों इसको पढ़े, मनन करें और परस्पर विरोध करना छोड़ दें।

जगन्मिथ्यात्व सिद्ध करनेके लिए 'रज्जु-सर्प, शुक्तिरजत, स्वप्न' आदि दृष्टान्त दिये जाते हैं, इसका कारण यह है कि—जब मनुष्यके अनुभवके विरुद्ध कोई बात कही जाती है तो उसके समझमें नहीं आती तब उसको समझानेके लिये उसके अनुभवमें आई हुई बातोंका दृष्टान्त दिया जाता है, तब उसके समझमें आता है।

जगत् वस्तुतः है नहीं तो अनुभवमें कैसे आता है ? यह समझानेके लिये ही रज्जुसर्पादिके दृष्टान्त दिए जाते हैं, इन दृष्टान्तोंको अपने सिद्धान्तानुकूल लगानेके लिये जगत्सत्यत्ववादी अनेक युक्तियाँ लगाते

हैं जैसे कि सर्प कभी देखा था उसीका यहाँ स्मरण हुआ, अथवा, लंबाकृति आदिरूपसे रज्जुमें सर्प सर्वदा रहताही है। पंचीकरणसे शुक्तिमें (पृथ्वीमें) चाँदी (तेज) सूक्ष्मरूपसे रहता है, रविकिरणों में जल रहताही है, स्वप्नमें ईश्वर सब पदार्थ उत्पन्न करते हैं, इत्यादि। क्या सर्वसाधारण लोगोंको समझानेपर भी वे इन युक्तियोंको समझ सकते हैं? यदि नहीं तो इन दृष्टान्तोंसे क्या लाभ? इसीसे तो जगत्सत्यत्ववादी इन दृष्टान्तोंको कभी नहीं देते (और उनको आवश्यकता भी क्या है? सर्वसाधारण लोग तो जगत्‌को सत्य मानते ही हैं। उनकोही दृष्टान्त देकर समझानेकी आवश्यकता ही नहीं)। गोस्वामीजीने इन दृष्टान्तोंकेद्वारा जगन्मिथ्यात्व अनेक बार सिद्ध किया है इससे भी उनके सिद्धान्तका अनुमान कोई भी कर सकता है। (प० रूपनारायण मिश्र)

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा ॥४॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना ॥५॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥६॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा ॥७॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहि बरनी ॥८॥

शब्दार्थ—अनुमानि-अनुमान करके, विचार करके। ☞ न्यायके अनुसार प्रमाणके चार भेदोंमें से एक 'अनुमान' भी है जिससे प्रत्यक्ष साधनके द्वारा अप्रत्यक्ष साध्यकी भावना हो। इसके भी तीन भेद हैं—पूर्ववत् वा केवलान्वयी, शेषवत् वा व्यतिरेकी (जिसमें कार्यको प्रत्यक्ष देखकर कारणका अनुमान किया जाय) और सामान्यतोदृष्ट वा अन्वयव्यतिरेकी (जिसमें नित्यके सामान्य व्यापारको देखकर विशेष व्यापारका अनुमान किया जाता है)। बकता (वक्ता) = बोलनेवाला, भाषण-पटु। जोगी योगी। = योग (कौशल) वाला अर्थात् योग्य। परस (सं० स्पर्श) छूनेकी क्रिया, छूना। यथा "दरस परस मज्जन अरु पाना। हरै पाप कह बेद पुराना। १।३५।" घ्राण (सं०) = नाक। बास (वास) - गंध, सुगंध, बू। असेषा=संपूर्ण। अलौकिक=इस लोकसे परे की, इस लोककी नहीं।-अप्राकृत दिव्य, अमायिक।=अद्‌भुत।

अर्थ—जिसका आदि और अन्त किसीने न पाया। वेदोंने बुद्धिमें अनुमान करके इस प्रकार (जैसा आगे लिखते हैं) गाया है ॥ ४ ॥ (कि वह) विना पैरके चलता है, विना कानके सुनता है, विना हाथके अनेक प्रकारके कर्म करता है ॥ ५ ॥ मुखके विनाही संपूर्ण रसोंका भोक्ता (भोग करने या आनंद लेनेवाला) है। वाणीके विनाही बड़ा योग्य वक्ता है ॥ ६ ॥ शरीरके विनाही (अर्थात् विना त्वक् इन्द्रिय, त्वचाके) स्पर्श करता और नेत्रोंके विनाही देखता है। नाकके विनाही संपूर्ण गंधको ग्रहण करता है (अर्थात् सूँघता है) ॥ ७ ॥ उस (ब्रह्म) की करनी सब प्रकारसे ऐसी 'अलौकिक' है (कि) जिसकी महिमा वर्णन नहीं की जा सकती ॥ ८ ॥

नोट—१ श्वेताश्वतरोपनिषद् तृतीयाध्यायमें इससे मिलती जुलती श्रुतियाँ ये हैं-"सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। १७। अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्। १९।" अर्थात् वे परमात्मा समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जानते हैं। १७। वे हाथों और पैरोंसे रहित होनेपर भी सब जगह समस्त वस्तुओंका ग्रहण करते हैं और वेगपूर्वक सर्वत्र गमन भी करते हैं। नेत्रके बिनाही देखते हैं, कानोंके विना सब कुछ सुनते हैं। वे समस्त जानने योग्य और जाननेमें आनेवाले समस्त पदार्थोंको भली भाँति जानते हैं, परन्तु उनको जाननेवाला कोई नहीं है। जो सबको जाननेवाला है, भला उसको कौन जान सकता है? उनके विषयमें महापुरुष कहते हैं कि वे सबके आदि, पुरातन, महान् पुरुष हैं। १९।

२ पद्मपुराण भूमिखंड अध्याय ८६ वेन-विष्णु-संवादान्तर्गत गुरुतीर्थ तथा च्यवनमहर्षि की तीर्थ-यात्राकथा-प्रसंगमे कुंजल (तोता)-उज्ज्वल सवादमे कुंजलने भगवान्का ध्यान इसी तरहका वर्णन किया है। यथा ('ध्यानं चैव प्रवक्ष्यामि द्विविधं तस्य चक्रिणः। केवलं ज्ञानरूपेण दृश्यते ज्ञानचक्षुषा। ६६। योगयुक्ता महात्मानः परमार्थपरायणाः। य पश्यन्ति यतीन्द्रास्ते सर्वज्ञं सर्वदर्शकम्।७०।) हस्तपादादिविहीनश्च सर्वत्र परिगच्छति। सर्वं गह्णाति त्रैलोक्यं स्थावरं जङ्गमं सुत। ७१। मुखनासाविहीनस्तु घ्राति भुङ्क्ते हि पुत्रक। अकर्णः शृणुते सर्वं सर्वसाक्षी जगत्पतिः। ७२। अरूपो रूपसम्पन्नः पञ्चवर्गसमन्वितः। सर्वलोकस्य यः प्राणः पूजितः सचराचरे। ७३। अजिह्वो वदते सर्वं वेदशास्त्रानुगं सुत। अत्वचः स्पर्शमेवापि सर्वेषामेव जायते। ७४। सदानन्दो विरक्तात्मा एकरूपो निराश्रयः। निर्जरो निर्ममो व्यापी सगुणो निर्गुणोऽमलः।७५।' अर्थात् (मैं चक्रधारी भगवान्का ध्यान कहता हूँ। वह दो प्रकार का है निराकार और साकार। निराकारका ध्यान ज्ञानरूपसे होता है, ज्ञाननेत्रसे ही वे देखे जाते हैं। योगी और परमार्थपरायण महात्मा तथा यतीन्द्र उन सर्वज्ञ सर्वद्रष्टाका साक्षात्कार करते हैं। ६६,७०। वे हस्तपादादि रहित होनेपर भी सवत्र जाते और समस्त चराचर त्रैलोक्यको ग्रहण करते हैं।७१। मुख और नासिका रहित होनेपर भी वे खाते और सूँघते हैं। विना कानके सुनते हैं। सबके साक्षी और जगत्पति हैं। ७२। रूपहीन होनेपर भी पचेन्द्रिययुक्त रूपवाले भी हैं। सर्वलोकोंके प्राण और चराचरसे पूजित हैं। ७३। जिह्वारहित होनेपर भी वे वेदशास्त्रानुकूल सब बातें बोलते भी हैं। त्वचारहित होनेपरभी सबोंका स्पर्श करते हैं।७४। वे सत् आनन्दस्वरूप, विरक्तात्मा, एकरूप, निराश्रय, जरा-ममता-रहित, सर्वव्यापक, सगुण, निर्गुण और विशुद्ध हैं। ७५।"

३—वैराग्यसंदीपिनी में गोस्वामीजीने यही विषय यों लिखा है—'सुनत लखत श्रुति नयन बिनु रसना बिनु रस लेत। बास नासिका बिनु लहइ परसइ बिना निकेत। ३।"

टिप्पणी—१ "आदि अंत कोउ जासु न पावा। ' " इति। (क) आदि और अत तन धारण करनेसे होता है, उसके तन नहीं है जैसा आगे कहते हैं—'तनु बिनु परस ''। [(ख) इस कथनका भाव यह है कि प्राकृत लोगोंका जन्म 'आदि' है और मरण 'अन्त' है और ये तो स्वतः भगवान् हैं, परात्पर ब्रह्म हैं, अतएव 'अनादि' हैं। स्मरण रहे कि अवतारमें जन्म नहीं होता, प्रभु प्रगट हो जाते हैं। (मा० पी० प्र० सं)। पुनः, 'आदि अत किसीने न पाया' का भाव कि सारी सृष्टि प्रभुसे ही उपन्न होती है और अन्तमे उन्हीं मे लीन हो जाती है, तात्पर्य कि सृष्टिके पूर्वभी एकमात्र प्रभुही थे और सृष्टिके अंतपर भी एकमात्र वे ही रह जाते हैं और कोई नहीं। तब बीचमें पैदा हुआ जीव उनका आदि अंत क्या जाने? सृष्टिके स्थिति-कालमें भी जीव जब ज्ञानका सब व्यवहार कर रहा है, उस अवस्थामें भी वह उनका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता। क्योंकि वह परिच्छिन्न है, अणु है, और प्रभु अपरिच्छिन्न तथा व्यापक हैं। अतः 'आदि··· पावा' कहा। (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि "श्रीरघुनाथजीका रूप कब और किससे हुआ, नाम कब किसने धरा, धाम कब किसने निर्माण किया और लीला कबसे आरंभ हुई इति 'आदि' और कबतक रहेंगे इति 'अत' किसीने भी न पाया।" (घ) मनुष्यकी बुद्धिमे सादि और सान्त पदार्थ ही आ सकते हैं, अनादि और अनन्तकी वह भावना नहीं कर सकता। जिसका आदि और अन्त हो उसीका वर्णन सम्भव है। (वि.त्रि.)]

२ (क) 'मति अनुमानि' इति। भाव कि वेद भी यथार्थ (नहीं जानते और न) कह सकते हैं, बुद्धि के अनुमानभर कहते हैं, क्योंकि आदि अंत कुछ है ही नहीं। (भाव यह है कि वेद अनादि हैं सो वे भी जिनका आदि और अन्त खोजते-खोजते हार गए तब अपनी बुद्धिसे अनुमान करके उन्होंने ऐसा कहा, तो फिर और लोग किस गिनतीमें हैं। इसी विचारसे यहाँ केवल वेदोंका नाम दिया और 'कोउ' शब्दसे शेष सब सृष्टिको जना दिया।)

नोट—४ रा० प्र० कार कहते हैं कि भाव यह है कि "वह जैसा है वैसा वेद भी नहीं जानते और

न कह सकते हैं। इसपर यदि कोई शंका करे कि "आदि अन्त नहीं तो जन्म, परधामगमन आदि तो सुना गया है, और जिनके हाथ पैर इत्यादि होते हैं उनका एक दिन अभाव भी है?" तो इसके निवारणार्थ कहते हैं कि उनका प्राकृत शरीर ही नहीं, तो जन्म और अन्त कैसे बनेगा—'चिदानंदमय देह तुम्हारी'। इसीको आगे कहते हैं—तीन चौपाइयोंमें प्राकृत इन्द्रिय, प्राकृत शरीर और प्राकृत करनी इत्यादि का निषेध करके फिर कहेंगे कि यह अप्राकृतिक है तथा उसकी इन्द्रियाँ कर्म इत्यादि भी अप्राकृत हैं।

५ "गावा"—बैजनाथजी लिखते हैं कि "जो बात निश्चय-पूर्वक जानी समझी न हो उसको समझाकर विस्तारसे कहना असम्भव है। इसलिए 'बखाना' 'वर्णन करना' इत्यादि शब्द न देकर 'गाना' शब्दका यहाँ प्रयोग किया, क्योंकि 'गान' में केवल भावार्थ ही दर्शित किया जाता है; पढ़ने सुननेवाला जैसा चाहे। समझ ले। इस प्रकार वक्ताकी भी मर्यादा बनी रह जाती है।" दोहा ४५ भी देखिए।

टिप्पणी—३ (क) 'बिनु पद चलै···' इति। यहाँसे भगवान्‌का वर्णन है। भगवान् पादके देवता हैं इसीसे 'पद' से वर्णन प्रारंभ किया। इन्द्रियके बिना इन्द्रियका विषय (भोग) कहते हैं यह ईश्वरकी ईश्वरता है। इन्द्रियके बिना इन्द्रियका विषय नहीं होता। इन्द्रियोंका विषय भी उनमें नहीं है, यह उनकी ईश्वरता है, जैसा आगे कहते हैं। यथा 'महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।' वे सब जीवोंकी इन्द्रियों और इन्द्रियोंके विषयको प्रकाशित करते हैं, यथा 'विषय करन सुर जीव समेता। सब कर परम प्रकासक जोई।' और आप स्वयं इन्द्रिय और उनके विषयसे रहित हैं। क्योंकि इन्द्रिय और उनके विषय माया हैं। (ख) 'तन बिनु परस ··· असेषा' यहाँ तक दश इन्द्रियोंमेंसे आठका विषय कहा, अश्लील समझकर गुदा और लिङ्गके विषय नहीं कहे।

४ 'असि सब भाँति अलौकिक करनी' इति। (क) 'सब भाँति'—पृथक्-पृथक् चरण, कर, नेत्र, नासिका और श्रवण आदिको कह आए। जिनके रूपको वेद पार नहीं पाते, जिसकी महिमाका वर्णन करना असंभव है; इस कथनका तात्पर्य यह है कि उनका रूप अनंत है उनकी महिमा अनंत है। यथा 'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा।' (ख) ऐसी अलौकिक करनी है। भाव कि जैसी करनी प्रभुमें है कि बिना इन्द्रियके सब कार्य करते हैं वैसी करनी त्रैलोक्यमें नहीं है, यह अलौकिकता है।

वि० त्रि०—योगी लोग आज भी ऐसे बहुतसे कार्य कर दिखाते हैं जिन्हें साधारण पुरुष विश्वास नहीं कर सकते। जिनकी प्रकृति जिस वस्तुके विश्वास करनेकी नहीं होती वह उस वस्तुका विश्वास नहीं कर सकता। 'आँखमें पट्टी बाँधकर पीठके द्वारा पुस्तक पढ़नेका कौतुक जिसने देखा है, वह बिना हाथके ग्रहण करनेपर, बिना पैरके चलनेपर, बिना आँखके देखनेपर, बिना कानके सुननेपर अविश्वास नहीं कर सकता, फिर जिन कामोंको योगिवर्य कर सकते हैं, उन्हें परमेश्वर जो नित्य योगी है, जो सर्वदा ऐश्वर्यशाली है, अवश्य कर सकते हैं, वे बिना पैरके चल सकते हैं, बिना हाथके ग्रहण कर सकते हैं, बिना कानके सुन सकते हैं, बिना आँखके देख सकते हैं, इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है। इसीसे 'बड़ योगी' अर्थात् महायोगी कहा है। लौकिक करणोंके वर्णनके लिये शब्द हैं, अलौकिक पदार्थके वर्णनके लिये शब्द नहीं मिलते। इसलिये जिस महाप्रभुकी करणी सब भाँतिसे अलौकिक है, उसकी महिमा नहीं वर्णन की जा सकती।

"आदि अंत···अलौकिक करनी" इति।

इन चौपाइयोंके जोड़की जो श्रुतियाँ नोट १ में श्वेताश्वतरोपनिषद्से उद्धृत की गई हैं उनके पूर्वकी श्रुतियाँ ये हैं— १ "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। श्वे० ३।३।" अर्थात् उनकी सब जगह आँखें हैं, सब जगह मुख हैं, सब जगह हाथ हैं और सब जगह पैर हैं। २ "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ३।९।" अर्थात् उस परम पुरुष परमेश्वरसे यह संपूर्ण जगत् परिपूर्ण है। ३ "सर्वाननशिरोग्रीवः।३।११।" अर्थात् वह परमात्मा सब ओर मुख, शिर और ग्रीवावाला है। ४ "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। ३।१४।" वह परम पुरुष हजारों सिरवाला, हजारों आँखोंवाला और हजारों पैरोंवाला है। ५ 'सर्वतः पाणि-

पाद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । ३.१६ ।" अर्थात् वह परम पुरुष सब जगह हाथपैरवाला, सब जगह आँख, सिर और मुखवाला तथा सब जगह कानोंवाला है ...' ६—सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् । १७ ।" अर्थात् जो समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका जाननेवाला तथा सबका स्वामी और सबका शासक एवं सबसे बड़ा आश्रय है।

वेदोंमें ब्रह्मके रूप और प्रत्येक इन्द्रियोंके वर्णनके साथ ही इन्द्रियोंका व्यापार भी वर्णित है। यथा 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् ।' (यजु), इस श्रुतिमें ब्रह्मके मुख होना कहा है। इसी तरह "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः ।' (छा०), 'सर्वगन्ध सर्वरस' (बृ० उ०), 'बाहूराजन्य. कृतः' (यजु०), 'चन्द्रमा मनसो जात.' (यजु०), 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा०), 'ईक्षा चक्रे' और 'तदैक्षत बहु स्याम्' (छां०) में ब्रह्मका श्वास लेना, सूँघना तथा स्वाद लेना, दो भुजाओंवाला होना, मन वाला, संकल्प करनेवाला, इच्छा करनेवाला कहकर बुद्धिवाला सूचित किया गया है। ये सब श्रुतियाँ ब्रह्मको शरीरवाला कहती हैं।

इस तरह परस्पर विरोधी श्रुतियाँ वेदोंमें हैं। और सभी सत्य हैं, देखने सुननेमात्र इनमें विरोध भासित होता है। ☞ इसीसे कहते हैं—"अस सब भाँति अलौकिक करनी"। परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्य-शक्ति हैं और विरुद्धधर्माश्रय हैं। एक ही समयमें उनमें विरुद्ध धर्मोंकी लीला होती है। इसीसे वे एक ही साथ सूक्ष्मसे सूक्ष्म और महान्से महान् बताये गए हैं—"अणोरणीयान्महतो महीयान्" कठ० १ वल्ली २.२०। वे परमात्मा अपने नित्य परधाममें विराजमान रहते हुए ही भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूरसे दूर चले जाते हैं—'आसीनो दूरं व्रजति'। परधाममें निवास करनेवाले पार्षदोंकी दृष्टिमें वहाँ शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं। 'शयानो याति सर्वतः'। अथवा वे सदासर्वदा सर्वत्र स्थित हैं, उनकी सर्वव्यापकता ऐसी है कि बैठे भी वही हैं, दूर देशमें चलते भी वही हैं, सोते भी वही हैं और दूर देशमें जाते आते भी वही हैं। वे सर्वत्र सब रूपोंमें नित्य अपनी महिमामें स्थित हैं। इस प्रकार अलौकिक परमैश्वर्यस्वरूप होनेपर भी उन्हें अपने ऐश्वर्यका अभिमान नहीं है। कठ १.२.२१।

सम्पूर्ण लोकोंमें स्थित समस्त जीवोंके कर्म एवं विचारोंको तथा समस्त घटनाओंको अपनी दिव्य शक्तिद्वारा निरंतर देखते रहते हैं। भक्त जहाँ कहीं भी भोजनके योग्य वस्तु समर्पित करता है उसे वे वहीं भोग लगा सकते हैं। वे सब जगह प्रत्येक वस्तुको एक साथ ग्रहण करनेमें और अपने आश्रित जनोंके संकटका नाश करके उनकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। जहाँ भी उनके भक्त उन्हें बुलाना चाहें, वहीं वे एक साथ पहुँच सकते हैं। उन्होंने भक्तोंकी रक्षा करने तथा उनको अपनी ओर खींचनेके लिये हाथ बढ़ा रक्खा है। भक्त जहाँ उनको प्रणाम करता है वहीं उनके चरण और सिर आदि अंग मौजूद रहते हैं।

बाबा जयरामदासजी रामायणी—"बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना।' इस चौपाईको पढ़नेपर यह शंका उठती है कि जब भगवान् बिना पैरके चल सकते हैं, बिना कानके सुन सकते हैं, बिना हाथके काम-काज कर सकते हैं, तब उन्हें अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता होती है? वे तो निराकाररूपसे ही सब कुछ कर सकते हैं। और भगवान्के निराकार एवं सर्वव्यापी होनेकी स्थितिमें 'बिनु पद चलै' आदि भी कहना कहाँ तक ठीक है?"

उत्तर—भगवान्के गुण, प्रभाव और रहस्यको न जाननेके कारण ही इस प्रकारकी शंकाएँ उठा करती हैं। यदि हम भगवान्के सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी होनेपर ही विश्वास कर लें तो इस शंकाका समाधान अपने आप हो जाता है। क्योंकि जो सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान् है वह सब जगह सब कुछ कर सकता है। ...इस प्रसंगमें ग्रन्थकारने वेद वचनों ('अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादि) का ही अक्षरशः अनुवाद किया है—'जेहि इमि गावहिं बेद०'। अस्तु। उपर्युक्त शंका केवल श्रीमानसमें ही नहीं, वेदोंमें भी

संबंध रखती है। बिनु पद चलै इत्यादिसे यही दिखलाया गया है कि परब्रह्म श्रीभगवान् जीवोंकी भाँति मायिक शरीर और इन्द्रियोंकी अपेक्षा न रखकर सर्वशक्तिमान् होनेके कारण शरीर और इन्द्रियोंके कार्य्योंको अपनी शक्तिसे ही सिद्ध कर लेनेमें पूर्ण समर्थ हैं। यहाँ यह बात नहीं कही गई है कि परमात्मा को चलनेकी आवश्यकता पड़ती है, बल्कि उनके इस ऐश्वर्यका कथन किया गया है कि और कोई बिना पैरके नहीं चल सकता परन्तु भगवान्में सामर्थ्य है, वे बिना पैरके भी चलते हैं, यही अघटित घटना है, इसी लिये आगे की चौपाईमें कहा गया है—'असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहीं बरनी॥'

अब रही यह शंका कि "सर्वव्यापीको चलनेकी आवश्यकता नहीं, इसलिए उनके संबंधमें 'बिनु पद चलै।' आदि कहना ठीक नहीं है, अथवा सर्वज्ञके सुनने सुनाने एवं सर्वद्रष्टाके देखने दिखाने आदि क्रियाओंका वर्णन करना असंगत है।' इस शंकाका समाधान तभी हो सकता है जब वेद भगवान् अथवा स्वयं गोस्वामिपाद अपनी कृपाका प्रसार करके इस रहस्यको समझा दें। इस संबंधमें कवितावलीके 'अंतर-जामिहु ते बड़े बाहरजामी हैं राम जो नाम लिए तें। धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किए तें। आपनि बूझि कहै तुलसी कहिबे की न बावरि बात बिये तें। पैज परें प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये तें॥' इस सवैयामें भक्तजनोंके हितार्थ बहुत सुन्दर सिद्धान्त निचोड़कर रख दिया गया है। इसका तात्पर्य्य यह है कि भक्तलोग अपने सगुण सरकारको ही निर्गुण अर्थात् मायाके गुणोंसे अतीत, निराकार अर्थात् मायिक (पाञ्चभौतिक) शरीरसे परे, दिव्य विग्रह, दिव्य वपु, संदासद्धात आदि मानते हैं। उन्हीं प्रभुको सर्वव्यापक मानकर उनके संबंधमें श्रीगोस्वामिपाद यह कह रहे हैं कि 'अंतर्यामी भगवान्-से हमारे बहिर्यामी प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ही बड़े हैं, क्योंकि जब कोई प्रेमपूर्वक उनका नाम पुकारता है तब वे उसे सुनकर इस प्रकार दौड़ते हैं, जैसे तत्काल ब्याई हुई गौ अपने बछड़ेकी बोली सुनकर वात्सल्य भावसे उसकी ओर दौड़ती है। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं कि मैं अपने समझ का बावरी बात कह रहा हूँ, यह बात दूसरेसे कहनेयोग्य नहीं है। बात यह है कि यद्यपि श्रीप्रह्लादजी सर्वव्यापी भगवान्के सच्चे, विश्वासी और एकनिष्ठ भक्त थे, परन्तु जब पैज पड़ गई तब उनकी बात रखने तथा उनकी रक्षा करने के लिये उनके हृदयके अन्तरसे अन्तर्यामी भगवान् नहीं निकले, बल्कि भक्तभयहारी भगवान् बाहरसे अर्थात् खंभसे ही प्रगट हुए।

कितनी सुन्दर युक्ति है! इस प्रकार भगवत्-भागवत रहस्योंपर विचार करनेपर निराकार एवं सर्व-व्यापी प्रभुका सुनना, बोलना, चलना ही नहीं, दौड़ना तथा भक्तरक्षार्थ कर्म (युद्धादि) करना भी सिद्ध होता है। इसमें शंका करनेकी कोई बात नहीं।

नोट—श्रीरामजीकी जो महिमा यहाँ वर्णन की गई है, उसपर महानुभावोंने भिन्न भिन्न भाव लिखे हैं जो यहाँ लिखे जाते हैं—

(१) प्रोफे॰ लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि "इन चौपाइयोंसे मैं तो यह मतलब समझता हूँ कि जैसे लौकिक जनोंके लिये इन्द्रियोंका होना जरूरी है, वैसे ही कोसलपति दशरथसुतके लिये जरूरी नहीं। अर्थात् लौकिक जन बिना इन्द्रियोंके कोई कार्य नहीं कर सकते, पर कोसलपति श्रीरामजी कर सकते हैं। भावार्थ यह हुआ कि उनकी शक्ति अनंत और अपार है, वे किसी प्रकारसे प्रकृतिके पाबंद नहीं हैं, स्वतंत्र हैं। यह बात 'अलौकिक' शब्दसे प्रत्यक्ष प्रगट है, इसी शब्दपर विचार करनेसे सब रहस्य खुल जाता है।"

(२) इस प्रसंगमें गोस्वामीजी 'बिनु पद चलै' से लेकर 'ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा' तक इन्द्रियरहित होते हुये भी इन्द्रियोंके सब व्यवहार कार्योंका करना कहते हैं, पदादि इन्द्रियरहित होनेमें भाव यह है कि

प्रभुका सर्वांग चिन्मय है जैसा कि वाल्मीकिजीने भी कहा है; यथा 'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी। २।१२७।५।'

इस पर यह प्रश्न उठता है कि 'प्रभुके नखशिखका वर्णन, कर-पद-नासिका-नेत्रादि इन्द्रियोंका उल्लेख शास्त्रों, पुराणों, रामायणों आदिमें तथा इस ग्रंथमें भी अनेक स्थलोंमें विस्तारसे पाया जाता है, उसके अनुसार यहाँ विरोधसा जान पड़ता है ?" इसका समाधान इस प्रकार है कि जैसे स्वर्णकी मूर्त्तिमें हस्तपादादि सब अवयव रहते हैं, परन्तु विचार दृष्टिसे देखनेसे वहाँ स्वर्णके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है फिर भी जब हम उसका वर्णन करते हैं तब उसके प्रत्येक अंगका पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं। इसी प्रकार प्रभुके सगुण रूपमें विग्रहानुसार सब अवयव देखनेमें आते हैं, उन्हींका वर्णन ऋषि-मुनि-भक्तजन आदि मति अनुसार करते हैं। तात्पर्य कि प्रभुके सर्वांग चिन्मय है। अतिरिक्त तत्वान्तरसे बने हुए अस्मदादिकोंके इन्द्रियोंके सदृश उनका तत्तद्विषयक ज्ञान नहीं है, अर्थात् इन्द्रियादिके निरपेक्ष सर्वदा सर्वविषयक भान आदि उनमें विद्यमान हैं। (दार्शनिक सार्वभौमजी)।

'असि सब भाँति अलौकिक करनी' इति। जैसे सर्वसाधारण जीव मन, इन्द्रिय और देह आदिसे अभीष्ट कार्य करते हैं, वैसे ही सब कार्य भगवान् बिना इन्द्रियोंके ही करते हैं, अतः उसे 'अलौकिक' कहा। तात्पर्य यह है कि प्रभु सर्वव्यापक है। भक्त जहाँ हो उनको पुकारता है, वहाँ ही वे उसकी पुकार सुन लेते हैं और आ भी जाते हैं। वास्तविक यह आना जाना भी लोकव्यवहार दृष्टिसे ही कहा जाता है, नहीं तो वे तो अव्यक्त रूपसे वहाँपर भी विद्यमान है। यही बिनु पद चलने, बिना कानोंके सुनने आदि कथनका भाव है। इसी प्रकार और भी इन्द्रियरहित व्यवहारोंको समझिए।

(३) किसीका मत है कि "भगवान्का स्वरूप सदैव षोडश-वर्षका और द्विभुज है। यह निरूपण साकार ब्रह्मका है। क्योंकि यदि इसको निराकारका निरूपण मानें तो अनेक शङ्काएँ उठती हैं, यथा जब ब्रह्म सबमें व्याप्त ही है तो ऐसा कौन स्थल है जहाँ उनको चलनेकी आवश्यकता होगी; बोलना और सुनना बिना दो व्यक्तियोंके नहीं हो सकता, यदि कोई और भी है तब तो दो ईश्वर हुए या उसके समान कोई और भी है, ऐसा हुआ तो ईश्वरके अद्वितीय होनेमें संदेह होगा। वह तो अकर्म है; उसका कर्म होना (करना ?) कैसे संभव हो सकता है कि जिसके लिए उसको हाथकी जरूरत है, जब किसी रसमें वह अपूर्ण हो तभी उसको किसी रसका भोक्ता कह सकते हैं, वह ब्रह्म तो वाणीमें और वाणीसे परे है तो उसको वक्ता कैसे कह सकते हैं ? पुनः, जब वह किसीसे अलग हो तब उसका स्पर्श करना कहा जावे वह तो चराचरमें व्याप्त है। इत्यादि, इत्यादि। अतएव यह निश्चय है कि श्रीशिवजी साकारहीका निरूपण कर रहे हैं।"

"त्रिपुटीके अभ्यन्तर सब चराचर ब्रह्माण्ड, विषय, इन्द्रिय, देवता इत्यादि हैं। जैसे कानपर दिशा, पाँवपर यज्ञविष्णु, इत्यादि। जब देवता अपना निवास छोड़ते हैं तब मनुष्य श्रवणादि कर्म नहीं कर सकता। विराट् इत्यादिके इन्द्रियोंपर भी इनका वास रहता है क्योंकि सतोगुणसे सम्पूर्ण देवताओं, रजोगुणसे इन्द्रियों और तमोगुणसे विषयोंकी उत्पत्ति और स्थिति है। परन्तु प्रभु रामचन्द्रजीकी देह सच्चिदानंदमय है, देही देहका यहाँ विभाग नहीं, यज्ञ विष्णु आदि देवताओंका वास इनकी इन्द्रियोंपर नहीं—यही तात्पर्य 'बिनु पद' इत्यादिका है।'

(४) मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि "अलौकिक शब्दको विचारो क्योंकि लौकिक उसे कहते हैं जिसका बीज त्रिपुटी है अर्थात् इन्द्रिय, देवता और विषय, जिससे लौकिक काम बनता है। और परमात्माका अलौकिक कर्म है अर्थात् चलना, सुनना, कर्म करना, इत्यादि सब हैं परन्तु इन्द्रियरहित हैं। तात्पर्य्य यह कि परमात्माकी इन्द्रियाँ भी अलौकिक हैं जिनसे वह सब कर्म करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि रामका चरण इत्यादि अंग सनातन विराजमान हैं जिसके बिना लौकिक अर्थात् त्रिपुटी असमर्थ हो छीज जाता है,

यथा 'सकल परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥', 'शब्द अलौकिक ही लखो लौकिक त्रिपुटी बीज। रात राम चरणादि नित तिन बिन लौकिक छीन॥"

(५) वि० त्रि०—एक स्थानसे पैर उठाकर दूसरे स्थानमें रखना ही चलना है। जहाँ पहिले पैर था वहाँ भी वह है। जहाँ रक्खा जायगा वहाँ भी वह है, अतः वह बैठेही बैठे दौड़नेवालेसे आगे निकल जाता है (तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्), वह श्रोत्रका भी श्रोत्र है, अतः बिना कानके सुनता है। उसके पाणि पाद सर्वत्र हैं, सर्वत्र शिर मुख हैं, इत्यादि। इसी लिये उसे अपाणिपाद कहते हैं।

(६) श्रीनैननाथजी इसका भावार्थ यों लिखते हैं कि—(क) "किसीने उसके पैर, कान, हाथ, मुख आदि देखे नहीं, पर अनुमानसे उसका चलना, सुनना, अनेक कर्म करना, मन रसोंका भोक्ता होना इत्यादि सूचित होता है क्योंकि उसीके प्रभावसे सब चलते, सुनते इत्यादि हैं जैसे प्रजाके गण देखकर राजाके गुणोंका अनुमान किया जाता है, वैसे ही श्रीरघुनाथजीको वेद अनुमान करके गाते हैं।"

(ख) "हरिभक्त ऐसा अर्थ करते हैं कि जैसे सब जीवोंके हाथ, पैर, कान आदि इन्द्रियाँ हैं वैसी इन्द्रियाँ श्रीरामरूपमें नहीं हैं। उनका सर्वांग एकतत्त्व स्वयंप्रकाशरूप है। यथा 'पदश्रवण करानन वाणी त्वङ्नयननासिकादीन्द्रियविषयाधीशैः विवर्जितो रामः साक्षात्परब्रह्मविग्रहः सच्चिदानन्दात्मकः स्वयम्' (शिवस्मृति)। इस प्रकार प्रभुके पदकर्णादि विषय देवादि त्रिपुटीबद्ध नहीं हैं। अतएव बिना पदादि चलना आदि कहा।"

(ग) "ज्ञानी लोग अर्थ करते हैं कि अन्तरात्मा पदादि अंगहीन है, परन्तु उसीकी शक्तिसे गमनागमन आदि देहका व्यवहार होता है। अतएव बिना पदादि गमनादि कहे।"

(घ) "त्रिदुप ऐसा अर्थ करते हैं कि आदि-प्रकृति बिना पदके चलती है, बुद्धि बिना कानके सुनती है, त्रिगुणात्मक अहंकार बिना हाथके अनेक कर्म करता है। चराचरमात्रकी रचना इस अहंकारसे ही होती है। सात्त्विक अहंकारसे इन्द्रियोंके देवताओं, राजससे इन्द्रियों और तामससे इन्द्रियोंके विषयकी रचना होती है। आकाश बिना मुखके भक्षण करता है अर्थात् सब उसीमें समा जाते हैं। जल बिना जिह्वाके सब रसोंको धारण करता है। पुनः, व्योम बिना वाणीहीके वक्ता है क्योंकि उसमें सहज ही शब्द होता रहता है पुनः योगी है, सदा एकरस स्थिर रहता है। पवन तन बिना सबका स्पर्श करता है, अग्नि नेत्र बिना देखते हैं अर्थात् उसके प्रकाशमें सब देखते हैं, पृथ्वी नाक बिना वास धारण करती है, इति विराटरूपका यहाँ वर्णन है"।

(ङ) भगवत् क्रिया परायण यों अर्थ करते हैं कि "यहाँ पूजित श्रीस्वरूप वर्णित है। भगवत् प्रतिमामें नरवत् पैर नहीं हैं पर वह चलती है, जैसे साक्षी गोपाल चले आए—(भक्तमाल भक्तिरसबोधिनी टीका क० २३८—२४१), कान बिना सुनती है, जैसे जगन्नाथजीमें प्रार्थनाका उत्तर मिलता है। इत्यादि। इसी प्रकार श्रीबालाजीने बिना हाथके ही अर्थीका मनोरथ पूर्ण किया, श्रीजनार्दन भगवान्के तस्मई (खीर) भागमें सर्प गिर गया जो अधिकारियोंने अभ्यागतोंको खिला दिया था। भगवान्के नरवत् नेत्र नहीं पर उन्होंने देखा, आजतक भगवान्का रोष प्रसिद्ध है।" करके बिना ही सातमों कोसपर अंगदभक्तकी अर्पण की हुई जलमें डाली हुई मणिको जगन्नाथजीने ग्रहण कर हृदयपर धारण किया। विष्णुपुर बगूसराय जिला मुँगेरमें श्रीरामदासजी श्यामनायिकाजीके यहाँ भगवान् थालका सब भोग पा (खा) गए, क्योंकि ब्राह्मण साधुओंने हँसीमें कहा था कि हम ठाकुरका जूठा न खायेंगे। धनाकी रोटी खाई, नामदेवजीके हाथका दूध पिया इत्यादि बिना नरवत् मुखके रसोंका आनंद लिया।

(च) श्रीरामानुरागी ऐसा भी कहते हैं कि "यहाँ प्रेमाभक्ति वर्णित है। जब उरमें प्रभुका साक्षात्कार होता है तब ऐसा प्रेम प्रवाह उमगता है कि वह बिना पदके चलने लगता है, उसे यह सुध नहीं रहती कि मेरे पैर कहाँ पड़ रहे हैं एवम् सर्वाङ्गकी सुध भूल जाती है। यथा नारदसूत्रे—"अथातो भक्तिं व्याख्यास्याम

सा कस्मै परम प्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च यल्लब्ध्वा पुमान्सिद्धो भवत्यमृतो तृप्तो भवति यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥" (बैजनाथजी)

(छ) विषयी विमुख जीव ऐसा अर्थ करते हैं कि "यहाँ विषयानंद वर्णित है कि विना पदके चले स्वपद (अपने पैरसे) न चले किंतु वाहनपर चले, विना कानके सुने अर्थात् अर्जी आदि बाँचकर सुने, कर विना अर्थात् हुक्ममात्रसे दण्ड और रक्षा आदि करे, मुखरहित सर्वांग रस भोग करे जैसे कि नेत्रोंसे नृत्यरंगरसका, श्रवणसे गानतानरसका, तनमें अरगजादि पुष्पशय्याका, इत्यादि रीतिसे सर्व रसोंका भोग करे, विना वाणी अर्जीपर हुक्म लिख दे तन विना दृष्टिमात्र से अनेक रासविलासका मानसी भोग करे, नेत्र विना नायब दीवान आद द्वारा राजकाज देखे, नासिका विना तन वसन मंदिरादि सुगंधित रक्खे। ऐसा सर्वांग सुख जिसको है वही भगवत् रूप यहाँ वर्णित है।" ११८ (५-८) में "प्रथम विभावना" अलंकार है क्योंकि विना कारणके कार्य्यकी सिद्धि वर्णन की गई है।

दोहा—जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ सुत भगत-हित कोसलपति भगवान ॥ ११८ ॥

शब्दार्थ—इमि = इस प्रकार। 'कोसल'=श्रीअयोध्याजी। हिन्दी शब्दसागरमें लिखा है कि "घाघरा नदीके दोनों तटों परका देश। उत्तर तटवालेको उत्तर कोशल और दक्षिण तटवालेको दक्षिण कोशल कहते हैं। किसी पुराणमें इस देशके ४ खंड और किसीमें ७ खंड बतलाए गए हैं। प्राचीन कालमें इस देशकी राजधानी अयोध्या थी।" और 'कोशलखंड' नामक ग्रंथमें कोसल देशका विवरण इस तरह है कि विन्ध्याचलसे दक्षिणप्रदेशमें एक राजधानी थी जिसका नाम नागपत्तन था (जिसे आजकल नागपूर कहते हैं)। वहाँ कोशल नामक एक प्रतापी राजा हुआ जिससे उस देशका 'कोशल' नाम पड़ा। तबसे वहाँके जो राजा होते थे उनकी एक 'कोसल' संज्ञा भी होती थी, जैसे तिरहुतिये राजाओंकी जनक, काशमीरके राजाओंकी केकय, पंजाबके राजाओंकी पांचाल होती थी, इत्यादि। उसी वंशमें एक भानुमंत राजा हुए जिनकी पुत्री श्रीकौशल्याजी थीं। श्रीकौशल्याजीके विवाहके समयतक उनके कोई भाई न था, इसलिए भानुमंतजीने कोशलदेशकाभी उत्तराधिकारी श्रीदशरथजी महाराजकोही बनाया। उसी समयसे अयोध्या उत्तर कोसल और नागपत्तन दक्षिण कोसल नामसे विख्यात हुआ। महाभारतमें स्पष्ट उल्लेख है कि कौरव-पांडव-युद्धमें कौरवोंकी ओरसे उत्तर कोशलका राजा बृहद्बल और पांडवोंकी ओरसे नग्नजित दक्षिण कौशलका राजा गया था।

अर्थ—जिसका वेद और पंडित इस तरह गान करते हैं और जिसका मुनि लोग ध्यान करते हैं, वही भगवान् भक्तोंके हितार्थ दशरथपुत्र कोसलपति हुए ॥ ११८ ॥

टिप्पणी—१ ऊपर कहा था कि "आदि अंत कोउ जासु न पावा"। वहाँके 'कोउ' से यह स्पष्ट न हुआ कि किसीने आदि अंत कहनेका प्रयत्न किया और न कह सका। अतः उसे यहाँ स्पष्ट करते हैं—'जेहि इमि गावहिं' अर्थात् वेद, बुध और मुनि ये सब हार थके, किसीने आदि अंत न पाया।

२ (क) 'गावहिं वेद बुध०'-वेद और बुध वक्ता हैं अतः ये गाते हैं। मुनि मननशील हैं। अतः वे ध्यान धरते हैं। (ख) 'सोइ दसरथ सुत ' इति। यहाँ प्रथम 'दसरथ सुत' कहा तब 'भगत हित' और तब 'कोसलपति' और 'भगवान्'। यह क्रम साभिप्राय है। क्रमका भाव यह है कि श्रीदशरथमहाराजके यहाँ उन्होंने पुत्ररूपसे अवतार लिया तब भक्तोंका हित किया। अर्थात् ताड़का, सुबाहु, खरदूषण, मेघनाद, रावणादि राक्षसोंको मारकर सबको सुखी किया। रावणवधके पश्चात् राज्याभिषेक हुआ तब कोसलपति हुए और राज्य किया। (भक्तोंका हित यह भी है कि प्रभुने ये सब चरित उन्हींके लिये किये, जिसमें इन्हें गा-

गाकर भक्त भवपार हो जायँ, यथा 'किये चरित पावन परम मुनि कलि कलुष नसाइ।', 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं। १।१२२।१।')। रावणके वधतक ऐश्वर्य छिपा रहा। राज्य ग्रहण करनेपर उनका ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य प्रकट हुए। अतः कोसलपति कहकर 'भगवान' कहा। 'भगवान' कहकर जनाया कि अवतारकालमें भी षडैश्वर्ययुक्त थे और अपने ऐश्वर्य प्रकट कर दिखाए हैं जिसमें भक्त उनको भगवान् जानकर उनका भजन करें। क्रमसे उदाहरण सुनिये।

१ ऐश्वर्य (ईश्वरता)—रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥ ७।२१।
२ धर्म— चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं। ७।२१।३
३ यश—जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥ ७।१३।
४ श्री—रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ॥ ७।२६।
५ ज्ञान—धरम तडाग ग्यान बिग्याना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना॥ ७।३१।७।
६ वैराग्य—सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका॥ ७।३१।८।

अथवा, अर्थ करें कि जैसा पूर्व ऐश्वर्य कह आए कि 'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।०' इत्यादि, ऐसे ऐश्वर्ययुक्त जो भगवान् हैं वही दशरथकोशलपतिके सुत हुए। पुनः भाव कि भक्तके संबंधसे 'भगवान' कहा। ('भगवान्' शब्दका प्रयोग प्रायः उन सब स्थानोंमें हुआ है जहाँ भक्तोंका हित कहा गया है, यथा "व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी १।१३।४-५।', 'भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना।१६२।८।', 'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। ७।७२।' तथा यहाँ 'भगत हित कोसलपति भगवान' कहा। अथवा, कोसलामें बड़ा ऐश्वर्य है; आप उसके पति हैं, अतः 'भगवान' कहा।

नोट—वेदों और पण्डितोंका गान करना पूर्व चौपाइयोंकी व्याख्यामें दिखाया गया है। तत्त्ववेत्ता मुनि उनका ध्यान करते हैं इसका प्रमाण स्वयं श्रीशुकदेवजी हैं। इन्होंने श्रीमद्भागवतमें 'महापुरुष' कहकर इन्हींकी वंदना की है। यथा "ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिंचिनुतं शरण्यम्। भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥"

वि० त्रि०—'आदि अंत कोउ जासु न पावा।' से यहाँ तक शिवजीने वेदकी ओरसे कहा।

कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी॥ १॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥ २॥

अर्थ—जिनके नामके बलसे मैं काशीके जीवोंको मरते हुए देखकर (अर्थात् उनके प्राणोंके निकलनेका समय जानकर) शोकरहित करता हूँ॥ १॥ वेही मेरे प्रभु अर्थात् इष्टदेव हैं, चराचरके स्वामी हैं, रघुवर हैं और सबके हृदयकी जाननेवाले हैं ‡॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'जंतु'–छोटे बड़े सभी जीव जिन्होंने जन्म लिया।–जितने भी शरीरधारी हैं। यथा 'जंतुर्जन्युः शरीरिणः' इत्यमर। (ख) 'करौं बिसोकी' अर्थात् गति देता हूँ। यथा 'जासु नाम बल संकर

† बस—१७०४,१७६२। ‡ अर्थान्तर—वे अन्तर्यामी रघुवर सबके हृदयमें हैं। (वि० त्रि०)।

कासी । देत सबहि सम गति अबिनासी । ४।१० ।', 'आकर चारि जीव जग अहहीं । कासी मरत परम..पद लहहीं । १।४६ ।' [भवसंसृति सहना, बारबार जन्म-मरण होना, इत्यादि 'शोक' है । इनसे रहित, करते हैं । जन्ममरण छुटाना, उनको परमपदकी प्राप्ति करा देना 'विशोकी' करना है । शुकदेवलालजी 'विशोकी' का अर्थ 'विशोक लोक वासी' करते हैं । 'विशोक लोक' अर्थात् जहाँसे फिर संसारमें न आना पड़े । 'लोक बिसोक बनाइ बसाए' १।१६।३ देखिए । ☞ काशीमें मरे हुए जीवोंको किस प्रकारकी मुक्ति प्राप्त होती है अथवा कौन लोक प्राप्त होता है, इसमें मतभेद है । श्रीरामोत्तरतापिनी उपनिषद्में केवल 'मुक्ति' होनेका वरदान है । यथा "स होवाच श्रीराम: । मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम् । उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ।" अर्थात् श्रीरामजीने कहा—हे शिव ! यहाँपर मरते हुए प्राणियोंके दाहिने कानमें तुम स्वयं या किसी औरके द्वारा हमारे मन्त्रका उपदेश कर या करा दोगे तो वह प्राणी मुक्त हो जायगा । विशेष 'कासी मुकुति हेतु उपदेसू' १।१६।३, १।४६।४-५ देखिए । 'जासु नाम बल' का भाव कि काशीमें जीवोंकी मुक्ति होना यह उनके नामका प्रभाव है । जिसके नाममें यह प्रभाव है ।]

२ "सोइ प्रभु मोर ..." इति । (क) 'सोइ' अर्थात् जीवोंको जिनके नामका उपदेश मैं किया करता हूँ, वही रघुबर मेरे प्रभु हैं । ['वही मेरे प्रभु हैं' कहकर जनाया कि जीवोंको मुक्त करनेका सामर्थ्य उन्हींने मुझको दिया है, यह प्रभुत्व उन्हींका है] पुनः भाव कि उन्हींका नाम मैं भी जपता हूँ, यथा 'तव नाम जपामि नमामि हरी ।७।१४।', 'महामंत्र जोइ जपत महेसू । कासी ... ।१।१६।', केवल दूसरोंको ही उपदेश नहीं देता । (ख) 'चराचरस्वामी' हैं अर्थात् जड़चेतन सभीका पालनपोषण करते हैं । 'सब उर अंतरजामी' अर्थात् सबके हृदयकी जानते हैं, अन्तर्यामीरूपसे सबको चैतन्य किये हुए हैं । (ग) 'रघुबर सब उर अंतरजामी' का भाव कि ये 'रघुबर' हैं, इसीसे सबके हृदयकी जानते हैं । 'रघुबर' शब्दका अर्थ है 'अन्तर्यामी', वही गोस्वामीजी यहाँ लिखते हैं । यथा 'को जिय के रघुबर बिनु बूझा । २।१८२ ।' तथा यहाँ 'रघुबर सब उर अंतरजामी' कहा ।

३ ☞ श्रीपार्वतीजीके संदेह-निवारणार्थ श्रीशिवजी अनेक प्रकारसे ऐश्वर्य निरूपण करके माधुर्यमें उसका पर्यवसान करते हैं और माधुर्यबोधक नाम कहते हैं । (१) प्रथम 'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना ११६.८ ।' से लेकर 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावरनाथ । ११६ ।' तक ऐश्वर्य कहकर उस ऐश्वर्यस्वरूपको उन्होंने 'रघुबर राम' में स्थापित किया ।—'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ । ११६ ।' (२) फिर, "बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ॥ सब कर परम प्रकासक जोई" में ऐश्वर्य कहा और तुरत 'राम अनादि अवधपति सोई' कहकर उस ऐश्वर्यको उन्होंने 'अवधपति राम' अर्थात् 'रघुबर राम' में घटाया । (३) तीसरी बार, 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । ११७.७ ।' से 'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । ११८.३ ।' तक ऐश्वर्य कहकर तब "गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई" माधुर्यमें उस ऐश्वर्यको घटा दिया । फिर, (४) 'आदि अंत कोउ जासु न पावा । ११८.४ ।' से 'जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान । ११८ ।' तक ऐश्वर्य कहकर तब "सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान" से उसका एकीकरण कर दिखाया । इसी तरह यहाँ 'जासु नाम बल करउँ बिसोकी' से ऐश्वर्य कहकर उसीको 'सोइ प्रभु मोर ... । रघुबर ...' इस माधुर्यमें घटाया । इत्यादि ।

४ ☞ यहाँतक पार्वतीजीके (ब्रह्म विषयक) प्रश्नोंके उत्तर दिये गए—

प्रश्न		उत्तर
प्रभु जे मुनि परमारथबादी । कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी ॥ सेस सारदा बेद पुराना । सकल	१	"जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान । सोइ दसरथसुत ... ।११८ ।"

करहिं रघुपति गुन गाना ॥ रामु सो अवधनृपति सुत सोई । १०८।५, ६,८'		
'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनँग आराती । १०८।७ ।'	२	'कासी मरत जंतु अवलोकी । जासु नाम बल करौं बिसोकी ॥ सोइ प्रभु मोर रघुबर'' ।
'की अज अगुन अलखगति कोई । १०८।८ ।'	३	'अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई । ११६।२ ।'

तात्पर्य कि जिसको वेद पुराण गाते हैं, जिसको हम जपते हैं, वही दशरथसुत हैं । ☞ पार्वतीजीको विश्वास है कि वेद-पुराण, शिव और मुनि ये तीनों जिसके उपासक हैं वही ब्रह्म है [या, इन तीनोंके सिद्धान्त जहाँ एक हों, जिसे ये तीनों ब्रह्म प्रतिपादित करें वही ब्रह्म है—यह पार्वतीजीने मनमें निश्चय किया है । मा० पी० प्र० स०] इस विचारसे शिवजीने तीनोंका प्रमाण दिया ।—''जेहि इमि गावहिं बेद, जाहि धरहिं मुनि ध्यान'' और ''सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी'' ।

वि० त्रि०—यह शिवजीने पुराणोंकी ओरसे कहा । आगे अर्धाली ३,४,५ में अपनी ओरसे कहते हैं ।

बिबसहु जासु नाम नर कहहीं । जनम अनेक रचित* अघ दहहीं ॥३॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं । भव-बारिधि गोपद इव तरहीं ॥४॥

अर्थ—विवश होकर भी जिसका नाम मनुष्य लेते (उच्चारण करते) हैं (तो उनके) अनेक जन्मोंके अच्छी तरह किये हुये पाप भस्म हो जाते हैं ॥ ३ ॥ और, जो मनुष्य आदर-पूर्वक उनका स्मरण करते हैं, वे भवसागरको गौके खुरके समान पार कर जाते हैं ॥ ४ ॥

नोट—१ 'बिबसहु'=विवश होनेपर भी, जैसे कि शत्रुके वशमें पड़कर, गिरते पड़ते आलस्यमें जँभाई लेते, दुःख या पीड़ासे व्याकुल होकर, यमदूतोंके भयसे, इत्यादि । जैसे अजामिल आदिके मुखसे निकला था । वा,=लाचारीसे पराधीनतावश, परतंत्रताके कारण, जैसे कि सन्तोंके साथ पड़ जानेसे (जैसा कि रामघाट निवासी साकेतवासी श्रीरामशरणजी मौनीबाबाके पास जानेपर अवश्य रामनाम लेना पड़ता था) । इस तरह 'बिबसहु' का भाव 'अनादरसे भी' है, अर्थात् आदरपूर्वक प्रेमसे नहीं । यह अर्थ आगेके 'सादर सुमिरन जे नर करहीं' से सिद्ध होता है । यहाँ 'बिबसहु' से अनादरसहित उच्चारणका और 'सादर सुमिरन ' से आदरपूर्वक उच्चारणका फल बताया है । कवितावलीमें 'बिबस' और 'सादर' का भाव यों दिखाया है—''आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मग मैं । गिरो हिय हहरि 'हराम हो हराम हन्यो', हाय हाय करत परिगो काल फग में ॥ तुलसी बिसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो नामके प्रताप बात बिदित है जग मे । सोई रामनाम जो सनेह सों जपत जन ताकी महिमा क्यों कही है जाति अगमै ॥—(क० उ० ७६) ।'' इस कवित्तके प्रथम दो चरणोंमें 'विवश' होकर 'राम' शब्दका उच्चारण होना दिखाया है । शूकरके बच्चेने यवनको धक्का देकर जब ढकेल दिया और वह भड़भड़ाकर गिर पड़ा तब उसके मुखमें 'हराम' शब्दका उच्चारण हुआ, जिसमें अंतमें 'राम' है । ☞ वराहपुराणमें भी कहा है—' तीर्णो गोष्पदवद्भवार्णवमहो नाम्न प्रभावात्पुन । किं चित्रं यदि रामनामरसिकास्ते यान्ति रामा-स्पदम् ॥'' अर्थात् श्रीरामनामके प्रभावसे वह गौके खुरके गड्ढेके समान भव-सागरको तर गया तब यदि श्रीरामनामके रसिक श्रीरामजीके परमधामको प्राप्त होते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?'

टिप्पणी—१ (क) 'बिबसहु ', यथा 'राम राम कहि जे जमुहाहीं । तिन्हहिं न पापपुंज समुहाहीं ।

* सँचित—वै० ।

२।११४।४।' रामनाम विवशतासे भी कहे तो भी अनेक जन्मोंके रचे हुए पाप नष्ट हो जाते हैं—यह नामकी महिमा है। दहहीं = भस्म होते वा करते हैं। जलाना, भस्म करना अग्निका धर्म है, अतः 'दहहीं' से सूचित किया कि पाप रूई है, 'अनेकजन्म रचित पाप' रूईका पर्वत है, श्रीरामनाम अग्नि है, यथा 'जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला। २।२४८।२।', 'प्रमादादपि संस्पृष्टो यथानलकणो दहेत्। तथौष्ठपुट-संस्पृष्टं रामनाम दहेदघम्।" (पाद्मे)। (ख) ☞ शिवजीके उपदेशसे जीव विशोक हुए, यह नामके सुननेका माहात्म्य है। 'जासु नाम बल करौं बिसोकी' से सुननेका फल कहकर अब 'बिबसहु जासु नाम···' में अपने मुखसे नामोच्चारण करनेका माहात्म्य कहते हैं। इस तरह जनाया कि रामनामके कहने तथा सुननेका फल एक ही है, नहीं तो शिवजीके उपदेशसे विशोक न हो सकते। अपने मुखसे जपनेसे भी जीव विशोक होते हैं, यथा 'चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका। १।२७।१।'

२ "सादर सुमिरन···" इति। नाम जपसे पापका नाश और मोक्ष दोनों कहे। इसका तात्पर्य यह है कि भक्तिसे कर्म और ज्ञान दोनोंका फल प्राप्त होता है। नाम-जप भक्ति है, उससे पापका नाश होना यह कर्मका फल मिला, और नित्य नैमित्तिक मुक्ति होना यह ज्ञानका फल मिला।—'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' इति श्रुतिः।

वि० त्रि०—विवश उच्चारणका फल बताया कि पापराशि जल जाती है, परन्तु पुण्य बच जाते हैं, जिनके भोगनेमें फिर पाप-पुण्य होते हैं, जिससे जन्म-मरणरूपी संसार बना रहता है। सादर स्मरण करनेवालेके शुभाशुभ कर्ममात्रका दाह हो जाता है जिससे वह अनायास भवपार हो जाता है।

मा० पी० प्र० सं०—इस प्रसंगमें यह बात स्मरण रखनेकी है कि गोस्वामीजी जहाँ जिसका जैसा मत है वहाँ वैसा ही कहते हैं। उन्होंने ज्ञानियों और उपासकोंका मत पृथक्-पृथक् दिखाया है। देखिये, 'जेहि जाने जग जाइ हेराई।···। ११२।२।' में उन्होंने ज्ञानियोंका सिद्धांत कहा कि श्रीरामजीको जाननेसे संसार स्वप्नवत् खो जाता है। और यहाँ "सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव···" में भक्तोंका सिद्धांत बताया कि भक्तके वास्ते सादर स्मरणमात्रसे संसार छूट जाता है। ये दोनों बातें एक ही हैं।—(पं० रामकुमारजीकी टिप्पणीमें यह नहीं है)।

राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी ॥५॥
अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं ॥६॥

शब्दार्थ—परमात्मा = परमेश्वर, ब्रह्म। अबिहित = अयोग्य, अनुचित।

अर्थ—हे भवानी! वही परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी हैं। 'उनमें भ्रम' यह तुम्हारे वचन (वा, उनके प्रति तुम्हारे भ्रमके वचन) अत्यन्त अयोग्य हैं, वेद-विरुद्ध हैं ॥ ५ ॥ ऐसा संशय (संदेह) हृदयमें लातेही ज्ञान वैराग्य आदि समस्त सद्गुण चले (अर्थात् नष्ट हो) जाते हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ यहाँ तक शिवजीने श्रीरामजीको ब्रह्म कहा, भगवान् कहा परमात्मा और कहा। यथा 'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। ११६।', 'सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान। ११८।', 'राम सो परमातमा भवानी।' (यह भगवान्‌का सूत्ररूपसे वर्णन है, यथा—'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते' इति भागवते)। वेदान्ती ब्रह्म, भक्त भगवान् और योगी परमात्मा कहते हैं। तीन दृष्टिसे यहाँ ये तीन शब्द कहे। (ख) 'तहँ भ्रम···'—वह भ्रमकी वाणी यह है-'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि। १०८।" (ग) 'अति अबिहित' अर्थात् वेदविरुद्ध है। [भाव कि वहाँ यदि भ्रम दिखाई पड़े तो उसे अपना भ्रम समझना चाहिए। जिसे सूर्य

तमोमय दिखाई पड़ें, उसे समझना चाहिए कि यह अपना भ्रम है, कुछ दोष मुझमें ऐसा आ गया है, जिससे ऐसा दिखाई पड़ रहा है। (वि० त्रि०)]

२ "अस संसय आनत " इति। ज्ञान-वैराग्यादि समस्त गुण पापसे नष्ट होते हैं। अतः 'ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं' कहकर जनाया कि ऐसा संशय हृदयमें लाना बड़ा भारी पाप है। उदाहरण, यथा 'अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ॥ १।५१।' (श्रीसतीजी), 'नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा। ७।५९।' (श्रीगरुडजी)। [संशय और भ्रम होनेसे दोनोंको ज्ञानका उदय नहीं हो रहा है। अर्थात् ज्ञान नष्ट हो गया है।]

☞ श्रीपार्वतीजीने प्रार्थना की थी कि मेरा मोह, संशय और भ्रम नाश कीजिए। अतः शिवजी इन तीनोंकी निवृत्तिके लिये उपदेश कर रहे हैं।

प्रार्थना		उपदेश
"जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू" १०९।२	१	"जासु नाम भ्रमतिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा ॥ राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा। ११६।४-५।", "प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी", "उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा।" "जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥" ११७ इत्यादि वाक्यों से मोह दूर किया।
अजहू कछु संसउ मन मोरे	२	'अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं।' से संशय दूर किया।
"हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी" १०८।४	३	"जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा", "निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी" ११७, "जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि। ११७ जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।", "राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी", इत्यादि वाक्योंसे भ्रम दूर किया।

नोट—'अस संसय आनत ' का भाव कि श्रीरामजी ज्ञानवैराग्यादि गुणोंके मूल कारण हैं। जब कारणहीमें भ्रम हो गया तब कार्य कैसे रह सकते हैं ? भ्रमके साथही वे सब चल देते हैं। ध्वनिसे यह एक प्रकारका शिवजीका शाप दाशरथी राममें संशय करनेवालोंके लिये सिद्ध होता है। (मा० पी० प्र० सं०)।

☞ उपर्युक्त तीन प्रार्थनाओंके संबंधमें यहाँ तक उपदेश हुआ।

इति दाशरथी श्रीराम परात्पर स्वरूप-वर्णन।

सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना ॥७॥

भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती ॥८॥

शब्दार्थ—कुतरक (कुतर्क) =वेद विरुद्ध तर्क। रचना-गढन्त, बनावट, स्थिति। यथा 'जयति बचन रचना अति नागर। २८४।३।', 'देखत रुचिर बेष कै रचना। ४।२।' असंभावना–जिसका होना संभव न हो, जैसे पार्वतीजीका यह दृढ निश्चय था कि ब्रह्मका नरतन धारण करना असंभव है, कभी ऐसा हो ही नहीं सकता। संभावना=कल्पना, अनुमान। असंभावना ऐसी कल्पना जिसके होनेका कभी अनुमान ही न हो सके। ☞ 'अ' जिस शब्दके पहले लगता है उसके अर्थका प्रायः अभाव सूचित करता है। संस्कृतके वैयाकरणोंने इस निषेध-सूचक अव्ययका प्रयोग इतने अर्थोंमें माना है—सादृश्य, अभाव, अन्यत्व, अल्पता, अप्राशस्त्य और विरोध। यथा 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥१॥' (वै० भूषणसार। नञर्थ निर्णय। ७)। यहाँ अप्रशस्त और विरोधी दोनों अर्थ

ले सकते हैं। पार्वतीजीका अनुमान वा कल्पना अप्रशस्त थी, वेदविरुद्ध थी, अत दूषित थी। असभावना=अप्रशस्तकल्पना वा अनुमान।=अविश्वास (वि० त्रि०)।

अर्थ—श्रीशिवजीके भ्रमनाशक वचन सुनकर श्रीपार्वतीजीकी सब कुतर्ककी रचना मिट गई॥ ७॥ उनको श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम और विश्वास हुआ, कठिन 'असम्भावना' दूर हो गई॥ ८॥

टिप्पणी—१ "सुनि सिवके भ्रमभंजन " इति। (क) 'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रविकर बचन मम। ११५।' उपक्रम है और 'सुनि सिव के भ्रम भंजन ' उपसहार है। शिवजीके वचनोंको यहाँ चरितार्थ किया (अर्थात् घटित कर दिखाया, उनका साफल्य दिखाया)। वचन भ्रमभजन हैं, अत उनसे भ्रमका नाश हुआ। (ख) अब (आगे) मोह, सशय और भ्रम सबका नाश कहते हैं। यथा—(१) 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥' (चौ० १)—यह मोहका मिटना कहा। (२) 'तुम्ह कृपाल सबु ससउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ' (चौ० २) यह सशय मिटना कहा। (३) 'सुनि सिव के भ्रम भजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना'—यह भ्रमका नष्ट होना कहा। भ्रमसेही कुतर्ककी रचना होती है, अत भ्रमके नाशसे कुतर्ककी रचना मिट गई। (ग) सशय और कुतर्कका नाश कहनेका भाव कि सशय सर्परूप है और कुतर्क लहरें हैं जो सर्पके काटनेपर विषके चढनेसे आती हैं। इस तरह सर्प और सर्पका विष चढनेसे जो लहरें उत्पन्न हुई इन दोनोंका नाश हुआ अर्थात् कारण और कार्य दोनों न रहगए, यह जनाया। यथा 'ससय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता।७।९३।६।' (गरुडजीने अपने संबधमें जो 'कुतर्क बहु ब्राता' कहा है वही यहाँ 'कुतर्क की रचना' है)। (घ) 'कुतरक कै रचना', यथा 'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥ ५०॥ बिष्नु जो सुर हित नर तनु धारी। सोउ सर्बज्ञ जथा त्रिपुरारी॥ खोजै सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी॥ " इत्यादि, 'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।' इत्यादि। [(ङ) "भ्रम भजन वचन' वेही हैं जिनमें श्रीरामजीका माहात्म्य लखाया है तथा जिनमें रामनाम माहात्म्यपर अविश्वासका दोष दिखाया है।" (पं०)। पिछली चौपाईकी व्याख्यामें ये वचन दिये हैं। प्रभुके परात्पर स्वरूपके लखानेवाले जितने वचन हैं वे सभी भ्रमभजन हैं। वि०त्रि० के मतानुसार 'सुनि' से चतुर्थ विनय 'अज्ञ जानि रिसि जनि उर धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू।' के उत्तर की (समाप्ति दिखलाई है।)]

२ "भइ रघुपति पद प्रीति ' इति। (क) भाव कि भ्रम और कुतर्क इत्यादि प्रीतिप्रतीतिके बाधक हैं। प्रतीति होनेसे प्रीति हुई और प्रतीति हुई श्रीरामस्वरूप जाननेसे (श्रीरामस्वरूपका जानना वे स्वयं आगे कह रही हैं—'राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ'), यथा 'जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती। ७।८९।७' (ख) 'दारुन असभावना बीती' इति। 'दारुण असभावना' से चार वस्तुओंका बोध होता है—एक भावना, दूसरी संभावना, तीसरी असभावना और चौथी दारुण असभावना। इन चारोंके उदाहरण सुनिए–'भइ रघुपति पद प्रीति' रघुपतिपदमें प्रीति होना भावना है। 'भइ प्रीति प्रतीती' श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रीति और प्रतीति दोनों का होना सभावना है, और इन दोनोंका न होना असभावना है। श्रीरामजीको अज्ञानी मानना दारुण असभावना है। [(ग) मा० पी० प्र० स० में इस प्रकार था—प्रतीतिमें भावना, प्रीतिमें समावना सूचित हुई। ये दोनों एकही हैं। कुतर्ककी रचनामें असभावना और परब्रह्ममें मनुष्यबुद्धि लाकर उनका अनादर करना इसमें दारुण असभावना सूचित की। ये दोनों एक से हैं सो दोनों मिट गए।"—दो एक प्रसिद्ध टीकाकारोंने इसे लिया है, अत इसे भी लिख दिया। (घ) श्रीरघुपतिपदमें प्रीति प्रतीति होना दारुण असंभावनाके नष्ट होनेका कारण है। यहाँ कारण और कार्य दोनों साथ ही हुए अर्थात् प्रीतिप्रतीति हुई और उसके होते ही साथसाथ दारुण असभावना मिट गई। अतएव यहाँ 'अक्रमातिशयोक्ति अलकार' है।]

दोहा—पुनि पुनि प्रभुपद कमल गहि जोरि पंकरुह पानि ।
बोलीं गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेमरस सानि ॥११९॥

शब्दार्थ—पकरुह=कमल ।

अर्थ—बारबार प्रभु (श्रीशिवजी) के चरणकमलोंको पकडकर और अपने करकमलोंको जोड़कर श्रीगिरिजाजी श्रेष्ठ वचन मानों प्रेमरसमे सानकर बोलीं ॥ ११९ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'पुनि पुनि गहि' पुन पुन चरणकमलोंका पकड़कर जनाती हैं कि इन्हीं के प्रसादसे मैं सुखी हुई । यथा 'सुखी भएउँ प्रभु चरन प्रसादा" (आगे स्वय कहती है) । सुखी हुई, अत बारबार चरण पकड़ती हैं यथा 'सुनत बिभीषन प्रभु के बानी । नहिं अघात श्रवनामृत जानी ॥ पद अबुज गहि बारहि बारा । हृदय समात न प्रेम अपारा । ५।४९ ।", 'देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती । बालि बधब इन्ह भइ परतीती । बार बार नावइ पद सीसा । प्रभुहि जानि मन हरप कपीसा । ४,७ ।' पुन, (बार-बार चरण पकडकर अपनी कृतज्ञता सूचित करती हैं । पुन, श्रीरामजीके चरणोंमें प्रीति प्रतीति होनेसे सुख हुआ । बारबार चरण पकड़ना प्रेमकी दशा सूचित करता है । यथा 'मो पहि होइ न प्रति उपकारा । बंदउँ तव पद बारहि बारा । ७।१२५।४ ।' 'पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना । परम प्रेम कछु जाइ न बरना । १। १०२।७ ।' (मेनाजी) । (ख) श्रीरघुपति पदमे प्रीति-प्रतीति अचल होनेके सबधसे कविने 'गिरिजा' नाम दिया (रा० प्र०)] (ग) श्रीशिवजीमे पार्वतीजीकी भक्ति मन, कर्म और वचन तीनोंसे यहाँ दिखाते हैं । चरण पकडना और हाथ जोड़ना यह कर्मकी भक्ति है । 'बोलीं गिरिजा बचन बर' यह वचनकी भक्ति है और 'प्रमरस' से सानना यह मनकी भक्ति है । प्रेम होना मनका धर्म है ।

अलकार—प्रेमसे आनन्दमें मग्न होकर पार्वतीजीका बोलना उत्प्रेक्षाका विषय है । उनकी वाणी ऐसी मालूम होती है मानों प्रीति आनन्दसे मिश्रित हो । (प्रथम 'बचन बर' कहा, जो उत्प्रेक्षाका विषय है, तब उत्प्रेक्षा की कि मानों प्रेमरसमे सान है) । अत यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलकार' है । पार्वतीजीके हृदय-मे श्रीराम ब्रह्म विषयक रति स्थायीभाव है । रघुनाथजीकी अलौकिक शक्ति, महिमा, गुण, स्वभावादि सुनकर उद्दीपित हो मति हर्षादि सचारी भावोंद्वारा बढकर हरिकथा सुननेके लिये बारबार स्वामीके पाँय पड़ना, हाथ जोड़ना, अनुभावों द्वारा व्यक्त हुआ है । (वीर)

नोट—१ श्रीपार्वतीजी, श्रीभरद्वाजजी और श्रीगरुड़जीके सशय एकहीसे हैं । श्रीयाज्ञवल्क्यजीने श्रीभरद्वाजमुनिके सन्देहनिवारणार्थ श्रीशिव-पार्वतीसवाद ही सुनाया है । श्रीशिवजी और श्रीकागभुशुण्डिजीकी इस प्रसगमे एक ही सी शैली जान पडती है । इस कैलाश प्रकरणका भुशुण्डी-गरुड-सवादसे मिलान करनेसे यह बात स्पष्ट हो जायगी ।—

उमा शभु-सवाद		श्रीगरुड-भुशुण्डि-सवाद
"गिरिजा सुनहु राम कै लीला । सुरहित दनुज बिमोहन सीला ॥"	१	अस रघुपति लीला उरगारी । दनुज बिमोहनि जन सुखकारी ।
"निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी । प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ॥"	२	जे मति मद मलिन मति कामी । प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी ॥
जथा गगन घन पटल निहारी । झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ॥	३	"जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा । सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ॥"
"चितव जो लोचन अगुलि लाये । प्रगट जुगल" ससि तेहिके भाये ॥	४	नयन दोष जाकहँ जब होई । पीत बरन ससि कहँ कह सोई ॥

उमा राम विषयक अस मोहा । नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ।	५	हरि विषयक अस मोह बिहंगा । सपनेहु नहि अज्ञान प्रसंगा ॥
अज्ञ अकोविद अंध अभागी । काई बिषय मुकुर मन लागी ॥	६	माया बस मति मंद अभागी । हृदय जवनिका बहु विधि लागी ॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना । रामरूप देखहिं किमि दीना ॥	७	ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ परे तमकूप ।
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा । तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥	८	यहाँ मोह कर कारन नाहीं । रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥
"रघुपति कथा कहहु करि दाया ।" "बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि । बरनहु रघुबरबिसद जस० (१०६)	९	"अब श्रीरामकथा अति पावनि सादर तात सुनावहु मोही । बार बार बिनवउँ प्रभु तोही ।"
"अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु रामपद०"	१०	"अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल । भजहु राम रघुबीर०" (उ० ८९-९०)
पुनि पुनि प्रभुपद कमल गहि जोरि पकरुह पानि ।	११	"ताहि प्रसंसि बिबिध बिधि सीस नाइ कर जोरि"
बोलीं गिरिजा बचन बर मनहु प्रेम०	१२	'बचन बिनीत सप्रेम मृदु बोले'
ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी । मिटा मोह सरदातप भारी ॥	१३	तव प्रसाद मम मोह नसावा।
"तुम्ह कृपालु सब संसय हरेऊ । राम स्वरूप जान मोहिं परेऊ ।।" सुखी भइउँ तव चरन प्रसादा	१४	"संसय सर्प ग्रसेउ मोहिं ताता । दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ॥ तव सरूप गारुडि रघुनायक । मोहि जियायेउ जन सुखदायक ॥ राम रहस्य अनूपम जाना"

नोट—२ श्रीपार्वतीजी और श्रीभरद्वाजजीका इस सम्बधमे मिलान । यथा—

श्रीपार्वतीजी		श्रीभरद्वाज मुनि
पति हिय हेतु अधिक अनुमानी	१	करि पूजा मुनि सुजस बखानी ।
अजहूँ कछु संसय मन मोरे ।	२	नाथ एक संसय बड मोरे
बरनहु रघुबर बिसद जस, श्रुति सिद्धांत निचोरि ।	३	कर गत बेद तत्व सब तोरे
'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना'	४	'होइ न बिमल बिबेक उर, गुरु सन किये दुराव ।'
जेहि बिधि जाइ मोह भ्रम० ।	५	अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू ।
सो प्रभु हरहु मोर अज्ञाना ।	६	हरहु नाथ करि जन पर छोहू ॥
अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू ॥	७	कहत सो मोहि लागत भय लाजा
प्रभुजेमुनि परमारथ बादी । कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी	८	राम नाम कर अमित प्रभावा ।
सेष सारदा बेद पुराना । सकल करहि रघुपति गुन० ॥		संत पुरान उपनिषद गावा ॥
तुम पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंग आराती ॥	९	सतत जपत संभु अबिनासी ।
जौ अनीह व्यापक बिभु कोऊ । कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ ॥	१०	राम कवन प्रभु पूछउँ तोही । कहिय बुझाइ कृपानिधि मोही ॥
(जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि)	११	(राम एक अवधेस कुमारा)

देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति० नारि बिरह मति भोरि।	१२	तिन्ह कर चरित बिदित संसारा। नारि बिरह दुख लहेउ अपारा॥
राम अवध नृपति सुत सोई। की आज अगुन अलख गति कोई॥	१३	प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।
हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी।	१४	जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी
प्रथम सो कारन कहहु बिचारी	१५	कहहु सो कथा नाथ बिसतारी

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥१॥
तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥२॥

शब्दार्थ—सरदातप (शरद् आतप)—शरद्‌ऋतुके आश्विन मासमें जब चित्रा नक्षत्र होता है तब घाम बहुत तीक्ष्ण होता है। इस घाममें हिरन काले पड़ जाते हैं। उन्हीं दिनोंकी तपनको शरदातप कहते हैं।

अर्थ—आपकी चन्द्रकिरण समान वाणी सुनकर भारी मोहरूपी शरदातप मिट गया॥१॥ हे कृपालु! आपने मेरे सब संदेह हर लिये। मुझे श्रीरामजीका (यथार्थ) स्वरूप जान पड़ा॥२॥

टिप्पणी—१ (क) 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी।०' इति। यहाँ वाणीको चन्द्रकिरण कहकर मुखको शशि सूचित किया, यथा 'नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुबीर। ७।५२।', वाणीका सुनना किरण का स्पर्श है। मोह शरद्‌ऋतुका भारी घाम है। ☞ऊपर शिवजीने अपने वचनको 'रविकर' कहा है,—'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रमतम रविकर बचन मम', उससे रात्रिके दोष भ्रमतमको नाश किया। और यहाँ उनके वचनको 'शशिकर सम' कहा। ताप दिनका है सो चन्द्रकिरणसे नाश हुआ अर्थात् उसी वचनसे दिनके दोष भारी आतपरूपी मोहको नाश किया। पार्वतीजीने जो कहा था कि 'जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू' उसीके सबधसे यहाँ कहा कि 'मिटा मोह सरदातप०'। [पुनः, पूर्व जो कह आए हैं कि 'आननु सरदचंदछबिहारी। १०६।८।', 'ससि भूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी। १ ७।४।' उसीके सबंधसे वचनको शशिकिरण सम कहा। 'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना' और 'पुनि पतिबचन मृषा करि माना। १।४६।२।' (सती वचन), ये दोनों बातें शरदातप हैं]

नोट—१ प्रो० दीनजी कहते हैं कि श्रीशिवजी अपने वचनोंको 'रविकर' समान कहते हैं और पार्वतीजी उनके वचनोंको शशिकर सम पाती हैं। इसका भाव यह जान पड़ता है कि शिवजी तो अपने वचनोंको भ्रमरूपी तमको दूर करनेवाला ही समझते हैं, पर श्रीपार्वतीजी उन वचनोंको तम दूर करनेवाले और विशेष प्रकारका शान्तिदायक भी पाती हैं। अतः चन्द्रकिरण मानती हैं, क्योंकि चन्द्रकिरणमें दोनों गुण हैं—तमनिवारक और आनन्ददायक भी। क्योंकि पार्वतीजी स्वयं कहती हैं—'तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ'। इतना काम सूर्य्यका था सो हो चुका। आगे चन्द्रकिरणका काम वे स्वयं स्वीकार करती हैं—'नाथ कृपा अब गयउ बिषादा। सुखी भइउँ प्रभुचरन प्रसादा।' यही आह्लादका पाना है।

वि०त्रि०—१ भगवतीने शीतलताका अनुभव किया, अतः 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी।' कहा। शशिकरमें मृगतृष्णाका भ्रम भी नहीं होता, अंधकार भी मिटता है और शरदके चित्राकी कड़ी धूपका ताप भी मिटता है। २-विनती थी कि 'जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू' सो अब कहती हैं कि 'मोह मिटा'। चौथी विनयके उत्तरमें ही सब संशय मिट गया, अतः पाँचवीं विनय 'अजहूँ कछु संसय मन मोरे' के उत्तरकी आवश्यकता नहीं रह गई।

प० प० प्र०—पार्वतीजी कहती हैं कि भारी मोह मिटा और रामस्वरूपका ज्ञान हुआ। पर यह स्वीकारिता मोहनाशाभास है, श्रीमहेशजीके डरसे दी हुई है, मोहका पूरा पूरा नाश अभी हुआ नहीं। प्रमाण

देखिए। आगे शिवजी कहते हैं—'सती सरीर रहिहु बौरानी ॥ अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी। १४१।४५।' शिवजीके निन वचनोंसे डर गई वे ये हैं—'राम सो परमात्मा भवानी। तहँ भ्रम अति अविहित तव बानी ॥ अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं ॥' पार्वती-वचन और शिववाक्यका समन्वय इस प्रकार होता है। भारी मोह रूपी शरदातप मिट गया, भारी मोह नहीं है यह पार्वतीजीने कहा है। शिवजी कहते हैं—'अजहुँ न छाया मिटति' अर्थात् तुम्हें अब न तो भारी मोह है और न मोह ही, पर मोह की छाया है। अत दोनोंमे विरोध नहीं है।

उत्तरकाण्डमे भवानी भी स्वय ही कहती हैं—'तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह।५२।' और फिर अन्तमे भी कहा है—'नाथकृपा मम गत सदेहा। १२६।८।' अतएव बालकाडमे यदि सपूर्ण मोहका नाश मान लें, तो फिर उत्तरकाड मे 'न मोह', 'गत सदेहा' की आवश्यकता नहीं रह जाती। अत अर्थ यही करना होगा कि इस समय 'भारी मोह' का मिटना कहकर जनाया कि अभी कुछ मोह है। उस मोहके मिटने पर उत्तरकाडमे 'अब न मोह' कहा। अर्थात् मोह नहीं रह गया। कुछ सदेह रह गया था वह भी जाता रहा यह अन्तमे कहा गया। मोहका प्रभाव ही ऐसा है कि कुछ श्रवणके बाद ऐसा प्रतीत होता है कि वह जाता रहा, पर वह हृदय के कोनेमे कहीं छिपा रहता है और समय पाकर पुन प्रकट हो जाता है। इसीसे तो शिवजीने गरुडजीसे कहा है—'तबहिं होइ सब ससय भगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा। ७।६१।४।' [यह भी कह सकते हैं कि श्रीरामविषयक जो मोह रह गया था वह चरित सुनने पर मिट गया। अत तब कहा 'अब कृतकृत्य न मोह'। आगे जो 'गत संदेहा' कहा गया वह सदेह श्रीगरुडजी और भुशुण्डीजीके सम्बन्धके थे, उसका मिटना अतमे कहा। उपक्रममे कहा है—'बायस तन रघुपति भगति मोहि परम सदेह। ५३।' श्रीरामविषक सशय भी रामचरित सुनने पर नहीं रह गया, यह 'तुम्ह कृपाल सब ससउ हरेऊ।' से स्पष्ट है।]

टिप्पणी—२ 'तुम्ह कृपाल सबु ससउ ' इति। (क पार्वतीजीने सशय नाश करनेके लिये कृपा करनेकी प्रार्थना की थी। यथा 'अजहूँ कछु ससउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें ॥ १ ६ ।' अत जब शिवजीने सशय नाश कर दिया तब उनको 'कृपाल' विशेषण दिया। (ख) 'सबु ससउ' अर्थात् अपार सशय जो हुआ था, यथा 'अस संसय मन भयउ अपारा। ५१ ', वह सब हर लिया। सशय दूर होनेसे श्रीरामस्वरूप जान पड़ता है। अत 'ससउ हरेऊ' कहकर तब 'रामस्वरूप जानि परेऊ' कहा। (जबतक सशय रहता है तब तक न तो स्वरूप ही देख पडता है और न दु ख ही दूर होता है। यथा "बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा ॥ उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला ॥ मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा। ४.७।" सुग्रीवका सशय दूर हुआ, तब रामस्वरूपकी प्राप्ति हुई और श्रीरामजीमे प्रीतिप्रतीति हुई, जिससे विषाद दूर हुआ)। (ग) रामस्वरूप जानना ज्ञान है। सशय ज्ञानका नाशक है, यथा 'अस ससय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं।' इसीसे सशयमे रामस्वरूप नहीं जान पड़ा था। (घ) सशयसे कुतर्ककी उत्पत्ति है अर्थात् कुतर्क उसका कार्य है। पूर्व कुतर्कका नाश कह आए,—'मिटि गै सब कुतरक कै रचना।' और अब यहाँ सशयका नाश कहकर कार्य-कारण दोनोंका नाश दिखाया।

वि० त्रि०—शिवजीने कहा था कि 'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहि किमि दीना।', सो कहती हैं कि 'तुम्ह कृपालु सब ससउ हरेऊ। रामस्वरूप जानि मोहि परेऊ।'—'राम सच्चिदानंद दिनेसा' से 'राम सो परमातमा भवानी' तक रामजीके स्वरूपका निरूपण शिवजीने किया है।

वि० टी० श्रीपार्वतीजीने यथार्थ स्वरूप जो समझा उसे यों कह सकते हैं—"वही राम दसरथ घर डोलै। वही राम घटघट मे बोलै ॥ उसी राम का सकल पसारा। वही राम सब से न्यारा ॥"

नाथ कृपा अब गएउ बिषादा । सुखी भएउँ[1] प्रभु[2] चरन प्रसादा ॥३॥
अब मोहि आपनि किंकरि जानी । जदपि सहज जड़ नारि अयानी ॥४॥

अर्थ—हे नाथ ! आपकी कृपासे अब (सब) दुःख दूर हो गया। हे प्रभो ! मैं आपके चरणोंकी कृपासे सुखी हुई ॥ ३ ॥ यद्यपि मैं स्वाभाविक ही जड हूँ, फिर स्त्री और अज्ञानी एवं बुद्धिहीन हूँ तो भी मुझे अपनी दासी जानकर अब—॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ "नाथ कृपा अब " इति । (क) 'अब' अर्थात् जब आपने मन संशय हर लिया और मुझे श्रीरामस्वरूप जान पड़ा तब विषाद गया। तात्पर्य कि रामजीके मिलनेपर, उनका साक्षात्कार होनेपर, विषाद नहीं रह जाता । यथा 'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेउ राम तुम्ह समन बिषादा। ४।७।' (ख) 'सुखी भएउँ प्रभु चरन प्रसादा' अर्थात् आपकी कृपासे संशय दूर होते हैं, संशय न रहनेसे श्रीरामस्वरूप जान पड़ता है जिससे फिर विषाद नहीं रह जाते और विषादके जानेसे सुख होता है- यह क्रमका भाव हुआ ।

२ 'अब मोहि आपनि किंकरि जानी । ' इति । (क) ☞ ईश्वरको दास अति प्रिय है, इसीसे बारबार अपनेको दासी कहकर प्रश्न करती हैं । यथा (१) 'जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी । जानिय सत्य मोहि निज दासी । १०८ । १ ।' (२) जदपि जोषिता नहिं अधिकारी । दासी मन क्रम बचन तुम्हारी । ११० । १ ।', तथा (३) 'अब मोहि आपनि किंकरि जानी' । [स्वामीको सेवक अति प्रिय होता है, यथा 'सब के प्रिय सेवक यह नीती । ७।१६ ।', 'सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग । ७।८६ ।' दूसरा भाव यह कि प्रत्येक बार पहले अपनेको दासी कहकर कथाश्रवणमें अपना अधिकारी होना जनाकर तब प्रश्न किया है । ११०।१ देखिए । या यों कहिए कि श्रीमेनाजीने शिवजीसे जो यह प्रार्थना की थी, वर माँगा था कि "नाथ उमा मम प्रान सम गृह किंकरी करेहु । छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसन्न बर देहु । १०१ ।' उसीको बारबार स्मरण कराकर क्षमाप्रार्थना करती हुई प्रश्न करती हैं । (मा० पी० प्र० सं०)] (ख) 'जदपि सहज जड नारि अयानी' इति । भाव कि जड, स्त्री और अज्ञानी, ये तीनों कथाके अधिकारी नहीं हैं और मैं तो 'जड, नारि और अयानी' तीनों ही हूँ, रही बात यह कि मैं दासी हूँ दासीको अधिकार है चाहे वह कैसी ही क्यों न हो । [सतीसे शिवजीने कहा था 'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ । संसय अस न धरिय उर काऊ', सो सतीका शरीर छूटकर पार्वती देह मिलने पर भी वही संशय उठा, इससे अपना जड़त्व और अज्ञान मान रही हैं । (वि० त्रि०) । पुनः, यहाँ पार्वतीजी अपनेमें नीचानुसंधान करके कहती हैं कि यद्यपि मैं स्त्री हूँ, अयानी अर्थात् चतुराई रहित हूँ, जड हूँ, सो यह सब (जो आपने अज्ञ, अंध इत्यादि कहा है) मुझमें होना उचित ही है । क्योंकि पर्वतराजसे उत्पन्न होनेसे मैं सहज ही जड हूँ ही, इसपे कथाकी अधिकारिणी नहीं हूँ । स्त्री होनेसे अयानी होना भी ठीक है, अज्ञ होनेसे भी मेरा अधिकार नहीं । तथापि अपनी किंकरी जानकर आप अधिकारी मान सकते हैं । (रा० प्र०) । ऊपर 'बोली गिरिजा बचन बर ' कहा, 'गिरिजा' के संबंधसे यहाँ 'जड' कहना योग्य ही है । 'दूसरा सम' अलंकार है ।] (ग) यहाँ 'अब मोहि आपनि किंकरि जानी' कहा और पूर्व कहा था—'जानिय सत्य मोहि निज दासी' । इनमेंके 'जानी' और 'जानिय' में भाव यह है कि जिसे स्वामी अपना दास जाने-माने वही दास है । यथा 'राम कहहिं जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास ।' (दोहावली) । 'किंकरि जानी' अर्थात् अपनी दासी समझकर कहिए, मेरी जड़ता अज्ञतापर दृष्टि न डालिये । (घ) 'अब'—इसका संबंध आगेकी चौपाई 'प्रथम जो मैं ' से है । भाव कि मोह, संशय और भ्रमकी निवृत्ति हो गई, अपनी दासी जानकर अब जो मैंने प्रथम पूछा है वह

१ भइउँ प्रभु—१७२१, १७६२ । भइउ अब—छ० । भएउँ—१६६१, १७०४ । २—अब—छ० । रा० प्र० ।

कहिए। [अयानी-अनजान, अज्ञानी, बुद्धिहीन। यथा 'रानी मैं जानी अयानी महा, पवि पाहन हूँ ते कठोर हियो है॥ क० २।२०।' यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है।]

प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू। जौं मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू॥५॥
राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्बरहित सब उर-पुर बासी॥६॥
नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥७॥

अर्थ—हे प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो वही कहिए जो मैंने आपसे प्रथम पूछा है॥ ५॥ श्रीरामजी ब्रह्म, ज्ञानमय केवल चैतन्यस्वरूप, अविनाशी, (सबमें रहते हुए भी) सबसे अलग अर्थात् निर्लिप्त और सबके हृदयरूपी नगरमें रहनेवाले हैं॥ ६॥ उन्होंने नर शरीर किस कारणसे धारण किया? हे धर्मकी ध्वजा (शङ्करजी)! यह मुझसे समझाकर कहिए॥ ७॥

टिप्पणी—१ "प्रथम जो मैं पूछा" इति। (क) प्रथम प्रश्न यह है—'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी। ११०।४।' (ख) 'जौं मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू' से अपने ऊपर शिवजीकी प्रसन्नता जनाई। प्रसन्नताका चिह्न यह है—"धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥ पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥ उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। सुखद संत संमत मोहि भाई।" (११२।६-७।११४।६)—यह तो हुई पूर्वकी प्रसन्नता और आगेकी प्रसन्नता यह है-"हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान। बहु बिधि उमहि प्रसंसि पुनि बोले कृपानिधान। १२०।"

प० श्रीराजबहादुर लमगोड़ा—१ "पार्वतीजीने फिर इसी बातपर जोर दिया है कि रामके मानवी चरित्रों और उनके परमात्मिक व्यक्तित्वका एकीकरण किया जाय, इसीलिए आप रामचरितमानसके हर प्रसंगमें यह एकीकरण पायेंगे।—कविका कमाल है कि वह इस तरह नाटककला और महाकाव्यकलाका एकीकरण भी बड़ी सुन्दरतासे करता जाता है।

२ ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे भी तुलसीदासजीके समयमें यह प्रश्न बड़े महत्त्वका था, क्योंकि इसलामी धर्म निर्गुण ही रूपमें ईश्वरको मानता है और तुलसीदासजीके समयमें उसी मतावलम्बियोंका शासन था।—(उस समय श्रीनानकजी और श्रीकबीरजीका पथ भी जोर पकड़ रहा था। काशीजीमें कबीर साहेबकी शब्दी साखी आदिमें कई ऐसी सुननेमें आती हैं जिनमें श्रीदाशरथीरामको ब्रह्मसे अन्य माना हुआ है। उसीका खण्डन यहाँ स्वयं शङ्करजी त्रिभुवनगुरुसे कराया गया है।)

टिप्पणी—२ "राम ब्रह्म चिनमय" इति। क) ब्रह्म सब भूतोंको उत्पन्न करता है। यथा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति। तैत्ति भृगुवल्ली। १।१।" अर्थात् ये सब प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनके सहयोग से, जिनका बल पाकर ये सब जीते हैं, जीवनोपयोगी क्रिया करनेमें समर्थ होते हैं और महाप्रलयके समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, उनको वास्तवमें जाननेकी इच्छा कर। वेही ब्रह्म हैं। पुनश्च "यत सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादि युगागमे।"

ऐसा ब्रह्म नरतन कैसे धरता है? [पुनः ब्रह्म तो बृहत् है, यथा "अखंडमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।" तो उसका एक एव एकदेशीय और वह भी छोटासा शरीर कैसे हो सकता है? (मा० पी० प्र० सं०)]। जो चिन्मय है वह प्राकृत दृष्टिगोचर कैसे होता है? [जो "चिन्मय है अर्थात् योगियोंके चित्तमें जिसकी झलक किंचित् आती है, ऐसा चिन्मय ब्रह्म स्थूल (शरीर धारी) कैसे होगा? (मा० पी० प्र० सं०)]। जो अविनाशी है वह नाशवान् नरतन (मनुष्य) कैसे होता है? "सर्वरहित सब उर पुर वासी" अर्थात् जो सर्वरहित है उसका सम्बन्ध जब सबके साथ हुआ तो वह सर्वरहित कैसे हुआ? जो

सबके उरमें बसता है वह जब मनुष्य हुआ तब सबके उरपुरका वासी कैसे हुआ? [पुन, जो सर्व रहित है वह मनुष्य हो सबसे मित्रता आदि व्यवहार कैसे करेगा? वह किसीका मित्र, किसीका शत्रु कैसे होगा? सब उरवासी अलख एक पुरका वासी लक्षितगति कैसे होगा? (मा० पी० प्र० स०)] ☞ (ख) श्रीपार्वतीजीने प्रथम प्रश्नमें ब्रह्मको निर्गुण कहा था, यथा 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी।' अर्थात् ये ब्रह्मको निर्गुण ही मानती थीं। अब वे यहाँ निर्गुण ब्रह्मके लक्षण कहती हैं कि वह चिन्मय, अविनाशी, सर्वरहित और सर्व उर-पुरवासी है। पुन भाव कि पूर्व ब्रह्मको निर्गुण कहा था, अब श्रीरामजीका स्वरूप जान गई हैं, इसीसे अब श्रीरामजीको ही 'ब्रह्म चिन्मय' कहती हैं। [ऊपर जो कहा था कि 'राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ' उसका स्पष्टीकरण करके बताया कि रामस्वरूप किस प्रकार जान पड़ा। अब यह संशय नहीं रह गया कि राम रघुपति ब्रह्म हैं या नहीं। प० प० प्र०]।

३ "नाथ धरेउ नर तन" इति। (क) श्रीरामस्वरूपमें जो सन्देह था वह तो निवृत्त हो गया, यथा 'तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ'। रही बात ब्रह्मके अवतारकी, यथा 'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर। ५०', इसमें अभी सन्देह है, इसीसे ब्रह्मके अवतारका हेतु पूछती हैं। [(ख) "नर शरीर तो अनादिभूत प्रभुका है तो वहाँ नरदेह धरना कैसा? परन्तु शिवजीको कथाका प्रसंग कहनेमें यह प्रश्न बड़ा उपयोगी हुआ। क्योंकि भगवान् विष्णु भी रघुनाथजीका अवतार धारण करते हैं, अत इनमें 'नरतन धरना' कहना ठीक है, नारद शापके कारण द्विभुज हुए। साकेतविहारीका नित्य नररूप है, उनके प्रति 'नरतन धरेऊ' नहीं कहा जा सकता। वे तो जैसेके तैसे प्रकट हो गए। इनका नित्य नररूप मनुमहाराजके वरदानमें कहेंगे।" (रा० प्र०)। (ग) 'नर तन' से पाञ्चभौतिक तनका तात्पर्य है। यथा 'पृथिव्यादि महाभूतैश्च यते पादुर्भवनीति पुरुष नर इत्यमरविवेके'। भाव यह कि दिव्यरूपसे प्राकृतरूप क्यों हुए? (वै०)। 'धरेउ केहि हेतू' में भाव यह है कि ब्रह्म, चिन्मय आदि विशेषणयुक्तको तो नरतन धरनेकी कोई आवश्यकता जान नहीं पड़ती और प्रयोजनके बिना कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती। नरतन तो भवपार उतरनेके लिये है, राम तो नित्यमुक्त हैं, उन्हें तो भवपार उतरना नहीं है। (वि० त्रि०)। (घ) "यहाँ 'समुझाइ कहहु' कहा। इसीसे श्रीशिवजी श्रीरामावतारके कई हेतु बतावेंगे क्योंकि साकेतविहारी तो नराकार ही हैं सो वे तो पूर्ण रूपसे ही मनुमहाराजके हेतु प्रकट हुए। उसी लीलाको करनेके लिए जब नारायणादि भगवान्ने रामरूप धारण किया तब वे, चतुर्भुजसे द्विभुज हुए। इत्यादि सन्धि है। इसी कारण शिवजीने इस प्रश्नको अंगीकार किया।" (वै०)]। (ङ) 'मोहि समुझाइ कहहु' का भाव कि ब्रह्मके अवतारका हेतु मेरी समझमें नहीं आता। मैं जड़ हूँ, स्त्री हूँ, अज्ञानी हूँ। अतएव मुझे समझाकर कहिये जिसमें समझमें आ जाय। (च) "बृषकेतू" इति। सन्देह दूर करना धर्म है, और आप धर्मकी ध्वजा हैं, आपका धर्म पताकामें फहरा रहा है। अथवा, भाव कि मुझे समझाकर कहिए। यद्यपि मैं जड़ हूँ, अज्ञानी हूँ, तथापि आप तो वृषकेतु हैं, वृष (बैल) ऐसे अज्ञानीको ज्ञानी बनाके आप उसे अपने पताका पर बिठाये हुए हैं।

☞ रामकुमारजी कहते हैं कि "पूर्वका प्रश्न और तरहका है और वही प्रश्न यहाँ और तरहसे किया है। प्रथम श्रीपार्वतीजी यह सिद्धान्त निश्चित किए थीं कि ब्रह्म निर्गुण है वह सगुण होता ही नहीं, अतएव ब्रह्म राम कोई और है। यह बात "जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि" पार्वतीजीके इन वचनोंसे सिद्ध होती है। यह सुनकर शिवजी नाराज हुए। यथा "एक बात नहिं मोहि सुहानी। कहहि सुनहि अस अधम नर" इत्यादि। और उन्होंने निर्गुण सगुण दोनोंकी एकता कर सब सिद्धान्त दाशरथी राममें ही पुष्ट किये, यथा 'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना' से 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रकट परावर नाथ' तक कहकर तब यह कहा कि 'साई' रघुकुलमणि रामचन्द्रजी हैं। जब इस प्रकार शिवजीने समझाया तब उनको निश्चय

हुआ कि येही राम ब्रह्म हैं, यथा 'राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ'। वही अब यहाँ पार्वतीजी कह रही हैं कि 'राम ब्रह्म चिन्मय अविनाशी ' इत्यादि हैं, श्रीरामजीका यह स्वरूप है यह मैं जान गई। अब कथा और देह धारणका कारण सुननेकी इच्छा है।

नोट—प्रश्न तो बहुतसे हैं किन्तु मुख्य उनमें यही है कि 'क्या निर्गुण भी सगुण हो सकता है ?' अर्थात् वे निर्गुण और सगुणको ब्रह्मके दो अलग अलग रूप समझती थीं। इसीसे उन्हें यह सन्देह हुआ था। परन्तु शिवजीके भ्रमभंजन वचनोंसे उनका यह भ्रम कि निर्गुण और सगुण दो हैं मिट गया। वे समझ गईं कि अव्यक्त एवं प्राकृतगुणरहित होनेसे ब्रह्म निर्गुण कहलाता है और व्यक्त दिव्यगुणविशिष्ट होनेसे वही सगुण कहा जाता है। अतएव अब दूसरा मुख्य प्रश्न यह रह जाता है कि "ब्रह्म किस कारण नरतन धारण करता है ?" यह अभी समझमें नहीं आता। इसीसे वे कहती हैं कि प्रथम जो मैंने पूछा उसीको कहिए। ☞ 'प्रथम" शब्दके कई अर्थ होते हैं—"सबसे पहला नंबर १", 'पूर्व'। 'प्रथम' का अन्वय 'जो' और 'कहहु' दोनोंके साथ हो सकता है। 'जो' के साथ लेनेसे भाव होगा कि जो मैंने पूछा था कि 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी' वही कहिए। यह कहकर फिर उसी प्रश्नको यहाँ दूसरे शब्दोंमें दोहराती हैं—'नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू'। और दूसरा अर्थ यह होगा कि 'जो मैंने पूर्व पूछा है उसीको कहिये' पर उसमेंसे इस प्रश्नका उत्तर समझकर कहिए कि 'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्बरहित सब उर पुरबासी॥ नाथ धरेहु नर तन केहि हेतू'। भाव कि अन्य प्रश्नोंके उत्तर विस्तारसे समझाकर कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

'कहहु के साथ 'प्रथम' का अन्वय करनेसे अर्थ होगा कि 'जो मैंने पूछा है उसे प्रथम कहिए' अर्थात् 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी' से 'औरौ रामरहस्य अनेका। 'कहहु नाथ' तकके प्रश्नोंका उत्तर प्रथम कहिए। भाव कि 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई' उसको चाहे पीछे कहिए चाहे जब कहिए पर जो पूछा है उसको अवश्य पहिले कहिए। और इन पूछे हुओंमेंभी 'नर तन धारण' करनेका हेतु समझाकर अर्थात् विस्तारसे कहिए जिसमें समझमें आ जाय, शेषका उत्तर विस्तारसे कहनेकी आवश्यकता नहीं।

उमा बचन सुनि परम बिनीता। रामकथा पर प्रीति पुनीता॥ ८॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजीके परम विनम्र वचन सुनकर और श्रीरामकथापर उनका पवित्र प्रेम (देख)॥८॥

टिप्पणी—१ (क) 'बोलीं गिरिजा बचन बर मनहु प्रेम रस सानि। ११९।' उपक्रम है और "उमा बचन सुनि " उपसंहार है। उमाके वचन 'बर (श्रेष्ठ) हैं, 'प्रेमरसमें साने' हुए हैं और 'परम विनीत' एवं "पुनीत" हैं। 'परम बिनीत' हैं अर्थात् अत्यन्त नम्र या नम्रतायुक्त हैं। यथा 'अब मोहि आपनि *किंकरि जानी। जदपि सहज जड नारि अयानी।*", '*जौं मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू*"। (ख) "*प्रीति पुनीता*" निश्छल प्रीति, यथा 'भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती। १५३.७।', "सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत। २२९।", "सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेह समात न गाता॥ प्रीति पुनीत भरत के देखी। सकल सभा सुख लहेउ बिसेषी। २९१।१-२।" यहाँ कथामें उमाजीकी स्वार्थरहित प्रीति है और स्वार्थ ही छल है, यथा 'स्वारथ छल फल चारि बिहाई। २३०१३।' (ग) पुन उमाजीके वचन बाहरसे विनीत हैं, भीतर (हृदयमें) पुनीत प्रीति है और 'बोली गिरिजा बचन बर' यह वचनकी पवित्रता है। इस प्रकार पार्वतीजीके वचनोंमें उनकी मन, वचन और कर्मसे निश्छलता दिखाई।

नोट—१ 'पुनीत' कहकर जनाया कि प्रीति अपुनीत (अपवित्र) भी होती है। स्वार्थ रखकर जो प्रेम किया जाता है वह पवित्र नहीं है किंतु अपवित्र है। कलिमें प्रायः अपुनीत प्रीति देखनेमें आती है। यथा "प्रीति सगाई सकल गुन बनिज उपाय अनेक। कल बल छल कलिमलमलिन डहकत एकहि एक॥

५४७ ।", "दभ सहित कलिधरम सब छल समेत व्यवहार । स्वारथ सहित सनेह सब रुचि अनुहरत अचार । ५४८ ।", "धातु बाद निरुपाधि वर सद्गुरु लाभ सुमीत । देव दरस कलिकाल मैं पोथिन दुरे सभीत । ५५७ ।" (दोहावली) । इन उद्धरणोंसे पवित्र और अपवित्र प्रेम भली भाँति स्पष्ट हो जाता है । २ 'उमा' इति । 'उँ=शिव मातीति उमा' अर्थात्—उ (शिवजी) को जो जाने वह उमा । 'उमा' सबोधनका भाव कि आज मेरा कहा माननेसे तुम्हारा यह नाम सत्य हुआ । (रा० प्र०) । पूर्व 'उमा' शब्दकी व्युत्पत्ति विस्तारसे लिखी गई है । मैना माताने इनको तप करनेसे रोका था इसीसे यह नाम पड़ा था । ७३।७ 'चलीं उमा तप हित हरषाई' मे देखिए ।

दोहा—हिय हरषे कामारि तब सकर सहज सुजान ।
बहु विधि उमहि प्रसंसि पुनि बोले कृपानिधान ॥१२०॥ (क)
सोरठा—सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल ।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड ॥१२०॥ (ख)
सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब ।
सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ ॥१२०॥ (ग)
हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित ।
मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु ॥१२०॥

अर्थ—तब कामदेवके शत्रु स्वाभाविक ही सुजान श्रीशिवजी हृदयमे प्रसन्न हुए और पुन उमाजीकी बहुत तरहसे प्रशसा करके दयासागर शिवजी फिर बोले । हे भवानी ! निर्मल रामचरितमानसकी सुदर मागलिक कथा सुनो जिसे भुशुण्डीजीने विस्तारपूर्वक कही और पक्षियोंके स्वामी श्रीगरुडजीने सुनी । वह उदार (भुशुण्डि-गरुड) सवाद जिस प्रकार हुआ वह मैं आगे कहूँगा । (अभी) श्रीरामचन्द्रजीके परम सुदर पवित्र अवतार और उनके चरित सुनो । भगवान्के गुण, नाम, कथा और रूप (सभी) अपार, अगणित और अमित हैं । मैं अपनी बुद्धिके अनुसार कहता हूँ । हे उमा ! सादर सुनो ॥१२०॥

टिप्पणी—१ "हिय हरषे कामारि " इति । (क) पार्वतीजीके वचन प्रेमरससाने हैं, इसीसे शिवजीको हर्ष हुआ । यथा "सबके बचन प्रेम रस साने । सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने । ७।४७ ।" पुन , कथामे पुनीत प्रेम देखकर हर्ष हुआ । (ख) "कामारि" इति । ☞ स्मरण रहे कि कथाके प्रारम्भमे (इस प्रकरणके प्रारभसे) कवि बारबार 'कामारि' विशेषण देते आ रहे हैं । यथा "बैठे सोह कामरिपु कैसे । धरे सरीर सातरस जैसे", "तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनग आराती ।", "हिय हरषे कामारि " ऐसा करनेका तात्पर्य यह है कि कथाके वक्ताको कामरहित, शान्त, सुजान और रामभक्त होना चाहिए । जो वक्ता ऐसा होता है, उसीकी कथासे श्रोताओंका कल्याण होता है । [पजाबीजी लिखते हैं कि 'कामारि' कहनेका भाव यह है कि शिवजीने इनकी प्रशसा कुछ इनके रूप आदि पर रीझकर नहीं की वरच इनकी प्रीति देखकर । अथवा, कुतर्करूपी कामनाएँ वासनाएँ दूर कर दीं, अतएव 'कामारि' विशेषण दिया ।" बैजनाथजीका मत है कि 'शकरजी अकाम हैं, वे अकाम प्रेम जानकर प्रसन्न हुए ।' अथवा, कामारि हैं, भक्ति देखकर ही हर्षित होते हैं (वि० त्रि०) ।] (ग) "सकर सहज सुजान" इति । शकर अर्थात् कल्याणकर्ता कहा, क्योंकि पार्वतीजीका भ्रम भजनकर उन्होंने उनका कल्याण किया और कथा कहकर जगत्मात्रका कल्याण करनेको हैं । हृदयकी प्रीति देखकर हर्षित हुए, इसीसे 'सुजान' कहा । यथा "अतर प्रेम तासु पहिचाना । मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना । ३।२७ ।", "करुनानिधान सुजानु सीलु सनेह जानत

रावरो । १।२३६ ।', 'देखि दयाल दसा सब ही की । राम सुजान जानि जन जी की । २।३०४ ।", इत्यादि । (घ) 'सहज सुजान' का भाव कि किसी लक्षणको देखकर अथवा किसी और विद्यासे हृदयकी जानी हो सो बात नहीं है किन्तु आप स्वाभाविक ही जानते हैं (वि० त्रि० का मत है कि सहज सुजान हैं, अतः विनीत वचनसे सुखी होते हैं)। (ङ) 'बहु विधि उमहिं प्रसंसि पुनि' इति। 'पुनि' देहलीदीपक है। 'प्रसंसि पुनि' और पुनि बोले'। 'प्रसंसि पुनि' से जनाया कि जैसे पूर्व बहुत प्रकारसे प्रशंसा की थी, वैसे ही फिर की। यथा "धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। ११२।६।' से 'कहत सुनत सबकर हित होई। ११३।१।' तक। 'पुनि बोले' कहा क्योंकि एक बार बोलना पूर्व कह आए हैं। यथा 'करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी। ११२।४।' से लेकर 'अस संसय आनत उर माहीं। ११६।६।' तक। बीचमें पार्वतीजी बोली थीं, यथा "बोलीं गिरिजा बचन बर ''। ११६।" से "मोहि समुझाइ कहहु वृषकेतू। उमा बचन । १२०।८।' तक। अब पुनः शंकरजी बोले। (च) "कृपानिधान" का भाव कि उमाजीपर कृपा करके रामचरित सुनाया चाहते हैं। यथा 'सुनु सुभ कथा भवानि ' और 'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा। ३०।३।' पुनः [प्रशंसा करनेका भाव कि धन्य हो कि इतना कष्ट सहनेपर भी जबतक शंकाकी निवृत्ति न हुई तब तक प्रश्न करना न छोड़ा। 'कृपानिधान' विशेषण दिया क्योंकि उमाजीके बहाने जगत् मात्रपर कृपा कर रहे हैं। (रा० प्र०)]

२ "सुनु सुभ कथा भवानि ' इति। (क) कथा शुभ अर्थात् मंगलकारिणी है। यह विशेषण श्रीरामकथाके लिये बारबार आया है। यथा 'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। ७।५२।', 'यह सुभ संभु उमा संबादा। ७।१३०।', 'मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। १।१०।'] (ख) 'सुनु सुभ कथा भवानि' उपक्रम है और 'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। ७।५२।' उपसंहार है। 'यह सुभ संभु-उमा-संबादा' पर संवादकी इति है। (ग) 'रामचरितमानस बिमल' इति। 'बिमल' विशेषण अन्तमें देकर 'कथा' और 'रामचरितमानस' दोनोंके साथ सूचित किया। कथा विमल है, यथा 'बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा।३५।६।', 'बिमल कथा हरिपद दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी। ७।५२।' जिस कथामें रामचरितमानसका वर्णन है वही कथा निर्मल है एवं वही ग्रंथ विमल है। ('बिमल' में दोनों भाव हैं अर्थात् यह स्वयं अपने स्वरूपसे निर्मल है और दूसरोंके मनको निर्मल करनेवाला है)। (घ) "कहा भुसुंडि बखानि " उपक्रम है और 'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई। ७।५२।६।' उपसंहार है। तात्पर्य कि जहाँसे शिवजी कथा कहने लगे वहींसे श्रीकाकभुशुण्डीजीका भी प्रारंभ है और जहाँ शिवजीकी (कथाकी) समाप्ति है वहीं भुशुण्डीजीकी (कथाकी) समाप्ति है। काकभुशुण्डि-गरुड़-संवाद उमामहेश्वर संवादके पूर्व ही हुआ है, इसीसे शिवजी कहते हैं—"कहा भुसुंडि बखानि "। याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद पीछे हुआ, इसीसे इनको न कहा। "कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभुसंवाद । ४७।' याज्ञवल्क्यजीके इस वचनसे उमा-शम्भु-संवादका इनके संवादके पूर्व होना स्पष्ट है।

३ "सो संवाद उदार जेहि " इति। (क) ☞ जहाँ से कथा छोड़ी थी वहींसे पुनः प्रारम्भ करते हैं। 'राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥ तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥ १।११४।३-४।' पर कथा छोड़कर बीचमें श्रीरामस्वरूपका ज्ञान कराने लगे थे, अब पुनः वहींसे कथा (प्रसंग) उठाते हैं। 'सुनहु राम अवतार' यह जन्म है, शेष "हरिगुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित '' यह वही है जो 'राम नाम गुन चरित सुहाए। ' है। (ख) उदार=सुन्दर, यथा 'सुन्दर प्रोच्चमुत्कृष्ट पूजित तथा' इति त्रिलोचनः। ['उदार' के अनेक अर्थ हैं—उदार=बड़ा। अर्थात् यह संवाद बड़ा है, कहने लगेंगे तो तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर रहही जायगा। पुनः, उदार=उत्कृष्ट। क्योंकि इससे विहगनायक श्रीगरुड़जीका मोह मिटा। पुनः, उदार—पात्रापात्र और देशकालादिका विचार न करके

याचकमात्रको उसकी इच्छापूर्वक दान देनेवाला । इस सवादमें भुशुण्डीजीके वचनोंमें भक्तिका पक्ष है और भक्ति ऊँचनीच सभीका उद्धार करती है । यथा "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।" (गीता ९।३१), 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥' (गीता)। रा० प्र० कार 'उदार' को 'भुशुण्डी' का विशेषण भी मानते हैं । भाव यह कि अविद्यारूपी दारिद्र्य जिनके आश्रमसे योजनभरकी दूरीपर रहता है ऐसे उदार भुशुण्डीजीका सवाद] [(ग) "जेहि बिधि भा" अर्थात् उस संवादका कारण और जिस तरह गरुडजी भुशुण्डीजीके पास गए और पूछा, इत्यादि । यथा "तेहि केहि हेतु काग सन जाई । सुनी कथा मुनि निकर बिहाई ॥ कहहु कवन बिधि भा संबादा । दोउ हरिभगत काग उरगादा । ७।५५ ।"] (घ) "आगे कहब" अर्थात् अभी प्रथम तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ । (आगे उत्तरकांडमें पार्वतीजीके पूछनेपर कहा है । यथा 'अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू । गयउ काग पहिं खगकुलकेतू ॥' ७।५८।२ में) । [भुशुण्डि गरुड सवाद 'आगे कहूँगा', इस कथनमें श्रोताकी प्रीतिकी परीक्षा लेनेका भाव है, यह अभिप्राय उत्तरकांडके 'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई । जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई ॥ कछुक रामगुन कहेउँ बखानी । अब का कहौं सो कहहुँ भवानी ।७।५२। ६-७।' इस शिववाक्यसे स्पष्ट है । यदि वे पूछती हैं तो सिद्ध होगा कि रामकथापर विशेष प्रीति है । अतः आगे उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि 'मति अनुरूप कथा मैं भाषी । जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी । तव मन प्रीति देखि अधिकाई । तब मैं रघुपति कथा सुनाई ।' यह सवाद ही था जो प्रथम गुप्त कर रक्खा था । प० प० प्र० ।] (ङ)-"सुनहु राम अवतार चरित " इति । अर्थात् राम अवतार सुनो, अवतारके पश्चात् चरित सुनायेंगे सो सुनना । 'परम सुंदर अनघ' का भाव कि जैसे श्रीरामजी परम सुन्दर और अनघ हैं, वैसे ही उनके चरित्र भी हैं । यथा "यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा । कहहु कृपाल काग कहँ पावा । ७।५५।१ ।" सवादका सुन्दर होना तो पहले ही कह आए हैं ।

४ 'हरि गुन नाम अपार " इति । (क) इससे जनाया कि गुण, नाम, कथा, रूप और चरित्र यह सब कहेंगे । (ख) इस सोरठेका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी लोग भगवान्‌के गुण नामादिको सुनकर, उनको अनंत समझकर आश्चर्य नहीं करते । यथा "राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार । सुनि आचरज न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार । ३३ ।" यह आश्चर्य सबको होता है, इसीसे सशय हो जाता है । अतएव अंतमें यह कहकर सबके सशयकी निवृत्ति करते हैं । इसी तरह गोस्वामीजीने 'राम अनंत अनंत गुन '। ३३ ।' कहकर "एहि बिधि सब ससय करि दूरी" कहा है । (ग) "निज मति अनुसार"—११४।५ 'तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी' में देखिए । 'अपार अगनित अमित'—११४।३-४ देखिए । (घ) 'सादर सुनहु' अर्थात् मन, बुद्धि और चित्त लगाकर सुनो । कथा सादर (आदरपूर्वक) सुननी चाहिए, इसीसे चारों संवादोंमें आदरसे सुननेको कहा गया । प्रमाण ११४।२ में देखिए । सादर न सुननेसे उसका प्रभाव नहीं पडता ।

वि० त्रि०—१ 'सुनु' इति । 'अजहूँ कछु ससउ मन मोरे' इस पाँचवें विषयका उत्तर पाँचवें 'सुनु' शब्दसे सूचित करते हैं । भाव यह कि प्रसग प्राप्त बचे बचाये संशयके निरसनके लिये गरुड़ भुशुंडि-सम्वाद अन्तमें कहेंगे । २ 'कहहु पुनीत राम गुन गाथा' इस छठे विनयका उत्तर देते हैं, कहते हैं कि वह सवाद उदार है । अर्थात् इस कथाका ऐसा माहात्म्य है कि यदि काक प्रेमसे कथा कहने बैठें, तो विहंगनायक, साक्षात् प्रभुकी विभूति गरुड सुननेके लिये आ जावें । ३-'बरनहु रघुबर बिमल जस' इस सातवें विनयका उत्तर देते हैं कि 'हरि गुन नाम अपार ""। हरिके असीम होनेसे उनके नाम और गुण भी अपार हैं । कथा और रूप अगणित हैं, ऐसी अवस्थामें मति अनुसार ही कहा जा सकता है ।

कैलास–प्रकरण–समाप्त–हुआ ।

अवतार-हेतु-प्रकरण

सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाए। बिपुल बिसद निगमागम गाए ॥१॥
हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई ॥२॥

शब्दार्थ—बिपुल=संख्या या परिमाणमें बहुत अधिक। बिसद (विशद)=उज्ज्वल, निर्मल। इद-मित्थ=इद (यह) इत्थ (अनेन प्रकारेण इत्थं अर्थात् इसी प्रकार है)=यह इसी प्रकार है (ऐसा)।

अर्थ—हे गिरिजे! सुनो। श्रीहरिके चरित सुंदर हैं, अगणित हैं, अत्यंत विशद हैं और वेदशास्त्रोंने गाये हैं (एवं वेदशास्त्रोंने ऐसा कहा है) ॥ १ ॥ श्रीहरिका अवतार जिस कारणसे होता है, 'वह (कारण) यह है, ऐसा ही है', यह कहा नहीं जा सकता ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ "सुनु गिरिजा हरिचरित" इति। (क) ☞ प्रथम शिवजीने कहा कि "सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल", फिर कहा कि "सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ" तत्पश्चात् कहा कि "हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित।' 'कहौं उमा सादर सुनहु।" और यहाँ पुनः कहते हैं "सुनु गिरिजा हरिचरित···"। बारंबार 'सुनु' क्रिया भी दी है। इसका भाव यह है कि प्रथम जो रामचरितमानसकी कथा सुननेको कहा वह समष्टि-कथन है और उसके बाद व्यष्टिकथन है (अर्थात् उन्होंने प्रथम संपूर्ण मानस सुनानेको कहा, फिर उसके विभाग करके कहा) कि श्रीरामावतार-चरित सुनो, हरिके गुण, नाम, कथा और रूप सुनो, तथा हरिचरित सुनो। बालचरितको आदि देकर ये सब चरित पृथक्-पृथक् कहे हैं, इसीसे 'सुनु' क्रिया सभीके साथ लिखी। [चारों बार सुनना मानसकथाके लिये ही जानो। ये चारों, गुण नाम कथा रूप, रामचरितमानस ही में आ गए, अन्यत्र नहीं हैं। पुनः बार बार कहना ताकीद प्रकट करता है, जो वीप्साअलंकारका लक्षण है। वा, शिवजी बारबार 'सुनु' कहकर उनको सुननेके लिये सावधान कर रहे हैं। अंतमें यहाँ 'गिरिजा' संबोधन देकर जनाते हैं कि सावधानतामें गिरिके समान अचल रहना। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि "चार कल्पोंके रामावतारके हेतु कहनेका विचार है, इससे चार बार 'सुनु' क्रियाका उपयोग किया।" 'हरि चरित'—यहाँ 'हरि' नाम दिया; क्योंकि विष्णु भगवान् और क्षीरशायी श्रीमन्नारायणका भी (शापवश) श्रीरामावतार धारणकर वह लीला करना कहा जाता है और आगे श्रीरामचरितमानसमें प्रथम इन्हींके अवतारका हेतु कहा गया है। (श्रीरामतापिनी आदि के भाष्य-कार बाबा श्रीहरिदासाचार्यजीके मतानुसार श्रीरामजीको छोड़ और कोई श्रीरामावतार नहीं लेता। शाप चाहे विष्णुको हो, चाहे क्षीरशायीको, पर अवतार सदा श्रीराम ही लेते हैं, विष्णु आदि नहीं) । 'हरि' शब्द श्रीराम, श्रीविष्णु और श्रीमन्नारायण सभीका बोधक है। श्रीपार्वतीजीने तो श्रीरामके अवतारका हेतु पूछा है, परन्तु शिवजी 'हरिअवतार हेतु' कह रहे हैं। 'हरि' शब्दसे ग्रन्थकारकी बड़ी ही सावधानता सूचित हो रही है। वस्तुतः श्रीरामजी तो नित्य नराकार ही हैं; उनके सम्बन्धमें नर तन धारण करनेका प्रश्न ही व्यर्थ होता; इस बातको शिवजी चार अवतारोंकी कथा कहकर बतावेंगे। श्रीसाकेतविहारी श्रीरामचन्द्रजीका अवतार लेनेके पूर्व ही नरतनहीमें श्रीमनुशतरूपाजीको दर्शन देना कहकर यह बात निश्चय करा देंगे। (मा० पी० प्र० सं०)] (ख) "हरिचरित" इति। ☞ नाम, रूप, गुण, कथा और चरित सभीकी प्रधानता दिखानेके लिये सबोंको (एक एक जगह) आदिमें लिखते हैं। "हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित' में गुणको प्रथम कहा। 'रामनाम गुन चरित सुहाए।···' में नामको प्रथम कहा। "सुनु सुभ कथा भवानि···" में कथा को, "जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना।" में रूपको

और "सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाए" मे चरितको प्रथम कहा। (ग) "बिपुल बिसद निगमागम गाए" अर्थात् इतने अधिक हैं कि अनादि वेद कबसे गाते चले आते हैं पर अन्त नहीं मिलता। यथा "रामचंद्र के चरित सुहाए। कल्प अनेक जाहिं नहि गाए।"

वि० त्रि०—'रघुपति कथा कहहु करि दाया' इस आठवें विनयका उत्तर देते हैं। 'सुहाए' बहुवचन देकर जनाया कि एक कल्पकी कथा न कहकर कई कल्पकी कथा कहेंगे, यह दिखलानेके लिये कि लीलायें सामान्यतः एक रूपकी होती हुई भी विस्तारमें प्रत्येककी विशेषता है।

टिप्पणी—२ "हरि अवतार हेतु जेहि' ' इति। (क) पूर्वोक्त सब प्रसगोंके कहनेकी प्रतिज्ञा करके अब पार्वतीजीके प्रश्न विशेष "नाथ धरेउ नर तन केहि हेतू" जो अवातरका हेतु है, उसका उत्तर देते हैं। 'इदमित्थ' यही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता अर्थात् कहते नहीं बनता, क्योंकि अवतारके हेतु अनेक हैं। यथा "राम जनम के हेतु अनेका। परम विचित्र एक तें एका। १२२।२।", अतएव हेतुका निश्चय करते नहीं बनता।

"इदमित्थं कहि जाइ न" इति

१ भाव यह कि निश्चयपूर्वक कोई आचार्य यह नहीं कह सकता कि अमुक अवतारका अमुक ही कारण है। एकही अवतारके अनेक कारण कहे जाते हैं, फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि बस यही कारण इस अवतारके हैं अन्य नहीं। श्रीसाकेतविहारीजीका ही अवतार लेलीजिए। इसका हेतु क्या कहेंगे? मनुशतरूपा-तप, या, भानुप्रताप-रावणका उद्धार, या, सुरविप्रसत की रक्षा? फिर ये सभी कारण हैं या नहीं कौन जानता है? ग्रंथान्तरोंमे इस अवतारके लिए श्रीकिशोरीजीकी प्रार्थना भी पाई जाती है। अतएव यह कोई नहीं कह सकता कि बस यही कारण है। (मा० पी० प्र० स०)।

२ 'यही और ऐसा ही भगवदवतारका कारण है' यह इसलिये नहीं कहा जा सकता कि सामान्यतः जो कुछ कारण अवतारका देख पड़ता है उससे कुछ विलक्षणही कारण तब मालूम पडने लगता है जब अवतार लेकर भगवान् लीला करने लगते हैं। उस समय कहना तथा मानना पडता है कि अवतारका जो कारण अवतारसे पहले कहा गया वह गौण था और जो लीला देखनेसे मालूम पड़ा वह अनुमानतः मुख्य है। शका हो सकती है कि तब "मुख्य कारण ही बतलाकर अवतार क्यों नहीं होता, गौण ही क्यों विख्यात किया जाता है?", इसका उत्तर एक तो इस प्रकार हो सकता है कि "परोक्षवादो ऋषय परोक्षं हि मम प्रिय" भा० ११। इस अपनी परोक्षप्रियताके कारण भगवान् अपने अवतारके मुख्य प्रयोजनको छिपाते हैं। दूसरे, यह कि अवतारके जिन कारणोंमे तात्कालिक जगत्-हित या किसी एक प्रधान भक्तका हित समाया रहता है उन्हें (इन्हीं कारणोंसे) गौण कह सकते हैं तथा वही विख्यात भी किये जाते हैं। और जिनसे अनंत कालके लिये सर्वसाधारण जगत्का हित होता रहता है, उन्हें मुख्य कह सकते हैं और उन मुख्य कारणोंका गोपन कार्यसमाप्तितक इसलिये रहता है कि जितनी सुविधा और उत्तमता गोपनमें रहती है उतनी सर्वसाधारणमें प्रकट कर देनेसे नहीं होती।—"अवताराह्यसख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विज" (भागवत) के अनुसार हरिके अवतारोंका अन्त तो लग ही नहीं सकता, अतः परम प्रसिद्ध अवतारोंमेसे भी कुछका ही भगवत्कृपासे अपनी समझमे आए हुए गौण तथा मुख्य कारणोंको लिखता हूँ।

अवतार	गौण-कारण	मुख्य कारण
१ मत्स्यावतार	मनुको प्रलयका कौतुक दिखाना-मात्र (एक भक्त-का कार्य सिद्ध हुआ)।	मनुद्वारा सपूर्ण वनस्पतिबीजोंको संग्रह कराकर रक्षा करनेसे जगत्मात्रका हित हुआ।

अवतार	गौण कारण	मुख्य कारण
२ कूर्मावतार	मन्दराचल धारणकर समुद्रमथनद्वारा अमृत निकालना	१ शङ्करजीको कालकूट पिलाकर श्रीरामनाम तथा रामभक्तकी महिमा प्रकट करना। २ भृगु (वा दुर्वासाके) शापसे समुद्रमें गुप्त हुई लक्ष्मी को प्रकट करना। ३ ऋषि यज्ञ करनेमें सामग्रियोंके अभावका दुःख न उठावें, एतदर्थ कामधेनु और कल्पवृक्षका उत्पन्न करना, इत्यादि।
३ वराहावतार	पातालसे पृथ्वीका उद्धार तथा हिरण्याक्ष का वध।	१ यज्ञके स्रुवा-चमसादि कौन पात्र किस आकार और किस प्रमाणके होने चाहिएँ, इस विवादको मिटानेके लिये अपने दिव्य चिन्मय विग्रहसे समस्त यज्ञाङ्गोंको प्रकट करना। २ भू-देवीकी अपने अंग संगकी इच्छा पूरी करके नरका-सुर नामक पुत्रोत्पन्न करना जिसके द्वारा पूर्व वर दानिक सोलह हजार एक कुमारियोंका संग्रह कराया गया और कृष्णावतारमें उन्हें अपनी महिषी बनाया गया। इत्यादि।
४ नृसिंहावतार	प्रह्लादकी रक्षा और हिरण्यकशिपुका वध	जगत्‌हितके लिये अभिचारादि तन्त्रोंको प्रकट करना तथा भगवान् शंकरकी इच्छाकी पूर्ति।
५ वामनावतार	बलिका निग्रह जिसमें केवल इन्द्रादिका ही हित था क्योंकि मनुष्य आदि तो राजा बलिके धार्मिक राज्यसे पीडित न थे।	ब्रह्मा द्वारा तिरस्कृत एवं ब्रह्मकटाहमें रुकी हुई हैमवती गंगाका उद्धार करके उन्हें अपने पदरजके द्वारा पापनाशकत्वादि अनेक गुण प्रदान करते हुए ब्रह्माके कमंडलमें स्थापित करना था जिन्हें कि भगीरथ महाराजने अपने तपके प्रभावसे प्रवाहित किया। गंगाजीसे अनंत प्राणियोंका कल्याण होता ही रहता है।
६ श्रीरामावतार	रावण कुंभकर्णादिका अत्याचार	अपने अनेक दिव्य गुण प्रदर्शनार्थ तथा ज्ञान और धर्म्म मार्गोंको सुगम करनेके लिये, यथा 'धर्म-मार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः' अथर्वणे।
७ श्रीकृष्णावतार	शिशुपाल दन्तवक्र आदि अनेक क्षत्रियाधमों, राक्षसों आदिका विनाश करनेके लिये।	उलझनमें पड़ी हुई धर्मकी अनेक ग्रंथियोंको सुलझाने और अपने प्रेम तथा भक्तपरवशत्वादि गुणोंको प्रकट कर दिखानेके लिये।

इसी प्रकार भगवान्‌के प्रत्येक अवतारोंमें कुछ न कुछ गूढ़ रहस्य रहता ही है। (वे० भू०)।

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥ ३॥
तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥ ४॥
तस मैं सुमुखि सुनावौं तोही। समुझि परै जस कारन मोही॥५॥

शब्दार्थ—अतर्क्य=तर्कना करने योग्य नहीं, जिसमें तर्ककी गति नहीं, जिसपर तर्क वितर्क न हो सके ।=जिसके विषयमें किसी प्रकारकी विवेचना न हो सके, अचिन्त्य ।=तर्कशास्त्रसे न सिद्ध होने योग्य । यथा "मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी । ३४१।७ ।" तर्क-'अनिष्ट प्रसजक तर्क इति तत्वसधाने ।' जो युक्ति प्रतिवादीके अनिष्टकी सिद्धि करे । (मा० त० वि०) । 'जब किसी वस्तुके सबधमें वास्तविक तत्व ज्ञात नहीं होता तब इस तत्वके ज्ञानार्थ (किसी निगमनके पक्षमें) कुछ हेतुपूर्ण युक्ति दी जाती है जिसमें विरुद्ध निगमनकी अनुपपत्ति भी दिखाई जाती है । ऐसी युक्तिका 'तर्क' कहते हैं । तर्कमें शकाका भी होना आवश्यक है । अनुमान=अटकल, विचार, अदाज । विशेष दोहा ११८ (४) में देखिए । सुमुखि=सु दर मुखवाली ।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी बुद्धि, मन और वाणी तीनोंसे अतर्क्य हैं । हे सयानी ! सुनो । यह हमारा मत है ॥३॥ तो भी सन्त, मुनि, वेद और पुराण अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार जैसा कुछ कहते हैं ॥४॥ और जैसा कुछ कारण मुझे समझ पडता है, हे सुमुखि ! मैं तुमको वैसा सुनाता हूँ ॥५॥

टिप्पणी—१ (क) "राम अतर्क्य ", यथा 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।' (तैत्ति० २।४, २।६) । श्रीरामजी अतर्क्य हैं, अतएव उनके अवतारके हेतु, नाम, गुण, लीला इत्यादि सभी अतर्क्य हुए । (ख) "मत हमार अस सुनहि सयानी" इति । सयाना=चतुर, जो थोडेहीसे बहुत अच्छी तरह समझ ले । 'सयानी' का भाव कि तुम चतुर हो, इस बातको समझ सकती हो, अत समझ जाओ कि जब श्रीरामजी अतर्क्य हैं तब उनके अवतारादि कब तर्कमें आ सकते हैं ? तर्कशास्त्र द्वारा उनको कोई कैसे समझ सकता है ? [(ग) 'बुद्धि मन बानी' —मन सकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि निश्चय करती है और वाणी निश्चित सिद्धान्तको कहती है, परन्तु श्रीरामजीके विषयमें किसीकी भी बुद्धि, मन और वाणी कुछ भी नहीं कर सकते, सभी असमर्थ हैं । पुन , तार्किक बुद्धिसे अनुमान, मुनि मनसे मनन करते हैं, वेद स्वय वाणी हैं और सबसे उत्कृष्ट हैं सो ये तीनों भी तर्क नहीं कर सकते । (द्वि० स०) । श्रुति भी है-'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मन न विद्म न विजानीम• । केन० १।३ ।' चक्षुसे ज्ञानेन्द्रिय, वाग्से कर्मेन्द्रिय, 'मन विद्म• विजानीम•' से बुद्धि और चित्तका कार्य बताया । इनमेंसे किसीकी पहुँच राममें नहीं है अत श्रुतिमाताने कहा है कि 'तर्क अप्रतिष्ठ•' । वही 'राम अतर्क्य' में यहाँ कह दिया है । (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—१ 'अतर्क्य •' का भाव कि यदि तर्ककी गति होती तो उनके अवतारके विषयमें 'इदमित्थं' कुछ कहा जा सकता था । बुद्धि, मन और वाणी द्वारा ही तर्ककी प्रक्रिया होती है, सो बुद्धि आदि की गति समीप (परिच्छिन्न) पदार्थोंमें होती है । अनादि, अनन्त पदार्थ बुद्धिमें आ ही नहीं सकता । कि पुन राम सर्वाश्चर्य्यमय वेषमें (यथा 'सर्वाश्चर्य्यमय देवमनन्त विश्वतोमुखम्') । २—उमाने अपनेको 'जदपि सहज जड नारि अयानी' कहा था, अत शिवजी उनका प्रोत्साहन करते हुये 'सयानी' कहकर सम्बोधन करते हैं ।

टिप्पणी—२ ' तदपि सत मुनि वेद पुराना । " इति । (क) अर्थात् यद्यपि ये सब जानते हैं कि श्रीरामजी अतर्क्य हैं तथापि मति अनुसार कहते हैं । यथा 'सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान । नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरतर गान । १।१२ । सब जानत प्रभु प्रभुता सोई । तदपि कहें बिनु रहा न कोई ।" (ख) "जस कछु' का भाव कि भगवान्के चरित अनंत हैं, उनमेंसे ये कुछ कहते हैं । 'स्वमति अनुमाना' का भाव कि सब कहनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं है, सब अपनी अपनी बुद्धिके अनुकूल कहते हैं । सब कहनेका सामर्थ्य किसीको नहीं है, इसीसे शिवजी अपने लिये भी ऐसा ही कहते हैं । यथा "मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु । १२० ।"

३ "तस मैं सुमुखि सुनावौं " इति । (क) 'तस मैं ' 'तोही ' ' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है । अर्थात् जसा कुछ संत मुनि आदि कहते हैं वैसा और जैसा कुछ कारण मुझे समझ पड़ता है वैसा, तात्पर्य

कि सत आदिका भी मत कहूँगा और उनसे पृथक् जो मेरा मत है वह भी कहूँगा। इसपर प्रश्न उठता है कि शिवजीका इन सबोंसे पृथक् अपना मत क्या है? उत्तर यह है कि जय-विजय, जलधर, रुद्रगण और वैवस्वत् मनुका प्रकरण सब वेदपुराणोंमें मिलता है, वेदपुराणोंका कहा हुआ है। भानुप्रतापका प्रसग शिवजीने अपनी समझसे कहा है। यह प्रसग वेद पुराण और मुनियोंके ग्रथोंमे कहीं नहीं मिलता। [यह कथा केवल शिवजी जानते है क्योंकि जहा कहीं यह कथा मिलेगी वहाँ उमा शंभु सवादमे ही मिलेगी, अन्यत्र नहीं, अतएव यह मत शिवजीका है—"रामचरितसर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा। ७।११३।" (लोमशवाक्य)। (मा० पी० प्र० स०)। धनराज शास्त्री कहते थे कि भानुप्रताप अरिमर्दन-कल्पवाली कथा अगस्त्यरामायणमे है जो तिब्बतमे लामाके पुस्तकालयमे है। उसमे सप्त सोपान हैं। परन्तु उसमे राजा कुन्तल और सिंधुमतिका दशरथ और कौशल्या होना बताया गया है। विशेष ७।५७ (१–४) 'रामचरित सतकोटि अपारा' मे देखिए] (ख) 'सुमुखि' इति। श्रीरामकथाका प्रश्न किया है, अत 'सुमुखि' सबोधन किया। (ग) शिवजीने जैसी प्रतिज्ञा की वैसा ही कहा भी। प्रथम 'सत मुनि ... जस कछु कहहिं' यह है तब 'समुझि परै जस कारन मोही', इसी क्रमसे प्रथम सन्त मुनि वेदादिका कहा हुआ हेतु कहकर तब पीछे अपनी समझमें जो हेतु है वह कहेंगे।

> जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥६॥
> करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥७॥
> तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥८॥

शब्दार्थ—अनीति=नीतिके विरुद्ध, अन्याय, अत्याचार। सीदहिं-सीदना (सं० सीदति। क्रि० अ०)-दु ख पाना, कष्ट झेलना, पीडित होना। यथा 'तुलसिदास सीदत निसि दिन देखत तुम्हारि निठुराई।' (विनय), 'सीदत साधु साधुता सोचति खिलसत खल हुलसति खलई है' (वि०)। पीरा-पीडा, दु ख।

अर्थ—जब-जब धर्मकी हानि होती है। नीच अधर्मी अभिमानी असुर बढते है ॥६॥ और ऐसा अन्याय करते है कि जो वर्णन नही किया जा सकता। तथा ब्राह्मण, गौ, देवता और पृथ्वी पीडित होते हैं ॥७॥ तब-तब दयासागर प्रभु तरह तरहके शरीर धरकर सज्जनोंकी पीडा हरते है। ८॥

नोट—१ 'जब जब होइ ...' इति। (क) गीता आदिमे भी यही हेतु कहा है। यथा "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ गीता ४।७।", "इत्थं यदा-यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति ॥ तदा तदाऽवतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥" (सप्तशती ११।५४-५५)। अर्थात् जब जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है। तब तब ही, हे अर्जुन ! मैं स्वय ही (अपने सकल्पसे, सम्पूर्ण ईश्वरीय स्वभावका त्याग न करते हुए अपने ही रूपको देवमनुष्यादिके सदृश आकारमे करके उन देवादिके रूपोंमे) प्रकट होता हूँ। (गीता ४।७) जब-जब ससारमे दानवी बाधा उपस्थित होगी, तब तब अवतार लेकर मैं शत्रुओंका सहार करूँगा। (सप्तशती ११।५४-५५)। (ख) बहुत कालसे धर्मानुष्ठान चलता रहता है, फिर काल पाकर धर्मानुष्ठान करनेवालोंके अन्त करणमे कामनाओंका विकास होनेसे अधर्मकी उत्पत्ति होती है। ऐसे अधर्मसे जब धर्म दबने लगता है और अधर्मकी वृद्धि होने लगती है, तब अधम अभिमानी असुर बढ़ने लगते है। अधम अभिमानी अर्थात् प्रभुके आश्रितोंको पीडा देनेवाले। (त्रि० त्रि०)।

टिप्पणी - १ "जब जब होइ" से सूचित हुआ कि प्रभुके अवतारके लिये कोई कालका नियम नहीं है, जभी धर्मकी हानि होती है तभी अवतार होता है। इससे जनाया कि प्रभु सदा धर्मकी रक्षा करते हैं। "बाढहिं असुर ..." यह धर्मकी हानिका हेतु है। अधम अभिमानी असुरोंकी बाढ, उनकी उन्नति ही इसका कारण है। असुर धर्मकी हानि करते हैं, यथा "जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद

प्रतिकूला । १८३।४ ।", ("हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति । १८३ ।"—यही अधमता है)। किस प्रकार धर्मकी हानि करते हैं, यह आगे कहते हैं "करहिं अनीति जाइ " ।

२ "करहिं अनीति " इति । (क) 'बाढहिं असुर अधम अभिमानी' यह जो ऊपर कहा था उसके अधम और अभिमानी दोनों विशेषणोंका भाव यहाँ कहते हैं । अधम हैं, इसीसे अनीति करते हैं । बलका अभिमान है इसीसे 'सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी' । 'करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी' का उदाहरण यथा "बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं । १८३।' इत्यादि । "सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी" का उदाहरण, यथा "जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं । नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं ।१८३।६।", 'सुरपुर नितहि परावन होई ।।१८२।८", "परम सभीत धरा अकुलानी । १८४।४ ।" (यज्ञ-यागादि ही मुख्य धर्म हैं । उनके मुख्य साधन हैं ब्राह्मण और गाय । ब्राह्मणमे मन्त्र प्रतिष्ठित हैं और गौ-मे हवि प्रतिष्ठित है । देवता इनके द्वारा यज्ञ होनेसे तृप्त होते हैं । यथा 'करिहहि विप्र होम मख सेवा । तेहि प्रसंग सहजेहि बस देवा । १६६।७ ।', 'तिन्ह कर मरन एक बिधि होई । कहौं बुझाइ सुनहु अब सोई ।। द्विजभोजन मख होम सराधा । सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा ।। छुधाछीन बलहीन सुर सहजेहि मिलिहहि आइ ।१८१।' अतः असुर इन्हींको पीडा पहुँचाते हैं । अधम अभिमानीका भार पृथ्वी नहीं सह सकती अतः वह भी पीडित होती है। वि०त्रि०) । (ख) 'धरनी' को अतमें कहनेका भाव कि अनीति करना, विप्र धेनु सुरको पीडा देना, यही धर्मकी हानि' है । धर्मकी हानिसे धरणीको पीडा होती है, यथा 'अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी । परम सभीत धरा अकुलानी ।। १८४।४ ।' ("जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला" १८३।२ से 'अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी ' १८४।४ तक धर्मकी हानि इत्यादिका वर्णन है । इससे 'धर्मकी हानि' खूब समझमें आजायगी) ।

३ 'तब तब प्रभु " इति । (क) अर्थात् शरीर धारणकर धर्मकी रक्षा करते हैं, धर्मकी रक्षा करके सज्जनोंकी पीडा हरते हैं । तात्पर्य कि धर्मकी हानिसे सज्जनोंको पीडा होती है । यथा "देखत जग्य निसाचर धावहिं । करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं ।२०६।४।" । 'सीदहिं' का अर्थ पीड़ा देते हैं (वा, पीडा पाते हैं), यह यहाँ स्पष्ट कर दिया ।(ख) असुरोंके मारनेके सबधसे 'प्रभु' और विविधशरीर धरने तथा सज्जनोंकी पीडा हरनेके सबधसे 'कृपानिधि' कहा । अवतारका हेतु कृपा है ही । [विविधशरीर धारण करनेमें 'प्रभु' और सज्जनोंकी पीडा हरनेमें 'कृपानिधि' कहा । 'प्रभु' शब्द सामर्थ्यका द्योतक है । तरह तरहके शरीर धारण करना यह 'प्रभुत्व' गुण है, प्रभुताका काम है, और पीडा हरण करना दया करुणा जनाता है । (ग) ' धरि बिबिध सरीरा', यथा "मीन कमठ सूकर नरहरी । बामन परसुराम बपु धरी ।। जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो । नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो ।।६।१०६।', अर्थात् मीन, कमठ, शूकर, नृसिंह, वामन, परशुराम, कृष्ण इत्यादि, जब जैसा कारण आपड़ा वैसा शरीर धारण कर लिया । मा० त० वि० कारका मत है कि विविध रीतिसे शरीर धारण करते हैं । जैसे कि खरदूषण-संग्राममें "देखत परसपर राम" और रंगभूमि में "रहे असुर छल छोनिप बेषा । तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा ।। १।२४१" ।]

नोट—प्रभु किसलिये अवतार लेते हैं ? सज्जनोंकी पीडा हरनेकेलिये । यह यहाँ कहा । और, 'किस तरह पीडा हरते हैं ?' यह आगे कहते हैं—'असुर मारि०' ।

दोहा—असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु ।। १२१ ।।

शब्दार्थ–थापना=स्थापित करना, जमाना, अभय करके पुनः बसाना । राखना=रक्षा करना । सेतु–पुल, मर्यादा ।

अर्थ—असुरोंको मारकर देवताओंको स्थापित करते, अपने वेदोंकी मर्यादा रखते और जगत्में अपने निर्मल उज्ज्वल यशको फैलाते हैं ।—यह श्रीरामजन्मका हेतु है ।। १२१ ।।

नोट—१ ☞ मिलान कीजिए—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।८।" गीता ४)। अर्थात् साधु पुरुषोंका उद्धार और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करने तथा धर्मस्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ। मानसके दोहेमें 'असुरोंका मारना' प्रथम कहा है क्योंकि इनके नाशसे ही देवताओंकी तथा वेद-मर्यादाकी रक्षा हो जाती है और गीतामें 'परित्राणाय साधूनां' प्रथम कहा है तब दुष्टोंका नाश और धर्मसंस्थापन। हाँ, यदि हम 'हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा' जो पूर्व कहा है उसको भी यहाँ ले लें तो गीताका मानससे मिलान हो जाता है। जैसे गीतामें भगवान्‌ने अपने अवतारोंका उद्देश्य और प्रयोजन बतलाते हुये पहले 'परित्राणाय साधूनां' कहा और तत्पश्चात् 'विनाशाय च दुष्कृताम्' कहा, वैसे ही यहाँ 'हरहिं सज्जन पीरा' कहकर 'असुर मारि' कहा। 'थापहिं' का भाव कि असुर देवताओंके अधिकार छीनकर स्वयं इन्द्र आदि बन बैठते हैं, उनके लोकोंको छीन लेते हैं, इत्यादि। भगवान् अवतार लेकर उनको उनके उनके पदोंपर स्थापित करते हैं। यथा 'आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै तुलसी निहाल कै कै दिये सरखतु हैं। क० लं० ५८।

२ 'असुर मारि थापहिं सुरन्ह' का भाव यह है कि जैसे रोगीकी सड़ीहुई एक उँगलीके विषको सारे शरीरमें फैलनेसे रोकनेके लिये वैद्य उसे शस्त्रसे काटते हैं, इसी प्रकार दुष्टोंका संहार जगत्‌की रक्षाके लिये है। राजनीतिनेत्रमें इससे शिक्षा मिलती है कि प्रजाका पालन राजाका प्रधान कर्तव्य है।

टिप्पणी—१ (क) इस दोहेमें चार कार्य बताए। असुर पृथ्वीका भार हैं, उनको मारकर पृथ्वीका काम किया अर्थात् उसका भार उतारा। 'थापहिं सुरन्ह' अर्थात् देवताओंको अपने-अपने लोकोंमें बसाया, यह देवकार्य किया। 'राखहिं निज श्रुति सेतु' निजश्रुतिसेतुकी रक्षा करते हैं यह अपना काम करते हैं, और जग 'बिस्तारहिं बिसद जस' संसारमें यश फैलाते हैं, यह संतोंका कार्य करते हैं, क्योंकि 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।।', 'एक कल्प एहिं हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। सुररंजन सज्जन सुखद हरि भंजन भुबि भार। १३९।' अवतार लेकर प्रभु ये चार कार्य करते हैं। (ख) 'असुर मारि' का कारण पूर्व कह आए कि "बाढहिं असुर", असुर बढ़ गए हैं, अतः उनका नाश करते हैं। 'सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी' के सम्बन्धसे 'थापहिं सुरन्ह' और 'जब जब होइ धरम कै हानी' के सम्बन्धसे 'राखहिं निज श्रुति सेतु' कहा। (ग) "निज श्रुति सेतु" का भाव कि वेदकी मर्यादा भगवान्‌की बाँधी हुई है। श्रुतिसेतुका प्रमाण, यथा "कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू। छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू॥ ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ग्यान बिग्याना॥ सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सब भागा ॥१।८४', 'श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह जगदीस ।२।१२६।' (घ) 'जग बिस्तारहिं' का भाव कि अपने निर्मल यशसे जगत्‌को पवित्र करते हैं। यथा 'चरित पवित्र किये संसारा'। (ङ) ☞ यहाँ सब अवतारोंका हेतु संक्षेप से कह दिया। आगे इसीको विस्तारसे कहेंगे।

नोट—३ 'राम जन्म कर हेतु' इति। (क) चौ० ६, ७, ८ में साधारणतः सब अवतारोंका हेतु कहा, अब दोहेमें केवल श्रीरामजन्मका हेतु कहते हैं। (रा० प्र०)। (ख) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि "भूभारहरणादि हेतु तो सभी अवतारोंमें हैं, परन्तु उज्ज्वल यश रामावतार ही में है। यथा, मच्छ, कच्छ, वराहमें यश थोड़ा, स्वरूपता सामान्य, निषिद्ध कुल, नृसिंह भयङ्कर ऐसे कि देवगण भी उनके सम्मुख न जा सकें, वामन स्वरूपताहीन, छली, याचक, परशुराम अकारण क्रोधी, कृष्णमें चपलता छलादि, बौद्ध वेदनिंदक, इत्यादि सबके यशमें दाग है। अमल यश राम अवतारहीमें है। यथा वाल्मीकीये—'सत्येन लोकान् जयति दीनान्दानेन राघवः। गुरूञ्छुश्रूषया वीरान् धनुषायुधि शत्रुवान्॥ सत्यन्दानन्तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्। विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे।' पुनः भागवते—'यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥' (भा० ९।११।२१)। पुनः हनुमन्नाटके—

'महाराज श्रीमन् जगति यशसा ते धवलिते पय पारावार परम पुरुषोऽयं मृगयते । कपर्दी कैलास कुलिशभृद् भौम करिवर कलानाथ राहु कमलभवनोऽहसमधुना ।"

[नोट—उपर्युक्त श्लोक हमें वाल्मीकीय और हनुमन्नाटकमें नहीं मिले। हाँ ' वाल्मीकीयमें किष्किंधा काड सर्ग २४ में ताराके वचन श्रीरामप्रति ये अवश्य है—'त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च जितेन्द्रियश्चोत्तमधार्मिकश्च। अक्षीणकीर्तिश्च विचक्षणश्च क्षितिक्षमावान्क्षतजोपमाक्ष ॥ त्वमात्तबाणासनबाणपाणिर्महाबल सहननोपपन्न । मनुष्यदेहाभ्युदय विहाय दिव्येन देहाभ्युदयेनयुक्त ।।"]—अर्थात् श्रीरामजी सत्यसे लोकोंको, दानसे दीनोंको, सेवासे गुरुजनोंको और शस्त्रयुक्त वे धनुषसे युद्धमे वीरोंको जीत लेते हैं। सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, शौच, सरलता विद्या और गुरुशुश्रूषा श्रीरामजीमें दृढतासे रहते हैं। श्रीरामजीके)जिस यशने सब दिशाओं को व्याप्त कर दिया ऐसे, पापका नाश करनेवाले, निर्मल, जिन (श्रीरामजी) के यशको ऋषिलोग राजदरबारमें अद्यापि गाते हैं उन (श्रीरामजी) के इन्द्रकुबेरादिक जिसको नमन करते हैं ऐसे चरणकमलकी मैं शरण हूँ। हे श्रीमान् महाराज ! आपके यशसे जब (समस्त) जगत् श्वेतवर्ण हो जाता है, तब परमपुरुष भगवान् विष्णु (अपने) क्षीरसागरको खोजते हैं। तथा शिवजी कैलासको, इन्द्र ऐरावतको, राहु चन्द्रमाको और ब्रह्माजी हसको खोजते हैं। तात्पर्य कि क्षीरसागर कैलासादि पदार्थ श्वेतवर्ण होनेसे आपके यश (के श्वेतवर्ण) मे मिल जाते हैं, अत उनके स्वामियोंको खोजना पडता है। अर्थात् आपका यश सर्वत्र इतना फैला हुआ है। [वालीवध के पश्चात् तारा श्रीरामजीसे कहती है कि—आपको यथार्थ जानना और प्राप्त करना कठिन है, आप जितेन्द्रिय, अत्यन्त धार्मिक, अविनाशी कीर्तिवाले, चतुर पृथ्वीके समान क्षमावान्, आरक्तनेत्र, धनुर्बाण धारण किए हुए, अत्यन्त बलवान्, सुदर देहवाले (अर्थात्) मनुष्य शरीरमे होनेवाली उन्नतिकी अपेक्षा दिव्य देहमें होनेवाली उन्नति (अर्थात् सौंदर्य, धैर्य, वीर्य, शील आदि सपूर्ण सद्गुणों) से युक्त है।]

४ कोई कोई कहते हैं कि भारतकी दशा तो ऐसी ही है फिर अवतार क्यों नहीं होता ? 'सीदहिं बिप्रधेनु सुर धरनी' और 'जब जब होइ धरम कै हानी' ये शब्द विचार करने योग्य हैं। आज वह दशा भारत की नहीं है, विप्र और धेनु अधिकसे अधिक इन दोको, नहीं तो केवल 'धेनु' को ही पीडित कह सकते हैं। 'सुर' और 'विप्र' पर अभी हाथ नहीं लगा। जब देव-मदिर अच्छी तरह उखाडे जावेंगे तब वे पीडित कहे जा सकेंगे जैसे किंचित् औरगजेब आदिके समयमे हुआ, उसके साथ ही उनका राज्य चलता हुआ। धर्मका, श्रीरामनामसे अभी निर्वाह होता जाता है। (मा०पी०प्र०स०)। अग्रेजोंने जब भारतवर्षकी करोडों गायों, बैलों आदिकी (इस दूसरी जर्मन लडाईमे) हत्या कर डाली तब तुरत ही उनके हाथोंसे शासन निकल गया और अब ससारमे उनका मान भी बहुत घट गया—यह तो प्रत्यक्ष हम सबोंने देख लिया। आगे भी जिस शासनमे धर्मकी ग्लानि होगी, वह अपने ही पापोंसे नष्ट हो जायगा।

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं ॥१॥
रामजनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका ॥२॥

अर्थ—वही यश गागाकर भक्त भवसागर पार होते हैं। कृपासिन्धु भगवान् भक्तोंके लिये शरीर धारण करते हैं ॥१॥ श्रीरामचन्द्रजीके जन्मके अनेक कारण हैं जो एकसे एक बडे ही विचित्र है ॥२॥

नोट 'भगत भव तरहीं'। यहाँ तरनवालोंमें भक्त प्रधान है, अतएव यहा केवल उन्हींका नाम दिया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि वे ही तरेंगे और नहीं। और लोग भी जो यश गावेंगे तरेंगे। यथा 'करिहौं चरित भगत सुखदाता ॥ जेहि सुनि सादर नर बड भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी। १।१५२।', 'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। ससारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं। ६।१०६।'

टिप्पणी—१ (क) 'सोइ जस गाइ भगत०' । भाव कि अपने समयके सज्जनोंकी राक्षसजन्यपीडा हरते हैं—'हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा', और यश विस्तारकर आगेके भक्तोंकी भवपीडा हरण करते हैं, इसीसे 'जनहित तनु धरहीं' कहा। तन धारण करनेके संबधसे 'कृपासिंधु' कहा—'मुख्य तस्य हि कारुण्य ।' पुन, भक्तोंपर भगवान्‌की भारी कृपा है, अत कृपासिंधु (सागर) कहा। (ख) पहिले कहा कि 'तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥' और फिर यहाँ कहा कि 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं । कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं' । सज्जनोंकी पीडा हरनेके संबधसे वहा 'कृपानिधि' और जनके लिए तन धरनेसे यहाँ 'कृपासिंधु' कहा। भाव यह है कि कृपासिंधु जनके लिए तन धरते हैं और तन धरकर पीडा हरते हैं। दोनों जगह कृपाका समुद्र उनको कहा। ऐसा करके जनाया कि वर्तमान और भविष्य दोनों पर भगवान्‌की समान कृपा है। (ग) 'राम जनम के हेतु अनेका' अर्थात् जन्म जन्मके हेतु अलग अलग हैं और अनेक हैं। ☞ जन्म, कर्म और कथा सभी विचित्र हैं और सभी अनेक हैं, यथा 'राम जनमके हेतु अनेका ।०' (१), 'एहि बिधि जन्म कर्म हरि केरे । सुदर सुखद बिचित्र घनेरे' (२), और 'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी ॥ कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी' । ☞ (घ) पूर्व 'असुर मारि थापहि सुरन्ह०' इस दोहेमें जन्मका एक हेतु कहा है, इसीसे अब कहते हैं कि (यही एक हेतु नहीं है) 'रामजन्मके हेतु अनेका ।' किसी कल्पमें शाप कारण है, जैसे कि जलधरकी स्त्रीके शापसे तथा नारदके शापसे अवतार हुए और किसी कल्पमें भक्तपर कृपा करके अवतार लेते हैं। जयविजय भक्त थे, उनके लिये अवतार लिया, यथा 'एक बार तिन्ह के हित लागी । धरेउ सरीर भगत अनुरागी' । प्रति अवतारके लिये भिन्न भिन्न कारण होते हैं।

☞ २ (क) यहा केवल भक्तोंका ही यश गाकर तरना लिखा है, इसीसे लकाकाडमें 'सभीका यश गाकर' भव तरना लिखा है यथा 'जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं । गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं' ॥ (नहीं तो समझा जाता कि जो रामभक्त नहीं हैं वे न तरेंगे)। (ख) भगवान् भक्तोंके लिये शरीर धारण करते हैं, भक्त भगवान्‌का यश गाते हैं, यह दोनोंकी अन्योन्य प्रीति कही।

जनम एक दुइ कहौं बखानी । सावधान सुनु सुमति भवानी ॥३॥

अर्थ—मैं दो एक जन्म बखानकर कहता हूँ। हे भवानी! हे सुन्दर बुद्धिवाली! सावधान होकर सुनो ॥३॥

टिप्पणी—१ 'जनम एक दुइ कहौं' अर्थात् अनेक हेतुओंमेंसे एक दो जन्मोंका हेतु कहता हूँ। पुन भाव यह कि सब अवतारोंका मुख्य हेतु कह दिया, इसीसे अब दो-एक ही कहूँगा, बहुतका प्रयोजन नहीं है। 'एक दो' (दो-एक) लोकोक्ति है, 'थोडे' का सूचक है।

नोट—१ यहा शिवजीने चार कल्पकी कथाएँ कही हैं। इनमेंसे तीन संक्षेपमें और एक (श्रीसाकेत-बिहारीजीका अवतार) विस्तारसे। यहाँ कहते हैं कि 'जनम एक दुइ कहौं बखानी' और चौथी कथाके संबधमें कहेंगे कि 'कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी' । इस कारण कुछ लोग 'एक दुइ' से (एक + दो) तीनका अर्थ कर लेते हैं। अर्थात् तीन जन्मके हेतु साधारण ही संक्षेपसे कहूँगा और श्रीरामजन्मका कारण विस्तारसे कहूँगा। पुन, सतीतनमें यह शका हुई थी कि विष्णु आदि रामावतार लेते हैं, पर ये विष्णु भी नहीं हो सकते, यथा 'बिष्नु जो सुर हित नर तनु धारी । सोउ सर्बज्ञ । खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी । १।५१ ।' इसीसे श्रीशिवजीने श्रीरामावतारके सम्बन्धसे विष्णु और क्षीरसायी भगवान्‌के रामावतारको भी कहा। (मा० पी० प्र० स०)।

२ यहाँ तीन जन्मका कारणमात्र बखानकर कहनेकी प्रतिज्ञा है। इनमें कारणमात्र कहा गया है। यथा (१) 'एक बार तिन्हके हित लागी । धरेउ सरीर भगत अनुरागी १२३।२ ।' यहाँ जय विजयके लिये

अवतार लेनेका कारणमात्र कहा। (२) 'एक जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नर देहा। १२४।३।' यहाँ जलधरके लिये भी अवतार लेनेका कारणमात्र कहा गया। (३) 'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। १३९।' यहाँ नारद शाप होना अवतारका कारणमात्र कहा गया। और आगे भानुप्रताप-रावणवाले कल्पमें जन्मका कारण और लीला विस्तारपूर्वक स्वमति अनुकूल कहनेकी प्रतिज्ञा है। यथा 'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी।' से 'लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहौं मति अनुसारा। १।१४१।' तक। 'बखान कर कहने' और 'विस्तारसे कहने' का इस तरह भेद दिखाया। (वे० भू०)।

वि० त्रि० का मत है कि तीन न कहकर 'एक दुइ' कहनेका भाव यह है कि एक बार तो अपने सेवकोंके हितके लिये शरीर धारण किया और दो बार शापके कारण जन्म ग्रहण किया था।

३ 'सावधान सुनु' इति। भाव कि—(क) यही तुम्हारी प्रधान शङ्का है। (प० रा० कु०)। (ख) 'सावधान' अर्थात् चित्त लगाकर विवेचन करती हुई, मनमें गुनती विचारती हुई जिसमें समझमें आ जाये, एकाग्रचित्त होकर। (मा० पी० प्र० सं०)। (ग) यदि सावधानतापूर्वक न सुनोगी तो तुम्हें भी कदाचित् यह भ्रम हो जाय कि इन तीन जन्मोंका कारण जिनके लिये कथन किया गया वे ही श्रीअयोध्याजीमें श्रीरामरूपसे अवतार लेते होंगे। [यह भाव बाबा श्रीहरिदासाचार्यके श्रीरामतापनीयोपनिषद्भाष्यके आधारपर कहा जाता है। उनका मत है कि शाप चाहे विष्णुभगवान्को हो, चाहे श्रीमन्नारायणको, पर श्रीरामावतार सदा साकेतसे ही होता है। इस मतके पोषणमें 'राम जनम के हेतु अनेका', 'तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा।' 'राम जनम कर हेतु। १२१।', 'जेहि लगि राम धरी नर देहा' (जलंधर रावणके लिये), 'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। १३९।' (नारद शापके लिये), इत्यादि उद्धरण भी दिये जाते हैं]।

टिप्पणी—२ 'सुमति' का भाव कि—(क) बुद्धिमान्को बोध थोड़े ही कथनसे हो जाता है। पुनः, (ख) हम कथा थोड़ेहीमें संक्षेपसे कहेंगे, अतः सावधान होकर सुमतिसे सुनो जिसमें इतने ही कथनसे समझमें आ जावे। यथा 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई। ३।१५।१।' (ग) तुम्हारी बुद्धि सुन्दर है अतः तुम इतनेमें ही समझ लोगी (सावधानसे मन और चितकी सावधानता कही)।—'ताते मैं अति अलप बखाने। थोरे महुँ जानिहहिं सयाने। १।१२।६।' [पुनः 'सुमति भवानी' कहकर शिवजी भगवतीके 'जदपि सहज जड़ नारि अयानी' इस दैन्यका मार्जन करते हैं। (वि० त्रि०)]

द्वारपाल हरिके प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ ॥४॥
बिप्र स्राप तें दूनौ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई ॥५॥
कनककसिपु अरु हाटक लोचन। जगत बिदित सुरपति मद मोचन ॥६॥

शब्दार्थ—द्वारपाल = द्वाररक्षक, ड्योढ़ीदार दरबान। स्राप (शाप) अहितकारकामनासूचक शब्द, बददुआ। तामस तमोगुणयुक्त जिसमें प्रकृतिके उस गुणकी प्रधानता हो जिसके अनुसार जीव क्रोधादि नीच वृत्तियोंके वशीभूत होकर आचरण करता है। कनककसिपु (कनक=हिरण्य + कशिपु)-हिरण्यकशिपु। हाटक लोचन (हाटक हिरण्य + लोचन = अक्ष) = हिरण्याक्ष।

अर्थ—हरि (विष्णु भगवान्) के दोनों ही प्रिय द्वारपालों जय और विजयको सब कोई जानता है ॥४॥ उन दोनों भाइयोंने विप्र (श्रीसनकादिक ऋषि) के शापसे तामसी असुर शरीर पाया ॥५॥ (जो) हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष (हो) इन्द्रके मद (गर्व) को छुड़ानेवाले जगत्में प्रसिद्ध हुए ॥६॥

टिप्पणी—१ 'द्वारपाल हरिके प्रिय दोऊ।' इति। (क) दोनों ही भगवान्के द्वारपाल हैं और दोनों ही प्रिय हैं। स्वामीका काम करनेमें निपुण तथा स्वामिभक्त होनेसे 'प्रिय' कहा। (भक्तमालमें भी कहा है—

"लक्ष्मीपति प्रीनन प्रवीण महा भजनानंद भक्तनि सुहृद ।" (नाभास्वामी), 'पार्षद मुख्य कहे षोडश स्वभाव सिद्ध सेवा ही की रिद्धि हिय राखी बहु जोरि कै। श्रीपति नारायण के प्रीनन प्रवीन महा ध्यान करें जन पालें भाव दृगकोरिकै ॥ सनकादि दियो शाप प्रेरिकै दिवायो आप प्रगट है कह्यो पियो सुधा जिमि घोरि कै। गही प्रतिकूलताई जोपै यही मन भाई या तें रीति हद गाई धरी रग बोरि कै ॥' (प्रियादासजी। टीका कवित्त २५)। (ख) 'जान सब कोऊ' अर्थात् सब जानते हैं, इसीसे विस्तारसे नहीं कहते, पुराणोंमें इनकी कथा लिखी है और पुराण जगत्‌में प्रसिद्ध है। 'जय' बड़े हैं, इससे उनको पहले कहा। [ग्रंथकारकी रीति है कि दो भाइयोंका नाम जब साथ देते हैं तो प्रथम बड़ेको तब छोटेको क्रमसे कहते हैं। यथा 'नाम राम लछिमन दोउ भाई।४।२।२।', 'नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाई ४।६।१।', 'नाथ नील नल कपि द्वौ भाई। ५।६०।१।' तथा यहाँ 'जय अरु विजय', 'कनककसिपु अरु हाटक लोचन' में जयको और कनककशिपुको प्रथम रखकर जनाया कि जय बड़ा भाई है वही हिरण्यकशिपु हुआ। विजय और हिरण्याक्ष छोटे हैं। (हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष जुड़वाँ भाई (यमज) हैं। प्रथम हिरण्याक्ष निकला, पीछे हिरण्यकशिपु पर वीर्यकी स्थितिके अनुसार हिरण्यकशिपु बड़ा माना जाता है)। (मा० पी० प्र० स०)]

२ "विप्र स्राप तें दूनौं भाई। " इति। (क) ☞ इस प्रकरणमें सनकादिको मुनि, ऋषि या ज्ञानी विशेषण नहीं दिया किन्तु 'विप्र' या 'द्विज' ही कहा है, क्योंकि इन्होंने वैकुण्ठमें भी जाकर मननशीलता न कर क्रोध करके शाप दिया। ['विप्र' क्रोधमें भर जाते हैं और शाप दिया ही करते हैं। जैसे कि विना सोचे समझे भानुप्रतापको। ऋषियों, ज्ञानियोंको तो मननशील और संतस्वभाव होना चाहिए, पर इन ब्रह्मज्ञानी महर्षियोंने शील, दया, शान्ति और क्षमा आदिको त्यागकर यहाँ कोप किया। अतएव उनको ऋषि आदि न कहकर 'विप्र' कहा। इससे ग्रंथकारकी सावधानता प्रकट हो रही है। श्रीमद्भागवतमें भी शाप देनेके पश्चात् जब भगवान्‌का वहाँ आगमन हुआ तब उन्होंने भी मुनियोंसे ब्राह्मणोंकी महिमा गाई है और अंतमें मुनियोंको 'विप्र' संबोधन किया है। यथा 'शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्राः। भा० ३।१६।२६।' भा० ७।१ में नारदजीने भी श्रीयुधिष्ठिरजीसे इनको विप्र शाप होना कहा है। यथा 'मातृष्वसेयो वश्चैद्यो दन्तवक्त्रश्च पाण्डव। पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ। ३२।' अर्थात् तुम्हारे मौसेरे भाई शिशुपाल और दंतवक्र भगवान् विष्णुके प्रमुख पार्षद थे। ये विप्र शापके कारण ही अपने पदसे च्युत हो गए थे। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सनकादिककी उपमा चारों वेदोंसे दी गई है, यथा 'रूप धरे जनु चारिउ वेदा', इसलिये उन्हें विप्र कहा। विप्रशाप अन्यथा नहीं हो सकता; यथा 'किये अन्यथा होइ नहिं बिप्रसाप अति घोर।'] (ख) 'विप्रशापसे' असुर हुए, इस कथनका भाव यह है कि इन्होंने असुर शरीर पानेका कर्म नहीं किया था, ये शापसे असुर हुए। ब्राह्मणके शापसे असुर देह मिली, इसीसे तमोगुणी शरीर हुआ। ('दूनौं भाई' से स्पष्ट किया कि जय और विजय भाई-भाई थे।)

नोट—'विप्रशाप' इति। श्रीमद्भागवत स्कंध ३ अ० १५-१६ में श्रीब्रह्माजीने इन्द्रादि देवताओंसे शापकी कथा यों कही है—"हमारे मानस-पुत्र सनकादिक सांसारिक विषय भोगोंको त्यागकर यदृच्छापूर्वक लोकोंमें विचरते हुए अपनी योगमायाके बलसे एक बार वैकुण्ठधामको गए।...इस अपूर्व धामको देखकर अतिशय आनंदित और हरिके दर्शनके लिए एकान्त उत्सुक हुए। छः ड्योढ़ियाँ लाँघकर जब सातवीं कक्षामें पहुँचे तो वहाँ द्वारपर दो द्वारपाल देख पड़े। ऋषियोंने उनसे पूछनेकी कुछ भी आवश्यकता न समझी, क्योंकि उनकी दृष्टि सम है, वे सर्वत्र ब्रह्मही को देखते हैं। ज्योंही मुनि सातवीं कक्षाके द्वारसे भीतर प्रवेश करने लगे दोनों द्वारपालोंने (इन्हें नग्न देख और बालक जान हँसते हुए) बेत अड़ाकर इन्हें रोका। 'सुहृत्तम हरिके दर्शनमें इससे विघ्न हुआ' ऐसा जानकर वे मुनि सर्पके समान क्रोधान्ध हुए।" और उन्होंने शाप दिया कि 'तुम दोनों रजोगुण एवं तमोगुणसे रहित मधुसूदन भगवान्‌के चरणकमलोंके निकट वास

करनेके योग्य नहीं हो। अपनी भेद दृष्टिके कारण तुम इस परम पवित्र धामसे भ्रष्ट होकर जिस पापी योनिमें काम, क्रोध और लोभ ये तीन शत्रु हैं उसी योनिमें जाकर जन्म लो'। ये ही दोनों द्वारपाल जय विजय हैं। इस घोर शापको सुनकर उन दोनोंने मुनियोंके चरणोंपर गिर उनसे प्रार्थना की कि ' हम नीचसे नीच योनिमें जन्म लें तथापि यह कृपा हो कि हमको उन योनियोंमें भी मोह न हो जिससे हरिका स्मरण भूल जाता है।' ठीक इसी समय भगवान् लक्ष्मीजी सहित वहाँ पहुँच गए। मुनि दर्शन पाकर स्तुति करने लगे। फिर भगवान्ने बड़े गूढ़ वचन कहकर उनका आश्वासन किया कि ये दोनों हमारे पार्षद हैं, तुम मेरे भक्त हो, तुमने जो दण्ड इनको दिया, मैं उसे अंगीकार करता हूँ आप ऐसी कृपा करें कि ये फिर शीघ्र मेरे निकट चले आवें '। भगवान्का क्या तात्पर्य है यह ऋषिगण कुछ न समझ सके और उनकी स्तुति करते हुए बोले कि 'यदि ये दोनों निरपराध हैं और हमने व्यर्थ शाप दिया हो तो हमें दण्ड दीजिए '। भगवान्ने कहा कि तुमने जो शाप दिया इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं, यह मेरी इच्छासे हुआ है। मुनियोंके चले जानेपर भगवान् अपने प्रिय पार्षदोंसे बोले कि 'तुम डरो मत। मैं ब्राह्मणके शापको मेट सकता हूँ, पर मेरी यह इच्छा नहीं क्योंकि यह शाप मेरी ही इच्छासे तुमको हुआ है। मुझमें वैरभावसे मन लगाकर शापसे मुक्त होकर थोड़े ही कालमें तुम मेरे लोकमें आ जाओगे।'

[जय विजयको यह शाप क्यों हुआ? इसका वृत्तान्त यह है कि एक बार भगवान्ने योगनिद्रामें तत्पर होते समय इनको आज्ञा दी कि कोई भीतर न आने पावे। श्रीरमाजी आईं तो उनको भी इनने रोका, यह न सोचा कि भला इनके लिये मनाही हो सकती है? श्रीलक्ष्मीजीने उस समय ही इनको शाप दिया था। यथा 'एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा। पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते।' (यह भगवान्ने स्वयं जय-विजयको बताया है। भा० ३।१६।३०।)]

ये दोनों कश्यपकी स्त्री दितिके पुत्र हुए। बड़ेका नाम हिरण्यकशिपु और छोटेका नाम हिरण्याक्ष हुआ। हिरण्यकशिपुकी कथा 'रामनाम नरकेसरी ' दो० २७ में देखिए। हिरण्याक्षकी कथा नीचे दी गई है। दूसरे जन्ममें वे विश्रवा मुनिके वीर्यद्वारा केशिनीके पुत्र, रावण कुम्भकर्ण नामक हुए। फिर वेही द्वापरमें शिशुपाल और दन्तवक्र हुए जो अर्जुनके मौसीके पुत्र हैं। भगवान् कृष्णके चक्र प्रहारसे निष्पाप हो शापसे मुक्त हुए।'—(स्कंध ७ अध्याय १)। वराहावतार और हिरण्याक्ष वधकी कथा भा० ३ अ० १३, १८ और १९ में इस प्रकार है कि सृष्टिके आदिमें जब ब्रह्माजीसे मनु शतरूपाजी उत्पन्न हुए तब उन्होंने ब्रह्माजीसे आज्ञा माँगी कि हम क्या करें। ब्रह्माजीने प्रसन्न हो उन्हें सन्तान उत्पन्न करके धर्मसे पृथ्वी पालन करनेकी आज्ञा की। मनुजीने उनसे कहा कि बहुत अच्छा। पर हमारे और प्रजाके रहनेका स्थान हमें बतलाइए क्योंकि पृथ्वी तो महाजलमें डूबी हुई है। ब्रह्माजी चिन्तित हो विचार करने लगे। इतनेमें उनकी नासिकासे सहसा एक अँगूठेभरका शूकर निकल पड़ा जो उनके देखते देखते पलमात्रमें पर्वताकार हो गर्जा। ब्रह्माजी और उनके पुत्र मरीचि आदि ऋषि चकित हुए। अन्ततोगत्वा उन्होंने यह निश्चय किया कि यज्ञपुरुषने हमारी चिन्ता मिटानेके लिए अवतार लिया है और उनकी स्तुति की। तब वाराह भगवान् प्रलयके महाजलमें प्रवेश कर डूबी हुई पृथ्वीको अपने दाँत पर उठाये हुए रसातलसे निकले।

इतनेमें समाचार पा हिरण्याक्षने गदा उठाये हुए सामने आ राह रोकी और परिहास करते हुए अनेक कटु वचन—(ओहो! जलचारी शूकर तो हमने आज ही देखा। पृथ्वी छोड़ दे)—कहे। परन्तु भगवान्ने उसके वचनोंपर कान न दे उसके देखते देखते पृथ्वीको जलपर स्थितकर उसमें अपनी आधार-शक्ति देकर तब दैत्यसे व्यंग्य वचन कहते हुए उसका तिरस्कार किया। गदा त्रिशूलादिसे दैत्यने घोर युद्ध किया। फिर अपने माया बलसे छिपकर लड़ता रहा। भगवान्‌भी गदा और गदा छूट जानेपर चक्रसुदर्शनसे प्रहार करते रहे। अन्तमें उन्होंने लीलापूर्वक उसे एक तमाचा ऐसा मारा कि उसका प्राणान्त हो गया।

टिप्पणी ३ 'कनककसिपु अरु हाटकलोचन'''' इति । (क) कनककशिपु ज्येष्ठ भ्राता है, इसीसे उसे प्रथम कहा । यथा 'हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः । भा० ७।१।३६" । (ख) 'सुरपति मद मोचन' । अर्थात् उन्होंने इन्द्रको जीत लिया । ☞ भक्तिके कारण जय विजयकी प्रसिद्धि कही—'जान सब कोऊ' । भगवान्‌के प्रिय द्वारपाल हैं, सब पार्षदोंमें अपनी भक्तिके कारण मुख्य हैं । राक्षसोंकी प्रसिद्धि उपद्रवसे होती है, अतः राक्षस होनेपर 'जगत विदित सुरपति मद मोचन' कहकर उनकी प्रसिद्धि कही । सुरपतिको गर्व था कि मेरे समान ऐश्वर्य और बल-पराक्रममें कोई नहीं है । यथा "मोहि रहा अति अभिमान । नहिं कोउ मोहि समान । ६।११२ ।'—इस मदको उन्होंने चूर्ण कर डाला । (इन्द्र वीररसके अधिष्ठाता हैं । वि० त्रि०) ।

बिजई समर बीर बिख्याता । धरि बराह बपु एक निपाता ॥ ७ ॥
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा । जन प्रहलाद सुजस बिस्तारा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—बिजई (विजयी) = सबको जीतनेवाले; जय पाने वाले । बपु = शरीर । विख्यात = प्रसिद्ध, मशहूर । निपाता = नाश वा वध किया । नरहरि (नृहरि = नृसिंह । बराह = शूकर, सुअर ।

अर्थ—संग्राममें विजयी और वीरोंमें विख्यात हुए । भगवान्‌ने एकको (हिरण्याक्षको) वराहका शरीर धरकर मारा । ७ । फिर नृसिंह हो दूसरेको मारा और भक्त प्रह्लादका सुन्दर यश फैलाया । ८ ।

टिप्पणी—"बिजई समर' " इति । (क) समरमें विजयी कहनेका भाव कि छल-कपट करके विजय नहीं प्राप्त की किन्तु सामने लड़कर जीता है । इन्द्रके गर्वको तोड़ा और कभी किसीसे हारे नहीं, अतः विजयी और विख्यात वीर कहा । (ख) 'धरि बराह बपु एक निपाता' यहां छोटे भाई हिरण्याक्षको प्रथम कहा, बडे को पीछे कहते हैं, कारण कि छोटा भाई पहले मारा गया और बड़ा पीछे । अतएव क्रमभंग करके कहा ।

२ 'होइ नरहरि दूसर ' इति । (क) पूर्व कहा था कि "तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा" अतः विविध शरीरोंमेंसे यहाँ कुछ (दो) कहे—एक वराह, दूसरा नृसिंह । [मिलान कीजिए—'हतो हिरण्य-कशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा । हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता सौकरं वपुः । भा० ७।१।४०' में ज्येष्ठका नाम पहले दिया और छोटेका पीछे । गोस्वामीजीने बात वही कही पर क्रम पलटकर । यह विशेषता है । जिसका वध पहले हुआ उसे पहले कहा । 'नरहरि' शब्दसे हिरण्यकश्यपका ब्रह्मसृष्ट प्राणीसे अवध्य होना सूचित किया । (ख) 'जन प्रह्लाद सुजस बिस्तारा' इति । अर्थात् प्रह्लादजीकी रक्षाके लिये नृसिंहरूप धारण करके राक्षसको मारा । पूर्व कहा था कि—"जग बिस्तारहिं बिसद जस '' ॥ सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं ।" अर्थात् भगवान् अपना यश फैलाते हैं जिससे भक्तजन भवपार हो जायँ । और, यहाँ कहते हैं कि "जन प्रह्लाद सुजस बिस्तारा" अर्थात् अपने भक्तका यश फैलाया । भाव यह है कि जैसे अपना यश फैलाते हैं, वैसे ही साथ ही साथ अपने भक्तका भी यश फैलाते हैं, भक्तसुयश विस्तृत करनेका भी तात्पर्य यही है कि उनका सुयश गान भी भवपार करता है । दोनोंके यशगानका एक ही फल वा माहात्म्य जनाया—'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं' (श्रीगोस्वामी नाभाजीभी लिखते हैं—'अग्रदेव आज्ञा दई भगतन्ह को जसु गाउ । भवसागर के तरन कहँ नाहिंन आन उपाउ ।')

नोट—१ "जन प्रहलाद " इति । (क) 'जन' अर्थात् दास वा भक्त प्रह्लादजी ब्रह्मण्य, शील संपन्न, सत्यसंध, जितेन्द्रिय, सबके प्रिय, अति सुहृद, भद्रपुरुषोंके चरणोंमें दासवत् विनीत, दीनोंपर पिताके समान दया करनेवाले, बराबरवालोंसे भाई समान स्नेह करनेवाले, गुरुजनोंमें ईश्वरभाव रखने वाले, मान और गर्वसे रहित, विषयोंसे निःस्पृही, आसुरभावरहित इत्यादि भक्तोंके गुणोंसे सम्पन्न थे । वे भगवत् प्रेममें कभी रोते, कभी हँसते, कभी गुण गान करते, लज्जा छोड़कर नाचने लगते । वे सर्वत्र उस प्रभुको ही देखते

थे, भगवद्भक्तिको ही पुरुषका एकमात्र सर्वश्रेष्ठ स्वार्थ मानते थे और यही सहपाठियों तथा पिताको उपदेश करते थे। वे निष्काम भक्त थे, वर माँगना वे मजूरोंका काम समझते थे। भगवान् सर्वव्यापक हैं, वे जड़ और चेतन सभीमें एक समान व्याप्त हैं, यह तो प्रह्लाद होने प्रत्यक्ष कर दिखाया। यथा 'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः। अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥ भा० ७।८।१८।' अर्थात् अपने सेवकके वचन सत्य करने तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी व्यापकता दिखानेकेलिये सभाके भीतर उसी स्तंभसे श्रीहरि बड़ाही विचित्र रूप धारण कर प्रकट हुए।

(ख) 'सुजस बिस्तारा' इति। यथा "यस्मिन्महद्गुणा राजन् गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः। न तेऽधुनापि पीयन्ते यथा भगवतीश्वरे। ३४। यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप। प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः। ३५।" (भा० ७।४), अर्थात् पंडितजन उनके महान् गुणों को बारंबार ग्रहण करते हैं तथा भगवान्के समान उनके गुण अभीतक तिरोहित (अप्रसिद्ध) नहीं हुए हैं। देवगण उनके प्रतिपक्षी होनेपर भी सभामें साधुपुरुषोंकी चर्चा चलनेपर भगवद्भक्त प्रह्लादका दृष्टान्त दिया करते हैं।

(ग) श्रीप्रह्लादजीका सुयश किस प्रकार विस्तार किया और उनको क्या सुयश मिला ? उत्तर—उनकी भक्ति प्रकट करनेके लिये यह किया कि जब हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजीको मार डालनेके लिये नाना उपाय किये, जैसे कि एक साथ ही अनेक विकराल असुरोंसे उनके संपूर्ण मर्मस्थानोंमें त्रिशूलोंसे प्रहार कराया, दिग्गजोंसे रौंदवाया, विषधर सर्पोंसे डसवाया, अभिचार कराया, पर्वतोंपरसे ढकेलवाया, अनेकों मायाओंका प्रयोग कराया, विष पिलाया, उपवास कराया, अग्निमें जलनेको डाला, पर्वतोंके नीचे दबवाया, जलमें डुबाया, इत्यादि अनेक यातनाएँ दीं,—तब भी उसको मारा नहीं, किन्तु उसके सब उद्यम व्यर्थ कर दिये, जिससे संसारको उनकी भक्ति प्रकट हो जाय कि इतनी यातनाएँ दी जानेपर भी वे भक्तिसे न डगे और किंचित् भय न माना। उनको यह सुयश मिला कि वे भक्तिशिरोमणि माने जाते हैं, भगवान्ने स्वयं उनको भक्तोंमें आदर्शस्वरूप माना है और वर दिया है कि जो तुम्हारा अनुकरण करेंगे वे मेरे भक्त हो जायँगे, यथा 'भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः। भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्। भा० ७।१०।२१।' चराचरमें भगवान् व्याप्त हैं, यह परिचय एवं विश्वास सबको इन्हींके चरित्रसे हुआ, यह यश इन्हीं को मिला। यथा "प्रेम बदौं प्रहलादहि को जिन्ह पाहन ते परमेश्वर काढ़े। क० ७।१२७।" भगवान्ने अपना परम वात्सल्य अपने 'क्षन्तव्यमंग यदि आगमने विलम्बम्। भा० ७।१०।' (अर्थात् दैत्यके किये हुए विषम कांडको, उसकी की हुई दारुण यातनाओंको देखते हुए भी मुझे जो आनेमें विलंब हुआ उसे क्षमा करो।) इन शब्दोंसे दिखाया है। नृसिंह भगवान्के क्रोधको शान्त करने का सामर्थ्य किसीमें न था, लक्ष्मीजी भी देखकर भाग गईं, भक्तशिरोमणि प्रह्लादने ही जाकर उनको शान्त किया। इत्यादि सब यश प्रह्लादका ही है। (पद्मपुराणकी कथामें किंचित् भेद है वहाँ लक्ष्मीजीकी प्रार्थना पर क्रोध शान्त हो गया।)

दोहा—भए निसाचर जाइ तेइ महा बीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट सुर बिजई जग जान॥१२२॥

अर्थ—वेही जाकर महा वीर बलवान कुंभकर्ण और रावण (नामक) राक्षस हुए, जो बड़े ही योद्धा और देवताओंको पराजय करनेवाले हुए। उन्हें जगत् जानता है॥१२२॥

टिप्पणी—१ (क) हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष 'सुरपतिमदमोचन' थे और रावण कुंभकर्ण 'सुरबिजई' हुए, इससे (एकमें 'सुरपति' और दूसरेमें 'सुर' कहकर) सूचित किया कि रावण-कुंभकर्ण हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षकी अपेक्षा कम बली थे। ☞ यहाँ दिखाते हैं कि काल पाकर उत्तरोत्तर बल कम होता गया। यहाँ तक जयविजयके तीनों रूपोंका उत्कर्ष गाया है। जब वे जय विजय थे तब उनको सब

कोई जानता था, यथा 'जय अरु विजय जान सब कोऊ'। जब वे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए तब भी वे जगत्‌में विदित हुए, यथा 'जगत विदित सुरपति मद मोचन'। और जब रावण कुम्भकर्ण हुए तब भी उनको जगत्‌भर जानता था, यथा 'सुर बिजई जग जान'।

नोट—१ दोहेके पूर्वार्धका अर्थ उत्तरार्ध में है। "भए निसाचर" के 'निशाचर' शब्दसे त्रेतायुग मे रावण-कुम्भकर्णका होना जनाया। सत्ययुगमें दैत्य हुए त्रेतामें निशाचर हुए और द्वापरमें क्षत्रिय हुए। पूर्वार्ध मे 'महाबीर बलवान' कहा, इसीसे उत्तरार्धमें सुभट सुरविजई' कहा। महावीर है, अत सुभट हैं। अतएव सुरविजयी हैं। बलवान् हैं, सुरविजयी होनेसे जगत्‌भर जानता है। (मा० पी प्र० सं०)।

२ यहाँतक शिवजीने इनके दोही जन्म, जो आसुर योनिमें हुए, कहे। यद्यपि आगे चौपाईमें तीन जन्मतक आसुरी शरीर पाना कहते हैं, तथापि उन्होंने तीसरे जन्मके नाम नहीं कहे। कारण कि तीसरा जन्म द्वापरमें हुआ। भगवान् कृष्णके हाथोंसे मरकर वे मुक्त हुए। परंतु श्रीपार्वतीजीने 'राम अवतार' का प्रश्न किया है और शिवजीका संकल्प भी 'रामजन्म' ही है, यथा 'राम जनमके हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका॥ जनम एक दुइ कहौं बखानी।' श्रीरामजन्महेतुकी प्रतिज्ञा है, अतएव 'राम-अवतार' तक कहकर छोड़ दिया, आगेकी कथाकी आवश्यकता नहीं। श्रीराम-अवतारका हेतु यहीं समाप्त हो गया। (मा० पी० प्र० स०)।

मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना† ॥१॥
एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी ॥२॥

शब्दार्थ—मुकुत (मुक्त)=मोक्षको प्राप्त, जन्ममरणादिसे रहित। हते=मारे जाने पर। प्रवाना (प्रमाण)=प्रमाण, मर्यादा, मान। (श०सा०)। यथा 'सुनहि सूद्र मम बचन प्रवाना।७ १०६।' लागी=लिये।

अर्थ—भगवान्‌के (हाथोंसे) मारे जानेपर (भी वे) मुक्त न हुए (क्योंकि) ब्राह्मण (श्रीसनकादिक जी) के वचनका प्रमाण तीन जन्मका था॥ १॥ भक्तानुरागी प्रभुने एक बार उनके हितार्थ (नर) देह धारण किया॥ २॥

टिप्पणी—१ 'मुकुत न भए हते भगवाना' इति। (क) भाव कि भगवान्‌के हाथसे वध होनेसे मुक्ति होती है, (यथा 'रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।४।२", "निर्बानदायक क्रोध जाकर । निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी। ३।२६।"), पर इनकी मुक्ति न हुई, इसका कारण दूसरे चरणमें बताते हैं कि 'तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना'। द्विजके वचनका प्रमाण तीन जन्म राक्षस होनेका था। भगवान् ब्रह्मण्यदेव हैं, यथा 'प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना। २०९।४।', इसीसे उन्होंने ब्राह्मण वचनको प्रमाण रक्खा, अपना प्रमाण न रक्खा। (देखिये, भगवान् चाहते तो ब्रह्मशापको मिटा देते, शापका अंगीकार न करते तो शाप उनके पार्षदोंका बाल भी बाँका न कर सकता, पर उन्होंने ब्राह्मणोंके वचनोंका प्रमाण करनेके लिये 'अपनी रीति छोड़ दी'। यथा 'भगवाननुगावाह यात मा भैष्टमस्तु शम्। ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे। भा० ३।१६।२९।' अर्थात् भगवान्‌ने जय विजयसे कहा, 'तुम लोग यहाँसे जाओ। मनमें किसी प्रकारका भय न करो। तुम्हारा कल्याण होगा। मैं सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी ब्रह्मतेजको मिटाना नहीं चाहता, क्योंकि वह मेरा मान्य है।—इसी तरह भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा रखनेकेलिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दी थी जिसमें ब्राह्मण और भक्तका अनादर न हो। मुक्ति न होनेका कारण हरिइच्छा है। उन्होंने श्रीसनकादिक ऋषियोंको प्रेरितकर तीन जन्मका शाप दिलाया था। यथा "एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः । शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्रा। भा० ३।१६।

† प्रमाना—१७२१, छ०, को० रा०। प्रवाना—१६६१, १७०४, १७६२।

२६"। भगवान्‌ने कहा, 'हे ब्राह्मणो! इन्हें जो शाप तुमने दिया उसे मेरी ही प्रेरणासे हुआ समझो। अब ये शीघ्र ही दैत्ययोनिको प्राप्त होंगे)। (ख) 'भगवाना' का भाव कि यद्यपि गतिदाता हैं तथापि ब्राह्मणके वचनको सत्य करनेके लिये गति न दी। जीवको गति वा अगति देनेवाले भगवान् ही हैं, यथा 'काल करम गति अगति जीवकी सब हरि हाथ तुम्हारे।' (विनय)। (ग) 'तीनि जनम द्विज बचन' का भाव कि एक तो इन्होंने ब्राह्मणोंको न माना, दूसरे भगवान्‌को न माना कि वे ब्रह्मण्य हैं और तीसरे अपनी ओर भी दृष्टि न की कि हम कौन हैं। न सोचा कि हम भगवान्‌के पार्षद हैं, हमको ऐसा करना योग्य नहीं। इन तीन अपराधोंसे तीन जन्मतक असुर शरीर होनेका शाप दिया। [शापका प्रमाण यथा "रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः। पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाशवत ॥ ३७ ॥ एवं शप्तौ स्वभवनात्पतन्तौ तौ कृपालुभिः। प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वां त्रिभिर्लोकाय कल्पताम्। भा० ७।१।३८' अर्थात् तुम दोनों भगवान् मधुसूदनके रजोतमोगुणहीन चरणकमलोंमें रहने योग्य नहीं हो, अतः तुम शीघ्र ही अत्यंत पापमयी असुरयोनिको प्राप्त हो जाओ। जब जयविजय अपने स्थानसे भ्रष्ट होने लगे तब उन कृपालु मुनियोंने कहा—"तुम्हारे तीन जन्मोंके द्वारा यह शाप समाप्त होकर पुनः वैकुण्ठलोककी प्राप्तिमें सहायक हो।"

यहाँ यह शंका प्रायः की जाती है कि 'जय विजय तो बड़े प्रिय भक्त थे, इनकी तो शापसे रक्षा करनी चाहिए थी?' इसका समाधान ऊपर आ चुका कि यह सब तो भगवान्‌ने स्वयं लीला करनेकी इच्छासे किया कराया। भक्तमालमें भी प्रियादासजीने ऐसा ही कहा है, यथा 'सनकादि दिया शाप प्रेरिकै दिवायो आप प्रगट है कह्यो पियो सुधा जिमि घोरिकै। गही प्रतिकूलताई जो पै यही मन भाई याते रीति हद गाई धरी रंग बोरिकै'। दूसरा समाधान यह है कि इनके उद्धारके लिए भगवान्‌ने स्वयं अवतार लिए, यही नहीं वरंच ये हरिको इतने प्रिय हैं कि इन्होंने तो तीन ही बार जन्म लिया और भगवान् चार बार अवतीर्ण हुए। एक बार हिरण्याक्षके लिए, दूसरी बार हिरण्यकशिपुके लिए, तीसरी बार रावण कुम्भकर्णके लिए और चौथी बार शिशुपाल और दन्तवक्रके निमित्त। तीसरा समाधान यह है कि भगवान्‌ने अपने भक्तोंको तीनों जन्मोंमें बड़ाई दी है। इससे स्पष्ट है कि वे बराबर भक्तोंका प्रतिपालन करते रहे।

टिप्पणी २—"एक बार तिन्हके ' इति। (क) भगवान्‌ने तो जयविजयके हितार्थ वराह, नृसिंह राम और कृष्ण चार शरीर धरे, तब 'एक बार' शरीर धरना कैसे कहा, 'चारि बार तिन्ह के हित लागी' कहना चाहिए था? इस शंकाका समाधान यह है कि (पार्वतीजीने श्रीरामजीके अवतारका प्रश्न किया है अतः) शिवजी श्रीरामजन्मका हेतु कहते हैं, यथा 'रामजन्म के हेतु अनेका। जनम एक दुइ कहौं बखानी'। जयविजय शापसे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए, फिर वे ही रावण और कुंभकर्ण हुए जो श्रीरामावतारके कारण हुए। रामजन्मके हेतु तक कहनेका प्रयोजन है, इसीसे आगेके जन्मका हाल न कहा (श्रीरामजन्म इनके तीन जन्मोंमेंसे दूसरे जन्मके लिये एक ही बार हुआ। अतः 'एक बार' कहना ठीक है। श्रीरामजीका अवतार 'एक बार' हुआ और केवल रावणकुंभकर्णके वधके लिये हुआ। 'एक बार' यहाँ इसी अवतारके लिए आया है,)। (ख) शंका—अवतार जय विजयके हितार्थ कहते हैं पर उनका हित तो नहीं हुआ अर्थात् वे मुक्त न हुए तब हित लागी' कैसे कहा? समाधान—'तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना' से कविने शंकाका समाधान कर दिया है। वध करके प्रमाणतक पहुँचा देना यही हित है। वराह और नृसिंहरूपसे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुको मारकर कुंभकर्ण रावण तक पहुँचाया, फिर श्रीरामजीने कुंभकर्ण रावण वध करके (उनके वह शरीर छुड़ाकर) दन्तवक्र शिशुपाल तक पहुँचाया (अर्थात् रावणकुंभकर्णका शरीर छुड़ाकर उनको तीसरा शरीर लेनेका उपाय कर दिया, जिससे उनकी शीघ्र मुक्ति हो जाय)। तब श्रीकृष्णजीने उनको मारकर मुक्त किया। (ग) "धरेउ सरीर भगत अनुरागी"—शरीर धारण करनेका कारण 'भगत अनुरागी'

बताया। जय विजय भक्त थे और प्रिय थे ही। यथा 'तेहि धरि देह चरित कृत नाना। सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी। ११३।'

वि० त्रि०—'भगत अनुरागी' इति। भगवान्‌ने भक्तानुरागी शरीर धारण किया अर्थात् रामावतार हुआ। रामावतार भक्तानुरागी अवतार है। यथा 'ध्वज कुलिस अंकुस कंजजुत बन फिरत कंटक किन लहे।' भगवान्‌के इन चार चिह्नोंसे युक्त चरणोंके वनमें फिरते हुए कण्टकविद्ध होनेका योग किसे हुआ? अर्थात् सिवा रामावतारके और किसी अवतारमें ऐसा योग नहीं हुआ। क्योंकि रामावतार भक्तानुरागी अवतार है। ये भक्तपर इतना अनुराग करते हैं कि उनके लिये वन-वनमें फिरे चरणोंमें काँटे गड़े। यह देखकर ज्योतिषी चकित हुए। यथा 'राजलखन सब अंग तुम्हारे। देखि सोच अति हृदय हमारे॥ मारग चलहु पयादेहि पाएँ। ज्योतिष झूठ हमारेहि भाएँ॥'

कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता॥३॥

एक कलप एहि बिधि अवतारा। चरित्र पवित्र किए संसारा॥४॥

शब्दार्थ—'कस्यप अदिति'—कश्यपजी वैदिक कालके ऋषि हैं। एक मन्वन्तरमें सारी सृष्टि इन्हीं की रची हुई थी। ये सप्तर्षियोंमेंसे भी एक हैं। अदिति और दिति आदि इनकी बहुतसी स्त्रियाँ थीं जिनसे इन्होंने सृष्टिकी वृद्धि की। अदिति इन्द्र सूर्य आदि देवताओंकी माता है और दिति दैत्योंकी। किसी किसी कल्पमें कश्यप अदिति ही मनु शतरूपा एवं दशरथ-कौशल्या हुआ करते हैं।

अर्थ वहाँ (उस अवतारमें) कश्यप और अदिति पिता माता हुए जो श्रीदशरथ और श्रीकौशल्याजी (के नामसे) प्रसिद्ध हुए।३। एक कल्पमें इस प्रकार अवतार लेकर प्रभुने अपने चरित्रोंसे संसारको पवित्र किया।४।

टिप्पणी—१ (क) 'तहाँ' अर्थात् उस कल्पमें। (रास कश्यप और अदिति पिता-माता नहीं हैं वरंच वे दशरथ-कौशल्यारूप हुए तब पिता माता विख्यात हुए। यथा 'कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा॥ ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा। ११८७।' (ख) 'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता' कहनेका भाव कि सब कल्पोंमें वा सदा 'कश्यप अदिति' ही दशरथ कौशल्या नहीं होते, इस कल्पमें वे ही दशरथ कौशल्या हुए, अन्य कल्पोंमें और पिता माता होते हैं, जैसे स्वायंभुव मनु और शतरूपा हुए। यदि सब कल्पोंमें कश्यप अदिति ही पिता माता होते तो सर्वत्र कश्यप अदितिको पिता माता कहनेका प्रयोजन ही कौन था? कश्यप-अदितिने श्रीरामजीके लिये बड़ा तप किया तब पिता माता हुए, यथा 'कस्यप अदिति महा तप कीन्हा। । ११८७।' पुनः भाव कि 'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता' कहकर इसे भी श्रीरामावतारका हेतु बताया; श्रीरामजी पुत्र हों, इसलिए उन्होंने तप किया था, इसी हेतु श्रीरामजीने अवतार लिया।

२ "एक कलप एहि बिधि " इति। (क) ☞ अब इस कल्पकी कथा समाप्त की। (हिरण्यकशिपु आदि सब एक ही कल्पमें हुए। वराह, नृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण ये चारों अवतार एक ही कल्पमें हुए)। (ख) 'चरित्र पवित्र किए ' इति। 'असुर मारि थापहि सुरन्ह राखहि निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु। १२१।' इस दोहेको यहाँ चरितार्थ करते हैं।—कुंभकर्ण और रावण इन असुरोंको मारा जो सुरविजयी थे। इन्होंने देवताओंके लोकोंको छीन लिया था, अतः इनको मारकर देवताओंको अपने-अपने लोकोंमें बसा दिया, यह 'थापहि सुरन्ह' को घटित किया। इनके मरनेसे श्रुतिसेतुकी रक्षा हुई, यह 'पालहिं श्रुति सेतु' हुआ। रहा 'जग बिस्तारहि ' वह यहाँ चरितार्थ हुआ—'चरित्र पवित्र किए संसारा'।

इति वैकुण्ठाधीशपार्षद जयविजयार्थ अवतार समाप्तः।

* जलंधरके लिये अवतार *

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे ॥५॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरै न मारा ॥६॥
परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥७॥

अर्थ—एक कल्पमें सब देवता जलंधरसे हार गए। (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि तब) देवताओंको दुःखी देखकर ॥५॥ शिवजीने बहुत भारी घोर युद्ध किया, पर वह दैत्य महाबलवान् था, मारे न मरता था ॥६॥ उस दानवराजकी स्त्री पतिव्रता थी। उसीके बल (प्रभाव) से त्रिपुरासुरके नाशक महादेवजी भी उस दानवको न जीतते थे ॥७॥

टिप्पणी—१ 'एक कलप सुर देखि दुखारे। ' इति। (क) प्रथम भक्तोंके हेतु अवतार होना कहा, यथा 'एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी॥' अब देवताओंके लिये अवतार होना कहते हैं। जलंधरने देवताओंको जीतकर उनके सब लोक छीन लिये थे, इसीसे देवता दुःखी हुए। यथा 'तेहि सब लोक लोकपति जीते। भए देव सुख संपति रीते॥ १।१८२।१।' (ख) 'सब हारे' अर्थात् तैंतीस कोटि देवता हार गए। (ग) 'सुर देखि दुखारे' का भाव कि भगवान् देवताओंका दुःख नहीं देख सकते, यथा 'जय जय नाथ सुरन्ह दुखु पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो ॥ ६।१०६।' (घ) जलंधरकी कथा आगे है।

२ 'संभु कीन्ह संग्राम ' इति। (क) भाव कि जब सब देवता हार गए तब शिवजीने संग्राम किया। (ख) 'अपारा' कहकर जनाया कि देवता लोग शीघ्र हार गये थे और शिवजी बहुत दिनों तक लड़ते रहे। संग्राम वर्षों जारी रहा। कोई पार न पाता था। (ग) 'महाबल मरै न मारा' अर्थात् महाबलवान् है, इससे मार नहीं मरता। पुनः भाव कि शिवजी उसके वधके लिये उसे भारी शस्त्रास्त्र मारते हैं पर सब शस्त्रास्त्र व्यर्थ जाते हैं, दानव मरता नहीं।

३ "परम सती असुराधिप नारी। " इति। (क) अर्थात् इसीसे असुर महाबली है। (ख) 'तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी' उसी बलसे असुरको पुरारी नहीं जीतते। अर्थात् धर्मकी मर्यादाका नाश नहीं कर सकते। भाव यह कि वह असुर अपने शरीरके बलसे नहीं लड़ रहा है किंतु अपनी स्त्रीके पातिव्रत्य धर्मके बलसे लड़ता है। [सती स्त्रियोंके पातिव्रत्य धर्मका बल बड़ा भारी होता है। जलंधरकी कथामें प्रमाण देखिये]। पुनः 'तेहि बल' से जनाया कि वह दानव शंकरजीके सदृश बलवान् नहीं है, वह केवल सतीत्व धर्मकी रक्षासे बचता है, नहीं तो शिवजी उसे जीत लेते। यहाँ 'प्रथम उल्लास अलंकार' है—"और वस्तुके गुणन ते और होत बलवान"। [(ग) 'परम सती' तो गिरिजाजी भी हैं। जलंधरकी स्त्री वृन्दाकी जोड़में गिरिजाजीको क्यों न कहा ? कारण कि उनका सामर्थ्य श्रीपार्वतीजीके सतीत्वसे नहीं है वे तो स्वयं सहज समर्थ भगवान् हैं और जलंधरको केवल उसकी स्त्रीके पातिव्रत्यका बल और सामर्थ्य है, उसमें स्वयं यह सामर्थ्य न था कि त्रिपुरासुरके मारनेवालेका सामना कर सकता। अतएव जलंधरके साथ उसकी स्त्रीके पातिव्रत्यका बल भी कहा और शिवजीके साथ श्रीगिरिजाजीके पातिव्रत्यको न कहा। (मा० पी० प्र० सं०)]
(घ) 'पुरारी' का भाव कि यह असुर त्रिपुरासुरसे भी अधिक बलवान् है। त्रिपुरको तो शिवजीने एकही बाणसे मार गिराया था, यथा 'मार्यो त्रिपुर एकही बान' (विनय), पर इसे नहीं जीतने पाते। [अथवा, त्रिपुरनाशकको जलंधरका मारना क्या कठिन था ? परंतु उसका वध करनेसे पातिव्रत्यधर्मकी मर्यादा न रह जाती, इस धर्मसंकटमें पड़कर शिवजी उसे न मार सके। यहाँ एक ओर तो पातिव्रत्यका प्रभाव दिखाया और दूसरी ओर मर्यादाकी रक्षा दिखाई। (मा० पी० प्र० सं०)]

"जलधर"—यह शिवजीकी कोपाग्निसे समुद्रमे उत्पन्न हुआ था। जनमतेही यह इतने जोरसे रोने लगा कि सब देवता व्याकुल हो गए। ब्रह्माजीके पूछनेपर समुद्रने उसे अपना पुत्र बता उनको दे दिया। ब्रह्माजीने ज्योंही उसे गोदमे लिया उसने उनकी दाढी (ठुड्ढी) इतने जोरसे खींची कि उनके आँसू निकल पडे। इसीसे ब्रह्माने उसका नाम जलधर रखा। इसने अमरावतीपर कब्जा कर लिया। इन्द्रादिक सभी देवता इससे हार गए। अन्ततोगत्वा श्रीशिवजीने इन्द्रका पक्ष ले उससे बडा घोर युद्ध किया। उसको न जीत पाते थे क्योंकि उसकी स्त्री वृन्दा, जो कालनेमिकी कन्या थी, परम सती थी। सतीत्वका बल ऐसा ही है, यथा "यस्य पत्नी भवेत्साध्वी पतिव्रतपरायणा, स जयी सर्वलोकेषु सुमुखी सधनी पुमान्। कम्पते सर्वं तेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रत मह, भर्त्ता सन्न सुरज भुक्ते रममाणो पतिव्रताम्। धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनक पुन। धन्य. स च पति श्रीमान् येषा गेहे पतिव्रता॥' (मा० त० वि०)

यह जानकर कि शिवजी उसके पतिसे लड रहे हैं वृन्दाने पतिके प्राण बचानेके लिए ब्रह्माकी पूजा प्रारंभ की। जब शिवजीने देखा कि जलधर नहीं मर सकता तब उन्होंने भगवान्का स्मरण किया। भगवान्ने सहायता की। वे वृन्दाके पास पहुँचे [किस रूपसे? इसमे मतभेद है। कहते हैं कि वृन्दाने पूर्व जन्ममे पति रूपसे भगवान्को वरण करनेके लिए तपस्या की थी और उन्होंने उसे वैसा वर भी दिया था। सो इस प्रकार सिद्ध हुआ]।—वृन्दाने उन्हें देखते ही पूजन छोड दिया। पूजन छोडते ही जलधरके प्राण निकल गए।

सतीत्वभंगके प्रसगकी कथाएँ पुराणोंमे कई तरहकी हैं।

भगवान्ने यह छल किया कि वे तपस्वी यती बनकर उसके घरके पास विचरने लगे। वृन्दाने उनसे पूछा कि हमारा पति कब जय पावेगा? यती बोले कि वह तो मार डाला गया। तब वृन्दाने कहा कि तुम झूठ कहते हो। हमारा पातिव्रत्य रहते हुए उसे कौन मार सकता है? यतीने आकाशकी ओर दृष्टि की तो दो वानर जलंधरके शरीरको विदीर्ण करते हुए देख पडे। थोडीही देरमे शरीरके टुकडे वृन्दाके समीप आ गिरे। यह देख वह विलाप करने लगी 'तब यतीने कहा कि इसके अंगोंको तू जोड दे तेरे पातिव्रत्यधर्मसे वह जी उठेगा। उसने वैसा ही किया। अगोंके स्पर्श करते ही भगवान्ने उसमे प्रवेशकर जलंधर रूप हो उसका व्रत भग किया, तभी इधर जलधरको शिवजीने मारा। वृन्दाको यह बात तुरत मालूम हुई। जब उसने शाप दिया तब भगवान्ने अपने लिए पूर्व जन्मकी तपस्याकी कथा कहकर उसका सन्तोष किया। शाप यह था कि जलधर रावण होकर तुम्हारी पत्नी हरेगा, इत्यादि। अरण्यकाड 'अजहु तुलसिका हरिहि प्रिय। दोहा ४।' मे कथा दी गई है। १२४ (५) मे भी देखिए।

दोहा—छल करि टारेउ तासु व्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहि जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥ १२३॥

अर्थ—प्रभुने उसका पातिव्रत्य छलसे भगकर देवताओंका काम किया। जब उसने यह मर्म जाना तब कोप करके शाप दिया॥१२३॥

टिप्पणी—१ (क) 'छल करि' का भाव कि परम सती है, उसका पातिव्रत्य भग करना प्रभुके लिये भी साध्य न था, इसीसे साक्षात् (प्रत्यक्ष रूपसे) उसके व्रतको न टाल सके, छल करना पडा। भगवान्ने भोगकी इच्छासे नहीं किन्तु सुरकार्यके लिये असुराधिप नारिसे भोग किया। (ख) छल करना दोष है। अतएव 'प्रभु' शब्द देकर उन्हें दोषसे निवृत्त किया। वे समर्थ हैं, अत छल करनेका अधर्म उनको नहीं हो सकता। यथा 'समरथ कहुँ नहि दोषु गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥१।६९।' (पुन परोपकारमे दोष नहीं लगता, प्रभुने देवताओंको आर्त्त देख उनका सकट दूर किया, अतएव 'सुर कारज कीन्ह' भी कहा।)

१-

(ग) 'सुर कारज कीन्ह' अर्थात् इधर व्रत छूटा, उधर शिवजीने असुरको मारा जिससे देवताओंका दुःख मिटा। (घ) 'जब तेहिं जानेउ' इति। ☞ कैसे जाना ? भगवान्ने मर्म जनाया जिसमें वह उन्हें शाप दे और वे लीला करें; नहीं तो जिस मर्मको भगवान् छिपावें उसे जाननेको कौन समर्थ हो सकता है ? यथा "मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ। रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ। १९५।', 'निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा।२४४।८', 'लछिमनहू यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना।३।२४।५', 'छन महि सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना। ७।६।७', 'तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु पिताहूँ।७।७६।५', इत्यादि। जिसको प्रभु कृपा करके स्वयं जना दें वही जान सकता है। यथा "जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननिहारा॥ सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।...तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन। २।१२७।" तब जलधरकी स्त्री बिना जनाये कैसे जान सकती थी ? [प्रभुको तो लीला करनी थी, यह सब उनकी इच्छासे हुआ, यथा 'मम इच्छा कह दीनदयाला। १।१३८' (यह नारदजीसे भगवान्ने कहा है, वैसेही यहाँ समझना चाहिए)। प्रभुने अपनी इच्छासे यह बात वृन्दाको जनाई, इसीसे अगली चौपाईमें आपको 'कौतुकनिधि' कृपाल कहा है। (मा० पी० प्र० सं०)]
(ङ) 'मरम'—यह कि ये विष्णु हैं, इन्होंने छलसे हमारा पातिव्रत्य छुड़ाया और यह कि व्रतभंग होतेही मेरा पति मारा गया। (च) 'श्राप'-शाप यह दिया कि तुमने हमसे छल किया, हमारा पति तुम्हारी स्त्रीको छलकर हरेगा, तुमने हमें पतिवियोगसे व्याकुल किया वैसेही तुम स्त्रीवियोगमें दुःखी होगे, तुमने हमें मनुष्यतन धरकर छला, अतः तुमको मनुष्य होना पड़ेगा। (छ) 'श्राप कोप करि दीन्ह' इति। ☞ बिना क्रोधके शाप नहीं होता, जब होता है तब क्रोधसे होता है। यथा 'बेपु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा। १३५।८' (नारदजी), 'बोले बिप्र सकोप तब नहिं कछु कीन्ह बिचार। जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार।१७३।' (भानुप्रतापको विप्रोंका शाप), 'जदपि कीन्ह एहि दारुन पापा। मैं पुनि दीन्हि कोप करि सापा।७।१०६।३' (शिवजी), "पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा॥ लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। ७।११२।' (लोमशशाप) तथा यहाँ भी कहा 'शाप कोप करि दीन्ह'।

तासु श्राप हरि दीन्ह[1] प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना॥ १॥
तहाँ जलंधर रावन भयऊ। रन हति राम परम पद दयऊ॥ २॥

शब्दार्थ—प्रमान (प्रमाण)=आदर। मान। हति=मारकर।

अर्थ—हरिने उसके शापको आदर दिया, क्योंकि वे कौतुकके निधान (भंडार, खजाना), कृपाल और षडैश्वर्य सम्पन्न हैं॥ १॥ वहाँ (उस कल्पमें) जलंधर रावण हुआ। श्रीरामजीने उसे संग्राममें मारकर परम पद (अपना धाम, मोक्ष) दिया॥ २॥

नोट १—"तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना" इति। भगवान्के स्मरणसे तो लोगोंके शाप मिट जाते हैं, यथा "सुमिरत हरिहि स्राप गति बाधी", फिर भला उन्हें शाप क्योंकर लग सकता है ? जय-विजयसे भी भगवान्ने यही कहा था कि हम शाप मेट सकते हैं पर यह हमारी ही इच्छा है, इसलिए शाप अंगीकार करो, तुम्हारा कल्याण होगा।

किसीका भी सामर्थ्य नहीं कि जबरदस्ती उनको शाप अङ्गीकार करा सके। देखिए भृगुजीका शाप उन्होंने न स्वीकार किया, तब भृगुजीने यह विचारकर कि शापके अङ्गीकार न किए जानेसे हमारा ऋषित्व

१—कीन्ह प्रमाना—१७२१, छ०, को० रा०। दीन्ह—१६६१, (कीन्ह का दीन्ह बनाया है), १७०४।

नष्ट हो जायगा, उग्र तप किया और भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर उन्होंने यही वर माँगा कि हमारा शाप आप अंगीकार करें।

यही बात नारद-मोह प्रकरणमें झलकती है। नारद मुनिने जब यह चाहा कि हमारा शाप असत्य हो जाय तब भगवान्‌ने कहा कि नहीं, हमारी इच्छा है, हम उसको सत्य करेंगे। यथा "मृषा होउ मम शाप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला॥ १।१३८।' अतएव यहाँ भी सतीत्वकी मर्यादा प्रतिष्ठाकी रक्षा एवं लीलाके लिये शाप अंगीकार किया गया।

टिप्पणी—१ 'हरि दीन्ह प्रमाना' इति। (क) 'हरि' का भाव कि जिनके स्मरणसे शाप दूर हो जाता है, जो शापके हरनेवाले हैं, यथा 'सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। १२५।४।', उन्होंने शापको आदर-मान दिया। भगवान् अपनी इच्छासे शाप ग्रहण करते हैं, वे न चाहें तो उन्हें शाप नहीं लग सकता। यही बात आगे कहते हैं—'कौतुकनिधि कृपाल भगवाना।' (ख) [रा० प्र० कार कहते हैं कि दोहेमें 'प्रभु' शब्द देकर यहाँ शापको प्रमाण देना कहनेका भाव यह है कि वे उसे अन्यथा करनेको समर्थ हैं तथापि उन्होंने शाप ले लिया, क्योंकि वे कौतुकनिधि हैं, उनको कौतुक बहुत प्रिय है और कौतुक प्रिय होनेका हेतु कृपालुता है, वे असुरोंको सद्‌गति देते और भक्तोंके गानके लिये कल्याणकारक चरित करते हैं] (ग) 'कौतुकनिधि' का भाव कि लीला किया चाहते हैं, इसीसे शापको अंगीकार किया। 'कृपाल' हैं अतएव देवताओंपर कृपा करके अवतार लेना चाहते हैं। कृपा अवतारका हेतु है। पुनः, 'कृपाल' का भाव कि जलधरकी स्त्रीपर कृपा करके शाप अंगीकार किया। शापको अंगीकार करनेसे उसको संतोष हुआ। 'भगवाना' अर्थात् षडैश्वर्यसम्पन्न हैं। जलधर रावण होकर धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य-का नाश करेगा तब 'भगवान्' अवतार लेकर रक्षा करेंगे। (घ) भगवान् होकर शापको मान लिया क्योंकि मर्यादापुरुषोत्तम हैं। धर्मका नाश करनेवालेको दण्ड चाहिए। यदि आप शाप अंगीकार न करते तो धर्मकी मर्यादा कैसे रहती ? दण्डका काम किया, अतः दण्ड अंगीकार किया। अपराधीको जो दण्ड दिया जाता है उसको आनन्दसे भोगना अपराधीका कर्तव्य है। यदि भगवान् स्वयं ही धर्मविधान न करेंगे तो दूसरे उनका अनुकरण करेंगे। यथा 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते। गीता ३।२१। न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।२२। यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।२३।' (अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरा पुरुष भी वह-वह ही आचरण करता है। वह जितने प्रमाणमें करता है, संसार उसीके पीछे चलता है। यद्यपि मेरे लिये तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है, और न किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त ही करना है, तथापि मैं कर्ममें वर्तता हूँ। यदि मैं सजग होकर कदाचित् कर्ममें प्रवृत्त न होऊँ तो, अर्जुन ! सब मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं (अतः वे भी कर्मों को छोड़ देंगे)। इसी हेतुसे शापको स्वीकार किया।)

मा० पी० प्र० सं०—'कौतुकनिधि '। अपने ऊपर शाप लेलेनेका यहाँ कारण बता रहे हैं। कौतुक खेल, तमाशा, मनबहलावको कहते हैं। 'कौतुकनिधि' विशेषण देकर यह भी सूचित करते हैं कि इस शापसे आपको किंचित् दुःख न हो सकता था और न हुआ, जैसे दिलबहलाव (मनोरंजन) के खेल-तमाशेसे नहीं होता। पुनः कृपाल हैं, शाप अंगीकार कर वृन्दापर कृपा की, उसका मन रख लिया, उसको इतनेमें सन्तोष हो गया। पुनः, भगवान् हैं, इसलियेभी शाप कुछ बाधा नहीं कर सकता था, इनकेलिये यह कोई बड़ी बात नहीं। जो उत्पत्ति, पालन, संहार करता है, उसे सभी कुछ फबता है।

टिप्पणी—२ 'तहाँ जलधर रावन भयऊ' इति। (क) जहाँ जैसा प्रसंग होता है वहाँ ग्रन्थकार वैसाही लिखते हैं। यहाँ केवल जलधरका रावण होना कहा गया, क्योंकि यहाँ जलधरकी स्त्रीने केवल

जलंधरके लिये कहा कि हमारा पति तुम्हारी स्त्रीको छल करके हरेगा। इसके वर्णनका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं था कि उसका भाई कुम्भकर्ण हुआ या कौन, और परिवार राक्षस हुआ या नहीं। जहाँ दोको शाप हुआ, जैसे जय विजय-प्रकरणमें, वहाँ कुम्भकर्ण और रावण दो कहे और जहाँ कुटुम्बभरको शाप हुआ जैसे भानुप्रतापको वहाँ कुटुम्बभरका हाल कहा गया। यथा 'काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा॥ दस सिर ताहि बीस भुजदंडा। रावन नाम बीर बरिबंडा॥ भूप अनुज अरिमर्दन नामा। भयउ सो कुंभकरन बलधामा॥ सचिव जो रहा धरमरुचि जासू। भयउ बिमात्र बंधु लघु तासू॥ रहे जे सुत सेवक नृप केरे। भए निसाचर घोर घनेरे॥ १।१७६।' [जय विजय दो भाई थे और दोनोंको शाप हुआ था उनके साथ और कोई न था। इसी तरह रुद्रगण दो थे और दानोंको एक ही साथ शाप हुआ। अतएव इनके सम्बन्धमें रावण कुम्भकर्ण होना लिखा गया। भानुप्रतापने ब्राह्मणोंको परिवारसहित निमन्त्रण दिया था जैसा कि "नित नूतन द्विज सहस सत बरेहु सहित परिवार। १६८।" तथा "छत्रबंधु तैं बिप्र बोलाई। घालै लिए सहित समुदाई।१।१७४।१।" से स्पष्ट है, इसीसे ब्राह्मणोंने परिवारसहित सबको शाप दिया था। यहाँ जलधर अकेला था, विष्णुभी अकेले ही छलने गए थे, अतः केवल जलधरका रावण होना कहा और उसीका वध करना लिखा गया। बैजनाथजीका मत है कि जलधरके जो प्रिय सखा थे वेही कुम्भकर्णादि हुए। परन्तु पंजाबीजी, रा० प्र०, आदिका मत है कि उस कल्पमें केवल रावण ही हुआ—'कल्प भेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए। १।३३।'—(मा० पी० प्र० सं०)]

(ख) 'परम पद दएउ' अर्थात् मुक्त कर दिया। जय विजय रावण कुम्भकर्ण हुए तब विप्रशापके कारण मुक्ति न हुई थी और यहाँ जलधर रावणकी मुक्तिमें कोई बाधा नहीं है।

नोट—२ जलधरकी स्त्री वृन्दाकी कथासे हमें शिक्षा मिलती है कि—(क) पातिव्रत्य एक महान् धर्म है। यह एक महान् तपके बराबर है। (ख) सती स्त्रीका पति बड़ेसे बड़े संग्रामको जीत सकता है। (ग) धोखा देनेवालेको दंड मिलता है। (यह भी कथा है कि वृन्दाके शापसे भगवानका शालग्राम होना पड़ा और वृन्दा तुलसी हुई जो उनके मस्तक पर चढ़ती है। इसके अनुसार शिक्षा यह है कि सतीके साथ छल करनेवालेकी दशा ऐसी होती है, उसे जड़-पत्थर बनना पड़ता है। वा जब भगवान्‌को पाषाण बनना पड़ा तब साधारण मनुष्यको न जाने क्या होना पड़े।)। (घ) छल और कपटका परिणाम बहुत बुरा होता है। (ङ) सज्जन वही हैं जो अपनी हानि करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाते हैं। (श्रीरामदर्पलालजी)।

एक जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नर देहा॥ ३॥
प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥ ४॥

अर्थ—एक जन्मका कारण यह है कि जिसके लिये श्रीरामजीने मनुष्य शरीर धारण किया॥३॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं) हे मुनि! सुनो। प्रभुके प्रत्येक अवतारकी अनेकों कथाएँ कवियोंने वर्णन की हैं॥४॥

टिप्पणी—१ "एक जनम ... राम धरी ..." इति। जय विजय भक्त थे। जब उनके उद्धारके लिये जन्म लिया तब शिवजीने श्रीरामजीको 'भगत अनुरागी' विशेषण दिया, यथा 'धरेउ सरीर भगत अनुरागी।' जलधर भक्त न था, इसीसे यहाँ 'भक्तानुरागी' नहीं कहते, इतनाही भर कह दिया कि श्रीरामजीने नर देह धारण की।☞इस कल्पकी कथा यहाँ समाप्त की।

२ 'प्रति अवतार ...' इति। यथा 'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं। १।१४०।२।' (ख) 'सुनु मुनि' से यह वाक्य याज्ञवल्क्यजीका भरद्वाज प्रति जनाया। (ग) 'बरनी कबिन्ह घनेरी' अर्थात् एक एक कल्पकी कथा अनेक मुनियोंने वर्णन की है, इसीसे कथाएँ बहुतसी हो गईं। (घ)☞"असुर मारि थापहिं सुरन्ह ..." यह दोहा इस कल्पमें भी चरितार्थ हुआ है। यथा 'तहाँ जलधर

रावन मरेऊ । रन हति राम परम पद दएऊ ।' यह असुरोंका मारना हुआ । 'एक कलप सुर देखि दुखारे । समर जलंधर सन सब हारे ॥ ...' इत्यादिमें सुरोंकी रक्षा कही । 'प्रभु सुर कारज कीन्ह' अर्थात् असुर-वधसे श्रुतिसेतुकी रक्षा हुई । और, 'प्रति अवतार कथा प्रभु केरी । सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी ।' यह 'जग बिस्तारहिं बिसद जस' अर्थात् जगत्‌में यशका विस्तार कहा गया

नोट—यहाँ तक तीनों बार 'एक' 'एक' कहा—यथा 'एक बार तिन्हके हितलागी', 'एक कलप एहि बिधि अवतारा । १२३।४', 'एक जनम कर कारन एहा । १२४।३ ।', 'एक कलप सुर देखि दुखारे । १२३।५ ।' इत्यादि । क्योंकि यदि ऐसा कहते कि एकमें यह कारण था, दूसरेमें यह, तीसरेमें यह, तो सम्भव है कि यह समझा जाता कि ये अवतार इसी क्रमसे एकके पीछे एक होते गये हैं । यहाँ केवल हेतु बताया है न कि क्रम । पूर्व कह आए हैं कि 'रामजनम कर हेतु अनेका'. इनमेंसे दो एक कहता हूँ । इसी कथनानुसार तीन कल्पोंकी कथा कही, कौन किस कल्पकी है, वा, कौन पहले है, कौन पीछे, इससे यहाँ प्रयोजन नहीं रखा । पुनः, एक, दो, तीन गिनती न देकर अगणित सूचित किया । इसीसे अन्तमें 'सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी' कहा । (मा० पी० प्र० सं०) ।

"वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णुको वृन्दाका शाप होनेसे रामावतार" यह प्रकरण समाप्त हुआ ।

"क्षीरशायी श्रीमन्नारायणको शाप होनेसे श्रीरामावतार"

(तदन्तर्गत)

नारद-मोह-प्रसंग

नारद श्राप दीन्ह एक बारा । कलप एक तेहि लगि अवतारा ॥५॥
गिरिजा चकित भईं सुनि बानी । नारद बिष्नु भगत पुनि[१] ग्यानी ॥६॥

अर्थ—एक बार नारदजीने शाप दिया । एक कल्पमें इस कारणसे अवतार हुआ ॥ ५ ॥ ये वचन सुनकर पार्वतीजी चकित हुईं कि नारदजी तो भगवान् विष्णुके भक्त और फिर ज्ञानी हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ "नारद श्राप दीन्ह एक बारा ।..." इति । (क) भाव कि एक कल्पमें जलंधरकी स्त्रीने शाप दिया और एक कल्पमें देवर्षि नारदने शाप दिया । ☞ कल्पोंकी गिनती नहीं की, कहीं 'एक' कहा, कहीं 'अपर' कहा । यथा 'एक कलप एहि बिधि अवतारा । चरित पवित्र किए संसारा । १२३।४ ।', 'नारद श्राप दीन्ह एक बारा । कलप एक तेहि लगि अवतारा' (यहाँ), 'अपर हेतु सुनु सैल कुमारी । कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी ॥ १४१।१ ।', 'भरद्वाज सुनु अपर पुनि राम जनम कर हेतु । १५२ ।' श्रीरामजन्मके हेतु अनेक हैं, इसीसे यह कहते नहीं बनता कि यह प्रथम कल्प है, यह दूसरा कल्प है, यह तीसरा है; अतएव इतना मात्र कहा कि एक कल्पमें यह अवतार हुआ । (ख) 'तेहि लगि' अर्थात् नारदशापके निमित्त ।

[वृन्दाने जो शाप दिया वह नारदशापके समान ही है । भेद इतना है कि (वृन्दाने) सर्पराज शेषको भी शाप दिया है । यथा 'त्वं चापि भार्या दुःखार्तो वने कपि सहायवान् । भ्रम सर्पेश्वरेशाय यस्ते शिष्यत्वमागतः । प० पु० उ० खं० १०४।३० ।' प० पु० उ० ख० अ० ३ से १७ तक जलंधरकी कथा बहुत विस्तारसे है और अध्याय ५।१०६ तक 'जलंधर' नाम है । कथा एक ही है । कल्पभेदसे कुछ अन्य बातोंमें भी भेद है । इसमें एक महत्वकी बात यह है कि जलंधरने भवानीका पातिव्रत्य भ्रष्ट करनेका जब प्रयत्न किया तभी भगवान् क्षीराब्धिनिवासी नारायणने कपटसे सर्पेश्वर शेषको अपना शिष्य बनाकर वृन्दासे छल किया । अपने भक्तके पातिव्रत्यकी रक्षा करनेके लिये ही भगवान्‌को छल करना पड़ा ।]

---

१ मुनि १७०४ । पुनि—१६६१, १७२१, १७६२ । पुनि ग्यानी—को० रा० ।

टिप्पणी—२ "गिरिजा चकित भई" इति। (क) (सनकादिक ऋषि भी तो ज्ञानी थे, उनके जय विजयको शाप देने पर आश्चर्य क्यों न हुआ? इस शंकाका समाधान यह है कि) जय विजयकी कथा प्रसिद्ध है,—'जय अरु बिजय जान सब कोऊ' इससे उसमें आश्चर्य नहीं हुआ। [दूसरे, वहाँ सनकादिक मुनियोंका नाम न देकर 'बिप्र स्राप तें दूनौं भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई ॥ १२२।५।', ऐसा कहा था। केवल 'विप्रशाप' कहा था और विप्र तो शाप दिया ही करते हैं। अतएव आश्चर्य न हुआ था और यहाँ देवर्षि नारदका नाम लिया है, अतः आश्चर्य हुआ। तीसरे, चकित होनेका कारण यह भी हो सकता है कि नारदजी आपके गुरु हैं, यथा 'गुर के बचन प्रतीति न जेही। ८०।८।' गुरुकी निंदा न सही गई। उनमें दोष बतानेपर चकित हुईं। इसलिये प्रश्न करती हैं। चौथे, ऐसा भी कहा जाता है कि जयविजयके शापकी कथा पहलेसे जानती थीं और नारद शापका प्रसंग न जानती थीं, इसीसे पहले आश्चर्य न हुआ, अबकी हुआ। (मा० पी० प्र० सं०)] यहाँ बड़ा आश्चर्य माना। आश्चर्यका कारण अगले चरणोंमें वे स्वयं प्रकट करती हैं—'मुनि मन मोह आचरज भारी।' (ख) 'नारद बिष्नु भगत पुनि ग्यानी' का भाव कि विष्णुभक्त हैं, भक्त होकर अपने स्वामीको शाप कैसे दिया? 'पुनि ग्यान'—ज्ञानी हैं तब उनका क्रोध कैसा? क्रोध तो द्वैतबुद्धिसे होता है, ज्ञानीको तो क्रोध होता नहीं, यथा 'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान। ७। १११।' भक्त और ज्ञानी दोनोंमें मोह होना सम्भव नहीं, यथा 'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। ७।१२०।', 'भए ग्यान बरु मिटै न मोहू। २।१९६।' [भक्त अपने स्वामीको शाप दे, यह असम्भव है, अनुचित है। ज्ञानीको रागद्वेष नहीं होता तब वह शाप क्यों देगा? (प०)]

नोट—१ नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि "इस चौपाईमें किसीका नाम नहीं है कि नारदने किसको शाप दिया। परन्तु कथामें नारदने दो व्यक्तियोंको शाप दिया है, प्रथम हरगणोंको पीछे विष्णुभगवान्‌को। जब दोनोंमेंसे किसीका नाम नहीं है तब जिसको प्रथम शाप नारदने दिया है उसीके नामसे अर्थ होगा, यह नीति है। हरगणोंके कल्पमें विष्णु भगवान्‌को शापवश अवतार लेना अर्थ करना कैसी भारी भूल है क्योंकि एक शापसे दो बार भगवान्‌को दुःख उठाना सिद्ध हो जायगा?"

हमारी समझमें पूर्व और पश्चात्‌के वाक्योंद्वारा हम पता लगा सकते हैं कि शिवजीका इशारा किसकी ओर है। पूर्व प्रसंगमें अभी कहे आ रहे हैं कि 'छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुरकारज कीन्ह। जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह ॥ १२३ ॥ तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना। एक जनम कर कारन एहा ॥' उसके बाद ही यह कहते हैं कि 'नारद श्राप दीन्ह एक बारा'।—इस उद्धरणसे स्पष्ट भाव यही निकलता है कि एकमें जलंधरकी स्त्रीने शाप भगवान्‌को दिया था जिससे श्रीरामजीको नरदेह धरना पड़ा था और एक कल्पमें नारदने भगवान्‌को शाप दिया था जिससे श्रीरामजीको अवतार लेना पड़ा। पार्वतीजीने भी यही समझा है, इसीसे वे तुरत कहती हैं—'कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा।' यदि इनकी समझमें भूल होती तो तुरत शिवजी कह देते।

स्मरण रहे कि यहाँसे लेकर 'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। १३९।' तक एक ही प्रसंग है—'यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी' का उत्तर १३९ पर समाप्त हुआ है। दो पृथक् कल्पोंकी कथायें यदि इसमें होतीं तो दो बार 'एक कलप एहि हेतु०' यह या इनके पर्याय शब्द कहे गए होते—एक बार विष्णुको शाप होनेके साथ ही कहना था जैसे जलंधरवाले प्रसंगमें कहा गया और एक बार हरगणोंके शाप वा शापानुग्रहके बाद कहना था कि 'एहि लगि राम धरी०' या इसके समानार्थी शब्द जैसे कि जय विजयके प्रसंगके प्रसंगको कहकर कहा था, यथा 'एक बार तिन्हके हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी'। पर यहाँ ऐसा नहीं कहा गया, वरंच हरगण और भगवान् दोनोंको शाप देनेके, एवं भगवान्‌के शाप स्वीकार करनेपर हरगणोंके शापानुग्रहके पश्चात् शिवजी कहते हैं कि 'एक कलप एहि हेतु प्रभु०'। भगवान्‌के शाप

स्वीकार करनेपर ही हरगणोंका शापानुग्रह होकर प्रसंग समाप्त होता है, क्योंकि अब अवतारका पूरा ठाट ठठ गया, सब सामग्री एकत्र हो गई—रावण, कुम्भकर्ण, रामावतार, सीताहरण सबका मसाला मिल गया। यह कथा यहीं समाप्त हो गई, आगेसे इसका सम्बन्ध नहीं। इसके आगे 'अपर हेतु' से दूसरी कथाका प्रारंभ होता है। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि भगवान्‌को जो नारदका शाप हुआ उसीसे हरगणोंका उद्धार हुआ है। एक कल्पका शाप दूसरे कल्पके रावणादिके लिये होना एक अनोखी और अविश्वसनीय बात होगी।

यह इस दासका अपना और बहुतसे साहित्यज्ञोंका मत है और पाठकोंको जो ठीक जान पड़े वही उनके लिए ठीक है।

अब दूसरी बात जो यह कही गई है कि 'एक शापसे दो बार भगवान्‌को दुःख उठाना सिद्ध हो जायगा', उसके विषयमें यह कहना अयोग्य न होगा कि—(१) एक तो यह बात ठीक नहीं जँचती कि एक कल्पकी बात दूसरे कल्पमें जाय। प्रत्येक कल्पमें एक रावण होता है और उसके वधके लिये श्रीरामजीका अवतार होता है, यथा 'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना विधि करहीं'। यदि यह मानें कि हरगण रावणके लिये नारदशापसे भगवान्‌का अवतार नहीं हुआ, तब यह स्पष्ट है कि एक ही कल्पमें दो बार रावण हुए और दो बार भगवान्‌का अवतार हुआ, नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि एक कल्पमें शाप हुआ दूसरे कल्पके लिये, जो ठीक नहीं।—'हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ जातुधानपति होइ। १७८।' से स्पष्ट है कि कल्पमें एक ही रावण होता है।

(२) भगवान्‌को एक शापमें दो बार क्या अनेक बार दुःख उठाना पड़ता है। भक्तके लिये वे क्या नहीं करते? अम्बरीष महाराजके लिये 'जनमेउ दस बार'। जय विजयके लिये चार बार अवतरे। इत्यादि।

(३) एक ही कल्पमें अवतारके अनेकों कारण उपस्थित हो सकते हैं और होते ही हैं। कोई जरूरी नहीं कि एक ही हो—'राम जनम के हेतु अनेका। परम विचित्र एक तें एका', 'हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई'। हरगणवाले कल्पमें भी कई हेतु उपस्थित हो गए—नारदमोहनिवारण, हरगणोद्धार, भगवान्‌को शाप इत्यादि।

यह भी स्मरण रहे कि यहाँ जो 'विष्णु' 'रमापति' 'हरि' शब्द आए हैं वे सब एक उन्हीं क्षीरशायी भगवान्‌के लिये आए हैं जिनका नारदमोहप्रसंगसे तअल्लुक (सम्बंध) है, यथा 'नारद विष्णुभगत पुनि ज्ञानी' कहकर कहा है 'का अपराध रमापति कीन्हा', 'बड़ रखवार रमापति जासू', 'जिमि यह कथा सुनायहु मोही॥ तिमि जनि हरिहि सुनायहु कबहूँ', 'छीरसिंधु गवने मुनिनाथा', 'हरि सन मागौं सुंदरताई', 'दुलहिनि लै गे लच्छि निवासा', 'सपदि चले कमलापति पाहीं॥ देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई।', 'धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ॥ समर मरन हरि हाथ तुम्हारा।'

श्रीपरमहंसजी लिखते हैं कि नारदशापसे अवतार लेनेका "अनुमान करना गलत है क्योंकि दूसरे कल्पमें भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि 'नारद बचन सत्य सब करिहौं'। दूसरा प्रमाण स्वयं नारदजीका वचन है कि 'मोर शाप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा'।"

इसके सम्बंधमें उसी प्रसंगमें लिखा गया है। यहाँ केवल पाठकोंसे यह कहना है कि "कौन रामावतार ऐसा है जिसमें नारद-वचन सत्य न किया गया हो?" सभीमें तो नरतन धारण करना पड़ा, सभीमें तो सीताहरण और विलाप हुआ और सभीमें वानरोंने सहायता की। ये ही तीन शाप तो थे? उपर्युक्त वचन प्रत्येक कल्पमें सत्य होते ही हैं तब तो आकाशवाणी यथार्थ ही है। उसमें शंका उठती ही नहीं।

कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा॥७॥
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनि मन मोह आचरज भारी॥८॥

अर्थ—मुनि (देवर्षि नारद) ने किस कारण शाप दिया? लक्ष्मीपति भगवान्‌ने क्या अपराध किया? ॥७॥ हे त्रिपुरारि! यह प्रसंग मुझसे कहिए। मुनिके मनमें मोह होना बड़े आश्चर्यकी बात है ॥८॥

टिप्पणी—१ 'कारन कवन' इति। (क) भाव कि मुनि मननशील होते हैं (शान्त होते हैं), उनका शाप देना असंभव सा है (क्योंकि शाप तो क्रोधसे होता है और क्रोध इष्टहानि रूपी अपराधसे होता है)। भगवान् भक्तवत्सल हैं, वे किसीका अपराध नहीं करते। करेंगे क्यों? वे तो श्रीपति हैं, उनको तो किसी बातकी कमी नहीं जो वे किसीका अपराध करते। अपने यहाँ कमी होनेसे ही दूसरेका अपराध होता है। अतः यह बात भी असंभव है। क्या कमी थी जिससे उन्होंने अपराध किया? [पंजाबीजी भी लिखते हैं कि 'रमापति' कहनेका भाव यह है कि सब उपाधियाँ लक्ष्मीसे होती हैं सो वह तो उनकी दासी है। तब भला उनको उपाधि कौन कर सकता है। पुनः शांतको क्रोध नहीं होता, अतः मुनिको क्रोध क्यों होने लगा। (वै०)]

२ 'यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी।' इति। (क) श्रीशिवजीने यहाँ तक दो कल्पोंकी कथा संक्षेपसे कही थी और यह प्रसंग एक ही चौपाई अर्थात् दो ही चरणोंमें इतना ही मात्र कहकर कि 'नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा' समाप्त कर दिया था। इसीसे श्रीपार्वतीजी कहती हैं कि यह प्रसंग मुझसे विस्तारपूर्वक कहिए। अर्थात् शापका संपूर्ण प्रसंग वर्णन कीजिए, 'किस कारणसे शाप दिया? क्या अपराध भगवान् रमापतिने किया था जो मुनिने शाप दिया? मुनिके मनमें मोह कैसे उत्पन्न हो गया?' इत्यादि सब प्रसंग कहिए, क्योंकि मुझे बहुत ही आश्चर्य और उत्कण्ठा है। (ख) 'पुरारी' का भाव कि आप त्रिपुर ऐसे भारी दैत्यके नाशक हैं, मेरा संदेह भी उसीके समान बड़ा भारी है, इसे भी निवृत्त कीजिए। (ग) 'मुनि मन मोह'—[भाव कि मोहके बिना अज्ञान नहीं और अज्ञान बिना इष्टको शाप नहीं दे सकते। (वै०)] 'आचरज भारी' का भाव कि विष्णुभक्त और उसपर भी जो ज्ञानी भक्त हो उसको ही मोह नहीं होता, यथा "सुनहु भगतिमनि कै प्रभुताई॥ रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥ परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥ मोह दरिद्र निकट नहिं आवा ।७।१२०", "सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ग्यान बिराग हृदय नहिं जाकें। ११२९।" (अर्थात् जिसके ज्ञान वैराग्य नहीं होते, उसीके मनमें मोह होता है, ज्ञानी व विरक्तोंको मोह नहीं होता।)

दोहा—बोले बिहँसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥
सोरठा—कहौं राम गुन गाथ भरद्वाज सादर सुनहु।
भव भंजन रघुनाथ भजु तुलसी तजि मान मद॥१२४॥

अर्थ—तब महादेवजी हँसकर बोले कि न कोई ज्ञानी है, न मूढ़। श्रीरघुनाथजी जब जिसको जैसा कर देते हैं तब वह उसी क्षण वैसाही हो जाता है।* (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) हे भरद्वाजजी! मैं श्रीरामजीके गुणोंकी कथा कहता हूँ, तुम आदरपूर्वक सुनो। तुलसीदासजी कहते हैं (रे मन!) मद और मानको छोड़कर भवके नाशक श्रीरघुनाथजीका भजन कर॥ १२४॥

टिप्पणी—१ "बोले बिहँसि" इति। (क) पार्वतीजीने नारदको ज्ञानी कहा, ज्ञान और ज्ञानीपर

* विनायकीटीकाकार एक अर्थ यह लिखते हैं कि—'ज्ञानी पुरुष बहुधा मूर्खता नहीं करते (परन्तु उनके सुधार आदिके निमित्त) ईश्वर जब जिसको जैसा चाहें उसे वैसा बना सकते हैं। भाव यह कि वे यदि चाहें तो ज्ञानीसे मूर्खताका और मूर्खसे ज्ञानीका काम करा सकते हैं।"

उनको इतनी ओर शाप देकर शिवजी हँसे। [पुनः भाव कि अभी तो तुमने शापकी ही बात सुनी है, उनके साथ तो बड़े बड़े कौतुक हुये हैं, जो हम आगे कहेंगे, तब तो तुम और भी चकित होगी। अथवा, इस समय तुम अपने उपदेष्टाकी बात सुनकर चकित हुई हो और अपनी बात भूल गई कि तुमको कैसा भारी मोह हुआ था, तुम भी तो ज्ञानवान रही हो पर मोह पिशाचने तुम्हें ऐसा ग्रसा कि इस जन्ममें भी साथ लगा रहा। (प०)। अथवा, मायाका प्राबल्य विचारकर हँसे कि तुम तो नारदको कहती हो, नारदके बाप ब्रह्मा और मैं भी तो मोहके वश हो अनेक नाच नाच चुके हैं भगवान्‌की इच्छा प्रबल है—'हरि इच्छा भावी बलवाना'। (ख) 'ज्ञानी मूढ़ न कोइ' इति। भाव कि ज्ञानी अथवा मूढ़ कोई नहीं है। ज्ञान और मोह दोनोंके प्रेरक वे ही हैं। यह सब श्रीरघुनाथजीका खेल है, जब जिसको जैसा चाहें बना दें। यथा 'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन॥ ७।१२२', "बंध मोच्छ प्रद सबपर माया प्रेरक सीव। ३।१५"। उदाहरणार्थ ध्रुवजीको लीजिए। ये बिलकुल (निरे) अबोध बालक थे। श्रीहरिने अपने वेदमयशङ्खसे उनके कपालको छूकर उनको तत्काल ही दिव्य वाणीकी प्राप्ति करदी तथा सब विद्वानोंका ज्ञाता बना दिया—'ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बाल कृपया कपोले। भा० ४।९।४')। ☞ जीवको ज्ञानकी सामा बना देनपर जब उसे अपने ज्ञानका अभिमान हो जाता है तब भक्तवत्सल प्रभु तुरत ही उस अभिमानके ताड़नका उपाय रच देते हैं, जिससे वह सुधर जाय, शुद्ध हो जाय, फिर भुनावेमें न पड़े। यथा 'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ संसृतमूल सूल प्रद नाना। सकल सोक-दायक अभिमाना॥ ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥ जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ ७।७४।'—यही 'गुणगाथा' है जो शिवजी पार्वतीजीसे और याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजीसे कह रहे हैं। इसीका गोस्वामीजी उपदेश मानकर अपने व्याजसे सबको उपदेश कर रहे हैं। (मा० पी० प्र० सं०)] (ग) 'जेहि जस रघुपति करहिं जब' अर्थात् उनकी इच्छासे ज्ञानी मूढ़ हो जाता है और मूढ़ ज्ञानी हो जाता है। (घ) 'सो तस तेहि छन होइ' का भाव कि (यों तो) ज्ञानी का मूढ़ और मूढ़का ज्ञानी हो जाना जल्दी नहीं होता (यह परिवर्तन होनेमें समय लगता है) परन्तु रघुनाथजीके करनेसे तत्काल हो जाता है जिसे वे जिस क्षणमें चाहें ज्ञानीसे मूर्ख और मूर्खसे ज्ञानी बना दे सकते हैं। ज्ञानी नारदको क्षण भरमें मूढ़ बना दिया, यथा 'माया बिबस भए मुनि मूढ़ा।' और फिर क्षणभरमें ही पुनः ज्ञानी बना दिया, यथा 'जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥ १३८।१।'

बैजनाथजी—'ज्ञानी मूढ़ न कोइ' अर्थात् चराचर जीव जड़ चेतन मिले हुए हैं इसीसे कोई न तो शुद्ध ज्ञानी है और न कोई शुद्ध मूढ़ ही है, क्योंकि शुद्ध ज्ञान तो ईश्वरहीमें है और मूढ़ता मायामें है और ईश्वरांश जीव मायाके वश है, इससे न ज्ञानी ही है न मूढ़। यथा 'ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर।' रघुपतिका भाव कि भगवान् रघु (=जीव) के पति (स्वामी) हैं अतः जीवका धर्म है कि प्रभुके सम्मुख रहे जिसमें प्रभु मायाको रोके रहें जिससे वह (जीव) सज्ञान बना रहे। जब जीव अपना धर्म छोड़ श्रीरामविमुख होता है तब प्रभुकी कृपा रुक जाती है और जीव मूढ़ हो जाता है।

श्रीपोद्दारजी—इस प्रसंगपर यह शंका उठायी जाती है कि 'जब श्रीरघुनाथजीके बनाए ही प्राणी ज्ञानी या मूढ़ बनता है, तब प्रयत्नपूर्वक साधन करनेकी क्या आवश्यकता है? वह तो व्यर्थ ही हो जाते हैं।' इस पर कुछ विचार किया जाता है। यह सिद्धान्त है और इसमें कोई संदेह नहीं कि एकमात्र श्रीभगवान् ही सर्वेश्वर एवं सर्वशक्तिमान् हैं। उनकी इच्छाके बिना, उनके सहारेके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। तब बिना उनकी इच्छाके ज्ञानी-मूढ़ तो बन ही कैसे सकता है। वे ही चेतनको जड़ और जड़को चेतन

बनानेवाले हैं। इसलिए संसारके सब योगक्षेमोंको उन्हीं पर छोड़कर केवल भजन ही भजन करना चाहिए। एकमात्र उन्हीं की कृपा एवं सन्निधिका अनुभव करते हुये निरंतर उन्हींमें स्थित रहना चाहिये।

यह तो हुई सिद्धांतकी बात, अब व्यवहारकी बात लिखी जाती है। भगवान् जो किसीको ज्ञानी या मूढ़, जड़ अथवा चेतन बनाते हैं सो क्या केवल अपनी स्वतंत्र इच्छासे ही बनाते हैं अथवा कुछ और कारण होता है? क्या उनकी इच्छा विषम होती है? क्या उनकी कृपा सबपर समान नहीं है? परन्तु यह कैसे संभव है? वे सबपर समान कृपा रखते हैं, सबका हित चाहते हैं और वैसी ही प्रार्थना पूर्ण करते हैं जिससे परिणाममें उसका कल्याण हो। जीवोंके शुभाशुभ कर्म और अधिकारके अनुसार ही उनकी विधि व्यवस्था होती है। कहा है—'सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फलु हृदयँ बिचारी॥''

जिन्हें अपने कर्तव्यका अभिमान है, उन्हें कर्मके बंधनमें रहना ही पड़ेगा। परन्तु जिन्होंने कर्म-बंधनका परित्याग करके भगवान्की शरण ली है उनका भार तो भक्तवत्सल भगवान्पर है ही। उनकी अभयवाणी है—'योगक्षेमं वहाम्यहम्'। नारदके जीवनमें भी भगवान्की शरणागति है। जबजब उनके मनमें शरणागतिके विपरीत कोई भाव आया तबतब भगवान्ने उसे दूर किया। मूलमें ही यह कथा आयी है कि कामपर विजय प्राप्त करनेके पश्चात् क्रोध न आनेके कारण नारदके मनमें कुछ अभिमान आ गया था, जो कि शरणागतिका विरोधी है। भगवान्ने देखा कि 'उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी।' अब भगवान् क्या करेंगे। उन्होंने निश्चय कर लिया। 'बेगि सो मैं डारिहौं उखारी। पन हमार सेवक हितकारी'। फिर जो उनकी दशा हुई यह मूलग्रन्थमें ही वर्णित है। शंकरजीके मनमें ये सभी बातें आ रही थीं और उन्होंने हँसते हुए कह दिया कि शाप देनेमें ऋषिका कोई दोष नहीं था, भगवानकी इच्छा ही वैसी थी। वास्तवमें भगवान्को अवतार लेकर लीला करनी थी, उसके साथ यदि एक सेवकके मूढ़तासे कहे हुए वचन भी सफल हो जायँ तो मनोरंजनकी एक और सामग्री बन जाय।

भगवान् ही सब कुछ करते-कराते हैं, यह केवल वाणीसे कहकर जो लोग अपने पापोंका समर्थन करते हैं, वे नारकीय जीव हैं। उन्हें अभी बहुत दिनों तक संसारमें भटकना अवशेष है। क्योंकि भगवान्की इच्छासे कोई अच्छा कर्म बन जाता है उसे तो वे अपना किया हुआ कहते हैं और बुरे कर्मोंको भगवान्पर थोप देते हैं। उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि तत्त्वज्ञानी ऊँचे भक्तोंके जो सिद्धांत हैं उनको पापी हृदय समझ ही नहीं सकता। पहले वे प्रयत्न करके 'गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा' के अनुसार आचरण करेंगे तब उनका हृदय शुद्ध होगा और वे उस बातको समझ सकेंगे। ऊँचे अधिकारियोंके लिए जो बात कही गई उसे अपने पापी जीवनमें घटाकर पापको प्रश्रय देना सर्वथा पतनका कारण है। यदि अपने जीवनको सुधारना है तो पाप कर्मोंसे बचकर पूरी शक्तिसे भगवानके भजन साधनमें और कर्त्तव्य कर्ममें लग जाना चाहिए। (कल्याण १३-३)।

प० प० प्र०—इस दोहेमें *'ग्यानी मूढ़ न कोइ' इत्यादि जो सिद्धान्त कहा है वह साधारण विषयी* जीवोंके लिये नहीं है। सतीजी, पार्वतीजी, नारदजी, गरुड़जी, लोमशजी इत्यादि महान भगवद्भक्तोंके लिये ही यह वचन है। अन्य पामर जीव तो 'मायावश परिछिन्न जड़' हैं ही। वे अविद्यामें पड़े हैं। अतः यह ध्यानमें रखना चाहिए कि अन्य जीव तो अपने कर्मानुसार ज्ञानी या मूढ़ हैं कोई यह (न) मान ले कि भगवान्ने मुझको मूढ़ बनाया। ज्ञानी या भक्त भी यह न मान लें कि हम अब मुक्त हो गए, हमको कुछ डर नहीं है।—'दुइ कहँ काम क्रोध रिपु आही। ३।४३।६।', 'जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महँ', जबतक भगवानकी कृपा बरसती है तभी तक कोई ज्ञानी या भक्त रह सकता है। पर जब किसी ज्ञानी या ज्ञानी

भक्तसे कोई अनुचित कार्य, दोष, या पाप इत्यादि होता है, तब उनको दोष देना उचित नहीं है। सतीमोह प्रसंगमें यही उपदेश दिया है।

नोट—१ ज्ञानी और मूढ़ उपमानोंका एक ही धर्म ठहराना कि जब जिसको रघुपति जैसा कर दें वह वैसा हो जाता है 'द्वितीय तुल्ययोगिता अलंकार' है। (वीर)।

२ "भरद्वाज सादर सुनहु" इति। (क) इस ग्रंथमें जहाँ भक्ति और ज्ञानकांडका मेल होता है वहाँ श्रीशिव-पार्वतीका और जहाँ भक्ति और कर्मका मेल होता है वहाँ भुशुण्डि गरुड़ संवादका प्रसंग लगाया गया है। यहाँ कर्मकी प्रधानता दिखानी है। अतएव याज्ञवल्क्य भरद्वाजका प्रसंग लगाया गया। (प्रोफ० दीनजी)। (ख) भरद्वाज मुनिको सावधान करनेका एक कारण यह कहा जाता है कि 'नारदजीके शिष्य वाल्मीकिजी हैं और वाल्मीकिजीके भरद्वाज। तात्पर्य कि याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि तुम्हारे दादा गुरुकी कथा कहता हूँ, उन्हें भी मोह हुआ था, सो सावधान होकर सुनो।'

टिप्पणी—२ "कहौं राम गुन गाथ" इति। ☞ याज्ञवल्क्यजी भरद्वाज मुनिसे कहते हैं कि 'राम गुण गाथा' सुनो और 'श्रीरामजीको भजो'—यह उपदेश दे रहे हैं। इस उपदेशमें गोस्वामीजी स्वयं भी सम्मिलित हो जाते हैं—'भजु तुलसी तजि मान मद।' अर्थात् यह उपदेश वे अपने ऊपर अपने लिये भी मान लेते हैं (मानो) याज्ञवल्क्यजी यह उपदेश उन्हें भी कर रहे हैं कि 'हे तुलसी! मान मद छोड़कर श्रीरघुनाथजीका भजन कर जिसमें तेरा भी भव भंजन हो, भव छूटे, क्योंकि श्रीरघुनाथजी भवभंजन हैं।'

३ 'भजु तुलसी तजि मान मद' इति। ☞ मोह, मान और मद ये सब भजनके बाधक हैं। मान मदमें भजन नहीं बनता, इसीसे इनको त्यागकर भजन करनेको कहते हैं। यथा 'कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना। ४ १५।' तात्पर्य कि मोह मद मान नारद ऐसे महात्माओंको भी दूषित कर देते हैं (जैसा आगे कथामें दिखायेंगे), अतएव इनसे सदा डरते तथा दूर रहना चाहिए।

वि० त्रि० गोसाईंजी अपने मनको सावधान करते हैं कि तू मान मद छोड़कर भजन कर। भाव कि भजन करनेमें भी तुम्हारा पुरुषार्थ नहीं है, उसकी कृपासे ही तुम भजन करते हो, अतः भजनका श्रेय तुम्हें कुछ नहीं, इसलिये मान मद छोड़नेको कहते हैं।

हिमगिरि गुहा एक अति पावनि। बह समीप सुरसरी सुहावनि ॥१॥
आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा ॥२॥

शब्दार्थ—गुहा = गुफा। वह अँधेरा गड्ढा जो पर्वतके नीचे बहुत दूर तक चला गया हो। कन्दरा। यथा 'कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरि गुहा गभीरा।१५७ ५।' देवरिषि (देवर्षि) = नारदमुनि।

अर्थ—हिमालयपर्वतमें एक अत्यंत पवित्र गुफा है जिसके समीप सुन्दर गंगाजी बह रही हैं ॥१॥ परम पवित्र सुन्दर आश्रम देखकर देवर्षि नारदजीके मनको वह अत्यंत भाया ॥२॥

☞ नारदमोह प्रसंगकी कथा शिवपुराण द्वितीय रुद्रसंहिता अध्याय २ से २० में जो दी है उससे मानसमें दी हुई कथा बहुत मिलती-जुलती है। अतः मिलानके श्लोक बराबर यहाँसे हम देते जा रहे हैं। यथा "हिमशैलगुहा काचिदेका परमशोभना। यत्समीपे सुरनदी सदा वहति वेगतः ॥ २ ॥ तत्राश्रमो महादिव्यो नाना शोभा समन्वितः। तपोऽर्थं स ययौ नारदो दिव्यदर्शनः ॥ ३ ॥" मानसके 'अति पावनि', 'सुहावनि', 'परम पुनीत सुहावा' के स्थानपर उसमें क्रमशः 'परम शोभना', 'वेगतः' और 'महा दिव्यो नाना शोभा समन्वितः' हैं।

टिप्पणी—१ "हिमगिरि गुहा" इति। (क) 'अति पावनि' का कारण आगे कहते हैं कि 'बह समीप सुरसरी सुहावनि'। (ख) 'अति पावनि' का भाव कि हिमाचलकी सभी गुफायें स्वयं पवित्र हैं, उसपर भी यहाँ परम सुहावनी गंगाजी समीप बह रही हैं। इनके संबंधसे वह 'अति पावनी' हो गई है। ('सुहावनी' से जनाया कि धारा खूब वेगसे बह रही है)।

२ 'आश्रम परम पुनीत सुहावा । ' इति । (क) 'सुहावन पावन स्थानमें सत भजन करते ही हैं—यथा 'भरद्वाज आश्रम अति पावन । परम रम्य मुनिवर मन भावन । १।४४।', 'सुचि सुंदर आश्रमु निरखि हरषे राजिवनैन ।२।१२४।', 'पहुँचे दूत रामपुर पावन । हरषे नगर बिलोकि सुहावन । २।१६०।', 'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ । पावन पंचबटी तेहि नाऊँ । ३।१३।', तथा यहाँ 'आश्रम परम पुनीत सुहावा । देखि देवरिषि मन अति भावा' । (ख) आश्रममें गंगा और गुहा दोनों हैं, इसीसे आश्रममें इन दोनोंके गुण कहे, 'परम पुनीत' भी है और 'सुहावना' भी । ['सुहावा' से नाना शोभा समन्वित और 'परम पुनीत' से महा दिव्य जनाया] (ग) 'देवरिषि मन अति भावा' इति । आश्रम परम पावन और परम सुहावन है, अतएव 'अति भाया' । पुनः भाव कि सुरसरिका समीपता देखकर मनको भाया क्योंकि ये देवर्षि हैं और गंगाजी सुर (देव) सरि हैं । इसीसे मनको भानेमें 'देवरिषि' नाम दिया । ['देवरिषि' नाम यहाँ दिया है । क्योंकि पहले गंगाका 'सुरसरी' देवनदी नाम दिया है । यहाँ देवसरि है अतएव देवसम्बन्धसे 'देवर्षि' को भाया ही चाहे । पुनः 'अति भावा' का भाव कि परम पुनीत होनेसे भाया (अच्छा लगा) और 'परम सुहावन' भी होनेसे 'अति भावा' । आश्रम पवित्र होनेका लक्षण यह है कि वहाँ पहुँचते ही स्वतः आनंद उत्पन्न हो जाता है । (मा० पी० प्र० सं०)]

निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा । भयउ रमापति पद अनुरागा ॥३॥

सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी । सहज बिमल मन लागि समाधी ॥४॥

शब्दार्थ—निरखि = देखकर । विभाग = पृथक् पृथक् भाग वा अंश ।१।१११।२ में देखिए । बाधना = बाधा या रुकावट डालना = रोकना । गति = चाल, राह, दशा, अवस्था । श्राप गति बाधी = शापकी राह वा चाल रुक गई, शापके प्रमाणित होनेमें रुकावट पड़ गई ।

अर्थ—शैल, नदी और वनके भाग (अलग अलग) देख उनको रमापतिके चरणोंमें अनुराग हुआ ॥ ३ ॥ भगवान्‌का स्मरण करते ही शापकी गति नष्ट हो गई । मनके स्वाभाविक ही निर्मल होनेसे समाधि लग गई ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ 'निरखि सैल रमापति ' इति । नारायणावतारके (वा, जिस कल्पमें क्षीरशायी श्रीनारायणको शाप हुआ उस कल्पकी कथा कहना चाहते हैं, इसीसे 'रमापति पद' में अनुराग होना कहा । पुनः गंगाजीको देखकर गंगाजनककी सुध आ गई कि ये भगवान् रमापतिके चरणसे उत्पन्न हुई हैं । यह स्मरण होते ही श्रीरमापतिपदमें अनुराग हुआ । (प्रकृतिकी शान्त शोभा देखकर मन भी शान्त हो जाता है, वनकी श्री देखकर उसके रचयिता श्रीपतिके चरणोंमें अनुराग होता है । वि० त्रि०)

नोट—१ यहाँ उपासकोंकी रीति और उनका स्वभाव भी दिखा रहे हैं । पादोदक देख भगवान्‌के पदकमलका स्मरण हुआ, भक्तिरसका उद्दीपन हुआ । वे अनुरागमें मग्न होगए । यथा "रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज । होत मगन बारिधि बिरह । २।२२० ।' भरतजी और सभी समाज यमुनाजीका केवल श्यामरंग देख मग्न हो गए थे । पुनः, यथा 'देखत स्यामल धवल हलोरे । पुलकि सरीर भरत कर जोरे । २।२०४ ।' त्रिवेणीमें यमुनाजलका रंग देख श्रीरामचन्द्रजीका और गंगाजीका जल देख श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीका स्मरण हो उठा जिससे विरहाग्नि बहुत भड़क उठी ।

टिप्पणी—२ एक बार देखना प्रथम कह चुके हैं, यथा 'देखि देवरिषि मन अति भावा' । अब यहाँ पुनः देखना लिखते हैं—'निरखि सैल ' । इससे यह पाया जाता है कि यह 'सरि' गंगाजीसे पृथक् और दूसरी सरि है । 'शैल सरि' से पर्वतकी उस नदीसे तात्पर्य है जो झरनोंसे पैदा होती है ।

नोट—२ तपके लिये घोर वन, भोजनके लिये फल फूल वाले वृक्ष भी जिसमें बहुतायतसे मिल

सकते हों और स्नान-पानके लिये नदीका जल इन सब बातोंका यहाँ सुपास था जो भजनकेलिये आवश्यक है। एकान्त रमणीय स्थान देख भक्तोंको भजन सूझता है और विषयी लोगोंमें उससे कामोद्दीपन होता है। 'विभाग' पद देकर सूचित किया कि शैल, सरि, वन सबकी शोभा पृथक् पृथक् देखी। 'शैल सरि विपिन विभाग' पर वाल्मीकि आश्रमका वर्णन देखिए। यथा "राम दीख मुनि बासु सुहावन। सुंदर गिरि कानन जल पावन॥ सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले॥ खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥ सुचि सुंदर आश्रम निरखि हरषे राजिव नयन।"

३—श्रीवैजनाथजी यह शंका उठाकर कि "क्या नारदजी पहले स्मरण न करते थे? क्या उनको पहले अनुराग न था?" उसका समाधान यह करते हैं कि "पहले स्मरणमें सदा देह-व्यवहारकी सुध बनी रहती थी, इस समय देहकी सुधबुध न रहगई, आत्मदृष्टि तदाकार होगई, निर्विकल्प समाधि लग गई।"

☞ उपदेश—भगवद्भजन एकान्त सुंदर और पवित्र आश्रममें करना चाहिए। भगवद्भजनसे बड़ी-बड़ी बाधाएँ नष्ट होजाती हैं। अतएव भगवद्भजनका नियम प्रारंभ कर दीजिए।

टिप्पणी—३ "सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी" इति। (क) दक्ष प्रजापतिके शापकी गति बाधित हुई। [अर्थात् दक्षने जो शाप दिया था कि तुम एक जगह स्थिर न रह सकोगे, घूमते ही तुम्हारा समय बीतेगा, हरिस्मरणसे वह शाप या यों कहिये कि शापका प्रभाव नष्ट हो गया, उसकी गति रुक गई। (☞ यहाँ यह बताते हैं कि प्रेमसे जो हरिका स्मरण करता है, शाप उसका कुछ नहीं कर सकता)]। उनका तन स्थिर हो गया और मन भी स्थिर हो गया।

नोट—४ विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि पहिले 'काल' की एक कन्या दुर्भगा नामकी पतिकी खोजमें सर्वत्र फिरी, पर उसे किसीने न स्वीकार किया। निदान एक समय नारदमुनिको पृथ्वीपर देख उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानकर भी उसने उनसे कहा कि तुम मेरे पति बनो। नारदमुनिने इसे स्वीकार न किया। तब उसने उन्हें यह शाप दिया कि तुम किसी स्थानमें बहुत देर न रह सकोगे'।

यह कथा कहाँकी है, इसका प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है। दक्षप्रजापतिके शापकी कथा भा० ६।५ में है। उनके पुत्रोंको बहकाया इसीपर उन्होंने शाप दे दिया; यथा "शुकाथ नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्च्छितः। देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः॥ ३५॥ अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया। असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः॥ ३६॥ कृतवानसि दुर्मर्षं विप्रियं तव मर्षितम्॥ ४२॥ तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः। तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम्॥ ४३॥" अर्थात् दक्ष पुत्रशोकसे मूर्छित होकर नारदजी पर अत्यन्त कुपित हुआ, क्रोधमें उसके होंठ फड़कने लगे॥ ३५॥ रे दुष्ट! ऊपरसे साधु-वेष धारण करने वाले तूने मेरे साथ बहुत बुरा बर्ताव किया जो मेरे स्वधर्मपरायण पुत्रोंको भिक्षुकोंके मार्गका उपदेश दिया॥ ३६॥ तूने जो पहले असह्य अप्रिय किया था उसे मैंने सह लिया॥ ४२। हे सन्तानविनाशक! तूने फिर मेरा अप्रिय किया। इसलिये मैं शाप देता हूँ कि सम्पूर्णलोकोंमें विचरते हुये तेरे ठहरनेका कोई निश्चित स्थान न होगा॥४३॥

टिप्पणी—४ (क) "सहज बिमल मन' अर्थात् मन विषयासक्त नहीं है। विषयही मल है। यथा 'काई बिषय मुकुर मन लागी', 'मन मलिन बिषय संग लागे' (वि० ८२) (ख) 'सहज बिमल मन लागि समाधी' का भाव कि समाधि निर्मल मनके अधीन है। यथा "मनसा वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतयास्थितिः। असंप्रज्ञात नामासौ समाधिरभिधीयते॥" (सहज स्वाभाविक अर्थात् तप आदि उपायोंसे निर्मल बनाया हुआ नहीं, किन्तु जन्मसे ही स्वच्छ है)।

वि० त्रि०—'सुमिरत हरिहि' इति। अर्थात् भगवन्नामजप और उसके अर्थकी भावना आरंभ हुई। इससे प्रत्यक् चेतनका अधिगम हुआ और अन्तरायका अभाव हुआ।—'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। यो० सू०।'

मुनि गति देखि सुरेस डेराना । कामहि बोलि कीन्ह सनमाना ॥५॥
सहित सहाय जाहु मम हेतू । चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू ॥६॥

अर्थ—नारदमुनिकी यह दशा एवं सामर्थ्य देख इन्द्र डर गया। उसने कामदेवको बुलवाकर उसका बडा आदर सत्कार किया ॥ ५ ॥ (फिर कहा कि) हमारे लिये तुम अपने सहायकों सहित जाओ। (यह सुन) मीनध्वज कामदेव मनमें हर्षित होकर चला ॥६॥

टिप्पणी—१ 'मुनि गति देखि सुरेस डेराना।' इति। (क) दक्षके शापकी गति बाधित हुई। यह मुनिकी गति, यह मुनिका सामर्थ्य देख इन्द्र डरा कि इन्होंने अपने भजनके प्रतापसे दक्षप्रजापतिका शाप दूर कर दिया तब हमारा लोक ले लेना इनको कौन मुशकिल (कठिन) है, (यह इनके लिये कौन बडी बात है? यह तो इनके बाएँ हाथका खेल है)। (ख) 'कामहि बोलि कीन्ह सनमाना' इति। [राजा यदि किसी सेवकको अपनी ओरसे बुलाकर उसका सम्मान करे तो समझ लेना चाहिये कि बडा कठिन कार्य आ उपस्थित हुआ है, हमारे प्राणों ही पर आ बनने की सम्भावना है। (प्रो॰ लाला भगवानदीन जी) । जब किसीसे कोई काम निकालना होता है तब आदरसत्कार करनेकी रीतिही है, विशेषत शत्रु पर लडाई करनेके लिये सुभटोंकी प्रशंसा और उनका सम्मान करनेकी चाल है)। वीरोंका आदर-सम्मान करके उनको युद्धमें भेजा जाता है। यथा "देखि सुभट सब लायक जाने। लै लै नाम सकल सनमाने ॥ भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड मोहि। सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहि ॥ ७।१६१ ॥" पुनश्च यथा कुमारसम्भवे—"अवैमि ते सारमतः खलु त्वा कार्ये गुरुण्यात्मसमं नियोक्ष्ये। व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनाय शेषः । ३।१३।" अर्थात् जैसे भगवान्‌ने शेषमें पृथिवी धारण करनेकी शक्ति देख अपने शरीरको धारण करनेकी आज्ञा दी, वैसे ही तुम्हारा पराक्रम जानकर अपना भारी काम देकर तुम्हारा सम्मान करता हूँ। स्मरण रहे कि शिवजीकी समाधि छुडानेमें उसके प्राण पर आ बीतेगी, यह जानकर उस प्रसंगमें बडी स्तुति उसकी की थी और यहाँ तो उसे बुला भेजा है और आज्ञा दी है।

२— (क) 'सहित सहाय जाहु' का भाव कि मुनिका भारी महत्त्व देखकर कामदेवको अकेले भेजनेका साहस न हुआ, उसे विश्वास नहीं है कि वह हमारे काममें अकेले सफल हो सकेगा। इसीसे 'सहाय सहित' जानेकी आज्ञा दी] (ख) 'मम हेतु' अर्थात् हमारे लिये, हमारे हितार्थ। भाव कि नारदभजन भंग करनेसे हमारा हित होगा, हमारा लोक बचेगा, हमारा इन्द्रपद रक्षित रहेगा। (ग) 'चलेउ हरषि हिय' इति। 'हरषि' एक तो इसलिये कि यह स्वामीकी आज्ञा है कि हमारे कार्यके लिये जाओ, उनका यह खास काम है। स्वामीका कार्य करनेमें हर्ष होना ही चाहिए। दूसरे, हर्ष यह सोचकर भी हुआ कि (देवर्षि नारदकी समाधि छुडानेसे मेरा और भी अधिक यश और सम्मान होगा, मेरेलिये उनकी समाधि छुडाना कौन बडा बात है) मैं जाते ही समाधि छुडा दूँगा। (उसे सहजही सफलता प्राप्त करनेका अभिमान है, विश्वास है। अत हर्षित होकर चला)। तीसरे, वह चलते समय सेना लेकर चला है (यह आगे चलकर वक्ता स्पष्ट कह रहे हैं) अपनी वह सेना देखकर हर्षित हुआ। यथा "देखि सहाय मदन हरषाना।१२६।६।", "सेन बिलोकि राउ हरषाना।१।१५४।" (पुन मुनियोंके भजनमें बाधा डालनेसे इसे हर्ष होता ही है, यह इसका स्वभाव है। अत 'चलेउ हरषि' कहा)। (घ) ["हिय"—हृदयमें प्रसन्नता है। ऊपरसे अपना हर्ष प्रकट नहीं करता, क्योंकि उससे अभिमान जान पडता, काममें सफलता न होनेपर लज्जित होना पडा] (ङ) "जलचर केतू" इति। अर्थात् जिसकी पताकापर 'जलचर' (मीनका चिह्न) है। पताका रथके ऊपर होता है। अत 'जलचर केतू' कहकर सूचित किया कि रथपर चढकर चला। यदि रथपर चढकर न चला होता तो पताकाके वर्णन करनेका कोई प्रयोजन न था। (पताका रथका एक अंग है, यथा "सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ ध्वजा पताका। ६।७९।", "रथ सारथिन्ह बिचित्र

बनाए। ध्वज पताक मनि भूषन लाए। १।२६६।", 'रथ बिभंजि हति केतु पताका। ७।९१।" विशेष भाव "कोपेउ जबहि बारिचर केतू" १।८४।६ में देखिए।

सुनासीर मन महुँ असि[१] त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा॥ ७॥
जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—'सुनासीर' (शुनासीर)=इन्द्रका एक नाम। लोलुप लोभवश चचल, लोभी।

अर्थ—इन्द्रके मनमें ऐसा। (अर्थात् यह) डर हुआ कि देवर्षि नारद हमारे नगर (अमरावती पुरी) में निवास (अर्थात् अपना दखल अधिकार जमाना) चाहते हैं॥ ७॥ संसारमें जो लोग कामी और लोभी हैं, वे कुटिल कौएकी तरह सबसे डरते (शंकित रहते) हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ "सुनासीर मन महुँ असि त्रासा' इति। (क) कामदेवके चले जानेपर ऐसा कहकर जनाते हैं कि कामको भेजनेपर भी इन्द्रको शान्ति नहीं प्राप्त हुई। देवर्षिका भारी सामर्थ्य देखकर उन्हें विश्वास नहीं होता कि कामदेव नारदजीके मनमें विकार उत्पन्न कर सकेगा। अतएव वह चिन्ताग्रस्त है। इसीसे पुनः सोचने लगा। (अथवा, यह कह सकते हैं कि पहले केवल डर कहकर उसे कामदेवके बुलानेका कारण बताया और अब बताते हैं कि इन्द्रका क्या डर था। यह भाव 'असि' से सूचित होता है)। (कुचालके कारण यहाँ सीधा-सीधा नाम न देकर शुनासीर रूढ़ी नाम दिया। अत्यन्त डर एवं देवर्षिका बड़ा भारी सामर्थ्य दिखानेके लिये पहले 'सुरेश' कहा था। रुद्रसहितामें भी 'शुनासीर' ही नाम आया है)। (ख) 'मन महुँ' का भाव कि वह अपना त्रास वचन और कर्मसे किसी पर प्रकट नहीं होने देता। मनही मन सतप्त हो रहा है। वचनसे किसीसे कहता नहीं और उपाय कुछ चलता (या सूझता भी) नहीं; इस तरह मन, वचन और कर्म तीनोंसे त्रास दिखाया।

प० प० प्र०—'सुनासीर' नाम सहेतुक है। 'सुष्ठुनासीरं सेनामुखं यस्य सः सुनासीर.' (अमर व्याख्या सुधा)। भाव कि सुरेशके पास देवोंकी (३३ करोड़) अच्छी सेना है तो भी वह एक निष्काम ब्रह्मलोकनिवासी निर्मोह हरिभक्तसे डर गया। भला ब्रह्मलोकवासी स्वर्गकी इच्छा क्यों करेगा! पर सुरेशके मनमें ऐसा विचार आया कि यदि वे मेरी अमरावती आदि लेनेका विचार रखें तो मेरे पास देवोंकी बड़ी अच्छी सेना है (इसके बलपर मैं उन्हें सफल मनोरथ न होने दूँगा)। इसीसे सुरपतिको कुटिल काक समान कहा और आगे कुत्तेके समान कादर, निर्लज्ज आदि कहते हैं।

टिप्पणी—२ "चहत देवरिषि ··" इति। [क्या त्रास है वह इस चरणमें बताया। 'देवरिषि' शब्द देकर सूचित करते हैं कि यह विचार उसके मनमें कैसे उठा कि नारदजी सुरलोक (का आधिपत्य) चाहते हैं। 'चहत देवरिषि' में भाव यह है कि अभी तो देवर्षिही हैं] तप करके देवर्षि हुए, अब देवराज होना चाहते हैं, (इसीसे इन्होंने समाधि लगाई है, नहीं तो अब इन्हें और क्या चाहिये था। (पुनः, मम पुर-बासा' का भाव कि उनका बसना ही मेरे प्रभुत्वके लोपका कारण होगा। वे देवर्षि हैं, अतः उनका वैसा ही सम्मान करना पड़ेगा, उनकी आज्ञाके वशवर्ती होना पड़ेगा। दूसरेके आज्ञावशवर्त्ती हुए तब इन्द्र किस बातके रह जायँगे। (वि० त्रि०)। 'नारदजी इन्द्रलोककी प्राप्तिकी वासनासे भजन नहीं कर रहे हैं तब इन्द्रको ऐसा भय क्यों प्राप्त हुआ इस सम्भावित शंकाका समाधान आगे करते हैं कि 'जे कामी ''।

---

[१] 'असि' पाठ १६६१ में है अतः इस संस्करणमें हमने यही पाठ रक्खा है। रा० प० काशिराजकी प्रतिकाभी यही पाठ है। अति—भा० दा०, कोदो राम, मा० पी० प्र० स०। 'अति त्रासा' का भाव कि इन्द्र तो सभी तपस्वियोंसे भयभीत रहता है, सभीका तप देखकर वह शंकित हृदय हो जाता है और नारद एक तो देवर्षि, दूसरे उनका प्रताप प्रत्यक्षही देखा जा रहा है कि 'शाप गति बाधी', अत. 'अति त्रास' हुआ।

३ 'जे कामी लोलुप ' इति । (क) यहाँ 'कामी' का काककी उपमा दी । मानस मुखवन्दमें भी कामीका काक कहा है । यथा 'कामी काक बलाक बिचारे' । ३८।५ । 'इन्द्रकी रीति कोएकीसी है, यथा 'काक समान पाकरिपु रीती । छली मलीन कतहुँ न प्रतीती । २।३०२ ।' इसीसे उसके लिये काककी उपमा दी । विशेष आगे दोहा १२५ में देखिए । [इन्द्रपद वैषयिक सुखकी पराकाष्ठा है । इसलिये कामी, लोलुप और कुटिल कहा । काककी उपमा देकर छली आदि जनाया । छली, यथा 'सहित सहाय जाहु मम हेतू' । मलीन, यथा 'चहत देवरिषि मम पुर बासा' । 'कतहु न प्रतीती', यथा 'मुनि गति देखि सुरेस डेराना । (वि० त्रि०)]

नोट—१ 'मुनि गति देखि , से यहाँ तकसे मिलते हुये श्लोक दूसरी रुद्रसहितामें ये हैं—'चकम्पेऽथ शुनासीरो मनस्सन्तापविह्वल ।६। मनसातिविचिन्त्यासौ मुनिर्मे राज्यमिच्छति । तद्विघ्नकरणार्थं हि हरियत्न-मियेष स ।७। सस्मार स स्मरं शक्रश्चेतसा देवनायक । आजगाम द्रुतं कामस्समधीर्महिषी सुत ।८।' मानसके 'सुनासीर', 'मन अति त्रासा', 'चहत देवरिषि मम पुर बासा' की जगह श्लोकमें क्रमश 'शुनासीर', मनस्सतापविह्वल ', 'मुनिर्मे राज्यमिच्छति' पद आए हैं । चौ० ८ और दोहा २५ वक्ता (शिवजी) की आलोचना है । मानसके 'कामहि बोलि कीन्ह सनमाना' की जगह 'सस्मार स स्मरं शक्रश्चेत ना देवनायक ' है ।

दोहा—सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज ।
छीनि लेइ जनि जान जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज ॥ १२५ ॥

शब्दार्थ हाड़=हड्डी । स्वान (श्वान)-कुत्ता । मृगराज-पशुओंका राजा, सिंह ।

अर्थ जैसे मूर्ख और दुष्ट कुत्ता सिंहको देखकर सूखी हड्डी लेकर भागे और जैसे वह मूर्ख यह समझता है कि कहीं सिंह उसे छीन न ले, वैसेही देवराज इन्द्रको (यह सोचते हुए कि देवर्षि मेरा राज्य छीन न लें) लज्जा नहीं लगी ॥ १२५ ॥

टिप्पणी—१ यहा इन्द्रपुरीका राज्य एव भोग सूखा 'हाड' है, इन्द्र श्वान है, नारद मृगराज हैं । देवर्षि एक तो भगवान्के निष्काम भक्त हैं, फिर वे ब्रह्मलोकके निवासी हैं जहाँका सुख और ऐश्वर्य इन्द्रलोकसे अनन्तगुण अधिक है, तब वे भला इन्द्रपुरीके सुखकी इच्छा क्यों करने लगे ? यह इन्द्रका न समझ पड़ा । इसीसे उसे 'जड' कहा—'छीनि लेइ जनि जान जड' । इन्द्र सूखी हड्डीके समान भोगको लेकर भागा, इसीसे उसे निर्लज्ज कहा 'तिमि सुरपतिहि न लाज' । और, महात्मासे अविश्वास और प्रतिकूल[illegible] (मूर्खतासे) 'सठ' कहा—'लै भाग सठ' ☞ भगवान्के भजनके आगे इन्द्रपुरीका सुख सूखी हड्डीके समान[illegible] लिये

२ इस प्रसगमें इन्द्रको दो उपमायें दी गईं—'कुटिल काक इव' और 'सठ स्वान' । डरनेमें (एव कुटिलतामें) काककी और (सूखा हाड लेकर) भागनेमें श्वानकी । भक्त लक्ष्मीके विलासको भी निषिद्ध समझते हैं । यथा 'रमा बिलासु राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बडभागी । २ ३२४ ।' इसीसे इन्द्रके ऐश्वर्यको 'सूख हाड' की उपमा दी । श्वान सिंहके गुण और आहारको नहीं जानता और अपने 'सूखे हाड़' को बहुत (बडी न्यामत, भगवान्की अपूर्व देन) मानता है, इसीसे उसे 'जड' कहा ।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'नारदजी समस्त संसार सुखको त्यागे हुये केवल एक मनरूपी मतवाले हाथीके मारनेवाले भगवद्दास हैं । उनका इन्द्रका राज्य क्या है ? अर्थात ससार सुख सूखा 'हाड' है, मन मतग है और नारद सिंह हैं ।

प० शुकदेवलालजी लिखते हैं कि जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको बहुत ब । पदार्थ समझता है, वैसे ही इन्द्र नारदकी (देवर्षि, भगवद्भक्त) पदवीके आगे अपने एक मन्वन्तरके राज्यको बडा पदार्थ मानता है ।

लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि देवेन्द्र किसीकी उत्कृष्टता नहीं सह सकते, इसी तरह नरेन्द्र भी । यह रजोगुणका स्वभाव है, त्यासियत है ।

नोट—७ इन्द्रको काक और श्वान दोनोंकी उपमायें अयोध्याकाडमें भी उसके शंकित हृदय, छली, कुटिल, मलिन, अविश्वासी और कपट-कुचालकी सीमा तथा पर-अकाज प्रिय और स्वार्थी स्वभाव होनेमे दी गई हैं। यथा "कपट कुचालि सीवँ सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥ काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥ लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू। २.३०२ १–८।" यही सब बातें दिखानेके लिये यहाँ ये दोनों उपमाएँ दी गई। छल और कुमार्गकी वह सीमा है। अपना कार्य साधना, पराया काज बिगाडना यही उसको प्रिय है। यही दिखलाना था।

इस दोहेसे मिलते जुलते एवं उसपर प्रकाश डालनेवाले दो दोहे दोहावलीमे ये हैं—(१) "लखि गयंद लै चलत भजि स्वान सुखानो हाड। गज गुन मोल अहार बल महिमा जान कि राड॥ ३८०।" अर्थात् हाथीको देखकर कुत्ता सूखी हड्डी लेकर भाग चलता है कि कहीं वह उसके आहारको छीन न ले। क्या यह मूर्ख हाथीके गुण, मूल्य, आहार, बल और महिमाको जान सकता है? कदापि नहीं। (२) "कै निदरहु कै आदरहु सिंहहि स्वान सियार। हरष बिषाद न केसरिहि कुंजर-गंजनिहार॥ ३८१।" अर्थात् सिंह तो हाथीका मस्तक विदीर्ण करके खानेवाला है, वह दूसरेका मारा हुआ (शिकार) तो छूता ही नहीं, तब भला वह सूखी हड्डीकी तरफ दृष्टि ही क्यों डालेगा?—ये सब भाव एवं और भी भाव दोहावलीके दोहोंसे मिलान करनेसे भली भाँति स्पष्ट हो जाते हैं। जैसे कि कुत्तेके आदर वा निरादरसे सिंहको हर्ष वा विषाद नहीं होता, उसी तरह इन्द्र एवं कामदेवके आदर अथवा निरादरसे नारदजीके मनमें हर्ष या विषादसूचक कोई भी विकार न उठा। यथा 'भएउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा॥' यहाँ उदाहरण अलंकार है।

महर्षि पाणिनीजीने श्वान, मघवान् (इन्द्र) और जवान इन तीनोंका (तद्धित प्रकरणसे भिन्न प्रकरणोंमें) एक सरीखा रूप प्रदर्शित करनेके लिये अपने प्रसिद्ध व्याकरण अष्टाध्यायीमे एक ही सूत्रमे तीनोंको लिखा है। यथा 'श्व युवमघोनामतद्धिते। ६ ४ १३३।"—यह सूत्र इस प्रकरणमे देनेका भाव ही यह है कि इन्द्र और युवानपुरुष दोनों प्रत्येक दशामे कुत्तेके समान ही हैं। [कामपरवशता एवं लोलुपतामें इनकी उपमा कुत्तेसे देना उचित ही है परन्तु अन्य अवस्थामें नहीं। इसी लिये महर्षि पाणिनिजीने "अतद्धिते" शब्द दिया है। पाणिनिके 'अतद्धिते' कहनेका भाव तद्धितप्रकरणके अतिरिक्त यह है कि जो जवान मनुष्य तत्-हिते अर्थात् तत् (ब्रह्म) की प्राप्तिके साधनमे लगा है उसकी गणना श्वान और इन्द्रकी समान कोटिमें नहीं करनी चाहिए। (वे० भू०)। लट्टायन सहितामें भी तीनोंको समान कहा है; यथा "समा श्वयुवमघवा।" भर्तृहरिजीके "कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितम् निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम्। सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्॥" (नीति शतक ६) अर्थात् कीड़ोंसे व्याप्त, लारसे भीगे, दुर्गन्ध, निन्दित, नीरस और मांस रहित मनुष्यकी हड्डीको निर्लज्ज कुत्ता प्रेमसे चबाता है तब अपने पास इन्द्रको भी खडे देखकर शंका नहीं करता, वैसे ही नीच पुरुष जिस पदार्थको ग्रहण करता है उसकी निस्सारतापर ध्यान नहीं देता।—इस श्लोकके अनुसार दोहेका भाव यह निकलता है कि निर्लज्ज इन्द्र सूखी हड्डीके समान अपने राज्यको निस्सार नहीं समझता।

तेहि आश्रमहि मदन जब गएऊ। निज माया बसंत निरमएऊ॥१॥
कुसुमित बिबिध बिटप बहु रंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहि भृंगा॥२॥

शब्दार्थ—मदन=कामदेव। माया=सकल्प, शक्ति। निरमएउ=निर्माण किया, रचा, उत्पन्न किया। कुसुमित पुष्पित, फूले हुये। कूजना (सं० कूजन)=बोलना, मधुर शब्द करना, कुहू कुहू करना। यथा 'कूजत पिक मानहु गज माते' ३.३८ ५, "कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं।

३.४०।', 'कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। ७.२३।', 'बिमल सलिल सरसिज बहु रंगा। जल खग कूजत गुंजत भृंगा।' 'गुंजना, गुंजरना' (सं० गुंज)=भौंरोंका भनभनाना, मधुर ध्वनि निकालना, गुनगुनाना, यथा 'मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा। ३.४०.१।'

अर्थ—जब कामदेव उस आश्रममें गया तब उसने अपनी मायासे वसन्तऋतुका निर्माण किया ॥१॥ नाना प्रकारके वृक्ष रंग बिरंगके फूलोंसे खिल उठे (लद गए)। कोयलें कुहू-कुहू कर रही हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं ॥२॥

नोट—१ कामदेवका प्रसंग 'चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू' १२५.६ पर छोड़ा था। बीचमें इन्द्रकी काक-श्वान-इव रीति वा स्वभावका वर्णन करने लगे थे। अब पुनः कामका वृत्तान्त कहते हैं।

२ यहाँ विघ्न करनेको जाते समय 'मदन' नाम दिया और अंतमें लौटते समय भी अर्थात् प्रसंगके उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें यही नाम दिया गया है। यहाँ 'मदन जब गएऊ' और अंतमें 'गयउ मदन तब सहित सहाई।१२७.२।' इस शब्दके प्रयोगमें गूढ़ भाव, आशय और चमत्कार है, वह यह कि यह जाता तो बड़े मदके साथ है—"चलेउ हरषि ", पर वहाँ इसकी दाल न गलेगी, इसका 'मद' 'न' रह जायगा। इसी प्रकार श्रीशिवजीकी समाधि छुड़ानेके प्रसंगमें कहा गया है। यथा 'रुद्रहि देखि मदन भय माना। ' मदन अनल जरा सही ॥ ८६। देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदनु मन माखा ॥ सौरभ पल्लव मदन बिलोका।'

टिप्पणी—१ " जब गएऊ। " इति। (क) जब आश्रममें गया तब वसन्त का निर्माण किया, इस कथनसे जनाया कि जब नारदजी उस आश्रममें गये थे तब वसन्त ऋतु न थी, क्योंकि यदि होती तो उसका वर्णन पूर्व ही किया गया होता। जब वे गए थे तब इतना ही कहा था कि 'निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा' और जब कामदेव वहाँ पहुँचा तब भी वसन्त न था, इसने जाकर अपनी मायासे वसन्तऋतुका निर्माण किया। आगे वसन्तका रूप दिखाते हैं। [(ख) इन्द्रने कहा था कि 'सहित सहाय जाहु मम हेतू'। वह सहाय कौन है, यह यहाँ बताया। पाँच अर्धालियोंमें इसका वर्णन करके तब छठी अर्धालीमें कहा है कि 'देखि सहाय मदन हरषाना' अर्थात् यही इसके सहायक हैं] (ग) "कुसुमित बिबिध बिटप बहु रंगा"—विविध प्रकारके वृक्ष फूले हुए हैं, इसीसे बहुत रंगके हैं। (घ) 'कूजहिं कोकिल'—यह कोयलोंका कूजना कुहू-कुहू करना मुनिका ध्यान छुड़ानेके लिये है। कोकिलोंकी कूजसे ध्यानमें विक्षेप होता ही है यथा 'कुहू-कुहू कोकिल ' (उपर्युक्त)। ये सब उद्दीपन हैं।

चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम कृसानु बढ़ावनिहारी† ॥३॥
रंभादिक सुरनारि नवीना। सकल असमसर कला प्रबीना ॥४॥

शब्दार्थ—बयारी-पवन, वायु, हवा। रंभा—एक अप्सरा जो क्षीरसमुद्रसे मथकर प्रकट किये हुये चौदह रत्नोंमेंसे एक रत्न है। सुरनारि देववधूटियाँ, अप्सरायें। नवीना नवयौवना, नई उभरती हुई जवानीवाली। असम-विषम पाँच, तीएा। असमसर=पंचबाण। विषमबाण=कामदेव। 'कला'—नृत्य, गान, हाव भाव कटाक्ष आदि शृङ्गारके जितने अंग हैं वेही 'कला' हैं। यथा "भाव कटाक्षहेतुश्च शृङ्गारे बीजमादिमम्। प्रेममान प्रणयश्च स्नेहो रागश्च संस्मृत ॥ अनुराग स एव स्यादंकुर पल्लवस्तथा। कलिका कुसुमानीति फल

† जगावनिहारी—१७२१, १७६२। बढ़ावनिहारी-१६६१, छ०, को० राम, १७ ४। शरीरमें काम यदि अल्पभी हो तो त्रिबिध बयारि उसे बहुत कर देती है। 'जगावनिहारी'में भाव यह है कि जिनके मन कामकी ओरसे मर गए हैं उनको फिर जिला देती है। मुनियोंके मनमें काम पड़ा सो रहा था उसको जगा देती है।

भोग स एव च ॥ " (सत्योपाख्यान । वै०) । विशेष "सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत । १।८६" मे देखिये । प्रबीना (प्रवीण)=कुशल, निपुण, पूरी होशियार ।

अर्थ—कामाग्निको उकसाने उभाड़ने उत्तेजित करनेवाली सुहावनी, शीतल, मंद, सुगंधित) तीनों प्रकारकी वायु चलने लगी ॥ ३ ॥ रम्भा आदि नवयौवना (उठती जवानी वाली) अप्सराएँ जो समस्त कामकलाओंमें निपुण हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) "चली सुहावनि त्रिविध बयारी" इति । पवन शीतल, मद और सुगंधयुक्त त्रिविध प्रकारका है । यहाँ हवामें तीनों गुण हैं । गंगाजलके स्पर्शसे वह शीतल है, वनके वृक्षोंकी आड़से होकर आनेसे मन्द है और फूलोंके स्पर्शसे सुगंधित है । अथवा, स्वाभाविक ही शीतल, मद और सुगंधित है । यह सब कामदेवकी माया से निर्मित हुए हैं, अत बिना कारण स्वाभाविक ही त्रिविधगुणयुक्त होसकती है । (ख) "काम कृसानु बढ़ावनिहारी' इति । अर्थात् कामको प्रज्वलित कर देनेवाली है । कामदेवकी इच्छा है कि नारदमुनि कामासक्त हो जायँ, इसीसे कामदेवने कामाग्निको प्रज्वलित करनेवाली त्रिविध 'बयारि' चलाई । ('बयारि' कामकी दूतिनी भी कही गई है, यथा 'त्रिबिध बयारि बसीठी आई ।३।३८ ।') (ग) यहा तक नारदजीके मनमें क्षोभ उत्पन्न करनेके लिये उनको वनकी शोभा दिखाई । यथा 'लछिमनु देखु बिपिन कै सोभा । देखत केहि कर मन नहि छोभा ३।३७।३।', "जागइ मनोभव मुएहुँ मन बन सुभगता न परै कही । १।८६ ।"

नोट—१ वनमें सब वृक्षोंमें सुगंधित पुष्प खिले हुए हैं । फूलोंकी सुगंधसे रक्तमें गर्मी पैदा होती है जिससे कामकी जागृति होती है, काम उत्पन्न हो जाता है । कोकिलकी कूज और भ्रमरोंकी गूँज इत्यादि शृङ्गाररसके उद्दीपन विभाव हैं जिनसे काम जाग उठता है । "त्रिविध बयारि" को "काम कृसानु बढ़ावनिहारी' विशेषण देकर जनाया कि यह कामकी सखी सहायक है । शीतल मंद-सुगंधित पवन कामाग्निको विशेष प्रज्वलित करता है, इसीसे उसको कामका एक खास पद सखा सखा अन्यत्र कहा गया है । यथा "सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही । १।८६ ।" ☞ कामकी मायाका विस्तार क्रमसे हुआ है । प्रथम वनका शोभायुक्त बनाया गया । रंग रंग के नाना प्रकारके पुष्पोंसे लदे हुये अनेक प्रकारके वृक्ष, कोयलोंकी कूज और भ्रमरोंकी गूँज यह सब वनकी सुभगता है जिसमे काम जागृत हो । तत्पश्चात् 'त्रिविध बयारि' का निर्माण कहा गया जो जागे हुए कामको प्रज्वलित करदे । कामाग्निके प्रज्वलित होनेपर फिर उसे कामासक्त कर देती है । इसीसे आगे अप्सराओंका वर्णन है ।

२—यहाँ पवन, समीर, मारुत आदि शब्द न देकर 'बयारि' स्त्रीलिंग वाचक शब्दका देना भी साभिप्राय है । पवनादि पुल्लिंग हैं । पुरुषको देखकर पुरुष नहीं मोहित होता, स्त्रीको देखकर मोहित हो जाता है । अतएव स्त्रीलिंग शब्द देकर जनाया कि इसका (बयारिका) देहमें लगना ऐसाही है जैसे कोई स्त्री आलिंगन कर रही हो । स्त्रीका स्पर्श कामाग्निको बढ़ाता ही है । पवनसे अग्नि प्रज्वलित होता है अत काममें अग्निका आरोप करनेसे 'सम अभेद रूपक अलंकार' है ।

३—भगवान् शंकरकी समाधि छुड़ानेको जब कामदेव गया था तब प्रथमसे ही उसके मनमें शंका थी । यथा "संभु बिरोध न कुसल मोहि । ८३ । तदपि करब मैं काज तुम्हारा । चलत मार अस हृदय बिचारा । सिव बिरोध ध्रुव मरनु हमारा ।" इसीसे उसने वहाँ जानपर खेलकर अपना सारा प्रभाव दिखाया जिससे 'जागइ मनोभव मुएहुँ मन' । और यहाँ तो उसको विश्वास था कि मुनिकी समाधि मैं सहज ही छुड़ा दूँगा, इसलिये यहा पूर्ण प्रभाव नहीं दिखाया । दूसरे भगवान् शंकर ईशकोटिमें हैं और नारदजी 'देवर्षि' ही हैं । इसलिये यहाँ 'बढ़ावनिहारी' ही कहा गया । अथवा, 'बयारी' हीके साथ 'बढ़ावनिहारी'

कहकर जनाया कि इसके पूर्व जिन सहायकोंका वर्णन किया गया है वे कामको जगानेवाले थे और यह उसे प्रज्वलित करनेवाली है।

टिप्पणी—२ 'रंभादिक सुरनारि ' इति। (क) यहाँ 'निज माया बसंत निरमएऊ' से लेकर 'काम कृसानु ' तक कामका बल कहा, अब उसका परम बल कहते हैं, यथा 'एहि कें एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी। ३।३८।' (ख) [रंभाको आदि (आरंभ) में दिया क्योंकि यह चौदह रत्नों-मेंसे एक है। और 'आदि' शब्दसे उर्वशी, मेनका प्रभृति अप्सराओंका भी वहाँ होना जनाया] 'सुरनारि' से दिव्य और 'नवीना' से सुंदर एवं षोडशवर्षकी युवा अवस्थावाली सूचित किया। नवयौवना होनेमें सब कामकला लगती है इसीसे नवीना' कहा। (पुनः भाव कि यथा पैदा होनेसे शरीरकी कान्ति जाती रहती है, यथा 'जननी जोबन बिटप कुठारी', पर ये सदा नवयौवना ही बनी रहती हैं। अप्सराओंके सुंदर नृत्य, गान और हावभावसे तो कामको बड़ी सहायता मिलती है ही, यह तो नित्यही देखनेमें आता है, उसपर फिर देवाङ्गनाओंके रूप और गानका कहना ही क्या? इसीसे आगे इन्हें 'सहाय' और 'बल' कहते हैं)। (ग) 'असमसर-कला प्रबीना' कहकर जनाया कि इन्होंने नारदजीके समीप जाकर अपना सब कामकला-कौशल कर दिखाया, सब कलायें एक एक करके उनके सामने कीं।

"असमसर-कला" इति।

प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्रकी पत्नी परम विदुषी श्रीशारदाने कामशास्त्र संबंधी प्रश्नोंसेही श्रीशंकराचार्यजीको निरुत्तर कर दिया, तब श्रीशंकराचार्यजीने समय लेकर अमरुक राजाके मृत शरीरमें प्रविष्ट हो उनकी रानियोंसे काम कलाओंका ज्ञान प्राप्त करके उत्तर दिया था। विदुषी भारतीके वे प्रश्न ये हैं—"कलाः कियत्यो वद पुष्पधन्वनः किमात्मिकाः किंच पदं समाश्रिताः। पूर्वे च पक्षे कथमन्यथास्थितिः कथं युवत्यां कथमेव पूरुषे॥" अतः ज्ञात हुआ कि स्त्री और पुरुषके लिये भिन्न भिन्न रूपेण काम अपनी कलाओंका प्रयोग करता है। संभवतः कामने शिवजीके ऊपर पुरुष संबंधी कलाओंका ही प्रयोग किया होगा और उनमें भी जिनका संबंध श्रवणेन्द्रियसे ही रहा होगा। और 'रंभादिक सुर नारि नवीना। सकल असमसर कला प्रबीना॥' अनेक सुर नारियोंके साथ सम्पूर्ण कलाओंको प्रयोगरूपसे नारदको दिखलाया था। यहाँपर उनकी व्याख्या न करके केवल कुछ कलाओंका नाम मात्र दे दिया जाता है

बाभ्रव्य ऋषिका मत है कि "आलिंगन, चुम्बन, नखच्छेद, दशनच्छेद, संवेशन, सीत्कृत, पुरुषायित, औपरिष्टानां, अष्टानामष्टधा विकल्पभेदादष्टावष्टकाः चतुःषष्टिरिति बाभ्रवीयाः॥" (कामसूत्र० २।४।४) आलिंगनादि आठों कलाओंमें प्रत्येकके आठ आठ भेद होनेसे कुल चौंसठ कलायें हुईं। परन्तु वात्स्यायन ऋषिका कहना है कि चौंसठ उपभेदमें देशभेदसे विभिन्नता भी है। जैसे 'पाञ्चालिकी च चतुःषष्टिरपरा' 'मागधीरपरा च।' (वात्स्यायन सूत्र १।३।१७) तथा उपर्युक्त आलिंगनादिके अतिरिक्त चार मुख्य भेद और हैं तथा सबके बराबर उपभेद नहीं होते, जैसे सप्तपर्ण वृक्षके प्रत्येक पल्लवोंमें सात सातही पत्ते नहीं होते न्यूनाधिक भी होते हैं और पंचवर्णी बलिके सभी कोष्टक पाँच रंगवालेही नहीं होते। न्यूनाधिक भी रंगोंका संमिश्रण होता है यथा "विकल्पवर्गाणामष्टानां न्यूनाधिकत्वदर्शनात्-प्रहरणन, विरुत, पुरुषोपसृप्त, चित्ररतादीनाम न्येषामपि वर्गाणामिह प्रवेशनात् प्रायोवादोऽयम्। यथा सप्तपर्णो वृक्षः पंचवर्णो बलिरिति वात्स्यायनः॥" (वा०सू० २।४।५)

मुख्यतः कामकलायें आलिंगनादि आठ ही हैं, यही बाभ्रव्य और वात्स्यायनादिके मतका निष्कर्ष है। वैसे तो 'सकल कला करि कोटि बिधि०।' के अनुसार एक एकके कोटियों (अनेकों) उपभेद हैं पर महर्षि वात्स्यायनके मतानुसार कुछ मोटे मोटे उपभेद ये हैं—

१—आलिंगनके आठ भेद-स्पृष्टक१, विद्धक२, उद्घृष्टक३ पीडितक४ इति-(वा० सू० २।४।६) लतावेष्टितक५, वृक्षाधिरूढक६, तिलतण्डुलक७, क्षीरनीरक ८-इति च॥" (वा० सू० २।४।१४)

२—चुम्बनके सोलह भेद—१ निमित्तक, २ स्फुरितक, ३ घट्टिक, ४ सम, ५ तिर्यक्, ६ उद्भ्रान्त, ७ द्यूत, ८ अवपीडितक, ९ अचित, १० मृदु, ११ उत्तर, १२ प्रतिरोध, १३ चलित, १४ रागसदीपक, १५ प्रतिबोधित और १६ समौष्ट। (वा० सू० ३।४। १-३७)

३—आठ प्रकारके नखच्छेद—आच्छुरितक, अर्धचन्द्र, मण्डल, रेखा, व्याघ्रनख, मयूरपदक, शशप्लुतक और उत्पलपत्रक (३।६।१-३२)

४—आठ प्रकारके दशनच्छेद गूढक, उच्छूनक, विन्दु, विन्दुमाला, प्रवालमणि, मणिमाला, खण्डाभ्रक और वाराह चर्वित (३।५। १-१६)

५—सवेशनके ग्यारह भेद—उत्फुल्लक, जिम्भृत, सजिम्भृत, इन्द्राणिक, सपुटक,पीडितक, उत्पीडितक, प्रपीडितक, वेष्टितक, वाडविक और भृगनक। (३।६।१-१६)

६—सीत्कृत के मन्द, चण्ड, उत्वेग और कल कूजित ये चार भेद हैं। (३।६।२०-२७)

७—पुरुषायित के अमित और प्रतियोगित दो भेद हैं। (३।८।१,२)

८—औपरिष्टक के निन्द, वर्ष्टायित और विनिन्द ये तीन भेद हैं। (३।६।१६)

९—प्रहरणके सात भेद हैं—तिर्यक, पैष्टिक, चण्डित, स्वलित, अपहस्तक, प्रसृतक और मौष्टक। (३।७ १-४)

१०—विरतके आठ भेद हैं—हिंकार, स्तनित, कूजित, रुदित, सीत्कृत, दूत्कृत, फूत्कृत और प्रविरत। ३।७।५—१७)

११—पुरुषोपसृप्त (पुरुषोपसृत ?) के मन्द, चाटु और अधिकृत तीन भेद हैं।

१२—चित्ररतके चालीस भेद हैं—वेणुदारित १, शूलाचितक २, कार्कटक ३, परावृतक ४, चित्रक ५, अवालम्बितक ६, धेनुक ७, पद्मक ८, शौन ९, ऐणेय १०, छागल ११, खराक्रान्त १२, मार्जारक १३, ललितक १४, व्याघ्रास्कन्दन १५, गजोपमर्दित १६, वाराहघृष्टक १७, तुरगाधिरूढक १८, सघाटक १९, गोयूथिक २०, प्रेंखा २१, सरित २२, उद्भुग्नक २३, उदरस्फुटनक २४, फणिपाशक २५, स्थितक २६, हिण्डोलक २७, कौर्म २८, ऊर्ध्वगतोत्युग २९, पारिवर्तित ३०, समुद्र ३१, परिवर्तनक ३२, पत्रयुग्मक ३३, वैपरीतक ३४, हुलक ३५, चटकविलसित ३६, भ्रमरक ३७, प्रेंखोलित ३८, अवमर्दनक ३९, और उपसृप ४०।

अश्लीलता एवं अनुभव हीनता के कारण उपर्युक्त कला-भेदों का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। वात्स्यायन महर्षिका तो कहना है कि-'न शास्त्रमस्तीत्यनेन प्रयोगो हि समीक्ष्यते। शास्त्रार्थान् व्यापिनि विद्यात् प्रयोगास्त्वेकदेशिकान् ॥'(७।२।१५)। समस्त विषय लिखना शास्त्रका महत्त्व है, परन्तु उसका करनेवाला प्रत्येक नहीं होना चाहिये। (वे० भू० जीसे खोज कराकर लिख दिया है)।

करहिं गान बहु तान तरगा। बहु विधि क्रीड़हिं पानि पतगा ॥५॥

शब्दार्थ—तान तरग=अलापचारी, लयकी लहर। तान "गानेका एक अग। अनुलोम विलोम गतिसे गमन। अनेक विभाग करके सुरका खींचना, आलाप। सगीत दामोदरके मतसे स्वरोंसे उत्पन्न तान उनचास (४९) हैं। इन ४९ से आठहजार तीन सौ कूट तान निकलते हैं।" (श० सा०)। तरग=स्वरोंका चढाव उतार—''बहु भाँति तान तरग सुनि गधर्व किन्नर लाजहीं।'', 'करहिं तान तरगा' अर्थात् राग आलापको रुक रुककर बढ़ाती हैं जिससे उसमें लहर उठे जिसे 'उपज' कहते हैं। क्रीडा केलि, आमोदप्रमोद, कल्लोल, खेल कूद। पतग=गेंद, कदुक। यथा ''यासौ त्वया करसरोजहत पतङ्गो दिक्षु भ्रमन्भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे। भा० ५।२।१४'' अर्थात् तुम जो अपने करकमलोंसे थपकी मारकर इस कदुकको उछाल रही हो सो यह दिशा-विदिशाओंमें जाता हुआ मेरे नेत्रोंको चचल कर रहा है। विशेष भावार्थ नोटमें देखिए।

अर्थ—(वे नवयौवना अप्सराएँ बहुत आलापकारीके साथ) गान कर रही हैं, बहुत तानके तरग

(उपज मूर्छना आदि) लेती हैं। हाथोंमें गेंद लिये हुये बहुत प्रकारसे उससे क्रीड़ा कर रही हैं (उसे थपकी देती और उछालती हैं)॥ ५॥

※ "बहु बिधि क्रीड़हिं पानि पतंगा" ※

'पतंग'—इस शब्दके अनेक अर्थ हैं। किसीने इसका अर्थ 'गुड्डी', 'कनकौआ', किसीने 'चिनगारी' किसीने 'अरुण' और किसीने 'गेंद' किया है और उसी अर्थके योगसे "बहु बिधि क्रीडहिं पानि पतंगा।" के भाव यों कहे हैं—(१) हाव भाव सहित मदनानन्द-वर्द्धक क्रीड़ाएँ करती हैं। भाव बतानेमें हाथ ऐसे चंचल चलते हैं जैसे पवनके वश पतंग आकाशमें उड़ता है। हाथोंको पतंगकी तरह अनेक प्रकारसे (हाव-भाव दर्शानेके निमित्त) चलाती थीं—(रा० प्र०)। विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि "तानोंकी उपजके साथ मनमें जो तरंगें उठती थीं उसीके अनुसार हावभावको हाथोंके द्वारा दर्शाती थीं, [जैसा सत्योपाख्यानमें कहा है—"यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मन। यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रस॥ १॥ अंगेनालंब यद् गीत हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत्। चक्षुर्भ्याम्भावमित्याहु पादाभ्यां तालनिर्णय ॥२॥" अर्थात् (नाचनेगानेके समय जो शरीरकी व्यवस्था हो जाती है सो यों है जिस ओर हाथ रहे उसी ओर दृष्टि रहती है और जहाँपर दृष्टि रहे वहींपर मन लगा रहे। जहाँ मन हो वहीं भाव दर्शाया जावे और जहाँ भाव दर्शाया गया हो वहाँ रस उत्पन्न होता है॥ १॥ जिस गीतको मुखसे अलापे उसका अर्थ हाथोंके इशारेसे जतावे, नेत्रोंसे भाव प्रगट करे और पावोंसे ताल सूचित करता जावे॥ २॥" (बैजनाथजी)] वे 'पतंग' का अर्थ 'गुड्डी' करते हैं।

२—अलापचारीके साथ भाव दर्शानेमें इतनी फुर्तीसे हाथ चलते हैं, जैसे अग्निसे चिनगारी शीघ्र निकलती है।—(रा० प्र०), वा, जैसे हाथमें चिनगारी होनेसे हाथ शीघ्र चलते हैं, बदलते रहते हैं वैसे ये पैंतरे बदलती हैं।

३—गुलाबी, जैसे अरुणोदयका रंग वैसे, हाथों से क्रीड़ा करती हैं—(रा० प० प०, बाबू श्यामसुन्दरदास)।

४—हाथों से थपकी देकर गेंद उछालती हैं—(पंजाबीजी, श्रीगुरुसहायलाल, प्रोफे० दीनजी, शुकदेवलालजी)।

५—पतंग का अर्थ सूर्य्य करके यह अर्थ करते हैं कि 'सूर्य्य की ओर हाथ उठाकर क्रीड़ा करती हैं। ऐसा करके अपने अंगों को दिखाती हैं जिससे मनमें विक्षेप हो।

☞ श्रीमद्भागवत में राजा अग्नीध्रजीके पास पूर्वचित्ति अप्सराका जाकर क्रीड़ा करना जहाँ (स्कंध ५ अ० २ में) वर्णित है, वहाँ अप्सराकी एक क्रीड़ा यह भी वर्णन की गई है। राजा ने अप्सरासे कहा कि "तुम अपने करकंज से गेंद को थपकी दे देकर उछालती हो, जहाँ जहाँ वह जाता है वहीं वहीं मेरी दृष्टि जाती है, जिससे मेरे नेत्र चंचल हो रहे हैं"। यहभी कामकी एक कला है। पुन, स्कंध ३ अ० २० श्लोक ३६ में भी यह शब्द ऐसे ही प्रसंग पर गेंद के अर्थ में आया है, यथा "नैकत्रते जयति शालिनि पादपद्मं घ्नन्त्या मुहु करतलेन पतत्पतङ्गम्। मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं शान्तेव दृष्टिरमला सुशिखा समूहः।" अर्थात् हे प्रशंसा करने योग्य रूपवाली! तुम्हारे चरण कमल एक जगह नहीं रहते, क्योंकि तुम गेंद उछालती हो और जब वह पृथ्वी पर गिरता है तब फिर दौड़कर थपकी मारती हो...।

नवयौवना सुन्दर स्त्रियों का गेंद क्रीड़ा करना बहुत ठौर पाया जाता है, यथा भागवते स्कंध ३ अ० २२ श्लोक १७—"यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रि शोभां विक्रीडतीं कन्दुक विह्वलाक्षीम्। विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमानाद्विलोक्य सम्मोहविमूढचेता ॥" अर्थात् हे महाराज! आपकी यह सुन्दरी कन्या एक बार महल के ऊपर कंदुक क्रीड़ा कर रही थी, विश्वावसु इसकी अपूर्व शोभा देख मोहित हुआ''।

अस्तु। यहाँ यही अर्थ और यही भावार्थ जो उपर्युक्त श्लोकों में पाया जाता है, पूर्ण संगत और ठीक प्रतीत होता है।

श्रीमद्भागवतके उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि 'पाणि पतङ्ग क्रीडा' से भी देवता एवं ऋषियोंके मन मोहित हो गए। और यहाँ श्रेष्ठसे श्रेष्ठ अप्सराएँ देवाङ्गनाएँ तान तरङ्गके साथ गान भी कर रही हैं और गेंदकी क्रीडा भी कर रही हैं। यह सब मुनिकी समाधि छुडानेके लिये ही किया गया। यथा 'सुर सुंदरी करहिं कल गाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनि ध्याना।१।६१।', 'बहु भाँति तान तरंग सुनि गंधर्व किन्नर लाजहीं (गी० ७।१६)

देखि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना॥ ६॥
काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी। निज भय डरेउ मनोभव पापी॥ ७॥
सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥ ८॥

शब्दार्थ—प्रपंच = माया, रचना। जैसे कि भीनी-भीनी बूँदोंकी जलवर्षा पुष्पवाणोंकी वर्षा, इत्यादि कामवर्द्धक क्रियायें, छल, आडंबर। कामकला = मोहन, आकर्षण, उच्चाटन और वशीकरण आदिके उपाय। ऊपर चौ० ४ में देखिये। ब्यापना = असर करना, लगना, प्रभाव डालना, आकर्षित करना। मनोभव = कामदेव। सीम (सीमा)=हद, सरहद, मर्यादा। यथा "है काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै" (वि० १३७)। चाँपना = दबा लेना, यथा "तिनकी न काम सके चापि छाँह। तुलसी जे बसहिं रघुबीर बाँह। गी० ७।४६।६।" बड = सबल, सबसे बडा, समर्थ, श्रेष्ठ।

टिप्पणी—१ "देखि सहाय" इति। (क) इन्द्रकी आज्ञा थी कि 'सहित सहाय जाहु मम हेतू'; अब यहाँ आकर बताते हैं कि वे 'सहाय' कौन हैं। पाँच अर्धालियोंमें जिनका वर्णन किया गया वही वे सहायक हैं जिन्हें वह साथ लाया। (इनको सहायक इस विचारसे कहा कि वे सब कामोद्दीपन करते हैं)। ऊपर चौ० १-४ देखिये। कामकी सेनाका वर्णन अरण्यकांडमें "सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल। ३७।" से लेकर "एहि कें एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी। ३८।१२।" तक है। (ख) 'हरषाना'। हर्षित हुआ कि अब कार्य सफल हुआ, देर नहीं, सब ठाटबाट ठीक बन गया, अब नारद बच नहीं सकते, शीघ्रही हमारे जालमें फँसते हैं, कामासक्त होने ही चाहते हैं। अथवा सहायकोंकी सुन्दरता देखकर प्रसन्न हुआ। (ग) यहाँ तक सहायकोंकी कलाका वर्णन हुआ। आगे अब उसने स्वयं अपना अनेक प्रकारका प्रपंच रचा। जैसे कि सुमनसर अर्थात् कामबाणका चलाना, इत्यादि। यथा "सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत। चली न अचल समाधि सिव कोपेउ हृदय निकेत। १।८६। देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदनु मन माखा॥ सुमन चाप निज सर संधाने। अति रिस ताकि श्रवन लगि ताने॥ छाँडे बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥" नाना विधिके प्रपंच शृङ्गाररसके ग्रन्थोंमें लिखे हैं। (घ) 'कीन्हेसि पुनि' का भाव कि एक बार प्रपंच कर चुका है, यथा "तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ। निज माया बसंत निरमयऊ॥", अब पुनः करने लगा। (अथवा, प्रथम सहायक सेनाको देखकर हर्ष हुआ, पर यह देखकर कि सहायकोंकी एक भी कलाने अभीतक कुछ भी असर नहीं किया, उसने फिर स्वयं प्रपंच रचे। वि०त्रि० का मत है कि वायुके झोंकेसे अप्सराओंके अंचल आदिका हट जाना इत्यादि प्रकारके प्रपंच किये।)

२—"काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी" इति। (क) 'सकल असमसर कला प्रबीना' रम्भादि अप्सराओंने अपनी समस्त कलाएँ कीं और फिर कामदेवने स्वयं भी अनेक प्रपंच रचे, फिर भी 'कामकला' न व्यापी, यह कहकर "प्रपंच" का अर्थ यहाँ कामकला स्पष्ट कर दिया। (ख) "निज भय डरेउ" का

भाव कि नारदजीकी ओरसे भय नहीं है। (भाव यह कि मुनिने तो किंचित् भी प्रतिकारात्मक क्रूरदृष्टि उसकी ओर नहीं की, परन्तु इसने उनसे द्रोह किया है, इसीसे वह स्वयं भयभीत हो रहा है। यथा 'परद्रोही की होहिं निसंका ।७।११२।२।' इसीसे 'डरेउ' के साथ 'पापी' और 'निज भय' शब्द दिये। पापी सदा अपने पापके कारण डरता ही रहता है। रावण ऐसा महाप्रतापी भी श्रीसीताहरण करके "चला उताइल त्रास न थोरी' ३।२८, तब कामदेवका डरना तो स्वाभाविक ही है कि मैंने उनके देखते देखते अपराध किया है, कहीं शाप न दे दें; यद्यपि उसका भय निर्मूल साबित हुआ)। (ग) 'मनोभव' का भाव कि काम मनसे उत्पन्न होता है और नारदजीका मन सहजही विमल है, इसीसे कामकी कलाएँ उनको न व्यापीं। (घ) "पापी" इति। जब कामने शिवजीपर चढ़ाई की और सब लोकोंको व्याकुल कर दिया तब उसको 'पापी' न कहा था और यहाँ 'पापी' विशेषण देते हैं। कारण कि इन्द्रने दुष्टभावसे कामको देवर्षि नारदपर चढ़ाई करनेको भेजा था, यथा "सुनासीर मन महुँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा।", इसीसे वक्ताओंने इन्द्रको 'शठ', 'श्वान' 'जड़', 'काक' और निर्लज्ज आदि कहकर उसकी निंदा की और उसके सहायक कामदेवकीभी निंदा की। दुष्टके संगसे तथा दुष्ट कर्म करनेसे निंदा होती है। जब श्रीशिवजीपर इसने चढ़ाई की थी तब उसमें सबका उपकार था और उसमें ब्रह्मा आदि सभीका सम्मत था, इसीसे तब निंदा न की थी। पुनः, इतनाही नहीं वरंच भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसेभी स्वयं शंकरजीने हामी भर ली थी कि पार्वतीजीको जाकर ब्याह लावेंगे फिर भी अखण्ड समाधि लगा बैठे थे। यथा 'जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि माँगे देहु ।७६। कह शिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥ सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परमु धरमु यह नाथ हमारा॥ आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी॥", "मनु थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥ १ ८२।", "सिव समाधि बैठे सबु त्यागी। ८३ ३।" अतएव वहाँ कामदेवका कार्य भगवत् इच्छाके अनुकूल था और 'राम रजाइ सीस सब हीं के' है, इसीसे ब्रह्मादि देवताओंने लोक हितार्थ वहाँ कामको भेजा था। वहाँपर परोपकार था, यह बात उसने स्वयं स्वीकार की है, यथा "पर हित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहि तेही। ८४.२"। ऐसे उच्च एवं शुद्ध विचारसे वह शंकरजीकी समाधि छुड़ाने गया था। यहाँ प्रशंसाहीका काम था और यहाँ उसने किंचित् भी न सोचा विचारा। इन्द्रकी बातोंमें आकर घमंडमें हर्षसे फूला न समाया, भगवद्भक्तके भजनमें बाधा डालनेको तत्पर हो गया। अतएव यहाँ उसे 'पापी' कहा और वहाँ न कहा। पुनः, वहाँ तो उसने शिवजीकी भी उनके परम धर्म 'आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी' के पालनमें सहायता की। अतः 'पापी' कैसे कह सकते थे?]

३ "सीम कि चाँपि सकै कोउ " इति। (क) मुनिके मनमें कामका प्रपंच न व्यापा, इससे पाया गया कि उनके मनकी धृति 'सीमा' है। [यहाँ मनकी सीमाकी उपमा दी। 'सीमा' का अर्थ है 'मर्याद, हद, मेंड'। मनहीमें कामकी जागृति होती है, वहींसे कामकी प्रवृत्ति होती है, वहीं काम अपना बल प्रकट करता है। अतएव मनको वशमें कर लेना ही यहाँ पराई सीमाका दबा लेना कहा गया। जैसे कोई राजा, जमींदार या किसान दूसरेकी जमीन दाब लेते हैं वैसे ही काम दूसरेके मनपर जबरदस्त दखल-अधिकार जमा लेता है। यथा "मुनिहि मोह मन हाथ पराएँ। १ १३४।", "तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ। ३.३८।" विनयके पद १३७ के "जौं पै कृपा रघुपति कृपाल की बैर और के कहा सरै। होइ न बाँको बार भगत को जो कोउ कोटि उपाय करै॥ ... तकै नीच जो मीचु साधु की सो पामर तेहि मीचु मरै। ... हैं काकें द्वै सीस ईस के जो हठि जनकी सीम चरै। तुलसिदास रघुबीर बाहु बल सदा अभय काहू न डरै॥" इस उद्धरणसे इस चौपाईका भाव मिलता जुलता है। दोनोंहीमें 'सीमा' का दबाना कहा गया है। "सीम कि चाँपि सकै" में काकोक्ति द्वारा उलटा अर्थ होना कि 'कोई नहीं दबा सकता' वक्रोक्ति अलकार' है।] (ख) 'बड़ रखवार रमापति जासू' इति। ऊपर कह आए हैं कि 'निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भएउ रमापति

पद अनुरागा । १२५.३ ।' अर्थात् नारदजीके मनमें श्रीरमापतिपदमें अनुराग उत्पन्न होना कहा है। इसीसे यहाँ रक्षा करनेमें भी 'रमापति' को 'रखवार' कहा। (ग) रमापतिको रक्षक कहनेका भाव यह है कि जैसे लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु रमाजीकी रखवाली (रक्षा) करते हैं, वैसे ही वे दासोंकी भी रक्षा करते हैं। ("कामने भगवान् शंकरकी समाधि तो छुड़ा दी और नारदजीकी समाधि न छुड़ा सका, यह कैसे माना जा सकता है ?" इस सभावित शंकाका समाधान यह अर्धाली करती है कि यहाँ नारदजीके साथ उनके रक्षक रमापति मौजूद हैं और वहाँ तो शिवजी भगवान्की आज्ञाका उल्लंघन ही कर बैठे थे, इससे वहाँ भगवान् उनकी रक्षा क्यों करने लगे ? समाधि छुड़वाना और विवाह कराना तो भगवान्को स्वयं ही मंजूर था)।

नोट—शिवपुराण दूसरी रुद्रसंहिता अ० २ में मिलानके श्लोक ये हैं—"न बभूव मुनेश्चेतो विकृतं मुनिसत्तमा.। भ्रष्टो बभूव तद्गर्वो "। १६। ईश्वरानुग्रहेणात्र न प्रभावः स्मरस्य हि। १७।"

दोहा—सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन१।
गहेसि जाइ मुनि चरन तब कहि सुठि आरत बैन२ ॥१२६॥

शब्दार्थ—हारि (सं०)=हार, पराजय, पराभव, शिकस्त। शत्रुके सम्मुख असफलता होना 'हारि' है। मैन (मयन)=मदन, कामदेव।

अर्थ—तब सहायकों सहित मनमें हार मान अत्यन्त भयभीत हो कामदेवने जाकर अत्यन्त आर्त्त वचन कहते हुये मुनिके चरण पकड़ लिये ॥१२६॥

टिप्पणी-१ पहले कामदेवका भयभीत होना कहा-'निज भय डरेउ मनोभव पापी'। अब सहायकोंका भी सभीत होना कहते हैं। उसने सहायकों सहित मुनिका अपराध किया है, इसीसे 'सहाय सहित' भयभीत है। (कामदेवको आदि और अन्त दोनोंमें कहा, क्योंकि प्रारंभमें इसीने 'निज माया बसंत निरमएऊ' और अन्तमें इसीने 'कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना')।

२ 'मानि हारि मन मैन' अर्थात् मनसे हार गया, 'कहि सुठि आरत बैन' अर्थात् अत्यन्त आर्त वचन बोला, जैसे कि 'त्राहि त्राहि दयाल मुनि नारद' इत्यादि और 'गहेसि जाइ मुनिचरन' अर्थात् हाथोंसे चरण पकड़े। इस प्रकार जनाया कि कामदेव मन-कर्म-वचन तीनोंसे नम्र हो गया है तभी तो वह तीनोंसे मुनिकी शरण हुआ।

३ (क) 'मानि हारि'-हार यहाँ तक मानी कि इन्द्रकी सभामें जाकर उसने अपनी हार कही। यथा 'मुनि सुसीलता आपनि करनी। सुरपति सभा जाइ सब बरनी।' (ख) 'गहेसि चरन'। सहायकों सहित चरण पकड़े। चरण पकड़ना, आर्त वचन बोलना, यह क्षमाप्रार्थनाकी मुद्रा है। सबका अपराध क्षमा कराना चाहता है, इससे सबको साथ लेकर गया।

भएउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा ॥१॥
नाइ चरन सिरु आयसु पाई। गएउ मदन तब सहित सहाई ॥२॥
मुनि सुसीलता आपनि करनी। सुरपति सभां जाइ सब बरनी ॥३॥
सुनि सबके मन अचरजु आवा। मुनिहि प्रसंसि हरिहि सिरु नावा ॥४॥

शब्दार्थ—परितोषा=समाधान संतुष्ट प्रसन्न वा खुश किया। 'सुशीलता'-सुन्दर स्वभाव; कोई कैसा ही अपराध करे उसपर रुष्ट न हो उसको क्षमा ही करना 'सुशीलता' है, यथा 'प्रभु तरुतर कपि डारपर ते

१ मयन २ बयन-१६६१। तब कहि सुठि आरत बयन-१६६१। कहि सुठि आरत मृदु बैन-१७०४, १७२१, १७६७, छ०।

किय आपु समान । तुलसी कहूँ न रामसे साहब सील निधान' । विशेष ७६ (५६), १०५ (१) में देखिए ।

अर्थ—नारदजीके मनमें कुछ भी क्रोध न हुआ उन्होंने प्रिय वचन कहकर कामदेवको संतुष्ट किया ॥१॥ तब मुनिके चरणोंमें माथा नवा, उनकी आज्ञा पा, कामदेव सहायकों सहित चला गया ॥२॥ देवराज इन्द्रकी सभामें जाकर उसने मुनिकी सुशीलता और अपनी करतूत सब वर्णन की ॥३॥ यह सुनकर सबके मनमें आश्चर्य हुआ, (उन्होंने) मुनिकी बड़ाई करके भगवान्‌को मस्तक नवाया ॥४॥

टिप्पणी— १ 'भयउ न नारद मन कछु रोषा ।०' इति । (क) कामको जीते हैं इसीसे मनमें कुछ रोष न हुआ । क्रोधकी उत्पत्ति कामसे है, यथा 'सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते' (गीता) । जहाँ काम ही नहीं है वहाँ क्रोध कैसे हो सके ? इसीसे दोनों जगह 'कछु' शब्द दिया । 'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी' पूर्व कहा, अतः यहाँ भी 'भयउ न नारद मन कछु रोषा' कहा । काम, 'कुछ' न व्यापा, अतः रोष भी 'कुछ' न हुआ । (ख) पुनः भाव कि कामकी उपस्थितिमें, उसकी प्राप्तिमें (अर्थात् जब कामासक्त हो जानेका पूरा सामान प्राप्त था तब भी) काम उत्पन्न न हुआ और क्रोधकी प्राप्तिमें (अर्थात् अपराध करनेपर क्रोध हो जाता है उसके होते हुए) भी क्रोध न हुआ, इसका कारण ऊपर कह आए 'सीम कि चापि सकै ।' अर्थात् भगवान्‌के रक्षक होनेसे ही न काम हुआ न क्रोध । (ग) 'कहि प्रिय बचन०' । भाव कि प्रियवचन कहे बिना कामदेवका संताप न होता इसीसे प्रिय वचन कहकर उसे अभय किया । 'परितोष' इस तरह कि तुम्हारा दोष क्या, तुम तो सुरपतिकी आज्ञासे आए, स्वामीकी आज्ञा पालन करना धर्म है । (ब्रह्माने इसीलिये तुम्हारी सृष्टि की है, सनातन सृष्टि तुम्हारे आधारसे चल रही है तुमने अपना कर्तव्य पालन किया । मैं अप्रसन्न नहीं हूँ । इस तरह उसका संतोष किया । वि० त्रि०) । प्रिय=जो कामदेवको अच्छे लगे एवं कोमल मीठे । (घ) ☞ जैसे काम मनवचनकर्मसे नम्र हुआ, वैसेही नारदजी मन कर्म वचनसे शीतल रहे । 'भयउ न नारद मन कछु रोषा' यह मन है, 'कहि प्रिय बचन' यह वचन है और 'काम परितोषा' यह कर्म है । (दिलासा देनेमें शिर वा पीठपर हाथ भाय रखते हैं, यह कर्म है)

२ (क) पूर्व कह आए हैं कि 'सहज बिमल मन लागि समाधी' और यहाँ लिखते हैं कि 'कामकला कछु मुनिहि न ब्यापी' । जब कामकला कुछ व्यापी नहीं तब समाधि कैसे छूटी ? यदि समाधिका उपराम नहीं हुआ तो परितोष कैसे किया ? समाधि छूटनेपर ही तो कामको समझाया ? इन संभावित शंकाओंका समाधान यह है कि समाधि दो प्रकारकी है, एक सम्प्रज्ञात दूसरी असम्प्रज्ञात । यहाँ सम्प्रज्ञात समाधि है (जिसमें चैतन्य रहकर सब कौतुक देखते हुये भी मन भगवान्‌के अनुरागमें परिपूर्ण रहता है, ध्येयहीका रूप प्रत्यक्ष रहता है, यथा 'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही ॥ बिनु मन तन दुखसुख सुधि केही ।' अ० २७५।') ‡ जब कामदेव चरणोंपर आकर गिरा तब परितोष करने लगे । (ख) भगवान्‌को अभिमान नहीं भाता । देखिए जब कामदेवको अभिमान हुआ कि नारद हमारे सामने क्या हैं तब भगवान्‌ने उसे हरा दिया और जब नारदको अभिमान हुआ तब नारदको हरा दिया ।

३ (क) 'नाइ चरन सिरु आयसु पाई ।'—जब कामदेव आया था तब उसने मुनिको प्रणाम न किया था—'तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ । निज माया बसंत निरमयऊ ॥' (यहाँ प्रणाम करना नहीं लिखा) । जब अपराध किया तब (एवं वह 'सब तरहसे समाधि छुड़ाने का प्रयत्न करके हार गया है, अतएव उनको

‡ असम्प्रज्ञात समाधि वह है जिसमें प्राणवायुको ब्रह्माण्डमें चढ़ा लेते हैं । इस समाधिमें शरीर जड़वत् हो जाता है । केवल बाहरी विषयोंकी कौन कहे, इसमें ज्ञाता ज्ञेयकी भी भावना लुप्त हो जाती है । इसीको 'जड़ समाधि' भी कहते हैं । "जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं । ४।१० ।' में जो कहा है यह भी इसका उदाहरण है ।

प्रभाव समझकर भयके मारे, अपराध क्षमा कराने तथा उनके क्रोधसे) वचनेके लिए 'गहेसि जाइ मुनि चरन' उनके चरण पकड़े। और, अब (जब पास जाने पर भी किंचित् क्रोध मुनिको न हुआ तब यह समझकर कि त्रैलोक्यमें इनके समान दूसरा नहीं है) इनको भारी महात्मा जानकर (एवं अपनी कृतज्ञता जनानेके लिए) चलते समय चरणोंमे शिर नवाकर और आज्ञा पाकर चला। (नोट—☞ यह शिष्टाचार है कि महात्माओं गुरुजनोंके समीप जाने और वहाँसे विदा होनेपर उनको सादर प्रणाम किया जाता है।) भारी महात्मा समझा (यों भी कह सकते हैं कि कामदेवके हृदयमें मुनिके प्रिय वचनों इत्यादिका प्रभाव यहाँ दिखा रहे हैं। उनका सुशील स्वभाव इसके हृदयमे बिध गया है) इसीसे मुनिका माहात्म्य (महत्व) आगे इन्द्रकी सभामें कहेगा। कामक्रोध लोभको जीतनेवाला ईश्वरके समान है, यथा 'नारिनयनसर जाहि न लागा। घोरक्रोध-तम-निसि जो जागा॥ लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥' (४।२१ सुग्रीवोक्ति)। अत इनको ईश्वर समान समझा। (ख) 'गएउ मदन तब सहित सहाई' इति। इन्द्रलोकसे 'सहाय सहित' चला था, अत 'सहित सहाई' जाना भी कहा। ☞ आदिसे अततक सब कार्य्य 'सहाय सहित' किए हैं। (१) इन्द्रलोकसे साथ चला,—"सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू"; (२) 'सहाय सहित' विघ्न किया, —"देखि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना'; (३) 'सहाय सहित मुनिके चरण पकडे—"सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन। गहेसि जाइ मुनिचरन कहि०।' और (४) सहायको सहित इद्रलोकको गया। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि कामदेवकी स्वामिभक्ति दिखाना है। स्वामिभक्त है इसीसे स्वामीकी आज्ञाका स्वरूप प्रत्येक जगह दिखाई दे रहा है। आज्ञा थी कि 'सहित सहाय जाहु' अतः सब काम 'सहित सहाय' किये। 'सहित सहाय जाहु' उपक्रम है और 'गएउ ° सहित सहाई' उपसंहार है। [नोट—कामको तो शिवजी भस्म कर चुके थे, वह अनग है, तब यहाँ उसका जाना, चरण पकड़ना इत्यादि कैसे कहा गया ? इसका उत्तर 'कल्पभेद हरि चरित सुहायें' जान पड़ता है]

४ 'मुनि सुसीलता आपनि करनी।०' इति। (क) 'कहि प्रिय बचन काम परितोषा' यह सुशीलता कही। अपराध करनेपर भी क्रोध न करना 'शील' है और उसपर भी प्रसन्न होकर प्रिय वचन कहकर अपराधीका परितोष करना 'सुशीलता' है। (ख) (वसंतका निर्माण करना तथा) 'कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना' इत्यादि 'अपनी करनी' कही। (ग) 'सुरपति सभा जाइ सब बरनी'। अर्थात् सभाके बीचमें जहाँ सब देवता बैठे थे वहाँ जाकर सबके सामने कहा। 'सब बरनी' अर्थात् अपनी हार, चरणोंपर गिरना इत्यादि भी सब कहा, किंचित् संकोच कहनेमे न किया। निस्संकोच सब कह दिया क्योंकि देवता यथार्थ भाषण करते हैं (सत्यभाषी होते हैं, अतएव सब सत्यसत्य कह दिया)। (घ) अपनी करनी तो प्रथम है तब मुनिकी सुशीलता, पर यहाँ कही पहिले मुनिकी सुशीलता तब अपनी करनी ? कारण कि कामदेव मुनिकी सुशीलतासे संतुष्ट हुआ है। (नोट—कामदेवके हृदयपर सुशीलस्वभावका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, इसीसे आते ही उसने प्रथम सुशीलता ही कही। प्रभावसे ऐसा विस्मित हो गया है कि अपनी न्यूनता भी कह डाली, उसे भी न छिपा सका।)

५ 'सुनि सबकें मन अचरजु आवा।०' इति। (क) कामक्रोधको जीतना आश्चर्य है, इसीसे 'अचरज आवा' कि जो 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हें' सो भी मुनिका कुछ न कर सका। (ख) 'मुनिहि प्रसंसि'। प्रशसा कि तीनों लोकोंमे जो कोई नहीं कर सका वह नारदने किया अर्थात् इन्होंने त्रैलोक्यको जीत लिया, यथा 'कान्ता कटाक्षविशिखा न खिदति यस्य, चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः। कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशैर्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः॥ १०८॥' इति भर्तृहरिनीतिशतके। (अर्थात् वह धीर पुरुष तीनों लोकोंको जीतता है जिसके हृदयको स्त्रियोंके कटाक्षरूपी

बाण नहीं छेदते, जिसके चित्तको कोपरूपी अग्निकी आँच नहीं जलाती और न नाना प्रकारके विषयही लोभके फंदेमें फँसाकर खींचते हैं।) क्यों न हो, ये भगवान्‌के बड़ेही प्रिय भक्त हैं, इत्यादि।—[रुद्र-संहिता २।२ में केवल इंद्रका विस्मित होना और प्रशंसा करना कहा है। यथा 'विस्मितोऽभूत्सुराधीशः प्रशशंसाथ नारदम्। २४।'] (ग) 'हरिहि सिर नावा'—प्रणाम करनेमें भाव कि यह सब आपकी कृपासे हुआ,—'यह गुन साधन तें नहि होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई'। धन्य हैं भक्तवत्सल भगवान्! और धन्य हैं उनके ऐसे प्रिय भक्त!

नारद मुनि और शिवजी दोनोंके प्रसंगोंका मिलान।

श्रीशिवजी।	श्रीनारद मुनि।
'सुरन्ह कही निज बिपति सब'।	१ सुनासीर मन महँ अति त्रासा
'पठवहु काम जाइ शिव पाहीं'।	२ सहित सहाय जाहु मम हेतू
'अस कहि चलेउ सबहि सिर नाई'।	३ चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू
'अस्तुति सुरन्ह कीन्ह अति हेतू'।	४ कामहि बोलि कीन्ह सनमाना
प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा।	५ निज माया बसंत निरमयऊ
कुसुमित नव तरराजि बिराजा।	६ कुसुमित विविध बिटप बहुरंगा
सीतल सुगंध सुमंद मारुत।	७ चली सुहावनि त्रिबिध बयारी
मदन अनल सखा सही।	८ काम कृसानु बढ़ावनि हारी
देखि रसाल बिटप बर साखा।	९ देखि सहाय मदन हरषाना
रुद्रहि देखि मदन भय माना।	१० सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन
सकल कलाकरि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत।	११ काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी

तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माहीं ॥५॥
मार चरित संकरहि सुनाए। अति प्रिय जानि महेस सिखाए ॥६॥

शब्दार्थ—गवने=गए। अहमिति अहं इति। 'मैं' (अर्थात् मैंने कामको जीत लिया, मेरे समान दूसरा नहीं, इत्यादि) ऐसा (अभिमान, अहंकार)। =अहंकार।

अर्थ—(जब कामदेव सहायकों सहित चला गया) तब नारदजी शिवजीके पास गए। कामको जीता है 'मैं' ने ऐसा (अहंकार) उनके मनमें है ॥५॥ उन्होंने श्रीशंकरजीको 'मार'—चरित सुनाये। अपने परम प्रिय जानकर महादेवजीने उन्हें शिक्षा दी ॥६॥

टिप्पणी १—'तब नारद गवने सिव पाहीं।' इति। (क) कामदेवने इन्द्रकी सभामें कहा ही है। इन्द्रादि देवता सब नारदकी प्रशंसा कर रहे हैं। अतएव देवताओंके यहाँ विदित हो चुका, वहाँ जाकर कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं रहगया। ब्रह्मा विष्णु महेशको विदित नहीं है, उनसे प्रकट करना चाहते हैं। प्रथम शिवजीके पास गए क्योंकि शिव 'अहंकार' का स्वरूप वा अहंकार ही हैं—'अहंकार सिव' (लं०), और नारदको अहंकार है। अतः अहंकार पहले इनको अपने स्वरूपके पास ले गया। [अहंकार नारद जैसे देवर्षिको शिवजीके पास इसलिए लिये जा रहा है कि मानों शिवजीको एक दूसरे कामारि प्रतिद्वन्द्वीका दर्शन करा दे। (लमगोड़ाजी)] (ख) 'जिता काम अहमिति मन माहीं' अर्थात् कामको जीतनेका अहंकार है, इसीसे कामको जीतनेका समाचार कहने गये। [☞ १ अहंकार है। इसका प्रमाण प्रत्यक्ष है कि कहाँ तो रमापतिपदानुरागमें मग्न बैठे थे और कहाँ अब सहसा उठकर चल दिये। बैठे न रहा गया तो

औरोंको जनाने चले। पुन, पहुँचनेपर प्रणामादि कुछ नहीं किये, क्योंकि अब अपनेको उनसे भी अधिक समझते हैं—"कामको जीता है"। शत्रु को मरण स्वीकार होता है, प्रणत होना नहीं। काम तपस्वी लोगोंका शत्रु है, सो वह हार भी गया और मेरे सामने प्रणत भी हुआ। शिवजीने कामको भस्म कर दिया पर उसे प्रणत न कर सके। मेरा प्रभाव उनसे अधिक हो गया। (ग) अभीतक कामको जीतनेवाले केवल शकरजी थे, अहकारके कारण उनके ही पास प्रथम गए—यह जतानेको कि कुछ आपने ही नहीं जीता है, हमने भी जीता है। आपको तो क्रोध भी हुआ था, आपकी समाधि भी छूटी थी, हमें ये कोई विघ्न उपस्थित नहीं हुए। इत्यादि।* (घ) 'गवने' (-गए) कहकर मुनिके मनमें अपनी जय प्रकट करनेकी अत्यत उत्सुकता दिखाई। चले न कहा, पहुँचना कहा। इस तरह अहकारका प्रभाव चालपर भी सकेत रूपमें दिखा दिया गया है जिसका आनन्द सिनेमा (Cinema) देखनेवाले ले सकते हैं] ☞ नारदजीके द्वारा यह उपदेश भगवान दे रहे हैं कि हमारी रक्षासे कामक्रोधादि जीते जाते हैं और विना हमारी रक्षाके कामक्रोधके वशीभूत होना होता है।

२ 'मारचरित सकरहि सुनाए।०' इति। (क) महादेवजी कुशल न पूछने पाए (न और कोई शिष्टाचार हुआ) दृष्टि पडते ही कामचरित कहने लगे। जाते ही कामचरित न कहने गे होते तो महादेवजी कुशल पूछते, वैठाते (जैसा क्षीरसागरमें जानेपर भगवान्ने किया है, यथा 'हरषि मिलेउ उठि कृपा निकेता। बैठे आसन रिषिहि समेता॥ बोले बिहँसि चराचरराया। बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया'। पुन यथा 'करत दडवत लिए उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥ स्वागत पूँछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे॥ ३.४१।') (ख) 'सकरहिं सुनाए', यहाँ शकर अर्थात् कल्याणकर्त्ताको सुनाना कहा। इसीसे शकरजी इनके कल्याणकी बातें इनसे कहते हैं। (ग) 'अति प्रिय जानि महेस सिखाए' इति। सिखाया जिसमें इनकी दुर्दशा न हो। अति प्रियमें दोष देखे तो उसे उपदेश देना उचित है, यथा 'कुपथ निवारि सुपथ चलावा'। ('अति प्रिय' होनेके ये कारण हैं कि आप परम भागवतोंमेंसे एक है। शकरजीको भगवद्भक्त अति प्रिय हैं, उसपर भी ये तो नामजापक हैं इससे इनके अतिप्रिय होनेमें क्या सन्देह हो सकता है ?—'नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि हरिहर प्रिय आपू'।)

☞ नोट—१ गोस्वामीजीका काव्य कौशल, उनके शब्दोंकी आयोजना देखिए। कामदेवके अनेक नामोंमेसे यहाँ 'मार' को ही चुनकर रक्खा है। क्यों न हो। नारदजी सदा 'राम' चरित गाया और सुनाया करते थे, यथा 'बारबार नारद मुनि आवहि। चरित पुनीत 'राम' के गावहिं॥ सुनि बिरचि अतिसय सुख मानहि। पुनि पुनि तात करहु गुनगानहि॥ सनकादिक नारदहि सराहहिं। ७.४२।', पुनश्च 'यह बिचारि नारद कर बीना। गए जहाँ प्रभु सुख आसीना॥ गावत 'राम' चरित मृदु बानी। प्रेमसहित बहु भाँति बखानी॥ ३ ४१।' इत्यादि। शंकरजी भी 'राम' चरितके रसिक है, अगस्त्यजीके पास इसी सत्सङ्गके लिये जाया करते हैं—'रामकथा मुनिवर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी', भुशुण्डीके यहाँ मराल तन धर

* १ अहकार यह भी हो सकता है कि श्रीशिवजी 'मोहिनी' स्वरूप देख कामको न रोक सके थे ब्रह्मा विष्णु भी कामजित्त नहीं कहे जा सकते, त्रिलोकमें हमारे समान कोई नहीं।' ब्रह्मा सरस्वतीके पीछे दौडे थे, विष्णु लक्ष्मीको छोड़ नहीं सकते। क्रोध अवश्य जीता है। 'अहमिति मन माहीं' शब्दोंसे मुख्य भाव यही जान पड़ता है। इन वचनोंमें व्यजनामूलक गूढ व्यग्य है। प० प० प्र० इससे सहमत हैं।

२—श्रीपजाबीजी लिखते हैं कि "किसीको अपूर्व वस्तु मिले तो उचित है कि वह उसे अपने मित्रको दिखावे। अथवा, जो विद्या किसीके पास होती है वह उस विद्याके आचार्यके पास जाकर अपने गुणोंको प्रकट करता है। श्रीशिवजी कामके जीतनेमें मुख्य हैं अत उनके पास प्रथम गये।

कर सुनी, इत्यादि। सो उनको आज नारदमुनि 'राम' चरित न सुनाकर 'मार'-चरित सुनाते हैं। अहंकारने बुद्धि ऐसी पलट दी कि 'राम' का ठीक उलटा 'मार' आज उनके मुखसे गाया जा रहा है।

२ शिवपु० रु० स० २ ३ में मिलानके श्लोक ये हैं—"कामाजयं निजं मत्वा गर्वितोऽभून्मुनीश्वरः। २७। तथा समोहितो तीव्र नारदो मुनिसत्तम। कैलासं प्रययौ शीघ्रं स्ववृत्तं गदितुं मदी। २६। रुद्रन्नत्वाब्रवीत्सर्वं स्ववृत्तङ्गर्ववान् मुनिः। मत्वात्मानं महात्मानं स्वप्रभुंचर मरजयम्॥ ३०॥ तच्छ्रुत्वा शङ्कर प्राह नारद भक्तवत्सल। ३१।" इसमेंके 'कामाजयं', 'निजं मत्वा गर्वितो', 'कैलास प्रययौ शीघ्रं', 'अब्रवीत्सर्वं'। 'शंकर प्राह नारद भक्त वत्सल', ये अंश मानसमें क्रमशः 'जिता काम', 'अहमिति मन माहीं', 'तब नारद गवने सिव पाहीं', 'सुनाए', और 'अतिप्रिय जानि महेस सिखाए' हैं। पर मानसका 'मारचरित' शिव पुराणके 'सर्वं स्ववृत्तङ्गर्ववान्' आदिसे कहीं अधिक उत्कृष्ट और भावगर्भित है। 'अतिप्रिय जानि महेस सिखाये' की जोड़में शि० पु० में शिवजीके वचन हैं "शास्म्यहं त्वां विशेषेण मम प्रियतमो भवान्। विष्णुभक्तो यतस्त्वं हि तद्भक्तोऽतीव मेऽनुगः। ३४।" अति प्रियमें यह भी भाव आ गया कि विष्णुभक्त होनेसे तुम मुझे अति प्रिय हो।

बार बार बिनवौं मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायहु मोही॥७॥
तिमि जनि हरिहि सुनावहु[1] कबहूँ। चलेहु प्रसंग दुराएहु तबहूँ॥८॥
दोहा—संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान॥१२७॥

शब्दार्थ—प्रसंग=विषयका लगाव या संबंध, वार्ता, बात, प्रकरण। दुराना=छिपाना, गुप्त रखना, सुनी अनसुनी कर जाना, टाल जाना।

अर्थ—हे मुनि! मैं आपसे बारबार विनती करता हूँ कि जैसे आपने यह कथा मुझसे सुनाई है। ।७॥ वैसे भगवान्‌को कदापि न सुनाइयेगा। (किन्तु उसका) प्रसंग चले भी तब भी छिपाइयेगा (प्रकट न कीजियेगा)॥८॥ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) शंकरजीने तो हितोपदेश किया अर्थात् उनके हितकी शिक्षा दी, पर वह नारदजीको अच्छी न लगी। हे भरद्वाज! हरिकी इच्छा बलवती है, उसका तमाशा सुनो॥१२७॥

नोट—१ रुद्रसंहिता २ २ में मिलानके श्लोक ये हैं—"वाच्यमेवं न कुत्रापि हरेरग्रे विशेषतः। ३२। पृच्छमानोऽपि न ब्रूया स्ववृत्तं मे यदुक्तवान्। गोप्यं गोप्यं सर्वथा हि नैव वाच्यं कदाचन। ३३। शास्म्यहं त्वां विशेषेण मम प्रियतमो भवान्। विष्णुभक्तो यतस्त्वं हि तद्भक्तोऽतीव मेऽनुगः। ३४। नारदो न हित मेने (शिव) मायाविमोहितः। ३५।" अर्थात् (श्रीशिवजी कहते हैं—हे नारदजी!) 'जैसा यह समाचार आपने मुझसे कहा इस प्रकार अब कहीं भी न कहियेगा। विष्णु भगवान्‌के आगे तो पूछनेपर भी बिलकुल ही न कहियेगा, इसको गुप्त ही रखना, कभी भी न कहना। ३२,३३। आप मुझको अत्यन्त प्रिय हैं इसलिये विशेषरूपसे आपको शिक्षण दे रहा हूँ, क्योंकि आप विष्णुभक्त हैं, जो उनका भक्त होता है वह विशेषरूपसे मेरे समतिके अनुसार चलता है। ३४।' परन्तु भगवान्‌के मायासे मोहित होनेसे शिवजीका यह उपदेश नारदजीको अच्छा नहीं लगा। ३५। ये सभी भाव प्रायः उपर्युक्त चौपाई और दोहेमें आ जाते हैं।

टिप्पणी—१ 'बारबार बिनवौं मुनि तोही।०' इति। (क) बड़े लोग प्रार्थना करके उपदेश देते हैं, यथा "बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन।५।२२।" इति हनुमन्त (१), 'तात

[1] सुनायहु—१७२१, को० राम०। सुनाएहु—छ०। सुनावहु—१६६१, १७०४, १७६२।

चरन गहि माँगउँ राखहु मोर दुलार। सीता देहु राम कहँ अहित न होइ तुम्हार। ५।४०।" इति विभीषण (७), 'औरौ एक गुपुत मत सबहिं कहउँ कर जोरि। संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि।' इति श्रीराम-चन्द्र (३), तथा यहाँ 'बारबार बिनवौं' (४)। (नोट—यद्यपि शिवजी बड़े हैं तो भी विनय करते हैं, क्योंकि यह बड़ोंका स्वभाव है कि वे छोटोंके कल्याणार्थ अपनी मानमर्यादा छोड़ विनय करके उनको समझाते हैं जिसमें वह उसे मान ले, धारण कर ले। (ख) 'बार बार' विनय करते हैं क्योंकि यह कथा भगवानसे अत्यन्त गुप्त रखने योग्य है। (ग) "तोहीं" भाषामें यह प्रेम और प्यारसूचक शैली है।)

७—'तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ' इति। तात्पर्य्य कि इसे सुनानेसे कुछ चिन्ता वा हर्ज नहीं है पर हरिको सुनानेसे तुम्हें दुःख होगा। शिवजी जानते हैं कि भगवान् जनका अभिमान नहीं रखते (अर्थात् नहीं रहने देते)। यथा 'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना। ७।६०।' (घ) 'चलेहु प्रसंग०' अर्थात् हमसे बिना प्रसंग चलही यह कथा तुमने प्रकट की, पर वहाँ भगवान् अवश्य प्रसंग चलावेंगे तब भी इसे गुप्त रखना, उनसे कदापि इसकी चर्चा न चलाना।

वि० त्रि०—'जिमि ... तिमि' का भाव कि सत्य कथा सुनानेमें कोई रोक नहीं, परन्तु सुनानेका ढंग ठीक नहीं है, इससे अभिमान टपकता है। अतः सिखाते हैं कि इस ढंगसे यह कथा हरिको कभी न सुनाना।

टिप्पणी—३ (क) 'संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान' इति। हित उपदेश है, तो भी उनको न अच्छा लगा, यह क्यों? इसलिए कि नारदने यह समझा कि हमारी बड़ाई इनको नहीं सुहाई, इनके हृदयमें मत्सर है। ये नहीं चाहते कि दूसरा कोई कामविजयी प्रसिद्ध हो, ये हमारा उत्कर्ष नहीं सह सकते, (ख) 'भरद्वाज कौतुक सुनहु०' इति। यहाँ याज्ञवल्क्यजीकी उक्ति कही गई, क्योंकि 'तब नारद गवने सिव पाहीं' से लेकर 'संभुबचन मुनिमन नहिं भाए' तक शिवजीका उक्ति नहीं कहते बनती। शम्भुके वचन नारद को प्रिय न लगे, इसका कारण याज्ञवल्क्यजी 'हरि इच्छा' बताते हैं। अर्थात् शिवजीने हरिइच्छाके प्रतिकूल उपदेश दिया, इसीसे उनको अच्छा न लगा। हरिइच्छा परम बलवती है, यदि हरिइच्छा होती तो वचन सुहाते। (ग) 'बलवान'—शिवजीका भी उपदेश न लगने पाया इससे 'बलवान' कहा। बलवान् कहकर जनाया कि सबके ऊपर है। 'हरि इच्छा' का प्रमाण, यथा 'मृषा होउ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला। १३८।३।' पुनः भाव कि जब भक्तका कहा न माना तब हरिइच्छा हुई कि अब इनकी दुर्दशा करनी चाहिए।

☞ नोट—१ हितकी बात बुरी लगे तो जानना चाहिए कि उसे विधाता वाम हैं, यथा 'हित पर बढ़ै विरोध जब अनहितपर अनुराग। राम बिमुख बिधि बाम गति सगुन अघाय अभाग'।

२—शंकरजीकी नम्रता और कल्याणकारक उपदेश विचारणीय हैं। परन्तु नारदजीमें अहंकारके कारण 'अपने मुख आपनि करनी' वाली प्रशंसाका दोष भी उत्पन्न हो चुका था। वे भला क्यों मानते? वे 'घमंड' और 'बकी हारचरित्र' बन चुके थे। (श्रीलमगोडाजी)।

नोट—४ इस प्रसंगके आदिमें ही शिवजीने 'हरि इच्छा' का बीज बो दिया था। वहाँ जो कहा था कि "जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ। १२४।" उसीको यहाँ चरितार्थ कर दिखाया है—"हरि इच्छा बलवान" और "राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।" । प्रथम तो अपनी कृपासे भगवान्ने नारदजीको ज्ञानियोंकी सीमा (ज्ञानिशिरोमणि) बनाया और अब उन्हें मूर्खों (कामियों क्रोधियों) की सीमा बनावेंगे (मा० पी० प्र० स०)।

"हरि-इच्छा" से यहाँ 'हरि-इच्छारूपी भावी' अभिप्रेत है। इसीसे आगे चौपाईमें "राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई" कहा है। यह 'हरि इच्छारूपी भावी' अमिट है, यथा 'हरि इच्छा भावी बलवाना। १।५६।६।' इसीको आगे "करै अन्यथा अस नहिं कोई" कहा है। 'कौतुक' शब्दसे वक्ता स्पष्ट करते हैं कि

भगवान् कुछ लीला करना चाहते हैं, यह 'कौतुक' (लीलाकी इच्छा) ही हरि इच्छा है। 'कौतुक' शब्दसे हास्यका स्पष्ट संकेत है और 'हरि-इच्छा' शब्दसे प्रकट है कि "हास्यरस किसी नैतिक उद्देश्यसे ही प्रयुक्त किया जा रहा है जिसमें ईश्वर सम्मिलित हैं"। 'हरि इच्छा भावी' और कर्मानुसार प्रारब्ध भोगवाली भावी का भेद १।५६।३ में लिखा जा चुका है।

४ श्री० पी० श्रीवास्तवजीने ठीक कहा है कि यदि बहुतसे और सूक्ष्म हास्यकलाकारोंने ढूँढ निकाले हैं फिर भी अरस्तू (Aristotle) के समयसे अबतक पतन (Degradation) ही हास्यका मुख्य कारण माना जाता है।—यहाँ नारदजीका पतन अहंकारके कारण है। लमगोड़ाजी अपनी पुस्तकके पृष्ठ २६ पर लिखते हैं कि श्रीवास्तवजीका यह कथन भी सत्य है कि हास्यरसका कुशल कलाकार हास्यका ठीक उस होशियार डाक्टरकी तरह प्रयुक्त करता है जो दोषको तनिक उभारकर उसे औषधि तथा किसी प्रयोग द्वारा बाहर निकाल देता है। इसीसे हास्यरस नैतिक सुधारका सहायक माना गया है। हाँ, तुलसीदासजीका कमाल यह है कि महाकाव्यकलामेंभी उसका सुन्दर प्रयोग कर दिया, नहीं तो मानो संसारमें यह धारणासी हो रही थी कि बिना लम्बा मुँह बनाए महाकाव्य लिखा ही नहीं जा सकता। इसीसे मिल्टन इत्यादिकी कला रूखीसूखी है।

वाल्मीकिजीने ठीक कहा है कि ईश्वरीय शक्तियाँ हमारे द्वारा खेला उसी समय प्रारम्भ करती हैं जब हम अपने वैयक्तिक अहंकारको शून्य-भवनमें पहुँचा दें। सच है यह अहंकार ही है जो वैयक्तिक दोषोंको भुलाए रहता है—नारदने जो तनिक कामपर विजय पाई तो अहंकार आ धमका। नारदने पहिले इन्द्र सभामें अपनी विजयका वर्णन किया (कामदेव द्वारा) वहाँ जो तारीफ हुई तो अहंकार और भड़क उठा। अब सीधे 'कामारि' महादेवजीके पास पहुँचे—'जिता काम अहमिति मन माहीं'। (श्रीलमगोड़ाजी)

☞ ४—काम, क्रोध, लोभ और अहंकार इत्यादि भाई हैं। एक हार जाता है तो दूसरा लड़नेको पहुँचता है, इत्यादि। कामका पराजय हुआ तो अहंकारने आ दबाया। अब इनकी भली प्रकार दुर्दशा करायेगा।

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥१॥
संभु बचन मुनि मन नहिं भाए। तब बिरंचि के लोक सिधाए॥२॥
एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन गान प्रबीना॥३॥
छीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुति-माथा॥४॥

शब्दार्थ—अन्यथा=विरुद्ध, जैसा है उसका उलटा, औरका और, विपरीत। श्रीनिवास=लक्ष्मीजीमें रमण करनेवाले, श्रीके स्थान, जिनमें श्रीका निवास है, श्रीयुक्त, लक्ष्मीपति। बैजनाथजी इसका अर्थ 'लक्ष्मीजीका वास (वितानमें) क्षीर-सागरमें' ऐसा करते हैं। 'बर बीना'—'वीणावादन तत्त्वज्ञः श्रुतिजाति विशारदः। तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति॥ इति याज्ञवल्क्यः।" यह प्राचीनकालका एक प्रसिद्ध बाजा है जिसका प्रचार अबतक भारतके पुराने ढंगके गवैयोंमें है। इसमें बीचमें एक लंबा पोला दंड होता है, जिसके दोनों सिरोंपर दो बड़े बड़े तूँबे लगे होते हैं, और एक तूँबे से दूसरे तूँबे तक बीचके दंड परसे होते हुए, लोहेके तान और पीतलके चार तार लगे रहते हैं। लोहेके तार पक्के और पीतलके कच्चे कहलाते हैं। इन सभी तारोंको कसने या ढीला करनेके लिए सात खूँटियाँ रहती हैं। इन्हीं तारोंको झनकार कर स्वर उत्पन्न किए जाते हैं। भिन्न भिन्न देवताओं आदिके हाथमें रहनेवाली वीणाओंके नाम अलग अलग हैं। जैसे, महादेवके हाथकी वीणा लंबी, सरस्वतीके हाथकी कच्छपी, नारदके हाथकी महती इत्यादि।—(श० सा०)। मुनिनाथ=समस्त मुनियोंके मस्तक, मुकुटमुकुट। शिरोभाग अर्थात् जिसका मुनियोंने मुख्य

प्रतिपाद्य विषय माना है। यथा 'देवेना प्रबला मताऽसस्मादप्यात्मवादिन। तस्माच्च पौरुष युक्त न तस्माद्धियते परम्' ॥१॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी जो करना चाहते हैं वही होगा। ऐसा कोई नहीं जो उनके विरुद्ध कर सके (वा, उनकी इच्छाको व्यर्थ कर सके)॥१॥ श्रीशिवजीके वचन मुनिके मनको न अच्छे लगे तब वे ब्रह्मलोकको चल दिए ॥२॥ एक बार हाथमें श्रेष्ठ वीणा लिए हुए गानविद्यामें निपुण मुनिनाथ नारदजी हरिगुण गाते हुए क्षीरसागरको गए जहाँ वेदोंके मुख्यप्रतिपाद्य पूज्य श्रीनिवास भगवान् रहते हैं ॥३,४॥

टिप्पणी—१ (क) 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।०' अर्थात् श्रीरामजी कौतुक (लीला) करना चाहते हैं, शिवजी उनकी इस इच्छाको (नारदको उपदेश देकर) अन्यथा करना चाहते थे सो न कर सके, भगवान्की इच्छा ही हुई। ☞ 'हरि इच्छा बलवान' की इन दोनों चरणोंमें व्याख्या की है। 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई' यह हरिकी इच्छा कही और 'करै अन्यथा अस नहिं कोई' यह हरि इच्छाका बल कहा, यथा 'हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना॥ १.५६ ६।' (ख) 'संभु बचन मुनि मन नहिं भाए०' इति। हरि इच्छा बलवान् है इसीसे वचन न भाए। अतएव वहाँसे चल दिये। यह भी न पूछा कि आप मुझे चरचा करनेसे क्यों रोकते हैं? 'तब बिरंचिके लोक सिधाए' से जनाया कि बैठे नहीं, यदि शिवजी प्रशंसा करते तो बैठते। (ग) 'संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान' पर प्रसंग छोड़ा था (बीचमें वचन प्रिय न लगनेका कारण कहने लगे अब पुन वहींसे कहते हैं—'संभु बचन०।' (घ) 'तब बिरंचि के लोक सिधाए' इति। शिवजीसे कहकर अब ब्रह्माको अपना विजय विदित करनेको चले। [अथवा, ब्रह्मलोकमें रहते ही हैं, अतएव बात अच्छी न लगी तो अपने घर चल दिये। ब्रह्माजीको सुनाना न कहा, क्योंकि पितासे (कामचरित) कहना उचित न समझा, अयोग्य समझा। (मा० पी० प्र० सं०)] 'बिरंचि के लोक' कहनेका भाव कि ब्रह्मलोकमें सबसे कहा, ब्रह्माजीसे यह बात स्वयं न कह सकते थे क्योंकि वे पिता हैं, लोकमें सबको मालूम हो जानेसे उनके द्वारा वहाँ भी खबर पहुँच जायगी। यह उपाय रचकर अब क्षीरशायी भगवान्पर अपना पुरुषार्थ प्रगट करने जायँगे।

२—'एक बार करतल बर बीना।०' इति। (क) 'एक बार' से जनाया कि कुछ दिनों बाद, कुछ काल बीतनेपर गए' तुरत नहीं गए। ब्रह्मलोक नारदका घर है अत कुछ दिन घर रह गए। (ख) 'बर बीना' का भाव कि आप गानमें तथा वीणा बजानेमें प्रवीण हैं। ☞ 'गावत हरि गुनगान प्रबीना' अर्थात् हरिगुण ही गाते हैं अन्यथा (इसके अतिरिक्त और) कुछ नहीं गाते, यथा "यह बिचारि नारद कर बीना। गए जहाँ प्रभु सुख आसीना॥ गावत रामचरित । ३.४१।", 'गगनोपरि हरिगुनगन गाए। रुचिर बीर रस प्रभुमन भाए। ६ ७०।', 'तेहि अवसर मुनि नारद आए करतल बीन। गावन लागे राम कल कीरति सदा नवीन।७ ४०।' तथा यहाँ 'गावत हरिगुन०'। (ग) जब शिवजीके यहाँ गए तब वीणा बजाना, हरिगुण गाना नहीं कहा और जब भगवान्के यहाँ चले तब गाते बजाते चले क्योंकि ये अपने इष्ट हैं, इष्टके मिलनेमें प्रेम है। (वा, ब्रह्मलोकमें कुछ दिन रह जानेसे अहंकार कुछ शान्त हो गया है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि इस समय जगत्में कोई ऐसा गायक नहीं है जो वीणापर गान कर सके। तानपूरेपर ही गानेवाले कम हैं। पर नारद गानमें ऐसे प्रवीण हैं कि वीणापर गान करते हैं।)

३—'छीर सिंधु गवने मुनिनाथा।०' इति। 'छीरसिंधु गवने' का भाव कि जयविजय और जलधर इन दो कल्पोंमें वैकुण्ठवासी विष्णुका अवतार कहा, अब नारायणके अवतारकी कथा कहते हैं। [या यों कह कि जय विजय रावण कुंभकर्णवाले कल्पमें जय विजयको शाप श्रीरामावतारका हेतु था, जलंधरवाले कल्पमें वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णुको वृन्दाका शाप श्रीरामावतारका हेतु था और नारद मोहवाले कल्पमें क्षीरसागरशायी भगवान् नारायणको शाप अवतारका हेतु होना था। जहाँ जिसके हेतुसे अवतार होता है, वहाँ उसकी कथा कही जाती है। इसीसे यहाँ नारदजीका क्षीरसागरमें श्रीमन्नारायण भगवान्के पास जाना

कहा गया। (यह भाव उनके मतानुसार होगा जो भगवान विष्णु और श्रीमन्नारायणका 'रामावतार' लेना नहीं मानते)]

(ग) भगवान्‌के पास चले इसीसे 'मुनिनाथ' विशेषण दिया। क्योंकि जो भगवान्‌के पास पहुँचे (उनको प्राप्त हो) वही सबसे बड़ा है। (ग) 'जहँ बस श्रीनिवास' इति। श्रीनिवास = जिनमें लक्ष्मीजीका निवास है। तात्पर्य्य कि लक्ष्मीसहित जहाँ भगवान निवास करते हैं। इसी अभिप्रायसे 'श्रीनिवास' कहा। (घ) 'श्रुतिमाथा' अर्थात् सब श्रुतियाँ जिनका कथन करती हैं। तात्पर्य्य कि जो सब वेदोंके तत्व हैं जिनको वेद निर्गुण सगुण वर्णन करते हैं, वही चतुर्भुज स्वरूप धारण करके क्षीरसिंधुमें बसते हैं यह श्रुतिमाथका अभिप्राय है। [प्रमाण यथा 'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः। सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया'—भा० १.३.१]

बाबा हरिदासजी—'श्रुतिमाथ' का भाव—'वेद जिसका माथा है। अर्थात् जो कोई श्रुतिमें विरोध करता है तो भगवान्‌का सिर दुखता है। नारदजी जगद्गुरु शिवजीकी शिक्षा त्यागकर यहाँ आए हैं (सो मैं उनका) मानमर्दन करूँगे।'

वि० त्रि०—उस सहस्रशीर्षा पुरुषका शिर वेद है, यथा भागवते 'छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति'। इस लिये उसे 'श्रुतिमाथ' कहा।

हरषि मिलेउ[१] उठि रमानिकेता[२]। बैठे आसन रिषिहि समेता ॥५॥
बोले बिहसि चराचर राया। बहुते दिनन्ह[३] कीन्हि मुनि दाया ॥६॥

अर्थ—रमानिवास (लक्ष्मीपति) भगवान् श्रीमन्नारायण प्रसन्नतापूर्वक उठकर (उनसे) मिले और देवर्षि नारद सहित आसनपर बैठे ॥ ५ ॥ चराचरके स्वामी भगवान् हँसकर बोले—'हे मुनि! (इस बार आपने) बहुत दिनोंमें कृपा की' ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ "हरषि मिलेउ" इति। (क) हर्षपूर्वक मिलनेका भाव कि जैसे भगवान्‌के दर्शनसे, उनके मिलनेसे दास (भक्त) को हर्ष होता है, वैसे ही दासके दर्शनसे, उसके मिलनेसे भगवान्‌को हर्ष होता है। [पंजाबीजी लिखते हैं कि 'इन्होंने काम-क्रोधको जीता है, इससे इनका आदर किया। अथवा, हर्षपूर्वक उठकर मिलनेमें गूढ़ भाव यह है कि इससे इनका अभिमान और बढ़ेगा, तब ये शंकरजीका उपदेश भूल जायँगे और हमें कौतुक देखनेको मिलेगा।' बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'भवसागर तरनेकी उपयोगिनी जो हमारी लीला है उसके आरंभमें सहायक हुये, यह जानकर हर्ष है।' (रा० प्र०)। वस्तुतः प्रसन्नता पूर्वक उठकर मिलना शिष्टाचार है। ऐसा करना भारी आदर-सत्कारका द्योतक है] (ख) 'मिलेउ उठि' क्योंकि श्रीमन्नारायण क्षीरसागरशयन हैं, यहाँ वे सदा शयन ही किये रहते हैं। यथा 'करौ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन' (मं० सो० ३), 'भुजगशयन', 'नमस्ते जलशायिने।' अतः उठकर मिलना कहा। (ग) 'रमानिकेता' कहकर 'श्रीनिवास' जो पूर्व कह आए हैं उसका अर्थ स्पष्ट किया। जैसे, कृपानिकेत = कृपाके स्थान, वैसे ही, 'रमानिकेत' = श्रीजीके निवासस्थान। 'रमानिकेत' का भाव कि जैसे आप रमाजीको हृदयमें बसाये हैं वैसे ही आपने नारदजीको हृदयसे लगा लिया। अथवा भाव यह कि यद्यपि आप रमानिकेत हैं तथापि धर्ममें प्रमाद नहीं है, साधुओं, विप्रोंसे मिलनेमें एवं उनका मान करनेमें सावधान हैं। अथवा, रमानिकेत हैं इससे महात्माओंका आदर करके सदा रमाकी रक्षा करते रहते हैं। साधुके अनादरसे, उनका अपमान करनेसे लक्ष्मीका नाश है, यथा 'आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकाना

---

१ मिले—१७२१, १७६२, को० राम। मिलेउ—१६६१, १७०४। १-२ उठे प्रभुकृपा निकेता—छ०, ३—सं० १६६१ में मूलमें 'दिन' है। छूटा हुआ एक 'न' हाशियेपर दूसरी स्याहीसे बनाया गया है।

शिष एव च । हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ।' (भा०) । अर्थात् बड़ोंका आदर न करनेसे अथवा उनका अपमान करनेसे छोटोंकी आयु, श्री, यश, धर्म, परलोक, आशीर्वाद एवं सब प्रकारके कल्याण नष्ट होते हैं । ब्राह्मणोंका मान करते हैं इसीसे रमानिकेत हैं, रमा सदा यहीं बसती हैं, कभी इन्हें छोड़ती नहीं । (घ)—'बैठे आसन ···' इति । अर्थात् अपने बराबर अपने ही आसन पर बैठाया, दूसरा आसन न दिया । (यह अत्यन्त आदरका तथा प्रसन्नताका स्वरूप है । दूसरे, इस कथनसे मुनिके अहंकारकी वृद्धि भी दिखा रहे हैं । स्वामीके बराबर या उनके आसन पर बैठना दासके लिये अयोग्य है । नारदजीने प्रणामतक न किया और आसनपर बराबर बैठ गए, संभवत यह विचारकर कि भगवान् भी हमको बराबरका मानते हैं तभी तो साथ बैठाते हैं । अथवा, अपनेको त्रिदेवसे श्रेष्ठ मानकर बराबर बैठे, यह समझकर कि इन्होंने भी तो केवल क्रोधको जीता है, स्त्री साथ रखते हैं अत ये भी कामजित नहीं कहे जा सकते और मैंने दोनोंको जीता है) । विशेष आगे चौ० ८ में देखिये ।

प० प० प्र०—नारदजीको मोहित करनेकी प्रक्रिया क्षीरसागरमेंही शुरू हो गई । इसका सच्चा कारण तो अहंकारवश होकर शिवजीके उपदेशका मनमें तिरस्कार और बाहत उनका अपमान करना ही है । शिव-समान प्रियतम भक्तका अपमान भगवान सह नहीं सकते; इसीसे तो अन्तमें जो प्रायश्चित्त कहा वह शिव-शतनामका जप ही कहा, यथा 'जपहु जाइ संकर सत नामा ।'

नोट—१ "बोले बिहसि '' इति । यहाँसे उनके सुन्दर प्रहसनका मुख्य भाग प्रारंभ होता है कि जिसका जवाब साहित्यजगत्में मिलना अवश्य ही कठिन है । इस प्रहसन प्रसंगमें तो हास्यरस कूटकूटकर भरा है । हाँ ! शिवविवाहमें यह अवश्य है, पर आंशिक ही है । (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—२ "बोले बिहसि चराचर राया ···" इति । भाव यह कि- (क) जिस प्रसन्नतासे उठकर भेंमिले थे उसी प्रसन्नतासे 'हँसकर' बोले । अथवा, (ख) 'हास' भगवान्की माया है । यथा 'हासो जनोन्मादकरी च माया ।', 'माया हास बाहु दिगपाला । ६।१५.५ ।' हँसे नहीं कि माया फैलाई; यथा 'भ्रम तें चकित राम मोहि देखा । बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा ।७।७६।४।' जब-जब मायाका कौतुक दिखाना अभिप्रेत हुआ है तब तब प्रभु हँसे हैं । हँसते ही कौसल्या अंबा, महामुनि विश्वामित्र, वाल्मीकिजी तथा भुशुण्डिजी आदि मायासे मोहित हो गए । देखिए, कौसल्याजीने जब स्तुति करते हुये कहा कि "ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै । मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ।" तब प्रभु मुसकरा दिये क्योंकि उनको तो चरित करना था । 'प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै ।' बस वहीं से माताकी बुद्धि पलट गई, यथा "माता पुनि बोली सो मति डोली ' ' । १।१९२ ।" विश्वामित्रजी प्रभुका ऐश्वर्य खोले देते थे, यथा "कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका । बचन तुम्हार न होइ अलीका ॥ ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी ।१।२१६।" इसपर ☞ "मन मुसुकाहि राम सुनि बानी ।", प्रभुके मुसकराते ही वे मोहित हो माधुर्य कहने लगे— "रघुकुलमनि दसरथ के जाये ।" वाल्मीकिजीने जब कहा—"पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूछत सकुचाउँ । जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ । २।१२७ ।", तब "सुनि मुनि बचन प्रेमरस साने । सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने ।", बस वहींसे माधुर्यमें आगए । वैसे ही यहाँ देवर्षिजी तो इस 'बिहसि' बोलनेको अपने ऊपर भगवान्की बड़ी भारी प्रसन्नता समझ रहे हैं और पड़ गए हैं मायाके जालमें ।]—प्रभुने हँसकर मायाको विस्तार किया अर्थात् माया फैलाई जिससे नारदजी मोहित हो कामचरित कह चले । [अथवा, (ग) अपनी मायाकी प्रबलतापर हँसे । यथा "निज माया बलु हृदय बखानी । बोले बिहसि राम मृदु बानी । १।५२ ।" (सती मोह प्रसंगमें), वैसे ही यहाँ 'बोले बिहसि' । अथवा, (घ) यह प्रभुका सहज स्वभाव है । सदा प्रसन्नवदन रहते हैं और हँसकर बोलते हैं-'स्मितपूर्वाभिभाषी' । वैसे ही यहाँ प्रसन्नता-पूर्वक मिले और बोले । (ङ) इससे भगवान्का सौशील्य दरसाया । (च) हँसनेका भाव कि हमारी रक्षाको

भूल गए, शरणागति त्याग अहंकारसे फूले नहीं समाते। (वै०, रा० प्र०)। वा, (छ) 'नरं ज्ञानं ददातीति नारदः' जो दूसरोंको ज्ञानोपदेश करते थे वही इस समय ऐसे अभिमानयुक्त हो गए कि शिवजीका हितोपदेश भी उनको बुरा लगा, यह सोचकर हँसे। (पा०, रा० प्र०)। वा, (ज) मुनिकी मूढतापर हँसे, इनके अभिमानपर हँसे। (प०)।

नोट—२ 'बिहँसि' की मुसकान गजब की है। वह साफ बता रही है कि भगवान् सारे रहस्यको समझ गए। नारद तो अहंकारसे भरे थे ही, तनिकसे प्रश्नपर ही उन्होंने सारा प्रसंग कह सुनाया। परम कौतुकी भगवान्‌की लीला आगे देखिए।

टिप्पणी—३ (क) 'चराचरराया' का भाव कि जो चराचरमात्रपर दया करते हैं, वे ही अपने ऊपर मुनिकी दया बताते हैं—'कीन्हि मुनि दाया'। इससे सूचित करते हैं कि हमारे भक्त हमसे अधिक हैं। यथा "सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते संत अधिक करि लेखा। ३।३६।३", "मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा। ७।१२०।" अथवा, भाव कि चराचरके हितार्थ लीला किया चाहते हैं। (ख) 'बहुते दिनन्ह' इति। ☞ यह कहा जिसमें नारदजी इतने दिन न आनेका हेतु "कामप्रसंग" कहें। ऐसा ही हुआ भी।

नोट—३ नारदजीने अभीतक अपनेसे कामके प्रसंगको नहीं कहा। भगवान् उस प्रसंगको इस चतुरतासे छेड़ रहे हैं। शंकरजीने जो कहा था कि "चलेहु प्रसंग दुरावहु तबहूँ।", भगवान्‌का "बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया" यह कथन ही 'प्रसंगका चलना' है, यही उस 'चलेहु प्रसंग' का अभिप्राय था। भगवान् शंकर भगवान्‌का स्वभाव जानते हैं, यथा "जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ।" वे ये भी जानते हैं कि प्रभु 'जन अभिमान न राखहिं काऊ', वे समझते थे कि भगवान् इनका अहंकार मिटानेके लिये अवश्य छेड़ेंगे। इसीसे उन्होंने छिपानेकी ताकीद कर दी थी। वही प्रसंग छिड़ा। प्रश्नसे भाव यह है कि इतने दिनोंपर आपके दर्शन हुए, क्या कहीं चले गए थे? पहले तो शीघ्र शीघ्र दया करते थे, अबकी बहुत दिन पर दर्शन दिये। हमसे कोई अपराध तो नहीं हो गया जो दया कम कर दी? इसके उत्तरमें अवश्य कहेंगे कि और कोई बात नहीं है। हमने समाधि लगाई थी, इन्द्रने कामदेवको भेजा इत्यादि।

नोट—रुद्र सं० २ २ में प्रसंगके श्लोक ये हैं—"आगच्छन्तं मुनिन्दृष्ट्वा नारदं विष्णुरादरात्। उत्थित्वाग्रे गतोऽरं शिश्लेष ज्ञातहेतुकः। ४२। स्वासनं समुपावेश्य ...। ४३। कुत आगम्यते तात किमर्थमिह चागतः। धन्यस्त्वं मुनिशार्दूल तीर्थोऽहं तु तवागमात्। ४४।" अर्थात् मुनिको आए हुए देखकर भगवान्‌ने आदरपूर्वक उठकर आगे जाकर उनका सत्कार किया क्योंकि वे कारणोंको जानते थे। अपने आसनपर उनको बिठाकर बोले—हे तात! इस समय आप कहाँसे आ रहे हैं और किस कारणसे आपका आगमन हुआ है। हे मुनिश्रेष्ठ! आप धन्य हैं। आपके आगमनसे मैं पवित्र हो गया। मानसके 'बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया' में शि० पु० से कितनी अधिक सरलता, रोचकता और साथ ही व्यंग है। पाठक स्वयं देख लें।

काम-चरित नारद सब भाषे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे॥७॥
अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया॥८॥
दोहा—रूख बदन करि बचन मृदु बोले श्रीभगवान।
तुम्हरे सुमिरन तें मिटहिं मोह मार मद मान॥१२८॥

शब्दार्थ—बरजना = मना करना। प्रचंड = प्रबल, कठिन। जाया = जन्म लिया, पैदा हुआ। रूख (रूख) = रूखा-सूखा, मुसकराहट रहित। उदासीन।

अर्थ—यद्यपि शिवजीने उन्हें प्रथम ही मना कर रक्खा था (तथापि) नारदजीने कामदेवका सारा चरित कह सुनाया ॥ ७ ॥ श्रीरघुनाथजीकी माया अत्यन्त प्रचंड है। जगत्में ऐसा कौन पैदा हुआ जिसे वह मोहित न कर सके ? (अर्थात् ऐसा कोई नहीं है) ॥ ८ ॥ रूखा मुख करके श्रीभगवान् कोमल वचन बोले कि आपका स्मरण करनेसे (दूसरोंके) मोह, काम, मद और अभिमान मिट जाते हैं (तब भला ये आपको कब व्याप सकते हैं ?) ॥ १२८ ॥

टिप्पणी १ (क) "कामचरित नारद सब भाषे" अर्थात् उन्होंने पूरा-पूरा वृत्तांत आदिसे अततक विस्तारपूर्वक कहा। शंकरजीका उपदेश भूल गये वा न माना। इसीपर आगे कहते हैं। (ख) 'अति प्रचंड रघुपति कै माया' इति। ☞ 'अति प्रचंड' से चंड, प्रचंड और अति प्रचंड तीन प्रकारकी मायाका बोध कराया। देवताओंकी माया 'चंड' है, ब्रह्मा शिवादिकी माया 'प्रचंड' है और रघुपतिकी माया 'अति प्रचंड' है। ☞ *देखिये कि जब मायाने सतीजीसे झूठ कहलवाया तब याज्ञवल्क्यजीने मायाकी बड़ाई की*, यथा 'बहुरि राम मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा' और यहाँ भी जब उसने नारदसे कामचरित कहलवाया तब भी मायाकी बड़ाई की कि 'अति... जेहि न मोह'। भाव यह है कि इस समय मायाके वश होनेसे शिवजीका कहना न माना। संसारमें ऐसा *कोई भी नहीं है* जिसे *श्रीरामजीकी माया न मोहित* कर सके। यथा 'मन महुँ करइ बिचार बिधाता। माया बस कबि कोबिद ज्ञाता ॥ हरि माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा ॥ अगजगमय जग मम उपराजा। नहिं आचरज मोह खगराजा। ७।६०।', "नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमवादी। मोह न अंध कीन्ह केहि केही।।"...."यह सब माया कर परिवारा। *प्रबल अमित को बरनै पारा ॥ सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे* माहीं। ७।७०—७१।' बा० ४१ भी देखिए। पुन: यथा "को न क्रोध निर्दह्यो काम बस केहि नहि कीन्हों। को न लोभ दृढ़ फंद बाँधि त्रासन करि दीन्हो ? कवन हृदय नहिं लाग कठिन अति नारि-नयन-सर ? लोचन जुत नहिं अंध भयो श्री पाइ कौन नर ? *सुर-नाग-लोक महि मंडलहु को जु मोह कीन्हों जयन?* कह तुलसिदास सो ऊबरै जेहि राख राम राजिवनयन।" (क० उ० ११७)। "जदपि बरजि ...", यथा "बार बार बिनवौं मुनि तोही" से "संभु दीन्ह उपदेस हित" तक।

टिप्पणी—२ (क) यहाँ राम, विष्णु और नारायणमें स्वरूपत: अभेद दिखानेके लिये 'विष्णु' (श्रीभगवान) को कहा और पूर्व '*राम*' कहा था, यथा '*राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई*। करै अन्यथा अस नहि कोई। १२८।१।' (बाबा हरिदासाचार्यके मतानुसार भाव यह होगा कि अवतार तो श्रीरामजीकी ही इच्छासे होता है, उन्हींको अवतार लेना है। इस बातको सूचित करनेके लिये ही यहाँ प्रारंभमें उनकी इच्छा कही और फिर आगे तो लीलामात्र है।)। (ख) नारदजीने शिवजी, ब्रह्माजी और श्रीमन्नारायणजी तीनोंसे कामचरित प्रगट किया। त्रिदेवसे कहकर यह जनाया कि हम तीनोंसे बड़े हैं। ब्रह्माजी कन्याके पीछे दौड़े, *शिवजी मोहिनीरूप देखकर अपनेको न सँभाल सके* और *विष्णुने* जलंधरकी स्त्रीको ग्रहण किया। कोई कामको न जीत सका। हमने कामको जीता।

३ "रूख बदन करि ..." इति। भाव कि अभिमानकी बात भगवान्‌को अच्छी न लगी। ('करि' में भाव यह है कि उनका मुखारविन्द कभी रूक्ष नहीं रहता, वे तो सदा प्रसन्नवदन ही रहते हैं, पर मुनिके हितार्थ उन्हें रूखी चेष्टा करनी पड़ी) जैसे बच्चेको फोड़ा होजानेपर माता उसके हितार्थ कठोर बन जाती है। यथा "जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥ ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवकपर ममता अति भूरी ॥ जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं ॥ ७।७४ ॥"

नोट—१ "*रूख बदन करि ...*" इति। *जब किसी वस्तुमें चिकनाहट* (*घी*, तेल इत्यादि की) लग जाती है तब उसे रूखी सूखी वस्तुसे (जैसे राख, मट्टी, बेसन, आटा) मलते हैं तो चिकनाहट दूर हो

जाती है। यहाँ नारद मुनिका हृदय अहंकाररूपी चिकनाईसे स्निग्ध हो गया है, इसी चिकनाहटको मिटानेके लिये रूखी] वस्तु चाहिए। (रा प्र०) । भगवान‌के मुखकी इस समयकी चेष्टा रूखी वस्तु है। मुख रूख करनेका यही भाव है कि यह बात हमको अच्छी नहीं लगी, हम इस अहंकारको मिटावेंगे।

प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि "और बार तो रामचरित सत्सगवार्ता होती थी, अबकी काम चरित। क्योंकि इनका हृदय कामसे स्निग्ध है। चिकना है तो उसको मिटानेको रूखी वस्तु चाहिए ही।"

कोई ऐसा कहते हैं कि 'भगवान्‌ने (जो) स्नेहका बर्ताव किया जिससे मुनिका अहंकार बढ़ता गया (वही) स्नेह तैलवत् स्निग्ध (चिकनी) वस्तु है। भगवान् उस स्नेहको हटाकर रूखे बन रहे हैं।'

टिप्पणी—४ 'बचन मृदु बोले' इति। मृदु वचन बोलनेमें भाव यह है कि रूखा मुँह करके रूखे वचन बोलने थे, पर वे रूखे वचन न बोलकर 'मृदु वचन' ही बोले, क्योंकि भगवान् तो सदा मृदुभाषी ही हैं, वे तो अहित करनेवालेसे भी कठोर नहीं बोलते। (रूखे वदनसे प्राय कोमल वचन नहीं ही निकलते, इसीसे यहाँ ऐसा कहा)।

नोट—२ मृदु वचन बोलनेके और भाव ये हैं कि (१) जिसमें नारदको दु ख न हो। अथवा (२) भगवान् सत्वगुणके स्वरूप हैं, वे कठोर शब्द कभी बोलते ही नहीं, यह उनका सहज शील स्वभाव है। या, (३) 'यद्यपि मुनिको अहंकारने दबा लिया है तो भी वे प्रभुके लाड़ले ही हैं, इनके हृदयमें चोट न लगे, यह समझकर 'कोमल' वचन बोले।" (रा० प्र०)। अथवा, (४) 'क्रोधादिक भगवान्‌के अधीन हैं, इससे। अथवा, (५) रूखा मुँह करनेपर पुन विचार किया कि अभी-अभी हमने इनका सम्मान किया था अब तुरत अपमान करना योग्य नहीं। अथवा, (६) गर्व दूर करनेके निमित्त रूखा वदन कर लिया था और इस विचारसे मृदु वाणी बोले कि अभी इनका कौतुक देखना है, इन्होंने हमारे परमप्रिय शंकरजीका उपदेश न माना अब हम इन्हीं कामक्रोधादिकसे इनको लज्जित करायेंगे। (प०)।

टिप्पणी—५ "श्रीभगवान" इति। (क) 'श्रीभगवान' का भाव कि षडैश्वर्यसंपन्न हैं, उससे शोभित हैं। 'अति प्रचंड माया' के प्रेरक होनेसे यहाँ 'भगवान' कहा। यथा 'वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।' [अथवा, (ख) भाव कि देवर्षि नारदका मन कामादिसे डिगनेवाला न था, परन्तु भगवान जैसा चाहें वैसा कर दें। (रा० प्र०)]

नोट—३ भगवान्‌के इस वाक्यमें, कि 'तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं ', व्यंग्य भी भरा हुआ है। तुम्हारे लिये कामका जीत लेना कौन बड़ी बात है जब कि तुम्हारा स्मरणमात्र करनेसे दूसरे उसपर जय पाते हैं? इसमें अभिप्राय यह भरा है कि अभी कामादि तुम्हारे नहीं मिटे हैं। हाँ, अब हम मिटानेका उपाय किये देते हैं, तुम्हारा मोह 'सुमिरे' ही मिटेगा, यथा 'जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदय तुरत बिश्रामा। १.१३८।'- (रा० प्र०)।

बैजनाथजी लिखते हैं कि "तुम भगवत्शरणागति भूले हो, जब उसे पुन स्मरण करोगे तब शुद्ध होगे"। पुन, तुम्हारा ज्ञान दूर हो गया अतएव तुम्हें मोहादिक अब व्यापेंगे, यह व्यंग्यसे जनाया। अब तुम्हें शीघ्र ही मनोभव-पीड़ा होगी।

टिप्पणी—६ ☞ मोह महिपालके तीन सुभट हैं—'मार, मद और मान। 'मिटहिं मार ' का भाव कि आपके स्मरणमात्रसे सेनासहित राजाका नाश हो जाता है। (भाव कि आपका दर्जा बहुत ऊँचा है। वीतरागमें चित्तकी धारणा करनेसे समाधि सिद्ध होती है। वि० त्रि०)।

नोट—मिलानके श्लोक, यथा "विष्णुवाक्यमिति श्रुत्वा नारदो गर्वितो मुनि। स्ववृत्त सर्वमाचष्ट समद मदमोहित। रुद्र स० २ २ ४५। ध यस्य मुनिरादूल तपोनिधिरुदारधी। भक्ति त्रिक न यस्यास्ति काममोहादया मुने।

४१।" अर्थात् भगवान्‌के वाक्य सुनकर गर्वित हुये मुनि अपना सब वृत्तान्त मदसहित कह गए। तब भगवान् बोले—'मुनिश्रेष्ठ ! तपोनिधि, उदारबुद्धिवाले आप धन्य हैं ! जिसके हृदयमें त्रिदेवकी भक्ति नहीं है, उसीको काम और मोहादि सताते हैं।—पाठक देखें 'तुम्हरे सुमिरन तें मिटहिं मोह मार मद मान' कितने उच्च, कितने उत्कृष्ट हैं।

सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाकें ॥१॥
ब्रह्मचरज ब्रतरत मतिधीरा। तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा ॥२॥
नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना ॥३॥
करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी ॥४॥

शब्दार्थ—अंकुर = अँखुआ, गाभ, अँगुसा, कल्ला, नवोद्भिद। अंकुरेउ = अंकुर निकला है।

अर्थ—हे मुनि ! सुनिये। मोह तो उसीके मनमें होता है कि जिसके हृदयमें ज्ञान वैराग्य नहीं है ॥१॥ और आप तो ब्रह्मचर्य्य व्रतमें तत्पर हैं, धीर-बुद्धि हैं, (भला) आपको कामदेव कैसे पीड़ित कर सकता है ? ॥२॥ नारदजीने अभिमान सहित कहा 'भगवन् ! यह सब आपकी कृपा है ॥३॥ दयासागर भगवान्‌ने मनमें विचारकर देखा कि इनके हृदयमें गर्वरूपी भारी वृक्षका अंकुर जमा (फूटा) है ॥४॥

नोट—१ मिलान कीजिए। "त्रिकारास्तस्य सद्यो नै भवन्त्यखिलदु खदा। नैष्ठिको ब्रह्मचारी त्वं ज्ञान वैराग्यवान्सदा। ४२। कथं कामविकारी स्याज्जन्मनाविकृतस्सुधी॰। इत्याद्युक्तवचो भूरि श्रुत्वा स मुनिसत्तम। ४३। विजहास हृदा नत्वा प्रत्युवाच वचो हरिम्। किं प्रभावः स्मर स्वामिन्कृपा यद्यस्ति ते मयि। ४४।" (रुद्र सं॰ २.२)। अर्थात् उसीको (जो त्रिदेवका भक्त नहीं है) ये सब दु:खद विकार होते हैं। आप तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी और सदा ज्ञान वैराग्यवाले हैं। आपको कामविकार कैसे हो सकता है ? आप तो जन्मसे ही विकाररहित और सुन्दर बुद्धिवाले हैं। मुनिने यह सुनकर हृदयसे नमस्कारकर हँसते हुए कहा—स्वामिन् ! मुझपर आपकी यदि कृपा है तो काम मेरा क्या कर सकता है ?

टिप्पणी—१ नारदने 'कामचरित सब भाषा'। क्रमसे सब कहे, वैसे ही क्रमसे भगवान्‌ने उनकी प्रशंसा की। (१) नारदजीने प्रथम रम्भादिकी कला कही। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा 'सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाकें।' (२) फिर कामका प्रपंच कहा, उसके उत्तरमें 'ब्रह्मचरज-ब्रतरत मतिधीरा। तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा' कहा गया।

नोट—२ 'सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान॰' इस एक ही पंक्तिमें मोह और ज्ञान दोनोंको रखा, क्योंकि ये दोनों राजा हैं। आसुरी संपत्तिका राजा मोह है और काम मद मान उसके सुभट हैं। और, दैवी-संपत्तिका राजा ज्ञान है और वैराग्य, ब्रह्मचर्य्य, धैर्य्य उसके मंत्री और सुभट हैं। यथा "मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम॰" इति विनये (पद ५८), एवं 'सचिव बिराग बिबेक नरेसू। भट जम नियम सैल रजधानी ॥ जीति मोह महिपाल दल सहित बिबेक भुआलु। अ॰ २३५।' दो राजा एक देशमें नहीं रह सकते। अतएव जहाँ ज्ञान रहेगा वहाँ मोह नहीं रह सकता। व्यंग्यार्थ यह है कि आपके हृदयसे अब विवेक भाग गया, इसीसे वहाँ अब मोहने दखल अधिकार जमाकर निवास कर लिया है। दो राजा एक देशमें नहीं रह सकते, यह शब्दोंकी स्थितिसे कवि दिखा रहे हैं। एक चरणमें मोहको रक्खा और दूसरेमें ज्ञानको।

टिप्पणी—२ (क) भगवान्‌ने जो पूर्व कहा था कि तुम्हारे स्मरणसे मोहादि मिटते हैं, उसी मोह-मार मदको अब विस्तारसे कहते हैं। (ख) "हृदय नहिं जाकें" का भाव कि ज्ञान और वैराग्य जिसके वचन-

मात्रमे है (हृदयमे नहीं हैं) उसको मोह होता है और जिसके हृदयमें इनका निवास रहता है उसको ये नहीं व्यापते। तात्पर्य कि ज्ञान मोहको जीत लेता है। यथा "जीति मोह महिपाल दल सहित बिबेक भुआलु। करत अकटक राज पुर सुख सपदा सुकालु। २।२३५।" (ग) "ब्रह्मचरज व्रत रत ' " इति। ज्ञानको कहकर तब वैराग्य, ब्रह्मचर्य और धैर्यको कहा, क्योंकि ये ज्ञानके सुभट हैं।

वि० त्रि०—भाव कि हम लोग तो गृहस्थ हैं, मुझे रमा है, शिवजीको उमा हैं, ब्रह्मदेवको शारदा हैं, अतएव हम लोग राग और अज्ञानकी सीमाके भीतर हैं। आप परिव्राजक हैं, ब्रह्मचर्य्यव्रतमें रत हैं, मतिधीर हैं। आप मुनि हैं। दुःखमें जिसका मन उद्विग्न न हो, सुखकी जिसे इच्छा न हो, जिसे राग भय और क्रोध न हों, ऐसे स्थितप्रज्ञको मुनि कहते हैं—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। गीता २। ५६।'

प० राजबहादुर लमगोड़ाजी—१ मज़ाकका लुत्फ ही यह है कि मजाक करनेवालेकी किसी बातसे पता न लगे कि वह मज़ाक कर रहा है, नहीं तो हास्यपात्र चौंक जायगा और हास्यका वार पूरा न पड़ेगा। इसीलिए तो भगवान्ने ऊपरा मुँह करके नारदके तारीफके पुल बाँध दिए। नारदका अहंकार और भी उभर आया और वे नम्र भावसे (जो यहाँ अहंकारका रूपान्तर ही है) कहने लगे 'कृपा तुम्हारि'' '
२ नाटकीय दृष्टिकोणसे यह अभिनयताके लिए बड़ी सुन्दर हिदायत है। और फिल्मकलाकी बड़ी सूक्ष्म प्रगति। [मानसका नारदमोह बड़ा मनोहर एकाकी प्रहसन काव्य है, अनुपम है (प० प० प्र०)]

टिप्पणी ३—(क) 'ब्रह्मचरज ब्रतरत मतिधीरा' इति। ऊपर ('सुनु मुनि मोह होइ ' 'में) मोह की व्याख्या की थी, अब 'मार' की व्याख्या करते हैं। ब्रह्मचर्य्य-व्रत रत और मतिधीर ये दोनों कामको जीतते हैं। आप ब्रह्मचर्य्यरत और मतिधीर दोनों हैं—इस कथनका तात्पर्य्य यह हुआ कि जिसके ज्ञान, वैराग्य, ब्रह्मचर्य्य और धीरबुद्धि हो वह स्मरणके योग्य है, उसके स्मरणसे सब विकार दूर होते हैं, यथा 'तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं०।' (ख) 'नारद कहेउ सहित अभिमाना।०' इति। तात्पर्य्य कि यदि वे अभिमान सहित न कहते तो 'कृपा तुम्हारि सकल भगवाना' इस बातमें 'सब कुछ बन जाता'। 'अभिमान सहित कहेउ' का भाव कि कामको जीतनेका अहंकार अपना है कि हमने जीता है और ऊपरसे भगवान्की कृपा कहते हैं। (ग) 'कृपा तुम्हारि सकल' का भाव कि रम्भादि अप्सराओंको देखकर मोह न हुआ, कामका विकार न व्यापा, ज्ञान वैराग्य, ब्रह्मचर्य्य और मतिमें धैर्य्य है, सो सब आपकी कृपा है। नारदको अभिमान है इसीसे यह न कहा कि 'यह सब आपकी कृपासे है, हममें कुछ भी नहीं है' जैसा कि हनुमान्‌जीने कहा है—'सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥ ५।३३।८।' अभिमानके साथ न कहते तो उत्तर बिल्कुल ठीक था। अभिमानके कारण बात विनयप्रदर्शनमात्र हो गई।

४—'करुनानिधि मन दीख बिचारी।०' इति। (क) 'करुणानिधि' कहनेका भाव कि लोग अभिमानीका अभिमान सुनकर क्रोध करते हैं, पर भगवान्को इनपर करुणा हुई, क्योंकि जानते हैं कि वे अपने दास हैं। (ख) 'उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी' इति। 'नारद कहेउ सहित अभिमाना' इसी अभिमानको भगवान् 'गर्व' कहते हैं। भक्तोंको जैसे ही गर्व हुआ वैसे ही प्रभु उसका नाश करते हैं, जिसमें आगे क्लेश न भोगना पड़े; इसीसे 'करुनानिधि' कहा। और, दुष्टोंको जब गर्व होता है तब उन्हें मारते हैं, यथा "जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥ तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥ १।१२१।"

नोट—३ यहाँ 'करुनानिधि' विशेषण दिया क्योंकि दया करके भक्तोंका अहित नहीं होने देते, सदा उनका हित ही सोचते और करते हैं। 'अहंकार' भवसागरमें डालनेवाला है।

"उर अंकुरेउ गर्व-तरु भारी॥ बेगि " इति—अहंकार संसारका मूल है, इसीसे बारबार चौरासी

भोगना पड़ता है। अहंकार भारी दुःखदाता है, इसीसे 'गर्वतरु' को 'भारी' कहा। भगवान् करुणानिधान हैं, वे अपने भक्तोंको भव-प्रवाहमें नहीं पड़ने देते। इन चौपाइयोंका भाव भुशुण्डिजीके वचनोंसे खूब स्पष्ट समझमें आ जावेगा। यथा "सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥ ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥ जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर। ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥ तिमि रघुपति निज दासकर हरहिं मान हित लागि।" (उ० ७४)।

ये समस्त दुःख आगे आवेंगे, अभी अंकुर ही फूटा है, शीघ्र जड़से उखाड़ सकता हूँ, नहीं तो यदि यह पूरा बढ़ गया, भारी वृक्ष हो गया तो इसका उखाड़ना कठिन हो जावेगा। इसीसे यहाँ 'अंकुरेउ', 'तरु भारी' और आगे 'बेगि' कहा है। 'भारी' क्योंकि सब शोकोंकी जड़ है।

> बेगि सो मैं डारिहौं उखारी१। पन हमार सेवक हितकारी॥५॥
> मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥६॥

अर्थ—मैं उसे शीघ्रही उखाड़ डालूँगा, क्योंकि सेवकका हित करना यह हमारी प्रतिज्ञा है (वा, हमारी प्रतिज्ञा सेवकके लिए हितकर है)॥ ५॥ अवश्य मैं वही उपाय करूँगा जिससे मुनिका भला और मेरा खेल होगा (मेरी लीला होगी)॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'बेगि सो मैं डारिहौं उखारी।०' इति। (क) 'बेगि' क्योंकि अभी गर्व-तरु जमा है, उसके उखाड़नेमें कुछ भी परिश्रम नहीं है और नारदके हृदयमें बहुत दुःख अभी उखाड़नेसे न होगा। बड़ा वृक्ष उखाड़नेमें पृथ्वी विदीर्ण हो जाती है। तात्पर्य्य कि बहुत दिन रह जानेसे उसका अभ्यास हो जाता है फिर वह हृदयसे नहीं जाता। अभी गर्व हृदयमें अंकुरित हुआ है, अभी उसका अभ्यास नहीं पड़ा है। (ख) 'पन हमार सेवक हितकारी' कहनेका भाव कि गर्व अहितकारी है। पुन, भाव कि 'भगवान् परायी विभूति नहीं देख सके, अपनी बड़ाईकी ईर्ष्यावश होकर अथवा अवगुण देखकर क्रोधसे गर्व दूर करनेपर उद्यत हैं', ऐसा नहीं है किन्तु वे सेवकका हित करनेके लिए उसके गर्वका नाश किया करते हैं, यथा 'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥', 'जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू॥१।१३।६॥', "अपने देखे दोष राम न कबहूँ उर धरे" (दोहावली)। [भगवान् पराई विभूति, पराई बाढ़ देख नहीं सकते, इत्यादि संदेहोंके निवारणार्थ 'करुनानिधि', 'सेवक हितकारी', 'मुनिकर हित मम कौतुक' आदि पद दिये हैं। 'पन हमार०' में स्वभावोक्ति अलंकार है।]

२—'मुनि कर हित मम कौतुक होई०'। इति। (क) कौतुक = लीला। हमारा कौतुक होगा अर्थात् हम अवतार धारण करके लीला करेंगे। पूर्व जो कहा था कि 'भरद्वाज कौतुक सुनहु' उस 'कौतुक' का अर्थ यहाँ खोलते हैं कि 'भगवानका कौतुक सुनो।' यह बात भगवान् यहाँ अपने मुखसे ही कह रहे हैं। "मम कौतुक होई"। (ख) प्रथम मुनिका हित होगा अर्थात् गर्व दूर होगा, वे क्रोध करके शाप देंगे तब भगवान्‌की लीला होगी, इसी क्रमसे यहा भगवानके वचन हैं—'मुनि कर हित' तब 'मम कौतुक'। कौतुक = लीला, यथा 'बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई। लगे करन सिसु कौतुक तेई। ७।८८।' इत्यादि। (ग) 'अवसि उपाय करबि मैं सोई' इति। यहाँ भगवान् उपाय करनेको कहते हैं। भक्तका हित तो कृपादृष्टिसे ही कर सकते हैं तब उपाय करनेमें क्या भाव है ? इस कथनमें तात्पर्य यह है कि कृपाकोरसे अभिमान दूर कर सकते हैं इसमें संदेह नहीं, पर उसमें अवतारका हेतु न उत्पन्न होता (और प्रभुकी इच्छा लीलाकी है)

१ पाठान्तर—'उपारी'

अतः 'उपाय करबि' कहा। उपायमें अवतारका हेतु होगा। लीला हेतु उपाय करना कहा गया। (घ) 'करुनानिधि मन दीख विचारी' से यहाँ तक मनका विचार है।

श्रीमान् लमगोडाजी—१ अभिमानका यह नम्रतारूप रूपान्तर कितना विचित्र है।

२ कविने किस सुन्दरतासे भगवान्‌के विचारोंको व्यक्त किया है जिसे वे लोग विशेषतः समझ सकेंगे जिन्होंने शेक्सपियरके चरित्रोंकी स्वगत वार्ताओंका आनंद उठाया है। मजा यह है कि प्रहसनके द्रष्टाओंपर सारा रहस्य खुल जाता है परन्तु हास्यपात्रको पता नहीं चलता। भगवान् वस्तुतः बड़े ही कुशल नैतिक चिकित्सकके रूपमें दिखाई पड़ते हैं और अहंकारको जड़से उखाड़नेकी प्रतिज्ञा करते हैं, हास्यप्रयोग प्रारंभ करते हैं। वाकई हास्यरसका उचित प्रयोग यही है कि हास्यपात्रका हित हो और साथ ही हम सबका 'कौतुक' भी हो जाय, पर घृणाकी मात्रा न बढ़ने पावे।

तब नारद हरिपद सिर नाई। चले हृदय अहमिति अधिकाई ॥७॥
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी ॥८॥
दोहा—बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि सतजोजन बिस्तार।
श्रीनिवास-पुर तें अधिक रचना बिबिध प्रकार ॥१२९॥

अर्थ—तब नारदजी भगवान्‌के चरणोंमें सिर नवाकर चले। उनके हृदयमें घमंड और भी अधिक हो गया ॥ ७ ॥ लक्ष्मीपति भगवान्‌ने अपनी मायाको प्रेरित किया। उसकी कठिन करनी सुनो ॥ ८ ॥ उस मायाने मार्गमें चारसौ कोसके लंबे चौंड़े नगरकी विशेष रचना की। जिसकी अनेक प्रकारकी रचना वैकुण्ठपुरसे भी बढ़चढ़कर थी ॥ १२६ ॥

टिप्पणी—१ 'तब नारद हरिपद सिर नाई।०' इति। (क) 'तब' अर्थात् जब नारदके कामचरित कह चुकनेपर भगवान् उनकी प्रशंसा कर चुके, तब नारद वहाँसे चल दिए। तात्पर्य कि बस इतनेसे ही तो प्रयोजन था कि कामचरित सुनायें और अपनी बड़ाई सुनें। (ख) 'अहमिति अधिकाई'। भाव कि जब शिवजीके पास गए तब अहंकार अधिक न हुआ, शिवजीने प्रशंसा न की। और यहाँ भगवान्‌ने प्रशंसा की—'तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं मोह मार मद मान', इसीसे वहाँ कहा था कि 'जिता काम अहमिति मन माहीं' और यहाँ कहते हैं कि 'चले हृदय अहमिति अधिकाई'।

नोट—१ शिवजीने इनका आदर सत्कार न किया। प्रत्युत इन्हें उपदेश देने लगे थे। और भगवान्‌ने इनका आदर-सत्कार किया। उठकर मिलना आदर जनाता है, यथा 'आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई', वैसाही भगवान्‌ने किया। यही कारण है कि शिवजीको चलते समय भी उन्होंने प्रणाम न किया पर भगवान्‌को जाते समय प्रणाम किया। यह भी अहंकारहीका सूचक है। [जो अहंकारीकी प्रशंसा करता है, वह उसको प्रिय लगता है और जो प्रशंसा न करके उल्टी सुनाता है, विरुद्ध कहता है वह उसको मत्सरी और द्वेषी लगता है। (प० प० प्र०)]

पहले कहा था कि "जिता काम अहमिति मन माहीं" और अब बताते हैं कि "चले हृदय अहमिति अधिकाई" अर्थात् पहले अहंकारका बीज पड़ा था और अब अंकुर हो वह बढ़ चला। प्रथम शिवजीने रोका था, इससे ज्योंका त्यों रह गया था, अब प्रशंसारूपी जल पाकर बढ़ा। अब वे सोचते हैं कि शिवजीने सत्यही ईर्षावश रोका था, भगवान् तो सुनकर प्रसन्न हुए हैं, न कि रुष्ट।

टिप्पणी—२ 'श्रीपति निज माया तब प्रेरी।' इति। (क) यहाँ 'श्रीपति' और 'निज माया' दोनोंको एक साथ लिखने तथा निज मायाको प्रेरित करना कहनेसे स्पष्ट किया कि 'श्रीजी' से "माया" पृथक् वस्तु है कि जिसको प्रेरित किया। यथा 'नहिं तहँ रमा न राजकुमारी'। (ख) आगे माया बहुत

चमत्कार करेगी, इसीसे उसे 'श्रीपति' की माया कहा। (ग) 'प्रेरी' का भाव कि यहाँ उसने नारदको मोहकर कामचरित कहलाए, अब आगे मोहनेकेलिए उसे भेजा। पुन भाव कि माया अपनी ओरसे नहीं गई। पुन, "निज माया" का भाव यह कि भगवत् दासोंको औरोंकी माया वशमे नहीं कर सकती, जैसे इन्द्रकी माया नारदको न व्यापी। भक्त भगवानकीही मायाके वशमे होते हैं अतएव 'निज माया' कहा। "जहाँ-जहाँ मायाकी प्रेरणाका वर्णन है तहाँ-तहाँ मायाकी प्रशंसा है", यथा 'बहुरि राम-मायहिं सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा"। इत्यादि। पुन भाव कि कामकी मायासे मोहित न हुये अतः निज मायाको भेजा। (घ) 'कठिन करनी' कहा क्योंकि जो दुर्दशा की उसमे नारदजीको प्राणान्तसमयकासा क्लेश हुआ—'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू' और इसको किंचित् दया न आई।

३—बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि ' इति। (क) 'रचना' काम विद्यामायाका है। यथा 'एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें। ३।१५।' हरि सेवकको अविद्या माया नहीं व्यापती, उसे विद्या ही व्यापती है। यथा 'हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि बिद्या॥ ७।७६।' यहाँभी माया प्रभु-प्रेरित है, यथा 'श्रीपति निज माया तब प्रेरी'। अपनी ओरसे नहीं व्यापती। (इससे जनाया कि यह 'विद्या माया' है)। [(ख) 'मग महुँ' कहकर जनाया कि वह नारदसे पहले ही आगे पहुँच गई। मार्गमें नगर बनानेका भाव कि जिसमे वह इनके देखनेमें अवश्य आवे और वे नगरमे होते हुये जायं। (ग) "नगर"—मुनि को बन, काम, कोकिल आदि की शोभा मोहित न कर सकी थी, इस लिये अब की नगर रचा जिसकी शोभा श्रीनिवासपुरसे अधिक थी जिसमे वे मोहित हो जायँ। जैसे श्रीअयोध्याजीकी शोभा देखकर वैराग्य भूल जाता था, यथा "नारदादि सनकादि मुनीसा। देखि नगरु बिराग बिसरावहिं॥ ७।२७।" वैसे ही इसे देखकर इनका वैराग्य जाता रहे। (मा० पी० प्र० स०)]

(घ) "सत जोजन बिस्तार" इति। मार्गमे इतने विस्तारका नगर बनानेमें भाव यह है कि एक तो वैकुण्ठ सौ योजनका है। दूसरे, नारदजी विरक्त महात्मा हैं। विरक्त सन्त (जब प्रसाद पाये हुये होते हैं तब) प्राय बस्तीके बाहर ही विचरते हैं। अतएव मायाने इतना बड़ा नगर बनाया कि नगरके भीतरही होकर जाना पड़े, इधर-उधर कहींसे न निकल जा सके, और कहींसे उनको रास्ता ही न मिले। कहाँ तक बचायेंगे।

वि० त्रि०—चित्के (ब्रह्मके) अति दुर्घटस्वातन्त्र्यको माया कहते हैं। लोकमे योगी, मन्त्रशास्त्री और ऐन्द्रजालिक थोड़ासा आच्छादित स्वातन्त्र्य पाकर युक्तिसे दुर्घट घटना घटा देते हैं, तब श्रीपतिकी मायाके लिये क्या कहना है। भासनकालमे भी स्वरूपसे अतिवर्तन उसकी दुर्घटना है।

नोट—२ यह नगर कहाँ रचा गया? इसमे मतभेद है। पं० रामकुमारजीका मत है कि यह नगर जम्बूद्वीपमे रचा गया। नारदजी क्षीरसागरसे अपने घर ब्रह्मलोक नहीं गए। जैसे कि पूर्व लिखा गया है कि 'तब बिरंचि के लोक सिधाए। १२८।२।' अर्थात् वहाँ रामचरित कहने गए थे। वहाँसे भगवान्को सुनाने आये। अब यहाँसे ब्रह्मलोक शीघ्र जानेका कोई प्रयोजन रहही न गया। अतएव विचरनेके लिये जंबूद्वीप गए। और किसीका मत है कि काश्मीरान्तर्गत जो उसकी राजधानी 'श्रीनगर' है वही यह माया-नगरी है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि टेहरी राज्यमे जो प्राचीन श्रीनगर था उसे तो गंगाजी बहा ले गईं, वहाँ अब रमापति मंदिर ही रह गया है। उसीके सन्निकट अब दूसरा श्रीनगर बसा है।

टिप्पणी—४ "श्रीनिवासपुर तें अधिक " इति। (क) लक्ष्मीपति भगवान्के पुरसे अधिक विविध प्रकारकी रचना है क्योंकि (१) श्रीनिवासपुर असल है और यह नकल है, असलसे नकलमे चमत्कार अधिक होता है। (२) क्षीरसागर वैकुण्ठ तो मुनि जब तब जाया ही करते थे। वहाँका वैभवविलास अनेक बारका देखा है, यदि उससे बढ़कर न बनाती तो नारदका मन उधर आकर्षित न होता। (३) नारदका

वैराग्य कुछ साधारण वैराग्य नहीं है जो डिग जाय अतएव अधिक रचना की। [श्रीनिवासपुर कहकर जनाया कि यह इतना सुन्दर है कि भगवान् लक्ष्मीजीके सम्बन्धसे यहीं अपनी ससुरालमेंही रहने लगे। लक्ष्मीजीकी उत्पत्ति क्षीरसागरसे है अतः वह आपकी ससुराल है।—(वै०)] (४) नारद सात्त्विकी हैं, अतः एव इनको मोहित करनेकेलिये सात्त्विक पुरीकी नकल बनाई। (ग) 'श्रीनिवास-पुर' कहकर वैकुण्ठपुरी सूचित की, क्योंकि श्रीनिवास जहाँ (क्षीरसागरमें) बसते हैं वहाँ 'पुर' नहीं है। वैकुण्ठका वैभव सबसे अधिक है, यथा 'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना'।

नोट—३ पंजाबीजी यहाँ अतिशयोक्ति और वीरकविजी व्यतिरेक अलंकार मानते हैं। श्रीनिवासपुर उपमानसे 'नगर' उपमेयमें उत्कृष्टता वर्णन की गई है।

४—मिलान कीजिये—"इत्युक्त्वा हरिमानम्य ययौ यादृच्छिको मुनिः ।५५। (रुद्र सं० ३।२)"। "चकाराशु माया मायाविशारदः ।४। मुनिमार्गस्य मध्ये तु विरेचे नगरं महत्। शतयोजनविस्तारमद्भुतं सुमनोहरम्। ५। स्वलोकादधिकं रम्यं नानावस्तुविराजितम्।" अर्थात् ऐसा कहकर भगवान्को प्रणाम करके मुनि यथेच्छ स्थानको चल दिये। भगवान्ने मायाको प्रेरित किया जिसने मुनिके मार्गमें बड़े नगरकी रचना की जो सौ योजनके विस्तारका और अद्भुत तथा मनोहर था। अपने लोकसेभी अधिक सुन्दर अनेक वस्तुओंसे सुशोभित था। शिव पु० में शिवजीकी इच्छासे भगवान्का मायाको प्रेरित करना कहा है, जिससे शिवजीके चरितमें लाञ्छनसा लगता देख पड़ता है। इस तरह मानसका मत उत्कृष्ट है।

बसहिं नगर सुंदर नर नारी। जनु बहु मनसिज रति तनु धारी ॥ १ ॥
तेहि पुर बसै सीलनिधि राजा। अगनित हय गय सेन समाजा ॥ २ ॥
सत सुरेस सम बिभव बिलासा। रूप तेज बल नीति निवासा ॥ ३ ॥
बिस्वमोहनी तासु कुमारी। श्री बिमोह जिसु[1] रूपु निहारी ॥ ४ ॥
सोइ हरिमाया सब गुन खानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—मनसिज=मनसे उत्पन्न, कामदेव। हय=घोड़ा, अश्व। गय=गज, हाथी। बिभव=ऐश्वर्य। बिलास=सुखभोग। जिसु=जिसका। यथा 'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।'

अर्थ—उस सुन्दर नगरमें सुन्दर स्त्रीपुरुष बसते थे, मानों बहुतसे कामदेव और रति (कामदेवकी स्त्री) ही शरीर धारण किये हुए हों ॥१॥ उस पुरमें शीलनिधि नामक राजा रहता था, जिसके अगणित (बेशुमार, जिसकी गणना न हो सके) घोड़े, हाथी, सेना और समाज था ॥ २ ॥ उसका वैभव विलास सौ इन्द्रोंके समान था। वह रूप, तेज, बल और नीतिका (मानों) निवास-स्थान ही था ॥ ३ ॥ उसकी लड़कीका नाम विश्वमोहिनी था, जिसके रूपको देखकर लक्ष्मीजीभी मोहित हो जायँ ॥ ४ ॥ यह वही सब गुणोंकी खानि हरिकी माया है। (तब भला) उसकी शोभा कब (एवं क्या) वर्णन की जा सकती है ? (कदापि नहीं) ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ 'बसहिं नगर सुंदर नर नारी' इति। (क) यहाँ 'सुंदर' दीपदेहरीन्यायसे नगर और नर नारी दोनोंका विशेषण है। नगर ही इतना सुन्दर है कि काम अपनी स्त्री सहित वहाँ आकर बस जाय तो आश्चर्य नहीं। उनके निवासके योग्य है इसीसे स्त्रीपुरुषोंको रति और कामके समान कहा। पुनः भाव कि नारदको कामके वश करना है इसीसे मायाने वहाँके स्त्रीपुरुषोंको रति और कामके समान सुन्दर बनाया है। (ख) 'जनु बहु मनसिज रति०।' इति। 'बहु' कहकर जनाया कि प्रत्येक नरनारी एकएक काम और

[1] जेहि—ना० प्र०

रतिके समान हैं, इसीसे जान पड़ता है कि बहुतसे काम और रति ही हैं। ☞ कामदेवने नारदको मोहनेके लिए वन बनाया, वसंत बनाया, अप्सराएँ बनाईं तब भी नारदको न मोह सका था, इसीसे मायाने नगर बनाया। वहाँ एक ही काम था, यहाँ रति सहित अनंत काम मोहित करनेके लिये विराजमान हैं। अर्थात् कामदेव ही कामदेव रतियों सहित बसाए गए हैं कि अब तो मोहित होंगे, पर इनका वैराग्य ऐसा तीव्र है कि इतनेपर भी वे मोहित न होंगे। कामने वनकी श्री दिखाई थी, मायाने नगरकी 'श्री' दिखाई। वहाँ नारद रंभादिको देखकर न मोहे थे, इसीसे माया स्वयं विश्वमोहिनी बनी। कामके बनाए हुए प्रपंच नारदजीके देखे हुए थे और मायाकृत प्रपंच अपूर्व हैं।

नोट १—यहाँ अतिशय सौन्दर्य्य उत्प्रेक्षाका विषय है। उसे न कहकर यह उत्प्रेक्षा की गई कि मानों अनेक कामदेव और रति ही हैं। अतएव यहाँ 'अनुक्त-विषया-वस्तूत्प्रेक्षा' है। "रूप तेज बल नीति निवासा" में सहोक्ति अलंकार है। (वीरकवि)।

२—व्याकरण—'बसइ' एक वचन, 'बसहिं' बहु वचन। यथा—रहइ रहहिं, कहइ कहहिं, सेवइ सेवहिं, धरइ धरहिं, पावइ पावहिं, लगावइ लगावहिं, मुसुकाइ मुसुकाहिं, उकसहिं, अकुलाहीं। इत्यादि। निहारी, निहारि = देखकर। पूर्व कालिक क्रिया। यथा—आनी, आनि, जानि, फूली, बिलोकी, बिरंचि, सुनि, बिचारि, (कर) जोरी, बखानी, धरि, कहि, इत्यादि। (श्रीरूपकलाजी)।

टिप्पणी—२ (क) "तेहिं पुर बसै सीलनिधि राजा" अर्थात् यह मायानगर राजा शीलनिधिकी राजधानी है। [मोहका कारण शील है, यह गुण अधिक मोहक होता है। अतएव जो शीलका खजाना, शीलका समुद्र है उसीको इसने राजा बनाया। वा, मूर्तिमान् शीलसमुद्र ही राजा है]। (ख) "अगनित हय···" इति। नगर, प्रजा और राजाको कहकर अब राजाका ऐश्वर्य्य कहते हैं, फिर गुण कहेंगे। समाज=रथ आदि सामग्री; सब सामान। हाथी, घोड़े, सेना और समाज कहकर चतुरंगिनी सेनाका होना जनाया। (ग) प्रजाको प्रथम वर्णन करके तब राजाको कहनेका भाव यह है कि नारदजीने जैसे जैसे नगरमें प्रवेश किया वैसे ही वैसे वक्ता भी वर्णन करते जाते हैं। प्रथम उन्होंने प्रजाको देखा, तब राजाके स्थानमें पहुँचे। ['बसै' का भाव कि नगर तो अभी बना है, परन्तु शीलनिधि राजा उसमें कई पीढ़ीसे बसते थे। घोड़ा हाथी सेना सब अनेक देशके भिन्न भिन्न कालोंमें आये हैं तथा भर्ती हुए हैं। (वि० त्रि०)]

३ "सत सुरेस सम बिभव बिलासा।···" इति। (क) नगरकी रचनाको भगवान्‌की पुरीसे अधिक कहा था, यथा "श्रीनिवासपुर तें अधिक रचना बिबिध प्रकार।" तो ऐश्वर्य्य भी भगवान्‌के ऐश्वर्य्यसे अधिक कहना चाहिए था, सो न कहकर 'सत सुरेस सम' कहा, क्योंकि भगवान्‌के ऐश्वर्य्यसे अधिककी कौन कहे उसके समान भी ऐश्वर्य्य किसीका हो नहीं सकता, सब कहते कैसे? इसीसे शत इन्द्रोंके ऐश्वर्य्यसे अधिक कहा। (ख) नगर सौ योजनके विस्तारका रचा, इसीसे सौ इन्द्रोंका वैभव विलास बनाया। पुनः, 'सत सुरेश सम' कहकर राजाको सौ इन्द्रोंके समान सुकृती जनाया। सौ अश्वमेधयज्ञ करनेसे इन्द्रपद प्राप्त होता है। पुनः भाव कि एक इन्द्रका वैभव विलास इनको न मोहित कर सका, इसलिये यहाँ सौ इन्द्रोंका वैभव रचा। [इन्द्रका वैभव-विलास सबसे अधिक है, इसीसे जहाँ वैभवका उत्कर्ष दिखाना होता है वहाँ इसीकी उपमा दी जाती है। यथा 'भूपति भवन सुभाय सुहावा। सुरपति-सदनु न पटतर पावा॥ २।९०।', 'अमरावति जसि सक्रनिवासा। १।१७८।', 'सुनासीर सत सरिस सो सतत करइ बिलास। ६।१०।' 'श्रुति-पथपालक धरमधुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर। ७।२४।', 'मघवासे महीप विषय-सुखसाने' (क० ७।४३), 'राज सुरेस पचासक को ··। क० ७।४५।', 'भोगेन मघवानिव' (मूल रामायण)। 'सत' = सैकड़ा।]
(ग) 'रूप तेज बल नीति निवासा' यह राजाके गुण हैं। अर्थात् परम रूपवान्, परम तेजस्वी, परम बलवान् और परम नीतिज्ञ हैं।

४ "बिश्वमोहनी तासु कुमारी।' " इति। (क) शीलनिधिकी कन्या 'विश्वमोहनी' हुई, तात्पर्य कि विश्वको मोहित करनेका हेतु शील है। (ख) 'श्री बिमोह ' का भाव कि जिन श्रीजीको देखकर विश्व मोहित हो जाता है वे 'श्रीजी' भी विश्वमोहनीको देखकर मोहित हो जाती हैं। स्त्रीको देखकर स्त्री नहीं मोहित होती, यथा 'मोह न नारि नारिके रूपा।', पर विश्वमोहनीका सौन्दर्य ऐसा है कि उसे देखकर 'श्रीजी' भी मोहित हो जाती हैं तब औरोंकी क्या चली ? नारद क्योंकर न मोहित होंगे। इस कथनसे जनाया कि यह कन्या शोभाकी अवधि है। यहाँ 'सबधातिशयोक्ति अलकार' है।

नोट—२ (शिवपुराणमे कन्याका नाम 'श्रीमती' है। यथा 'अथ राजा स्वतनया नामत श्रीमती वराम्। २।३।११।' नारदजीने भगवान्से कहा है कि शीलनिधिकी कन्या श्रीमती स्वयवरकी इच्छा कर रही है। वह जगत् मोहिनी विख्यात है—'जगन्मोहिन्यभिख्याता। २।३।२६।' इस तरह विश्वमोहिनीका अर्थ विश्वको मोहित करनेवाली भी है। अद्भुतरामायणमे भी एक अवतारका नारदशापसे होना वर्णित है। उसमें भी कन्याका नाम श्रीमती है। कन्याके बापका नाम अबरीष है। (आगे प्रसग आनेपर सक्षिप्त कथा इसकी भी दी जायगी।)

४ मिलानके श्लोक, यथा "नरनारीविहाराढ्य चतुर्वर्णाकुल परम्। ६। तत्र राजा शीलनिधिर्नामैश्वर्यसम न्वित। (रुद्र स० २।३)'। अर्थात् वह नगर स्त्री पुरुषोंके विहार करने योग्य था, जिसमे चारों वर्ण निवास करते थे। सपूर्ण ऐश्वर्यसे युक्त शीलनिधिराजा राज्य करता था।

टिप्पणी—५ ' सोइ हरिमाया " इति। (क) यहाँ बताया कि वह कन्या कौन है। वह हरिमाया ही है। (नगर, राजा, प्रजा इत्यादिकी रचना कर चुकनेपर भी सदेह ही रह गया कि कदाचित् नारदजी इतनेसे भी मोहित न हों, इस विचारसे वह हरिमाया स्वय विश्वमोहिनीरूप धारणकर राजकुमारी बनकर उपस्थित हुई। जगत् भरको मोहित करनेका सामर्थ्य रखती है, एक नारद किस गिनतीमे है)। (ख) 'सब गुनखानी' इति। अर्थात् सब गुणोंकी खानि है, यह आगे स्वय कविने स्पष्ट लिखा है, यथा 'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने। जो एहि बरै अमर सोइ होई।' इत्यादि। अर्थात् जो इसको बरे वह अमर समर विजयी, चराचरसेव्य हो। यह तो माधुर्य्यमे गुणकी खानि कहा और ऐश्वर्य्यमे तो तीनों गुणों (सत्व, रज, तम) की खानि है अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया है। यथा 'एक रचइ जग गुन बस जाके। ३।१५।' (बनमे स्वभाविके गुणोंसे मोहित न हुये थे, अत सब गुणोंकी खानि राजकुमारी बनी)। (ग) "सोभा तासु कि जाइ बखानी।' अर्थात् उसकी शोभा अनिर्वचनीय है, बखानी नहीं जा सकती। यह हरिकी माया है, इसीसे इसका रूप न वर्णन किया। इसकी ओर देखनेसे अनहित होता है, यह समझकर वर्णन न किया। यथा 'होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन तन चितव न अनहित जानी। ७।११८।' [यह तीनों गुणोंको उत्पन्न करनेवाली विद्यामाया है। भगवान् दासोंपर अविद्या मायाको प्रेरित नहीं करते क्योंकि वह तो अहित करनेवाली है। यथा 'हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित तेहि ब्यापहि बिद्या। ७।७९।' एक तो शोभा 'अतुलित' है, यह सौन्दर्यकी खानि ही है, दूसरे यह भगवान्को ही ब्याहेगी, इससे बखानी कैसे जा सके ? (मा० पी० प्र० स०)] (घ) 'सोइ हरिमाया ' कहकर जनाया कि अन्तमे यह हरि ही को बरेगी।

वि० त्रि०—नगर तो अभी बना पर राजाका व्याह हुए बहुत दिन हो गए, व्याहसे बेटी भी थी जो व्याह योग्य हो गई थी, उसके स्वयम्बरका समाचार सुनकर देश देशके राजा कई दिनोंसे आकर ठहरे थे। यह हरिमायाकी कठिन करणी है, किसी भाँति बुद्धि काम नहीं करती। देशकालका कोई नियम ही न रह गया।

करै स्वयबर सो नृपबाला। आए तहँ अगनित महिपाला ॥६॥

मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ । पुर-बासिन्ह सब पूछत भयऊ ॥७॥
सुनि सब चरित भूपगृह आए । करि पूजा नृप मुनि बैठाए ॥८॥
दोहा—आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि ।
कहहु नाथ गुन दोष सब एहि के हृदय बिचारि ॥१३०॥

शब्दार्थ—'*बाला*'=बालिका, कन्या । कौतुकी=कौतुक (कुतूहल) जिनको प्रिय है ।

अर्थ—वही राजकुमारी (अपना) स्वयम्वर कर रही है । (अतएव) अगणित राजा वहाँ आये ॥६॥ कौतुकी मुनि उस (कौतुकी) नगरमें गए और पुरवासियोंसे सब हाल पूछने लगे ॥७॥ सब समाचार सुनकर वे राजमहलमें आए । राजाने मुनिकी पूजा करके उनको बिठाया ॥ ८ ॥ राजाने राजकुमारीको लाकर नारदजीको दिखाया (और बोले कि) हे नाथ ! इसके सम्पूर्ण गुणदोषोंको हृदयमें विचारकर कहिये ॥१३०॥

नोट—१ शिव पु० में मिलते हुए श्लोक ये हैं—'प्रदानसमय प्राप्ता वरमन्वेषती शुभम् । सा स्वयंवर-संप्राप्ता सर्वलक्षणलक्षिता । १४ ।' "चतुर्दिग्भ्य: समायातैस्संयुतं नृपनन्दनैः ।"' ८ । एतादृशं पुरं दृष्ट्वा मोहमाप्तोऽथ नारदः । कौतुकी तन्नृपद्वारं जगाम मदनैधितः । ६ । आगतं मुनिवर्यं तं दृष्ट्वा शीलनिधिर्नृपः । उपवेश्यार्चयांचक्रे रत्नसिंहासने वरे । १० ।' दुहितेयं मम मुने '। १३ । अस्या भाग्यं वद मुने सर्वं जातकमादरात् । कीदृशं तनयेयं मे वरमाप्स्यति तद्वद । १५ "(रुद्र २।३) । अर्थात् इसके विवाहका समय आ गया । श्रेष्ठ वरकी खोजमें यह स्वयंवरमें प्राप्त हुई है । चारों ओरसे राजा लोग बड़े सजधजसे आए हुए थे । ऐसे नगरको देखकर नारद मोहको प्राप्त हुए और कामदेवसे बढ़ेचढ़े हुए कौतुकी नारद राजाके द्वारपर पहुँचे । उनको आया हुआ देखकर राजाने उनको श्रेष्ठ रत्नसिंहासनपर बिठाया और पूजा की । राजाने श्रीमती नामकी अपनी कन्याको लाकर नारदजीके चरणोंपर डाल दिया । (यथा 'अथ रा[illegible] स्वतनयां नामतश्श्रीमतीं वराम् । समानीय नारदस्य पादयोस्समनामयत् । ११ ।') नारदके पूछनेपर कि यह देवतुल्य कन्या कौन है राजाने बताया कि यह मेरी कन्या है । और कहा कि आप इसका भाग्य कहिए, यह कैसा वर पावेगी । —मानसके नारद विशेष वैराग्यवान् हैं । इनको न तो नगर ही मोहित कर सका और न नृपका ऐश्वर्य ।

टिप्पणी—१ (क) 'करै स्वयंबर सो नृपबाला ।६' इति । ☞ क्षीरसागरसे नारद चले, इतनी ही देरमें यह सब तैयारी मायाने कर ली । जयमाल डालने, स्वयंवर करनेके योग्य अवस्था बनाकर स्वयं वहाँ उपस्थित हुई । स्वयंवर करती है अर्थात् अपने आप ही वरको अंगीकार करती है इसीसे अगणित राजा आए हैं । (ख) 'आए तहँ अगनित महिपाला' ।—राजा पुरके बाहर उतरे हैं, यथा 'पुरबाहेर सर सरित समीपा । उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा । १।२१४ ।' (ग) हरिकी माया है, सब गुणोंकी खानि है, और स्वयंवर कर रही है, इससे जनाया कि वह हरि ही को 'वर' करेगी, उन्हींको ब्याहेगी । (घ) ☞ मायाने स्वयंवर रचा जिसमें धर्मसे कन्याकी प्राप्ति समझकर नारद इच्छा करें । अधर्मसे इच्छा और उद्योग न करेंगे जैसे रम्भादिको देखकर इच्छा न की । ('स्वयंवर' धर्मरीतिका विवाह है, अतएव स्वयंवर रचा । यदि किसीके साथ विवाहकी सगाई होगई होती तो नारदको मोहित होना अयोग्य होता, वे उसको देखते ही क्यों ? उसपर उनका वश ही नहीं, यह समझ वे चुप रहजाते । अतएव स्वयंवर किया । अपनी इच्छासे वर करेगी, इसीसे मुनि भगवान्‌से सुन्दर रूप माँगेंगे जिसमें वह इन्हींसे विवाह कर ले) ।

२ 'मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ ।७' इति । (क) कौतुकीका भाव कि कुतूहल देखनेका इनका स्वभाव है, यही इनका दिल बहलाव है, अतः कुतूहल देखने गये । कौतुकी स्वभाव न होता तो नगरके भीतर जानेका कौन प्रयोजन था । नगरमें बड़ा भारी वैभव देख पड़ा, पुर अति सुन्दर बना है, चारों ओर राजा लोग उतरे हुए हैं, इसीसे देखनेकी इच्छा हुई । ☞ यहाँ मुनि कौतुकी हैं और नगर भी 'कौतुकी'

अर्थात् मायाका रचा हुआ कौतुक है। मुनिको कौतुकी जानकर यह कौतुक दिखाया। (ख) 'पुरबासिन्ह सब पूछत भयऊ'। पुरवासियोंसे सब वृत्तान्त पूछा। उन्होंने सब बताया, यह बात आगेके 'मुनि सब चरित' से जानी गई, और यह भी बताया कि आज शीलनिधिराजाकी कन्याका स्वयंवर है, उसके समान सुन्दर कन्या त्रैलोक्यमें नहीं है। ('सब' पूछा अर्थात् पूछा कि यह भीड कैसी है, किसका राज्य है, इत्यादि।)

३ (क) 'मुनि सब चरित भूपगृह आए।०' इति। पुरवासियोंसे 'सब' पूछा, अतः उन्होंने 'सब' बताया, इसीसे कहते हैं कि 'मुनि सब चरित'। 'भूपगृह आए', किस लिए? कन्याके लक्षण देखनेके लिये, (यह इनका स्वभाव है), यथा 'नारद समाचार सब पाए। कौतुक ही गिरिगेह सिधाए। १।६६।' (ख) "करि पूजा नृप मुनि बैठाए" अर्थात् पाद्य अर्घ्य करके आसन दिया, यथा 'सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि बर आसनु दीन्हा॥ नारि सहित मुनिपद सिरु नावा। चरन सलिल सबु भवन सिंचावा' इत्यादि। १।६६।'

४ (क) 'आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि। कहहु नाथ०' इति। ☞ हिमाचलने पार्वतीजीको बुलाकर प्रणाम कराया, पीछे दोषगुण पूछे, यथा 'निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना। सुता बोलि मेली मुनि चरना॥ १।६६।' और यहाँ शीलनिधिने राजकुमारीको लाकर दिखाया पर प्रणाम न कराया। और न स्वयं कन्याने किया, यह कर्त्तव्य साभिप्राय है। इसमें तात्पर्य यह है कि प्रणाम करना भक्ति है, जिसकी भक्ति की जाय, जिसको प्रणाम किया जाय, उससे फिर दुर्दशा करते नहीं बनती, ऐसा करना अयोग्य होगा। (और कन्याके हाथों वा उसके द्वारा मुनिकी दुर्दशा होनी है) इसीसे माया नारदके चरणोंपर नहीं पड़ी। शीलनिधि राजा भी तो मायाका ही बनाया हुआ है, अतः उसने प्रणाम न कराया। (ख) ☞ हिमाचलने प्रथम दोष पूछा तब गुण—'कहहु सुता के दोष गुन मुनिबर हृदय बिचारि। ६६।' और शील निधिने प्रथम गुण पूछे तब दोष,—'कहहु नाथ गुन दोष सब०'। इस भेदका तात्पर्य यह है कि पार्वतीजीके दोष गुण ही हैं (अर्थात् जिनको प्रथम दोष बताया गया था, वे अन्तमें गुण ही सिद्ध हुए), यथा 'दोषौ गुन सम कह सबु कोई। १।६९।' और मायाके गुण सब दोष ही हैं जो नारदके ठगनेके लिए ही धारण किए गए हैं (मायाके गुण अन्तमें दोषरूप ही सिद्ध होते हैं। उनमें सार वस्तु कुछ भी नहीं है। नारदजी जो गुण कन्यामें देखेंगे वे दोष ही हैं) यथा 'सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक। ७।४१।'

प० प० प्र०—शैलराजने 'दोष गुन' पूछे तथापि नारदने पहले गुण ही देखे और पश्चात् 'दुइ चारी' दोष कहन लगे, पर कहे ग्यारह। जितने गुण कहे उतने ही दोष कहे। इससे सिद्ध हुआ कि पार्वतीजी (महेशकी माया) मुनिवरको गुणदोषसाम्यमयी जान पड़ी। पर 'हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस' ऐसी है और वह 'अजा दोषगृभीत गुणा' है, आनन्दादिको ढकनेके लिये उसने गुणोंका स्वाँग लिया है, गुणोंमें दोषोंको छिपाने है। अतः नारदजी दोषोंकी तरफ देखनेमें इस समय असमर्थ हैं, क्योंकि माया मोहित हैं। वेदोंने भी श्रीमद्भागवतमें कहा है 'जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणाम्। भा० १०। ८७। १४।' अर्थात् हे अजित! आपकी जय हो, जय हो। जैसे व्यभिचारिणी दूसरे लोगोंको ठगनेके लिये गुण धारण करती है, वैसे ही आनन्द आदिका आवरण करनेके लिये गुण धारण करनेवाली चराचरकी अविद्याका नाश कीजिए। पार्वतीजीने शिवजीके गुणोंको दोषरूपमें धारण किये थे, इसलिये दोष गुण क्रम वहाँ रक्खा है।

नोट—हिमाचलने 'मुनिवर' सम्बोधन किया और शीलनिधिने 'नाथ' कहकर पूछा। कारण कि नारद राजासे कपट करेंगे, हृदयमें कुछ होगा बाहर मुँहसे कुछ कहेंगे। इससे यहाँ मायाने 'मुनिवर' नहीं कहलाया।

☞ पूर्व मायाने जितना कुछ बनाया है वह सब क्रमसे चरितार्थ किया है।

	चरितार्थ—
बिरचेउ मग महँ नगर तेहि सत जोजन बिस्तार	१ मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ
बसहिं नगर सुंदर नर नारी	२ पुरबासिन्ह सब पूछत भयऊ
तेहि पुर बसइ सीलनिधि राजा	३ सुनि सब चरित भूपगृह आए
बिस्वमोहनी तासु कुमारी	४ आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि
करइ स्वयंबर सो नृपबाला	५ हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला

व्याकरण 'नारदहि = नारदको। कर्म कारकका चिह्न 'को' के बदलेमें 'हि'। यथा रामहि, नृपहि, मुनिहि, रुद्रहि, मोहि, तुम्हहि, हमहि, पतिहि, कालहि इत्यादि।—(श्रीरूपकलाजी)।

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥ १॥
लच्छन तासु बिलोकि भुलानें। हृदय हरष नहिं प्रगट बखानें॥ २॥

शब्दार्थ—बार=देर, समय। भुलाना=भुलावेमें आना, चकरा जाना; धोखा खाना; भ्रममें पड़ना।

अर्थ—रूपको देखकर मुनिने अपना वैराग्य भुला दिया। बड़ी देरतक देखतेही रह गए॥ १॥ उसके लक्षण देखकर चकरा गए, धोखेमें आगए अर्थात् ज्ञान जाता रहा। हृदयमें हर्ष हुआ। (लक्षणोंको) प्रकट न कहा। (मनमें सोचने लगे कि)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी' अर्थात् 'विरति' की इच्छा न रह गई। वैराग्यको भुलाकर बड़ी देरतक देखते रहगए अर्थात् मोहको प्राप्त हो गए। पूर्व कह आए हैं कि 'श्री बिमोह जिसु रूप निहारी', अर्थात् रूप ऐसा है कि जो देखे वही मोहित हो जाय, 'श्रीजी' तक मोहित हो जायँ। तब नारद कैसे न मोहको प्राप्त होते? (ख) नारदजीका वैराग्य देखिये। मायाने सौ योजनका सुन्दर नगर बनाया, वह उनको न मोहित कर सका। रति समान सुन्दर स्त्रियाँ बनाईं, उन्हेंभी देखकर वे न मोहे। सैकड़ों इन्द्रोंके समान वैभव विलास रचा, उसेभी देखकर उनका मन न डिगा।—ऐसा परम वैराग्य था। पर विश्वमोहिनीका सौंदर्य ऐसा था कि वे मुग्ध होगए, वैराग्यकी इच्छा न रह गई, वैराग्य जाता रहा। कभी उन्हें वैराग्य था यह भी स्मरण न रहा।

नोट—१ 'बड़ी बार लगि रहे निहारी' इति। (क) मुनि हाथ पकड़कर लक्षण देखने लगे तो हाथ हाथमें ही रह गया, दृष्टि कन्याके मुखपर ही डट गई। राजा समझे कि मुनि हृदयमें लक्षण विचार रहे हैं पर इनका मन रूपमें आसक्त हो गया है। इसीसे वे कुछका कुछ समझे। (ख) वैजनाथजी लिखते हैं कि "बड़ी देरतक रूप निहारते रह गए, यह थिर सात्विक है। यहाँ नैनवारी रति मुनिमें अनुचित इनि अभाव है जो हास्यरसका अङ्ग है। अतएव यहाँ 'ऊर्जस्व अलंकार' है"। (ग) टकटकी लगाये देखते रहे अर्थात् वैराग्य चलता हुआ। (पं० शुकदेवलाल)।

टिप्पणी—२ "लच्छन तासु बिलोकि भुलानें—" इति। (क) 'भुलाने' अर्थात् ज्ञान जाता रहा। यह भी स्मरण न रहा कि मैं ब्रह्मचर्य्यरत मुनि हूँ। रूप देखकर वैराग्य पहलेही चलता हुआ था। इस तरह ज्ञान और वैराग्य दोनोंही न रह गए, तब मोह हुआ। (ख) यहाँ 'सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाकें॥" भगवान्‌का यह वाक्य जो उन्होंने नारदसे कहा था सिद्ध हुआ। (ग) यहाँ प्रथम वैराग्यका नाश कहकर तब ज्ञानका नाश कहा, कारण कि वैराग्यसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। यथा "जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। २।९३।", "धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ३।१६।", "ज्ञान कि होइ बिराग बिनु। ७।८९।" अतएव पहले कारण गया तब कार्य। कारणही न रह गया तब कार्य कैसे रहे? (घ) 'भुलाना' ज्ञानका नाश होना है। ज्ञान गया,

अत 'हृदय हरष'। हर्ष हुआ कि उपाय करनेसे यह कन्या हमको मिलेगी। [लक्षण देख हृदयमें आनदके मारे विपरीत अर्थ समझ लिया। विपरीत अर्थ समझना यही ज्ञानका जाना है। (पं० शुकदेव लाल)] (ङ) "नहिं प्रगट बखाने" इति। प्रकट न वर्णन करनेमें हृदयका भाव यह था कि लक्षण सुनकर देवता, मनुष्य, राक्षसादि सभी उसे पानेका प्रयत्न करेंगे। और राजा शीलनिधि इन लक्षणोंको जान जायँगे तो वे त्रिदेवमेंसे ही किसीको देंगे। अत गुण प्रकट न किये। नीति है कि जब तक कार्य न हो जाय तब तक वह बात प्रकट न की जाय। यथा "जाग जुगुति तप मत्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिअ दुराऊ।१।१६८।", "जिमि मन माँह मनोरथ गोई। २।३१६।" (च) इसी चौपाईका आगे विस्तार करते है। लक्षण देखकर भुला गए है। वे लक्षण कौन हैं यह आगे कहते हैं।

वैजनाथजी—'भुलानें।' अर्थात् कार्यमायाने आत्मदृष्टि खींच मुनिको प्राकृत जीवोंकी तरह इन्द्रियविषयमें आसक्त कर दिया। रूप-विषय पा नेत्रद्वारा हर्ष हृदयमें भर गया, उसकी प्राप्तिके लिए वे सकाम हुए जिससे सत्यका नाश हुआ। इसीसे लक्षण प्रगट न किये, झूठ बोले।

नोट—२ श्रीलमगोडाजी इस प्रसगकी आलोचना करते हुए लिखते हैं कि कन्याको देखतेही मायाने ऐसा घेरा कि वे कामवश हो लडकीके सौंदर्यपर आसक्त हो गए। पतनका यह हाल हुआ कि कामके विजय वाले मार्केको भूल गए, आगपर रक्खे हुए बालकी तरह नैतिक महत्ताकी कड़ियाँ खटाखट टूट गई और एक दोषके बाद दूसरा दोष पैदा हो चला। जब हाथ दिखाया गया तब मन गढन्त गुण दोष बता गए पर दिलमें यही सोचते रहे कि इसे किस प्रकार प्राप्त किया जाय। कामके साथ कपट और मिथ्यावादवाले दोष आ धमके। आह! नारद यह समझ न सके कि यह मायारूपिणी बाला है, इसको 'अमर और चराचर-सेव्य' भगवान् ही बर सकेंगे।

३—शिव पु० में कहा है कि राजाके पूछनेपर नारदजी कामसे विह्वल होकर उसको पानेकी इच्छा करके बोले। "तामिच्छु कामविह्वल।"

जो एहि बरै अमर सोइ होई। समर-भूमि तेहि जीत न कोई॥ ३॥
सेवहिं सकल चराचर ताही। बरै सीलनिधि कन्या जाही॥ ४॥
लच्छन† सब बिचारि उर राखे। कछुक बनाइ भूप सन भाखे॥ ५॥

अर्थ—जो इसे व्याहेगा वह अमर हो जायगा, उसे रणभूमिमें कोई न जीत सकेगा॥ ३॥ सब चर और अचर जीव उसकी सेवा करेंगे जिसे शीलनिधिकी कन्या व्याहेगी॥ ४॥ उन्होंने सब लक्षण विचारकर हृदयमें रख लिये और कुछ औरके औरही बनाकर राजासे कहे॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'जो एहि बरै अमर सोइ होई।०' अर्थात् वह मृत्युको जीत लेगा। (ख) 'समर-भूमि तेहि जीत न कोई' अर्थात् वह त्रैलोक्यविजयी होगा, तीनों लोकोंमें उसको कोई न जीत सकेगा, वह सबको जीत लेगा। (ग) 'सेवहिं सकल चराचर ताही' अर्थात् वह समस्त ब्रह्माण्डका राजा होगा और 'अमर' है ही अतएव यह सिद्ध हुआ कि वह अनन्त कल्पों तक राज्य करेगा, यथा "जरा मरन दुखरहित तनु समर जिते नहिं कोउ। एक छत्र रिपुहीन महि राज कलपसत होउ॥ १।१६४।" (घ) यहाँ दो बातें कहीं, एक तो यह कि 'जो एहि बरै', दूसरी 'बरै सीलनिधि कन्या जाही।' भाव कि इन्हीं दोमेंसे एकके साथ विवाह होगा, जो या तो परम बलवान हो या परम सुन्दर हो। परम बली होगा तो सबको जीतकर इसे व्याह लेगा और परम सुन्दर होगा तो कन्या उसपर रीझकर जयमाल डालकर उसे स्वय वरण करेगी। (ङ) प्रथम ही कह आये कि 'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने', 'भुलाने' का लक्षण यही है कि उलटी

† १६६१ में 'लछन' है। प्राय 'च्छ' की जगह सर्वत्र 'छ' रहता है।

समझ हो गई। समझे कि जो इसको व्याहेगा वह मृत्यु और शत्रुको जीतकर ब्रह्मांडका राजा होजायगा; यह न जाना कि जो कोई अमर, ब्रह्मांडोंका पति, इत्यादि लक्षणसंपन्न होगा वही कन्याको व्याहेगा, उसीको कन्या वरण करेगी। ☞ 'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने' उपक्रम है और 'लच्छन सब बिचारि उर राखे०' उपसंहार है।

२ (क) 'लच्छन सब बिचारि उर राखे।'। इति राजाकी प्रार्थना है कि 'कहहु नाथ गुन दोष सब यहिके हृदय बिचारि', सो हृदयमें विचारना यहाँ तक कहा। हृदयमें विचारकर हृदयमें ही रख लिए, राजासे न कहे। (यहाँ मुख्य तीन लक्षण इन्होंने विचारे—अमरत्व, अजित्व और ब्रह्मांडका आधिपत्य। इन तीनोंको छिपा रक्खे। (ख) 'कछुक बनाइ भूप सन भाखे' का भाव कि विशेषगुण हृदयमें रक्खे, सामान्य गुण प्रकट किये। सब उर राखे' और यहा 'कछुक भाषे' कहकर जनाया कि उत्तम गुण सब हृदयमें गुप्त कर रक्खे, 'उनमेंसे एक भी न प्रकट किया और जो कहे वह एक तो बहुत थोड़े कहे और वह भी गढ़े हुए, जिसमें कन्याका माहात्म्य (महत्त्व) न सुनें। यह मायाविवशता दिखाई कि मुनि होकर कपट किया, पेटमें कुछ, मुँहमें कुछ। स्त्रीसमहका इच्छा होते ही प्रपंचमें फँसे।

व्याकरण बनाइ=बनाकर। पूर्वकालिक क्रिया। यथा—सुनाइ=सुनाकर, देखाइ=दिखाकर। लेइ, देइ, मुसुकाइ, जाइ, आइ, खाइ, रिसाइ इत्यादि। [श्री रूपकलाजी]।

नाट—शिव पु० मे नारदने राजासे ये लक्षण भी कहे हैं। यथा "सर्वेश्वरोऽजितो वीरो गिरीशसदृशो विभु। अस्या पतिर्ध्रुवं भावी कामजित्सुरसत्तम। १८।" अर्थात् इसका पति सर्वेश्वर, अजित, शिवसमान विभु, कामजित् और देवताओंमें श्रेष्ठ होगा।

सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं। नारद चले सोच मन माहीं ॥६॥
करौं जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी ॥७॥
जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे‡ बिधि मिलै कवन बिधि बाला ॥८॥
दोहा—एहि† अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल।
जो बिलोकि रीझै कुअरि तब†† मेलइ जयमाल ॥१३१॥

शब्दार्थ—सुलच्छन=सुलक्षणा, सुन्दर उत्तम लक्षणोंसे युक्त। पाहीं=से। हे=हे। यह कानपुर आदिमें अब भी घरोंमें बोला जाता है। प्रायः आश्चर्य और दुःखयुक्त हृदयसे यह शब्द 'हे' संबोधनकी जगह प्रयुक्त होता है। विनयपत्रिकाकी प्राचीनतम (सं० १६६६ की) पोथीमें तो अनेक पदोंमें इसका प्रयोग हुआ है और अरण्यकाण्डमें श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसंगमें भी यह आया है। यथा "हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया। ३।१०।" रीझना=मोहित होना, लट्टू हो जाना।

अर्थ—राजासे कहकर कि तुम्हारी कन्या सुलक्षणा है, नारदजी चल दिये। उनके मनमें (कन्याकी प्राप्तिकी) चिन्ता है ॥ ६ ॥ जिस प्रकार वह कन्या मुझे व्याहे मैं जाकर वही यत्न विचारकर करूँ ॥७॥ उस समय जप तप कुछ भी न हो सकता था*। (वे मनमें कह रहे हैं) हे विधाता! किस प्रकार कन्या

† एहि—छ०। इहि—रा० प०। तेहि—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, को० रा०।

‡ हे—छ०, को० रा०, रा० प्र०। हे—१६६१। हैं—१७२१, १७६२, १७०४। 'हे' पाठ विनय और मानसमें कई जगह 'हे' के अर्थमें आया है। संभवतः, यह बोली रही हो। †† अरु-बंदनपाठकजी।

* अर्थान्तर—१ जप तपसे इस समय कुछ नहीं हो सकता। २—उस समयतक जप तप कुछ हो नहीं सकता।—(इसके आगे पाद-टिप्पणी पृष्ठ ६८० मे पढ़ लीजिये)।

मिले ? ॥ ८ ॥ इस समय (तो) परम शोभा और विशाल रूप चाहिये जिसे देखकर राजकुमारी लट्टू हो जाय, तभी वह जयमाल डालेगी ॥ १३१ ॥

टिप्पणी—१ 'सुता सुलच्छन ' इति । (क) राजाने गुण और दोष दोनों पूछे, पर नारदजीने सुताके 'सुलच्छन' कहे । इसमें भाव यह है कि नारदजी इस समय मायाके वश होगए हैं, इसीसे उन्हें माया (विश्वमोहिनी) में दोष दिखाई ही नहीं पडते, गुण ही गुण दीखते हैं, इसीसे उन्होंने गुण ही कहे । यदि दोष देख पडते तो फिर प्राप्तिकी इच्छा ही क्यों करते ? पुनः, 'सुता सुलच्छन' का भाव कि इसमें गुण हैं, दोष नहीं है, यथा 'सोइ हरि माया सब गुन खानी । १।१३०।५ ।" इस से दोष नहीं कहे । (ख) पूर्व कहा है कि, 'लच्छन सब विचारि उर राखे' अर्थात् हृदयमें रखनेमें तो 'लच्छन' का रखना कहा और राजासे कहनेमें 'सुलच्छन' शब्द दिया । लक्षण हृदयमें रक्खे और सुलक्षण कहे, यह कैसा ? इस शंकाका समाधान वक्ताने पहले ही 'कछुक बनाइ भूप सन भाषे' में 'बनाइ' शब्द देकर कर दिया है । अर्थात् जो सुलक्षण कहे वे बनाये हुए हैं । जो बात असलको छिपानेके लिए बनाई जाती है, वह असलसे अधिक सुन्दर देखने-सुननेमें होती है, यही दिखानेके अभिप्रायसे यहाँ बनावटमें 'सुलच्छन' शब्द दिया । (सुलक्षण कहे अर्थात् कहा कि यह बड़ी भाग्यवान् है, परम सती और सौभाग्यवती होगी, पति बड़ा भारी यशस्वी पराक्रमी होगा, इसका सुहाग अचल रहेगा । इत्यादि) । (ग) 'सोच मन माहीं' का भाव कि कोई उपाय मनमें नहीं सूझ पड़ता । (क्या यत्न करें जिससे वह हमें व्याहे, यह निश्चित नहीं कर पाते, अतः सोच है, यथा "एकउ जुगुति न मन ठहरानी । सोचत भरतहि रैनि बिहानी । २।२५३ ।") । (घ) 'चले' का भाव कि यत्न करनेके लिए चले, सोचे कि यहाँ बैठे रहनेसे काम नहीं चलेगा, यह आगे स्पष्ट है ।

२ "करौं जाइ सोइ जतन बिचारी । " इति । प्रथम दो बातोंका विचार करना कह आए । एक 'जो एहि बरै' (अर्थात् जो महाबलवान् हो कि सब राजाओंको जीतकर इसे व्याह ले जाय) । दूसरा 'बरै सील-निधि कन्या जाही' (अर्थात् जो परम रूपवान् हो जिसमें कन्या स्वयं रीझकर जयमाल पहना दे)। अब सोचते हैं कि हम अपने पुरुषार्थसे तो कन्याको वर नहीं सकते, इससे उपाय वह करना चाहिये जिससे कन्या स्वयं हमपर रीझकर हमें व्याह ले । (दो बातोंमेंसे अपनेमें एक भी नहीं पाते, न तो बल और न परम सौंदर्य । इसीसे यत्नका विचार किया । स्वयंवर है, इसमें बलका प्रयत्न करके हर ले जाना अयोग्य है, इससे दूसरी बातके लिए प्रयत्न करना उचित समझा) । यत्नका विचार आगे लिखते हैं ।

३ "जप तप कछु न होइ तेहि काला । " इति । नारदजी विचारते हैं कि कुछ जप तप करें । (अर्थात् जप तपसे कार्य सिद्ध हो सकता है, परम सौन्दर्य मिल सकता है) पर उस कालमें जप-तप कुछ हो नहीं सकता । अर्थात् उसके लिये समय चाहिये और यहाँ अवकाश है नहीं, स्वयंवर होने जा रहा है, थोडा ही समय रह गया है (दूसरे जप-तपमें मनकी आवश्यकता है और मन इस समय पराये हाथमें है) अतएव विधिसे प्रार्थना करते हैं । 'विधि' से प्रार्थना करनेका भाव कि आप कर्मका फल देनेवाले हैं और मुझसे जपतपादि कोई भी कर्म हो नहीं सकते, तब किस तरह 'बाला' मिले । अर्थात् बालाके मिलनेकी कुछ 'विधि' नहीं है, आप कोई 'विधि' सुझावें, क्योंकि आप 'विधि' हैं आप अपना नाम सत्य कीजिए । (जैसे श्रीसीताजीने अशोकसे कहा था-'सुनहि बिनय मम बिटप असोका । सत्य नाम करु हरु मम सोका । ५।१२ ।') । ब्रह्माकी प्रार्थनासे विधि सूझी जो आगे कहते हैं ।

'एहि' पाठसे अर्थ बहुत सरल हो जाता है । इससे ये वचन नारदके ही विचार सिद्ध होते है । 'तेहि' का अर्थ 'उस' होता है और इसी अर्थमें प्रायः इसका प्रयोग सर्वत्र हुआ है । इससे अर्थमें कठिनता हो रही है । इससे यह वचन वक्ताके ले सकते हैं और उसके आगेसे श्रीनारदजीके विचार समझ लें ।

नोट—१ कुछ लोग यह शका करते हैं कि "पूर्व किए हुए जप तपादिके बलसे क्यों न व्याह कर लिया ?" इसका समाधान यों किया जाता है कि-(१) भक्तोंका जप-तप निष्काम होता है। जो इन्होंने पहले किया था वह तो भगवदर्पण हो चुका, वह लौट नहीं सकता। पुन, (२) भ्रममें ज्ञान वैराग्यके साथ ही पूर्वकृत जप-तपका स्मरण भी न रहा। भक्तिके प्रभावसे इतना तो अवश्य सूझा कि हरि ही हमारे हितू हैं, उन्हींसे रूप माँगू।

टिप्पणी ४—"एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल। " इति। (क) यहाँ परम शोभा और विशाल रूप दो बातें चाहते हैं। अगकी सुन्दरता 'शोभा' है और अगकी रचना 'रूप' है। (शरीरका चढाव-उतार, सब अग यथायोग्य जहाँ जैसा चाहिये वहाँ वैसा ही होना 'रूप' कहलाता है। शोभा-सौंदर्य, सुदरता)। इस अवसरमें जप-तप नहीं हो सकता, रूप हो सकता है (यह 'विधि' ने सुझाया), इसीसे रूपकी प्राप्तिका विचार करते हैं। (परम शोभा और विशाल रूपका भाव यह भी है कि स्वयवरमें अनेक राजा आए हैं जो शोभा सौंदर्य और रूपसे युक्त हैं, जब उन सबोंसे बढकर रूप और सौंदर्य होगा तभी कन्या उन सबोंको छोडकर इन्हींको व्याहेगी, अन्यथा नहीं। 'कन्या वरयते रूपम्' प्रसिद्ध ही है। अत 'परम' शोभा और 'विशाल' रूप चाहते हैं)। पूर्व कह आए कि बल हो अथवा सौंदर्य। सत किसीसे वैर नहीं करते, इसीसे इन्होंने बलकी चाह न की किंतु शोभाकी चाह की। (ख) 'मेलइ जयमाल'—इन शब्दोंसे 'करै स्वयबर सो नृपबाला' के 'स्वयबर' शब्दका अर्थ खोला कि 'जयमाल गलेमें डालना' स्वयवर है। (वा, यह जयमाल स्वयबर है यह जनाया)। यहाँ 'सभावना अलकार' है। (ग) यहाँसे इनके हृदयकी आतुरता देखते चलिये। विशेष आगे लिखा जायगा।

नोट—२ समानार्थी श्लोक, यथा—"सुतेय तव भूपाल सर्वलक्षणलक्षिता। महाभाग्यवती धन्या लक्ष्मीरिव गुणालया ॥ १७ ॥ "इत्युक्त्वा नृपमामन्त्र्य ययौ याद्रच्छिको मुनि ॥ १९ ॥ चित्ते विचिन्त्य स मुनिराप्नुयां कथमेनकाम्। स्वयवरे नृपालानामेकं मां वृणुयात्कथम् ॥ २० । सौन्दर्यं सर्वनारीणां प्रियं भवति सर्वथा। तद्दृष्ट्वैव प्रसन्ना सा स्ववशा नात्र सशय । २१ ॥ (रुद्र स० २।३)।" अर्थात् राजन्! सर्वलक्षणसपन्ना बडे भाग्यवाली आपकी यह कन्या धन्य है। यह लक्ष्मीके समान गुणोंकी धाम है। ऐसा कहकर मुनि चले गए। अब नारदजी मनमें विचार करने लगे कि इसको किस तरह प्राप्त करूँ। स्वयवरमें आए हुए राजाओंमें मेरा ही वरण कैसे करे ? स्त्रियोंको सौन्दर्य अत्यत प्रिय होता है, उसे देखकर स्त्रियाँ प्रसन्न हो अपने वश हो जाती हैं।—(ये सब भाव मानसकी इन चौपाइयों और दोहेमें हैं)।

हरि सन मागौं सुंदरताई। होइहि जात गहरु अति† भाई ॥१॥
मोरें हित हरि सम नहि कोऊ। एहि औसर सहाय सोइ होऊ ॥२॥
बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला। प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला ॥३॥
प्रभु बिलोकि मुनि नयन जुड़ाने। होइहि काजु हिएं‡ हरषाने ॥४॥

शब्दार्थ - गहरु-देर। औसर (अवसर)—समय, मौका।

अर्थ - (एक काम करूँ-) भगवान् हरिसे सुदरता माँगूँ (परंतु) भाई रे भाई! वहा जानेमें तो बहुत देर हो जायगी ॥ १ ॥ हरिसरीखा मेरा कोई भी हितू नहीं है, वे ही इस समय सहाय हों ॥ २ ॥ उस समय नारदने बहुत भाँतिसे विनती की तब कौतुकी कृपाल प्रभु प्रगट हो गए ॥ ३ ॥ प्रभुको देखकर मुनिके नेत्र ठडे हुए। वे हृदयमें हर्षित हुए कि काम अवश्य होगा ॥ ४ ॥

प० राजबहादुर लमगोडा—सच है, 'जादू वह जो सिर पे चढके बोले'। ये देवर्षि नारद हैं या

† मोहि—भा० दा०। ‡ १६६१ मे 'हिंएह' है।

कामपीडित मजनूँ जो अपने खयाली पुलावमें मग्न है। जिन विष्णुभगवान्‌से अपने कामविजयकी बडी डींग मारी थी उन्हींसे अपने कामवासनाकी पूर्त्तिके निमित्त आज अपने लिये सौंदर्य माँगने जा रहे हैं। फिर व्याकुलता और उतावलीका यह हाल है कि सोच रहे हैं कि यदि क्षीरसागर या वैकुंठतक जाना पडा तो 'होइहि जात गहरु अति भाई'। 'भाई' शब्द बडा मार्मिक है। वह हमारी सहानुभूतिको उत्तेजित करना चाहते हैं परन्तु हमें हँसी आ जाती है क्योंकि व्याकुलता और उतावलीपन प्रगट हो जाता है।

टिप्पणी—१ (क) 'हरि सन मागौं सुंदरताई' इति। 'एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल' इस विचारके साथ यह भी विचार मनमें आया कि हरिमें परमा शोभा और विशाल रूप दोनों हैं। और उन्हें रूप देनेका सामर्थ्य भी है अतः उन्हींसे क्यों न सुन्दरता माँग लूँ यह विचार आया, इसीको निश्चय किया, पर वे क्षीरसागरमें रहते हैं, वहाँतक जानेमें विलंब होगा,—'होइहि जात गहरु अति भाई', तबतक सब काम ही बिगड जायगा। (ख) ☞ देखिए माया नारदको ठगने आई है और नारद मायाको ठगना चाहते हैं, दूसरेका रूप माँगकर मायाको अपनी पत्नी बनाना चाहते हैं। मायाने अपना रूप दिखाकर नारदको मोहा और नारद मँगनीका रूप दिखाकर मायाको मोहना चाहते हैं। (ग) 'होइहि जात गहरु अति' । भाव कि हमें क्षीरसिंधुतक जानेमें देर होगी, हरिको यहाँ आनेमें देर न लगेगी इससे सोचते हैं कि वेही आकर सहाय हों। 'गहरु अति' से जनाया कि क्षीरसिंधु यहाँसे बहुत दूर है। भगवान्‌के स्थानसे बहुत दूर तक माया का गम्य नहीं है। (भुशुण्डीजीके आश्रमसे चार चार कोशतक चारों ओर अविद्या न व्यापती थी,—'व्यापिहि तहँ न अविद्या जोजन एक प्रजंत'। तब जहाँ भगवान् स्वयं हैं वहाँ से न जाने कहाँतक मायाका गुजर न होगा। यह नगर बहुत दूरीपर रचा गया होगा। ☞ (घ) यहाँ शंका होती है कि 'ये योगिराज हैं, योगबलसे आँख बंद करके क्यों नहीं जाते? [जैसे स्वयंप्रभाने योगबलसे वानरोंको समुद्रतटपर पहुँचा दिया और स्वयं उसी तरह रामचन्द्रजीके समीप पहुँची और फिर वहाँसे बदरीवनको चली गई। (कि० दोहा २५)। और नारदजी अव्याहतगति हैं, यथा ' गति सर्बत्र तुम्हारि।१।६६'] इसका समाधान यह है कि मुनि इस समय मायाके वशमें होनेसे योगकी सुध (अपना मनोवेग एवं अपना कर्त्तव्य) भूलगए हैं, यथा 'माया बिबस भए मुनि मूढा।१३३।१।' (और योगसे भी पहुँचनेमें कुछ विलंब ही होगा)। (ङ) 'भाई' शब्द यहाँ मनसे सम्बोधन है। ऐसा प्रायः बोलनेकी रीति है, यथा 'जग बहु नर सर सरि सम भाई', 'करहु बिचार करउँ का भाई' इत्यादि। विशेष १।८।१३ 'जग बहु नर•••' में देखिए।

२ (क) 'मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ' इति। जो अपना हितैषी होता है उसीसे वस्तु माँगे मिलती है, सहायता ली जाती है, वही अवसर पडनेपर सहाय होता है। यथा 'ताहि मम हित न मोर संसारा। बहे जात कै भइसि अधारा। २।८३।२।' 'हरि' का भाव कि 'क्लेशं हरतीति हरिः' आप क्लेशके हरनेवाले हैं, आप हमारे शोचको दूर करें। इसीसे 'हरि' शब्द दिया। (ख) 'एहि अवसर सहाय सोइ होऊ'।—सहाय हो अर्थात् हमारा उपकार करो हमारा क्लेश हरो। 'एहि अवसर'—अवसर निकल जानेपर कार्य्यकी हानि है इसीसे नारदजी बारबार अवसरका विचार कर रहे हैं, यथा 'जपतप कछु न होइ तेहि काला', 'एहि अवसर चाहिअ परम सोभा०', तथा यहाँ 'एहि अवसर सहाय सोइ होऊ'। [☞ यहाँ यह दिखाते हैं कि भगवद्भक्तको यदि कोई कामना होती है तो वह उसे अपने ही प्रभुसे माँगता है, दूसरेसे कदापि नहीं। कष्ट पडनेपर उन्हींको पुकारता है। धन्य हैं कृपालु भगवान्‌भी कि मोहमें लिप्त होनेपरभी वह शरणमें आए हुएके ऊपर अपना हाथ रखेही रहते हैं। वे ही सच्चे हितैषी हैं—'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु' (वि० १९१), 'तुलसी प्रभु साँचो हितू ' (त्रि० १६०)]।

प० प० प्र०—इतने विषयलोलुप, कामी, मायाविमूढ हो गए हैं, फिर भी किसी अन्यका भरोसा नहीं है। यह विशेषता भक्तिका प्रभाव है। इस अनन्यगतिकताने ही मुनिको आखिर बचाया है। माया

निर्मित नगरीके राजकुमारीपर मुनिवर मोहित हुए, इससे हम लोग उनपर हँसते हैं। पर हम रात-दिन कल्पों-कल्पोंतक क्या करते हैं! यह जग मायानिर्मित मायामय, असत्य, मिथ्या ही तो है और हम बड़े-बड़े पंडित शूरवीरादि भी मायाजनित अगणित विषयोंसे ही तो सुख चाहते हैं। हम तो मायाजनित अनित्य नश्वर प्राणी मनुष्यादिका ही भरोसा रखते हैं, अपनी निज करणीके भरोसेपर ही चलते हैं। 'मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ' यह तो स्वप्नमें भी कभी हमारे चित्तमें नहीं आता। तब तो हम ही अधिक विमूढ़ और उपहासास्पद हैं। ऐसे विमूढ़ होते हुए भी हम लोग विद्यामायाविमूढ़ देवर्षिका मोह देखकर उनकी हँसी उड़ाते हैं पर हम यह नहीं सोचते कि स्वयं क्या करते आए हैं। मानस, भागवत, वेदान्त शास्त्रादि मुखसे गाते कहते हुए भी हम तो अविद्या मोहमें ही आनन्द मान रहे हैं, इसकी हम लोगोंको लज्जा नहीं।

टिप्पणी—३ (क) 'बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला' जैसे कि, आपने अमुक अमुक भक्तोंकी सहायता की, आप कृपालु हैं, सन्तके हितैषी हैं, हमारे ऊपर कृपा करके प्रकट होकर सहायता कीजिये। (ख) 'तेहि काला' देहलीदीपक है अर्थात् जिस समय विनय की उसी समय भगवान् भी प्रकट होगए। नारदजीने प्रार्थना की कि 'एहि अवसर' सहाय हूजिये, अत भगवान् उसी 'काल' प्रकट होगए।—(बिना यत्नके चितचाही बात होनेसे 'प्रथम प्रहर्षण अलंकार' हुआ)। (ग) 'प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला'।—('प्रगटेउ' के सम्बधसे 'प्रभु' शब्द दिया। इन दोनों शब्दोंसे जनाया कि वे तो सर्वत्र हैं, उनका कहीं आना जाना थोड़ेही है, प्रेमसे तुरत जहाँ भक्त चाहे कृपा करके प्रकट हो जाते हैं, यथा 'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना। प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी'। समर्थ हैं जहाँ जब चाहें प्रत्यक्ष हो जायँ। प्रगट होनेके सम्बधसे कृपाल भी कहा)। 'कौतुकी' का भाव कि भगवान् कौतुक करना चाहते हैं, यथा 'मुनि कर हित मम कौतुक होई'। कृपालका भाव कि मुनिपर कृपा करके हित करनेके लिए प्रगट हुए। [☞स्मरण रहे कि मोह प्रसंगका प्रारंभ ही 'कौतुक' बीजसे हुआ है। 'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान। १२७।' अतएव प्रसंगके अन्त तक कौतुकका प्रसंग चला जा रहा है। मुनि कौतुकी, नगर कौतुकी, भगवान्‌भी कौतुकी, सारा खेल मायाका कौतुक, रुद्रगण कौतुकी, इत्यादि।]

४ (क) 'प्रभु बिलोकि मुनि नयन जुड़ाने'।—अत्यन्त सुन्दर स्वरूप देखकर नेत्र शीतल हुए कि ऐसा स्वरूप मिलनेसे कार्य्य अवश्य सिद्ध होगा क्योंकि कार्य्य रूपहीके अधीन है। (ख) 'होइहि काजु हृदय हरषान।' हर्ष होनेके कई कारण हैं, एक तो यही कि कार्य्य सिद्ध होनेकी प्रतीति हुई—'होइहि काज।' दूसरे यह सोचकर कि जब यह रूप देखकर हमारे नेत्र शीतल हुए हैं तब उसके नेत्र क्यों न शीतल होंगे। तीसरे कि यदि सुन्दर रूप न देना होता तो प्रकट न होते, भगवान् भक्तको 'नहीं' नहीं करते, (यथा 'मोरे कछु अदेय नहिं तोरें', 'कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह मागी। ३।४२।') 'होइहि' अर्थात् अवश्य होगा, इसमें संदेह नहीं। विश्वास इससे है कि कार्य्य न करना होता तो प्रकट न होते।—[व्याकरण—होइहि-होगा। भविष्य क्रिया अन्य पुरुष। यथा 'मिटिहि, मिलिहि, जाइहि, रीझिहि, बरिहि, दुरिहि चलिहि।' (श्रीरूपकलाजी)]

नोट—शिवपु० के नारद विष्णुके लोकहीको चले गए और एकान्तमें उनसे सब वृत्तांत कहा है। मानसके नारदको यह ज्ञान है कि विष्णु सर्वत्र प्रकट हो सकते हैं इससे मार्गमेंही प्रार्थना करते हैं, इनको बहुत उतावली है।

अति आरति कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि[1] होहु सहाई॥ ५॥

---

१ हरि—प० रा० व० श०, वै०, रा० प्र०। प्रभु—शुकदेवलाल। करि—१६६१, रा० बा० दा०, को० रा०, श्रीनंगे परमहंसजी। 'करि' पाठ लेनेसे इस चरणकी वाक्यरचना अवश्य शिथिल होजाती है,

आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहि पावौं ओही॥ ६॥
जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥ ७॥
निज माया-बल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला॥ ८॥
दोहा—जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥ १३२॥

अर्थ—बहुत आर्त्त (दीन) होकर एवं बहुत आतुरतासे उन्होंने (सब) कथा कह सुनाई (और प्रार्थना की कि) कृपा कीजिए, कृपा करके सहाय हूजिये॥ ५॥ हे प्रभो! मुझे अपना रूप दीजिए, (क्योंकि) और किसी तरह मैं उसे नहीं पा सकता॥ ६॥ हे नाथ! जिस तरह मेरा हित हो वह (उपाय) शीघ्र कीजिए, मैं आपका दास हूँ॥ ७॥ अपनी मायाका विशाल बल देख मनही मन हँसकर दीनदयाल भगवान् बोले॥ ८॥ 'हे नारद ! सुनो, जिस प्रकार तुम्हारा परम हित होगा हम वही करेंगे और कुछ नहीं, हमारा वचन असत्य नहीं॥ १३२॥

पं० रामबहादुर लमगोड़ा—१ कौतुक कितना सुन्दर है, इसका पता तो अभी लग जायगा पर कृपाके स्पष्टीकरण तक तनिक रहना पड़गा यद्यपि उसका आरंभ भी यहींसे है। मुनिकी व्याकुलता और देर होनेका खटका इसी कृपालुतासे तो दूर करके शीघ्र ही भगवान् प्रकट हो गये। 'नयन जुड़ाने' 'हिय हरषाने' से यह बात साफ हो जाती है।

२ प्रार्थनाका अंतिम अंश बड़ा मजेदार है और ऐसे रूपमें रक्खा गया है कि श्लेष पैदा हो जाय। बस लीलामय भगवान्‌को कौतुक एवं परम हित दोनोंके दिखानेका मौका मिल गया।

३—'हिय हँसि' से भगवान्‌की उदारता तथा उपहास दोनों भाव प्रकट होते हैं। हँसी प्रकट न हो इसका कारण यह भी है कि मजाकका पता नारदको न लगे।

४—भगवान्‌का उत्तर स्पष्ट है परन्तु कामपीडित मोहांध नारदको आज कुछ समझमें नहीं आता—पतन यहाँतक पहुँच गया। ये वही नारद मुनि हैं जिनके लिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि देवर्षियोंमें नारद मैं हूँ।

टिप्पणी—१ (क) 'अति आरति कहि कथा सुनाई' इति। भगवान् आर्तहरण हैं, अतः 'अति आर्त्त' होकर कहा। 'अति आरति०' अर्थात् कहा कि हमने आपको बड़े दुःखमें बुलाया है, हमको बड़ा संकट है, उसीकी कथा फिर कही। 'कथा सुनाई' अर्थात् बताया कि 'आपके यहाँसे चलनेपर बीचमें एक सुन्दर नगर मिला। वहाँके राजा प्रजा सब बड़े सुन्दर हैं। राजाके वैभवविलासके आगे सैकड़ों इन्द्रोंका वैभव कुछ नहीं है। उसकी परम सुन्दरी एक कन्या विश्वमोहिनी है जो अद्भुत रूप-लक्षणयुक्त है। वह इस समय अपना स्वयंवर कर रही है। उसीकी प्राप्तिमें कृपा करके सहाय हूजिए। उसके पानेके लिए हम आतुर हो रहे हैं, हमारी यह आर्ति हरण कीजिए।' क्या सहायता करें सो आगे कहते हैं कि 'आपन रूप देहु प्रभु मोही'। ☞ जिनसे प्रथम कहा था कि हमने काम-क्रोधको जीत लिया उन्हींसे अब कामी होकर स्त्रीप्राप्तिके लिए दीनतापूर्वक प्रार्थना करते हैं, यह कैसी लज्जाकी बात है? उनसे किस मुखसे कहा गया? उन्हें लज्जा न लगी? इस संभावित शंकाकी निवृत्तिके लिये 'अति आरति'—पद प्रथम ही दिया गया है। अति आर्त्त हैं, इसीसे होशहवास ठिकाने

परन्तु कविने मुनिकी अधीरताको द्योतित करनेके लिये जान बूझकर उनसे ऐसी भाषाका प्रयोग कराया है।" (गीताप्रेस संस्करण)। नोट—पृष्ठ ६८३ की पाद टिप्पणीके आगे सिलसिलेमें इसे पढ़िये)।

नहीं, चेत नहीं है। आर्त्तके चेत एवं विचार नहीं रह जाता, यथा 'कहउँ वचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरतके चित चेतू।२।२६६।४।' और नारद तो 'अति आर्त्त' हैं, 'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इन्द्र को बिलग न मानिये वालहिं न बिचारी' (विनय ३४)।

२ (क) आपन रूप देहु प्रभु माही इति। प्रथम विचारमें कह आए कि इस अवसर परम शोभा और विशाल रूप चाहिए (दो० १३१)। फिर विचार कि 'हरि सन मागौं सुंदरताई' (इस चरणमें केवल सुन्दरता मागनेका विचार लिखा गया) और यहाँ मागते हैं 'रूप'—'आपन रूप देहु'। इससे जनाया कि 'हरि सन०' में रूपका अध्याहार और यहाँ 'परम सोभा' का अध्याहार है, दोनों जगह एक एक लिखकर दोनोंमें दोनोंका होना दोहेके अनुसार जनाया। (ख) "आन भाँति नहि पावौं" इति। भाव यह कि इसीसे मैं आपका रूप माँगता हूँ, नहीं तो न माँगता। 'आन भाँति' कथनमें भाव यह है कि अन्य सब उपायोंको मैं पूर्व ही विचार चुका हूँ। (वे विचार पूर्व कह आए हैं यथा 'जप तप कछु न होइ तेहि काला')। (ग) 'ओही' इति। इसका सामान्य भाव तो हो ही चुका कि 'उसको' नहीं पा सकता। दूसरा भाव यह ध्वनित हो रहा है कि वनमें कार्य सिद्धिका निश्चय हुआ, यथा 'होइहि काजु हिएँ हरषाने', तबसे उन्होंने विश्व-मोहिनीमें स्त्रीभाव मान लिया है, इसीसे उसका नाम नहीं लेते, 'ओही' कहते हैं।—[जबतक भगवान् प्रकट न हुए थे, तबतक नारदजी विश्वमोहिनीके लिये 'कन्या', 'कुमारी', 'बाला' और 'कुअँरि' शब्दोंका प्रयोग करते आए। यथा 'बरै सीलनिधि कन्या जाही', 'जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी', 'हे बिधि मिलै कवन निधि बाला' तथा 'जो विलोकि रीझै कुअँरि।' भगवान्के प्रकट हो जानेसे इनको विश्वमोहिनीकी प्राप्तिका निश्चय हो गया। उन्होंने उसे अपनी स्त्री मान लिया। स्त्रीका नाम नहीं लिया जाता। यथा "आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। न माह्य विनोर्नाम ज्येष्ठपुत्रकलत्रयो।' (मं० श्लो० ७ पृष्ठ ४६ में इस श्लोकका उत्तरार्द्ध इससे भिन्न है)]

३ "जेहि विधि नाथ होइ हित मोरा।" इति। (क) तात्पर्य कि विधि कोईभी हो, हित होना चाहिए। मैंने जो विधि अपने हितके लिये निश्चित की वही मैंने सुना दी किन्तु यदि आप अन्य कोई विधि उत्तम समझते हों तो आप वही विधि काममें लावें। इस कथनसे इनके ही वचनोंसे स्त्री प्राप्तिकी प्रार्थनाका खंडन हुआ। 'हित' करनेकी विनती भगवान्की प्रेरणासे की गई, क्योंकि स्त्री न मिलनेसे ही हित है, वही भगवान् करेंगे। स्त्री माँगते हैं, यह भगवान्की इच्छाके प्रतिकूल है। [नोट—'हित' नारदमोहहरण प्रसंगका बीज ही है। यहींसे यह प्रसंग उठा है, यथा "उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी। बेगि सो मैं डारिहौं उखारी॥ पन हमार सेवक हितकारी॥ मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥ १२६।४-६।" अतएव उन्हींकी प्रेरणासे नारदजीके मुखसे ऐसा वचन निकला।] (ख) 'करहु सो बेगि' अर्थात् तनिक भी विलंब होनेसे काम बिगड़ जायगा, उसे और कोई ले जायगा। 'दास मैं तोरा' भाव कि आपका प्रण है दासका हित करना, यथा 'पन हमार सेवक हितकारी।' ☞ नारदजीको बड़ी उतावली है। उनकी परम आतुरता, उनके हृदयकी शीघ्रता चौपाइयोंसे स्पष्ट झलक रही है। यथा 'जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलइ कवन निधि बाला।', 'एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप', 'होइहि जात गहरु अति भाई', एहि अवसर सहाय सोइ होऊ, 'बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला', तथा यहाँ 'करहु सो बेगि दास मैं तोरा' और आगे "गवने तुरत तहाँ रिषिराई।' इस प्रकार प्रसंगभरमें चौपाइयाँ उनकी शीघ्रता अपने शब्दोंसे दिखा रही हैं। यहाँसे 'बेगि' का सिलसिला चला।

प० प० प्र०—यदि यह वचन नारदजीके मुखसे न निकलता तो भगवान्को अपना रूप देना ही पड़ता। ऐसे वचन मुखसे निकलवानेवाली हरिकी विद्यामाया ही है। विद्यामाया जीवका विनाश नहीं होने देती। यथा 'हरिसेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या। ताते नास न होइ दास कर।

७।७६।२-३।' नारदजी समझते हैं कि विश्वमोहिनीसे विवाह करनेमें हित है। हम भी ऐसा ही मानकर अगणित विषयरूपी मृगजलवारिके पीछे पुन्ह्लिपाणवाले मृगोंके समान ही दौड़ते हैं, तथापि क्या हमारे मुखसे कभी 'करहु सो बेगि दास मैं तोरा' यह शब्द निकलते हैं? कदाचित् ऐसा मुँहसे निकलता भी हो तथापि हमारे चित्तमें तो 'मैं' समाया हुआ है, मैं ज्ञानी इत्यादि भरा ही तो रहता है।

टिप्पणी—४ 'निज माया बल देखि बिसाला।' इति। (क) मायाका बल यह कि अभी-अभी इन्होंने हमसे कामक्रोधके जीतनेकी बात की थी सो मायाने तुरत उनको पकड़ लाकर हमारे सामने ही, हमसे ही स्त्रीप्राप्तिकी विनती कराई। [(ख) नारदजीने काम-क्रोधपर विजय अहंकारपूर्वक कही थी, सो यहाँ 'अति आरत कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि होहु सहाई॥' इत्यादिसे नारदका कामसे पराजय दिखाया। स्त्रीप्राप्तिके लिये आतुर होना कामवशसे ही होता है। 'आन भाँति नहिं पावौं ओही' से उनपर लोभकी जय दिखाई। आगे क्रोधसे भी पराजित होना दिखावेंगे। (ग) जब जब मायाने बड़ोंको जीता तब तब उसकी बड़ाई की गई है। १।४२।, १।२६।७, १।१२८।८ देखिये] (घ) नारदजीने कामको जीता और उन्हीं नारद को मायाने जीता। अतः उसके बलको 'बिसाल' कहा। पूर्व जो कहा था—'सुनहु कठिन करनी तेहि केरी', उसी 'कठिन करनी' को यहाँ 'बल बिसाला' कहा है। (ङ) 'हिय हँसि'—हृदयमें हँसे क्योंकि प्रकट हँसनेसे नारदजीको संदेह होता, वे समझते कि हमारा अनादर (अपमान) कर रहे हैं, हमें अपना रूप न देंगे। अन्य कोई कारण हँसीका यहाँ नहीं जान पड़ता। मायाका बल समझकर हँसे, सो यह हँसी गुप्त रखने योग्य ही है अतः हृदयमें हँसे।

नोट—१ महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'नारद भगवान्‌के मन हैं। मनके रहनेका स्थान हृदय है। अतएव हृदयमें हँसे कि अब कामके जीतनेका अभिमान कहाँ गया? पुनः, इससे आनन्द हुआ कि दासका हित करनेका समय आ गया।" (रा० प्र०)।

२ (क) यहाँ भगवान्‌में कठोरता पाई जाती है कि अपने भक्तकी दुर्दशा स्वयं ही कराते हैं। यह बात यथार्थ ऐसी नहीं है, जैसे बालकके फोड़ेके चिरानेमें माँको हृदय कठोर कर लेना पड़ता है जिसमें बच्चा आरोग्य हो जाय, यथा 'तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि'। इस शंकाके निवारणार्थ बारबार कृपानिधि, कृपाल आदि विशेषण देते आये हैं। (ख) 'दीनदयाला'। भाव कि नारद मायावश होनेसे दीन हैं उनपर दया करके बोले।

टिप्पणी—५ "जेहि बिधि होइहि परम हित" इति। (क) नारदजीने प्रार्थना की थी कि 'जेहि बिधि होइ नाथ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा।', भगवान्‌ने इसी वचनको ग्रहण किया और इसीपर कहा 'जेहि बिधि होइहि'। (भाव यह कि मुनि तो हित ही चाहते हैं, पर भगवान् वचन देते हैं कि निश्चिन्त रहो, तुम तो हित ही की कहते हो, हम वह करेंगे जिसमें तुम्हारा परम हित होगा। 'होइहि' निश्चय वाचक भविष्य क्रिया है। भगवान् भक्तका परम हित ही चाहते हैं। 'सुनहु' अर्थात् हमारे वचनोंपर ध्यान दो।) (ख) 'न आन कछु' का भाव कि तुम जो हमारा रूप माँगते हो, सो यह तुम्हारा कहा हुआ हम न करेंगे, हमारा वचन मिथ्या नहीं हो सकता, हम तुमसे सत्य-सत्य कहते हैं। इससे जनाया कि रूप देनेसे तुम्हारा हित न होगा वरंच अहित होगा। (यह बात आ० ४३ ४४ में नारदजीके पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीने विस्तारपूर्वक मुनिको समझाकर कही है। 'राम जबहि प्रेरेउ निज माया' ।३।४३ २।' से 'ताते कीन्ह निवारन ।४४।' तक यह प्रसंग है।)

व्याकरण—करब = करूँगा। भविष्य क्रिया उत्तम पुरुष। यथा 'घटब, आउब, जाब, जितब, इत्यादि। (श्रीरूपकलाजी)।

नोट—३ मिलानके श्लोक, यथा "यदि दास्यसि रूपं मे तदा तां प्राप्नुयां ध्रुवम्। त्वद्रूपं सा विना कंठे

जयमालां न धास्यति । २८ । स्वरूपं देहि मे नाथ सेवकोऽहं प्रियस्तव । वृणुयान्मां यथा सा वै श्रीमती क्षितिपात्मजा । २९ । " स्वेष्टदेशं मुने गच्छ करिष्यामि हितं तव ।" (रुद्र सं० २।३)। अर्थात् यदि आप अपना रूप मुझे दे दें तो वह अवश्य ही मुझको प्राप्त हो सकती है। आपके रूपके बिना वह मेरे कंठमें जयमाल कदापि न डालेगी। हे नाथ! आप मुझे अपना स्वरूप दीजिए। मैं आपका प्यारा सेवक हूँ जिससे वह राजपुत्री मुझे वरण कर ले।" "भगवान्‌ने कहा—हे मुनि! आप अपने इच्छित स्थानपर जाएँ। मैं आपका 'हित' करूँगा।

कुपथ माँग रुज-ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी ॥१॥
एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठएऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भएऊ ॥२॥
माया बिबस भए मुनि मूढ़ा। समुझी नहि हरि गिरा निगूढ़ा ॥३॥

शब्दार्थ—कुपथ (कुपथ्य)=वह आहार विहार जो स्वास्थ्यके लिये हानिकारक हो। रुज=रोग। ठएऊ = ठाना है, निश्चय किया है। अंतरहित (अंतर्हित) = अन्तर्द्धान; गुप्त। निगूढ़ा (नि+गूढ़) = जो गूढ़ नहीं है, स्पष्ट।

अर्थ—हे योगी मुनि! सुनिये। (जैसे) रोगसे व्याकुल (पीड़ित) रोगी कुपथ्य माँगे (तो) वैद्य उसे (वह कुपथ्य) नहीं देते ॥ १ ॥ इसी प्रकार मैंने तुम्हारा हित ठाना है। ऐसा कहकर प्रभु अन्तर्द्धान हो गए ॥ २ ॥ मायाके विशेष वश होनेसे मुनि मूढ़ हो गए। (इससे) वे भगवान्‌की स्पष्ट वाणीको (भी) न समझे ॥ ३ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—'सुनहु मुनि जोगी' तथा दोहेके 'नारद सुनहु तुम्हार' का 'सुनहु' शब्द बताता है कि भगवान् साफ ध्यान दिला रहे हैं। फिर 'मुनि' 'जोगी' का व्यंग्य इतना सूक्ष्म है कि अनुभव किया जा सकता है, पर बताया नहीं जा सकता। आह, पतन तो देखिये 'मुनि जोगी' आज 'मुनि मूढ़' हो गए।

टिप्पणी—१ "कुपथ माँग ..." इति। (क) 'कुपथ माँग'—भाव यह कि रोगीको कुपथ्य नहीं जान पड़ता, इसीसे वह उसे माँगता है। वैद्य जानता है कि क्या कुपथ्य है, क्या पथ्य, इसीसे वह नहीं देता। (ख) 'रुज ब्याकुल रोगी' इति। यहाँ नारद रोगी हैं, जो मायारूपी (वा, मायाका कार्य कामवासनारूपी) रोगसे पीड़ित हैं, और स्त्रीरूपी कुपथ्य माँगते हैं। (ग) 'सुनहु' कथनमें भाव यह है कि पीछे नारदजी यह न कह सकें कि 'मैंने आपका उत्तर नहीं सुना था यदि मैंने सुना होता कि आपने ऐसा कहा है तो मैं स्वयंवरसमाजमें अपमान कराने क्यों जाता?' अतएव सावधान होकर सुननेको कहते हैं। (घ) 'मुनि जोगी'—भाव कि योगीके लिये स्त्रीकी प्राप्ति बड़ा कुपथ्य है। उसके लिये विषयसेवन कुपथ्य है। यथा 'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे। ७।१२२।४।' ['मुनि जोगी' में व्यंग्य है। भाव यह है कि "हमारी परतंत्रताका अभिमान त्यागकर समाधिसे कामको हटाया था सो योग कहाँ है?" (अर्थात् जो आपको यह अभिमान था कि आपने अपने योगबलसे अपने पुरुषार्थसे कामपर विजय पाई, वह योग आज कहाँ गया?) अथवा "भाव कि योगियोंका जिसमें हित होना है वही हम करेंगे'। (रा० प्र०)]।

प० प० प्र०—'रुज ब्याकुल रोगी। ...' इति। नारदजीको वातज सन्निपात ज्वर चढ़ा है। ऐश्वर्य-लोभ प्रबल है, पर मुख्य है काम।—'काम बात कफ लोभ अपारा।' पित्त भी कुपित हुआ है, पर अभी स्पष्ट देखनेमें नहीं आता। आगे पित्तका प्रकोप स्पष्ट प्रगट होगा।—'क्रोध पित्त नित छाती जारा'। वात रोगी पथ्य कुपथ्यका विचार ही नहीं कर सकता, पर वातके कारण 'सन्यपात जलपसि दुर्बादा' के समान कुपथ्य कोही पथ्य मानता है और उसीको माँगता है सद्वैद्य जानता है कि वातज सन्निपातमें स्त्रीविषयसेवन कुपथ्य है। योग, ज्ञान और भक्तिमें स्त्रीलालसा विनाशकारक है। कुपथ्य न देनेपर रोगी वैद्यको भी दो-चार खोटी

खरी सुनाता है, वही नारद करनेवाले हैं, तथापि रोगीके परम हितके लिये वैद्य सब कुछ शान्तिसे सुन लेता है और उसके वातविकारको हटाता है, ऐसा ही भगवान् करते हैं।

वि० त्रि० शरीर-रोग और मानसिक रोगकी एक सी गति है। जैसे सभी शूल वातप्रधान हैं वैसे ही विषय मनोरथ सभी कामप्रधान हैं। यथा 'विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना।'

नोट—१ (क) भगवान् सीधे-साधे न कहकर कि विवाह न होने दूँगा, उसे कार्यद्वारा जनाया कि वैद्य कुपथ्य नहीं देता। कारण कहकर कार्य सूचित करना 'कारज निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है। (वीर-कवि)। (ख) व्याकरण—देइ-देता है। वर्तमान क्रिया। यथा करइ, जरइ, लेइ, सेइ। (श्रीरूपकलाजी)।

नोट—२ मिलानके श्लोक, यथा "भिषग्वरो यथार्तस्य यन्न प्रियतरोऽसि मे।३१।" अर्थात् जैसे वैद्य रोगीका हित करता है, क्योंकि तुम मेरे प्यारे हो। "मेने कृतार्थमात्मानं तद्यत्नं न बुबोध मः। २।३।३३ रुद्र स०।" अर्थात् अपनेको कृतार्थ मानते हुए उनके यत्नको नहीं पहिचाना।

३ "एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ।" इति। (क) 'एहि बिधि' अर्थात् जैसे वैद्य रोगीका हित करता है वैसे ही। (अर्थात् वैद्य मांगनेपर भी कुपथ्य नहीं देता, वैसेही मांगनेपर भी, मैं रूप न दूँगा, विवाह न होने दूँगा)। (ख) 'ठयऊ' क्रिया। यथा 'धूप धूम नभ मेचक भएऊ। सावन घन घमंड जनु ठयऊ।' अर्थात् मानों सावनके घनने घमंड किया, 'जब तें कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न भयऊ।२।१६२।', 'सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ।५।२।' (पर यहाँ 'ठाना है, निश्चय किया है', यह अर्थ विशेष उत्तम है)। (ग) "कहि अस अंतरहित" इति। [चटपट यह कहकर चल दिये जिसमें मुनि आगे और कुछ न कहने पावें। अथवा, भाव कि बात समाप्त हुई और चल दिये, क्योंकि इस समय मुनि शीघ्रतामें हैं, सब कार्य 'बेगि' (शीघ्र) ही चाहते हैं, बात समाप्त होतेही चले जानेसे मुनिको सन्तोष होगा। जैसे प्रकट होनेमें 'प्रभु' कहा था, वैसे ही यहाँ अन्तर्हित होनेमें भी 'प्रभु' शब्द दिया। 'प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला'।१३२।३।' उपक्रम है और 'अंतरहित प्रभु भएऊ' उपसंहार है]।

३ "माया बिबस भए मुनि मूढ़ा" इति। (क) 'विवश' का भाव कि मायाके वशमें तो सभी चराचर मात्र हैं, यथा 'यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं' म० श्लो० ६, 'को जग जाहि न ब्यापी माया', पर मुनि उसके विशेष वशमें हैं। (ख) वाणी निगूढ़ है निगूढ़=निर्गत है गूढ़ता जिसमें, अर्थात् स्पष्ट। वाणी स्पष्ट है तब क्यों न समझ पड़ी, इसका कारण प्रथम चरणमें बताया कि वे 'माया विवश' हैं। माया मनुष्यको मूढ़ बना देती है, यथा 'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई। ७।७३।५।' (ग) 'समुझी नहिं' भाव यह कि यदि वे समझते तो स्वयंवरमें न जाते, इसीसे मायाने उनको मूढ़ बना दिया जिसमें वे समझ न पावें। माया जानती है कि भगवान् सत्य बोलते हैं, वे अपने भक्तोंसे छिपाव न करेंगे, यथार्थ ही कहेंगे। मुनि समझ जायेंगे तो मेरा सारा परिश्रम ही व्यर्थ हो जायगा, यह सोचकर उसने उन्हें विशेष मूढ़ कर दिया। (वे समझे कि हमारा परम हित विवाहसे है, वही भगवान् करनेको कहते हैं)। [(घ) 'हरि गिरा' का भाव कि यह वाणी उनका क्लेश हरनेके लिये है। पंजाबीजी 'निगूढ़' का अर्थ 'अति गूढ़' लिखते हैं पर यह अर्थ संगत नहीं है]

गवने तुरत तहाँ रिषिराई। जहाँ स्वयंबर भूमि बनाई ॥४॥
निज निज आसन बैठे राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा ॥५॥
मुनि मन हरष रूप अति मोरें। मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें ॥६॥

शब्दार्थ गवने गए। भूतकालिक क्रिया। (श्रीरूपकलाजी)। भूमि=स्थान, रंगभूमि। बनाव= सजावट, शृंगार। आसन=बैठनेके स्थान, जो स्थान जिसके योग्य था।

अर्थ—ऋषिराज नारदजी तुरत वहाँ गए जहाँ स्वयंवरकी रंगभूमि बनाई गई थी ॥ ४ ॥ राजा लोग बहुत बनाव-शृङ्गार किये हुए समाज सहित अपने-अपने आसनोंपर बैठे हुए थे ॥ ५ ॥ मुनि मनमें प्रसन्न हो रहे हैं कि रूप तो मेरे ही बहुत अधिक है, कन्या मुझे छोड़कर दूसरेको भूलकर भी न ब्याहेगी ॥६॥

टिप्पणी—१ "गवनें तुरत " इति। क) 'तुरत' गए कि स्वयंवर कहीं हो न जाय। नारदके मनमें बड़ी शीघ्रता (उतावली) है, यह बात ग्रन्थकार अपने अक्षरोंसे दिखा रहे हैं। [जान पड़ता है कि नारदजीको अपना रूप विष्णुरूप देख या समझ पड़ा, इसीसे वे तुरत रंगभूमिमें जा पहुँचे। 'रिषिराई' का भाव कि ये वाल्मीकि और व्यास आदिके आचार्य हैं। जब मायाने इनकी यह दशा कर डाली तब अस्मदादिक किस गिनतीमें हैं? पुनः भाव कि नारदजी इस समय स्वयंवरमें जा रहे हैं, राजकुमारीके साथ ब्याह करना चाहते हैं, स्वयंवरमें सब राजा ही राजा हैं अतएव 'देवर्षि' न कहकर यहाँ उनको 'ऋषिराज' कहा। (ख) 'माया बिबस भए मुनि मूढ़ा' से 'रिषिराई' तक यह वाक्य तीनों वक्ताओंमें लगाया जा सकता है। याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजीसे कह रहे हैं कि देखो ये ऋषिराज हैं, तुम्हारे दादागुरु हैं (क्योंकि भरद्वाजजी वाल्मीकिजीके शिष्य हैं) सो उनकी भी अभिमानसे क्या दुर्गति हुई। शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि अपने गुरुकी दशा देखो और भुशुण्डीजी गरुड़जीसे कहते हैं कि जिनके उपदेशसे तुम यहाँतक आए उनको क्या दशा मायाने कर डाली। (मा० पी० प्र० स०)] (ग) 'भूमि बनाई' इति। जैसी श्रीजानकीजीके स्वयंवरमें रंग-भूमि बनी थी, मचान बने थे, वैसे ही यहाँ बने हैं। यथा "जहँ धनु मख हित भूमि बनाई ॥ अति बिस्तार चारु गच ढारी। बिमल बेदिका रुचिर सँवारी ॥ चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला ॥ तेहि पाछे समीप चहुं पासा। अपर मंच मंडली बिलासा ॥ कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई। बैठहिं नगरलोग जहँ जाई ॥ ' १।२२४।'

२ (क) 'निज निज आसन बैठे राजा", इससे जनाया कि यथायोग्य आसन सबको दिए गए हैं। (ख) 'बहु बनाव करि सहित समाजा' इति। बहुत शृङ्गार किए हैं जिसमें कन्या उन्हीं को प्राप्त हो। मंत्री, कामदार इत्यादि समाज प्रत्येक राजाके साथ है, क्योंकि समाजसे राजाकी शोभा और उसका ऐश्वर्य्य प्रकट होता है। इससे जनाया कि जब नारद पहुँचे तब सब राजा रंगभूमिमें पहुँचकर बैठ चुके थे, कन्या भी आ चुकी थी। कार्य आरम्भ हो चुका था। इसीसे बराबर बहुत जल्दी करते रहे थे कि विलंब होनेसे हम समयपर न पहुँचेंगे। इतने सावधान रहे तब समयपर पहुँच पाए। मायाने समयका संकोच इसीसे किया कि जिसमें नारद अल्प समय समझकर प्राप्तिके लिये व्याकुल हों। (ग) 'मुनि मन हरष रूप अति मोरें'। 'रूप अति' का भाव कि रूप तो इनके भी है पर मेरे 'अति' है अर्थात् मेरे रूपके आगे इनका बनावशृंगार 'कुछ नहीं' के बराबर है। 'अतिरूप' अर्थात् 'परम सोभा रूप बिसाल' जिसकी चाह हमें थी वही भगवान्‌ने हमें दिया है। 'हर्ष' के कारण दोनों हैं, एक कि हमारे 'अति रूप' है, दूसरे कि हमें छोड़ दूसरेको भूलकर भी न ब्याहेगी। 'अतिरूप' है इसीसे विश्वास है कि 'मोहि तजि आनहि०।' ["रूप अति मोरें" इस कथनसे जान पड़ता है कि नारदजीने और राजाओंका शृङ्गार देखा तो पहले चकित हुए, पर जब अपने रूपको समझा तब हर्ष हुआ कि इन सबोंके तो 'रूप' ही है और हमारे तो 'अतिरूप' है। (मा० पी० प्र० सं०)। शिवपु० से अनुमान होता है कि नारदको अपना रूप हरिकासा देख पड़ा अथवा उनको विश्वास है कि उनका रूप विष्णुरूप है, इसीसे वे कृतार्थ मनने वहाँसे चले। मिलानके श्लोक, यथा "अथ तत्र गतः शीघ्रं नारदो मुनिसत्तमः (नृपे स्वयंवर यत्र राजपुत्रैस्समाकुलम् ॥२४॥ तस्या नृपसभायां वै नारदः समुपाविशत्। स्थित्वा तत्र विचिन्त्येति प्रीतियुक्तेन चेतसा ॥ २६ ॥ मां वरिष्यति नान्यं सा विष्णुरूपधरन्ध्रुवम्।" अर्थात् मुनिश्रेष्ठ तुरत वहाँ गए जहाँ स्वयंवर हो रहा था। वह स्थान राजपुत्रोंसे व्याप्त था। मुनि राजसभामें जाकर प्रविष्ट हुए और बैठकर प्रीतियुक्त चित्तसे विचारने लगे कि विष्णुरूपधारी मुझको ही वह वरेगी, दूसरेको नहीं।

मुनि हित कारन कृपानिधाना । दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ॥७॥
सो चरित्र लखि काहु न पावा । नारद जानि सबहि सिर नावा ॥८॥
दोहा—रहे तहाँ दुइ रुद्रगन ते जानहिं सब भेउ ।
बिप्र बेष देखत फिरहिं परम कौतुकी तेउ ॥ १३३॥

शब्दार्थ—कुरूप-बुरा रूप । भेउ=भेद ।

अर्थ—कृपासागर भगवान्ने मुनिके कल्याणके लिये उन्हें ऐसा बुरा रूप दिया कि वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ७ ॥ इस चरित्रको कोई भी न भाँप सका । सभीने उनको नारद जानकर मस्तक नवाया (प्रणाम किया) ॥ ८ ॥ वहाँ दो रुद्रगण (भी) थे । वे सब भेद जानते थे । ब्राह्मणवेष धारण किये हुए वे, देखते फिरते थे । वे भी परम कौतुकी थे ॥ १३३ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—अब यहाँसे क्रियात्मक प्रहसन प्रारंभ होता है । भगवान् नारदजीको बंदरका रूप देते हैं, परन्तु कविकी कलाका सूक्ष्म अंग देखिए । भगवान् नारदकी हँसी अवश्य कराते हैं, पर यह नहीं कि सभीको इनका वानररूप देख पड़े और सभी हँसें । परन्तु यदि कोई देखता ही नहीं तो कुतुक ही क्या था, इससे रुद्रगण उनकी चुटकिया लेनेको मौजूद हैं और वे देख रहे हैं ।

टिप्पणी—१ 'मुनि हित कारन कृपानिधाना ।' इति । (क) मुनिने माँगा था कि 'जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा ।', अतः मुनिके हितके लिये कुरूप दिया । कुरूपसे मुनिका हित है । (ख) यहाँतक कई (छः) जगह 'हित' शब्द लिखा गया, पर सबका निचोड़ यहाँ लिखा । यथा "बेगि सो मैं डारिहौं उखारी । पन हमार सेवक हितकारी ।१२९।४।', 'मुनिकर हित मम कौतुक होई । अवसि उपाय करबि मैं सोई ।१२९।६।', जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा । करहु सो बेगि दास मैं तोरा ।१३२।७।', 'जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार । सोइ हम करब ।' १३२।' और 'एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ ।१३३।२।' इन सब जगहोंमें केवल 'हित' करनेकी बात कही गई, पर किस प्रकार हित करेंगे यह न खोला था उसे यहाँ स्पष्ट किया । कुरूपसे सब प्रकारका हित हुआ, अतः उसे अंतमें यहाँ आकर खोला । (पूर्व स्पष्ट कहनेका मौका न था, अतः उसे पूर्व न लिखा था) । 'कृपानिधाना' का भाव आगे टि० २ (घ) में देखिये । (ग) 'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना' अर्थात् ऐसा भयंकर रूप दिया कि उसका वर्णन नहीं हो सकता, तब भला राजकुमारीसे देखा कैसे जायगा ? [(घ) व्याकरण—'दीन्ह' भूतकालिक क्रिया, आदरवाचक । दिया । यथा 'लीन्ह, कीन्ह' । जाइ-जाता है । वर्तमान क्रिया । यथा—होइ, लखइ, फिरइ, इत्यादि] ।

२—"सो चरित्र लखि काहु न पावा ।' इति । (क) (दूसरा न लख सके, यह भगवान्की कृपा है) यदि सब देख सके होते तो सभी हँसते, नारदजीकी बड़ी अप्रतिष्ठा होती, सारी लीला ही बिगड़ जाती । (ख) 'नारद जानि सबहि सिर नावा'—इस कथनसे सूचित करते हैं कि यहाँ नारदजीके तीन रूप हैं । एक तो विष्णुरूप । नारदजीको अपना स्वरूप भगवान्का रूप देख पड़ता है, इसीसे उनको हर्ष है कि "रूप अति मोरें । मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें ।१३३।६।" दूसरा उनका निज रूप, इसीसे वे सभा-समाजभरको नारद देख पड़े और सबने उनको प्रणाम किया । और, तीसरा 'हरि' अर्थात् वानररूप । दोनों हरगणों और राजकुमारीको नारदका रूप भयंकर बंदरकासा देख पड़ा । यथा 'मर्कट बदन भयंकर देही । देखत हृदय क्रोध भा तेही । चौ० ८ ।', "रहे तहाँ दुइ रुद्रगन ते जानहि सब भेउ । ।१३३। करहिं कूटि नारदहि सुनाई । नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ॥ रीझहि बरिहि हरि जानि बिसेषी ।", 'निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई । १३४।६।'—(इसीसे इसको 'चरित्र' कहा) । इस चरित्रका, इस भेदको, इस गुप्त रहस्यको कोई न

भाँप सका। जिसे जैसा रूप देख पड़ा उसने उनको वैसाही समझा और नारदजीने समझा कि हमको भगवान जानकर सबोंने प्रणाम किया है, इसीसे उनको रूपका अहंकार अधिक होगया। यथा 'हृदय रूप अह मिति अधिकाई।' [(ग)-'काहु' से तात्पर्य केवल उनसे है जिनका वर्णन यहाँ कर चुके, जो इस समाजमें उपस्थित थे। यथा 'निज निज आसन बैठे राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा।' तथा राजा, रानी आदि] (घ) 'कृपानिधाना' का भाव यहाँ स्पष्ट किया कि मायासे बचानेके लिये कुरूप दिया, पर वह भी ऐसा कि लोक-मर्यादा भी न बिगड़ी और काम भी हो गया। लीलामें जो-जो सम्मिलित होनेको हैं, केवल उन्हींको यह चरित्र लखाया, दूसरोंको नहीं।

३ 'रहे तहाँ दुइ रुद्रगन ते जानहिं सब भेउ' इति। (क) 'सो चरित्र लखि काहु न पावा', किसीने न लख पाया यह बता चुके। जिन्होंने यह चरित्र लख पाया अब उन्हें कहते हैं—'रहे तहाँ०'। भगवान्‌की इच्छासे ये रुद्रगण भेद जानते हैं क्योंकि इन्हें कुम्भकर्ण रावण होना है। ख) 'सब भेउ' यह कि शिवजीसे इन्होंने अभिमानकी बात कही, शिवजीका उपदेश न माना, भगवान्‌सेभी अभिमानकी बात की तब भगवान्‌ने मायाको प्रेरित किया, विश्वमोहिनीको देखकर ये मोहित हुए, भगवान्‌से रूप माँगा, भगवान्‌ने इनको कुरूप दिया। (ग) 'परम कौतुकी तेउ' का भाव कि नारदमुनि कौतुकी हैं,—'मुनि कौतुकी नगर तेहिं गयऊ', ये उन कौतुकी नारदका कौतुक देख रहे हैं अतएव ये 'परम कौतुकी' जान पड़े। 'परम कौतुकी' पदसे सूचित किया कि रुद्रगण शिवजीके भेजे हुए नहीं हैं, इनका कौतुक देखनेका स्वभाव है, इसीसे ये अपनी इच्छासे आए हैं।* (घ) 'बिप्र बेष देखत फिरहिं' से जनाया कि (जब नारदजी कैलाससे चले तबसे) ये उनके साथसाथ सब जगह गए, (क्योंकि जानते हैं कि शिवजीका उपदेश नहीं माना है, अवश्य भगवान् कुछ लीला करेंगे। देखें यह कहाँ कहाँ जाते हैं, क्या क्या करते हैं) विप्रवेषमें थे जिसमें कहीं रोक न हो, लोग मुनिका शिष्य समझें।

नोट—१ मिलानके श्लोक, यथा "इत्युक्त्वा मुनये तस्मै ददौ विष्णुर्मुखं हरेः ।...३३। आननस्य कुरूपत्वं न वेद मुनिसत्तमः। ३७। पूर्वरूपं मुनिं सर्वे ददृशुस्तत्र मानवाः। तद्भेदं बुबुधुस्ते न राजपुत्रादयो द्विजाः। ३८।" अर्थात् (मैं तुम्हारा हित करूँगा) यह कहकर विष्णुने मुनिका मुख बंदरका कर दिया। मुनि अपने मुखकी कुरूपताको नहीं जानते। सब मनुष्योंने मुनिके पूर्व (नारद) रूपकोही देखा। राजपुत्रोंने भी इस भेदको नहीं जाना। पुनः, यथा "तत्र रुद्रगणौ द्वौ तद्रक्षार्थं समागतौ। विप्ररूपधरौ गूढौ तद्भेदं जज्ञतुः परम्। ३६।" अर्थात् वहाँ उनकी रक्षाके लिये दो रुद्रगण विप्रवेष धारण किये हुए इस भेदको जानते थे।—मानसमें रुद्रगणका परमकौतुकी होनेके कारण साथ होना विशेष उपयुक्त है।

जेहि समाज बैठे मुनि जाई। हृदय रूप अहमिति अधिकाई ॥ १ ॥
तहं बैठे महेसगन दोऊ। बिप्रबेष गति लखै न कोऊ ॥ २ ॥
करहिं कूटि† नारदहि सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ॥ ३ ॥
रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी। इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी ॥ ४ ॥
मुनिहि मोह मन हाथ पराएं। हंसहिं संभुगन अति सचु पाएं ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—गति = करनी, लीला, माया। कूटि (कूट)=वह हास्य या व्यंग्य जिसका समझना कठिन हो, जिसका अर्थ गूढ़ हो।

---

* पांडेजी और पंजाबीजीका मत है कि 'महादेवजीने गुप्त रीतिसे इन दोनों गणोंको मुनिके साथ कर दिया था'। [यह बात आगे नोटमें के ३६ वें श्लोकसे झलकती है]

† कूट—को० रा०, व० पा०, रा० प्रा० दा०। कूटि—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०।

अर्थ—जिस समाजमें मुनि अपने हृदयमें रूपका अभिमान बढ़ाये हुए जा बैठे थे ॥ १ ॥ वहीं शिव जीके दोनों गण ब्राह्मण वेषमें बैठे थे। इनकी गतिको कोई जान न सकता था ॥ २ ॥ वे नारदको सुना सुना कर कूट वचन कहते थे—'हरिने बहुत अच्छी सुन्दरता दी है ॥ ३ ॥ इनकी छवि देखकर राजकुमारी अवश्य रीझ ही तो जायगी, इन्हें विशेषकर 'हरि' जानकर वरेगी' ॥ ४ ॥ मुनिको मोह है, उनका मन दूसरेके हाथमें है। शिवजीके गण बहुतही सुख पाकर प्रसन्न हो हँसते हैं ॥ ५ ॥

प० राजबहादुर लमगोड़ा—मजाक कितना अच्छा है? नारद स्वयं समझते हैं कि मैं बड़ा सुन्दर हूँ और फूले नहीं समाते। जितनाही वे फूलते हैं उतनी ही उनकी बंदरवाली सूरत और बिगड़ती है।

टिप्पणी १ (क) 'जेहि समाज बैठ' इसका संबंध आगे की 'तहँ बैठे महेसगन दोऊ०' इस अर्धालीसे है, पीछेकी 'निज निज आसन बैठे राजा०' इस चौपाईसे नहीं है, क्योंकि यदि उससे संबंध होता तो यहाँ कहते कि 'तेहि समाज बैठ मुनि जाई'। जिस समाजमें मुनि बैठे उसीमें महेशगण बैठे, यत्-तत्का संबंध यहाँ है। (ख) 'हृदय रूप अहमिति अधिकाई' अर्थात् जैसे अहंकारी लोग फूलकर बैठते हैं, वैसेही ये बैठे, यथा 'जेहि दिसि नारद बैठ फूली'। (ग) 'तहँ बैठे महेसगन दोऊ' इति। इससे जनाया कि लोगोंने इन ब्राह्मणोंको नारदजीके संगी जानकर इनके पासही बैठनेको जगह दी थी। (घ) 'गति लखै न कोई' अर्थात् कोई यह नहीं जानता कि ये रुद्रगण हैं, नारदजीने भी नहीं जाना, जब इन्होंने, शाप मिलनेपर, स्वयं बताया तब नारदजीने जाना, यथा 'हरगन हम न विप्र मुनिराया'। सबोंने ब्राह्मण ही जाना। नारदके समीप बैठनेका भाव कि जिसमें हमारी बातें मुनिको सुन पड़ें।—(नोट—इससे जान पड़ता है कि रुद्रगण भी नारदके साथ साथ उनके शिष्य ब्रह्मचारी बने हुए रंगभूमिमें गए। विप्रवेष धारण करनेका तात्पर्य यही था कि लोग इन्हें नारदके शिष्य ब्रह्मचारी समझकर उनके पास बैठने दें,—रंगभूमिमें जानेकी रोक न हो। नारदजीने समझा होगा कि दर्शक हैं।)

२ (क) 'करहिं कूटि नारदहि सुनाई' इति। बुरेको भला कहना, यह कूट है। सुनाकर कूट करते हैं जिसमें नारदको समझ पड़े, पर उन्हें समझ नहीं पड़ता, यथा 'समुझि न परै बुद्धि भ्रम सानी'। भगवान्‌ने तो कुरूप दिया—'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना' और ये कहते हैं 'नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई', कुरूपको सुन्दर कहना यह कूट है। (ख) 'रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी' भाव कि यह छबि राजकुँअरिके योग्य है। 'रीझिहि राजकुँअरि०' तथा 'बरिहि हरि जानि बिसेषी' यही मुनिने भी निश्चय किया है। यथा 'मुनि मन हरष रूप अति मोरें। मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें'। इसीसे नारद कूट नहीं समझते, इनके वचनोंको यथार्थ समझते हैं कि सत्य ही कह रहे हैं। (ग) यहाँ दो रुद्रगण हैं। प्रथम एक बोला कि 'रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी', तब दूसरेने उसपर कहा कि (हाँ!) 'इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी'। इसमें साधारण अर्थके अतिरिक्त दूसरा अर्थ यह है कि इन्हहिं 'हरि' अर्थात् बन्दर जानकर विशेष 'बरिहि' अर्थात् जल भुन जायगी अर्थात् बहुत क्रोध करेगी। इस प्रकार दोनों हँसी कर रहे हैं। यह अर्थ आगेकी 'मर्कटबदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही' इस अर्धालीसे स्पष्ट झलक रहा है। ['हरि' और 'बरिहि' कूटके शब्द हैं, इनके दो दो अर्थ हैं। हरि = भगवान्। = बंदर। बरिहि – पति बनावेगी, व्याहेगी। – बर (जल) उठेगी, कुढ़ेगी। यहाँ गूढ़ व्यंग्य है। मुख्यार्थ बाध होकर कुरूपता व्यंजित होती है। मुनि इस व्यंग्यको न समझे। यहाँ 'नीकि' व्यंग्य है खराब न कहकर 'नीकि' कहना ही गूढ़ता है।]

३ (क)—'मुनिहि मोह मन हाथ पराएँ' अर्थात् मन कन्यामें लगा है और अज्ञान है। 'हाथ पराएँ' अर्थात् अब मन नारदके पास नहीं आता, कन्याके पास रहता है। इसीसे कूट समझ नहीं पड़ती। (ख) 'हँसहिं संभुगन अति सचु पाएँ' इति। 'नीकि दीन्हि बिसेषी' यह कूट करके (देखा कि उनके हृदयमें अज्ञान छाया है, मन पराधीन हो गया इसीसे ये कुछ समझते नहीं, यह जानकर) हँसने

लगे। [(ग) यह सोचकर हँसते हैं कि कामको जीतनेका अभिमान था अब कैसे कामातुर हैं। (पंजाबीजी)। महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि "नारदको हँसनेका अवसर आज ही मिला है, क्योंकि चाहके वश हुए हैं। यहाँ व्यंग्यसे जनाते हैं कि चाह वश जितने हैं सभी हँसने योग्य हैं।"]

नोट—१ शिवपुराणवाली कथामें लिखा है कि नारदको मूढ़ समझकर दोनों हरगण उनके पास जा बैठे और आपसमें सभाषण करते हुए नारदकी हँसी करने लगे (इस तरह कि) देखो तो नारदका रूप तो साक्षात् विष्णुका सा है पर मुख वानरका सा बड़ा भयंकर है। कामसे मोहित हुआ यह व्यर्थ ही राजकुमारीकी इच्छा करता है। इस तरह छलयुक्त वाक्योंसे परिहास करने लगे। यथा "पश्य नारदरूपं हि विष्णोरिव महोत्तमम्। मुखं तु वानरस्येव विकटं च भयङ्करम्॥ ४१॥ इच्छत्ययं नृपसुतां वृथैव स्मरमोहितः। इत्युक्त्वा सच्छलं वाक्यमुपहासं प्रचक्रतुः॥४२॥"—देखिए, मानसमें कैसी मर्यादाके साथ कथन है। पुनश्च यथा 'न शुश्राव यथार्थं तु तद्वाक्यं स्मरविह्वलः। पर्यैक्षच्छ्रीमतीं तां वै तल्लिप्सुर्मोहितो मुनिः॥ ४३॥' अर्थात् कामसे व्याकुल मुनिने उनके वाक्यको यथार्थ रूपसे नहीं सुना। वे श्रीमतीको प्राप्त करनेकी इच्छासे उसीको देखते हुए मोहित हो गए।

> जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परै बुद्धि भ्रम सानी॥६॥
> काहु न लखा सो चरित बिसेषा। सो सरूप नृपकन्याँ देखा॥७॥
> मर्कटबदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥८॥
> दोहा—सखी संग लै कुअँरि तब चलि जनु राज मराल।
> देखत फिरै महीप सब कर सरोज जयमाल॥ १३४॥

शब्दार्थ—अटपटि = ऊटपटाँग, उलटा सीधा, टेढ़ी, कूट।

अर्थ—यद्यपि मुनि ऊटपटाँग वचन सुन रहे हैं तो भी वे उन्हें समझ नहीं पड़ते क्योंकि उनकी बुद्धि भ्रममें सनी हुई है॥ ६॥ उस विशेष चरित्रको (वा, उस चरित्रको विशेष रूपसे, खास तौरपर) और किसीने न लख पाया, राजकन्याहीने वह रूप देखा॥ ७॥ बंदरका सा मुख और भयंकर शरीर देखकर उसके हृदयमें क्रोध हो आया॥ ८॥ तब राजकुमारी सखियोंको साथ लिये राजहंसिनीके समान चलती हुई। कमल समान हाथोंमें कमलका जयमाल लिये हुए सब राजाओंको देखती फिरने लगी॥ १३४॥

श्रीलमगोडाजी—१ कितनी सुन्दरतासे कविने 'सजनूनियत' (मोह मन हाथ पराए) और 'बुद्धि भ्रम' वाले हास्यप्रद दोषोंको उभार दिया है।

२—कविकी कलाकी सूक्ष्मता विचारिये कि जब कन्याने 'मर्कट' वाला भयानक रूप देखा तबही हम दर्शकोंको भी बताया है, नहीं तो 'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना' का संकेत था और शिवगणोंके व्यंग्यसे हमारी भी उत्कण्ठा बढ़ती थी। अब अवश्य उनका व्यंग्य भी साफ है और हमें हँसनेका मसाला भी।

नोट—१ शिवपु० वाले नारदका रूप विष्णुका सा और मुँह बंदरका देख पड़ा था और राजकुमारीके हाथमें सोनेका जयमाल था। यथा 'मालां हिरण्मयीं रम्यामादाय शुभलक्षणा। तत्र स्वयंवरे रेजे स्थिता मध्ये रमेव सा॥४५॥ बभ्राम सा सभां सर्वां मालामादाय सुव्रता। वरमन्वेषती तत्र स्वात्माभीष्टं नृपात्मजा॥ ४६॥ वानरास्यं विष्णुतनुं मुनिं दृष्ट्वा चुकोप सा। दृष्टिं निवार्य च ततः प्रस्थिता प्रीतमानसा॥४७॥'

टिप्पणी १—(क) 'जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी।' वे वाणी सुनाकर कहते हैं, यथा 'करहिं कूट नारदहि सुनाई', और ये सुनते हैं तब भी कूट समझ नहीं पड़ता, इसका कारण बताते हैं कि 'बुद्धि भ्रम सानी' अर्थात् बुद्धिमें भ्रम मिल गया है। मन पराए हाथमें है यह कहही चुके। इसतरह मन और

बुद्धि दोनोंका भ्रष्ट होना दिखाया, इसीसे कुछ समझ नहीं पड़ता। [मन संकल्प विकल्प करता है तब बुद्धि उस पर विचार करती है, सो यहाँ दोनों भ्रष्ट होगए हैं। 'मन कामना के वश हो जाता है तब बुद्धिमें भ्रम होता है। यहा नेत्र अपना विषय (रूप) पाकर उसी में लुब्ध हैं, उन्हींके कारण मन कामना के वश हो गया।' (वै०)। 'मुनि' शब्दसे जनाया कि उनकी मननशीलतामें त्रुटि नहीं है, पर बुद्धिमें भ्रम हो गया है, वह विषयासक्ति और अभिमानसे दूषित हो गई है, अत ध्वनि व्यंजना समझ नहीं रहे हैं, समझ रहे हैं कि ये कोई जानकार है, प्रशंसा कर रहे हैं। (वि० त्रि०)] (ख) 'काहु न लखा सो चरित बिसेषा' इति। ☞ 'सो चरित्र लखि काहु न पावा' १३३ (८) पर प्रसंग छोड़ा था, अब पुन वहींसे प्रसंग उठाते हैं। पूर्वके 'सो चरित्र लखि काहु न पावा' का सबंध राजाओंके साथ था कि कुरूप देने (वा, प्राप्ति) का चरित्र कोई नृप न लख पाया। शम्भुगणोंने लखा सो उनका हाल यहाँ तक कहा। अब उसी चरणका सबंध कन्याके साथ लगाते हैं कि कुरूप दिएजानेका चरित किसीने न जाना, नृपकी कन्याने वह स्वरूप देखा। (ग) ['बिसेषा' का भाव कि रुद्रगणोंको भी इस प्रकार पूर्णरीत्या न देख पड़ा जैसा इसको]

२ 'मर्कट बदन भयंकर देही' इति। (क) पूर्व इतना मात्र कहा था कि 'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना।' कुरूपका वर्णन वहाँ न किया था, यहाँ करते हैं। 'मर्कटबदन' बनानेका भाव कि रावणने अपनी मृत्यु नर वानरके हाथ माँगी है, यथा 'हम काहुके मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे।' बंदरका सा मुख बनानेसे नारद शाप देंगे कि 'कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥' यह लीलाका कार्य्य होगा। (ख) 'भयंकर देही' बनानेका भाव कि सब वानर भयंकर होंगे (क्योंकि राक्षसोंको इनसे भय दिलाना है), यह बात अभिप्रायके भीतर (छिपी) है। स्पष्ट देखनेमें भाव यह है कि 'मर्कट बदन०' इसलिए बनाया कि कन्या जयमाल न डाले, हमारे भक्तका हित हो। संस्कृतभाषामें देही जीवको कहते हैं सो अर्थ यहाँ नहीं है। देही-देह। यथा 'परहित लागि तजइ जो देही', 'वच्छ सुक संभव यह देही', 'चोंचन मारि बिदारेसि देही।' (ग) 'देखत हृदय क्रोध भा तेही' इति। भयंकर देह देखकर भय होना चाहिए था सो न होकर क्रोध हुआ, यह क्यों? इसका समाधान यह है कि—आशयसे जान पड़ता है कि नारद उसकी ओर घूरघूर कर एकटक दृष्टि लगाए हुए देख रहे हैं, जो दशा उनकी प्रथम दर्शन पर हुई थी, यथा 'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी', वही दशा पुन हो गई है। बेकायदे देख रहे हैं, इसीसे क्रोध हुआ। अथवा, ऐसा कुरूप मनुष्य हमारा पति बनने आया है यह समझकर क्रोध हुआ। अथवा, भगवान्‌ने ऐसा रूपही दिया है कि जो देखे उसीको क्रोध उत्पन्न हो। यह कुरूप दो को देख पड़ा एक तो कन्याको दूसरे नारदको। कन्याको क्रोध आया और नारदने जब देखा तब 'बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा'। (क्रोध हृदयमें रहा, बाहर न निकाला क्योंकि उसका समय न था। क्रोधसे रसभंग हो जाता, मुनि कहीं शाप ही न दे देते। इत्यादि)।

नोट २—मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि "विश्वमोहिनी जो शृङ्गाररसका रस है शृङ्गाररसवत् श्रीमन्नारायणको चाहती हैं और नारद बीभत्स और भयानक रसका मानों रूप धारण किए हैं। अर्थात् शिरसे नीचे सुन्दर स्वरूप मानों बीभत्स रस है और मुख बन्दरका है सो भयानक है। ये दोनों शृङ्गार रसके शत्रु हैं। अतएव राजकुमारी इनको देखते ही क्रोधित हुई।" और भी भाव इसके ये कहे जाते हैं कि—(२) माया भी भगवान्‌के इस चरित्र को न समझी, उसने न जाना कि ये नारद हैं। उसे क्रोध आ गया क्योंकि वह सोचने लगी कि हमने तो नारदको मोहनेकेलिये यह सब रचना की, उसमें यह बंदर कहाँ से आ गया। (३) भगवान्‌ने लीलाकी सब सामग्री एकत्रित की उसमेंसे एक यह भी है। उन्हीं की इच्छासे क्रोध हुआ। (४) साथ में सखियाँ सहेलियाँ हैं अत भयभीत न हुई। (५) मायाने क्रोध भी मुनिको

विशेष मोहमें डालनेके लिये किया। (६) बंदरका देखना अशुभ है अतएव स्वयंवरमें अमंगल जान क्रोध किया। इत्यादि)

नोट—३ अद्भुत रामायणवाले कल्पके रामावतारकी कथामें अवतारका कारण नारद शाप ही बताया गया है। वहाँ शीलनिधि और विश्वमोहिनीके स्थानपर श्रीअंबरीषजी महाराज और उनकी कन्या श्रीमती बताए गए हैं। कथा यह है कि एक समय श्रीनारदजी और श्रीपर्वतऋषि दोनों मित्र साथ साथ महाराज अंबरीषजीके यहाँ गए। दोनों श्रीमतीके रूपपर मुग्ध होकर उसको पृथक्-पृथक् राजासे माँगने लगे। राजाका उत्तर मिलनेपर कि जिसको कन्या जयमाल पहिना दे वही ले जाय, दोनों पृथक् पृथक् भगवान्‌के यहाँ गए और दोनों ही ने उनसे सब वृत्तांत कहकर अपना-अपना मनोरथ प्रकट किया। नारदने पर्वतऋषिका मुँह बंदरका सा और पर्वतने नारद मुनिका मुँह लंगूरका सा कर देनेके लिये पृथक् पृथक् प्रार्थना की और साथ ही यह भी प्रार्थना की कि राजकुमारीको ही वह रूप देख पड़े, दूसरेको नहीं। भगवान्‌ने दोनोंसे 'एवमस्तु' कहा। तत्पश्चात् दोनों ही राजाके यहाँ गए। राजाने कन्याको बुलाकर कहा कि दोनों ऋषियोंमेंसे जिसे चाहो उसे जयमाल पहिना दो। कन्या जयमाल लिये खड़ी है। उसे वहाँ एक बंदर एक लंगूर और एक सुन्दर धनुषबाणधारी मनुष्य देख पड़े। ऋषि कोई न देख वह ठिठककर रह गई। संकोचका कारण पूछे जानेपर उसे जो देख पड़ा, वह उसने कह दिया। थोड़ी देर बाद कन्या भी गायब हो गई। इस रहस्यको न समझकर दोनों ऋषि हरिके पास गए। उन्होंने कहा कि हम भक्तपराधीन हैं, तुम दोनों हमारे भक्त हो। हमने दोनोंका कहा किया। पीछे रहस्य समझनेपर कि येही द्विभुजरूपसे कन्याको ले गए थे, दोनोंने उनको शाप दिया कि अंबरीष दशरथ हों और तुम उनके पुत्र होगे। शेष शाप मानसके अनुसार है।

टिप्पणी—२ "सखी संग लै कुँअरि तब " इति। [(क) "बैजनाथजी लिखते हैं कि बंदीजनाकी सी एक जातिकी स्त्री होती है जो सब राजाओंका वृत्तान्त जाने रहती है वही स्वयम्वरा सखी साथमें है। जिस राजाके सामने कन्या जाती है, उसका देश, गोत्र, कुल, बल, वीरता, प्रताप, नाम इत्यादि समग्र वृत्तान्त वह वर्णन कर देती है]। (ख) 'चलि जनु राजमराल' का भाव कि जब कुरूप देखकर क्रोध हुआ तब वहाँसे चल दी। (यहाँ चाल उत्प्रेक्षाका विषय है। मानों राजहंसिनी चल रही हो, यह कहकर कवि-राजकुमारीकी उत्कृष्ट चालका अनुमान करा रहा है। यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है)। कन्याका रूप सुन्दर है, यथा 'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी'। उसके लक्षण सुन्दर हैं, यथा 'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने'। और यहाँ 'चलि जनु राजमराल' कहकर जनाया कि चाल भी सुन्दर है। रूप, गुण, और गति तीनोंको सुन्दर कहकर जनाया कि इन तीनोंसे उसने नारदजीके मनको हर लिया है। (रूप देख उनका वैराग्य और लक्षण देख उनका ज्ञान तो प्रथम ही चला गया था, अब चाल देख मन भी हर लिया गया। ये सब उपाय केवल नारदको मोहनेके लिये किए गए)। (ग) 'देखत फिरै', देखती फिरती है, कथनका भाव कि कोई इसके मनमें नहीं जँचता। [ऐसा जान पड़ता है कि नारदजी रंगभूमिके द्वारके निकट ही बैठे, जहाँसे राजकुमारी स्वयंवरभूमिमें प्रवेश करेगी। इसीसे उसकी दृष्टि प्रथम नारदपर ही पड़ी। इसके बाद रंगभूमिमें उपस्थित अन्य सब राजाओंको देखती फिर रही है कि कोई अपने पसंदका दूलह मिल जाय, पर अभी कोई मनका वर देख नहीं पड़ता, अतः फिर रही है। (घ) 'कर सरोज जयमाल'। यहाँ सरोज देहलीदीपक है। लक्ष्मीजी जब क्षीरसागरसे निकली थीं तब उनके हाथोंमें भी कमलका जयमाल था, वैसे ही यहाँ भी कमलका है।]

जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली ॥१॥

पुनि पुनि मुनि उकसहि अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं ॥२॥

धरि नृप-तनु तहँ गयउ कृपाला। कुअँरि हरषि मेलेउ जयमाला॥३॥

शब्दार्थ—उकसना=उचकना, ऊपरको उठना, उभरना। अकुलाना=छटपटाना, व्याकुल होना। मेलना=डालना।

अर्थ—जिस दिशामें नारदजी (रूपके अभिमानमें हर्षसे) फूले बैठे थे उस ओर उस (कन्या) ने भूलकर भी न देखा॥१॥ मुनि बारंबार उचकते और छटपटाते हैं। (उनकी) दशा देखकर हरगण मुसकराते हैं॥२॥ कृपालु भगवान् राजाका शरीर धारणकर वहाँ गये। राजकुमारीने हर्षपूर्वक उनको जयमाल पहना दिया॥३॥

श्रीलमगोड़ाजी—नारदका बारबार उचकना, जगह बदल-बदलकर बैठना, कन्याका उतना ही क्रोधित होना और हरगणोंका मुसकाना, ऐसी प्रगतियाँ हैं जो हास्य तथा फ़िल्मकलाकी जान हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली'। अर्थात् उसको इनका रूप देखकर इतना क्रोध हुआ कि जिस दिशामें ये बैठे हैं वह दिशा ही छोड़ दी और सर्वत्र राजाओंको देखती फिरती है। (ख) 'उकसहिं अकुलाहीं' इति। आकुलता यह समझकर होती है कि उसने अभी हमें देखा नहीं है, देखती तो जयमाल अवश्य डाल देती, इस ओरसे चली गई है, इधर आती नहीं है कहीं ऐसा न हो कि बिना हमें देखे दूसरेके गलेमें जयमाल डाल दे, इसीसे अपनेको दिखलानेकी इच्छासे उचक उचक पड़ते हैं। (ग) 'देखि दसा हरगन मुसुकाहीं' इति। पहिले कूट कर करके हँसते थे, अब दशा देखकर मुसकुराते हैं। भाव यह है कि जबतक कन्या सभामें नहीं आई थी, तबतक कूट करते और हँसते रहे पर जब वह सभामें आई तब कूट करना और हँसना बंद कर दिया क्योंकि तब ऐसा करना शिष्टाचारके विरुद्ध है, मर्यादाके प्रतिकूल है, इसीसे अब मुसकुराते हैं।

☞ (गोस्वामीजीने मर्यादाकी रक्षा सर्वत्र की है, मर्यादा-पुरुषोत्तमके उपासक ही तो ठहरे। राजकुमारी स्वयंवर भूमिमें आ गई है, वह एक बड़े प्रतिष्ठित राजाकी कन्या है, उसके सामने हँसी मसखरी-ठट्ठा अनुचित है। अतः वह सब रुक गया, सब काम मर्यादासे होने लगा। यह रीति कविने अन्यत्र भी दर्शाई है। जैसे, सीतास्वयंवरमें)।

२ 'धरि नृप तनु तहँ गयउ कृपाला' इति। (क)—(राजाका रूप धरकर क्यों गए? अपने रूपसे क्यों न गए? इसके कारण ये हैं कि—) वहाँ नृपसमाज है, इसीसे नृपतन धरकर गए। (स्वयंवर राजाकी कन्याका है, उसमें राजाओंको ही जाना उचित है और यहाँ समाज भी राजाओंका ही है, यथा 'निज निज आसन बैठे राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा।' अतएव समाजके योग्य राजा बनना आवश्यक समझकर राजा बने। देखिये श्रीसीतास्वयंवरमें भी देवता, दैत्य जब आये तो मनुष्य रूप धारण करके ही आये थे—'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा। १।२५१।' पुनः देखिए कि शिवजी भुशुण्डीजीके आश्रम पर जब श्रीरामचरित सुनने गए, तब उस समाजकी योग्यताके विचारसे समाजके अनुकूल मराल तन धारण कर उन्होंने वहाँ कथा सुनी। यथा—'तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास। सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयउँ कैलास। ७।५७।' वैसे ही यहाँ नृप कन्याके स्वयंवरमें नृपतन धरकर जाना योग्य ही था)। इसमें आभ्यन्तरिक (भीतरका गुप्त) अभिप्राय यह है कि रावणकी मृत्यु नर वानरके हाथ है, (भगवान्को लीला करना है, नरतन धरनेका शाप लेना है) नरतन धरकर जानेसे नारद नरतन धरनेका शाप देंगे, जैसा आगे स्पष्ट है—'बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा। १३७।६।' (और भी एक कारण स्पष्ट ही है कि यदि भगवान् अपने चतुर्भुजरूपसे जाते तो नारदजी उनको पहचान लेते, जिसका परिणाम यह होता कि भरी समाजमें वे लड़ने लगते, थुक्का-फजीहत होने लग जाती। अतएव उस तनसे न जा सकते थे)।

(ख) 'कृपाला' इति । भगवान्‌ने नारदका अभिमान कृपा करके दूर किया, यथा 'संसृति मूल सूलप्रद नाना । सकल सोकदायक अभिमाना ॥ ताते करहिं कृपानिधि दूरी । सेवक पर ममता अतिभूरी ॥ जिमि सिसुतन ब्रन होइ गोसाईं । मातु चिराव कठिन की नाईं ॥ जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर । ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर ॥ तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि । ७।७४ ।", इसीसे इस प्रसंगमें सर्वत्र उनको 'कृपाल' विशेषण दिया है । यथा 'करुनानिधि मन दीख बिचारी । उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी ॥ १२९।४', 'प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला । १३२।३', 'हिय हँसि बोले दीनदयाला । १३२।८', 'मुनि हित कारन कृपानिधाना । दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ॥ १३३।७', 'धरि नृपतनु तहँ गयउ कृपाला ।' तथा आगे 'मृषा होउ मम श्राप कृपाला । मम इच्छा कह दीनदयाला ॥१३८।३', [पुनः भाव कि नारदजीका दुःख शीघ्र मिटाना चाहते हैं इसीलिये नृपतन धर कर भगवान् वहाँ गए । (वै०) ।] (ग) 'हरषि मेलेउ जयमाला'—भाव कि इच्छानुकूल पतिकी प्राप्ति हो गई ।

नोट—१ शिव पु० में लिखा है कि भगवान् राजाके वेषमें आए । किंतु उनको राजकुमारीके अतिरिक्त किसी औरने नहीं देखा ।—'न दृष्टः कैश्चिदपरैः केवलं सा ददर्श हि ।४६।' 'हरषि मेलेउ' से यह भी जनाया कि अनुकूल वर सभामें न दिखाई पड़नेसे दुःखी हो गई थी । यथा "न दृष्ट्वा स्ववरं तत्र त्रस्तासीन्मनसेप्सितम् ।४८। रुद्र स० २।३।" भगवान्‌को देखतेही उसका मुख कमल खिल उठा । यथा 'अथ सा तं समालोक्य प्रसन्न वदनाम्बुजा । अर्पयामास तत्कण्ठे तां मालां वरवर्णिनी । ५० ।"

दुलहिनि लैगे[१] लच्छिनिवासा । नृप समाज सब भएउ निरासा ॥ ४ ॥
मुनि अति बिकल मोह मति नाठी । मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—लच्छिनिवास=श्रीनिवास=श्रीपति । = जिनमें लक्ष्मीका निवास है । नाठी (नष्ट)= नष्ट कर दिया, नष्ट हो गई ।

अर्थ—लक्ष्मीपति भगवान् दुलहिनको ले गए । सब राजमंडली निराश हो गई ॥ ४ ॥ मोहने मुनिकी बुद्धिको नष्ट भ्रष्ट कर डाला, इससे मुनि अत्यन्त व्याकुल हो गए, मानों गाँठसे मणि छूटकर कहीं गिर गई हो ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ "दुलहिनि लै गे ···" इति । (क) जयमाल स्वयंवर था, इससे जयमाल-पड़ते ही श्रीनिवास पति हुए और कन्या दुलहिन हुई । इसीसे यहाँ उसे 'दुलहिनि' कहते हैं । (विवाहके पूर्व कुमारी, बाला, राजकुमारि, कन्या, कुअँरि आदि शब्द उसके लिये प्रयुक्त किये गए थे । विवाह होनेपर 'दुलहिनि' कहा । इससे ग्रन्थकारकी उपयोगी शब्दोंकी आयोजनामें, सावधानता सराहनीय है) । (ख) "लच्छिनिवासा" शब्द देकर जनाया कि विश्वमोहिनी भी भगवान्‌की एक तरहकी लक्ष्मी ही है, इसीसे भगवान् उसे ले गए । [भगवान्‌में ही लक्ष्मीका निवास है, अतएव वह दूसरेकी न दुलहिन ही हो सकती थी और न दूसरेके साथ वह जा ही सकती थी । (मा० पी० प्र० स०) । (ग) 'नृपसमाज सब भएउ निरासा'—भाव कि कोई यह भी न जान पाया कि वह कौन था जो एकाएक आया और कुमारीको वर ले गया । राजा तो सब पहले-से बैठे थे । इसके लिये कोई आसन भी नहीं था । खड़े खड़े आया और काम करके चला गया । कोई कुछ कर न सका, अतः पूरी निराशा हुई । (वि० त्रि०)]

२—"मुनि अति बिकल ···" इति । (क) 'अति बिकल' का भाव कि भारी वस्तुकी हानिमें भारी व्याकुलता होती है । यही बात आगे कहते हैं कि 'मनि गिरि गई' । (जितना ही अधिक अमूल्य पदार्थ

१ लै गये-१७२१ । लै गै-छ० । ले गये-१७६२ । ले गे-१७०४, रा० प० । लै गे-१६६१, को० रा० ।

हाथसे निकल जाता है, उतनी ही अधिक व्याकुलता होती है। इनका 'अति' गया, अतएव ये 'अति' विकल हैं)। पुन भाव कि मुनिको अपने रूपपर बड़ा हर्ष और अभिमान था, पर जब कन्या सामनेसे जयमाल लिये हुये निकल गई तब वे 'विकल' हुये, ('पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं' में यह भाव गर्भित है कि कन्याके एक बार चले जानेपर भी उनको आशा बनी रही कि वह फिर आवेगी तब मुझको ही जयमाल पहनावेगी)। और, जब भगवान् उसे ले गए तब 'अति विकल' हुए। [पुन भाव कि राजाओं को कुमारीके मिलनेकी आशा लगी हुई थी, उसके न मिलनेसे उनका केवल 'निराश' होना कहा, यथा 'नृपसमाज सब भयउ निरासा' और मुनि तो उसे मिली हुई ही माने बैठे थे, उन्हें पूर्ण विश्वास था कि वह दूसरेको न व्याहेगी, जैसा 'आन भाँति नहिं पावौं ओही।१३१।६।', 'मोहि तजि आनहिं बरिहि न भोरे। १३३।६।' से स्पष्ट है, अतएव वे 'अति विकल' हुए। (मा० पी० प्र० स०)]। (ख) 'मोह मति नाठी' इति। मोहसे बुद्धि नष्ट हो जाती है। यथा "मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की। २।२८६।", "कवहुँ विचार बहोरि बहोरी। मोह कलित व्यापित मति मोरी। भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा। ७।८२।', 'प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥ तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा। उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा। ७।११८।' तथा यहाँ 'मोह मति नाठी।' (ग) 'मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी' इति। विश्वमोहिनी मणि है, उसके लिए मुनिने यत्न किया, भगवान्से रूप माँग लाए, यह निश्चय हो गया कि वह हमको ही मिलेगी,—'मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरे', यही मणिका गाँठमें बाँधना है। वह गाँठसे छूटकर गिर गई, दूसरा ले गया। ☞इस प्रसगसे दिखाया कि विवाहके आदिमें दुःख है (यथा 'सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं। नारद चले सोच मन माहीं।' अर्थात् चिन्ता उत्पन्न कर दी), विवाहका प्रयत्न करे और न सिद्ध हो (सफलता न प्राप्त हो) तो भी दुःख है, (यथा 'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।०' और अरण्यकाण्डमें दिखावेंगे कि विवाह करनेपर भी दुःख है, यथा 'अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि।' इस तरह दिखाया कि आदि, मध्य, अवसान तीनोंमें विवाह दुःखद है। (घ) राजाओंका निराश होना कहा और नारदका 'अति विकल' होना कहा। भेदमें अभिप्राय यह है कि दूसरेकी चीज न मिलनेपर निराशा होती है और अपने गाँठकी वस्तु नष्ट होने (निकल जाने) से व्याकुलता होती है। नारदजी विश्वमोहिनीको अपनी स्त्री मान चुके थे,—'मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी', इसीसे उसके न मिलनेसे अति व्याकुल हो गए।

नोट—१ विश्वमोहिनीको मणि कहा। क्योंकि इसमें अगणित अमूल्य गुण वा लक्षण देखे थे, सर्व सुलक्षण सम्पन्ना थी, यथा 'जो एहि बरै अमर सोइ होई' इत्यादि।

२—यहाँ नृप समाजका जाना नहीं कहा गया। क्योंकि यहाँ केवल नारदजीसे प्रयोजन है। पुन, इस कारण भी राजसमाजका जाना न कहा गया कि यह नगर और सब समाज तो मायामय ही था, इनका जाना कहाँ कहें। वा मायावीके जानेके साथ मायाका खेल समाज भी सब चला जाता ही है वैसे ही उसका जाना कहकर इसका भी लुप्त होना जना दिया।

मिलानके श्लोक, यथा "तामादाय ततो विष्णु राजरूपधर प्रभु। अन्तर्धानमगात्सद्यस्स्वस्थानं प्रययौ किल ।५१। सर्वे राजकुमाराश्च निराशा श्रीमतीं प्रति। मुनिस्तु विह्वलोऽतीव बभूव मदनातुर। ५२।" अर्थात् विष्णु भगवान् तुरत उसको लेकर अन्तर्धान हो गए। सब राजकुमार निराश हो गये। मुनि कामातुर होनेसे अत्यंत विह्वल हो गए।

प० प० प्र०—गाँठमें बाँधी हुई मणि जब गाँठके खुल जानेसे कहीं गिर जाती है, तब वह मनुष्य व्याकुल होकर सोचता है कि मणि कहाँ गिरी, कौन ले गया इत्यादि। इस उत्प्रेक्षासे शिव पु० का कथन ही सूचित किया है कि मुनिने यह जाना ही नहीं कि विश्वमोहिनीको कौन ले गया, नहीं तो मुनिराज सीधे

उनका पीछा करते। इसीसे तो भगवान् मुनिराजको मार्गमें ही मिलते हैं और उनके क्रोधाग्निमें घृताहुति डालकर अवतार नाटककी तैयारी कर रखते हैं।

तब हरगन बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई॥ ६॥
अस कहि दोउ भागे भय भारी। बदन दीख मुनि बारि निहारी॥ ७॥
बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा॥ ८॥
दोहा—होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ।
हँसेहु हमहिं सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ॥ १३५॥

शब्दार्थ—गाढ़ा-भारी, अतिशय। घोर।

अर्थ—तब हरगण मुस्कुराकर बोले कि अपना मुँह तो जाकर दर्पणमें देखिए॥६॥ ऐसा कहकर दोनों भारी डरसे भगे। मुनिने अपना मुँह जलमें झाँककर देखा॥ ७॥ भेस देखकर मुनिका क्रोध बहुत अधिक बढ़ा, उन्होंने उनको बहुत ही घोर शाप दिया॥८॥ तुम दोनों कपटी पापी हो (अतः) तुम दोनों जाकर कपटी पापी निशाचर हो। हमको तुमने हँसा (सो) उसका फल लो। (इतने पर भी संतोष न हुआ हो तो) फिर किसी मुनिको हँसना!॥ १३५॥

प० राजबहादुर लमगोड़ा—१ भगवान्‌का आना और नृपबालाको स्वयंवरमें जीत लेना, सबका निराश होना और उस समय शिवगणोंका मजाकको खोलते हुए कहना कि जरा शीशेमें मुँह तो देखिए, यह सब प्रसंग परिहास नाटक कलाके अमूल्य रत्न हैं और बड़े गजबके हैं। २ नारदके क्रोधसे श्रीवास्तव्यजी-का यह हास्यसिद्धान्त कि घमंडी चरितनायक चिड़चिड़ा होता है अक्षरशः सत्य निकलता है।

नोट—१ "तब हरगन बोले" इस अर्द्धालीके बिना कोई हर्ज न था और न उसका कोई प्रयोजन था हरगणोंके मुखसे ये वचन भगवत् प्रेरणासे निकले। कारण यह कि भेस (रूप) बिना देखे क्रोध न होता जिसमें न तो शाप ही उनको होता न लीला ही पूरी पूरी बन सकती। यदि ये वचन न कहे गये होते तो कौतुक यहीं समाप्त हो जाता, नारदको क्रोधपर जय पानेका उत्तर क्योंकर मिलता? यह सब 'कौतुक' का अर्थ होता जाता है जो भगवान्‌ने कहा है।

२ शिव पु० के हरगणोंके वाक्य ये हैं—"नारदजी! आप तो वृथा ही कामसे मोहित हो रहे हैं, अपने मुखको तो देखिए कि बहुत बुरा है। यथा 'हे नारद मुने त्वं हि वृथा मदनमोहितः। तद्विष्णुस्त्वमुखं पश्य वानरस्येव गर्हितम्। २।३।४४।' शिव पु० के हरगणोंका मुस्कुराना यहाँ नहीं कहा गया किंतु उनको बोलते समय 'ज्ञान विशारद' विशेषण दिया गया है।

टिप्पणी—१ (क) 'तब हरगन बोले मुसुकाई०' इति। भगवत्‌की इच्छासे हरगण ऐसा बोले। यदि ऐसा न कहते तो नारद उनको और भगवान्‌को शाप कैसे देते? लीला कैसे होती? साधारणतः छिद्र बता देना अपराध नहीं है। मुस्कुराकर कहनेसे अपराध हुआ। (ख) 'बिलोकहु जाई' का भाव कि यहाँ तो दर्पण है नहीं, जहाँ मिले वहाँ जाकर देखो तो' [(ग) 'निज मुख मुकुर बिलोकहु' अर्थात् जरा देखो तो, तुम्हारा मुँह उसे व्याहने योग्य था? यह महावरा है, लोकोक्ति है। अयोग्यता जनानेके लिए ऐसा कहा ही जाता है। पंजाबीजी लिखते हैं कि दर्पणमें देखनेको इससे कहा कि वहाँ दर्पण तो है नहीं, जबतक ये कहीं दर्पणके लिये जायँगे तबतक हम भाग जायँगे।]

२ (क) 'अस कहि दोउ भागे भय भारी' इति। प्रथम चुप करके हँसते रहे तब नारद न समझे, इससे तब भय न हुआ। जब मुँह देखनेको कहा तब पीछेका किया हुआ अपराध प्रकट हुआ, इसीसे भारी

भय हुआ। 'भागे' इससे कि सामने रहनेपर वे चट शाप देंगे, भाग जानेपर चाहे न दें। (ख) बदन दीख मुनि बारि निहारी।" इति। जलमें मुँह देखना मना है—'अप्सु नात्मानं ना वेक्षेत्', सो इन्होंने किया क्योंकि मोहसे बुद्धि नष्ट हो गई है। [नाईके घरपर बाल बनवाने, पत्थरपरसे चन्दन लगाने और जलमें अपना रूप देखनेसे इन्द्रकी भी श्री नष्ट हो जाती है। यथा 'नापितस्य गृहे क्षौरं पाषाणे गन्धलेपनम्। आत्मरूपं जले पश्यन् शक्रस्यापि श्रियं हरेत्।' (बाबा सरयूदासकी गुटका)। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि तिलक प्रकरणमें जलमें मुँह देखकर तिलक करनेका निषेध नहीं है। यथा 'दर्पणस्य अभावे विद्वान् मुखं वारौ निरीक्ष्य च। कुर्यान् मङ्गलमाकाङ्क्षन्नूर्ध्वपुण्ड्रं मनोहरम्।' (पाद्मे तिलक प्रकरणे)। अर्थात् मोक्ष चाहनेवाले विद्वानोंको चाहिए कि दर्पणके अभावमें अपने मुखको पानीमें देखकर ललाटपर सुन्दर ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक करे। रुद्रगणोंको भागते हुए देखकर मुनिको सदेह हुआ कि कुछ बात अवश्य है, पास ही जलपात्र (कमंडल) में जल था, अतः शीघ्रताके कारण उन्होंने उसीमें मुँह देख लिया जिसमें वे भाग न जावें। (श्रीबाबा रामदासजी) रुद्र सं० २।३ में दर्पणमें मुख देखना लिखा है—'मुखं ददर्श मुकुरे ।४४।'

३ "वेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा" इति। अत्यन्त बढ़ा कि हमने सुन्दर रूप माँगा सो हमको ऐसा कुरूप देकर सभामें हमारी हँसी कराई। क्रोध अत्यंत बढ़ा है इसीसे जिन्होंने हँसी की थी उनको 'अतिगाढ़ा' शाप दिया। ☞प्रथम भगवान्‌की कृपासे नारदको काम क्रोध कुछ न व्यापे थे, यथा 'कामकला कछु मुनिहि न ब्यापी' और 'भयो न नारद मन कछु रोषा'। अब भगवत् इच्छासे दोनों अत्यन्त व्यापे दोनोंने इनको जीता,—'मम इच्छा कह दीनदयाला'। क्रोधने जीता, यथा 'वेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा'। काम व्यापनेका उदाहरण, यथा 'अति आरति कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि होहु सहाई', 'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाठी।' ☞इसी तरह जो अर्जुन भगवान्‌की कृपासे महाभारतमें विजयी हुए, उन्हीं अर्जुनको कोल-किरातोंने लूट लिया। तात्पर्य कि भगवत् इच्छा बलवती है। किसीने कहा है कि "द्रोण करण भीषम हने भारत के मैदान। भिल्लन्ह छीनी गोपिका वेइ पारथ वेइ बान।" काम ही क्रोध और लोभ बनकर दिखाई देता है। काम बना तब लोभ हुआ और बिगड़ा तो क्रोध हुआ। यथा "कामै क्रोध लोभ बनि दरसै" इति देवतीर्थस्वामिग्रन्थे।

नोट—१ शिव पु० में शाप इस प्रकार है "तुमने मुझ ब्राह्मणकी हँसी की है, इस लिये उसी आकृतिवाले ब्राह्मणवीर्यसे उत्पन्न होकर भी राक्षस होगे।" यथा "युवां ममोपहासं वै चक्रतुर्ब्राह्मणस्य हि। भवेतां राक्षसौ विप्रवीर्यजौ वै तदाकृती। २।३।४७।"

टिप्पणी-२ (क) 'होहु निसाचर जाइ तुम्ह', जाकर निशाचर होनेका भाव कि तत्क्षण निशाचर होनेको न कहा जैसे लोमशजीने कहा था 'सपदि होहि पच्छी चंडाला ।७।११२।' वरंच राक्षसके यहाँ अवतार होनेका शाप दिया। राक्षस होनेके शापका कारण दिया 'कपटी पापी दोउ' अर्थात् तुम दोनों कपटी और पापी हो। कपट और पाप दोनों राक्षसधर्म है, यथा 'देखत भीमरूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी। १७१।६।', "चला महा कपटी अति रोषी ।१।१८३।३।", 'नर अहार रजनीचर चरहीं। कपट वेष बिधि कोटिक करहीं ।२।६३।१।', 'होहु कपटमृग तुम्ह छलकारी ।३।२५।', 'तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा ।५।४।', 'मरती बार कपटु सब त्यागा ।६।७५।', 'राक्षस कपट वेष तहँ सोहा ।६।५६।' (ख) 'कपटी' इससे कहा कि वे 'कुरूप' को सुन्दर कहते रहे, यथा 'नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई', 'रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी'। यही कपट है। (पुनः दोनों जानते थे कि हरिने इनको कुरूप दिया है तो भी इन्होंने न बताया, यह कपट है) और हँसे इससे पापी कहा, हँसी करना पाप है, यथा 'हँसत देखि नख सिख रिस ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी ।१।२७७।' (ग) 'हँसेहु हमहि सो लेहु फल', इससे जनाया कि साधु, ब्राह्मणके साथ हँसी करनेसे राक्षस शरीर मिलता है। (घ) 'बहुरि हँसेउ मुनि कोउ' अर्थात् इतनेसे तृप्ति न हो तो फिर किसी मुनिको हँसना।

भाव कि संतोंका उपहास करना हँसी खेल नहीं है, उनको हँसनेका फल ऐसा ही होता है। (ख) व्याकरण— 'बिलोकहु' विधिक्रिया 'सुनहु' 'जाहु', धरहु होहु आज्ञाके अर्थमें आता है। 'हसेहु'—(हँसा) मध्यम पुरुष भूतकाल क्रिया। यथा करायेहु कहेहु गयेहु बौरायेहु परचेहु ''। हँसेहु (हँसना) आज्ञाके अर्थमें, विधि क्रिया मध्यमपुरुष, यथा तजहु जनि। (श्रीरूपकलाजी)।

पुनि जल दीख रूप निज पावा। तदपि हृदय संतोष न आवा॥१॥
फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं॥ २॥
देहौं श्राप कि मरिहौं[1] जाई। जगत मोरि उपहास कराई॥ ३॥
बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी॥ ४॥

शब्दार्थ—सपदि=शीघ्र, तुरत। यथा 'सपदि होहु पच्छी चंडाला। ७।११२।'

अर्थ—फिर जलमें मुँह देखा तो अपना (नारद) रूप मिला पाया, तब भी उनके हृदयको संतोष न हुआ॥ १॥ होंठ फड़कते हैं, मनमें क्रोध है। तुरत ही वे कमलापति भगवान्‌के पास चले॥ २॥ (सोचते जाते हैं कि) शाप दूँगा, वा मर जाऊँगा, उन्होंने संसार भरमें मेरी हँसी कराई है॥ ३॥ दैत्यों राक्षसोंके शत्रु भगवान् बीच राह हीमें उनको मिल गए। साथमें लक्ष्मीजी और वही राजकुमारी थीं॥ ४॥

श्रीमान् लमगोडाजी—सारी गतियाँ फिल्मकलाकी जान हैं। क्रोधका ठिकाना नहीं, आज भगवान्‌को शाप देने और मारनेपर तैयार हैं।—'हँसीसे निरहस' 'रारका घर हँसी'—ये कितने साफ साबित हैं।

व्याकरण—मरिहौं, देहौं—भविष्यकाल उत्तमपुरुष। (श्रीरूपकलाजी)।

टिप्पणी १—'पुनि जल दीख रूप निज पावा।०' इति। (क) शापके बाद फिर मुँह जलमें देखने से पाया जाता है कि पहले अच्छी तरह देख न पाए थे। रुद्रगण भागे जा रहे थे, यह जानकर उनको शाप देनेकेलिए (जैसे तैसे देखकर) जल्दीसे देखना बंदकर उनको शाप देने लगे। शाप देकर अब उनसे छुट्टी मिली तब सावधान होकर अच्छी तरह देखना चाहा। [हरिने मेरा रूप बंदरका कर दिया। अब मुझे इस रूपमें जीना होगा, यह समझ क्रोध बहुत बढ़ा और उन्होंने रुद्रगणको शाप दे डाला। मनमें चिन्ता उठी 'क्या मेरा सदाके लिये यह रूप हो गया? जो बात बिगाड़नी थी वह तो हरिने बिगाड़ ही दी, अब तो हमारा रूप वापस दे देना था।' अतः फिर जलमें देखा (वि० त्रि०)] (ख) 'रूप निज पावा' का भाव कि कुरूपका इतना ही मात्र प्रयोजन था कि कन्या प्राप्त न हो, और ये रूप देखकर क्रोध करें, शाप दें। सो दोनों काम बने। (ग) 'तदपि हृदय संतोष न आवा' इति। अर्थात् क्रोध शान्त न हुआ। क्योंकि अभी लीलाका कारण पूर्ण नहीं हुआ। रुद्रगणोंको राक्षस होनेका शाप मिला पर भगवान्‌को मनुष्य होनेका शाप जब हो तब लीलाका हेतु पूर्ण होवे [भाव कि राक्षस तो बन गए, उनके मारनेका, उनकी मुक्तिका तथा भूमिभार हरनेका उपाय अभी नहीं हुआ जो भगवान्‌के अवतारके प्रधान हेतु है। नरतन और वानरोंकी सहायताका शाप बाकी है। २—संतोष न हुआ क्योंकि जब काम बनाना था, [विश्वमोहिनीकी प्राप्ति करानी थी) तब तो बंदरकासा मुख बनाया था, अब काम बिगाड़नेपर पूर्ववत् हुआ तो क्या?—(पं०)। ☞ राजकुमारीके हाथसे निकल जानेकी चोट कितनी भारी थी यह दिखा रहे हैं]

२—'फरकत अधर कोप मन माहीं।०' इति। (क) होंठ फड़कते हैं, मनमें कोप है अर्थात् भीतर बाहर कोपसे आक्रान्त हैं। [मुनिको बड़ा क्रोध है,—"बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा"। क्रोधमें ओष्ठ फड़कने लगते हैं, यथा 'माखे लषन कुटिल भइँ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें'] (ख) 'सपदि चले' का भाव कि रुद्रगण हँसी करके भागे जाते थे उन्हें जल्दीसे शाप दिया। भगवान् कुरूप करके चले जा रहे

[1]—१६६१ में 'मरीहौं जाई' है। इसका अर्थ किसी किसीने 'मारूँगा' किया है।

है ऐसा न हो कि कहीं चले जायँ अतः उनका शाप देनेके लिए जल्दी चले। 'सपदि' हीके सम्बन्धसे 'कमलापति' नाम दिया। कमला चचल है, उसके ये पति ठहरे। (ग) 'देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई।' इति। शाप दूँगा और यदि वे शाप न अगीकार करेंगे तो उनके ऊपर प्राण दे दूँगा, अर्थात् ब्रह्महत्या उनको दूँगा। मरनेका हेतु दूसरे चरणमें कहते हैं 'जगत मोरि उपहास कराई।' ☞ भले मनुष्यका मान भंग होता है तो वह या तो प्राण दे देता है, आत्महत्या कर लेता है, या मारे शर्मके कहीं दूर चला जाता है, यथा 'मता माने म्न ने मरणमथवा दूरि शरण।' यहाँ नारदजीको अभी यह नहीं मालूम है कि भगवान् स्वयंही राजाका रूप धरकर राजकुमारीको ब्याह ले गए, वे समझते हैं कि कोई दूसरा राजा ले गया है नहीं तो स्त्री ले जानेका दुःख यहाँ कहते। इसीसे उनको उपहासका दुःख है, जगत्‌में हमारी हँसी कराई यह दुःख है। [मान्य प्रतिष्ठित महानुभावोंके लिए अपयश की प्राप्ति मरणसेभी अधिक भयकर दुःख है, यथा 'सभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥अ० ६५॥', 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' (गीता २।३४)। (घ) 'देहौं श्राप कि मरिहौं' यह संदिग्ध वचन है। यहाँ सदिग्ध वचनोंका प्रयोजन था, क्योंकि भगवान् समर्थ हैं, वे अपनी इच्छासे भले ही शाप अगीकार कर लें नहीं तो उनको शाप लग नहीं सकता। —१२४ (१) देखिये। इसीसे मुनि सोचते हैं कि यदि वे शाप न लेंगे तो मेरे लिए अपकीर्ति मिटानेका दूसरा कोई और उपाय है ही नहीं, मैं प्राण दे दूँगा। यहाँ विकल्प अलकार है]

३ 'बीचहि पथ मिले दनुजारी ।०' इति। (क) 'बीचहि' का भाव कि न तो मायानगरमे ही रहे और न अभी क्षीरसागर ही पहुँचे हैं, मार्गमें दोनोंके बीचम ही हैं। (ख) बीचमें ही क्यों मिल गए? इसका एक कारण तो 'दनुजारी' विशेषणसे ही जना दिया है। वह यह कि रुद्रगणोंको राक्षस होनेका शाप हो चुका है, वे राक्षस होंगे। रुद्रगण जब राक्षस होंगे तब भला उनको मार ही कौन सकेगा? उनका नाश करना ही होगा। भगवान् 'दनुजारी' है, उनके नाशके लिए नरतन धारी होना जरूरी होगा। अतएव नरतन धारण करनेका शाप लेनेके लिए मार्गमें ही मिले। अभी क्रोध भरा हुआ है, शाप क्रोधसे होता है— दोहा १२३ देखिए। मुनिका क्रोध शान्त न होने पावे, वे क्रोधसे शाप दे दें, इसलिए बीच ही में मिले। पुन, (बीचमें ही मिल जानेका दूसरा भाव यह है कि एक तो क्षीरसागर दूर है,—'होइहि जात गहरु अति भाई' यह स्वय मुनिके वचन है—दूसरे वह स्थान निर्विकार है, सात्त्विक है, वहाँ पहुँचते पहुँचते मुनिका क्रोध ठढा पड जाय अथवा, उसका वेग बहुत कम हो जाय यह संभव है। तब तो बनाबनाया कौतुक ही बिगड जायगा)।

(बैजनाथजी लिखते हैं कि नारदजीने मारनेका सकल्प किया है, इसलिये भगवान् तुरत वीरोंकी तरह सामने आगए, क्योंकि वे दनुजारी हैं। नारदजीकी इस समयकी आसुरी बुद्धि ही दैत्य है। पजाबी-जीके मतानुसार नारदका अहकार ही निशाचर है, उसका अभी नाश करना है और भविष्यमें रावण कुंभकर्णादिको। अतः दनुजारी' विशेषण दिया गया)।

(ग) 'सग रमा सोइ राजकुमारी' इति। सगमें राजकुमारी इसलिये लिए हुए हैं कि नारदजी समझ जायँ कि ये (भगवान् ही) राजाका रूप धरकर उसे ले आए हैं, नहीं तो नारदजी तो यही समझते रहे कि कोई और राजा ले गया। 'सोइ' यदि न कहते तो समझा जाता कि कोई दूसरी राजकुमारी होगी। 'रमा सोइ राजकुमारी' का भाव कि जिसमे क्रोध उत्पन्न हो कि रमा ऐसी स्त्रीके रहते हुए भी इन्होंने हमारा भारी अपकार किया।—ये सब क्रोध उपजाने (और उत्तेजित करने) के कारण है। ['संग रमा' क्योंकि रमाजीको वे पहिचानते हैं, साथ देखकर समझ जायँगे कि (राजारूपमे) ये भगवान ही हैं (रा० प्र०, प०)। पुन भाव कि नारद 'कमलापति' के पास चले हैं अतएव कमलाजीको भी साथ लेकर भगवान् सामने आए (वै०)]।

नोट—शिव पु० में शाप देनेके पश्चात् जलमें मुँह देखना कहा है और मानसमें दोनों बार जलमें ही देखा है। इससे जान पड़ता है कि शिव पु० के हरगणोंने रंगभूमिमें ही सम्भवत कहा हो और वहाँ दर्पण होनेसे वहीं पहली बार देखा हो और शाप वहाँसे बाहर निकल जानेपर दिया हो इसीसे वहाँ दूसरी बार जलमें मुँह देखना कहा गया। मानसमें मर्यादाके साथ चरित हुआ है। यथा "जले मुख निरीक्ष्याथस्वरूप । २।४।३।" शिव पु० के नारदने विष्णुलोकमें जाकर शाप दिया है। 'देहौं श्राप ' से 'सुनत वचन उपजा अति क्रोधा।' तकके मानसवाक्य उसमें नहीं हैं।

बोले मधुर वचन सुरसाईं। मुनि कहँ चले बिकल की नाईं ॥५॥
सुनत वचन उपजा अति क्रोधा। मायाबस न रहा मन बोधा ॥६॥
पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी ॥७॥
मथत सिंधु रुद्रहि बौराएहु। सुरन्ह प्रेरि बिष पान कराएहु ॥८॥

दोहा—असुर[1] सुरा बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु।
स्वारथसाधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु ॥१३६॥

शब्दार्थ—बोध = ज्ञान, चेत, समझ। संपदा = धन दौलत, ऐश्वर्य। इरिषा = ईर्ष्या, डाह, हसद। बौरायेहु– बावला बना दिया, बेवकूफ बनाया, विक्षिप्त बुद्धि कर दी, ठगा, पागल बनाया।

अर्थ—देवताओंके स्वामी भगवान मीठे वचन बोले—"हे मुनि! आप व्याकुल सरीखे कहाँ चले जा रहे हैं?" ॥ ५ ॥ वचन सुनते ही अत्यंत क्रोध उत्पन्न हुआ। मायाके वश होनेसे मनमें चेत (ज्ञान) न रह गया ॥ ६ ॥ (वे बोले कि) तुम पराई संपदा (ऐश्वर्य) नहीं देख सकते, तुम्हारे ईर्ष्या और कपट बहुत है ॥ ७ ॥ समुद्र मथते समय तुमने शिवको बौरा दिया, देवताओंको प्रेरित करके (तुमने उनको) विष पिलाया ॥ ८ ॥ दैत्योंको सुरा (मदिरा), शंकरजीको विष (दिया) और स्वयं सुन्दर लक्ष्मी और कौस्तुभमणि (लिया), तुम स्वार्थके साधक हो, कुटिल हो तुम्हारा सदासे ही कपटका व्यवहार है ॥१३६॥

नोट—१ 'बोले मधुर वचन०' यह मधुर व्यंग्य क्रोधाग्निके लिए घृतका काम करनेवाला है। २-व्याकरण—"बौराएहु, करायेहु, मध्यम पुरुष भूतकालिक क्रिया" (श्रीरूपकलाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'बोले मधुर वचन०'। भगवान सदा मधुर वचन बोलते हैं पर इस समय मधुर वचन क्रोधका कारण है। (वैजनाथजीका मत है कि शापका संकल्प है इसलिए मर्म जानकर 'सुरस्वामी' मधुर वचन बोले। और 'मारने' का संकल्प है अतएव ईर्ष्यावर्द्धक वचन बोले जिसमें प्रतिज्ञाका पालन करें।")। (ख) 'सुरसाईं' का भाव कि देवताओंके स्वामी हैं अतः उनकी रक्षाके लिये राक्षसोंको मारेंगे, 'असुर मारि थापहिं सुरन्ह०'। [देवताओंके हितके लिए अपने ऊपर शाप लेना चाहते हैं, इसीसे मधुर वचन बोलकर उनके क्रोधको प्रज्वलित करते हैं। अतः 'सुरसाईं' कहा]

नोट—३ मार्गमें ही आकर मिलना, साथमें उसी राजकुमारीको भी लिए होना और ईर्ष्याजनक मधुर वचन बोलना ये ही सब बातें क्रोधको अत्यन्त प्रज्वलित करनेका कारण हुईं।

४—मधुर वचनसे तो क्रोध शान्त होता है, यहाँ उसका उलटा हुआ? यह बात ठीक है कि मीठे वचनोंसे शान्ति होती है। परन्तु यह भी स्वयंसिद्ध है कि यदि कोई किसीका सर्वस्व छीन ले और फिर उससे मीठे वचन बोले तो शान्ति कदापि नहीं हो सकती, वे ही शीतल वचन क्रोधाग्निको अधिक भड़कान

[1] पाठान्तर—सुरासुरहिं—(रा० प०)।

वाले हो जाते हैं, यथा 'सुनि मृदु वचन मनोहर पिय के। सीतल सिख दाहक भइ कैसें। चकइहि सरदचंद निसि जैसें। अ० ६४।'

५ 'कहँ चले बिकल की नाईं' इति। मुनि बहुत विकल हैं, यह प्रथम ही कह आए। यथा 'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।' [वे अपनी धुनमें चले जा रहे हैं, इससे भगवान् स्वयं छेड़कर बोले। 'बिकल की नाईं' का भाव कि आप मुनि हैं, विकल तो हो नहीं सकते, यथा 'ब्रह्मचरजब्रतरत मतिधीरा। तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा।', यह विकलताका आभास होगा। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) 'सुनत बचन उपजा अति क्रोधा', इससे स्पष्ट पाया जाता है कि क्रोध उत्पन्न करनेके लिए ही मधुर वचन कहे गये थे। यहाँ कहते हैं कि क्रोध 'उपजा' परन्तु क्रोध तो पूर्वहीसे चला आता है, यथा 'बेष बिलोकि क्रोध अतिबाढ़ा' तब 'उपजा अति क्रोधा' कैसे कहा ? इस संभावित शंकाका समाधान यह है कि अपना वेष जलमें देखनेपर क्रोध अवश्य बहुत बढ़ा था पर वह क्रोध रुद्र गणोंको शाप देनेपर कुछ शान्त हो गया, शाप देनेमें वह 'अति' क्रोध खर्च होगया। अब भगवान्‌के वचन सुननेपर उनको शाप देनेके लिए वही क्रोध फिर उत्पन्न हो गया। (ख) 'मायाबस न रहा मन बोधा' इति। तात्पर्य कि यदि बोध रहता तो अपने स्वामीको शाप न देते। न अति क्रोध होना, न कटु वचन निकलते। (ग) ☞ पंचपर्वा अविद्याके पाँचों विकार नारदको व्यापे। (१) तमसे अविवेक होता है सो यहाँ 'माया बस न रहा मन बोधा'। (२) मोहसे अन्तःकरणमें विभ्रम होता है, सो यहाँ 'जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परइ बुद्धि भ्रम सानी'। (३) महामोहसे भोगमनकी इच्छा होती है सो यहाँ 'जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला'। (४) अंधतामिस्रसे मरणकी इच्छा होती है, सो यहाँ 'देहौं श्राप कि मरिहौं जाई'। (५) तामिस्रसे क्रोध होता है, सो यहाँ 'सुनत बचन उपजा अति क्रोधा'।

नोट—६ अंधतामिस्र, तामिस्र, महामोह, मोह और तम ये पाँच अज्ञानकी वृत्तियाँ ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें उत्पन्न की थीं। यथा भागवते तृतीय स्कन्धे द्वादशाध्याये—"ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत्। महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः। २।' इन्हींको पंचपर्वा अविद्या कहते हैं और पंचक्लेश भी, यथा "तमोऽविवेको मोहः स्यादन्तःकरणविभ्रमः। महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखैषणा॥ मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते। अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥" (विष्णु पु०)।

टिप्पणी—३ 'पर संपदा सकहु नहिं देखी' इति। (क) 'परसंपदा' कहा क्योंकि मुनि कन्याको अपनी स्त्री मान चुके थे और ले गए उसको भगवान्। (राजकुमारीको अपनी जानते थे इसीसे वह 'अपनी संपदा' हुई और भगवान्‌के लिये वह 'पर संपदा' हुई)। 'सकहु नहिं देखी' कहकर उनमें खलता दिखाई, यथा 'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी।' (ख) ☞ जबतक कन्याका लेजाना न जाना था तबतक उपहास करानेका दुःख हृदयमें रहा,- 'जगत मोरि उपहास कराई।' अब जान गए कि कन्या येही ले आए हैं तब कन्याके ले जानेका दुःख हुआ। (ग) पर-संपदा नहीं देख सकते हो इसका तात्पर्य्य यह कि तुम स्वयं ही ले लेते हो। [पुनः भाव कि तुम्हारे सुन्दर स्त्री भी है, तुम अमर और अजेय भी हो, चराचर तुम्हारी सेवा भी करता है। यह सब संपदा तुम्हें प्राप्त है, पर ऐसी संपदा हमें भी प्राप्त हो जाय, यह तुम नहीं देख सकते। आगे परसंपदाहरणके उदाहरण देते हैं। (घ) 'तुम्हरे इरिषा कपट बिसेषी' अर्थात् इसीसे परसंपदा नहीं देख सकते। ईर्षाका अर्थ ही है, 'परसंपदा न देख सकना'। तुम्हारे कपट है अर्थात् कपटी हो, कपट छलसे पराई संपदा ले लेते हो। 'बिसेषी' का भाव कि और भी अनेकों अवगुण तुममें भरे हैं पर ईर्ष्या और कपट ये दो अवगुण विशेष हैं। (और सब सामान्य हैं। अथवा, ईर्ष्या आदि अन्य देवताओंमें भी होते हैं पर तुममें सबसे विशेष हैं।)

४—'मथत सिंधु रुद्रहि बौराएहु ।०' इति। (क) विष देना भारी दुष्कर्म है इसीसे इसे प्रथम कहा। इससे जनाते हैं कि तुम आततायी हो। (ख) 'सुरन्ह प्रेरि विष पान कराएहु' अर्थात् देवताओंसे कहा कि शिवजी विष पान कर सकते हैं, जाकर उनसे प्रार्थना करो। उन्होंने जाकर प्रार्थना की तब शिवजीने विष पी लिया। (ग) 'सुरन्ह प्रेरि' का भाव कि तुम ऐसे कपटी हो कि देवताओंको अपयशी बनाया और अपना साफ रहे, वस्तुत जहर तुम्हींने पिलाया।

नोट—७ 'बौराएहु' 'कराएहु' शब्दोंसे सूचित करते हैं कि देवताओंमें यह बुद्धि कहाँ थी? तुम्हारे ही सुझानेसे यह बुद्धि उनमें हुई। 'बौराएहु' का भाव कि शिवजी तो भोलेभाले थे, इससे उनको बातोंमें लाकर विष पिलवाया, वे अपने भाग्यसे जीवित बचे।—(शुकदेवलाल)। यथा 'दैवतैर्मथ्यमाने तु यत्पूर्वं समुपस्थितम्। २३। तत्त्वदीयं सुरश्रेष्ठ सुराणामग्रतो हि यत्। अग्रपूजामिह स्थित्वा गृहाणेदं विषं प्रभो। २४' अर्थात् (भगवान विष्णुने मुस्कुराते हुए शूलधारी रुद्रसे कहा) देवताओंके समुद्र मथन करनेसे जो पहले प्राप्त हुआ है, हे देवश्रेष्ठ! वह आपका है, क्योंकि आप देवताओंके अग्रगामी हैं। महाराज! यहाँ स्थित होकर आप इस अग्रपूजाको ग्रहण करें। (वाल्मी० १ ४५)। पुन, बौराया इसलिये कि जिसमें बेलटके होकर, रमा और कौस्तुभमणि स्वय ले जा सकें। (वै०)।

टिप्पणी—५ 'असुर सुरा विष संकरहि०' इति। (क) यहाँ असुर, शंकर और 'आपु' (भगवान) तीन नाम लिये। सुरोंका नाम न लिया क्योंकि देवताओंने उत्तम उत्तम पदार्थ पाए। शिव और असुर दोके नाम लिए। तात्पर्य यह कि इन दोनोंमेंसे एक (शिव) प्रिय है और दूसरा (अप्रिय) है। इस प्रकार दिखाया कि प्रिय और अप्रिय, मित्र और शत्रु, दोनोंका ही अहित करते हैं, किसीका नहीं छोड़ते। हम तुम्हारे दास हैं सो हमारे साथ भी तुमने अहित किया, हमें भी न छोड़ा। शिवजी प्रिय भक्त हैं सो उनको विष पिलाया। राक्षस शत्रु हैं सो उनको मदिरा पिलाई। (ख) 'स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहार' इति। 'सदा' का भाव कि कुछ आज ही कपट और कुटिलतासे कुमारीको तुम ले गए हो वा आज ही स्वार्थ साधा हो, यह बात नहीं है, सदासे तुम्हारा यह कपटव्यवहार चला आ रहा है। (ग) ☞ यहाँ शिवजीको विष पान करानेकी बात दो बार लिखी गई, एक तो 'सुरन्ह प्रेरि विष पान कराएहु' और दूसरे 'असुर सुरा विष संकरहि'। इसका कारण क्रोध है, क्रोधमें निकम्मी (बुरी) बात बारबार निकलती है। (अथवा, पुराणोंके भेदसे ऐसा कहा। वाल्मीकिजीके अनुसार विष्णुभगवान्ने ही शिवजीसे कहा कि प्रथम वस्तु आपका भाग है आप इसे ग्रहण करें)। (घ) 'आपु रमा मनि चारु' स्वय सुन्दर मणि और सुन्दर लक्ष्मी ली, इसीसे 'स्वारथ-साधक' कहा। दूसरेको ठगकर अपना स्वार्थ साधा, इसीसे 'कुटिल' कहा और मोहिनीरूप धरकर सबको ठगा, इसीसे 'कपटी' कहा। शिवजीको 'बौराया' (बावला बनाया) राक्षसोंको उन्मत्त किया, देवताओं और दैत्योंको आपसमें लड़ाकर उनमें सग्राम कराया, यह सब 'कुटिलता' है। (ङ) पुन, भाव कि पूर्व जो तीन बातें कही थीं—'परसपदा सकहु नहिं देखी', 'तुम्हरें इरिषा' और 'कपट बिसेषी', उन्हींके संबंधसे यहाँ 'स्वारथसाधक', 'कुटिल' और 'सदा कपट ब्यवहारु' यह तीन बातें कही गईं। परसपदा देख नहीं सकते इसीसे स्वार्थसाधक हो, ईर्ष्या है इसीसे कुटिल हो, और कपट विशेष है इसीसे तुम्हारा व्यवहार सदा कपटका रहता है। पुन, (च) पूर्वार्द्धमें जो कहा 'असुर सुरा०' उसीके संबंधसे उत्तरार्द्धमें तीन उसके कारण बताए। स्वार्थसाधक हैं इसका प्रमाण 'आपु रमा मनि चारु' है इसीलिए मणि और रमाको स्वय ले लिया। कुटिल हैं इसका उदाहरण है कि शंकरजीको विष दिया। कपटव्यवहार है इसका प्रमाण कि असुरोंको मदिरा पान करायी, मोहिनीरूप धरकर सबको ठगा। [श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि कुटिलका भाव यह है कि स्नेही बनकर हमसे कहा कुछ और किया कुछ।]

नोट—८ शिव पु० मे शापवाले मिलानके श्लोक ये हैं—'हे हरे त्वं महादुष्ट कपटी विश्वमोहन।

परोत्साहं न सहसे मायावी मलिनाशयः । ६ । मोहिनीरूपमादाय कपटं कृतवान्पुरा । असुरेभ्योऽपाययस्त्वं वारुणीममृतं न हि । ७ । चेत्पिबेन विषं रुद्रो दयां कृत्वा महेश्वरः । भवेन्नष्टाऽखिला माया तव व्याजरते हरे । ८ । गतिस्सकपटातेऽतिप्रिया विष्णो विशेषतः । साधुस्वभावो न भवान् स्वतंत्रः प्रभुणाकृतः । ६ । तस्मात्वाहं हरे त्वाद्य शिक्षयिष्यामि तद्बलात् । यथा न कुर्याः कुत्रापीदृशं कर्म कदाचन । १२ ।" अर्थात् हे हरि ! तुम महादुष्ट कपटी, संसारको मोहित करनेवाले, मायावी, मलिनचित्त हो, किसीका उत्साह नहीं सह सकते हो। मोहिनी रूप धरकर असुरोंको अमृत न पिलाकर मदिरा पिलाई यह कपट किया। यदि दयालु शंकरजी विष न पी लेते तो आपकी सब माया नष्ट हो जाती। तुमको कपटीकी चालें अति प्रिय हैं। तुम्हारा स्वभाव सज्जनोंका सा नहीं है। तुम स्वतंत्र हो यह जानकर अब मैं ब्रह्मणत्वके बलसे तुमको अभी शिक्षा देता हूँ जिसमें फिर तुम कभी ऐसा कर्म न करो। (रुद्र सं० २४)

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई । भावै मनहि करहु तुम्ह सोई ॥ १ ॥
भलेहि मंद मंदेहि भल करहू । बिसमय हरष न हिअँ कछु धरहू ॥ २ ॥
डहकि डहकि परिचेहु सब काहू । अति असंक मन सदा उछाहू ॥ ३ ॥
कर्म सुभासुभ तुम्हहि न बाधा । अब लगि तुम्हहि न काहू साधा ॥ ४ ॥
भले भवन अब बायन दीन्हा । पावहुगे फल आपन कीन्हा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—'स्वतंत्र' = आजाद। 'डहकि' डाका डालकर, धोखा देकर, छलकर, ठगकर, यथा 'ज्ञान बिराग भक्ति साधन कहि बहु बिधि डहकत लोक फिरौं' (विनय), 'जूझेते भल जूझिबो भली जीत ते हार। डहकेते डहकिबो भलो जो करिय बिचार' (दो०)। साधा' = सीधा या ठीक किया। परिचेहु = परक गए। परचना (सं० परिचयन) = चसका लगना, टेव पड़ना। जो बात दो एक बार अपने अनुकूल हो गई हो या जिसको दो एक बार बेरोक टोक मनमाना करने पाए हों उसकी ओर प्रवृत्त होना।

व्याकरण—'परिचेहु'—मध्यमपुरुष भूतकाल क्रिया। बँचेहु, रायेहु, मारेहु इत्यादि। 'डहकि' पूर्वकालिक क्रिया। भावै—वर्तमान क्रिया, अन्यपुरुष, यथा खावै, सोवइ। (श्रीरूपकलाजी)।

अर्थ—तुम परम स्वतंत्र हो, तुम्हारे सिरपर कोई नहीं है, तुम्हारे मनको भाता (जो) है वही तुम करते हो। भलेको बुरा और बुरेको भला करते हो, भय या हर्ष कुछभी मनमें नहीं धरते ॥ २ ॥ सब किसीको ठग ठग कर परक गए हो, अत्यन्त निडर हो, मनमे सदा उत्साह रहता है ॥ ३ ॥ शुभ अशुभ कर्म तुम्हें बाधक नहीं होते, अबतक तुम्हें किसीने ठीक न किया ॥ ४ ॥ अब अच्छे घर तुमने बायन दिया है, अपने किये का फल पावोगे ॥ ५ ॥

टिप्पणी १—(क) 'परम स्वतंत्र न सिरपर कोई' अर्थात् तुम देवता, मनुष्य राक्षस, चर और अचर सबके ऊपर हो, तुम्हारे ऊपर कोई नहीं है। 'परम स्वतंत्र' और 'भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई' से भगवान्‌मे 'निरंकुश' होना यह दोष दिखाया। 'परम स्वतंत्र' कहकर "न सिरपर कोई। भावै मनहि करहु०" यह उसका अर्थ करदिया। (ख) 'भलेहि मंद मंदेहि भल करहू' अर्थात् धर्मात्माओंको पापी बनाकर नरकमें भेजते हो और पापीको सुकृती बनाकर वैकुण्ठमें भेजदेते हो। जैसे कि धर्मात्मा नृगको गिरगट बनाया और पापी अजामिलको अपना धाम दिया। हम तुम्हारे भक्त हैं तुम्हारा भजन करते हैं, सो हमारा भी उपहास हजारों मे कराया। उचित अनुचितका विचार ही नहीं करते, जो मनम आया वह कर डालते हो। (ग) 'बिसमय हरष न हिअ कछु धरहू' अर्थात् भलेको मंद करनेमे कुछ भय नहीं करते और मंदको भला बनानेमें कुछ हर्ष भी तुम्हारे हृदयम नहीं होता ऐसे निठुर हो। इससे निष्ठुरता दोष भगवान्‌मे दिखाया। तुम्हारे दया नहीं है। (घ) 'डहकि डहकि परिचेहु सब काहू' सबको ठगठगकर परच गए हो अर्थात् ढीठ

हो गए हो इसीसे 'अति असंक हो' और मनमें हहकनेका उत्साह सदा बना रहता है। यहाँ 'निःशंकता' का दोष दिखाया। ☞ग्रामवासियोंने ब्रह्मामें तीन दोष गिनाए हैं। 'निपट निरंकुश, निठुर और निशंक'। यथा 'विधि करतब उलटे सब अहहीं ॥ निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहिं ससि कीन्ह सहज सकलंकू ॥ रूख कलपतरु सागरु खारा। अ० ११९ (२-४)।' वही दोष क्रमसे नारदजी भगवान्‌में कहते हैं। तात्पर्य्य कि ग्रामवासियोंने समझकर ब्रह्मामें दोष कहा और नारद बिना समझे भगवान्‌में दोष कहते हैं। इससे पाया गया कि इस समय नारदजी ग्रामीण पुरुषोंसे भी अधिक बुद्धिहीन हो गए हैं,—'माया बस न रहा मन बोधा'। ☞जान पड़ता है कि यह सब कहते जाते हैं तब भी भगवान् मुसकुराते ही रहे; इसीसे 'मन सदा उछाहू' कहा] ग्रामवासियों और नारदके वचनोंका मिलान—

ग्रामवासिनी	नारदजी
निपट निरंकुस	परम स्वतंत्र
निठुर	भलेको बुरा करनेमें दयारहित होना
निसंकू	अति असंक

वहाँकी चौपाईके एक चरणमें यहाँकी तीनों चौपाइयाँ गतार्थ हैं। वहाँ स्त्रियाँ ब्रह्माको दोष लगाती हैं, यहाँ नारद उनसे भी बड़े अर्थात् भगवान्‌को दोष लगा रहे हैं। इसका कारण क्रोध है, महाअंधकार है जिसमें कुछ नहीं सूझता—न स्वामी न पिता इत्यादि। यथा 'नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥ ४।२१।४।'

२ (क) 'करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा' इति। 'करम कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें। ७।११२।३।' भगवान्‌को जानलेनेसे जानलेनेवालेके कर्मोंका नाश होता है तब भगवान्‌को शुभाशुभ कर्म कैसे बाधक हो सकता है ? 'बाधा नहीं करता' अर्थात् ब्रह्मा तुम्हें फल नहीं दे सकते। शुभाशुभकर्मके फलदाता विधाता हैं, यथा 'कठिन करमगति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता।२।२८२।४।'। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं क १ है कि कर्म मुझे लिप्त नहीं कर सकते। 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति'''। ४।१४।' अतः कहा कि 'कर्म''' बाधा')। (ख) 'न काहू साधा' अर्थात् शुभाशुभकर्मोंका फल किसीने न दिया, अब हम देंगे।

नोट—१ 'कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा' इति। भाव यह है कि कर्मका फल ब्रह्मा देते हैं, सो वे भी आपको कर्मका फल दे नहीं सकते, रहे शिवजी सो उनको तुमने विष ही पिलाया था, वे भी तुम्हारा कुछ न कर सके। ये दोनों मुखिया थे सो उनकी यह दशा हुई; और जितने देवता दैत्य हैं उनमें परस्पर विरोध कराते हो सो वे भी तुम्हारा कुछ नहीं कर सकते। अब इनसे अधिक और रह ही कौन गया जो तुम्हें साधने योग्य हो ?

टिप्पणी—३ 'भले भवन अब बायन दीन्हा' इति। 'भले भवन' का भाव कि टूटे घरसे अर्थात् गरीबके घरसे बायन नहीं लौटता, (क्योंकि उसको बदला देनेका सामर्थ्य नहीं है तब बदलेमें बायन क्या देसके ?), अच्छे घरसे लौटता है (अर्थात् अमीर घरके यहाँ जो बायन दिया जाता है उसका बदला भी मिलता है, अपना दिया हुआ (कभी न कभी) वापस मिलता है। (ख) 'अब' का भाव कि इतने दिन अच्छे घर बायन न दिया था (अर्थात् जिन जिनको बायन दिया था वे गरीब थे, बदलेमें बायन देनेको असमर्थ थे) इसीसे न लौटा था। भाव कि शिवके घर बायन दिया। उनको विष पिलाया यह बायन दिया। असुरोंके घर बायन दिया। उनको ठगकर मदिरा पिलायी, यह बायन उनको दिया। इनमेंसे किसीके यहाँसे बायन न लौटा। वे गरीब थे। '(अब अच्छे घर बायन दिया है अर्थात् हम अमीर हैं जैसा बायन दिया वैसाही लौटानेको समर्थ हैं। पलटे का बायन देते हैं, लो ! जो बायन दिया और जो

मिला दोनों आगे कहते हैं)। (ग) 'पावहुगे फल आपन कीन्हा'। बायन विवाहादि उत्सवोंमें फेरा जाता है। यहाँ तुम दुलहिन ब्याह लाए हो, उसी उत्साह (उत्सव) में हमारे यहाँ तुमने बायन भेजा है अर्थात् हमसे वैर किया है सो उसका फल पाओगे। ☞ यहाँ तक दुर्वचन कहे, आगे शाप देते हैं। 'आपन कीन्ह' क्या है और फल क्या है यह आगे कहते हैं।

नोट—२ मिलानके श्लोक, यथा "अद्यापि निर्भयस्त्वं हि सग नापस्तरस्विना। इदानीं लप्स्यसे विष्णो फल स्वकृतकर्मण। १३।" अर्थात् अबतक तुम निर्भय रहे। कभी वेगवालोंसे पाला नहीं पडा। इस किये हुए अपने कर्मका फल अब तुम पाओगे।

३—पंजाबीजीका मत है कि नारदजी परम भक्त हैं, उनके मुखसे प्रभुके प्रति दुर्वचन कथन ठीक नहीं जँचता, अतएव सर्वज्ञा सरस्वतीने इन वचनोंके अर्थ स्तुतिपक्षमें लगाए हैं—

नारद वाक्य	स्तुति पक्षका अर्थ
१ पर सपदा सकहु नहि देखी	१ पर = शत्रु। परसपदा = शत्रुकी सपदा = आसुरी सपदा। अर्थमें 'सतों भक्तोंमें' शब्दोंका अध्याहार कर लेना होगा। इस तरह अर्थ हुआ कि 'अपने भक्तोंमें आसुरी सपदा नहीं देख सकते'। 'पन हमार सेवक हितकारी' इसका कारण है।
२ तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी	२ तुम्हारे तुममें) ईर्ष्या और कपटसे विशेषता है अर्थात् आप मत्सर और दभसे परे हैं। अथवा, विशेष=विगत शेष। अर्थात् ईर्ष्या और कपट लेशमात्र नहीं है। ['कपट बिसेषी' अर्थात् विशेष प्रकारकी मायासे आप ईर्ष्या आदि करके भी सेवक हित करा लेते हैं। सब कुछ कर कराकर भी आप अलिप्त रहते हैं—'गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू'। प० प० प्र०]
३ मथत सिधु रुद्रहि बौराएहु। सुरन्ह प्रेरि बिष पान कराएहु।	३ इस वाक्यसे प्रभुको सर्वशक्तिमान् जनाया। भाव कि आपके लिये कोई कार्य दुसाध्य नहीं है। [विषके रूपमें उनको अमृत ही तो दिया,—'कालकूट फल दीन्ह अमी को'। और उनको संसाररोग भगानेवाला बना दिया। 'ससाररुज द्रावयति इति रुद्र।' आप महादेवजीको नचानेवाले हैं,—'बिधि हरि-संभु नचावनिहारे'। प० प० प्र०]
४ असुर सुरा चारु	४ इससे प्रभुको यथोचित व्यवहारमे कुशल वा निपुण जनाया। [जो विष सुरासुरोंको भस्म करनेवाला था उसे शिवजीको देकर उन सबोंकी रक्षा की। यह सब 'शं-कर' अर्थात् कल्याण करनेके लिये ही किया। आपने रमा और मणि ले लीं यह 'चारु' अर्थात् बहुत अच्छा किया, अन्यथा उनके लिये सुरों और असुरोंमें झगड़ा हो जाता। प० प० प्र०]
५ स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु	५ जो स्वार्थसाधक कपटी हैं उनके लिए आप सदा कुटिल अर्थात् दुःखदायक हैं। अथवा, जो कुटिल और कपटी हैं उनके भी स्वार्थके साधक हैं। [कुटिल = प्रणत, नम्र। स्वारथ (= अपनेको जो अर्थ है उसको) आप साधते हैं जब वे नम्र वा प्रणत होते हैं। प० प० प्र०]
६ परम स्वतंत्र	६ इससे प्रभुको परम समर्थ सूचित किया। (स्वतंत्र = आत्मतंत्र। यथा 'भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी। १।५१ छद।' प० प० प्र०।)
७ न सिर पर कोई	७ आपकी ही आज्ञामें सबको चलना पडता है, आपसे बडा कोई है ही नहीं। यथा 'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला। अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई। करि बिचार जिअँ देखहु नीके, राम रजाइ सीस सब ही के।२।२५४।'

८ भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई	८ राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं। २।२६८।', 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होइ। करै अन्यथा अस नहिं कोई।', 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा' के भाव स्तुति पक्ष में हैं।
९ भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। बिस्मय हरष न हिअ कछु धरहू।	९ इससे भी सामर्थ्य सूचित हुआ। पुन, भलेहि अर्थात् जिनको उत्तम कार्य करनेका अहंकार हो जाता है उनको नीचा करते हो और जो दुष्कर्म करनेवाले हैं (वे आपकी शरणमें आते हैं तो) आप उनको संत बना देते हैं, इसमें आपको हर्ष शोक कुछ नहीं होता क्योंकि उन्होंने अपनी करनीका फल पाया है। यथा 'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। ७।१२२।', 'जो चेतन कहँ जड करइ जडहि करइ चैतन्य। अस समर्थ रघुनायक । ७।११९।', 'जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ। १।१२४।', 'करउँ सदा तेहि साधु समाना 'बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ। जीव करम बस सुख दुख भागी। २।१७३-४।'
१० डहकि डहकि परिचेहु सब काहू।	१० अर्थात जब प्रेमी लोग नियम व्रतादि करके अधिक खेदको प्राप्त होते हैं तब आप उनको अपने भजनमें लगा लेते हैं। (आपको ठगनेवाला कोई नहीं है। किम्वा किसी बडभागीको शुभाशुभदायक कर्मसे ठगठगकर धीर बनाते हैं। प० प० प्र०)।
११ अति असंक साथा	११ यह सब चरण स्तुतिपक्ष में ही है। [भाव कि आपही सर्वरूप हैं और सबमें हैं, इसीसे निर्भय हैं। यथा 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (श्रुति), 'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्'। 'कर्म सुभासुभ न बाधा' अर्थात् आप कर्मातीत हैं, कर्मबंधन से परे हैं। यथा 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा', 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।' (गीता)। 'तुम्हहि न काहू साधा'—अर्थात् आपकी प्राप्ति साधनसाध्य नहीं है, आपकी कृपासे ही आपकी प्राप्ति होती है। यथा 'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत-उरचंदन। २। १२७।४।' (प० प० प्र०)]
१२ भले भवन अब बायन दीन्हा	१२ भले भवन अर्थात् संतोंके यहाँ आपने नेवता (बायन) दिया अर्थात् उनको पापसे बचाया। इसका फल आप पायेंगे अर्थात् रावणको मारकर यश प्राप्त करेंगे। (प० का पाठ 'पायन' है जिसका अर्थ नेवता किया है)। [कर्मातीत होते हुए भी आप जो कुछ भी करना चाहते हैं उसमें मैं सहायक बन जाऊँ। आपकी इच्छा सफल होगी ही। प० प० प्र०।]

बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा ॥ ६ ॥

कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी ॥ ७ ॥

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारिबिरह तुम्ह होब दुखारी ॥८॥

दोहा—श्राप सीस धरि हरषि हिय प्रभु बहु बिनती कीन्हि।

निज माया कै प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्हि ॥१३७॥

शब्दार्थ—'जवनि' = जौन, जो। 'आकृति' = रूप, मुख। 'अपकार' = अहित, हानि, द्वेष, अनिष्ट साधन, अनभल, अपमान। करषि लीन्हि = खींच लिया।

अर्थ—जो देह धरकर तुमने मुझे ठगा, वही देह धरो, यह मेरा शाप है ॥ ६ ॥ तुमने हमारा रूप बन्दरका सा बना दिया, तुम्हारी सहायता बन्दर ही करेंगे ॥ ७ ॥ तुमने हमारा भारी अपमान और अहित किया, तुम भी स्त्रीवियोगमें दुखी होंगे ॥ ८ ॥ मनमें प्रसन्न होते हुए प्रभुने शापको शिरोधार्य्य कर नारदसे बहुत विनती की (और उसके बाद) कृपानिधान भगवान्‌ने अपनी मायाकी प्रबलताको खींच लिया ॥ १३७ ॥

नोट—१ मुनिके क्रोधका क्या ठिकाना ? वह बातें कह डालीं जो शायद कोई नास्तिक भी मुँहसे न निकालेगा। परन्तु वाह रे कौतुकी भगवान् ! पूरे खिलाड़ी आप ही हैं ! साथके खिलाड़ीके सारे शाप भी अंगीकार कर लेते हैं। मानवी आकृति भी ग्रहण की, वानर सेनासे सहायता भी ली और सीतावियोग में विलाप भी किया। महर्षि वाल्मीकिजीने ठीक ही कहा है कि आप जैसा काछते हैं वैसा ही नाचते हैं। मजाक करनेसे मजाकका नतीजा बरदाश्त करना अधिक कठिन है। भगवान्‌की विनतीका यही रहस्य है।—(लमगोड़ाजी)।

२ (क) इन अर्धालियोंके पूर्वार्द्ध (प्रथम चरण) में 'वंचन' और उत्तरार्द्धमें उसका 'बदला' बताया गया है। (ख) यहाँ जो शाप नारदने दिया है उसमें साधारणतः कोई बुराई नहीं देख पड़ती, वरंच सब अच्छी ही बातें जान पड़ती हैं। जैसे नृपतन धरकर राज्य करना, निशाचरोंकी लड़ाईमें सहायक भी मिल गए। परन्तु तनक ध्यानसे स्पष्ट हो जाता है कि इस अर्थमें जो आशीर्वाद सा जान पड़ता है वह आशीर्वाद नहीं है। (विशेष टि० १ देखिए)।

३ व्याकरण—'करिहहिं'—अन्य पुरुष, बहुवचन, भविष्य क्रिया। यथा धरिहहिं, होइहहिं, हसिहहिं इत्यादि। होब—होंगे, भविष्य क्रिया मध्यम पुरुष। (श्रीरूपकलाजी)।

टिप्पणी—१ 'बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। ' इति। (क) भगवान्‌ने नृपतन धरकर नारदको ठगा था, यथा 'नृपतन धरि तहँ गयउ कृपाला'। इस तरह 'जवनि धरि देहा सोइ तनु' से नृपतन धरनेका शाप दिया। (ख) 'तनु धरहु श्राप मम एहा' का भाव कि तन धारण करना कर्मका फल है, कर्मके आधीन है, पर तुमको शुभाशुभ कर्म बाधा नहीं करते,—(जैसा भगवान्‌ने स्वयं गीता ४।१४ 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।' में कहा है। अर्थात् कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये कर्म मुझको लिपाय मान नहीं करते);—इसीसे तुम्हें मनुष्य नहीं होना पड़ता, अतएव हम शाप देते हैं, हमारे शापसे तुम्हें तन धरना पड़ेगा (अर्थात् ईश्वरसे मनुष्य होना पड़ेगा। हमारे शापसे तुम्हें कर्मका फल भोगना होगा)। (ग) ईश्वरके लिये नरतन धारण करना बड़ी हीनताकी बात है, यथा 'राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी। १।२४।१।' इसीसे मुनिने नरतन धरनेका शाप दिया। (घ) भगवान्‌के किये हुए कर्म और उनके फल जो शाप द्वारा मिले, इन दोनोंका मिलान यहाँ दिया जाता है, चौपाइयोंके भाव भी साथ ही साथ दिखाये जायँगे।

भगवान्‌का किया हुआ कर्म		कर्मका फल जो शापद्वारा मिला
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा	१	सोइ तनु धरहु

☞ (नारदजी कन्याको अपनी स्त्री मान चुके थे, इसीसे वे कहते हैं कि तुमने मुझे ठगा। जो शरीर तुमने धारण किया था, वही हो। नर बने थे, अतः अब नर बनो)।

कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी।	२	करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी ॥

(☞ कोई ईश्वरकी सहायता करे ! और फिर वह भी बंदर ! दोनोंमें ईश्वरकी बड़ी हीनता है। यथा "सुनत बचन बिहँसा दससीसा ॥ जौं असि मति सहाय कृत कीसा। ५।२६।४।" 'सठ साखामृग जोरि सहाई। बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई। ६।२८।१"।)

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी । ३ नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी ।

[पुनः भाव कि तुम्हारी ऐसी असहायावस्था हो जायगी कि बन्दरोंके पास जाकर सहायता माँगोगे । वे तुम्हारी सहायता करेंगे तब तुम्हारा सकट दूर होगा । किष्किन्धाकाण्डमें (वाल्मी० रा० में) श्रीलक्ष्मणजीने हनुमानजीसे यही कहा है । यथा 'लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नाथमिच्छति ।४।१८। पिता यस्य पुरा ह्यासीच्छरण्यो धर्मवत्सलः । तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः । १९ । सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्यः शरणं पुरा । गुरुर्मे राघवः सोऽयं सुग्रीवं शरणं गतः । २० । 'शोकाभिभूते रामे तु शोकार्ते शरणं गते । कर्तुमर्हति सुग्रीवः प्रसादं हरियूथपः । २४ ।' अर्थात् जो पहिले लोकनाथ रह चुके हैं वे सुग्रीवको नाथ बनाना चाहते हैं । जिनके पिता सब लोकोंके शरण्य और धर्मवत्सल थे, वे सुग्रीवकी शरणमें आये हैं । जो सर्वलोकोंके शरण्य थे वे राघव सुग्रीवकी शरणमें आये हैं । ऐसे शोकाभिभूत और शोकार्त्त रामके शरण आनेपर सुग्रीवको चाहिये कि सेनापतियोंके साथ उनपर कृपा करे ।-इस भाँति शापका साफल्य दिखाया (वि०त्रि०)। न०भाव कि तुमने हमारा स्त्रीहरणरूपी अपकार किया । तुम्हारी स्त्रीको राक्षस हरेंगे जिनको हमने राक्षस होनेका शाप दिया है । तुम्हारी स्त्रीको हरण करनेके लिये हमने पहिले ही राक्षस बना दिये हैं । स्त्रीके हरण से हमें दुःख हुआ, हमारी छाती जलती है । वैसे ही तुम दुःखित होगे । स्त्रीका हरण भारी अपकार है । आततायी छः प्रकारके माने गए हैं, उनमेंसे परदारापहरण भारी आततायी कर्म है]।

२—पूर्व तीन बातें कहीं । इन तीनोंको यहाँ चरितार्थ करते हैं—

(१) 'डहकि डहकि परिचेहु सब काहू । अति असंक मन सदा उछाहू' अतः 'बंचेहु मोहि' कहा ।

(२) 'भलेहि मंद मंदेहि भल करहू । बिसमय हरष न हिय कछु धरहू ।' इसीसे 'कपि आकृति तुम्ह०'

(३) 'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई । भावै मनहि करहु तुम्ह सोई ।' इसीसे 'मम अपकार कीन्ह तुम्ह'

३ भगवान्ने नारदकी प्रथम 'कपि आकृति' की, उनको बंदरका रूप दिया, तब राजा बनकर उनको 'बंचेउ' (ठगा), परन्तु यहाँ शाप देनेमें क्रम आगे-पीछे हो गया । अर्थात् पहले नरतन धरनेका शाप दिया, तब बन्दरोंका सहायक होना कहा । इसी तरह अवतारके क्रममें प्रथम 'नारिबिरह' है तब वानरोंकी सहायता पर यहाँ शापमें क्रम उलटा है । कारण यह है कि इस समय मुनिको 'अत्यन्त क्रोध' है इसीसे शाप क्रमसे नहीं है, व्यतिक्रम है । [शापका क्रम अवतारके अनुसार सरस्वती कहला रही है । जब तक नरतन न धरते, युद्ध ही कौन करता और बंदर सहायक ही कैसे होते ? अतएव प्रथम नरतन धरना कहा तब कपिका सहायक होना । (मा० पी० प्र० सं०)]

४ (क) 'श्राप सीस धरि' इति । भगवान् संतको अपनेसे अधिक मानते हैं । बड़ोंके वचन सिरपर धारण किये जाते हैं; यथा 'आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी । १ । ७७ । ४ ।', 'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा । १ । ७७ । २ ।', 'चले सीस धरि राम रजाई' । इसीसे भगवान्ने मुनिके शापको शिरोधार्य किया । अर्थात् आदरपूर्वक अंगीकार किया । यदि शापको शिरोधार्य न करते तो नारदजी प्राण दे देते, ब्रह्महत्या लगती, वे प्रतिज्ञा कर ही चुके हैं—'देहौं श्राप कि मरिहौं जाई' । (ख) 'हरषि हिय' इति । हृदयमें हर्षित हैं, क्योंकि शाप अपनी इच्छाके अनुकूल है । [पुनः भाव कि यह आपका सहज स्वभाव है, आप सदा प्रसन्न वदन रहते हैं; यथा "प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः । मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य" । २ मं० श्लो० २ ।' दूसरे, लीलाका साज अब पूरा-पूरा बन गया, अतएव 'हरषि हिय श्राप सीस धरि' लिया । (मा० पी० प्र० सं०) । तीसरे, आज्ञा शिरोधार्य करनेमें हर्ष होना ही चाहिए । पंजाबीजीका मत है कि हर्ष यह समझकर है कि—(१) किसीके वर या शापसे हमारा कुछ बनता बिगड़ता नहीं । अथवा, (२) इनको काम और क्रोधको जीतनेका अभिमान था सो अब काम और क्रोधसे उनकी क्या दशा हो रही है; इसीपर ये इतने भूले थे । अथवा, (३) हमने इनकी जितनी हँसी कराई उससे

अधिक इन्होंने हमे शाप दे डाला अत हम अब इनके ऋणी नही रह गए'। अथवा, (४) यह हमारे परम भक्त हैं। इन्हें अहंकाररूपी पिशाचने ग्रस लिया था, बहुत अच्छा हुआ कि थोडेहीमें वह निवृत्त हो गया। इससे यह भी दिखा दिया कि वस्तुत प्रभु विस्मय और हर्ष रहित हैं।] (ग) 'प्रभु बहु बिनती कीन्हि' इति। भाव कि आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, तो भी दासकी विनती करते हैं। ऐसा करना समर्थ एव सामर्थ्यकी शोभा है। बहुत विनती यह कि आप व्रह्मपि हैं, मैंने अपने कर्मका फल पाया, जो आपने कहा था कि पावहुगे फल आपन कीन्हा' सो सत्य है, आपका इसमें कुछ भी दोप नहीं है। [भगवान् एक अपने भक्तका ही मान करते हैं। देखिए, इतने कठोर वचनोंपर भी उन्होंने नारदका तिरस्कार न किया। (रा० प्र०)]। नारदजीको बहुत क्रोध है, इसीसे उनको शान्त करनेके लिये बहुत विनती करनी पडी तब वे शान्त हुए। (घ) 'निज माया के प्रबलता ' इति। मायाकी प्रबलताको खींच लेनेमे 'कृपानिधि' विशेषण दिया क्योंकि भगवान्की कृपासे ही माया छूटती है। यथा "अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया। ४ २१।", 'सो दासी रघुवीर कै समुझें मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥ ७ ७१।" (पुन, 'कृपानिधि' कहा, क्योंकि प्रभुने मायाको खींच लिया, इसने मुनिको बहुत सता रक्खा था, बहुत दु ख दिया था)। (ङ) "निज माया बल देखि बिसाला।१ ३२.८।" उपक्रम है और "निज माया कै प्रबलता ' उपसहार है। (च) यद्यपि मुनि मायाके वश मूढ हैं तथा भगवान्की इच्छाके वश हैं तथापि उनकी भक्ति ऐसी दृढ है कि 'तू' 'तेरा' इत्यादि निरादरके शब्द उनके मुखसे नहीं निकले। [(छ) मुनिके हृदयसे मायारूपी खींचकर उन्हें शुद्ध ज्ञान करानेमें 'परिवृत्ति अलकार' की ध्वनि है। (वीरकवि)। मायाकी प्रबलता खींच ली, माया नहीं खींची। पूरी माया खींच लेनेसे मोक्ष हो जाता, लीला ही समाप्त हो जाती। (वि० त्रि०)]

नोट—४ मिलानके श्लोक, यथा "ओकृते व्याकुल विष्णो मामकार्षीर्विमोहक । अन्यकार्षीस्त्वरूपेण येन कापट्य कार्यकृत्। १५। तद्रूपेण मनुष्यस्त्वं भव तद्दु ख भुग्भवे। यन्मुखं कृतवान्मे त्वं ते भवन्तु सहायिन । १६। त्व स्त्रीवियोगज दु ख लभस्व परदु खद। । १७। विष्णुर्जग्राह त शाप । १८।" (अर्थ सरल है। शिवपुराणमें शिवजी की मायासे नारदका मोहित होना और शिवजीका अपनी उस मायाका खींच लेना कहा है)।

> जब हरि माया दूरि निवारी। नहि तहँ रमा न राजकुमारी ॥१॥
> तब मुनि अति सभीत हरिचरना। गहे पाहि प्रनतारतिहरना ॥२॥
> मृषा होउ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला ॥३॥
> मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि मेरे ॥४॥

शब्दार्थ—'निवारी'-हटादी। 'पाहि' (स०)-रक्षा करो।

अर्थ—जब भगवान्ने मायाको दूर कर दिया (तब) वहाँ न रमा ही रह गई और न राजकुमारी ही ॥१॥ तब अत्यन्त सभीत हो मुनिने भगवान्के चरण पकड लिए (और बोले) हे शरणागतके दु खोंको हरनेवाले! मेरी रक्षा कीजिए ॥२॥ हे कृपालु! मेरा शाप झूठा (व्यर्थ) हो जाय। दीनदयाल भगवान् बोले कि हमारी ऐसी ही इच्छा है ॥३॥ मुनि (फिर) बोले कि मैंने बहुत दुर्वचन कहे, मेरे पाप कैसे मिटेंगे ?॥४॥

व्याकरण—'होहु, होउ'-होवे, विधिक्रिया, यथा 'जाहु जाउ'=जावे, 'जरउ, जरहु'-जले। इत्यादि।—(श्रीरूपकलाजी)।

श्रीलमगोडाजी—प्रहसनमें हास्यचरितसे कुकड़ूँ-कूँ बुला ली गई, मानों जी० पी० श्रीवास्तव्यजीका हास्यसूत्र चरितार्थ हो गया। मगर मजा यह कि हमारी सहानुभूति नारदसे पूर्णतया चली नहीं गई और जीत भी बिलकुल एकाङ्गी नहीं है।

टिप्पणी—१ 'जब हरि माया दूरि निवारी' इति । निवारण किया मायाको पर वहाँ साक्षात् लक्ष्मीजी भी न रह गईं । रमा और राजकुमारी दोनोंके न रहनेका भाव यह है कि यदि दोनों वहाँ रहतीं तो माया न कहलाती क्योंकि मायाको तो भगवान्ने दूर ही कर दिया । तात्पर्य कि भगवान् जब (भक्तके हृदयसे) मायाको दूर कर देते हैं तब लक्ष्मी और स्त्री (कंचन, कामनी) दोनों दृष्टिमें नहीं रह जातीं । पुनः भाव कि जब माया दूर की तब नारदके हृदयसे माया निकल गई, बाहर रमा और राजकुमारी देख पड़ती थीं सो भी न रहीं । (पंडितजीका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि ये लक्ष्मी भी असली लक्ष्मी न थीं, केवल नारदजीका क्रोध भड़कानेके लिये राजकुमारीकी तरह वे भी मायाकी ही थीं ।)

नोट—१ यहाँ लोग यह प्रश्न करते हैं कि "मायाके साथ रमाजीको क्यों हटा दिया ?" इसका समाधान यों करते हैं कि "दोनों बनी रहतीं तो समझा जाता कि जिस मायाको निवारण किया वह और कोई माया है । सो नहीं । ये दोनों ही मायाके विशेष रूप हैं (पंजाबीजी) । लक्ष्मीके दो स्वरूप हैं । १—चेतन, स्त्रीरूप । २—जड, मणि मुक्ता सम्पत्ति आदि । नारदको चेतन और जड़ दोनों मायाओंसे निवृत्त किया । रामभक्त श्रीरामजीकी कृपासे दोनोंका त्याग करते हैं । त्याग कैसे करते हैं और उसका चिह्न क्या है सो दिखाते हैं । यथा "काम क्रोध मद लोभ कै जब लगि मन में खानि । तब लगि मूरख पंडितहु दोनों एक समान ।।", "जननी सम जानहिं पर नारी । धन पराय विष तें विष भारी ।।" जब वृत्ति ऐसी हो जाय तब जानो कि राम-कृपा हुई । चिह्न यह है कि धन आदि आया तो उसे परमार्थमें लगा दिया, पास नहीं रखा (प्र० सं०) । त्रिपाठीजी लिखते हैं कि वहाँ रमा और राजकुमारी पहिले भी न थीं पर मायाके बलसे मुनि उनको प्रभुके साथ देखते थे।

प० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'जब भगवान् कृपा करके अज्ञान दूर करते हैं, जीव रमाजीको भगवान्से अभिन्न तत्त्वरूपमें और विद्यामायाको उनकी कृपात्मक इच्छारूपमें पाता है । अतः ये दोनों उनसे भिन्न नहीं रह जातीं ।'

टिप्पणी—२ 'तब मुनि अति सभीत हरि चरना ।...' इति । (क) यहाँ नारदजीके मन, तन और वचन तीनोंका हाल कहते हैं । मनसे सभीत हुए, तनसे चरण पकड़े और वचनसे 'पाहि प्रनतारति हरना' कहा । इस तरह मन, कर्म और वचन तीनोंमें शरणागति दिखाई । (ख) 'तब' अर्थात् मायाके दूर करनेपर । जब माया दूर हुई तब क्रोध और वैर भी चित्तसे निकल गए (क्योंकि ये सब मायाके परिवार हैं । मायाके दूर होनेपर जीवको अपने कर्मोंका भय उत्पन्न होता है, उसे अपना अपराध समझ पड़ता है), नारदमुनिको अपना अपराध समझ पड़ा, तब वे प्रभुके चरणोंपर गिर पड़े । (ग) मन, कर्म और वचन तीनोंकी दशा कहकर साष्टाङ्ग प्रणाम सूचित किया । [आठों अंगोंसे जो प्रणाम किया जाता है उसे साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं । वे आठ अंग ये हैं—जानु, पद, हाथ, उर, शिर, वचन, दृष्टि (कर्म) और मन (बुद्धि) । कोई-कोई नासिकाको एक अंग मानते हैं ।]

३—'मृषा होउ मम श्राप कृपाला ।०' इति । (क) अपने शापके व्यर्थ होनेकी प्रार्थना करते हैं, इससे जनाया कि अपनी वाणी व्यर्थ कर देनेका सामर्थ्य नारदमें नहीं है, यथा 'झूठि न होइ देवरिषि बानी ।', 'होइ न मृषा देवरिषि भाषा ।' (६८.७,४) । भगवान्को सामर्थ्य है । वे शापको न स्वीकार करके उसे व्यर्थ कर सकते हैं, जैसे दुर्वासा और भृगुजीके शापको व्यर्थ कर दिया था । इसी लिये नारदजी भगवान्से विनय करते हैं । (ख) 'कृपाला' का भाव कि हमपर यही कृपा कीजिए कि मेरा शाप मिथ्या हो जाय । पुनः, भाव कि हमने शाप दिया, दुर्वचन कहे तब भी आपके मनमें क्रोध न आया, आप विनय ही करते रहे, ऐसे कृपाल हैं । (ग) 'मम इच्छा कह दीनदयाला' । भाव कि तुम भय न करो । नारदजी अपनी करनी समझ कर दीन हो रहे हैं उनपर आपने कृपा की, 'मम इच्छा' कहकर उनका संतोष किया ।

अर्थ—(भगवान्‌ने कहा कि) शंकर-शतनाम (शंकरशतक) जाकर जपो। (उससे) हृदय तुरत शान्त हो जायगा ॥ ५ ॥ शिवजीके समान मुझे कोई प्रिय नहीं है, यह विश्वास भूलकर भी न छोड़ना ॥६॥

श्रीलमगोडाजी—नारदजीकी नैतिक चिकित्सा पूर्ण हो गई। पश्चात्तापके होते ही अहंकार मिट गया। भगवान्‌ने एक सरल उपायसे उनका उद्धार करा दिया। इलाज कितना अच्छा और पक्का है। टैगोरजी सत्य कहते हैं कि भगवान् हमें कभी-कभी बड़े इनकारसे सीख देते हैं, नहीं तो कुपथ्य पाकर हमारे रोग बढ़ते ही जायँ। शंकरजीके नामजपका रहस्य यह है कि वे ही 'कामारि' हैं।

नोट—१ 'जपहु जाइ संकर सत नामा' इति। (क) शंकर शतनामसे शंकरशतक अभिप्रेत है। जैसे 'विष्णुसहस्रनाम', 'गोपालसहस्रनाम', 'श्रीसीतासहस्रनाम' और 'रामसहस्रनाम' इत्यादि हैं, वैसे ही 'शंकर-शतनाम' (शंकरशतक) है। शिवपुराणमें ब्रह्माजीने नारदजीको इस शतनामका उपदेश दिया है और लिङ्गार्चनतन्त्रमें स्वयं शिवजीने अपने शतनाम पार्वतीजीसे कहे हैं। और अंतमें उसका फल भी कहा है। (पूर्वसंस्करणमें, जो सन् १९२४ सम्वत् १९८२ में प्रकाशित हुआ, शंकरजीके शतनाम न देकर मैंने केवल प्रथमके नाम दे दिये थे। उनको देखकर कतिपय प्रेमियोंने मुझे पत्र लिखकर पूछा। अतएव इस संस्करणमें वे शतनाम यहाँ उद्धृत किये जाते हैं)। (शिवलिङ्गार्चनतन्त्रे शिवपार्वतीसंवादे)

श्रीपार्वत्युवाच—'इदानीं श्रोतुमिच्छामि शिवस्य शतनामकम्। २।'

श्रीसदाशिव उवाच—" मम नाम परार्ध्यं तथैव कथितं मया ॥ ५ ॥ तेषां मध्ये सहस्रं तु सारात्सारं परात्परम्। तत्सारं तु समुद्धृत्य शृणु मत्प्राणवल्लभे ॥ ६ ॥ मम नामशतं चैव कलौ पूर्णफलप्रदम्। केवलं स्तवपाठेन मम तुल्यो न संशयः ॥ ७ ॥ पीठादि न्याससंयुक्तं ऋष्यादि न्यासपूर्वकम्। देवताबीजसंयुक्तं शृणुष्वाऽत्यद्भुतम् ॥ ८ ॥ नारदश्च ऋषिः प्रोक्तोऽनुष्टुप् छन्दः प्रकीर्तितः। सदाशिवो महेशानो देवता परिकीर्तिता ॥ ९ ॥ षडक्षरं महाबीजं चतुर्वर्गप्रदायकम्। सर्वाभीष्टप्रसिद्ध्यर्थं विनियोगः प्रकीर्तितम् ॥१०॥ ॐ महाशून्यो महाकालो महाकालयुतः सदा। देहमध्ये महेशानि लिङ्गाकारेण वेष्टितः ॥ ११ ॥ मूलाधारे स्वयम्भूश्च कुण्डली शक्तिसंयुतः। स्वाधिष्ठाने महाविष्णुस्त्रैलोक्यं पालयेत् सदा ॥ १२ ॥ मणिपूरे महारुद्रः सर्वसंहारकारकः। अनाहते ईश्वरोऽहं सर्वदेवैर्निषेवितः ॥ १३ ॥ विशुद्धाख्ये षोडशारे सदाशिव इति स्मृतः। आज्ञाचक्रे शिवः साक्षात्चिद्रूपेणहिसंस्थितः ॥१४॥ सहस्रारे महापद्मे त्रिकोणनिलयान्तरः। बिन्दुरूपे महेशानि परमेश्वर ईरितः ॥१५॥ वास्वरूपे महेशानि नानारूपधरोऽप्यहम्। कल्पान्त-ज्योतिरूपोऽहं कैलासेश्वरसंज्ञकः ॥१६॥ हिमालये महेशानि पार्वतीप्राणवल्लभः। काश्यां विश्वेश्वरश्चैव बाणेश्वरस्तथैव च ॥१७॥ शम्भुनाथश्चन्द्रनाथश्चन्द्रशेखर पार्वति। आदिनाथः सिंधुतीरे कामरूपे वृषध्वजः ॥१८॥ नेपाले पशुपतिश्चैव केदारः परमेश्वरः। हिंगुलायां कृपानाथो रूपनाथस्तदोद्धकः ॥ १९ ॥ द्वारकायां हरश्चैव पुष्करे प्रमथेश्वरः। हरिद्वारे महेशानि गंगाधर इति स्मृतः ॥ २० ॥ कुरुक्षेत्रे पाण्डवेशो वृन्दारण्ये च ईशानः। गोकुले गोपनीपूज्यो गोपेश्वर इति स्मृतः ॥ २१ ॥ मथुरायां कंसनाथो मिथिलायां धनुर्धरः। अयोध्यायां कृती वामः काश्मीरे कपिलेश्वरः ॥ २२ ॥ काञ्चीनगरमध्ये तु मन्त्रात्म त्रिपुरेश्वरः। चित्रकूटे चन्द्रचूड योगीन्द्रो विन्ध्यपर्वते ॥ २३ ॥ बाणलिंगो नर्मदायां प्रभासे शूलभृत्सदा। भोजपुरे भोजनाथो गयायां च गदाधरः ॥ २४ ॥ झारखंडे वैद्यनाथो वल्केश्वरस्तथैव च। वीरभूमौ सिद्धिनाथो राढे च तारकेश्वरः ॥ २५ ॥ घण्टेश्वरश्च देवेशि रत्नाकर-नदीतटे। गंगाभागीरथीतीरे कपिलेश्वर इतीरितः ॥ २६ ॥ भद्रेश्वरश्च देवेशि कल्याणेश्वर एव हि। नकुलेश कालिघाटे श्रीहट्टे हाटकेश्वरः ॥ २७ ॥ अट्टकोचवधूपुरे जयेश्वर इतीरितः। उत्कले विमलाक्षेत्रे जगन्नाथो हि कलौ ॥ २८ ॥ नीलाचलारण्यमध्ये भुवनेश्वर इतीरितः। रामेश्वरः सेतुबन्धे लंकायां रावणेश्वरः ॥ २९ ॥ रजताचलमध्ये तु कुबेरेश्वर इतीरितः। लक्ष्मीकान्तो महेशानि सदा श्रीशैलपर्वते ॥ ३० ॥ अम्बको गोमतीतीरे गोकर्णे च त्रिलोचनः। बद्रिकाश्रममध्ये तु कपिनाथेश्वरोऽप्यहम् ॥३१॥ स्वर्गलोके देवदेवो मर्त्यलोके

सदाशिव । पाताले वासुकीनाथो यमराट् कालमन्दिरे ॥ ३२ ॥ नारायणश्च वैकुण्ठे गोलोके हरिहरस्तथा । गन्धर्वलोके देवेशो पुष्पगन्धेश्वरोऽह्यहम् ॥ ३३ ॥ श्मशाने भूतनाथश्च गृहे चैव जगद्गुरुः । अवतारे शंकराद्द विरूपाक्षस्तथैव च ॥३४॥ कामिनीजनमध्येतु कामेश्वर इतिस्मृतः । चक्रमध्ये कुलश्चैव मलिनं वदणेश्वरः ॥३५॥ आशुतोषो भक्तमध्ये शत्रूणां त्रिपुरान्तकः । शिष्यमध्ये गुरुश्चाहं तथैव परमो गुरुः ॥३६॥ चन्द्रलोके सोमनाथो स्वर्भानुर्भानुमण्डले । त्रैलोक्ये लोकनाथो हि रुद्रलोके महेश्वरः ॥ ३७ ॥ समुद्रमथने काले नीलकण्ठस्त्रिलोकजित् । जम्बुद्वीपे जगत्कर्ता शाकद्वीपे चतुर्भुजः ॥ ३८ ॥ कुशद्वीपे कपर्दीशः क्रौञ्चद्वीपे कपालभृत् । मणिद्वीपे मीननाथः प्लक्षद्वीपे शशीधरः ॥ ३९ ॥ अहं च पुष्करद्वीपे पुरुषोत्तम इतीरितः । वेदमध्ये वासुदेवो गुह्यमध्ये निरञ्जनः ॥ ४० ॥ पुराणे परमेशानि व्यासेश्वर इतीरितः । आगमे नागमश्चाहं निगमे नागरूपधृक् ॥ ४१ ॥ सर्वज्ञो ज्योतिषां मध्ये योगीशो योगशास्त्रके । दीनमध्ये दीननाथो नाथनाथस्तथैव च ॥४२॥ राजराजेश्वरश्चैव नृपाणां नगनन्दिनि । परं ब्रह्म सत्यलोके ह्यनन्तश्च रसातले ॥ ४३ ॥ आब्रह्मस्तम्बमध्ये तु लिंगरूपोऽहं प्रिये । इति ते कथितं देवि मम नामशतोत्तमम् ।"

यहाँ तक शंकरशतनाम है। आगे १९ उन्नीस श्लोकोंमें इसके पाठका माहात्म्य कहा है—

पठनाच्छ्रवणाच्चैव महापातककोटयः । नश्यन्ति तत्क्षणात् देवि सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ४५ ॥ अज्ञानिनां ज्ञानसिद्धिर्ज्ञानिनां परमं धनम् । अतिदीनदरिद्राणां चिन्तामणिस्वरूपकम् ॥ ४६ ॥ रोगिणां पापिनांचैव महौषधि इतिस्मृतः । योगिनां योगसारं च भोगिनां भोगमोक्षदः ॥ ४७ ॥ इत्यादि । (मा० त० वि० से उद्धृत)।

नारद उवाच काशीनाथशिवास्वामी कन्दर्पदर्पनाशकरः । भूपतिर्भूतनाथश्च भूसुरप्रतिपालकः ॥ १ ॥
भगवान् भूतसंगी च भालज्योतिर्निरंजनः । अन्धकासुरहा शम्भुर्दक्षयज्ञविनाशनः ॥ २ ॥
देवादिदेवो योगीशो नागभूषणो दुःखहा । भस्मार्पितो भवानीशो भावनो भक्तिभाजनः ॥ ३ ॥
विश्वरूपी चिदानन्द अनादिः पुरुषोत्तमः । जगन्नाथो निराकारः पुरध्वंसन ईश्वरः ॥ ४ ॥
नागचर्माम्बरः धूर्जटी जटाधारी जगत्पतिः । जानकीनाथमित्रं च शृङ्गी शर्वः सदाप्रियः ॥ ५ ॥
पद्मासनः शिवार्द्धाङ्गी डमरुमुरलीप्रियः । वृषध्वजो दयाधीशो भूतकर्त्ता करामलः ॥ ६ ॥
नीलकण्ठो निजानंदो निश्चलो निर्मलशिवः । वामदेवो महादेवो भस्मकर्त्ता तमोगुणः ॥ ७ ॥
शृङ्गीशो वीरभद्रादि सूर्य्य कोटिप्रभायुतः । तारकप्राणहर्ता च पिनाकी परमेश्वरः ॥ ८ ॥
पद्माक्षोऽपि परब्रह्म रुद्रादाता जगत्त्रयः । रावणाभयकर्त्ता च रावणावरप्रदः ॥ ९ ॥
मस्तके बालचन्द्रोऽस्य शीर्षे गंगोदकं शुभं । पंचात्मा सुप्रकाशी च पंचनाशैकनाशनः ॥१०॥
मृगचर्मसुवासीनो मृगमदो मघवाहुरः । रुक्मकंधन दाता च रुक्मभूधरमालयः ॥ ११ ॥
वैद्यनाथश्च नंदीशः कालकूटस्य भक्षकः । वाराणसी विलासी च पंचवक्त्रेश्वरो हरः ॥ १२ ॥
हसंसोमाग्निनेत्रश्च भस्मकर्त्ता तमोगुणः । सुगुरुः सुखदो नित्यं निवासी दिगम्बरः ॥ १३ ॥
चन्द्रशेखर सिद्धान्त शान्तभूत सनातनः । सर्वगः सर्वसाक्षी च सर्वात्मा च सदाशिवः ॥ १४ ॥
योगेश्वरो जगत्त्राता जगज्जीवाधिपालकः । जानकीवल्लभापूज्यो रामेश्वरो जलाश्रयः ॥ १५ ॥
श्मशानसदाक्रीडा कपाली करपन्नगः । विघ्नविध्वंसनो नाम बलिपुत्रवरप्रदः ॥ १६ ॥
हृषीकार्थप्रदस्सिद्धिर्ज्योतीरूपी महेश्वरः । शंकरः शतनामानि प्रणीतान्यादियामले ॥ १७ ॥
सर्वकामप्रदान्नित्य प्रातरुत्थाय यः पठेत् । तस्य सर्वफलप्राप्ति शिवश्चण्ड प्रसीदति ॥ १८ ॥
इति श्री ब्रह्मयामले शंकरशतनामस्तोत्रंसमाप्तम् (रा० बा० दा० रामायणीजीसे प्राप्त)

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीने शङ्कर शतनाम स्तोत्र यह दिया है—"अथ श्रीशिवाष्टोत्तरशतनाममहामन्त्रस्य आदिनारायणऋषिरनुष्टुप्छन्दः श्रीसदाशिवो देवता श्रीसदाशिवप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः । वज्रदंष्ट्रं त्रिनयनं

कालकण्ठमरिन्दमम्। सहस्रकरमत्युग्रं वन्दे देवमुमापतिम्॥ ॐ शिवो महेश्वरः शम्भुः पिनाकी शशिशेखरः। वामदेवो विरूपाक्षः कपर्दी नीललोहितः। शङ्करः शूलपाणिश्च खट्वाङ्गी विष्णुवल्लभः। शिपिविष्टोऽम्बिकानाथः श्रीकण्ठो भक्तवत्सलः। भवः शर्वस्त्रिलोकेशः शितिकण्ठः शिवाप्रियः। उग्रः कपाली कामारिरन्धकासुरसूदनः। गङ्गाधरो ललाटाक्षः कालकालः कृपानिधिः। भीमः परशुहस्तश्च मृगपाणिर्जटाधरः कैलासवासी कवची कठोरस्त्रिपुरान्तकः। वृषाङ्को वृषभारूढो भस्मोद्धूलितविग्रहः १५सामप्रियः स्वरमयस्त्रयीमूर्तिरनीश्वरः। सर्वज्ञः परमात्मा च सोमसूर्याग्निलोचनः १६ हविर्यज्ञमयः सोमः पञ्चवक्त्रः सदाशिवः। विश्वेश्वरो वीरभद्रो गणनाथः प्रजापतिः १७ हिरण्यरेता दुर्धर्षो गिरीशो गिरिशोऽनघः। भुजङ्गभूषणो भर्गो गिरिधन्वा गिरिप्रियः १८अष्टमूर्तिरनेकात्मा सात्त्विकः शुद्धविग्रहः। शाश्वतः खण्डपरशुरजः पाशविमोचकः ११ कृत्तिवासा पुरारातिर्भगवान् प्रमथाधिपः। मृत्युञ्जयः सूक्ष्मतनुर्जगद्व्यापी जगद्गुरुः १९ व्योमकेशो महासेनो जनकश्चारुविक्रमः। रुद्रो भूतपतिः स्थाणुरहिर्बुध्न्यो दिगम्बरः १० मृडः पशुपतिर्देवो महादेवोऽव्ययः प्रभुः। पूषदन्तभिदव्यग्रो दक्षाध्वरहरो हरः १२ भगनेत्रभिदव्यक्तः सहस्राक्षः सहस्रपात्। अपवर्गप्रदोऽनन्तस्तारकः परमेश्वरः। तारकः परमेश्वरः। इमानि दिव्यनामानि जप्यन्ते सर्वदा मया। नामकल्पलतेयं मे सर्वाभीष्टप्रदायिनी, नामान्येतानि सुभगे शिवदानि न संशयः। वेदसर्वस्वभूतानि नामान्येतानि वस्तुतः। १५। एतानि यानि नामानि तानि सर्वार्थदान्यतः। जप्यन्ते सादरं नित्यं मया नियमपूर्वकम्। १६। वेदेषु शिवनामानि श्रेष्ठान्यघहराणि च। सन्त्यनन्तानि सुभगे वेदेषु विविधेष्वपि। १७। तेभ्यो नामानि संगृह्य कुमाराय महेश्वरः। अष्टोत्तरसहस्रन्तु नाम्नामुपदिशत्पुरा। इति श्रीगौरीनारायणसम्वादे शिवाष्टोत्तरशतनाम सम्पूर्णम्।"—(कहाँ से यह लिया इसका पता उन्होंने नहीं दिया है)।

मा० त० वि० में 'संकर सत नामा' के और अर्थ ये दिये हैं—'शतरुद्री', वा 'शंकरने जिस नामको सत माना है उसे', वा सत अर्थात् प्रशंसा जो शिवजीका नाम है 'ॐ नमः शिवाय' इत्यादि।

टिप्पणी—१ 'जपहु जाइ संकर सत नामा।' इति। (क) शङ्करशतनाम जपवानेमें भाव यह है कि जब कोई भागवतापराध हो जाता है तो उसका प्रायश्चित भगवन्नामजपसे नहीं होता, किन्तु भागवत-भजनसे, भक्तके शरण होनेसे ही वह पाप नष्ट होता है। इसके उदाहरण दुर्वासा ऋषि हैं (उन्होंने अम्बरीष महाराज परमभागवतका अपराध किया, तब चक्रने महर्षिका पीछा किया, ब्रह्मा, शंकर एवं चक्रपाणि भगवान्की शरण जानेपर भी उनकी रक्षा न हुई। भगवान्ने स्पष्ट कह दिया कि अम्बरीषकी ही शरण जानेसे तुम्हारा दुःख छूट सकता है, अन्यथा नहीं। दुर्वासाजीको भक्तराज अम्बरीषकी शरण जाना पड़ा। भागवत और भक्तमालमें कथा प्रसिद्ध है)। देवर्षि नारदने भागवतापराध किया है। शंकरजी परम भागवत हैं—'वैष्णवानां यथा शम्भुः। भा० १२।१३।१६।" नारदजीने उनका उपदेश नहीं माना (किंतु उनमें ईर्ष्या और स्पर्धाकी भावना रखकर उनको प्रणाम भी न किया), इसीसे उन्हींका नाम जपनेको कहा। अपनेको दुर्वचन कहे इसका भी प्रायश्चित शंकरशतनाम बताया। [भगवान्का स्वभाव है कि 'निज अपराध रिसाहिं न काऊ।२।२१८।४', 'जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।' (वि० २०६), 'अपराध अगाध भए जन तें अपने उर आनत नाहिन जू' (क० ७।७)। अतएव अपनेको कहे हुये दुर्वचनों को तो वे दृष्टिमें लाते ही नहीं। परन्तु 'जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई। २।२१८।५।' इन्होंने परम भक्त श्रीशंकरजीका अपराध किया है, इसलिये मुनिके "मैं दुर्वचन कहे बहुतेरे। पाप मिटिहि किमि मेरे" इन वचनोंके उत्तरमें भी वे "जपहु जाइ संकर सत नामा" यही प्रायश्चित कह रहे हैं। यह कहकर वे नारदजीको संकेतसे बता रहे हैं कि वस्तुतः तुमने शंकरजीका अपराध किया है, जो अक्षम्य है अतः तुम यह प्रायश्चित करो। (शिव पु० में भगवान्ने यही कहा है। यथा 'यदकार्षीरिशवचो वितथं मदमोहितः। स दत्तवानीदृशं ते फलं कर्मफलप्रदः ।रुद्र सं० २।४।२६।' अर्थात् मदसे मोहित होकर तुमने जो शिवजीके वचनोंको

नहीं माना उसीका फल कर्मफलदाताने तुमको दिया। 'जपहु जाइ शंकर सत नामा', यथा "शतनामशिवस्तोत्रं सदानन्दपमनिर्जय। २।४।३७।'), अपने प्रति किये हुए अपराधको तो मैं अपराध गिनता ही नहीं, यदि तुम उसे अपराध मानते हो तो वह भी इसीसे छूट जायगा]

(ख) 'होइहि तुरत हृदय विश्रामा' इति 'तुरत०' से शंकरशतनामका माहात्म्य कहा। अर्थात् इससे जनाया कि भागवतभजनका प्रभाव सद्य होता है, उसका फल शीघ्र ही मिलता है। भगवान्को दुर्वचन कहनेसे नारदजीके हृदयमें संताप है, इसीसे हृदयको विश्राम होना कहा। पापसे विश्रामकी हानि होती है, पापोंके नष्ट होनेसे विश्राम मिलता है।

२ (क) "कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें।" इति। भाव कि सभी जीव हमें प्रिय हैं, यथा "सब मम प्रिय सब मम उपजाये। ७।८६।४।', पर शिवजी अपनी रामभक्तिसे मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। यथा 'पनु करि रघुपति भगति देखाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई। १।१०४।' (ख) 'असि परतीति तजहु जनि भोरें।' इति। भाव यह कि तुमने ऐसी प्रतीतिका त्याग किया था। इसीसे तुमने शंकरजीके वचनोंका प्रमाण न माना, किन्तु उनका अनादर किया। प्रतीतिके त्यागसे ये शिवभक्ति न करेंगे, क्योंकि 'बिनु बिस्वास भगति नहिं', और शिवभक्ति बिना ये हमको प्रिय न होंगे, ऐसा विचारकर भगवान्‌ने ये वचन कहे कि कदापि ऐसा विश्वास न छोड़ना।

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥७॥
अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहि माया नियराई ॥८॥
दोहा—बहु बिधि मुनिहि प्रबोधि प्रभु तब भये अंतरधान।
सत्यलोक नारद चले करत राम गुन गान ॥१३८॥

अर्थ—हे मुनि! जिस पर त्रिपुरारि (शिवजी) कृपा नहीं करते, वह हमारी भक्ति नहीं पाता ॥७॥ हृदयमें ऐसी धारणा करके पृथ्वीपर जाकर विचरते रहो। अब माया तुम्हारे निकट नहीं आवेगी ॥८॥ बहुत तरहसे मुनिको समझा बुझा ढारस देकर तब प्रभु अन्तर्धान हो गए। नारदजी श्रीरामजीका गुण गान करते हुये ब्रह्मलोकको चलते हुए ॥१३८॥

टिप्पणी—१ 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी।०' इति। (क) कृपा न करनेमें 'त्रिपुरारी' नाम दिया। क्योंकि त्रिपुरपर कृपा न की थी। 'जेहि पर' एकवचन देनेका भाव कि भक्ति पानेवाले कोई एक ही होते हैं, बहुत नहीं हैं, इसीसे बहुवचन 'जिन्ह' न कहा, यथा 'कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी।४।१६।' (ख) मिलान कीजिए—'औरौ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि। संकरभजन बिना नर भगति न पावइ मोरि। ७।४५।' (ग) ☞ इन चौपाइयोंके क्रमका भाव यह है कि शंकरनाम जपे तब शंकर कृपा करें, तब हमारी भक्ति मिले, फिर हमारी भक्तिकी प्राप्ति होनेपर माया पास नहीं आती। अतः 'अब न तुम्हहि माया नियराई' यह अन्तमें सबके पीछे कहा। (घ) 'अस उर धरि महि बिचरहु जाई' इस कथनका भाव यह है कि दक्षशापके कारण नारदजी एक जगह नहीं ठहर सकते, अतः 'बिचरहु जाई' कहा। (इससे यह भी जनाया कि भगवान् देवताओंके आशीर्वाद एवं शापको व्यर्थ नहीं करते। अतः कहा कि पूर्ववत् सर्वत्र विचरते रहना, क्योंकि इससे परोपकार होता रहेगा)। और, सन्त अपने सुखसे पृथ्वीपर विचरते रहते हैं,—'फिरत सनेह मगन सुख अपने। नामप्रसाद सोच नहिं सपने। १।२५।', 'सब संत सुखी बिचरंति मही। ७।१४।' (ङ) 'अस' अर्थात् ऐसी धारणा रखकर कि शिवसमान कोई भगवान्को प्रिय नहीं है और बिना उनकी कृपाके श्रीरामजीकी भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। (च) 'महि बिचरहु जाई' अर्थात् विचर-विचरकर पृथ्वीपर भी लोगोंको इसका उपदेश करना। [सन्त परोपकारार्थ विचरा करते ही हैं, यथा 'जड़

जीवन्ह को करै सचेता । जग माहीं विचरत यहि हेता । वै० सं० ६ ।' तुम भी यह उपदेश देकर जगत्का उपकार करना ।] (छ) 'अब न तुम्हहिं माया नियराई' । भाव कि तुमने शंकरजीकी भक्ति न की (उनके वचनोंको न माना, यही भक्ति न करना है, यथा 'आज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी') इसीसे माया तुम्हारे पास आई, अब शंकरनामजपसे हमारी भक्ति दृढ़ बनी रहेगी, इससे माया पास न फटक सकेगी । क्योंकि माया भक्तिको डरती है, यथा 'भगतिहि सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया । ७.११६.५ ।' (ज) 'मायाका नियराना' क्या है ? मायाका व्यापना क्लेश है, यथा 'बारबार कौसल्या विनय करै कर जोरि । अब जनि कबहूँ व्यापै प्रभु मोहि माया तोरि । २०२।' पुनः यथा 'माया संभव भ्रम सकल अब न व्यापिहहिं तोहि । ७ ८१ ।' इत्यादि । भगवान् जिसकी माया दूर कर देते हैं, उसे फिर माया नहीं व्यापती, इसीसे वे कहते हैं कि 'अब न तुम्हहि माया नियराई' । 'नियराई' से जनाया कि हमने माया दूर कर दी है, अब आगे कभी न पास फटकेगी । नियराना = पास जाना । [इसमें यह भी ध्वनि है कि जभी हृदयसे यह बात निकाल दोगे, तभी माया आ दबावेगी । भाव यह कि शंकरविमुख होनेसे भगवान् भी विमुख हो जाते हैं, तब माया अच्छी तरह लपेड़ती है । इसी लिये भगवान् सावधान कर रहे हैं । (मा० पी० प्र० सं०)]

नोट—१ यह भगवान्का आशीर्वाद है ।—'तुलसी जेहि के रघुबीर से नाथ समर्थ सुसेवत रीझत थोरे । कहा भवभीर परी तेहि धौं, बिचरै धरनी तिनसों तिन तोरें'—(क० उ० ४६) ।

मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि 'नारदको तीन कारणोंसे मोह हुआ । १—विप्र (दक्ष) शाप मिथ्या करना, २—शिव अपमान, ३—शेषशय्या पर बैठना । प्रथम दोनोंका प्रतिफल पा गये, तीसरा अपराध जो स्वयं भगवान्का किया उसको उन्होंने क्षमा किया वरन् स्वयं हाथ जोड़कर प्रबोध किया अर्थात् अपना ही दोष स्वीकार किया, पुनः बार बार हृदयमें लगाकर विदा किया।'

टिप्पणी—२ (क) 'बहु बिधि मुनिहि प्रबोधि प्रभु' इति ।—(१) शाप हमारी इच्छा से हुआ, (२) पाप मिटनेका प्रायश्चित्त बताया, (३) अपनी भक्ति का मूल जो शिवभक्ति है उसका उपदेश किया और, (४) यह कहा कि अब माया तुम्हारे पास न आवेगी, यही 'बहु बिधि' का समझाना है । (ख) 'तब भए अंतरधान' अर्थात् जब प्रबोध हो गया तब । अब सब काम पूरा हो गया, कुछ करनेको न रह गया; अतएव अब अंतर्धान होनेका योग्य समय था । ☞ मायाको प्रेरित करने से सब कार्य्य हुआ । ['श्रीपति निज माया तब प्रेरी । सुनहु कठिन करनी तेहि केरी' १२८ (८) उपक्रम है, यहा से मायाका प्रसग चला और 'श्राप सीस धरि हरषि हिय प्रभु बहु बिनती कीन्हि तक उसकी कठिन करनीका वर्णन हुआ । सब कार्य्य मायाके द्वारा यहाँ तक संपन्न हो गया तब "निज माया कै प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्हि । १३७ ।"; यह उपसंहार है । मायाकी प्रबलताको खींच लिया, यहा मायाका नाट्य समाप्त हुआ, यही मानों 'ड्राप सीन' परदेका गिराना है । जब मायाको खींच लिया तभी आपको भी अंतर्धान हो जाना था । पर आपके उस समय अंतर्धान हो जानेसे नारदके हृदयमें संताप बना रह जाता । स्वामीको शाप दिया, अनेक दुर्वचन कहे, यह उनके हृदयको सदा संतप्त रखता, वे शान्ति न पाते, इसीसे नारदको उद्धारका उपाय बताकर, प्रबोध देकर उनका संताप दूर करके 'तब' अंतर्धान हुए ।

३—'सत्य लोक नारद चले०' इति । (क) भगवान्ने तो आज्ञा दी थी कि 'महि बिचरहु जाई' और नारद चले 'सत्यलोक' को । इसका तात्पर्य यह है कि 'महि' (पृथ्वी) सब लोकोंमें है, सब लोक बसे हुए हैं । ये प्रथम सत्यलोकवासियोंको उपदेश करके तब (रजोगुणी) मर्त्यलोक और (फिर तमोगुणी) पातालादि लोकोंके निवासियोंको क्रमशः उपदेश करेंगे । पुनः भाव कि अपूर्व बात सुनकर उसे ब्रह्मलोकमें कहनेकी उत्कंठा हुई, यथा 'नित नव चरित देखि मुनि जाहीं । ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं ॥ सुनि बिरंचि

अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं ॥ सनकादिक नारदहि सराहहिं। जद्यपि ब्रह्मनिरत मुनि आहहिं। ७।४२।' शिवजीकी भक्तिसे रामभक्ति प्राप्त होती है, यह बात नारदकी जानी हुई न थी, इसीसे उन्होंने शिवजीमें प्रेम न किया था। यह समझकर कि यह बात किसीकी जानी हुई नहीं है यदि जानी होती तो भगवान् यह कैसे कहते कि 'औरउ एक गुपुत मत सबहिं कहउँ'। अतएव उसे बतानेके लिए ब्रह्मलोकको गए। [अथवा, नारदका 'संकर सत नाम' रूपी गुप्त पदार्थ मिला है, उसे जपनेके लिये 'सत्य' लोकको चले। अथवा, इनका स्वभाव है कि जब कोई अपूर्व पदार्थ पाते हैं तो पहले ब्रह्मलोकमें ही जाकर उसे प्रकट करते हैं, अतः वहीं प्रथम गए। पुनः, रुद्र स० में भगवान्ने उनसे ब्रह्मलोकमें जाने और उनसे शिवजीकी महिमा पूछनेको कहा है और यह भी कहा है कि वे तुम्हें शंकरजीके शतनामस्तोत्र बताएँगे, यथा "ब्रह्मलोके स्वकामार्थं शासनान्मम भक्तितः ॥ ७२ ॥ स शैवप्रवरो ब्रह्मा माहात्म्यं शंकरस्य ते। भावयिष्यति सुधीरा शतनामस्तवं च हि ॥ ७४ ॥ (२।४)।" अतः वहाँ गए।] (ख) 'चले करत राम गुनगान' यह उपसंहार है, 'एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन गान प्रबीना' १२८ (३) उपक्रम है। बीचमें मोहवश होजानेसे हरिगुणगान छूट गया था। अब मोह निवृत्त होगया तब भगवान्में अनुराग उत्पन्न हुआ। अतएव पुनः गुणगान करते चले, यथा—'मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग'।

नोट—२ यहाँ उपदेश है कि मायाके आवरणसे अपना स्वरूप भूल जाता है, भजन पाठ सब छूट जाता है, महात्माओंका अनादर किया जाने लगता है, मायाकी प्राप्तिके लिए अनेक यत्न किए जाते हैं। इन सबका फल केवल दुःखकी प्राप्ति है और कुछ हाथ नहीं लगता।—'राम दूरि माया प्रबल घटति जानि मन माहिं'—(दोहावली ६९)।

* नारदमोहप्रसंगका अभिप्राय *

नारदको कामके जीतनेका अभिमान हुआ-'जिता काम अहमिति मन माहीं', तब शम्भु ऐसे उपदेष्टाका उपदेश न अच्छा लगा।-'संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सुहान'। उपदेश न लगनेसे उनको मायाकृत प्रपंच देख पड़ा—'बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि०' इत्यादि। तदनन्तर माया देख पड़ी—'आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि' और वे उसे देखकर मोहित हो गए—'बड़ी बार लगि रहे निहारी', ज्ञान वैराग्यको तिलाञ्जलि दे दी—'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी' और 'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने'। मोहित हो जानेसे उनको मायाकी प्राप्तिकी चिन्ता हुई—'नारद चले सोच मनमाहीं', और वे उसकी प्राप्तिका यत्न करने लगे 'करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी'। मायाके लिए यत्न करनेमें स्वरूप बदल गया, यत्न करनेमें हँसी और दुर्दशा हुई, ऐसा जान पड़ा कि विश्वमोहिनी मिलने ही चाहती है, यत्न न सिद्ध होनेसे व्याकुल हुए—'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी'। मायाके लिए ही भगवान्को शाप दिया, दुर्वचन कहे, उनसे विरोध किया। भगवान्की कृपासे मायाकी प्राप्ति न हुई। जब भगवान्ने कृपा की तब यह बात समझ पड़ी। ☞ इस प्रसंगसे यह उपदेश दे रहे हैं कि अभिमानियों और मायासेवियोंकी ऐसी ही दुर्दशा होती है, यही उनकी दशा है।

हरगन मुनिहि जात पथ देखी। बिगत मोह मन हरष बिसेषी ॥१॥
अति सभीत नारद पहिं आए। गहि पद आरत बचन सुनाए ॥२॥
हरगन हम न बिप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फल पाया ॥३॥
श्राप अनुग्रह करहु कृपाला। बोले नारद दीनदयाला ॥४॥
निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ। बैभव बिपुल तेज बल होऊ ॥५॥

शब्दार्थ—"अनुग्रह"=अनिष्ट निवारण, दुःख दूर करनेकी कृपा। शाप-अनुग्रह=शापसे उत्पन्न

अनिष्टका निवारण, यथा "संकर दीनदयाल अब एहि पर होहु कृपाल। साप अनुग्रह होइ जेहि नाथ थोरेही काल ॥ ■ १०८ ।"

अर्थ—शिवजीके गणोंने मुनिको मोहरहित और मनमें बहुत प्रसन्न रास्तेमें जाते देखा ॥१॥ बहुत ही डरे हुए वे नारदजीके पास आए और उनके चरण पकड़कर दीन वचन बोले ॥२॥ हे मुनिराज! हम शिवजीके गण हैं, ब्राह्मण नहीं, हमने बड़ा भारी अपराध किया सो उसका फल पाया ॥३॥ हे कृपालु! शाप निवारणकी कृपा कीजिए। यह सुनकर दीनदयाल नारदजी बोले। तुम दोनों जाकर निशिचर हो। तुम्हारा तेज, बल और ऐश्वर्य बहुत भारी होवे ॥४॥

नोट—१ मिलानके श्लोक, यथा 'अथ तौ विचरन्तौ नारद दिव्यदर्शनम्। शम्भुगणौ तौ तु सुचित्त-मुपजग्मतु ॥३॥ शिरसा सुप्रणम्याशु गणावूचतुरादरात्। गृहीत्वा चरणौ तस्य शापोद्धारेच्छया च तौ ॥४॥ ब्रह्मपुत्र सुरर्षे हि शृणु प्रीत्यावयोर्वच। तवापराधकर्तारावावां विप्रौ न वस्तुत ॥५॥ आवां हरगणौ विप्र तवागस्कारिणौ मुने। ...॥६॥ स्वकर्मण फलं प्राप्तं कस्यापि नहि दूषणम्। सुप्रसन्नो भव विभो कुर्वनुग्रहमद्य नौ ॥८॥ ... वीर्यौ मुनिनरस्याप्त्वा राक्षसेशात्व मादधत्। स्यातां विभवसंयुक्तौ बलिनौ सुप्रतापिनौ ॥१३॥' (रुद्र सं० २।४)।

टिप्पणी—१ (क) 'हरगन मुनिहि जात पथ देखी' इति। नारद शाप देकर जलमें पुन मुँह देखने चले गए थे, वहाँसे चले तो बीचमें भगवान्‌से भेंट हुई। रुद्रगण इनकी राह ताकते रहे कि कब इधर आवें और हम शापानुग्रहकी प्रार्थना करें। (ख) 'बिगत मोह मन हरष बिसेषी' इति। भाव कि पूर्व जब नारदको देखा था तो मोहयुक्त और मनमें विषाद देखा था। वह समय शापानुग्रह करानेके योग्य न था। अब मनमें विशेष हर्ष है, मोह जाता रहा, अत यह शापानुग्रहके लिए सुन्दर अवसर है। (ग) मनका हर्ष और मोह विगत होना कैसे मालूम हुआ? इससे कि अब रामगुणगान करते देख रहे हैं—'सत्यलोक नारद चले करत रामगुन गान'। जबतक मोह और विषादयुक्त रहे तबतक रामगुणगान नहीं किया।

२ (क) 'अति सभीत नारद पहिं आए' इति। पूर्व 'भारी भय' पर ही रुद्रगणोंका प्रसंग छोड़ा था—'अस कहि दोउ भागे भयभारी'। 'भारी भय' से भागे थे, उसी भारीभयसे युक्त अब सामने आए। 'अति सभीत' का भाव कि बड़ा भारी अपराध किया है इससे भारी भय है, सामान्य अपराध होता तो साधारण भय होता, 'बड अपराध कीन्ह फल पावा'। [अथवा, पहिले इन्होंने हँसी मसखरी की थी, 'निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई', इससे भारी भय हुआ था कि मुँह देखनेपर शाप न दे दें, अत 'भागे भय भारी'। जब शाप दे दिया गया कि 'राक्षस हो' तब 'अति सभीत' हो गए। (प्र० सं०)। (ख) 'गहि पद आरतबचन सुनाए', यथा 'आतुर सभय गहेसि पद जाई। त्राहि त्राहि दयाल रघुराई॥ निज कृत कर्म जनित फल पायउँ। अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ। सुनि कृपाल अति आरत बानी। ३.२।' पुन यथा लं० २०—'आरतगिरा सुनत प्रभु अभय करहिंगे ताहि', इस प्रकार आर्त्त होकर बोले जिसमें वे कृपा करें। [मन, कर्म और वचन तीनोंसे मुनिकी शरण आ साष्टाङ्ग पड़ गए, यह बात 'आर्त बचन' में झलक रही है। 'अति सभीत' यह मनकी दशा, 'गहि पद' यह कर्म है और 'आरत बचन सुनाए' यह वचन है।]

३ (क) 'हरगन हम न बिप्र मुनिराया' इति। भाव कि महात्मा लोग निष्कपट निश्छल वचन कहनेसे प्रसन्न होते हैं, इसीसे इन्होंने अपना छल कपट खोल दिया कि हम विप्र नहीं हैं। और, भगवान्‌ने महादेवजीको अति प्रिय बताकर शिवजीमें नारदजीकी निष्ठा कराई है, अतएव यह भी कहा कि हम हरगण हैं जिसमें शिवजीके नातेसे अवश्य हमपर कृपा करें। पुन, कदाचित् मुनिके मनमें ग्लानि हो कि हमने क्रोधवश हो ब्राह्मणोंको शाप दे दिया जैसे भगवान्‌को शाप देनेपर पश्चात्ताप हुआ था, अत उस ग्लानिको मिटानेके लिये कहते हैं कि हम हरगण हैं, विप्र नहीं हैं, इत्यादि। (ख) 'बड अपराध कीन्ह फल पावा' इति। बड़ा अपराध जो किया और उसका फल पूर्व कह आए हैं, यथा 'होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी

पापी दोउ। हँसेहु हमहिं सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ।' (ब्राह्मणोंका अपमान करना बड़ा अपराध है, उसका फल राक्षस होना है), इसीसे यहाँ न कहा। [पुन- 'बड़ अपराध' का भाव कि किसीपर कूट-मसखरी करना 'अपराध' है और सतोंसे भागवतोंसे ऐसा करना 'बड़ा अपराध' है। 'फल पाया' अर्थात् हरगणकी पदवी पाकर उससे च्युत होकर राक्षस होने जा रहे हैं]

४—'श्राप अनुग्रह करहु कृपाला' इति। (क) शाप क्रोधसे होता है, यथा 'वेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा।' और, कृपासे वही शाप अनुग्रह हो जाता है, इसीसे 'कृपाल' संबोधन दिया। [मिलान कीजिए—'जदपि कीन्ह एहि दारुन पापा। मैं पुनि दीन्ह कोप करि श्रापा॥ तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहउँ एहि पर कृपा बिसेषी। ७।१०६।' 'कृपाला' का भाव यह भी है कि आप अपनी कृपासे शापको अनुग्रहरूप कर दीजिए, हमारी करनी ऐसी नहीं है कि वह अनुग्रह रूप हो जाय अपनी कृपालुताकी ओर देखकर कृपा करें। यथा 'स्वेनैव तुष्यतु कृतेन ■ दीननाथः।' क्रोधका शाप दुःखरूप होता है, उसे आप अपनी कृपासे सुखरूप बना दीजिए। हरगण जानते हैं कि देवर्षिके वचन व्यर्थ नहीं हो सकते, इसीसे वे केवल शापानुग्रहकी प्रार्थना करते हैं। और, नारदजीने किया भी ऐसा ही। शाप कायम रक्खा पर उनको विश्वविजयी बनाकर भगवानके हाथ उनकी मृत्यु दी] (ख) 'बोले नारद दीनदयाला' इति। दया करना संतस्वभाव है, संतोंका धर्म है, यथा 'कोमल चित दीनन्ह पर दाया। ७।३८।' नारदजी दीनोंपर दया किया करते हैं, यथा 'नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता। ३।२।' इसीसे रुद्रगणोंको दीन देखकर उन्होंने दया की। 'बड़ा अपराध किया उसका फल यह मिला कि देवतासे राक्षस हुए। अब राक्षसयोनिसे उद्धार आपकी कृपासे होगा'—ये दीन वचन हैं। (दीनदयालुता उनके शापानुग्रहसे आगे दिखाते हैं। प्रणाममात्रसे, 'गहि पद आरत बचन सुनावा' इतने मात्रसे, उनको विश्वभरका राज्य और विपुल वैभवादि सब कुछ दे दिया। 'दीनदयाला' शब्द साभिप्राय है। दीन वचन सुनकर दीनोंपर दया करनेवाला ही पिघल जाता है और आर्तके दुःखको दूर करता है। यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है।)

५ (क) 'निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ' इति। भाव कि हमने जो शाप दिया था कि 'जाइ निसाचर होहु तुम्ह कपटी पापी दोउ' वह अन्यथा न होगा। 'होइ न मृषा देवरिषि भाषा' इसे प्रमाण करके आगे अनुग्रह करते हैं। 'जाइ होहु' अर्थात् शरीर छूटनेपर निशाचर हो, यह बात 'भए निसाचर कालहि पाई' से सिद्ध होती है जो आगे कहेंगे। (ख) 'बैभव बिपुल तेज बल होऊ' अर्थात् राजाओंका वैभव, तेज और बल दिया। जो राजाको होना चाहिए वह देकर आगे राजा होनेका वरदान देते हैं। 'बिपुल' शब्द देहलीदीपक है। विपुलका अर्थ आगे 'भुजबल बिस्व जितब' देते हैं। ☞ (यह अनुग्रह है)। ☞ वैभव, रूप, तेज, बल और नीति ये पाँच अंग राजाओंके अन्यत्र कहे हैं, यथा 'सत सुरेस सम बिभव बिलासा। रूप तेज बल नीति निवासा। १३०।३।' इनमेंसे नारदने इनको तीनही दिए। रूप और नीति इन दो का देना यहाँ नहीं कहा। क्योंकि राक्षसोंमें ये दोनों नहीं होते। राक्षस कुरूप और अन्यायी होते हैं, यथा 'देखत भीमरूप सब पापी। १८३।३।', 'बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं। १८३।', 'करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी।' यदि वे नीतिसे चलें तो राक्षस ही क्यों कहलावें और तब भगवान्का अवतार क्यों होने लगा?

भुजबल बिस्व जितब† तुम्ह जहिआ। धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ॥६॥
समर मरन हरि हाथ तुम्हारा। होइहहु मुकुत न पुनि संसारा॥७॥

---

† १६६१ मे 'जीतब' है।

चले जुगल मुनिपद सिर नाई । भए निसाचर कालहि पाई ॥८॥
दोहा—एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार ।
सुररंजन सज्जन सुखद हरि भंजन भुवि भार ॥१३९॥

शब्दार्थ—जहिआ = ज्योंही, जब । तहिआ = तब । संसारा=आवागमन ।

अर्थ—जब तुम अपनी भुजाओंके बलसे ब्रह्माण्ड भरको जीत लोगे, तब विष्णु भगवान् मनुष्य शरीर धारण करेंगे ॥ ६ ॥ तुम्हारी मृत्यु संग्राममें हरिके हाथोंसे होगी, तुम मुक्त हो जाओगे फिर तुमको संसार न होगा अर्थात् जन्म मरणसे छूट जाओगे ॥ ७ ॥ दोनों गण मुनिको मस्तक नवाकर चले गए और काल पाकर निशाचर हुए ॥ ८ ॥ देवताओंको आनन्द और सज्जनोंको सुख देनेवाले, पृथ्वीका भार भंजन करनेवाले हरि भगवान्ने एक कल्पमें इस कारण मनुष्य तन धारण किया ॥ १३९ ॥

टिप्पणी १ (क)— 'भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिआ' अर्थात् तुम विश्वभरके राजा होगे। यथा 'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र । मंडलीकमनि रावन राज करै निज मंत्र । १८२ ।' वैभव तेज बल और विश्वका राज्य यह सब देकर उनका यह लोक बनाया। जब विश्वभरसे बल अधिक दिया तब यह भी निश्चय पाया जाता है कि उससे वैभव और तेज भी अधिक दिया है। ☞ यहाँ बिपुल बल को चरितार्थ करते हैं कि जब तुम विपुल बलसे विश्वको जीतोगे तब तुम्हारे पास विश्वभरका वैभव हो जायगा। (ख) 'धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ' इति। भगवान्‌की इच्छाके अनुकूल शाप हुआ है इसीसे कहते हैं कि 'धरिहहिं मनुजतनु'। ['जहिआ' और 'तहिआ' से जनाया कि जिस दिन तुम विश्वको जीत लोगे उसी दिन विष्णु नररूपमें अवतीर्ण होंगे। इससे सिद्ध हुआ कि इस कल्पमें रावणने बहुत दिनतक राज्य नहीं किया। (वि० त्रि०)] (ग) 'समर मरन हरि हाथ तुम्हारा' यह मरणकी उत्तमता कही। [संग्राममें मरना यह वीरोंकी शोभा है, यथा 'समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। रामकाजु छनभंगु सरीरा। ७।१९०।' और फिर भगवान्‌के हाथसे तब उस मरणकी प्रशंसा क्या की जाय ?] पुनः, 'हरिहाथ' मरणका भाव कि जब तुम विष्णुका अपराध करोगे तब वे मारेंगे। हरिहाथ मरण होनेसे 'होइहहु मुकुत' कहा, यथा—'रघुबीरसर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।' (घ) 'न पुनि संसारा' का भाव कि एक ही शरीरके बाद मुक्ति हो जायगी, जय विजयकी तरह पुनर्जन्म न होगा। ☞ 'भुजबल बिस्व०' से इहलोक बनाया और यहाँ 'होइहहु मुकुत०' यह परलोक बनाया। (ङ) लोक और परलोक दोनों साधुकी कृपासे बनते हैं।

२—'चले जुगल मुनिपद सिर नाई।' तात्पर्य्य कि मुनिने अच्छी तरहसे शापानुग्रह करदिया, अतः प्रणामसे कृतज्ञता एवं शिष्टाचार सदाचार सूचित किया। (ख) यहाँ मुनिका चलना न कहा क्योंकि पूर्व लिख चुके हैं 'मर्त्यलोक नारद चले करत रामगुन गान।' (मार्ग चलते ही में शापानुग्रह किया)। (ग) 'कालहि पाई'। काल=समय।—मृत्यु। जैसे नारदने भगवान्‌से विनय की थी, वैसे ही रुद्रगणोंने नारदसे की। दोनोंके शापोद्धार-प्रसंगका मिलान यथा—

नारदजी		रुद्रगण
बीचहिं पंथ मिले दनुजारी	१	हरगन मुनिहि जात पथ देखी
तब मुनि अति सभीत हरिचरना	२	अति सभीत नारद पहिं आए
गहे पाहि प्रनतारतिहरना	३	गहि पद आरत बचन सुनाए
मृषा होउ मम श्राप कृपाला	४	श्राप अनुग्रह करहु कृपाला
मम इच्छा कह दीनदयाला	५	बोले नारद दीनदयाला

☞ दोनों मन, कर्म और वचनसे शरण हुए और दोनोंने प्रणाम किया ।
कह मुनि पाप मिटिहि किमि मेरे ६ नइ अपराध कीन्ह फल पाया
☞ भगवान्‌ने कृपा करके नारदको संतोष दिया वैसे ही नारदजीने हरगणोंको—
जपहु जाइ संकरसतनामा ७ बैभव बिपुल तेज बल होऊ
होइहि हृदय तुरत बिश्रामा ८ होइहहु मुकुत न पुनि संसारा
सत्यलोक नारद चले ९ चले जुगल मुनिपद सिर नाई

३ (क)—'एक कलप एहि हेतु प्रभु०' इति । एक दो तीन ऐसी गणना नहीं की, इसीसे सब जगह 'एक' 'एक' पद दिया है, यथा 'एक कलप एहि बिधि अवतारा । चरित पवित्र किए संसारा ।', 'एक कलप सुर देखि दुखारे । समर जलंधर सन सब हारे ।', 'एक कलप एहि हेतु०' । तात्पर्य्य कि अनंत कल्पोंमें भगवान्‌के अवतार हुए हैं इसीसे निश्चय नहीं है कि यह कल्प प्रथम है, यह दूसरा है, यह तीसरा है या क्या ? इत्यादि । (ख) 'लीन्ह मनुज अवतार' का भाव कि अन्य कल्पोंमें अन्य अन्य (वराह, नृहरि, मत्स्य आदि) अवतार हुए हैं, परन्तु इसमें मनुष्य अवतार ही हुआ है क्योंकि 'रावन मरन मनुज कर जाचा ।' (ग) 'सुररंजन सज्जनसुखद हरि भंजन-भुबिभार' अर्थात् इसीसे मनुज अवतार लिया । (घ) ☞ नारदकल्पमें मातापिताका नाम नहीं कहा गया । आगे आकाशवाणीद्वारा कहेंगे, यथा 'कस्यप अदिति महातप कीन्हा । तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥ नारद बचन सत्य सब करिहौं । इत्यादि १८७ (३-६) ।'

☞ नोट—१ श्रावणकुंजकी संवत् १६६१ की प्रतिमें इस प्रसंगमें 'कुँअरि' शब्द चार बार आया है पर दो बार 'अ' पर अनुस्वार है—'जो बिलोकि रीझै कुअँरि तब मेलइ जयमाल । १३१ ।', 'सखी संग लै कुअँरि तब चलि जनु राजमराला । १३४ ।') और दो बार 'अ' पर अनुस्वार नहीं है—'रीझिहि राजकुअरि छबि देखी । १३४ । ४ ।', 'कुअरि हरषि मेलेउ जयमाल । १३५ । ३ ।'] दोहोंमें अनुस्वार है, चौपाइयोंमें नहीं । और भी जो भाव इस भेदमें हों पाठक उसे विचारें ।

नोट—२ किसी-किसीका यह मत है कि ये गण (जो नारदशापसे निशाचर हुए) विश्वविजयी हुए जैसे प्रतापभानु रावण होनेपर विजयी हुआ । क्योंकि नारदवचन असत्य नहीं होता । और कल्पोंमें जो रावण हुए वे कहीं कहीं हारे भी हैं ।

श्रीलमगोड़ाजी—१ तुलसीदासजीकी प्रहसनकला बड़ी स्वाभाविक है वहाँ कृत्रिम हास्यपात्रका पता नहीं जो हमेशा सरसे पैरतक हँसी ही उत्पन्न कराए । ऐसे हास्यपात्रसे उपदेश ही क्या मिलेगा ?

२—तुलसीदासजीकी हास्यकलामें हास्यपात्रका हित होता है क्योंकि उसकी नैतिक चिकित्सा हो जाती है और साथ ही हमारा कौतुक हो जाता है ।

३—इस प्रहसनका अन्तिम परदा बड़ी दूरपर जाकर खुला है । सीताहरणमें दुःखसे पीड़ित भगवान् जब पंपासरोवरपर तनिक विश्राम करते हैं तब नारदजी पहुँचकर प्रश्न करते हैं कि हे भगवन् ! आखिर आपने मुझे विवाह क्यों नहीं करने दिया ? उत्तर बड़ा मार्मिक है, इससे हम यहाँ उसकी आलोचना करनेके निमित्त उसे लिखे देते हैं जिसमें सब प्रसंग साफ हो जाये ।

भगवान् कहते हैं—'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा । भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा । करौं सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी ॥ गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई । तहँ राखइ जननी अरगाई ॥ प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता । प्रीति करै नहिं पाछिलि बाता ॥ मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी । बालक सुत सम दास अमानी ॥ जनहि मोर बल निज बल ताही । दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥ यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं । पाएहु ग्यान भगति नहिं तजहीं ॥ दो० ॥ कामक्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि । तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ॥ ४३ ॥ सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता । मोह बिपिन

कहुँ नारि बसंता ।। जप तप नेम जलाश्रय भारी । होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी ॥ काम क्रोध मद मत्सर भेका । इन्हहि हरषप्रद वर्षा एका ॥ दुर्बासना कुमुद समुदाई । तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ॥ धर्म सकल सरसीरुह बृंदा । होइ हिम तिन्हहि दहइ सुखमंदा ॥ पुनि ममता जवास बहुताई । पलुहहि नारि सिसिर रितु पाई ।। पाप उलूक निकर सुखकारी । नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ॥ बुधि बल सील सत्य सब मीना । बनसी सम त्रिय कहहिं प्रवीना ॥ दो०—अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि । ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि ॥ ४४ ।।'

आलोचना—(१) ज्ञान और भक्तिका मार्मिक अंतर महात्माओंके शब्दोंमें आपको अपने स्थानपर मिलेगा ही । मैं उसके स्पष्टीकरणका अधिकारी भी नहीं । मुझे तो यह दिखाना है कि कौतुकी भगवान्‌की प्रहसन-लीला तथा तुलसीदासकी प्रहसनकलाका मूल स्रोत 'प्रेम' है, केवल 'मखौल' नहीं । (२) जो लोग देश काल और पात्रका विचार नहीं रखते, जो नाटक कलाकी व्याख्याके लिये आवश्यक है, वे बहुधा इन वाक्योंको तुलसीदासजीके स्त्री-जगत्‌के प्रति अन्यायरूपमें पेश किया करते हैं । इस प्रसंगकी विस्तृत व्याख्या मैं 'तुलसीदासजीके स्त्रीसंबंधी कटु वाक्योंकी व्याख्या' 'माधुरी' के एक लेखमें कर चुका हूँ । यहाँ संक्षेपमें इतना कहना काफी है कि नारद एक योगी और मुनि थे, जो त्यागमार्गपर आरूढ़ थे । अतः भगवान्‌ने उन्हें श्री (स्त्री) का रूप और मायाका रूप एक ही बताया । परन्तु उन्हीं रामने विश्वहितके लिये शिवविवाह पार्वतीसे रचाया । स्वयं एकनारी-व्रत रक्खा । और यही अपने रामराज्यका आदर्श स्थापित किया, इसी प्रसंगसे थोड़ी दूर आगे चलकर बालिको डॉटते हुए श्रीरामने कहा है—'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारि सिखावन करेसि न काना ।' क्या यहाँ और रावण-मंदोदरी-प्रसंगमें नारी उपदेशिका रूपमें नहीं है ? तुलसीदासजी नारीकी उस रूपमें ही बुराई करते हैं जिसमें वह "गुल खिलाती" चले और "गुलछर्रे उड़ाते" आये और हमारे पतनका कारण बने, नहीं तो पतिव्रता स्त्री तथा मातारूपमें तो उन्होंने स्त्रीकी सदा प्रशंसा ही की है । खैर, अब नारदजीकी आखिरी अवस्थाका वर्णन देखिये "सुनि रघुपतिके बचन सुहाये । मुनि तन पुलकि नयन भरि आये ॥ कहहु कवन प्रभु कै यह रीती । सेवक पर ममता अरु प्रीती ॥ जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी । ज्ञान रंक नर मंद अभागी ।।" आपने देखा, इस अंतिम दृश्यमें हास्य रस शान्त रसके ऊँची चोटीपर पहुँच गया । फिर मजाकका लुत्फ यह है कि हास्यपात्र हास्यकर्त्ताका अनुगृहीत हो जाय । यही दशा नारदकी अंतिम पदोंमें वर्णित है जो भगवान्‌के कृतज्ञ होकर औरोंको भी भगवत्-भजनका उपदेश करते हैं ।

इस क्रियात्मक हास्यका आनन्द आपको तब मिलेगा जब आप उन साधारण हास्य प्रसंगोंपर विचार करेंगे जिनमें सालियाँ, सरहजें या भावजें अपने 'ललाजी' की सोते समय सेंदूर, टिकुली आदिसे सजावट कर देती हैं । 'ललाजी' जागते हैं पर अपनी दशासे अनभिज्ञ जिधर जाते हैं उधर ही कहकहा पड़ता है । जब किसी इशारेसे समझकर अपना मुँह शीशेमें देखते हैं तो झुँझलाहटकी हद नहीं रहती । नारदकी गति कुछ वैसी ही बनी और खूब बनी कि फिर उम्रभर न भूले और मायाको पास न फटकने दिया ।

एहि बिधि जनम करम हरि केरे । सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे ।।१।।
कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नाना बिधि करहीं ।।२।।
तब तब कथा मुनीसन्ह† गाई । परम पुनीत‡ प्रबंध बनाई ।।३।।

† तब-तब कथा बिचित्र सुहाई । परम पुनीत मुनीसन्ह गाई ।' को० रा० ।
‡ बिचित्र-छ० । पुनीत-१६६१, १७२१, १७६२, १८०४ ।

विबिध प्रसंग अनूप बखानें । करहिं न सुनि आचरजु सयानें ॥४॥
हरि अनंत हरिकथा अनंता । कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता ॥५॥

शब्दार्थ—विचित्र = रंगबिरंगके, बहुत तरहके, अनूठे, आश्चर्यजनक । घनेरे = बहुत । प्रबंध बनाई—१२२ (२,७,८) देखिये ।

अर्थ—इस प्रकार हरिके जन्म और कर्म्म सुन्दर, सुखदायक, विचित्र और अगणित हैं ॥ १ ॥ कल्प कल्प (प्रत्येक कल्प) में (जब जब) प्रभु अवतार लेते हैं और अनेक प्रकारके सुन्दर चरित्र करते हैं ॥२॥ तब तब परम पवित्र काव्य रचना (छंदोबद्ध) करके मुनीश्वर कथाएँ गाया करते हैं ॥३॥ और तरह तरहके अनेक अनुपम प्रसंग वर्णन किया करते हैं । बुद्धिमान् लोग उन्हें सुनकर आश्चर्य नहीं करते ॥४॥ भगवान अनन्त हैं और उनकी कथाका भी अन्त नहीं, सब संत बहुत प्रकारसे कहते सुनते हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी १—'एहि बिधि जनम करम हरि केरे ।' इति । (क) यहाँ तीन कल्पोंके अवतारोंको कहा,—जयविजय, जलधर और नारद । यह कहकर 'एहि बिधि' कहा अर्थात् इसी प्रकार और भी बहुतसे हैं । ☞ पुनः यह अर्धाली ऊपरके 'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार' इस दोहेकी व्याख्या है । दोहेमें जो 'लीन्ह मनुज अवतार', 'सुररंजन सज्जनसुखद हरि भंजन भुबिभार' कहा वही यहाँ क्रमसे 'जनम' और 'करम' है । यह 'एहि बिधि' का भाव हुआ । (ख) 'सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे' । भाव कि अपने रूपसे सुंदर हैं, दूसरोंको सुखदाता हैं और विचित्र अर्थात् रंगबिरंगके, अनेक प्रकारके हैं । 'घनेरे' हैं अर्थात् जो हमने तीन कहे, इतने ही न समझो । आगे इन सब पदों (विशेषणों) की व्याख्या करते हैं । (ग) प्रथम (पूर्व) कहा कि जन्मके 'हेतु' अनेक हैं और विचित्र हैं, यथा 'राम जनम के हेतु अनेका । परम बिचित्र एक तें एका ।' अब कहते हैं कि जन्म और कर्म (स्वयं भी) अनेक (और) विचित्र हैं । (घ) ['विचित्र' का भाव यह भी कहते हैं कि वात्सल्य, सख्य, वीर आदि सभी रसोंके चरित्र किये हैं; यही रंगबिरंगके चरित्र हैं]

२—'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं ।०' इति । (क) भाव कि इसीसे उनके जन्म कर्म घनेरे हैं । 'अवतरहीं' यह जन्म हुआ, 'चरित करहीं' यह कर्म हुआ । 'कलप कलप प्रति' का भाव कि अंतर नहीं पड़ता, प्रत्येक कल्पमें अवतार होता है । (ख) ऊपरकी अर्धाली 'एहि बिधि जनम करम०'-की ही व्याख्या इस अर्धालीमें है ।—'चारु चरित' करते हैं अतएव सुंदर हैं, यथा 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' । चरित सुंदर हैं और अपने भक्तोंके हितार्थ किये जाते हैं, यथा 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं । कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं', अतः सुखद हैं । प्रभु कल्पकल्पमें अवतरित होते हैं और प्रत्येक कल्पमें चरित करते हैं तथा नाना विधिके करते हैं, अतएव 'घनेरे' हैं । 'घनेरे' का भाव कि अगणित हैं, यथा 'जल सीकर महि रज गनि जाहीं । रघुपति चरित न बरनि सिराहीं । ७।५२ ।' [दोहा २५ भी देखिए । और ३६ (६) भी ।]

प० प० प्र०—'कलप कलप प्रति'' से गीता ४।८ के 'संभवामि युगे युगे' इस वाक्यका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया है । इसी प्रकार अनेक स्थलोंमें गीताके अनेक वचनोंका अर्थ स्पष्ट किया गया है । गीता और मानस दोनोंका एक तुलनात्मक छोटासा ग्रन्थ लिखनेकी आवश्यकता है । पंडित लोग इस ओर ध्यान देंगे यह आशा है ।

वि० त्रि०—कालिकापुराणमें कहा है 'प्रत्येक कल्पमें राम और रावण होते हैं । इस भाँति असंख्यों राम और रावण हो गए और होनेवाले हैं । उसी भाँति देवी भी प्रवृत्त होती हैं' । यथा 'प्रतिकल्पं भवेद्रामो रावणश्चापि यत्नतः । एवं राम सहस्राणि रावणानां सहस्रशः । भवितव्यानि भूतानि तथा देवी प्रवर्तते । अ० ६१।३९,४१।' दूसरे अवतार तो कल्पमें कई बार होते हैं पर रामावतार एक कल्पमें एक ही बार होता है । प्रत्येक कल्पके चरितोंमें विधिभेद रहता है, पर चरितका ढाँचा प्रायः एक सा रहता है ।

टिप्पणी—३ तब तब कथा मुनीसन्ह गाई ।०' इति । (क) 'तब तब' का भाव कि प्रत्येक अवतारकी कथा मुनीश्वरोंने गाई है, यथा 'प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी । १२४।४।' मुनि प्रत्येक अवतारकी कथा बनाते (छंदोबद्ध करते) और गाते हैं, इसका कारण पूर्व ग्रंथकार कह आये हैं कि 'करहिं पुनीत सुफल निज बानी ।१३ । ८।' इसीसे यहाँ नहीं कहा। [पूर्व कहा था कि 'बरनी कबिन्ह घनेरी' और यहाँ कहते हैं कि 'मुनीसन्ह गाई' 'प्रबंध बनाई' । इस तरह यहाँ 'कबिन्ह' का अर्थ खोला कि तब तब मुनीश्वर ही कवि हुए और उन्होंने वर्णन किया] (ख) परम पुनीत प्रबंध बनाई' । यह 'कथा' का अर्थ किया। प्रबंध का बनाना ही कथा है,-'प्रबंधकल्पना कथा' । प्रबंधकी कल्पना अर्थात् रचना करते हैं, और वही कथा गाते हैं। 'परम पुनीत' का भाव कि जो इन प्रबंधों को सुनता या गाता है वह भी पवित्र हो जाता है।

४—☞ प्रारंभमें जो शिवजीने अवतारका हेतु कहा था कि 'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजनम कर हेतु । १२१।', उसको इस कल्पकी कथामें भी चरितार्थ किया है।-(१) 'भंजन भुवि भार' से 'असुरोंका मारना और श्रुति सेतुकी रक्षा' कही (असुर भुविभार और श्रुतिसेतुनाशक हैं ही) । (२) 'सुररंजन' से 'सुरोंका थापना' कहा और, (३) कलपकलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नाना बिधि करहीं' से 'जग बिस्तारहिं बिसद जस-' कहा।

५—'बिबिध प्रसंग अनूप बखाने ।०' इति । (क)-पूर्व कविजीने ३३ (४) में कहा था कि 'कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी । नहिं आचरजु करहिं अस जानी' अर्थात् ज्ञानी लोग अलौकिक 'कथा' सुनकर आश्चर्य नहीं करते और अब उपदेश देते हैं कि 'कथाके प्रसंगोंमें भी' आश्चर्य न करना चाहिए। (ख) 'सयाने' अर्थात् ज्ञानी लोग, चतुर। आश्चर्य न करनेका कारण ऊपरके सात चरणोंमें कहकर तब 'करहिं न सुनि, आचरजु' कहा। भाव कि कल्पभेद समझकर आश्चर्य नहीं करते (कथायें विचित्र विचित्र और आश्चर्य-जनक होती ही हैं, इसीसे सावधान करते जाते हैं कि धोखेमें पड़कर कुतर्क न करने लगें)। यथा 'नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा ॥ कलपभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ॥ करिय न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी । ३३ (६-८) ।' तथा यहाँ 'कलप कलप प्रभु...करहिं न सुनि आचरजु सयाने' ।

६ (क) 'हरि अनंत हरिकथा अनंता' । भाव कि हरि और हरिकथा दोनों एक सदृश हैं, जैसे हरि हैं वैसी ही उनकी कथा है, यथा 'जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति बिधि नाना । (ख) कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता' का भाव कि अन्त नहीं पाते चाहे करोड़ों कल्पोंतक क्यों न गावें, यही बात आगे स्वयं कहते हैं,-''रामचंद्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए' । मिलान कीजिए-'महिमा नाम-रूप-गुन-गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा ॥ निज निज मति मुनि हरिगुन गावहिं । निगम सेष सिव पार न पावहिं ।।७.९१ ।' तात्पर्य कि 'कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता ।' सो ये कुछ अन्त पानेकी भावनासे नहीं कहते सुनते हैं, गा-सुनकर वे सब अपनी भक्ति जनाते हैं, प्रेमके कारण गाते हैं, भगवान् उनका प्रबंध सुन उनकी भक्ति देख सुख मानते हैं,—यथा 'प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं । ७ ९१।' अतः सब गाते सुनते हैं। यथा 'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई'।

रामचंद्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए ॥ ६ ॥

यह प्रसंग मैं कहा भवानी। हरिमाया मोहहि[१] मुनि ज्ञानी ॥ ७ ॥

---

१ मोहहिं—पाठान्तर है। अर्थ होगा—'ज्ञानी मुनि हरि मायासे मोहित होते हैं ।' १६६१, १७०४ मे 'मोहहिं' ही है और ठीक है।

प्रभु कौतुकी प्रनतहितकारी। सेवत सुलभ सकल दुखहारी ॥ ८ ॥
सोरठा—सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामायापतिहि ॥१४०॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके सुन्दर चरित करोड़ों कल्पोंतक गाए नहीं चुक सकते ॥६॥ हे भवानी! मैंने यह प्रसङ्ग कहा। ज्ञानी मुनियोंको भी भगवान्‌की माया मोहित कर लेती है ॥७॥ भगवान् कौतुकी और शरणागतका हित करनेवाले हैं। सेवा करनेमें सुलभ और समस्त दुःखोंके हरनेवाले हैं ॥८॥ देवता, मनुष्य, मुनि कोई भी ऐसा नहीं है जिसे परम बलवती माया न मोह ले। मनमें ऐसा सोच विचारकर महामायाके अधिष्ठाता श्रीरामचन्द्रजीका भजन करना चाहिए ॥ १४० ॥

टिप्पणी—१ 'रामचंद्र के चरित सुहाए।०' इति। (क) ☞ 'कहउँ राम गुन गाथ भरद्वाज सादर सुनहु। १२४।' उपक्रम है। अब उसका उपसंहार कहते हैं। 'रामचंद्र के चरित सुहाए०' पर यह प्रसङ्ग समाप्त किया। (ख) 'रामचंद्र के चरित सुहाए' का भाव कि जैसे रामजी चन्द्रमाके समान आह्लादकारी, तापहारी और सुन्दर हैं वैसे ही रामचन्द्रजीके चरित भी हैं। पुनः, 'रामचन्द्र के' कहनेका भाव कि अवतार लेकर चरित्र रामचन्द्रजी हीने किए, ये चरित विष्णुके नहीं हैं। (ग) 'कलप कोटि लगि जाहिं न गाए' का भाव कि भगवान् कल्पकल्पमें अवतरते हैं, कल्पकल्पमें चरित करते हैं, सो उनके एक एक कल्पके ही चरित करोड़ों कल्पोंतक गाए चुक नहीं सकते। पुनः भाव कि रामचन्द्रजीके चरित सुन्दर हैं, आह्लादकारक और तापहारक होनेसे इतने सुखद हैं कि उनको गानेसे कभी मन तृप्त नहीं होता, और अनंत होनेसे गाए चुकते नहीं।

२ (क) 'यह प्रसंग मैं कहा भवानी' इति। भाव कि मुनि लोगोंने विविध अनुपम प्रसंग बखान किये हैं उनमेंसे हमने यह प्रसंग विस्तारसे कहा। पार्वतीजीकी प्रार्थना थी कि 'यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी', उसीपर कहते हैं कि 'यह प्रसंग मैं कहा भवानी'। और जो पार्वतीजीने कहा था कि 'मुनि मन मोह आचरज भारी' उसपर कहते हैं कि 'हरिमाया मोहहिं मुनि ज्ञानी'। (ख) 'प्रभु कौतुकी प्रनतहितकारी' यह उपसंहार है। 'मुनिकर हित मम कौतुक होई। १२६ (६)।' यह जिसका उपक्रम है वह प्रसंग मैंने कहा। तथा 'हरिमाया मोहहिं मुनिज्ञानी' यह प्रसंग [जिसका उपक्रम 'यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनिमन मोह आचरज भारी। १२४।८।' यह अर्धाली है] मैंने कहा। ☞ इस प्रसंगमें हरिमायासे ज्ञानी मुनि नारदको मोह होना वर्णन किया गया है। 'प्रभु कौतुकी प्रनतहितकारी। सेवत सुलभ सकल दुख हारी', प्रभुका कौतुक और प्रणत जो नारद उनका हित करना कथन किया गया है। 'सेवत सुलभ' कहा क्योंकि नारदजी चरणोंपर गिरे इतनी मात्र सेवासे उनका सब दुःख हर लिया।—यह 'यह प्रसंग मैं कहा भवानी' से 'सकल दुखहारी' तक चरणोंके क्रमका भाव कहा गया।

नोट-१ "सेवत सुलभ"—अर्थात् सेवा कठिन नहीं है, यथा "सकृत प्रनाम किहें अपनाये।२ २६६।' "भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै" (वि० १३५), 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।' केवल शरणमें आने हीसे, केवल इतना कहने हीसे कि मैं प्रपन्न हूँ तुम्हारा हूँ, सब काम बन जाता है, यथा "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (गीता)।

टिप्पणी—'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया' इति। (क) 'सुर, नर, मुनि' कहनेका भाव कि ये ज्ञानयुक्त हैं, इन्हें माया मोह लेती है तब और सब जीव किस गिनतीमें हैं वे तो अज्ञान (ज्ञान रहित) हैं ही। यथा 'सिव बिरंचि कहँ मोहई को है बपुरा आन। अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान।' (ख) 'अस विचारि, भजिअ महामायापतिहि' अर्थात् मायापतिके भजनसे माया नहीं व्यापती, यथा 'रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न

सकइ कछु निज प्रभुताई । ७ ११६ ।', 'भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृतिमूल अविद्या नासा ।७.११६।', 'दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरंति ते।' (गीता)। (ग) इस प्रसगके आदि अंतमे भजनका उपदेश दिया है, यथा 'भवभजन रघुनाथ भजु तुलसी तजि मान मद। १२४।' यह आदि है और 'भजिअ महामायापतिहि' यह अंत है। इसका तात्पर्य यह है कि नारद मान मदके कारण मायाके वश हुए, उनकी दुर्दशा हुई, तब और जीव किस गिनतीमे है ?

नोट-२ 'महामायापतिहि'। भाव कि जो उसके पतिकी सेवा करके पतिको अनुकूल बनाये रहेगा उसे तो यह (महामाया) स्वयं डरेगी। अथवा, हमारे पतिकी सेवा यह करता है यह विचारकर प्रसन्न रहेगी और अनर्थ कभी भी न विचारेगी वरन् उसे सब तरह प्रसन्न और सुखी रक्खेगी। दोनों हालतोंमे भला ही होगा।

नोट-३ श्रीशिवजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी और श्रीगोस्वामीजी तीनों वक्ताओंने इस प्रसगको यहां समाप्त किया।

	उपक्रम, प्रारम्भ वा संकल्प	पूर्त्ति वा उपसंहार
श्रीशिवजी	"यह प्रसग मोहि कहहु १२४।८।" "मुनिमन मोह आचरज ।१२४।८।"	"यह प्रसग मैं कहा। १४०।७।" "हरि माया मोहहि मुनि ज्ञानी। १४०।७।"
याज्ञवल्क्यजी	"कहउँ राम-गुन-गाथ। १२४।" "भरद्वाज कौतुक सुनहु। १२४।"	"रामचंद्रके चरित सुहाये। १४०।६।" "प्रभु कौतुकी। १४०।८।"
गोस्वामीजी	"भजु तुलसी तजि मानमद ।१२४।"	"भजिय महामाया पतिहि। १४०।"

"क्षीरशायी भगवान्‌के शापके हेतुसे श्रीरामावतार और तदन्तर्गत नारदमोह"-प्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीमनु-शतरूपा-प्रकरण

अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी ॥१॥
जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुरभूपा ॥२॥
जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा। बंधु समेत धरें मुनि[1] बेषा ॥३॥
जासु चरित अवलोकि भवानी। सती-सरीर रहिहु बौरानी ॥४॥
अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी ॥५॥

शब्दार्थ—बिपिन=वन, जगल, दडकारण्य। बौरानी रहिहु बुद्धि फिर गई थी, विक्षिप्त हो गई थी, सनक सवार हो गई थी। छाया=असर। भूत प्रेतका प्रभाव। आसेबका खलल।

अर्थ—हे गिरिराजकुमारी (पार्वतीजी)! अब और कारण सुनो। मैं विस्तारपूर्वक (यह) विचित्र कथा कहता हूँ ॥१॥ जिस कारण अज, अगुण, अरूप, ब्रह्म अवधपुरीके राजा हुए ॥२॥ जिन प्रभु श्रीरामचन्द्र-जीको भ्रातासहित मुनिवेष धरे वनमे फिरते हुए तुमने देखा था ॥३॥ और हे भवानी! सतीतनमे जिनके चरित्र देखकर तुम बावली हो गई थीं ॥४॥ अब भी तुम्हारी (उस बावलेपन की) छाया नहीं मिटती है, उन्हींके भ्रमरूपी रोगको हरनेवाले चरितको सुनो ॥५॥

---

१ पाठान्तर—नरवेषा-(रा० प०)

टिप्पणी—१ (क) 'अपर हेतु सुनु' । भाव कि रामजन्मके हेतु अनेक हैं और विचित्र हैं, यथा 'रामजन्मके हेतु अनेका । परम विचित्र एक तें एका' । उन अनेकोंमेंसे तीन हेतु कहे । जयविजय, जलंधर और नारद । तीनको कहकर उनका उपसंहार किया । 'एहि बिधि जनम करम हरि केरे, सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे' उनका उपसंहार है । अब अन्य हेतु कहते हैं, इसीसे पुनः 'विचित्र' विशेषण दिया । (ख) 'जेहि कारन अज अगुन अरूपा । ब्रह्म०' अर्थात् और जो कारण कहे वे विष्णु अवतारके हैं, क्षीरशायी नारायण अवतार के हैं । शैलकुमारीका भाव कि तुम्हारे इस प्रश्नसे जगत्‌का उपकार होगा । (शैल परोपकारी होते हैं । तुम शैलकी कन्या हो अतः तुमने परोपकारके लिये ही प्रश्न किया है ।) (ग) 'अज अगुन अरूप' विशेषणोंके देनेका भाव कि पार्वतीजीने तीन विशेषण देकर ब्रह्मको पूछा था, यथा 'रामु सो अवध नृपति सुत सोई । की अज अगुन अलखगति कोई ।१०८.८।' अतएव वही तीन विशेषण देकर शिवजी ब्रह्मके अवतारका हेतु कहते हैं । (घ) 'कोसल पुरभूपा' का भाव कि राजा मनुको ब्रह्मने वर दिया था कि 'होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत । १५१ ।' वही ब्रह्म कोसलपुरभूप हुआ । यह बात शिवजीने उपसंहारमें कही है, यथा 'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथरूप । ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप । ७ ४७ ।'

नोट—१ पंडित रामकुमारजीके मतानुसार इससे पूर्व तीन अवतारोंके हेतु कहे । १—वैकुण्ठसे भगवान् विष्णुका जय विजयके निमित्त । २—वैकुण्ठसे महाविष्णुका जलंधरकी स्त्रीके शापवश, और ३ क्षीरशायी श्रीमन्नारायणका नारद-शापवश, राम अवतार हुआ । परन्तु ये सब अवतार रूपान्तर हैं, चतुर्भुज स्वरूपसे द्विभुज हुए और जो अज अगुण अरूप परात्पर परब्रह्म मनुशतरूपाजीके प्रेमसे प्रगट हुए वे अखण्डैकरस, नित्य, द्विभुज शार्ङ्गधर सीतापति हैं ।—महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'अज अगुण' आदि चार विशेषण देकर त्रिगुणसे परे तुरीय होना सूचित किया (प्र० सं०) ।

२—प० रामकुमारजी एक पुराने खर्रेमें लिखते हैं कि "पार्वतीजीके प्रश्नके समय शिवजीने तीन कल्पकी कथा कहनेकी प्रतिज्ञा की, सो वे कह चुके । अब चौथा कल्प है अतः 'अपर हेतु' शब्द दिए इसे, 'विचित्र' कहा और 'विस्तार' से कहा । रामायणादिसे विलक्षण है ।—'की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ ।' यह तो दो कल्पका अनुमान है जो रमा वैकुंठसे हुए । 'नर नारायन की तुम्ह दोऊ' यह क्षीरशायी कल्पका अनुमान है । 'जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार' यह मनुके प्रसंगका अनुमान है ।" पुनः, "ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद । सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद" यह जो सतीजीका अनुमान है वह स्वायंभू मनुशतरूपाके तपके कल्पकी कथाका अनुमान है । विष्णु जो सुर हित नरतनुधारी । सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी' यह रमावैकुंठनिवासीके कल्पके अवतारका अनुमान है । और 'खोजै सो कि अग्य इव नारी । ग्यानधाम श्रीपति असुरारी' नारदशापकल्पका अनुमान है । गोस्वामीजीकी 'कहनी' रामायणमें चारों कल्पोंकी कथा बराबरसे गुथी है ।

वि० त्रि०—इस अवतारको वल्लभमतमें भी षोडसकल अर्थात् पूर्णावताररूपेण स्वीकार किया है । तीन कल्पोंके अवतारोंका कारण संक्षेपसे कह आये । ब्रह्मके अवतारकी कथा विस्तारसे कहनेका संकल्प है । शेष तीन कल्पोंकी कथाएँ भी वैसी ही हुई थीं, जहाँ कोई विशेषता आ पड़ी है, उसका भी विस्तृत कथामें समावेश कर दिया गया है, वह स्पष्ट मालूम पड़ता है । इस ब्रह्मावतारकी विशेषता यह है कि इसमें श्रीरघुवीरने सब चरित्रोंका अतिशय रूपमें किया है ।

टिप्पणी—२ (क) "जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा' इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि पार्वतीजीके मनमें संदेह न रह जाय कि "हमने जिनको वनमें फिरते देखा वह राम विष्णुके अवतार हैं या ब्रह्मके । ['प्रभुका भाव कि कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ हैं । (रा० प्र०)] (ख) 'बंधु समेत' कहनेका भाव कि उस समय सीताहरण हो चुका था, केवल लक्ष्मणजी साथ थे । 'बिपिन फिरत' से जनाया कि श्रीसीताजीको

खोज रहे थे। 'धरें मुनि बेषा' अर्थात् राज्य त्यागकर विशेष उदासी वेषमें थे (ग) 'जासु चरित अवलोकि०' इति। 'जासु चरित' अर्थात् नारिविरहमें व्याकुल। 'रहिहु बौरानी' का भाव कि मोहपिशाचने तुम्हें ग्रस लिया था क्योंकि जिसे भूत लगता है वह बावला हो जाता है।

३—'अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी।०' इति। (क) 'छाया' का भाव कि अब परिपूर्ण मोह नहीं है, छायामात्र है। प्रमाण यथा 'तव कर अस बिमोह अब नाहीं। १०६।७।' पुनः, 'तव कर अस बिमोह अब नाहीं' एवं 'अजहूँ कछु संसय मन मोरे' जो कहा था उसीके सबंधसे 'अजहुँ न छाया मिटति' कहा। (अभी मोह-पिशाचका प्रभाव गया नहीं है।) ☞ यहाँ यह शंका होती है कि अब भी छाया नहीं मिटी तो तीन कल्पोंके अवतार जो कह आए वे व्यर्थ ही हुए! तीन कल्पोंकी कथासे शंका निवृत्त न हुई! इसका समाधान यह है कि तीन कल्पोंमें विष्णु अवतारकी कथा शिवजीने कही, सो उनकी विष्णु-अवतारमें तो शंका है ही नहीं। उनका स्वयं यह सिद्धान्त है कि विष्णु भगवान् अवतार लेते हैं, यथा 'विष्नु जो सुरहित नरतनु धारी। ५१.१।' शंका है ब्रह्मके अवतार लेनेमें, यथा 'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद।५०।' अतः अब ब्रह्मके अवतारका हेतु कहते हैं। इससे ब्रह्मके अवतारका भ्रम अब दूर होगा। (ख) 'जासु चरित अवलोकि०'। चरित देखकर भ्रम हुआ था, यथा 'देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि। १०८।' इसीको लक्ष्य करके कहते हैं कि 'तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी' जिनके चरित देखकर भ्रम हुआ उन्हींके चरित श्रवण करनेसे भ्रमरोगका नाश होगा। तात्पर्य कि ईश्वरके चरित देखकर भ्रम होता है और चरितको साङ्गोपाङ्ग सुननेसे भ्रम दूर होता है, जैसे सतीजीको एवं गरुड़जीको देखनेसे भ्रम हुआ और सुननेसे उनका भ्रम दूर हुआ। भ्रमरुज कहकर चरित को औषधि सूचित किया। औषधिसे रोग दूर होता है।

लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहौं मति अनुसारा॥ ६॥
भरद्वाज सुनि संकर बानी। सकुचि† सप्रेम उमा मुसुकानी‡॥ ७॥
लगे बहुरि बरनै बृषकेतू। सो अवतार भएउ जेहि हेतू॥ ८॥
दोहा—सो मैं तुम्ह सन कहौं सबु सुनु मुनीस मन* लाइ।
रामकथा कलिमलहरनि मंगलकरनि सुहाइ॥ १४१॥

शब्दार्थ—लाइ=लगाकर। लाना=लगाना।

अर्थ—उस अवतारमें जो लीला की वह सब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार कहूँगा॥ ६॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—) हे भरद्वाज! शंकरजीके वचन सुनकर उमाजी सकुचाकर प्रेमसहित मुस्कुराईं॥ ७॥ फिर धर्मकी ध्वजा शिवजी वह अवतार जिस कारण हुआ उसका वर्णन करने लगे॥ ८॥ 'हे मुनीश्वर! वह सब मैं तुमसे कहता हूँ, मन लगाकर सुनो। रामकथा कलिके पापोंको हरनेवाली, मंगल करनेवाली और सुन्दर है॥ १४१॥

टिप्पणी—१ (क) 'सो सब कहिहौं' का भाव कि तीन कल्पोंकी लीला कुछ भी नहीं कही, केवल अवतारका हेतुमात्र कहा था, इसीसे इस कल्पकी सब लीला कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। (ख) 'मति अनुसारा' का भाव कि भगवान्‌की लीला अनंत है, हम अपनी बुद्धिके अनुसार कहेंगे। अथवा, इस अवतारकी लीला सब कहेंगे, और अन्य अवतारोंकी संक्षेपसे (प्रसङ्गात् कहीं कहीं) कहेंगे। इति भावः। (ग) 'सुनि संकर बानी सँकुचि सप्रेम उमा मुसुकानी' इति। ('शंकर' नाम दिया क्योंकि सर्वप्रकार कल्याण करनेवाले हैं। पार्वतीजीका कल्याण करनेके लियेही यह चरित कहने जा रहे हैं)। शिवजीने जो

† १६६१ में 'संकुचि' है। 'सँकुचि' पढ़ा जायगा। ‡ शिवा हरषानी-(वै०) * उर; चित।-पाठान्तर

कहा था कि 'अजहु न छाया मिटति तुम्हारी' और 'सती सरीर रहिहु बौरानी', यह सुनकर। सँकुची, मुस्कुराकर शिवजीके वचनोंको अंगीकार किया अर्थात् सूचित किया कि आप जो कहते हैं सो सत्य है और 'तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी' यह सुनकर प्रेम हुआ। (पा०)। [(घ) पुनः सकुचानेका भाव कि प्रभुकी परीक्षा लेनेमें मैंने बड़ी अनीति की। अथवा, अपने ओरकी अनीति और प्रभुकी कृपालुता समुझकर सकुचीं। अथवा, बौरानी कहनेसे सकोच हुआ। (रा० प्र०)। साँवली सूरत मोहिनी मूर्तिका स्मरण हो आया, इससे प्रेम हुआ। (प०, रा० प्र०)। अब तक छाया नहीं मिटती, यह उपालभ सुनकर मुसुकाई (प०)। अथवा, भ्रमके भागनेसे अपनेको धन्य मानकर हर्षित हुई। (रा० प्र०)। (ङ) 'सकुच, प्रेम और मुस्कान तीनों भाव एक साथ उत्पन्न होनेसे यहाँ 'समुच्चय अलकार' हुआ।]

वि० त्रि०—एक जन्मके कर्मफलभोग पूरा हो जानेपर भी कर्मलेश रह जाता है जो दूसरे जन्मका कारण होता है। यह कर्मघाटकी बात है, अतः इसे कर्मघाटके वक्ताके मुखसे ही कहलाया।

टिप्पणी—२ (क) "लगे बहुरि बरने ..." इति। पार्वतीजीका प्रश्न है कि 'राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्बरहित सब उर पुर बासी॥ नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥१२०.६-७।' उसीका उत्तर यहाँ 'लगे बहुरि बरने बृषकेतू। ...' से दे चले हैं। 'जो' का सबध 'सो' से है। अर्थात् 'जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा' 'सो अवतार भएउ जेहि हेतू।' (ख) प्रथम हेतु वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की, यथा 'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भएउ कोसलपुर भूपा॥' इसीसे प्रथम हेतु कहते हैं, यथा—'सो अवतार भएउ जेहि हेतू।' तत्पश्चात् चरित वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की, यथा 'तासु चरित सुनु भ्रमरुज हारी।' अतएव इसे पीछे वर्णन करेंगे। (ग) ['बृषकेतु' विशेषणका भाव कि धर्मके पालक हैं, सदा उनकी दृष्टि धर्मपर रहती है, धर्मकी वृद्धिके निमित्त ही वे प्रभुका गुणानुवाद करते हैं। (प०)। अथवा, धर्मकी ध्वजा धारण किये हुए हैं, अधर्मरूप मिथ्या बोलनेवाले नहीं हैं। इस विशेषणसे कथाकी सत्यता सूचित करते हैं। (रा० प्र०)]

३ (क)—"सो मैं तुम्ह सन कहौं सबु ..." इति। अर्थात् जो शिवजी पार्वतीजीसे वर्णन करने लगे थे वह सब मैं तुमसे कहता हूँ। 'सबु' का भाव कि शिवजीकी प्रतिज्ञा 'सब' कहनेकी है, यथा 'लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहौं मति अनुसारा॥' इसीसे याज्ञवल्क्यजी भी 'सब' कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं क्योंकि शिवजीके कथनमें याज्ञवल्क्यजीकी 'कहनी' (कथन) मिली हुई है, यथा "कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद। भएउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटिहि बिषाद। ४७।'

(ख) 'सुनु मुनीस मन लाइ' इति। 'मन लगाकर सुनो' इस कथनका तात्पर्य है कि सुनने योग्य है। (पुनः भाव कि यह परम गुह्य है, गूढ़ है, मन लगाकर न सुननेसे धारण न होगा)। (ग) 'मंगलकरनि सुहाइ' यथा 'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। १।१०।', (घ) ☞ 'कथा उपासना है, कर्म और ज्ञान दोनोंका फल देती है। 'मंगलकरनि' मोक्ष है जो ज्ञानका फल है। 'कलिमलहरनि' यह कर्मका फल है। ['मंगल' शब्द मोक्षवाचक है और ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना', इस तरह 'मगल करनि' से ज्ञानका फल देनेवाली कहा। 'कलिमल' अर्थात् नित्य नैमित्तिक पाप। ये कर्मसे नाश होते हैं। अतः 'कलिमल हरनि' से कर्मफलदातृत्व कहा, यथा 'मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई', 'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की'। (दोहा १० छंद, देखिए)। यहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्ष होनेसे 'सार' अलकार हुआ]

व्याकरण—अवधीभाषामें शब्दके अंतमें उकार प्रायः बोला जाता रहा है। गोस्वामीजीने इसका प्रयोग बहुत किया है जैसे 'सुनु' = सुन, सुनो। गोस्वामीजी 'सूकरखेत' में गुरुजीके साथ बहुत दिन रहे। शूकर क्षेत्रके आसपास इस पार अब तक उकारयुक्त शब्द बोले जाते हैं।

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा । जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा ॥१॥
दंपति परम आचरन नीका । अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका ॥२॥
नृप उत्तानपाद सुत तासू । ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू ॥३॥
लघु सुत नाम प्रियव्रत ताही । वेद पुरान प्रसंसहिं जाही ॥४॥

शब्दार्थ—स्वायंभू=स्वयंभू (ब्रह्माजी) से उत्पन्न सबसे पहले 'मनु' स्वायंभुव । सृष्टि=उत्पन्न जगत् । जगत्‌का आविर्भाव । उत्पत्ति, बनने या पैदा होनेकी क्रिया या भाव । दंपति=स्त्रीपुरुष । लीका (लीक)-रेखा, लकीर, गणना, यथा 'भट महुँ प्रथम लीक जग जासू', 'लछिमन देखत काम अनीका । रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका' । आचरन (आचरण)=व्यवहार, (धर्म) करनेकी रीति भाँति ।

अर्थ—श्रीस्वायंभुव मनु और श्रीशतरूपाजी जिनसे सुंदर उपमारहित मानवी अर्थात् मनुष्यसृष्टि हुई ॥ १ ॥ स्त्रीपुरुष दोनोंका धर्माचरण बहुत अच्छा था । जिनके धर्मकी लीकको वेद (आज दिन) अब भी गाते हैं । (अर्थात् स्वायंभुव मनु और शतरूपाजीकी कथा वेदोंमें लिखी है, सब धर्मात्माओंमें इनकी प्रथम रेखा अर्थात् गणना है) ॥२॥ उनके पुत्र राजा उत्तानपाद हुए जिसके पुत्र भगवद्भक्त श्रीध्रुवजी हुए ॥३॥ जो छोटा पुत्र था उसका नाम प्रियव्रत है, जिसकी प्रशंसा वेद और पुराण कर रहे हैं ॥४॥

नोट—१ 'स्वायंभू मनु अरु सतरूपा' इति ।—श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अ० १२ में सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन है । ब्रह्माजीने अविद्या माया, सनकादि ऋषि, रुद्र, मरीचि आदि दश मानसपुत्र क्रमशः उत्पन्न किए । इनमें सृष्टिकी वृद्धिका कार्य न होता देख मनुशतरूपाको उत्पन्न किया । (ब्रह्मा सृष्टि-वृद्धि न देख चिन्तित हो दैवकी शरण गए, त्योंही उनके शरीरके दो भाग हो गए । उन दोनों खंडोंसे एक स्त्रीपुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ । उनमें जो पुरुष था वह सार्वभौम सम्राट् स्वायंभुव मनु हुए और जो स्त्री थी वह महारानी शतरूपा हुईं)। मनुजी ब्रह्मावर्तमें रहते हुये सात समुद्र पर्यन्त सारी पृथ्वीका शासन करते थे । यथा—'ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम् । भा० ३।२१।२५ ।' मैथुनद्वारा सृष्टिकी वृद्धि इन्हीं मनुशतरूपा द्वारा हुई । और इनकी तीनों कन्याओंके वंशसे जगत् प्रजासे परिपूर्ण हो गया । (भा० ३, १२, ५२-५६) ।

ब्रह्माके एक दिनमें १४ मनु भोग करते हैं । एक-एक मनु अपने-अपने कालमें कुछ अधिक ७१ चतुर्युगी भोग करते हैं । प्रति मन्वन्तरमें भगवान् अपनी सत्त्व मूर्त्ति द्वारा मनु आदिके रूपमें प्रकट होकर उनके द्वारा अपने पौरुषको प्रकाशित करते हुए विश्वकी रक्षा करते हैं । [मनु और मन्वन्तरोंका विस्तारसे वर्णन 'भक्ति सुधास्वाद तिलक (भक्तमालमें) श्रीरूपकलाजीने भाषामें किया है । प्रेमी उसमें भी देख सकते हैं] ।

मनु भगवद्भक्त थे । वे धर्मपूर्वक अनेक विषय भोग एवं प्रजा पालन करने लगे । निद्राभंग होनेपर वे एकाग्र चित्त हो प्रेमसे हरिचरित सुना करते थे । विषय भोग करते हुए भी सकल विषय उनके चित्तपर अपना अधिकार न जमा सके । भगवान् हीमें सदा अनुरक्त रहते, लवमात्र समय भी व्यर्थ न जाने देते थे । इस प्रकार भगवत्प्रसंगसे जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंको जीते हुए तुरीयावस्थामें स्थित होकर उन्होंने लगभग ७२ चतुर्युग परिमिति समय राज्य कर बिताया । गन्धर्व उनकी कीर्त्तिको नित्य प्रति गान करते थे ।

मुनिगणने उनसे धर्मकी जिज्ञासा की तब उन्होंने अनेक प्रकारके कल्याणकारी धर्म, साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म वर्णन किए । इनकी स्मृतियाँ धर्मशास्त्र अबतक प्रमाण स्वरूप हैं । (भा० ३।२२।३२ ३८) ।

इनके दो पुत्र (प्रियव्रत, उत्तानपाद) और तीन कन्याएँ (आकूति, देवहूति, प्रसूति) हुईं । आकूति-

१ ध्रुव—१७२१, छ० । ध्रुव—१६६१,१७०४,१७६२ । २—भक्त—को० रा० ।

का विवाह रुचि प्रजापतिसे, देवहूतिका विवाह महर्षि कर्दम प्रजापतिसे और प्रसूतिका दक्षप्रजापतिसे हुआ। श्रीअनुसूया, अरुन्धती आदि महासती कन्यायें इन्हीं देवहूतिजीकी हुईं। (भा० ३।२४।२२,२३)।

टिप्पणी—१ (क) 'स्वायंभू मनु'। मनु चौदह हो गए हैं। उनमेंसे यह कौन हैं यह भ्रम निवृत्त करनेके लिए 'स्वायभू मनु' कहा। प्रथम ही भ्रम निवारण करके अब आगे सर्वत्र केवल 'मनु' शब्दका प्रयोग करेंगे, यथा 'तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला', 'तहँ हिय हरषि चले मनु राजा', 'मनु समीप आए बहु बारा', 'बोले मनु करि दडवत०' इत्यादि। (ख) 'स्वायंभू मनु' कहकर इन मनुकी उत्पत्ति 'स्वयंभू' से जनाई। आगे इनसे मनुष्यकी उत्पत्ति कहते हैं—'जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा'। (ग) 'नर सृष्टि अनूपा' का भाव कि प्रथम मानसी सृष्टि थी और इनसे मैथुनी सृष्टि हुई। जैसी नर सृष्टि है ऐसी और सृष्टियाँ नहीं हैं, यह जनानेके लिए 'अनूप' कहा। [भगवान्‌का श्रीमुख वचन है कि "मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा। सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब तें अधिक मनुज मोहि भाए। ७ ८६।" अत 'अनूप' कहा। पुन चराचर जीव इसके लिये याचना करते हैं, यही मोक्षको दिलाता है, यथा 'नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही। ७.१२१।', 'नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। ७.४४।' अत 'अनूपा' कहा।] (घ) 'धरम आचरन नीका' का भाव कि चौदहों मनुओंका मुख्य काम यही है कि धर्मका प्रतिपालन करें और करावें। धर्मका आचरण अच्छा कहकर आगे यशका वर्णन करनेका तात्पर्य कि भारी पुण्यसे ऐसे यशकी प्राप्ति होती है, यथा "तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम सरिस सुत जाके॥ बीर बिनीत धरम व्रतधारी। गुनसागर बर बालक चारी' ।※

प० प० प्र०—स्वयंभू विशेषण साभिप्राय है। इस नामसे जनाया कि स्वायम्भुव (प्रथम) मन्वन्तरमें अपने पुत्र होने और अवतार लेनेका निश्चय किया और अवतार हुआ वैवस्वत मन्वन्तर चौबीसवें या उन्नीसवें त्रेतामें। कमसे कम पाँच मन्वन्तर और चौबीस त्रेतायुग इतने प्रदीर्घकालके पश्चात् वरका फल मिला। अवतार-कारण और अवतारकार्यमें इतना प्रदीर्घ काल बीता। इस कालको भगवान्‌ने 'कछु काल' कहा है, यथा 'तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि। १।१५१।' जिस दोहेमें यह वचन दिया वह १५१ वाँ है। इस सख्यासे यह बात जना रहे हैं कि पहले ('१') मन्वन्तरमें वचन दिया फिर बीचमें '५' से जनाया कि ५ मन्वन्तर बीचमें बीत गए तब उनके बादके प्रथम ('१') वैवस्वत मन्वन्तरमें अवतार हुआ।

अवतार-विषयक प्रश्न 'पुनि मनु कहहु राम अवतारा' दूसरा है और ग्रन्थकर्त्ताकी दूसरी प्रतिज्ञा है-'बरनउँ रामचरित भवमोचन। १।२।२।' 'बालचरित पुनि कहहु उदारा' यह तीसरा प्रश्न रामजन्म और बालचरित विषयक है और कविकी तीसरी प्रतिज्ञा है—'कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ। १।१२।६।' इन दोनोंमें अन्तर १४१ पंक्तियोंका ही है। यह भी दो घटनाओंके बीचके कालका सकेत करनेके लिये है। इस प्रकार २२ प्रतिज्ञाओंका सम्बन्ध २२ प्रश्नोंसे है। प्रतिज्ञा, प्रश्न और उनके उत्तरके शब्दोंमें भी ऐसा साम्य रक्खा है कि बुद्धि आश्चर्यचकित होती है। दो प्रतिज्ञाओंमें जो अन्तर है वह कालसूचक है यह गूढ़चन्द्रिकामें स्पष्टतया मिलान करके बताया। हिन्दी मानसप्रेमी विद्वान् इस इशारे पर स्वयं मिलान करके देख लें।

※ 'धरम आचरन नीका', 'अजहुँ गाव श्रुति'। भाव कि नीक (उत्तम) धर्माचरणमें प्रथम और मुख्य हैं। ब्रह्माजीसे वेद हुए और मनु भी। वेदोंके धर्म मनु करते हैं, अतएव कहा कि मनुका आचरण वेद कहते हैं (क्योंकि ये जो आचरण करते हैं वे वेदोंमें हैं) (मा० पी० प्र० स०)। 'गाव श्रुति ' ', यथा 'यन्मनुरवदत् तद्भेषजम्' अर्थात् जो मनु कहते है वही (भवरोगके लिये) भेषज है। वेद अपौरुषेय है। उसमें व्यक्तिविशेषका नाम नहीं है। उसमें जो व्यक्तिविशेषके नाम आते भी हैं, वे पदोंके नाम हैं। प्रत्येक कल्पमें जो पहिले मनु होते हैं, वे स्वायम्भू कहलाते हैं और ऐसे ही ज्ञानी महात्मा होते हैं। (वि. त्रि.)।

टिप्पणी—२ (क) 'नृप उत्तानपाद सुत', ये बड़े पुत्र हैं जैसा आगेके 'लघु सुत नाम प्रियव्रत ताही' से स्पष्ट है, इसीसे इनको प्रथम लिखा। भागवतके मनुके पुत्र जो उत्तानपाद हुए हैं वह छोटे पुत्र हैं। यह उत्तानपाद और मनु और किसी कल्पके हैं। 'कल्पभेद हरि चरित सुहाए' के अनुसार यहाँ भी कल्पभेद है। (ख) 'ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू' इति। जासू=जिस उत्तानपाद के। जैसी बड़ाई पिता माताकी लिखी,—'दंपति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह के लीका' और जैसी बड़ाई छोटे भाई प्रियव्रतकी लिखते हैं,—'वेद पुरान प्रसंसहि जाही', वैसी बड़ाई उत्तानपादकी नहीं लिखते, इसमें आशय यह है कि पुत्रका हरिभक्त होना यह सब बड़ाईकी अवधि (सीमा) है, इसीसे 'ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू' इतना ही लिखकर छोड़ दिया और सब बड़ाई इसके सामने कुछ नहीं है। यथा "सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत। ७ १२७।" (ग) 'नृप उत्तानपाद'। उत्तानपाद जेठे भाई हैं, राज्यके अधिकारी हैं, इसीसे इनको नृप कहा, प्रियव्रतको नृप न कहा। यह राजनीति है कि ज्येष्ठ पुत्र राज्य पावे, यथा 'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति'। [पं० रामकुमारजी यह भी लिखते हैं कि 'जिसका पुत्र हरिभक्त हो वह सब प्रकार बड़ा है, यह विचारकर भागवतका मत न लिखा किन्तु जिस ग्रन्थमें उत्तानपाद ज्येष्ठ पुत्र लिखा है उसीका मत यहाँ दिया।" (नोट—परन्तु मेरी समझमें इस भावसे मानसके शिवकथित-चरित होनेमें त्रुटि आवेगी। कल्पभेद ही ठीक समाधान है। जिस कल्पमें ऐसा हुआ है उसी कल्पके मनुको द्विभुज ब्रह्मका दर्शन और वरदान है।)] (घ) 'वेद पुरान प्रसंसहि जाही' से जनाया कि पिताके सदृश यह भी धर्मात्मा हैं। पिताके धर्मकी प्रशंसा वेद करते हैं, वैसे ही इनकी भी प्रशंसा करते हैं। पुनः भाव कि वेदपुराणोंमें कथा है, हम उनकी कथा विस्तारसे नहीं कहते।

नोट—१ 'उत्तानपाद और ध्रुवजीकी कथा भा० स्क० ४ अ० ८, ९, १०, ११, १२, में देखिए। ध्रुवजी ने ५ वर्षकी अवस्थामें तप करके छः मास हीमें प्रभुको रिझा लिया। ऐसे हरिभक्त'—'पायेउ अचल अनूपम ठाऊँ। १ २६.५।' (मा० पी० भाग १ पृष्ठ ४४५-४४६) कथा देखिए।

२ 'प्रियव्रत'—इन्हींके वंशमें ऋषभ भगवान्‌ने अवतार लिया। वे स्वयं बड़े ही भगवद्भक्त, वैराग्यवान् और विज्ञानी हुए। नारदजीके चरणोंकी सेवाके प्रभावसे उनको सहज ही परमार्थ तत्त्वका ज्ञान हो गया था। ब्रह्मा, मनु, आदि बड़ोंकी आज्ञा मानकर भगवत् इच्छासे उन्हें निवृत्ति मार्ग छोड़ प्रवृत्ति मार्गमें प्रवृत्त होना पड़ा था। इन्होंने विश्वकर्मा प्रजापतिकी बर्हिष्मती नामकी कन्यासे विवाह किया। उससे आग्नीध्रादि दशपुत्र और ऊर्जस्वती नामकी कन्या हुई जो शुक्राचार्यको व्याही गई। तीन पुत्र तो बाल्यावस्थामें ही परमहंस हो गए। शेष सात सातों द्वीपोंके राजा हुए। श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ५ अ० १) में लिखा है कि इन्होंने ११ अर्बुद वर्ष राज्य किया। आपने अपने योगबलसे सात तेजोमय रथ (प्रतिदिन एक) निर्माण किए। इन ज्योतिर्मय रथों पर चढ़कर इन्होंने दूसरे सूर्यके समान सूर्य भगवान्‌के साथ ही साथ सात बार पृथ्वीकी परिक्रमा की। इनके रथके तेजसे रातमें भी सूर्यका सा प्रकाश राज्य भरमें रहता था। आपने सात समुद्र और द्वीपोंकी रचना करके पृथ्वीका विभाग कर दिया, एवं नदी पर्वत और वन आदिसे द्वीपों और खंडोंकी सीमा बना दी। यह करके फिर स्वर्ग आदिके विभवको नरक तुल्य मान तिनकाके सदृश त्याग दिया।

देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ॥५॥
आदि देव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला ॥६॥
सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्वबिचार निपुन भगवाना ॥७॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहु† काला। प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला ॥८॥

† बहु—१७२१, छ०। सब—१६६१, १७०४, १७६२।

सोरठा—होइ न विषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन।
हृदय बहुत दुख लाग जनम गएउ हरिभगति बिनु ॥१४२॥

शब्दार्थ—आदि-देव-सम्पूर्ण सृष्टिके कर्त्ता, जिनसे पहले और कोई नहीं हुआ। जठर=गर्भ, कोख, कुक्षि। साख्यशास्त्र—छ दर्शनोंमेंसे एक यह भी है। इसमें सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम दिया है। इसमें प्रकृति हीको जगत्‌का मूल माना है और कहा गया है कि सत्व, रज, तम गुणोंके योगसे सृष्टिका और उसके सब पदार्थों आदिका विकास हुआ है। इसमें ईश्वरकी सत्ता नहीं मानी गई है। आत्माको पुरुष, अकर्ता, साक्षी और प्रकृतिसे भिन्न कहा गया है। प्रतिपाला पालन किया, तामील की, रक्षा माए। पन (स० पर्वन-विशेष अवस्था)=आयुके चार भागोंमेंसे एक। चौथपन-चौथी अर्थात् वृद्धावस्था।

अर्थ—पुन, देवहूतिजी उनकी कन्या हुई जो कर्दमऋषिकी प्रिय पत्नी हुई ॥५॥ जिनने अपने गर्भमे आदिदेव, समर्थ, दीनदयाल, कृपाल कपिल भगवान्‌को धारण किया ॥६॥ जिन्होंने साख्यशास्त्रका प्रकट बखान किया। वे (कपिल) भगवान् तत्त्वविचारमें बडे निपुण (प्रवीण, कुशल) थे ॥७॥ उन स्वायम्भुव मनुने बहुत कालतक राज किया और सब तरहसे प्रभुकी आज्ञाका पालन किया ॥८॥ घरमें रहते हुए चौथापन हो गया, विषयोंसे वैराग्य न हुआ, जीमें बहुत दु ख हुआ कि जन्म हरिभक्ति बिना व्यर्थ बीत गया ॥१४२॥

टिप्पणी—१ (क) 'देवहूति पुनि तासु कुमारी'—'पुनि' का भाव कि उत्तानपाद और प्रियव्रतके पीछे ये पैदा हुई, दोनो भाइयोंसे ये छोटी है। (ख) 'कर्दम की प्रिय नारी'। भाव कि स्त्रीका पतिप्रिय होना परम धर्म है, यथा 'होइहि सतत पियहि पियारी। ६७ ३।', 'पारबती सम अति प्रिय होहू' इत्यादि। इसीसे 'प्रिय' कहा। (वि० त्रि० कहते हैं कि कर्दम प्रजापतिने बहुत बडी तपस्या करके भगवान्‌से अपने अनुरूप पत्नी माँगी, तब उन्हें देवहूति तपश्चर्याके फलरूपमे प्राप्त हुई, अत 'प्रिय नारी' कहा)। (ग) 'आदिदेव प्रभु दीनदयाला', इन तीन विशेषणोंसे तीन बातें कहीं। 'आदिदेव' से सृष्टिके कर्त्ता, सबके उत्पन्न करनेवाले, 'प्रभु' से समर्थ अर्थात् सबका सहार करनेवाले और 'दीनदयाल' से सबके पालनकर्त्ता जनाया। अथवा, भाव कि सबके पालन करनेमें प्रभु (समर्थ) हैं, दीनदयाल हैं प्रलयकालमें सबको अपने उदरमें रखते हैं। (घ) 'जठर धरेहु जेहि' अर्थात् गर्भाशय वा उदरमें धारण किया। भाव कि जो सृष्टिमात्रको अपने उदरमें रखते हैं उनको इन्होंने अपने उदरमें रक्खा अर्थात् वे इनके पुत्र हुए। (ङ) 'कृपाला' का भाव कि कृपा करके इनके जठर (गर्भ) मे आए। अवतारका कारण कृपा है।

२ (क) 'साख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना' इति। 'प्रगट बखाना' का भाव कि बखानना दो प्रकारका होता है। एक लिखकर दूसरा कहकर। कपिलदेवजीने मातासे कहकर बखान किया, इसीसे 'प्रगट' पद दिया [वा, वेद भी भगवान्‌की ही वाणी है। वेदोंमें सब कुछ है। अब भगवान्‌ने स्वयं प्रगट होकर आचार्यरूपसे उसको प्रत्यक्ष वर्णन किया। असुर (आसुरि) नामक अपने शिष्यको साख्यशास्त्रका ज्ञान कराकर उसके द्वारा जगत्‌मे पुन प्रचार कराया। 'प्रगट' मे भाव यह कि वेदोंमे पूर्वपक्षरूपसे आए हुए साख्यसिद्धान्तका प्रचार किसी कारण वश बंद हो जानेसे प्रकृतिवादका सिद्धान्त लुप्तप्राय हो गया था, इसीसे भगवान्‌ने कपिलरूपसे उसका पुन प्रचार कराया।] अथवा, 'प्रगट बखाना'=साक्षात्कार करके बखान किया। यह कहकर दूसरे चरणमें साख्यशास्त्रका विषय कहते हैं। (ख) 'तत्वबिचार निपुन भगवाना' अर्थात् साख्यशास्त्रमें तत्त्वका विचार है। तत्त्व ऐश्वर्य्य है, उन्हींके विचारमें निपुण है, इसीसे 'भगवान्' कहा। इस तरह भगवान्‌का कपिलदेवरूपमें अवतार कहा और 'साख्यशास्त्र बखाना' यह उनके अवतारका हेतु कहा। (ग) ☞ मनुमहाराजके तीन कन्याएँ हुई। उनमेंसे देवहूतिको यहाँ कहा, क्योंकि इनके उदरसे कपिल भगवान्‌का अवतार हुआ।

नोट—१ "साख्य शास्त्र" इति। इसमें त्रिविध दु खोंकी अतिशय निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है। यह

छः अध्यायोंमें कहा गया है। प्रथम अध्यायमें विषयोंका निरूपण है। दूसरेमें प्रधान कार्योंका वर्णन है। तीसरेमें विषय वैराग्य है। चौथेमें पिंगलकुमारादि विरक्तोंकी आख्यायिका है। पाँचवेमें परपक्षका निर्णय है। और, छठेमें समस्त अर्थोंका संक्षेप है। प्रकृति-पुरुषका ज्ञान ही सांख्यशास्त्रका मुख्य प्रयोजन है।—इस पर सांख्यसूत्र, गौडपादाचार्यका भाष्य, तथा वाचस्पतिमिश्रकी 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।

श०सा०—कपिल भगवान्‌ने सांख्य शास्त्रमें दो ही तत्त्व प्रधान कहे। एक प्रकृति दूसरा पुरुष। प्रकृति दो प्रकारकी कही—प्रकृति और विकृति। मूल प्रकृति अविकृति है और महदादि सप्त प्रकृति विकृति दोनों हैं, पुरुष न प्रकृति है न विकृति। प्रकृतिके २४ तत्त्व हैं—महत्तत्त्व, अहंकार, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्, वाक्, पाणि, पायु, पाद, उपस्थ, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। मूल प्रकृतिसे शेष तत्त्वों की उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है।—प्रकृतिसे महत्तत्त्व (बुद्धि), महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे १६ पदार्थ—दशों ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध), पंच तन्मात्राओंसे पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल इत्यादि)। प्रलयकालमें ये सब तत्त्व फिर प्रकृतिमें क्रमशः विलीन हो जाते हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'तेहि मनु' इति। 'तेहि' का संबंध 'जेहि' से है। 'जिन्ह तें भै नर सृष्टि अनूपा', 'अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह के लीका', 'तेहि मनु'। 'तेहि' अर्थात् जिनके ऐसे ऐसे पुत्र और कन्यायें हुईं, जिनकी संतानसे भक्त और भगवान दोनोंके अवतार हुए उन स्वायंभुव मनुने। (ख) 'राज कीन्ह बहु काला' अर्थात् बहुत काल पर्यन्त राज्य सुख भोग किया। उसके बादका हाल आगे कहते हैं। बहुत काल राज्य करनेका कारण दूसरे चरणमें कहते हैं कि 'प्रभु आयसु सब विधि प्रतिपाला'। 'प्रभु' से यहाँ ब्रह्माको समझना चाहिए (जैसा श्रीमद्भागवतसे स्पष्ट है। अथवा, वह भी भगवान्‌की ही आज्ञा थी,—'ईस रजाइ सीस सब ही के')। मैथुन द्वारा मनुष्य सृष्टि करके प्रजाकी वृद्धि की, प्रजाका पालन किया, धर्मका आचरण किया जैसा ऊपर कह आए। यह सब प्रभुकी आज्ञा थी। उन्हींकी आज्ञासे बहुत दिन राज किया, नहीं तो उनको कुछ भोगकी इच्छा न थी—यह भाव 'प्रभु आयसु सब विधि प्रतिपाला' का है। [(ग) वेदमें जो वाक्य आज्ञारूपसे कहे गये हैं। जैसे—सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव, इत्यादि—सत्य बोलो, धर्माचरण करो, माँको देवता मानो; इत्यादि), ये ही धर्म हैं। वेद ईश्वरके वाक्य हैं। अतः उसकी आज्ञा प्रभुकी आज्ञा है। (वि० त्रि०)। 'बहु काला' अर्थात् ७१ चतुर्युग राज्य करनेपर जब फिर सत्ययुग आया तब उसके भी लगभग १८५१४२ वर्ष और कुछ दिन राज्य किया। तब तपस्या करने गए।—(वै०)]

नोट—२ "प्रभु आयसु बहु विधि प्रतिपाला" इति। भा० स्कं० ३ अ० १३ में यह कथा यों है कि—"*मनुशतरूपाजीके उत्पन्न होनेपर इन दोनोंने ब्रह्माजीसे प्रार्थना की कि हमें जो आज्ञा दीजिए वह हम करें।* ब्रह्माजीने आज्ञा दी कि 'तुम अपने सदृश संतान उत्पन्न करके धर्मसे प्रजाका पालन करो और यज्ञ करके यज्ञ पुरुषका भजन करो। इससे मेरी परम शुश्रूषा होगी और परमेश्वर प्रजापालनसे तुम पर प्रसन्न होंगे।" प्रभुकी प्रसन्नता तथा ब्रह्मा (पिता) की आज्ञाको अपना धर्म समझकर इतने कालतक राज्यकर प्रजाका पालन किया, राज्यभोगकी इच्छासे नहीं। (अ० १३ श्लोक ६-१४)। पुनः,

३—'सब विधि' अर्थात् "प्रभुकी आज्ञा जिस विधिकी थी उसी सब विधिसे उसका पालन किया। यहाँ प्रभुकी आज्ञा धर्मपालन है। अतएव आज्ञा पालनहीको धर्म ठहराकर इस प्रसंगको धर्म ही पर संपुट किया। (प्र० सं०)। अथवा, ४-प्रभुकी आज्ञा वेद है। वेदके अनुसार राज्य धर्म प्रजापालन आदि और आश्रमधर्मानुरूप धर्म किये। (रा० प्र०)। अथवा, ५-वेदमें जितने विधि कर्म हैं वे सब किये। इत्यादि। इससे मनुजीका श्रद्धातिरेक दिखाया।

टिप्पणी—४ 'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन' इति। (क) चौथापन वैराग्यका समय

है । चौथेपनमें राजाओंके लिए वन जानेकी आज्ञा नीतिमें है, यथा 'संत कहहिं असि नीति दसानन । चौथेपन जाइहि नृप कानन' (६ ७), 'अतहु उचित नृपहि बनबासू । २।५६।' अत जब चौथापन आया तब वैराग्य उत्पन्न हुआ । पुन भली प्रकार धर्मका सेवन करनेसे वैराग्य उदय होता है । धर्म सेवन ऊपर लिख आए,—'दंपति धरम आचरन नीका' । अत अब वैराग्य हुआ । इसीसे प्रथम धर्म कहकर तब यहाँ वैराग्य होना और तब भक्ति क्रमसे कही । (ख) 'जनम गएउ हरि भगति बिनु' इति । वैराग्यसे भगवत् धर्मकी प्राप्ति होती है, वही यहाँ कहते हैं कि वैराग्य न हुआ, जन्म हरिभक्ति बिना व्यर्थ बीता जा रहा है । धर्मसे वैराग्य और वैराग्यसे भक्ति होती है, यथा "प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीती । निजनिज धरम निरत श्रुति रीती ॥ एहि कर फल पुनि विषय बिरागा । तब मम धरम उपज अनुरागा । ३।१६ ।' (ग) 'बहुत दुख लाग' के कारण दो कहे, एक तो यह कि विषय भोग करते युगके युग बीत गए, दूसरे यह कि घरमें बसते हुए चौथापन हो गया, जन्म भगवद्भक्तिरहित बीता जा रहा है । ☞ विषयभोग तथा भवनमें बसे रहने इन दोनोंकी ओरसे ग्लानि हुई । तात्पर्य्य कि अब दोनोंको त्याग देना चाहते हैं, क्योंकि विषयभोगमें भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती, यथा 'राम प्रेम पथ पेखिए दिये विषय तन पीठि । तुलसी केंचुलि परिहरे होति साँपहू डीठि ।' [☞ देखिए मनुमहाराजको 'विषय और भवन' दो की ग्लानि हुई और छोटे-बडे सभी जीवोंका आजकल प्राय इन दोनोंकी ही चाहमें सारा जन्म बीत जाता है और मरते समय भी इनकी तृष्णा नहीं जाती ।] बिना हरिभक्तिके जन्म व्यर्थ गया, इस कथनमें 'प्रथम विनोक्ति अलकार' है ।

नोट—४ 'भवन बसत भा चौथपन' कहकर सूचित किया कि चौथेपनके आ जानेतक इन्होंने राज्य किया । (पंजाबीजी लिखते हैं कि मनुजीका विषयोंमें आसक्त होना नहीं कहा जा सकता । अतएव 'विराग' का अर्थ 'त्यागका अवकाश' लेना चाहिये । अर्थ है कि गृहस्थीमें विषयोंसे वैराग्यका अवकाश नहीं मिलता, यह चिन्ता हुई । वैराग्यका उदय यहाँ लोकशिक्षार्थ है ।)

☞ ५ – जिन मनुमहाराजके कुलमें ध्रुव प्रियव्रत आदि ऐसे ऐसे परमभक्त हुए उनका यह सिद्धान्त है कि घरमें विषयोंसे वैराग्य होना कठिन है । यथा "सुरराज सों राज-समाज, समृद्धि विरंचि, धनाधिप सों धनु भो । पवमान सो, पावक सो, जम सोम सो पूषन सो, भवभूषन भो ॥ करि जोग समाधि समीरन साधिकै, धीर बडो बसहू मन भो । सब जाइ सुभाय कहै तुलसी जो न जानकि जीवनको जन भो ॥" (क० उ० ४२), "झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर जरे मद अंबु चुचाते । तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौनके गौनहु तें बढ़ि जाते ॥ भीतर चंद्रमुखी अवलोकति बाहर भूप खडे न समाते । ऐसे भए तौ कहा तुलसी जो पै जानकी नाथके रंग न राते ॥ (क० उ० ४४) ।"

प्रियव्रतके मनमें जब वैराग्य उत्पन्न हुआ, उनके उस समयके विचार श्रीमद्भागवतमें यों दिए हैं कि "वह ऐसा विचार करके पश्चात्ताप करने लगे कि अहो ! राज्य भोगमें पडकर मैं मगल मार्गसे भ्रष्ट हो गया । अहो ! मैंने बहुत ही बुरा किया । इन्द्रियोंने मुझे अविद्या रचित विषम विषयोंके गढेमें गिरा दिया । मेरा जन्म ही वृथा बीता जाता है । बस अब विषय भोगको त्याग करना चाहिए "—(स्कंध ५ अ० १) । यथा 'अहो असाध्वनुष्ठितं यदाभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचितविषमविषयान्धकूपे । तदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृग मां धिग्धिगिति गर्हयाञ्चकार । ३७ ।'

६—मनुजीने आयु भर धर्म्म हीका पालन किया उनको तो पश्चात्ताप न होना चाहिए था । गोस्वामी-जीकी उपदेश शैली बडी अद्भुत है । धर्म्मोंसे सुख भोग प्राप्त होता है, भक्ति की प्राप्ति नहीं होती और बिना भक्तिके मुक्ति नहीं—'बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धात अपेल' । इसीको यहाँ पुष्ट कर रहे हैं । अन्य धर्म्म करना सूदपर रुपया लगाना है— (स्नेहलताजी)

बरबस राज सुतहि तब* दीन्हा । नारि समेत गवन बन कीन्हा ॥१॥
तीरथ बर नैमिष बिख्याता । अति पुनीत साधक सिधि दाता ॥२॥
बसहिं तहाँ मुनि सिद्ध समाजा । तहँ हिय हरषि चलेउ मनु राजा ॥३॥
पंथ जात सोहहिं मतिधीरा । ज्ञान भगति जनु धरें सरीरा ॥४॥
पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा । हरषि नहाने निरमल नीरा ॥५॥

शब्दार्थ—बरबस = (बल + बश) = हठात्, जबरदस्ती । धेनुमति=गोमती । तीरथ (तीर्थ)=पवित्र स्थान जहाँ धर्मभावसे लोग यात्रा, पूजा, स्नान, दर्शनादिके लिये जाते हों । साधुओंका दर्शन भी तीर्थ है ।

अर्थ— तब (उन्होंने) हठात् (विवश होकर) पुत्रको राज्य दिया और स्त्री सहित वनको चलते हुए ॥ १ ॥ तीर्थ में श्रेष्ठ, अत्यन्त पवित्र और साधकोंको सिद्ध कर देनेवाला नैमिषारण्य (नीमसार तीर्थ) प्रसिद्ध है ॥ २ ॥ वहाँ मुनियों "और सिद्धों" के समाजके समाज बसते हैं । मनु महाराज मनमें प्रसन्न होकर वहाँ को चले ॥ ३ ॥ धीरबुद्धि (राजा और रानी) मार्गमें चलते हुए (ऐसे) शोभित हो रहे हैं मानों ज्ञान और भक्ति ही शरीर धारण किये हुए (जा रहे) हैं ॥ ४ ॥ वे जाकर गोमती नदीके तटपर पहुँचे और निर्मल जलमें प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने स्नान किया ॥ ५ ॥

टिप्पणी— १ 'बरबस' शब्द से पुत्र की पितृभक्ति दिखाई। और, 'नारि समेत' कहकर रानी का पातिव्रत्यधर्म दिखाया और सूचित किया कि वानप्रस्थ धर्म्म धारण किया है । यहाँ 'सुत' से जनाया कि राज्य ज्येष्ठ पुत्रको दिया । बड़ा ही पुत्र राज्याधिकारी होता है इसीसे उसके साथ प्रथम ही नृपपद दे आए हैं । यथा 'नृप उत्तानपाद सुत जासू' ।

नोट—१ पं० रामकुमारजी के मतानुसार उत्तानपादको राज्य हुआ क्योंकि वह बड़ा लड़का था कल्पान्तर भेदसे ऐसा हो सकता है ।

इस प्रसंगके विषयमें श्रीमद्भागवत आदिमें जो इतिहास मिलता है उससे ऐसा जान पड़ता है कि उत्तानपाद और फिर उनकी सन्तान राज्य भोग करते रहे । साथ ही यह भी इतिहास है कि मनु महाराजने प्रियव्रतको बरबस राज्य देकर वनगमन किया । उत्तानपादके विषयमें बरबस राज्य दिया जाना नहीं पाया जाता । इन दो परस्पर विरोधी बातोंका मेल यों हो सकता है कि मनुको मन्वन्तर भोग करना होता है पर उनकी सन्तानको तो वह आयु मिलती नहीं पृथ्वीका राज्य उन्होंने उत्तानपादको दिया, उनके बाद ध्रुवजी आदि राजा हुए । प्रियव्रतजी तपस्या करते रहे । नारदजीसे ज्ञान पाकर वे निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ होगए थे । मन्वन्तर समाप्त होने के पूर्व ही राजा उत्तानपादके वंशमें कोई न रह गया तब प्रियव्रतको जबरदस्ती राज्य दिया । मनुजीके कहनेपर भी उन्होंने राज्य करना स्वीकार न किया । तब ब्रह्माजीने आकर समझाया । यह कथा स्कं० ५ अ० १ में है ।

इस प्रकार कहीं विरोध नहीं रह जाता । अथवा, यही कह सकते हैं कि 'कल्प भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ॥ करिय न संसय अस जिय जानी" इस भावकी पुष्टि श्रीसन्तसिंह पंजाबीजी-की टीकासे होती है । और स्वामी श्री पं० रामवल्लभाशरणजीकी भी सम्मति इसमें पाई जाती है ।

२ "नैमिष' 'नैमिषारण्य' (नीमखार)—यह स्थान अवधके सीतापुर जिलेमें है । इसके सम्बन्ध में दो प्रकार की कथाएँ हैं । (१) वराहपुराण में लिखा है कि इस स्थानपर गौरमुख नामक मुनिने निमिष मात्रमें असुरोंकी बड़ी भारी सेना भस्म कर दी थी इसीसे इसका नाम नैमिषारण्य पड़ा । (२) देवीभागवतमें लिखा है कि ऋषि लोग जब कलिकालके भयसे बहुत घबराये तब ब्रह्मा ने उन्हें एक मनोमय चक्र देकर कहा कि तुम

* नृप—भा० दा०, १७२१, को० रा० । पुनि-छ० । तब-१६६१, १७०४, १७६२;

लोग इस चक्रके पीछे चलो, जहाँ इसकी नेमि (घेरा, चक्कर) विशीर्ण हो जाय उसे अत्यन्त पवित्र स्थान समझना। वहाँ रहनेसे तुम्हें कलिका कोई भय न रहेगा। कहते हैं कि सूतजी (सौति मुनि) ने इस स्थान पर ऋषियोंको एकत्र करके महाभारतकी कथा कही थी। (३) विष्णु पुराणमें लिखा है कि इस क्षेत्रमें गोमती में स्नान करनेसे सब पापों का क्षय होता है।

नोट—३ ऊपरके 'होइ न बिषय··' इस दोहेमें तीन बातें कही थीं। उन्हींको अब चरितार्थ करते हैं। 'होइ न बिषय बिराग' अतएव 'बरबस राज सुतहि तब दीन्हा'। 'भवन बसत भा चौथपन हृदय बहुत दुख लाग', अतएव राज्य त्यागकर 'गवन बन कीन्हा'। और, जो पूर्व कहा कि 'जनम गएउ हरिभगति बिनु' इसके सम्बन्धमें आगे कहेंगे कि 'बासुदेव-पद पंकरुह दंपति मन अति लाग'।

४ (क) "साधक सिधि दाता। बसहिं तहाँ मुनि सिद्धि··" इति।—साधक लोग सिद्धि पाकर सिद्ध हो जाते हैं और साधनरहित होकर वहाँ बसते हैं। विषयी, साधक और सिद्ध तीन प्रकारके जीव संसारमें हैं, यथा—'विषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने। २।२७७।' इनमेंसे वहाँ केवल साधक और सिद्ध बसते हैं, विषयी नहीं, अतएव दोहीका बसना कहा। (ख) 'हिय हरषि'—मनका हर्षित होना कार्य्य-सिद्धिका शकुन है, यथा 'होइहि काज मन हरष बिसेषी', 'हरषि चले मुनि भय हरन'।

५—नैमिषारण्य ही क्यों गए अन्यत्र क्यों नहीं? इसके विषयमें बाबा सरयूदासजी लिखते हैं कि "तपके लिए सत्ययुगमें नैमिषारण्य, त्रेतायुगमें पुष्कर, द्वापरमें कुरुक्षेत्र और कलियुगमें गंगातट विशेषरूपसे शीघ्र फलदायक कहे गए हैं, यथा कूर्मपुराणे—"कृते तु नैमिषं तीर्थं त्रेतायां पुष्करं वरम्। द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गा विशिष्यते" (बाबा सरयूदासकी गुटकासे)।

टिप्पणी—२ 'पथ जात सोहहिं·· ज्ञान भगति··' इति।—पृथ्वीभरका राज्य छोड़ पैदल, नंगे पैर पंथमें चलना, भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी शोभा है। ज्ञानी वैरागी भक्त कहलाकर सवारी विशेष संग लेना शोभा नहीं है। [(ख) धीर = जिनके मनमें कामक्रोधादिके वेगसे उद्वेग न हो। यथा 'वेगेनावध्य मानेऽप्यमिने कामक्रोधयोः। नदिते धीमना धैर्यबले भूयसि तेजसि।' (भ० गु० द० । वै०)। धीर मति = स्थिर बुद्धि वाले। (ग) करुणासिंधुजी लिखते हैं कि दंपति भगवान्‌की प्राप्तिके लिए जा रहे हैं। भक्ति और ज्ञान भी भगवत् प्राप्ति करते हैं, अतएव दंपति राहमें जाते ऐसे जान पड़ते हैं मानों भक्ति और ज्ञान ही प्रभुसे मिलने जा रहे हैं। यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। (घ) 'हरषि नहाने निर्मल नीरा' इति।—उत्साहपूर्वक स्नान करनेका माहात्म्य बहुत है, उत्साह भंग होनेसे धन धर्म्म नष्ट होता है। 'निर्मल नीरा' से जनाया कि वर्षा ऋतु नहीं है। ३१. ६, ४४ ४, ४४ ८ देखिए। तीर्थमें जाय तो प्रथम उसका माहात्म्य सुने। माहात्म्य सुननेसे स्नानमें उत्साह होता है और तब हर्षपूर्वक स्नान किया जाता है। उसी नियमसे यहाँ स्नान जनाया। यथा 'गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥ तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए। २१२.२-३।', 'चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ। आइ नहाए सरित बर सिय समेत दोउ भाइ। २.१३२।' 'कहि सिय लषनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई॥ करि प्रनाम ।··मुदित नहाइ··। २.१०६।', 'देखु परम पावनि पुनि बेनी। हरनि सोक हरिलोक निसेनी॥ 'पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी हरषित मज्जनु कीन्ह। ६ ११९।' इत्यादि]

आए मिलन सिद्ध मुनि ज्ञानी। धरमधुरंधर नृपरिषि जानी॥ ६॥
जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए। मुनिन्ह सकल सादर करवाए॥ ७॥

कृस सरीर मुनिपट परिधाना । सत† समाज नित सुनहिं पुराना ॥ ८ ॥
दोहा—द्वादश अच्छर मंत्र पुनि‡ जपहिं सहित अनुराग ।
वासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग ॥ १४३ ॥

शब्दार्थ—नृपरिषि = राजर्षि । परिधान (सं०) = नीचे पहननेका वस्त्र । = पहननेका वस्त्र । = कपड़ा पहनना ।

अर्थ—धर्मधुरंधर राजर्षि जानकर सिद्ध, मुनि और ज्ञानी उनसे मिलने आए ॥ ६ ॥ जहाँ-जहाँ सुन्दर तीर्थ थे, वे सब मुनियोंने उनको आदरपूर्वक करा दिए ॥ ७ ॥ शरीर दुबला है, मुनिवस्त्र (वल्कल कोपीन आदि) उनके पहननेके वस्त्र थे । वे सतसमाजमें नित्यप्रति पुराण सुना करते थे ॥८॥ और प्रेमपूर्वक द्वादशाक्षर मन्त्र जपते थे। "वासुदेव" भगवान्‌के चरणकमलोंमें राजा-रानीका मन बहुत ही लग गया ॥१४३॥

नोट—१ 'आए मिलन सिद्ध मुनि०' इति । राजाके पास मुनिगण आए । इसका कारण यह है कि मनुमहाराज बड़े ही धर्मधुरंधर राजा हुए । मुनिगण जहाँ वैराग्य और अनुराग अत्यंत पाते हैं वहाँ उनका आदर करते हैं । राज्य छोड़ वानप्रस्थ ले लिया है, अतएव अब राजर्षि हैं—(श्रीरूपकलाजी) । पुन ये तो मानों ज्ञान भक्तिकी मूर्ति ही हैं अतएव मुनिगण मानों अपने उपास्यके स्वरूपसे मिलने आए ।

बाबा रामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि "सिद्ध लोग इससे मिलने आए कि जिन विषयोंके हेतु हमने नाना परिश्रम करके सिद्धि प्राप्त की है वही सब छोड़कर राजा तप करने आए हैं अतएव हमसे श्रेष्ठ हैं । मुनि मननशील वैरागी इससे मिलने आए कि जैसे हमको ससारी पदार्थोंसे घृणा है वैसे ही राजाको भी है, अतएव हमारे बराबर हैं । और ज्ञानी इससे मिलने आए कि राजाको वैराग्य हुआ है, वह तत्वज्ञानका जिज्ञासु है, उसे उपदेश देना होगा । दूसरे इनका धर्मात्माओंसे स्वाभाविक स्नेह होता है और राजा धर्मधुरंधर है।" इससे जनाया कि मुनि सिद्ध ज्ञानीके समाजमें धर्म, भक्ति और ज्ञानका आदर है, ऐश्वर्यका नहीं ।

२—'मुनिन्ह सकल सादर करवाये' इति । नैमिषारण्यक्षेत्रके मध्यमें अनेक तीर्थ हैं जैसे कि मिश्रिख, पंचप्रयाग, चक्रतीर्थ इत्यादि । ये ही सकल तीर्थसे अभिप्रेत हैं । 'सादर' का भाव कि प्रत्येक तीर्थका नाम माहात्म्य, दर्शन और सेवन विधि, इत्यादि बता-बताकर विधिपूर्वक दान-मानसहित तीर्थ करवा देते थे जिससे दंपतिको यथार्थ फलकी प्राप्ति हो ।

टिप्पणी—१ (क) राजारानी किस प्रकार रहते थे, उनकी नित्य चर्य्या क्या थी यह यहाँ बताया है, तीर्थवास, फल फूल भोजन, वल्कल वस्त्र । इससे शरीर दुबला हो गया है, कुछ काल तीर्थदर्शन ही करते रहे, पुन संत-समाजमें पुराणादि सुनते रहे पुन , रात दिन अनुराग सहित मंत्र जपने लगे । (ख) 'सहित अनुराग' इति ।—अनुरागसे कार्य सिद्ध होता है, यथा 'रामनाम जपु जिय सदा सानुराग रे' (विनय) 'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा । किए जोग तप ज्ञान बिरागा । ७ ६२.१ ।' (ग) 'द्वादश अच्छर मंत्र ···। वासुदेवपद ···' इति—'वासुदेवपद' देकर द्वादश-अक्षर मंत्रकी व्याप्ति मिटाई अर्थात् और मंत्र नहीं, वासुदेव-मंत्र ही जपा । मूर्तिके ध्यानसहित अनुराग-पूर्वक मंत्र जपनेसे इष्टका शीघ्र साक्षात्कार होता है—यह विधि है । यहाँ वासुदेव, सच्चिदानंद, ब्रह्म, हरि, ये सब श्रीराम ही हैं क्योंकि श्रीरामही अन्तमें प्रगट हुए । यथा 'ब्रह्म, सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप', 'रामाख्यमीशं हरिम्', 'यद्तत्पर परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ।' (अ० रा० ७ ८.६८) । (घ) 'सतसमाज नित सुनहिं पुराना' कहकर 'द्वादश ···' कहनेसे पाया गया कि सत्संग और हरिकथाश्रवणसे हरिभक्ति होती है ।

† 'सतसमाज १७६२ । 'संत सभा' । (प०) ‡ मंत्र बर । (वै०) ।

*** द्वादश अक्षर मंत्र ***

श्री प॰ रामवल्लभाशरणजीका मत है कि 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' यही द्वादशाक्षर वासुदेव मंत्र है, श्रीनारदजीने यही मंत्र ध्रुवजीको बताया था, यथा "जपश्च परमो गुह्य श्रूयतां मे नृपात्मज। य सप्तरात्रं प्रपठन्पुमान्पश्यति खेचरान्॥ ५३। 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।' मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद्द्रव्यमयीं बुध। सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित्॥ भा॰ स्क॰ ४ अ॰ ८॥' अर्थात् 'हे राजपुत्र! इसके साथ साथ जिस परम गुह्य मंत्रका जप करना आवश्यक है यह भी बतलाता हूँ। इसका सात रात्रि जप करनेसे मनुष्यको सिद्धोंका दर्शन होता है। वह मंत्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' है। देशकालके विभागको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि इस मंत्र द्वारा भगवान्की नाना सामग्रियोंसे पूजा करें। (भा॰)। वासुदेव मंत्र पर वासुदेव और चतुर्व्यूह-गत वासुदेव दोनोंका वाचक है। ध्रुवजीको राज्यकी कामना थी। अतएव उनको चतुर्भुजरूपका ध्यान नारदजीने बताया था। जिस मूर्तिका ध्यान किया जाता है वही स्वरूप प्रगट होता है। नारद पंचरात्रमें पर-वासुदेवकी मूर्तिका ध्यान यह लिखा है।—'मरीचिमण्डल संस्थं बाणाद्यायुधभूषितम्। द्विहस्तमेकवक्त्रञ्च रूपमाद्यमिदं हरे॥' अर्थात् तेजके मण्डलमें स्थित, बाण आदि आयुधसे युक्त द्विभुज, एक मुख—हरि भगवान्का यही आदि रूप है।

मनुशतरूपाजीने वासुदेवमंत्रका जप किया और परवासुदेवका ध्यान किया—परन्तु निष्काम होकर, अतएव उनको परात्पर परब्रह्म श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन हुआ।

कुछ लोगोंका कहना है कि श्रीसीतारामजी मनुशतरूपाजीके सामने प्रकट हुए हैं इससे यहाँ श्रीरामसीताजीका ही मंत्र अभिप्रेत है। श्रीराम षडक्षर मंत्र तथा श्रीसीताषडक्षरमंत्र दोनों मिलकर द्वादशाक्षर मंत्र हुआ।' इन दोनों मंत्रोंका जप वैष्णवोंमें एक साथ किया जाता है। परंतु दोहेमें मंत्रका विशेषण 'द्वादश अक्षर' है जिससे जान पड़ता है कि मंत्र एक ही है, दो नहीं और वह मंत्र बारह अक्षरका है। वासुदेवमंत्रसे श्रीसीतारामजीका प्रकट होना वैसे ही है जैसे रामनामके जपसे प्रह्लादके लिये "नृसिंह का। सत्योपाख्यानमें श्रीसीतारामजीका ध्यान करते हुए द्वादशाक्षरमंत्रके जपका माहात्म्य भी बताया गया है। यथा 'ध्यायन्नेवं यभावेन द्वादशाक्षरमन्वहम्। पूजयेद्विधिना नित्यं श्रीरामं मानपूर्वकम्॥' (पू॰ अ॰ ३२।२३)। फिर सुतीक्ष्णजीके पूछनेपर अगस्त्यजीने बताया है कि "प्रणवं पूर्वमुच्चार्य नम शब्दं ततो वदेत्। भगवत्पदमाभाष्य वासुदेवाय इत्यपि। ४१। तत मर्मात्मसंयोगं योगपीठात्मनेनमः। इति मंत्रेण तन्मध्ये कुर्यात्पुष्पाञ्जलिं पुनः। ४२।" इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि योगपीठात्मक यही मंत्र श्रीरामजीका है। अतः वासुदेवमंत्रसे श्रीसीतारामजी प्रकट हुए इसमें संदेह नहीं। (मा॰ त॰ वि॰)।

पुनः, वासुदेवका अर्थ है—"जो सब विश्वमें बसा हुआ है और जिसमें सब विश्वका निवास है। महारामायणे यथा "सर्वे वसन्ति वै यस्मिन् सर्वेऽस्मिन् वसते च यः। तमाहुर्वासुदेवं च योगिनस्तत्त्वदर्शिनः॥" (५२। ८६), तब इससे श्रीरामजी क्यों न प्रकट होते! पुनः, यथा 'बिस्व बास प्रगटे भगवाना'।

वि॰ त्रि॰ लिखते हैं कि "पुराणोंमें वासुदेव शब्दका अति उदार अर्थ पाया जाता है। प्रभु समस्त भूतोंमें व्याप्त हैं और समस्त भूत भी उन्हींमें रहते हैं, तथा वे ही संसारके रचयिता और रक्षक हैं, इसलिये वे वासुदेव कहलाते हैं। यथा 'भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत्। धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः। वि॰ पु॰ अंश ६ अ॰ ५। श्लो॰ ८०।' स्वायम्भू मनुकी तपस्याकी कथा कालिकापुराणमें मिलती है, उसमें भी वासुदेवके जपका ही उल्लेख है। यथा 'ॐ नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वरूपिणे। इति जप्यं प्रजप्तो मनो स्वायम्भुवस्य च। प्रससाद जगन्नाथ केशवो नचिरादथ।' अर्थात् 'ॐ नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वरूपिणे' इसे जपते हुए स्वायंभू मनुपर जगन्नाथ केशवने शीघ्र ही कृपा की। यहाँ 'शुद्धज्ञानस्वरूपिणे' पद 'भगवते' का अनुवाद है।'

श्रीकरुणासिंधुजी भी लिखते हैं कि "वासुदेव, पर पुरुष, ब्रह्म, व्यापक आदि जिसको कहते हैं वह

रामचन्द्रजी ही हैं। प्रमाण सनत्कुमार संहितायाम्, यथा 'नमोस्तु वासुदेवाय ज्योतिःपतये नम । नमोस्तु राम देवाय जगदानन्दरूपिणे ॥ कौसल्यानन्दन राम धनुर्बाणधर हरिम् ॥' रा० प्र० कार लिखते हैं कि द्वादश अक्षर मंत्र राममंत्रका अंगभूत है, उसीको जपते हैं।

पं० शिवलालपाठकजीका मत यहाँ भिन्न है। पाठकजी कहते हैं कि 'वासुदेव' शब्द यहाँ लक्षणा है। अर्थात् मुख्य अर्थका बाध करके और अर्थ प्रगट करता है और आगे चरण कमल (पदपंकरुह) लिखा है। पुनः, वासुदेव श्रीरामचन्द्रजीके प्रकाशको कहते हैं, यथा 'वासुदेवो घनानन्दस्तु तेजा महाशिव'। अतएव वासुदेवसे श्रीरामचन्द्रजी सूचित होते हैं, उनके पदका मुनि ध्यान करते हैं और षडक्षर मन्त्र दोनों जपते हैं। अतएव १२ अक्षर मूलमें कहा है, यह अथर्वण वेदमें लिखा है।—(मानस मयङ्क)। श्रीकरुणासिंधुजीने यह भाव भी दिया है।

नोट—३ 'वासुदेव' पद देनेका कारण यह भी हो सकता है कि श्रीमनुमहाराजने कोई विशेष रूप मनमें नहीं निश्चित किया है। जो निर्गुण, सगुण, शिव भुशुण्डि मन-मानस-हंस, इत्यादि हैं उनके दर्शनकी अभिलाषा, उसीके गुणोंका ध्यान, चित्तमें है। अतएव ऐसा शब्द यहां दिया गया कि जो द्वैत अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत और उपासकों सभीके अनुकूल है, सभीके मतोंका प्रबोधक है, प्रभुका अवतार गुप्त है, अतएव गुप्त रीतिसे लिखा है।

श्रीरामजीके मन्त्रोंके सम्बधमें खोज करनेसे हमें वे० भूषणजीसे मालूम हुआ कि आनन्दरामायणके मनोहरकाण्ड सर्ग १४ में एकाक्षरीसे लेकर पचाशाक्षरी तकके अनेकों राममन्त्रोंका उल्लेख हैं। उनमें एक द्वादशाक्षर मन्त्र भी है। यह एक ही है और उसमें विशेषता यह है कि इस मन्त्रके जपका माहात्म्य भी उसमें साथ ही साथ पूरे एक श्लोकमें दिया हुआ है जो बात अन्य मन्त्रोंके साथ प्राप्त नहीं है। वह मन्त्र और उसका माहात्म्य इस प्रकार है—' श्रीसीताराम वन्दे श्रीराजारामम् ।' 'द्वादशाक्षर मंत्रोऽयं कीर्तनीयो सदा जनै। वीणावाद्यादिना पुण्य सर्ववाञ्छितदायकः। १२६।' अत मेरी समझमें यदि श्रीसीताराम नामात्मक मंत्र ही लेना हो तो उपर्युक्त द्वादशाक्षरी मन्त्र ले सकते हैं। इसमें श्रीसीता और श्रीराम दोनों नाम भी हैं और यह मन्त्र भी है।

यह खोज इस लिये की गई कि हारीत संहितामें श्रीमनुजीका श्रीराममंत्र जपना कहा गया है, यथा "श्रीरामाय नमो ह्येनतारकं ब्रह्म संज्ञितम्। इममेव परं मंत्रं रुद्रस्त्रिपुरदाहकः। कार्तिकेयोमनुश्चैव देवता स्व प्रपेदिरे। बालखिल्यादि मुनय अप्स्वा मुक्ता भवाम्बुधे ॥"

श्रीरामरहस्योपनिषद्में अनेक राममंत्र दिये हैं। उनमेंसे एक द्वादशाक्षरमन्त्र यह है—

"शेषं षडर्णवज्ज्ञेयं न्यासध्यानादिकं बुधै। द्वादशाक्षरमन्त्रस्य श्रीरामऋषिरुच्यते ॥४१। जगती छन्द इत्युक्त श्रीरामो देवता मता। प्रणवो बीजमित्युक्त क्लीं शक्तिर्ह्रीं च कीलकम्। ४२। मन्त्रेणाङ्गानि विन्यस्य शिष्टं पूर्ववदाचरेत्। तारं माया समुच्चार्य भरताग्रज इत्यपि। ४३। राम क्लीं वह्निजायान्तं मन्त्रोयं द्वादशाक्षर०। ॐ ह्रद्भगवते रामचन्द्रभद्रौ च ङेयुतौ ॥ ४४ ॥" (द्वितीय अध्याय)।

संत श्रीगुरसहायलालजी एक भाव यह भी लिखते हैं कि "यह जपरीति वानप्रस्थोंकी है। योगियोंकी रीति है कि प्रथम द्वादशाक्षर जप लेते हैं तब प्रणव या अजपा जप वा क्रिया इत्यादि करते हैं। इसीसे यहाँ द्वादशाक्षरका जप करके तब "हरि हेतु करन तप लागे।" (मा० त० वि०)।

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा ॥१॥
पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अधार† मूल फल त्यागे ॥२॥

† अहार-पं० रा० व श०

उर अभिलाष निरंतर होई । देखिअ नयन परम प्रभु सोई ॥३॥
अगुन अखंड अनंत अनादी । जेहि चिंतहिं परमारथवादी ॥४॥

शब्दार्थ—साक, फल, कंद—७४ (४) देखिये। सच्चिदानंद=सत् (जो किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ हो, जिसका विनाश न हो) चित् (सर्वप्रकाशक) आनंद (सुखस्वरूप)।

अर्थ—वे शाक (साग), फल, कंद (मूल) खाते और सच्चिदानंद ब्रह्मका स्मरण करते थे ॥ १ ॥ फिर वे हरिके लिये तप करने लगे। मूल फलको छोड़कर जल हीका आधार (सहारा) लिया ॥ २ ॥ उनके हृदयमें निरन्तर यही लालसा हुआ करती कि उसी परम प्रभुको देखें, जो निर्गुण, अखण्ड (अविच्छिन्न, सपूर्ण, जिसके खण्ड न हो सकें), आदि और अंत (अर्थात् जन्म मरण) रहित है, जिसका चिन्तन परमार्थवादी (ब्रह्मवादी, तत्ववेत्ता) करते हैं ॥ ३, ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'करहिं अहार साक फल कंदा' इति। यहाँ शाक फल, कंदके आहारका क्रम पार्वतीजीके तपक्रमसे उलटा है, शेष सब क्रम वही है। पार्वतीजीने प्रथम कंद खाए तब फल फिर शाक और उसके बाद क्रमसे जलपर फिर पवनपर ही रहीं, तदनन्तर उपवास किए, यथा 'संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरष गँवाए ॥ कछु दिन भोजनु बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा। ७४ (४-५)।' मनुजीके तपमें व्यतिक्रम कहकर जनाया कि शाक, फल, कंद यह सब आहार हैं। सब आहारको एक कोटिमें रक्खा। तात्पर्य यह कि शाक, फल और कंद इनमें कोई नियम नहीं लिया कि शाक ही खायेंगे, या कंद ही खायेंगे अथवा फल ही खायेंगे। इनमेंसे जो मिल गया वही खा लिया। अर्थात् कभी कंद खाये, कभी शाक और कभी फल ही खाकर रह जाते थे।* पार्वतीजीकी तरह राजाने भी वस्त्र छोड़ दिये, वल्कलवस्त्र पहनते हैं, यथा "कृस सरीर मुनिपट परिधाना', अन्न भी छोड़ दिया, शाक फल कंद खाते हैं। (ख) 'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा'। भाव कि "केवल शरीरकी 'कष्टा' ही नहीं करते (अर्थात् केवल शारीरिक कष्ट ही नहीं उठाते) किन्तु सच्चिदानंद ब्रह्मका स्मरण भी करते हैं। सच्चिदानंदके रूप नहीं है इसीसे उनका सुमिरना लिखा और वासुदेवके रूप हैं इसीसे दोहेमें वासुदेवपदपंकरुहमें प्रीति करना लिखा। सच्चिदानंदब्रह्म ही वासुदेव हुये हैं। यथा 'राम सच्चिदानंद दिनेसा। ११६.५।', 'बिस्वबास प्रगटे भगवाना। १४६।८।', 'जगनिवास प्रभु प्रगटे । १६१।' (दोहेमें जो वासुदेवपदपंकरुह कहा था उसके 'वासुदेव' का अर्थ यहाँ स्पष्ट कर दिया कि 'ब्रह्म सच्चिदानन्द' हैं। श्रीराम ही ब्रह्म सच्चिदानन्द हैं, यथा 'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप। ७।४७।', 'जय सच्चिदानंद जग पावन। ५।०३।')।

२—'पुनि हरि हेतु करन तप लागे।०' इति। (क) प्रथम शाक फल कंद आहार था। अब उनको त्यागकर जलका आधार लिया। इसीसे यहाँ 'पुनि' पद दिया अर्थात् एक कोटिसे दूसरी कोटिमें गए। इसी तरह जब जल छोड़कर पवनका आधार लिया तब फिर 'पुनि' पद दिया है,—'संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार।' (ख) 'हरि हेतु तप करने लगे', इस कथनका आशय यह है कि पहले मनमें कोई चाह न थी। "वार्धके मुनिवृत्तीना" इस न्यायानुसार धर्मपालनार्थ तप और भगवत् स्मरण करते थे, अब हरिकी प्राप्ति चाहते हैं। वासुदेव, सच्चिदानंद और हरि एक ही हैं यह जनाया। [दोहा १४३ टि० १ (ग) देखिए] (ग) ☞ यहाँसे तप करना कहते हैं, इसीसे यहाँ 'तप' पद दिया और तपका प्रमाण लिखा कि छः हजार वर्ष जल पीकर रहे, सात हजार वर्ष पवन पीकर रहे और दस हजार वर्ष कठिन उपवास किये।

* प्र० स० में हमने लिखा था कि "पहले कंद मूल फल तब शाक चाहिए। यहाँ क्रमभंग क्यों किया ? क्रमभंगसे जनाया कि कोई नियम नहीं, जो कुछ मिल गया वही खा लिया।'

शाक, फल और कंदकी संख्या न की। पार्वतीजीके तपमें शाक फल और कंदकी गिनती की थी—'संवत सहस मूल फल खाए॰' (७४।४ देखिए)। इस भेदमें तात्पर्य्य यह है कि पार्वतीजीकी 'लघु अवस्था' है, वे अत्यन्त सुकुमारी हैं—'अति सुकुमारि न तन तप जोगू। ७४।२।' उनका शरीर तपके योग्य न था अतएव उनका (आहारयुक्त भी) इतना तप भारी तप है, बहुत है। इसीसे उनके तपमें शाक, फल और कंद आहारकी संख्या दी है, और 'कठिन व्रत' की गिनती नहीं की (अर्थात् इसमें संख्या नहीं दी कि कितने समय तक जल और पवनपर रहीं। शाकादि आहारकी संख्या दी)। उन्होंने कठिनव्रत बहुत कम दिन किए—'कछु दिन भोजन बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपवासा। ७४।५।' थोड़े ही दिनका कठिन तप अवस्थाके विचारसे बहुत भारी और दीर्घ कठिन तपके समान समझा गया। (जैसे ध्रुवका, जिन्होंने केवल ५ ही मासमें त्रैलोक्यको डिगा दिया था)। और, मनुजीने सुलभ सामान्य एवं सुगम व्रत कम दिन किए इसीसे उनके तपमें 'सुलभ तप' की गिनती नहीं है, कठिनव्रत बहुत दिन किए इसीसे कठिन व्रतकी गिनती की गई। कारण कि मनुजी बड़े पुरुषार्थी हैं। [जन्म होते ही ये ब्रह्माकी आज्ञासे पूर्व भी प्रजापतित्वशक्ति संपादनार्थ तप कर चुके थे।] दोनोंके तपोंका मिलान—

पार्वतीजी	मनुशतरूपाजी
१ संवत सहस मूल फल खाये। सागु खाइ सत बरष गँवाये॥ बेल पाती महि परइ सुखाई। तीनि सहस संवत सोइ खाई॥	१ एहि बिधि बीते बरष षट, सहस बारि आहार। संबत सप्त सहस्र पुनि, रहे समीर अधार॥ बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ।
यहाँ बारि, पवन आदिकी संख्या नहीं। ७४ (५-७)	यहाँ कंद मूल आदिकी संख्या नहीं। १४४ (१)

नोट—१ श्रीबैजनाथजी तथा महाराज हरिहर प्रसादजी लिखते हैं कि—"सत्संग प्रथम भक्ति है उसको किया तो कथा-श्रवण दूसरी भक्ति प्राप्त हुई, इससे निश्चय हुआ कि हमारा क्या कर्त्तव्य है, किसकी भक्ति करनी चाहिए, क्या मंत्र जपना चाहिए। आत्मबुद्धिकी शुद्धिके लिए प्रथम वासुदेव मंत्रका जप किया। उससे अन्त करण शुद्ध हुआ तब व्यापक अन्तर्यामी ब्रह्मका स्मरण करने लगे। इससे हृदय अत्यन्त शुद्ध हुआ तब हरि (रामाख्यमीशं हरि) के लिए तप करने लगे।" (श्रीरामजी ही हरि, ब्रह्म, सच्चिदानन्द और वासुदेव हैं यह पूर्व दिखाया जा चुका है)।

२—बैजनाथजी कहते हैं कि सच्चिदानन्दके स्मरणसे पाँच हजार वर्षमें पाँचों तत्व, स्थूल शरीर जाग्रत् अवस्था जीत लिये गए और सज्जनता समता छठी और सातवीं भक्ति प्राप्त हुई। अन्न सूक्ष्म रूपका आधार है, इसीसे फलादिको छोड़कर जल आहार हुआ। फिर हरि श्रीरामजीके हेतु तप करने लगे। नाम स्मरणरूपमें मन लगा, संतोष किया। यह आठवीं भक्ति हुई। इससे लिंग शरीर स्वप्नावस्था जीते गए। तब सरल स्वभावसे परम प्रभुके लिये निरन्तर अभिलाषा हुई।

३ 'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई' इति। (क) 'सोई' अर्थात् जिसको सुमिरते हैं 'उस ब्रह्म सच्चिदानन्द परम प्रभुको आँखों देखें'। उस परम प्रभुके उस ब्रह्म सच्चिदानन्दके लक्षण आगे कहते हैं—'अगुन अखंड॰' इत्यादि। (ख) परम प्रभु=जो 'अशेष कारण पर रामाख्य ईशं हरि' है, जो सब प्रभुओंका प्रभु है, यथा 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।', 'सुनु सेवक-सुरतरु सुरधेनू। बिधिहरिहर बंदित पदरेनू।', इत्यादि। (ग) 'उर अभिलाष निरंतर होई' का भाव कि ब्रह्मका आँखोंसे देखना असम्भव है। (उसका मुनियोंको ध्यानमें अनुभव मात्र होता है)। असम्भवमें

'अभिलाषा नहीं होती। (यह साधारणतया देखा ही जाता है कि जो बात असम्भव है उसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, जो सम्भव है उसीकी अभिलाषा और प्रयत्न भी करते हैं), पर मनुजीके हृदयमें "निरन्तर इस असम्भव बातकी (ब्रह्मको नेत्रोंसे देखनेकी) अभिलाषा बढ़ती ही जाती है, इसका कारण आगे कहते हैं कि 'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥ जौं यह वचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥' (घ) 'निरंतर होई' अर्थात् दृढ़ विश्वास है कि पूरी होगी। ['अभिलाष की परिभाषा यह है—"नयन बैन मन मिलि रहै चाहै मिल्यो शरीर। कहि केशव अभिलाष यह बरनत हैं मति धीर।" (वै०)]

४—'अगुन अखंड अनंत अनादी।०' इति। (क) त्रिगुणातीत, पूर्ण और आदि अन्त-रहित। ये सब निर्गुण (अव्यक्त) ब्रह्मके विशेषण हैं ☞ जहाँ सगुण ब्रह्ममें भ्रम होता है वहाँ ये ही विशेषण देकर भ्रम दूर करते हैं, यथा 'गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतर जामी। कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई। ३।३९।', 'उमा एक अखंड रघुराई। नरगति भगत कृपाल देखाई। ६।६०।', 'राम अनंत अनंत गुन ।१।३३।', 'राम अनंत अनंत गुनानी। ७।५२।', 'आदि अंत कोउ जासु न पावा। ११८।४।', 'पूरन काम राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी।३।३०।', 'जो आनंद सिंधु सुखरासी। १९७।५।', 'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै। ७।९२।' तथा 'निगम नेति सिव ध्यान न पावा। मायामृग पाछे सो धावा। ३।२७।', इत्यादि। [(ख) 'अखंड' अंशकला आदि भेद रहित स्वयं परब्रह्मरूप। अनन्त = वेदादि जिसका अंत नहीं पाते कि उसमें शक्ति, बल, तेज, प्रताप, गुण कितने हैं। (वै०)। जो रूप भगवान्‌ने माता कौसल्याको दिखाया है उसे वक्ताओंने अखण्ड रूप कहा है। यथा 'देखरावा मातहि निज अद्भुतरूप अखंड। रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड। २०१।]
(ग) 'जेहि चिंतहिं परमारथ बादी' इति। अर्थात् जिसको ब्रह्मवेत्ता भी नहीं समझ सकते, वेद भी नहीं कह सकते जैसा आगे कहते हैं। परमार्थवादी शिवजी आदि 'अगुण अखण्ड' आदिका चिंतन करते हैं, वेद उस स्वरूपका निरूपण 'नेति नेति' कहकर करते हैं। [प्रकृतिपार होनेसे अगुण, निरवयव होनेसे अखण्ड, नाशरहित होनेसे अनन्त और अज होनेसे अनादि है। (त्रि० त्रि०)]

नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद[१] निरुपाधि अनूपा॥५॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥६॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगतहेतु लीला तनु गहई॥७॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥८॥
दोहा—एहि बिधि बीते बरष षट-सहस बारि आहार।
संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार॥१४४॥

व्याकरण—ऐसेउ-ऐसे भी। सोउ = सोभी। तेउ, इत्यादि।
अर्थ—जिसको वेद नेति नेति (इति नहीं है, इति नहीं है) कहकर निरूपण करते हैं। जो स्वयं

१ चिदानंद—१७०४, (परन्तु रा० प० में 'निजानंद' है), वै०। निजानंद—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०। सं० १६६१ वाली पोथीमें मूलमें 'निजानंद' पाठ है और हाशियेपर 'चिदा' बना है। निजानंदपर हरताल नहीं है। लेख प्राचीन ही दोनों जान पड़ते हैं। शिवजीका पूर्व वाक्य है कि 'सुमिरहि ब्रह्म सच्चिदानंदा', उसके अनुसार यहाँ मनुजीकी अभिलाषा में 'चिदानंद' पाठ ही समीचीन मालूम होता है। निजानंदका भाव कि स्वयं आनंदस्वरूप है। और उससे सब आनंदरूप होते हैं।

आनंदरूप, उपाधि और उपमा रहित हैं ॥ ५ ॥ जिसके अंशसे अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णुभगवान् उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥ ऐसे प्रभु (समर्थ) भी सेवकके वश हैं। भक्तोंके लिये लीलातन ग्रहण करते हैं ॥ ७ ॥ यदि वेद यह वचन सत्य ही कहते हैं तो हमारी अभिलाषा (अवश्य) पूरी होगी ॥८॥ इस प्रकार जलका आहार (भोजन) करते छः हजार वर्ष बीत गए। फिर हजार वर्ष वायुके सहारे अर्थात् वायु पीकर रहे ॥ १४४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'नेति नेति जेहि बेद निरूपा' अर्थात् जो वेदके निरूपणमें नहीं आता। (ख) 'निजानंद निरुपाधि अनूपा' अर्थात् आप आनंदरूप हैं, मायाकी उपाधिसे रहित हैं और उपमा-रहित हैं (ग) ☞ प्रमाण चार हैं—शब्द, अनुमान, उपमान और प्रत्यक्ष। यहाँ दिखाते हैं कि वह ब्रह्म शब्द, अनुमान और उपमान इन तीनोंसे पृथक् है। 'नेति नेति जेहि बेद निरूपा' यह शब्द प्रमाण है, 'जेहि चितहिं परमारथबादी' यह अनुमान प्रमाण है और 'अनूपा' यह उपमान है। आगे 'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई' यह प्रत्यक्ष प्रमाण कहेंगे। (ग) [प्र० सं० में इस प्रकार था—'न्यायके अनुसार प्रमाणके चार भेद हैं। जिससे पदार्थका ज्ञान होता है। यहाँ इन चारोंको कहा है। परमार्थवादी अगुण आदि अनुमान करते हैं। ('चितहिं' अनुमान है), 'निरूपा', यह उपमान है। वेद शब्द है। ('नेति नेति' यह शब्द है) उसमें नहीं आता। और 'लीला तनु गहई' यह प्रत्यक्ष है]

वि० त्रि०—'नेति नेति' इति। भाव कि वेद कहता है कि स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है। दोनों अवस्थाओंके निषेधसे कोई अभावात्मक न समझ ले, इस लिये निजानन्द अर्थात् स्वरूपानन्दरूप कहा। उसे निजानन्द इस लिये कहते हैं कि उसमें अहंकार नहीं है। जितना जितना अभ्यास योगसे अहंकारकी विस्मृति होती है, उतना ही सूक्ष्मदृष्टिसे निजानन्दका अनुमान होता है। यथा 'यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः। तावत्तावत् सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते।' जाति, गुण क्रिया और संज्ञा ये चार प्रकारकी उपाधियाँ हैं। उसमें ये चारों न होनेसे 'निरुपाधि' कहा। अनूप है, अर्थात् उसके सदृश कुछ भी नहीं है।

टिप्पणी—२ 'संभु बिरंचि बिष्नुभगवाना।' यह ब्रह्मका ऐश्वर्य्य कहा। शंभु विरंचि विष्णु भगवान् हैं अर्थात् ये बड़े ऐश्वर्य्यमान हैं। ऐसे ऐश्वर्य्यमान त्रिदेव उनके अंशसे उत्पन्न हैं। ब्रह्मांड भी करोड़ों हैं, जितने ब्रह्माण्ड हैं उतने ही शंभु, विरंचि और विष्णु हैं। प्रत्येकमें त्रिदेव हैं। इसीसे 'नाना'-पद दिया। यथा 'लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता ॥ ७।८१।' 'ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै। १।१९२।' [बैजनाथजी 'नाना' का भाव 'अनेक भाँतिके' लिखते हैं। अर्थात् पंचमुखसे लेकर अनंत मुखके शंभु चतुर्मुखसे लेकर अनेक मुख तकके ब्रह्मा, और चतुर्भुजसे लेकर अनेक भुजाओं और अनेक मुखोंके विष्णु। साकेत विहारीके अवतारमें लंका जीतनेपर देवताओंको अभिमान हुआ उसको भंग करनेके लिये यही प्रभाव श्रीरघुनाथजीने दिखाया था। सिद्धान्ततत्त्वदीपिका इसका प्रमाण है। (वै०)। मु० रोशनलाल लिखते हैं कि श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्नजी श्रीरामजीके अंश हैं, इन्हींसे नाना त्रिदेव उत्पन्न होते हैं। प्रभुने श्रीभरतादिको अपना अंश कहा ही है।—विशेष 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। १८७।२।' में देखिए।

वि० त्रि० का मत है कि "यहाँ 'अंश' से 'अंशइव अंश' ग्रहण करना होगा, क्योंकि ऊपर उसे अखंड अर्थात् निरंश कह आए हैं। जैसे प्रतिबिंब बिंबका अंशइव अंश' है। इसी तरह त्रिदेव उसके प्रतिबिंबसे उत्पन्न होते हैं।"

टिप्पणी—३ 'ऐसेउ प्रभु सेवक' अर्थात् इतने बड़े ऐश्वर्यमान स्वामी भी। 'लीला तनु गहई' का भाव कि शरीर धारण करना प्रभुकी लीला है, अपनी इच्छासे भगवान् रूप बनाकर प्रकट हो जाते हैं, यथा 'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे ॥ १५२।१।' (ख) ☞ ब्रह्मके अनेक विशेषण हैं। इसीसे अनेक जगह (कुछ कुछ) कहकर अनेक विशेषणोंको दिखाया है। भक्तहेतु अवतार होना, लीला करना

और दर्शन देना कहा है। यथा 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी। १३।३-५।' (२) 'सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥ ५१।', (३) 'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥ आनन रहित सकल रसभोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी। तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा॥ अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥ जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान। ११८।' (४) 'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥ ११६।२।', (५) 'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेमभगति बस कौसल्याकें गोद। १९८।', (६) 'ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप। २०५।', (७) 'ब्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानंद निर्गुन गुनरासी॥ मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥ महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥ नयन बिषय मो कहुँ भयेउ सो समस्त सुखमूल। ३४१।', (८) 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥ सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥ भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल। २।९३।', (९) ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता। गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुषतनुधारी। ५।३९।' (१०) सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिग्यान रूप बलधामा॥ ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥ अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥ निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥ प्रकृतिपार, प्रभु सब उरबासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥ भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। ७।७२।', तथा यहाँ (११) 'अगुन अखंड अनंत अनादी' से 'भगत हेतु लीला तनु गहई।' तक। इत्यादि।—तात्पर्य्य यह कि जिनके अंशसे ब्रह्मादि उपजते हैं वे भक्तोंके प्रेमसे आप ही आकर उत्पन्न होते हैं। "ऐसेउ प्रभु०" में माधुर्य्य कहा, भक्ति और भक्तका महत्त्व दिखाया। यही माधुर्य्य है।

४ 'जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार०।' ☞ इससे जनाया कि वेदके वचनमें जिनका विश्वास है उनका ईश्वरकी प्राप्ति होती है। ☞ 'अभिलाषा' प्रथम कह आए हैं—'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई।', यही उपक्रम है और 'तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।' यह उपसंहार है। यहाँ 'शब्द प्रमाण अलंकार' है।

नोट—१ (क) 'अगुन अखंड' से 'अभिलाषा' तक, यह प्रसंग हृदयकी अभिलाषाका है। अभिलाषा हृदयमें हो रही है। प्रगट किसीसे नहीं कहते। (ख) 'सत्य श्रुति भाषा' इति। अगुणअखंडादि विशेषणयुक्त ब्रह्म भक्तोंके लिये अपनी इच्छासे अवतार लेता है और पृथ्वीपर लीला करता है ऐसा श्रुतिभगवती कहती है। दोहा १३ की चौ० ४ 'तेहिं धरि देह चरित कृत नाना' में रा० पू० ता० और यजुर्वेदके उद्धरण प्रमाणमें दिये गए हैं। ऋग्वेदमें मंत्ररामायण प्रसिद्ध है। यथा "रघुश्येन पतयदन्धो अच्छायुवा कविर्दीदयद्गोषु गच्छन्। १। सनाता गर्भो असिराग्स्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु॥ चित्रशिशु परितमांस्यक्तून्प्रमातृभ्यो अधिक निक्रदद्गाः। २। विष्णुरित्या परममस्य विद्वान्जातो बृहन्नभिपाति तृतीयं। आसायदस्यपयो अक्रत स्व सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र। ३। अत उत्वापितुभृतो जनित्रीरन्नावृधं प्रतिचरन्त्यन्नैः। ताईमत्येषि पुनरन्यरूपा असि त्वं विक्षु मानुषीषु होता। ४। निष्ठा मातृ स्वान्वितृन्विभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेम वग्लापयन्ति। मंत्रय ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्। ५। चत्वारिते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति। त्वमंगतानि विश्वानि वित्सेयेभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ। ६। अमन्दान्स्तोमान्प्रभरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य। यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः। ७।

उपमाश्यावा स्तनयेन दत्ता वधूमतो दशरथ सो अस्तु:। षष्टि सहस्र मनु गन्यमागात्सनत्कवीरा अभिरित्वे अह्ना। ८। चत्वारिंशद्दशरथस्य शोण सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति। मदच्युतः कृशनावतो अत्यान्कक्षीवंत उदमृक्षत पज्राः। ६। उपोरमे परामृशामासेऽश्रागिमन्यथा:। सर्वाहमस्मिरोमशा गंधारीणामिवाविका। १०। अमालामिद त्रिष्टूलवक्रणो: सूर्यंत्र चं। महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोस्तभ्नात्सिंधुमर्णवं नृचक्षा:। विश्वामित्रोयदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्र। १२।" इत्यादि सातो कांड हैं। (वैजनाथजीकी टीकासे उद्धृत)। इस मंत्ररामायणरूप वचन को विचारकर मनुजीके हृदयमें विश्वास है।

टिप्पणी—४ एहि बिधि बीते बरष षटसहस०' इति। (क) 'एहि बिधि' अर्थात् जल आहार पर रहते। ☞ उत्तरोत्तर कठिन तप करते जाते हैं यह दिखा रहे हैं। जल आहार कठिन है यह तप छः हजार वर्ष किया। उससे कठिन पवनका आहार है, उसे हजार वर्ष किया, उससे भी कठिन उपवास (अर्थात् पवन भी नहीं लेते) है, सो दसहजार वर्ष किया। इस तरह यहाँतक मनुजीके तपकी तीन कोटियाँ (दर्जे) दिखाईं। (१) अन्नका त्याग, शाकादिका आहार। (२) केवल जलका आधार। (३) केवल पवन। आगे चौथी कोटिका तप है। क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णनसे 'सार अलंकार' हुआ।

नोट—१ किसका दर्शन चाहते हैं? 'परम प्रभु' का जो अखंड अनंत अनादि है, जिनका परमार्थ-वादी चिंतन करते हैं, इत्यादि। एवं जो अपने भक्तोंके प्रेमके वश लीलातन ग्रहण करते हैं। इसमें भाव यह भी है कि हमें उस परम प्रभुका दर्शन हो न कि लीलातनका। दर्शनके बाद लीलातनसे उनको अपना पुत्र होना माँगेंगे।

> बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद† दोऊ॥ १॥
> बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥ २॥
> मागहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहि चलहिं चलाए॥ ३॥
> अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहि नहि पीरा॥ ४॥

शब्दार्थ—अपार = जिसका पार नहीं, असीम, अखंड, बहुत बड़ा। अस्थि = हड्डी। मनाग (मनाक्) = किंचित्, जरासा भी; यथा "टूटत पिनाकके मनाक बाम रामसे ते नाक बिनु भये भृगुनायक पलकमें।" धीर = दृढ़ चित्त वाले, धैर्य्यवान्। साहित्य दर्पणके अनुसार 'धैर्य्य' नायक या पुरुषके आठ सत्त्वज गुणोंमेंसे एक है।

अर्थ—दशहजार वर्ष इसको भी छोड़े रहे। दोनों एक पैरसे खड़े रहे॥ १॥ उनका बहुत बड़ा अखण्ड तप देखकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश मनुके पास बहुत बार आए॥ २॥ उन्होंने इनको बहुत तरहसे लालच दिया कि वर माँगो पर वे परम धीर हैं, उनके डिगानेसे वे न डिगे॥ ३॥ शरीरमें हड्डी मात्र रह गयी तो भी उनके मनमें जरा भी पीड़ा नहीं हुई॥ ४॥

बाबा हरिदासजी—"एहि बिधि बीते बरषषट" "बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ" इति। छः हजार वर्षमें षट्विकार और जलतत्त्व जीत लिये, सातहजार वर्षमें मायाके सात आवरण तथा पवनतत्त्व जीते, और दशहजार वर्षमें दशों इन्द्रियाँ और दशों दिशाएँ जीतीं।

वैजनाथजी—'त्यागेउ सोऊ' अर्थात् पवन खींचते थे वह भी त्याग दिया अर्थात् श्वास बंदकर नामका स्मरण और रूपका चिन्तन एक पैरपर खड़े होकर करने लगे। यहाँ प्रेमा और परा दोनों भक्तियाँ पूर्ण हैं

† पग—रा० पा०, ना० प्र०, गौड़जी, पं० रा० व० श०। पद-१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० राम।

यह दिखाया। यह प्रेमकी संतृप्त दशा है। आत्मरूपकी अखण्ड प्रीति तैल धारावत् परब्रह्मरूपमें लग गई, इससे आदि प्रकृतिको जीतकर तुरीयावस्थाको प्राप्त हुए।

टिप्पणी—१ 'बरप सहसदस त्यागेउ सोऊ।०' इति। (क) दोहेमें 'संवत सप्त सहस' कहा था, संवतका अर्थ 'वर्ष' यहाँ स्पष्ट किया। (ख) 'त्यागेउ सोऊ' अर्थात् पवनका आधार भी त्याग दिया। 'दोऊ' = राजा और रानी दोनों। (ग) ☞ ६००० वर्ष जल पीकर रहे, ७००० वर्ष पवन खाकर रहे, इस तरह क्रमसे कठिन उपवास ८००० वर्ष का होना चाहिए था, सो न करके यह अनुष्ठान एक दम १०००० वर्ष तक किया। यह व्यतिक्रम क्यों? किस हेतुसे ऐसा किया गया? इस सम्भावित प्रश्नका उत्तर यह है कि जल छोड़कर पवन पर रहे, फिर उसे भी छोड़कर कठिन उपवास करने लगे। अब इसे छोड़ें, तो इससे आगे तो इससे कठिन और कोई व्रत है नहीं जो करते, इसलिए यही निश्चय किया कि जबतक दर्शन न होंगे इसीपर डटे रहेंगे, इसे न छोड़ेंगे, दर्शन होगा तभी यह तप छूटेगा। (पुनः, भगवान्‌के मिलनेका, उनकी प्राप्तिका, कोई नियम या नियमित समय नहीं है कि वे उतने समयपर अवश्य दर्शन देंगे, इसलिए इस अनुष्ठानके लिए कोई संख्या न दी गई। जबतक भगवान्‌दर्शन न देंगे तबतक तपस्या न छोड़ेंगे बस अब यही संकल्प है)। परमेश्वरके दर्शन देने, न देनेमें, अपना कुछ बस तो है ही नहीं, उनकी कृपा उनकी इच्छापर निर्भर है, इससे ये बराबर कठिन उपवास करते ही गए। दश हजार वर्ष बीतनेपर भगवान्‌ने दर्शन दिए इसीमें दस हजार वर्ष उपासे एक पैर पर, जो उस समय तक खड़े बीते थे, खड़े रहना कहा गया। यहाँ 'एक पद' कहकर जनाया कि पूर्व दोनों पैरों पर खड़े थे।

२—"बिधि हरि हर तप देखि अपारा।०" इति। (क) तपके फलदाता त्रिदेव हैं, इसीसे वे मनुजीके समीप आए। कर्मफल देनेमें विधाता मुख्य हैं, यथा 'कठिन करमगति जान बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता।' इसीसे विधिका नाम प्रथम लिखा। (ख) 'तप देखि अपारा' अपार तप देखकर आए, इस कथनका भाव यह है कि राजाको तपसे निवृत्त करने आए, जिसमें फल पाकर तप छोड़ दें। (ग) 'मनु समीप आए बहु बारा' इति। कै बार आए और कब कब किस समय आए? इसका उत्तर यह है कि तीन बार आए और तीन अवसरोंपर आए। प्रथम जब छः हजार वर्ष जलपर रहे तब आए, इसके बाद जब सात हजार वर्ष पवन ही खाकर रह गए तब आए और अन्तिम बार जब दस हजार वर्ष उपवास करते ही गए तब आए। (वि० त्रि० का मत है कि पहिली तपस्यापर ब्रह्मा आये, दूसरीमें ब्रह्मा और विष्णु दोनों आये और तीसरीमें विधिहरिहर तीनों आये)। पुनः प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि श्रीपार्वतीजीका तप देखकर ब्रह्माजी समीप नहीं गए थे, वहाँ केवल आकाशवाणी हुई थी। यथा "देखि उमहि तप खीन सरीरा। ब्रह्म गिरा भइ गगन गँभीरा।७४.८।' वैसे ही यहाँ आकाशवाणी ही क्यों न हुई? समीप क्यों आए? इसका उत्तर प्रत्यक्ष है कि राजा ब्रह्मके दर्शनकी अभिलाषासे तप कर रहे हैं-'<u>देखिय नयन</u> परम प्रभु सोई'। दर्शनाभिलाषी हैं, इसीसे त्रिदेव यह विचारकर कि हम ब्रह्मके अंश (अंशभूत) हैं, अंश अंशीसे अभेद है, दर्शन देने आए, दंपतिसे दर्शन करने और वर माँगनेको कहा। त्रिदेवने विचार किया कि यदि हमसे वर माँग लें तो ब्रह्मको क्यों अवतरना पड़े। इसीसे कई बार आए और बहुत भाँतिसे लोभ दिखाया।

नोट—१ कुछ महानुभाव कहते हैं कि 'मनुजीकी वृत्ति गुणातीतमें लीन है और त्रिदेव गुणमयी हैं। यदि आकाशवाणी होती तो उनको सुनाई ही न देती। अतएव समीप आए'।

२ प० शिवलाल पाठकजी 'बहु बारा' का भावार्थ यों करते हुए प्रश्नका उत्तर देते हैं कि—"बारा शक्तिन्ह युत लखा, विधि हरि शंभू आइ। लखि बाणी अनरस तजे, ते सब भजे लजाइ॥" अर्थात् वे बारा-का 'बाला' शक्ति, ऐसा अर्थ करते हैं। भाव यह कि त्रिदेव अपनी शक्तियोंसहित आए परन्तु मनुने उनकी वाणीको निरस समझ त्याग दिया उनसे वर लेना अंगीकार न किया।" (मा० म०)।

३ कुछ लोग कहते हैं कि विधिहरिहर एक-एक करके प्रथम आए और अब एक साथ यह समझकर आए कि हम तीनों मिलकर जायेंगे तब ब्रह्म ही स्वरूप हमे मानकर वर माँग लेंगे। अतएव 'बहु बारा' कहा। वि० त्रि० लिखते हैं कि "अव्यक्तके अभिमानसे आविष्ट होकर ईश्वर ही रुद्र, हरि और ब्रह्माके रूपसे तीन प्रकारके होकर दृश्यादृश्यके महासमुदायके अवभासक हुए।"

टिप्पणी—३ (क) 'माँगहु बर बहु भाँति लोभाए' इति। बर = ईप्सा,—'वर ईप्सायां'। वर धातु ईप्सा अर्थमें है। ईप्सा = इच्छा। अर्थात् कहा कि जो इच्छा हो सो माँगो। 'बहुभाँति' यह कि ब्रह्माजीने कहा कि तुम ब्रह्मलोक ले लो, शिवजीने कहा कि तुम हमारे कैलासमें वास करो और विष्णु भगवान्ने कहा कि तुम हमारे वैकुंठमें वास करो। इस प्रकार तीनोंने अपने अपने लोकोंकी प्राप्तिका लोभ दिखाया [अथवा, अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों माँगनेको कहा जिससे लोभ उत्पन्न हो। (वै०)। वा, कहा कि निर्गुण ब्रह्म इन्द्रियका विषय नहीं है, वह तो अनुभवगम्य है। यदि मिश्र ब्रह्मका दर्शन भी हो गया तो क्षण भरके लिए हो जायगा, हम लोग भी तो वही हैं। कुछ भी कामना नहीं है तो मोक्ष माग लो। (वि० त्रि०)] (ख) 'परम धीर नहिं चलहिं चलाए' अर्थात् लोभमें नहीं पड़ते, तप नहीं छोड़ते। वे ब्रह्मादिसे वर नहीं माँगते, क्योंकि जानते हैं कि ये तो ब्रह्मके अंशसे उत्पन्न हैं। ब्रह्मादिके डिगानेसे न डिगे इसीसे 'परम धीर' विशेषण दिया। उनके लोभ दिखानेसे न चलायमान हुए इससे 'परम धीर' कहा। पुन शरीरके कष्टसे न चलायमान हुए, अत 'परम धीर' कहा, जैसा आगे कहते हैं कि 'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहि नहि पीरा'।

नोट—४ "परम धीर नहिं चलहिं चलाए" यही धैर्यवान्का लक्षण है। शुकदेवलालजी लिखते हैं कि "वे अपनी अनन्यतासे किसीके चलाये कब चलायमान हो सकते हैं कि दूसरेसे वर मागें—'बने तो रघुबर ते बनै०'। सो ब्रह्मा शिवकी तो क्या कहें इनका साथी होनेसे विष्णुके देवत्वको भी भगवत् विभूति मानकर विष्णुसे भी वर ग्रहण न किया। क्योंकि जैसे सूर्यवंश और चन्द्रवंशके सम्बन्धसे रामजीके राघवत्व और कृष्णचन्द्रजीके यादवत्वमें विष्णु विभूति माना गया, ऐसे ही देवत्रयीमें, विष्णुका भी देवत्व विष्णुविभूतिमें 'माना' जाता है"।

५ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'कामनाके वश न हुए कि कुछ वरदान मागें। पुन क्रोधवश हो न चलायमान हुए कि उनसे विमुख भाषण करें अर्थात् कहें कि हम तुमसे वर नहीं माँगते, इत्यादि स्थिर रहे', चलाये न चले।

टिप्पणी—१ "अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा" इति। जब शाक फल या कंद खाते रहे तब कृशशरीर हो गए थे,—'कृस सरीर मुनिपट परिधाना'। जब उपास किये तब अस्थिमात्र रह गया। रक्त और मांस सब सूख गया। (ख) 'तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा' का भाव कि तनका क्लेश मनमें व्याप जाता है। मनमें पीड़ा नहीं है, इससे जनाया कि मन भगवान्में लगा हुआ है, 'बासुदेवपद पंकरुह दंपति मन अति लाग। १४३।' बिना मनके (होनेसे) शरीरको दु ख न व्यापा। यथा 'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही', 'बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बुझिअ बिपति कि ताही। ५।३२।२।' (सत्ययुगमें अस्थिगत प्राण रहा। सब धातुओंके सूख जानेपर हड्डी हड्डी रह जानेपर भी इसीसे प्राण नहीं गया। वि० त्रि०)। ☞ ऐसे ही उमाका शरीर जब तपसे क्षीण हो गया था तब आकाशवाणी हुई थी, यथा 'देखि उमहि तप खीन सरीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा'। यह दिखानेका तात्पर्य्य यह है कि यहीं तक तपकी अवधि है, इसके आगे मरणावस्था है। (ग) 'तदपि' का भाव कि जब शरीर अस्थिमात्र रह गया तब बड़ी भारी पीड़ा होनी चाहिए थी फिर भी जरा सी भी पीड़ा न हुई।

प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी ॥५॥

माँगु माँगु बरु† भै नभ बानी। परम गँभीर कृपामृत सानी ॥६॥
मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई ॥७॥
हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए। मानहु अबहिं भवन ते आए ॥८॥
दोहा—श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात।
बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात ॥१४५॥

अर्थ—सबके हृदयकी जाननेवाले प्रभुने तपस्वी राजा-रानीकी अनन्यगति देख उनको 'निज दास' जाना ॥ ५ ॥ परम गम्भीर कृपारूपी अमृतमें सनी हुई आकाशवाणी हुई कि 'वर माँगो, वर माँगो ॥ ६ ॥ मरे हुएको जिलानेवाली सुन्दर वाणी कानोंके छेदोंमे होकर जब हृदयमे आई तब उनके शरीर सुन्दर मोटे ताजे हो गए, मानों वे अभी-अभी घरसे चले आ रहे हैं ॥ ७, ८ ॥ कानोंमे अमृत समान वचन सुनते ही शरीर पुलकसे प्रफुल्लित हो गया (खिल उठा, हर्षसे रोमांचित हो फूल उठा)। मनुजी (तथा शतरूपाजी) दण्डवत् करके बोले। उनके हृदयमे प्रेम नहीं समाता ॥ १४५ ॥

नोट—१ त्रिदेवके प्रसंगमें 'तप देखि' और यहाँ 'सर्बज्ञ' कहकर दोनोंमे भेद दिखाया। त्रिदेव तप देखते हैं और प्रभु अन्तःकरणका प्रेम देखते हैं। वे समझ गए कि हमारे दर्शन बिना अब ये शरीर ही त्याग देंगे, अतः बोले।

टिप्पणी—१ 'प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी।०' इति। (क) सर्वज्ञ हैं, अतः सब जानते हैं। 'गति अनन्य' अर्थात् हमारी गति छोड़ इनको दूसरी गति नहीं है, यथा 'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं।२।१३०', "एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की। ३।१०।८।" गति = शरण। हमारी प्राप्तिके लिए तप करते हैं यह सब जान गए। इसीसे 'सर्बज्ञ' कहा। (ख) तीनों देवता फलदाता हैं, इससे वे तप देखकर फल देने आए थे और परमप्रभुने अपना 'निजदास' जानकर कृपा की। राजा परमप्रभुके 'निजदास' हैं, यथा 'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई ॥ जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजहि अभिलाषा।', अर्थात् हम भी उनके सेवक हैं। ब्रह्मादिसे वर न माँगा इसीसे 'अनन्यगति' कहा। ('जरि जाहु सो जीह जो जाचहि औरहि')। [निज = सखा, दास, अनन्य। जो अनन्य गति हैं वे प्रभुको अति प्रिय हैं। यथा 'तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।७।८६।']

२ 'माँगु माँगु बरु भै नभबानी।०' इति। (क) त्रिदेव राजाके समीप आए और 'परम प्रभु' की आकाशवाणी हुई, वे समीप न आए। इसमें अभिप्राय यह है कि जैसे रूपके दर्शनकी चाह दासको होगी वैसा रूप धरकर प्रकट होंगे। पर इसमें यह प्रश्न होता है कि "प्रभु तो सर्वज्ञ हैं, जो रुचि है उसे वे जानते हैं, उसीके अनुकूल प्रकट क्यों न हुए ?" उत्तर यह है कि यद्यपि स्वामी सर्वज्ञ हैं तथापि सेवक के मुखसे कहलाकर प्रकट होंगे। वरदानका यही कायदा (नियम) है कि मुखसे कहलवाकर तब वर दें।—'वर और हुकुम दिव्य पेपन में' इति (देव) स्वामीप्रथे, यह आगे स्पष्ट है, जैसा मनुने कहा वैसे ही रूपसे प्रगट हुए।

नोट—२ अथवा, त्रिदेव इनके समीप गए तब इन्होंने उनकी ओर देखा भी नहीं। अतएव प्रथम आकाशवाणी हुई। वा, एकदमसे प्रगट होनेसे संभव था कि संदेह मनमे बना रह जाता कि ये परात्पर परब्रह्म हैं कि नहीं। दूसरे, अत्यन्त हर्षसे प्राणहीका त्याग होना संभव था। अतएव थोड़ा सुख पहिले दिया, उनका शरीर हृष्टपुष्ट कर दिया, इससे उनको विश्वास होगा और वे दर्शनका लाभ भी पूर्ण रीतिसे उठा सकेंगे।

† 'धुनि'—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। 'माँगुमाँगु बरु' ठीक 'वर ब्रूहि' का अनुवाद है। वर—को० रा०। बरु—१६६१, १७०४।

३—बाबा रामप्रसाद शरणजी लिखते हैं कि जब तक पृथ्वीतत्वकी प्रधानता रही तब तक उससे उत्पन्न हुए मूलफलादि खाते रहे। जब धारणा और बढ़ी तब उससे ऊपर जो जलतत्त्व है उसका आहार होने लगा—षट्सहस्र वर्षतक। इससे षट् विकार (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर मान) छूट गए जिससे त्रिदेवके लुभानेमें न आए, षटउर्मी (भूख, प्यास, जन्म मरण, शोक, मोह) भी न रही, षट्चक्र भेदन कर गए (धोती, वस्ती, कपालादि षटकर्म जो करते थे वे छूट गए), षटऋतुका प्रभाव भी निकृष्ट हो गया, षट्रस स्वाद जाते रहे। जब 'बारि' आहार भी छूट गया और सात हजार वर्ष समीर आधारसे रहे तब सप्तावरण दूर होगए। जब यह भी दशसहस्र वर्ष छोड़े रहे तब दशो इन्द्रियोंके विक्षेप दूर हो गए और दशों दिशायें जीत लीं, दश प्राण भी अपने वशमें हो गए। जब तत्त्वके भीतरकी वस्तु वायुतकका निरादर कर दिया और निराधार दसहजार वर्षतक रहे तब निश्चय हो गया कि ब्रह्माण्डके भीतरके न तो किसी देवताकी चाहना है न किसी पदार्थहीकी। सब प्रकार निरवलम्ब होने पर 'प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी ०'।

४ (ख)—'निज दास' और 'अनन्य गति' का अर्थ टिप्पणीमें आ गया। पुन यथा 'बनै तो रघुवरसे बनै के बिगरै भर पूरि। तुलसी बनै जो और ते ता बनिबेमें धूरि' (दोहावली)। प्रभुको अनन्यदास परम प्रिय हैं। श्रीवचनामृत है कि 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा'। शुकदेव लालजी 'निज दास' का अर्थ 'अपना प्रकार त्रय सम्पन्न दास अर्थात् अनन्यगति, अनन्य शरण, अनन्यप्रयोजन' करते हैं। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि दो बार 'माँगु माँगु' कहनेमें गम्भीरता और गोप्यार्थ यह है कि लोक परलोक दोनों माँगलो। पंजाबीजी कहते हैं कि मनु और शतरूपा दो हैं, अतएव दो बार कहा; अथवा, राजाके विशेष सतोषार्थ दो बार कहा। (ग) 'माँगु माँगु' यह प्रसाद (प्रसन्नता, कृपा) में वीप्सा है (और पुनरुक्ति प्रकाश भी), यह आगे स्पष्ट है, यथा 'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि।' पुनः पुन कथन करना वीप्सा है। 'परम गभीर' का भाव कि गंभीर वाणी तो ब्रह्मादिकी भी थी पर यह 'अति गभीर' है। कृपारूपी अमृतसे सनी हुई है अर्थात् प्रभुकी अत्यंत कृपासे यह वाणी हुई है।—(पं० रामकुमारजी)।

टिप्पणी—३ (क) 'मृतक जिआवनि गिरा सुहाई।०' इति। कृपामृतसानी है, अतएव 'मृतक-जिआवनी' है। श्रवणको अमृतसमान सुखद है, अतएव 'सुहाई' है, जैसा आगे कहते हैं,—'श्रवनसुधासम बचन सुनि।' वाणी श्रवणद्वारा हृदयमें प्रवेश करती है, अत 'श्रवनरंध्र होइ०' कहा। अथवा, कृपामृत-सानी है इसीसे मृतकजियावनी है और परम गभीर है इसीसे सुहाई है, गंभीरता वाणीकी शोभा है। (ख) 'हृष्टपुष्ट तन भए सुहाए', राजा रानी दोनों के शरीर हृष्टपुष्ट और सुन्दर हो गए।' 'सुहाए' बहुवचन है क्योंकि दोनोंके लिए आया है। (ग) 'मानों अबहिं भवन तें आए' अर्थात् जैसेके तैसे पूर्ववत् हो गए।

४ 'श्रवनसुधासम बचन सुनि' इति। (क) सुहावनी वाणीने तनको पुष्ट और सुंदर कर दिया, यह वाणीका कृत्य कहकर अब राजाका कृत्य कहते हैं। मुखसे भगवान्‌के दर्शन माँगते हैं, यथा 'बोले मनु०', शरीरसे दडवत् करते हैं, हृदयमें भगवान्‌का प्रेम है। तात्पर्य कि राजा रानी मनवचनकर्म तीनोंसे शरण हुए। (ख) 'मानहुँ अबहि भवन ते आए', यह पुष्टका स्वरूप दिखाया; अब हृष्टका स्वरूप दिखाते हैं,—'श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात।' शरीरका प्रफुल्लित होना, यही 'हृष्ट' का अर्थ है। ['हृष्ट-पुष्ट' बोली है अर्थात् मोटे ताजे, आरोग्य, हट्टेकट्टे। बैजनाथजी 'रिष्टपुष्ट' पाठ देते हैं और लिखते हैं, कि 'रिष्ट' उसे कहते हैं जिसमें अमंगल वा विघ्न न व्यापे। यथा 'रिष्टं क्षेमाशुभाभावेष्वरिष्टे तु शुभाशुभे इत्यमरः' अर्थात् अशुभका अभाव। भाव कि शीतघामादि कुछ छू ही न गए, ऐसा कुशल क्षेम पुष्टाङ्ग तन हो गया।', मनुसे यहाँ मनुशतरूपा दोनों अभिप्रेत हैं जैसा आगेके 'जौं अनाथहित हम पर नेहू', 'देखहि हम सो रूप भरि लोचन' तथा 'दंपति बचन परम प्रिय लागे' से स्पष्ट है। विशेष १४६ (७) में देखिए।

नोट—५ यहाँ हृष्टपुष्ट होना उत्प्रेक्षाका विषय है, सो पहिले कहकर उसकी उत्प्रेक्षा की गई कि वह तन

कैसा है ? कवि अपनी कल्पना शक्तिसे पाठकका ध्यान घरके लालन पालन किए हुए शरीरकी ओर तनकी उत्कृष्ट शोभाका अनुमान करानेके लिये खींच ले जाते हैं। अतएव यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

६—वाणी सुनते ही शरीर हृष्टपुष्ट होगया। विधि हरि हर कई बार मनुशतरूपाजीके समीप प्रत्यक्ष आए— 'मनु समीप आए बहु बारा' तिसपर भी इनके शरीर क्षीण ही बने रहे थे और यहाँ केवल वाणीके श्रवणमात्रका यह प्रभाव हुआ। ऐसा करके भगवान्‌ने उनको अपने परात्पर ब्रह्म होनेका निश्चय कराया। (शीलावृत्त)।

७—'परम गँभीर कृपामृत सानी', 'मृतकजिआवनि गिरा सुहाई' और 'श्रवनसुधा सम बचन सुनि'— यहाँ तक अमृतहीका स्वरूप निबाहा है। ईश्वर अमृतस्वरूप है यह वेदोंने कहा है।

बाबा रामप्रसादशरणजी (साकेतवासी) – इस प्रकरणमें तीन ही तीनका अद्भुत प्रसंग देखिए। श्रीमनुशतरूपाजी तीन अवस्था बीतनेपर वन गए। जिस तीर्थमें गए उसमें भी तीनही अक्षर हैं। 'नैमिष' के अक्षरोंमें भी तीन अवस्थाओंका भाव है। 'नै' अर्थात् नीतिवाली युवावस्था जिसमें राजनीतिसे प्रजाका पालन किया है। 'मि' अर्थात् मिश्रित किशोर अवस्था जिसमें कुछ बाल्यावस्थाके खेल की याद और कुछ आनेवाली युवावस्थाकी चैतन्यता है, इसीसे मिश्रित कहा। 'ष' अर्थात् खेलवाली प्रथम अवस्था। तीर्थमें जो सरित बार गोमती है उसमें भी तीन अक्षर हैं गो (कर्म और ज्ञान इन्द्रिया) + मति (बुद्धि)। कर्म, ज्ञान और बुद्धि ये भी तीन हुए। तीन ही प्रकारके लोग इनसे मिलन आए,—'आए मिलन सिद्ध मुनि ज्ञानी'। तीर्थमें पहुँचकर ये तीन ही काम करते हैं—'संतसभा नित सुनहिं पुराना', 'द्वादस अक्षर मंत्र वर जपहिं सहित अनुराग', और 'सुमिरहिं ब्रह्म सचिदानंदा'। अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंमें तत्पर हैं। 'सुनहिं पुराना' (कर्म) का नैमिष तीर्थके प्रथमाक्षर 'नै' से संबंध है क्योंकि पुराणोंमें विधि-निषेध, धर्माधर्मके विवेचनमें नीतिही है। 'द्वादशाक्षर०' का दूसरे अक्षर 'मि' से संबंध है क्योंकि श्रीयुगल सरकारके दोनों षडक्षरमंत्र मिले हैं इससे मिश्रित कहा। और 'सुमिरहिं ब्रह्म' से 'ष' से संबंध है क्योंकि लीलाविभूति होनेसे यह जगत् ब्रह्मका खेलही है। पुनः, 'सुनहिं पुराना' यह श्रवणभक्ति है, 'जपहिं' यह दूसरी भक्ति है, यथा 'मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा' और 'सुमिरहिं ब्रह्म' यह स्मरण है।—यहाँ केवल तीन ही क्रियायें कहीं और भक्ति है नौ। यहाँ एकएकमें तीनतीनका अंतर्भाव है। प्रथम 'संतसभा नित सुनहिं' में श्रवण, कीर्त्तन और दास्य तीन भक्तियाँ कहीं। सुननेपर परस्पर अनुकथन होना ही कीर्त्तन है और संतसभामें नित्य नेमसे नम्रतापूर्वक जाना दास्य है। 'मंत्र जपहिं सहित अनुराग' में अर्चन वन्दन और पादसेवन कहा। जपसमय ध्यानमें अर्चन वन्दन हो जाता है। और 'सुमिरहिं ब्रह्म' में स्मरण, सख्य और आत्म निवेदन आ गए। जीव-ब्रह्मका सखा भावका संबंध है—'स्वारथ रहित सखा सबही के'। पुनः, लीला भी तीन प्रकार की है—ऐश्वर्य, माधुर्य, मिश्रित। इनमेंसे 'सुनहिं पुराना' यह मिश्रित है, 'जपहिं मंत्र' में केवल माधुर्य है और 'सुमिरहिं ब्रह्म' इसमें ऐश्वर्य है। श्रीमनुजीका प्रेम माधुर्यमें है और श्रीशतरूपाजीका मिश्रितमें, यह वरसे प्रगट है। तप करनेमें आहार भी तीन ही प्रकारका रहा, यथा 'करहिं अहार साक फल कंदा', 'बारि अहार मूल फल त्यागे', और 'संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार'। तपमें कालका नियम भी तीन प्रकारका कहा है, यथा 'एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार', 'संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार' और 'बरष सहसदस त्यागेउ सोऊ'। जिनके निमित्त तप करते हैं उनके तीन ही विशेषण कहे, यथा 'बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग', 'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा' और 'पुनि हरि हेतु करन तप लागे'। ब्रह्मवाणी हुई तब भी तीन ही बातें कहीं—'श्रवनरंध्र होइ', 'उर जब आई' और 'हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए', 'श्रवनसुधा सम बचन०' (१४५) में भी अंतःकरण, वचन और कर्म तीन कहे। (तु० प० ३ । १,२)।

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधिहरिहर बंदित पद रेनू ॥१॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक। प्रनतपाल सचराचर नायक ॥२॥
जौं अनाथहित हमपर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू ॥३॥
जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥४॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥५॥

अर्थ—हे सेवकोंके (लिये) कल्पवृक्ष और कामधेनु! सुनिये। आपके चरणरजकी वंदना विधिहरि-हर करते हैं ॥१॥ हे सेवा करते ही सुलभ होनेवाले एवं जिनकी सेवा सुलभ है! सम्पूर्ण सुखोंके देनेवाले! शरणागतका पालन करनेवाले और चराचर (मात्र) के स्वामी! ॥२॥ हे अनाथोंका कल्याण करनेवाले! यदि आपका हमपर प्रेम है तो प्रसन्न होकर यह वर दीजिये ॥३॥ जो स्वरूप शिवजीके मनमें बसता है, जिसके लिये मुनि यत्न करते हैं ॥४॥ जो कागभुशुण्डीजीके मनरूप मानससरका हंस है, (जो) सगुण और निर्गुण (दोनों है), जिसकी वेद बड़ाई करते हैं ॥५॥

नोट—१ 'सेवक सुरतरु सुरधेनू। ' इति। (क) सुरतरु और सुरधेनु दोनों ही की उपमा दी; दोनों मनोरथके देनेवाले हैं। प्रथम सुरतरु सम कहा, फिर सोचे कि वृक्ष तो जड़ है, जब कोई उसके पास पहुँचे तब वह मनोरथको पूरा करता है और हम असमर्थ हैं आपतक नहीं पहुँच सकते आप ही कृपा करके हमारे पास आकर हमारे मनोरथको पूर्ण करें, तब 'सुरधेनु' सम कहा। (ख) यहाँ जो सेवका 'सुरतरु सुरधेनू' कहा है इसकी पूर्ति आगे 'तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं' और 'जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई' मे की है। इस प्रकार कि गोसाईंसे सुरधेनुका भाव ग्रहण किया और विबुधतरु तो स्पष्ट ही कहा है। (ख) प्र० स्वामी लिखते हैं कि सुरधेनु जब सेवासे प्रसन्न होगी तभी माँगनेपर देगी, वह भला बुरा भक्त अभक्तका विचार भी करती है। सुरतरु न माँगनेपर भी केवल छायाका आश्रय करनेसे सब शोचोंका नाश करता है और माँगते ही अभिमत देता है। यथा 'देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ। जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच। २।२६७।' भगवान् सुरतरु और सुरधेनु दोनोंका काम करते हैं और इससे विशेष मोक्ष या भक्ति भी देते हैं अतः आगे 'सकल सुखदायक' कहना पड़ा। दोहा ११३ भी देखिए। (ग) वि० त्रि० लिखते हैं कि "सुरतरु और सुरधेनुसे पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों कहा (यथा 'त्व स्त्री त्वं पुमान्')। सुरतरु अभिमतदानि है और सुरधेनु सब सुखखानि है। यथा 'अभिमतदानि देवतरुवर से', 'रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखदानि'।"
(घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि "आकाशवाणीमें माँगु माँगु दो बार सुन दो रूपका बोध हुआ। इसलिए प्रभुके संबोधन हेतु 'सुरतरु' कहा और शक्तिके संबोधनके लिये 'सुरधेनु'"। आगे इन वचनोंको 'दंपति वचन' कहा है इसीसे दोनोंमें एक एकको लगाते हैं। (घ) प० शिवलाल पाठकजी कहते हैं कि "दोऊ प्रति दोऊ कहे प्यारी प्रीतम माँग। कामधेनु अरु कल्पतरु कह दोऊ अनुराग" अर्थात् दोनों प्रिया प्रीतमने मनुशतरूपासे पृथक् पृथक् कहा कि वर माँगो तब मनुने रामचन्द्रको सुरतरु और शतरूपाने जानकीजीको सुरधेनु परमप्रेम युत कहा"—(मानस मयंक)।

टिप्पणी १—'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।०' इति (क) भगवान् सेवक हितकारी हैं इसी बलसे तप किया था, यथा 'सेवउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तन गहई ॥ जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ॥' अब इसी बलसे वर माँगते हैं कि आप सेवकके लिए कल्पवृक्ष हैं, कामधेनु हैं। (ख) यहाँ 'सुरतरु' और 'सुरधेनु' दो उपमायें देनेका भाव यह है कि जो भक्त आपके यहाँ जाते हैं,

उनके लिए कल्पवृक्ष हो और जो आपके यहाँ नहीं पहुँचते उनकेलिए कामधेनु हो, उनके पास आप स्वयं जाकर उनके मनोरथ पूर्ण करते हैं। (ग) 'बिधि हरि हर बंदित पदरेनू।' —त्रिदेव आपके चरणरजकी वन्दना करते हैं इस कथनका तात्पर्य यह है कि जिनकी सेवा ब्रह्मादि करते हैं वे परम प्रभु स्वयं सेवककी सेवा करते हैं। ☞ उपजनेके प्रकरणमें उपजना कहा था, जहाँ 'उपजहिं जासु अंस ते नाना' कहा वहीं 'भगत हेतु लीला तनु गहई' कहा अर्थात् ब्रह्मादिके उपजानेवाले भक्तवश स्वयं 'उपजते' हैं। वैसे ही यहाँ सेवाके प्रकरणमें भक्तका सेवक बनना कहा। जब कहा कि बिधि हरि हर आपकी चरणरज की वंदना करते हैं अर्थात् ब्रह्मादि आपके सेवक हैं तब वहीं यह कहा कि आप अपने भक्तोंके सेवक हैं। भाव कि ब्रह्मादि जिनके सेवक हैं वे ही अपने भक्तोंके सेवक हैं।—यह भाव 'सुनु सेवक सुरतरु०' का है। अर्थात् आप सेवककी रुचि पूर्ण करनेमें लगे रहते हैं।

नोट २—श्रीशुकदेवलालजी लिखते हैं कि "इस प्रकरणमें बिधिहरिहर पद व्यामोहक है। तहाँ कोई विद्वान् ऐसे स्थानमें हरिका अर्थ इन्द्रवाचक इन प्रमाणोंसे करते हैं कि देवत्रयमें ब्रह्मा शिवके साथ इन्द्र भी वर्षा करके विश्वका पालन करता है। रामायणे यथा 'ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा। रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा त्रातुं न शक्ता युधि रामवध्यम्॥ भारतेमोक्षधर्मे इत्यादि।' परन्तु ऐसा अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है।"

३ 'बिधि हरि हर बंदित पद रेनू' इति। यथा—'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। ५४।७-८।' पूर्व नाना त्रिदेवोंका अंशसे उत्पन्न होना कहा था अब चरणसेवा करना कहकर यह भी सूचित किया कि त्रिदेव आपकी सेवासे ही प्रभुत्वको एवं अपने-अपने अधिकारको प्राप्त हैं। यथा "हरि-हरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई। वि० १३५।', 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।५।२१।५।' [पुनः, यथा वशिष्ठ संहितायाम्— 'अथ मत्स्याद्यसख्येयावतारोद्भवकारणम्। ब्रह्मविष्णुमहेशादि संसेव्य चरणाम्बुजम्॥' (वै०)]

टिप्पणी—२ 'सेवत सुलभ सकल सुख दायक। ' इति। (क) सेवा सुलभ है। यथा "बल पूजा मागै नहीं चाहै एक प्रीति।" (वि० १०७), 'सकृत प्रनामु किहें अपनाए। २।२६६।' जो 'सेवत सुलभ' है, जिसकी सेवा आसान है, वह सब सुखोंका दाता नहीं होता, अतएव 'सेवत सुलभ' कहकर फिर 'सकल सुखदायक' भी कहा। इस प्रकार जनाया कि ऐसे एक आप ही हैं, आपमें ये दोनों गुण हैं। 'सकल सुख दायक' यथा 'तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम काम सब पूरन करै कृपानिधि तेरो। (वि० १६२)।' (ख) प्रथम सुरतरु और सुरधेनु समान कहा, अब उन दोनोंके धर्म कहते हैं। 'सेवत सुलभ सकल सुखदायक इत्यादि उनके धर्म हैं। 'सकल सुखदायक' अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पदार्थोंके दाता हो। (ग) 'प्रनतपाल सचराचर नायक' अर्थात् चराचरको पालते हो। यहाँ प्रणतको चराचरसे प्रथम कहनेका भाव कि चराचरकी अपेक्षा प्रणतका विशेष पालन करते हैं। यथा 'जग-पालक बिसेष जन त्राता'।

प० प० प्र०—'सेवत सुलभ सकल सुखदायक' यह चरण उत्तरकांडमें श्रीसनकादिककृत स्तुतिमें भी आया है। वहाँ 'सुरतरु सुरधेनु' का उल्लेख प्रथम करके पीछे यह चरण दिया है। यथा 'प्रनतकाम सुरधेनु कल्पतरु। होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु॥ भव बारिधि कुंभज रघुनायक। सेवत सुलभ सकल सुखदायक। देहि भगति संसृति सरि तरनी। ७।३४।२-६।' इस द्विरुक्तिसे जनाया कि सनकादिमुनियोंने जो कुछ माँगा था, वही मनुजी दर्शन होनेपर माँगना चाहते हैं, पर भगवान् अपनी इच्छासे उनकी बुद्धि बदलते हैं। सनकादिक ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं और मनुजी ब्रह्माजीके शरीरसे उत्पन्न हुए हैं। इस पुनरुक्तिसे दोनोंमें

समानता दिखाई। (इसमें एक शंका उपस्थित होती है कि उस कल्पमें तो पाँच मन्वन्तरोंके बाद अवतार होनेपर सनकादिकने वर माँगा है। और मनुजीकी यह अभिलाषा इस मन्वन्तरमें हुई है)।

सनकादिक तो स्वयं भगवान्‌के पास आए हैं तथापि उन्होंने 'सुरधेनु' प्रथम कहा है और भगवान् मनुजीके पास स्वयं आनेवाले हैं तथापि यहाँ सुरतरु प्रथम है, अत इससे कुछ भाव निकालना गलत है।

वि० त्रि० का मत है कि 'सुरतरु' के सम्बधसे 'सेवत सुलभ' कहा, यथा 'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोच। ', और कामधेनुके सबधसे 'सकल सुखदायक' कहा।

टिप्पणी—३ 'जौं अनाथहित हम पर नेहू। तौ०' इति। (क) 'अनाथहित' का भाव कि भगवान् अनाथपर कृपा करते हैं, यथा 'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा ।५।७' 'सुदर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो। सो एक राम ' । ७।१३०।', 'नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मो सो' (वि० ७६)। ☞ (ख) पुन भाव कि अनाथके हित एकमात्र आप ही हैं, दूसरा नहीं। राजा और रानी दो हैं इसीसे 'हम' बहुवचन पद दिया। इसी प्रकार पूर्व 'जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ॥' कहा और आगे भी 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' तथा 'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे' मे बहुवचन पद दिए। जहाँ दोनोंका सम्मत एक है वहाँ बहुवचन कहा। इसी तरह जहाँ दोनोंका सम्मत एक नहीं है, जहाँ दोनों पृथक्-पृथक् वर माँगते हैं वहाँ एकवचन दिया गया है। यथा 'सो तुम्ह जानहु अतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी', 'चाहउँ तुम्हहिं समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ', 'यदि चरन मनु कहेउ बहोरी। अवर एक बिनती प्रभु मोरी', 'मम जीवन मिति तुम्हहि अधीना', 'सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा', 'सोइ बिवेक सोइ रहनि प्रभु मोहि कृपा करि देहु' इत्यादि। (श्रीरामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि अपनेको अनाथ कहनेका भाव कि 'त्रिलोकमें हम किसीको अपना हितकर नहीं देखते, त्रिदेव भी हमारा अभीष्ट पूर्ण नहीं कर सकते, और त्रिकाडसे भी हम अपनो कल्याण नहीं समझते।' पुन कणादकृत वैशेषिकवाले कालहीकी प्रेरणासे जगत्‌की उत्पत्ति आदि कहते हैं॥ हमको तीनों कालसे कदापि सुखकी वृद्धि नहीं है। पुन, कोई जाग्रत्‌में अपनेको सुखी समझते हैं, कोई स्वप्नहीसे प्रीति करते हैं और कोई सुषुप्तिहीसे आनंद मानते हैं। परन्तु हमको तो इन तीनों अवस्थाओंमें कुछ भी हितकर नहीं जान पडता।)

४—'जो सरूप बस सिव मन माहीं।०' इति। ब्रह्मको नेत्रभर देखना चाहते हैं, ब्रह्मके शरीर नहीं है, इसीसे कहा था कि भक्तोंके लिए 'लीला तनु गहई'। पर लीलातन तो चतुर्भुज शेषशायी, अष्टभुज, भूमापुरुष, चतुर्व्यूह, द्वादशव्यूह, सहस्रभुज विराट्‌पुरुष मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिंह, कृष्ण, इत्यादि अनेक हैं, तुम किस लीलातनका दर्शन चाहते हो? इसपर कहते हैं कि जो स्वरूप शिवजीके मनमें बसता है, जिस स्वरूपके लिए मुनि यत्न करते हैं कि हमारे हृदयमें बसे—'करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं। ३।३२।' स्वरूपकी प्राप्तिमें शिवजी सिद्ध हैं। उनके मनमें मूर्ति बसती है। मुनि साधक हैं, वे मूर्ति अपने हृदयमें बसानेके लिए साधन करते हैं। जिन मुनियोंके साधन सिद्ध हो जाते हैं, उनके हृदयमें प्रभु बसते हैं, यथा 'राम करउँ केहि भाँति प्रससा। मुनि महेस मनमानस हसा'।

५—'जो भुसुडि मन मानस हसा।०' इति। (क) श्रीशिवजी और भुशुडीजी दोनों प्रेमी हैं, दोनों ब्रह्मके स्वरूप और स्वभावके 'जनैया' (जाननेवाले) हैं, इसीसे दोनोंके मनमें स्वरूपका बसना लिखा, यथा "कागभुसुडि सग हम दोऊ। मनुज रूप जानै नहिं कोऊ॥ परमानद प्रेम सुख। फूले बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूल। १।१९६।४-५।', 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुडि सभु गिरिजाऊ। ५।४८।', 'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं। ७।१२४।' (ख) यहाँ तक शिव, मुनि और भुसुडि तीन नाम दिए। इन तीनोंका नाम कहकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों (से भगवान्‌की

प्राप्ति) दिखाते हैं । शिवजी ज्ञानी हैं, मुनि कर्मकाडी हैं और भुशुण्डीजी उपासक हैं । तात्पर्य कि भगवान् ज्ञानी, कर्मी और उपासक तीनोंको प्राप्त होते हैं । (एक खर्रेमें पंडितजी लिखते हैं कि 'भुसुंडि' के कहनेसे (गरुडको) 'अगाह के रामरूपका बोध भया') । (ग) सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा' इति । सगुण और निर्गुण कहकर जिसकी स्तुति वेद करते हैं, यथा 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमन । ७।१३ ।' श्रीरामजीके सगुण और निर्गुण दो रूप हैं । निर्गुणरूप प्रथम ही कह आए—'अगुन अखंड अनंत अनादी । जेहि चिंतहिं परमारथबादी ॥ नेति नेति जेहि वेद निरूपा । निजानंद निरुपाधि अनूपा ॥' इत्यादि । सगुण स्वरूप आगे कहेंगे—'नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम' इत्यादि । (घ) वेद निर्गुण ब्रह्मका निरूपण करते हैं, यथा 'नेति नेति कहि वेद निरूपा' और सगुण ब्रह्मकी प्रशंसा करते हैं—'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा' । एकका निरूपण और दूसरेकी प्रशंसा करनेका भाव कि निर्गुण ब्रह्ममें वाणीका प्रवेश नहीं है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुति । सगुणमें वाणीका प्रवेश है, इसीसे प्रशंसा करते हैं । [यहाँ कहते हैं कि 'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ।' और उत्तरकाण्डमें वेद स्वयं कहते हैं कि 'ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं ।' यह परस्पर भेद कैसा ? रामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि 'सगुन जस' गानेमें भाव यह है कि यशका लाभ केवल सगुण ही रूपको है निर्गुणकानहीं, क्योंकि वह तो क्रियाशून्य है, चेष्टारहित है । जिसकी निषेधकी हानि अथवा विधिके प्रचारकी चेष्टा ही न हो उसको यश कैसे प्राप्त हो सकता है ? 'अस प्रभु हृदय अछत अविकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ।' (बा० दो० ३।४)] ।

नोट—४ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि मनुजीके वचनोंका भाव यह है कि "आपका स्वरूप कोई जानता नहीं । वेद भी 'नेति नेति' कहते हैं तब मैं उसे कैसे जानूँ ? अतएव उस स्वरूपका इस प्रकार लक्षित करते हैं कि 'जो सरूप ' इत्यादि । पर शिवजीके मनमें बालरूप बसता है, यथा 'बंदौं बालरूप सोइ रामू ।' मुनियोंके ध्यानमें अवस्थाका नियम नहीं है । देखिए सनत्कुमार संहितामें पहले "पितुरङ्कगतं रामं" यह बालरूपका ध्यान है फिर 'वैदेही सहितं सुरद्रुमतले' यह किशोरावस्थाका ध्यान है । भुशुण्डीजी बालरूपके उपासक हैं । वेदोंके वर्णनमें अवस्थाका नियम नहीं है । वेदोंने अनन्तरूपोंका वर्णन किया है । इन वचनोंमें परात्पररूप और सब अवस्थाओंका सँभार आ गया ।"

५—मनुजीका यह सिद्धान्त है कि "शिवजी भगवान् हैं, रामभक्तिके आदि आचार्य हैं, ज्ञान वैराग्य वेदतत्त्व आदिके ज्ञाता हैं, यथा 'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना । १११।५ ।', 'जोग ज्ञान वैराग्य निधि । १०७ ।' मुनि इन्द्रिय विषय सुखको त्यागकर अनेक कष्ट उठाकर, उपाय करते हैं तो परात्पर रूपहीके लिए करते होंगे । भुशुण्डिजी ऐसे परमभक्त हैं कि जिनके आश्रमके आसपास चार योजन तक माया नहीं व्यापती, वे भी परात्परकी ही उपासना करते होंगे । वेद भी परात्पर रूपकी ही, अगुण सगुण कहकर, प्रशंसा करते हैं ।" अतएव इन तीनोंके सिद्धान्तसे जो ब्रह्म हो वही परात्पर होगा ।

६—मयङ्ककार लिखते हैं कि "शिवजीके मनमें किशोररूप और भुशुण्डीजीके मनमें बालस्वरूप बसता है । दोनों एक बार देखना दुस्तर है । दम्पतिने विचारपूर्वक यह वर माँगा जिसमें किशोररूपका तो तत्काल दर्शन हो (प्रथम 'जो स्वरूप बस सिव मनमाहीं' यह कहा इसीसे प्रथम शिवजीके ध्यानवाला स्वरूप प्रकट हुआ) और अन्तमें बालरूपका आनन्द पावें अर्थात् पुत्र हो प्रगट हों । ('भुसुंडि मन मानस हंसा' अंतमें कहा । इसीसे कालान्तरमें वही यज्ञादि रूपी यत्न करनेसे 'भुसुंडि मन मानस हंसा' बालरूप होकर प्रकट होंगे) । "मनुने तप करते समय किसीकी उपासना नहीं की, न किसीके नामको जपा । उनका यही अनुष्ठान था कि जो परतम सबसे परे हो वह मुझको दर्शन दे । तब शार्ङ्गधर भगवान् रामचन्द्रजी प्रकट हुए । इससे यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि ये ही सबसे परे और सबके सींव हैं"—(मा० म०) ।—

'विधि हरि संभु नचावनिहारे', 'हरिहरहिं हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई।' (वि० १३५)।

प० प० प्र०—शिवजी रघुवीररूपके उपासक हैं, यथा 'सोइ मम इष्टदेव रघुवीरा'। 'जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं।' कहनेपर विचार आ गया कि शिवजी तो बालरूपके उपासक नहीं हैं और बालरूप तो अधिक मोहक, मनोहर और सुखकर है, अत फिर कहा कि 'जो भुसुंडि मन मानस हंसा' क्योंकि ये बालरूपके उपासक हैं। जो प्रथम माँगा उसके अनुसार अवतार-समयमें भी प्रथम वही रूप कौसल्याजीको दिखाया 'जो सरूप बस सिव मन माहीं' और फिर 'भए सिसुरूप खरारी'। मयंककारने उचित ही लिखा है।

देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारतिमोचन ॥ ६ ॥
दंपति बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेमरस पागे ॥ ७ ॥
भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥ ८ ॥
दोहा—नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥ १४६ ॥

शब्दार्थ—दंपति = स्त्रीपुरुष। पागे = शीरा, क़िवाम या चाशनीमें लपेटे, डुबोए या साने हुए, यथा 'आखर अरथ मंजु मृदु मोदक प्रेम पाग पागिहै।' (विनय)। भगतबछल (भक्तवत्सल)—जैसे गऊ नवजात बछड़ेका प्यार करती है वैसे ही भक्तोंका प्यार करनेवाले, उनके दोषोंको स्वयं भोग लेनेवाले, उन पर दृष्टि न करनेवाले और सदा साथ रहनेवाले। यथा भगवद्गुणदर्पणे—'आश्रितदोषभोक्तृत्वं वात्सल्यमिति केचन। आश्रितागस्तिरस्कार बुद्धिवात्सल्यमित्यपि ॥ सुस्निग्धहृदयत्वं यद्दोषरोधशाति निजे। अनेस्थात्तद्धि वात्सल्यं भक्ते प्रायस्य वै हरेः ॥ ममतामोहसम्पर्को हृदीर्यास्तनुजादिषु। यत्पिच्छनमनस्कात्व विदुर्वात्सल्यमुत्तमाः ॥ वत्सः स्नेहगुणस्ते दाता वत्सलो हरिः ॥'—(वै०)।

अर्थ—हे प्रणतके दुःखको छुड़ानेवाले! हम वह रूप नेत्र भरकर देखें (ऐसी) कृपा कीजिये ॥ ६ ॥ दंपतिके कोमल, नम्र और प्रेमरसमें पागे हुए वचन प्रभुको परम प्रिय लगे ॥ ७ ॥ भक्तवत्सल, दयासागर, विश्वमात्रमें व्यापक, भगवान् प्रभु प्रकट होगए ॥८॥ नील-कमल, नील मणि और नीले मेघोंके समान श्याम (वर्ण) तनकी शोभा देखकर करोड़ों अर्बों कामदेव लज्जित हो जाते हैं ॥ १४६ ॥

बाबा हरिदासजी—१ श्रीमनुजीने विचारा कि शिवजी और भुशुण्डीजी एवं मुनिजन को ब्रह्मका दर्शन ध्यानमें हुआ करता है, कहीं ऐसा न हो कि हमें भी ध्यानहीमें दर्शन देकर चल दें, हमने तो उनको पुत्र बनानेके लिये तप किया है अत कहते हैं कि 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन', ध्यानमें नहीं किन्तु प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं, अपने इन नेत्रोंसे और वह भी भरपूर। २—'दंपति बचन परम प्रिय लागे।०' इति। 'दंपति अर्थात् श्रीसीतारामको (उनके) वचन परम प्रिय लगे—(शीलावृत्ति)। (हमने 'दंपति' से मनु-शतरूपाका अर्थ किया है)।

टिप्पणी—१ 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन'। भाव कि जो रूप शिवादि ध्यान धरकर मनमें देखते हैं वही रूप हम प्रत्यक्ष नेत्र भरकर देखें। (ख) 'कृपा करहु प्रनतारतिमोचन' अर्थात् आप प्रणतकी आर्ति हरते हैं, हम प्रणत हैं हमारी आर्ति हरण कीजिए। तात्पर्य्य कि आपके दर्शन बिना हम दोनों अत्यन्त आर्त हैं, हम इस योग्य नहीं है कि आप दर्शन दें, हमारे ऐसे सुकृत नहीं है कि दर्शन प्राप्त हो सकें, आपकी कृपाका ही भरोसा है, आप अपनी ओरसे कृपा करके हमको दर्शन दीजिए। (शिवादि समर्थ हैं। हममें उनका सामर्थ्य नहीं है। हमें एकमात्र आपकी कृपाका भरोसा है। कठोपनिषद्‌में भी कहा है कि

जिसपर वह कृपा करता है उसीको प्राप्त होता है। यथा 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम ।१।२।२३।')।

नोट—१ 'दंपति वचन' इति। पूर्व केवल 'मनु' जीका बोलना लिखा था, यथा 'बोले मनु करि दंडवत ।। १४५ ।।' और यहाँ स्त्री पुरुष मनु और शतरूपा दोनोंका बोलना लिखते हैं यह पूर्वापर विरोध कैसा? बाबा हरीदासजीने इस शंका की निवृत्ति 'दंपति' से 'श्रीसीतारामजी' का ग्रहण करके की है। वे 'दंपति' से 'दंपति श्रीसीतारामजीको' यह अर्थ लेते हैं। हमने तथा प्रायः अन्य सभी टीकाकारोंने 'दंपति मनुशतरूपा के' ऐसा अर्थ किया है। शंकाका समाधान संत श्रीगुरुसहायलालजीने इस प्रकार किया है कि "मनु" से राजा मनु और मनुकी स्त्री दोनों अर्थ निकलते हैं। व्याकरणमें 'मनु' शब्दका स्त्रीलिंगमें तीन तरहका रूप है। मनायी, मनावी और मनु। उसमें सूत्र लिखा है—'मनो रौ वा।' "" । मा० त० वि०)। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'मनो रौ वा' इस सूत्रसे ङीप् विकल्पसे होता है। अतः शतरूपा भी मनु हैं। हिन्दी शब्दसागरमें भी 'मनु' को पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों लिखा है और उसका अर्थ, 'वैवस्वत मनु' और 'मनायी, मनुकी स्त्री' दिया है। इस तरह पूर्व के 'मनु' शब्दमें मनु और उनकी स्त्री शतरूपा दोनोंका ग्रहण होता है। अतः शंका नहीं रह जाती। पं० रामकुमारजी शंकाका समाधान इस तरह करते हैं कि पूर्व 'मनु' और यहाँ 'दंपति' शब्द देकर जनाते हैं कि जो मनुजी ने कहा वही महारानी शतरूपाजी ने कहा अर्थात् (अन्तमें) महारानीजीने कहा कि मैं भी यही चाहती हूँ। इस प्रकार ये वचन दोनोंके हुए, नहीं तो दोनोंका एक साथ बोलना नहीं बनता। (नोट—आगे इसी तरह श्रीशतरूपाजीने कहा भी है,—'जो वरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा। १५० ४।' वैसे ही यहाँ राजाके कह चुकनेपर अन्तमें कहा और पूर्वसे भी दोनोंका सम्मत यह था ही—"पुनि हरि हेतु करन तप लागे। देखिअ नयन परम प्रभु सोई।" त्रिपाठीजीका मत है कि दम्पतिका हृदय इतना अभिन्न है कि वे ही शब्द दोनों मुखोंसे एक साथ निकल रहे हैं।)

टिप्पणी—२ (क) 'परम प्रिय लागे' इसका कारण आगे स्वयं कहते हैं 'मृदुल विनीत प्रेमरस पागे'। वचन कोमल हैं, सुननेमें कटु कठोर नहीं हैं, विनम्र हैं। बड़ाई लिए हुए हैं (अर्थात् उनमें सेवक स्वामि भावका उल्लंघन नहीं हुआ, मर्यादाके अनुकूल और अहंकार शून्य हैं, और प्रेमरसमें पगे हुए हैं। भगवान्‌को प्रेम प्रिय है, यथा—'रामहिं केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा। २ १३७।' इसीसे ये वचन 'परम प्रिय' लगे। (ख) ☞ प्रथम कहा कि 'बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात', हृदयके उसी प्रेमसे वचन बोले, अतएव उन वचनोंको 'प्रेमरस पागे' कहा। ☞ भगवान् के वचन सुधा समानी हैं,—'श्रवन सुधासम बचन सुनि' और 'मृतक जियावन' हैं, इसीसे उन्हें सुनकर स्त्री पुरुष दोनों जिये, नहीं तो मृत्यु हो जाती। (भगवान्‌के वचन सुनकर दोनों पुलकित और प्रफुल्लित हो गए वैसे ही) इनके वचन प्रेमरससे पागे हैं इसीसे भगवान्‌को परम प्रिय लगे। [कोमल वचन 'प्रिय' होते हैं, उसपर भी ये वचन 'विनीत' हैं इससे 'अतिप्रिय' हुए और फिर प्रेम-रसमें पगे हैं अतएव 'परम प्रिय' हैं। (वै)]

नोट—२ वैजनाथजी लिखते हैं कि "जौ अनाथ हित हम पर नेहू', 'प्रनतपाल', 'कृपा करहु प्रनतारति मोचन' इत्यादि मृदुल हैं। 'सेवक सुरतरु नायक' विनीत हैं और 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' प्रेमरसमें पगे हुये वचन हैं।" (प्रेमपगे तो सभी हैं क्योंकि 'प्रेम न हृदय समात' पूर्व कह आए हैं। वह प्रेम वचन, पुलक इत्यादि रूपसे बाहर निकल पड़ा है अतः वचन क्या हैं मानो प्रेमही हैं।)

टिप्पणी—३ 'भगतबछल प्रभु कृपानिधाना।०' इति। (क) राजाने कहा था कि आप सेवकके काम धेनु हैं, कल्पवृक्ष हैं और प्रणतपाल हैं, इन्हीं वचनोंको चरितार्थ करनेके लिए यहाँ 'भक्तवत्सल' कहा ('सेवकसुरधेनु' भगवान् हैं तो भक्त 'वत्स' हुआ ही। स्वयं भक्तके पास आए, अतः 'भगतबछल' विशेषण

उपयुक्त है)। जो राजाने कहा था कि 'करहु कृपा प्रनतारतिमोचन' अर्थात् कृपा करके मुझ आर्तको दर्शन दीजिए; इस वचनको चरितार्थ करनेके लिए 'कृपानिधान' कहा अर्थात् भगवान् कृपा करके प्रगट हुए। ☞ भगवान्‌के प्रगट होनेका मुख्य कारण कृपा है, यथा 'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी', 'सो प्रगट करनाकंद सोभावृंद अग जग मोहई' तथा यहाँ 'भगतबछल०' कहा [मृदुल, विनीत और प्रेमरस पागे ये तीन विशेषण वचनके दिए। वैसे ही तीन ही विशेषण भगवान्‌के दिये गए—भगतबछल, प्रभु और कृपानिधान। भक्तवत्सल हैं, प्रेमरसपागे वचन प्रिय लगे। प्रभु हैं, विनीत वचन पर प्रसन्न हुए। कृपानिधान हैं, मृदु वचन पर कृपा की। (वि० त्रि०)] (ख) 'बिस्वबास प्रगटे भगवाना'। तात्पर्य कि वे कहीं अन्यत्रसे नहीं आए, उनका वास तो विश्वमात्रमें है, (वे वहींसे, उसी जगह जहाँके तहाँ ही प्रगट हो गए, यथा—'देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं। १८५।६।' (ग) 'प्रगटे' का भाव कि सूक्ष्मरूपसे भगवान् सर्वत्र हैं, देख नहीं पड़ते, वहीं प्रगट हो गए। 'प्रगटे भगवाना' का भाव कि ऐश्वर्य्यमान् रूप प्रगट हुआ। पुनः दूसरा भाव कि भक्त और भगवान्‌का सम्बन्ध है, भक्तहेतु प्रगट हुए, इसीसे 'भगवान्' कहा। यथा "भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।७।७२।" (घ) प्रथम प्रेम कहा—'दंपति बचन प्रेमरस पागे'। तत्पश्चात् प्रगट होना कहा, क्योंकि प्रेमसे भगवान् प्रगट होते हैं, यथा 'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना। १८५।५।' उदाहरण लीजिए—'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भवभीरा। ३।१०।', 'जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥ लताभवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ। २३२।' इत्यादि। [☞ यहाँ 'विश्ववास' और 'भगवान' पद देकर जनाया कि श्रीसीतारामजी ही 'वासुदेव' और 'परमप्रभु' हैं जिनका मंत्र जपते थे और जिनके दर्शनकी अभिलाषासे तप कर रहे थे। गुप्त थे सो प्रगट हो गए।] ।

४ 'नीलसरोरुह नीलमनि नीलनीरधर स्याम' इति। (क) कमल समान कोमल और सुगंधित नीलमणिसमान चिक्कन और दीप्तिमान् और नीले मेघोंके समान गंभीर श्याम शरीर है। एक उपमामें ये सब गुण नहीं मिले, इससे तीन उपमाएँ दीं। पुनः, इन तीन उपमाओंके देनेका भाव कि संसारमें जल, थल और नभ ये तीन स्थान हैं। यथा 'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना। १।३।४।' इन तीनों स्थानोंकी एक एक वस्तुकी उपमा दी। जलके कमलकी, पृथ्वीके मणिकी और आकाशके मेघकी। (ख) 'नीरधर' शब्दसे सजल मेघ जनाए। 'नील नीरधर स्याम' में नील 'नीरधर' का विशेषण है और श्याम भगवान्‌का विशेषण है (ग) 'लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम' इति। यथा 'स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन'। कामदेवका रंग श्याम है, इसीसे कामकी उपमा लिखी।

*** कमल, मणि और नीरधर तीन उपमाओंके और भाव ***

वैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ तीन उपमान दिए। इन तीनोंमें मिलकर १६ धर्म हैं। इनकी उपमा देकर तनके षोड़श शोभामय गुण दर्शित किये हैं। कमलकी उपमा देकर छः गुण दर्शाए, मणिसे आठ गुण और मेघसे दो गुण। कमलके धर्म्म हैं 'सुन्दरता, कोमलता, सुकुमारता, सुगन्धता, मनोहरता और मकरन्द'। प्रभुका शरीर सर्वांग सुठौर, कोमल, सुकुमार, सुगन्धयुक्त, सहज ही मनोहर और असीम माधुर्य्यरसयुक्त। मणिके धर्म हैं 'उज्ज्वल, स्वच्छ, आवरणरहित, शुद्ध, अपावन न होनेवाला तथा सुखमा, एकरस दीप्ति, आववाला'। वैसे ही प्रभु तमोगुणादि रहित हैं, देहमें मलिनता नहीं, निरंजन निर्मल एकरूप, तनमन शुद्ध, शोभा, नवयौवन, तेज, लावण्य, इत्यादि धर्मयुक्त हैं। मेघ गंभीर श्याम, बिजलीयुक्त। प्रभुका गभीर श्याम तन, और तनपर पीतपट।

२—श्यामतनके भिन्न भिन्न धर्मोंके भिन्न भिन्न उपमान दिए गए। सब धर्म्म जो वक्ता दिखाना चाहते

थे वे किसी एक उपमानमें नहीं मिले, इससे वे बराबर उपमा देते गए। श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें अंगदजीके बिदाईके प्रसंगमें 'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि' ऐसा कहा है। वहाँ कुलिश और कुसुमकी उपमायें चित्तके लिये दी गई हैं। कुलिश मणि है और कमल कुसुम है। इस प्रकार कमलवत् श्याम और कोमल इत्यादि गुणोंका महण होगा, यथा 'नीलाम्बुज श्यामल कोमलाग सीतासमारोपित वाम भाग', मणिवत् श्याम और कठोर अर्थात् इससे पुष्ट और एकरस सहज प्रकाशमान् गुण लेंगे। यथा 'परम प्रकासरूप दिन राती। नहि कछु चहिय दिया घृत बाती'। कमल और मणिकी उपमा देनेपर सोचे कि ये सबको सुलभ नहीं, सबको इनसे आनंद नहीं प्राप्त हो सकता और इन्हें सर्वसाधारणने देखा भी नहीं, सुना भर है, अतएव जलधरकी उपमा दी। यह उपमान ऐसा है जिसे सबने देखा है। सब धर्म यहाँ मिल गए। मेघवत् गंभीर और चराचरमात्रको सुखदायक।

३—यहाँ मालोपमालंकार है। ☞ स्मरण रहे कि "गोस्वामीजीकी मालोपमाओंमें अन्य कवियोंकी अपेक्षा यह बड़ी भारी विशेषता है कि वे जिस विषयके वर्णनमें जहाँ जितनी आवश्यकता समझते हैं वहाँ उतनी उपमाएँ देते हैं। उपमाओंकी व्यर्थ भरमार करके अपना और पाठकका समय नष्ट नहीं करते।"

४—यदि कोई कहे कि मेघ तो अर्क यवासा को जलाते हैं तो उसका उत्तर यह होगा कि अर्कयवास रूपी दुष्ट अपने कर्मोंसे नष्ट हो जाते हैं। मेघ या प्रभुका कुछ दोष नहीं, यथा 'तुलसी दोष न जलद को जौ जल जरत जवास'। पुनः, नीरधरसे श्रीरामजीकी सहृदयता तथा परोपकारपरायणता भी दिखाई है। मेघ जा जाकर सबको जल देते हैं और आप कृपानीरधर हैं, भक्तोंके पास जा जाकर कृपा करते हैं। यथा 'कृपा-बारिधर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारतिहारी।' (लं०),

५—वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि—(क) कोमल सरसादि होनेसे कमल वात्सल्य भावका द्योतक है। राजत्व (ऐश्वर्यत्व) किंवा राजसमाजमें मणिकी उपमा उपयुक्त होती है। 'कृपा बारिधर राम खरारी' के अनुसार मेघकी उपमा कृपाकी द्योतक है। (ख) प्रायः सर्वत्र एक ही उपमा दी जाती है। यहाँ तीन उपमायें एक साथ देनेका भाव यह है कि एक तो भगवान्‌को देखते ही मनुजीके हृदयमें कोमल (वात्सल्य) भावका संचार हो गया, इसे जनानेके लिये 'नील सरोरुह स्याम' कहा। दूसरे, मनु राजा थे और भगवान्‌के ऐश्वर्यको जानते थे, अतः कविने 'नील मनि स्याम' कहा। और, मनुजी कृपा चाहते थे, यथा 'कृपा करहु प्रनतारति मोचन', इसलिये 'नील नीरधर स्याम' कहा।

६—पंजाबीजी कमलसे कोमलता, मणिसे प्रकाश और मेघसे उदारता और गंभीरता गुण लेते हैं।

७—रा० प० का मत है कि सरोरुहकी चिकनाई और सुगंध, मणिकी चमक और घनकी श्यामता ये गुण स्वरूपमें हैं। दर्पणकी उपमा न दी क्योंकि वह सुगंधरहित है। और रा० प्र० का मत है कि नील-कमल समान चिकन और कोमल हैं, नीलमणिसम चमक है और नील मेघके समान सरस हैं। भाव कि मुख की 'पानिप' (आब) विमल है और श्यामता तीनोंके समान है।—एक पर एक उपमा देते गए जब तीसरी उपमा भी योग्य न देखी तब हार मानकर चुप हो रहे। अथवा, तीन उपमायें देकर इनको त्रिदेवका कारण जनाया।

८—काशीनरेश श्रीईश्वरीप्रसादनारायणसिंहजी लिखते हैं कि एक ही श्यामताको तीन प्रकारसे कहकर 'सत् चित् आनंद' भाव दरसाया।

९ वि० त्रि० लिखते हैं कि जलमें सर्वोत्तम नीलिमा नीलकमलकी, थलमें नीलमणिकी और नभमें नीरधरकी है। इन तीनों नीलिमाओंकी शोभा सलोने श्यामसुन्दरमें है।

नोट—३ 'लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम' इति। श्याम तनके लिए उपमा पर उपमा देते गए फिर भी समता न देखकर अन्तमें कहना पड़ा कि 'लाजहिं०'। ऐसा करके उपमेयका अनुपम

होना दिखाया। परमोत्कृष्टता जनानेके लिए इतनी उपमाएँ दी गईं। यहाँ किसीके मतसे तीसरा और किसीके मतसे पाँचवाँ प्रतीपालंकार है। 'कोटि कोटि शत' असंख्य, संख्यारहितका वाचक है। भाव यह है कि जैसा शरीरका रंग और शोभा है वह तो किसीसे कहते नहीं बनती, उपमा जो दी गई वह किंचित् एक देशमें जानिये, नहीं तो निरुपमकी उपमा कैसी? यथा 'नील कमल मनि जलद की उपमा कहे लघु मति होत।' (गी० १।१६।२)। 'कोटि कोटि शत' कहनेका भाव कि जैसे एक दीपकसे अधिक प्रकाश दोमें, और दोसे तीनमें अधिक प्रकाश होता है वैसे ही यदि संख्यारहित कामदेव एकत्र हों तो भी उन सबोंकी समष्टि शोभा श्रीरामजीके श्यामतनकी शोभाके सामने तुच्छ हो जाती है, जैसे सूर्यके आगे दीपक। प्रभुके शरीरकी श्यामतामें जो दिव्य एकरस गुण हैं वे नीलकमल, नीलमणि और नीले मेघोंमें कहाँ? ☞ यहाँ समष्टि शोभा कहकर आगे अंग अंगकी शोभा पृथक् पृथक् कहते हैं।

सरद मयंक बदन छबिसीवां। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवां ॥१॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधुकर निकर बिनिंदक हासा ॥२॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावतीं जी की ॥३॥
भृकुटि मनोज-चाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी ॥४॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुपसमाजा ॥५॥

शब्दार्थ—मयंक = चन्द्रमा। बदन = मुख। सीवाँ = हद, मर्यादा, सीमा, जिससे बढ़कर और नहीं। कपोल = गाल। चिबुक=ठुड्डी, ठोढ़ी। ग्रीवा=कंठ। अधर=ओष्ठ, होंठ, ओंठ। रद=दाँत। नासा = नासिका, नाक। अरुन (अरुण) = लाल। बिधु = चन्द्रमा। कर = किरण। निकर = समूह। बिनिंदक=निन्दा करने-वाला, अत्यन्त नीचा दिखानेवाला। हास्य=हँसी, मन्द मुसकान। अंबुज = कमल। नव-नवीन, ताजा खिला हुआ। ललित-सुन्दर, मनोहर, प्यारी, स्नेह भरी। ❀ भावती = भानेवाली, अच्छी लगनेवाली। भृकुटि = भ्रू, भौंह। पटल=पटली, तह, आवरण, तट। पुन, पटल = समूह,—'जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी', 'मोह महाघन पटल प्रभंजन'। भ्राजना = दीप्तिमान होना। कुटिल = घूमे हुए, घुंघराले, छल्लेदार। मकर = मीन, मछली। = मगर। "मकराकृत कुंडल गोलाकार होता है जैसे मछलीका मुँह और पूँछ मिलानेसे आकार बनेगा।"

अर्थ—उनका मुख शरदपूनोके चन्द्रमाके समान छविकी सीमा है। गाल और ठोढ़ी सुंदर हैं, गला शंखके समान है। १। ओंठ लाल, दाँत और नाक सुंदर हैं। हँसी चन्द्रमाकी किरणसमूहको अत्यन्त नीचा दिखानेवाली है। २। नेत्रोंकी छवि नये खिले हुए कमलकी छवि से अधिक सुन्दर है और चितवन स्नेहसे भरी हुई मनको भानेवाली है॥ ३॥ भौंहें कामदेवके धनुषकी शोभाको हरनेवाली हैं। ललाट-पटलपर तिलक (समूह बिजलीका) प्रकाश कर रहा है॥ ४॥ कानोंमें मकराकृत कुंडल और सिरपर मुकुट सुशोभित है। टेढे घुँघराले बाल (क्या हैं) मानों भ्रमरोंके समाज हैं॥ ५॥

नोट—१ यह सम्पूर्ण प्रसंग भी उपमा और प्रतीप अलंकारसे अलंकृत है।

२—बैजनाथजी लिखते हैं कि दोहा १४६ में पूर्व सोलह गुण कहे। उनमें कमल, मणि और मेघ ये तीन उपमान कह चुके। वहाँ जो तेरह धर्म गुप्त कहे वही तेरह उपमान आगे कहते हैं। यथा—मुख-शशि, ग्रीव-शंख, हास्य-चन्द्रकिरण, नेत्र-कमल, भृकुटी कामचाप, कुण्डल-मकर, केश-भ्रमर-समाज, भुजदंड-करिकर,

†—भावती—१६६१ ❀ "शृङ्गार रसमें एक कायिक हाव या अङ्गचेष्टा जिसमें सुकुमारता (नज़ाकत) के साथ भौंह, आँख, हाथ, पैर अंग हिलाए जाते हैं" ।—(श० सा०)।

कंधर-केहरि, पीतपट तड़ित, उदररेखा लहर, नाभि यमुनभँवर, और पद-राजीव। और, ऊपर दोहेमें जो कहा है कि शरीरकी शोभाको देखकर असंख्य कामदेव लज्जित हो जाते हैं उस वाक्यके प्रमाण हेतु यहाँ कपोल, चिबुक, अधर, दाँत, नासिका, चितवन, तिलक, ललाट, मुकुट, शिर, श्रीवत्स, उर, बनमाला, पदिक, आभूषण, जनेऊ बाहुभूषण, कटि, निषंग, कर, धनुष और बाण इन बाईस अंगोंकी शोभाकी उपमा नहीं दी। (प्रथम संस्करणमें हमने इसको इस प्रकार लिखा था.—बैजनाथजी लिखते हैं कि "यहाँ 'सरद मयंक बदन ' से लेकर 'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं ॥ १४८।१ ॥' तक १३ उपमान देकर उनके १३ धर्म्म गुप्त दिखाए हैं। २२ अंगोंकी शोभाकी उपमा नहीं दी गई, उनके विषयमें 'चारु', 'ललित', 'भावती जीकी' इत्यादि विशेषण देकर उनको योंही रहने दिया। इसका कारण यह है कि वे अनुपम हैं, उनकी उपमा नहीं मिली। जो ऊपर दोहेमें कह आए हैं कि 'लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम' उसीका निर्वाह इन चौपाइयोंमें खूब ही हुआ है"। जिस अङ्गकी किंचित् भी उपमा पाई उसे देते गए।)

३—प० रामकुमारजी कहते हैं कि 'सींव' समुद्रको कहते हैं, यहाँ 'सींवा' से ही चले (अर्थात् 'सीवा' से रूप-वर्णन-प्रसङ्गको उठाया) और सींवाँहीपर समाप्त किया है, 'छबिसमुद्र हरिरूप निहारी' अन्तमें और 'बदनछबिसींवाँ' आदिमें कहा है। यहाँ वाचक लुप्तोपमा है।

टिप्पणी—१ 'सरद मयंक बदन छबिसींवा ॥०' इति। ॥ (क) ☞ शरीरके श्यामवर्णकी शोभा कह कर अब अङ्गोंकी शोभा कहते हैं। (ख) मुख छबिकी सीमा है अर्थात् जैसी शोभा मुखकी है वैसी कहीं नहीं है। 'सींव' कहकर सूचित किया कि शरद्चन्द्रसे मुखकी छबि अधिक है, यथा 'सरदचंद्र निंदक मुख नीके ॥ २४३।२ ॥' पुन, भाव कि 'शरद्मयंक' से निर्मल चन्द्र कहा, छबिसींवसे पूर्णचन्द्र कहा, क्योंकि पूर्णिमाका पूर्णचन्द्र छबिकी सीमा होता है। रामचन्द्रजीका मुख छबिकी सीमा है, अतः उसकी उपमा छबि सींव चन्द्रकी देते हैं, यथा 'भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा ॥ २०७।६।', 'सरद सर्वरीनाथ मुख सरद सरोरुह नयन ॥ ७।११६।' इत्यादि। भाव कि शरदमयंक छबिकी सीमा है, उसके समान बदन छबिकी सीमा है। (शरद्मयंकको मुखसे उपमित करनेपर भी कविको सन्तोष न हुआ तब उसे छबिकी परमावधि बतलाया। वि० त्रि०)। (ग) 'दर ग्रीवा' इति। कंठ शंखसमान है। शंखमें तीन रेखाएँ होती हैं, उपमा देकर कंठको त्रिरेखायुक्त (एवं चढ़ाव उतारसहित) सूचित किया। यथा 'रेखैं रुचिर कंबु कल ग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुषमा की सींवा ॥ २४३।८ ॥' इसमें 'वाचक लुप्तोपमा' है।

श्रीबैजनाथजी—छबिके अङ्ग हैं—द्युति, लावण्य, रूप, सौंदर्य, रमणीयता, कान्ति, माधुरी, मृदुता और सुकुमारता। मुखको शरत्चन्द्र कहा है। चन्द्रमामें भी ये सब अङ्ग हैं। द्युति अर्थात् झलक दोनोंमें है। मुखमें लावण्य जैसे कि मोतीका पानी और चन्द्रमें श्वेतता। मुखमें रूप (बिना भूषणके भूषितवत् जान पड़ना) और चन्द्रमें प्रकाश। मुखमें सौंदर्य (सर्वांग सुडौर बना होना) वैसे ही चन्द्र वर्तुल बना। मुखमें रमणीयता (देखनेपर अनदेखा सा लगना) कान्ति (स्वर्णकीसी ज्योति), माधुरी (देखनेसे नेत्र-का तृप्त न होना), मृदुता, सुकुमारता हैं, ये चन्द्रमामें क्रमशः किरण, कांति, अमियमयशीतलता, निर्मलता और सुकुमारता (ऐसी कि रविकी किरणोंको नहीं सह सकना) हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'अधर अरुन रद सुंदर नासा ।०' इति। यथा, 'अधर अरुनतर दसन पाँति बर मधुर मनोहर हासा। मनहु सोन सरसिज महँ कुलिसन्ह तड़ित सहित कृत बासा ॥' इति गीतावल्याम् (७।१७।१)। (ख) 'बिधुकर निकर बिनिंदक हासा। ' इति। हास चन्द्रकिरण समूहका निंदक है। इससे दाँतों की चमक दिखाई। यथा, 'कुलिस कुंद कुड्मल दामिनिदुति दसनन्हि देखि लजाई।' (वि० ६०), 'कुलिसन्ह तड़ित सहित कृत बासा। (उपर्युक्त)। ☞ मुख शरच्चन्द्रको लज्जित करता है और 'हास' चन्द्रकिरण-का। चन्द्रमासे किरण है, मुखसे हास है। (ग) यहाँ 'हास' वर्णन करनेमें भाव यह है कि श्रीरामचन्द्र-

जी राजासे हँसकर मिले। यह प्रभु का स्वभाव है। वे सबसे हँसकर मिलते हैं; यथा, 'रामबिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरिसुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥ ७।१६।' [इससे 'निजानन्द' और हृदयका अनुग्रह सूचित होता है, यथा 'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥ १।१९८।७।' अर्थात् यह आनन्दपूर्ण हास भक्तोंपर अनुग्रह दर्शित करनेके लिये होता है। इससे भक्तोंके हृदयकी तपनको मिटाते हैं, यथा 'जियकी जरनि हरत हँसि हेरत॥२।२३६।' (प्र० सं०)]

३ 'नव अंबुज अंबक छबि नीकी।०' इति। (क) नवीन कमलसे भी नेत्रोंकी छबि 'नीकी' है। और सुन्दर चितवन 'जीकी भावती' है। भाव कि नेत्रोंकी उपमा कमलकी दी, पर चितवनकी कोई उपमा है ही नहीं, तब उपमा कहाँसे दें ! चितवन जीको भावती है अर्थात् जीके भीतर ही रह गई, बाहर न प्रगट करते बना, यथा 'चितवनि चारु मार मनु हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी। २४३।३।' पुनः, 'भावती जी की' का दूसरा भाव कि जब श्रीरामजी हँसकर चितवते हैं तब उनकी चितवन जीकी जलन (हृदयके ताप) को हर लेती है, यथा 'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत। २।२३६।८।' इसी भावसे 'भावती जीकी'। कहा यही भाव दिखानेके लिए यहाँ "हास, नेत्र और चितवन" तीनोंको एक साथ (तीन चरणोंमें एकके बाद एकको) वर्णन किया [भा० ३।१५।३९ में यही भाव यों वर्णन किया गया है। "कृत्स्न प्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम स्नेहावलोक केलयाहृदि संस्पृशन्तम्।' अर्थात् भगवान् अपनी स्नेहमय दृष्टिसे सबके हृदयको सुखी कर रहे हैं। इसी बातको गीतावली ७।२१ में 'चितवनि भगत कृपाल' भी कहा है। नेत्रकी कमलकी उपमा देकर बड़े बड़े (कर्णान्त दीर्घ) और लाल डोरे पड़े हुए सूचित किया। यथा 'अरुन कंज दल बिसाल लोचन' (गी० ७।७)। पुनः 'भावती जी की' से जनाया कि हृदयको आह्लादित करनेवाली है, जिसको ओर देखते हैं उसे अपना लेते हैं।] (ख) 'भृकुटि मनोज चाप छबिहारी।०' इति। (क) भौंहोंकी शोभा टेढ़ेपनकी है, इसीसे धनुषकी उपमा दी। धनुष सुन्दर नहीं होता, इसीसे कामके धनुषकी उपमा दी। कामके धनुषसे ये सुन्दर हैं, अतएव 'मनोजचाप छबिहारी' कहा। [कामका धनुष इतना सुन्दर है कि उसका नाम उन्मादन है। उन्माद उत्पन्न कर देता है। इस भौंहके सामने उन्मादन कुछ भी नहीं है। (वि० त्रि०)]

नोट—४ "तिलक ललाट पटल दुतिकारी" इति।—'पटल' शब्दके भिन्न भिन्न अर्थोंके कारण इस चरणके कई अर्थ हो सकते हैं।—(१) 'ललाट-पटल'=मस्तकका तल (सतह)=ललाट-मण्डल। 'कस्तूरी-तिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभम्' से भी 'पटल' का यही अर्थ सिद्ध होता है। 'दुति' (द्युति) का अर्थ दीप्ति, कांति, प्रकाश, चमक है) इस प्रकार इस चरणका अर्थ यह होगा कि "ललाटकी तहपर तिलक प्रकाशमान है।" 'दुतिकारी'=चमकनेवाला, प्रकाश करनेवाला।

(२) 'पटल' के कई अर्थ हैं—कपाट, आवरण, छत, पटली, परत, पटरा, समूह। पं० रामकुमारजी और अनेक टीकाकारोंने 'समूह' अर्थ लेकर इस चरणका अर्थ यों किया है।—'मस्तकपर तिलक समूह प्रकाश कर रहा है', वा, 'समूह ललाटपर तिलक प्रकाश कर रहा है।'

(३) बैजनाथजी 'पटल' का अर्थ 'छा रहा है'—ऐसा करते हैं। 'पटलं छदि' (अमर २।२।१४) है छादनस्य इत्यमर-विवेके'। अर्थात् तिलकका प्रकाश माथेपर छा रहा है।

(४) विनायकीटीकाकारने 'पटल दुतिकारी' का अर्थ 'बादलमें बिजलीके समान…' किया है। हमको कोशमें पटलका अर्थ 'मेघ' नहीं मिला।

(५) श्यामवर्ण ललाटपर केशरका पीला-पीला तिलक है, इसीसे बिजलीकीसी छटा दिखा रहा है। ऊर्ध्वपुण्ड्र रेखाएँ ऐसी शोभा दे रही हैं मानों 'अल्प तड़ित जुगरेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई।

(वि० ६२), अथवा—"भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुमरेखु। भ्रमर द्वै रविकिरनि ल्याये करन जनु उनमेखु"। (गी० उ० ६)।

६ वैजनाथजी लिखते हैं कि "कामके धनुषकी छविसे मोहन और वशीकरण आदि होते हैं, पर वे एकरस नहीं रहते पुनः प्रवृत्तमार्ग है, और भृकुटिकी छविमें मोहन और वशीकरण अचल एकरस निवृत्त मार्ग है। अथवा, भाव कि भृकुटिको देखकर काम धनुष भी फिर मोहन आदि नहीं कर सकता, यथा 'जे राखे रघुवीर सो उबरा तेहि काल महँ'।"

टिप्पणी ४ (क) तिलक समूह ललाटमें प्रकाश कर रहा है, यथा 'भाल बिसाल तिलक झलकाहीं'। ☞ भृकुटीको चाप कहकर तब तिलक वर्णन करनेका तात्पर्य्य यह है कि तिलक बाणके समान है, यथा 'भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलकरेख रुचि राजे। मनहुँ मदन तम तकि मर्कत धनु जुगल कनकसर साजे॥ इति गीतावल्याम् ७।१२।' (ग) पुनः, तिलककी उपमा बिजलीकी दी गई है इसीसे 'दुतिकारी' कहा, यथा 'कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहउँ समुझाई। अलप तडित जुग रेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई' इति विनये (पद ६२)।

५—'कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा।०' इति। (क) 'भ्राजा' से सूचित हुआ कि मुकुटमें अनेक प्रकारकी मणियाँ लगी हुई हैं, यथा 'कुंचित कच कंचन किरीट सिर जटित ज्योतिमय बहु बिधि मनिगन' (गी० ७।१६), 'सिरसि हेम हीरक मानिकमय मुकुट प्रभा सब भुवन प्रकासति। इति गीतावल्याम्। ७।१७।' ☞ यहाँ तक मुखका वर्णन है, इसका प्रमाण गीतावली 'प्रातकाल रघुबीर बदन छवि ' (७।१२) है। (ख) 'कुटिल केस जनु मधुप समाजा' अर्थात् ऐसा जान पड़ता है मानों बहुतसे भौंरे सिमिटकर एक जगह आ बैठे हैं, समाज एकत्र होनेसे ही जुल्फोंकी उपमा हुई, नहीं तो एक दो भ्रमर जुल्फकी उपमा नहीं हो सकते, और बहुतेरे भ्रमरोंके एकत्र हो समाज बने बिना जुल्फका सादृश्य नहीं होता। जब सब अलग-अलग उड़ते रहे तब श्यामता सघन न हुई और जुल्फोंकी श्यामता सघन है, अतएव मधुपसमाजकी उत्प्रेक्षा की गई। भ्रमर चिकने और श्याम होते हैं, वैसे ही केश सचिक्कन और श्याम हैं, यथा "सघन चिक्कन कुटिल चिकुर बिलुलित मृदुल ।" (गी० ७।४), 'कुंचित कच रुचिर परम सोभा नहिं थोरी। मनहुँ चचरीक पुंज कंजबृंद प्रीति लागि गुंजत कल गान दिनमनि रिझयो री।' (गी० ७।७), 'चिक्कन कच कुंचित । १९९।१०।' इसीसे केशकी उपमा भ्रमरकी दी।

नोट—५ शोभाका वर्णन मुखसे उठाया क्योंकि मनुजी वात्सल्यभावके रसिक हैं। पिता-माताकी दृष्टि पुत्रके मुखहीपर रहती है। वि० त्रि० लिखते हैं कि सरकारके रूप देखनेकी उत्कट अभिलाषा है, अतः मुखपर ही प्रथम दृष्टि पड़ी, अतः कवि भी पहिले मुखका ही वर्णन करते हैं। शोभाका निर्णय मुखसे ही होता है। अतएव यहाँ तक केवल मुखकी शोभा कही।

उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला। पदिक हार भूषन मनिजाला॥६॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ॥७॥
करि-कर सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा॥८॥
दोहा—तड़ित बिनिंदक पीतपट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भवँर छबि छीनि॥१४७॥

शब्दार्थ—पदिक (नवरत्नजटित) चौकी-(विशेष नीचे नोटमें देखिये)। जाल=समूह। केहरि=सिंह। कंधर (सं०)=गरदन।=कंधा। (वै०, रा० प्र०)। करिकर=हाथीकी शुंड (सूँड़)। निषंग=

तरकश । कोदंड=शार्ङ्ग धनुष । तड़ित=बिजली । विनिंदक=विशेष नीचा दिखानेवाला, मात करनेवाला । पीतपट=पीताम्बर, रेशमी पीला वस्त्र । उदर-पेट । रेख=लकीरें ।

अर्थ—हृदयपर श्रीवत्स चिह्न, सुंदर वनमाला, नवरत्न जटित । (चौकी युक्त) हार और मणियोंसे युक्त आभूषण (पहिने) हैं ॥६॥ सिंहकी सी (मांसल) गरदन है । सुंदर (देदीप्यमान, चमकता हुआ पीत) जनेऊ है और भुजाओंके आभूषण भी सुंदर हैं ॥७॥ हाथीके सूँडके समान सुंदर भुजदंड हैं । कमरमें तरकश और हाथोंमें धनुष बाण हैं ॥८॥ पीताबर बिजलीको भी अत्यन्त नीचा दिखानेवाला है, पेटपर सुंदर तीन रेखाएँ (त्रिवली) हैं । नाभि मनको हर लेनेवाली है मानों यमुनाजीके भँवरोंकी छविको छीने लेती है ॥१४७॥

* "उर श्रीवत्स रुचिर वनमाला" *

कोई कोई श्रीवत्स और भृगुलता दोनोंको पर्य्याय शब्द कहते हैं और कोई कोई दोनोंको भिन्न-भिन्न दो चिह्नोंके नाम बताते हैं । श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि यह श्रीजानकीजीका दूसरा स्वरूप है । श्रीरामचन्द्रजी सदा भक्ति आदिका दान किया करते हैं इस कारण श्रीजानकीजी श्रीवत्सरूपसे सदैव दक्षिणाङ्गमें सुशोभित रहती हैं । श्रीवत्स-लाञ्छन । छातीपर पीतरोमावलीका गुच्छा दक्षिणावर्त्त,—"श्रीवत्सलाञ्छनमुदारम्" । संत श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि "वैकुण्ठाधीशके हृदयपर भृगुचरण प्रहार (भृगुलता) मानका चिह्न है और श्रीसाकेतविहारी (श्रीराम) जीके हृदयपर दक्षिण ओर श्रीवत्स चिह्न है अर्थात् पीतरोमावर्त है । काञ्चननिभा श्रीकिशोरीजी मानों हृदयहीमें निवासकर यह सूचित कर रही हैं कि सम्यक् चरित्र मेरा ही है जैसा 'रामहृदय' में श्रीकिशोरीजीने श्रीहनुमान्‌जीसे कहा है । अथवा, वृन्दावनमें तप करनेसे लक्ष्मीजीको हृदयमें इस रूपसे स्थान मिला । वा, ब्राह्मणोंका महा अद्भुत महत्त्व सूचित करनेके लिए श्रीसाकेतविहारीजीने भी भृगुलताका चिह्न अङ्गीकार किया । अथवा, कार्यकी वस्तु कारणमें भी प्राप्त होती है जैसे श्राद्धकर्मकी वस्तु पिता-माता इत्यादिको प्राप्त होती है ।" (मा० त० वि०) ।

प० महावीरप्रसाद मालवीय लिखते हैं कि 'श्रीवत्स विष्णुभगवान्‌का नाम है, भृगुलता नहीं । भृगुलताको श्रीवत्सलाञ्छन कहते हैं' । घनश्याम त्रिवेदीजीकी पूर्व पत्रावली मानसशङ्काके इस प्रश्नका कि 'विप्रपद चिह्न क्यों न लिखा ।' उत्तर प० शिवलाल पाठकजी यह देते हैं कि उससे मनुजीको संदेह हो जाता कि ये परात्पर ब्रह्म नहीं हैं । रामचन्द्रजी क्षीरशायी भगवान्‌से परे हैं, उनके हृदयपर भृगुलता नहीं है। नैमित्तिक लीलास्वरूपमें गुप्त रूपसे प्रगट होनेके कारण, आवश्यकता पड़नेपर उसे भी धारण कर लिया करते हैं ।—(स्नेहलताजी, मा० म०) ।

श्रीरसरंगमणिजी श्रीरामस्तवराज 'भावप्रकाशिका टीका' में श्रीरामस्तवराजके 'श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्ताहारोपशोभितम् । १४ ।' के 'श्रीवत्स' पर लिखते हैं कि "छातीपर बाएँ ओर श्वेत रोमावलियोंकी भ्रमरी समान महासौभाग्यभूत महापुरुष लक्षण 'श्रीवत्स' नामका है । यह श्रीजानकीजीका प्रिय चिह्न है जो शोभित है । कहीं-कहीं श्रीवत्सको पीत रंगका भी कहा है ।" (प्र० स्वामी लिखते हैं कि श्रीरामस्तवराजकी टीकामें जो लिखा है वही उचित है । अमरव्याख्या सुधामें 'श्रीयुक्तो वत्स श्रीवत्स महत्व लक्षणं श्वेतरोमावर्त विशेष ।' ऐसी व्याख्या है । भृगुपद चिह्न अर्थ लेना उचित नहीं है) ।

श्रीहरिदासाचार्यकृत भाष्य श्लोक १५ में (श्रीसीतारामसुद्रणालय श्रीअयोध्याजीकी छपी हुई सं० १६८६) पृष्ठ ८१ में आचार्यजी लिखते हैं—"महापुरुषत्वद्योतको वक्षोवर्तिपीतरोमात्मकश्चिद् विशेष श्रीवत्सशब्देनोच्यते । अत्र श्रीवत्सस्य तत्रापि कौस्तुभस्य नित्यविभूषणस्य धारणत्वोक्ते ।" अर्थात् महापुरुषत्वको सूचित करनेवाला यह जो पीतरोमावर्त्तरूपी चिह्नविशेष वक्षस्थलमें स्थित है वह 'श्रीवत्स' नामसे कहा जाता है । यहा जैसे

श्रीवत्स और कौस्तुभका धारण करना कहा गया है, वैसे ही परात्पर श्रीरामजीके नित्य विभूषणोंमें इन दोनोंका उल्लेख किया गया। इससे यह सिद्ध है कि वे ही परमात्मा यहाँ अवतीर्ण हुए हैं।

प० रामकुमारजी भी लिखते हैं कि "उरमें श्रीजानकीजीका निवास है। 'श्री' श्रीजानकीजीका नाम है। यथा 'तदपि अनुज श्रीसहित खरारी। बसतु मनसि मम कानन चारी। ३।११।१८।', 'श्री सहित दिनकरबंस-भूषन काम बहु छबि सोहई। ७।१२।', 'जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ। ७।२४।' इत्यादि। विष्णुके उरमें श्रीवत्स है (वहाँ वह श्रीलक्ष्मीजीका चिह्न है। लक्ष्मीजी भगवान् विष्णु के वक्षःस्थलमें विराजती हैं), वे विष्णु श्रीरामजीके अंशसे उत्पन्न हैं। श्रीरामजीकी शक्ति श्रीसीताजी हैं। ये श्रीसीतासहित प्रकट हुए हैं। इसीसे यहाँ 'श्री' शब्दका अर्थ 'सीता' है।

नोट—१ "वनमाला"—तुलसी, कुन्द, मदार, परजाता (पारिजात) और कमल इन पाँच पुष्पोंकी बनी हुई वनमाला जो गलेसे लेकर चरणों तक लंबी होती है। गीतावलीमें तुलसीके फूलोंसे रचित बन-माल कहा गया है, यथा 'सुंदर पट पीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि, तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई। गी० ७।३।', श्रीरामस्तवराजमें तुलसी, कुन्द और मन्दार (देववृक्ष विशेष) के पुष्पोंकी वनमालाका भी उल्लेख है। यथा "तुलसीकुन्दमन्दारपुष्पमाल्यैरलङ्कृतम्। १६।' गीतावलीमें 'तुलसिका और प्रसून' और श्रीरामस्तवराजमें 'मन्दार आदि पुष्प' इस प्रकार अन्वय कर लेनेसे वैजयन्ती माला यहाँ भी हो जाती है। अमरव्याख्यासुधामें 'आपादपद्मा या माला वनमालेति सा मता' इतना ही है अर्थात् चरण कमलोंतक लंबी माला 'वनमाला' कहलाती है। उसमें पुष्प विशेषके नाम नहीं हैं।

२—'पदिक हार भूषन मनिजाला' इति। 'पदिक' के कई अर्थ हैं। (१) 'पदिक' (पदक)= रत्न, हीरा, जवाहर, कौस्तुभ। पदिक हार = रत्नोंका हार। यथा 'वक्षस्थले कौस्तुभं'। (२) 'पदिक' = चौकी, धुकधुकी 'नवरत्नजटित स्वर्णका चौकोर आभूषण जो हारके बीचमें वक्षःस्थलपर रहता है। गीतावलीमें पदिकका उल्लेख बहुत जगह आया है। यथा "उरसि राजत पदिक ज्योति रचना अधिक, माल सुबिसाल चहुँ पास बनि गजमनी। गी० ७।५।', 'रुचिर उर उपवीत राजत पदिक गज मनि हार। गी० ७।८।', 'भृगु पद चिन्ह पदिक उर सोभित मुकुतमाल। गी० ७।१६।', "उर मुकुतामनि माल मनोहर मनहुँ हंस अवली उड़ि आवति॥ हृदय पदिक। ७।१७।", 'उर मनिमाल बीच भ्राजत कहि जाति न पदिक निकाई। जनु उडुगन मंडल बारिद पर नव ग्रह रची अथाई।', 'पदुली पदिक रतिहृदय जनु कलधौत कोमल माल। गी० ७।१८।', 'पहुँची करनि पदिक हरिनख उर। गी० १।३१।' इत्यादि। इन उद्धरणोंसे पदिक और हार दो अलग अलग भूषण भी जान पड़ते हैं। अथवा, मणि मुक्ता-हारमें ही नवरत्नजटित पदिक है। दोनों प्रकार हो सकते हैं।

प० महावीरप्रसादमालवीयजीका मत है कि "रत्नजटित चौकीयुक्त घुटनेतक लटकनेवाला स्वर्ण का हार 'पदिकहार' कहाता है।"

प० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि 'मणियोंके हार और मणिजटित आभूषणोंका समूह तथा नव रत्नयुक्त पदिक पहने हैं।'

श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'मणियों और छोटे मोतियोंका पाँच लरोंका हार पदिकके नीचे शोभित है। फिर भूषणों और मणियोंका जाल चार अंगुल चौड़ा उरपर विराजमान है जो मुनियोंके हृदयको अपनेमें फाँस लेता है।'

टिप्पणी—१ (क) 'केहरि कंधर' इति। सिंहकी सी ग्रीवा है। कंधर = ग्रीव। 'कं मस्तकं धरतीति कंधरः'। मस्तकको जो धारण करे वह कंधर कहलाता है। ग्रीव मस्तकको धारण किये है। [परन्तु 'ग्रीव' को ऊपर कह आए हैं, यथा 'चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा।' और कंधेकी उपमा सिंहकी दी जाया करती

ही है। यथा "कंध बालकेहरि दर ग्रीवा । चारु चिबुक आनन छवि सींवा ।७।७७।२।", "केहरि कंध काम करि कर बर बिपुल बाहु बल भारी । गी० १।५४ ।' इत्यादि। कंधे उन्नत, विशाल और मांसल होनेसे सिंहके कंधेकी उपमा दी जाती है। इससे 'कंधर' का अर्थ लोगोंने कंधा किया है। ☞ शब्दसागरमें 'कंधर' का अर्थ 'गर्दन' दिया है और ग्रीवा' का अर्थ "सिर और धड़को जोड़ने वाला अङ्ग, गर्दन" दिया है। दोनों शब्द संस्कृतभाषाके हैं। गोस्वामीजीने यहाँ 'ग्रीवा' को शंखकी उपमा दी है। इससे मानसके उपर्युक्त 'ग्रीवा' का अर्थ 'कंठ वा गला' ही उपयुक्त होगा। गोस्वामीजीने 'ग्रीव' का अर्थ 'कंठ' किया भी है। जैसे 'पुनि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली।' मे सुकंठ- सुग्रीव। 'कंधर' शब्द का अर्थ 'गर्दन' अर्थात् कंठके पीछेका भाग (जो मांसल और पुष्ट होता है) ले सकते हैं। अमरकोशके अमर विवेकटीकामें इसका हमें प्रमाण भी मिलता है। यथा 'कण्ठ गल इति ग्रीवाग्रभागस्य। ग्रीवा शिरोधिः कंधरा त्रीणि नाम इति ख्यातस्य।' (२।६।८८)। इससे ज्ञात होता है कि ग्रीव समूचे (आगे पीछे दोनों) भागों-का भी नाम है और अग्रभाग तथा पृष्ठभाग का अलग-अलग भी ग्रीवा नाम है। ग्रीवा—कंठ, गला। ग्रीवा= शिरोधि, कंधरा, मान (गर्दन)। बैजनाथजी आदि कुछ टीकाकारोंने 'कंधा' अर्थ किया है। प्र० सं० में 'कंधा' अर्थ दिया गया था। 'कंधर' को शुद्ध संस्कृतभाषाका शब्द जानकर अबकी अर्थ ठीक कर दिया है]

(ख) 'चारु जनेउ' अर्थात् सुंदर चमकता हुआ पीत जनेऊ है। यथा 'पीत जग्य उपबीत सुहाए। २४४।२।', 'पीत जनेउ महाछबि देई।३२७।४।', ' दलन दामिनि दुति यज्ञोपवीत लसत अति पावन। गी० ७।१६।' 'चारु' से बिजलीवत् प्रकाशमान् जनाया। (ग) 'सुंदर तेऊ' इति। 'तेऊ' बहुवचन पद देकर जनाया कि बाहुओंमें बहुत आभूषण हैं। यथा 'भुज बिसाल भूषनजुतभूरी। १६६।५।' यहाँ बाहुके आभूषणकी शोभा कही, आगे बाहुकी शोभा कहते हैं।

७ (क) 'करिकरसरिस सुभग भुजदंडा।' इति।—यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। हाथीकी सूँडके समान कहकर बाहुका आकार और बल वर्णन किया, यथा 'काम कलभ कर भुजबलसींवाँ। २३३।७।' (पुरुषोंकी भुजायें कड़ी और बलिष्ठ होती हैं। चढ़ाव उतारकी सुडौल और लंबी हैं। हाथीके शुंडमें और सब अंगोंसे अधिक बल होता है। इन सब बातोंके लिए 'करि कर' की उपमा दी। स्त्रियोंकी भुजाएँ कोमल, नर्म और नाजुक होती हैं इससे स्त्रीकी भुजाको वल्ली कहते हैं, यथा 'चालति न भुज बल्ली बिलोकनि बिरह भय बस जानकी। ३२७।' और पुरुषकी भुजाको दंड कहते हैं। (ख) 'कटि निषंग कर सर कोदंडा'। धनुषबाण धारण किये हुए मूर्त्ति प्रगट हुई है। इससे सूचित किया कि हम प्रणतारतिहर्त्ता, भक्तसुखदाता और असुरोंके नाशक हैं, यथा 'अंगुलि त्रान कमान बान छबि सुरन्ह सुखद असुरन्हि उर सालति।' (गी० ७।१७)। (ग) मनु महाराजने प्रार्थना की कि जो स्वरूप शिवजी तथा भुशुण्डीजीके उरमें बसता है, उस स्वरूपसे हमको दर्शन दो। श्रीशिवजी और कागभुशुण्डिजीके हृदयोंमें धनुषबाण धारण किए हुए ऐसी मूर्ति बसती है, इसीसे धनुषबाण धारण किये हुए मूर्ति प्रगट हुई। (प्रथम 'सर' तब 'कोदंड' कहकर जनाया कि दक्षिण हाथमें बाण है और वाममें धनुष। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'प्रभुकी द्विभुजमूर्तिका वर्णन है, श्रुति भी 'अयमात्मा पुरुषविध' कहती है। अर्थात् परमात्माकी मूर्ति पुरुष सी है। उस अनाम और अरूपके दिव्य नाम और दिव्य मूर्तियाँ भी हैं, यहाँ द्विभुज मूर्तिका प्रकट होना दिखलाते हैं")।

८ (क) 'तडित बिनिंदक पीतपट०' इति। कटि कहकर तब पीतपटका वर्णन करते हैं। इससे सूचित करते हैं कि पीतपट कटिमें बाँधे हैं। यथा 'कटि तूनीर पीतपट बाँधे। २४४।१।' 'केहरि कटि पटपीत धर । २३३।' पीतपट कहकर तब उदरका वर्णन करते हैं। इससे सूचित करते हैं कि पीतांबर कंधेपर पड़ा हुआ (काँखासोती) उदरतक लटक रहा है। दोनों जगह पीतपट जनानेके विचारसे किसी एक अंगमें धारण करना नहीं लिखा। [(ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ पीताम्बरके संग कोई अंग

नहीं कहे, इससे धोती, जामा, दुपट्टा, सर्वाङ्गके पटका प्रबोध करते हैं (वै०)। 'तडित निनिंदक' कहकर जनायाकि उसमें अलौकिक चमक है। यथा 'पीत निर्मल चैल मनहुँ मरकत सैल पृथुल दामिनि रही छाइ तजि सहज ही। गी० ७६।'] 'उदर रेख बर तीनि'—पेटपर तीन बल (त्रिबली) का पडना शोभा सौंदर्य माना गया है। यथा 'नाभी सर त्रिबली निसेनिका, रोमराजि सैवल छवि छावति।' (गी० ७।१७), 'रुचिर नितंब नाभि रोमावलि त्रिबलि बलित उपमा कछु आव न। गी० ७।१६।' (ग) 'नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवरछबि छीनि' इति। यमुनाके भँवरकी उपमा देनेका भाव कि यमुनाजलके समान श्रीरामजीका श्याम शरीर है, यथा 'उतरि नहाने जमुनजल जो सरीर सम स्याम। २।१०६।' 'छीनने' का भाव कि नाभीकी शोभा सदा एकरस बनी रहती है और यमुनाकी छवि सदा नहीं रहती, उसमें भँवरें उठती हैं और मिट जाती हैं, जब मिट जाती है तब मानों भँवरकी छबिको नाभीकी छबिने छीन लिया। (वीरकविजी यहाँ 'असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा' कहते हैं)।

नोट—३ विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि नाभिकी उपमा बहुधा—"मैन मथानी दोत विधि कुंड कूप रस भार। भँवर थिवर छबि रूपको नाभी गुफा सिँगार॥" इसके अनुसार दी जाती है। अर्थात् कामदेव की मथानी, ब्रह्माकी दवात, रसका कुंड, रसका कुआँ, शोभाकी भँवर, स्वरूपकी बाँबी और शृङ्गारकी गुफासे नाभिकी तुलना की जाती है, यथा 'मो मन मजन को गयो उदररूप सर धाय। परयो सुनिबली भँवरमें नाभि भँवरमे आय॥'

वि० त्रि०—यही द्विभुज मूर्ति शम्भु उर वासी है, इसीके लिये मुनि यत्न करते हैं और यही भुशुण्डि-मन-मानस हंस है। इसीको सगुण-अगुण कहकर वेदोंने प्रशंसा की है। इसीके उदरमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड है। इसीके भीतर ही सब कुछ है, यह परिच्छिन्न दिखाई पडती हुई भी अपरिच्छिन्न है, सर्वाश्चर्यमय है, यही परमेश्वरी मूर्ति विश्व ब्रह्माण्डकी प्रतीक है, इसलिये इसे सगुण-निर्गुण रूप अनूप रूप कहा जाता है।

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह* माहीं॥ १॥
बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला॥ २॥
जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ ३॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥ ४॥

शब्दार्थ—बिलास – इशारा, हिलना, फेरना, मनोहर चेष्टा।

अर्थ—(उन) पदकमलोंका (तो) वर्णन ही नहीं हो सकता जिनमें मुनियोंके मनरूपी भौंरे बसते हैं॥ १॥ बाएँ भागमें छविकी राशि, जगत्‌की मूल कारण आदिशक्ति (पतिकी शोभाके) अनुकूल सुशोभित हैं॥ २॥ जिनके अंशसे गुणोंकी खानि अगणित लक्ष्मी, पार्वती और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं॥ ३॥ जिनकी भृकुटिके विलास (मात्र) से जगत् (की रचना) हो जाती है, वे ही श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रजीके बाईं ओर (विराजमान) हैं॥ ४॥

नोट—१ 'पदराजीव बरनि नहिं जाहीं'।—श्रीबैजनाथजी यों अर्थ करते हुए कि 'कमल सम लाल, कोमल इत्यादि नहीं कहे जा सकते' इसका कारण यह लिखते हैं कि कमलमें जो भ्रमर रहते हैं वे श्याम वर्ण हैं, विषयरसके लोभी हैं, और स्वार्थमें रत हैं और इन चरणकमलोंमें वास करनेवाले भ्रमर मुनियोंके मन हैं जो श्वेत (निर्मल), विषयरसरहित और परमार्थरत हैं और भक्तिरस पान करते हैं। 'पद राजीव' में वाचकधर्मलुप्तोपमा अलंकार है।

२—आदिशक्तिकी छविके वर्णनमें 'सोभति अनुकूला' भर ही कह कर जना दिया कि वह भी छवि

* जेन्ह—१६६१।

समुद्र हैं, उनका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी अतुलित छवि है, और फिर वे जगन्माता हैं। यथा 'जगत जननि अतुलित छवि भारी', 'कोटिहु बदन नहिं बनै बरनत जगजननि सोभा महा'। भावुकोंके लिये इतना कह दिया कि श्रीरामजीके अनुहरित ही सब शोभा है। †

टिप्पणी—१ (क) 'पदराजीव बरनि नहिं जाहीं' इति। भाव कि चरणोंकी शोभाका विस्तार भारी है। चरण ४८ चिह्नोंसे युक्त हैं, २४ अवतारोंके चिह्नोंसे युक्त हैं (अतएव उनका महत्व क्योंकर कहा जा सकता है ? कहने लगें तो एक बड़ाभारी ग्रन्थ हो जाय फिर भी पार नहीं पा सकते)※। चरणको कमल कहा इसीसे मनको मधुप कहते हैं। (ख) 'मुनि मन मधुप बसहिं०' इति। 'बसहिं' से सूचित किया कि मन मधुप पदकमलका लोभी है संसारसे तो विरक्त हो गया पर इनका सान्निध्य (समीपता, पास) नहीं छोड़ता, यथा 'राम चरन पंकज मन जासू। लुबुधमधुप इव तजइ न पासू॥' ☞ जहाँ मुनियोंके मन बसते हैं वहीं ग्रन्थकारने भी रूप वर्णनको समाप्त करके अपने मनको बसा दिया। उपासकोंके मनके बसने का स्थान चरण है (ग) 'बाम भाग सोभति अनुकूला।' अनुकूल शोभति हैं, यह कहकर जनाया कि जैसी छवि रामजीकी है वैसी ही छवि श्रीसीताजीकी है। दोनों परस्पर एक दूसरेसे शोभा पाते हैं। यही सूचित करनेके लिए अनुकूल शोभा लिखते हैं। जैसी छवि श्रीरामजीकी वर्णन की वैसी श्रीसीताजीकी नहीं वर्णन कर सकते, इसीसे 'सोभति अनुकूला' इन्हीं दो शब्दोंसे सारी छवि कह दी है। माताकी छविका वर्णन नहीं कर सकते। उनकी शोभा वर्णन करनेका अधिकार भी नहीं है। [खर्रेमें 'अनुकूला' का अर्थ 'प्रसन्न' वा 'अनुकूल नायककी अनुकूलानायिका' दिया है। प्र० स्वामी लिखते हैं कि दोनों अर्थ लेना उचित है। रूप लावण्यादिमें अनुकूल और स्वभावसे भी अनुकूल, क्योंकि दोनों 'कहियत भिन्न न भिन्न' हैं।] (घ) 'आदि-सक्ति छबि निधि जगमूला' इति। आदिशक्ति अर्थात् सब शक्तियाँ इसी शक्तिसे उत्पन्न हुई हैं। छवि-निधि=छविसमुद्र अर्थात् छविकी अवधि हैं। जगमूला अर्थात् प्रधानशक्ति हैं। आदिशक्ति और जगमूलाके अर्थ आगे स्पष्ट करते हैं।

नोट—३ 'आदि शक्ति'।—आदि=प्रथम, प्रधान, मूलकारण। 'आदिशक्ति'=मूल कारण शक्ति, जो समस्त शक्तियोंकी मूल कारण और स्वामिनी हैं। करुणासिंधुजी तथा बैजनाथजी लिखते हैं कि ३३ शक्तियाँ हैं जो श्रीसीताजीके भृकुटि विलासको निरख निरखकर ब्रह्माण्डकी रचना और उसके सब कार्य्य करती हैं। यथा महारामायणे—"श्रीर्भूर्लीला तथोत्कर्षा कृपा योगवती तथा। ज्ञाना पर्वी तथा सत्या कलिताप्यनुग्रहा ॥ २ ॥ ईशानाचैव कौतिश्च वियोना कान्ति लंबिनी। चन्द्रिकारि तथा क्रूरा कान्ता वै भीषणी तथा ॥ ३ ॥ धाता च नन्दिनी शाका शवाच विमला तथा। शुभदा शोभना पुण्या कलाचाप्यथ मालिनी ॥ ४ ॥ महोदयाह्लादिनी च शक्तिरेका दयात्मिका। पश्यन्ति भृकुटिं तस्या आनन्दा नित्यमेव च। इत्यादि। सर्ग ॥ ५ ॥"

श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीने श्रीसीताजीको आदिशक्ति इस विचारसे कहा है कि 'सब शक्तियाँ श्रीजानकीजी हीकी कला अंश विभूति हैं। मूलप्रकृति महामाया है जो जगत्की मूल कारण है

---

† अथवा, "अनुकूला—(१) पतिकी आज्ञानुकूल, यथा 'पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभाखानि सुसील बिनीता॥ रामचंद्र आयसु अनुसरई॥ जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवाबिधि जानइ"। (२) श्रीरामानन्दस्वरूपिणी, श्रीरामानन्दकारिणी।"—(करुणासिंधुजी)।—(नोट—श्रीसीताजीका नित्यस्वरूप १२ वर्षका है।)

※ श्रीचरणचिह्नों और उनके कार्य्यावतारोंका वर्णन श्रीभक्तमालतिलक 'भक्तिसुधास्वाद' तृतीयावृत्ति (सं० १९८३) में श्री १०८ रूपकलाजीने और 'श्रीचरणचिह्न' में "लाला भगवानदीनने भाषामें स्पष्ट लिखा है। महारामायण सर्ग ४२ से ४७ तकमें इसका वर्णन विशेष रूपसे है।

वह श्रीजानकीजीका महत् अंश है। अंश अंशी भावसे श्रीसीताजीको 'जगमूला' कहा। प्रमाण महारामायणे- "जानक्यंशादि सम्भूताऽनेक ब्रह्माण्ड कारणम्। सा मूलप्रकृतिर्ज्ञेया महामायास्वरूपिणी।"

वैजनाथजी—'बाम भाग' इति। वाम दिशि तो स्वाभाविक प्रतिकूलका स्थान है, इसीसे 'दिशि' शब्द न देकर 'भाग' शब्द दिया। भाग = हिस्सा। इस तरह इस चरणका अर्थ है कि 'ऐश्वर्य माधुर्य्य संपूर्ण में दक्षिण भागमें जैसी शोभा प्रभुकी अद्भुत कह आए हैं वैसी ही वाम भागमें आदि शक्तिकी शोभा विचार लीजिए'। पुन, वाम प्रतिकूलका स्थान है, इसके निवारणार्थ कहते हैं—'सोभति अनुकूला'। अर्थात् श्रीरामानन्दवर्द्धिनी हैं। भाव कि देखन मात्रको दो रूप हैं पर वास्तवमें एक ही तत्व है। "यही कारण है कि प्रथम दक्षिणभागमें प्रभुके रूपमें केवल माधुर्य्य अर्थात् प्रत्येक अंगकी शोभा वर्णन की और वाम भागमें श्रीसीताजीके रूपमें अब केवल ऐश्वर्य वर्णन करते हैं। दोनों मिलाकर ऐश्वर्य माधुर्य्य सर्वाङ्गका वर्णन पूरा किया।" अथवा, यों कहें कि वामभागमें श्रीसीताजीका ऐश्वर्य वर्णन करके श्रीरामचन्द्रजीका ऐश्वर्य भी लक्षित किया, जैसे श्रीरामचन्द्रजीकी माधुर्य्य शोभा कहकर उससे श्रीसीताजीकी भी शोभा लक्षित की।"

टिप्पणी—३ (क) 'जासु अंस उपजहिं गुनखानी।०' इति। यह आदिशक्तिकी व्याख्या है। 'अगनित' का भाव कि जैसे श्रीरामजीके अंशसे नाना शंभु विरंचि विष्णु पैदा होते हैं वैसे ही श्रीसीताजीके अंशसे अगणित उमा, रमा, ब्रह्माणी पैदा हुईं और होती हैं। वहाँ नाना यहाँ अगणित, वहाँ शंभु विरंचि विष्णु यहाँ उमा ब्रह्माणी लक्ष्मी। वहाँ भगवान् यहाँ गुणखानी। [श्रीवैजनाथजी 'गुनखानी अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी' का भावार्थ यह लिखते हैं कि जिनमें विविध भाँतिके गुण हैं। अर्थात् महालक्ष्मी, नारसिंही, वाराही आदि सतोगुणी, ब्रह्माणी, इन्द्राणी सौरी, कौबेरी आदि रजोगुणी और काली, भैरवी, कौमारी आदि तमोगुणी इत्यादि अगणित शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं।] (ख) 'भृकुटि बिलास जासु जग होई।०', यह जगमूलाकी व्याख्या है। भृकुटिके विलास अर्थात् कटाक्षसे जगत् उत्पन्न होता है, यथा, 'आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया।' [वैजनाथजी 'जग होई' का अर्थ 'जगत्का व्यापार सृष्टि पालन और लय होता है।' ऐसा करते हैं। जब लोककी ओर दयामय भृकुटि होती है तब कार्य करनेवाली सब शक्तियाँ जगत्की रचना कर देती हैं। जबतक सौम्य दृष्टि बनी रहती है तबतक लोकका पालन करती रहती हैं। जब प्रभुका रुख देख भृकुटि टेढ़ी कर लेती हैं तब शक्तियाँ प्रलय कर देती हैं। इस तरह भृकुटि विलाससे जगत्का व्यापार होता है। (वै०)] ☞ यहाँ तक विशेषण कहकर अब विशेष्य कहते हैं। (ग) 'राम बाम दिसि सीता सोई।' श्रीसीतासहित प्रगट होनेका भाव कि मनुमहाराजकी प्रार्थना है कि अखंड ब्रह्म हमको दर्शन दें,—'अगुन अखंड अनंत अनादी', इसीसे श्रीसीतासहित भगवान् प्रकट हुए। इससे पाया गया कि श्रीसीतासहित पूर्ण ब्रह्म हैं इसीसे सीतासहित प्रगट हुए। जब पूर्ण ब्रह्मने अवतार लेना कहा तब सीतासहित अवतार लेना कहा—'सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।' बिना सीताजीके ब्रह्मकी पूर्णता यहाँ भी न हुई, इसीसे सीता-सहित अवतार लेना कहा।

नोट—४ (क) 'सीता सोई' अर्थात् वही जिनके विशेषण कह आए। वे ही सीताजी हैं जो वाम भागमें सुशोभित हैं। पुन, 'सोई' शब्द देकर शिवजी पार्वतीजीको इशारेसे जनाते हैं कि ये वही सीता हैं जिनको ढूँढते हुए श्रीरामचन्द्रजीको तुमने दण्डकारण्यमें देखा था। (ख) यहाँ दोनोंके नाम देकर जनाया कि 'राम' और 'सीता' ये दोनों नाम सनातन हैं।

प० प० प्र०—मनुजी तो निर्गुण निराकार अदृश्य अव्यक्तादि सच्चिदानंदघन ब्रह्मको ही सगुण साकार रूपमें देखना चाहते थे तब उनको आदिशक्ति सहित दर्शन क्यों दिया गया? इसका कारण इतना ही है कि जो निराकार ब्रह्म है वह बिना मायाकी सहायताके सगुण साकार, नयन-विषय गम्य हो ही नहीं सकता। इस दर्शनसे यह सिद्धान्त सूचित किया है। अवतार कार्य भी मायाकी सहायतासे ही होता है।

इसीसे कह देते हैं कि 'आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।' केवल निर्गुण निराकार ब्रह्म निष्क्रिय है। कोई भी कार्य हो दोनोंसे ही होता है। केवल ब्रह्म या केवल मायासे कुछ नहीं होता है। यह तात्त्विक सिद्धान्त है। यथा 'न घटत उद्भव प्रकृति पुरुषयो रजयोः। भा० १०।८७।३१।'

वि०त्रि०—मनु शतरूपाने पुंरूप और स्त्रीरूप दोनों रूपोंसे संबोधन किया था, यथा 'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू'। अतः भगवान दो रूपसे प्रगट हुए। पुंरूपसे छबिसमुद्र हैं और स्त्री रूपसे छबिनिधि हैं। स्त्री रूपसे पुंरूपके अनुकूल हैं और जगमूल भी हैं। पुंरूपसे ब्रह्म है तो स्त्री रूपसे मूलप्रकृति हैं। राम और सीतामें ऐसा अभेद और अनुकूलता है कि युगल मूर्तिके भृकुटि विलासमें भी अन्तर नहीं है। यथा 'उमा रामकी भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा।' और 'भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई।' उसी सीताशक्ति द्वारा ही रामावतार होता है और भगवान् नयनविषय होते हैं—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया'। अत कहा 'राम बाम दिसि सीता सोई।'

छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी ॥५॥
चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा ॥६॥
हरष बिबस तन दसा भुलानी। परे दंड इव गहि पद पानी ॥७॥
सिर परसे प्रभु निज कर कंजा। तुरत उठाए करुनापुंजा ॥८॥

दोहा—बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसंन मोहि जानि।
मागहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि ॥१४८॥

शब्दार्थ—एकटक=टकटकी लगाए, स्तब्ध दृष्टिसे। नयनपट-नेत्रके किवाड़ या परदे, पलक। तृप्ति-संतोष, जीका भर जाना, अघा जाना। पानी=पाणि, हाथ। परसे=स्पर्श किया, (सिर पर) हाथ रक्खा या फेरा। करनापुंजा=करुणामय, करुणासे परिपूर्ण हृदय वाला, दयालु। करुणा मनका वह विकार है जो दूसरेके दुःखको दूर करनेकी प्रेरणा करता है। "करुणा", यथा 'भगवद्गुणदर्पणे—"आश्रितार्त्यग्निनाद्दग्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः। अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्रवत् ॥ कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्त्ति निवारणं। इतीच्छादुःखदुःखित्व-मार्तानां रक्षणेत्वरा ॥ परदुःखानुसंधानाद्विह्वली भवन विभोः। कारुण्यात्म गुणस्तेष आर्त्तानां भीतिवारकः ॥"'— (बैजनाथजी) ॥ पुंज=समूह।

अर्थ—शोभाके समुद्र भगवान्के (ऐसे) रूपको देखकर मनुशतरूपाजी आँखोंकी पलकें रोके हुए टकटकी लगाए (देखते) रह गए ॥ ५ ॥ उस अनुपम रूपको आदरपूर्वक देख रहे हैं। दर्शनसे तृप्ति नहीं मानते (देखते देखते अघाते नहीं) ॥ ६ ॥ आनन्दके अधिक वशमें हो जानेके कारण देहकी सुध भूल गई। वे हाथोंसे चरण पकड़कर दण्डेके समान पड़ गए ॥ ७ ॥ करुणाकी राशि प्रभुने अपने कर-कमलसे उनके सिरोंको छुआ और तुरत उन्हें उठा लिया ॥ ८ ॥ फिर वे कृपाके निधान बोले कि मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर और महान् दानी मानकर जो मनमें भावे वही वर माँग लो ॥ १४८ ॥

टिप्पणी—१ 'छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी ।०' इति। 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' इस वचनको यहाँ चरितार्थ किया कि भगवान्का रूप देखकर एकटक रह गए, पलक मारना बंद कर दिया। (ख) ☞ श्रीसीताजी छबिनिधि हैं, श्रीरामजी छबिसमुद्र हैं, इस तरह दोनोंकी छबि समान कही। दोनोंकी छबि कहकर नत्र फिर हरिको छबिसमुद्र कहनेका तात्पर्य कि श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनों एक रूप हैं, यथा 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बदौं सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न। १८।'

नोट—१ ☞ छबिको समुद्र कहा। समुद्रसे रत्न निकले वह यहाँ दिखाए हैं, यथा (१) राम बाम दिसि

सीता सोई, उर श्री बरस रुचिर बनमाला । (२) पदिक हार भूषन मनिजाला । (३) मागु मागु धुनि भइ नभ बानी । परम गभीर कृपामृत सानी । (४) चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा । (५) करि कर सरिस सुभग भुजदंडा । (६, ७ उदारतामें कल्पवृक्ष और कामधेनु है)—'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनु' । (८) सरदमयंक बदन छबिसींवा । (९) कटि निषंग कर सर कोदंडा ।

२—समुद्र मंथनसे चौदह रत्न निकले थे, उनमेंसे यहाँ नौ (श्री, मणि (कौस्तुभ), अमृत, शङ्ख, हाथी (ऐरावत) कल्पवृक्ष, सुरधेनु, मयंक और कोदंड) कहे । शेष पाँचमें से चार तो निकृष्ट हैं । अप्सराएँ वेश्या हैं, वारुणी मादक है, अश्व चंचल है और विष प्राणनाशक है । रहे धन्वन्तरि वैद्य सो वे तो भगवान्‌के कलाअवतार ही हैं । इसीसे इन पाँचको न कहा । पुनः, जिसे देवता और दैत्योंने मथा वह प्राकृत समुद्र था और यह दिव्य छवि सुधा समुद्र है । देवता और दैत्य दोनों मथनेमें सम्मिलित थे इसीसे उसमेंसे उत्कृष्ट और निकृष्ट दोनों प्रकारके रत्न निकले थे । और इसे केवल परम भक्त दंपति राजर्षि मनुने अपने शुद्ध अनन्य प्रेम रूप रज्जु तथा मथानीसे मथा था, इससे इसमेंसे उत्तमोत्तम रत्नही प्रकट हुए । (वै० भू०) ।

३—वेदान्तभूषणजीका मत है कि यहाँ श्रीरामजीके स्वरूपका वर्णन समुद्रकी लहरोंके समान किया गया है । अर्थात् समुद्रकी लहर जैसे ऊपर उठती है फिर नीचे जाती है, फिर ऊपर जाती और पुनः नीचे गिरती है, यह क्रम किनारे आनेतक बराबर रहता है, इसी तरह मनुके देखनेमें कभी ऊपरका अंग कभी नीचेका, फिर ऊपर फिर नीचे, इसी क्रमसे मुखसे दर्शन आरंभ हुआ और पदकमलपर आकर श्रीसीताजीकी ओर देखना प्रारंभ हो गया । यथा प्रथम मुखको देखा फिर क्रमशः कपाल, चिबुक और कंठको, इसके बाद उन्हें क्रमशः नीचेके अंग देखने चाहिए थे किंतु ऐसा न करके उन्होंने पुनः ऊपर देखना शुरू किया । ओष्ठ, दाँत, नासिकाको क्रमशः देख फिर नासिकाके नीचे हासका दर्शन करने लगे । तत्पश्चात् फिर दृष्टि ऊपर गई । नेत्र, भौंह, तिलक और ललाटका दर्शन किया फिर नीचे कुंडल पर आ गए । पुनः ऊपर मुकुट फिर नीचे केश और शिर । फिर नीचे उरको देख ऊपर कन्धे, जनेऊ और बाहु देखे, तब फिर नीचे कटि देखने लगे । तत्पश्चात् फिर ऊपर कर तब नीचे उदरकी रेखाएँ, पुनः ऊपर नाभि फिर नीचे चरण ।—यही दर्शन समुद्रवत् लहरोंका उठना गिरना इत्यादि है, अतः छबिसमुद्र हरि रूप कहा । [समुद्रमें नित्य नई तरंगें उठा करती हैं वैसे ही इस छबिसमुद्रमें रूपकी तरंग उठा करती हैं, देखनेवाला तृप्त नहीं होता । (वि० त्रि०)]

वैजनाथजी—'छबि समुद्र हरि रूप' कहनेसे एक ही रूपका बोध होता है और यहाँ है युगलस्वरूप । तब अर्थ कैसे बने ? । समाधान—जनकपुरमें युगलसरकारोंके सम्बन्धमें कहा है "राम रूप अरु सिय छबि देखें । नर नारिन्ह परिहरीं निमेषें ।" वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए । यहाँ प्रथम ही श्रीकिशोरीजीकी शोभा 'छबिनिधि' शब्दसे गुप्तरूपमें कह आए ही हैं । हरि रूपके समुद्र हैं और किशोरीजी छबिकी तरंग हैं । छबिके नौ अंगोंमेंसे एक अंग रूप भी है । इस प्रकार 'छबि समुद्र रूप' का अर्थ होगा 'नव अंग युक्त छबितरंग (श्रीजानकीजी) सहित हरि रूप अगाध समुद्र' ।

नोट—४ (क) श्रीयुगलसरकारोंका ध्यान कहकर तब छबि वर्णनकी इति लगाई । ऐसा करके दोनोंको एक ही रूप जनाया । 'सरद मयंक बदन छबिसींवा' उपक्रम है और 'छबिसमुद्र हरिरूप' पर उपसंहार है । (ख) पाँडेजी तथा संत श्रीगुरुसहायलालजी 'छबिसमुद्र हरिरूप निहारी ।' का अर्थ यह करते हैं कि "छबिसमुद्र जो सीताजी हैं उनके शृङ्गारके भीतर हरिरूपको देखकर एकटक रहे" ।

५-श्रीजानकीशरण कहते हैं कि-(क) "हरि ही के लिए मनुजीने यात्रा की, हरि ही के लिए तप किया, वही 'हरि'-शब्द यहाँ भी दिया गया । यह ऐश्वर्य सूचक नाम है ।" (ख) पहले 'छबिनिधि' फिर 'छबिसमुद्र' कहकर बताया कि दोनों स्वरूपों पर टकटकी लगी है । विष्णु नारायणादि भी हरि हैं पर ये छबिसमुद्रके

हरि हैं—'एहि के उर बस जानकी जानकी उर मम बास है', क्षीरसमुद्रके नहीं। क्षीरसमुद्रके हरि तो इनके अंश हैं।" [यहाँ हरि शब्द देकर जनाया कि परात्पर परब्रह्म हरि यही 'सीताराम' ही हैं, अन्य कोई 'हरि' नहीं—'रामाख्यमीशं हरिम्'। 'एकटक रहे' का भाव कि पलक मात्रका विक्षेप सह नहीं सकते।]

टिप्पणी—२ 'चितवहिं सादर रूप अनूपा।०' इति। (क) ☞ भगवान्‌की उपमा कोई नहीं है, यथा 'उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कवि कोबिद कहें। ३११।', 'निरुपम न उपमा आन राम समान राम०। ७।९२।' दोनों नेत्रोंद्वारा रूपामृतको पान कर रहे हैं। यथा 'पियत नयनपुट रूप पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा। २।१११।' (यह 'तापस' के सबंधमें कहा गया है)। रूपदर्शनके ये दोनों अत्यन्त भूखे थे, इसीसे 'सादर' (आदरपूर्वक) रूप देख रहे हैं। भूखा अन्नका अत्यन्त आदर करता ही है—यह 'सादर' का भाव है। (ख) 'तृप्ति न मानहिं'—रूप (माधुरी) अमृत है इसीसे पान करनेसे तृप्ति नहीं होती। नेत्र प्रेमप्यासे हैं, यथा 'दरसन तृषित न आजु लगि प्रेम पियासे नयन। २।२६०।' ऐसा प्रेम है कि छवि-समुद्र भी पाकर तृप्ति नहीं होती, यह प्रेमकी विशेषता दिखाई। [समुद्र पाकर भी तृप्त न हुए क्योंकि कितने हजारों वर्षों के तृषित हैं। वैजनाथजी लिखते हैं कि माधुरीमें यही प्रभाव है, यथा 'देखे तृप्ति न मानिए सो माधुरी बखान']।

३ (क) 'हरष बिबस तन दसा भुलानी।०' इति। भाव कि पहिले तनकी सुध थी इसीसे दंडवत की थी,—'बोले मनु करि दंडवत', अब तनकी सुध भूल गई, इसीसे दंड (डंडे) की नाईं (तरह) चरणों-पर गिर पड़े। यहाँ दंडवत करना नहीं कहते। क्रमशः दिखाते हैं कि रूप देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ, हर्षविवश होनेसे तनकी दशा भुला गई, (शरीरकी सुधबुध न रह गई), तनकी सुध भुलानेसे चरणोंमें गिर पड़े। भाव कि शरीरकी सुध न रही अर्थात् शरीर जड़वत् हो गया, इसीसे दंडवत् गिरना कहा। दशा = सुध। ☞ [श्रीभरतजीके संबंधमें कहा है कि 'भूतल परे लकुट की नाईं' और यहाँ 'परे दंड इव' कहा। दोनोंमें भेदका कारण यह है कि श्रीभरतजी श्रीसीतारामजीके विरह और शोकमें सूख गए थे इससे उनकी उपमा लकुट अर्थात् पतली छड़ीसे दी और श्रीमनुशतरूपाजी हृष्टपुष्ट हैं,—'मानहु अबहिं भवन ते आए।' इससे उनके विषयमें 'दंड' शब्द प्रयुक्त हुआ।] (ख) ☞ मनु महाराजने भगवान्‌का आदर किया। दंडवत करना एवं दंडवत् चरणोंपर गिरना यह आदर है। भगवान्‌ने मनुजीका आदर किया। सिर पर हाथ फेरकर उनको तुरत उठाया। यह आदर है, 'सिर परसे प्रभु०'। (ग) 'तुरत उठाए करुनापुंजा'। बहुत देर तक पड़े रखनेसे मनुजीका 'अनादर' होता (तुरत न उठानेसे सेवकका निरादर और स्वामीमें निठुरता सूचित होती। इसी तरह यदि सेवक स्वयं ही उठ पड़े तो उसमें प्रेमकी न्यूनता प्रकट होती है।) इसीसे 'तुरत उठाए' और करुणापुंज कहा। करुणाके पुंज हैं, यथा—'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई। २।८५।', इसीसे तुरत उठाया। ☞ मनुके ऊपर मन वचन कर्मसे भगवान्‌की कृपा है, यह यहाँ स्पष्ट दिख रहा है,—सिरपर हाथ फेरा यह कायिक कृपा है। करुणापुंज यह मानसिक कृपा है और 'बोले कृपानिधान पुनि' यह वाचिक कृपा है।

नोट—४ "श्रीहनुमानजी, विभीषणजी, भरतजी इत्यादि जो जो प्रभुके चरणोंपर पड़े उन सबोंको उन्होंने उठाकर हृदयसे लगाया। यहाँ उठाना तो कहा गया परन्तु हृदयमें लगाना नहीं वर्णन किया गया, यह क्यों ?" समाधान यह है कि "अभी दम्पति और प्रभुमें पिता पुत्रका भाव नहीं है। मनु और शतरूपा दोनों हीने दण्डवत की। प्रभुने दोनोंके शिरोंपर कर-कमल फेरा। यहाँतक बात ठीक बनी सो कही। दोनोंने एकसा तप किया, हृदयसे लगावें तो दोनोंको, यदि एकको छातीसे लगावें दूसरेको नहीं तो दूसरेका अपमान सूचित होगा। मनुजी अकेले होते तो उनको हृदयसे अवश्य लगाते। परायी स्त्रीको हृदयसे लगाना अति अयोग्य है, इस कारण शतरूपाजीको हृदयसे न लगा सकते थे। अतएव केवल उठाना ही कहा।

गोस्वामीजीकी सँभार, उनकी सावधानता, लोक धर्म मर्य्यादाकी रक्षा, विलक्षण है, यह उन्हींसे बना है।" (प्र० सं०)

६—मयंककार कहते हैं कि शिर स्पर्शकर उठाना, यह वात्सल्य रस है। नैमिषारण्यमें रामचन्द्रजीकी ओरसे वात्सल्य रस जानो और अवधमें उलटा मनुकी ओरसे वात्सल्य रस जानो क्योंकि वहाँ मनुके पुत्र प्रगट हुए।" (प्र० सं०)

७—अलंकार—यहाँ कर उपमेयसे जो काम स्पर्श और उठानेका होना चाहिए वह उसके उपमान कमल द्वारा होना कहा गया। अतएव "परिणाम" अलंकार हुआ।

टिप्पणी ४ (क) "बोले कृपानिधान पुनि" इति। 'पुनि' का भाव कि उठाकर हृदयमें नहीं लगाया क्योंकि राजाको हृदयमें लगानेसे रानीका 'अभाव' होता, रानीको उरमें नहीं लगा सकते। पुनः भाव कि एक बार प्रथम ही वर माँगनेको कह चुके हैं—'*मांगु मांगु बर भइ नभ बानी*', अब पुनः बोले। पुनः भाव कि प्रथम उठाया, उठाकर तब बोले। पुनि=तत्पश्चात्, तब। (ख) 'अति प्रसन्न मोहि जानि मांगहु बर' " इति। (भाव कि जो अपनी ओरसे तुमने माँगा सो तो हमने दे दिया, पर हम प्रसन्न ही नहीं किंतु 'अति प्रसन्न' हैं, यह बात इतने ही से समझ लो कि हम अपनी ओरसे तुमसे कहते हैं कि और भी जो कुछ चाहो सो माँग लो। इतना मात्र देनेसे हमको संतोष नहीं हुआ, अतः और भी माँगो। कृपाकी बलिहारी !! '*जासु कृपा नहिं कृपा अघाती*'।)। (ग) 'अति प्रसन्न मोहि जानि। मागहु बर०' इति। यहाँ तक वर देनेमें तीन विशेषण दिए—एक तो 'महादानी', दूसरे 'अति प्रसन्न' और तीसरे 'कृपानिधान'। कृपानिधान हैं, अतएव कृपा करके प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर सब कुछ दे देते हैं। 'अति प्रसन्न' का भाव कि तुमने कहा था कि 'जौं अनाथ हित हमपर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू' अर्थात् प्रसन्न होकर हमें दर्शन दीजिए, सो हमने प्रसन्न होकर दर्शन दिया, अब हम अति प्रसन्न हैं जो तुम माँगो सो हम दें। (घ) 'महादानि अनुमानि' अर्थात् महादानी समझकर वर माँगो, इस कथनका भाव यह है कि भगवान् अन्तर्यामी हैं, उनके हृदयको जानते हैं कि जो वर ये माँगना चाहते हैं वह अगम है ऐसा जानकर ये न माँगेंगे (जैसा आगेके इनके वचनोंसे स्वयं स्पष्ट है—"एक लालसा बड़ि उर माहीं। सुगम अगम कहि जात सो नाहीं॥ तुम्हहि देत अति सुगम गोसाईं। अगम लाग मोहि निज कृपनाई॥")। (ङ) भगवान्ने पुनः वर माँगनेको कहा, क्योंकि राजाके हृदयमें (वर की) लालसा है, यथा "एक लालसा बड़ि उर माहीं'। पुनः दूसरा भाव यह है कि तपका फल तो दर्शन हुआ (सो दे दिया) अब दर्शनका फल होना चाहिए, क्योंकि दर्शनका फल अमोघ है, यथा 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं।४।४९।'

नोट—८ 'महादानि अनुमानि' इति। मनुजीके हृदयमें संदेह है कि यह वर मिले कि न मिले। अतएव प्रथम ही उनको निस्संदेह कर देनेके लिये कहा। ☞स्मरण रहे कि ब्रह्मादि कुछ न कुछ छुड़ाकर वर देते हैं, वरमें कुछ न कुछ शर्त लगा देते हैं। जैसे रावणको वर देनेमें 'बानर मनुज जाति दुइ बारें' ऐसा उससे कहलाकर वर दिया। वे दानी हैं और श्रीसीतारामजी महादानी हैं क्योंकि ये सब कुछ, अपने तकको भी देनेवाले हैं। (प्र०सं०)। 'अनुमानि' का भाव कि मुझे अनुमानसे जानो कि मैं महादानी हूँ। विधि हरि हर दानी हैं, तब अनुमानसे सिद्ध है कि जिसके अंश दानी हैं, वह अंशी महादानी क्यों न होगा?

९—बैजनाथजी लिखते हैं कि "यहाँ वामभागमें अर्थात् श्रीकिशोरीजीमें ऐश्वर्य वर्णन किया है। राजा-रानीको इस ऐश्वर्यकी कामना नहीं है। इसीसे श्रीकिशोरीजी नहीं बोलीं। दक्षिणभाग प्रभुरूपमें माधुर्य वर्णन किया गया है, उसीकी चाह दोनोंको है इसीसे प्रभु ही बोले।" (लोकरीति यह है कि जब स्त्री-पुरुष दोनों साथ होते हैं तब प्रायः पुरुष ही बातचीत करता है।)

सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी । धरि धीरजु बोलीं† मृदुबानी ॥१॥
नाथ देखि पदकमल तुम्हारे । अब पूरे सब काम हमारे ॥२॥
एक लालसा बडि उर‡ माहीं । सुगम अगम कहि जात सो नाहीं ॥३॥
तुम्हहि देत अति सुगम गोसाईं । अगम लाग मोहि निज कृपनाईं ॥४॥

शब्दार्थ—पूरे=पूर्ण हुये, प्राप्त हो गए । लालसा=अभिलाषा, उत्कट इच्छा । कृपनाईं=कृपणता, कजूसी, कादर्य्य, क्षुद्रता, छोटा हृदय होनेसे ।

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर वे दोनों हाथ जोडकर धीरज धरकर कोमल वाणीसे बोले—हे नाथ ! आपके चरणकमलोंका दर्शन पाकर अब हमारी सब इच्छाएँ पूरी हो गईं । १ ॥ मेरे हृदयमें एक बहुत बडी लालसा है जो सुगम भी है और अगम भी इससे वह कही नहीं जाती ॥३॥ हे स्वामी ! आपको तो देनेमें अत्यन्त सुगम है, पर मुझे अपनी कृपणताके कारण बहुत कठिन जान पडती है ॥ ४ ॥

टिप्पणी १—'सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी०' इति । (क) 'सुनि प्रभु बचन' का भाव कि यदि भगवान् वर माँगनेका न कहते तो राजा वर न माँग सकते क्योंकि एक बार वर माग चुके हैं (और वह मिल चुका है । 'देखहि हम सो रूप भरि लोचन । कृपा करहु प्रनतारति मोचन' यह वर माँगा था सो मिला, यथा 'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी । एकटक रहे नयनपट रोकी ।'' (ख) 'धरि धीरज बोले मृदु बानी' इति । [पूर्व कहा था कि 'एकटक रहे नयन पट रोकी' और 'प्रेम बिबस तन दसा भुलानी' इस लिये यहाँ धीरज धारण करना कहा । पुन] 'धरि धीरज' का भाव कि पूर्व 'प्रेम बिबस तनदसा भुलानी' रही, अब प्रभुने जब उठाया और वर माँगनेको कहा तब सावधान होकर बोले । (ग) 'जोरि जुग पानी' । हाथ जोडकर बोले क्योंकि जो वर माँगना चाहते हैं कि आप हमारे पुत्र हों वह अगम है अत हाथ जोडकर मागते हैं । (कठिन वर माँगनेकी यह रीति है) यथा 'मागउँ दूसर बर कर जोरी । पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ।२।२९।' (कैकेयी) । पुन भाव कि प्रथम बोले तब दडवत करके बोले थे, यथा 'बोले मनु करि दडवत प्रेम न हृदय समात । १४५ ।', अब हाथ जोडकर बोले । तात्पर्य कि जब दडवत् चरणोंपर गिरे 'परे दड इव गहि पद पानी' तब भगवान्ने उन्हें उठा लिया, तब हाथ जोडकर बोले । (वा, पहिले भगवान् प्रगट न थे, केवल आकाशवाणी हुई थी तब दडवत करके बोले थे । अब प्रत्यक्ष हैं, दंडवत कर ही चुके हैं, और स्वामी हैं, वर माँगना है अत अब हाथ जोडकर बोले ।) (घ) यहाँ राजाके तन, मन, वचन तीनों दिखाए । तनसे हाथ जोडे, मनसे धीरज धरा और बचनसे मृदु बोले ।

२ (क) 'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे । अब पूरे०' इति । सच्चे भक्त बिना परम प्रभुके दर्शन पाये अधिकारीवगके दर्शनसे सन्तुष्ट नहीं रह सकते, अत मनु-शतरूपाजीको प्रथम स्वरूपदर्शनकी कामना थी, यथा 'उर अभिलाष निरतर होई । देखिय नयन परम प्रभु सोई ॥ उसका दर्शन हो गया इसी से स्वरूपके देखनेपर कहते हैं कि अब हमारे सब काम पूरे हो गए । अर्थात् अब मागनेका कुछ प्रयोजन नहीं है । इसी से आगे अन्य कोई वस्तु नहीं मागते, इसी रूपकी प्राप्ति माँगते हैं, हमारे पुत्र हूजिए यही माँगना चाहते हैं ।

† १६६१ मे 'बोलीं' है । १७६२ मे भी 'बोली' है । अर्थ होगा–'कोमल वाणी बोलीं','बानी' एवं 'मृदु बानी' के साथ 'बोले' अन्यत्र भी आया है । यथा ''पुनि तापस बोलेउ मृदुबानी । १५६।२ ।', 'बोले राम सुअवसरु जानी । सील सनेह सकुचमय बानी ।३३६।४।' इत्यादि । अत हमने 'बोले' पाठ ही समीचीन समझा है । वि० त्रि लिखते हैं कि 'बोलीं' क्रियाके कर्त्ता मनु और शत पा हैं । ('तृपित न मानहि मनु सतरूपा') । क्रियाका सम्बन्ध 'सतरूपा' के साथ है । इसलिये क्रियाका प्रयोग स्त्रीलिंगमें हुआ ।

‡ मन—रा० प०, चै० ।

रूपके (दर्शन) पानेपर भगवान्‌ने अन्य वर माँगनेको कहा, उसीपर मनुजी कहते हैं कि रूप छोड़कर हमारे मनमें अन्य कोई कामना नहीं है, हमारी सब कामना रूप ही है सो पूरी होगई। अथवा, भगवान्‌के चरण-कमलके दर्शनसे सब कामनायें पूरी होती हैं, इसीसे सब कामनाओंका पूरा होना कहा। [पुन , मनुजी अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इत्यादि जो कुछ भी है वह सब कुछ श्रीसीतारामजीहीको जानते हैं, अतएव उनके दर्शनसे सब कामनाओंका पूर्ण होना कहा (प्र० स०) ।

३ (क) 'एक लालसा बडि उर माहीं' इति । एक लालसा है सो भी स्वरूप ही की प्राप्तिकी है। पुन भाव कि चरणकमल के दर्शनसे सब कामनाएँ पूर्ण हुई , अब एकमात्र यही एक लालसा रहगई है सो इसे भी पूरी कीजिए। पुन भाव कि लालसा 'एक' ही है जो पूर्व थी वही है, दूसरी नहीं है। प्रथम रूप प्रकट होनेकी थी, अब उसके सदा सयोगकी है। 'बडि' का भाव कि पूर्व जो लालसा थी उससे यह बडी है। पूर्वकी लालसासे भगवान्‌की प्राप्ति क्षणभरके लिए हुई (यह दर्शन अभी दो घडी का ही है) और इस लालसासे पुत्र होनेसे रूपका सयोग सदा (आजीवन) रहेगा, अतएव इसे 'बडी' कहा। (ख) 'सुगम अगम' इसकी व्याख्या आगे स्वय ही करते हैं । (ग) रूप देखकर तृप्ति नहीं हुई,–'तृपित न मानहि मनु सतरूपा।', इसीसे पुन रूपकी प्राप्ति माँगते हैं। (घ) 'कहि जाति सो नाहीं' अर्थात् इतनी अगम है कि वर माँगनेकी बात मुँहसे भी कही नहीं जाती। (रा०प्र०कार अर्थ करते हैं कि "सुगम है या अगम यह कहा नहीं जा सकता")।

वि० त्रि० – गृहस्थोंकी लालसा देखिए। जिसे भगवदंश उत्तानपाद और प्रियव्रत ऐसे पुत्र हुए, किसीसे न प्राप्त होनेवाले पदको प्राप्त करनेवाले ध्रुव जैसे पौत्र हुए, साक्षात् भगवदवतार कपिलदेव जैसे जिसे नाती हुए, उसे अब प्रभु-सा पुत्र प्राप्त करनेकी लालसा हुई। अत इस लालसा को बडी बतलाया।

नोट—१ 'अब पूरे सब काम हमारे' में द्वितीयविशेष अलकार है। यह कहकर फिर 'एक लालसा बड़ि मन माहीं' कहना 'निषेधाक्षेप' है। (वीरकवि)। कुछ लोग कहते हैं कि मनुजीकी लालसा दर्शनकी थी सो पूरी होगई। प्रभुने लीलाहेतु अब यह रुचि उनमें उत्पन्न करदी है। ☞ स्मरण रहे कि मनुजीके सामने परम प्रभु अपने असली रूपसे खडे हैं। आगे लीला तनके प्रगट होनेका वरदान देंगे।

टिप्पणी ३ 'सुम्हहि देत अति सुगम गोसाईं०।' इति। (क) 'अति सुगम' का भाव कि दानीको 'सुगम' है और आप महादानी हैं अत आपको 'अति सुगम' है। भगवान्‌ने स्वय कहा है 'मागहु वर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि', इसीसे 'अति सुगम' कहा। (ख) 'गोसाईं' का भाव कि आप 'गौ' (कामधेनु) के स्वामी हैं, अतएव आपके लिए उसका देना 'अति सुगम' है। आगे कल्पतरु का दृष्टान्त देते हैं अत उसके साहचर्य्यसे यहाँ 'गोसाईं' का अर्थ कामधेनुके स्वामी अति सगत है। (ग) 'अगम लाग मोहि निज कृपनाई।' अर्थात् अपनी कृपणताके कारण वह लालसा हमें इतनी अगम लगरही है कि मुँहसे निकालनेमें सकोच होता है। 'अगम लाग' का भाव कि वस्तुत (आपके लिए वह) अगम नहीं है परन्तु मुझे अगम लगती है। (मुझे जान पडता है कि आप शायद न दे सकें) इसीसे सकोच होता है, माँगा नहीं जाता। ['सुगम अगम' में विरोधाभास अलकार' है। आपकी ओरसे अगम नहीं है पर मुझे अपनी क्षुद्रता-के कारण मिलनेमें सदेह होता है, यथा 'अपडर डरेउँ न सोच समूल। २।२६७।', इसी बात को दरिद्रका दृष्टान्त देकर कहते हैं। (प्र०स०)]

नोट—२ 'गोसाईं' शब्द देकर सूचित करते हैं कि आप हृदयकी जानते हैं, इन्द्रियोंके स्वामी और प्रेरक हैं। 'गो' का अर्थ 'इन्द्रिय' भी है, यथा 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई ॥ ३।१५।३।', 'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं। ४।१०।' सुरतरु जड है वह दरिद्रके जीकी नहीं जानता, विना माँगे नहीं देता। आप अन्तर्यामी हैं। यहाँ परिकराकुर अलकार है।

हृदयकी जानकर स्वय वर देनेकी कृपा करें, मुझसे कहते नहीं बनता। पुन, आप स्वामी हैं, मैं दास हूँ, स्वामी दासके मनोरथको पूरा किया करते हैं, अतएव मेरा मनोरथ पूरा कीजिए। (प्र० स०)।

३—श्रीकरुणासिंधुजी कहते हैं कि यहाँ "निज कृपनाई" से कार्पण्य शरणागतिका भाव भी निकलता है। कितना ही कोई जप तप आदि करे पर उसके मनमें यह बात स्वप्नमें भी न आनी चाहिये कि मैंने कुछ किया है। प्रभुसे बराबर यही प्रार्थना करनी चाहिए कि मुझसे कुछ नहीं बना, मैं अति दीन हूँ, इत्यादि। वैसे ही यहाँ इतना बडा तप करके भी मनुजी अपनेको कृपण कहते हैं।

☞लाखों वर्षका तप कोई चीज नहीं है। प्रभुके रिझानेके लिए दीनता और प्रीति मुख्य हैं, यथा "तुलसी राम कृपालु ते कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष॥" देखिए महर्षि अत्रिजी क्या कहते हैं—'मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किए।' अनन्य भक्त श्रीसुतीक्ष्णजी भी क्या सोच रहे हैं—'हे विधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया। मोरे जिय भरोस दृढ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं॥ नहि सतसंग जोग जप जागा। नहि दृढ चरन कमल अनुरागा।'

जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु संपति माँगत सकुचाई†॥५॥
तासु प्रभाउ जान नहिं सोई। तथा हृदय मम संसय‡ होई॥६॥
सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥७॥
सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही। मोरें नहिं अदेय कछु तोही॥८॥
दोहा—दानिसिरोमनि कृपानिधि नाथ कहौं सतिभाउ।
चाहौं तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥१४९॥

शब्दार्थ—बिबुधतरु = कल्पवृक्ष, सुरतरु। बिहाई = छोडकर, दूर करके। अदेय=जो न दी जा सके। सिरोमनि (शिरोमणि)-मुकुटमणि, श्रेष्ठ। सतिभाउ।-सच्चा भाव-सद्भावसे। दोहा ४ (१) देखिये। दुराउ (दुराव)=छिपाव।

अर्थ—जैसे कोई दरिद्र कल्पवृक्षको पाकर भी बहुत संपत्ति माँगते हुए सकोच करता है (हिचकता है)॥ ५॥ क्योंकि) वह उसके प्रभावको नहीं जानता, वैसे ही मेरे मनमें सदेह होता है॥ ६॥ आप अन्तर्यामी हैं, उसे जानते ही हैं। हे स्वामिन्! मेरे मनोरथको पूरा कीजिये॥ ७॥ (प्रभु बोले) हे राजन्! सकोच छोडकर मुझसे माँगो। तुम्हारे लिए मेरे पास ऐसा कुछ (कोई पदार्थ) भी नहीं है जो तुमको न दे सकूँ॥ ८॥ (मनुजी तब बोले) हे दानियोंमें शिरोमणि! हे दयासागर! हे नाथ! अपना सच्चा भाव एव सत्यसत्य कहता हूँ, प्रभुसे क्या छिपाना, मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ। १४९।

टिप्पणी—१ जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई।०' इति। (क) भाव कि मैं दरिद्र हूँ आप कल्पवृक्ष हैं, आपके प्रभावका मैं नहीं जानता, इसीसे हृदयकी लालसा प्रगट करनेमें सकुचता हूँ। ☞प्रथम जब वर माँगा था तब भगवान्‌को 'सुरतरु सुरधेनु' कहा था, वैसे ही अब पुन सुरधेनु और सुरतरु कहकर तब वर माँगते हैं। 'तुम्हहि देत अति सुगम गोसाईं' में 'सुरधेनु' को कहा और यहाँ 'बिबुधतरु' को कहते हैं। (ख) 'बिबुधतरु पाई' का भाव कि कल्पवृक्ष एक तो किसीको जल्दी मिलता नहीं और दरिद्रको तो अगम ही है। (ग) 'बहु संपति मागत सकुचाई'। [भाव कि यदि दैव-योगसे मिल भी जाय तो भी बहुत धन मागनेमें उसे सकोच होता है, कारण कि दरिद्रताके कारण उसका हृदय बहुत छोटा हो जाता है, वह बड़ी वस्तुकी लालसा करते डरता है। यद्यपि जीमें चाह बहुतकी है। वैसे ही मेरे जीमें लालसा बहुत बडी संपत्तिकी है,

† सकुचाई—१६६१। ‡ १६६१ में 'ससया' है॥

पर माँगनेकी हिम्मत नहीं पड़ती (वा साहस नहीं होता)। करुणासिंधुजी लिखते हैं कि देवतरु सब कुछ देने योग्य है पर दरिद्र बहुत समझकर माँगते डरता है क्योंकि वह अपनेको उतना पानेका पात्र नहीं समझता इसीसे उसे सन्देह रहता है कि मिले या न मिले।] ☞ जब रूप प्रगट होनेका वर माँगा तब 'कम संपत्ति' थी क्योंकि यह रूप (दर्शन) क्षणभर ही रह सकता है। अब जब पुत्र होकर सदा इस रूपका संयोग माँगते हैं तब इस वरको 'बहु संपत्ति' कहा, क्योंकि यह संपत्ति जन्मभरके व्योपरनेके लिए है, जन्मभर चलेगी, जन्मभर इस स्वरूपका दर्शन होगा। भगवान् संपत्ति हैं, कमप्राप्तिमें कम संपत्ति है, बहुत (दिनोंके लिए) प्राप्तिमें बहुत संपत्ति है। यहाँ उदाहरण अलंकार है।

२—'तासु प्रभाउ जान नहिं सोई ।०' इति । (क) सोई = वह दरिद्र। संशय यह कि यह वर बहुत भारी है न मिलेगा, इसीसे नहीं माँग सकते। ☞ भगवान्‌के लिए इतना गजबका भारी तप किया उसपर भी अपनेको 'कृपण', 'दरिद्र' कहते हैं? तात्पर्यकी बात तो वस्तुतः यही है कि भगवान्‌की प्राप्तिके लिए करोड़ों कल्पोंतक तप करे तो भी कुछ नहीं है। भगवान् तो कृपा करके भक्तको मिलते हैं, तपके फलसे नहीं मिलते, ये पूर्व ही कह आए हैं। यथा 'प्रभु सर्बग्य दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी'। अनन्य दास जानकर भगवान् उनको प्राप्त हुए, तप देखकर नहीं। तप देखकर तो ब्रह्मा विष्णु महेश आए थे, यथा 'बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा ॥' क्योंकि ये तीनों देवता तपके फलके देनेवाले हैं।

३—'सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु०' इति। (क) भाव कि दरिद्र कल्पवृक्षके प्रभावको नहीं जानता, इसीसे बहुत संपत्ति माँगते सकुचाता है और कल्पवृक्ष भी दरिद्रके हृदयकी नहीं जानता क्योंकि जड़ है इसीसे वह उसके मनोरथ पूरे नहीं करता, उससे माँगना पड़ता है तब वह देता है। यथा 'माँगत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच। २ २६७।', यह दोष कल्पतरुमें है। पर आप अन्तर्यामी हैं, आप हृदयकी जानकर मनोरथोंको पूर्ण करते हैं। (ख) 'तुम्ह जानहु' का भाव कि मैं आपके प्रभावको नहीं जानता, मैं ज्ञानरंक हूँ; आप मेरे हृदयकी जानते हैं क्योंकि आप अन्तर्यामी हैं। मेरे हृदयकी लालसा आप पूरी करें। (ग) 'स्वामी' का भाव कि मैं 'आपका दास हूँ', दासका मनोरथ स्वामी ही पूरा करते हैं—('राम सदा सेवक रुचि राखी')। [वैजनाथजीका मत है कि सुसेवक कुछ माँगते नहीं, स्वामी उनके मनमें मनोरथ उठते ही पूर्ण करते हैं, इसी भावसे 'स्वामी' संबोधन किया। अथवा, पुत्र बनाना चाहते हैं जो सेवक पद है, अतः उसके निवारणार्थ 'स्वामी' कहा। भाव यह कि पुत्रहीमें स्वामित्व चाहते हैं, यह वात्सल्य रसकी रीति है।]

प० प० प्र०—बिबुधतरु = सुरतरु। यह वाच्यार्थ है। सुरतरु माँगनेपर देता है पर याचकके मनकी इच्छाको वह नहीं जानता। पर बि (= विशेष) + बुध (= विद्वान) अर्थात् विशेष विद्वान तरु हो तो माँगनेकी आवश्यकता नहीं रहती। प्रभु तो 'ग्यानसिरोमनि भावप्रिय' हैं, इससे कहा कि आप जड़ कल्पतरु नहीं हैं आप तो विशेष अन्तःकरणके जाननेवाले तरु हैं, अतः आप मेरी लालसा जानते ही हैं, उसे पूर्ण कीजिए। आप जड़ वृक्ष नहीं हैं, आप तो 'तरन्त्यनेनेति' तरु अर्थात् जिसकी सहायतासे लोग तरते हैं वह तरु है।

वि० त्रि०—यहाँ अज्ञान दरिद्र है। अहंता ममतासे मूढ़ पुरुषको ब्रह्मसुख अगम है। यथा 'कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख अह मम मलिन जनेषु।' वह समझे बैठा है कि ब्रह्मानन्द उसे मिल नहीं सकता। इसलिये वह उसके लिये यत्न भी नहीं करता और न उसके लिये देवी देवताकी आराधना करता है। प्रभु कल्पवृक्ष हैं, उन्हें पाकर भी परमानन्द नहीं माँगता।

टिप्पणी—४ सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही।०'। (क) राजाने कहा था कि 'जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु संपति मागत सकुचाई।' इसीपर भगवान् कहते हैं कि 'सकुच' छोड़कर हमसे माँगो, (तुम दरिद्र

नहीं हो, तुम तो 'नृप' हो अतः तुम्हें राजा के समान बड़ी भारी संपत्ति माँगनेका अधिकार है, तुम माँग सकते हो), और जो राजाने कहा था कि 'तथा हृदय मम संसय होई' अर्थात् मिलनेमें संदेह होता है, उसीपर भगवान् कहते हैं कि 'मोरें नहिं अदेय कछु तोही'। तात्पर्य्य कि तुम हमारे जन हो, यथा 'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें। ३.४२.५।' (ख) राजाने कल्पवृक्षकी उपमा दी थी और कल्पवृक्ष बिना माँगे नहीं देता, यथा 'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँहँ समनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोच। २.२६७।' इसीसे आप भी कहते हैं कि 'माँगो' (तब हम दें)। राजाने भगवान्‌को अंतर्यामी कहा, इसीसे भगवान्‌ने कहा कि 'माँगु नृप मोही' अर्थात् मुझे ही माँग लो, तुम्हारे हृदयमें लालसा है कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊँ सो मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा, तुम 'मुझे' माँग लो। ☞ वरदानकी यह मर्यादा है कि माँगा जाय तब दिया जाय, अतएव 'माँगु' कहा।—'मोही' में श्लेषार्थालंकार है। अर्थात् मुझसे माँग लो और मुझको माँग लो।

५ 'दानिसिरोमनि कृपानिधि नाथ कहौं सतिभाउ' इति। (क) भगवान्‌ने कहा था कि 'मोरें नहिं अदेय कछु तोही' और 'माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि।' इसीसे 'दानिसिरोमनि' कहा। 'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि' तथा 'सकुच बिहाइ माँगु' कहा, इसीने 'कृपानिधि' कहते हैं। दानिशिरोमणि और कृपानिधिका भाव कि आप कृपा करके दान देते हैं। (ख) सति - समीचीन। (ग) 'चाहौं तुम्हहि समान सुत'—आप हमारे पुत्र हों यह न कहके भगवान्‌के इतना कहनेपर भी सकोच बना ही रह गया। 'सुगम अगम कहि जात सो नाहीं' इस वचनको यहाँ चरितार्थ किया। साक्षात् भगवान्‌को पुत्र होनेके लिए न कहा, संकोचके मारे उनके समान पुत्र होनेका वरदान माँगा। राजा जानते हैं कि भगवान्‌के समान कोई नहीं है। राजाका विचार पूर्व कह आए हैं कि 'नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥' जब 'अनूप' है, उपमाको कोई नहीं है तब समान कहाँ हो सकता है ? यथा 'जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ३।६।'

नोट—१ संकोच यहाँ भी बना ही रह गया। क्योंकि राजा सोचते हैं कि ब्रह्माण्डनायक, ब्रह्मांड भरके स्वामी और मातापिताको पुत्र होनेके लिये कैसे कहें, यह बड़ी धृष्टता होगी, यथा 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई॥" तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। १।१५०।'

त्रिपाठीजी लिखते हैं—"यह संदेह उठ सकता है कि जिसके सन्तानसे सृष्टि भरी पड़ी है, वह सुत क्यों माँगता है ? अतः कहते हैं 'सतिभाउ'। मुझे प्रभुको देखकर लालसा हुई कि मुझे ऐसा पुत्र हो, और आपसा दूसरा है नहीं। अत आपसा पुत्र माँगना आपको पुत्ररूपसे चाहना एक बात है, इसलिये माँगनेमें संकोच था। वास्तविक इच्छा आप सा पुत्र पानेकी है, चाहे जैसे सम्भव हो।"

२—श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि "यहाँ पुत्र करि प्रभुकी प्राप्तिमें वात्सल्यरसकी परिपूर्णता है। इसीके अन्तर्गत सब रस आ जाते हैं। जैसे कि विवाहमें शृङ्गार, बालकेलिमें हास्य, वनगमनमें करुणा, परशुरामकी वार्तामें भयानक, मखरक्षामें वीर, जन्मसमय अद्भुत, इत्यादि। फिर इसमें जगत्‌का हित रूपी परमार्थ भी है। पुत्र होंगे तब पतोहू भी स्वाभाविक ही प्राप्त होगी।

३—कुछ महानुभाव ऐसा भी कहते हैं कि मनुमहाराजने 'समान' शब्द बड़ी चतुरतासे कहा है। सभ्यताको लिए हुए हैं। इससे परीक्षा भी हो जायगी कि परात्पर परब्रह्म ये ही हैं या नहीं। यदि प्रभु कहें कि हमारे समान अमुक देवता हैं तो समझ जायँगे कि परतम प्रभु इनसे भी परे कोई और हैं। क्योंकि ब्रह्मके समान कोई दूसरा है ही नहीं, अधिककी तो बात ही क्या ? (विशेष ऊपर टिप्पणीमें आ गया है)। "समान" कहकर जनाया कि ऐश्वर्य्य माधुर्य्य इत्यादि जैसे आपमें दिव्य गुण हैं वैसे ही जिसमें हों।

४—एक खर्रेमें पं० रा० कु० जी लिखते हैं कि जैसे मनुजीने परदेमें वर माँगा वैसे ही प्रभुने भी परदेसे ही कहा कि 'आपु सरिस कहँ०'।

५—श्रीशारदाप्रसादजी (रामवन सतना) लिखते हैं कि "इस उपाख्यानमें प्रभुके वचन 'माँगु नृप मोही' बड़े मार्केके हैं। 'मुझे माँग लो' (जैसा चाहते हो, सुतरूपमें ही हम मिलेंगे)। 'माँगु नृप' (नृप सम्बोधन द्वारा सकेत किया कि अपने लिये राज्य माँग लो जिसमें अन्य कोई धन-जनादिकी चिंता पुत्रसुख अनुभवमें बाधक न हो)। 'माँगु नृप मोही' (मुझे राजाके रूपमें माँग लो)। हमें राजा देखकर तुम्हें तो सुख प्राप्त होगा ही और ससारका बड़ा उपकार होगा। राजा कैसा होना चाहिये इसका सदाके लिये आदर्श स्थापित हो जायगा। राजा तो न माँग सके परंतु प्रभुने सभी कुछ दिया।—धन्य हैं प्रभु! तुम्हारे सिवा कौन कह सकता है—'मागु नृप मोही'।—'अस प्रभु छाँडि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूछ बिषाना॥'

> देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥१॥
> आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥२॥
> सतरूपहि बिलोकि कर जोरें। देबि मांगु बरु जो रुचि तोरें॥३॥
> जो बरु नाथ चतुर नृप मांगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा॥४॥

शब्दार्थ—अमोले = जिसका मोल न होसके, अमूल्य।

अर्थ—राजाकी प्रीति देखकर और उनके अमूल्य वचन सुनकर करुणानिधान प्रभु बोले कि "ऐसा ही हो॥ १॥ हे राजन्! मैं अपने समान और कहाँ जाकर खोजूँ? मैं ही आकर तुम्हारा पुत्र होऊँगा" ॥२॥ शतरूपाजीको हाथ जोड़े देख कहा कि हे देवि! तुम्हारी जो इच्छा हो वह वर माँगो॥ ३॥ (वे बोलीं) हे नाथ! हे कृपाल! जो वर चतुर राजाने माँगा, वही मुझे बहुत ही प्रिय लगा॥ ४॥

नोट—१ 'बचन अमोले'।—बैजनाथजी लिखते हैं कि "वचनोंमें अमूल्यता यह है कि पुत्रकी सेवा में निर्हेतु अत्यन्त परिश्रम लालन पालनका होता है। पुत्र इसका प्रत्युपकार नहीं कर सकता, पितासे उऋण नहीं हो सकता, जैसा प्रभुने भरतजीसे कहा है। यथा 'निज कर खाल खैंचि या तनु तें जौं पितु पग पानहीं कराउँ। होउँ न उरिन पिता दसरथ तें कैसे ताके वचन मेटि पति पावउँ॥ (गी० २ ७२)।

पं० रामकुमारजी खर्रेमें लिखते हैं कि ये प्रेमके वचन हैं और प्रेमका मूल्य नहीं है। अत वचन को अमूल्य कहा। पुन भाव कि 'ब्रह्म वेदादिसे पिता-भावके वचन सुनते हैं पर यह पुत्रभावके वचन अपूर्व आज ही सुने।' अत अमूल्य हैं।

टिप्पणी १—'देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु०' इति। (क) प्रीति हृदयमें है अत उसका देखना कहा। प्रीति भीतर है, वचन बाहर हैं जो मुँहसे निकले अर्थात् भीतर बाहर दोनों स्वच्छ देखकर प्रसन्न हुए और प्रीति देखकर भगवान्ने 'एवमस्तु' कहा। प्रेमसे ही भगवान् मिलते हैं। यथा 'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। ७।६२।' पुन, 'देखि प्रीति' का भाव कि जनका धृष्टतारूप दोष न देखा, राजाके हृदयमें अत्यन्त प्रेम है इसीसे हमें अपना पुत्र बनाना चाहते हैं, यह प्रेम देखा। यथा 'कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की'। प्रीति यह देखी कि हमारे रूपका सदा संयोग चाहते हैं और अमूल्य वचन यह कि 'चाहउँ तुम्हहि समान सुत', भगवान्को साक्षात् सुत होनेको न कहकर सकोचवश 'समान सुत' यह शब्द कहे। पुन, सुत प्रीतिकी अवधि (सीमा) है, यथा 'सुत की प्रीति प्रतीति मीत की। वि० २६८।' यह प्रीति देखी। [पुन प्रीति अर्थात् निर्हेतु अमल वात्सल्य रसकी प्रीति। (वै०)] (ख) राजाने 'दानिसिरोमनि' कहा, इसीसे यहाँ भगवान्ने 'एवमस्तु' कहा अर्थात् जो मागते हो वही दिया। राजाने

'कृपानिधि' संबोधन किया इसीसे यहाँ भी 'करुनानिधि' विशेषण दिया गया। पुन, भगवान् पुत्ररूपसे अवतरनेको कहते हैं, और अवतारका मुख्य हेतु करुणा है अत 'करुनानिधि' विशेषण दिया। ख) 'सति-भाउ' से बोले इसीसे वचनको 'अमोल' कहा। (ग) 'एवमस्तु' से समझा जाता कि 'अपने समान' पुत्र देनेको कहा है, इसीसे भगवान् पुन बोले।

वि० त्रि०—'चाहौं तुम्हहि समान सुत' यह अनमोल वचन है जिसकी कोई कीमत ही नहीं, अत इस वचनके पीछे स्वयं बिक गए, कह दिया 'एवमस्तु'। कोई भुक्ति चाहता है, कोई मुक्ति चाहता है और कोई भक्ति चाहता है। मनुजीने कुछ न चाहा, बालरूपसे रामजीको गोद खिलाने और लालन पालन का सुअवसर चाहा, ऐसी बात चाहे जिससे जगत्का कल्याण हो, अपने परलोकका भार प्रभुपर छोड़ दिया (पुन्नाम्नरकात् त्रायते पुत्र । नरकसे पिताकी रक्षा करता है, इसी से पुत्र कहलाता है), जैसी दृढ़ प्रीति पुत्रमें होती है, वैसी दृढ़ प्रीति चाही, प्रभुसे अपना सम्बन्ध सुरक्षित किया और साथ ही साथ अपनी भावी सन्तान मनुष्य जाति के लिये अमूल्य निधि सुलभ कर गये, इत्यादि सभी भाँतिसे मंगलमयी कामनाओंसे युक्त वचन था, इस लिये उसे अनमोल कहा।

टिप्पणी—२ (क) 'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई'। भगवान् यह नहीं कहते कि हमारे सदृश कोई नहीं है क्योंकि ऐसा कहनेसे अभिमान पाया जाता। आत्मश्लाघारूप दोष आरोपित होता। इसीसे कहते हैं कि अपने सदृश कहाँ जाकर ढूँढ़ूँ। (ख) 'होब मैं आई' का भाव कि हम गर्भसे नहीं उत्पन्न होंगे, (जीवोंकी तरह रज-वीर्यसे नहीं किन्तु) तुम्हारे यहाँ आकर प्रगट होऊँगे, यथा—'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे'। [इससे जनाया कि अपने समान मैं ही हूँ। (मा० त० वि०)]

नोट—२ शुकदेवलालजी लिखते हैं कि प्रभुके इन वचनोंका अभिप्राय यह है कि "तुमने ऐसा वर माँगा जो मेरे घरमें है ही नहीं क्योंकि मेरी दोनों विभूतियोंमें न तो कोई मेरे समान है और न अधिक ही और मेरी विभूतिसे बाहर कहीं कोई किंचिन्मात्र भी नहीं है, सर्वत्र मेरी ही विभूति है। अत अपने समान तो मैं कहाँसे ढूँढ़कर लाऊँ, हाँ मेरे समान मैं ही हूँ, इसलिए मैं आप ही आकर तुम्हारा पुत्र होऊँगा।" यहाँ 'लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग्य' है।

३ यहाँ बड़े लोगों की रीति दिखाई कि वे अपनी बड़ाई अपने मुखसे नहीं करते। प्रभु कहते हैं कि तुमको हमारे समान ही चाहिए तो हम ही तुम्हारे पुत्र होंगे, दूसरेको कहाँ ढूँढ़ें। तुम्हारी इच्छा इतनेसे ही पूर्ण हो जायगी। और हम व्यर्थ परिश्रमसे बचेंगे।

श्रीशारदाप्रसादजी—'मागु नृप मोही' मुझीको माँग लो। इतनी कृपा होनेपर भी संकोच न मिटा और वे 'चाहौं तुम्हहि सुत' न कह सके और उन्होंने माँगा क्या ?—'चाहौं तुम्हहि समान सुत'। भगवान्ने 'एवमस्तु' कह दिया। राजासे माँगनेमें भूल होगई तो भगवान्ने देनेमें भूल कर दिखाई (ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्)। भगवान् कहते हैं कि "आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई ॥" मेरे समान तो कोई है ही नहीं, इस कारण मैं ही तुम्हारा पुत्र होऊँगा। यह तो ठीक है। परन्तु जब राजाने 'चाहौं तुम्हहि समान सुत' कहा था तब भी तो भगवान्ने 'एवमस्तु' कहा था। तो क्या अब अपने समान सुत न देंगे ? भक्तके प्रेममें जल्दीमें कह दिया था, ऐसा कहके टाल देंगे कि हमही आगए तो हमारे समानकी अब क्या आवश्यकता है ? नहीं !! प्रभुका वचन कभी अन्यथा नहीं हो सकता। वे स्वयं आए और अपने समान भरतलालजीको दिया। भरतलाल सब प्रकार श्रीरामजीके समान हैं यह मानस में बहुत स्पष्ट शब्दोंमें मिलता है। जनकपुरमें सखियाँ आपसमें कहती हैं—"सखि जस राम लखन कर जोटा। तैसइ भूप संग दुइ ढोटा ॥ स्याम गौर सब अंग सोहाये। ते सब कहहिं देखि जे आये ॥ कहा एक मैं आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे ॥ लखन सत्रुसूदन एक रूपा। नख सिख तें सब

अग अनूपा ॥'' स्वरूप तो एक समान है ही, जोड़ी भी एक समान है। 'लखन सत्रुसूदन एक रूपा।' जब भैयाको मनाने भरतजी चित्रकूट जा रहे हैं उस समय रास्तेमें वनवासी स्त्रियाँ क्या कह रही हैं,—'कहहिं सप्रेम एक एक पाहीं। राम लखन सखि होंहि कि नाहीं॥ बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सील सनेह सरिस सम चाली॥ बेष न सो सखि सीय न संगा। आगे अनी चली चतुरंगा॥ नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ यहि भेदा॥'

तापस और राजस वेष भी जिस समानताको न छिपा सका, उसके विषयमें अधिक कहना क्या?

प्रभुने अपनेको आज 'अतिप्रसन्न' और 'महादानि' कहा है, इसकी सार्थकता किस प्रकार की है यह संक्षेपमें देख लिया जाय। 'मागु नृप मोही' आदेश है और 'चाहौं तुम्हहि समान सुत' की याचना है और प्रभु देते क्या हैं—(१) 'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥''—भगवान् स्वयं पुत्र हुए। (२) प्रभुके समान भरतलाल हुए। (३) 'अंसन्ह सहित देह धरि ताता।'—अंशी आप और अंश तीन भाई अवतरित हुए। (४) 'बसहु जाइ सुरपति रजधानी'—स्वर्ग प्राप्त हुआ। (५) 'होइहहु अवध भुआल'—चक्रवर्त्ति राज्य मिला। (६) 'आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥'—सीताजीका अवतार न होता तो विवाहादिके अवसरपर जो सुख प्राप्त हुआ वह न मिलता। (७) अबतकके अवतारोंमें जो नहीं हुआ था वह इस अवतारमें करनेका वरदान देते हैं—'करिहौं चरित भगत सुखदाता।' ऐसा चरित्र करेंगे 'जेहि सुनि सादर नर बड़ भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥'

इसके उपरान्त राजाने फिर जो वर माँगा था कि 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना।' उसके लिये प्रभु संकेत करते हैं—'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा'।

राजाने एक वर माँगा था, प्रभुने ढेर लगा दिया—महादानि ही तो ठहरे। राजसी स्वभाव (अविश्वासी) के कारण कहीं पानेके विषयमें सन्देह न करने लगें इस कारण ''सत्य सत्य पन सत्य हमारा'' कहकर भरोसा दिलाया।

ब्रह्मचारीजी—इस प्रसंगपर और भी कुछ भाव कहे जाते हैं। जैसे, 'मागु नृप मोही०' इस भगवान्‌के (श्लेषात्मक) वाक्यसे भगवान्‌का यह आशय प्रगट होता है कि 'यदि तुम मुझे ही पुत्र रूपसे चाहते हो तो मुझे ही मागो। संकोच न करो, इसको भी मैं दे सकता हूँ, तेरे लिये मुझे अदेय कुछ नहीं है', वैसे ही मनुजीने भी भगवान्‌का ही पुत्र रूपसे माँगना चाहा अर्थात् 'चाहउ तुम्हहि सुत' (तुम्हींको पुत्र रूपसे चाहता हूँ) यह कहना था परंतु 'चाहउँ तुम्हहि' इतना जैसे तैसे कह दिया कि संकोचने दबाया तब 'समान' कहकर वाक्य पूरा किया। तात्पर्य संकोच वश अपने असली आशयको छिपाया वही आगे सूचित किया कि 'प्रभु सन कवन दुराउ' अर्थात् यद्यपि संकोचवश मैं स्पष्ट कह नहीं सका तथापि आप अंतर्यामी हैं, आप मेरे आन्तरिक भावका पूरा करेंगे, मेरे कथन पर न जायँगे अर्थात् स्वयं ही पुत्र होंगे [यहाँ पर यह भी एक गूढ़ भाव है कि भगवान्‌ने स्पष्टरूपसे माँगनेको कहा (मागु नृप मोही) परंतु मनुजीने संकोचवश स्पष्ट शब्दोंसे मागा नहीं किंतु अपनी चाह प्रगट किया। इन्हीं सब भावोंके कारण ही ''चाहउँ दुराउ' इन वचनोंको अमोल कहा है] भगवान्‌ने जब 'एवमस्तु' कहा, तब मनुजी संशयमें पड़ गए कि 'एवमस्तु=ऐसा हो' इस भगवान्‌के कथनका क्या तात्पर्य है? मेरी यह चाह ऐसी ही बनी रहेगी, वा पूरी होगी, यदि पूरी होगी तो जो मेरे मनमें है कि भगवान् ही स्वयं पुत्र हों वह पूरा होगा, वा जो मुखसे निकल गया (भगवान्‌के समान पुत्र हों) वह। भगवान्‌ने मनुजीके इन आन्तरिक संशयात्मक कष्टोंको जानकर दयापूर्वक अपने 'एवमस्तु' वाक्यका अर्थ स्पष्ट कर दिया। इसी भावसे यहाँ 'करुनानिधि' नाम दिया। 'बोले' यह क्रिया देहली दीपकके ढंग पर बीचमें दिया, अर्थात् प्रथम एवमस्तु' बोले और जब मनुजी संशयमें पड़ गए तब दयासे 'आपु सरिस ' इत्यादि स्पष्ट रूपसे कह दिया।'' (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारी)।

"इस प्रसगमे मनुजी और भगवान्‌के विषयमे जैसा कहा गया वैसा सब व्यवहारमे चरितार्थ करके दिखाया गया है। —जैसे, (भगवान् अपने पुत्र हों यह) 'बडी लालसा' उरमे है ऐसा कहा, तो उस लालसाको अंत तक हृदयमे ही छिपा रक्खा, 'जिस लालसाको अपनी कृपणतासे 'अगम' समझकर माँगनेमे संकोच होता है' ऐसा कहा, उसपर भगवान्‌के 'सकुच बिहाइ मांगु नृप मोही' ऐसा कहनेपर भी स्पष्ट खोलकर नहीं माँगा गया, सकोच बना ही रहा इत्यादि। भगवान्‌के विषयमे भी—'तुम्हहि देत सुगम', 'विबुध तरु', 'अंतरजामी', 'पुरवहु मोर मनोरथ', 'नहिं अदेय कछु', 'दानि सिरोमनि', 'दया-करुना निधि, इत्यादि (कुछ मनुजीके कथनसे, कुछ स्वय भगवान्‌के वचनमे, तो कुछ कविके कहनेमे) उल्लेख आया है, सो पूर्णतया सब अंशोंसे अनुभवमे आया है, अतर्यामी होनेसे तो मनुजीके एक (मुख्य, अद्वितीय) उरकी बडी लालसाको जान गये और सकोचसे स्पष्टतया मागना न बननेपर भी उनके मनोरथको पूरा करनेका स्पष्ट शब्दोंमे वचन दे दिया, और 'मागु नृप मोही' पर जो उन्होंने 'चाहउँ तुम्हहि समान सुत' कहा था, इसके लिए आगे 'असन्ह सहित देह धरि ताता', कहेंगे। इस प्रकार भीतरका मनोरथ और बाहरका कथन दोनोंको पूर्ण करके अपना दानियोंमे शिरोमणि (श्रेष्ठ) होना, तथा देत सुगम', 'न हि अदेय कछु', 'कृपानिधि' आदि सब सिद्ध कर दिखाया। 'चाहउँ तुम्हहि समान सुत' अर्थात् तुमको और (तुम्हारे) समान सुतको चाहता हूँ, ऐसा भी अर्थ हो सकता है। सभवत इसीसे इस भावको भी पूर्ण करनेका भगवान्‌ने विचार किया इत्यादि।" (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)।

टिप्पणी—२ (क) 'सतरूपहि बिलोकि कर जोरें'। राजा हाथ जोडे खडे हैं—'सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी', इसीसे रानी भी हाथ जोडे खडी हैं। पुन, 'अजली परमा मुद्रा क्षिप्र देवप्रसादिनी'। हाथ जोडनेसे देवता शीघ्र प्रसन्न होते हैं। (ख) ☞ शतरूपाजीसे वर माँगनेको इसलिए कहा कि प्रथम बार राजाके वर माँगनेमे रानी भी सम्मिलित हुई थीं, यथा 'देखहि हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारतिमोचन॥ दपतिवचन परम प्रिय लागे।' इस बार वर माँगनेमे रानी उनके साथ सम्मिलित नहीं हुई। जैसा ('चाहौं तुम्हहि समान सुत' के 'चाहौं' एक वचन क्रियासे तथा) आगेके इन वचनोंसे स्पष्ट है कि 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगतहित तुम्हहि सुहाई'। इसलिए एव इससे कि भगवान् दानिशिरोमणि हैं, उन्होंने रानीसे भी वर माँगनेको कहा। (ग) 'बिलोकि कर जोरें' अर्थात् हाथ जोडे हुए देखकर वर माँगनेको कहा और राजाके सबधमे कहा था कि प्रीति देखकर और अमूल्य वचन सुनकर वर माँगनेको कहा था। इसका तात्पर्य्य यही है कि इस बार रानी चुपचाप खडी रहीं, कुछ भी न बोली थीं। (घ) 'देवि मागु बरु जो रुचि तोरें'। पुत्र होंगे, यह तो राजाहीके वरसे निश्चित हो गया। 'जो रुचि तोरें' का भाव कि उन्होंने अपनी रुचिका वरदान माँगा, तुम अपनी रुचिका माँगो, रुचि हर एककी अपनी अपनी होती है।

नोट– ४ 'पूर्व रूप देखनेके सबंधमे पृथक् वर माँगना नहीं कहा गया, यहाँ पृथक् वर माँगनेको क्यों कहा ?' उत्तर यह देते हैं कि "रूप दर्शनमें दोनोंका सम्मत एक था, यथा 'दपति वचन परम प्रिय लागे' और यहाँ मनु महाराजने 'समान सुत' माँगा सो रामजीने समान ही होनेको कहा। महारानीको इसे भारी ढीठता समझ सशय हुआ, इसीसे वे हाथ जोडे खडी रहीं। उनके हृदयकी रुचि जानकर पृथक् वर माँगनेको कहा गया।"

प्रथम 'दपति' ने एक ही वर मागा था और यहाँ केवल राजाने वर मागा है जैसा 'सकुच बिहाइ मागु नृप मोही' से स्पष्ट है। रानीने कुछ नहीं मागा था। अतएव राजाको वर देकर उनसे वर मांगनेको कहा गया। (प्र० सं०)। (प० रामकुमारजी)।

टिप्पणी–४ 'जो वर नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल०' इति। (क) 'चतुर' का भाव कि पुत्र होनेका वर माँगकर आपके रूप और लीलाका निरंतर आनद प्राप्त किया। पुन, चतुर कहा क्योंकि वर माँगनेमे बडी

चतुरता यह की कि यह नहीं कहा कि आप हमारे यहाँ सदा बने रहें क्योंकि इस कथनसे भक्तिकी न्यूनता होती इससे यह माँगा कि आप हमारे पुत्र हों। पुत्र होनेसे सदा संयोग और प्रेम दोनों बने रह गए [बाबा रामदासजी कहते हैं कि 'चतुर' का भाव यह है कि जिसे शिवादिक मनसे देखते हैं उसको उन्होंने मेरे नेत्रोंके आगे प्रत्यक्ष खड़ा कर दिया और इतना ही नहीं किन्तु आगे जन्म भरके लिए माँग लिया कि जिससे जन्मभर देखते ही रहें, यथा 'जीवन मरन सनाम जैसे दसरथ राय को। जियत खेलायो राम राम बिरह तनु परिहरेउ' (दो० २२१)। वैजनाथजीके मतानुसार 'चतुर' इससे कहा कि पुत्ररूपसे प्रभुकी प्राप्तिमें वात्सल्यरसकी परिपूर्णता है। इसीके भीतर और सब रस आ जाते हैं। जैसे बालकेलिमें हास्य, विवाहमें शृङ्गार इत्यादि। श्रीजानकीशरणका मत है कि 'चतुर' शब्दमें व्यंग्य है कि सेवा तो दूर रही, स्वयं सेवा करायेंगे। वि० त्रि० लिखते हैं कि राजाने ऐसा वर माँगा जो शतरूपाजीको भी अति प्रिय है, क्योंकि इससे दोनोंका कल्याण होगा और दूसरे जन्ममें भी यह सम्बंध (दाम्पत्य) बना रहेगा, अत 'चतुर' कहा।

मानस-मयङ्ककार लिखते हैं कि "यहाँ 'चतुर' शब्द बड़ा गूढ़ है। क्योंकि राजाने कहा है कि 'सुत विषइक तव पद रति होऊ। मोहि बरु मूढ़ कहइ किन कोऊ'। इससे 'चतुर' शब्दसे यह ध्वनि निकलती है कि राजाने मूढ़तावश ऐसा वर माँगा है। यदि यह ध्वनि न होती तो राजा अपनेको मूढ़ न कहते। पुन, इसी कारण शतरूपाने वात्सल्यरसमय भक्ति वर माँगा। दोनोंके वरमें भेद यह है कि रानीने तो रामचन्द्रकी ओरसे वात्सल्य भाव माँगा और राजाने अपनी ओरसे पुत्र समझकर वात्सल्य भाव माँगा।" (म० स०)]

(ख) 'मोहि अति प्रिय लागा' क्योंकि राजाको तो (निरंतर दर्शन और लीलाका आनंद न हो सकेगा उनके आनन्दमें) अंतर भी पड़ेगा पर मुझे तो रातोदिन आपके संयोगका आनन्द मिलेगा (क्योंकि प्रथम तो माताहीको पुत्रका सुख मिलता है तब कहीं पिताको। लालनपालनका सुख तो मुझको ही अधिक मिलेगा। मेरे तो नित्य गोदमें ही रहियेगा)। (ग) 'कृपाल' का भाव कि राजापर जो आपकी कृपा हुई वह मुझे अति प्रिय लगी। यह रानीके पातिव्रत्यकी शोभा है। (घ) 'चतुर' और 'सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा' कहकर राजाके वचनोंको आदर दिया क्योंकि आगे उनके वचनमें दोष दिखाती हैं।

नोट—४ इन वचनोंसे रानीकी चतुराई झलकती है। प्रथम तो उन्होंने पतिके वचनको प्रमाण स्वरूप किया और फिर स्वयं वर माँग लिया। ऐसा न कहतीं तो कौन जानता है, राजाके सैकड़ों रानियाँ होती हैं वे किसके पुत्र कहलाते, क्योंकि राजाने तो अकेले अपनेको ही कहा था, यथा "चाहौं तुम्हहिं ···" 'मोहि अति प्रिय लागा' कहकर सूचित किया कि आप हमारे पुत्र कहलाएँ, आप मेरे ही पुत्र हों, अन्य किसी रानीके नहीं।

> प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि १भगतहित तुम्हहिं सोहाई ॥५॥
> तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी ॥६॥
> अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रवान२ पुनि सोई ॥७॥
> जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥८॥

१—१६६१, १७०४ और १७६२ में 'भगति' पाठ है। रा० प०, भा० त० वि०, पं० में भी 'भगति' पाठ है। १७२१, छ०, को० रा० में 'भगत' पाठ है। भगत-हित = भक्तोंके लिये, भक्तोंके प्रेमसे। = भक्त-हितकारी। भगति-हित = भक्तिके प्रेमसे, भक्तिके लिये, भक्तिवश। 'भगत' उत्तम जान पड़ता है।

२ 'प्रमान' पाठ कुछ छपी पुस्तकों में मिलता है।

दोहा—सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु ॥१५०॥

शब्दार्थ—सुठि=अत्यंत । रहनि=आचरण, चालढाल, व्यवहार, रीतिभांति । =लगन, प्रीति, यथा 'जो पै रहनि राम सों नाहीं' इति विनये ।

अर्थ—परन्तु, हे प्रभो ! अत्यन्त ढिठाई हो रही है यद्यपि भक्तोंके प्रेमसे आपको (यह भी) भाती है ॥ ५ ॥ आप ब्रह्मादिके भी पिता (पैदा करनेवाले), जगत् मात्रके स्वामी, ब्रह्म और सबके हृदयकी जाननेवाले हैं ॥६॥ ऐसा समझनेपर मनमें सन्देह होता है । फिर भी जो प्रभुने कहा वह प्रमाण है (असत्य नहीं हो सकता) ॥७॥ हे नाथ ! जो आपके निज-भक्त हैं, वे जो सुख पाते और जो गति प्राप्त करते हैं ॥८॥ हे प्रभो ! वही सुख, वही गति, वही भक्ति, वही अपने चरणोंका अनुराग, वही विवेक और वही रहनि, हमें कृपा करके दीजिए ॥ १५० ॥

नोट—१ 'परन्तु' शब्दसे महारानीने इस वरके माँगनेमें अपनी अरुचि प्रगट की । भाव यह है कि मैं न भी माँगू या स्वीकार करूँ तो अब क्या हो सकता है, आप तो वचन दे चुके, आप अवश्य पुत्र होंगे । इसलिए अब वह वर न लेना व्यर्थ होगा ।" (श्रीजानकीशरण) ।

टिप्पणी—१ 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई ।०' इति । (क) सेवकमें 'ढिठाई' (धृष्टता) होना दोष है, यथा 'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी । सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी ॥ २८।१ ।', 'सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई । २।२६८ ।' (ख) 'जदपि भगतहित तुम्हहिं सोहाई' । 'भगतहित' का भाव कि जिस प्रकार भक्तका हित हो वही आप करते हैं । 'तुम्हहि सोहाई' अर्थात् आपको सुहाती है क्योंकि आप भक्तहितकारी हैं, औरोंको नहीं सुहाती । (इस कथनमें तात्पर्य्य 'दोषकी निवृत्ति' है, उसके लिए क्षमाकी मानों यह प्रार्थना है) भाव कि भगवान्‌से अपने दोष अपने मुखसे कह देनेसे वे दोष क्षमा कर दिए जाते हैं । यथा 'सीता-पति रघुनाथ सों कहि सुनाउ गुन दोष । होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष ।' (दोहावली), 'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः । त्राहि मां पापिनं घोर सर्वपापहरो हरे ।' पुनः भाव कि आप सेवककी धृष्टताको स्नेह और सेवा मान लेते हैं, यथा 'सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई । प्रभु मानी सनेह सेवकाई । २।२६० ।' और ऐसा मानकर प्रसन्न होते हैं । (नोट—क्या 'ढिठाई' है सो आगे कहती हैं) । (श्रीडींगर-जीका मत है कि पतिके साथ पूर्णत सहयोग करके वर प्राप्तिमें कुछ उनसे आगे बढ़ जाना यह मर्यादाका उल्लंघन 'ढिठाई' है) ।

२—'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी ।०' इति । ☞ यह 'ढिठाई' का स्वरूप दिखाती है । (क) ब्रह्मादिके पिता हो, यथा 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना । उपजहिं जासु अंस ते नाना । १ ।४४।६ ।' जगत्‌के स्वामी हो । भाव कि जो जगत्‌का पिता है उसको अपना पुत्र बनाना और जो जगत्‌का स्वामी है उसे पुत्ररूपसे अपना दास बनाना, यह बड़ी भारी धृष्टता है । (ख) 'ब्रह्म सकल उर अंतरजामी' का भाव कि ब्रह्म बृहत् है, उसको छोटा करना और जो सबके हृदयके अन्दर है उसे एकदेशीय करना तथा जो सबके हृदयकी जानता है उसे अज्ञानी बनाना (अर्थात् माधुर्य्यमें उस ब्रह्मको अज्ञान धारण करना पड़ता है,) ऐसा करनेकी उससे प्रार्थना करना यह सब धृष्टता है ।

३—'अस समुझत मन संसय होई ।' इति । अर्थात् ब्रह्मादिके पिता और जगत्‌के स्वामीको हम अपना पुत्र बनाती हैं, ऐसा समझते ही हृदयमें संशय उत्पन्न हो जाता है । कौशल्या रूपमें भी ऐसा समझ कर भयभीत हुई हैं, यथा 'अस्तुति करि न जाइ भय माना । जगतपिता मैं सुत करि जाना । २०२.८ ।' भगवान्‌के पुत्र होने (बनने) में रानीको संशय उत्पन्न हुआ तब राजाका वर रुक गया । क्योंकि बिना रानीके अंगीकार किये रामजी पुत्र कैसे होंगे ? (नोट—यह कोई बात नहीं है । राजाओंके अनेक रानियाँ होती

है। भगवान्‌का वचन तो असत्य हो नहीं सकता। वे न जाने कौन ऐसा दूसरा सुकृती पैदा करते। वस्तुतः यह महारानीजीकी वचन चातुरी है, इसीसे ये कहती हैं कि जो आपने कहा कि 'नृप तव तनय होव मैं आई' यह वचन प्रमाण है (असत्य नहीं हो सकते) अर्थात् आप आकर पुत्र हों। ☞ रानीने प्रथम पतिके वचनका मान रक्खा—'जो वरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा।' और अब 'कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई।' इन वचनोंसे प्रभुके वचनोंका मान रखा।

४ 'जे निज भगत नाथ तव अहहीं।०' इति। (क) 'निज भगत' का भाव कि धर्म, कर्म, देव, और तीर्थ सेवी भी आपके सेवक कहलाते हैं, सो वे सेवक नहीं, किंतु जो आपके 'निजभक्त' हैं वे। जैसे मनुजीने कहा कि जो स्वरूप शिवजीके मनमें एवं जो भुशुण्डीजीके मनमें बसता है यह स्वरूप हम देखें, वैसे ही रानी कहती हैं कि जो सुख इत्यादि 'निज भक्त' को मिलता है वह हमें मिले। तात्पर्य कि भगवान्‌के दिव्यगुण और रूप यथार्थ रूपमें सन्तोंको ही प्राप्त हैं इसीसे सन्तोंके-से सुख, गति आदि माँगे। इस प्रकार दोनोंने सन्तोंका ही मत मागकर सन्तमतको सर्वोपरि दिखाया। 'निजभक्त' कहकर जनाया कि जो इस मूर्ति के अनुरागी हैं, जिनको यह छोड़ कुछ भाता ही नहीं ऐसे भक्त। १४५ (५) भी देखिए।

५ 'सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति०' इति। (क) ☞ सोइ सुख, यथा 'मम गुनग्राम नामरत गत ममता मदमोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह। ७।४६।', 'तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेही। तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केही'। 'सोइ गति', यथा 'तुम्हहि छाडि गति दूसरि नाहीं। २।१३०।५।' (बैजनाथजी का मत है कि 'सोइ सुख'—जो सुख जीवितावस्थामें पाते हैं और 'सोइ गति जो गति वे अन्तकालमें पाते हैं)। 'सोइ भगति', यथा 'अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव। ७।८४।', 'सोइ निज चरन सनेहु', यथा 'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनिमन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं। १४८।१।', 'राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।१७।४।' 'सोइ बिबेक', यथा 'जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार। संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार। ६। अस बिबेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मनु राता।।', 'सोइ रहनि' यथा "कबहुँक हौं एहि रहनि रहौंगो। श्रीरघुनाथ कृपाल कृपा तें संत सुभाउ गहौंगो। जथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो। परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।। परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो। बिगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो।। परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो। तुलसिदास प्रभु एहि पथ रहि अबिचल हरि भक्ति लहौंगो।।१७२।।" (विनय), 'जो पै रहनि राम सों नाहीं०' (वि० १७५)। ☞ भाव यह है कि आप हमारे पुत्र तो हों पर हमारे हृदयमें सेवक सेव्य भाव बना रहे। पुत्र स्नेहमें पड़कर हमारा विवेक जाने न पावे, हमारा रहन-सहन आपके निज भक्तोंका सा बना रहे। (ख) 'मोहि कृपा करि देहु' का भाव कि जैसे राजाको आपने माधुर्य्यका आनन्द दिया, वैसे ही मुझपर कृपा करके मुझे ऐश्वर्य्यका आनन्द दीजिए। (ग) ☞ भक्ति और चरण सनेह तो एक ही बात है। दोनोंमें कोई फर्क (बीच, अन्तर) नहीं है। पर यहाँ भक्ति और चरण सनेह दोनों अलग अलग माँगे हैं। इसमें भाव यह है कि चरण सनेह ही माँगतीं तो उसमें नवधाका ग्रहण न होता और नवधाभक्ति ही केवल माँगतीं तो उसमें चरणोंमें स्नेहका ग्रहण न होता, पादसेवन मात्रका ग्रहण होता। अतएव दोनों मांगे। (सम्भवतः प० रामकुमारजीका यही पाठ है)।

'हमहिं कृपा करि देहु' इति। मनुजीने ब्रह्मगिरा सुनकर जब वर माँगा तब कहा कि 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारतिमोचन।' अर्थात् दोनोंको प्रणत जनाते हुए दोनोंको कृपा करके दर्शन देनेकी प्रार्थना की। दूसरी बार 'चाहौं तुम्हहि समान सुत' यह कहा, तब भगवान्‌ने शतरूपाजीसे वर

माँगनेसे कहा। उन्होंने कहा—'जो बर नाथ चतुर नृप माँगा। सो कृपाल मोहि अति प्रिय लागा'। शतरूपाजीने विचारा कि भगवान्‌के पुत्र होनेपर भी यदि भक्ति न मिली तो विशेष लाभ क्या ? 'जनम गएउ हरि भगति बिनु' यही सोचकर तो घर छोड़कर वनमें आए थे। और बिना विमल ज्ञानके भक्ति हृदयमें दृढ़ नहीं होती, यथा 'विमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई।' यह बड़ी भूल हुई कि राजाने ज्ञानसहित भक्ति साथ साथ नहीं माँगी। अतः शतरूपाजीने दोनोंके लिये सोच विचारकर ऐसा माँगा कि कुछ बाक़ी रह ही न गया। दोनोंके लिये वर माँगा, इसीसे 'हमहि देहु' कहा। राजाने जो भूल की थी उसे महारानीने इस प्रकार सुधारनेका प्रयत्न किया।

नोट—२ 'कृपा करि देहु' का भाव कि मैं इतने पदार्थयुक्त यह वर पानेकी पात्री नहीं हूँ, आप अपनी ओरसे कृपा करके मुझे दें। भक्ति कृपासाध्य है अतः कृपा करके देनेको कहती है।

३—रानीने अपनी ढिठाई कहते हुए और प्रभुके वचनको प्रमाण भी करते हुए वर माँगा और वह भी कैसा ? इसीपर प्रभु रीझेंगे। यहाँ वरके प्रसंगमें 'सोइ' छः बार दोहेमें आया है। इसमें 'पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार' है। इससे भाव अधिक रुचिकर हो गया है। पुनः, प्रत्येक वर (सुख, गति, भक्ति इत्यादि) के साथ यह शब्द देकर ताकीद भी जना रहा है अर्थात् और कोई सुख, गति आदि मैं नहीं चाहती, आपके निज-भक्तका ही सुख, गति, भक्ति इत्यादि चाहती हूँ, अज्ञानी आदिका नहीं। अतएव 'वीप्सा' भी है। पुनः, रानीने जो कुछ माँगा सबके साथ 'सोइ' विशेषण दिया क्योंकि यदि किसी एकमें भी 'सोइ' न होता तो वह संतमतसे बाहर हो जाता।

४—कुछ महानुभाव कहते हैं कि यहाँ छः पदार्थ माँगे क्योंकि शरणागति छः प्रकार की है। अथवा, षट्विकारके दूर करनेके लिए छः पदार्थ माँगे। अथवा, मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको वशमें करनेके लिए छः माँगे।

५—'निज भक्त' के लक्षण कहे वे सब सुतीक्ष्णजीमें देख लीजिए जो प्रभुके 'निज' भक्त हैं, यथा 'देखि दसा निज जन मन भाए। ३ १०।१६।' सुख, यथा 'मुनिहि राम बहु भांति जगावा। जाग न ध्यान-जनित सुख पावा। ३।१०।१७।' गति, यथा "प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा। ३।१०।३।" "जाके गति न आन की। ७।" भक्ति, यथा 'अविरल प्रेम भगति मुनि पाई'। चरण-स्नेह, यथा 'परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिवर बड़ भागी। ३।१०।२१।' विवेक, यथा 'देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिये संग बिहँसै दोउ भाई। ३।१२।४।' रहनि, यथा 'मन क्रम वचन रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक। ३।१०।२।' निज भगत, यथा 'देखि दसा निज जन मन भाए। ३।१०।१६।'

६—जो कुछ शतरूपाजीने माँगा वह सब उनको कौशल्यातनमें प्राप्त भी हुआ है। १५१ (१-३) में देखिए।

> सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बर* रचना। कृपासिंधु बोले मृदु बचना ॥१॥
> जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं ॥२॥
> मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहु न मिटिहि अनुग्रह मोरें ॥३॥

शब्दार्थ—रचना = गढ़न, बनावट, जिसमें विशेष चमत्कार वा युक्ति हो ऐसा वाक्य।

अर्थ—कोमल, गूढ़, सुन्दर और श्रेष्ठ वाक्यरचनाको सुनकर दयासागर (प्रभु) कोमल वचन

---

* बर—१६६१, छ०, को० रा०, श्रीनंगेपरमहंसजी। बच—१७०४, १७२१, १७६२। भक्तियुत—वै०। १६६१ में 'च' पर हरताल देकर 'र' बनाया है। बच = बचन।

बोले ॥१॥ तुम्हारे मनमें जो कुछ इच्छा है वह सब मैंने दी, इसमें संदेह नहीं ॥२॥ हे माता! मेरी कृपासे तुम्हारा अलौकिक ज्ञान कभी न मिटेगा ॥३॥

टिप्पणी—१ 'सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बर रचना ।०' इति । (क) वचनोंमें तीन गुण बताए। एक तो कोमल हैं, दूसरे इनमें गंभीर आशय भरा है, तीसरे इन वचनोंकी रचना सुन्दर है। राजाके वचनमें दोष भी दिखाती हैं और उनका मान भी रखती हैं यह 'गूढ़ता' है। 'नाथ', 'कृपाल', 'भगतहित' विशेषण देकर प्रार्थना की यह मृदुता है और जितनी भी वचनकी रचना है वह सब सुन्दर है। अथवा, 'जो बरु नाथ चतुर नृप मागा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा' यह 'मृदु' है, 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगतहित तुम्हहि सोहाई ॥ तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी ॥ अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई ॥' यह 'गूढ़' है, और 'जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥' इत्यादि 'रुचिर' है। (ख) ☞ राजाको जब वर दिया तब 'करुनानिधि' विशेषण दिया था—'एवमस्तु करुनानिधि बोले'। इसी तरह जब रानीको वर दिया तब 'कृपासिंधु बोले' ऐसा कहा। इस प्रकार दोनोंपर भगवान्‌की एकसी कृपा दिखाई।

पं० रा० व० श०—वचन रचना विनीत होनेसे मृदु, गम्भीरार्थक होनेसे गूढ़ और श्रवण सुखद होनेसे रुचिर थी। गम्भीरार्थक इसलिये कहा कि पुत्र रूपसे प्रभुकी प्राप्तिसे जिन छः बातोंमें कमी पड़नेका भय है उनको मागती हैं।

श्रीबैजनाथजी—"भक्तहित आपको देना सुहाता है पर माँगनेमें ढिठाई होती है ये मृदु हैं। गूढ़ आशय यह है कि रानीने विचारा कि राजाने जो वरदान माँगा वह कर्मकांड देशमें है, मायाकृत विघ्नोंसे रक्षा करनेकी तो कोई बात माँगी नहीं सो माँग लेनी चाहिये। भक्तिके अनेक अंग बटोरकर एकवचनमें कह देना भक्तियुत (बर) रचना है"।

नोट–१ 'कृपासिंधु बोले' इति। महारानीजीने कहा था कि 'हमहिं कृपा करि देहु', अतएव यहाँ 'कृपासिंधु बोले' कहकर 'कृपा करके' बोलना जनाया।

टिप्पणी—२ 'जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं ।०'। (क) 'देवि माँगु बरु जो रुचि तोरें' उपक्रम है और 'जो कछु रुचि तुम्हरे०' यह उपसंहार है। 'मन माहीं' से यह भी जनाया कि जो तुम नहीं कह पाई हो पर तुम्हारे मनमें है या जो भाव तुम्हारे मनमें है पर तुम ठीकसे नहीं कह पाई हो वह सब भी मैं देता हूँ। (ख) बहुत चीजें माँगीं, मिलनेमें संशय होता है, इसी से कहते हैं कि 'मैं सो दीन्ह सब' इसमें 'संसय नाहीं'। जैसे राजाने संशय किया था, यथा 'तदा हृदय मम संसय होई', वैसे ही रानीके हृदयमें संशय न उत्पन्न हो कि यह सब गुण हमें कैसे मिलेंगे, (मिलेंगे वा नहीं), यह विचारकर भगवान्‌ने प्रथम ही कह दिया कि 'संसय नाहीं'। 'संशय नहीं' कहकर संशय की उत्पत्ति रोक दी। [राजाने संदेह किया था, इससे भगवान्‌को उन्हें पहले समझाना पड़ा था कि संकोच न करो, हम सब कुछ दे सकते हैं, भक्तके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। इतनेपर भी राजाका संकोच पूर्णरूपसे न मिटा था। इसी लिये यहाँ प्रथम ही संशय मिटा देते हैं जिसमें फिर इन्हें भी समझाना न पड़े]

३—'मातु बिबेक अलौकिक तोरें ।०' इति। भाव कि रानीने विवेककी बात कही थी कि 'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जगस्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी ॥ अस समुझत मन संसय होई।', इस बातपर भगवान् प्रसन्न हो गए और उनकी अनुग्रह इनपर हुई। इसीसे कहते हैं कि 'मातु बिबेक अनुग्रह मोरें'। अथवा, रानीने विवेकसे वर मागा, इसीसे विवेक सदा बना रहनेका आशीर्वाद दिया।

[भगवान् जानते हैं कि रामावतारके पिताजीका मरण तो तापस शापके कारण रामवनगमन-विरह निमित्त ही होता है। यदि उनको रामरहस्यका ज्ञान रहेगा तो मरण असंभव होगा। अतः उनको ज्ञान और

ऐश्वर्यज्ञानयुक्त भक्ति देना सम्भव नहीं, इसीसे भगवान् वर भी बड़ी युक्तिसे देते हैं। कहते हैं 'जो कछु रुचि मैं सो दीन्ह'। 'आपने जो माँगा वह मैंने दिया वा एवमस्तु' नहीं कहा। 'तुम्हरे मन माहीं' का भाव कि आप दोनोंके मनकी रुचि भिन्न भिन्न है अत जो रुचि जिसके मनमें है वही मैंने दिया। पर इससे यह निश्चित न हुआ कि रानीको क्या दिया। अत रानीके लिये स्पष्ट कह देते हैं कि 'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें।' तोरें एक वचन माताके लिये है, 'तुम्हारें' दोनोंके लिये है।

गोस्वामीजीकी सावधानता देखिए। 'मातु' कहकर प्रथम शतरूपाको ही सबोधित किया। राजाको वर देते समय 'पितु' (वा, तात) नहीं कहा किन्तु नृप कहा, यथा 'नृप तव तनय होब मैं आई'। कारण कि पुत्रजन्मका ज्ञान और आनन्द प्रथम माताको होता है तब पिताको। रामजन्मकालमें भी ऐसा हुआ है। इस व्यावहारिक क्रमका भग मानसमें कहीं नहीं हुआ है। उदाहरण—वन्दना प्रकरणमें प्रथम कौसल्यामाताकी वदना करके कहा—'प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू।' हनुमान्‌जीको प्रथम माता श्रीजानकीजीने सुत कहा, तब रघुनाथजीने। ५० १६ (६), ३२ (८) देखो। मर्यादापुरुषोत्तमके चरित्रमें लोकवेद शास्त्रकी मर्यादाका भग अन्य रामायणोंमें तो हुआ है पर मानसमें ऐसा कहीं नहीं हुआ। (शृङ्खलाके लिये दो० १५० देखिए)]

नोट—२ 'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें।' इति। (क) 'माता'—रानीने सदेह किया कि जो ब्रह्मादिके भी पिता और जगत्‌भरके स्वामी हैं वे पुत्र कैसे होंगे, इसके निवारणार्थ 'मातु' कहकर सबोधन किया। भाव यह कि अवतार तो समयपर ही होगा, परन्तु तुमको हमने माता अभीसे मान लिया, सदेह न करो। (वै०)। (ख) रानीने छ पदार्थ माँगे, उनमेंसे 'बिबेक' भी एक है। 'विवेक' के लिए कहा कि यह कभी न मिटेगा। इससे यह न समझे कि और सब मिट जायँगे। रानीके विवेकपर प्रभु प्रसन्न हुए क्योंकि ये वर उन्होंने विवेकसे माँगे हैं, उनका सब वचन विवेकमय है, इसीपर प्रभुने प्रसन्न होकर यह कहा कि हम तुमको अपनी ओरसे 'अलौकिक' विवेक देते हैं जो हमारी कृपामें न मिटेगा। 'अलौकिकता' अपनी ओरसे कृपा करके दी। 'न मिटिहि अनुग्रह मोरें' में यह भी ध्वनि है कि जब हमारी (लीला हेतु) इच्छा होगी तब मिट भी जायगा। यदि यह न कहते तो विरोध पड़जाता क्योंकि उनका ज्ञान मिट भी गया है, यथा 'माता पुनि बोली सो मति डोली। १।१९२।', 'अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥ २०२।' अर्थात् काल-कर्मादि इस विवेकको न मिटा सकेंगे। जब मिटेगा तब हमारी कृपा और इच्छासे ही मिटेगा। (ग) अलौकिक विवेक यह कि हमारे ऐश्वर्यको कभी न भूलोगी। यही कारण है कि समय समयपर ऐश्वर्य दिखाकर उस विवेकको प्रभुने स्थिर रक्खा।

मा० त० वि०-कार कहते हैं कि माता कौसल्याका विवेक बराबर अखड नहीं पाया जाता जैसा 'सो मति डोली' और 'मति भ्रम मोर । २०१।७।' इत्यादिसे स्पष्ट है। अतएव यहाँ भाव है कि जिस समय मैं अनुग्रह करूँगा उस समयसे तुम्हारा अलौकिक विवेक बना रहेगा। इसीसे प्रभुने 'देखरावा मातहि निज अद्‌भुत रूप अखड। २०१।' उस अनुग्रहके बादसे अखड विवेक पाया जाता है।

वैजनाथजी लिखते हैं कि "लौकिक ज्ञान वह है जो शमदमादि साधनों द्वारा लोग प्राप्त करते हैं। इसमें विषय बाधक होता है—'मुनि बिग्यानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ। ३।३८।' जरा चूके कि विषयोंने आ दबाया। जीव अल्पज्ञ है, उसे एकरस ज्ञान नहीं रहसकता, यथा 'ज्ञान अखड एक सीतावर॥ जौं सबके रह ज्ञान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस। ७।७८।' इसीसे प्रभु कहते हैं कि हमारे अनुग्रहसे तुमको अलौकिक ज्ञान बना रहेगा। अलौकिक अर्थात् एकरस ज्ञान"

वि० त्रि०—लौकिक विवेक शास्त्रजन्यज्ञानविषयक है। पर अलौकिककी बात दूसरी है। महाराज दशरथने लौकिक विवेकसे काम लिया। यथा "तुलसी जानेउ दसरथहि 'धरमु न सत्य समान'। रामु तजे जेहि लागि बिनु रामु परिहरे प्रान। दो० २११।" परन्तु माता कौसल्याका अलौकिक विवेक सुनिये।—'वारौं

सत्यबचन श्रुतिसंमत जाते हौं बिछुरत चरन तुम्हारे ॥ बिनु प्रयास सब साधनको फल प्रभु पायो सो तो नाहि सँभारे । हरि तजि धरमसील भयो चाहत नृपति नारि बस सरबस हारे ॥ रुचिर काँच मनि देखि मूढ़ ज्यों करतल तें चितामनि डारे । मुनि लोचन चकोर ससि राघव, सिव जीवन धन सोउ न बिचारे ॥ गी० अ०२।'

नोट—२ श्रीशतरूपाजीने यह वर माँगा कि—"जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥ सोइ सुख१ सोइ गति२ सोइ भगति३ सोइ निज चरन सनेहु४। सोइ बिबेक५ सोइ रहनि६ प्रभु हमहि कृपा करि देहु ॥ १५० ॥"; श्रीकौशल्यारूपमें ये सब उनको प्राप्त हुई, यथा—

(१) सोइ सुख—"भरी प्रमोद मातु सब सोहीं ॥ पावा परम तत्व जनु जोगी । अमृत लहेउ जनु संतत रोगी ॥ जनम रंक जनु पारस पावा । अंधहि लोचन लाभु सुहावा ॥ मूक बदन जनु सारद छाई । मानहु समर सूर जय पाई ॥ (दो०)–एहि सुख ते सतकोटि गुन पावहिं मातु अनंदु । ३५० ॥', "दिये दान विप्रन्ह बिपुल पूजि गनेस पुरारि । प्रमुदित परम दरिद्र जनु पाइ पदारथ चारि ॥ ३४५ ॥", 'लछिमन अरु सीतासहित प्रभुहि बिलोकति मातु । परमानंद मगन मन पुनि पुनि पुलकित गातु ॥ उ० ७ ॥'

(२) सोइ गति—'जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी । तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी । २००।२ ।', 'निगम नेति सिव अंत न पावा । ताहि धरै जननी हठि धावा ॥ २०३ । ७ ।', 'मोद प्रमोद बिबस सब माता । चलहिं न चरन सिथिल भये गाता ॥ राम दरस हित अति अनुरागीं । 'चलीं मुदित परिछन करन पुलक प्रफुल्लित गात । ३४६ ।', 'कौसल्यादि मातु सब धाईं । निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं ॥ ७६ ।'

(३) सोइ भगति—"कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना । मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना ॥ ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद । सो अज प्रेमभगति बस कौसल्या के गोद ॥ १९८ ॥"

(४) सोइ निज चरन सनेहु—'लै उछंग कबहुँक हलरावै । कबहुँ पालने घालि झुलावै ॥ प्रेम मगन कौसल्या निसिदिन जात न जान । सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान ॥ २०० ॥', 'कौसल्यादि राम महतारी । प्रेम बिबस तन दसा बिसारी ॥ ३४५।८ ।', 'तन पुलकित मुख बचन न आवा । नयन मूँदि चरनन्हि सिरनावा ॥ २०२।५ ॥'

(५) सोइ बिबेक—"माया गुन ज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता ।" से 'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना०' तक १९२ छंद ।, "बार बार कौसल्या बिनय करइ कर जोरि । अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि ॥ २०२ ॥", "कौसल्या कह दोसु न काहू । करम बिबस दुख सुख छति लाहू ॥ ईस रजाइ सीस सबही कें । उतपति तिथि लय बिषहु अमी कें ॥ देखि मोह बस सोचिअ बादी । बिधिप्रपंच अस अचल अनादी ॥ भूपति जिअब मरब उर आनी । सोचिअ सखि लखि निज हित हानी ॥ २।२८२ ॥"—पुत्रमें परमेश्वर भाव रखना यह अलौकिक विवेक है ।

(६) सोइ रहनि—कौशल्याजीका सारा चरित निजभक्तकी रहनी है । उदाहरण "प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान । सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान । २०० ।"

> बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी । अवर एक बिनती प्रभु मोरी ॥४॥
> सुत बिषैक† तव पद रति होऊ । मोहि बड़‡ मूढ़ कहै किन कोऊ ॥५॥
> मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना । मम जीवन मिति* तुम्हहिं अधीना ॥६॥

† बिषैक—१६६१, १७०४, रा० प० । बिषइक-पाठान्तर । ‡ बरु-पाठान्तर । * मिति–१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ० । तिमि-को० रा० ।

शब्दार्थ—अवर = और भी। निषेक = निपयक = निपयका। = सबधी। फनि (स० फणि)=सर्प। मिति = सीमा, नाप, तौल।

अर्थ—चरणोंमे प्रणाम करके मनु महाराज फिर बोले—हे प्रभो! मेरी एक और भी प्रार्थना है। ४। आपके चरणोंमे मेरी प्रीति पुत्र सबधी हो, चाहे मुझे कोई बडा मूढ ही क्यों न कहे? ॥ ५॥ जैसे विना मणिके सर्प और विना जलके मछली, वैसे ही मेरे जीवन की सीमा आपके अधीन रहे ॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी।०' इति। दो बार वर माँगा और दोनों बार वंदन किया, यथा—'बोले मनु करि दडवत प्रेम न हृदय समात' और 'परेउ दड इव गहि पद पानी॥ धरि धीरज बोले मृदु बानी॥'' अब फिर वर माँगते हैं, जैसा आगेके 'अस बरु मागि चरन गहि रहेऊ' से स्पष्ट है इसीसे पुन चरणोंकी वदना की। (ख) 'सुत निषेक तव पद रति होऊ' इति। राजाने पुत्र होनेका वर माँगा था, इसीसे अब वे ऐश्वर्य्य नहीं माँगते। ('सुत निषेक' अर्थात् आपके चरणोंमे हमारा प्रेम हो पर इस तरहका हो जैसे पिताका पुत्रपर, आपमे पुत्रभावसे प्रेम हो, स्वामी भावसे नहीं।)। (ग) 'मोहि बडमूढ़ कहै किन कोऊ' इति। (इस भावमे) मूढ कहे जानेकी योग्यता है अर्थात् यह बात ऐसी है कि राजाको लोग अवश्य मूढ कहेंगे कि ईश्वरको पाकर भी इनको ज्ञान नहीं है, ये भगवानको पुत्र मानते हैं। यथा 'अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना। २०२।७।' ईश्वरको जो न जाने वह मूढ है, यथा ''ते किमि जानहि रघुपतिहि मूढ परे तम कूप ॥ ७।७३॥'' और जो ईश्वरको पाकर भी उसे न जाने उसमे ईश्वर भाव न माने वह 'बडा मूढ' है। (घ) 'किन कोऊ' का भाव कि 'राजा बडा मूढ है' यह कहे जानेका हमे किंचित् भय वा सशय नहीं है। आपके चरणोंमे स्नेह हो, हम बडे मूढ भले ही कहे जायँ। भाव कि बडे ज्ञानी हुए और चरणोंमे अनुरक्ति न हुई तो अच्छा नहीं है और मूढ कहाते रहें पर आपके चरणोंमे प्रेम रहे यह अच्छा है, यथा 'करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई। २।१८६।' [वाल्मीकीयमे श्रीविश्वामित्रजीने श्रीदशरथ महाराजको ऐसा कहही डाला है जैसा उनके ''न च पुत्रगतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव ॥ १३॥ अहं ते प्रति जानामि हतौ तौ विद्धि राक्षसौ। अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्य पराक्रमम् ॥ १४॥ वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिता।'' (वल्मी० १।१६)। अर्थात् वे दोनों राक्षस रामचन्द्रके हाथसे अवश्य मारे जायँगे। सत्यपराक्रमी रामको मैं जानता हूँ और वसिष्ठ आदि ये तपस्वी तेजस्वी सब ऋषि जानते हैं।—इससे ध्वनिसे सूचित हुआ कि तुम अज्ञानाधकारमे पडे हो, तुम नहीं जानते कि ये तो ब्रह्माण्डमात्रके माता पिता स्वामी हैं।]

प० प० प्र०—मनुजीने भगवान्‌के वचनोंका मर्म जान लिया, अत वे अपने मनकी रुचि प्रगट करके कह देते हैं। 'राम सदा सेवक रुचि राखी'—इसमे अपवाद केवल एक हुआ है और वह है अंगदके सबधमे, पर वहाँ नैतिक कर्त्तव्य-पालनमे वैसा ही करना पडा। ७।१८-७।१६ देखिए।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि जब राजाने देखा कि रानीने पुत्र तो पाया ही और साथ ही अनन्य भक्ति भी, ईश्वर भावका स्नेह, निज भक्तोंकी रीति, रहनी और अलौकिक विवेक इत्यादि सोना और सुगध भी, मीठा और वह भी कठौता भर कि वह सब विवेक आदि सदा एक रस बने रहें—तब उन्होंने विचार किया कि यद्यपि प्रभु हमको पुत्ररूपसे प्राप्त हुए तथापि जीवकी अल्पज्ञतासे कहीं ऐसा न हो कि किसी समय हमारा प्रेम इनमे कम हो जाय, इस लिये फिर वर मागते हैं। 'बड मूढ कहै' का भाव कि चाहे कोई कहे कि ये बडे अज्ञानी हैं कि ईश्वरमे पुत्र भाव रखते हैं, मुझे इस कथनसे किंचित् भी सकोच न हो।

२—☞ यहाँ यह उपदेश मिलता है कि प्रभुमे किसी ने किसी भावसे किसी प्रकार भी लग जाना चाहिए। उस भावमे, उस प्रयत्नमे, लोकमे निंदा भी हो तो भी उसपर कान न देकर अपनी भावना मे अपनी निष्ठामे दृढ रहे। (करु०)।

मा० म०-कारका मत है कि "राजाने सोचा कि रानीने व्यंग्यसे हमें 'चतुर' कहा। इनको हमारा वर (केवल माधुर्यरसका) अच्छा न लगा, इसीसे इन्होंने हमसे पृथक् दूसरा वर माँगा। 'मूढ़' तो हम बनही चुके अब हम उसीमें दृढ़ रहेंगे। कटाक्ष तो हो ही चुका अब हम अपनी धारणासे क्यों हटें ? शतरूपाजी चाहती हैं कि पुत्र होते हुये भी हम उन्हें जगत्पिता समझें और राजाने माँगा कि पुत्र ही समझते रहें"—(स्नेहलताजी)।

श्रीगंगाप्रताप डोंगरजी लिखते हैं कि मनु महाराजको पहले भगवान्के साक्षात् दर्शनकी अभिलाषा हुई। साक्षात् दर्शन प्राप्त होनेपर वे रूपमाधुरीपर मुग्ध होगए और उनके हृदयमें यह लालसा उत्पन्न हुई कि बस ऐसे दर्शनोंका सौभाग्य सदा बना रहे। इस विचारसे उन्होंने प्रभुके सदृश पुत्र माँगा। मुग्धताके कारण पुत्रका वर माँगते समय उनके हृदयमें कोई और विचार न था। महारानीजी यह सब देख सुन रही थीं परन्तु वे इतनेमें सावधान हो चुकी थीं। उन्होंने विचार किया कि महाराजने वर तो यथार्थ माँगा परन्तु केवल पुत्र होनेका माँगा, भक्ति माँगनेको भूल गए। अत जब भगवानने उनसे वर माँगनेको कहा तब उन्होंने महाराजके वचनोंका समर्थन किया और भगवान्के वचनोंके अनुसार कि जब वे ही पुत्ररूपसे अवतरित होनेको हैं, उन्होंने भक्तोंकी सी रहनी, सहनी, इत्यादि भी माँगी। तब महाराजको होश हुआ कि वर माँगनेमें हमसे थोड़ी भूल हो गई, अत उन्होंने अपनेको मूढ़ कहकर प्रभुमें सत्य प्रेम होनेका वर माँगा, जिसमें पुनरागमन न हो। इसीसे कविने वंदना करते हुए कहा है 'बदौं अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद। '। यहाँ किसीके वचनोंमें न कोई चातुरी है और न व्यंग्य ही, भगवान्के सामने ये सब कैसे रह सकते हैं ?

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि "स्मरण रहे कि पुत्र भाव रखते हुए दशरथजीने श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अटल प्रीति रक्खी जो लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे अनुचितसी देख पड़ती है। परन्तु उन्होंने उसे पूर्णरूपसे निबाहा जिसका उदाहरण गोस्वामीजीने यथायोग्य दर्शाया है कि-"मीन काटि जल धोइये खाए अधिक पियास। रहिमन प्रीति सराहिए, मुएहु मीतकी आस॥"

दशरथजीका ठीक ऐसा ही हाल हुआ उन्होंने रामचन्द्रजीके बनवासी होते ही प्राण त्याग दिये, फिर भी मुक्त न हो पुत्र भाव रखते हुए ही स्वर्गमें निवास किए रहे। निदान रावणवधके पश्चात् फिर आकर श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकर मुक्त हुए। इस प्रकारसे उन्होंने प्रीति निबाही क्योंकि परमात्मा ही पुत्ररूपसे अवतरे थे।"

[☞ पुत्र भाव रहते हुए भी भगवान्के चरणोंमें उनका प्रेम रहा यह बात भी मानसमें चरितार्थ हुई देख पड़ती है। यथा 'मोरें गृह आवा प्रभु सोई।१६३।४', 'सुमिरि राम गुर आयेसु पाई। चले महीपति संख बजाई। २०२।३।', 'अस कहि गे बिश्राम गृह राम चरन चितु लाइ। २४५।' उनका प्रेम श्रीरामजीमें ऐसा था कि शरीर त्याग करनेपर स्वर्गमें सब प्रकार इन्द्रद्वारा सम्मानित होनेपर भी वे श्रीरामबिना सुखी न थे, जैसा वाल्मी० ६।१२२।१३ में उनके वचनसे स्पष्ट है। यथा 'न मे स्वर्गो बहुमतः सम्मानश्च सुरर्षिभिः। त्वया राम विहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते ॥ १३ ॥ (वाल्मी० ६।१२२)। अर्थात् हे राम ! मैं सत्य सत्य कहता हूँ कि तुम्हारे वियोगसे युक्त मुझको स्वर्गमें रहना जिसे देवर्षि बड़ी भारी वस्तु समझते हैं तुम्हारे सहवासके समान सुखदायी नहीं मालूम होता।

नोट—३ 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना' इति। (क) राजाने चरणोंमें प्रेम माँगा। किस प्रकारका प्रेम चरणोंमें हो यह अब कहते हैं। जैसे मणिके बिना सर्प और जैसे जलके बिना मछली नहीं रहती वैसे ही मेरा जीवन आपके अधीन रहे अर्थात् आपके बिना मैं न जिऊँ। (ख) भगवानकी इच्छासे मनुजीने दो दृष्टान्त दिये। फणि मणिके दृष्टान्तसे भगवान्के बिना व्याकुल रहें, मृत्यु न हो,

यथा 'मनि लियें फनि जियै ब्याकुल बिहाल रे' (वि० ६७)। यह दृष्टान्त जनकपुर जानेमें चरितार्थ हुआ। विश्वामित्रके साथ भगवान्‌के जानेपर राजा व्याकुल रहे पर मरे नहीं। मरे हुएके समान रहे, यथा 'सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे। ३०८।४।' दूसरा दृष्टान्त 'जल बिनु मीन' का है। जल बिना मछली जीती नहीं रह सकती। यह दृष्टान्त वनयात्रामें चरितार्थ हुआ। (ग) प्रथम वियोग विश्वामित्रके संग जानेमें हुआ, इसीसे प्रथम फणिमणिका दृष्टान्त दिया। दूसरा वियोग पीछे वनयात्रा होनेपर हुआ, इसीसे जल-मीनका दृष्टान्त पीछे कहा। इस तरह दोनों दृष्टान्त क्रमसे कहे गए। यह वर प्रभुकी इच्छासे माँगा गया, क्योंकि लीलामें राजाको दो बार वियोग होना है। (प० रामकुमारजी)। (घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि "मनि बिनु फनि""मीना' का भाव यह है कि जैसे मणि सर्पके भीतर और जल मछलीके बाहर रहता है तथा मेरी प्रीति भीतर बाहर दोनों रहे। वा, जैसे सर्प स्वइच्छित मणिका वियोग सह सकता है वैसे मैं स्वइच्छित सह सकूँ और जैसे मीन जलके बिछुड़ते ही मरजाती है वैसे ही वियोग होनेपर मैं प्राण त्याग सकूँ।" (ङ) श्रीजानकीशरणजी, कहते हैं कि मछली अपनी इच्छासे जलके बाहर नहीं होती, वैसेही राजाभी रामरूपजलसे अपनी इच्छासे अलग न होंगे, कैकेयी मल्लाहिन बाहर निकालेगी।

असं बरु माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ ॥७॥
अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी ॥८॥
सोरठा—तहँ करि भोग बिसाल* तात गएँ कछु काल पुनि।
होइहहु अवध-भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत ॥१५१॥

अर्थ—ऐसा वर माँगकर (मनुजी प्रभुके) चरण पकड़कर रह गए। करुणानिधान भगवान्‌ने 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहा ॥ ७ ॥ (फिर भगवान् बोले कि) अब तुम मेरी आज्ञा मानकर इन्द्रकी राजधानी (अमरावती) में जाकर निवास करो ॥ ८ ॥ हे तात ! वहाँ बहुत सुख भोग करके कुछ काल बीतनेपर फिर तुम अवधके राजा होगे, तब मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा। १५१।

टिप्पणी १—'असं बरु माँगि चरन गहि रहेऊ' इति। ☞ इस समय तीन बार पदवंदन दिखाया है। तीन बार वंदनामें क्रमसे वचन मन और तन (कर्म) दिखाया है। 'बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी' यह वचन है, 'सुत बिषैक तव पद रति होऊ' यह मन है और 'असं बरु माँगि चरन गहि रहेऊ' यह तन है। तात्पर्य कि राजाकी भगवान्‌के चरणोंमें मन वचन कर्म तीनोंसे प्रीति है। यह तीन बार पदवंदनका भाव है। ☞ भगवान्‌के तीनों बार वर देनेमें वक्ताओंने भगवान्‌को कृपानिधान वा करुणानिधान विशेषण दिया है, यथा 'भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना' (यह प्रथम बारकी प्रार्थनापर कृपा करके दर्शनरूपी वर दिया), 'एवमस्तु करुनानिधि बोले' (यह दूसरी बार जब पुत्र होनेका वर माँगा तब करुणा करके वर दिया) और 'एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ' (यह अंतिम बार सुतविषयक प्रेम माँगनेपर भी करुणा करके वर दिया)। इसका तात्पर्य्य यह है कि भगवानकी अपने दास (मनुजी) पर आदिसे अंततक एकरस कृपा बनी हुई है। [जो माँगा वह सब देनेकी इच्छा है अत 'एवमस्तु' कहा। शतरूपाजीने दोनोंके लिये माँगा और वह सब देना अनुचित था, अत वहाँ 'एवमस्तु' नहीं कहा। तुलसीदासजीकी काव्यकला शब्दलाघवमें अर्थ गाम्भीर्य्ययुक्त है।' (प० प० प्र०)]

(चरण पकड़े रह जानेमें भाव यह है कि यह वर लेकर ही मानेंगे। वि० त्रि०)

२ 'अब तुम्ह मम अनुसासन मानी।०' इति। (क) 'अनुसासन मानी' का भाव कि राजाके मनमें

---

* पाठान्तर-बिलास।

इन्द्रलोकमें बसनेकी वासना नहीं है। कैसे मालूम हुआ कि नहीं है? इस तरह कि प्रथम ब्रह्मविष्णुमहेश तीनों आए, अपना अपना लोक देते रहे पर ये ऐसे वैराग्यवान् कि (इन्होंने उस सुखको तुच्छ मानकर) उसकी इच्छा न की। ('प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृपरानी।' भगवान् इस बातको जानते हैं) इसीसे भगवान्ने कहा कि हमारी आज्ञा मानकर इन्द्रलोकमें जाकर रहो। 'राम रजाइ सीस सब ही के।' स्वामीकी आज्ञा है, अतः उसे मान लिया। (ख) इन्द्रलोकमें निवास करानेका भाव कि राजाने ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और शिवलोक को लेना स्वीकार नहीं किया था (इससे वहाँ भेजना उचित न था। वहाँ जानेको कहते तो इनको सकोच होता।) अतएव वहाँ वास करनेको न कहा। पुनः भाव कि भगवान्ने प्रसन्न होकर इनको दर्शन दिया, पुत्ररूपसे इनके यहाँ अवतार लेकर सुतविषयक सुख देनेका वरदान दिया। पर इतना देनेपर भी भगवान्को सतोष न हुआ, क्योंकि राजाने भगवान्को छोड़कर और कुछ भी पदार्थ न माँगा।—'निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोचु उर अपनें। २।२९९।' (अहा! क्या सुन्दर अनुपम स्वभाव सरकारका है!! बलिहारी बलिहारी!!)। इसीसे इन्द्रलोकमें निवास करनेको कहा। इन्द्रलोकमें भोगविलास बहुत है। भगवान्की आज्ञासे सुरपतिरजधानीमें बसनेसे सुरपति आदि सभी देवता इनकी सेवा करेंगे इनको तपका फल भी कुछ न कुछ भोग कराना भगवान्को मजूर है। [किसीका मत यह भी है कि यहाँ भगवान्ने वेदमर्यादाकी रक्षा भी की है। तपका फल इन्द्रलोकका भोग विलास है, उसे भोग करनेको वहाँ भेजा। भोग विलासमें इन्द्रकी उपमा दी जाती है, यथा 'भोग पुरंदर। ७।२४।', 'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास। ६।१०।', 'मघवा से महीप बिषय सुख साने।' (क० ७।४३), 'भोगेन मघवानिव', इत्यादि।]

३—'तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल०' इति। (क) ☞ इस वचनसे पाया जाता है कि विशाल भोगविलास करनेकेलिए ही इन्द्रलोकमें वास कराया गया। (ख) वर देनेके साथसाथ अभीसे भगवान्ने रानी राजामें माता पिता-भाव मान लिया। इसीसे उनको माता पिता कहते हैं, यथा 'मातु बिबेक अलौकिक तोरें' (शतरूपाजीसे) और '*तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि*' (मनुमहाराजसे)। ['मातु' कहकर रानीका सदेह दूर किया था और अब 'तात' पिता-वाचक पद देकर राजाको अपनी सत्य प्रतिज्ञापर विश्वास दिलाया] (ग) 'कछु काल' का भाव कि तपका फल तो कई कल्पोंतक इन्द्रलोकका राज्य प्राप्त होनेपर नहीं चुक सकता, कल्पोंतक इन्द्रपदप्राप्ति भी इस तपके आगे कुछ नहीं है। अतएव उसे बहुत कम मानकर 'कछु काल' कहा। पुनः, राजाको प्रभुका वियोग असह्य है, वे भगवान्का वियोग बहुत दिन न सह सकेंगे (और स्वर्गमें न जाने कबतक रहना पड़े यह समझकर राजाको सकोच होगा), इसीसे 'कछु काल' कहकर राजाकी खातिरी की, उनको सतोष दिया। क्योंकि देवशरीर धारण कर इन्द्रलोकमें बसनेसे यह निश्चय है कि वहाँ देवताओंकी आयुपर्यन्त (वा तपफलभोग पर्यन्त) निवास करना पड़ता है तब तो भगवान्की इस आज्ञासे कि 'बसहु जाइ सुरपति रजधानी', निश्चय होता है कि बहुत कालतक वियोग रहेगा, अतएव उस सदेहकी निवृत्तिके लिए, उस सकोचको मिटानेके लिए भगवान् कहते हैं कि 'गएँ कछु काल पुनि' अर्थात् तुम्हें देवताओंकी पूर्णायुतक वहाँ न रहना पड़ेगा, कुछ ही काल ठहरना होगा। फिर तुम अवधभुआल होंगे। (पुनः, 'कछु काल' का भाव कि थोड़े ही समयमें विशाल भोग भोग लोगे)।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि प्रथम कल्पमें बहत्तरवीं चतुर्युगीमें दो लाख तेरह हजार एकसौ बयालीस वर्ष जब सत्ययुगके बीते उस समय प्रभुने मनुको स्वर्ग जानेकी आज्ञा दी। 'कछु काल' अर्थात् चौतीस लाख छब्बीस हजार आठसौ अट्ठावन वर्ष बीतनेपर। अर्थात् जब त्रेतायुगके तीन लाख चौरासी हजार वर्ष बाकी रहेंगे तब तुम राजा होगे। १४२ (१-४) भी देखिए।

त्रिपाठीजीका मत है पाच मन्वन्तर तक अमरावतीमें बसनेको कहा। इन्द्र और देवता तक पाँच

बार बदलेंगे पर ये वहीं रहेंगे । सातवें (वैवस्वत्) मन्वन्तरमें अवधके राजा होंगे, तब अवतार होगा।

टिप्पणी—४ (क) 'होइहहु अवधभुआल' इति। इन्द्रलोक देनेपर भी भगवान्‌को संतोष न हुआ तब अवधभुआल होनेका वर दिया कि जहाँ (अवधमें) इद्रलोकसे अनंतगुण अधिक ऐश्वर्य है । यथा 'अवधराजु सुरराज सिहाहीं । दसरथ धन सुनि धनद लजाहीं ।२।३२४।' (ख) 'तब मैं होब तुम्हार सुत' । भाव कि तुम्हारे इस शरीरके तथा देवशरीरके पुत्र न होंगे, जब अवधभुआल होगे तब तुम्हारे पुत्र होंगे। भगवान्‌से कालका करार नहीं कराया था, पुत्र होनेका करार (एकरार, वचन) था। इसीसे भगवान्‌ने कालका कोई एकरार नहीं किया, पुत्र होनेका करार किया। अपना 'करार' समझकर राजाको संतोष रहेगा। (ग) ☞ काल और देश दोनों इस दोहेमें बताए । 'गएँ कछु काल पुनि होइहहु अवधभुआल', जब अवधभुआल होगे तब, यह 'काल' बताया और 'अवध' यह देश बताया, जहाँ अवतार लेकर पुत्र होंगे। [पूर्व इनकी रजधानी बिठूर (ब्रह्मावर्त) कही जाती है। पूर्व प्रमाण दिया गया है]

नोट १ ☞ यहाँ यह दिखाते हैं कि प्रभु जिसपर कृपा करते हैं उसको फिर उत्तरोत्तर अधिक सुख देते ही जाते हैं क्योंकि—'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती'।

२—जब राज्य वैभवका भोग साठ हजार वर्ष कर लेंगे तब पुत्र होंगे। बैजनाथजी लिखते हैं कि "मनुजीने अट्ठाईस हजार वर्ष तप किया। प्रभुने चौबीस हजार वर्ष तपके फलमें चौबीस लाख वर्ष स्वर्गभोग दिया और चार हजार वर्षके तपके फलमें साठ हजारवर्ष अवधराज्यका सुखभोग दिया और अट्ठाईस वर्ष-तक पुत्र होकर वात्सल्यसुख दिया।" —पर इसमें मत-भेद है।

प० प० प्र०—बालकाड वन्दना-प्रकरणमें एक बार 'दसरथ राउ' कहकर वदन किया फिर 'अवध-भुआल' कहकर। यथा 'दसरथ राउ सहित सब रानी । सुकृत सुमंगल मूरति मानी । करौं प्रनाम करम मन बानी । १।१६।६-७।', 'बंदौं अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि रामपद । १।१६।' यहाँ 'होइहहु अवध-भुआल' शब्द देकर सूचित करते हैं कि दोहा १६में जो वन्दना है वह मनु-दशरथकी है और जो 'दसरथ राउ' कहकर वन्दना की वह कश्यप (अदिति) दशरथकी है।

इच्छामय नरवेष सँवारे । होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे ॥१॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता । करिहौं चरित भगत सुखदाता ॥२॥
जे सुनि सादर नर बड़भागी । भव तरिहहिं ममता मद त्यागी ॥३॥
आदिसक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥४॥

शब्दार्थ—'इच्छामय'-इच्छारूप, इच्छानुसार, इच्छासे, सकल्पमात्रसे। सँवारे-रचकर, बनाए हुए। 'निकेत'=घर, अर्थात् सूतिकागृह, सौर, जच्चाखाना।

अर्थ—अपनी इच्छासे नररूप बनाये हुये तुम्हारे घरमें प्रकट होऊँगा ॥ १ ॥ हे तात ! अंशोंसहित देह धारणकर मैं भक्तोंको सुख देनेवाले चरित्र करूँगा ॥ २ ॥ जिन्हें बड़भागी मनुष्य आदर पूर्वक सुनकर ममता मद छोड़कर ससारसे तर जायँगे ॥ ३ ॥ आदिशक्ति जिसने जगत्‌को उत्पन्न किया वह ये मेरी 'माया' भी अवतार लेंगी ॥ ४ ॥

नोट—१ "इच्छामय नर वेष सँवारे । " इति । (क) नर का अर्थ है 'पाञ्चभौतिक मायामय शरीर-वाला' यथा, 'स्युः पुमांसः पंचजनाः पुरुषाः पुरुषा नराः' । इत्यमरे।' इसीसे कहते हैं कि मेरा नर शरीर मायामय पांचभौतिक नहीं होगा, किन्तु 'इच्छामय' होगा। जैसे चीनीके अनेक खिलौने मनुष्य, पशु, पक्षी, फूल, फल इत्यादि बनते हैं, वे देखने मात्र मनुष्य, पशु आदि हैं, पर उनमें मनुष्य, पशु, इत्यादिके तत्त्व नहीं है, वे तो भीतर बाहर चीनी ही हैं, वैसे ही हमारा रूप देखने मात्रको तो नराकार होगा पर भीतर बाहर शुद्ध ईश्वर

तत्त्व ही है, उसमें देही देह-विभाग नहीं है, हमारा शरीर चिदानन्दमय ही होगा। मैं अपनी इच्छासे नरतन धारण करूँगा जीवोंकी तरह कर्मका परिणाम यह शरीर नहीं होगा। (वै०)। (ख) सत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि "आनन्दो द्विविध प्रोक्त मूर्तश्चामूर्त एव च। अमूर्तस्याश्रया मूर्त. परमात्मा नराकृति।" (अर्थात् आनन्द दो प्रकारका है, एक रूपवाला दूसरा रूपरहित। रूपरहितका आश्रय रूपवाले नराकृति परमात्मा हैं)। यही 'इच्छामय नर वेष' है। अथवा, भाव यह है कि नर वेष तो धारण करूँगा परंतु जब जैसा जिसे इच्छा होगी (वैसा), वा जिसकी इच्छाको जिस रूपसे पूर्ण करना आवश्यक होगा तन्मय नरवेषका (उसे) अनुभव होगा। इसीमे नारदको क्षीरशायी देख पडे, परशुरामको रमाकान्त, देवताओंको उभय भाँति कौसल्याको अनुपम रूप, सतीको राजपुत्र, और शिवजीको सच्चिदानद ब्रह्म, इत्यादि मानसके प्रसगोंसे पाया जाता है। अथवा, राजाके मनमें यह आया हो कि ससारी जीवोंकी तरह यदि ये हमारे प्रेमके कारण रज वीर्यसे पुत्र हुए तो यह अद्भुत लावण्य कैसे बना रहेगा, इससे प्रभुने कहा कि हमारा 'इच्छामय नर वेष' होगा। (ग) 'इच्छामय नर वेष', यथा 'निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार। १९२।' (घ) रा० प्र० कार लिखते हैं कि "जो शान्तिकी प्राप्ति करावे उसे 'नर' कहते हैं— 'नरति शान्ति प्रापयतीति नर।' जितने ऐसे ईश्वरकोटिके नर हैं उनका इच्छामय वेष सँवारनेवाले हम तुम्हारे गृहमें प्रगट होंगे।" (ङ) मयककारका मत है कि 'प्रभुने मनुको अमरावतीमें वास करनेकी आज्ञा दी तब इनके मनको क्षोभ हुआ कि इतने दीर्घ काल तक यह स्वरूप क्योंकर एकरस रहेगा। अतएव प्रभुने कहा कि मैं इच्छामय सुन्दर शरीर धारण कर तुम्हारे यहाँ प्रकट होऊँगा। इससे राजाको ज्ञान हो गया कि यह नित्य स्वरूप है और मोह दूर हो गया।'

२—"नरवेष और देही-देह विभागरहित शुद्ध चिदानंदमय शरीर तो अब भी है तब 'सँवारें' से क्या तात्पर्य है ?" इस शंकाका समाधान यह है कि मनुष्य शरीरमें बाल, कुमार, पौगड, किशोर, युवा आदि अवस्थाएँ होती हैं। हर्ष विषाद आदि होते हैं। इत्यादि। वैसे ही मेरे चिदानदमय शरीरमें लोगोंको ये सब भाव दरसाए जायँगे। तुम्हारे यहा प्रकट होनेपर मैं इन अवस्थाओंकी लीलाएँ भी करूँगा और अपनी इच्छासे नित्यकिशोर लीला भी जो चाहूँगा करूँगा (कर०, वै०)।

३—"अंसन्ह सहित देह धरि ताता।" इति। (क) भाव यह कि इनके बिना हमारा चरित्र नहीं बनता। पुन, यह सूचित किया कि अंशोंके भी तात (पिता) तुम्हीं होगे। (ख) विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि "परमेश्वर अगणित अंशोंसे पृथ्वीपर अवतीर्ण हो कार्य्य सिद्ध किया करते हैं। उनमें यहाँ तीन विशेष अंशोंकी सूचना है, सो यों कि-(१) जिस अशसे पृथ्वीको धारण करते हैं सो लक्ष्मणजीके रूपमें, (२) वह अंश जिससे पृथ्वीका भरण पोषण करते हैं सो भरतजीके रूपमें और (३) जिस अंशसे शत्रुओंका नाश करते हैं वह विशेषकर शत्रुघ्नके रूपमें जिन्होंने लवणासुरका वध किया था।" (वस्तुत यह मत पाडेजीका है)।

(ग) करुणासिधुजी लिखते हैं कि "अंश दो प्रकारके होते हैं। १—महत् २—विभूति। जैसे गंगा, सरयू आदिकी धारासे स्रोत फूटकर पृथक निकल चलें पर स्रोत मिला रहे—यह महत् अंश है, और गगा सरयू जल घट आदिमें अलग निकाल लिया जाय यह विभूति अंश है। भरतादिक षोडश पार्षद महत् अंश हैं और रामरूप ही हैं।"

(घ) वैजनाथजी लिखते हैं कि एकन्नी, दोअन्नी, चवन्नी, अठन्नी आदि रुपयाके अंश हैं, इनसे रुपया खंडित नहीं होता। वैसे ही ईश्वरतत्त्व थोडा बट जानेसे खंडित नहीं होता। अंशावतार होनेसे भी पूर्णावतार खंडित नहीं होता। व्यापक ब्रह्म चादी मात्र है, पूर्णावतार ऊँचा सिक्का है, दुअन्नी आदि अंशावतार हैं। जीव भूषणादि दागी हैं।

(ङ) मा० त० वि० कार लिखते हैं कि भाव यह है कि 'जो जो भक्त जिस स्वरूपके उपासक होंगे उन्हींके सुख दायक चरित्र करूँगा। वह अशों सहित देह धरकर करूँगा। तात्पर्य कि कभी रमावैकुण्ठ नाथ होके, कभी क्षीरशायी और कभी श्वेतद्वीपवासी इत्यादि होके। अथवा, भक्तसुखदाता अशोंके साथ यह देह धारण किये चरित करूँगा। अत, 'वैकुण्ठाधीशस्तु भरत क्षीराब्धीशश्च लक्ष्मण । शत्रुघ्नश्च स्वय भूमा रामसेवार्थमागत ।' के अनुसार वैकुण्ठाधीशादि भरतादि होंगे। भाव यह कि तुमने तो केवल हमको ही पुत्र रूपसे माँगा है पर तुम्हारे आनदके लिये मेरे अनादि लीलाके परिकर भी चरितार्थ देह धारण करेंगे। अथवा, भाव कि पुत्र होनेकी बात ही क्या, मैं अपने चरित भी दिखलाऊँगा।' इत्यादि। [अशोंके सम्बन्धमें १८७।२ देखिए]

४—"जेहि सुनि सादर नर बड भागी" इति। भाव यह कि जो अभागे हैं वे न सुनेंगे, यथा 'एहि सर निकट न जाहि अभागा।३८।२।', सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होंहि विषय अनुरागी'। मद ममता जन्ममरणके कारण हैं अतएव इनका त्याग होना कहकर भवसागरके पार होना कहा।—(प० रामकुमारजी)।

बाबा जयरामदासजी रामायणी—परब्रह्म परमात्माने किस प्रयोजनसे अपने अशोंके सहित अवतार लिया? श्रीरघुनाथजीने स्वय तो मर्यादा पुरुषोत्तमका अवतार लेकर अपने भागवत धर्म अर्थात् ईश्वरीय दिव्य गुण—सौशील्य, वात्सल्य, कारुण्य, क्षमा, शरण्यता, दया, सर्वज्ञता, सर्वेश्वरत्व, सर्वान्तर्यामित्व, सर्वदर्शित्व, सर्वनियामकत्व आदिकी सुलभताके साथहीसाथ लोकधर्म समस्त मर्यादाका भी आदर्श उदाहरण चरितार्थ कर दिखाया, जिसका पूरा पूरा निर्वाह किसी जीव कोटिके सामर्थ्यसे सभव ही नहीं है। परन्तु विशेष धर्म अर्थात् परमार्थ सेवनके विशेष आदर्श स्वरूप श्रीप्रभुके तीनों अशावतार श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत और श्रीशत्रुघ्न ही हुए हैं। जो भगवत् भागवत सेवाधर्म जीवमात्रके परम कल्याणार्थ अति आवश्यकीय धर्म था, उसके साथ साथ यथासभव लोकधर्मका भी निर्वाह गौणरूपमें होता ही रहा है। (इसके आगे कल्याण ११-७ पृष्ठ १०६८ से ११०५ तक चारों "श्रीविग्रहोंके आदर्श चरितोंका सक्षिप्त दिग्दर्शन करानेके बाद वे लिखते हैं कि) निष्कर्ष यह है कि परम प्रभुने अपने तीनों अशोंको साथ-साथ अवतरित करके भगवत् भक्ति और भागवत भक्तिकी चर्याको अपनी लोकमर्यादाके समान ही आदर्श बना दिया। उचित ही था क्योंकि लोकपरलोक दोनोंका शिक्षण स्वय भगवानके अवतारसे ही तो होना था—

अतएव जैसा कि सब भ्राताओंमें छोटे श्रीशत्रुघ्नजीने भागवत सेवाकी निष्ठाको ही आदर्श बनाया, जीवमात्रके लिये प्रथम सीढी सतसेवा ही है। श्रीरामचरितमानसमें सत्सगके प्रभावके सबधमें और भी देखिये—"मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहा जेहि पाई॥ सो जानब सतसग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥" अस्तु सच्चे हृदयसे अनन्य होकर सतोंकी सेवा करनेसे भगवान सतुष्ट और प्रसन्न होकर अवश्य ही अपने दुर्लभ प्रेमको प्रदान करेंगे। उस भगवद्दत्त प्रेमसे भगवान्के प्राप्त होनेतक सदैव श्रीभरतजीकी चर्याका अनुसरण करना चाहिये। हृदयमें प्रभुजीका ध्यान करके अहर्निश उनके नामका अनुसधान करते हुए उनकी प्राप्तिके लिये अनुरागसे करुणाक्रन्दन करना चाहिये। जब श्रीप्रभुकी प्राप्ति हो जाय—साक्षात्कार हो जाय, तब श्रीलक्ष्मणजीकी चर्याका अनुकरण करनेमें तत्पर हो जाना चाहिये। इससे निजत्व और सहजत्वकी प्राप्ति होगी और जीव कृतार्थ हो जायगा। इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये श्रीमर्यादापुरुषोत्तम सरकारने अशोंके सहित अवतार लिया, जिसकी बडी आवश्यकता थी।

नोट—☞ स्मरण रहे कि 'इच्छामय नर वेष सँवारे। होइहौ प्रगट—' से स्पष्ट सिद्ध है कि मनुशतरूपा के आगे जो स्वरूप है, जो मूर्ति है, वह 'लीला तन' नहीं है, वरच असली अगुण अखड ब्रह्म ही है, लीलातन या नरवेष श्रीअवधमें अवतरनेपर धारण करेंगे। 'असन्ह सहित देह धरि ताता' भी दलील है कि इस समय

ब्रह्म अपने असली देहसे सम्मुख खड़ा हुआ है और कहता है कि मैं तुम्हारे लिये नर-शरीर धारण करूँगा।

"आदि सक्ति ' । सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।"

१—श्रीसीताजीके लिये 'माया' शब्द यहाँ ठीक उसी प्रकार प्रयुक्त किया गया है जैसे प्रणवरूप होनेसे वेदान्तसूत्रमें ब्रह्मको 'प्रकृति' कहा गया। यहाँ भी 'माया' शब्दका अर्थ उसी प्रकार समझना चाहिए। प्रमाण, रामोत्तरतापिन्युपनिषद्। यथा "श्रीराम सान्निध्य वशाज्जगदानन्ददायिनी। उत्पत्ति स्थिति संहार कारिणी सर्वदेहिनाम्॥ सा सीता भगवती ज्ञेया मूल प्रकृतिसंज्ञिता। प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः॥" (३-४)। ठीक इसी अभिप्रायसे 'माया' शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है। श्रीसीताजी 'माया' नहीं हैं। उनको रामतापिनी आदि ग्रन्थोंमें चिद्रूपा लिखा है। यथा "सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षा मायामयी भवेत्। दिव्यालङ्कार स्रङ्मौक्तिकाद्याभरणालङ्कृता महामायाऽव्यक्तरूपिणी व्यक्ता भवति।" (सीतोपनिषत्)। 'न त्वा केचित् प्रजानते॥ १०॥ ऋते माया विशालाक्षी' ।' (वाल्मी० ७।११ ।१०)। 'हेमाभया द्विभुजया सर्वालङ्कृतया चिता। ' (रामपूर्वतापिन्युपनिषत् ४।६)। वैदिक निघण्टुमें भी 'माया ज्ञान वयुनम्' से मायाको ब्रह्मकी चिच्छक्ति प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद्गोस्वामीजीने भी इनको श्रीरामजीसे अभिन्न अभेद वर्णन किया है। यथा "गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बदउँ सीतारामपद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥ १८॥", "माया सब सिय माया माहूँ।", "जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोई।" अन्य भाव लेनेसे पूर्वापर विरोध होगा।—'उद्भव स्थिति ' म० श्लोक भी देखिये। सदाशिव संहितामें भी ऐसा ही लिखा है—"रामस्सीता जानकी रामचन्द्रः नाणुर्भेदोह्येतयोरिति कश्चित्। सन्तोमत्यातत्त्वमेतद्विबुध्वापारजाता संसृतेर्मृत्युकालात्॥" इस सिद्धान्तकी पुष्टता वनयात्राके समय चक्रवर्ती महाराजके वचनोंसे भी होती है। उन्होंने सुमन्तजीसे कहा है कि—'जौं नहि फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई॥ तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिय प्रभु मिथिलेसकिसोरी। एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥ नाहि त मोर मरन परिनामा। कछु न बसाइ भये बिधि बामा॥ २।८२॥' यदि श्रीसीताजी ब्रह्म न होतीं तो उनके घरपर रहनेसे राजा क्योंकर जीवित रह सकते थे। राजाके ये वचन व्यर्थ हो जाते हैं।

२—पुनः, माया पाँच प्रकार की है—अविद्या, विद्या, सन्धिनी, संदीपिनी और आह्लादिनी। जो जीवोंके हृदयमें नित्य अशुचि दुःख अनात्म वस्तुमें नित्य शुचि सुख आत्म बुद्धि करादेवे उसको 'अविद्या' कहते हैं। अज्ञानको विनाशकर जीव-परमात्माके यथार्थ ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली शक्तिको 'विद्या' कहते हैं। ज्ञान प्राप्त होने पर जीव ईश्वरकी सन्धिकी अर्थात् अतिशय सान्निध्यको जनानेवाली शक्ति 'सन्धिनी' कही जाती है। जीवोंके हृदयमें परमात्माके साक्षात्कार संदीपन करनेवाली शक्तिको 'संदीपिनी' कहते हैं और ईश्वरसे अविनाभूत रहकर चेतनोंको ब्रह्मानन्द प्रदाता सुखस्वरूपा चिन्मयी शक्तिको 'आह्लादिनी शक्ति' कहते हैं। वही आह्लादिनी शक्ति श्रीसीताजीको कहते हैं। मायाका अर्थ त्रिगुणात्मिका माया यहाँ नहीं है।

३—'माया' के अर्थ शक्ति, इच्छा और प्रेरणा भी हैं। उदाहरण (क) 'रामजीकी माया, कहीं धूप कहीं छाया।' (ख) 'अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया।' (ग) 'तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ। निज माया बसंत निरमयऊ।' (घ) 'बोले बिहसि महेस तब हरि माया बल जानि जिय।'

४—'माया' शब्द केवल पद्यमें 'कृपा, दया, अनुग्रह' के अर्थमें भी आता है। उदाहरण—(क) 'भलेहि आय अब माया कीजे। पहुनाई कहँ आयसु दीजे।' (ख) 'साँचेहु उनके मोह न माया। उदासीन धन धाम न जाया।' (ग) 'इक एक माया कर मोरे। जोगिनि होउँ चलौं सग तोरे।—(हिन्दी शब्दसागर)

करुणासिंधुजी आदि कई टीकाकारोंने यहाँ 'माया' का अर्थ 'कृपा, दया, अनुग्रह' भी लेकर यह भावार्थ कहे हैं—'मेरी शक्ति मेरी दयारूपा जगत्‌को उत्पन्न करनेवाली', 'मेरी तुम पर यह दया है' अर्थात् तुमने इनको वरमें नहीं मांगा, हम अपनी ओरसे इनका भी सुख तुमको देंगे।

प्रोफे० दीनजी इसी अर्थको यहाँ ठीक समझते हैं। मेदिनीकोशमें 'माया' के अर्थ ये मिलते हैं 'स्यान्माया शाम्बरीबुद्ध्यो'।

नोट—६ 'माया भगवच्छक्ति।' जिस शक्तिके बलसे श्रीभगवान् 'बहु स्यां प्रजायेय' इस अपने सङ्कल्पके अनुसार एकदम नाना जगत्‌रूपी रूपोंको धारण करते हुये जगत्‌का सृष्टि करनेवाले कहलाते हैं, उसीका नाम माया है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों मूर्तियोंके अपने अपने कार्यक्षेत्रमें जो लीलाएँ हुआ करती हैं उन सबकी प्रेरणा करनेवाली और उनको भली भांति सपन्न करनेवाली जगन्मातारूपी परमेश्वरी भगवती महामाया भगवच्छक्ति परमाशक्ति श्रीसीताजी हैं।

भगवच्छक्तिके चार अर्थ होते हैं १ 'भगवत शक्ति भगवच्छक्ति' षष्ठीतत्पुरुषसमासवाली व्युत्पत्तिसे भगवती भगवान्‌की शक्ति हैं, वही ईश्वरकी प्रेरणा करनेवाली और उसके सब काम करनेवाली हैं। २—'भगवति शक्ति भगवच्छक्ति' सप्तमी तत्पुरुषसमासवाली व्युत्पत्तिसे भगवान्‌में जो शक्ति है उसीका नाम देवी है और उसकी उपासनाके विना भगवान्‌की उपासना नहीं हो सकती। ३—'भगवती चासौ शक्तिश्च भगवच्छक्ति' इस कर्मधारयसमासवाली व्युत्पत्तिसे शक्तिरूपिणी देवी भगवती हैं। अर्थात् षडगुणैश्वर्यादिसे विभूषित हैं और उसकी उपासनासे उपासकोंको सब प्रकारकी ऐश्वर्यादि विभूतियाँ अनायास मिल सकती हैं। ४—'भगवाश्चासौ शक्तिश्च भगवच्छक्ति' इस कर्मधारयसमासवाली व्युत्पत्तिसे देवी और भगवान्‌में भेद नहीं है, बल्कि ऐक्य है। (स्मरण नहीं यह कहाँसे लिया है)।

नोट—७ 'सोउ अवतरिहि'—अपने लिए 'होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे' कहा और 'आदि शक्ति' के लिए केवल 'अवतरिहि' कहा। भाव यह कि वे जगत्‌में दूसरी जगह अवतीर्ण होंगी, तुम्हारे यहाँ नहीं।

नोट—८ इस प्रकरणमें श्रीरामजीका ही बोलना गोस्वामीजीके शब्दोंसे पाया जाता है, श्रीसीताजी चुप ही रहीं। महानुभावोंने इसके कारण ये लिखे हैं—

(१)—दोनोंमें अभेद है—'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'। इस 'निर्भिन्नता' के भावसे केवल महाराज ही बोले। या,

(२)—लोमशरामायण और पद्मपुराणकी सम्मति लेकर विश्रामसागरमें लिखा है कि एक विप्र हरिदेव और उनकी पत्नीने भी उसी समय इस अभिलाषासे तपस्या की थी कि आदिशक्ति हमारी सुता हों और परब्रह्म राम हमारे जामाता हों। यथा 'तहाँ विप्र हरिदेव प्रवीना। कनकलता युत नारि नवीना। करहिं तपस्या भगवतहेता। असन वसन तजि अवधनिकेता॥' इत्यादि। और श्रीयुगल सरकारके प्रकट होनेपर उन्होंने इस प्रकार वर माँगा कि "इन्ह समान कन्या मिलै तुम्ह समान जामात।' वहाँ भी श्रीकिशोरीजीसे वर नहीं माँगा गया। वैसे ही यहाँ जब श्रीसीताजीसे वर माँगा ही नहीं तब वे क्यों बोलतीं? विश्राम सागरमें मनुजीने इस प्रकार वरदान माँगा है—"बोले महिपालक तुम सम बालक इन सम चहौं पतोहू। विप्रद्रुक्ष इव जानौं ईश न मानौं देव यहै करि छोहू। (मा० त० वि०)। जैसे यहाँ मनुजीसे कहा है कि जब तुम अवधभुआल होगे तब मैं तुम्हारा पुत्र हूँगा वैसे ही विप्र और विप्रपत्नीको यह आज्ञा हुई थी कि "त्रेता जनक होब तुम्ह सोई। नाम सुनयना इन्ह कर होई॥ तब तव कन्या सक्ति हमारी। ह्वै हैं अंशन सयुत चारी। मैं जामात मिलब तहँ जाना। अस कहि भे प्रभु अतरधाना॥ (मा० त० वि०)। बैजनाथजीके मतसे विप्रका नाम वामवर्त्ती और विप्रपत्नीका नाम सुमति था।

(३)—नृपने पुत्र होनेका वर माँगा तब श्रीसीताजी अपनेको पुत्रवत् जानकर सकुचकर चुप हो रहीं (मानस मयङ्क, मा० त० वि०)।

(४)—भुवनेश्वर संहितामें पाया जाता है कि जनकजीको आदिशक्तिने वरदान दिया क्योंकि उनके जीमें यह लालसा थी कि वे हमारी कन्या हों। और यहाँ पुत्रकी चाह है अतएव प्रभु बोले, इनके बोलनेका प्रयोजन न था।

(५)—मानसी वन्दन पाठकजी कहते हैं कि "ग्रन्थकारने पूर्व हीसे केवल श्रीरामोपासना गाई है—'वासुदेव पदपंकरुह दंपति मन अति लाग', 'पुनि हरि हेतु करन तप लागे' इत्यादि। मनुमहाराज श्रीजानकीजीको नहीं जानते। जानते तो श्रीराघव ऐसा न कहते कि 'आदिशक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया'। इस वचनसे इनके स्वरूपको राघवने जनाया। जो कहो कि केवल राघवकी उपासना क्यों गाई तो ग्रन्थकारका पूर्वसंकल्प है—'जेहि कारन अज अगुन अनूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा'। अतएव श्रीरामजन्मके हेतुमें श्रीमनुमहाराज हैं और श्रीजानकीजी तो विदेह महाराजके सुकृत भागमें हैं—'जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत राम धर देही॥' इस विभागसे मनु महाराजके अंशमें केवल राघव ही हैं इससे दोनों सरकारके वात्सल्यरसके भोक्ता दोनों महाराज हैं। अब यह प्रश्न होता है कि 'तो फिर उभय मूर्ति क्यों प्रगट हुई ?' इसका उत्तर यह है कि 'इनका संग-त्याग कभी नहीं होता।' दोनों मिलकर अखण्ड ब्रह्म हैं।"

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥ ५॥
पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भए भगवाना॥ ६॥
दंपति उर धरि भगत† कृपाला। तेहि आस्रम निवसे कछु काला॥ ७॥
समय पाइ तनु तजि अनयासा। जाइ कीन्ह अमरावति बासा॥ ८॥
दोहा—यह इतिहास पुनीत अति उमहि कही‡ बृषकेतु।
भरद्वाज सुनु अपर पुनि रामजनम कर हेतु॥ १५२॥

शब्दार्थ—निवसे = निवास किया। निवाससे निवसना क्रिया बनाई है।

अर्थ—मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा। 'हमारी प्रतिज्ञा सत्य है! सत्य है!! सत्य है!!!'॥ ५॥ कृपानिधान भगवान् बारबार ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गए॥ ६॥ स्त्रीपुरुष (राजा रानी) दोनों हृदयमें भक्तों पर कृपा करनेवाले प्रभुको धारणकर उसी आश्रममें कुछ काल बसे॥ ७॥ फिर समय पाकर बिना परिश्रम शरीरको छोड़कर इन्द्रलोकमें जा बसे॥ ८॥ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं—) हे भरद्वाज! धर्मध्वज श्रीशिवजीने यह अत्यन्त पवित्र इतिहास उमाजीसे कहा। अब और भी रामजन्मका हेतु सुनो॥ १५२।

नोट—१ 'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा' इति। राजाके 'पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी' का उत्तर यहाँ है। 'सत्य सत्य पन सत्य हमारा' इन वचनोंका हेतु अगली चौपाईके 'कृपानिधान' शब्दमें है। अर्थात् कृपा करके बारबार 'सत्य' 'सत्य' कहा। पूर्ण विश्वास करादेनेके लिए तीन बार कहा। पूर्व भी 'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई' में लिखा गया है। लोकरीति है कि किसी बातकी प्रतिज्ञा की जाती है तो उसे तीन बार दुहराते हैं। इसीको 'तिवाचा' और त्रिसत्यम् कहते हैं। किसी टीकाकारका मत है कि अपने अवतार, अंशावतार और आदिशक्तिके अवतार अर्थात् तीन अवतारोंकी प्रतिज्ञाके विचारसे तीन बार कहा। और किसीका मत है कि एक बार राजाके और दूसरी बार रानीके विचारसे कहा। और तीसरी बार सत्य अपने पनको कहा। अथवा,

† भगति—भा० दा०, ना० प्र०, गौड़जी। भगत—१६६१, १७०४, रा० प०, मा० त० वि०, प०। 'भगति कृपाला' का अर्थ होगा "कृपाल की भक्ति"। इसके अनुसार भाव यह है कि "दंपतिने अगुण अखंड का ज्ञान और तपादि कर्मोंको छोड़ दिया और हृदयमें भक्ति धारण कर ली, क्योंकि कर्म और ज्ञानका फल हरिभक्ति है, यथा 'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥ नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी। ७।१२६।' और यह इनको अब प्राप्त ही हो गई है। (प्र० स०)। ‡ कहा—पाठान्तर।

तीन बारसे त्रिकालमें सत्य जनाया। परंतु अगले चरणमें 'पुनि पुनि अस कहि' से स्पष्ट है कि तीन ही बार नहीं कहा वरंच 'सत्य सत्य पन सत्य हमारा' ऐसा बारंबार कहा है। दोनोंके संतोषार्थ बारबार कहा।

२—इस प्रसंगको जिस शब्दसे उठाया था उसीपर समाप्त किया है। 'भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥' उपक्रम है और "पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भए भगवाना" उपसंहार है। "कृपा" ही से इस प्रसंगको संपुटित किया। भाव कि भक्तपर कृपा करके उसके लिये प्रगट हुए और यहाँ कृपापूर्वक उसको दिलासा देकर अन्तर्धान हुए। ☞ इसके निरन्तर पाठ से कृपा होगी।

३—'उर धरि भगत' तेहि आश्रम निवसे'' इति। (क) इस समय अगुण अखण्ड अनादि ब्रह्मने अपने इन अनन्य भक्तों पर अत्यन्त कृपा की है, दर्शन दिये, नये नये मनोरथ पूर्ण किये और अपनी ओर से कृपा करके जो नहीं मांगा वह भी दिया। अतः 'भगत कृपाल' विशेषण दिया। जिन्होंने ऐसी असीम कृपा की उन्हीं को हृदय में धारण किया। इससे जनाया कि दर्शन के पश्चात् भी राजा रानी दोनों अनन्यता पूर्वक उन्हीं प्रभुकी भक्तिमें तत्पर रहे। भक्त तो प्रथम ही थे, यथा 'गति अनन्य तापस नृपरानी। १४४।५।' अतः 'भगत कृपाला' पाठ विशेष उत्तम है। (ख) यहाँ दिखाते हैं कि राजा रानीका वैराग्य आदिसे अन्ततक एकरस रहा। उनके मनोरथ सिद्ध हुए फिर भी वे घर लौटकर न गए।

४ "समय पाइ तनु तजि अनयासा" इति।—सबके मृत्युका समय नियत है। प्रारब्ध भोग समाप्त होने पर ही शरीर छूटता है; अतएव 'समय पाइ' कहा। 'अनयासा' का भाव यह कि 'जनमत मरत दुसह दुख होई' यह दुःख इन भक्तों को नहीं हुआ। 'अनायास', यथा 'जिमि नूतन पट पहिरइ नर परिहरइ पुरान। ७। १०६।', 'सुमनमाल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग। कि०।' इसी प्रकार इन दोनोंने एक साथ ही शरीर त्याग दिये।

नोट—५ 'राम-अवतार' प्रसंग यहाँ तक कहकर छोड़ दिया। अब आगे रावणका अवतार कहकर फिर दोनों प्रसंगोंको मिलावेंगे, तब इस (रामावतार) प्रसंग को फिर कहेंगे। यथा "अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा। १८८।६।' यह रामावतार का प्रसंग तो हुआ पर 'असुर मारि थापहिं सुरन्ह "। १२१।' की पूर्ति के लिये आगेका प्रसंग कहते हैं।

स्वायंभुवमनुशतरूपा और श्रीनारद प्रसंगका मिलान

श्रीमनुशतरूपाजी	श्रीनारदजी (अरण्यकांड)
परे दंड इव गहि पद पानी। तुरत उठाये करुनापुंजा ॥	१ करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई ॥ ३।४१।१०।
बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जान।	२ नाना बिधि बिनती करि प्रभु प्रसन्न जिय जानि ।३ ४१
सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी। धरि धीरज बोले मृदुबानी ॥	३ नारद बोले बचन तब जोरि सरोरुह पानि ॥ ३।४१
दानि-सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ।	४ सुनहु उदार परम रघुनायक। ३।४२।
सुगम अगम कहि जात सो नाहीं।	५ सुंदर अगम सुगम बरदायक। ३।४२।
एक लालसा बड़ि उर माहीं।	६ देहु एक बर मागउँ स्वामी। ३।४२।
सो तुम्ह जानहु अंतरजामी	७ जद्यपि जानत अंतरजामी ॥ ३।४२।
सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही। मोरे नहिं अदेय कछु तोही	८ जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे ॥ ३।४२।
प्रभु परन्तु सुठि होत ढिठाई	९ अस बर माँगउँ करउँ ढिठाई। ३।४२।

एवमस्तु करुनानिधि बोले
हरष बिबस तन दसा भुलानी ।
परे दंड इव गहि पद पानी ॥
चाहउँ तुम्हहिं समान सुत० ।

१० एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु रघुनाथ । ३।४२ ।
११ मुनि तन पुलक नयन भरि आये । ३।४५ ।
१२ नारद सुनत पदपंकज गहे । ३।४ ।
१३ राकारजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम ।
बसहु उर ब्योम । ३।४२ ।

नोट ६—'यह इतिहास पुनीत अति०' इति । ☞ (क) सब कल्पोंमें रामजन्मके दो दो हेतु लिखे । एक तो रावणका जन्म दूसरा कश्यपअदितिका तप । रावणजन्म विस्तारसे लिखा और कश्यप अदितिका तप संक्षेपसे कहा, यथा 'कस्यप अदिति महातप कीन्हा । तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा', 'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता । दसरथ कौसल्या बिख्याता' । इस कल्पमें दोनों हेतु विस्तारसे लिखते हैं । मनुशतरूपाजीका तप विस्तारसे कहा । अब रावणका जन्म विस्तारसे कहते हैं । (ख) 'इतिहास' शब्दसे जनाया कि कविकल्पित नहीं है । (ग) संतश्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'अति पुनीत' इससे कहा कि यह हेतु साक्षात् श्रीसाकेतविहारीजीके प्रादुर्भावका है जो कारणोंके भी परमकारण हैं, यथा 'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं'—(मा० त० वि०) । पुनः, भाव कि और अवतार शापवश हुए और यह केवल कृपासे, अनन्य निज भक्तके प्रेमवश हुआ, अतएव 'अति पुनीत' कहा । (मा० त० वि०) । पुनः भाव कि इसमें किसीकी रक्षा अथवा किसीको दंड आदिकी वासना नहीं है, यह अवतार केवल शुद्ध प्रेम भावसे भरा हुआ है, अतएव यह अति पावन है । (वै०) । पुनः, इसके श्रवण पठन आदिसे 'मन क्रम बचन जनित अघ जाई । ७।१२६ ।', अतः 'अति पुनीत' कहा । यह इस कथाका माहात्म्य बताया । (घ) 'उमहिं कही वृषकेतु' यह मनु-शतरूपाप्रकरणका उपसंहार है । 'लगे बहुरि बरनैं वृषकेतू । १४१।८ ।' उपक्रम है । (ङ) 'अपर' के अर्थ हैं 'और वा दूसरा' तथा 'पश्चात्' । भाव यह कि श्रीसाकेतविहारीके अवतारके एक हेतु तो श्रीमनुशतरूपाजी हुए, इन्हींके अवतारका दूसरा हेतु अब कहते हैं । अथवा, मनुशतरूपाके वरदानके पश्चात् यह भी कारण हुआ । (मा० त० वि०) । पुनः भाव कि 'जिसमें किसीकी रक्षा किसीको दंड, कोई आर्त कोई अर्थार्थी इत्यादि अनेक वासना है ऐसा जो श्रीरामजन्मका हेतु है वह' । (वै०) ।

वि० त्रि०—इस इतिहासका उपक्रम, अभ्यास और उपसंहार भक्तिसे है, यथा 'हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि भगति बिनु' (उपक्रम), 'पथ जात सोहत मतिधीरा । ज्ञान भक्ति जनु धरे सरीरा' (अभ्यास), 'दंपति उर धरि भगत कृपाला' (उपसंहार) । और भक्तिको गंगारूप कहा ही है, यथा 'रामभगति जहँ सुरसरि धारा' । यहाँ की भक्ति-गंगा विरति यमुना और विचार-सरस्वती सहित शोभित है । यथा 'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथापन, हृदय बहुत दुख लागा ।', 'बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा ॥ नारि समेत गवन बन कीन्हा' । अतः इसे 'अति पुनीत' कहा ।

प० राजबहादुर लमगोड़ाजी—"तुलसीदासजीकी नाटकीय महाकाव्य कला" इति ।—मैंने अपने लेखोंमें विस्तारसे लिखा है और इस प्रसंगमें संकेतरूपसे फिर लिखता हूँ कि संसारमें तुलसीदासजीको ही महाकाव्य और नाटकीय कलाओंके एकीकरणमें पूर्णतः सफलता प्राप्त हुई है । नहीं तो अँग्रेजी भाषाका तो सिद्धान्त यह है कि महाकाव्यकी उड़ान खड़ी Vertical होती है और नाटकीकला का फैलाव पड़ा हुआ Horizontal होता है । एक आकाश की ओर उड़ती है तो दूसरी पृथ्वीपर फैलती है, भला आकाश व जमीनके कुलावे कैसे मिलें ? फारसी भाषामें भी कहा गया है कि 'रज्म' (वीररस कुछ महाकाव्यकला), 'बज्म' (शृंगार=कुछ नाटकी कला) और 'पंद व नसायह' (उपदेश=कुछ महाकाव्यकला) का एकीकरण असम्भव है ।

तुलसीदासजीने इस सफलताके लिये जिन युक्तियोंका प्रयोग किया है वह संक्षिप्त रूपमें यह है—

(१) बालकाण्डका आदि भाग और उत्तरकांडका अंतिम भाग प्रस्तावना Prologue और उपसंहार Epilogue रूपमें हैं और इनमें आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रहस्योंका प्रकटीकरण हुआ है। बरनार्ड शा ने भी इस युक्तिका प्रयोग किया है पर अंतर यह है कि शा महोदयकी प्रस्तावना इत्यादि गद्यात्मक, मस्तिष्कीय तथा शुष्क हैं और तुलसीदासजीका काव्य चमत्कार वहाँ भी बना है यहाँ तक कि विषयसूची Index तक ऐसे सुन्दर रूपकके रूपमें है कि जिसका जवाब साहित्य-संसारमें मिलना कठिन है।

(२) चरित्र ऐसे लिये हैं जो मानवी और दैवी सत्ताओंके एकीकरणसे बने हैं जिसमें उनके जीवनका मानवी अंश नाटकीकलाकी बहार दिखा दे और दैवी अंशसे प्रसंग महाकाव्यकलाके शिखरपर पहुँच सके।

(३) *शिव-पार्वती, कागभुशुण्डि-गरुड़ और भरद्वाज-याज्ञवल्क्यके जोड़े* बराबर हमारे साथ हैं जो यथा-समय रहस्योंका प्रकटीकरण संकेतों द्वारा करते जाते हैं; परन्तु यह रंगमंचके आकाशपर ठीक उसी तरह क्षणिक प्रकाश परिधके अंदर दिखाई देते हैं जैसे आपने फिल्ममें भगवान् कृष्णको दुपट्टा घुमाते द्रौपदीचीरहरणके समय देखा हो।

(४) कवि भी साथ रहता है और हम दर्शकोंके लिये आलोचना करता आता है। बरनार्ड शा ने भी इस युक्तिका प्रयोग किया है परन्तु गद्यात्मक शुष्क रीतिपर, बिना इस युक्तिके शेक्सपियरके नाटक (विशेषतः दुःखान्तक) भूलभुलैयाँ हैं और नैतिक मार्ग साफ नहीं दीखता।

(५) जहाँ कला नाटकीय है वहाँ भी छोटे-छोटे आधिदैविक दृश्य लाये जाते हैं। इस रूपमें कि रहस्यका प्रकटीकरण भी हो जाय और रस भंग न हो, उदाहरणके लिये, सरस्वती और देवताओंका संवाद बनवास-प्रकरणमें विचारणीय है—शा महोदयने भी इस युक्तिका प्रयोग किया है।

(६) जैसा मैं पहिले एक नोटमें कह चुका हूँ, 'निशिचर हीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह' के दृश्यके बाद कलाका रूप बदल जाता है। अब हम महाकाव्यके वायुमंडलमें पहुँच जाते हैं जहाँ सब चीजें असाधारण हैं। पर वहाँ भी नाटकी कलाकी सरसता जाने नहीं पाई। हमारी कल्पनाशक्तिको रबड़के समान घटने-बढ़ने-वाली बना दिया गया है। इस काममें सुरसा-हनुमान्-प्रसंग ठीक वैसा ही है जैसा 'मिल्टन' के 'पैराडाइज लास्ट' में शैतानी पार्ल्यामेन्टका प्रसंग।

(७) महाकाव्यकलामें ओजगुण प्रधान होना ही चाहिये। गुप्त आकाशवाणी और अमानुषिक दृश्य जैसे यहाँ (मनुशतरूपाके लिये) भगवान्का मूर्तिमान प्रकट होना, इस प्रसंगमें बड़े मार्केकी चीजें हैं। बरनार्ड शाने अपने Oracle (भविष्य वक्तव्य) को ओजस्वी बनानेके लिये मैजिक लैन्टर्न कलासे काम लिया है और उसका अमानुषिक रूप परदेपर दिखाया है। परन्तु यह सब धोखा है। पाश्चात्य जगत् वैज्ञानिक संकोचके कारण अमानुषिक सत्ताओंको भूल सा गया है, नहीं तो इस धोखेकी आवश्यकता न होती। देखिये यहाँ भगवान्का प्रकटीकरण कितना सुन्दर और सरस है।

भारतवर्षमें तो निराकारवादी महापुरुषों ने भी यह माना है कि 'मुक्त पुरुष' को शरीर केवल इच्छामात्र होता है और वे अभ्यागत होते हैं (स्वामी दयानन्द—सत्यार्थ प्रकाश)। अब इसमें और 'निज इच्छा निर्मित तन माया गुण गोपार' में बहुत ही थोड़ा अंतर रह जाता है। मिल्टन ने भी लिखा है कि आधिदैविक व्यक्तियोंमें घटने बढ़नेकी शक्ति होती है और जो रूप या लिंग चाहें वे धारण कर सकती हैं।

यदि वास्तवमें ईश्वरी सत्ता सब जगह व्यापक है तो "प्रेम ते प्रगट होंहि जिमि आगी" का सिद्धान्त Self evident—(स्वयं सिद्ध) सा प्रतीत होता है। सर मोहम्मद एकबाल जैसा निराकारवादी मतका कवि भी लिखता है- "कभी ऐ हकीकते मुन्तजर नजर आ लिबासे मजाज़ में। कि हजारों सिजदे तड़प रहे हैं हमारे जबीने नियाज़ में।" यह तड़प मानव जातिमें बताती है कि हम भगवान् को सगुण रूपमें बिना देखे संतुष्ट नहीं हो सकते। वेदोंमें कितनी ही प्रार्थनायें हैं कि भगवान् हमारे सम्मुख तथा हमारे अंतः

करणमें प्रकट हों। पर खेद है कि हमारी कल्पना शक्ति इतनी संकुचित हो गई है कि हम यह सम्भव नहीं समझते कि वह प्रार्थना कभी स्वीकार होगी। भाई! जहाँ और जिस व्यक्तिमें वह प्रकाश प्रगट हो, अगर उसे भगवान्‌का अवतार कहा जाय या और किसी प्रकाश रूप सत्ताका व्यक्तित्व स्वीकार किया जाय तो अवैदिक कैसे होगा—श्रीजयदेव वेदालंकारने अपने सामवेद भाष्य के पृष्ठ ७०२ पर नोटमें लिखा है कि श्रीपंडितज्वालाप्रसाद मिश्रने इस मन्त्रसे सीता राम की कथा निकालनेका यत्न किया है (सुप्रकेतैर्द्युभिरग्नि-र्वितिष्ठन्रुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात्) अर्थ यों लिखा है "प्रकाशमान देदीप्यमान् परमात्मा उत्तम विज्ञान-मय नियमोंसे नाना रूपसे व्याप्त होकर मनोहर रूपोंसे रमण करने योग्य इस जगत्‌को प्रकट करता है, चलाता है, व्यवस्थित करता है"—यह केवल एक उदाहरण है। क्या तुलसीदासजीका कहना, कि अग्नि व्यापक रूप और प्रकट दो रूपोंमें जिस तरह वैज्ञानिक मानते हैं वैसे ही ज्ञान और भक्तिके संयुक्त मार्गमें भगवान्‌का निराकार और साकार रूप है और प्रकटीकरणका प्रयोग है "प्रेम", अवैदिक है?। एक सूफी कविने भी "इश्क" की कशिशका जोर दिखाते हुये लिखा है 'कच्चे धागे से चले आयेंगे सरकार बँधे।" स्वामी दर्शनानन्दजी जैसे उदार पुरुषोंने भी अपने उपनिषद्भाष्य और वेदान्त भाष्यमें यह माना है कि जब जीवमें आनन्द गुण परमात्मामें से आ जाता है तो वह अपनेमें 'सच्चिदानन्दत्व' का अनुभव करता है और भगवान् कृष्ण की तरह 'स्व' रूपमें बोलता है, वे कहते हैं कि लोहेका गोला भी आगके गुण धारण कर आग ही जाता है।

इन सब उदाहरणोंके देनेका हेतु यह है कि आंगिलय-भाषा-शिक्षित समुदाय अवतार प्रकरणको केवल कल्पना न समझें वरन् उसपर विचार करें।

(८) यहाँ प्रसंग नहीं है परन्तु संकेत रूपमें यह भी कह देना अनुचित नहीं है कि तुलसीदास की कलामें फिल्म और सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकलाके गुण भी इस तरह कूटकूट कर भरे हैं कि साहित्य संसारमें उनका रामचरितमानस बड़े मार्केकी पुस्तक है—तभी तो उनका दावा है कि 'कलियुग तरन उपाय न कोई। राम भजन रामायण दोई।' (अज्ञात)।

*** श्रीमनु-शतरूपा-प्रकरण समाप्त हुआ ***

—:०:—

भानुप्रताप-प्रकरण

(भरद्वाज सुनु अपर पुनि रामजनम कर हेतु)

सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी॥ १॥
बिस्वबिदित एक कैकय देसू। सत्यकेतु तहँ बसै नरेसू॥ २॥
धरमधुरंधर नीतिनिधाना। तेज प्रताप सील बलवाना॥ ३॥
तेहि कें भए जुगल सुत बीरा। सब गुन धाम महा रनधीरा॥ ४॥

शब्दार्थ—प्रति = से, के सामने, को लक्ष्य कियेहुए। पुरानी = प्राचीन।

अर्थ—हे मुनि! वह पवित्र और प्राचीन कथा सुनो जो श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे कही थी॥ १॥ संसारमें प्रसिद्ध एक कैकय देश है। वहाँ सत्यकेतु राजा रहता था॥२॥ धर्मधुरंधर नीतिका खजाना, तेजस्वी, प्रतापी, सुशील और बलवान् था॥३॥ उसके दो वीर पुत्र हुए जो सब गुणोंके धाम और महारणधीर थे॥४॥

टिप्पणी—१ 'सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी।०' इति। (क) 'सुनु' दो बार कहा है। एक 'भरद्वाज सुनु अपर पुनि रामजनम कर हेतु', दूसरे यहाँ 'सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी'। इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है

क्योंकि प्रथम 'सुनु' अपर रामजन्मके हेतुके साथ है अर्थात् जब दूसरा 'हेतु' सुननेको कहा तब 'सुनु' कहा और अब 'कथा' कहते हैं अत कथा सुननेके लिए 'सुनु' कहा। दो बार दो बातोंके लिए 'सुनु' कहा। (ख) 'कथा पुनीत पुरानी'। पुनीत है अर्थात् श्रवण करनेवाला सुनकर पवित्र हो जाता है। 'पुरानी' है अर्थात् जब महादेवजीने पार्वतीजीसे कही तब सबने जानी। इसके पहले कोई नहीं जानता था। (ग) ☞ संत, मुनि, वेद और पुराणोंका जो मत शिवजीने कहा वह याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाज मुनिको सुनाया। अब केवल शिवजीको जो कारण समझ पड़ता है उसे सुनाते हैं, यथा 'तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥ तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही। समुझि परइ जस कारन मोही॥ १२१।४-५।' अपूर्व कथा सुनकर भरद्वाजजी पूछते हैं कि यह कथा पूर्व किसने कही है, इसीपर याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि 'जो गिरिजा प्रति संभु बखानी' अर्थात् यह उमामहेश्वरसंवाद है। यह कथा कभी सुननेमें नहीं आई; इसीसे कहते हैं कि यह 'पुरानी' है। पुन, यह शंका होती है कि इस कथामें तो भगवान्की कुछभी कथा नहीं है, यह तो केवल एक राजाकी कथा है, इसके सुननेसे क्या लाभ हो सकता है? इसीके निवृत्त्यर्थ 'पुनीत' विशेषण दिया। अर्थात् राजा भानुप्रताप बडेही पुण्यश्लोक हुए जैसे राजा नल, रघु, युधिष्ठिर, आदि हुए। और इनके कारण भगवान्का जन्म हुआ, ये भगवानके जन्मके हेतु हैं, अतएव यह कथा पुनीत है। (ङ) 'संभु बखानी' का भाव कि यह कथा प्रामाणिक है, शिष्टपरिगृहीत है। भगवान् शंकरने कही और पार्वतीजीने सुनी ऐसा कहकर सुननेकी श्रद्धा बढ़ाई, नहीं तो इसके सुननेमें उतनी श्रद्धा न रहती। ☞ कभी देवता, कभी नर, और कभी असुर (तीनो) शापवश राक्षस हुए, कुंभकर्ण और रावण हुए। पूर्व कथाओंमें देवता और असुरका रावण कुंभकर्ण होना कह आए। जय विजय और रुद्रगण देवता थे और जलंधर असुर था। अब मनुष्यकाभी रावण कुंभकर्ण होना कहते हैं। भानुप्रताप और अरिमर्दन नर हैं।—भानुप्रतापकी कथा कहनेमें प्रधान एक भाव यही है।

नोट—१ (क) 'पुनीत', 'पुरानी' और 'जो गिरिजा प्रति संभु बखानी' ये सब विशेषण साभिप्राय हैं। इस श्रीरामावतारके दो हेतु बताए हैं—एक मनुशतरूपाजीको वरदान, दूसरा भानुप्रतापका प्रसंग। दोनोंको 'पुनीत' कहकर दोनोंकी एकता दिखाई। (ख) 'पुरानी' है, शिवजी ही जानते थे। यथा 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेमतें प्रगट होहिं मैं जाना। १८५।५।' तथा यहाँ कथा भी वही जानते थे। वा, पुरानी (पुराणी)= पौराणिक। अर्थात् ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंमें है। (ग) 'शंभु' और 'गिरिजा' नाम यहाँ कल्याण और परोपकारके विचारसे बहुत अच्छे आए हैं। (घ) करुणासिंधुजीके मतानुसार यह कथा आदि कल्पकी है, अत पुरानी कहा। ☞ करुणासिन्धुजी एवं संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि यह कथा महारामायण और शिव-संहितामें है। धनराज सूरजी बताते हैं कि अगस्त्यरामायणमें भानुप्रतापकी कथा है (प्र० सं०)। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "यद्यपि सभी कथाएँ गिरिजाके प्रति शम्भुकी बखानी हुई हैं, पर याज्ञवल्क्यजी इन दोनों कथाओंके लिये गिरिजाशम्भुकी कही हुई बतलाते हैं, इसका आशय यह मालूम होता है कि इन दोनों कथाओंको भुशुण्डीजीने नहीं कहा, और भुशुण्डीजीकी कही हुई कथाकी सूची (मूल रामचरित जो उत्तर-काण्ड में वर्णित है) में इन कथाओंका उल्लेख भी नहीं है। अत भुशुण्डीजीने प्रधानत उसी कल्पकी कथा कही, जिसमें नारदजीको मोह हुआ था और शम्भुने प्रधानतः उस कल्पकी कथा कही जिसमें ब्रह्म कोसलपुर-भूप हुए थे।"—(यह जटिल समस्या है। इस पर बहुत वाद विवाद होता है)।

टिप्पणी—२ 'बिस्व बिदित एक कैकय देसू।०' इति। (क) 'बिस्व बिदित'। मनु महाराजका देश नहीं कहा था, केवल उनका नाम दे दिया था, यथा 'स्वायंभू मनु अरु सतरूपा', और यहाँ देश तथा पिताका नाम भी दिया, यद्यपि इनके जाननेका कथाके लिए कोई प्रयोजन न था। इससे जान पड़ता है कि भरद्वाज-जीने नाम और देश आदि पूछे (क्योंकि यह नवीन इतिहास है जो इन्होंने पूर्व नहीं सुना था। मनुजी

प्रसिद्ध है क्योंकि ब्रह्माके पुत्र हैं; इससे उनके देशके जाननेकी चिंता न हुई)। इसीसे प्रथम ही उनका देश कहा (वा, स्वयं ही नई कथा होनेके कारण कहा)। पुनः, 'विश्वविदित' कैकय और सत्यकेतु दोनोंका विशेषण है। देश और राजा दोनोंकी समानता दिखानेके लिए 'विश्वविदित' कहा। अर्थात् जैसे कैकयदेश विश्वमें विदित है, वैसे ही सत्यकेतु राजा विश्वविदित हैं। 'सत्यकेतु' जैसा नाम है वैसाही उसमें गुण है। विश्वमें उसके सत्यकी पताका फहराती है। लोकमें जैसा देश प्रसिद्ध है वैसा ही राजा प्रसिद्ध है। यथा 'द्रुमतुल्य इति ख्यातो लोके ख्यातो यथा भवान्' इति वाल्मीकीये। (यह वचन विश्वामित्रजीने दशरथजीसे कहा था। अर्थात् जिस तरह लोकमें आप विख्यात हैं उसी तरह यह स्थान द्रुमतुल्यनामसे विख्यात है)। (ख) 'कैकय देसू' कहनेका भाव कि यदि देश न कहते तो कैकय राजाका बोध होता, यह समझा जाता कि कैकय राजाके यहाँ सत्यकेतु रहते थे। (ग) कैकयदेश विश्वमें विदित है इस कथनसे राजधानीकी प्रसिद्धि कही, यथा 'जग विख्यात नाम तेहि लंका' और 'सत्यकेतु' नामसे राजाकी श्रेष्ठता दिखाई।

नोट—२ 'कैकय' यह देश व्यास और शाल्मली नदीकी दूसरी ओर था और उस समय वहाँकी राजधानी गिरिव्रज वा राजगृह थी। अब यह देश कारमीर राज्यके अन्तर्गत है और कक्का (वा गक्कर) कहलाता है।—(श० सा०)। विनायकी टीकाकार हिरात जो अफगानिस्तानमें है उसे कैकयदेश लिखते हैं। कहते हैं कि यह कश्यप ऋषि का बसाया हुआ था।

३—'सत्यकेतु' यथा नाम तथा गुण। नामसे ही जना दिया कि उसके सत्यकी ध्वजा विश्वभरमें फहराती थी। 'धर्म न दूसर सत्य समाना' और सब धर्मोंकी जड़ सत्य ही है, यथा 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। २ २८।' यह राजा सत्यकेतु है इसीसे धर्मधुरंधर भी हुआ ही चाहे। पुनः, धर्मके चार चरण हैं—सत्य, शील, दया और दान। यथा 'प्रगट चारि पद धरम के कलि महँ एक प्रधान। येन केन बिधि दीन्हे दान करै कल्यान। ७ १०३।', 'चारिउ चरन धरम जग माहीं। ७ २१।' धर्मधुरंधर कहकर जनाया कि इन चारों प्रकारके धर्मोंमें निपुण है। धुरंधर-धुरीका धारण करनेवाला, भार उठानेवाला। (प्र० सं०)।

टिप्पणी—३ 'धरमधुरंधर नीतिनिधाना' ।०' इति। (क) सत्यकेतु हैं, इसीसे धर्मधुरंधर हैं,—'सत्यान्नास्ति परोधर्मः'। 'नीतिनिधान' कहा, क्योंकि राजाके लिए नीतिज्ञ होना परमावश्यक है। नीति राजाका एक मुख्य अंग है। नीति बिना जाने राज्य नहीं रहता, यथा 'राजु कि रहइ नीति बिनु जाने। ७ ११२।' (ख) 'तेज प्रताप सील बलवाना' इति। तेजस्वी तीन माने गये हैं,—सूर्य्य, अग्नि, चन्द्र। यथा 'तेजहीन पावक ससि तरनी। ६।१०३।' तेज अग्निका-सा, प्रताप भानुका सा और शील चन्द्रमाका-सा यहाँ अभिप्रेत है, यथा 'तेज कृसानु । १।४।४।', 'जब तें रामप्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा। ७।३१।', 'काम से रूप प्रताप दिनेस से सोमसे सील गनेससे माने' (क० ७० ४३)। [नोट—तेज, प्रताप, सील और बल, ये चार गुण चार लोकपालोंके हैं, ये सब एक ठौर सत्यकेतु राजामें दिखाए। तीन गुणवाले तीन लोकपालोंके नाम कहे गए। चौथा गुण 'बल' पवनदेवके समान जनाया, यथा 'पवनतनय बल पवन समाना ।४।३०।४।' (प्र० सं०)]

४ 'तेहि के भए जुगल सुत बीरा।०' इति। (क) धर्मधुरंधर कहकर तब उसके बाद पुत्रकी उत्पत्ति कहते हैं। तात्पर्य कि धर्मसे उत्तम सन्तानकी प्राप्ति होती है, यथा 'दंपति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका। नृप उत्तानपाद सुत तासू। ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू। १४२।२-३।' 'भए' से सूचित किया कि वीर उत्पन्न होते हैं, बनाये नहीं जाते। (ख) 'सब गुन धाम' इति। अर्थात् जितने गुण पितामें गिनाए,-सत्य, धर्म, नीति, तेज, प्रताप, शील और बल, उन सबके ये धाम हैं, वे सब इनमें निवास करते हैं, और, एक गुण सत्यकेतु (पिता) से इनमें अधिक दिखाया, वह है 'बीरता'। (ग) महारनधीरा' यह गुण पितामें नहीं कहा था। 'महारणधीर' का भाव कि पिता रणधीर थे और ये महारणधीर हुए।

'वीर' कहकर महारणधीर कहनेका भाव कि वीर अधीर नहीं होते, यथा 'सुनि सरोष बोले सुभट वीर अधीर न होहिं। २।१६१।' सम्मुख युद्ध करना, प्राणका लोभ न करना वीरकी शोभा है, इससे वीरगतिकी प्राप्ति होती है। सदा रणधीर रहते हैं। रणमे धैर्य्यपूर्वक डटे रहना, पीछे पैर न देना, भागना नहीं, यह क्षत्रियधर्म है—'युद्धे चाप्यपलायनम्'। यह पितासे वीरतामे अधिक हुए, यह आगे दिखाते हैं कि पिता एक देशका राजा था और इन्होंने अपने पराक्रमसे सप्तद्वीपका राज्य किया, चक्रवर्ती हुए। यथा 'चक्रवर्त्ति के लच्छन तोरें। १५६।४।', 'सप्त दीप भुजबल बस कीन्हे। "१५४।'

नोट—४ (क) प्रथम उत्तम वश कहकर अब 'तेहि के भए जुगल सुत बीरा।' यहाँसे संतानकी श्रेष्ठता दिखाते हैं। जैसे मनुशतरूपाजीके विषयमे 'दंपति धरम आचरन नीका' कहकर उत्तानपाद आदि सतानकी श्रेष्ठता दिखाई थी। (ख) मनुसंहिता अध्याय ७ श्लोक १६० मे राजाओंके छ प्रधान गुण ये कहे गए हैं-सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय। इनके लक्षण और भेद भी अर्थ शास्त्रोंमे दिये हैं।-(वि० टी)।

राजधनी जो जेठ सुत आही। नाम प्रतापभानु अस ताही ॥५॥
अपर सुतहि अरिमर्दन नामा। भुजबल अतुल अचल संग्रामा ॥६॥
भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती ॥७॥
जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा। हरि हित आपु गवन बन कीन्हा ॥८॥
दोहा—जब प्रतापरबि भएउ नृप फिरी दोहाई देस।
प्रजा पाल अति बेद बिधि कतहुँ नहीं अघलेस ॥१५३॥

शब्दार्थ—राजधनी = राज्यका अधिकारी वा मालिक, यथा कोशलधनी, त्रिभुवनधनी। जेठ=ज्येष्ठ, बड़ा। अचल=अटल, न टलने वा हटनेवाला, पर्वत समान, पैर जमाए रहनेवाला। समीती = सुंदर मित्रता। बरजित (वर्जित)=रहित। अतुल-जिसकी तौल या अंदाज न हो सके, बहुत अधिक। अमित= जिसकी तुलना या समता न हो सके। प्रतापरबि-भानुप्रताप। दोहाई (द्वि=दो। आह्वाय-पुकार)। राजाके सिंहासनपर बैठनेपर उसके नामकी घोषणा वा सूचना डंके आदि द्वारा होना।

अर्थ—राज्यका अधिकारी जो जेठा पुत्र है, उसका प्रतापभानु (भानुप्रताप) ऐसा नाम है ॥५॥ दूसरे पुत्रका नाम अरिमर्दन है; उसकी भुजाओंमे असीम बल था। लड़ाईमें वह पर्वतके समान अचल था ॥६॥ भाईभाई (दोनों भाइयों) मे बड़ा ही मेल और सर्वदोषछलरहित प्रेम था ॥७॥ राजाने जेठे सुतको राज्य दिया और आप हरिभजनके लिये वनको चल दिये ॥८॥ जब भानुप्रताप राजा हुआ, उसकी दुहाई नगरमे फिरी। वह वेदविहित विधानके अनुसार प्रजाका अत्यन्त पालन करने लगा (उसके राज्यमें) पाप लेशमात्र भी कहीं न रह गया ॥१५३॥

टिप्पणी—१ 'राजधनी जो जेठ सुत आही।०' इति। (क) 'राजधनी आही' अर्थात् राज्यका मालिक (अधिकारी) है, अभी राजा नहीं बनाया गया है। इससे दिखाया कि वह राज्याभिषेकका अधिकारी है क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र है, जेठा पुत्र राज्याधिकारी होता है यह नीति है, यथा 'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृप नीति। ।३१।' (ख) मालिक है। यह कहकर जनाया कि राजाने भानुप्रतापको मालिक (युवराज) बनाकर राज्यकाजमे प्रवीण किया, अब निपुण हो गया है अत. अब राज्य देंगे, जैसा आगे स्पष्ट है—'जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा'। यही कायदा है कि प्रथम राज्यकाज सिखाया जाता है जब उसके योग्य पुत्र होता है तब उसको राज्य दिया जाता है, यथा 'देखा बिधि बिचारि सब लायक। दच्छहि कीन्ह प्रजापतिनायक। ६२।६।', 'कहइ भुआल सुनिअ मुनिनायक। भए राम सब बिधि सब लायक। २।३।', वैसे ही सत्यकेतुने

किया। [(ग) 'नाम प्रताप भानु अस' का सीधा साधारण अर्थ यही है कि 'प्रतापभानु ऐसा उसका नाम है'। इससे यह भी जनाया कि उसका प्रताप 'भानु अस' सूर्यकासा है। इसीसे 'भानुप्रताप' न कहकर 'प्रतापभानु अस' कहा। पुनः नाम है भानुप्रताप पर वक्ता सर्वत्र प्रतापभानु ही कहते हैं। भाव यह है कि इसका प्रताप उलटनेवाला है।]

२ 'अपर सुतहि अरिमर्दन नामा।०' इति। (क) नामसे ही दोनों भाइयोंके गुण दिखाते हैं। सूर्यकासा प्रताप है इससे भानुप्रताप नाम है। दूसरा शत्रुओंको मर्दन करता है, इसीसे उसका अरिमर्दन नाम है। (ख) 'भुजबल अतुल, अचल संग्रामा', ये दोनों गुण शत्रुके नाशके लिए आवश्यक हैं। अतः 'अरिमर्दन' कहकर इन गुणोंसे सम्पन्न होना भी कहा। इससे जनाया कि बड़ा पुत्र होनेसे भानुप्रताप राज्यका मालिक हुआ और यह पुत्र फौजका मालिक वा अफसर हुआ। यह राज्यकी रक्षा करता है, शत्रुपर चढ़ाई करता है। ☞ बड़ा भाई प्रतापमें अधिक है, छोटा भाई बलमें अधिक है। दूसरे जन्ममें भी ऐसा होगा। कुम्भकर्ण रावणसे अधिक बली था। रावणके घूँसेसे हनुमान्‌जी भूमिपर न गिरे थे, यथा 'जानु टेकि कपि भूमि न गिरा। उठा सँभारि बहुत रिस भरा। ६।८३।१।' और कुम्भकर्णके घूँसेसे हनुमान्‌जी चक्कर खाकर गिर पड़े थे, यथा 'पुनि उठि तेहि मारेउ हनुमंता। घुर्मित भूतल परेउ तुरंता। ६।६४।८।' रावण विशेषप्रतापी था, यथा 'कर जोरें सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ देखि प्रताप न कपि मन संका। ५।२०।'

३ 'भाइहि भाइहि परम समीती। सकल०' इति। (क) 'भाइहि भाइहि' कहकर अन्योन्य मित्रता दिखाई। प्रीति और मित्रता पर्याय हैं। (ख) 'सकल दोष छल बरजित प्रीती' का भाव कि कपट छल जहाँ होता है वहाँ प्रेम नहीं रह जाता, यथा 'जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि। ५७।', अतएव छलरहित कहा। (ग) 'सकल दोष', जैसे कि मित्रके दुःखसे दुःखित न होना, (यह दोष है, यथा 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी'), कुमार्गसे निवारण न करना, मित्रके अवगुण दूसरसे कहना, देने लेनेमें शंका रखना, हित न करना, विपत्ति पड़नेपर स्नेह न करना, मुखपर प्रशंसा और पीठपीछे निंदा करना इत्यादि दोष श्रीरघुनाथजीने सुग्रीवसे बताए हैं। कपट=छल-'सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा। ५।३।४।'

४—'जेठ सुतहि राज नृप दीन्हा।०' इति। (क) जो पूर्व कहा था कि राजा 'धरमधुरंधर नीतिनिधाना' था, उसीको यहाँ चरितार्थ करते हैं। धर्मात्मा और नीतिनिपुण हैं, इसीसे ज्येष्ठ पुत्रको राज्य दिया। पुत्रको राज्य देना धर्म और नीति है, यथा 'लोभु न रामहि राजु कर बहुत भरत पर प्रीति। मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति। २।३१।' (ख) 'हरि हित आपु गवन बन कीन्हा' इति। प्रथम धर्म निबाहा, तब उससे वैराग्य हुआ। 'जेठ सुतहि राज नृप दीन्हा।' यह वैराग्यका लक्षण वा प्रमाण है। वैराग्य होनेसे भगवान्‌में भक्ति हुई, अतः 'हरिहित आपु गवन बन कीन्हा'। यह सब क्रमसे दिखाया। धर्मसे वैराग्य और वैराग्यसे भक्ति होती है, यथा 'धर्म तें बिरति ', 'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा। ३।१६।' (ग) 'गवन बन कीन्हा' से जनाया कि राजाका चौथापन आ गया, यथा 'संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन। ६।७।' उदाहरण—'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन।०'। चौथेपनमें वन जाना चाहिए यह धर्मनीति है अतः उसका पालन किया।

[मनुजीने 'बरबस राज सुतहि तब दीन्हा' और सत्यकेतुको बरबस देना नहीं पड़ा, यह 'जेठ सुतहि राज नृप दीन्हा' से स्पष्ट है। इससे जनाया कि प्रतापभानुको राज्यकी आकांक्षा थी, इससे उसने नहीं न किया। इसमें ही प्रतापभानुके विनाशका गूढ़ रहस्य कविने रख दिया है। (प० प० प्र०)]

५—'जब प्रतापरबि भएउ नृप फिरी दोहाई देस।०' इति। (क) नये राजाकी दुहाई फिरती है, यथा 'नगर फिरी रघुबीर दोहाई'। इससे स्पष्ट किया कि पहले राज्यके अधिकारी मालिक थे, राजा न थे, अब राजा हुए तब मनादी फिरी कि ये राजा हैं। सत्यकेतु एक देश (कैकयदेश मात्र) का राजा था, इसीसे देशमें दुहाई फिरना कहते हैं। भानुप्रताप अपने पराक्रमसे सब राजाओंको जीतकर सप्तद्वीपके राजा हुए, यह आगे स्पष्ट कहा है,—'सप्तदीप भुजबल बस कीन्हे। लै लै दंड छाँड़ि नृप दीन्हे'। (ख) 'प्रजा पाल अति वेदविधि कतहुँ नहीं अघ लेस' इति। इससे दिखाया कि राजा कैसा भारी धर्मात्मा है कि प्रजामात्रमें कहीं पापका नामतक नहीं है। ['अति' से यह भी जनाया कि प्रजाकी रक्षा आदि पुत्रवत् करता था। कुमार्गियों को दंड देता था। इससे हिंसा, जूआ, चोरी, परस्त्रीगमन आदि व्यसन कहीं नहीं रह गए। (वै०)। राजा धर्मात्मा था अतः प्रजा भी धर्मात्मा है।

छान्दोग्योपनिषद् अ० ५ खण्ड ११ में एक केकयकुमार 'अश्वपति' की चर्चा आई है जिनके पास प्राचीनशाल आदि ऋषियोंसहित अरुणपुत्र उद्दालक मुनि वैश्वानर आत्माके संबधमें जानकारीकेलिये गए थे। उन केकयकुमारने उनसे कहा था कि 'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर ही है तथा न अदाता, मद्यप, अनाहिताग्नि, अविद्वान् और परस्त्रीगामी ही, फिर कुलटा स्त्री आई ही कहाँ से ? यथा "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो। नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो"। ५।'—इससे जान पड़ता है कि केकयदेशके सभी राजा इस प्रकार प्रजाका पालन करते हैं। राजा भानुप्रताप इनसे भी अधिक प्रजापालक था।]

पुनः, 'अति' का भाव कि सत्यकेतु भी प्रजाका पालन करते थे पर भानुप्रताप 'अत्यन्त' पालन करता है। 'वेदविधि' से जनाया कि वेद पुराण शास्त्रमें उसकी अत्यन्त श्रद्धा है। श्रद्धाके उदाहरण, यथा (१) 'प्रजा पाल अति वेद बिधि', (२) 'भूप धरम जे वेद बखाने। सकल करै सादर सनमाने', (३) 'दिनप्रति देइ बिबिध बिधि दाना। सुनै सास्त्र बर वेद पुराना।', (४) जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग। बार सहस्र सहस्र नृप किए सहित अनुराग। १५५।'

नोट—१ करुणासिंधुजी लिखते हैं कि महारामायणमें यह कथा है कि 'भानुप्रताप श्रीसीतारामजीका बड़ा ही कृपापात्र है। इसका नाम प्रतापी है। श्रीरामचन्द्रजीने मनुशतरूपाजीको वरदान देनेके पश्चात् एक समय इसे आज्ञा दी कि तुम प्रकृतिमण्डलमें जाकर राजा हो, हम तुम्हारे साथ कुछ रण क्रीड़ा करेंगे। [बैजनाथजी लिखते हैं कि इस (प्रतापी) पर आदिशक्तिजीका बड़ा प्रेम था। एक समय गेंदके खेलमें उसने अपनी सफलता दर्शाई। इससे प्रसन्न होकर प्रभुने यह आज्ञा दी थी] आज्ञा पाकर आदिकल्पके प्रथम सत्ययुगमें वही सखा प्रतापभानु राजा हुआ।'

सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि श्रीरामजीकी इच्छासे प्रतापी सखा भानुप्रताप हुआ और 'बलिरयं' सखा अरिमर्दन हुआ। वे लिखते हैं कि शिवसंहितामें कहा है कि—'प्रतापी राघवः सखा भ्राता वै सहि रावणः। राघवेन तदा साक्षात्साकेतादवतीर्यते।'

२—'अति वेद बिधि' इति। 'अति वेद बिधि' कहकर जनाया कि सत्यकेतु 'वेदविधि' से प्रजा पालन करते थे और भानुप्रताप उनसे श्रेष्ठ हुआ। (प्र० सं०)।

अलंकार—'अघलेश' कहकर राजाकी अतिशय नीति निपुणता कहना 'अत्युक्ति' अलंकार है। यथा 'योग्य व्यक्तिकी योग्यता अति करि बरनी जाय। भूषन सो अत्युक्ति है समुझें जे मतिराय' (अ० म०)।

नृप हित कारक सचिव सयाना। नाम धरमरुचि सुक्र समाना ॥१॥
सचिव सयान बंधु बलबीरा। आपु प्रतापपुंज रनधीरा ॥२॥
सेन संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा ॥३॥

सेन बिलोकि राउ हरषाना । अरु बाजे गहगहे निसाना ॥४॥

शब्दार्थ—चतुरंग-चतुरंगिणी सेनाके चार अंग हैं हाथी, घोड़े, रथ और पैदल। जुझारा-जूझनेवाले, पैर पीछे न रखनेवाले चाहे लड़ाईमें प्राण ही क्यों न चले जायँ, बाँके बीर, सूरमा। यह शब्द प्रान्तिक है केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है। 'बलबीर'—बलमें औरोंसे बढ़कर, बलवान्, बलवान् और वीर, शूरवीर। वीर-जो किसी काममें औरोंसे बढ़कर हो जैसे दानवीर, कर्मवीर, बलवीर। प्रताप-पुंज-प्रताप समूह। पुंज=समूह, राशि, ढेर। प्रतापपुंज = बड़ा प्रतापी। गहगहे = धमाधम, धूमधामके सहित, बहुत अच्छी तरह। इस अर्थमें यह शब्द बाजोंहीके संबंध में आता है, यथा 'बाजे नभ गहगहे निसाना ।१।२६२।', 'गहगह गगन दुंदुभी बाजी,' 'बाज गहागह अवध बधावा' (अ० ७), 'चली गान करत निसान बाजे गहगहे लहलहे लोयन सरसई हैं—(गीतावली)। निशान-डंका, धौंसा, दुंदुभी। पहले लड़ाईमें डंकेका जोड़ा ऊँटों और हाथियों पर चलता था और उसके साथ निशान (झंडा) भी रहता था, इससे यह सूचना होती थी कि लड़ाईके लिए हम आए हैं।

अर्थ—मन्त्रीका नाम धर्मरुचि है जो शुक्राचार्य्यजीके समान सयाना और राजाका हित करनेवाला था ॥१॥ मंत्री चतुर, भाई बलमें वीर और आप (राजा) बड़ा ही प्रतापी और रणधीर था। ॥ २ ॥ साथ में (पास) अपार चतुरंगिणी सेना थी जिसमें अगणित उत्तम उत्तम योद्धा थे जो सबके सब समरमें जूझजाने वाले थे ॥ ३ ॥ सेनाको देखकर राजा हर्षित हुआ और धमाधम नगाड़े बजने लगे ॥ ४ ॥

टिप्पणी १—'नृप हित कारक सचिव सयाना ।०' इति। (क) मन्त्रीका यही एक धर्म है कि राजा का हित करे और चतुर हो। सयाना हो अर्थात् सब बातें जाने, यह मुख्य है। (पुनः भाव कि राजाका जो भी हित करता है वह सब पूर्ण होता है अतः सयाना कहा। पुनः, सयाना=ज्ञानी। संग्रामका समय है, अतः ज्ञानी कहा। ज्ञानी कहनेका भाव यह है कि ज्ञानीका पराजय नहीं होता, यथा 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्रश्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम (गीता १८।७८)। (ख) 'नाम धरम-रुचि' अर्थात् यथा नाम तथा गुण है। धर्ममें रुचिका प्रमाण है कि 'नृपहित हेतु सिखव नित नीती।' (ग) शुक्र समान कहनेका भाव कि शुक्र राजाके हितकारक थे और सयाने भी। जब राजा बलिने उनके वचन न माने तब भी उन्होंने राजाका हित विचारकर जलपात्रमें प्रवेशकर उसमें से जल न गिरने दिया जिसमें राजा संकल्प न कर सके और उसका राज बना रह जाय। बृहस्पति भी नीतिमें कम नहीं हैं परंतु उनके समान न कहा। कारण कि इन्द्रने जब बृहस्पतिका अपमान किया तब वे चल दिए। इन्द्रकी राज्यश्री नष्ट भ्रष्ट हो गई पर बृहस्पतिने उनकी रक्षा न की। अतएव बृहस्पतिको शुक्रके समान राजाका हितैषी न जानकर उनकी उपमा न दी। पुनः दूसरा भाव कि राजा भानुप्रतापको राक्षस रावण होना है, शुक्र राक्षसोंके गुरु और मंत्री हैं। धर्मरुचि भानुप्रताप (भविष्यके रावण) का मन्त्री है अतः शुक्र समान कहकर भविष्यकी सूचना दी। (घ) प्रजाका हित राजा करते हैं यह दोहेमें दिखा आए। राजाका हित मन्त्री करता है यह यहाँ कहा। ☞ राजाके सात अंग कहेगये हैं उनमेंसे मन्त्री प्रधान अंग है इसीसे मन्त्रीको प्रथम कहते हैं।

नोट—श्रीशुक्राचार्य्यजी देवता हैं। पर दैत्योंके पक्षमें रहते हैं, दैत्योंके आचार्य्य और सर्वज्ञ हैं। जब राजा बलि नर्मदाके उत्तर तटपर भृगुकच्छ क्षेत्रमें अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे तब वामनरूपधारी विष्णु भगवान्ने देवकार्य्यके लिए उनसे जाकर अपने पैरोंकी नापसे तीन पग पृथ्वी माँगी, और राजा बलिने देनेको अंगीकार कर लिया। उस समय सर्वज्ञ दैत्यगुरुने भगवान्के उद्देश्यको जानकर बलिको भूमिदान करनेसे रोका। अनेक प्रकारसे राजाको नीति समझायी—'अपनी जीविकाकी वृत्ति वा प्राणोंकी रक्षाके लिए, पुनः किसीके सत्य बोलनेसे किसीके प्राणोंपर आ बने तो उसकी रक्षाके लिए इत्यादि अवसरों पर झूठ

बोलना पाप नहीं है, तुम अपनी जीविकाकी वृत्तिकी रक्षाके लिए अब भी 'नहीं' कर सकते हो। राजा ने इनकी बात न मानी तब गुरुने डाँटा और शापका भी भय दिखाया, अपने अपमानकी पर्वा न की। फिर भी जब बलि अपनी सत्य प्रतिज्ञासे न डिगे तब वे जलपात्रमें प्रवेश कर गए जिसमें संकल्प पढ़नेके लिए जल ही न मिले। इसका फल यह उनको मिला कि उनकी एक आँख फोड़ दी गई। इस प्रकार अपना अपमान और अहित सहकर भी उन्होंने बलिका भला ही चाहा था। "शुक्रनीति" इनका ग्रंथ प्रसिद्ध ही है।

श्रीकेशवदासजीने 'रामचन्द्रिका' में कहा है कि जब अकंपनादि बड़े बड़े बली योद्धा मारे गए तब रावणने महोदरसे मंत्र (सलाह) पूछा। उस समय महोदरने चार प्रकारके मंत्र और चार प्रकारके मंत्री कहे हैं। यथा—(१) "कह्यो शुक्राचार्य्य सु हौं कहौं जू, सदा तुम्हारो हित सम्हौं जू", "चारि भाँति मंत्री कहे चारि भाँतिके मंत्र। मोहि सुनायो शुक्र जू सोधि सोधि सब तंत्र॥" (२) छप्पय—"एक राजके काज हते निज कारज काजे। जैसे सुरथ निकारि सबै मंत्री सुख साजे। एक राजके काज आपने काज बिगारत। जैसे लोचन हानि सही कवि बलिहि निवारत॥ इक प्रभु समेत अपनो भलो करत दासरथि दूत ज्यों। इक अपनो अरु प्रभुको बुरो करत रावरो पूत ज्यों" (१७ वाँ प्रकाश)। (प्र० सं०)।

टिप्पणी—२ 'सचिव सयान बंधु बलबीरा।०' इति। (क) जिसमें जो गुण प्रधान है उसमें वह गुण लिखते हैं। सचिवमें 'सयानता' प्रधान है,—'नृपहितकारक सचिव सयाना।' भाईमें बल प्रधान है,—'अपर सुतहि अरिमर्दन नामा। भुजबल अतुल अचल संग्रामा' और राजामें 'प्रताप' प्रधान है,—'नाम प्रतापभानु अस ताही' तथा यहाँ 'आप प्रतापपुंज०'। (ख) शत्रु बुद्धि और बलसे जीता जाता है। यथा 'नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिअ जीति जाही सों। ।६।' सचिवके बुद्धि है और भाईमें बल है। ये दोनों राजाकी दक्षिण भुजा हैं। चतुरंगिणी सेना और सुभट राजाके वाम भुज हैं, यह बात जनाने के लिये राजाको दोनोंके बीचमें रखा। तात्पर्य्य कि ऐसा चतुर्भुज विश्वको विजय करता है।

३ 'सेन संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा' इति। (क) 'सेन संग' कहकर सूचित किया कि राजा दिग्विजयकेलिए सेना लेकर निकले हैं, चतुरंगिणी सेना कहकर 'सुभट' को उससे पृथक् लिखकर जनाया कि यह अक्षौहिणी सेना है। अक्षौहिणीमें पाँच अंग गिनाए गए हैं—हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादा और योद्धा, यथा 'अयुतं च नागास्त्रिगुणो रथाना लक्षैक योद्धा दशलक्ष वाजिनाम्। पदाति सख्या षट् त्रिंशलक्षा अक्षौहिणी ॥ मुनयो वदन्ति ॥' यहाँ भी अक्षौहिणी सेना बतानेके लिए पाँचों अंग कहे। चतुरंगिणी सेना अपार है और सुभट भी अमित हैं, इसीसे अक्षौहिणीकी संख्या न की। अपार और अमित कहनेसे अमित अक्षौहिणी दल सूचित किए।

नोट—२ चतुरंगिणी सेनाके चार अंग ये हैं—हाथी, रथ, घोड़े और पैदल। यथा "हस्त्यश्वरथपादातं सेनांगं स्याच्चतुष्टयम्। अमरकोश २।८।३३।" सेनाके पत्ति, सेनामुख और गुल्मादि जो सब प्राचीन ग्रंथोंमें कहे गए हैं उनमें भी उपर्युक्त हाथी आदि यही चार अंग गिनाये गए हैं। प्रमाण यथा "एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्चपदातिका॥ पत्त्यङ्गैस्त्रिगुणैः सर्वैः क्रमादाख्या यथोत्तरम् ॥८०॥ सेनामुखगुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमू। अनीकिनी दशानीकिन्यक्षौहिणी ॥ ८१ ॥" (अमरकोश २। ८)। अर्थात् एक हाथी, एक रथ, तीन घोड़े और पाँच पैदल मिलकर एक 'पत्ति' होती है। इससे क्रमसे तिगुना करते जानेसे उत्तरोत्तर क्रमशः सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी, दशानीकिनी, और अक्षौहिणी होती हैं। निम्न तालिकासे यह स्पष्ट हो जायगा—

सेना संख्या	हाथी	रथ	घोडे	पैदल
१ पत्ति	१	१	३	५
२ सेनामुख	३	३	९	१५
३ गुल्म	९	९	२७	४५
४ गण	२७	२७	८१	१३५
५ वाहिनी	८१	८१	२४३	४०५
६ पृतना	२४३	२४३	७२९	१२१५
७ चमू	७२९	७२९	२१८७	३६४५
८ अनीकिनी	२१८७	२१८७	६५६१	१०९३५
९ दशानीकिनी	६५६१	६५६१	१९६८३	३२८०५
१० अक्षौहिणी	१९६८३	१९६८३	५९०४९	९८४१५

यह गणना अमरकोशके अनुसार हुई और महेश्वरकृत अमरविवेकटीका (सन् १९०७ निर्णयसागरकी छपी) में टीकाकार अक्षौहिणीका प्रमाण कहीका इस प्रकार लिखते हैं। 'तथा च। अक्षौहिण्यामित्यधिकै सप्तत्या ह्यष्टभिः शतैः । संयुक्तानि सहस्राणि गजानामेकविंशतिः ॥ एवमेव रथानान्तु संख्यानं कीर्तितं बुधैः । पञ्चषष्टिः सहस्राणि षट् शतानि दशैव तु ॥ संख्यातास्तुरगास्तज्ज्ञैर्विना रथतुरङ्गमैः । नृणां शतसहस्राणि सहस्राणि तथा नव । शतानि त्रीणि चान्यानि पञ्चाशच्च पदातयः ॥" इत्येकैकम् ॥ भारते अक्षौहिणी प्रमाणम्। "अक्षौहिण्या प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैक द्विकैर्गजैः । रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ॥" महाऽक्षौहिणीप्रमाण तु "खद्वय निधिवेदाक्षिचन्द्राक्ष्यग्निहिमांशुभिः । महाऽक्षौहिणिका प्रोक्ता संख्या गणितकोविदैः ।" अर्थात् अक्षौहिणी सेनामें २१८७० हाथी, २१८७० रथ, ६५६१० घोडे और १०९३५० पैदल होते हैं।

महाभारतमें इसीको संक्षेपसे इस प्रकार कहा है—'खाङ्गाष्टैकद्विकैः' [(द्वि) २ (एक) १ (अष्ट) ८ (अंग) ७ (ख) ० । अर्थात् २१८७० हाथी, इतने ही रथ, तिगुने घोडे और पचगुने पैदल मिलकर 'अक्षौहिणी' सेना होती है। इसी तरह महा अक्षौहिणीकी "खद्वय निधि-वेद अक्षि चन्द्र अक्षि अग्नि हिमांशु (००, ९, ४, २, १, २, ३, १)" अर्थात् १३२१२४९०० संख्या सब मिलकर होती है।

आजकल इस संबंधका यह श्लोक प्रचलित है जो श्रीरामकुमारजीने टिप्पणीमें दिया है। परन्तु हमें पता नहीं चला कि यह श्लोक कहाँका है। (इसमें अशुद्धियाँ भी बहुत हैं परन्तु प्रसिद्ध है अतः दिया है।)

उपर्युक्त प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि सुभटोंकी गणना हाथी, रथ और घोडेके सवारोंमें आ गई क्योंकि सभी हाथी घोडे आदि अनुमानतः विना वीर योद्धा सवारोंके न होंगे। वीर सुभटोंका हाथी, घोडे और रथोंमें बैठकर युद्ध करना पाया जाता है। 'सेन चतुरंग अपारा' कहकर 'अमित सुभट' कहनेका भाव यह ही सकता है। हाथी रथ घोडे पैदल अपार हैं (अर्थात् गिनती नहीं है कि के अक्षौहिणी सेना है)। सुभटोंको अमित कहकर जनाया कि पाठक यह न समझ लें कि अपार हाथी आदिमें बहुतेरे खाली ही होंगे, सुभटोंकी संख्या कम होगी सो बात यहाँ नहीं है, हाथी, रथ और घोड़ोंपर जो वीर सुभट हैं वे भी संख्यारहित हैं।

टिप्पणी—४ (क) 'जुझारा' इति। शस्त्रास्त्रसे मरनेको तथा लड़नेको 'जूझना' कहते हैं। यहाँ 'जुझारा' = लड़नेवाले, लड़ैत। यथा 'पुनि रघुपति सैं जूझै लागा। सर छाँडै होइ लागहिं नागा।' (ख) मंत्री,

भाई, चतुरंगिणी सेना और सुभट सबको गिनानेका भाव कि इन सबको साथ लेकर राजा दिग्विजयके लिए निकला। (ग) 'सुभट सब समर जुझारा।'—सब सुभट हैं अर्थात् उत्तम चुने हुए वीर योद्धा हैं, इसीसे 'समरजुझारा' हैं।

५ 'सेन बिलोकि राउ हरषाना।०' इति। (क) ☞ यात्रा समय हर्ष होना शकुन है, यथा 'अस कहि नाइ सबन्ह कहँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा', 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भए सुभ सुंदर नाना।' हर्षसहित चलनेसे कार्य्य सिद्ध होता है, यथा "होइहि काज मोहि हरष बिसेषी"। (ख) हर्षित हुए कि इस सेनासे हम समस्त शत्रुओंको जीत लेंगे। हर्ष होना भीतरका शकुन है और डंके नगाड़ेका बजना बाहरका शकुन है, यथा 'भेरी मृदंग मृदु मर्दल शंख वीणा, वेदध्वनिर्मंगल गीत घोषा। पुत्रान्विता च युवती सुरभी सवत्सा धौताम्बरं च रजकोऽभिमुखं प्रशस्तं।' पुनः सेनाको मनके अनुकूल पाया, अतः हर्ष हुआ।

अलंकार—सेनाकी ओर देखकर राजा हर्षित हुए। इस चेष्टाको देखकर सेनापति समझ गए कि राजा दिग्विजयके लिए प्रस्थान किया चाहते हैं, उनके इस सूक्ष्म कृत्यके उत्तरमें सेनापतियों ने निशान बजवाए जिससे प्रगट हो जाय कि वे राजाके अभिप्रायको समझ गए। अतएव 'सूक्ष्म अलंकार' हुआ। (वीरकवि)।

> बिजय हेतु कटकई बनाई। सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई ॥५॥
> जहँ तहँ परीं अनेक लराईं। जीते सकल भूप बरिआईं ॥६॥
> सप्त दीप भुज बल बस कीन्हे। लै लै दंड छाड़ि नृप दीन्हे ॥७॥
> सकल अवनिमंडल तेहि काला। एक प्रतापभानु महिपाला ॥८॥
> दोहा—स्वबस बिस्व करि बाहुबल निज पुर कीन्ह प्रबेसु।
> अरथ धरम कामादि सुख सेवै समयँ* नरेसु ॥१५४॥

शब्दार्थ—कटकई=सेना, फौज। यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है। 'मनहु करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ' (अ०)।-छोटा कटक, छोटी सेना। साधि=शोधकर, शुभ मुहूर्त विचरवाकर, साधकर। बजाई-बजाकर, डंका पीटकर, यथा 'देउँ भरत कहँ राज बजाई'। दंड-वह धन जो शत्रु या छोटे राजाओंसे बड़े राजाको मिलता है, खिराज, कर, वह धन जो अपराधीसे किसी अपराधके कारण लिया जावे। अवनि=पृथ्वी। मंडल अंडाकार फैलाव, गोला। प्रवेश करना भीतर जाना, दाखिल होना, पैठना।

अर्थ—दिग्विजयके लिये सेना सजाकर और शुभ दिन (मुहूर्त्त) साधकर राजा चढ़ाईका डंका बजाकर चला ॥५॥ जहाँ तहाँ अनेक लड़ाइयाँ (लड़नी) पड़ीं अर्थात् हुईं। सब राजाओंको उसने बलपूर्वक जीत लिया ॥६॥ सातों द्वीपोंको अपनी भुजाओंके बलसे वशमें कर लिया और दंड ले लेकर राजाओंको छोड़ दिया ॥७॥ उस समय संपूर्ण भूमंडलमें एक भानुप्रताप ही (मंडलीक) राजा था ॥८॥ संसारभरको अपनी भुजाओंके बलसे अपने वशमें करके उसने अपने नगरमें प्रवेश किया। राजा अर्थ, धर्म, काम आदि सब सुखोंको समय समयपर सेवन करने लगा ॥१५४॥

टिप्पणी—१ 'बिजय हेतु कटकई बनाई।०' इति। (क) 'कटकई बनाई' अर्थात् व्यूहकी रचना की, आगे पीछे चलनेका प्रकार किया। प्रथम फौज निकलकर परेडपर खड़ी हुई। उसे देखकर राजा हर्षित हुआ। तब वहीं परेडपर सेनाकी रचना की गई। सेनाकी रचना करते बने तो अवश्य विजय होती है, इसीसे 'विजय हेतु कटकई' का बनाना कहा। 'कटकई बनाई' से यह भी जनाया कि पूरी सेनामेंसे युद्धकी

* पाठान्तर—'सबइ'—छ०, भा० दा०।

एक छोटी सेना दिग्विजयके लिये बना ली, शेष राजधानीमें ही रहने दी। (ख) 'सुदिन साधि नृप चलेउ'। इससे ज्ञात हुआ कि उसी दिन दिग्विजयके लिए सुदिन था, उसीको साधा अर्थात् जैसे ही पयान करनेकी लग्न आई वैसे ही पयान कर दिए। (ग) 'बजाई'। वीर जब दिग्विजयको चलते हैं तब नगाड़ा डंका बजाकर चलते हैं, यथा 'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही। २३०।२।', वैसे ही यहाँ भी जब सेना निकली तब नगाड़े बजे—'सेन बिलोकि राउ हरषाना। अरु बाजे गहगहे निसाना', और जब फौज चली तब डंके बजे—'सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई'। इसीसे नगाड़ोंका बजना दो बार कहा।

२ (क) 'जहँ तहँ परीं अनेक लराईं' इति। लड़ाई 'जहाँ तहाँ' ही करनी पड़ी तब भी लिखते हैं कि 'अनेक' लड़ाइयाँ हुईं। कारण यह है कि सप्तद्वीपके राजाओंको जीता है, इससे लड़ाइयाँ बहुत हुईं, फिर भी जहाँ तहाँ ही हुईं अर्थात् सर्वत्र नहीं हुईं, कहीं-कहीं ही लड़ाई करनी पड़ी। 'जहँ तहँ' से जनाया कि सब नहीं लड़े, बहुतसे आकर मिल गए, बहुतेरे भाग गए, यथा 'जासु देसु नृप लीन्ह छड़ाई। समर सेन तजि गएउ पराई। १५८।२।' (ख) 'जीते सकल भूप बरिआईं' इति। 'बरिआईं' अर्थात् बल पुरुषार्थसे लड़कर जीता, छल करके (अर्थात् अधर्म युद्धसे) नहीं। आगे यह स्पष्ट है, यथा 'स्वबस बिस्व करि बाहुबल', 'सप्त दीप भुजबल बस कीन्हे'। (ग) ☞ संक्षेपसे युद्ध वर्णन करनेका भाव कि भानुप्रतापको सप्तद्वीपके राजाओंको जीतनेमें कुछ भी विलम्ब न हुआ, बहुत ही शीघ्र सबको जीतकर वे लौट आए इसीसे युद्धका वर्णन भी बहुत थोड़ेमें किया गया।

३ 'सप्तदीप भुजबल बस कीन्हे।०' इति। तात्पर्य्य कि सब राजाओंको जीतकर पकड़ लिया और सबके राज्यपर कर बाँध बाँधकर सबको छोड़ दिया। सब राजा अब आज्ञामें रहते हैं। (राज्य छीनकर अपने राज्यमें मिला लेना अच्छी नीति नहीं है। राज्य उतना ही बड़ा होना चाहिए जिसकी देखरेख स्वयं राजा कर सके। वि० त्रि०)।

नोट—१ "सातों द्वीप सात बड़ेबड़े समुद्रोंसे घिरे हुए हैं। उन्हें क्योंकर पार किया? श्रीरघुनाथजी तो सौ योजनवाले चौड़े समुद्रपर सेतु बाँधकर तब लंकाको गए थे और ये समुद्र तो बहुत बड़े हैं?" यह शंका उठाकर प० रामकुमारजी उसका यह समाधान करते हैं कि "प्रतापीको सब मार्ग दे देते हैं। भानुप्रतापको भी समुद्रने मार्ग दिया, नहीं तो लाखों योजनके विस्तारके समुद्रोंमें पार कैसे होते? यदि समुद्र मार्ग न देता होता तो श्रीरामजी मार्ग माँगते ही क्यों? यथा 'तासु बचन सुनि सागर पाहीं। माँगत पंथ कृपा मन माहीं।५।५६।' मोहवश पहिले समुद्रने मार्ग न दिया पर जब उनका बल देखा तब प्रसन्न हुआ,—'देखि राम बल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयेउ सुखारी।५।६०।' उसने मार्ग न दिया पर सेतुबंधनका उपाय बता दिया। सेतुका उपाय बताया जिसमें सुयश हो, यथा 'एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय'। जब सातों द्वीपोंमें रघुनाथजीका राज्य हुआ तब सेतु बाँधना कहाँ लिखा है। सब समुद्र मार्ग देते रहे।" दूसरा समाधान इसका यह हो सकता है कि उस समय जान पड़ता है कि भारतवर्ष बड़ी उन्नतिपर पहुँच चुका था। राजाके यहाँ बड़े-बड़े विमान (हवाई जहाज) थे, बड़े-बड़ दरियाई घोड़े आदि थे। जैसे पुष्पक विमानपर श्रीरघुनाथजी सेना सहित लंकासे श्रीअवध लौटे और तत्पश्चात् भी कई बार जहाँ तहाँ पुष्पकपर उनका आना जाना आनंदरामायण आदिमें पाया जाता है। लंकाकी चढ़ाईके समय वनवासमें थे इससे समुद्रबंधन करना पड़ा था।

२ सप्तद्वीप और सप्तसमुद्रोंका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५ में, करुणासिंधुजीकी आनन्दलहरी टीकामें तथा कोशोंमें पाठक देख सकते हैं।

☞ पुराणोंके अनुसार पृथ्वी सप्तद्वीपोंमें विभक्त की गई है। भागवतमें राजा प्रियव्रतके द्वारा सप्त-द्वीपकी सृष्टिका होना कहा गया है। द्वीप=पृथ्वीके विभाग। सातोंके नाम ये हैं—जंबू, प्लक्ष, शाल्मली,

कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर। मुसलमानोंमे भी हफ्त अक़लीम माने जाते हैं। पर उससे सप्तद्वीपसे कोई मिलान नहीं है।

टिप्पणी—४ 'सकल अवनि मंडल तेहि काला।०' इति। अर्थात् सार्वभौम राजा हुआ। 'अवनि मंडल' का तात्पर्य्य कि सप्तद्वीपमे समस्त पृथ्वी है। जिस कालमे भानुप्रताप राजा था उस कालमें पृथ्वी भरमे दूसरा स्वतन्त्र राजा नहीं था, यथा 'भूमि सप्तसागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला। ७।२२।' ☞श्रीरघुनाथजीके राज्यशासनके वर्णनमे 'तेहि काल' न कहा जैसा यहाँ कहा गया है, कारण कि श्रीरामजी तो सभी कालोंमे वर्तमान रहते हैं, यथा 'आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी', राजा रूपसे भी भगवान् हीहैं, यथा 'ईस असभव परम कृपाला', 'नराणांच नराधिपः' (गीता १०)। और भानुप्रतापमे कालका नियम है क्योंकि कुछ दिन रहे फिर न रहे। [दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि रघुकुलमे पूर्वसे ही चक्रवर्ती राजा होते आए हैं और भानुप्रतापके पूर्वज चक्रवर्ती न थे; यही अपने कुलमें प्रथम ऐसा प्रतापी हुआ]।

५ 'स्ववस निरन करि बाहु बल०' इति। (क) 'सेवै समय नरेसु' राजा समय पर सेवते अर्थात् सेवन करते हैं। भाव कि अर्थके समयमे अर्थ, धर्मके समयमें धर्म, कामके समयमें काम और हरिभक्ति और सत्संग करके मोक्षसुख सेवते हैं। यथा 'तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई', 'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसग। ५।४।' तात्पर्य्य कि चारों पदार्थ राजाको प्राप्त हैं; यह बात राजाने स्वयं अपने मुखसे आगे कही है, यथा 'कृपासिंधु मुनि दरसन तोरें। चारि पदारथ करतल मोरें। १६४।८।' (ख) समस्त पृथ्वीको जीतनेके बाद सुखको वर्णन करनेका भाव कि निष्कण्टक राज्य होनेसे राजाको सुख होता है।

नोट—३ (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि अब "परिपूर्ण विभव वर्तमान है यही बात यहाँ कहते हैं। अर्थ अर्थात् इच्छापूर्ण धन, धर्म अर्थात् सत्य, शौच, दया और दानादियुक्त। काम अर्थात् एक तो कामदेव, दूसरे मनोकामनाएँ। इत्यादि यावत् सुख हैं अर्थात् सुगंध, बनिता, वस्त्र, गीत, ताँबूल, भोजन, भूषण और वाहन ये आठों भाग्याङ्ग सुख राजा भानुप्रतापको सेवते (सेवा करते) हैं। अथवा, सब सुख भी प्राप्त हैं और सब देशोंके राजा भी सेवामे हाजिर हैं।" (ख) अर्थादिका सेवन आगे वर्णन किया गया है। सभामें बैठकर राज्यकाजको देखना-भालना अर्थका सेवन है, इससे धनका लाभ है। प्रातःकाल पूजा-पाठादि धर्मकर्मके समय धर्मका सेवन करता है। शयनके समय रात्रिमे कामसुखका और सत्संगके समय मोक्षसुखका अनुभव करता है। (रा० प्र०)। पं० शुकदेवलाल भी अर्थादिसे 'त्रय वर्ग सांसारिक सुखों' का भाव लेते हैं।

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "यद्यपि कामसे सुखमात्रका ग्रहण होता है, पर यहाँ 'कामादि' पाठ होनेसे स्त्रीसुख अभिप्रेत है और 'आदि' से इतर सुखोंका ग्रहण होगा। राजाको अर्थ, धर्म और काम तीनोंके पूजनकी आज्ञा है। संपूर्ण जगत्के लिये कर्मका प्राधान्य है, पर राजा और वेश्याके लिये अर्थका प्राधान्य है अतः अर्थ पहिले कहा। तत्पश्चात् धर्म और अन्तमे काम कहा।"

वाल्मी० ६।६३ मे कुम्भकर्णने रावणसे कहा है कि जो या तो धर्म, अर्थ और कामको पृथक् पृथक् अथवा इन तीनोंमेंसे दो-दोको अथवा सबको यथा समय करता है, अर्थात् जो प्रातः काल करना चाहिये उसे प्रातःकाल, मध्याह्नमे करने योग्य मध्याह्नमे इत्यादि, करता है, वही राजा नीतिवान् कहा जाता है, यथा "धर्ममर्थं च कामं च सर्वान्वा रक्षसाम्पते। भजते पुरुषः काले त्रीणि द्वन्द्वानि वा पुनः। ६।"।

पद्म पु० उ० मे श्रीदिलीपजी महाराजने अपने संबंधमे कहा है कि मैंने धर्म, अर्थ और कामका यथा समय सेवन किया है। यथा "वर्गत्रयी यथाकाल सेविता न विरोधिता। तथापि मेऽनपत्यस्य न सौख्यं विद्यते हृदि॥

प० पु० उत्तरखंड अ० २०२ श्लोक १०७। एवं धर्मार्थकामा मे यथाकाल निषेविता। ११४।" अत यहाँ भी यही भाव ग्रहण होगा और 'सेवै समय' पाठ ही उत्तम है।

टिप्पणी—६ "अरथ धरम कामादि सुख०" इति। (क) पृथ्वी भरके राजा होनेपर अर्थ वर्णन करनेका भाव कि पृथ्वी भरका द्रव्य सब सिमिटा चला आता है। धनसे धर्म होता है, इसीसे अर्थके पीछे धर्म कहा, धर्मका फल सुख है इससे धर्मके बाद कामादि सुखका भोग कहा। (ख) चारों पदार्थ भंडार कहाते हैं, यथा 'चारि पदारथ भरा भँडारू'।

७ राजाके सात अंग हैं— स्वामी, मंत्री, मित्र, कोश, देश, किला और सेना। यथा 'स्वाम्यमात्य सुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। इत्यमरे २।८।१७।' राजा भानुप्रतापको इन सातों अंगोंसे पूर्ण युक्त दिखाते हैं। (१) 'करै जो धरम करम मन बानी। बासुदेव अरपित नृप ज्ञानी'। बासुदेव स्वामी है। (२) 'नृप हित-कारक सचिव सयाना। नाम धरमरुचि सुक्र समाना' यह मंत्री अंग है। (३) 'भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती' भाई मित्र अंग है। (४) 'अरथ धरम कामादि सुख सेवै समय नरेसु।' चारों पदार्थोंकी प्राप्ति और सप्तद्वीपका द्रव्य कोश है। (५) 'सप्तद्वीप भुज बल बस कीन्हे। लै लै दंड छाड़ि नृप दीन्हे' सातों द्वीप 'देश' अंग है। (६) 'घरें नगर निसान बजाई। बिबिध भाँति नित होइ लराई' इससे कोट किला अंग वर्णन किया। और (७) 'सेन संग चतुरंग अपारा।०' यह सेना अंग है। (परंतु ये ७ राज्याङ्ग हैं, राजाके अंग नहीं, स्वामी—राजा)।

> भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भै भूमि सुहाई॥१॥
> सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी॥२॥
> सचिव धरमरुचि हरिपद प्रीती। नृपहित हेतु सिखव नित नीती॥३॥
> गुर सुर संत पितर महिदेवा। करै सदा नृप सब कै सेवा॥४॥

शब्दार्थ—१ बरजित (वर्जित) त्यक्त, रहित। 'शील'=परिपूर्ण। धर्मशील धर्मात्मा।

अर्थ—राजा भानुप्रतापका बल पाकर पृथ्वी सुन्दर कामधेनु (वा, कामधेनुसम सुहावनी सुख-दायक) हो गई॥ १॥ प्रजा सब दुःखोंसे रहित और सुखी रहती, स्त्रीपुरुष सुन्दर और धर्मात्मा थे॥ २॥ धर्मरुचि नामक मंत्रीका श्रीहरिके चरणोंमें प्रेम (भक्ति) था, राजाके हितके लिए वह सदा उसको नीति सिखाया करता था॥ ३॥ गुरु, देवता, संत, पितृदेव और ब्राह्मण इन सबोंकी सेवा राजा सदैव करता रहता था॥ ४॥

नोट—१'भूप प्रतापभानु बल पाई।०' इति। 'बल' अर्थात् धर्मका बल। राजाके धर्मसे पृथ्वी प्रजाको सुखद होती है। अत 'बल पाई' कहकर 'कामधेनु भै०' कहा। धर्मसे सुख होता ही है, यथा 'तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाए। धरमसील पहँ जाहिं सुभाए। ७।१४३।'

टिप्पणी—१ 'भूप प्रतापभानु बल पाई।०' इति। (क) ☞ यहाँ पृथ्वी कामधेनु है, राजाका सुन्दर चरित, उत्तम धर्माचरण (भूपधरम जे बेद बखाने। सकल करै सादर सनमाने॥ इत्यादि) तृण है, सुन्दर प्रजा (सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी) वत्स है जिसे पाकर कामधेनुरूपी पृथ्वी पन्हाकर नाना प्रकारके (अर्थ, धर्म, कामादि) पदार्थ रूपी दूध प्रकट करती है। यथा 'ससि संपन्न सदा रह धरनी।' अर्थात् भूमिको कामधेनु कहकर जनाया कि पृथ्वीसे अन्न रत्न आदि मनोरथके अनुकूल उपजने लगे, एक बार बोया जाय, कई बार काटा जाय। दोहावलीमें कामधेनु पृथ्वीका रूपक इस प्रकार दिया है— 'धरनि धेनु चारितु चरति प्रजा सुबच्छ पेन्हाइ। हाथ कछू नहिं लागिहै किये गोठ की गाइ॥ ५१२।' इसीके अनुसार यहाँ भावार्थ कहा गया। (ख) 'प्रतापभानु बल पाई'—यहाँ धर्म शब्दका अध्याहार करना

होगा। अर्थात् राजाके धर्मका बल पाकर। इससे दिखाया कि पृथ्वीको राजासे बल मिलता है, समय पलट जाता है। (ग) 'कामधेनु भै'। कामधेनु अर्थ, धर्म और काम तीन पदार्थ देती है। राजाके संबंधमें तो प्रथम ही कह आए कि 'अरथ धर्म कामादि सुख सेवै समय नरेसु'। राजाके लिए चारों पदार्थ प्राप्त ही हैं और अब बताते हैं कि सब प्रजाके लिए भी पृथ्वी कामधेनु (अर्थ, धर्म, काम देनेवाली) हो गई। यहाँ 'प्रथम उल्लास' और 'वाचक या वाचक धर्मलुप्तोपमा अलंकार' है [(घ) 'सुहाई' को कामधेनुका विशेषण मानें तो भाव होगा कि देवताओंकी कामधेनु सुन्दर नहीं और यह सुन्दर है।]

२—'सब दुख बरजित प्रजा सुखारी।०' इति। (क) 'सब दुख' अर्थात् आधि-व्याधि दारिद्र्य, भय, रोग, शोक और वियोग इत्यादि। दुःख पापका फल है। यथा "नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। ७।१२१।", 'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक वियोग। ७ १००।' कहीं पाप नहीं है, यथा 'प्रजा पाल अति वेद विधि कतहुँ नहीं अघलेस', अत: दुःख भी नहीं है। (ख) 'प्रजा सुखारी'। सब सुखी हैं क्योंकि सब धर्मशील हैं। धर्मका फल सुख है, यथा 'बरनाश्रम निजनिज धरम निरत वेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहि भय सोक न रोग। ७.२०।' जिनकी धर्ममें प्रीति नहीं है उनको सुख नहीं मिलता। यथा 'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता।७.१०२।' (ग) ऊपर कहा कि 'कामधेनु भै भूमि' अब यहाँ प्रजाको अर्थ, धर्म, कामकी प्राप्ति दिखाते हैं। —'सुखारी' से अर्थकी प्राप्ति कही, 'धर्मशील' से धर्मकी और 'सुंदर नरनारी' से कामकी प्राप्ति जनाई। (घ) दुःख सुख द्वन्द्व हैं, दोनों सर्वत्र रहते हैं। पर यहाँ दुःख नहीं है, सुख ही सुख है।

३ 'सचिव धरमरुचि हरिपद प्रीती।०' इति। (क) मंत्रीमें कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों कहते हैं।—'सचिव सयान बंधु बल वीरा' एवं 'नृपहितकारक सचिव सयाना' से ज्ञानी, 'धरम रुचि' से कर्मी और 'हरिपद प्रीति' से उपासक जनाया। (ख) प्रथम ही जो कहा था कि 'नृपहितकारक सचिव' मंत्री हितकारक है यह हितकारकत्व यहाँ दिखाते हैं कि 'नृपहित हेतु' नित्य नीतिकी शिक्षा राजाको दिया करता है। तात्पर्य्य कि राजाका हित नीतिसे है। बिना नीतिके राज्य नहीं रहता, यथा 'राजु कि रहइ नीति बिनु जानें। ७.११२।' (धर्मार्थाविरोधी काम और धर्माविरोधी अर्थका सेवन नीति है जिसमें धर्म, अर्थ और काम किसीको भी पीड़ा न हो। वि० त्रि०)। (ग) 'धरम रुचि' कहकर तब हरिपद प्रीति कहनेका भाव कि धर्मसे हरि-भक्तिकी प्राप्ति होती है, यथा 'जप जोग धरम समूह ते नर भगति अनुपम पावई। ३.६।'

नोट—२ महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'हरिपद प्रीति' विशेषण देकर कवि आजहीसे शरणागतिकी नींव दे रहे हैं। ३ ☞ उपदेश—भक्तिका बीज जो पड़ जाता है वह जन्मजन्मान्तरमें बढ़ता ही जाता है, सूखता नहीं। राक्षस होनेपर भी मंत्री भगवद्भक्त ही रहा। भुशुंडीजीने भी कहा है—'ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै बिहंग बर। ७.७६।' हरिपद प्रीति दूसरे तनमें इसीसे हुई। ४-हरिपद प्रीतिमें मंत्रीका अपना हित है और नीति सिखानेमें राजाका हित है, वह दोनों करता है। (खर्रा)

टिप्पणी—४ 'गुर सुर संत पितर महिदेवा।०' इति। (क) यहाँ गुरु संत सुर पितृ और ब्राह्मण पाँच नाम लिखकर सूचित किया कि यह दूसरे प्रकारके पंचदेव हैं। यथा 'चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहै न संकरद्रोही।।४.१७.५।' यहाँ शंकरसे 'सुर' को कहा। क्योंकि शंकरजी महादेव हैं। (२) 'देख इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई। ४.१७.७।' यहाँ 'हरि' से पितृदेव कहे। पितृ भगवान्‌के रूप कहे जाते हैं, यथा 'पितृरूपी जनार्दन.'। (३) 'सरदातप निसि ससि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई। ४.१७.५।' से 'संत' को कहा। (४) 'मसक दंस बीते हिमत्रासा। जिमि द्विजद्रोह किए कुल नासा' से महिदेव कहे। (५) 'भूमि जीव संकुल रहे गए सरदरितु पाइ। सदगुरमिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ' से गुरु कहा। पंचदेव सदा पूज्य हैं, इसीसे राजा सदा सबकी सेवा करते हैं। (ख) 'करै सदा'।

'सदा' से राजाकी पाँचोंमें अत्यन्त श्रद्धा दिखाई। (ग) सेवाके प्रकरणमें गुरुको प्रथम कहा क्योंकि इनका दर्जा भगवान्‌से भी अधिक है। यथा 'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाव सेवहि सनमानी॥ २।१२६।'

(ग)—(खर्रा) 'गुरु सुर संत०' से जनाया कि राजा कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों कांडोंमें आरूढ़ है। गुरुसेवासे ज्ञान (यथा 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान'), संतसेवासे उपासना और देव पितृ विप्र-सेवासे कर्म कांड सूचित किया।

(घ) विनयमें भी पाँचोंको पंचदेवोंकी तरह एक साथ ही कहा है। यथा "द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पाइये। यह जानि तुलसीदास त्रास हरन रमापति गाइये। पद १३६।१२।" ये भवपार होनेके साधन हैं, अतः इनकी सेवा करता है। *विनयमें यहाँके 'पितर' की जगह 'हरि' हैं (जिसका* कारण ऊपर दिया गया है), शेष चार वही हैं।

> भूप धरम जे बेद बखानें। सकल करै सादर सुख मानें॥ ५॥
> दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना। सुनै सास्त्र बर बेद पुराना॥ ६॥
> नाना बापी कूप तड़ागा। सुमन बाटिका सुंदर बागा॥ ७॥
> बिप्र-भवन सुर-भवन सुहाए। सब तीरथन्ह बिचित्र बनाए॥ ८॥
> दोहा—जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग।
> बार सहस्र सहस्र नृप किए सहित अनुराग॥ १५५॥

शब्दार्थ—बापी = बावली, छोटा कुँआ या गहरा तालाब जिसमें जलतक पहुँचनेके लिये सीढ़ियाँ बनी होती हैं। तड़ाग = तालाब। जाग = यज्ञ।

अर्थ—राजाओंके धर्म जो वेदोंने कहे हैं उन सब धर्मोंको राजा आदरपूर्वक सुख मानकर करता था॥ ५॥ प्रतिदिन अनेक प्रकारके दान देता और उत्तम शास्त्र वेद और पुराण श्रवण करता था॥ ६॥ सब तीर्थोंमें अनेक बावलियाँ, अनेक कुएँ, अनेक तालाब, सुन्दर फुलवाड़ियाँ और बाग तथा ब्राह्मणों और देवताओंके सुहावने घर और मंदिर विचित्र विचित्र बनवाए। ७-८। जहाँ तक वेदपुराणोंमें यज्ञ कहे गये हैं उन सबोंको एक-एक करके हजार हजार बार राजाने प्रेमसहित किया। १५५।

नोट—१ 'भूप धर्म' इति।—राजाओंके धर्म श्रीरामचन्द्रजीने भरतजीसे यों कहे हैं—'मुखिया मुख सों चाहिए खान पान कहुँ एक। पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक॥ २।३१५। राजधरम सरबस एतनोई। जिमि मन माहँ मनोरथ गोई॥' प्रजापालन, देशरक्षा, उपद्रव आदिका निवारण इत्यादि राजाओंके धर्म हैं। महाभारतके शान्तिपर्वके 'राजधर्म' अंशमें राजाके धर्मोंका वर्णन है।

टिप्पणी १—'भूपधरम जे बेद बखाने।०' इति। (क) भूपधरम = राजधर्म। ये धर्म अपनेही धर्म हैं। 'सादर करै' से जनाया कि अपने धर्मोंके करनेमें राजाकी बड़ी श्रद्धा है। वह श्रद्धा दिखाते हैं। सब करना, सादर करना और सुख मानकर करना यह सब श्रद्धाके द्योतक हैं। (ख) वेद जो कहते हैं वह धर्म है, वेदके प्रतिकूल जो कर्म हैं वह अधर्म है, यथा 'जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला। १८३।५।', 'वेद प्रतिपादितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः' इति मनु० महाभारते। वेद कहते हैं इसीसे करते हैं। सब करते हैं। सब करनेसे शरीरको कष्ट मिलता है तब अनादर होता हो सो बात नहीं है, यह जनानेको 'सादर सुख मानें' कहा। ☞ भूप धर्म क्या हैं यह आगे दोहे तक कहते हैं।

वि० त्रि०—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः', अपने धर्ममें मरना अच्छा है, क्योंकि परधर्म

भयका देनेवाला है। राजा यदि सन्यास धर्मका पालन करने चले तो वह उसके लिये परधर्म है, उसका फल अत्यन्त बुरा है। गीतामें प्राधान्येन यही शिक्षा है। धर्माचरण प्रारम्भमें विषसा मालूम होता है, पर परिणाममें अमृततुल्य है।

टिप्पणी २ 'दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना।०' इति। (क) 'दिन प्रति' का भाव कि लोग कहीं पर्व आदि पुण्य अवसरोंपर विविध प्रकारका दान देते हैं पर राजाको ऐसी श्रद्धा है कि 'प्रति दिन' विविध प्रकारके दान देते हैं, प्रतिदिन शास्त्रादि सुनते हैं। अनेक पदार्थ देते हैं, यथा 'गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा। १९६।८। (पुन- 'बिबिध बिधि' से जनाया कि जिस दानका जैसा विधान शास्त्रों में है उसके अनुसार दान देता था। वि० त्रि०)। (ख) 'सुनै सास्त्र बर बेद पुराना' इति। कथा प्रतिदिन तीन बार होती है। प्रात, मध्याह्नोत्तर और रात्रि में। एक समय धर्मशास्त्र होता है, यथा, 'कहहिं बसिष्ठ धरम इतिहासा। सुनहिं महीसु सहित रनिवासा। ३५६.४।' एक समय पुराण होता है और एक बार वेद। (ग) 'शास्त्र बर' का भाव कि वेद पुराण शास्त्र तीनों त्रिगुणात्मक हैं, राजा सतोगुणी और रजोगुणी शास्त्र सुनते हैं, तमोगुणी नहीं सुनते। (घ) प्रथम कहा कि 'भूपधरम जे बेद बखाने। सकल करै', (सब सादर करते हैं) और अब कहते हैं कि 'सुनै शास्त्र बर बेद०', इससे सूचित किया कि जो प्रतिदिन सुनते हैं वही करते हैं।

३—'नाना बापी कूप तड़ागा।०' इति। (क) चार चरणोंका अन्वय एक साथ है, 'बनाए' सबकी क्रिया अन्तमें दी है। 'अनेक' और 'सुन्दर' विशेषणका सम्बन्ध सबमें है, इससे अत्यन्त श्रद्धा दिखाई। (ख) 'बापी कूप तड़ाग' कहकर 'सुमन बाटिका बाग' को कहनेका भाव कि ये सब जलाशय वाटिका और बागोंमें हैं, यथा 'बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं। ५.३।', 'मध्य बाग सरु सोह सुहावा। २२७.७।' (ग) एक चरणमें वापी, कूप, तडागको कहा और दूसरेमें वाटिका बागको। दो चरणोंमें दोनोंको पृथक्-पृथक् लिखकर जनाया कि वाटिका और बागोंसे पृथक्‌भी बहुत जलाशय बनाए हैं।

४—'बिप्रभवन सुरभवन सुहाए।०' इति। (क) 'बिचित्र बनाए' अर्थात् बनावमें सुंदर हैं, अनेक रंगोंसे रँगे हुए चित्रित हैं, यथा 'मंगलमय मंदिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरें। २१३.४।' (ख) 'सुहाए' और 'बिचित्र बनाए' से राजाकी श्रद्धा दिखाई। (ग) 'बिप्रभवन सुरभवन' इति। पूर्व जो कहा था कि 'गुर सुर संत पितर महिदेवा। करै सदा नृप सब कै सेवा' इससे गुरस्थान और संतस्थानका बनाना न कहा। संत विरक्त होते हैं, स्थान नहीं चाहते,—'सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महाकुसमाजहि रे'। पितृका मंदिर नहीं होता, इसीसे पितृमंदिरका बनाना न कहा। (घ) 'सब तीरथन्हि बनाए' क्योंकि तीर्थस्थानोंमें इनके बनानेका विशेष माहात्म्य है। ब्राह्मण देवताओंकी पूजा करते हैं (इसलिए उनके घर बनाए), मंदिरोंमें जीविका लगी है। (विप्रभवन और सुरभवनको साथ रखकर सूचित किया कि देवमंदिरके पास ब्राह्मण पुजारीका घर बना देते थे जिसमें बराबर पूजा होती रहे)।

[पुन- भाव कि वेदकी रक्षाके लिये विप्रभवन, उपासनाके लिये सुरभवन और तरनेके लिये तीर्थों को बहुत ही सुन्दर बनाया। पुण्यके दो विभाग हैं—इष्ट और पूर्त। उनमेंसे पूर्त यहाँ तक कहे, आगे दोहेमें इष्ट कहते हैं। यथा, 'वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते।' 'एकाग्निकर्महवनं त्रेतायां यच्च हूयते। अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते।' अर्थात् वावली, कूप, तालाव, देवमन्दिर, अन्नका सदाव्रत और बाग इन सबोंको पूर्त कहते हैं। एकाग्नि कर्म हवन और त्रेताग्निमें जो हवन किया जाता है तथा अन्तर्वेदीमें जो दान किया जाता है, उसे इष्ट कहते हैं। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—५ 'जहँ लगि कहे पुरान श्रुति०' इति। (क) इससे यज्ञ करनेमें श्रद्धा दिखाई। वेद पुराण और शास्त्रोंका सुनना कहा था। शास्त्रोंमें यज्ञोंका वर्णन नहीं है, इसीसे यहाँ शास्त्रोंको नहीं कहते, केवल वेद

पुराणोंको कहते हैं। (परन्तु वे० भू० जी कहते हैं कि प्रत्येक यज्ञका पूर्ण विधान एवं महत्व पूर्वमीमांसा शास्त्रमेंही वर्णित है। विना मीमांसा शास्त्रके किसीभी यज्ञका अस्तित्वही न रह जायगा। शुक्ल यजुर्वेदके प्रथम और द्वितीय अध्यायमें नवेन्दु और पूर्णेन्दु यज्ञका, तृतीयाध्यायमें अग्निहोत्रका, चतुर्थसे अष्टमाध्याय तक सोमयज्ञका, दशममें वाजपेय और राजसूय यज्ञका, एकादशसे अष्टादशतक यज्ञीय वेदी बनानेकी विधि, उन्नीससे एकीस तक सौत्रामणियज्ञका, बाईससे पचीसतक अश्वमेधयज्ञका, छब्बीससे एकतीस तक चान्द्र-यज्ञका, तीस और एकतीसमें नरमेधयज्ञका, बत्तीससे पैंतीसतक सर्वमेधयज्ञका वर्णन है। बृहदारण्यकोप-निषद्के पूर्वार्ध में भी यज्ञकाही वर्णन है। इससे इस भावमें त्रुटि आती है)। (ख) 'जहँ लगि' का भाव कि वेदादिमें ढुँढ़वा ढुँढ़वाकर यज्ञ किये। 'सहस्र सहस्र' शब्द 'अगणित, अनंत' वाची हैं। 'अनुराग सहित' करना कहा क्योंकि उत्साह भंग होनेसे धर्म निष्फल हो जाता है, यथा 'उत्साह भंगे धन धर्महानि'। (खर्रा)-सहस्रों यज्ञोंका फलही है कि 'सुनासीर सत सरिस' विलास पावेगा।

> हृदय न कछु फल अनुसंधाना। भूप बिबेकी परम सुजाना ॥ १ ॥
> करै जे धरम करम मन बानी। बासुदेव अर्पित नृप ग्यानी ॥ २ ॥
> चढ़ि बर बाजि बार एक राजा। मृगया कर सब साजि समाजा ॥ ३ ॥
> बिंध्याचल गँभीर बन गएऊ। मृग पुनीत बहु मारत भएऊ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अनुसधान=पीछे लगना चाह, खोज या प्रयत्न करना, सोचना विचारना। अर्पित=आदरपूर्वक अर्पण या भेंटमें दिया हुआ। मृगया=शिकार, अहेर, आखेट। विपिन=वन।

अर्थ—राजा बड़ा बुद्धिमान् और चतुर है। उसने मनमें किसी फलकी इच्छा नहीं की ॥ १ ॥ जो धर्म वह (मन कर्म वचनसे) करता था उनको वह ज्ञानी राजा मन कर्म और वचनसे वासुदेव भगवान्को अर्पण कर देता था ॥ २ ॥ एक बार (की बात है कि) शिकारका सब साज सजाकर राजा उत्तम श्रेष्ठ घोड़ेपर सवार होकर विन्ध्याचलके घने गहरे वनमें गया और वहाँ उसने बहुतसे पवित्र मृग मारे ॥ ३-४ ॥

टिप्पणी—१ 'हृदय न कछु फल अनुसधाना०' इति। (क) 'परम सुजान' का भाव कि राजा कर्मकी गतिको जानते हैं कि कर्मके फलकी इच्छा करनेसे कर्मबंधन होता है, इसीसे निष्काम कर्म करते हैं। विवेकी हैं अर्थात् असत् कर्म नहीं करते, समीचीन कर्म करते हैं, यथा 'अस विवेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहि मन राता' ॥ 'परम' देहलीदीपक है। [विवेकी था, अतः समझता था कि मेरा कर्ममें ही अधिकार है, फलमें नहीं। यथा 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' (वि० त्रि०)]

नोट—१ रा० प्र० कारका मत है कि राजाको ज्ञानी कहनेमें भाव यह है कि ज्ञानमें विघ्न होता है। राजाको आगे विघ्न होगा, उसे राक्षस होना पड़ेगा। मा० म० कार लिखते हैं कि "भानुप्रताप और मनुकी उपासना एकही (परतम रामचन्द्र) की थी, परन्तु उसने जो कर्म किए उनको भगवदर्पण कर दिया जिसका फल परधाम जानेपर प्राप्त होगा और मनु महाराजने अपने शुभ कर्मका फल लोकहीमें ले लिया कि परमात्मा स्वयं पुत्र हो प्रकट हुए"।

टिप्पणी—२ 'करै जे धरम करम मन बानी। बासुदेव अर्पित०। इति। (क) 'नृप ज्ञानी' का भाव कि ज्ञानी है, इससे जानता है कि विना भगवान्को अर्पण किए कर्म व्यर्थ हो जाता है, यथा 'हरिहि समरपे बिनु सतकर्मा। श्रम फल०। ३।२१।' (ख) ☞ राजामें कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों कहते हैं। 'करै जे धरम' इससे कर्म, 'बासुदेव अर्पित' से उपासना और 'ज्ञानी' से ज्ञान कहा। ['कर्म मन बानी' दीपदेहली है। राजा सब धर्म मन कर्म वचनसे करता है। अर्थात् जितने मन कर्म वचनके पाप हैं उनको त्यागकर सब धर्मका प्रतिपालन करता है।] (ग) 'बासुदेव अर्पित' से राजाकी वासुदेवमें प्रीति कही। भगवान्में

प्रेम कहकर राजाके कर्म और ज्ञानकी शोभा कही। बिना भगवत्प्रेमके कर्म और ज्ञानकी शोभा नहीं है, यथा 'सो सब करम धरम जरि जाऊ। जहँ न रामपदपंकज भाऊ॥ जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ न राम प्रेम परधानू॥', 'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू'। (घ) यहाँ दिखाया कि धर्म भी मन कर्म वचनसे होते हैं जैसे पाप तीनों प्रकारके कहे गए हैं, यथा 'जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं।२। १६७।' (ङ) 'करै जे धरम' से जनाया कि सभी धर्मोंको भगवान्‌को अर्पण कर देता है—(गीतामें कहा भी है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।२।४७।' अतः भगवदर्पण करना उचित ही है)। यदि एक भी कर्म, बिना समर्पित किया रह जाय तो भवबंधन होता है। [इसीसे भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि सब कर्म संग और फलको छोड़कर करने चाहिएँ यथा "एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्। १८। ६।", 'न कछु फल अनुसंधाना' और 'बासुदेव अर्पित' कहकर जनाया कि वह सभी कर्म धर्म निष्काम भावसे भगवान्‌के अर्पण हेतु ही करता था।]

३ (क) 'चढ़ि बर बाजि बार एक राजा' इति। 'एक बार' का भाव कि शिकार खेलने तो अनेकों बार गए क्योंकि राजा हैं, पर अनेक बारके मृगयाके कथनका कोई प्रयोजन नहीं है। जिस बारके मृगयाके कथनका प्रयोजन है (जिससे इस कथाका, श्रीरामजन्म-हेतुका संबंध है) उस बारका प्रसंग कहते हैं। (ख) 'बर बाजि' पर एक बार चढ़कर मृगयाको गए, इस कथनसे यह सूचित किया कि कभी रथपर, कभी हाथीपर भी चढ़कर शिकारको जाया करते थे, पर इस बार घोड़ेपर चढ़कर गए। इससे यह जनाया कि राजा, सुरथकी तरह एकाकी वनमें गए, यथा 'एकाकी हयमारुह्य जगाम गहनं वनं'। हाथीपर महावत रहता है और रथपर सारथी साथ रहता है, घोड़ेकी सवारीपर कोई साथ नहीं रहता। (ग) 'बर बाजि' का भाव कि ऐसा श्रेष्ठ घोड़ा है कि उसकी दौड़में कोई शिकार निबह नहीं सकता तथा वह राजाके मनके अनुकूल चलता, काम करता है। (घ) 'मृगया कर सब साजि समाजा' अर्थात् अनेक प्रकारके हथियार लिए, खड्ग, तलवार, कृपाण, बर्छी, बल्लम, धनुष बाण, पाश आदि। पुनः 'सब साज' से यह भी जनाया कि घोड़ा और वस्त्र सब हरे रंगके हैं। जिससे वृक्षोंके रंगमें छिप सकें*। (ङ) 'बिंध्याचल गँभीर बन गयऊ' इति। गंभीर वनमें गया कहकर जनाया कि और जो शिकार खेलने योग्य वन थे जहाँ पूर्व जाया करते थे वे गम्भीर न थे, इसीसे उन वनोंमें बहुत मृग नहीं थे, इसमें, गंभीर होनेके कारण, बहुत मृग थे। (यह भी संभव है कि और वनोंमें पूर्व बहुत बार गए थे, इससे वहाँ शिकार बहुत न मिल सकते थे, इससे दैवयोगसे इस वनमें गए।) (च) 'मृग पुनीत बहु मारत भऊ'। 'पुनीत' मृग वह हैं जिनके वधकी आज्ञा शास्त्रने दी है। यथा 'पावन मृग मारहिं जिय जानी'। २०५ (७) देखिए। मृगयाका सब साज सजकर गए और गहरे सघन वनमें गए जहाँ बहुत मृग थे, इसीसे बहुत मृग मारे, घने वनमें शिकारके पशु बहुत रहते ही हैं।

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू॥५॥
बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं। मनहुँ क्रोधबस उगिलत नाहीं॥६॥
कोल कराल दसन छबि गाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई॥७॥

---

* राजा रजोगुणी तमोगुणी और सतोगुणी तीनों कर्म करता है। दिग्विजय, प्रजापालन और अर्थ कामादिका सेवन रजोगुणी कर्म हैं। गुरु, सुर पितृ महिदेव सेवा इत्यादि सतोगुणी कर्म हैं। और 'चढ़ि बर बाजि मृगया करई' यह तमोगुणी कर्म है। तमोगुणी कर्म करनेसे विघ्न हुआ जैसा आगे कहते हैं। (शिकारी कुत्ते, बाज पक्षी आदि जो कुछ वस्तु मृगयोपयोगी थे वे 'सब साज' हैं। वि० त्रि०।)

घुरुघुरात हय आरौ पाएं । चकित बिलोकत कान उठाएं ॥८॥
दोहा—नील महीधर सिखर सम देखि बिसाल बराहु ।
चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप हाँकि न होइ निबाहु ॥१५६॥

शब्दार्थ—बराह = सूकर, सुअर । दुरेउ = छिपा । ग्रसि = भक्षण करके, इस प्रकार पकड़कर कि छूट न सके, निगलकर । बिधु = चन्द्रमा । उगिलत = उगलता, मुँहसे बाहर निकाल फेंकता । दसन (दशन) = दाँत । पीवर = मोटा, स्थूल, यथा 'पीनस्तु स्थूल पीवर इत्यमर' । खूब माँस और चर्बीसे लदा हुआ । कोल = सुअर । घुरुघुरात—घुरघुराता था, सुअरके गलेसे घुरघुर ऐसा शब्द निकलता है । हय = घोड़ा । आरौ = आरव = शब्द, आहट । महीधर = पर्वत । सिखर = चोटी, कंगूरा । चपरि = चपलतासे, शीघ्र, फुर्तीसे, एकबारगी, जोरसे । यथा 'तहाँ दसरथके समर्थ नाथ तुलसीको चपरि चढ़ायो चाप चन्द्रमा ललामको', 'राम चहत सिव चापहि चपरि चढ़ावन', 'जीवनते जागी आगि चपरि चौगुनी लागि तुलसी बिलोकि मेघ चले मुँह मोरिकै' । सुटुकि = कोड़ा मारकर, चाबुक लगाकर, इशारा (टिकटिक करके) देकर, टिटकार कर । 'निबाह' = अन्ततक एकसा पूरा पड़ना, गुजारा छुटकारा, बचावका रास्ता या ढंग, पार पाना, निकलना, बचना ।

अर्थ—राजाने एक सुअर वनमें फिरते हुए देखा । (वह ऐसा देख पड़ता था) मानों चन्द्रमाको ग्रसकर राहु वनमें आ छिपा है ॥ ५ ॥ चद्रमा बड़ा है, मुँहमें नहीं अमाता, मानों क्रोधवश वह उसे उगलता भी नहीं ॥ ६ ॥ यह शोभा सुअरके भयकर दाढ़ोंकी कही गई है, उसका शरीर बहुत लंबा चौड़ा था और मुटाई बहुत थी ॥ ७ ॥ घोड़ेकी (टापकी) आहट पाकर सुअर घुरघुराता और कान उठाए चौकन्ना हो देख रहा है ॥ ८ ॥ नीलगिरिके शिखरके समान बड़ा भारी सूकर देख राजा घोड़ेको चाबुक लगाकर फुर्तीसे हाँक चला अर्थात् सरपट छोड़ा जिसमें सुअरका निर्वाह न हो ।*

टिप्पणी—१ (क) 'फिरत बिपिन नृप दीख बराहू' इति । ☞ कालकेतु राक्षस वराहका रूप धरकर राजाको छलना चाहता है, यथा 'कालकेतु निसिचर तहँ आवा । जेहि सूकर होइ नृपहि भुलावा' । इसीसे यह वनमें फिरता है कि जिसमें राजा हमें देखे तब हम भागकर इन्हें (पीछा कराते हुए) कपटी मुनिके पास ले जायँ । [सुअर फिर रहा है, यह उसका कपट है । वह अपने कार्य्यसाधनहेतु फिरता है कि जिसमें राजा हमें देखकर पीछा करें । जैसे मारीच कपटमृग बनकर श्रीसीताजीके सामने फिरता था] ☞ कालकेतु वराह बनकर मृगोंमें मिला, अवध्य मृग न बना, क्योंकि अवध्य मृग बननेसे राजा पीछा न करते और हिंसक होनेसे वराहका शिकार राजा लोग करते ही हैं । अवश्य वराहरूप देखकर पीछा करेंगे अत वराह बना । (ख) 'जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू' इति । इन्द्रके वज्रसे अथवा भगवान्‌के चक्रसे डरकर मानों राहु वनमें जा छिपा है । जैसे हनुमान्‌जीने जब सूर्य्यको ग्रास कर लिया था तब इन्द्रने वज्र उनपर चलाया था । चन्द्रग्रहणकी उपमा देकर सूचित किया कि राजाके नाश करनेवाला विघ्न

* कोई कोई टीकाकार 'सुअरकी आहट पाकर घोड़ा घुरघुराता है और कान उठाये ', वा, "घुरघुरानेका शब्द सुन घोड़ा कान उठाये चकित देखता है ।" ऐसा अर्थ करते हैं । बैजनाथजी लिखते हैं कि राजा वृक्षोंकी आड़में हैं इससे शूकर चकित देखता है । वीरकविजी एवं विनायकी-टीकाकार 'हाँकि न होइ निबाह' का अर्थ ऐसा भी करते हैं कि 'राजाने सूअरको ललकारा कि अब बच न सकेगा ।' और श्रीशुकदेवलालजी 'यद्यपि जानेका निबाह भी नहीं होनेका' ऐसा अर्थ करते हैं । प० रामकुमारजी 'चपरि चलेउ हय सुटुकि' का अर्थ 'घोड़ेको टिटकार देकर हाँकके दबाकर चला' ऐसा करते हैं । वि० त्रि० जी अर्थ करते हैं—'क्योंकि हाँकनेसे निर्वाह नहीं होता था' ।

प्राप्त हुआ । जैसे चन्द्रमाको राहु ग्रसता है वैसे ही राजा भानुप्रतापको खल ग्रसेंगे। जैसे राहु चन्द्रमाको ग्रसकर वनमें छिपा है वैसे ही राजाको ग्रसनेवाले दुष्ट वनमें छिपे हैं।

नोट १—यहाँ सूअर उपमेय, राहु उपमान, दोनों काले हैं। दाढ़े (दाँत) उपमेय, चन्द्रमा उपमान, दोनों श्वेत चमकदार, दोनों गोलाकार। कालापन और गोलाकार दाढ़ोंका मुँहके भीतरसे बाहरतक निकले और चमकते दिखाई पड़ना उत्प्रेक्षाके विषय हैं। राहु और चन्द्रमा दोनों आकाश ही पर रहते हैं, राहुका चन्द्रमाको मुँहमें पकड़कर वनमें छुपना यह उत्प्रेक्षाका आधार असंभव है, सिद्ध नहीं होता, अतएव यह 'असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा' है।

२—'क्रोधवश' क्षीरसमुद्रमें अमृत निकलनेपर जब भगवान् उसे देवताओंमें बाँटने लगे तब राहु भी देवसमाजमें आ बैठा था। चन्द्रमाने इशारेसे इसका छल भगवान्को बताया था। उस वैरके कारण क्रोध रहता है। भगवान्ने चक्रसे राहुके दो टुकड़े कर दिए, उसमें एक केतु कहलाता है और एक राहु। विशेष १।४।३,६ भाग १ पृष्ठ १४०, १४६ में देखिये।

३—श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि वराहको राहुकी उपमा देनेका भाव यह है कि जैसे यह (कालकेतु) राक्षस राहुसम चन्द्रमाको ग्रसे है वैसे ही कपटमुनिरूप केतु 'भानु प्रताप' को ग्रसेगा। (भाव यह जान पड़ता है कि राहु और केतु का संबंध है। कालकेतुको राहु कहा है तो उसका साथी केतु हुआ। परंतु केतुका सूर्यको ग्रसना हमने कभी नहीं सुना। और केतु जिसका उदय उत्पातकारक होता है वह राहुवाला केतु नहीं है)।

टिप्पणी—१ (क) 'बड़ बिधु नहि समात मुख माहीं' इति। 'बड़ बिधु' का भाव कि ग्रहण पूर्णचन्द्रका होता है, पूर्णिमाका चंद्र पूर्ण और बड़ा होता है। 'नहिं समात' कहनेका भाव कि शूकरके दाँत मुखसे अधिक हैं अर्थात् बाहर निकले हुए हैं। मुखमें जब नहीं समाता तो उगल देना चाहिए पर यह उगलता नहीं, इसका कारण बताते हैं कि क्रोधवश है। चन्द्रमापर राहुका बड़ा क्रोध है। (ख) 'कोल कराल दसन छबि गाई।०' इति। ☞ यहाँ सूर्य्य ग्रहण की उत्प्रेक्षा नहीं की क्योंकि सूर्य की उपमा दाँतकी नहीं (दी जाती) है, चन्द्रमाकी ही उपमा दाँतोंकी (दी जाती) है, यथा 'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा।१९८।७', 'अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधु कर निकर बिनिंदक हासा। १४७।२।' अर्थात् हाससे दाँतोंका प्रकाश चन्द्रकिरणको लज्जित करता है। इसीसे चन्द्रग्रासकी उत्प्रेक्षा दाँतोंकी छबि कहनेकेलिए की गई। चन्द्रमामें छबि है। राहुका स्वरूप भारी है, इसीसे सूकरके तनको भारी कहा, राहु काला सूकर भी काला (ग) 'चकित बिलोकत कान उठाए' इति। यह शूकरजातिका स्वभाव है। जब घोड़ा दौड़ा तब आहट मिली अर्थात् टाप सुन पड़ी, तब घुरघुराने लगा जिसमें शब्द सुनकर पास आवें और कान उठाकर शब्द सुनता है कि किस दिशासे आते हैं। 'चकित बिलोकत' कि कहीं धोखेसे निकट न आ जायँ और मार लें।

२ (क) 'नील महीधर सिखर सम—' इति। नीलपर्वतके समान बड़ा नहीं बना किन्तु शिखरके समान बना जिसमें राजाको भ्रम न होने पावे कि इतना बड़ा शूकर तो होता नहीं यह कोई राक्षस है जिसने कपट छलका वेष धारण किया है। ऐसा सन्देह होनेसे पीछा न करता। (ख) ☞ 'फिरत बिपिन नृप दीख बराहू' पर प्रसंग छोड़ा था, बीचमें वराहका स्वरूप उत्प्रेक्षाद्वारा कहने लगे, अब फिर वहींसे प्रसंग उठाते हैं—'देखि बिसाल बराह'। पूर्व वराहका देखना कहा था, अब देखकर मारनेको दौड़ना यह कहते हैं। (ग) 'नील महीधर' कहकर जनाया कि नीले शूकरका रूप धरा था। पुनः, नील पर्वत समान कहकर उसके देहकी सुंदरता कही, यथा 'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सयल इक सुंदर भूरी॥ ७।५६।' इसी नीलगिरिके शिखरके समान कहा। (घ) ☞ 'चपरि चलेउ हाकि न होइ निबाह' इससे पाया गया कि राजाने

वराहको तलवारसे मारनेकी इच्छा की, इसीसे निकट पहुँचनेकेलिए उन्होंने घोड़ा दौड़ाया, नहीं तो जहाँसे देखा था वहाँसे निशाना लगाकर बाण मारते।

आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ बराह मरुतगति भाजी ॥१॥
तुरत कीन्ह नृप सर सधाना। महि मिलि गयउ बिलोकत बाना ॥२॥
तकि तकि तीर महीस† चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा ॥३॥
प्रगटत दुरत जाइ मृग‡ भागा। रिसबस भूप चलेउ सँग॰ लागा ॥४॥

शब्दार्थ—बाजी (वाजि) = घोड़ा। सधाना-चढ़ाया, लगाया। निशाना किया। चलाया। रव (फा० री)=रफ्तार, चाल।-यह फारसी शब्द है। वेग। दुरत = छिपता। भाजी = भागकर।

अर्थ—घोड़ेको अधिक तेज रफ्तारसे आते देख वराह वायुकी चालसे भाग चला अर्थात् हवा हो गया ॥१॥ राजाने तुरत बाणको धनुषपर चढ़ाकर चलाया बाणको देखते ही वह पृथ्वीमें दबक गया ॥२॥ राजाने ताक ताककर तीर चलाए। सुअर छल करके शरीरको बचाता रहा ॥ ३ ॥ कभी छिपता, कभी प्रकट हो जाता, इस प्रकार वह पशु भागता जाता था और राजा रिसके मारे उसके पीछे लगा चला जाता था ॥४॥

टिप्पणी—१ (क) 'आवत देखि'। भाव कि शूकर यही राह देख रहा था कि राजा मेरी ओर आवे तब मैं कपटी मुनिके आश्रमकी ओर भागूँ। (ख) 'अधिक रव बाजी' अर्थात् घोड़ेको भारी वेगसे आता हुआ देखा। इससे जनाया कि और घोड़ोंसे इसका वेग अधिक है। (ग) 'मरुतगति भाजी' से जनाया कि घोड़ेके वेगसे (चलनेसे) शूकरका निर्वाह न हो सकेगा, इसीसे वह शूकरकी गतिसे न भागा, पवनकी गतिसे भागा। (नोट—पवनके वेगसे चलना, हवा होजाना, ये मुहावरे हैं अर्थात् बहुत शीघ्रतासे चलना)। अथवा, 'अधिक रव' का अर्थ दूसरे चरणमें खोला कि घोड़ा पवनके वेगसे दौड़ा, इसीसे सूकर भी पवनकी गतिसे भागा। इससे जनाया कि घोड़ा पवनवेगी है। (घ) दोहेमें जो 'चपरि चलेउ' कहा था उसका अर्थ यहाँ खोला कि 'अधिक रव' से चला।

२—'तुरत कीन्ह नृप सर सधाना'। भाव कि जब तलवारकी पहुँच न रहगई तब बाण चलाया। 'तुरत' बाण चलाया यह जानकर कि अब यह बाणकी पहुँचसे भी बाहर निकला जाता है। ☞ यहाँ दिखाया कि राजा अश्वारोहण और धनुर्विद्यामें बड़ा निपुण है कि दौड़ते हुए घोड़ेपर बैठा हुआ बाण चलाता है (घोड़ेकी बागडोर छोड़ेहुए है। दोनों हाथ धनुषबाणमें फँसे हुए हैं। घोड़ेकी सवारीपर शिकार प्रायः भाला, बर्छा, तलवारसे किया जाता है जिसमें एक हाथसे घोड़ेको सँभाले रहते हैं। बाण चलानेमें दोनों हाथोंका काम पड़ता है।))। (ख) 'महि मिलि गयउ बिलोकत बाना', इससे बाणकी करालता कही, यथा 'देखेसि आवत पबिसम बाना। तुरत भयउ खल अनरधाना। ६।७८।' पुनः, भाव कि नीलगिरिशिखरसमान वराह है इस प्रमाणसे राजाने बाण मारे। वह पृथ्वीमें मिल गया अर्थात् रजसमान हो गया, बाण उपरसे निकल गया। (यह मुहावरा है। जमीनसे मिल गया अर्थात् दबककर जमीनसे आ मिला)। (ग) 'तकि तकि तीर महीस चलावा'। भाव कि जब प्रथम बाण न लगा, ऊपरसे निकल गया, तब राजा बड़ी सावधानतासे ताकताककर बाण चलाने लगा। पुनः, 'तकि तकि' से जनाया कि बहुत तीर चलाए, सब बार खाली ही जाते हैं। (घ) 'करि छल सुअर सरीर बचावा'। क्या छल करता है यह आगे लिखते हैं। 'प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा' यह छल है यथा 'प्रगटत दुरत करत छल भूरी। एहि बिधि प्रभुहि गयउ लै दूरी।३।२७।' (ङ) 'सरीर बचावा' से सूचित किया कि बाण लग पाता तो शरीर न बचता, प्राण निकल जाते। ☞ संधाननेका अर्थ चलाना है, यह 'तकि तकि तीर महीस चलावा' से स्पष्ट कर दिया।

पाठान्तर—† महीप। ‡ मग। ॰ सँग १६६१।

[वैजनाथजी लिखते हैं कि ये बाण बाणविद्याके अभिमन्त्रित बाण नहीं हैं। शिकारमें पशु समझ सीधे बाण चलाए, नहीं तो वह बच न सकता। कामनामें हानिसे क्रोध और उससे मोह होता है। इसीसे पीछा किए जाता है।]

२ (क) 'प्रकटत दुरत जाइ मृग भागा।०' इति। भाव कि बहुत दूर निकल जाता है, तब फिर प्रकट हो जाता है जिसमें राजा निराश होकर चला न जाइ, और जब राजा निकट आ जाते हैं तब छिप जाता है जिसमें राजा मार न लें। पुनः भाव कि जब बाण आते देखता है तब छिप जाता है, जब बाण व्यर्थ हो जाता है तब फिर प्रकट हो जाता है। 'जाइ मृग भागा' से जनाते हैं कि राजाके आगेसे कभी कोई मृग बचता न था पर यह मृग बच बच जाता है, भागा जाता है। (ख) 'रिस बस०'—जब शिकारीको शिकार मारते नहीं मिलता तब उसे स्वभावतः क्रोध आ जाता है। पीछा करनेका कारण क्रोध है। यदि क्रोध न होता तो इतना पीछा न करते। राजा रिसियाए हुए हैं। 'रिस बस' का भाव कि मृगके पीछे सैकड़ों कोस दौड़े जाना बुद्धिमानी वा समझका काम नहीं है। क्रोधमें समझ (बुद्धि) नहीं रह जाती। उसने विचारसे काम न लिया। अनेक मृग मारे, एक न सही, यह समझ न आई। (सभी वार मेरे खाली गए, अतः इसमें कुछ रहस्य है, यह शूकर वेषमें कोई और है)।—[कामन्दकीय नीतिसारमें लिखा है कि राजाओंको मृगया खेलना, पासा खेलना, और मद्य पान करना निन्दित है क्योंकि इन्हींके कारण पाण्डवों, नल और यदुवंशियोंकी विपत्ति देखी जाती है। यथा 'मृगयाऽक्षास्तथा पानं गर्हितानि महीभुजाम्। दृष्टास्तेभ्यस्तु विपदः पाण्डुनैषधवृष्णिषु ॥'—(वि० टी०)]

गएउ दूरि घन गहन बराहू। जहँ नाहिन गज बाजि निबाहू ॥५॥
अति अकेल बन बिपुल कलेसू। तदपि न मृग मग तजै नरेसू ॥६॥
कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरिगुहा गँभीरा ॥७॥
अगम देखि नृप अति पछिताई। फिरेउ महाबन परेउ भुलाई ॥८॥
दोहा—खेद खिन्न छुद्धित तृषित राजा बाजि समेत।
खोजत ब्याकुल सरित सर जल बिनु भएउ अचेत ॥१५७॥

शब्दार्थ—घन=घना। गहन=वन। नाहिन=नहीं। बिपुल=बहुत। मग=मार्ग, लीक, पीछा। पैठ=घुस गया, प्रवेश किया। खेद=ग्लानि, चित्तकी शिथिलता, थकावट, दुःख। खिन्न-दीन, अप्रसन्न, उदास, चिंतित। तृषित=प्यासा। अचेत=बेसुध, असावधान, मूर्छित, होशहवास ठिकाने नहीं। छुद्धित=क्षुधित=भूखा।

अर्थ—सुअर बहुत दूर घने जंगलमें जा पहुँचा, जहाँ हाथी घोड़ेका गम-गुज़र नहीं ॥५॥ यद्यपि राजा बिलकुल अकेला है और मनमें बहुत क्लेश है तो भी वह शिकारका पीछा नहीं छोड़ता ॥६॥ राजाको बड़ा धीर देख सुअर भागकर पर्वतकी एक बड़ी गहरी गुफामें जा बैठा ॥७॥ उसमें अपना गम-गुज़र न देख राजा बहुत पछताता हुआ लौटा तो उस घोर भारी वनमें मार्ग भूल गया ॥८॥ खेदखिन्न और घोड़े सहित भूख-प्याससे व्याकुल राजा (घोड़ेको लिये हुए) नदी तालाब खोजते फिरते हैं। जलके बिना होशहवास ठिकाने नहीं रह गए ॥१५७॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ाजी—यह शिकार-प्रकरण आजकलके शिकार-वर्णनोंसे मिलाइये और कविकी चित्रणकलापर दाद दीजिए! फिल्मकलाकी दृष्टिकोणसे राजा, घोड़े और सुअरकी प्रगतियाँ कितनी सुन्दर हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'गएउ दूरि घनगहन बराहू।०' इति। इससे दिखाते हैं कि भानुप्रतापके भयसे कपटी मुनि कैसे घोर सघन वनमें भी कितनी दूरीपर रहता था। दूरीका प्रमाण आगे लिखते हैं—'कह मुनि

तात भयो अँधियारा । जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा ।' विंध्यवनसे वराह यहाँ तक ले आया । विंध्याचलसे इतनी दूर राजाका नगर रहा होगा । (ख) 'जहँ नाहिन गज बाजि निबाहू' । तात्पर्य कि यहाँ तक हाथी घोड़ेका निर्वाह था अतएव यहाँ तक राजाने अनेक मृग मारे और यहाँ तक वराहको खेदते आए, अब आगे गुजर नहीं । (ग) 'अति अकेल बन विपुल०' इति । भाव कि ऐसे घोर वनमें बहुत आदमियोंको साथ लेकर प्रवेश करना चाहिए सो राजा अकेला है, एक भी आदमी संगमें नहीं है ।* 'विपुल कलेसू'—बहुत क्लेश यह कि कहीं घोड़ा वझ (फँस) जाता है, कहीं काँटेदार वृक्षोंसे देह छिल जाती है । (घ) 'तदपि न मृग मग तजइ नरेसू', शूकरका मार्ग (पीछा) राजा नहीं छोड़ता, इससे पाया गया कि राजा बाणविद्यामें बड़ा निपुण है, बाणसे (कंटकी वृक्षोंको) काटकाटकर मार्ग करता जाता है, नहीं तो सघन वनमें घोड़ा कैसे दौड़ता ? ऊपर कह आए हैं कि 'जहँ नाहिन गज बाजि निबाहू', तब निश्चय है कि राजा मार्ग बनाते जाते हैं जिससे घोड़ेका निर्वाह होता जाता है । मगका अर्थ मार्ग है, आशयसे उसका अर्थ 'पीछा' है, यथा 'किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा । हठि सबही के पंथहि लागा' अर्थात् रावण हठ करके सबके पीछे लगा यानी पीछे पड़ा, किसीका पिंड नहीं छोड़ता । पथ और मग एक ही है । ['न तजै' का कारण 'नरेश'-शब्द देकर जना दिया । भाव कि यह राजा है, राजहठ प्रसिद्ध है, वह हठवश पीछा नहीं छोड़ता । (पंजाबीजी)]

२ (क) 'कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा' इति । तात्पर्य्य कि कालकेतु (सूकर) को यह विश्वास था कि महावनमें प्रवेश करते ही जहाँ घोड़ेका निर्वाह नहीं है राजा हमारा पीछा छोड़ देगा पर उसको धोखा हुआ, राजाने पीछा न छोड़ा । (ख) 'भागि पैठ गिरिगुहा गभीरा' ।—यहीं तक राजाको ले आनेका प्रयोजन था । यह गभीर गुफा कपटीमुनिके आश्रमके पास है । पुनः, गहरी गुफामें डरकर जा बैठा, यह समझकर कि वैसे राजा पीछा न छोड़ेगा, अवश्य मारेगा, मेरे प्राण ले लेगा, और यह गुफा अत्यन्त अगम है इसके भीतर नहीं आ सकेगा, यथा 'अगम देखि नृप अति पछिताई ।' पर मुख्य बात यही थी कि आगे भागने और राजाको ले जानेका प्रयोजन ही न था । (ग) 'अगम देखि नृप अति पछिताई ।०' इति । अगम्य देखकर उसमें प्रवेश न कर सकते थे, अतएव शिकार हाथसे निकल जानेके कारण पश्चात्ताप हुआ । (पछताना यह कि सब परिश्रम व्यर्थ हुआ, शिकार भी न मिला और अब प्राणोंके लाले पड़े हैं, इत्यादि ।) (घ) 'फिरेउ महाबन परेउ भुलाई' इति । लौट पड़े, उसी रास्ते । तब भूले कैसे ? इससे जनाया कि प्यासके कारण रास्ता छोड़कर इधर उधर जलाशय ढूँढ़ने लगे । मार्गपर कोई जलाशय रहा होता तो न मार्ग छोड़ते न रास्ता भूलते । मार्गपर कोई जलाशय न था, इसीसे खोजने लगा जैसा दोहेसे स्पष्ट है । राजाने बुद्धिसे जलका अनुमान किया होगा, कोई जलपक्षी पास देख पड़े होंगे, जैसे श्रीहनुमान्‌जीने अनुमान किया था, यथा 'चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं । बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं । ४ २४ ।' अथवा जलसे भीगे कोई जीव देख पड़े होंगे उससे अनुमान हुआ कि निकट ही कहीं जलाशय है । इस तरह कपटी मुनिके आश्रममें पहुँचे । आश्रमके पास जल है ही । पुनः, भुलानेका कारण व्याकुलता है । जल बिना एवं भूख प्याससे राजा और घोड़ा दोनों व्याकुल हैं इसीसे भूल गए, यथा 'लागि तृषा अतिसय अकुलाने । मिलै न जल घन गहन भुलाने । ४ २४ ।' पुनः साधारण वन होता तो न भूलता, यह महावन है अतः भूल गया ।

३ (क) 'खेद खिन्न छुद्धित तृषित राजा बाजि समेत०' इति । भूख प्यास दोनों लगी है । (ख) 'जल बिनु भएउ अचेत' का भाव कि भूखसे अचेत नहीं हुए, प्यासके कारण अचेत होगये । दिनभर जल

---

* यदि 'मृगया कर सब साजि समाजा' के 'समाज' से यह अर्थ लें कि राजाके संगमें और लोग भी आए थे तब 'अति अकेल' का भाव होगा कि वे सब विंध्यके वनसे छूट गए, केवल कुछ गज बाजिके सवार संगमें आए, सो वे भी महावनमें छूट गए जहाँ हाथी घोड़ेका निर्वाह न था।

पीनेका अवकाश न मिला, परिश्रम भारी पड़ा, इसीसे प्यास अधिक लगी हुई है। (मनुष्य भूख सह भी सकता है पर प्यास बिना जानपर आ बनती है)। (ग) 'खोजत सरित सर'। भाव कि राजाको नदी या तालाबसेही जल मिल सकता था, बावली और कूपका एक तो वनमें मिलना असंभव दूसरे कुएँसे जल निकालते कैसे ? घोडेको जल कैसे पिलाते ? अतएव वापी कूपका खोजना न कहा।

नोट—राजाका चित्त शिकार हाथसे निकल जानेके कारण उदास है उसपर फिर वनके दुःख काँटे, झाड, भूखप्यास और सध्या का समय। घोड़ा भी शिथिल है, शिकारी जानवरोंको भी शिकार निकल जानेसे दुःख होता है। भूखप्यास भी दोनोंहीको लगी है। घोड़ेकी व्याकुलतासे सवार भी बेकार हो जाता है।

फिरत बिपिन आश्रम एक देखा। तहँ बस[1] नृपति कपट मुनि बेषा ॥ १ ॥
जासु देस नृप लीन्ह छड़ाई[2]। समर सेन तजि गयउ पराई ॥ २ ॥
समय प्रतापभानु कर जानी। आपन अति असमय अनुमानी ॥ ३ ॥
गयउ न गृह मन बहुत गलानी। मिला न राजहिं नृप अभिमानी ॥ ४ ॥
रिस उर मारि रंक जिमि राजा। बिपिन बसै तापस के साजा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कपट=नकली, बनावटी। आश्रम=साधुका स्थान। समय=दिन, एकबाल, भाग्योदय, प्रतापकी प्रबलता, बढ़तीके दिन। असमय = अदिन, अभाग्यके दिन, बुरे दिन। साज=सजाव, वेष।

अर्थ—वनमें फिरते-फिरते एक आश्रम देख पड़ा। वहाँ कपटसे मुनिका वेष बनाए हुए एक राजा रहता था ॥ १ ॥ जिसका देश राजा भानुप्रतापने छीन लिया था (क्योंकि) लड़ाईमें सेना छोड़कर वह भाग गया था ॥ २ ॥ भानुप्रतापका समय और अपना अत्यन्त असमय समझकर ॥ ३ ॥ उसके मनको बहुत ग्लानि हुई इससे घर न लौटा और न वह अभिमानी राजा भानुप्रतापहीसे मिला (मेल मिलाप, संधि ही की) ॥ ४ ॥ वह राजा दरिद्रकी तरह मनमें क्रोधको मारकर तपस्वीके वेषमें वनमें रहने लगा ॥ ५ ॥

नोट—१ 'तहँ बस नृपति कपट मुनि बेषा' कहकर फिर उसके कपट मुनिवेषसे वनमें बसनेके कारण, 'जासु देस नृप लीन्ह छड़ाई' से लेकर 'बिपिन बसै तापस के साजा' तक, कहे। भानुप्रतापके भयसे ७० योजनपर, फिर अति गंभीर वनमें और उसपर भी रूप बदले हुए रहता है—इसीसे 'कपट' शब्द का प्रयोग हुआ।

प० राजबहादुर लमगोड़ा—सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास-कलाके दृष्टिकोणसे यह प्रसंग विचारणीय है।

टिप्पणी—१ (क) 'फिरत बिपिन' = जलाशय खोजते फिरतेमें। 'आश्रम एक देखा' इससे सूचित हुआ कि आश्रमके आगे दूसरी तरफ जल है। यदि जल इधरही होता तो पहिले जल मिलता, पीछे आश्रम। मुनियोंके स्थानको आश्रम कहते हैं। राजा मुनि बना है इसीसे उसके स्थानको आश्रम कहा। (ख) 'तहँ बस नृपति कपट मुनि बेषा' इति। 'कपट मुनि' का भाव कि छल करनेके लिए मुनि बना है, वस्तुतः राजा है, यथा 'राक्षस कपट बेष तहँ सोहा। मायापति दूतहि चह मोहा ॥ ६.५६ ॥' (ग) 'जासु देस नृप लीन्ह छड़ाई' का भाव कि राज्य छीन लिया था, प्राणभी ले लेता, इसीसे भागकर प्राण बचाया। (घ) 'समर सेन तजि गयउ पराई' से सूचित किया कि पहिले यह संग्राम करनेको उद्यत हुआ, सेना लेकर लड़ने चला, रही भानुप्रतापकी सेना और उसका बल यह जब उसने देखा कि बहुत भारी है तब धैर्य जाता रहा और सबको वहीं छोड़कर भाग गया। (ङ) ☞ यहाँ प्रथम देशका छुड़ाना कहते हैं, पीछे समरमें सेना लेकर आना और भागना। इस क्रममें तात्पर्य यह है कि जब भानुप्रताप देश छुड़ाने लगा तब राजा अपना देश

१ जहं बस नृपति जती के बेषा—(रा० व० श०)। २ छोड़ाई—(रामायणीजी)।

बचानेके लिए लड़नेको तैयार हुआ पर शत्रुको बहुत प्रबल देखकर लड़ा नहीं, भाग गया।* [पंजाबीजी कहते हैं कि कपटी मुनिका नाम 'समरसेन' था।]

२ (क) 'समय प्रतापभानु कर जानी' इति। क्षत्रियके लिए रणसे भागना बड़ी लज्जा और दोषकी बात है, इसीपर कहते हैं कि समय भानुप्रतापके अनुकूल है, उनका भाग्य उनका प्रताप उदयपर है, इत्यादि। समयके अनुकूल बरतना नीति है। नीतिकी आज्ञा है कि समयपर राजा किसीभी प्रकारसे अपने प्राण बचा सकता है। देवता लोग तक शत्रुको प्रबल देखकर भाग जाते रहे हैं, यथा 'देखि त्रिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गए पराई॥ १७८ ४॥' (ख) 'आपन अति असमय अनुमानी' इति। प्रथम भानुप्रतापका समय (अच्छे दिन) हुआ तब अन्य सब राजाओंका 'असमय' हुआ, इसीसे भानुप्रतापने सबको जीता और जीतकर देश छीन लिए। राजाने भानुप्रतापका समय देखा, अर्थात् देखा कि यह तो सातों द्वीप जीत लेगा, सर्वत्र इसका राज्य हो ही जायगा, अतएव यह तो राजा ही बना रहेगा, रहे हम सो राजासे रंक हो गए, इससे जान पड़ता है कि हमारा 'अति असमय' है, हमारे सितारे, हमारे नक्षत्र, हमारे दिन बहुत बुरे हैं। (ग) 'गयउ न गृह मन बहुत गलानी०' इति।—भाव कि राजा बहुत अभिमानी है, इसीसे उसने भानुप्रतापसे मेल न कर लिया, उनसे मिला भी नहीं। क्षत्रिय होकर रणसे भाग आया इस बातकी ग्लानि मनमें बहुत मान रहा है, इसीसे घर भी न गया कि किसीको क्या मुँह जाकर दिखाऊँ। ☞ यह सोचकर कि यह भी राजा हममी राजा, जैसे यह क्षत्रिय वैसे हम क्षत्रिय, हम इससे क्यों मिलें, क्यों इसके सामने सिर झुकावें, मिला नहीं। जो राजा भानुप्रतापके वशमें होगए और जो मिले उन्हें उसने छोड़ दिया। यह न मिला इससे इसका देश भी छीन लिया गया और ग्लानिके कारण यह घरवालोंसे भी न मिला। घर बार भी छूटा, अतएव वनमें जाकर बसा कि यहाँ खोजनेको न आवेगा।

नोट—२ 'मिला न राजहि नृप अभिमानी' इति। राजनीतिके चार अङ्ग हैं—साम, दाम, भय, भेद। अपनेको कमजोर देख सन्धि (मेल) कर ली जाती है। इस राजाने मेल न किया, क्योंकि यह अभिमानी है।

३ 'रिस उर मारि रंक जिमि राजा।०' इति। (क) राज्य छुड़ा लिया, राज्यसुख छूट गया, यही 'रिस' है, जैसा आगे 'समुझि राजसुख दुखित अराती। अँवा अनल इव सुलगै छाती' से स्पष्ट है। (ख) 'रिस उर मारि।' भाव कि 'रिसके मारे लोग सब काम बिगाड़ देते हैं, जूझ जाते हैं, यथा 'आवा परम क्रोध कर मारा। गरज घोर रव बारहि बारा', 'सुनत बालि क्रोधातुर धावा। गहि करि चरन नारि समुझावा' इत्यादि, यह बात समझकर राजाने अपने क्रोधको मारा (दबाया), संग्राममें जाकर जूझा नहीं। (ग) 'रंक जिमि'—भाव कि जैसे रंक (कंगाल, दरिद्र, भिक्षुकको कोई गाली दे तो उस) से कुछ करते तो बन नहीं सकता (उसका कुछ बस नहीं चलता, वह कुछ कर नहीं सकता। यह बेचारा करे क्या लाचारीसे) मनके मन हीमें क्रोधको मार रखता है (बस चलता तो खा ही लेता), वैसे ही भानुप्रतापने जब राजाको रंक बना दिया तो वह भी मनमें क्रोध दबाए रखे है (क्रोध करे भी तो कर ही क्या सकता है ? अपनी ही हानि है, रहे सहे प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़े। निर्बल क्रोध करे तो मारा जाय)। (घ) 'बिपिन बसै तापस के साजा।'—भाव कि जब प्रतिष्ठित लोगोंके मानकी हानि होती है तब वे या तो मर जाते हैं या कहीं दूर चले जाते हैं। यथा 'सता माने म्लाने मरणमथवा दूरि शरणं', यह दूर चला आया। वनमें और यह भी तपस्वीके वेषमें रहता है जिसमें कोई सहसा पहिचान न सके, न ढूँढ सके। घने वनमें कौन आवेगा।

* नीति भी है कि उपद्रव, अकाल, अपनेसे बलवान शत्रुके चढ़ आनेपर, दुष्प्रसंग पड़ने इत्यादि अवस्थाओंमें जो भाग जाता है वह जीवित रहता है। यथा चाणक्य—'उपसर्गेऽन्यचक्रेच दुर्भिक्षे च भयावहे। असाधुजनसंपर्के पलायति स जीवति।' (वि० टी०)

भानुप्रताप भारी वैरी है, वह पता पावे तो खोजकर वध करे जैसे युधिष्ठिरने दुर्योधनका पता लगाकर उसका वध कराया, यथा 'भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु रिन रंच न राखब काऊ।२।२२६।', 'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि। ३।२१।'

तासु समीप गवन नृप कीन्हा। यह प्रतापरवि तेहिं तब चीन्हा ॥६॥
राउ तृषित नहि सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना ॥७॥
उतरि तुरग तें कीन्ह प्रनामा। परम चतुर न कहेउ निज नामा ॥८॥
दोहा—भूपति तृषित बिलोकि तेहिं सरबरु दीन्ह देखाइ।
मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति हरषाइ ॥१५८॥

अर्थ—राजा उसके पास गया तब उसने पहचान लिया कि यह भानुप्रताप है ॥ ६ ॥ राजा प्याससे व्याकुल है (इस कारण उन्होंने) उसे न पहिचाना*। सुन्दर (मुनि) वेष देख उसे महामुनि समझे ॥७॥ घोड़ेसे उतरकर (राजाने) प्रणाम किया। (परन्तु) बड़ा चतुर है, अपना नाम न बतलाया ॥८॥ राजाको प्यासा देख उसने सरोवर दिखा दिया। राजाने घोड़ेसहित प्रसन्नतापूर्वक स्नान और जलपान किया ॥१५८॥

टिप्पणी १—(क) 'तासु समीप'। भाव कि जिसका देश भानुप्रतापने छीन लिया, जो राजासे रंक हो गया, जिसका घरबार सब छूट गया है, जो अभिमानी है, क्रोधको भीतर भरे हुए दिनरात क्रोधाग्निमें जलता रहता है और तपस्वीवेषमें छिपकर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ वनमें बैठा है, उसके पास ('तासु' का संबंध ऊपरकी 'जासु देस नृप लीन्ह छड़ाई' इत्यादि सब चौपाइयोंसे है)। (ख) 'गवन नृप कीन्हा' का भाव कि ऐसेके पास भानुप्रताप गए, अतएव इनकी अब भलाई नहीं है, यथा 'तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गए कल्यान न होई। ६२।६।' (ग) 'यह प्रतापरवि तेहि तब चीन्हा' इति। 'तब' अर्थात् जब राजा कपटी मुनिके समीप गए तब। राजाने कपटी मुनिको दूरसे ही देख लिया था। देखकर समीप चले आए कि दर्शन करें और जलाशय पूछें कि कहाँ है, कमसे कम उनके पास जल तो अवश्य मिल जायगा। जबतक समीप न गए थे तबतक उसने राजाको न पहिचाना था। (घ) 'राउ तृपित नहि सो पहिचाना। प्याससे व्याकुल हैं, यथा 'खेद खिन्न छुद्धित तृषित राजा बाजि समेत। खोजत ब्याकुल सरित सर जलबिनु भएउ अचेत।१५७।'—'अचेत' है, अतः न पहिचान पाया। (ङ) 'देखि सुबेष महामुनि जाना' इति। यथा 'लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ। १।७।५।' भाव कि यदि तृषासे व्याकुल न होते तो सुवेष देखकर भी महामुनि न जानते, पहिचान ही लेते।

२ (क) 'उतरि तुरग तें कीन्ह प्रनामा' इति। (देवमंदिर, तीर्थ, संतमहात्माओं इत्यादि) गुरु-जनोंको देखकर सवारीसे उतरकर, (अस्त्र शस्त्र उतारकर अलग रखकर), (तब उनको) प्रणाम करना चाहिए, यथा 'उतरे राम देव सरि देखी। कीन्ह दंडवत हरषु बिसेषी। २।८७।' राजाने सुवेष देख महामुनि जाना, अतः घोड़ेसे उतरकर विधिवत् प्रणाम किया। (ख) 'परम चतुर न कहेउ निज नामा' इति। नाम न प्रकट करनेसे 'परम चतुर' कहा, यथा 'सुनु महीस असि नीति जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप। मोहि तोहि पर अति प्रीति सोइ चतुरता बिचारि तव। १६३।' ☞ पुनः, 'न कहेउ निज नामा' इस कथनका प्रयोजन यह है कि प्रणाम करनेके समय अपना और अपने पिताका नाम कहकर प्रणाम करना चाहिए, यथा 'पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा। २६६।२।', 'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू।

* 'नहिं सो पहिचाना' का अर्थ एक खर्रेमें यह मिला है कि 'सो अर्थात् जिससे पहचाना जाता था वह पहिचान नहीं है, मुनिवेष बनाए है' अतः न पहिचान सका।

पिता समेत लीन्ह निज नामू। २३१७।', 'कौसलेस दसरथके जाए। नाम राम लछिमन दोउ भाई।४।२।', 'बिस्वामित्र मिले पुनि आई। पदसरोज मेले दोउ भाई॥ रामु लषनु दसरथ के ढोटा। दीन्हि असीस देखि भल जोटा। १।२६६।' (भानुप्रतापने अपना नाम न बताया इसीसे अंतिम चरणमें इसके कारणकी आवश्यकता हुई। मन्त्रीने इसे नीतिमें परम निपुण बना दिया था)।

३ (क) 'भूपति तृषित बिलोकि तेहिं' इति। इससे जनाया कि राजाने अपनेसे प्यासे होनेकी बात न कही। उसीने प्यासे देखकर अपनेसे ही बिना पूछे कहा कि आप प्यासे जान पड़ते हैं, जाइए उस सरमें प्यास बुझा आइए। (कैसे जाना कि प्यासे हैं? चेष्टासे। इसीसे 'बिलोकि' पद दिया) ☞ तृषित देखकर जलाशय बताया, यह बड़ी चतुराई और बुद्धिमानीका काम है। वह कपटसे साधु बना है, इसीसे उसने अपनी दयाका परिचय दिया, आचरणसे साधु होना दिखाया। जिसमें राजा समझे कि हमें व्याकुल देखकर हमपर महात्माको बड़ी दया लग आई। संत दयालु होते हैं, दूसरेका दुःख देख दया लग आती है, यथा 'नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता। ३।२।' कपटी मुनि यही बात आगे स्वयं कहता है, यथा 'चक्रवर्तिके लच्छन तोरें। देखत दया लागि अति मोरें।' (ख) 'सरबर दीन्ह देखाइ' इति। ☞ साधुने सरोवर दिखा दिया। इसमें दूसरा (भीतरी कपटका) आशय यह है कि राजा कहीं पानी पीकर उधर ही उधर न चला जाय, इसीसे साथ चला गया। और ऊपरसे यह दिखा रहा है कि राजा जल बिना अचेत है, अकेले सरोवर ढूँढ़नेमें क्लेश होगा, इसलिए साथ गया। यह आशय आगेकी चौपाईसे स्पष्ट है,—'निज आश्रम तापस लै गयऊ'। साथ न जाता तो 'निज आश्रम लै गयऊ' कैसे कहते? (ग) 'मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति' इति। मृगयामें शूकरका पीछा करनेमें बड़ा परिश्रम पड़ा, दूसरे ग्रीष्मके दिन थे, गर्मीसे भी तपेहुए थे, अतएव स्नान किया और प्याससे 'अचेत' होरहे थे, अतः जलपान किया। (घ) 'हरषाइ'। जैसा जलाशय चाहिए था, वैसा ही मनके अनुकूल मिल गया, अतः हर्षपूर्वक स्नान पान किया (और घोड़ेको कराया)।

गै श्रम सकल सुखी नृप भयऊ। निज आश्रम तापस लै गयऊ ॥१॥
आसन दीन्ह अस्त रबि जानी। पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी ॥२॥
को तुम्ह कस बन फिरहु अकेले। सुंदर जुबा जीव पर हेले ॥३॥
चक्रबर्ति के लच्छन तोरें। देखत दया लागि अति मोरें ॥४॥
नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा ॥५॥

शब्दार्थ—आसन=ऊन मूँज कुश आदिके बने हुए चौखुटे बिछौने जो प्रायः पूजन, भोजनके समय बैठनेके काममें आते हैं। आसन देना=सत्कारार्थ बैठनेको कोई वस्तु देना, बैठाना। जुबा (युवा) =जवानी, १६ वर्षसे ३५ वर्ष तककी अवस्था। जीव=प्राण, जीवन। परहेलना (सं० प्रहेलन)=निरादर करना, पर्वा न करना, तिरस्कार करना। यथा "मैं पिउ प्रीति भरोसे गरब कीन्ह जिय माहिं। तेहि रिस हौं परहेली रूसेउ नागर नाह ॥" (जायसी)। अवनीश=पृथ्वीका स्वामी, राजा।

अर्थ—सारी थकावट दूर हुई और राजा सुखी हुआ तब (वह) तपस्वी उसे अपने आश्रम पर ले गया ॥ १ ॥ सूर्यास्त-समय जानकर बैठनेको आसन दिया। फिर तापस कोमल वचन बोला ॥ २ ॥ तुम कौन हो? वनमें कैसे अकेले फिर रहे हो? तुम्हारी सुन्दर युवा अवस्था है। अपने जीवनका निरादर कर रहे हो अर्थात् प्राणोंकी कुछ परवा नहीं करते ॥३॥ चक्रवर्ती राजाओंके लक्षण तुममें देखकर मुझे बड़ी दया लगती है ॥४॥ (राजाने कहा—) हे मुनीश! सुनिए। एक भानुप्रताप नामका राजा है, मैं उसका मन्त्री हूँ॥५॥

टिप्पणी १—"गै श्रम सकल सुखी नृप भएऊ" इति । स्नान करनेसे थकावट दूर होती है और सुख प्राप्त होता है, यथा 'मज्जन कीन्ह पथश्रम गएऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भएऊ। अ० २८७।', 'देखि राम अति रुचिर तलावा। मज्जन कीन्ह परम सुख पावा। ३।४१।', 'करि तडाग मज्जन जलपाना। बट तर गयेउ हृदय हरषाना। ७।६३।', 'अब जनगृह पुनीत प्रभु कीजै। मज्जनु करिअ समरश्रम छीजै। लं० ११५।' (ख) 'निज आश्रम तापस लै गयऊ', इससे पाया गया कि आश्रमसे जलाशय पृथक् कुछ दूरीपर है और यह कि तापस राजाको अपने आश्रममें ले जानेकेलिए सरोवरपर ठहरा रहा कि ये स्नानादिसे निवृत्त हो लें तब साथ लेकर जायँ नहीं तो बताकर चला आता। (ग) 'आसन दीन्ह अस्तरबि जानी'। तात्पर्य्य कि अब लौटनेका समय नहीं रह गया, ऐसे घोर वनमें रात्रिमें चलते न बनेगा, जैसा कि इसके आगेके 'निसा घोर गभीर बन पथ न सुनहु सुजान' इन वचनोंसे स्पष्ट है। [तपस्वीको भय हुआ कि राजा चैतन्य हुआ है, कहीं मुझे पहचान न ले इसलिये सूर्यास्तके पहिले दूर ही दूर था। बोला तक नहीं। (वि० त्रि०)। मेरी समझमें दैवयोगसे समय आदि सब उसके अनुकूल हो गये थे] (घ) 'पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी' इति। ☞ राजा भूखे प्यासे थे, यथा 'खेद खिन्न छुद्धित तृषित राजा बाजि समेत'। उनको सरोवर बताकर उनकी प्यास शान्त की, आश्रममें ले गया, आसन दिया, क्षुधा शान्त करनेकेलिए कंद मूल फल दिए, घोड़े को घास दी, इत्यादि। सब बातोंके कथनका प्रसंगमें कोई प्रयोजन न था, इसीसे ग्रंथकारने नहीं लिखा। मृदु वाणी बोला क्योंकि संत मृदु वाणी बोलते हैं और खल तो कठोर ही बोलते हैं – ('बचन बज्र जेहि सदा पिआरा'), खल मृदुवाणी जब बोलते हैं तब केवल छलनेके लिए, यथा 'बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा। ७।३९।' तपस्वीमें दोनों बातें हैं। वह संत बना है और खल तो है ही। अतएव 'मृदु' वचन बोला (अपनेको संत जनाने और भीतरसे राजाके साथ छल करनेकी घातमें है। क्योंकि उसे अपना कार्य्य साधना है, राजासे दाँव लेना है।)

नोट—१ 'आसन दीन्ह' और 'पुनि तापस बोला' से अनुमान होता है कि आसन देनेपर भी राजा तुरत बैठा नहीं, तब यह समझकर कि राजाकी तुरत चले जानेकी इच्छा है, उन्हें रोक रखनेकेलिय बातें छेड़ दीं। सूर्यास्तका समय है ही, कुछ और समय बीत जाय तो फिर राजा सहजही रुक जायगा।

२—कुछ महानुभावोंका मत है कि 'अस्तरबि' शब्द यहाँ साभिप्राय है। तपस्वी सोचता है कि प्रतापरूपी भानु जो उदित था उसके अस्तका समय अब आ गया। ऐसा समझकर वह इस तरहकी बातें कर रहा है। (प्र० सं०)।

टिप्पणी—२ (क) 'को तुम्ह कस बन फिरहु अकेले।०' इति। ☞ ये बातें उस समय पूछने की थीं जब प्रथम भेंट हुई पर उस समय उसने न पूछा क्योंकि राजा प्याससे व्याकुल थे। जब राजा जल पानकर सुखी हुए तब यह प्रश्न किए। इससे कपटी मुनिकी बुद्धिमत्ता प्रकट होती है। (ख) कपटी मुनि राजाको पहिचानता है, यथा 'यह प्रतापरबि तेहि तब चीन्हा' और अनजान बनकर पूछता है। इसका कारण यह है कि अभी भानुप्रतापका नाम बतानेका मौका नहीं है यदि अभी कपटीमुनि उनका नाम बतादे तो उनके मनमें संदेह उत्पन्न होजायगा कि यह कोई जानपहिचानका आदमी है, छल न करे। धीरे धीरे जब राजाकी प्रतीति और प्रीति अपनेमें हो जायगी तब अपनी सिद्धाई दिखानेके लिए भानुप्रताप और उनके पिताका नाम बतावेगा। जल्दी करनेसे काम बिगड़ जाता है, अतएव उसने क्रमसे राजाको अपने वशमें किया। (ग) 'बन फिरहु अकेले' और 'सुंदर जुवा जीव परहेले' का भाव कि तुम तो दिव्य महलोंमें रहने योग्य हो, वनमें फिरने योग्य नहीं हो। तुम्हारे हजारों सेवक, सिपाही, सेना रहना चाहिए तब आश्चर्य है कि तुम अकेले हो। यह कैसे जाना ? उसका समाधान स्वयं आगे करता है कि 'चक्रवर्ति के लच्छन तोरें'। सुंदर शरीर है, युवावस्था है तब भी प्राणोंका अनादर करते हो, हथेली पर प्राणोंको लिए

वनमें फिरते हो। भाव कि सुन्दर जवान पुरुष ऐसा कभी नहीं करते। [पुनः भाव कि 'अभी तुम युवा हो, वानप्रस्थकी अवस्था नहीं; तब तुम अकेले महावनमें कैसे आए? क्या किसी संकटमें फँस गये हो? जिसके भयसे तापस बनकर यहाँ रहता था वह यहाँ स्वयं आ पहुँचा, अतः उसके आनेका अभिप्राय तथा उसकी परिस्थिति जाननेके लिये प्रश्न करता है। (वि० त्रि०)]

नोट—३ प्राणोंकी तुम्हें परवा नहीं? ऐसा पूछनेका कारण बताते हैं कि सामुद्रिकसे तुम्हारे चक्रवर्ती राजाके लक्षण पाए जाते हैं। राजाका अकेले वनमें फिरना उचित नहीं, न जाने कब क्या आपत्ति आ पड़े। राजाके भलेमें सबका भला है, उसके सुखसे प्रजा सुखी रहती है। इसीसे दया लगना कहा।

टिप्पणी—३ (क) 'चक्रवर्ति के लच्छन तोरें' इति। (इससे जनाया कि सामुद्रिक शास्त्रका भारी ज्ञाता है)। लक्षण अंगमें होते हैं, अंग देखकर कहे जाते हैं, यथा 'राजलच्छन सब अंग तुम्हारे'। अतः यह जाना गया कि अंग देखकर चक्रवर्तीके लक्षण होना कहता है। इसीसे कहा कि 'देखत दया लागि'। (ख) दया लागि' कहा क्योंकि दया लगना संतका धर्म है, यथा 'कोमल चित दीनन्ह पर दाया'। 'अति दया लगी' कहनेका भाव कि हमारी दया तो सभी जीवोंपर रहती है पर तुम्हारे ऊपर अत्यन्त दया लग आई। तात्पर्य्य कि तुम्हारे अंगोंमें चक्रवर्तीके लक्षण हैं, जिससे निश्चय है कि तुम सब जीवोंके रक्षक हो, तुम्हारे सुखसे सभी जीवोंको सुख है और तुम्हारे दुःखसे सभीको दुःख हुआ चाहे। ☞ दयाका स्वरूप पूर्व दिखा आए हैं कि तृषित देखकर सरोवर बताने गया, आश्रमपर ले आया, आसन दिया, यह सब 'अति दया' है। पुनः 'अति' का दूसरा भाव कि सामान्य क्लेशमें सामान्य दया होती है और भारी पुरुषको भारी क्लेशमें देखा। अतः 'अति दया' हुई।

नोट—४ सामुद्रिकमें चक्रवर्तीके लक्षण इस प्रकार हैं। यथा 'कराग्रं वृषणं जानु समं यस्य स भूपतिः। करश्च मणिबन्धश्च मुष्टिश्च नृपते स्थिराः॥ नाभ्यतः कुक्षितश्चोभिरुन्नते त्रिविलो भवेत्। भ्रुवौ नासापुटे नेत्रे कर्णावोष्ठौ च चूचुकौ॥ कूर्परौ मणिबन्धौ च जानुनी वृषणौ कटिः। करौ पादौ स्फिचौ यस्य समौ ज्ञेयः स भूपतिः।'—सामुद्रिक

टिप्पणी—४ 'नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव ।०' इति। (क) राजा नीतिविरुद्ध नहीं करता। नाम बताना नीतिविरुद्ध है, इसीसे नाम नहीं बताया। जैसे प्रथम प्रणाम करनेपर नाम न बताया था— परम चतुर न कहेउ निज नामा।' वैसे ही अब भी न बताया। (ख) तापसने चक्रवर्तीके लक्षण कहे सो भी घटित होने चाहिएँ, क्योंकि महात्माका वचन मिथ्या नहीं है (जो उसने कहा सो ठीक ही है,) अतएव अपनेको राजाका मंत्री बताया। मंत्री राजाके समान होता है, जो लक्षण राजामें होते हैं वे मंत्रीमें भी होते हैं। (ग) तापसने चक्रवर्तीके लक्षण कहे और इस समय भानुप्रताप चक्रवर्ती राजा है। इसीसे राजाने अपनेको भानुप्रतापका मंत्री बताया (नहीं तो और किसी राजाका नाम ले लेते)। (घ) राजाने कपटी तापसको महामुनि जाना, यथा 'देखि सुवेष महामुनि जाना'। इसीसे 'सुनहु मुनीसा' अर्थात् मुनीश संबोधन किया। (ङ) तापसके 'को तुम्ह' इस प्रश्नका उत्तर इस अर्धालीमें समाप्त हुआ। 'बस बन फिरहु अकेले' का उत्तर आगे देते हैं। [तापसने चक्रवर्तीके लक्षण बताए, इससे राजाने समझा कि ये कोई बड़े भारी मुनि हैं। इसीसे इन्होंने जान लिया। अतः राजाने विचारा कि इन्हें युक्तिसे उत्तर देना चाहिए कि अपना नाम भी प्रकट न हो और मुनिको संदेह भी न हो। अतः अपनेको चक्रवर्तीका मंत्री बताया। अपनेको छिपानेके लिए राजा अपनेको मंत्री बताता है। अतएव यहाँ 'व्याजोक्ति' अलंकार है।—'कछु मिस करि कछु और बिधि कहै दुरैके रूप। सो सुकबि व्याजोक्ति तेहि भूषण कहैं अनूप॥' अर्थात् किसी खुलती हुई बातका छिपानेकी इच्छासे कोई बहानेकी बात बिना निषेधके द्वारा कही जाय।]

फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बड़ें भाग देखेउँ पद आई॥ ६॥
हम कहँ दुर्लभ दरस तुम्हारा। जानत हौं कछु भल होनिहारा॥ ७॥

कह मुनि तात भयउ अँधियारा । जोजन सत्तरि नगरु तुम्हारा ॥ ८ ॥

दोहा—निसा घोर गभीर बन पथ न सुनहु[1] सुजान ।
बसहु आजु अस जानि तुम्ह जाएहु होत बिहान ॥
तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलै सहाइ ।
आपुनु[2] आवै ताहि पहिँ ताहि तहाँ लै जाइ ॥ १५९ ॥

शब्दार्थ—अहेर = शिकार । अहेरें = शिकारमे । वह जीव जिसका शिकार किया जाय उसे भी 'अहेर' कहते हैं । बिहान सवेरा । आपुनु=आपही, स्वय । यथा 'आपुनु चलेउ गदा कर लीन्हीं ॥१८२ ४॥'

अर्थ—शिकारके पीछे फिरते हुए भूल पड़ा हूँ, बड़े भाग्यसे (यहाँ) आकर (आपके) चरणोंका दर्शन पाया ॥ ६ ॥ हमें आपका दर्शन दुर्लभ है, मैं समझता हूँ कि कुछ भला होनेवाला है ॥ ७ ॥ मुनिने कहा—हे तात ! अँधेरा हो गया, (यहाँसे) तुम्हारा नगर ७० योजनपर है ॥ ८ ॥ हे सुजान ! सुनो, रात भयकर अँधेरी है, वन घना और गहरा है, उसमे रास्ता नहीं है। ऐसा जानकर तुम आज यहीं रहो, सवेरा होते ही चले जाना । तुलसीदासजी कहते हैं कि जैसी भवितव्यता (हरिइच्छा, होनवाली) होती है वैसी ही सहायता मिल जाती है । वह भावी आप ही उसके पास आ जाती है और (आकर) उसको वहीं ले जाती है (जहाँ सहाय करनेवाला है) ॥ १५६ ॥

टिप्पणी १—'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई ।०' इति । (क) ☞ कपटी मुनिके प्रश्नका तात्पर्य यह अभिप्राय लेनेका है कि राजा यहाँ अपनी ओरसे आया है कि कालकेतुके भुलानेसे आया है । यदि कालकेतुके भुलानेसे आया है, वही इनको ले आया है तब तो सब काम बन गया, राजाको छलनेका पूर्ण योग लग गया (क्योंकि जो कुछ मैं अपनी सिद्धाई कहूँगा वह कालकेतु जो अभी आता ही होगा, अपनी मायासे सच्ची कर देगा । और यदि यह अपनेसे ही भटककर आ गया है तब तो इसको रोक रखना व्यर्थ ही होगा, क्योंकि कालकेतुका कौन ठिकाना कि आवे या न आवे)। तापस पूछता है 'कस बन फिरहु अकेले ?' राजा उसका उत्तर देते हैं कि 'फिरत अहेरें०', किसी सकटसे विवश होकर यहाँ नहीं आया, किन्तु शिकार करते फिरते थे, वनमे भुला गए। इस उत्तरसे कपटी मुनिको निश्चय हो गया कि कालकेतु भुला लाया है क्योंकि उसने इससे करार किया था कि मैं किसी दिन राजाको शिकारमे भुलाकर तुम्हारे पास ले आऊँगा, पीछेसे मैं भी आऊँगा तुम सब बात कह रखना । इसीसे अब वह राजासे रातमे यहीं टिक जानेको कहता है । (ख) 'बड़ेभाग देखेउँ पद आई', यथा 'बडे भाग पाइअ सतसगा' । ['दया लागि' की जोड़में यहाँ 'बड़े भाग' कहा । यहाँ 'अनुज्ञा अलकार' है । वनमे भूलना दोष है, दु ख है, उसे मुनिदर्शनसे भाग्य मान लिया ।]

२—'हम कहँ दुर्लभ दरस तुम्हारा०' । भाव कि जिसका दर्शन खोजनेपर भी नहीं मिल सकता वह रास्ता भुला जानेसे मिल जाय तो जानना चाहिए कि भला होनेवाला है और बड़ी भाग्य है । क्योंकि बड़े ही भाग्यसे अलभ्य लाभ होता है । भूतकालमे पुण्य अच्छा रहा तो वर्तमानकालमे सतदर्शन हुआ, यथा 'पुन्यपु ज बिनु मिलहिं न सता' । सत मिले इससे आगे होनहार अच्छा है अर्थात् भविष्य भी अच्छा हो जायगा । (पुन भाव कि हम नगरके रहनेवाले और राजस तामस वृत्तिके और आप वनमे सात्विकवृत्तिसे रहनेवाले, तब भला हमें आपका दर्शन कैसे मिल सकता ?) ।

१ सूझ-(छ०) । २ 'आपुनु' 'ताहि लिआवहि ताहि पहिं'—(छ०) । ऐसा भी अर्थ होता है—'या तो वह आप ही उसके पास आती है या उसीको वहाँ ले जाती है ।' विशेष टिप्पणी ५ देखिये । (प्र० स०) ।

प० प० प्र०—यद्यपि भानुप्रताप निष्काम और ईश्वरार्पण करके सब धर्म कर्म करता था, तो भी उसके चित्तमें ऐश्वर्य-भोग-कामना सुप्तावस्थामें थी, यह कविकुलचूड़ामणिने बड़ी गूढ़ युक्तिसे यहाँ जनाया है। वह प्रसुप्त कामना राजस-तामस-संस्कार बलिष्ठ स्थानमें प्रवेश करनेपर और उस कपट मुनिके कुसंस्कारोंके प्रभावसे जागृत हो गई।

'फिरत अहेरे परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई। हम कहँ दुर्लभ दरस तुम्हारा।' यहाँतक जो राजाने कहा वह उचित ही है। पर 'जानत हौं कछु भल होनिहारा' उसके इस वाक्यसे उसके हृदयकी गुप्त वासना कुछ अंशमें प्रकट हो रही है। अखिल विश्वका सम्राट् है। जो कुछ चाहिए सब प्राप्त है। 'अर्थ धर्म कामादि सुख सेवै समय नरेसु'। प्रजा भी सब प्रकार सुखी है। कुछ भी दुःख नहीं है। तब भला कौनसा भला होनेको शेष था जिसके लिये उसने 'जानत हौं कछु भल होनिहारा' ऐसी आशा प्रकट की। राजामें भगवद्भक्तिका न तो लवलेश है और न भगवद्भक्तिकी रुचि ही है, इसीसे तो धर्मरुचि स्वयं भक्ति-प्रिय होता हुआ भी राजाको केवल राजनीति ही सिखाता रहा। रावण होनेपर भी यही देखनेमें आता है। विभीषणजीने जब केवल राजनीतिका उपदेश दिया तब उसका आदर किया है, पर जब रामभक्तिका उपदेश देने लगा तब क्या हुआ यह सुन्दरकांडमें प्रकट है।

टिप्पणी—३ 'कह मुनि तात भयउ अँधियारा०' इति। (क) ☞ सूर्यास्त होनेपर आसन दिया, यथा 'आसन दीन्ह अस्त रबि जानी'। इतनी वार्ता होते-होते अँधेरा हो गया। इससे निश्चय हुआ कि कृष्णपक्षकी रात्रि थी और समस्त रात्रि अँधियारी रात थी, इसीसे आगे दोहेमें निशाको घोर कह रहा है। (अमावस्याको तान्त्रिक छलके प्रयोग भी किये जाते हैं। अतएव मुनिको प्रयोगका योग भी अच्छा मिल गया।) सूर्यास्तसे बातें करनी शुरू की और इतनी देरतक बातोंमें लगाए रहा कि अँधेरा हो गया, यही बातोंमें लगानेका मुख्य उद्देश्य था। (ख) ☞ राजाका घोड़ा केकय देशसे विन्ध्यतक दो ही पहरमें गया और लौट आया, यथा 'कानन गयउ बाजि चढ़ि तेही। पुरनरनारि न जानेउ केही॥ गए जाम जुग भूपति आवा। घर घर उत्सव बाज बधावा।' इस हिसाबसे केकयदेशसे विन्ध्यतक केवल एक पहरका रास्ता राजाके घोड़ेका निश्चित हुआ। पहरभर दिन चढ़ेतक शिकार खेला, तीन पहरतक भारी दौड़ लगाई, तब कपटी मुनिके पास पहुँचे। इतना बीच (फासला) विन्ध्यसे महावन तकका है। (ग) 'तात' कपटी मुनि राजापर छोह करके रात्रिमें टिकनेको कहता है, इसीसे छोहके प्रकरणमें वत्स, बालक वा पुत्रभावसे 'तात' संबोधन करता है। (घ) 'जानत हौं कछु भल होनिहारा' इन वचनोंसे कपटी मुनि ताड़ गया कि राजा मुझे महामुनि समझकर कुछ लाभकी आशा-पाशमें बँध रहा है, अतः अपना कार्य सिद्ध करनेके लिये वह उसे रोकनेके लिये ये वचन कह रहा है।

४ 'निसा घोर गंभीर बन पथ न सुनहु सुजान।०' इति। (क) ☞ तापस यहाँ देश, काल और वस्तु तीनोंकी कठिनता दिखाता है। देश दूर है, ७० योजन है। निशा घोर है अर्थात् काल भयानक है। वन गंभीर है अर्थात् वस्तु अगम है। (ख) 'बसहु आजु' अर्थात् ऐसा जानकर आज यहीं निवास करो। इस वचनसे पाया जाता है कि राजा अब भी जानेको तैयार है, आसन अभीतक ग्रहण नहीं किया है, घोड़ा लिए खड़ा है। निशा घोर है, देख नहीं पड़ता। इसपर यदि राजा कहना चाहे कि हम घोड़ेपर सवार हैं, अँधेरेका कोई भय नहीं, उसीपर प्रथमसे ही कहता है कि 'बन गभीर' है, घोड़ा निबह नहीं सकता। इसपर यदि वह कहे कि घोड़ा इस रास्तेसे निकल जायगा उसपर कहता है कि 'पंथ न'। 'कह मुनि तात भयउ अँधियारा' के संबंधसे 'निशा' को 'घोर' कहा। 'जहँ नाहिन गज बाजि निबाहू' के संबंधसे 'गँभीर बन' कहा। और 'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई' के संबंधसे 'पंथ न' (अर्थात् भूल जानेका डर है) कहा। (ग) 'सुजान' का भाव कि तुम जानते हो कि रात्रिमें चलना मना है। (घ) 'जायेहु होत बिहान' इति।

ठहरानेसे राजा ठहरनेको कहते हैं इसीसे कपटी मुनि कहता है कि जल्दी चले जाना, सवेरा होते ही चले जाइयो। (नोट—यह भी राजी करनेकी चाल है कि हम रोकते थोड़े ही हैं, तुम्हारे भलेको कहते हैं, सवेरा होते ही चल देना)।

५ 'तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलै सहाइ।०' इति। (क) 'जसि भवतव्यता' का भाव कि ऐसे धर्मात्मा राजाको भला ऐसा विघ्न होना चाहिए? न होना चाहिए। भावीवश ऐसा हुआ। किसी पूर्वले जन्मका भारी पाप उदय हुआ। (ख) 'मिलै सहाइ' । भाव कि भवितव्यताका कोई रूप नहीं है, वह 'सहायक' के द्वारा काम करती है। जैसी भावी है वैसी ही 'सहाय' मिलती है अर्थात् भवितव्यता अच्छी होती है तब अच्छी और बुरी होती है तब बुरी 'सहाय' मिलती है। (ग) 'आपुनु आवै ताहि पैं' अर्थात् वह भावीके वश आप ही सहायके पास आता है जैसा यहाँ हुआ। भावीवश राजा सहायके पास आया। राजाका भवितव्य है कि उसका तन, धन, राज्य सभी कुछ नष्ट हो जाय, वैसा ही इस भावीको सहाय मिल गया—कपटी मुनि। शीघ्र ही नाश कर डाला। (घ) 'ताहि तहाँ लै जाइ' अर्थात् (या तो ऐसा होता है, वैसा न हुआ तो यह होता है कि) भावी सहायको उसके पास ले जाती है। उत्तरार्द्ध 'आपुनु आवै ··लै जाइ' का भाव यह है कि जिस तरह उसका काम बने वही वह करती है। ☞दूसरी प्रकार इस तरह भी अर्थ हो सकता है कि 'होनहारवालेके पास भावी आप ही आती है और आकर उसको वहीं ले जाती है जहाँ सहाय करने-वाला है'। भाव कि भावी प्रथम सहाय तैयार करती है, फिर जीवके पास आती है और उसे सहायके पास ले जाती है। यह अर्थ समीचीन है। [खर्रेमें लिखा है कि "उस प्राणीका भोग यदि वहीं हुआ तो भावी उसके पास आकर उसी जगह भोग भोगाती है और यदि उसका भोग बाहर हुआ तो उसको वहीं ले जाकर भोगाती है। 'सहाइ' = संयोग। विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'आपुन आवे०' यह कथन नीति-शास्त्रके अनुसार है। जैसे—"तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोपि तादृशः। सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ॥" अर्थात् वैसी ही बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसा ही उद्योग लग जाता है और सहायता भी वैसी ही मिल जाती है जैसी होनहार होती है]

श्रीलमगोड़ाजी—कविकी उपस्थिति कितनी आवश्यक है? परन्तु यह विचारणीय है कि किस संक्षिप्तरूपमें वह घटनाके रहस्यपर आलोचना करके प्रकाश डालता है?

नोट–१ श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि यह सम्मत तो याज्ञवल्क्यका है पर ग्रंथकार सबका सिद्धान्त कहते हैं; इसलिए यहाँ उन्होंने अपना नाम रख दिया है। वैसी ही सहाय मिलती है अर्थात् उसीके योग्य काम करनेवाले मिल जाते हैं। 'आपुनु आवइ।०' अर्थात् जिस शत्रुके हाथ बुराई होना है उसके पास वह भावीवश आप ही पहुँच जाता है, जैसे, कपटी मुनिके पास राजा पहुँच गया। अथवा 'ताहि तहाँ०' अर्थात् जहाँ बुराई होनेवाली है तहाँ बुराई करनेवाले शत्रुको ले जाती है जैसे कालकेतु राक्षस सूकर रूपसे भानुप्रतापके पास पहुँचा और भुलाकर वनमें ले आया। आगेके लिए भी यही सहाय मिले जो राजाके यहाँ जाकर उसका नाश करायेंगे।

वि० त्रि० इस प्रकार अर्थ करते हैं—'राजा मृगयाको जाता है। वहाँ कालकेतु सूकर बनकर (भवि-तव्यताका सहाय होकर) आता है और राजाको ले जाकर कपटी मुनि तक पहुँचा देता है, जहाँ राजा स्वयं कपटी मुनिका शिकार हो जाता है।'

श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ भवितव्यता प्रारब्ध नहीं है, केवल प्रभुकी इच्छा है; क्योंकि राजा 'प्रतापी' नामक सखा है जो प्रभुकी आज्ञासे राजा हुआ।

नोट—२ 'आपु न आवइ' पाठ अशुद्ध है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि लोग घरमें बैठे बैठे मर जाते हैं, कहीं साँपने डस लिया, कहीं छत गिर पड़ी उससे दबकर मर गए, यही भाव 'आपुनु आवइ' का है। यह सम्मत लाला भगवान्दीनजीका भी है। इसमें 'विकल्प अलंकार' है।

भलेहि नाथ आयसु धरि सीसा। बाँधि तुरग तरु बैठ महीसा ॥१॥
नृप बहु भाँति प्रसंसेउ ताही। चरन बंदि[1] निज भाग्य सराही ॥२॥
पुनि बोलेउ मृदु गिरा सुहाई। जानि पिता प्रभु करौं ढिठाई ॥३॥
मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। नाथ नाम निज कहहु बखानी ॥४॥

अर्थ—'बहुत अच्छा, स्वामी !' राजा (ऐसा कहकर) आज्ञाको सिरपर धरकर घोड़ेको पेड़में बाँधकर आ बैठा ॥१॥ राजाने उसकी बहुत प्रकारसे प्रशंसा की और चरणोंको प्रणाम करके अपने भाग्यकी सराहा ॥२॥ फिर सुंदर कोमल वचन बोले—हे प्रभो ! पिता जानकर मैं ढिठाई करता हूँ ॥३॥ हे मुनीश्वर ! हे नाथ ! मुझे अपना पुत्र और सेवक जानकर अपना नाम बखान कर कहिए ॥४॥

टिप्पणी—१ (क) 'भलेहि नाथ'। भाव कि आपने बहुत अच्छा कहा, ऐसी घोर रात्रिमें चलना अच्छा नहीं है। (ख) 'आयसु धरि सीसा'। भाव कि महात्माकी आज्ञा बड़ी प्रसन्नतासे मानी। बड़ोंकी आज्ञा माननेमें ऐसा ही कहा जाता है, यथा 'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा।' (ग) 'बैठ महीसा' से सूचित किया कि अभीतक राजा (घोड़ेकी बागडोर थामे) खड़े खड़े बातें करता रहा था। चलनेपर उद्यत था, अब घोड़ा बाँधकर बैठा। (घ) 'नृप बहु भाँति प्रसंसेउ ताही'। हमारे बड़े पुण्य हैं, बड़ी भाग्य है कि आपके चरणोंका दर्शन हुआ इत्यादि जैसे पूर्व कहा था कि 'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई'। पुनः, तापसने राजाको प्याससे व्याकुल देख सरोवर बताया, आश्रमपर ले आया, घोर रात्रिमें वनमें न जाने दिया, तथा यह देखकर कि यह ऐसे घोर वनमें बसे हैं, राजाने इस कपटीको पूर्ण सन्त समझा, अतएव संत समझकर सन्तलक्षण कह-कहकर प्रशंसा की। 'विषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥ सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी ॥ कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥ सबहि मानप्रद आपु अमानी ।७।३८।' इत्यादि संत लक्षण एक एक करके उनमें कहने लगे, यही बहुत भाँतिकी प्रशंसा है। (पूर्व जो कहा था कि 'बड़े भाग देखेउँ पद आई', उसीके संबंधसे यहाँ चरणोंको प्रणाम कर भाग्यकी सराहना करना कहा)।

२—'पुनि बोलेउ मृदु गिरा सुहाई।०' इति। (क) कपटमुनिकी वाणीको मृदु कहा था, यथा 'पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी'। उसकी वाणीको 'सुहाई' विशेषण न दिया था क्योंकि वह छलयुक्त है। राजाकी वाणीको 'मृदु' और 'सुहाई' दोनों विशेषण देकर जनाया कि इनकी वाणी कोमल और निश्छल है। (ख) 'जानि पिता', पिता जाननेका भाव कि पिता शरीरकी रक्षा करता है—'पातीति पिता'। आपने जल देकर शरीरकी रक्षा की, प्राण बचाए और शरीरकी रक्षाके लिए ही रात्रिको वनमें न जाने दिया। (कपटीने राजाको 'तात' अर्थात् वत्स, पुत्र कहा था, यथा 'कह मुनि तात भयउ अँधियारा।', 'तात' शब्द प्यारसे पुत्र, पिता, भ्राता सभीके लिये प्रयुक्त होता है। मुनिके सबंधसे यहाँ 'तात' से 'पुत्र' का ही अर्थ लिया जा सकता है। उसी संबंधसे राजाने 'जानि पिता' कहा)। (ग) 'करौं ढिठाई'। भाव कि महात्माओंसे धृष्टता न करनी चाहिए (मैं जो धृष्टता करता हूँ वह पिता जानकर, आपका वात्सल्य अपने ऊपर देखकर करता हूँ। माता पितासे बालक ढीठ होता ही है, यथा 'हौं माचल लै छाड़िहौं जेहि लागि अरयो हौं', 'मेरे माय बाप दोउ आखर हौं सिसु अरनि अरयो।' इति विनये)। (घ) 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी' अर्थात् मैं आपको अपना पिता जानता-मानता हूँ,—'जानि पिता०', आप मुझे अपना आज्ञाकारी पुत्र जानिये। नाम पूछनेके लिये पुत्र और सेवक बने क्योंकि महात्माओंकी अपना नाम बतानेमें संकोच होता है,—'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः।'; इसीसे प्रार्थना करके पूछते हैं।

[1] बंदि—१६६१।

वहाँ कोई और है नहीं, यदि होता तो उससे पूछ लेते, अतएव मुनिसे ही पूछते हैं। (ङ) 'नाथ नाम निज कहहु बखानी'। सेवकका धर्म है कि अपने स्वामीका नाम जाने, और पुत्रको पिताका नाम जानना चाहिए, अत नाम पूछनेकी आवश्यकता हुई।

नोट—बैजनाथजी लिखते हैं कि 'बखानी' का भाव यह है कि जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा आदि के जो नाम हों सो कहिए। राजा जन्म सस्कार आदि सब हाल जानना चाहता है।

तेहि न जान नृप नृपहि सो जाना। भूप सुहृद सो कपट सयाना ॥५॥
बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा ॥६॥
समुझि राजसुख दुखित अराती। अवा अनल इव सुलगै छाती ॥७॥
सरल बचन नृप के सुनि काना। बयर सँभारि हृदय हरषाना ॥८॥
दोहा—कपट बोरि बानी मृदुल बोलेउ जुगुति समेत।
नाम हमार भिखारि‡ अब निर्द्धन रहित निकेत ॥१६०॥

शब्दार्थ—सुहृद=निश्छल, शुद्ध हृदयवाला। अराती (अराति)। रातना=अनुरक्त होना, मन लगना। यथा 'जिन्हकर मन इन्ह सन नहिं राता'। अराति=न अनुरक्त होनेवाला-शत्रु। सुलगै=जलती है, भभकती है। सरल-सीधे-सादे, कपट-छल-रहित, स्वाभाविक, भोले भाले।

अर्थ—राजाने उसको न पहचाना, उसने राजाको पहचान लिया। राजाका हृदय निश्छल है और वह कपटमे प्रवीण है ॥ ५ ॥ एक तो वह शत्रु, फिर जातिका क्षत्री, उसपर भी राजा, (अत वह) छल बलसे अपना काम निकालना चाहता है ॥ ६ ॥ वह शत्रु राज्य सुखको सोचकर दु खी है, उसकी छाती कुम्हारके आवाँ (भट्टी) की आगकी तरह (भीतर ही भीतर) सुलग रही है ॥७। राजाके सीधे सादे वचन कानोंसे सुनकर अपने बैरका स्मरण करके वह हृदयमे हर्षित हुआ ॥ ८ ॥ कपटरूपी जलमे डुबाकर वह युक्ति समेत कोमल वाणी बोला कि अब तो हमारा नाम भिखारी है और हम धन धाम रहित हैं (वा, भिखारी निर्धन, रहित निकेत हैं) । १६० ।

नोट—१ सामाजिक-मनोवैज्ञानिक उपन्यासकलाका लुत्फ देखिये। (लमगोडाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'तेहि न जान नृप'। पूर्व कपटी मुनिको न पहचाननेका कारण यह बतलाया था कि राजा भूखप्याससे व्याकुल था, यथा 'राउ तृषित नहि सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना। १५८।७।' राजा स्नान जलपान कर अब सचेत हुए और अब समीप ही बैठे हैं, अत अब तो पहचानना चाहिए था पर राजाने न पहचाना इसीसे उसका दूसरा कारण लिखते हैं, वह यह कि भूप सुहृद है। (ख) 'भूप सुहृद सो कपट सयाना' अर्थात् राजाका हृदय सु दर है, निष्कपट है और मुनि कपटमे चतुर है, इसीसे न पहचाना, यथा 'सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ। २।१६२।' [यह (सरलता, सुशीलता और धर्मपरायणता) ही सुहृदताके लक्षण हैं] पुन , यथा 'नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान। सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिय आपु समान।२।२२७।' जो सुहृद होते हैं वे दूसरोंको भी वैसा ही समझते हैं। ['कपट सयाना' से स्पष्ट कर दिया कि पूर्व जितनी बातें उसने कीं, वह सब कपटमय थीं, स्वार्थसाधनार्थ थीं] (ग) 'बैरी पुनि छत्री पुनि राजा' इति। तात्पर्य्य कि ये सब एकसे एक कठिन होते हैं, ये तीनों छलबलसे अपना काम निकालनेकी सदा इच्छा रखते हैं। [पुन भाव कि इनमेसे एक भी होना छलबलसे काम करनेकेलिए पर्याप्त था पर यहाँ तो तीनों गुण एकहीमे मौजूद हैं।] विशेष आगे नोट २ मे देखिए।

‡—१६६१ मे 'भिखारी' पाठ है।

भलेहि नाथ आयसु धरि सीसा । बाँधि तुरग तरु बैठ महीसा ॥१॥
नृप बहु भाँति प्रसंसेउ ताही । चरन बंदि[1] निज भाग्य सराही ॥२॥
पुनि बोलेउ मृदु गिरा सुहाई । जानि पिता प्रभु करौं ढिठाई ॥३॥
मोहि मुनीस सुत सेवक जानी । नाथ नाम निज कहहु बखानी ॥४॥

अर्थ—'बहुत अच्छा, स्वामी !' राजा (ऐसा कहकर) आज्ञाको सिरपर धरकर घोड़ेको पेड़में बाँधकर आ बैठा ॥१॥ राजाने उसकी बहुत प्रकारसे प्रशंसा की और चरणोंको प्रणाम करके अपने भाग्यको सराहा ॥२॥ फिर सुन्दर कोमल वचन बोले—हे प्रभो ! पिता जानकर मैं ढिठाई करता हूँ ॥३॥ हे मुनीश्वर ! हे नाथ ! मुझे अपना पुत्र और सेवक जानकर अपना नाम बखान कर कहिए ॥४॥

टिप्पणी—१ (क) 'भलेहि नाथ'। भाव कि आपने बहुत अच्छा कहा, ऐसी घोर रात्रिमें चलना अच्छा नहीं है। (ख) 'आयसु धरि सीसा'। भाव कि महात्माकी आज्ञा बड़ी प्रसन्नतासे मानी। बड़ोंकी आज्ञा माननेमें ऐसा ही कहा जाता है, यथा 'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा।' (ग) 'बैठ महीसा' से सूचित किया कि अभीतक राजा (घोड़ेकी बागडोर थामे) खड़े खड़े बातें करता रहा था। चलनेपर उद्यत था, अब घोड़ा बाँधकर बैठा। (घ) 'नृप बहु भाँति प्रसंसेउ ताही'। हमारे बड़े पुण्य हैं, बड़ी भाग्य है कि आपके चरणोंका दर्शन हुआ इत्यादि जैसे पूर्व कहा था कि 'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई'। पुनः, तापसने राजाको प्याससे व्याकुल देख सरोवर बताया, आश्रमपर ले आया, घोर रात्रिमें वनमें न जाने दिया, तथा यह देखकर कि यह ऐसे घोर वनमें बसे हैं, राजाने इस कपटीको पूर्ण सन्त समझा अतएव संत समझकर सन्तलक्षण कह-कहकर प्रशंसा की। 'विषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥ सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी ॥ कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥ सबहि मानप्रद आपु अमानी ।७।३८।' इत्यादि संत लक्षण एक एक करके उनमें कहने लगे, यही बहुत भाँतिकी प्रशंसा है। (पूर्व जो कहा था कि 'बड़े भाग देखेउँ पद आई', उसीके सम्बन्धसे यहाँ चरणोंको प्रणाम कर भाग्यकी सराहना करना कहा)।

२—'पुनि बोलेउ मृदु गिरा सुहाई ।०' इति। (क) कपटमुनिकी वाणीको मृदु कहा था, यथा 'पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी'। उसकी वाणीको 'सुहाई' विशेषण न दिया था क्योंकि वह छलयुक्त है। राजाकी वाणीको मृदु' और सुहाई' दोनों विशेषण देकर जनाया कि इनकी वाणी कोमल और निश्छल है। (ख) 'जानि पिता', पिता जाननेका भाव कि पिता शरीरकी रक्षा करता है—'पातीति पिता'। आपने जल देकर शरीरकी रक्षा की, प्राण बचाए और शरीरकी रक्षाके लिए ही रात्रिको वनमें न जाने दिया। (कपटीने राजाको 'तात' अर्थात् वत्स, पुत्र कहा था, यथा 'कह मुनि तात भयउ अँधियारा ।', 'तात' शब्द प्यारसे पुत्र, पिता, भ्राता सभीके लिये प्रयुक्त होता है। मुनिके सम्बन्धसे यहाँ 'तात' से 'पुत्र' का ही अर्थ लिया जा सकता है। उसी सम्बन्धसे राजाने 'जानि पिता' कहा)। (ग) 'करौं ढिठाई'। भाव कि महात्माओंसे धृष्टता न करनी चाहिए (मैं जो धृष्टता करता हूँ वह पिता जानकर, आपका वात्सल्य अपने ऊपर देखकर करता हूँ। माता पितासे बालक ढीठ होता ही है, यथा 'हौं माचल लै छाड़िहौं जेहि लागि अर्‍यो हौं', 'मेरे माय बाप दोउ आखर हौं सिसु अरनि अर्‍यो ।' इति विनये)। (घ) 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी' अर्थात् मैं आपको अपना पिता जानता मानता हूँ,—'जानि पिता०', आप मुझे अपना आज्ञाकारी पुत्र जानिये। नाम पूछनेके लिये पुत्र और सेवक बने क्योंकि महात्माओंको अपना नाम बतानेमें संकोच होता है,—'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयो ।', इसीसे प्रार्थना करके पूछते हैं।

[1] बंद—१६६१।

वहाँ कोई और है नहीं, यदि होता तो उससे पूछ लेते, अतएव मुनिसे ही पूछते हैं। (ङ) 'नाथ नाम निज कहहु बखानी'। सेवकका धर्म है कि अपने स्वामीका नाम जाने, और पुत्रको पिताका नाम जानना चाहिए, अतः नाम पूछनेकी आवश्यकता हुई।

नोट—वैजनाथजी लिखते हैं कि 'बखानी' का भाव यह है कि जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा आदि के जो नाम हों सो कहिए। राजा जन्म संस्कार आदि सब हाल जानना चाहता है।

तेहि न जान नृप नृपहि सो जाना। भूप सुहृद सो कपट सयाना ॥५॥
बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा ॥६॥
समुझि राजसुख दुखित अराती। अवा अनल इव सुलगै छाती ॥७॥
सरल बचन नृप के सुनि काना। बयर सँभारि हृदय हरषाना ॥८॥
दोहा—कपट बोरि बानी मृदुल बोलेउ जुगुति समेत।
नाम हमार भिखारि‡ अब निर्द्धन रहित निकेत ॥१६०॥

शब्दार्थ—सुहृद=निरछल, शुद्ध हृदयवाला। अराती (अराति)। रातना=अनुरक्त होना, मन लगाना। यथा 'जिन्हकर मन इन्ह सन नहिं राता'। अराति=न अनुरक्त होनेवाला=शत्रु। सुलगै=जलती है; भभकती है। सरल=सीधे-सादे, कपट-छल-रहित; स्वाभाविक, भोले भाले।

अर्थ—राजाने उसको न पहचाना, उसने राजाको पहचान लिया। राजाका हृदय निरछल है और वह कपटमें प्रवीण है ॥ ५ ॥ एक तो वह शत्रु, फिर जातिका क्षत्री, उसपर भी राजा; (अतः वह) छल बलसे अपना काम निकालना चाहता है ॥ ६ ॥ वह शत्रु राज्य सुखको सोचकर दुःखी है, उसकी छाती कुम्हारके आवाँ (भट्टी) की आगकी तरह (भीतर ही भीतर) सुलग रही है ॥७॥ राजाके सीधे सादे वचन कानोंसे सुनकर अपने वैरका स्मरण करके वह हृदयमें हर्षित हुआ ॥ ८ ॥ कपटरूपी जलमें डुबाकर वह युक्ति समेत कोमल वाणी बोला कि अब तो हमारा नाम भिखारी है और हम धन धाम-रहित हैं (वा, भिखारी निर्धन, रहित-निकेत हैं)। १६०।

नोट—१ सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकलाका लुत्फ देखिये। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'तेहि न जान नृप'। पूर्व कपटी मुनिको न पहचाननेका कारण यह बतलाया था कि राजा भूखप्याससे व्याकुल था, यथा 'राउ तृषित नहिं सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना। १५८।७।' राजा स्नान जलपान कर अब सचेत हुए और अब समीप ही बैठे हैं, अतः अब तो पहचानना चाहिए था पर राजाने न पहचाना इसीसे उसका दूसरा कारण लिखते हैं, वह यह कि भूप सुहृद है। (ख) 'भूप सुहृद सो कपट सयाना' अर्थात् राजाका हृदय सुंदर है, निष्कपट है और मुनि कपटमें चतुर है; इसीसे न पहचाना, यथा 'सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ। २।१६२।' [यह (सरलता, सुशीलता और धर्मपरायणता) ही सुहृदताके लक्षण हैं] पुनः, यथा 'नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान। सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिय आपु समान।२।२२७।' जो सुहृद होते हैं वे दूसरोंको भी वैसा ही समझते हैं। ['कपट सयाना' से स्पष्ट कर दिया कि पूर्व जितनी बातें उसने कीं, वह सब कपटमय थीं, स्वार्थसाधनार्थ थीं] (ग) 'बैरी पुनि छत्री पुनि राजा' इति। तात्पर्य्य कि ये सब एकसे एक कठिन होते हैं, ये तीनों छलबलसे अपना काम निकालनेकी सदा इच्छा रखते हैं। [पुनः भाव कि इनमेंसे एक भी होना छलबलसे काम करनेकेलिए पर्याप्त था पर यहाँ तो तीनों गुण एकहीमें मौजूद हैं।] विशेष आगे नोट २ में देखिए।

‡—१६६१ में 'भिखारी' पाठ है।

(घ) 'छल बल कीन्ह चहै निज काजा' इति। कपटी मुनिने ठीक ऐसा ही किया। प्रथम छल किया कि कालकेतु सुअर बनकर छल कर राजाको यहाँ ले आया और इसने ऊपरसे दया, कोमलता दिखाकर राजाको धोखेमे डालकर उनके नाशका उपाय रचना प्रारंभ किया, पीछे बलका प्रयोग किया। यथा 'तेहि खल जहँ तहँ पत्र पठाए। सजि सजि सेन भूप सब धाए'। स्वयं भी संग्राम किया और राजाको मारा। पुनः भाव कि तापस राजा है इससे उसने छल किया। राजाकेलिए छल करनेकी आज्ञा नीतिमें लिखी है। क्षत्रिय है इसीसे बल किया और वैरी है इसीसे अपना 'काज' किया अर्थात् राजाको मारकर राज्य लिया। पुनः 'छल बल' तीनोंमें लगा सकते हैं, तीनोंही छल बल करते हैं। (ङ) 'कीन्ह चहै निज काजा' का भाव कि राजाने तो उसे पिता बनाया, आप सुत सेवक बना तब तो 'तापस' को ऐसा छल न करना चाहिए था, इसीपर कहते हैं कि वैरी, क्षत्रिय और राजा इन तीनोंका हृदय कठोर होता है, यथा महाभारते 'नवनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य वाचि क्षुरो निशितस्तीक्ष्णधारः। तदुभयमेतद्विपरीतं क्षत्रियस्य वाङ्नवनीतं हृदयं तीक्ष्णधारम्। १३-१२३।' अर्थात् ब्राह्मणका हृदय मक्खनके समान कोमल होता है और वाणी छुरे की तीक्ष्ण धार है। क्षत्रियका इसके विपरीत होता है। क्षत्रियकी वाणी मक्खनसमान और हृदय तीक्ष्णधारवाला अर्थात् वज्र समान कठोर होता है। ये (बाप, बेटा, भाई, स्वामी, सेवक) कुछ भी नाता नहीं मानते, सदा अपना काम छलबलसे निकालते हैं, यह उनका सहज स्वभाव है

नोट—२ प्रथम कहा कि 'कपटमें सयाना' है अर्थात् कपट भी ऐसा करता है कि कोई भाँप न सके, जानना तो दूर रहा। फिर 'सयाना' होनेका कारण बताया—'बैरी पुनि छत्री पुनि राजा'। इसमें तीनों सयाने एकत्र हो गए हैं। यहाँ 'द्वितीय समुच्चय' अलंकार है। वैरी सदा शत्रु की घातमें रहता है, यथा 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ। २।२२६।', 'रिपु पर कृपा परम कदराई। आ० १६।' क्षत्रिय क्रोधी और बलवान् होते हैं, बदला लेनेसे नहीं चूकते, यथा 'तदपि कठिन दसकंठ सुनु छत्रजाति कर रोष। लं० २३।' राजा सहज अभिमानी और स्वार्थ परायण होते हैं, जैसे बने अपना काम निकालना चाहते हैं, दूसरेकी बढ़ती नहीं देख सकते, समय पाकर उपकार भी भुलाकर अपकार करते हैं, दो राजा एक देशमें नहीं रह सकते जैसे दो तलवार एक मियानमें नहीं रह सकतीं। ये तीनों छल बलसे काम लेते हैं। पुनः, ३—'बैरी पुनि ' इस अर्द्धालीके एक चरणमें 'छल, बल और निज काजा' इन तीनको कहकर जनाया कि बैरी छल, क्षत्रिय बल और राजा अपने कामसे काम रखते हैं, जैसे बने—(पाँडेजी)।

टिप्पणी—२ (क) 'समुझि राजसुख दुखित अराती।०' इति। आँवेंकी अग्नि भीतर ही भीतर सुलगती रहती है, प्रगट नहीं होती, वैसे ही कपटी मुनिको रह रहकर राज्यसुख याद आता है इससे उसकी छाती दुःख से भीतर ही भीतर जलती है। वह अपना दुःख प्रकट नहीं करता ['अवाँ अनल इव सुलगै छाती'—४८-४ 'तपै अवाँ इव उर अधिकाई।' पृष्ठ १४४-१४६ मे देखिए।] 'समुझि राज सुख' अर्थात् इसी दुःखसे शत्रुता माने हुए है, इसीसे 'अराती' कहा। (ख) 'सरल बचन नृपके सुनि काना' इति। सरल (सीधेसादे मनुष्य) से ही कपट चलता है, चतुरसे नहीं चलता, इसीसे 'सरल' जानकर हर्षित हुआ कि अब यह हमसे बचकर नहीं जा सकता। (ग) 'बयर सँभारि हृदय हरषाना'। वैर सँभालकर अर्थात् वैरका स्मरण करके, यह हमारा वैरी है यह याद करके सुखी हुआ। [मिलान कीजिए दोहावलीके "सत्रु सयानो सलिल ज्यों राख सीस रिपु नाउ। बूड़त लखि पग डगत लखि चपरि चहूँ दिसि धाउ।५२०।" इस दोहेसे। इसमे शत्रुका सयानापन दरसाया है।] (घ) 'हृदय हरषाना'। भाव कि अपने दुःखको भीतर ही भीतर आँवेंकी अग्निकी नाई छिपाए था, अब हर्ष है सो भी प्रकट नहीं करता। तात्पर्य्य कि दुःख सुख दोनों छिपाए हुए है क्योंकि राजा पर खुल जाय तो बड़ी हानि हो जायगी। ☞ (ङ) जो ऊपर कहा था कि 'बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा।' उसे यहाँ चरितार्थ करते हैं।—वैरी है अतः राजसुख समझकर दुखित

है, हृदय जलता रहता है। इसीसे 'अराती' कहा। क्षत्रिय है, वैर स्मरणकर सुखी हुआ। क्षत्रिय पिछला वैर 'सँभारते' हैं। और, राजा है, इसीसे कपटयुक्त वाणी बोला। राजाको कपट करना उचित है, यथा 'कीन्हेउ कपट लाग भल मोही।'

वि० त्रि०—'सुनि काना।...' इति। कानसे सुनने का भाव कि उसे हृदयमें स्थान नहीं दिया। यह देखकर कि राजा बड़ा सरल मालूम पड़ता है, इसके सरल वचनोंमें चित्त न पिघले, अतः वैरको सँभाला कि इसीने मेरा सर्वस्व हरण कर मुझे वनचारी बना रक्खा है।

टिप्पणी—३ 'कपट बोरि बानी मृदुल०' इति। (क) अपना नाम नहीं बताता यही कपट है, यथा 'कीन्हेउ कपट '। ☞ नाम न बतानेकी बात प्रसंगभरमें है। इसीसे 'कपट बोरि' कहा अर्थात् जो कुछ मृदु वचन आगे कह रहा है वह सब कपटके हैं। राजाने कपटी मुनिको पिता बनाया, आप पुत्र और सेवक बना; तब वह राजाकी प्रीति प्रतीतिकी परीक्षा करने लगा कि देखें राजा सत्य ही सेवक बनता है या ऊपरसे ही ऐसा कहता है। (ख) 'बोलेउ जुगुति समेत' इति। अपना नाम नहीं बताता, इस प्रकार अपनी उदासीनता दिखाता है कि हमको किसीसे पहचान करनेका प्रयोजन क्या? यह उसके आगे के 'मैं न जनावउँ काहु' इन वचनोंसे स्पष्ट है। यही युक्ति है कि यदि राजाको प्रीति प्रतीति होगी तो फिर प्रार्थना करेगा। राजाने घबड़ाकर ऐसा ही किया। इससे प्रीति और विश्वासकी परीक्षा हो गई। यथा 'सहज प्रीति भूपति कै देखी। आपु बिषै बिस्वास बिसेषी। १६१.६।' परीक्षा करके तब आगे छल करता है। (ग) 'नाम हमार भिखारि अब निर्धन रहित निकेत' यह दीनता अपनी दिखाकर अपना महात्मापन झलका रहा है। जिसमें राजा समझें कि ऐसे बड़े होकर भी महात्मा बड़े ही निरभिमानी हैं। (घ) 'अब' का भाव कि आगे बहुत कुछ था अब भिखारी, निर्धन और अनिकेत हैं। हमारा अवतार निर्धनके यहाँ नहीं हुआ [व्यंग्य यह है कि हम बड़े ऐश्वर्यमान थे, राजा थे, हमारे भी महल आदि थे, जो सब तुमने छीन लिया॥ (वै०)] ☞ भानुप्रताप भी उसके अंगमें देख रहा है कि सब राज्यलक्षण हैं (अतः उसका परिचय पूछनेके लिए उत्सुक हुआ ही चाहे। दोहेमें जो कहा है कि 'बोलेउ जुगुति समेत' वह युक्ति "अब" शब्दमें है। श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि 'अब' में युक्ति और अभिप्राय यह है कि इसे आगे चलकर कहना है कि हम ब्रह्माके पुत्र हैं, अनेक तपस्या की है, पूर्वकल्पमें अनेक शक्तियाँ रची हैं, इत्यादि इत्यादि, और अब तो हम सब त्याग बैठे।)

कह नृप जे बिज्ञाननिधाना। तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना ॥१॥
सदा रहहिं अपनपौ दुराएं*। सब बिधि कुसल कुबेष बनाएं ॥२॥
तेहि तें कहहिं संत श्रुति टेरें। परम अकिंचन प्रिय हरि केरें ॥३॥
तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि सिवहि संदेहा ॥४॥
जोसि सोसि तव चरन नमामी। मो पर कृपा करिअ अब स्वामी ॥५॥

शब्दार्थ—गलित=गला हुआ, जीर्णशीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट। सरीखे=सदृश, समान। गलित अभिमान=जिनका अभिमान नष्ट हो गया, निरभिमानी। अपनपौ=आत्मगौरव, मान, मर्य्यादा, ममता, अभिमान, अपने रूपको। अकिंचन=निर्धन, दरिद्र, दीन, परिग्रहत्यागी। किंचन=थोड़ी वस्तु। अकिंचन=जिनके पास थोड़ी भी वस्तु न हो, जिसे कुछ भी चाह नहीं, जिनके भगवान् ही एक धन है जिनकी किसीमें अहं मम बुद्धि नहीं है। अधन=धनरहित, निर्धन। अगेह=गेह (घर) रहित। सम=समान, सरीखे। जोसि सोसि (योऽसि सोऽसि-यः असि सः असि)=जो हो सो हो, जो भी हों।

* 'सदा अपनपौ रहहिं दुराये' (व्यासजी); 'सदा रहहि अपनपौ दुराये'—(श्रावणकुंज); 'रहहिं अपनपौ सदा०' (ना० प्र०)।

अर्थ—राजाने कहा कि जो आप सरीखे विज्ञानके खजाना और निरभिमानी होते हैं ॥ १ ॥ वे सदा अपने गौरवको, अपने स्वरूपको, छिपाये रहते हैं। (क्योंकि) बुरा वेष बनाये रहनेमें सब प्रकार कुशल† मानते हैं ॥ २ ॥ इसीसे सन्त और वेद पुकारकर कहते हैं कि परम अकिंचन ही भगवान्‌के प्यारे हैं ॥ ३ ॥ आप सरीखे निर्धन, भिखारी और गृह-हीनोंसे ब्रह्मा शिवको भी सन्देह होता है‡ ॥ ४ ॥ आप जो हैं सो हैं (अर्थात् जो कोई भी हों सोई सही) मैं आपके चरणोंको नमस्कार करता हूँ। हे स्वामी! अब आप मुझपर कृपा कीजिये ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना' इति। 'तुम्ह सारिखे' कहकर जनाते हैं कि जितने विज्ञाननिधान निरभिमानी सत हैं उन सबोंमें आप प्रधान हैं। (ख) 'जे बिज्ञाननिधाना गलित अभिमाना' का भाव कि विज्ञाननिधान होनेसे अभिमान नष्ट हो जाता है। ज्ञानसे देहाभिमान छूट जाता है, यथा 'बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा। देह जनित अभिमान छुड़ावा। ४।२८।', 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। ३।१५।' दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि 'अपने विज्ञानका अभिमान जिनको नहीं है'। (ग) 'सदा रहहिं अपनपौ दुराएँ।' इति। राजा जानते हैं कि 'भिखारी, निर्धन, अनिकेत' ये नाम नहीं हैं, गुप्ति (छिपाव) करते हैं, इसीसे ये कहते हैं कि विज्ञानी निरभिमानी अपने को छिपाये रहते हैं। (घ) 'सब बिधि कुसल कुबेष बनाए' इति। बहुत लोगोंके सघट्टसे भजनमें विक्षेप होता है, लोकमान्यता तपका नाश करती है, यथा 'लोकमान्यता अनलसम कर तपकानन दाहु।', रागद्वेष बढ़ता है,—यही 'सब बिधि' है। गुप्त रहनेसे सब विधिसे बचते हैं (नहीं तो कोई लड़का माँगता है, कोई धन, कोई नौकरी, इत्यादि। प्रायः आजकल लोग इसीलिये संतके पास जाते हैं)। तात्पर्य्य कि अपनपौ छिपानेकेलिए कुवेष बनाए रहते हैं। (ङ) 'तेहि तें, 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरें' के साथ है। इसी कारण अर्थात् गुप्त रहने और निरभिमानी होनेसे (परम प्रिय हैं)। अकिंचन गुप्त रहते हैं और निरभिमानी होते हैं। ☞ कपटीमुनिने अपनेको 'भिखारी' कहा, उसीके उत्तरमें राजाने उसे 'विज्ञाननिधान गलित अभिमान' कहा। तापसने अपनेको 'निर्धन, रहित निकेत' कहा उसके उत्तरमें राजा उसको 'अकिंचन परम प्रिय हरि केरे' कहते हैं। अर्थात् आप भगवान्‌को परमप्रिय होनेकेलिए (सर्वस्व त्यागकर) भिखारी, निर्धन और अनिकेत बने हैं।

२—'तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि०' इति। (क) भाव कि ऐसे निष्किंचन ब्रह्मलोक, शिवलोक ले लेनेको समर्थ हैं। ब्रह्मा और शिवको सदेह होजाता है कि हमारा लोक न लेलें। अथवा शिव-विरंचि सदेहमें पड़ जाते हैं कि हम इन्हें क्या दें। (ख) शिवविरंचिको सदेह होना कहा क्योंकि ये तपके फलदाता हैं। (ग) ☞ ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेव हैं। यहाँ तीनोंको कहा है। जब अकिंचन और निरभिमानी हुए तब हरिके परमप्रिय हुए (क्योंकि कुवेष और अकिंचनता इत्यादि जितनी भी बातें हैं वे सब भगवान्-को प्रिय लगनेके लिये हैं। हरिके परमप्रिय होनेसे ब्रह्मा और शिवको सदेह हुआ कि भगवान्‌से हमारा लोक न माँग लें। अथवा, यह सदेह होता है कि हम तो तपका ही फल दे सकते हैं, हरिके परमप्रिय होनेका फल क्या दें? इनको देने योग्य कोई वस्तु हमारे पास नहीं है। [आप ऐसे अधन, भिखारी और गृहहीन ही ब्रह्म, रुद्र पद पाते हैं। अतः आप ऐसे महापुरुषोंसे उन्हें सदेह होता है। ये ज्ञानी देवता हैं अतः इन्हें त्रास नहीं होता, सदेहमात्र होता है। इन्द्र भोगी है, अतः उसे त्रास हो जाता है। यथा 'सुनासीर मन महँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुरबासा' (वि० त्रि०)]

नोट—विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि "इसका गुप्त अर्थ यह भी हो सकता है कि ब्रह्मा और

† दूसरा अर्थ—'सब प्रकारसे निपुण होनेपर भी वे कुवेष बनाये रहते हैं कि जिसमें कोई न जाने'।—(पंजाबीजी)।

‡ पंजाबीजी यह अर्थ करते हैं—'मुझे शिवब्रह्माका सन्देह होता है कि आप वेही तो नहीं हैं'।

शिवसरीखे साधुओंको ऐसे साधुओंके विषयमें सदेह होता है कि वे झूठे है। ऐसे साकेतिक भावके शब्द अनायास ही सत्यता अथवा भविष्यसूचक ईश्वरकी प्रेरणासे निकल पड़ते हैं।" वीरकविजी लिखते है कि "यहाँ ब्रह्मा और शिवजीके सदेहद्वारा लक्षणामूलक गूढ व्यंग्य है कि जो दूसरोंको धनेश बना देनेवाले, दाताओंके शिरोमणि और वैकुंठधाम देनेवाले हैं, वे स्वय सदा निर्धन, अगेह तथा मँगतोंके वेषमे रहते हैं। मानसाकमें "सदेह हो जाता है कि ये वास्तविक सत हैं या भिखारी" यह भाव कहा है।

टिप्पणी—३ (क) 'जोसि सोसि'। जब कपटी मुनिने नाम न बताया तब राजाने महात्मा जानकर हठ न किया, यही कहा कि जो भी हों सो हों हमारा नमस्कार है। कथनका तात्पर्य्य कि हमें तो आपके चरणोंसे प्रयोजन है। (ख) 'मोपर कृपा करिअ अब स्वामी'। राजाकी प्रार्थना थी कि मुझे सुत, सेवक जानकर नाम कहिए, पर कपटीने नाम न बताया। इससे जाना गया कि मुनिने सुत सेवक न माना। अतएव राजा विनती करते हैं कि अब मेरे ऊपर कृपा कीजिए, मुझे अपना सुत और सेवक जानिए, आप मेरे स्वामी हैं, मैं आपको अपना स्वामी मानता हूँ।

प० प० प्र०—[१५६ (६-७) मे बता आए हैं कि राजाके हृदयमें भगवद्भक्तिकी रुचि भी न थी] इस मुनिकी कृपासे वैराग्य, ज्ञान, भक्ति माँगनेकी अथवा मन्त्रोपदेश लेनेकी भी इच्छा राजाके मनमें पहले या पश्चात् कहीं देखी नहीं जाती। वह मुनिकी कृपासे कुछ न कुछ अलौकिक ऐश्वर्यादिकी इच्छाको अब पूर्ण कर लेना चाहता है जो जगत्में दुर्लभ है। पर जबतक 'वर माँग' ऐसा मुनि न कह दें तब तक वह उस वासनाको प्रगट नहीं करेगा। उस कपटी चतुर राजाने तो भानुप्रतापके प्रथम वचन 'जानत हौं कछु भल होनिहारा' से ही ताड़ लिया कि राजाके हृदयमें कुछ ऐहिक कामना है। राजाके इस कामनाङ्कुरको कपट मुनि बार बार खाद्य और जल देता रहा। प्रतापभानु तो राह ही देखता था कि गुरु महाराज कब 'वर माँगु' कहें और मैं वर माँगूँ। इतने बीचमें उसने यह भी निश्चित कर लिया कि क्या माँगना चाहिए। (आगे 'अब प्रसन्न मैं ससय नाहीं। १६४।५।' मे देखिए)।

सहज प्रीति भूपति कै देखी। आपु विषय विस्वास विसेषी ॥६॥
सब प्रकार राजहि अपनाई। बोलेउ अधिक सनेह जनाई ॥७॥
सुनु सतिभाउ कहौं महिपाला। इहां बसत बीते बहु काला ॥८॥
दोहा—अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावौं काहु।
लोकमान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु ॥
सोरठा—तुलसी देखि सुवेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधा सम असन अहि ॥१६१॥

शब्दार्थ—सहज=जो बनावटी न हो, स्वाभाविक। आपु=अपने विषय, सबधमें, प्रति। अपनाई=अपने वशमें, अपनी ओर या अपने अनुकूल करके। केकि=मोर, मुरैला। पेखु=देखो। असन = भोजन।

अर्थ—अपने ऊपर राजाका स्वाभाविक प्रेम और अधिक विश्वास देख सब प्रकार राजाको अपने वशमें करके अपना अधिक प्रेम दिखाता हुआ बोला ॥ ६-७ ॥ हे राजन्! सुनो, मैं सत्य ही सत्य कहता हूँ, मुझे यहाँ बसे हुए बहुत काल बीत गया ॥ ८ ॥ अबतक मुझे कोई न मिला था और मैं (अपनेको) किसीपर प्रकट नहीं करता, क्योंकि लोक-प्रतिष्ठा अग्निके समान है जो तप रूपी वनको भस्म कर देती है। तुलसीदासजी कहते हैं कि सुन्दर वेष देखकर मूर्ख ही नहीं किन्तु चतुर मनुष्य भी धोखा खा जाते हैं। देखिए मोर देखनेमें सुन्दर होता है उसके वचन अमृतके समान हैं परन्तु सर्प उसका भोजन है ॥ १६१ ॥

टिप्पणी—१ 'सहज प्रीति भूपति कै देखी।' इति। (क) राजाके विश्वास और प्रेम दोनोंकी विशेषता दिखानेके लिए प्रीतिको 'सहज' और विश्वासको 'विशेष' कहा। (ख) 'देखी' का भाव कि कपटी मुनिने राजाकी प्रीति प्रतीतिकी परीक्षा लेनेके लिए ही दुराव किया था। छिपाव करनेपर भी प्रेम और विश्वास कम न हुए इसीसे दोनोंको 'विशेष' कहा। (ग) 'जोसि सोसि तव चरन नमामी', 'मो पर कृपा करिअ अब स्वामी', यह सहज प्रीति है। और 'कह नृप जो विज्ञान निधाना' से लेकर 'होत विरंचि सिवहिं संदेहा' तक, यह विश्वास है कि ये कोई बहुत भारी महात्मा हैं।

२ (क) 'सब प्रकार राजहिं अपनाई'। अपनानेका भाव कि राजाने विनती की कि मुझे अपना सुत सेवक जानकर अपना नाम कहिए, उसने अपना नाम न बताया, ऐसा करनेसे अपनाना न निश्चित हुआ, तब राजाने अपनानेके लिए प्रार्थना की,—'मोपर कृपा करिअ अब स्वामी'। अतः अब सब प्रकारसे राजाको अपनाया अर्थात् कहा कि तुम हमारे सेवक हो, पुत्र हो, शिष्य हो। (ख) 'बोलेउ अधिक सनेह जनाई'। अर्थात् अधिक प्रेम दिखाकर बोला कि तुम हमारे सुत सेवक हुए, हम तुमको अपना सुतसेवक जानकर अपना नाम कहते हैं नहीं तो न कहते। पुनः, 'अधिक सनेह' का भाव कि पूर्व स्नेह (दिखाया) था। और जब अपनाया तब अधिक स्नेह हुआ। (ग) 'जनाई' का भाव कि वस्तुतः स्नेह है नहीं, झूठा स्नेह प्रकट करता है, यथा 'रहसी रानि राम रुख पाई। बोली कपट सनेह जनाई'। [नीति भी यही है कि "जो रीझै जेहि भावसे तैसे ताहि रिझाव। पीछे युक्ति विवेकसे अपने मतपर लाव।" (वि० टी०)। धूर्तोंका पहिला काम यही होता है कि अपने ऊपर विश्वास दृढ़ करा लेते हैं तब अपने कपट जालके पसारमें हाथ लगाते हैं। मंथराने यही किया था, यथा 'सजि प्रतीति बहु बिधि गढ़ि छोली। अवध साढ़साती तब बोली।' इसी भाँति कपटमुनिने जब देख लिया कि यह मुझे ब्रह्म रुद्रकी कोटिमें समझने लगा, विनय परिचय अत्यंत विश्वास करने लगा तब अधिक स्नेह जनाकर माया फैलाई॥ (वि० त्रि०)]

३—'सुनु सतिभाउ कहौं महिपाला।०' इति। (क) 'सतिभाउ कहौं'। भाव कि प्रथम जब राजाने नाम पूछा तब उसने दुराव किया, राजा जान गए कि यह नाम नहीं है जो यह बताते हैं, इसीसे फिर प्रार्थना की इसीसे अब वह कहता है कि मैं 'सतिभाउ' से कहता हूँ जिसमें इस नामको भी झूठा न समझ ले। आगे जो बातें उसे कहनी है वह सब झूठी है, उनको राजा झूठ न माने किंतु सत्य ही जाने इस अभिप्रायसे वह प्रथम 'सतिभाउ कहौं' ऐसा कहता है अर्थात् मैं सत्य ही कहता हूँ अब छिपाव नहीं करता हूँ। (ख) 'महिपाला'। राजाने अपनेको भानुप्रतापका मंत्री बताया—'नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा'। और कपटी मुनिने उससे 'महिपाल' सम्बोधन किया, सचिव न कहा। ऐसा करके कपटी मुनि अपनी सर्वज्ञता दिखाता है। अर्थात् बताता है कि तुमने हमसे छिपाया पर हम जानते हैं कि तुम भानुप्रताप हो, जैसा वह आगे स्वयं ही कहेगा। यदि वह राजाको सचिव कहता तो अज्ञता पाई जाती। (ग) 'बीते बहु काला' अर्थात् बहुत काल (युगों) तप किया, (यह भी युक्तिका वचन है। दस दिन भी बहुत होते हैं। राजा इससे समझा कि यहाँ इनको रहते कल्पके कल्प बीत गए और वह तो वस्तुतः राज्य छिन जानेपर यहाँ आ बसा)।

४ 'अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावउँ काहु।०' इति। (क) राजाने प्रशंसा की थी कि 'सदा रहहिं अपनपौ दुराएँ। सब बिधि कुसल कुबेष बनाएँ'। वही बात वह भी कहने लगा कि अबतक हमें कोई न मिला और न हमने किसीको जनाया अर्थात् हम सदासे अपनेको छिपाए ही रहे हैं। कभी कहीं गए नहीं, न किसीसे मिले। 'न मिलेउ कोउ' अर्थात् एक आप ही मिले। 'न जनावउँ काहु' अर्थात् आपको प्रथम प्रथम जनाया। (ख) 'लोकमान्यता अनल सम०' लोकमान्यताको विनयपत्रिकामें दूषण कहा है, यथा 'बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।'

नोट—१ दो प्रकारसे संतको लोग जानते हैं। एक तो यों कि कोई उनके पास पहुँच जाय तो उससे दूसरोंको पता लग जाता है और दूसरे यों कि संत स्वयं कहीं भिक्षाटनके लिये जायँ और विभूति आशीर्वादादि देकर दूसरोंको अपनी सिद्धता दिखाकर अपनेको प्रसिद्ध करें। यही बात तापस कह रहा है कि न तो आजतक कोई हमें मिला और न हम ही किसीके पास गए।

☞ साधु संतों तपस्वियोंके लिए यह उपदेश है। जो लोग दान पुण्य तपस्या भजन आदि करके लोकमें प्रतिष्ठा चाहते हैं उनका वह दान तप आदि व्यर्थ हो जाता है। बैजनाथजी भी लिखते हैं कि तपस्वीको चाहिए कि तपोधनको गुप्त रक्खे तभी बच सकता है, नहीं तो आर्त्त अर्थार्थी अनेक सेवा शुश्रूषादि मान बढ़ाकर तपको लूट लेंगे। जैसे विश्वामित्रकी बड़ी तपस्या त्रिशंकुने लूटी, कुछ अप्सराओं और कुछ विप्रपुत्रने लूटी। 'लोकमान्यता ' में पूर्णोपमालंकार है।

टिप्पणी—४ 'तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।०' इति। (क) मूढ़ ही नहीं, चतुर मनुष्य भी भूल जाते हैं, इसीपर मोरका दृष्टान्त देते हैं कि देखो मोर सुंदर है, *वचन उसका अमृत समान* है पर भोजन सर्प है। तात्पर्य कि वेष और वचन सुंदर हैं, करनी खराब है। ऐसे ही खलोंका हाल है, यथा 'बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महाअहि हृदय कठोरा।' राजा परम चतुर थे पर कपटी मुनिके स्नेहमय वचन और वेषसे धोखा खा गए, यथा 'बचन बेष क्यों जानिए मन मलीन नर नारि। सूपनखा मृग पूतना दसमुख प्रमुख बिचारि॥', 'हृदय कपट बर बेष धरि बचन कहैं गढ़ि छोलि। अब के लोग मयूर ज्यों क्यों मिलिए मन खोलि॥' (दोहावली ४०२, ३३२)। (ख) ☞ 'तुलसी देखि नर' यह बात प्रसंगके बीचमें लिखनेका भाव कि जो कपटी मुनिने कहा कि 'अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावउँ काहु। लोक०', बस यही बात सुनकर राजा भूल गए, भ्रमसे समझ लिया कि यह कोई बड़ा भारी महात्मा है। इसीपर कहते हैं कि 'तुलसी०'।

नोट—२ यदि ऐसा अर्थ लें कि 'मूढ़ भूलते हैं, चतुर नहीं', तो भाव यह होगा कि जो रामभक्त हैं वे ही चतुर हैं, जो भक्ति छोड़ दूसरे पदार्थ की चाह नहीं करते, यथा 'रामहि भजहिं ते चतुर नर', 'सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न मागेसि अस बरदाना॥ 'रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहि अति भाई॥' राजा साधारण धर्ममें भले ही रत रहा, ज्ञानी भले ही रहा, पर उसमें रामभक्ति बीजका लेश न था, उसको अमर और अकंटक शतकल्प क्या बल्कि सदाके लिये अजरत्व, अमरत्व और संसारके राज्यकी प्रबल एषणा थी, यह अहंकार ही उसके पतनका कारण हुआ, इसीसे वह भूला, क्योंकि वह मूढ़ था, उसे अपने तन, धन और राज्यका मोह था, धर्मकर्ममें कर्तृत्वाभिमान था। और, 'अभिमान गोविन्दहि भावत नाहीं'। यदि वह भक्त होता तो भगवान् उसकी रक्षा अवश्य करते, उन्होंने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—'बालक सुत सम दास अमानी॥ सदा करौं तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥' 'चतुर' होता, तो प्रलोभनमें कभी न भूलने पाता और न घोर विप्रशापसे नष्ट होनेकी नौबत आती।

३ "पूर्व राजाने तापसका वेष देखकर धोखा खाया, यथा 'देखि सुबेष महामुनि जाना'। और यहाँ वचनपर भूला अतएव 'सुधासम बचन' कहा। 'मूढ़ न चतुर नर' यहाँरा देशकी बोली है अर्थात् चतुर और मूढ़ दोनों भूल जाते हैं।" (प० रामकुमारजी)।

४ इस सोरठेमें राजाके धोखा खानेका कारण ग्रन्थकार नीति द्वारा समझाते हैं। जैसे मोरके सुन्दर रूप और बोलीसे सभी मोहित हो जाते हैं वैसे ही साधुवेष और स्नेहमय वचनोंसे सभीको धोखा हो जाता है।

५ कुछ टीकाकारोंने यह अर्थ किया है कि—'मूर्ख भूलते हैं चतुर लोग नहीं भूलते'। ऐसा अर्थ करते हुए वे इस सोरठेका भाव यह कहते हैं कि पहले जब राजा कपटी मुनिके पास गया था तब तो वह प्याससे अति व्याकुल था इससे न पहचान सकता था। पर अब तो उसे पहिचान लेना था। राजा चतुर है उसे

धोखा न खाना था। यद्यपि तापसने अपनी सर्वज्ञता जनानेके लिए 'महिपाला' सम्बोधन किया तथापि इसे तो सोचना था कि हमने तो अपनेको मंत्री कहा और यह हमें राजा कहता है, हा न हो यह कोई भेदी है। ऐसा सोचकर भली भाँति विचारकर लेना उचित था। यथा दोहावल्या—"कपट सार सूची सहस बाँधि बचन परवास। कियो दुराउ चहै चातुरी सो सठ तुलसीदास॥ ४४०। हँसनि मिलनि बोलनि मधुर कटु करतब मन माँह। छुअत जो सकुचै सुमति सो तुलसी तिनकी छाँह॥ ४०६।"

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "मुनिका वेष है ऐसे घने जंगलमें रहता है जहाँ मनुष्यका गंध नहीं, ऐसी वैराग्ययुक्त वाणी है ऐसे पुरुषको महामुनि न माननेका कोई कारण नहीं है, फिर भी श्रीग्रन्थकार सावधान करते हैं कि ऐसी अवस्थामें भी लट्टू हो जाना मूढ़का काम है। ये सब साधुके लक्षण नहीं हैं—'न लिङ्गं धर्मकारणम्', क्योंकि खल लोग इन सब बातोंकी नकल कर लेते हैं। मोरका सुन्दर वेष और बोली देखकर कौन समझेगा कि यह साँप खाता होगा। अत वेष-वाणी आदि बाह्य चिह्नोंका कोई मूल्य नहीं। सन्तमें एक लक्षण होता है कि उसकी नकल किसीके किये हो नहीं सकती। वह ग्रंथकारके शब्दोंमें सुनिये—'उमा संत कै इहै बड़ाई। मंद करत जो करै भलाई।'

श्रीकेसर दीनजीका मत है कि "चतुर भूलते हैं मूढ़ नहीं भूलते" यह अर्थ अधिक सङ्गत है क्योंकि मूढ़ भूलेंगे क्या? वे तो मूर्ख हैं ही, चतुर ही लोग वेष देखकर भूलते हैं, वे गुण नहीं जानते (जैसे मोर खूबसूरत नहीं होता। उसके कंठकी नीलिमा ही सुन्दर होती है और अंग नहीं), गँवारको इतनी फिक्र नहीं होती, वह तो दण्डवतकर चलता होगा।"

६ यहाँ 'मोर' और 'अहि असन' का दृष्टान्त देकर यह भी जनाया है कि जैसे मोर अहिकुलका नाशक है वैसे ही यह कपटी मुनि भानुप्रतापके कुलका नाशक होगा।

७ गोस्वामीजीने अन्यत्र दोहावलीहीमें मोरके विषयमें 'अहि अहार कायर बचन' कहा है और यहाँ 'सुधासम बचन' कहा। कारण यह कि मोरकी बोली दो तरहकी होती है, आनन्दमय और दुःखमय। आनन्दमय केवल वर्षाकालमें होती है, दूसरी बोली घबराहटकी होती है। वर्षा और गरजके समय उसकी बोली दूरसे सुहावनी लगती है, पाससे वह भी नहीं।—(दीनजी)।

८ यहाँ यह शंका होती है कि इस भावसे तो वेषपूजामें अश्रद्धा होगी जो भागवत धर्मका एक बड़ा अंग है। इसपर वैजनाथजी लिखते हैं कि राजा हरिइच्छासे मूढ़ हो गया था, परन्तु जो वेष मात्रके उपासक हैं वे तो समदृष्टिवाले होते हैं उनको 'भूलमें पड़ना' कहना अयोग्य है। उन्हें परीक्षाकी जरूरत ही नहीं।

अलंकार—'बचन सुधासम असन अहि' में अनमिल वस्तुओंका वर्णन 'प्रथम विषम' अलंकार है।

तातें गुपुत रहौं जग माहीं। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं॥१॥
प्रभु जानत सब बिनहि जनाएँ। कहहु कवन सिधि लोक रिझाएँ॥२॥
तुम्ह सुचि सुमति परम प्रिय मोरें। प्रीति प्रतीति मोहि पर तोरें॥३॥
अब जौं तात दुरावौं तोही। दारुन दोष घटै अति मोही॥४॥
जिमि जिमि[1] तापसु कथै उदासा। तिमि तिमि नृपहि उपज बिस्वासा॥५॥

शब्दार्थ—किमपि=कोई भी, कुछ भी, यथा 'अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा। का देउँ तोहि त्रिलोक महँ कपि किमपि नहिं बानी समा' (लं०)। प्रयोजन=काम, मतलब, सरोकार। सुचि (शुचि)=पवित्र। जनाएँ=प्रकट किए ही, कहे। रिझायें=प्रसन्न किये या करनेमें। घटै=

[1] जिम—१६६१

लगेगा, लगना है। कथै = कहता है, (की) बात करता है, बोलता है। उदासा = उदासीनता, वैराग्य या निरपेक्षता; झगडेटंटेसे अलग रहनेका भाव। उपज = उत्पन्न होता है, बढ़ता है।

अर्थ—इसीसे मैं जगत्‌में गुप्त रहता हूँ। भगवान्‌को छोड़ किसीसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता ॥१॥ प्रभु तो बिना कहे ही सब जानते हैं; भला कहिए तो लोकको रिझानेमें क्या सिद्धता है ॥२॥ तुम पवित्र और सुन्दर बुद्धिवाले हो, (इससे) तुम मुझे परम प्रिय हो। मुझपर तुम्हारा प्रेम और विश्वास है ॥३॥ (अतएव) हे तात! यदि अब मैं तुमसे छिपाऊँ तो मुझे बड़ा कठिन दोष लगेगा ॥४॥ ज्यों ज्यों तपस्वी उदासीनताकी बातें कहता था त्यों त्यों राजाका विश्वास उसपर बढ़ता जाता था ॥५॥

टिप्पणी—१ (क) 'तातें गुपुत रहौं' इसका संबंध 'लोकमान्यता अनल-सम कर तप कानन दाहु' से है। लोकमान्यता तपको जला डालती है, इसीसे अपना तप बचानेके लिए गुप्त रहता हूँ, नहीं तो जाकर किसी तीर्थमें रहता। (ख) राजाने जो कहा था कि 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरें' उसीपर कहता है कि 'हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं', मुझे केवल हरिसे प्रयोजन है तात्पर्य्य कि सब प्रयोजन हरिसे पूरे होते हैं, यथा 'सत्य कहउँ भूपति सुनु तोही। जग नाहिन दुर्लभ कछु मोही'। (ग) 'प्रभु जानत सब बिनहि जनाए।८' भगवान् बिना जनाये सब जानते हैं अर्थात् मनकी, वचनकी और तनकी इन सबको जानते हैं और सब कुछ देनेको समर्थ हैं तब लोगोंको रिझानेका तो कुछ प्रयोजन रह ही न गया। जो पूर्व कहा कि 'मैं न जनावउँ काहु' उसीका यहाँ कारण बताता है कि क्यों नहीं किसीपर अपनेको प्रकट करता। (घ) 'कहहु कवनि सिधि लोक रिझाएँ।' तात्पर्य्य कि लोगोंके रिझानेमें परिश्रम होता है फिर भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और प्रभुसे कहना भी नहीं पड़ता, कहनेमात्रका भी परिश्रम नहीं और सिद्धि सब कुछ प्राप्त हो जाती है। (ङ) ☞ लोकमें और प्रभुमें अपार भेद दिखाते हैं। लोक जनानेसे जानता है, बिना जनाये नहीं जानता और प्रभु बिना जनाए जानते हैं, लोककी खुशामद करनेसे भी कुछ प्राप्ति नहीं होती और भगवान् बिना कहे सब कुछ देते हैं; अतः 'मैं न जनावौं काहु'। 'प्रभु' शब्दसे जनाया कि वे सर्वसमर्थ हैं, जीव अल्पज्ञ और असमर्थ है।

नोट—१ 'तातें गुपुत रहौं ' इत्यादि वचनोंको सुनकर राजाका चित्त कुछ उदास हो गया कि फिर भला ये हमसे भी क्यों बतावेंगे तब वह कपटी मुनि कहता है कि तुमसे नहीं छिपा सकता, क्योंकि 'तुम्ह सुचि ' दारुन दोष घटै अति मोही'। अथवा राजाको संदेह हो सकता था कि 'तो' हमसे क्यों कहा', अतएव 'तुम्ह सुचि सुमति०' कहा।

टिप्पणी—२ 'तुम्ह सुचि सुमति परम प्रिय मोरें' इति। (क) शुचि अर्थात् निश्छल। सुमति अर्थात् बुद्धिमान्। [वेदविहित मार्गमें सात्विकी श्रद्धा होनेसे 'सुमति' कहा। यथा 'मतिर्नाम वेदविहितमार्गेषु श्रद्धा' इति शाण्डिल्योपनिषदि। (वि० त्रि०)] 'शुचि' को सुमतिका विशेषण मानें तो भाव होगा कि तुम्हारी बुद्धिमें पाप नहीं है, तुम्हारी बुद्धि पवित्र है। 'परम प्रिय मोरें' का संबंध 'शुचि, सुमति' और 'प्रीति प्रतीति मोहिपर तोरें' से है। (ख) 'प्रीति प्रतीति०', यथा 'सहज प्रीति भूपति कै देखी। आपु विषय बिस्वास बिसेषी'। प्रथम राजाकी प्रीति प्रतीति देख चुका है तब ऐसा कहता है कि हमपर तुम्हारा प्रेम और विश्वास है। तुम शुचि हो इसीसे तुम्हारी प्रीति शुचि है। ☞ प्रीतिकी प्रशंसा उसकी पवित्रताकी ही होती है, यथा 'प्रीति पुनीत भरत कै देखी', 'सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत। ' २२८।', 'उमा बचन सुनि परम बिनीता। रामकथा पर प्रीति पुनीता। १२०।८।' और, तुम सुमति हो इसीसे तुम्हारी हमपर प्रतीति हुई अर्थात् तुमने अपनी सुन्दर बुद्धिसे हमको पहचान लिया। तुम्हारी प्रीति प्रतीति हमपर है, अतः तुम हमको परम प्रिय हो—यह अन्योन्य प्रीति दिखाई। [तात्पर्य्य कि प्रथम चरणके 'शुचि' और 'सुमति' को दूसरे चरणके 'प्रीति' और 'प्रतीति' में यथाक्रमसे लगानेसे यह भाव निकला]

३ 'अब जौं तात दुरावौं तोही ।०' इति । (क) राजाको अपना सुत सेवक माना, इसीसे 'तात' सबोधन किया । प्रथम जब नाम पूछनेपर कपटी मुनिने न बताया तब राजाने कहा था कि 'सदा अपनपौ रहहि दुराएँ । सब बिधि कुसल कुबेप बनाएँ ।', इसीपर वह कहता है कि 'अब जौं०' अर्थात् पहले दुराव किया था, सुत सेवक न माना था, पर अब तुम्हें परम प्रिय माननेपर भी यदि दुराव करूँ तो मुझे बडा पाप होगा । ऐसा कहा जिसमे राजा यह न समझे कि दुराव करते है । (ख) 'दुरावौं तोही' । भाव कि औरोंसे गुप्त रहनेसे तपकी रक्षा होती है, इससे वनमे गुप्त रहता हूँ । तुमसे गुप्त रहनेसे पाप है । (ग) 'दारुन दोप घटे अति मोही' अर्थात् प्रीति प्रतीति करनेवालेसे कपट करनेसे बडा भारी दोष लगता है और मैं साधु हूँ इससे मेरे लिए तो यह अत्यंत दारुण दोप है ।

४ 'जिमि जिमि तापस कथै उदासा ।०' इति । (क) 'कथै उदासा'=वैराग्य कहता है, उदासीनता प्रकट करता है । 'कथै उदासा' मे यह भी भाव ध्वनित है कि इसकी उदासीनता कथन मात्र है पर सब बात विश्वास ही पर निर्भर है । 'जिमि जिमि' 'तिमि तिमि' से पाया गया कि विश्वास उत्पन्न करनेके लिए ही अपनी उदासीनता वर्णन करता है । यद्यपि प्रथम ही विशेष विश्वास देख चुका है—'आपु विषय विस्वास बिसेषी', तथापि फिर भी विश्वास उपजा रहा है क्योंकि विश्वासीसे ही छल लगता (अर्थात् चलता है) । अतएव बारबार विश्वासको पुष्ट करता है । ☞ खलोंकी रीति है कि सुन्दर वेष बनाकर वैराग्यके वचन सुनाकर लोगोंको छलते ठगते हैं ☞ (नोट—'उपज' कहकर विश्वासको वृक्ष जनाया । विश्वासका बीज राजामे पड चुका है, यथा 'देखि सुवेष महामुनि जाना' । तपस्वी वेष देखकर राजाको विश्वास हुआ कि यह मुनि है । सुतसेवक बना इसमे उसका विश्वास प्रकट ही है—'आपु विषय विस्वास बिसेषी' । अब उस बीजको वृक्षरूप कर रहा है अत उपजाना कहा । वृक्ष अचल होता है वैसे ही विश्वासको अचल बनाता है) ।

देखा स्वबस कर्म मन बानी । तब बोला तापस बगध्यानी ॥६॥
नाम हमार एकतनु भाई । सुनि नृप बोलेउ पुनि सिरु नाई ॥७॥
कहहु नाम कर अरथ बखानी । मोहि सेवक अति आपन जानी ॥८॥
दोहा— आदिसृष्टि उपजी जबहि तब उतपति भै मोरि ।
नाम एकतनु हेतु तेहि देह न धरी बहोरि ॥१६२॥

शब्दार्थ—आदि-सबसे पहिलेकी, प्रथम ।

अर्थ—(जब उसने राजाको) कर्म, मन और वचनसे अपने वशमे देखा तब वह बकध्यानी (शिकारपर घात लगाए बैठा हुआ) तापस बोला ॥ ६ ॥ हे भाई ! हमारा नाम 'एकतनु' है । यह सुन राजा फिर मस्तक नवाकर बोला ॥ ७ ॥ मुझे अपना अत्यंत सेवक जानकर नामका अर्थ बखानकर कहिये ॥ ८ ॥ (उसने उत्तर दिया कि) जब 'आदिसृष्टि' उत्पन्न हुई तभी मेरी उत्पत्ति हुई । 'एकतनु' नाम है, इसका कारण यह है कि फिर (दूसरी) देह नहीं धारण की ॥ १६२ ॥

श्रीलमगोडाजी—सारी वार्ता ही नाटककी तथा उपन्यासकलाको Dialogue (वक्तृताद्वन्द्व) की जान है । उसम कविकी बीच-बीचकी आलोचनायें सोनेमे सुगधका काम करती है ।

टिप्पणी—१ (क) 'देखा स्वबस करम मन बानी' इति । कह नृप जे बिज्ञान निधाना । तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना ॥०' इत्यादि वचनोंसे प्रशंसा की, इससे 'वाणीसे' वशमे जाना । 'जौसि सोसि तव चरन नमामी । ' इससे कर्मसे वशमे जाना । 'सहज प्रीति भूपति कै देखी' इससे मनसे वशमे जाना । (ख) 'तब बोला तापस बगध्यानी' । बकध्यानीका भाव कि जैसे बगला मछली मारनेके लिए साधु बनकर बैठता है वैसे ही यह कपटी मुनि राजाका नाश करनेके लिए साधु बनकर बैठा है । 'तब' का भाव कि

प्रथम प्रीति और विश्वास अपने ऊपर देख था। प्रीति प्रतीतिसे लोग वशमें होते हैं, यह बात भी अब देख ली। दोनों बातें देख लीं 'तब'।

नोट—१ बगला मछली पकड़नेके लिए बहुत सीधासादा बनकर नेत्र बंदकर नदी तालाब आदि जलाशयोंके किनारे खड़ा रहता है, परंतु मछली जलके किनारे आई नहीं कि उसने गड़प लिया। बगलेकी यह मुद्रा केवल अपने घातके लिए होती है। इसीसे बनावटी भक्तोंको 'बगला भगत' कहते हैं। इस शब्दका प्रयोग ऐसे समय होता है जब कोई व्यक्ति अपना बुरा उद्देश्य सिद्ध करनेके लिए बहुत सीधा बन जाता है। जो ऊपरसे बहुत उत्तम और साधु जान पड़े परन्तु जिसका वास्तविक उद्देश्य दुष्ट और अनुचित हो, जो पूर्ण पाखण्डी कपटी हो उसे 'बकध्यानी' कहते हैं। इस तापसको बकध्यानी कहा क्योंकि यह केवल वेषमात्रसे साधु है, उसके वचन कपटसे भरे हुए हैं और मनमें तो वह अपनी घात ताक रहा है, यथा 'जेहि रिपु छय सोइ रचेन्हि उपाऊ। १७०।८।' जैसे बगला मछलीकी घातमें रहता है वैसे ही यह राजाको परिवारसहित नाश करनेकी ताकमें है। बगलेके पाखंडको एक कविने श्रीरामचन्द्रजी द्वारा व्यंगोक्तिसे यों प्रगट किया है—'पश्य लक्ष्मण पम्पायां बकः परमधार्मिकः। शनैः शनैः पदन्यासं जीववधविशङ्कया॥'

टिप्पणी-२ (क) 'नाम हमार एकतनु भाई'। कपटी मुनिने अपना कोई प्रसिद्ध नाम न बताया। क्योंकि जितने प्रसिद्ध मुनि हैं वे सब राजाके सुने जाने हैं। प्रसिद्ध नाम बतानेसे कपट खुल जानेकी संभावना थी, अतएव एक अपूर्व नाम 'एकतनु' बताया। (ख) 'भाई'। यहाँ राजाको वह भाई नहीं कह रहा है। राजाको तो 'महिपाल, नृप, तात' विशेषण देकर संबोधन करता है। 'भाई' कहकर बोलनेकी रीति है। (ग) 'सुनि नृप बोलेउ पुनि सिरु नाई'। इससे स्पष्ट है कि कपटी मुनि अपना नाम बताकर 'नाम हमार एकतनु भाई' कहकर चुप हो गया। अपनी ओरसे नामका अर्थ यह बिचारकर न कहा कि इससे पता चल जायगा कि राजा इस नामको भी 'नाम' समझता है या अभी 'दुराव' ही समझता है, (पूरा विश्वास हमपर हुआ या अभी कमी है)। यदि इसे वह 'नाम' न समझेगा, किन्तु समझता होगा कि हमसे छिपाते हैं, तब तो अर्थ न पूछेगा और यदि इसे सत्य ही हमारा नाम समझेगा तो अर्थ पूछेगा। राजाके मनका अभिप्राय जाननेके लिए केवल नाम कहा। (पुनः, संभवतः उसने विचारा होगा कि यदि मैं अपनेसे कहूँगा तो राजाको संदेह होगा और न कहूँगा तो भी अपूर्व नाम सुनकर संदेह होगा कि एक तन तो सभीके होते हैं, तब इनके 'एकतनु' नामका क्या आशय है। अद्भुत नाम सुनकर उसके जाननेकी उत्कंठा होगी। अतएव अपनेसे न कहना उचित समझकर चुप साध ली। राजाको सुनकर जिज्ञासा हुई ही।) (घ) 'सुनि नृप बोलेउ पुनि सिरु नाई'। 'पुनि' का भाव कि जैसे पूर्व चरणोंमें प्रणामकर प्रार्थनापूर्वक नाम पूछा था वैसे ही बड़ी नम्रताके साथ नामार्थ पूछते हैं,—'तव चरन नमामी। मोपर कृपा करिअ अब स्वामी'।

नोट—२ 'एकतनु भाई', ये वचन सत्य भी हैं। 'एकतनु' अर्थात् हम अपने बापके एकलौते बेटे हैं। 'भाई' अर्थात् तुम्हारे भाई बिरादरी हैं, तुम राजा हम भी राजा, तुम क्षत्रिय हम भी क्षत्रिय। जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा चार भाँतिके नाम होते हैं। अतएव राजा नामका कारण विस्तारसे जानना चाहता है।—(वै०)।

टिप्पणी—३ 'कहहु नाम कर अरथ बखानी। मोहि सेवक०' इति। (क) अपना सेवक (गूढ़ तत्त्व भी) सुननेका अधिकारी होता है, यथा 'जदपि जोषिता नहि अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी। ११०।१।' अतः 'कहहु, मोहि सेवक जानी' कहा। (ख) 'सेवक अति' कहनेका भाव कि नाम जब पूछा तब अपनेको सुत सेवक कहा था, यथा 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। नाथ नाम निज कहहु बखानी। १६०।४।', 'मो पर कृपा करिअ अब स्वामी।१६१।४।' वैसे ही अब नामार्थ पूछनेमें भी अपनेको 'सुत सेवक'

कहते हैं। अति सेवक', 'सुत सेवक' होता है। (जैसे हनुमानजीको उनकी अति सेवाके कारण सुत कहा है,—'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं', 'हे सुत कपि सब तुम्हहि समाना', 'सुनु सुत बिपिन करहिं रखवारी। परम सुभट रजनीचर भारी')। (वा, 'अति सेवक' का भाव कि आपको छोड़कर मैं दूसरा स्वामी जानता ही नहीं। वि० त्रि०)। (ग) 'कहहु नाम कर अरथ'। ☞देखिए पहिले उसने अपना नाम बतानेमें 'कपट' किया, अब बिना पूछे अर्थ भी नहीं बताता। 'कहहु०' से जनाया कि राजाको नामका अर्थ न समझ पड़ा। उसने सोचा कि 'एकतन' तो सभी हैं (दो तनका तो कोई देखने सुननेमें नहीं आया) तब इनका नाम एकतन क्यों हुआ ?

४ 'आदिसृष्टि उपजी जबहिं०' इति। (क) राजा, नामार्थके पश्चात् पिताका नाम न पूछ पड़े इसका भी उपाय तापस प्रथम ही नामार्थमें ही किए देता है। सृष्टिके आदिमें अपनी उत्पत्ति कहता है इससे पिताका और गुरु का नाम भी पूछनेकी गुञ्जाइश नहीं रह गई। पिताका अथवा गुरुका नाम मालूम होनेसे भी राजा कपटीमुनिको जान सकता सो भी अब नहीं जान सकता। दूसरे इस अर्थसे राजा यह सोचकर चुप हो जायगा कि इतने पुराने पुरुषोंको हम कैसे जान सकनेको समर्थ हो सकते हैं।

नोट—३ 'एकतनु' का अर्थ कैसी अनोखी रीतिसे समर्थन करता है। राजा तो यह समझें कि जब प्रथम कल्पके प्रथम सत्ययुगके आदिमें सृष्टि हुई तभी मैं पैदा हुआ और तबसे आजतक अनेक प्रलय और महाप्रलय हो गए पर मेरा वही शरीर बना रहा। और सत्य सत्य भीतरी गुप्त अर्थ यह है कि मेरे पिता माताके जो 'आदिसृष्टि' अर्थात् प्रथम संतान हुई वह मैं ही हूँ। अर्थात् अपने मातापिताका सबसे बड़ा पुत्र हूँ। 'एकतनु भाई' से एकलौते बेटेका भाव भी निकल सकता है। इसी तरह 'देह न धरी बहोरि' का भीतरी अर्थ है कि जबसे पैदा हुआ तबसे अबतक जीवित हूँ, न मरा न दूसरी देह पाई।

नोट—४ 'आदि सृष्टि' इति। सृष्टि ब्रह्मकी लीला है। ब्रह्म अनादि और अनन्त है। उसकी लीला भी अनादि अनन्त है। अतः सृष्टि भी अनादि है।

यह नहीं कहा जा सकता कि सृष्टिकी उत्पत्ति और लयके कार्यका कबसे प्रारंभ हुआ अर्थात् सृष्टिका उत्पन्न और लय होना प्रथम प्रथम कबसे हुआ। हमारे ग्रंथोंसे पता चलता है कि न जाने कितने ब्रह्मा हो गए। कपटी मुनिके इस शब्दसे यह भी साबित हो सकता है कि हमारे सामने सैकड़ों ब्रह्मा हो गए।

यदि यह मानें कि 'आदि सृष्टि' से वर्तमान ब्रह्माकी रची हुई प्रथम सृष्टि अभिप्रेत है तब यह प्रश्न होता है कि ब्रह्माने प्रथम प्रथम सृष्टि कब रची।

सिद्धान्तशिरोमणिकार स्वामी श्रीभास्कराचार्यजीका मत है कि ब्रह्माने पैदा होते ही सृष्टि रची। पर 'सूर्यसिद्धान्त' में सृष्टिके आरंभके विषयमें ऐसा उल्लेख है "ग्रहर्क्षदेवदैत्यादि सृजतोऽस्य चराचरम्। कृताद्रिवेदा दिव्याब्दा शतघ्ना वेधसो गता। २४।" इसकी व्याख्या प० सुधाकरद्विवेदीजी इस प्रकार लिखते हैं—'ब्रह्मदिनादितः शतघ्नवेदसप्तवेददिव्याब्देषु गतेषु ब्रह्मा सृष्टिं रचयित्वा आकाशे नियोजितवान्। ब्रह्मगुप्तादयो ब्रह्मदिनादावेव ग्रहादिसृष्टिं कथयन्ति।' अर्थात् ब्रह्माजीके दिनके आरंभसे ४७४०० दिव्यवर्ष (अर्थात् हमारे १७०६४००० वर्ष) बीतनेपर सृष्टिकी रचना हुई। और ब्रह्मगुप्तादि पंडितोंके मतसे ब्रह्माकी उत्पत्तिके साथ ही सृष्टिका आरंभ हुआ।

सिद्धान्तशिरोमणिके मतसे 'आदि सृष्टि उपजी जबहिं' का भाव होगा कि ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके साथ ही मैं भी उत्पन्न हुआ, मेरी और ब्रह्माकी आयु लगभग एक ही है। और सूर्यसिद्धान्तके मतानुसार भाव यह है कि ब्रह्माजीके प्रथम दिनमेंसे जब ४७४०० दिव्य वर्ष बीते तब मेरी उत्पत्ति हुई।

कालकी प्रवृत्तिके संबंधमें यह श्लोक है—"लङ्कानगर्यामुदयाच्च भानोस्तस्यैव वारे प्रथमं बभूव। मधोः सितादेर्दिनमासवर्षं युगादिकानां युगपत् प्रवृत्तिः। १५।" (सिद्धान्तशिरोमणि स० १६२६, विद्या-

विलास प्रेस, काशी)। अर्थात् लकापुरीमें जब सूर्यका उदय हुआ, उसी समयसे रविवार चैत्रशुक्लके आरभ से दिन, मास और वर्ष आदिकी एक साथ ही सर्वप्रथम प्रवृत्ति हुई।

जनि आचरजु करहु मन माहीं। सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं ॥१॥
तप बल तें जग सृजै बिधाता। तपबल बिष्नु भए परित्राता ॥२॥
तपबल संभु करहिं संघारा। तप तें अगम न कछु संसारा ॥३॥
भएउ नृपहि सुनि अति अनुरागा। कथा पुरातन कहै सो लागा ॥४॥
करम धरम इतिहास अनेका। करै निरूपन बिरति बिबेका ।५॥

शब्दार्थ—'सृज'=उत्पन्न करता है। 'बिधाता'=ब्रह्मा। 'परित्राता'=विशेष रक्षा करनेवाला। संघारा (संहार)=प्रलय, नाश। पुरातन=पुरानी, प्राचीन।

अर्थ—हे पुत्र! मनमें आश्चर्य न करो। तपसे कुछ भी कठिन नहीं ॥१॥ तपस्याके बलसे ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करते हैं। तपके बलसे विष्णु (सृष्टिके) पालनकर्ता हुए ॥ २ ॥ तपहीके बलसे शिवजी संहार करते हैं। तपसे संसारमें कुछ भी कठिन नहीं है ॥ ३ ॥ यह सुनकर राजाको बड़ा अनुराग हुआ तब वह पुरानी कथाएँ कहने लगा ॥ ४ ॥ कर्म, धर्म और उनके अनेकों इतिहास (कहे और साथ ही) ज्ञान और वैराग्यका निरूपण करने लगा ॥ ५ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—तपवाला Peroration (वक्तृताका जोरदार अश) इतना सुन्दर है कि कविकी जितनी तारीफ की जाय कम है। वक्तृता प्रतिद्वन्द्वी अवाक् रह जाता है।

टिप्पणी १—'जनि आचरजु करहु मन माहीं' इति। (क) ☞ सृष्टिके आदिमें उत्पत्ति हुई, यह सुन कर आश्चर्यकी प्राप्ति हुई, उसीका निवारण करता है। 'मन माहीं' से जनाया कि राजाने आश्चर्यकी शंका वचनसे कुछ भी प्रकट न की। मनमें आश्चर्यकी उत्पत्तिको रोक वह प्रथम ही किये देता है। [प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि "नामका अर्थ कहकर उसने सोचा कि राजाको संदेह होगा कि जबसे आदिसृष्टि हुई तबसे आजतक ये वैसे बने रह सकते हैं इसीसे वह पहले ही से गर्जन्तकर कह चला कि 'तप०', जिसमें राजा संदेह करने ही न पावें। अथवा, संदेह मनमें हुआ। चेष्टा देखकर उसने राजाके मनोगतभावोंको जान लिया और अपनी बात पुष्ट करने लगा। इसीसे कहा कि 'जनि आचरजु करहु मन माहीं' अर्थात् मैं तुम्हारे मनके भावको समझ रहा हूँ तुम आश्चर्य न करो। इस तरह यहां 'पिहित अलंकार' हुआ।"]। (ख) 'सुत'। राजाने पूर्व प्रार्थना की थी 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी'। इसीसे अब 'सुत' कहकर संबोधन कर रहा है। (राजाने उसको 'पिता' कहा है, यथा 'जानि पिता प्रभु करौं ढिठाई' और अपनेको सुत कहा। पर कपटीमुनिने अभीतक अपने मुखसे 'सुत' नहीं कहा था। अब अधिक विश्वास करानेके लिए 'सुत' कहकर जनाया कि हम भी तुम्हें पुत्र मानते हैं, इसीसे हमने गुप्त बात कही और उसे समझाते भी हैं)। (ग) 'तप तें दुर्लभ कछु नाहीं'। (सुत कहकर उसके चित्तको अपने वशमें करके) अब अपनेमें तपबल निश्चय कराता है। कैसा तपबल है? ब्रह्मा विष्णु-महेशके समान। इसीसे आगे तीनोंका तपबल कहता है। कुछ दुर्लभ नहीं है, इस कथनका भाव यह है कि तपबलसे त्रिदेव उत्पत्ति, पालन, संहार करते हैं। तपबलसे हमारी देह नाशको प्राप्त न हुई, इसमें अब आश्चर्य ही क्या? तपबलसे कुछ दुर्लभ नहीं है, यह कहकर जनाता है कि हमको त्रैलोक्यमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। यही बात आगे वह स्वयं स्पष्ट कहता है, 'सत्य कहउँ भूपति सुनु तोही। जग नाहिंन दुर्लभ कछु मोही'।

† तैं—१६६१

७ (क) 'तप बल तें जग सृजै विधाता ।०' इति । उत्पत्ति, पालन और संहार तीनों क्रमसे कहता है । सृष्टिके द्वारा तपका बल दिखाता है । तपबलसे ब्रह्मा सृष्टि रचते हैं, भाव कि ब्रह्मा पहले सृष्टि करनेमें असमर्थ हुए, तब आकाशवाणी हुई कि तप करो, तप करो । तब उन्होंने भारी तप किया जिससे सृष्टि कर सके । इससे भी बड़ा काम उसका पालन करना है । यदि एक क्षण भी आलस्य कर जायँ तो सृष्टिमें गड़बड़ मच जाय और यह सब प्रजा नष्ट हो जाय, सो तपबलसे विष्णुभगवान् सृष्टिकी रक्षा करते हैं । शिवजी सृष्टिका संहार करते हैं । 'जग' पद आदिमें देकर सबके साथ जनाया । (ख) तपसे कुछ भी दुर्लभ नहीं है अर्थात् तपका बल भारी है, यह कहा था, इसीसे भारी बल दिखानेके लिए त्रिदेवका बल कहा । (ग) 'तप तें अगम न कछु संसारा' इति । इससे दिखाया कि जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार करना अगम है, पर तपके बलसे सुगम हो गया । जब ऐसा बड़ा कठिन काम सुगम है तब संसारमें और कौन काम है जो तपसे न हो सके ? सभी असंभव काम संभव हो सकते हैं । (पुनः, इसमें यह भी दिखाता है कि केवल त्रिदेवहीमें यह शक्ति नहीं है, किंतु जो कोई भी तप करे वही उत्पत्ति पालन संहार आदि कर सकता है) और यह भी न समझो कि तीनों देवता एक ही एक काम कर सकते हैं । एक ही देवता तपके प्रभावसे तीनों काम कर सकता है । तपसे उन्हें एवं किसीको भी कुछ भी अगम नहीं है । इस तरह अपनेको त्रिदेवके समान जनाया ।

नोट—१ 'तप तें अगम न कछु संसारा' । प्रमाण यथा 'यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् । सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ।' (मनु संहिता) । पुनः यथा 'तप अधार सब सृष्टि भवानी ।७३।४।'

२ ब्रह्मा, विष्णु, महेश भगवान् हैं । इन्हें उत्पत्ति, पालन, संहार करनेके लिए कठिन उपवास आदि तप नहीं करने पड़ते । ये तो सङ्कल्प मात्रसे सब कार्य्य करते हैं । इनके सम्बन्धमें 'तप' शब्द 'संकल्प या विचार' के अर्थमें प्रयुक्त होता है अर्थात् वे संकल्प करके विश्वकी उत्पत्ति आदि करते हैं । यहाँ 'तप आलोचने' धातु है । (रा० च० श०) । न तो ब्रह्मा कुलालकी भाँति सब वस्तुओंकी रचना करते हैं, न विष्णु माकी भाँति सबका पालन करते हैं और न शम्भु व्याधकी भाँति संहार करते हैं । यह सब कार्य उनके तपोबलसे आपसे आप होता रहता है ।

३ (क)—'भएउ नृपहि सुनि अति अनुरागा ।' इति । 'अति अनुरागा' का भाव कि तापसपर राजाका प्रेम तो पूर्वहीसे था, पर अब महिमा सुननेसे 'अति' अनुराग हो गया । (ख) 'कथा पुरातन कहै सो लागा' इति । जब तपस्वीकी अति कालीनता सुनकर राजाको आश्चर्य न हुआ, उलटे अनुराग हुआ तब प्राचीन कथाएँ कहने लगा । ☞ अनुराग हो तभी मनुष्य कथाके श्रवणका अधिकारी होता है यथा 'लागी सुनै श्रवन मन लाई । आदिहु तें सब कथा सुनाई । ४।१३ ।' राजाको अत्यन्त अनुराग हुआ तब कथा कहने लगा । 'पुरातन' कथा कहकर अपना 'पुराणपन' अपनी कालीनता सिद्ध करता है । जिसमें राजाको निश्चय हो जाय कि तपस्वीजी बड़े ही कालीन हैं, यह सब घटनाएँ इनकी देखी हुई हैं । (ग) 'करम धरम इतिहास अनेका' इति । अर्थात् कर्मकी गति कहता है जो अत्यंत सूक्ष्म और कठिन है । यथा 'कठिन करम गति जान बिधाता । २।२८२ ।' [इससे जनाया कि कर्मकी गति या तो ब्रह्मा जानते हैं या मैं । और कोई नहीं जानता । 'कर्म' से कर्म अकर्म और विकर्म तीनों भेद सूचित कर दिये । भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि इन तीनोंके विषय जाननेयोग्य हैं । इनकी गति कठिन है । बड़े-बड़े विद्वान् भी इन बातोंको यथार्थरूपसे नहीं जानते । यथा "कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः, १७ ।" "कवयोऽप्यत्र मोहिताः । १६ ।' (गीता ४) । इन सबोंके स्वरूप उसने कहे ।] धर्म भी अनन्त हैं । धर्मसे चारों वर्णोंके धर्म, चारों आश्रमोंके धर्म, स्त्रियोंके धर्म, स्वामि धर्म, सेवकधर्म, दानधर्म, और मोक्षधर्म इत्यादि अनेक धर्मोंका ग्रहण हो गया । (धर्मके विषयमें पूर्व दोहा ४४ 'ब्रह्म निरूपन धर्म बिधि…'

मे विस्तारसे लिखा गया है)। अनेक इतिहास कहता है अर्थात् कर्म-धर्मके उदाहरण इतिहासमे देता है। पुन, कर्मधर्मकी कथाएँ कहता है तथा और भी इतिहास कहता है। [उदाहरणार्थ इतिहास कहे कि अमुक अमुक राजाओंने ऐसे-ऐसे कर्म किये और उनसे ये ये फल प्राप्त किये । (घ) 'करै निरूपन बिरति बिबेका" इति। ज्ञान और वैराग्यके स्वरूप सूक्ष्म हैं। अत उनका निरूपण करना कहा।—दोहा ४४ भी देखिए।]

उदभव पालन प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी ॥६॥
सुनि महीप तापस बस भएऊ। आपन नाम कहन तब लएऊ ॥७॥
कह तापस नृप जानौं तोही। कीन्हेहु कपट लाग भल मोही ॥८॥
सोरठा—सुनु महीस असि नीति जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप।
मोहि तोहि पर अति प्रीति सोइ‡ चतुरता बिचारि तव ॥१६३॥

अर्थ—उत्पत्ति, पालन और संहारकी कहानियाँ कहीं और भी अगणित आश्चर्य (की बातें) बखानकर कहीं ॥ ६ ॥ सुनकर राजा तपस्वीके वशमे हो गया और तब अपना नाम कहने लगा ॥ ७ ॥ वह (तापस) बोला कि राजन्! मैं तुम्हें जानता हूँ। तुमने कपट किया, वह मुझे अच्छा लगा ॥ ८ ॥ राजन्! सुनो, ऐसी नीति है कि राजा अपना नाम जहाँ तहाँ नहीं कहते, तेरी यही चतुरता समझकर तुझपर मेरा अत्यन्त प्रेम है ॥ १६३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कहेसि अमित आचरज बखानी'। तात्पर्य्य कि प्रथम प्रसिद्ध उत्पत्ति, पालन और संहारकी कथाएँ कहीं; यथा 'तपबल तें जग सृजै बिधाता। तपबल बिष्नु भए परित्राता॥ तपबल संभु करहिं संघारा'। अब अप्रसिद्ध आश्चर्य्य बखानकर कहता है। वह यह कि कभी ब्रह्मा पालनका कार्य्य करते हैं और विष्णु उत्पत्ति करते हैं, यथा 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा। ५।२१।' कभी ब्रह्मा ही तीनों कर्म करते हैं, यथा 'जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बालकेलि सम बिधि मति भोरी। २।२८२।' और कभी भगवान् ही उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं, यथा 'आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा। ६।१५।' इत्यादि। (ख) 'बखानी' बखानकर कहनेका भाव कि जो कभी न सुनी थीं वैसी वैसी अद्भुत बातें बहुतेरी कहीं जिसे सुनकर आश्चर्य्य हो।

नोट—१ "उद्भव पालन प्रलय कहानी"—द्विभुज शार्ङ्गधनुष-बाणधारी श्रीसाकेतविहारीकी जब इच्छा हुई कि सृष्टिकी रचना हो तब उन्होंने प्रथम जल उत्पन्न कर उसमे चतुर्भुज रूपसे शयन किया। इसीसे नारायण कहलाए अर्थात् जल है घर जिनका। उनके कमलनाभिसे ब्रह्मा हुए जिनको त्रिगुणात्मक सृष्टि रचनेकी आज्ञा हुई। श्रीमद्भागवत स्कंध २ मे इसकी कथा है जो पूर्व लिखी जा चुकी है। भगवान् विष्णु नारायण आदि रूपोंसे और अवतार ले लेकर प्रजाकी रक्षा करते हैं। उन अवतारोंका वर्णन किया। 'प्रलय'—कभी शिवजी द्वारा और कभी शेषजी, सूर्य्य भगवान्, इत्यादि द्वारा सृष्टि फिर लय हो जाती है। कूर्म पुराणमे नित्य (जो प्रतिदिन लोकमे क्षय हुआ करता है), नैमित्तिक (कल्पान्तमे तीनों लोकोंका क्षय), प्राकृत (जिसमे महदादि विशेष तक विलीन हो जाते हैं) और आत्यन्तिक (ज्ञानकी पूर्णावस्था प्राप्त होनेपर ब्रह्ममें लीन हो जाना) चार प्रकारके प्रलय कहे गए हैं। यथा 'नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लय। आत्यन्तिकश्च कथित कालस्य गतिरीदृशी। भा० १२।४।३८।' (प्र० सं०)।

पद्म पु० सृष्टिखण्डमें एक बारकी सृष्टि इस प्रकारकी पुलस्त्यजीने बताई है—"जब ब्रह्माजी सृष्टि-कार्यमें

† ऐसा ही १६६१ मे है। ‡ पाठान्तर—'परम चतुरता निरखि तव'

प्रवृत्त हुए उस समय उनसे देवताओंसे लेकर स्थावर पर्यन्त चार प्रकारकी प्रजा उत्पन्न हुई जो मानसी प्रजा कहलाई। तदनन्तर प्रजापतिने देवता, असुर, पितर और मनुष्य—इन चार प्रकारके प्राणियोंकी तथा जलकी भी सृष्टि करनेकी इच्छासे अपने शरीरका उपयोग किया। उस समय सृष्टिकी इच्छावाले मुक्तात्मा प्रजापतिकी जङ्घासे पहले दुरात्मा असुरोंकी उत्पत्ति हुई। उनकी सृष्टिके पश्चात् भगवान् ब्रह्माने अपनी वयस्‌से इच्छा-नुसार 'वयों' (पक्षियों) को उत्पन्न किया। फिर अपनी भुजाओं से भेड़ों और मुखसे बकरों की रचना की। इसी प्रकार अपने पेटसे गायों और भैंसोंको तथा पैरोंसे घोड़े, हाथी, गर्दभ, नीलगाय, हिरन, ऊँट, खच्चर तथा दूसरे-दूसरे पशुओंकी सृष्टि की। ब्रह्माजीकी रोमावलियोंसे फल, मूल तथा भाँति-भाँतिके अन्नोंका प्रादुर्भाव हुआ। गायत्रीछन्द, ऋग्वेद, त्रिवृत्स्तोम, रथन्तर तथा अग्निष्टोम यज्ञको प्रजापतिने अपने पूर्ववर्ती मुखसे प्रकट किया। यजुर्वेद, त्रिष्टुप्छन्द, पञ्चदशस्तोम, बृहत्साम और उक्थकी दक्षिणवाले मुखसे रचना की। सामवेद, जगतीछन्द, सप्तदशस्तोम, वैरूप और अतिरात्रयागकी सृष्टि पश्चिम मुखसे की तथा एक-विंशस्तोम, अथर्ववेद, आप्तोर्याम, अनुष्टुप्छन्द और वैराजको उत्तरवर्ती मुखसे उत्पन्न किया। छोटे बड़े जितने भी प्राणी हैं सब प्रजापतिके विभिन्न अंगोंसे उत्पन्न हुए। कल्पके आदिमें ब्रह्माने देवताओं, असुरों, पितरों और मनुष्योंकी सृष्टि करके फिर यक्ष, पिशाच, गंधर्व, अप्सरा, सिद्ध, किन्नर, राक्षस, सिंह, पक्षी, मृग और सर्पोंको उत्पन्न किया। नित्य और अनित्य जितना भी यह चराचर जगत् है, सबको आदिकर्ता भगवान् ब्रह्माने उत्पन्न किया।"

टिप्पणी—२ 'मुनि महीस तापस बस भएऊ।०' इति। (क) तापसके वशमें हो गया अर्थात् यह विचार चित्तमें स्फुरित हो आया कि ये तो भारी महात्मा हैं, इनसे कौन कपट छिप सकता है, ये तो हमें जानते हैं तभी तो हमको इन्होंने महिपाल कहा है। प्रथम कपट किया, नाम न बताया, अब नाम बताना चाहते हैं। तपस्वीने राजाको अपने वशमें जानकर अपना नाम बताया, यथा 'देखा स्वबस कर्म मन बानी'। तब बोला तापस बगध्यानी॥ नाम हमार एकतनु भाई।' राजा तपस्वीको अपने वशमें जानकर अपना नाम बतावें सो बात नहीं है, क्योंकि महात्मा किसीके वशमें नहीं होते। राजा स्वयं तापसके वश हो जानेसे अपना नाम बताने लगा। राजाको वशमें करनेके लिए ही उसने अपना माहात्म्य सुनाया था।

नोट—२ पहिले भिखारी नाम बताया, फिर कहा कि अच्छा अब हम अपना असली नाम बताते हैं। इस खयालसे कि जब राजा अपना नाम बताने लगेगा तब हमको और भी बातें गढ़नेका अवसर प्राप्त होगा। ऐसा ही हुआ भी। (प्रोफ० दीनजी)। 'कहन तब लयऊ' से जनाया कि कहनेको हुआ पर कहने न पाया था कि वह बीचमें बोल उठा।

टिप्पणी—३ (क) 'कह तापस नृप जानौं तोही' इति। जब अपना नाम बताने लगा तब तापस (राजाकी बात काटकर) बोला कि हम तुम्हें जानते हैं। तुम अपनेको मंत्री बताते हो, पर मंत्री हो नहीं। तुम तो राजा हो, इसीसे तो हम तुम्हें 'नृप' कहते हैं। (ख) 'कीन्हेहु कपट लाग भल मोही।' कपट किसीको अच्छा नहीं लगता पर हमको तुम्हारा कपट करना अच्छा लगा। 'भला लगा' कहनेका भाव कि कपटसे और प्रीतिसे विरोध है। कपटसे प्रीतिका नाश होता है, यथा 'जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि। ५७।' पर तेरे इस कपटसे मेरा प्रेम तुमसे हटा वा घटा नहीं वरन् अत्यंत अधिक हो गया। आगे दोहेमें इन दोनों (कपट भला लगने और प्रीति अति अधिक होने) का हेतु कहता है कि तुम्हारी चतुरता देखकर यह दोनों बातें हुईं। (ग) 'सुनु महीस०' इति। 'अति प्रीति' का भाव कि चतुरता विचारकर प्रीति हुई अतएव जैसी चतुरता है वैसी ही प्रीति है। राजामें 'परम' चतुरता है इसीसे 'अति' प्रीति हुई, यथा 'उतरि तुरग ते कीन्ह प्रनामा। परम चतुर न कहेउ निज

नामा'। (घ) 'असि नीति' का भाव कि तुमने नाम न बताया सो ठीक किया, यही नीति कहती है, तुमने अनीति नहीं की। तुम्हारा नामका छिपाना कपट नहीं है किंतु राजनीतिकी निपुणता है, तुमने उस नीतिका पालन किया है, कुछ कपट नहीं किया।

नाम तुम्हार प्रतापदिनेसा। सत्यकेतु तव पिता नरेसा ॥१॥
गुर प्रसाद सब जानिअ राजा। कहिय न आपन जानि अकाजा ॥२॥
देखि तात तव सहज सुधाई। प्रीति प्रतीति नीति निपुनाई ॥३॥
उपजि परी ममता मन मोरें। कहौं कथा निज पूँछे तोरें ॥४॥
अब प्रसंन मैं संसय नाहीं। मांगु जो भूप भाव मन माहीं ॥५॥

शब्दार्थ—निपुनाई = निपुणता। ममता = ममत्व, स्नेह, प्रेम, अपनापन।

अर्थ—तुम्हारा नाम भानुप्रताप है। राजा सत्यकेतु तुम्हारे पिता थे ॥१॥ हे राजन्! गुरुकी कृपासे मैं सब जानता हूँ पर अपनी हानि समझ कहता नहीं ॥२॥ हे तात! तुम्हारी स्वाभाविक सिधाई, प्रीति, प्रतीति और नीतिमें निपुणता देख मेरे मनमें ममत्व उत्पन्न हो गया; इसलिए तेरे पूछनेसे अपनी कथा कहता हूँ ॥३-४॥ अब मैं प्रसन्न हूँ इसमें सन्देह नहीं। राजन्! जो मनको भावे माँग ले ॥५॥

टिप्पणी—१ (क) 'नाम तुम्हार प्रतापदिनेसा। सत्यकेतु...।' इति। पिता समेत नाम लेनेका भाव कि प्रणाम करनेके समय पिता समेत नाम लेनेकी विधि है। कपटी मुनिको प्रणाम करते समय राजाने पितासमेत अपना नाम न लिया था, इसीसे उसने अपनी सिद्धता दिखानेके लिए, सर्वज्ञताका पूर्ण विश्वास जमानेके लिए दोनोंका नाम खोल दिया। तपस्वी पहिले राजाके पिताका नाम बताता पीछे राजाका, परन्तु भानुप्रताप अपना नाम कहने ही लगा था इसीसे (उसने इनकी बात काटकर जिसमें राजाके मुखसे नाम निकलने न पावे, राजा रुक जाय) प्रथम इन्हींका नाम कहा पीछे पिताका। (ख) 'गुरप्रसाद सब जानिअ' इति। प्रथम सब पदार्थोंकी प्राप्ति तपोबलसे कही, यथा 'सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं'। जानकारी गुरुप्रसादसे कहता है क्योंकि बिना गुरुके ज्ञान नहीं होता, यथा 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान'। (इससे यह भी जनाया कि तुम हमें गुरु करोगे तो तुम्हें भी सब सुलभ हो जायगा)। (ग) 'कहिअ न आपन जानि अकाजा' इति।—भाव कि अपनी जानकारी कहनेसे लोकमान्यता होती है, जैसा पूर्व कह चुके हैं, यथा 'लोकमान्यता अनल सम कर तपकानन दाहु।', अतएव नहीं कहते। तात्पर्य्य कि हम अपनेको छिपाये रखते हैं क्योंकि 'सब बिधि कुसल कुबेष बनाएँ'। (घ) 'जब सब जानते हो, पिताका नाम बताया, नगरका फासला बताया, इत्यादि और यह भी जानते हो कि कहनेसे अकाज होता है तब कहा क्यों?' इस संभावित शंकाका समाधान स्वयं ही आगे प्रथम ही किए देता है कि 'देखि०'। (ङ) 'देखि तात तव सहज सुधाई।०' सहज सुधाई, प्रीति, प्रतीति और नीतिकी निपुणता इन चारका देखना कहा। 'भलेहि नाथ आयसु धरि सीसा' से 'नाथ नाम निज कहहु बखानी। १६०।१-४।' तक 'सहज सुधाई' है। [यथा 'सरल बचन नृपके सुनि काना। १६०।८।', 'कह नृप जे विज्ञाननिधाना' से 'मोपर कृपा करिअ अब स्वामी' १६१ (१-५) तक सहज प्रीति प्रतीति है] 'सहज प्रीति भूपति कै देखी। आपु विषय बिस्वास बिसेषी' यहाँ प्रीति प्रतीति देखी। 'परम चतुर न कहेउ निज नामा' यह नीति निपुणता देखी, यथा 'सुनु महीस असि नीति जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप।'

२ (क) 'उपजि परी ममता मन मोरें' इति। 'उपजि परी' का भाव कि संतको ममता न करनी चाहिए। (संत निर्मम होते हैं। उनका किसीपर ममत्व कैसा? पर तुम्हारी प्रीतिप्रतीति इत्यादि देखकर

मुझसे रहा न गया। गुणोंमें सामर्थ्य ही ऐसा है कि आत्माराम मुनियोंको भी खींच लेता है। प्रेमके आगे नेम नहीं रह जाता। बस) 'ममता' उपज पड़ी, तुमपर स्नेह हो गया। अर्थात् हमने तुमको अपना सुत और सेवक मान लिया। (नोट—'ममता वह स्नेह है जो माताका पुत्रके साथ होता है। राजाने अपनेको 'सुत सेवक' कहा था उसीकी जोड़में इसने 'ममता' का उपजना कहा। 'उपजना' का भाव ही यही है कि पहिले न थी अब 'प्रेम' आदि बीज पड़नेसे उत्पन्न हो गई, मातापिताकी भाँति मेरा सहज प्रेम तुमपर अब हो गया)। (ख) ☞ अपनी कथा कहनेके दो हेतु बताए। 'ममता' और 'पूँछे तोरें'। राजाने पूछा था, यथा 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। नाथ नाम निज कहहु बखानी' ('बखानकर' कहो कहा था, इसीसे नाम, अर्थ, उसका कारण तपोबल इत्यादि सब कहे)। दो हेतु कहनेका भाव कि यदि केवल हमारा ममत्व ही तुमपर होता और तुमने पूछा न होता तो भी हम न कहते, इसी तरह यदि केवल तुमने पूछा ही होता पर मुझे तुम्हारे ऊपर ममता न हुई होती तो भी मैं न कहता। यहाँ दोनों कारण उपस्थित हो गए, इससे कहना पड़ा।

३ (क) 'अब प्रसन्न मैं' इति। 'अब' कहनेका भाव कि तुमपर हमारा ममत्व हो गया, तुमको हमने अपना जाना, अब प्रसन्न हूँ। पुनः भाव कि जब तुमने नीति बरती, नीतिके अनुकूल कपट किया तब हमको अच्छा लगा था—'कीन्हेहु कपट लाग भल मोही', और जब तुम निष्कपट होकर अपना नाम बताने लगे तब हम प्रसन्न हो गए। (ख) 'संसय नाहीं' कहनेका भाव कि कपट करनेसे प्रसन्नता होनेमें सन्देह होता है, तुम संशय न करो कि "हमने मुनिसे कपट किया, नाम न बताया, झूठ बोले कि हम मंत्री हैं, तब हमपर प्रसन्न कैसे होंगे? केवल हमारी खातिरी, हमारे संतोषके लिए ऐसा कहते हैं कि हम प्रसन्न हैं"। (निष्कट हो गए हो इससे मेरी प्रसन्नतामें भी कुछ सदेह नहीं है)। प्रसन्नतामें विश्वास करानेके लिए 'संसय नाहीं' कहा। (ग) 'माँगु जो भूप भाव मन माहीं' इति। ☞ छल करनेका और कोई उपाय न देख पड़ा तब वर माँगनेको कहा, यह सोचकर कि जो भी वर माँगेगा उसीमें ब्राह्मण भोजन करानेको कहेंगे। (कपटी मुनिने सोचा कि राजा अब पूरा काबूमें आ गया है, अब इसके नाशका उपाय करना चाहिए। अतः अब वर माँगनेको कहा)। (घ) 'अब प्रसन्न मैं' कहकर 'माँगु' कहनेका भाव कि हमारी प्रसन्नता निष्फल नहीं होती। [वर प्रसन्नता होनेसे ही दिया जाता है, यथा 'परमप्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर माँगहु देउँ सो तोही। ३।११।', 'कागभुसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि। ७।८३।' इसीसे 'वर' मँगवानेके लिए प्रथम अपनेको 'अब प्रसन्न' कहा।] (ङ) 'भूप' सबोधनका भाव यह है कि तुम सातों द्वीपोंके चक्रवर्त्ती राजा हो, इससे पृथ्वीके (भूलोकके) तो सब पदार्थ तुम्हारे पास हैं ही फिर भी तुम्हें कोई अभाव अवश्य होगा। तुमने कहा ही था 'मो पर कृपा करहु अब स्वामी'। अतः जो वस्तु तुम चाहो सो माँगो। अर्थात् हम तुम्हें स्वर्गादि अपर लोकोंके पदार्थ भी देनेको समर्थ हैं।

प० प० प्र०—यद्यपि कपटमुनिने 'अब प्रसन्न माँगु जो भूप भाव मन माहीं' ऐसा कहा। तथापि जिसके मनमें कुछ भी विषयवासना नहीं है, उससे यदि कोई एकाएक कहे कि 'माँगु जो भाव मन माहीं' तो वह उसी क्षण कुछ भी माँगनेमें असमर्थ ही होगा, (पर राजाने तुरत वर माँगा), जो वर राजाने माँगा है वह तो विना सोच विचारके कोई भी न माँग सकेगा। सुतीक्ष्णजीकी हालत तो देखिए। जब भगवान्ने उनसे कहा—'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर माँगहु देउँ सो तोही।', तब भक्तिकी आकांक्षा रखते हुए भी मुनिने क्या कहा ?—'मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा।' और प्रतापभानुने क्या माँगा—'जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ। एक छत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ।' क्या विना पूर्व विचारके ऐसा वर कोई माँग सकेगा ? 'कृपासिंधु मुनि दरसन तोरें। चारि पदारथ करतल मोरें।' कहा तो सही, पर जो ज्ञानी जीवन्मुक्त हैं, वह ऐसा वर किसीसे क्यों माँगेगा ?

देखिए तो, राजाने यहाँ भी 'चारि पदारथ' को ही कहा, भक्तिका नाम भी नहीं लिया, भक्तिका स्मरण भी नहीं हुआ। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि प्रतापभानुको ऐश्वर्यकी लालसा थी, इसीसे उन्होंने पिताके राज्य देने पर नहीं नहीं किया और सम्राट् होनेपर भी अधिक ऐश्वर्यकी लालसा उसके हृदयमें गुप्त रीतिसे बसी हुई थी, वह निष्काम कर्म वासुदेवार्पित करता था पर कर्तृत्वाहंकार नष्ट नहीं हुआ था। उसमें भक्तिका पूरा पूरा अभाव था। (पूर्व १५६।६-७ भी देखिए शृखलाके लिये)।

वि० त्रि०—'मागु जो भूप भाव मन माहीं' इति। इस तरह वह भीतरी इच्छा जानना चाहता है। भीतरी इच्छा ही कमजोरी है, उसीकी पूर्तिके लिये आदमी अंधा हो जाता है। धूर्त लोग सदा उसके जानने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि उसे जान लेने पर ठगनेमें बड़ा सुभीता होता है।

सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्हि बिधि नाना ॥६॥
कृपासिंधु मुनि दरसन तोरें। चारि पदारथ करतल मोरें ॥७॥
प्रभुहि तथापि प्रसंन बिलोकी। मागि अगम बर होउ असोकी* ॥८॥
दोहा—जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जिनि कोउ।
एक छत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ ॥१६४॥

शब्दार्थ—कल्प—३३।७ (मा० पी० भाग १ पृष्ठ ४४६ देखिये। कल्पोंके नाम आगे दिये गये हैं।

अर्थ—राजा सुन्दर वचन सुनकर प्रसन्न हुआ और तपस्वीके चरणोंको पकड़कर बहुत तरहसे उसने विनती की ॥ ६ ॥ हे दयासागर मुनि! आपके दर्शनसे चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) मेरे हथेली पर हैं तो भी प्रभुको प्रसन्न देख दुर्लभ वर माँगकर (क्यों न) शोकरहित हो जाऊँ ॥ ८ ॥ बुढ़ापा और मृत्युके दुःखोंसे शरीर रहित हो, संग्राममें कोई जीत न सके, एक छत्र राज्य हो, पृथ्वीपर कोई शत्रु न रह जाय और सौ कल्प तक राज्य हो ॥ १६४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि सुबचन०'। वाञ्छित पदार्थ देनेको कहा इसीसे इन्हें 'सुबचन' कहा। ☞ यहाँ राजाका मन, वचन और कर्म तीनोंसे मुनिके शरण होना दिखाया। मनसे हर्ष है, वचनसे विनय कर रहा है और तनसे चरण पकड़े हैं। (ख) 'कृपासिंधु मुनि' का भाव कि राजाने प्रथम कृपा करनेकी प्रार्थना की थी, यथा 'मो पर कृपा करिअ अब स्वामी'। अब 'कृपासिंधु' कहकर जनाते हैं कि आपने मुझपर असीम कृपा की। (बिना सेवा शुश्रूषाके, बिना जप तपके चन्द मिनटोंके समागममें इतनी बड़ी कृपा की कि मुहँ माँगा वर देनेको तैयार हो गये। अत कृपासिंधु जाना। वि० त्रि०)। (ग) 'दरसन तोरें चारि पदारथ करतल मोरें' इति। भाव कि चारों पदार्थ तो हमको पूर्वहीसे प्राप्त रहे हैं, यथा 'अरथ धरम कामादि सुख सेवै समय नरेसु।१५४।', अब आपके दर्शनसे वे सब मेरे 'करतल' में हो गए। अर्थात् (पहिले मुझे तो जरूर प्राप्त थे पर दूसरोंको देने योग्य मैं न था, अब आपके दर्शनोंसे मैं इस योग्य भी हो गया) अब मैं चारों पदार्थ दूसरोंको दे सकता हूँ। (घ) 'प्रभुहि तथापि प्रसन्न बिलोकी।०'—भाव कि आपके दर्शनसे चारों पदार्थ करतल हो गए, अब आपकी प्रसन्नता देखकर अगम वर माँगता हूँ। वह दर्शनका महत्व था, यह प्रसन्नताका महत्व है। 'अगम' अर्थात् जहाँ तक किसीकी गति आजतक न हुई हो।

२—'जरा मरन दुख रहित तनु०'। (क) 'तनु' का भाव कि जैसा आपका तन जरामरण दुःख रहित है वैसा ही हमारा भी कर दीजिए। पुनः हम क्षत्रिय हैं, अत हमारा तन ऐसा बलवान कर दीजिए कि हमें कोई न जीत सके। (पुन भाव कि 'शीर्यते इति शरीरम्' सो शरीर जरा-मरण-रहित हो, यह महादुर्गम

* पाठान्तर—बिसोकी (भा० दा०)

वर है । शरीरका नाम ही रोगायतन है, सो दुःखरहित हो । 'समर जितै जनि कोउ', प्राणीमात्रसे अजय हो जाऊँ, इस भाँति अलौकिक पराक्रम माँगा । वि० त्रि०) । (ख) 'एक छत्र' अर्थात् छत्र एकमात्र हमारे ऊपर लगे, दूसरा छत्रधारी कोई राजा न हो । 'रिपुहीन महि०' अर्थात् हमको जीतने योग्य कोई शत्रु सौ कल्प तक न हो ।

नोट—१ 'कलपशत' इति । यहाँ भानुप्रताप 'शत कल्प' तक राज्य होनेकी प्रार्थना करता है । अतः कल्पोंके संबंधमें कुछ जानकारीकी आवश्यकता हुई ।

अमरकोशमें कल्पके विषयमें यह उल्लेख है—"मासेन स्यादहोरात्रः पैत्रो वर्षेण दैवतः । दैवे युगसहस्रे द्वे ब्राह्मः कल्पौ तु तौ नृणाम् ॥ १।४।२१ ।" अर्थात् हमारे (मनुष्योंका) एक मास पितरोंका एक दिनरात होता है और हमारा एक वर्ष देवताओंका एक दिनरात होता है । देवताओंके दो हजार युग (अर्थात् हमारे दो हजार सत्ययुग, दो हजार त्रेता, दो हजार द्वापर और दो हजार कलियुग) का ब्रह्माका एक दिनरात होता है जिसे मनुष्यका दो कल्प कहा जाता है । एक सृष्टि दूसरा प्रलय । ब्रह्माके दिनको कल्प कहते हैं और रात्रिको कल्पान्त, कल्प, प्रलय, क्षय आदि कहा जाता है ।

ब्रह्माके एक दिन को कल्प कहते हैं । जैसे हमारे यहाँ मासमें तीस दिन होते हैं और प्रतिपदा, पूर्णमासी और अमावस्या होती हैं वैसे ही ब्रह्माजीके प्रत्येक मासमें तीस दिनके तीस नाम वाले कल्प और प्रतिपदा आदि होते हैं ।

भा० ३।११।३४ की 'अन्वितार्थप्रकाशिका टीका' में लिखा है कि (स्कन्दपुराणान्तर्गत) प्रभासखण्डके अनुसार श्वेतवाराहसे लेकर पितृकल्पतक, ब्रह्माजीके शुक्ल प्रतिपदा से अमावस्यातक, तीस दिन का एक मास होता है । इन तीसों कल्पोंकी बारह आवृत्ति होनेसे ब्रह्माका एक वर्ष होता है । ब्रह्माजीकी आधी आयुको 'परार्द्ध' कहते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि कल्पोंके नाम प्रत्येक मासमें वही रहते हैं ।

प्रभासखण्डमें कल्पोंके नाम इस प्रकार हैं । यथा "प्रथमः श्वेतकल्पस्तु द्वितीयो नीललोहितः । वामदेवस्तृतीयस्तु ततोराथन्तरोऽपरः ॥ ४५ ॥ रौरवः पञ्चमः प्रोक्तः षष्ठः प्राण इति स्मृतः । सप्तमोऽथ बृहत्कल्पः कन्दर्पोऽष्टम उच्यते ॥ ४६ ॥ सद्योऽथ नवमः प्रोक्त ईशानो दशमः स्मृतः । ध्यान एकादशः प्रोक्तस्तथा सारस्वतोऽपरः ॥४७॥ त्रयोदश उदानस्तु गरुडोऽथ चतुर्दशः । कौर्मः पञ्चदशो ज्ञेयः पौर्णमासी प्रजापतेः ॥ ४८ ॥ षोडशो नारसिंहस्तु समाधिस्ततः परः । आग्नेयोऽष्टादशः प्रोक्तः सोमकल्पस्ततोऽपरः ॥ ४९ ॥ भावनो विंशतिः प्रोक्तः सुप्तमालीति चापरः । वैकुण्ठश्चार्चिषो रुद्रो लक्ष्मीकल्पस्तथापरः ॥५०॥ सप्तविंशोऽथ वैराजो गौरी कल्पस्तथान्धकः । माहेश्वरस्तथा प्रोक्तस्त्रिपुरो यत्र घातितः ॥५१॥ पितृकल्पस्तथान्ते च यः कुहूर्ब्रह्मणः स्मृता । त्रिंशत् कल्पास्समाख्याता ब्रह्मणो मासि वै प्रिये ॥ ५२ ॥" इसके अनुसार कल्पोंके नाम क्रमशः ये हैं—१ श्वेत (श्वेतवाराह) कल्प, २ नीललोहित, ३ वामदेव, ४ रथन्तर, ५ रौरव, ६ प्राण, ७ बृहत्, ८ कन्दर्प, ९ सद्य, १० ईशान, ११ ध्यान, १२ सारस्वत, १३ उदान, १४ गरुड़, १५ कौर्म (ब्रह्माकी पूर्णमासी), १६ नारसिंह, १७ समाधि, १८ आग्नेय, १९ सोमकल्प, २० भावन, २१ सुप्तमाली, २२ वैकुण्ठ, २३ आर्चिष, २४ रुद्र, २५ लक्ष्मी, २६ वैराज, २७ गौरी, २८ अंधक, २९ माहेश्वर और ३० पितृकल्प ।

शब्दसागरमें भी तीस नाम दिये हैं । उनमें प्रभासखण्डोक्त नामोंसे कहीं-कहीं भेद है । श० सा० में ११ व्यान, १७ समान, २० मानव, २१ पुमान, २३,२४,२५ क्रमशः 'लक्ष्मी, सावित्री और घोर', २६ वाराह, २७ वैराज, २८ गौरी–है । शेष सब दोनोंमें एकसे हैं ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी दो तीन स्थलोंमें तीस कल्पोंके नामों का उल्लेख मिलता है परन्तु उनमें भी कुछ नामोंमें भेद है ।

कल्पोंकी संख्या और नामोंमें बहुत मतभेद है, हम उसका भी उल्लेख यहाँ किये देते हैं । कोई सात, कोई अट्ठारह और कोई बत्तीस कल्पोंका निर्देश करते हैं ।

'प्रतिष्ठेन्दुशेखर' में (स्नान) संकल्पमें सात नाम ये गिनाये हैं—प्राणकल्प, पार्थिवकल्प, कूर्मकल्प, अनन्तकल्प, ब्रह्मकल्प, वाराहकल्प और प्रलयकल्प।

भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्वके चतुर्थ खण्डमें अ० २५ में कल्पोंके नाम इस प्रकार हैं—'कल्पाश्चाष्टादशाख्यातास्तेषां नामानि मे शृणु। कूर्मकल्पो मत्स्यकल्पः श्वेतवाराहकल्पकः ॥५०॥ तथा नृसिंहकल्पश्च तथा वामनकल्पकः। स्कन्दकल्पो रामकल्पः कल्पो भागवतस्तथा ॥ ५१ ॥ तथा मार्कण्डकल्पश्च तथा भविष्यकल्पकः। लिङ्गकल्पस्तथा ज्ञेयस्तथा ब्रह्माण्डकल्पकः ॥ ५२ ॥ अग्निकल्पो वायुकल्पः पद्मकल्पस्तथैव च। शिवकल्पो विष्णुकल्पो ब्रह्मकल्पस्तथा क्रमात् ॥ ५३ ॥' अर्थात् अट्ठारह कल्प कहे गये हैं उनके नाम सुनो—कूर्मकल्प, मत्स्यकल्प, श्वेतवाराह कल्प, नृसिंह, वामन, स्कन्द और रामकल्प, भागवत, मार्कण्ड तथा भविष्यकल्प, लिङ्ग, ब्रह्माण्ड, अग्नि और वायुकल्प, पद्म, शिव, विष्णु और ब्रह्मकल्प।

'आह्निक सूत्रावली' में ३२ कल्पोंकी चर्चा हेमाद्रिकृत स्नान संकल्पमें आई है जिसमें रथन्तरको आदिमें गिनाया है और श्वेतवाराहको आठवाँ कहा है, यथा "परार्द्धद्वय जीविनो ब्रह्मणो द्वितीये परार्धे एकपञ्चाशत्तमे वर्षे प्रथममासे प्रथमपक्षे प्रथमदिवसे अह्नो द्वितीये यामे तृतीये मुहूर्ते रथन्तरादिद्वात्रिंशत्कल्पानां मध्ये अष्टमे श्वेतवाराहकल्पे स्वायम्भुवादि मन्वन्तराणां मध्ये सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे कृतत्रेताद्वापरकलिसंज्ञकानां चतुर्णां युगानां मध्ये वर्तमाने अष्टाविंशतितमे कलियुगे तत्प्रथमे विभागे"।

इस संकल्पसे हमें यह बातें मालूम होती हैं—ब्रह्माकी आयु दो परार्द्ध (शब्द सागरके अनुसार हमारे दो शंख वर्ष) है। उसमेंसे आधी आयु बीत चुकी। इस समय उनके एकावनवें वर्षके प्रथम दिनके दूसरे प्रहरका तीसरा मुहूर्त (दंड) चल रहा है। रथन्तरादि बत्तीस कल्पोंमेंसे यह श्वेतवाराह नामक आठवाँ कल्प इस समय वर्तमान है।

हमने कुछ विस्तारसे इसलिये लिखा है कि हमारे देशके वैज्ञानिक अपने सद्ग्रन्थोंको प्रमाण मानकर उसके अनुसार सृष्टिके संबंधमें खोज करें। केवल पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके पैरोंपर न चलें। ईसाई और मुसलिम खुदाई पुस्तकोंकी अशुद्धता इस संबंधमें तो इतने ही दिनोंमें स्पष्ट हो गई।

टिप्पणी—३ 'कल्प शत' राज्य हो अर्थात् ब्रह्माके सौ दिनोंतक हमारा राज्य स्थिर रहे। यह भी ध्वनि है कि हमारे राज्यमें ब्रह्माके सौ दिनतक प्रलय न हो। इतने दिन तो राज्य रहे पर जरा-मरणरहित सदाके लिये हो जाऊँ। (पुनः 'कल्प शत' से मेरी समझमें 'सैकड़ों कल्प' यह अर्थ अधिक उत्तम है। भाव कि ब्रह्माकी आयुभर हम अमर रहें और हमारा राज्य अकंटक हो। यह तृष्णाका स्वरूप है। राजा चक्रवर्ती है, चारों पदार्थ प्राप्त हैं तो भी संतोष नहीं हुआ, तृष्णा शान्त न हुई। ☞ सौ कल्प राज्य हो, ऐसा वर माँगनेसे पाया गया कि राजा न तो ज्ञानी ही था और न भगवद्भक्त ही; क्योंकि यदि ज्ञानी होता तो ऐसे महात्माको पाकर भगवत्तत्त्व पूछता, भगवत्प्राप्ति माँगता, राज्य न माँगता। तब यह कैसे कहा गया कि राजा ज्ञानी है? यथा 'करै जे धरम करम मन बानी। बासुदेव अर्पित नृप ज्ञानी। १५५।२।' उत्तर यह है कि यहाँ 'ज्ञानी' कहनेका अभिप्राय केवल यह है कि राजा धर्मात्मा था, वेद पुराण सुननेसे उसे यह ज्ञान प्राप्त हो गया था कि बिना भगवान्‌को अर्पण किये कर्म बंधनस्वरूप हैं, इसीसे जो धर्म करता था वह भगवान्‌को अर्पण कर देता था। बस इतने ही अंशमें राजा 'ज्ञानी' था)। (इस वरसे स्पष्ट है कि उसके भीतर प्रौढ़ देहाभिमान है और राज्यकी उत्कट वासना है। चाह ही दुःख रूपी वृक्षका दृढ़शक्तिक बीज है। चाह शेष रह जाने पर, जो सुख है वह भी दुःखरूप है। ज्ञानी राजा चाहके शेष रह जानेसे बड़ी भारी विपत्तिमें पड़ना चाहता है। वि० त्रि०)।

नोट—२ तापससे राजाने जैसा सुना वैसा ही वर माँगा। उसने सोचा कि जब ये आदिसृष्टिसे अपना एक ही तन स्थित रख सके हैं तब इनके लिये कौन बड़ी बात है कि सौ कल्पतक हमारा राज्य इसी शरीरसे

करा दें। प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि जिसकी राजसी प्रकृति होती है वह बड़ी आयु चाहता है, जैसे रिआव लगाकर लोग ईश्वरको धोखा देना चाहते हैं।

३—राजाके ज्ञानी और भक्त होनेमें संदेह नहीं, वह अवश्य ज्ञानी था। पर यहाँ ठीक वही बात है जो श्रीशंकरजीने पूर्व कही है कि 'ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ' एवं 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'। श्रीरामजी मनुजीके पुत्र होने जा रहे हैं। उसी लीलाके लिये उन्हें रावण भी तैयार करना है। आगे भी 'भूपति भावी मिटइ नहिं जदपि न दूषन तोर' यह जो कहा है वह भी इस भावका पोषक है। भावी हरिइच्छाको भी कहते ही हैं।

कह तापस नृप ऐसेइ होऊ। कारन एक कठिन सुनु सोऊ॥ १॥
कालौ तुअ पद नाइहि सीसा। एक बिप्रकुल छाड़ि महीसा॥ २॥
तपबल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्ह कें कोप न कोउ रखवारा॥ ३॥
जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ बस बिधि बिष्नु महेसा॥ ४॥
चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहौं दोउ भुजा उठाई॥ ५॥

शब्दार्थ—कारन (कारण)=वह जिसके बिना कार्य्य न हो। वह जिसका किसी वस्तु या क्रियाके पूर्व संबद्धरूपसे होना आवश्यक हो। साधन। वह जिससे दूसरे पदार्थकी संप्राप्ति हो।—(श० सा०)।

अर्थ—तापस राजाने कहा कि ऐसा ही हो, (पर इसमें) एक कारण है जो कठिन है, उसे भी सुन लो॥ १॥ राजन्! केवल विप्रकुलको छोड़कर काल भी तुम्हारे चरणोंपर मस्तक नवावेगा॥ २॥ तपस्याके बलसे ब्राह्मण सदा प्रबल रहते हैं, उनके कोपसे रक्षा करनेवाला कोई नहीं है॥ ३॥ हे राजन्! जो ब्राह्मणों को वशमें कर लो तो विधि हरि हर सभी तुम्हारे हो जायँ॥ ४॥ ब्राह्मण कुलसे जबरदस्ती नहीं चल सकती, मैं अपनी दोनों भुजाओंको उठाकर सत्य सत्य कहता हूँ॥ ५॥

टिप्पणी १—'कह तापस नृप ऐसेइ होऊ।०' इति। (क) 'तापस' कहनेका भाव कि कपटी मुनिने यह जनाया कि हम तपस्वी हैं, हमारे तपके बलसे ऐसा होगा। 'ऐसेइ होऊ' यह 'एवमस्तु' का अर्थ है। (ख) 'कारन एक कठिन'। भाव कि एक कारण कठिन है जो तुमको अजर अमर न होने देगा। वह कठिन कारण आगे कहता है। 'कारण कठिन है' अर्थात् हमसे इसका निवारण न हो सकेगा। (ग) 'सुनु सोऊ' का भाव कि जो अगम वर हमने तुमको दिया है उसमें जो कठिन कारण है और जो उस कठिन कारणका निवारण है वह भी हम कहते हैं सुनो। (घ) 'एक' का भाव कि इस कारणका उपाय हो जाय तो फिर वर रोकनेवाला दूसरा कोई कारण नहीं है। एक मात्र यही है दूसरा कोई नहीं।

२ 'कालौ तुअ पद नाइहि सीसा'। इति। (क) 'कालौ' कहनेका भाव कि काल सबको खाता है सो भी तुम्हारे वशमें रहेगा। राजाने 'जरा मरन दुखरहित' होनेका वर माँगा, उसीपर कपटी मुनि कहता है कि काल भी तुम्हारे चरणोंपर मस्तक नवायेगा। अर्थात् वह भी तुम्हारी मृत्यु न कर सकेगा। सब औरोंकी गिनती ही क्या? (ख) 'एक बिप्रकुल छाँड़ि'। भाव कि ब्राह्मण कालसे भी प्रबल हैं। काल तुम्हारे वशमें रहेगा। त्रैलोक्य तुम्हारे वशमें रहेगा। एक मात्र ब्राह्मण वशमें नहीं रह सकते। ☞ राजाने जो वर माँगा है कि 'समर जितै जनि कोउ' उसीके उत्तरमें कपटी मुनिने 'एक बिप्रकुल छाँड़ि०' कहा अर्थात् काल कुछ न कर सकेगा पर ब्राह्मणोंको तुम भारी वा महाकाल समझो। कालसे हम तुम्हारी रक्षा कर सकते हैं पर ब्राह्मणोंसे नहीं, जैसा आगे कहते हैं—'तप बल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्हके कोप न कोउ रखवारा'।

१—१६६१ में 'सब' है। पाठान्तर—'बस'।

(कपटी मुनिने देख लिया कि भानुप्रतापका राज्य बिना ब्रह्मशापके जा नहीं सकता अतः ब्राह्मणोंसे भय बतलाकर उसने ब्रह्मद्रोहका बीज बो दिया। वि० त्रि०)।

३ (क) 'तपबलें बिप्र सदा बरिआरा।' इति। ब्राह्मणकुल तुम्हारे अधीन न होगा, यह कहकर अब उसका कारण कहते हैं कि तपबलसे ये सदा प्रबल हैं। तपका बल पूर्व कह चुके हैं।—'तप बल तें जग सृजै बिधाता।०' इत्यादि। 'सदा बरिआरा' कहनेका भाव कि सदा प्रबल कोई नहीं रहता, जब निर्बल हो जाते हैं तब दूसरा उनको जीत ले सकता है, किन्तु यह बात यहाँ न समझो। ये सदा प्रबल रहते हैं, इनका बल कभी नहीं घटता कि जो इन्हें कोई अधीन कर ले। यह न समझो कि हमें तो सौ कल्प रहना है कभी तो इनका बल कम होगा तब वशमें कर लेंगे। (ख) 'तिन्ह कें कोप न कोउ रखवारा' इति। तात्पर्य कि विप्रकोपसे हम भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते। (ग) 'जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा॥ तौ तुम्ह बस।०' तात्पर्य कि ब्राह्मणोंके वश हो जानेसे त्रिदेव भी तुम्हारी आज्ञानुसार चलेंगे। यथा 'मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव। ३।३३।' ☞ ब्राह्मणोंको वशमें करनेको कहा पर उसका उपाय न कहा, इस विचारसे कि राजा जब पूछेगा तब बतायेंगे। युक्ति जल्दी न बतानी चाहिए, यह बात वह स्वयं आगे कहेगा, यथा 'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिय दुराऊ।' यदि बिना पूछे तुरत बता देता तो यह वचन झूठा पड़ जाता। (राजाको इसकी बात काटनेका मौका मिल जाता कि आपने हमसे 'युक्ति' बतानेमें किंचित् संकोच न किया और हमसे छिपानेको कहते हैं। ☞ आगे जो युक्ति बाँधना है उसकी भूमिका यहींसे बाँध चला है)। (घ) 'तौ तुम्ह बस बिधि बिष्नु महेसा' का भाव कि जब उत्पन्न पालन संहार करनेवाले ही वशमें हो गए तब सब सृष्टि तो बस हो ही चुकी। (नोट—पूर्व तपकी प्रशंसा कर चुका है, इसीसे ब्राह्मणोंका बल भी तपसे ही कहा। भाव कि मैंने जो वर दिया वह तपोबलसे दिया। अतः मेरा वर तपोधनसे ही कट सकता है। और ब्राह्मण तपोधन हैं ही। राजा जानता है कि विप्रोंने जिसपर क्रोध किया उसको किसीने न बचाया इसीसे कहा कि उनको वशमें करो।)

४ 'चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई।०' इति। (क) ब्राह्मणकुलसे जबरदस्ती करनेको मना करता है। भाव कि जैसे सब राजाओंको जबरदस्ती जीत लिया, यथा 'जहँ तहँ परीं अनेक लराईं। जीते सकल भूप बरिआईं', वैसी जबरदस्ती विप्रकुलके साथ नहीं चल सकती क्योंकि 'तप बल बिप्र सदा बरिआरा।' (पुनः भाव कि ब्रह्मादि देवताओंपर भी जोर चल सकता है पर इनसे बस नहीं चलता। पुनः, 'बरिआई' का भाव कि वे शस्त्रबलसे वश नहीं हो सकते। विश्वामित्र और वसिष्ठके विरोधसे यह सिद्ध हो गया है कि क्षात्रबलसे ब्रह्मबल बहुत अधिक है। वि० त्रि०)। (ख) ☞ 'सत्य कहौं दोउ भुजा उठाई।' प्रतिज्ञा या प्रण करनेमें भुजा उठानेकी रीति है, यथा 'पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल। २४९।', 'सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी। २।२६६।', 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।३।९।' बातको अत्यन्त पुष्ट करनेके लिए भुजा उठाकर कहा। (ग) 'सत्य कहउँ'। सत्य-पद दिया जिसमें राजा ब्राह्मणोंको अत्यन्त प्रबल समझे क्योंकि जबतक अत्यन्त प्रबल न समझेगा तबतक उनके वश करनेका उपाय ही क्यों पूछेगा। जिसमें उपाय पूछे इस अभिप्रायसे ऐसा कहा। (नोट—'चल न बरिआई', 'दोउ भुजा उठाई' और 'बिप्रश्राप बिनु' शब्दोंसे गुप्तरीतिसे जनाता है कि विप्रश्रापसे तुम्हारा नाश होगा)।

बिप्र-श्राप बिनु सुनु महिपाला। तोर नास नहिं कवनेहु काला॥६॥
हरषेउ राउ बचन सुनि तासू। नाथ न होइ मोर अब नासू॥७॥
तव प्रसाद प्रभु कृपानिधाना। मो कहुं सर्बकाल कल्याना॥८॥

दोहा—एवमस्तु कहि कपटमुनि बोला कुटिल बहोरि।
मिलब हमार भुलाब निज कहहु त* हमहि न खोरि ॥१६५॥

शब्दार्थ—मिलब = मिलाप। भुलाव-भुलावा, भटकने या भूल जानेकी बात। त = तो।

अर्थ—हे राजन्! सुनो। ब्राह्मणोंके शाप बिना तुम्हारी मृत्यु किसी भी कालमें न होगी ॥६॥ राजा उसके वचन सुनकर हर्षित हुआ (और बोला) हे नाथ! अब मेरा नाश न होगा। (वा, न हो) ॥७॥ हे कृपानिधान! हे प्रभो! आपकी प्रसन्नतासे मेरे लिये सब कालमें कल्याण होगा (वा, हो) ॥८॥ 'एवमस्तु' कहकर वह कुटिल कपटी (नकली) मुनि फिर बोला कि हमारा मिलना और अपना भटकना (यदि किसीसे) कहोगे तो हमारा कोई दोष न होगा ॥१६५॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिप्रश्राप बिनु नास नहि कवनेहु काला'। राजाने तो इतना ही माँगा था कि शरीर 'जरामरण दुख रहित' हो जाय, पर कपटी मुनि उसके हृदयका आशय समझ गया कि इनकी मरनेकी इच्छा नहीं है, इसीसे कहता है कि 'कवनेहु काला' किसी कालमें तुम्हारा नाश नहीं होनेका। किसी कालमें अर्थात् नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, महाप्रलय आदिमें भी तुम बने रहोगे। ☞ इससे राजापर अपनी परम प्रसन्नता और कृपा दिखा रहा है। जितना वर राजाने माँगा उससे अधिक दिया। देवता भी अजर अमर हैं, पर महाप्रलयमें उनका भी नाश होता है और राजाका नाश कभी न होगा, यह अधिकता है, इसीसे राजा हर्षित हुआ जैसा आगे कहते हैं—'हरषेउ राउ बचन सुनि तासू'। (ख) 'हरषेउ राउ'। इससे सूचित हुआ कि कपटी मुनिने ब्राह्मणोंके कोपका बहुत भय दिखाया था। राजाके हृदयमें भय न हुआ क्योंकि राजा ब्रह्मण्य है। इसीसे 'बिप्रश्राप बिनु सुनु महिपाला' यह सुनकर न डरा और 'तोर नास नहि कवनेहु काला' यह सुनकर प्रसन्न हुआ। (ग) 'नाथ न होइ मोर अब नासा'। कपटी मुनिने जो कहा था कि तेरा नाश किसी कालमें न होगा वही वर राजा माँग रहा है कि अब मेरा नाश न होवे। ['न होइ' का भाव यह कि ब्राह्मण हमसे अप्रसन्न ही क्यों होंगे जो हमारा नाश हो। अतएव निश्चय है कि मेरा नाश अब न होगा]।

२ (क) 'तव प्रसाद प्रभु कृपानिधाना' का भाव कि कल्याण निष्कंटक अविनाशी राज्य, अविनाशी शरीर और सुखमय जीवन इत्यादि बहुत भारी सुकृतसे होते हैं, हमारे ऐसे सुकृत कहाँ हैं, यह सब आपके प्रसाद (प्रसन्नता) से, आपके प्रभुत्व (सामर्थ्य) से और आपकी समुद्रवत् कृपासे होंगे। (ख) 'मो कहुँ सर्बकाल कल्याना' इति। जब कपटी मुनिने राजाको उसके माँगनेसे अधिक वर दिया कि 'तोर नास नहि कवनेहु काला' तब राजाने (यह सोचकर कि मैंने तो सौ कल्पतक राज्य माँगा है, सो तो इन्होंने पूर्व ही दे दिया, अब सदाके लिए अमर कर दिया तो यह निश्चय है कि सौ कल्पके बाद मेरा राज्य न रहेगा, शरीर अवश्य रहेगा, किंतु पराधीन रहकर यदि जीवन भी बना रहा तो वह किस कामका? अतएव वह अब यह वर माँगता है कि मेरा 'सर्बकाल कल्यान' हो। अर्थात् शरीरपर्य्यन्त राज्य भी बना रहे, हम अविनाशी तो हुए ही हमारा राज्य भी अविनाशी हो। 'सर्बकाल' अर्थात् सदा निष्कंटक राज्य रहे। (नोट—प० रामकुमारजीने 'होइ' का अर्थ 'होवे' या 'हो' लिया है। अर्थात् राजा वर माँगता है कि ऐसा हो। इसीसे आगे तापसने 'एवमस्तु' कहा है। वि० त्रि० भी यही अर्थ करते हैं)।

३—'एवमस्तु कहि कपट मुनि बोला कुटिल बहोरि।०' इति। [(क) जब 'तापस' कहा तब 'ऐसेइ होऊ' भाषाके शब्द कहे और जब मुनि कहा तब 'एवमस्तु' देववाणीका शब्द कहा, अर्थ एक ही है]। (ख) यहाँ कपट मुनि और कुटिल दो विशेषण देकर जनाया कि कपटी मुनि कपटी भी है और कुटिल भी। 'एवमस्तु' कहनेमें कपटमुनि कहा क्योंकि एवमस्तु कपटसे कहा गया है। राजाके इस कथनपर कि 'मेरा

* १६६१ में 'तह हमहि' पाठ है।

नाश न हो, सब कालमें कल्याण हो' तापसने वचनसे तो एवमस्तु कहा पर अन्तःकरणमें वह राजाके नाशका उपाय विचार रहा है, यही कपट और कुटिलता है। और 'मिलब हमार भुलाव निज कहहु त हमहि न खोरि' ये वचन कुटिलताके हैं। (ग) भुलाजानेमें ही इस कपटीके दर्शन हुए हैं, यथा 'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बडे भाग देखेउँ पद आई'। अतएव 'भुलाव निज' कहा। (घ) 'कहहु त हमहि न खोरि'। हमारा दोष नहीं है अर्थात् हम पहिलेहीसे तुम्हें जनाए देते हैं, तुम आज्ञा न मानोगे तब हमारा दोष क्या ? तुम्हारा नाश तुम्हारी करनीका फल होगा। पुन, भाव कि हम तुमसे न बताते, यह बात छिपा रखते, तो हमको अवश्य दोष लगता। किसीको अपनाकर फिर उससे दुराव करना दोष है (यह भूमिका यह पहिले ही बाँध चुका है), यथा 'अब जौं तात दुरावौं तोही। दारुन दोष घटै अति मोही। १६२।४', अतएव दोषसे बचनेके लिए तुमको यह बात भी बता दी जिसमें पीछे यह न कहो कि आपने तो गुप्त रखनेको बताया न था। (ङ) ☞प्रथम बार जब वर दिया तब ब्राह्मणोंको वशमें करनेका आदेश किया, यथा 'कह तापस नृप ऐसेइ होऊ' इत्यादि। अब 'एवमस्तु' कहकर अपनेसे भेंट होनेकी बात दूसरेसे कहनेको मना करता है। ऐसा कहनेमें कपटी मुनिका आन्तरिक अभिप्राय यह है कि राजा लोभके वश होकर दोनों बातें करे, क्योंकि इन दोनों बातोंमें तापसका हित है, उसका स्वार्थ सिद्ध होगा। कहनेको मना करनेमें गुप्त आशय यह है कि कोई जान लेगा तो हमारा भंडा फूट जायगा, कपट खुल जायगा और प्रत्यक्ष मतलब शब्दोंका यह है कि युक्ति प्रकट कर देनेसे विघ्न होगा, इसीसे प्रगट करनेको मना किया।

नोट—'मिलब हमार' और 'भुलाव निज' दोनों गुप्त रखनेको कहा। क्योंकि एक भी प्रकट होनेसे दूसरा अवश्य प्रगट हो जायगा। मंत्री परम सयाना है, ताड़ जायगा कि किसी शत्रुने तापस वेष राजाके नाशके लिए बनाकर नाशका उपाय रचा है। वनमें ढुँढ़वाकर उसको मार ही डालेगा। इसीसे बडी युक्तिसे मना किया है।

तातें मैं तोहि बरजौं राजा। कहें कथा तव परम अकाजा ॥१॥
छठें श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी ॥२॥
यह प्रगटें अथवा द्विजश्रापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा ॥३॥
आन उपाय निधन तव नाहीं। जौं हरि हर कोपहिं मन माहीं ॥४॥

अर्थ—इसीसे मैं तुझे मना करता हूँ। हे राजन्! इस प्रसंगके कहनेसे तेरी अत्यन्त हानि होगी ॥१॥ छठे कानमें इस बातके पड़ते ही तुम्हारा नाश होगा,* हमारा यह वचन सत्य है ॥ २ ॥ हे भानुप्रताप! सुनो, इस बातके प्रगट होनेसे या विप्र शापसे तुम्हारा नाश होगा ॥ ३ ॥ और किसी भी उपायसे तुम्हारा नाश न होगा चाहे हरि और हर ही मनमें कोप क्यों न करें ॥ ४ ॥

नोट—१६६१ में 'कोपहि' पाठ है। यहाँ हरिहरका निरादर सूचित करनेके लिये भी एकवचनका प्रयोग कहा जासकता है।

टिप्पणी १ (क) 'तातें मैं तोहि बरजौं'। भाव कि मैं गुप्त रहता हूँ मुझे कोई न जाने और जो कार्य्य करना है वह भी गुप्त रखने योग्य है (जैसा आगे कहेगा), यथा 'जौं नरेस मैं करउँ रसोई। तुम्ह परुसहु मोहि जान न कोई' अतः मैं मना करता हूँ क्योंकि फिर काम न हो सकेगा। (ख) 'तव परम अकाजा' अर्थात् विशेष कार्य्यकी हानि है। जो प्रथम कह आए कि 'जरा मरन दुखरहित तनु समर जितै

* "षट् कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्तया। इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्य्यो महीभृता" (सरयूदासजी की गुटका)। अर्थात् सलाहकी हुई बात छठे कानमें पड़ते ही फैल जाती है, इसलिये राजाको किसी एक प्रधान अमात्यके साथ ही सलाह करनी चाहिए।

जिनि कोउ।०', यह सब कार्य्य नष्ट हो जायगा तुम्हारा मरण होगा। मरण आगे कहता ही है, यथा 'छठ श्रवन यह परत कहानी नास तुम्हार०'। अतएव मैं तुम्हे मना करता हूँ जिसमे 'हमहिं न खोरि'। (बात को स्पष्ट कह देनेसे दोष नहीं लगता, यथा 'कहौं पुकारि खोरि मोहि नाहीं। २०८।३।' अकाजके दो अर्थ हैं। एक तो कार्य्यका नष्ट होना, दूसरे मरण होना, यथा 'सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहु राजु अकाजेउ आजू। २।२४।' यहाँ दोनों अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। (ग) 'छठे श्रवन परत'। भाव कि (दो कान तुम्हारे दो हमारे, हम दोनोंतक बात रही तब तक हानि नहीं है। जब तीसरेके कानोंमे पडेगी तभी छठे कानमे पड़ना कही जायगी अतएव) तीसरेसे न कहना। किसी दूसरेसे कहनेमे कपटी मुनिने अपना शाप लगादिया कि यह कथा कही नहीं कि मृत्यु हुई। ['छठें श्रवन' पदसे श्लेषद्वारा यह गुप्त अर्थ प्रकट होता है कि कालकेतुके कानोंमे यह बात पड़ते ही अवश्य नाश होगा। मेरी वाणी ध्रुव सत्य होगी] (घ) 'नास तोर' इति। पहले मृत्युका एक ही कारण था, यथा 'कारन एक कठिन सुनु सोऊ॥ कालौ तुअ पद नाइहि सीसा। एक बिप्रकुल छाडि महीसा'। अब मृत्युके दो कारण हुए जैसा आगे यह स्पष्ट कहता है, 'यह प्रगटें अथवा द्विजश्रापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा'। (च) 'सत्य मम बानी' कहकर भय दिखाया जिसमे किसीसे कहे नहीं। यह शङ्कित है कि कहनेसे कहीं कोई हमारा छल भाँप न ले। ('सत्य' का भाव कि अनुनय विनयसे इसमे परिवर्तन नहीं हो सकता। वि० त्रि०)।

नोट—आदिसे बराबर उल्टा नाम आया है। यहाँ नाशके साथ ठीक नाम 'भानुप्रताप' दिया है क्योंकि नाश तो इसी का होना है।

टिप्पणी—२ 'यह प्रगटें अथवा द्विजश्रापा' इति। ☞ कपटीमुनि हृदयमे कैसा शङ्कित है, यह शब्दोंमे दिखारहे हैं। बात प्रगट होनेका अत्यन्त डर लगा हुआ है इसीसे पहिले प्रगट करनेमे नाश होना कहता है तब द्विजश्रापसे। 'प्रगटना' मुख्य है, विप्रशाप 'अथवा' मे है अर्थात् गौण है। प्रकट करनेसे उसका कपट खुल जानेकी अत्यन्त सभावना है इसीसे प्रकट करनेको बारबार मना करता है और बारबार भय दिखाता है, यथा 'मिलब हमार भुलाब निज कहहु त हमहिं न खोरि' (१), 'तातें मैं तोहि बरजौं राजा। कहें कथा तव परम अकाजा' (२), छठे श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी' (३), और 'यह प्रगटे अथवा द्विज श्रापा' (४)। लगातार प्रत्येक चौपाईमें मना किया है। यहाँ 'विकल्प अलंकार' है। [नोट—क्रमसे भयप्रदर्शन उत्तरोत्तर अधिक होता गया है। प्रथम 'हमहिं न खोरि' अर्थात् कहोगे तो हमे दोष न देना कि हमसे कहा न था। दूसरेमे 'तव परम अकाजा' कहा अर्थात् तुम्हारा सब काम बिगड़ जायगा, हमारा क्या जायगा? दो बार तो कहनेसे मना किया। तीसरी और चौथी बार आज्ञा उल्लंघन करनेका फल दिखाया एवं प्रगट करनेमे अपना शाप दिया कि तेरा नाश होगा।]

३—'आन उपाय निधन तव नाहीं। जौं हरिहर०' इति। (क) 'आन उपाय' का भाव कि कोई-भी तुम्हारे नाशका उपाय करे तो वह कारगर न होगा। (ख) 'जौं हरिहर कोपहिं' का भाव कि इनके मारनेसे जगत् मरता है, इनके जिलानेसे जीता रहता है, पर इनके भी कोपसे तुम्हारा नाश न होगा। (ग) विप्रके कोपसे नाश होगा इससे जनाया कि ब्राह्मण त्रिदेवसे श्रेष्ठ हैं और विप्रकोप हरिहरके कोपसे अधिक है, यथा 'इंद्र कुलिस मम (सिव) सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ जो इन्हकर मारा नहिं मरई। बिप्ररोष पावक सो जरई।७।१०६।' तात्पर्य्य कि हरिहरके कोपसे हम तुम्हारी रक्षा करेंगे, यथा 'राखै गुर जौं कोप बिधाता', विप्रकोपसे हम नहीं बचा सकेंगे, यथा 'तपबल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा।' (घ) ☞ प्रथम जो कहा था कि 'जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ बस बिधि बिष्नु महेसा', उसीको यहाँ 'जौं हरिहर कोपहिं' कहकर स्पष्ट करते हैं। अर्थात् ब्राह्मणभक्तिसे प्रसन्न होकर त्रिदेव वशमे हो जाते हैं इसीसे उनके कोपसे नाश नहीं हो सकता। [नोट—पूर्व विधि-

हरिहरका वश होना कहा और क्रोधमें दोहीको कहा। कारण कि विधि तो उत्पत्ति भर करते हैं, सो जन्म तो हो ही चुका अब उनका कोई काम न रह गया। दूसरे, अपने द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुको साधारण मनुष्य भी स्वयं नहीं नष्ट करता तब ब्रह्मा क्यों नष्ट करने लगे। पालन न करनेसे नाश होता है अतएव 'हरि' का नाम लिया और हर तो संहारके देवता ही हैं]।

सत्य नाथ पद गहि नृप भाषा। द्विज-गुर-कोप कहहु को राखा ॥५॥
राखै गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहि कोउ जग त्राता ॥६॥
जौं न चलब हम कहें तुम्हारें। होउ नास नहिं सोच हमारें ॥७॥
एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महिदेव श्राप अति घोरा ॥८॥
दो०—होहिं बिप्र बस कवन बिधि कहहु कृपा करि सोउ।
तुम्ह तजि दीनदयाल निज हितू न देखौं कोउ ॥१६६॥

शब्दार्थ—राखा = रक्षा की। त्राता = रक्षक, बचानेवाला।

अर्थ—राजाने मुनिके चरणोंको पकड़कर कहा कि हे नाथ! आप सत्य कहते हैं (भला) कहिये तो ब्राह्मण और गुरुके कोपसे किसने रक्षा की है? यदि ब्रह्मा कोप करें तो गुरु बचा सकते हैं। ‡ पर गुरुसे विरोध करनेपर जगत्‌में कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं ॥ ६ ॥ जो मैं आपके कहनेपर न चलूँगा तो अवश्य नाश हो जाय, हमें इसका शोच नहीं ॥ ७ ॥ पर, प्रभो! मेरा मन एक ही डरसे डर रहा है कि ब्राह्मण-शाप बड़ा कठिन (भयंकर) होता है ॥ ८ ॥ ब्राह्मण किस प्रकार वशमें हों, यह भी कृपा करके कहिये। हे दीन-दयालु! आपको छोड़कर मैं किसीको भी अपना हितकर नहीं देखता ॥ १६६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सत्य नाथ'। मुनिने कहा कि हमारा वचन सत्य है, यथा 'छठें श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी'। राजा इसीको पुष्ट करता है कि आपका वचन सत्य है। (ख) 'पद गहि'। तापसने कहा था कि हरिहर भी कोप करें तो भी किसी प्रकार नाश न होगा, यह सुनकर राजाको हर्ष हुआ। अतएव (कृतज्ञता और प्रसन्नता जनानेके लिए) चरण पकड़े, यथा 'सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्ह बिधिनाना'। (पुनः, 'सत्य मम बानी' से जैसे प्रतिज्ञापूर्वक कथन सूचित होता है वैसे ही राजाने 'पद गहि' कहा कि सत्य है।)। (ग) 'द्विजगुर कोप'। मुनिने द्विजका कोप कहा था, यथा 'यह प्रगटें अथवा द्विजश्रापा'। राजाने द्विज और गुरु दोनोंका कोप कहा। तात्पर्य्य कि गुरुने कथा कहनेको मना किया, न माननेसे गुरुकोप हुआ, इसीसे राजाने द्विजकोप और गुरुकोप दोनों कहे। (घ) ☞ राजाने अब कपटीमुनिको गुरु भी मान लिया, पिता और स्वामी तो पहिले ही मान चुका था। 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी' यहाँ पिता और स्वामी माना और 'द्विजगुर कोप कहहु को राखा' यहाँ गुरु माना। (ङ) 'राखै गुर जौं कोप बिधाता। प्रथम हरिहरका कोप करना कह आए—'जौं हरिहर कोपहिं मनमाहीं'। अब ब्रह्माका कोप कहते हैं। इस तरह सूचित किया कि ब्रह्मा विष्णु-महेश तीनोंके कोपसे गुरु बचा सकते हैं। गुरुके विरोधसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश कोई भी नहीं रक्षा कर सकते। उत्तर कांडमें कथा है कि शिवजीने शूद्रपर कोप करके शाप दिया तब गुरुने रक्षा की। बृहस्पतिका कोप इन्द्रपर हुआ तब वह

‡ "राखै गुरु०" सुंदर कविकृत कवित्त इसी विषयपर पढ़ने योग्य है—"गोविंदके किए जीव जात हैं रसातलको गुरु उपदेशे सोतो छूटे फंद ते। गोविंदके किए जीव वश परें कर्मनके गुरुके निवाजे सो तो फिरत स्वच्छंद ते। गोविंदके किये जीव बूड़ैं भवसागरमें, सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुख द्वंद्व ते। और कहाँ लौं कछु मुख ते कहौं बनाइ गुरुकी तो महिमा है अधिक गोविन्द ते ॥" (सुन्दर विलास)।

राज्यभ्रष्ट हुआ, किसीने रक्षा न की, जब वह बृहस्पतिहीकी शरण गया तब फिर सब बन गया। शुक्रके कोपसे दंडक राजा भस्म हो गए किसीने रक्षा न की। वसिष्ठजीके कोपसे त्रिशंकुकी क्या दशा हुई। (नोट—प्रथम 'द्विज गुर कोप कहहु को राखा' कहकर दोनोंको समान कहा, फिर गुरुकोपमें अधिकता दिखाई। यहाँ 'विशेषक अलंकार' है।)

२ (क) 'जौं न चलब हम कहें तुम्हारें।०' इति। ☞ राजाके मनमें है कि हमारा नाश न हो, यथा 'नाथ न होइ मोर अब नासू।' रहा गुरुके प्रतिकूल चलना, उससे अपना नाश अंगीकार करता है कि हमारा नाश हो, हमें सोच नहीं है। गुरुकी प्रसन्नतासे रक्षा होती है, यथा 'सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा २।३०६।' जब गुरुकी प्रसन्नता न होगी तब नाश हुआ ही चाहे। (ख) 'नास होउ नहिं सोच हमारें' का भाव कि हम नाशके योग्य काम ही न करेंगे तब हमारा नाश क्यों होगा, और जब नाशके योग्य काम ही करेंगे तब नाश होगा ही, इसमें हमारा ही दोष है; यह समझकर सोच नहीं है। (ग) 'एकहि डर डरपत मन मोरा।' नाशके लिए दो डर दिखाए हैं, एक तो कथाका प्रगट करना, दूसरा विप्रश्राप, यथा 'यह प्रगटें अथवा द्विज श्रापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा।' राजा कहते हैं कि इनमेंसे एक ही डरसे हमारा हृदय धड़कता है दूसरेसे नहीं। इस कथनका तात्पर्य यह है कि दूसरा डर तो हमारे अधीन है। आपने प्रकट करनेको मना किया। हम न प्रगट करेंगे, यह तो हमारे वशकी बात है, पर दूसरा हमारे वशका नहीं है इसीसे हमें भय लगता है। (घ) 'प्रभु महिदेवश्राप अति घोरा'। 'अति घोरा' का भाव कि आप ब्रह्मा विष्णु महेशके कोपसे बचालेनेको कहते हैं, ब्राह्मणके कोपसे नहीं, यथा 'तप बल विप्र सदा बरियारा। तिन्ह कें कोप न कोउ रखवारा।' इससे सिद्ध हुआ कि त्रिदेवका कोप घोर है और विप्रकोप अति घोर है। (वे रुष्ट होते ही शाप देदेते हैं और वह अप्रतिक्रिय होता है। यथा 'इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला। जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्र रोष पावक सो जरई।' वि० त्रि०)।

३ (क) 'होहिं बिप्र बस कवन बिधि' इति। कपटीमुनिने प्रथम विप्रोंको वशमें करनेको कहा, यथा 'जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा।' विप्रोंके साथ जबरदस्ती करनेको मना किया, यथा 'चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई।' अर्थात् जैसे राजाओंको भुजबलसे जीता, वैसे ब्राह्मण नहीं जीते जाते (ध्वनि इसमें यह है कि इनके वश करनेका दूसरा उपाय है जो हम जानते हैं)। इसीसे राजा वह उपाय पूछता है जिससे वे वशमें हो जायँ। (ख) 'कहहु कृपा करि सोउ'। 'सोउ' का भाव कि जैसे कृपा करके वर माँगनेको कहा और वर दिया, वैसे ही कृपा करके यह भी कहिए। (वा, जैसे आपने बताया कि विप्रको भुजबलसे जीता नहीं जाता, और जैसे यह कहा कि विप्रोंको वश कर लो जिसमें वे कोप ही न करें; वैसे ही वश करनेका उपाय भी कहिए)। (ग) 'तुम्ह सम दीनदयाल निज हितू न देखउँ।' ☞ जो कपटीके पाले पड़ जाता है उसे कपटीके समान दूसरा कोई हितुआ (हितैषी) नहीं देख पड़ता। जैसे कैकेयीको कपटिन मंथराके पाले पड़ने पर मंथरा समान हितैषी कोई न समझ पड़ा, यथा 'तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कै भइसि अधारा। २।२३।' 'निज हितू न' अर्थात् मेरे तो आप ही सबसे बड़े हित हैं। जरामरणदुःख रहित किया, सौ कल्पका निष्कण्टक राज्य दिया, ऐसा हितैषी कौन होगा। 'दीनदयाल' का भाव कि और सब स्वार्थके हित हैं, आप दीनदयाल हैं, मेरी दीनता देखकर आपने दया की। ब्राह्मणोंको वश करानेमें भी आपको छोड़कर दूसरा हितैषी नहीं देख पड़ता। [द्विजद्रोहका बीज उग गया। जो 'गुर सुर संत पितर महिदेवा'। करै सदा नृप सब कर सेवा', वही राजा आज अपने स्वामी (महिदेव) को अपना वश्य करनेकी विधि पूछता है। (वि० त्रि०)]

सुनु नृप बिबिध जतन जग माहीं। कष्ट साध्य पुनि होहिं कि नाहीं ॥१॥

अहै एक अति सुगम उपाई। तहाँ परंतु* एक कठिनाई ॥२॥
मम आधीन जुगुति नृप सोई। मोर जाब तव नगर न होई ॥३॥
आजु लगें अरु जब तें भएऊँ। काहू के गृह ग्राम न गएऊँ ॥४॥
जौं न जाउँ तब होइ अकाजू। बना आइ असमंजस आजू ॥५॥

शब्दार्थ—कष्टसाध्य-जिसके साधन वा यत्नमें बड़ा कष्ट हो, जिसका करना कठिन है। असमंजस= दुविधा, अड़चन, कठिनाई।

अर्थ—राजन्! सुनो, ससारमें बहुतेरे उपाय हैं, पर उनका साधन कठिन है और फिर भी सिद्ध हों या न हों॥ १॥ (हाँ) एक उपाय बहुत ही सुगम है पर उसमें भी एक कठिनता है॥ २॥ हे नृप! वह युक्ति मेरे अधीन है और मेरा जाना तुम्हारे नगरमें हो नहीं सकता॥ ३॥ जबसे मैं पैदा हुआ तबसे आजतक मैं किसीके घर गाँव नहीं गया॥ ४॥ और, जो नहीं जाता हूँ तो तेरा काम बिगड़ जायगा, आज यह बड़ा असमंजस आ पड़ा है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिबिध जतन'। इससे कपटीमुनिने अपनी बड़ी जानकारी दर्शित की। इससे जनाया कि ससारभरके सब यत्न हमारे जाने हुए हैं। राजाने पूछा था कि विप्र कौन विधिसे वश हों वह उत्तर देता है कि एक दो विधियाँ नहीं किन्तु अगणित विधियाँ वश करनेकी हैं। (ख) 'जग माहीं' का भाव कि जगत्‌के लोग जानते हैं। इस तरह जगत्‌भरके यत्नोंको सामान्य वा साधारण सूचित करके तब अपने यत्नको विशेष और सुगम बताता है जिसमें हमारे कहे हुए यत्नमें श्रद्धा हो। (ग) 'अहै एक अति सुगम उपाई' इति। पूर्व जगत्‌के उपाय कहे, अब अपना उपाय बताता है। दोनोंमें भेद दिखाते हैं। वहाँ 'बिबिध' उपाय, यहाँ 'एक' उपाय। वे कष्टसाध्य हैं, यह 'अति सुगम' अर्थात् इस उपाय में कठिनता नहीं है [वहाँ कष्ट उठानेपर भी सदेह है कि कार्य्य सिद्ध हो वा न हो, और यह तो अपने अधीन है। अतः इसमें सफलता निश्चित है। 'कष्टसाध्य पुनि होहि कि नाहीं' सुनकर राजा निराश हुआ, उदासी छा गई तब कपटी-मुनिने श्रद्धा बढ़ानेवाली बात कही कि 'एक' बहुत ही सुगम उपाय है। वह उपाय 'एक' ही है दूसरा नहीं। 'एक' कहनेमें भाव कि और सब पराधीन हैं। जिनमें मेरी जरूरत नहीं वे सब कष्टसाध्य हैं। 'अति सुगम' यही एक है। 'अति सुगम' कहा, जिसमें राजा इसके लिए हठ करे]। (घ) तहाँ परतु एक कठिनाई'। उपाय तो अति सुगम है, उपायमें कठिनता नहीं है, कठिनता उससे पृथक् है। भाव कि जगत्‌के जितने उपाय हैं उनके करनेमें कठिनता है और इस उपायके करनेमें कठिनता नहीं है। कठिनतामें इतना ही भेद है। पर कठिनता इसमें जो है वह दूसरी बातकी है जो आगे कहता है, उपाय कठिन नहीं है। ☞ उपायको अत्यन्त सुगम और विशेष कहकर तब एक कठिनाई कही जिसमें राजा उपायके लोभसे कठिनता अगीकार कर ले। अर्थात् चलनेके लिए विनय करे। ऐसा ही हुआ भी। ☞ प्रथम वर देकर वरके सिद्ध होनेमें एक कठिन कारण लगा दिया कि ब्राह्मणों को छोड़ सभी तुम्हारे वशमें होंगे, ब्राह्मणोंको वशमें करो—यह अपना प्रयोजन सिद्ध किया।—'कह तापस नृप ऐसेइ होऊ। कारन एक कठिन सुनु सोऊ'। और, यहाँ वशमें करनेके उपायमें कठिनाई कहता है कि यह उपाय मेरे अधीन है, यह भी अपना प्रयोजन सिद्ध किया।

वि० त्रि०—सरल पुरुषका तब तक पतन नहीं होता, जबतक वह कुटिल न हो जाय, अतः पतन चाहनेवाले हानि लाभ दिखलाकर उसे कुटिलताकी ओर अग्रसर करते हैं। कपटी मुनिने इसे पहिले मन्त्री से बात छिपाना सिखाया और अब छल (माया) को स्थान देनेके लिये विवश कर रहा है।

* १६६१ में 'परतु' है।

टिप्पणी—२ (क) 'मम आधीन जुगुति नृप सोई' । अर्थात् इस युक्तिको जगत्‌में दूसरा कोई नहीं जानता, एक मात्र हमही जानते हैं, वेदोंपुराणोंमें भी नहीं है। तापसका यह कथन सत्य ही है। अन्न खानेसे सब ब्राह्मण वशमें हो जायँ ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है। ☞ प्रथम यत्न कहा, यथा 'सुनु नृप बिबिध जतन जग माहीं', फिर उपाय कहा,—'अहै एक अति सुगम उपाई' और, अब युक्ति कहता है,—'मम आधीन जुगुति०' । इस तरह 'जतन', 'उपाई' और 'जुगुति' को पर्याय बनाया। (ख) ☞ जब राजा मिले तब उनसे प्रीति करनी पड़ी। उस समय मुनिने कहा था कि 'अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावों काहु', अब राजाके नगरमें जाना पड़ेगा, इसीसे कहता है कि 'मोर जाब तव नगर न होई'। यही कठिनाई है कि 'हम जा नहीं सकते', क्यों नहीं जा सकते यह आगे कहते हैं। (ग) 'आजु लगें अरु जब तें भएउँ ।०' इति। 'जब तें भएउँ' से सूचित किया कि हम वनमें ही पैदा हुए अर्थात् मुनिकुलमें वनहीमें रहे। (घ) 'काहूके गृह ग्राम न गएउँ'। पूर्व नगरको कह चुका है, 'मोर जाब तव नगर न होई'। अब 'ग्राम और घर भी नहीं जाता' यह कहता है। तात्पर्य कि हम परम विरक्त हैं इससे ग्राम, पुर, नगर एवं किसीके घर कहीं भी नहीं जाते। यह प्रथम ही कह चुका है कि आजतक हमें कोई भी मनुष्य न मिला क्योंकि हम गुप्त रहते हैं, यथा 'ताते गुपुत रहौं जग माहीं'। और न आजतक हम बस्तीमें गए यह यहाँ कहा। न गए क्योंकि हमें किसीसे कोई प्रयोजन नहीं है, यथा 'हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं'। इसपर यदि कहें कि बिना किसी मनुष्यके मिले सब बातोंकी जानकारी आपको कैसे हुई तो इसे प्रथम ही कह आए हैं कि 'गुरप्रसाद सब जानिअ राजा'।

३ (क) 'जौं न जाउँ तव होइ अकाजू।' इति। 'मोर जाब तव नगर न होई' इस कथनसे कपटकी बात निर्जीव होगई (अर्थात् आगे कपट छल करनेकी बात ही खतम होगई), अतएव उसे पुनः सजीव करता है कि 'जौं न जाउँ०'। (ख) 'बना आइ असमंजस'। भाव कि हमने असमंजस होनेका काम नहीं किया, असमंजस स्वयं आकर बन गया अर्थात् अच्छी तरह असमंजस हो गया कि टालने योग्य नहीं है। (ग) 'आजू' का भाव कि अबतक हमें कोई न मिला था इसीसे कभी असमंजसका योग न लगा था, आज तुम्हारे मिलनेसे असमंजसका अवसर प्राप्त हो गया। (घ) ☞ कपटी मुनि जाहिरा (प्रत्यक्षमें) राजाके अकाजको बचाता है, यथा 'कहेँ कथा तव परम अकाजा', 'जौं न जाउँ तव होइ अकाजू'। और काज करनेको कहता है, यथा 'अवसि काज मैं करिहौं तोरा। १६८।३।', 'मन निधि तोर सँवारब काजा। १६६।६।'

नोट—'मम आधीन' अर्थात् और कोई इसे नहीं जानता न कर सकता है। 'गृह ग्राम न गएउँ' अर्थात् घरकी कौन कहे ग्राममेंसे होकर भी न निकला। यह उपाय मेरे अधीन है यह सुनकर राजा प्रार्थना करता परन्तु जब उसने कहा कि मैं किसीके घर गाँव कभी नहीं गया तब राजा क्या कहता? मुनिसे हठ न कर सकता था। कपटी मुनिने यह समझकर फिर अपने वचनोंको सँभाला और कहा कि 'जौं न जाउँ तव होइ अकाजू। बना ०', जिसका भीतरी अभिप्राय यह है कि मैं अवश्य जाऊँगा यदि किंचित् भी प्रार्थना करोगे। 'बना आइ' का भाव यह कि होनहार वश हरि-इच्छासे ऐसा असमंजस आपही आ पड़ा, कुछ मैं तुमको बुलाने तो गया न था। असमंजस यह कि न जाऊँ तो तेरा काम बिगड़ता है और जाता हूँ तो मुझे दोष लगेगा इससे न रहही सकता हूँ और न जाही सकता। मेरा नियम भंग न हो और तुम्हारा काम भी बन जाय, इन दोनों बातोंका सामञ्जस्य नहीं बैठता। (रा० प्र०, पंजाबीजी)। यहाँ "संदेह अलंकार" है। (प्र० सं०)।

☞ लोभसे अंधा करके ही धूर्त संसारको ठगते हैं। आँख खोलकर यदि देखा जाय तो जनताको वही धूर्त वश करनेमें समर्थ होता है, जो अपने प्रलोभनका विश्वास जनताको करा देनेमें समर्थ होता है। बड़े बड़े बुद्धिमान ऐसे ही प्रलोभनसे अंधे होकर महाधूर्तको महात्मा मानकर मारे जाते हैं। स्वार्थमें अंधा होकर

राजाने यह न समझा कि केवल नीतिमत्ता तथा सरलतादि गुणको देखकर घटे भरमें एक महा विरक्तको ऐसी प्रीति कैसे उत्पन्न हो सकती है कि महादुर्लभ वर देकर अपने तपको क्षीण करे और अपने जन्म भरके नियम तोड दे। (वि० त्रि०)।

अलंकार—'होहि कि नाहीं' में वक्रोक्ति है। 'मोर जाब तव नगर न होई।' इसका समर्थन ज्ञापक हेतु द्वारा किया कि जबसे पैदा हुआ कहीं नहीं गया—'काव्यलिंग अलंकार' है।

सुनि महीस बोलेउ मृदु बानी। नाथ निगम असि नीति बखानी ॥६॥
बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं ॥७॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू ॥८॥
दोहा—अस कहि गहे नरेस पद स्वामी होहु कृपाल।
मोहि लागि दुख सहिअ प्रभु सज्जन दीनदयाल ॥ १६७ ॥

शब्दार्थ—नीति = सदाचार, मर्य्यादाका व्यवहार। मौलि = मस्तक।

अर्थ—यह सुनकर राजा कोमल मीठे वचन बोला—हे नाथ! वेदोंने ऐसी नीति कही है ॥ ६ ॥ (कि) बडे लोग छोटों पर स्नेह करते हैं। पर्वत अपने सिरों पर सदा तिनकेको धारण किये रहते हैं ॥ ७ ॥ अथाह समुद्रके मस्तक पर फेन सदा बहा करता है। पृथ्वी अपने सिर पर सदा धूलि धारण किये रहती है ॥ ८ ॥ ऐसा कहकर राजाने पाँव पकड लिये (और बोला) हे स्वामी! कृपा कीजिये। हे प्रभो! हे सत्पुरुष! हे दीनों पर दया करनेवाले! मेरे लिये दुःख सहिये ॥ १६७ ॥

☞ कपटी मुनिने अपनी चिकनी चुपडी बातोंसे राजाको मोहित करके 'गरजी' (गरजमंद, इच्छुक) बनाया और आप बेगरज बना रहा। प्रथम जब राजाने बडी प्रार्थना की तब नाम बताया, यथा 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। नाथ नाम निज कहहु बखानी' (१)। फिर विप्रोंके वश करनेका उपाय बडी विनती करनेपर बताया, यथा 'होहिं बिप्र बस कवन बिधि कहहु कृपा करि सोउ। तुम्ह तजि दीनदयाल निज हितू न देखौं कोउ' (२)। और अब राजाके घर चलनेमे राजासे प्रार्थना करा रहा है। (नोट—'गरजमंद बावला' यह मसला यहाँ चरितार्थ हो रहा है)।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि महीस बोलेउ'। राजा नीतिके ज्ञाता होते हैं, यथा 'सोचिय नृपति जो नीति न जाना'। राजा यहाँ महात्मासे नीति कहते हैं, अतएव 'महीस' पद दिया। (ख) 'निगम असि नीति बखानी' इति। प्रथम ही दिखा आए कि राजा वेद विधिके अनुकूल चलता है, इसीसे वह वेदोंका प्रमाण देता है, यथा 'प्रजा पाल अति बेद बिधि', 'नृप धरम जे बेद बखाने। सकल करै सादर सुख माने', 'जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग। बार सहस्र सहस्र नृप किये सहित अनुराग' तथा यहाँ 'सुनि महीस बोलेउ मृदु बानी। नाथ निगम असि नीति बखानी'। पुनः [(ग) वेदोंका प्रमाण दिया क्योंकि महात्मा लोग वेदोंके मार्ग पर चलते हैं। पुनः, इससे वेदोंकी साक्षी देते हैं कि राजनीतिसे इससे विरोध है, छोटोंसे प्रेम करना राजनीतिके विरुद्ध है, यथा 'प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि ॥६।२३॥' पुनः, भाव कि वेद अनादि हैं, उनकी अतुलित महिमा है, यथा 'अतुलित महिमा वेद की तुलसी किये बिचार। जो निंदत निंदित भयउ बिदित बुद्ध अवतार। दो० ४६४।' अतएव वेदोंकी रीति कही।] (घ) 'बोलेउ मृदु बानी' अर्थात् जैसी प्रार्थना की रीति है वैसी।

२ (क) 'बडे सनेह लघुन्ह पर करहीं' इसके तीन उदाहरण देते हैं। पर्वत, समुद्र और पृथ्वी। ☞ यहाँ उपदेशभागमें यह बताते हैं कि कैसा ही बडा क्यों न हो पर (अपनेसे) बडेके पास लघु होकर रहना चाहिए जैसे राजा भानुप्रताप साधुके समीप अपनेको तृण समझे है। पर्वत, समुद्र और पृथ्वी ये

तीनों 'बडे' की अवधि (सीमा) हैं तथा ये तीनों प्रसिद्ध हैं, अतएव इन तीनका उदाहरण बडप्पनमें दिया। (ख) 'जलधि अगाध मौलि बह फेनू ।०' इति। ☞ पर्वतके साथ 'सदा' और पृथ्वीके साथ सदाका पर्याय 'सतत' पद दिया है, यथा 'गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं', 'सतत धरनि धरत सिर रेनू'। समुद्रके साथ सदा पद नहीं कहा। यह भी साभिप्राय है। तात्पर्य्य यह कि गिरि पर तृण सदा रहता है और पृथ्वी पर रज (धूलि) सदा रहती है, पर समुद्रमें फेन सदा नहीं रहता। (पुन, 'सतत' शब्द दोनोंके मध्यमें देहलीदीपक है,—'जलधि अगाध मौलि बह फेनू। सतत धरनि धरत सिर रेनू'। इस तरह सततको 'जलधि' के साथ भी लगा सकते हैं। रा० प्र० का भी मत यही है कि समुद्रके मस्तक पर फेन सदा नहीं रहता)। (ग) पर्वत बहुत हैं, इसीसे उसके साथ 'सिरनि' बहुवचन पद दिया। समुद्र एक है इसीसे मौलि एकवचन पद दिया। इसी तरह पृथ्वीके साथ 'सिर' एकवचन कहा। (घ) ☞ तीन उदाहरण देकर तीन प्रकारकी बडाई कहते हैं—ऊँचाईकी, निचाईकी और विस्तारकी। ऊँचाईमें पर्वत, गम्भीरता (अगाधता) में समुद्र और विस्तारमें पृथ्वीसे बडा कोई नहीं है। (पुन, जल, थल, नभ ये संसारमें तीन हैं, तीनोंमेंसे एक-एक 'बडे' का दृष्टान्त दिया। जलमें समुद्र सबसे बडा, थलमें पृथ्वी और आकाशमें पर्वत सबसे बडे)। (ङ) ये तीनों जड पदार्थ हैं। जडका ही उदाहरण देनेमें भाव यह है कि यद्यपि ये तीनों 'जड' हैं तथापि ये अपने बडप्पनको नहीं छोडते। जब कि जडोंमें भी जो सबसे बडे हैं उनकी यह उत्तम रीति है तब आप तो 'चेतन' हैं, महात्मा हैं, आप अपने बडप्पनको क्यों न निबाहें ? यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

वि० त्रि०—शिर पर तृण धारण दासत्व स्वीकारके लिये किया जाता है। पूर्वकालमें जब दास-प्रथा थी, जो लोग अपनेको बेचते थे, वे शिर पर तृण धारण करते थे। पर्वतकी गणना परहितैकव्रत सन्तोंमें है, सो अपने आश्रितोंके लिये दासताका चिह्न धारण करनेमें संकोच नहीं करता। आप ऐसे विरक्तोंको भी आश्रितके लिये नगर और घर जानेमें संकोच न करना चाहिए। समुद्र अगाध है, अपार है, बडे बडे पुरुषार्थियोंका पुरुषार्थ उसमें नहीं चलता पर आश्रित होनेके कारण फेन अवस्तु होने पर भी उसके शिर पर विचरण करता है। आप भी तपोनिधि हैं, आपकी महिमा अगाध और अपार है। मैं आपका आश्रित हूँ, अवस्तु हूँ, मेरे हितको अपनी तपस्याके ऊपर स्थान दीजिए, मेरे कल्याणकी ओर देखिए, अपनी महिमापर दृष्टिपात न कीजिए। पृथ्वी जैसा गुरु कौन होगा और रेणु सा लघु कौन है ? आश्रित होने के कारणसे ही पृथ्वी उसे सदा शिरपर धारण करती है। आप गुरु हैं, मुझ जैसे लघुको प्रतिष्ठा करनेमें समर्थ हैं।

टिप्पणी—३ 'अस कहि गहे नरेस पद०' इति। (क) प्रभु, सज्जन• और दीनदयाल संबोधन करके विनय करके चरण पकड लिए। भाव यह है कि पहिले यह कहा कि बडे छोटोंको शिरपर धारण करते हैं। इसमें राजाकी धृष्टता पाई जाती है कि यह भी महात्मा के शिरपर चढना चाहता है। इसीसे विनीत वचन कहकर चरण पकडकर जनाता है कि मैं आपके सिरपर चढना नहीं चाहता, मैं तो आपका चरणसेवक हूँ, एक मात्र आपके चरणोंका ही अवलम्ब चाहता हूँ। अथवा पुन, भाव कि महात्माको कार्य्यके लिए ले जाना चाहता है और उनका नियम है कि वे कहीं जाते नहीं, अतएव अत्यन्त आर्त्त होकर चरण पकडे। आर्त्तदशामें भी चरण पकडने की रीति है, यथा 'सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन। गहेसि जाइ मुनिचरन तब कहि सुठि आरत बैन। १२६।' (ख) 'स्वामी होहु कृपाल'। भाव कि आप स्वामी हैं, मैं आपका दास हूँ। दास जानकर कृपा कीजिए। (ग) 'मोहि लागि दुख सहिअ प्रभु सज्जन दीनदयाल' इति। भाव कि दासके लिए 'प्रभु' दुःख सहते हैं, उसपर भी आप सज्जन हैं और 'संत सहहिं दुख परहित लागी' यह संत स्वभावही है। पुन, आप दीनदयाल हैं, मैं दीन हूँ, दीनोंपर दया करना संत-लक्षण है, यथा 'कोमल चित दीनन्हपर दाया। संत सहज स्वभाव खगराया।' प्रभु, सज्जन और दीनदयाल ही दोनोंपर कृपा कर

सकते हैं तथा दूसरोंके लिए दु ख सहते हैं । इस तरह प्रयोजनके अनुकूल विशेषण दिए । यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है। (घ) 'दुख सहिअ'। यहाँ दु ख क्या है? अपने नियमको तोडना। 'काहू के गृह ग्राम न गएऊँ' यह अपना नियम छोडकर हमारे यहाँ चलनेमे आपको दु ख होगा, उसे सहिए अर्थात् हमारे यहाँ चलिए।

वि० त्रि०—आशाके दासोंकी गति दिखलाते हैं। सम्राट् होकर आशाकी डोरीमें पशुओंकी भाँति बँधा हुआ दीन हो रहा है। यही स्वार्थान्धता उसके नाशका कारण होगी।

जानि नृपहि आपन आधीना । बोला तापस कपट प्रबीना ॥१॥
सत्य कहौं भूपति सुनु तोही । जग नाहिन दुर्लभ कछु मोही ॥२॥
अवसि काज मैं करिहौं तोरा । मन तन[1] बचन भगत तैं मोरा ॥३॥
जोग जुगुति तप[2] मंत्र प्रभाऊ । फलै तबहिं जब करिअ दुराऊ ॥४॥

शब्दार्थ—जोग, तप, मन्त्र—३७ १० (मा० पी० भाग १ पृष्ठ ६१५, ६१६, पृष्ठ ३८४), ८४ ८ पृष्ठ ३२८ देखिए।

अर्थ—राजाको अपने वशमें जानकर वह कपटमें प्रवीण तापस बोला ॥१॥ हे राजन्! सुन। मैं तुझसे सत्य कहता हूँ। मुझे जगत्‌में कुछ भी कठिन नहीं है ॥२॥ मैं तेरा काम अवश्य करूँगा। तू मन कर्म-वचन तीनोंसे मेरा भक्त है ॥३॥ योग, युक्ति, तप और मन्त्रके प्रभाव तभी फलीभूत होते हैं जब गुप्त रक्खे जाते हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'आपन आधीना'। चरण पकडकर दीन वचन कहकर विनती करना अधीनता जनाता है। ☞ कपटी मुनिने जो कुछ भी कहा वह सब राजाको वशमें जानकर ही कहा; जैसे कि (१) वशमें जानकर नाम बताया, यथा 'देखा स्वबस करम मन बानी। तब बोला तापस बगध्यानी'। (२) वशमें जानकर वर दिया, यथा 'सुनि महीस तापस बस भएऊ।०' इत्यादि। (३) और अब वशमें जानकर युक्ति बताता है। (ख) 'बोला तापस कपट प्रबीना' अर्थात् कपटमें प्रवीण है इसीसे कपटकी बात बोला। अपने वश जानकर अर्थात् यह निश्चय समझकर कि अब कपट करनेमें राजा कुछ कुतर्क न करेगा। ('कपट प्रबीना' में यह भी भाव है कि कपटमें परम चतुर है, इसका कपट लखा नहीं जा सकता, यथा 'कपट चतुर नहिं होइ जनाई। २।१८।' (ग) 'सत्य कहौं' का भाव कि अपने मुख अपनी बड़ाई न करनी चाहिए। बड़ाई करना दोष है। मैं अपनी बड़ाई नहीं करता, केवल एक सत्य बात कहता हूँ क्योंकि झूठ बोलना बड़ा पाप है, यथा 'नहिं असत्य सम पातक पुंजा'। हम झूठ नहीं बोलते। पुन, 'जग नाहिन दुर्लभ कछु मोही' ऐसा कहनेमें असत्यकी संभावना होती है क्योंकि पूर्णकाम एक ईश्वर ही है, जीव पूर्णकाम नहीं है, इसीसे असत्यका संदेह 'सत्य कहौं' कहकर दूर किया। (घ) 'तोही' का भाव कि तू मन वचन कर्मसे हमारा भक्त है, तुमसे दुराव करना महापाप है, यथा 'तुम्ह सुचि सुमति परम प्रिय मोरें। प्रीति प्रतीति मोहिपर तोरें ॥', 'अब जौं तात दुरावौं तोही। दारुन दोष घटै अति मोही।' अतएव तुमसे कहता हूँ। (ङ) 'जग नाहिन दुर्लभ कछु मोही'। जैसा कि प्रथम कहा था कि 'जनि आचरजु करहु मन माहीं। सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं।'

वि० त्रि०—कपटमुनि जब राजामें अत्यन्त श्रद्धा देखता है, तब अपनी महिमासूचक एक बात कहता है, फिर उसके परिपाकके लिये समय देता है। यथा 'सब प्रकार राजहिं अपनाई। बोलउ अधिक सनेहु जनाई। सुनु सतिभाउ कहौं महिपाला। इहाँ बसत बीते बहु काला।' जब राजामें फिर श्रद्धाका उद्रेक उठता है तब उससे अधिक महिमासूचक बात कहता है। यथा 'देखा स्वबस कर्म मन बानी। तब बोला तापस बकध्यानी। नाम

१ क्रम=१७२१, १७६२, छ०। तन–१६६१, १७०४। २ जप–१७२१, १७६२, छ०। तप–१६६१, १७०४, को० रा०।

हमार एकतनु भाई ।' अब उसी बालको जमानेके लिये बातें करता जाता है, फिर जब देखता है कि राजाकी श्रद्धा बढ़ती ही जाती है, अब तो मेरे अधीन हो गया, जो चाहूँगा कराऊँगा, तब कपटमें प्रवीण तापस बतलाता है कि मुझे संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है, यह बात मैं तुमसे कहता हूँ। दूसरेसे अपना भेद नहीं खोलता, 'सत्य कहौं' भाव कि यह शंका न करो कि कदाचित् मेरा किया हुआ उपाय भी निष्फल हो, वह निष्फल हो ही नहीं सकता। मेरे लिये सब कुछ सुलभ है।

टिप्पणी—२ (क) 'अवसि काज मैं करिहौं' इति। प्रथम कार्य्य करनेमें असमंजस कहा, यथा 'जौं न जाउँ तव होइ अकाजू। बना आइ असमंजस आजू।' जब राजाने प्रार्थना की तब कहा कि अवश्य करूँगा। (ख) राजाकी तापसमें मन, कर्म, वचनसे भक्ति है। राजाने स्तुति की, 'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। सतत धरनि धरत सिर रेनू', यह वचनकी भक्ति है। 'अस कहि गहे नरेस पद' यह तन (कर्म) की भक्ति है। और 'स्वामी होहु कृपाल' यह मनकी भक्ति है। मनसे स्वामी माना। (ग) 'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ।०' इति। इसका प्रत्यक्ष भाव यह है कि ये दुराव करनेसे फलीभूत होते हैं। और, उसका आन्तरिक अभिप्राय यह है कि प्रकट होनेसे कोई चतुर मनुष्य हमारे कपटको भाँप न ले और जो युक्ति बतावे तो युक्ति तो कुछ है ही नहीं। मैं रसोई बनाऊँ तुम परोसो, इसमें कौन युक्ति है। यह केवल ब्राह्मणोंके मासकी रसोई करनेका उपाय है। इसीसे युक्ति छिपायी, राजाको न बताई। प्रथम अपना मिलना प्रगट करनेको मना किया, उसमें शाप लगा दिया कि बताओगे तो मर जाओगे और अब युक्ति बतानेमें कार्य्यकी असिद्धि लगा दी। अर्थात् यदि हम तुमको बता देंगे तो तुम्हारा कार्य्य न सिद्ध होगा, निष्फल हो जायगा। तात्पर्य्य कि तुम नगरमें जाकर हमारा मिलना न कहना, जब हम आवें युक्ति करें तब हमें कोई न जाने और न यह खुलने पावे कि अन्नमें युक्तिकी गई है, जितना ही छिपाओगे उतनी ही शीघ्र कार्य्य सिद्ध होगा। (☞ जितने कपटी हैं वे बात छिपानेपर जोर देते हैं, क्योंकि प्रकट होनेपर उनकी माया चल नहीं सकती। वि० त्रि०)।

नोट—जो भूमिका दोहा १६५ 'मिलब हमार भुलाब निज कहहु त हमहि न खोरि' पर उठाई थी वह यहाँ प्रकट की। अर्थात् उसका कारण बताता है। (पंजाबीजी)।

> जौं नरेस मैं करौं रसोई। तुम्ह परुसहु मोहि जान न कोई ॥५॥
> अन सो जोइ जोइ भोजन करई। सोइ सोइ तव आयसु अनुसरई ॥६॥
> पुनि तिन्ह के गृह जेवँ जोऊ। तव बस होइ भूप सुनु सोऊ ॥७॥

शब्दार्थ—अनुसरई = अनुसरण करेगा, अनुकूल रहेगा। अन (अन्न) = खानेका पदार्थ, भोजन। जेवना-भोजन करना, खाना।

अर्थ—राजन्! यदि मैं रसोई करूँ और तुम परसो, मुझे कोई न जान पावे ॥५॥ (तो) उस अन्नको जो-जो खायगा वह-वह तुम्हारी आज्ञाके अनुकूल चलेगा ॥६॥ हे राजन्! यह भी सुनो कि फिर उनके घर जो भी भोजन करेगा वह भी तेरे वशमें हो जायगा ॥७॥

टिप्पणी—१ "जौं नरेस" इति। (क) तापसने योग, युक्ति, तप और मंत्र चारके गुप्त रखनेकी बात कही इनमेंसे यह कौन है? उत्तर—प्रथम ही उसने जो कहा है 'मम आधीन जुगुति नृप सोई' वही युक्ति यहाँ कह रहा है। भाव कि रसोईमें मैं ऐसी युक्ति कर दूँगा कि जो भोजन करेगा वह तुम्हारे वश हो जायगा। हम एक लक्ष ब्राह्मणोंके लिये रसोई बनावें और तुम परसो, इस कथनका तात्पर्य यह है कि इतनी बड़ी रसोई बनानेका सामर्थ्य हममें है, परसनेकी शक्ति हम तुमको दे देंगे। तापसका आन्तरिक अभिप्राय यह है कि राजाके परसते ही कालकेतु आकाशवाणी करेगा, राजाको शाप हो जायगा, परसनेका प्रयोजन ही न पड़ेगा। (ख) 'तुम्ह परसहु'—तुम ही परसो। भाव कि जो परसेगा उसीके वशमें ब्राह्मण हो जायँगे।

पुन 'जौं नरेस तुम्ह परसहु' का भाव कि वहाँ दूसरा कोई रसोइया न रहे और न कोई दूसरा परसनेवाला रहे। (यह कहा क्योंकि डर है कि कोई दूसरा रहेगा तो भंडा फूट जायगा)। (ग) 'मोहि जान न कोई' इति। तात्पर्य कि हम किसी दूसरेको दर्शन न देंगे, तुम्हारा कार्यमात्र करेंगे। पुन भाव कि हमारे प्रगट हो जानेसे ब्राह्मण भोजन करने न आयगे क्योंकि हमें तो कोई चतुर मनुष्य भी न पहचान सकेगा, वे सब यही कहेंगे कि न जाने किसकी बनाई रसोई है, रसोइया जाना हुआ ब्राह्मण नहीं है, अत हम उसकी बनाई रसोई खाने न जायँगे। हमारे प्रकट हो जानेसे तुम्हारा सब बना बनाया काम बिगड जायगा।

वि० त्रि० इसी युक्तिमें कपट भरा है, पर अवभक्त राजाका उस ओर ध्यान नहीं है। राजाके भोजनमें यदि कोई चूक हो जाय तो रसोईदार और परसनेवालेकी चूक समझी जाती है। उसके लिये राजाको कोई दोषी नहीं बतलाता। अत कहता है कि तुम परोसो और मुझ रसोइदारको कोई न जाने। अर्थात् ऐसी अवस्थामें जो चूक होगी, उसका जिम्मेदार राजाको छोड़कर और कोई हो नहीं सकता। सभी समझेंगे कि यदि राजाकी सम्मति न थी तो रसोईदार गुप्त क्यों रक्खा गया?

टिप्पणी—१ 'अन्न सो जोइ' इति। 'अन्न सो' अर्थात् मैं जो रसोई करूँगा वह अन्न। रसोईमें अन्न मुख्य है इसीसे 'अन्न' को भोजन कहते हैं। रसोईमें ब्राह्मणका मांस मिलानेको है इसीसे मांस बनानेका नाम नहीं लेता। यही कहता है कि हमारा बनाया और तुम्हारा परसा हुआ अन्न जो खायेगा। 'आयसु अनुसरई'—यह युक्तिका प्रभाव बताया। राजाकी आज्ञा मुख्य है इसीसे आज्ञा मानेगा, यह कहा।

२—'पुनि तिन्ह कें' इति। 'पुनि' से जनाया कि जो तुम्हारे यहाँ भोजन करेंगे वे तुम्हारे वशमें हो जायँगे, इसके पश्चात् उन भोजन करनेवालोंके घरमें जो भोजन करने जायँगे वे भी तुम्हारे वशमें हो जायँगे और फिर इनके घर जो भोजन करेंगे वे भी तुम्हारे वशमें हो जायँगे। इस तरह 'पुनि' का ताँता सर्वत्र लगता चला गया है। भाव यह कि इस प्रकार पृथ्वी भरके ब्राह्मण तुम्हारे वशमें हो जायँगे, जैसा वह आगे स्वयं कह रहा है—'एहि विधि भूप कष्ट अति थोरें। होइहहिं सकल विप्र बस तोरें। १६९।१।' ('तिन्ह के गृह' से यह भी जनाया कि घरका एक व्यक्ति भी यदि भोजन कर गया तो भी उसके घरमें जो-जो हैं जो घरमें भोजन करते हैं वे भी वशमें हो जायँगे और बाहरवाले जो करेंगे वे भी वशमें हो जायँगे। एक नगरवालोंका नाता दूसरे नगरमें, दूसरेका तीसरेमें इत्यादि लगा ही रहता है, इस प्रकारसे समस्त नगरोंके ब्राह्मण एक दूसरेके लगावसे वशमें हो जायँगे, सबको अपने यहाँ खिलाना भी न पड़ेगा। कैसी सुन्दर युक्ति बताई! इस प्रकारकी वशीकरणकी रीति तान्त्रिकोंमें बहुत है)।

वीरकविजी—यहाँ असत्से असत्की समताका भावसूचक 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है। जैसे उसका रसोई बनाना असत् है वैसे ही विप्रोंका वश होना मिथ्या है।

जाइ उपाय रचहु नृप एहू। संबत भरि संकलप करेहू ॥८॥

दोहा—नित नूतन द्विज सहस सत बरेहु सहित परिवार।

मैं तुम्हरे संकलप लगि दिनहिं करबि जेवनार ॥१६८॥

शब्दार्थ—संकलप (संकल्प) = प्रतिज्ञा। संबत (संवत्) = एक वर्ष। नित (नित्य) = नित्यप्रति, प्रतिदिन। नूतन = नये, नवीन। बरेहु – वरण करना, न्योता देना।

अर्थ—हे राजन्! जाकर यही उपाय करो। एक वर्ष (भोजन कराने) का संकल्प करना ॥८॥ नित्य नये एक लाख ब्राह्मणोंको कुटुम्ब सहित निमन्त्रित करना। मैं तुम्हारे संकल्प (एक वर्षके अनुष्ठान) तक बराबर दिन ही दिन रसोई (तैयार) कर दिया करूँगा ॥ १६८ ॥

टिप्पणी—१ 'संबत भरि संकलप करेहू' इति। भाव यह कि—(क) उस समय घर शुमारी (गणना)

मे तीन करोड साठ लाख घर वेदपाठी, क्रियामान् श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके थे। एक-एक लक्षका नित्य निमंत्रण होनेसे एक वर्षमें तीनसौ साठ लक्ष अर्थात् तीन करोड़ साठ लक्षका निमंत्रण हो जायगा। इसीसे 'संवत' भरका संकल्प करनेको कहा। वेदपाठी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको ही निमंत्रण दिया गया, यथा 'बरे तुरत सत सहस बर बिप्र कुटुं ब समेत। १७२।' इनकी अपेक्षा जो सामान्य ब्राह्मण थे उनको निमंत्रण नहीं दिया गया वे 'पुनि तिन्ह कें गृह जेवँ जोऊ।०' में आ जायँगे। पुनः, (ख) वर्ष भर ब्राह्मण भोजन करानेकी विधि है अत 'संवत भरि ' कहा। [वा, (ग) ब्राह्मणोंको वर्षासन दिया जाता है। अथवा, (घ) भावीवश ऐसा संकल्प कराया गया क्योंकि विप्रशापसे संवत्के भीतर इसका नाश होना है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि यदि दो चार दिनका ही संकल्प होता तो एकाएकी ऐसा होनेसे सबको संदेह हो जाता कि क्या कारण है। (प्र० सं०)] (ङ) कालकेतु तो एक ही दिनमे राजाको शाप दिला देगा। उसमे यह सामर्थ्य है तभी तो उसने कपटी मुनिको वचन दिया कि 'कुल समेत रिपु मूल बहाई। चौथें दिवस मिलब मैं आई। १७१।४।' उसने वर्षभरको नहीं कहा था। तापस राजाने एक वर्षका संकल्प करनेको कहा जिसमे राजाको विश्वास हो कि यह बडा भारी पुण्य है, इस पुण्यके प्रभावसे ब्राह्मण अवश्य वशमें हो जायँगे।

२ (क) 'नित नूतन' का भाव कि एक ही को नित्य नेवता देनेका (नित्यप्रति भोजन करानेका) कोई प्रयोजन नहीं। वह तो एक ही दिनके निमंत्रणमे भोजन करनेसे वशमे हो जायगा। (ख) 'बरेहु सहित परिवार' इति। भाव कि यदि परिवारवाले भोजन न करेंगे तो वे वशमें न होंगे। परिवारसहित न्योतना, इस कथनसे यह ज्ञात हुआ कि परिवारकी गणना एक लक्षमें नहीं है। एक लक्ष ब्राह्मणोंमेंसे प्रत्येक ब्राह्मण परिवारसहित निमंत्रित किया जाय। परिवार चाहे जितना हो उसकी गणना न की जायगी। भीतरी अभिप्राय यह है कि परिवार सहित राजाका नाश कराना है। परिवारसहित निमंत्रण होनेसे परिवारसहित नाश होनेका शाप होगा। (ग) 'मैं तुम्हरे संकलप लगि ' इति। वर्षभरका संकल्प करनेको कहा। राजा संकोचवश मुनिसे वर्षपर्यन्त रसोई करनेको कह नहीं सकता, इसीसे वह स्वयं ही कहता है कि मैं वर्षभर प्रतिदिन रसोई बनाऊँगा। [भाव यह कि तुम इसकी चिन्ता न करो कि इतने ब्राह्मणोंके लिये रसोई कैसे होगी। मैं तपोबलसे दिनके दिन ही नित्य भोजन तैयार कर दिया करूँगा और तुम्हें परसनेका सामर्थ्य भी दूँगा। (प्र०सं०)] प० रामकुमार 'संकलप लगि दिनहि' का अर्थ 'संकल्पके दिनतक। अर्थात् वर्ष दिन' ऐसा करते हैं।]

एहि बिधि भूप कष्ट अति थोरें। होइहहिं सकल बिप्र बस तोरें ॥१॥
करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजेहि बस देवा ॥२॥
और एक तोहि कहौं लखाऊ। मैं एहि बेष न आउब काऊ ॥३॥
तुम्हरे उपरोहित कहुँ राया। हरि आनब मैं करि निज माया ॥४॥
तप बल तेहि करि आपु समाना। रखिहौं इहां बरष परवाना[१] ॥५॥

शब्दार्थ—होम = हवन। प्रसंग = प्रकर्ष करके संग = संयोग, सम्बन्ध। लखाऊ (लक्ष्य) = पहचान की बात, चिह्न। उपरोहित (पुरोहित)—वह प्रधान याजक जो यजमानके यहाँ अगुआ बनकर श्रौतकर्म, गृह्यकर्म और संस्कार तथा शान्ति आदि अनुष्ठान करे कराए। पूर्वकालमें पुरोहितका बड़ा अधिकार था। पुरोहितका पद कुलपरंपरागत होता था।

अर्थ—हे राजन्! इस प्रकार (इस विधि या साधनसे) अत्यन्त थोडे कष्टसे समस्त ब्राह्मण तेरे वशमे हो जायँगे ॥ १ ॥ ब्राह्मण लोग जो होम, यज्ञ और सेवा-पूजा करेंगे, उसके सम्बन्धसे देवता सहज ही वश

१ परमाना—पाठान्तर।

में हो जायँगे ॥ २ ॥ तुमसे एक और पहचान की बात बताता हूँ। मैं इस वेषसे कभी न आऊँगा ॥ ३ ॥ हे राजन्! मैं तुम्हारे पुरोहितको अपनी मायाके बलसे हर लाऊँगा ॥ ४ ॥ तपके बलसे उसे अपने समान बनाकर यहाँ एक वर्षपर्यन्त रक्खूँगा ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'एहि बिधि०'—भाव कि अन्य जो भी विधियाँ हैं वे कष्टसाध्य हैं और इस विधिमें अत्यन्त अल्प कष्ट है। भोजन करानेमात्र का, परसने भरका कष्ट है। (ख) "होइहहिं" अर्थात् निश्चय ही हो जायँगे। भाव कि अन्य साधनोंके करनेपर भी सन्देह ही रहता है कि सफलता हो या न हो, यथा 'कष्ट साध्य पुनि होहिं कि नाहीं', और इस साधनमें सफलता भी निश्चित है। (ग) 'सकल बिप्र बस तोरें' इति। सवतभरका सकल्प करना और एक लाख विप्र नित्य निमंत्रित करना यह कहकर 'सकल बिप्र बस होइहहिं' कहनेसे पाया गया कि तीन करोड साठ लाख घर उस समय वेदपाठी विप्रोंके थे।

२ 'करिहहिं बिप्र होम ' इति। (क) 'सहजेहिं' का भाव कि देवताओंका वशमें होना कठिन है। वे सहज ही में वशीभूत हो जायँगे, उनको वशमें करनेके लिये तुम्हें कुछ भी करना न पडेगा। पुन, भाव कि ब्राह्मणोंको वशमें करनेमें किंचित् कष्ट उठाना पडेगा और इनको वश करनेमें किंचित् भी कष्ट नहीं होगा। तात्पर्य्य यह है कि भूदेवोंको वशमें करलेनेसे स्वर्गके देवता स्वाभाविक ही वशमें हो जायँगे। (ख) देवता सहजहीमें विना कष्ट किये कैसे वशमें हो जायँगे यह 'करिहहिं बिप्र होम ' से जनाया। भाव यह कि देवता होम, यज्ञ आदिसे वशमें होते हैं पर तुमको होम, यज्ञ, सेवा-पूजा कुछ न करनी पडेगी। 'तेहिं प्रसग' अर्थात् ब्राह्मण जो होम, यज्ञ, सेवा पूजा करेंगे उसीके सयोगसे देवता वशमें हो जायँगे। (भाव कि यज्ञादि वे करेंगे और फल मिलेगा तुमको, केवल एक बार उनको मेरे हाथका बनाया परसकर जिला देनेसे।)

३ 'और एक तोहि कहौं लखाऊ। ' इति। (क) 'लखाऊ' यहाँ कहा और आगे कहा है कि 'मैं आउब सोइ बेष धरि पहिचानेहु तब मोहि।' इस तरह 'लखाउ' का अर्थ वहाँ खोल दिया। लखाउ= पहिचाननेकी बात, जिससे तुम हमको पहचान सको। (ख) प्रथम तो तापसने अपनेको छिपाया कि मुझे कोई जान न पावै। यथा 'तुम्ह परसहु मोहि जान न कोई । १६८।२।' कदाचित् कोई जाने भी, तो पुरोहितका वेष देखकर पुरोहित ही जाने, इसीसे कहा कि 'मैं एहिं बेष न आउब काऊ।' भाव कि हमारे प्रकट होनेसे तुम्हारे कार्यकी हानि है। तीसरा (भीतरी) अभिप्राय यह है कि यदि हमें कोई जान गया तो हमारा बना-बनाया काम बिगड जायगा अत कहा कि इस वेषसे न आऊगा।

४ 'तुम्हरे उपरोहित कहुँ ' इति। (क) धर्मके कार्यमें पुरोहित अग्रसर रहता है। राजाका पुरोहित बडा बुद्धिमान् है। यदि वह वहाँ रहा तो हमारे छलको भाँप लेगा। (यह उसके हृदयमें भय है। अत उसको वहाँसे हटा देनेको है)। ऊपरसे यह दिखाता है कि तुम्हारे पुरोहितको मैं अपने समान बनाकर यहाँ रक्खूगा जिसमें हमारे तपमें अन्तर न पडे, आसन शून्य न हो। (ख) 'हरि आनब करि निज माया' इति। 'हर लाने' का भाव कि प्रत्यक्ष ले आनेसे गुप्त बात खुल जायगी। दूसरे, हमारे कहनेसे वह न आयेगा। हरण करनेसे ही आयेगा। 'निज माया' अर्थात् अपनी योग-मायासे, योगबल के प्रभावसे। इससे वह अपना प्रभाव अपना सामर्थ्य दिखा रहा है। [माया सबकी अलग-अलग होती है। सबसे बडी रामकी माया है। यथा 'सुनु खग प्रबल राम की माया'), उसके बाद त्रिदेवकी माया है (यथा 'बिधि हरि हर माया बडि भारी'।), फिर देवकी माया (यथा 'कछुक देव माया मति मोई'), ऋषिकी माया (यथा 'बिधि बिस्मयदायक बिभव मुनिबर तप बल कीन्ह'।), फिर असुरकी माया (यथा 'जब कीन्ह तेहिं पाषंड। भए प्रगट जतु प्रचंड') फिर मनुष्यकी माया है (यथा 'इहा न लागी राउरि माया'), सो यहाँ आसुरी और मानुषी दोनों मायायें काम कर रही हैं। (वि० त्रि०)] (ग) पुरोहितको हर लाना कहा, उसकी सेजपर

सोनेको न कहा क्योंकि यह बात महात्माओंके योग्य नहीं है। कालकेतुसे पुरोहित की स्त्रीके पास शयन करने को कहा जिसमे स्त्रीको भ्रम न हो कि हमारा पति कहाँ गया।

५ 'तप बल तेहि ' इति। (क) किस लिये हर लायेंगे यह अब बताता है। सवत्सर तुम्हारे यहाँ रहना होगा, जैसा पूर्व कहचुके हैं—"मैं तुम्हरे सकलप लगि " ।' यहाँ आसन खाली न रहे, इत्यादि। (ख) 'तप बल तेहि करि आपु समाना'—भाव कि पुरोहित हमारे समान नहीं है और न हो सकता है, मैं अपने तपोबलसे उसे अपने समान बना लूगा। (पूर्व कह ही चुका है कि 'तप तें अगम न कछु ससारा')। अपने समान बनानेका भाव कि हमारा काम पुरोहित करेगा और पुरोहितका रूप धरकर तुम्हारा काम मैं करूगा। [(ग) 'रखिहउँ यहाँ'—भाव यह कि मेरा नित्य नियम वह करता रहेगा क्योंकि यहाँ और कोई तो आ नहीं सकता, रहे देवता और मुनि सो वे अन्तरचि मेरे दर्शनोंको आते जाते हैं उनको भी यह न मालूम हो कि मैं कहीं चलागया। यहाँ वह अपना सामर्थ्य जता रहा है।—(पजाबीजी)। (घ) इस तरह वह राजाको बहकाता है जिसमे यदि कपट खुल भी जाय और राजा यहाँ आवे तो पुरोहित ब्राह्मण समझकर मेरा बध न करे। (श्रीजानकीशरणजी)। (ङ) पुरोहित रहेगा तो राजाकी रक्षा करेगा अत यह उपाय रचता है। (रा० प्र०)]

वि० त्रि०—पुरोहितका पद मंत्रीसे भी बड़ा है, इसी लिये अथर्ववेदी पुरोहित बनानेका आदेश है जो मन्त्रादिसे भली भाँति राज्य तथा राजाकी रक्षा कर सकता हो। शुक्रनीतिमे पुरोहितके कार्य और अधिकारका विशद वर्णन है। वही धर्माध्यक्ष है। नियमानुसार वह ब्राह्मण भोजनकी देखरेख करेगा। उसे रसोई देखनेसे तो राजा भी नहीं रोक सकता, तब बिना भेद खुले न रहेगा। अत कपटमुनिको पुरोहितसे भय है। पुरोहित बनकर रहनेसे धर्मविभाग अपने हाथोंमे रहेगा। दूसरा कोई निरीक्षक न रह जायगा।

मैं धरि† तासु बेषु सुनु राजा। सब बिधि तोर सँवारब काजा ॥६॥
गै निसि बहुत सयन अब कीजै। मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीजै ॥७॥
मैं तप बल तोहि तुरग समेता। पहुँचैहौं सोवतहि निकेता ॥८॥
दोहा—मैं आउब सोइ बेषु धरि पहिचानेहु तब मोहि।
जब एकांत बोलाइ सब कथा सुनावौं तोहि ॥१६९॥

अर्थ—हे राजन् ! सुनो। मैं उसका वेष धारणकर सब तरहसे तेरा कार्य सँवारूँगा ॥ ६ ॥ राजन्। रात बहुत बीत गई, अब सो रहिए। मुझसे तुम्हे अब तीसरे दिन भेंट होगी ॥ ७ ॥ मैं अपने तपोबलसे तुम्हे घोड़े समेत सोते ही (तेरे) घर पहुँचा दूँगा ॥ ८ ॥ मैं वही वेष धरकर आऊँगा। जब तुमको एकान्तमे बुलाकर मैं सब कथा सुनाऊँ तब मुझे जान लेना ॥ १६६ ॥

टिप्पणी—१ 'मैं धरि ' इति। (क) पुरोहित बननेमे तपोबलका काम नहीं है, इसीसे यहाँ 'तप बल' न कहा। वेष धरना कहकर तब काज सँवारना कहा। भाव कि प्रथम पुरोहितको अपने समान बनाकर यहाँ रख दूगा तब उसका रूप धरकर तुम्हारा काम करूगा। (ख) 'सब बिधि'—निमन्त्रण देकर बुलाना, जेवनार बनाना, विघ्न दूर करना, इत्यादि 'सब बिधि' है।

२ (क)-'गै निसि बहुत' इति। जब तपका प्रभाव कहने लगा था तब राजाको अति अनुराग हो गया था यह देखकर पुरातन कथायें कहने लगा था। यथा 'भएउ नृपहि सुनि अति अनुरागा। कथा

† फरि—पाठान्तर।

पुरातन कहै सो लागा ॥ कहेसि अमित आचरज बखानी ।१६३।४-६।' इसीसे बहुत रात बीत गई । 'बहुत' से जनाया कि आधी रात बीत गई । यथा 'कहत कथा इतिहास पुरानी । रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥ २२६।२ ।' (विश्वामित्रजी जब पौराणिक कथा इतिहास कहने लगते थे तब अर्द्धरात्रि बीत जाती थी, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए) । (ख) 'सयन अब कीजै' इति । सोनेकी आज्ञा इससे दी कि कालकेतु आने ही चाहता है । [इससे जान पड़ता है कि राजाका चित्त उसकी बातोंमें ऐसा मग्न है कि नींद भी आनन्दमें उड़ गई, पर कपटी मुनि तो अपनी घातमें है । वह जानता है कि कालकेतुके आगमनका समय है । राजाके जागते हुये वह कैसे आवेगा, इससे अपने मतलबसे शयन करनेको कहा । पुनः, डर लगा है कि राजा उसे कहीं देख न ले जो हमारा कपट खुल जाय । और ऊपरसे एक साधारणसी बात कहनेमें जान पड़ती है क्योंकि बहुत रात बीतनेपर ऐसा कहना शिष्टाचार है । (प्र० स०) । आज्ञा न देता तो राजा न सोता ।] (ग) 'भेंट दिन तीजे' इति । भाव कि आजका दिन तो बीत ही गया । सवेरे तुम्हारे पुरोहितको ले आऊंगा, (ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करूँगा) और परसों तुमसे आकर मिलूँगा । [पुनः, बहुत दिनपर मिलनेको कहता तो राजा सहन न कर सकता । कलही का दिन बीचमें है, यह भी उसे युगसमान बीतेगा । यथा 'जुग सम नृपहि गए दिन तीनी । १७२।७ ।'] तीसरे दिन मिलनेको कहा, बहुत जल्दी न की जिसमें काम न बिगड़े । प्रथम दिन तो खानेमें गया । दूसरे दिन राजा वनमें गए और दोपहरमें लौटे । निमन्त्रणका समय न रह गया । तीसरे दिन सवेरे कालकेतु राजासे मिला इसीसे तुरत उसी दिन विप्रोंको निमंत्रण दिया गया ।

३ (क) 'मैं तप बल ' इति । तापसने जो अपनी महिमा कही थी वह यहां प्रत्यक्ष दिखा रहा है, इसीसे राजाको दृढ़ विश्वास हुआ । यहाँ तक उसने अपनेमें योगमाया बल और तप बल दोनों बल दिखाए । 'तुम्हरे उपरोहित कहुँ राया । हरि आनब मैं करि निज माया ।' अर्थात् पुरोहितको हर लानेमें मायाबल और यहाँ राजाको सोते ही पहुँचानेमें तपोबल कहा । (ख) 'पहुँचैहौं सोवतहि निकेता' इति । 'सोवतहि' अर्थात् तुम्हारी निद्रा न भंग होने पायेगी । घर पहुँचानेको कहा जिसमें अपनी महिमा भारी पाई जाय कि सत्तर योजन सोते ही पहुँचाया और वह भी किलेके भीतर महलमें रानीके पास, राजाने ऐसा समझा भी, यथा "मुनि महिमा मन महुँ अनुमानी । १७२।३ ।' (ग) कपटी मुनिने घरमें पहुँचानेको कहा पर राजाने कुछ उत्तर न दिया कि लोग हमसे पूछेंगे तो हम क्या कहेंगे, आपने तो हमें यह वृत्तान्त गुप्त रखनेको कहा है । उत्तर न देनेसे राजाकी कपटी मुनिमें भक्ति दिखाई कि अपने ऊपर भले ही कष्ट सहा कि प्रातः ही उठकर वनमें गया और वहाँसे दो पहरमें लौटकर घर आया पर मुनिको उत्तर न दिया । (स्वामीकी आज्ञा होनेपर उत्तर देना लज्जाकी बात है, यथा "उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई । सो सेवक लखि लाज लजाई । २।२६६ ।")

४ (क) 'मैं आउब सोइ बेषु धरि' अर्थात् पुरोहितका रूप धरकर । (ख) 'पहिचानेहु तब मोहि'— भाव कि पहचाननेमें भ्रम हो जानेकी सम्भावना है क्योंकि हम भी पुरोहितका रूप धरकर आयेंगे । पुरोहितको देखकर भ्रम होगा कि ये मुनि है या पुरोहित, आगे ऐसा भ्रम हुआ ही है, यथा "उपरोहितहि देख जब राजा । चकित बिलोकि सुमिरि सोइ काजा । १७२।६ ।' इसीसे पहचान बताई है जिसमें भ्रम न हो जाय । [तापसको डर है कि कहीं राजाको अपने पुरोहितमें मेरा धोखा न हो जाय और कोई बात इसके मुखसे मेरे सबधकी निकल न जाय । अतएव राजाको पुरोहितसे बात करनेको मना करता है ।]

सयन कीन्ह नृप आयसु मानी । आसन जाइ बैठ छल ग्यानी ॥१॥
अमित भूप निद्रा अति आई । सो किमि सोव सोच अधिकाई ॥२॥

अर्थ—राजाने आज्ञा मानकर शयन किया। छलमें ज्ञानी (वा, कपटी बना हुआ ज्ञानी) वह तापस अपने आसनपर जा बैठा ॥१॥ राजा थका हुआ है, (इसलिये उसे) बड़ी गहरी नींद आ गई। उस 'छल-ज्ञानी' को (तो) बहुत शोच और चिन्ता है (अत) वह कैसे सो सकता ? (नहीं सो सकता था) ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सयन कीन्ह ' इति। 'आयसु मानी' का भाव कि राजाको अभी शयन करनेकी इच्छा न थी, उसका मन कथामें लगा था पर मुनिने आज्ञा सोनेकी दी, अत उसे शयन करना पड़ा। (क्योंकि एक तो ये कालीन मुनि हैं, दूसरे गुरु हैं, तीसरे राजाको सुत और सेवक मानते हैं और उसका परम हित करनेमें तत्पर हैं। अत सब प्रकार आज्ञा मानना आवश्यक था)। (ख) 'आसन जाइ बैठ' इति। प्रथम कह आए हैं कि 'निज आश्रम तापस लै गयऊ ॥ आसन दीन्ह अस्त रवि जानी। १।१५६।' अर्थात् अपने आश्रममें लाकर राजाको आसन दिया। और, अब कहते हैं कि 'आसन जाइ बैठ'। 'जाइ' से पाया गया कि कपटी मुनिने दो आसन बना रक्खे थे, यहाँसे उठकर दूसरे आसनपर जाकर बैठा। दो आसन न होते तो 'जाइ' न कहते। पुन, आगे कहा है कि 'तापसनृपहि बहुत परितोषी। चला महा कपटी अति रोषी। भानुप्रतापहि बाजि समेता। पहुँचाएसि । १७१ ६-७।' इससे यह भी पाया गया कि दूसरा आसन कुछ दूरीपर था, इसीसे 'चला' शब्द दिया गया। यह आसन एकान्तमें और दूर था नहीं तो वहाँ कालकेतुसे अपने शत्रुके सवधकी बातें कैसे कर सकता। (ग) 'छल ज्ञानी'—भाव कि इसीसे उसने दो आसन बना रक्खे थे क्योंकि राजाके सामने, जहाँ राजा सो रहेगा वहाँ, कालकेतुसे बातचीत करते न बनेगी। बड़ी सावधानतासे उसने छलकी सिद्धि की अत 'छल ज्ञानी' कहा।

२ (क) 'श्रमित भूप निद्रा ' इति। श्रममें निद्रा आती है यथा 'लोग सोग श्रम बस गए सोई। २।८५।' (ख) 'सो किमि सोव'—भाव कि सोनेका समय हो गया है, इसीसे राजाको सोनेकी आज्ञा दी पर स्वय न सोया, आसनपर जाकर बैठ रहा। उसका कारण कहते हैं। 'सोच अधिकाई' अर्थात् शोचमें निद्रा नहीं आती, यथा 'गयउ भवन अति सोच बस नींद परै नहिं राति। १।२२।', 'निसि न नींद नहिं भूख दिन भरत बिकल सुचि सोच। २।२५२।' (तापसने राजासे जो कुछ अपना प्रभाव कहा वह सब कालकेतु निशाचरके मायावी बलके भरोसेपर, अत उसे उसके अबतक न आनेका शोच है) कहीं किसी कारणसे रुक न जाय, ऐसा न हो कि न आवे, न आया तो हमारा सब काम ही बिगड़ जायगा, (कालकेतु न आया तो बात झूठी पड़ेगी फिर राजा मुझे जीता न छोड़ेगा), यह शोच है जैसा आगेके 'कालकेतु निसिचर तहँ आवा' से स्पष्ट है। पुन, शत्रुके नाशका भी शोच है जो आगे कालकेतुके 'परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिनु औषध बिआधि बिधि खोई। १७१।४।' इस वाक्यसे स्पष्ट है।

कालकेतु निसिचर तहँ आवा। जेहि सूकर होइ नृपहि भुलावा ॥३॥
परम मित्र तापस नृप केरा। जानै सो अति कपट घनेरा ॥४॥
तेहि के सत सुत अरु दस भाई। खल अति अजय देव दुखदाई ॥५॥
प्रथमहि भूप समर सब मारे। बिप्र संत सुर देखि दुखारे ॥६॥

शब्दार्थ—केरा-का। यह सबधका चिह्न है। परम मित्र = बड़ा दिली दोस्त।

अर्थ—कालकेतु राक्षस वहा आया जिसने शूकर बनकर राजाको भुलाया था ॥ ३ ॥ वह तपस्वी राजाका परम मित्र था और अत्यन्त 'घनेरा' कपट जानता था ॥ ४ ॥ उसके सौ पुत्र और दश भाई थे जो अत्यन्त दुष्ट, अजय और देवताओंको दु ख देनेवाले थे ॥ ५ ॥ राजाने ब्राह्मणों, सन्तों और देवताओं को दु खी देखकर प्रथम ही उन सबोंको सग्राममें मार डाला ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कालकेतु निसिचर' इति। इसके पूर्व शूकरका परिचय न दिया था, यहाँ

प्रकट किया कि कालकेतु ही वह शूकर था। कारण कि वहाँ कालकेतु प्रकट न था, शूकरका रूप धरे हुए था, इसीसे वहाँ ग्रंथकारने भी उसे प्रकट न किया। यहाँ कालकेतु अपने असली रूपसे प्रकट होकर आया, इसीसे यहाँ कविने उसे प्रकट किया कि यही शूकर बना था, वस्तुत है राक्षस। राजाके सो जानेपर आया, इससे उसकी सावधानता दिखाई। (ख) 'जेहि सूकर होइ नृपहि भुलाना', यथा 'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बडे भाग देखेउँ पद आई। १५९।६।' (ग) 'परम मित्र' का भाव कि तापसके मित्र तो बहुत हैं पर यह 'परम मित्र' है। क्योंकि दोनों अत्यन्त कपट जानते हैं। ('समानशीलव्यसनेषु मैत्री', समान शील और समान व्यसनवालोंमें मैत्री होती है। शत्रुके शत्रुसे मित्रता होना स्वाभाविक है। मुनि कपटी और राक्षस मायावी, दोनों राजाके शत्रु। वि० त्रि०)। (घ) 'जानै सो अति कपट घनेरा'—भाव कि घनेरा कपट तो तापस भी जानता है पर कालकेतु 'अति घनेरा' कपट जानता है क्योंकि वह राक्षस है और राक्षस मनुष्यकी अपेक्षा अधिक कपट जानते ही हैं। अति घनेरा कपट आगे जो यह करेगा उससे स्पष्ट है। ☞ (ङ) यहाँ कपटी मुनिको 'तापस नृप' कहा, इसके पूर्व 'नृप' नहीं कहा था। भाव यह है कि राजाको छलनेके लिये ही वह मुनि बना था, जिसमें राजा उसे मुनि जाने और ऐसा हुआ भी। राजाने कपटी मुनिको मुनि जाना, यथा 'देखि सुबेष महामुनि जाना।' मुनि बनकर उसने कपट किया। इसीसे भानुप्रताप कपटी मुनि-संवादमें 'तापस नृप' न कहा किंतु मुनि, तापस, मुनीस आदि कहते रहे। और अब कालकेतु-कपटीमुनिके संवादमें 'तापस नृप' कहते हैं क्योंकि अब मुनि कहनेका कोई प्रयोजन नहीं है। कालकेतु जानता है कि यह राजा है, (राज्य छूटनेपर अपनेको छिपानेके लिये तपस्वी वेष धारणकर) तप करता है, इसीसे अब तापसनृप कहते हैं। इस प्रसंग भरमें प्राय यही नाम दिया गया है। यथा 'परम मित्र तापस नृप केरा', 'तापस नृप मिलि मंत्र बिचारा', 'तापस नृप निज सखहिं निहारी', 'अब साधेउँ रिपु सुनहु नरेसा', तथा 'तापस नृपहिं बहुत परितोषी'। (पुन 'तापस नृप' इससे कहा कि इस समय यहाँ दो राजा हैं, केवल नृप कहनेसे पाठकोंको भ्रम होना संभव था।)

२ (क) 'तेहिके सत सुत अरु दस भाई' इति। पुत्र बहुत प्रिय है, इसीसे प्रथम पुत्रका दु ख कहा। सौ पुत्र और दस भाई कहनेका भाव कि इतना उसका परिवार था, उसके सारे वंशका नाश हुआ, सब मारे गए। (ख) 'खल अति अजय ' इति। 'अति' देहली दीपक है। अर्थात् वे अति खल और अति अजय थे। 'खल' का भाव कि देवताओंकी संपत्ति देखकर जलते हैं, यथा 'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी। ७।३९।', इसीसे देवताओंकी संपत्तिका हरण करते हैं। 'अति अजय' है अर्थात् देवता इन्हें नहीं जीत पाते थे, इन्द्रादि सभी देवता हार गए थे। 'देव दुखदाई' अर्थात् देवताओंसे वैर मानते थे। यथा 'सुनहु सकल रजनीचर जूथा। हमरे बैरी बिबुध बरूथा। १८१।५।' (यह *रावणने राक्षसोंसे कहा है)* [*इन्द्रादि देवता दुर्जय (अजय) हैं उनको भी इन्होंने जीत लिया इससे* 'अति अजय' कहा। ☞ देवताओंको दु ख देते और उनकी सम्पत्ति छीन लेते थे अतएव खल कहा, यथा 'खलन्ह हृदय ।' (प्र० स०)]

३ (क) 'प्रथमहि भूप समर सब मारे' इति। 'प्रथम' का भाव कि जब भानुप्रताप दिग्विजयको चला और तापस नृपपर चढाई की तब कालकेतु अपने मित्रकी सहायताके लिये अपने सब पुत्रों और सब भाइयों सहित आया था, तब राजाने उन सब पुत्रों और भाइयोंको संग्राममें मारा। [यह भी हो सकता है कि पहले-पहल कालकेतुसे युद्ध किया क्योंकि वह ब्राह्मण, देवता और संत सभीको दु ख दे रहा था और राजा विप्र-सुर-संत-सेवी था, इसीसे राजाने प्रथम उन्हींसे युद्ध किया। तत्पश्चात् मनुष्य राजाओंपर दिग्विजयके लिये निकला, यह भाव 'तेहि खल पाछिल बयरु सँभारा। तापस नृप मिलि मंत्र बिचारा।' से भी पुष्ट होता है।] (ख) 'बिप्र संत सुर देखि दुखारे' इति। यह सबको मार डालनेका कारण बताया। भाव कि

भानुप्रताप राजाओंको जीतकर उनसे दंड लेकर, उनको छोड़ देता था, उनको मारता नहीं था। यथा 'सप्त दीप भुज बल बस कीन्हे। लै लै दंड छाड़ि नृप दीन्हे। १५४।७।' पर कालनेतुके पुत्रों और भाइयोंको नहीं छोड़ा, इनका वध किया, क्योंकि देवता, ब्राह्मण आदि जो राजाके सेव्य हैं, (यथा 'गुरु सुर संत पितर महिदेवा। करै सदा नृप सब कै सेवा।'), जिनका राजा भक्त है वे इन राक्षसोंके कारण निरन्तर दुःखित रहते हैं। यह बात राजाने स्वयं देखी अतः सबोंका नाश किया। (कालकेतु जान बचाकर भाग गया, इसीसे बच गया)। पुनः, 'देखि दुखारे' का भाव कि राक्षसोंको मारकर उनके दुःखको दूर कर उन्हें सुखी किया। (ग) देवताओंसे राक्षस बलवान् थे। उन राक्षसोंको भानुप्रताप ने मारा। इससे पाया गया कि भानुप्रताप देवता और राक्षस दोनोंसे अधिक बलवान् था।

प० प० प्र०—प्रतापभानुने यह राजनैतिक भूलें कीं जो उसके विनाशका कारण हुई। विश्वविजेताके अभिमानसे उन्होंने राजनीतिका पालन सावधानतासे न किया। 'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि', 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ' यह नीति है। कालकेतुके 'सत सुत अरु दस भाई' तो मारे पर घमंडमें आकर कालकेतुकी उपेक्षा कर दी कि अकेला वह क्या कर सकता है। इसी प्रकार जो राजा रणसे भाग गया, उसपर भी ध्यान नहीं रक्खा। 'तदपि कठिन दसकंठ... छत्र जाति कर रोष। ६।२३।' यह वे भूल गए।

मानसमें यह प्रतापभानु आख्यान ही केवल एक ऐसा प्रकरण है जो एकदम सहारा (रेगिस्तान, मरुभूमि) के समान भक्तिरसविहीन होनेसे रूखा सूखा लगता है। कपट मुनिने बार बार हरि शब्दका प्रयोग किया है, पर इस प्रकरणमें राम, रघुपति, रघुनाथ इत्यादि शब्द एवं भक्ति शब्द एक बार भी नहीं है। राम और भक्तिका नाम भी नहीं है। इस प्रकरणसे यह उपदेश मिलता है कि चाहे कोई कितना ही धर्मशील क्यों न हो, यदि उसमें सत्संग, रामनाम और रामभक्ति नहीं है, तो उसको संकट पड़नेपर अपने कर्मके अतिरिक्त कोई सहारा नहीं है, कोई बचानेवाला नहीं। (पृष्ठ ८८१, टिप्पणी २ देखिये)

तेहि खल पाछिल बयरु सभारा। तापस नृप मिलि मंत्र बिचारा ॥७॥
जेहि रिपु छय सोइ रचेन्हि उपाऊ। भावी बस न जान कछु राऊ ॥८॥
दोहा—रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिअ न ताहु।
अजहुँ देत दुख रबि ससिहि सिर अवसेषित राहु ॥१७०॥

शब्दार्थ—सभारा=सँभाला, स्मरण किया, यथा 'बुधि बल निसिचर परइ न पारयो। तब मारुतसुत प्रभु संभारयो। ६।६४।', 'बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवनतनय बल भारी। ५।१।', 'दीनदयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी। ५।२७।' मंत्र-सलाह, मशविरा, परामर्श। (जिसका मनन करनेसे रक्षा हो उसे मंत्र कहते हैं। इस तरह मंत्रका अर्थ हुआ—जिससे अपनी रक्षा हो, शत्रुका क्षय हो वह उपाय या सलाह)। छय (क्षय)=नाश। अवशेषित=बचा हुआ।

अर्थ—उस दुष्ट (कालकेतु) ने अपने पिछले वैरका स्मरण किया और तपस्वी राजासे मिलकर सलाह की ॥७॥ उन दोनोंने वही उपाय रचा जिससे शत्रुका नाश हो। राजा (भानुप्रताप) होनहारवश कुछ नहीं जान पाया ॥८॥ तेजस्वी शत्रु अकेला भी हो तो भी उसे छोटा न समझना चाहिए। (देखिए) राहु जिसका सिर मात्र बच रहा वह अब भी सूर्य और चन्द्रमाको दुःख देता है ॥१७०॥

टिप्पणी—१ (क) 'तेहि खल' इति। 'खल' का भाव कि राजाको संग्राममें तो मार न सका और अकेला पड़ जानेसे वैरका साहस भी न रह गया था, एक साथी तापस नृपके मिल जानेसे अब छलसे मारनेका उपाय सोचा। 'पाछिल बयरु'—अर्थात् अपने सौ पुत्र और दसों भाइयोंके मारे जानेका वैर। पुनः भाव कि पहले तो तापस नृपके वैर से वैर मानता था (मित्रका वैरी अपना वैरी होता है। इसीसे

रघुनाथजीने वालिसे कहा है—'मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी। ४।६।'), और अब उसने अपने पुत्रों और भाइयोंके मारे जानेका स्मरण किया (कि इसने हमारे वंशका नाश किया, हम इसका वंश सहित नाश करें)। (ख) 'तापस नृप मिलि' ' इति। (इससे जनाया कि कालकेतु बिना तापस नृपसे मिले अकेले भानुप्रतापको छलसे भी मारनेको समर्थ न था। इसीसे वह तापस नृपसे मिला और तब दोनोंने मिलकर प्रथम विचारकर उपाय तैयार किया तब राजाको छला।)

२ (क) 'जेहि रिपु छय सोइ रचेन्हि उपाऊ।' इति। राजासे जीतना सम्भव नहीं है, इसीसे 'जेहि छय होइ' अर्थात् जीतनेका उपाय न रचा, क्षयका उपाय रचा। राजाको मृगयाका व्यसन था ही अतः कालकेतु शूकर बना और तापस नृप मुनि बना। शूकर छलकर राजाको तापसके पास लाया। दोनोंने मिलकर राजाको ब्राह्मणोंसे शाप दिलाया, यही उपाय है जो पूर्व कह आए हैं। यथा 'जाइ उपाय रचहु नृप एहू। संबत भरि संकलप करेहू॥ ', 'जेहि सूकर होइ नृपहि भुलावा'। (ख) 'भावी बस न जान कछु राऊ' इति। कालकेतुका शूकर बनना, बैरी राजाका मुनि बनना, दोनोंका मेल इत्यादि कुछ न जान पाया, इसका कारण 'भावी' है। 'भावी बस' कहनेका भाव कि भावीने राजाको अज्ञानी कर दिया, नहीं तो वह बड़ा बुद्धिमान् है वह अवश्य जान जाता। यदि 'भावी वश' न कहते तो राजामें अज्ञान पाया जाता। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "राजा बड़ा सावधान था। उसने कालकेतु और तपस्वी वेषधारी राजाके खोजवानेका यत्न बहुत किया था, परन्तु भावीवश उसे कुछ पता न लगा। कालक्रमसे बात पुरानी हो गई और अब उस ओर कोई ध्यान नहीं देता था")।

३ 'रिपु तेजसी अकेल ''' इति। अर्थात् कालकेतु और तापस नृप दोनों अकेले रह गए फिर भी वे तेजस्वी शत्रु थे, राजाने उनको लघु जानकर खोजकर न मारा, यही समझता रहा कि वे अकेले हमारा क्या कर सकते हैं। (उनके भाग जानेपर राजाको चाहिये था कि उन्हें खोजकर मारते। यह नीति है, यथा 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ। २।२२६।') शत्रु छोटा भी हो तो भी उसे छोटा न मानना चाहिए, यथा 'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि। ३।२१।' 'अजहुँ' का भाव कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'सिर अवसेषित राहु'—भाव कि जैसे राहु शिरमात्र ही है वैसे ही कालकेतु और तापस नृप शिरमात्र ही काटनेको रह गए थे और सब वंशका नाश तो राजाने कर ही दिया था।

नोट—१ यह दोहा भानुप्रताप, कालकेतु और तापस तीनोंमें घटित हो सकता है। कपटी मुनिका राज्य गया, उसके परिवार और सेना आदि सब राज्याङ्गोंका नाश हुआ। वह अकेला रह गया, जैसे राहुका सारा धड़ नष्ट हो गया, सिरमात्र रह गया। यद्यपि वह अकेला है तो भी क्या ? वह है तो क्षत्रिय, फिर राजा और शत्रु ! अवसर पर घात किया ही चाहे। भानुप्रतापको चाहिए था कि उसको खोजकर मारता। इसी तरह कालकेतुका वंश मारा गया। वह अकेला रह गया तो क्या ? वह है तो तेजस्वी ! देवता उससे जीत न पाते थे। अत उसे भी मारना था। कालकेतुका परिवार राहुका धड़ है और कालकेतु शिर। (कालकेतुको राहु कहा क्योंकि राक्षस भी काला और राहु भी काला। 'तापस नृप' को राहु कहा, क्योंकि जैसे राहु छिपकर देवताओंमें जा बैठा था वैसे ही यह भी भागकर मुनिवेष बनाकर बैठा था। और भानुप्रतापको ग्रसनेकी सधिकी घातमें था)। पुन, भानुप्रताप इस समय अकेला है। उसकी सेना और मन्त्री आदि कोई अंग इस समय साथ नहीं हैं। इसे कालकेतु और तापस नृपने मार क्यों न डाला ? उसका समाधान करते हैं कि 'रिपु तेजसी '''। अर्थात् वह अकेला है तो क्या ? है तो तेजस्वी ! न मरा तो फिर इन्हें जीता न छोड़ेगा। जैसे राहुका छल सूर्य और चन्द्रमाने बता दिया पर भगवान्के चक्रसे भी वह न मरा, उसका धड़मात्र नष्ट हो गया, शिर जीवित रह गया अत वह अब तक सूर्य और चन्द्रसे अपना बदला लेता है। पुन अकेले उसके मारनेसे क्या होता ? उसके भाई मन्त्री प्रभृति खोज लगाकर इन्हें मार डालते, इनके रहते

राज्य तो लौटकर मिलेगा नहीं। अतएव अकेले राजाको न मार परिवार सहित उसका नाश करनेका उपाय रचा। (बला और अतिबला विद्याके जानकारको कोई सोतेमें मार नहीं सकता। अथवा उस समय असुर भी सोते हुए शत्रुको मारना अनुचित समझते थे। वि० त्रि०)।

२ पंजाबीजी लिखते हैं कि जैसे रवि और शशि दो और राहु एक, वैसे ही कालकेतु और कपटी मुनि दो और भानुप्रताप अकेला है। इसीसे उन दोनोंने विचार किया कि यदि हम इसे मारने लगे और वह जाग पड़ा तो फिर यह हमें राहुकी तरह ग्रसेगा। इसलिये उसे द्विजशाप दिलाकर उसका नाश करना उचित है।

३ 'अजहूँ' का भाव कि राहुका सिर काटे गये लाखों वर्ष हो गए। जब क्षीरसमुद्र मथा गया था तबकी यह बात है। पर उस वैरको राहु अब तक नहीं भूला, बराबर संधि पाकर वैरीको ग्रसता रहता है। वैसे ही यद्यपि कालकेतुके पुत्र और भाइयोंको मारे हुए तथा तापस नृपका राज्य छिने हुए वर्षों बीत गईं तब भी ये दोनों अपना वैर भूले नहीं, उस पुरानी शत्रुताके कारण आज भानुप्रतापके नाश करनेको उद्यत हैं।

४ राहुके सिर कटनेकी कथा दोहा ४।३ 'हरिहरजस राकेस राहु से' में देखिए। पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य है और उत्तरार्द्ध उपमान वाक्य। दोनों वाक्योंमें बिना वाचक पदके बिम्ब प्रतिबिम्ब-भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है।

तापस नृप निज सखहि निहारी। हरषि मिलेउ उठि भयउ सुखारी ॥१॥
मित्रहि कहि सब कथा सुनाई। जातुधान बोला सुख पाई ॥२॥
अब साधेउँ रिपु सुनहु नरेसा। जौं तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा ॥३॥

शब्दार्थ—सखहि = सखा को। सखा=साथी, मित्र। साधेउँ = ठीक कर लिया, वशमें कर लिया। कार्य सिद्ध कर लिया। रिपुका नाश कर दिया।

अर्थ—तपस्वी राजा अपने सखाको देख प्रसन्न हो उठकर मिला और सुखी हुआ॥ १॥ (फिर उसने) मित्रसे सब कथा कह सुनाई। (वह) निशाचर आनन्दित हो बोला॥ २॥ राजन्! सुनो। जो तुमने मेरा उपदेश (मेरे कहनेके अनुसार, मेरा कहा) किया तो अब मैंने शत्रुको साध लिया (उसका नाश कर डाला)॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'तापस नृप ' का संबंध ऊपरके 'कालकेतु निसिचर तहँ आवा। । १७०।३।' से है। अर्थात् कालकेतु वहाँ आया, उसे देखते ही तापस उठकर मिला। उठकर मिलने और हर्षित होनेका भाव कि तापस कालकेतुकी बड़ी प्रतीक्षामें बैठा था। सोच रहा था कि यदि कहीं कालकेतु आज न आया तो सब काम बिगड़ जायगा। मैंने राजासे एकरार किया है कि तपोबलसे तुम्हें सोते हुए घोड़े समेत घर पहुँचा दूँगा, यह बात मेरे सामर्थ्यसे बाहर है, मुझसे तो हो नहीं सकती इत्यादि सोचमें पड़ा हुआ था, यथा 'सो किमि सोव सोच अधिकाई।' जिस समय वह इस चिन्तामें ग्रस्त था उसी समय कालकेतु आ गया। इसीसे तापस बड़ा सुखी हुआ और उठकर मिला। 'निहारी' से सूचित हुआ कि उसकी राह देख रहा था कि कब आवे। (ख) 'कहि सब कथा सुनाई' इति। सब कथा सुनानेका भाव कि जिसमें सब बातचीत सुनकर छल करनेमें चूके नहीं, जैसा सुने वैसा ही सब कार्य करे। (ग) 'जातुधान बोला सुख पाई' इति। कालकेतुको सुख हुआ क्योंकि यह सब छल करना उसके लिये एक साधारण बात है। (धर्मात्माओंके साथ अन्याय करना, उनके नाशमें तत्पर रहना और नाशमें सुख मानना इत्यादि सब निशाचरोंके लक्षण हैं, यथा 'जिन्हके यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी। १८४।३।' अतः 'सुख पाई' के साथ 'जातुधान' कहा।) कालकेतु आया, यह तापस नृपके मनकी बात हुई इसीसे वह मित्रको देखकर सुखी हुआ। और कालकेतु

कथा सुनकर सुखी हुआ। इससे जाना गया कि यह सब उसके मनकी बात हुई। जैसे कपटी मुनिने कथा सुनाकर कालकेतुको सुख दिया वैसे ही कालकेतु अपने मित्रको सुख देनेकी बात बोला।

२ (क) 'अब साधेउँ' इति। अर्थात् अब मुझसे न बचेगा, अब मैं सब कर लूँगा। [श० सा० में 'साधित' शब्द मिलता है जिसका एक अर्थ यह है—'जिसका नाश किया गया हो'। इसके अनुसार 'साधेउ' का अर्थ होगा 'नाश कर डाला'] 'अब' का भाव कि यदि तुम ऐसा उपाय न करते तो हम शत्रुका नाश न कर सकते। (ख) 'जौं तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा।' इति। इससे पाया गया कि कालकेतु इसे पूर्व ही यह सिखा गया था (कि मैं किसी दिन जब राजा शिकारको निकलेगा उसे छल द्वारा भटकाकर इधर ले आऊँगा। तुम उससे इस तरह बातें करना कि जिससे वह तुम्हें महामुनि जानकर तुम्हारे वशमें हो जाय, तुम्हारी आज्ञाके पालनमें तत्पर हो जाय। इत्यादि।

परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिनु* औषध बिआधि बिधि खोई ॥४॥
कुल समेत रिपु मूल बहाई। चौथें दिवस मिलब मैं आई ॥५॥
तापस नृपहि बहुत परितोषी। चला महा कपटी अति रोषी ॥६॥

शब्दार्थ—बिआधि (व्याधि)=रोग।

अर्थ—अब तुम चिन्ता त्यागकर सो रहो। विधाताने विना दवाके रोगका नाश कर दिया ॥ ४ ॥ वंशसहित शत्रुको जड़मूलसे (उखाड़) बहाकर मैं तुमसे चौथे दिन आकर मिलूँगा ॥ ५ ॥ तपस्वी राजाको बहुत प्रकारसे संतोष (दिलासा) देकर (वह) महाकपटी और अत्यन्त क्रोधी (कालकेतु) चला ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'परिहरि सोच···' इति। प्रथम कह आए हैं कि कपटी मुनिको शोचके मारे नींद नहीं पड़ती—'सो किमि सोव सोच अधिकाई'। इसीसे कालकेतु कहता है कि सोच छोड़कर सो रहो। शोचमें मनुष्यको निद्रा नहीं पड़ती, यथा 'निसि न नींद···भरत बिकल सुचि सोच', 'गयो भवन अति सोच बस नींद परै नहिं राति।' इसीसे प्रथम शोच त्याग करनेको कहा तब सोनेको। ('रहहु सोई' का भाव कि पैर फैलाकर मेरे भरोसे निश्चिन्त सो रहो)। (ख) 'बिनु औषध···' इति। यहाँ भानुप्रताप व्याधि है। विना दवाके अर्थात् विना उपाय किये। भाव कि ऐसा प्रबल शत्रु साधारण उपायसे नहीं मर सकता सो एक साधारण उपायसे ही नाशको प्राप्त होगा। 'बिधि खोई' का भाव कि विधिवश ही ऐसा संयोग आ बना है, नहीं तो अपने किये न होता। (ग) 'कुल समेत रिपु मूल···' इति। शत्रुका मूल कुल है। कुलका नाश होनेसे शत्रु निर्मूल हो जायगा। [विप्र-गुरु-पूजा इसकी जड़ है। ब्राह्मणशापद्वारा इसकी जड़ धो बहाऊँगा। जड़के बह जानेसे इसका राज्यरूपी मकान भी ढह जायगा। (वि० त्रि०)] कपटीमुनिने राजासे कहा था कि 'मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीजे' हमसे तुमसे तीसरे ही दिन भेंट होगी। इसीसे कालकेतु कहता है कि तीसरे दिन मैं राजासे पुरोहितका रूप धरकर भेंट करूँगा, चौथे दिन ब्राह्मणों को प्रातः ही निमंत्रित कराके मध्याह्नमें राजाको शाप दिलाकर उसी दिन तुमसे आ मिलूँगा।

२ 'तापस नृपहि···' इति। (क) 'बहुत परितोषी' का भाव कि कपटी मुनिको बहुत शोच है (कि न जाने कोई विघ्न उपस्थित हो जानेसे काम न हो तो मेरी क्या दशा होगी। उसने ढाढस बँधाया कि वार खाली न जायगा। वि० त्रि०)। 'सो किमि सोव सोच अधिकाई', इसीसे बहुत संतोष देना पड़ा। (ख) 'चला' से स्पष्ट है कि तापस भानुप्रतापसे सोनेको कहकर दूसरी जगह (जहाँ उसके सोनेका आसन था) चला गया था। यदि यहाँसे भानुप्रतापका आसन दूर न होता तो कालकेतुका चलकर वहाँ जाना न कह

* बिन—१६६१। प्रायः सर्वत्र 'बिनु' है, यहाँ लेखक प्रमाद जान पड़ता है।

सकते। (विशेष 'आसन जाइ बैठ छल ज्ञानी। १७०।१।' में देखिये)। (ग) 'महा कपटी अतिरोषी' इति। भाव कि तापस कपटी और क्रोधी था, यथा 'रिस उर मारि रंक जिमि राजा।' और कालकेतु महा कपटी और अति रोषी है। यथा 'जानै सो अति कपट घनेरा', इसको अत्यन्त रोष है क्योंकि इसके दशों भाई और सौ पुत्र सभी राजाने मार डाले थे। [महा कपटी है अर्थात् अत्यन्त कपट जानता है। यथा 'जानै सो अति कपट घनेरा।' पुनः अपने अधीन पुरुषपर भी दया नहीं, उसे जड़मूलसे नाश करनेका प्रण किया है, इससे 'अति रोषी' कहा। 'महा कपटी' तो आगे उसके कर्मोंसे ही स्पष्ट है। (प०)]

भानुप्रतापहि बाजि समेता। पहुँचाएसि छन माझ निकेता॥ ७॥
नृपहि नारि पहिं सयन कराई। हयगृह बाँधेसि बाजि बनाई॥ ८॥
दोहा—राजा के उपरोहितहि हरि लै गयउ बहोरि।
लै राखेसि गिरि खोह महुँ माया करि मति भोरि॥ १७१॥

शब्दार्थ—माँझ = में, मध्यमें। हयगृह—घोड़ोंके रहनेका स्थान, घुड़शाल। भोरी = भ्रमित, भोली भाली, जिसमें विचारशक्ति न रह जाय।

अर्थ—भानुप्रतापको घोड़े सहित क्षणके भीतर ही घरमें पहुँचा दिया॥ ७॥ राजाको रानीके पास लिटाकर घोड़े को अच्छी तरह घुड़शाला में बाँधा॥ ८॥ (फिर) राजाके पुरोहितको हर ले गया और (अपनी राक्षसी) मायासे उसकी बुद्धि भोरी करके उसे पर्वतकी गुफामें ले जाकर रक्खा॥ १७१॥

टिप्पणी—१ (क) कपटी मुनिने राजासे कहा था कि 'मैं तपबल तोहि तुरग समेता। पहुँचैहौं सोवतहि निकेता।' इसीसे कालकेतुने उसे सोते हुए घोड़े समेत क्षण मात्रमें घर पहुँचा दिया। (इस तरह तापसकी बात सत्य की। तापस राजाने तपबल कहा था इसीसे क्षणभरमें ही पहुँचाया। जिससे राजाको विश्वास हो कि तपोबलसे यह काम किया गया। सोते ही और घोड़े समेत उसपर भी क्षणभरमें, यह सब असाधारण बातें हैं। राजाने इसे मुनिका तपोबल माना भी है, यथा 'मुनि महिमा मन महुँ अनुमानी।' (ख) तापसने तो पहले पुरोहितको हर लानेको कहा था, पीछे राजाको घर पहुँचानेको। परन्तु कालकेतुने प्रथम राजाको पहुँचाया। क्योंकि यदि वह पहले नगरमें जाकर पुरोहितको हर लाता तो उसे फिर यहाँसे राजाको ले जाना पड़ता और फिर लौटना पड़ता। इस तरह उसे दो बार आना जाना पड़ता। अतः कालकेतुने बुद्धिमानी की कि इनको यहाँसे लेता गया और यहाँ से लौटते में पुरोहितको ले आया।

२ 'नृपहि नारि पहिं सयन कराई।' इति। (क) तापसने राजासे यह नहीं कहा था कि हम तुम्हें रानीके पास शयन करा देंगे, क्योंकि वह महात्मा बना है। महात्माके मुखमें ऐसी बात शोभा नहीं देती। तापसने जब कालकेतुसे सब कथा कही तब उससे कह दिया कि राजाको रानीके पास शयन करा देना, क्योंकि राजा रानीके पास शयन करता है, पृथक् नहीं सोता। पुरुषका स्त्रीसे पृथक् शय्यापर सोना 'स्त्रीणामशस्त्रवधउच्यते' स्त्रियोंके लिये अशस्त्रवध कहलाता है। (ख) राजा सो रहा था, उसी अवस्थामें रानीके पास पहुँचाया गया, घोड़ा अश्वशालामें पहुँचा। राजाको शय्यापर लिटाकर तब उसने घोड़ा बाँधा। 'बनाई' अर्थात् अच्छी तरहसे बाँधा जिसमें छूटे नहीं। ('बनाई' अर्थात् जीन आदि उतार कर अगाड़ी-पिछाड़ी बाँधकर, जैसी रीति है)।

३ 'राजाके उपरोहितहि' इति। (क) 'बहोरि' अर्थात् घोड़ेको अश्वशालामें बाँधनेके पश्चात्। (ख) पुरोहितको हरनेका भाव कि धर्मकार्य कराना पुरोहितका काम है। बलि वैश्वदेव, ब्राह्मणभोजन का सकल्प कराना, इत्यादि में पुरोहित रहेगा तो वह सब जान जायगा क्योंकि वह बड़ा बुद्धिमान् पंडित है। अतः उसे प्रथम ही हर ले गया।

नोट—१ यहाँ 'राजाके उपरोहितहि' यह पद देनेका भाव यह है कि ब्राह्मण तो तपस्वी होते हैं उनपर निशाचरकी मायाका प्रभाव नहीं पड सकता। पर, यह पुरोहित है, राज्य धनधानसे पला है, इससे वह तेज नष्ट हो गया। इसीसे हर लिया गया। (प०)। वीरकविजी लिखते हैं कि ब्राह्मणके लिये राजपुरोहित होना ही दोषका कारण है, नहीं तो क्यों पागल बनाकर कन्दरामे कैद किया जाता। इसमे 'लेश अलकार' की ध्वनि है।

☞ब्राह्मणों और विरक्तोंको इससे उपदेश ग्रहण करना चाहिए।

२ इसके साथ राक्षसने दो उपाय रचे। एक तो मति भोरी कर दी, दूसरे गिरिकन्दरामें छिपा दिया। कारण यह कि अगर "इसे मैं उन्मत्त करके छोड दूँगा तो कदाचित् इसे कोई पहिचान ले और नगरमे खबर पहुँचा दे तो हमारा काम बिगड जायगा। और यदि बिना मति बौराए कन्दरामें रक्खें तो ऐसा न हो कि वहाँसे चिल्लाए तो कोई सुनकर इसे निकाल दे।" (प०)। मति भोरी कर दी कि कन्दरामे ही घुमा करे बाहर न निकल सके, उसे यही न मालूम हो कि मैं कौन हूँ और कहाँ पर हूँ।

महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यदि वह बुद्धि सयुक्त रहता तो कोई जप-तप यंत्र-मत्र इत्यादि द्वारा राजाके पास पहुँच जाता और तब सब भेद खुल जाता, अतएव मति भ्रमित करदी।

३ यहाँ कालकेतु नामकी सार्थकता दिखायी है। वह मानों सत्य ही कालकी ध्वजा है जो राजाके नाशके लिए उठकर उसके साथ उसके नगर को शोभित आया है।

> आपु बिरचि उपरोहित रूपा। परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा॥ १॥
> जागेउ नृप अनभएं बिहाना। देखि भवन अति अचरजु माना॥ २॥
> मुनि महिमा मन महुं अनुमानी। उठेउ गवहिं जेहिं जान न रानी॥ ३॥
> कानन गएउ बाजि चढ़ि तेही। पुर नर नारि न जानेउ* केहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—बिरचि = विशेष रचकर, अच्छी तरह बना कर। सेज = शय्या, पलग। अनभएँ = बिना हुए। बिहाना = प्रातःकाल, सवेरा। गवहिं = गौंसे, सँभालकर, धीरे-धीरे, चुपचाप। यथा 'देखि सरासन गवहिं सिधारे। २५० २।' तेही = वह, उसी। केही = किसीने।

अर्थ—आप पुरोहितका रूप बनाकर उसकी अनुपम शय्यापर जा लेटा॥ १॥ राजा सवेरा होनेसे पहले ही जागा। महलको देखकर उसने बडा आश्चर्य माना॥ २॥ मनमें मुनिकी महिमा विचारकर वह चुपचाप बडी सावधानीसे उठा जिसमें रानी न जान पावे॥ ३॥ वह उसी घोडेपर चढकर वनको गया। नगरके स्त्री पुरुष किसीने भी न जाना॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिरचि' का भाव कि ऐसा पुरोहित-रूप बनाया कि कोई भाँप नहीं सकता (कि पुरोहित नहीं है। पुरोहिताइन भी न जान सकी तब दूसरेकी तो बात ही क्या?)। (ख) 'परेउ जाइ'—सेजपर जाकर लेटनेका भाव कि जिसमे कोई यह न जान पावे कि पुरोहित घरमें नहीं है, कहाँ चले गए? ['जाइ' से यह भी जनाया कि पुरोहितको कहीं दूर ले जाकर रख आया। वहाँसे फिर पुरोहितके यहाँ गया।]

(ग) 'सेज अनूपा' इति। इससे जनाया कि उसने विप्रपत्नीका धर्म बिगाडा। गोस्वामीजीने इस अपराधको प्रगट न कहा, 'अनूपा' शब्दसे सूचित कर दिया। सेजकी अनूपता यही है कि उसमे अपूर्व स्त्री रहे। ['सेज' प्राय स्त्री सहित शय्याके लिए प्रयुक्त होता है। स्त्रीके पास जाकर लेटा, उसका धर्म नष्ट किया और उसने न जाना कि यह हमारे पति नहीं हैं। 'अनूपा' से यह भी जान पडता है कि राजासे दानमें मिला होगा। (प्र० स०)। पुरोहितका धर्म नष्ट किया क्योंकि गुरुका धर्म नष्ट होनेसे शिष्यका विनाश होता है।

* जानेउ—१६६१

(पं०) । वि० त्रि० लिखते हैं कि पुरोहितकी जैसी शय्या थी वैसी राजाकी न थी, इसलिये 'अनूप' कहा। इससे राजाका नीति नैपुण्य और धर्मबुद्धि सूचित हुई । राजाके यहाँ पुरोहितका बड़ा सम्मान था। रात अभी बाकी थी, इसलिये शय्यापर जा लेटा ।]

२ (क) 'जागेउ नृप ' इति । सवेरा होनेके पूर्व ही जागना कहकर जनाया कि यद्यपि राजा बहुत थके हुए थे और बहुत रात बीते सोये थे तथापि अपने जागनेके समय ही जगे। महात्माओंके उठनेका समय प्रातःकाल ही है, यथा 'पहिले पहर भूपु नित जागा । २।३८।१ ।' (पुनः भाव कि और सबोंके उठनेके समयसे पहले ही उठा क्योंकि यदि औरोंके उठनेका समय हो गया होता तो राजाका आना लोग जान जाते) (ख) 'अति अचरजु माना' का भाव कि प्रथम कपटी मुनिकी बातें सुनकर आश्चर्य माना था और अब उनका कर्त्तव्य देखा (कि सत्य ही जो उन्होंने कहा था वैसा किया कि सत्तर योजनकी दूरीपर और फिर महलमें और रानीके पास सोते ही पहुँचा दिया यह विशेष काम किया), अतः अति आश्चर्य हुआ।

३ (क) 'मुनि महिमा' इति । भाव कि यह सब महिमा कालकेतुकी है पर राजाने उसे मुनिकी महिमा जानी । पुनः भाव कि पहले भवन देखकर आश्चर्य माना फिर अपने चित्तका समाधान किया कि यह मुनिकी महिमा है । हमसे कहा था कि सोते ही घोड़े समेत तुमको घर पहुँचा देंगे वैसा ही उन्होंने किया, उनकी महिमासे यहाँ पहुँचे, यह उनकी बड़ी भारी महिमा है। (ख) 'उठेउ गवहिं '—(।सोते हुए घरमें पहुँच जाना, किसीका खबर न होना इत्यादि बातोंको छिपानेके लिये राजा चुपचाप उठकर फिर वनको चला गया) । 'जेहि जान न रानी'—क्योंकि रानी यदि जाग पड़ी तो वह राजाको देखकर अवश्य पूछेगी, पूछने पर बताना पड़ेगा और बतानेसे हानि है (कपटी मुनि पहले ही चेतावनी दे चुका है। यथा 'तातें मैं तोहि बरजौं राजा । कहें कथा तव परम अकाजा ॥ छठें श्रवन यह परत कहानी । नास तुम्हार सत्य मम बानी । १६६।१ २ ।') । पूछनेपर झूठ बोले तो भी हानि है । क्योंकि 'नहिं असत्य सम पातक पुंजा । २।२८ ।') यहाँ 'युक्ति अलंकार' है ।

४ (क) 'कानन गएउ', वनको चला गया जिसमें लौटनेपर लोग जानें कि राजा अभी वनसे आया है, मुनिका रातमें ही भवनमें पहुँचाना किसीको मालूम न हो । 'बाजि चढ़ि तेहीं' उसी घोड़ेपर चढ़कर गया क्योंकि यदि दूसरे पर जाता तो लोगोंको संदेह हो जाता कि राजा तो जिस घोड़ेपर शिकारको गया था वह तो हयशालामें बँधा हुआ है, राजा कहाँ है, (घोड़ा यहाँ अकेला कैसे और क्यों आया ? फिर, दूसरा घोड़ा यहाँ नहीं है, उसे कौन और कब ले गया ? दूसरे घोड़ेपर लौटा देख लोग अवश्य पूछते) । (ख) 'पुर नर नारि न जानेउ केही', पुरवासियोंमेंसे भी किसीने न जाना, इससे जान पड़ता है कि इसमें कुछ कालकेतुकी मायाका प्रभाव रहा होगा । (निशाचरने राक्षसी मायासे सबको मोहित कर दिया था। वि० त्रि० का मत है कि राजाओं-के ऐसे गुप्त मार्ग होते थे कि वे उनसे पुरके बाहर आया जाया करते थे और किसीको पता न चलता था) ।

गएँ जाम जुग भूपति आवा । घर घर उत्सव बाज बधावा ॥५॥
उपरोहितहि देख जब राजा । चकित बिलोक सुमिरि सोइ काजा ॥६॥
जुग सम नृपहि गए दिन तीनी । कपटी मुनि पद रह मति लीनी ॥७॥

शब्दार्थ—गए = बीत जाने पर । जाम (याम)=पहर, प्रहर, तीन घंटेका समय । बधावा=बधाई, मंगलाचार, आनन्द-मंगलके अवसरका गाना बजाना । चकित चौकन्ना, आश्चर्ययुक्त, भौचक्का, हक्काबक्का । लीनी (लीन)—मग्न, अनुरक्त, लगी हुई, तन्मय ।

अर्थ—दोपहर बीतनेपर राजा आया । घर घर उत्सव होने और बधाइयाँ बजने लगीं ॥५॥ जब राजा पुरोहितको देखता है (तब अपने) उसी कार्यका स्मरण कर चकित हो (उसकी ओर) देखने लगता है ॥६॥ राजाको तीन दिन युगके समान बीते (क्योंकि) उसकी बुद्धि कपटी मुनिके चरणोंमें लीन हो रही थी ॥७॥

टिप्पणी—१ (क) 'गए जाम जुग ' इति। दो पहरमें आए जिसमें लोग जानें कि तबके गए अब आए हैं। [दो पहर दिन बीतनेपर आया क्योंकि पहले आते तो भी सब पूछते कि रातमें कहाँ ठहरे थे जो इतनी जल्दी आगए, रातमें क्यों न आगए? दोपहर होनेसे वे समझे कि कहीं बहुत दूर निकल गए थे जहाँसे सवेरेके चले आए हैं। (पंजाबीजी, रा० प्र०)। किसी किसी का मत है कि अपने जानेसे दोपहर बीतनेपर आया। अथवा, 'दिन बितानेके लिए दो पहर बीते आया।] (ख) 'घर घर उतसव ' इति। जब राजा घोर वनमें प्रवेश कर गया तब साथके लोगोंने लौट आकर सब हाल कहा। राजाके न आनेसे घर-घर सब लोगोंको संदेह हो रहा था (कि न जाने जीवित है या नहीं। सब दुःखी थे) इसीसे राजाको आए देख घर-घर उतसव होने लगा और उसका नवीन जन्म समझकर बधाइयाँ बजने लगीं। (जन्मके समय बधाई बजनेकी रीति है। यथा—'गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुषमाकंद। १९४।' वि० त्रि० का मत है कि मृगयाका साज समाज साथ न होनेसे लोग समझेंगे कि वे सब विंध्याचलमें राजाकी बाट जोह रहे होंगे।)

२ (क) 'उपरोहितहि देख जब राजा' इति। घर घर उत्सव होने लगा, राजमहलमें भी उत्सव होने लगा, तब पुरोहित भी दान कराने, आशीर्वाद देनेके लिये आया (ही चाहे), इसीसे पुरोहितको देखना कहा। (ख) 'चकित बिलोक०'—पुरोहितके द्वारा कार्य होनेको है, यथा 'मैं धरि तासु बेष सुनु राजा। सब बिधि तोर सँवारब काजा। १६८।६।', इसीसे कार्यका स्मरणकर चौकन्ना होकर देखता है कि यह हमारा पुरोहित है कि पुरोहितका रूप धरे हुए मुनि ही है। पहचानने नहीं पाता, इसीसे संदेहमें है, जब पहचानेगा तब सुखी होगा, यथा 'नृप हरषेउ पहिचानि गुरु । १७२।' अथवा, अपना कार्य प्रिय है इसीसे पुरोहित प्रिय लगा, पुरोहितको चकित देख रहा है कि ये ही हमारा काम करेंगे। (बैजनाथजीका मत है कि जब पुरोहितको देखा तो स्वरूप तो वही था पर बोल-चाल स्वभाव और प्रकारका था इससे उसे देख चित्त चकित हुआ और अपना कार्य सिद्ध समझा)।

३ 'जुग सम नृपहि गए दिन तीनी' इति। (क) तापसने राजासे तीन दिनका करार किया था, यथा 'मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीने। १६८।७।' इसीसे उसके बिना तीन दिन सत्ययुग, त्रेता और द्वापर इन तीनों युगोंके समान बीते। तीन दिन कुछ अनर्थ न हुआ। (इसीसे इन तीनको तीन उत्तम युग जो प्रथम होते हैं निश्चित करते हैं)। चौथा दिन कलियुगके समान नाश करनेवाला आवेगा। [समय का युग समान बीतना मुहावरा है। चिन्ता आदिसे समय काटे नहीं कटता, मानों युगका युग बीत गया। यथा 'भइ जुग सरिस सिराति न राती। २।१४५।' राजा अपने स्वार्थकी चिंतामें है कि कब मुनि आवें और मेरा मनोरथ सिद्ध हो। अतः उसे तीन दिन काटे नहीं कटते, युगके समान बड़े जान पड़ते हैं] (ख) 'दिन तीनी'—इससे पाया गया कि जिस दिन कपटी मुनिसे बातचीत हुई थी और उसने कहा था कि हमसे तुमसे तीसरे दिन भेंट होगी, वह दिन छोड़कर तीन दिन पूरे बीते। क्योंकि यह बात उसने दो पहर रात्रि बीतनेपर कही थी उसके पश्चात् राजा सो गए' सवेरा उसे घरमें हुआ, तब यह दिन युगसमान क्योंकर बीत सकता है? वह दिन तो सुखसे बीता। इससे पाया गया कि कालकेतु दो दिन बिताकर तीसरे दिन संध्या समय राजासे मिला। (ग) 'कपटी मुनि पद रह मति लीनी'—कपटी मुनिके चरणोंमें राजाकी अत्यंत प्रीति है, इसीसे प्रसंगमें अनेक जगह चरणोंमें प्रेमका उल्लेख कविने किया है। यथा 'बड़े भाग देखेउँ पद आई। १५८।६।', 'चरन बंदि निज भाग्य सराही।१६०।२।', 'जोसि सोसि तव चरन नमामी।१६१।४।', 'गहि पद बिनय कीन्हि बिधि नाना॥ १६४।६।', 'सत्य नाथ पद गहि नृप भाषा। १६६।५।', 'अस कहि गहे नरेस पद स्वामी होहु कृपाल। १६७।' तथा यहाँ 'कपटी मुनि पद '। ['रह मति लीनी' से सूचित किया कि प्रत्येक क्षण इसी सोच विचारमें बीतता था कि कब मुनिके दर्शन हों।]

समय जानि उपरोहित आवा । नृपहि मतें सब कहि समुझावा ॥८॥
दोहा—नृप हरषेउ पहिचानि गुरु भ्रम बस रहा न चेत ।
बरे तुरत सत सहस बर बिप्र कुटुंब समेत ॥१७२॥

शब्दार्थ—मतें=मत, गुप्त बात । =एकान्तमें । चेत=बोध, ज्ञान ।

अर्थ—अवसर जानकर पुरोहित आया और राजाको सब गुप्त बात एकांतमें कह समझाई ॥ ८ ॥ राजा गुरुको पहचानकर प्रसन्न हुआ । भ्रमके वश उसे चेत न रहा । उसने तुरत एक लाख श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको कुटुंब समेत (भोजनके लिये) न्योत दिया ॥ १७२ ॥

टिप्पणी—१ 'समय जानि आवा' इस कथनसे पाया गया कि समय भी निश्चित कर दिया था कि तीसरे दिन सध्या समय आवेंगे । तापसने राजासे कहा था कि 'पहिचानेहु तब मोहि । जब एकांत बोलाइ सब कथा सुनावों तोहि' । वही यहाँ कहते हैं कि 'नृपहि मतें सब ' अर्थात् एकान्तमें बुलाकर सब कथा कही । इस तरह यहाँ 'मतें' का अर्थ है 'एकान्तमें' । 'सब' अर्थात् जो वार्ता वनमें हुई थी वह सब ।

२ (क) 'हरषेउ' से जनाया कि राजा बिना गुरुको पहचाने व्याकुल था—'जुग सम नृपहि गए दिन तीनी', पहचाना तब प्रसन्न हुआ । (ख) 'भ्रम' कि ये महामुनि हैं । 'रहा न चेत'—विचार करनेवाले मन, बुद्धि और चित्त ये तीनों कपटी मुनिमें लगे हुए हैं, यथा 'मुनि महिमा मन महुँ अनुमानी' (मन मुनिकी महिमामें भूला हुआ है), 'कपटी मुनि पद रह मति लीनी' (बुद्धि मुनिके चरणोंमें लीन है) और महामुनि होनेका भ्रम हुआ इसीसे चेत न रहा, अर्थात् चित्त उसे महामुनि माने हुए है । (ग) 'बरे तुरत ' इति । राजाको इस कार्यके सिद्ध होनेकी बड़ी इच्छा है इसीसे उसने तुरत विप्रोंको निमंत्रित किया । कपटी मुनिकी आज्ञा है कि 'नित नूतन द्विज सहस सत बरेहु सहित परिवार ।', इसीसे राजाने 'बरे तुरत सत सहस ' । बर अर्थात् वेदपाठी ब्राह्मण । (उत्तम, कुलीन, श्रोत्रिय इत्यादि) । 'बरे तुरत' से सूचित किया कि कालकेतु होने निमंत्रण जाकर दिया और सबको बुला लाया, यह काम दूसरेसे न बन पाता । एक लक्ष वेदपाठी ब्राह्मणोंके घर न्योता गया, इससे सूचित हुआ कि नगर बहुत बड़ा है ।

नोट—१ 'भ्रम बस रहा न चेत' इति । वह तो भ्रममें पड़ा था कि ये बड़े चिरकालीन तपस्वी मुनि हैं, अपने तपोबलसे हमें सोते घर पहुँचा दिया, पुरोहितका ठीक रूप बना लिया, इत्यादि बातोंसे वह पूर्ण रीतिसे उसके वशीभूत हो रहा था । बुद्धि उसीमें तन्मय हो रही थी । इसीसे कुछ विचार न किया कि क्या एक लक्ष ब्राह्मणोंका नित्य प्रति निमंत्रण करना और भोजन कराना तथा उससे विप्र सुर सबका वश हो जाना संभव है ? कार्य्यके उचित होनेका विचार न रहा । जैसा हितोपदेशमें कहा है "अनुचितकार्य्यारंभ स्वजनविरोधो बलीयसा स्पर्द्धा । प्रमदाजनविश्वासो मृत्युद्वाराणि चत्वारि ॥"

२ मयंककार लिखते हैं कि "राजाने भ्रमवश राजनीतिको त्याग दिया क्योंकि कपटमुनिने कहा था कि तुम्हारे पुरोहितको हम हर लावेंगे, यहाँ एक वर्ष रक्खेंगे । यदि राजा पुरोहितके हरे जानेपर यह जाँच करते कि उसकी कुटी कहाँ है, किस प्रकार पुरोहितको रक्खा है तो सब भेद अनायास खुल जाता परन्तु दु ख होनहार था, अत राजनीति छूट गई ।"

श्रीबैजनाथजी—"राजाको भ्रम क्यों हुआ ? क्योंकि प्रथम राजाकी मति परमेश्वरके पदमें लीन रही, उनकी कृपासे धर्म पूर्ण रहा, प्रताप उदित रहा, चैतन्यता बनी रही । जब कपटी राजाके पदमें मति लीन हुई तब मति मंद हो गई । किस भाँति सो सुनिए—पहले हरिके आश्रित रहनेसे धर्म पूर्ण रहा इससे प्रथम दिन सत्ययुग सम बीता । जब कपटमें मन लगा, कुछ मतिमंद हुई, तब धर्मके एक पद 'सत्य' का नाश हुआ इससे दूसरा दिन त्रेतासम बीता । कपटके ध्यानसे आधी मति गई तब धर्मके दो पाद सत्य और

शौचका नाश हुआ इससे तीसरा दिन द्वापर सम बीता। चौथे दिन तीन अंश मति मंद हुई, इससे धर्मके तीन पाद सत्य, शौच और दयाका नाश होनेसे मूर्त्तिमान् राक्षसरूप कलियुग आया सो एक पद दान मात्र जो बच रहा था उसे भी उसने विघ्न लगाकर उखाड़ डाला। पूर्ण धर्मका नाश हुआ।"

वि० त्रि०—राजाको यह याद न रहा कि कालकेतुके सौ पुत्र और दस भाइयोंको मैंने मारा है, उसका पता किसी तरह नहीं लग सका, वह महामायावी है, बदला लेनेकी फिक्रमें लगा होगा। कहीं यह सब उसकी माया तो नहीं है। नहीं तो एक आदमी इतने आदमियोंके लिये रसोई कैसे बनावेगा?

उपरोहित जेवनार बनाई। छरस चारि बिधि जस श्रुति गाई ॥१॥
मायामय तेहि कीन्हि रसोई। बिंजन बहु गनि सकै न कोई ॥२॥
बिबिध मृगन्ह कर आमिष रांधा। तेहि महुँ बिप्र मांसु खल सांधा ॥३॥

शब्दार्थ—बिंजन (व्यंजन)=भोजनके पदार्थ। छरस=षट्रस, मधुर, तिक्त, आम्ल (आँवलेके स्वादका), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा एवं खट्टा) और कषाय (जिसके खानेसे जीभमें एक प्रकार की ऐंठन या संकोच जान पड़े। कसैला, बकठा)। यथा 'कटुक लवण चैव तिक्त मधुरमेव च। अम्ल चैव कषाय च षड्विधाश्च रसास्मृता।' 'चारि बिधि'—'भक्ष्यं भोज्यं तथाचोष्यं लेह्यं चैव चतुर्विधम्।'—दोहा ६६।४ देखिए। बिंजन (व्यंजन)=पके हुए भोजनके पदार्थ। (यही अर्थ इसका साधारण बोलचालमें होता है। अन्यथा तरकारी, साग आदि जो दाल, भात, रोटी आदिके साथ खाए जाते हैं उनको व्यंजन कहते हैं)। आमिष=मांस। राँधना=पकाना। (सं० रंधन शब्दसे बना है)। साँधना=मिलाना, मिश्रित करना, फेंट देना।

अर्थ—पुरोहितने षट्रस और चार प्रकारकी रसोई बनाई जैसी श्रुतियों (सूपशास्त्र, पाकशास्त्र) में वर्णित है ॥ १ ॥ उसने मायामय रसोई बनाई। भोजनके पदार्थ बहुत थे, कोई गिन नहीं सकता था ॥ २ ॥ उसने अनेक पशुओंका मांस पकाया और उसमें उस दुष्टने ब्राह्मणोंका मांस मिला दिया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'उपरोहित जेवनार बनाई…' इति। कपटी मुनिने कहा था कि "जौं नरेस मैं करौं रसोई।" और—"मैं तुम्हरे संकलप लगि दिनहि करबि जेवनार।" इसीसे पुरोहितने जेवनार बनाई। दूसरा कोई रहता तो उसकी राक्षसी माया देखकर समझ जाता कि यह मनुष्य नहीं है, इसीसे उसने वहाँ किसी दूसरेको न रक्खा और ऊपरसे यह दिखाया कि हम सिद्ध हैं, हमारा बनाया भोजन खानेसे ब्राह्मण वशमें हो जायँगे, दूसरेके हाथके बनाए हुएसे नहीं। 'माया मय तेहि कीन्हि रसोई' यह स्पष्ट ही है जैसा आगे कहा है 'तहँ न असन नहिं बिप्र सुआरा। १७४.७।' ये सब व्यंजन राक्षसकी मायासे बने थे, इसीसे कालकेतुके अन्तर्धान हो जानेपर सब व्यंजन भी अन्तर्धान होगए, न वह रहा न व्यंजन रहे। पुनः 'मायामय रसोई की' यह कहकर जनाया कि उसके बनानेमें किंचित् विलंब न लगा, बिना परिश्रम एकलक्ष ब्राह्मणोंका भोजन बन गया। [पुनः, 'मायामय' यह कि बनाया तो थोड़ाही पर माया यह रची कि देखनेवाले को अगणित देख पड़े, इत्यादि।] (ग) 'बिंजन बहु' से जनाया कि रसोई मायामय है, किंतु पदार्थ सब सच्चे हैं, देखने मात्रके ही हों ऐसा नहीं है। 'गनि सकै न कोई' यह मायाका चमत्कार है।

२ 'बिबिध मृगन्ह' ' इति। (क) विविध मृग अर्थात् हिरन, रोझा, साम्भर, खरगोश, बारह-सिंघा, सेही आदि अनेक पशु। इनके मांसमें ब्राह्मणका मांस मिलानेके लिये किसी ब्राह्मणका वध किया इसीसे उसको खल कहा। यथा 'कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं। ५।३।' (ख) रसोईमें मांस भोजन बना, इससे पाया गया कि तब ब्राह्मण मांस खाते रहे। पुरोहितने सब रसोई बनाई, मांस बनाया तब उसे 'खल' न कहा क्योंकि रसोईमें कोई अयोग्य बात न थी। ब्राह्मणका मांस मिलाया,

यह अयोग्य काम किया, इसीसे 'खल' कहा। [ब्राह्मण अनेक मत-मतान्तरके होंगे। कोई शाक्तभी होंगे। उनके लिये मास पकाया गया। वैष्णव मांस नहीं खाते। अथवा, विप्रोंको कुपित करने के लिये ही ऐसा किया गया, मांस कोई भी ब्राह्मण न खाता था। यह भी स्मरण रहे कि जो निमंत्रित किये गए वे सब 'वर विप्र' थे। 'वर' शब्द जनाता है कि वे सब सात्विक ब्राह्मण थे। वि० त्रि० लिखते हैं कि वस्तुत यहाँ कोई रसोई न थी, केवल वहाँ अनेक जन्तुओंके मांस थे और उनमे ब्राह्मणका भी मांस मिला था।]

भोजन कहुँ सब विप्र बोलाए। पद पखारि सादर बैठाए ॥ ४ ॥
परुसन जबहिं लाग महिपाला। भै अकास बानी तेहि काला ॥ ५ ॥
विप्र बृंद उठि उठि गृह जाहू। है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू ॥ ६ ॥
भएउ रसोईं भूसुर मासू। सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ॥ ७ ॥

अर्थ—सब ब्राह्मणोंको भोजनके लिये बुलाया। चरण धोकर सबको आदर पूर्वक बैठाया। ४। ज्यों ही राजा परसने लगा त्योंही उसी समय आकाशवाणी हुई। ५। हे ब्राह्मणवृन्द ! उठ-उठकर अपने अपने) घरको जाओ। अन्न मत खाओ, इसमे बड़ी हानि है। ६। रसोई ब्राह्मण मांसकी हुई है। सब ब्राह्मण विश्वास मानकर उठ खड़े हुए। ७।

टिप्पणी—१ जैसे निमंत्रण तुरत दिया गया था वैसे ही भोजनके लिये भी तुरत बुलाया। 'सादर' देहली दीपक है। सादर चरण पखारे अर्थात् स्वर्णपात्र आदिमें चरण रखकर धोए। और सादर बैठाया अर्थात् सबको आसन दिया। यथा 'सादर सबके पाँव पखारे। जथा जोग पीढ़न बैठारे।' ☞ यहाँ पचोपचार पूजन कहते हैं। 'भोजन कहँ सब विप्र बोलाए' यह आवाहन है, 'पद पखारि' पाद्य है; 'सादर बैठारे' यह आसन है, 'परसन जबहिं लाग' यह नैवेद्य है, पॉचवा तांबूल है। यहाँ नैवेद्य और ताम्बूल दोनों न हो पाए।

२ 'परुसन जबहिं लाग ''' इति। (क) कपटी मुनिने राजासे परसनेको कहा था, यथा 'तुम्ह परसहु मोहि जान न कोऊ', इसीसे राजा परसने लगा। परसते ही आकाशवाणी हुई जिसमें ब्राह्मण उसे भगवान्‌को अर्पण न करें, 'बलिवैश्वदेव' न करें। [(ख) राजाका परोसना यही है कि स्वयं महाराजने भी हाथ लगा दिया। सारा समाज परोस रहा था। भाव यह कि परोसनेका काम पूरा होनेपर राजाने स्वयं परोसनेमें हाथ लगाया, उसी समय आकाशवाणी हुई। परिवारके सहित राजा परोसता था, यह बात इतनेसे ही सिद्ध है कि ब्राह्मणोंने परिवार सहित राजाको शाप दिया। राजाके स्वय परोसनेसे मालूम हुआ कि बड़ी श्रद्धा है, नहीं तो राजाके परोसनेका नियम नहीं। हिमांचल और श्रीजनकजीने स्वय नहीं परोसा। रसोइयोंने परोसा था। पर यहाँ रसोईदारका किसीको पता नहीं। अत अब राजा पूरी तरह रसोईका जिम्मेदार हो गया। अब निगमन यही होगा कि राजाको ऐसी ही रसोई इष्ट थी, इसीसे न जाने किस-किसको बुलाकर रसोई बनवाई, पुराने रसोइए भी सम्मिलित नहीं किये गए। वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ 'भै अकास बानी तेहि काला'—यह आकाशवाणी ईश्वरकी है जैसा आगे स्पष्ट है—'ईश्वर राखा धरम हमारा।' अथवा, शाप दिलानेके लिये कालकेतु ही आकाशसे बोला। 'तेहि काला' से 'तेहि कालकेतु की' यह अर्थ 'नामैकदेशो नाममात्रस्यैव ग्रहणम्' इस न्यायसे ले सकते हैं। कालकेतुने इस भावसे ब्राह्मणोंका अपराध न किया कि कहीं हमे भी शाप न दें और इसी अभिप्रायसे उसने ब्राह्मणोंका हित किया कि आकाशवाणी बोला। (टि० ४ भी देखिए)।

३ 'विप्र बृंद उठि-उठि गृह जाहू।'''इति। (क) 'उठि-उठि' कहनेसे पाया गया कि ब्राह्मणोंके बहुतसे वृन्द थे, एक बार ही 'उठि' कहते तो एक ही वृन्द पाया जाता। (ख) 'विप्रवृन्द' कहा क्योंकि सब ब्राह्मण अपने अपने कुटुम्ब समेत पृथक्-पृथक् हैं। 'घर जाओ' यह कहनेकी रीति है, यथा—'तजहु आस निज

उसमें उसकी सम्मति पाई गई—'मौन सम्मति लक्षणम्' 'खामोशी अल रजा' प्रसिद्ध है। यदि अपराध नहीं किया था तो चुप क्यों रहता? दूसरे विप्रसमाज भरका निमंत्रण था, इतनोंका धर्म नष्ट होता था इसीसे तुरत भारी कोप हुआ। बात ऐसी गठ गई कि आकाशवाणीपर शंकाको स्थान ही नहीं)। (ख) 'नहिं कछु कीन्ह विचार' इति। इसके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि 'तूने कुछ विचार न किया' कि हम ब्राह्मणोंको मांस खिलाकर उनका धर्म नष्ट करते हैं इस अधर्मसे हमारा स्वयं ही नाश हो जायगा। दूसरे यह कि ब्राह्मणोंने कुछ विचार न किया। उन्हें विचार करना चाहिए था कि राजा तो बड़ा धर्मात्मा है, वह ब्राह्मणोंको विप्रमांस कैसे खिलायेगा, इस बातका निश्चय करके तब शाप देना था। इसी बातपर दूसरी आकाशवाणी हुई। यथा 'विप्रहु श्राप बिचारि न दीन्हा। १७४।५।' कुछ विचार न किया (क्योंकि ब्रह्म गिरा असत्य नहीं होती, इसे ब्रह्मवाणी ही समझे, इसीसे एकदम उठे और एकदम क्रोध आ गया) क्रोधमें विचार नहीं रह जाता। (ग) 'जाइ' अर्थात् मरकर। 'निसाचर होहु'—भाव कि राक्षस विप्रमांस खाते हैं, यथा 'खल मनुजाद द्विजामिष भोगी'। तू जो हमें खिलाना चाहता था वह तू ही जाकर खा। 'मूढ़'—अपना नाश अपने हाथ किया यही मूढ़ता है। 'सहित परिवार' निशाचर होनेका शाप दिया क्योंकि ब्राह्मणोंको परिवारसहित विप्रमांस खिलाना चाहा था, अब परिवारसहित जाकर जो हमें खिलाना चाहता था वह खाए। (शापमें भी विचार न किया कि परिवारसहित राक्षस होंगे तो विप्रोंके ही वंशका तो नाश करेंगे)।

वि० त्रि०—'मूढ़' क्योंकि इसमें तेरा कोई लाभ नहीं और हमारा धर्म चला जाता। सहित परिवार' क्योंकि परिवार सहित तू *पादप्रक्षालनादि ब्राह्मण भोजनके कृत्यमें लगा था*, तूने ही परिवारसहित रसोई इसीलिये बनाई और आप ही परोसने चला, हमलोगोंके सर्वनाशके लिये जानबूझकर तूने सब किया, अतः सहित परिवार निशाचर हो जा।

> छत्रबधु तैं बिप्र बोलाई। घालै लिए सहित समुदाई ॥१॥
> ईस्वर राखा धरम हमारा। जैहसि तैं समेत परिवारा ॥२॥
> संबत मध्य नास तव होऊ। जल-दाता न रहिहि कुल कोऊ ॥३॥

शब्दार्थ—छत्रबधु=क्षत्रियोंमें महा अधम, क्षत्रियाधम। 'बधु' शब्द क्षत्रिय और विप्र वा ब्राह्मणके साथ लगनेपर 'अधम' का वाचक होता है।

अर्थ—रे क्षत्रियाधम! तूने ब्राह्मणोंको समुदाय (कुल, परिवार, समाज) सहित (उनका धर्म) नष्ट करनेके लिये बुलाया ॥१॥ ईश्वरने हमारे धर्मकी रक्षा की और तू परिवार सहित नाशको प्राप्त होगा ॥२॥ एक वर्षके भीतर तेरा नाश होगा। तेरे कुलमें कोई पानी देनेवाला न रह जायगा ॥३॥

टिप्पणी—१ (क) 'घालै लिए' अर्थात् धर्मका नाश करनेके लिये जैसा 'ईश्वर राखा धरम हमारा' से स्पष्ट है। ब्राह्मणके धर्मका नाश करनेवाला क्षत्रिय 'क्षत्रियाधम' है, तू हमको बुलाकर विश्वाससे धर्म नष्ट करना चाहता था अतः 'क्षत्रबधु' है। (ख) 'ईश्वर राखा ' इति। अर्थात् तूने तो अपनी ओरसे नाश करनेमें कुछ उठा न रक्खा था नाश ही कर चुका था किन्तु ईश्वर धर्मके रक्षक हैं, गो और ब्राह्मणके हितकर्ता हैं, इसीसे उन्होंने हमारे धर्मकी रक्षा की। पुनः भाव कि तूने हमारे धर्मका नाश करनेके लिए हमें बुलाया, हम तेरे विश्वासमें आये, हम कुछ जानते न थे, इसीसे भगवान्‌ने हमारी रक्षा की। (ग) 'जैहसि तैं समेत परिवारा'—भाव कि ईश्वर अधर्मियोंका नाश करते हैं, तू अधर्मी है, जानबूझकर हमारा धर्म नष्ट करनेको उद्यत हुआ, इसीसे तेरा नाश होगा, समाज तथा परिवारसहित हमें नष्ट करना चाहा (जिसमें कोई प्रायश्चित करनेवाला न रह जाय। वि० त्रि०), अतः परिवार सहित तेरा नाश होगा।

२ (क) 'संबत मध्य नास तव होऊ' इति। राजाने संवत् भरका संकल्प किया था, ऐसी ही कपटी

मुनिकी आज्ञा थी। यथा 'जाइ उपाय रचहु नृप एहू। संवत भरि संकलप करेहू। १६८।८।', इसीसे (भगवान्‌की प्रेरणासे) सवत्‌भरमें नाश होनेका शाप दिया गया। जो पिछले चरणमें कहा था कि 'जेहसि तैं समेत परिवारा' उसी 'जेहसि' को इन चरणोंमें स्पष्ट करते हैं। 'परिवारसमेत नाश जिसमें कोई जल भी देनेवाला न रहेगा' यही परिवार समेत जाना है। [(ख) 'जलदाता न रहिहि'—अर्थात् तुम्हारी सद्‌गतिका उपाय करनेवाला भी कोई न रह जायगा। अञ्जलिमें जल लेकर पितरोंके नामसे जल गिराना जल वा पानी देना कहलाता है। मरनेपर मृतकके नामसे जल दिया जाता है। इसीको तर्पण भी कहते हैं। इससे सद्‌गति होती है। 'जलदाता कोई न रहे' इससे नाती पनाती आदि तथा पोते परपोते आदि भी जो जल दे सकते हैं उनका भी नाश कह दिया। (ग) पूर्व जो कहा था 'बोले बिप्र सकोप', उस कोपका स्वरूप दिखाते हैं कि मारे क्रोधके तीन बार 'परिवार समेत' नाश होनेका शाप दिया। यथा 'जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार' (१), 'जेहसि तैं समेत परिवारा' (२), 'संवत मध्य नास तव होऊ। जलदाता न रहिहि कुल कोऊ।' (३)।

नृप सुनि श्राप बिकल अति त्रासा। भै बहोरि बर गिरा अकासा ॥४॥
बिप्रहु श्राप बिचारि न दीन्हा। नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा ॥५॥
चकित बिप्र सब सुनि नभबानी। भूप गएउ जहँ भोजन खानी ॥६॥

अर्थ—राजा शाप सुनकर अत्यन्त त्राससे अत्यन्त व्याकुल हुआ। (तब) फिर श्रेष्ठ आकाशवाणी हुई ॥ ४ ॥ ब्राह्मणो! तुमने भी सोचविचारकर शाप न दिया। राजाने कुछ भी अपराध नहीं किया ॥ ५ ॥ आकाशवाणी सुनकर सब ब्राह्मण भौचक्केसे रह गए। राजा (रसोईमें) गया जहाँ भोजन (के पदार्थों) की खानि थी ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि श्राप बिकल अति ' इति। विप्रशाप अत्यंत घोर होता है, यथा 'प्रभु महिदेव श्राप अति घोरा। १६६।८।', (वह अन्यथा नहीं हो सकता) 'किएँ अन्यथा होइ नहिं बिप्र श्राप अति घोर। १७४।', इसीसे 'अति त्रास' हुआ और अति त्रास होनेसे अति व्याकुल हुआ। 'अति' देहली दीपक है। अथवा, आकाशवाणी सुनकर विकल हुआ था, यथा 'भूप बिकल मति मोह भुलानी' और विप्र शाप सुनकर 'अति बिकल' हुआ। प्रथम आकाशवाणीसे अपराध साबित हुआ फिर उसका दंड मिला। राजा विप्रशापसे पहले ही डरता था, यथा 'एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महिदेव श्राप अति घोरा॥' और अब वह घोर शाप सुना अत अब अति त्रास हुआ। [विप्र शाप अति घोर है। भयंकरता यह है कि एक तो परिवारसहित नाश हो, वह भी अल्पकालमें और फिर यह कि राक्षस-योनि मिले, उसपर भी पानी देनेवाला कोई न रह जाय अर्थात् सद्‌गति हो सकनेका भी उपाय न रहे। यह अति भयंकरपन है। (प्र० सं०)]

(ग) 'बर गिरा अकासा' इति।—[पूर्व आकाशवाणीसे राजा अधर्मी ठहराये गए, राजाको जन्मभर इसकी ग्लानि रहेगी अतएव उसके संतोषके लिये और उसको लोकमें निरपराध प्रगट करनेके निमित्त देववाणी हुई, नहीं तो इस आकाशवाणीकी कोई आवश्यकता न थी] 'बर' शब्दसे सिद्ध हुआ कि पहलेवाली आकाशवाणी श्रेष्ठ न थी। वह कालकेतुकी थी, ब्रह्मवाणी न थी। वहाँ 'बर' शब्द नहीं है। ('बहोरि' अर्थात् शापसे अत्यन्त व्याकुल होने पर। अथवा, एक आकाशवाणी पूर्व हुई। दूसरी बार फिर हुई अत 'बहोरि' कहा)।❀

२ 'बिप्रहु श्राप ' इति। (क) ब्राह्मणोंने कुछ विचार न किया यह वक्ता पहले ही कह आए— 'नहिं कछु कीन्ह बिचार'। वही बात आकाशवाणी भी कह रही है। इससे जनाया कि बिना अपराधके

❀ यदि पूर्व भी देववाणी मानें तो यहां 'बरवाणी' का भाव यह होगा कि पहलीसे विप्रवृन्दने राजाकी भूल समझी और शाप दिया और इससे उनका सन्देह मिटेगा और वे शान्त होंगे।

राजाको शाप दिया। इससे भी सिद्ध है कि पहली आकाशवाणी कालकेतुकी है। यदि वह ईश्वरकी वाणी होती तो वह प्रथम ही यह बात कह देती कि राजाका इसमें दोष नहीं है। दो बार आकाशवाणी होनेका प्रयोजन ही न था। अपराध विचारकर शाप देना था ['विप्रहु' का भाव कि राजाने तो अनजानमें अनुचित किया था, पर तुम विप्र हो तुम्हें ध्यानकर देख लेना था कि यह काम किसका था और किसने आकाशवाणीमें दुष्टता पूर्वक भेद जनाया और किस हेतुसे ? (मा० त० वि०)] (ख) 'अपराध कछु कीन्हा'—भाव कि ऐसा शाप भारी अपराधमें देना चाहिए था और राजाने तो किंचित् भी अपराध नहीं किया। राजाकी शुद्धता प्रकट करनेके लिए 'घर गिरा' हुई, नहीं तो राजाके हृदयमें बड़ा संताप रहता कि हमारा निर्दोषपन न ब्राह्मण ही जान पाये न परमेश्वर ही, हमें अपराधी बनाकर दंड दिया। इस वाणीसे अब संतोष हुआ।

३ 'चकित विप्र सब ' इति। (क) 'चकित' क्योंकि एक ओर तो आकाशवाणी कहती है कि रसोईमें विप्र मांस हुआ है और फिर यह भी कहती है कि राजाका कुछ दोष नहीं है, यह कैसी बात है ? (ख) 'गयउ भूप जहँ ' इति। [विप्र भी चकित और राजा भी। यहाँ दिखाते हैं कि 'कपटी मुनि पद' में राजाकी बुद्धि कैसी तन्मय हो रही थी, दो बार आकाशवाणी हुई तब भी उसने ब्राह्मणोंसे यह कहानी न कही क्योंकि उसने मना कर दिया था, आकाशवाणी सुनि चकित हो रसोईमें गया कि गुरुसे मैं जाकर यह सब कहूँ, वे मेरी रक्षा सुर विप्र दोनोंसे करेंगे। राजा अति व्याकुल होनेके कारण अत्यन्त शोचमें डूब रहा था, यह आकाशवाणी सुनकर व्याकुलता कुछ दूर हुई, वह सावधान हुआ, अब उस शोच-सागरसे पार होनेको गुरुके पास गया, जब वे न मिले तब शोच 'अपार' देख पड़ा। शापके पार जानेका सामर्थ्य न देखा तब सब कथा कही।]

तहँ न असन नहि विप्र सुआरा। फिरेउ राउ मन सोच अपारा ॥७॥
सब प्रसंग महिसुरन्ह सुनाई। त्रसित परेउ अवनी अकुलाई ॥८॥
दोहा—भूपति भावी मिटै नहि जदपि न दूषन तोर।
किएँ अन्यथा होइ नहि बिप्र श्राप अति घोर ॥१७४॥

शब्दार्थ—किए = उपाय या यत्न करनेसे। अन्यथा = कुछका कुछ, व्यर्थ।

अर्थ—वहाँ न तो भोजनके पदार्थ ही थे और न ब्राह्मण रसोइया ही। राजा मनमें बेहद चिन्तित हो लौटा ॥७॥ सब वृत्तान्त ब्राह्मणोंको सुनाया और बड़ा ही भयभीत और व्याकुल होकर (ब्राह्मणोंके आगे) पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥८॥ (ब्राह्मण बोले-) राजन्! भावी नहीं मिट सकती, यद्यपि तुम्हारा दोष नहीं है। विप्रशाप अत्यन्त घोर (कठिन और भयंकर) होता है। किसी भी उपायसे वह व्यर्थ नहीं हो सकता ॥१७४॥

टिप्पणी—१ (क) 'तहँ न असन ' इति। भोजनके पदार्थ न देख पड़े क्योंकि रसोई 'मायामय' थी। व्यंजन तो अगणित बने थे पर उनमेंसे एक भी न देख पड़ा। परदेके भीतर देखा तो रसोइया विप्र भी नहीं था। तब 'अपार शोच' हुआ। [मुख्य अपराधी अपने अपराधके प्रमाण सहित अन्तर्धान हो गया। अब राजा सोचता है कि जिसके ऊपर इतनी आस्था थी वह घोर बैरी निकला। और था वह कौन जिसने इतनी बड़ी माया करके मेरा नाश किया ? मैं अत्यन्त लोभसे मारा गया ! अब मेरा और मेरे कुटुम्बका क्या होगा ? इत्यादि सोच उठा। (वि० त्रि०)] अपार शोचका भाव कि राजाको पूर्ण भरोसा और विश्वास था कि मुनि भारी महात्मा हैं, हमारा अवश्य भला करेंगे, इसीसे शोचसे पार होनेके लिये मुनिके पास गया। उनको न देखा (*जिसका भरोसा था कि पार कर देगा वह न मिला*) अतः शोच अपार हुआ। (ख) 'फिरेउ' अर्थात् प्रसंग सुनानेके लिये। अभी सब विप्र खड़े हैं।

२—"सब प्रसंग महिसुरन्ह " इति। रसोईमें जब न पदार्थ देखे न मुनिको तब राजा समझ गया

कि वह मुनि न था, कोई शत्रु था, हमारे साथ बड़ा भारी छल किया, हमको धोखा हुआ, तब सब प्रसग ब्राह्मणोंको सुनाया। (सब प्रसग अर्थात् शिकारमें एक शूकरके पीछे घोर वनमें जाना, वहाँ एक तापसका मिलना, उसको महामुनि जान उसके छलमें आना, सोते ही महलमें पहुँच जानेसे उसमें विश्वास होना इत्यादि सब बातें। प्रसगके अतमें विप्रवृंदको आदरपूर्वक स्वय ही बैठाना और परसना आरभ करना तक कहा)। प्रसगके अतमें ब्राह्मणोंके शापकी बात आई, उसे समझकर त्रस्त हो गया, उसे कहते-कहते भयसे अत्यंत व्याकुल हो उनके आगे चरणोंपर गिर पड़ा।

३ 'भूपति भावी मिटै नहिं ' इति। (क) जब राजा ब्राह्मणोंके आगे सब प्रसग कह चुका, तब ब्राह्मणोंने समझाया। (दूसरी नभवाणी और सारा प्रसग श्रवण करनेसे राजा निरपराध सिद्ध हुआ। अतएव वे राजाको समझाने लगे)। (ख) भावी नहीं मिटती अर्थात् यह सब भावीने कराया, भावी तुमको वहाँ ले गई, भावीवश तुमने यह काम किया। ☞प्रसगके आदि, मध्य और अत तीनोंमें भावीकी प्रमुखता (प्रधानता) कही गई है। यथा 'तुलसी जसि भवतव्यता । १५६।' आदिमें, 'भावी बस न जान कछु राऊ। १७०।८।' मध्यमें और 'भावी बस न आव मुख बानी। १७३।८।' अतमें। इसीसे ब्राह्मण भावीकी प्रबलता कहकर समझा रहे हैं कि 'भावी मिटै नहिं'। (ग) 'जदपि न दूषन तोर' कहनेका भाव कि दोष न होनेसे (चाहिए था कि) हम शाप अन्यथा कर देते किन्तु हमारे करनेसे शाप व्यर्थ हो नहीं सकता। [☞स्मरण रहे कि उस समय ब्राह्मणोंका यह प्रभाव था। वे असत्यवादी न थे। इसीसे तो जो वचन मुखसे निकल गया वह निकल गया, वह व्यर्थ न जाता था। आज कलकी गिरी दशा शोचनीय है।]

नोट—१ 'बिप्र श्राप अति घोर' का भाव कि एक भी ब्राह्मणका शाप घोर होता है और यहाँ तो लाखों विप्रवरोंका शाप एक साथ हुआ, अत अति घोर है।

२—भानुप्रताप निर्वासिक धर्मात्मा था। उसे यह विघ्न और घोर शाप? इसमें हरिइच्छा ही प्रधान है। जो कहो कि हरि तो धर्मके रक्षक हैं, उन्होंने कैसे विघ्न लगाया? तो उत्तर यह है कि हरिको त्यागकर राजाने कपटमें मन लगाया तब हरि रक्षक कहाँ रहे? पहले निष्काम कर्म करता था अब वह कामनावश हो गया। सौ कल्पतक राज्य तथा अमर होनेकी दुर्वासना उसमें उत्पन्न हुई, इससे वह बधनमें पड़ा। (वै०)।

पुन, कुछ लोगोंका कथन है कि पूर्व कर्मोंका फल और साधु वेषकी मर्य्यादा रखनेके लिये निशाचर होनेका शाप हुआ। उस योनिमें वह 'मण्डलीक मनि' होकर लगभग ७२ चौकड़ी राज्य भोग करेगा। नर शरीरमें इतने दिन राज्यका नियम नहीं है।

ब्राह्मणों द्वारा इन्हें निशाचर होनेका शाप हुआ क्योंकि उनको विप्र मास भोजन करनेको दिया था, निशाचर विप्रमास भक्षण करते हैं। उनका तात्पर्य्य यह था कि तू ऐसी योनिमें जा जहाँ यह तुझको खानेको मिले। यहाँ यह शका होती है कि इस शापसे तो ब्राह्मणोंहीकी हानि है? सच है। इसीसे तो गोस्वामीजीके विलक्षण शब्द 'सकोप' इत्यादि यहाँ लेखनीसे निकले। क्रोधमें विचार कहाँ? दूसरे भावी है।

प० प० प्र०—मनु और प्रतापभानु। दोनों ही चक्रवर्ती सम्राट् थे, दोनों ही परम धर्मशील, राजनीति निपुण और प्रजावत्सल थे। पर मनुजीको वैराग्य और ज्ञान प्राप्त होनेपर भी समाधान नहीं हुआ, उनके हृदयमें भक्तिकी लालसा उत्पन्न हो गई। प्रतापभानुमें न तो वैराग्य ही था न ज्ञान और न भक्तिकी इच्छा। धर्मका परिणाम 'विषय-विराग' है, वैराग्य प्राप्त होनेके पूर्व ही उसका घोर विनाश हुआ। अगणित निष्काम ईश्वरार्पित यज्ञादि कर्मोंका फल उसको रावण देहमें मिला—'सुनासीर सत सरिस सो सतत करइ बिलास'। शत अश्वमेध यज्ञोंका फल इन्द्रके ऐश्वर्यकी प्राप्ति है। रावणको शत इन्द्रका ऐश्वर्य मिला। 'जरा मरन रहित तनु' की वासना प्रतापभानुतनमें थी, अत, उस वासना-बलने रावणदेहमें घोर तप करवाया। मरणरहित होनेकी इच्छासे ही रावणने वर माँगा। इस तरह पूर्वकर्म और पूर्व वासनासे तथा विप्रशापसे

उसको राक्षसदेह, अपार ऐश्वर्य और अपार सत्ता आदिकी प्राप्ति हुई। तपश्चर्याकी न्यूनता मरण रहित होनेकी वासना और कल्पशत राज्यकी कामनाने पूरी कर दी। देखिए, एक बारकी कुसंगतिसे दुर्वासना पैदा हुई, जिसका परिणाम यह हुआ। अब विचार कीजिये कि हम लोग तो रात दिन 'बिषय मनोरथ दुर्गम नाना' करते ही रहते हैं, हरिभजन करनेकी कभी इच्छा ही नहीं होती, तब जन्म मरण महादुःखसे कब और कैसे छुटकारा मिलेगा ?

नोट—३ "पूर्व तीन कल्पोंकी कथामें जय-विजय, हरगण प्रभृतिका, शाप होनेपर शापानुग्रहके लिए प्रार्थना करना और शापोद्धार होना पाया जाता है। पर भानुप्रताप शापानुग्रहके लिए प्रार्थी न हुआ और न ब्राह्मणोंने ही अपनी ओरसे अनुग्रह की। कारण यह कि यह परात्पर ब्रह्मके आविर्भावकी कथा है, ब्राह्मणोंको भी इसकी खबर नहीं है, वे इतना कहकर ही रह गये कि भावी अमिट है।" (श्रीजानकीशरणजी)। वि० त्रि० का मत है कि "यहाँ भी शापानुग्रहकी बात समझ लेना चाहिए, यथा 'बैभव बिपुल तेज बल होऊ' 'समर मरन हरि हाथ तुम्हारा। होइहहु मुकुत न पुनि संसारा।'", पर आगेके 'अस कहि सब महिदेव सिधाए।' से यह असंगत जान पड़ता है।

भानुप्रताप रावणहीका चरित्र मुख्यतः इस ग्रन्थमें है। इन्हींके लिए श्रीसाकेतविहारी श्रीरामका अवतार है। (वै०)। पूर्व दोहा १५३ (५-६) में लिखा जा चुका है कि यह और इसका भाई श्रीरामजीके अत्यन्त प्रिय प्रतापी और बलिवर्य नामक सखा थे। प्रभुने इनके साथ रणक्रीडा करनेकी इच्छासे इनको प्रकृतिमण्डलमें भेजा था। यह ब्राह्मणोंको क्या मालूम ? 'सो जानइ जेहि देहु जनाई' तब भला बिना उनके जनाए वे कब जान सकनेको समर्थ हो सकते हैं ? अतः 'भावी मिटै नहिं' यही कहकर रह गए। 'हरि इच्छा भावी बलवाना। १।५६।६-८।' देखिए।

अस कहि सब महिदेव सिधाए। समाचार पुरलोगन्ह पाए ॥१॥
सोचहिं दूषन दैवहि देहीं। बिरचत* हंस काग किय जेहीं ॥२॥
उपरोहितहि भवन पहुँचाई। असुर तापसहि खबरि जनाई ॥३॥

अर्थ—ऐसा कहकर सब ब्राह्मण चलते हुए। पुरवासियोंने समाचार पाया ॥ १ ॥ (तो) वे शोच करते और विधाताको दोष लगाने लगे, जिसने हंस बनाते हुए कौवा बना दिया ॥ २ ॥ पुरोहितको घर पहुँचाकर राक्षस (कालकेतु) ने तापसको खबर दी ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'महिदेव सिधाए'—(यहाँ 'महिदेव' शब्दसे ब्राह्मणोंका महत्व सूचित किया कि ये पृथ्वीपरके देवता हैं, देवताओंकी भाँति आवाहनसे आये थे और अपवित्रता देखकर चले जा रहे हैं। वि० त्रि०)। आकाशवाणीकी आज्ञा थी कि 'उठि उठि गृह जाहू', अतः सब ब्राह्मण घर गए (उठकर तो पहले ही खड़े हो गये थे, शाप देने लगे फिर ब्रह्मवाणीसे चकित होकर प्रसंग सुनने लगे थे, अब चल दिये)। (ख) 'समाचार पुरवासिन्ह पाए'—ब्राह्मणोंके चल देनेपर उनको समाचार मिला, इससे पाया गया कि राजाने सब प्रसंग जो ब्राह्मणोंसे कहा था वह (वे रास्ता चलते हुए परस्पर कहते सुनते जाते थे एवं जो पूछता था उससे भी जहाँ तहाँ कहते गए, इस प्रकार) सब समाचार पुरवासियोंको मिला। ये ब्राह्मण भी पुरके ही थे। (ग) 'सोचहिं' अर्थात् राजाके लिये शोच करते हैं (कि ऐसा धर्मात्मा राजा न मिलेगा) और दैवको दोष देते हैं, ब्राह्मणोंको दोष क्यों नहीं देते कि जिन्होंने बिना विचारे शाप दे दिया ? कारण कि ब्राह्मणको दोष लगाने, उनकी निन्दा करनेका फल भारी दण्ड है, यह वे जानते हैं, यथा 'द्विज निंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमै बायस सरीर धरि। ७।१२१।' (घ) 'बिरचत हंस काग किय'—अर्थात्

* बिचरत—१७०४

भानुप्रतापने ऐसे ऐसे सत्कर्म किये थे कि देवता होता सो न होकर राक्षस हुआ। [हंसको क्षीर-नीर विय रणका विवेक होता है, यथा 'क्षीर नीर बिबरन गति हंसी। २।३१४।' इसी तरह राजा अधर्मको त्यागकर धर्ममें रत था, निष्काम धर्म किया करता था, परम विवेकी था, यथा 'भूप बिबेकी परम सुजाना। १५६।१।' यह प्रारंभमें ही कहा है। उसी सम्बन्धसे कहा कि वह 'हंस' बनाया जा रहा था सो काग बना दिया गया। कौआ काना, कठोरभाषी, मलिनभक्षी, छली इत्यादि वैसे ही राक्षस। राक्षस होनेका शाप दिया वही कौआ बनाना है। इसी तरह राज्य सुनाकर श्रीरामजीको वनवास देनेपर विधाताको दोष लगाया गया है, यथा 'एक बिधातहि दूषन देहीं। सुधा देखाइ दीन्ह बिषु जेहीं। २।४६।१।', "लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधि गति बाम सदा सब काहू। २।१५।२।" पुनः भाव कि 'बिधि गति बडि बिपरीत बिचित्रा।' उसीका दोष है जो चाहे कर डालता है। यहाँ 'ललित अलंकार' है।]

वि० त्रि०—राजासे इस जन्ममें कोई अनर्थ भी नहीं हुआ जिसका फल यह शाप कहा जा सके, अतः दैवको दोष देते हैं कि उन्होंने नियम भंग किया। जन्मसे ही काग या हंस बनानेका विधान है। 'द्विजद्रोही बहु नरक भोग करि। जग जन्मै बायस सरीर धरि।' यहाँ तो राजा जन्मसे ही हंस था और हंसकी भाँति आचरण करता था, परम धर्मात्मा था, इसे ब्राह्मणद्रोह कहाँसे उत्पन्न हो गया जो यह ब्राह्मणोंको वश करने चला?

टिप्पणी—२ 'उपरोहितहि भवन' इति। इससे पाया जाता है कि कालकेतुको ब्राह्मणोंका भय था कि राजाकी तरह हमको भी अपना द्रोही समझकर शाप न दे दें, इसीसे उसने भवन तुरत पुरोहितको उसके घर पहुँचा दिया जिसमें पुरोहितको जब वे घरमें पावेंगे तो शाप न देंगे। [अथवा, अब अपना काम हो गया, अतः पहुँचा दिया। (रा० प्र०)। यह डर था कि पुरोहितकी खोजमें कहीं राजाके आदमी कपटी मुनिके आश्रमतक न पहुँच जायँ (वि० त्रि०)] राजाने सब प्रसंग कहते हुए पुरोहितके हरण करनेकी बात भी कही तब ब्राह्मण कुपित न हुए क्योंकि तापसने यह भी तो कहा था कि मैं उसे अपने समान बना कर अपने आसनमें रक्खूँगा, पुरोहितको उसने क्लेश नहीं दिया तब ब्राह्मण क्यों कुपित होते? उसपर भी उसको शीघ्र ही घरमें देखा (इससे तापसको शाप कैसे देते? एक बार तो अनर्थ कर ही चुके थे फिर कहीं दूसरा अनर्थ न हो जाय। आकाशवाणीने तो अपराधीका नाम बताया नहीं।) (ख) 'असुर तापसहि…' अर्थात् स्वयं जाकर सब समाचार कहा। क्योंकि यही क़रार था कि 'कुल समेत रिपुमूल बहाई। चौथे दिवस मिलब मैं आई।'

> तेहि खल जहँ तहँ पत्र पठाए। सजि सजि सेन भूप सब धाए ॥४॥
> घेरेन्हि नगर निसान बजाई। बिबिध भाँति नित होइ लराई ॥५॥
> जूझे सकल सुभट करि करनी। बंधु समेत परेउ नृप धरनी ॥६॥

अर्थ—उस दुष्टने जहाँ-तहाँ पत्र भेजे। सब राजा सेना सजा सजाकर चढ़ आए॥ ४॥ डंका बजाकर उन्होंने नगरको घेर लिया। नित्य ही बहुत प्रकारसे लडाई होने लगी॥ ५॥ सब योद्धा शूरवीरोंकी करनी करके लड मरे। राजा भाई समेत (संग्राम) भूमिमें गिरा॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'तेहि खल' अर्थात् जिसने पुरोहितको उसके घर पहुँचाया और तपस्वीको खबर दी उसी खलने। कालकेतुको पूर्व खल कह आए हैं, यथा 'तेहि खल पाछिल बयरु सँभारा। १७०।७।' यहाँ भी 'खल' उसीको कहा। (निकटवर्ती तापस शब्दके सम्बन्धसे 'तेहि' तापसके लिये भी हो सकता है। तापसने यह काम खलताका किया अतः उसे 'खल' कहा। उसने पत्र लिख-लिख कालकेतु द्वारा सर्वत्र पहुँचाए। 'देखि न सकहिं पराइ बिभूती।', 'पर हित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद

बसेरे', इत्यादि 'खल' के लक्षण हैं)। (ख) 'जहँ तहँ' अर्थात् जिन-जिनको भानुप्रतापने जीता और राज्य छीन लिया। (जो आकर भानुप्रतापसे नहीं मिले थे उनके पास)। यथा 'जीते सकल भूप बरिआई। १५४।६।' (जिनको दंड लेकर छोड़ दिया था पर जिनको हारकी ग्लानि थी वे भी इसमें आ सकते हैं। जिनको वह जानता होगा कि भानुप्रतापसे भीतर-भीतर जलते हैं उन्हींको पत्र भेजे)। (ग) 'पत्र पठाए' क्योंकि मुखाग्र कहनेसे विश्वास न होता। (घ) 'भूप सब धाए' इस कथनसे सूचित हुआ कि सब राजा बड़े प्रसन्न हुए, वे ऐसा चाहते ही थे (कि भानुप्रतापको किसी तरह जीतें)। ['सजि सजि सेन' क्योंकि भानुप्रताप बड़ा बली था इससे पूरी सेना लेकर आए। जीत तो सकते न थे पर शापका बल पाकर जीतनेका विश्वास है। इसीसे प्रसन्न हुए]

२ 'घेरेन्हि नगर ' इति। (क) नगरको घेरनेसे पाया गया कि किलेसे लड़ाई होने लगी। [घेरनेसे यह भी होता है कि भीतर अन्न नहीं पहुँच सकेगा। वर्ष भरमें तो नाश होना है ही, तब तक घेरे रहेंगे, इस तरह सुगमतासे अपनी जय हो जायगी] (ख) 'निसान बजाई'। जैसे भानुप्रतापने निशान बजाकर चढ़ाई की और सबको जीता था, वैसे ही इन सब राजाओंने डंका बजाकर जीतनेके लिये भानुप्रताप-पर चढ़ाई की। (ग) 'बिबिध भाँति'—अर्थात् किलेसे, किलेके बाहरसे, तोपसे, तुपकसे, तलवार, बर्छी, धनुषबाण, गदा, कृपाण, इत्यादि भाँतिसे। अथवा, चक्रव्यूह इत्यादि अनेक व्यूह रचना द्वारा, और भी जो भाँति हैं वे भी इसमें आ गईं। (घ) 'नित होइ' से जनाया कि बहुत दिन लड़ाई हुई (सम्भवतः लगभग सवतभर क्योंकि सवतमध्य नाशका शाप था), क्योंकि किला भारी था जल्दी न टूट सका (और भानुप्रतापकी सेना भी साधारण न थी)।

३ (क) 'जूझे सकल सुभट करि करनी' इति। सुभटोंमें पुरुषार्थ था; इसीसे उनका करनी करके जूझना लिखा। राजामें शापके कारण पुरुषार्थ न रह गया, इसीसे उसका पुरुषार्थ करके जूझना नहीं लिखते। यदि प्रथमवाला पुरुषार्थ रहता तो सब राजा न जीत पाते। उसके प्रथमपुरुषार्थसे तो वे सब हार चुके थे। यथा 'सप्त दीप भुज बल बस कीन्हे। ''' ['करि करनी' अर्थात् रणभूमिमें अपनी वीरता दिखाकर सम्मुख संग्राम करते हुए। 'करि करनी' को देहली दीपकन्यायसे दोनों ओर लगा सकते हैं। तब भाव यह होगा कि दोनों भाई रणमें अपनी वीरतासे लड़े पीठ न दिखाई, पर शापवश उसका पुरुषार्थ कारगर न होता था, उसका नाश होना ही था। (प्र० सं०)। 'बंधु समेत' अर्थात् अरिमर्दन भी साथ ही गिरा जो 'भुजबल अतुल अचल संग्रामा' था, वह भी मारा गया] (ख) सुभटोंका मरना कहकर तब दोनों भाइयोंको कहा। इससे जनाया कि जब सेना न रह गई तब दोनों भाई स्वयं लड़े।

सत्यकेतु-कुल कोउ नहिं बाँचा। बिप्रश्राप किमि होइ असाँचा ॥७॥
रिपु जिति सब नृप नगर बसाई। निज पुर गवने जय जसु पाई ॥८॥
दोहा—भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम।
धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम ॥१७५॥

शब्दार्थ—बाँचा=बचाया, यथा 'बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा। अब यहु मरनहार भा साँचा। २७५।४।' बचा। असाचा=असत्य। बाम-बायाँ, उल्टा, प्रतिकूल। मेरु-पर्वत।=सुमेरु। दाम=रस्सी, माला। जनक=पिता।

अर्थ—सत्यकेतुके कुलमें (राजा लोगोंने) किसीको न बचा रक्खा (वा, कोई न बचा)। ब्राह्मणोंका शाप क्योंकर असत्य हो सकता है ? ॥७॥ सब राजा शत्रुको जीतकर नगरको बसाकर जय और यश पाकर अपने-अपने नगरको गए ॥८॥ श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं) भरद्वाज ! सुनो। जिसका जब विधाता

वाम होते हैं तब उसको धूलि मेरुके समान, पिता यमराजके समान और रस्सी वा माला सर्पके समान हो जाती है ॥ १७५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सत्यकेतु कुल कोउ ' इति । सुभटोंका और भाईसहित राजाका जूझना कहा, कुलका नाश न कहा था और शाप है कुलके नाशका भी । अत कहा कि 'सत्यकेतु कुल कोउ नहिं बाचा' अर्थात् राजा लोगोंने अपने शत्रुके कुलमें किसीको न बचा रक्खा, सबका वध किया । क्योंकि यह राजनीति है कि शत्रु कुलको न रहने दे । यथा 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ ।' (ख) कुलका कोई व्यक्ति किसी प्रकारसे न बचा, इसका कारण बताते हैं कि 'विप्र श्राप किमि ' । अर्थात् ब्राह्मणोंके शापसे ऐसा हुआ । उनका शाप है कि 'जलदाता न रहिहि कुल कोऊ', अत 'कोउ नहि बाचा' । शाप असत्य नहीं हो सकता । [जय विजयको जब शाप हुआ तब भी ऐसा ही कहा है । यथा 'विप्र श्राप तें दूनों भाई । तामस असुर देह तिन्ह पाई ॥ मुकुत न भए हते भगवाना । तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना । १२३।१ ।' ब्राह्मण अपने दिये हुए शापको स्वयं व्यर्थ नहीं कर सकते, क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो उनका आशीर्वाद भी कुछ न माना जाय । यह बात देवर्षि नारदके 'मृषा होउ मम श्राप कृपाला ।' से सिद्ध है । १३८।३ । देखिए । (ग) विप्रद्रोह कुलका नाशक है, यथा 'जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा । ४।१७।८ ।' अत 'किमि होइ असाचा' कहा, कुलका नाश हुआ ही चाहे । पहले साधारण बात कहकर फिर विशेष सिद्धान्तसे उसका समर्थन किया गया अत यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलकार' है । (प्र० स०)]

२ (क) 'रिपु जिति सब नृप'—इससे जनाया कि भानुप्रताप (उन) सब राजाओंका शत्रु था अत सबका 'रिपु' को जीतना कहा । (ख) 'नगर बसाई' इति । भाव कि सग्राम होनेसे पुरवासी भयके मारे जहाँ तहाँ भागने लगे कि राजा लोग हमारा भी वध न कर डालें, हमें न लूट लें, इसीसे सबको निर्भय करके बसाया । अथवा, राजाके नगरमें ब्राह्मण बहुत हैं, इससे राजाओंने नगरमें कुछ भी उपद्रव न किया कि वे हम भी शाप न दे दें । सबका समाधान करके सबको बसाया कि पुरवासी भय न करें, उनसे कोई न बोलेगा । ऐसा कहनेका कारण है क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि शत्रुको मारकर उसका नगर लूट लिया जाता है । [लडाईमें नगर उजड जाता है अत उसको बसाना कहा । पजाबीजी अर्थ करते हैं कि 'शत्रुको जीतकर सबने वापस नृपको नगरमें बसाया । काश्मीरका राज्य उसको दिया ।' और बैजनाथजी अर्थ करते हैं कि "राजाओंने अपने-अपने नगर स्वतन्त्रतापूर्वक बसाए। अथवा, भानुप्रतापके नगरमें अपना अपना थाना बसाया ।" सबने आपसमें समझौता करके अपने अपने हिस्से की जगह लेकर उस नगरको बसाया । जैसे पिछली जर्मन लडाईमें जो सवत् १९९८ वि० के लगभग प्रारभ होकर कई वर्षतक चली । उसमें जर्मनी और जापान की हार होनेपर अमरीका, रूस और इगलैंडने उन मुल्कोंमें अपने-अपने भाग कायम किये ।] (ग) 'निज पुर गवने' इति । नगर बसाकर अपने पुरको गए, इससे सूचित हुआ कि कुछ दिन वहाँ टिककर नगरका बदोबस्त करके तब गए । पुन , 'निज पुर गवने' का भाव कि राजा लोग निश्चय करके आए थे कि यदि भानुप्रतापपर विजय न प्राप्त हुई तो अब नगरमें लौटकर न आयेंगे, क्योंकि वह भारी शत्रु है फिर वह नगरमें न रहने देगा । इसीसे कहते हैं कि जब जय और यश प्राप्त हुआ तब अपने पुरको गए । (घ) 'जय जसु पाई' इति । भाव कि भानुप्रतापने सब राजाओंका 'जय-यश' हर लिया था । उससे न तो किसी राजाको जय ही मिली थी और न क्षत्रियपनेका यश ही किसीका रह गया था । अब जय और यश दोनों मिल गए (जो पूर्व छिन गए थे) । पुन 'जय यश' कहनेका भाव कि शत्रुको सग्राममें मारा, छल करके नहीं मारा किंतु धर्मयुद्धसे विजय प्राप्त की । प्रथम जय मिली, जय होनेसे यश मिला । अत उसी क्रमसे कहा ।

३—'भरद्वाज सुनु ' इति । (क)—यह प्रसंग सुनकर कदाचित् भरद्वाज मुनिको सदेह हो कि ऐसे धर्मात्मा राजाके साथ ऐसा छल और उसका इस प्रकार मरण न होने चाहिए थे, अत स्वय ही उस सदेहका

निराकरण करते हैं कि 'जाहि जब'''। (ख) 'जाहि', जिसको कहनेका भाव कि कर्मफल सबके ऊपर है। जब=जिस कालमें। भाव कि कर्मफल समय पाकर उदय होता है। (ग) 'होइ विधाता बाम'—भाव कि विधाता ही कर्मफलदाता है, यथा 'कठिन करम गति जान विधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता। २।२८२।४।' शुभ-कर्म फल देनेको विधाता दाहिने होता है और अशुभ कर्मका फल देनेको वाम होता है। (घ) धूलि समान कालकेतु सुमेरु समान हो गया, जनकसमान कपटी मुनि यम और दामसम विप्र व्यालसमान हो गए।

नोट—१ 'धूरि मेरु सम जनक '''ब्याल सम दाम' इति। ये तीनों बातें राजापर बीतीं। कालकेतुके सौ पुत्र और दश भाई थे वे सब मारे गये। वह अकेले जान बचाकर भागा। अतः वह रज सम था, वही पर्वत हो गया, राजाको उसने कुचल डाला। राजाने कपटीमुनिको पिता माना, यथा "जानि पिता प्रभु करौं ढिठाई॥ मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। १६०। ३-४।" और उसने भी पुत्र माना, यथा 'सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं। १६१। १।'; वही उसके लिये कालरूप हो गया। ब्राह्मण राजाकी रत्नमालासम थे। जैसे रत्न-मालाका सारसँभार रक्खा जाता है वैसे ही यह ब्राह्मणोंका आदर करता था। सो उन्हींने सर्प होकर इसे डस लिया। (मुं० रोशनलाल)। बैजनाथजीने भी ऐसा ही लिखा है। वे लिखते हैं कि विप्रवृन्द मुक्तादाम-सम शोभा-सुखदायक थे। राजद्वारपर उनके दर्शनसे शोभा और सुख प्राप्त होता था, वे आशीर्वाद दिया करते थे; उन्हींने नाशका शाप दिया। और श्रीसंतसिंह पंजाबीजीका मत है कि "जिन राजाओंको इसने धूलवत् कर दिया वे ही मेरुवत् हो गए। विप्र पितासम कृपा करते थे वे ही यमतुल्य नाशक हुये, और कालकेतु दाम (रस्सी) सम 'सूल मन' रहता था सो सर्प हो गया।"

वि० त्रि० भी श्रीपंजाबीजीके मतमें हैं कि "कपटी मुनि धूल समान था (यथा 'नाम हमार भिखारि अब निर्धन रहित निकेत'), पितृस्थानीय विप्रवृन्द थे। कालकेतुमें कुछ रह नहीं गया था, उसकी आकृतिमात्र राक्षसकी थी, सूकर आदि बना बना वनमें फिरता था, वह रज्जु था सो सर्प हो गया।"

नोट २ "सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू" उपक्रम और "सत्यकेतु कुल कोउ०" उपसंहार है। "भरद्वाज सुनु अपर पुनि०" दोहा १५२ उपक्रम है और "भरद्वाज सुनु जाहि००" उपसंहार।

रा० प्र०—भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद यहीं (अगली चौपाई) तक स्पष्ट देख पड़ता है, आगे ग्रंथमें कहीं नाम नहीं है। कारण यह है कि भरद्वाजका सन्देह रामतत्त्वके विषयमें था, चरितमें नहीं क्योंकि चरितको तो वे स्वयं प्रगट कहते हैं, यथा "तिन्हकर चरित विदित संसारा"। अतएव जबतक रामतत्त्व जाननेका प्रयोजन रहा तबतक गोस्वामीजीने 'मुनि भरद्वाज' इत्यादि संबोधन किया। और जो कहें कि "चाहौं सुनइ राम गुन गूढ़ा" इस वाक्यमें विरोध पाया जाता है तो उसका उत्तर यह है कि ये वचन भरद्वाज मुनिके नहीं हैं।

काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भएउ निसाचर सहित समाजा ॥१॥
दस सिर ताहि बीस भुजदंडा। रावन - नाम बीर बरिबंडा ॥२॥
भूप अनुज अरिमर्दन नामा। भएउ सो कुंभकरन बलधामा ॥३॥
सचिव जो रहा धरमरुचि जासू। भएउ बिमात्र बंधु लघु तासू ॥४॥
नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्नुभगत बिज्ञान निधाना ॥५॥

शब्दार्थ—भुजदंड=भुज (बाहु; बाँह) + दंड (डंडा)। डंडेके आकारका होनेसे बाहुको भुजदंड कहते हैं। प्रायः बलवान् पुरुषोंकी भुजाओंको 'भुजदंड' कहा जाता है। स्त्रियोंकी भुजाएँ कोमल होती हैं इससे

उन्हें भुजवल्ली कहा जाता है। बरिवंड (वलिवंध)=प्रचण्ड, बली, बलवानोंसे वन्दित। यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है। विमातृ (सं०)=अपने माताके अतिरिक्त पिताकी दूसरी विवाहिता स्त्री=सौतेली माँ। बिमात्र=विमातृज=सौतेला।

अर्थ—हे मुनि! सुनो। समय पाकर वही राजा समाज सहित निशाचर हुआ ॥ १ ॥ उसके दश शिर और बीस भुजाएँ थीं। रावण नाम था। वह बड़ा बलवान् तेजस्वी प्रचंड वीर था॥ २ ॥ राजाका छोटा भाई (जिसका) अरिमर्दन नाम था वह बलका धाम कुंभकर्ण हुआ॥ ३ ॥ जो (धर्मरुचि) मंत्री था जिसकी धर्ममें रुचि थी, वह उसका सौतेला छोटा भाई हुआ॥ ४ ॥ उसका नाम विभीषण था जिसे संसार जानता है। वह विष्णु भगवान्का भक्त और विज्ञानका खजाना, भंडार वा समुद्र था॥५॥

टिप्पणी—१ (क) 'काल पाइ ।०' इति। जहांसे राजाके शापका प्रसंग छोड़ा था, वहींसे पुनः कहते हैं। 'काल पाइ' 'राजा भयउ निसाचर सहित समाजा।' का संबंध 'जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार। १७३।' से मिलाते हैं। (ख) 'काल पाइ' कहा क्योंकि समय पाकर शरीरकी प्राप्ति होती है। [जीव शरीर छोड़नेके पश्चात् तुरत जन्म ले, यह आवश्यक नहीं है। जब उसके कर्मोंके भोग-योग्य समय (ग्रहस्थिति) और वातावरण होता है तब पुनः जन्म पाता है।] यथा 'मन महँ तथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाए। वि० १२४।' [हरि इच्छासे शापमें समयका नियम नहीं हुआ। यदि 'सबे नाश होनेपर तुरंत निशाचरयोनि पानेका शाप होता तो मरण होते ही उनका जन्म होता। जैसे लोमशका शाप भुशुण्डीजी को हुआ कि 'सपदि होहु पच्छी चंडाला' अतः वे तुरंत काक हुए, यथा 'तुरत भयउँ मैं काग तब ''। ७।११२।' अभी प्रभुके अवतारका समय नहीं है, इसीसे वैसा शाप न होने पाया।] जब श्रीरामजीकी इच्छा लीला करनेकी होती है तब प्रथम रावणका अवतार होता है। अतः जिस कल्पमें श्रीरामावतार होनेको था जब वह कल्प आया तब भानुप्रताप रावण हुआ। 'सुनु' का भाव कि राजा जैसे रावण हुआ वह हम आगे कहते हैं, सुनो। (ग) 'सहित समाज' निशाचर हुआ क्योंकि शाप था कि "निसाचर होहु ''सहित परिवार।'; सहित परिवार ही सहित समाज है। जहां श्रीरामजीका परिवारसहित पूजन होता है वहां श्रीहनुमानजी; सुग्रीवजी आदिके सहित पूजन होता है, इससे भी समाजकी गणना परिवारमें है।

२ (क) 'दस सिर ताहि बीस भुज दंडा' इति। सब कल्पोंके रावण दश शिर और बीस भुजा वाले होते हैं। ऐसा ही सृष्टिका नियम है। भुजकी प्रबलता दिखानेके लिये 'भुजदंड' शब्द दिया। भारी और बलवान् भुजाको भुजदंड कहते हैं। यथा 'करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। १४७।८।', 'दुहु भुजदंड तमकि महि मारी। ६।३१।' 'दस सिर बीस भुजदंड' से सूचित हुआ कि रूप भयदायक है। (ख) 'रावन' नाम है अर्थात् यह सबको रुलानेवाला है। 'रावयतीति रावणः'। (विशेष आगे प० प० प्र० की टिप्पणीमें देखिए)। 'बीर बरिबंडा' वीरोंमें प्रबल है। यथा 'रन मद मत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा। १८२।६।' वीरकी शोभा बलसे है; इसीसे वीरको बलवान् कहते हैं। यथा 'भए निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान। १२२।', 'नाथ न रथ नहि तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना। ६।७६।', 'जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड। खर दूषन तिसिरा बध्यो मनुज कि अस बरिबंड। ३।२५।'—ये सब काम बलके बयान किये गए हैं, इससे स्पष्ट हुआ कि 'बरिबंड' का अर्थ 'बलवान' है। 'रावन नाम' से सूचित किया कि नाम भयदायक है, यथा 'भई सभय जब नाम सुनावा। ३।२८।' और 'बीर बरिबंडा' से जनाया कि पुरुषार्थ भय दायक है, यथा "चलत दसानन डोलति अवनी। गर्जत गर्भ स्रवहिं सुर रवनी। १८२।५।' आगे अब क्रमसे सबकी उत्पत्ति कहते हैं। (ग) 'भूप अनुज'—भाव कि जैसे वह पूर्व भानुप्रतापका छोटा भाई था वैसे ही भानुप्रतापके रावण होनेपर वह रावणका छोटा भाई हुआ। 'अरिमर्दन नामा'—प्रथम तनमें यह शत्रुका मर्दन करनेवाला था, वैसे ही निशाचर होनेपर बलका धाम था, कोई शत्रु ऐसा न था जो उसके सम्मुख खड़ा रह सके, यथा 'अतिबल कुंभकरन अस भ्राता। जेहि कहुँ नहि प्रतिभट जग जाता। १८०।३।' जैसे

अरिमर्दन भानुप्रतापसे अधिक बलवान था वैसे ही कुंभकर्ण रावणसे अधिक बलवान था। अरिमर्दनके संबंधमें कहा था कि 'भुज बल अतुल अचल संग्रामा' वैसे ही यहाँ 'बलधाम' का अर्थ है कि बलवान और संग्राममें अचल है; क्योंकि जो बलधाम होगा वह संग्राममें अचल अवश्य होगा। रावण वीर और बरिबंड (बलवान) है वैसे ही कुंभकर्ण अरिमर्दन अर्थात् वीर है और बलधाम है। रावणका रूप भयदायक है वैसे ही कुंभकर्णका रूप भयदायक है। कुंभ समान जब उसके कर्ण हैं तब रूप बड़ा भारी होगा ही।

३ 'सचिव जो रहा धरमरुचि जासू।' इति। (क) धर्मरुचि नाम लिखनेका भाव कि मंत्री तो बहुत थे पर जो इस नामका था, जिसकी धर्ममें रुचि थी वह रावणका छोटा भाई हुआ। जैसे पूर्व जन्ममें धर्ममें रुचि थी, यथा 'सचिव धरमरुचि हरिपद प्रीती। १५५।३।' वैसे ही इस जन्ममें भी उसकी जन्मसे ही धर्ममें रुचि हुई। ['धरम रुचि जासू' देहलीदीपक न्यायसे दोनों ओर लगता है। अर्थ होगा—उसका विमातृज छोटा भाई हुआ जिसकी धर्ममें रुचि थी]। (ख) 'भएउ बिमात्र बंधु लघु' इति। मंत्री भाई हुआ। इससे सूचित हुआ कि राजाका वह मंत्री धर्मात्मा था, इससे वह उसे भाई करके मानता था, अथवा किसी नातेसे भाई होता था, सगा भाई न था। इसीसे इस जन्ममें वह भाई हुआ पर सगा भाई न होकर सौतेली मातासे हुआ। 'बंधु लघु'—भाव कि पूर्व जन्ममें छोटा था इसीसे अब भी छोटा हुआ।

४ "नाम बिभीषन जेहि जग जाना।' इति। (क) जगत् जानता है क्योंकि इनकी गणना परम भागवतोंमें है, यही बात अगले चरणमें कहते हैं कि विष्णुभक्त हैं और विज्ञाननिधान हैं, यह भी बात संसार जानता है। पुनः संसार रामायण सुनने या पढ़नेसे जानता है कि रावणको इन्होंने कैसा-कैसा उपदेश दिया है। (ख) जगत्में प्रथम नाम विख्यात होता है तब गुण। इसीसे प्रथम नाम कहा, पीछे गुण कहते हैं कि 'बिष्नुभगत' है। (ग) 'जग जाना' कहकर 'बिष्नुभगत' कहनेका भाव कि संसारमें इनकी प्रसिद्धि भक्ति और विज्ञानके कारण हुई, राक्षसी धर्मोंसे नहीं। इससे पाया गया कि ब्रह्माके वरदानके पूर्वसे प्रथम जन्मसे ही, इनको भगवद्भक्ति प्राप्त थी, ब्रह्माका वर तो पीछे इस शरीरमें मिला। पूर्व जन्ममें धर्ममें रुचि थी इसीसे पूर्व जन्म संस्कारसे राक्षसदेहमें भी जन्म लेते ही हरिभक्ति प्राप्त हुई। धर्मसे हरिभक्ति मिलती है। यथा 'जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई। ३।६।' (घ) पुनः भाव कि ये ऐसे महाभागवत हैं कि संसार इनकी वन्दना करता है। यथा "प्रह्लाद नारद पराशर पुण्डरीक व्यासाम्बरीष शुक शौनक भीष्मदाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुन वसिष्ठ विभीषणादीनेतानहं परमभागवतान्नमामि।" (पाण्डवगीतामें यही श्लोक कुछ हेरफेरसे है। दोहा २६ (४) भाग १ पृष्ठ ४३१ देखिये। ये भगवान्‌के पार्षद भी हैं)।

प० प० प्र०—१ यहाँ देहस्वभावका दुष्परिणाम न होनेका कारण हरिभक्ति ही है। इससे अनुमान होता है कि त्रिजटा आदि जो भी हरिभक्तिमान व्यक्ति लंकामें थे वे सब पूर्व जन्ममें धर्मरुचि मंत्रीके ही संबंधी थे और हरिभक्त थे। प्रतापभानु आदि अन्य सब लोग पूर्व जन्ममें धर्मशील और पापरहित होते हुये भी राक्षसदेह पानेसे अधर्मी बन गए। इससे यह सिद्ध हुआ कि पूर्व जन्ममें इनमेंसे कोई भी हरिभक्त नहीं था। ☞ इस प्रकरणमें यह विशेष रीतिसे दिखाया है कि देह स्वभाव बिना हरिभक्तिके नहीं जाता है। केवल धर्मशीलतासे देह स्वभाव नहीं जाता। काकभुशुण्डी काकदेहवाला है पर काकस्वभाव नहीं है, इसका कारण भी यही है कि वह शापके पूर्व विप्रदेहमें हरिभक्तिसंपन्न था। इस प्रकार ग्रंथके उपक्रम और उपसंहारमें इन दो कथाओंसे एक ही सिद्धान्त बताया—बिनु हरि भक्ति स्वभाव न जाई।

२ नारदमोह प्रकरणसे यह बताया कि शिव-हरि-कृपा-विहीन योग, ज्ञान, वैराग्य और कामविजय भी निरर्थक और अधोगतिदायक हैं।

३ मनुशतरूपा प्रकरणमें बताया कि धर्मशीलता, वैराग्य और ज्ञानको हरिभक्तिका आधार हो तो वह जीव भगवान्‌को भी वशमें कर लेता है।

४ काकभुशुण्डि चरित्रमें यह विशेषता बताई है कि कर्म-ज्ञान-रहित केवल भक्तिसे वैराग्य-ज्ञानादि सब कुछ सहज ही अनायास प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक पद्धतिसे कर्म-धर्म-ज्ञान और भक्तिकी विशेषता बताकर सिद्ध किया है कि 'रघुपति-भगति बिना सुख नाहीं'। 'भजन रामको अंक है सब साधन हैं सून। अंक गए कछु हाथ नहिं अंक रहे दस गून।' ऐसा कहना उचित ही है। यही मानसका श्रुतिसिद्धान्त है।

नोट—१ "भयउ निसाचर सहित समाजू।" इति। श्रीरामचरितमानसकल्पवाले रावण और कुंभकर्ण सहोदर भ्राता थे। विभीषणजी रावणके सौतेले भाई थे। अतः मानसकल्पवाली कथा वाल्मीकीय और अध्यात्म आदि रामायणोंसे भिन्न कल्प की है। इन रामायणोंके रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण सहोदर भ्राता थे। महाभारत वन पर्वमें जिस रावणकी कथा मार्कण्डेय मुनिने युधिष्ठिरजीसे कही है उसका भी विभीषण सौतेला भाई था। कथा इस प्रकार है—पुलस्त्यजी ब्रह्माके परम प्रिय मानस पुत्र थे। पुलस्त्यजीकी स्त्रीका नाम 'गौ' था, उससे वैश्रवण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वैश्रवण पिताको छोड़कर पितामह ब्रह्माजीकी सेवामें रहने लगे। इससे पुलस्त्यजीको बहुत क्रोध आ गया और उन्होंने (वैश्रवणको दण्ड देनेके लिये) अपने आपको ही दूसरे शरीरसे प्रकट किया। इस प्रकार अपने आधे शरीरसे रूपान्तर धारणकर पुलस्त्यजी विश्रवा नामसे विख्यात हुए। विश्रवाजी वैश्रवणपर सदा कुपित रहा करते थे। किन्तु ब्रह्माजी उनपर प्रसन्न थे, इसलिये उन्होंने उसे अमरत्व प्रदान किया, समस्त धनका स्वामी और लोकपाल बनाया, महादेवजीसे उनकी मित्रता करा दी और नलकूबर नामक पुत्र प्रदान किया। साथ ही ब्रह्माजीने उनको राक्षसोंसे भरी लंकाका आधिपत्य और इच्छानुसार विचरनेवाला पुष्पक विमान दिया तथा यक्षोंका स्वामी बनाकर उन्हें 'राजराज' की उपाधि भी दी।

कुबेर (वैश्रवण) जी पिताके दर्शनको प्रायः जाया करते थे। विश्रवामुनि उनको कुपित दृष्टिसे देखने लगे। कुबेरको जब मालूम हुआ कि मेरे पिता मुझसे रुष्ट हैं तब उन्होंने उनको प्रसन्न करनेके लिये पुष्पोत्कटा, राका और मालिनी नामकी परम सुन्दरी तथा नृत्यगानमें निपुण तीन निशाचरकन्याएँ उनकी सेवामें नियुक्त कर दीं। तीनों अपना-अपना स्वार्थ भी चाहती थीं, इससे तीनों लाग डाँटसे विश्रवामुनिको संतुष्ट करनेमें लग गईं। मुनिने सेवासे प्रसन्न होकर तीनोंको लोकपालोंके सदृश पराक्रमी पुत्र होनेका वरदान दिया। पुष्पोत्कटाके दो पुत्र हुए—रावण और कुम्भकर्ण। मालिनीसे एक पुत्र विभीषण हुआ। राकाके गर्भसे खर और शूर्पणखा हुए। यथा "पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरौ। कुम्भकर्णदशग्रीवौ बलेनाऽप्रतिमौ भुवि॥ ७॥ मालिनी जनयामास पुत्रमेकं विभीषणम्। राकायां मिथुनं जज्ञे खरः शूर्पणखा तथा॥ ८॥ महाभारत वनपर्व अ० २७५।"

रावणके दश शिर पैदा होतेही थे। इसीसे उसका नाम प्रथम दशग्रीव था। रावण नाम तो कैलासके नीचे दबनेपर हुआ। रावणका अर्थ है रुलानेवाला। वाल्मी० ७।१६ देखिए। (प०प०प्र०की टिप्पणी देखिए)

वाल्मीकीयके रावणजन्मकी कथा तथा उसकी माताका नाम इससे भिन्न है। कथा इस प्रकार है कि विष्णुभगवान्‌के भयसे सुमाली परिवार सहित रसातलमें रहने लगा। एक बार जब वह अपनी कुमारी कन्या कैकसीसहित मर्त्यलोकमें विचर रहा था, उसी समय कुबेरजी पिता विश्रवाके दर्शनोंको जा रहे थे। उनका देवताओं और अग्निके समान तेज देखकर वह रसातलको लौट आया और राक्षसोंकी वृद्धिका उपाय सोचकर उसने अपनी कन्या कैकसीसे कहा कि तू पुलस्त्यके पुत्र विश्रवामुनिको स्वयं जाकर वर ले। इससे कुबेरके समान तेजस्वी पुत्र तुझे प्राप्त होंगे। पिताकी आज्ञा मान कैकसी विश्रवामुनिके पास गई। सायंकालका समय था। वे अग्निहोत्र कर रहे थे। दारुण प्रदोषकालका उसने विचार न कर वहाँ जाकर उनके समीप खड़ी हो गई। उसे देखकर उन्होंने पूछा कि तुम कौन हो और क्यों यहाँ आई हो। उसने उत्तर दिया कि

आप तपःप्रभावसे मेरे मनकी जान सकते हैं। मैं केवल इतना बताये देती हूँ कि मैं अपने पिताकी आज्ञासे आई हूँ और मेरा नाम कैकसी है।

विश्रवा मुनिने ध्यान द्वारा सब जानकर उससे कहा कि तू दारुण समय आई है इससे तेरे पुत्र बड़े क्रूर कर्म करनेवाले और भयंकर आकृतिके होंगे। यह सुनकर उसने प्रार्थना की कि आप ऐसे ब्रह्मवादीसे मुझे ऐसे पुत्र न होने चाहिएँ। आप मुझपर कृपा करें। मुनिने कहा—अच्छा, तेरा पिछला पुत्र वंशानुकूल धर्मात्मा होगा।

कैकसीके गर्भसे क्रमशः रावण, कुंभकर्ण, शूर्पणखा उत्पन्न हुए। सबके पीछे विभीषण हुए। (वाल्मी० ७।९।१-३५)।

प्रायः यही कथा अध्यात्मरामायणमें है। (अ० रा० ७।१।४५-५६)। पद्मपुराण पातालखण्डमें श्रीअगस्त्यजीने श्रीरामदरबारमें जो कथा कही है उसमेंकी 'कैकसी' विद्युन्मालीदैत्यकी कन्या थी। उस कैकसीके ही रावण, कुंभकर्ण और विभीषण पुत्र हुए।

३—रावणके दस शिर क्यों हुए? इसपर अनेक महात्माओंने लिखा है। सृष्टिकर्ता ही इसका अभिप्राय भले ही ठीक कह सकें? (१)—हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'रावणकी माको पुत्रका वरदान मुनि देकर फिर किसी अनुष्ठानमें दस मास तक लगे रहगए, वह खड़ी रही। तबतक दश बार इसे रजोधर्म हुआ, इस कारण दस शिरका पुत्र मुनिने इसको दिया'। (२)-इसमें सत रज तम तीनों गुण दर्शानेको दस शिर दिए क्योंकि त्रिदेव के १० शिर हैं इस तरह कि भगवान् विष्णुके एक शिर है, ब्रह्माजीके चार और शंकरजीके पाँच हैं। सब मिलकर दस हुए। (३)—दसवीं दशा मृत्यु है। यह संसार भरको मृत्युरूप होगा। (४)-दश शिर मानों १० का अंक है जिसमें एक '१' जो ईश्वर उससे विमुख होनेसे यह शून्य (मृतक) सम होगा। (५)—यह मोहका स्वरूप है। दशों इन्द्रियाँ इसके १० मुख हैं, यथा "मोह दसमौलि०।" इत्यादि। (मानस शंकावली, शंका मोचन)। पुनः, (६) यों भी कहा जाता है कि रुद्रयामल तंत्र और पद्मपुराणमें लिखा है कि 'कैकसी' को रतिदान की स्वीकृति दे मुनि ध्यानमें लीन हो गए। ध्यान छूटनेपर पूछा—उसने कहा दस बार मुझे ऋतु धर्म हुआ है, इससे आशीर्वाद दिया कि प्रथम पुत्र दश सिरवाला होगा और 'केसी' से कहा कि तेरे एक पुत्र होगा जो बड़ा ज्ञानी और हरिभक्त होगा। रावण, कुंभकर्ण और शूर्पणखा कैकसीसे हुए और विभीषण 'केसी' से हुए। (वीर)।

प० प० प्र०—प्रत्येक कल्पमें रावण 'दशमुख' क्यों और रामावतारके पिता 'दशरथ' ही क्यों? इन प्रश्नोंका समाधान केवल आध्यात्मिक विचारसे ही ठीक ठीक होता है। तथापि भौतिक दृष्टिसे भी ये नाम यथार्थ हैं। जिसका रथ दशों दिशाओंमें जहाँ चाहें जा सकता है, वह दशरथ है। दशमुखका अर्थ स्पष्ट है। दशमुख विश्रवा मुनिका ही पुत्र होता है। 'विशेषः श्रवः (कीर्ति) यस्य स विश्रवाः' जो विशेष विख्यात विश्रुत होता है उसका पुत्र।

अध्यात्मपरक अर्थ—दशरथ—दशयुक्तः रथः यस्य = दशरथः। जिसके रथमें दशेन्द्रियरूपी घोड़े रहते हैं वह दशरथ है। जीव ही दशरथ है। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। इन्द्रियाणि हयानाहु। कठ ३।३-४।' पंचकर्मेन्द्रिय और पंचज्ञानेन्द्रिय ही जीव दशरथके शरीररूपी रथके घोड़े हैं। रथका सारथी बुद्धिमान और कुशल होता है तभी वह रथको इष्ट स्थल तक ले जाता है और रथी कृतकृत्य होता है। बुद्धि सारथी है, और मन लगाम है—'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च', 'मनोरथानाम गतिर्न विद्यते'। दशरथजीका रथ स्वर्गादि लोकोंमें भी जाता है, जीवके मनोरथोंकी गति अकुंठित ही होती है। भौतिक वस्तुस्थिति आध्यात्मिक अर्थानुकूल ही है।

जीव दशरथ अजपुत्र है। अज है ब्रह्म, ईश्वर। और 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी', 'आत्मा वै

पुत्रनामासि', 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः', 'जीवो' 'ब्रह्मैव नाऽपर'। दशरथ जीवकी पत्नी महारानी कौसल्या कोसिलाजी ही होती हैं। कुशलस्य भावः कौशलम्। वह है सुमति। और 'जहाँ सुमति तहँ संपति नाना'। सद्गति, मोक्ष, भक्ति प्राप्त करनेके उत्तम अधिकारी जीवका प्रतीक 'दशरथ' है।

'दशमुख'। इस शब्दका अर्थ 'दशरथ'के समान ही है। = जिसके दशेन्द्रियरूपी मुख होते हैं वह ही दशमुख है। दशमुख भी दशों दिशाओंमें, स्वर्गादि लोकोंमें जा सकता है। 'मुखमुपाये प्रारम्भे, उपाये गेहादि मुखे' (हैमः)। मुख = गृहका द्वार। दश इन्द्रियाँ देहरूपी घरके दश दरवाजे हैं। 'इंद्रीद्वार झरोखा नाना'। इन इन्द्रियरूपी दशमुखोंसे ही जीव भोग भोगता है। दशमुख विषयी है। विवेकी 'धर्मधुरंधर गुननिधि ज्ञानी। हृदय भगति मति सारँगपानी' ऐसा जीव दशरथ है और विषयी, निशाचरवृत्तिवाला दुर्जन जीव दशमुख है।

दशमुख विश्रवस् मुनिका पुत्र है। श्रवः श्रुतिः, श्रुतिमें, वेदोंमें विशेष करके जो श्रुत है वह है आत्मा-ब्रह्म। दशमुखकी पटरानी 'मय' दानवकी 'तनया' है। मय अत्यन्त मायावी दानव है। 'तन विस्तारे'। उसकी तनया मयदानवके गुणदोषोंका विस्तार ही करेगी। दशमुख कुमतिवाला जीव है।

बुद्धिकी मुख्य तीन वृत्तियाँ होती हैं। वही कौसल्याजी, सुमित्राजी और कैकयीजी हैं। कौसल्याजी = शुद्ध सात्त्विक बुद्धि वृत्ति। मानसमें कौसल्याजीका चरित्र ऐसा ही चित्रित किया गया है। सुमित्राजी राजस सात्त्विक हैं, यह भी मानसमें अच्छी तरह पाया जाता है। कैकयी तामस सात्त्विक हैं, मानसमें यह भी स्पष्ट दिखाया है। बुद्धि वृत्तिके भेद अनेक हैं, अतः दसरथजीकी तथा दशमुखकी भी अनेक भार्याएँ हैं। मानसमें संख्याका उल्लेख नहीं है। वेदान्तसार अभंगरामायण (मराठी-प्रज्ञानानन्दकृत) में समग्र रामायण अध्यात्मपर अर्थसे भरा हुआ बताया है। [आत्मरामायणमें भी सब रामायण अध्यात्मपरक है। वर्षों हुईं जब मैंने उसे कहीं देखा था। मा० सं०]

'रावन नाम' इति। दशाननने जब कैलास उठाया तब भवानीजीको डरी हुई देख शिवजीने अपने पदाङ्गुष्ठसे पर्वतको दबाया जिससे दशाननके बीसों हाथ पर्वतके नीचे दब गए और वह जोर-जोरसे रोने लगा, तबसे उसका नाम रावण हुआ। दशमुख नाम रूपानुसार रक्खा गया और रावण नाम उसके प्रतापानुसार है। उपनिषद्में रावण नामके अर्थ इस प्रकार मिलते हैं—'रामपत्नी वनस्था यः स्वनिवृत्त्यर्थमादद। १७। स रावण इति ख्यातो यद्वा रावाच्च रावणः'। ऊपर दिया हुआ इतिहास 'रावात् च रावणः' अर्थानुसार 'श्रीगुरुचरित्र' ग्रन्थमें और पुराणोंमें उपलब्ध है। वाल्मी० रा० उत्तरकांड सर्ग १६ 'रावण-नाम-प्राप्ति' है। ऊपर दी हुई कथा ही विस्तारसे है। दशानन एकसहस्र वर्ष रोता रहा था, इत्यादि। यथा '*संवत्सर सहस्रं तु रुदतो रक्षसो गतम्। ततः प्रीतो महादेवः शैलाग्रे विष्ठितः प्रभुः। २६। मुक्त्वा चास्य भुजान् राम प्राह* वाक्यं दशाननम्। प्रीतोऽस्मि तव वीर्यस्य शौण्डीर्याच्च दशानन। शैलाक्रान्तेन यो मुक्तस्त्वया रावः सुदारुणः। यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम्। ३८। तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना राजन् भविष्यसि। देवता मानुषा यक्षा ये चान्ये जगतीतले। ३६। एवं त्वामभिधास्यन्ति रावण लोकरावणम्।'

इससे सिद्ध हुआ कि रावण जन्मनाम नहीं है। जन्मनाम दशानन ही था।

टिप्पणी—५ (क) राजा उसका भाई और मंत्री तीनों राक्षसयोनिमें जाकर भाई हुए। इन तीनों भाइयोंके जन्म, नाम और गुण कहे। 'भएउ निसाचर' यह जन्म, 'रावन' नाम, 'बीर बरिबंडा' अर्थात् रावण वीरोंमें श्रेष्ठ था यह गुण कहा। 'भयउ सो कुंभकरन' यह जन्म, कुंभकर्ण नाम और 'बलधामा' अर्थात् कुंभकर्ण बलवान था यह गुण कहा। 'भयउ बिमात्र बधु' यह जन्म, 'नाम बिभीषन' और 'बिष्नु भगत बिज्ञाननिधाना' यह गुण कहे। (ख) तीनों भाइयोंके जन्म क्रमसे कहे। प्रथम रावण, तब कुंभकर्ण, तब विभीषण। इसी क्रमसे छोटाई बड़ाई जना दी। रावण ज्येष्ठ, उससे छोटा कुंभकर्ण और कुंभकर्णसे छोटा

विभीषण हैं। (ग) धर्मरुचि विभीषण हुआ। धर्मरुचिमें कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों थे। 'नृप हितकारक सचिव सयाना' के 'सयान' शब्दसे 'ज्ञानी' कहा। 'सचिव धर्मरुचि' के 'धर्म रुचि' से कर्म काण्डी और 'हरि पद प्रीती' से उपासक सूचित किया। वैसे ही राक्षसयोनि में विभीषण होनेपर भी उसमें ये तीनों गुण हुए। (धर्मरुचि जासू' देहलीदीपक है। इस तरह) 'धर्म' से कर्म, 'विज्ञान' से ज्ञान और 'विष्णुभक्त' से उपासना कही। [मन्त्रीका जैसा नाम था वैसा ही उत्तम गुण भी था। निशाचर होनेपर भी वह हरिभक्त हुआ। भक्तिका संस्कार नहीं मिटता, यथा 'तात नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ विहग बर। ७।७६।' (प्र० सं०)।]

वि० त्रि० ने दक्षिण भारतके एक महाविद्वान् वी० सूर्य्यनारायणरावके रायल होरोस्कोप नामक पुस्तकसे रावणकी यह कुण्डली उद्धृत की है—
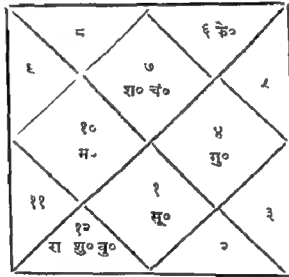
रावणजन्मके समयका निर्णय उत्तरकांड ६४ (८) में लिखा गया है।

रहे जे सुत सेवक नृप केरे। भए निसाचर घोर घनेरे ॥६॥
काम-रूप खल जिनस अनेका। कुटिल भयंकर बिगत बिबेका ॥७॥
कृपा-रहित हिंसक सब पापी। बरनि न जाइ बिस्व परितापी ॥८॥

दोहा—उपजे जदपि पुलस्त्य कुल पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर स्राप बस भए सकल अघरूप ॥१७६॥

शब्दार्थ—कामरूप = इच्छारूप धारण करनेवाले। जब जैसी कामना हो वैसा रूप धर लेनेवाले। जिनस (जिन्स, फा०)=किस्म प्रकार, जाति। बिगत विशेष गया हुआ, रहित। परितापी = दुःख देनेवाले। अमल = निर्मल। बेदाग।

अर्थ—राजाके जो पुत्र और सेवक थे वे (ही) बहुतसे भयंकर राक्षस हुए ॥ ६ ॥ वे सब कामरूप, खल, अनेक प्रकार और जातिके, कुटिल, भयंकर, अविवेकी, निर्दयी, हिंसा करनेवाले, पापी और संसारभरको संताप देनेवाले हुए। उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। ७-८। यद्यपि वे पवित्र, निर्मल और अनुपम, पुलस्त्यकुलमें उत्पन्न हुए तथापि ब्राह्मणोंके शापवश वे सब पापरूप हुए।

टिप्पणी—१ 'रहे जे सुत सेवक'''' इति। (क) राजाका हाल कहकर अब परिवारका हाल कहते हैं। 'रहे जे सुत''' का भाव कि राजाके संबंधसे ये सब भी राक्षस हुए। इसीसे सर्वत्र राजा का संबंध दिखाते जाते हैं। यथा 'भूप अनुज अरिमर्दन नामा।', 'सचिव जो रहा''', 'रहे जे सुत सेवक नृप केरे'। (ख) 'सुत सेवक' कहने का भाव कि जो पुत्र थे वे पुत्र हुए और जो सेवक थे वे सेवक हुए। 'सेवक' की गणना परिवारमें है। यथा 'अतिहि अयाने उपखानो नहि बूझैं लोग, साहही के गोत गोत होत है गुलाम को। क० ७।१०७।' अपना गोतिया अपना परिवार कहा जाता है। [श्रीयत्रराज पूजनमें श्रीविभीषण, अंगद, हनुमान्‌जी आदि सेवक होते हुए भी परिवार माने गए हैं। वैसे ही राजा के सेवक उसके परिवार हैं। (रा० प्र०)] (ग)—'घोर'—ब्राह्मणका शाप अति घोर है, यथा—'प्रभु महिदेव श्राप अति घोरा।'; इसीसे ये सब 'घोर' हुए। 'भए निसाचर घोर' कहकर जनाया कि राक्षस जन्म लेते ही घोर हुए, यथा 'देखत भीम रूप सब पापी।' 'घनेरे' से पाया गया कि भानुप्रतापके पुत्र और सेवक बहुत थे; यथा—'सेन संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा।'—ये सब राक्षस हुए। इसीसे 'घनेरे' कहा।

२ (क) 'कामरूप'''—कामरूप हैं अर्थात् अनेक रूप धारण करते हैं। खल हैं अत जगत्‌में उपद्रव करते हैं। यथा 'करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया।' 'जिनस अनेका' अर्थात् अनेक प्रकारके हैं। किसीका मुख हाथीका सा, किसीका व्याघ्रका, किसीका वृषभका, किसीका शूकर गर्दभ स्वान आदिका सा है। यथा 'खर स्वान सुअर सृकाल मुख ''। बहु जिनस प्रेत पिसाच ''बरनत नहि बनै। ९३।' पुन: 'कामरूप' से छली जनाया। भाव कि अनेक रूप धरकर छल करते हैं। कामरूप होनेसे विश्वको सताना उनके लिये सरल हो गया। 'खल' कहकर खलोंके अनेक अवगुणोंसे युक्त जनाया। यथा 'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा परसंपति देखी।''' । ७।३९-४०।', 'जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ ।१।४।' राजाके सुत, सेवक, मन्त्री, सेनापति और सेना इत्यादि अनेक प्रकारके सेवक थे, इससे अनेक प्रकारके राक्षस हुए, अतः 'जिनस अनेका' कहा। (ख) 'कुटिल भयंकर'''—स्वभावसे कुटिल हैं और शरीर भयंकर है; यथा 'देखत भीमरूप सब पापी।' इससे जनाया कि भीतर बाहर दोनोंसे खराब हैं। 'बिगत बिबेक' अर्थात् इनमें सत्व और रजो गुणका लेश भी नहीं, केवल तमोगुण है। पुनः भाव कि मन कुटिल है, तन (आकृति) भयंकर है और अज्ञानी है। (ग) ☞ जैसे रावण का जन्म कहकर उसके गुण कहे, वैसे ही निशाचरोंका जन्म कहकर उनके लक्षण कहे। कामरूप आदि सब उनके लक्षण हैं।

३ "कृपारहित हिंसक सब ''' इति। (क) 'कृपारहित'—भाव कि जहाँ कृपा करनेका हेतु उपस्थित है, कृपा अवश्य करनी चाहिए, वहाँ भी कृपा नहीं करते। यथा—'सपनेहु जिन्हके धरम न दाया।' 'हिंसक सब पापी' का भाव कि जिसने हिंसा की वह सब पाप कर चुका। यथा 'पर पीड़ा सम नहिं अधमाई। ७।४१। हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति। १८३।' (ख) सब अवगुण क्रमसे कहे। कृपारहित हैं अतः हिंसक हैं, निर्दयी ही हिंसा करते हैं। हिंसक हैं इसीसे पापी हैं क्योंकि हिंसाके समान पाप नहीं। पापी हैं, इसीसे विश्वपरितापी हैं। विश्वपरितापीसे जनाया कि विश्वमें उनसे कोई जीत नहीं सकता, यथा 'एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय।' इन विशेषणोंसे जनाया कि विश्वको परिताप देनेमें ये; आनन्दानुभव करते थे। जो किसी एकको दुःख दे उसका नाम न लेना चाहिए और ये तो विश्वपरितापी हैं इसीसे इनके नाम नहीं लेते, इनका वर्णन नहीं करते। विश्वको दुःख देना महान् पाप है, यथा 'विश्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा।' पापी पृथ्वीका भार होते हैं। (ग) 'बरनि न जाय' क्योंकि पापीका वर्णन न करना चाहिए। यथा 'एहि लागि तुलसी दास इनकी कथा कछुयक है कही।'

४ 'उपजे जदपि पुलस्त्य कुल''' इति। (क) 'जदपि' का भाव कि ऐसे कुलमें जन्म होनेसे उपर्युक्त अवगुण न होने चाहिए थे। पुलस्त्यकुल पावन अर्थात् शुद्ध है, पवित्र है। अमल है अर्थात् कुलमें कोई

दोष नहीं है। अनूप है अर्थात् इस कुलकी कोई उपमा नहीं है। पावनादि क्रमसे कहे। पावन है अतः निर्मल है, और निर्मल है, इसीसे अनूप है। 'तदपि' का भाव कि कुलीन अधम काम नहीं करते पर ये पावन कुलमें उत्पन्न होकर अपावन हुए, निर्मल कुलमें मलिन हुए और अनुपम कुलमें तुच्छ हुए। उत्तम कुलमें जन्म लेनेपर भी 'अघरूप' हुए। वंशका प्रभाव प्रायः अवश्य पड़ता है पर इनमें वंशका गुण न आया। [पावन अमल अनूप', यथा 'रिपि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससिमहँ जनि होहु कलंका। ५।२३।' भाव कि ये सब इस कुलमें कलंकरूप हुए।] (ख) 'महिसुर श्राप बस'—यह उत्तम कुलमें होनेपर भी अघरूप होनेका हेतु बताया। इससे जनाया कि विप्रशाप अधिक प्रबल है, इसीसे विप्रशापका प्रभाव पड़ा, कुलका प्रभाव न पड़ा। विप्रशापके कारण कुलका प्रभाव न पड़ा। 'अघरूप' का भाव कि कुल पावन आदि है, पर रावणादि पापी हैं, इनके सब काम कुलधर्मके विपरीत हैं। 'अघरूप' कहनेसे पावन, अमल, अनूप तीनोंके विपरीत अपावन, मलिन और तुच्छ विशेषण इनमें घटित हुए। पुलस्त्य मुनिके कुलमें और हों राक्षस! यहाँ 'द्वितीय विषम अलंकार' है।

कीन्ह बिबिध तप तीनिहुँ भाई। परम उग्र नहिं बरनि सो जाई ॥१॥
गएउ निकट तप देखि बिधाता। मांगहु बर प्रसन्न मैं ताता ॥२॥
करि बिनती पद गहि दससीसा। बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा ॥३॥
हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे ॥४॥

शब्दार्थ—उग्र = उत्कृष्ट, प्रचंड, भयंकर, कठिन। बारे = छोड़कर, बचाकर, सिवा। (यह शब्द सं० 'वारण निवारण' निषेधसे बना जान पड़ता है)।

अर्थ—तीनों भाइयोंने अनेक तथा अनेक प्रकारके परम उग्र तप किये। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ १ ॥ तपको देखकर ब्रह्माजी उनके पास गये। (और बोले—) हे तात! मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो ॥ २ ॥ रावणने विनतीकर चरण पकड़कर (ये) वचन कहे—हे जगदीश्वर! सुनिए। हम वानर और मनुष्य (इन) दो जातियोंको छोड़कर किसीके मारे न मरें ॥ ३, ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिबिध तप' यह कि उल्टे लटककर झूले, पंचाग्नि तापे, जल वृष्टिका दुःख सहा, जलशयन किया, उपवास किये, अंग काटकर हवन किये, इत्यादि। (ख) पुनः भाव कि तीनमेंसे किसीने किसी प्रकारका किया, किसीने किसी प्रकारका किया इससे 'बिबिध' तप कहा। 'कीन्ह तीनिहु भाई' से सूचित हुआ कि तीनों भाइयोंने एक साथ तप करना प्रारंभ किया। इससे यह भी पाया गया कि तीनों भाई एक संग कुछ ही दिनके आगे पीछे पैदा हुए, तीनोंमें थोड़े ही दिनोंकी छोटाई बड़ाई है। पुनः, इससे यह जनाया कि जो जो तप करते थे वह तीनों साथ ही साथ करते थे, इससे प्रसन्न होकर तीनों भाइयोंको ब्रह्माने साथ ही वर दिया। तपका वर्णन नहीं हो सकता इससे वर्णन न किया। 'परम उग्र' का भाव कि अन्य तपस्वियोंका तप उग्र होता था और इनका 'परम उग्र' है। क्योंकि यह राक्षसतप है। (मनुष्यकी अपेक्षा राक्षस क्लेश सहनेमें, तितिक्षामें, अत्यन्त अधिक दृढ़ एवं कठिन होते हैं, इसीसे भयानक कष्ट उन्होंने उठाए, इतना कि कहा नहीं जाता)।

नोट—१ "कीन्ह बिबिध तप" इति। उग्रतप क्यों किया गया? पद्मपुराणमें अगस्त्यजीने श्रीरामजीसे कहा है कि एक बार कुबेरजी विमानपर अपने पिताके पास दर्शन करने गए और चरणोंपर पड़कर उनकी स्तुति करके अपने भवनको लौट गये। रावणने देखकर मातासे पूछा कि ये कौन है जो मेरे पिताके चरणोंकी सेवा करके लौट गए हैं। इन्हें किस तपस्यासे ऐसा विमान मिला है? रावणके वचन सुनकर माताको रोष आ गया और वह अनमनी होकर बोली—"अरे! मेरी बात सुन। इसमें शिक्षा ही शिक्षा भरी

हुई है। जिसके विषयमे तू पूछ रहा है वह मेरी सौतके कोखका रत्न कुबेर है जिसने अपने जन्मसे अपनी माताके विमल वशको अधिक उज्ज्वल बना दिया है। परन्तु तू तो मेरे गर्भका कीडा है, केवल अपना पेट भरनेमे ही लगा हुआ है। कुबेरने तपस्यासे भगवान् शङ्करको सतुष्ट करके लकाका निवास, मनके समान वेगवाला विमान तथा राज्य और सपत्तिया प्राप्त की है। ससारमे वही माता धन्य, सौभाग्यवती तथा महान् अभ्युदयसे सुशोभित होनेवाली है, जिसके पुत्रने अपने गुणोंसे महापुरुषोंका पद प्राप्त कर लिया हो।" माताके क्रोधपूर्ण वचनोंने रावणको उग्र तपके लिये उत्तेजित किया। वह बोला—"माँ! कीडेकी-सी हस्ती रखनेवाला वह कुबेर क्या चीज है? उसकी थोडी सी तपस्या किस गिनतीमे है? बहुत थोडे सेवकोंवाला उसका राज्य क्या है? यदि मै अन्न, जल, निद्रा और क्रीडाका सर्वथा परित्याग करके ब्रह्माजीको सतुष्ट करनेवाली दुष्कर तपस्याके द्वारा समस्त लोकोंको अपने अधीन न कर लूँ तो मुझे पितृलोकके विनाशका पाप लगे।" रावणका निश्चय जानकर उसके दोनों भाइयोंने भी तपका निश्चय किया।

वाल्मीकीयकी केकसीने महात्मा कुबेरको पिता विश्रवाके दर्शनोंको जाते हुए देख दशग्रीवकी दृष्टि उनकी ओर आकर्षित करते हुए उससे कहा है—'हे पुत्र! अपने भाई वैश्रवणको देखो, वह कैसा तेजस्वी है! तुम उसके भाई हो किन्तु देखो तुममे और उसमे कितना अतर है। तू भी उन्हींके समान होनेका प्रयत्न कर।' यथा "पुत्र वैश्रवण पश्य भ्रातर तेजसावृतम्। भ्रातृभावे समे चापि पश्यात्मान त्वमीदृशम्। ७।९।४२। त्वमपि मे पुत्र भव वैश्रवणोपम.। ४३।" रावणने ईर्ष्यायुक्त हो उसी समय उनके समान या उनसे अधिक होनेकी प्रतिज्ञा की। अ० रा० मे भी ऐसा ही है।

२ यह तप गोकर्णक्षेत्रमे किया गया। यथा "आगच्छदात्मसिद्ध्यर्थं गोकर्णस्याश्रम शुभम्। वाल्मी० ७।९।४७।"

३ "विविध तप" इति। महाभारतमे जिन रावणादिकी कथा है उनका तप इस प्रकारका था—रावण एक सहस्र वर्ष वायु भक्षण करके एक पैरपर खडा होकर पचाग्नि सेवनपूर्वक तप करता रहा। इसके पश्चात् उसने अपना सिर काटकर हवन किया। यथा "अतिष्ठदेकपादेन सहस्र परिवत्सरान्। वायुभक्षो दशग्रीव. पचाग्नि. सुसमाहित। १६। पूर्णेवर्षसहस्रे तु शिरश्छित्वा दशानन। जुहोत्यग्नौ दुराधर्षस्तेनऽतुष्यज्जगत्प्रभु.। २०।" आगे जो ब्रह्माजीने वरदान दिया है उससे अनुमान होता है कि प्रत्येक सहस्र वर्षके अन्तमे वह एक शिर काटकर हवन कर देता था। यथा 'यथाऽग्नौ हुत सर्व शिरस्ते महदीप्सया। तथैव तानि ते देहे भविष्यन्ति यथेप्सया।३०।' अर्थात् जो जो सिर तुमने अग्निमे हवन किये हैं वे सब तुम्हारी इच्छानुसार फिरसे हो जायँगे। वाल्मीकीय रा० मे नौवार सिरोंका हवन करना स्पष्ट लिखा है। दसवीं बार जब वह दसवाँ शिर काटनेको हुआ तब ब्रह्माजीका आगमन हुआ। यथा "दशवर्षसहस्राणि निराहारो दशानन.। पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्चाग्नौ जुहाव स। १०। एव वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमु। शिरासि नव चाप्यस्य प्रविष्टानि हुताशनम्। ११। अथ वर्षसहस्रे तु दशमे दशम शिर.। छेत्तुकामे दशग्रीवे प्राप्तस्तत्र पितामह। १२। वाल्मी० ७।१०।" अध्यात्म रा० मे भी लगभग यही श्लोक है। पद्म पु० के रावणने सूर्यकी ओर दृष्टि लगाए एक पैरसे खडे होकर दस हजार वर्ष तक तप किया।

वाल्मीकीयमे कुम्भकर्णका तप इस प्रकार है कि धर्म और सन्मार्गमे स्थित होकर ग्रीष्ममे पचाग्नि सेवन करता था, वर्षाकालमे वीरासनसे बैठकर वर्षा सहन करता था और जाडेमे जलमे बैठता था, इस प्रकार उसने दस हजार वर्ष तप किया। और महाभारतके कुम्भकर्णने उपवासकर पृथ्वीपर 'अध शायी' होकर तप किया।

वाल्मीकीयके विभीषणने धर्मपूर्वक पवित्रतासे एक पैरपर खडे होकर पाँच हजार वर्ष नियम किया। इस नियमको समाप्त करके तब ऊर्ध्वबाहु होकर सिर ऊपर किये हुये सूर्यपर दृष्टि जमाए हुए पाचहजार

वषतक वेदपाठ करते रहे। इस तरह दसहजार वर्षका तप पूरा किया। महाभारतके विभीषणजी प्रथम एक सूखा पत्ता खाकर जप करते रहे। फिर उपवास करते हुए जपपरायण रहे। (वाल्मी० उ० सर्ग १०, महाभारत वन० अ० २७५)।

भिन्नभिन्न ग्रंथोंमें भिन्नभिन्न प्रकारका तप लिखा है। इसीसे कविने 'विविध तप' कहकर छोड़ दिया।

टिप्पणी—२ 'गयउ निकट ' इति। (क) 'गयउ निकट'—भाव कि औरोंको प्राय आकाशवाणी द्वारा वर देते हैं पर यहाँ निकट आए। इसका कारण आगे कहते हैं कि इनका भारी तप देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए, इसीसे प्रत्यक्ष आकर दर्शन दिये। यथा "विधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा।", वैसे ही इनका अपार तप देखा तब आए। (ख) 'तप देखि'—अर्थात् जब तीनों भाई अंग काट काटकर हवन करने लगे तब ब्रह्मा निकट आए। [कुंभकर्ण और विभीषणका भी अपने अपने अंग काटकर हवन करनेका प्रमाण हमें नहीं मिला। विभीषणजी तो ऐसा तामसिक तप कभी न करेंगे। 'माँगहु बर' क्योंकि देवताओंकी प्रसन्नता व्यर्थ नहीं जाती]। प्रसन्न हैं, इसीसे वात्सल्यभाव से 'तात' संबोधन किया। पुन रावण ब्रह्माका प्रपौत्र है, इससे 'तात' कहा। क्रमसे वर देते हैं। रावण ज्येष्ठ है, इसीसे प्रथम उसके पास गए।

३ 'करि बिनती पद गहि ' इति। (क) रावण बहुत बड़ा वर माँगना चाहता है, इसीसे उसकी प्राप्तिके लिये उसने पहले विनय की और चरणोंपर गिरा। तब वर मागा। यथा 'मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।१।१६१।' विनती यह की कि 'आप हमपर प्रसन्न क्यों न हों, आपका प्रसन्न होना यथार्थ ही है। क्योंकि आप हमारे प्रपितामह ही हैं, इत्यादि।' यह कहकर चरण पकड़ लिये कि हम आपके चरणों की शरण हैं। पुन, (ख) 'पद गहि दससीसा' से जनाया कि बीसों हाथों से चरण पकड़े, और दशो मस्तक चरणोंपर रख दिये। [तथा दशों मुखोंसे विनती भी की थी। परन्तु यदि रावणने तो शिर काटकर हवन कर दिये हैं तब ब्रह्माजी वर देने आए जैसा वाल्मीकीय, महाभारत आदिका मत है तब तो यह भाव शिथिल हो जाता है।] (ग) 'सुनहु जगदीसा' संबोधन का भाव कि आप जगत्के स्वामी हैं, आपकी सृष्टिमें हम किसीके मारे न मरें। यथा 'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसवर्ती नर नारी।१८२।१२।' पुन भाव कि जितने भी जगदीश हैं, ब्रह्मा विष्णु महेश और लोकपालादि, उनके मारे भी हम न मरें।

४ "हम काहू के मरहिं न मारे ' इति। (क) हम बहुवचन कहनेका भाव कि हम तीनों भाई किसीके मारे न मरें। किसीके मारे न मरें, इस कथनसे सूचित हुआ कि रावणके हृदयमें तीनों लोकोंके विजयकी इच्छा है। (ख) 'बानर मनुज जाति दुइ बारे' इति। इन दो को छोड़नेका भाव कि ये दोनों राक्षसोंके भक्ष्य हैं, यथा 'कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा।६।८।' अथवा, ब्रह्मा और शिवजीने रावणकी वाणीके साथ छल किया। यथा 'रावन कुंभकरन बर मागत सिव बिरंचि बाचा छले। गी० ५।४१।' (नहीं तो उसका काम तो 'हम काहू के मरहिं न मारे' से चल जाता। आगे कुछ कहनेकी आवश्यकता न थी।) जब छल हुआ तब रावणने मृत्युकी रास्ता मागी। प्रथम वाक्यमें मृत्युके लिये रास्ता न थी।

नोट—४ 'बानर मनुज जाति दुइ बारे' इति। महाभारतके रावणको जब ब्रह्मा वर देने गए तो उन्होंने प्रथम ही यह कहा कि अमरत्वको छोड़कर जो वर चाहो माँग लो। यथा "प्रीतोऽस्मि वो निवर्तध्वं वरान् वृणुत पुत्रकाः। यद्यदिष्टमृते त्वेकममरत्वं तथास्तु तत्॥ २२॥ अ० २७५।" तब उसने देव गंधर्वादिके नाम गिनाकर उनसे पराजय न होना माँगा। तब ब्रह्माने कहा जिनसे तुमने अभयत्व मांगा उनसे अभय रहोगे। और अपनी तरफसे कहा कि मनुष्यको छोड़कर तुम सबसे अभय रहोगे, ऐसा ही हमने विधान किया है।

रावण इस वरसे संतुष्ट हो गया क्योंकि उसने सोचा कि मनुष्य तो मेरे आहार हैं, वे मेरा क्या कर सकते हैं। विष्णु और इन्द्रादि देवता ही जब मुझे नहीं मार सकते तब मनुष्य क्या है ?

वाल्मीकीयमें ब्रह्माने वर माँगनेको कहा तब रावणने अमरत्व माँगा। इसपर ब्रह्माने कहा कि सबसे अमरत्व नहीं मिल सकता। तुम अन्य वर माँगो। यथा "नास्ति सर्वामरत्वं ते वरमन्यं वृणीष्व मे। ७।१०।१७।" तब उन्होंने सुपर्ण, नाग, यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षस तथा देवताओंसे अमरत्व माँगा और कहा कि मनुष्यादि अन्य प्राणियोंसे हमें चिन्ता नहीं है। वे तो तृणके समान हैं (यथा "सुपर्णनागयक्षाणां दैत्यदानवरक्षसाम्। अवध्योऽहं प्रजाध्यक्ष देवतानाञ्च शाश्वत ॥ १९ ॥ नहि चिन्ता ममान्येषु प्राणिष्वमरपूजित। तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादयः। ७।१०।२०।"

अ० रा० में ब्रह्माने वर माँगनेको कहा जैसा मानसमें है। रावणने 'सुपर्णनाग ''' से अमरत्व माँगा और मनुष्यको तृणवत् मानकर स्वयं छोड़ दिया। वाल्मीकीयमें 'मानुषादयः' है और अ० रा० में—'तृणभूताय मानुषाः' है। 'मानुषादयः' में वानर और मनुष्य दोनों आ जाते हैं जिन्हें मानसकल्पके रावणने तृणवत् जानकर छोड़ दिया। ☞ श्रीमद्गोस्वामीजीके अक्षरोंकी स्थिति बड़ी विलक्षण है। उनके रावणने भी प्रथम यही कहा कि 'हम काहू के मरहिं न मारें।' इतना एक चरणमें लिखकर तब दूसरे चरणमें 'बानर मनुज जाति दुइ बारें' कहा। इस तरह वाल्मीकीयका भाव भी इसमें आ जाता है। अर्थात् प्रथम उसने अमरत्व माँगा। यह वर मिलता न देख उसने दो को बरा दिया।

४—यहाँ लोग यह शंका करते हैं कि वानरसे तो वह मरा नहीं इनको क्यों छोड़ा ? समाधान—(क) तुच्छ जान दो को छोड़ दिया, यह आवश्यक नहीं था कि जिसके हाथ मृत्यु हो उसीको छोड़ता। पुनः, समाम में मनुष्य और वानर दोनों रहे। उसका तात्पर्य यही था कि इनको छोड़ किसीके हाथ न मरूँ, इनमेंसे कोई मार सके तो मार सके। रावण तो जानता था कि ब्रह्माने मेरी मृत्यु मनुष्यसे लिखी है, यथा 'नरकें कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची। ६।२८।' पर इन्हें तुच्छ समझ विश्वास न करता था कि इनमेंसे किसीसे भी मेरी मृत्यु होगी। इससे दोनोंको बरा दिया। पुनः, (ख) इसी प्रथमें यह भी प्रमाण है कि उसने अपनी मृत्यु 'मनुज' से माँगी, यथा 'रावन मरन मनुज कर जाँचा। प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साँचा। ४९।१।' इससे यह भाव लोग कहते हैं कि अपने लिए मनुज और निशाचरोंके लिए वानर कहा। अतएव 'हम' बहुवचन कहा जिससे वर सार्थक हो जाता है। (यहाँ 'मनुज' शब्द श्लिष्ट है। 'मनुष्य' अर्थके अतिरिक्त दूसरा अर्थ 'मनु-प्रार्थित तथा उन्हींके द्वारा जायमान होनेवाले' यह भी देता है। अर्थात् मेरी मृत्यु उनके द्वारा हो जिन्होंने मनुको वर दिया था कि हम तुम्हारे पुत्र होंगे, मनुष्य रूप धारण करेंगे।)

एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा। मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा ॥५॥
पुनि प्रभु कुंभकरन पहिं गयऊ। तेहि बिलोकि मन बिसमय भयऊ ॥६॥
जौं एहिं खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि संसारू ॥७॥
सारद प्रेरि तासु मति फेरी। माँगेसि नींद मास षट केरी ॥८॥
दोहा—गए बिभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर माँगु।
तेहिं माँगेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु* ॥१७७॥

अर्थ—(शिवजी कहते हैं—) मैंने और ब्रह्माने मिलकर उसको वर दिया—'ऐसा ही हो। तुमने बड़ा तप किया है' ॥५॥ फिर प्रभु (ब्रह्माजी) कुंभकर्णके पास गए। उसको देखकर (उनके) मनमें बड़ा

* अनुराग—१६६१।

विस्मय हुआ। जो यह खल नित्य आहार करेगा तो सारा संसार ही उजड़ जायगा ॥ ७ ॥ (ब्रह्माने यह सोचकर) सरस्वतीको प्रेरित कर उसकी बुद्धि फेर दी (जिससे उसने) छः महीनेकी नींद माँगी ॥८॥ तत्पश्चात् वे विभीषणजीके पास गए और कहा—पुत्र ! वर माँगो। उसने भगवान्‌के चरण कमलोंमें विशुद्ध अनुराग माँगा ॥१७७॥

टिप्पणी—१ 'एवमस्तु तुम्ह ' इति। (क) 'तुम्ह बड़ तप कीन्हा' कहकर 'एवमस्तु' कहनेका भाव कि यह वरदान बहुत कठिन है, देने योग्य नहीं है हम न देते परंतु तुमने बड़ा तप किया है इससे तुमको देते हैं। (ख) 'मैं ब्रह्मा मिलि ' इति। मिलकर वर देनेका भाव कि उसने तप करके दोनों देवताओंको संतुष्ट किया, इसीसे दोनोंने वर दिया। इसने अपने मस्तक काट-काटकर शिवजीको अर्पण किये थे। यथा 'सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाए। एक एक के कोटिन्ह पाए। ६।६३।', "जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिए दस माथ। ५।४६।", इसीसे ब्रह्माके साथ शिवजीने भी वर दिया। कुंभकर्ण और विभीषणको केवल ब्रह्माने वर दिये। यदि तीनोंको दोनोंने वर दिया होता तो 'मैं ब्रह्मा मिलि' यह वाक्य बीचमें न कहते तीनों भाइयोंको वर देकर तब यह वाक्य लिखते। पुनः 'तेहि' एकवचन है इससे भी केवल रावणका दोनोंका वर देना सिद्ध होता है। अन्यथा 'तिन्हहि' शब्द देते। पुनः, मिलकर वर देनेका भाव कि यदि दोनों साथसाथ वर न देते तो वह तपसे निवृत्त न होता। एकसे वर पाकर फिर दूसरेसे वर प्राप्त करनेके लिए तप करता रहता। अनर्थके दो वरदान देने पड़ते। इसीसे एक ही वरदानमें दोनों शामिल हो गए। यह चतुरता है। (ग) ब्रह्माजी वर देने आए थे, यथा 'गयउ निकट तप देखि बिधाता।' और वरदान देकर उनका जाना भी कहा है, यथा 'तिन्हहि देइ बर ब्रह्म सिधाए। १७८।१।' शिवजी कहाँसे आ गए। वे अपना होना स्वयं कह रहे हैं। उनका न तो कहीं आना लिखा गया न जाना ? वे कहीं आए गये नहीं (रावण आदि शिवजीके स्थानमें ही तप कर रहे थे उसने उनको ही तो सिर काट काटकर चढ़ाए थे। यथा 'सिर सरोज निज करन्हि उतारी। पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी। ६।२५।' 'हुनै अनल महँ बार बहु हरषि साखि गौरीस। ६।२८।' वहाँ शिवजीकी मूर्ति होगी। ब्रह्माजी वर देने लगे तब वे भी प्रगट हो गए)। इसीसे उनका आना न लिखा केवल वर देना लिखा। [अथवा, 'विधाता' शब्दसे दोनोंका बोध होता है। क्योंकि पुराणोंमें शिवजीको भी धारण पोषण करनेवाला कहा है। (रा० प्र०)। इस तरह 'गएउ निकट तप देखि विधाता' में दोनोंका आगमन जना दिया। 'विधाता' शब्द एकवचन है उसीके अनुसार 'गएउ' क्रिया दी गई। वाल्मीकीय, महाभारत, पद्मपुराण और अध्यात्ममें केवल ब्रह्माका वर देना कहा गया है। वि० त्रि० कहते हैं कि 'मैं' प्रथम कहनेसे 'एवमस्तु' कहनेमें शिवजी आगे दिखाई पड़े।

२—'पुनि प्रभु कुंभकरन पहिं गएऊ। ' इति। (क) 'पुनि' का भाव कि क्रमसे वरदान दिये। प्रथम रावणको तब उससे छोटे कुंभकर्णको तब उससे छोटे बिभीषणको। प्रभु'—कुंभकर्णकी मति फेर देंगे कुछ का कुछ कहला दिया ऐसे समर्थ हैं। इसीसे 'प्रभु' कहा—'कर्त्तुमन्यथाकर्त्तुमसमर्थ प्रभु'। 'कुंभकरन पहिं गएऊ'—('प्रभु' 'गएऊ' एकवचन शब्दोंसे जनाया कि इसे केवल ब्रह्माजीने वर दिया। शिवजी रावणको वर देकर वहीं अन्तर्धान हो गए)। पुनः, 'गएऊ' से सूचित किया कि तीनों भाई कुछ कुछ दूरी पर अलग-अलग बैठकर तप कर रहे थे, एक जगह न थे। (ख) 'तेहि बिलोकि ' से सूचित हुआ कि इतना भारी स्वरूप है कि चाहे तो समस्त सृष्टिको खा डाले। पुनः, कुंभकर्ण जन्म होते ही कुछ दिन बाद तप करने लगा। हजारों वर्ष बीत गए इसने कुछ भी भोजन नहीं किया, अब भोजन करेगा। इसीसे ब्रह्माजीको संदेह हुआ जैसा आगे लिखते हैं—'जौं एहि खल०'।

नोट—१ 'तेहि बिलोकि मन बिसमय भएऊ" इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब ब्रह्माजी कुंभकर्णको वर देनेको हुए तब उनके साथके देवताओंने उनसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि आप इसे वर न

दें। क्योंकि बिना वर पाए ही यह तीनों लोकोंको सताता रहा है। देखिए, इसने नन्दनवनमें सात अप्सराओं और इन्द्रके दश सेवकोंको खा डाला। ऋषियों और मनुष्योंकी तो गिनती ही नहीं कि कितने खा डाले। वर पानेपर तो यह तीनों लोकोंको खा डालेगा। यथा "नन्दनेऽप्सरस सप्त महेन्द्रानुचरा दश। ३७। अनेन भक्षिता ब्रह्म ऋषयो मानुषास्तथा। अलब्धवरपूर्वेण यत्कृत राक्षसेन तु। ३८। तदेव वरलब्ध स्याद्भक्षयेद्भुवनत्रयम्।" आप इसे वरके बहाने अज्ञान दीजिए। देवताओंकी प्रार्थना सुनकर ब्रह्माने सरस्वतीका स्मरण किया। और उनको आज्ञा दी कि कुंभकर्णकी जिह्वापर बैठकर इससे कहलाओ। यथा 'वाणि त्व राक्षसेन्द्रास्ये भव यादेवतेप्सिता। ७।१०।४३।' सरस्वती मुखमें बैठ गई।

अध्यात्म रा० में सरस्वतीद्वारा मोहित कुंभकर्णने वर माँगा कि मैं छ मास सोऊँ और एक दिन भोजन करूँ।—'स्वप्स्यामि देव षण्मासान्दिनमेकं तु भोजनम्। ७।२।२१।'

मानसकल्पके कुंभकर्णको तो देखकर स्वय ब्रह्माजी विस्मित हो गए, इसीसे उन्होंने स्वय सरस्वतीको प्रेरित किया।

२—प्र० स० में हमने लिखा था कि "कुंभकर्ण पर्वताकार विशाल था। पैदा होते ही इसने एक हजार प्राणियोंको खा डाला। इन्द्रने वज्र चलाया वह भी सह लिया और उलटे ऐरावतका दाँत उखाडकर ऐसा मारा कि वे भगे। इसने सात अप्सराओं, दस देव दूतों और अगणित ऋषियोंको खा डाला। जब ब्रह्माजी वर देनेको हुए तब देवताओंने सब वृत्तान्त स्मरण कराया। इससे सरस्वती द्वारा उन्होंने वाणी फेर दी, मति फेर दी। 'इन्द्र' पद माँगता सो उसके बदले 'निद्र' माँगा। वा, 'छः मास जागरण और एक दिन नींद' माँगता सो उसका उल्टा माँगा।"

३—वाल्मीकीय और अध्यात्म रा० में रावणके पश्चात् विभीषणको वर दिया गया तब कुंभकर्णको। महाभारतमें वही क्रम है जो मानसमें है।

टिप्पणी—३ "जौं एहि खल·· " इति। 'खल' कहा, क्योंकि यह अन्नादिसे पेट न भरेगा किंतु सब जीवोंको खायेगा। खल जीवोंका भक्षण करते हैं, यथा 'कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं। ५।३।', 'खल मनुजाद द्विजामिषभोगी। ६।४४।' इत्यादि। यह किसी जीवको न छोडेगा। 'नित करब अहारू' कहा क्योंकि बिना आहारके कोई रह नहीं सकता। भोजन नित्यप्रति किया जाता है, यह नित्यका काम है। अत यह भी *नित्यप्रति आहार करेगा ही। 'होइहि सब उजारि ससारू'*— भाव कि जीव तो वर्षोंमें जाकर आहारके योग्य होते हैं, और नित्य ही इसे बहुतसा भोजन चाहिए, इतने जीव कहाँसे आयेँगे। इसके भोजनके लिये सारी सृष्टि भी न अँटेगी (पर्याप्त होगी)। सारा ससार ही नष्ट हो जायगा। यथा 'जौं दिन प्रति अहार कर सोई। बिस्व बेगि सब चौपट होई। १८०।५।' ब्रह्माजी सृष्टि रचते हैं इसीसे ससारके उजड़नेकी चिन्ता हुई।

४ 'सारद प्रेरि तासु मति फेरी। ' इति। (क) शारदा बुद्धि फेरनेमें प्रधान हैं। बुद्धिका फेरना इनके अधिकारमें है। इसीसे जहाँ ऐसा काम होता है वहाँ ये ही बुलाई जाती हैं। यथा 'अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि। २।१२।', 'फेरि भरत मति करि निज माया। पालु बिबुधकुल करि छल छाया॥ २।२९५।', इत्यादि। अत उसके द्वारा बुद्धि फेर दी। 'मति फेरी' से जनाया कि अन्य वर माँगने का निश्चय उसने बुद्धिसे किया था। वह बुद्धि उसकी पलट दी। (ख) ब्रह्माने रावणसे वर माँगनेको कहा और विभीषणजीसे भी, यथा 'मागहु बर प्रसन्न मैं ताता।', 'गएउ बिभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर मागु।', किन्तु कुंभकर्णसे वर माँगनेको न कहा। कारण कि कुंभकर्णको देखते ही ब्रह्माजी विस्मयको प्राप्त हो गए, अपनी सृष्टिकी रक्षाकी चितामें पड गए—'तेहि बिलोकि मन बिसमय भएऊ।', और उन्होंने सरस्वतीको बुद्धि फेरनेको प्रेरित किया। जब सरस्वतीने मति फेर दी तब ब्रह्माजीको सामने देखकर कुंभकर्णने स्वय ही

वर मागा। (जब वर माँगनेको ही नहीं कहा तब 'तात', 'पुत्र' या और कोई संबोधनका प्रश्न ही नहीं रह जाता। जब माँगनेको कहते तब संबोधनके संबंधमें शंका हो सकती थी)। (ग) अन्य कल्पोंमें ब्रह्माने रावण और कुंभकर्ण दोनोंको छला जैसा गीतावलीमें कहा गया है। इस कल्पमें केवल कुंभकर्णके साथ छल किया गया। यदि ऐसा न होता तो गोस्वामीजी रावणका भी छला जाना लिखते, केवल इसकी बुद्धिका फेरना न लिखते।

४ 'गए बिभीषण पास पुनि''' इति। [(क) ब्रह्माके लिये बहुवचन क्रियाका प्रयोग हुआ। यह आदर-सम्मानका सूचक है। पूर्व जो वर दिये थे वे अनर्थके थे तथा उनमें छल किया गया था। कुछ बचाकर दिया गया था। अतः वहाँ 'गएऊ' एकवचनका प्रयोग हुआ है। यथा 'गयउ निकट तप देखि बिधाता', 'कुंभकरन पहिं गएऊ।'] (ख) विभीषण सबसे छोटे हैं इसीसे उनके पास सबसे पीछे गये। (संभवतः इसी क्रमसे तीनों बैठे भी होंगे)। (ग) 'पुत्र बर माँगु'—विभीषणजी भक्त हैं। भक्त भगवान्‌की भक्ति करके सब पितरोंका उद्धार करते हैं। इसीसे 'पुत्र' कहा। यथा "पुन्नरकात् त्रायतीति पुत्रः, पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवः इति वायुपुराणे" अर्थात् जो 'पु' नामक नरकसे अपने पितरोंकी रक्षा करे वह 'पुत्र' कहलाता है। ये भक्ति करके अपने पितरोंको कृतार्थ करनेवाले होंगे। [ब्रह्माजी जानते हैं कि रावण अहंकारी है, मान बड़ाई चाहता है। अतः 'गएउ' एकवचनसे सूचित किया कि रावण ब्रह्माजीका भी अपमान करेगा, वैसी ही व्यवस्था कुम्भकर्णकी भी है। विभीषणको अभिमान नहीं था, वह सबका आदर सम्मान करेगा, यह भेद सूचित करनेके लिये विभीषणके पास जानेपर 'गए' और 'पुत्र बर माँगु' शब्दोंका प्रयोग किया गया। रावण और कुम्भकर्णको पुत्र न कहा, क्योंकि वे तो वंशके पितरोंको कलंकित करनेवाले हैं। विभीषण कुलकीर्तिको बढ़ाकर पुत्र नामको सार्थक करेंगे (प० प० प्र०)] (घ) 'माँगेउ भगवंत पद' इति। भगवन्तपदमें अनुराग माँगनेका भाव कि इससे छः ऐश्वर्य वशमें कर लिए। भक्तिसे ऐश्वर्य स्वयं प्राप्त होते हैं। छः ऐश्वर्य, यथा 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।' अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। (विशेष 'भगवान्' शब्दपर दोहा १३ (४) मा० पी० भाग १ पृष्ठ २४२,२४३ में देखिए)। (ङ) 'अमल अनुराग'—भाव कि रावण और कुम्भकर्णने स्वार्थ माँगा और स्वार्थ छल है। यथा 'स्वारथ छल फल चारि बिहाई।' छल अनुरागका मल है। विभीषणने स्वार्थरहित भगवान्‌की भक्ति माँगी। स्वार्थरहित ही अमल है। भानुप्रतापका यह मन्त्री था। उस समय भी यह हरिभक्त था, यथा 'सचिव धरम रुचि हरिपद प्रीती।' अतः राक्षस तनमें भी वह हरिभक्त हुआ। यहाँ 'न मे भक्तः प्रणश्यति। गीता ९।३१।' 'ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहग बर।७।७९।३।' ये वाक्य चरितार्थ हुए।

तिन्हहि देइ बर ब्रह्म सिधाए। हरषित ते अपने गृह आए॥ १॥
मय-तनया मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा॥ २॥
सोइ मय दीन्हि रावनहि आनी। होइहि जातुधानपति जानी॥ ३॥
हरषित भएउ नारि भलि पाई। पुनि दोउ बंधु बिआहेसि जाई॥४॥

शब्दार्थ—"मय"—यह दैत्य कश्यपका पुत्र था। दिति इसकी माताका नाम है। यह बड़ा शिल्पी और मायावी था। हेमा अप्सरासे इसके दो पुत्र मायावी और दुंदुभी और एक कन्या मन्दोदरी हुई। त्रिपुरासुरने इसी दैत्यसे अपने तीनों विमानरूपी पुर बनवाए थे जो तीनों लोकोंमें बिना रोकटोकके जाते थे।

* रानी—वै०।

यह दानवोंका विश्वकर्मा था। श्रीकृष्णजी इसे चक्र चलाकर मारना और अग्निदेव जला डालना चाहते थे। अर्जुनने इसकी रक्षा की थी। श्रीकृष्णजीके कहनेसे इसीने श्रीयुधिष्ठिर महाराजके लिये मणिमय सर्व गुणसपन्न दिव्य सभाका निर्माण किया था, जो देवता, मनुष्य एव असुरोंके सपूर्ण कला-कौशलका नमूना था। इसीने देवदत्त नामक शङ्ख अर्जुनको और दैत्यराज वृषपर्वाको गदा भीमसेनको दी थी। तनुजा = तनसे जायमान = लडकी, कन्या। मदोदरी—यह भी उस पचकमेंसे एक है जिनका नित्य स्मरण महापातक-का नाशक है। यथा "अहल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मदोदरी तथा। पचक ना स्मरेन्नित्य महापातक नाशनम्।" (आचारमयूख)। 'पचक ना' का 'पचकन्या' अशुद्ध पाठ करके लोगोंने इनको पच कन्या कहा है। विशेष मा० पी० भाग १ दोहा २४ (४-५) पृष्ठ ४१० में देखिए। ललामा = रत्न, सुदर। यथा "ललामा सुदरी श्रेष्ठ. ललामो रत्नमुच्यते इत्यनेकार्थ।" नारि ललामा-स्त्री रत्न, स्त्रियोंमें शिरोमणि। जातुधान (यातुधान)–राक्षस।

अर्थ—ब्रह्माजी उन्हें वर देकर चले। वे प्रसन्न होकर अपने घर आए॥ १॥ मय (दानव) की मदोदरी नामकी कन्या जो परम सुदरी और स्त्रियोंमें शिरोमणि थी उसको मयने ले आकर रावणको यह जानकर दी कि वह निशाचरोंका राजा होगा॥ २, ३॥ अच्छी स्त्री पाकर वह प्रसन्न हुआ। फिर उसने जाकर दोनों भाइयोंका विवाह किया॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'तिन्हहि देइ बर ' इति। ब्रह्माने रावणको वर दिया यह लिखा गया—'एव मस्तु तुम्ह बड तप कीन्हा', पर कुभकर्ण और विभीषणको 'एवमस्तु' कहना नहीं लिखा गया। इसीसे यहाँ 'तिन्हहि' शब्द देकर सबको 'एवमस्तु' कहना और वर देना सूचित कर दिया। 'तिन्हहि सिधाए। हरपित आए' का भाव कि उधर ब्रह्माजी ब्रह्मलोकको चले इतनेहीमें ये सब मारे हर्षके अपने घर श्लेष्मातक वनमें आ गये। (ख) 'हरपित' का भाव कि रावण और कुभकर्णके साथ छल हुआ जिससे रावणने नर वानरके हाथ मृत्यु और कुभकर्णने छ: मासकी नींद माँगी। दोनों भाइयोंको मालूम नहीं हुआ कि उनके साथ छल हुआ है, इसीसे हर्षित आए। (रावणने स्वय नर वानरको छोड दिया, उनसे अभयत्व नहीं मागा। केवल उनको तुच्छ समझकर)। यदि छल मालूम होता तो पछताते। [यही मत अध्यात्मका जान पडता है जैसा "सरस्वती च तद्वक्त्रान्निर्गता प्रययौ दिवम्। २२। कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा चिन्तयामास दु खित। अनभि प्रेतमेवास्माकं निर्गतमहो विधि। २३। (७।२)।" अर्थात् सरस्वतीके निकल जानेपर वह दु खित हो सोच करने लगा कि "अहो भाग्यका चक्र तो देखो। जिसकी मुझे इच्छा नहीं वह बात मेरे मुँहसे कैसे निकल गई ?" इन शब्दोंसे प्रकट होता है। महाभारतके कुम्भकर्णको नहीं मालूम हुआ। पर वाल्मीकीयके कुम्भ-कर्णने अनुमानसे जान लिया कि देवताओंने उसे मोहित कर दिया था। यथा "अह व्यामोहितो देवैरिति मन्ये तदागतै। वाल्मी० ७।१०।४८।" (ग) 'गृह आए'—भाव कि ब्रह्माके वरसे तीनों लोकोंको जीतनेका सामर्थ्य प्राप्त हो गया तो भी लोकपालोंको जीतनेके लिये तुरत न गया, क्योंकि ऐसा साहस करना नीतिके विरुद्ध है। अभी चढाईका समय नहीं है, समय पाकर धावा करेंगे। इसीसे अभी (सबको समाचार देने आदिके लिये) घर आए। [विश्रवा मुनि जिस वनमें तप करते थे उसी वनमें अभीतक ये माता सहित रहते थे, वहीं गए। यथा 'एव लब्धवरा सर्वे भ्रातरो दीप्ततेजस। श्लेष्मातकवन गत्वा तत्र ते न्यवसन् सुखम्। वाल्मी० ७।१०।४९।']

२ (क) 'मय तनुजा' से कुलकी सुन्दर (उत्तम कश्यप कुलकी), 'मदोदरि नामा' से नाम भी सुदर (पतली कमरवाली। पतली कमर सौंदर्यमें गिनी गई है। शास्त्रमें जिन और जिस प्रकारके नामोंका निषेध है वैसा यह नाम नहीं है), 'परम सुन्दरी' से स्वरूपकी सुन्दरता और 'नारि ललामा' से सुन्दर गुणों-वाली जनाया। पुन, (ख) 'परम सुदरी' है अर्थात् रावणकी अन्य सब रानियाँ भी सुन्दर हैं, यथा 'देव जच्छ गधर्व नर किन्नर नागकुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुदरि बर नारि। १८२।' देवयक्षादि

की कन्याएँ जो इसकी रानियाँ हुईं वे भी बहुत सुन्दर हैं पर यह 'परम सुंदर' है। 'ललामा' का भाव कि सब रानियाँ श्रेष्ठ हैं—'सुंदरि बर नारि', वैसी ही यह भी श्रेष्ठ है, (सबमें रत्नरूप है, शिरोमणि है)। [अ० रा० में जो 'सुता मन्दोदरीं नाम्ना ददौ लोकैकसुन्दरीम्। ७।२।४०।' है, वही यहाँ 'तनुजा, मदोदरि नामा', 'दीन्हि', 'परम सुंदरी नारि ललामा' है। परम सुंदरी नारि ललामा = लोकोंमें एक ही सुंदरी। वाल्मी० में लिखा है कि यह इतनी सुन्दर थी कि इसे देखकर हनुमान्‌जीको भ्रम हुआ कि यही सीता तो नहीं है। यथा "गौरीं कनकवर्णाङ्गीमिष्टामन्तःपुरेश्वरीम्। कपिर्मन्दोदरीं तत्र शयानां चारुरूपिणीम्॥ स तां दृष्ट्वा महाबाहुर्भूषितां मारुतात्मजः। तर्कयामास सीतेति रूपयौवनसम्पदा ।५।१०।५२-५३।"

३ 'दीन्हि रावनहि आनी' इति। भाव कि विवाहका लग्न आदि न था फिर भी उसने शीघ्र ही अपनी कन्या लाकर उसको अर्पण कर दिया। इसका कारण अगले चरणमें कहते हैं कि 'होइहि जातुधान पति' अर्थात् यह राक्षसोंका राजा होगा। 'जानी'—क्योंकि ब्रह्माके वरसे रावण समस्त देवतादिसे अवध्य है, (सब भाइयोंमें बड़ा है और यह वर इसीको मिला है दूसरोंको नहीं), अतः यह सबको जीतेगा, सबपर इसका अधिकार हो जायगा। यह जानकर अपनी कन्या प्रथम ही दी जिसमें यातुधानपति होनेपर मेरी कन्या ज्येष्ठ पटरानी हो, कोई दूसरा अपनी कन्या न लाकर पहले ब्याह दे। 'दीन्हि आनी' से जनाया कि डोला विवाह हुआ। [वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रावण शिकार खेल रहा था। उसी समय मय मंदोदरी सहित उसी वनमें पहुँचा। रावणने उसे देखकर उसका तथा कन्याका परिचय चाहा। मयने अपने वंश तथा कन्याका परिचय देकर कहा कि इसके लिए वर खोजने आया हूँ। आप अपना परिचय दें। रावणने अपने वंशका परिचय तथा पिताका नाम बताया। महर्षिका पुत्र जानकर मयने उसके हाथमें मंदोदरीका हाथ पकड़ाकर कहा कि आप इसे पत्नीरूपसे ग्रहण करें। दशग्रीवने बात स्वीकार कर ली। वहीं अग्नि जलाकर उसने मन्दोदरीका पाणिग्रहण किया। (७।१२।४-२०)। मानसके 'दीन्हि आनी' में ये सब भाव आ जाते हैं। केवल भेद इतना है कि मानसकल्पमें मयने यह जानकर उसको दिया कि यह पटरानी होगी और वहाँ ब्रह्माके कुल तथा महर्षिका पुत्र जानकर कन्या दी गई।]

४ 'हरषित भएउ' इति। (क) हर्षित होनेका भाव कि अन्य स्त्रियोंको पाकर इतना प्रसन्न नहीं हुआ। यह 'परम सुंदरी' है इससे प्रसन्न हुआ। [यह भारी रत्न घर बैठे ही मिल गया, अतः हर्षित हुआ। औरोंको तो बलात् लाया, उनके सम्बन्धियोंको जीता, दुःख दिया या मार डाला था, वह भी पहले उदास ही रही होंगी। और मंदोदरीको तो उसका पिता स्वयं आकर अर्पण कर गया, कन्या और पिता दोनों ही प्रसन्न थे। इसीसे रावण भी प्रसन्न हुआ। प्रथम ही यह रत्न मिला अतः हर्ष है] (ख) 'पुनि दोउ बंधु' अर्थात् अपना विवाह हो जानेपर। 'जाइ' का भाव कि अपना ब्याह तो घर बैठे हो गया पर भाइयोंके विवाहके लिये उसे चढ़ाई करनी पड़ी। [वैरोचनकी पौत्री अर्थात् बलिकी बेटीकी बेटी जिसका नाम वज्रज्वाला था कुंभकर्णको ब्याही गई। गन्धर्वराज शैलूषकी लड़की सरमा, जो बड़ी धर्मज्ञा थी, विभीषणजीको ब्याही गई। यथा 'वैरोचनस्य दौहित्रीं वज्रज्वालेति नामतः। २३। तां भार्यां कुम्भकर्णस्य रावणः समकल्पयत्। गन्धर्वराजस्य सुतां शैलूषस्य महात्मनः॥ २४॥ सरमां नाम धर्मज्ञां लेभे भार्यां विभीषणः। वाल्मी० ७।१२।"] (ग) 'बिआहेसि जाई'—रावणने जाकर इनका ब्याह किया। इससे सूचित हुआ कि ब्रह्माजी, पुलस्त्यजी, विश्रवा मुनि और कुबेर ये कोई रावणके काममें सम्मिलित न हुए और न हैं।

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी। बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी ॥५॥
सोइ मय दानव बहुरि सँवारा। कनक रचित मनि भवन अपारा ॥६॥
भोगावति जसि अहिकुल बासा। अमरावति जसि सक्रनिवासा ॥७॥
तिन्ह तें अधिक रम्य अति बंका। जग बिख्यात नाम तेहि लंका ॥८॥

शब्दार्थ—त्रिकूट—तीन शिखरवाला पर्वत। कहते हैं कि सुंदर, कुम्भिला और सुवेला इन तीन शिखरोंके होनेसे इसका त्रिकूटाचल नाम पड़ा। इसीपर लंका बसी है। देवी भागवतके अनुसार यह एक पीठ स्थान है। वामन पुराणके अनुसार इस नामका एक पर्वत क्षीरोदसमुद्रमें है जहाँ नारदजी रहते हैं। कोई ऐसा भी कहते हैं कि एक बार गरुड़ और पवनदेवमें विवाद हुआ कि किसका बल बड़ा है। पवनदेवने प्रचंड वेगसे सुमेरुका त्रिकूट नामक शिखर उखाड़कर समुद्रमें फेंक दिया। यह वही त्रिकूटाचल है। लंका कौन और कहाँ थी इसमें मतभेद है। पर यह निश्चय है कि आजकी लंका वह लंका नहीं है। मँझारी=मध्यमें। बीचमें। में। निर्मित=निर्माण किया, रचा वा बनाया हुआ। दुर्गम=जिसमें किसीकी पहुँच बहुत कठिन हो। सँवारा=सजाया। बंका=बाँका, टेढ़ा, दुर्धर्ष। भोगावति (भोगवती)—नागदेवताओंकी रमणीय पुरीका नाम है जो पातालमें है। यह भोगप्रधान पुरियोंमेंसे एक है।

अर्थ—समुद्रके बीचमें ब्रह्माका निर्माण किया हुआ एक बहुत ही विशाल और दुर्गम त्रिकूटाचल पर्वत था॥ ५॥ उसीको मय दानवने फिरसे सँवारा सजाया। उसमें मणिजटित सुवर्णके अगणित महल थे॥ ६॥ जैसी नागकुलके निवासवाली भोगवती और जैसी इन्द्रके निवासकी अमरावती पुरी है॥७॥ उन (दोनों पुरियों) से भी बढ़कर रमणीय और अत्यन्त दुर्धर्ष तथा जगत्‌में प्रसिद्ध उसका नाम लंका था॥८॥

टिप्पणी—१ 'गिरि त्रिकूट' इति। 'गिरि त्रिकूट', 'सिंधु मँझारी', 'विधिनिर्मित' ये सब 'दुर्गमता' के हेतु प्रथम कहकर तब 'दुर्गम' कहते हैं। अर्थात् पहाड़के ऊपर है; इससे 'दुर्गम' है। फिर चारों ओर समुद्र है। ब्रह्माका बनाया हुआ है अर्थात् ब्रह्माजीने ही इसके चारों ओर पहाड़ बना दिये हैं जिससे चढ़नेका गम्य नहीं। इसीसे 'अति' दुर्गम है। कोई जल्दी इसपर चढ़ नहीं सकता। [वाल्मीकीयमें श्रीहनुमान्‌जीने लंकासे लौटनेपर उसकी दुर्गमताका विस्तारसे वर्णन किया है कि देवदानवादिका तो कहना ही क्या पक्षीकी भी वहाँ पहुँच नहीं। यथा 'देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्। अप्रधृष्या पुरी लंका रावणेन सुरक्षिताम्। ६।१।४।'—'ये वचन स्वयं श्रीरामजीके हैं कि रावणद्वारा सुरक्षित लंकापुरीमें देव, दानव, यक्ष, गंधर्व, नाग और राक्षस भी नहीं जा सकते। सुंदरकांडमें विशेष लिखा गया है।] 'अति भारी' कहा क्योंकि इसके एक ही शिखरपर अस्सी कोसका लंबा और चालीस कोस चौड़ा लंका नगर बसा हुआ है। ☞ यहाँ गिरि दुर्ग वर्णन किया। गिरिदुर्ग समस्त दुर्गोंमें प्रशस्त माना गया है। यथा 'सर्वेषाञ्चैव दुर्गाणां गिरिदुर्गः प्रशस्यते। लंका गिरिके ऊपर है, यथा 'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका। तहँ रह रावन सहज असंका। ५।२८।'

नोट—१ माल्यवान्, सुमाली और माली ये तीनों सुकेशके पुत्र थे। इन तीनोंने मेरु पर्वतपर जाकर घोर तप किया जिससे ब्रह्माजी प्रसन्न होकर इन्हें वर देने आए। इन्होंने ब्रह्माजीसे वर माँग लिया कि हममें परस्पर प्रेम बना रहे, हमें कोई जीत न पावे, हम अपने शत्रुओंका संहार करते रहें और अजर अमर हों। वर पाकर इन्होंने विश्वकर्मासे जाकर कहा कि हमारे निवासके लिये हिमालय, मेरु अथवा मंदराचलपर शिवभवनके समान बड़ा लंबा चौड़ा भवन बना दो। तब विश्वकर्माने उनसे बताया कि दक्षिण समुद्रके तटपर त्रिकूट नामका पर्वत है। वही यहाँ कवि कह रहे हैं—'गिरि त्रिकूट एक सिंधु मँझारी।'—'दक्षिणस्योदधेस्तीरे त्रिकूटो नाम पर्वतः। वाल्मी० ७।५।२२।' फिर विश्वकर्माने बताया है कि उसके पास ही दूसरा बड़ा पर्वत है जिसके बीचके शिखरपर लंका नगरी बसी है जो तीस योजन चौड़ी और सौ योजन लंबी है। यही मानसमें 'अति भारी' से जना दिया। उसके ऊपर पक्षी भी उड़कर नहीं पहुँच सकते; क्योंकि वह चारों ओरसे मानों टाँकियोंसे छीलकर चिकनाया गया है। यथा 'शकुनैरपि दुष्प्रापे टङ्कच्छिन्नचतुर्दिशि। ७।५।२४।' यही मानसमें 'दुर्गम अति' कहकर जना दिया। विश्वकर्माने बताया है कि मैंने लंकापुरीको इन्द्रकी आज्ञासे बनाया था किंतु यहाँ 'विधि निर्मित' कहते हैं। दोनोंका समन्वय इस प्रकार हो सकता है कि त्रिकूटाचल विधिनिर्मित है और अति दुर्गम है। उसपर जो लंका बनी है वह विश्वकर्माने बनायी

होगी । अथवा, लंका भी विधि-निर्मित है । किसी कल्पमें विश्वकर्माने उसे सँवारा होगा इसमें उसने अपनी बनाई कहा हो । फिर राक्षसोंका निवास होनेपर राक्षसोंके विश्वकर्मा मयदानवने उसे फिरसे सजाया हो ।

टिप्पणी—२ 'सोइ मयदानव बहुरि सँवारा' इति । (क) 'बहुरि' का भाव कि प्रथम तो यह ब्रह्माद्वारा निर्मित हुआ, उनकी बुद्धिसे बना । उसीमें फिर मयदानवने अपनी कारीगरी दिखाई, इसीसे लंकापुरी तीनों लोकोंसे अधिक सुन्दर है । जैसा आगे कहते हैं—'भोगावति...' । (ख) मयदानवने इसे सजाया क्योंकि लंका राक्षसोंका किला है और मयदानव राक्षसोंका कारीगर है, जैसे विश्वकर्मा देवताओंके कारीगर हैं । ब्रह्माकी बनाई हुई वस्तुको इसने सँवारा, इससे सूचित हुआ कि यह कैसा भारी कारीगर है । 'सँवारा' अर्थात् विशेष रचना की । लंका कैसी है यह आगे कहते हैं—'कनक रचित...' अर्थात् सोनेकी है, सोनेके भवन हैं, मणियोंसे जटित हैं तथा मणियोंके भी महल बने हैं और अपार हैं ।

३ 'भोगावति जसि...' इति । अहिकुलवासा और शक्रनिवासा कहनेका भाव कि संसारमें भोगवती और अमरावती नामकी पुरियाँ हैं । यहाँ किस भोगवती और अमरावतीको कहते हैं ? इस संदेहके निवृत्त्यर्थ 'अहिकुल...' कहा । अर्थात् अहिकुली नागोंकी जो भोगवती पुरी है और इन्द्रके निवासकी जो अमरावती पुरी है वैसी ही परम सुन्दर पुरी यह है । (स्वर्गमें अमरावती और पातालमें नागदेवोंकी पुरीकी उपमा दी । पृथ्वीपरकी उपमा न दी क्योंकि पृथ्वीमें इसके समान दूसरी उस समय न थी । पुराणोंमें भोगवती और अमरावतीका विस्तृत वर्णन है) ।

४ 'तिन्ह तें अधिक रम्य...' इति । (क) भाव कि भोगवती और अमरावतीसे भी यह अधिक सुन्दर है । लंका मर्त्यलोकमें है और इसके समान यहाँकी कोई पुरी नहीं है इसीसे इस लोककी किसी पुरीका नाम न दिया । अथवा, भाव कि मर्त्यलोकमें जैसी लंकापुरी है वैसी भोगवती और अमरावती भी नहीं हैं, इसीसे यह जगत्में विख्यात है । (ख) 'अति बंका' अत्यन्त टेढ़ा है । अर्थात् दुर्धर्ष है । कोई इसे दबा या जीत नहीं सकता । यथा "विदग्धैरपि दुर्धर्षां लंकानाम महापुरीं । कथं वारं लङ्घ्य दृष्ट्वा विधाने दशानने । हनु० ६।४२ ।" इसी श्लोकका अनुवाद गोस्वामीजीने सुन्दरकाण्डमें किया है 'कहु कपि रावन पालित लंका । केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका । ५।३३ ।' श्लोकके 'दुर्धर्ष' का ही 'अति बंक' अर्थ किया । बंकका यह अर्थ नहीं है कि बनावमें टेढ़ा है । (ग) 'जग बिख्यात नाम'—तात्पर्य कि भोगवती नागदेवोंके निवाससे विख्यात है और अमरावती शक्रनिवाससे, किंतु लंका किसीके निवाससे विख्यात नहीं है । वह स्वयं अपने सौंदर्यसे विख्यात है । (पुनः भाव कि लोक तीन हैं स्वर्ग, पाताल और मर्त्य । स्वर्ग और पातालकी पुरियाँ ऐसी सुन्दर नहीं हैं, इसीसे वहाँ वाले सब जानते हैं और मर्त्यलोकमें तो यह है ही इससे यहाँ विख्यात है) ।

दोहा—खाईं सिंधु गभीर अति चारिहुँ दिसि फिरि आव ।
कनककोट मनि खचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव ॥
हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ जातुधानपति होइ ।
सूर प्रतापी अतुल बल दल समेत बस सोइ ॥१७८॥

अर्थ—अत्यंत गँभीर (अथाह और दुस्तर) समुद्र उसकी खाईं है जो चारों ओर फिरी हुई है । मणिजटित सोनेका बड़ा दृढ़ शहरपनाह वा किलाकी दीवारें हैं जिसकी बनावट वर्णन नहीं की जा सकती । भगवान्‌की प्रेरणासे जिस कल्पमें जो शूरवीर, प्रतापी और अतुलित बल वाला निशाचरराज होता है वही सेनासहित उसमें निवास करता है ॥१७८॥

टिप्पणी—१ (क) 'खाईं सिंधु...', यथा 'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा । ५।३ ।' (ख) पूर्व कहा था कि 'विधि निर्मित दुर्गम अति भारी', अब उस 'अति भारी' का स्वरूप दिखाते हैं कि लंकागढ़

इतना भारी है कि सौ योजनका समुद्र (उसके एक दिशाकी) खाईं है। (इसी प्रकार चारों ओर अगणित योजन लंबा समुद्र है)। गढ़के नीचे समुद्र खाईं सरीखा जान पड़ता है। (ग) 'अति गभीर' से उसकी दुस्तरता दिखाई, यथा "सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिय जलधि गभीरा॥ संकुल मकर उरग झष जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती। ५।५०।" (घ) "कनककोट " इति। भाव कि जैसे घर सब सुवर्णके हैं और मणिरचित हैं, वैसे ही शहरपनाह भी मणिजटित स्वर्णका है। आशय यह कि भीतर बाहर एक रस शोभा है। 'बनाव' अर्थात् जिस कारीगरीका बना है वह कहते नहीं बनता। यथा 'स्वर्णप्राकार संवीता हेमतोरणसंवृता। वाल्मी० ७।५।२५।', 'दृढप्राकारपरिखां हैमैर्गृहशतैर्वृताम्। ७।५।२६।'

२ 'हरि प्रेरित जेहि सोइ' इति। (क) यह वृत्तान्त किलाके दरवाजेके ऊपर लिखा है। (ख) 'हरि प्रेरित'—भाव कि जब भगवान्‌की इच्छा लीला करनेकी होती है तब उनकी इच्छासे रावण लंकापति होता है। (ग) 'जेहि कलप' भाव कि प्रत्येक कल्पमें भगवान्‌का अवतार होता है, यथा 'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं।' (घ) 'जाइ जातुधानपति होइ' का भाव कि जैसे एक कल्पमें जय विजय यातुधानपति हुए, एकमें जलंधर यातुधानपति हुआ, एकमें रुद्रगण यातुधानपति हुए, और इस कल्पमें भानुप्रताप अरिमर्दन यातुधानपति हुए, वैसे ही अनेक कल्प जो हुए और होंगे उनमें जो यातुधानपति हुए और होंगे वही यहाँ निवास करते हैं एवं करेंगे। कोई नियम नहीं है (कि अमुक ही यातुधानपति होगा)। (ङ) 'सूर प्रतापी '—भाव कि यदि इन गुणोंसे युक्त निशाचरपति न हुआ तो वह यहाँ बसने नहीं पाता। देवता लोग राक्षसोंको मारकर इसपर दखल कर लेते हैं। यही बात आगे कहते हैं- 'रहे तहाँ निसिचर '। (च) 'जेहि कल्प०' से सूचित किया कि लंका अनादि है।

नोट—इसमें देवता निवास नहीं करते क्योंकि कहा जाता है कि त्रिकूटाचल हड्डीपर स्थित है। (प्र० सं०)।

> रहे तहाँ निसिचर भट भारे। ते सब सुरन्ह समर संघारे ॥१॥
> अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे ॥२॥
> दसमुख कतहुँ खबरि असि पाई। सेन साजि गढ़ घेरेसि* जाई ॥३॥
> देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गए पराई ॥४॥
> फिरि सब नगर दसानन देखा। गएउ सोच सुख भएउ बिसेषा ॥५॥

शब्दार्थ—भारे = भारी, महान्। = रक्षामें (भार = सँभाल, रक्षा)। संघार (संहार) = नाश। रच्छक (रक्षक) पहरेदार। जच्छपति (यक्षपति) = कुबेर। जीव = प्राण। पराई = भाग (गए)।

अर्थ—वहाँ भारी भारी निशाचर योद्धा रहते थे। देवताओंने उन सबोंको संग्राममें मार डाला॥ १॥ इन्द्रकी प्रेरणासे अब वहाँ कुबेरके एक करोड़ रक्षक रहते हैं॥ २॥ रावणने कहीं यह खबर पाई (तब) सेना सजाकर उसने गढ़को जा घेरा॥ ३॥ बड़ा विकट योद्धा और बड़ी सेना (वा, विकटभटोंकी बड़ी सेना) देख यक्ष अपने प्राण लेकर भाग गए॥ ४॥ रावणने घूम फिरकर सब नगर देखा। उसका सोच जाता रहा और वह बहुत सुखी हुआ।

टिप्पणी—१ (क) 'रहे तहँ निसिचर०'। भाव कि इस किलेमें राक्षसोंके रहनेकी आज्ञा ब्रह्माकी है, इसीसे राक्षस इसे अपनी वस्तु समझकर वहाँ रहते थे। देवताओंने उनपर चढ़ाई करके उन्हें मारा यह देवताओंकी जबरदस्ती है। (ख) 'भट भारे' का भाव कि वे भारी भट थे, इसीसे भागे नहीं, देवताओंसे

---

* घेरसि—१६६१।

संग्रामभूमिमें लड़े। 'सुरन्ह' बहुवचन शब्द देकर जनाया कि समस्त ३३ कोटि देवता मिलकर उनसे लड़े, तब माली सुमाली (?) मारे गए। देवता इनसे प्रबल थे।

नोट—१ पूर्व १७८ (४) के नोट १ में लिखा जा चुका है कि माल्यवान् आदिने विश्वकर्मासे देवताओंके समान रमणीक भवन बनानेको कहा तब उसने उन्हें लंकापुरीका पता बताया था। विश्वकर्माके कहनेसे वे सेवकों सहित वहाँ जाकर रहने लगे। यथा "विश्वकर्मवचः श्रुत्वा ततस्ते राक्षसोत्तमाः। सहस्रानुचरा भूत्वा गत्वा तामवसन् पुरीम्। वाल्मी० ७।५।२८।" वरके बलसे उन्होंने इन्द्रादिको बहुत सताया तब वे भगवान्की शरण गए। भगवान्ने राक्षसोंको मारनेकी प्रतिज्ञा की। यह सब समाचार माल्यवान्को मिला। उसने भाइयों आदिसे परामर्श किया। तब माली और सुमालीने सलाह दी कि हम लोग आज ही सब देवताओंको चलकर मार डालें। जिनके उभाड़नेसे विष्णुने ऐसी प्रतिज्ञा की है। बस सब सेना सहित देवलोकमें गए। इधर श्रीमन्नारायण भी आयुधोंसे सुसज्जित हो गरुड़पर सवार हो वहीं आ उपस्थित हुए। राक्षसोंने घोर युद्ध किया। सुमाली और मालीने भी भयंकर युद्ध किया। मालीकी गदाकी चोटसे गरुड़ विकल हो रणभूमिमें न ठहर सके। गरुड़ द्वारा युद्धसे विमुख किये जानेपर भगवान्ने उनकी पूँछकी ओर मुख करके मालीपर चक्र चलाकर उसका सिर काट डाला। माल्यवान्को गरुड़ने अपने पंखोंके पवनसे उड़ा दिया तब सुमाली भी भागकर लंकामें चला गया। भगवान् राक्षसोंको बराबर सताने और मारने लगे तब वे परिवार सहित पातालमें जा बसे। यथा "अशक्नुवन्तस्ते विष्णुं प्रतियोद्धुं भयार्दिताः। त्यक्त्वा लङ्कां गता वस्तुं पातालं सहपत्नयः। वाल्मी० ७।८।२२।"

टिप्पणी—२ 'अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। ' इति। (क) इन्द्रकी प्रेरणासे वहाँ कुबेरके कोटि रक्षक रहते हैं, इस कथनसे जनाया कि इन्द्र मालिक हैं। कुबेर उनकी ओरसे किलेदार हैं। कुबेर यक्षपति हैं इसीसे कुबेरकी तरफसे कोटि यक्ष उस किलेमें रखवालीके लिए रहते हैं, जैसा आगेके 'जच्छ जीव लै गए पराई' से स्पष्ट है। (ख) ☞ राक्षसोंको मारकर इन्द्रने वहाँ निवास न किया, यह क्यों ? क्योंकि लंकामें यातुधानपतिके दलसहित निवासका हुक्म ब्रह्माका है, जैसा पूर्व कह आए हैं। यथा 'हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ जातुधानपति होइ। सूर प्रतापी अतुलबल दल समेत बस सोइ'। इसीसे उन्होंने अपने रक्षक रख दिए। किलेमें रक्षक रहने चाहिएँ, यथा 'करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं ।५।३।', अतः रक्षक रक्खे। (ग) रच्छक कोटि रखनेका भाव कि कोटि राक्षस रहते थे उनको मारा है। अतः उतने ही रक्षक बसाए।

नोट—२ वाल्मीकीयके अनुसार राजा तृणबिन्दु अपनी कन्याको महर्षि पुलस्त्यको सौंप गए। उसकी सेवासे प्रसन्न हो महर्षिने आशीर्वाद दिया कि तूने मेरी वेदध्वनि सुनकर गर्भ धारण किया है अतः तुझे मैं अपने तुल्य पुत्र देता हूँ, जिसका नाम विश्रवा होगा। विश्रवाजी बड़े चरित्रवान् पुत्र हुए। वे पिताके समान तपमें संलग्न रहने लगे। यह देखकर श्रीभरद्वाजजीने अपनी देववर्णिनी नामकी कन्या उनको व्याह दी। इसीके पुत्र वैश्रवण हुए। पुलस्त्यजीने नामकरण किया और कहा कि यह बालक धनाध्यक्ष होगा। वैश्रवणजीने एक हजार वर्ष कठोर तप किया। कभी जल पीकर, कभी पवन पानकर और कभी निराहार रहकर तप करते रहे। ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर वर माँगनेको कहा। उन्होंने लोकपालत्व और धनाध्यक्षत्व माँगा। ब्रह्माने इन्हें यम, इन्द्र और वरुणके समान चौथा लोकपाल और निधियोंका स्वामी बना दिया और पुष्पक विमान दिया। (उत्तरकाण्ड सर्ग २ श्लोक २८-३३, सर्ग ३ श्लोक १-२०)। वैश्रवणने पिताजीसे जाकर सब वृत्तान्त बताकर कहा कि पितामहने मेरे रहनेका प्रबन्ध कुछ नहीं किया। तब विश्रवाजीने उनको विश्वकर्मा द्वारा निर्मित लंकामें निवास करनेको कहा। यथा "शून्या सम्प्रति लङ्का सा प्रभुस्तस्या न विद्यते ॥२९॥ स त्वं तत्र निवासाय गच्छ पुत्र यथासुखम्। वाल्मी०। ७।३।३०।" अ० रा० में भी ऐसा ही है। महाभारतमें

ब्रह्माने स्वयं लङ्कापुरीको कुबेरकी राजधानी बना दिया।—मानसकल्पकी कथामें इनसे भेद है। मानसके कुबेर लङ्कामें स्वयं नहीं रहते किन्तु उनके एक करोड़ रक्षक वहाँ रहते थे—'रच्छक कोटि जच्छपति केरे' और यक्ष ही वहाँसे प्राण लेकर भाग भी गए—'जच्छ जीव लै गए पराई।' इन्द्र देवराज हैं और कुबेर ब्रह्माके वरसे अब देवता हैं अतः इन्द्रने उन्हें लङ्कामें अपने रक्षक रख देनेको प्रेरित किया और उन्होंने रक्षक रख दिये।

टिप्पणी—३ "दससुख कतहुँ खबरि असि पाई।" इति। 'असि'—अर्थात् जैसा ऊपर ("गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी" से "अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे" तक) लिख आए। किससे खबर मिली, यह नहीं बताया; क्योंकि इस विषयपर मुनियोंके विभिन्न मत हैं। कोई नारदसे खबर पाना कहते हैं तो कोई मयदानवसे कहते हैं, क्योंकि इसीने लंकाको पुनः सँवारा है। इसी मयने अपनी कन्या रावणको दी है। अतएव उसीने कहा भी कि लंकापुरी अपनी ही है। तुम्हारे निवासके योग्य है। यक्षोंको हटाकर वहाँ वास करो। इत्यादि अनेक मत होनेसे कविने किसीका नाम न लिखकर सर्वमत-रक्षा हेतु 'कतहु' शब्द दिया।

नोट—३ वाल्मीकीयमें लिखा है कि रावणको वर मिलनेके पश्चात् उसका नाना सुमाली यह समाचार पाकर अपने मंत्रियों सहित निर्भय होकर पातालसे निकलकर रावणके पास आ उसे गलेसे लगाकर बोला कि बड़े सौभाग्यकी बात है कि मनोवाञ्छित मनोरथ पूर्ण हुआ। विष्णुके भयसे हम लोगोंको दुःखी होकर अपना घरबार छोड़कर रसातलको भाग जाना पड़ा। हमारा वह भय आज दूर हुआ। लंका हमारी ही है। हम सब राक्षस उसमें रहते थे, किन्तु अब उसे कुबेरने अपने अधिकारमें कर लिया है—"अस्मदीया च लङ्केयं नगरी राक्षसोचिता।'''।७।११।७।" पर रावणने नानाको समझा-बुझा दिया कि कुबेर हमारे ज्येष्ठ भाई होनेसे पूज्य हैं, ऐसा न कहो। कुछ दिनोंके बाद प्रहस्तने (जो रावणका मामा भी था) उससे कहा कि शूरोंमें भाईपनेका विचार नहीं होता। देवता और दैत्य दोनों भाई ही तो हैं पर दोनोंमें शत्रुता चली आ रही है। अतः तुमको भी वही व्यवहार करना चाहिए।—'सौभ्रात्रं नास्ति शूराणां'। ७। ११। १४।' तुम चलकर उसे छीन लो।

टिप्पणी—४ (क) 'सेन साजि' का भाव कि जैसे देवता सेना सजाकर निशाचरोंसे लड़ने गए थे, वैसे ही इसने सेना सजाकर गढ़ घेरा। [उसमें एक करोड़ यक्षोंकी सेना रक्षामें रहती है अतः सेना लेकर जाना उचित ही था]। (ख) 'देखि बिकट भट बड़ि कटकाई।' इति। 'बिकट भट' से जनाया कि इनके सामने यक्ष कुछ भी नहीं हैं। माली सुमाली भारी भट थे। उनसे देवताओंने संग्राम किया था। पर रावणकी सेनामें सब भट 'बिकट' हैं, इसीसे उनका सामना करनेका साहस न पड़ा। 'बड़ि कटकाई' से जनाया कि सेनामें यक्षोंसे अधिक राक्षस थे। [भानुप्रतापके पास अपार अक्षौहिणी सेना थी वह सब राक्षस हुई है वही सब लेकर चढ़ाई की है। भानुप्रतापके दिग्विजयके प्रसंगमें भी कटकई शब्द आया है 'बिजय हेतु कटकई बनाई'। वैसे ही यहाँ 'कटकई' साथ है] 'देखि' का भाव कि रावण सेना लेकर आया है, यह सुनकर नहीं भागे वरन् शत्रु के सम्मुख आए और शत्रु की विकट भटोंकी बड़ी भारी सेना देखी तब भागे। (ग) 'जच्छ जीव लै गए पराई', इससे जनाया कि उनका सब द्रव्य लंकामें रह गया। यक्ष बड़े द्रव्यमान् होते हैं। वे अपना कुछ द्रव्य न ले जा सके। उन्हें तो प्राणके लाले पड़ गए थे। द्रव्य बचाते तो प्राणोंका बचना कठिन था। प्राणोंपर आ बनी देख जैसे तैसे प्राण लेकर भागे। (वाल्मीकीयके रावणने कुबेरके पास प्रहस्तको दूत बनाकर भेजा कि लंकापुरी हमें दे दो। कुबेरने उत्तर भेजा कि यह नगर और राज्य आदि सब तुम्हारा है, हमारा और तुम्हारा कुछ अलग अलग नहीं है। तुम इसे भोग करो। फिर पितासे परामर्शकर उनकी आज्ञासे अपने बाल-बच्चों-मन्त्रियों और धनसहित लंकाको छोड़कर

कैलासपर चले गए और अलकापुरी बनवाकर उसमें रहने लगे। और महाभारतके रावणने कुवेरसे युद्ध करके उनको जीतकर लंकासे निकाल दिया। तब वे गंधमादन पर्वतपर जाकर रहने लगे।

५ 'फिरि सब नगर दसानन देखा' इति। (क) चारों ओर घूम फिरकर देखनेका भाव कि कहींसे शत्रुके आनेका मार्ग तो नहीं है। (पुन इस लिए सब तरफ फिरकर नगर भरको देखा कि कौन स्थान किसके योग्य होगा। कहाँ कचहरी होगी कहाँ महल, कहाँ सेना और कहाँ परिवारके रहनेके योग्य स्थान है, इत्यादि जानकारी और व्यवस्थाके लिये सब नगर देखा)। पुनः, उसकी सुन्दरता, उसकी दुर्गमता इत्यादि देखी जैसा आगे कहते हैं—'सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी'। (ख) 'गयउ सोच'। रावणको स्थानका सोच था, अपने रहने योग्य स्थान कहीं नहीं पाता था। (यहभी सोच था कि हमारा परिवार, सेना इत्यादि सबके अँटनेको जगह बहुत चाहिये। सुमाली, मय या जिसनेभी खबर दी थी कि यहा काफी जगह है, सबके रहनेका सुपास है, वह सत्य पाई) अतः सुयोग्य स्थान पाकर सोच मिटा। (ग) 'सुख भयउ बिसेषा'। गढ विशेष है। यथा "गिरि पर चढ़ि लंका तेहि देखी। कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी। ५।२।" उसकी विशेषता देख विशेष सुख हुआ। [पुन, सुखविशेष हुआ क्योंकि एक तो सोच मिटा। दूसरे यह उसकी प्रथम चढ़ाई थी, इसमें सफलता हुई, बिना परिश्रम और बिना युद्धके सुन्दर रमणीक और अति दृढ और दुर्गम नगर प्राप्त हुआ। सब तरह प्रसन्नता और सुपास होनेसे विशेष सुख हुआ।]

सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी ॥६॥
जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हे। सुखी सकल रजनीचर कीन्हे ॥७॥
एक बार कुबेरपर* धावा। पुष्पक जान जीति लै आवा ॥८॥

दोहा—कौतुकहीं कैलास पुनि लीन्हिसि जाइ उठाइ।
मनहु तौलि निज बाहु बल चला बहुत सुख पाइ ॥१७९॥

शब्दार्थ—कुबेर—इनके जन्मादिकी कथाएँ पूर्व दी जा चुकी हैं। ये विश्रवा मुनिके पुत्र, इन्द्रकी नवों निधियोंके भण्डारी, यक्षोंके राजा, उत्तर दिशाके अधिष्ठाता देवता और संसार भरके धनके स्वामी माने जाते हैं। इनके एक आँख, तीन पैर और आठ दाँत कहे जाते हैं। बड़े तेजस्वी हैं। "पुष्पकयान"—यह विमान कुबेरका है जो राजा रघुसे इन्होंने दानमें माँग लिया था। वाल्मी० २१६। में ब्रह्मासे इनको यह विमान पाना लिखा है। इसमें कई खण्ड हैं। यह घट बढ सकता है। इसीपर श्रीरामचन्द्रजी सेना सहित लंकासे श्रीअवध आए थे। पुष्पाकार होनेसे पुष्पक ऐसा नाम पड़ा। वाल्मीकीय उत्तरकाण्ड सर्ग १५ श्लोक ३६-३९ में, तथा युद्धकाण्ड सर्ग १२४ श्लोक २४ २६ में इसका विस्तृत (वर्णन) है। लंकाकाण्डके मा० पी० टीकामें कुछ उद्धरण दिया गया है। रावणके छीन लेनेपर राजा रघुसे कुबेरने विनती की तब इन्होंने रावणको मारना चाहा था पर ब्रह्माजीने समझा-बुझा उन्हें रोक दिया। रघुजीने प्रतिज्ञा कर दी कि जब रामचन्द्रजी रावणको मारकर इसे लावें तब कुबेरको दे दें। इसीसे लंकासे लौटनेपर यह कुबेरको दे दिया गया।—यह मत विजयदोहावलीसे प्रमाणित होता है।

अर्थ—सहज ही सुन्दर और दुर्गम विचारकर रावणने वहाँ अपनी राजधानी की ॥ ६ ॥ जिसको जैसा योग्य था वैसा घर उसको बाँट दिया (इस प्रकार उसने) सब निशाचरोंको सुखी किया ॥ ७ ॥ एक बार (उसने) कुबेरपर धावा किया और पुष्पक विमान जीतकर ले आया ॥ ८ ॥ फिर उसने जाकर खेल ही खेलमें कैलासको उठा लिया, मानों अपनी भुजाओंके बलको तौलकर बहुत प्रसन्न हो चल दिया ॥ १७९ ॥

* १६६१ में—यहाँ कैथी रकार 'न' है।

टिप्पणी—१ (क) 'सुंदर सहज अगम अनुमानी' इति। 'सहज अगम' है अर्थात् किलेके भीतर किसी प्रकार कोई शत्रु नहीं आ सकता। शत्रुको रोकनेके लिए सेना आदि रखनेकी जरूरत नहीं, वह स्वाभाविक ही ऐसी बनी है कि देवताओंको भी उसके भीतर प्रवेश करना अगम है। सहज देहलीदीपक है। सहज सुन्दर है और सहज ही अगम है। भाव कि रचना करनेसे सुन्दर नहीं है किंतु स्वरूपसे ही स्वाभाविक ही सुन्दर है। ☞पुन, 'सहज अगम' का भाव कि ब्रह्माने ही उसे अति दुर्गम निर्माण किया है, यथा 'बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी'। अत सहज अगम है। और मयदानवने सँवारा है अत सहज सुन्दर है। [नोट—रावणको ऐसा अनुमान था कि कोई शत्रु यहा आ ही नहीं सकता। इसीसे समुद्रमें सेतुका बँधना सुनकर वह ऐसा घबडाया था कि उसके दशोंमुखोंसे सहसा एकबारगी दश नाम निकल पडे,—'सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना। बाँध्यौ वननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस। सत्य-तोय निधि कंपति उदधि पयोधि नदीस। लं० ५।'] (ख) 'कीन्हि तहा रावन रजधानी' का भाव कि निशाचरपतिके वासके लिए ही ब्रह्माने बनाया है,—'हरि प्रेरित०'। राजधानी बनानेके इतने कारण दिखाए—सहज सुन्दर है, सहज अगम है, यह किला राक्षसोंका ही है, ब्रह्माकी आज्ञा है।

२ (क) 'जेहि जस जोग से पाया गया कि ब्रह्माने छोटे बडे सभी प्रकारके स्थान यहा बनाए हैं, यदि सब स्थान एकसे होते तो यथायोग्य स्थान बाटना कैसे कहते? (ख) 'सुखी सकल रजनीचर कीन्हे'। इसका एक कारण तो यही है कि यथायोग्य स्थान सबको मिला। अर्थात् बडोंको बडा और छोटोंको छोटा स्थान मिला। यदि बडोंको छोटा और छोटोंको बडा स्थान देते तो बडे लोग दु ख मानते। ये सब स्थान स्वर्णके मणिजटित बने हैं, यथा 'कनक भवन मनिरचित अपारा', तथापि सामान्य विशेष हैं। सामान्य स्थानोंमें सामान्य मणि और सामान्य सुवर्ण लगे हैं, विशेषमें विशेष लगे हैं। सामान्य विशेष हैं, छोटे बडे हैं, इसीसे 'यथायोग्य' कहा। [नोट—इससे जान पडता है कि विभीषणजी हरिभक्त तो थे ही उन्होंने हरिमंदिर देख अपने लिये ले लिया। उसी मंदिरका वर्णन सुन्दरकाडमें है,—'भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरिमंदिर तहँ भिन्न बनावा'।]

३ (क)—'एक बार कुबेर पर धावा'। भाव कि यक्षोंको तो प्रथम ही जीत चुका है अब उनके स्वामीपर धावा किया कि उन्होंने हमारे स्थानमें अपने सेवकोंको टिकाया था। दूसरे इससे धावा किया कि इसने सुन रखा था कि उनके पास पुष्पकविमान बहुत अच्छा है, उसको छीन लानेके लिये ही गया। (ख) 'जाति लै आवा' से जनाया कि रावण और कुबेरमें भारी युद्ध हुआ, रावणको विजय प्राप्त हुई। अत जीतकर लाना कहा।

नोट—१ 'एक बार कुबेर पर धावा' इति। कुबेरपर चढाई करनेका कारण यह था कि इसके अत्याचारोंको सुनकर उन्होंने उसके पास दूत द्वारा संदेश भेजा कि "आप कुलोचित उत्तम कार्य करें। नंदन वनके उजाडे जाने तथा ऋषियोंके वधके कारण देवता तुम्हारे विरुद्ध उद्योग कर रहे हैं। मैंने तपस्याद्वारा शंकरजीको प्रसन्न करके उनकी मित्रता प्राप्त कर ली है। तुम कुलको कलंक लगानेवाले काम मत करो।" —यह संदेश सुनकर ही वह आगबबूला हो गया और बोला कि 'तूने जो कहा है वह मैं सहन नहीं कर सकता। तेरी बातोंको सुनकर अब मैं कुबेरके ही कारण चारों लोकपालोंको यमराजके घर भेजूँगा।' यह कहकर उसने खड्गसे दूतको मार डाला और निशाचरोंको खानेको दे दिया। फिर अपने मंत्रियों और सेनासहित कुबेरपर चढाई की। यहाँ घोर युद्ध हुआ जिसका वर्णन सर्ग १४ और १५ में है। अंतमें रावणने कुबेरके मस्तकपर भारी प्रहार किया जिससे वे मूर्च्छित होकर गिर पडे। तब वह जयका स्मारक स्वरूप उनका पुष्पक विमान छीन ले गया। वि० त्रि० का मत है कि लंका समुद्रके बीचमें थी अतएव बाहर जाने आनेके लिये यानकी बडी आवश्यकता थी। जानता था कि भाई साहबके पास पुष्पक है, अत उन्हींपर चढाई कर दी।

टिप्पणी—४ (क) 'कौतुक ही कैलास पुनि' इति। 'पुनि' अर्थात् पुष्पकको जीत लानेके बाद तब कैलासको उठान गया। 'कौतुक ही' = खेलमें, सहज ही। अर्थात् इसके उठानेमें कुछ परिश्रम उसे न हुआ। (ख) 'मनहु तौलि निज बाहु बल'। भाव कि पत्थर (के बाट) से तौल की जाती है, इसने अपने भुजाओंका बल कैलासरूपी बाँटसे तौला। तौलनेमें एक ओर भारी वस्तु रक्खी जाती है, दूसरी ओर बाँट। यहाँ कैलासपर्वतरूपी बाँट वाला पल्ला ऊपर उठ गया। इससे जनाया कि भुजबल भारी निकला। (ग) 'चला बहुत सुख पाइ' अर्थात् बहुत प्रसन्न हुआ कि मैं बड़ा बली हूँ। ☞ कैलासके उठा लेनेसे इसको बड़ा सुख हुआ इसीसे यह बारंबार कैलास उठानेकी अपनी प्रशंसा करता है, यथा 'सुनु सठ सोइ रावन बलसीला। हरगिरि जान जासु भुज लीला। ६।२५।११।', 'हरगिरि मथन निरखु मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू। ६।२८।' तथा 'पुनि नभसर मम करनिकर कमलन्हि पर करि बास। सोभत भयो मराल इव संभु सहित कैलास। ६।२२।'

नोट—१ कौतुक ही अर्थात् गेंदसरीखा, यथा 'निज भुज बल अति अतुल कहउँ क्यों कंदुक ज्यों कैलास उठायो' (गीतावली लं० ३)। इसीको कवितावलीमें इस तरह कहा है—'जो दससीस महीधर ईसको बीस भुजा खुलि खेलनहारो। लोकप दिग्गज दानव देव सबै सहमे सुनि साहस भारो।' (क० लं० ३८)। कुबेरको जीतकर पुष्पकविमानका ले आना कहकर कैलासको उठाना कहा। इसमें भाव यह है कि पुष्पकपर चढ़कर कैलासको गया। नन्दीश्वरने उसे वहाँ रोका। इसपर उसने क्रोधमें भरकर कैलासको उठा लिया। सहज ही कैलासको उठा लिया इससे विश्वास हुआ कि अब कोई मेरे बलके सामने खड़ा न हो सकेगा। अतएव सुखी हुआ। ☞ इस कल्पके रावणका कैलासके नीचे दब जाना नहीं कहा गया।

सुख संपति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ॥१॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥२॥
अति बल कुंभकरन अस भ्राता। जेहि कहुँ नहिं प्रतिभट जग जाता ॥३॥
करै पान सोवै षट मासा। जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा ॥४॥
जौं दिनप्रति अहार कर सोई। बिस्व बेगि सब चौपट होई ॥५॥

शब्दार्थ—नूतन = नवीन, नया। प्रति = हर एक। प्रतिभट-[प्रति (= समान। बराबर, जोड़ या मुकाबलेका)+भट] मुकाबला करनेवाला, समान शक्तिवाला योद्धा। जाता = पैदा हुआ। तिहूँ पुर = त्रैलोक्य, तीनोंलोकोंमें। चौपट विध्वंस, नष्ट, सत्यानाश।

अर्थ—सुख, संपत्ति, पुत्र, सेना, सहायक, जय, प्रताप, बल, बुद्धि और बड़ाई ये सब नित्य नवीन बढ़ते जाते थे। जैसे प्रत्येक लाभपर लोभ अधिक होता जाता है। १-२। अत्यंत बलवान् कुंभकर्ण ऐसा उसका भाई था कि संसारमें जिसकी जोड़का योधा नहीं पैदा हुआ॥ ३॥ वह (मदिरा) पीता और छः महीने सोता था। उसके जागनेपर तीनों लोक भयभीत हो जाते थे॥ ४॥ यदि वह प्रति दिन भोजन करता (तो) सब जगत् शीघ्र ही चौपट हो जाता॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुख संपति सुत सेन सहाई।०' इति। सुखको प्रथम कहनेका भाव कि संपत्ति सुत, आदि जितने गिनाए इन सबकी प्राप्तिमें उसे सुख होता है। अधर्मीको सुख न मिलना चाहिए, यथा 'करहिं पाप पावहिं दुख०' और रावणको सुख प्राप्त होना लिखते हैं, यह कैसा? समाधान यह है कि भानुप्रताप शरीरमें जो भारी धर्म इसने किए थे उनका फल अब प्राप्त हुआ, यथा 'जानि सरदरितु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए। ४।१६।' इसी तरह नारदकल्पवाले हरगण जो शापसे रावण हुए उनको नारदका

आशीर्वाद था कि 'निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ। वैभव बिपुल तेज बल होऊ। १३२।६।' इससे उस रावणको भी सुख हुआ। (ख) भानुप्रताप शरीरमें राजाको अर्थ धर्म काम मोक्ष चारों प्राप्त थे। यथा 'अरथ धरम कामादि सुख सेवै समय नरेसु। १५५।', पर इस शरीरमें केवल सुखसंपत्तिकी प्राप्ति कही, धर्म और मोक्षकी प्राप्ति नहीं कही; क्योंकि राक्षसतनमें धर्म और मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। धर्म हो तो राक्षस ही क्यों कहलाएँ? (ग) 'सहाई'। सुभट, परिवार मन्त्री आदि ये ही सब 'सहाय' हैं।

२ (क) 'नित नूतन सब बाढ़त जाई'। भाव कि पूर्व जन्मका भारी पुण्य है, यथा 'जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग। बार सहस सहस्र नृप किये सहित अनुराग। १५५।' (ख) 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' इति। ☞ लोभका दृष्टान्त देकर सूचित किया कि जैसे लोभका बढ़ना विकार है वैसे ही रावणके सुखसंपत्ति आदिका बढ़ना विकार है, जैसे लोभकी बाढ़का अन्त नहीं है वैसे ही रावणके सुख सम्पत्ति आदिकी बाढ़का अन्त नहीं। ☞ 'नित नूतन सब बाढ़त जाई' में 'सब' पदके साथ 'जाई' एकवचन दिया है चाहिए था कि बहुवचन 'जाहीं' देते। (इसमें कारण यह है कि दूसरे चरणमें 'लोभ अधिकाई' एकवचन है उसीके साहचर्यसे यहाँ भी 'जाई' ही कहा। अथवा,) 'जाई' बहुवचन है उसे सानुस्वार उच्चारण करना चाहिए। यदि कहो कि दूसरी ओर तो 'अधिकाई' एकवचन है जो सानुस्वार नहीं है तो उसका उत्तर यह है कि ऐसी बहुतसी चौपाइयाँ इसी ग्रंथमें हैं। यथा 'अब सब बिप्र बोलाइ गुसाईं*। देहु धेनु सब भाँति बनाई। ३३०।३।' यहाँ प्रथम चरणमें अनुस्वार है, दूसरेमें नहीं। (च) 'प्रति लाभ' का भाव कि जैसे जैसे लाभ बढ़ता है वैसे वैसे लोभ बढ़ता है। ☞ जैसे सुख संपत्तिकी बाढ़के लिए 'जिमि प्रति लाभ लोभ॰' का दृष्टान्त दिया वैसे ही रावणके सिरोंकी बाढ़के लिए भी यही दृष्टान्त दिया गया है, यथा 'काटत बढ़हिं सीस समुदाई। जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई। ६।१०१।१।' विशेष लंकाकांडमें देखिये।

नोट—१ 'प्रति लाभ लोभ अधिकाई' अर्थात् जैसे जैसे सुख संपत्ति आदि बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे मनुष्यका लोभ बढ़ता है। उसके जीमें सदा एक न एक पदार्थकी कमी ही बनी रहती है जिसके पूरा करनेमें वह लगा रहता है। कितना ही घर भर जाय फिर भी संतोष नहीं होता, हवस नहीं मरती। '९९ का फेर' लोकोक्ति है। जैसे जैसे वस्तुकी प्राप्ति होती जाती है वैसे वैसे लालच बढ़ता है कि अमुक वस्तु और हो जाय। यथा 'कुस गात ललात जो रोटिन को घरबात घरै खुरपी खरिया। तिन्ह सोन सुमेर से ढेर लहेउ मन तौ न भरेउ घर पै भरिया।' इसी प्रकार रावणको ज्यों ज्यों सुख संपत्ति आदिकी नित्य प्रति प्राप्ति होती है त्यों त्यों उसे और अधिककी चाह होती है, वह नित्यप्रति उसके बढ़ानेकी फिक्रमें लगा रहता है।—यह भाव भी जनाया।

वि० त्रि०—' अधर्मेणैधते पूर्वं, ततो भद्राणि पश्यति, ततः सपत्नान् जयति, समूलस्तु विनश्यति।' अर्थात् पहिले अधर्मसे वृद्धि होती है, तब कल्याण दिखाई पड़ता है, फिर शत्रुओंको जीतता है, अन्तमें मूलके सहित नष्ट हो जाता है। रावणने अधर्मपर पैर रक्खा है। पहिले घरमें ही छीन छोर आरम्भ किया। बड़े भाईकी लंका छीनी, पुष्पक विमान छीना। इष्टदेवका वासस्थान उखाड़ा। देशनेमें बढ़ोत्तरी होने लगी, यह 'अधर्मेणैधते' का उदाहरण है। नित्य नया सुख, नित्य नया अर्थलाभ, नित्य नई कुटुम्बवृद्धि, नित्य नई मित्रप्राप्ति, नित्य नई जीत, नित्य नये प्रताप, नित्य नया सामर्थ्य, नित्य नया आविष्कार और नित्य नई प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। बढ़ोत्तरीकी उपमा देते हैं—'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'। लाभके साथ लोभके बढ़नेकी उपमा देकर दोषका बढ़ना सूचित करते हैं।

* भावदासजी का पाठ 'गुसाई' है। परंतु अन्यत्र ऐसे प्रयोग मिलते हैं। यथा 'कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम कोकिल लाजहीं। मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल गति बर बाजहीं। ३२२।' इत्यादि।

टिप्पणी—३ ( ) 'अति बल कुंभकरन अस भ्राता' —यहाँ 'अति बल' कहकर दूसरे चरणमें 'अति बल' का स्वरूप दिखाते हैं कि इसके बराबरका बलवान् योद्धा संसारमें नहीं है—'जेहि कहँ नहिं प्रतिभट जग जाता'। 'जग जाता' अर्थात् त्रैलोक्यमें नहीं पैदा हुआ। यहाँ जग-त्रैलोक्य। यथा 'जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा।' (तीनों लोक भयभीत हो जाते थे इससे स्पष्ट है कि तीनों लोकोंमें ऐसा बलवान कोई न था)। (ख) ☞ रावणमें बल होना कहा, यथा 'मनहु तौलि निज बाहुबल चला बहुत सुख पाइ।', 'जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई।" और कुंभकर्णमें 'अति बल' कहते हैं। इससे सूचित किया कि रावणसे कुम्भकर्ण अधिक बलवान् है। यह बात लंकाकांडमें स्पष्ट है। रावणके घूँसेसे हनुमान्‌जी न गिरे पर कुम्भकर्णके घूँसेसे वे 'घुमित भूतल परेउ तुरंता।' १७६।२ देखिए।

प्र० सं०-'अति बल कुंभकरन अस भ्राता'।—रावणको इसके बलका बड़ा गर्व था। जब तब उसके वचनोंसे यह बात स्पष्ट होती है, यथा 'कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि। ६।२७।' इसके बलका उसको बड़ा भरोसा था। यथा 'यह वृत्तांत दसानन सुनेऊ। अति बिषाद पुनि पुनि सिर धुनेऊ॥ व्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा। ६।६१।', 'बहु बिलाप दसकंधर करई। बंधु सीस पुनि पुनि उर धरई। ७१।' ऐसा बली था कि रणभूमिमें अकेला जा खड़ा हुआ तो भी माया छलसे इसने युद्ध न किया, जैसे रावण और मेघनादने किया था। ('अस' शब्द भाईपनके उत्कर्षका बोधक है। वि० त्रि०)

टिप्पणी—४ 'करै पान सोवै षटमासा। ' इति। (क) 'करै पान सोवै' का भाव कि मदिरा पान करनेसे निद्राका सुख बहुत मिलता है। निद्रा बहुत आती है। यथा 'करसि पान सोवसि दिन राती' (शूर्पणखा वचन रावण प्रति)। इसीसे मदिरा पान करना कहकर तब छः मास सोना कहा। 'पान करना' मदिरा पान करनेका अर्थ देता है, यथा 'महिष खाइ करि मदिरा पाना। ६।६३।', 'मान ते ज्ञान पान ते लाजा। ३।२१।' प्रथम जो कहा था कि 'मागेसि नींद मास षट केरी', अब यहाँ उसीको चरितार्थ करते हैं कि 'करै पान सोवै षट मासा'। ('जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा' का भाव कि कुम्भकर्णसे कोई युद्ध क्या कर सके? तीनों लोक तो उसका आहार ही है। (कहा जाता है कि उसके जागनेके कई दिन पूर्व ही रावण तीनों लोकोंमें पहरा बिठा देता था कि कोई भागने न पावे।)

५ 'जौं दिन प्रति अहार कर सोई। ' इति। भाव कि एक दिनके आहारको विचारकर तो तीनों लोकोंमें त्रास उत्पन्न हो जाता है तब 'दिनप्रति' अर्थात् नित्यके आहारमें संसार कैसे रह सकता है? ☞ इस अर्थकी चौपाई एक बार पूर्व हो चुकी है, यथा 'जौं एहि खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि संसारू। १७७।७।' यहाँ पुनः यही बात कहते हैं 'जौं दिन प्रति अहार कर सोई। बिस्व बेगि सब चौपट होई'। यह पुनरुक्ति भी साभिप्राय है। वहाँ ब्रह्माके विस्मयका कारण यह बताया है, उनके विस्मय (होने) पर ऐसा कहा है और यहाँ कुम्भकर्णकी बड़ाईपर ऐसा कहते हैं। पुनः, दूसरा समाधान इस पुनरुक्तिका यह है कि ब्रह्माको विस्मय हुआ कि चार प्रहरकी रात्रि सोकर जब जागे तब एक दिन हो, ऐसे ऐसे दिनमें जो यह रोज आहार करेगा तो संसार उजड़ जायगा और यहाँ कहते हैं कि जब छः महीने सोकर यह जगा तब इसका एक दिन हुआ, ऐसे दिनमें जो यह रोज आहार करे तो संसारका बहुत जल्द नाश हो जायगा। ☞ यहाँ 'बेगि चौपट होगा यह कहनेमें भाव यह है कि छः महीनेकी भूखके लिए आहार बहुत चाहिए, पूरा आहार मिले तो संसार नाश हो जायगा। 'अहार कर सोई' कहकर सूचित करते हैं कि राक्षस इसके लिए ला लाकर इसे आहार कराते हैं, यदि कहीं वह स्वयं ही उठकर जाकर अपनेसे पकड़पकड़कर खाने लगे तो तीन दिनमें तीनों लोक उजड़ जायँ।

समरधीर नहिं जाइ बखाना। तेहि सम अमित बीर बलवाना ॥६॥

वारिदनाद जेठ सुत तासू । भट महुँ प्रथम लीक जग जासू ॥७॥
जेहि न होइ रन सनमुख कोई । सुरपुर नितहि परावन होई ॥८॥
दोहा—कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय ।
एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय ॥१८०॥

शब्दार्थ—वारिदनाद = मेघनाद । यह मंदोदरीके उदरसे रावणका प्रथम और सबसे बड़ा पुत्र था । जन्मते ही यह मेघवत् गर्जा था अतः मेघनाद नाम पड़ा । दैत्यगुरु शुक्राचार्य्यकी सहायतासे इसने निकुंभिलामें सात भारी यज्ञ कर शिवजीको प्रसन्नकर दिव्य रथ, शर, चाप, शस्त्र और तामसी माया प्राप्तकी । इन्द्रको जब ब्रह्माजी छुड़ाने आए तब इसने उनसे बदलेमें यह वरदान पाया कि जबजब अग्निमें हवन करे तब तब एक दिव्य रथ इसको प्राप्त हुआ करे जिसपर जब तक यह सवार रहे तबतक अजय और अमर रहे । लंकाकांडकी टीकामें इसके यज्ञों और वरदानोंकी कथायें विशेषरूपसे दी गई हैं । कुमुख = दुर्मुख नामका निशाचर । कुलिसरद = वज्रदंत राक्षस ।

अर्थ—(वह) रणधीर (ऐसा था कि) वर्णन नहीं हो सकता । (लंकामें) उसके समान अगणित बली वीर थे ॥६॥ मेघनाद उसका बड़ा पुत्र था, जिसकी योद्धाओंमें प्रथम गणना थी ॥७॥ जिसके सामने रणमें कोई न (खड़ा) होता था और स्वर्गलोकमें तो सदा भगदड़ ही मची रहती थी ॥८॥ दुर्मुख, अकम्पन, वज्रदन्त, धूमकेतु, अतिकाय ऐसे ऐसे उत्तम योद्धाओंके समूहके समूह थे (जिनमेंसे) एक अर्थात् हर एक अकेले ही जगत्भरको जीत सकता था ॥१८०॥

टिप्पणी—१ (क) 'समर धीर नहिं जाइ बखाना' । भाव कि कुम्भकर्णके बलवान होने, भट होने और समरधीर होनेका बखान तो तब किया जा सके जब किसी भटसे युद्ध हो, परन्तु जब उसकी समानताका वीर ही कोई जगत्भरमें नहीं है तब बखान क्या करें ? कैसे करें ? अतएव 'नहिं जाइ बखाना' कहा । जब लंकामें युद्ध हुआ तब इसकी समरधीरता वर्णन करते हैं, यथा 'मुरछो न मन तन टरयो न टारयो । जिमि गज अर्कफलन्हि को मारयो । ६ । ६४ ।' ऐसा समरधीर है । 'अंगदादि कपि मुरछित करि समेत सुग्रीव । काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बल सींव । ६ । ६४ ।'—ऐसा बलवान है । और शरीर ऐसा भारी है कि पर्वत उसके शरीरमें ऐसे लगते हैं जैसे हाथीके देहमें अर्कफल लगें अर्थात् पर्वत शरीरमें टकराते हैं तो उसके शरीरको कुछ मालूम भी नहीं होता । (ख) 'तेहि सम अमित बीर बलवाना' । भाव कि आहारमें इसके समान कोई न था, वीर इसके समान बहुत थे ।

नोट—१ पहले तो लिखा कि उसके मुकाबिलेका 'नहि प्रतिभट जग जाता' और अब लिखते हैं कि 'तेहि सम अमित बीर बलवाना' । इन दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध देख पड़ता है पर वस्तुतः है नहीं । तात्पर्य्य यह है कि लंकामें उनके जोड़के हैं पर अन्यत्र कहीं नहीं हैं । लड़ाई बाहरवालोंसे की जाती है न कि घरमें ही । 'प्रतिभट' का अर्थ 'मुकाबिलेका शत्रु' है । वि० त्रि० लिखते हैं कि 'सम' ईषत न्यून अर्थात् 'कुछ कम' के अर्थमें प्रयुक्त होता है ।

टिप्पणी—२ 'वारिदनाद जेठ सुत तासू ।०' इति । (क) ☞ क्रमसे सबका बल वर्णन करते हैं । प्रथम रावणका बल कहा, तब कुम्भकर्णका बल कहा, उसके बाद विभीषणका बल कहना चाहिए था; किन्तु उनका बल न कहकर बड़े लड़केका बल कहने लगे । कारण कि विभीषणजीकी गणना भटोंमें नहीं है, उनकी गिनती तो महाभागवतोंमें है, जैसा पूर्व दोहा १७६।४-५ और १७७ में लिख आये हैं । इसीसे विभीषणका बल न कहा । [रावण उन्हें स्वयं भट न समझता था, पिद्दी वा कादर समझता था, यथा 'करत राजु लंका सठ त्यागी । होइहि जब कर कीट अभागी ॥', 'सहज भीरु कर बचन दिढ़ाई । सागर सन ठानी मचलाई',

'सचिव सभीत विभीषन जाके' इत्यादि। अतः भटोंमें इनकी गिनती न की गई। भाईके बाद लड़कोंका नंबर (गणना) आता है, अतः पुत्रोंमें प्रथम बड़े पुत्रका बल कहते हैं] 'तासु' का भाव कि जिसका कुंभकर्ण ऐसा अति बली भाई है, उसीका जेठा पुत्र मेघनाद है। 'जेठ सुत' कहनेका भाव कि वर्णन क्रमसे कर रहे हैं यह सबसे बड़ा है अतः प्रथम इसके बलका वर्णन करते हैं। फिर इससे छोटे पुत्रों दुर्मुख आदिका वर्णन करेंगे। (ख) ''भट महुँ प्रथम लीक जग जासू'' इति। अर्थात् जगत्‌भरके वीरोंमें श्रेष्ठ है। भटोंमें प्रथम गणना है इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि यह न समझो कि रावणके हजारों पुत्रोंमें यह प्रथम है किन्तु तीनों लोकोंके भटोंमें इसकी प्रथम रेखा है। वाल्मीकीय उत्तरकांडमें श्रीअगस्त्यजीने रावणवधके पश्चात् श्रीअयोध्याजीमें श्रीरामचन्द्रजीसे ऐसा कहा था कि रावणवध कोई बड़ी बात न थी। मेघनाद उससे कहीं अधिक प्रबल और पराक्रमी तथा मायावी था, इन्द्रने रावणको पराजित ही कर लिया था यदि मेघनाद न पहुँच गया होता। उसने पहुँचकर इन्द्रको बाँध लिया तभीसे उसका नाम इन्द्रजित् हुआ।

३ (क) 'जेहि न होइ रन सनमुख कोई' इति। भटोंमें इसकी प्रथम रेखा है, इसी वचनको चरितार्थ करते हैं कि इन्द्रादि देवता जो बड़े भट हैं वे भी उसके सम्मुख नहीं होते। (ख) 'सुरपुर नितहि परावन होई'। सुरपुर कहकर सूचित किया कि मेघनादका आगमन सुनकर सारे सुरपुरके सब देवता भाग जाते थे, एक भी वहाँ न रह जाता था। जैसे 'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तकेउ मेरु गिरिखोहा।', वैसे ही इसका आगमन सुननेपर होता था। नित्य ही भगदड़ मची रहती थी, इस कथनका भाव यह है कि देवता राक्षसोंके वैरी हैं, यथा 'सुनहु सकल रजनीचरजूथा हमरे बैरी बिबुधबरूथा'। इसीसे राक्षस सदा इनके पीछे पड़े रहते थे। पुत्रका बल कहकर अब छोड़ पुत्रोंका बल कहते हैं। ये सब बलमें कुंभकर्णके समान हैं, यथा 'तेहि सम अमित बीर बलवाना।' इनके समान लंकामें समूह भट हैं। ☞इसी प्रकार रामदलका वर्णन किया है। यथा 'ए कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनै को नाना। ५।५५।१।' (ख) रावण कुंभकर्ण और मेघनाद भारी वीर हैं। यथा 'कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि। मोर पराक्रम नहि सुनेहि जितेउँ चराचर झारि। ६।२७।' अतएव इनके बल पृथक् पृथक् कहे और सबोंका बल एकट्ठा कहा। (ग) रावण कुम्भकर्ण और मेघनादकी जोड़का त्रैलोक्यमें कोई नहीं है, यथा 'रनमदमत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा। १८२।८।' इति रावण। 'अति बल कुंभकरन अस भ्राता। जेहि कहुँ नहि प्रतिभट जग जाता' इति कुम्भकर्ण। और, 'जेहि न होइ रन सनमुख कोई' इति मेघनाद। भाव यह कि अन्य वीरोंकी जगत्‌में जोड़िया हैं, उनके समान वीर सम्मुख हो सकते हैं पर यह सब वीर ऐसे हैं कि जगत्‌को जीत सकते हैं। (रावणने राज्यकी नींव डाली, कुम्भकर्णने त्रैलोक्यको सन्त्रस्त किया। मेघनादकी धाक स्वर्गतक जम गई। वि० त्रि०)।

नोट—२ यहाँ यह शंका होती है कि जब एक भट विश्वभरको जीत लेनेके योग्य था तो ये वानरोंके हाथोंसे कैसे मारे गए? इसका समाधान स्वयं ग्रन्थकारने शुकद्वारा सुन्दरकांडमें किया है। श्रीरघुनाथजीकी सेनाका वर्णन इसकी जोड़में यों है— पूछेहु नाथ कीस कटकाई। बदन कोटि सत बरनि न जाई॥ नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी॥ द्विबिद मयंद नील नल अंगदादि बिकटासि। दधिमुख केहरि कुमुद गव जामवंत बलरासि॥ ए कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना॥ रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन समान त्रैलोकहि गनहीं॥'' निशाचर लोग जगत् जीतनेको समर्थ थे और वानरभालु जगत्‌को तिनकेके समान गिनते थे। संसारमें वे बली तो किसीको समझते ही न थे। पर यह था श्रीरामकृपासे। जगत्‌का अर्थ 'तीनों लोक' लेनेसे यह भाव हुआ और यदि 'जग' से मर्त्यलोकमात्र लें तब तो वे 'जग' के लिए भट हैं और वानरभालु त्रैलोक्यके लिये भट हैं। पर वस्तुतः जगका अर्थ यहाँ 'तीनों लोक' है।

कामरूप जानहिं सब माया । सपनेहुं जिन्ह के धरम न दाया ॥१॥
दसमुख बैठ सभां एक बारा । देखि अमित आपन परिवारा ॥२॥
सुत समूह जन परिजन नाती । गनै को पार निसाचर जाती ॥३॥
सेन बिलोकि सहज अभिमानी । बोला बचन क्रोध मद सानी ॥४॥
सुनहु सकल रजनीचर जूथा । हमरे बैरी बिबुधबरूथा ॥५॥

शब्दार्थ—कामरूप = जैसी कामना करे जैसी इच्छा हो वैसा रूप धारण कर सकने वाला । माया = कपट, छलमय रचना, इन्द्रजाल, यथा "अनिप अकंपन अरु अतिकाया । बिचलत सेन कीन्हि इन माया ॥ भयउ निमिष महँ अति अँधियारा । वृष्टि होइ रुधिरोपल छारा ॥ देखि निबिड़ तम दसहुँ दिसि कपिदल भयउ खँभार । एकहि एक न देखहि जहँ तहँ करहिं पुकार ॥ ६।४४ ।" "नभ चढ़ि बरष बिपुल अगारा । महि ते प्रगट होहिं जल धारा ॥ नाना भाँति पिसाच पिसाची । मारु काटु धुनि बोलहिं नाची ॥ बिष्टा पूय रुधिर कच हाड़ा । बरषइ कबहुँ उपल बहु छाड़ा ॥ बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा । सूझ न आपन हाथ पसारा ॥ कपि अकुलाने माया देखें । ६।५१ ।", "धरु धरु मारु सुनिय धुनि काना । जो मारइ तेहि कोउ न जाना ॥ अवघट घाट बाट गिरि कंदर । माया बल कीन्हेसि सर पंजर ॥ इत्यादि । ६।७२ ।" दाया = दया । सभां = सभामें । जूथ (यूथ) = वृंद, झुंड । बरूथ = झुंड । मद=धन यौवन सौन्दर्यसे जो हर्ष युक्त क्षोभ होता है ।

अर्थ—सब कामरूप थे और सब आसुरी माया जानते थे, स्वप्नमें भी उनके न धर्म ही था न दया ॥ १ ॥ रावण एक बार सभामें बैठा अपने अगणित परिवारको देखकर ॥ २ ॥ (कि) पुत्र, सेवक, कुटुम्बी, और नाती ढेरके ढेर थे । (भला , निशाचर जातिको गिनाकर कौन पार पा सकता है (कौन गिना सकता है ?) ॥ ३ ॥ (और) सेनाको देखकर स्वाभाविक अभिमानी रावण क्रोध और अभिमानसे भरे हुए वचन बोला ॥ ४ ॥ समस्त निशाचरवृंदो ! सुनो । देववृंद हमारे शत्रु हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कामरूप जानहिं सब माया' इति । भाव कि जैसी माया करते हैं वैसा रूप धरते हैं । जसे कि भानुप्रतापके यहाँ मायामय रसोई बनानेके लिए कालकेतुने पुरोहितका रूप धारण किया । श्रीसीताजीको हर लानेके लिए रावण यतीरूप बना । और श्रीरामजीको छलनेके लिए मारीच कचन मृग बना । इसीसे कामरूप और मायाका जानना एकसाथ एक ही चरणमें कहे । यही बात सुन्दरकाडमे विभीषणजीके लिये सुग्रीवने कही है, यथा 'जानि न जाइ निसाचर माया । कामरूप केहि कारन आया' । (ख) 'सपनेहु जिन्हके धरम न दाया' । स्वप्नमें भी धर्म और दया नहीं हैं इस कथनका भाव यह है कि स्वप्नावस्थामें मनुष्यका मन अपने वशमें नहीं होता है, जाग्रतिमें अपने वशमें होता है, इधर उधर जाय तो समझकर लौटा सकते हैं पर राक्षसोंके मनमें तो स्वप्नमें भी धर्मादि नहीं है । तात्पर्य कि ये स्वाभाविक अधर्मी और निर्दयी हैं । धर्म नहीं है अर्थात् पापी हैं । दया नहीं है अर्थात् हिंसक हैं । यथा 'कृपारहित हिंसक सब पापी ।' धर्म बाहरके हैं, दया अंतःकरण की । बाह्याभ्यन्तरके भेदसे दया और धर्म दो बातें कहीं (नहीं तो दया भी धर्म ही है) ।

वि० त्रि०—माया कुहुक विद्या है, जिससे प्रकृतिके मर्मको जानकर बड़े-बड़े चमत्कारोंका प्रादुर्भाव होता है । आजकल भी उस विद्याका दौर-दौरा है, नहीं तो 'तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये । आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम् ॥' (अर्थात्) कर्म वही है जिससे बंधन न हो, विद्या वही है जिससे मुक्ति हो, अन्य कर्म तो आयासके लिये है और अन्य विद्या शिल्पकी निपुणता मात्र है ।

१८० (१) से यहाँ 'सपनेहुँ जिन्हके धरम न दाया ।' तक 'अधर्मेणैधते' कहा । आगे 'ततो भद्राणि पश्यति' कहते हैं ।

टिप्पणी—२ (क) 'दसमुख बैठ सभा एक बारा' इति। 'एकबारा' का भाव कि सभामें तो रोज ही बैठा करता था और परिवारको नित्य ही देखता था पर यहाँ चर्चा उस दिनकी करते हैं जिस दिन सभामें बैठ परिवारको देखकर उसने जगत्‌में उपद्रव करनेका हुक्म दिया। (ख)-'देखि अमित' से जनाया कि परिवार इतना बढ गया है कि गिनती नहीं की जा सकती। परिवारका नित्य नवीन बढना पूर्व कह आए, यथा 'सुख संपति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई॥ नित नूतन सब बाढ़त जाई।' ☞ आगे अपना परिवार गिनाता है। 'सुत '।

३ 'सुत समूह ' इति। 'समूह' का अन्वय सुत जन परिजन नाती तीनोंके साथ है। निशाचर जातिका पार कौन गने अर्थात् निशिचरजाति अपार है, कोई गिन नहीं सकता। रावणकी बाढको लोभकी उपमा दी थी,—'नित नूतन सब बाढत जाई। जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'। लोभका पार नहीं है, इसी तरह निशाचरोंकी जातिका पार नहीं है।

नोट—१ 'गनै को पार ' इति। वाल्मीकीयमें इस संबंधमें कथा है कि राक्षसपत्नियाँ गर्भवती होते ही पुत्र जनगी और वह पुत्र जन्मते ही सयाना हो जायगा। इसीसे राक्षसोंकी गिनती नहीं हो सकती। वर की कथा इस प्रकार है—विद्युत्केश राक्षसकी पत्नी सालकटंकटा पुत्रका जन्म देते ही उसे मन्दराचलपर छोड़कर पुनः पतिके पास जाकर विहार करने लगी। उस बालकके रोनेका शब्द उधरसे आकाशमार्गसे जाते हुए शिव पार्वतीजीने सुना। उसे देखकर उमाजीको दया लगी। उन्होंने शंकरजीसे कहकर उसको उसी दिन माताकी उम्रका और अमर करा दिया। पार्वतीजीने उसी समय राक्षसियोंको यह वर दिया कि वे गर्भधारण करते ही बालक जनें और वह बालक तुरत माताके समान उम्रवाला हो जाय। यथा "सद्योपलब्धि गर्भस्य प्रसूति सद्य एव च। सद्य एव वय प्राप्तिर्मातुरेव वय समम्। वाल्मी० ७।४।३१।"

टिप्पणी—४ (क) 'सेन बिलोकि सहज अभिमानी ' इति। भाव कि रावण स्वाभाविक ही अभिमानी है, उसपर भी अब उसने अपनी अपार सेना देखी, इससे उसका अभिमान और भी अधिक हो गया। क्रोध और मद रावणके वचनोंमें आगे स्पष्ट हैं, अतः 'क्रोधमदसानी' कहा। 'सेन बिलोकि' से बाहरी अभिमानका हेतु कहा और 'सहज अभिमानी' से अंतःकरणका अभिमान कहा। इसीतरह क्रोध और मद अंतर्वृत्तियाँ हैं और क्रोधमदसाने वचन कहना बाह्य वृत्ति है। इस तरह जनाया कि उसका भीतर बाहर क्रोध और मदसे आक्रान्त है। (ख) 'सुनहु सकल रजनीचर जूथा। ' इति। वैरी है क्योंकि राक्षसोंके किलेपर दखल कर लिया था, राक्षसोंका मार डाला था। जैसे देवताओंकी जातियाँ बहुत हैं वैसे ही निशिचरजातियाँ बहुत हैं। सब जातियोंके यूथयूथ बैठे हैं, इसीसे रावण कहता है कि 'सुनहु सकल रजनीचर जूथा'। बिबुध बरूथा' कहकर समस्त देवताओंको अपना वैरी जनाया। (देख लिया कि अपना परिवार ही लंकाकी रक्षा करने मे समर्थ है, अतः सम्पूर्ण सेनाको आज्ञा देता है। वि० त्रि०)।

ते सनमुख नहि करहिँ* लराई। देखि सबल रिपु जाहिं पराई॥६॥
तिन्ह† कर मरन एक बिधि होई। कहौं बुझाइ सुनहु अब सोई॥७॥
द्विजभोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा॥८॥
दोहा—छुधाछीन बलहीन सुर सहजेहि मिलिहहिं आइ।
तब मारिहौं कि छाड़िहौं भली भाँति अपनाइ॥१८१॥

अर्थ—वे सम्मुख लडाई नहीं करते, बलवान् शत्रुको देखकर भाग जाते हैं॥ ६॥ उनका मरण एक

* 'हिं' था पर अनुस्वारपर हरताल लगा है। † पोथीमें 'तेन्ह' है।

ही प्रकार हो सकता है। मैं उसे अब समझाकर कहता हूँ, सुनो ॥७॥ ब्रह्मभोज (ब्राह्मणभोजन), यज्ञ, होम, श्राद्ध, तुम इन सबोंमें जाकर विघ्न डालो ॥ ८ ॥ भूखसे पीड़ित (दुर्बल) और निर्बल होकर देवता सहज ही (स्वाभाविक ही) आ मिलेंगे तब उनको या तो मार डालूँगा या भली भाँति अपने वशमें करके छोड़ दूँगा ॥ १८१ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'ते सनमुख नहिं करहिं लराई ।०', यथा 'देखि बिकट भट बड़ि कटकाई । जच्छ जीव लै गए पराई ।', 'जेहि न होइ रन सनमुख कोई । सुरपुर नितहिं परावन होई ।', 'रावन आवत सुनेउ सकोहा । देवन्ह तकेउ मेरु गिरि खोहा' इत्यादि । (ख) 'देखि सबल रिपु जाहिं पराई' का भाव कि देवता कायर नहीं हैं, शत्रुको प्रबल देखकर भाग जाते हैं। नीति यही कहती है कि प्रबल शत्रुसे युद्ध न करे, यथा 'प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि । ६।२३ ।' यह 'भट सात्री' वाणी है। (ग) 'तिन्ह कर मरन एक बिधि होई'। मरणका भाव कि शत्रुको वध कर डालना चाहिए, छोड़ना न चाहिए, यथा 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ'। पुन, यथा—"ऋणशेषं व्याधिशेषं शत्रुशेषं तथैव च । पुनः पुनः प्रवर्द्धन्ते तस्माच्छेषं न कारयेत् ।" अर्थात् ऋणशेष, व्याधिशेष, शत्रुशेष ये तीन शेष बढ़ा ही करते हैं अतः इन्हें सर्वथा निर्मूल कर देना चाहिये। इसीसे देवताओंके मरणका उपाय बताता है। देवताओंने हमारी लंका जबरदस्ती लेली थी उसका बदला तो हो गया कि हमने लंकापर दखल करलिया, रहगया मरण, उन्होंने राक्षसोंको मार डाला था,—'ते सब सुरन्ह समर सँघारे', इसका बदला बाकी है। (उनको मारनेसे मारनेका बदला चुकेगा) उसका यत्न बताता है। ☞ यह 'क्रोधसानी' वाणी है। (घ) 'द्विज भोजन मख होम सराधा ।०' इति। ब्राह्मणभोजन सब धर्मोंका पोषक है—मखका, होमका, श्राद्धका, इत्यादि। इसीसे सबके आदिमें इसे लिखा। देवता दो प्रकारके हैं। एक तो इन्द्रादि, दूसरे पितृदेव। मख और होम तो इन्द्रादि पाते हैं। और श्राद्ध पितृदेव पाते हैं।

वि० त्रि०—मर्त्यलोक और देवलोकमें एक व्यापार चलता है। पूर्वकालमें यज्ञके सहित प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने कहा कि इसी यज्ञसे तुमलोग बढ़ोगे, यह तुम्हारे लिये कामधेनु होगा। यज्ञसे तृप्त होकर देवता तुमलोगोंको तृप्त करेंगे। तबसे यह व्यापार ब्रह्मभोज, यज्ञ, होम और श्राद्धके रूपमें चल पड़ा है। आहुतिमें दिये हुए अन्नसे अमृत बनता है, उसीसे देवता पुष्ट होते और मर्त्यलोकका कल्याण करते हैं।

टिप्पणी—२ 'छुधाछीन बलहीन ' इति। (क) 'सहजहिं' का भाव कि अभी तो ढूँढ़े भी नहीं मिलते किन्तु तब अपनेसे आकर मिलेंगे। ☞ यहाँ देवताओंके विषयमें 'मारिहौं कि छाड़िहौं', वध करना अथवा छोड़ना, दो बातें कहीं। क्योंकि नीतिशास्त्रमें यही लिखा है कि शत्रुको वध कर डाले नहीं तो अपने अधीन कर रक्खे। शत्रु स्वतन्त्र न रहने पावे। वध मुख्य है, इसीसे वधको प्रथम कहा। छोड़ना गौण है, अतः उसे पीछे कहा। गिरिधरकविजीने भी लिखा है—'जाकी धन धरती हरी ताहि न लीजे संग। जो संग राखे ही बने तौ करि राखु अपंग'। (ख) 'भली भाँति अपनाइ' अर्थात् सबोंको सेवक बनाकर रक्खूँगा। जैसा कि नाटक इत्यादिमें कहा है—"इन्द्र माल्यकरः सहस्रकिरणः द्वारि प्रतीहारकश्चन्द्रः छत्रधरः समीरवरुणौ समार्जयन्तौ गृहान्। पाचक्ये परिनिष्ठितं हुतवहः किं मद्गृहे नेक्षसे ह०ना० ८।२३।" अर्थात् रावण गर्वसे अंगदसे कहता है कि इन्द्र तो मेरा फूलमाली है, सूर्य मेरे द्वारका ड्योढ़ीदार है, चन्द्रमा मेरे छत्रका धारण करनेवाला है पवन और वरुण मेरे झाड़ूदार हैं अग्निदेव मेरा रसोइया है। क्या तू इसे नहीं देखता? पुन यथा 'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता', 'दिगपालन्ह मैं नीर भरावा। ६।२८।'

मेघनाद कहुँ पुनि हँकरावा। दीन्ही सिख बलु बयरु बढ़ावा ॥१॥
जे सुर समरधीर बलवाना। जिन्ह कें लरिबे कर अभिमाना ॥२॥

तिन्हहि जीति रन आनेसु बाँधी । उठि सुत पितु-अनुसासन काँधी ॥३॥
एहि बिधि सबही अज्ञा दीन्ही । आपुन* चलेउ गदा कर लीन्ही ॥४॥
चलत दसानन डोलति अवनी । गर्ज्जत गर्भ स्रवहिं सुर-रवनी ॥५॥

शब्दार्थ—हँकरावा = बुलवाया । सिख = शिक्षा । लरिबे=लड़ने, लड़ाई । आनेसु=ले आना । काँधी-काँधना=कंधे वा सिरपर धरना, स्वीकार करना, अंगीकार करना, मानना, शिरोधार्य करना । डोलति=हिलती है । स्रवहिं (स्रवहिं)=पात होते हैं, गिर जाते हैं । रवनी-सुन्दरी, स्त्री । सुर रवनी=देव वधूटियाँ ।

अर्थ—फिर मेघनादको बुलवा भेजा और शिक्षा देकर उसके बल (उत्साह) और वैरको उत्तेजित किया‡ ॥ १ ॥ जो देवता समरमें धीर और बलवान् हैं और जिन्हें लड़नेका अभिमान है ॥ २ ॥ उन्हें लड़ाईमें जीतकर बाँध लाना । पुत्रने उठकर पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य्य किया† ॥ ३ ॥ इसी प्रकार उसने सभीको आज्ञा दी । स्वयं भी चला । हाथमें गदा ले ली ॥ ४ ॥ दशमुख रावणके चलनेपर पृथिवी हिलने लगती थी । उसके गर्जनसे देवताओंकी स्त्रियोंके गर्भ गिर जाते थे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१(क) "पुनि हँकरावा" से जनाया कि मेघनाद वहाँ नहीं था जब सब सभा जुटी थी और सबको उसने समझाया था तथा शिक्षा दी थी कि किस प्रकार देववृन्द वशमें होंगे । यदि मेघनाद भी सभामें रहा होता तो वही शिक्षा उसको देनेका कोई प्रयोजन न होता । (ख) 'दीन्ही सिख बल बयरु बढ़ावा' इति । ☞ यह शिक्षा सब निशिचरोंको दी थी । 'सुनहु सकल रजनीचर जूथा । हमरे बैरी बिबुध बरूथा', यह वैर बढ़ानेका सिखावन है और 'द्विजभोजन मख होम सराधा । सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा' इससे देवता निर्बल हो जायँगे, राक्षसोंका बल अधिक हो जायगा; अतएव यह 'बल' बढ़ानेका सिखावन है । (ग) 'जे सुर समर धीर बलवाना ।०' का भाव कि निर्बल देवता तो सबल रिपुको देखकर भाग जाते हैं, यथा 'ते सनमुख नहिं करहिं लराई । देखि सबल रिपु जाहिं पराई' । जो धीर हैं, समरमें भागते नहीं, डटे रहते हैं और युद्धके अभिमानी हैं, इन वचनोंसे उनके मनकी और 'बलवाना' से उनके तनकी दृढ़ता कही । वचनका हाल कुछ न कहा क्योंकि वीर वचनसे कुछ नहीं कहते, यथा 'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु । २७४ ।'

नोट—१ सभामें जो शिक्षा निशाचरोंको दी गई वह सामान्य शिक्षा है और सामान्य देवताओंके वश करनेके विषयमें है । मखभोज, यज्ञ, होम, श्राद्ध आदिमें बाधा डालनेका काम उनको सौंपा गया और मेघनादको जो बुलाया गया वह समरधीर बलवान् देवताओंसे लड़नेके लिये । इसीसे पूर्व उसकी आवश्यकता भी न थी ।

२ 'दीन्ही सिख बल बयरु बढ़ावा' इति । शिक्षा दी कि युद्धमें शत्रुको वशमें करनेके साम, दाम, भय और भेद ये उपाय हैं । व्यूहरचना किस प्रकार करनी चाहिये और उसके तोड़नेके उपाय, इत्यादि । मायासे काम कहाँ लेना चाहिये, छल बल भी कर सकते हैं, इत्यादि जब जहाँ जैसा काम पड़े वैसा करनेमें संकोच न करना । अपनी जीत जैसे बने वैसा करना । ये भाव भी शिक्षामें आ सकते हैं जो लोगोंने कहे हैं ।

३ 'बैर बढ़ावा'—यों कि सुर और असुरका वैर स्वाभाविक अनादि कालसे चला आता है । देवता सदा छल करते आए । जैसे क्षीरसागर मथनेके समय छल करके सब अमृत पीकर अमर हो गए । लंका हम लोगोंकी प्राचीन राजधानी है सो उन्होंने अवसर पा छीन लिया था, इत्यादि । वैजनाथजी लिखते

* आपनु—१६६१ । १८२ छंदमें 'आपुन उठि धावै' है । 'आपनु' का अर्थ आप ही हो सकता है । नु=निश्चयेन । ‡ अर्थ—'शिक्षा और सेना दी और बैर बढ़ाया'—(वै०) । † अर्थ—'पुत्र' उठकर पिताकी आज्ञाका पालन कर'—(वै०) ।

हैं कि यह सब समझाया कि यह राजनीति है कि शत्रुको न छोड़ना चाहिए नहीं तो वह एक न एक दिन अवश्य घात करेगा।

टिप्पणी—२ (क) 'तिन्हहि जीति रन आनेसु बाँधी' ऐसी आज्ञा अन्य राक्षसोंको न दी थी, क्योंकि इसका सामर्थ्य उनको न था। मेघनाद यह काम करनेको समर्थ है, इससे इसको यह आज्ञा दी। 'आनेसु बाँधी' यह समरधीर अभिमानी बलवान् देवताओंको लाकर हाजिर करनेका उपाय बताया कि उनको जीत कर बाँध लाना, छोड़ न देना, जैसे अन्य निशाचरोंको भगोडे देवताओंके हाजिर लानेका उपाय बताया था कि ब्रह्मभोजादिमें विघ्न करो तो 'छुधाछीन बलहीन सुर सहजहि मिलिहहि आइ।' [वे निर्बल हैं, अतः स्वयं आकर मिलेंगे। ये अभिमानी हैं, बाँधकर पकड़ लानेपर मिलेंगे। (बाँध लानेमें भाव यह भी है कि इन्हें बँधा देखकर ब्रह्माजी छुड़ाने आवेंगे और बदलेमें वरदान देंगे। वि० त्रि०) । (ख) 'आपुन चलेउ गदा कर लीन्हीं' इति। यहाँतक तीन बातें कही गईं। सेनाको देवताओंकी जीविका नाश करनेकी आज्ञा दी। मेघनादको उनके बाँध लानेकी आज्ञा दी। और, स्वयं देवताओंको मारनेके लिये गदा लेकर चला।

वि० त्रि०—रावणने तीन विधिसे कार्य्यारम्भ किया। देवताओंको रसद न मिलने पावे, इसलिये सेनाको मर्त्यलोक भेजा। इन्द्रादिसे युद्धके लिये मेघनादको भेजा। अन्य देवताओंको सहायता इन्द्रको न मिलने पावे, इसलिये उनके लोकोंपर स्वयं रावणने आक्रमण किया।

नोट—४ 'चलत दसानन डोलति अवनी' इति। रावणके रणमदमत्त होकर चलनेपर धरती हिलती है; इसके विषयमें स्वयं पृथ्वीके वचन हैं कि 'गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही।' पुनः, 'अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥ सकल धर्म देखै विपरीता। कहि न सकै रावन भय भीता। १८३।' मंदोदरीने स्वयं कहा है 'तव बल नाथ डोल नित धरनी।··· सेष कमठ सहि सकहि न भारा। ६।१०३।' और रावणने भी कहा है—'जासु चलत डोलति इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी॥ सोइ रावन जग विदित प्रतापी। ६।२५।' भक्ति तथा कथाके योगसे तो यदि कैलासका उठाना विश्वास कर सकते हैं तो इसके चलनेसे पृथ्वीका हिलना तो कोई बड़ी बात नहीं है। यहाँ दूसरा उल्लास अलंकार है।

टिप्पणी—३ 'गर्ज्जत गर्भ स्रवहिं सुर रवनी' इति। यह बात श्रीपार्वतीजीके शापसे पूर्वकी है। क्योंकि श्रीपार्वतीजीके शापसे देवताओंकी स्त्रियोंके गर्भ धारण नहीं होता तब गर्भ गिरनेकी बात ही कहाँ ? [यहाँ रावणकी बाढ़ (उन्नति) और देवताओंके तेज प्रतापकी अवनतिका समय है। इससे देवांगनाओंके गर्भ गिरे, देवसेनाकी संख्या बढ़ने नहीं पाती और राक्षसपरिवार दिन दूना रात चौगुना बढ़ता गया। जब रावणके अवनतिका समय आया तब श्रीहनुमान्‌जी द्वारा इसका बदला चुका। उनके गर्जनसे निशाचरियोंके गर्भ गिर जाते थे, निशाचर सेना न बढ़ पाती थी। यथा 'चलत महा धुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी। ५।२८।']

नोट—५ पार्वतीजीके शापका प्रसंग वाल्मी० १।३६ में इस प्रकार है कि जब तारकासुरसे पीड़ित हो देवताओंने ब्रह्माजीसे पुकार की और उन्होंने बताया कि भगवान् शंकरके वीर्यसे उत्पन्न बालकके हाथसे ही उसकी मृत्यु होगी, तुम उपाय करो कि शंकरजी पार्वतीजीका पाणिग्रहण करें। देवताओंने उपाय किये। विवाह हुआ। यह सब कथा मानसमें पूर्व आ चुकी है। तत्पश्चात् हर-गिरिजा-विहारमें सैकड़ों वर्ष बीत गए। देवता घबड़ाए। उन्होंने विहारमें बाधा डाली। जाकर प्रार्थना की। तब महादेवजीने अपने तेजका त्याग किया जिसे अग्नि आदिने धारण किया और उससे कार्तिकेय उत्पन्न हुए। देवताओंने जाकर उमा शिवजीकी पूजा की। उस समय उमाने क्रोधमें आकर देवताओंको शाप दिया। यथा "अथ शैलसुता राम त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥२१॥ समन्युरशपत्सर्वान् क्रोधसंरक्तलोचना। यस्मान्निवारिताचाहं संगता पुत्रकाम्यया ॥२२॥ अपत्य

स्वेषु दारेषु नोत्पादयितुमर्हथ । अद्यप्रभृति युष्माकमप्रजा सन्तु पत्नयः ॥ २२ ॥ वाल्मी० । १।३६ ।" अर्थात् श्रीपार्वतीजीकी आँखें क्रोधसे लाल हो गईं और उन्होंने देवताओंको इस तरह शाप दिया—मैं पुत्रकामनासे पतिके साथ थी । तुमने आकर रुकावट डाली । अतः तुम लोग भी अपनी पत्नियोंसे पुत्र उत्पन्न न कर सकोगे । अबसे तुम्हारी स्त्रियाँ पुत्रहीन होंगी । शिव पु० रुद्रसंहिता अ० २ में कोपके वचन ये हैं—"रे रे सुरगणाः सर्वे यूयं दुष्टा विशेषतः । स्वार्थसंसाधका नित्यं तदर्थं परदुःखदाः । १४ । स्वार्थहेतोर्महेशानमाराध्य परमं प्रभुम् । नष्टं चक्रुर्मद्विहारं वन्ध्याऽभवमहं सुराः ।१५। अद्य प्रभृति देवानां वन्ध्या भार्या भवन्त्विति । "१८। "।

रावन आवत सुनेउ सकोहा । देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा ॥६॥
दिगपालन्हके लोक सुहाये । सूने सकल दसानन पाए ॥७॥
पुनि पुनि सिंघनाद करि भारी । देइ देवतन्ह गारि पचारी* ॥८॥
रन मद मत्त फिरइ जग धावा । प्रति भट खोजत कतहु न पावा ॥९॥

शब्दार्थ—सकोहा = क्रोधयुक्त, सकोप । तके = (की) शरण ली । दिगपाल (दिक्पाल)=दिशाओंके रक्षक (आगे इनके नाम कहे हैं । दसों दिशाएँ और उनकी उत्पत्ति संबंधमें दोहा २८ (१) मा० पी० भाग १ पृष्ठ ४५५-४५६ में देखिए । सूने-खाली । सिंघनाद (सिंहनाद)-सिंहका सा गर्जन वा शब्द । पचारी (प्रचारी)-ललकारकर । मद-मद्य मदिरा ।-घमंड ।

अर्थ—रावणको क्रोधयुक्त आता सुनकर देवताओंने सुमेरु पर्वतकी गुफाओंकी शरण ली (उनमें जा छिपे) ॥ ६ ॥ लोकपालोंके समस्त सुन्दर लोकोंको रावणने खाली पाया ॥ ७ ॥ बारबार सिंहके समान भारी गर्जन कर और देवताओंको गालियाँ दे देकर ललकारकर ॥ ८ ॥ वह लड़ाईके मदसे मतवाला तीनों लोकोंमें दौड़ा फिरता था । अपनी जोड़का योद्धा ढूँढ़ता था । (पर) कहीं न पाया ॥ ९ ॥

नोट—१ "देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा ।" से जनाया कि सुमेरुपर बहुत बड़ी-बड़ी और अगणित गुफाएँ हैं जिनमें सब छिप जाते हैं और रावण उन्हें ढूँढ़ नहीं पाता, इसीसे सब वहीं जाकर छिपते हैं । सुमेरुपर ही ब्रह्माकी कचहरी कही जाती है । जब कोई देवता सामने न आए तब वह उनके लोकोंके भीतर गया तो वहाँ सन्नाटा पाया जैसा आगे कहते हैं ।

टिप्पणी—१ 'दिगपालन्ह के लोक सुहाए' इति । 'सुहाए' का भाव कि ये लोक ऐसे सुन्दर हैं कि इन्हें छोड़नेको कभी जी नहीं चाहता, ये छोड़ने योग्य नहीं हैं तब भी रावणके डरसे वे इन्हें भी छोड़ कर चले गए । (☞ रावणका डर सबके हृदयमें कैसा अधिक है यह यहाँ दिखाया कि देवता उसके सामने भोगविलाससे विरक्त होजाते हैं ।)

२ (क)—'देइ देवतन्ह गारि पचारी' । गाली देता है ललकारता है जिसमें क्रोधवश होकर सामने आ जावें (जैसे भीमसेनकी ललकारपर दुर्योधन अपना मरण निश्चय जानकर भी लक्ष्मीको तिरस्कृत करके व्याससरोवरसे बाहर निकल आया था । वीर शत्रुकी ललकार नहीं सह सकते) । पर कोई प्रकट नहीं होता (इससे जनाया कि देवताओंका मान मर्यादि आदि सब जाता रहा था यथा 'तुम्हरे लाज न रोष न माषा', नहीं तो गाली और ललकार सुनकर अवश्य सामने आते) । (ख) 'रनमदमत्त फिरइ जग धावा ।०' । भाव कि देवताओंके यहाँ हो आया । वे सब भाग गए । मर्त्यलोकमें कोई नहीं है । इसीसे कहा कि 'प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा' । इसी तरह कुंभकर्णकी जोड़का संसारमें कोई नहीं है यह कह आए हैं, यथा 'अति बल कुंभकरन अस भ्राता । जेहि कहुँ नहि प्रतिभट जग जाता । १८०।३।' ['जग धावा' से जनाया

* प्रचारी—पाठान्तर।

कि जहाँ कहीं किसीसे सुनता है कि कोई प्रतिभट है वहीं दौड़ा जाता है पर वहाँ जानेपर कोई मिलता नहीं। 'रनमदमत्त'—यहाँ रणको मदिरा कहा। मद्यपानसे जैसे कोई मतवाला हो जाय तो उसे और मद्यपानकी इच्छा होती है वैसा ही रावणका हाल है। यह कुबेरादिको जीत चुका है। रण-मदसे मतवाला हो रहा है। उसे यही सूझता है कि और कोई मिले जिससे लड़ूँ।]

नोट—२ 'सुर पुर नितहि परावन होई', 'सूने सकल दसानन पाए' इति। इसी प्रसंगसे मिलता हुआ एक प्रसंग यह है कि एक बार जब ब्रह्मर्षि संवर्त समस्त देवताओंके साथ राजा मरुत्तको यज्ञ करा रहे थे उसी समय रावण वहाँ पहुँचा। उसे देख इन्द्र मोर, धर्मराज काक, कुबेर गिरगिट और वरुण हंसका एवं अन्य देवता अन्य पक्षियोंका रूप धारण कर उड़ गए। यथा "इन्द्रो मयूरः संवृत्तो धर्मराजस्तु वायसः। कृकलासो धनाध्यक्षो हंसश्च वरुणोऽभवत्॥५॥ अन्येष्वपि गतेष्वेव देवेष्वरिनिषूदन।" रावणके चले जानेके पश्चात् जिन जिन पक्षियोंका रूप धरकर वे बचे थे उन उनको उन्होंने वर दिया। तभीसे मयूरकी चन्द्रिकापर सहस्र नेत्र शोभित होने लगे, कौवे किसी रोगसे अथवा अपनेसे नहीं मरते, इत्यादि। (वाल्मी० ७ सर्ग १८)।

रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥१०॥
किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा ॥११॥
ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसबर्ती नर नारी ॥१२॥
आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता ॥१३॥

दोहा—भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीकमनि१ रावन राज करै निज मंत्र ॥
देव जच्छ गंधर्ब नर किंनर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर बर नारि ॥१८२॥

शब्दार्थ—अधिकारी=जिसको लोक व्यापार करनेका अधिकार है-(वै०)।=जिनको लोक-पालनका वा लोकमें किसी विशेष कार्य्यके करनेका स्वत्व वा पद या अधिकार प्राप्त है। मंडलीकमनि= सार्वभौम, सम्राट्। पंथहि लागा=राहमें लगा अर्थात् सबकी राह रोकी, कोई अपने अधिकारका व्यापार नहीं करने पाता—(वै०)। मन्त्र=मति, इच्छा, विचार वा नियम। निज मन्त्र=स्वेच्छानुसार। यही Dictatorship डिक्टेटरशिप है। मनमाना करना ही 'निज मन्त्र' राज्य करना है।

अर्थ—सूर्य्य, चन्द्रमा, पवन, वरुण, कुबेर, अग्नि, काल, यमराज इन सब लोकपालों और किंनर, सिद्ध, मनुष्य, देवता और नाग सभीके पीछे (रावण) हठपूर्वक लगा ॥ १०-११ ॥ ब्रह्माकी सृष्टिमें जहाँ तक देहधारी स्त्री पुरुष थे वे सब रावणके आज्ञाकारी (अधीन) थे ॥१२॥ सभी डरके मारे उसकी आज्ञाका पालन करते हैं और नित्यही आकर उसके चरणोंमें नम्रतापूर्वक प्रणाम करते हैं ॥ १३ ॥ उसने विश्वभरको अपनी भुजाओंके बलसे वशमें कर किसीको स्वतन्त्र न रक्खा। सब मण्डलीकोंमें शिरोमणि सार्वभौम सम्राट् रावण अपने मन्त्रके अनुसार राज्य करता था। देवता, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य, किंनर और नागकी कन्याओंको तथा और भी बहुतसी सुन्दर उत्तम स्त्रियोंको अपने बाहु-बलसे जीतकर ब्याह लीं ॥ १८२ ॥

टिप्पणी—१ (क) रवि, शशि, पवन, वरुण, धनधारी (=धनद, कुबेर), अग्नि, काल, यम ये अष्ट लोकपाल हैं। (ख) ☞ 'आपुन चलेउ गदा कर लीन्ही' से लेकर 'जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदर बर नारि' तक रावणका दिग्विजय वर्णन किया। आगे मेघनादका विजय कहते हैं।

---

१ मंडलीकपति (का०)

नोट—१ कुबेरको सर्वप्रथम जीतकर पुष्पक ले आया था। उस समय चार लोकपाल प्रधान थे। इन्द्र, वरुण, यम और कुबेर। यमलोकमें भी भारी युद्ध हुआ। यमराज सूर्यपुत्र हैं। वाल्मी० ७. सर्ग २०, २१, २२ में युद्धका वर्णन है। यम कालदण्ड छोड़नेको उद्यत हुए तब ब्रह्माने आकर उनको रोक दिया। उनके कहनेसे वे वहीं अंतर्धान हो गए और रावणने अपने जयकी घोषणा की। वरुणको जीतनेकी कथा सर्ग २३ में है। वरुणकी सेना और पुत्रोंपर जय पाई। वरुण उस समय ब्रह्मलोकमें थे। मंत्रीने हार मान ली। रहे लोकपाल इन्द्र। इन्हें तो मेघनाद बाँध ही लाया था। सूर्य, चन्द्र आदि पर विजय प्रक्षिप्त सर्गोंमें है।

'ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसवर्ती।'

यहाँ यह शंका होती है कि अवधेश, मिथिलेश, बालि, सहस्रार्जुन, बलि इत्यादि अनेक लोग ऐसे थे जो रावण के वशमें न थे, फिर 'दशमुख वशवर्त्ती' कैसे कहा?

कथनका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि ब्रह्माजी जो सृष्टिके रचयिता हैं और शिवजी जो सृष्टिमात्रके संहार करनेवाले हैं जब वे ही रावणके वशमें हो गये, उससे भयभीत रहते और नित्य उसके यहाँ हाजिरी देते हैं तो फिर और कौन रहगया जिसको कहें कि वशमें नहीं है। राजाके वश होनेसे उसकी सब राजधानी वशमें कही जाती है। इसी प्रकार सृष्टिके उत्पन्न और संहार करनेवालोंके वशीभूत हो जानेसे सृष्टिमात्रका वशीभूत होना कहा जाना अयोग्य नहीं। कवित्तरामायणमें ग्रंथकारने कहा है—"वेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहिं तें सिर नावैं। क० ७२।', 'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता। ४।२०।' पुनः, 'वशवर्त्ती' का भाव यह भी हो सकता है कि विश्वभरमें कोई रावणको वशमें या उसका वध करनेमें समर्थ न था। भानुप्रताप रावण जिसके लिए परब्रह्मका आविर्भाव हुआ वह वस्तुतः किसीसे न हारा था। और कल्पोंमें रावण कहीं कहीं हार भी गया था। यदि कहें कि अंगद रावण-संवादमें तो उसका पराजय लक्षित होता है तो उसका उत्तर यह होगा कि जैसे इस ग्रन्थमें चार कल्पके अवतारों की कथा मिश्रित है वैसे ही अंगदके संदिग्ध वचनोंमें अन्य कल्पोंके रावणकी कथा भी जानिए।

त्रिपाठीजी भी लिखते हैं कि "सार्वभौम राजाका भी किसी अवसरमें पराजय हो जाता है, परन्तु यदि उसके शासनमें उस पराजयसे त्रुटि न आई हो, तो उस पराजयकी कोई गणना नहीं है। दो तीन स्थलोंपर रावणका बलसे पराजय सुना गया है, पर रावणमें एक विशेषता थी, उसमें केवल शारीरिक बल ही न था किन्तु तपबल, योगबल, अस्त्रबल, शस्त्रबल, सैन्यबल, दुर्गबल, इष्टबल आदि अनेक बल थे, जिनका समुच्चय और कहीं पाया नहीं जाता। सहस्रार्जुनका वध परशुराम द्वारा हो ही चुका था। बालिसे मैत्री हो चुकी थी। अतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि रावणने विश्वका वश्य कर लिया, परन्तु यह शंका समाधान उन रावणोंके लिये है जो जय विजय, जलंधर, या रुद्रगणके अवतार थे।"

फिर भी यहाँ यह शंका उठती है कि "आगे चलकर ग्रंथकारने इसे 'मण्डलीकमनि' कहा है और कहा है कि 'राखेसि कोउ न स्वतंत्र', तो दशरथमहाराजादिके विषयमें यह बात कैसे ठीक हो सकती है?" इसके समाधानके लिए कुछ बातोंपर विचार कर लेना जरूरी है। वह ये कि रावणने लगभग ७२ चतुर्युग तक राज्य किया और दूसरे यह कि राजनीतिमें शत्रुके वशीभूत करनेके चार उपाय—साम, दाम, भय, भेद कहे गये हैं। तीसरे यह कि दिग्विजय वर पानेके तुरत पीछेका है जब लंका राजधानी हो चुकी थी। ७२ चतुर्युगीके भीतर रघुकुलमें कई राजा हो गए। राजा रघुसे रावण लड़ने गया था। ब्रह्माजीने दोनोंमें मेल करा दिया। फिर राजा अनरण्यको उनकी वृद्धावस्थाके समय रावणने मार डाला। रघुकुलके राजा चक्रवर्ती होते आये हैं, जब उनको एक बार जीत लिया वा उनसे मेल कर लिया गया तो 'वशवर्त्ती' कहना अयोग्य न होगा। राजा दशरथने न कभी उसका मुकाबिला किया और न इनसे उसे युद्ध करनेकी आवश्यकता हुई।

पुनः यह भी हो सकता है कि राक्षसोंका वैर तो देवताओं और ऋषियोंसे सनातनसे चला आता है। वे मनुष्योंको बिल्कुल तुच्छ चींटी सरीखा समझते हैं, इनसे लड़नेमें भी अपना अपमान ही समझते हैं, यही कारण है कि उसने वर माँगते समय जानबूझकर मनुजको छोड़ दिया था, यथा 'अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः। एवं पितामहात्तस्माद्वरदानेन गर्वितः। वाल्मी० वा० १६।६।' इसीलिए 'नरेशों पर हाथ क्या चलाता, जब तक कोई सामना न करता? देवता और उनके पक्षपाती सभी इससे भयभीत रहते थे, नरसे देवता और ऋषि बली हैं ही।

यह भी स्मरण रखने योग्य है कि अनरण्य महाराजके मारे जानेपर उसको देवर्षि नारदका दर्शन हुआ। देवर्षिने उससे कहा कि तू बेचारे मनुष्योंको क्यों मारता है, ये तो स्वयं ही 'मृत्युके पंजेमें पड़े हुए हैं। ये तो सैकड़ों व्याधियोंसे स्वयं ग्रस्त रहते हैं। ऐसोंको मारनेसे क्या? मोहमें फँसे स्वयं नष्ट होनेवाले मर्त्यलोक को दुखी कर तू क्या पावेगा। तू निस्संशय इस लोकको जीत चुका। यथा 'तत्किमेवं परिक्लिश्य लोकं मोहनिराकृतम्। जित एव त्वया सौम्य मर्त्यलोको न संशयः। वाल्मी० ७।२०।१५।' यहाँके प्राणी यमपुरीको जायगे, अतः तू यमपुरी पर चढ़ाई कर। उसको जीत लेनेपर तू निस्सन्देह अपनेको सर्वपर विजयी समझ। यथा 'तस्मिञ्जिते जितं सर्वं भवत्येव न संशयः। वाल्मी० ७ २०-१७।' यह बात मानकर वह यमपुरीको गया और उसने वहाँ विजय प्राप्त की।

महाराज अनरण्यने मरते समय उसे शाप दिया था कि तूने इक्ष्वाकुकुलका अपमान किया है अतः इसी कुलमें दाशरथी राम उत्पन्न होंगे जो तेरा वध करेंगे। यथा "उत्पत्स्यते कुले ह्यस्मिन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम्। रामो दाशरथिर्नाम यस्ते प्राणान् हरिष्यति। वाल्मी० ७,१६,३१।" पुनः साहित्यज्ञ ऐसा कहेंगे कि कवियोंकी यह प्रथा है कि जब किसीकी प्रशंसा करनी होती है तो उसको हद तक पहुँचा देते हैं, उस समय उसका अपकर्ष नहीं कहते। इसीसे यहाँ उसकी जीत ही जीत कही, कहीं भी उसका पराजय नहीं कहा। हाँ! जब उसका प्रताप अस्त होने पर आयेगा तब मंदोदरी, हनुमान्‌जी और अंगद से बातचीत होनेके समय इनके द्वारा दो चार जगह जो उसका पराजय हुआ था उसका संकेत कवि कर देंगे। पुनः, यदि रावणका पराजय कहते तो उससे श्रीरामचन्द्रजीकी भी उसके मारनेमें विशेष प्रशंसा और कीर्तिकी बात न होती।

बाबा हरीदासजी शीलावृत्तमें लिखते हैं कि—'तनधारी" कहकर जनाया कि सृष्टि दो प्रकारकी है। एक तनधारी, दूसरी बेतनधारी। बुद्धि, चित्त, मन, इन्द्रिय, स्वभाव, गुण इत्यादि बेतनधारी (बिना तनवाली) सृष्टि बहुत है सो इस सृष्टिमें एक भी वश न हुआ। एक तनधारी सृष्टि ही वशमें हुई। सब तनधारी जीव दशमुखके आज्ञानुवर्त्ती हुए, इसका भाव यह है कि तनधारी जीवोंकी कोई जाति न बची, सहस्रबाहु आदि व्यक्तिगत भले ही बच गये पर जाति न बची।

वि० त्रि० का मत है कि तनधारीका वशमें होना कहकर जनाया कि जो तनधारी नहीं था अर्थात् अनंग (कामदेव) वह उसके वशमें न था वरंच वह ही कामदेवके वशमें था।

टिप्पणी—२ (क) "देव जच्छ गंधर्ब नर किंनर नाग कुमारि" इति। यहाँ "कुमारि" शब्द देकर जनाया कि बिनब्याही कन्याओंको जीत कर लाया, विवाहिताओंको नहीं और उत्तरार्द्धमें 'बहु सुंदर बर नारि' पद जो दिया है वह शब्द उन्हीं कुमारी कन्याओंके लिए ही आया है। जब तक विवाह न हुआ था, केवल जीत कर लाना कहा था, तब 'कुमारि' दिया, उन्हींके साथ विवाह होनेपर उनको 'सुंदर बर नारि' कहा। (ख) देव, यक्ष, गंधर्व, किन्नरसे स्वर्गको, नरसे भूलोकको और नागसे पाताल लोकको, इस तरह तीनों लोकोंकी कुमारियोंको जीतकर ब्याहना कहा।

नोट—१ 'कुमारि' शब्द अल्पावस्थाकी कन्याओंके लिए प्रायः प्रयुक्त होता है। विशेषकर यहाँ इसी भावमें है। बूढ़ी अनब्याही स्त्रियाँ अभिप्रेत नहीं हैं। किसीने ऐसा भी कहा है कि श्रीसीताजीको छोड़ उसने

विवाहिता स्त्रियोंका अपहरण नहीं किया। परन्तु इसका निषेध स्वयं रावणके उस वाक्यसे होता है जो उसने श्रीसीताजीसे कहा था। यथा "स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वथैव न संशयः। गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सम्प्रमथ्य वा। वाल्मी० ५ २०. ५।" अर्थात् परस्त्रीके साथ सम्भोग करना अथवा उनका बरजोरी अपहरण करना निस्सन्देह हम राक्षसोंका सदाका धर्म है। हाँ, बिना उनकी मर्जीके वह उनके साथ रमण नहीं कर सकता था। क्योंकि पुञ्जिकस्थली अप्सराके साथ बलात्कार करनेसे ब्रह्माजीने उसको शाप दिया था कि यदि अब किसी स्त्रीके साथ ऐसा करेगा तो तेरे सिरके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे। यथा "अद्यप्रभृति यामन्यां बलान्नारीं गमिष्यसि। तदा ते शतधा मूर्धा फलिष्यति न संशयः। वाल्मी०। ६.१३.१४।"

नोट—२ यहाँ मंडलीकमनिका भाव सार्वभौम (सब स्वर्ग, भू और पातालमंडलका) सम्राट् ही सङ्गत जान पड़ता है, नहीं तो पूर्वापर विरोध होगा। क्योंकि पूर्व कहा है कि 'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी।०" यदि मंडलीकका अर्थ केवल १२ राजाओंका अधिपति लें तो 'मंडलीकमनि' का अर्थ होगा 'मंडलीक राजाओंमें शिरोमणि'।

३ "राज करै निज मंत्र" इति। अर्थात् धर्मशास्त्र नीतिशास्त्रकी आज्ञाको त्यागकर अपना मंत्र चलाता है, स्वेच्छाके अनुसार राज करता है। (खर्रा)। पुनः भाव कि राजाको मंत्री चाहिये, इस लिए उसने मंत्री रख लिए थे, नहीं तो उसने कभी भी मंत्रियोंकी सम्मतिकी परवाह न की। (वि० त्रि०)।

इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ। सो सब जनु पहिलेहिं करि रहेऊ ॥१॥
प्रथमहिं जिन्ह कहुँ आयसु दीन्हा। तिन्ह कर चरित सुनहु जो कीन्हा ॥२॥
देखत भीमरूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी ॥३॥
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया ॥४॥
जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला ॥५॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं ॥६॥
सुभ आचरन कतहुँ नहि होई। देव बिप्र गुरु† मान न कोई ॥७॥
नहि हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहु सुनिय न बेद पुराना ॥८॥

छंद—जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा।
आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा ॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना ॥❀

सोरठा—बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति ॥१८३॥

शब्दार्थ—चरित=आचरण। परिताप=दुःख। घालै खीसा=नष्ट कर डालता है, यथा 'केहि के बल घालेहि बन खीसा। ५.२१', 'बातन मनहि रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस। ५ ५६।', 'सो भुज बल राखेहु उर घाली। ६.२६।'

---

† १६६१ में है ❀ यह चौपइया छन्द है। इसके चारों चरणोंमें ३०, ३० मात्रायें होती हैं, १० वीं, १८ वीं और ३० वीं मात्राओंपर विराम होता है।

अर्थ—(रावणने) इन्द्रजीतसे जो कुछ कहा था वह सब (उसने) मानों पहले ही से कर रक्खा था ॥ १ ॥ जिन्हें (रावणने) सबसे प्रथम आज्ञा दी थी उनका चरित सुनो जो (उन्होंने) किया ॥ २ ॥ देवताओंको दुःख देनेवाले निशिचरसमूह सब देखनेमें भयावन और पापी थे ॥ ३ ॥ असुरसमूह उपद्रव करते थे। मायासे अनेक रूप धारण करते थे ॥ ४ ॥ जिस प्रकार धर्म निर्मूल हो वही सब वेदविरुद्ध (उपाय) करते थे ॥ ५ ॥ जिस जिस देशमें गऊ और ब्राह्मणोंको पाते थे उस उस नगर ग्राम और पुरमें आग लगा देते थे ॥ ६ ॥ शुभ आचरण (ब्रह्मभोज, श्राद्ध, यज्ञ, दान, गुरुसतसेवा, इत्यादि) कहीं भी नहीं होते, देवताओं, ब्राह्मणों और गुरुको कोई नहीं मानता ॥ ७ ॥ स्वप्नमें भी हरिभक्ति, यज्ञ, तप, दान नहीं होते और न वेदपुराणही सुननेमें आते थे ॥ ८ ॥ जप, योग, वैराग्य, तप, यज्ञमें देवताओंका भाग जैसे ही रावण कानोंसे सुनता (वैसे ही वह) आप ही उठ दौड़ता, कुछ एवं कोई भी रहने न पाता, धरपकड़ कर सबको विध्वंस कर डालता। संसारमें ऐसा भ्रष्टाचरण हो गया कि धर्म तो कानोंसे सुननेमें भी नहीं आता। जो कोई वेद पुराण कहता उसको बहुत तरहसे भय देता और देशसे निकाल देता था। घोर निशाचर जो घोर अन्याय करते हैं उसका वर्णन नहीं हो सकता। जिनका हिंसापर प्रेम है उनके पापोंकी कौन हद।१८२।

टिप्पणी—१ 'इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ।' इति। (क) इंद्रजीत नाम यहाँ देकर जनाया कि इसने इंद्रको जीत लिया। 'जनु पहिलेहि करि रहेऊ' का भाव कि इंद्रादि समरधीर बलवान् देवताओं को जीतनेमें उसे विलंब न लगा; उसने सबको बातकी बातमें जीत लिया। (ख) 'जो कछु कहेऊ' अर्थात् 'जे सुर समरधीर बलवाना। जिन्हकें लरिबे कर अभिमाना ॥ तिन्हहि जीति रन आनेसु बाधी' यह जो कहा था वैसा ही उसने किया। इंद्रको बाँध लाया था, यह वाल्मीकीय में स्पष्ट है।(☞)यहाँ कहते हैं कि 'इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ', परन्तु कहा था वस्तुतः 'मेघनाद' से, यथा 'मेघनाद कहुँ पुनि हँकरावा। दीन्ही सिख बलु बयरु बढ़ावा' इत्यादि, जब जीत हुई तब वह 'इन्द्रजीत' कहाया। इस कथनका समाधान दूसरे चरणसे किया है कि वह इन्द्रको इतना शीघ्र (आननफानन) जीत लाया मानों पहले ही से जीत कर बाँध रक्खा था, अब रावणके वचन सुनते लाकर दिखा दिया। [(ग)—कारण (युद्ध) न वर्णन करके कार्य्य प्रकट करना कि इन्द्रको मानों पहले ही से जीत रक्खा था "अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार" है। पर यह उत्प्रेक्षाके अंगसे आया है। युद्ध होकर हारजीत होती है किन्तु इस प्रकारकी उत्प्रेक्षा करना कि मानों युद्धके पहले ही जीत लिया हो "अनुक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार" है। दोनोंमें अङ्गाङ्गी भाव है। (वीर०)]

२ (क) 'प्रथमहि जिन्ह कहुँ आयसु दीन्हा ०' इति। दो चरणोंमें इन्द्रजीतका विजय कहा। अब सेनाका उपद्रव यहाँसे वर्णन करते हैं।☞ जिस क्रमसे बल वर्णन किया था उसी क्रमसे उपद्रव वर्णन करते हैं। (ख) 'निसिचर निकर देव परितापी' इति। रावणने कहा था कि 'हमरे बैरी बिबुध बरूथा' हैं इसीसे देवताओंको अधिक परिताप देते हैं। * [*'देखत भीमरूप' से रूप भयानक, 'पापी देवपरितापी' से हृदय भयानक और 'करहिं उपद्रव' से करणी भयानक कही। देवताओंकी मरणविधिमें यत्नशील हैं, अतः देवपरितापी कहा। (वि० त्रि०)*]। (ग) 'करहिं उपद्रव असुर निकाया'। असुर समूह उपद्रव करते हैं क्योंकि रावणकी आज्ञा सबको ऐसी ही है, यथा—'सुनहु सकल रजनीचर जूथा'। अतः सभी ऐसा करते हैं। उपद्रव करते हैं अर्थात् 'द्विजभोजन मख होम श्राद्ध' सभीमें बाधः डालते हैं, यथा 'सब के जाइ करहु तुम्ह बाधा'। [(घ)—'करहिं उपद्रव' कहकर 'नानारूप धरहिं करि माया' कहनेका भाव कि आसुरी सेना बड़ी भारी उतर आई थी पर उसने एक ओरसे सबके संहारमें हाथ नहीं लगाया। वे सब सम्पूर्ण देशमें फैल गए। कामरूप तो थे ही, उन सबोंने अनेक रूप धारण किये। कोई पंडितजी बन गए, कोई महात्माजी बन गये, कोई गोसाईंजी बन गए, सुधारक बने, कोई जनताके अगुआ बन गए, कोई देश-हितैषी बने तो

---

* जिनका आचरण तमोगुणी हो वे ही निशिचर हैं। निशा + चर = तमोगुणचर। (लमगोड़ाजी)।

कोई समाज-हितैषी बने । अपने रूपमें कोई न रहे, सब साधुरूपमें हो गए और उपद्रव आरम्भ किया। (वि० त्रि०)]

३ (क) 'जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला। ''' बेद प्रतिकूला' इति । वेदके प्रतिकूल करना यही धर्मका निर्मूल करना है, क्योंकि वेदके अनुकूल करना धर्म है और प्रतिकूल करना अधर्म है। वेदके प्रतिकूल कर्मोंका वर्णन आगे करते हैं—'जेहि-जेहि देस ''' । (ख) 'जेहि-जेहि देस '' ' कहकर जनाया कि गौ और ब्राह्मण सब देशोंमें नहीं हैं, बहुत कम हैं। [अथवा, डरके मारे सब छिपे रहते हैं वा भाग जाते हैं। 'धेनु द्विज पावहिं'—गौ ब्राह्मणको पाना कहा और किसीका नाम नहीं लेते। क्योंकि ब्राह्मण ही होम यज्ञ आदि करते और कराते हैं और धेनुसे यज्ञादिकी सामग्री प्राप्त होती है। यज्ञादिसे देव प्रबल होते हैं जो निशाचरोंके शत्रु हैं अतः इन दोनोंका नाश करते हैं। 'नगर गाउ पुर आगि लगावहिं'—नगरसे छोटा ग्राम और ग्रामसे छोटा पुरवा होता है; उसी क्रमसे कहा। 'पुर' से पुरवा समझना चाहिए। पुरवेमें कम होते हैं, उससे अधिक ग्राममें और इसमें अधिक नगरमें। वे एकपर भी दया नहीं करते। 'धेनु द्विज' से यह भी जनाया कि एक भी गौ या एक भी ब्राह्मण हुआ तो सारे नगर आदिमें आग लगा देते हैं। भाव यह कि तुम लोगोंने इनको नगरसे निकाल क्यों न दिया, उसका फल तुमको भी यही देते हैं। वैरीका मित्र भी वैरी होता है।] (च)—'आगि लगावहिं' कहकर जनाया कि सब बड़े आततायी हैं। [आग लगाना प्रथम आततायित्व है। यथा "अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहारी च षडेते ह्याततायिनः। प० पु० सृष्टि० ४८। ५८१"] (छ) 'सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई' इति। इससे जनाया कि वे आप तो अधर्म करते ही हैं और दूसरोंके लिए भी हुक्म निकाल दिया है कि कोई भी धर्म न करे। इसीसे शुभ आचरण कहीं नहीं होते। यदि कोई धर्म करे, सुर, विप्र और गुरुको माने तो मार डाला जाय, इसीसे कोई इनको मानता भी नहीं। [देव, विप्र, गुरुकी पूजा बन्द हो गई। सभ्य वही माना जाता था, जो भक्ति, यज्ञ, तप आदिको अन्धविश्वास माने। अतः कर्म, उपासना, ज्ञान तीनोंका लोप हो गया। (वि० त्रि०)]

नोट—१ वेद ही धर्मका मूल है, उसके उखाड़नेकी विधि वे जानते थे। पण्डितजी बनकर वे वेदका व्याख्यान करते थे, बतलाते थे कि वेद मनुष्योंका बनाया हुआ है, अब देश काल वैसा नहीं रह गया, नये वेदकी आवश्यकता है। वेदको खींचतानकर मरोड़कर उसका अर्थ ही दूसरा करते थे। अर्थ करनेकी पद्धति ही बदल देते थे। कोई महात्माजी बनकर अपने माहात्म्यसे लोगोंको प्रभावित करके वेदमार्गसे च्युत करते थे, कोई गोसाईं बने हुए शिष्योंको अधर्म रास्तेपर लगाते थे। कोई अगुआ बनकर जनताको हरा बाग दिखाते हुए उसे विपत्ति सागरमें डुबाते थे। कोई सुधारक बनकर सम्प्रदाय और परम्पराके मिटा देनेमें ही कल्याणका मार्ग दिखाते थे। कोई देशहितैषी बनकर देशके देशको ईश्वरसे विमुख करनेमें लगे थे। कोई समाजहितैषी बनकर एक जातिको दूसरे से वैर कराते थे। सभी धर्मके प्रतिकूल आचरण स्वयं करते और लोगोंसे कराते थे। जब जनता अधिक काबूमें हो गई तब स्पष्ट अत्याचार करने लगे। यज्ञमें प्रधान साधन हैं—गौ और ब्राह्मण। उन दोनोंसे संसारका अकल्याण पहिले ही बतलाते थे, अब यह नियम कर दिया कि जिस पुर आदिमें ये पावें जावें उसे एकदम फूँक दो।

टिप्पणी—४ (क) 'जप जोग बिरागा''' इति। यह काम परम आवश्यक है। ऋषि मुनि इत्यादि अवश्य जप यज्ञ आदि करते हैं। इसके लिए वह किसीपर विश्वास नहीं करता। इसीसे यज्ञकी खबर पाते ही स्वयं ही उठकर दौड़ा जाता है। ('उठि धावै' से जनाया कि इसमें किंचित् भी आलस्य या विलम्ब नहीं सह सकता) (ख) 'अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा०' इति। ☞ प्रथम कह आए हैं कि 'जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला', अब बताते हैं कि उन्होंने धर्मको ऐसा निर्मूल कर दिया कि प्रत्यक्ष दिखाई देनेकी कौन कहे कहीं कानोंसे सुननेमें भी नहीं आता। धर्मका नाश यहाँ कहकर आगे धर्मके

मूलका नाश कहते हैं। (ग) 'तेहि बहु विधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना' इति। वेद पुराण धर्मका मूल हैं। वेदपुराण सुननेसे धर्मका बोध होता है अतः धर्म निर्मूल करनेकी यह भी एक विधि है कि वक्ता कोई रह ही न जाय। ☞ प्रथम श्रोताओंका हाल कहा कि 'सपनेहु सुनिय न बेद पुराना', अब वक्ताओंका हाल लिखते हैं। (घ) 'बहु बिधि त्रासै' से जनाया कि निशाचर मारते डरवाते तो श्रोताओंको भी हैं पर वक्ताओंको धर्मके उपदेष्टा समझकर बहुत प्रकारसे त्रास देते हैं। (ङ) 'बरनि न जाइ अनीति०' इति। यहाँ निशाचरोंके उपद्रवकी इति लगाई। आगे राक्षसोंके अनुयायियोंका उपद्रव वर्णन करते हैं,—'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा' इत्यादि। ['हिंसा पर अति प्रीति' कहकर एक हिंसाकर्ममें सभी छोटे बड़े पापोंका वर्णन 'द्वितीय पर्याय अलंकार' है।—(वीरकवि)]

वि० त्रि०—'जप जोग...' इति। जप आदिके सबधमें कहते हैं कि इमली इमली कहनेसे मुँह मीठा नहीं होता, मिरचा मिरचा कहनेसे तीता नहीं होता, अतः जप करना व्यर्थ समय व्यतीत करना समझा गया। गाँजेका दम लगाकर बेहोश होना और समाधि लगाना एक बात समझी गई। तप करके आँतोंको सुखाना अपनेको दुर्बल बनाना माना गया। विरागकी गिनती नालायकोंमें हुई। यज्ञ खाद्यान्नदाहसे सम्पन्न होता है, अतः अपराध माना गया। महाराज रावणकी आज्ञा है कि ये सब दुष्कर्म हैं। अतः जप, योग, यज्ञ सब बंद हो गए। केवल उड़ती खबर यदि रावणको लग जाय कि कहीं यज्ञादि होते हैं तो स्वयं दौड़ पड़ता कि कहीं जाते जाते पूर्णाहुति न हो जाय, या जिसको इस कामपर भेजा है वह आलस्य न कर जाय। स्वयं ऐसा मुस्तैद रहता था जिससे सब सावधानीसे काम करें। अतः कवि कहते हैं कि घोर निशाचर जो करते हैं उस अनीतिका वर्णन नहीं हो सकता।

☞ इस वर्णनमें उपदेशका भाव है। वह यह कि देखिए, यहाँ तक धर्मका पतन होता है। अतः धर्मात्मा धर्मका ह्रास देखकर अधीर न हों। धर्मका नाश हो नहीं सकता, उसके सँभालनेके लिये भगवान्‌को आना पड़ता है।

श्रीलमगोड़ाजी—१ आपने देखा कि बालकाण्डमें यहाँ तक किस कुशलतावाले कविने आध्यात्मिक और आधिदैविक रहस्य बड़ी ही रसमय भाषामें लिख दिये हैं।

२ जिस सामाजिक परिस्थितिमें भगवान्‌का अवतार हुआ है उसका वर्णन कला तथा नैतिक दोनों दृष्टिकोणसे विचारणीय है।

३ जबसे मैंने डाक्टर हरदयालजीका लेख 'प्रभा' में पढ़ा था कि प्राचीन हिन्दीसाहित्यमें रामचरित-मानस एक अच्छा राष्ट्रीय काव्य है, क्योंकि इसमें राष्ट्रसंघटनके मूल नियम मौजूद हैं, तबसे बहुधा इस दृष्टिकोणसे विचार किया है और रामायणपर अनेक दृष्टिकोणोंसे विचार सम्बन्धी (माधुरीमें प्रकाशित अपने) लेखोंमें कुछ विचार प्रकट भी किये हैं। मैं राजनैतिक विशेषज्ञ नहीं हूँ। इसलिए अधिक लिखनेका साहस नहीं करता। हाँ, राजनीतिज्ञोंसे अनुरोध अवश्य करूँगा कि वे "रामराज्य" के नियमोंपर विचार करें। और इस दृष्टिकोणसे "रावण रथी विरथ रघुबीरा" वाला रथके रूपकका प्रसंग बड़े महत्त्वका है। हाँ, एक बात याद रखना चाहिये कि मानस एक काव्य है, इस कारण उसमें पारिभाषिक राजनीति नहीं है परन्तु उसके संकेत बराबर हैं।

देखिये, हमने भानुप्रतापका सार्वभौम राज्य देखा। अब रावणका "मंडलीकमनि रावन राज करै निज मंत्र" वाला साम्राज्य देख रहे हैं और 'रामराज्य' की कथा तो पढ़ेहींगे। तीनों राष्ट्रोंकी तुलना बड़ी शिक्षाप्रद है। संक्षिप्तत यह कहना अनुचित नहीं है कि भानुप्रतापके साम्राज्यमें राजस प्रधान है। धर्मका बाहरी रूप (यज्ञ-दान इत्यादि भी हैं) पर शासनकी इच्छा वासना-रूपमें है। सारी दुनिया मेरी हो। मुझ पर कोई विजय न पावे। राज बलसे फैले, इत्यादि। रावणका साम्राज्य तो तामसिक स्पष्ट ही है। इसीलिये दोनोंका परिणाम विनाश और दुःख है। रामराज्यकी पताका ही "सत्य शील दृढ़" है, इससे वह सात्विक

है। उसका रथ 'बल, विवेक, दम, परहित घोड़े" से आगे बढ़ता है। परन्तु यह घोड़े, "क्षमा, दया और समता" के रज्जुसे जोड़े गए हैं।

सत्याग्रही भाई विचार करें कि अभी "शील" की कमी उनमें है। Non violence केवल नकारात्मक है। सामवादी विचार करें कि Liberty (स्वतन्त्रता) की धुनमें उनकी 'समता' खूनमें सनी ही रही है। 'क्षमा, दया' से मिली नहीं है, इसीलिये Liberty (स्वतंत्रता) और Equality (साम्य) के साथ बेचारा Fraternity (भ्रातृभाव) यों ही रह गया, या अगर काम आया तो बहुत कम।

यह भी विचारणीय है कि अयोध्यामें "जो पाँचहि मत लागै नीका" वाला तत्त्व प्रधान है वहाँ "राज करै निज मत्र" की डिक्टेटरी (Dictatorship) का पता नहीं।

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा ॥१॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥२॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब* प्रानी ॥३॥
अतिसै देखि धर्म कै ग्लानी†। परम सभीत धरा अकुलानी ॥४॥
गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ‡ एक परद्रोही ॥५॥
सकल धर्म देखै बिपरीता। कहि न सकै रावन भय भीता ॥६॥
धेनु रूप धरि हृदय बिचारी। गई तहां जहं सुर मुनि झारी ॥७॥
निज संताप सुनायेसि रोई। काहू तें कछु काज न होई ॥८॥

छंद—सुर मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका।
संग गो तनु धारी भूमि बिचारी परम बिकल भय सोका ॥
ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई।
जा करि तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई ॥

सोरठा—धरनि धरहि मन धीर कह बिरंचि हरिपद सुमिरु।
जानत जन की पीर प्रभु भंजिहि दारुन बिपति ॥१८४॥

शब्दार्थ—जुवारा = जुआड़ी, जुआ खेलनेवाले। लंपट = कामुक। दारा = स्त्री। ग्लानी-खेद, दुःख, शारीरिक वा मानसिक शिथिलता। अरुचि, खिन्नता। धरा = पृथ्वी। झारी = समस्त, सब। पीर = पीड़ा, दर्द, दुःख।

अर्थ—बहुत दुष्ट, चोर और जुआरी बढ़े जो पराये धन और स्त्रियोंमें लपटे रहते हैं (अर्थात् उनको ताकते हैं, हरते हैं, उनकी घातमें रहते हैं) ॥१॥ माता पिता देवता किसीको नहीं मानते। साधुओंसे सेवा कराते हैं ॥२॥ हे भवानी! जिनके ऐसे आचरण हैं उन सब प्राणियोंको निशाचर जानना ॥३॥ धर्मकी अत्यंत गिरी हुई दशा देखकर पृथ्वी बहुत भयभीत और व्याकुल हो गई ॥४॥ (वह मनमें सोचने लगी कि) मुझे पर्वत, नदी और समुद्रका बोझ (वैसा भारी) नहीं लगता जैसा एक परद्रोही भारी लगता है ॥५॥ वह सब धर्म उलटे देख रही है (पर) रावणके डरसे डरी हुई कुछ कह नहीं सकती ॥६॥ मनमें सोच विचारकर

* सम—१७२१, छ०, को० रा०, प्र०। सब—१६६१, १७०४, १७६२। † हानी—१७२१, १७६२, को० रा०। ग्लानी—१६६१, १७०४, छ०। ‡ गरुव—१६६१। गरुअ—प्राय औरों में।

वह, गायका रूप धारण करके, वहाँ गई जहाँ सबके सब देवता और मुनि थे ॥७॥ (उसने) अपना सब दुखड़ा रो सुनाया, (पर) किसीसे कुछ काम न चला ॥८॥ सुर मुनि गन्धर्व सब मिलकर ब्रह्माके लोकको गए। भय शोकसे परम व्याकुल बेचारी पृथ्वी भी गऊ रूप धरे साथ थी। ब्रह्माजी सब जान गए। उन्होंने मनमें विचार किया कि मेरा कुछ वश नहीं है। जिसकी तू दासी है वह अविनाशी (है वही) हमारा और तुम्हारा सहायक है। (फिर) ब्रह्माजी बोले—'हे पृथ्वी!' मनमें धैर्य्य धारण कर। भगवान्‌के चरणोंका स्मरण कर। प्रभु अपने दासोंकी पीरको जानते हैं। वे इस कठिन विपत्तिका नाश करेंगे ॥१८४॥

टिप्पणी—१ [(क) 'बाढ़े' से जनाया कि पूर्व भी थे पर कुछ ही थे। अब निशाचर शासनके कारण संख्या बहुत बढ़ गई। पुनः बाढ़े अर्थात् इनकी दिनोंदिन उन्नति देख पड़ने लगी।] (ख) (चोरी और जूआका साथ है। चोर ही पक्के जुआड़ी होते हैं, दूसरेके धनसे उन्हें जूआ खेलना ठहरा। अतः दोनोंको साथ कहा। वि० त्रि०)। 'मानहिं मातु पिता नहिं देवा' से कृतघ्न और नास्तिक जनाया। 'साधुन्ह सन करवावहिं सेवा' से अधर्मी सूचित किया; क्योंकि साधुकी सेवा करना धर्म है सो न करके उलटे उनसे सेवा कराते हैं। [(ग) 'ते जानहु निसिचर सब प्रानी' इति। ☞ यहाँ निशाचरका अर्थ बताया है। बड़े बड़े दाँत सींग भयावनी शक्ल इत्यादि की आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त आचरण जिनके हों वे सब निशिचर ही हैं। 'सम' पाठान्तरका भाव यह होगा कि जो काम निशिचर करते हैं वही ये करते हैं अतएव यह निशिचरके समान हैं]

२ [(क) 'अतिसै देखि···' का भाव कि जब तक निशाचरोंमें ही अधर्म रहा तब तक दुःख विशेष न हुआ क्योंकि उनका तो यह स्वाभाविक गुण है। पर जब इनके कारण प्रायः संसारभरमें ऐसे ही आचरण होने लगे, सभी प्राणी निशाचरोंके आचरण करने लगे, जो कुछ धर्म करते थे वे या उनकी संतान ही अधर्ममें रत हो गई इत्यादि, तब पृथ्वी अकुला उठी। गीतामें भी अवतारके लिये धर्मकी ग्लानिका होना आवश्यक दिखाया है, यथा 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। ४।७।' अतः यहाँ वही धर्मकी 'ग्लानी' शब्द देकर सूचित किया कि अवतारके लिये जैसा अधर्मका अभ्युत्थान और धर्मकी हानि होने चाहिए वे सब उपस्थित हो गए हैं] (ख) 'परम सभीत धरा अकुलानी' इति। यहाँ 'धरा' नाम देनेका भाव कि यह धर्मके बलसे सबको धारण किए हुए है; इसीसे अधर्मीका भार नहीं सह सकती। [धरा—'धरति विश्वम् धृञ् धारणे', 'धराः पर्वताः सन्त्यस्याम् वा'। अर्थात् पर्वत हैं जिसपर वह 'धरा' है, जो विश्वको धारण करती है वह धरा है। प० प० प्र०]

नोट—१ बाबा हरिदासजी कहते हैं कि-(क) यहाँ 'धरा' नाम सहेतुक है। जिसको कोई सदा धरे रहे, एवं जो सब वस्तु अपनेमें धरे रहे उसे 'धरा' कहते हैं। (यह अर्थ अशास्त्रीय है। प० प० प्र०)। शेषजी धरनीको सदा अपने शीशपर धारण किये रहते हैं। अतः 'धरा' अकुलाती है कि शेषजी मुझको पापसे लदी हुई समझकर अपने सिरपर बड़ा पापका भार जानकर कहीं जलमें बहा न दें। पापी जीव सिरपर पाप लादते हैं और शेषजी हरिभक्त हैं तब भला वे पापको सिरपर कैसे रहने देंगे? (ख) 'धेनुरूप धरि हृदय विचारी' इति। हृदयमें यह विचारा कि जब शेषजी मुझे जलमें डाल देंगे तब मैं क्या यत्न करूँगी? सब जीव मेरे आश्रित हैं। वे सब डूब जायँगे। देवता तो गगनवासी हैं उनको जलमें डूबनेकी कोई शंका नहीं। यह विचारकर गो रूप धरकर देवसमाजको गई। [नोट—'गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक पर द्रोही' के संबंधसे, वा विचारके अनुसार 'धरा' नाम बड़ा ही उत्तम पड़ा है]

टिप्पणी—३ 'जस मोहि गरुअ एक परद्रोही' का भाव कि एक परद्रोहीका भार इन सबके मिलकर भी भारसे अधिक भारी है और यहाँ तो अगणित परद्रोही हैं तब उनके बोझका वर्णन वा अन्दाजा (अटकल) कौन कर सकता है [सच्चे बोझका निषेध करके उसका भारीपन परद्रोहीमें आरोप करना 'पर्य्यस्तापह्नुति अलंकार' है। (वीरकवि)]

वि० त्रि०—'सकल धर्म देखै विपरीता' इति । शास्त्र कहता है कि 'व्यवस्थितार्यमर्याद कृतवर्णाश्रम स्थिति । त्रय्या हि रक्षितो लोक प्रसीदति न सीदति ।' (अर्थात् वर्णाश्रमकी स्थितिसे ससार सुखी होता है, कष्ट नहीं पाता, परन्तु तामसी बुद्धिवालोंको वर्णाश्रम आँखका काँटा हो जाता है । शास्त्र कहता है 'न स्त्रीस्वातन्त्र्यमर्हति', परन्तु तामसी बुद्धिवालोंको स्त्रीस्वातन्त्र्य सब कल्याणका मूल जँचता है । शास्त्र कहता है कि "शौचात् स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गश्च' शौचका अभ्यास डालनेसे अपने शरीरसे घृणा हो जाती है, वह दूसरेका ससर्ग नहीं करता, पर तामसी बुद्धिवाले छुआछूत उठा देनेको ही धर्म समझते हैं । रावणने क़ानून लागू कर दिया है, इससे कोई कुछ कह नहीं सकता ।

टिप्पणी—४ 'धेनु रूप धरि हृदय बिचारी' इति । धेनुरूप धारण करनेका भाव कि एक तो वास्तवमे पृथ्वीका गऊ रूप ही है, दूसरे गऊकी रक्षा सब करते हैं, अत गौ रूप धारण किया । [श्रीमद्भागवतमें भी राजा परीक्षित और कलिके प्रसगमें पृथ्वीको गौ, धर्मको बैल और कलिको कसाई रूप कहा गया है । सुकृती राजाओंके प्रसगोंमें जहाँ तहाँ पृथ्वीरूपी गौका दुहना कहा गया है । पुन गऊका रूप अति दीनताका स्वरूप है, अतएव गऊ बनी ।] 'गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी' अर्थात् सुमेरु पर्वतकी खोहमे जहाँ ये सब छिपे थे, यथा 'रावन आवत सुनेउ सकोहा । देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा । १८२।६ ।'

प० प० प्र०—अन्य ग्रन्थोंमें 'गो'-रूपके उल्लेख मिलते हैं, पर 'धेनु' शब्दका व्यापक अर्थ उसमे नहीं है । 'धेनु स्यात् नव सूतिका' अर्थात् नई ब्याई हुई गौको धेनु कहते हैं । ब्याई हुई गौके वत्स (बछडा) रहता है । धरारूपी धेनुका बछड़ा तो धर्म है, उसे रावणने धरणीपर नहीं रहने दिया, इसीसे धरा परम सभीत होकर व्याकुल हो गई । 'मेरे प्राणप्रिय वत्सको सुर-मुनि मुझसे मिला देंगे' इस आशासे वह 'गई जहाँ सुर मुनि झारी' । गो शब्दसे यह भाव नहीं निकल सकता ।

नोट—२ (क) "निज संताप सुनायेसि रोई" इति । गौको जो दु ख होता है तो वह मुँहसे कैसे कहे, अश्रु धारा बहाती है जिससे मालूम हो जाता है कि उसे दु ख है । देवताओंके समीप जाकर रोने लगी, इसीसे वे कष्ट जान गए । अथवा, जैसे उसने गौका रूप धारण किया वैसे ही मुँहसे अपना दु ख भी कह सुनाया और रोती रही । रोरोकर दु ख सुनानेसे दया शीघ्र आती है । दूसरे इससे प्रकट होता है कि कष्ट अत्यन्त भारी है, असह्य है; इसीसे रोना आता है । पुन रोनेका भाव कि आप सब ऐसे समर्थोंके रहते हुए मेरी यह गति हो यह उचित नहीं । यथा 'सभा माँझ परि ब्याकुल बहु प्रकार कह रोइ । तोहि जिअत दसकधर मोरि कि असि गति होइ । ३।२१ ।', 'सुनत सभासद उठे अकुलाई । समुझाई गहि बाह उठाई' । (ख) पुन , रोकर जनाया कि देवता आदि तो भागकर बच भी जाते हैं, मैं तो भाग भी नहीं सकती, अत रोती रहती हूँ । 'काहू तें कछु काज न होई' क्योंकि ये सब तो स्वय भयके मारे डरे छिपे रहते हैं, रावण दिन रात इनके पीछे पड़ा रहता है, यथा 'किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा । हठि सबहीके पथहि लागा ।' तब यह क्या सहायता कर सकते ?

टिप्पणी—५ (क) 'सुर मुनि गे बिरंचिके लोका ।' भाव कि आपने ही रावणको वर दिया है जिसके बलपर रावण सब अत्याचार कर रहा है । और आपने ही हमें अधिकारी बनाया सो सब अधिकार रावणने छीन लिये, हम भागे भागे फिरते हैं । आप ही अब हमारे बचनेका उपाय बताएँ । पुन भाव कि आप सृष्टिके रचयिता हैं, सारी सृष्टिका नाश हो जायगा, अत शीघ्र उपाय कीजिये । (ख) 'परम बिकल भय०' इति । भय रावणका है । यथा 'सकल धरम देखै बिपरीता । कहि न सकै रावन भय भीता ।' शोक उसके अत्याचारका और धर्मके नाशका है, यथा 'अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी । परम सभीत धरा अकुलानी ।' जो पूर्व कहा था उसीको यहाँ इन दो शब्दोंसे जना दिया ।

६ (क) 'ब्रह्मा सब जाना' भाव कि देवताओंसे इसने अपना दु ख रोकर सुनाया तब उन्होंने जाना

था और ब्रह्मासे दुःख कहना न पड़ा, वे अपनेसे जान गए। 'कछु न बसाई' अर्थात् मेरी कुछ न चलेगी। ☞ देवताओंसे कुछ काम न हुआ, यथा 'काहू तें कछु काज न होई'। और ब्रह्माजी भी यही अनुमान करते हैं कि मेरा कुछ वस नहीं। अर्थात् इनसे भी कुछ न हुआ। [(ख) 'जा कर तैं दासी सो अविनासी'—भाव कि जिनका किसी न किसी कालमें विनाश है उनके हाथसे रावण नहीं मरेगा। जो अविनाशी है उसीके हाथसे उसकी मृत्यु होगी। वही प्रभु हमारे और तुम्हारे सहायक हैं। (बाबा हरीदासजी)] (ग) 'हमरेउ तोर सहाई' का भाव कि जैसी विपत्ति तुम्हें है वैसी ही हमें भी है।

प० प० प्र०—(क) जब सुर-मुनिने भी असमर्थता दिखाई तब निराशा हुई, अपने वत्ससे मिलना असम्भव समझ वह बेचारी गौ-के समान दीन बन गई। अतः 'गो तनु धारी' बनी। (ख) 'भूमि बिचारी' इति। पहले 'धरा' थी अब 'भूमि' बन गई। 'भवति इति भूमिः' (अमर व्या० सु०)। भाव कि अब कुछ (भवति) होगा, क्योंकि वे विरंचि हैं, उन्होंने रावणके विरुद्ध कुछ उपाय रचा होगा ही। देखिए, जब ब्रह्माने कुछ उपाय बताया तब विरंचि-शब्द आया है, यथा 'कह बिरंचि हरिपद सुमिरु'। जब कहा कि 'मोर कछू न बसाई' तब ब्रह्मा शब्द दिया है, क्योंकि ब्रह्मा=वृद्धिकर्ता। उन्होंने रावणको वर देकर उसके ऐश्वर्य, सत्ता आदिकी वृद्धि कर रक्खी है, इसीसे वे कुछ कर नहीं सकते।

नोट—३ 'मोर कछू न बसाई' और 'हमरेउ तोर सहाई' का भाव कि हम भी तो उससे डरते हैं। देखो, हमें नित्य उसके पास वेद सुनाने जाना पड़ता है, हमारा भी बचन वही प्रभु छुड़ावेंगे।

खर्रामें 'हमरेउ तोर सहाई' का भाव यह लिखा है कि "हमारे और तेरे सहायमें विरोध है। रावणके मरणसे तेरा सहाय है और हमने तो रावणको नर वानरसे मरनेका वर दिया है, अन्यसे न मरनेमें ही हमारी सहायता है। पर ऐसा कौन नर वानर है जो उसे मार सके, यह बात उसी अविनाशीके हाथ है वह चाहे तो सब सुगम है।"

टिप्पणी—७ (क) "धरनि धरहि मन धीर"—पृथ्वी भय और शोकसे परम व्याकुल है। अतः धीरज देते हैं। 'धरनि' का भाव कि तुम विश्वको धारण करनेवाली हो, अतः धैर्य्य धारण करो। धैर्य धारण-कर अपना 'धरणि' नाम सार्थक करो'। 'हरि पद सुमिरु'—हरिके चरणोंका स्मरण करनेको कहा क्योंकि भगवान्के स्मरणसे धैर्य्य बँधता और कष्ट निवृत्त होता है। कष्टमें भगवान्का स्मरण करना चाहिए, यथा-'कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक सुखदाता। ५।१५।' स्मरणमें 'हरि' पद दिया क्योंकि 'क्लेशं हरतीति हरिः' और 'विपत्ति' भंजन करनेमें 'प्रभु' शब्दका प्रयोग किया क्योंकि दारुण विपत्तिके भंजन करनेमें वे 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं इसीसे देवताओंने रघुनाथजीसे लंकामें कहा है कि 'दारुन बिपति हमहि यह दीन्हा'।

> बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिय पुकारा ॥१॥
> पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस* प्रभु सोई ॥२॥
> जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती ॥३॥
> तेहि समाज गिरिजा मैं रहेउँ†। अवसर पाइ बचन एक कहेउँ ॥४॥

शब्दार्थ—पुकारा=फरियाद, दुहाई, रक्षा या सहायताके लिये चिल्लाहट। अपनी ओर ध्यान आकर्षित करनेके लिये जोरसे किसीका नाम लेना या कोई बात कहना। किसीसे पहुँचे हुए दुःख वा हानिक उससे निवेदन जो दंड या पूर्तिकी व्यवस्था करे।

अर्थ—सब देवता बैठे हुए विचार करते हैं कि प्रभुको कहाँ पावें, कहाँ जाकर पुकार करें (अपना

* महँ बस सोई—(ना० प्र०)। महँ प्रभु सोई—(रा० प०)। 'रह प्रभु'। † १६६१ में 'रहेऊ' है।

दुःख सुनाएँ) ॥१॥ कोई वैकुण्ठ जानेको कहता है और कोई कहता है कि वही प्रभु क्षीरसागरमें निवास करते हैं ॥२॥ जिसके हृदयमें जैसी भक्ति और जैसा प्रेम है प्रभु (उसके लिए) वहीं सदा उसी रीतिसे प्रकट होजाते हैं ॥३॥ हे गिरिजे ! उस समाजमें मैं भी था । अवसर पाकर मैंने एक बात कही ॥४॥

टिप्पणी—१ (क) "बैठे सुर सब करहिं बिचारा" से जनाया कि देवताओंने सभा की, उनका समाज विचार करनेके लिए बैठा जैसा आगेके 'तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ' से स्पष्ट है । (अथवा ऐसाभी संभव है कि सब देवता वहाँ एकत्र थे ही, अतः सभी सोच रहे हैं कि कहाँ अविनाशी प्रभुको पावें ! कहाँ उनसे जाकर पुकार करें ?) । (ख) 'कहँ पाइअ प्रभु' अर्थात् जो हमारी विपत्ति हरण करनेका समर्थ है उनको कहाँ पावें, कहाँ जाकर मिलेंगे ? वे विचार करते हैं कि रावण हमसे अवध्य है, (ब्रह्माके पास गए सो उन्होंने स्वयं कहा है कि 'जाकर तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई' तथा 'प्रभु भंजिहि दारुन बिपति' । इससे यह स्पष्ट है कि वे भी कुछ कर नहीं सकते, यथा 'मोर कछू न बसाई', अतएव) वे अब न तो ब्रह्मासे कहते हैं और न शिवजीसे ही कि आप रावणका वध करें क्योंकि दोनों ही ने रावणको वर दिया है । यह बड़े लोगोंकी रीति है कि जिसे वे बनाते हैं उसे बिगाड़ते नहीं । (और यदि वे ऐसा करें तो फिर उनके वर और शापका मूल्य ही कुछ न रह जाय । और, जब वचनका मूल्य न रहा तो उन्हींका क्या मूल्य रह गया ? वाल्मीकीयमें शिवजीने स्वयं कहा है कि हम वर दे चुके हैं अब इसको क्या मारें !) अब रहे विष्णु वह भी रावणको मार सकते हैं, ये वचनबद्ध नहीं हैं, अतएव सोचते हैं कि कहाँ जाकर उनसे पुकार करें ? इसपर कोई वैकुण्ठ जानेकी सलाह देते हैं । (ग) प्रभुसे पुकार करनेका भाव कि जब जब देवताओंको दुःख होता है तब तब वे ही दुःख हरते हैं, यथा 'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो । नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो । ६।१०६ ।' (घ) 'पुर बैकुंठ जान कह कोई ।०' इति । भाव कि जब किसीने कहा कि प्रभुको कहाँ पावें ? तब किसीने उत्तर दिया कि वैकुण्ठको चलो वे वहाँ मिलेंगे । जो स्थान जिस देवताका जाना हुआ है वह वही स्थान बताता है । (दूसरे जो क्षीरशायी भगवान्का अवतार लेना जानते हैं वे क्षीरसिंधु जानेको कहते हैं) । वैकुण्ठवासी और क्षीरशायी भगवान् अवतार लेते हैं । इसीसे उनके यहाँ जानेको कहते हैं । ☞ देवताओंके वचन उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं । 'कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा' इस वचनमें प्रभुकी प्राप्तिका ठिकाना नहीं है, इससे 'पुर बैकुंठ जान कह कोई' यह वचन विशेष है क्योंकि इसमें प्रभुकी प्राप्तिका ठिकाना है । परन्तु वैकुण्ठ दूर है इससे कोई कहता है कि 'पयनिधि बस प्रभु सोई' यह वचन विशेष है । क्षीरसमुद्र निकट है । आगे शिवजीका वचन इससे भी विशेष है क्योंकि जहाँ सब बैठे हुए हैं वहीं प्रभुकी प्राप्ति उन्होंने बताई । ☞ (तीन उपासनायें यहाँ दिखाईं । जो वैकुण्ठवासीके उपासक हैं, उन्होंने वैकुण्ठ जानेको और जो लक्ष्मीनारायणके उपासक हैं उन्होंने क्षीरसिंधु जानेको कहा) ।

वे० भू० पं० रा० कु० दास—ब्रह्माके एक दिनको कल्प कहते हैं । और 'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं', इस तरह ब्रह्माके एक वर्षमें ३६० बार प्रभुका अवतार हो जाता है । अतएव ब्रह्माजीने बहुत बार श्रीरामावतार देखा है, इससे वे जानते हैं कि रामावतार वैकुण्ठ अथवा क्षीरसागरसे नहीं होता किन्तु साकेताधीश श्रीराम ही दाशरथी राम होते हैं—'तथा रामस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्त्वतः' । अथर्ववेद ।' विरजापार त्रिपाद्विभूतिमें केवल मुक्त जीव जा-आ सकते हैं—'यत्र गच्छन्ति सूरयः' । देवता बद्ध जीव हैं—'भव प्रवाह संतत हम परे' के अनुसार ये वहाँ जा नहीं सकते ।

ब्रह्माजी तो इस विचारमें हैं कि क्षीरसागरवैकुण्ठादिसे काम न चलेगा जो एकपाद्विभूतिमें हैं अतः कैसे काम चलेगा ? रहे देवता । वे अवतारकी व्यवस्था नहीं जानते, क्योंकि एक कल्पके भीतर चौदह इन्द्र हो जाते हैं । प्रत्येक इन्द्रके साथ साथ मनु, सप्तर्षि और देवता आदि भी दूसरे-दूसरे हो जाते हैं । (विष्णुपुराणादिमें विस्तृत वर्णन है, इस तरह एक कल्पके भीतर देवताओंके कई जन्म हो जाते होंगे ।

देवता इतना जानते हैं कि वृन्दाका शाप वैकुण्ठाधीशको हुआ, जय विजयको सनकादिक का शाप रमावैकुंठमें हुआ और नारदशाप क्षीरशायीको हुआ तथा नृसिंहावतार क्षीरसागरसे ही हुआ था, यथा "क्षीरोदार्णव शायिनं नृकेशरिणम् ।" नृ. ता. । अतः देवताओंका खयाल है कि नृसिंहवामनादिकी तरह रावण-वधार्थ भी क्षीरसागर या वैकुण्ठसे ही कोई अवतार होगा इससे वहीं जाना ठीक होगा । परन्तु दोमेंसे कहाँ जायँ ! इस सोचमें हैं ।

प० प० प्र०—वैकुण्ठाधीश विष्णु तथा क्षीरनिधिनिवासी श्रीमन्नारायणका रामावतार लेना तो अवतारहेतु प्रकरणसे स्पष्ट है । जिस कल्पमें यह सभा बैठी है उसमें तो 'रामस्तु भगवान् स्वयं' (प० पु०) का ही अवतार मनुशतरूपा वरप्रदानके अनुसार होनेवाला है, यह शिवजी जानते हैं, इसीसे उन्होंने कहा कि वे सर्वत्र हैं, जहाँ चाहो प्रकट हो सकते हैं । साधारण अज्ञानी लोग यह नहीं जानते कि विष्णु, नारायण और राम तत्वत एक हैं अत. यहाँ दिखाया है कि रामावतार इन तीनोंमेंसे किसी एकका होता है ।

बैजनाथजी लिखते हैं कि देवताओंकी उक्तिमें भाव यह भी है कि जब किसीने वैकुंठ जानेको कहा तब सब वैकुंठ गए । वहाँ भगवान्ने कहा कि इस रावणकी मृत्यु हमारे हाथ नहीं है । तब किसीने क्षीरसमुद्र जानेको कहा वहाँ जानेपर भी वही उत्तर मिला । जब सब देवता असमंजसमें हुए तब वे शिवजीके पास आए और कहा कि अविनाशी प्रभु कहाँ मिलें । (यह भाव लचरसा जान पड़ता है) ।

टिप्पणी—२ (क) 'जाके हृदय भगति जसि प्रीती' इति । इस वाक्यके कथनका तात्पर्य्य यह है कि देवताओंके विचारसे न तो भगवान् प्रगट ही हुए और न आकाशवाणी ही हुई । इसीपर कहते हैं कि जिसके हृदयमें जैसी भक्ति और जैसी प्रीति है उसी रीतिसे प्रभु वहाँ सदा प्रगट होते हैं । देवताओंकी भक्ति और प्रीति वैकुण्ठवासी और क्षीरशायी विष्णु भगवान्में है इसीसे उनके पास वे जानेको कहते हैं । जब देवता वहाँ जाँय तब उनको भगवान् वहीं मिलें, यहाँ नहीं मिल सकते । 'जसि प्रीती' का भाव कि भगवान् प्रीतिसे प्रगट होते हैं, यथा 'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा । प्रगटे हृदय हरन भव भीरा ।' जहाँ भावना करो वहीं प्रकट होते हैं । [जैसे नारदजीने कौतुकी नगरमें ही खड़े खड़े प्रार्थना की तो वहीं प्रगट हो गए थे । यथा "बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला । प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला ।" 'तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ' इससे जनाया कि उस समाजमें शिवजीका भी होना वे नहीं जानती हैं । पार्वतीजीकी यह प्रार्थना है कि 'जो प्रभु मैं पूछा नहीं होई । सोउ दयालु राखहु जनि गोई । १११।४ ।' इसीसे शिवजी अपना वहाँ होना उनसे कहते हैं । (ग) 'अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ ।' तात्पर्य कि सब देवता अपने अपने विचार प्रगट कर रहे थे, इससे बीचमें कहनेका अवकाश न मिला था । जब सब कहकर चुप हो रहे, कोई एक विचार निश्चित न क़रार पाया तब अवसर पाकर मैंने कहा ।] 'अवसर पाइ' क्योंकि अवसरपर कही हुई बात काम करती है । यथा 'रानि राय सन अवसरु पाई । अपनी भाँति कहब समुझाई । २।२८४ ।' इत्यादि । अवसर यही था कि कोई मत निश्चित न कर सके, थककर बैठ गए, तब कहना योग्य था ।

नोट—शंकरजी कहाँसे आ गए ? उत्तर यह है कि देवता ब्रह्माजीके पास गए थे । ब्रह्माजीने सोचा कि यह बात मेरे वशकी नहीं है । अत वे सबको साथ लेकर कैलास पर्वतपर गए । सब देवताओंने उनकी स्तुति की । शंकरजीने सबको अपने पास बुला भेजा । ब्रह्माजीने सबके आगमनका कारण बताया । तब वे भी साथ हो लिए । [(पद्म पु० पातालखंड) । इसके आगेकी कथा मानससे भिन्न है] मानस-कल्पकी कथासे ऐसा अनुमान होता है कि कैलासपर ही सब विचार होने लगा । शंकरजी सबको लेकर कहीं गए नहीं, यह उनके 'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना' से स्पष्ट है । विशेष दो० १८७ में देखिए ।

हरि ब्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम तें* प्रगट होहिं मैं जाना ॥५॥

* तें—१६६१ ।

देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं । कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥६॥
अगजगमय सब रहित बिरागी । प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी ॥७॥
मोर बचन सब के मन माना । साधु साधु करि ब्रह्म बखाना ॥८॥
दोहा—सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलकि नयन बह नीर ।
अस्तुति करत जोरि कर सावधान मति धीर ॥१८५॥

शब्दार्थ—'दिसि बिदिसि'—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये चार दिशायें हैं। अग्निकोण (पूरब दक्षिणके बीचमें), नैर्ऋत्ती (दक्षिण पश्चिमके बीचमें), वायवी (पश्चिम उत्तरके बीचमें) और ऐशानी (उत्तर पूरबके बीचमें) ये चार विदिशाएँ हैं। ऊपर, नीचे (ऊर्ध्व और अधर) ये दो मिलाकर सब दश दिशाएँ हैं। विदिशि=दो दिशाओंके बीचका कोना। अग=स्थावर, जड़ अचर। जग=जंगम, चर, चेतन। बिरागी=राग-ममत्वरहित, उदासीन। 'साधु साधु'—सत्य है सत्य है! वाह वाह! शाबाश! ठीक है ठीक है, तुम परम साधु हो!

अर्थ—'भगवान् सब ठौर एकसे व्याप्त हैं' और प्रेमसे प्रकट हो जाते हैं, यह मैं जानता हूँ ॥५॥ कहिए तो, वह कौन देश, काल, दिशा, विदिशा है जहाँ प्रभु न हों? ॥६॥ (प्रभु) सब चराचरमय हैं, सबसे अलग हैं, और अलिप्त वा रागरहित हैं। वे प्रेमसे प्रकट हो जाते हैं जैसे अग्नि (लकड़ीसे) ॥७॥[1] मेरी बात सबके मनमें जमी अर्थात् सबोंने मान ली। मनमें हर्ष हुआ, शरीरमें रोमाञ्च हुआ और नेत्रोंसे जल (प्रेमाश्रु) बहने लगा, और वे धीरबुद्धि (ब्रह्माजी) सावधानतासे हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे ॥१८५॥

टिप्पणी—१ (क) 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना'। देवताओंने भगवान्‌को एकदेशीय बताया अर्थात् उनका एक देशमें रहना बताया, यथा 'पुर बैकुंठ जान कह०', 'कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई'। इसीपर शिवजी कहते हैं कि वे सर्वत्र समान व्यापक हैं। (ख) 'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना' इति। 'मैं जाना' का भाव कि तीन कल्पोंकी बात देवताओंने कही। 'पुर बैकुंठ जान कह कोई' इससे जयविजय और जलधरके निमित्त वैकुंठवासी भगवान् रामजी हुए। अतः इस वाक्यसे उन कल्पोंको कहा गया। 'कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई', यह वाक्य क्षीरशायी भगवान्‌का बोधक है। रुद्रगणोंके लिए क्षीरशायी भगवान् रामजी हुए। चौथे कल्पकी कथा कोई नहीं जानते, जो भानुप्रताप अरिमर्दनके लिए परात्पर ब्रह्मका अवतार है—'ब्रह्म भएउ कोसलपुर भूपा'। इसे महादेवजी कहते हैं। 'मैं जाना' का भाव यही है कि इस बातको शंकरजी ही जानते हैं और यह कथा भी कही हुई शंकरजीकी ही है। यथा 'सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी'। जो देवताओंकी जानी है वही आकाशवाणी है।

नोट—१ "सर्वत्र समाना"—"शिवजी इस गुप्त रहस्यको प्रकट न कर सकते थे क्योंकि सन्तमतमें भविष्य गुप्त भेद प्रगट करनेकी रीति नहीं है, दूसरे देवताओंकी दृष्टि यहाँ तक नहीं पहुँची थी, उनको प्रतीति भी न होती। अतएव उन्होंने इतना ही कहा कि प्रभु सर्वत्र हैं जहाँ प्रेमकी विशेषता हुई वे प्रगट हो गए, जैसे लकड़ीमें अग्नि सर्वत्र एकसी है पर जहाँ रगड़की विशेषता होती है वहींसे वह उत्पन्न हो जाती है।—(मा० त० वि०)। शिवजीने लक्षणारूपसे भगवान्‌का परिचय तो दे ही दिया केवल नाम न प्रकट किया, इस बातको केवल ब्रह्माजी समझे। (नेहलताजी)। 'समाना' का भाव कि यह बात नहीं है कि वैकुण्ठमें कुछ अधिक हों, या क्षीरसागरमें कुछ अधिक हों और यहाँ कुछ कम हों, वे तो सर्वत्र समान हैं, पर अव्यक्त रूपसे हैं। वे प्रेम से ही व्यक्तरूपमें आते हैं। (वि० त्रि०)।

२—इस प्रसंगमें पृथक् पृथक् मत दिखलाए हैं। कुछ तो यही समझते थे कि वैकुण्ठ भगवान् ही अवतार लेते हैं और कोई यह समझता है कि श्रीमन्नारायण ही अवतार लेते हैं। अपने अपने विश्वास

और भक्तिके अनुसार उन्होंने अपनी अपनी सम्मति दी कि वहाँ चलकर प्रभुसे प्रार्थना करें। या यों कहिए कि यहाँ नाना पुराणों और रामायणोंके आचार्योंके सम्मत एकत्र कर दिये हैं। किसीने वैकुण्ठसे अवतार गाया है जैसे जलंधर और जय विजयके लिए, और किसीने चीरसागर से जैसे हरगणोंके लिए, इसीलिए कोई वैकुण्ठ और कोई चीरसमुद्रकी सम्मति देता है—(मा० त० वि०)। केवल ब्रह्माजी और शिवजी जानते हैं कि वहाँ से यह अवतार न होगा। ये सबसे बड़े हैं, जबतक ये भी उनसे सहमत न हों उनका प्रस्ताव चल न सकता था। पर जब देवता कोई एक बात निश्चित न कर सके तब श्रीशिवजी बोले। नोट ७ भी देखिए।

३ श्रीशिवजीने प्रथमही क्यों न कहा ? इस प्रश्नको लेकर लोग इसका उत्तर यह देते हैं कि (१)-उन्होंने सोचा कि सबकी सम्मतिसे यदि कोई विचार निश्चित हो जाय तो हमें कुछ कहना ही न पड़े। जब देखा कि सब अपनी अपनी गा रहे हैं, समय व्यर्थ जा रहा है, तब बोले। (२)—आप जानते हैं कि यह अवतार श्रीसाकेतविहारीका होगा न कि वैकुण्ठ वा चीरशायी भगवान्‌का। इसलिए जब सबकी सुन चुके तब यही विचारकर कि ऐसा न हो कि ये कहीं चल दें जिसमें व्यर्थ परिश्रम हो इन्होंने इससे अपना मत कह दिया। पुन, (३)-यदि प्रथम ही अपना मत कह देते तो आपकी बातका इतना आदर न होता, सकोचवश कोई कुछ कहता नहीं पर जीको यह मत भाता या न भाता, यह निश्चय न था।

४—बाबा जयरामदासरामायणीजी यह अर्थ करते हैं कि 'जो प्रभु श्रीवैकुण्ठधाममें रहते हैं तथा जो प्रभु चीरसागरमें रहते हैं वही हरि व्यापक भी हैं, जहाँ प्रेम किया जाय वहीं प्रकट हो जाते हैं'। (कल्याण ५-६-१०७)।

टिप्पणी—२ (क) 'देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं'। पूर्व जो कहा था कि हरि सर्वत्र व्यापक हैं उसीका व्यौरा यहाँ करते हैं कि 'देश, काल' इत्यादि। (ख) 'अगजगमय सब रहित बिरागी'। विरागी अर्थात् रागद्वेष रहित हैं। जहाँ विराग है वहाँ राग है। वह (प्रभु) रागसे अगजगमय नहीं है तथा द्वेषसे सबसे रहित नहीं है। [अर्थात् अगजगमय होनेसे यह न समझो कि उनका इनमें राग वा प्रेम है और सब रहितसे यह न समझो कि वे सबसे द्वेष रखते हैं अत. सबसे अलग हैं; किन्तु जडचेतनमय होते हुए भी वे सर्वरहित और विरागी भी हैं। यह दो विरोधी बातें कहकर उनका ऐश्वर्य दरसाया। अथवा, जैसे कमल जलमें होते हुए भी उससे निर्लिप्त रहता है वैसे ही जगमय होते हुए भी प्रभु सर्वरहित हैं। (ग) 'प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी' इति। भाव कि सेवकका काम बिना प्रगट हुए व्यापकसे नहीं चलता। इसीसे प्रगट होनेका उपाय बताते हैं। जैसे अग्नि काठके भीतर रहता है और सघर्षणसे प्रकट होता है, इसी तरह हरि सर्वत्र व्यापक हैं। प्रेमसे प्रकट होते हैं। 'प्रभु अग्निकी तरह प्रेमसे प्रकट होते हैं', इस कथनका भाव यह है कि ब्रह्मका विवेक अग्निके समान है, यथा 'एक दारु गत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू'।

वि० त्रि०—अग्निका प्राकट्य चार प्रकारसे होता है—आवेश, प्रवेश, स्फूर्ति और आविर्भाव। इसी भाँति प्रभुका प्राकट्य भी चार प्रकारसे होता है। वर्तनके पानीमें जैसे अग्निका आवेश होता है। वैसे ही आवेशावतार कुछ दिनके लिये होता है। लोहेके गोलेमें अग्निप्रवेशकी भाँति प्रवेशावतार होता है। बिजली की चमककी भाँति स्फूर्ति अवतार क्षणभरके लिये होता है, और आविर्भाव तो पत्थरमें टाँकीकी चोटसे साक्षात् अग्निके प्राकट्यकी भाँति प्रभुका आविर्भाव होता है, अत अग्निकी उपमा दी।

लमगोडाजी—जैसा पहले विस्तारसे एक नोटमें लिखा जा चुका है कि तुलसीदासजीका अवतार-वाद बड़े ही rationalist (तर्क पूर्ण) रूपसे है। इसीलिये उन्होंने उपमा भी वैज्ञानिक ही दी है कि जैसे अग्नितत्व सब जगह व्यापक है पर एक जगह सघर्ष या किसी अन्य प्रयोगसे प्रकट होता है उसी तरह परमात्मा 'सर्वत्र' 'समान' रूपसे व्यापक है और "प्रेम" रूपी प्रयोगसे प्रकट होता है।

नोट—५ "प्रगट सदा तेहि रीती" 'प्रेम तें प्रभु प्रगटै'।'-ब्रह्म तो सर्वत्र है पर प्रेम सर्वत्र नहीं। मंदिर और मूर्त्तिमें प्रेमका संचार अधिक होता है इससे वहाँ लोग सिर झुकाते हैं। जो सबमें प्रभुको एकसा देखते हैं, जिनका प्रेम सर्वत्र एकरस है जैसे प्रह्लादजीका, उन्हें अग्नि, जल, खम्भ सभीमेंसे भगवान् प्रगट हो जाते हैं। यथा—"प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो"-(वि०), "काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ पितु काल कराल बिलोकि न भागे। राम कहाँ? सब ठाउँ हैं, खंभ में? हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे"—(क० उ० १२८), "प्रेम बदौ प्रह्लादहि को जिन पाहन तें परमेश्वर काढ़े" (क० उ० १२७), 'त्राहि तीन कहि द्रौपदी उँच उठायो हाथ। तुलसी किया इग्यारहों बसन बेष यदुनाथ' (दो०), 'तुलसी परखि प्रतीति प्रीति गति आरतपाल मुरारी। बसन बेष राखी बिसेष लखि बिरदावलि मूरति नर नारी'—(कृष्ण गीतावली)।

६—'देस काल दिसि०' इति। यहाँ प्रभुको वस्तु, देश और काल तीनोंसे अपरिच्छिन्न कहते हैं। 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना' में वस्तु और 'देस काल दिसि बिदिसहु माहीं०' में देश और काल कहे।

टिप्पणी—३ 'मोर बचन सब के मन माना'। भाव कि और लोगोंकी बात सबके मनमें न आई, न जँची। यदि मनमें आती तो अनेक बातें क्या कहते? मेरी बात सबको ठीक जँची। (क्योंकि सामञ्जस्य बैठ गया, किसीके अनुभवका खण्डन नहीं हुआ, बल्कि उपपत्ति हो गई। वि० त्रि०)। 'साधु साधु करि ब्रह्म बखाना' से जनाया कि मेरी बातसे ब्रह्मा अधिक प्रसन्न हुए, इसीसे वे प्रशंसा करने लगे। और देवताओं-के मन इस बातको मान गए, उनको यह बात अच्छी लगी क्योंकि इन्होंने भगवान्‌की प्राप्तिका सुगम उपाय बताया, कहीं जाना आना नहीं है। दूसरे शिवजीने अपना प्रमाण भी अपने वाक्यके साथ दिया है कि 'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना', इससे जनाया कि शिवजीके वचनोंका विश्वास सबको है। 'साधु साधु' कथनका भाव कि अच्छी बात सुनकर प्रशंसा करनी चाहिए, प्रशंसा न करना दोष है। दूसरे ऐसा न करनेसे कहनेवालेका अपमान सूचित होता है।

नोट—७ मा० म० और अ० दी० कार का मत है कि शिवजीने विचारा कि जिन परतम प्रभुके चरितमें गरुड़, सती और भरद्वाजको मोह हो गया उन अज अगुणब्रह्मके दशरथपुत्र होनेमें विषयी सत्संग-विहीन देवताओंको भला कब विश्वास होगा। और इस समय परब्रह्मका ही अवतार होना है। यदि देवता बैकुंठ गए तो वहाँसे आकाशवाणी होगी कि रावणका वध हमसे न होगा, फिर क्षीरसागर जानेपर भी यही उत्तर मिलेगा। तब ब्रह्मके अवतारका रहस्य प्रकट हो जायगा, जो प्रभु नहीं चाहते। दूसरे देवताओंको विश्वास भी न होगा। कभी कभी किसी कल्पमें विष्णु आदिका भी अवतार हो जाता है, इससे ब्रह्माको भी पता नहीं चलता कि इस कल्पमें कौन अवतार लेगा। यह बात शिवजी ही जानते हैं। अतः उन्होंने गुप्त रूपसे कह दिया 'प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी'। यहाँ 'प्रगट' शब्द गूढ़ है। मनुसे प्रभुने यही शब्द कहा था 'होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे'। देवता इस मर्मको न समझ पाए किन्तु ब्रह्माजी इस संकेतको समझ गए। अत वे प्रसन्न हुए।

टिप्पणी—४ (क) 'सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलक०' इति। शिवजीने जो कहा कि प्रेमसे प्रभु प्रगट होते हैं, ब्रह्माने वही किया अर्थात् प्रेम किया। शरीर पुलकित हुआ, नेत्रोंसे जल बह चला, यह प्रेमकी दशा है [दूसरे, श्रीशिवजी परमभागवत हैं अत उनके भक्तियुक्त वचन सुनतेही तुरत प्रेम उमड़ आया] (ख) यहाँ ब्रह्माजीका मन, कर्म और वचन तीनोंसे भगवान्‌की भक्ति करना दिखाते हैं—मन हर्षित है, तन पुलकित है, वचनसे स्तुति करते हैं—'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्ह तन पुलक नहिं ते जग जीवत जाय' इति दोहावल्याम्। (ग) 'सावधान मतिधीर' कथनका भाव कि शिवजीके वचन सुनकर प्रथम प्रेममें मग्न हो गए, फिर सावधान हुए बुद्धिको धीर किया।

नोट—८ (क) इस दोहेके तृतीय चरणमें एक मात्रा कम है। कवि इससे यहाँ अपनी भी प्रेम-

विह्वलदशा प्रकट कर रहे हैं। (ख) 'जोरि कर' । हाथ जोड़ना विशेष नम्रता तथा देवताको शीघ्र प्रसन्न करने-की मुद्रा है। प्रसन्न करनेका यह एक ढंग है, यथा 'भलो मानिहैं रघुनाथ हाथ जोरि जो माथो नाइहै' इति विनये। पंजाबीजी लिखते हैं कि "दोनों हाथ जोड़कर दर्शित किया कि हमने रावणके नाशके लिये दो सन्धियाँ छोड़ रक्खी हैं।" (ग) स्तुति यहाँ केवल ब्रह्माजीने की क्योंकि ये सबसे बड़े हैं। ब्रह्माजी यहाँ सबके मुखिया बनकर स्तुति कर रहे हैं। पुनः भाव कि रावणको वर देने यही प्रथम गए थे। उसे वर देकर सब अनर्थका कारण ये ही हुए हैं, इससे सबका भार इन्हींके माथे है। पुनः प्रायः जब जब अवतारके लिए स्तुति की जाती है तब तब प्रायः ये ही सबकी ओरसे स्तुति करते हैं। यह परिपाटी है। अतः इन्होंने स्तुति की।

छंद—जय जय सुरनायक जनसुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो-द्विज-हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानै कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करौ अनुग्रह सोई॥१॥
जय जय अबिनासी सब-घट-बासी ब्यापक परमानंदा।
अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित* मुकुंदा॥
जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा।
निसिबासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं जयति सच्चिदानंदा॥२॥

शब्दार्थ—घट = पिण्ड, शरीर, हृदय। अबिगत = जो विगत न हो = जो जाना न जाय, अज्ञात, अनिर्वचनीय, यथा 'राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर। अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह। २।१२६।' = जिसमें किसीकी किंचित् गति या पहुँच नहीं, जिसकी दीप्ति सदा एकरस रहती है। यथा 'निगमे विगतारेगी इत्यमरः'। वि० त्रि० जी लिखते हैं कि 'इ स्वप्नादौ' इस सूत्रसे यकारको 'इ' हुआ। 'विप्रकर्षः' इस सूत्रसे युक्त वर्ण पृथक् हुए। 'अजादौ स्वरादसंयुक्ताना क ख त थ प फा गघ दध बभाः' इससे 'क' का 'ग' होकर 'अव्यक्त' का 'अविगत' रूप सिद्ध हुआ। मुकुंद = मुक्ति देनेवाले।

अर्थ—हे देवताओंके स्वामी! दासोंको सुखदेनेवाले! शरणागतरक्षक भगवान्! आपकी जय हो, जय हो! हे गऊ और ब्राह्मणोंके हित करनेवाले! असुरोंके शत्रु और सिंधुसुता श्रीलक्ष्मीजीके प्रिय कंत (पति)! आपकी जय हो। हे देवताओं और पृथ्वीके पालन करनेवाले! आपके कर्म अद्भुत हैं, उनका मर्म (रहस्य) कोई नहीं जानता। (ऐसे) जो स्वाभाविक ही कृपालु और दीनदयालु हैं वे (आप हमपर) कृपा करें॥ १॥ हे अविनाशी, घट घटमें वास करनेवाले, सबमें व्याप्त, परमानन्दरूप, जिनकी गति कोई नहीं जानता, इन्द्रियोंसे परे, पवित्र-चरित (पुण्यश्लोक चरित), मायारहित, मुक्ति भुक्तिके दाता! आपकी जय है, जय है! जिनके लिए वैराग्यवान् मुनिवृन्द मोहरहित होकर अत्यन्त अनुरागसे रातदिन ध्यान लगाते और जिनके गुणगण गाते हैं उन सच्चिदानन्द भगवान्की जय!॥ २॥

टिप्पणी—१ 'जयजय सुरनायक जन सुखदायक०' इति। (क) ☞ श्रीमद्भागवतमें भी ब्रह्मस्तुतिमें "जयजय" शब्द प्रथम है। 'जय' शब्दका अर्थ है 'सर्वोत्कर्षेण वर्त्तस्व' अर्थात् आप सब प्रकारसे विजयी हों ('जय' शब्दका प्रयोग देवताओं वा महात्माओंकी अभिवंदना सूचित करनेके लिये होता है जिसमें कुछ याचनाका भी भाव मिला रहता है। पुनः 'जय' भगवान्का एक नाम भी है। यथा 'जयो जितारिः सर्वादिः

* रहीत—१६६१।

शमनो भय भजनः। अ० रा० राज्यकाड १।१०२।' इस प्रकार 'जय जय' = हे सर्वविजयिन्! आप उत्कर्षको प्राप्त हों।) (ख) सुरनायक, जन सुखदायक इत्यादि सब विशेषण साभिप्राय हैं। (सुर, जन, प्रणत आदि जिनका जिनका यहाँ नाम ले रहे हैं उन्हीं उन्हींके लिए यह स्तुति कर रहे हैं। आप सुरनायक हैं, अत समस्त देवताओंकी रक्षा कीजिए। सेवककी रक्षा स्वामी ही करता है। सत और मुनि आपके जन हैं। वे सब दु खी हैं। आप जनसुखदायक हैं, अत उनका दु ख दूर करके उन्हें सुख दीजिए। आप प्रणतपाल हैं। सब देवता, सत, मुनि, गौ और ब्राह्मण सब आपकी शरण हैं, हम सबोंकी शरण दीजिए। आप भगवंत हैं, हम आपके भक्त हैं। भक्त और भगवतका सबध है, यथा 'व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन हित लागी। १३।४-५।', 'भगतहेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।' [पुन, भाव कि आप षडैश्वर्ययुक्त हैं। यह सारा जगत् आपका ऐश्वर्य है। रावण उसे नष्ट करना चाहता है। उसकी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है।] 'गोद्विज हितकारी' हैं, आप गौ ब्राह्मणके हितैषी हैं (रावण उन्हें खाए जाता है। उनका नाश कर रहा है, यथा 'जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँउ पुर आगि लगावहिं', निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए')। उनका हित करना आपको उचित है। उनका हित कीजिए।

(क) यहाँ तक सुरनायक, जनसुखदायक, गोद्विजहितकारी विशेषणोंसे सुर, सत, गऊ, विप्र ये चार नाम कहे। इन चारके लिये ही प्रार्थना करनेका भाव यह है कि इन्हीं चारके लिए भगवानका अवतार होता है, यथा 'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार। १९२।' अत इन्हींको पीड़ित कहकर इनकी रक्षाकी प्रार्थना की। (ख) 'जय असुरारी।' असुरारीका भाव कि देवता, गौ, ब्राह्मण, सत सबका हित असुरों के वधसे होगा। (पुन, भाव कि दैत्यदलन तो आपका सहज स्वभाव है सो आप क्यों भूल गए? अपना असुरारी नाम सत्य कीजिये। 'जय' का भाव कि आप असुरापर सदा जयमान हैं। 'जय' शब्द यहाँतक तीन बार आया है। इसमें आदरकी वीप्सा है। रा० प्र० का मत है कि इससे व्याकुलता और प्रेम प्रकट होता है) (ग) "सिधुसुता प्रिय कंता' का भाव कि आप लक्ष्मीके प्रिय कंत हैं, वे आपको कभी नहीं छोड़तीं। अत असुरोंका वध करनेके लिए आप लक्ष्मीसहित अवतार लीजिए। [पुनः भाव कि आप समुद्रकी कन्या के पति हैं। समुद्र दु खी है। लक्ष्मीजीके सम्बन्धसे उसका दु ख दूर कीजिए। पुनः लक्ष्मीजी धनकी अधिष्ठात्री देवी हैं, उनका जड़ स्वरूप ऐश्वर्य (श्री) नीचोंके हाथ पड़ी है, रावणका 'असद्व्यय' देख वे भी दुखी हैं। (शीलावृत्त)]

नोट—१ वे० भू० जीका मत है 'सुरनायक ' कंता' का भाव यह है कि आप भगवान् हैं, प्रणतपाल हैं, अतः गोद्विजादि पीड़ित होते हैं तब आगे कभी सुर नायक (राजा) बनते हैं, क्षीरशायी श्रीमन्नारायण भी आपही बने जो आपका प्रथम अवतार है। यथा 'जगृहे पौरुष रूप भगवान्महदादिभि। सभूत षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया। भा० १।३।१।' शेषशायीरूप ऐश्वर्य प्रधान अवतार है और इस समय माधुर्यमय राजारूपकी आवश्यकता है, इसीसे प्रथम 'सुरनायक' कहकर तब 'सिधुसुता प्रिय कता' कहा गया।

टिप्पणी—२ "पालन सुर धरनी करहु अनुग्रह सोई" इति। (क) ☞ यहाँ भगवान्की परोक्ष स्तुति है। इसीसे कहते हैं कि जो इन इन गुणोंसे विशिष्ट है, जो ऐसा है वह अनुग्रह करे। ☞ यहाँ तक कर्मकाडके सबधसे स्तुति है। (ख) 'पालन सुर धरनी अद्भुत करनी।' का भाव कि यदि कहें कि 'हम सुर सत गो-विप्रका हित कैसे करें?' तो उसपर कहते हैं कि सुर और पृथ्वीके पालन करनेमें आपकी अद्भुत करणी है, उसका मर्म कोई नहीं जानता कि आप क्या करेंगे। [अर्थात् आप इनका पालन करनेके लिए आश्चर्यजनक कर्म करते हैं, अनेक भाँतिके अद्भुत रूप धारण करते हैं। 'मर्म न जानै कोई' का यह भी भाव हो सकता है कि कोई यह राज (मर्म) समझ नहीं पाता कि जो काल समस्त ब्रह्मांडोंको खा

जाता है वह भी जिसका किंकर है वह समर्थ स्वामी वराहादि तन क्यों धारण करता है।—(प०, रा० प्र०)]। (ग) 'सहज कृपाला' का भाव कि आप स्तुति पूजा आदि किसी कारणसे नहीं कृपा करते। [आपके योग्य स्तुति, पूजा, जप तप कोई कर ही क्या सकता है ? जपतपादिसे कोई रिझानेका अभिमान करे तो महामूर्ख है। आप तो विना कारण अपने सहज स्वभावसे ही कृपा करते हैं, यथा 'सबपर मोहि बराबरि दाया। ७.८७।' दोहा २८ (४) देखिये। अब कृपामें देर क्यों हो रही है ? हम आपकी कृपा हीका आश्रय लिए हुए हैं]। 'दीनदयाल' का भाव कि इस समय समस्त देवमुनिवृंद आदि दीन हैं। दीन आपको प्रिय हैं, यथा 'जेहि दीन पियारे वेद पुकारे द्रवहु सो श्रीभगवाना', 'यह दिवान दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।', ['केहि विवान दिन दीन को आदर अनुराग विसेष' इति विनये। यहाँ परिकराङ्कुर अलंकार है]। (घ) 'करौ अनुग्रह सोई।' अर्थात् जो अनुग्रह आप दीनों पर सदा करते आए हैं वही अनुग्रह हम पर कीजिए। यथा 'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना।' सोई = वही जो इन गुणोंसे युक्त है।

बाबा हरीदासजी—'पालन सुर धरनी' का भाव यह है कि आप नर नाग यक्ष गंधर्वादि चराचर जीव-जन्तुओंको जो तीनों लोकोंमें जल, थल या नभमें जहाँ भी वे हैं अहर्निश जल चारा देते हैं, क्षणमात्र किसीको भूलते नहीं, ऐसी अद्‍भुत करनी किसीमें नहीं है। आप सहज हीमें यह पालन कार्य करते हैं क्योंकि कृपाल हैं।—वही अनुग्रह हम पर कीजिये। हमारे अपराधोंको भुलाकर हमें जल चारा दीजिए। यहाँ आकर ऐश्वर्यमान् राजा बनकर हमारा पालन कीजिए।

वैजनाथजी—(क) 'पालन सुर धरनी' 'जो सहज कृपाला' 'सोई' से जलधर-रावण वाले कल्पके अवतार हेतु स्तुति सूचित की। जलधरसे देवता और पृथ्वी व्याकुल हुए थे। शिवजी उसे मार न पाते थे तब आपने ही कृपा की थी जिससे वह मारा गया। वही 'सहज कृपाल' विष्णु अब फिर कृपा कीजिए क्योंकि वही जलधर अब रावण होकर हमें सता रहा है। (ख) 'अद्‍भुत करनी मर्म न जानै कोई' में जय-विजय-रावण कुंभकर्ण हेतु वैकुंठवासी भगवान्‌की स्तुति है। अद्‍भुत करनी है इसीसे कोई मर्म नहीं जान पाता। सनकादि ऐसे महर्षियोंको भी क्रोध आ गया और उन्होंने जय-विजयको शाप दे दिया यह आपकी करनी है। जब जय विजय हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए तब आपने अद्‍भुत नृसिंहरूप धारण कर खंभसे प्रकट हो प्रह्लादकी रक्षा की, हिरण्यकशिपुको मारा। वराहरूपसे हिरण्याक्षको मारकर पृथ्वीका उद्धार किया, इत्यादि। वह जय-विजय अब रावणादि हुए हैं अतः अब आप हमारी रक्षा इनसे भी करें।

प० प० प्र०—१ (क) छन्द १ में भुशुण्डी-कल्प नारदशापसंबंधित कथाकी प्रार्थना है। प्रथम चरणमें सुर और जन (अर्थात् मुनि आदि भक्त) अपनी रक्षाके लिए शरणागति जनाते हैं, यह 'प्रनतपाल' से सूचित किया है। किससे रक्षा करें और क्या करें यह 'असुरारी' और 'गो-द्विज हितकारी' से सूचित किया। तीसरे चरणसे जनाया कि 'सुर धरनी' का पालन कीजिए, कैसे करें यह हम नहीं जानते, क्योंकि आपकी करनी अद्‍भुत है। चौथे चरणमें दयाके लिए दीनता प्रगट करते हैं। (ख) वैकुण्ठवासी विष्णु ही शेषशायी नारायण हो गए हैं। (प० पु० जालन्धरकथा)। सिंधुसुताके प्रिय कान्त होकर क्षीरसागरमें रहते हैं। अतः यह छन्द विष्णु और नारायण अवतारके कल्पोंकी कथामें उपयुक्त है।

टिप्पणी—४ "जय जय अबिनासी सब घट बासी ब्यापक परमानंदा।०" इति। (क) घटवासी और अविनाशीका भाव कि सब चराचर नाशवान् हैं। चराचरमात्रमें आपका निवास है तो भी सबके नाश होनेपर भी आपका नाश नहीं होता, क्योंकि आप सदा अविनाशी हैं। 'व्यापक परमानंदा' का भाव कि व्यापक होनेसे अनुमान होता है कि सबके दुःखसे आप दुःखी होते होंगे सो बात नहीं है। आप परमानन्दरूप हैं। [पुनः भाव कि रावणके सामने नाशवान्‌की गति नहीं और हम सबोंका नाश अवश्य है।

आप अविनाशी हैं, उसका नाश कर सकते हैं।—'सो अविनासी इमरेउ तोर सहाई।'] (ख) 'सब घट वासी' [यथा 'यथा सर्वेषु कुम्भेषु रविरेकोऽपि दृश्यते। तथा सर्वेषु भूतेषु चिन्तनीयोऽस्म्यहं मुने। इति ब्रह्माण्डे।' अर्थात् जैसे सब घड़ोंमें एक ही सूर्य देख पड़ता है वैसे ही मेरा चिन्तन समस्त भूतोंमें करना चाहिए। 'गोतीत' इन्द्रियोंसे परे कहनेका भाव कि जब तक जीवकी इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें वासनारूप दृष्टि बनी रहती है तबतक उसे प्रभुकी दीप्तिका दर्शन नहीं होता। अतीत = अदर्शन। यथा 'धमातीतेऽस्तमदर्शने इत्यमरः'। (वै०)※] (ग) 'चरित पुनीत'—भाव कि आप अवतार लेकर जो चरित करते हैं वे समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाले हैं, यथा 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं'। आगे जो होंगे वे इनको गा गाकर भवपार होंगे। अतः जीवोंके कल्याणार्थ अवतार लेकर चरित कीजिए। (घ) 'माया रहित मुकुंदा' इति। अर्थात् आप स्वयं मायासे परे हैं और दूसरोंको माया से मुक्त करनेवाले हैं। [मायारहित अर्थात् सत्वादि गुण और शब्दादि विषय जो मायाके विकार हैं उनका स्पर्श लेशमात्र आपको नहीं होता। (वै०)]।

बाबा हरीदासजी—'जय जय अविनासी' 'मुकुंदा' का भाव कि "यदि आप कहें कि गर्भ दुःख भोग करनेको बुलाते हो तो यह बात नहीं है, आप षट्विकाररहित हैं। जीवधर्मरहित हैं और सदा 'सब घट बासी' हैं, हम तो एक ही घटमें वास करनेको बुलाते हैं। पुनः यदि कहें कि इन्द्रियाधीन होकर मलिन कर्म करनेको बुलाते हो तो उस पर कहते हैं कि आप गोतीत हैं, इन्द्रियोंके रसभोगसे परे हैं, आपके चरित पुनीत हैं कभी गोठिल नहीं पड़ते। यदि आप कहें कि हमें परिवारस्नेहद्वारा मोहमें पड़नेको कहते हो तो उस पर कहते हैं कि 'जेहि लागि०' इत्यादि"।

टिप्पणी—५ (क) 'जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी०' इति। वैराग्य अनुरागका साधक है। यथा 'एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा। ३.१६.७।' 'विगत मोह' कहा क्योंकि मोह अनुरागका बाधक है, यथा 'मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग।' (ख) ☞ "जय जय अविनासी" से "जयति सच्चिदानंदा" तक ज्ञान—सर्वांशसे स्तुति की। (तीन बार जय कहकर आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारकी विजय कही। वि० त्रि०)।

वैजनाथजी—"जय जय अविनासी सच्चिदानंदा" इति। यहाँ अन्तर्यामीरूपके संबोधनद्वारा साकेतविहारीकी स्तुति करते हैं। 'अनुराग' शब्दसे उपासना दर्शित करते हैं क्योंकि अन्तर्यामीरूपमें केवल आनंदमात्र है। ऋषियोंका उनमें अनुराग कहनेसे उपास्य, उपासक और उपासना तीनों भाव दर्शित किये गये हैं। यहाँसे अन्ततक साकेतविहारीके अवतार-हेतु स्तुति है।

प० प० प्र०—छन्द २ और ३ भगवान्‌के लिये ही है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश जिनके अंश (से उत्पन्न) हैं उन भगवान्‌को ही योगी लोग 'ध्याते' हैं। ब्रह्माजी सृष्टिके जनक हैं, पर वे ही प्रार्थना कर रहे हैं अतः छंद ३ भी भगवान् विषयक ही है। छंद ४ विष्णु अवतार रामकथासे संबंधित लेना उचित है। इसमें मंदर पर्वतका उल्लेख है। इससे कूर्मावतार लेनेवाले भगवान् सूचित किये गए हैं। यह तुलसीदास-संवादकी कथासे संबंधित है। चौथे छन्दमें 'श्री' शब्द भी विष्णु अवतारसूचक है।

मानसमें मुख्य कथा मनुशतरूपा संबंधित रामावतारकी है। शिव-पार्वती-संवादवाली है। अतः उसके संबंधित दो छन्द इसमें रखे हैं। मानसमें यह भी बताया है कि विष्णु, नारायण और परमात्मा राम एक ही हैं। 'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी' ऐसा श्रीरामजीका ही देवकृत स्तुतिमें कहा है। मीनादि अवतार तो विष्णुके ही हुए हैं। 'शचीपति प्रियानुज' विष्णु ही हैं। 'जेहि पद सुरसरिता सीस धरी' यह भी वामनावतारसे ही संबंधित है, इत्यादि। अतः इस विषयमें विशेष ऊहापोह की आवश्यकता नहीं है। तथापि मानस सर्वमत समाहक होनेसे उसमें तीनोंमें भेद भी दिखाया है।

※ परंतु इसका अर्थ 'अतीत (भूत) मे स्म, अदर्शनम् अस्त ये अव्यय हैं' ऐसा है।

☞ चारों छन्द एक समयकी स्तुतिमें भी उपयुक्त हैं। इन छन्दोंके बहुत शब्द कौसल्याकृत स्तुतिके छन्दोंमें हैं। मिलान करनेसे व्यक्त हो जायगा। यहाँ लिखना अनावश्यक है।

जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करउ अघारी चिंत हमारी जानिय भगति न पूजा॥
जो भवभय भंजन मुनिमनरंजन गंजन* बिपति बरूथा।
मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुरजूथा॥३॥
सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना।
जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवौ सो श्रीभगवाना॥
भववारिधि-मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुखपुंजा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा॥४॥
दोहा—जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह।
गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह॥ १८६॥

शब्दार्थ—उपाना = उत्पन्न करना, यथा 'अखिल विश्व यह मोर उपाया'। चिंत = चिंता, याद, स्मरण, सुध, खबर, फिक्र। अघारी (अघ + अरि) = पापके शत्रु अर्थात् पापका नाश करनेवाले। बानी = स्वभाव, टेव, प्रकृति। यथा 'लरिकाई ते रघुबर बानी। पालत नीति प्रीति पहिचानी।', 'श्रीरघुबीरकी यह बानि' (वि० २१५)। सयानी = सयानपन, चतुराई। क्रम = कर्म।

अर्थ—जिन्होंने त्रिगुणात्मकरूप बनाकर बिना किसी दूसरे संगी या सहायकके सृष्टिको उत्पन्न कर दिया, वे पापके नाश करनेवाले आप हमारी भी सुध लीजिये, हम न भजन ही जानते हैं न पूजन। जो भवभयके नाशक मुनियोंके मनोंको आनंद देनेवाले और विपत्तिजालके नाश करनेवाले हैं, हम सब देववृन्द सयानपनेकी टेवको छोड़कर मन-कर्म वचनसे उन्हीं आपकी शरण हैं। सरस्वती, वेद, शेष और समस्त ऋषि किसीने भी जिसे नहीं जाना, जिन्हें दीन प्रिय हैं (ऐसा) वेद पुकार कर कहते हैं वे श्रीभगवान् कृपा करें। हे भवसागरके (मथन करनेके लिये) मंदराचलरूप† सब प्रकारसे सुन्दर गुणोंके धाम, सुखकी राशि! हे नाथ! आपके चरणकमलोंमें सब मुनि, सिद्ध और देवता भयसे अत्यन्त व्याकुल होकर प्रणाम करते हैं। देवताओं और पृथ्वीको भयभीत जानकर और प्रेमयुक्त वचन सुनकर शोक-संदेह-हारी गम्भीर आकाशवाणी हुई॥ १८६॥

करुणासिंधुजी—'त्रिविध' इति। "तीन प्रकारकी सृष्टि सात्विक राजस तामस, देव मनुष्य दानव, विषयी साधक सिद्ध, इत्यादि। वा, त्रिधा सृष्टि अर्थात् जीवसृष्टि, ईश्वरीय सृष्टि और ब्रह्मसृष्टि। जीव-सृष्टिवाले स्वप्नावस्था और संसारमें वर्तमान हैं; ईश्वरीय सृष्टिवाले जाग्रतमें और ब्रह्मसृष्टिवाले तुरीयामें, प्रमाणमागमसारे—'त्रिधासृष्टि पुरोजाता तत्रैका जीवसंज्ञका। द्वितीया चेश्वरी सृष्टिर्ब्रह्मसृष्टिस्तृतीयका॥ जीवसृष्ट्याद्विधावस्था सुषुप्ति स्वप्नमध्यगा। ऐश्वर्या जागरावस्था ब्रह्मसृष्ट्या तुरीयका॥ ब्रह्मसृष्टिसमुत्पन्ना-स्तुरीयात्मान एव ये। ' '। वा काल कर्म स्वभाव, उत्पत्ति पालन संहार।" —['स्वप्नसृष्टिको जीवसृष्टि इस-लिये कहागया है कि स्वप्नका सम्बंध केवल द्रष्टा जीवसेही रहता है, अन्य किसीसे नहीं—(वेदान्तभूषणजी)]

* खंडन-१७०४, रा० प्र०। † यही अर्थ मुं० रोशनलाल, रा० प्र०, पं० रामकुमारजी, वीरकवि आदिने किया है। बैजनाथजीने 'बाणी' अर्थ किया है।

नोट—१ 'त्रिविध बनाई' का अर्थ दो प्रकारसे किया गया है। 'तीन प्रकारकी सृष्टि' बनाई। यह तीन प्रकारकी सृष्टि क्या है, यह करुणासिंधुजीकी टिप्पणीमें लिखा गया है। वैजनाथजीने "तीन प्रकारसे बनाई" अर्थ करते हुए सत्व, रज, तम तीन प्रकारसे बनाना लिखा। राजसगुणसे ब्रह्मा उत्पत्ति, सत्वगुणसे विष्णु पालन और तमोगुणसे शंकरजी संहार करते हैं। पंजाबीजी सत्व-रज-तम-गुणी सृष्टि तीन प्रकारकी सृष्टि मानते हैं। 'संग सहाय न दूजा' का भाव कि 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' होनेसे उसके साथ उपादान निमित्त कारण कह नहीं सकते। (पं०)।

२ श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी—'संग सहाय न दूजा०' = बिना दूसरे किसी संगी अथवा सहायकके अकेले ही (या स्वयं अपनेको त्रिगुणरूप ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूप बनाकर अथवा बिना किसी उपादान कारणके अर्थात् स्वयं ही सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादन कारण बनकर) तीन प्रकारकी सृष्टि बनाई। (मानसांक)।

३ 'सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई' इति। श्रीपंजाबीजी आदिका आशय यह है कि संसारमें जितने भी कार्य होते हैं उनमें प्रायः उपादान (समवायि), निमित्त और साधारण ये तीन कारण होते हैं। जैसे स्वर्णका कुण्डल कार्य है। स्वर्ण उपादान कारण है। स्वर्णकार सुनार तथा जिसके निमित्त वह बनाया गया दोनों निमित्त कारण हैं। अग्नि जिसमें सोना गलाया जायगा, हथौड़ी, निहाई आदि उपकरण साधारण कारण हैं। 'ब्रह्म' शब्दका प्रधान अर्थ विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तानुसार 'चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' है। ब्रह्मके 'एकोऽहं बहु स्याम्' आदि संकल्प मात्रसे सृष्टिकी रचना हो जाती है। इसलिये उसको साधन सामग्री की आवश्यकता नहीं। और, 'संकल्प' भी उससे पृथक् नहीं है, इससे निमित्त और उपादान दोनों वह स्वयं ही है। 'सहाय न दूजा' भी इसी भावको पुष्ट करता है। इससे भगवान्‌में अचिन्त्य सामर्थ्य दिखलाया।

सांख्यकारिकामें सोलहवीं कारिकापर श्रीगौडपादाचार्यजीके भाष्यमें भी तीन प्रकारकी सृष्टिका उल्लेख है। यथा "प्रधानात् प्रवृत्तास्त्रयो लोकाः नैकस्वभावा भवन्ति, देवेषु सत्त्वमुत्कटं रजस्तमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तसुखिनः, मनुष्येषु रज उत्कटं भवति सत्त्वतमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्त दुःखिनः, तिर्यक्षु तम उत्कटं भवति सत्त्वरजसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तमूढाः। (१६)।" अर्थात् प्रकृतिसे तीन लोक हुए हैं। ये तीनों भिन्न भिन्न स्वभावोंके होते हैं। देवोंमें सत्त्वगुण विशेष रहता है, इसलिये वे अत्यन्त सुखी रहते हैं। मनुष्योंमें रजोगुण विशेष रहता है, इससे वे अत्यन्त दुःखी रहते हैं और पशु पक्षी आदि अन्य योनियोंमें तमोगुणकी प्रधानता होनेसे वे अत्यन्त मूढ़ होते हैं।—यह सांख्यमत है। वेदान्तमतसे ब्रह्मसे ही सृष्टि होती है। इस प्रकार देव, मनुष्य और तिर्यक् अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारकी सृष्टि हुई। ☞ स्मरण रहे कि कोई भी सृष्टि केवल सत्त्व, केवल रज अथवा केवल तमसे उत्पन्न नहीं होती, किन्तु उनके संमिश्रणसे होती है। जिसमें जिस गुणकी प्रधानता है वह उसी नामसे कही जाती है।

४ इससे मिलता हुआ श्लोक अ० रा० में यह है—"मायया गुणमय्या त्वं सृजस्यवसि लुम्पसि। जगत्तेन न ते लेप आनन्दानुभवात्मनः। १।१।१५।" अर्थात् आप अपनी त्रिगुणमयी मायाने जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और लय करते हैं पर उससे लिप्त नहीं होते। आप ज्ञानानन्दस्वरूप हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'जेहि सृष्टि उपाई०'। भाव कि हम सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं। हम भी आपकी ही सृष्टि हैं (आपने ही हमें उत्पन्न किया और यह सारा जगत् भी आपने ही उत्पन्न किया है। यथा 'जो कर्त्ता पालक संहर्ता', 'जो सृजत पालत हरत' इत्यादि। सृष्टि आपकी वस्तु है अतः उसकी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है। 'संग सहाय न दूजा' अर्थात् संसाररचनामें आपका कोई और साथी नहीं है कि जिससे जाकर हम अपनी विपत्ति कह सुनावें)। (ख) 'सो करउ अघारी चित हमारी'। अघारीका भाव कि अघरूपी राक्षसके आप नाशक हैं। अथवा, जैसे अघासुरके पेटमें बालक बत्सोंको बचाया है वैसेही हमको राक्षस ग्रास कर रहे हैं, हमारी सुध लीजिए। जैसे बालक बत्स भक्ति पूजा कुछ नहीं जानते थे वैसे ही हम कुछ नहीं जानते।

भजन स्मरण हममें कुछ नहीं है, एकमात्र आपकी शरण और आपकी कृपाका ही आशा भरोसा है। ('अघ' का अर्थ 'दुःख' भी है। यथा 'अघस्तु वृजने दुःखे इत्यमरे।' इससे भाव यह होगा कि आप दुःखोंके नाशक हैं, हमारे दुःखोंको दूर कीजिये।

२ 'जो भव भय भंजन' इति। (क) मन, कर्म और वचनसे समस्त देवताओंका शरण होना कहते हैं! इस प्रसंगमें यह कथन चरितार्थ कर दिखाया है। सब देवताओंका मन प्रभुमें लगा है, यथा 'मोर वचन सबके मन माना'। वचनसे सभी प्रभुकी ही चर्चा कर रहे हैं और स्तुतिमें लगे हैं। यथा 'पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई।', 'कहँ पाइअ प्रभु करिय पुकारा।' और सब तनसे प्रभुको प्रणाम कर रहे हैं। यह कर्मसे शरण होना है। यथा 'नमत नाथ पद कंजा'। ('नमत नाथ' यह कहते ही सब प्रणाम करने लगे हैं यह भी यहाँ जना दिया)। (ख) 'बानी छाड़ि सयानी' कहनेका भाव कि जबतक जीवके मन, वचन और कर्ममें अपने सयानपनेका भाव बना रहता है तबतक प्रभु कृपा नहीं करते। इसीसे कहा है—'मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई। २०० ६।' 'सयानी' का अर्थ 'चतुराई' यहाँ खोल दिया गया। [देखिए द्रौपदीजीको जबतक अपने वचनका भरोसा रहा कि मैं इससे सबको परास्त करूँगी। मनमें अपने वीर पतियोंका बल भरोसा रहा और शरीरसे अपनी साड़ीको उघड़ने न देनेका विचार रहा, तबतक भगवान‌ने कृपा नहीं ही की। जब तीनोंका अभिमान छोड़कर हाथ उठाकर प्रभुको पुकारा तब तुरत भगवान् वस्त्ररूप हो गए। सुग्रीवने वचनसे कहा था कि 'बालि परम हित'। मनसे छल और शरीरसे बल दिखलाता रहा। तबतक प्रभुने बालिको नहीं मारा। जब तीनोंका भरोसा न रह गया, यथा—'बंधु न होइ मोर यह काला', 'बहु छल बल सुग्रीव करि हिय हारा "। ४८।' तब 'मारा बालि राम तब'। इसी तरह बालिको तीनोंका अभिमान था। 'सम दरसी रघुनाथ', 'अस कहि चला महा अभिमानी। तृनसमान सुग्रीवहि जानी' क्रमसे वचन, मन और कर्मके अभिमान थे। बाण लगनेके पश्चात् तीनोंका सयानपन मिटा। 'धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं'। "अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।' यह वचन चातुरी भगवान्‌के उत्तरसे मिटी। यथा—'सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।' मनका अभिमान मिटा, हृदयमें प्रीति हुई और वह शरण हुआ। यथा 'हृदय प्रीति', 'अंतकाल गति तोरि।' कर्मका भी अभिमान न रह गया, यह 'प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि। ४।६।' से स्पष्ट है। अथवा 'बिकल महि' से कर्मका अभिमान गया। तब प्रभुने कृपा की। यथा 'बालि सीस परसेउ निज पानी' इत्यादि।]

वि० त्रि०—'सरन सकल सुर जूथा' इति। भाव यह है कि भगवान् शरणागतके उद्धारमें समर्थ हैं, क्योंकि सर्वज्ञ, कृतज्ञ और सुव्यवस्थित हैं, श्रेयकी प्राप्ति करा देते हैं। श्रेयके पीछे नहीं पड़ना चाहिए। निर्हेतुक उपासना ही सच्ची उपासना है। वह आर्त और अर्थार्थीको अपनी नियति से कर्मपाककी अपेक्षा न करके फल देते हैं। वह अनन्य शरणका योगक्षेम वहन करते हैं। अपनी नियतिको भी हटाकर उससे साधनका सम्पादन कराके उसे फलसे युक्त करते हैं। यही उनका बड़ा भारी स्वातन्त्र्य है कि प्रारब्ध और नियति भी उनसे विमुखको ही होती है।

टिप्पणी—३ 'सारद श्रुति सेषा' इति। (क) आपको कोई नहीं जानता, यथा 'बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा। २।१२७।', 'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान। १।१२।', 'न त्वां केचित् प्रजानते। १०। ऋते मायां विशालाक्षीं "। ११। (वाल्मी० ७।११०) अर्थात् श्रीसीताजीको छोड़कर दूसरा कोई आपको नहीं जानता। ये ब्रह्माजीने श्रीरामजीसे कहा है। इसीसे तो श्रीसीताजी सबकी आचार्या हैं। (ख) 'सारद श्रुति"" कहकर 'जेहि दीन पिआरे' कहनेका भाव कि जो ऐसे अगम्य हैं, अज्ञेय हैं वे ही दीनों

को प्राप्त होते हैं क्योंकि दीन उनको प्रिय हैं। विशेष दोहा १८ मा० पी० भाग १ पृष्ठ ३२४ तथा २८ (४) पृष्ठ ४५६ में देखिए। (ग) 'वेद पुकारे' का भाव कि वेद साक्षी हैं, प्रमाण हैं। उन्होंने आपको दीनबन्धु दीन दयाल आदि कहा है। (घ) 'द्रवौ सो श्रीभगवाना' इति। दीनोंके मनोरथ पूर्ण करनेके सम्बन्धसे 'श्री भगवान' विशेषण दिया।

नोट—३ (क) 'भव बारिधि मंदर'=संसारसागरका मथन करनेको मंदराचलरूप। भाव कि आपका नाम भवसागरको मथकर सज्जनरूपी देवताओंको शान्त-संतोषादि गुणरूपी अमृत देनेवाला है। (वै०)। पुनः भाव कि आप 'संसार समुद्रमें डूबनेवालोंके आधारभूत हैं। वा, संसार समुद्रको मथकर सज्जनरूपी रत्नके निकालनेवाले' हैं (रा० प्र०)। श्रीकान्तशरणजी 'भव बारिधि' से 'मुमुक्षुके हृदयसिंधु' का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि "दैवी-आसुरी संपत्तियां मथनेवाली है। ११ इन्द्रियाँ और ३ अंतःकरण शुद्ध होकर १४ रत्नरूपमें प्रकट होते हैं" भव-सागरके मथने वाले देवता दैत्य, चौदह रत्न और जल जन्तु आदि क्या हैं यह पूर्व 'भवसागर जेहि कीन्ह ··' दोहा १४ मा० पी० भाग १ पृष्ठ २६७ व २६६ में भी देखिए। (ख) 'नमत' का भाव कि आपकी बान है कि 'सकृत प्रनाम किए अपनाये।' (ग) 'सब बिधि सुंदर' का भाव है कि थोड़ी ही सेवासे प्रसन्न हो जाते हैं, जनके अपराध पर कभी रिसाते नहीं। 'गुनमंदिर सुख पुंज' का भाव कि आपके भजनसे भक्तजन अनेक उत्तम दिव्य गुणों और सुखसमूहको प्राप्त हो जाते हैं।" (बाबा हरीदासजी)।

वि० त्रि० - भगवान् भवसागरके लिये मंदर हैं। समुद्रके पार तो वानर भी गए पर उन्हें उसकी गहराईका पता नहीं, उसकी गहराई का पता तो मन्दराचलको है। इसी भाँति साधक प्रयत्नसे भवपार चले जाते हैं पर उसके तलका पता श्रीभगवान्‌को ही है। वे ही उसमेंसे अमृतका उद्घाटन करके दैवी प्रकृतिवालों की पुष्टि कर सकते हैं, उन्हें विजययुक्त कर सकते हैं।

टिप्पणी—४ ☞ 'जेहि सृष्टि ··' से 'नमत नाथ पद कंजा' तक भक्ति सबंधसे स्तुति की गई। इस तरह यह स्तुति कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंसे युक्त है। नमन करना, शरण होना इत्यादि भक्ति है। उसीका एक अंग शरणागति वा प्रपत्ति है।

(खर्रा)—ब्रह्माजी चतुरानन अर्थात् चार मुखवाले हैं, इसीसे स्तुतिमें चार छंद हैं। वेदोंमें प्रधान कर्म, ज्ञान और उपासना है सो प्रथम छंदमें ऋग् कर्म, दूसरेमें यजु ज्ञान और तीसरेमें उपासना साम-वेद है। ब्रह्माके मुखसे वेद निकले हैं इसीसे गोस्वामीजीने छन्द ही से कहा, दोहा चौपाईसे न कहा और चौथे छन्दमें दीनता कही। यहाँ घाटोंका भी क्रम है। याज्ञवल्क्यका कर्मघाट है सो पहले छन्दमें, शिव-जीका ज्ञानघाट है सो दूसरे छन्दमें, भुशुण्डिजीका उपासना घाट तीसरेमें और गोस्वामीजीका दैन्य घाट है सो चौथेमें है। दीनता वालेका कर्म है नम्रता। अतएव 'नमत नाथ पद कंजा' कहा जिसमें सबका अधिकार है।

नोट—४ इस स्तुति और आकाशवाणीके सम्बन्धमें मतभेद है। सन्त श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि यह स्तुति सभीकी भावनासे युक्त है, क्योंकि ब्रह्माजी सभीकी ओरसे स्तुति कर रहे हैं। १८५ (१-५) में दिखा आए हैं कि यहाँ तीन मत, सिद्धान्त वा उपासनाके लोग एकत्रित हैं। उसीका निर्वाह यहाँ भी है।—(मा० त० वि०)। इस प्रकार प्रथम चार तुकोंमें 'सिंधुसुता प्रियकंता' पदसे क्षीरशायी भगवान्‌की वन्दना हुई फिर आठ तुकोंमें वैकुंठ भगवान् और महाविष्णुके अवतारवाले कल्पोंकी स्तुति है और अन्तमें श्रीसाकेतविहारीजी परात्पर ब्रह्मकी स्तुति है।

मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि "ब्रह्माकी स्तुति और आकाशवाणी नारदकल्पकी कथा है, जिसमें नारदशापवश श्रीमन्नारायणने अवतार लिया। शिवजी परतम कल्पकी कथा कह रहे थे, परन्तु उनका

एकाएक प्रकट होना सबको विश्वासप्रद न होगा, अतएव यहाँ शिवजीने कल्पांतरकी कथा मिला दी जिससे सबको बोध हो जावे। ब्रह्माकी स्तुतिके बाद आकाशवाणी हुई, यह क्षीराब्धवासी श्रीमन्नारायण की है, यह बात आकाशवाणीके वचनोंसे सिद्ध होती है। जिस कल्पमें यह स्तुति की गई थी उसमें कश्यप,अदिति दशरथ कौशल्या हुए थे। मानसरामायणमें कल्पभेदकी कथा जहाँ तहाँ सूक्ष्मरीतिसे वर्णित है। वैसे ही यहाँ भी है। परतम अवतारमें स्तुति आदिकी आवश्यकता नहीं पड़ती, केवल शापित अवतार देव-स्तुति सुनकर होते हैं और परतम प्रभु तो मनुके प्रेमवश प्रसन्न होकर वरदान देकर स्वयं बिना विनयके प्रकट हुए। 'जय जय सुरनायक' से 'अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा' तक्का प्रसंग परतम कल्पके बाहरकी कथा है।"

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि "परतम कल्पमें स्तुति नैमिषारण्यमें मनुद्वारा हो चुकी है। यथा 'सुनु सेवक सुरतरु । १४६ १।' से 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। ६।' तक। स्तुतिके बाद प्रभुने प्रकट होकर कहा "होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत। १५। "। एक कल्पमें दो बार स्तुति तथापि दो बार आकाशवाणी कदापि नहीं हो सकती।"

मेरी समझमें जैसे कश्यप अदितिकी स्तुतिपर उनको वर दिया कि मैं तुम्हारा पुत्र तुम्हारे अवध भुआल होनेपर होऊँगा और रावणका अत्याचार होनेपर ब्रह्माकी स्तुतिपर भगवान् अवतार लेनेको कहते हैं, तब अवतार होता है, वैसे ही यहाँ भी प्रथम मनुके लिए वरदान हुआ कि हम तुम्हारे अवधभुआल होने पर तुम्हारे पुत्र होंगे। जब पुत्र होनेका समय आया तब रावणके अत्याचारसे ब्रह्माजीने स्तुति की और प्रभुने अवतार लेनेको कहा। इस तरह परतम प्रभुका अवतार गुप्त भी रहेगा।

टिप्पणी—५ 'जानि सभय सुर ' इति। भगवान्की प्रतिज्ञा है कि—'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम'। देवता आदि सभीत हैं, इसीसे शोक संदेहहारिणी वाणी हुई। [(☞ यहाँ आकाशवाणी होनेमें दो कारण दिखाए। एक तो देवता और पृथ्वी दोनोंके भयभीत होनेसे, दूसरे स्नेहयुक्त वचन सुननेसे। शंकरजीने कहा ही है कि 'प्रेम तें प्रगट होहिं'। अतः आकाशवाणीरूपसे प्रगट हुए। और सब सभीत शरणमें आए हैं अतः अभयदायक वाणी बोली गई।) 'गंभीरका भाव कि इसमें अक्षर थोड़े ही हैं पर अर्थ बहुत है। (रा० प्र०)। ध्वनि भी गंभीर है। (प०)। बोलनेवाला अदृश्य है और शब्द सुनाई पड़ रहा है, इस लिये 'गगन गिरा गंभीर' कहते हैं। अथवा, जो वाणीका भी वाणी है, उसकी गिरा आकाश द्वारा ही प्रकट होती है। कितने ऊपरसे वाणी आ रही है, इसकी थाह न होनेसे गम्भीर कहा। (वि० त्रि०)]

वेदान्तभूषणजी—१६ तुकोंमें स्तुति करनेका भाव कि जैसे आप लोकसृजनार्थ १६ कलाओंसे शेषशायीरूपसे अवतरित हुये थे (भा० १।३।१), वैसे ही अब लोकरक्षणार्थ पुनः अवतार लेकर अपने अनन्त दिव्य गुणोंमेंसे १६ गुण तो अवश्य ही प्रकटकर भक्तोंको आनन्द दीजिए। परमावश्यक वे १६ गुण ये हैं—१ कला (ऐश्वर्य)। २ धर्म (ज्ञानस्वरूपता)। ३ यश (यशका कारण तेज)। ४ श्री (शक्ति)। ५ मोक्ष (निर्बन्धता)। ६ भरण (धारणशक्ति)। ७ पोषण (कल्याणप्रद शक्ति)। ८ आधार (सर्वव्यापकता, सर्वशरीरिता)। ९ उत्पत्ति। १० पालन। ११ संहार शक्ति। १२ शत्रुनाशक शक्ति। १३ रक्षण (विमुख जीवोंको स्वसम्मुख करनेकी शक्ति)। १४ शरण। १५ लालन (प्रेमप्रदर्शन)। १६ सामर्थ्य। इन्हीं उपर्युक्त १६ को षोडश कला या अंश कहते हैं।

जीव प्रभुके वात्सल्य, सौशील्य, सौलभ्य, सर्वशक्तित्व, कृपा, करुणा, सौन्दर्य, क्षमा आदि दिव्य कल्याण गुणोंका अनुसन्धान करते हुए उनसे अनेक संबंधमेंसे शेष शेषी, पिता पुत्र, भार्या भर्तृत्व, नियाम्य-नियामक, आधाराधेय, सेवक स्वामी, शरीर शरीरी, धर्म धर्मी, रक्ष्य रक्षक, व्याप्य व्यापक, भोक्ता भोक्तृत्व, अशक्त-सर्वशक्तिमत्व, सख्य, अकिंचन अवाप्तसमस्तकामत्व, पतित-पतितपावन और शरण शरण्य षोडश संबंधपूर्वक भगवल्लीला विग्रहका आनन्दानुभव करते हैं।

वि० त्रि०—यह प्रभुका प्रथम गुणग्राम जगमङ्गलरूप है, यथा—'जगमंगल गुनग्राम राम के'। इसे अश्विनी नक्षत्र माना गया है। अश्विनी नक्षत्रमें तीन तीन तारे चमकते हैं। इस स्तुतिमें भी तीन रूपोंकी चमक है। विष्णु, क्षीरशायी और ब्रह्म। अश्विनी नक्षत्रकी आकृति अश्वमुखसी है। ब्रह्मविद्याके प्रधान उपदेष्टा भगवान् हयग्रीव हैं। उसी ब्रह्मविद्याका निरूपण इस स्तुतिमें है, इससे अश्वमुख माना। अथवा सामवेदके तुल्य होनेसे अश्वमुख माना। यह स्तुति ही जगमंगलके लिये ब्रह्मदेवने की थी।

प० प० प्र०—ब्रह्माकृत स्तुति और अश्विनी नक्षत्रका साम्य। (क) अनुक्रम—यह पहली स्तुति है और पहला नक्षत्र अश्विनी है। (ख) नाम-साम्य—नक्षत्रका नाम अश्विनी है। अश्विनी-घोड़ी। सूर्यपत्नी संज्ञाने अश्विनीका रूप लिया और पृथिवीपर रही। इसकी खोजमें सूर्य यहाँ आए और दो पुत्र हुए, वे ही अश्विनादेव हैं। अश्वके समान रूपवाली होनेसे अश्विनी नाम है। तथा 'अश्नुते व्याप्नोति अश्वः'। इस स्तुतिमें प्रभुके त्रिविधरूपोंका व्यापक स्वरूपमें वर्णन किया ही है। छन्दोंकी पढ़नेकी गति भी अश्वकी गतिके समान ही है। अश्व जब मुकामके समीप आने लगता है तब उसकी गतिमें फेर पड़ता है। वैसा फेर अन्तिम छन्दमें भी है। स्पष्ट करनेमें विस्तार करना होगा, उसके लिये यहाँ स्थल नहीं है। (ग) तारा संख्या-साम्य।—अश्विनीमें तीन तारे हैं। इस स्तुतिमें 'सिंधुसुता प्रिय कंता' (शेषशायी नारायण), सर्वव्यापक प्रभु भगवान् सगुण ब्रह्म और श्रीभगवान् (-लक्ष्मीपति वैकुण्ठाधीश विष्णु) ये तीन तारे हैं। आश्चर्यकी बात यह है कि इस नक्षत्रके तीन तारे एक प्रतिके नहीं हैं; दूसरे, तीसरे और चौथे प्रतिका एक-एक तारा है। (नक्षत्र चित्रपट श्रीरघुनाथ शास्त्री)। इस स्तुतिमें सगुण ब्रह्म दूसरी प्रतिका तारा है। निर्गुण निराकार ब्रह्म प्रतिका तारा इसमें नहीं है। शेषशायी नारायण तीसरी प्रतिका (III Dimention) है और विष्णु चौथी प्रतिका हैं। यह साम्य कितना अद्भुत है! (घ) रूप आकार-साम्य—नक्षत्रका आकार 'अश्वमुख' कहा है। सिंधुसुता प्रिय लक्ष्मीका प्रिय उसका भाई है। उच्चैःश्रवा भी मथनसे ही निकला है अतः वह भाई है और प्रिय है। यथा 'बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही'। (ङ) नक्षत्रका देवता अश्विनीकुमार हैं। संज्ञा जब अश्विनी बनी तब सूर्यको पृथ्वीपर अश्वरूपमें आना पड़ा और अश्विनीकुमारोंका जन्म हुआ। वैसे ही 'राम सच्चिदानंद दिनेसा' को अश्विनी स्तुतिसे इस पृथ्वीपर आकर पुत्ररूपसे अवतीर्ण होना पड़ा। (च) फलश्रुति—'जग मंगल गुनग्राम राम के। १।३२।२।' यह इस स्तुतिकी फलश्रुति है। यह स्तुति रामजन्मका साक्षात् हेतु है—'राम जनम जग मंगल हेतू'। गुनमंदिर (-गुणग्राम) शब्द स्तुतिमें ही है। यह स्तुति जगका मंगल करनेवाली है।

☞ यहाँसे उत्तरकाण्ड दो० ५१ की नारदस्तुति तक २६ स्तुतियाँ हैं। नारदकृत स्तुति रेवती नक्षत्र है। २८ नक्षत्रोंसे नक्षत्रचक्र बना है। वैसे ही स्तुतिरूपी नक्षत्रचक्र-नक्षत्रमंडल मानसमें है। अश्विनी स्तुतिके कर्त्ता 'विधि' हैं और रेवती-स्तुतिके कर्त्ता नारदजी हैं—'गए जहाँ बिधि धाम', इस प्रकार मण्डलाकार पूरा किया गया। यह एक परम अद्भुत अनुपम काव्यकला है। ऐसे ऐसे अद्भुतकलाओंके बहुत नमूने मानसमें हैं।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहौं नर बेसा॥ १॥

अर्थ—हे मुनियो, सिद्धो और सुरेश! डरो मत, तुम्हारे लिये मैं नरवेष धारण करूँगा॥ १॥

टिप्पणी—१ यह अभयप्रद वाणी है। आगे पुनः कहा है 'निर्भय होहु देव समुदाई'। 'जनि डरपहु' का भाव कि सब सभीत होकर शरणमें आए हैं, यथा 'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा'। ब्रह्माजीने कहा भी है कि 'सरन सकल सुरजूथा'। अतः आकाशवाणी कहती है कि हम तुम्हें शरणमें लेते हैं, तुम सभीत हो, हम तुम्हारे भयको हरण करेंगे, यथा 'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं। ५।४४। किस तरह रक्षा करेंगे सो दूसरे चरणमें कहते हैं कि 'तुम्हहि लागि धरिहौं नर बेसा'। यह वाणी हरनि सोक संदेह है। 'जनि डरपहु' से शोक हरण किया और 'धरिहौं नरबेष' से संदेह

दूर किया। संदेह था कि मनुष्य तो राक्षसों का आहार है, वह रावणको कैसे मार सकेगा। भगवान् कहते हैं कि संदेह दूर करो, हमही मनुजरूप धारण करेंगे। २ 'तुम्हहि लागि' का भाव कि वैसे तो ईश्वरके लिये नर शरीर धारण करना न्यूनताकी बात है, पर तुम्हारे हितार्थ हम यह भी करेंगे। इस तरह 'सुरनायक, जन सुखदायक, सहज कृपाला' आदि विशेषणोंको सत्य किया। 'नर वेष' धारण करनेके भाव 'राम भगत हित नर तन धारी। २४।१।' मा० पी० भाग १ पृष्ठ ४०१, में आ चुके हैं।

वि० त्रि०—'धरिहौं नर बेसा'—भाव कि 'कर्मविपाक और आशयसे जिसका सम्पर्क नहीं, ऐसा पुरुष विशेष ईश्वर है। यथा 'कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। यो० सू०।', तब वह मनुष्य क्यों होने लगा। अतः कहते हैं कि यद्यपि कर्मविपाक और आशयसे मेरा लगाव नहीं है फिर भी तुम्हारे लिये मैं नर शरीर धारण करूँगा। ध्वनि यह निकलती है कि मैं तुम्हारे लिये नरशरीर धारण करूँगा परन्तु तुम लोग भी अपने लिये वानर शरीर धारण करो।

वेदान्तभूषणजी—ब्रह्मलोक जानेमें और स्तुतिके अन्तमें नमस्कार करनेमें मुनियोंका वर्णन आया है, विचार करनेमें नहीं। आकाशवाणीमें प्रथम 'मुनि' का नाम कहकर भगवान्‌ने सूचित किया है कि हमारे अवतार लेनेके प्रधान कारण 'मुनि' ही हैं। भगवद्भक्त होना मुनिका प्रधान लक्ष्य है, इसीसे भक्तोंकी 'मुनि' संज्ञा थी। यथा 'भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्। भा० १।२।२५।' (अर्थात् पूर्वकालमें मुनिजन भगवान् अधोक्षजका भजन करतेथे)। गोस्वामीजीने भी भक्तोंके लिये ही प्रधानतया अवतारका होना कहा है। यथा 'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि प्रगट किये प्रहलादा।', भगवान्‌ने स्वयं भी कहा है 'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहि आन निहोरें। ५।४८।' भगवती श्रुति भी यही कहती है—'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना' उपासकोंका कार्य एकपाद्विभूतिमें बिना अवतार लिए नहीं हो सकता क्योंकि वे तो परमेश्वरको विविध संबंध-सूत्रोंमें ग्रथित करना चाहते हैं। उपासकों (मुनियों) की कामनापूर्त्यर्थ ब्रह्मको अनेक रूप बनाने पड़ते हैं इसीसे भयातुर नमस्कार करनेमें ब्रह्माजीने इन्हींका नाम प्रथम लिया है—'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत ...'। [विचार करनेमें देवताओंका ही नाम दिया —'बैठे सुर सब करहिं बिचारा'। मुनियोंका नाम न दिया। कारण यह भी हो सकता है कि भक्त संकट पड़नेपर भी प्रभुको कष्ट नहीं देना चाहते, कर्मभोग आदि समझकर कष्ट सहते हैं। 'सुर' स्वार्थी होते हैं। इसीसे सुर ही यहाँ अगुआ बने, मुनि केवल साथ हो लिए हों! प्रणाम करनेमें वे पहले हुआ ही चाहें क्योंकि उपासक हैं]

प० प० प्र०—ये मुनि पृथ्वीतलपर रहनेवाले मुनि नहीं हैं, क्योंकि यहाँके मुनि ब्रह्मलोक और शिवलोक नहीं जाते। महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोकमें जो मुनि निवास करते हैं वे ही देवोंके विनयानुसार उनके साथ होते गए। स्वर्गलोकसे देव निकले और सत्यलोकको गए जहाँ 'जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनि बृंदा। निसिबासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं'। ऐसे मुनि ही यहाँ विवक्षित हैं। भगवान् न तो केवल ज्ञानी मुनियोंके लिये अवतार लेते हैं और न केवल देवताओंके लिये। वे० भू० जीके लेखमें,प्रमाण दिये ही हैं।

नोट—इस आकाशवाणीमें प्रथम मुनियों और सिद्धोंको सम्बोधन किया है और अन्तमें देव-समुदायको। इसका कारण एक तो यह है कि ब्रह्माकी स्तुतिमें भी यही क्रम है—"मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा'। प्रथम मुनि और सिद्धका नाम है तब देवताओंका। इसीसे आकाशवाणीने आदिमें 'मुनि सिद्ध सुरेसा' ('सुरेश' में ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तीनों आ गए) और अन्तमें 'देवसमुदाई' शब्द देकर सबको कह दिया। दूसरा कारण (पंजाबीजीके मतानुसार) यह है कि मुनि और सिद्ध सदाके जितेन्द्रिय हैं अतः उनके सम्मान हेतु उन्हें प्रथम कहा तब देवोंको।

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर-बंस उदारा ॥२॥

अर्थ—उदार सूर्य्यवंशमें अंशोंसमेत मैं 'मनुज' अवतार लूँगा ॥२॥

बाबा हरीदासजी—जैसे ब्रह्माजीने गुप्त विनय की वैसे ही गगनवाणीने गुप्त ही वचनोंमें कहा। जैसे विधिने असुरारी सम्बोधन किया वैसे ही वाणीने 'अंसन्ह सहित मनुज अवतार लेहौं।' कहा अर्थात् असुरों-का नाशक मेरा सुदर्शनचक्र देह धरकर आवेगा, सो शत्रुघ्नजी अंश जानो। जो 'पालन सुर धरनी' कहा था उसकी जोड़में सब जगत्के पालनकर्ता विष्णुजी देह धरकर आवेंगे, सो अंश भरतजी जानो। और जो विधिने कहा कि 'भवभयभंजन ' सरन सकल सुरयूथा' अर्थात् अपने सयानपनमें आपका गुणगान करना भूल गए, अब आप अवतार लेकर चरित करें जिसे गाकर हम भवपार हों; इसकी जोड़में वाणी कहती है कि सहस्रानन जो मेरा सदा गुणगान करते हैं वे अवतरेंगे, सो अंश लक्ष्मणजीको जानो।"

"असन्ह सहित मनुज अवतारा०" इति।

बाबा जयरामदासजी रामायणी—"परम प्रभुके वे अंश कौनकौनसे हैं जिनके सहित सरकारका अवतार हुआ ?

जिन परम प्रभुकी प्राप्तिके हेतु श्रीस्वायम्भुव मनु तपस्या कर रहे थे, उन ध्येय तथा इष्टका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई ॥' 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना ॥'—भगवान् विष्णु, ब्रह्मा और शिव ये ही अंशस्वरूप कथित हैं। आगे चलकर 'बिधि हरिहर बंदित पद रेनू' कहकर श्रीपरमप्रभुको इन तीनोंका अंशी लक्ष्य कराया गया है। श्रीरामावतार तीनों अंशों समेत चतुर्विग्रहमें प्रगट भी हुआ यह प्रमाणित है। श्रीरामजी, श्रीभरत-जी, श्रीलक्ष्मणजी तथा श्रीशत्रुघ्नजी चारों विग्रह चारों भ्राताओंके रूपमें प्रादुर्भूत हुए—'बेद तत्त्व नृप तव सुत चारी'। परन्तु कौन विग्रह किस अंशसे हुआ, इसका स्पष्ट निर्णय नामकरणके समय गुरु श्री-वशिष्ठजीके द्वारा किया गया है। 'बिस्वभरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।' जो संसार-का भरण-पोषण (पालन) करनेवाले विष्णु भगवान् हैं, इनका नाम भरत है। 'जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा', अर्थात् जो वेदका प्रकाश करनेवाले ब्रह्माजी हैं, जिनके स्मरणसे शत्रुओं-का हनन हो जाता है, इनका नाम शत्रुहन है। ब्रह्माके चारों मुखोंसे वेदोंका प्रकाश हुआ है। इसके अति-रिक्त मन्थराके इस कथनपर कि 'कहौं झूठ फुर बात बनाई। तौ बिधि देइहि मोहि सजाई ॥" ब्रह्माके अंश शत्रुहनजीने ही उसे दंड दिया—'हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुह भरि महि करत पुकारा'। अतः इससे भी शत्रुहनजीका ब्रह्माका अंश होना सिद्ध है। "लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार। गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार ॥"—जो शुभ लक्षणोंके धाम रामजीके प्रिय शिवजी हैं,—एकादशरुद्रोंमें प्रधान रुद्र और सकल जगत्के आधार शेषजी हैं—उन शिवजीके अंशस्वरूप जो यह चौथे हैं उनका उदार नाम लक्ष्मण है। जीवके वास्तविक लक्ष्य भगवान् श्रीराम ही हैं। उस लक्ष्यको यथार्थत श्रीशिवजीने धारण किया है, यथा 'जेहि सुख लागि पुरारि असिव बेष कृत सिव सुखद। ७।८८', अतएव शिवजी 'लच्छनधाम' हैं। पुन उनके समान कोई रामप्रिय भी नहीं,—'कोउ नहि सिव समान प्रिय मोरे।'

इस प्रकार परमप्रभुके अवतार श्रीरघुनाथजी हैं और त्रिदेवगत श्रीविष्णु भगवान्के अवतार श्री-भरतजी, श्रीब्रह्माजीके अवतार श्रीशत्रुहनजी तथा श्रीशिवजीके अवतार श्रीलक्ष्मणजी हैं। अतएव सबके एकमात्र अंशी साक्षात् परमप्रभुने अपने तीनों अंशों—त्रिदेवों सहित अवतार लेकर यह वाक्य सिद्ध कर-दिया कि 'असन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा ॥'

नोट—१ उपर्युक्त मीमांसामें कुछ शंकायें और अड़चनें पैदा होती हैं। वे ये हैं—१ 'जासु अंस तें' मूलपाठ है, जिसका अर्थ है कि 'जिसके अंशसे' ब्रह्मादि उत्पन्न होते हैं न कि ये जिसके अंश हैं। अतः

फिर भी यह प्रश्न खुला रह जाता है कि वह अंश कौन है जिनसे ब्रह्मादिक उत्पन्न होते हैं ? २—गगन-ब्रह्मवाणी ब्रह्मा-शिवादिसे ही कह रही है कि 'असन्ह सहित मनुज अवतारा । लेहौं दिनकर बंस उदारा ॥", तो यह सिद्ध ही है कि ब्रह्मके अंश जिसका वाणीमें संकेत है सम्मुख खड़े हुए ब्रह्मशिवादिमेंसे कोई भी नहीं है वरंच इनसे अतिरिक्त कोई और ही है। ३—ब्रह्माजीका जाम्बवान् होना और शिवजीका हनुमान होना गोस्वामीजीका मत है जैसा कि दोहावलीमें उन्होंने स्पष्ट कहा है, यथा 'जानि रामसेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुषा ते सेवक भये हर ते भे हनुमान ॥ १४२ ॥' आकाशवाणी सुनकर ब्रह्माने सबको आज्ञा दी कि वानररूप धरकर 'हरिपद सेवहु जाइ' और स्वयं जाम्बवान् रूपसे अवतरे। ४—गुरु श्रीवशिष्ठजी चारों भाइयोंको वेदतत्त्व कहते हैं, यह उपर्युक्त लेखमें स्वयं कहा गया है पर ब्रह्मा, विष्णु, महेशको कहीं भी वेदतत्त्व नहीं कहा या सुना गया है; तब ब्रह्मादिके अंशको श्रीवशिष्ठजी क्योंकर वेदतत्त्व कहते ? ५ पाँचवें, ऊपर परमप्रभुके अंश ब्रह्मादि बताए गए और ब्रह्मादिके अंश शत्रुघ्नादि बताए गए; इससे जाना गया कि भरतादि भ्राता भगवान्‌के अंशावतार न होकर त्रिदेवके अंशावतार हैं। इत्यादि कारणोंसे त्रिदेवको आकाशवाणीमें संकेत किये गए अंश नहीं माना जा सकता।

वेदान्त भूषणजी कहते हैं कि नारदपंचरात्रमें वैकुण्ठाधीशका भरतरूपसे, क्षीरशायी श्रीमन्नारायणका लक्ष्मणरूपसे तथा भूमापुरुषका शत्रुघ्नरूपसे श्रीरामसेवार्थ अवतीर्ण होनेका उल्लेख है। यथा "वैकुण्ठेशस्तु भरतः क्षीराब्धीशस्तु लक्ष्मणः। शत्रुघ्नश्च स्वयंभूमा रामसेवार्थमागतः॥" वैकुंठाधीश श्रीनारायण श्रीरामजीके अंश हैं। यथा—'नारायणोऽपि रामांशः शंखचक्रगदाधरः। इति वाराहपुराणे।' शेषशायी श्रीमन्नारायणको परात्पर ब्रह्मका षोडशकलायुक्त विराट् पुरुष कहा है। यथा 'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः। सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया। १। पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्।'''। ४। भा० १.३।" अष्टभुजी भूमापुरुष भी श्रीरामजीके अंश हैं। यथा "तस्मिन्साकेतलोके विविधहरिभिः सततं सेव्यमाने दिव्ये सिंहासने स्वे जनकतनयया राजते शोभमाने। पुष्पो मत्स्यैरनेकैः करिभिरपि तथा नारसिंहैरनन्तैः कूर्मैः श्रीनन्दनदेहैं वामन हरिभिर्नित्यमाशेषमुक्तैश्च ॥ यत्र केशवत्वामनो नरवरो नारायणो धर्मजः श्रीकृष्णो हलभृक् तथा मधुरिपुः श्रीवासुदेवोऽपरः। एतेनैकविधा महेन्द्रविषयो दुर्गादयोः कोटिशः श्रीरामस्य पुरो निदेशमुमुला नित्यालयीये पदे। (बृहद्ब्रह्मसंहिता), 'स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मचैव चतुर्भुजम्। परञ्चद्विभुजं रूपं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्।' (आनंद-सं०), इत्यादि।

अब यह देखना है कि इन तीनोंसे अगणित त्रिदेव उत्पन्न होते हैं। वैकुण्ठाधीशसे उत्पन्न होने के प्रमाण, यथा "वैकुण्ठः साकारो नारायणः तेष्वण्डेषु सर्वेष्वेकैक नारायणावतारो जायते नारायणाद्धिरण्यगर्भो जायते नारायणादेकादशरुद्राः जायते। ना० उ० ३।२॥" क्षीरसिंधुनिवासीसे अनेक त्रिदेवादि और फिर उनसे देव तिर्यक् और नरादिकी सृष्टिका प्रमाण, यथा 'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्। यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः। भा० १.३.५।' (वे० भू० जी कहते हैं कि श्लोकके पूर्वार्धमें नाना त्रिदेवकी उत्पत्ति कहकर उत्तरार्धमें त्रिदेवादिसे देव तिर्यक् आदि की सृष्टि कही है)।

श्वेतद्वीप निवासीसे अनेक अवतार होनेका प्रमाण भूमापुरुषके "कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान् हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे। भा० १०.८९.५९॥" इस वाक्यमें मिलता है। वे भगवान् कृष्णसे कहते हैं कि तुम और अर्जुन दोनों हमारी कलासे अवतीर्ण हो। (गी० प्रे० गुटकामें यह श्लोक नहीं है)। (त्रिदेवोंकी उत्पत्तिका स्पष्ट प्रमाण उनके लेखमें नहीं है)।

प्राचीन ग्रंथोंसे स्पष्ट प्रमाणोंके रहते हुए कि क्षीरशायी लक्ष्मण और भूमापुरुष शत्रुघ्न होते हैं ब्रह्माजीका शत्रुघ्न और शिवजीका लक्ष्मण होना माना नहीं जा सकता।

'जा के सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा।' के 'वेद प्रकासा' का अर्थ 'जो वेदका प्रकाश करनेवाले हैं' ऐसा अर्थ खींचतान है। "जौं बिधि देइहि मोहि सजाई" यह एक लौकिक वाक्यप्रथा

है कि अमुक कर्मका फल विधि, दैव अथवा ईशादि देंगे। ☞ दूसरे शत्रुघ्नजीके लिये कहा गया है कि उनके स्मरणसे शत्रुका नाश होता है। जीवके प्रबल शत्रु मोह मदनादि हैं और ब्रह्मादि स्वयं इनके वशमें हो जाते हैं। यथा 'मन महुँ करै बिचार बिधाता।' 'जेहि बहु बार नचावा मोही।' ब्रह्माके स्मरणसे शत्रुओंके नाशका निर्देश श्रुतिस्मृतिमें नहीं सुना जाता। लक्ष्मणजी शिवावतार होते तो शिवजीका निरादर वे कदापि अपने वाक्योंसे न करते। 'अब अनिय व्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली।', 'जौ सत संकर करैं सहाई। तदपि हतउँ रन राम दुहाई।' इत्यादि कभी न कहते।

कुछ लोग शंख, चक्र और शेषका भरतादि होना कहते हैं परन्तु मानसमें शंखादिके अवतीर्ण होनेकी सांकेतिक चर्चा भी न होनेसे इस विषयमें विचार उठाना व्यर्थ है। (सत्कीर्तन अवताराङ्क से)। ब्रह्मा, विष्णु, नारायण, भूमापुरुष आदि भगवद्रूपोंसे तत्त्वतः गुणतः अभेद होनेसे उन्हींका चार भ्रातारूपसे अवतीर्ण होना विशेष संगत जान पड़ता है।

श्रीवैजनाथजीका मत है कि श्रीसाकेतमें प्रभुके अंश जो श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्नजी हैं उन्हीं भाइयोंसहित प्रभु अवतार लेनेको कहते हैं। यह भी सुसंगत है।

प० प० प्र०—१ जब भगवान् स्वयं अवतीर्ण होते हैं जैसे उमा-शम्भु-संवाद कथामें तब क्षीरसागर निवासी नारायण लक्ष्मण होते हैं। विष्णु भरत होते हैं और महेश शत्रुघ्न होते हैं। इस कल्पमें शेषावतार लक्ष्मण माना जाय तो मानस-वचनोंसे विरोध होता है। शेषजी ब्रह्मावतार शत्रुघ्नको और विष्णु-अवतार भरतको कैसे मार सकेंगे? मानसके लक्ष्मणने रामरिपु भरत शत्रुघ्नको मारनेकी प्रतिज्ञा की है। भगवान् शेषशायी ब्रह्मा-विष्णुसे श्रेष्ठ हैं, अतः ऐसी प्रतिज्ञा कर सकते हैं। धनुर्भंगके समय लक्ष्मणजीने 'कमठ अहि कोला' को आज्ञा दी है, शेषशायी ही कमठ, वराह, शेषको आज्ञा दे सकते हैं।

२ मानसमें ही लक्ष्मणजीको शेषावतार भी कहा है। वह इस प्रकार है—जब शेषशायी नारायण अथवा विष्णु राम होते हैं तब शेषजी लक्ष्मण, शंख भरत और चक्र शत्रुघ्न होते हैं। प० पु० तथा स्कन्द पु० में विष्णु, शेष, शंख और चक्रका राम, लक्ष्मण, भरत शत्रुघ्न होना कहा गया है। प० पु० में वृन्दाका शाप शेषशायी और शेष दोनोंको है, वनवास दुःख और रवि-सहायका शाप भी उन्होंने दिया है। शंखका भरत होना मानसमें गूढ़ भाषामें सूचित किया है। 'बिस्व भरन पोषन कर जोई' अर्थात् विष्णु भरण पोषण कर्तके करमें जो है वह भरत है। करमें शंख है ही। इसी तरह सुदर्शन चक्रके स्मरणसे शत्रुका नाश होता ही है, अतः चक्र शत्रुघ्न हुए।

वि० त्रि०—'अंसन्ह सहित'—भाव कि मैं (तुरीय का विभु) अपने अंशों (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके विभुओं) के सहित मनुष्य अवतार लूँगा। अर्थात् जब अंशीका अवतार होगा तब साथमें अंश भी आवेंगे। राजाके साथ सारा समाज चलता है। सुषुप्तिके प्रभु ईश्वर, स्वप्नके हिरण्यगर्भ और जाग्रत्‌के विभु विराट् हैं। इन्हींके साथ अवतीर्ण होनेका आश्वासन दिया जा रहा है।

नोट—२ पूर्व कहा जा चुका है कि मानसमें मुख्यतः परात्पर परब्रह्म श्रीरामजीका ही अवतार और चरित कहा गया है, परन्तु 'श्रीरामावतार' का हेतु कहनेमें वैकुण्ठ और क्षीरशायीका शापका दिया जाना और उन शापोंके मिष भी श्रीरामावतारका होना कहा गया है। इसीसे उन तीन कल्पोंकी कथा भी गौणरूपसे मानसकल्पकी कथामें जहाँ तहाँ ग्रथित है। इसके अगणित प्रमाण ग्रन्थभरमें हैं। जैसे स्तुतिमें चार कल्पोंके अवतारोंकी स्तुतिका विवरण है वैसे ही आकाशवाणीमें भी चार कल्पोंके अवतारोंका प्रसंग सूक्ष्म रीतिसे है।

३ (क) भगवान्‌ने जो मनुजीसे कहा है कि 'अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता।', उसीको यहाँ 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं' कहकर चरितार्थ किया है। 'मनुज' शब्दमें श्लेषद्वारा यह ध्वनि भरी हुई है कि मनुको जो हमने वर दिया है उसे सत्य करेंगे, उनके पुत्र होंगे। (ख)

'लेहौं दिनकर बंस उदारा' इस वाक्यसे पूर्वके (मनुशतरूपाजीसे कहे हुए) 'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे।', 'होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत।' इन वाक्योंको चरितार्थ किया। ☞ इस प्रकार इस वाणीमें 'मनु प्रार्थित' रामावतारवाले कल्पका प्रसंग है। (ग) 'बंस उदारा' इति। इस वंशमें समस्त राजा चक्रवर्ती और उदार दानी होते आए हैं। यथा 'मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं।' उदारसे श्रेष्ठ और महान् भी जनाया। रघुवंशी बड़े वीर और प्रतापी हुए हैं। यथा 'जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी।', 'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी। २८४।७।' इस कुलमें अवतार लेनेसे अवतार गुप्त रहेगा। अत कहा कि इस कुलमें अवतार लूँगा। वैजनाथजी लिखते हैं कि 'बंस उदारा' में अवतारका भाव यह है कि उस कुलमें प्रकट होकर विशेष उदारता प्रकट करूँगा। देशकाल पात्रापात्रका विचार न करके स्वार्थरहित याचकमात्रको मनोवाञ्छित दान दूँगा। यथा 'सुसमय सब के द्वार द्वै निसान बाजै। कुसमय तैं दसरथ के दानि गरीब निवाजै।' (विनय)।

वि० त्रि०—उदार सूर्यवंशमें अवतार ग्रहण करनेका अभिप्राय यह है कि बारह कलाओंमें ही पूर्णता हो जायगी, क्योंकि सूर्यमें बारह कलाएँ हैं। चन्द्रवंशमें अवतार ग्रहण करनेसे सोलह कलाओंमें पूर्णता होती है। क्योंकि चन्द्रमें सोलह कलाएँ हैं।

कस्यप अदिति महा तप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥३॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरीं प्रगट नरभूपा ॥४॥
तिन्ह कें गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई ॥५॥

अर्थ—कश्यप और अदितिने बड़ा भारी तप किया था। मैंने उनको पूर्व ही वर दिया था ॥३॥ वे दशरथ-कौसल्यारूपमें श्रीअयोध्यापुरीमें नृपति होकर प्रकट हुए हैं ॥ ४ ॥ मैं उनके घरमें जाकर रघुकुलमें शिरोमणि चारों भाईके रूपमें अवतार लूँगा ॥५॥

नोट—१ (क) 'कस्यप अदिति ' ' इति। इससे जनाया कि महर्षिकश्यप और अदिति प्राय दशरथ और कौसल्या होते हैं अथवा चार कल्पोंके श्रीरामावतारका हेतु कहा गया है, उनमेंसे तीनमें कश्यप-अदिति ही दशरथ-कौसल्या हुए। उनके यहाँ अवतार होना सब जानते हैं, यथा 'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता। १२३।२।' जय-विजय-कल्पके प्रसंगमें शिवजीने 'बिख्याता' शब्द कहकर जना दिया कि कश्यप अदितिजीका दशरथ-कौसल्या होना सब देवता जानते हैं। मनुशतरूपाका दशरथ-कौसल्या होना सब नहीं जानते। (ख) 'प्रगट नरभूपा' से जनाया कि तुम सब यह बात जानते हो। (ग) 'तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई' इति। 'जाई' से जनाया कि हम शीघ्र ही अवतार लेंगे क्योंकि कश्यपादि दशरथादि रूपसे प्रकट हो चुके हैं। (घ) 'रघुकुल तिलक' इति। प्रथम 'दिनकर वंश' कहा और अब रघुकुल कहा। भाव कि इस कुलमें 'रघु' जी ऐसे प्रतापी तेजस्वी और उदार हुए कि 'दिनकरवंश' का नाम बदलकर लोग उसे 'रघुकुल' कहने लगे। रघुसे लेकर अनेक राजा इस कुलमें हो गए जिनसे रावण शंकित रहता था। अब इस कुलमें प्रकट होनेसे रावणको इनके मनुष्य होनेमें कभी संदेह न होगा। (ङ) 'सो चारिउ भाई' से श्रीराम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नजी चारों भाइयोंका अवतार कहा।

२ श्रीबैजनाथजी तथा पं० रामवल्लभाशरणजी आदिका मत है कि इन चरणोंमें जलंधर और जयविजयवाले कल्पोंका प्रसंग है। इनके लिये वैकुण्ठसे अवतार हुआ था। इन कल्पोंके संबंधमें पूर्व जो कहा था कि 'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। १२३।२।' उसीको यहाँ 'कस्यप अदिति नरभूपा।' इस वाक्यसे चरितार्थ किया।

३ वेदान्तभूषणजीका मत है कि रावणकी तरह दशरथ भी कोई हों किंतु श्रीअयोध्याजीमें साकेत-विहारी ही अवतीर्ण होते हैं। इसपर शंका हो सकती है कि 'मनुको वर दिया गया तब यहाँ कश्यपका

दशरथ होना क्यों कहा ?' समाधान यह है कि—(क) मनु और कश्यप दोनों प्रजापति हैं, दोनोंसे सृष्टिका विस्तार होता है। दोनोंकी एक क्रिया होनेसे दोनोंमें अभेद दिखाया। (ख) किशोररामायणमें लिखा है कि 'मरीचो कश्यपो नाम मनुश्चापर जन्मनि। ११३।१८।' अर्थात् मरीचि मुनिके पुत्र कश्यप ही दूसरे जन्ममें मनु हुए। उसीमें आगे चलकर यह लिखा है कि श्रीरामजीका अर्चन करके जो कश्यप भगवान्‌के पिता हुए (वामनावतार उन्हींके द्वारा हुआ था) वही इस समय (दूसरे जन्ममें) मनु और (तीसरे जन्ममें) नृप होंगे तब परात्पर श्रीराम उनके पुत्र होंगे। यथा "समर्चन यस्य विधाय कश्यपो ह्यदित्यया सार्धमवाप पितृताम्। रामस्य पश्चात् भवे मनौ नृपे ह्यवाप्नुयात्पुत्र तनुं परात्परः। ११४।१२।" इसीसे कश्यपका महातप करना कहा। क्योंकि वे ही मनु और दशरथ हुए।

वृन्दाके शापवाले कल्पमें कश्यप अदिति माता पिता नहीं हुए थे। आ० रा० में धर्मदत्तका दशरथ होना कहा है।

कहीं तो मनुसे कहा कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा और यहाँ देवताओंसे कहते हैं कि कश्यप दशरथ हुए हैं उनके यहाँ जन्म लूँगा, इस द्विवाक्यतामें भाव यह है कि जिन कल्पोंमें मैं स्ववाचाबद्ध होनेसे प्रकट होता हूँ उनमें मनु या कश्यप ही दशरथ होते हैं और जिनमें मुझे अपने अंश वैकुण्ठ, क्षीरशायी आदिके वचनोंमें दाशरथी होना पड़ता है उनमें धर्मदत्त आदि दशरथ होते हैं। मानसमें धर्मदत्तादिका नाम इससे नहीं दिया गया कि इसमें उन शापवाले कल्पोंकी कथा नहीं कहना है। [श्रीहरिदासाचार्यजी (श्रीरामतापनीयोपनिषदादिके भाष्यकार) का यही मत है जो उन्होंने विस्तारसे भाष्यमें लिखा है]।

वि० त्रि०—'कश्यप अदिति ० चारिउ भाई' इति। 'जनि डरपहु ० बस उदारा', यह आकाशवाणी उस कल्पकी है जिसमें स्वायम्भू मनु और शतरूपाकी प्रार्थनासे ब्रह्मका रामावतार हुआ था और भानुप्रतापका रावणावतार हुआ था। जय विजयके रावण होनेके प्रकरणमें कहा था कि 'कश्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या विख्याता'। वही बात आकाशवाणी अब कह रही है कि 'कश्यप अदिति महातप कीन्हा ० ते दसरथ कौसल्या रूपा। कौसलपुरी प्रकट नरभूपा।' उन्हींके घर हम चार भाई होकर अवतार ग्रहण करेंगे। भाव कि देवताका आयुध वाहन आदि उनके स्वरूपसे पृथक् नहीं होता। इस अवतारमें शेष भगवान् लक्ष्मण हुए, पाञ्चजन्य शङ्ख भरत और सुदर्शनचक्र शत्रुघ्न हुए। वैकुण्ठनाथका रामावतार हुआ। यह जय-विजय रावणकुम्भकर्णवाले कल्पकी आकाशवाणी है।

प० प० प्र०—आकाशवाणीमें कश्यप अदिति के दशरथ-कौसल्या होनेका उल्लेख है, मनु शतरूपाके दशरथ-कौसल्या होनेका उल्लेख क्यों नहीं है ? समाधान—पहले बताया जा चुका है कि १८६ छन्द १ नारायणावतारविषयक है, १८६ छन्द २, ३ सगुण ब्रह्म विषयक हैं और छन्द ४ विष्णुविषयक है। नारायण, सगुण ब्रह्म द्विभुज (जिनका दर्शन मनुशतरूपाको हुआ था) और विष्णु यह क्रम स्तुतिमें है। इसका उल्टा क्रम आकाशवाणीमें है। यथा—(१) 'तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेषा' कहनेवाले विष्णु वर वेषधारी नहीं हैं, ये चतुर्भुज हैं, इससे उन्होंने कहा कि नरवेष धारण करूँगा। (२) "अंसन्ह सहित' देहलीदीपक है। 'मनुज अवतार लेहौं' का मनुज श्लेष है। यह संकेत (मनु जात और मनुष्य) सगुणब्रह्मावतारविषयक है। मनुजीको जब दर्शन दिया तब नररूप (द्विभुज) ही थे और साकेतनिवासी रामका नररूप ही है, अतः वहाँ 'नरवेष लेहौं' कहनेकी आवश्यकता नहीं है। गगनगिरा गभीर है, अति गूढ़ है। अतः यही अति गूढ़ वचन है (३) 'कश्यप अदिति महातप कीन्हा'—यह शेष दो कल्पोंकी कथासे सबंधित है। एकमें वृन्दाशाप और दूसरेमें नारदमोह कारण है। दोनोंमें कश्यप अदिति दशरथ कौसल्या हैं। प्रथम जलधर-रावण कल्पका उल्लेख किया अतमें नारदशापवालेका, क्योंकि मानसमूलमें वही कथा प्रथम है, वह कथा चारों कल्पोंके लिये सामान्य है और प्रत्येक वक्ताने अपने कल्पकी कथाको विशेष मिलाया है। इस प्रकार अर्थ करनेसे उलझन, शंका और

मतभेदके लिये स्थान ही नहीं है। जिस अवतारके जन्मकी कथा शिवजी कह रहे हैं वह अवतार सगुण ब्रह्मका ही है और १।४६।१ मे भी मनुज शब्द है—'रावन मरन मनुज कर जाचा', यहाँ भी 'मनुज अवतारा' कहा है और दोहा १६२ मे भी 'लीन्ह मनुज अवार' कहा है। चारों कल्पोंका समन्वय करनेके लिये ही १६२ छन्द १ मे 'निज आयुध भुज चारी' ऐसे गूढ़ शब्द रक्खे गए हैं।

जय-विजयके लिये जो विष्णुका रामावतार हुआ उसमें कश्यप-अदितिके दशरथ-कौसल्या होनेका उल्लेख १।१२३।३ में कर आये हैं, अतः यहाँ स्पष्ट नहीं कहा। वहाँ अवतारहेतुकथनमें भी विष्णु-अवतारका प्रथम उल्लेख है, वैसे ही यहाँ है। भेद इतना है कि मनुजीकी कथा विस्तारसे कथन करनेके बाद यह उल्लेख (आकाशवाणी) है। अतः केवल 'मनुज' शब्दसे सकेत कर दिया गया। शेष विस्तार वही है।

नारद बचन सत्य सब करिहौं। परम सक्ति समेत अवतरिहौं ॥६॥
हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई ॥७॥

अर्थ—नारदका सब वचन सत्य करूँगा। परम (आद्या) शक्ति सहित अवतार लूँगा ॥६॥ मैं पृथ्वीका सब भार हरूँगा। हे देववृन्द! निडर हो जाओ ॥७॥

टिप्पणी—१ 'नारद बचन सत्य सब करिहौं '। (क) इससे सूचित हुआ कि नारदकल्पमें भी कश्यप और अदिति ही पिता-माता हुए। ['सब वचन' कहा क्योंकि उनके शापमें कई बातें हैं। यथा—(क) 'बचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु', राजा बनकर ठगा अतः राजा बनकर यह वचन सत्य करेंगे। (२) 'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी', अतः वानरोंसे सहायता लेंगे। (३) 'मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरह'। राजा बनकर स्त्रीसे वियोग कराकर विरही बनाया। अतः रावण यती बनेगा और उसके द्वारा हम अपनी स्त्रीके हरण किये जानेकी लीला भी करेंगे। विरही भी बनेंगे। (४) 'नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी'। अतः विरही बनकर यह भी चरित करेंगे।] (ख) 'परम सक्ति समेत अवतरिहौं' इति। 'नारि-विरह' से दुःखी होनेका शाप दिया है इसीसे आकाशवाणी कहती है कि परम शक्तिके साथ अवतार लूँगा। [भाव यह कि मेरी परम 'शक्ति' ही मेरी स्त्री होगी, दूसरी कोई नहीं। परम, परा, आद्या ये सब एक ही हैं। उमानन्दनाथजीने एक तान्त्रिक ग्रंथमें पराशक्तिका वर्णन इस प्रकार किया है—'यस्याहग्रो नैव भूमण्डलाशो यस्या दासो विद्यते न क्षितीशः। यस्याज्ञात नैव शास्त्र किमन्यैः यस्याकारः सा पराशक्तिरेव ॥' अर्थात् 'परम शक्ति' वह शक्ति है जिसके लिये ससारका कोई भी अदृष्ट नहीं है। कोई ऐसा राजा नहीं जो उसका गुलाम न हो। कोई ऐसा शास्त्र नहीं जिसे वह न जानती हो।" पुनः, परम शक्ति = समस्त शक्तियोंका मूल स्रोत। (ग) मनुजीसे जो प्रभुने कहा था कि 'आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि' वह भी 'परम सक्ति समेत अवतरिहौं' से चरितार्थ किया गया। 'परम' और 'आदि' एक ही बात है। ये उनकी साक्षात्स्वरूपा शक्ति हैं]

प० प० प्र०—'नारद बचन सत्य सब करिहौं' इति। पहले कहा था कि 'नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा'। यह शाप एक कल्पमे अवतारके लिये ही था। पर यहाँ शाप न कहकर 'नारद बचन' कहनेमें भाव यह है कि जिस कल्पमें किसी दूसरेका शाप कारण नहीं होता है, उसमे नारद-वचन ही सत्य किया जाता है। अद्भुत करनी है। अपने भक्तका प्रेम इतना है।

नोट—१ बैजनाथजीका मत है कि 'नारद बचन ···' यह आकाशवाणी हरगण-रावणके समयके क्षीरशायी भगवान्का वाक्य है। उन्हींको शाप हुआ था। यही मत प० रा० व० श० जी का है।

२ पं० रा० व० श०—अवतार तीनों स्थानोंसे होता है। अतएव आकाशवाणीमे तीनोंका समावेश है। 'अवतार' शब्द तीन बार आया है। तीन क्रियाएँ पृथक् पृथक् तीनों अवतारोंकी कथा सूचित करती हैं।

३ वे० भू० रा० कु० दास—जो यह कहते हैं कि नारदशापके कल्पमे कश्यप दशरथ हुए थे उन्हें

अद्भुत रामायण पढ लेना चाहिए। उसमे स्पष्ट लिखा है कि नारदशापकल्पमे अम्बरीष दशरथ हुए थे। (अद्भूत रा० ४।६०)।

टिप्पणी—२ 'हरिहौं सकल भूमि गरुआई " इति। (क) ये आकाशवाणीके अन्तिम वचन हैं। आदिमे 'जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा ' कहा है। ब्रह्माजीने कहा था कि सब परम भयातुर हैं, सुरयूथ आपको शरण हैं, इसीसे ब्रह्मवाणीने आदि और अन्त दोनोंमें 'निर्भय' होनेको कहकर उनका आश्वासन किया। ['गरुआई' अर्थात् भार। पृथ्वी व्याकुल होकर मनमे विचारती थी कि गिरि सरि सिधु भार नहि मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही। १८४।५।' वही 'गुरुता , वही भार हरण करनेकी प्रतिज्ञा यहाँ है। पुन॰, ब्रह्माजीने जो 'गो द्विज हितकारी जय असुरारी' कहा था उसके सम्बधसे यहाँ 'हरिहौं ' कहा। अर्थात् पृथ्वीरूपी गौ, ब्राह्मणों और सुरोंका हित करूँगा। किस तरह ? 'गरुआई' हरकर। राक्षस पृथ्वीका भार हैं, उनका वध करके सबका हित करेंगे। ब्रह्मस्तुतिके 'सकल सुरयूथा' की जोडमे यहाँ 'देव-समुदाई' है। 'सकल गरुआई' से जनाया कि पृथ्वी भरके निशाचरोंका नाश करूँगा]

मनुप्रकरण तथा नारदवचनसे इस आकाशवाणीका मिलान

	मनु प्रकरण	आकाशवाणी
	अंसन्ह सहित देह धरि ताता	१ असन्ह सहित मनुज अवतारा
	इच्छामय नर वेष सँवारे	२ मनुज अवतारा
	होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारें	३ लेहौं दिनकर बस उदारा
नारदवचनसे मिलान	(क) बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तन धरहु श्राप मम एहा।	☞ असन्ह सहित मनुज अवतारा लेहौं दिनकर बस उदारा।
	(ख) कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहि कीस सहाय तुम्हारी ॥	☞ इन बातोंके कहनेका कोई प्रयाजन न था। अत आकाशवाणीने इसपर कुछ न कहा। नारदकल्पकी बात ब्रह्माको मालूम है, इसीसे वे देवताओंसे कहते हैं कि 'बानर तनु धरि धरि माह हरिपद सेवहु जाइ।'
	(ग) नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी	—यहा इसके कथनका कोइ प्रयाजन नहीं था।
	आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।	४ परम सक्ति समेत अवतरिहौं (इसीमे 'नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी' भी सिद्ध हो गया

☞ (परब्रह्मको जो करना है वही उन्होंने कहा। अन्य कल्पोंसे मिलान करके आकाशवाणीने देवताओंको निस्सदेह बोध कराया है।)

होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत	५ ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा।

☞ देवता कश्यप अदितिके यहाँ ही अवतार जानते हैं। इसीसे यहां भी कश्यप अदितिके यहाँ अवतार होना कहा। यथा 'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता।', 'कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥ ते दसरथ कौसल्या बिख्याता।'

☞ बिख्याता का भाव कि कश्यप अदितिका दशरथ कौसल्या होना विख्यात है, मनुशतरूपा का दशरथ कौसल्या होना विख्यात नहीं है।

गगन ब्रह्म बानी सुनि काना । तुरत फिरे* सुर हृदय जुड़ाना ॥ ८ ॥

अर्थ—आकाशकी ब्रह्मवाणी कानोंसे सुनकर देवताओंके हृदय शीतल हो गए और वे तुरत लौट पड़े ॥८॥

टिप्पणी—१ "गगन ब्रह्मबानी" इति । ब्रह्माकी वाणीको भी ब्रह्मवाणी कहते हैं और परात्पर पर-ब्रह्मकी वाणीको भी 'ब्रह्मवाणी' कहते हैं । पार्वतीजीके तपमें ब्रह्माकी वाणी है, यथा 'देखि उमहिं तपखीन सरीरा । ब्रह्मगिरा भै गगन गभीरा' । जो आकाशवाणी हुई वह ब्रह्मकी वाणी है (यह जतानेके लिए 'गगन ब्रह्म' बानी शब्द यहाँ दिए) ।

नोट—१ 'ब्रह्मबानी सुनि सुर हृदय जुड़ाना' । आकाशवाणी देवताओंने कानोंसे सुनी । स्पष्ट सुन लिया कि भगवान् कहते हैं कि 'हरिहौं सकल भूमि गरुआई । निर्भय होहु देव समुदाई' । अत वे सतुष्ट हो गए । वाणीको शोकसदेहहारिणी कहा था, यथा 'गगनगिरा गभीर भै हरनि सोक सदेह ।' उसको यहाँ चरितार्थ करते हैं कि 'सुर हृदय जुड़ाना' । 'हृदय जुड़ाना' से सूचित किया कि पूर्व सतप्त थे, जैसा कि 'बैठे सुर सब करहिं बिचारा । कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा', 'सो करउ अघारी चिंत हमारी', 'परम भयातुर नमत नाथ पदकजा' तथा 'हरनि सोक सदेह' से स्पष्ट है । शोकोत्पन्न सताप जाता रहा, अत हृदय शीतल हो गया ।

"गगन ब्रह्मवाणी" इति ।

आकाशवाणीके सबधकी शका बड़ी जटिल है । जो कुछ पूर्व लिखा गया है उसीको समझनेके लिये मैं यहाँ उसे एकत्रित कर रहा हूँ । उससे सबके मत ठीकसे समझमें आजायँगे ।

प० शिवलालपाठकजीका मत है कि 'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी । १४१।१ ।' से लेकर 'मोर बचन सबके मन माना । । १८४।८ ।' तक दिव्य परतमकल्पका चरित है । इस परतम प्रभुके अवतार की स्तुति मनुद्वारा हो चुकी है । यहाँ शंकरजीने देवताओंसे कहा कि प्रेम करो, प्रभु प्रकट हो जायँगे । आगे ब्रह्मस्तुति "जय जय सुरनायक०" से लेकर "यह सब रुचिर चरित मैं भाषा । अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा ।१८८।६।" तक नारदशापावतारका प्रसग है जो परतम-अवतार-कल्पके चरितको छोड़कर शिवजी कहने लगे थे क्योंकि प्राकृत सृष्टिके लोगोंको परतमके अवतार मे विश्वास न होगा ।

दूसरा मत यह है कि मानसमें श्रीरामावतारके हेतु-कथनमें चार कल्पोंके रामावतारका हेतु कहा गया है । तीन कल्पोंमें सक्षेपसे कहा । अतमें अगुण-अरूप अजादि विशेषणयुक्त ब्रह्मके अवतारका हेतु विस्तारसे कहा क्योंकि इसीमें गरुडजी और सतीजीको भ्रम हुआ था । मानसमें विस्तृत रूपसे परतम अवतारवाले कल्पकी ही कथा है पर बीच-बीचमें अन्य तीन कल्पोंके प्रसग सूचक शब्द देकर ग्रथकारने जना दिया है कि सब कल्पोंकी कथाएँ भी साथ-साथ इसमें ग्रथित हैं । इसीसे इस ब्रह्मस्तुतिमें चारों कल्पोंकी देवस्तुति और आकाशवाणीमें चारों कल्पोंकी आकाशवाणी है जैसा पूर्व दिखाया जा चुका है । यह मत श्रीबैजनाथजी, सत श्रीगुरुसहायलालजी आदि अनेक टीकाकारोंका है ।

तीसरा मत यह है कि यह आकाशवाणी परतमप्रभुके अवतारकी ही है और ब्रह्मवाणी है । अन्य कल्पोंसे इसका सबध नहीं । यह वाणी 'गभीर' और 'हरनि सोक सदेह' है । गँभीर अर्थात् गूढ़ है, अगाध है । यहाँ तीन मत वा सिद्धान्तके लोग हैं, इसीसे इसमें ऐसे शब्द आए हैं जिससे तीनोंको सतोष हो, सभीका शोक-सदेह निवृत्त हो, सभी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार वैसा ही समझ लें और अपना (परतम प्रभुका) अवतार गुप्त भी रहे, केवल उसके अधिकारी श्रीशिवजी, भुशुण्डीजी, अगस्त्यजी आदि ही जानें । दोहेके 'हरनि सोक सदेह' शब्द अभिप्रायगर्भित हैं । वाणी इस प्रकारकी न होती तो सबका समाधान न होता ।

* फिरेउ—१६६१

आकाशवाणीके वचन बड़ी युक्तिके हैं। जो इसने कहा वह सब सत्य है। 'कस्यप अदिति महातप कीन्हा', 'तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा', 'ते दसरथ कौसल्या रूपा' और 'कोसलपुरी प्रगट नरभूपा' ये सब वाक्य सत्य हैं। कश्यप अदितिने तप किया था, उनको वर मिला था। उन्हींने मनु शतरूपा होकर परतम-प्रभुके लिये तप किया और वर पाया। (यह त्रिदेव ही जानते थे। क्योंकि इनसे उन्होंने वर नहीं माँगा। [illegible] पूर्ण किये)। वही कश्यपमनु दशरथरूपसे [illegible] दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर [illegible] ते और प्रभु अपने अवतारको गुप्त रखना [illegible] हो गुप्तरूपसे जना दिया। अधिकारी जान गए, अन्य नहीं।

आगे आकाशवाणी कहती है 'तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई'। यह भी सत्य है। दशरथजीका घर सदा वही है, श्रीअवध वही है, अनादि है। श्रीरामावतार सदा दशरथ-कौसल्याके यहाँ होता है। मनु-शरीर या कश्यप शरीरमें वह अवतार नहीं होता। श्रीरामावतारके लिये श्रीअवध ही कश्यपका घर है, वही मनुका घर है और वही दशरथका है। इसीसे 'गृह' शब्द बड़ी युक्तिका है।

अब 'नारद बचन सत्य सब करिहौं। ' इसको लीजिए। यह भी सत्य है। नारदके वचन ये ही तो हैं कि तुम राजाका शरीर धारण करो, वानर तुम्हारे सहायक बनें, स्त्री विरह दुःख तुमको हो। कोई भी रामावतार ऐसा है जिसमें श्रीराम राजा न होते हों? सभीमें वे राजा होते हैं, सीता हरण-लीला होती है, वे विरहीका नाट्य करते हैं और वानर ही सहायक होते हैं।—यदि ये बातें नारद-शाप-कल्पके अतिरिक्त अन्य कल्पोंके अवतारोंमेंसे निकाल डालें तो फिर अन्य कल्पोंमें लीलाका कार्य ही न रह जायगा। न राम राजा होंगे, न सीता हरण होगा, न रावण मारा जायगा और न कभी देवताओंका शोक संताप मिटेगा। नारद-शापका प्रसंग एक ही अवतारमें समाप्त हो जाता है पर नारद वाक्य सभी रामावतारोंमें सत्य होते हैं। जो चरित्र प्रभु सदा रामावतार लेकर किया करते हैं, वही एक कल्पमें उन्होंने नारदके मुखसे शापमें भी कहलाए। अ० रा० में नारदवचनकी बात नहीं है फिर भी यह सब चरित्र हुए हैं।

रा० प्र० का मत है कि आकाशवाणीमें कल्पान्तरोंके सूचक शब्द देकर वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु, क्षीरशायी श्रीमन्नारायण और अपनेमें अभेद बताया। जैसे भृगुने लात मारी विष्णुको और भृगुलता धारण करते हैं सभी लीलावतार तथा वृन्दाका शाप हुआ विष्णुको, पर शालग्रामरूपमें चिह्नभेदसे क्षीरशायी श्रीमन्नारायण और श्रीरामादि सभी भगवत्स्वरूप मिलते हैं। वैसे ही शाप होता है क्षीरशायीको और उसे धारण करते हैं सभी लीलाविग्रह—तत्वतः गुणतः स्वरूपतः भेद प्रदर्शित करनेके लिये। जैसे तीन कल्पोंके अवतारोंका हेतु कहते हुए बताया है कि उनमें कौन रावण हुआ, वैसे ही मनु शतरूपाके प्रेमसे परतम प्रभु श्रीसीतारामजीके अवतारके लिये कौन रावण हुआ यह बतानेपर ही अगुण अरूप अज ब्रह्मके अवतारका हेतु समाप्त होता है। अतः बताया कि भानुप्रताप इसमें रावण हुआ। उसके अत्याचारसे देवता पीडित हो शरणमें गए। तब उनके शोक संदेह-हरणार्थ आकाशवाणी हुई। अतः इस 'गगन ब्रह्मबाणी' का उसी कल्पसे संबंध होना उचित ही है।

शापित अवतारोंमें प्रायः आकाशवाणी इस अवसरपर नहीं देखी-सुनी जाती जैसा वाल्मीकीय, अध्यात्म, आदि कतिपय ग्रन्थोंसे सिद्ध है। वहाँ वैकुण्ठवासी अथवा क्षीरशायी भगवान्से ब्रह्मादि देवता प्रार्थना करते हैं कि आप रावणको नरावतार लेकर मारें।

अतः यह मानना कि मनुको वरदान इस कल्पमें हुआ पर उनके लिए अवतार इस कल्पमें नहीं हुआ किसी दूसरे कल्पमें होगा, कहाँ तक ठीक हो सकता है पाठक स्वयं विचार कर लें। प्रभुका श्रीमुख वाक्य

है—"तात गए कछु काल पुनि। होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत।" तब भला मनु शतरूपाजी कल्पान्तका वियोग कैसे सह सकेंगे?

नोट—२ ☞ बाबा श्रीहरिदासाचार्यजीने श्रीरामतापनीभाष्यमें श्रुति स्मृति आदि प्रमाणोंसे यह सिद्धान्त किया है कि रामावतार सदा साकेतसे होता है। वैकुण्ठ या क्षीरशायी भगवान् राम नहीं होते। शालग्राम और बल्लौरी शीशे आदिके दृष्टान्तोंसे इस सिद्धान्तकी पुष्टि भी की है। यही मत वेदान्तभूषणजीके लेखोंमें है। मानसके उद्धरणोंसे भी इसकी पुष्टि हो जाती है जैसा अन्यत्र कहीं-कहीं दिखाया भी गया है।

☞ मानसके प्रायः सभी टीकाकारोंने वैकुण्ठाधीश और क्षीरशायीका भी श्रीरामावतार लेना माना है। ग्रन्थोंमें देखा जाता है कि वैकुण्ठाधीश आदि देवताओंके सामने प्रकट हुए हैं और उनकी प्रार्थना सुनकर स्पष्ट कहा है कि मैं नर-शरीर धरकर रावणको मारूँगा। यदि वे श्रीरामावतार नहीं लेते तो उनका वाक्य असत्य ठहरेगा। मानसके 'पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई।२।१३६।५।' आदि वाक्योंसे इनके मतकी पुष्टि भी होती है।

नोट—३ (क) अंशोंके संबंधमें भी मतभेद हैं। कोई-कोई वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चतुर्व्यूह अवतार मानते हैं। (मा० त० वि०)। कोई शंख, शेष और सुदर्शनका क्रमशः श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण, श्रीशत्रुघ्न होना मानते हैं, जब वैकुण्ठ या क्षीरसिंधुसे अवतार होता है। साकेतसे अवतार होनेपर श्रीभरतादि भाई जो वहाँ हैं वे ही यहाँ अवतीर्ण होते हैं। (वै०)। और कोई यह मानते हैं कि अवतार सदा साकेतसे होता है और वैकुण्ठाधीश, विराट् तथा भूमापुरुष ही श्रीरामजीके अंश हैं जो श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नरूपसे श्रीरामसेवार्थ अवतीर्ण होते हैं। (वै० भू०)।

(ख) अ० रा० में क्षीरशायी भगवान् विष्णुके वचन इस आकाशवाणीसे मिलते हैं, केवल 'नारद-वचन सत्य सब करिहौं' यह अंश उनमें नहीं है। यथा "कश्यपस्य वरो दत्तस्तपसा तोषितेन मे। २५। याचितः पुत्रभावाय तथेत्यङ्गीकृतं मया। स इदानीं दशरथो भूत्वा तिष्ठति भूतले। २६। तस्याहं पुत्रतामेत्य कौसल्यायां शुभे दिने। चतुर्धात्मानमेवाहं सृजामीतरयोः पृथक्। २७। योगमायापि सीतेति जनकस्य गृहे तथा। १।२।२८।"

नोट—४ श्रीरामचरितमानसमें बाल, अयोध्या और उत्तर काण्डोंमें सब मिलकर नौ आकाश-वाणियाँ हैं। क्रमसे यथा—

(१) चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दिढ़ाई।

(२) देखि उमहिं तप खीन सरीरा। ब्रह्म गिरा भइ गगन गँभीरा॥

(३) माँगु माँगु बरु भइ नभ बानी। परम गँभीर कृपामृत सानी।

(४) नृप सुनि साप बिकल अति त्रासा। भइ बहोरि बर गिरा अकासा॥ बिप्रहु साप बिचारि न दीन्हा। नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा॥

(५) जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह। गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह॥

(६) जग भयमगन गगन भइ बानी। लखन बाहुबलु बिपुल बखानी॥

(७) मंदिर माँझ भई नभ बानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी॥

(८) बिप्रगिरा सुनि परहित सानी। एवमस्तु इति भइ नभ बानी॥

(९) सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्म गिरा भै गगन गँभीरा॥ एवमस्तु तव बच मुनि ग्यानी। यह मम भगत कर्म मन बानी॥

अनुमान होता है कि इनमेंसे जो वाणियाँ परात्पर परब्रह्म साकेतविहारीके स्वयं मुखारविंदसे निकली हैं, उन सबोंमें अपने गूढ़ाभिप्रायको जनतापर प्रकट करने हीके लिए महाकविने 'सुहाई', 'बर' और 'गंभीर' इन तीन विशेषणोंमेंसे किसी एकका प्रयोग अवश्य किया है। इस मीमांसाके अनुसार सरकारके अवतार

लेनेसे पूर्व बालकाडमें पॉच बार और उत्तरकाडमे एक बार आकाशवाणीके होनेमें कोई गूढ रहस्य अवश्य है। शेप तीन वाणियोंमेसे एक (छठवीं) जो देवताओंके द्वारा हुई वह प्रसंगानुकूल जगदाधार श्रीलक्ष्मणजीकी स्तुतिमें कही गई है। महाकवि यहाँ स्पष्टरूपसे लक्ष्मणजीके ही मुखसे क्षात्र धर्मानुकूल रघुकुलाभिमानका निदर्शन कराते हैं। और, सातवीं और आठवीं बार जो आकाशवाणियाँ हुई वे श्रीशिवजीके मुखारविन्दसे निकली हैं। इसके द्वारा मानसके आदिकवि श्रीशिवजीने भुशुण्डीजीक हृदयको रामतत्व धारण करने योग्य अति पवित्र बनाया और उनको कालान्तरमें लोमश-ऋषि द्वारा रामचरितमानस प्राप्त करनेका शुभाशीर्वाद दिया।

इन नौके अतिरिक्त एक वाणी और मन्थमें है। वह भानुप्रतापके प्रसंगमें है—'परसन जयहि लाग महिपाला। भइ अकासवानी तेहि काला।'—यह वाणी कालकेतु राक्षसकी है जो उसने भानुप्रतापके नाशके निमित्त अंतरिक्षसे कही थी।

नवीं वाणी स्वयं श्रीसरकारकी है। और वह मानसके मुख्याधिकारी श्रीभुशुण्डिजीके प्रति आशीर्वादात्मक हुई है। इससे सूचित होता है कि लोमशऋषिके आशीर्वचन जो कागभुशुण्डिप्रति कहे गए और सरकारने जिनका स्वय समर्थन किया है अधिकार प्राप्त रामचरित-मानसमें माहात्म्य तथा फल रूपसे अद्यावधि विद्यमान हैं और रहेंगे।—(नारायणप्रसाद मिश्रजी)।

☞ चरित्र और चरित्रनायक दोनोंके अवतार होनेके पूर्व पाँच ही बार ब्रह्मवाणी इसलिये हुई कि मृत्युलोकमें सरकारकी इच्छा पंचायतनरूपसे अवतार लेकर लीला करनेकी थी जिसका संकल्पात्मक बीजरूप निदर्शन ब्रह्मवाणी द्वारा किया गया।

नोट—५ बाबा जयरामदासजी रामायणीके "श्रीरामावतारके विभिन्न हेतु और उनके रहस्य" शीर्षक (कल्याण ५-६ में दिये हुए) लेखका खुलासा यह मालूम होता है कि वे श्रीरामजीका अगुण अरूप अखण्ड नित्य परब्रह्म निर्गुण और सगुण तथा उससे भी परे नहीं मानते वरच क्षीराब्धिशायी वा पर वैकुण्ठनिवासी भगवान्‌का लीला-अवतार ही मानते हैं। त्रिपाद्विभूति पर वैकुण्ठवासीका लीला तनही मनुजीके समीप आना कहते हैं। उनके ब्रह्म क्षीराब्धिशायी चतुर्भुज हैं। वे त्रिपाद्विभूतिपर-वैकुण्ठके क्षीराब्धिशायी एव परविष्णुका ही नाम हरि मानते हैं। वे लिखते हैं कि साकेत शब्द ग्रन्थमें कहीं नहीं आया अत साकेतसे मनुजीके सामने द्विभुजरूपका आना कहना भ्रम है।

☞ इस विषयमें कुछ बातें सदा ध्यानमे रखनेसे भ्रमका निवारण पाठक स्वयं करनेको समर्थ रहेंगे। वे ये हैं—

१—'हरि' क्रिया गुणात्मक नाम है जो भगवान्‌के सभी विग्रहोंके लिये आता है, चाहे वे एक पादविभूतिस्थ हों चाहे त्रिपाद्विभूतिस्थ, चाहे निर्गुण निराकार इत्यादि हों चाहे सगुण साकार इत्यादि। यह शब्द ग्रन्थमें विष्णु, क्षीरशायी भगवान् और राम तीनोंके लिये आया है—'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान्' कहकर तुरत कहा है कि 'राम कीन्ह चाहहि सोइ होई। १२८।१।' इससे स्पष्ट है कि श्रीरामका ही नाम 'हरि' भी है। ग्रथके मंगलाचरणमें परब्रह्मका नाम राम बताया है—'रामाख्यमीशहरिम्'। सतीजीको सर्वत्र राम ही त्रिपाद्विभूतिस्थ दिखाई दिये। पुन मनुजीके सामने उपस्थितको 'छवि समुद्र हरिरूप बिलोकी' कहकर भी यही दिखाया है कि 'राम' का ही नाम 'हरि भी है। ये हरि द्विभुज हैं जिनका प्रतिपादन मानसमें है।

२ मानसमें कहीं साकेत, त्रिपाद्विभूति, परवैकुण्ठ आदि शब्द नहीं आए हैं। "अगुण अखंड अरूप" ब्रह्म कौन है और उसका स्थान कहाँ है, यह लोगोंने अपने अपने मतानुसार टीकाओंमें लिखा है। मानसमें केवल "विश्ववास प्रगटे भगवाना" ये शब्द स्थानके लिये आए हैं जिसके लिये 'विश्ववास प्रगटे०' शब्द

आए हैं उस निर्गुण अव्यक्त ब्रह्मका दर्शन मनुशतरूपाजीको हो रहा है। उस अव्यक्त ब्रह्मका क्या रूप है वह यहीं दिखाया गया है।

३ यह दर्शन अवतारके लाखों वर्ष पूर्वका है। जो रूप सामने है वह 'लीला तन' नहीं है, 'नरवेष' नहीं है, वह 'देह धरकर आना' नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सम्मुख उपस्थित विग्रह ये वचन कदापि न कह सकता कि 'इच्छामय नरवेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे', 'असन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता'।

४ मानसके उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि श्रीरामजी ही परधाम, अखंड, निर्गुण, व्यापक आदि विशिष्ट गुण सपन्न ब्रह्म हैं और वे अनेक लीलातन भी धारण करते हैं। वे अवतारी और अवतार दोनों हैं। नित्य अखंड, अगुण इत्यादि रूप वह था जो मनुजीके सामने था और लीलातन वह था जो दशरथ अजिर-विहारी हुआ और जिसने समस्त लीला की।

५ ब्रह्म श्रीराम जिनका मानसमें प्रतिपादन है उनका अपना धाम भी होना मानसमें ही स्पष्ट कहा गया है। यथा 'रामधामदा पुरी सुहावनि', 'मम-धामदा पुरी सुखरासी' (वक्ता श्रीरामजी हैं, अत. मम=राम), 'पुनि मम धाम सिधाइहहु जहाँ संत सब जाहिं' (इससे रामधाममें सब संतोंका जाना और उसका नित्य, त्रिपाद्विभूतिस्थ होना कहा।)

६ त्रिपाद्विभूतिस्थ रामधामको 'साकेत, अपराजिता, अयोध्या' इत्यादि अनेक नामसे कहा गया है। 'राम' ब्रह्म हैं, यह मानसभरमें सर्वत्र दिखाया गया है—'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना' इत्यादि। और श्रीरामतापनीय आदि अनेक उपनिषदों, नारदपंचरात्र तथा अनेक स्मृतियों, संहिताओं और पुराणोंसे प्रतिपादित हैं—पूर्व भी और आगे तथा उत्तरकांडमें प्रमाण भी दिये गए हैं।

७—भुशुण्डि मनमानसहस 'बालक रूप राम' हैं—'इष्टदेव मम बालक रामा' और शिवजी भी उसी रूपके उपासक जान पड़ते हैं,—'बदउँ बालरूप सोइ रामू', पर वह मनुजीके सामने नहीं हैं। दूसरे, मनुजीके सामने तो भगवान् श्रीसीताजीसहित हैं, और किशोर अवस्थाके हैं।—ठीक यही रूप उपनिषदोंमें ब्रह्म रामका कहा गया है। अतएव पाठक स्वयं सोच लें कि मनु समीप आया हुआ दर्शन साक्षात् ब्रह्मका है या उनके लीलातनका।

☞ यह भी स्मरण रहे कि उपासना ब्रह्म हीकी की जाती है।

८—क्षीरसिंधु, वैकुण्ठ और उनके पर्याय शब्द जो नारद-कल्प, जयविजयकल्प, वा जलधर-कल्पके प्रसंगोंमें आए हैं वे एकपाद्विभूतिस्थ हैं न कि त्रिपाद्विभूतिस्थ। शापादि त्रिपाद्विभूतिस्थको नहीं होते, त्रिपाद्विभूतिमें जाकर पुनरागमन नहीं होता। इत्यादि। पर त्रिपाद्विभूतिस्थ सर्वव्यापक विश्वबास ब्रह्म राम अपने एकपाद्विभूतिस्थ साकार विग्रहोंको मिले हुए शाप स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं, जब उनकी ऐसी इच्छा हो।

९—भगवान्‌के सब नाम नित्य हैं, श्रीराम ब्रह्म सर्वनामनामी हैं।

१०—नारद वचन प्रत्येक कल्पमें सत्य किया जाता है। रावणवधार्थ सदा नरवेष धारण किया जाता है, सदा सीताहरण और विरह-विलापका नाट्य होता ही है और सदा ही वानरोंकी सहायता ली जाती है—बस यही तीन वचन नारदके हैं।

११—प्रायः कश्यप और अदिति ही मनु और शतरूपा होते हैं। दोहा १८७ (३-५) देखिए।

नोट—बाबा जयरामदासजीका मत मानसमें दिये हुए कल्पोंके प्रसंगोंके विषयमें यह है कि यह सब एक ही व्यापक ब्रह्मकी लीला है। वे लिखते हैं कि आकाशवाणीके "प्रसंगमें यह विचारणीय है कि यदि प्रभु एक न होते तो जहाँ भानुप्रतापके रावण होनेपर पृथ्वीको दुःख है, स्वायंभुव मनु और शतरूपाको दशरथ

और कौसल्याके रूपमें जन्म लेना है, वहाँ कश्यप-अदितिके तथा नारदवचनके सत्य करनेका जिक्र क्यों आता? नारदशापकी बात तो क्षीराब्धिनाथके समझकी है, कश्यप-अदितिको तो जयविजयके राक्षस बननेके अवसरपर दशरथ और कौसल्याके रूपमें जन्म लेना है। सारांश यह कि यह सब एक ही व्यापक ब्रह्मकी लीला है।"

यदि इसका तात्पर्य्य यह है कि शापादि चाहे जिसको हों पर रावणवधके लिये व्यापक ब्रह्मका ही अवतार होता है (वह ब्रह्म भिन्नभिन्न मतानुसार जो भी हो) तब तो यह भाव बाबा श्रीहरिदासाचार्य्यके पुष्ट किये हुए सिद्धान्तके अनुकूल ही है जो वे० भू० पं० रामकुमारदासजी तथा स्वतन्त्र संपादकीय टिप्पणीमें यत्रतत्र दिया गया है।

श्रीभाईजी हनुमानप्रसादपोद्दारजी लिखते हैं—"भगवान् श्रीरामका प्रपंचातीत भगवत्स्वरूप कैसा है, इस बातको तो भगवान् ही जानते हैं। संसारमें ऐसा कोई नहीं है जो उनके स्वरूपकी यथार्थ और पूर्ण व्याख्या कर सके। भगवान्‌का जो कुछ भी वर्णन है, वह पूरा न होनेपर भी उन्हींका है, और इस दृष्टिसे भगवान्‌के सम्बन्धमें जो जैसा कहते हैं ठीक ही कहते हैं। भगवान् श्रीराम परात्पर ब्रह्म भी हैं, विष्णुके अवतार भी हैं, महापुरुष भी हैं, आदर्श राजा भी हैं और उनके काल्पनिक होनेकी कल्पना करनेवाला मन आत्मरूप भगवानका ही आश्रित होनेके कारण वे काल्पनिक भी हैं। बात यह है कि भगवान्‌का स्वरूप ही ऐसा है, जिसमें सभीका समावेश है क्योंकि सब कुछ उन्हींसे उत्पन्न है, उन्हींमें है, सबमें वे ही समाये हुए हैं—वे ही 'सर्व', 'सर्वगत', 'सर्व उरालय' हैं।

"दशरथात्मज राम साक्षात् भगवान् हैं। हाँ, कल्पभेदसे भगवान् विष्णु रामरूपमें अवतीर्ण होते हैं तो कभी साक्षात् पूर्णब्रह्म परात्पर भगवान्‌का अवतार होता है। परन्तु यह स्मरण रहे कि विष्णु भी भगवान् हीके स्वरूप हैं, इसलिये स्वरूपतः इनमें कोई तारतम्य नहीं है, लीलाभेदसे ही पृथकत्व है। वे पूर्णब्रह्म, परात्पर ब्रह्म और साक्षात् 'भगवान् स्वयं' हैं।"

"अनेकों ब्रह्माण्ड हैं और सभी ब्रह्माण्डोंमें कल्पभेदसे भगवान्‌के अवतार होते हैं। बहुत बार भगवान् विष्णु ही रामावतार धारण करते हैं, जिस समय विष्णुभगवान्‌का श्रीरामरूपमें अवतार होता है उस समय श्रीलक्ष्मीजी उनके साथ सीतारूपमें अवतीर्ण होती हैं और जिस समय स्वयं परात्पर प्रभु अवतीर्ण होते हैं उस समय उनकी साक्षात्स्वरूपा शक्ति अवतार धारण करती है। परात्पर श्रीरामके लिये महारामायणमें कहा गया है—'भरणं पोषणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकं। करुणं षड्गुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥'"

जिस प्रकार परात्पर समग्र ब्रह्म श्रीरामसे समस्त ब्रह्माण्डोंमें भिन्नभिन्न शिव, विष्णु और ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उनकी स्वरूपाशक्तिसे अनेकों ब्रह्माण्डोंमें अनेकों उमा, रमा और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं परात्पर ब्रह्म ही इन सब रूपोंमें प्रकट हैं और उन्हींकी शक्तिसे ये सब कार्य्य करते हैं और उतना ही कार्य्य करते हैं जितनेके लिये विधान है। इसी बातको बतलानेके लिये श्रीरामरूप परात्पर पुरुषोत्तम ब्रह्मकी इस प्रकार महिमा गाई गई है—'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥ बिष्नु कोटि सम पालनकर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता॥ बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥'

"रामायणमें 'ब्रह्म' शब्द प्रायः परात्पर समग्र ब्रह्मके लिये ही आया है, वेदान्तियोंके निर्गुण ब्रह्मके लिये नहीं। क्योंकि वह तो गुणोंसे सर्वथारहित है और <u>वह भगवान्‌की एक अभिव्यक्तिमात्र है</u>। उसका अवतार नहीं होता, अवतार तो सगुण ब्रह्मका ही होता है।" (पर मानसका मत यह नहीं जान पड़ता)।

तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा। अभय भई भरोस जिय आवा॥९॥
दोहा—निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहै सिखाइ।
बानर तन धरि धरि* महि हरिपद सेवहु जाइ॥१८७॥

* धरि धरनि—को० रा०, १७०४। धरि महि—१६६१, १७२१, १७६२,

अर्थ—तब ब्रह्माजीने पृथ्वीको समझाया। वह निर्भय हुई और उसके जीको भरोसा (ढारस, सन्तोष वा विश्वास) हुआ ॥ ६ ॥ देवताओंको यही शिक्षा देकर कि तुम पृथ्वीपर जाकर भगवत् चरणकी सेवा करो, ब्रह्माजी अपने लोकको गए ॥१८७॥

नोट—१ 'तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा' इति। देवताओंने स्पष्ट सुना, अतः वे निर्भय और सुखी हो गए। तब ब्रह्माने पृथ्वीको समझाया, इस कथनसे जान पड़ा कि पृथ्वी वहीं खड़ी रही, वह न गई। देवताओंका कानसे वाणी सुनना और हृदय जुड़ाना कहा और इसके विषयमें ऐसा न कहकर ब्रह्माका उसको समझाना कहा। इससे स्पष्ट है कि धरणी आकाशवाणीको नहीं समझ सकी। इसका कारण प्रथम ही कह चुके हैं कि वह रावणके भयसे शोकातुर थी। शोकसे परम विकल थी; यथा 'संग गोतनधारी भूमि बिचारी परम बिकल भय सोका।' परम व्याकुलतामें चेतनाशक्ति जाती रहती है। यही देखकर ब्रह्माने उसे समझाया। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि धरणी जड़ है अतः वह न समझ सकी। वि० त्रि० कहते हैं कि ब्रह्माने पृथ्वीको हरिपदस्मरणका उपदेश दिया था, यथा 'धरनि धरहि मन धीर कह बिरंचि हरिपद सुमिरु। १८४।', वह तबसे हरिपदका स्मरण करती रही, इसीसे उसने बात नहीं समझी। ब्रह्माने बताया कि आकाशवाणी हुई है, उसका तात्पर्य यह है।

वे० भू० जी कहते हैं कि जब देवगण तो प्रसन्न हो गए किन्तु पृथ्वीकी उदासी न गई तब इसे समझाना पड़ा। "आकाशवाणी तो स्पष्ट ही है, पृथ्वीकी समझमें क्या नहीं आया जो समझाना पड़ा और क्या समझाया?" यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है। इसका उत्तर यह है कि 'नारद बचन सत्य सब करिहौं' का आशय उसे न समझ पड़ा। उसने समझा कि नारदशाप तो क्षीरशायी विराट्को हुआ वे ही अवतार लेंगे तो इस रावणका वध उनसे कैसे हो सकता है क्योंकि यह रावण तो राजरोगसरीखा उनको सदा व्याकुल किये रहता है, वे उसका कुछ नहीं कर सकते। यथा 'रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर दिन दिन बढ़त सकल सुख रॉक सो। क० सुं०।" इसीसे उसे समझाना पड़ा कि श्रीरामजीको परोक्ष प्रिय है—'परोक्षवादा ऋषयः परोक्षो हि मम प्रियः। भा० ११।' अतः इस वाणीमें भी परोक्षवाद है। अवतार तो साकेतसे ही होगा, क्योंकि दाशरथी राम वे ही होते हैं दूसरा नहीं। तब उसको शान्ति मिली।

२ 'अभय भई भरोस जिय आवा।' इति। ब्रह्माके समझानेसे वह निर्भय हुई। क्या भरोसा हृदयमें आया? यही कि "प्रभु भंजिहि दारुन बिपति"। ब्रह्माने क्या समझाया? यही कि आकाशवाणी हुई है कि 'हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु०'। प्रभु सपूर्ण भारको भजेंगे। अवधपुरीमें राजा दशरथजीके यहाँ नररूपसे अवतार लेकर रावणका सपरिवार नाश करेंगे। 'धरनि धरहि मन धीर' और भगवान्का स्मरण कर। पुनः, विजयदोहावलीके अनुसार ब्रह्माजीका पृथ्वीको इस तरह धीरज देना कहा जाता है कि हम तेरे लिए त्रेतायुग द्वापरके पहिले ही किये देते हैं, यथा "सुनि ब्रह्माके बचन महि तब मन कीन्ह बिचार। द्वापर दीन्हे पाछु करि त्रेता कियो अगार"। कल्पभेदसे ऐसा हो सकता है पर इस ब्रह्मवाणीसे दशरथकौशल्याका आविर्भाव आकाशवाणीके पूर्व ही हो चुकना स्पष्ट है और वे त्रेतामें हुए ही हैं, इस वाणीमें इस भावसे विरोध देख पड़ता है। दूसरे सत्ययुगके बाद प्रथम द्वापर था इसका कोई प्रमाण नहीं।

३ ☞ पृथ्वीके भयका प्रसंग 'अतिशय देखि धर्म कै ग्लानी' १८४ (४) से चला। 'परम सभीत धरा अकुलानी' उपक्रम है और 'अभय भई भरोस जिय आवा। १८७।६।' उपसंहार है। इस तरह 'भरोस जिय आवा' का भाव खोला कि व्याकुलता दूर हो गई। मनको विश्राम हुआ, यथा—'भूमिसहित मन कहुँ बिश्रामा।१८८।१।'

४ 'निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहै सिखाइ' इति। ब्रह्माने ही धरणीको समझाया (क्योंकि वह समझी न थी) और देवताओंको सिखाया क्योंकि वे सबोंसे बड़े हैं, और यही यहाँ अगुआ भी हैं।

५ अ० रा० मे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'यूय सृजध्व सर्वेऽपि वानरेष्वंशसम्भवान्। विष्णो सहाय कुरुत यावत्स्थास्यति भूतले। ३०। इति देवान्समादिश्य समाश्वास्य च मेदिनीम्। ययौ ब्रह्मा स्वभवन विज्वर' सुखमास्थित । १।२।३१।" अर्थात् तुम लोग भी सब अपने अपने अंशसे वानरवंशमें पुत्र उत्पन्न करो और भगवान् विष्णुकी सहायता करो। देवताओंको यह आज्ञा देकर और पृथ्वीको ढारस बँधाकर ब्रह्माजी अपने लोकको चले गए।

वाल्मी० १.१७. मे ब्रह्माकी आज्ञा पॉच श्लोकोंमे हैं। उन्होंने कहा है कि प्रधान अप्सराओं, गन्धर्वकी स्त्रियों, यक्ष और नागकी कन्याओं, भालुकी स्त्रियों, विद्याधरियों, किन्नरियों और वानरियोंमे अपने समान पुत्र आप लोग उत्पन्न करें पर उनका रूप वानरका होना चाहिए। वे वानर किन गुणोंसे सम्पन्न हों यह भी बताया है।

प० रामकुमारजी—'पूर्व रावणने वर मॉगा था कि 'हम काहूके मरहिं न मारे। वानर मनुज जाति दुइ बारे'। आकाशवाणी हुई कि 'असन्ह सहित मनुज अवतारा।०' अर्थात् हम मनुजरूपसे अवतरेंगे, इसीसे ब्रह्माने देववृन्दको वानररूप धरनेकी आज्ञा दी। साक्षात् देवता भूमिपर पैर नहीं धरते इसीसे स्पष्ट कहा कि पृथ्वीपर जाकर रहो।" वानरतन धरनेको इससे भी कहा कि ब्रह्मवाणीमें है कि 'नारद वचन सत्य सब करिहौं' और नारदजीने कहा ही था कि 'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी।'

नोट—६ यहा यह शंका प्राय. की जाती है कि पूर्व कहा है कि 'सुर मुनि गधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका' और फिर वहांसे ब्रह्माका अन्यत्र जाना नहीं कहा गया। तो फिर 'निज लोकहि बिरंचि गे' कहनेका क्या अभिप्राय है? इसका समाधान कई प्रकारसे किया गया है।—१ यह क्षीरशायी वाले कल्पके अनुसार है। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि ब्रह्मादि क्षीरसागरको गए थे फिर वहांसे लौटकर ब्रह्मलोकको आये। यथा—'तस्मात्क्षीरसमुद्रतीरमगमद् ब्रह्माथ देवैर्वृतो। अ० रा० १।२।७। ययौ ब्रह्मा स्वभवन ।३१।" २—ब्रह्माजीके दो लोक हैं एक तो सुमेरुपर जिसे सभालोक वा सुरसभा स्थान कहते हैं, दूसरा उनका निजलोक ब्रह्म वा सत्यलोक। सभालोकमें ब्रह्माकी कचहरी होती है। वहीं सब जाकर अपनी पुकार किया करते हैं, वहीं अबकी भी गए। वहीं स्तुति हुई। अब वहांसे ब्रह्माजी अपने निजलोकको गए। पूर्व 'बिरंचिके लोका' से कचहरी और 'निज लोकहि' से ब्रह्मलोक जानिए। ३—ब्रह्माजीने सबको वानरतन धरनेकी आज्ञा दी और फिर आप भी अपने लोक किष्किन्धाको जाम्बवान्‌रूप धारण करके गए। वा, ४—'निज लोकहि' अपने वाक्यमें कहा कि हम भी जाम्बवान् रूप धरकर जाते हैं, तुम भी चलो। यथा 'पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुंगवः। वाल्मी० १।१७।७'

प्रोफेसर श्रीरामदासजी गौड़ इस विषयमें यह लिखते हैं—"बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा॥" प्रश्न होता है कि यह देवसभा कहां बैठी थी? यह तो निश्चय है कि वैकुंठमें और क्षीरसागरमें नहीं थी, नहीं तो इन दोनों जगहोंपर जानेका प्रस्ताव न होता। ब्रह्मलोकमें भी यह सभा नहीं बैठी, क्योंकि आगे कहते हैं, 'निज लोकहि बिरंचि गे'। किसी और देवताके धाममें भी नहीं थी, क्योंकि 'गये देव सब निज निज धामा' इसका निषेधार्थक है। ब्रह्माजीके लोकतक जानेका तो उल्लेख है ही। 'धरनि धरहि मन धीर' यहां ब्रह्माजीका अन्तिम वाक्य ब्रह्मलोकमें है। ब्रह्माजीने जब अनुमान कर लिया कि 'मोर कछू न बसाई', मेरा भी कोई बस नहीं है, तब आगे उनका कर्तव्य क्या रहा?

बेबसीकी बात यह थी कि ब्रह्मा और शिवने ही मिलकर रावणको वर दिया था। देवताओंकी मंडलीमें जो ब्रह्मलोक पहुँची थी, भगवान् शंकरकी चर्चा नहीं है। परन्तु जब देवता लोग कहीं बैठकर विचार करते हैं, तो वहाँ भगवान् शंकर कहते हैं 'तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ'। अपना उस समाजमें उपस्थित रहना पहले-पहल कहते हैं, कथा कहनेवाले स्वयं ठहरे। अन्तमें ब्रह्मादि देवताओंका अपने अपने धामको जाना भी कहते हैं—'गये देव सब निज निज धामा।' परन्तु अपने जानेकी वा अपने स्थानको

चले आनेकी कोई चर्चा नहीं करते। प्रसंगसे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् शंकर 'उस समाजमें थे और अपने ही स्थानपर थे', इसीलिए न अपने आनेकी चर्चा की, न जानेकी। समाज में उपस्थित रहने मात्रकी चर्चा स्पष्ट कहे देती है कि यह देवसभा शिवलोकमें हुई थी, और यह परम्परा भी चली आयी है कि जब जब देवोंपर संकट पड़ता है ब्रह्माजी सब देवताओंको लेकर पहले भगवान् शंकरके पास जाते हैं, तब सब मिलकर भगवान् विष्णुके पास जाते हैं। यह सदाकी विधि यहाँ भी बरती गई है।

प्रसंग और ध्वनिसे ही घटनास्थलकी सूचना देना कवित्वका अपूर्व चमत्कार है। साथ ही यह भी कोमलता ध्यान देने योग्य है कि भगवान् शंकर स्वयं कथा कहते हैं, अपनी महत्तासूचक किसी घटनाका वर्णन, विशेषतः अपने इष्टदेवकी चर्चाके साथ, विनय और शिष्टाचारके विरुद्ध है। भगवान् शंकर तो उस सभाके प्रमुखोंमेंसे हैं, उन्हींके पास लोग दोहाई देने गये हैं। परन्तु शालीनता और नम्रताकी हद है कि कहते हैं 'तेहि समाज गिरिजा में रहेऊँ। अवसर पाइ बचन इक कहेऊँ।' फिर 'मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु कहि ब्रह्म बखाना', बात सबको भा गयी। विनयपूर्वक कहनेका कैसा उत्तम ढङ्ग है। वास्तव में भगवान् शंकरका फैसला था कि काम यों होना चाहिये। (स्वभावतः ब्रह्माजी अगुआ हुए, जिनकी सृष्टि थी, जिसकी रक्षा उन्हें इष्ट थी, पर उनके हाथमें न थी। आकाशवाणीके बाद सभा विसर्जित हुई। भगवान् शंकर रह गये। सब चले गये।)

गए देव सब निज निज धामा। भूमि सहित मन कहुँ बिस्रामा ॥१॥
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा ॥२॥
बनचर-देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं ॥३॥
गिरि तरु नख आयुध सब बीरा। हरिमारग चितवहिं मति धीरा ॥४॥
गिरि कानन जहँ तहँ भरि* पूरी। रहे निज निज अनीक रचि† रूरी ॥५॥

अर्थ—सब देवता अपने-अपने स्थानको गए। पृथ्वीसहित सबके मनको विश्राम हुआ ॥१॥ ब्रह्माजीने जो कुछ आज्ञा दी थी उसमें देवता प्रसन्न हुए और (उसके पालनमें) देर न की ॥२॥ पृथ्वी पर उन्होंने वानरदेह धारण की। उनमें बेअंदाज (अमित) बल और प्रताप था ॥३॥ सब वीर थे। पर्वत, वृक्ष और नख उनके अस्त्रशस्त्र थे। वे धीरबुद्धि भगवान्की राह देखने लगे ॥४॥ अपनी अपनी सेना बनाकर जहाँ तहाँ पर्वतों और जंगलोंमें वे भरपूर छा गए ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'गए देव सब निज निज धामा।०' इति। ब्रह्माजी अपने लोकको गए, यथा—'निज लोकहि बिरंचि गे' और देवता अपने अपने धामको गए। भाव कि ये धाम से भागे भागे फिरते थे—'देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा', अब निर्भय होनेसे निज निज धामको गए। 'मन कहुँ बिश्रामा' कहनेका भाव कि शोक और संदेह के कारण मनका विश्राम चला गया था, शोकसंदेह मनमें होता है। आकाशवाणीसे शोकसंदेह दूर हुआ। अतः अब मनको विश्राम हुआ। (ख) 'भूमि सहित मन कहुँ बिश्रामा' कहनेका भाव कि यहां भूमि मुख्य है, प्रथम यही व्याकुल होकर देवोंके पास गई थी, देवता उसे लेकर ब्रह्माके पास गये। (ग) 'हरषे देव बिलंब न कीन्हा' इति। ब्रह्माजीकी आज्ञा है कि 'बानरतनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ', इसमें भगवान्के चरणोंकी प्राप्ति समझकर हर्ष हुआ, वानरतन धरनकी आज्ञा पालन करनेमें खेद न हुआ। क्योंकि जिस शरीरसे भगवान्की प्राप्ति हो वही सुन्दर है, यथा 'जेहि सरीर रति राम सों सोइ आद-

*—महि पूरी—१७२१, छ०। भरि पूरी—१६६१, १७०४, १७६२, को० रा०। †—रचि रूरी'—१७०४, १७६२। रचि रूरी—१६६१, को० रा०। छ० का पाठ है—'रहेनि तहाँ निज निज रचि रूरी'।

रहिं सुजान। रुद्रदेह तजि नेह बस बानर भे हनुमान। दोहावली १४२।', 'सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तन पाइ भजिअ रघुबीरा। ७.९६।' दोहा १८.२ मा० पी० भाग १ पृष्ठ ३०५, ३०६ देखिए। भगवान्‌के चरणोंकी प्राप्तिका और शत्रुको मारनेका बड़ा उत्साह हुआ। इसीसे विलंब न किया। अथवा, भगवान्‌ने शीघ्र ही अवतार लेनेको कहा है, यथा 'तिन्हके गृह अवतरिहौं जाई', अतएव तुरत आज्ञा पालन की।

२ (क) 'जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा'। आज्ञा प्रथम लिख चुके हैं वही यहाँ 'जो कछु' से जनायी। अथवा भाव कि आज्ञा होने पर फिर उस पर कुछ भी विचार न किया कि हम देवतन छोड़कर वानर कैसे हों क्योंकि गुरुजनोंकी आज्ञा पाकर उसमें पसोपेश करना, उस पर विचार करना कि करने योग्य है या नहीं, करें या न करें, दोष माना गया है। यथा 'मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी। ७७ ३।', 'गुरपितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी। उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू। अ० १७७।' विचार करने से पाप लगता, अत विचार न किया। मुदित होकर बड़ोंका वचन मानना चाहिए, अत हर्षित होकर आज्ञाका पालन किया। 'बिलंब न कीन्हा' में ध्वनि यह है कि यह आज्ञा ऐसी थी कि इसके करनेमें संकोच होता, इसमें दुःख और विलंब करने की बात थी, वह यह कि देवतासे वानर होना निषिद्ध है। [पंजाबीजी का मत है कि हर्ष इससे हुआ कि इस कार्यसे शोक हरण होनेकी आशा है, दूसरे भगवत्सेवामें मन लगेगा और तीसरे इस शरीर से रावणसे बदला भी लेंगे]। (ख) ब्रह्माजीने शरीर धारण करनेकी आज्ञा दी क्योंकि शरीर धारण उन्हींकी आज्ञासे होता है, कर्मके अनुसार ब्रह्मा तन देते हैं।

३ "बनचर देह धरी छिति माहीं।०" इति। देवता (अपने साक्षात् रूपसे) पृथ्वीका स्पर्श नहीं करते, वानररूपसे उन्होंने उसका स्पर्श किया। जैसे देवोंमें अतुलित बल और अतुलित प्रताप होता है वैसा ही वानरोंमें है।

नोट—१ जब उतना ही बल है तब ये रावणका क्या कर सकेंगे, भागे भागे फिरेंगे? यह शंका हो सकती है। इसका समाधान यह है कि वरदानके कारण देवबल उसपर कुछ कारगर नहीं होता, नहीं काम देता। वानर और मनुष्य दोको वह छोड़ चुका है, उनमें जब वह देवबल होगा। तब तो वह पराजित होगा ही। पुन, अतुलितका भाव यह भी हो सकता है कि देव शरीर और राक्षसोंसे इनमें अधिक बल है।

वाल्मीकीयमें ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा है कि आप लोग अपने समान पराक्रमी वानररूपधारी पुत्र उत्पन्न करें जो बलवान् हों, कामरूप हों, राक्षसीमायाको जान सकते हों, वीर, नीतिज्ञ, वायुवेगवाले, अव-सरानुकूल उपाय करनेकी बुद्धिवाले, अस्त्रविद्याके ज्ञाता और विष्णुके समान पराक्रमवाले हों। यथा 'विष्णोः सहायान्बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः ।२। मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमाञ्जवे। नयज्ञान्बुद्धिसंपन्नान्विष्णुतुल्य पराक्रमान्। ३। असंहार्यानुपायज्ञान्सिंहसंहननान्वितान्। सर्वास्त्रगुणसंपन्नानमृतप्राशनानिव।४।' सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान्। ६।" (सर्ग १७)। वे ऐसे हों कि शत्रु द्वारा अपने पक्षसे हटाये न जा सकें।—ये सब भाव 'अतुलित बल प्रताप तिन्ह माहीं' में आ जाते हैं। जैसे राक्षसोंका बल कहनेमें "अति बल कुंभकरन अस भ्राता।" इत्यादि कहा है, वैसे ही उनसे विशेष बल होनेका भाव यहाँ 'अतुलित बल' से जनाया। अतुलित प्रताप कहकर जनाया कि ये जयमान होंगे क्योंकि प्रतापसे सर्वत्र जय होती है।

वै० भू०जीका मत है कि देवशरीरमें इन पर रामकृपा नहीं थी, इसीसे राक्षसोंसे भागे भागे फिरते थे। जिसपर रामकृपा होती है उसके लिए तो कहा गया है कि 'प्रभु प्रताप ते गरुडहि खाइ परम लघु ब्याल' इत्यादि। वानरशरीरमें उनपर कृपा होनेसे उनमें अतुलित बल आ गया। यथा 'राम कृपा अतुलित बल तिन्हहीं', 'रामकृपा बल पाइ कपिंदा। भए पच्छजुत मनहु गिरिंदा।' इसीसे वानररूपसे वे राक्षसों पर विजयी हुए।

२ 'बनचर देह धरी' इति। देवता, महर्षि, गरुड़, नाग, किंपुरुष, सिद्ध विद्याधर, उरग सभीने

हजारों पुत्र उत्पन्न किये। चारणोंने अप्सराओं, विद्याधरियों, नागकन्याओं और गंधर्विनीयोंसे कामरूपी सिंहसमान गर्वीले बलवान् वानर उत्पन्न किये, नख और पर्वत ही जिनके आयुध हुए। इन्द्रने बालिको, सूर्यने सुग्रीवको, बृहस्पतिने बुद्धिमान् तारको, कुबेरने गन्धमादनको, विश्वकर्माने नलको, अग्निने नीलको, अश्विनीने मयन्द और द्विविदको, वरुणने सुषेणको, पर्जन्यने शरभको उत्पन्न किया, वायुके द्वारा (रुद्रसे) हनुमान् और ब्रह्मासे जाम्बवान् उत्पन्न हुए। इन सबोंका बल अप्रमेय था, "अप्रमेयबला वीरा" वाल्मी० १.१७.१८ ही मानसका 'अतुलित बल' है।

टिप्पणी—४ पूर्व कहा था कि 'गए देव सब निज निज धामा' और यहाँ कहते हैं कि 'बनचर देह धरी छिति माहीं' इससे जनाया कि साक्षात् देवरूपसे ये सब अपने अपने धाममें भी रहे और अपने अपने अंशोंसे वानरतनसे पृथ्वीमें अवतरित भी हुए। ☞ बल और प्रतापसे शत्रु जीता जाता है, इसीसे वानर तनमें दोनोंका वर्णन किया।

५ "गिरि तरु नख आयुध सब बीरा।०' इति। 'हरिमारग चितवहिं' का एक भाव तो यह है कि सब वीर हैं, मतिधीर हैं अतः राह देखते हैं कि कब भगवान आवें, शत्रुपर चढ़ाई करें तो हम भी चलकर युद्ध करें। दूसरे यह कि ब्रह्माजीकी दो आज्ञायें हैं एक तो वानरतन धरकर पृथ्वीपर रहनेकी सो वानरतन तो धारण ही कर लिए। दूसरी आज्ञा है कि 'हरिपद सेवहु जाइ।' वह हरिपदसेवा अभी बाकी है। उसके लिए हरिकी राह देख रहे हैं। इस तरह दोनों आज्ञाओंमें तत्पर दिखाया। पुनः 'हरिमारग चितवहिं' कहकर सूचित करते हैं कि ब्रह्माजीने यह भी कह रक्खा था कि भगवान् आकर तुमको मिलेंगे। अतः उनकी बाट जोह रहे हैं। 'गिरि तरु नख' आयुध हैं, यह कहकर जनाया कि अपनेको छिपाए हुए हैं। रावणकी मृत्यु नर वानरके ही हाथ है, अन्यसे नहीं है। अतः जैसा रूप धारण किया, वैसे ही हथियार भी हैं। ☞ यहाँ वानरोंमें चार गुण दिखाए—बल, प्रताप, वीरता और बुद्धि।

६ अध्यात्म रा० में मिलता हुआ श्लोक यह है—"देवाश्च सर्वे हरिरूपधारिणः स्थिताः सहायार्थमितस्ततो हरेः। महाबलाः पर्वतवृक्षयोधिनः प्रतीक्षमाणा भगवन्तमीश्वरम्। १.२.३२।"

७ "गिरि कानन ०" इति। प० रामकुमारजी 'महि पूरी' 'रुचि रूरी' पाठ देकर अर्थ करते हैं कि वानरोंसे पृथ्वी पूर्ण हो गई, अपनी सुन्दर रुचिसे वे वानर हुए हैं। 'भरिपूरी'=भरपूर पूर्ण भरकर। 'निज निज अनीक रचि' से जनाया कि सेना और सेनापति दोनों हैं। जो विशेष देवता हैं, वे राजा और सेनापति हैं और जो सामान्य हैं वे सेनाके सुभट हैं। भाव यह कि देवोंमें जो मुखिया थे, वे यहाँ भी मुखिया हुए, जैसे वहाँ उनके यूथ थे, वैसे ही यहाँ भी उनके यूथ हैं और वे यूथपति हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—१ कलाके दृष्टिकोणसे देवताओंकी प्रार्थना और आकाशवाणीका प्रसंग बड़े महत्त्वका है। यह प्रसंग इतना सुन्दर है कि भारतवर्षमें नाटकोंके प्रारम्भमें अभिनेताओंका एकत्रित होकर प्रार्थना करनेके दृश्यकी प्रथा ही चल पड़ी।

२ नाटकीय और महाकाव्य कला दोनोंका बड़ा सुन्दर एकीकरण है। यह विचारणीय है कि मिल्टनने भी जब "पैराडाइज लास्ट" को नाटकीयमहाकाव्यरूपमें लिखना आरम्भ किया था, तब दैविक प्रार्थनासे ही प्रारम्भ किया था।

३ बनचर—(१) वास्तवमें देवता ही थे—(२) आधिदैविकवादके अनुसार तुलसीदासजीने पृथ्वी, पर्वत, सूर्य्य इत्यादिके अभिमानी देवताओंका रूप माना है। अधिक विस्तारसे आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक वादोंकी विवेचना देखनी हो तो तिलकका 'गीता रहस्य' देखिये। (३) हम यदि तुलसीदासजीके मतसे सहमत न हों तो भी उनके ग्रन्थोंके समझनेके लिये उनके मतसे उतनी सहानुभूति अवश्य रखनी चाहिये जितनी मिल्टन पढ़ते समय उस महाकविके मतसे एक अँग्रेज रखता है।

यह सब रुचिर चरित मैं भाषा । अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा ॥६॥

अर्थ—मैंने यह सब सुन्दर चरित कहा । अब वह (चरित) सुनो जो बीच में रख छोड़ा था ॥६॥

वि० त्रि०—रावणावतारके चरितको रुचिर कहते हैं, पुनीत नहीं कह सकते । बहुत उच्चकोटिके जीव शापित होकर रावण होते हैं । उन्हींके कारण साक्षात् प्रभुको नरशरीर धरकर आना पड़ता है । अतः रावणका चरित भी रुचिर है । वह जो स्वाँग लेता है उसका ऐसा पूरा निर्वाह करता है कि सिवा प्रभुके आनेके उपायान्तर नहीं रह जाता ।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाए । १२१.१ ।' उपक्रम है और 'यह सब रुचिर चरित मैं भाषा' उपसंहार है । 'सब चरित' अर्थात् जय विजय, जलधर, नारद, मनु, भानुप्रताप, रावणके जन्म तप विभव और उपद्रव, पृथ्वी और देवताओं की व्याकुलता, ब्रह्मस्तुति देवताओंका वानरतन धारण करना,—यह सब कहे । (ख) 'जो बीचहिं राखा' इति । भगवान्‌ने मनुजीसे कहा था कि 'होइहहु अवध-भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत । १५१ ।' इस (अवधमें जाकर राजा हुए इत्यादि) कथाका वहाँ मौका न था इससे श्रीदशरथजीकी कथा बीचमें छोड़ दी थी । अब रावणके अत्याचार होनेपर ब्रह्माके स्तुति करनेपर आकाशवाणी हुई कि हम दशरथजी के यहाँ रघुकुलमें अवतार लेंगे । अतः अब उस कथाका उचित समय है । पुनः भाव कि शिवजीने पार्वतीजीसे रामावतार कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, यथा 'सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ । १२० ।' और कहने लगे हेतु, यथा 'हरि अवतार हेतु जेहि होई । इदमित्थं कहि जाइ न सोई । १२१ २ ।' इत्यादि । यहाँ तक अवतारके हेतु कहे । अवतार बीचमें कहना रह गया, केवल हेतु हेतु कहे । अब अवतार सुननेको कहते हैं ।

नोट—१ प० शिवलालपाठकजीके मतानुसार रावणका दिग्विजय आदि कहते-कहते नारदकल्पकी स्तुति और ब्रह्मवाणी कहने लगे थे अब उसको समाप्त करके फिर पूर्व कथाका प्रसंग मिलाते हैं । नारद कल्पकी स्तुति और ब्रह्मवाणी इससे बीचमें कहदी कि जिसमें परतम प्रभुका अवतार गुप्त रहे यथा 'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सबु कोइ' ।

टिप्पणी—२ सब कल्पोंमें कुंभकर्ण और रावणका जन्म कह कहकर तब रामजन्म कहा है । यथा (१) "भए निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान । कुंभकरन रावन सुभट सुरबिजई जग जान । १२२ ॥' एक बार तिन्हके हित लागी । धरेउ सरीर भगत अनुरागी ॥" (२) "तहाँ जलधर रावन भयऊ । रन हति राम परमपद दयऊ ॥ एक जनम कर कारन एहा । जेहि लगि राम धरी नरदेहा ॥ १२४ २ ३।" (३) 'चले जुगल मुनिपद सिर नाई ॥ एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार ॥ १३९।' तथा इस कल्पमेंभी रावण का जन्म कहकर अब रामजन्म कहते हैं । 'अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा' यह कहकर मनुशतरूपाका प्रकरण भानुप्रतापके प्रकरणसे मिलाते हैं । तात्पर्य्य कि मनुप्रार्थित श्रीरामजीने भानुप्रताप रावणकावध किया ।

नोट—२ यहाँ तक श्रीपार्वतीजीके 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी । निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी । ११० ४ ।" 'राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी । सर्बरहित सब उर पुर बासी ॥ नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू । १२०.६–७ ।" इस प्रश्नका उत्तर हुआ ।

अवतार-हेतु-प्रकरण समाप्त हुआ ।

(तदन्तर्गत भानुप्रताप-रावण प्रकरण भी समाप्त हुआ)

"मानस-पीयूष" (बालकांडका "पूर्वार्द्ध") भाग २ समाप्त हुआ ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।